गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

1



संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

विनम्र निवेदन

प्रस्तुत 'गीता-दर्शन'' (तीन खण्डोंमें), पूर्व प्रकाशित 'गीता-दर्शन' तेरह खण्डोंका ही एक नवीन संस्करण है। श्रीमद्भगवद्गीता पर परमपूज्य 'महाराजश्री' स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीका प्रायः दस दिवसीय प्रवचन सत्रका आयोजन श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरला द्वारा, बिरला पार्क, कोलकातामें सन् 1974 से प्रति वर्ष आयोजित किया जाता रहा। यह क्रम सन् 1986 पर्यन्त, लगातार तेरह वर्षों तक चलता रहा।

पूज्य महाराजश्रीने 19 नवम्बर 1987के दिन वृन्दावनमें अपनी लीलाका संवरण कर लिया। उपरोक्त प्रवचन शृंखलामें श्रीमद्भगवतगीताके पन्द्रहवें अध्याय तक ही प्रवचन हो पाये थे। इन प्रवचनोंकी रिकार्डिंग कर ली जाती थी, तदन्तर सुनके लिख लिया जाता था।

प्रथम तीन प्रवचन-सत्रोंका संकलन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने किया। उसके अगले 'गीता-दर्शन' के दस खण्डोंका संकलन स्वयं श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरलाने किया है। पिछले पच्चीस वर्षोंमें 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंके सम्पूर्ण सेटकी माँग पाठक वर्ग द्वारा निरन्तर बनी हुई है।

कुछ माह पूर्व सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके न्यासी श्री केवलकिशन सेठीने श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला का 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंको तीन खण्डोंमें उपलब्ध करवाये जानेका सुझाव जब ट्रस्टके चेयरमैन स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके समक्ष प्रस्तुत किया तब उन्होंने इस कार्यके लिए अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। श्रीस्वामीजीने तत्काल श्रीसोमदत्त द्विवेदीको, इस कार्यको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करने हेतु आवश्यक निर्देश दिए। परमादरणीय वीतराग स्वामीश्री गोविन्दानन्द सरस्वतीजीका अथक प्रयास था कि यह ग्रन्थ संशोधित रूपमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो। संशोधनमें ब्रह्मचारी रामनरेशजीका सहयोग सराहनीय है।

आज हम इस बातसे अत्यधिक हर्षित हैं कि पूज्य महाराजश्री जी की श्रीमद्भगवद्गीताकी अनुपम व्याख्याका यह प्रसाद अब हमें इस नवीन कलेवरमें उपलब्ध हो रहा है। इन तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्रीके रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गम्भीर शैलीमें प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश 'गीता-दर्शन' साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य लाभान्वित होंगे।

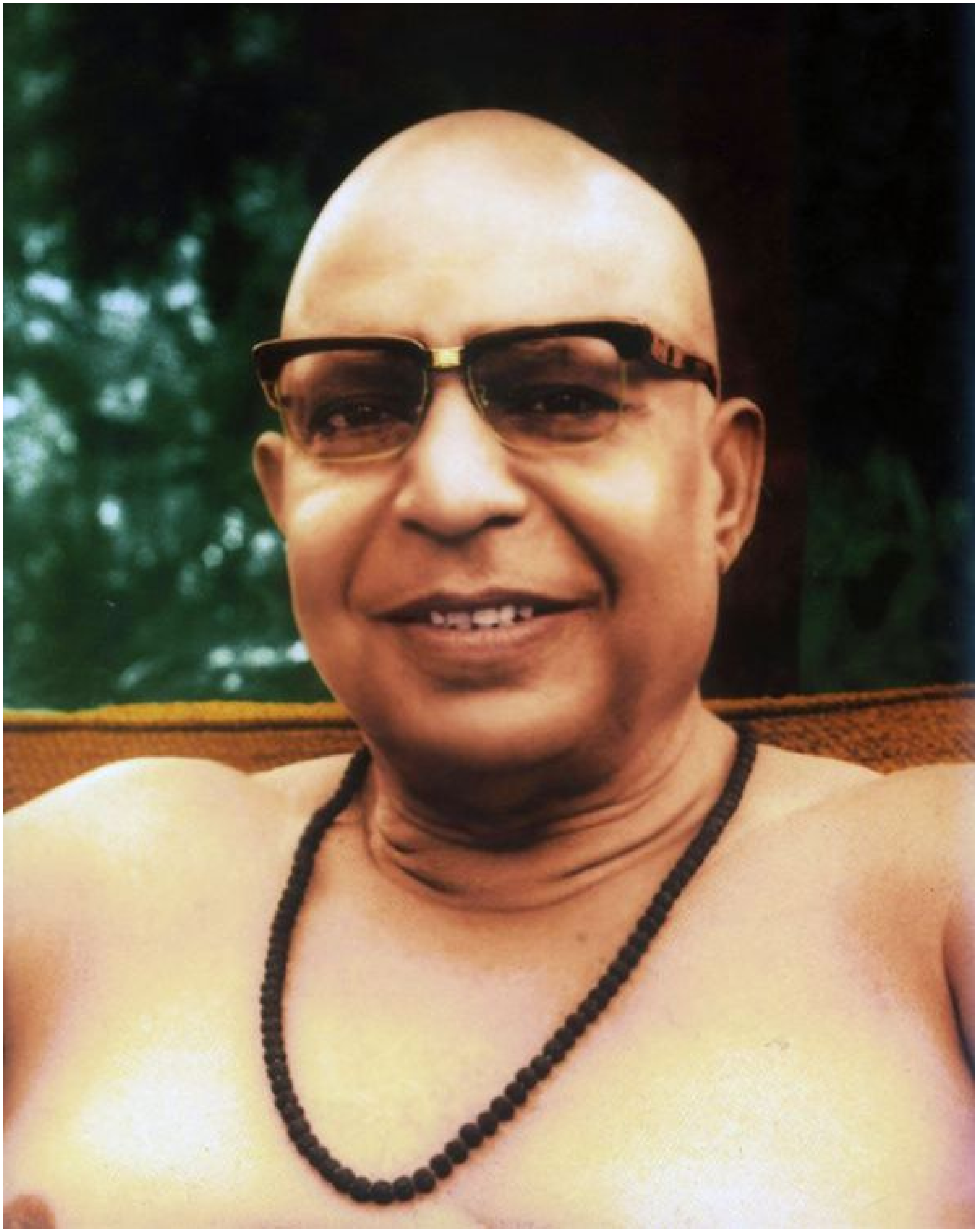
पुनर्मुद्रणमें प्रकाशनकी अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ जहाँ कहीं भी रह गयी हों, आप हमें अवश्य लिखें जिससे कि अगले संस्करणमें शुद्ध किया जा सके। परमपूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम सहित...

–ट्रस्टी

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ॐ

गीता अध्याय 1-4

प्रवचन : 1

(16-11-1974)

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

भगवान् श्रीकृष्ण करुणावरुणालय हैं। जब उनके हृदयसे करुणाकी धारा प्रवाहित हुई, जीवोंका कल्याण करनेके लिए, तब उसने सबसे पहला पात्र चुना धृतराष्ट्र नामक एक अन्धे व्यक्तिको, जिनके पास स्वयं देखनेका, युद्ध-भूमिमें जानेका, गीता सुननेका कोई साधन नहीं था और जो गीताके उपदेश-स्थलसे बहुत दूर बैठे हुए थे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हींके हृदयमें प्रेरणा प्रदान की कि वे उनकी वाणीके सम्बन्धमें प्रश्न करें। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं तो अर्जुनको गीता सुनायी, परन्तु अर्जुनके अतिरिक्त यदि किसीको सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो संजय और धृतराष्ट्रको ही। इसलिए गीताके तीन पात्र हैं—अर्जुन, संजय और धृतराष्ट्र।

अतः सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णका ही स्मरण करना चाहिए, जिन्होंने जगन्मंगलके लिए धृतराष्ट्रके हृदयमें गीता-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न की। धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार पहले हीसे मालूम थे। दस दिन युद्ध हो चुका था। भीष्म-पितामह शरशय्यापर जा चुके थे, तब इस प्रश्नको कि—

किमकुर्वत संजय : कौरवों और पाण्डवोंने धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें इकट्ठे होकर क्या किया, केवल यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उन्होंने युद्ध किया या नहीं किया? उस प्रश्नका तो तात्पर्य यह है कि वहाँ कौन-सी विशेष घटना घटित हुई थी?

गीता महाभारतके भीष्म पर्वमें आती है और वह उसका सारभूत ज्ञान है। यह बात बार-बार ध्यान देने योग्य है कि जिनके पास कोई सामर्थ्य नहीं, कोई साधन नहीं, कोई दृष्टि नहीं उनके हृदयमें भी गीता-विषयक प्रश्न उठाकर भगवान् अपना आदेश-सन्देश उनतक पहुँचाते हैं।

अब दूसरी बात संजयकी लेते हैं। संजयने समग्र गीता भगवान्के श्रीमुखसे ही श्रवण की, परन्तु वह व्यास-प्रसाद भी है। स्वयं संजयका कहना है कि मैंने गीताका गुह्य ज्ञान तो भगवान्के श्रीमुखसे ही प्राप्त किया; किन्तु उसमें केवल भगवान्का ही प्रश्न नहीं, व्यासका प्रसाद भी है—

व्यासप्रसादात् श्रुतवान् एतद् गुह्यमहं परम्। (गीता 18.75)

इससे निष्कर्ष यह निकला कि धृतराष्ट्र पर संजयकी, संजयपर महापुरुष व्यासकी और अर्जुनपर साक्षात् भगवान्‌की कृपा है।

संजयने समग्र गीताका श्रवण करके अपना एक निश्चय बताया और छह बातोंपर ध्यान आकृष्ट किया। संजयका कहना है कि हम लोग जो कुछ भी करते हैं, उसमें ईश्वरका हाथ सन्निविष्ट है और यह बात हम लोगोंको ज्ञात रहनी चाहिए। ईश्वरका हाथ होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना महत्त्वपूर्ण उसका ज्ञात रहना है।

अविदितो देवो नैनं भुनक्ति।

पूर्वाचार्योंका कहना है कि ईश्वर तो सब जगह है, परन्तु वह रक्षा तब करता है जब मालूम पड़े कि ईश्वर रक्षा करता है—

हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

भगवान्‌की स्मृतिसे कष्टका निवारण होता है। वस्तुतः भगवान् स्वयं विपत्तिसे नहीं छुड़ाते, भगवान्‌की स्मृति विपत्तिसे छुड़ाती है। भगवान् तो विपत्तिके आनेमें कर्मका फल देते हैं। परन्तु जो अपने हृदयमें भगवान्‌की स्मृति रखता है, उसको विपत्तिका अनुभव नहीं होता। अपने द्वारा किये हुए भगवत्स्मरणमें यह सामर्थ्य है कि वह विपत्तिको मिटा दे। हृदयमें भगवान्‌का विद्यमान होना एक बात है और भगवान्‌का स्मरण होना दूसरी बात है। भगवान्‌की स्मृति ही सब दुःखोंको दूर करती है। भगवत्स्मृति हमारे हाथमें है। अतः हमें चाहिए कि हम उसे निरन्तर बनाये रखें।

हम जो साधन कर रहे हैं, उसके पीछे भगवान्‌की प्रेरणा है। साधनका अभिप्राय केवल माला फेरनेसे नहीं होता—यह बात हम आपको स्पष्टम्-स्पष्टम् सुना देते हैं। भारतीय संस्कृतिमें जीवनके चार विभाग माने गये हैं। महाकवि कालिदासने रघुवंशकी विशेषता बताते हुए भारतीय संस्कृतिका निचोड़ प्रस्तुत किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगोनान्ते तनुं त्यजाम्॥ (1.8)

शैशवमें—बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास करना चाहिए, शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। यौवनमें धनका उपार्जन और विषय-भोग करना चाहिए। वृद्धावस्थामें महात्माकी तरह जीवन व्यतीत करना चाहिए और जब शरीर छोड़नेका समय आये तो अपने आपको भगवान्‌के साथ मिला देना चाहिए।

संजयने कहा—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ (गीता 18.78)

यहाँ 'मतिर्मम'का अर्थ है—यह मेरा निश्चय है। और व्यक्तिगत निश्चय है। अर्थात् विद्वान् लोग तो गीताका न जाने क्या-क्या अभिप्राय बतायेंगे—द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, कर्म, भक्ति, योग आदि बहुतसे अभिप्राय बतायेंगे; परन्तु मैंने गीता-श्रवणसे जो निश्चय किया है, उसमें छः बातें हैं।

एक तो ईश्वर ही प्रेरणाका स्रोत है। वह योगेश्वर साधन बताता है; गुरुके रूपमें आता है; शिक्षकके रूपमें आता है, माता-पिताके रूपमें आता है; हृदयमें प्रेरणा देता है।

दूसरे हम जो कुछ कर रहे हैं, ईश्वर उसका निर्वाह कर रहा है। ईश्वरकी यही विशेषता है कि वह मार्ग भी बताता है, मार्गका निर्वाह भी करता है और उसका फल भी देता है। जब मार्ग बताता है तब ईश्वर होता है ज्ञानस्वरूप। जब निर्वाह करता है तब ईश्वर होता है सत्-स्वरूप और जब फल देता है तब ईश्वर होता है आनन्द-स्वरूप। इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप है और प्रेरक, फलदाता तथा निर्वाहके समय स्थिति-स्थापक आत्म-धारणानुकूल व्यापार उत्पन्न करनेवाला प्रभु है।

अच्छा देखो, साँस लेते हैं तो वायुके द्वारा क्या क्रिया होती है? वही हृदयको स्पन्दन देता है, जिससे हम साँसको खींच सकें या ले सकें, और वही श्वासके रूपमें आता-जाता रहता है। वही हमें जीवन देता है। जिस प्रकार साँसके लिए—जो एक शरीरकी वस्तु है—पूर्ण वायुकी आवश्यकता हो रही है, उसी प्रकार हमारे शरीरमें जो चेतना है, वह व्यक्तिगत होते हुए भी उसे सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्ण चेतनासे भी सत्ता मिलती है, ज्ञान मिलता है और आनन्द मिलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे हम बाहरकी वायुके बिना, समष्टि वायुके बिना, जीवित नहीं रह सकते; साँस नहीं ले सकते वैसे ही हमारी अथवा किसी भी जीवकी चेतना पूर्ण परमेश्वरके साथ सम्बन्ध रखे बिना पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए आप अपने जीवन-कर्मके प्रेरक-रूपमें, निर्वाहकरूपमें और फलदाता-रूपमें परमेश्वरको पहचान लीजिये। स्वयं निकम्मे होकर मत बैठिये। आप धनुर्धारी अर्जुनकी तरह पौरुष पूरा कीजिये। अर्जुन पुरुष है, भगवान् पुरुषोत्तम हैं। पुरुषको अपना पौरुष करना चाहिए और पुरुषोत्तमको प्रेरणा, निर्वाह और फल देना चाहिए। फलके रूपमें चार बातोंका उल्लेख है :

श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिः (18.78)

ये चारों आपके जीवनमें आनी चाहिए। श्री है आनन्द। आनन्दकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए श्रीके रूपमें। श्री एक तो सौन्दर्य है और एक है लक्ष्मी। अपने जीवनमें अन्तःसौन्दर्य, बहिः-सौन्दर्य दोनोंकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। विजय बाहरके शत्रुओंपर भी और भीतरके शत्रुओंपर भी। श्रीमें आनन्द है, विजयमें शौर्य है—वीर्य है। हमें वीर भी होना चाहिए और सुन्दर एवं सम्पन्न भी होना चाहिए। श्रीका अर्थ है—हमारे कर्ममें सुन्दरता हो, शरीरमें सुन्दरता हो, मनमें सुन्दरता हो। विजयका अर्थ—भीतरकी जो वृत्तियाँ हैं, वे हमसे गलत काम न करायें, हमारे काबूमें हों, वशमें हों। काम-क्रोध आदि भी हमारे जीवनमें हों तो वे हमारे अधीन होकर रहें। हम उनके वशमें न रहें, वे हमारे वशमें रहें। जहाँ जरूरत हो वहाँ हम क्रोध करें। सबको 'बाबाजी' होनेकी आवश्यकता नहीं; राष्ट्रपर कोई आक्रमण करे तो वहाँ माला लेकर सामने नहीं जाना चाहिए, बन्दूक लेकर सामने जाना चाहिए। अपना जो शास्त्र है, वैदिक साहित्य है; वह केवल अहिंसाके लिए नहीं और केवल हिंसकोंके लिए भी नहीं। साधनाकी पराकाष्ठा है अहिंसा और क्रूरताकी पराकाष्ठा है हिंसा। विश्व-सृष्टिमें अहिंसा और हिंसाके जो प्रवाह होते हैं, उनमें समत्व रहे हमारी बुद्धि-वृत्तिपर। गीता इस साम्ययोगपर पहुँचाती है, नहीं तो उसमें—

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते। (18.17)
सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ॥ (2.38)

ऐसे प्रसङ्ग क्यों आते?

भारतीय संस्कृति केवल निवृत्ति-प्रधान संस्कृति है और हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना हिन्दू संस्कृति या वैदिक संस्कृति है—ऐसा सोचना बिलकुल गलत है। हमारे वेदशास्त्र केवल धर्मग्रन्थ ही नहीं; अर्थ-ग्रन्थ भी हैं, काम-ग्रन्थ भी हैं, मोक्ष-ग्रन्थ भी हैं। किसी मजहब या मजहबी मर्यादाओंको बतानेके लिए ही वेद-शास्त्र नहीं, बल्कि उनमें धन कैसे कमाना चाहिए और भोग कैसे करना चाहिए—इस विद्याका भी प्रचुरतासे निरूपण है। इसलिए चारों पुरुषार्थोंके ग्रन्थ हैं वेद, उपनिषद्, गीता आदि। इस बातको कभी भूलना नहीं चाहिए।

'श्रीर्विजयो भूति:'में जो भूति है, उसका अर्थ है वैभव। आनन्दका विशेष उल्लास है श्री और सत्ताका विशेष उल्लास है विजय। क्रियात्मक है विजय और द्रव्यात्मक है भूति। वस्तु-रूपसे है विभूति और कर्ममें जो पौरुष है, उसके साथ है विजय। 'ध्रुवानीति' सबके लिए चाहिए। नीति माने नेत्र-नयन-आँख। 'नीप्रापणे' धातु है। नयन क्या करता है? पाँव रखनेको जगह बताता है। हमारे पाँवको जो लेकर चलता है, उसका नाम होता है नयन। नयनवालेको बोलते हैं नेता। उस नेतामें जो नीति है, धर्म है, उसको बोलते हैं नीति। नयन बाहर हैं, नीति भीतर है। गीतामें नेता धनुर्धारी अर्जुन हैं। निश्चय यह हुआ कि मनुष्यके जीवनमें एक स्थिर नीति होनी चाहिए। ध्रुवानीतिका अर्थ है डावाँडोल नीति नहीं चाहिए, योजनाबद्ध स्थिर नीति होनी चाहिए। वैभव भी होना चाहिए और विजय भी होना चाहिए। अन्त:सौन्दर्य और बहि:सौन्दर्य भी ठीक हों और सोचनेमें भी ठीक हों। इस प्रकार संजयने जो छह बातें बतायीं, उनमें श्री, विजय भूति और ध्रुवनीति ये चार तो फलात्मक हैं। पाँचवी 'धनुर्धर:' पौरुषात्मक है। धनुर्धर पौरुष है अर्जुनका और छठी 'योगेश्वर:' है सर्वात्मक अर्थात् समष्टिके साथ सम्बन्ध रखनेवाली। चूँकि ईश्वर सर्वात्मक है इसलिए आप सोच-विचार करते समय केवल व्यक्तिगत स्वार्थ न सोचें, परिवारपर भी दृष्टि रखें, गाँवपर भी दृष्टि रखें, राष्ट्रपर भी दृष्टि रखें। समग्र विश्वपर, समग्र मानवतापर भी दृष्टि रखें। ईश्वर यदि केवल कल्पनाकी वस्तु होगा, आप आँख बन्द करके ही उनके बारेमें सोच सकेंगे और बाहरी दुनियामें उसको देख सकेंगे तो उसका अनुभव कभी नहीं होगा। ठोस दुनियाके साथ मिले बिना, ईश्वर कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। वह जब ठोस दुनियामें मिलेगा, परिवारमें मिलेगा, गाँवमें मिलेगा, जातिमें मिलेगा, मानवताके साथ मिलेगा तब अनुभवका विषय होगा। इसलिए ईश्वरके साथ सम्बन्ध, जीवका पौरुष, अन्त:बहि: सौन्दर्य, भीतरी-बाहरी शत्रुओंपर विजय, वैभव और एक ध्रुवानीति—ये छहों जीवनमें सफलता लानेवाली वस्तुएँ हैं। संजयने अपना यही निश्चय धृतराष्ट्रपर प्रकट किया।

अब जब हम गीताके प्रारम्भमें दूसरी बातपर ध्यान देते हैं तो दुर्योधन और अर्जुन दोनोंके विवेक उपस्थित होते हैं। दुर्योधनके सामने भी सेना है और अर्जुनके सामने भी सेना है। दुर्योधन द्रोणाचार्यको सेना दिखाते हुए कहते हैं—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ (गीता 1.3)

परन्तु विवेककी जो गम्भीरता चाहिए, वह दुर्योधनमें नहीं। वैसे कुछ विद्वान् दुर्योधनको आसुरी सम्पदाका और अर्जुनको दैवी सम्पदाका प्रतीक मानते हैं। दोनोंमें जो अन्तर है वह स्पष्ट है। अर्जुन जब सेना देखते हैं तो पहले भगवान्से बातचीत करते हैं और भगवान् भी अर्जुनके सामने केवल चुपचाप बैठे हुए नहीं। न निर्गुण हैं, न निराकार हैं, न वैकुण्ठनाथ हैं, न गोलोकाधिपति हैं। आप देखें हमारे भगवान्का यह रूप। हमारे भगवान्की जो विविक्त विशेपता है, उसकी ओर देखिये। कहाँ है ऐसी मान्यता कि वह हमारे रथपर सारथि होकर बैठता है। सब जगह ईश्वर हैं पर वे बहुत बड़े हैं और इतने बड़े हैं कि हम केवल उनको हाथ जोड़ सकते हैं, प्रार्थना कर सकते हैं, नमस्कार कर सकते हैं। हफ्तेमें एक बार प्रार्थना कर लें तो भी चले और दिन भरमें पाँच बार नमस्कार करें तो भी चले। नमस्कार अथवा प्रार्थनाके विषय जो परमेश्वर हैं, वे भिन्न-भिन्न धर्मोंमें हैं। हमारा परमेश्वर अपने भक्तके रथपर बैठकर एक वेतनभोगी सारथिके समान काम करता है। यह क्या करुणाका कोई छोटा-मोटा उदाहरण है कि हाथमें घोड़ोंकी बागडोर पकड़े, चाबुक ले, मालिककी जगहपर नहीं, नौकरकी जगहपर बैठे और केवल नौकरकी जगहपर बैठे ही नहीं, आज्ञाका भी पालन करे।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। (1.21)

मानो अर्जुनने पूछा—'सारथि बने हो?'

'हाँ इसमें कोई शङ्का है।' भगवान्ने उत्तर दिया। 'तब पहली परीक्षा तुम्हारी यह होगी कि तुम रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाते हो कि नहीं? कहीं ईश्वरताके आवेशमें तुमने अपने मनसे रथ चलाना शुरू किया तो तुम्हारा सारथि बनना सच्चा नहीं होगा। सारथि बनना तो तब सार्थक होगा जब रथीकी आज्ञाके अनुसार रथ चलाओगे।' भगवान्ने स्वीकार किया।

यह आज्ञा माननेवाले भगवान् हैं। यहाँ आज्ञा देनेवालेका नाम भगवान् नहीं, आज्ञा पालन करनेवालेका नाम भगवान् है। यह भगवान्के स्वरूपकी एक ऐसी झाँकी है, जो आपको संसारमें अन्यत्र मिलनी मुश्किल है। बहुत कठिन है कि ईश्वर आज्ञापालनकारीके रूपमें उपस्थित हो। इसलिए संजयने कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्। (1.24)

भगवान्ने दोनों सेनाओंके बीचमें रथ खड़ा किया। जब कोई बीचमें नहीं होगा, मध्यस्थ नहीं होगा, तटस्थकी तरह दोनों पक्षोंका विचारक नहीं होगा, तब वह एक पक्षका पक्षी हो जायेगा, पक्षपात आजायेगा उसमें।

सत्यके ज्ञानके लिए तटस्थ-दृष्टि होना बहुत ही आवश्यक है। जब हम एक पक्षमें आरूढ़ होकर किसी वस्तुको देखते हैं तब उसके स्वरूपको ठीक नहीं देख पाते। जिस वस्तुके साथ '**मैं**' और '**मेरा**' जुड़ता है, उधर पलड़ा भारी हो जाता है और हम उसीकी ओर झुक जाते हैं, नीचे चले जाते हैं। जब हम '**मैं-तेरा**' जोड़े बिना किसी वस्तुको ठीक-ठीक देखते हैं तभी उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। दो वस्तुएँ हमारे सामने अपना स्वरूप तभी प्रकट करती हैं, जब हम दोनोंके प्रति त हों। नहीं तो एक वस्तु अपने पक्षका न

मानकर अपना हृदय नहीं दिखायेगी और दूसरी वस्तु कहेगी कि यह मारे पक्षका है इसलिए आओ इसको अपनी लपेटमें ले लें। अत: भगवान् अर्जुनका रथ वहाँ खड़ा करते हैं, जहाँ दोनों पक्षोंको बराबर देख सके, उसके भीतर ठीक-ठीक दृष्टि आजाये।

अब आप अपनी दृष्टि दुर्योधन और अर्जुन दोनोंकी विचार-पद्धति, विचार-सरणिपर डालिये। दुर्योधनका कहना है कि यहाँ जो सेना इकट्ठी हुई है, वह सब मेरे लिए मरनेको इकट्ठी हुई है—**मदर्थे त्यक्तजीविता:**। ये सब मर जायें, हमारी जीत हो जाये, हम महाराजा बन जायें; इसके लिए सब इकट्ठे हुए हैं। किन्तु अर्जुनका दृष्टिकोण है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगा: सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ (गीता 1.33)

जिनके लिए मैं राज्य और भोग-सुख चाहता हूँ वे ही युद्ध-भूमिमें मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। जब ये ही मर जायेंगे तो मैं राजा होकर क्या करूँगा? जब जनता ही नहीं रहेगी तो मैं जनेश्वर किस कामका?

अर्जुनका दृष्टिकोण यह है कि मैं भले राजा न होऊँ, मुझे भिक्षा माँगकर भी जीवन व्यतीत करना पड़े, परन्तु प्रजाका कल्याण हो, जनताको राज्य मिले, भोग मिले, सुख मिले। मैं सबका त्याग करनेके लिए उद्यत हूँ। सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाका जो वर्णन है, उसका सारा ही अर्थ गीताके पहले अध्यायमें आगया है। जो दैवी सम्पदाके गुण हैं, वे अर्जुनमें मिलेंगे और जो आसुरी सम्पदाके दोष हैं, वे दुर्योधनमें मिलेंगे। सोलहवें अध्यायमें तो केवल गुण-दोषोंका उल्लेख है, उनकी गिनती करायी गयी है, परन्तु उनका उदाहरण गीताके पहले अध्यायमें ही प्राप्त होता है।

अब विषादकी बात लीजिये। दुर्योधनको तो विषाद नहीं, वह तो बहुत हर्षमें है कि हमारे पास बड़ी सेना है, श्रीकृष्णकी भी सारी सेना हमारे पक्षमें आगयी है, हम पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करेंगे और राजा बनेंगे। परन्तु अर्जुनके हृदयमें प्रसाद नहीं, विषाद है।

एक बात ध्यान देने योग्य है। विषादको योग माना गया—'विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय:'। गांधीजीने अनासक्ति योगकी चर्चा की, तिलकने कर्मयोगकी चर्चा की, रामानुज, मध्वने भक्तियोगकी चर्चा, शङ्कराचार्यने ज्ञानयोगकी चर्चा की, पर यह गीताका पहला अध्याय जिस विषाद-योगको लेकर आया है उसकी तो किसीने व्याख्या ही नहीं की। विषाद भी योग है। जिसको अपनी स्थितिसे, गतिसे, मतिसे, असन्तोष नहीं होगा, वह उससे निकलनेका प्रयास ही नहीं करेगा। इसीसे पहले वैराग्य होता है, फिर जिज्ञासा होती है। ज्ञान होता है—वैराग्यके लिए भी, राग-द्वेषसे मुक्त होनेके लिए भी। जिस स्थितिमें हम पड़े हैं यह सम्पूर्ण नहीं यह ज्ञात होना आवश्यक है। अर्जुनको अपनी स्थितिका बोध है और इतना प्रबल वेग है बोधका, इतना प्रबल संवेदन है कि वह विचलित हो उठा है।

मनुष्यके मनमें जब उद्वेग होता है तब वह शरीरमें भी प्रकट होता है। क्रोध आनेपर आँखे लाल होती हैं। काम आनेपर शरीरमें उत्तेजना होती है। भोजनकी लिप्सा होनेपर जीभमें पानी आता है। प्रत्येक भाव जो

पहले मनमें आता है, वह स्थूल होकर शरीरमें प्रकट होता है। इसलिए हमारे महात्माओंका कहना है कि कोई भी अपनेको छिपाकर, गुप्त नहीं रख सकता। उसके मनोभावमें जब तीव्र संवेदनकी उत्पत्ति होगी तब वह किसी-न-किसी रूपमें प्रकट हो जायगी। जोरसे हँसना, आँखमें आँसू आना, हाथ-पाँवका काँपना, आँखका लाल होना, ये सब मनोभावोंकी ही तो अभिव्यक्ति है।

तो अर्जुनकी जो विवेक-शक्ति थी, उसने इतने तीव्र सम्वेगका रूप ग्रहण किया कि उसका शरीर फटने लगा और वह कह उठा :

सीदन्ति मम गात्राणि : मेरा शरीर (फट) रहा है।

मुखं च परिशुष्यति : (1.18) मेरा मुँह सूख रहा है।

वेपथुश्च शरीरे मे : मेरे शरीरमें कम्पन हो रहा है।

रोमहर्षश्च जायते (1.29) : मेरे रोयें खड़े हो गये हैं।

ये सब ज्वरके लक्षण हैं। अर्जुनका जो विषाद है, वह तीव्र विषाद है, मृदु विषाद नहीं। उसकी विवेक-शक्ति जाग्रत् हो गयी है कि जो काम वह करने जा रहा है उसका परिणाम क्या होगा? जो लोग परिणामको समझे बिना ही कोई काम करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं, उन्हें अर्जुनकी स्थितिपर ध्यान देना चाहिए। परिणामका ज्ञान मनुष्यको धैर्य भी देता है, विवेक भी देता है।

परिणामजन्य स्थिति क्या होगी, यह देखनेकी बात है। अर्जुनकी दृष्टि जो परिणामपर गयी, वह यह सूचित करती है कि कोई भी काम केवल प्राप्त होनेसे ही नहीं कर लेना चाहिए उसके परिणामपर भी दृष्टि रखनी चाहिए। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब अर्जुनका विवेक जाग्रत् हो गया तब विषाद-योग क्यों? यदि हम संसारमें रो-धोकर किसीके पास जाते हैं तो हमारे जैसे ही हाथ-पाँव, हमारे जैसे दिल-दिमाग, हमारे जैसी ही अक्ल-शक्लवाले ऐसे मनुष्यके पास जानेसे विषाद-योग नहीं होता। विषाद-योग तब होता है—जब हम सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके अन्तर्यामीके सामने उपस्थित होते हैं—अपने मनको उनकी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

वास्तवमें ईश्वर कहीं दूर नहीं। आप बैठे हैं और आपकी बुद्धि विवेक कर रही है। बुद्धिके पीछे बैठकर उसका संचालन कर रहा है परमेश्वर।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।

आप ईश्वरको देखिये, ईश्वरको पहचानिये। आप साँस ले रहे हैं पर साँसको शक्ति देनेवाला जो वायु-तत्त्व है, वह बाहर और भीतर परिपूर्ण है। समष्टिके साथ सम्बन्ध रखे बिना व्यक्तिका जीवन ही नहीं रहता। हम, जो बुद्धिके सामने हैं, उसको तो देखते हैं परन्तु जो बुद्धिके पीछे हैं उसको नहीं देख पाते :

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च

जिससे स्मृति होती है, जिससे ज्ञान होता है, जिससे अपोहन होता है; उसे हम नहीं देख पाते—यद्यपि वह है हमारे और हमारी बुद्धिके बीचमें ही, वह अन्तर्यामी बनकर बैठा है :

धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद. 3.62.10)

यह गायत्रीका मन्त्र रोज जप करनेवाले भी इस बातपर ध्यान नहीं देते कि हमारी बुद्धि-वृत्तिकी प्रेरणा वही दे रहा है। अत: अपनी बुद्धिको जरा उसके प्रेरककी ओर उन्मुख कर दीजिये। तब आप और प्रेरक दोनों एक हो जायेंगे। जबतक बुद्धि विषयोंको देखती है तबतक वह विषयाकार होती रहती है और जहाँ बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर हुआ, वहाँ ईश्वरकी गोदमें बुद्धि हो गयी और हमारी गोदमें ईश्वर और बुद्धि दोनों हो गये। ईश्वरको आप नहीं भी मान सकते, और मान भी सकते हैं। परन्तु अपने आपको न माननेका कोई कारण आपके पास नहीं, किसी भी अवस्थामें आप आत्म-सत्ताको अस्वीकार नहीं कर सकते।

ईश्वरने कहा : भाई मुझे मानो चाहे न मानो। कोई भी ऐसा दबाव भला क्यों डालेगा, कि हमको तो मानना ही पड़ेगा। ईश्वरने भी अपनी तरफसे कोई दबाव नहीं डाला कि हमको मानो। परन्तु जब आप एकबार अपनी बुद्धिका मुँह अपनी ओर मोड़ लेंगे तब वह आपकी ओर देखने लगेगी और आपको यह बोध प्रदान करेगी कि ईश्वर ही बुद्धि-योग देता है : **ददामि बुद्धियोगम्।**

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता 10.11)

जब बुद्धिका मुँह ईश्वरकी ओर होता है तब ईश्वर अज्ञानको मिटा देता है और जब अज्ञान मिट जाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा और ज्ञानस्वरूप ईश्वरमें किसी प्रकारके भेदकी उपलब्धि नहीं होती। वह विषाद भी योग है जो संसारमें बिखरनेवाले और जन-जनकी शरणमें जानेवाले हमारे मनको भगवान्‌में संलग्न करता है। कितना पराधीन है वह जीवन जो सोचता है कि अमुक वस्तुके बिना मैं नहीं रह सकता। एक जड़ वस्तु—उसका नाम कुछ भी रख लो। आपलोग मुझसे बहुत ज्यादा जानते हैं कि वे कौन-सी वस्तुएँ हैं, जिनके बारेमें आप सोचते हैं कि हम उनके बिना नहीं रह सकते। हम एक-एक वस्तु, एक-एक कणके पास तो जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते।

कालके टुकड़े, क्षण-क्षणके पास जायें कि तुम्हारे बिना हम नहीं रह सकते। धरतीके चप्पे-चप्पेके पास जायें कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते। एक-एक व्यक्तिके पास जायें, हाथ जोड़ें शरण-ग्रहण करें, किन्तु सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो संचालक है, उसपर हमारा ध्यान न जाये, हम उसकी शरण न लें—यह तो हमारे अभिमानकी पराकाष्ठा है। इस दुनियामें जितनी चोटें लगती हैं, जितने भी चपत लगते हैं, वे आत्माको नहीं लगते, ईश्वरको भी नहीं लगते, बल्कि वह सब हमारे अभिमानको ही लगते हैं। भगवान्‌ने चोट और चपत खानेके लिए अभिमानको ही बनाया है।

वह विषाद भी योग है, जिसके द्वारा हम कण-कणकी, क्षण-क्षणकी, जन-जनकी और मन-मनकी शरण लेना छोड़कर एक सर्वशक्ति-सम्पन्न सर्वज्ञ परमेश्वरकी ओर देखने लगते हैं और अन्तमें कह देते हैं :

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

शिष्यका अर्थ शिक्षा देने योग्य नहीं होता, संस्कृत भाषामें शिष्यका अर्थ होता है शासन करने योग्य। जिस धातुसे शिष्य शब्द बनता है उसके अनुसार जो शिष्य है वह ईश्वरसे कहता है कि 'आप हमको शिक्षा

मत दीजिये, आज्ञा दीजिये, हमारे ऊपर शासन कीजिये। क्योंकि मैं अहंभाव छोड़कर आपकी शरणमें आया हूँ।'

प्रपन्न और शरणागतमें थोड़ा अन्तर होता है। श्रीवैष्णव धर्ममें प्रपत्ति और शरणागति दो वस्तु मानी जाती हैं। गीताके आरम्भमें प्रपत्ति है और अन्तमें शरणागति। प्रपन्नका अर्थ इस प्रकार होता है कि जैसे हमारे पाँवके दो हिस्से होते हैं। ऊपरके हिस्सेको बोलते हैं प्रपद—पंजा और जो निचला हिस्सा है, उसको तलवा बोलते हैं। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि मैंने आपके पाँवका पंजा—प्रपद पकड़ लिया। प्रपत्तिमें अपनी पकड़ है, वैसे ही जैसे वानरका बच्चा अपनी माँकी छाती पकड़ लेता है। पकड़ उसकी अपनी होती है, नहीं पकड़ेगा तो गिर जायेगा। शरणागति होती है बिल्लीके उस बच्चेकी तरह जिसको वह अपने मुँहमें ले लेती है। श्रीवैष्णव लोगोंने प्रपत्ति और शरणागतिके ये दो दृष्टान्त दिये हैं। शरणागतिमें सम्पूर्ण निर्भरता होती है और प्रपत्तिमें अपनी ओरसे भगवान्‌की पकड़ होती है।

'शिष्यस्तेऽहं'—यह विषाद अर्जुनके जीवनमें कितनी उच्च-कोटिकी वस्तु है, जिसने उसको भीष्म अथवा द्रोण जैसे गुरुजनोंकी शरणमें नहीं जाने दिया। उन्होंने अपने महाराजा और बड़े भाई युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मासे भी सलाह नहीं ली। वे गये अपने जीवन रथपर, शरीर-रथपर आरूढ़ अपनी बुद्धिकी बागडोर पकड़े हुए और हाथमें चाबुक लिये हुए सारथि स्वरूप भगवान्‌की शरणमें। सारथिका अर्थ चलानेवाला होता है—'सारयति अश्वान् इति सारथिः'। जो संचालन करे, उसका नाम सारथि। वास्तवमें भगवान् ही हमारी बुद्धिमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे हमारा संचालन करनेके कारण हमारे सच्चे सारथि हैं। यह आता है—**'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'** (क० 1.3.3) बुद्धिमें बैठे हुए अन्तर्यामी जो ब्रह्म हैं वे ही सारथि हैं। **'इन्द्रियाणि हयान्याहुः'** (1.2.4) इन्द्रियाँ हय हैं। **शरीरथ्ठंरथमेव तु** शरीर रथ है और **धनुर्गृहीत्वा** (मुण्डक 2.2.3) इस धनुषपर अपने आपको ही बाणके रूपमें चढ़ाना पड़ता है, आत्मबलि करनी पड़ती है। यह आत्मबलि ही शरणागति है। तब मनुष्य स्वयं लक्ष्यका वेध नहीं करता, उसके द्वारा स्वयं भगवान् ही लक्ष्यभेद करते हैं। अतः जो प्रभु सम्पूर्ण विश्वकी बुद्धिके सञ्चालक हैं उनको अपना सच्चा हितैषी मानकर अभिमान छोड़कर उनकी सहायता प्राप्त करनेके लिए अपने जीवन-रथका सारथि स्वीकार कर लिया जाये और अपने जीवनकी बागडोर उनके हाथोंमें दे दी जाये तो हमारे लिए भी—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। (2.7)

की सार्थकता सिद्ध हो जायेगी।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तमन्यो भवेत्॥ (मुण्डक 2.24)

●

प्रवचन : 2

(17-11-1974)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके रथपर सारथि-रूपसे एक हाथमें घोड़ोंकी बागडोर और चाबुक पकड़ ली। इसका अर्थ है कि उनके एक हाथमें पूरा शासन है और उनका दूसरा हाथ ज्ञान-मुद्रामें है। तात्पर्य यह कि ज्ञान और शासन ये दोनों तो हैं भगवान्के हाथोंमें और स्वयं भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात, उदारशिरोमणि। किसी प्रकारका कार्पण्य उनमें नहीं। यह ईश्वरका लक्षण है कि वह परम उदार है, ज्ञान दे रहा है और शासनकी बागडोर उसके हाथमें है। उसने इस गीता-रूपी अमृतका दोहन किया है। जरा ध्यान कीजिये पार्थसारथि, प्रपन्न-पारिजात, तोत्रवेत्रैकपाणि भगवान्का, जिनके एक हाथमें तोत्र—घोड़ोंकी बागडोर और वेत्र—चाबुक है तथा दूसरे हाथमें ज्ञानकी मुद्रा है।

अब तीन बात गीतामें आनी चाहिए। शरणागतवत्सल भगवान् हैं प्रपन्न-पारिजात। अर्जुन-प्रपन्न हैं और भगवान् पारिजात अर्थात् कल्पवृक्ष हैं—अर्जुनरूप प्रपन्नके लिए। उनसे जो चाहो सो मिलेगा। मनका नियन्त्रण-इन्द्रियोंका शासन उनके हाथमें है और वे ज्ञान-दाता हैं। इस प्रकार गीता-अमृतमें ये तीनों बातें आयीं।

भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृतिमें ज्ञान दो तरहका माना गया है—एक अनुभव-स्वरूप ज्ञान और दूसरा अनुभवजन्य ज्ञान। ये वेद, उपनिषद् आदि जो ग्रन्थ हैं—इनमें मन्त्र हैं, श्लोक हैं, परन्तु ज्ञानका जो स्वरूप ये मानते हैं वह स्वयं अनुभव है, ब्रह्म है, आत्मा है, परमात्मा है। इस संसारमें इस ज्ञानस्वरूपको ध्यानमें रखकर कोई धर्म-ग्रन्थ नहीं बना। इसका अर्थ यह है कि पुरुषने अपने अनुभवसे ज्ञानको इकट्ठा करके फिर उसका वर्णन नहीं किया। संसारका अनुभव होनेसे पहले जो ज्ञान-स्वरूप आत्मा था वह ज्यों-का-त्यों ज्ञान ही था। अनुभव—अखण्ड ज्ञान ही था जगत्के मूलमें। ज्ञान सब-का-सब दिया हुआ है कि देनेके पहले भी कुछ था? बड़ी अद्भुत बात है कि ज्ञानका स्रष्टा ईश्वर भी नहीं होता। यदि हम मानें कि ईश्वरने ज्ञान बनाया है, तो प्रश्न उठता है कि ईश्वरने ज्ञान कैसे बनाया? ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी? यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर ज्ञानी था तो ज्ञान था ही। यदि ज्ञान बनानेसे पहले ईश्वर अज्ञानी था तो वह ज्ञान कैसे बनायेगा? इसलिए एक ज्ञान ऐसा है, जो ईश्वरका बनाया हुआ नहीं। उसी ज्ञानसे ईश्वरका पता चलता है। इसको हम लोग अपनी भाषामें अपौरुषेय ज्ञान बोलते हैं। वेद क्या है? यह पुरुष बनाया हुआ ज्ञान नहीं। जिस ज्ञानसे पुरुष बना है—वह ज्ञान है। इस ज्ञानमें जीव और ईश्वर दोनों प्रकट होते हैं।

एक उपनिषद्-ज्ञान है और एक गीता-ज्ञान है। गीता-ज्ञान श्रुति नहीं, स्मृति है। यह बात सब आचार्योंको मान्य है। शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, शैव, शाक्त सब मानते हैं कि गीता स्मृति-ज्ञान है, श्रुति-ज्ञान नहीं। श्रुति-ज्ञानके अनुसार होनेपर भी यह है स्मृति। 'ब्रह्मसूत्र'में कोई छह-आठ बार स्मृतिके नामसे गीताका उल्लेख है। स्मृति कहनेका अभिप्राय क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण बड़े अनुभवी पुरुष हैं। मनुष्यको सुख-दुःखमें जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए, यह उन्होंने अपने अनुभवसे हमें समझाया। आप लोग व्रजके रसिया गीतोंको

सुनकर यह न समझें कि गाने-नाचनेमें ही उनका जीवन व्यतीत हुआ। संघर्षोंका बड़ा तगड़ा अनुभव है श्रीकृष्णको। पैदा होनेके पहले उनके माँ-बाप जेलखानेमें थे। छह भाई मर चुके थे। पैदा होते ही उन्हें पराये घरमें जाना पड़ा। सम्पन्न घरानेका बालक होनेपर भी उन्होंने गाय चरा-चराकर अपना जीवन व्यतीत किया। उन्हें जहर खाना पड़ा—पीना पड़ा। छकड़ेके नीचे दबना पड़ा। तूफानका सामना करना पड़ा। पानीमें डूबना पड़ा। अजगरके मुँहमें जाना पड़ा। बड़ी भारी बाढ़का, बड़ी-बड़ी आपित्तयोंका, विपत्तियोंका सामना किया श्रीकृष्णने। मथुरा लौटे तो पहले मामाको ही मारना पड़ा। मामाको मारनेके बाद सत्रह बार दुर्गका युद्ध करना पड़ा। उनके गाँवपर, नगरपर दुश्मनसे चढ़ाई की और किलेमें रहकर उन्होंने सामना किया। यह नहीं कि हमेशा जीतते ही रहे हों, शत्रुके सामने उनको भागना भी पड़ा, गुफामें जाकर छिपना भी पड़ा। आप लोगोंने तो श्रीकृष्णका चरित्र पढ़ा ही है। वे भगवान् हैं यह दूसरी बात है। जरा दूसरी दिशासे भी देखिये—जिसको हम भगवान् कहते हैं वह कितनी मुश्किलोंमें-से गुजरता है।

महाभारतमें वर्णन आता है कि जब जरासन्धने मथुरापर अट्ठारहवीं बार चढ़ाई की तब श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर भागे। जीवनमें कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि आदमीको अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ती है; गाँव छोड़ना पड़ता है। वर्णन है कि भागते समय श्रीकृष्ण और बलरामके पैरोंमें जूते नहीं थे, खड़ाऊँ नहीं थी। दोनों एक-एक धोती पहने हुए भागे थे। वे भागते हुए ऋषियोंके आश्रममें जा-जाकर सत्सङ्ग करते और प्रसाद पाते। एक पहाड़पर चढ़े तो वहाँ भी उन्हें घेरकर आग लगा दी थी। किसी तरह आगकी लपटोंसे बचकर निकले तो समुद्रमें जाकर अपना नगर बसाया। बुआके पाँच बच्चे घरसे निकाल दिये गये। राजा थे तो क्या हुआ उन्हें अपनी बहन सुभद्राका अपहरण करवाना पड़ा। बाल-बच्चे सब-के-सब उनके सामने लड़ मरे। यदि आप उनके जीवनको एक साधारण मनुष्यका जीवन मानें तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि इस आदमीकी जिन्दगी तो रोते-रोते ही गुजरी होगी। सचमुच श्रीकृष्णके जीवनमें दुःखके निमित्तोंकी कमी नहीं, वे दिन-रात विलाप कर सकते थे कि हाय-हाय हमारा तो सब-का-सब चौपट हो गया। परन्तु उनके जीवनकी विशेषता है कि उन्होंने कभी शोक नहीं किया।

अब आप जरा यह अनुभव करें कि श्रीकृष्णने हम लोगोंको क्या दिया है? स्मृतिका अर्थ होता है अनुभवजन्य ज्ञान—यह स्मरण कि पहले जब ऐसी घटना घटी तब मैंने उसका सामना कैसे किया? जिस प्रकार कोई यह रजिस्टर बना ले कि अमुक रोग आनेपर मैंने अमुक दवा ली और अमुक समस्या आनेपर अमुक समाधान किया, उसी प्रकार गीता भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है, रजिस्टर है। इसमें इन्होंने जो संसारके सब धर्मोंसे विचित्र बात कही है, मैं केवल उसीकी तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ। किसी भी मजबही किताबमें बुद्धिके लिए कोई स्थान नहीं, वह होती है विश्वास करनेके लिए। उदाहरणके लिए मनुस्मृति लीजिये। धर्मात्मा लोग कहते हैं चूँकि मनुस्मृतिमें लिखा हुआ है इसलिए आपको ऐसा करना चाहिए। एकादशीको ही व्रत क्यों रखा जाता है दशमीको क्यों नहीं रखा जाता? यह पूछनेपर बताते हैं कि भाई! हमारे धर्म-ग्रन्थकी ऐसी ही मर्यादा है, आज्ञा है। इस प्रकारके विश्वासका तेपादन अन्य धर्मग्रन्थोंमें भी है,

चाहे कुरानशरीफ हो या बाइबिल हो। यह बात मैं जानबूझकर बड़ी दृढ़तासे कह रहा हूँ। मैंने कुरानशरीफ पढ़ी है, बाइबिल भी बाँच ली है। गुरुग्रन्थ-साहब भी देख लिया है। अपने जो भारतीय संस्कृतिके ग्रन्थ हैं उनका तो गिनना ही कठिन है।

गीताका कहना है कि तुम्हारे जीवनमें कैसी भी परिस्थिति क्यों न आजाये, अपनी बुद्धिको डाँवाडोल मत होने दो। बुद्धिका जितना आदर गीतामें है उतना आदर संसारके किसी भी धर्म-ग्रन्थमें नहीं। तुम अपनी बुद्धि मत खोओ। अपनी बुद्धिकी शरण लो। अगर काममें, क्रोधमें, लोभमें तुम्हारी बुद्धि बिगड़ती है तो उसे सँभालो। जहर खानेसे शरीर बिगड़ता है; पर कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जिनके खाने-पीनेसे बुद्धि बिगड़ती है। हम खाने-पीनेकी चीजोंका नाम तो नहीं गिनाते क्योंकि हम धर्मशास्त्री नहीं और न धर्मशास्त्रकी ओरसे आपको उपदेश कर रहे हैं। जिस वस्तुसे आपकी बुद्धिमें कोई त्रुटि आती हो, उसे आप अपने खाने-पीनेसे दूर रखें। शरीरको जहर खाता है और बुद्धिको नशा। तो थोड़ा-सा सँभलके रहना चाहिए। **न शं यया**—जिससे कभी शान्ति नहीं मिलती उसका नाम नशा है। 'शा' माने शान्ति और 'न' माने नहीं। नशा-शान्तिका साधन नहीं।

अब कीजिये गीतामें श्रीकृष्णका अनुस्मरण। अर्जुन हो गये दु:खी और सो भी साधारण नहीं—

विसृज्यं सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः। (1.47)

उनका मानस, उनकी सारी मनोवृत्तियाँ, मनके सारे आकार-प्रकार, संस्कार-विकार शोकसे संविग्न हो गये—उनमें शोककी लहरें उठने लगीं। उन्होंने धनुष-बाण फेंक दिया, अपने प्राप्त कर्त्तव्यसे विमुख होकर बैठ गये—**रथोपस्थ उपाविशत्।**

श्रीकृष्णने कहा—भाई! दु:ख तो सबके जीवनमें आता है, उद्वेग भी आता है। सृष्टिमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसके सामने दु:खके प्रसङ्ग न आये हों। यहाँ तक कि भगवान् रामके घरमें भी दु:ख आगया। तो उसके लिए तैयारी चाहिए। जन्म होता है, वियोग होता है, मृत्यु होती है, सम्पदा आती-जाती रहती है। इन परिस्थितियोंमें यदि हम ठीक हों तो सब ठीक रहेगा।

रक्षत रक्षत कोषानाम् अपि कोषं हृदयम्।
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं हि सुरक्षितं भवति॥

खजानोंका खजाना है अपना दिल। अगर इसको आपने बचाकर रखा है तो सब बचा रहेगा, भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भाई अर्जुन! तुम्हारी निराशा है वह बेमौकेकी है। दु:ख आनेसे मनुष्य निराश हो जाता है और उसका उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। जब वह चलेगा नहीं तो अपने लक्ष्यपर पहुँचेगा कैसे? इसीसे हमारे महात्माओंने कहा कि जो मार्गमें चलता है उसका पाँव फिसल सकता है। गिरनेमें उसका अपराध नहीं, गिरकर न उठना अपराध है और उठकर न चलना अपराध है। अपराध तो वहाँ होता है जहाँ सिद्धि न हो। राधा माने सिद्धि और अपराध माने राधारहित—सिद्धिरहित।

अपगता राधा यस्मात् असौ अपराधः।

संस्कृत भाषामें एक श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है—

क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

महापुरुषोंके जीवनमें जो कर्मकी सफलता है वह उनके सत्त्वमें निवास करती है, सामग्रीमें नहीं। उनके पास कितना उपकरण है, कितनी पूँजी है, कितने साथी हैं, इससे सफलता नहीं मिलती। सफलता इससे मिलती है कि उसका सत्त्व कैसा है? जब इस श्लोकके अर्थका विचार हुआ तब हमारे गुरुके गुरु—परमगुरु श्री शिवकुमारजी शास्त्रीने बताया कि सत्त्वका अर्थ अन्त:करण नहीं होता कि उसमें सिद्धि है। सत्त्वका मतलब धैर्य या सहनशीलता भी नहीं कि सहते जाओ सिद्धि मिलेगी। सत्त्व माने सत्त्वगुण भी नहीं कि सत्त्वगुणी बन जाओ सिद्धि मिलेगी। तब सत्त्व माने क्या है? सत्त्व माने उत्साह। यह अर्थ उनको अपने गुरुओंसे प्राप्त था। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। साहित्यिक लोग इस बातको जानते हैं कि हमारे जीवनमें वीररस कैसे आ सकता है। जब उत्साह होगा तभी हम शत्रुको मार सकते हैं, मैदान फतहकर सकते हैं, सफलता प्राप्तकर सकते हैं। जीवनमें यदि उत्साह ही भंग हो गया तब मर्द कहाँ रहे—नपुंसक हो गये। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैवत्त्वय्युपपद्यते। (2.3)

नपुंसक मत बनो। जिसके जीवनमें काम करनेकी ढिठाई नहीं, धृष्टता नहीं, उसको संस्कृत भाषामें क्लीब बोलते हैं। क्लीब माने नपुंसक। इसलिए श्रीकृष्णने संकेत दिया—केवल भगवान्‌के नाते ही नहीं, सालेके नाते भी कि 'अर्जुन! नपुंसक मत बनो।' तुम्हारे जीवनमें यह हृदयकी जो क्षुद्र दुर्बलता है, वह तुम्हारी कमजोरी है। यह कमजोरी भी कोई मामूली नहीं, क्षुद्र है, स्वीकार करने योग्य नहीं—

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं।

यहां क्षुद्रं विशेषण है दौर्बल्यंका। अत: भगवान् कहते हैं कि इस क्षुद्र दौर्बल्यका परित्याग करो और उठो। अब आप बुद्धिमानीकी बातपर फिर ध्यान दें—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः। (2.49)

भगवान् कहते हैं कि यह प्रथम वचन है, बुद्धिकी शरणमें जाओ। गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है, एक तो **बुद्धौ शरणमन्विच्छ**।

दूसरे स्वयं भगवान्‌ने अपना नाम शरण बताया है—**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्** (9.18)। इस एक ही श्लोकमें भगवान्‌ने अपने बारह नाम बताये हैं।

तीसरे **तमेव शरणं गच्छ**—ईश्वरकी शरणमें जाओ।

चौथे **मामेकं शरणं व्रज** केवल मेरी शरण ग्रहण करो। इस प्रकार गीतामें शरण शब्दका चार बार प्रयोग हुआ है। यदि इन चारोंमें कोई अन्तर नहीं; तो—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ यद्यपि यहाँ भगवान् अपना नाम लेकर अपनी शरणमें आनेके लिए नहीं कहते तथापि बुद्धिमें बैठे हुए हैं भगवान् वासुदेव। आपकी बुद्धि जब निष्पक्ष होती है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होती है, शुद्ध होती है तब वासुदेव अपनी बुद्धिमें ही प्रकट होकर अपना ज्ञान प्रदान करते हैं। इसलिए **बुद्धौ**

शरणमन्विच्छका तात्पर्य भी बुद्धि-प्रदाता भगवान्‌की शरणमें जाना ही है। क्या कोई धर्म-ग्रन्थ आपको यह छुट्टी दे सकता है कि आप बुद्धिकी शरणमें आओ? वह तो कहेगा—

धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
बुद्धं शरणं गच्छामि।

धर्मकी शरणमें जाओ। समाजकी शरणमें जाओ। आचार्यकी शरणमें जाओ।

ईश्वरको जाने बिना जो मर जाता है वह कृपण है—

एतदक्षरं अविदित्वा..........स कृपणः। (वृहदा० 3.8.10) यह उपनिषद्‌में कृपणकी परिभाषा है।

यदि यह कहो कि भगवान्‌ने मामूली तरहसे बुद्धिकी प्रशंसाकर दी होगी तो ऐसी बात नहीं। इतनी प्रशंसा सारी गीतामें किसी दूसरी वस्तुकी है ही नहीं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि बुद्धिकी शरण लेनेसे फायदा क्या है? इसका उत्तर यह है कि बुद्धिकी शरण ग्रहण करनेसे पाप और पुण्यका झगड़ा मिट जाता है जो आपके सामने बहुत बार आता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (2.50)

गीता बोलती है कि सुकृत माने पुण्य और दुष्कृत माने पाप। यदि आप बुद्धिमान् होंगे तो पाप और पुण्यको यहीं छोड़ देंगे और उसे अपने आत्माके साथ नहीं जोड़ेंगे। यही परिभाषा पाप और पुण्यसे मुक्त होनेकी है और यही सुख-दुःखसे छूटेनेकी युक्ति है—**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि।** यदि आप बुद्धियोगी होंगे, बुद्धियुक्त होंगे, मनीषी होंगे तो कर्मके जो सुख-दुःखात्मक फल आते हैं उनमें बचकर निकल जायँगे। सुख आनेपर सुखी नहीं होंगे और दुःख आनेपर दुःखी नहीं होंगे। यहाँ मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्णको इसका पूरा अनुभव है। **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः**—दुःख चाहे आयें चाहे जायें अपने मनको उद्विग्न मत होने दो, और **सुखेषु विगतस्पृहः**—सुखमें मनको फँसने मत दो। अपने मार्गपर चलते-चले, चरैवेति-चरैवेति। अगर सुख दाहिने छूटता है तो दुःखको बायें छोड़ो और बिलकुल सीधे तीरकी तरह चलो। तुम्हारे सुख-दुःख पीछे रह जायें और तुम आगे बढ़ जाओ। पीछे छूटे हुए सुख-दुःखकी याद करनेकी कोई जरूरत नहीं। प्रकृतिका यह नियम है कि उनकी याद रहती भी नहीं। पहली चोट बड़ी भयंकर लगती है और वही दो दिन, तीन दिन, चार दिनके बाद उतनी भयंकर नहीं लगती। प्लेगके दिनोंमें मैंने देखा था कि पहला मुर्दा जितना भारी पड़ा बादमें वह सामान्य हो गया। रोज-रोज पाँच, दस, तीस मुर्दे सामने पड़े रहते और लोग कहते कि पहले कुछ खा लें तब ले चलेंगे।

तो सारा दुःख पहली चोटका ही होता है। यदि हम उसे सह लें तो वह साधारण हो जाता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

शीतोष्णसुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः। (12.18)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख-सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (2.15)

यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते—तात्पर्य यह है कि गीता अमृत है और हम उससे अमृतत्वकी प्राप्ति करके बुद्धिका आश्रय लेनेपर सुख-दुःखसे, पाप-पुण्यसे छुटकारा पा सकते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको उसके कान तकलीफ नहीं देते—यह भी गीतामें है—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ (2.53)

कानोंने हमें बहुत तकलीफ दी है। हम कर्णजीवी-श्रुतिजीवी हो गये हैं और हमारी बुद्धि श्रुतिविप्रतिपन्ना हो गयी; तो मैं बुद्धिकी चर्चा कर रहा हूँ—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (2.52)

—ऐसे और भी कई प्रसङ्ग हैं। भगवान् श्रीकृष्णने बुद्धि शब्दका प्रयोग एक प्रसङ्गमें पाँच बारसे भी अधिक किया है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (2.52)

तो तुम सुनी हुई बातोंमें फँस गये हो और आगे भी न जाने क्या-क्या सुननेको मिलेगा—**श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च**। अभी तो यह सुनना बाकी है, वह सुनना बाकी है। यह सुना है, वह सुना है। इसमें तुम्हें मोह हो गया है। आगे ऐसी खबर सुननेको मिले, इसका भी मोह है और ऐसी-ऐसी खबरें पहले सुनी हैं, उनका भी मोह है। यह मोह दलदल है। तुम्हारी बुद्धि मोहके इस दलदलमें न फँसे। संस्कृतमें 'मोह' शब्दका अर्थ है चित्तका विपरीत हो जाना। जब अपना मन ही अपनेको दुःख देने लगे तो समझ लो वह मोहका परिणाम है। एक आर्यसमाजी सज्जन हैं। वे लोग ज्योतिषको नहीं मानते; मुहूर्त नहीं मानते। फिर भी उन्होंने यह निश्चित किया कि उनके बेटेका विवाह नौ बजे वैदिक रीतिसे होगा, सात बजे बारात निकलेगी, आठ बजे पहुँचेगी और द्वारचार होगा। किन्तु बाजेवाले समयसे नहीं आये, बारात नहीं निकली। आठ बजते-बजते वे सज्जन बिल्कुल व्याकुल हो गये, पाँव पीटने लगे और बोले कि मुहूर्त बिगड़ा जा रहा है, नौ बजे कैसे शादी होगी। सबके ऊपर बरसे। उनकी बुद्धि व्याकुल हो गयी, चित्त विपरीत हो गया। व्याहके उछाहका दिन और शोक आगया—दुःख आगया। हमारे एक मित्रने कहा—'भाई! मुहूर्त कौन वसिष्ठजीने लिखकर भेजा है। अरे नौ बजे नहीं होगा तो दस बजे व्याह हो जायेगा। मुहूर्त तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है न?'

तो हम अपने मनसे ही कल्पना करके उसमें उलझ जाते हैं। पहले सोच लेते हैं इस काममें इतनी आमदनी होगी और उतनी न हुई तो आधी हुई तो दुःखी हो जाते हैं। क्या ईश्वरके पाससे दस्तावेज आया था कि इस काममें इतनी आमदनी होगी? तुम्हींने तो उतनी आमदनीकी कल्पना की थी। नहीं हुई तो न हुई। अबकी बार नहीं हुई आगे हो जायेगी। नैराश्य तो जीवनमें आता है वह अपनी कल्पनाका ही आता है। इसीको मोह बोलते हैं। **मुह् वैचित्त्ये**—चित्तका विपरीत हो जाना ही मोह है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। (2.52)

हम श्रुतिको—सुनी हुई बातोंको अधिक पकड़ते हैं। एक महात्माने हमको बताया था कि हम लोग जिनको अपराधी मान बैठते हैं, उनके अस्सी-नब्बे प्रतिशत अपराध आँखसे देखे हुए नहीं होते, कानसे सुने हुए होते हैं। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च। (2.52)

कही-सुनी बातका क्या ठिकाना? वह गलत भी हो सकती है, सही भी हो सकती है। कहनेवालेने अपनी दृष्टिसे सच कहा हो तो भी सबको समझनेमें, धारण करनेमें गलती हो सकती है।

तो भगवान् श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि अपनी बुद्धिको श्रुतिविप्रतिपन्न मत करो। उसने यह सुना दिया, वह सुना दिया, पर विश्वास न करके तुम्हें जज बनकर निर्णय करना चाहिए कि क्या गलत है, क्या ठीक है। सुने-सुनायेपर नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा तो गाँवोंमें होता है। सुसंस्कृत लोग ऐसा नहीं करते। मेरा जन्म ब्राह्मणोंके सात-आठ घरवाले एक छोटेसे गाँवमें हुआ है। मैंने देखा कि वहाँ एक दूसरेसे लड़ाई करनी होती तो कोई किसी स्त्रीसे कहता कि तुम्हें कुछ मालूम भी है कि अमुक तुम्हारे बारेमें ऐसा कह रहे थे कि वह तो मेरे पीछे पड़ी है। घूमती है मेरे पीछे-पीछे। इसपर वह स्त्री बोलती कि—अच्छा! मुँहजलेने ऐसा कहा? और पहुँच जाती उस अमुक व्यक्तिके पास, चार गाली सुना आती। वह हाथ जोड़ा कि नहीं, तुम हमारी माँ हो, तुम्हारे लिए मैंने कुछ नहीं कहा। बड़ा आदर है तुम्हारे प्रति। किन्तु वह नहीं मानती, गाली देती जाती और कहती कि नहीं, नहीं तुमने जरूर कहा होगा।

तो यह सुने-सुनायेपर दौड़ जाना है। किसीने कहा कि 'अरे, तुम्हारा कान तो कौआ ले गया।' अब वह कान तो देखता नहीं, डण्डा लेकर पीछे दौड़ता है कौवेको मारनेके लिए। तो—

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्त श्रुतस्य च।

हम एक महात्माके पास जाते थे तो वे हमें गाली देते थे। खूब देहाती प्रोग्राम होता था। एक दिन वे बहुत खुश थे तो मैंने उनसे पूछा कि 'आप गाली क्यों देते हैं?' इसपर वे और भी नाराज हो गये। कुछ देर बाद शान्त हुए तो बोले—हमारी गाली तुमको बुरी लगती है? अरे! गाली सहनेकी आदत डालो, यह जीवनमें काम देगी। अभी न जाने कितनी गालियाँ तुमको सुननेको मिलेंगी। ससुरालकी गाली प्यारी लगती है और हमारी गाली बुरी लगती है। ससुरालसे जितना प्रेम है उतना तो महात्मासे होना चाहिए भाई!

जैसा कि मैंने आपको पहले बताया कि भगवान् श्रीकृष्णके जीवनको एक पहलूसे देखें तो दु:खके इतने निमित्त हैं, इतने निमित्त हैं कि वे उनपर ध्यान दें तो हमेशा दु:खी रह सकते हैं। परन्तु वे उनपर ध्यान ही नहीं देते और नाचते हैं, गाते हैं, बजाते हैं, हँसते हैं, मुस्कुराते हैं। जो उनका ध्यान करे उसका भी दु:ख दूर कर देते हैं। यही कहते हैं कि हमारी याद करो और देखो कि मैं दु:खमें कैसे रहता हूँ, सुखमें कैसे रहता हूँ। याद करनेका यह मतलब हुआ कि उनसे सीखो कि वे सुखमें, दु:खमें कैसे रहते हैं? व्रजवासियोंने, गोपियोंने उनको कितना सुख दिया, परन्तु जब वहाँसे निकले तो ऐसे नि:स्पृह होकर निकले जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यह सीखनेकी बात है। यदि हम उन्हें गोपियोंको सुख देनेवाला न मानें तो उनके चित्तमें नि:स्पृहता थी, वैराग्य

था, त्यागकी भावना थी और वे मोहमें नहीं फँसते थे। यह कैसे मालूम पड़े? उनके इन वचनोंका महत्त्व किस प्रकार ज्ञात हो—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (2.14)
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (2.15)

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सांख्यको सांख्य, कर्मको कर्म और ज्ञानको ज्ञान नहीं मानते। इन सबको बुद्धियोगकी संज्ञा देते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु। (2.39)

सांख्यमें भी बुद्धि है और योगमें भी बुद्धि है। जहाँ बुद्धि नहीं होगी वहाँ ज्ञानयोग कहाँसे होगा? सांख्ययोगकी बुद्धि अलग, कर्मयोगकी बुद्धि अलग; परन्तु बुद्धि व्यापक है। वह दोनोंमें है, इसलिए बड़ी भारी हो गयी। बुद्धिमत्तासे ही ज्ञानयोग योग होता है और बुद्धिमत्तासे ही कर्मयोग योग होता है।

अब देखो इसमें जीवनका समन्वय हो गया। जीवन क्या है, एक बुद्धि है। बुद्धि क्या है, तत्त्वके सम्बन्धमें अपनी समझको ठीक रखना है। जैसे आपके घरमें कोई मशीन बनती है, यह समझना और किस साँचेमें, किस डिजाइनकी, किस कामके लिए बनती है, यह भी समझना। कर्मयोग डिजाइन है, आकृति है, बनावट है। कर्मके द्वारा कुछ बनाया जाता है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है और सच्चा है। ज्ञान जाननेका साधन है, बनानेका नहीं। वस्तुको पहचानना ज्ञान है और उससे कुछ बनाना कर्म है। बुद्धि दोनोंमें है, इसलिए इसका अर्थ है—आपका जीवन एक बुद्धि है। आप उस मसालेको भी पहचानिये जिससे अल्म्युनियम निकलती है, कागज निकलता है और उन चीजोंको बनाना भी सीखिये-समझिये।

सांख्य बुद्धिका नाम है तत्त्वबुद्धि। तत्त्व उसे कहते हैं जिसमें आकार आरोपित होते हैं। आकार आरोपणके पूर्व वस्तुकी जो स्थिति है, उसको तत्त्व बोलते हैं—**अनारोपिताकारं तत्त्वम्** कंगन, कुण्डल अथवा हार—कुछ भी बननेसे पहले जो स्वर्णका स्वरूप है वह तत्त्व है। घड़ा बननेके पहले, घड़ा बन जानेपर, घड़ा फूट जानेपर, उसमें घड़ेके आरोपसे विनिर्मुक्त जो मृत्तिका है, उसका नाम तत्त्व है तो तत्त्वज्ञान होना चाहिए। देखो जो लोग मोटरकी मशीनकी जानकारी रक्खे बिना मोटर चलाते हैं उन्हें कहीं मोटर रुक जानेपर खड़ा होना पड़ता है; क्योंकि उन्हें मोटर सुधारना नहीं आता। उनके पास चलानेका लाइसेंस होता है, फिर भी उनको खड़ा होकर यह देखना पड़ता है कि कोई ड्राइवर आजाये उनकी मोटर खोलकर सुधार दे। तो जानकारी भी होनी चाहिए और स्वयं करनेका ज्ञान भी होना चाहिए।

सांख्यबुद्धि और कर्मबुद्धिको ही सांख्ययोग और कर्मयोग बोलते हैं और ये दोनों ही बुद्धि हैं। सांख्ययोगमें मुख्य रूपसे दो बातें समझायी गयी हैं। एक तो आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अविनाशी है। इनको अनुभवके क्षेत्रमें समझना आसान नहीं है। ऐसा कोई माईका लाल न पैदा हुआ है, न है और न होगा, जो यह अनुभव कर ले कि

मैं मर गया। कितनी सीधी बात है कि वह मर गया कह सकते हैं। व जायगा कह सकते हैं, मैं मर जाऊँगा ऐसा भी आप कह सकते हैं, लेकिन मैं मर गया, यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यदि कोई कहे कि हमको अनुभव हो रहा है कि मैं मर गया तो अनुभव करनेवाला जिन्दा है कि नहीं? माने आत्माको कभी यह अनुभव नहीं हो सकता कि मैं मर गया। यदि कोई कहे कि आत्मा अनुभव कर सकता है कि मैं अज्ञानी हूँ तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि मैं अज्ञानी हूँ, यह अनुभव करना भी ज्ञान है फिर अज्ञान कहाँ हुआ?

तो आत्मामें न कभी मृत्यु आ सकती है न कभी अज्ञान आ सकता है। आपलोग जिस प्रकार सहजभावसे व्यापारपर विचार करते हैं उसी प्रकार उससे कम बुद्धि लगाकर आत्माका चिन्तन करें और यह देखें कि मैं कौन हूँ तो मौत आपके पास नहीं आयेगी और आप यह अनुभव करेंगे—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (2.13)

यह मत देखो कि मैं कहाँसे आया, कैसे पैदा हुआ? पैदा हो चुके। इसका भी ज्यादा ख्याल रखनेकी जरूरत नहीं कि आगे क्या होगा? जो होना होगा, सो होगा। यह जो आपका लवाजमा है वह कभी साथ रहेगा, कभी नहीं रहेगा। जब अनासक्त भावसे रहोगे तो लवाजमा न रहनेपर भी, सामग्री न रहनेपर भी सुखी रहोगे और आसक्त रहोगे तो इसके छूटनेका डर रहेगा।

शोक कहते हैं बीती हुई बातमें फँसावको, भूतवृत्तिको, हमारे पास इतना वैभव था, हमारा यह खो गया—पिछले वैभवकी स्मृति और पिछली विपत्तियोंकी स्मृति। बीती हुई घटनाओंके द्वारा प्रभावित होना—इसका नाम शोक है। आगे दुःख आ जायेगा, इसके लिए भविष्यद्वृत्ति भय होता है। वर्तमानवृत्ति, कि हमारे सामने बना रहे मोह होता है। तो भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ (2.11)

संस्कृत भाषामें पण्डित शब्दका अर्थ होता है—**पण्डा सञ्जाता अस्य इति पण्डितः**। सदसद्विवेकिनी बुद्धिका नाम है पण्डा और वह जिसके जीवनमें पैदा हो गयी उसका नाम है पण्डित। **नानुशोचन्ति पण्डिताः**—पण्डितकी पहली पहचान यह है कि पण्डितको शोक नहीं होता—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः। (4.19)

पण्डितको पाप-पुण्य चिपकते नहीं, बुद्धिमान् पुरुष पाप-पुण्यको नहीं पकड़ता और न शोक करता है। वह गये-आये अथवा जिन्दा-मुर्देके लिए भी शोक नहीं करता। जो हो रहा है उसके लिए पण्डित समदर्शी होता है—**पण्डिताः समदर्शिनः**। गीताके पण्डितका अर्थ बुद्धिमान् ही है। मैं समझता हूँ आप सब लोगोंने गीता पढ़ी है। सुनते हैं हमारे देशके एक विद्वान जर्मनी जानेपर वहाँके किसी विद्वानसे मिले तो उसने सर्वप्रथम गीताकी चर्चा की। इनको गीताके विषयमें कुछ मालूम नहीं था। उस विद्वान्ने बताया कि मैंने नब्बे बार गीता पढ़ी है। तुम कैसे भारतीय हो कि गीताका नाम भी नहीं सुना है?

तो गीता न पढ़ना एक अपमानकी बात हो जाती है। आप सबलोग तो गीताके बड़े-बड़े जानकार हैं, जीवन भर गीताका पाठ करनेवाले हैं। महात्मा गांधीने, लोकमान्य तिलकने, हमारे गीताप्रेसवालोंने गीताको बहुत सुलभ कर दिया हैं। तो गीता पढ़नी चाहिए। बुद्धिमानी इसीमें है कि हमारे जीवनमें शोक, मोह और भयका प्रवेश न हो, ऐसा होनेपर ही हमें समझना चाहिए कि हम गीताका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। तो तत्त्वके सम्बन्धमें दो बातपर केवल ध्यान रखें—

एक तो यह आत्मा अविनाशी है, अप्रमेय है—**अनाशिनोऽप्रमेयस्य**। कभी भी अपने अनुभवमें इसकी मृत्यु नहीं आ सकती। न अबतक आयी है और न आगे आयेगी। आप कभी मरे नहीं। अगर मर गये होते तो आज होते कहाँसे? तो आज हैं—यह इस बातका प्रमाण है कि आप अबतक कभी मरे नहीं।

दूसरी बात यह है कि संसारकी सब वस्तुएँ अदलती-बदलती रहती हैं किन्तु आत्मामें कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा कभी मरता नहीं और संसार कभी रहनेवाला नहीं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (2.16)

न जायते म्रियते वा कदाचित्। (2.20)

यह तो हुई आत्माकी बात। अब जो यह बुद्धि डाँवाडोल हो जाती है, टिकती नहीं, यह प्रश्न मनुष्यके जीवनमें अवश्य आता है। भगवान् श्रीकृष्ण इसकी भी युक्ति बताते हैं कि हमारी बुद्धि किस प्रकार स्थिर हो? इसके लिए भगवान्ने बहुत-सी युक्तियाँ बतायी हैं—

प्रजहाति यदा कामान् (2.55) **यः सर्वत्रानभिस्नेहः** (2.57) **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः** (2.56)—एक तो हम कामनाके वशमें न हों। हम रामकी प्रेरणासे चल रहे हैं कि कामकी प्रेरणासे? रामकी प्रेरणा माने वासना-विनिर्मुक्त प्रेरणा। और **नाभिनन्दति न द्वेष्टि** (2.57) हम अभिनन्दन करने अथवा द्वेष करनेमें लग जायेंगे तो हमारी बुद्धि डाँवाडोल, पक्षपाती, पार्टीबन्दीवाली हो जायेगी। पार्टीका सबसे बड़ा अभिशाप है कि वह स्वयंको दूधका धुला, बिलकुल स्वच्छ, शुद्ध मानती है और दूसरी पार्टी चाहे कितनी भी बढ़िया हो उसे बुरा मानती है। दूसरी पार्टीका अच्छा भी बुरा और हमारी पार्टीका बुरा भी अच्छा है। इसमें लगता है पाप, अपराध और इस अपराधके कारण बादमें पार्टियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, टूट जाती हैं। तो अभिनन्दन और द्वेषसे, राग और द्वेषसे बचना चाहिए।

उसके बाद आता है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। (2.56)

●

प्रवचन : 3

(18-11-1974)

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

गीता भगवान्‌का हृदय है, ऐसा उसके माहात्म्यमें कहा गया है—**गीता मे हृदयं पार्थ**—अर्जुन, गीता मेरा हृदय है। भगवान्‌ने इसको बहुत प्रेमसे सँजोकर रखा था। पर जब अर्जुनको शोकग्रस्त—**शोकसंविग्नमानसः** देखा तो भगवान्‌के भीतर बड़े प्रेमसे सँजोयी हुई गीता स्वयं छलक पड़ी। भगवान्‌ने स्वयं गीताको अपने हृदयसे बाहर नहीं निकाला, वह भगवान्‌के काबूमें नहीं रही। भगवान्‌के वशमें सारी सृष्टि है, परन्तु उनकी करुणा उनके वशमें नहीं। यह परमेश्वरकी एक लीला है। **मुखपद्माद्विनिःसृता**का अर्थ ही है कि वेदकी अपेक्षा भी गीतामें कुछ सौन्दर्य है। वह क्या है? भगवान्‌की नाभिसे निकला एक कमल, कमलपर हुए ब्रह्मा, ब्रह्माके मुखसे निकले वेद। तो नाभि एक तो मुखसे नीचे है। दूसरे गीता स्वयं भगवान्‌के मुखकमलसे साक्षात् निकली। तो वह ब्रह्मा और वेद दोनोंकी अपेक्षा अपने सौन्दर्यको अधिक प्रकट करती है। हृदयकी वस्तु नाभिमें गयी, नाभिसे कमलमें और कमलसे ब्रह्मामें प्रकट हुई—यह वेदकी परम्परा है। वेद भी भगवान्‌के हृदयसे ही प्रकट हुआ, परन्तु उसके पहले कई लोग आगये। गीता हृदयसे मुखमें आकर प्रकट हुई। ज्ञानका स्थान मुख ही है। आप जानते हैं कि विराट्-भगवान्‌के मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई! तो कान मुखमें, हाथ मुखमें, नासिका मुखमें, रसना मुखमें, त्वक् मुखमें—ये सब ज्ञानके साधन हैं। ज्ञान प्रधान विराट्‌का अंग है मुख। ज्ञानके अधिकांश साधन शरीरके उर्ध्वभागमें ही निवास करते हैं। इसलिए उसका प्राकट्य भगवान्‌के मुखकमलसे ही होना चाहिए। तो गीता विशेष हो गयी। जैसे हिन्दीमें विशेषता बोलते हैं वैसे संस्कृतमें विशेष बोलते हैं।

अर्जुन और श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध है वह बहुत मधुर है। महाभारतमें कहा है--

नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।

एक तत्त्व है, एक सत्ता है, और नर-नारायण अर्जुन-कृष्ण दोनोंके रूपमें प्रकट हुई है। नर और नारायण माने जीव और ईश्वर। अर्जुन जीव है तो श्रीकृष्ण ईश्वर हैं। जीव-ईश्वर दोनों एकही तत्त्व हैं। एक बार संजय धृतराष्ट्रके पास गये और निवेदन किया कि आप अपने पुत्रोंको समझाओ कि कृष्ण तथा अर्जुन दो नहीं—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनकी आत्मा कृष्ण है, कृष्णकी आत्मा अर्जुन है। महाभारतके उद्योग पर्वमें यह प्रसङ्ग है। **उभयो अन्तरं नास्ति** दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। अर्जुन; जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुमसे प्रेम करता है वह मुझसे प्रेम करता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्पष्ट कहा—

यस्त्वां द्वेष्टि स माम् द्वेष्टि यस्त्वामनु स माम् अनु।

खाण्डव वनदाहके प्रसङ्गमें इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि 'वर माँग लो। तुम मनुष्य रूपमें हो, हम देवरूपमें हैं। हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। हमसे वर माँगो।' श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि मैं परमेश्वर हूँ, वर नहीं माँगता। बल्कि वे बोले कि देवराज, आपकी कृपा है, मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरी और अर्जुनकी मैत्री सर्वदा बनी रहे। इसमें कभी व्यवधान न पड़े, अन्तर न आवे। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीकृष्ण और अर्जुनका। आप अर्जुनकी वाणी देखिये—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (3.1)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। (3.2)

'श्रीकृष्ण, तुम हमारी बुद्धिको मोहित करते हो? मिली-जुली बात करते हो? स्पष्ट क्यों नहीं बोलते?'

इसमें भी बुद्धिकी ही बात हैं। अर्जुनने श्रीकृष्णको उलाहना दिया कि तुम मेरी बुद्धि बिगाड़ रहे हो। कैसे मित्र हो? यहाँ बुद्धि शब्दका अर्थ है कि हम अपने जीवनके जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं, उनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और ज्ञान प्राप्त करनेके बाद उनको अपने जीवनमें क्रियान्वित करें। बुद्धि बाँझ नहीं होनी चाहिए, निष्क्रिय नहीं होनी चाहिए। बुद्धि फलप्रद होनी चाहिए—समझें और करें।

तो सांख्यबुद्धि भी बुद्धि है, योगबुद्धि भी बुद्धि है। इसलिए गीतामें बुद्धिकी बहुत भारी महिमा है। पहले मैं कह चुका हूँ कि संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ हैं उनमें बुद्धिकी महिमा नहीं, श्रद्धाकी महिमा है। धर्म श्रद्धा-प्रधान होता है, बुद्धि-प्रधान नहीं। लेकिन गीता बुद्धि-प्रधान है। वह धर्मग्रन्थ नहीं, दर्शनग्रन्थ है। दर्शन भी केवल आत्माका नहीं, कर्मवादी दर्शन है। हमारे भोगका भी दर्शन है, जीवनका भी दर्शन है। हमारी बुद्धि जिन कारणोंसे डाँवाडोल होती है उनमें पहला कारण हीनभाव है। जब हम अपनेको हीन समझते हैं, हमारे मनमें हीनताका भाव बैठ जाता है—हमारे पास यह नहीं, वह नहीं, तब हम अपनी कमियोंको देखने लगते हैं और यह समझने लगते हैं कि हमको अमुक वस्तुसे सुख-शान्ति मिलेगी। अपना मूल्यांकन कम हो जाता है, दूसरेका मूल्यांकन बढ़ जाता है। तो जीवनमें जिसको अपनी विद्यापर, अपनी बुद्धिपर, अपने कर्मपर आस्था नहीं; दूसरेकी विद्या, दूसरेकी बुद्धि, दूसरेके कर्म, दूसरेका धन जिसके लिए आदर्श है वह अपनेमें हीनताका अनुभव करता है। जब हीनताका अनुभव करता है तब असन्तुष्ट हो जाता है। इतना रूखा, सूखा, भूखा हो जाता है कि यहाँसे यह लें, वहाँसे वह लें की प्रवृत्ति हो जाती है उसकी। ऐसी स्थितिमें वह ज्ञानकी भी चोरी करता है, बुद्धिकी भी चोरी करता है, धनकी भी चोरी करता है और दूसरोंके पराधीन हो जाता है। हीनताके अनुभवका परिणाम ही यह है कि मनुष्य पराधीन जीवन व्यतीत करने लगता है और आप जानते हैं—

पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।

हमने एक चुटकुला पढ़ा था। कहीं मोरका बच्चा रो रहा था। उसकी माँने पूछा क्यों रोते हो? उसने बताया कि सामनेवाले पेड़पर जो मैना रहती है उसका बच्चा कितना मधुर-मधुर बोलता है। वैसी मीठी बोली मेरे पास नहीं, इसलिए मैं रो रहा हूँ। उसकी माँ उसे लेकर दूसरे पेड़पर चली गयी तो वहाँ मैनाका बच्चा भी

रो रहा था और उसकी माँ पूछ रही थी कि तुम रोते क्यों हो? वह ... दे रहा था कि हमार पड़ोसी मोरके ब्रच्चेका शरीर कितना सुन्दर है उतना मेरा नहीं। तो मैनाके बच्चेको ... आवाजकी मिठास मालूम नहीं और मोरके बच्चेको अपने शरीरके सौन्दर्यका बोध नहीं।

जब हम दूसरेको महान् और अपनेको हीन समझने लगते हैं तब हमारी बुद्धि दूसरेकी वस्तु प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो जाती है। आप जानते हैं कि जो व्यापारी व्यापारमें घबरा जाता है वह घाटेका काम जरूर करता है। घबरानेपर व्यापारी कोई-न-कोई ऐसा सौदा जरूर कर बैठता है जिसमें उसे हानि-ही-हानि उठानी पड़ती है।

तो श्रीकृष्णने बुद्धिके सम्बन्धमें पहली बात बतायी—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ (2.55)

अपनी कामना ही आपको दूसरेके पास ले जाती है। कामना कहती है कि यह विषय महत्त्वपूर्ण है, इसको प्राप्त करो। कामना आपको आपके अपने दिलसे उठाकर दूसरी वस्तुके पास बैठा देती है। यह कामनाका स्वभाव है। तो इससे बचिये। प्रजहातिका अर्थ मिटाना नहीं होता बचना होता है। गीतामें 'जहि' और 'प्रजहि' दो शब्द आये हैं और दोनों कामनाके सम्बन्धमें ही हैं—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (3.41)
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (3.43)

तो 'जहि'का अर्थ है मार डालो और 'प्रजहि'का अर्थ है छोड़ो! दोनोंकी साधनाका अन्तर है। एकमें इन्द्रियोंके निरोधसे कामनाका परित्याग और दूसरेमें आत्मज्ञानसे कामनाका हनन। एकमें आत्मज्ञानसे शत्रुका नाश और दूसरेमें इन्द्रिय-निरोधसे पाप्माका प्रहान है। तो अब यह विवेक हो गया, बुद्धियोगीके लिए कामनाका नाश आवश्यक नहीं, कामनासे बचकर चलना आवश्यक है। बचकर चलनेका अर्थ ऐसी सावधानी है कि वह हमको अपने हाथमें लेकर ऐसे विषयमें न डाल दे, जहाँ हम पराधीन हो जायँ। आत्माके लिए मृत्यु, दुःख, अज्ञान और पराधीनता—ये चारों एक ही वस्तुके नाम हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (१.६.२८) जहाँ अभ्यारोहका वर्णन है वहाँ इन चारोंको एक बताया गया है। जो असत् वह तम है। जो तम है वह असत् है। जो असत् है वह मृत्यु है, जो मृत्यु है वह असत् है। इसलिए कामना हमें कहीं ऐसे घरमें न डाल दे, जहाँ हम पकड़े जायँ, बाँधे जायँ।

कामना-वशवर्ती यह नहीं देखता कि हम अमुक घरमें घुस जायेंगे तो निकलनेका रास्ता मिलेगा या नहीं? तो बन्धनका हेतु है काम।

आत्मतुष्टिका अर्थ है अपने आपमें अपने आपसे सन्तुष्ट रहना **आत्मन्येवात्मना तुष्टः।** आप सब काम कीजिए पर ध्यान रखिए कि जिस काममें हाथ लगायेंगे वह काम बढ़िया हो जायेगा। आप जो कर्म करेंगे उस

कर्मको अपने हाथकी कला देंगे, अपने नेत्रका सौन्दर्य देंगे, हृदयका सौन्दर्य देंगे, अपने बुद्धिसे सँवारेंगे। **आत्मन्येवात्मना तुष्टः**का अर्थ है कि जो भी काम कीजिए अपनेमें सन्तुष्ट रहकर कीजिए। इसमें आपकी बुद्धि बिगड़ेगी नहीं, डाँवाडोल नहीं होगी, स्थित हो जायेगी। जिसकी बुद्धि डाँवाडोल है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। एक आदमी कभी कुछ कहे और कभी कुछ कहे, अपने कहे हुएसे बदल जाय, नाना रूप धारण करे तो क्या समाजमें उसकी प्रतिष्ठा रहेगी? इसलिए बुद्धि स्थिर रहनी चाहिए। **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**का अर्थ है कि प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—अर्थात् अपने लिए भी विश्वासभाजन है और दूसरेके लिए भी विश्वासभाजन है। यदि आपकी बुद्धि डाँवाडोल नहीं होगी, एक निश्चयपर स्थिर होगी तभी आप बिलकुल ठीक काम कर सकेंगे। अतः आप अपने भीतर हीनताका भाव न ले आयें और सन्तुष्ट रहकर सारा काम करें अन्यथा असन्तोषमें बुद्धि विपरीत हो जायेगी।

अब दूसरी बात यह बताते हैं कि आपके सामने प्रिय-अप्रिय घटनायें घटित होती हैं, कभी प्रिय आता है, कभी अप्रिय आता है। ऐसा संसारमें कोई नहीं हुआ, जिसके घरमें, जिसके जीवनमें, जिसके मनमें प्रतिकूल घटनायें न घटी हों। आप दिन भरमें दस बार यह सोचते हैं कि इसने ऐसा क्यों किया? आप जो दूसरेकी बुद्धिका ठेका ले लेते हैं उसके कारण आपको बहुत दुःख होता है। आप थोड़ा इसपर ध्यान दें कि हर शरीरमें अलग-अलग मन होता है, अलग-अलग संस्कार होते हैं। आप जब दूसरेसे यह अपेक्षा रखते हैं कि यह मेरे ही मनके अनुसार काम करे तो आप उसको मनुष्य नहीं समझते, खिलौना समझते हैं। बड़ा भारी तिरस्कार उस व्यक्तिका होता है जिससे आप यह अपेक्षा रखते हैं कि यह अपनी प्रियताके अनुसार काम न करे, बल्कि हमारी ही बुद्धिके अनुसार काम करे, हमारी ही प्रियताके अनुसार काम करे। हम ऐसे सैकड़ों पति-पत्नियों, बाप-बेटोंको जानते हैं जो यह कहते हैं कि हमारे ही मनके अनुसार काम होना चाहिए और इसीलिए उनमें झगड़ा होता है। तो सामनेवालेका मन क्या कोई खिलौना है? अतः काम मिल-जुलकर करना चाहिए। दोनोंका मन एक हो, दोनोंकी बुद्धि एक हो तभी मिलकर काम हो सकता है। तो ज्ञान सबका एक हो, मन सबका एक हो, संवाद—भाषण सबका एक हो। संवाद माने मतभेद नहीं, मतमेल है। चलनेमें भी संगति हो, पाँव उठानेमें भी संगति हो, बोलनेमें भी संगति हो, संकल्पमें भी संगति हो और ज्ञानमें भी संगति हो :

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

दुःख आता ही वहाँ है, जहाँ हम यह प्रयत्न करते हैं कि दूसरे लोग हमारे मन, हमारी बुद्धिके अनुसार ही चलें। इसलिए दुःखसे बचनेका उपाय यह है कि हमें दूसरेकी बुद्धि और दूसरेके मनका आदर करना सीखना चाहिए—

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ (2.56)

आपका विचार पक्का हो जाये, दुःख आनेपर आपको उद्वेग **न** हो, आपके भीतर जो शक्ति है, वह

दु:खका सामना करनेके लिए है, दु:खसे हारनेके लिए नहीं। यह ईश्वरपर विश्वास रखना है वह बड़े आत्मबलकी वस्तु है। उसको लोग जवानीमें नहीं समझ पाते।

जैसे एक सैनिक युद्धिभूमिमें अकेला रह जाये और उसको यह विश्वास हो कि हमारे पीछे सेनापति है, सेना है, राष्ट्र है तो वह अकेला भी अपने मनको गिरने नहीं देगा, उत्साहके साथ लड़ेगा। जिसको यह विश्वास रहता है कि ईश्वर हमारे पीछे है, हमको शक्ति दे रहा है वह अकेला पड़ जानेपर भी अपना विश्वास नहीं खोता।

अब मैं आत्म-बलकी बातको व्यावहारिक रूपसे बताता हूँ। एकबार ईश्वर-विश्वासको अलग रख दीजिये। दर्शन केवल एक पक्षकी बात नहीं करता, सब पक्षोंकी बात करता है। जहाँ हमारी बुद्धि और कर्म दोनों साथ-साथ काम करते हैं, वहाँ हमारा आत्मबल बढ़ जाता है। जहाँ विचारोंमें कुछ है और क्रियामें कुछ हो रहा है, वहाँ आत्मबल घट जाता है। ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयका नाम ही आत्मबल है।

हमारी बुद्धि जैसा सोचती है, शरीरसे हम वैसा ही काम करते हैं। जहाँ हम यह सोचते हैं कि हमारे जैसा बलवान् सृष्टिमें और कोई नहीं, वहाँ आत्मबल होता है।

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: आप यह मत सोचें कि हमारे आस-पाससे तूफान गुजर रहा है। यह सोचें कि हम किस प्रकार तूफानके बीचमें-से चीरकर निकल सकेंगे। ऐसा सोचनेपर तूफानकी परवाह करनेकी कोई जरूरत नहीं होगी।

दु:खेषु बहुवचन है। इसका अर्थ है बहुत सारे दु:ख आते हैं। दु:ख माने हमारे हृदयाकाशकी दूषित मूर्ति। जब हमारे हृदयमें वासनाका तूफान बहता है और हम यह मानने लगते हैं कि ऐसा हमारे मनके अनुसार नहीं हुआ तब हमको दु:ख होता है। दुनियामें गर्मी-सर्दी संयोग-वियोग आदि तो प्रकृतिके नियमानुसार आते ही हैं। हम व्यर्थ ही कहते हैं कि यह क्यों आगया? भक्त भी, जिसके हृदयको हम बहुत कोमल समझते हैं यह सोचता है कि इस दु:खमें हम हार न जायँ। श्रीयामुनाचार्यजीका वचन है :

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दु:खम्।

हमारे लिए अभूतपूर्व अर्थात् नयी बात क्या होगी? हमारे लिए तो दु:ख सहज है। हमने तो अबतक हजारों दु:ख देखे हैं, हजारों जन्म देखे हैं, हजारों लोग मिले हैं और बिछुड़े हैं। परन्तु नाथ! हम आपके शरणागत हैं। हम दु:खसे हार न जायँ :

किन्तु त्वदग्रे शरणागतानाम् पराभवो नाथ न तेऽनुरूप: ।

यदि दु:ख आनेपर हम उद्विग्न हो जाते हैं और बहादुरीके साथ सामना नहीं करते तो उसमें हमारी हार नहीं, हम जिसके सैनिक हैं उस राजाकी हार है। सैनिककी हार राजाकी हार होती है। परमेश्वरके सैनिक यदि हार मान लेंगे तो परमेश्वरकी हार हो जायेगी। **दु:खेष्वनुद्विग्नमना:**—ये दु:ख आगमापायी हैं—आते हैं और जाते हैं। हमने अपने जीवनमें कितने दु:ख देखे होंगे, लेकिन अब उनकी याद नहीं आती। ये तो विस्मरणशील हैं। अभी जो दु:ख मालूम पड़ता है वह तीन घण्टेके बाद कम होगा, तीन दिनके बाद और कम होगा, तीन

महीने बाद और कम होगा, तीन वर्ष बाद तो याद दिलानेपर ही उसकी याद आयेगी। यदि कहीं दस-पाँच वर्ष बीत गये तो याद दिलानेवाले भी नहीं रहेंगे। तो ऐसे तुच्छ दु:खके लिए, क्षुद्र दु:खके लिए—जो क्षणमें आते और क्षणमें चले जाते हैं अपने मानसको उद्विग्न क्यों करना?

उद्विग्न होनेवालेकी बुद्धि डाँवाडोल हो जोती है। मन है क्षणिक। जैसे क्षण-क्षण होता है, वैसे कण-कण होता है। क्षणके साथ ही कण बदलते हैं और कणके साथ ही क्षण बदलते हैं।

यह जो मन है वह कण और क्षण—विषयोंके कण और कालका क्षण—दोनोंको मिलाकर बदलता रहता है। यह आवश्यक नहीं कि मनपर सब बातोंका संस्कार पड़े। दुनियामें हम जितना देखते हैं सबका संस्कार नहीं पड़ता। हमने कालबादेवी रोडमें हजारोंकी भीड़ देखी है, परन्तु उनमें-से किसीकी याद आती है? परन्तु जब हम मनके साथ बुद्धि लगाकर देखते हैं, हमारे मनके साथ जब उपेक्षा नहीं रहती, अपेक्षा आ जाती है तब उसका संस्कार पड़ता है। उपेक्षाका अर्थ तटस्थ होकर देखना और अपेक्षाका अर्थ अपनी नजरको खो बैठना है।

अप माने अपगत। जब हम अपनेको नहीं, अन्य वस्तुओंको देखने लगते हैं तब अपेक्षा हो जाती है। अपनेको भूलकर दूसरेको देखना अपेक्षा है। संस्कार केवल मनसे अथवा कर्ममात्रसे नहीं पड़ता। जब हम किसी वस्तुको इस अपेक्षा बुद्धिसे देखते हैं कि यह हमारे सामने न आये अथवा यह हमारे सामने हमेशाके लिए बनी रहे तब उस वस्तुका संस्कार पड़ता है। इसलिए यदि बुद्धि ठीक हो तो मनमें आयी हुई बातोंका, संकल्पोंका संस्कार नहीं पड़ता। वे आते हैं और चले जाते हैं :

सुखेषु विगतस्पृह:—इस संसारमें सुख-दु:खकी धारा बह रही है। कितने सुख-दु:ख आये और चले गये। हम बनारस जाते हैं तो गंगाजीके तटपर घूमने जाते हैं। वहाँ लोग दोनोंमें दीपक जला-जलाकर छोड़ते हैं। हजारों दीपक जलते हुए निकल जाते हैं। उनकी न गिनती याद है, न शक्ल-सूरत याद है। कितने मुर्दे निकल जाते हैं। मरी हुई गाय भी निकलती है। हम लोग नाममें आनन्द लेते रहते हैं। जिस प्रकार फुलझड़ियोंमें-से चिनगारियाँ निकली हैं उसी प्रकार जीवनमें सुख-दु:ख आते हैं। फुलझड़ीकी चिनगारी बनी रहे यह सोचोगे तब दु:ख हो जायेगा और बुद्धि डाँवाडोल हो जायेगी। धुँआ इधरसे न उड़े, उधरसे उड़े इतना सोचनेपर भी दु:ख हो जायेगा। इसलिए अपनी बुद्धिको बिलकुल ठीक रखना चाहिए।

वीतरागभयक्रोध:—राग और क्रोध ये दोनों ही बुद्धिको डाँवाडोल करते हैं। रागमें एक दोष है, आवरण है, पर्दा है। रागमें अपने रागास्पदसे बुद्धि इतनी रँग जाती है कि हम उसके दोष नहीं देख पाते। रागमें पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है दोषपर। द्वेषमें भी पर्दा है, परन्तु वह पर्दा है गुणपर। सामनेवाले दोषपर पर्दा डाल देता है राग। जब सामने पर्दा आगया तो बुद्धि वस्तुको ठीक-ठीक समझती नहीं। जब ठीक-ठीक नहीं समझती तो विपरीत हो जाती है। यह दुनियामें जो भाई-भतीजावाद चलता है वह डाँवाडोल बुद्धिका, राग-द्वेषसे दूषित बुद्धिका ही काम है। महाराष्ट्रमें एक रामायण है। उसमें यह प्रसंग है कि समर्थ रामदासने एक राम-चरित्र लिखकर हनुमानजीको सुनाया। हनुमानजी सुनते-सुनते एक जगह टोक बैठे। रामदासजीने वर्णन किया था कि

सीताजी अशोक-वनमें जहाँ बैठी थीं, वहाँ उनके सामने एक सरोवर था और उसमें श्वेत कमल खिले हुए थे। हनुमानजीने बताया कि श्वेत कमल नहीं रक्त कमल थे। रामदासजीने स्वीकार नहीं किया और कहा कि निश्चितरूपसे श्वेत कमल थे। अब दोनों माँ जानकीके पास निर्णयके लिए गये। माताजीने कहा कि श्वेत कमल थे। हनुमानजीने कहा कि मैंने तो लाल कमल देखे थे। माता जानकीने उत्तर दिया कि 'उस समय तुम्हें राक्षसोंपर, निशाचरोंपर बड़ा भारी क्रोध आगया था। उनसे द्वेष हो गया था। इसलिए तुम्हारी आँख लाल होनेके कारण सफेद कमल लाल दीखने लगे।'

तो आप जानते ही हैं कि गुस्सेमें किससे क्या बोलना चाहिए—यह नहीं सूझता। क्रोधी मनुष्य अपना पाँव धमाधम पटकते हुए चलता है। जोरसे बोलता है। संस्कृत भाषामें बुद्धचर्या नामक एक पुस्तक है। उसमें तृष्णाचर्या, क्रोधचर्या, कामचर्या आदिका वर्णन है। जब मनुष्य विस्तर लेकर आवे और चारपाईपर पटक दे तो समझना कि वह कहींसे खीझकर आया है। वह इस प्रकार धम्मसे बैठे कि उसे चारपाई टूटनेका भी ख्याल न रहे तो समझना कि उसका मन दूसरी जगह है। प्रत्येक भाव अपनी-अपनी चर्या देता है, भावके अनुसार क्रिया होती है और इस प्रकार हमारा जीव चलता रहा है।

अब 'वीतरागभयक्रोध:'-के भयको लीजिये। हम जिस जगहपर डरते हैं वहाँसे भाग खड़े होते हैं। कोई भयंकर वस्तु सामने आनेपर हमारे मुँहसे 'भी भी भी' शब्द निकलता है। इसलिए संस्कृतमें 'भी' धातु है। जब मनमें भय आता है कि यह भूत है, प्रेत है, चोर है, तब हम चिल्लाने लगते हैं, भाग जाते हैं, डण्डा मार देते हैं और फिर जब सोचते हैं कि यह तो हमारा दोस्त है तब भय दूर हो जाता है। भय भी बुद्धिको बिगाड़ देता है। हमारी बुद्धि रागसे, क्रोधसे, भयसे, विकृत न हो तब यह स्थित रहेगी, प्रामाणिक रहेगी, **स्थितधीर्मुनिरुच्यते।**

अब मौन या मित भाषणकी बात लें। यदि हम बोलनेमें सावधानी रखें तो हमारी वाणीका नियन्त्रण बुद्धिके नियन्त्रणमें भी सहायक होगा। हमने एक घरमें देखा, नौकरसे छलनी गिर पड़ी। उसमें कुछ सामान रखा हुआ था वह बिखर गया। घरकी मालकिन ऐसी नाराज हुई कि चिल्लाने लगी। आवाजका पता ऐसे ही अवसर पर लगता है। लोग वैसे तो बहुत मीठा बोलते हैं, लेकिन जब किसीपर गुस्सा आता है, बच्चेपर या नौकरपर चीखते हैं तब मालूम पड़ता है कि आवाज कैसी है। मैंने दूसरे दिन उसी घरमें देखा मालकिनके होनेवाले जमाई आये और जब वे चाय बनाने लगे तब उनके हाथसे प्याला गिर गया। प्याला तो टूटा ही नीचेकी कालीन भी खराब हो गयी। किन्तु मालकिनने उनके ऊपर कोई नाराजगी जाहिर नहीं की, बल्कि यह देखने लगी कि कहीं जमाईजी जल तो नहीं गये। उनके कपड़े तो नहीं खराब हो गये। इस प्रकार एक आदमीके रागकी चर्या दूसरी हो गयी और तिरस्कारकी चर्या दूसरी हो गयी। अपनी बुद्धिको अच्छे ढंगसे रखना चाहिए। व्यवस्थित बुद्धि ही प्रतिष्ठित होती है।

अब देखो, एक है श्रेयके प्रति आसक्ति। यह श्रेयासक्ति क्या है?

तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।

आप अपने भगवान् अथवा देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं तो बहुत बढ़िया काम करते हैं। परन्तु जब कोई मुसलमान नमाज पढ़ता है तो क्या वह कोई घटिया काम करता है? अरे भाई वह भी अपने मजहबके अनुसार खुदाकी इबादत ही तो करता है। फिर आप अपनी पूजाको शुभ और उसकी पूजाको अशुभ क्यों मानते हैं? आप झाँझ, करताल और ढोलक बजाकर जोर-जोरसे संकीर्तन करते हैं लेकिन एक मुसलमान मस्जिदमें सबेरे अल्ला हो-अकबर पुकारता है तो आपको क्रोध क्यों आता है, आपकी बुद्धि क्यों बिगड़ती है? तो अच्छी बातोंमें भी इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि उससे हम दूसरेकी अच्छाईका आदर न करें!

यः सर्वत्रानभिस्नेहः—आपके द्वारा श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न हों; परन्तु उनमें भी आपकी इतनी आसक्ति न हो कि आपका कर्म श्रेष्ठ है और दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌का अनादर करके आप यदि अपने कर्मका आदर करते हैं तो वहाँ चेतनका अनादर होता है और जड़ कर्मका आदर होता है। इसलिए बुद्धिमें जड़ता नहीं आनी चाहिए। **तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् नाभिनन्दति न द्वेष्टि**—यह श्रीमद्भागवद्‌गीताका अथवा श्रीमती भगवती गीताका अथवा श्रीमता भगवता गीताका कहना है कि आप अपनी बुद्धिको किसी भी प्रकार भ्रष्ट मत होने दीजिये। इसको ठीक रास्तेपर व्यवस्थित ही प्रतिष्ठित रखिये। इसे स्नेह अथवा शुभाशुभके प्रसंगोंमें भी विषम मत होने दीजिये। समताका, कर्मकी समताका, कर्ताकी समताका, भावकी समताका जैसा वर्णन गीतामें है वैसा किसी दूसरे ग्रन्थमें है ही नहीं। **साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**। बड़े-बड़े स्रष्टा, बड़े-बड़े आचार्य भी भगवान्‌से अपने सम्प्रदायकी ही सिफारिश करते हैं और दूसरे मजहबवालोंकी सिफारिश नहीं करते। परन्तु गीता कहती है—

'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि।'

कुशलमें आसक्ति नहीं और अकुशलसे द्वेष नहीं। शुभाशुभकी प्राप्तिमें न प्रसन्नता है, न द्वेष। ऐसी लोकोपकारी संस्था आपको कहाँ मिलेगी?

अब आगे देखो। एक तो यह हुआ कि अपनेमें हीनताकी भावना न हो, दूसरी बात यह हुई कि राग-द्वेष न हो और तीसरी बात यह हुई कि अच्छाइयोंमें भी अन्धासक्ति नहीं होनी चाहिए। अब चौथी बात यह आयी कि थोड़ा विश्राम भी लेना चाहिए। आप अपनी-अपनी जीवनचर्यामें जागना और सोना दोनों रखते हैं। शरीरके आरामके लिए जागना भी आवश्यक है और सोना भी। वैसे आपका मन तो निरन्तर काम करता रहता है। मुझे एक डॉक्टरने बताया कि यह जो धड़कन है, यह मनुष्यके गर्भमें आनेका समयसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त चलती रहती है, कभी विश्राम नहीं लेती। हम ज्यादा खा लेते हैं तो बेचारीको पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। घी पचानेमें ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। वैसे जो खेतिहर हैं, श्रमिक हैं, शारीरिक श्रम करनेवाले हैं उनको तो सब पच जाता है। गरीब आदमी लकड़ी भी खा लेता है तो वह उसको पच जाती है—**काष्ठान्यपि सुजीर्यन्ते द्ररिद्राणां च सर्वशः**। पर, ज्यादा परिश्रम करनेसे—ज्यादा भोग करनेसे धड़कनकी गति निर्बल हो जाती है। इसलिए उसको भी, मनको भी विश्राम मिलना चहिए। जान-बूझकर थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मनको

सुलाते रहना चाहिए। पचास वर्ष पहले जब मालवीयजी महाराजने अछूतोद्धारका आन्दोलन प्रारम्भ किया था उस समय मैंने नींदसे उठते ही एक लेख लिखा था। मेरा यह अनुभव है कि जब मैं एक नींद लेकर उठता हूँ तब कुछ लिखनेकी स्थितिमें होता हूँ। श्रीदेवधरजी तो हमारे साथ बहुत रहे हैं। ये जानते हैं कि श्रीमद्भागवतकी टीका कैसे लिखी गयी? बड़े-बड़े लेख कैसे लिखे गये? जब हम सोकर उठते हैं तो विश्राम बाद जाग्रत बुद्धि बिलकुल ठीक-ठीक सोचती है और उसका एक सिलसिला बन जाता है। भीतर जो संस्कार भरे हुए हैं वे एक क्रमसे निकलने लगते हैं और क्रमबद्ध हो जाते हैं। अत: विश्रान आवश्यक है। जीवनमें विश्राम चाहिए :

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (2.58)

दिनभर आइसक्रीम चाटते रहना या जीभ चलाते रहना बुद्धि-विकासका साधन नहीं, समयपर भोजन ले लेना चाहिए। समयपर जिह्वाको आराम देना चाहिए। विश्राममें-से ही श्रम करनेकी शक्तिका जागरण होता है। श्रमका मूल विश्राममें है। जब सोकर उठते हैं तो जागरणकी शक्ति बढ़ती है। इसलिए जान-बूझकर विश्राम लेना चाहिए। यदि हम लोग अभ्यास करें तो हम जो नींद लेते हैं वह समाधि हो सकती है। नींदमें और समाधिमें कोई फर्क नहीं; परन्तु अभ्यासपूर्वक बनायी हुई नींद ही समाधिका काम देती है। प्रकृतिसे लगी हुई समाधि निद्रा हो जाती है। उसमें जड़ताकी प्रधानता होती है और अभ्याससे बुलायी हुई नींद समाधि हो जाती है। जहाँ हमारा पौरुष निद्राका निर्माणकर सकता है वहाँ हम निद्रासे भी ऊपर उठकर समाधिस्थ हो सकते हैं। हमको बचपनमें किसी महात्माने एक मन्त्र बताया था। वह मंत्र चार अक्षरका था और हिन्दीमें था—'हाथ खींचो'। उसका तात्पर्य है ऐसी जगह हाथ मत डालो, जहाँसे तुम अपने हाथको खींच नहीं सकते। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन जहाँ काम कर रहा है वहाँ उसे हमेशाके लिए फँसने मत दो। आँखसे, मनसे वंचित मत होओ। दिलका स्वभाव है कि वह कभी लगता-हटता है। संसारकी किसी भी वस्तुमें, विषयमें, भोगमें यदि आप अपने मनको निष्ठावान बना देंगे तो आपका मन उसीमें रम जायेगा, आपके हाथसे निकल जायेगा, आपकी बुद्धि भी वहीं चली जायेगी। इसलिए मन-बुद्धिको अपने वशमें रखिये, अपने भीतर लौटाइये। **यदा संहरते चायं**—यह अपनी बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेका ही उपाय है। दिन-रात पराये घरमें रहोगे, रोज-रोज वहीं खाओगे तो घरजमाई बन जाओगे। बिहारीका दोहा है कि—

घरेहिं जमाई लौ घट्यो खरो पूस दिन मान।

जब अपना जमाई बनकर ससुरालमें रह जाता है तब उसका वह आदर नहीं होता। ससुरालवाले समझने लगते हैं कि ये अपने घरके ही तो हैं, पीछे खा लेंगे तो क्या होगा? आज दूसरे मेहमान आये हैं और थोड़े दिनके लिए आये हैं, इनका आदर अधिक होना चाहिए। यह संसारकी रीति है। अत: अशान्तिसे बचनेके लिए विश्राम आवश्यक है, अनिवार्य है।

अब इसके बाद आता है इन्द्रियोंपर विषयोंके संयोगका प्रसंग। हमें व्यवहार करते समय इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 2.59
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 2.60
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.61

प्रज्ञा तभी प्रतिष्ठित होती है जब इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। आपकी आँख, आपकी नाक, आपकी जीभ, आपके हाथ, आपके पाँव आदि आपकी बुद्धिका आदेश मानते हैं कि नहीं? आपकी बुद्धिको बड़ा करके रखते हैं कि नहीं? हमारे इस शरीर-ग्राममें जो सेवक हैं वे हमारे आदेशका पालन करते हैं कि नहीं? गाँवका अर्थ केवल ग्राम नहीं होता, शरीरका ग्राम भी होता है। हमारी अकलकी इज्जत करते हैं कि नहीं? हमारे समझदारीका सम्मान करते हैं कि नहीं?

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

बुद्धिके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियोंका संयमन है। संयमन माने मारण नहीं होता। जैसे सवार घोड़ेकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं वैसे ही इन्द्रियोंकी लगाम हाथमें होनी चाहिए। **युक्त आसीत मत्परः** युक्त होकर बैठो। इसका अर्थ है कि जीवनमें एक प्रकारकी युक्तता होनी चाहिए। गीता इसे बहुत महत्त्व देती है।

युक्ताहारविहारस्य—भोजन भी युक्त करें, विहार भी युक्त करें—समयसे, मर्यादासे। गीताको युक्त होना बहुत प्रिय है। यहाँ तक कि दुःख सहनेमें भी मनुष्यको युक्त होना चाहिए। सहनका सामर्थ्य होना चाहिए—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

युक्त होनेके लिए युक्ति कर लेनी चाहिए। जिसको युक्ति आती है वही युक्त होता है। 'युक्तिरस्यास्ति इति युक्तः।' तो युक्ति आनी चाहिए। आपको कभी क्रोध आये तो चुप हो जाइये, पाँच-दस मिनट मत बोलिये, वहाँ से हट जाइये, थोड़ा खाने-पीने लगिये, कोई दूसरी चर्चा छेड़ दीजिए। पानी या शर्बत लेकर पीजिए। जीभपर एक बूँद शहद डाल दीजिए। शीशेके सामने जाकर देखिये कि क्रोधमें आपका चेहरा कैसा लगता है? मुस्कराते समय आपने शीशा बहुत देखा है, क्रोध आनेपर भी देखिए। यह क्रोध-निवारणकी युक्ति है, इससे गुस्सा ठंडा हो जाता है। अतः मनुष्यको युक्त रहना चाहिए।

एक युक्ति और सुनाते हैं। आपको खानेमें कुछ-न-कुछ तो प्यारा लगता ही है। दूध, चाय या काफी कुछ-न-कुछ अच्छी लगती होगी। आप एक मर्यादा बना लीजिए कि जब हमको क्रोध आयेगा तो हम तीन दिनतक कोई भी प्रिय या स्वादिष्ट वस्तु नहीं ग्रहण करेंगे। आपकी यह मर्यादा जब क्रोध आयेगा तो आपके सामने आकर खड़ी हो जायगी। आपकी मीठी-मीठी चाय अथवा मीठा-मीठा दूध कहेगा कि तुम तीन दिनके

लिए हमको छोड़ रहे हो? आपका मन कहेगा कि भाई, क्रोध भले ही छोड़ दो, चाय दूध मत छोड़ो। तात्पर्य यह है कि आपको जो भी प्रिय लगता हो उसके बारेमें एक नियम बना लो। कहीं ऐसा न हो कि दूसरेको क्रोध आये और आप उसे भोजन छोड़नेकी सलाह दें और शीशा दिखाने लगें। फिर तो उसका क्रोध और भी बढ़ जायेगा और पता नहीं वह क्या कर बैठेगा?

तो, अपने विकारोंको काबूमें रखनेके लिए थोड़ी-थोड़ी युक्ति करनी पड़ती है। भगवान्का नाम लेने लग जाओ, अपने ऊपर जुर्माना कर लो। क्या जुर्माना करो कि एक बार क्रोध आयेगा तो इतना दान करेंगे। आप लोग श्रीमन्त हैं। दो, चार, दस रुपयेका दान मत रखना। लाखोंकी संख्यामें रखना। फिर देखना कि तुम्हें क्रोधपर क्रोध आयेगा और तुम सोचोगे कि इतने परिश्रमसे कमाये हुए धनको केवल क्रोधके कारण दे देना पड़ेगा या हानि उठानी पड़े तो कौन उसे सहेगा? **युक्त आसीत मत्परः** युक्तियुक्त जीवन व्यतीत करना चाहिए और उसे भगवान्के साथ जोड़कर रखना चाहिए—**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** (२.६१)। यह गीताका एक विशेष प्रसंग है और महात्मा गांधीने इसको बहुत महत्त्व दिया है। उनके प्रभावसे जो लोग पहले गीता नहीं पढ़ते थे वे रोज पाठ करने लगे। प्रार्थना करने लगे। यह जीवनके लिए बहुत उपयोगी है—**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च** (18.51)। यह साधना जिसका वर्णन अठारहवें अध्यायमें है, दूसरी है। वह ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए है। यहाँ जिसकी चर्चा की गयी है वह बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेके लिए है। व्यवहारमें बुद्धिको प्रतिष्ठित किया जाता है। व्यवहारके लिए यह प्रसंग बड़ा उपयोगी है।

●

प्रवचन : 4

(19-11-74)

जैसा कि पहले कहा गया, हमारी बुद्धि डावाँडोल न हो स्थिर हो, प्रतिष्ठित हो, निष्ठावती हो—इसके लिए भगवान्‌ने छह बातोंपर बल दिया। अपनेमें हीनताका भाव न हो, आत्मतुष्टि हो—**आत्मन्येव च संतुष्टः।** हम इसके बिना नहीं रह सकते, उसके बिना नहीं रह सकते। हमारा जीवन पराधीन है। हम दीन-हीन हैं। इस प्रकारकी कल्पना मनसे निकल जाये। यह पहली बात है। जीवनके प्रवाहमें प्रिय-अप्रिय आते-जाते रहते हैं। उनसे उद्विग्न नहीं होना और उनकी आकांक्षा भी नहीं करना—यह दूसरी बात है। तीसरी बात यह हुई कि जिसको हम अपने जीवनमें शुभ या अशुभ मानते हैं उनमें हमारी आसक्ति इतनी प्रबल नहीं हो जानी चाहिए कि हम एक शुभके लिए दूसरे शुभका बलिदान करने लग जायें। जो श्रौत-साधन हैं वे भी दूसरोंको दुःख पहुँचाये बिना ही होने चाहिए। जो धर्म दूसरे धर्मको बाधा पहुँचाकर सम्पन्न होता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। अविरोधी धर्म है, वही सच्चा धर्म है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(व० पर्व० 131.11)

चौथी बात यह बतायी कि अपने जीवनमें संयम होना चाहिए। जीवनमें जैसे निद्रा आवश्यक है वैसे ही विश्राम भी आवश्यक है। हममें यह शक्ति होनी चाहिए कि हम जब चाहें तब अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर सकें। इससे बुद्धि अपने आप स्थिर हो जायेगी। पाँचवीं बात यह बतायी कि हमारी जो ऐन्द्रिक शक्तियाँ हैं वे व्यवहारमें भी विषयोंके पराधीन न हों—**युक्त आसीत मत्परः।** मनुष्य सावधान होकर रहे, विषय-भोगके पराधीन न हो जाय। इसके बाद यह प्रश्न उठाया कि क्या केवल विषय-त्यागसे ही मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो सकती है? इस सम्बन्धमें गीताका निर्णय है कि केवल त्यागसे बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती--

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ (गी० 2.59)

त्यागसे केवल विषय अलग हो जायेंगे, इन्द्रियाँ अलग हो जायेंगी; परन्तु रागकी निवृत्ति नहीं होगी। एकादशीके दिन भोजन न करनेपर भी द्वादशीके दिन क्या-क्या पारण होना चाहिए—यह कल्पना होती रहती

है। एक सज्जनने बारह महीनोंतक मौन रखा। फिर एक मास पूर्व कल्पना करने लगे कि जब मौन तोड़ेंगे तो सबसे पहले क्या बोलेंगे? अत: केवल त्याग बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए परमात्माका साक्षात्कार आवश्यक है। रागको निवृत्तिके लिए रागास्पदके अन्तरङ्ग तत्त्वका दर्शन होना चाहिए। रागास्पद बाहरी है जो मुझमें है वही रागास्पदमें है। वह एक है और वही सबमें है। उसका दर्शन हो जाय तो न तो राग या मुहब्बत हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है और न द्वेष, नफरत या दुश्मनी हमारी बुद्धिको बिगाड़ सकती है।

हमारे गीतावक्ता भगवान्‌का कहना है कि बुद्धिको ठीक रखनेमें आठ प्रकारके विघ्न आते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गी० 2.62-63)

एक तो अपेक्षा-बुद्धिसे विषयका चिन्तन। संस्कृत भाषामें विषय शब्दका अर्थ होता है 'विसिनोति'—जो हमें बाँध लेता है वह विषय है। षिञ् बन्धने धातुसे विषय शब्द बनता है। आँख हमारे शरीरमें रहते हुए भी किसी दूसरे रूपके साथ बँध जाती है। मन हमारे भीतर रहता हुआ भी किसीके प्रति राग अथवा द्वेषसे बँध जाता है। कैसे बँधता है? बताया कि—**ध्यायतो विषयान्।** जब हम प्रेम या द्वेषसे किसी वस्तुका ध्यान करते हैं। द्वेष तब होता है जब हमारे मनमें किसीके लिए जलन होने लगे। द्वेष माने ज्वलनाकार वृत्ति। किसीकी याद आते ही, नाम लेते ही, शकल देखते ही दिलमें आग लग जाये उसे द्वेष कहते हैं। द्वेष दूसरेका बादमें, पहले अपना घर जलाता है। संस्कृत भाषामें इसका नाम है आश्रयाश—आश्रयम् अश्नाति। आग जिस लकड़ीमें लगती है पहले उसको जलाती है। बादमें उसकी चिनगारी दूसरेके घरमें जाती है। इसलिए उसका नाम होता है द्वेष। हम रंग दूसरेके ऊपर डालना चाहते हैं, परन्तु पहले अपना ही दिल रंग जाता है। इसका नाम है राग—रञ्जनात् रागः। जैनधर्मकी एक पुस्तकमें बढ़िया उदाहरण दिया गया है। एक आदमीके मनमें क्रोध आया। उसने एक जलता हुआ लोहेका टुकड़ा उठा लिया और अपने दुश्मनपर फेंका। दुश्मन तो बच गया उठानेवालेका हाथ जल गया।

जब हम किसीसे दुश्मनी करते हैं तो दुश्मन जले या न जले, हमारा दिल जरूर जल जाता है। जब हम जानबूझकर संसारके विषयोंका चिन्तन करते हैं तब आसक्ति होती है। आसक्ति होनेपर यह कामना होती है कि वह और बढ़े। कामनामें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान उलटा हो जाता है। फिर हमने जो कुछ पढ़ा-लिखा है, सीखा-सुना है उसे भूल जाते हैं। हमारा स्मृति-विभ्रम हो जाता है और स्मृति-विभ्रमसे बुद्धिनाश हो जाता है। गीताकारका कहना है कि यदि बुद्धिका नाश हो गया तो आपके जीवनका नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।** इसलिए बुद्धिको हर समय सावधान रहना चाहिए। ऐसी कोई भी वस्तु

जिससे हमारी बुद्धि अपने स्थानसे विचलित हो जाये, हमारे जीवनमें नहीं आनी चाहिए। मैंने पहले कहा था कि सृष्टिमें ऐसा कोई धर्मग्रन्थ नहीं जिसमें बुद्धिको इतना आदर दिया गया हो—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। (18.57)

हमारा मन भगवान्‌में कैसे लगेगा? बुद्धियोगसे। भगवान् प्रसन्न होंगे तो हमें क्या देंगे? बुद्धियोग देंगे **ददामि बुद्धियोगं तम्।** अतः बुद्धियोगसे भगवान् मिलते हैं और भगवान् मिलनेपर बुद्धियोग देते हैं। लोगोंका ध्यान इस ओर कम जाता है। भगवान् जहाँ **बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** कहते हैं वहाँ 'न प्रणश्यति' भी कहते हैं—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

यदि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्‌पर रहे और वह अनुभव करे कि भगवान् ही सर्वात्मा हैं, सर्व हैं, उनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता—**न मद्भक्तः प्रणश्यति।**

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (6.30)

भगवान् हमारी आँखोंके सामने बने रहें और भगवान्‌की आँखोंके सामने हम बने रहें तो नाशका कोई प्रसंग ही नहीं उपस्थित हो सकता । परन्तु यदि बुद्धिका ही नाश हो गया—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** तो मनुष्यका नाश अवश्यम्भावी है। इससे सामधान कैसे हो जाये यह प्रश्न है।

इन्द्रियाणां हि चरितां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (2.67)

इसमें 'चरतां'का अर्थ चलना भी है और चरना भी है। जैसे पशु घास चरते चलते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ विषय-रूप घासको चरती हुई चलती हैं। यदि इन्द्रियोंके पीछे-पीछे हमारा मन और मनके पीछे-पीछे हमारी प्रज्ञा चली जाये तो यह अवस्था ठीक नहीं। इसे इस प्रकार समझो कि हम रास्तेमें चल रहे हैं। हमने देखा कि एक आदमी बहुत बढ़िया वस्त्र धारण किये हुए जा रहा है अथवा सामनेवाली स्त्रीकी साड़ी बहुत सुन्दर है। यहाँ हमारी आँखने बताया कि यह सुन्दर है। मनने कहा कि यह हमारे भी होनी चाहिए। बुद्धिने कहा कि जिस दुकानपर कपड़े मिलते हैं वहाँ जाकर खरीद लो। इस प्रकार आगे-आगे आँख चली, पीछे-पीछे मन चला और उसके पीछे लग गयी बुद्धि। यहाँ बुद्धिका अनादर हो गया। अब पहले आपकी बुद्धि चलेगी—घरमें यह आवे, वह आवे, यह उचित है, यह आवश्यक है, हितकारी है। इस तरह पहले बुद्धि किसी पदार्थका विचार करेगी, फिर उसको प्राप्त करनेका संकल्प होगा और तब उस वस्तुको जाकर आँखसे देखेंगे। अर्थात् पहले बुद्धि, बुद्धिके पीछे मन, मनके पीछे इन्द्रिय। अगर आपके जीवनकी गति ऐसी है तब आप आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करेंगे, उनसे सम्पर्क करेंगे और उनके लिए कर्म करेंगे। यदि आप इन्द्रियोंके पीछे-पीछे चलने लगे—वे जहाँ ले जायँ; जाने लगेंगे तो पता नहीं वे आपको किस गर्तमें डाल देंगी। अतः उपनिषद्‌का कहना है कि आप कामके वशमें न हों, रामके वशमें हों—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र (मु. 3.2.2)

मैं आपके सामने गीताको वैसे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ जैसे सूची-पत्र पढ़ा जाता है। आप समूची गीतापर एक दृष्टि डालिये। यह भगवान्‌की वाणी है। भगवद्-वाणीकी एक पहचान यह है कि वह तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी और निर्गुणी सबका हित करती है। भगवान् जो कुछ भी बोलते हैं सबके हितके लिए बोलते हैं। भगवान्‌की प्रत्येक वाणीमें हमारे जीवनके लिए आधारभूत सत्ता और आत्मधारणानुकूल व्यापार विद्यमान होता है। हम भी ठीक रहें, हमारी जानकारी भी ठीक रहे, और हमको पराधीनताके बिना आनन्द भी मिलता रहे। इन तीनों बातोंको ध्यानमें रखकर सबके लिए जो वचन होता है, वह भगवान्‌का वचन होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने हमारे जीवनके लिए जो रहनी बतायी है इसपर आप ध्यान दें—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (2.64)
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (2.65)
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (2.66)

भगवान् कहते हैं कि हमें अपने व्यवहारमें तीन बातोंपर ध्यान रखना चाहिए। एक तो हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन और हमारा शरीर दूसरेकी आज्ञा भले ही न माने, अपनी आज्ञा अवश्य माने। कभी-कभी तो हम जो नहीं चाहते, हमारी जीभ बोल देती है और हमारा हाथ कर बैठता है। तीसरे अध्यायमें तो इसका स्वतन्त्र प्रसंग ही है। हमारे न चाहनेपर भी कुछ हो जाता है। देखना यह है कि हम विधेयात्मा हैं कि नहीं। एक होता है अकृतात्मा, जिसका शरीर, इन्द्रिय, मन कुछ भी वशमें नहीं। दूसरा होता है कृतात्मा—जिसके वशमें सब होते हैं। और तीसरा होता है विधेयात्मा—जो सोच-विचारकर आज्ञा देता है। भगवान् श्रीकृष्ण बोलनेकी विद्या भी बताते हैं और यह भी सिखाते हैं कि कब, क्या और कैसे बोलना चाहिए।

आप भोजन करें परन्तु आपकी जीभका राग या द्वेष भोजनसे न हो जाय। इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। उन्हें हम जब चाहें तब रोक सकें—यह सामर्थ्य हमारा बना रहना चाहिए। वह व्यक्ति कितना पराधीन हो गया, जो अपने पावोंको कहीं जानेसे, हाथको कोई काम करनेसे और जीभको कुछ बोलनेसे रोक नहीं सकता। यदि आप मोटर चलाते हैं और स्टीयरिंग आपके वशमें न हो, आप मोटरको रोक न सकते हों, मोड़ न सकते हों, रफ्तारको कम-बेश न कर सकते हों तो यह खतरेका ही काम है। इसी प्रकार हमारा शरीर एक रथ है और इसमें जो इन्द्रियाँ हैं वे उपकरण हैं। इन्द्रिय शब्दका अर्थ है—इन्द्रसृष्ट, इन्द्रदत्त, इन्द्रजुष्ट। इन्द्रने जिसको बनाया वह इन्द्रिय है। इन्द्र अर्थात् कर्मके देवता। जिस प्रकार हमारे कर्मके अनुसार हमें भोग मिलते हैं उसी प्रकार भावके अनुसार कर्म करनेके लिए औजार मिलते हैं। पशु-पक्षियोंके हाथ नहीं होते। उनको हाथके कामकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब उन्हें होम आदि कर्म करने नहीं तब हाथ किसलिए? हम लोग मुखमें जो भोजन करते हैं वह भी होम ही होता है। तो पक्षियोंको आकाशमें उड़ते समय, सन्तुलन बनानेके लिए चार

पाँवकी जरूरत नहीं, उनका काम दो पावोंसे ही चल जाता है। जहाँ जैसी आवश्यकता होती है वहाँ भाव वैसा ही रूप धारण कर लेता है। हमें हमारे कर्मके अनुसार कर्म करनेके लिए इन्द्रिय प्राप्त होती हैं। अथवा भोगके अनुसार भोग भोगनेके लिए इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। इसलिए इनको इन्द्रिय बोलते हैं। इन्द्रियाँ हमारे हाथमें होनी चाहिए, हमें इनके हाथमें नहीं होना चाहिए। एक मालिक थे, वे पागलपनकी बात करते थे। जब अपने नौकरके सामने कोई पागलपनकी बात कर देते और बादमें होश आता तो उससे हाथ जोड़कर अनुरोध करते कि किसीसे कहना मत। फिर उसे कुछ इनाम भी दे देते। नौकर इनाम भी ले लेता और दूसरोंसे कह भी देता। जो इन्द्रियाँ हैं वे हमारी नौकर हैं। हमारे काम करनेके औजार हैं। इनको हमारे वशमें होना चाहिए **आत्मवश्यैः** और **रागद्वेषवियुक्तैः**। बाहरके किसी पदार्थसे राग-द्वेष न हो, इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों और हम स्वयं अपने अनुशासनके अन्तर्गत काम करें। इस तरहसे यदि हम स्वयं जीवन व्यतीत करेंगे तो हमें एक प्रसादकी प्राप्ति होगी। प्रसादका तात्पर्य निर्मलता है—**प्रसादस्तु प्रसन्नता**। श्रीमद्भागवतमें भगवान्के प्राकट्यके समय दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं अर्थात् निर्मल हो गयीं। तात्पर्य यह कि दिशाओंमें तूफान नहीं, गर्दा नहीं, धूल नहीं, वे स्वच्छ हो गयीं—**दिशः प्रसेदुः** (10.3.2)। जब हम कहते हैं कि सरोवर प्रसन्न है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें न गन्दापन है और न तूफान है। इसी प्रकार हमारा हृदय प्रसन्न होना चाहिए। प्रसन्नता तब मिलती है जब हम इन्द्रियोंके पराधीन नहीं होते; किसीसे राग-द्वेष करनेमें संलग्न नहीं होते और स्वयंके अनुशासनके अनुसार चलते हैं। ये तीन बातें जीवनमें हों तो हमारा अन्तःकरण प्रसन्न होगा।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (2.65)

जब आपका मन निर्मल होगा, तो बात घूम-फिरकर वहीं पहुँच जायेगी कि आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित है या नहीं, परिनिष्ठित है या नहीं, आपकी बुद्धिपर लोग विश्वास करें या नहीं? जब आपकी बुद्धि बदलती रहेगी, आज कुछ और कल कुछ, तब लोग आपकी सलाह कैसे मानेंगे? यदि आपको स्वयं भी अपनी बुद्धिपर विश्वास नहीं होगा तो आप अपने जीवनमें कोई योजना कैसे बना सकेंगे? इसलिए बार-बार इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि बुद्धिका प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। बुद्धि प्रतिष्ठित तभी होती है जब आपका ज्ञान निर्मल हो, प्रसन्न हो, उसमें किसी प्रकारका मैल न हो।

एक साधारण प्रसादकी बात भी आपको सुनाता हूँ। हम फल-फूल लेकर भगवान् रामचन्द्रके मन्दिरमें गये और उनके सामने रखकर खड़े हो गये। हमारे मनमें यह विचार हुआ कि यदि इसको पुजारीने हमें दे दिया और हमने ले लिया तो यह प्रसाद कैसे हो गया? तुरन्त भीतरसे आवाज आयी कि तुमने जब भगवान्के सामने फल-फूल रख दिये और अपना 'मैं' पना भी छोड़ दिया तो संशय कैसा? जब कोई वस्तु ममताशून्य होती है तब उसका नाम प्रसाद हो जाता है। ममता ही अपना हक जमाकर किसी वस्तुको प्रसादसे पृथक् करती है और ममत्व छूटते ही वह वस्तु भगवान्की हो जाती है। जब हम किसी चीजका त्याग करते हैं तब केवल अपनी ममता हटाते हैं। जब दान करते हैं तब अपनी ममता हटाकर दूसरेकी ममता बैठाते हैं। जब हम किसी वस्तुको

भगवान्‌के प्रति अर्पित करते हैं तब अपनी इस भूलका परिमार्जन करते हैं कि हमने उसे अपना समझ रखा था। यह अन्तर है समर्पण, दान और त्यागमें। तो प्रसाद तभी प्राप्त होगा जब हमारे ध्यानमें यह बात आजायेगी कि सभी पदार्थ भगवान्‌के हैं : **प्रसादमधिगच्छति** और फिर सारे दुःख दूर हो जायेंगे। बुद्धि प्रतिष्ठित हो जायेगी। वास्तवमें इस संसारके भोगोंके पीछे भाग-दौड़ करनेकी कोई बात नहीं। इसलिए भाई, ध्यानसे देखो। जिसमें संसारी लोग संलग्न हैं वह एक दूसरी वस्तु है। तत्त्वज्ञानी उसमें नहीं लगते, और जहाँ तत्त्वज्ञानी परिनिष्ठित हैं उसे संसारी लोग नहीं जानते। योगवासिष्ठमें एक श्लोक है:

काकोलूक निशेवायं संसारोऽध्यात्मवेदिनः।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (2.69)

संसारका स्वरूप अज्ञानीके लिए एक और ज्ञानीके लिए दूसरा है। देखते हैं दोनों संसारको, किन्तु एक उसे सच मानता है, दूसरा असत् समझता है। जैसे सिनेमाके पर्देपर खेल हो रहा है। उसे बच्चा भी देख रहा है और समझदार भी देख रहा है। पर बच्चा उसको सच समझकर जब पर्देपर आग लगती है तब रोने लगता है और कोई डाकू दिखायी देता है तो डर जाता है। किन्तु समझदार उसको देखकर आनन्द लेता है। सिनेमाका पर्दा एक, दृश्य एक, परन्तु बच्चा जहाँ डरता है वहाँ समझदार आनन्दित होता है। यही भेद है बुद्धिका। बुद्धिकी इतनी महिमा है कि जहाँ संसार डरता है, वहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है और जहाँ आत्मज्ञानी निर्भय होता है वहाँ संसारको उसका पता ही नहीं। मूल बात इसमें-से यह निकलती है कि हम संसारके पीछे दौड़ें नहीं, अपनी जगहपर बैठ जायें। अपनी स्थिति, अपनी प्रतिष्ठाका परित्याग न करें। अपने केन्द्रबिन्दुपर अडिग हो जायें।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (2.70)

एक होता है शान्तिका आनन्द और दूसरा होता है विषय-भोगका आनन्द। विषय-भोगका आनन्द हर्षोल्लासका आनन्द है, उसको विषयानन्द बोलते हैं और परमात्माका जो आनन्द है वह शन्त्यानन्द है—शान्तिमें आनन्द। तो जिसको शान्तिमें आनन्द लेनेका अभ्यास हो जाता है, उसे हर्षोल्लासके आनन्दके लिए भाग-दौड़ नहीं करनी पड़ती।

समुद्रमापः—आपः सब समुद्र हैं। जिसके पास मुद्रा हो उसे समुद्र कहते हैं। मुद्रा माने द्रव्य, जो लक्ष्मीका प्रतिनिधि है। जिससे लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है अथवा लक्ष्मी जिसकी बेटी है उसका नाम समुद्र है। जिसमें समुद्रेक हो वह समद्र है; जिसमें समय-समयपर ज्वार आता है, उसको भी समुद्र बोलते हैं। समुद्र मुद्रायुक्त होता है। वह कभी-कभी उद्दप्त भी होता है। उसमें उच्छलन भी होता है। तरंगायित भी होता है। इसलिए भी उसको समुद्र बोलते हैं। उसमें दो मुद्राएँ हैं, एक शान्त मुद्रा दूसरी विक्षिप्त मुद्रा। वह कभी विक्षिप्त हो जाता है, कभी शान्त हो जाता है। समुद्रमें सब-सब नदियाँ स्वयं जाकर मिलती हैं। वह यह नहीं कहता

कि : 'एहि गङ्गे, एहि ब्रह्म-ह्रद, एहि तुङ्ग' मेरे पास आओ। वह कृष्णा, रेवा, विपाशा किसी भी नदीको नहीं बुलाता। वह नदियोंके जलसे, वर्षाके जलसे सदा-सर्वदा भरता रहनेपर भी अपनी प्रतिष्ठाको नहीं छोड़ता— **आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं।** आपके पास बहुत सारी सम्पत्ति आजाय और आप उसको अपनी समझकर मर्यादा छोड़ दें तो यह जीवनके लिए कुछ अच्छा लक्षण नहीं होगा। एक दिन मैं गंगा-किनारे बैठा था। एक बालक गंगाजीकी पूजा करने आया। उसके साथ उसका नौकर चाँदीके थालमें चन्दन, अक्षत आदि पूजाकी सामग्री लेकर आया और बालकसे बोला—बाबू, गंगाजीको यह चन्दन चढ़ा दो, अक्षत चढ़ा दो, फूल चढ़ा दो, नैवेद्य चढ़ा दो। बालकने पूरी सामग्रीके साथ चाँदीकी वह थाली गंगाजीमें फेंक दी। नौकर कहने लगा बाबू, यह क्या किया तुमने ? बालक बोला—चुप रह हम ऐसी दस थालियाँ मँगाकर तुमको दे देंगे। यह प्रतिष्ठा टूट गयी और अहंभावका प्राकट्य हो गया—**हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति**—वेद भगवान्‌का कहना है कि संसारके विषयोंको पाकर जिसको बहुत हर्ष होता है उसे दर्प हो जाता है। दर्पसे ही दर्पण बनता है। धातु वही है। शीशेके सामने चाहे तुम मूँछ ऐंठ लो या और कुछ कर लो। पहले मूँछें होती थीं। अब वह गायब हो गयीं। शीशेमें अपने चेहरेकी चिकनाई देखते ही हैं। यदि वह दिखती है तब उससे दर्प होता है—**दृप्यति अनेन इति दर्पणः**—जिसको देखनेसे मनुष्यके मनमें दर्पका भाव आये उसका नाम दर्पण होता है। जब मनुष्यके मनमें दर्प आजाता है तब वह अपनी मर्यादाका, धर्मका उल्लंघन करता है—**दृप्तो धर्मम् अतिक्रामति।** भाई बाहरसे चाहे जितना आये आने दो, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा मत छोड़ो। बल्कि जो कुछ भी आये उसे आत्मसात् कर लो। यह जीवनकी एक शैली है।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी। (2.70)

जीवनमें भोगोंको आने दो, विसंगतियोंको आने दो, संसारको आने दो, परन्तु तुम अपनी जगह अविचल बने रहो। अपनी स्थितिसे विचलित मत होओ। अपना मन, अपनी बुद्धि मत बिगाड़ो। ऐसा होनेसे तुम्हें शान्ति मिलेगी। यदि तुम विषयोंके पीछे दौड़ोगे तो क्या होगा? बहुत बढ़िया उदाहरण है। जैसे कोई सूर्यकी ओर पीठ करके खड़ा हो तो उसे क्या दिखेगा? उसकी अपनी परछाईं दीखेगी। उस परछाईंको यदि वह हृदयसे लगाना चाहे, उसका आलिंगन करना चाहे, उसको पकड़नेके लिए दौड़े तो जितना ही दौड़ेगा उतनी ही परछाईं दूर होती जायेगी। किन्तु वही व्यक्ति यदि सूर्यकी ओर मुँह करके खड़ा हो जाये और उधर ही चले तो परछाईं उसके पीछे-पीछे चलेगी। जो भोगोंकी कामनासे इधर-उधर दौड़ता-फिरता है, उसको शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उसको मिलती है जो अपनी जगहपर अडिग खड़ा रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके चार उपाय बताये हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (2.71)
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (2.72)

गीतामें यह स्थितप्रज्ञका प्रकरण है और बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो कर्म करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान होती है स्थित-प्रज्ञता। जो भक्ति करते हुए सिद्ध होते हैं उनकी पहचान बारहवें अध्यायमें वर्णित है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। (12.13)

जो विवेकसे सिद्ध होते हैं, पूर्णताको प्राप्त होते हैं उनकी पहचानका वर्णन चौदहवें अध्यायके गुणातीत प्रसंगमें है। गीतामें कर्म-प्रधान, भक्ति-प्रधान और गुणातीत-प्रधान सिद्धोंका वर्णन तो है किन्तु भभूत या कुमकुम बरसानेवाले कलियुगी सिद्धोंका वर्णन नहीं। ये सब तो स्वयंभू सिद्ध हैं, जादूगरीके सिद्ध हैं, मानसिक शक्तिके सिद्ध हैं, यक्षिणी, भूत, प्रेत, पिशाच आदिके सिद्ध हैं। परमेश्वरसे इन सिद्धियोंका कोई सम्बन्ध नहीं। इन सिद्धियोंसे मन हटाये बिना कोई परमेश्वरकी ओर जा ही नहीं सकता।

श्रीकृष्णने शान्ति-प्राप्तिके लिए जो चार बातें बतायीं उनपर ध्यान दीजिये। जिस वस्तुका आपको अभाव मालूम पड़ता है, उसकी कामनासे व्याकुल होकर दौड़िये मत। आपको उसका अभाव जो खटक रहा है उस खटकको ही छोड़ दीजिये। बचपनमें जब मेरे बाबा कहते थे कि यह पेड़ा तुमको नहीं दूँगा तो मैं कहता कि जाओ मुझे पेड़ा चाहिए ही नहीं। मैं आँख बन्द करके बैठ जाता, तब बाबा बुलाते कि अच्छा लो। यद्यपि यह बचपनकी मस्तीकी बात है तथापि सिद्धान्ततः ठीक है। आपके हृदयमें अप्राप्त वस्तुके लिए जो व्याकुलता है उसको आप अपने भीतर स्थान न दें और स्वभावतः जो वस्तु आजाये उसके प्रति आसक्त न हों। आप नोटको, गिन्नीको और हीरोंको भी पहचानते हैं। पहचानते ही नहीं, उनको अपना समझते हैं और कहते हैं कि ये मेरे हैं। इनपर हमारा हक है। परन्तु वे ऐसे बेवफा हैं कि आपको बिलकुल नहीं पहचानते और न आपके काबूमें रह पाते हैं। वे आपके हाथसे निकलकर दूसरे हाथमें चले जाते हैं। वे सोचते हैं कि हमको मेरा कहनेवाला और हमारे प्रति इतना ममत्व दिखानेवाला यह महापुरुष कौन है? अतः उनसे हम लोगोंकी एकांगी प्रीति है। हम कहते हैं तुम हमारे ही घरमें रहो। हमको छोड़कर कहीं मत जाओ। परन्तु वे हमारी नहीं सुनते। एक देहाती कहावत है, जिससे आपको थोड़ी हँसी आजायेगी। एक गाँवमें एक (बूढ़ा) कंजूस आदमी था। उसने एक चाँदीका रुपया बड़े प्रेमसे रख छोड़ा था। एक दिन बहुत आवश्यकता पड़नेपर वह उस रुपयेको हाथमें लेकर निकला और सामान खरीदने बाजार गया। गरमीके दिन थे। उसके हाथमें पसीना आगया। उसने देखा और बोला—ओहो तुम रोते हो। तुम्हें मुझसे इतना प्रेम है कि मेरे हाथसे जानेमें तुमको रोना आता है! अच्छा, लो—***मैं मर जैहों पै तोहें न भजैहों, तोहराके देखि देखि जियरा बुझैहों।*** हमारी जो धनासक्ति है वह ऐसी ही है। बचपनमें हम दो आने पैसेके लिए रो चुके हैं। मेला देखनेके लिए पैसा माँगनेपर उत्तर मिला कि तुम्हारे हाथमें नहीं देंगे। फिर दो रुपये आये, दो सौ आये, दो हजार आये फिर दो लाख आये। रुपये तो बढ़ते गये परन्तु हमारा बचकाना रोना जारी रहा। जो हमको पहचानता तक नहीं उसके प्रति हमारा इतना प्रेम है।

हमारे पास वस्तु आती है, जाती है। हमारा घर उसका एक पड़ाव है। वह हमारी दुकानमें-से होकर

निकल जाता है और फिर उस दुकानको पहचानता तक नहीं—**पुमांश्चरति निःस्पृहः**। आप भी उसकी तरह निःस्पृह हो जाओ और वह आये अथवा जाये, उसके लिए हीनताका अनुभव करके दुःखी मत होओ। यदि आयी हुई वस्तु ठहर जाये तो उसे अपनी मत समझो। न ठहरे तो उसके लिए व्याकुल मत हो जाओ। वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा मत करो, क्योंकि—***सम्पति सब रघुपति कै आही।*** इस संसारमें चल और अचल जितनी भी सम्पत्ति है सब परमेश्वरकी है। गीताका यही सिद्धान्त है। जब हम उसका पन्द्रहवाँ अध्याय पढ़ते हैं तव बोध होता है कि क्षर और अक्षर दोनों ही पुरुषोत्तमके हैं। वास्तवमें इनके उपभोगका अधिकार असुरों अथवा असज्जनोंको नहीं, ये पुरुषोत्तम-तन्त्र पदार्थ हैं। इन्हें उत्तम पुरुषके हाथमें रहना चाहिए और उन्हींके द्वारा इनका उत्पादन, वितरण, विनिमय होना चाहिए। यदि हम अपनेको निर्मम मानें और कहें कि हम किसी वस्तुको महत्व नहीं देते, उसे जब चाहें उठाकर फेंक सकते हैं तो यह भी अहंकारकी बात है। हमारे एक मित्र थे। कभी-कभी कहा करते थे कि हमको डबल एम. ए.का प्रमाण-पत्र मिला था किन्तु हमने उसे गंगाजीमें फेंक दिया। उन्हें अपना प्रमाण-पत्र गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार हो गया था। वह प्रमाण-पत्र उनके पास किसी आलमारी या सन्दूकमें पड़ा रहता तो कोई दोष नहीं था। परन्तु उसे फाड़कर गंगाजीमें फेंकनेका अहंकार उनके सिरपर ऐसा सवार हुआ कि जब एक दिन उनको यह सुननेको मिला कि तुम्हारे अन्दर एम. ए. होनेकी कोई योग्यता नहीं, तुमको झूठ-मूठ प्रमाण-पत्र मिल गया होगा, तब वे तिलमिला उठे। फिर श्री लक्ष्मण नारायणजी गर्देने उनको बहुत समझाया और कहा कि आपने अपना प्रमाण-पत्र भले ही फाड़कर फेंक दिया हो, किन्तु उसका अहंकार आपके अन्दर बना हुआ है। तब वे शान्त हुए।

वास्तवमें अहंकार अवश्य छूटना चाहिए। अप्राप्तके प्रति कामना, प्राप्तके प्रति स्पृहा, विद्यमानके प्रति ममता और ममताके त्यागका अहंकार—इन चारों बातोंसे जो मुक्त हो जाता है उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है—

स शान्तिमधिगच्छति।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ (2.72)

इस श्लोकमें ऐसी कोई भी बात नहीं, जिसको हम और आप न कर सकते हों। क्योंकि अपना आत्मा अपने सहज स्वभावसे ही परमात्माका स्वरूप है। अच्छा, देखो आपके मुँहके भीतर जो पोल है—आकाश है और बाहर जो पोल है—आकाश है—वे क्या दो हैं? आपकी चहारदीवारीके भीतरकी भूमि और बाहरकी भूमिमें क्या कोई अन्तर है? हम लोग जो साँस लेते हैं वह नाकके भीतर जानेपर हमारी है तो बाहर निकलनेपर किसकी है? वह बाहर जिसकी है उसीकी भीतर जानेपर भी है। साँस एक ही है। इसी प्रकार यह जो चेतन तत्त्व है वह चाहे आपके शरीरमें बल्बकी तरह जगमग-जगमग जल रहा हो, पंखेकी तरह घूम रहा हो, हीटरकी तरह गर्म हो रहा हो, रेफ्रीजरेटरकी तरह ठण्डा हो रहा हो, मोटरकी तरह चल रहा हो, परन्तु चीज एक ही है। उसी एक पदार्थके कारण ही इतनी सारी प्रक्रियाएँ हो रही हैं। वास्तवमें जब आप दोष-विनिर्मुक्त

होकर—कामना, स्पृहा, ममता, अहंकार-इन चारोंसे छूटकर बैठते हैं तब ब्राह्मी स्थितिमें होते हैं। वह आपकी कोई परिच्छिन्न स्थिति नहीं, बल्कि स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें—**एषा ब्राह्मी स्थितिः** है।

लोग हमारे पास शिकायत करते रहते हैं कि हम ध्यानमें बैठते हैं तो ध्यान नहीं लगता। इसका कारण क्या है? एक दिन मैंने अपना जूता सड़ककी तरफ निकाल दिया और किनारे बैठकर ध्यान करने लगा। जब-जब आँख खुले तब-तब यह देखलें कि जूता है कि नहीं। तो जूता अथवा उससे भी बड़ी-बड़ी वस्तुओंको बाहर रखकर ध्यानमें बैठनेपर हमारा मन यह झाँकने जायेगा ही कि हमारी सब चीजें ठीक-ठीक अपनी जगहपर हैं या नहीं। हमारे ध्यानमें जो चंचलता है इसका कारण बाहरकी वस्तुएँ हैं। एकबार आप यह अनुभव करें कि सम्पूर्ण आकाशमें आपके भगवान् ही भगवान् और आप ही आप व्याप्त हैं—भरपूर हैं। गीता भगवान् तथा आपमें कोई अन्तर नहीं बताती। आप ध्यानसे देखिये।

सर्वभूतस्थमात्मानम्—हमारा मैं सबमें है।

सर्वभूतानि चात्मनि—सब मुझमें हैं।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। (6.29)

ऐसी सच्ची दृष्टि जिसे प्राप्त हो गयी है, उसको ऐसा दिखता है कि मुझमें सब हैं और सबमें मैं हूँ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। (6.30)

मुझमें सब, सबमें मैं, मुझमें-सबमें परमात्मा और परमात्मामें मैं तथा सब, जो पहचान मेरी वही पहचान परमात्माकी। इसलिए—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ (6.31)

गीताका कहना है कि जिसको मेरी और परमात्माकी एकता ध्यानमें आजाती है वह योगी है।

यो मां पश्यति सर्वत्र—यह तत् है।

सर्वभूतेषु चात्मानं—यह त्वम् है।

भजत्येकत्वमास्थितः—यह असि है।

इस प्रकार बनता है—तत्त्वमसि। **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ**—आपकी स्थिति ब्राह्मी है का अर्थ है कि जो स्थिति ब्रह्मकी है वही स्थिति आपकी है। जब आप ऐसी स्थितिमें आजायेंगे तो कभी मोहके दलदलमें नहीं फँसेंगे। इसलिए हे पार्थ! तुम इस स्थितिको प्राप्त करो। पार्थका अर्थ है पृथाका पुत्र। पृथा कुन्तीको कहते हैं। कुन्ती भगवान्‌की बुआ है। भगवान्‌का आशय है कि तुम मेरी बुआके पुत्र हो, भाई हो। अपने भाईसे ठीक-ठीक बात बता देनी चाहिए। देखो, पार्थमें जो 'प' है उसका अर्थ है परमेश्वर। **पातीति पः परमात्मा**—जो सबको रक्षा करे उसका नाम है 'प'। तात्पर्य यह है कि जिसके जीवनका अर्थ केवल परमेश्वर ही है उसका नाम पार्थ है। जो परमेश्वरको ही चाहता है, परमेश्वरको ही प्रयोजनीय मानता है अर्थात् अपने जीवनमें सच्चाईको, सच्चे ज्ञानको धारण करना चाहता है वह पार्थ है। परमेश्वरको चाहना सच्चाईको चाहना है,

परमेश्वरको चाहना सच्चे ज्ञानको चाहना है और परमेश्वरको चाहना सच्चे आनन्दको चाहना है। परमेश्वरका अर्थ है जो सबके भीतर एक है और जिसमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं, ऐसे परमेश्वरको प्राप्त करना ही ब्राह्मी स्थिति है और इसको प्राप्त करके किसीको विमोह नहीं होता—**नैनां प्राप्य विमुह्यति।**

संस्कृत भाषामें मोह शब्दका अर्थ होता है जिसमें सोचने-विचारनेकी शक्ति न रहे। मा, ऊहा=जिसमें ऊहा नहीं—उहापोहकी शक्ति नहीं, उसका नाम मोह। अथवा **मुह् वैचित्त्ये** अपने चित्तका विपरीत हो जाना मोह है। वास्तवमें महत्त्व है तुम्हारा। उसको तो तुम देखते नहीं, संसारके महत्त्वको देखते हो। तुम अपना स्वरूप भूलकर दूसरेके स्वरूपमें तन्मय हो गये हो। ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जानेपर मोह नहीं होता। ब्राह्मी स्थितिकी ऐसी महिमा है कि यदि वह जीवनभर किसीको प्राप्त न हो, किन्तु मरते समय क्षण भरके लिए भी उसकी प्राप्ति हो जाय तो मङ्गल हो जाता है। संसारके राग-द्वेष जीवात्माको घसीटकर कहीं-का-कहीं ले जाते हैं। उसके अन्त:करणको दूषित कर देते हैं। मनुष्यका अन्त:करण मोटरकी तरह है। उसमें जो कामनाएँ हैं, संकल्प हैं, वे ड्राइवरकी तरह हैं। मनुष्यकी कामनाएँ और संकल्प ही उसके अन्त:करणको जहाँ-तहाँ घसीटते फिरते हैं। यदि किसीको ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाये, एक क्षणके लिए भी प्राप्त हो जाये, अन्तिम समयमें भी प्राप्त हो जाये, तो उसकी स्थिति ब्रह्मनिर्वाणकी हो जाती है। वास्तवमें ब्राह्मीस्थिति मरनेके समय ही नहीं, जीवनमें ही प्राप्त करनेकी वस्तु है। जिसके जीवनमें ब्राह्मीस्थिति आजायेगी वह साक्षात् परमेश्वरकी तरह ही जीवित रहेगी। उसके जीवनका स्वरूप पूर्ण हो जायेगा। वहाँ न मृत्युका भय रहेगा, न अज्ञानका, न संयोगका, न वियोगका। पूर्ण केवल पूर्ण होता है, उसमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं रहती।

अब निर्वाण शब्दका अर्थ केवल उत्प्रेक्षाकी दृष्टिसे आपको सुनाते हैं। आप 'वाण'को लीजिये। ब और व में कोई भेद मत कीजिये। जब किसीको बाण लगता है तो पहले उसे दु:ख होता है, दर्द होता है। बादमें वह बेहोश हो जाता है और मर भी जाता है। दु:ख होना आनन्दके विरुद्ध है, बेहोश होना ज्ञानके विरुद्ध और मरना सत्के विरुद्ध है। इसलिए निर्वाणका अर्थ वह स्थिति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर न आपको दु:ख होगा, न बेहोशी होगी और न आप मृत्युको प्राप्त होंगे। आपका जीवन परिपूर्ण हो जायेगा।

●

प्रवचन : 5

(20-11-74)

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दूसरे अध्यायमें बुद्धिपर बहुत बल दिया। कर्म-बुद्धिको भी बुद्धि कहा, सांख्य-बुद्धिको भी बुद्धि कहा। हमारे दार्शनिकोंने यह अनुसंधान किया है कि मनुष्य कर्ममें तभी प्रवृत्त होता है जब उसके मनमें कोई-न-कोई इच्छा होती है। सभीको ठीक तरहसे सञ्चालित करनेवाली शक्तिका नाम इच्छा है। इच्छा होती है ज्ञानके अनुसार। जानाति, इच्छति, करोति—मनुष्य पहले समझता है, फिर छोड़ने या ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तत्पश्चात् उस इच्छाके अनुसार प्रयत्नशील होता है। निष्कामताका अर्थ जड़ता नहीं, निष्फलता भी नहीं। यदि कोई कर्म बिना प्रयोजन किया जायेगा तो पानी पीटनेके ('जलताडन' बोलते हैं संस्कृतमें) समान निष्फल जायेगा, शक्तिका अपव्यय होगा। इसलिए कोई भी कर्म प्रारम्भ करनेके पूर्व यह विचार कर लेना चाहिए कि उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी, उसमें क्या-क्या विघ्न पड़ेंगे और उन विघ्नोंको हम कैसे पार करेंगे? वे लोग अधकचरे होते हैं जो निष्कामका नाम सुनकर चौंक जाते हैं।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ (18.25)

प्रत्येक क्रियाका एक परिणाम होता है। दूधका मन्थन करनेपर क्रीम निकलती है। दहीके मन्थनसे नवनीत निकलता है। मन्थन एक कर्म है। यदि आपको यह ज्ञात नहीं कि दूध-दहीके मन्थनका परिणाम क्या होगा तो मन्थन-क्रिया निष्फल हो जायेगी। इसलिए कोई कर्म करना हो तो पहले उसका अनुबन्धन समझना चाहिए। अनुबन्धमें चार बातें विचारणीय हैं। पहली बात यह कि हम कर्मके अधिकारी हैं कि नहीं? हमें अमुक कर्म करना चाहिए कि नहीं? अर्थात् उस कर्ममें हमारा अधिकार होना चाहिए। दूसरे, कर्मको स्वरूपसे जानना चाहिए। कर्म कैसे करना है यह यदि आपको ठीक-ठीक करना नहीं आता, तो उसमें लगकर आप उसको बिगाड़ देंगे। तीसरे, कर्मके प्रयोजनका विचार करना चाहिए। चौथे यह देखना चाहिए कि उस कर्मके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार अधिकार, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध इन चारोंके ज्ञानका नाम अनुबन्ध है। शास्त्रकारोंने इन चारों बातोंपर विचार किया है और चेतावनी दी है कि कोई भी काम प्रारम्भ करनेके पूर्व इन चारों बातोंपर विचार करलो। क्षयका अर्थ हानि। अर्थात् यह काम करनेमें हमें अथवा दूसरोंको कितनी हानि पहुँचेगी? पौरुषम्का अर्थ है पुरुषार्थ। अर्थात् इस कामको पूरा करनेकी शक्ति हममें है कि नहीं। जो लोग इन बातोंका विचार किये बिना केवल मोहवश कर्म प्रारम्भ कर देते हैं, उनका कर्म तमोगुणी हो जाता है। तात्पर्य यह कि उनको अन्तमें निष्फलता प्राप्त होती है और कर्म करनेका आनन्द भी नहीं मिलता। अब आप इन चारों बातोंकी कसौटीपर विचार कीजिये। आप कोई कर्म कर लेनेके बाद थकानका अनुभव करते

हैं या प्रसन्नताका? यदि आपको प्रसन्नता हो तो समझिये आपने अच्छा काम किया। ग्लानि हो तो समझिये आपका वह काम अच्छा नहीं। मनुस्मृतिमें कर्मके सम्बन्धमें यह कहा गया है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषो चान्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

(मनुस्मृति 4.161)

कर्मके साथ आत्मतुष्टि अवश्य होनी चाहिए। कर्म करते समय यदि अन्तरात्माको सन्तुष्टिका अनुभव हो तो उसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। जिस कर्मसे आत्मग्लानि या पश्चात्ताप होता हो वह नहीं करना चाहिए।

काशीमें एक महात्मा थे। उनसे किसीने कर्मके सम्बन्धमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम अपने कर्मके जज स्वयं हो। कोई काम करनेके बाद जब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वीकार करती है कि तुमने बुरा काम किया तो वह काम संस्कार बनकर तुम्हारे साथ जुड़ जाता है। यदि तुम किसी कृत कर्मको अन्तरात्मासे नहीं, बलात् अस्वीकार करोगे तो समष्टि भावना तुमसे स्वीकृतिका हस्ताक्षर ले लेगी। इसलिए यह ध्यान रखो कि कर्म करते समय तुम्हारी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो रही है, प्रसन्न हो रही है, अथवा ग्लानिका अनुभव कर रही है। मनुस्मृतिमें यह श्लोक भी आता है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥

(मनुस्मृति 8.92)

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥

(मनुस्मृति 12.119)

हमारे हृदयमें भगवान् आत्माके रूपमें रहते हैं। यदि उनसे तुम्हारा कोई मतभेद नहीं तो न गङ्गा नहानेकी आवश्यकता है और न किसी तीर्थकी यात्रा करनेकी। अपने आत्मदेवसे कोई विवाद नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने ज्ञान और आकांक्षाके अनुसार काम करते हैं तथा हमारे जीवनके साथ जुड़ जाता है तो हमारी बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया कि आप बुद्धि एवं कर्मकी तुलनामें बुद्धिको ही श्रेष्ठ और कर्मको कनिष्ठ मानते हैं। फिर मुझे ऐसे घोर कर्मोंमें क्यों लगाते हैं जिनमें हिंसा होती है। आपके मिले-जुले अस्पष्ट वचनोंसे मेरी बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है। कोई निर्णय नहीं कर पाती—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। (गीता० 3.2)

यह प्रसंग पहले भी आ चुका है। आपको बताया जा चुका है कि अर्जुनके इन वचनोंसे उनका श्रीकृष्णके प्रति अत्यन्त प्रेम प्रकट होता है। सचमुच एक मित्र जैसे अपने मित्रसे बात करता है वैसे ही अर्जुन श्रीकृष्णसे बात कर रहे हैं। बहुत ममता और प्रियता भरी है उनकी बातोंमें। उत्तरमें भगवान्ने अर्जुनको दो प्रकारकी निष्ठा बतायी। निष्ठा उसे कहते हैं जहाँ हम स्थिर हो जायँ। 'नि'का अर्थ है नितरां और 'ष्ठा'का अर्थ है

डाँवाडोल न होना। स्थान और स्थितिमें जो स्थ है वही निष्ठामें भी ह ारी निष्ठा हो गयी अर्थात् हम पक्के हो गये। अब तो यही करेंगे, इसी ढंगसे जीवनका निर्वाह करेंगे। इस में अपना पौरुष लगायेंगे और इसीसे हमारे प्रयोजनकी सिद्धि होगी। पहले भी कहा जा चुका है कि प्रयोजनपर दृष्टि रखे बिना कोई कर्म नहीं करना चाहिए। निष्कामता और निष्प्रयोजनतामें बहुत अन्तर है। प्रयोजनका अर्थ होता है—**अवगतं तद् आत्मनि इष्यते**—जिसका अनुभव होनेपर हम चाहें कि यह हमेशा हमारे साथ जुड़ा रहे। प्रयोजनका अर्थ प्रकृष्ट योजना भी है। अत: प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ही कर्म करना चाहिए, निष्प्रयोजन नहीं।

तो भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको दो प्रकारकी निष्ठा बतायी, वह यह है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। (3.3)

यहाँ अर्जुनके लिए अनघ सम्बोधन है। 'अनघ' कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम जो मुझे यह कह रहे हो कि मैं ठीक-ठीक बात न करके तुम्हें भ्रममें डाल रहा हूँ, इसमें तुम्हारा भाव शुद्ध है और जहाँ शुद्ध भाव है वहाँ शब्दावलीपर ध्यान नहीं दिया जाता। तुम्हारे शब्द कुछ भी हों, तुम्हारा तात्पर्य यह है कि तुम अपने कर्तव्यको तत्त्वत: जानना चाहते हो। इसलिए तुम निष्पाप हो।

इसके बाद श्रीकृष्ण बताते हैं कि निष्ठाके स्वरूपमें अन्तर क्यों पड़ता है? एक तो सांख्ययोगकी दृष्टिसे, दूसरा कर्मयोगकी दृष्टिसे। सांख्यशास्त्रमें जगत्‌के पदार्थोंकी गणना की जाती है। पण्डितगण जगत्‌के पदार्थोंकी संख्या करते हैं। संख्याका अर्थ है सम्यक्-ख्याति। कोई भी पदार्थ कितने रूपोंमें ख्यात हो रहा है इसका आकलन। वेदान्ती लोग ख्याति शब्दका अर्थ भ्रम करते हैं। उनके सत्ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति आदि पारिभाषिक शब्दोंका तात्पर्य यह है कि वस्तु वस्तुत: है एक रूपमें और प्रकट हो रही है दूसरे रूपोंमें। सांख्य शब्दका अर्थ संसारके पदार्थोंका सम्यक् आख्यान है और उसके परिणाम-स्वरूप विवेक द्वारा अपने आत्माको अकर्ता एवं असंग जानना सांख्यका सिद्धान्त है। जो लोग बुद्धिमान् हैं उनके लिए विवेक द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करनेका मार्ग सांख्ययोग है और जो लोग प्रयत्न करके, प्रयास करके किसी वस्तुका निर्माण करना चाहते हैं, उनके लिए कर्मयोगका मार्ग है। निर्माण-विभाग है कर्मयोग और प्रमाण-विभाग है सांख्ययोग।

हमारे शास्त्रोंमें तीन विभाग माने जाते हैं—तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-मीमांसा और कर्ममीमांसा। सत्यवस्तु क्या है? यह तत्त्वमीमांसा है, उसको सिद्ध करनेके लिए प्रमाण क्या है? यह प्रमाणमीमांसा है और हमको जिस ढंगमें वर्तना चाहिए यह आचार अथवा कर्म-मीमांसा है। कर्मकी शैली बताना एक चीज है और उसको समझना दूसरी चीज है। कर्मयोग निर्माण करता है और सांख्ययोग जो वस्तु जैसी है उसको वैसी दिखाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब अन्तमें समझना ही है, ज्ञान ही प्राप्त करना है तो कर्म क्यों किया जाये? यह एक शास्त्रीय प्रसंग है कि जबतक हमारे साथ कर्म लगा रहेगा तबतक वह कुछ बनायेगा कछ बिगाड़ेगा और हम उसके कर्ता बने रहेंगे, उसके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ा रहेगा और हम उसके कर्ता बने रहेंगे तो उसका फल उत्पन्न होगा और जब फल उत्पन्न होगा तो उसके अनुसार हमें भिन्न-भिन्न

योनियोंमें जाना पड़ेगा, भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करने पड़ेगें, यह काम कैसे होगा, वह काम कैसे होगा और उसका फल कैसे भोगेंगे, यह प्रसंग सामने आता जायेगा। जब कर्मसे पूरी तरह छुटकारा मिलेगा तभी आत्मदेव अपने स्वरूपमें स्थित होंगे और ब्रह्म स्वरूप बनेंगे। यदि कर्मसे आत्माका पूर्णरूपसे छुटकारा नहीं होगा तो उसकी मुक्ति नहीं होगी और उसको ब्राह्मीस्थिति प्राप्त नहीं होगी। कर्म होगा तो सुख-दु:खका अनुभव अवश्यम्भावी है। जब कर्मके फल-स्वरूप सुख-दु:ख भोगते जायेंगे तो मुक्ति किस बातकी हुई? इसलिए जीवनमें नैष्कर्म्यका आना आवश्यक है।

अब प्रश्न उठा कि जब नैष्कर्म्य ही अपेक्षित है तब पहलेसे ही कर्म क्यों न छोड़ दिया जाये? भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं। यदि तुम्हें नैष्कर्ष्य प्राप्त करना है तो जो आवश्यक कर्म है उन्हें पूरा करना होगा—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। (गी 3.4)

अब इस बातको समझनेके लिए कुछ उदाहरण लीजिये। कतिपय मित्र यात्रा करने गये। उनका जो मुखिया था उसने कहा कि भाई जंगलसे लकड़ी इकट्ठी करो गाँवसे चावल, दाल, हँडिया आदि ले आओ। फिर भोजन पकाकर खायेंगे और खानेके बाद आग बुझा देंगे। इसपर एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलानेकी क्या आवश्यकता है? उसकी यह बात गलत थी। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि जब हमें अन्तमें कर्म छोड़ना है तब पहले ही क्यों न छोड़ दें? तो वह कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसी प्रकार यदि किसी बालकको कहा जाये कि पहली पोथी पढ़ लो कि दूसरी-तीसरी पढ़ना और वह बालक जवाब दे कि जब पहली पोथी पढ़कर छोड़नी ही है तो मैं उसे अथवा दूसरी-तीसरी पोथियोंको क्यों पढ़ूँ? मुझे तो वह पोथी पढ़नेके लिए दो जिसे पढ़कर कभी छोड़ना न पड़े। तो ऐसे बालकको कभी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती।

अत: क्रम-क्रमसे ही सब कुछ करना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति यदि कर्म करेगा ही नहीं तो उसके पौरुषका आविर्भाव कैसे होगा? पौरुषका आविर्भाव आवश्यक है। वह सभी मनुष्योंके लिए सम्भव है। क्योंकि सबके हृदयोंमें सर्वशक्तिमान परमेश्वरका निवास है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। (गी. 18.61)

भगवान्ने अपने लिए कोई बँगला न बनाकर समस्त प्राणियोंके हृदयोंको अपना निवास-स्थान बनाया। संसारके सच्चे साधु-सन्त भी ईश्वरकी सत्ता और महत्ताके प्रतीक हैं। वे अपने लिए कोई आश्रम न बनाकर समस्त संसारको अपना आवास समझते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वे मुफ्तका खाते हैं। परन्तु भिक्षा माँगनेमें और उसके लिए कहीं-कहीं अपमानित होनेमें जो श्रम पड़ता है इसे भुक्तभोगी साधु-सन्त ही जानते हैं। यह बात दूसरी है कि उन्हें सुख-दु:ख और मानापमानका विशेष विचार नहीं होता। क्योंकि सुख-दु:ख तथा मानापमानमें जीवन समान रहनेसे भी जीवनका निर्माण होता है। साधु-सन्तोंकी सहनशीलता तथा त्याग-वृत्ति एक ओर जहाँ गरीबोंको गरीबीमें भी जीवन व्यतीत कर सकनेका आश्वासन देती है वहाँ श्रीमन्तोंको भी

विलासितासे बचने तथा संयमित रहनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार सच्चे साधु-सन्त धनी और निर्धनके मध्य सेतु बनकर उसको समन्वित करनेका काम करते रहते हैं।

मनुष्यके भीतर ईश्वरके रूपमें एक महान् शक्ति विद्यमान है और आपका सम्बन्ध उस महाशक्तिसे है जो सारी सृष्टिका संचालन करती है। किन्तु उसका साक्षात्कार तभी होता है जब आप अपने भीतरके पौरुषको जगाते हैं। आप जानते हैं पावर-हाउसमें बिजली बहुत होती है; परन्तु आपको आपके बल्बके अनुसार ही प्रकाश मिल पाता है। यदि आपका बल्ब कमजोर होता है तो बहुत अधिक बिजली आनेपर फ्यूज उड़ जाता है। इसलिए ईश्वरीय शक्तिरूपी विद्युत्का भरपूर प्रकाश प्राप्त करनेके लिए अपने पौरुषरूपी बल्बको शक्तिशाली बनाना चाहिए। आपके जीवनमें जितना अधिक पौरुष प्रकट होगा, उतना ही अधिक ईश्वरीय शक्तिका उपयोग आप कर सकेंगे अथवा उन्हें छोड़ भी सकेंगे। बहुतसे लोगोंमें कर्म करनेकी तो शक्ति होती है पर उसे छोड़नेकी शक्ति नहीं होती। ऐसी शक्ति अधूरी है। जो मशीनको बन्द नहीं कर सकते उन्हें चलानेका कोई अधिकार नहीं। हममें भी हर कर्म कर सकनेकी तरह कर्म छोड़नेकी शक्तिका भी जागरण होना चाहिए। कर्मके साथ नैष्कर्म्य भी होना चाहिए। इसलिए कर्म प्रारम्भ करो और नैष्कर्म्यकी शक्तिका उपार्जन करो—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (3.4)

यदि कोई कहे कि हम कर्मसे संन्यास ले लेंगे तो उससे किसी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होगी। मनमें यदि कामना होगी तो वह कभी आगे बढ़ने नहीं देगी। कामना अपनी दिशामें ले जाती है।

वासना तीन प्रकारकी होती है। एक होती है आगेकी वासना। हम चाहते हैं कि हमको यह फल मिले। दूसरी यह होती है कि हमारा कर्म पूरा हो जाये और तीसरी यह होती है कि हम हमेशा कर्म करते रहें। इनमें अन्तर होता है। एक मनुष्य ऐसा है जिसके भीतर वासना भी है और कर्म भी है; वह साधारण मनुष्यकी तरह काम कर रहा है। यदि कोई कहे कि हम कर्म तो नहीं करेंगे; परन्तु वासनाको पड़ी रहने देंगे तो वह भ्रष्ट और मिथ्याचारी हो जायेगा—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (3.6)

जिसके मनमें वासना भरी रहती है और जो बाहरसे हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहते हैं और सिद्ध बननेका स्वांग करते हैं वे मिथ्याचारी अथवा ढोंगी कहलाते हैं। यदि कोई ईमानदारीसे वासनाको मिटाना चाहता हो तो वह साधक है। एक मनुष्य कर्म तो करता है, परन्तु उसके भीतर वासना नहीं, वह बहुत श्रेष्ठ है, मुमुक्षु है। सिद्ध पुरुष वह है जिसमें न कर्म है, न वासना। उसमें यदि समाधि है तो वह समाधिस्थ है। यदि केवल तत्त्वज्ञानकी दृष्टि है तो वह तत्त्वज्ञानी है। इन सबका अपने-अपने स्तरके अनुसार अलग-अलग विभाग होता है। केवल वासना होना, कर्म न होना सबसे निम्नस्तर है। कर्म और वासना दोनोंका होना उससे श्रेष्ठ है। वासना न होकर केवल कर्मका होना उससे भी श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ है कर्म और वासना दोनोंसे मुक्त

होकर रहना तथा यथाप्राप्त व्यवहार करना जो तत्त्वज्ञानीका लक्षण है। कर्म एवं वासनाके भावसे रहित होकर समाधिस्थ हो जाना सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार सब अवस्थाओंकी एक कसौटी होती है। उसका विचार किये बिना जो विवेकहीन गतिविधियाँ होती हैं वे हमारे भगवान् श्रीकृष्णको मान्य नहीं। अबतक दो बातोंका स्पष्टीकरण हो गया। एक तो यह कि कर्म अवश्य होना चाहिए। दूसरा यह कि कर्मके संस्कार छुड़ानेके लिए नैष्कर्म्यकी प्राप्तिके लिए भी शोधक कर्म करना चाहिए। वास्तवमें कर्मकी तीन विधाएँ होती हैं—तीन प्रकार होते हैं। एक होता है दोषापनयन जो हमारे जीवनमें दोष लगे हैं उनको दूर करना। दूसरा होता है गुणाधान—अपने स्वभावको ही चमका देना और तीसरा होता है हीनांगपूर्ति—अपनेमें जो कमी है उसको पूरी कर देना। जैसे आपके शरीरमें कहीं कोई मस्सा हो और उसको निकाल दिया जाये तो यह दोषापनयन हो गया। शरीरको चमकानेके लिए कोई चिकनी चीज लगा दी तो वह गुणाधान हो गया। कहीं गड्ढा हो और उसे भर दिया तो हीनांगपूर्ति हो गया। शरीरकी गन्दगीको दूर करना, चमक जाहिर करना और कमी पूरी करना इसको संस्कृत भाषामें संस्कार कहते हैं। दोषापनयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति ये तीनों पारिभाषिक शब्द मीमांसाके हैं। यह हमलोग रोज-रोज करते हैं। साबुन लगाते हैं, क्रीम लगाते हैं और कंघी इस ढंगसे करते हैं कि जहाँके बाल उड़े हुए हों वह ढँक जाय। कहीं-कहीं तो बाहरसे खरीदकर भी बाल लगाये जाते हैं। जिस प्रकार शरीरका संस्कार होता है उसी प्रकार मनका भी संस्कार करना पड़ता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (3.5)

यदि कोई कहे कि हम कर्म छोड़कर निकम्मे बैठ जायेंगे तो ऐसा सम्भव नहीं। मैं ऐसे कई बाबाओंको जानता हूँ जो संसार छोड़कर जंगल अथवा हिमालयमें चले गये, परन्तु वहाँ भी वे किसी-न-किसी कर्ममें संलग्न हो गये। सोना-जागना, उठना-बैठना घूमना-फिरना आदि भी तो कर्म ही हैं। बिना काम किये शरीर रह ही नहीं सकता। इसलिए जब कर्म अनिवार्य हैं तब उन्हें व्यवस्थित, मर्यादित और प्रयोजनपूर्वक करना चाहिए। प्रयोजनमें भी चार बातें ध्यान करने लायक हैं। एक तो यह कि इससे लोकका भला होता है। दूसरे, इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। तीसरे, इससे परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। चौथे इसको पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है, वैसे किसी कामको पूरा करना अपने वशकी बात नहीं। यह भी एक कामना ही है। यदि भगवती भागीरथी ब्रह्मलोकसे धरतीपर आ सकती हैं तो हमारी दूसरी, तीसरी पीढ़ी भी हमारे अधूरे कामको पूरा कर सकती है। अपनेसे जितना सम्भव हो सके उतना करते चलना चाहिए।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

काम करनेका ढोंग बिलकुल नहीं करना चाहिए। ढोंग क्या है? यही कि हम चाहते तो हैं सब कुछ परन्तु बोलते हैं कि हमको कुछ नहीं चाहिए। ढोंगका पता कर्मसे भी चलता है। मैं निष्काम हूँ, कहने मात्रसे मनुष्य निष्काम नहीं होता। जब वह अपनी कामनाका सदुपयोग करता है तब निष्काम होता है। पहले शुभ-

कामना होना चाहिए फिर भगवत्प्राप्तिकी कामना होनी चाहिए और फिर भगवान् मिले-मिलाये हैं—यह ज्ञान हो जानेपर कामनाकी निवृत्ति करनी चाहिए। कामना अपने हाथमें नहीं कि जब हम चाहेंगे तब उसको उठाकर फेंक देंगे। क्रम-क्रमसे अभ्यास करनेपर ही निष्कामता आसकती है।

अब फिर यह प्रश्न उठा कि कार्य कैसे करना चाहिए? इसका उत्तर श्रीकृष्ण देते हैं कि मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके कर्म करना चाहिए—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ (3.9)

भगवान्का कहना है कि विशिष्ट कर्ता अथवा अच्छा काम करनेवाला वही है जो किसी कर्ममें आसक्त नहीं होता। उसे इन्द्रियोंकी चर्चामें नहीं पड़ना चाहिए। खाने-पीनेकी व्यवस्था तो जीवनमें होनी ही चाहिए, अन्यथा अपने आपको ही मार डालेंगे। ऐसा भोग जो कर्म-शक्तिका ही लोप कर दे, वर्जित है। ऐसी दवा भी जिसको खानेसे दो-चार-दस दिन तो लाभ प्रतीत हो, अच्छा भोग मिले, बादमें भोग-शक्तिका ही लोप हो जाये, निषिद्ध है। हमें तो ऐसी खुराक चाहिए जिससे मेधा प्राप्त हो, बुद्धि प्राप्त हो।

ये छह बातें ध्यानमें रखने योग्य हैं—पहली, यदि आप सिद्धि चाहते हैं तो भी कार्य करना चाहिए। दूसरी, केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि नहीं मिलती। तीसरी, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता। चौथी, वासना रखकर कर्म छोड़ दोगे तो पतन हो जायेगा। पाँचवी, वासना मिटानेके लिए व्यवस्थित कर्म अपेक्षित् है। छठी, कर्मके अभावमें मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। इसपर थोड़ा और विचार करें। यदि कर्म नहीं होगा तो शरीरकी यात्रा चल ही नहीं सकती—

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (3.8)

शरीरमें कर्म-ही-कर्म हो रहे हैं। जिस प्रकार अपने आप पलक गिरती है, साँस चलती है उसी प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयवमें कुछ-न-कुछ क्रिया होती रहती है। क्रियाके साथ विक्रिया भी होती है। विक्रियाका अर्थ है विकार। बच्चे जवान हो रहे हैं, जवान बूढ़े हो रहे हैं। काले बाल सफेद हो रहे हैं। ये सब क्या हैं? यही कि प्रकृतिके नियमानुसार इस शरीरमें स्वतः परिवर्तन हो रहे हैं। हम क्रियाके माध्यमसे जीवन धारण करते हैं। परन्तु विक्रिया निसर्गके नियमानुसार स्वयं होती है। क्रियाका कर्ता होता है और विक्रिया स्वाभाविक होती है। यदि हम स्वभावपर छोड़ देंगे तो जीवनमें सत्त्वगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे तमोगुण आजायेगा।

हमारे एक मित्र हैं। उन्होंने देखा कि सड़कपर एक कोढ़ी आदमी है। उसकी साँस भी तेज चल रही है। वह दमेका रोगी है। उनके हृदयमें बहुत दया आयी और वे उसको उठाकर अपने घर ले आये। उसको स्नान कराया, वस्त्र पहनाया, बढ़िया भोजन खिलाया, आराम कराया। अब उसके मनमें आया कि आज मैंने बहुत बढ़िया काम किया। वास्तवमें उन्होंने अच्छा किया। दया सत्त्वगुण है। परन्तु उनका यह विचार कि उन्होंने इतना अच्छा काम किया कि जो दूसरे नहीं कर सकते। उनके कर्तृत्वाभिमानका कारण बन गया। दयाके बाद अभिमान आया जिससे उन्होंने अपने आपको बड़ा समझा। फिर उनकी दृष्टि उस कोढ़ीकी गन्दगीपर गयी कि

इसके शरीरसे तो पीब निकल रही है, हमारा घर गन्दा हो रहा है। अब उनके हृदयमें उस रोगीके प्रति घृणा हो गयी। उन्होंने उसको घरसे बाहर कर दिया। इस प्रकार घृणामें तमोगुण और अभिमानमें रजोगुण आगया।

मनुष्यका जो मन है, वह स्वभावसे ही सत्त्वसे रजमें और रजसे तममें जाता रहता है। किन्तु यदि हम इसमें भगवत्सेवाकी भावना जोड़ दें और यह समझें कि हमने उस रोगीका कोई उपकार नहीं किया; बल्कि भगवान्‌की सेवा की है और वह भी ऐसी सेवा नहीं की, जो दूसरे नहीं कर सकते, तो बात बदल जाती है। इस विशाल संसारमें कितने कोढ़ी हैं, कितने दमेके रोगी हैं, कितने विकलांग हैं, इसपर आपकी दृष्टि जायेगी तो आप अनुभव करेंगे कि आपने जो एक रोगीकी सेवा की वह कोई बहुत बड़ी सेवा नहीं, और न इसकी कोई कीमत है। यदि आप समग्रतापर, ईश्वरतापर ध्यान रखेंगे तो आपका सत्त्वगुण—रजोगुण और तमोगुणके रूपमें परिवर्तित नहीं होगा तथा आपकी दया घृणा न बन सकेगी। हमारा यही कर्म है, यही पौरुष है कि हम दयाको घृणा न बनने देंगे। दया आना स्वाभाविक है, घृणा आना भी स्वाभाविक है। परन्तु आपका पौरुष यह है कि आप अपने जीवनमें अभिमान न आने दें और अपने कर्तव्यको ठीक-ठीक पूरा करते चलें। भगवान्‌ने यह सृष्टि ऐसी बनायी है कि इसपर आपका ध्यान जाये और आप इससे प्रेरणा ग्रहण करें। सूर्य सबको निरन्तर रोशनी देता है। उसके रूपमें स्वयं ईश्वर प्रकट होकर कर्म-यज्ञका आदर्श उपस्थित करता है। यज्ञ माने यजन, पूजन। अत: हमें इस बातका ध्यान करना चाहिए कि हमारे कर्म, यज्ञके किस देवताका भजन-पूजन कर रहे हैं।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (3.10)

यज्ञके सम्बन्धमें एक वेदमन्त्र है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव
पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि।

(ऋ. 5.51.15)

इसका तात्पर्य है कि हम इस जीवनमें सूर्यके समान प्रकाश देते हुए और चन्द्रमाके समान चाँदनी बरसाते हुए निरन्तर चलते रहें। हम अपने मित्रोंको पहचानें, सत्पात्रको दान दें और किसीको दु:ख न पहुँचावें। यही यज्ञकी प्रणाली है। यह प्रकट हुआ है पृथिवीके रूपमें, यह सबको फूल देती है, पौधा देती है। हरे-हरे वृक्ष पृथिवीके वैभव हैं। ये हमारी आँखोंको शीतलता देते हैं, नासिकाको सुगन्ध देते हैं, प्राणोंको शक्ति देते हैं, हमारे हितके लिए आकाशमें फैली हुई अच्छाइयोंको आकृष्ट करके धरतीपर ले आते हैं और पानी बरसाते हैं। यज्ञ केवल अग्निमें आहुति देनेका नाम नहीं, वह भी यज्ञ है। पृथिवी जब गुलाब, चमेली, मालती, माधवी आदिके फूलोंको खिलाती है और उसके द्वारा सृष्टिमें जो सुगन्ध फैलती है वह क्या आपके हवनके धूएँसे कुछ कम है? जब हमारे हृदयोंको तर कर रहा है, आप्यायन दे रहा है। तेज हमें शक्ति दे रहा है। सूर्य-चन्द्रमा रोशनी दे रहे हैं। वायु सांस दे रहा है। आकाश अवकाश दे रहा है। इस प्रकार यह सारी सृष्टि हमारे लिए एक यज्ञ-क्रिया है।

हमारा जन्म ही यज्ञके साथ हुआ है। भगवान्ने कहा कि इस [illegible]रको देखो और यहाँ प्रकृति द्वारा जो यज्ञ हो रहा है उससे प्रेरणा ग्रहण करके आगे बढ़ो। **प्रसविष्य**[illegible]ा अर्थ है खूब बढ़िया-बढ़िया फल आपके जीवनमें प्रकट हों। प्रजापतिने आदेश दिया कि आप यज्ञ करेंगे तो आगे बढ़ेंगे, देंगे तब प्राप्त करेंगे, प्रेम करेंगे तो आपको प्रेम मिलेगा, सेवा करेंगे तो सेवा मिलेगी।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (3.11)

इसका अर्थ है कि आप देवताओंको दीजिये तथा देवता आपको देंगे। एक अर्थ यह भी है कि आप भोजन ठीक कीजिये, पानी ठीक पीजिये और शयन ठीक कीजिये। देवता आपके शरीरमें भी हैं। कान देवता हैं, आँखें देवता हैं, त्वचा देवता हैं, पाँव देवता हैं, मन देवता है, बुद्धि देवता है। देवता माने एक प्रकारकी दिव्यता, एक प्रकारकी विलक्षण शक्ति। यदि आप अपनी इन इन्द्रियोंको ठीक-ठीक सँभालकर नहीं रखेंगे तो वे आपको कैसे सँभालेंगी? इसलिए पहले आप अपनी इन्द्रियोंको सँभालिये फिर वे आपको सँभालेंगी। इसको ऐसे भी समझिये कि किसान लोग अपने खेतोंमें खेती करते हैं और उन लोगोंको अन्न प्रदान करते हैं जो खेतीका काम न करके वस्त्रोत्पादन आदिका काम करते हैं। जो लोग वस्त्रोत्पादन करते हैं, उनको खानेके लिए अन्न चाहिए। जो किसानी करते हैं उनको पहननेके लिए कपड़े चाहिए। वस्त्रोत्पादन करनेवाले यदि यह चाहें कि उनको सस्ता अन्न मिले, तो अन्न पैदा करनेवालोंको भी सस्ता कपड़ा मिले, इसकी व्यवस्था उनको करनी चाहिए। परस्पर हितकी भावना जब छूट जायेगी, वर्गवाद आजायेगा। वर्गवाद संघर्षकी सृष्टि करता है। असलमें वर्ग शब्दका अर्थ ही है संवर्जन, अर्थात् तुम नहीं मैं। संवर्ग शब्द उपनिषदोंमें बहुत अधिक प्रसिद्ध है—'वर्जनम् वर्गः'। जहाँ भी वर्ग बना वहाँ संघर्ष हुआ। जब आप व्यवहारमें एक दूसरेके हितपर दृष्टि रखेंगे तभी आपको श्रेयकी प्राप्ति होगी।

एक और छोटी-सी बात आपको सुनाता हूँ। वृन्दावनमें ग्वारिया बाबा नामके एक प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। उनके प्रति दतियाके राजाकी बड़ी श्रद्धा थी। वे उनको अपना गुरु मानते थे। एक बार वे उनको आग्रह पूर्वक दतिया ले गये। वहाँ राजाने पूछा—'महाराज! आपकी क्या सेवा करें?' बाबा बोले—'मुझे राजा बना दे।' राजाने कहा—'ब्रिटिश सरकारसे अनुमति लिये बिना मैं आपको राजा नहीं बना सकता।' किन्तु जब बाबापर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे राजा बननेका आग्रह करते रहे, तब राजाने कहा—'अच्छा महाराज! मैं तीन दिनके लिए राज्यसे कहीं बाहर जा रहा हूँ और आप शासनकी बागडोर सम्भाल लीजिये।' बाबा बोले—'अच्छी बात है मेरे लिए तीन दिन बहुत हैं।' राजा जाते समय आदेश दे गये कि सब लोग बाबाकी आज्ञाका पालन करें। अब बाबाने पहले बुलाया दीवानको और आदेश दिया कि तुम आजसे चपरासीका काम करो, चपरासीसे कहा कि तुम दीवानका काम करो। रानीसे कहा कि तुम रानी नहीं हो दासीका काम करो। दासीको कहा कि रानीके आसनपर बैठ। राजकुमारको कोड़े लगवानेका अभ्यास था। बाबाने एक आदमीको बुलाकर कहा कि राजकुमारको कोड़ा लगाकर बताओ कि वह कैसा लगता है? मैंनेजर छुट्टी लेने आये तो कहा कि जो

पहले चपरासी था उससे छुट्टी लेकर जाओ। चपरासीने कहा, महाराज मुझसे मैंनेजरका काम नहीं सँभलेगा। बोले, जाओ मैंनेजरसे छुट्टी लो। इस प्रकार तीन दिनके शासनमें बाबाने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि सब हाय-हाय कर उठे। जब राजा लौटकर आये और उन्होंने पूछा कि महाराज आपने यह सब क्या किया? तो बाबाने उत्तर दिया कि तुम लोगोंको अपनी-अपनी सुख-सुविधाका अनुभव तो है; परन्तु सामनेवालोंकी कठिनाइयोंका कोई ज्ञान नहीं। रानीको ज्ञान नहीं कि दासीको क्या कष्ट है। दासीको मालूम नहीं कि रानीको क्या असुविधा है। मैंनेजरको मालूम नहीं कि चपरासीको क्या कष्ट है, चपरासीको मालूम नहीं मैंनेजरको क्या कष्ट है। यह एक उदाहरण हैं। आप 'परस्परं भावयन्तः' के अनुसार एक दूसरेकी तकलीफको समझिये। जैसे आपको ताप-कला होती है वैसे ही सामनेवालेको भी होती है। इसलिए आप उनको सहायता पहुँचाइये और वे आपको सहायता पहुँचायें। इससे श्रेयकी प्राप्ति हो जाती है, प्रेयमें तो रखा ही क्या है? जीवोंको खुश करनेके लिए थोड़ेसे पैसे चाहिए, थोड़ी-सी सुविधा चाहिए। सभी लोग अपने-अपने ढंगसे निर्वाह कर लेते हैं। कोई विलायतकी बहुत ऊँची शराब पीता है और कोई गाँवका बना हुआ ठर्रा पीता है। दोनों अपना गम गलफ कर लेते हैं। कोई बहुत अच्छा माल खाते हैं, कोई साग-सत्तूसे काम चलाते हैं। सबकी भूख मिटती है, सबको नींद आती है। सब जिन्दा रहते हैं। परन्तु जबतक परस्पर सुख पहुँचानेकी बुद्धि नहीं होगी तबतक शान्ति नहीं आयेगी।

कर्मयोगके इस प्रसंगमें सिद्धान्तकी जो बढ़िया बात बतायी गयी है, वह यह है कि यज्ञको सात भागोंमें बाँट दिया गया है। अन्न, भूत और पर्जन्य ये तीन हैं पहले। बीचमें यज्ञ, तत्पश्चात् कर्म, ब्रह्म एवं अक्षर ये तीन हैं। कुल सात हुए। जो लोग गीता पढ़ते हैं वे इस श्लोकमें देखें—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (3.14)
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (3.15)

इन श्लोकोंका अर्थ हम बहुत थोड़ेमें समझाते हैं। बात प्राचीन पद्धतिसे कही गयी है और नयी पद्धतिसे हम उसको समझानेकी कोशिश करते हैं। एक शब्द है जो दो हजार वर्ष पहले बहुत अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होता था किन्तु आज उसका बहुत बुरा अर्थ हो गया है। इसी प्रकार जो शब्द पहले बुरे अर्थमें प्रयुक्त होता था, अब अच्छे अर्थमें प्रयुक्त होने लगा है। मैं ऐसे कितने ही शब्दोंको जानता हूँ—जिन्होंने दो हजार वर्षमें अपना कलेवर, अपना अर्थ, अपना प्रयोग बदल दिया है। जो लोग पुरानी बातको पुरानी भाषामें नहीं समझते, नयी भाषामें समझनेकी कोशिश करते हैं, वे अपनी बात तो ठीक कह लेते हैं, लेकिन पुरानी बातमें क्या कहा गया है, यह पकड़ नहीं पाते और उसके साथ अन्याय हो जाता है। आपने 'जीव' शब्दपर ध्यान दिया होगा? इसका जो मूल रूप है उसको 'बीज' बोलते हैं। ज+ई+व मिलाकर जीव बनता है और ब+ई+ज मिलाकर बीज। एक ओरसे पढ़ते हैं तो 'बीज' और दूसरी ओरसे पढ़ते हैं तो 'जीव'। जहाँतक उच्चारणकी बात है 'व' अन्तःस्थ है

और 'ब' ओष्ठ्य। जब हम वृक्ष-वनस्पतियोंके बारेमें बताते हैं तब [illegible] शब्दका प्रयोग करते हैं और चेतनके बारेमें बताते हैं तब जीव शब्दका प्रयोग करते हैं। वृक्ष-वनस्प[illegible] प्राणी हैं, ये हवामें साँस लेते हैं और आपसमें बातचीत भी करते हैं। परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। वसन्त ऋतुमें जब सरसों फूलती है तो उसका एक पौधा दूसरे पौधोंपर निशाना लगाकर पिचकारी मारता है। वृक्ष-वनस्पतियोंको गाली दी जाये तो वे उदास हो जाते हैं। संगीत सुनाया जाये तो सुखी हो जाते हैं। इनमें भी भाव होता है। वैज्ञानिकोंने यह सब देख लिया है। सभी प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि—अन्न सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके लिए है। पृथिवी अन्न है, जल अन्न है, अग्नि अन्न है, वायु अन्न है, आकाश अन्न है, क्योंकि इन सबका भोजन करते हैं, 'जीव' और 'बीज'। यदि बीजको खानेके लिए मिट्टी न मिले, पीनेके लिए पानी न मिले, रोशनी न मिले तो क्या बीज अंकुरित होगा? आगे बढ़ेगा? बीजको भी भोजन चाहिए और जीवको भी। इसलिए चमकनेवाली सारी सृष्टि माया, प्रकृति, अविद्या, महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा ये सब अन्न हैं। अन्नसे ही जीव प्रकट होते हैं। परन्तु अन्नका स्वभाव पर्जन्यसे प्रकट होता है। पर्जन्यका अर्थ है मेघ, मेहन करनेवाला परमात्मा परमेश्वर। एक जीव ही समष्टि जीव है, हिरण्यगर्भ है और वही पर्जन्य है। वह सबपर बरसता है। परन्तु उसमें विशेषता यज्ञसे आती है। जिसके जीवनमें जितना यज्ञ है, उसमें उतनी ही उत्कृष्ट विशेषता है। पहले यज्ञ है फिर पर्जन्य है। पर्जन्यसे अन्न है और अन्नसे प्राणी हैं। तीनके ऊपर जो यज्ञ है और यज्ञके ऊपर जो तीन हैं, इन सबको चक्र बोलते हैं। यज्ञ है चक्री और छह हैं उसके अरे। यदि संसारकी ओर देखें तो यज्ञ ही जीवको, अन्नको और प्राणियोंको पालन-पोषण दे रहा है। ऊपरकी ओर देखें तो यज्ञसे कर्म, कर्मसे ब्रह्म, ब्रह्मसे अक्षर—इनका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार यज्ञ परमात्माके साक्षात्कारमें भी सहायक है और सृष्टिके सञ्चालनमें भी सहायक है। यज्ञ बीचमें धुरीके केन्द्रमें बैठा हुआ है। इसीसे परमात्मा मिलता है और इसीसे संसार बनता है। हमारे जीवनमें यज्ञका आविर्भाव होना चाहिए। यदि यज्ञ नहीं आयेगा तो संसारका न तो आध्यात्मिक कल्याण होगा और न भौतिक। जैसा कि यज्ञके बारेमें आपको कई बार बताया गया, एक ओर यज्ञ जहाँ ग्रहण करता है दूसरी ओर उसे लौटा देता है। आपके हाथ कमायें लेकिन जिससे कमाते हैं उनके ऊपर फिर बरस दें। ठीक वैसे ही जैसे मेघ समुद्रसे ज़ल लेकर बरस देता है। जल मेघका जीवन भी है और दूसरोंका जीवन भी है। यह जो सृष्टि-यज्ञ हो रहा है इसके अनुसार हम अपनेको सूर्यके साथ, चन्द्रमाके साथ, वायुके साथ-अग्निके साथ जितना जोड़ देगें और इनके गुणोंको धारण करके जितना सबका भला करेंगे उतना ही हमारे जीवनमें यज्ञ आयेगा और उससे संसार भी बनेगा तथा भगवत्प्राप्ति भी होगी।

●

प्रवचन : 6

(21-11-74)

भगवान् श्रीकृष्णने यज्ञ रखा बीचमें। एक ओर परमार्थ तथा दूसरी ओर व्यवहारको प्रतिष्ठित किया। शरीर-निर्माणके निर्वाहक तत्त्व हैं भूत और उनका निर्वाहक तत्त्व है अन्न। मिट्टी, पानी, आगमें भोक्ताकी जो शक्ति है वह पर्जन्य है। सम्पूर्ण विश्वका भोक्ता एक होता है। जीव-दृष्टिसे आत्मा सबका भोक्ता है और सबके रूपमें है। विश्व-दृष्टिसे परमेश्वर सबका भोक्ता है। सबका भोग ईश्वर कर रहा—यह विश्वास है और सबका भोग आत्मदेव कर रहे हैं—यह अनुभूति है। ईश्वरके सम्बन्धमें हम जितना सोचते हैं—यदि विश्वास नहीं होगा तो उसका पूरा पड़ना कठिन हो जायेगा। अपने बारेमें हम जितना सोचते हैं, उतना सब-का-सब अनुभवारूढ़ होना चाहिए, केवल कल्पना नहीं। अनुभवकी दिशा है आत्मा और विश्वासका गन्तव्य है परमात्मा।

एक बात देखो। दृष्टिकोणका भी फर्क हो जाता है। दुनियाको यदि केवल मशीनोंसे नापा जाये तो जड़ता-ही-जड़ता मिलेगी, क्योंकि मशीनकी नोंकपर जड़ आता है, चेतन कभी आता ही नहीं। साइन्स सारा-का-सारा मशीनकी नोंकपर चलता है। इसलिए उसको जड़, मैटर—मृत्तिका आदिके सिवाय दूसरी कोई वस्तु मिलनेवाली नहीं। जब केवल बुद्धिसे सोचते हैं तब शून्यका बोध होता है, जब श्रद्धायुक्त बुद्धिसे सोचते हैं तब ईश्वर प्राप्त होता है और जब अनुभूतिके सम्मुख परमेश्वरको देखते हैं तब आत्मा एवं ब्रह्मकी एकता मिलती है। हम कहाँ बैठे हैं और किस दृष्टिकोणसे सृष्टिको तौल रहे हैं इसके कारण बहुत फर्क पड़ जाता है। आप किसी पत्थरके टुकड़ेको यहाँ बैठकर तौलिये और फिर उसीको भारमुक्त वातावरणमें तौलिये तो उसके वजनमें फर्क पड़ेगा। इस तरह हम वस्तुओंके सम्बन्धमें जो नाप-तौल करते हैं, वह हमारे स्तरके अनुरूप हो जाता है। अनुभवके क्षेत्रमें आत्माका बाध नहीं। यह बताया जा चुका है कि हम लोग जो कर्म अथवा यज्ञ करते हैं, उसमें पहले शरीर है। शरीरके बाद भूत हैं, भूतके बाद भोक्ता है और भोक्ताके बाद यज्ञ बैठा हुआ है। फिर यज्ञके बाद कर्म, कर्मके बाद ब्रह्म और ब्रह्मके बाद अक्षर है। तीन ऊपर और तीन नीचेके छह अरोंवाले चक्रको चलानेवाला है यज्ञ। यदि आप स्वार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिए और परमार्थ चाहते हैं तो भी यज्ञ कीजिये। यज्ञ एक ओर आपके अन्त:करणको शुद्ध करेगा और दूसरी ओर आपको मनचाहे फल देगा। यज्ञको संसारकी ओर लगायें तो मनचाहे फल मिलेंगे और निष्काम होकर करें तो अन्त:करण शुद्ध होकर परमार्थका साक्षात्कार होगा। भगवान्ने यज्ञका यह विज्ञान तीसरे अध्यायमें निरूपित किया। इसमें भी स्थिति-भेदसे कर्ताओंके दो विभाग कर दिये। एक कर्तव्य-बोधसे मुक्त होकर कर्म करनेवाले और दूसरे कर्तव्यके बन्धनमें रहकर कर्म करनेवाले। जबतक अज्ञान है तब-तक बन्धन अथवा मर्यादाको स्वीकार करना पड़ेगा—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
आघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (3.16)

इसमें 'एवं प्रवर्तितं चक्रं'का तात्पर्य है कि यज्ञका चक्र चल रहा है। जैसे रथके चक्र (=पहिये)में अरे

लगते हैं, वैसे ही हमारे जीवनके रथको चलानेके लिए छह अरे हैं। जो इनका अनुवर्तन नहीं करता वह अघायु होता है—**अघायुरिन्द्रियारामो मोघम्।** यदि हम यज्ञका परित्याग कर दें, पृथिवीके समान सबको धारण न करें, जलके समान सबको तृप्ति न दें, सूर्य-चन्द्रमाके समान सबको प्रकाश और आह्लाद न दें, वायुके समान सबको प्राण न दें, आकाशके समान सबको अवकाश न दें; तात्पर्य यह कि यदि हमारा पाञ्चभौतिक जीवन, पञ्चभूतकी प्रकृतिके अनुसार न हो तो हम अघायु हो जायँगे, पाप करने लग जायँगे। 'अघ' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ है कि जिसका फल अवश्य भोगना पड़े—**न हन्यते भोगं विना इति अघः।** पाप और पुण्यमें-से पुण्यका फल बिना भोगे भी चल सकता है। यदि आप अच्छा काम करें और सरकार आपको पुरस्कार दे तो आप अस्वीकार कर सकते हैं। कह सकते हैं कि इस पुरस्कारको देशके किसी अच्छे और आवश्यक काममें लगा दिया जाये। परन्तु यदि आप कोई गलत काम करें, आपको जुर्माना हो, सजा हो और कहें कि इसको हम नहीं भोगना चाहते तो उससे छुट्टी नहीं मिलेगी। 'अघ' शब्दका अर्थ ही यह है कि आप इसको भोगनेसे अस्वीकार नहीं कर सकते। अगर आप बुरा काम करेंगे तो उसका फल आपको भोगना ही पड़ेगा।

अच्छा; अब आप देखिये आपका जीवन कैसा व्यतीत हो रहा है? मनुष्यके जीवनमें अनजाने ही हिंसाका प्रवेश होता है। मैंने एक दिन सुनाया था कि भूल या बुराई सिखायी नहीं जाती वह अपने आप आ जाती है। जन्म-जन्मकी भूल हमारी ज्ञान-रश्मियोंको प्रकट होनेमें बाधा डाल रही है। पातञ्जल-योगदर्शनके अपरिग्रह-निरूपण प्रसंगमें व्यासजी महाराज कहते हैं—

नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति। (2.15 भाष्य)

अर्थात् कोई दूसरोंको तकलीफ पहुँचाये बिना, दूसरोंकी हिंसा किये बिना अधिक भोग कर ही नहीं सकता। प्राणियोंको कष्ट पहुँचाये बिना कोई भोगी हो नहीं सकता। जो भोगी होगा वह कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी प्रकारसे दूसरोंको कष्ट पहुँचाता होगा। आप जितना अधिक भोग करेंगे उसमें आपका राग उतना ही अधिक बढ़ेगा और आप भोग करनेमें भाँति-भाँतिके कौशल बढ़ानेमें लग जायेंगे। तब आप स्वयं सोचिये कि आपका जीवन कितना हिंसापूर्ण, कितना दुःखदायी और कितना अघायु हो जायेगा? 'अघ'की परिभाषा पहले भी बतायी जा चुकी है, वह बहुत सीधी है। जिससे आपकी और अन्यकी उन्नति-प्रगतिमें बाधा पड़ती हो वह अघ है। पतनीय कर्मका नाम पाप है और जिससे हमारा सर्वतोमुखी अभ्युदय हो, हम ऊपर उठें, आगे बढ़ें, उसका नाम पुण्य है। पुण्य हमारे हृदयको शुद्ध करता है। पुण्यका अर्थ है यज्ञ और यज्ञका अर्थ है आपको जो सामग्री प्राप्त है वह सबके हितमें प्रयुक्त हो—सबकी भलाईके काममें लगे। एक मन्त्र है, जिसका अर्थ यह है कि यह यज्ञ सूर्य कर रहे हैं, चन्द्रमा कर रहे हैं, पृथिवी कर रही है और वायु कर रहा है।

इस मन्त्रमें हम प्रार्थना करते हैं कि 'हे वायु देवता! हमारे लिए औषध लेकर आना। हे यज्ञ देवता! हमारे लिए कल्याणकारी होना।'

प्रकृतिके इन तत्त्वों द्वारा जो यज्ञ हो रहा है वह हमारे जीवनमें भी प्रकट होना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो दूसरोंको कष्ट पहुँचायेंगे। हम अपनी इन्द्रियोंमें ही रमण करने लग जायेंगे : जो इन्द्रियाँ देखनेके लिए,

चलनेके लिए, काम करनेके लिए, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिए बनी हैं, वे अपने कर्तव्यसे विमुख होकर स्वार्थ-परायण हो जायेंगी। तब हमारे जीवनकी स्थिति क्या होगी? गीता कहती है कि वह एक तो अघायु, दूसरे इन्द्रियाराम और तीसरे बिलकुल व्यर्थ हो जायेगा—**मोघं पार्थ स जीवति।**

अब आपको यह बात बताते हैं कि कर्तव्यके ये सब भार उन लोगोंपर हैं जिनको अन्तर या बाह्य किसी भी दिशामें उन्नति करनी हो। परन्तु जिन लोगोंने आत्मदेवका साक्षात्कार कर लिया है, उनकी स्थिति दूसरी हो जाती है। उनके कर्म तो हैं, किन्तु कर्तव्यका बोध नहीं। कर्म करना दूसरी बात है और कर्तव्य-पालनकी अनिवार्यता रहना दूसरी बात है। संसारके साधारण लोगोंको अपने-अपने कर्तव्यके पालनकी अनिवार्यता है—नहीं करेंगे तो अघायु, इन्द्रियाराम और मोघ जीवन-व्यर्थ जीवन हो जायेंगे।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (3.17)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (3.18)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।

भगवान्ने कहा कि उन महात्माओंको कर्तव्यके बन्धनसे मुक्त कर दो जिनका रमण, जिनकी तृप्ति और तुष्टि-पुष्टि अपने आपमें है। यहाँ कर्मका निषेध नहीं, कर्तव्यका निषेध है। कर्मके साथ कार्यम्का विशेषण है (3.19)। कर्म दोनों हो सकता है, कार्य भी और अकार्य भी, जैसे गृहस्थ दम्पतीका रमण परस्पर होता है, वैसे ही आत्मज्ञानीका रमण स्वयंमें होता है। जो सुख-स्वाद पति-पत्नीको परस्परके समागममें है, वही आनन्द आत्मज्ञानीको अकेले अपने-आप बैठनेमें है। उसका सुख काम-जन्य नहीं—अन्यसे जन्य नहीं, निरपेक्ष है, अपने आपमें है—**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**

अच्छे-अच्छे सुस्वादु भोजनसे, अन्न-रसादिसे भी तृप्ति होती है। भर पेट भोजनके बाद डकार आती है। भीतरसे जो उद्गार आता है उसको डकार बोलते हैं। वैसे आजका सिद्धान्त यह है कि यदि डकार या उद्गार आये तो समझना चाहिए कि भोजन आवश्यकतासे कुछ अधिक हो गया है। इसलिए भूखसे कुछ कम ही भोजन करना चाहिए। भोजनका भी एक ढंग होता है। उसमें ऐसी सुगन्ध होनी चाहिए कि जब वह नाकमें घुसे तो क्षुधा, बुभुक्षा जाग्रत् हो जाये। जब उसको आँखसे देखें तो वह मन्त्र बन जाये। जब वह जीभपर जाये तो आत्मानन्द, ईश्वरीय आनन्दको जाग्रत् करे। जब वह शरीरके भीतर जाये तो एक-एक नसको एक-एक नाड़ीको, एक-एक कणको हितसे भर दे। भोजनमें चाहिए चार बातें—सौरभ्य, सौरस्य, सौरूप्य और सौहित्य। भोजनमें यह विवेक भी होना चाहिए कि अमुक वस्तु भोजन करने योग्य है कि नहीं। इसी प्रकार वह किस बर्तनमें रखा गया है, किसमें बनाया गया है, हमारे शरीरके अनुकूल है कि नहीं। हमारा भोजन जाति-दोष, आश्रय-दोष और निमित्त-दोषसे रहित तथा न्यायोपार्जित होना चाहिए। हमारे शास्त्रोंमें पवित्रताके जितने नियम

हैं उनमें धनकी पवित्रता सबसे बड़ी मानी गयी है। तो, धन पवित्र ा चाहिए। जो मिट्टीसे, पानीसे पवित्रता प्राप्त करता है वह सच्ची नहीं, उधार ली हुई पवित्रता है—

सर्वेषामेव शौचानाम् अर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥ (मनुस्मृति ५.१०६)

पवित्र धन वह होता है जो किसीको दु:ख पहुँचाये बिना किसीका हक छीने बिना अपने घरमें आता है।

तृप्तिके लिए बहिर्मुख व्यक्तियोंको चाहिए बाहरकी वस्तु। किन्तु जो अन्तर्मुख हैं—अपने स्वरूपमें स्थित हैं, उन्हें तृप्ति भीतरसे मिलती है। अपने हककी रूखी रोटी खाकर मनमें जिस तृप्तिका उदय होता है और उससे जो पवित्रता अन्त:करणमें आती है वह बाहरसे उधार ली हुई नहीं होती। अन्न-रससे तृप्ति होती है, प्रेयससे रति होती है और धन आदि प्राप्त होनेसे तुष्टि होती है। इन तीनोंमें जहाँ हम पराधीन होते हैं वहाँ संसार होता है और जहाँ स्वाधीन—समष्टि भावपन्न होते हैं वहाँ आत्मतृप्ति, आत्मरति अथवा आत्मतुष्टिकी प्राप्ति होती है। आप अपने मनको टटोलिये और देखिये कि आपको प्रसन्नता कब होती है—संसारका भोग करते समय या त्याग करते समय? धन मिलनेपर आपको जो सुख होता है वह बहुत बढ़िया है और हम उसका आदर करते हैं, परन्तु जब वही धन किसीको देना पड़ता है तब आपको कैसा लगता है? उस समय सुख होता है कि नहीं? जितना सुख धन प्राप्त करनेमें होना चाहिए उतना ही सुख दूसरेको देनेमें भी होना चाहिए। क्योंकि आप जब किसीको देते हैं तो उसे भी सुख प्राप्त होता है। सच्चा सुख वही है जो दूसरोंको सुखी करके होता है—

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। (3.17)

जो संसारसे कुछ लेकर सुखी होता है, उसको संसारके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करके सुखी होना चाहिए। किन्तु जो अपने आपसे सुखी होता है उसके ऊपर कर्तव्यका कोई भार नहीं, क्योंकि वह स्वार्थरहित है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (3.18)

वह करे तो भी ठीक, न करे तो भी ठीक। यह समतामें, समत्वमें स्थित होता है। उसकी स्थिति सर्वोपरि होती है। उसका किसीके साथ कोई स्वार्थ या लगाव नहीं होता। इसलिए यदि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाये तो अति उत्तम, अन्यथा—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। (3.19)

अनासक्त भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते जाना चाहिए। कर्म-फलकी प्राप्ति अथवा कर्मकी पूर्तिमें किसी प्रकारका आग्रह न होना चाहिए। तुम्हें जितना समय मिला है, जितनी शक्ति मिली है और तुम जितना कर सकते हो उतना करते चलो। कभी-कभी ऐसी आसक्ति हो जाती है कि हम इसको पूरा करते तथा इसका फल प्राप्त करके ही छोड़ेंगे। तब हमारे द्वारा अन्याय होने लगता है। कर्तामें आग्रह, अकर्तामें आग्रह, कर्ममें आग्रह, फलमें आग्रह—ये चारों मनुष्यको बन्धनमें डालनेवाले हैं। इसलिए अनासक्त चित्तसे कर्त्तव्यका पालन करना चाहिए।

हमने सुना था—बनारसमें एक सेवामुक्त सैनिक रहते थे। एक दिन वे बाजारसे दही खरीदकर हाथमें कुल्हड़ लिये अपने निवास-स्थानकी ओर चले जा रहे थे। किसी विद्यार्थीको शरारत सूझ। उसने उनके पीछेसे वड़े जोरसे अटैन्शन बोल दिया। सेवा-मुक्त सैनिकने तत्काल दही फेंक दी और तनकर खड़े हो गये।

मनुष्यका जीवन ईश्वरीय सैनिकके समान होना चाहिए। यदि कोई मालिक अपने मुनीमसे कहे कि यह दुकान छोड़कर दूसरी दुकानमें जाओ; परन्तु मुनीम जाना न चाहे तो इसका कारण यही हो सकता है कि उसका कोई-न-कोई स्वार्थ इस दुकानमें अटका होगा। काम तो मालिकका ही करना है, वह जहाँ चाहे भेजे और जो चाहे कराये। आपने सुना होगा; सिक्खोंके दस गुरुओंमें-से एक गुरु ऐसे थे जिनका एक शिष्य था और दूसरा पुत्र था। दोनों बड़े योग्य थे। उन्होंने दोनोंसे एक चबूतरा बनानेके लिए कहा। दोनोंने एक-एक चबूतरा बनाया। गुरुजीने कहा कि ये ठीक नहीं बने, इनको तोड़ दो और दूसरे चबूतरे बनाओ। दूसरे चबूतरे बने तो उन्होंने वे तुड़वा दिये। इसी प्रकार कई चबूतरे बनवाये तोड़वाये! इसपर गुरुजीके पुत्रने कहा कि आपकी पसन्दका चबूतरा तो कभी बननेवाला नहीं, इसलिए मैं यह काम छोड़ देता हूँ। परन्तु शिष्यने कहा कि महाराज मुझे तो जिन्दगी भर आपकी आज्ञाके अनुसार ही काम करना है। आप प्रतिदिन चबूतरा बनवायेंगे तो मैं बनाता जाऊँगा और तुड़वायेंगे तो तोड़ता जाऊँगा। अन्तमें गुरुजीने अपनी गद्दीका उत्तराधिकारी शिष्यको बनाया, पुत्रको नहीं।

हमलोगोंका कर्तव्य कर्म—कार्यक्रम यही होना चाहिए कि जहाँ भगवान् लगायें वहाँ लग जायें, जो छुड़ायें उसे छोड़ दें। जिसे बदलें उसे बदल दें, वे चुप कर दें तो चुप हो जायें। कहीं भी किसी भी परिस्थितिमें कोई आसक्ति न हो। **कार्यं कर्म समाचर।**

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः। (3.19)

मनुष्य जब अनासक्त होकर काम करता है तब उसको परम सत्यकी उपलब्धि होती। परम सत्य क्या है? पहले हमलोग परम सत्यकी माँग करनेवालोंको उसकी प्राप्तिका प्रलोभन देकर मर्यादित जीवन प्रारम्भ करनेका परामर्श देते थे। अब तो कोई कहे कि अमुक काम करनेपर स्वर्गकी प्राप्ति होगी तो उत्तर मिलेगा कि हमको स्वर्ग चाहिए ही नहीं फिर हम यह काम क्यों करें! यदि मनुष्यके मनमें स्वर्गकी माँग हो तभी हम उनके मिलनेकी बात कहकर उससे यह काम करा सकते हैं। देखनेकी बात यह है कि हमलोग अपने जीवनमें परमेश्वरको कितना चाहते हैं। यदि हमारी चाह नहीं होगी तो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए जो साधन बताये जायेंगे उनको कोई क्यों करेगा? आजकल तो लोग पद, प्रतिष्ठा और धन-वैभवको ही अधिक महत्त्व देते हैं; इसलिए साधु-सन्तोंके पास भी वही चाह लेकर जाते हैं। जिस वस्तुकी अभिलाषा होती है उसीकी प्राप्तिके साधनमें मनुष्य प्रवृत्त होता है। इसलिए हमारे मनमें परमेश्वरकी कामना होगी तभी हम उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करेंगे। भगवान् श्रीकृष्णने एक बड़ी बढ़िया बात कही है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥ (3.20)

लोक-संग्रहका अर्थ है कि देशमें, विश्वमें सब तरहके लोग रहते हैं। सब मानव एक स्तरके हों, ऐसा

कभी नहीं हो सकता। संसारमें पापी भी रहेंगे, पुण्यात्मा भी रहेंगे, मूर्ख भी रहेंगे, विद्वान् भी रहेंगे। दुरात्मा भी रहेंगे, महात्मा भी रहेंगे। अत: लोक-संग्रहके लिए जब आप कोई काम करें तो केवल एक वर्गका भला न चाहें, बल्कि सबके हितमें सोचें। सबका संग्रह करना अर्थात् सबको अपना समझकर सम्यक् ग्रहण करना ही लोक-संग्रह है। भगवान् जो काम करते हैं, सबकी भलाईके लिए करते हैं। बाइबिलमें एक वचन आता है कि गड़ेरिया अपनी भेड़ोंकी देख भाल खासकर उस समय करता है जब भेड़ें भटकने लगती हैं। ईश्वर भी सब जीवोंका ध्यान रखता है। परन्तु विशेष ध्यान उन लोगोंका रखता है जो रास्तेसे भटक जाते हैं। एक सेठजीका नियम था कि वे प्रतिदिन एक महात्माको भोजन कराकर तब स्वयं भोजन करते थे। एक दिन समयपर कोई महात्मा नहीं मिला। एक बज गया, दो-तीन बज गये। अन्तमें एक सुन्दर, स्वस्थ, वयोवृद्ध विद्वान्को बुलाया गया। सेठजी उनके लिए भोजनकी व्यवस्था करनेका आदेश देकर बात करने लगे। भोज्य सामग्री आनेपर उस महात्माने ईश्वरको समर्पित किये बिना ही भोजन प्रारम्भ कर दिया। इसपर सेठजीने आपत्ति की, तो बोले कि मैं तो ईश्वरको मानता ही नहीं, फिर समर्पित किसको करूँ? अब सेठजी बहुत बिगड़े और कहा कि मैंने क्या पाप किया था कि आप जैसे नास्तिक मेरे घर भोजन करने आगये? महात्माने कहा कि मैं भी ऐसे लोगोंके घर भोजन नहीं करता जो प्रेमसे न खिलायें। इसलिए कहो तो मैं उठ जाऊँ? सेठजीने कहा कि 'उठ जाओ' और महात्मा उठकर चले गये। रातमें सेठजीको ईश्वरका दर्शन हुआ और वे बोले कि 'सेठ! तुम तो मेरे बड़े भक्त हो। जो साधु तुम्हारे घर आया था, उसकी उम्र कितनी थी?' सेठजीने कहा—'सत्तर वर्षकी होगी।' ईश्वरने कहा कि अरे भाई, मैंने उसको सत्तर वर्ष तक भोजन देकर पाला-पोसा और तुम मेरे भक्त होकर उसको एक समय भी भोजन नहीं दे सके? कैसे हो मेरे भक्त? परीक्षा लेकर भोजन देते हो? मैं स्वयं उसके रूपमें आया था। इस कहानीका सारांश यह है कि जब स्वयं ईश्वर ही भोजन करने गया था तब वह किस ईश्वरको भोग लगाता? सबसे बड़ा नास्तिक तो ईश्वर ही होता है, क्योंकि वह यदि अपनेसे बड़ा कोई दूसरा ईश्वर मानेगा तो वह सर्व शक्तिमान् ईश्वर रहेगा ही नहीं। अत: ईश्वरके नास्तिक्यको प्रकट करनेके लिए ही अवतारका अवतरण होता है। वह अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्यको ईश्वर नहीं मानता। बुद्ध भी ईश्वर ही हैं। उनमें भी ईश्वरताका एक रूप प्रकट है और इसलिए वे दूसरे ईश्वरको नहीं मानते।

एक हँसीकी छोटी-सी बात और सुन लीजिए। एक महात्मा थे। वे अपने नामके साथ लोक-संग्रही शब्द लगाते थे। किसीने यह चर्चा चलायी कि ये क्या लोक-संग्रह करते हैं? हमारे एक मित्रने उत्तर दिया कि लोक-संग्रह शंब्दका अर्थ तुम लोगोंको मालूम ही नहीं। उसकी व्युत्पत्ति यह है कि **लोकेभ्यो द्रव्यसंग्रहः लोकसंग्रहः** अर्थात् लोगोंसे चन्दा करनेका नाम लोक-संग्रह है। अब इस कसौटीपर कसकर देखो कि लोक-संग्रही बाबा खरे हैं कि नहीं? वे बिलकुल खरे हैं। इतने खरे हैं कि वे बड़े-बड़े कंजूसोंसे भी उनकी तारीफ करके चन्दा ले लेते हैं—**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।** (3.20)

सबका भला हो इस दृष्टिसे ही काम करना चाहिए। दो प्रकारके लोग होते हैं—एक अनुकरणप्रिय और दूसरे स्वाभाविक। बच्चोंका स्वभाव अनुकरणप्रिय होता है। हम रोज देखते हैं कि गृहस्थ लोग अपने बच्चोंको

लेकर आते हैं और उनसे कहते हैं कि स्वामीजीको प्रणाम करो। जब वह नहीं करता तब वे स्वयं प्रणाम करके दिखाते हैं और फिर वे बच्चे स्वयं दौड़कर प्रणाम करने लगते हैं। बच्चोंको उपदेशकी जरूरत नहीं होती। जो ज्ञान आपने बीस वर्षमें प्राप्त किया है उसे चार-पाँच वर्षका बच्चा कैसे सीख लेगा? उसे डाँटना या अपमानित नहीं करना चाहिए। उस बालकके रूपमें आपके घर कोई बहुत बड़ा देवता आया है। राम आये हैं, कृष्ण आये हैं, गांधी आये हैं, तिलक आये हैं, गोखले आये हैं। कोई बहुत बड़े महात्मा आये हैं। आप उसके अनुकरणके लिए कोई आदर्श रखिये। जो काम आप करेंगे, वह आपका बालक भी करेगा।

लोक-संग्रहके प्रसङ्गमें, स्वयं भगवान्ने कहा कि यदि मैं कर्म नहीं करूँ तो सारा संसार उजड़ जाये। कर्मके सम्बन्धमें एक होता है आदर्श और दूसरा होता है प्रमाण। श्रेष्ठ पुरुषके कर्म अनुकरण करने योग्य होते हैं और वह जिस वस्तुको प्रमाण मानता है, दूसरे लोग भी उसे प्रमाण मानने लगते हैं। प्रमाण होता है मनके लिए, बुद्धिके लिए और कर्म होता है शरीरके लिए, इन्द्रियोंके लिए। बड़े-बूढ़ोंके मार्ग-दर्शनके अनुसार शरीरसे कर्म करें और किस बातको प्रमाणिक मानकर हमें आगे बढ़ना चाहिए, इसके लिए बुद्धिमानोंसे प्रेरणा ग्रहण करें। हमें बड़ोंसे ही विश्वास प्राप्त होता है और हम अनुकरण भी बड़ोंका ही करते हैं। अतः यदि श्रेष्ठ पुरुष अच्छा कर्म नहीं करेंगे और अच्छी मान्यताओंका, अच्छी प्रामाणिकताका स्थापन नहीं करेंगे तो यह लोक अन्धकारमें पड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ (2.24)

बम्बईमें एक परिवार है। उसमें एक छोटा-सा बच्चा बीमार था। डाक्टरने उसको आराम और चावल खिलानेसे मना किया। अब घरके दूसरे सब लोग तो आम, चावल खायें किन्तु बच्चेको न दें। एक रात उन लोगोंने देखा कि उनका वह बच्चा, जो कमजोरीके कारण चल-फिर नहीं सकता था, वह खाटपरसे उतरकर घिसटते-घिसटते बर्तन माजनेकी जगहपर पहुँचा हुआ है और जूठे चावलके दानोंको बीन-बीनकर खा रहा है। आमके छिलकोंको चाट रहा है। फिर तो घरवालोंको बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जबतक बालक अच्छा नहीं हो जायेगा तबतक वे घरमें आम, चावल नहीं खायेंगे। इसीका नाम लोक-संग्रह है। आप केवल अपने हितपर ही दृष्टि न रखें। इस संसारमें आपके बच्चे भी हैं, वे लोग भी हैं जिसका मस्तिष्क ठीक काम नहीं करता। अतः आपको ऐसा काम करना चाहिए जिससे सबकी भलाई हो।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा कि राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रकृतिके जो गुण हैं वे स्वयं कर्मोंकी सृष्टि करते रहते हैं। इसको ऐसे समझिये—मानों एक दिन अंगूरने करेलेसे कहा कि तू बहुत कड़वा है, निकम्मा है, संसारमें लोगोंका स्वाद बिगाड़नेके लिए पैदा हुआ है। इसपर करेलेने उत्तर दिया कि यह सब तो ठीक है, पर तुम भी तो लोगोंको डायबिटिज देनेके लिए पैदा हुए हो। इसके विपरीत मैं डायबिटिज अच्छा करता हूँ। और भी अनेक रोगोंका निवारण मुझसे होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि करेलेकी कड़वी प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है और अंगूरकी मधुर प्रकृति भी गुणोंके अनुसार है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (3.27)
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (3.28)

सृष्टिमें सबकी आवश्यकता होती है। आप किसीको भी अनावश्यक समझकर तिरस्कार न करें। सब-के-सब अपने-अपने गुणोंके अनुसार बर्तते हैं—बर्ताव करते हैं। मैंने अखबारमें पढ़ा था कि केरल सरकारने मेढ़कोंका इतना अधिक निर्यात कर दिया कि वहाँ मेढकोंकी कमी हो गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि जिन कीड़ोंको वे खा जाया करते थे, वे बढ़ गये और उनसे धानकी फसल खराब हो गयी। संसारमें मेढकोंकी भी आवश्यकता होती है। ये जो बिच्छू, साँप, मच्छर आदि विषैले जीव हैं उनकी भी आवश्यकता इसलिए है कि वे वातावरणके विषका संग्रह करके हमें निर्दोष अन्न, निर्दोष पृथिवी और निर्दोष जल प्रदान करते हैं। जब उनका नाश हो जाता है तब धरतीपर कोई-न-कोई रोग बढ़ जाता है। इसलिए संसारमें जितने भी मनुष्य अथवा पशु-पक्षी और कीट-पतंग हैं सबमें प्रकृतिके किसी-न-किसी गुणका विकास हुआ है। कहीं तमोगुण है, कहीं रजोगुण है, कहीं सत्त्वगुण है। सब एक दूसरेसे सम्बनिधत होते हैं—चमकते हैं। इसलिए प्रकृतिके गुणोंको लेकर अहंकार नहीं करना चाहिए—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

'**विमूढ़**' शब्द आयुर्वेदमें इस ढंगसे व्यवहृत होता है कि बच्चा माँके पेटमें गर्भ-विमूढ़ हो गया। उसको मूढ़गर्भा भी बोलते हैं। अर्थात् बच्चेको गर्भमें किधर जाना चाहिए, किधर खिसकना चाहिए, यह मालूम नहीं। तो **अहंकार-विमूढात्मा**का अर्थ यह हुआ कि मनुष्यकी आत्मा उसके अहंकारमें अटक गयी, भटक गयी, लटक गयी। अहंकारका यह स्वभाव है कि जहाँ-जहाँ उसको पुष्टि मिलती है, वहाँ-वहाँ हमें ले जाता है। श्रीकृष्णके मतमें अपने भीतर कर्तापनका जो आरोप है—हमने यह किया, हमने वह किया उससे एक दृष्टि मनमें बन जाती है और उससे हम बँध जाते हैं। उस घेरेसे बाहर निकलना ही नहीं चाहते। अतः भगवान् कहते हैं कि कैसे भी हो इस गड्ढेसे निकलो। यह बात एक तरहसे नहीं, दस-बीस तरहसे समझायी गयी है कि 'मैंने ऐसा किया, मैंने वैसा कियाका अभिमान छोड़ो। उदारहणके लिए आप देखिये। एक जगह कहते हैं कि प्रकृति ही सबकुछ करती है—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः। (13.29)

यहाँ कहते हैं सबकुछ प्रकृतिके गुण करते हैं—

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (3.27)

एक जगह कहते हैं कि जैसी आपकी आदत बन जाती है, स्वभाव बन जाता है वैसा होता रहता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (18.60)

एक जगह आया है कि—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ (18.14)
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ (18.15)

आप अपनेको पाँच जनोंके किये हुए कामका कर्ता मान बैठते हैं और दिखाते हैं कि हमने किया है। ऐसी स्थितिमें पंचायतके कामको अपना व्यक्तिगत बनानेपर दोष लगेगा और आप दोषी हो जायेंगे। जरा सोचिये तो सही यदि आपको धरती खड़ा होनेकी जगह न दे, हवा साँस न लेने दे और सूर्य रोशनी न दे तो आप कोई काम कैसे कर सकेंगे? इसके अतिरिक्त देवता भी आपकी मदद करते हैं—

दैवं चैवात्र पञ्चमम् आपको शरीर मिला हुआ है, आपमें कर्तृत्वका भाव जागृत है, आपकी इन्द्रियाँ ठीक-ठीक हैं, तब कहीं जाकर कोई कार्य सम्पन्न होता है। यदि ईश्वरीय बुद्धि आपकी बुद्धिको थोड़ा सहयोग न दे तो वह क्या कर सकेगी। हम लोग अच्छे कामोंका श्रेय तो लेते हैं; किन्तु बुरे कामोंको भरसक जाहिर ही नहीं होने देते। यदि वह जाहिर हो भी जाये तो कहते हैं कि हमने नहीं किया। एक राजाका बाण शिकारके समय गायको लग गया और वह मर गयी। गोहत्याने कहा राजन्, हमें स्वीकार करो। राजाने उत्तर दिया कि बाणसे गाय मरी है, उसको लगो। वाणने भी मना कर दिया और कहा कि हाथने मारा है। हाथने कहा हमारा देवता इन्द्र है, उसीने मारा है। इन्द्रने उत्तर दिया कि विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः हत्याका उत्तरदायित्व उनपर है, उन्हींके पास जाओ। तब गोहत्या भगवान विष्णुके पास गयी और वे राजाके पास आये। उन्होंने पूछा 'राजा यह महल किसने बनवाया?' राजाने कहा 'मैंने।' इसी प्रकार भगवान् विष्णु मन्दिर, धर्मशाला, उद्यान आदिके निर्माताके सम्बन्धमें पूछते गये और राजा 'मैं-मैं' कहते गये। इसपर भगवान्‌ने कहा कि क्यों राजा अच्छे-अच्छे काम तो सब तुमने किये हैं, किन्तु गोहत्या मैंने की है? स्वीकार करो गोहत्याको। अभिमानकी जो यह रीति है वह सर्वथा अशुद्ध है। अतः हम-हमाराका अभिमान छोड़कर ही मनुष्यको कर्म करना चाहिए।

अब प्रसंग आता है राग-द्वेषका। मनुष्यके जीवनमें जो राग-द्वेष हैं, वे ही उसे गलत रास्तेपर ले जाते हैं। रागके कारण हम भटक जाते हैं और द्वेषके कारण फँस जाते हैं। सटते हैं रागसे और हटते हैं द्वेषसे—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (3.34)

तो आप काम भले कीजिये लेकिन यह ध्यान रखिये कि राग-द्वेषके वशीभूत न हों। इसी प्रसंगमें एक प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य बुरा काम करता क्यों है। कभी-कभी तो वह चाहता है कि बुरा काम न करे, फिर भी कर बैठता है। इसमें हेतु क्या है? गीतामें यह एक विशेष प्रसङ्ग है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

●

प्रवचन : 7

(22-11-74)

गीताके तीसरे अध्यायमें कर्मकी चर्चा चली। उसमें मुख्य प्रश्न उपस्थित हुआ कि कर्म कैसे होते हैं? और कर्म किस प्रकार करने चाहिए? भगवान्ने समाधान करते हुए कहा :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। (3.30)

इसमें कर्मानुष्ठानका सार-सार आ जाता है। प्रकृतिसे कर्म होते हैं, प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं, पंचायतकी प्रेरणासे कर्म होते हैं, अहंकारसे कर्म होते हैं, ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म होते हैं—इन अनेक मतोंका संग्रह गीतामें है। कर्मशास्त्रका तो कोष ही है गीता।

भगवान्ने कर्मानुष्ठानका जो सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग बताया, वह यह है कि मुझमें सब कर्मोंका संन्यास कर दो। यहाँ संन्यास शब्द सम्प्रदायविशेषका वाचक नहीं, सं = सम्यक्, न्यास = स्थापना, सम्यक् माने भलीभाँति और स्थापना माने पूर्णरूपसे निक्षेप। अर्थात् कर्मोंका सम्पूर्णरूपसे पूरा-का-पूरा भार भगवान्के ऊपर डाल दो; क्योंकि वे प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं और फलदाता है। यह समर्पण कैसे होगा? संसारमें जैसे गोदान, भूदान होता है, वैसे नहीं होगा। **संन्यस्याध्यात्म-चेतसा**—अपने शरीरके भीतर जो क्रिया-प्रक्रिया हो रही है, उसका नाम है अध्यात्म। अतः भीतर दृष्टि ले जाओ और देखो कि इस यन्त्रका संचालन कैसे हो रहा है।

एक बारकी बात है, मैंने किसी महात्मासे कहा कि मैं कर्म करनेमें स्वतन्त्र हूँ। उन्होंने कहा कि अच्छा; बताओ तुम अगले क्षणें क्या करोगे? मैंने कहा कि जो चाहूँगा करूँगा। बोले कि ठीक है, यही बताओ क्या चाहोगे? मैं चुप हो गया। मनुष्य अगले क्षण कैसी इच्छा करेगा, क्या करेगा इसका ज्ञान नारायणके सिवाय और किसीको नहीं हो सकता। यदि हम इच्छा नहीं करेंगे तो कर्ममें स्वातन्त्र्यका प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे जीवनमें जो प्रवृत्तियाँ हैं वे केवल ज्ञानकी किरणोंसे हो रही हैं, रसकी किरणोंसे हो रही हैं अथवा केवल सत्तामें आकृतियाँ बन रही हैं। सत्तामें आकार बनते हैं, ज्ञानमें प्रवृत्तियाँ होती हैं और रसमें तरंग उठती हैं। इस प्रकार पृथिवीका काम हो रहा है। इसमें ज्यादा कौन करता है, अपना कर्तापन और रागद्वेष—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

विवेकका मार्ग क्या है? हम अपने यन्त्र-संचालनकी प्रक्रियाको ठीक-ठीक समझकर राग-द्वेषके अधीन न होने दें। सबका भार समष्टिके अन्तर्यामी परमेश्वरपर छोड़ दें। सैनिक कार्य कर रहे हैं, फलकी आशा नहीं, कर्ममें ममत्व नहीं और होने-न-होनेका ज्वर भी नहीं।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः। (3.30)

अर्जुनकी दशा विपरीत थी। उन्हें ज्वर चढ़ आया था—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ (1.29)

उनका शरीर तप रहा था, मुख सूख रहा था, चमड़ा जल रहा था, भगवान्‌ने कहा—विगतज्वरः—अब इस बुखारको उतारकर फेंक दो, ज्वरसे रहित हो जाओ, हृदयमें जलन मत होने दो, आशा-ममता छोड़ दो, और समस्त कर्मोंका भार मुझपर डाल दो—यही विवेकका मार्ग है। यही बात जब भक्तिमार्गकी रीतिसे कही जाती है तब इसकी प्रक्रिया दूसरी हो जाती है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नाचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (12.6-7)

'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य'—ज्ञानमार्गमें भी है और भक्तिमार्गमें भी। भक्तिमार्गकी विशेषता क्या है? भगवान्‌के प्रति परायणता, अनन्यता, उनका ध्यान और उनकी उपासना—**मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते** इसका परिणाम क्या होता है—भगवान् भवसागरसे पार कर देते हैं—**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्** कोई जीव भवसागरमें डूब रहा है, भगवान् स्वयं आये, उसे भवसागरमें-से निकाला, अपनी नावपर बैठाया और पतवार चलाने लगे। जीवने कहा मैं भी पतवार चलाकर देखूँ? भगवान् बोले—नहीं; तुम चुपचाप बैठो, मेरी रूप-माधुरीका आस्वादन करो, इसे निहारो, नाव खेनेवाला तो मैं हूँ। यह कहकर वह साँवरा किशोर नाव चलाने लगा और जीव निश्चिन्त हो गया। यही भक्ति है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। (12.6)

गीताके तीसरे अध्यायमें विवेक है, ज्ञान है, और बारहवें अध्यायमें भक्ति है। ये दोनों कर्म करनेके दो मार्ग हैं, एक तो **संन्यस्याध्यात्मचेतसा** और दूसरा **निराशीर्निर्ममो भूत्वा।**

कर्ममें ममत्व मत रखो। यह देखो कि तुम अपना काम अपने लिए करते हो या देशके लिए करते हो? तुम कपड़ा पैदा करते हो सिर्फ इसलिए कि तुम्हें पैसा मिले अथवा इसलिए कि जो नङ्गे हैं, जिनको ठण्ड लगती है उनको कपड़ा मिले? यह केवल माननेकी ही बात है कि मनुष्य केवल अपने लिए ही पैदा करता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर सबके काम आता है। अपनी दृष्टिको संकीर्ण मत बनाओ। यह मत कहो कि मैं केवल अपने लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ बल्कि यह कहो कि मैं सबकी भलाईके लिए वस्त्र उत्पादन करता हूँ। इससे भी आगे बढ़कर यह मानो कि सर्वके रूपमें जो परमेश्वर है उसकी सेवा करनेके लिए, शृङ्गार करनेके लिए वस्त्रोत्पादन करता हूँ। परमेश्वरके शृङ्गारके लिए वस्त्र चाहिए, परमेश्वरको भोग लगानेके लिए अन्न चाहिए, परमेश्वरका मन्दिर बनवानेके लिए लोहा चाहिए। सीमेण्ट चाहिए। यह तभी होगा जब तुम अपने

उत्पादन कर्ममें-से ममता निकाल दोगे, निर्मम हो जाओगे। निर्ममका अर्थ यही है कि तुम अपने लिए काम नहीं कर रहे हो बल्कि सबके लिए कर रहे हो। यह विचार कोई कठिन नहीं, सच पूछो तो इसका निर्वाह होता चलता है—प्रतिदिन रोटी मिलती है, कपड़ा मिलता है। जो आज दे रहा है, वह आगे भी देगा। उसके लिए आशावान् होकर, फलकामी होकर हम अपने हृदयको मलिन क्यों बनायें? अत: आशा छोड़ो, फलाकांक्षा छोड़ो, ममता छोड़ो, दु:ख छोड़ो और अपना काम करते चलो।

अब विवेक और भक्तिके अतिरिक्त काम करनेका एक तीसरा मार्ग भी है, राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त। राग-द्वेष हमारी सत्ताको, हमारे ज्ञानको, हमारे रसको, हमारे आनन्दको दूषित करता है। हमारे सारे कार्यक्रम ज्ञानांशुसे होते हैं। ये जब पापविद्ध हो जाते हैं, तब रंगीन हो जाते हैं। जैसे सूर्यकी किरणें आती रहती हैं। बीचमें मिल जाता है पानी। फिर आकाशमें इन्द्रधनुष दिखायी देने लगता है। सूर्यकी किरणोंको रँगनेवाला कौन है? जलकी बूँदोंमें-से जब सूर्यकी रश्मियाँ पार होती हैं तब वे लाल-पीली-हरी हो जाती हैं। अत: रस्मियाँ जलकी बूँदोंमें आसक्त नहीं होतीं परन्तु उनके सम्पर्कमें रंगीन दिखायी देने लगती हैं। आत्म-सूर्यकी जो किरणें हमारे अन्त:करणमें आती हैं वे बिलकुल ठीक-ठीक आती हैं—परमेश्वरसे आती हैं, परन्तु रागकी रक्तिमा तथा द्वेषकी कालिमा दोनों उसको काली और लाल बना देती है। निश्चय ही हमारे कर्मको रङ्गीन बनानेवाला हमारा राग-द्वेष है जिससे हम फँस जाते हैं। बच्चे लोग लाल रङ्गमें बहुत फँसते हैं। बचपनमें मुझे लाल रङ्गके सिवा और कोई रङ्ग पसन्द ही नहीं आता था। रागमें ऐसी रङ्गीनी है कि इसको देखकर ज्ञानांशु मानव अपना सच्चा मार्ग छोड़ देता है। इसी प्रकार जीवनमें द्वेषका प्रवेश होनेपर, निर्दयता, क्रूरताका समावेश हो जाता है। उससे किसीकी हानि होगी इस बातपर ध्यान नहीं जाता। अत: कर्ममें पहले यह बताया कि यन्त्रका विवेक करो और देखो कि वह ठीक-ठीक काम करता है या नहीं। दूसरी बात यह बतायी कि केवल भगवान्से प्रेम करो और तीसरी बात यह बतायी कि राग-द्वेष छोड़ दो। दूसरे अध्यायमें—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। (2.64)

कहा था, अब यहाँ यह कहते हैं कि—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। (3.34)

तात्पर्य यह कि प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयमें राग-द्वेष है। कान प्रशंसाके शब्द सुनना चाहते हैं या प्रेमकी मधुर-मधुर बात सुनना चाहते हैं। आँख भी अभीष्ट रूप देखना चाहती है। जैसे बच्चे साइकिल चलाते समय जब किसी खास वस्तुकी ओर देखने लगते हैं तो उनकी साइकिल बलात् वहीं पहुँच जाती है। जब किसीसे हमारा राग या द्वेष हो जाता है तो हमारे कर्मका मुँह मुड़ जाता है—किसीको बचानेके लिए या मारनेके लिए, या किसीको सुख पहुँचानेके लिए या किसीका सुख छीननेके लिए। कर्मको भ्रष्ट करनेवाली वस्तुका नाम है राग-द्वेष। इसलिए इन्द्रियाँ काम करें, संसारके विषयभोग रहें और राग-द्वेष भी रहते हैं तो रहें, परन्तु हम उनके अधीन न हों, उनके वशमें न हों **तयोर्नवशामागच्छेत्।** काम करते समय हमारा जीवन सर्वथा

निर्दोष एवं न्यायपूर्ण होना चाहिए। पुराणोंमें एक कथा आती है। प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और बृहस्पतिके पुत्र थे कच। दोनों बड़े सुन्दर, स्वस्थ और विद्वान् थे। दोनोंने केशिनी नामकी कुमारी कन्यासे प्रस्ताव किया कि हमारे साथ विवाह करो। उसने जवाब दिया कि तुममें जो श्रेष्ठ होगा उसके साथ मैं विवाह करूँगी। मुझे श्रेष्ठता चाहिए, केवल सौन्दर्य या विद्या नहीं। इसपर दोनों-में यह शर्त लगी कि जो श्रेष्ठ सिद्ध होगा वह विवाह करेगा, किन्तु जो कनिष्ठ सिद्धा होगा वह मारा जायेगा। अब न्याय कौन करे? प्रह्लाद न्याय-परायणतामें प्रसिद्ध राजा थे, उनके सामने दोनों गये। प्रह्लादने निर्णय दिया कि बृहस्पतिका पुत्र कच श्रेष्ठ है। विरोचनके मरनेकी नौबत आगयी। प्रह्लादने पिताकी हैसियतसे अपने पुत्रका हाथ पकड़ा और उसे कचके चरणोंमें गिरा दिया। फिर बोले, तुम इसका सिर काट सकते हो। किन्तु सिर काटकर क्या करोगे? मैं समूचा बेटा ही तुमको दिये देता हूँ, तुम चाहे जैसा करो। कचने कहा कि आप जैसे न्यायशील एवं धर्ममूर्ति पुरुषको यदि पुत्रशोक भोगना पड़ जाये तो भविष्यमें कोई न्याय नहीं करेगा। इसलिए न्याय-रक्षाके पक्षमें मैं आपका पुत्र आपको लौटाता हूँ।

हमलोग बहुत-सी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ते हैं, परन्तु ऐसी कथा कहाँ मिलती है जिसमें कोई आदर्श हो। आदर्शहीन कहानियाँ तो समय काटती हैं।

राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होकर यदि हम कर्म करते हैं भले ही उसमें विवेक न हो, ईश्वरार्पण भी न हो, हमारे धर्मका पालन ठीक-ठीक हो जाता है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः **परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।**
स्वधर्मे निधनं **श्रेयः परधर्मो भयावहः॥** (3.35)

हमलोग किसी वस्तुको बहुत अच्छी और किसी वस्तुको बहुत खराब कह देते हैं; किन्तु कभी-कभी खराब वस्तु यहाँ तक कि संखिया और अफीम भी औषधके काम आती है। जिसको हम जहर कहते हैं वह कभी-कभी हमारे शरीरके लिए अमृत हो जाता है। कोई वस्तु अपने-आपमें बुरी नहीं होती, उसका दुरुपयोग बुरा होता है। यह बात हम लोगोंने लघुकौमुदी पढ़ते समय अपने गुरुजीसे सीखी थी। उनका कहना था कि कोई शब्द अशुद्ध होता ही नहीं। अतः यह कहना चाहिए कि इसके स्थानपर अमुक शब्दका प्रयोग करना चाहिए—

अस्य शब्दस्य स्थाने अयं शब्दः प्रयुक्तव्यः रामो गच्छति—ठीक है **रामस्य गच्छति** भी ठीक है **रामस्य गृहं गच्छति।** अमुक स्थानपर **रामो** ठीक है और अमुक स्थानपर **रामस्य** ठीक है। 'रामो'के स्थानपर 'रामस्य' कहोगे तो तुम्हारा प्रयोग गलत होगा, रामस्य नहीं। तुम्हारी क्रिया और रचना अशुद्ध है, शब्दका प्रयोग करो, हम उसको ठीक जगहपर बैठा देंगे और वहाँ वह शुद्ध हो जायेगा। इसी तरह किसी वस्तुका प्रयोग कहीं, तो किसी वस्तुका प्रयोग कहीं होता है। हमारे तन्त्र शास्त्रमें एक श्लोक है—

नामन्त्रमक्षरं किंचित् नानौषधिर्वनस्पतिः।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः॥

ऐसा कोई अक्षर नहीं जो मन्त्र न हो। ऐसी कोई घास नहीं जो दवा न हो। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें

कोई-न-कोई योग्यता न हो। तुम उसका उपयोग नहीं कर सकते, यह तुम्हारी कमी है। वह तो कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी उपयोगके लिए पैदा हुआ है। उसका अस्तित्व व्यर्थ नहीं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

गीता कहती है कि तुम जिस काममें योग्य हो उसे अपनी योग्यताके अनुसार करो। किन्तु जिसमें तुम अयोग्य हो उसमें अपना बड़प्पन दिखानेके लिए हाथ मत डालो। प्रत्येक मनुष्यके साथ एक धर्म पैदा होता है। जिस प्रकार अग्निका धर्म दाह है, जलका धर्म आप्यायन है, पृथिवीका धर्म धारण है, सूर्यका धर्म प्रकाशन है, उसी प्रकार मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है।

जिस विशेषताके कारण मनुष्यको मनुष्य कहा जाता है, वही मनुष्यका धर्म है। जो मनुष्यत्व छोड़ देगा वह मनुष्य नहीं रहेगा, पशु हो जायेगा, पक्षी हो जायेगा—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः** (3.35)

इसके बाद यह प्रश्न उठा कि आखिर मनुष्य पाप क्यों करता है? केनोपनिषद्में यह प्रश्न आया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः

हमारे मनका साधारण प्रेरक कौन है? यहाँ अर्जुन यह प्रश्न करते हैं कि पापका प्रेरक कौन है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ (3.36)

यदि कोई बलपूर्वक प्रेरित करता है तो राग-द्वेषके मिश्रणके बिना प्रवृत्तिमें बलवत्ता नहीं आती। हम साधारणतः अपने समभावसे काम करते जा रहे हैं। दौड़ते इसलिए हैं कि कहीं जल्दी पहुँचना है। किसी काममें टालमटोल इसलिए करते हैं वह हमें पसन्द नहीं। जल्दबाजी इसलिए करते हैं कि हमें उसकी आवश्यकता है और यह आशंका है कि कोई दूसरा हाथ न मार ले जाये। रागके कारण ही त्वरा आती है। यह जो ज्यादा एक्सीडेण्ट होते हैं वे त्वराके कारण ही होते हैं। ट्रक (त्वरक) त्वराके कारण ही अधिक दुर्घटनाग्रस्त होते हैं। अभी हमलोग कारमें आ रहे थे। हमारे ड्राइवरने ट्रककी त्वरित गति देखकर कहा कि अच्छा भाई तुमको बहुत जल्दी है तो तुम पहले जाओ। बहुत बढ़िया बात थी जिसे जल्दी है उसे जाने दो। हम धीरे-धीरे चलेंगे। ये त्वरक हैं, ट्रक हैं।

अब आप देखो कि हमारी पाप-प्रेरणा कहाँसे आती है? पाप शब्दका अर्थ यह है कि यदि आप अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो उससे बचिये—**पान्ति अस्मात् आत्मानम्।** पाप वह है जिसका परित्याग करके मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य करता है—**एतत् परित्यज्य आत्मानं पान्ति।** यदि मनुष्य उसको अपने जीवनमें धारण करेगा तो वह—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** नाशको प्राप्त हो जायेगा। जो करनेवालेको ही चूस ले, शोषण कर ले, भक्षण कर ले उसका नाम पाप है। जिससे हम गिरें, दूसरे गिरें, हमारी हानि हो, दूसरेकी हानि हो, उसका नाम पाप है। जिसके द्वारा हमारी तथा औरोंकी उन्नतिमें बाधा पड़े उसका नाम पाप है। मनुष्य ऐसा पाप क्यों करता है? इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा नहीं कहा जैसा केनोपनिषद्में मनके सामान्य प्रेरकका नाम बताते हुए कहा गया है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥ (1.1)

इसमें परमात्माका नाम नहीं; काम-क्रोधका नाम है। उपनिषद्की प्रेरणामें और गीताकी प्रेरणामें क्या अन्तर है? देखो किसी घरमें बिजलीसे आग लग जाये तो दोष पावर-हाउसका होता है या बिजलीका? न पावर-हाउसका, न बिजलीका। दो तार आपसमें मिल गये और आग लग गयी। आपके घरमें पंखा चल रहा है और खड़-खड़ बोल रहा है। उसकी जो खड़खड़ाहट है वह बिजलीका दोष है या पावर-हाउस? उत्तर है कि पंखेकी मशीनका दोष है। परन्तु कोई पूछे कि यह खट्-खट् क्यों हो रहा है तो यह भी कह सकते हैं कि बिजलीकी वजहसे हो रहा है। परन्तु वास्तवमें बिजलीकी वजहसे नहीं हो रहा, पंखेकी खराबीसे हो रहा है। जो पापाचरण हो रहा है वह विश्वसृष्टिमें परिपूर्ण बुद्धि-तत्त्वके कारण नहीं हो रहा है, जो विद्युत्-केन्द्रमें सन्निहित है, उसके कारण भी नहीं हो रहा और जो विद्युत्-धारामें प्रवाहित है उसके कारण भी नहीं हो रहा है। यह तो इसलिए हो रहा है कि इसके यन्त्रमें अनियमितता आगयी है। यन्त्रकी अनियमितता क्या है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (3.37)

ये सब दोष हैं जो ईश्वरीय यन्त्रको दूषित अथवा अनियमित करते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

काम बात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

काम वायु है, तूफान है जो मनुष्यको उड़ा ले जाता है। क्रोध आग है जो जला देती है और लोभ कफ है, कीचड़ है, दलदल है जिसमें आदमी फँस जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि ये सब रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं—**रजोगुणसमुद्भवः**। रजोगुण क्रियाशील है, तमोगुण भारी है और सत्त्व प्रकाशात्मक है। तीनों गुण अनियमित हैं। प्रत्यक्षके द्वारा इनका अनुमान किया गया है। प्रत्यक्ष क्या है? यह हड्डी-मांसका शरीर। इसका मूल तामस प्रकृति, तमोगुण। शरीरमें जो क्रिया होती है उसका मूल है रजोगुण और जो ज्ञान होता है उसका मूल सत्त्वगुण है। प्रकृति सत्त्व-रजस्तमोमयी है और भगवान्का ही एक विलास है, उनकी ही एक चेष्टा है। रजोगुणसे उत्पत्ति होती है वह लक्षणोंसे ही पहचानी जाती है। सांख्य और योगदर्शन यह सिद्धान्त है कि प्रकृति और गुणोंका दर्शन नहीं होता, उनका अनुमान ही किया जाता है।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। (४.१३ व्यासभाष्य)

पंचशिखाचार्यका वचन है, जो व्यासभाष्यमें उद्धृत है कि गुणोंको कोई देख नहीं सकता। जो दीख रहा है वह तो जादूका खेल है। गुण तो अनुमान-प्रधान सांख्यके द्वारा निश्चित किये गये हैं :

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ (14.12)

जब जीवनमें लोभ ज्यादा हो और अपने सामर्थ्यसे बाहर बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ कर दिया जाये तो

क्या होगा? यदि कहा जाये कि जो होना होगा हो जायेगा तो वह जुआ हो जायेगा। इसलिए पहले अपने सामर्थ्यका विवेक करके ही कर्म प्रारम्भ करना चाहिए। अन्यथा चित्तमें बेचैनी बनी रहेगी, मस्तिष्कमें तनाव बना रहेगा। हर समय यह रहे, वह रहे, यह बने वह बने—यह स्पृहा रहेगी। इसी स्पृहासे दो धाराएँ निकलती हैं—एक कामकी, दूसरी क्रोधकी—**काम एष क्रोध एष**—यहाँ 'एष' शब्दका दो बार प्रयोग करके यह बताया है कि—

यः कामः स क्रोधः यः क्रोधः स कामः।

वस्तुतः काम और क्रोधमें ज्यादा फर्क नहीं। जब मनमें कामना हो तो क्रोध बिलकुल नाकपर आकर बैठ जाता है। जरा-सा भी फर्क पड़े वह निकल पड़ता है—**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।**

महाशन उसे कहते हैं जिसका भोजन अधिक हो। नीति-शास्त्रका एकवचन है। है तो विनोदका, पर व्यवहारमें ध्यान देने योग्य है :

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणम्
बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

यदि विष्णु भगवान् भी अधिक खाने लगें, गन्दे कपड़े पहनें, दाँत साफ न करें, निष्ठुर बचन बोलें, प्यारकी बात न करें, सोयें बहुत तो औरोंकी तो बात ही क्या स्वयं लक्ष्मीजी उनको तलाक दे देंगी।

इस विनोदको असली अर्थमें नहीं, लाक्षणिक अर्थमें लेना चाहिए। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुको कभी नहीं छोड़ेंगी। वे तो सँभाल लेती हैं। भगवान्के कपड़े भी वही साफ करवा देती है और बोलना भी सिखा देती है। भगवान् कठोर बोलते हैं तो लक्ष्मीजी मृदु बोलती हैं। खानेमें भी कह देती हैं बस-बस, ज्यादा खाओगे तो नुकसान करेगा। उनकी बात दूसरी है।

जो काम है, यह बह्वाशी है अर्थात् इसका पेट जितना भी भरो, भरता ही नहीं। एक श्लोक विष्णु-पुराण, पद्मपुराण और भागवतमें आता है—

पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

एक आदमीको संसारकी सारी सम्पदा, सारा भोग दे दिया जाये तो भी उसका काम तृप्त नहीं होगा। मनुस्मृतिमें है—

ना जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति। (2.94)

उपभोगसे कामना शान्त नहीं होती, उसका भोजन बड़ा भारी है। यह अघासुर है। जो कभी तृप्त होनेवाला नहीं, उसको तृप्त करनेका प्रयास क्यों किया जाये? अतः अपने लिए जितना आवश्यक है, उतना ही स्वीकार करके बाकीके लिए पहलेसे ही मर्यादा बना ली जाये। क्योंकि यदि यह स्वयं तृप्त हो जाता तो हम

कहते कि अच्छा भाई, तुम तृप्त हो गये अब चले जाओ। परन्तु जब यह स्वयं कभी मानेगा ही नहीं तो जितनी जरूरत है उतना काम लेकर उसे कह दिया जाये कि बस भाई अब इसके आगे नहीं। कहीं तो सीमा होनी चाहिए, मर्यादा होनी चाहिए।

क्रोधको '**महापाप्मा**' इसलिए कहा कि जब वह आता है तो कुछ मत पूछिये! भगवान् करे आपको कभी क्रोध न आये। जब आता है तो मनुष्य दाँत पीसने लगता है। उसकी जीभ लड़खड़ा जाती है, गला सूखने लगता है, मुँह तमतमा उठता है, आखें लाल हो जाती हैं, भौहें तन जाती हैं। उस समय न तो गुरुजनोंका ध्यान रहता है और न प्रियजनोंका, सारा आचरण अमर्यादित हो जाता है। इसलिए 'क्रोध पाप कर मूल' कहा गया है। यही हाल कामका है : काम भी आपको क्षुब्ध कर देता है—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाः (मेघदूत, पर्व 5)

अतः आप काम-क्रोधको अपना आत्मीय मानकर यह मत कहिए कि यह मेरा काम है, यह मेरा क्रोध है। यह आपका आत्मीय नहीं, शत्रु है। जो आपके घरमें आगया है, प्रविष्ट हो गया है। यह बाहर ही बाहर सड़कपरसे निकल जाये तो जाने दीजिये, परन्तु जब आपके घरमें घुसे तो सावधान हो जाइये।

विद्ध्येनमिहके भी तीन रूप बताये। एक ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान ढँकता नहीं, मालूम पड़ता रहता है और ये आते-जाते रहते हैं। दूसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान नहीं-सरीखा होता है और तीसरा ऐसा, जिसमें आत्माका ज्ञान बिलकुल ढक जाता है। इसके लिए गीतामें तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—

प्रथम **धूमेनाव्रियते वह्निः** आगमें धुँआ निकलता है। आग दीखती रहती है। धुँआ निकलता रहता है।

द्वितीय **यथादर्शो मलेन च** शीशेपर धूल पड़ गयी। उसमें अपना मुँह नहीं दिखेगा।

तृतीय **यथोल्बेनावृतो गर्भः** जैसे जेरसे गर्भ ढका हुआ होता है और उसका दर्शन ही नहीं होता।

इसमें पहला काम-क्रोध सात्त्विक है, दूसरा राजस है और तीसरा तामस है।

तेन कामेन क्रोधेन च

काम और क्रोध दोनोंके द्वारा ज्ञान आवृत होता है और उसपर पर्दा पड़ जाता है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (3.39)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दूसरे लोग तो ज्ञानीसे दुश्मनी नहीं करते परन्तु काम, क्रोध ज्ञानीके दुश्मन हैं। क्योंकि ज्ञानी 'वीतरागभयक्रोध' होते हैं। स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थिति भी ऐसी ही होती है—

वीतरागभयक्रोध मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ (4.10)

यदि आप क्रोधमें आकर कोई व्यवहारिक काम करने लगेंगे तो वह बिगड़ जायेगा। हमारे एक ठाकुर साहब वैसे तो बहुत बड़े विद्वान् थे, पर उनकी कमजोरी यह थी कि उनको क्रोध बहुत जल्दी आता था। जब वे एक अदालतमें बयान देने गये तो प्रतिपक्षी वकीलने उनको ऐसा गुस्सा दिलाया कि देखकर अदालत भी

दंग रह गयी। बस; प्रतिपक्षीके वकीलका काम बन गया। उसने कहा कि इसी गुस्सेके वश होकर उन्होंने वह काम किया था। ठाकुर साहबकी बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और प्रभावत्ता काम नहीं आयी। उनके क्रोधके कारण अदालतमें बात बिगड़ गयी। उनका केस खराब हो गया।

काम-क्रोध ज्ञानियोंके नित्य वैरी हैं। अज्ञानी लोग उन्हें अपनाते हैं क्योंकि कम-से-कम कामोपभोगके समय उन्हें क्षणिक सुख मिल जाता है, बादमें वे पछता लेते हैं कि हमने गलत किया। परन्तु ज्ञानी लोग भोगते भी जाते हैं और दु:खी भी होते जाते हैं। वह उनको भोगके समय भी नहीं छोड़ता, उनका नित्य वैरी है। ज्ञानी पुरुष हमेशा ही समझते हैं कि काम-क्रोध स्वीकार करने योग्य नहीं।

कोई एक महात्माके पास गया और कहा कि महाराज हमारे मनमें कामवृत्ति है इसका निवारण कैसे हो? उनका आशय उस कामवृत्तिसे था जो संसारमें स्त्री-पुरुषके मिलन-प्रसंगमें प्रयुक्त होती है। महात्मा बोले कि किसी भी स्त्री या पुरुषके प्रति आकर्षण हो तो एकबार यह देखो कि उसका शरीर बिना चामका है। फिर रक्त-मांस-मज्जायुक्त बीभत्स शरीर दिखायी पड़नेपर कामनाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह वैराग्यवानोंकी, भक्तोंकी एक युक्ति है, कामवृत्तिसे बचनेकी।

श्री रंगक्षेत्रमें एक सज्जन किसी स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर उसके आगे-आगे उसीकी ओर मुँह करके पीछेकी ओर चल रहे थे। श्री रामानुजाचार्य महाराजने देखा; उनको बुलवाया और पूछा कि तुमको क्या चाहिए? उस व्यक्तिने उत्तर दिया कि मुझे सौन्दर्य चाहिए। श्री आचार्यपादने अपनी आरती सजायी और जब वे आरती करने लगे तो भगवान्‌ने अपना वह दिव्य सौन्दर्य माधुर्य प्रकट किया कि उनका दर्शन करते ही वे सज्जन विभोर हो गये और बोले कि बस-बस, अब मैं तो इसी सुन्दरताको जीवनभर देखता रहूँगा।

भगवान्‌के सौन्दर्यका अनुसन्धान करनेसे कामवृत्ति शिथिल होती है। जो लोग साकार भगवान्‌को न मानते हों उनके लिए अभी यह बात नहीं कह सकता किन्तु आप हिमालयमें बर्फसे ढँके हुए और उसकी चोटीपर समाधिस्थ कर्पूर-गौर भगवान् शंकरका स्मरण तो कर ही सकते हैं। कामवृत्तिका उदय होनेपर आप उनका ध्यान उधर ले जाइये और फिर देखिये कि कामवृत्ति कितनी जल्दी काफूर हो जाती है। संस्कृतमें एक श्लोक है :—जिसका भाव यह है—भक्त कहता है कि 'अरे काम तू अपने हाथ क्यों गन्दे कर रहा है। देख-देख; हमारे हृदयकी ओर देख यह तो हमारे प्रियतम चन्द्रचूड़के चरणारविन्दका चुम्बन कर रहा है।'

श्वेतवर्ण भगवान् शंकर कामारि हैं उनका ध्यान करते ही काम भाग जाता है। स्त्री-पुरुष विषयक कामवृत्तिके निवारणके लिए साधु लोग और भी बहुत-सी युक्तियाँ जानते हैं। आपलोग मन एकाग्र करनेकी बात करते हैं। एक युक्ति उसके लिए भी सुनिये। आप केवल अपने नेत्रकी पुतलीको हिलने न दीजिये। जोर मत लगाइये। आपकी पुतली जहाँ है वहीं रहने दीजिये। ऊपर-नीचे दाहिने-बायें कहीं भी जाने मत दीजिये। अभी-अभी ऐसा करके देख सकते हैं कि आपका मन कितना एकाग्र हो गया है। यह प्रामाणिक वाक्य है, जिसमें कहा गया है कि—

'आप अपनी आँखकी पुतलीको स्तब्ध कर लीजिये, समाधि आपके हृदयमें निवास करने लगेगी।'

अब आइये पुन: काम-क्रोधकी ओर, यह देखिये कि कामका रूप क्या है? क्या शकल-सूरत देखकर हम कामको पहचान जायेंगे? नहीं, जो तुम चाहते हो वही उसका रूप है। हम तो निष्काम होना चाहते हैं। बस-बस, कामनाने रूप बदल लिया है, निष्काम होनेकी इच्छाके रूपमें। तुम्हारे हृदयमें अपना स्थान बना लिया है। जिस प्रकार कामरूप राक्षस जब चाहें जैसा रूप बना लेते हैं उसी प्रकार काम भी नानारूप ग्रहण करता रहता है। यहाँतक कि जब हम कहते हैं—हे काम! तुम जाओ, तब इस इच्छाके रूपमें भी वह तुम्हारे साथ सट जाता है। वह ऐसी आग है जो कभी बुझती नहीं, कभी पूरी होती नहीं, **दुष्पूरेणानलेन च।** आओ इसके किलेपर आक्रमण करें। इसका किला भी बहुत विचित्र है। उसका निवास तो हमारे इन्द्रियोंमें है, मनमें है, बुद्धिमें है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। (3.40)

एक राजा किसी दूसरे राजापर आक्रमण करनेके लिए चला तो सामनेवाले राजाने उसके सारथिसे मित्रता जोड़ ली। वह जिस रथपर जा रहा था उसका सारथि विपक्षी राजाका आदमी हो गया। उसकी बागडोर कमजोर और पकड़ ढीली हो गयी।

घोड़े भी खूब खा-पीकर दुश्मनके वशमें हो गये। अब राजा क्या करे! उसका दुश्मन घोड़ोंके रूपमें और कमजोर बागडोरके रूपमें उसके रथमें ही सम्मिलित हो गया। ऐसा शत्रु अगर आपके पीछे लग जाये तो आप क्या करेंगे? आपकी इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन बागडोर है और बुद्धि सारथि है। जब आपके जीवन-रथका सारिथ, घोड़े, बागडोर, ये तीनों दुश्मनके हाथमें चले जायें तो आप अपनी अभीष्ट यात्रा कैसे पूरी करेंगे?

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ (3.40)

घोड़े हमारे ठीक चल रहे हों, सारथि हमारा विश्वस्त नौकर हो और बागडोर हमारी बहुत मजबूत हो तभी हम अपने जीवन-रथपर चलकर सफलता प्राप्त कर सकते हैं। काम-क्रोध हमारे ज्ञानको ढ़क देता है। उसे वशमें करनेकी दो रीतियाँ बतायी गयी हैं :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्दौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (3.41)

पहली बात यह है कि इसका मार्ग नियमित हो, मर्यादित हो। आपके अन्दर जो इच्छाएँ हों, समाजके लिए हितकारी हों। आपकी इच्छाओंका प्रवाह उफनती नदीकी धाराके समान नहीं होना चाहिए, बल्कि नहरकी तरह नियन्त्रित होना चाहिए। नहर कैसे निकाली जाती है, आप जानते ही हैं। एक ओर उसको मार्ग देना चाहिए, दूसरी ओर रोक लगानी चाहिए। जब बाँध और मार्ग दोनों कामनाओंकी नदीके लिए तैयार होते हैं तभी वह नियन्त्रित होती है।

दूसरी रीति है कामसे सम्बन्धका त्याग। पहली रीतिके अनुसार इन्द्रियोंको मर्यादित करनेसे इस काम-पापका परित्याग हो जाता है। '**प्र**जहि' में 'जहि' क्रियापद है और '**प्र**' उपसर्ग है। उपसर्ग प्राय: निरर्थक होते

हैं। परन्तु धातुके साथ जुड़नेके बाद उनके अर्थको प्रदीप्त कर देते हैं। यह उपसर्गोंका नियम है। कामका परित्याग क्यों करें? इसलिए कि यह 'ज्ञान-विज्ञान नाशनम्' है, आपके ज्ञान-विज्ञानका विरोधी है। कठोपनिषद्‌में कहा है कि विषयोंको पुष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंको पुष्ट करनेवाला है मन। विषयोंका पालन इन्द्रियाँ करती हैं और इन्द्रियोंका पालन मन करता है। मनका पालन बुद्धि करती है।

हम अपने लिए जिस वस्तुको सुखकारी समझते हैं, उसको चाहते हैं। हमारी बुद्धि समझती है, मन चाहता है और इन्द्रियाँ रहती हैं। यह तीन स्थितियाँ हैं। यदि आप इन्हीं तीनोंमें बैठकर काम-क्रोधका नियन्त्रण करेंगे तो नहीं होगा। अब इनसे अलग होकर इनका नियन्त्रण करेंगे तभी ये नियन्त्रित होंगे।

अत: जरा इन्द्रियोंसे, मनसे, बुद्धिसे परे होकर थोड़ी देर बैठिये। पाँच मिनट द्रष्टा और साक्षी होकर बैठ जाइये। इनसे अलगावका अनुभव कीजिये। अपनेको रागद्वेषयुक्त बुद्धिसे राग-द्वेषयुक्त मनसे, रागद्वेषयुक्त इन्द्रियोंसे अलग करके देखिये। फिर आप देखेंगे कि इनमें कितना रागद्वेष है और ये कितने त्याज्य हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ (3.43)

जहिका अर्थ होता है मार डालो और जहिहिका अर्थ होता है छोड़ दो; सम्बन्ध त्यागका भाव 'जहिहि'में है। इन्द्रियाँ नहीं मरती, मन नहीं मरता, बुद्धि नहीं मरती--इसमें जो शत्रुपन रह रहा है वही मरता है। अत: आप जिस शत्रुके वशवर्ती होकर अपना व्यवहार चला रहे हैं उसे आत्मज्ञानकी तलवारसे नष्ट कर दीजिए और अपने जीवनमें शुद्ध व्यवहारकी प्रतिष्ठा कीजिए।

अब इसके बाद आता है अवतारका प्रसंग। वह अद्भुत है। हमने सोचा कि अब एक ही बारमें सारी गीताको भागवत्‌के सप्ताहकी तरह क्या सुनना! आप सुनते रहो और हम सुनाते रहें। मैंने कहीं पढ़ा था, एक जवान आदमीने चर्चिलकी वर्षगाँठके दिन जब यह कहा कि ईश्वर करे हम आपकी सौवीं वर्षगाँठ मनावें, तो चर्चिलने मुस्कराकर उत्तर दिया—'हमको थोड़ी-थोड़ी उम्मीद तो है कि तुम तबतक रहोगे!' आप लोगोंकी सुननेकी इच्छा बनी रहे। आप लोग उम्मीद रखें कि हम सुनानेवाले भी बने रहेंगे।

●

प्रवचन : 8

(23-11-74)

चतुर्थ अध्यायके आरम्भमें स्वच्छन्द वाङ्मय अवतार प्रकट हुआ। अर्जुनने जैसा कि दूसरे-तीसरे अध्यायोंमें प्रश्न किया, चतुर्थ अध्यायके प्रारम्भमें पूछा कि भगवन्, आपकी यह जो कर्मयोग-साधना है, इसकी कोई परम्परा अथवा सम्प्रदाय है कि नहीं? आपके ये नवीन क्रान्तिकारी और प्रगतिशील विचार हैं अथवा प्राचीन परम्परा या सम्प्रदायके साथ भी इनका कोई सम्बन्ध है? अर्जुनके इन प्रश्नोंके सन्दर्भमें यह ध्यान देनेकी बात है कि प्रगति परम्पराको स्वीकार नहीं करती। जहाँ परम्परा प्रगतिपर हावी होना चाहती है, वहाँ संघर्ष होता है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने वचनोंकी अवतारणा की। देखो, अवतार हो रहा है भगवान्की वाणीका। वे बिना पूछे ही बोल रहे हैं। वैसे धर्मशास्त्रका नियम यह है कि पूछनेपर ही किसीको सलाह देनी चाहिए—

नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्॥ (मनुस्मृति 2.110)

मनुजी कहते हैं कि बिना पूछे जन-जनको सलाह मत दो। अन्यथा तुम्हारी सलाहकी कोई कीमत नहीं रहेगी। यदि कोई अन्यायपूर्वक पूछ रहा हो तो उसको भी परामर्श मत देना। परामर्शके स्थानपर मौन रहना भी दोष है और आवश्यकतासे अधिक परामर्श देना भी दोष है; परन्तु कहीं-कहीं ऐसा नियम है कि यदि कोई अपना अत्यन्त वात्सल्य--भाजन हो तो उसे बिना पूछे भी सलाह दे देनी चाहिए।

ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत। (भाग० 1.1.8)

अनापृष्टमपि ब्रूयात् जब यह दिखायी दे कि कोई आदमी गलत काम कर रहा है और गड्डेमें गिरनेवाला है तो उसे बिना पूछे सलाह देनी चाहिए।

एकबार हम नावमें कहीं जा रहे थे। लम्बी यात्रा थी, खूब आरामसे सो रहे थे। एकाएक किनारेके गाँवके लोग चिल्लये कि नावको बचाओ-बचाओ आगे झरना है, गड्ढा। हमारे मल्लाहको भी नहीं मालूम था। आगे नाव जाती तो गिरकर चकनाचूर हो जाती। गाँववालोंने बिना पूछे ही आवाज देकर हमें और हमारी नावको बचा लिया। ऐसे अवसरपर भी बिना पूछे सलाह देनी चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपने आप ही बता रहे हैं कि मैं जो उपदेश कर रहा हूँ, उसमें एक परम्परा है। परन्तु इस परम्पराका प्रवर्तक कोई अन्य नहीं, स्वयं मैं ही हूँ। यहाँ उन्होंने केवल अपने वचनोंका ही नहीं किन्तु स्वयंके अवतारत्वका भी पोषण-समर्थन कर दिया। अवतारके प्रसंगमें एक छोटी-सी बात ध्यानमें रख लीजिए। जब हमारे कर्ममें भगवान्का समावेश अथवा अवतरण होता है तब उसका

नाम धर्म हो जाता है। पीछे भगवान्‌की प्रेरणा और सामने भगवान्‌की सेवा, इन दोनोंके बीचमें जो हमारा कर्म है उसमें स्वयं भगवान् विद्यमान रहते हैं। अच्छा, हमारे मनमें प्रेम है, किन्तु प्रेम तो जन-जनकी ओर जाता है—कभी इधर कभी उधर। क्योंकि वह अपने स्थिर विषयको ढूँढ़ता रहता है। परन्तु जब इस प्रेममें, आसक्तिमें भगवान् आ जाते हैं तो उस प्रेम अथवा आसक्तिका नाम भक्ति हो जाता है। प्रेमासक्तिके सामने भी भगवान् और उसके पीछे प्रेरणा देनेवाले भी भगवान्। कर्मका नाम धर्म और आसक्तिका नाम भक्ति। उसमें केवल भगवान्‌का समावेश होना चाहिए। प्रेरक भी भगवान् और विषय भी भगवान्। भगवान्‌का दिया हुआ प्रेम निष्काम होता है। भगवान्‌की दी हुई आसक्ति निष्काम होती है और वह विषय करती है सर्वात्माको। इसके द्वारा सबकी सेवा होती है।

जिस प्रकार भगवद्-विषयक आसक्तिका नाम भक्ति और कर्मका नाम धर्म है, उसी प्रकार यदि मनमें भगवान्‌के लिए एकाग्रता हो जाये तो उसका नाम योग है। बुद्धिमें ईश्वरका अवतार हो जाये तो उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानयोग कहो, सांख्ययोग कहो, भक्तियोग कहो, कर्मयोग कहो, ये सब-के-सब भगवत्सम्बन्धसे ही योग बनाते हैं। अब भगवान्‌की वाणी सुनिये—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (4.1)
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥ (4.2)
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ (4.3)

इसमें भगवान्‌ने एक तो यह बताया कि योग अनादि है और इसका पूरी तरह कभी नाश नहीं होता। मैंने यह योग पहले-पहल विवस्वान् सूर्यको बताया था। सूर्य भगवान्‌के सच्चे शिष्य हैं। आप कर्मयोगीका दृष्टान्त ढूँढ़ने जायें तो सूर्य जैसा सच्चा कर्मयोगी और कोई नहीं मिलेगा। आप प्रतिदिन प्रात:काल सूर्यके दर्शन करें और सायंकाल विदा भी करें—

आगतं स्वागतं ब्रूयात् गच्छन्तं पृष्ठतो व्रजेत्।

सज्जनोंके आनेपर हाथ जोड़कर स्वागत करना चाहिए और जब वे जाने लगें तो कुछ दूर तक उनके पीछे चलकर विदा करना चाहिए।

सूर्यके आनेपर स्वागत और नमस्कार इसलिए कीजिए कि वे भगवान्‌के द्वारा कर्मयोगके प्रथम अधिकारी नियुक्त हुए हैं। उनसे सबको अनासक्ति मिलती है, सबको प्रकाश मिलता है। वे सबको समानरूपसे बिना किसी भेद-भावके ज्ञान देते हैं। एक कर्मयोगी सेवा करने जाये और कहे कि मैं चोरोंके मुहल्लेमें सेवा नहीं करूँगा तो उसका कर्मयोग अधूरा माना जायगा। चोरकी चोरी छुड़ाना एक बात है और यदि वह भूखों मर रहा हो, बीमार हो, वर्षासे भींग रहा हो तो उसको भोजन देना, उसकी दवा करना, उसे आश्रय

देना दूसरी बात है। कर्मयोगी चुन-चुनकर सेवा नहीं करता, प्रत्युत जहाँ भी सेवाकी आवश्यकता होती है वहाँ अपनी सेवाकी वर्षा कर देता है। यही सूर्यकी सेवा है : इसलिए वे सच्चे कर्मयोगी हैं और परमात्माके ही स्वरूप हैं। सबके शरीरमें मन बनकर भगवान् ही बैठे हैं। जैसे बाहर सूर्य भगवान्की विभूति है, वैसे सबके हृदयोंमें मन भी भगवान्की विभूति है—

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। (10.22)

अत: हमें मनका आदर नहीं करना चाहिए। हमारे जीवनमें मनका भी महत्त्व है। परन्तु जब वह पराधीन हो जाये तो उसका आदर इसीमें है कि उसको पराधीनतासे बचा लिया जाय। मनु क्या है? मननात्मक है विचार और प्रकाशात्मा है बुद्धि। मानवके उत्पत्तिके मूलमें मनु और श्रद्धा है। श्रद्धा पत्नी है और मनु पति। जहाँ विचार और श्रद्धा दोनोंका ठीक-ठीक मेल है वहीं मानवकी पूर्णता है। केवल तर्क-वितर्कसे कोई मनुष्य, मनुष्य नहीं होता। तार्किक व्यक्ति कर्तनी (कैंची)के समान हो जाता है। जैसे 'हिंस' शब्द उलटकर 'सिंह' हो जाता है इसी प्रकार 'कर्त' शब्दको उलटा कीजिये तो तर्क हो जाता है। कृती कर्तने धातुसे बने 'कर्त' शब्दको उलटा कीजिये तो तर्क हो जाता है। तर्क अर्थात् बुद्धि काटनेका औजार, उपकरण। केवल तर्क-वितर्क मनुष्यका जीवन नहीं, मनुष्यके जीवनमें श्रद्धा-सम्बलित विचार और विचार सम्बलित श्रद्धा दोनोंका समन्वय होना चाहिए। श्रद्धा और मनु दोनों मिलकर ही मनुष्यके पूर्वज है, आदि कारण हैं।

देखो, पहले सूर्यरूपमें केवल प्रकाश है। अन्तर्यामी भगवान्के द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशको कर्मयोग प्राप्त हुआ। फिर प्रकाशने विचार और श्रद्धाको कर्मयोगकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् विचार श्रद्धासे इक्ष्वाकुको। 'क्षु' धातुका अर्थ है छींकना। छींकते हैं तब 'इक्षु' की ध्वनि होती है। 'इक्षु' शब्द जिसके भीतर भरा हुआ है, उसका नाम होता है 'इक्ष्वाकु'। इक्ष्वाकु हमारे ऐन्द्रियक जीवन हैं। इनमें कर्मयोग रहना चाहिए। हम आँखसे सबको देखते हैं। आँखमें राग-द्वेष नहीं, जो सामने होता है उसे जाहिर कर देती है। नीचे-से-नीचा और ऊँचे-से-ऊँचा दिखा देती है। इसी प्रकार राग-द्वेषविनिर्मुक्त होकर हमारा हाथ भी सबकी सेवा करनेके लिए तैयार रहता है। अत: हमारे जीवनमें सेवाभावका निवास होना चाहिए। प्रकाश, विचार, श्रद्धा और सेवा—ये चारो जो हमारे आध्यात्मिक जीवनमें प्रकट हैं, इन्हींकी परम्परामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु एवं अन्य राजर्षि हैं: भगवान्ने कहा कि मैंने इनको कर्मयोगका उपदेश किया है ये हमारे शिष्य हैं। कोई शिष्य भी तो तभी होता है जब वह उपदेष्टाके उपदेशके अनुरूप काम करता है। इसलिए भगवान्ने इनको अपना शिष्य स्वीकार किया है। पृथिवी शिष्य है, जल शिष्य है, अग्नि शिष्य है, मनु भी शिष्य है, परन्तु मनुष्य शिष्य नहीं। क्योंकि वह अपनी स्वच्छन्द प्रकृतिके द्वारा भगवान्के आदेशका उल्लङ्घन करता है। भगवान्ने कहा कि अर्जुन, मैं अपना वही उपदेश, जो अव्यय है, तुमको बता रहा हूँ।

अब प्रश्न होता है कि भगवान् अर्जुनको ही क्यों बता रहे हैं? उनमें ऐसी क्या विशेषता है? उन्हें उस उपदेशका कौन-सा अधिकार प्राप्त है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् ही देते हैं और मुहर लगाते हुए कहते हैं कि 'अर्जुन, तुम मेरे भक्त हो, सखा हो'। इससे उत्तम अधिकार तथा वैशिष्ट्य और क्या हो सकता है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

इसमें 'च' पद अन्वयाच्च है, अर्थात् तुम मेरे भक्त और सखा दोनों हो। परन्तु यहाँ भक्त मुख्य है, और सखा गौण। क्योंकि जब **भिक्षामट गामानय** कहेंगे तो उसका तात्पर्य होगा कि भिक्षा माँगकर लाओ और गौ मिले हाँककर उसे लेते आना। इस कथनमें भिक्षा माँगना जरूरी है। पहला काम है खानेके लिए रोटी लाना और साथ-साथ गौ भी लाना।

अर्जुन भगवान्‌के भक्त हैं और ऐसे भक्त हैं कि एकबार देवर्षि नारदजीके मनमें शंका हो गयी। उन्होंने सोचा कि अर्जुन कैसा भक्त है जिसके लिए भगवान् ड्राइवरका काम करते हैं। हमने देखा है कि जब कोई बड़ा मेहमान आता है तब बड़े लोग स्वयं कार ड्राइव करते हैं। नारदजीने सोचा कि अर्जुनमें ऐसी क्या विशेषता है जो भगवान् उसका इतना आदर करते हैं और उसके रथके सारथि बनते हैं। परीक्षाके लिए एक प्रसंग आ गया। कोई सभा हो रही थी, जिसमें अर्जुनको भी सम्मिलित होना था। उनके आनेमें बिलम्ब हो गया, तो भगवान्‌ने कहाकि अर्जुनकी प्रतीक्षा करो। नारदजीने कहा—आप सभा आरम्भ कीजिये। मैं अर्जुनको लेकर आता हूँ। अब ये अर्जुनके पास गये, तो देखते क्या हैं कि वे सो रहे हैं और उनके रोम-रोमसे 'कृष्ण'-'कृष्ण' की ध्वनि निकल रही है। नारदजी विभोर हो गये और उन्होंने भी अपनी वीणा बजाना शुरू कर दी। अर्जुनके रोम-रोमसे निकले 'कृष्ण'-'कृष्ण' और उसे स्वर दें नारद। बहुत देरके बाद कोई और गये, तो वे भी वहीं रम गये। फिर स्वयं श्रीकृष्ण गये और वहाँका दृश्य देखकर नाचने लग गये। नारदजीका भ्रम दूर हो गया। वास्तवमें यह भी प्रेमकी कला है जो संगीत और नृत्य सिखा देती है।

प्रेमगुरुणा गौरीगणः शिक्ष्यते।

प्रेम गुरु होता है। जिसके हृदयमें आता है उसकी बोलीमें संगीत और उसकी चालमें नृत्य भर देता है। प्रेमीको नृत्य या गाना सीखना नहीं पड़ता, उसकी वाणी स्वयं गुनगुनाने लगती है और पाँव थिरकने लगते हैं। यह प्रेमगुरुकी महिमा है।

अर्जुन भक्तके साथ-साथ सखा भी हैं। उन्होंने गीतामें स्वयं भगवान्‌के सामने स्वीकार किया है कि मैंने आपसे बहुत हँसी-मजाक किया है। हँसी-मजाकके माध्यमसे आपका तिरस्कार भी कर डाला है—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। (11.42)

अर्जुन और श्रीकृष्णमें इतनी घनिष्ठता थी कि वे अपनी-अपनी पत्नियों—द्रोपदी और सत्यभामाके साथ एक ही कमरेमें रहते थे। उनका खाना-पीना और सोना सब एक साथ चलता था। इस सम्बन्धकी आलोचनाओंका उत्तर कुमारिल्लभट्टने अपने तन्त्र-वार्तिकमें दिया है। कहा है कि महाभारतका यह प्रसंग बड़ा उत्तम है।

अर्जुन सखा होनेके कारण कभी-कभी विहार, शयन, आसन, भोजन आदिमें भगवान्‌का तिरस्कार तो कर देते हैं, किन्तु जब सम्बन्धकी चर्चा करते हैं तब कहते हैं—

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्। (11.44)

अर्थात् जैसे पिता पुत्रका, मित्र मित्रका और पति-पत्नीका अपराध क्षमा करता है वैसे ही आप हमारे उपहासको क्षमा कर दीजिये। जब अर्जुनमें ऐश्वर्यकी बुद्धि आयी तो सख्यबुद्धि गौण पड़ गयी।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो इसलिए अब मैं तुमको उत्तम रहस्य बताता हूँ। 'सखा' शब्दका एक अर्थ 'सह खादति' और दूसरा 'सह ख्यायते' है। 'सह खादति' माने एक साथ खाये और 'सह ख्यायते' माने एक साथ नाम लिया जाये। जैसे श्रीकृष्णार्जुन। एकका नाम लेते ही दूसरा नाम आये—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

अर्थात् सखा वह है जो देता है, लेता है, पूछता है, बताता है, खाता है, खिलाता है। इसीका नाम सख्य है जो भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ मुख्यरूपसे चलता है।

अच्छा; अब आगे बढ़ें। अर्जुनने जब रहस्यकी वात सुनी तब भगवान्से एक बात पूछ ली। वह बात अर्जुनको मालूम नहीं थी, ऐसा तो नहीं लगता, क्योंकि आगे चलकर उन्होंने कहा है—

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। (10.13)

असित, देवल, महर्षि नारद और व्यास इन सबने मुझको यह बताया है कि श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। आप स्वयं भी यही कह रहे हैं। अतः यह बताइये कि सूर्य बहुत पुराने हैं और आप बादमें पैदा हुए हैं। मनु भी आपसे पूर्वके हैं। उनके वंशज इक्ष्वाकुका काल भी दूसरा है फिर आपने अपने पूर्वके लोगोंको उपदेश कैसे किया? यह शंका अर्जुनने इसलिए प्रकट की कि लोगोंको श्रीकृष्णके स्वरूपका भान हो जाये। इसका उत्तर श्रीकृष्णने यह दिया कि योग अव्यय है और मैं भी अव्यय हूँ। गीतामें अव्यय शब्दका प्रयोग जीवके लिए भी है, जगत्के लिए भी—

अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। (15.1)

परमेश्वर भी अव्यय है और उसकी प्राप्तिका उपाय भी। इस प्रकार अव्ययका प्रयोग प्रायः सबके लिए है। जो ईश्वर सर्वथा निराकार होता है और जिसमें आकार ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं होती, वह तो असमर्थ है—सामर्थ्य-हीन है।

हम नैनीतालमें एक राजाके यहाँ ठहरे हुए थे। एक दिन वे दाढ़ी मूँछ लगाकर आये और हमको बताया कि हमने फैन्सी ड्रेस शोके लिए (यह वेश) धारण किया है। वे थे राजा और उन्होंने साधुका वेश बना लिया था। हमारा कमण्डलु भी ले गये थे। पहचानमें नहीं आते थे। सर्वथा साधु लगते थे। एक लौकिक राजा साधुका वेश बना सकता है और साक्षात् परमेश्वर मनुष्यका वेश नहीं बना सकता? यह मान्यता तो ईश्वरका तिरस्कार है। वास्तवमें सभी तत्त्व यहाँतक कि पृथिवी भी निराकार है। क्योंकि पृथिवीका कारण है परमाणु और वह साकार नहीं। परमाणुसे कार्यरूप पृथिवी बन जाती है, किन्तु वे स्वयं निराकार होते हैं, निष्क्रिय होते हैं, अनगढ़ होते हैं। परमाणुओंमें आकार-विकार नहीं होता, परन्तु वे मिलकर संघात बनाते हैं, प्रसरण बनाते हैं और उनसे

सृष्टि बनती है। एक स्थूल उदाहरण लीजिये। आपके हाथमें जो शीशा है उसका आकार क्या है? वह कंगन है, कुण्डल है या सिल्ली है? सोनेका अवतार है सिल्ली, सौनेका अवतार है कंगन या कुण्डल। उसका जो गलाया हुआ रूप है वह भी उसका असली स्वरूप नहीं। सोनेका अपना कोई रूप नहीं। वह तत्त्व रूपसे निराकार है। उससे कंगन, कुण्डल, सिल्ली या द्रव कुछ भी बना लीजिये, ये सब रूप-स्वर्णके अवतार ही होते हैं। जब कोई भी मूल वस्तु अवतार लेती है तभी वह हमारी दृष्टिका विषय होती है। जो परमेश्वर केवल निराकार है वह हमारे हृदयमें कैसे आ सकता है? हमारा छोटा-सा हृदय किसी बड़े परमेश्वरको अपने भीतर ले नहीं सकता क्योंकि वह असमर्थ है, अक्षम है। जो अक्षम नहीं है, उसे संस्कृतमें क्षम कहते हैं—सक्षम नहीं, जैसा कि हिन्दीमें कहा जाता है। क्षमका अर्थ है—करनेमें समर्थ। सक्षमका अर्थ है—क्षमाके साथ=क्षमायुक्त। यह एक बात मैंने ऐसे ही आपको सुना दी।

अब, हमारे जो ईश्वर हैं वे संसार द्वारा स्वीकार किये गये अन्य ईश्वरोंसे कुछ विलक्षण हैं। हमारे वैदिक ईश्वरको समझना थोड़ा कठिन है, क्योंकि वे इस जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। दुनियाको बनाया भी उन्होंने ही और दुनियाके रूपमें बने भी वही। वही सबको बनानेवाले हैं, वही सब हैं, और वही सबमें हैं। वह प्राज्ञके रूपमें सर्वकारण है, ईश्वरके रूपमें सबका बीज है, हिरण्यगर्भके रूपमें सबका अंकुर है और विराट्के रूपमें वृक्ष है। वह परमेश्वर ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके रूपमें प्रकट होता है। अन्यथा भगवान्का सर्वत्र और सब रूपोंमें दर्शन बिलकुल झूठी कल्पना हो जायेगी। परमेश्वर वह सोना है जिससे जगत्के आभूषण बनते हैं, वह मिट्टी है जिससे जगत्के घट-पटादि बनते हैं, वह लोहा है जिससे सब औजारोंका निर्माण होता है। दुनियाका मूल तत्त्व है परमेश्वर। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। चाहे जहाँ और चाहे जिस पदार्थमें हम परमेश्वरका दर्शन कर सकते हैं। आकार, मूल द्रव्यका अवतार होता है। जगत्की मूल-भूत वस्तु ही आकारके रूपमें परिवर्तित होती है। ईसाई धर्ममें परमेश्वर को जगत्का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। मुस्लिम धर्ममें भी परमेश्वरको जगत्का उपादान नहीं मानते, निमित्त मानते हैं। हमारे आर्यसमाजी लोग भी परमेश्वरको जगत्का निमित्त कारण ही मानते हैं, उपादान कारण नहीं। किन्तु हमारा जो सनातन वैदिक धर्म है वह परमेश्वरको जगत्का निमित्त कारण माननेके साथ-साथ उपादान कारण भी मानता है। उसकी मान्यताके अनुसार परमेश्वर ही वह मसाला या मैटर है जिससे यह जगत् बना है। अत: जगत्में परमेश्वरका अवतार भी होता है और मूर्ति भी होती है।

अब आप यह देखिये कि निराकार ईश्वर निष्प्राण अथवा हृदयहीन तत्त्व है क्या? यदि हृदयहीन नहीं तो भक्तोंकी प्रार्थना क्यों न सुने अथवा अपनी सृष्टिमें आवश्यकता समझकर क्यों नहीं अवतरित हो? आप इन श्लोकोंमें अवतारके मूल रूपका विवेचन, अवतारकी प्रक्रिया और अवतारका प्रयोजन देखें—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

यह है अवतारका मूल स्वरूप;

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया। (4.6)

यह है अवतारकी प्रक्रिया; और

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (4.6)
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (4.8)

यह है अवतारका प्रयोजन, अवतार लेनेपर भी ईश्वरमें कोई विकार नहीं आता, यह बात इस श्लोकमें बतायी गयी है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

अब इन चार श्लोकोंसे प्रतिपादित अवतारके स्वरूप, प्रक्रिया प्रयोजन एवं निर्विकारताका फल हमारे जीवनमें कैसे आयेगा यह भी बता दिया—

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।

आप लोग एक-एक श्लोक पर ध्यान दें। परमात्मा अजन्मा होते हुए भी जन्म लेता है। संसारमें दो तरहसे जन्म होता है, एक क्रियासे दूसरा विक्रिया से। क्रिया और विक्रियामें अन्तर होता है। जब हम बच्चे जवान और जवानसे बूढ़े होते हैं तब इसका नाम विक्रिया है। हमारा एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलना स्वाभाविक एवं प्राकृत विकार है। प्रकृतिसे महत्, महत्से अहंकार और अहंकारसे तन्मात्राओंमें रूपान्तरण भी विक्रिया ही है। किन्तु जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा मनुष्य, पशु, पक्षी आदिका सृजन करते हैं तब वह क्रिया होती है। गढ़े हुए आकार दूसरे होते हैं और अपने आप बने हुए आकार दूसरे होते हैं। आप पहाड़में-से पत्थर उठा ले आइये, उसकी जो आकृति है, वह प्राकृत है किन्तु जब छेनी-हथौड़ेसे उसमें कोई आकृति बनाते हैं तब उसका रूप दूसरा हो जाता है। वैसे क्रियासे भी आकार बनता है और विक्रियासे—विकारसे भी आकार बनता है। किन्तु भगवान्‌का जो स्वरूप है एक तो अजन्मा है और दूसरे उसमें विकार नहीं होता, कोई परिवर्तन नहीं होता—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा! एक विशेषता यह भी है कि भगवान् सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर हैं—

ईश्वरोऽपि सन् वे जड़ तत्त्व नहीं, इसलिए चेतन और स्वाधीन तत्त्व होनेके कारण जब उस सहृदय परमेश्वरमें कोई संकल्प उठता है तब वे उसके अनुसार अपना रूप प्रकट कर लेते हैं।

आपने सुना होगा, अकबरने बीरबलसे पूछा—'तुम्हारे ईश्वरके पास कोई अच्छा आदमी नहीं है क्या? जब जरूरत पड़ती है तो खुद ही संसारमें आता है। अपने किसी आदमीको क्यों नहीं भेज देता?

बीरबल बोले कि इसका उत्तर हम आपको समयपर देंगे। उन्होंने अकबरके छोटे लड़केकी एक मूर्ति बनवायी, उसको कपड़ा पहिनाया और आयाको सिखा-समझा दिया। जब सब लोग नावपर जल क्रीड़ा करने गये तब आयाने सिखानेके अनुसार बनावटी बच्चेको इस प्रकार पानीमें गिरा दिया जैसे वह गफलतसे उसके

हाथसे छूट गया हो। नदीमें गिरते ही अकबरने आव देखा न ताव, न किसीसे इशारा किया, पकड़नेके लिए वही कूद पड़ा, जब लाये तो वह मोमका पुतला था, लड़का नहीं। अब तो अकबर बहुत नाराज हुए कि यह क्या बदतमीजी है? बीरबलने विनयपूर्वक कहा 'हुजूर यह आपके प्रश्नका उत्तर है। यहीं हम सब आपके कर्मचारी आपको आज्ञापर कूद पड़नेवाले—मर जानेवाले मौजूद हैं। लेकिन आपने हमलोगोंमें-से किसीको भी हुक्म नहीं दिया, और बच्चेको बचाने स्वयं कूद पड़े। हमारा ईश्वर भी तब वह अपने किसी आदमीको न भेजकर स्वयं कूद पड़ता है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय

इसमें प्रकृति शब्दसे यह मत समझ लेना कि कोई जड़ प्रकृति है। भगवान्ने कहा—'स्वां प्रकृतिम्'—यह मेरी अपनी प्रकृति है और इसपर मेरा पूर्ण अधिकार है। यह मेरी प्रकृष्ट रचना है। प्र=प्रकृष्ट, और कृति=रचना अथवा प्र=प्रथम और कृति=कारीगरी! भगवान्की पहली कारीगरी यह है कि उन्होंने आत्म-मायया=अपनी मायासे अपने अपने आपमें ही जादूका खेल दिखाया और कहा कि देखो मैं मनुष्य बनाता हूँ, पशु-पक्षीके रूपमें प्रकट होता हूँ, मैं बूढ़ा हूँ, मैं जवान हूँ। वेदके मन्त्र बोलते हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(श्वेताश्व० उप० 4.3)

'प्रभो! तुम्ही स्त्री हो, तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो। तुम्हीं सबके रूपमें प्रकट होते हो। तुम्हीं बूढ़े बाबा बनकर लठिया टेकते हुए रास्तेपर चलते हो, मैं तुमको पहचान गया, पहचान गया।'

जब हम यह कहेंगे कि यह परमेश्वर नहीं, तो इसका अर्थ होगा कि देशमें, कालमें, इस रूपमें परमेश्वर नहीं और जो इस देशमें, इस कालमें, इस रूपमें नहीं होगा वह परिपूर्ण कैसे होगा?

यह भगवान्का जादूका खेल है कि वह अपनेको ही सब रूपोंमें दिखा रहे हैं और भक्त लोग उनको पहचानते हैं। श्रीहनुमानजी रावणके दरबारमें गये। सबको दीख रहा था रावण और हनुमानजीको रावणमें दीख रहे थे राम। आप गोस्वामी तुलसीदासजीका चित्रण देखिये—

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।

रावणमें जो शक्ति है, वह उसकी अपनी नहीं, भगवान्की है। रावण भी प्रेमसे शून्य नहीं। उसमें कितनी श्रद्धा है, कितनी प्रीति है, इसका चित्रण रामचरितमानसमें पढ़िये। वे रावणको नितान्त दुष्ट नहीं कहते। क्योंकि वह कभी-कभी मन-ही-मन जानकीके चरणोंकी वन्दना भी करता है और ऐसा करके सुखी भी होता है—

मन महँ चरन बन्दि सुख माना।

हम रावणको गाली दे सकते हैं, पर उसमें भी जो अच्छाई है, उसे भक्तलोग देखते हैं। कपटी मारीचमें भी अन्तः प्रेम था, जिसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें श्रीरामने पहचान लिया—

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

जहाँ हनुमानजीको भगवान् राम दीखते हैं, जहाँ रावणमें भी सद्भाव दीखता है, लोग कैकेयीको गाली देते हैं किन्तु; गोस्वामीजीके शब्दोंमें भगवान् राम यह कहते हैं—

जननी दोष देहिं जड़ तेई।
सपनेहुँ साधु सभा नहिं सेई॥

कैकेयीको वे मूर्ख लोग ही दोष लगाते हैं जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया। कितना उत्कृष्ट चित्रण है यह, जिसमें राग-द्वेषके लिए कोई स्थान ही नहीं।

भगवान् सर्वरूपमें प्रकट हो रहे हैं। आप उनके अवतारको पहचानिये और देखिये उनकी आत्म-माया, जिसके कारण वे अपनी प्रकृतिकी अपने वशमें करके अर्थात् अपनी ईश्वरताको छिपाकर छोटा-सा, नन्हा-सा रूप ग्रहण करते हैं।

अब यह विचार आया कि अवतारका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन दो प्रकारका है। भगवान् अवतार लेते हैं सारी विश्वसृष्टिके लिए भी और व्यक्ति विशेषके लिए भी। उनको इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि 'सर्वस्मिन् सर्वम्'—सबमें सब है। व्यक्तिमें समष्टि है और समष्टिमें व्यक्ति है। व्यक्तमें अव्यक्त है और अव्यक्तमें व्यक्त है। ये दोनों कभी अलग-अलग नहीं होते।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

इसमे 'धर्मस्य' का तात्पर्य है 'धर्मात्मनः'। अर्थात् जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होने लगती है। इसी प्रकारका लाक्षणिक अर्थ करना पड़ेगा ग्लानि शब्दका, जिसका प्रयोग धर्मके लिए किया गया है, क्योंकि धर्मको कभी ग्लानि नहीं होती। अतः धर्मसे उपलक्षित धर्मात्माको ग्लानि हो सकती है। ग्लानि एक मनोवृत्ति है। मनुष्यके मनमें जो सुख है, हर्ष है उसका क्षय हो जाये तो उसको कहते हैं ग्लानि। ग्लानि एक संचारी भाव है। साहित्यमें रसके साक्षात्कारके लिए जो संचारी भाव उदित होता है, उसका नाम है ग्लानि। जब धर्मात्माओंके मनमें यह अनुभव होने लगता है कि देखो जो लोग अधर्म करते हैं, वे तो सुखी हो रहे हैं और हमने इतना धर्म किया तब भी हमें दुःख मिला, असफलता मिली और कष्ट सहना पड़ा, तब उन्हें ग्लानि होती है। कोई कष्ट-सहनपूर्वक धर्म करे और उनके मनमें अपने कष्टको देखकर उदासीका भाव उत्पन्न हो तो भगवान् कहते हैं कि अब चलकर धर्मपरायण व्यक्तिके हृदयको उत्थान प्रदान करना चाहिए, ऊपर उठाना चाहिए। जब किसी रोगीकी आँखकी पुतली नीचे होने लगती है तब डाक्टर लोग उसे ऊपर उठा देते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्यका हृदय नीचे गिरने लगता है तब भगवान् उसे पकड़कर ऊपर उठानेके लिए सामने आ जाते हैं और कहते हैं कि ऊपर मेरी ओर देखो। ऐसा तो इस

संसारमें मित्रगण भी करते हैं। यदि कोई उदास होकर मुँह लटका दे, नीचे देखने लगे, उसकी आँखोंमें आँसू आये तो उसका जो मित्र या प्रेमी होता है वह उसकी ठोड़ी पकड़कर उसके मुँहको ऊपर उठा देता है और कहता है कि मेरी ओर देखो। इतनेसे ही उस व्यक्तिकी उदासी दूर हो जाती है और वह मुस्करा देता है।

भगवान् कहते हैं कि जब-जब धर्मात्माओंको ग्लानि होती है और अधर्म सिर उठाकर खड़ा हो जाता है अर्थात् अधार्मिक लोग यह कहने लगते हैं कि ये ऐसा करूँगा, मेरा इतना बड़ा पद है, ओहदा है, मेरे इतने अनुयायी हैं, इतनी सम्पदा है, मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, तुम मेरा क्या कर लोगे और अपने जब लौकिक बलके आधारपर धार्मिकोंके ऊपर धावा बोल देते हैं तब-तब मैं प्रकट होता हूँ **अभ्युत्थानमधर्मस्य** में जो अभ्युत्थान है, उसका प्रयोग तब होता है, जब एक राजाकी सेना दूसरे राजाकी सेनापर धावा बोलती है। भगवान् कहते हैं कि ऐसे समयमें मैं अपने आपको भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट करता हूँ।

अब आप फिर देखो अवतारकी बात। शालिग्राम भी भगवान्का एक अवतार है। आप लोगोंने सुना होगा श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें इसको अर्चावतार मानते हैं। सोचो अगर भगवान् सब न हों तो वे तुलसी कैसे बनेंगे, पीपल कैसे बनेंगे, गंगा कैसे बनेंगे? गंगाजी तो भगवान्का प्रत्यक्ष अवतार हैं, ब्रह्म-द्रव हैं। इसी प्रकार मछली, कछुआ, सिंह, घोड़ा, आदि सब रूपोंमें भगवान्की अभिव्यक्ति भी उनका अवतार है। अवतारका अर्थ है नीचे उतरकर किसीको ऊपर निकालना। हमने अपने गाँवमें देखा, एक स्त्री पानी भरने कुएँपर गयी। उसका पाँव फिसल गया और वह कुएँमें गिर गयी। जब उसके पतिको पता चला तो वह दौड़ा हुआ आया और बिना सोचे-विचारे कूद पड़ा। उसने अपनी पत्नीको पकड़ लिया और तब पुकारा कि रस्सी फेंको। रस्सी फेंकी गयी और तब दोनोंको ऊपर खींचा गया। अवतारमें जो 'अव' है उसका अर्थ संस्कृतमें नीचे और 'तरण' का अर्थ तैरना होता है। पानीमें डूबे हुओंको निकालनेके लिए भगवान् जलावतार लेते हैं। जब गजेन्द्र पानीमें डूब रहा था तो उसको उबारनेके लिए भगवान्ने पानीमें डुबकी लगायी, गजेन्द्रको दोनों हाथसे पकड़ा और ग्राहके साथ ऊपर उठाकर बाहर कर दिया। द्रौपदी जब नंगीकी जाने लगी तो उसकी लाज बचानेके लिए भगवान्ने वस्त्रावतार ग्रहण किया। वे ऐसे वस्त्र बने कि उनमें और द्रौपदीमें कोई भेद नहीं रह गया। कविको कहना पड़ता—

नारी मध्य सारी है कि सारी मध्य नारी है।
नारी ही की सारी है कि सारी ही की नारी है॥

वेदान्ती लोग अवतार शब्दका जो अर्थ लेते हैं वह बहुत विलक्षण है। सच पूछो तो अवतारके बिना वेदान्तियोंका काम ही नहीं चल सकता। मैं वेदान्त-सिद्धान्तका प्रामाणिक पण्डित हूँ। विशेषकर शांकर-सिद्धान्त मेरा अपना विषय है। आप मेरे इस अहंभावको अभिव्यक्तिको इस अर्थमें लें कि मैं आपके हृदयमें विश्वास पैदा करना चाहता हूँ। आपके विश्वासके लिए यदि मुझे अहंभाव भी प्रकट करना पड़े तो वह अनुचित

नहीं। आप देखें कि ब्रह्म आपको मुक्त कर सकता है? अथवा आपका बन्धन काट सकता है? यदि ब्रह्म ऐसा कर सकता तो अबसे बहुत पहले बन्धन काट देता और मुक्ति दे देता।

वास्तवमें जैसे भक्तोंके लिए वरदानके निमित्तसे भगवान्‌का अवतार होता है वैसे ही महावाक्यके निमित्तसे जब हमारी चित्त-वृत्तिमें परब्रह्म परमात्माका अवतार होता है तब वह अवतीर्ण परमात्मा ही अविद्याका नाश करता है। परमात्मा अपने स्वरूपमें रहता हुआ अविद्याका नाश नहीं करता। जब वह वृत्त्यारूढ़ चेतनके रूपमें अवतरित होता है तभी हमारी अविद्याको निवृत्त करता है। जिसको वेदान्तका संस्कार हो वह इस बातपर ध्यान दे। ब्रह्महृदमें उतरनेके लिए, ब्रह्मके महासमुद्रमें अवतरणके लिए जो सोपानका—सीढ़ीका काम देता है उसीको अवतार बोलते हैं। अवतार माने बड़ी भारी गहराईमें उतरनेका साधन। विषयोंसे गहरी इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे गहरा अन्तःकरण, अन्तःकरणसे गहरा साक्षी और साक्षीसे गहरे अद्वितीय परब्रह्मके साक्षात्कारके लिए परमात्माके अवतारकी आवश्यकता होती है। जब परमात्मा कौशल्याके राम बनते हैं, देवकीके कृष्ण बनते हैं और हमारी वृत्तिमें आरूढ़ चेतन बनते हैं तब वे हमारे बन्धनको काटते हैं, अविद्याको निवृत्त करते हैं। अवतारके बिना तो अविद्याकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी सिद्धान्तको प्रकट करनेके लिए उसको वेदान्तमें आरूढ़-चेतन और भक्तिमें अवतार बोलते हैं। अवतारकी मान्यताके बिना, भक्ति सिद्धान्तके द्वारा, वेदान्तकी व्याख्या नहीं हो सकेगी। अवतार ही उसकी मूल पृष्ठभूमि है। एक बात और है। आप लोग इससे डरें नहीं। जीव और ईश्वर दोनों भाई-भाई हैं। इनमें यह बँटवारा हुआ था कि रूप ईश्वरके पास रहेगा और नाम जीवके पास। ईश्वरने अपने रूपोंको अब नामके अधीन कर दिया और जीवसे कहा कि जब तुम नाम लेकर पुकारोगे तो रूप हाजिर हो जायेगा। यही है अवतारकी प्रक्रिया। जितने गुण जीवमें होते हैं उतने ही भगवान्‌में भी होते हैं। हाँ, उतने ही—न कम न ज्यादा, गिनतीमें बराबर-बराबर। क्योंकि दोनों एक ही तत्त्व हैं। जीव उसको कहते हैं जो गुण-दोषोंको मैं-मेरा मानकर स्वीकार कर लेता है और ईश्वर उसको कहते हैं जो इन गुण-दोषोंके प्रकट होनेपर भी अपने ज्ञानका बाध नहीं करता। गुण-दोष उसकी मायामें दीखते रहते हैं और वह सर्वज्ञ बना रहता है। इसलिए हम देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायाका दूध उसी प्रकार पीना चाहते हैं जैसे जीव पीना चाहता है। वे दूधके लिए वैसे ही रोते हैं जैसे जीव रोता है। जैसे जीव कभी गुस्सेमें आकर गड़बड़ी करता है तोड़-फोड़ कर देता है वैसे ही श्रीकृष्ण भी करते हैं। जैसे जीव भागता है वैसे ही ईश्वर भी भागता है। जैसे जीव पकड़ा जाता है वैसे ही ईश्वर भी पकड़ा जाता है। जैसे जीव बँधता है, भय खाता है, पलायन करता है वैसे ही ईश्वर भी करता है, जैसे उसका कोई बन्धन नहीं मैय्या बाँधती है तो बँध जाता है, खोलती है तो खुल जाता है, वैसे ही जीव भी निर्बन्ध है। जीव जो-जो करता है ईश्वर वही-वही करेगा तो उन दोनोंमें बराबरी नहीं होगी। यदि बराबरी नहीं होगी तो दोनों एक साथ कैसे रहेंगे? दोनोंकी एकता होनेके लिए बराबरी भी आवश्यक है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें गुण-दोष अविद्यासे हैं और ईश्वरमें मायासे हैं। जब माया और अविद्याका पर्दा अलग करके देखते हैं तो दोनों एक हैं। इसलिए जब हम जीवका जन्म उसके

कर्मानुसार मानते हैं तो भगवान्‌का जन्म भी उसकी स्वेच्छासे मानना पड़ेगा। ईश्वरकी तरह जीव भी निराकार है। उसको साकार सिद्ध करनेवाला सृष्टिमें कोई है नहीं। जिस प्रकार निराकार जीवका जन्म सिद्ध हो सकता है उसी प्रकार निराकार परमात्माका जन्म भी अवश्य हो सकता है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान्‌का जन्म दिव्य है और जीवका जन्म कार्मिक है। भगवान्‌के जन्मकी दिव्यता जान लेनेपर जीव भी दिव्य हो जाता है। इसलिए क्यों न हम भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यताका ज्ञान प्राप्त करें। उसके द्वारा स्वयं भी अपने जन्म, कर्मके बन्धनसे छूट जायें। गीता हमारा मार्ग-दर्शन करनेके लिए प्रस्तुत है। वह ऐसी विद्या है जो हमारी हीनता, घृणा, ग्लानि, पाप-ताप, अज्ञान और दुःखादिको ध्वस्त करके हमें परमेश्वरके साथ एकाकार कर सकती है।

●

प्रवचन : 9

(24-11-74)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—**आत्मानं सृजाम्यहम्** मैं अपनी सृष्टि करता हूँ। यह सृष्टि किसी दूसरेको नहीं आत्माकी है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर प्रकृत नहीं, पञ्चभूतका बना हुआ नहीं। वे प्रकृतिसे करते हैं वशमें और आत्म-संकल्पसे करते हैं सृष्टि। माया शब्दका अर्थ आचार्य रामानुजने ज्ञान किया—**माया तु वयुनम् ज्ञानम्।** माया शब्दका अर्थ संकल्प भी है। **स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय** में जो प्रकृति है वह सांख्यमें वर्णित जड़ प्रकृतिसे भिन्न है। सांख्यकी जड़ प्रकृति तो अनियन्त्रित है, ईश्वरके अधीन नहीं, किन्तु गीतामें जिस प्रकृतिका वर्णन है वह ईश्वराधीन है। **मया भूतं सचराचरम्**—भगवान्ने अपनी प्रकृतिको वशमें करके, स्वसंकल्पसे अपने आपको ही व्यक्तिके रूपमें प्रकट किया। इसलिए श्रीकृष्णका व्यक्तित्व सच्चिदानन्दघन है। सच्चिदानन्दघनका अर्थ है निर्विकार। श्रीकृष्ण निर्विकार हैं। भागवतमें इसका उल्लेख अनेक स्थानों पर है!

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः॥ 1.11.37

मूर्ख लोग श्रीकृष्णको विकारी मानते हैं किन्तु विद्वान् निर्विकार मानते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

श्रीकृष्णके अव्यय भावको न जाननेके कारण ही लोग उनको व्यक्ति मानते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् (9.11)

मनुष्यके समान जूझते हुए भी भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं। यह बात **आत्मानं सृजाम्यहम् से स्पष्ट हो** जाती है। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्णकी आत्माका जो स्वरूप है वही उनके शरीरका भी है। श्रीरामानुजाचार्यने यह प्रश्न उठाया **किमात्मिका भगवतोऽभिव्यक्तिः**—भगवान्की अभिव्यक्ति क्या होती है? जो भगवान् है वही भगवान्का व्यक्तित्व है। **किमात्मको भगवान्? यदात्मिका अभिव्यक्तिः** जैसी उनकी अभिव्यक्ति है वैसे ही भगवान् हैं और जैसे भगवान् हैं वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति है। ऐसे श्रीकृष्णको आप पहचान लें तो परब्रह्मको पहचान लेंगे। निर्विकार तत्त्व ही श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ है।

अब भक्त लोगोंने भगवान्‌के सम्बन्धमें जो भाव प्रकट किये हैं उनमें-से कुछको सुनाये बिना आगे बढ़ना कठिन है। वे कहते हैं कि साधु-परित्राणके लिए अर्थात् साधुओंकी रक्षाके लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। रक्षा कौन-सा ऐसा काम है, जिसके लिए भगवान्‌को अवतार लेना पड़े। वे चाहें तो उनमें इतना सामर्थ्य है कि साधुओंको कष्ट पहुँचानेवालोंको पैदा ही न करें। यदि कष्ट पहुँचानेवाले पैदा भी हों तो भगवान् उनका मन मोड़कर उन्हें साधुसेवी बना सकते हैं। यदि मनको न मोड़े तो दुष्टोंकी दुष्टताका महाप्रलय कर सकते हैं। इसके लिए अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता है? यह हुआ भक्तोंका भाव। वे भगवान्‌को अपने लिए तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते।

भगवान् साधुओंकी रक्षाके लिए अवतार लेते हैं। साधु माने सज्जन। गीतामें साधु शब्दका प्रयोग है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते। (17.26)

यहाँ साधु शब्दका प्रयोग किसी सम्प्रदाय, मजहब अथवा वेशभूषाके लिए नहीं। साधु तो गृहस्थ और वेशधारी सभी होते हैं। वेशधारी होकर साधुताका आचरण न रखते हों वे केवल वेशधारण करने मात्रसे साधु नहीं हो सकते। किन्तु वेशधारी न हों और उनके हृदयमें साधुता हो तो वे साधुओंसे भी बढ़कर हैं। वैयाकरणोंने साधु शब्दका अर्थ यह माना है कि जो परोपकारपरायण हो वह साधु है। उनकी व्युपत्तिके अनुसार तो जो दूसरोंका काम बना दें, सिद्ध कर दे, उसका नाम साधु है-**साध्नोति परकार्यम्** इति। साधुओंकी रक्षाके प्रसंगपर वैष्णवाचार्योंने बड़े सुन्दर-सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं कि साधु श्रीकृष्णके तृष्णातत्त्व हैं। साधुके रूपमें श्रीकृष्णको तृष्णा प्रकट हुई है। श्रीकृष्णके दर्शनकी प्यास साधु बनकर आयी है। श्रीकृष्ण अपने स्थानसे कंस, शिशुपाल और जरासन्ध आदिका नाश करा सकते हैं। यह काम वैकुण्ठ और गोलोकसे भी हो सकता है, उनके संकल्पसे भी हो सकता है। भीमसेन, अर्जुन, बलरामसे भी हो सकता है। परन्तु यशोदाके मनमें जो भगवान्‌की माता बननेकी लालसा है, यह लालसा लेकर जब वे परमेश्वरके सामने प्रार्थना करती हैं कि 'प्रभो! तुम आओ हमारी गोदमें, हमारे बच्चे बनो, हमारा दूध पीओ, मैं तुम्हें चूँमू, तुम्हारे शरीरमें ऊबटन लगाऊँ, तेल लगाऊँ तुम्हें बघनखा पहनाऊँ, माखन खिलाऊँ-इसको कौन निर्गुण-निराकार भगवान् पूरा करेगा? यह लालसा तभी पूरी होगी जब भगवान् बालक बनकर यशोदाकी गोदमें आयेंगे। नन्दबाबा जब बालक श्रीकृष्णको कन्धेपर लेकर नाचने लगते हैं और वे उनकी दाढ़ी पकड़कर खींचते हैं, उनकी नाकमें ऊँगली डालते हैं, तब यह लीला क्या वैकुण्ठनाथ अथवा गोलोकनाथसे सम्पन्न हो सकेगी? इसके लिए तो उन्हें नन्द, यशोदाकी गोदमें आना ही पड़ेगा। इसके बिना नन्द-यशोदाकी वात्सल्य-सुख सम्बन्धी आकांक्षाकी रक्षा हो नहीं सकती। यदि भगवान् अपने भक्तोंकी लालसाका रक्षण नहीं करते तो यही कहना पड़ेगा कि उनके जो कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि नाम हैं वे बिलकुल झूठे हैं। सचमुच भगवान्‌में गोपियोंका वर्णन है कि वे क्या हैं? श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा ही मूर्त होकर गोपियोंके रूपमें प्रकट है। आप यह मत देखिये कि गोपी ग्वालिन है। प्रत्युत यह देखिये कि श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्यास, व्याकुलता, उत्कण्ठा मूर्तिमान होकर गोपीके रूपमें प्रकट हुई। साधुओं और महात्माओंके रूपोंमें जो भगवत्प्राप्ति-तृष्णा मूर्तिमान होकर रहती है उसकी

रक्षाके लिए भगवान्‌को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यह ऐश्वर्यसे बड़ी वस्तु है। ऐश्वर्य तो यशोदा माताने श्रीकृष्णके मुखमें तब देखा था जब श्रीकृष्णने दूध अधिक पी लिया। पहले तो यशोदा माताके मनमें दूध पिलानेकी लालसा थी और जब श्रीकृष्ण अधिक पीने लगे तब यह आशंका हुई कि कहीं अपच न हो जाये-अजीर्ण न हो जाये। वास्तवमें स्त्रीकी पूर्णता, उसके जीवनका साफल्य केवल सौन्दर्य-सद्गुणवती पत्नी होनेमें नहीं, उसकी पूर्णता-उनके सौभाग्यकी परिणति तो मातृत्वमें है। स्त्रीका एक होता है रूप-सौन्दर्य और दूसरा होता है-सौभाग्य-सौन्दर्य। रूप-सौन्दर्य भोग्य है और सौभाग्य-सौन्दर्य प्रदाता है। जिस माताके शरीरका दूध पुत्रके पेटमें नहीं गया उसका सौभाग्य-सौन्दर्य अधूरा ही रहेगा। उसका रूप-सौन्दर्य सफल हुआ परन्तु सौभाग्य-सौन्दर्य सार्थक नहीं हुआ। देखो स्त्री-पुरुषकी अपनी एक परम्परा है जो उनके माता-पितासे प्राप्त होती आ रही है। वहाँसे एक संस्कार आ रहा है, एक बीज आ रहा है। यदि माता उसे अपने पुत्रके पेटमें नहीं डालेगी, बाहरका ही संस्कार पुत्रके पेटमें पड़ेगा और उसीसे उसका संवर्द्धन होगा तो वह बड़ा होने पर यदि आज्ञा पालन न करे और कह दे कि तुमने मुझे कौन-सा अपना दूध पिलाया है, तो इसका क्या जवाब है। अत: अपने रक्तसे, अपने बीजसे, अपने संस्कारसे पुत्रका जो संवर्द्धन है वही स्त्रीका सौभाग्य-सौन्दर्य है और वह मातृत्वमें ही पूर्ण होता है।

यशोदा माता जो अपना दूध श्रीकृष्णको पिलाती हैं वह भगवान्‌को अर्पित होता है। वह दूध बाहरका नहीं, गायका भी दूध नहीं, अपितु उनका अपना दूध है। यशोदा माता पिलाना जानती हैं और छुड़ाना भी जानती है। जब छुड़ाना चाहती हैं तब उनके रुचिर, स्मित मुखारबिन्दका अवलोकन करती हैं, चुम्बन करती हैं। वे स्वयं मुस्कराती है और श्रीकृष्ण भी मुस्कराते हैं। श्रीकृष्ण समझाते है कि मैया हितकी भावनासे अजीर्णकी आशंका करती है परन्तु; फिर भी भगवान्‌ने अपने मुखमें विश्वका दर्शन करा दिया-

विश्वं विभागिपयसो-न च केवलोऽहम्।

श्रीकृष्णका तात्पर्य मैयाको डराना नहीं अपितु; यह है कि मेरे रूपमें सारी सृष्टि दूध पी रही है। इसका अर्थ यह भी है कि माता जब अपने बच्चेको दूध पिलाती है तो केवल अपने बच्चेको ही नहीं बल्कि विश्वके एक नागरिकको दूध पिलाती है। उसके द्वारा केवल उसका बेटा नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टि ही सम्वर्द्धित होती है।

अब श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य दिखाकर जब दूसरी बार माताको आश्चर्यचकित करना चाहा तो उन्हें यह ध्यान आया कि मैया कहीं ईश्वर समझकर हाथ न जोड़ने लगे। अत: उन्होंने अपना ऐश्वर्य समेट लिया और फिर बालक बनकर माताका दूध पीने लगे। यह प्रसंग आता है कि ऐश्वर्य-दर्शन करनेके पश्चात् भगवान्‌ने पुत्र-स्नेहमयी यशोदा मैंय्याको अपनी स्वजन-मोहिनी माया प्रदान की, और वे फिर श्रीकृष्णको पुत्र मानकर दूध पिलाने लगी। ईश्वरका रूप बड़ा है या पुत्रका? यशोदा माताको ईश्वरके रूपसे सन्तोष नहीं हुआ। वे श्रीकृष्णको पुत्रके रूपमें प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हुईं। कभी-कभी ईश्वरका भी साधारेणीकरण होना चाहिए। वह हमारा भाई, पुत्र, मित्र और प्रियतम हो। उसे अपनेसे बहुत दूर रखकर हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। जिन-जिन लोगोंने

ईश्वरको बहुत दूर रखा है उनके यहाँ भक्ति-भावनामें न्यूनता दिखायी पड़ती है। निराकारवादी ईश्वरका कितना भक्त होगा? कितना प्रेम करेगा? वहाँ तो प्रेम रसका उद्भव ही नहीं होगा।

भक्तजनोंके परित्राणके लिए भगवान्‌को बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तीन बार तो देवकी, अदिति और पृश्निके गर्भसे ही प्रकट हुए। न तो उनको माँ बनानेसे तृप्ति होती है और न माताओंको उन्हें पुत्र बनानेसे। यह अतृप्ति भी तो एक तत्त्व है। अर्जुन बड़े ज्ञानी, योद्धा और वीर थे। परन्तु उन्होंने गीता सुनते-सुनते कह दिया कि मुझे तृप्ति नहीं हो रही है-

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्। (10.18)

मैं आपके वचनामृतको कानके प्यालेसे पीते-पीते तृप्त नहीं हो रहा। जैसे हम 'वन्स मोर' (Once More) कहते हैं वैसे ही अर्जुनने 'भूयः कथय' कहा, अर्थात् फिर कहो, फिर कहो। तात्पर्य यह कि भगवान बार-बार अवतार लें और हमारे मित्र, हमारे प्रियतम बनते रहें। एक भक्तने तो कहा-

हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे।

हाय-हाय, हमारे जीवनमें वह समय कब आयेगा, जब, हम अपनी इन्हीं आँखोंसे तुम्हारे चरणोंके दर्शन करेंगे। भगवान् भी अपने भक्त महात्माओंके पेटमें रहने, दूध पीने, उनका प्यार पाने, उनके कन्धोंपर हाथ रखने ओर उनके वक्षःस्थलसे लगनेके लिए लालायित रहते हैं। साधु-महात्मा भी चाहते हैं कि भगवान् हमारे सजातीय होकर आयें, तभी उनसे हमारा अधिक प्रेम होगा। क्योंकि विजातीयसे प्रेम कुछ कम होता है, सजातीयसे अधिक होता है। अतः तुम मनुष्य बनकर आओ, तभी हम तुमसे प्रेम करेंगे। जब भगवान्‌को अपने प्रेमी साधुओंका मनोरथ पूरा करनेके लिए आना पड़ता है तब उनके जो प्रतिपक्षी है, विरोधी हैं उनको भगवान्‌का काम भी करना पड़ता है। आप जानते हैं गीतामें मौत नामकी कोई चीज है ही नहीं। मृत्युको दो कौड़ीकी कीमत भी दी हो ऐसा नहीं लगता। कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। (2.22)

मृत्यु क्या है? पुराने कपड़ोंको छोड़कर नये कपड़े पहन लेना है। इसलिए भगवान्‌ने जब साधु संत्रासक दुष्ट राक्षसों, दानवों और आसुरी सम्पदावालोंको देखा तो उन्होंने यह नहीं कहा कि ये बुरे हैं। कहा कि इन्होंने दुष्कर्मका चोला पहन रखा है, वह गन्दा है।

भगवान् जो दैत्योंको मारते हैं वह कोई हिंसा नहीं। केवल दैहिक दृष्टिसे हिंसा मालूम पड़ती है। जो लोग इस देहकी हड्डी, मांस, चामके अत्यन्त प्रेमी हो गये हैं उनके लिए मृत्यु बहुत बड़ी वस्तु मालूम पड़ती है। भगवान्‌के लिए उसका कोई मूल्य नहीं। इसलिए उनका मारना, कपड़े बदलवा देने जैसा ही है। भगवान् जीवात्माके संहारमें भी शृङ्गार करते हैं। उनकी दृष्टिमें देहकी नहीं जीवात्माकी कीमत है।

विनाशाय च दुष्कृताम्—संस्कृतमें विनाश शब्दका अर्थ—दृश्यको बदल देना होता है। णश्-अदर्शने धातु है जिसका अर्थ है जैसा दीख रहा है उसको परिवर्तित कर देना।

धर्मसंस्थापनार्थाय—मनुष्यमें मनुष्यता बनी रहे वह न देवता होना है और न दानव होना है। देवता

भोगी होता है और दानव क्रूर होता है। आपने कभी उपनिषदोंके प्रवचनोंमें सुना होगा एकबार मनुष्य, देवता और दानव तीनों प्रजापतिके पास गये और बोले कि उपदेश कीजिये (द्र० बृहदारण्यक ५.२) प्रजापतिने उपदेश किया—'द' और पूछा कि तुम लोगोंने क्या समझा? दैत्योंने कहा—समझ गये! हम लोग बहुत क्रूर है इसलिए आपने कहा कि दया करो। देवता बोले—हम लोग बहुत भोग करते हैं इसलिए आप कह रहे हैं—दमन करो। इन्द्रियोंको संयममें रखो। मनुष्योंने उत्तर दिया—आप कह रहे हैं कि तुम दान करो। क्योंकि हमलोग संग्रही हैं। इसमें संग्रह करनेका लोभ बहुत है। काम अधिक है देवतामें, क्रोध अधिक है दैत्यमें और लोभ अधिक है मनुष्योंमें। यह इन सबकी पहचान होती है।

मनुष्य देवता बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा और दानव बनेगा तब भी धर्मच्युत होगा। इसलिए मनुष्यको मनुष्य होकर ही रहना चाहिए। मनुष्यकी रक्षा करनेवाली वस्तु है निर्लोभता। जो निर्लोभ रहेगा वही मनुष्यताकी रक्षा कर सकेगा!

भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन क्या हुआ? **धर्मसंस्थापनार्थाय** मनुष्यको मनुष्यके धर्ममें स्थापित करना। जब हम ब्राह्मणको ब्राह्मणके धर्ममें, क्षत्रियको क्षत्रियके धर्ममें, वैश्यको वैश्यके धर्ममें और शूद्रको शूद्रके धर्ममें, स्थापित करें तभी धर्मका संस्थापन होता है। हमारा ऐसा बोलना भारतीय दृष्टिसे, वैदिक संस्कृतिकी दृष्टिसे बहुत ठीक है। इसमें कोई दोष नहीं। परन्तु भगवान्‌की वाणी, केवल भारतवर्षके लिए नहीं होती। भगवान्‌को केवल भारतवर्षका मानना उनको छोटा बनाना है। यह मानना कि भगवान् केवल वर्णाश्रम-धर्मानुयायियोंके लिए बोलते हैं, उचित नहीं। जो भारतवर्षके बाहरके हैं, और वर्णाश्रमी नहीं वे क्या भगवान्‌से वंचित हैं? वे भी भगवान्‌के हैं और उन सबके लिए भी भगवान् बोलते हैं। भगवान्‌की वाणीकी यही पहचान है कि उससे सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी सबका भला हो, सबके भीतर सद्भाव; चिद्भाव आनन्दभावकी प्रतिष्ठा हो। भगवान् सबको अपने आपका दान करते हैं। इसलिए धर्म-संस्थापनका अर्थ है पशुमें पशु-धर्म रहे, पक्षीमें पक्षीधर्म रहे और वृक्षमें वृक्ष-धर्म रहे, ये सब प्रसन्न रहें फूलें-फलें। भगवान् सबमें और सबके धर्मोंका संस्थापन करते हैं।

आपने देखा होगा श्रीमद्भागवतमें वृन्दावनके वृक्षोंकी कितनी प्रशंसा है—

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।

(भा० 10-22-33)

कहते हैं कि इनके सामने चाहे अनजाने कोई भी आ जाये तो वह खाली हाथ नहीं लौटता। वृक्षमें यह धर्म है कि वह छाया देता है, सुगन्ध देता है, हवा देता है अपना फल-फूल देता है, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व दे देता है। किसलिए? मनुष्योंके भलेके लिए। भगवान् कहते हैं कि इन वृक्षोंके सामने तो मनुष्योंकी सारी शान फीकी पड़ जाती है; वे अपना फल-फूल लेकर श्रीकृष्णके चरणोंमें झुक जाते हैं और सिद्ध करते हैं कि वे भी भगवान्‌के भक्त हैं। भगवान् इन वृक्ष-वनस्पतियोंके हृदयकी भक्ति जागृत करनेके लिए भी अवतार लेते हैं।

****

धर्मस्थापनका अर्थ पशु-पक्षियोंमें भी भक्तिभावनाकी स्थापना करना है। भागवतमें तो इसके इतने उदाहरण हैं कि मैं उनमें रमकर गीता सुनाना भूल गया हूँ।

पक्षी वृक्षोंपर बैठकर श्रीकृष्ण भगवान्‌का दर्शन करते हैं। मोर नाचता है, गाय घास चरना भूल जाती है, नदीका प्रवाह स्तम्भित हो जाता है, ये सब-के-सब समझते हैं कि हम भगवान्‌की सेवाके लिए हैं। क्योंकि इन सबमें भक्तिभाव जागृत करनेके लिए भगवान्‌का अवतार है। धर्म-संस्थापनका अभिप्राय इस कर्मकाण्डका उपदेश नहीं कि हमें दातुन कैसे करना चाहिए, हाथमें मिट्टी कैसे लगानी चाहिए और कपड़ा कैसे पहनना चाहिए? यदि यही सब बतानेके लिए भगवान्‌का अवतार होता हो तो वह संकीर्ण ही कहा जायेगा, इसके लिए ब्राह्मण लोग ही बहुत काफी हैं। भगवान् तो सम्पूर्ण प्रकृतिमें धर्मसंस्थापनके लिए प्रकट होते हैं।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

इसमें जो 'युगे युगे' है इसका क्या तात्पर्य है? संस्कृतमें 'युग' शब्दका अर्थ होता है दो। युगमें दो क्या है? युग कालका एक अवयव है—कलियुग है,द्वापर है, त्रेता है,सत्ययुग है। युगमें एक तो काल होता है और दूसरे भगवान् होते हैं। जब सृष्टिमें कालकी प्रधानता हो जाती है और लोग भगवान्‌को भूल जाते हैं तब भगवान् अपनेको कालके साथ जोड़कर प्रकट होते हैं। जिससे कि लोग उन्हें कालमें देख सकें। युगे-युगेका अर्थ है कि वे समय पर भी प्रकट होते हैं और असमयमें भी प्रकट होते हैं। उस समय भी प्रकट होते हैं जिसका उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं। उन्होंने जो मीरा, सूर, तुलसी आदि भक्तों को दर्शन दिया वह 'युगे-युगे' में कहाँ दिया वह तो सब-का-सब 'अयुगे' हुआ है। तो भगवान् अयुगमें भी अवतार लेते हैं और एक भक्तको सन्तुष्ट करने, सुख देनेके लिए भी प्रकट होते हैं। फिर उस अवतारको समेट भी लेते हैं। इसके 'भवामि' शब्दमें भी केवल भवामि नहीं, संभवामि है। भवामिका अर्थ है 'हो जाता हूँ'। यदि कोई कहे कि भगवान् अपना एक अंश फेंक देते होंगे तो ऐसी बात नहीं। भवामिके साथ 'सं' उपसर्ग लगा है जिसका अर्थ है 'सम्यक् भवामि' अर्थात् पूर्ण एवं पूर्णतम अवतार ग्रहण करता हूँ। साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही अवतार लेता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** (1.3.28) और महारामायणमें श्रीरामको **रामस्तु भगवान् स्वयम्** कहा है। दोनों ही साक्षात् भगवान् हैं। असलमें भक्ति तब होगी, जब हमारे सामने व्यक्ति दीखे तो छोटा-सा, किन्तु उसको देखकर हमारी बुद्धि महान् हो जाये। उपासनाका रहस्य लोगोंके ध्यानमें नहीं आता। आप देखें तो पत्थरकी मूर्ति और आपके हृदयमें प्रकट हो जाये ज्योतिर्मय चेतन। देखे कुछ और, भाव बने कुछ और तब उपासना होती है। जैसा दिखायी पड़े, वैसा ही भाव बने—यह तो विज्ञान है, साइन्स है। भक्ति-भावना यह है कि दीखे तो माता, और मानो उसे जगज्जननी, दीखे पिता और मानो उसे परमेश्वर, दीखे मूर्ति और मानो उसे चेतन, इसीका नाम उपासना है। उपासनामें हमारे हृदयका भाव कैसे बन रहा है, उसका निमित्त क्या है, इसपर दृष्टि नहीं रहती। हम पीपलके पेड़ और तुलसीके पौधोंको देखते हैं, किन्तु ध्यान करते हैं पीपलके माध्यमसे भगवान् वासुदेवका और तुलसीके माध्यमसे साक्षात् जगज्जनी जगदम्बाका। तुलसी भगवत्प्रेयसी हैं, इतनी बड़ी प्रेयसी कि एक बार लक्ष्मीजीका उनसे सौतियाडाह हो गया। उन्होंने तुलसीजीको

****

शाप दे दिया कि 'जाओ तुम पौधा हो जाओ।' भगवान्‌ने सुना तो कहा कि 'अच्छा; तुलसी पौधा तो मैं पत्थर।' यह कहकर भगवान् स्वयं शालिग्राम बन गये। बोले—कि 'तुलसीके बिना मैं भोजन नहीं करूँगा।' तबसे तुलसी शालिग्रामपर चढ़ने लगी। एक कविको विनोद सूझा तो वह कह उठा—

आठों पहर चौंसठ घड़ी ठाकुर पर ठकुराइन चढ़ी।

भगवान्‌ने कहा—'लक्ष्मीजी साथ हों या न हों मैं सीताराम बनूँ या राधाकृष्ण, परन्तु जब मेरा भोग लगेगा तब मैं तुलसीके साथ ही खाऊँगा।' यह देखो भगवान्‌का दाम्पत्य-प्रेम—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है। दिव्य कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरा जन्म न तो कर्माधीन है और न किसी कर्मका फल है। जैसे हमारा शरीर पाञ्चभौतिक होता है और हम अपने वासनामय स्वरूपको स्वप्नमें प्रकट करके देखते हैं, भगवान्‌में नहीं। द्युति, स्तुति, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न, गति—ये सारे ही अर्थ दिव्य शब्दमें भरे हुए हैं। दिव्य माने जगत्‌से विलक्षण। जगत्‌के पाप-पुण्य और सुख-दुःख आदिसे रहित। ईंट पत्थरका नाम संसार नहीं, मेरा-तेराका नाम ही संसार है। शङ्कराचार्यने भी संसारकी व्याख्या यही की है—

कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणः-संसारः।

हमने यह किया है और हम यह भोग रहे हैं, इस भाव अथवा भ्रमका नाम ही संसार है। सांख्यवादी कहते हैं कि मेरा-तेरा मानना ही संसार है। भागवतमें आया कि 'मम' और 'न मम' में जो क्रमशः दो एवं तीन अक्षर हैं, इनमें दो अक्षर मौत है और तीन अक्षर अमृत है। यदि आपको अमृत पीना हो तो तीन अक्षर अपने साथ रखिये न मम—मेरा नहीं। यदि मौतके चक्करमें फँसना हो तो दो अक्षर अपने साथ रखिये, मम—मेरा।

एवं यो वेत्ति तत्त्वतः देहं पुनर्जन्म नैति।

केवल देहके अहम्-भावको छोड़ देनेसे ही जन्मकी प्राप्तिका निवारण हो जाता है। **त्यक्त्वा देहं** माने **देहाभिमानं त्यक्त्वा**—देहमें जो अभिमान है उसको छोड़ देना और फिर पुनर्जन्मसे छुटकारा पाना।

अब इसके बाद बताया कि ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों भगवान्‌की ओर ले जानेवाले हैं **वीतरागभयक्रोधाः**में ज्ञान है। **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथेव भजाम्यहम्**में भक्ति है और **काङ्क्षन्तः कर्मणां** सिद्धिमें कर्म है। आप कर्म कीजिये, परन्तु कर्म किसके लिए हो रहा है इसका ध्यान रखिये। कर्ममें सारे दोष तभी हैं जब हम उसके फलको अपनी ओर खींचते हैं। जहाँ स्वार्थ आयेगा वहाँ कर्म बिगड़े बिना नहीं रहेगा। चाहे उसका स्वरूप कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो। आप बहुत बड़े हैं, आपमें बड़े-बड़े गुण हैं—**श्लाघ्या ये गुणीनां गुणाः**। आपमें बड़ा विनय है। आप बड़े विवेकी हैं। लोगोंके साथ बड़ा सद्व्यवहार करते हैं। इन सब गुणोंकी प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी। परन्तु प्रश्न हुआ कि इन सद्गुणोंका उद्देश्य क्या है? इनसे स्वार्थ सधता है, काम बनता है? बस, ये स्वार्थ एवं लाभ ही बड़े-बड़े सद्गुणोंको कलुषित बना देते हैं। जिस प्रकार श्वेत कुष्ट

एक सुन्दर एवं स्वस्थ शरीरको भी विकृत कर देता है, उसी प्रकार स्वार्थ एवं लोभकी प्रधानता आ जानेसे ऊँचे-से-ऊँचे सद्‌गुण भी मलिन एवं त्याज्य हो जाते हैं। तब कर्ममें विशेषता क्या है?

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः । (4.12)

मनुष्यका ज्ञान पवित्र तभी होता है जब उसका उपयोग सर्वात्मा और हृद्देशस्थ परमेश्वरके लिए हो। आप जब ईश्वरको दोनों ओर देखेंगे तब काम चलेगा। एक ओर देखा हुआ ईश्वर अधूरा है। जो ईश्वर केवल हृदयमें ही दीखता है बाहर नहीं दीखता, वह अधूरा है। ईश्वर किसी मन्दिर या हृदयकी गुहामें बन्द रखनेके लिए नहीं। इसी प्रकार जो ईश्वर केवल बाहर ही दीखता है भीतर नहीं दीखता, वह भी अधूरा है। बाहरका ईश्वर लेता है, पवित्र सेवा और भीतरका ईश्वर लेता हैं पवित्र भाव—**भोक्तारं यज्ञतपसाम्** यज्ञ और तपस्या दोनों ईश्वरको चाहिए। आप श्रम कीजिये और उसके द्वारा ईश्वरकी सेवा कीजिये। ईश्वरकी सेवाके लिए संयम रखिये और हमेशा यज्ञ कीजिये। आप अपने घरका भोजन जब दूसरोंको खिलायेंगे तब वह यज्ञ हो जायेगा। स्वयं थोड़ा खाकर रह जायेंगे तथा अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे तो तपस्या हो जायेगी। भगवान् हमारे जीवनमें तपस्याका उपभोग भी करता है और दूसरोंके लिए किये हुए कर्ममें यज्ञका उपभोग भी करता है। वह बाहर बैठकर हमारे यज्ञको स्वीकार करता है और भीतर बैठकर हमारी तपस्याको स्वीकार करता है।

आपको एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। हमारे गाँवके पास एक वयोवृद्ध राजपूत थे। उन्होंने कभी पञ्चम-जार्जसे हाथ मिलाया था। वे बुढ़ापेमें मसनद लगाकर बैठते और गुड़गुड़ी पीते रहते थे। पुराने जमानेके रईस थे; पर गरीब हो गये थे। स्वयं भूखे रह जाते पर दूसरोंको खिलाते। एक दिन वे मुझे भोजन करा रहे थे। मैंने उनसे कहा—बाबू साहब! दूसरेको खिलाकर खानेमें बहुत आनन्द है। वे बोले—नहीं पण्डितजी,दूसरेको खिलाकर खानेमें मजा नहीं, असली मजा तो है दूसरेको खिलाकर भूखे रह जानेमें। इसका मुझे अनुभव है। इसमें जो आनन्द आता है वह खिलाकर खानेमें कभी नहीं आता। उनकी बात बड़ी बढ़िया थी, माननी पड़ी और अबतक मुझे उसका स्मरण है।

योग-दर्शन भाष्यके विज्ञान भिक्षु टीकामें एक टिप्पणी है, लिखा है कि 'जीवको आनन्द आता है खानेमें और ईश्वरको आनन्द आता है खिलानेमें।' अतः यदि आप जीवका आनन्द लेना चाहते हैं तब तो खाइये और यदि इसी जीवनमें ईश्वरका आनन्द प्रकट करना चाहते हैं तो खिलाइये। ईश्वर सारी दुनियाको खिला-खिलाकर आनन्द दे रहा है। उपनिषद्‌में आता है—**अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति** जीव खाकर चमकता है और ईश्वर बिना खाये ही चमकता है। ऐश्वर्यका आनन्द है दूसरोंको खिलानेमें। हमारा ज्ञान कब सफल होता है और उपासना कब सिद्ध होती है?

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ (4.10)
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ (4.11)

कर्मोमें एक तो निष्काम होता है दूसरा सकाम कर्म होता है। ज्ञानकी पहली शर्त यह है कि आप राग, भय और क्रोधको अपने जीवनमें स्थान न दें। प्रतिकूलके प्रति क्रोध आता है। पति-पत्नी, भाई-भाई, माँ-वाप आदिमें-से कोई ऐसे निकल आते हैं जो यह चाहने लगते हैं कि घरके सब लोग उनके मनके अनुसार ही काम करें। वे समझते हैं कि और सब तो खिलौना है, मशीन हैं। इन सबका सञ्चालक सिर्फ मैं हूँ। इससे दूसरोंका जो तिरस्कार होता है उसपर सबका ध्यान ही नहीं जाता। मेरी चलेगी तुम्हारी नहीं, इस बातपर धरोंमें बहुत झगड़ा हो जाता है। क्रोध आता ही इस बातसे है कि हमारे ही मनकी होनी चाहिए, तुम्हारे मनकी नहीं। यदि आप इस बातपर ध्यान रखेंगे कि दूसरोंका मन भी मन है और उनके मनसे मन मिलाकर ही हमको काम करना चाहिए तो कभी बाप-बेटेमें, भाई-भाईमें, पति-पत्नीमें झगड़ेका प्रसंग ही नहीं आयेगा।

प्रतिकूलके प्रति भी क्रोध नहीं होना चाहिए। क्रोध शब्दका अर्थ संस्कृतमें यह है—'क' माने सुख, 'रोध' माने अवरोध, रुकावट। सुखके रोधको ही क्रोध कहते हैं। सुखकी जो बूँदें हमारे हृदयमें गिरती रहती हैं और उसे मीठा बनाती रहती है उसमें अवरोध, रुकावट पैदा करनेका नाम क्रोध है। क्रोधी मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता, यह आपको पहले बताया जा चुका है। आप क्रोधका परित्याग करनेके साथ-साथ अनुकूलके प्रति जो राग है उससे भी बचिये। क्योंकि जिससे राग होता है उसकी ओर हमारा जीवन झुक जाता है। तब हम अन्याय करने लगते हैं! तराजूका पलड़ा बराबर रहे तो ठीक अन्यथा एक ओर झुक जानेपर बड़ा भारी अन्याय हो जायेगा। रागमें पलड़ा झुक जाता है, क्रोधमें पलड़ा उठ जाता है।

भयमें हमारे जीवनकी न्यायतुला काँपने लगती है। भय भविष्यकी वृत्तिमें होता है, कि आगे क्या होगा? शोक बीती हुई बातोंको लेकर होता है। बीती बातोंमें जो अच्छी होती हैं उनके लिए भी रोना आता है, जो बुरी होती है उनके लिए भी। जो बीती बातोंके स्मरण-चिन्तनमें अपना जीवन व्यतीत करता है, उसका पिछला जीवन तो नष्ट हुआ ही, वर्तमान जीवन भी व्यर्थ हो रहा है। मोह वर्तमानमें होता है। वह प्रतिकूलके प्रति द्वेष, क्रोधके रूपमें और अनुकूलके प्रति रागके रूपमें प्रकट होता है। मोहका मतलब है दलदलमें पाँव गड़ गया। शोकका अर्थ है आपका पाँव पीछेकी ओर फिसल गया और आप मुँहके बल गिर पड़े। भयका अर्थ है आपका पाँव आगे फिसल गया और आप पीठके बल गिर पड़े। मोहके दलदलमें फँस गये तो आपकी गति रुक गयी, आप चल ही नहीं सकते। शोक, मोह और भयसे मुक्त जीवन ही ठीक-ठीक उन्नति या प्रगतिके मार्गपर चल सकता है। इस सम्बन्धमें श्रीकृष्ण सुझाव देते हैं कि—**वीतरागभयक्रोधाः** राग, भय और क्रोधसे मुक्त हो जाओ। मनुष्यको भय किस बातका? जिसने माँके पेटमें नौ मास तक पाला-पोसा, पैदा होनेपर माँकी छातीमें पहलेसे ही दूध तैयार कर दिया, जिसने भोजन दिया, कपड़ा दिया, आँख दी, कान और हाथ दिये वह क्या कहीं चला गया है? महात्मा लोग इस तथ्यको जानते हैं। उनके मनमें न भय है, न शोक और न मोहके दो पहलू राग एवं क्रोध हैं। तब ऐसे महात्मा रहते कहाँ और काम क्या करते हैं? बोले—**मन्मया मामुपाश्रिताः**-वे भगवान्के आश्रयमें रहते हैं और भगवान्का ही चिन्तन करते हैं। वे देखनेमें मनुष्य होते हैं

परन्तु भीतरसे भगवन्मय होते हैं। 'मन्मया' का अर्थ इसके भीतरका स्वरूप देखो, उसका हृदय देखो। आप कभी किसी महात्माके पास जाते हैं या नहीं? आपकी दृष्टिमें संसारका एक भी व्यक्ति निर्दोष है कि नहीं? यदि नहीं तो आप भी निर्दोष नहीं होंगे और यदि आपकी दृष्टिमें अबतक किसीको भगवान् नहीं मिले, तो आपको भी नहीं मिलेंगे—यह बात पक्की समझिये। परन्तु यदि कोई निर्दोष है तो आप भी निर्दोष हो जायेंगे और किसीको भगवान् मिले हैं तो आपको भी भगवान् मिल जायेंगे। आपका विश्वास आपके जीवनका निर्माण करेगा।

जब हम किसी महात्माकी ओर देखते हैं, तब बाहर उनकी चमड़ी ही दिखायी देती है, किन्तु भीतरसे लगता है कि भगवान् इसके हृदयमें प्रकट होता है। महात्मा वही है जिसके हृदयमें भगवान् प्रकट होता है। 'मन्मया' का उदाहरण ब्रजकी गोपियोंने प्रस्तुत किया। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(भा० 10-46-4)

और शुकदेवजीने भी कहा—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

(भा० 10-30-44)

गोपियोंको शरीर विस्मृत हो गया, मकान भूल गया और वे भगवान्के ध्यानमें तन्मय हो गयीं। गीता भी कहती है कि जिसकी श्रद्धा जैसी होती है वह वैसा ही होता है—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (17.3)

जिसकी वृत्ति भगवान्में लगी है वह भगवत्स्वरूप ही है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**—वैसे तो भगवान् भी कभी-कभी आश्रय लेते हैं और भक्त लोग उसकी बड़ी व्याख्या करते हैं। वाल्मीकि रामायणमें यह वर्णन आता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र स्वयं सुग्रीवकी शरणमें गये—

सुग्रीवं शरणं गतः और जाकर हाथ मिलाया—

निपीड्य पाणिना पाणिं—निपीड्य शब्दका अर्थ है जोरसे दबाया, धीरेसे नहीं। इससे सुग्रीवको मालूम पड़ गया कि श्रीरामचन्द्रमें कितनी ताकत है और वे बालिको मार सकेंगे। भगवान्का अपने भक्तकी शरणमें जाना उनके वात्सल्यका सूचक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रीकृष्णके हृदयमें भी एक तृष्णा होती है और वह है भक्त जनोंको अपना आश्रय बनानेकी। भक्तजन कौन? 'कृष्णतृष्णा-तत्त्वमिवोत्थितम्'—जिन्होंने श्रीकृष्ण तृष्णाको अपने भीतर छिपा रखा है अथवा श्रीकृष्णकी है तृष्णा जिनमें—श्रीकृष्णस्य तृष्णा श्रीकृष्णतृष्णा, श्रीकृष्णकर्तृका तृष्णा—अथवा ऐसी तृष्णा जिसके कर्ता श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण लालची हैं इस बातके कि भक्तकी गोद हमको मिल जाये, इसका दूध पीनेको मिल जाये और इसका प्यार हमको मिल जाये। जहाँ भक्त भगवान्में इतनी अभिन्नता है वहाँ वे एक दूसरेकी शरण लेंगे ही।

आपने एक कथा सुनी होगी। श्रीउदयनाचार्यजी महाराज जगन्नाथपुरीमें गये तो मन्दिरके कपाट बन्द थे। यह कपाट शब्द ही हेर-फेरसे फाटक बनता है। आचार्यजीने कपाट बन्द देखकर ललकारा जगन्नाथजीको—

ऐश्वर्यमदमत्तोसि माम् अवज्ञाय वर्तसे।

'तुम्हें ऐश्वर्यका मद हो गया है। मतवाले हो गये हो। मेरा तिरस्कार करते हो। मैं आया दरवाजेपर और मेरे लिए तुम्हारा कपाट बन्द। याद रखना--

उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।

जब बौद्ध तुम्हारा खण्डन करेंगे तब तुम्हारा अस्तित्व मेरे अधीन होगा। मेरे आश्रयसे ही तुम्हारी सिद्धि होगी।

वास्तवमें ईश्वरकी सिद्धि भक्तोंसे होती है। **मन्मया मामुपाश्रिताः**-महात्मालोग भगवान्‌की शरण लेते हैं। यही ज्ञान और तपस्याका स्वरूप है। इससे वे पवित्र हो जाते हैं और पवित्र होकर भगवद्भावको प्राप्त होते हैं। जो ज्ञान भगवान्‌के उन्मुख है, भगवान्‌की ओर मुँह करके खड़ा है वह भगवदाकार हो जाता है। हम हैं ज्ञानस्वरूप और हमारा ज्ञान होता है भगवदाकार। इसलिए हम भी भगवदाकार हो जाते हैं। हमें भगवद्भावकी प्राप्ति हो जाती है-**मद्भावमागताः।**

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

भक्तिकी इससे बढ़िया बात और क्या हो सकती है कि भक्त आया और उसने भगवान्‌के चरणोंका जो ऊपरी हिस्सा है उसे अपने प्रयाससे पकड़ लिया। 'प्रपद'को पकड़नेमें प्रपत्ति होती है और तलवेके नीचे हाथ रखनेमें शरणागति होती है। तलवेके नीचेका हाथ भगवान् दबा लेते हैं और शरणागति हो जाती है। एक स्वस्वीकृति होती है दूसरी पर-स्वीकृति, यह बात शरणागतिशास्त्रमें लिखी है। हमने स्वीकार किया कि भगवान् हमारे सर्वस्व हैं, रक्षक-यह हमारी स्वीकृति हुई और भगवान्‌ने स्वीकार किया कि यह हमारा रक्ष्य है, वात्सल्य-भाजन है, स्नेहपात्र है-यह पर-स्वीकृति है। इस 'पर-स्वीकृति' अर्थात् भगवत्-स्वीकृतिको शरणागतिमें सर्वक्षेष्ठ माना जाता है।

मनुजीने प्रणाम करनेकी ऐसी व्यवस्था रखी है कि दोनों हाथ उतान करके दाहिनेसे दायाँ पाँव और बायेंसे बायाँ पाँव छूना चाहिए। किन्तु प्रणामकी यह पद्धति चरणोंसे कोई आशीर्वाद या शक्ति लेनेके लिए है! यहाँ तो भक्तने अपने दोनों हाथ भगवान्‌के चरणोंके सामने किये और भगवान्‌ने अपने चरण उनपर रख दिये। बोले कि दबे रहो बेटे और भक्तने विनयपूर्वक अपना सिर झुका लिया, मन-ही-मन कहा कि जबतक तुम्हारी मर्जी हो दबाये रहो। जैसे चाहो वैसे रखो। इसीका नाम शरणागति है। प्रपत्तिका अर्थ होता है कि हमने दोनों हाथसे भगवान्‌के पञ्जे पकड़ लिये। प्रपद माने ऊपरी हिस्सा, पञ्जा। भगवान् कहते हैं-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

इस विश्व-सृष्टिमें जितने भी मत-मजहब हैं उन सबमें ईश्वर भजनीय होता है, भजन-कर्त्ता नहीं होता।

किन्तु यहाँ भगवान् कहते हैं कि मैं तो भजन करता हूँ। ईश्वर ो भक्ति करे यह बड़ी अद्भुत बात है। किन्तु हमारे यहाँ जब जीव भगवान्की ओर चलता है तब भगवान् ा भजन करने लगते है-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते वह जैसा भाव लेकर भगवान्के पास जाता है, भगवान् भी उसी भावसे उसको स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि यदि तुम हमारे कन्धेपर हाथ रखने आये हो तो हम तुम्हारे कन्धेपर हाथ रखते हैं। यदि तुम हमारे हृदयसे लगने आये हो तो आओ-आओ हम भी तुम्हारे हृदयसे लगते हैं-**तांस्तथैव भजाम्यहम्।** यदि भगवान् इसमें, प्रीतिमें जीवसे पीछे हो जायें तो इसमें उनकी क्या महिमा है? जीव भगवान्से जितना प्रेम करे, उससे भगवान्का प्रेम एक दो अंगुल आगे होना चाहिए।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

यह अद्भुत बात है कि हमारे भगवान्को कोई अभक्त नहीं दीखता। संसारमें कितने प्रकारके लोग होते हैं और उनको भगवान् किस दृष्टिसे अपना भक्त देखते हैं-इसपर मैंने पहले एक-एक दृष्टिसे बहुत विचार किया है। आपके घरमें आपका एक नन्हा-सा बालक है जब वह घूँसा तानकर आपकी ओर चलता है कि हम तुमको मारेंगे तब आप क्या अनुभव करते हैं। माँकी दृष्टिमें तो अपना बालक-बालक ही होता है। वह यह नहीं समझती कि परायी स्त्रीको देखते ही भागकर गोदमें छिप जानेवाला बालक जब उसकी ओर घूँसा तानकर आता है तो उसे अपनी माँ नहीं समझता। बल्कि वह यह समझती है कि मुझे अपनी माँ समझकर ही घूँसा तान रहा है और उसे गोदमें उठा लेती है। यह माँका स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान्को कोई बाण मारने आये तो भी वे माताकी तरह वात्सल्यवश उसे अपना बालक ही समझते हैं और उसको उठाकर अपनी गोदमें ले लेते हैं। कहते हैं कि-

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

अर्जुन! संसारके सब मनुष्य, सभी अवस्थाओंमें मेरी ओर आ रहे हैं। मैं देख रहा हूँ कि वे मेरे मार्गपर चल रहे हैं। मेरी दृष्टिमें मेरा कोई अभक्त नहीं होता, सब मेरे भक्त होते हैं।

●

प्रवचन : 10

(25-11-74)

बुद्धिके सामने भगवान् हों तो ज्ञान होता है, प्रीतिके सामने भगवान् हों तो भक्ति होती है और कर्मके सामने भगवान् हों तो यज्ञ होता है। गीतामें ज्ञानका वर्णन इस प्रकार है-

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। (4.10)

ज्ञान भी एक तपस्या है। उपनिषदोंमें तप शब्दका अर्थ ज्ञान है। जब-

तपसा चीयते ब्रह्म। (मुण्डक 1.1.8)

यस्य ज्ञानमयं तपः। (मुण्डक 1.1.9)

आता है, उसका अर्थ ज्ञान ही होता है। सारी सृष्टि ज्ञानसे होती है। जब हमारी प्रीति भगवान्‌की ओर बढ़ती है- **ये यथा मां प्रपद्यन्ते**-तब भक्ति हो जाती है। अगले श्लोकमें कहा-

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ (4.12)

इसमें जो '**मानुषे लोके**' शब्द है इसपर आप थोड़ा ध्यान दें। मनुष्य लोकमें ही कर्मज सिद्धि है। तात्पर्य यह कि मानव-जातिमें ही कर्मकी सिद्धि है और सब परवश होकर प्रकृतिके राज्यमें विचरण करते हैं; किन्तु मनुष्यको प्रकृतिके राज्यसे मुक्त होनेका भी सामर्थ्य प्राप्त है। मनुष्यके शरीरमें भी इसकी कुछ सूचना मिलती हैं। देखो वृक्ष नीचेसे ऊपर जाता है। संस्कृतमें इसीलिए इसका नाम 'पादप' है कि वह पादसे पीता है, नीचेसे ऊपरकी ओर जा रहा है, उन्नति कर रहा है। पशु-पक्षी आगेसे खाते हैं और उनका खाया हुआ पीछेको जाता है। किन्तु मनुष्य इतना ऊपर चढ़ गया है कि दो पाँवपर खड़ा है। दो हाथ और मुँहसे खाता है तथा उसका खाया हुआ नीचे जाता है। इसका अर्थ है कि प्रकृति प्राणीको जहाँ तक ऊपर कर सकती थी वहाँ तक उन्नत करके मनुष्य-योनिमें ले आयी है। अब यदि यह चाहे तो यहाँ से एक छलांग लगाये और प्रकृतिके राज्यसे छुटकारा पाकर भगवान्‌को प्राप्त कर लें। अन्यथा फिर इसे कर्मानुसार नीचेकी योनियोंमें जाना पड़ेगा। मनुष्यके जीवनमें सच्चिदानन्दका आभिर्भाव पूर्ण है। आनन्द लेनेकी जितनी प्रक्रिया मनुष्यको आती है उतनी और किसी को नहीं आती। नाकके लिए तरह-तरहके इत्र बनाना, स्वादके लिए तरह-तरहके भोजन पकाना, मनुष्योंके सिवाय और किसीको नहीं आता। आग जलाकर और नमक, खटाई, मिर्च आदि मिलाकर भाँति-भाँतिके पक्वान्न बनाना केवल मनुष्योंके वशकी ही बात है। गन्धमें, रसमें, रूपमें आविष्कार करना मनुष्योंको ही आता है। स्पर्शकी नवीन-नवीन प्रकिया मनुष्योंको ही आती है। इसीप्रकार संगीत, व्यापार, प्रेम, ज्ञान आदिकी विद्या मनुष्य-जातिमें ही होती है। तात्पर्य यह कि सत्ताका आविर्भाव, ज्ञानका आविर्भाव और आनन्दका आविर्भाव- ये तीनों मनुष्य-योनिमें है। इसीसे गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि मनुष्य-जन्मको प्राप्त करके जिसने अपने जीवनका ठीक-ठीक निर्माण नहीं किया वह आत्मघाती गतिको प्राप्त करता है-

सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति पाई।

महाभारतमें भी एक छोटा-सा वचन है-**न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्** (शान्तिपर्व 299.20)-अर्थात् मनुष्यसे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ नहीं। भगवान्ने **मानुषे लोके** कहकर याद दिलायी कि देखो ये पक्षी दस हजार वर्ष पहले जैसे नंगे रहते थे वैसे आज भी रहते हैं। गाय भी वैसी ही रहती है। घोड़ा भी वैसे ही रहता है। परन्तु मनुष्यकी गति कैसी बढ़ रही है!

बम्बईमें एक सज्जनका बहुत बढ़िया मकान समुद्रके किनारे था। मुझे तो वह स्वर्ग-जैसा लगता था। परन्तु कुछ दिन बाद देखा वह मकान तोड़कर नये डिजाइनका बन गया था। मैंने पूछा कि यह क्या हुआ? इतना बढ़िया मकान क्यों तोड़ दिया गया। उत्तर मिला कि बच्चोंको पसन्द नहीं आता था, इसलिए उनकी इच्छाके अनुसार नये डिजाइनका बनवाना पड़ा। यह हाल है मनुष्यके रुचि-परिवर्तनका। हम उसकी प्रशंसा करते हैं, मनुष्यकी बुद्धि नव-नवोन्मेषशालिनी है। वह नयी-नयी युक्ति और नयी-नयी रीति निकालती रहती है। इससे मनुष्यकी प्रतिभा चमकती है। उसके आनन्दका प्रसाद होता है। इसलिए भगवान्ने कहा कि मनुष्य-जीवनमें ही कर्मकी सिद्धि ठीक प्रकारसे होती है-

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (4.12)

किन्तु मनुष्यके जीवनमें सहजा सिद्धि नहीं। पक्षी जन्मसे ही उड़ना जानता है, मछली जन्मसे ही तैरना जानती है। अतः उनमें स्वभावजा-सिद्धि है और मनुष्योंमें कर्मजा-सिद्धि है। वह कार्य करेगा तो उसे सिद्धि मिलेगी। सिद्धिके लिए बुद्धि लगानी पड़ेगी। मिले-मिलाये धनसे धनी होना कोई प्रंशसाकी बात नहीं। स्वयं अपनी कमाईके धनका जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व दूसरेकी कमाईसे प्राप्त धनका नहीं। मनुष्य कर्म करके जो सिद्धि प्राप्त करता है उससे उसके जीवनका श्रृंगार होता है, वह सफल होता है। इसमें मनुष्य-योनिके साथ-साथ कर्मजन्य सिद्धिका भी महत्त्व है।

लोकमें मनुष्यकी श्रेष्ठता क्यों है इसका एक उदाहरण लें। मनुष्य उसे कहते हैं जो मनसे सी ले। वैयाकरणोंने व्युपत्ति की है **मनोरपत्यं मनुष्यंः** मनुका बेटा मनुष्य है। नैरुक्तोंने व्युत्पत्ति की है **मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति** (निरुक्त 3.7) जो अपने मनसे सी लेता है वह मनुष्य है अर्थात् वह सम्बन्ध जोड़ता है कि इस साधनसे इस साध्यकी प्राप्ति होगी अथवा इस साध्यकी प्राप्तिके लिए यह साधन करना चाहिए। मनसे साधन और मनका विचार मनुष्य ही करता है। यह कारखाना खोलेंगे तो ऐसी-ऐसी चीजें बनेंगी और उसके लिए ऐसी-ऐसी मशीनका उपयोग करना होगा, यह भी मनुष्य ही सोचता है। अपने मनसे कार्य-कारणके सम्बन्धको जोड़नेमें समर्थ होनेके कारण ही इसका नाम मनुष्य है।

अब एक विशेषता यह बताते हैं कि चातुर्वर्ण्य मनुष्य जीवनमें ही है **चत्वारो वर्णाः इति चातुर्वर्ण्यम्**- उसमें चार वर्ण हैं और सर्वथा स्वाभाविक हैं। कुछ लोग उसको कर्मकी प्रधानतासे कार्मिक बोलते हैं कुछ जन्मकी प्रधानतासे स्वाभाविक मानते हैं। कोई-कोई उसे ब्राह्म अथवा ईश्वरीय भी मानते हैं। इस प्रकार इसकी मान्यताके तीन पक्ष हैं। आजके युगमें लोगोंको चातुर्वर्ण्यकी बात बेकार और निष्प्रयोजन लग सकती है। लेकिन इसका आधार बहुत ठोस है। इस विषयमें मन्त्र है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ 10.90.12)

वेदका यह मन्त्र चातुर्वर्ण्यका आधार बताता है। ज्ञानकी प्रधानतासे मुख ब्राह्मण, कर्मकी प्रधानतासे बाहु क्षत्रिय, वस्तुविनियम भार-वहनकी दृष्टिसे ऊरु वैश्य और पहुँचानेकी दृष्टिसे पाँव शूद्र। शरीरका कोई अङ्ग अनावश्यक नहीं होता। वह चारों अंगोंसे ही बनता है। पाँवके बिना लूला-लँगड़ा हो जायेगा, गति रुक जायेगी! हाथके बिना कर्म नहीं करेगा। ऊरुरहित-भारवाहनकी क्षमता नहीं रहेगी और मुखके बिना सब व्यर्थ। जैसे चारों अवयव होनेपर ही शरीर पूर्ण होता है वैसे ही किसी समाजमें भी ज्ञान, बल, वस्तु और कर्म इन चारोंकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। समाजमें बुद्धि चाहिए, बल चाहिए, वस्तुओंका उत्पादन, विनिमय, वितरण चाहिए और उसके लिए भरपूर श्रम चाहिए। समाजके ये चार विभाग हैं। संस्कृतमें समाजका अर्थ है **यस्यां समम् अजन्ति**-जिसमें सबलोग साथ-साथ उन्नति करें, आगे बढ़ें। जहाँ सबको कर्म, द्रव्य, बल और विज्ञान इन सबमें उन्नति करनेकी सुविधा हो. वही चातुर्वर्ण्य समाज होता है। चातुर्वर्ण्यका नाम सुनकर चिढ़ने या नाक-भौं सिकोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। कर्मसे चातुर्वर्ण्यकी व्याख्या स्थिर नहीं की जा सकती। क्योंकि एक ही व्यक्ति अपने प्रतिदिनके काममें कभी कर्म, कभी वस्तु-संग्रह, कभी बल-प्रयोग और कभी विचार करता है। सम्पूर्ण जीवनमें कभी कर्म-परायण होता है तो कभी अवकाश प्राप्त कर लेता है।

काशी-विद्यापीठमें एक बार महात्मा गाँधी आये हुए थे। डाक्टर भगवान्‌दासजीने सार्वजनिक समारोहमें स्वागत करते हुए कहा कि 'गाँधीजी ब्राह्मण हैं।' गाँधीजीने अपने उत्तरमें कहा कि बाबा! ब्राह्मण तुम्हीं रहो मुझे तो वैश्य ही रहने दो। मैं तो व्यापारी हूँ। यहाँ भी व्यापारके गरजसे आया हूँ। कुछ लिये बिना जानेवाला नहीं। कभी-कभी ऐसा ख्याल होता है कि हमारी जो परम्पराएँ है, इनके जो रहस्य हैं उनका लोप हो जायेगा और अगली पीढ़ी उन्हें निष्प्रयोजन समझकर भूल जायेगी।

सत्त्व, रज, तमका सब चार प्रकारसे प्रस्तार करते हैं तब चातुर्वर्ण्य बनता है। ऐसा वृक्षोंमें भी होता है। आप देखना। कुछ वृक्ष ज्ञान-दान करते हैं, कुछ वस्तु-दान करते हैं, कुछ शक्तिदान करते हैं और कुछ केवल काम करनेके ही काम आते हैं। आम और सेब इत्यादिके जो फलदार वृक्ष हैं, उनके वैश्य होनेमें क्या सन्देह हैं? इसी प्रकार बबूलका पेड़ हल या बेंट बनानेके काम आता है, फिर बबूलके शूद्र होनेमें क्या शंका है?

पशुओंमें भी हमारा गोमाता पीनेके लिए दूध देती है इसलिए वह वैश्य है। शास्त्रोंके अनुसार गायका वर्ण वैश्य है।

एक-एक वस्तुमें प्रकृति एवं कर्मोंके अनुसार चार-चार विभाग, चातुर्वर्ण्य हैं। जब हम विवेक करते हैं तो सच्चिदानन्दके अनुसार भी चातुर्वर्ण्य प्रतीत होता है। शूद्रके समान ब्रह्मचारीको भी अपने गुरुकी सेवा करनी पड़ती है। अत: ब्रह्मचारी और शूद्र सेवाप्रधान होनेसे विश्वात्मा हैं। वैश्य और गृहस्थ दोनों योजना-प्रधान होनेसे तैजस हैं, हिरण्यगर्भ हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ अन्याय एवं विस्तारके निवारण द्वारा सृष्टिको समेटनेका काम

करते हैं। अतः प्राज्ञ हैं। कर्ममें विश्वात्मा, उपासनामें तैजस, योगमें प्राज्ञ और तत्त्वज्ञानमें तुरीय होता है। ब्राह्मण और संन्यासी तुरीय तत्त्वप्रधान होते हैं। क्षत्रिय और वानप्रस्थ प्राज्ञ तत्त्व-प्रधान होते हैं। वैश्य और गृहस्थ तैजस तत्त्व-प्रधान होते हैं तथा ब्रह्मचारी और शूद्र विश्व वैश्वानर तत्त्व-प्रधान होते हैं। विश्व-सृष्टिमें इनका बड़ा भारी उपयोग है।

जो लोग प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं वे सत्त्व-रज-तमके अनुसार वर्णका विभाग मानते हैं। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे सृष्टि मानते हैं वे तुरीय एवं प्राज्ञ आदिके अनुसार मानते हैं। **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**-यह भगवान्का वाक्य है। कहते हैं कि चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि मैंने की है। भगवान्ने जो यह कहा कि-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

वह निराधार नहीं, साधार है। गुण-कर्ममें गुण-विभाग और कर्म-विभाग दो विभाग हैं। अब देखो, भगवान्ने चातुर्वर्ण्य उत्पन्न करनेके लिए पहले गुण-विभाग बनाया। अथवा गुण-विभागके बाद चातुर्वर्ण्य उत्पन्न किया? सत्त्व-रज-तम ये तीनों गुण चातुर्वर्ण्यके बननेके पहले प्रकृतिमें अथवा चातुर्वर्ण्य बन गया तब गुण-विभाग उत्पन्न हुए? इसका उत्तर वह श्लोक ही दे देगा आपको।

पहले गुण-कर्म-विभाग था। भगवान्ने गुण-विभागसे तो ली शरीरकी सामग्री और कर्म-विभागसे लीं उसकी विशेषताएँ दोनोंको लेकर ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिकी सृष्टि की। इसमें शंकाकी कोई बात नहीं।

सिद्धि एक तो आधिभौतिक होती है, दूसरी आधिदैविक होती है और तीसरी आध्यात्मिक होती है। माता-पिताका जो रज-वीर्य है वह भौतिक है, उससे शरीर बनता है। गायत्री द्वारा जो उपासना है वह आधिदैविक है। भगवान्ने जो गीतामें शम-दम आदि संयम बताये हैं उनको बतानेमें भी बड़ी विचित्रता है। वे यह नहीं कहते कि जिसमें शम-दम आदि हों वह ब्राह्मण है अपितु यह कहते हैं कि-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (18.41)

अर्थात् पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, बादमें उनके कर्मोंका विभाजन है। मूल बात यह है कि चातुर्वर्ण्यका आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक आधार है और उसमें श्रेष्ठताकी कई बातें है। व्याकरणके महाभाष्यमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है-**त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च** (4.1.48) जिसका जन्म, कर्म और ज्ञान तीनों ही पवित्र हों, शुद्ध हों तब समझना चाहिए कि यह श्रेष्ठ ब्राह्मण है। उसमें केवल जन्म, उपासना अथवा विद्यासे ब्राह्मणत्व नहीं आता, उसके श्रेष्ठत्वके लिए जन्म, कर्म और विद्या तीनोंकी ही अनिवार्यता है। यह सब हम आपको इसलिए सुना रहे हैं कि सनातन धर्मकी प्राचीन परम्पराओं पर आपकी अश्रद्धा न हो।

अब पूजाकी बात देखो, आप अपने पिता, पितामह आदि पितरोंकी पूजा करेंगे तो वंश-परम्पराकी संस्कृतिका स्मरण बना रहेगा और वह आपके वंशमें चलती भी रहेगी। सनातन धर्मके ग्रन्थोंमें लिखा है कि जो पितृ-पूजा करता है उसकी वंशपरम्पराका उच्छेद नहीं होता। उसके वंशमें बच्चे होते ही रहते हैं। जो पिण्डोदक

और तर्पण करते रहेंगे उनकी परम्परा चलती रहेगी। देवताकी पूजा करेंगे तो उनसे इन्द्रियोंको अनुग्रह प्राप्त होगा। जैसे आपकी आँख देखती है और बहुत तेज देखती है परन्तु सूर्यकी रोशनी न हो तो न पुस्तक दिखायी पड़ती है, न पढ़ी ही जाती है। पुस्तक है विषय, आँख है पढ़नेका साधन और उसमें अनुग्रह हो रहा है सूर्यका। इस प्रकर सूर्य अधिदैव हो गया, आँख अध्यात्म हो गयी और पुस्तक अधिभूत हो गयी। जब हम देवताकी आराधना करते हैं तो हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। सूर्य भी देवताओंमें इन्द्रकी तरह देवता है। चन्द्रमा भी देवता है। पुरुषोंके लिए मुख्यरूपसे सूर्यकी और स्त्रियोंके लिए मुख्यरूपसे चन्द्रमाकी आराधनाका विधान है। स्त्रीके शरीरको मनस्तत्त्व प्रधान माना गया है। अत: चन्द्रमाकी आराधनासे उनमें कोमलता, आह्लाद और लालित्य आदिकी प्राप्ति होती है। हमारे सनातन धर्ममें स्त्रियोंका बड़ा महत्त्व है-बड़ी महिमा है, हम राजनीतिमें उनका समानाधिकार भी मानते हैं, लेकिन गर्भाधानमें उनका समानाधिकार नहीं। यदि वे यह कहें कि गर्भ स्त्रीके ही पेटमें क्यों, पुरुषके पेटमें क्यों नहीं? तो यह प्रकृतिके विरुद्ध बात है। वे तो स्नेह, प्रेम, रस, सौन्दर्य, वात्सल्य आदि दिव्य सद्गुणोंकी ही अधिकारिणी हैं। हमारे सनातन धर्मका यह दृष्टिकोण है कि उनके दिव्य सद्गुणोंका उच्छेद नहीं होना चाहिए। स्त्रियोंके लिए जो चन्द्रमाकी उपासनाका विधान है इससे आपको डरना नहीं चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रवंशी हैं और भगवान् राम सूर्यवंशी होते हुए भी रामचन्द्र कहलाते हैं। शिवचन्द्र, विष्णुचन्द्र सुननेमें नहीं आता। प्रेमके, मर्यादाके जो देवता हैं उनकी उपासना सबके लिए आनन्ददायक है। स्त्रियोंके लिए चन्द्रमाकी उपासनापर इसलिए जोर दिया गया है कि उनके शरीरमें चान्द्र-तत्त्वकी प्रधानता है। पुरुष-शरीरमें सौर-तत्त्व अधिक है। अत: उसके लिए सूर्योपासनापर बल दिया गया है। यह सब हमारे सनातनधर्मकी विज्ञान-परम्पराएँ हैं।

यदि आपको अपना अन्त:करण राग-द्वेषरहित करना हो तो केवल ईश्वरकी उपासना करनी चाहिए। अवतारोंको लेकर जो सम्प्रदाय-भेद हैं वे अन्त:करणमें राग-द्वेषकी सृष्टि कर देते हैं। आप ईश्वरका आकार चाहे कुछ भी मानें; परन्तु ईश्वरको एक मानें। उसे सम्पूर्ण आकारोंसे निष्क्रान्त भी मानें। संस्कृतभाषामें निराकार शब्दका अर्थ होता है **अकारेभ्यो निष्क्रान्त:।** यदि अद्वैतका अनुभव करना हो तो शाङ्करीविद्याके बिना अद्वितीय तत्त्व, साक्षात् अपरोक्ष हो ही नहीं सकता। शाङ्करी विद्या माने औपनिषद्-विद्या। वह अभेदभाव और आत्यन्तिक मुक्तिके लिए है। समता और अभेदमें अन्तर होता है। समता दो वस्तुओंसे होती है, इसके समान वह और उसके समान यह। अभेद तात्त्विक दृष्टिसे होता है। इसमें तो द्वैत नामकी वस्तु ही नहीं।

भगवान्‌ने यह जो सृष्टि बनायी है इसमें गुणोंका उपादान है और कर्मका निमित्त है। भगवान्‌ने बताया, मैं कर्त्ता भी हूँ और अकर्त्ता भी हूँ। हमारे श्रीकृष्णको मिली-जुली बात बोलनेका अभ्यास बचपनसे ही है। आपको सुनाते हैं श्रीकृष्ण और रामकी प्रकृतिका अन्तर। परन्तु यह लीला त्रेता, द्वापरवाले अयोध्या, वृन्दावनकी नहीं, यह तो नित्य साकेत-धाम और नित्य गोलोक-धामकी है। दोनों नित्य धामोंमें कौशल्या भी रहती हैं, यशोदा भी रहती है। राम भी रहते हैं, कृष्ण भी रहते हैं। उनकी बाल-लीलाएँ भी होती रहती है। एक दिन कौशल्या माताके मनमें आया कि यशोदा मातासे मिलें। इसमें त्रेता, द्वापरका काल-भेद मत लाइये। किसी भी मानसिक

या आत्मिक तत्त्वमें कालका व्यवधान नहीं जोड़ा जाता। जब कौशल्या माता यशोदा माताके पास जाने लगीं तो रामचन्द्रजी भी साथ हो गये। उसी समय यशोदा माताके मनमें कौशल्या मातासे मिलनेकी आकांक्षा जागृत हो गयी और वे भी श्रीकृष्णको साथ लेकर चल पड़ीं। बीचमें कहीं दोनोंका मेल हो गया। वहाँ बहुत सुन्दर बाग-बगीचा था। दोनों बैठ गयीं और आपसमें बात करने लगीं। राम और कृष्ण आपसमें खेलने लगे। बातों-बातोंमें अन्धेरा हो गया। विदा होते समय जल्दीमें यशोदाने रामको और कौशल्याने कृष्णको पकड़ लिया। देखनेमें दोनों एक ही सरीखे हैं। दोनों माताएँ अपने-अपने लोकमें गयीं। रामचन्द्र गये नन्दबाबाके यहाँ। नन्दबाबाने कहा आओ भोजन करो। रामचन्द्रने पहले हाथ-पाँव धोये और देखने लगे कहाँ बैठें? उनके लिए आसन बिछाया गया। उन्होंने भगवान्को भोग लगाकर भोजन प्रारम्भ किया। इधर कृष्णचन्द्र भोजनके समय दशरथजीकी गोदमें बैठ गये और भगवान्को भोग लगाये बिना ही खाने लगे। एक ग्रास अपने मुँहमें डालें और दूसरा ग्रास दशरथके मुखमें। उनकी दाढ़ी खींचें और कभी-कभी उठकर नाच आयें, घूम आयें। भाई, यही राम और कृष्णकी प्रकृतिका अन्तर है। रामचन्द्र गम्भीर हैं इसलिए गम्भीर लोगोंको ज्यादा आकृष्ट करते हैं और श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलतासे बालकोंके मनको भी आकृष्ट कर लेते हैं।

अब आप श्रीकृष्णकी मिली-जुली बातपर आइये-

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्। (4.13)

(वे कहते हैं मैंने बनाया भी है, नहीं भी बनाया। अरे बाबा एक बात तो बोलो। किन्तु उन्हें तो जो बोलना था बोल चुके) समाधान प्रस्तुत करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि भगवान्ने योगमायाकी दृष्टिसे तो बनाया है किन्तु परमार्थकी दृष्टिसे नहीं बनाया। क्योंकि वे अकर्ता हैं। अब श्रीबल्लभाचार्यजी महाराजका कहना है कि भगवान् परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय हैं। उनके बनानेमें अहङ्कार नहीं, कृत्रिमता नहीं, उनके बनानेसे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए जैसा काम जीव करते हैं, वैसा काम भगवान् नहीं करते। जीव करता है तो अहङ्कारसे करता है और एक कृत्रिम रचना है। उसके लिए स्वयं नवीन फलकी उत्पत्ति होती है। परन्तु जब भगवान् बनाते हैं तब उनकी लीला होती है, लीला-कैवल्य बोलते हैं। ब्रह्मसूत्रमें-**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** (2.1.33) कहा है। जैसे कोई मनुष्य मित्रोंमें बैठकर हँसी-खेल करता है। खेल शब्दका अर्थ है जिससे पापपुण्यकी उत्पत्ति न हो। जो कर्म आकाशमें उड़ जायें—**खे लीयते**-पाप-पुण्य पैदा न करें उनका नाम होता है खेल। लीलाका अर्थ होता है-**लीङ् आश्लेषणे**-जो परमात्मासे आश्लेष-दान करे, भगवान्को मिला दे। भगवान् खेल खेलते हैं। अज्ञानी मनुष्योंके समान काम नहीं करते। इसलिए वे कर्ता होनेपर भी अकर्ता हैं। इसके बाद आते हैं ये श्लोक जिन्हें हम पहले बार-बार उच्चारण करते रहते थे—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ (4.14)
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (4.15)

भगवान् कहते हैं कि मैं कर्म तो करता हूँ किन्तु मुझमें कर्मका लेप नहीं होता। हँसीके सन्दर्भमें यह बात वैसी ही है, जैसे कोई व्यापारी बेहिसाब व्यापार फैला ले, उचित-अनुचित काम-धन्धा कर ले, लेकिन इतना चतुर हो कि सरकार उसकी गलती पकड़ न सके और वह कहता फिरे कि मैं कर्म करता तो हूँ, परन्तु उसकी जिम्मेदारी मुझपर नहीं। यद्यपि यह हँसीकी बात है परन्तु इसमें सच्चाई है।

भगवान् कर्म तो करते हैं, परन्तु कर्म अपना फल उनके साथ लिप्त नहीं कर पाते। उन्हें इस बातका अभिमान नहीं होता कि मैंने यह किया, मैंने वह किया। कर्मसे बचनेका उपाय भी यही है। किसीने पूछा तुमने यह काम किया? हमारे बुद्धिमान् मैंनेजरने किया है। कर्मचारियोंकी विशेषता है कि उन्होंने यह काम इतनी योग्यताके साथ किया है। अगर सारा श्रेय अपने ऊपर लेते जाओगे तो कर्मचारियोंका मन उदास हो जायेगा। भगवान् कहते हैं कि यह सृष्टि तो ब्रह्माने बनायी, इसका पालन विष्णु और संहार शिव करते हैं। मैं यह सब नहीं करता। मुझे इसका कोई अभिमान नहीं कि मैंने यह काम किया है **न मे कर्मफले स्पृहा।** अच्छा, इससे जो मुनाफा होगा वह तो तुम लोगे न? बोले, बिलकुल नहीं। मैं तो यह चाहता हूँ कि सारे काम पब्लिकके फायदेके लिए हों। हम तो लोगोंकी भलाईके लिए ही काम करते हैं। अपने लिए कुछ भी नहीं करते। इसीलिए मेरी स्पृहा नहीं कि किसी भी कर्मका फल मेरे पास आये। जिसकी आज्ञासे, जिसके हस्ताक्षरसे कर्म होगा और जो उसका लाभ लेगा वह तो पकड़ा जायेगा किन्तु जो कर्मके अनुष्ठानमें अपना अहङ्कार नहीं डालेगा और उसके फलका भोक्ता नहीं बनेगा, उसे कोई पकड़ नहीं सकता। कुछ लोग कर्म कर रहे हैं और कुछ उसका फल भोग रहे हैं। बुद्धिमान वैज्ञानिक कर्मचारी काम कर रहे हैं और जनता उसका लाभ उठा रही है। हम कामके साक्षी मात्र हैं। साक्षीको पाप नहीं लगता। काममें कर्तृत्व नहीं साक्षीत्व चाहिए और चाहिए यह कि उसका सारा-का-सारा लाभ दूसरे उठायें। आपने गीताका यह श्लोक देखा ही है-

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँलोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (18.19)

हमारे बड़े-बड़े महात्मा आचार्य बोलते हैं-

यत्कृतं यत्कारिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

प्रभो, मैंने जो कुछ किया और आगे जो कुछ करूँगा वह सब मेरा किया हुआ नहीं, वह सब तुमने किया है और तुम्हीं उसका फल भोगो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत-सिद्धि नामक ग्रन्थकी रचना की और उसके अन्तमें लिख दिया कि जिसने इसका निर्माण किया पाठक उसीकी स्तुति-निन्दा करें। मुझमें कर्तृत्व है ही नहीं-

मयि नास्त्येव कर्तृत्वम् अनन्यानुभवात्मनि।

गीताका जो यह मन्त्र है कि अपनेको कर्ताके रूपमें अनुभव मत करो, उपस्थित मत करो, जिसके द्वारा काम हो रहा है उसके कर्तृत्वको स्वीकार करो। यह बहुत अद्भुत है। भगवान् राम कहते हैं कि ये बन्दर-भालू

हैं, यही हमारे समरार्णवके पोत हैं। हमने इन्हींके सहारे समर-समुद्रको पार किया है। राम कभी नहीं कहते कि मैंने रावणको मारा। कौशल्याजीने पूछा कि बेटा, मैंने सुना है तुमने रावण-सरीखे राक्षसको मार दिया। भगवान् राम बोले- नहीं मैया, मैंने नहीं मारा। कौशल्याने कहा-सब कहते हैं कि तुमने ही मारा। तब बोले-हमारे गुरुदेव वसिष्ठजी ने आशीर्वाद दिया इसीसे हमारी जीत हो गयी और रावण मर गया। मैंने नहीं मारा। देखो, यह है हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम नीति-निपुण भगवान् रामकी वाणी।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों अवास्तविक हैं और परमार्थस्वरूप आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं। एक बात और ध्यान देने लायक है कि यदि कोई भगवान्‌के सच्चे स्वरूपको जान जाये तो उसे भी कर्म-लेप नहीं होता-

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।

अच्छाजी, भगवान्‌का कर्म-फलसे लेप नहीं और कर्म-फलमें स्पृहा भी नहीं, इसको जान लेने मात्रसे हम कर्म-फल तथा कर्म-स्पृहासे कैसे छूट जायेंगे? इसकी कोई युक्ति तो होनी चाहिए। इसकी युक्ति यही है कि यदि आत्मा और परमात्मा एक नहीं होते तो परमात्माके ज्ञानसे आत्माकी मुक्ति नहीं होती। इसलिए जब हम यह जान लेते हैं कि परमात्मा कर्मके कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे विनिर्मुक्त है, तब हमें यह यह अनुभव होता है कि जैसे परमात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता एवं अभोक्ता है, वैसे ही हम सब कुछ करते-भोगते हुए भी अकर्ता और अभोक्ता हैं। परमात्मा-आत्मा दोनोंके अभेद-बोध द्वारा हम कंर्म-लेपसे मुक्त हो जाते हैं।

कर्मसे छूटनेके लिए कर्म करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रसंगमें तुलसीदासजी कहते हैं कि-**छूटे मल कि मलहि के धोये?** मलसे धोनेपर मल नहीं छूटता। साबुन लगानेसे मैल भले छूट जाती हो, पर साबुन अपना संस्कार छोड़ जाती है, उसकी गन्ध रहती है। गन्ध न भी हो तो उसका थोड़ा प्रभाव रहता है। जो कर्म परमात्म-ज्ञानसे छूटता है, वही वास्तवमें छूटता है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (4.15)

मुमुक्षु उन्हें कहते हैं जो संसारके बन्धनमें बँधना नहीं चाहते। इसको ऐसे समझो-एक आदमी काम तो गलत करना चाहता है पर जेलसे भी छूटना चाहता है। जेलमें न जायें और जेलमें हों तो उससे छूट जायें-ऐसी युक्ति की जा सकती है।

मुमुक्षुभिः-का तात्पर्य है कि हमको बन्दीगृहमें न जाना पड़े और बन्दी हों तो उससे मुक्त हो जायें। ऐसे लोग वैसे ही कर्म करते हैं जैसे कि भगवान् श्रीकृष्ण करते हैं। हमलोग सनातनी हैं। सनातनका तात्पर्य यह होता है जिसके आगेसे भी संगति हो पीछेसे भी। जो आगे है उसे आप पीछे छोड़ते जा रहे हैं। आपके आगे वह आयेगा। जिसके आगे आनेकी आप कल्पना कर रहे हैं वह पीछे आ चुका है। सनातन शब्दका अर्थ पिछला-पिछला नहीं होता। जो पीछे था आगे आयेगा और जो आगे आयेगा वह पीछे था।

पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्-का अर्थ है कि जब आपसे कोई कहे, भाई! पाँच मिनट भगवान्का स्मरण भजन कर लो, सन्ध्यावन्दन कर लो। आप यह मत पूछिये कि क्यों? यदि आपने कहा कि नहीं करेंगे तो हम आपसे पूछते हैं कि क्यों नहीं करेंगे? आप उस समय ताश खेलते होते हैं, व्यापारका काम करते होते हैं, क्लबमें होते हैं या सिनेमामें होते हैं? कहाँ होते है? क्यों नहीं आप पाँच मिनट के लिए इस कामको कर सकते? आपके पिताजी करते थे, आपके दादाजी करते थे, आपके परदादाजी करते थे किन्तु आप ऐसे कहाँसे आ गये कि उसे छोड़ रहे हैं। आप आखिर छोड़ क्यों रहे हैं? उसकी अपेक्षा कोई और महत्त्वपूर्ण काम आप कर रहे हैं क्या? कहीं ऐसा तो नहीं सोच रहे हैं कि पहले जो लोग करते थे उनको समझ नहीं थी। इस प्रकार उनका तिरस्कार करते हुए छोड़ रहे हैं अथवा आगे बढ़ते हुए छोड़ रहे हैं। यह एक अहम प्रश्न हैं। भाई मेरे, यदि हम सर्वात्मा परमात्माके नामपर अपना पाँच मिनटका समय भी नहीं दे सकते, यदि हम बिना प्रयोजन, बिना लाभ और बिना कामनाके पाँच मिनट भी ईश्वरके साथ नहीं जुड़ सकते तो सोचिये हमारा यह जीवन कितना विडम्बनामय हो जायेगा। इसलिए-**पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**-परम्परासे जो चला आया है उसमें यदि आपकी कोई हानि हो तो आप वेशक मत कीजिये। परन्तु उससे यदि आपके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, आपके अन्तःकरणका निर्माण होता है, तो यह आपका सबसे अधिक लाभ है। आप बन्दूकको साफ नहीं करना चाहते और उसको चलाना चाहते हैं, गिलास साफ नहीं करना चाहते और उसमें दूध पीना चाहते हैं, हाथकी मैल धोना नहीं चाहते। आप गलतीपर हैं। अतः **पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्**-का अर्थ है पहले बन्दूककी नली साफ कर लीजिये, गिलास साफ कर लीजिये, हाथ धो लीजिये तब उनको उपयोगमें लाइये। इस प्रक्रियाको आप अवश्य स्वीकार करें। यह भगवान्की आज्ञा है।

अब इनके बाद प्रसङ्ग आता है कि मनुष्यको कर्मके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करना चाहिए। कर्मके रहस्यको जानना बहुत आवश्यक है। भगवान्ने कर्मके तीन विभाग कर दिये-कर्म, अकर्म, विकर्म। व्याख्याकारोंने तरह-तरहसे इनकी व्याख्या की है। पूर्वाचार्योंकी व्याख्या भी है और नवीनाचार्योंकी व्याख्या भी है। श्रीरामानुज स्वामीने इसकी व्याख्या की है कि आप नित्य-कर्म कीजिये। उससे आपको बन्धन नहीं होगा, आप मुक्त होंगे। यदि आप नित्य-कर्म करना छोड़ देंगे तो वह छोड़ना भी एक कर्म होगा और अनुशासनके अनुसार प्राप्त कर्त्तव्यका परित्याग बन्धनका कारण बनेगा। कर्त्तव्यके उल्लंघनका कर्तृव्य भी अपने ऊपर आता है। अपने ऊपर जिम्मेवारी आती है कि तुम्हारा यह कर्त्तव्य था, तुमने क्यों छोड़ दिया। वैसे अभावसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु एक सिपाहीको चौराहेपर इसलिए खड़ा किया गया है कि वह वाहनोंपर अथवा पैदल चलनेवालों पर नियन्त्रण करें। अब वह सिपाही यदि वहाँसे हट जाय, किसी दूकानपर जाकर चाय पीने लगे और अनियन्त्रणके कारण दुर्घटना हो जाय तो उसे दोषी माना जायेगा कि नहीं? उसका यह कहना कि मैंने कुछ किया नहीं, सिर्फ थोड़ी देरके लिए चाय पीने चला गया था, उसे दोषमुक्त नहीं कर सकता। काम छोड़नेमें भी दोष होता है। कर्त्तव्य कर्मको न करना भी एक कर्म है और उससे पाप लगता है। इसी प्रकार अपने कर्त्तव्यका पालन करना भी कर्म नहीं; क्योंकि यदि उसके पीछे निष्काम भाव है तो उससे किसी फलकी उत्पत्ति नहीं

होती। श्री रामानुजाचार्यने इसकी व्याख्या ऐसे की है कि अपने कर्त्तव्य कर्म करते चलो। यदि तुम कर्त्तव्य कर्म छोड़ दोगे तो भगवान्‌के सामने तुमसे पूछा जायेगा कि तुमने आखिर किस कारणसे अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया? मालिक पूछेगा कि तुम उस समय कहाँ गये थे? तुमने अपना काम क्यों नहीं किया? सृष्टिका एक मालिक है, संचालक है जो इस बातपर दृष्टि रखता है।

श्रीशङ्कराचार्यका इस सम्बन्धमें दृष्टिकोण यह है कि वेदान्तकी पहली सीढ़ी देहमें 'मैं' न रखना है। इसलिए जो लोग अपने आपको देह-मात्रमें सीमित कर लेते हैं और कहते हैं कि मैं केवल इतना ही हूँ, वे श्रीकृष्णके उपदेशोंसे लाभ नहीं उठा सकते। अरे बाबा! केवल शरीरको ही क्यों मानते हो? कम-से-कम परिवार तो मानो अपनेको। फिर गाँव मानो, राष्ट्र मानो, सम्पूर्ण-मानवता मानो। व्यक्तिको समष्टिमें ले जानेकी जो प्रक्रिया है, वह विश्वात्मासे एक होनेका पहला कदम है। माण्डूक्योपनिषद्‌के अनुसार ईश्वरकी ओर चलनेका पहला कदम यह है कि हम अपनेको एक शरीर न समझकर सम्पूर्ण-विश्व समझें। आप तो जानते ही हैं कि हम एक-एक शब्द जो बोल रहे हैं वह यदि यन्त्रके सामने बोलें तो इसी समय अमेरिका, रूसमें सुनायी पड़ सकता है। शब्द व्यापक होता है। यदि यन्त्रों द्वारा प्रेषण और श्रवणकी व्यवस्था न हो तो भी बोला हुआ शब्द व्यापक हो जाता है। इस सिद्धान्तको लेकर बेतार-का-तार आविष्कृत हुआ है। जब हमारे शब्दकी यह स्थिति है कि वह बोलते ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो जाता है तो क्यों न हम शुभ बोलें? यदि आप अपने मुँहसे गाली निकालेंगे तो वह सारी दुनियामें फैल जायेगी, सबके हृदयोंमें, सबके सामने गाली दीखेगी और सबकी जबानसे गाली निकलेगी। एक-एक शब्द बोलनेमें सावधान रहना चाहिए। आप जो बोलेंगे वह सबके हृदयमें, सबके कानोंमें, प्रवेश करेगा। सबकी वाणीसे निकलेगा और सबके जीवनका निर्माण करेगा। आप केवल एक मनुष्य, एक शरीर नहीं सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि हैं। स्वामी रामतीर्थका कहना था कि 'जब मैं चलता हूँ तो सारा भारत चलता है और जब मैं बोलता हूँ तो सारा भारत बोलता है।' भारत अर्थात् सम्पूर्ण विश्व। हमलोग भारतवर्षको इतना ही नहीं मानते कि उसके पूर्व, पश्चिम और दक्षिणमें समुद्र है और उत्तरमें हिमालय है। हम तो क्षार-समुद्रसे घिरी हुई सारी धरतीको भारतवर्ष मानते हैं। हमारे पुराणोंमें जिस भूगोलका वर्णन है उसके अनुसार खारे समुद्रसे घिरा हुआ सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप भारतवर्ष है। उसमें केवल भारतवर्ष स्थूल सृष्टिके रूपमें है और बाकी सब-के-सब सूक्ष्म हैं। आज जितनी भी सृष्टि उपलब्ध है, वह सब किसी समय भारतके नामसे ही प्रसिद्ध थी। वह धीरे-धीरे कटती गयी, समुद्र धरतीके टुकड़ोंको अलग करता गया, जनताके संस्कार अलग-अलग होते गये और परम्पराएँ बदलती गयीं।

भाई, आप अपनेको एक शरीरके रूपमें मत मानिये। आपका शरीर भी पञ्चभूत ही है और बोली भी आपकी सब जगह पहुँचती है। अच्छा, जरा बताईये आपके शरीरका आकाश अलग है क्या? आप दुनियाके आकाशसे अपने भीतरके आकाशको अलग कर सकते हैं? इस संसारमें जो हवा चलती है उससे क्या आप अपनी साँसको अलग कर सकते हैं? फिर आप अपनेको देह-बद्ध क्यों करते हैं? भगवान् शङ्कराचार्यका कहना है कि देहमें जो मैं-पना है, यह अविचार-रमणीय है। जबतक हम वेदान्त-विचार नहीं करते, तत्त्व-

विचार नहीं करते तर्भातक 'मैं' देहबद्ध मालूम पड़ता है, अन्यथा वह सम्पूर्ण विश्वात्मा है। विश्वात्मासे परे 'मैं' समग्र सूक्ष्म सृष्टि है। उससे भी परे कारण-सृष्टि है और उससे भी परे परब्रह्म तत्त्व जिसमें सब नहीं। सब माने तो समष्टि होता है। बहुतोंके जोड़का नाम सब होता है। उपनिषद्का जो तत्त्व है वह बहुतोंका जोड़ नहीं वह तो एकमेवाद्वितीय है।

इसलिए भगवान् कृष्ण कहते हैं-

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (4.18)

अर्थात् तुम स्वयंको सम्पूर्ण विश्वात्माके साथ, ईश्वरके साथ, परब्रह्म परमात्माके साथ एक करके देखो और इस शरीरसे जो कर्म हो रहा है, उसके होते हुए भी अपनेको अकर्म समझो। यदि तुम इस शरीरसे कर्मको छोड़कर हाथ-पाँव बाँधकर बैठोगे तो इसमें भी कर्म होगा। अतः योगी वह है, बुद्धिमान वह है जो सारे कर्म करते हुए भी उनसे मैं-मेराका सम्बन्ध छोड़कर परमात्माके साथ एकाकार हो जाता है। ऐसा होनेपर न तो कर्मका सम्बन्ध जुड़ता है, न पाप-पुण्य लगता है और न सुख-दुःख मिलता है। वह सुख-दुःख, पाप-पुण्य, लोक-परलोक और स्वर्ग-नरकसे मुक्त हो जाता है। उसके सामने न तो संसार रहता है न परिच्छिन्नता रहती है। वह सर्वथा अद्वितीय परमात्माके रूपमें विराजमान हो जाता है।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है। संसारके जो अन्यान्य धर्म हैं, वे सब कहानी-किस्सोंके आधारपर टिकते हैं। पुराण-प्रधान धर्म पौराणिक धर्म है। किन्तु हमारा जो यह धर्म है, आध्यात्मिक है और हमारी गीता दार्शनिक दृष्टिकोणसे हमारे जीवनके रहस्यों, कर्मों और भोगोंका प्रतिपादन करती है। गीता दृष्टि देती है और आप उसके अनुसार चलकर स्वयं परमात्मासे एक हो जाते हैं।

●

प्रवचन : 11

(26-11-74)

सब परमेश्वरके स्वरूप हैं और परमेश्वर अपना ही स्वरूप है। परमेश्वरसे कभी वियोग नहीं होता। जिससे कभी वियोग होता है वह अपना ही स्वरूप नहीं। जिससे कभी वियोग नहीं होता वह अपना ही स्वरूप है। आप सब अपने ही स्वरूप हैं। वक्ता अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता। श्रोताके हृदयमें जो सुननेका संकल्प होता है, वही वक्ताके नि:संकल्प हृदयमें प्रतिबिम्बित होता है। उसीसे वाणी निकलती है। एकने पूछा कि ईश्वरको टेलीफोन करनेका नम्बर क्या है? उत्तर मिला कि तुम अपने हृदयको खाली कर लो और खाली हृदयमें ईश्वरसे बातचीत करो। वही हृदय ईश्वरके साथ जुड़ता है। मेरा हृदय आप लोगोंके हृदयसे जुड़ता है। मैं प्रवचन करनेके लिए कई स्थानोंपर जाता हूँ। जैसे श्रोता होते हैं, वैसी ही बात निकलती है। मालूम पड़ता है कि मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह मेरा बोला हुआ नहीं, आपका ही बोला हुआ है। मैं भक्तोंमें जाता हूँ तो भक्तिकी बात आती है। वेदान्तियोंमें जाता हूँ तो वेदान्तकी बात आती है और गाँवोंमें जहाँ लुगायाँ-पतायाँ अधिक होती हैं-जाता हूँ तो दूसरे ही ढंगकी बात आती है। ये सब हमारी बात नहीं आपकी ही है। आप स्वयं बोलें और टेपरिकार्डको धन्यवाद दें, उसके प्रति आभार प्रकट करें तो कैसा लगेगा? उसमें जो ध्वनि भरी हुई है वह आपकी ही है। मैं सबका नाम तो नहीं ले सकता किन्तु श्रीमती सरला और वसन्त कुमारजी, देवधरजी, रमणलाल विन्नानी, सीतारामजी सेकसरिया, भगीरथजी कानोडिया, ईश्वरी प्रसाद गोयनका और जो लोग पीछे बैठे हैं वे सब; इतना समय निकालकर इतने प्रेमसे यहाँ एकत्रित होते हैं यह बहुत आनन्ददायक है। मुझे बम्बईमें एक सेठने कहा था कि 'महाराज हम आपके पास चौबीस घण्टे मोटर रख सकते हैं और आप कहें तो दस हजार रुपये भी भेज सकते हैं, लेकिन हमसे घण्टे भरका समय न माँगना। घण्टे भरमें तो हम उलट-पुलट कर देते हैं। व्यापारके क्षेत्रमें हमारा समय बहुत कीमती है। वही कीमती समय आप लोगोंने सत्सङ्गमें दिया है। इससे आपकी रुचि और प्रीति प्रकट होती है। ईश्वर करे यह बनी रहे और दिनों दिन बढ़ती रहे।

हमारा जो अध्यात्मतत्त्व है वह ब्रह्म, ईश्वर, माया, प्रकृति और पञ्चभूत सबमें ओत-प्रोत है। मैटर एक है और उसमें अलग-अलग शकलें बनी है। सब रूप कर्मसे बनते हैं। जैसे परमात्मा सोना है, उसीमें कंगन, कुण्डल और हार आदि बने हैं। सबकी डिजाइन अलग-अलग है पर है वह सब-का-सब परमात्मा।

गीताके उपदेशोंका तात्पर्य यही है कि आपको जो मनुष्यकी बहुत सुन्दर आकृति प्राप्त हुई है वह आपके शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुई है। अब आप कुछ ऐसे कर्म करें कि या तो आपका रूप इससे भी अधिक सुन्दर, मधुर, आकर्षक और लोकोपयोगी हो जाये या आप कुछ ऐसा ज्ञान प्राप्त करें कि आपकी वासनाएँ शान्त हो

जायें, मिट जायें और आपके सारे कर्म भगवत्संकल्प एवं भगवतइच्छासे ही हों। यदि आप अपने ही पसन्दकी सुन्दर आकृतिका निर्माण करना चाहते हैं तो उसके लिए शुभ कर्म कीजिये और राम, कृष्ण, नारायण, शिव या अन्य अभीष्ट देवी-देवताओंकी आकृतियोंका ध्यान कीजिये। फिर आपकी आकृतिका जो चोला है इसकी जगहपर अपेक्षित आकृति आ जायेगी। आप स्वयं राममय, कृष्णमय, नारायणमय, शिवमय हो जायेंगे। आपके जीवनमें दिव्यता-पवित्रता बरस पड़ेगी। किन्तु यदि आप किसी भी आकृतिके निर्माणका सङ्कल्प छोड़ देंगे और जिस रूपमें भागवत-सत्ता प्रकट हो रही है, उस रूपमें उसे प्रकट होने देगें तो आप निर्वासन-निःसंकल्प होकर साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हो जायेंगे।

मनुष्य जब कर्म करने लगता है तब उससे गलती यह होती है कि वह छोटी-छोटी चीजोंको बहुत अधिक महत्त्व दे देता है। मुझे याद है, एकबार एक सज्जन पाँच हजार रुपयेके लिए किसी मनुष्यका तिरस्कार कर रहे थे। मैंने उनको समझाया कि 'भाई, रुपये तो आते-जाते ही रहते हैं परन्तु ऐसा मनुष्य तुम्हें फिर नहीं मिलेगा। संसारकी सम्पदासे मनुष्यकी कीमत बहुत अधिक है। सम्पदामें केवल जड़ता प्रकट होती है और मनुष्यमें जड़ता और चैतन्य दोनों प्रकट होते हैं। उनके विकासको अवरुद्ध करना मनुष्यके लिए उपयुक्त नहीं।' किन्तु उन्होंने मेरी बात नहीं मानी। वह मनुष्य उनके यहाँसे हटकर दूसरी जगह चला गया और वहाँ बहुत बड़ी सम्पदाके रूपमें प्रकट हुआ। उसके द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम हुए।

जिन बालकोंको हम छोटा समझते हैं वे छोटे नहीं; उनमें राम हैं, कृष्ण हैं, बुद्ध हैं, ऋषि हैं, तिलक है, गांधी है। उनमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली, बड़े-बड़े बुद्धिमान और विद्वान् हैं। वे हमें छोटे दिखायी देते हैं; किन्तु उनके भीतर तो बहुत बड़ी शक्ति है। हमसे उस समय बहुत बड़ी भूल होती है, जब हम चेतनकी प्रधानताका आदर न करके जड़ताकी प्रधानताका आदर करते हैं। हमें काम करते समय अपनी ओर तथा अपनी आत्माके निर्मल स्वरूपकी ओर देखना चाहिए।

मैं एकदिन किसीके घरमें भिक्षा कर रहा था। अचानक ही वे लोग बद्रीनाथके मार्गमें मिल गये थे। रसोइयेने हमें देखकर समझा कि कहींसे भिखमंगे आ गये। उसने मोटी-मोटी पूड़ियाँ बना दीं। जब लड़की परसनेके लिए चौकेमें गयी और उसने मोटी पूड़ियोंको देखा, तब उसने परसी हुई थाली धम्मसे पटक दी और गुस्सेमें बोली-'मैं स्वामीजीको ऐसी पूड़ियाँ खिलाऊँ?' इस घटनाके उल्लेखका आशय यही है कि हमें यह देखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह हमारे स्वरूपके अनुरूप है या नहीं? आप परमात्माके अंश हैं, आपके भीतर सच्चिदानन्द हैं। आप सुख देनेके लिए हैं, ज्ञान देनेके लिए हैं, पवित्रता देनेके लिए हैं। अतः आपके जीवनसे इसीकी किरणें, इसीकी राशियाँ निकलनी चाहिए।

गीताका पहला सन्देश यही है कि हम स्वार्थ-वासनासे, अहङ्कारसे मुक्त होकर कर्म करें। कर्म करते हुए भी अपनेको कर्ताके रूपमें न देखें। अपितु परमात्माको ही कर्त्ताके रूपमें देखें अथवा परमात्माकी प्रकृतिको, उनके सङ्कल्पको और उनकी मायाको देखें।

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्—हो रहे हैं कर्म और अपनेको देखें अकर्म। जो लोग हाथ-पाँव बाँधकर बैठ

जाते हैं और कहते हैं कि कुछ नहीं करेंगे, उन   ।ने न तो हाथ बाँधे, न पाँव समेटे और न जीभ समेटी। जिसको वे अकर्म समझते हैं उसके साथ भी कर्म ही है और वह संसारमें फँसनेवाला है।

अकर्ममें आसक्त न होकर कर्म करते हुए यह प्रयास करना चाहिए कि बुद्धि बनी रहे और योग बना रहे। भगवान्‌के उपदेशकी यही विलक्षणता है कि **कृत्स्नकर्मकृत्** कर्म भी हों, **युक्तः** योग भी बना रहे और बुद्धि भी बनी रहे। बुद्धिको छोड़कर भगवान् किसी साधनका वर्णन नहीं करते। जिस साधनसे बुद्धिका नाश हो जाये वह साधन, साधन ही नहीं। जैसे शरीरको नष्ट करनेवाला विष आपके जीवनका हेतु नहीं, वैसे ही बुद्धिको नष्ट करनेवाली वासना आपके जीवनका अङ्ग नहीं। विष बाहरसे आता है, वासना भीतरसे आती है। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए कि न तो हम निकम्मे हों और न हमारी वासना हमारे कर्मोंको भीतर चिपकाकर हमें नीचे ले जाय।

यस्य सर्वे समारम्भाः आप खूब काम कीजिये। समारम्भका अर्थ है बड़े-बड़े काम कीजिये। ऐसा काम कीजिये। जिससे सारे विश्वको भोजन मिले, वस्त्र मिले, आवास मिले और वाहन मिले। कामसे भोगनेकी जरूरत नहीं। जरूरत है यह देखनेकी कि आप जो काम कर रहे हैं, उससे केवल आपको भोग मिले, यह वासना न हो जाये। **कामसङ्कल्पवर्जिताः**का यही अर्थ है कि आपमें काम अर्थात् भोगका संकल्प न रहे। आप अपने भोग-संकल्पसे बड़े-बड़े काम मत कीजिये, अपितु परमात्माकी प्रसन्नताके लिए, यज्ञके लिए कीजिये।

जब आप यह देखेंगे कि परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं तब ज्ञानकी अग्निसे कर्मका जो गिरानेवाला अंश है वह भस्म हो जायेगा-**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्।** वह न उद्नीय अर्थात् ऊपर उठानेवाला होगा, न नीचे ले जायेगा। न आपको आगे ले जायेगा न पीछे। आप जहाँ हैं वहीं आपको कर्मके प्रभावसे मुक्त करके परमात्मामें स्थित कर देगा।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ (4.20)

इसके पहले श्लोकमें 'समारम्भ' है। इसमें 'अभिप्रवृत्त' है। अभिप्रवृत्तका अर्थ है आपके चारों ओर काम हो, सामने हो, पीछे हो, दाहिने हो, बायें हो, ऊपर हो, नीचे हो। अभितः माने सर्वत्र आपके जीवनमें केवल प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति हो; परन्तु फलकी आसक्ति न हो।

पहले श्लोकमें बताया कि ज्ञानपूर्वक कर्म आपको नहीं बाँधेंगे और दूसरेमें बताया कि यदि आपके चित्तमें फलासक्ति नहीं होगी तो आप बन्धनमें नहीं पड़ेंगे। कर्म करना अपना काम है और फल देना परमात्माका। फल अपने हाथमें है ही नहीं। फलासक्ति छोड़ दो और काम करते रहो।

वृन्दावनमें जब जयपुरवाला बड़ा मन्दिर बन रहा था, जो आज करोड़ों रुपयोंमें भी नहीं बनेगा तब उसमें प्रसिद्ध सन्त बाबा और रामकृष्णदासजी महाराज दिन भर काम करते और पत्थर ढोते, मसाला ढोते और मजदूरी लेनेके समय गायब हो जाते। उन्होंने राज-मजदूरोंके साथ काम किया। एक दिन जब पकड़े

गये और पूछा गया कि तुम लोग मजदूरी क्यों नहीं लेते, तो बोले कि : 'क्या भगवान् तुम्हीं लोगोंका है? तुम लोग धन लगाकर मन्दिर बनवाओ और हम शरीरसे काम भी न करें? हमने जो कुछ किया है और करते हैं वह सब भगवान्‌के लिए है।' हम जो कर्म करते हैं वह ईश्वरकी पूजा है और ईश्वर-पूजाके लिए ही कर्म होता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ (4.21)

आप कर्म कीजिये, लेकिन केवल शरीर-निर्वाहके लिए, परिग्रहके लिए नहीं। ऐसी स्थितिमें आपका वह कर्म आपके जीवनमें अपना दोष उत्पन्न नहीं करेगा।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (4.22)

आप कर्म कीजिये, परन्तु ध्यान रखिये कि आप अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं; कर्मकी सिद्धि या असिद्धि आपके हाथमें नहीं। आप अपने काममें लगे रहें और अपना कर्तव्य पूरा करते रहें तो कर्म आपको बन्धनमें नहीं डालेगा। इसलिए न तो आप कर्म छोड़ें और न उनमें आसक्त हो जायें, कर्म ऐसे ढंगसे करें जो आपको बाँधे नहीं। भगवान्‌ने बादमें बताया—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (4.23)

ये पाँचों श्लोक बताते हैं कि हम किस ढंगसे काम करें जिससे कर्म-बन्धनमें न पड़े। पाप न लगे, नरकमें न जायें। पुण्य न मिले, स्वर्गमें न जायें। पाप बाँधकर नरकमें ले जाता है अर्थात् दुःखमें ले जाता है और पुण्य बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, अर्थात् सुखमें ले जाता है।

ये दोनों अपना फल बलात् देना चाहते हैं। परन्तु भगवती गीताने यह युक्ति निकाली कि कोई आपको न नीचे ले जा सके, और न ऊपर ले जा सके। आप अपने स्थानपर स्थिर हो जायें। कोई हमेशा हवाई जहापर नहीं रह सकता, वह आकाशमें कितना भी उड़े अन्तमें उसे धरतीपर एक जगह बैठना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई कितना भी नीचे चला जाये अन्तमें उसको अपने स्थानपर आना पड़ेगा। जबतक जीवनमें स्थिरता नहीं आयेगी, तबतक कितना भी ऊपर-नीचे जाओ काम बनेगा नहीं। अतः यज्ञके लिए कर्म करो। हमारे सारे कर्मोंमें यज्ञ है। यज्ञमें कुछ तो लोगोंसे लेना पड़ता है; इकट्ठा करना पड़ता है। यज्ञके लिए शाकल्य चाहिए, घी चाहिए, ब्राह्मण चाहिए। इसी प्रकार कुछ देना भी होता है। यज्ञ द्वारा सृष्टिमें सुगन्ध देते हैं और ब्राह्मणको दक्षिणा देते हैं। इससे उनकी जीविका निर्वाह होता है और वे वैदिक-संस्कृतिकी रक्षा करते हैं। यदि उनके लिए कुछ करेंगे नहीं तो वे बेचारे क्यों यज्ञका काम करेंगे? जीवन-निर्वाहके लिए कोई दूसरी जीविका अपना लेंगे। यज्ञमें एक होता है आदान और दूसरा होता है प्रदान। प्रदानका अर्थ है वितरण, इसको यह दो, उसको वह दो। घरमें जो इकट्ठा हो जाता है उसके वितरणकी पद्धति है यज्ञ। यज्ञमें कुछ नियम भी लेने पड़ते हैं जिनसे जीवनमें संयम आता है, तपस्या आती है। कुछ लोग

मन्दिरोंमें अथवा बड़ोंके सामने भी हाथ जोड़नेसे कतराते हैं और पूछते हैं कि क्या फायदा? इससे अच्छी आदत पड़ती है, विनय आती है और आशीर्वाद प्राप्त होता है। परन्तु जिनकी भगवद्भावना होती है वे सबको परमेश्वर समझकर ही हाथ जोड़ते हैं।

यज्ञायाचरतः कर्मका तात्पर्य है कि सबके हृदयमें भगवान् विष्णु बैठे हुए हैं और हम सबकी प्रसन्नताके लिए यह यज्ञ कर्म कर रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र कहता है कि जो केवल अपने खानेके लिए कर्म करता है वह पाप करता है-

केवलाघो भवति केवलादी (ऋग्वेद 10.117.6)

भोजन केवल अपने लिए नहीं पकाओ। पहले थोड़ा दूसरोंके उपयोगमें आये और बादमें जो बचे वह दूसरोंके उपयोगमें आये। बीचमें जो होता है; वही अपना हिस्सा है। रसोई पकाना और संसारके काम करना एक जैसा ही है। बड़े-बड़े कल-कारखाने और बड़े-बड़े उद्योग केवल अपने भोग-रागके लिए ही नहीं होते अपितु विश्वात्मा भगवान्‌की सेवाके लिए होते हैं। यदि इस दृष्टिसे यज्ञ-कर्म किया जाये तो **समग्रं प्रविलीयते** वह आपको बन्धनमें नहीं डालेगा, नीचे नहीं गिरायेगा।

इसके बाद भगवान् अर्जुनको इस विश्व सृष्टिमें तेरह प्रकारके यज्ञ बताये जो बहुत विलक्षण हैं। आजकल लोग यज्ञका नाम सुनकर घबरा जाते हैं। भगवान्‌ने एक ब्रह्मार्पण-यज्ञ बताया है जिसमें कर्मका लेशमात्र भी नहीं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ (2.24)

सभी कर्म ब्रह्मरूप हैं। इनका समर्पण भी ब्रह्मरूप है और फल भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मातिरिक्त और कोई वस्तु नहीं। इस दृष्टिका नाम है-ब्रह्मार्पण-दृष्टि और यह ब्रह्मार्पण यज्ञ है। इसी प्रकार एक ब्रह्माग्नि यज्ञ है और भी अनेक बढ़िया-बढ़िया यज्ञ हैं। देवताकी प्रसन्नताके लिए यज्ञ है। इन्द्रियोंके संयमनके उद्देश्यसे यज्ञ है। यहाँ तक कि भोगकी दृष्टिसे भी यज्ञ हैं। आप कभी इन यज्ञोंपर ध्यान दें।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति। (4.26)

हम जो आँखसे सुन्दर दृश्य देखते हैं, कानसे मधुर शब्द सुनते हैं, त्वचासे कोमल स्पर्श करते हैं और अपनी इन्द्रियोंकी आगमें पवित्र विषयोंका हवन करते हैं-यह भी एक यज्ञ है।

भारतीय संस्कृतिके यज्ञोंकी चर्चा कहाँ तक की जाये? छान्दोग्योपनिषद् और बृहदाण्यक उपनिषद्में तो पति-पत्नीके समागमका भी यज्ञके रूपमें वर्णन है। कुछ लोग भले मर्यादाके नामपर उनकी उपेक्षा करें, किन्तु भगवान् शंकर-जैसे आचार्योंने भी उनका भाष्य किया है। आप अपनी भारतीय संस्कृतिकी उदारताका यह सिद्धान्त तो देखें कि वह हमारे जीवनमें आनेवाले सभी कर्मोंमें यज्ञ-बुद्धि उत्पन्न करके उन्हें किस प्रकार पवित्र कर देता है। क्रिया क्या है, वेदी क्या है, घृत क्या है, अग्नि क्या है, इसकी चिनगरियाँ क्या हैं, इसका वर्णन उपनिषदोंमें आता है। हमारे यहाँ दन्तधावन भी एक नित्यकर्म है, धर्म है। लघुशंका कैसे करना, शौच कैसे

जाना, स्नान कैसे करना आदि सभी कर्मोंका विधि-विधान है-हमारे शास्त्रोंमें, जिनसे पवित्र होकर हम यज्ञकर्म सम्पन्न करते हैं। ऐसी उदार है हमारी भारतीय संस्कृति, जिसमें उठना, बैठना, चलना, पढ़ना, लिखना, बोलना, विश्राम यहाँ तक कि पुत्रोत्पादन भी धर्म है। तो—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (4.23)

आप यज्ञकी दृष्टिसे इन्द्रियोंका विषय-भोग कीजिये अथवा इन्हें संयमित कीजिये-दोनों यज्ञ हो जाते हैं। इन यज्ञोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्‌ने यह कहा—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (4.33)

द्रव्यसे जो यज्ञ होता है उसकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है। जितने भी कर्म हैं वे एक अनुभव या ज्ञान देकर समाप्त हो जाते हैं। आप इसको लौकिक दृष्टिसे देखिये। आप प्रत्येक कर्मसे एक अनुभव या ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब अनुभव या ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसके लिए कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अब वे कर्म आपको न कहीं ले जायँगे, न बाँधेंगे, न पराधीन बनायेंगे और न आपको फल देंगे। क्योंकि वे कर्म सारी सृष्टिके लिए हो जायेंगे और सबका भला करेंगे।

आप जानते हैं कि ज्ञानके समान पवित्र पदार्थ अन्य कोई नहीं, यह बात स्वयं भगवान्‌ने कहीं है। **सर्वं कर्माखिलम्**‌का उद्देश्य है **ज्ञाने परिसमाप्यते** उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भगवान्‌ने कुछ कर्तव्य बताये-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। (4.34)

ज्ञान प्राप्तिके तीन उपाय हैं—प्राणिपात, परिप्रश्न और सेवा। ज्ञान, गंगाकी धाराकी तरह है। जिस प्रकार गंगा हिमालयसे नीचे समतल भूमिपर आती है, उसी प्रकार ज्ञान भी विनयीकी ओर प्रवाहित होता है। वह अभिमानकी चोटीपर नहीं चढ़ता। अभिमानी लोग मार्गमें चलते-चलते कहते हैं, 'महाराज! कुछ ज्ञानका उपदेश कीजिये।' फिर बोलते हैं—'महाराज! दो शब्द चेतावनीके कहते जाइये।' 'अरे चेतावनी सुनते-सुनते तुम्हारी जिन्दगी बीत गयी। अब रास्तेमें चलते-चलते सुन लोगे तो क्या हो जायेगा?'

ज्ञान-प्राप्तिके लिए अपने अहंभावको विनयसे युक्त करना पड़ता है-'प्रणिपातेन।' ज्ञान चुरानेसे भी काम नहीं होता। कई लोग चलते-चलते या कहीं बैठे रहनेपर बातचीतकी बातें नोट करते रहते हैं और फिर कहीं अपनी बुद्धिका वैभव प्रकट करते हैं। यह ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग नहीं। इसलिए मनोयोगपूर्वक 'परिप्रश्नेन'— पूछ-पूछकर उसको ग्रहण करना चाहिए। 'सेवया' सेवा करके भी ज्ञान प्राप्त करनेका विधान है।

कर्म जड़ औजारोंसे होता है। समाधि भी जड़ताकी ही एक स्थिति है। परन्तु ज्ञान चेतनके सबसे अधिक निकट है। इसलिए ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको प्रयास करना चाहिए। ज्ञान केवल उपदेशसे ही नहीं मिलता उसके लिए पात्रताकी भी आवश्यकता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (4.39)

ज्ञानसे तत्काल शान्ति मिलती है। ज्ञान और शान्तिके बीचमें कोई व्यवधान नहीं। जहाँ ज्ञान है, वहाँ शान्ति है। जहाँ शान्ति है वहाँ ज्ञान अवश्य है। परन्तु जो वासनाएँ होती हैं वे ज्ञानकी रश्मियोंको कलुषित करती रहती हैं और उनके कारण शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि आपको ज्ञान प्राप्त हो जाय तो—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ (4.35)

इस श्लोकमें ज्ञानका स्वरूप बताया है। ज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता। मोह माने भटकना **मुह् वैचित्ये** चित्तके वैपरीत्यका नाम मोह है। जब **अधर्मः धर्मरूपेण** अधर्म धर्मके समान और धर्म अधर्मके समान प्रतीत होने लगे, तमोगुण बढ़ जाय, सब कुछ विपरीत दिखायी देने लगे उसके निवारणका एक मात्र उपाय ज्ञान ही है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मोह अथवा तामसी बुद्धि तकलीफ नहीं देती।

यहाँ ज्ञानकी बड़ी भारी महिमा बताते हुए यह भी बता दिया कि जो ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा उसके लिए आगे खतरा है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। (4.40)

धर्म अज्ञानीके लिए भी है, मूर्खके लिए भी है, पागलके लिए भी है। पशु-पक्षी और पेड़-पौधोंकी रक्षाके लिए भी धर्म है। आपने पढ़ा होगा, हमारे महाराजा पृथुने साँपोंकी रक्षाके लिए उनके भोजनका बन्दोबस्त किया, पृथिवीसे दोहन किया। राज्यमें शेर भी बने रहें, साँप भी बने रहें, पक्षी भी बने रहें, पशु भी बने रहें। सबकी, सबके बीजकी रक्षा राजाका कर्त्तव्य है। क्योंकि वे ईश्वरके बनाये हुए हैं और सृष्टिमें उनकी आवश्यकता है।

पहली बात यह है कि ज्ञान प्राप्त किया जाये और यदि प्रयास करनेपर भी ज्ञान प्राप्त न हो तो फिर ज्ञानियोंके वचनपर, निर्देशपर श्रद्धा रखी जाये।

हमको किसीने सुनाया एक विद्यार्थी काशीमें पढ़ रहा था, वह रह गया काशीमें और गुरुजी पहुँच गये उसके घर। पिताने पूछा कि हमारा पुत्र कैसा अध्ययन कर रहा है। पण्डितजीने बताया कि आपका पुत्र बहुत अच्छा है। परन्तु स्वयं तो उसे समझ नहीं और हमलोगोंकी बतायी बात मानता नहीं। आपकी समझ हो तो समझिये और यदि समझ न सकें, क्योंकि सबकी समझ एक-सी नहीं होती, तो ज्ञानियोंकी बतायी हुई बातपर श्रद्धा कीजिये। श्रद्धाहीन जीवन बिलकुल रूखा-सूखा जीवन है, आप इसका अनुभव कर लीजिये। आप अपने माता-पिताको श्रद्धासे ही माता-पिता मानते हैं, क्योंकि उनके मातृत्व-पितृत्वका आपको साक्षात्कार नहीं। आप इस दुनियामें बिना श्रद्धा कैसे रह सकते हैं? आप श्रद्धासे ही यह मानते हैं कि डाक्टर जो दवा देगा और इन्जेक्शन लगायेगा उससे हमारे रोगका निवारण होगा। नाईसे बाल बनावते समय भी आप श्रद्धासे ही यह विश्वास करते हैं कि वह आपके गलेको काट नहीं देगा। स्त्रियोंको पतियोंपर, पुरुषोंको पत्नियोंपर और पति-पत्नीको बेटेपर विश्वास करना पड़ता है। अन्यथा घर-परिवार अविश्वास एवं दुःखोंका केन्द्र बन जाये। इसलिए भगवान् कहते हैं-**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च**। एक तो अज्ञानी और दूसरे अश्रद्धालु। **एक तो करेला दूसरे नीम**

चढ़ा—जैसी बात है। हे भगवान्! यह कैसी विडम्बना है कि लोगोंको दूसरेकी बुद्धिपर श्रद्धा करनेमें शर्म आती है; किन्तु अपनी बुद्धिको इतनी बड़ी समझते हैं कि उसीपर श्रद्धा बनाये रखते हैं। यही बुद्धिका सम्मोहन है। अज्ञानी स्वयं अपनी बुद्धिसे सम्मोहित हो जाते हैं। तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं समझते। स्वयं जानते नहीं, दूसरोंपर श्रद्धा करते नहीं और हर बातमें होते हैं संशयात्मा। यहाँ भी संशय वहाँ भी संशय, सर्वत्र सबने संशय-**सर्वतोऽभिशङ्किनाम्।** भागवतमें कहा है कि कौवे सबपर शङ्का करते हैं। जो इनको चुग्गा डालने जाता है उससे भी डरते हैं। शङ्का वह, जो हमारे हृदयकी शान्तिको काट दे। शं=**शान्तिम् कृन्तति इति शङ्का।** अज्ञान, अश्रद्धा और संशय-ये तीनों मनुष्यके नाशका साधन हैं। इनसे उनकी मनुष्यता अदर्शनको प्राप्त हो जाती है। वे **नायं लोकोऽस्ति** न इस लोकमें सुखी होंगे और न परलोकमें सुखी होंगे। इसलिए हमें अपने जीवनसे संशयको दूर कर देना चाहिए।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमुतिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

संशय मनुष्यके बड़प्पनका लक्ष्य नहीं। यदि मनुष्य तरह-तरहकी शंका द्वारा अपने भीतर दुविधा पैदा कर लेते हैं तो यह उसकी चतुराई और बुद्धिमत्ता नहीं, अज्ञानकी पहचान है। **तस्मादज्ञानसम्भूतम्**—अज्ञानकी सन्तानका नाम है संशय और वह रहता है मनुष्यके हृदयमें। उससे मनुष्य इतने प्रभावित हैं कि उन्हें अपने स्वरूपके बारेमें ही शंका है। वह कर्त्ता है, भोक्ता है, संसारी है, परिच्छिन्न है अथवा क्या है—यह संशय उसे बना हुआ है। इससे छुटकारा पानेके साधनके सम्बन्धमें भी वह निश्चित नहीं कर पाता कि उसकी प्राप्ति ज्ञानसे होगी, भक्तिसे होगी अथवा कर्म करनेसे होगी। इस प्रकार साधनके सम्बन्धमें भी शंका और लक्ष्यके सम्बन्धमें भी शंका। कर्मके सम्बन्धमें भी अज्ञान, भावके सम्बन्धमें भी अज्ञान, अज्ञान ही अज्ञान। यह अज्ञान मनुष्यके लिए बहुत ही हानिकारक है। उसीको निकाल फेंकनेके लिए गीताका उपदेश है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह देखिये उनका स्वरूप। अपार करुणाके सागर हैं, आनन्दके निधान हैं **अमङ्गलमुक्तवीथिसंचारसारथिम्**—अमंगलसे मुक्त विथीमें ले चलनेके लिए चतुर सारथि हैं। 'अपार-दयानिधानम्' है। 'विज्ञान-सार-रस-मानस-राजहंस'—विज्ञान-सार-रस मानसके राजहंस हैं। अब उनकी कृपासे हमारे अज्ञानका, संशयका निवारण हो जायेगा। वे हमे ऐसे मार्गपर ले जायेंगे जहाँ कोई डर नहीं।

अब अन्तमें एक बात और, भक्तोंको भगवान्के रूपकी, नामकी चर्चा बहुत प्यारी लगती है। परन्तु भगवान्के तत्त्वज्ञानमें उनकी रुचि कम हो जाती है। वेदान्ती लोग चाहते हैं कि भगवान्के तत्त्व-ज्ञानकी तो चर्चा हो परन्तु उनके रूपकी चर्चा न हो। वास्तवमें हमारे मनको संतुलित रखनेके लिए रूपकी आवश्यकता होती है और बुद्धिको संतुलित रखनेके लिए ज्ञानकी। इस जीवनमें प्यार और ज्ञान दोनोंकी आवश्यकता है। प्यारके लिए चाहिए भगवान्का रूप और ज्ञानके लिए चाहिए भगवान्का उपदेश, भगवान्की गीता। भागवतमें जो लीलाएँ हैं वे हमारे प्यारको सन्तुलित करनेके लिए है। जिसके प्रेम और ज्ञान दोनों सन्तुलित होंगे उनके

जीवनमें अच्छे-अच्छे कर्म होंगे। जो कर्म भगवान्के द्वारा सम्पन्न होते हैं वे सबके लिए होते हैं—जैसे भगवान् पृथिवी बनते हैं, पानीका बन्दोबस्त करते हैं, अन्न देते हैं और उससे समस्त प्राणियोंका पालन-पोषण एवं संरक्षण होता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तोंका यह कर्तव्य है कि वे भी अपनी सामर्थ्य द्वारा जनताके लिए आवास, भोजन और वस्त्र आदिकी व्यवस्था करें। यह भगवान्का धर्म है। वे हमें ज्ञान देते हैं, आनन्द देते हैं, सृष्टिमें साँस लेनेके लिए हमें हवा देते हैं, वे चलनेके लिए आकाश देते हैं,देखनेके लिए सूर्यकी रोशनी देते हैं। उसी तरहसे जब भगवान्का ज्ञान हमारे जीवनमें प्रकट होगा, तो हमारी जीवन-शक्ति, सबकी जीवन-शक्ति और ज्ञान-शक्ति बन जायेगी। इसीके लिए भगवान् प्रकट होते हैं और हमें उपदेश करते हैं।

एक बात और—इससे भी सरल यह है कि यदि हम भगवान्के रूपको अपने प्यारसे और भगवान्के ज्ञानको अपनी बुद्धिमें लेना चाहते हैं तो दोनोंके साथ कड़ी जोड़नेके लिए हमारे जीवनमें भगवान्का नाम होना भी आवश्यक है। नाम छोटा-सा है उसके लिए बहुत पढ़ा-लिखा या बहुत सुशिक्षित, सुसंस्कृत होनेकी जरूरत नहीं। यदि आपको सबके सामने भगवान्का नाम लेनेमें संकोच होता हो तो उसे अपने मुँहके भीतर छिपा सकते हैं। जैसे भी आप भगवान्का नाम लेते रहेंगे तो धीरे-धीरे भगवान्के रूपके साथ भी आपका सम्बन्ध जुड़ जायगा और उनका ज्ञान भी आपके जीवनमें आ जायगा। इसलिए अन्तिम बात यही है कि भगवान्का नाम अपने जीवनमें आये, भगवान्के रूपसे हमें प्यार हो, भगवान्का तत्त्व-ज्ञान हमारे भीतर प्रकाशित हो और भगवान्के जो अनन्त, अचिन्त्य गुणगण हैं वे पूरे नहीं तो आंशिक रूपसे ही सही हमारे जीवनमें भी प्रकट हों। जिस प्रकार भगवान् सारी सृष्टिको सत्ता, चैतन्य और आनन्दका दान कर रहे हैं इसी प्रकार हम भी यथाशक्ति लोगों को ज्ञान एवं आनन्दका दान करते रहे। हम यदि गोवर्धन नहीं उठा सकते तो अपनी लठिया तो लगा ही सकते हैं। भगवान्के कर्ममें हमारा जो भी योग हो इसके लिए हमें हमेशा उद्यत और सचेष्ट रहना चाहिए।

आप लोगोंने बड़े प्रेमसे, शान्तिसे, अपना समय देकर और कभी कोई बात आपकी रुचिकी नहीं हुई होगी तो भी उसे सुनकर अपने-अपने मनको वशमें रखा है, छोटी-छोटी कुर्सियोंपर बैठकर कष्ट उठाया है। आप लोगोंने स्वयं तो आनन्द लिया ही है, मुझे भी आनन्द दिया है। क्योंकि आपके आनन्दको देखकर मुझे भी बहुत आनन्द हुआ है। आप लोगोंने जो आनन्द अलग-अलग लिया है, वह मुझे आप सबकी ओरसे अकेले ही मिल गया है। इसलिए मैं बहुत-बहुत आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

26-11-'74

गीता-ज्ञान-यज्ञके समापन-समारोहके अवसर पर पं० श्री देवधर शर्मा, पं० श्री विष्णुकान्त शास्त्री और श्रीमती सरला बिरला (श्री बसन्त कुमार बिरला)के

भाषणों का सारंश :-

भक्तिमती देवियो और सज्जनो,

आज इस गीता-ज्ञान-यज्ञका समापन होने जा रहा है। आप जानते हैं, पिछले दस दिन किस प्रकार दस क्षणोंकी भाँति व्यतीत हुए। इन दस दिनोंमें हमें ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द मिला, जिससे हमारे हृदय और प्राण प्रफुल्लित हैं और आभारी हैं श्री बसन्त कुमार जी बिरलाके और उनकी सहधर्मिणी सौजन्यमयी श्रीमती सरला बिरलाके, जिन्होंने इतना दिव्य आयोजन किया, जिनके अनुराग-भरे आमन्त्रणपर स्वामीजी महाराज साक्षात् यज्ञपुरुषके रूपमें यहाँ पधारे। वास्तवमें जब स्वामीजी महाराज-जैसे सन्तपुरुष हमारे जीवनमें आते हैं, उनका साक्षात्कार होता है, उनका सत्सङ्ग प्राप्त होता है तभी हमें विदित होता है कि मरण-धर्मा कहा जानेवाला यह मानव शरीर कितना मूल्यवान् है। इसके भीतर जो नित्य और शाश्वत चैतन्य है, आत्मतत्व है उसका कितना विकास और प्रकाश हो सकता है। इसका परमात्मासे कितना तादात्म्य हो सकता है और उसके द्वारा इस जगत्को कितना ज्ञान-दान दिया जा सकता है। जब हम लोग—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

की व्याख्याके संदर्भमें स्वामीजी महाराजके दर्शन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी महाराज उन्हीं दुर्लभ महात्माओंमें-से हैं, जो न केवल दूसरोंको भगवत्स्वरूप समझते हैं बल्कि स्वयं भी भगवत्स्वरूप होते हैं और जिनके मन-वचन-कर्म सब कुछ विश्वात्मा भगवान्को समर्पित होते हैं। निस्सन्देह स्वामीजी-जैसे सन्तोंका इस संसारमें इसीलिए आना होता है कि मानव समाजके दुर्भावोंका, दु:खोंका अन्त हो। वे अपने सच्चे स्वरूपको पहचानें और कर्त्तव्य-कर्मका निर्वाह करते हुए शाश्वती शान्तिको प्राप्त हों। शाश्वती शान्ति कोई अलभ्य वस्तु नहीं, अनहोनी वस्तु नहीं बल्कि इससे हमारा नैसर्गिक नाता है और हम इसीके लिए बार-बार जन्म ग्रहण करते हैं।

स्वामीजीकी दृष्टिमें सभी प्राणी उनके आत्मस्वरूप हैं। कोई भी पराया नहीं। आप 'सर्वभूतहिते रता:'के अनुसार सबका भला चाहते हैं। इसीलिए स्वामीजीके सम्पर्कमें जो आता है, उसे उनके प्रति आत्मीयताका अनुभव होता है और वह उनके आनन्दमय व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता है। हमारा यह परम सौभाग्य है कि स्वामीजी-जैसे विद्वान् महात्मा हमारे मध्यमें हैं और हम उनकी अमृतमयी वाणीका रसास्वादन कर रहे हैं। प्रभुसे प्रार्थना है कि हमने जो कुछ सुना है, वह हमारे जीवनमें उतरे, हम अपने कर्तव्य और अकर्तव्यको पहचानें। इसी जन्ममें अपने जीवनके चरम फलको प्राप्त करनेमें समर्थ बन सकें। इन्हीं शब्दोंके साथ मैं प्रार्थना करूँगा पण्डित श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्रीसे कि वे हम सबकी ओरसे स्वामीजीके चरणोंमें श्रद्धा निवेदित करें। स्वामीजीने हम सबकी जीवन-यात्राके लिए अपने प्रवचनोंके माध्यमसे जो पाथेय प्रदान किया है, उसके लिए हम केवल श्रद्धा ही निवेदित कर सकते हैं और अपनी आस्था ही व्यक्त कर सकते हैं। यह सब कुछ हमारी ओरसे पण्डित विष्णुकान्तजी शास्त्री ही करेंगे।

मैं समझता हूँ पं० विष्णुकान्तजी शास्त्री[1]का परिचय आपको देनेकी आवश्यकता नहीं। वे कलकत्ता विश्वविद्यालयके हिन्दीके प्रोफ़ेसर हैं और बहुत बड़े विद्वान् पिताके विद्वान् पुत्र हैं। इनके पिताका नाम पण्डित गांगेय नरोत्तम शास्त्री है जिनसे सारा विद्वान् समाज परिचित है। विष्णुकान्तजी भी आजकलके नये लेखकोंकी पीढ़ीमें हैं और उनके लेख 'धर्मयुग'में, साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान'में प्रकाशित होते रहते हैं। सारा हिन्दी-जगत् इन्हें जानता है। इन्होंने प्रारम्भसे ही महाराजश्रीका प्रवचन सुना है, गुना है, अनुभव किया है इसलिए ये जो कुछ भी कहेंगे अधिकारपूर्वक कहेंगे।

—देवधर शर्मा

•

1. कालान्तरमें पं० विष्णुकान्तजी सांसद हुए तथा हिमाचल एवं उत्तर-प्रदेशके राज्यपाल भी।

मित्रो !

पूज्य स्वामीजीकी अमृतवाणी आपने–हमने सुनी। हम लोग कितना उसे गुन पाये इसे तो भीतरका परमात्मा ही जानता है। सुनते समय मुझे बराबर लगता रहा, एक प्रश्न उभरता रहा, यह मनुके मुखसे निकला था—

कौन हो तुम खींचते यूं मुझे अपनी ओर।
और ललचाके स्वयं हटते उधरकी ओर।।

आखिर यह कैसा आकर्षण, कैसी आत्मीयता है जो हम सबको अपने दैनन्दिन जीवनके कर्मसे खींच ले आती है, ले आती रही है और बराबर इस बातका आभास देती रहती है कि—

है अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।

जो सुना वह बढ़े और बढ़े तथा वाणीके सहारे चला आये। स्वामीजी महाराज जो विवेचन कर रहे थे तो उन्होंने कहा कि इन्द्रियोंसे गहरे मन है, मनसे गहरे बुद्धि है, बुद्धिसे भी गहरे परमबोधस्वरूप आत्मा है। उसके निकट स्वामीजीकी वाणीका अवलम्बन लेकर हम आप जा सकते हैं। मुझे प्रतीत होता रहा कि यह बोध-स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, दीखता नहीं, अनुभूत नहीं होता। आखिर जब भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि 'मेरा दिव्यस्वरूप देखनेके लिए तुम्हें दिव्य चक्षुओंकी आवश्यकता होगी' तो भगवान्का दिव्यस्वरूप तो था ही वहाँ केवल अर्जुन देख नहीं सकता था—

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।

इसी तरह परमबोधस्वरूप तो विद्यमान ही है, हम आप समझ नहीं पाते, हम आप जिन चर्मचक्षुओंसे, जिस व्यवहारकी वासनासे आवृत हैं, उसमें यह स्वरूप आता रहता है, हमारी दृष्टि वहाँतक नहीं जा सकती। दिव्यचक्षु परमात्मा ही देते हैं ऐसी बात नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है सद्गुरु दे सकते हैं—

उघरहिं विमल विमोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।
सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।।

हृदयके विमल विलोचन खुल सकते हैं। महाराजश्रीकी यह वाणी हमारे हृदयके विमल विलोचन खोल सकती है, अंशत: जितनी हमारी आपकी पात्रता थी। पात्रता ही नहीं है इसलिए ज्ञान नहीं। पात्र अगर एक सेरका है तो एक ही सेर हमें मिला, भले अमृतमय वर्षा होती रही। लेकिन यह है एक सेर जल किसी गन्दले नालेका तो नहीं है, यह गंगाका है, महाराजश्रीकी अमृतमयी वाणीका है, हमारी पात्रताको वही जल और आगे बढ़ा देगा ऐसा मेरा विश्वास है। बार-बार महाराजश्रीका प्रवचन सुननेका आग्रह आपके और हमारे मनमें बना रहे, हम और आप बार-बार यह प्रार्थना करते रहें कि महाराजश्री यहाँ पधारें। आयोजकोंका यह धर्म बना रहे जिसके कारण हमें, आपको यह अवसर मिला। हम प्रार्थना करते हैं कि भागवतका जो पाक्षिक प्रवचन महाराजश्री करते हैं उसके श्रवणका अवसर हमें मिले। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा था, वह हम आपसे कह सकते हैं कि बार-बार आपकी वाणी सुनते हुए इस अमृत रससे हमें तृप्ति नहीं होती। आप पुन: इसे—

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

—विष्णुकान्त शास्त्री

पूज्य स्वामीजी महाराजके पूज्य चरणोंमें प्रणाम!

भगवान् श्रीकृष्णकी असीम कृपासे यह एकादश दिवसीय अद्भुत अनुष्ठान सफल समङ्गल सम्पूर्ण हो रहा है। पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजने अपनी दिव्यवाणी तथा अनुपम शैलीसे भगवद्गीताके इन अमृत-सन्देश तथा उपदेशका वितरणकर हम सबको कृतकृत्य किया है। मैं अपनी ओरसे तथा आप सबकी ओरसे पूज्य स्वामीजीको अनेक-अनेक धन्यवाद देती हूँ, आभार प्रदर्शित करती हूँ। जैसे अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा-

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।

वैसे ही हमने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि हमें आपका प्रवचन सुनकर तृप्ति नहीं हुई है और मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि नूतन वर्षमें इन्हीं दिनों इसी जगह वे हमें इस गीतामृतका पान करायेंगे। आप सब महानुभावोंने नियमित रूपसे यहाँ पधारकर अमृतवाणी शान्ति तथा भक्तिपूर्वक सुनी, इसलिए आप सबको हार्दिक धन्यवाद है और आशा है कि भविष्यमें भी आप सबका प्रेमपूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

पं० देवधरजी शर्मा हमारे अनुरोधपर इसी उद्देश्यसे यहाँ आये हैं उन्हें अनेक धन्यवाद!

पूज्य महाराजश्रीका सहयोग हमेशा हमारे साथ तो रहता ही है और उनकी प्रेरणा इन सब कामोंके पीछे बराबर रहती है; उन्हें अनेक धन्यवाद! स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा श्रीराधेश्यामजीको धन्यवाद देते हुए मैं आप सबको नमस्कार करती हूँ।

—सरला बिरला

गीता-दर्शन

(2)

गीता अध्याय-5

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

आशीर्वाद

श्रीमती सरला एवं बसन्तकुमार बिरलाने कलकत्तामें गीता-प्रवचनके जो आयोजन किये थे, उनमें-से प्रथम वर्षका प्रवचन पहले प्रकाशित हो चुका है। अब द्वितीय वर्षका प्रवचन प्रकाशित होकर आपके हाथोंमें आ रहा है। लोगोंने गीता-दर्शनके प्रथम भागको बहुत पसन्द किया है। द्वितीय भागके लिए बड़ी माँग थी। उसके अनुसार यह प्रकाशन किया गया है। तृतीय भाग इसके बाद शीघ्र ही प्रकाशित होगा। चतुर्थ भाग भी लिखकर तैयार है। चतुर्थ भाग तो स्वयं श्रीमती सरला बिरलाने ही लिखकर तैयार किया है। ईश्वर उनकी आध्यात्मिक रुचिको दिनों-दिन बढ़ावे। उनका परिवार और वे मङ्गलमय एवं सुखी रहें।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय भागके प्रवचनोंको श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोगके साथ तैयार किया है। एक घण्टेका प्रवचन तैयार करनेमें 10-12 घण्टे लग जाते हैं। रिकार्डसे सुनकर लिखना, संशोधन करना, दुबारा लिखना यह बहुत बड़ा काम है। इसमें प्रेम, लगन एवं परिश्रमकी बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ती है। बड़ी सूझ-बूझ, सावधानी और मनोयोगसे संशोधन एवं सम्पादनका कार्य करना पड़ता है। सतीशबाला जेठी और डा० महेन्द्रलाल जेठीसे इतनी आत्मीयता हो गयी है कि उनकी प्रशंसा करना या धन्यवाद देना अपनी ही प्रशंसाके समान है। अतएव मैं हृदयसे आयोजक, संशोधक एवं सम्पादकको आशीर्वाद देता हूँ कि भगवत्कृपासे उनकी सर्वविध उन्नति हो एवं दिनों-दिन भगवद्भक्तिकी वृद्धि-समृद्धि हो।

इसके परिष्कार-संस्कारमें श्रीदेवधर शर्माजीका प्रारम्भसे अन्ततक सहयोग एवं दृष्टिकोण रहा है, यह बात कभी भुलानेकी नहीं है।

अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीघनश्यामदासजी बिरलाका

समापन-भाषण

दिनांक 19-11-1975 ई०

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज! मैं अपने परिवारकी ओरसे और जो श्रोता लोग आये हैं, उनकी ओरसे आपको अनेक-अनेक धन्यवाद देता हूँ। आप संन्यासी होकर भी लोक-कल्याणके लिए, लोक-संग्रहके लिए, सब भूतोंके हितके लिए, कर्मयोगका जो अनुष्ठान कर रहे हैं, इससे संसारका मंगल हो रहा है। आजकलके समय, जबकि लोग बड़े उद्विग्न रहते हैं, एक अमृतकी बूँद, प्रवचनके रूपमें मिल जाती है तो उससे शान्ति होती है, अपने कर्तव्यका ज्ञान होता है। आपने अनेक गूढ़ बातें श्रोताओंको बतायी है। यहाँ भी, बम्बईमें भी, जहाँ-जहाँ आप जाते हैं वहाँ-वहाँ प्रवचनोंके द्वारा लोगोंको लाभान्वित करते हैं।

मैंने जो कुछ सुना है, उसका सार-सार अगर मैं कहूँ तो एक ही है। आपने श्रोताओंसे यह कहा है कि अपना जो कर्तव्य है, उसको आप निष्काम भावसे करते जाओ। उसका फल क्या होगा, उसकी चिन्ता मत करो। अन्तमें ईश्वर आपको सहायता देगा। यह बात बुद्धिसे भी समझी जा सकती है कि फल आपके हाथमें नहीं है। गीताकार जब यह कहते हैं कि फलकी आसक्तिको त्यागकर अपना कर्म करो तो उसका मतलब यह नहीं कि आप उसका फल क्या होगा—यह मत सोचो। किन्तु आप यह भी सोचो कि फल आपके हाथमें है ही नहीं। क्योंकि अन्तमें कार्यका पूरा होना-न-होना बहुत सारी घटनाओं पर निर्भर होता है, जो आपके काबूमें नहीं है, आपके नियन्त्रणमें नहीं है। इसलिए समझदार व्यक्ति बुद्धिसे भी सोच सकता है कि उसका काम केवल कर्म करना है और वह कर्म लोभके साथ नहीं किया जाना चाहिए। कर्म तो निष्काम होकर ही करना चाहिए, क्योंकि कर्मयोग केवल कर्मका नाम नहीं, कर्मयोग उसीका नाम है जो सबकी सेवाके लिए, सर्वभूतोंके हितके लिए, कामनाओंको छोड़कर शुद्ध बुद्धिसे किया जाता है। इसी कर्मयोगको स्वामीजी महाराजने, अच्छी तरह समझाया है। एक बात आप ध्यानमें रखिये, जब श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने गीता कही तो किस स्थानपर कही? युद्ध भूमिमें कही। चारों तरफ जोरसे नगाड़े बज रहे थे, तलवारोंकी खनखनाहट हो रही थी, सब लोग उद्विग्न थे। उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे यह कहा कि मेरी तबियत तो ढीली होती जाती है। मुझे कुछ सूझता नहीं कि मैं क्या करूँ? ऐसे स्थानपर, ऐसे भीड़-भड़क्केमें, ऐसे शोरशराबेमें भगवान्‌ने जब अर्जुनको उपदेश दिया तब उसके बाद अन्तमें अर्जुनने यह कहा कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया है। अब मुझे स्मृति आगयी है, अब मैं— 'स्थितोस्मि' स्वस्थ हूँ, मेरी तबियत ठीक हो गयी है, आपने जो कहा उसे मैं करूँगा।' इससे आप यह समझिये कि शान्ति हिमालयकी कन्दराओंमें मिले—ऐसी बात नहीं। शान्ति तो कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें, बाजारोंमें

भी मिल सकती है। वही शान्ति कायम रहेगी। हिमालयकी कन्दराओंमें किसीको जो शान्ति मिलती है, उसमें तो कलकत्ता आनेपर विघ्न आ जाता है।

तो स्वामीजी महाराजने कलकत्तेमें उपदेश देकर आपको यह बताया कि भाइयों, अपना कर्तव्य-कर्म करते जाओ-शुद्ध भावसे, लोगोंकी सेवाके लिए, लोगोंके हितके लिए और कामनाको छोड़कर। क्योंकि गीतामें जो सबसे बड़े दुश्मन बतलाये गये है, वे काम, क्रोध है—'काम एष क्रोध एष।' तो काम और क्रोध-ये दो आपके दुश्मन हैं। कामना पूरी नहीं होती तब क्रोध आता है। इनको छोड़ो। यह जान लो कि ये तुम्हारे दुश्मन हैं। स्वामीजी महाराजने आपको कहीं विस्तारपूर्वक और कहीं संक्षेपमें यह बताया है कि आप अपना काम करते जाओ। कलकत्तेके भीड़-भड़क्केमें भी करते जाओ। यहीं आपको शान्ति मिलेगी। इसीको सन्तोंने सीधी भाषामें कहा है कि-'काहे रे बन खोजन जाये।' भगवान्‌को खोजने वनमें क्यों जाते हो? वह तुम्हांरे भीतर ही तो है। उसे भीतर ही खोजो। यह बात सही है। आप जब कोई काम करते हो तथा जब काममें लवलीन हो जाते हो और आपके पास आकर कोई आदमी खड़ा हो जाता है तो आपको पता भी नहीं चलता कि कोई आया है। इसी तरह जो भगवान्‌में लग्न होकर काम करता है उसको इस बातकी विस्मृति हो जाती है कि कलकत्तेमें अशान्ति भी है। यही सब स्वामीजी महाराजने बताया है। हम इनके बड़े अनुगृहीत हैं। मेरा ख्याल है कि जैसे रोगीको दवाकी जरूरत होती है वैसे ही जो व्यवसायी-समाज कलकत्तेमें रहता है, उसको ऐसे प्रवचनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। और, जैसा कि स्वामीजीने आज कहा, केवल गीता पढ़नेमात्रसे आपकी समाधि नहीं लग सकती, गीता तो आचरणके लिए है। गीतामें पुनरुक्तियाँ काफी हैं और वह जान-बूझकर की गयी है। क्योंकि बार-बार घिस-घिसकर यह बताना है कि भाई, कर्म करो-कामना छोड़कर कर्म करो और वह भगवान्‌को अर्पण कर दो। इन्हीं बातोंको कई जगह अलग-अलग तरहसे बताया गया है। उसका हेतु यही है कि आप उसको पूरी तरहसे समझो और समझकर उसपर अमल करो। तभी आपको लाभ होगा, नहीं तो लाभ नहीं होगा।

अन्तमें मैं फिर अपने परिवार और श्रोताओंकी तरफसे स्वामीजी महाराजके प्रति अनेक कृतज्ञताएँ प्रकट करता हूँ कि उन्होंने यहाँ आकर हम सब लोगोंका कल्याण किया और प्रवचन देकर हमारा उपकार किया।

गीता अध्याय-5

प्रवचन : 1

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीताऽमृतदुहे नमः॥

भगवान् श्रीकृष्ण प्रपन्नपारिजात हैं। जो उनके चरण पकड़ ले, उनकी शरणमें आजाये; उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। स्वभक्त-पक्षपाती हैं। ब्रह्मका जो वर्णन वेदान्ती करते हैं, वह निष्पक्ष होता है, उसमें भक्ति-सम्प्रदाय चलानेकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जहाँ सगुण-साकार परमेश्वरका वर्णन होता है, न करनेसे हानि होती है। भगवान् अपनी शरणमें आये हुए की रक्षा करते हैं और उसके सारे मनोरथ भी पूरे करते हैं। यदि शरणमें जानेपर भी समानताका ही व्यवहार मिले, न्याय ही मिले तो कोई शरणमें क्यों जायेगा? शरणागति न्याय-प्राप्तिके लिए नहीं, सहायताके लिए सुरक्षाके लिए होती है। अस्तु; प्रपन्न-पारिजात हैं भगवान् श्रीकृष्ण। वे संयम और प्रशासन-स्वरूप तोत्र और वेत्रको अर्थात् घोड़ेकी लगाम और उसके बेकाबू होनेपर उसे दण्डित करनेके लिए चाबुकको अपने हाथमें रखते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ स्वच्छन्द नहीं हैं और उनके उच्छृङ्खल होनेपर उनको दण्ड देनेकी सामर्थ्य भी है। भगवान्‌के हाथमें तोत्र-वेत्र तो है ही वे ज्ञानमुद्रासे भी सुशोभित हैं। उनकी मुद्रासे ही ज्ञानकी वर्षा होती है। वे सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे ही गीताऽमृतका दोहन कर रहे हैं। ये सब शरण्यके लक्षण हैं। इसलिए आइये हम नमस्कार करें भगवान् श्रीकृष्णको, जो समस्त आकर्षणोंके, प्यारके केन्द्र हैं और सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो 'गीता' शब्द है, वह संज्ञा भी है और क्रिया भी है—'गीताशास्त्रमिदं पुण्यं।' थोड़ा इसपर ध्यान दें। दुर्योधन और अर्जुन दोनों युद्धभूमिमें आते हैं। दुर्योधनका सारथि कौन है—इसका अनुसन्धान आप लोग करना। महाभारतमें ढूँढ़ना कि कहीं उसका नाम मिल जाये। अज्ञातप्राय सारथि है। इसका यह अर्थ है कि अज्ञान ही सारथ्य कर रहा है दुर्योधनका। इधर अर्जुनके सारथि है श्रीकृष्ण। दुर्योधन आचार्यके पास जाकर कहता है—'पश्यैतां'—'देखो यह सेना।' अर्जुनका कहना है कि—'यावदेतान्निरीक्षेऽहं'—'मैं निरीक्षण करूँगा।' देखते दोनों हैं सेनाको—दुर्योधन भी और अर्जुन भी। परन्तु दुर्योधनके मनमें विवेकका उदय नहीं होता। वह अपने पहलेके आग्रहपर ही अडिग है और अर्जुनके मनमें विवेकका उदय होता है। जो सोच-विचारकर काम करता है, उसको सफलता मिलती है और जो बिना सोचे-समझे, आग्रहवश, काम करता है, वह निष्फल होता है, विफल होता है।

अब आप अर्जुन और दुर्योधन दोनोंकी प्रवृत्तियोंमें जो [illegible] है, उसे देखो—एक तो भगवद्दृष्टिसे

और दूसरे अर्जुनकी दृष्टिसे। भगवान् अपने शरणागतकी रक्षा करनेके लिए पूर्णरूपसे तैयार हैं। वे आज्ञाकारी तक बन गये हैं। अर्जुनने—'करिष्ये वचनं तव'-मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा—यह बात गीताके अन्तमें कही है। परन्तु श्रीकृष्णने गीताके प्रारम्भमें ही अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया है—**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।**

यह श्रीकृष्णकी शरण्यताके सामर्थ्यका द्योतक है। श्रीकृष्ण इतने शरणागतवत्सल हैं कि अर्जुन उनसे छोटा होनेपर भी उन्हें आज्ञा दे देता है। अर्जुन जीव होनेपर भी श्रीकृष्णको आज्ञा देते हैं और श्रीकृष्ण ईश्वर होकर भी जीवकी आज्ञाका पालन करते हैं। जब ईश्वर अपने ऐश्वर्यको स्वभक्तपर बलिदान कर देता है तो भक्तमें ऐसा क्या सामर्थ्य है कि वह ईश्वरके प्रेममें, ईश्वरकी भक्तिमें, अपने ऐश्वर्यका बलिदान न करे? श्रीकृष्ण अपनी ईश्वरताको एक ओर किनारे रखकर अर्जुनके सारथिका काम करते हैं। 'सारयति अश्वान् इति सारथिः'—जो हमारे जीवनका संचालन करे उसका नाम सारथि होता है। यह हम आपको बता चुके हैं। युद्धमें दुर्योधनकी जो प्रवृत्ति हैं, वह स्वार्थकी है। वह कहता है कि 'मदर्थे त्यक्तजीविताः'—मेरा अर्थ पूरा होगा और सैनिक मरेंगे। ये सब मेरे हितार्थ मरनेके लिए तैयार होकर आये हैं। किन्तु अर्जुनकी युद्धमें प्रवृत्ति लोकहितके लिए है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।

मैं अपने लिए राज्य और भोग-सुख नहीं चाहता। जिनके लिए चाहता हूँ, वे मरनेके लिए तैयार हैं। फिर युद्ध करनेसे क्या लाभ है? अस्तु; अर्जुनकी भाँति विवेक करके ही काम करना चाहिए। सहसा, बिना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए।

अभिवर्षति योऽनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥

(किरात. 2.31)

विवेकके कारण ही अर्जुनके मनमें जिज्ञासाका भाव उदय हुआ। जो विवेक करता है, उसके सामने दो पक्ष आ जाते हैं। विवेक करनेका मतलब है दो अथवा अनेकमें-से एकको चुनना। 'विचिर्-पृथग्भावे' विविध वस्तुओंको उनके सम्मिश्रणमें-से अलग-अलग करनेका नाम संस्कृत भाषामें विवेक है। अर्जुनके मनमें तो कर्त्तव्याकर्त्तव्य सम्बन्धी विवेक जागृत हुआ, परन्तु दुर्योधनके मनमें जागृत नहीं हुआ। उसकी बुद्धि करवट बदल रही है। वेदमें एक मन्त्र आता है—'कलिः शयानो भवति' जो सो गया वह कलियुग हो गया। 'संजिहानस्तु द्वापरः' जो सजिहाने लगा, करवट बदलने लगा वह द्वापर हो गया। 'उत्तिष्ठन् त्रेता भवति' जो खड़ा हो गया वह त्रेता हो गया। 'कृतं संपद्यते चरन्' जो अपने कर्त्तव्यके मार्गमें लक्ष्यप्राप्तिके लिए आगे बढ़ने लगा वह सत्ययुग हो गया।'

इसी प्रकार अर्जुन सोया हुआ नहीं है, सुषुप्ति नहीं है। उसकी बुद्धि जागृत हो रही है। 'धर्मसंमूढचेताः' वह अपनी मूढ़ताको समझता है। किन्तु, दुर्योधन अपनेको मूढ़ नहीं मान सकता। मूढका लक्षण यही है कि

वह अपनेको मूढ़ नहीं मानता, अपनी मूढ़ताको नहीं समझता। जो जागरूक है, वह अपने मोहसे परिचित है, अपनी गलतियोंको भी समझता है। इसीलिए वह कहता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

जिससे मेरा हित हो, मुझे बताओ। वह श्रेयका जिज्ञासु है। गीतामें श्रेय शब्दका प्रयोग एक बार नहीं अनेक बार हुआ है। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—मैं भीख माँगकर खाऊँगा, परन्तु हिंसा नहीं करूँगा। यही सबसे बड़ा श्रेय होगा।

इस बार मुझे आपको पाँचवें अध्यायका प्रसंग सुनाना है। पिछली बार चार अध्याय पूरे हुए थे। भूमिकाके रूपमें आप लोग थोड़ी-सी बात समझ लें। मनुष्यके जीवनमें पुरुषार्थ चार होते हैं। कोई-कोई पाँच भी मानते हैं। हमको अर्थ चाहिए, धन चाहिए, जो भी चाहिए, उसकी दृष्टिसे हमें विचार करना पड़ेगा कि उसके लिए साधन क्या है,इस प्रश्नको लेकर उड़ान नहीं भरना चाहिए कि गीतामें कर्म करनेके लिए कहा गया है या कर्म छोड़नेके लिए अथवा उसकी मीमांसा क्या प्रस्तुतकी गयी है? पहले यह देखना चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है? यदि हमें संसारकी सम्पदा चाहिए तो न ऐसा कोई शास्त्र है, न कोई परमेश्वर है, न महात्मा है—जो कह दे कि धन चाहनेवालेको कर्म नहीं करना चाहिए। है कोई? इसलिए यदि धन चाहिए तो जहाँ धन मिलेगा, वहाँ पहुँचना पड़ेगा। जो विचारपूर्वक कर्म करता है, उसके गलेमें गुणकी लालची सम्पदायें स्वयं वरमाला पहनाती हैं—

सहसा विदधीत न क्रियाम् अविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

(किरात० 2.30)

सम्पत्ति उसीका वरण करती है जो गुणी हो, शीलवान् हो, वृद्धके आश्रयमें रहता हो और कृतज्ञ हो। कृतज्ञता बड़ा भारी गुण है, जो अपनेको लाभ पहुँचानेवालेके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें कृपण होता है, सम्पत्ति उसका साथ नहीं देती। मनुष्यको कृतज्ञ होना ही चाहिए। अस्तु; यदि सांसारिक सम्पदा प्राप्त करनी है तो आपको कर्म करनेसे रोकना या उसके प्रति सन्देह उत्पन्न करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है। यदि भोग प्राप्त करना हो तो उसकी प्राप्ति भी बिना कर्मके नहीं होती। इस हास्योक्तिका तो पिछली बार भी उल्लेख किया जा चुका है कि यदि विष्णु भगवान् भी आलस्यमें ही रहने लगें तो लक्ष्मीजी उनको छोड़कर चली जायेगी—'विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्।'

अतः मनुष्यको कर्मशील रहना चाहिए। बिना कर्मके न धन मिलता है, न भोग मिलता है। चाह वनमें हों किन्तु कर्म न हो तो आदमी पागल हो जायेगा। या तो चाह मिटानेके लिए प्रयास करो या चाह पूरी करनेके लिए प्रयास करो, प्रयास तो दोनों ओर रहेगा-ही-रहेगा।

अब धर्मको लें। धर्म तो कर्मरूप ही है। यदि आप धर्म चाहते हैं तो भी कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके धर्म कैसे होगा? इसलिए गीतामें जब यह प्रश्न उठता है कि कर्म करना चाहिए या नहीं करना चाहिए

तो उसमें दुविधाकी कोई बात न धन चाहनेवालोंके लिए है, न भोग चाहनेवालोंके लिए है और न धर्म चाहनेवालोंके लिए ही है। कर्मसे धर्मकी उत्पत्ति होती है—यह एक मत है और स्वयं विहित कर्म ही धर्म है यह दूसरा मत है। 'यं क्रियमाणम् आर्याः प्रशंसन्ति'—जब हम कोई काम करें और बड़े बूढ़े उसकी प्रशंसा करें कि तुमने बहुत बढ़िया काम किया तो वह धर्म हो जाता है। परम्पराका परित्याग करके, नवीन धर्मकी कल्पनाकी जाती है तो उसको वृद्धोंका आशीर्वाद नहीं मिलता। धर्म भी दृश्यमान पदार्थ है, दिखायी देनेवाला है। जहाँ अन्तःकरणकी शुद्धिपर दृष्टि है वहाँ कर्म धर्म हो जायेगा। हम जो कर्म वस्तुकी प्राप्तिके लिए, भोगकी प्राप्तिके लिए करते हैं, वह श्रम है। लोहा साफ करने, रुई साफ करने, सूत साफ करने, धातु साफ करने आदिमें जो कर्म होता है उसको श्रम बोलते हैं और इसको करनेवाले श्रमिक कहलाते हैं। किन्तु अपने हृदयमें परिवर्तन लानेके लिए, अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए, आत्म-दृष्टिसे, आध्यात्मिक उद्देश्यसे जो कर्म होता है, उसको धर्म कहते हैं।

वेदान्तमें भी जहाँ कर्म-संन्यास कहकर लोग गड़बड़ फैलाते हैं, वहाँ वेदान्त-सिद्धान्त ठीक-ठीक न जाननेवालोंके मनमें ही शंका होती है। कर्म करनेसे ज्ञानकी इच्छा पैदा होती है, विविदिषा एवं जिज्ञासा उत्पन्न होती है—ऐसा भामतीकारका अभिमत है। कर्म करनेसे ज्ञान ही उत्पन्न होता है, विद्या उत्पन्न होती है—यह विवरण-प्रस्थानका अभिप्राय है। तो कर्म करनेसे ज्ञान हो जायेगा अथवा कर्म करनेसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा हो जायेगी—यह मतभेद तो वेदान्तोंमें है; परन्तु कर्म करना ही नहीं चाहिए, यह मत वेदान्तोंका नहीं। बड़े-से-बड़े संन्यासीको भूख मिटानी हो तो पाँवसे चलकर गाँवमें जाना होगा, गृहस्थके दरवाजेपर खड़े होकर 'नारायण-हरि' बोलना पड़ेगा और भिक्षा प्राप्त करनी होगी। जब भिक्षा चाहिए तो उसके साथ कर्मका सम्बन्ध अवश्य जुड़ेगा। कुछ पाना है तो कुछ करना पड़ेगा। मोक्ष-पुरुषार्थमें कर्मका सम्बन्ध कैसे जुड़ता है? यह एक प्रश्न है। हम ज्ञानको मिलाकर कर्म करें या कर्मसे अलग करके ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करें अथवा दूसरे शब्दोंमें ज्ञान-कर्मसे संयुक्त होकर हमारे मोक्ष का साधन होता है या कर्मसे पृथक् होकर—यह प्रश्न उठाया हुआ है। जब हम मोक्षकी नित्यतापर ध्यान देते हैं तब प्रतीत होता है कि मोक्ष पहलेसे नित्य-सिद्ध है और वह जाननेमात्रसे ही मिल जाता है। जैसे कोई रासायनिक पदार्थ पहलेसे मौजूद होता है, हम उसे पहचानते नहीं, परन्तु, प्रयोगके द्वारा, यन्त्रके द्वारा, दूरबीन, खुर्दबीनके द्वारा उसे देख लेते हैं। वैसे ही मोक्ष नित्य विद्यमान है, अपने आत्माका ही स्वरूप है और हम अज्ञान तथा मोह-निवृत्तिकी प्रक्रियाके द्वारा उसको जान लेते हैं—'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वे-नोपलक्षितः' मोहकी निवृत्तिसे, अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष हम स्वयं ही हैं। परन्तु यह बात मालूम नहीं पड़ती। अतः जो मालूम न पड़ना है, उसको मिटानेके लिए प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार मोक्षके लिए कर्मका जो बड़ा भारी उपयोग है इसको वेदान्ती लोग चार श्रेणियोंमें बाँटते हैं। हमारे ऊपर अनेक ऋण हैं। यद्यपि आज-कलके बच्चे तो नहीं मानते पर ऋण तो है ही—पितृऋण है, देवऋण है, ऋषिऋण है। इन ऋणोंको उतारनेके लिए मनुष्यको कर्म करना चाहिए। ऋण-अपाकरण द्वारा किया हुआ कर्म मोक्षका साधन है—ऐसा वेदान्तियोंका एक मत है। हम माँके पेटमें दस महीने

रहे। पहले तो माँका दूध भी पीते थे। अब भी माँका दिल अपने बच्चेको दूध पिलाये बिना कैसे मानेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलाती, उसके बारेमें तो बरबस यही कहना पड़ेगा कि—

तेरो कठिन हियो री माई।

केवल जवानी बहुत दिनोंतक बनी रहे, शरीर ढीला-ढाला न दिखायी दे, इसके लिए अपने बच्चेके मुँहमें अपना दूध न डालना, किसी माँसे कैसे हो सकेगा? जो माँ अपने बच्चेको दूध नहीं पिलावेगी, वह यह आशा कैसे रखेगी कि उनका बच्चा अपनी परम्पराको, अपने पैतृक धर्मको मानेगा?

कर्मका उपयोग किस प्रकार होता है? एक तो जो हमारी परम्पराका ऋण हमारे ऊपर आया है—माता-पिताके द्वारा,नाना-नानीके द्वारा, दादा-दादीके द्वारा पूरे गोत्रके द्वारा—वह उतारनेके लिए हमें अपने कुलसे सम्बन्ध रखकर उसके कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिए। नहीं तो मनुष्य कृतघ्न हो जाता है और कृतघ्नताके दोषसे उसके ज्ञानमें बाधा पड़ती है। दूसरा है देव-ऋण। हम जो सूर्य देवतासे प्रकाश ग्रहण करते हैं, वायु देवतामें साँस लेते हैं, वरुण देवतासे—पानीसे अपनी प्यास बुझाते हैं, अपने आपको तृप्त करते हैं, पृथिवी देवीपर चलते हैं, उसको अपने पाँवसे रौंदते हैं, यह क्या उनका थोड़ा ऋण है हमारे ऊपर? अत: हमारी इन्द्रियाँ व्यष्टि-समष्टिसे जो शक्ति प्राप्त करती हैं, उसके लिए भी हमको कुछ करना चाहिए। आप यदि पूछें कि क्या करना चाहिए, तो इसका उत्तर है धरतीको, जलको,वायुको साफ-सुथरा और शुद्ध रखनेका प्रयास करना चाहिए। वातावरणको पर्यावरणको दूषित नहीं होने देना चाहिए। आप कूड़ेका धुँआ तो आसमानमें उड़ा देते हैं परन्तु धूपका धुँआ उड़ाना हो तो कहते हैं कि फिजूलखर्ची है। आप पनाला तो गंगाजीमें गिरा देते हैं, लेकिन उसमें पावभर दूध डालना हो तो कहते हैं यह अपव्यय है, व्यर्थ है। ऐसा नहीं होना चाहिए। आप जानते हैं हमारे शास्त्रोंमें धरतीकी, जलकी,वायुकी,अग्निकी पूजाका विधान है। हम पूजा उसीकी करते हैं, जो हमारा आदरणीय होता है, उपकारी होता है। पूजाका तात्पर्य है श्रद्धाकी अभिव्यक्ति। व्यष्टि समष्टिसे अनुग्रह प्राप्त करके ही जीवित रहता है। यदि वह इस बातको भूल जाये तो कृतघ्न बन जाता है। हम जीवित रहनेके लिए सांस लेते हैं, देखनेके लिए प्रकाश ग्रहण करते हैं, किन्तु वायु और सूर्य हमसे कोई शुल्क नहीं लेते। हम जलमें स्नान करते हैं, मैल धोते हैं, परन्तु वरुण देवताका कोई बिल हमारे पास नहीं आता। इसी तरह अन्य देवताओंके ऋण भी किसी-न-किसी प्रकार हमारे ऊपर हैं और यदि हम उनको न चुकाएँ तो वे हमारे अन्त:करणको अशुद्ध करते हैं और सत्यके ज्ञानमें बाधा डालते हैं।

अब आप ऋषि-ऋणपर ध्यान दें। हमारा एक भी अक्षर, एक भी शब्द, एक भी वाक्य, एक भी ज्ञान ऐसा नहीं, जो हमें ऋषियोंसे प्राप्त न हुआ हो। ये स्वर और व्यंजन—अ, आ, इ तथा क. ख, ग—क्या अपने पेटमें-से लेकर हम आये हैं? घ्राणेन्द्रियको नाक कहिये अथवा श्रवणेन्द्रियको कान कहिये, इसका व्यवहार ज्ञान हमको कहाँसे मिला? तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ही पद और पदार्थका बोध कराया। उन्होंने ही निश्चय किया है कि यह पद है, यह पदार्थ है। आपको तो शायद मालूम ही होगा, दूसरे देशोंमें भाषाके जो विद्वान् हैं वे ऐसा मानते हैं कि शब्द इशारेके रूपमें बनाये गये हैं। किन्तु अपने यहाँ जो प्राचीन शास्त्र हैं,

उनमें माना गया है कि वाच्य और वाचक दोनों एक साथ ही प्रकट हुए हैं। शब्द और अर्थ, वाक् और तात्पर्य हमेशा मिले हुए होते हैं। जब कोई वस्तु प्रकट होती है। उसके स्पन्दनमें उसका संकेत विद्यमान रहता है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः।' यह गम्भीर दृष्टिकोण ऋषियोंका ऋण मिटानेके लिए, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। हमें ऋषियों द्वारा निर्मित शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। अन्यथा हम उनके शब्दोंका, संकेतोंका प्रयोग तो करें किन्तु उनके प्रति कृतज्ञ न हों तो कृतघ्नताका दोष लगता है।

तो जगत्में जो पदार्थ हैं, उनको पवित्र रखनेके लिए, शुद्ध रखनेके लिए हमें कर्म करना चाहिए। हम समझ जायें कि इस संसारकी कोई भी वस्तु दूषित नहीं करनी है। हवा गंदी नहीं करनी है, पानी गंदा नहीं करना है, आग गंदी नहीं करनी है, पृथिवी गंदी नहीं करनी है और अपने हृदय, शरीर और समाजको भी गंदा नहीं करना है। इसके लिए हमको सतत कर्म करना चाहिए। अपनी परम्पराकी रक्षाके लिए भी कर्म करना चाहिए। और हमारे ज्ञानकी जो धारा चली आ रही है, उसे प्रवहमान बनाये रखनेके लिए भी हमें निरन्तर कर्मपरायण रहना चाहिए। यदि आप ज्ञानधाराकी रक्षा करोगे, तो आगे आपका जो ज्ञान है, उसका भी उपयोग होगा। अन्यथा आपका ज्ञान आपतक ही सीमित रह जायेगा। अतः इन सब दोषोंकी निवृत्तिके लिए अन्तःकरणकी शुद्धिमें उपयोगी कर्मका अनुष्ठान हमें करते रहना चाहिए। देवताकी आराधनासे आगे बढ़कर ही हम प्रजापतिसे, हिरण्यगर्भसे एक होकर समष्टिका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उसमें राम भी हैं, श्याम भी हैं, शिव भी हैं, अन्तर्यामी भी वहीं अनुभव होता है। सर्वात्मभावकी प्राप्ति करके, प्रजापतिसे तादात्म्यापन्न होकर जो समष्टिका विज्ञान है, उसको प्राप्त करनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। हमारे मनमें सर्वात्मा सत्यके ज्ञानकी इच्छा हो, उत्पत्ति हो, इसके लिए भी कर्म करना अनिवार्य है। कर्म तत्त्वज्ञानके मार्गमें सर्वथा उपयोगी है। यदि उसमें मतभेद है तो केवल इतना ही है और वह भी सिद्धान्तका है कि कर्मसे जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है या कर्मसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है? यह बात मैं शाङ्कर सम्प्रदायको स्वीकार करके आपको सुना रहा हूँ। हमारी सम्प्रदाय-परम्पराके अनुसार कर्म त्याज्य नहीं है और गीता तो साफ ही बोलती है कि—'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' अर्थात् यज्ञ, दान और तप पवित्र कर्म हैं। इन्हें भली-भाँति सोच-विचारकर मनीषापूर्वक करना चाहिए। मनीषि शब्दका अर्थ होता है मनका नियन्त्रण करनेवाला। मनका अर्थ आप जानते ही हैं। उसमें तरह-तरहके संकल्प होते रहते हैं! उसका जो नियन्त्रण और संचालन करता है, उसका नाम मनीषि होता है। आप कैसे काम करते हैं? जो मनमें आता है, वही करते हैं कि सोच-विचारकर करते हैं? बचपनमें गाँवके रास्तेपर चलता था तो मनमें आता था कि आगे चलनेवालेको दौड़कर पीछे कर दें। कभी-कभी तो जब कोई जल्दी पीछे नहीं होता था तो उसको ढकेल देनेका मन होता था। अब मोटरमें चलते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि पैदल चलनेवालोंको चलनेका शऊर नहीं है और जब कभी पैदल चलते हैं तो ख्याल होता है कि मोटर चलानेवाले हमारे साथ अन्याय कर रहे हैं। यह है हमारे मनकी स्थिति। यदि हम मनका ही कहना मानें, जो मनमें आवे वही करने लगें और अपने विवेकको छोड़ दें तो हममें और पशुमें क्या अन्तर रह

जायेगा ? पशु भी तो बहुत विचारवान् होते हैं और सोच-विचारकर, योजना बनाकर काम करते हैं। ऐसा पशुओं निरीक्षण करनेपर विदित होता है।

ऐसी स्थितिमें यदि आप अपने मनको शुद्ध करना चाहते हैं तो उसे काबूमें रखकर बुद्धिके द्वारा विचार करके जो उचित प्रतीत हो वही कीजिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें श्रेयकी उपलब्धिके लिए, श्रेयकी प्राप्तिके लिए कर्म करना अनिवार्य बताया है। यह बात आपको कहीं भी न तो सुननेको और न पढ़नेको मिलेगी कि संसारमें अपनेको जो प्रिय लगता है, उसकी प्राप्तिके लिए कर्म नहीं करना चाहिए। कर्मका निषेध तो कहीं है ही नहीं। मतभेद वहाँ खड़ा होता है, जहाँ आप मोक्ष और परमात्माकी प्राप्तिके लिए आगे बढ़ते हैं। अर्जुनके प्रश्नोंको देखिये, उनमें भी तारतम्य है। अर्जुन प्रश्न करके चुप हो जाते हैं और अपनी इच्छाके विपरीत भाव भी प्रकट कर देते हैं वे कहते हैं—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।

वे कहते हैं कि मेरे लिए जो कल्याणका साधन है, वह आप कृपा करके बताइये कि युद्ध करूँ या न करूँ। फिर इस प्रश्नके साथ ही यह बोलते हैं कि मुझे युद्धमें मत लगाइये। मैं युद्ध नहीं करूँगा—'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।'

अरे भाई, जब पूछते हो तो मैं जैसा कहूँ वैसा करो। नहीं लडूँगा ऐसा क्यों कहते हो ? प्रश्न पूछना और फिर उसके साथ-साथ निश्चय प्रकट कर देना तो मोहका लक्षण है। निस्सन्देह अर्जुनके प्रश्नमें मोह भरा हुआ है। इसी प्रकार तीसरे अध्यायवाले प्रश्नमें थोड़ा आक्षेप है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

चौथे अध्यायके प्रश्नमें संशय है—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

और इस पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें जो प्रश्न हैं, वह जिज्ञासु-समुचित है—

सन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ 5.1

इस प्रश्नमें बड़ी भारी श्रद्धा है। अर्जुन श्रीकृष्णको बिना किसी शिष्टाचारके, केवल कृष्ण कहकर पुकारते हैं, क्योंकि वे परस्पर मित्र हैं। हमको एक महात्माने सुनाया था कि जब दो मित्र आपसमें मिलते हैं तो एक दूसरेके बारेमें जानकारी रहनेके कारण वे संक्षेपमें संकेतमें भी अपनी बात-चीत कर लेते हैं। मित्रकी बात मित्र ही समझता है। तात्पर्य यह निकलता है कि यदि आप श्रीकृष्णसे मैत्री नहीं करेंगे, केवल विद्या, बुद्धि, पदार्थोंकी पहचान, व्याकरण, काव्य, कोश आदिके ज्ञानके बलसे उनकी बात समझनेका प्रयास करेंगे तो आपको बड़ी कठिनाई होगी। मैंने एक अवधूतको देखा, वे यह कहकर रोने लगे कि तुम गीताके अर्थके लिए शास्त्रार्थ करते हो। अरे भाई ! पहले अर्जुनके सखा श्रीकृष्णको अपना सखा बनाओ। जब श्रीकृष्ण तुम्हारे सखा बनेंगे तो सखाकी बात स्वयं तुम्हारी समझमें आने लगेगी। कृष्ण शब्दमें न भगवत्ता है, न सर्वज्ञता है और न

उसके साथ कोई विशेषता या सम्बोधन है। वह तो वैसा ही है, जो ब्रजवासी कन्हैया भैया बोलते है। तो, अर्जुनके पूर्वोक्त प्रश्नका सीधा-सादा अर्थ यही है कि तुम कभी कर्मकी प्रशंसा करते हो, कभी कर्म-संन्यासका वर्णन करते हो। (यहाँ शंसनका अर्थ वर्णन ही है।) कभी कर्मत्याग—कर्म-संन्यासकी महिमा सुनाते हो तो कभी कर्मानुष्ठानका समर्थन करते हो। तुम जो कुछ भी कहते हो ठीक होगा। परन्तु मेरा श्रेय किसमें है, यह साफ-साफ बताओ। दुविधाकी बात मत करो कि यह कर लो, वह कर लो। अर्जुनके इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि अब वे आज्ञा-पालन करनेके लिए भी तैयार है।

अर्जुन शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है कि जो ज्ञानका अर्जन करे, धनका अर्जन करे: धनञ्जय शब्दका पर्यायवाची है अर्जुन। 'अर्जनात् अर्जुनः।' जो धनार्जन करे वह धनञ्जय। धन केवल सोना-चाँदीका ही नाम नहीं होता। सबसे बड़ा-परम धन तो विद्या धन है, ज्ञान धन है। महाभारतमें अर्जुन शब्दका अर्थ 'ऋजुत्वात् अर्जुन' किया है। जो एकदम ऋजु हो, सरल हो, उपदिष्ट वस्तुको ठीक-ठीक ग्रहण कर सके, उसका नाम अर्जुन है।

अर्जुन, केवल 'कृष्ण' शब्दके सम्बोधनसे यह कहते हैं कि तुम मेरे सखा हो और मैं तुम्हारा सखा हूँ। इसलिए मुझे सुनिश्चित रूपसे बताओ कि मेरा कल्याण कर्मानुष्ठानमें है अथवा कर्म त्यागमें। इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने जो कहा है उसपर ध्यान दीजिये। यहाँ भगवानुवाचमें जो 'उवाच' है इसका अर्थ भगवान् बोले ऐसा नहीं है। यह भूतकालकी क्रिया तो संवादोंका सम्पादन करनेवालेने दे दी है। पहले इसी तरह अनुवाद होता था कि 'यह भगवान्का वचन है।' क्योंकि भगवान् अब बोलते हैं और अर्जुन अब भी पूछते हैं। कोई भगवान्की आवाज सुनना चाहे तो अब भी सुन सकता है। क्योंकि भगवान् सदा-सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान हैं और जहाँ भगवान् हैं वहाँ उनकी वाणी भी है, उनकी कथा भी है और उनकी शान्ति भी है। हमारे हृदयमें भी भगवान् हैं और भगवान्के साथ-साथ उनका आनन्द, उनका वचन भी हमारे हृदयोंमें स्पन्दित हो रहा है। भगवान् बोल रहे हैं, यह जो हमारा ज्ञान है, यह भगवान्का ही ज्ञान है।

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ 5.2
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ 5.3

भगवान्ने कहा भाई अर्जुन, निःश्रेयसके साधन तो तुम स्वयं हो। तुम ही निःश्रेयस करनेवाले हो और तुम्हीं निःश्रेयसके कारण हो। वास्तवमें आप चाहे संन्यासको पकड़िये, चाहे कर्मको, दोनोंसे निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। निःश्रेयस ही परमात्माका ऐसा स्वरूप है, जिसके दो हाथ दुनियामें पैदा हुए है। आप इसपर विचार करें कि आपको ग्रहण करना चाहिए या त्याग करना चाहिए? किसी एकको ही अपनानेसे आपका जीवन बिल्कुल अधूरा हो जायेगा। यदि आप केवल त्याग-ही-त्याग करेंगे तो मृत्युके निकट पहुँच जायेंगे। इसी प्रकार केवल ग्रहण-ही-ग्रहण करेंगे तब भी मृत्युके निकट पहुँचेंगे। एक ओर कमाते हैं तो दूसरी तरफ जाता है। केवल

जाये-जाये तो समाप्त हो जायेगा और केवल आये-आये तो भरकर फट जायेगा। कहीं भी ऐसा देखनेमें नहीं आता कि केवल संग्रह तो हो और त्याग नहीं हो। अत: जीवनमें व्यवस्थापूर्वक संग्रह और व्यवस्थापूर्वक त्याग आवश्यक है। यदि कोई कहे कि हमारे घरमें मेहमान आवें-ही-आवें और जायें नहीं अथवा सब मेहमान चले जायँ और कोई दूसरा आवे नहीं तो कैसे काम चलेगा? इसी प्रकार ये जो कर्म हैं, वे आते हैं और जाते हैं। उनको व्यवस्थापूर्वक ही पकड़ना और छोड़ना पड़ता है। पहले हम सन्ध्या-वन्दन नहीं करते थे। यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और संन्ध्या-वन्दन करने लगे। इसी प्रकार फिर संन्यासके बाद संन्ध्या-वन्दनकी आवश्यकता नहीं रही। मतलब यह कि कायदेसे कर्मोंको ग्रहण करने और छोड़नेसे समाजमें गड़बड़ी नहीं फैलती और उनके बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसीलिए कर्म और कर्म-संन्यास दोनों नि:श्रेयसके साधन हैं। करो और छोड़ो, कमाओ और देते चलो, आने दो और जाने दो इसीमें नि:श्रेयस है। यदि कहोगे कि आवे पर जावे नहीं इसीमें नि:श्रेयस है। यदि कहोगे कि आवे पर जावे नहीं अथवा जावेपर आवे नहीं तो इसमें नि:श्रेयस नहीं है। ग्रहण और त्याग दोनों कल्याणके गणितपर आधारित है वैसे ही दर्शन भी गणित-साध्य है। उसमें कहीं भी, एक भी कड़ी नहीं तोड़ी जा सकती। देखो, हम जो कर्म करते हैं उनमें-से एक निषिद्ध होता है एक विहित। निषिद्ध कर्म वह है जो मना किया हुआ है। गुरुने मना किया, शास्त्रने मना किया, ईश्वरने मना किया अथवा समाजने मना किया। अपनी अन्तरात्माके मना किये हुएको भी निषिद्ध कर्म माना जाता है। मनुस्मृतिमें चार बात बतायी हुई है, उसमें एक है—

स्वस्य च प्रियमात्मन:।

जब कोई मना किये हुए कामको करने लगता है तो क्यों करता है? वासनाके वेगसे करता है। उसको करनेकी इतनी तीव्र वासना होती है कि वह वासनाकी कठपुतली बन जाता है और गुरु, शास्त्र, ईश्वर, समाज, अन्तरात्माके मना करनेपर भी कर्म कर बैठता है। तो शासनानुसारी काम धर्म होता है और वासनानुसारी काम अधर्म हो जाता है। वासनामें कोई रोक नहीं और शासनमें नियन्त्रण है। धर्म वही होता है जहाँ नियन्त्रण होता है—'धरति इति धर्म: अथवा ध्रियते इति धर्म:।' धर्म उसको कहते है, जिसे हम धारण करें या जो हमको धारण करे। हम धर्मकी रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करता है—'धर्मो रक्षति रक्षित:।'

तो, कर्मका पहला विभाग यह है कि हम अज्ञानके अनुसार चलते हैं या वासनाके अनुसार, इसपर दृष्टि रखें। आज्ञाके अनुसार कार्य करनेपर भी दो भेद हो जाते हैं—एक सकाम और दूसरा निष्काम। कामनाके भी दो भेद होते हैं—लौकिक कामना और पारलौकिक कामना। निष्कामता भी तत्पदार्थकी प्रसन्नताके लिए, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए अथवा अन्त:करणकी निर्मलता और प्रसन्नताके लिए। वास्तवमें दोनों दो चीज नहीं है। ईश्वर हमारे अन्त:करणमें ही रहता है। यदि अन्त:करणमें ईश्वर न हो तो और कहाँ मिलेगा? मिलेगा भी हमारे दिलमें ही और रहता भी है हमारे दिलमें ही। ईश्वर यदि यहाँ नहीं है तो कहीं भी नहीं है। और यदि अभी नहीं है तो कभी भी नहीं है। आप जानते हैं वैदिक धर्मकी महिमा। उसके अनुसार ईश्वर यदि यहीं नहीं है तो कुछ भी नहीं है। सर्वोपादान है ईश्वर। यह बात दूसरे मजहबोंमें नहीं है। उपादान, मैटर या माला—जिससे यह दुनिया

बनती है। घड़ेमें मिट्टी है। उसकी शक्ल देखिये, मिट्टी नहीं मालूम पड़ेगी। पर यदि तत्त्वकी दृष्टिसे देखेंगे तो वह मिट्टी ही है। अत: एक बात तो यह हुई कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

दूसरी बात आप यह देखना कि बुद्धिकी प्रधानता और किसी मजहबने नहीं मानी। यह तो हमारी गीताकी ही विशेषता है जो बुद्धिको इतना महत्त्व देती है—'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त: सततं भव।' 'ददामि बुद्धियोगं तम्।'

बुद्धियोगसे ईश्वर मिलता है और ईश्वर प्रसन्न होकर बुद्धि देता है। तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धियोगसे पाप-पुण्य छूटते हैं, सुख-दु:ख मिटते हैं और समाधि मिलती है। हमें सब कुछ मिल जाता है यदि हमारी बुद्धि ठीक हो जाये। मजहबका नाम लेते ही आप सोचते होंगे कि श्रद्धाकी कोई बात होगी। लेकिन गीता सारे मजहबोंसे विलक्षण सन्देश लेकर आयी है कि बुद्धियोगसे आपको सब मिलेगा। जिस गीताकी हम चर्चा करने जा रहे हैं, यह भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा बोलता है, वैसा बोलता है। पौरुषेय ज्ञान और अपौरुषेय जीवनकी पोथी है। अन्यथा वे उपनिषद्के नामपर यही बोलते कि अपौरूषेय ज्ञानमें यही भेद होता है। एक ऐसा ज्ञान है जो दुनियाके अनुभवोंमें-से बीन-बीनकर इकट्ठा नहीं किया जाता, वह तो स्वयं-प्रकाश है। वह ज्ञान अहंको ज्ञाता नहीं बनाता और इदंको ज्ञेय नहीं बनाता। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ज्ञान है। पुरुषके प्रयत्नसे या अनुभवसे वंचित नहीं है। वह परमात्माका स्वरूप है। एक ज्ञान वह होता है जो दुनियामें देख-देखकर कि यह कड़वा है, यह मीठा है, यह नीला है, यह पीला है, अनुभूतिके आधारपर संचित किया जाता है। किन्तु गीताका ज्ञान अपौरूषेय है उसको सृष्टिमें किसी भी दूसरे मजहबने न जाना है, न उसका प्रतिपादन किया है और न उस शाश्वत वस्तुको दृष्टिमें रखकर धर्मका निरूपण किया है।

तो यह जो बुद्धि है वह श्रीकृष्णकी है। आपको पिछली बार शायद सुनाया था कि जो जेलमें—बन्धनमें पड़ा है, उसका घरमें नहीं, जेलखानेमें (श्रीकृष्णका) जन्म होता है। माँ-बापको छोड़कर गोकुलमें जाना पड़ता है। पीनेके लिए जहर मिलता है। चारों ओर आपत्ति-विपत्ति दिखायी पड़ती है। शैशवावस्थामें शरीरपर पेड़ गिर पड़ता है। जरासन्ध किले पर, महलपर हमला कर देता है। कालयवनके सामनेसे भागना पड़ता है। रास्तेमें भीख माँगकर खाना पड़ता है। नंगे पाँव दौड़ना पड़ता है। प्रवर्षण-पर्वतपर दावानलसे घिर जाते हैं। पत्नी सत्यभामाके पिता सत्राजितके घरपर डाका पड़ा और ससुर साहब मारे गये। द्वारिकापर हमला हुआ हवाई जहाज का। बुआ, फुफेरे भाई आदि कितनी तकलीफमें हैं। घरेलू, वातावरणका यह हाल कि सगे भाई बलरामजी भी विश्वास नहीं करते। दोनोंमें मतभेद हो गया। वैमनस्य तक हो गया। बाल-बच्चे भी कहना नहीं मानते, एक भी बेटा कहना नहीं मानता। श्रीकृष्ण वर्जित करते हैं कि ऐसा खाना मत खाओ, ऐसा मत पीओ, ऐसे मत रहो, परन्तु कोई श्रीकृष्णकी बात नहीं मानता। उनके बेटोंने महात्माओंका तिरस्कार किया, शराब पी, मांस खाया, आपसमें लड़े और श्रीकृष्णको अपने हाथों उनका वध करना पड़ा। भागवतमें साफ है कि श्रीकृष्णने अपने उच्छृङ्खल और पापाचारी पुत्रोंको मारा और जब श्रीकृष्णके पाँवमें बाण लगा तब वे अपनी लीला संवरण करके गोलोक चले गये। तात्पर्य यह कि जीवनमें इतने दु:खद और भयावह

प्रसंग उपस्थित हुए, परन्तु वे विचलित नहीं हुए, उनकी मुस्कान बराबर बनी रही। तो उनके मुँहसे निकली है यह गीता।

जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि 'दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:' तब वे अपने अनुभवोंकी ही बात कहते हैं। इसी प्रकार उन्होंने संन्यासीकी जो परिभाषा दी है, वह उनके स्वयंके संन्यस्त जीवनकी ही परिभाषा है—

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

श्रीकृष्णने कहा मनुष्यको नित्य संन्यासी होकर रहना चाहिए, अनित्य संन्यासी नहीं। एक अनित्य संन्यासी भी होता है। जो बनता है, वह बिगड़ता भी है किन्तु जो आत्मदृष्टिसे संन्यासी है वह नित्य संन्यासी है। उसमें न द्वेष है और न आकांक्षा है। यही श्रीकृष्णका जीवन है, यही श्रीकृष्णका नित्य संन्यास है। यदि हमें नित्य संन्यासीकी तलाश हो तो श्रीकृष्णके ही जीवनका दर्शन करना चाहिए। छूट गया गोपियों और ग्वालोंके साथका क्रीड़ाकेन्द्र व्रजमण्डल, छूट गयी सोलह हजार पत्नियोंवाली द्वारिकापुरी, किन्तु 'सुखेषु विगतस्पृह: 'के मूर्तिमान विग्रह श्रीकृष्णपर उसका कोई असर नहीं पड़ा। उनका चेहरा मुस्कुराता ही रहा। उपदेश वही उपदेश हो सकता है जो उपदेष्टाके जीवनमें-से निकला हो। गीताके उपदेशोंका इतना प्रभाव इसीलिए है कि वह उपदेष्टा श्रीकृष्णके वास्तविक जीवनकी पोथी है। उनकी डायरी है। उनके चरित्रका निरूपण है। हम आपको श्रीमद्भागवत और महाभारतमें वर्णित श्रीकृष्णके एक-एक चरित्रके सम्बन्धमें यह बता सकते हैं कि गीतामें उनकी ओर कहाँ संकेत किया गया है। ऐसी हैं श्रीमती गीता और ऐसे हैं उसके वक्ता श्रीमान् श्रीकृष्ण। दोनोंकी शोभा अखण्ड है।

●

प्रवचन : 2

महाभारतका कहना है—'तत्त्वमेकं द्विधा स्थितं' एक ही सत्य वस्तु दो रूप धारण करके दिख रही है। वही कृष्ण है, वही राधा है। वही नर है, वही नारायण है। नर अर्जुन है, नारायण श्रीकृष्ण। वही शिष्य, वही गुरू। गुरू वही सच्चा गुरू होता है, जो अपनेको शिक्षा दे। जो अपनेको शिष्य बना ले वही सच्चा गुरू। जो दूसरोंको चेला बनावे वह सच्चा गुरू नहीं।

अर्जुन श्रीकृष्णके ही स्वरूप है। श्रीकृष्णका अर्जुनको शिक्षा देना अपने आपको ही शिक्षा देना है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे स्वयं कहा है—

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि, यस्त्वामनु स मामनु।

जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। भक्त और भगवान्का, जीव और शिवका ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आपको सुनाया था कि श्रीकृष्ण परस्परविरूद्ध धर्माश्रय हैं। ऐश्वर्य है तो इतना कि चाहे गोवर्द्धन उठा लें या ब्रह्माण्डको तौल लें और अनैश्वर्य है तो इतना कि चाहे नन्दबाबाकी खड़ाऊँ भी न उठे, यशोदा मैयाका माँगा हुआ पाटा भी न ला सकें। (पट्टा) पाटा उठानेके लिए दोनों हाथ लगाते, नहीं उठता तो लेट जाते, छातीसे लगाते, फिर धीरे-धीरे उठकर खड़े होते, मुखारविन्द लाल हो जाता। बलवान् भी हैं, निर्बल भी हैं। यही परमात्माका स्वरूप होता है। भक्तिमें केवल बलवान् रूपका आश्रय लिया जाता है। क्योंकि भक्तके लिए वही हितकारी होता है। तत्त्वज्ञान या प्रेममें बलवानकी अपेक्षा नहीं होती। बलवान है, निर्बल है, कैसा भी है, हमारा है। प्रेम केवल एक गुण देखकर भगवान्से नहीं जुड़ता।

श्रीकृष्ण धर्मात्मा हैं। प्रात:काल उठकर ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करते हैं। स्नान करते हैं, हवन करते हैं, दान करते हैं। जैसे प्रतिदिन आयका साधन करते हैं, वैसे ही प्रतिदिन वितरणका भी साधन करते हैं। श्रम करते हैं। विश्राम करते हैं। परन्तु उनके जीवनमें कहीं-कहीं ऐसा भी देखनेमें आयेगा, जहाँ धर्म न मालूम पड़े। केवल जीव ही धर्मसे आबद्ध अथवा अधर्मसे आक्रान्त होता है। परमेश्वरका स्वभाव यह है कि वह न धर्मसे बँधा हुआ है, न अधर्मसे। धर्म, अधर्म दोनोंसे परे हैं। श्रीकृष्णमें यश भी है, अपयश भी है। जीवको केवल यशस्वी होना चाहिए। उसके जीवनमें अपयश आयेगा तो उसको दु:ख होगा। परन्तु श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत है, अनिर्वचनीय हैं। यश-अपयशका वर्णन वाणीसे होता है और श्रीकृष्ण वाणीसे अतीत हैं। कोई कहे कि चोर हैं तो कहते हैं हाँ चोर हूँ। कोई कहे कि जार हैं तो जबाब देते हैं हाँ जार हूँ। नहीं बोलना या इन्कार करना तो आता ही नहीं। किसीने कहा कि मिट्टी खायी तो बोले हाँ खायी। फिर कहा कि मिट्टी नहीं खायी तो बोले कि नहीं खायी। एक बार तो श्रीकृष्णपर मणिकी चोरी लगा दी गयी। बलरामजीने कह दिया कि इसने हमसे मणि छिपा ली है। यह सब जीवके लिए तो कलंक है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी लीलाएँ हैं, जिनका श्रवण और स्मरण-मनन करके भक्तगण आनन्दित होते हैं। भगवान् भगवान् ही हैं। लक्ष्मी आती हैं, सोनेकी द्वारिकाका

निर्माण होता है। किन्तु उसके पहले मथुरासे भागते हैं तो गाँव-गाँव ऋषियोंके आश्रमोंमें माँग-माँगकर खाते-पीते हैं। नंगे पाँव हैं, नंगे सिर हैं, बदनपर धोतीके सिवाय कोई वस्त्र नहीं है। महीनोंतक दिन-रात ऐसे ही भटकते रहते हैं। यह महाभारतमें स्पष्ट वर्णित हैं। ज्ञान है तो ऐसा कि उसका वर्णन करके हजारों लोग आज भी अपनी जीविका चलाते हैं और लाखों श्रोताओंके जीवनका निर्माण होता है। श्रीकृष्ण स्वयं कभी-कभी ऐसे भोले बन जाते हैं मानो कुछ समझते ही न हों। एक दिन वे एकान्तमें उदास बैठे थे, मुँह लटका हुआ था। ऐसा भी जीवनमें आता है। आप इस कसौटीपर किसी महात्माको कभी न कसें कि उसका मुँह नहीं लटकता या उसकी आँखोंमें आँसू नहीं आते या उसके जीवनमें कोई कठिनाई नहीं आती। महाभारतकी कथा है; यह कि जिस समय श्रीकृष्ण अनमने बैठे थे, नारदजी आ गये। श्रीकृष्णने उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया। नारदजीके पूछनेपर कि चिन्ता क्या है? उन्होंने बताया कि यदुवंशियोंमें दो पार्टी बन गयी हैं। कृतवर्मा-अक्रूरकी एक है और सात्यकिकी एक है। हमारे भाई बलरामजी भी उसी पक्षमें हैं। उद्धवजीकी भी एक पार्टी हो गयी है। अब हम क्या करें, यही चिन्ता है। नारदजीने कहा कि चुप रहिये, तटस्थ बन जाइये। श्रीकृष्णने वैसा ही किया। एक दिन रुक्मिणी और बलरामजीमें विवाद हो गया। यह कथा भागवतमें है। रुक्मिणीने कहा कि हमारे भाईको बलरामजीने क्यों मारा? बलरामजीने कहा कि हमने बिल्कुल ठीक मारा। अब श्रीकृष्ण क्या करें? पत्नीका पक्ष लें कि भाईका? चुप हो गये—'किंचिन्नोवाच'—कुछ नहीं बोले। ऐसे अवसरोंपर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है।

अब श्रीकृष्णके वैराग्यपर दृष्टि डालिये। इतना वैराग्य है महाराज कि भक्त लोग भले ही चाहे कितना कहें कि भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर नहीं जाते—**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।**

होगा नित्यवृन्दावन, आन्तर वृन्दावनकी बात भी सत्य होगी। किन्तु यह भी सत्य है कि जिस व्रजभूमिमें वे नाचते-गाते रहे, रासलीला करते रहे उसे क्षणभरमें छोड़कर चले गये। सोनेकी द्वारिकाको छोड़ दिया, रिश्तेदारों, नातेदारोंको छोड़ दिया। श्रीकृष्णके जीवनमें रागकी भी पूर्णता है और वैराग्यकी भी पूर्णता है। उनका जीवन एक सम्पूर्ण जीवन हैं। उसमें सत्‌की पूर्णता है, कर्मयोग है। उनमें चित्‌की पूर्णता है, सगुण ज्ञान है, निर्गुण ज्ञान है। उनमें आनन्दकी पूर्णता है—समाधिका भी आनन्द है, विक्षेपका भी आनन्द है, भोगका भी आनन्द है, योगका भी आनन्द है। श्रीकृष्णका जीवन कहीं भी एकांगी नहीं सर्वांगीण है।

कल रात भागवत कथाके प्रसंगमें भीष्मकी चर्चा चल रही थी। भीष्म मनके प्रतीक हैं और श्रीकृष्ण आत्माके। आध्यात्मिक रूपसे भीष्म मन हैं और श्रीकृष्ण आत्मा। आधिभौतिक रूपमें वे दोनों कृष्णावतार एवं भीष्मपितामह हैं। आधिदैविक रूपमें भीष्म ब्रह्मलोकसे आये हैं और वसु हैं। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मलोकसे नहीं आये वे साक्षात् भगवान् हैं-'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।' इस पृष्ठभूमिको सामने रखकर जब आप श्रीकृष्ण तथा भीष्मके चरित्रोंको देखेंगे तो दोनोंका भेद बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा।

इसपर जरा और विचार करें। यदि दशरथजीकी मृत्यु न होती, या मृत्यु हो जानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्र वनसे अयोध्या लौट आते तो वे धर्मनिष्ठ हैं, पिताकी आज्ञाका पालन करते हैं—यह बात जाहिर नहीं होती।

श्रीरामचन्द्रजीकी महिमा भी इसीमें है कि उनका जीवन पीड़ामें-से गुजरा। कभी-कभी दैनिक व्यवहारकी वस्तुओंसे बड़ी-बड़ी बातोंका बोध हो जाता है। एक श्लोक देखिये—

रे दन्तावन संप्रविश्य विवरं निःशंकमंगीकुरू
पीडां तैर्विहितां मनाग्घतमना मा भूः सहस्वापद।
लोके शोधनबोधनप्रणयिनः के के न कां कां दशां
कष्टामापुरहो रहोगतमिदं पीठोद्भवाः सिद्धयः॥

हम दातुनसे दाँत साफ करते हैं। पहले उसकी कूँची बनानी पड़ती है। वही दाँत, जिनको वह साफ करना चाहती है उसको कुचल देते हैं। वह पीड़ा सहती है तब दाँत साफ होते हैं। तो दुनियामें यदि कोई शोधन-बोधन करना चाहता है, यह चाहता है कि उसकी आत्मशुद्धि हो जाये और वह दूसरोंका चरित्र पवित्र कर दे तो दातुनकी जो दशा दाँतों तले होती है वही दशा दुनियादार लोग उसकी करते हैं। वही उसकी परीक्षा होती है और उस कष्टसहनमें यदि वह पीछे न हटे, तभी अपने उद्देश्यमें सफल होता है।

यह एकान्त सत्य है कि जो पीड़ा नहीं सहेगा, जिसको दर्द नहीं होगा, उसको कोई सिद्धि नहीं मिलेगी। सिद्धियाँ दुःखमें-से गुजरनेपर ही मिलती है। तो देखना अब यह है कि आप भीष्मके अनुसार चलते हैं या श्रीकृष्णके अनुसार आचरण करते हैं। मनकी तो यह दशा है—

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

भीष्म चाहते तो यह हैं कि युधिष्ठिरकी विजय हो, किन्तु बाण चलाते हैं दुर्योधनके पक्षसे। यही है संसारकी विवशता। भीष्मकी अन्तरात्मा धर्मके—युधिष्ठिरके पक्षमें है क्योंकि मन सत्त्व है और धर्म भी सत्त्व है। इसलिए सत्त्वका सत्त्वके प्रति पक्षपात है। परन्तु बाहरी दोष-अन्नदोष, सङ्गदोष आदि ऐसे हैं जो मनको अन्तरात्माके विरुद्ध अपने पक्षमें कर लेते हैं। कामासक्ति बुद्धिको मलिन और भ्रमित कर देती है। हमारी बुद्धि सत्य तो समझती है। 'वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः' बुद्धिका स्वभाव है कि वह भीतरसे हमेशा सचका पक्ष लेती है। परन्तु जब हम दुनियामें किसी वस्तु व्यक्ति या स्थितिके साथ बँधे होते हैं और चाहते हैं कि वह हमें प्राप्त हो तो अपनी समझका अनादर कर बैठते हैं। यदि मनचाही चीज ईमानदारीसे नहीं मिलती दिखती तो उसे बेइमानीसे पानेकी कोशिश करने लगते हैं। सचसे नहीं तो झूठसे, हकसे नहीं तो चोरीसे प्राप्त करनेका प्रयत्न इसीलिए होने लगता है कि उस वस्तुके प्रति हमारी आसक्ति होती है। हमारी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली अगर कोई वस्तु है तो वह आसक्ति है। संसारकी वस्तुओंके प्रति, व्यक्तियोंके प्रति, स्थितियोंके प्रति, यहाँ तक कि अपने शरीरके प्रति जो अत्यन्त आसक्ति है, उसीके कारण बुद्धि भ्रष्ट होती है। बुद्धि ठीक करनेके लिए कामासक्तिका निवारण आवश्यक है।

कल आपको फलासक्तिकी बात सुना रहा था। मनुष्यके मनमें फलके प्रति आसक्ति होती है कि हमको यह मिले, वह मिले। आसक्तिका अर्थ है सट जाना, फलके साथ ऐसा चिपक जाना कि दूसरे कर्तव्य छूट जाएँ। इससे भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है।

अब तीसरी आसक्ति होती है कर्मासक्ति। यह काम हम पूरा करके ही छोड़ेंगे—इसका नाम है कर्मासक्ति। देखो, काम बढ़िया-से-बढ़िया करो, परन्तु उसको पूरा करना तुम्हारे हाथमें नहीं हैं। तुम यही संकल्प रक्खो कि एक पीढ़ीमें पूरा नहीं होगा तो दूसरी पीढ़ीमें पूरा होगा, दूसरीमें नहीं होगा, तीसरीमें होगा। गंगाजीको अगर अंशुमान नहीं ला सकेंगे तो दिलीप लावेंगे, दिलीप नहीं ला सकेंगे तो भगीरथ लावेंगे। तुम अच्छा काम प्रारम्भ कर दो, उसको पूरा करनेका भरपूर प्रयास भी करो। परन्तु उसको पूरा करनेके लिए अपने दूसरे कर्तव्योंकी अवहेलना मत करो। हमको एक महात्माने बताया था कि काम प्रारम्भ करना तो तुम्हारे हाथमें है, तुम्हारे अधीन है। किन्तु उसको पूरा करना परमेश्वरके हाथमें है। कार्य करना तुम्हारे हाथमें है, उसका फल देना परमेश्वरके हाथमें है। इसलिए तुम, जो तुम्हारे हाथमें है उसीका आग्रह रखो। कर्ममें जो यह कर्तापन है कि मैं कर रहा हूँ, वह भी ईश्वरको छोड़ देनेके कारण ही है। नहीं तो ईश्वर यदि प्रेरणा नहीं देता, निर्वाहकी शक्ति नहीं देता तो आप कर्म कैसे करते? इसलिए जिसने प्रेरणा दी है, जो निर्वाह कर रहा है, वही उसका फल भी देगा। अपनेको तो यन्त्रकी तरह कर्म करते जाना चाहिए। सबसे बढ़िया सेवक कौन है? वही है जो हुकुम हो कि करो तो करना प्रारम्भ कर दे और जब हुकुम हो कि बस बन्द करो तो छोड़ दे। यदि वह मना करनेपर भी करने लगता है तो मानना पड़ेगा कि मालिकके लिए नहीं कर रहा, मालिककी आज्ञाके लिए नहीं कर रहा, बल्कि अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए कर रहा है। परन्तु कर्मकी व्याख्या यहीं पूरी नहीं होती। इसकी दो कक्षाएँ, दो गणित और है।

देखिये फलासक्तिसे काम करना संसार है और कर्मासक्तिसे काम करना परिश्रम है। वैष्णव लोग कहते हैं कि कालक्षेपके लिए कर्म करना चाहिए। मतलब यह है कि भगवान्‌ने हमें जो समय दे रखा है, उसका उपयोग करते हुए, उसको भरते हुए चलना चाहिए। हमारा समय खाली न रहे, हम किसी-न-किसी कर्म द्वारा ईश्वरकी सेवा करते चलें। पर इसमें तीसरा प्रतिबन्ध यही है अपने कर्तापनका, अपनी कर्तृत्वासक्तिका। लोग कहते हैं मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ। अरे भाई, अपने शरीरमें बाल तुम बढ़ाते हो? रक्तका संचार तुम करते हो? साँस तुम चलाते हो? देखो अपने शरीरकी ओर, इसीको अध्यात्म बोलते हैं। तुम्हारे मलका अपसरण अपने आप होता है। रक्ताभिसरण अपने-आप होता है, बाल अपने-आप बढ़ते हैं, साँस अपने-आप चलती है। समष्टिमें एक ऐसा तत्त्व है, जो तत्तत् बीजके अनुसार तत्तत् आकृतिके द्वारा, अपनी प्रेरणासे काम ले रहा है। दूसरे शब्दोंमें भगवान् ही सब कुछ कराता है। इसमें तुम्हारे कर्तापनका अभिमान बिल्कुल गलत है। एक बात और है। ये जो पाप-पुण्य लगते हैं, केवल कर्ताको ही लगते हैं। जो अपेक्षा बुद्धिसे काम करता है, उसीको वह काम चिपकता है। अमुक काम करनेसे हमारा यह कष्ट दूर हो जायेगा, अमुक काम करनेसे हमको यह मिल जायेगा—यह अपेक्षाबुद्धि ही संस्कार उत्पन्न करती है। जहाँ हमारे कर्ममें कुछ लेनादेना या करनेका अभिमान नहीं है, वहाँ संस्कार उत्पन्न नहीं होगा। उससे न तो पुनर्जन्म होगा, न नरक मिलेगा, न स्वर्ग मिलेगा और न बादमें वह बात याद आकर चुभेगी। संस्कार इस जीवनमें भी तकलीफ देते हैं। वे बार-बार याद आकर मनमें चुभते हैं। जब हम इस अपेक्षासे काम करते हैं कि यह चीज हट जाये, यह चीज सट जाये, यह चीज मिल जाये—इसीको कर्तृत्वासक्ति बोलते हैं। कर्मका फल यहीं उदय होता है।

इसके अतिरिक्त एक है अकर्तृत्वासक्ति। सांख्यके अनुसार विवेक कर लिया कि हम कुछ नहीं करते—'अकर्मणि च कर्म यः' बुद्धिमान पुरुषका काम यह है कि वह चुपचाप बैठनेको भी अपना काम समझ ले। क्यों हाथ-पाँव बाँधकर बैठे हो? अकर्मण्यता तो दुःखद है। जो यह कहता है कि हम काम नहीं करेंगे, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अभिमान करता है कि मैं काम करता हूँ वह भी दुःखको बुलाता है और जो काम पूरा करनेके लिए व्याकुल हो जाता है, वह भी दुःखको बुलाता है। जो अपना कर्त्तव्य समझकर नहीं, अपितु, कोई पदार्थ या पुरस्कार पानेके लिए काम करता है, उसको भी दुःख होता है। अतः फलासक्ति कर्मासक्ति, कर्तृत्वासक्ति और अकर्तृत्वासक्ति—ये चारों दुःखदायी है। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, जब परमेश्वरकी रायसे हमारी राय मिल जाती है। जैसे आप कहते हैं—'जो थारी राय सो म्हारी राय' अथवा 'राजी है हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है'। वैसे ही ईश्वरकी राय हमारी राय हो जाती है। संसारमें दुःखी वही है, जो ईश्वरसे मतभेद रखता है। जिसका ईश्वरसे मतभेद नहीं हैं, वह दुःखी ही नहीं। आप देखो, कहाँ ईश्वर और कहाँ जीव? जीवने अपनी अक्ल अलग लगायी और ईश्वरकी अक्लको स्वीकार नहीं किया तो उसे सुख कैसे मिल सकता है? किन्तु जिसकी बुद्धि ईश्वरकी बुद्धिसे एक हो जाती है, उसके लिए जो कुछ भी होता है, उसमें वह सुखी रहता है, शान्त रहता है।

अब कर्मयोग और संन्यासकी बात लीजिये। वास्तवमें कर्म और संन्यास दोनों बुद्धियोगके ही अंग है—'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।' वही रासबिहारी परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, वही सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण और वही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण हैं सत्ताकी प्रधानतासे, सर्वज्ञ हैं चेतनताकी प्रधानतासे और रासबिहारी हैं आनन्दकी प्रधानतासे। भीष्म शक्तिशाली भी हैं और ज्ञानी भी हैं, परन्तु आनन्दका जो विकास परमेश्वरमें है, श्रीकृष्णमें है, वह भीष्म में नहीं है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूपसे बुद्धिके अन्दर बैठे हुए हैं और बार-बार अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। कभी कहते हैं कि—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' तुम्हारी बुद्धिमें ही तुम्हारी शरण अर्थात् आश्रय वस्तु छिपी हुई है उसे वहीं ढूँढ़ो। कभी बोलते हैं—'तमेव शरणं गच्छ'—उसकी शरणमें आओ और कभी कहते हैं—'मामेकं शरणं व्रज'—मेरी शरणमें जाओ। यहाँ 'बुद्धौ'में जो अर्थ है, वही 'तमेव'में भी है और वही 'मामेकं'में भी है। भगवान् जने-जनेकी शरणमें जानेसे रोककर किसी एकको ही शरणमें जानेको बोलते हैं और वह एक कौन है? वही अपने हृदयमें अन्तर्यामी है। वही सम्पूर्ण विश्वका संचालक 'तत्' है और वही श्रीकृष्ण 'माम्' हैं। उसीकी शरणमें आनेके लिए भगवान् बार-बार पुकारते हैं। अब आप देखो कि बुद्धियोग क्या है? भगवान्को बुद्धिवाद पसन्द नहीं। मूढ़ता तो सर्वथा नापसन्द है। क्योंकि मूढ़ तो परमेश्वरके पास पहुँचनेका साधन ही खो बैठता है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 16.20

अर्जुन, तुम बढ़-बढ़कर बुद्धिकी बात करते हो और रोते भी हो। अक्लमन्द रो नहीं सकता और रोनेवाला अक्लमन्द हो नहीं सकता। यह स्पष्ट है भगवान्के इस कथनमें। भगवान् कहते हैं कि जिनके लिए

शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए तो तुम शोक करते हो, छोटी-छोटी बातके लिए रोते हो और बुद्धिसे बड़ी-बड़ी 'भाषसे'—बात करते हो। कैसे प्रज्ञावादी हो? जिनके लिए बिल्कुल नहीं रोना चाहिए, उनके लिए रोते हो? जो तुम्हारे पास आये थे वे गये और जो गये थे वे आगये। यह दुनिया अपना काम कर रही है। इसमें बुद्धिमान् भी बनना और दुःख भी समेटना, दोनों एक साथ कैसे बन सकते है? दुःखोंको समेट-समेट कर अपने पास बटोरते जाना तो बुद्धिमानीका लक्षण नहीं है। अस्तु;कोरा बुद्धिवाद भगवान्को पसन्द नहीं है। क्योंकि उसमें कामासक्ति है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोगोंको जहाँ कुछ मिलने लगता है—धन, प्रशंसा, पद अथवा भोग, तो वे अपनी बुद्धिको बेच देते हैं। एक बुद्धि वह होती है जो संसारसे मिलकर रहती है। यदि बुद्धि संसारकी आसक्तिमें फँस जायेगी तो परमेश्वर पीछे छूट जायेगा और यदि परमेश्वरके साथ जुड़ जायेगी तो संसार पीछे छूट जायेगा। मंगल इसीमें है कि हमें बुद्धियोग प्राप्त हो, हमारी बुद्धि परमेश्वरके साथ जुड़े। उसमें सांसारिक पदार्थों की कामना ही बाधा डालती है।

ऐसी स्थितिमें क्या करें? कल आपको बताया था कि आप किसी भी प्रकारकी उन्नति अथवा अभ्युदय चाहते हैं तो कर्म करना ही पड़ेगा। बिना कर्मके किसी तरहकी उन्नति नहीं हो सकती, न धनकी, न यशकी, न भोगकी। उन्नत होनेका मतलब है ऊपर उठना। आप जहाँ है, जहाँ बैठे हैं उसमें ऊपर उठना हो तो उसके लिए प्रयास कीजिये, यत्न कीजिये। प्रयास करते-करते उन्नति पूरी हो जायेगी। अभ्युदयमें कर्मका सम्बन्ध सर्वथा सुनिश्चित है। परन्तु निःश्रेयसमें कुछ शंका है। यदि कर्मको निःश्रेयसके साथ जोड़ोगे तो बुद्धियोगकी प्रधानता अनिवार्य होगी। क्योंकि निःश्रेयसका अर्थ है मुक्ति, परमात्माकी प्राप्ति, अविद्याकी निवृत्ति। तात्कालिक सुख नहीं शाश्वत सुख, भिन्न-भिन्न वस्तुओंका ज्ञान नहीं, अद्वितीय वस्तुका ज्ञान, छोटे-छोटे कर्म नहीं, जिस सत्तामें सब कर्म होते हैं, उससे एकात्मता, उसका ज्ञान प्राप्त करना। तो निःश्रेयसके लिए कर्मयोगका आश्रय लो या संन्यासयोगका, उसमें बुद्धियोगका होना आवश्यक है।

अब एक बार फिरसे हम आपको सुनाते हैं। आप काम करते हैं, यह तो मान्य है; पर मना किया हुआ काम करते हैं या आदेशानुसार? यदि मना किया हुआ काम करते हैं तो आपकी वासना आपको वहाँ पहुँचा देगी जहाँ आपकी वासना है और शासनके अनुसार काम करते है तो आप बाहर न जाकर अपनी आत्मामें भीतर बैठ जायेंगे। धर्म विभाग कर देता है कि यह करो और वह मत करो। जब हम विहित कर्म करने लगते हैं, अच्छे-अच्छे काम करने लगते हैं, तब यह देखना पड़ता है कि वह सकाम है कि निष्काम है, स्वार्थसे करते हैं कि निःस्वार्थ? जहाँ हम अपनेको किसी लौकिक वस्तुके पास पहुँचाना चाहते हैं, वहाँ हमारा मन जड़ताकी ओर जाता है और जहाँ हम अपने मनको आत्माकी ओर उन्मुख करते हैं, वह चैतन्यकी ओर जाता है। आजकल कई लोग निष्कामताकी चर्चा करते हैं। कहते हैं कि हम तो निष्काम भावसे बेइमानी करते हैं, निष्काम भावसे झूठ बोलते हैं, निष्काम भावसे दूसरेको ठगते हैं, निष्काम भावसे ग्राहककी गाँठ काटते हैं। भाई, इस प्रकारके कर्म निष्काम भावसे तो क्या निकृष्ट सकाम भावसे ही होते हैं। ऐसे लोगोंको पहले सकाम और निष्कामका अर्थ समझना चाहिए। जब हम लोग-परलोकके लिए कुछ वस्तु पाना चाहते हैं और

शास्त्रकी, गुरुकी, सम्प्रदायकी आज्ञाके अनुसार काम करते हैं, तब उसका नाम 'सकाम कर्म' होता है। निष्काम कर्मका अर्थ होता है नि:स्वार्थ कर्म। अन्त:करणकी शुद्धिके लिए किया हुआ कर्म आध्यात्मिक, होता है। अत: देखनेकी बात यह है कि आप ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए काम करते हैं या अपने अन्त:करणकी पवित्रताके लिए काम करते हैं या समाजमें आपके जो कर्तव्य हैं उन्हें पूरा करनेके लिए काम करते हैं। इस प्रकार तीन विभाग हुए निष्काम कर्मके—पहला सर्वात्मा भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए, दूसरा अपने अन्त:करणकी निर्मलताके लिए और तीसरा सबकी सेवाके लिए। अब यह निष्काम कर्म भी दो तरहसे होता है—एक कर्तापनका अभिमान छोड़कर और दूसरा कर्तापनके अभिमानके साथ। कर्तापनके अभिमानके साथ होगा तो वह हमारी खण्डदृष्टिको, परिच्छिन्नताको काट नहीं सकेगा और यदि वह अकर्तृत्वबुद्धिसे होगा तो आप जानते ही हैं, गीताका तो कहना ही यही है कि आत्मा कर्ता नहीं है। प्रकृति करे तब भी मान लो—'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश:।' ईश्वर करे तो भी मान लो—'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' और दोनोंसे काम होता हो तो वह भी ठीक है—'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।' हम यह मानकर आपसे बात कर रहे हैं कि आप गीता पढ़ते हैं। नहीं तो इतने संक्षेपमें बात नहीं करते। तो देखिये—'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इन्द्रिय ही इन्द्रिय-विषयोंमें बर्तती हैं। सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण काम करते हैं। प्रकृति काम करती है, ईश्वर काम करता है और मैं कुछ नहीं करता हूँ—यह भी गीताका कहना है—

पश्यञ्श्रृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

तो हमने विभाग कर दिया। इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयमें बर्तती हैं—एक। गुण गुणोंमें बर्तते हैं—दो। प्रकृतिसे काम होता है—तीन। ईश्वरसे काम होता है—चार। और, मैं अकर्ता हूँ—यह भाव है पाँच। इस प्रकार अपने अकर्तापनका अनुभव होता है। यह अकर्तापन भी दो तरहसे होता है—एक भावमात्र होता है और दूसरा अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर होता है। स्वरूपका ज्ञान भी दो तरहका होता है—एक अपनेको असंग आत्माके रूपमें जान लेना और दूसरे अपनेको ब्रह्मरूपमें जानना। यदि ब्रह्मरूपमें अपनेको जान गये तो कर्म और कर्मफल तथा कर्तापन और अकर्तापनके लिए जो बैठना है, इन सबसे छुट्टी मिल जाती है। इन विवेचनोंके बाद प्रश्न उठता है कि कर्म करें या कर्म छोड़ें? भगवान् श्रीकृष्णका अभिमत बड़ा विलक्षण है—समन्वयात्मक है। संसारी लोगोंका ख्याल है कि आराम हराम है। लेकिन सीधी बात है, आप आरामके बिना काम नहीं कर सकते। यदि आप सोवें नहीं, नींद न लें, विश्राम न करें, कर्मत्याग करके दो-चार-छह घण्टे विश्राम न करें तो काम कैसे करेंगे? मैं आपको कल सुना रहा था, दुनियामें सब कुछ परिवर्तनशील है। यहाँ जो आयेगा वह जायेगा, जो जायेगा वह आयेगा। सोनेकी द्वारिका बनेगी और पानीमें डूब जायेगी। ब्याह होगा और बिछुड़ जायेंगे। बच्चे होंगे और उनके लिए गद्दी खाली करनी पड़ेगी। आप कुछ भी करें, गद्दी पकड़कर बैठे नहीं रह सकते। यह है सृष्टिका नियम। इसमें असंग होकर चलना पड़ेगा। आप फिर देखो और गिनती कर लो। पहले क्या गिनती है? कर्म और कामना दोनोंको एक साथ रख लो। जिसमें दोनों नहीं हैं, न कर्म है, न कामना है; वह तत्त्व हो सकता है—चाहे जड़ तत्त्व हो या चेतन तत्त्व हो। जिसमें कामना और कर्म दोनों नहीं

हैं वह या तो ब्रह्म है या पत्थर। एक विभाग यह हुआ। अच्छा अब यदि कहो कि कामना है, परन्तु कर्म नहीं है तो यह क्या हुआ? मिथ्याचारी हो गया। जो अपनी इच्छाओंकी पूर्ति तो चाहता है, परन्तु उसके लि कुछ करना नहीं चाहता उसे गीता मिथ्याचारी कहती है—'मिथ्याचार: स उच्यते।' इसमें भी दो तरहकी बातें है—एक तो कामना है मनमें, किन्तु कर्म नहीं कर रहा है और कामनाओंको इमानदारीसे मिटाना चाहता है। दूसरा है, जो कामनाओंको पूरी करना चाहता है, परन्तु काम नहीं करना चाहता, वही मिथ्याचारी है।

अब इसके आगे बढ़ें और देखें कि कर्म तो है, परन्तु कामना नहीं है। इसको क्या कहेंगे? निष्काम कर्म कहेंगे। जब हम बिना स्वार्थके सब-का-सब काम करते हैं, तब तत्त्वके बहुत निकट होते हैं। जैसे पृथिवीको देखिये, वह आपको माताके समान अपने कन्धेपर, अपने सिरपर, अपनी गोदमें, आपको रखती है, परन्तु आपसे कुछ चाहती नहीं। यह पृथिवी तत्त्व है। जल तत्त्व आपको तृप्ति देता है, परन्तु आपसे कुछ अपेक्षा नहीं करता। अग्नि तत्त्व ताप देता है, सूर्य प्रकाश देता है, परन्तु आपके पास कोई बिल नहीं भेजता। वायु तत्त्व आपको सांस लेने देता है, लेकिन उसके बदले आपसे कुछ लेता नहीं। आकाश तत्त्व आपको अवकाश देता है। ईश्वर आपको चैतन्य देता है और प्रकृति आपको क्रिया देती है, लेकिन आपको कुछ देना नहीं पड़ता। यही निष्काम कर्मका स्वरूप है। जैसे पृथिवी तत्त्व अपना जीवन व्यतीत करता है, वैसे ही हम सबको क्षमा करें और सबको तृप्ति दे। क्षमा तो सभी तत्त्वोंमें है। क्षमा उनका अनुगत धर्म है। पृथिवीको चाहे खोदो चाहे फूँको, चाहे उसपर मूत्र या विष्ठा करो, वह सभी अवस्थाओंमें क्षमा करती है। जलमें आप पनाला गिराते हैं तब भी वह क्षमा करता है और आपको तृप्ति देता है। अग्निमें चाहे कुछ भी गन्दी-से-गन्दी चीज भी डाल दो भस्म कर देगा और क्षमापूर्वक आपकी रसोई भी पका देता है। वायु आपको सांस भी देता है और आप चाहे जितनी दुर्गन्ध उसमें उँड़ेल दें आपको क्षमा कर देता है। आकाशमें चाहे जैसे शब्द बोलो, अच्छे-से-अच्छे या बुरे-से-बुरे, सबको पचा लेता है और आपको धारण भी करता है। आप उसमें चाहे जहाँ घूमना चाहो घूमो, आकाशको कोई आपत्ति नहीं। इसीको हम तात्त्विक जीवन बोलते हैं। इस तात्त्विक जीवनसे मिलता हुआ जिसका जीवन है—क्षमा करो, सबका भला करो और इसके बदलेमें कुछ तुम मत चाहो—यही ईश्वरका जीवन है, यही प्रकृतिका जीवन है। यही आकाशका, वायुका, अग्निका, जलका, पृथिवीका सब तत्त्वोंका जीवन है। अत: मनुष्यको अपना जीवन तत्त्ववत्—तत्त्वके समान व्यतीत करना चाहिए।

अब एक तीसरी अवस्था देखो। जहाँ काम और कर्म दोनों नहीं, वहाँ जड़ तत्त्व है या चेतन तत्त्व है? जहाँ कामना है परन्तु कर्म नहीं वहाँ या तो मिथ्याचार है या कामना मिटानेके लिए प्रयत्न है। अब यह देखो कि जिसमें कर्म है और कामना नहीं, वह निष्काम कर्मयोगी साधक है। एक अवस्था ऐसी भी आती है समाधिक, जहाँ न कामना होती है, न कर्म। बस यही एक प्रश्न रहता है कि तत्त्वज्ञान होकर कामना और कर्म छूटे हैं या बिना तत्त्वज्ञानके ही छूटे हैं। यदि तत्त्वज्ञान हो गया है तो कामना और कर्म होवें, चाहे न होवें, वह तो साक्षात् ब्रह्म है। लाख-लाख कामना होते हुए भी, लाख-लाख कर्म होते हुए भी, लाख-लाख ब्रह्माण्ड बनते-बिगड़ते हुए भी वह ज्यों-का-त्यों है।

अब आप इसका वर्गीकरण कीजिये। अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पहले अपनेको स्थापित करना पड़ेगा। देखिये, क्या आप निकम्मे हो गये हैं, आलसी हो गये है? नहीं-नहीं, हम निकम्मे नहीं, आलसी नहीं—आलसीको तो कोई सफलता मिल ही नहीं सकती। आलस्य-प्रमादमें जीवनकी कोई सफलता नहीं। तब आप प्रयत्नशील हैं? कायदेसे काम कर रहे हैं कि बेकायदे कर रहे हैं? बेकायदे कर रहे हैं तो आपकी वासना आपको गड्ढेमें डाल सकती। कायदेसे काम कीजिये। धर्मके, शास्त्रके अनुसार काम कीजिये। यदि कायदेसे भी काम करते हैं और अभिमान बहुत दिखाते हैं तो आपके मुकाबिलेका कोई-न-कोई अभिमान तो दुनियामें होगा ही, वह आकर आपसे टकरायेगा। एक तो संघर्ष रहेगा, द्वन्द्व रहेगा, दूसरे कभी वह आपको नीचा भी दिखा सकता है। अभिमानको नीचा देखना ही पड़ता है। यह कहा जा चुका है कि दुनियामें जितनी चोट पड़ती है, जितना दु:ख होता है, जितना दारिद्र्य आता है; वे सब अभिमानको ही आकर दबोचते हैं। जिसके जीवनमें अभिमान शिथिल हो गया, कम हो गया, उसका दु:ख भी कम हो गया। समझ लीजिये कि जिसके जीवनमें जितना दु:ख है, वह उतना ही बड़ा अभिमानी है।

अब देखो कर्म और कर्मत्यागको। यदि बुद्धिपूर्वक कर्म करते हो और बुद्धिपूर्वक त्याग करते हो, तब तो कर्म भी साधन है और त्याग भी साधन है। यदि बुद्धि नहीं तो कर्म भी बन्धन है और त्याग भी बन्धन है। जैसे एक संन्यासी हैं। उनके विषयमें प्रश्न उठा कि यह संन्यासी कैसे हुए? तो उत्तर मिला कि इससे पहले वायदा किया गया था कि तुम संन्यासी हो जाओगे तो इस बहुत बड़े मठके महन्त बना दिये जाओगे। अब आप ध्यान दो इस बातपर। उन्होंने यज्ञोपवीतका त्याग किया, वस्त्रका त्याग किया, नंगे हुए, संन्यासी हुए और दूसरे-तीसरे दिन उनको एक बड़े मठकी गद्दीपर बैठाकर तिलक कर दिया गया। यदि उन्होंने अपने-आप सब कुछ त्यागकर संन्यास ले लिया होता और कोई ले जाकर मठकी गद्दीपर बैठा देता तो वह बात दूसरी होती। जब उन्हें यह वायदा करके संन्यासी बनाया गया कि तुमको महन्त बनावेंगे, तो उनके मनमें कामकी प्रधानता है कि संन्यासकी? निश्चय ही उनका त्याग गौण हो गया और महन्त होनेकी वासना बड़ी हो गयी। जब बुद्धि कामनासे दूषित या कलुषित हो तब त्याग कल्याणकारी त्याग नहीं होता। इसी तरह जब हम कर्म करते हैं और उसका फल दूसरेको नहीं देना चाहते तो वह श्रेयस्कर नहीं होता। प्रेम और काममें यही अन्तर है। जो काम हम कर रहे हैं, बड़े प्रयत्नसे, बड़े परिश्रमसे, उसका लाभ सबको मिलना चाहिए। हम बड़े-बड़े काम किसके लिए करते हैं? नंगेको पहननेके लिए कपड़ा मिले, भूखेको खानेके लिए अन्न मिले, रोगीको दवा मिले, जिसके पास मकान नहीं उनको मकान मिले। हमारे सब काम इसी दृष्टिसे होने चाहिए। कर्ताकी मनोवृत्ति ही उसके साथ जुड़ती है। जब खुदको फायदा उठानेके लिए काम होता है तब कामनाकी प्रधानता हो जाती है। कामनाकी प्रधानता होनेसे सबका भला हो, इस ढंगसे काम नहीं होता। उसमें तो अपना फायदा हो, वैसे ही काम होता है। काम वही है, वही कपड़ा, वही दवा, वही अन्न, वही वस्त्र, वही विद्यालय, वही धर्मशाला, किन्तु करनेवाला जब अपना फायदा देखता है तब उनका स्वरूप बदल जाता है। जब सबको लाभ पहुँचे, इसके लिए काम करते-हैं तो सर्वात्माकी सेवा हो जाती है। परमेश्वरकी सेवा हो जाती है अपने लाभके लिए करते हैं तो वही

स्वार्थ हो जाता है। इस प्रकार दृष्टिकोणके भेदसे कर्म करनेमें लाभ भी है और हानि भी; बुद्धि ठीक होनी चाहिए। कर्मत्याग करनेमें भी वही बात है। कर्मत्यागसे हम समाधिमें स्थित हो सकते हैं, अपना स्वरूप जान सकते हैं और परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन यदि स्वार्थदृष्टिसे कर्मत्याग करेंगे तो वह त्याग भी कलुषित हो जायगा। कहनेका अभिप्राय यह हि आप कर्मके द्वारा भी लाभ उठा सकते हैं। अभी भगवान्‌ने संन्यास और कर्मयोगको बराबरी पर स्थापित किया। यदि सामने बड़े-छोटेका झगड़ा हो तो एकाएक विपरीत बात नहीं कह देना चाहिए। ऐसे नहीं कहना चाहिए कि जिसको तुम छोटा कहते हो वह बड़ा है और जिसको बड़ा कहते हो वह छोटा है। यह बात-चीत करनेका ढंग नहीं। पहले दोनोंकी बराबरीकी बात करनी चाहिए और जब सामनेवालेको ग्रहण हो जाये कि ये दोनों बराबर हैं तब दोनोंकी तुलनात्मक समीक्षा करके अधिक विशेषता किसमें है यह बात बतानी चाहिए। श्रीकृष्ण बोलनेका ढंग भी तो सिखाते हैं।

'संन्यास: कर्मयोगश्च'—इनको कर्मयोग बताना है, लेकिन पहले नाम संन्यास लेते हैं। आदर करना चाहते हैं कर्मयोगका लेकिन पहले नाम लेते हैं संन्यासका । बादमें चलकर बताते हैं कि कर्मयोग बड़ा है। इस प्रकार संन्यासका भी आदर हो जाता है और कर्मयोगकी विशेषता भी प्रकट हो जाती है—'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।' मानो अर्जुनने कहा कि इन दोनोंमें तुलना कीजिये तो बोले संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशेष है।

अब आप देखिये। संन्याससे केवल एक वस्तु मिल सकती है और वह है मोक्ष। संन्याससे लौकिक अभ्युदय नहीं हो सकता किन्तु कर्मयोग मोक्षमें तो सहायक है ही, मोक्ष तो देता ही है, साथ-साथ लोक भी देता है कर्मयोगमें भोग भी है, योग भी है। संन्यासमें योग तो है, परन्तु भोग नहीं। एक साधारण मनुष्यके लिए कर्मयोग ही श्रेष्ठ है, जिससे लोकका भी हित हो, उसका जीवन भी अच्छा बने; उसका मन भी पवित्र हो, उसके कर्म द्वारा परमात्माकी सेवा भी हो और फिर उसका अन्त:करण शुद्ध होकर तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाये। आखिरी सीढ़ीपर कोई छलांग लगाकर चढ़ भी जाये तो गिर जानेका डर है और एक-एक सीढ़ी करके चढ़े तो गिरनेका डर नहीं। कर्मयोग बुद्धिपूर्वक ही होता है। संन्यासयोग भी बुद्धिपूर्वक ही होता है। यदि बुद्धि नहीं, तो दोनों बिगड़ जाते हैं। इसलिए पहले ज्ञान प्राप्त करो। यदि कहो कि ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब श्रद्धा तो कर सकते हो। जो ज्ञानी पुरुष हैं उनके ज्ञानसे श्रद्धापूर्वक लाभ उठाओ और यदि स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकते हो तो उसके लिए प्रयास करो। श्रीकृष्णने जहाँ संन्यासकी चर्चाकी है वहाँ उसका अर्थ बदल दिया है। ऐसे समझो कि दुनियामें जहाँ रजिस्ट्रीसे ब्याह होता है, वहाँ रजिस्ट्रीसे तलाक भी होता है। कानूनसे ब्याह तो हो और तलाक न हो वह गलत हो जाता है। जब संस्कार द्वारा यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संन्ध्या-वन्दनका नियम लेते हैं और विधिपूर्वक विवाह करते हैं तो उन सबके त्यागके समय भी कोई-न-कोई संस्कार होना चाहिए। जैसे सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे ग्रहण होता है, वैसे ही सबको दिखाकर धर्मकी विधिसे त्याग भी होता है। जब समाज स्वीकार करले कि हाँ इनका ब्याह हुआ अथवा इन्होंने तलाक दिया बात साफ ही कायदे-कानूनकी हो जाती है। परन्तु श्रीकृष्ण तो संन्यासकी परिभाषा ही बदल देते हैं। वे कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

ऐसी स्थितिमें कर्मयोग विशेष कहाँ हुआ? इसलिए विशेष हुआ कि कर्मयोग अभ्युदय और निःश्रेयस भोग और योग, लोक और परलोक, धर्म-अर्थ-काम और साथ ही मोक्ष सबमें सहायक है। यही इसकी विशेषता है। एक ऐसा व्यक्ति है, जो गेरुआ कपड़ा नहीं पहनता, ज्यों-का-त्यों है। उसके गलेमें जनेऊ भी है, सिरपर चोटी भी है, गृहस्थके रूपमें भी है। परन्तु यदि उसकी बुद्धिमें किसीसे द्वेष नहीं और ऐसी कोई चीज नहीं जिसकी उसको आकांक्षा होती हो या जिसको न पानेसे जलन होती हो, क्या वह किसी संन्यासीसे कम है? सच्चा संन्यासी तो वही है। मनुष्यके भीतर जो हीन भावना है उससे बड़ा नुकसान होता है। हम सोचते हैं कि यह आदमी हमें नुकसान पहुँचा देगा तो उससे अपनेको छोटा समझने लगते हैं, निर्बल समझने लगते हैं, मूर्ख समझने लगते हैं। यह हमारी हीनभावनाका ही परिणाम है। यदि हम किसी वस्तुके लिए पानी-पानी हो रहे हैं, बहे जा रहे हैं, अपने गौरवके स्वरूपके विपरीत आचरण करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि हाय-हाय इसके बिना हम जी नहीं सकते तो इसका कारण भी हमारी हीन भावना ही है। उस व्यक्तिमें क्या पौरूष है जब यह सोचता है कि हम किसीके बिना जी नहीं सकते अथवा अमुक दुश्मन हमको मार डालेगा। इस प्रकार हीनताकी जो बुद्धि है, वही राग-द्वेषको उत्पन्न करती है और पूर्णताकी जो बुद्धि है, वह रागद्वेषको मिटाती है। वास्तवमें हमें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। हम परमात्माके अंश है, स्वरूप हैं, स्वभाव है और सब प्रकारसे परिपूर्ण हैं। हमको दुनियामें कुछ भी नहीं चाहिए। हम तो केवल अपने कर्त्तव्योंका पालनमात्र कर रहे हैं। राग-द्वेषकी निवृत्ति संसारके स्वरूपको समझनेसे होती है। इसे समझनेकी पद्धति एक तो यह है कि संसार परिवर्तनशील है। दूसरा यह कि हम असंग है। तीसरा यह कि सब कुछ परमात्माका स्वरूप है और चौथा यह कि तत्त्वतः कोई भेद नहीं। इस प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्ति चार प्रकारसे होती है। आप इसकी गिनती कर लो। संसारको जब यह समझोगे कि यह बदलता रहता है, परिवर्तनशील है तब कहाँ और किससे राग-द्वेष करोगे? जो आज दुश्मन है वह कल दोस्त हो जायेगा और जो आज दोस्त है, वह कल दुश्मन हो जायेगा। अपने स्वरूपको समझोगे तो प्रतीत होगा कि जब तुम आजतक किसीसे राग या द्वेषका निर्वाह करनेमें सफल नहीं हुए, समर्थ नहीं हुए तो आगे भी नहीं हो सकते। परमेश्वरके स्वरूपको समझोगे तो उससे प्रेम होते ही दुनियामें किसीसे राग-द्वेष करनेका कोई मौका ही नहीं मिलेगा और यदि अपने आपको ब्रह्मरूपसे, तत्त्वरूपसे जान जाओगे तो न कोई दूसरा रहेगा और न राग-द्वेषका अस्तित्व रहेगा। इस प्रकार राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए ये चार उपाय गिने हुए मुख्य उपाय हैं, अन्य सब उपाय इनके अवान्तर भेद हैं।

भगवान् नित्य-संन्यासी होनेकी जो बात कहते हैं उसका तात्पर्य यह है कि जो निर्द्वन्द्व है, वही संन्यासी है। 'द्वौ-द्वौ इति द्वन्द्वम्'—सुख है-दुःख है; राग है-द्वेष है; पाप है-पुण्य है; पति है-पत्नी है; बाप है-बेटा है; इन सबका नाम द्वन्द्व है। निर्द्वन्द्वका अर्थ है बिल्कुल अकेला—निपट अकेला। जो गृहस्थमें रहता हुआ, संसारी काम करता हुआ भी दूसरेकी अपेक्षासे मुक्त होकर रह रहा है, वह निर्द्वन्द्व है, नित्य संन्यासी है।

●

प्रवचन : 3

गीता चाहती है कि विवेक और कर्म इन दोनोंका समन्वय बना रहे। विवेक निकम्मा न हो जाये। सीधी-सादी बात है, विवेकहीन कर्म लोक-परलोक-सुख सबको बिगाड़ता है और कर्महीन विवेक मनुष्यको अकर्मण्य बना देता है। अत: कर्म और विवेक दोनों साथ मिलकर चलें, यही भगवान् अर्जुनसे कहना चाहते हैं। इसको उन्होंने बुद्धियोग शब्दसे व्यवहृत किया है। इसमें जो योग है, उसका अर्थ है कर्मयोग और जो बुद्धि है, उसका तात्पर्य है सांख्ययोग। सांख्य और योग अर्थात् कर्म बुद्धि—कर्म और विवेक—इन दोनोंका मिश्रण। विवेकमें बाधा कौन डालता है ? कामासक्ति। जब हम किसी वस्तुके प्रति आसक्त हो जाते हैं और इस प्रकारका आचरण करने लगते हैं कि चाहे जो हो जाये हमें तो यही करना है तब जिन्दगीमें जिद आ जाती है। संस्कृतमें जिदको दुराग्रह बोलते हैं और जब मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाता है तब उसे 'दुराग्रह-ग्रह-गृहीत' कहते हैं। जब वह विवेकका तिरस्कार करके कोई काम करना चाहता है तब वह अहितकर कर्म कर बैठता है। केवल नि:श्रेयसकी प्राप्तिके लिए तो कर्महीन विवेक भी काम देता है, किन्तु कर्म उपयोगी हैं। कर्म कैसे उपयोगी है ? इसके सम्बन्धमें हम थोड़ी बात आपको सुनाते हैं।

यदि ब्याहका प्रसंग हो तो लड़कीको लड़केके बारेमें और लड़केको लड़कीके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि वहाँ संग्रह होना है, दोनोंको मिलकर रहना है। इसको 'सविषयक ज्ञान' बोलते हैं। दूसरेके सम्बन्धमें यदि कुछ लेना हो, देना हो, छोड़ना हो, पकड़ना हो तो ज्ञान प्राप्त करनेके बाद ही ऐसा हो सकता है। करना-त्यागना ज्ञानका स्वभाव है यदि आप दूसरी वस्तुको जानोगे, तभी उसके अच्छी होनेपर उससे प्रेम करोगे और उसके बुरी होनेपर उसको छोड़ दोगे। परन्तु अपने स्वयंके बारेमें जो ज्ञान होता है उसमें न छोड़ना पड़ता है और न पकड़ना, क्योंकि वह तो स्वत: सिद्ध है। छोड़नेवाला भी वही, पकड़नेवाला भी वही। किसीने पूछा कि अपने-आपको जानकर क्या करोगे तो बोले कि यदि जाना कि मैं बहुत बुरा हूँ तो आत्महत्या कर लूँगा। उत्तर मिला कि आत्महत्या करके भी तुम नहीं मरोगे। मनुष्यका शरीर जहाँ पूरा होता है वहींसे प्रारम्भ होता है। यदि वह निर्वासन नहीं, निष्काम नहीं, तत्त्वज्ञानी नहीं, तो उसका जीवन जहाँ समाप्त होता है, वहींसे दूसरा प्रारम्भ हो जाता है। वही परिस्थिति, वही दृश्य, वही दु:ख, वही सुख। उनसे मरकर भी बच नहीं सकते। आत्मज्ञानके अतिरिक्त दूसरे जितने ज्ञान हैं वे त्याग और संग्रहके लिए होते हैं। श्रीसुरेश्वराचार्यजी ने इस बातका वर्णन बहुत स्पष्ट किया है—

सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥

आप इस बातको ध्यानमें रख लो, नोट कर लो, अपने निश्चयमें ले लो कि संसारमें आत्मविज्ञानके अतिरिक्त जितने भी विज्ञान होते हैं, वे पूर्वसंस्कारसे अनुप्राणित होते हैं, आगेके लिए नये संस्कार उत्पन्न करनेवाले होते हैं और कर्मके अंग होते हैं। यह बात मैं जान-बूझकर सुना रहा हूँ कि सभी ज्ञान बराबर नहीं होते। ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करोगे तो उसके प्रति आपके हृदयमें नम्रता आयेगी, झुकोगे और मनुष्यके प्रति

भाईचारेकी भावनाका उदय होगा। अपने आत्माके स्वरूपको समझोगे तो संग्रह और त्यागसे विनिर्मुक्त निर्द्वन्द्वता मिलेगी।

बुद्धियोगमें दोनों रहते हैं—विवेक भी और कर्म भी। पहले बताया जा चुका है कि कर्मको योग और विवेकको सांख्य कहते हैं। सांख्य अर्थात् गणना करना। संख्या शब्दसे ही सांख्य शब्द बनता है। प्रकृतिमें चौबीस भेद हैं—पाँच भूत हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, पाँच विषय है, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और चार अन्त:करण हैं। इस तरह गिनती करके वस्तुओंका निश्चय करना सांख्यकी पद्धति है। जो तत्त्वोंका परिगणन कर दे, संख्यान कर दे, उसका नाम सांख्य होता है। संख्या सम्यक् ख्यातिको कहते हैं। किसी वस्तुको एक, दो, तीन, चार आदिके रूपमें भली-भाँति जाहिर करनेका नाम संख्या है। अब आप देखो जब कर्म करने चलते हैं तो उसमें विवेक है कि नहीं, यह पहला प्रश्न हुआ। यदि है तो विवेकपूर्वक कर्म करनेकी प्रेरणा आपको कहाँसे मिल रही है? कामकी ओरसे कि रामकी ओरसे? आप जहाँ काम करने जा रहे हैं वहाँ आपको आपकी वासना ले जा रही है, आपका स्वार्थ ले जा रहा है या उसके लिए शुद्ध निर्वासन चित्तमें ईश्वरकी प्रेरणा आयी है? यह विवेक बुद्धिमान् लोगोंको होता है, नहीं तो जो मनमें आया वही करने लगते हैं। इसके बाद कर्मके स्वरूपपर भी ध्यान देना चाहिए। उसमें हिंसा तो नहीं, मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको तकलीफ तो नहीं पहुँचेगी। जब हम दूसरोंको दु:ख, ताप या तकलीफ पहुँचाकर कोई कर्म करते हैं तो सबसे पहले उनका प्रभाव हम पर ही पड़ता है। आप यदि गम्भीरतासे, सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तब मालूम पड़ेगा कि दु:ख बाहरसे नहीं आता। यदि कोई पीठपर घूँसा लगा दे अथवा सिरपर डण्डा मार दे तो पीठ या सिरको तकलीफ नहीं होती, तकलीफ मनको होती है। चाहे किसी भी अंगको चोट पहुंचे, तकलीफ मनमें पहुँचेगी। मनोभूमि मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाशसे भी सूक्ष्म होती है। जब बोला हुआ शब्द जैसा स्थूल पदार्थ सारी सृष्टिमें फैल जाता है—ब्राडकास्ट होता है अमरीका, चीन, रूस अथवा अन्य किसी सुदूर देशमें और तत्काल सुनायी पड़ता है सर्वत्र। तो जो दु:ख-सुखरूपी मनोभाव हैं वे एक जगह पैदा होकर एक जगह ही रह जायेंगे, यह सोचना गलत है। शब्दके विस्तारकी तरह सुख-दु:खका भी विस्तार हो जाता है।

अत: यदि आपके कर्मसे किसीको दु:ख पहुँच रहा है तो वह दु:ख विश्वसृष्टिमें फैलेगा और एक, दो, तीन दिन अथवा वर्ष-दो-वर्षमें आपके पास भी पहुँचेगा। आपके अन्त:करणमें बैठा ईश्वर भी उस दु:खसे अछूता नहीं रहेगा। अत: ऐसा काम करना चाहिए जिससे किसीको दु:ख न पहुँचे। किसी एक आदमीको भी दु:ख पहुँचाना ईश्वरको, सर्वात्माको, प्राणिमात्रको और स्वयं अपने-आपको भी दु:ख देनेका प्रयास है। जैसे कोई चीज अपनेसे बाँधकर फेंकते हैं तो वह लौटकर फिर अपने पास आ जाती हैं, वैसे ही जब हम दूसरेको देनेके लिए दु:ख फेंकते हैं। तो वह हमारे पास लौटकर आ जाता है और कहता है कि तुम्हींने तो हमारा विस्तार किया है, इसलिए अब हम तुमको ही लगेंगे। इसलिए दूसरोंको दु:ख देनेवाला व्यक्ति उस दु:खसे बच नहीं सकता। जैसे धनका दान करनेवाला, इस लोक और परलोकमें धनका भाजन होता है, वैसे ही दु:ख देनेवाला भी इस लोक और परलोकमें दु:खका पात्र बनता है। कारणमें ही कार्यका लय होता है—यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है। दु:ख अपने भोक्ताके पास हमेशा नहीं रहता उनके पास तो थोड़ी देर रहता है, परन्तु जो उसका

दाता या कर्ता है, उसके पास लौटकर चिपक जाता है। तो कर्म-विवेकमें, सांख्यज्ञानमें आवश्यक है यह जानना कि प्रेरणा ईश्वरकी है या वासनाकी, रामकी है या कामकी? जो कर्म हम करने जा रहे हैं वह हिंसात्मक तो नहीं? एक तीसरी बात कर्ममें सोचनेकी, विचार करनेकी यह है कि जो काम हम कर रहे हैं उसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन शब्दका तात्पर्य है यह जानना कि उस कर्मका फल कहाँ जुड़ता है—

अवगतं सत् आत्मनि इष्यते।

जब प्रयोजनका ज्ञान होता है तब वह अपने-आपमें ही आकर जुड़ जाता है। प्रयोजन अर्थात् योजना करनेवाला, फलको हमारे साथ जोड़नेवाला पदार्थ। तो हम किस प्रयोजनसे काम करते हैं यह विवेक होना आवश्यक है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

निष्प्रयोजन काममें, जिससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि न होती हो उस काममें, अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करना चाहिए। पहले तो वह काम रामकी प्रेरणासे, निर्वासनताकी प्रेरणासे आया हुआ हो; स्वरूपसे हिंसायुक्त न हो और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है, यह पता हो तब उसमें प्रवृत्त होना चाहिए। निष्काम-निष्कामका रट लगानेवाले कभी-कभी गड़बड़ी करते हैं। वे समझते हैं कि हम जुबानसे निष्काम-निष्काम कहते रहेंगे तो एक दिन वह निष्काम हो जायेगा। लेकिन जबानी जमा-खर्च करनेसे कोई कहे कि हम निष्काम भावसे किसीको ठगते हैं, झूठ बोलते हैं, बेइमानी छल और कपट करते हैं तो क्या कभी यह शक्य है? आप यह कह सकते हैं कि हम अपनी कामनाको धर्मके अविरूद्ध बनानेका प्रयास करते हैं। धर्मानुकूल कामना हो, इसकी चेष्टा करते हैं, क्योंकि धर्मके विपरीत कामना नहीं होनी चाहिए। तो व्यर्थ कर्मका नाम निष्कामकर्म नहीं, सप्रयोजन कर्मका नाम निष्काम कर्म है। कर्मके साथ लक्ष्य होना आवश्यक है। लक्ष्य और स्वार्थमें अन्तर है, स्वार्थ दूसरी चीज है और लक्ष्य दूसरी।

कर्मका लक्ष्य भी तीन ओर जाता है। हमारा कर्म अपने सुखके लिए, अपनी शान्तिके लिए अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए होता है। यदि अन्तःकरण निर्मल होगा, शुद्ध होगा तो हमें सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। हमारा काम सबकी भलाईके लिए होगा तो सबके अन्तर्गत हमारा अन्तःकरण, हमारा जीवन भी होगा और उससे हम भी सुखी हो जायेंगे। जो काम अपनी भलाई और सबकी भलाईके लिए होता है, उससे ईश्वरके उद्देश्यसे और अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे काम होना चाहिए। काम कुछ-न-कुछ पानेके लिए भी नहीं होते, स्वच्छताके लिए भी होते हैं। हमारे एक बाबा थे, वे कहते थे कि हम लोग जो भोजन करते हैं वह भी सफाईके लिए होता है। वे यह दृष्टान्त देते थे कि हम मुँहमें जो भोजन करते हैं, पानी डालते हैं, वह कंकड़, पत्थर, माटीकी तरह शरीरके भीतर जाता है, मैलको नीचेकी ओर ढकेलता है। इसलिए भोजन भी हमारी जीवन-शुद्धिके लिए ही होता है, भोगवासनाकी पूर्तिके लिए नहीं होता। अस्तु; कर्म करनेमें प्रेरकपर दृष्टि एक, कर्मके स्वरूपपर दृष्टि दो, और उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी तीन—इन तीनोंका निश्चय करके मनुष्यको विवेकपूर्वक कर्म करना चाहिए।

अब प्रयोजनकी सिद्धिमें सावधान रहनेकी बात क्या है, इसपर विचार करें। सावधानी इस बातकी चाहिए कि इससे हमारे अभिमानकी क्या रूपरेखा बनती है। क्योंकि प्रत्येक कर्म अपनेको कर्ता बनाता है। और वह कर्ता बननेपर अपनी स्थितिके अनुसार फल देता है। यदि आपने अच्छा काम किया है और सोचते हैं आपने बहुत अच्छा काम किया तो आपके सोचनेका यह ढंग ठीक नहीं। अपितु इसको सोचनेका ढंग यह है कि आपने जो अच्छा काम किया उसकी दुनियाको कितनी अधिक आवश्यकता थी। जहाँ दूधके समुद्रकी आवश्यकता है वहाँ हमने दुनियाको पीनेके लिए जो दूध दिया वह तो एक गिलास भी नहीं। अपनी सेवा पूरी नहीं बनी, उसमें कमी रह गयी। इस प्रकार आप सोचेंगे पूरी नहीं बनी, उसमें कमी रह गयी। इस प्रकार आप सोचेंगे तब तो अभिमानकी उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु यदि आप अपनी सेवाको अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ाकर देखेंगे तो आपकी ओर अभिमानका आगमन होगा और वह आपको अशुभकी ओर उन्मुख करके आपसे यह चिन्तन करायेगा कि वाह, हमने बड़ा भारी काम किया, कुछ और कर सकते तो अच्छा रहता। अच्छे काममें सबसे बड़ा डर यही रहता है कि कर्ताकी ओर अभिमानका पदार्पण न हो जाये। इसलिए कर्म करनेमें हमारी सेवा अधिक है, ऐसा नहीं समझकर हमारी सेवा कम-से-कम है—यह समझना चाहिए। अभिमान आनेसे क्या होता है, यह हम कई बार आपको बता चुके हैं। अभिमानका भूत सवार होने पर मनुष्य अपने आपको बड़ा और दूसरोंको छोटा समझने लगता है। वह वास्तवमें दूसरेको नहीं, स्वयं ईश्वरको और ईश्वरके नाते अपने आपको ही छोटा समझता है। जिसको छोटा समझा जाता है, वह छोटा नहीं होता, जो छोटा समझता है, वह छोटा होता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि अन्त:करण तो वृत्तिरूप ही है, मन ही तो अन्त:करणका स्वरूप है। जब हमारा मन छोटा आकार धारण करता है और छोटे आकारको देखता है तो स्वयं छोटा हो जाता है और जब बड़ी वस्तुको देखता है तो बड़ा हो जाता है। हीनताका भाव आनेपर ही हम दूसरोंको छोटा देखते हैं। जबतक अपनेमें हीनताका भाव नहीं, तबतक हम दूसरे को छोटा देख ही नहीं सकते।

यह बात इसलिए सुनायी कि बुद्धिका कर्ममें रहना आवश्यक हैं। बुद्धिसे रहित, विवेकसे रहित जो कर्म है, वह दूसरोंके लिए हानिकारक होगा, अपने लिए हानिकारक होगा और भगवान्‌की प्रसन्नताका, ईश्वरके प्रसादका साधन नहीं बनेगा। प्रश्न उठता है हम यह कैसे जानें कि हमारे द्वारा जो कुछ होता है, वह विश्व प्रपञ्चके लिए किस प्रकार लाभ अथवा हानिका कारण होता है। प्रपञ्च शब्दका अर्थ संस्कृतमें विचार होता है, बखेड़ा होता है 'पचि विस्तारे' धातुसे प्रपञ्च शब्द बनता है। सिंहके लिए जो पञ्चास्य, पञ्चानन शब्दका प्रयोग होता है, उसका अर्थ यह नहीं कि सिंहके पाँच मुँह है। वल्कि यह अर्थ होता है कि उसका मुँह बहुत बड़ा है। विस्तृत मुखको पञ्चानन बोलते हैं। अस्तु, विश्वप्रपञ्चका बड़ा भारी विस्तार है। इसमें हम कब कहाँ किसको हानि पहुँचा रहे हैं और कब कहाँ किसको लाभ पहुँचा रहे हैं, यह समझ पाना तो वास्तवमें साधारण व्यक्तिके लिए कठिन है, असम्भव-प्राय है। दुनियामें एक-एक व्यक्ति या समूहसे पूछ-पूछकर भलाई-बुराईका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है और उसकी सलाहके अनुसार कहाँतक पूछा काम किया जा सकता। तब लाभ-हानि जाननेकी कसौटी क्या है? कसौटी अपने पास ही है और वह है अपने अन्त:करणका प्रसाद। उसीसे हम अपने अच्छे, बुरे कर्मोंकी परख कर सकते हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ (गी०2.67)

प्रज्ञाका नाश कब होता है ? जब आगे-आगे चलते हैं इन्द्रियगण और पीछे-पीछे चलते हैं हम। राम-राम ! हम अपने जीवनमें ऐसे दुष्टोंको आगे करके चलते हैं, जिनका तुष्टीकरण कभी शक्य नहीं, सम्भव नहीं। हमने बाल्यावस्थामें देखा था, एक सज्जन हमारे पितामहके पास आते थे। उनको पाँच रूपये दे दें तब भी दु:खी होते थे और रोते-चिल्लाते थे कि दस क्यों नहीं दिये। कभी दस रूपये दे दें तब भी रोते कि बीस क्यों नहीं दिये। कभी सन्तुष्ट नहीं होते थे। तो जो शिकायती राम हैं, हर बातमें शिकायत-ही-शिकायत होती है जिनको, वे कभी सुखी नहीं हो सकते। ईश्वरने हमको क्या-क्या नहीं दिया, इसकी लिस्ट हर समय शिकायती रामोंके पास रहती है और वे इस बातपर रोते रहते हैं कि हमको धन नहीं मिला, मकान नहीं मिला, बेटा नहीं मिला, अच्छी पत्नी नहीं मिली, स्वस्थ शरीर नहीं मिला आदि आदि। वे यह नहीं देखते कि ईश्वरने इतनी बढ़िया आँख दी, नाक दी, जीभ दी, दिल दिया, दिमाग दिया। हमारे तुलसीदासजी कहते हैं—

दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर देत जो फल चारि को।

अत: भगवान्‌ने जो दिया है, उसको देखो। शिकायती रामकी तरह ईश्वरके काममें खुचर मत निकलो। यह खुचर शब्द हमारे गाँवका है। यहाँ क्या बोलते हैं, हमको मालूम नहीं, अर्थ है दोष दृष्टि रखना, अथवा दोष निकालना। जैसे चूहा किसी भी चीजको काट देता है वैसे ईश्वरकी करतूतमें, ईश्वरकी क्रियामें काट-छाँट करना या गलती निकालना ठीक नहीं। ऐसा करते रहनेसे आपको कभी सन्तोष नहीं होगा। ये इन्द्रियाँ कभी सन्तुष्ट नहीं होती। इनको संसारका चाहे जितना भी भोग दे दो, ये कभी सन्तोष करनेवाली नहीं। एक वस्तु मिलेगी तो उसे तिजोरीमें रख लेंगे और फिर दूसरीपर नजर डालेंगे। इसी प्रकार दूसरी मिल जायगी, तो तीसरीपर और तीसरी मिलेगी तो चौथीपर नजर जायगी। इसीलिए कहते हैं कि यदि संसारके सम्पूर्ण विषय किसी एकको दे दिये जायँ तो भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा।

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

हमारे ये इन्द्रियगण जीवन-निर्वाहके लिए कर्त्तव्य कर्म सम्पन्न करनेके लिए प्राप्त हुए हैं; वासनाओंके तुष्टीकरणके लिए नहीं। इनको आगे-आगे करके इनके पीछे-पीछे मन चला तो मनुष्य भोगोंमें फँसता जायेगा। इसको ऐसे समझिये कि कोई एक व्यक्ति शहरमें गया और वहाँ उसने बहुत बढ़िया-बढ़िया चीजें देखी। आँखोंसे चीजें देखीं, कानोंसे संगीत सुने, नाकसे सुगन्ध सूँघा और जीभसे सुस्वादु वस्तु चख ली। अब उसके मनने कहा कि ये सब वस्तुएँ हमारे घरमें भी होती तो कितना अच्छा होता। मन यही चाहता है कि हम इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए अपने घरमें अच्छी-अच्छी चीजोंका बाजार बना लें। अरे भाई मनचाही चीजोंका बाजार क्यों बसाना चाहते हो ? जरूरत है तब तो अमुक वस्तु ले आओ, अन्यथा बिना जरूरत तुम्हारी आँख, कान,

नाक और जीभने तुम्हें संग्रह करनेकी जो सलाह दी है, वह ठीक नहीं। जानते हो इसका नतीजा क्या होगा? यही होगा कि तुम्हारे इन्द्रिय तुम्हारी प्रज्ञाका हरण कर लेंगे—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मत्तोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए अपनी प्रज्ञाको नष्ट होनेसे बचाओ। 'रक्षत रक्षत कोशानामपि कोशं हृदयम्'। अपना दिल खजानोंका खजाना है। इसकी रक्षा करनेपर ही सब कुछ सुरक्षित रहेगा—'यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्।' सबकी भलाईके लिए काम करनेका उपाय अपने दिलको ठीक करना है। उसके बाद सारी दुनियाके लिए काम ठीक हो जाता है। मशीन ठीक होनेपर उसके काम अपने आप ठीक होते रहते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ (गी०2.64)
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ 2.65

अन्तःकरणमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। इस संसारमें जैसे भाई-भतीजावादी होते हैं वैसे ही राग-द्वेष होता है। जहाँ राग होता है वहाँ पक्षपात आ जाता है। इसकी कोई सीमा नहीं होती और उत्तरोत्तर उसका विस्तार हो जाता है। महात्मा गांधीने 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें इस बातको बहुत बढ़िया स्पष्ट किया है। जहाँ यह भाव आ जायेगा कि हम पहले भोजन कर लें, दूसरे बादमें करें वहाँ मोह और पक्षपात आ जायेगा। इसलिए हम जो भी काम करें उसमें मोह न हो, पक्षपात न हो। इसी प्रकार विरोध न हो, जलन न हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आप संसारकी वस्तुओंको बिल्कुल छोड़ दें। जीवन-निर्वाहके लिए उनका उपभोग करें और अवश्य करें। किन्तु भोग करनेमें भी इन्द्रियाँ अपने वशमें हों। हम उनके वशमें न हो। मालिक जब नौकरोंके वशमें हो जाता है तब नौकर लोग उससे अन्याय ही कराते हैं। इसलिए मालिकको मालिककी जगहपर रहना चाहिए। हम मशीनके हाथमें न हों, मशीन हमारे हाथमें रहनी चाहिए। अगर हम मशीनके हाथमें खेलेंगे तो वह हमें कहाँ ले जाकर पटकेगी, इसका कुछ पता नहीं। हमारा मन आज्ञाकारी होना चाहिए। हम कहें कि चलो तो चले, कहें कि कि रुको तो रुक जाये। जिस प्रकार अनर्थसे बचनेके लिए मोटरमें ब्रेक होना अनिवार्य है, उसी प्रकार हमारे अन्दर जो वारण अथवा वारक शक्ति है उस पर हमारा नियन्त्रण आवश्यक है। हम जब चाहें हाथ बन्द कर लें और जब चाहें मुट्ठी खोल दें। हमें विधेयात्मा होना चाहिए। विधेयात्मा व्यक्ति ही प्रसन्न रहेगा और उसे सम्प्रसादकी प्राप्ति होगी—'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।' तो ईश्वरकी सेवा कौन कर रहा है? जो प्रसादपूर्ण निर्मल अन्तःकरणसे कर्म कर रहा है, वह ईश्वरकी सेवा कर रहा है, वही विश्वकी सेवा कर रहा है, वही जीवोंको सेवा कर रहा है। हम एक-एक जीवसे नहीं पूछ सकते कि तुम्हारी सेवा हुई कि नहीं? जगत्के एक-एक पदार्थ, एक-एक पेड़, एक-एक पौधेको देखकर समझ नहीं सकते कि ईश्वर कैसे प्रसन्न होता है, कैसे नहीं। इसका हम न तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सक़ते हैं और न अपरोक्षानुभव कर सकते हैं। इसका अनुभव तो अपने अन्तःकरणके प्रसादसे ही हो सकता

है। किसीने एक महात्मासे पूछा कि 'महाराज! ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है कि नहीं, यह हम कैसे जानें?' उन्होंने कहा यदि तुम अपनी नजरमें अपने कामको नापसन्द करते हो तो समझ लो कि ईश्वर भी नापसन्द कर रहा है। ईश्वरने न तो अलग अपनी कुटिया बनवायी है और न अपनी नजर अलग रखी है। सम्पूर्ण जीवोंका अन्त:करण ही ईश्वरका अन्त:करण है और सबकी नजर ही ईश्वरकी नजर है। अगर तुम पाप कर रहे हो और अपनेको पतित समझते हो तो ईश्वरकी दृष्टिसे तो पापी और पतित हो ही।

इसलिए कर्ममें विवेककी आवश्यकता है। जब हम यह मान लेते हैं कि कर्मके साथ विवेक रहता है तो जहाँ विवेक कर्ममें मिला, वहाँ उसका नाम कर्मयोग हो गया। कर्म बुद्धिसे अनुगत ही होना चाहिए। कर्मयोग वह है, जिसमें कर्म भी है और बुद्धि भी। बुद्धिपूर्वक जो कर्म किया जाता है वही कर्मयोग है। एक बात और देखो, हमलोगोंके मनमें ऐसा होता है कि यह चीज बढ़िया है तो हम इसे क्यों न खायें। यहाँ हम केवल खानेकी वस्तुको ही दृष्टान्तके रूपमें लेते हैं। जब हमारे मनमें यह आता है कि यह पदार्थ स्वास्थ्यके लिए हितकारी है और गुणोंमें भी बहुत श्रेष्ठ है इसलिए हम उसको क्यों न खायें तो इसकी कोई हद नहीं होती। जब हम कपड़ा बढ़िया देखते हैं तो इसको भी क्यों न पहननेकी अभिलाषा हो जाती है। इसी प्रकार आगे बढ़ते-बढते कोई लड़की बढ़िया देखकर उससे ब्याह रचानेका भी मन हो सकता है। परन्तु क्या यह व्यक्ति और समाज के लिए हितकर है? इस संसारमें जो कुछ भी बढ़िया-बढ़िया है, वह सब तुमको ही मिले, इसका कोई ठेका है?

तो शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ, जो-जो निषेध है, आप उसपर ध्यान दें। यदि आप निषेधकी परवाह न करें और यह निश्चय कर लें कि संसारमें जो कुछ बढ़िया-बढ़िया है वह आपका ही भोग्य है तो आप दुनियामें किसी दूसरेको जिन्दा नहीं रहने देंगे। बढ़िया-बढ़िया पदार्थ देखकर उसको लेनेकी, खानेकी, भोगनेकी प्रवृत्ति मनमें स्वभावत: उदय होती है और उसीको रोकनेके लिए निषेध होता है। केवल निकृष्ट और हानिकारक पदार्थोंको ही रोकनेके लिए निषेध नहीं होता। उत्तम-उत्तम लाभदायक वस्तुओंको रोकनेके लिए भी निषेध होता है। मनुष्यका मन जिसको सुखकारी समझता है, उसको संग्रह करना चाहता है। हमारे वृन्दावनके आश्रममें एक कदम्बका वृक्ष है। उसके पत्तोंमें दोने लगते हैं ऐसा दोनो कि मोड़ना नहीं पड़ता और उसमें मक्खन या कुछ भी रखकर खाया जा सकता है। जब कोई नया व्यक्ति आता है और उसको दिखाया जाता है कि वह देखो दोना लगा हुआ है तब वह केवल देखकर प्रसन्न नहीं होता, यहीं चाहता है कि हम उसको तोड़कर घर ले जायँ और लोगोंको दिखावें कि यह कैसा बढ़िया दोना है। तो मनुष्यको जो प्रवृत्ति है, वह उत्तमका नाश करनेवाली है। इसलिए जब शास्त्र किसी वस्तुको खानेसे मना करे तब यह मत सोचो कि जब डाक्टर या वैद्य कहते हैं कि इसमें बहुत गुण हैं तब हमको यह खाना ही चाहिए। शास्त्रके, धर्मके जो आदेश होते हैं, वे वस्तुके गुणको देखकर नहीं होते, इस दृष्टिसे होते हैं कि उनका मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। आजकलके विचारोंकी जो प्रणाली है, वह पुराने विचारोंको भूल गयी है। इसलिए यह सब सुनाना पड़ता है। हमारे शास्त्रोंकी प्रणाली है कि आपका मन आपके हाथसे छूट न जाये। मनकी बागडोर आपके हाथमें है तो वह अच्छे-से-अच्छे कामको भी रोककर आपको सोचनेका अवसर देता है। वृन्दावनमें एक

सन्त थे, वे अपने भक्तोंको कोई ग्रन्थ पढ़नेको देते थे तो कहीं-कहीं उसके दो-दो, तीन-तीन पन्नोंमें आलपीन लगा देते थे। उनको चिपका देते थे और कह देते थे कि देखो, ये पन्ने मत पढ़ना। यद्यपि उन पृष्ठोंमें कोई हानिकारक बात नहीं होती थी, तथापि वे यह देखना चाहते थे कि उनका वह शिष्य उनकी आज्ञाको मानता है या नहीं। आज्ञा पालन करनेका माद्दा उसके अन्दर है कि नहीं? यदि कोई शिष्य उनके आदेशका उल्लङ्घन करके उन पृष्ठोंको पढ़ लेता तो वह बात जाहिर हो जाती और फिर वह सन्त उसको समझाते कि मनपर काबू न करनेसे क्या हानि होती है। कोई-कोई शिष्य ऐसे भी होते कि उन सन्तने जिन-जिन पृष्ठोंको पढ़नेसे मना किया होता, वे पृष्ठ यदि खुले होते तो भी उनको नहीं पढ़ते और इससे उन शिष्योंके मनोबल और अनुशासन-प्रियताका पता लगता। तो धर्म हमारे ही मनको हमारा आज्ञाकारी बनानेके लिए होता हैं। हमारे शास्त्र वस्तुओंके गुणोंके भाट नहीं कि उनकी तारीफपर तारीफ करके बतावें। धर्म और ऋषि हमारे मनको नियन्त्रित मर्यादित और अच्छा बनानेके उपाय बताते हैं और उसीको ध्यानमें रखकर विधि-निषेधका विधान करते हैं। विधिसे मतलब मीठा-मीठा खानेकी विधि और निषेधसे मतलब कड़वा-कड़वा छोड़नेसे नहीं। जिसमें मनुष्यकी स्वयं रुचि नहीं होती, उसमें रुचि जगाने और प्रवृत्ति करनेके लिए शास्त्रीय विधान होता है। जो काम आप स्वयं कर लेते हैं उसे करनेके लिए आदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती। आवश्यकता आदेश देनेकी वहाँ होती है, जहाँ आप आलस्य या प्रमाद करते हैं। यहाँ आपको शास्त्रकी थोड़ी बात इसलिए सुना रहे हैं कि यह पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे हमारे संस्कारमें चली आ रही है। हम आपको प्रतिज्ञापूर्वक यह बता सकते हैं कि सनातन धर्मकी प्रत्येक क्रियामें क्या युक्ति है। क्योंकि हमारे पिता, हमारे दादा, हमारे गुरू, हमारे परमगुरू, हमारे सन्त यही काम करते थे।

यदि शास्त्रमें सन्ध्या-वन्दनका विधान न होता तो कोई भी प्रात:सायं बड़ा-बूढ़ा या दस-बारह वर्षका बच्चा अपने आप आसन पर बैठकर ध्यान-प्राणायाम करता और मन्त्रोच्चारणके साथ अपने ऊपर जल छिड़कता? तो विधि **विधिरत्यन्तमप्राप्तौ** के अनुसार जो वस्तु स्वयं प्राप्त नहीं रहती, जिसके गुणका ज्ञान नहीं रहता, जिसको करनेमें हम अलसाते हैं, प्रमाद करते हैं, उसकी ओर शास्त्र हमें प्रवृत्त करता है, आज्ञा देता है। शास्त्रोंका लक्ष्य यही है कि हमारा मन जागे और जो हम आलस्य प्रमादवश करना नहीं चाहते वह करें। उधर शास्त्र यह भी चाहता है कि जिसको करनेके लिए हमारा मन दौड़ता है, वहाँ हम सावधान रहें, इसलिए वह हमारा निषेध भी करता है। मतलब यह है कि कहाँ हमको तेज चलना चाहिए और कहाँ रुकना चाहिए, इसका ज्ञान हमें होना चाहिए। हम जंगलमें चलते समय शेर-भालुओंमें बैठना उचित न समझकर जल्दी निकल चलते हैं। इसी प्रकार संसारकी लुभावनी ललचाऊ चीजोंमें हम फँस न जायँ इसका जो विवेक हैं, इसी को बुद्धियोग बोलते हैं, इसीको कर्मयोग बोलते हैं। हमारे वेदान्तमें ज्ञानको कर्मसे अलग करके देखनेकी प्रणालीका नाम 'अन्वय-व्यतिरेक' है। इसीको विधिमुख और निषेधमुख बोलते हैं, अनुगति बोलते हैं, अनुवृत्ति और व्यावृत्ति बोलते हैं। एक ज्ञान वह है जो कर्मके साथ मिल जाता है और एक ज्ञान वह है, जो कर्मसे अलग बैठा रहता है।

अब हम आपका ध्यान सम्पूर्ण विश्वके धर्मोंपर, धर्मग्रन्थोंपर, ज्ञानग्रन्थोंपर आकृष्ट कर यह पूछना

चाहते हैं कि किसीने वह ज्ञान स्वीकार किया है, जो स्वयंप्रकाश और कर्मके साथ सम्बन्ध नहीं रखता? बाइबिलमें भी, कुरानशरीफमें भी, जिन्दावस्तामें भी उसी ज्ञानका वर्णन है; जो कर्ममें उपयोगी होता है। हमारे पूर्वमीमांसाका भी यही सिद्धान्त है कि जो ज्ञान कर्मके लिए उपयोगी नहीं, वह निरर्थक है। इसलिए कर्ममें उसका उपयोग करना चाहिए। पण्डित लोग जानते हैं—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।
विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः॥

सम्पूर्ण वेद जो ज्ञान देते हैं, वे कर्म करनेके लिए देते हैं। इसलिए यदि किसी वेदमें कोई ऐसा मन्त्र मिले जो कर्ममें उपयोगी न प्रतीत हो तो वह निरर्थक है! उस मन्त्रमें भी किसी-न-किसी चीजकी तारीफ तो होगी ही। उसके द्वारा किसी देवताकी स्तुतिकी गयी होगी या यजमानकी अथवा किसी कर्मकी स्तुति करके कहा गया होगा कि यह काम करो। अतः उस मन्त्रका प्रयोग भी कर्मपरक ही है। तो जिन्होंने समूचे ज्ञानको कर्मका अंग बना लिया, उन्होंने उसकी अपौरुषेयताको भी समझा। ज्ञान ऐसा भी होता है, जो पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता। जैसे सत् पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही चित् भी पुरुष-प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता।

तो ज्ञान कर्ममें अनुगत भी रहता है और कर्मसे व्यतिरिक्त भी रहता है, जुदा भी रहता है। यदि केवल निःश्रेयस चाहते हो तो व्यतिरिक्त ज्ञानसे भी, शुद्ध ज्ञानसे भी नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु कर्मवाला ज्ञान उसमें मददगार होता है। ज्ञान तो कर्ममें रहता ही है, कर्म वह चीज है, जिसमें कर्म और ज्ञान दोनों हैं तथा संन्यास वह चीज है, जिसमें कर्मसे अलग किया हुआ ज्ञान, शुद्ध जाना हुआ ज्ञान रहता है। संन्यासका अर्थ है विषयका त्याग करके प्राप्त किया हुआ ज्ञान। संन्यास भी ज्ञान ही है और कर्मयोग अर्थात् वह ज्ञान जो कर्मसे मिला हुआ है। अतः आप विवेकपूर्वक अपने कर्त्तव्यका पालन करते चलो। अर्जुनके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्ण आपको ही उद्‌बोधित कर रहे हैं—

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

वे कहते हैं, अर्जुन तुम्हें दो-दो हाथ मिले हैं काम करनेके लिए। इतने विशाल तुम्हारे बाहु और तुम अकर्मण्य, निकम्मा होना चाहते हो। तुम भीख माँगकर खाना चाहते हो। आओ आओ, निर्द्वन्द्व हो जाओ, अपने मनसे सब दुविधा और द्वेष छोड़ दो। पाप-पुण्यको अलग करो, सुख-दुःखको अलग करो और शान्ति अथवा विक्षेपका भी विचार छोड़ो। सर्दी-गर्मीका भी ख्याल छोड़ो—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

और, निर्द्वन्द्व होकर संसारके सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाओ—

सुखं बन्धात् प्रमुच्यते।

●

प्रवचन : 4

जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि कर्म करें अथवा कर्म त्याग, तब मनुष्यको विवेक द्वारा जो धर्मानुकूल जान पड़े, उसका पालन करना चाहिए। जब कर्म करना धर्म प्रतीत हो तभी कर्म करना चाहिए और जब कर्म-त्याग धर्मका रूप धारण कर ले तब कर्मत्याग करना चाहिए। अपने जीवनमें करना और छोड़ना दोनों चलते हैं। उसका पहला विवेक यह है कि जो कर्त्तव्य कर्म हैं, उन्हें करना चाहिए और त्यक्तव्य कर्म हैं, उनका त्याग करना चाहिए। करने और छोड़नेका अभ्यास प्रारम्भसे ही बना रहे तो अच्छा है। कोई कहे कि आओ विश्राम करें तो पहले श्रम कर लोगे तब न विश्राम करोगे। जो श्रम नहीं करेगा, उसको विश्राम भी नहीं मिलेगा। दिन भर लेटे रहें और रातको नींद लेना चाहें तो अच्छी नींद नहीं आवेगी। काम करके, परिश्रम करके सोनेपर ही नींद अच्छी आती है। इसलिए पहले कर्म हो, फिर कर्मत्याग हो तो ठीक रहता है। कोई कहे कि दान करना धर्म है और केवल इसी बातको पकड़कर बैठ जाये, कमाई न करे तो जिसके पास होगा नहीं वह दान कहाँसे करेगा? होगा तभी, जब वह परिश्रम-पूर्वक उपार्जन करेगा। दान करना उसीका धर्म होता है, जो पहले पैदा कर लेता है। 'दान करना धर्म है'—यह वाक्य ही इस बातको सूचित करता है कि उपार्जन करना पहला धर्म है। उपार्जन करेंगे तो जीविका चलेगी और जो अधिक होगा उसका दान करेंगे। जितनी ही अधिक बचत होगी उतना ही अधिक दान करेंगे। इसलिए जैसे दान करनेके पहले उपार्जन आवश्यक है, वैसे ही कर्म-त्यागके पूर्व कर्म करना अनिवार्य है। जिसके पास कर्मकी पूँजी नहीं, वह कर्मका त्याग अथवा कर्मका दान कहाँसे करेगा? दोनोंमें विवेककी आवश्यकता होती है। विचार छोड़कर कोई साधन नहीं होता। अभी हम लोग कह रहे थे कि इस वर्ष ईश्वर खूब वर्षा कर रहा है। तो, जिस प्रकार ईश्वर अपना काम कर रहा है, उसी प्रकार आओ हम लोग भी अपना काम करें।

यजतां पाण्डवः स्वर्ग वर्षत्विन्द्रस्तपत्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

इसमें यही कहा गया है कि युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा यज्ञ करें, इन्द्र वर्षा करें, सूर्य धूप डालें, और हम लोग अपने कर्त्तव्यके पालनमें जुट जायें। क्योंकि सब लोग अपना-अपना काम करते हैं और अपने-अपने कर्त्तव्यको पूरा करते हैं तो इस धरतीपर स्वर्ग उतर आता है। कोई कहे कि कर्म-संन्यास और कर्मानुष्ठान—ये दोनों अलग-अलग हैं। तो यह अविवेककी, अज्ञानकी बात है। विद्वान लोग ऐसा कभी नहीं कह सकते। आपको यह बात मालूम होगी कि दुनियाकी कोई भी वस्तु तभी सफल होती है, जब उसका ज्ञान होता है। सृष्टिमें हमेशा ज्ञान प्रधान होता है, फलवृत्ति कोई वस्तु नहीं होती। यहाँतक कि ईश्वरकी प्राप्ति भी ज्ञानसे ही होती है। यदि आपके सामने राम, कृष्ण, शिव, विष्णु स्वयं आकर खड़े हो जायें परन्तु यदि आपको ज्ञान न हो तो उनका आना आपके लिए न आने सरीखा ही रहेगा। अतः आप जो कर्म करते हैं, वह आपका कर्त्तव्य है कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। उसको आप ठीक कर रहे हैं कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए। वह पूरा हो गया

कि नहीं—यह ज्ञान होना चाहिए और उसका यह फल मिला है, उसमें यह लाभ हुआ है—यह भी ज्ञान होना चाहिए। संसारमें अगर ज्ञान न हो तो सब कुछ नहीं के बराबर हो जायेगा। इसलिए आप चाहे कर्म करें, चाहे कर्म छोड़ें; उसके फलके रूपमें आपको ज्ञान ही प्राप्त होगा। जो कर्म करता है, वह भी ज्ञानकी उपासना करता है और जो कर्म छोड़ता है, वह भी ज्ञानकी ही उपासना करता है। सर्वत्र ज्ञान-ही-ज्ञान है। कर्मत्याग भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है और कर्मानुष्ठान भी ज्ञानकी एक रीति है, एक शैली है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

चाहे कोई कर्मानुष्ठान करें, चाहे कर्मसंन्यास करे, ठीक-ठीक करना चाहिए। एक सज्जन जंगलमें गये। उनके साथ दो-चार अन्य व्यक्ति भी थे। उन्होंने सबको अलग-अलग आज्ञा दी कि तुम लकड़ी इकट्ठी कर लो। तुम पकानेकी वस्तुएँ ले आओ। तुम बर्तन ठीक करो। तुम आग जलाओ और फिर एकसे यह कहा कि जब रसोई पक जाये तब तुम आग बुझाना मत भूलना। क्योंकि यह जंगल है। यहाँ यदि आग लग गयी तो वह वनमें फैल जायेगी और बहुत हानि पहुँचावेगी। इसलिए आग बुझाना परमावश्यक है। इस प्रकार उन्होंने सबको काम समझा दिया। अब लकड़ी आयी, राशन आया, बर्तन आये और रसोई बनानेकी तैयारी हो गयी। इतनेमें एकने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है तो जलावें क्यों? इस प्रश्नका विवेकसे कोई सम्बन्ध नहीं। अरे भाई, यदि आग जलायी न जायेगी तो न रसोई पकेगी और न भोजन मिलेगा। इसलिए पहले आग जलाओ, रसोई पका लो, भोजन कर लो, उसके बाद सावधानीसे आग बुझा देना। यदि आप किसी कर्ममें उसके क्रमका ध्यान नहीं रखेंगे तो आपके प्रयोजनकी पूर्ति ही नहीं होगी। सबसे उत्तम काम वही है, जो इस समय आप विवेकपूर्वक अपना कर्त्तव्य समझकर कर रहे हैं। आप गीतामें पढ़ते हैं—'ब्रह्मकर्मसमाधिना'। तात्पर्य यह कि आप जो कर्म कर रहे हैं। वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। उसके प्रति निष्ठा होनेपर उसमें आपकी समाधि लग जायेगी। समाधि लगानेका मतलब है कि आप उसके लिए भोजन तक भूल जायेंगे। कर्ममें तन्मयता होनेपर ही वह सफल होता है। हमने एक व्यापारी सज्जनके सम्बन्धमें सुना है कि वे अपने व्यापारमें लग जानेपर अपना खाना-पीना सब कुछ भूल जाते थे। जब उनका सेवक उनके पास भोजन रखकर कहता कि भोजन कर लीजिये तब वे भोजन करते थे और कभी-कभी भोजन करनेके बाद पूछते थे कि अभी मैंने भोजन किया है या नहीं? एक दिन उनका सेवक उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन कर रहा था तब उसे देखकर सेठजीको अपने भोजनकी याद आ गयी और उन्होंने उससे पूछा कि तुमने मुझे भोजन क्यों नहीं कराया? जब सेवकने उनको समझाया तब उनको अपने भोजनकी याद आयी। उन्होंने अपना सिर नीचा कर लिया और हिसाबमें लग गये। ऐसी तन्मयताकी स्थितिमें एक काम करें और दूसरेकी याद करें—यह बात नहीं चल सकती। इसलिए कर्मब्रह्ममें समाधि लगाकर कर्म करो और फिर जब कर्मत्याग करो तो उसे ऐसे भूल जाओ जैसे कभी कर्म किया ही न हो। क्योंकि दोनोंमें ज्ञान अनुस्यूत है। यदि आप ऐसा करेंगे तो जब रसोई बनावेंगे तो वह बड़ी स्वादिष्ट बनेगी, जब कपड़ा बनावेंगे तो वह बहुत बढ़िया बनेगा और जब भजन करने बैठेंगे तब भजन भी बहुत अच्छा होगा। आप यह अभ्यास डाल लीजिये कि हमारा ज्ञान और कर्म दोनों अलग-अलग न होने पावें, परस्पर मिले रहें। ज्ञान छोड़कर कर्म करोगे

तो जड़ता आ जायेगी और कर्म छोड़कर ज्ञान रखेंगे तो निकम्मापन आ जायेगा। अत: भगवान् कहते हैं कि—'एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।' आप कोई भी एक काम बिल्कुल ठीक ढंगसे कीजिये, आपको ज्ञान और कर्म दोनोंका फल मिल जायेगा। हम आपको फिरसे बताना चाहते हैं कि फल न द्रव्यात्मक होता है, न साधनात्मक होता है, वह हमेशा ज्ञानात्मक ही होता है। अमुक फल हमको मिल गया, यह जबतक बोध नहीं होगा तबतक समझिये कि फल मिला ही नहीं। वृत्ति जब फलाकार हो जाये और उसमें अपना अहं भी प्रतिबिम्बित हो जाये तब मानना चाहिए कि फल मिल गया। फल शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है वृत्तिमें प्रतिफलित। अस्तु, संसारी लोगोंको जो फल बहुत परिश्रम करनेके बाद मिलता है उसको हम बड़ी आसानीसे, अनायास प्राप्त कर लेते हैं। यह तो आपको मालूम ही है कि सुख और दु:ख दोनों मनमें ही होते हैं। न हो तो न सुखकी अनुभूति होगी और न दु:खकी। बेटेके होनेकी खबर न मिलनेपर सुख नहीं होगा और किसीकी मौत होनेकी खबर न मिलनेपर दु:ख नहीं होगा। इसलिए हम अपने मालूम पड़नेकी अवस्थाको ठीक रखें तो हमारा जीवन हमेशा सुखी रहेगा।

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ 5.5

हमारे कर्ममें ज्ञानकी, विवेककी, बुद्धिकी, विचारकी प्रधानता हो। आप अपने मनमें चाहे जब और चाहे जितनी देरतक यह भाव रख सकते हैं कि ईश्वर हमें मिला हुआ है, ईश्वर हमारे अन्त:करणमें अन्तर्यामी है। उसीकी रोशनीमें सब कुछ दीख रहा है। इसीलिए ईश्वरको प्राप्तिको आसान माना गया है—

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली॥

मनुष्योंको देखनेके लिए आपको आयास करना पड़ता है। किसको-किसको देखें, यहाँ कौन सेठजी हैं, कौन शास्त्रीजी हैं, कौन श्रीमतीजी हैं इसका ध्यान करना पड़ता है। नेत्रोंका अलग-अलग व्यापार करना पड़ता है—कभी इधर तो कभी उधर देखना पड़ता है। लेकिन रोशनी देखनी हो तो? वह सब ओरसे निकलकर सारे सभागृहको प्रकाशित करती दीखती है। जब आप प्रकाशमें अलग-अलग चीजोंको देखना चाहते हैं, तब अपनी आँख आपको चलानी पड़ती है। किन्तु केवल रोशनी देखनी हो तो अनायास दिखायी पड़ती है, उसके लिए आँखको न इधर ले जाना पड़ता है और न उधर ले जाना पड़ता है। इसी तरह आपके अन्त:करणमें भीतरसे ही एक बड़ी रोशनी जगमगा रही है, एक महान् प्रकाश निकल रहा है।

तो चाहे बुद्धि हो अथवा बुद्धिपूर्वक कर्म हो महत्त्व हमेशा बुद्धिका ही रहेगा। यही एक ऐसी चीज है जिसका बुद्धि और कर्ममें, ज्ञान और कर्ममें, विवेक और कर्ममें, त्याग और कर्मानुष्ठानमें महत्त्व है। भगवान् आये, यह मालूम पड़ता है और भगवान् अन्तर्धान हो गये, यह भी मालूम पड़ता है। अत: यह मालूम पड़ना ही एक ऐसी वस्तु है जिसको पकड़ना पड़ता है—'य: पश्यति स पश्यति'—जो इसको देख लेता है, वही देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, तुम यदि समझते हो कि हम कर्म नहीं करेंगे और हमें संन्यास मिल जायेगा तो यह तुम्हारी भूल है। अच्छा अब आप देखिये, ब्याह न हो तो तलाक किस बातका होगा? पहले ब्याह हो तब न तलाक होगा? तो कर्म विवाह है और संन्यास तलाक है। जिसने योग नहीं किया उसके लिए संन्यासकी प्राप्ति दुःखद ही है—'दुःखमाप्तुमयोगतः।' जब विधिपूर्वक कर्म होता है, तभी विधिपूर्वक संन्यास होता है। जब कानूनके अनुसार विवाह होगा तो कानूनके अनुसार तलाक होगा और जब शास्त्रीय संस्कारके अनुसार विवाह होगा तो शास्त्रीय संस्कारके अनुसार ही उसका त्याग होगा। यदि मनुष्य पहले विधिवत् कर्मका अनुष्ठान कर ले तो उसमें ऐसी योग्यता आ सकती है कि वह जब चाहे कर्मानुष्ठानको छोड़ दे। हाथ वहीं-तक ले जाना चाहिए जहाँसे हम उसको खींच सकें। हमें अपनेको ऐसी जगह कभी नहीं फँसाना चाहिए, जिसमें-से हम निकल न सकें। ऐसे कुँएमें नहीं उतरना चाहिए जिसमें-से हम बाहर न आ सकें। ऐसे छेदमें अंगुली नहीं डालनी चाहिए जहाँसे वह निकल न सकें। बन्दरोंके सम्बन्धमें ऐसी चर्चा चलती है हि मदारी लोग जब उन्हें पकड़ना चाहते हैं तो छोटे मुँहके वर्तनमें थोड़ा चना रखकर उसको मिट्टीमें वहाँतक गाड़ देते हैं जहाँतक उसका मुँह खुला रह जाये। बन्दर आकर उसमें हाथ डालता है और जब मुट्ठीमें चना भरकर निकालने लगता है तब हाथ निकलता नहीं। वह मुट्ठी खोलकर चना छोड़ता नहीं और उसका हाथ फँसा-का-फँसा रह जाता है। इतनेमें मदारी आकर उसे पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य स्वयंको ऐसी स्थितिमें पहुँचा देता है जिसे छोड़ना उसके सामर्थ्यसे बाहरकी बात हो, तब वह बन्धनमें पड़ जाता है। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें किसी कविने यह कहा है—

काजर की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय।
एक रेख काजरकी लागि है पै लागि है॥

तो हमें सावधान रहना चाहिए। असलमें सावधान रहना ही सबसे बड़ी साधना है। सतत सावधानीका नाम ही साधना है। पाँव रखें पर फिसले नहीं। बोलें पर जबानमें कड़वापन न आ जाये, गलत न बोल जायें। देखें पर आँख टेढ़ी न हो, उसमें रूक्षता न आवे। हाथसे छूएँ, पर जिसे छूएँ उसको चोट न लगे, कठोरता न आवे। यह सब व्यवहारकी सावधानी है, इसीसे कर्ममें कुशलता आती है—'योगः कर्मसु कौशलं।' यह कुशलता मनुष्यमें आनी चाहिए। जब कर्ममें कौशल आता है तब वह योग बन जाता है। कर्ममें कुशलता आनेपर मनुष्यको पछताना नहीं पड़ता कि हाय-हाय मैंने यह नहीं किया, ऐसा नहीं किया। भगवान् श्रीकृष्णने कर्म करनेकी रीति बतायी है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 5.6

कर्ममें कोई दोष नहीं, परन्तु 'कीजै तो तब जब करिबेकी रीति जानो।' काम करनेके पहले उसके

करनेकी रीति सीख लेनी चाहिए। उसे सीखनेकी पहली शर्त यह है कि अकेला काम न हो, उसके साथ अक्ल भी हो, प्रेरणा भी हो, योजना भी हो। कर्मका निर्वाह है—

यत्रः योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तौल लो अपनेको, अपने कामको कि आप जो कुछ करने जा रहे हो, उसमें ईश्वरकी प्रेरणा है कि वासनाकी। यदि ईश्वरकी प्रेरणासे आप काम कर रहे हो तो संजयके शब्दोंमें—

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

आपको श्री मिलेगी, विजय मिलेगी, विभूति मिलेगी और आप नीतिका ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे। आपको बुद्धि भी मिलेगी। ईश्वरकी बुद्धि आपके भीतरसे निकलती आयेगी और अपनी सम्मति प्रदान करती हुई आपके कामको बताती जायेगी। तो पहली शर्त यह है कि आप सोच-समझकर काम करें। दूसरी शर्त काम करनेकी यह है कि आपका दिल साफ हो। आप विशुद्धात्मा हों। इसका अर्थ यह है कि आप किसीको हानि पहुँचानेके लिए काम न करें, केवल अपने कर्त्तव्यका पालन करें। जो लोग दूसरोंको हानि पहुँचानेके लिए काम करते हैं, उनको काम करनेका तरीका मालूम नहीं है। वे दूसरेको हानि नहीं पहुँचाते, अपने आपको ही हानि पहुँचाते हैं। क्योंकि दिल तो उन्हींका गन्दा होता है। एक सज्जनने गुस्सेमें आकर किसीको मारनेके लिए लोहेका जलता हुआ गोला उठा लिया। जिसको मारना चाहा उसको नहीं लगा और उन्हींका हाथ जल गया। यदि आप किसीका अनिष्ट करनेके लिए, किसीको नुकसान पहुँचानेके लिए, किसीको नीचा दिखानेके लिए काम करते हैं तो आप विशुद्धात्मा नहीं। आप विशुद्धात्मा तभी हो सकते हैं, जब आपका मन ईमानदार हो, साफ हो। आपमें कर्त्तव्य-पालनकी दृष्टि हो और दूसरेको हानि पहुँचानेकी भावना न हो।

वस्तुतः जब मनुष्यमें स्वार्थ प्रबल हो जाता है तब उसकी अन्तरात्मा मलिन हो जाती है, उसमें कल्मष आ जाता है। अतः आप ध्यान रखें कि दूसरेको पराजित करनेके लिए हम बोलें, यदि आप हार-जीतका ख्याल रखकर बातचीत करते हैं तो आपकी आत्मा, आपका मन शुद्ध नहीं। बात-पर-बात भिड़ानेकी कोई जरूरत नहीं। यदि सामने वालेने सच्ची बात ईमानदारीकी बात कही है तो उसके विरोधकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि उसकी बात युक्तियुक्त है तो उसे मान लीजिये। 'बालादपि सुभाषितम् ग्राह्यम्'। बच्चा भी अच्छी बात बोले तो अपना अहङ्कार छोड़कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। जिस तरह जुबान-से-जुबान लड़ाना ठीक नहीं उसी तरह काम-से-काम लड़ाना अथवा भोग-से-भोग लड़ाना भी ठीक नहीं है।

अब विजितात्माका अर्थ लें। विजितात्मा उसे कहते हैं जो अपनेपर नियन्त्रण रख सके। हमलोग बचपनमें, जवानीमें बहुत चलते थे, बहुत दौड़ते थे। एक-एक दिनमें पच्चीस मीलतक हम चले हैं। परन्तु जहाँ रुकना होता , वहाँ रुक जाते थे। आप भी खूब चलिये परन्तु जहाँ ठहरना हो, ठहर जाइये। इसी प्रकार आप हाथसे वही कीजिये, जो करना उचित हो। आँखसे वही देखिये, जिसे देखना उचित हो। वही बोलिए जो बोलना उचित है। ऐसा न हो कि आपके हाथ-पाँव, जीभ, नाक अथवा अन्य इन्द्रिय् आपके वशमें न हों विजितात्माका

जोवन उसके अधीन होता है, स्वाधीन, होता है, परवश नहीं होता। मनुजी महाराज सुख-दु:खके लक्षण बताते हुए कहते हैं—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

लक्षण अर्थात् लक्ष्य करानेकी प्रक्रिया। लक्षण, लखन, लखाना—ये सब एक ही हैं। लक्ष्मण क्या करते हैं? रामको लखाते हैं, उनके लक्ष्य हैं। लक्ष्मी क्या करती हैं? नारायणको लखाती हैं, उनकी लक्ष्य हैं। 'लक्ष्यते अनेन'—जिससे हम लक्ष्यको पहचान सकें, उसका नाम लक्षण।

तो, सुख-दु:खको पहचानेकी रीति क्या है? यही है कि यदि आप स्वाधीन होते जा रहे हैं तो सुखकी ओर और पराधीन होते जा रहे हैं तो दु:खकी ओर बढ़ रहे हैं। लखनऊके एक नवाबके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उसके पास जूता पहनानेवाला नौकर न होनेके कारण, दरवाजा खुला होने नाव तैयार होने तथा बहुत-से मददगार होनेपर भी उठकर भाग नहीं सका, पकड़ा गया और कैद हो गया। इस प्रकारकी पराधीनताके और भी उनके उदाहरण हैं। हमारे पास एक सज्जन आये थे। लगभग पच्चीस वर्षकी उम्र थी, उनकी। घरसे पहले-पहले निकले थे। उनको स्वयं धोती पहनना नहीं आता था, दूसरा कोई धोती पहनाता था तब पहनते थे। वे अपने हाथसे खाते भी नहीं थे। मैंने पूछा तब बोले कि घरमें तो मेरी माँ अपने हाथसे खिलाती थी। अब बताओ पच्चीस वर्षकी उम्र और अपने हाथसे कपड़ा पहनना न आवे, खाना न आवे तो वे नंगे या भूखे रहेंगे कि नहीं? तो भाई अपना काम स्वयं करना चाहिए और उसे नौकर या मददगार नहीं छोड़ना चाहिए। हमने देखा है, एक मालिकने जब यह देखा कि उसको सेवक कोई काम ठीक नहीं कर रहा, तब उन्होंने वह काम अपने हाथसे करके उसको समझा दिया कि यह काम ऐसे किया जाता है। इसी तरह एक सासने अपनी बहूको स्वयं रोटी बेलकर, सेंककर यह समझायी कि वह ऐसे पकायी जाती है। कहनेका मतलब यह कि मनुष्य को स्वयं में इतना निपुण होना चाहिए कि वह पराधीन न रहे। जब हम एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियोंपर निर्भर करने लगते हैं और हमारी स्वाधीनता मिट जाती है तब हम दु:खको निमन्त्रण दे देते हैं। पराधीनता केवल सेवकों या सहायकोंके बिना काम न चलनेकी ही नहीं होती, बल्कि वस्तुओंके अभाव अथवा व्यवधानकी भी होती है। हमने एक आदमी देखा था, अफीम खाये बिना उसका काम नहीं चलता था। उसको जिस दिन अफीम खानेको न मिले, वह व्यग्र होकर धरतीपर लोटता था। एक आदमी हमने ऐसा भी देखा जो दूध न पीये तो उसको टट्टी नहीं आती थी। अत: पराधीनता न तो वस्तुकी चाहिए और न व्यक्तिकी। इसी प्रकार येन-केन-प्रकारेण भोग प्राप्त करनेकी पराधीनता भी निषिद्ध है। आपको एक शास्त्रकी बात सुनावें। वैशेषिक दर्शनकी उपस्कार-वृत्तिमें यह आता है। कि यदि किसीको प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करनेका अभ्यास हो जाये, आदत पड़ जाये तो जिस दिन वह सूर्य-नमस्कार नहीं कर सकेगा, उस दिन उसको बहुत तकलीफ होगी। यह दु:ख कहाँसे आया? अपने जीवनमें एक अभ्यास डाल लेनेसे आया। दु:ख विषय-भोगसे आता है, मनोभावकी पूर्ति न होनेसे आता है और अपने अभिमानपर चोट पड़नेसे भी आता है। हमने मान लिया कि हम बहुत बड़े हैं और किसीने हमारा अभिवादन नहीं किया तो दु:ख आ गया।

हमको एक बात याद है कि किस प्रकार हमारे सामने एक दु:खका प्रसंग आ गया और उसी समय एक महात्माके सावधान करनेपर हम उससे बच गये। हमारे पिताजीके शिष्य थे। रास्तेमें चलते-चलते दिख गये। हम अपेक्षा रखते थे कि जब वे हमारे पिताजीके शिष्य हैं तो हमको प्रणाम करेंगे। लेकिन उन्होंने प्रणाम नहीं किया, तो मनमें दु:ख हुआ कि ये हमको प्रणाम क्यों नहीं करते ये तो हमारा अपमान करते हैं। मैंने महात्माजीसे घटना सुनायी और कहा कि मुझे तो उसके प्रणाम न करनेसे दु:ख हुआ है। इस पर वे महात्मा बोले कि उसके प्रणाम न करनेसे तुमको दु:ख नहीं हुआ। तुम्हारे मनमें जो प्रणाम करवानेकी वासना थी उसकी पूर्ति न होनेसे दु:ख हुआ। वास्तवमें दु:ख मनमें होता है। उसका कारण बाहर नहीं होता। वह हमारी धारणाके अनुसार बाहरके किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा भोगसे नहीं मिलता बल्कि उसके सम्बन्धमें हमारी जो उल्टी-सीधी वासना होती है उसीसे हमें दु:ख मिलता है। दु:ख विषय-भोगसे आता है, हम बीमार पड़ जायेंगे और अमुक विषय हमें नहीं मिलेगा—इस मनोराज्यसे आता है। हम सोचते हैं कि ऐसा हो, वैसा ही। हमें पूरा गणित आता नहीं, कम्प्यूटरमें पूरी संख्या डाली नहीं हमारे मनने और हमने यों ही सोच लिया कि इसका ऐसा नतीजा निकलेगा। परन्तु जब नहीं निकलता तब रोना पड़ता है। अभिमानपर चोट पड़ता है। जीवनमें कोई आदत डाल ली जाये तो उस आदतके कारण भी मनुष्यको बहुत दु:ख भोगना पड़ता है। अत: सावधान! हमें विषय-भोगकी आदत न पड़े और हम अनापशनाप मनोराज्य नहीं करें। अपने अभिमानको बढ़ावें नहीं और जीवनमें ऐसी आदत न डाल लें जो बादमें दु:ख दे। हमारे बाबा जवानीमें प्रतिदिन दो-दो हजार दण्ड-बैठक लगाते थे। अखाड़ेमें कुश्ती भी लड़ते थे। जब सत्तर वर्षके बूढ़े हो गये, तब उनके शरीरके जोड़ोमें, एक-एक गाँठमें दर्द होने लगा। क्योंकि अब वे उतना व्यायाम नहीं कर पाते थे दर्द होनेपर हम लोगोंको; ओ बचवा! कहकर बुलाते और बोलते कि 'मैं लेट जाता हूँ जरा मेरी पीठपर चढ़कर जोर-जोरसे लात मारो।' हमें गिरनेका डर लगता तो हमारे हाथमें डण्डा दे देते। हम डण्डा पकड़ते और उनके कन्धों, पीठ और पावोंपर जोर-जोरसे लतियाते। ऐसा करवाये बिना उनसे नहीं रहा जाता था। यह उनकी आदत हो गयी थी और इसके बिना उन्हें चैन नहीं मिलती थी। हमें अपने आपको विजितात्मा बनाना चाहिए। जिसने अपने आपको काबूमें रखा वह संसारमें कर्म करनेमें सफल होगा और सुखका अधिकारी होगा। किन्तु जो स्वयं अपने नियन्त्रणसे बाहर है, जिसकी आत्मा विजित नहीं, जिसके इन्द्रियगण और मन-बुद्धि आदि नियन्त्रणसे बाहर हैं वह सुखी नहीं हो सकता। अत: मन, इन्द्रियोंका वशमें होना अनिवार्य है—'विजितात्मा जितेन्द्रिय:।'

अब आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं—'सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।' सबकी आत्मा ही जिसकी अपनी आत्मा हो गयी है, सर्वभूत ही जिसकी आत्मा है, सर्वभूतोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मभूत है, वह किसी कर्मका कर्ता होनेपर भी उससे लिप्त नहीं होता। आप सोचो, हम तो नहीं जानते कि दुनियाके किसी मजहबमें ऐसी दृष्टि रखनेकी पद्धति हैं। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा।' यह गीताकी रीढ़ है, यह गीताका फार्मूला है, यह गीताका गूढ रहस्य है। आपको ध्यानमें आना चाहिये कि भगवान् जैसे कर्मत्यागसे कर्म करना श्रेष्ठ बताते हैं, वैसे ही कर्म-संन्याससे कर्मयोगको विशिष्ट घोषित करते हैं—

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।

अब आप इस बातपर ध्यान दो कि समाधि श्रेष्ठ है कि कर्मयोग? यदि भगवान् कर्मत्यागसे कर्मयोगको श्रेष्ठ बताते हैं तो समाधिसे भी कर्मयोगको श्रेष्ठ बताना आवश्यक है। अन्यथा समाधिमें तो कर्मत्याग ही हो जाता है। यदि समाधि-अवस्थामें कर्मयोगकी अपेक्षा कर्मत्याग श्रेष्ठ है तो कर्मयोग कर्मसंन्याससे हो ही नहीं सकता। इसी युक्तिपर, इसी तर्कपर, इसी विचारपर ध्यान देना है।

गीतामें समाधिका वर्णन तो है, परन्तु उसके अनुसार जो समाधि लगाता है वह अपर योगी है और उस अपरयोगीसे भी बड़ा एक परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

यह बात कर्मयोगियोंके ध्यानमें भी कम आती है। वे कहते हैं कि समाधि बहुत बड़ी बात है, वह लग जाये तो उत्तम है। उसके लिए कर्म छूट जाये तो छूट जाये। परन्तु इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ कहते हैं वह ध्यान देने योग्य है। वे कर्मयोगको केवल कर्मत्यागसे ही नहीं, समाधिसे भी श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं कि ऐसा कर्मयोगी परमयोगी है। अपरयोगी तो वह है जो समाधिस्थ है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 6.19

जैसे दीयेकी लौ निश्चल होती है, वैसे ही जिसका चित्त निश्चल है, वह योगी है। यह अपरयोगी अथवा समाधिस्थ योगीका लक्षण है। इसके अतिरिक्त एक परमयोगी भी होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

कर्मयोगी यदि अपना क़र्म ठीक-ठीक करता है तो वह परमयोगी है। बस, उसकी एक़ बात ध्यान देनेकी है। कर्मी लोग अपने-परायेका बड़ा भारी भेद कर लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन'—अर्जुन, जैसे अपनेको सुख-दुःख होता है वैसे ही सबको सब जगह सुख-दुःख होता है।

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुदाहृतः।
यद्भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥

जो धर्म अव्यय है, अविनाशी है, और बड़े-बड़े पुण्यश्लोक महापुरुषोंने जिसका पालन किया है, वह धर्म क्या है? वह धर्म यही है—दूसरेके दुःखमें दुःखी और दूसरेके सुखमें सुखी हो जाना। कैसे सुखी अथवा दुःखी होना—तो बोले 'आत्मौपम्येन' तथा—'यथा कण्टकविद्धाङ्गो जातु नेच्छति ताम् व्यथाम्' की तरह। काँटा गड़नेकी बात ऐसी है जो भुक्तभोगीके शरीरमें सिहरन पैदा कर देती है। हमने ऐसे-ऐसे काँटे देखे हैं कि शहरके लोगोंको उनकी कल्पना भी नहीं होगी। एक मित्र हमारे साथ चल रहे थे। उनके तलवेमें नागफणीका काँटा ऐसे

गड़ा कि पंजेके ऊपर निकल आया। एक बार मुझे भी काँटा गड़ा तो कपड़ेवाले गोविन्दभवनी जूतेके तल्लेको छेदकर पाँवमें घुस गया। ऐसे काँटे जब किसीको गड़ते हैं तब इतनी तकलीफ होती है कि वह कराह उठता है दुनियामें किसीको काँटा न गड़े। किन्तु वही व्यक्ति कुछ दिनों बाद दूसरेके पैरमें काँटा गड़ा देखकर यह कहता है कि काँटा ही तो गड़ा है कोई तलवार थोड़े ही लगी है। यह ठीक नहीं। अपने सुख-दु:खकी तरह दूसरेके सुख-दु:खको भी समझो। जैसे तुम अपने लिए सुख चाहते हो, वैसे ही दूसरेके लिए भी सुखका ध्यान रखो। जैसे तुम अपने दु:खसे परहेज करते हो वैसे ही दूसरेको भी दु:ख न हो—इसका ध्यान रखो। जो अपने सुख-दु:खके समान ही सामनेवालेके सुख-दु:खको देखता है, अनुभव करता है, वही परमयोगी है। इसका अर्थ हुआ कि बेहोश योगीकी अपेक्षा होश-हवासमें रहनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है। तभी समाधिकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ होगा। ब्रह्मज्ञान सबको नहीं होता। ब्रह्मज्ञान भले ही न हो, यदि हम अपना कर्मयोग ठीक-ठीक करें तो उससे हमारा अन्त:करण शुद्ध होगा। फिर इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। हमारा वर्तमान जीवन ठीक-ठीक होना चाहिए।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।

करनेमें कोई दोष नहीं, किन्तु करना चाहिए सर्वात्मसर्वभूतकी भावनासे। सबका सुख अपना सुख और सबका दु:ख अपना दु:ख मानकर जो स्वयंको सबसे अलग करके देखते हैं उसीके सब दुश्मन हो जाते हैं। अपनेको सबसे अलग करके देखनेका फल क्या होता है—यह बृहदारण्यकोपनिषद्के एक मन्त्रमें आया है—

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद।
क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद।
देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान् वेद।
सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेद।

ये केवल चार लाइनें हैं उस मन्त्र की। पूरा मन्त्र तो बड़ा हैं, उसे सुनानेकी आवश्यकता नहीं। इन पंक्तियोंमें कहा गया है कि ब्राह्मण आपका तिरस्कार कब करेगा? जब आप उसे पराया समझेंगे। आप समझें कि यह हमारा गुरू है, पुरोहित है अपना है तो ब्राह्मण आपका शत्रु नहीं होगा, अपितु हित करेगा। और 'अग्निमीडे पुरोहितं'—अग्निकी तरह प्रज्वलित, तेजस्वी रहकर आपकी रक्षा करेगा।

इसी तरह क्षत्रिय उसका तिरस्कार करेगा, उसको अपमानित करेगा जो उसे पराया समझेगा और देवता उसका शत्रु होगा, जो उसका तिरस्कार करेगा। इस तरह सब उसके शत्रु हो जायेगें जो सबको पराया समझनेवाला होगा। इसलिए सर्वभूतात्मभूतात्मा बनो और इसी भावनासे आचरण करो। एक सन्त कविने कहा है कि—'अब हम कासों बैर करें'? जहाँ देखते हैं, वहाँ अपने प्यारे प्रभुका ही स्वरूप दीखता है। इसके सम्बन्धमें कई दृष्टिकोण हैं। देखो, बेवकूफी किससे नहीं होती? ऐसा कौन मनुष्य है, जिसने कभी नासमझीका काम नहीं किया। लेकिन जब हम खुद नासमझीका काम करते हैं तो अपनेको माफ कर देते हैं और दूसरा कोई नासमझीका काम करता है तब हम उसको सजा देना चाहते हैं। दो तराजू हो गये। दूसरेकी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू और अपनी नासमझी तौलनेके लिए दूसरा तराजू। होना यह चाहिए कि दूसरेसे गलती हो जाये

तो उसको माफ़ करें और अपनेसे गलती हो तो उसको समझकर आगे न होने देनेकी प्रतिज्ञा करें, प्रायश्चित करें और अपनेको दण्ड दें। दण्ड अपने लिए और क्षमा दूसरोंके लिए होनी चाहिए। यही प्रक्रिया है दोष-शोधनकी। किसका शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ नही है? जब अपने दातोंसे अपनी जीभ कट जाती है और अपने हाथोंसे अपनी आँखोंको चोट लग जाती है, तब हम क्या करते हैं? इसी तरह यदि किसीसे तुम्हें आघात लगा है तो उसको अपनी आत्मा समझनेमें क्या कठिनाई है?

ईश्वर सबमें एक है। यह देखो, जो तुम्हारे सामने है उसके भीतर भी ईश्वर ही बैठा है। परन्तु अपने भीतरका ईश्वर याद नहीं होगा तो दूसरेके भीतरका ईश्वर कैसे याद आवेगा? एक जादूके खेलमें, मायामें कोई काम हो रहा है वह ब्रह्ममें प्रतीति मात्र-जैसा है। यह केवल मालूम पड़ रहा है, वस्तुतः इसकी कोई सत्ता है नहीं, यह ख्याली है। फिर इसमें किसके ऊपर क्रोध किया जाये? तो—'सर्वभूतानाम् आत्मभूतः आत्मा यस्य'—समझो कि जितने प्राणी हैं, उनकी आत्मा मैं ही हूँ। सबका सुख, सबका दुःख, सबकी गलती, सबकी सही हमारी है। चित्तमें—'आत्मौपम्येन यः पश्येत्, सर्वभूतात्मभूतात्मा' की समता आजानेपर आपको काम करनेकी छुट्टी मिल जायेगी और आप 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—काम करनेपर भी उससे लिप्त नहीं होंगे। किसीको नुकसान नहीं पहुँचावेंगे और आपके हृदयमें किसीके प्रति जलन नहीं होगी। कर्मकी एक बहुत बढ़िया कसौटी यह है कि आप कोई काम करनेके पहले डरते हैं क्या? यह तो नहीं सोचते कि कोई देख न ले अथवा किसीको मालूम न पड़ जाये। यदि ऐसा है तो कहीं-न-कहीं स्वार्थ जरूर होगा, भोग-वासना भी जरूर होगी। अच्छी तरह परख लीजिये। करते समय यदि दिलमें जलन हो, हृदयमें आग जल रही हो तो समझ लीजिये आप गलत काम कर रहे हैं। अच्छा काम तो शान्तिदायक है। उससे दिल ठण्डा होता है, काम करनेमें रस आता है स्वाद आता है। अपने हाथसे अपना काम करनेमें जो मजा है वह और कहीं नहीं। काम करनेके बाद अपनेको भी शीतलता मिले और जो उसे देखे, उसको भी शीतलता प्राप्त हो—**अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलम् जगत्।** जब हमारे दिलमें ठण्ढक आ गयी तो सारी दुनिया ठण्ढी हो गयी, शीतल हो गयी। यदि हमारा दिल ठण्ढा नहीं हुआ, उद्विग्न है, गर्म है, तो सर्वत्र गर्मी-ही-गर्मी है। इसलिए अन्तःशीतलता आनी चाहिए। मनुजीने सारे वेदान्तका सार बताया है—**स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।** वेदान्तका फल किसको मिलता है—उसको मिलता है, जिसका हृदय शान्त है। कुर्वन्नपिका अर्थ है काम करते हुए भी **किं पुनः न कुर्वन्**—जो कर्म नहीं करते उनका कहना ही क्या। चाहे जितना भी काम करो, परन्तु यदि अपनेको सबकी आत्माके रूपमें अनुभव करके काम करोगे और जिस प्रकार अपनेको तकलीफ पहुंचाना नहीं चाहते, उसी प्रकार दूसरेको तकलीफ नहीं पहुँचाना चाहोगे तो कर्मका कोई अपराध नहीं होगा।

अरे समय हो गया। तो बस यहीं हाथ खींचते हैं। हमारे हरिबाबाजी बताते थे कि काम पूरा करना अपने हाथमें नहीं, समय पर कर्त्तव्य पालन करना अपने हाथमें है। बस, बात अधूरी रहे तो रहे। आज यहीं छोड़ते हैं आगे कल!

●

प्रवचन : 8

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको यह हृदयंगम कराना चाहते हैं कि मनुष्य कर्म तो कर किन्तु कर्मसे लिप्त न हो। कर्म स्वयं जड़ है। चैतन्य आत्माके साथ इसका लेप होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। चैतन्य आत्मा एक जन्मका कर्म दूसरे जन्ममें ले जाये या एक समयका कर्म दूसरे समयमें करें, ऐसा उसका सहज स्वभाव नहीं और न कर्ममें इतना सामर्थ्य है कि, वह आत्माके साथ लग जाये, जुड़ जाये। यह तो अविद्या महारानी ही कुछ ऐसा कर रही हैं कि जड़ कर्म भी चेतन आत्माके साथ, अपने विजातीयके साथ चिपकता हुआ मालूम पड़ता है। स्थान-स्थानमें, क्षण-क्षणमें संकल्प-संकल्पमें कर्म छूटते जा रहे हैं, परन्तु फिर भी चेतन आत्मा समझती है कि हमने यह किया हमने यह नहीं किया। हमने यह विहित किया, हमने यह निषिद्ध किया। इसका कारण यही है कि चेतन आत्मा अपनेको जड़ अन्त:करणके साथ तादात्म्यापन्न करके जड़ कर्मको अपना कर्म समझती है और उसका अभिमान करके स्वयं आबद्ध हो जाती है। अत: कर्म करनेकी यह प्रणाली है कि मनुष्य कर्म तो करे, परन्तु उसके साथ आबद्ध न हो, लिप्त न हो। अर्जुन युद्ध तो करे, किन्तु युद्धके पाप-पुण्यके साथ अर्जुनका सम्बन्ध न हो—यह युक्ति भगवान् श्रीकृष्ण बताना चाहते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 5.7

मनुष्य-कुर्वन्नपि-काम करे, किन्तु कामसे लिप्त नहीं हो। यह कैसे होगा, तो इसके लिए उपाय बताया कि योगयुक्त: हो जाओ। बुद्धि खोकर काम नहीं करो, बुद्धि बनाये रखकर काम करो। संक्षेपमें बुद्धियोगको योग और सांख्ययोगका सांख्य कहते हैं। एक तो बुद्धि सावधान रहे, दूसरे विशुद्धात्मा अर्थात् अन्त:करण शुद्ध रहे। मन स्वच्छ रहे, निर्मल रहे, अपने वशमें रहे, इन्द्रियाँ स्वच्छन्द विचरण न करें। इतनी बातें तो अपने लिए कहीं। फिर बोले कि अपनेको आपतक सीमित, परिच्छिन्न मत करो। अपितु—

'सर्वभूतानाम् आत्मभूता आत्मा यस्य'—सबकी आत्मा ही मेरी आत्मा है, इस निश्चयपर स्थिर हो जाओ। सर्वात्मभावको सुदृढ़ करनेपर ही किसीको हानि नहीं पहुँचाओगे। इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ उच्छृङ्खलतासे जो काम करती हैं उनका लेप होता है। मन वशमें न रखकर जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। अन्त:करण अशुद्ध करके जो काम किया जाता है, उसका लेप होता है। बुद्धिकी असावधानीमें अपने-परायेका भेद रखकर, कुछको लाभ, कुछको हानि पहुँचानेके लिए जो कर्म होता है, उसका लेप होता है। अत: काम करनेमें बुद्धियोग, अन्त:करणकी शुद्धि, मनका वशीकरण-इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, सबकी भलाई की भावना और सर्वात्मभाव अनिवार्य है। यदि यह बात ध्यानमें रहे तो मनुष्य चाहे कितना भी कर्म करे उससे वह लिप्त नहीं होता।

अब कर्म करनेकी दूसरी प्रक्रिया यह बताते हैं कि अभिमान नहीं होना चाहिए—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृन्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ 5.8.9

मनुष्यके शरीरसे कर्म होता है। परन्तु यदि वह सावधान होकर देखे तो प्रतीत होगा कि उसके मूढ़ एवं तमोगुणी शरीरमें कुछ-न-कुछ क्रियाएँ होती रहती है। उसमें रक्तसंचार होता है, मलापसपरण होता है, बाल और नाखून बढ़ते हैं। ये सब मूढ़ताके साथ-साथ यावद्द्रव्यभावी कर्म-कलाप है। तो फिर अभिमान किस बातका? मूढ़ता तमोगुण, विक्षेप रजोगुण और शान्ति सत्त्वगुण है। आत्मा न तो शान्तिका कर्ता है, न इसके लगाये समाधि लगती है, न इसके किये विक्षेप होता है और न इसमें मूढ़ता आती है। तो क्या होता है?

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

प्रकृतिके गुणोंसे ही काम हो रहा है और जब गुणोंसे ही काम हो रहा है, तब उसको मैंने किया—यह अभिमान करना उचित नहीं।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ 13.29

प्रकृतिसे ही सारे काम हो रहे हैं। प्रकृति किये बिना मानती नहीं। वर्षा समयपर होती ही है, दूब समयपर उगती ही है। इसमें हम क्या करते हैं? यदि मनुष्य कर्ता होता तो क्या कभी बीमार पड़ता? वह बीमारी क्यों बुलाता अपने शरीरमें? कहते हैं कोई-कोई ऐसे बुद्धिमान् हो सकते हैं कि कभी बीमार न पड़े, यदि वे—'प्राप्यं विघातञ्च जानन्ति सुखदुःखयोः।' यह बात जान लें कि हमको सुख-दुःख ऐसे मिलनेवाले हैं और सुखकी प्राप्तिका उपाय करें तथा जिससे दुःख मिलता है वह काम छोड़ दें। बोले कि ऐसे लोग भी हमारी मृत्यु न हो इसका उपाय नहीं जानते। अच्छा जी, आप कर्ता हैं तो जान-बूझकर अपनी मृत्यु, बुलाते हैं? नहीं भाई मृत्युसे तो सब द्वेष करते हैं। एक मच्छर भी मृत्युसे द्वेष करता है, खटमल भी मृत्युसे द्वेष करता है, अतः यदि मनुष्य स्वतन्त्र कर्ता होता तो मृत्यु इसके जीवनमें कैसे आती? सुख न चाहनेपर भी मिलता है, दुःख न चाहनेपर भी मिलता है। कभी-कभी तो रातमें ऐसा होता है कि खूब आनन्दसे सोनेपर भी सहसा नींद टूट जाती है और कोई विपरीत बात याद आजानेसे तबीयत घबड़ा जाती है। कभी-कभी बड़े दुःखकी स्थितिमें सोनेपर नींद टूटती है और ऐसी कल्पनाका उदय हो जाता है कि मन परमानन्दमें डूब जाता है। अतः किसी कारणसे ही सुख-दुःखकी कल्पना उत्पन्न होती हो अथवा हमारे बुलानेसे ही आती हो—यह बात नहीं। यह तो कुछ प्रकृति है और कुछ संस्कृति है। यह संस्कृति है कुछ उन आकृतियों अथवा विकृतियोंकी जो मनमें घूमती रहती हैं। यह प्रकृति है उस अन्तःकरणकी जो कुछ-न-कुछ सोचता रहता है। तो यह मान बैठना कि हम इस सम्बन्धमें स्वतन्त्र हैं, ठीक नहीं। आत्मा असंग है—यह बात दूसरी है। किन्तु कर्म कुछ तो गुणोंसे और कुछ प्रकृतिसे होते रहते हैं तथा कुछ-कुछ पञ्चायती भी होते हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

अच्छे बुरे सभी कर्म पाँच पदार्थोंके मिलनेसे होते हैं :में शरीर होना अनिवार्य है, नहीं तो आप उसके अभावमें क्या करेंगे? एक आदमी है, उसका मन होता है ।क हम अपने हाथसे काम करें। लेकिन हाथ ही नहीं अथवा पक्षाघात हो गया है और हाथ नहीं उठता तो वह कैसे करेगा? केवल मनमें होनेसे कि हम यह काम करेंगे, नहीं होगा। उसके लिए जब करण होगा, औजार होगा तब कर्म होगा। अच्छा, हाथ भी हो, लेकिन मुर्देका हाथ हो तो वहाँ काम कैसे होगा? फिर सब कुछ होते हुए भी करनेकी वृत्ति अथवा चेष्टा नहीं तो कर्म कैसे होगा? यदि इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंका अनुग्रह प्राप्त नहीं, तो भी कर्म कैसे होगा? आँख है, परन्तु रोशनी नहीं, तो वह कैसे देखेगी? आँख हो, रोशनी भी हो, परन्तु आपका ख्याल न हों तो आप कैसे देखेंगे? इसका मतलब यह है कि काम न केवल आपसे होता है, न आपकी इन्द्रियोंसे होता है और न किसी वस्तुके रहनेसे होता है—'संघातस्य परार्थत्वात्'। जो काम पाँचको मिलाकर होता है, वह पाँचके लिए नहीं होता, किसी औरके लिए होता है। मोटर चलती है, उसमें पुर्जे बहुत हैं; परन्तु वह अपने लिए नहीं चलती, किसी दूसरेके लिए चलती है। ऐसी स्थितिमें जो यह मान बैठता है कि मैं मेरे लिए कर्म कर रहा हूँ, उसको दृष्टि प्राप्त नहीं—'न स पश्यति दुर्मतिः'। कर्म तो स्वभावके अनुसार ही होता है— 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

मनुष्यको मजबूर होकर कर्म करना पड़ता है। कभी-कभी मनुष्य ऐसा काम करता है, जिसको उसकी बुद्धि स्वीकार नहीं करती। जिसके लिए न तो मनमें संकल्प होता है और न कोई परिस्थिति होती है, वैसा काम कर देना पड़ता है। कुछ काम ईश्वर-प्रेरित भी होते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 18.61

आपने नावको चलते हुए देखा होगा। उसपर बैठनेका भी काम पड़ा होगा। कभी-कभी मल्लाह उसे फिरकीकी तरह नचाता है। नृत्यकी गतिसे नाव नाचती है और उसपर बैठा हुआ आदमी भी नावके साथ नाचने लगता है। कौन नाचता है? मल्लाह। तो यन्त्र है नावकी तरह, उसपर बैठा है जीवात्मा और ईश्वर अपनी मायासे उसको नचा रहा है—'यन्त्रारूढानि मायया।' तो माया है, पंचायत है, द्रव्योंका समाज है, इन्द्रियोंका समाज है और प्रकृति है, गुण है, स्वभाव है। इसलिए कर्म केवल आपके करनेसे ही होता हो, यह बात नहीं और उसके कर्तापनका जो अभिमान है वह बिलकुल झूठा है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।

ज्ञान आवश्यक है। असलियतको समझना चाहिए। कठोर शब्दोंके आवरणमें ज्ञानको बाँध देनेसे वह कुछ ऊँचा हो जाता हो, ऐसी बात नहीं। हम कठिन-कठिन शब्दोंका प्रयोग करें और समझें कि हमारा ज्ञान

बहुत ऊँचा है तो वह हमारा भ्रम है। वह तो कभी-कभी इतना खोखला होता है कि केवल शब्दाडम्बर ही रह जाता है और कभी-कभी सरल-सरल शब्दोंमें, बोल-चालकी भाषामें, इतना ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है कि वह लच्छेदार भाषामें कभी प्राप्त हो नहीं सकता।

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृद्देशमें परमेश्वर विराजमान है। वही सबको चला रहा है—'भ्रामयन् सर्वभूतानि।' इसमें सभी दृष्टिकोण आ जाते हैं। आस्तिक दृष्टिकोणसे ईश्वर अपनी माया द्वारा सृष्टि चला रहा है। नास्तिक दृष्टिकोणसे प्रकृति चला रही है और सांख्यकी दृष्टिसे गुण और प्रकृति दोनों चला रहे हैं। दूसरे शब्दोंमें स्वभाववादियोंकी दृष्टिसे गुण और ईश्वरवादियोंकी दृष्टिसे ईश्वर चला रहा है। इसका मतलब यह निकला कि मैं नहीं कर रहा। कर्ममें फलदानकी योग्यता तब आती है, जब वह इस अपेक्षा बुद्धिसे किया जाता है कि यह पूरा हो जाये और इसका अमुक फल हमारे पास आ जाये। देखो, हम अपनी आँखोंसे हर रोज हजारों आदमी देखते हैं, परन्तु उनकी याद नहीं आती। किन्तु जब हम किसीको प्रेमसे, घृणासे या द्वेषसे देख लेते हैं तब वह केवल जागृत अवस्थामें ही नहीं,, स्वप्नमें भी याद आता है। वास्तवमें हमारे मनमें जो यह अपेक्षा होती है कि अमुकसे हमको यह मतलब है, यह लाभ उठाना है, यह स्वार्थ सिद्ध करना है तो उसीकी याद आती है और जिससे परहेज होता है, जिसको हम अपनी आँखके सामने आने देना नहीं चाहते उसकी भी याद आती है। जिसको हम चाहते हैं वह भी दिलमें घुसता है और जिसको नहीं चाहते, वह भी दिलमें घुसता है। दूसरी सारी दुनिया, जिससे हमें कोई अपेक्षा नहीं होती, हमारे दिलमें नहीं घुसती। कर्मोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। आपको वही कर्म लगेंगे जिनसे आपका राग होगा या जिनसे आप ग्लानि करेंगे, घृणा करेंगे। बनारसमें एक सज्जन बड़े धर्मात्मा थे। तीन समय तो शंकरजीकी पूजा करते। पच्चीस-पचास वर्षोंतक वहाँ रहे। लेकिन उनको मुस्लिम मान्यताके अनुसार जिन्दका आवेश होता था और वे उस समय कुरानकी आयतें बोलने लगते थे। किसीने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा कि इतने पवित्रात्मा और धर्मात्माको जिन्दका आवेश क्यों होता है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह इस्लाम-मजहबसे, उनके अनुयायिओंसे और उनकी बातोंसे इतनी घृणा करता है कि वे सारी बातें उसके दिल-दिमागमें बैठ गयी हैं, अब वही निकलती हैं। तो जिस प्रकार आप प्रेम करके कई वस्तुओंको अपने दिलमें बसा लेते हैं, उसी प्रकार ग्लानि, घृणा, द्वेष, हिंसा और द्रोह करके भी कई वस्तुओंको अपने दिलमें बैठा लेते हैं। इसीलिए कबीरदासजी कहते हैं—***बड़ी मार कबीरकी चितसे दिया उतार।***

जिस चीजको आप अपने दिलमें नहीं बसाना चाहते, उसको चितसे उतार ही दीजिये। उससे घृणा भी मत कीजिये, द्वेष भी मत कीजिये, ग्लानि भी मत कीजिये और उसको अपने ध्यानमें भी मत लाइये। जिस रास्ते जाना नहीं, उसकी याद करके क्या करना है? आप यदि बुराइयोंकी याद करेंगे तो बुराइयाँ आपको पकड़कर नरकमें ले जायेंगी और कहेंगे कि जरा देख लीजिये, हमारा क्या फल है? इसी तरह आप अच्छाइयोंसे राग करेंगे, मुहब्बत कर बैठेंगे तो अच्छाइयाँ भी आपको स्वर्गमें ले जायेंगी। लेकिन आप जानते हैं स्वर्गका क्या फल होता है? 'स्वर्ग स्वल्प अन्तहु दु:खदाई।' इसलिए आपको नरक और स्वर्गसे बचना हो तो अच्छाई और बुराई दोनोंसे तटस्थ होकर अपने आपमें बैठिये, आत्मस्थ हो जाइये—**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**

तत्त्वका अर्थ है, वह असलियत जिसमें हम अपना रंग नहीं भरते। आकाशमें न तो कोई कोण बनता है और न रंग भरा जाता है। परन्तु हम यदि उसमें मानसिक च ण बनाकर उसमें रंग भर दें कि यह हरा है, यह नीला है, यह पीला है, यह लाल है तो उसका दर्शन वैसा ही होने लग जायेगा। हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि मरी हुई स्त्रीका दर्शन होता है—'नष्टवनितासाक्षात्कारवत्।' मरी हुई स्त्री पतिके मनमें बसी हुई होती है। वह रातको जब घरमें अकेला होता है तो उसके दर्शन होते हैं। रास्तेमें चलते हुए प्रतीत होता है कि वह उसको छू गयी! इसी तरह इस संसारकी वस्तुएँ केवल अपेक्षा करनेसे, रिश्ता जोड़नेसे ही, अपने साथ जुड़ती हैं। कर्म भी आपके साथ तभी जुड़ता है, जब आप—'अहं करोमीति वृथाभिमानः।' उसके साथ अपने कर्तृत्वका मिथ्याभिमान जोड़ लेते हैं। तुमने अपना हाथ बनाया? नहीं, यह तो बना बनाया है। तुमने जीभ बनायी। नहीं, यह भी बनी बनायी है। तुमने मिट्टी बनायी, पानी बनाया, पेड़ बनाया, पौधा बनाया? यह जो (Pulse) नाड़ी चलती है, तुमने बनायी? यह रक्त तुमने बनाया? जब तुम्हारा बनाया हुआ कुछ नहीं, तब कैसे मानते हो कि यह मेरा है। यदि कोई वस्तु केवल उपयोगके लिए मिले तो उसको अपनी मान लेना ठीक नहीं। अपनेपरके मिथ्याभिमानका निवारण आवश्यक है। इसके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए। तत्त्व उसको बोलते हैं जो अनारोपिताकार हो, जिसमें कोई आकार न बना हो। आकार तत्त्व नहीं। जैसे स्वर्णमें जो आकार बनता है, कंगन बन जाता है, कुण्डल बन जाता है, हार बन जाता है, वह स्वर्ण तत्त्व नहीं होता। यद्यपि वह होता है स्वर्ण ही, तथापि कंगन, हार, कुण्डल आदि निर्मित आकारोंके नाम रखे हुए होते हैं। सोनेमें आकारका आरोप किया जाता है। वास्तविक सोना तो वह है, जिसमें कोई आकार आरोपित ही नहीं। वह सिल्ली भी नहीं, चूर्ण भी नहीं, द्वेष भी नहीं, वह तो तेजस् तत्त्व है। तेजस् तत्त्व भी ऐन्द्रियक नहीं। वस्तुतः स्वर्ण तो अधिष्ठान ब्रह्ममें केवल कल्पना मात्र है। उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता परब्रह्म परमात्मामें नहीं। इस प्रकारके तत्त्वज्ञानको जाननेवालेका नाम है तत्त्ववित् और जो उसमें निष्ठावान् होते हैं वे युक्त कहलाते हैं। युक्त शब्द गीताके दूसरे अध्यायमें ही आ गया है—'युक्त आसीत मत्परः। तात्पर्य यह है कि परमात्मामें निष्ठावान् होकर बैठ जाओ, स्थिर हो जाओ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

जब चित्त विनियत होकर अपने-आपमें बैठ जाता है और कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म दिखायी देने लगता है तब उसका नाम युक्त होता है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। 6.8
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। 4.18

युक्त करते हुए भी नहीं करता, नहीं करते हुए भी करता है। यह इसकी माया है। जो तत्त्ववित् पुरुष है, उसको युक्त रहकर देखना चाहिए कि यह कर्म न मेरा है और न मैं इस कर्मका हूँ। मेरा और कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं। 'नैव किञ्चित् करोमि'—मैं कुछ भी नहीं करता। किन्तु इस कुछ भी न करनेका मतलब यह नहीं कि चुप होकर बैठ जाओ। नहीं, इसका तात्पर्य यह है कि सब काम होता रहे और 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा'—यह भावना बनी रहे।

पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्।

देखना आँखोंका चमत्कार है, सुनना कानोंका चमत्कार है। अगर कानमें शब्द ग्रहण करनेकी शक्ति न होती तो उन शब्दोंको आप कैसे सुनते? यह तो आपने अपने भीतर जो फिल्म भर रखी है, उसका चमत्कार है। आकाशमें जो प्रकाश फैल रहा है, वह फिल्म है, केवल दिखावटी चीज है, उसके भीतर कुछ नहीं। तो देखते हुए भी मैं देख नहीं रहा, सुनते हुए भी मैं सुन नहीं रहा और छूते हुए भी मैं छू नहीं रहा। इस तरहसे जितने कर्म होते हैं—जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन, श्वसन्—अर्थात् सूँघते हुए भी, खाते हुए भी, चलते हुए भी, सोते हुए भी, साँस लेते हुए भी—मैं कुछ नहीं करता। 'मैं कुछ नहीं कर रहा' से ज्ञानेन्द्रियोंका काम भी है और कर्मेन्द्रियोंका काम भी है।

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।

पलकोंको उठाना और गिराना क्या हमारा काम है? मैंने ऐसा देखा है कि कभी बोलनेका मन नहीं होता और बोला जाता है। कभी बोलनेका मन होता है और जीभ नहीं खुलती। एक बार मैं लेटा हुआ था। लेटे-लेटे शरीरकी विचित्र स्थिति हो रही थी कि मेरे सामने एक बहुत बड़े महापुरुष आकर खड़े हो गये। सचमुच ठोस दुनियाके महापुरुष जो उस समय धरतीपर जीवित थे। मैं तो पलंगपर लेटा हुआ और वे सामने आकर खड़े हुए। मेरे मनमें आया कि अरे ये आगये, उठना चाहिए। अब मैं उठनेकी कोशिश करूँ तो शरीर न उठे। मैंने सोचा कि बोलकर प्रणाम करें तो बोला नहीं गया। हाथ जोड़ना चाहा तो हाथ नहीं जुड़े। सिर झुकाना चाहा तो सिर भी नहीं झुका। सिरको ऊपर उठाना चाहा तो ऊपर भी नहीं उठ सका। न सिर ऊपर उठे न नीचे झुके, न हाथ उठे और न जीभ हिले। मैं देख रहा हूँ कि वे महापुरुष सामने खड़े हैं और मैं लेटा हुआ हूँ। मेरी अशिष्टता पर वे हँस दिये, समझ गये कि मैं बिल्कुल बेकार हो गया हूँ, अवश हो गया हूँ वे हँसते जाते थे और मैं उनके सामने पलंगपर पड़ा हुआ था। अब सवाल पैदा होता है कि यदि मैं करनेवाला हूँ तो मुझे उनके सामने उठ जाना चाहिए था। परन्तु बिल्कुल उठा न गया। इसी प्रकारकी एक और घटना आपको सुनाता हूँ। सम्भव हैं, आपके जीवनमें भी यह अथवा इससे मिलती-जुलती घटना घटित हुई हो। मुझे एक बार हँसी आयी। ऐसी हँसी आयी कि मेरे चाहनेपर भी हँसना बन्द ही न हो। दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते, बीस मिनट बीत गये, हँसी बन्द नहीं हुई। लगा कि यही हाल कुछ देर और रहा तो शरीर छूट जायेगा। शरीरपर काबू ही नहीं रहा। सब घबड़ा गये। परन्तु मेरे एक मित्रको जब यह भान हुआ कि मेरे प्राण संकटमें हैं तब उन्होंने जोरका एक चाँटा मेरे गालपर मारा। बस, चाँटा मारते ही मेरी हँसी समाप्त हो गयी और गुस्सा आ गया। उन्होंने कहा कि तुम बच गये। अब तुम्हें गुस्सेमें जो कुछ कहना हो, कह लो। इन घटनाओंके उल्लेखका आशय यही है कि एक ओर हम इतने विवश हैं और दूसरी ओर अभिमान इस बातका करते हैं कि हम वक्ता हैं अथवा हम मौनी हैं। हमारा यह अभिमान व्यर्थ नहीं तो और क्या है?

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।

इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें वर्तते हैं—इसका अर्थ यह है कि आँख तो रूप देखेंगी ही, आप अपना भाव भले

बदल लो कि मैं देख रहा हूँ या नहीं देख रहा। आप जब मन्दिरमें [illegible]का दर्शन करते हैं तब आपके मनमें क्या भाव होता है? मूर्ति आपके सामने होती है और आँख आपके शरीरमे [illegible]ांखसे मूर्ति दीखती है और आप कहते हैं कि हमें परमेश्वरका दर्शन हो रहा है। आपके मनमें परमेश्वर है तभी आपको परमेश्वरका दर्शन हो रहा है और आपके मनमें परमेश्वर नहीं तो पत्थरका दर्शन हो रहा है। मानो तो तीर्थ नहीं तो पानी—ऐसी स्थिति है। इसी प्रकार जब मैं देखता हूँ ऐसा अभिमान होता है तब अपने पास देखनेका पाप-पुण्य आ जाता है। जहाँ मैं देख रहा हूँ—यह अभिमान नहीं, वहाँ देखनेका पाप-पुण्य नहीं लगता। आँखें रूप देखती हैं कान शब्द सुनते हैं, नासिका गन्ध सूँघती है। किन्तु कितने ही दृश्य, शब्द और गन्ध आते-जाते रहते हैं। कई बार लोग आँख, कान, नाक बन्द कर लेते हैं। कई बार खुली आँख, खुले कान और खुली नाकसे सब कुछ देखते, सुनते, सूँघते और साँस लेते निकल जाते हैं। उनका कोई सम्पर्क ही नहीं बनता। तो ज्ञानकी साधनासे अपने मनमें यह धारणा बनायी जाती है कि सब कुछ होता हुआ भी नहीं हो रहा। देखा, सुना, सूँघा जाता हुआ भी देखा, सुना, सूँघा नहीं जा रहा।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ 5.10

आप अपने कर्मको कहीं रख दो, उससे नाता मत जोड़ो, ठीक वैसे ही जैसे कबीरजी बोलते थे—

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी ओढ़िके मैली कीन्हि चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धरि दीन्हि चदरिया॥

जिस प्रकार चादर ओढ़ी और रख दी, उसी प्रकार शरीरको काममें लिया और छोड़ दिया। कई महात्माओंके बारेमें ऐसा सुननेमें आता है कि उन्होंने शरीरको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया और स्वयं अपने स्वरूपमें मगन हो गये। यहाँ प्रश्न उठता है कि हम अपने कर्मको कहाँ रखें? उत्तर है कि कर्म शरीरसे करते रहिये। निकम्मापन तो किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। क्योंकि जो निकम्मा हो जाता है, उसके जीवनमें आलस्य, प्रमाद आदि तमोगुण आ जाते हैं—बुराइयाँ आ जाती है। अत: उनसे बचे रहनेके लिए कर्म कीजिये, किन्तु ऐसे कीजिये कि कर्मको ब्रह्ममें रख दीजिये। ब्रह्ममें अर्थात् अनन्ताकाशमें चिदाकाशमें। अनन्ताकाश, चिदाकाश ब्रह्म—प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अर्थात् अपने आपसे अभिन्न है। उसीमें कर्म होते हुए दिखायी पड़ रहे हैं। आप जब आकाशमें बादल देखते हैं तो उन बादलोंका रंग आकाशको लगता है क्या? बादलोंका रूप-रंग, बनना-बिगड़ना, होना न होना, आकाशके ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता। हम लोग बचपनमें बादल देखते तो कहते कि देखो वह शेर है, वह हाथी है, वह घोड़ा है, वह बारात जा रही है, वह डोली जा रही है, वह दूल्हा है, वह दुल्हन है, वह गौरीशंकर हैं, वह सीताराम हैं आदि-आदि। आसमानमें बादलोंके जो टुकड़े दिखायी पड़ते, उनमें अपनी कल्पित आकृति बैठा देते और वह वैसी ही दिखायी पड़ने लगती। आज भी बादलोंका अवलोकन करनेपर वैसा ही दिखायी पड़ सकता है। किन्तु हम चाहे जिस आकृतिकी कल्पना करें, आकाशमें कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार संसारके सभी कर्म किसी-न-किसी अपेक्षासे होते हैं, किन्तु निरपेक्ष सत्यमें, परमात्मामें इनकी कोई स्थिति नहीं। यदि यह कहो कि कर्म भले ही अनन्तमें हों परन्तु हमारे साथ जो जुड़ जाते

हैं, उसका हम क्या करें? तो इसका उत्तर है कि—'सङ्गं त्यक्त्वा।' असंग होकर कर्म करो। आप रास्तेमें चलते हैं तो आपके सामनेसे हजारों आते-जाते हैं, किन्तु किसके साथ आपकी आसक्ति होती है? आप यह बात बिल्कुल निश्चित समझो कि जैसे घड़ीमें सेकेण्ड बीतते हैं, मिनट बीतते हैं, पर उसकी सूई किसी सेकेण्ड या मिनटसे चिपकती नहीं चलती रहती है, वैसे ही आपका जीवन भी किसी क्षण या कालखण्डके साथ चिपका नहीं रहता। आपका जीवन किसी वार, तिथि या मासमें बँधता नहीं, चाहे उसमें कोई भी महत्त्वपूर्ण घटना क्यों न घटित हुई हो। आपका जीवन तो समयके साथ बीतता जा रहा है और कहीं किसीमें आसक्त नहीं होता। यह जो समयका विभाग है, यह बिल्कुल काल्पनिक है। हम जो दिन, रात, पक्ष, मास अथवा वर्षका बँटवारा करते हैं वह अपने साभनेकी वस्तुओंसे ही करते हैं। संस्कृतमें समय शब्दका यही अर्थ होता है कि जो दूसरेके बीतनेसे बीत जाता है—'समं यातीव, केनचित् समं याति।' यह किसी-न-किसीके साथ चला जाता है। जैसे बचपनका समय गया, जवानीका समय गया, बुढ़ापेका समय गया। इस तरह यह जो बीतता हुआ समय है इसमें आप किससे चिपकना पसन्द करते हैं? ऐसा कभी हो नहीं सकता कि आप किसी समयके साथ चिपके रह जायें, समय आपके साथ चले अथवा आप समयके साथ चलें। यही बात स्थानके सम्बन्धमें है। न आपका पूर्वसे प्रेम है, न पश्चिमसे। हम आपसे पश्चिम बैठे हैं लेकिन जो हमारे पीछेकी तरफ हैं उनसे पूर्व हैं। नीचेसे ऊपर हैं और ऊपरसे नीचे हैं। वह मध्य भी नहीं। एक अपेक्षासे मध्य है, दूसरी अपेक्षासे सिरा है। वास्तवमें न यह ऊपरका स्थान है, न नीचेका, न पश्चिमका, न पूर्वका, न उत्तरका, न दक्षिणका और न किसी कोणका। यह तो अपनी अपेक्षासे ही मान लेते हैं कि हम कहाँ बैठे है? जैसे हम किसी स्थानमें नहीं चिपकते, उसी प्रकार हम किसी वस्तु अथवा किसी कर्ममें भी नहीं चिपकते। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जो हमारे साथ जुड़ जाये, चिपक जाये। यह तो केवल मनकी कल्पना है। यहाँ-तक कि मानसिक अवस्था भी दूसरी अवस्थामें नहीं जाती। जाग्रदवस्था क्या स्वप्नमें जाती है? स्वप्नावस्था क्या जाग्रतमें आती है? जाग्रत, स्वप्न या सुषुप्तिमें आते हैं? ये सब अलग-अलग हैं। यह केवल संग है, हमारे मनकी आसक्ति है। पहले तो अविद्याके कारण हम किसी वस्तुको समझते नहीं, फिर उसे स्थिर समझकर उसके साथ अपनेको जोड़ देते हैं। सृष्टिमें कितने उत्थानपतन हुए, बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् आये-गये परन्तु क्या अपनी धरतीको अपने साथ ले जा सके? जैसे क्षण, कण, अथवा परमाणुओंके साथ हमारी आसक्ति नहीं होती, वैसे ही संसारके पदार्थोंके साथ भी हमारी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जो परमाणु आकाशमें टिकते नहीं हिलते रहते हैं, उन्हीं परमाणुओंसे बनी हुई यह सृष्टि क्या टिक जायेगी? भागवतके माहात्म्यमें एक बड़ी विचित्र बात आयी है। प्रात:काल जो भोजन बनाते हैं, वह सायंकाल ठंडा हो जाता है, खाने लायक नहीं रहता। कई-कई तो ऐसे शौकीन होते हैं कि तवेपरसे उतरकर गरम-गरम रोटी आती है तभी खाते हैं। हमने अपनी आँखसे देखा है, रोटी थालीमें परसी गयी और उठाकर पटक दी गयी। कहा गया कि इतनी ठण्डी रोटी क्यों लाये? अब आप सोचिये कि रोटीको आप बराबर गरम कैसे रख सकते हैं? उसको पेटमें डालकर भी गरम ही रखेंगे क्या? इस संसारको जो हम अपने मनके अनुसार पकड़कर रखना चाहते हैं वह सम्भव नहीं, इसलिए 'सङ्गं त्यक्त्वा'—इसको छोड़ते चलो।

हमारे एक मित्र हैं उनके घरमें जगह-जगह लिखा है कि 'यह भी नहीं रहेगा', 'यह भी नहीं रहेगा।' यही वास्तविकता है। वास्तवमें न ये क्षण रहेंगे, न कण रहेंगे न परमाणु रहेंगे। यह मन भी नहीं रहेगा। सिनेमामें मालूम पड़ता है कि अमुक दृश्य पाँच मिनटतक लगातार रहा, परन्तु वह पाँच मिनट तो क्या पाँच सेकेण्ड भी नहीं रहता। इसीका नाम फिल्म है। निरुक्तमें इसके लिए बिल्म शब्द आया है। यह तो बाहरी आवरण है, असलियत बिल्कुल दूसरी है। अत: जो बुद्धिमान् पुरुष होता है वह किसी भी वस्तुमें संग नहीं जोड़ता। चलके साथ अचल कभी जुड़ नहीं सकता, मिथ्याके साथ सत्य कभी जुड़ नहीं सकता। एक चल वस्तु अचलके साथ कैसे जुड़ सकती है? आकाशकी नीलिमा आकाशको कैसे रंग सकती है? क्योंकि वह तो है ही नहीं। जब हवाई जहाजमें चलते हैं, तब जैसे क्षितिज ऊपर दीखता है या दाहिने-बायें दीखता है, इसी प्रकार वह नीचे भी दीखता है। नीलिमाकी गहराई धरतीसे भी ज्यादा, ऊपर जानेपर दीखती है। ऊपरसे धरतीमें भी क्षितिजका दर्शन होने लगता है। यह सब क्या आकाशमें है? अस्तु;

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

जो छूट रहा है, उसे छूट जाने दो। जो आ रहा है, उसे आ जाने दो। 'सङ्गं त्यक्त्वा'का अर्थ है न सटाओ और न हटाओ। यदि आप अच्छी चीजको पास नहीं आने दोगे तो पाप लगेगा और चाहोगे कि वह चीज बराबर तुम्हारे साथ बनी रहे, सटी रहे तो भी अनर्थ होगा। ईश्वरकी वस्तुको, प्रकृतिकी वस्तुको, मायाकी वस्तुको सटाने-हटानेमें लग जाओगे तो भी पाप लगेगा। यदि आप यह ध्यान रखते हैं, जानते हैं कि अमुक वस्तु न रहनेवाली है, न हम इसके साथ जुड़नेवाले हैं, यह तो आयाराम—गयाराम है, तब ठीक है। फिर तो आपको कोई पाप नहीं लगेगा। पाप क्या है? हो कुछ और समझ लिया जाये कुछ यही पाप है। सबसे बड़ा पाप भ्रम है। वाल्मीकि-रामायणमें यह प्रसंग आया है—**योऽन्यथा सन्तमात्मानं अन्यथा प्रतिपद्यते।**

अर्थात् 'मैं देह नहीं, परन्तु अपनेको देह मानना पाप है। मैं कर्ता नहीं, परन्तु अपनेको कर्ता मानना यह पाप है। मैं परिच्छिन्न नहीं, परन्तु अपनेकी परिच्छिन्न मानना पाप है। मैं ईश्वरका अंश हूँ तो अपनेको ईश्वर न मानना पाप है।' किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।' संसारमें सब-के-सब पाप अन्यथा भावके ही पाप हैं। सचको झूठ समझना और झूठको सच समझना—इसका नाम पाप है। इसलिए जिज्ञासुको चाहिए कि वह अपने अज्ञानका निवारण करे और काम करता जाये।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। 5.11

योगी लोग शरीरसे काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। मनसे भी काम करते हैं, परन्तु मैं करता हूँ—ऐसा नहीं कहते। बुद्धिसे भी काम करते है किन्तु कर्तृत्वाभिमान नहीं करते। उनके शरीरसे क्रिया होती है, मनसे संकल्प होता है, बुद्धिसे विचार होता है और इन्द्रियगणसे देखना-सुनना आदि होता है। योगी लोग 'केवलेन कायेन, केवलेन मनसा, केवलया बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि' काम तो करते हैं परन्तु उनको किसी काममें आसक्ति नहीं होती। फिर वे काम कैसे करते हैं? शुद्ध संकल्पपूर्वक करते हैं। किसी भी कर्ममें कोई-

न-कोई संकल्प होना चाहिए। सबसे बड़ा संकल्प हेमाद्रिसंकल्प होता है। विद्वान् ब्राह्मणोंको अपने यजमानोंसे वह संकल्प बोलवानेमें आधा-पौन घण्टा लगता है। उसको महसंकल्प भी बोलते हैं। आप भी कर्म तो कीजिये— शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे, इन्द्रियोंसे—परन्तु उसके पीछे जो संकल्प है उसपर ध्यान दीजिये। संकल्प क्या है ? कोई सकल मनोरथ-सिद्ध्यर्थ संकल्प करते हैं, कोई आरोग्य दीर्घायुके लिए करते हैं, कोई लक्ष्मी देवीकी प्राप्तिके लिए करते हैं, कोई अपना कर्तव्य समझकर करते हैं और कोई भगवत्प्राप्तिके लिए करते हैं। कर्तव्यमें कर्तृत्व जुड़ता है और भगवत्प्राप्तिके लिए कर्म करनेपर यह बात मनमें आती है कि कर्मकी साधनासे भगवान् मिल जायेंगे। आप देखना, सारी गीतामें भगवान्के लिए कर्म करनेपर जोर दिया गया है 'मदर्थं कर्म कौन्तेय'में मदर्थका क्या अर्थ है ? इससे भगवान् मिलेंगे ? मदर्थका यह अर्थ है कि हम जो कर्म कर रहे हैं, इसका फल भगवान्को मिले। भगवान्को देनेके लिए जो कर्म किया जाता है वही 'मदर्थ कर्म' होता है। भगवान्को पानेके लिए जो कर्म होता है, वह 'मदर्थ कर्म' नहीं होता। भगवान् वादा भी करते हैं तो यही कि हम तुमको कर्म-बन्धनसे छुड़ा देंगे।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

भगवान् कहते हैं कि तुम कर्म करो, किन्तु अपने लिए नहीं, मेरे लिए ऐसा करोगे तो तुम कर्म-बन्धनसे छूट जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि मैं तो कर्म-बन्धनमें आनेवाला नहीं, तुम आनेवाले हो। इसलिए तुम्हें कर्म-बन्धनसे छूटनेकी आवश्यकता है। गीतामें यह बात समझनेकी है।

'सङ्गं त्यक्त्वा'का अर्थ है कि कर्मका संग मत करो। नर्मदा मिले तो उसमें भी स्नान करो, गंगाजी मिलें तो उसमें भी स्नान करो। शिवको भी हाथ जोड़ो, देवीको भी हाथ जोड़ो। रामको भी हाथ जोड़ो, विष्णुको भी हाथ जोड़ो, किन्तु सबके भीतर जो एक तत्त्व है उसका स्मरण रक्खो। किसी भी विषयकी प्राप्तिमें आसक्ति न हो, देहमें भी आसक्ति न हो। सबसे अधिक आसक्ति अपनी मान्यताओंमें होती है। इसीके लिए मजहबी लोग आपसमें लड़ते हैं। उनकी आपसी लड़ाईका एकमात्र कारण अपनी मान्यताओंमें आसक्ति और दृढ़ आग्रह होता है। राग, द्वेष, घृणा, द्रोह आदि मनमें क्यों आते है ? सङ्गके कारण ही आते हैं। आसक्तिके कारण ही आते हैं। जिसकी कहीं आसक्ति नहीं, उसके लिए कहीं बन्धन नहीं है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 5.12

कर्मफलमें आसक्ति न हो, इसके लिए सावधान रहो—'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा।' कर्मफल न चाहनेपर नैष्ठिकी शान्ति मिलेगी। मेरे पास आनेवाले लोग कभी-कभी बोलते हैं—महाराज! हमारे मनमें कोई इच्छा नहीं, परन्तु अशान्ति बहुत है। इसको वदतोव्याघात दोष बोलते हैं। जिसके मनमें इच्छा नहीं होगी, उसको अशान्ति कैसे होगी ? ज्ञान पाना चाहते हो, ईश्वर पाना चाहते हो, किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना चाहते हो, तब अशान्ति हो सकती है। किन्तु जिसको कुछ पाना नहीं, उसके मनमें अशान्ति होनेका कोई कारण नहीं।

●

प्रवचन : 6

जैसा कि पहले एक या अनेक बार कहा जा चुका है, यदि भगवान् अपने शरणागतका मनोरथ पूरा न करें तो उनकी भक्ति कोई क्यों करेगा? भक्ति में भगवान् भक्तका पक्षपात अवश्य करते हैं। सबके प्रति सम होते हैं, किन्तु भक्तके प्रति पक्षपाती होते हैं। यही ईश्वरकी ईश्वरता है। भगवान् कृपा करके कर्म करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यदि कोई कहे कि जो महात्मा योगी अथवा संन्यासी हैं उन्हें कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं, तो यह ठीक नहीं। गीता के अनुसार बड़े-बड़े योगी लोग भी कर्म करते है—'योगिनः कर्मं कुर्वन्ति।' संसारी लोग, साधक लोग तो कर्म करते ही हैं, योगी लोग भी कर्म करते हैं। किन्तु योगियोंके कर्म आत्मशुद्धिके लिए होते हैं। देखिये, स्नानका मन तो पशु-पक्षियोंका भी होता है। काम जो किया जाता है, वह शरीरमें कालिख लगानेके लिए नहीं, छुड़ानेके लिए होता है। शरीरमें कालिख लगायी नहीं जाती, लग जाती है और जब लग जाती है तो उसको छुड़ानेके लिए मनुष्यको कर्म करना पड़ता है। हमारे जीवनमें जो मलिनता लग गयी है उसको दूर करनेके लिए कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। इसलिए कर्मका संकल्प आत्मशुद्धि होना चाहिए। अपने आपकी, आत्माकी शुद्धिके लिए कर्म करना चाहिए। शरीरमें मैल लगा हो तो उसको छुड़ानेके लिए थोड़ी मैल और लगा लेते हैं। यह जो मैल धोनेके लिए साबुन लगाया जाता है वह मैल ही तो है। परन्तु साबुनकी मैल ऐसी है जो पहलेकी लगी मैलकी खींच लेती है और फिर धो देनेपर दोनों मैल एक साथ छूट जाती है। इसी तरह कर्म किया जाता है आत्म-शुद्धिके लिए—'आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति।' हमारे पास बहुत-से लोग ऐसे आते हैं जो कहते हैं—स्वामीजी! हमें ईश्वरका दर्शन हो जाये। कुछ ऐसे भी मिलते हैं जो कहते हैं कि समाधि लग जाये। संसारके भोग चाहनेवाले तो बहुत आते हैं। लेकिन कोई यह प्रार्थना नहीं करता कि हमारा अन्त:करण शुद्ध हो जाये। ऐसा चाहनेवाला सालभरमें शायद ही कोई आता हो। मनुष्यको अपने जीवनमें जो मलिनता है वह खटकती नहीं। जब जीवनकी मलिनता अपने आपको खटकने लगेगी और उसको शुद्ध करनेकी इच्छा होगी,तभी हम ठीक-ठीक कर्म कर सकेंगे। प्रश्न यह है कि आप किसके लिए कर्म करते हैं? शरीरके कर्मके लिए मनके कर्मके लिए, अथवा बुद्धिके कर्मके लिए? ये सब कर्म ही हैं। इसीसे कर्मयोगी लोग कहते हैं कि वेदान्ती जो विचार करते हैं, बुद्धिसे सोचते हैं वह भी तो एक प्रकारका कर्म ही है। वह भी एक बौद्धकर्म है। बैठकर चिन्तन करना क्या कर्म नहीं? वह बुद्धिका कर्म है। तो केवलेन कायेन, केवलेन मनसा, केवलया वाचा, केवलया बुद्ध्या कर्म भी होते हैं। कई लोग सबको एकमें समवेत करके ऐसा काम करते हैं, जिसमें शरीर भी होता है, मन भी होता है, वाणी भी होती है और बुद्धि भी होती है। कुछ लोग केवल इन्द्रियोंसे ही काम करते हैं। कर्म कैसे भी हो उसे करनेमें एक होशियारी रखनेकी जरूरत है। पहले तो उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए कि हम किसलिए यह कर्म कर रहे हैं? यदि उद्देश्य स्पष्ट नहीं तो कर्म किधर ले जायेगा? आपकी मोटर चल रही है; परन्तु आप कहाँ पहुँचना चाहते हैं, यह बात आपके मनमें साफ नहीं, तो मोटर बेचारी आपको कहाँ पहुँचायेगी? इसी प्रकार आप हाथ-पाँव हिला रहे हैं और आपके जीवनकी मोटर चल रही है। परन्तु आपको

कहाँ पहुँचाना है, यह बात मालूम होनी चाहिए। यदि आप संसारकी वस्तुओंको अपनी ओर लानेके लिए कर्म करते हैं तो देनेके लिए भी कर्म करना चाहिए। कर्म देनेके लिए होता है, लेनेके लिए नहीं। यह तो स्वाभाविक ही है कि जब आप देना शुरू करेंगे तो आपके पास आना शुरू हो जायेगा। नहीं तो देंगे कहाँसे? यदि हम विचार देना प्रारम्भ कर दें और हमारे पास विचारोंका आना बन्द हो जाये तो हम आपको किस प्रकार विचार दे सकेंगे? जैसे-जैसे विचार देते हैं वैसे-वैसे नये-नये विचार हमारे अन्दर उदित होते हैं। कभी-कभी तो अपूर्व विचार आते हैं, अद्भुत विचार आते हैं।

यदि कर्मका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ है तो उस उद्देश्यका क्रमशः विस्तार करके उसको परिवारके साथ, फिर गाँवके साथ, फिर जातिके साथ, फिर मजहबके साथ, फिर राष्ट्रके साथ, फिर मानवताके साथ, फिर सम्पूर्ण विश्वके साथ और फिर उससे भी बढ़कर ईश्वरके साथ जोड़ा जा सकता है। ईश्वरके लिए कर्मका संकल्प होनेपर कोई बचा नहीं रह जायेगा और हमारा वह कर्म सबके लिए हो जायेगा। क्योंकि ईश्वर सर्वात्मा है। उसकी प्रसन्नता सबकी प्रसन्नता है, उसकी सेवा सबकी सेवा है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 18.86

तो आप यह देखिये कि अपने कर्म द्वारा किसकी पूजा कर रहे हैं? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम।' यह जो आपके हाथमें हविष्य है, जिसका आपने कर्मके द्वारा निर्माण किया है और जिसके द्वारा कर्म सम्पन्न होनेवाला है, वह किसके लिए है? यहाँ कस्मै देवायका अर्थ एकस्मै देवाय अर्थात् 'एक देवताके लिए' है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्

जब उसी मन्त्रमें प्रजापतिका नाम ले लिया तब 'कस्मै देवाय' कहाँ रहा? जब हिरण्यगर्भ कह दिया, 'समवर्तताग्रे' कह दिया, 'एक आसीत्' कह दिया तो 'कस्मै'का कोई अर्थ ही नहीं रह गया। मन्त्र-वर्णमें जो 'एक' कहा हुआ है, उसी 'एकस्मै'को 'कस्मै' बोलते हैं। है यह एकस्मै—एक देवताके लिए। हमारी आराधनाके पुष्प उसी 'कस्मै'—एक देवताके लिए है।

हमारे एक ब्रह्मचारीजी थे। उनके मन्दिरमें बीस-पच्चीस देव-मूर्तियाँ रखी हुई थीं। वे सबको चन्दन चढ़ाते, अक्षत चढ़ाते, फूल चढ़ाते और सबकी पूजा करते। मैंने पूछा कि ब्रह्मचारीजी, आपने ये बीस-पच्चीस प्रतिमाएँ क्यों रखी है? वे बोले कि 'डर लगता है। अगर किसीको छोड़ देंगे तो वह नाराज हो जायेगा। तो यह पूजा भयमूलक हुयी। पूजा तो डरकर नहीं, प्रेमसे करनी चाहिए और उसकी करनी चाहिए, जो सबमें एक है। उसकी पूजा करनेसे ही सबकी पूजा हो जाती है। तो आत्मशुद्धिका तात्पर्य है। 'कर्म कुर्वन्ति।' 'योगिनः कुर्वन्ति।' 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति।' 'कर्म कुर्वन्ति कस्मै प्रयोजनाय?' 'आत्मशुद्धये।' योगी लोग भी कर्म करते हैं। योगी वे होते हैं जो कर्मसे ज्ञानको अलग करके रखनेमें समर्थ है, अपने चिन्मात्र आत्मवस्तुको कर्म, करण, कर्तासे अलग रखकर असंग द्रष्टाके रूपमें अनुभव करनेमें समर्थ हैं। योगी लोग द्रष्टाको दृश्यकेसाथ मिलाकर कर्म करते हैं। क्यों कर्म करते है? जब उन्हें दृश्य-द्रष्टाका विवेक हो गया और वे अपने असंग स्वरूपमें बैठ

गये तब फिर कर्म क्यों करते है? उत्तर है कि कर्म नहीं करेंगे तो शरीर कैसे चलेगा? 'न कर्मणा-मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।'

केवल कर्म न करनेसे ही मनुष्य कर्मसे मुक्त नहीं हो जाता। कर्म नहीं करोगे तो ईश्वरके यहाँ पकड़े जाओगे और पूछा जायेगा कि तुमने अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं किया? आपका सेवक हो, आप उसे कोई कर्म सौंप दें और वह न करे तो आप जवाब-तलब करते हैं ना? अत: 'न कर्मणामनारम्भात्'—केवल कर्म न करनेसे ही कर्मयुक्त होना तो अलग रहा, उल्टे दण्ड-भाजन भी बनना पड़ता है।

'न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।' केवल कर्मत्यागसे कोई सिद्धि मिलती हो—यह बात भी नहीं। कर्म तो करना ही चाहिए। हम कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते— 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' हमारे शरीरमें ऐसे उपादान, ऐसे मसाले भरे हुए हैं, जो हमसे बलात् कर्म करवाते हैं।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।

यदि आप अपने मनमें वासना रखते हैं और कर्म नहीं करते तो आप मिथ्याचारी हो जायेंगे, ढोंगी हो जायेंगे। यदि आप मनको वासनासे मुक्त रखकर, संयत रखकर कर्म करेंगे तो आपके द्वारा बड़ा प्रशस्त कर्म होगा। 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण:।' इसका अर्थ है कि मनुष्यको कर्म अवश्य करना चाहिए। वह कर्मके बिना जीवित नहीं रह सकता। करनेकी रीति देखो। आप आधे मनसे, आधे उत्साहसे काम मत करो। आपको जो भी काम करना हो; पूरे मनसे, पूरे उत्साहसे करो। आपके अन्दर बल है तो आप अपने पूरे बलको कर्म करनेमें लगाइये। आपके भीतर समझ है तो पूरी समझदारी से काम कीजिये। आपके भीतर आनन्द है तो पूरे आनन्दके साथ कर्म-परायण होइये। आपका बल तो तभी बढ़ेगा, जब आपके मनमें उत्साह होगा। अत: जो भी काम कीजिये, पूरे उत्साहके साथ कीजिये। आप अपने कर्मकी पूर्णताके लिए इस बात पर ध्यान रखिये कि जो भी शक्ति या साधन आपके पास है, उसमें लगे। अब आपके कर्मसे ईश्वर प्रसन्न होगा, अन्त:करणकी शुद्धि होगी अथवा लोकहित होगा। यह बात तो पहले सोच लीजिये। यह देख लीजिये कि जो काम आप करने जा रहे हैं, वह लोगोंकी भलाईके लिए है कि अपनी शुद्धिके लिए है कि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए है? इन तीनोंमें कोई फर्क नहीं, केवल शब्दोंका ही फर्क है। अत: 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।' आप अपने कर्म द्वारा परमेश्वरकी आराधना कीजिये आपको सिद्धि मिलेगी। सिद्धि मिलेगी अर्थात् आपका कर्म सफल होगा। आप जिस उद्देश्यसे काम कर रहे हैं, वह उद्देश्य पूरा होगा।

अद्भुत है गीताका यह प्रसंग। जिस ईश्वरकी आराधना करनेके लिए कहा जा रहा है, उसका स्वरूप क्या है? जो सबके हृदयोंमें बैठकर अन्तर्यामी रूपसे सबका संचालन कर रहा है, प्रवर्तक है, शास्ता है, वह परमेश्वर है, उसकी सेवा करो। और,'येन सर्वमिदं ततम्' जो सबके रूपमें प्रकट हो रहा है, जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही जो सबमें भरपूर है, उसकी सेवा करो। किससे उसकी सेवा करें? कौन-सा अक्षत चाहिए? कौन-सा फल चाहिए? कौन-सा शब्द चाहिए? कौन-सी क्रिया चाहिए? तो बोले कि ये सब कुछ नहीं चाहिए। जो कर रहे हो, उसीसे करो—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य।' आप कपड़ा बना रहे हो तो बनाओ परन्तु

सर्वात्मा परमात्माकी प्राप्तिके लिए बनाओ। आप लोहा बना रहे हो तो बनाओ, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए बनाओ। आप अन्न पैदा कर रहे हो तो करो, परन्तु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए पैदा करो। आपके सभी काम परमेश्वरकी आराधनाके साधन बन जायेंगे। कितने सौभाग्य और प्रसन्नताकी बात होगी कि हमें ईश्वरकी पूजाका अवसर मिले, सबकी सेवाका अवसर मिले और अन्त:करण-शुद्धिका अवसर मिले। यदि आप अपने कर्म और उद्देश्यके सम्बन्धमें पवित्रताकी भावना रखेंगे तो आपके मनमें वह काम करनेका उत्साह उत्पन्न होगा।

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

कर्मकी सफलता उत्साहमें निवास करती है। जितना-जितना आपके मनमें उत्साह होगा, उतना-उतना शौर्य-वीर्यका उदय होगा। आपके भीतर अनन्त बल, अनन्त शक्ति छिपी हुई है। यदि आप उत्साहसे अपने कर्तव्यका पालन करेंगे तो आपकी शक्ति बढ़ेगी, बल बढ़ेगा। यदि आप बेमनसे उदास होकर दीनतापूर्वक काम करेंगे तो आपका बल क्षीण होगा, शक्ति क्षीण होगी, उदासीनता आवेगी। इसलिए पूरे उत्साहसे ही काम करना चाहिए। उत्साहसे काम करनेपर उसमें अपना बल, अपनी शक्ति, अपना उपकरण, अपनी सामग्री पूरी तरहसे लग जाती है। जब शक्ति लगती है तब सत् लगता है, समझदारी लगती है तब चित् लगता है और जब उस कामके करनेमें आनन्दका अनुभव होता है तब हम दूसरोंको आनन्द देने लगते हैं। जो स्वयं उदास होकर मनहूसकी तरह काम करेगा उसके कामसे दूसरेको क्या मजा मिलेगा। क्या आनन्द आवेगा? अत: प्रसन्न रहकर, मुस्कराते हुए, आनन्द बिखेरते हुए काम करें। कर्म करते समय सबके साथ अभेद रखना चाहिए। भेदभाव कर्मको संकीर्ण बनाता है, आनन्द अपनेको तथा दूसरोंको आनन्दित करता है और समझदारी कर्मको सार्वाङ्गपूर्ण बनाती है। शक्ति कर्मको लक्ष्यकी ओर ढकेलती है और पूरी शक्ति तब लगती है, जब हमारे जीवनमें उत्साह हो।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

योगी लोग आत्मशुद्धिके लिए ही कर्म करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामचरितका वर्णन आत्मशुद्धिके लिए करते हैं—'निज गिरा पावन करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो। भागवतमें भी आया है—'गिरमन्याभिधासतीं सत्कर्तुम्।' दूसरोंका नाम लेते-लेते हमारी जीभ कुलटा हो गयी है, व्यभिचारिणी हो गयी है। अत: अन्यके अभिधानसे असती अपनी उस जीभकी पूजा करनेके लिए, उसको सती बनानेके लिए मैं श्रीकृष्ण चरित्रका गान कर रहा हूँ। लगता है गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपने उक्त कथनमें इसी उक्तिका आश्रय लिया है। तो हमारे कर्मका उद्देश्य क्या होना चाहिए? अपनी पवित्रता, आत्मशुद्धि, अन्त:करणकी निर्मलता, मनमें जो वासनाओंके, कामनाओंके मल लगे हुए हैं, उनका निवारण।

अब काम करनेका जो विभाग है, उसपर विचार कीजिये—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ 5.12

देखो, हम दो टूक बात कहते हैं। यदि तुम्हें अचल शान्ति प्राप्त करनी हो तो काम कैसे करना चाहिए, यह सीख लो। केवल सरकार ही जेलखानेमें नहीं डालती, हम स्वयं भी अपनेको जेलखानेमें, बन्धनमें डाल लेते हैं। अत: यदि बन्धनसे मुक्त होना हो तो काम करनेका ढंग हमें जानना चाहिए। वह ढंग क्या है ? यही कि युक्त होकर काम करना चाहिए। युक्तका अर्थ गीतामें युक्तिकी जानकारी रखनेवाला है। जागनेमें भी सावधानी चाहिए, सोनेमें भी सावधानी चाहिए। यदि आप ठीक समयसे जगेंगे नहीं और ठीक समयसे सोवेंगे नहीं तो आप काम भी ठीक नहीं कर सकते। भोजन ठीक नहीं करेंगे तब भी कर्म नहीं कर सकते। आपका पेट खाली है तब भी कर्म नहीं कर सकेंगे और पेट बहुत भर लेंगे तब भी काम नहीं कर सकेंगे। अत: कर्म करनेके लिए युक्ताहार-विहार होना आवश्यक है। कर्म करनेकी कुशलताका नाम योग है—'योग: कर्मसु कौशलम्।' जीवनको नियमित अथवा संयमित करनेपर कर्म अपने ढंगसे होने लगता है। भोजन इस युक्तिसे करें कि अपच न हो, आपकी प्रकृतिके विरुद्ध न हो। भागवतमें तो भोजनके लिए तीन बात बतायी है—'पथ्यं पूतमनायस्तम्।' भोजन ऐसा होना चाहिए कि वह शरीरके लिए पथ्य हो, मनके लिए पवित्र हो और अनायस्तम् अर्थात् उसको बनानेमें बहुत श्रम न करना पड़े। पहले कोई-कोई चीज ऐसे बनाते कि उसकी तैयारी करनेमें दो-दो, तीन-तीन दिन लग जाते थे और खानेमें केवल पाँच मिनट। कभी-कभी लोग कहते हैं कि महाराज केवल पाँच मिनटके लिए हमारे घर चले चलिये। किन्तु उनके घर पाँच मिनटके लिए जानेपर मार्गमें जो दो घण्टे लगते हैं उसको तो वे गिनते ही नहीं। तो भोजन करना पाँच मिनट और उसके लिए दिन खराब कर देना तीन—यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं। अत: भागवतकारने जो भोजनके लिए 'पथ्यं पूतमनायस्तम्'—ये तीन विशेषण दिये हैं उनके अनुसार भोजन करें तो आप अपना काम बिल्कुल ठीक कर सकते हैं।

अब 'विहार' शब्दको लीजिये। विहारसे आप स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध लीजिये या टहलना आदि लीजिये, सबमें युक्तता आवश्यकहै। एक दिन तो पाँच-दस मील चले गये और एक दिन पलंगपरसे उतरे ही नहीं ऐसा नहीं, बिल्कुल नियमसे विहार होना चाहिए—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

कर्मकी शक्ति रहते हुए कर्म छोड़ना ठीक नहीं। शक्ति रहते हुए कर्म छूटता भी नहीं। जिन लोगोंको कुर्सीपर बैठकर पाँव हिलानेकी आदत पड़ जाती है, वह भी जल्दी नहीं छूटती। वे बैठते हैं और अनजानेमें पाँव हिलाते रहते हैं। जिनको उँगली चलानेकी आदत पड़ जाती है, उनकी अँगुलियाँ असावधानीमें चलती रहती हैं। इसी तरह व्यर्थ शब्द बोलनेकी भी आदत होती है। गाँवोंमें कईलोग हर बातमें 'राम आसरेसे' बोलते हैं। इसको शायद तकियाकलाम कहते हैं। सुननेवालोंको इस आदतपर हँसी आती है। अत: इसके सम्बन्धमें भी कर्मकी चेष्टा बिल्कुल युक्तियुक्त होनी चाहिए। सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक करना चाहिए।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—इसका अर्थ है कि समयपर सोवें और समयसे जागें, तभी आप अपना काम

ठीक करेंगे। आप कर्मयोगको तभी ठीक कर सकेंगे, जब आपके जीवनमें कोई व्यवस्था आवेगी। जिसके जीवनमें अव्यवस्था होगी, वह अपना काम ठीक नहीं कर सकता।

अब यदि आप कर्मकी सूक्ष्मतामें प्रवेश करें तो प्रतीत होगा कि दूसरेका जो काम है, उसमें टाँग अड़ानेकी जरूरत नहीं। यदि हम अपना काम ठीक-ठीक करें और 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' को क्रियान्वित करते रहें तो दूसरे लोग भी अपना काम ठीक-ठीक करेंगे और सारे काम समुचित रूपसे होते रहेंगे।

'युक्त:कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्' का अर्थ है युक्त होकर काम करना। आचार्योंने 'युक्त' शब्दका अर्थ किया है ईश्वरार्पित। परन्तु युक्त शब्दका साधारण अर्थ आप ऐसा लें कि काम करते समय कभी-कभी कोई बात अपने मनके अनुकूल न हो तो क्रोध न करें। क्रोध आनेपर काम बिगड़ जाता है। इसको आप बहुत छोटे स्तरपर लीजिये। बड़े स्तरकी जो बात होती है, वह सिर्फ बड़े लोगोंके लिए होती है। अपनेको बहुत बड़ा न करके छोटी जगहसे बातको सीखना चाहिए। हमने देखा, एक बहुत बड़े वकील थे, बहुत अच्छी बहस कर रहे थे। सामनेके वकीलने जब देखा कि इनसे तो हम पार नहीं पावेंगे तो ऐसी बात कह दी कि अच्छी बहस करनेवाले वकीलको क्रोध आगया। और उनकी बहस बिगड़ गयी। जो कहना चाहिए था वह न कहकर वे क्रोधमें अण्ट-सण्ट बोलने लगे। बहसका असली मुद्दा छूट गया और वे सामनेवाले वकीलका तिरस्कार करते हुए यह कहने लगे कि 'इनको हम दस बरस पढ़ा सकते हैं।' अदालतने इस बातको नोट कर लिया। तो क्रोध करनेसे कर्म में योग नहीं रहता, मनुष्य अयुक्त अथवा अयोग्य हो जाता है। यदि किसी वस्तुकी प्रबल कामना आ जाय तो वह आपके मस्तिष्क पर छा जायेगी। आप वहाँ नहीं रहेंगे जहाँ काम कर रहें हैं, अपितु वहाँ पहुँच जायेंगे जिसकी कामना आपके मनमें है। आपका मन वहाँ रहना चाहिए, जहाँ आप काम करते हैं। यदि आपका मन वहाँ नहीं, तो आपका कर्म बिगड़ जायेगा, ठीक नहीं बनेगा। इसलिए—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

जो युक्त है, वह कर्मफल-त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त करता है। युक्त वह है, **जो काम** या क्रोधपर अपने कर्मको छोड़कर दूसरी जगह न चला जाये। जीवनमें चाहे जितनी आवश्यकताएँ **हों,** चाहे जितनी इच्छाएँ हों, चाहे जैसी परिस्थिति हो, परन्तु अपना काम पूरा करके ही छोड़ना चाहिए। **श्रीमद्भागवतमें** एक कथा आती है। जब वराह भगवान् धरतीको अपने दाढ़पर लेकर रसातलसे निकले तो हिरण्याक्ष सामने आ गया और उनको गाली देने लगा—'तुम सूअर हो, भगोड़े हो, तुम्हारे अन्दर कोई ताकत नहीं।' **अब** यदि पृथिवी निकालनेके पहले वराह भगवान् उसको जवाब देने लगते, बोलने लगते या उससे भिड़ जाते तो उनक काम पूरा नहीं होता। अत: उन्होंने उसकी बक-बकपर ध्यान नहीं दिया और अपना काम करते रहे। वे पृथिवीको लेकर आये, उसको पानीके ऊपर ठीक-ठीक जमा दिया। जब पृथिवी जम गयी, स्थापित हो

गयी, तब उन्होंने घूमकर हिरण्याक्षकी ओर देखा और कहा कि 'भाई, सत्य ही हम तो सूअर हैं, 'वनगोचरो मृग:'—पशु हैं और हम भाग रहे हैं—यह भी सही है। परन्तु अब आओ हम तुमसे दो-दो हाथ करते हैं।' यह बात शूकर भगवान्ने तब कही, जब जलपर पृथिवीकी स्थापना हो गयी, अन्यथा यदि पहले लड़ाई होती तो पानीमें करनी पड़ती। बहादुरी दिखानेका काम भी स्थान और परिस्थितिके अनुसार होता है। पहले अपना बल देख लो। शत्रुके बलको भी माप लो, परिस्थितिको समझ लो, अपने सहायकोंको देख लो। फिर आवश्यकता हो तो अपना बल प्रकट करो। जो केवल क्रोधके आवेगमें अपनी शक्ति-सामर्थ्यका विचार किये बिना ही किसी काममें कूद पड़ता है, उसका काम बिगड़ता है। तो युक्त:का अर्थ है काम-क्रोधके वशमें न हो।

'शक्नोतीहैव य: सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्'।

यह नियम मृत्युपर्यन्त रहना चाहिए। हम अन्ततक सावधान रहें कि काम-क्रोधके वशमें होकर कोई अनर्थ नहीं करेंगे। उनके आवेगको सह लेनेकी शक्ति अपने भीतर रहनी चाहिए। काशीमें प्रसिद्ध है, वहाँके एक साधु बदनाम मुहल्ला—दालमण्डीके पाससे रोज गंगा स्नान करने जाया करते थे। एक वेश्या सामने आकर खड़ी होती और पूछती कि 'महात्माजी पक्के हो?' साधु कुछ नहीं बोलते, सिर झुकाते और चुपचाप चले जाते थे। वेश्याने प्रतिदिन पूछनेका नियम कर लिया था और महात्माने उसको जवाब नहीं देनेका। जब महात्माजीकी मृत्यु हो गयी और उसी मार्गसे उनकी अर्थी निकली तब भी वेश्या आयी और बोली यह साधु हमारे प्रश्नका उत्तर दिये बिना मर गया। इसपर महात्माके मुर्देमें-से आवाज आयी कि—आज अपना उत्तर सुन लो, यह पक्का साधु है। इसे चमत्कार न समझकर इसका अभिप्राय समझना चाहिए। मनुष्यके मनमें विकार आते हैं, काम आता है, क्रोध आता है, लोभ आता है। ये मनुष्यको कहाँ छोड़ देंगे, इसका पता नहीं। इसलिए इनके वेगको सहनेका सामर्थ्य रहना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसीका नाम युक्त है और वही सुखी है—'स युक्त: स सुखी नर:।' युक्त होकर काम करो। यदि आप अच्छा काम कर रहे हैं तो नतीजा कब निकलेगा, कैसे निकलेगा, कहाँ निकलेगा—इसकी चिन्ता छोड़ दीजिये। यह नतीजाकी स्थिति परिस्थितिजन्य है, उसके लिए चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं। आप काम अच्छा कर रहे हैं कि नहीं—यह देखिये। निश्चय ही नतीजा अच्छा निकलेगा। एक बहुत मशहूर दोहा है—

चोरी करे निहाय की, करै सुई का दान।
ऊँचे चढ़िके देखिहैं, केतिक दूर विमान॥

बार-बार नतीजा देखना, हमारा काम नहीं। हमने निश्चय कर लिया कि यह काम पवित्र है, शुद्ध है हमारे उद्देश्यके अनुरूप है। प्रयोजन का विचार कर लेना चाहिए और कामना नहीं रखनी चाहिए। प्रयोजन और कामनामें बहुत फर्क है। यह नहीं कि चाहे जो काम करने लगे। यदि उचित काम कर रहे हैं, अपने कर्तव्यका पालन कर रहे हैं और अच्छे उद्देश्यसे कर रहें है, तो करते जाइए। उसके परिणामकी ओर, फलकी ओर बारम्बार देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं। आपको हँसीकी एक बात सुनाते हैं। हमारे एक मित्र जो ईश्वर

कृपासे अभी हैं, वे और हम दोनों एक साथ बैठकर गायत्रीका जप करते थे। वे मित्र अपने पास एक शीशा रखते थे। जब एक दो मालाका जप पूरा हो जाता तो शीशा उठाकर अपना चेहरा देखते कि उनके चेहरेपर कितनी रौनक बढ़ी? गायत्री मन्त्रका जप करनेसे रक्तसंचार ठीक-ठीक होता है और वह ऊर्ध्वमुखी होता है। जप करनेवालोंके चेहरेपर तेज भी आता है। परन्तु वह तेज हर मालाके अन्तमें देखा जाय यह तो आवश्यक नहीं। काम करके तुरन्त उसके फलपर दृष्टि डालना अनावश्यक है। अनादिकालसे अबतक तो संसारका भजन करते रहे, अब चार माला ईश्वरके लिए फिरा ली तो देखने लगे कि अभी तो भगवान् ही नहीं आये, अभी उनका सपना ही नहीं आया, अभी हमको दर्शन ही नहीं मिला। अरे भाई, धैर्य रक्खोगे और निष्ठापूर्वक भजन करते जाओगे, तब न उसका परिणाम निकलेगा! अत: जब हम कामनाके द्वारा—'कामकारेण' प्रेरित होते हैं तब फँस जाते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

एक बात यह भी ध्यान रखनेकी है कि मनमें काम आ जाये, क्रोध आ जाय तो यह नहीं समझना कि हमारा पतन हो गया, क्योंकि वह तो चिरकालसे अभ्यस्त है। मनमें क्रोध आ जाता है तो दिलमें जलन होती है और काम आता है तो दिल शरीरको फाड़कर बाहर निकलना चाहता है। काममें वातकी और क्रोधमें पित्तकी प्रधानता है। गोस्वमी तुलसीदासजीने ही लिखा है—

काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा॥

क्रोध पित्त है छातीको जलाता है। यदि यह मनमें आगया है और हमने इसे जानबूझकर बुलाया नहीं तो आकर चला जायगा। परन्तु उसके आनेके बाद उसका चेला बन जाना, उसका किंकर हो जाना, उसके इशारेपर नाचने लगना, यह हमारे लिए उचित नहीं। ईश्वरकी समग्र शक्ति हमारे साथ है, हम ईश्वरके अंश हैं, हम चाहें तो काम, क्रोधको क्रियान्वित होनेसे पहले ही रोक सकते हैं। 'शक्नोतीहैव'का अर्थ है कि काम-क्रोधके वेगको सहन करनेका सामर्थ्य होना चाहिए। इसके सहनकी कितनी ही युक्तियाँ होती हैं। चुप हो जाओ, हट जाओ, पानी पी लो, ऐसे अवसरके लिए अपने ऊपर पहलेसे ही जुर्माना करके रखो, भगवान्‌का नाम लो, कामनापूर्तिका आग्रह मत रखो, दूसरेके मनका भी आदर करो—आदि अनेक ऐसे उपाय है, जिनसे हम काम-क्रोधके क्रियान्वयनसे अपनेको बचा सकते हैं, उनके वेगको सह सकते हैं। यदि आप युक्त रहेंगे और मनोरथके साथ नाचेंगे नहीं, तो आपको नैष्ठिक शान्तिकी प्राप्ति होगी। गीतामें युक्त शब्दका अर्थ छोटा-मोटा नहीं, बहुत बड़ा है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

जब हम नि:स्पृह होकर अपने काममें लगे हैं तब दुनिया आवे जावे, हमें क्या चिन्ता है—'तू तो

राम भजो जग लड़वा दे।' जब-जब चित्त नियत होकर अपने हृदयमें ही स्थिर हो जाता है, कामनाकी गाड़ीपर चढ़कर बाहर नहीं दौड़ता तब इसका नाम युक्त हो जाता है। गीतामें सिद्ध पुरुषको भी युक्त कहते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

जैसे भोजनका प्रेमी भोजन करके तृप्त होता है, जैसी तृप्ति बढ़िया-से-बढ़िया प्रिय एवं स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेसे होती है, लोभीको धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है, जैसी तृप्ति स्त्री पुरुषोंके मिलनेमें होती है वैसी ही तृप्ति, सन्तोष और रति जिसको ज्ञान-विज्ञानमें हो, वह युक्त होता है। जिसको सत्यमें परिवर्तनकी कल्पना न हो और इन्द्रियाँ जिसके वशमें हों ऐसे योगीको युक्त कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्माकी विशेषता यह आती है कि उसके लिए मिट्टीका ढेला, पत्थरका टुकड़ा और सोनेकी सिल्ली समान है। जो बाहरकी वस्तुसे तृप्त नहीं, अपने आपमें तृप्त है, उसका नाम गीतामें युक्त है।

आप यह बात ध्यानमें रखें कि गीता बार-बार कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ बताती है—'कर्मयोगो विशिष्यते।' यदि आप यह प्रश्न उठावें कि समाधि लगाना श्रेष्ठ है या कर्म करना श्रेष्ठ है तो योगी कहेगा कि कर्म विक्षेप है—बहिर्मुखता है, समाधि लगाना श्रेष्ठ है। संन्यासी कहेगा कि कर्म करना विक्षेप है, कर्मत्याग श्रेष्ठ है। परन्तु गीता समाधिसे भी श्रेष्ठ कर्मको बताती है। आप छठे अध्यायमें देखिये—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।'

अपने मनको आत्मसंस्थ कर लो, आत्मामें मर जाने दो। संस्था शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें मृत्यु भी होता है। जैसे किसी मुर्देको कब्र या समाधिमें गाड़ देते हैं, ऐसे ही अपने मनको अपने अन्दर विलीन कर लो। फिर तुम्हें कोई चिन्ता नहीं रह जायेगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ 6.27

ब्रह्मभूत सुखकी प्राप्ति होती है। ठीक है किन्तु श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया कि यह तो योग है और इसको करनेवाला योगी है। आओ अर्जुन, अब हम तुमको परमायोगीकी पहचान करावें—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

देखा, न तो यह ध्यान कर रहा है, न धारणा कर रहा है और न समाधि लगा रहा है। यह तो देख रहा है दुनियाको, दूसरोंको देख रहा है, सुखको देख रहा है, दुःखको देख रहा है। सुखीको देख रहा है, दुःखीको देख रहा है। परन्तु 'आत्मौपम्येन पश्यति'—अपने समान ही सबको देख रहा है। हमको सुख होता है तो कैसा लगता है। हमको दुःख पसन्द नहीं, सुख पसन्द है। परन्तु सामनेवालेको जब सुख-दुःख होता है तब कैसा लगता है? धर्मका यह रहस्य है कि मनुष्य अपने सुख-दुःखके समान ही दूसरेके सुख-दुःखका भी अनुभव

करे 'न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मन:।' अर्थात् जो काम अपने लिए उलटा पड़ता है, वह दूसरेके लिए न करें। वह परमयोगी है, जो दूसरेके सुखको ध्यानमें रखकर काम करता है—जो दूसरेको दु:ख न पहुँचे, यह ध्यानमें रखकर कर्म करता है। 'आत्मौपम्येन'—जैसा अपनेको सुख-दु:ख होता है, अनुकूल होनेपर सुख होता है, प्रतिकूल होनेपर दु:ख होता है, वैसे ही दूसरेको भी होता है। परमयोगी लोगोंको चुन-चुनकर सुख पहुँचाने अथवा दु:खसे बचानेका प्रयास नहीं करता, अपितु उसकी दृष्टि सर्वत्र और समान रहती है। 'सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:।' अत: यदि समाधि लगानेवाला योगी है तो सबके सुख:दुखको अपना समझकर कर्म करनेवाला परमयोगी है।

भगवती गीताके अनुसार कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट है, कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और समाधि लगानेकी अपेक्षा समत्वपूर्वक कर्म करना श्रेष्ठ है। भगवद्गीता दोनों तरहसे बनता है। भगवता गीता भगवद्गीता। भगवान्‌ने जिसका गान किया वह भगवद्गीता। और जहाँ गीता साक्षात् भगवती है वहाँ भगवती गीता। लक्ष्मीजीको भगवान् कहाँ रखते हैं? अपने वक्ष:स्थलपर और गीताको कहाँ रखते हैं? आप लोग माहात्म्य तो पढ़ते ही होंगे। 'गीता में हृदयं पार्थ'—मेरा हृदय है।' तो गीता रहती है भगवान्‌के हृदयमें और लक्ष्मी रहती हैं भगवान्‌के वक्ष:स्थलपर। गीता भगवान्‌के आनन्दका संगीत है, प्रेमका संगीत है। वास्तवमें जो युद्धभूमिमें लड़नेवालेके सामने और दु:खोंसे सन्तप्त प्राणियोंके सामने समान रूपसे आनन्दका गीत गा सकता है, उसीके हृदयमें गीताका निवास है। भगवान् कहते हैं कि श्रीमद् भी मैं ही हूँ।

श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्। 10.41

यह श्रीमद्गीता भगवान्‌का अंश है, भगवान्‌का तेज है। अत: इसका आश्रय-ग्रहण सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

●

प्रवचन : 7

शान्ति कैसे मिलती है, इसपर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। गीतामें जीव स्वयं प्रयत्न करके शान्ति प्राप्त करें, यह बात कही गयी है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि ईश्वरकी शरणमें जाओ, उसकी कृपासे शान्ति मिलेगी। अर्जुन कहते हैं कि मुझे तो तुम्हारी कृपासे, तुम्हारे प्रसादसे, शान्ति मिलती है। इसप्रकार एक ही वस्तुको देखनेके लिए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं।

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा'—हम अपना कर्तव्य समझकर कर्म करते जायें। कर्म प्रयोजनीय अवश्य है, परन्तु उसके फलमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बिना प्रयोजनके मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता। तो इस कामसे किस प्रयोजनकी सिद्धि होगी—यह बात अवश्य ही ध्यानमें रख लेनेकी है। निष्काम, निष्कामकी रट लगानेवाले सोचते हैं कि निष्कामका अर्थ निष्प्रयोजन होता है। किन्तु यह ठीक नहीं। अमुक काम करनेसे हमारे अन्दर कौन-सी वृत्ति उत्पन्न होगी और वह हमें अभीष्ट होगी कि नहीं यह विचार अनिवार्य है। कर्म करनेसे वस्तु मिले या न मिले—यह बात दूसरी है; परन्तु कर्ताके अन्तःकरणमें फलवृत्तिका उदय अवश्य होगा। प्रश्न यह है कि आप कैसी फलवृत्ति चाहते है? घृणा चाहते हैं? आलस्य चाहते है? प्रमाद चाहते हैं? द्वेष चाहते है? ऐसा तो कोई नहीं चाहता। हमारी स्वाभाविक चाह आनन्दकी उपलब्धि है और उसीके लिए प्रयोजनका विचार अपेक्षित है। प्रयोजन वह होता है जो कर्म करनेके बाद कर्ताके अन्तःकरणमें चिपक जाता है। शुद्ध प्रयोजनका स्वरूप ऐसा है कि 'अवगतं सद् आत्मनि इष्यते'—उसका ज्ञान होते ही आकांक्षा होती है कि बस, अब यह हमारे साथ ही रहे। निष्कामका अर्थ क्या है? आप निष्काम भावसे भगवान्‌के सामने खड़े हो जाइये और 'पापोऽहम्' कहिये। यह भगवान्‌के ही सामने कहिये, दुनियामें और किसीके सामने बोलनेकी जरूरत नहीं। अब विचार कीजिये कि इस प्रार्थनाका यही फल है कि हमने तुम्हारे सारे पाप माफ कर दिये। भगवान् बोलें या न बोलें—यह पापोऽहम्‌का प्रयोजन नहीं। प्रयोजन यह है कि आप भगवान्‌के सामने जिस विश्वाससे पापोऽहम् पापकर्माऽहम् बोल रहे हैं, उसी विश्वासके साथ आपके अन्तःकरणमें इस वृत्तिका उदय हो उसी विश्वासमें-से इस वृत्तिका अङ्कुर निकले कि निष्पापोऽहम्। यही प्रतीकोपासनाका फल, अहंग्रहोपासना है। आपने ईश्वरके सामने हाथ जोड़ लिया और आपके भीतरसे यह भाव निकला कि मैं निष्पाप हो गया। पापोऽहम् बोलता है जीव और बोलवाता है उसके भीतर बैठा हुआ ईश्वर। इसका फल यही है कि हम निष्पाप हो गये और इस फलको कोई त्याग नहीं सकता। अतः पापोऽहम् कहनेसे इस प्रयोजनकी सिद्धि हो गयी कि निष्पापोऽहम्‌का भाव आपके साथ जुड़ गया। हमने ईश्वरके सामने अपना पाप स्वीकार किया, अपनेको पापी माना और इसके बाद हमारा पाप मिट गया। अब देखिये कि पापोऽहम् बोलना निष्काम है या निष्प्रयोजन? निष्काम इस अर्थमें है कि इससे हम भगवान्‌से और कुछ नहीं चाहते परन्तु इसमें यह प्रयोजन तो है ही कि हमारे मनमें जो पापवासना है वह निवृत्त हो जाये, इसलिए यदि विचार करके कर्म किया जाये तो प्रयोजन की सिद्धि निश्चित रूपसे होती है। प्रयोजनकी सिद्धिमें कभी बाधा नहीं पड़ती।

कर्म अपना काम करता ही है, चाहे आप मानो चाहे मत मानो। किसीकी हिंसा करनेपर मैंने बुरा किया, यह वृत्ति आपके मनमें उठेगी ही। इसी प्रकार किसीको पानी पिलानेसे आपके मनमें खुशी होगी। यदि कहो कि हमने निष्काम भावसे पानी पिलाया है तो ठीक है, परन्तु पिलानेके बाद आपके मनमें जो खुशी होगी वह क्या है? क्या उसे आप रोक सकते हैं? यह कर्मका नियम है। इसको थोड़ी सूक्ष्मतामें समझना पड़ता है। सब पदार्थोंका स्तर बाहर ही नहीं होता, उनका स्तर भीतर भी होता है तथा आध्यात्मिक दृष्टिसे उसके लाभ और हानिको जाँचना पड़ता है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। 5.12
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। 18.62

ईश्वरकी शरणमें जानेपर कर्म समाप्त नहीं होता। यही होता है कि पहले तुम अपने बोझसे काम कर रहे थे, अब वह तुम्हारे लिए सहज हो जाता है। हमलोग प्राणायाम करते है—उनमें भस्त्रिका करते हैं, उज्जायी करते हैं, पूरक, रेचक, कुम्भक, अथवा कुछ भी करते हैं। किन्तु हम साँस ले रहे हैं और साँस छोड़ रहे हैं यह अभिमान होता है। कभी अभिनय अथवा नाटक करना हो कि हम तो थक गये तो उस समय भी साँस फुलानेकी क्रिया करनी पड़ती है। लेकिन सहज साँसका स्वरूप क्या है? यही है कि उसमें जान-बूझकर साँस लेने अथवा छोड़नेका अभिमान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। तो—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'। हमारे जीवनमें जैसे सहज भावसे साँस आ रही है, वैसे ही सहज भावसे कर्म भी होते है। यदि आप कुछ पानेके लिए कर्म करेंगे तो आपको बनावटी कर्म करने पड़ेंगे, प्राणायाम अथवा अभिनय करेंगे। तो जान-बूझकर कर्म करने पड़ेंगे। परन्तु स्वाभाविक कर्म तो सहज भावसे ही होते हैं। इसलिए कर्म फलपर दृष्टि न रखकर सहज भावसे होने देना चाहिए। तभी आपको शान्ति मिलेगी। शान्ति भी बनावटी होती है। कई लोग शान्तिको साध्य वस्तु समझते हैं। आज यह मिला तो इससे शान्ति मिली। कई लोग वस्तु छोड़कर शान्ति पाते हैं और कहते हैं कि अमुक चीज छूट गयी तो बड़ी शान्ति मिली। अपनी शान्तिको बाहरकी वस्तुके पराधीन कर देना ठीक नहीं। एक साधु थे। वे जिस दिन खीर खाते थे, कहते थे कि बस आज बड़ी शान्ति है। खीर न मिले तो अशान्ति हो जाती थी। उनकी शान्ति खीरकी गुलाम थी। आपकी आँख कहीं फँस जाये और आप यह अनुभव करने लगे कि वह दिखायी देगा तो शान्ति मिलेगी, अन्यथा अशान्ति रहेगी तो आपने अपनी अशान्तिको उस वस्तुके पराधीन बना दिया। शान्ति तो स्वाधीन होनी चाहिए। जो शान्ति कुछ करके, कुछ भोगके या किसी संग-साथसे मिलेगी वह थोड़ी देरके लिए मिलेगी। इसलिए साधक लोग थोड़ी-थोड़ी देरके लिए मिलनेवाली शान्ति नहीं चाहते। साधकोंको तो स्थिर शान्ति चाहिए। स्थिर शान्ति युक्त-पुरुषोंको ही प्राप्त होती हैं। युक्तके लक्षण पहले बताये जा चुके हैं। हम आपको पुनः यह बताना चाहते हैं कि गीतामें युक्त-पुरुषके जो लक्षण बताये गये हैं वे बड़े उच्चकोटिके हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 4.18

युक्त वह है जो कृत्स्नकर्मकृत् है—सारे काम करता है और योगी है। कहा—ठीक है कि योगी होगा, किन्तु बुद्धि ठीक काम नहीं करती होगी। बोले कि नहीं बुद्धिमान् भी है। काम भी कर रहा है, उसकी बुद्धि भी जाग्रत है और वह योगी भी है। क्योंकि उसके द्वारा जो कर्म हो रहे हैं, उसमें उसका मैं नहीं। नींदको पकड़कर रखनेवाला मैं नहीं होता और सपना बुलानेवाला भी मैं नहीं होता। इन दो अवस्थाओंका तो प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। अगर सपना बुलाना हमारे हाथमें होता तो हम बुरे सपने कभी नहीं बुलाते। यदि नींदको पकड़कर रखना अपने वशमें होता तो अनिद्राका रोग ही नहीं होता। नींद आती है, और जाती है, सपने आते हैं और जाते हैं। अच्छा, जाग्रतमें भी आप क्या बिल्कुल स्वतन्त्र हैं? स्वतन्त्रतापर थोड़ा ध्यान दीजिये। क्या आप दु:ख चाहते हैं? नहीं चाहते। दु:ख आवे तो परहेज करते हैं? करते हैं। फिर यह प्रयत्न करनेपर भी दु:ख न आवे, वह क्यों आता है? निश्चय ही उसके पीछे कोई कारण है जिसपर आपका वश नहीं, अत: 'अहं करोमीति वृथाभिमान:।' मैं करता हूँ—यह अभिमान बिल्कुल झूठा है।

तो, यदि नैष्ठिक शान्ति, स्थिर शान्ति, अचल शान्ति प्राप्त करना हो तो कर्म करते रहें। उसको छोड़ें नहीं। परन्तु कर्म करते समय बुद्धिको भी न छोड़ें। यदि आप कर्म न करें और बुद्धि छोड़ दें तब भी अन्याय करेंगे अपने साथ। चाहे किसी भी मार्गमें चलना हो, बुद्धिका परित्याग नहीं करना चाहिए—

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।

बुद्धिकी शरण लो और समझ-बूझकर काम करो। कर्म करनेमें एक तो पूरा उत्साह चाहिए, दूसरे बिना कंजूसीके अपना सारा बल लगाना। बल सत्तामें-से, अस्तित्वमें-से आता है, समझदारी अपने चित्तसे आती है। स्वाद लेते हुए काम करें। बोझ समझकर, दु:ख समझकर, काम न करें। सत्-चित्-आनन्द तीनों आपका स्वरूप है। आपके हाथसे जो रचना रची जाये, जो काम किया जाये, उसमें भी सत् हो, चित् हो, आनन्द हो। अपने आपको, अपने कर्ममें निमग्न करके, युक्त होकर कर्म कीजिये। आपको तभी शान्ति मिलेगी।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

यदि कहें कि हम कुछ नहीं करेंगे, हाथ-पाँव बाँधकर बैठे रहेंगे, तो यह सम्भव नहीं। कभी-कभी आदमीको बहम होता है कि मैं कुछ नहीं करता, आसन बाँधना क्या कर्म नहीं? आपने अपने पाँवको समेटा तभी तो आसन बँधा। हाथको गोदमें रखकर बैठें या फैलाकर, यह भी तो काम है। आप तनकर बैठते हैं, पीठकी रीढ़ सीधी करते हैं, सिर ऊपरको करते हैं, ये सब कर्म है कि नहीं? तात्पर्य यह है कि जिस समय आप समझते है कि मैं काम छोड़कर बैठा हूँ उस समय भी काम करते होते हैं। इसीलिए जिस समय आप काम करते होते हैं, किन्तु आपमें उसका अभिमान नहीं होता तो उस समय भी आप कर्मसे मुक्त होते हैं। युक्तकी सबसे उत्तम परिभाषा यह है कि कर्म करते हुए भी उसमें कर्मका अभिमान नहीं होता। कर्म छोड़ना इसलिए कर्म है कि उसको छोड़नेमें साफ मालूम पड़ता है कि छोड़नेकी क्रिया मैंने की है। अत: कर्म भी नहीं छूटे, बुद्धि भी नहीं छूटे, और अभिमान-रहित अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कर्म करें। यही कर्म करनेकी रीति

है। यदि आप इस रीतिके विपरीत कर्म करेंगे तो वह आपको बाँध लेगा, फँसा लेगा—'अयुक्त: कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।' भगवान्‌को अयुक्त पसन्द नहीं। वे निन्दा करते हैं अयुक्तकी—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

जो युक्तिपूर्वक उचित युक्त जीवन नहीं व्यतीत करता उसे शान्ति नहीं मिल सकती। युक्तिः यस्य अस्ति इति युक्तः इसको मत्वर्थीय प्रत्यय बोलते हैं। युक्त अर्थात् युक्तिवाला, युक्तिमान्। ऐसी युक्तिसे काम करो कि उसमें जो बुराई होती है, वह तुम्हें छू न सके। बुराईसे बचकर काम करो। यदि आप असावधानीसे काम करेंगे, अधिक सोते या अधिक जागते रहे तो कर्तव्यमें बाधा अवश्य पड़ेगी। जो रात-दिन भोग-विलासमें, खेलकूदमें, जुयेमें लग रहते हैं वे युक्त होकर काम नहीं कर सकते। दुर्भाग्यवश आजकल बड़े ऊँचे तबकोंमें बड़े ऊँचे स्तरपर ये सब काम हो रहे हैं। 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' जिसके जीवनमें सोनेका, जागनेका, खानेका, काम करनेका कोई नियम नहीं, आहार-विहारका कोई समय नही, वह अपनेको बुद्धिमान् मानता है। वेवकूफीको ही बुद्धिमानी मानता है। परन्तु क्या प्रमादीमें कहीं बुद्धि हो सकती है? जब सूर्योदय होता है, तब उनका सायंकाल होता है। वे प्रकृतिके विरूद्ध आचरण करते हैं। अरे भाई, जरा सोचो तो सूर्यदेवता-प्रकाशदेवताका आदर नहीं करते हो? तुम प्रकाश-देवताका आदर नहीं करते तो तुम ज्ञान देनेवाले देवताका भी आदर नहीं करोगे तो तुम्हारे भीतर जो परमेश्वर बैठा हुआ है, उसका भी अनादर हो जायेगा। ज्ञान देनेवाला तुम्हारे भीतर बैठा है। वह इतना उदार है कि तुम्हारे न देखनेपर भी तुम्हें ज्ञान देता रहता है। इसलिए उसके आगमनपर तुम्हारा सोते रहना, तुम्हारी बुद्धिमत्ताका परिचायक नहीं।

यदि यह कहा जाये कि जिसके पास बुद्धि न हो, वह क्या करे? तो उसे श्रद्धासे, विश्वाससे काम करना चाहिए। जो बुद्धिमान् लोग हैं, उनके पीछे चलना चाहिए। अपनी बुद्धि काम न करे तो भावनासे काम लें। बुद्धि और भावनामें फर्क होता है। बुद्धि यह तत्काल ग्रहण कर सकती है कि क्या उचित है, क्या अनुचित है और भावना गृहीत विषयमें होती है। मूर्तिमें परमात्माको देखा जा सकता है बुद्धिसे, और भावना की जा सकती है विश्वाससे। दुनियामें ऐसा कोई मत-मजहब नहीं, जो मूर्तिको परमात्माके रूपमें देखता हो। जो लोग देखते हैं, वे केवल प्रतीक रूपमें देखते हैं, श्रद्धासे देखते हैं या परमेश्वरकी उपासना करनेके लिए छोटे-मोटे प्रतीकके रूपमें देखते हैं। अपने यहाँ जो मूर्ति है वह उपादानका ही एक रूप है। जैसे मिट्टी ही मिट्टीका खिलौना है, वैसे ही जगत्‌का मूल उपादान साक्षात् परमात्मा ही मूर्तिके रूपमें हैं। पीपलका पेड़, एक वैज्ञानिकको दृष्टिमें उसके शोधके अनुसार अमुक-अमुक तत्त्वोंका केन्द्र है। किन्तु भावुक भक्तके लिए साक्षात् वासुदेव है। एक जीवन्मुक्त महापुरुषकी दृष्टिमें जैसा उसका अपना शरीर है वैसा ही पीपलका पेड़ है। उसके लिए पीपलका पेड़ अपने आत्माका ही स्वरूप है। ब्रह्मज्ञानी तो सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चको साक्षात् अपरोक्ष अनुभव करता है कि वह उसके आत्माका ही स्वरूप है।

यदि आप सोने-जागने, खाने-पीने, सोचने-विचारनेमें अयुक्त हो जाओगे तो न बुद्धि न रहेगी और न

भावना। फिर वह कितना रूखा-सूखा जीवन होगा। जिस जीवनमें बुद्धि नहीं, वह अन्धकारमय है और जिस जीवनमें भावना नहीं वह रूक्ष है। आध्यात्मिक साधना केवल बाहर के व्यक्तियोंको खुश करनेके लिए नहीं, यह तो अपने भीतर महती शान्तिका अनुभव करनेके लिए है। जो सावधान नही, प्रमादी हैं वे अयुक्तः कामकारेण अपने स्वच्छन्द मनके अनुसार आचरण करते हैं। उनके मनमें कब क्या आ जायेगा, इसका कुछ ठीक नहीं। उसके कितने संस्कार है, कितने सपने हैं, कितनी कल्पनाएँ हैं, उनके मनके भीतर कब क्या फुरफुरा जायेगा और उन्हें किस रास्तेपर चलनेको कह देगा—इसका पता नहीं। इसलिए मनमें एक प्रकारकी युक्ति होनी चाहिए। और 'कामकार' नहीं होना चाहिए।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

मनुष्यको मनमें जो आया वही नहीं करना चाहिए, अपितु उसे युक्तियुक्त कर्म ही करना चाहिए और कामके अधीन नहीं होना चाहिए। भगवानको आसक्ति पसन्द नहीं। वे कहते हैं—'फले सक्तो निबध्यते'—जो फलमें आसक्त हो जाता है, वह बँध जाता है। बँधना दूसरेके साथ ही होता है। हम लोगों ने उड़िया बाबाजी महाराजसे एक साधुके बारेमें यह कहा कि यदि ये दूध न पीयें तो इनका पेट साफ नहीं होता। तो बाबाने उत्तर दिया कि यह तो जेबी साधु बनेगा। जो दूध पिलावेगा, उसकी पाकेट में रहेगा। यह पराधीन हो जायेगा। और, सचमुच वह साधु एक सेठके घरमें परतन्त्र हो गया। दोनों समय सेर-सेर भर दूध पीये, तब उसका पेट साफ हो। सेठका सिद्धान्त ही उसका अपना सिद्धान्त बन गया। उसको पराधीन होकर जीवन व्यतीत करना पड़ा। जो नशइल लोग होते हैं, वे इस तरहकी पराधीनता अपने जीवनमें स्वीकार करते हैं। यह चीज नहीं मिलेगी तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे, यह खानेको नहीं मिलेगा तो जिन्दा नहीं रहेंगे—यह आदमी नहीं मिलेगा तो हम जिन्दा नहीं रहेंगे—इस तरहके अभ्यासजन्य सुखको भी आसक्ति बताया जाता है। जिनको यह अभ्यास हो जाता है कि हमको यह करना है, वह करना है—वे यदि न करें तो बहुत दु:खी होते हैं। अपने चित्तमें कहीं भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके अंश हो, तुम सच्चिदानन्दघनके स्वरूप हो। तुम्हें संसारमें कहीं भी आसक्त होकर हीन नहीं बनना चाहिए। यदि आपको आसक्ति करनी ही हैं तो भगवान्से कीजिये। गोस्वामी तुलसीदासजीने कैसा बढ़िया कहा कि अगर आपको याचना करनी है तो केवल भगवान्से याचना कीजिये—

जग जाचिये कोऊ ना जाचिये तो जग जानकी जीवन नाहरे।
जिय जाचिय जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाये जो जारत जोर जहानहि रे॥

दुनियामें किसीसे कुछ मत माँगिये। अगर माँगना हो तो केवल जानकीनाथ भगवान् रामचन्द्रसे माँगिये; क्योंकि उनसे याचना करनेके बाद याचना करने की वृत्ति जल जाती है और संसारका जो जोर है वह नष्ट हो जाता है। तो भाई, आसक्ति अगर करनी ही हो तो उसके पेटमें भगवान्को आने दो। सबसे पहली बात तो यह कि अपने जीवनमें आसक्ति हो ही नहीं और यदि हो तो परमात्मासे हो। अब उसके आगे नम्बर नीचे उतारना

हो तो आसक्ति सद्गुणोंमें कीजिये; हालांकि वे भी दु:ख देते हैं। आसक्ति सत्कर्मों में कीजिये, सत्पुरुषोंमें कीजिये। आसक्तिको औषध बनाकर सेवन कीजिये। आसक्ति नित्यका भोजन नहीं, औषध है। सत्कर्मसे, सत्पुरुषसे, सद्भावसे और सद्गुण आदिसे जो आसक्ति होती है वह औषधरूप है। किन्तु यह भी नित्य नहीं। जहाँ आसक्ति होगी, वहाँ दु:ख तो होगा ही। हम देखते है कि जो लोग सत्पुरुषोंसे आसक्ति करते हैं, वे उनके मर जानेपर कितना रोते हैं। यह भी देखते हैं कि जिन लोगोंकी सत्कर्मोंमें आसक्ति होती हैं, उनसे एक दिन सत्कर्म छूट जायें तो उन्हें कितना रोना पड़ता है। आसक्ति असलमें रोगकी दवा तो हैं, परन्तु वह जीवनका सहज स्वरूप नहीं। इसलिए जो जिससे आसक्ति करेगा वह उससे बाँध जायेगा और उसे वहाँ जाना पड़ेगा जहाँ वह मिलेगा। गीतामें कर्म करनेका सबसे बढ़िया ढंग बताया है—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।

इसमें जो 'वशी' शब्द है वह हिन्दीमें दूसरी तरहसे चलता है। वशी उसे कहते हैं जो आत्मवश हो, जिसका जीवन उसके अधीन हो, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब कुछ उसके अधिकारमें हो। एक बड़े धनी हैं। उनको मोटर चलाना नहीं आता। ऐसे तो और भी बहुत होंगे। जब वे घरमें-से, आफिसमें-से निकलते हैं और कभी ड्राइवर नहीं मिलता तो छटपटाने लगते हैं। जल्दी पहुँचनेके लिए ड्राइवरपर लाल-पीले होने लगते हैं। क्योंकि वे पराधीन हैं, उन्हें ड्राइवर लेकर जायेगा तभी जा पायेंगे।

इसीलिए मनुजीने कहा स्ववशता—स्वाधीनता सुख है और पराधीनता-परवशता दु:ख है—'सर्वं परवशं दु:खं सर्वमात्मवशं सुखम्।' तो मनुष्यको वशी रहना चाहिए। वशी शब्दका अर्थ स्वतन्त्र है। अपने मनको, अपनी इन्द्रियोंको, अपने जीवनको वशमें रखकर चलना चाहिए। यदि कहो कि कर्मोंका क्या करें, तो इसका उत्तर है कि 'मनसा संन्यस्तं' अर्थात् मनसे सब छूटा हुआ हो और देखनेमें सब हो रहा हो।

रातके बाद, विश्रामके बाद, प्रात:काल नींद टूटनेपर, बुद्धि ताजी रहती है और मन भी ताजा रहता है। मनुजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्मार्थावनुचिन्तयेत्।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धन और धर्मका चिन्तन करना चाहिए। आज क्या व्यापार करना है, क्या नहीं करना और 'कायक्लेशांश्च'—हमारे शरीरमें क्या तकलीफ होती है तथा क्या खाने और क्या करनेसे नहीं होती, यह बात सबेरे सोच लेना चाहिए। इसी तरह आज हमको क्या अर्थ करना है और कौन अच्छे-अच्छे काम करने हैं—यह सब भी प्रात:काल सोच लेना चाहिए। अच्छा काम करना, शरीरके अनुकूल भोजन करना, रोगके दु:खके हेतुओंसे परहेज करना और आरोग्यके साधनोंको सेवन करना, सकाम भाव नहीं। शरीर ठीक रहने पर सबका सब ठीक रहेगा—

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।'

मनुष्यका वशी होना आवश्यक है। केवल माला फेरनेका नाम सर्वोत्तम जीवन नहीं। आप लोग बुरा मत मानना। माला फेरनेवाले अवश्य फेरें। बहुत अच्छा है माला फेरना। कपड़े भी अंट संट पहनते हों तो पहनें

किन्तु एक आध्यात्मिक नागरिकका जो स्वरूप होता है, उसका विस्मरण नहीं होना चाहिए। शान्त-चित्तसे बैठें और जो काम होना है, उसको मनमें डालें तथा मनको परमात्माकी प्रेरणामें डाल दें। अर्थात् कर्त्तव्यको मनमें मनको परमात्मामें न्यस्त कर दें। न्यस्त शब्दका मूल अर्थ धरोहर रखना होता है। आजकल ट्रस्टोंका नाम न्यास रखते हैं। कबीरदास इसे छोड़ देने, रख देनेके अर्थमें बोलते हैं—

दास कबीर जतन सों ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया।

मतलब यह है कि जीवनका भार अपने ऊपर न लेकर जब परमात्मापर छोड़ देंगे तो वह बहुत बढ़िया चलेगा और आपको सन्तोष होगा कि आपने अपना जीवन सक्त हाथोंमें समर्पित कर दिया है। 'मनसा संन्यस्य'—अर्थात् मनके साथ-साथ अपने समग्र जीवनको परमात्मामें रख दो और मनसे, संकल्पसे जीवनके जो बोझ हैं, उनसे अपनेको छुड़ा लो। फिर जो सहज भावसे होता है होने दो।

यह छर भार तासु तुलसी जग जाको दास कहैं।

तुलसीदासजी कहते हैं कि यह क्षर-भार, यह नाशवान् वस्तुओंकी पोटली, मरने मिटनेवाली वस्तुओंका बोझ हम अपने सिरपर लादकर चलते हैं? नहीं जी, यह भार तो उसपर है, जिसके हम सेवक हैं, दास हैं और जो हमारा परमेश्वर है। एक होती है आध्यात्मिक दृष्टि, दूसरी आधिदैविक दृष्टि और तीसरी आधिभौतिक दृष्टि। प्रकृति भी आध्यात्मिक है, आधिभौतिक नहीं। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। परमेश्वरकी शरणमें होना आधिदैविक है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदृष्टिसे भाव विनिर्मुक्त हो जाना आध्यात्मिक है। प्रकृति बनावटी नहीं, सच्ची होनी चाहिए। हम लोग अपनी आदत बिगाड़कर काम करते हैं और कहते हैं कि यह तो हमारा नेचर है, प्रकृति है। न्यक्चर—बिगाड़ी हुई आदतका नाम प्रकृति नहीं होता। शरीरका नाम प्रकृति नहीं, इन्द्रियोंका नाम प्रकृति नहीं। ये तो प्रकृतिके विकार हैं। मनका नाम भी प्रकृति नहीं, यह भी प्रकृतिका विकार है। प्रकृति माने जगत्का सहज अवस्थान। जो अन्तःकरणसे भी सूक्ष्म है, उसको आध्यात्मिक नहीं कहेंगे तो आधिभौतिक कैसे कहेंगे? प्रकृति तो शरीरके मूल कारण रूपमें, जहाँ ईश्वर है, वहाँ साक्षी है। प्रकृतिसे जो कर्म होता है, वह सहज है और ईश्वरसे जो कर्म होता है वह हमारे लिए वरदान है। जो कर्म अपने सहज स्वरूपमें है, उसका तो कोई बोझ ही नहीं। 'मनसा संन्यस्य' का अर्थ है कि पहले इसको आप समझ लीजिये और इससे परे होकर खूब आनन्दसे रहिये। दुनियामें दुःख कहीं नहीं। जितने दुःख प्रतीत होते हैं, सब अपने मनके बनाये हुए हैं। आपने कई चीज ऐसी पकड़ रखी हैं जो आपको दुःख दे रही हैं। गरीब लोग सोचते हैं कि इतना पैदा हो, तब हम सुखी होंगे। हमको ऐसा-ऐसा खाना मिलेगा, तब सुखी होंगे। हम दुःखके समाचार अखबारोंमें पढ़ते हैं, लोगोंसे सुनते हैं और कभी-कभी वह हमारे मनमें भी आ जाता है। लेकिन जब हम गम्भीरतासे विचार करते हैं तब देखते हैं कि दुःख कितना निराधार है। बहुधा लोग रोते हैं कि हमें खानेको ठीक नहीं मिल रहा है। अरे भाई, खाते नहीं तो जीवित कैसे हो? नहीं महाराज, पहले गेहूँकी रोटी खाते थे अब बेझरकी रोटी खानी पड़ती है। इसी तरह कइयोंको यह दुःख होता है कि हम टेरीकाट पहनना चाहते हैं और पहननेको

गाढ़ा मिल रहा है। ऐसे लोग खाने-पहननेके बिना दु:खी नहीं होते, परन्तु गेहूँकी रोटी और घी-छाछके लिए दु:खी होते हैं। असलमें दु:ख न तो शरीरसे होता है और न वस्तुसे होता है। अपितु हमारे मनमें जो यह नहीं वहका, ऐसा नहीं वैसाका आग्रह-दुराग्रह बैठ गया है, यही दु:खका हेतु है। हमने स्वयं दु:खको अपने पास बुला लिया और सुखको अपनेसे बहुत दूर कर दिया है। सुख-दु:खकी जो कल्पना है, वह हमारी ही पैदा की हुई है। वृन्दावनमें हमारे पास एक पण्डितजी थे। पुस्तकालयकी देखभाल किया करते थे। नाम था पण्डित तुलसीराम जी। उनको उन दिनों तीस रुपये मिला करते थे। उसीमें वे अपना और अपनी पूत्रवधूका गुजारा करते थे। साग कभी नहीं बनाते थे। जिस दिन चावल बनाते उस दिन रोटी नहीं और जिस दिन रोटी बनाते उस दिन चावल नहीं। खिचड़ी या दाल पकाते तो उसीमें आटेको गोल-गोल करके डाल देते और मौजसे खा लेते। लेकिन जब हम कभी उनको दो आलू या दो टमाटर दे देते, वे खुशीसे नाचने लगते और कहते कि आज भगवान्‌की कितनी कृपा है कि आज हम दालमें टमाटर या आलू डालकर भोजन बनावेंगे। हम ऐसे लोगोंको भी जानते हैं, जिनको दो लाख मिल जाये तो कहेंगे कि ओहो चार लाख मिलना चाहिए था। यह तो बड़ा भारी घाटा हो गया। क्या यह दु:ख है ? भगवान्‌ने आँख दी, नाक दी, जीभ दी, कान दिये, दिल दिया, दिमाग दिया, ऐसा शरीर दिया, ऐसा मन दिया, ऐसी बुद्धि दी—इसको पानेपर यदि सन्तोष नहीं तो फिर कैसे सन्तोष होगा। तो जो वशी पुरुष होता है, अपनेको वशमें रखकर, नियन्त्रित रखकर रहता है, वह—'सुखमास्ते सुखं भुंक्ते, सुखमायाति सुखं याति च'—वह सुखसे रहता है, सुखसे खाता है, सुखसे आता है, सुखसे जाता है।

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्।

यह शरीर भी एक गाँव है, पुर है और इसके भी दरवाजे हैं। इसमें रहकर 'नैव कुर्वन् न कारयन्' होना है। इसमें किसीके ऊपर कोई बोझ नहीं। यदि आप अपने स्वरूपका ठीक-ठीक विचार करके देखें तो जैसे प्रकृतिमें सूर्योदय एवं सूर्यास्त होता है, चन्द्रोदय और चन्द्रास्त होता है और जैसे शरीरमें चेतना आती है और समयपर चली जाती है, वैसे ही सब काम बिल्कुल सहज भावसे हो रहे हैं। जब हम ईश्वरके काममें नुक्ताचीनी करते हैं कि ऐसे नहीं, वैसे होना चाहिए तब हमें दु:ख होता है। जो ईश्वरकी ओरसे आ रहा है उसको स्वीकार करते चलें और अपनी ओरसे जो काम करते हैं उसमें थोड़ा सावधान रहें; जानबूझकर दूसरोंको तकलीफ न पहुँचावें तो दु:खी होनेका कोई कारण नहीं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

इसमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हमारे जीवनमें जो कर्म हो रहे हैं, वे न तो मुझको कर्ता बनाते हैं

और न उनका मुझसे कोई लेप है। मुझे कर्मफल मिले—ऐसी स्पृहा नहीं। मैं तो कर्मके लिए कर्म करता हूँ। भगवान्‌के इस कथनका तात्पर्य हमारे लिए यह है कि हम जिन कर्मोंको अच्छा समझते हैं, लोकोपकारी समझते हैं, उन्हें करते हैं। जब हम कर्म किये बिना रह नहीं सकते तो जो अच्छे काम हैं उन्हें करना हमारा धर्म है। हमारे कर्मका फल हमको मिले या न मिले अथवा अन्य किसीको मिले—इससे हमारा कोई लेनदेन नहीं। हम रास्तेपर झाड़ू लगाते हैं, उसका लाभ हमारे दुश्मनको मिले तो क्या है? हमारा दुश्मन उस रास्तेपर चलेगा और उसको आराम मिलेगा, तो हमारे लिए और भी आनन्दकी बात है। हमें तो इस बातका सन्तोष है कि हमने अच्छा काम किया। कर्मफलमें हमारी कोई स्पृहा नहीं। हमने बाँसुरी बजायी, उसकी ध्वनि सुनकर हमारा दुश्मन खुश होगा कि हमारा दोस्त खुश होगा, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो इससे है कि हमने अपनी बाँसुरीके द्वारा संसारमें सुखका संचार करके अपने कर्त्तव्यका पालन किया। कर्मफलमें कोई स्पृहा न होनेके कारण यह है कि न तो मैं भोक्ता हूँ और न कर्ता हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णके कथनका आशय यह है कि मैं बाँसुरी बजाता हूँ, किन्तु उसकी मधुर ध्वनिका सुख कहाँतक जायेगा, कोई मतलब नहीं। वह मधुर ध्वनि चराचर सृष्टिको झंकृत करे, सारे आकाशमें गूँजे, उससे पेड़-पौधे बढ़ें, पशु-पक्षी आनन्दित हो, गोपियाँ सुखी हों, इसीलिए मैं बाँसुरी बजाता हूँ। उसको बजानेका अभिमान तो मुझको है ही नहीं। यही मेरा असली स्वरूप है। और, इसको जो जान लेता है वह कर्मसे आबद्ध नहीं होता। मुझको एक भक्तने कहा था कि इस श्लोकमें भगवान् कृष्णने अपने लिए कहा है, यह तुम्हारे लिए नहीं। तुम बारम्बार क्यों दुहराते हो? अब उनको कौन समझावे कि इसमें भगवान्‌ने हम सबके लिए सन्देश दिया है—'इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते'—अर्थात् जो मुझे जानता है वह कर्मबन्धनसे नहीं बँधता। वह भी मेरी तरह कर्ता-भोक्ता नहीं होता। इसका अर्थ यह कि जो श्रीकृष्णको अकर्ता-अभोक्ता जानता है, वह स्वयं भी अकर्ता-अभोक्ता हो जाता। वह भी कर्मसे, भोगसे आबद्ध नहीं होता। अब यदि यह कहो कि हमारे यह जाननेमात्रसे कि वे बड़े दानी हैं बड़े उदार हैं, अकर्ता हैं, अभोक्ता हैं, हम दानी, उदार, अकर्ता और अभोक्ता कैसे हो जायेंगे? हमारा उनका कोई ऐसा रिश्ता होना चाहिए, सम्बन्ध होना चाहिए कि उनमें जो गुण हैं वे हममें भी हों। ठीक है। किन्तु यदि हम और वे मूलत: कहीं एक न होते तो उनको अकर्ता, अभोक्ता जाननेपर हम स्वयं अकर्ता अभोक्ता हो जायेंगे—यह बात कैसे मिलती? वस्तुत: हम दोनों एक हैं। इसलिए जब श्रीकृष्ण यह कहते हैं कि मुझे कर्म लिप्त नहीं होते और कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं, तो यह कथन केवल उनके लिए नहीं, हमारे लिए भी होता है। और यहाँ तो उन्होंने स्पष्ट ही कर दिया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 5.14

ईश्वरने किसी जीवको न तो कर्ता बनाया है, न भोक्ता बनाया है, न कर्म बनाया और न कर्मका फल बनाया। वह तो हमारा स्वभाव है। हम अपनी वासना और पसन्दके अनुसार कर्मोंमें जुड़ जाते हैं।

श्रीकृष्णने कर्म-बन्धनसे छूटनेका यह कितना बढ़िया नुस्खा बताया है—इसपर आप लोग ध्यान दें।

●

प्रवचन : 8

आत्मा ज्ञान-ज्योति हैं, अविनाशी है और इसका किसी भी प्रकारके कर्मसे संयोग नहीं होता—यह बात बतानेके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 14॥
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 15॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ 16॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ 17॥

इसमें पहले श्लोकका अर्थ कल भी बताया गया कि परमेश्वर किसीको कर्ता नहीं बनाते, किसीके कर्मकी सृष्टि नहीं करते और किसीके साथ कर्मफलका संयोग नहीं जोड़ते। स्वभाव ही प्रवृत्त हो रहा है। लोग कहते हैं कि ईश्वरने सृष्टि कब बनायी? कहाँ बनायी? पहले किसीको बनाया? इसका उत्तर वैदिक धर्म यह देता है कि कोई भी चीज पहले-पहल बनी दीखती नहीं, उसका बीज ही मिलता है। पहली भैंस कब पैदा हुई, यह किसीने नहीं देखा। भैंससे भैंस उससे फिर भैंस ऐसे ही पैदा होते देखा जाता है। जब पहलेसे बीज रहता है तब उससे अङ्कुरका उदय होता है। इसीलिए पूर्व-पूर्व बीजोंसे अर्थात् अनादि परम्परासे यह सृष्टि चल रही है। ईश्वर बिना बीजके सृष्टि नहीं बनाता—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥

यदि कहो कि ईश्वर स्वतन्त्ररूपसे सृष्टि क्यों नहीं बनाता? वह तो सर्वशक्तिमान है, जब जैसी चाहता वैसी सृष्टि उत्पन्न हो जाती। तो, इसका उत्तर यह है कि यदि ईश्वर अपने मनमें, बिना किसी निमित्तसे सृष्टि बना देता तो एकको दु:खी, एकको, सुखी कैसे बनाता? एकको गीध एकको गाय कैसे बनाता? यदि ईश्वर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मरजीसे ही किसीको बड़ा, किसीको छोटा, किसीको दु:खी, किसीको सुखी बनाता है तो वह एक वर्गके साथ पक्षपात और दूसरे वर्गके साथ अन्याय करता है। सृष्टि-निर्माणका कोई-न-कोई निमित्त तो होना चाहिए न! किन्तु ऐसा है नहीं। सृष्टिकी धारा अनादि परम्परासे बह रही है और यहाँ सब लोग अपने-अपने स्वभावके अनुसार बरत रहे हैं। कुमुदिनी कुमुदिनीमें-से निकलती है और वह रात्रिके समय चन्द्रमाको देखकर खिल जाती है। कमलसे कमल होता है और वह सूर्यको देखकर विकसित हो जाता है। उसमें कर्तृत्वकी सृष्टि किसीने नहीं की—'स्वभावस्तु प्रवर्तते' यह तो उसका स्वभाव है। भगवान् श्रीकृष्णने

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्मोंको स्वभावज बताया और कहा कि वे सब अपने-अपने स्वभावके अनुसार कर्म करते हैं—ब्रह्मकर्म-स्वभावज, क्षात्रकर्म-स्वभावज, वैश्यकर्म-स्वभावज और शूद्रकर्म-स्वभावज। श्रीरामानुजाचार्यने स्वभाव शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है कि जन्म-जन्मके अभ्याससे जो संस्कार सञ्चित है, उनसे व्यक्तिके जीवनमें स्वभावका उदय होता है और वह अपने स्वभावके अनुसार कर्म करता है।

अब एक बात आपको सांख्यदर्शनकी बताते हैं, हमारे दर्शन पृथक्-पृथक् हैं और सब अलग-अलग ढंगसे अपने-अपने सिद्धान्तकी स्थापना करते हैं। सांख्यका कहना है कि संसारमें जितनी वस्तुएं बनती हैं वे दो तरहसे बनती हैं। एक तो प्रकृतिके स्वभावसे बनती है—जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और स्त्री-पुरुष आदि। परन्तु इनमें मेरा-तेराका जो सम्बन्ध है—यह प्रकृति नहीं बनाती। प्रकृतिमें पेड़ बने हुए हैं। कौन पक्षी किस पेड़को पसन्द करता है, किसपर बैठता और कहाँ घोसला बनाता है, इससे प्रकृतिका कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो पक्षीकी अपनी पसन्द है। अत: इस संसारमें जितने नाते हैं, ममताकी, गुणोंकी जो सृष्टि है—यह प्रकृतिकी बनायी हुई नहीं। फिर किसकी बनायी है? यह अविवेककी बनायी हुई है। यहाँ दो परम्पराएँ हैं—एक प्रकृत-परम्परा और एक मनुष्यकृत-परम्परा—जीवकृत-परम्परा। जीवने अपनी ओरसे मान लिया है कि यह मेरी है और यह तेरी है। प्रकृतिने सोना बनाया, चाँदी बनायी, पशु-पक्षी आदि बनाये; परन्तु अपने-परायेका भेद-भाव नहीं बनाया। मेरा-तेरा और तज्जन्य सुख-दु:ख प्राकृत सृष्टिमें नहीं हैं, ये सब जीवकृत हैं। अनादि परम्परासे जैसा स्वभाव चल रहा है उसीके अनुसार सृष्टि होती है और मनुष्य अपना सम्बन्ध पदार्थोंसे जोड़ लेता है तथा विवश हो जाता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 18.60

मनुष्य अपने स्वभावमें इतना संबद्ध हो जाता है कि यदि वह एककी निन्दा करेगा तो दूसरेकी निन्दा भी करेगा ही। जिसको प्रशंसा करनेका अभ्यास है वह एककी प्रशंसा करेगा तो दूसरेकी भी करेगा। उसके जीवनमें स्तुति-निन्दा करनेका जो अभ्यास है, वह उससे उचित निन्दा करायेगा ही। भले ही वह कहीं भी रहे, उसके लिए किसी न किसी को ढूंढ लेगा। एक सज्जन थे, उनकी किसी-न-किसीसे रोज लड़ाई हो जाती थी। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि साथके सब लोग ऐलीफेन्टाकी गुफा देखने चले गये, मैं और वे दो ही जने रह गये। उनके साथ लड़ाई करने योग्य कोई नहीं रह गया और वे मुझसे छोटे थे। फिर भी भिड़ गये। जब गर्म हुए तब मैंने कहा कि 'भाई आज कोई नहीं, मैं ही हूँ, मुझे तो बचाओ।' यह है स्वभावकी विशेषता। स्वभावस्तु प्रवर्तते का अर्थ है—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।

मनुष्यका जैसा स्वभाव बन जाता है, वैसा वह काम करता है। कोई नहीं होगा तो वह पेड़को ही भला-बुरा कह देगा—यह पेड़ अच्छा है, यह बुरा है। एककी स्तुति कर देगा, एककी निन्दा कर देगा। वह

बिना किये मान नहीं सकता। देखो लोहेका या ताँबेका तार और बिजली है। बिजली लोहे या ताँबेके तारमें दौड़ती है। यह उसका स्वभाव है। परन्तु वह किस मशीनको घुमावे, किसीसे हवा खींचे और किसीसे गर्म या ठण्डा करे, यह बिजलीका नहीं, उस मशीनका बनाया हुआ स्वभाव है। गर्म या ठण्डा करना यन्त्रमें होता है और यन्त्रका संचालन बिजलीसे अर्थात् परमात्माकी सत्तासे होता है। इसलिए निश्चय ही परमात्माकी सत्तासे, उसके प्रकाशसे, विश्व प्रकाशित होता है। विश्व है ऐसा मालूम पड़ता है, परन्तु इसमें सबने अपने-अपने स्वभावको ही प्रकट किया है। श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया जहाँ भगवान् श्रीकृष्णको चुप हो जाना पड़ा, हार जाना पड़ा। वे काममें तो नहीं हारे, परन्तु बातचीतमें हारे गये। जब अपने पाँवसे कालिय नागको कूटने लगे तब उसने उनसे पूछा कि इस गुणमयी सृष्टिको आपने रचा है कि नहीं? रचा है। यह सर्पयोनि आपने बनायी है कि नहीं? बनायी है। इसमें आकृति, ओज, वीर्य, स्वभाव आपने डाला है कि नहीं? डाला है। तब हमारा तमोगुणी विषैला स्वभाव कैसे बना? हमें क्या उलाहना है? 'अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः।' आप चाहे हमारे ऊपर अनुग्रह करो, चाहे निग्रह करो, हमको तो तुमने जैसा बनाया है वैसे हैं।' भगवान् हँसने लगे और बोले अच्छा, अब तुम यहाँ मत रहो। उन्होंने उसके विषको नष्ट नहीं किया, उसका डँसना नष्ट नहीं किया, उसको निर्भय करके दूसरी जगह भेज दिया। अस्तु; प्रकृतिसे, ईश्वरसे जो सृष्टि बनती है, उसमें दोषी ईश्वर नहीं, प्रकृति नहीं। विकार तो तब आता है जब हम अपने बने हुए स्वभावका ठीक उपयोग नहीं करते। स्त्री-पुरुष ईश्वरके बनाये हुए हैं किन्तु पति-पत्नीका सम्बन्ध मनुष्य स्थापित करते हैं और उनके सुख-दुःख इसपर निर्भर करते हैं कि वे अपने सम्बन्धका निर्वाह कैसे करते हैं। वेदान्तमें, पंचदशीमें ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टिका वर्णन किया गया है। वस्तु ईश्वरसृष्टि होती है और जीवसृष्टि मेरी-तेरीवाली हैं। ईश्वरसृष्टि किसीको दुःख नहीं देती और जीवसृष्टिमें दुःखकी उत्पत्ति हो जाती है। क्योंकि यह अकुशल है, काम करनेमें बहुत निपुण नहीं।

अब आप इस प्रकाशमें देखो कि आपके जीवनमें जो दुःख है, वह क्या ईश्वरका दिया हुआ है? क्या प्रकृतिका दिया हुआ है? 'प्रज्ञापराध एषः'—कहीं-न-कहीं समझमें गलती है। जिसके कारण हम दुःख देते हैं, दुःख लेते हैं। दुःखके समय दुःख देनेवाले निमित्तका सत्यानाश नहीं करना चाहिए, अपने मनको ठीक करना चाहिए क्योंकि वही दुःखको ग्रहण करता है। यदि हमारे मनमें कोई गड़बड़ी नहीं, तो दुःख होनेका कोई कारण नहीं। दुःख मानस है, दुःखकी जब अनुभूति होगी तब मनमें ही होगी चाहे कोई मारे, चाहे कोई कड़वी बात कहे। चाहे धनहरण हो, चाहे जनमरण हो, चाहे भवन-दहन हो, उसमें दुःखी हमारा मन ही होगा। आपको मीठा बनाना है तो मनको मीठा बनाना पड़ेगा। सृष्टि तो जैसी है, वैसी है, वह चाहे जैसी दीखे, अपने मनको मीठा बना लेना चाहिए। आध्यात्मिक उन्नतिका अर्थ अपने मनका मधुर हो जाना, प्रकाशमय हो जाना ही है। घटपटादिको ईश्वर नहीं बनाता। मैं घट-पटका कर्ता हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। मैं कर्मफलका संयोगी हूँ, दुःखी हूँ, सुखी हूँ, यह भी ईश्वर नहीं बनाता। न ईश्वर कर्ता हैं, न कारयिता; न भोक्ता है, न भोजयिता। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म है।

अच्छा, यदि हम ईश्वरको कुछ देना चाहें तो? यह देना-लेना भी जबतक मनुष्य अनुभूतिके ऊँचे और गम्भीर स्तरमें नहीं पहुँचता तभीतक प्रतीत होता है। आपको यदि हम अपने अबतकके अनुभवकी बात बतावें तो वह यह है कि जहाँ कोई देने वाला नहीं देता, वहाँ भी मिलनेवाली चीज मिलती है। जहाँ दुःख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन रातको नींद टूटनेपर दुःखकी कल्पना कर लेता है और जहाँ कोई सुख देनेवाला नहीं होता, वहाँ भी मन सुखकी धारामें बहने लगता है। आनेवाली चीज आती है, जानेवाली चीज जाती है—अहं करोमीति वृथाभिमानः। स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः।' यह जो मैं करता हूँ का अभिमान है, यह बिल्कुल झूठा है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15

जहाँ बड़े प्रेमसे खिलानेवाले होते हैं, वहाँ भी कभी भूखे रह जाना पड़ता है और जहाँ कोई खिलानेवाला नहीं होता, वहाँ भी रोटी आ जाती है। अभिमान न लेनेवालेका ठीक है, न देनेवालेका। वह तो सर्वथा मिथ्या है। शांकर सिद्धान्तकी रीतिके अनुसार स्वभाव शब्दका अर्थ अनिर्वचनीय माया है, अविद्या है, प्रकृति है। श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार स्वभाव अनेक जन्मके कर्मोंसे सञ्चित है और वह बन चुका है। हमको एक महात्माने प्रसन्न होकर यह बात बतायी थी कि माया-माया सुनकर घबराना नहीं चाहिए। माया माने अपना मन ही होता है। यह संसार मायाने बनाया है, इसका अर्थ है कि इसको हमारे मनने बनाया है। यह दोस्त, यह दुश्मन, यह सुख और यह दुःख—इन सबकी सृष्टि मन ही करता है—'मनः सृजति कर्माणि।' शास्त्रोंमें जो यह लिखा है कि सृष्टि मायाकी बनी है, इसका यही अर्थ है कि मायासे सृष्टि बनी है। महात्माने मुझपर बहुत प्रसन्न होकर वरदान देनेकी भावनासे बताया था कि यह सारा-का-सारा तुम्हारे मनका ही खेल है। यदि कोई सोनेका पहाड़ प्राप्त करके सुखी होता है तो कोई छोड़कर सुखी होता है। छोड़नेवालेको यह कल्पना नहीं होती कि पानेवाला सुखी क्यों होता है। वह उसकी प्रसन्नताका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ पाता। इसी प्रकार पाकर खुश होनेवाला यह सोच नहीं सकता कि त्याग करनेपर भी सुख होता है। इसलिए अभिमानके चक्करमें न पड़कर यह अनुभव करना चाहिए कि—'स्वभावस्तु प्रवर्तते।' स्वभाव ही सबको प्रवर्तित करता है।

अर्जुनने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रश्न किया—'किमध्यात्मम्'—अध्यात्म क्या है? उसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—स्वभावका ही नाम अध्यात्म है। अध्यात्म माने स्वभाव, तो स्वभाव माने क्या हुआ? मन। ये सब जो संस्कृतके शब्द हैं, इनका ठीक-ठीक अर्थ हृदयंगम न होनेसे ही लोग समझते हैं कि न जाने इनमें क्या है? तो 'आत्मनि शरीरे इति अध्यात्मं' अर्थात् जो वस्तु शरीरमें ही रहती है, उसका नाम अध्यात्म है। हमारे देहके भीतर कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं, जो संसारमें हमने यह किया, यह बनाया, वह बनाया, यह सुख पाया, वह दुःख पाया—इस तरहका अभिमान बना लेती है। 'स्वभावस्तु प्रवर्तते'का अर्थ है कि हमारा मन ही दुनियाका खेल रच लेता है। जिसका मन ठीक है, उसके लिए सारी दुनिया ठीक है।

आज प्रारम्भमें जो चार श्लोक प्रस्तुत किये गये हैं, उनके पहले श्लोकमें प्रभुः और दूसरे श्लोकमें विभुः शब्द हैं। यद्यपि ये एक ही परमात्माके नाम है, तथापि इनमें अन्तर करना हो तो यों कह सकते हैं कि प्रभुने कर्म, कर्मफल, कर्मसंयोगकी सृष्टि नहीं की। यह सृष्टि ईश्वरकृत नहीं, और यह जो विभु है उसके साथ तो किसीका सम्बन्ध ही नहीं होता। विभु माने व्यापक आत्मा। 'विभवति इति विभुः'—जो विविध पदार्थोंमें एक ही रहता है। 'विविधेषु भवति इति विभुः, विशिष्टं भवति इति विभुः।' जो अनेकमें एक है, उसका नाम विभु है। जो वस्तु विभु होती है वह न तो पाप लेती है और न पुण्य लेती है। अर्थात् आत्माका ऐसा स्वरूप है कि वह न पापी होता है और न पुण्यात्मा। आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। यदि आप गीताकी यह बात मानते हो कि—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'—आत्माका जन्म और मरण नहीं होता तो कर्मका सम्बन्ध आप कैसे मानोगे? कर्मका सम्बन्ध मानोगे तो जन्म भी मानना पड़ेगा और मृत्यु भी माननी पड़ेगी। कर्मके अनुसार जो जन्ममरण होता है, वह तो शरीरका होता है। मन कभी सोता और कभी जागता है। आत्मा कभी सत्य और मिथ्याके भेदमें नहीं होता। आत्मा तो ज्यों-का-त्यों रहता है।

यदि आप पुण्यात्मा होनेका अभिमान करोगे तो कभी बुरा काम होनेपर पापी होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा और यदि पापी होनेका अभिमान करोगे तो कभी श्रेष्ठ काम करनेका, पुण्यात्मा होनेका अभिमान भी करना पड़ेगा। वस्तुतः बचनेकी चीज अभिमान ही है। अभिमान केवल वाणी और कर्म द्वारा ही प्रकट नहीं होता। मनमें भी अभिमानकी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। अभिमान करनेका मतलब है अपनेको छोटा बनाना, परिच्छिन्न बनाना। अभि उपसर्गके साथ जो मान है, उसका अर्थ है माप। हम साढ़े तीन हाथके शरीर हैं, हम सौ या पचास बरसके हैं, हम डेढ़ दो मनके हैं—इसका नाम अभिमान है। कद, वजन, उम्र आदिको अपने साथ जोड़ लेनेका नाम अभिमान है। आप जब अपनेको इस अभिमानसे मुक्त करके विभुके रूपमें, शुद्ध आत्माके रूपमें अनुभव करेंगे तब आपके साथ कर्म नहीं जुड़ेंगे—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

जैसे आसमानमें सूर्य प्रकाश देता हुआ विचरता है, चन्द्रमा चाँदनी फैलाता हुआ विचरता है, और ये दोनों प्रकाश अथवा चाँदनी देनेका अभिमान नहीं करते, वैसे ही मनुष्यका जीवन निरभिमान होना चाहिए। मनुष्यका जीवन सूर्यके समान, चन्द्रमाके समान है। इसीलिए वेदने कहा—'स्वस्ति पन्थानमनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।' सूर्य और चन्द्रमाके समान हम इस सृष्टिमें रहें। अपने भीतरसे बिना निकाले ही प्रकाश निकलता है, उससे सृष्टिको प्रकाशित होने दें। हमारी आत्मासे बिना दिये ही एक आनन्द निकलता है उससे सृष्टिको आह्लादित होने दें। किन्तु न देनेवाला बनें, न लेनेवाला, अपने सहज स्वभावको प्रकट होने दें।

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 5.15

प्रश्न होता है कि जब मनुष्य इतना प्रकाशवान् और आनन्दमय है तो वह इस संसारमें दुःखी क्यों है? ईश्वरने दुःख दिया नहीं, आत्मा दुःखी है नहीं, प्रकृति दुःख देती नहीं, तो यह दुःख नामकी वस्तु कहाँसे आ

गयी? उत्तर है एक अन्धेरा छाया हुआ है। अन्धेरा कोई ठोस वस्तु नहीं, उसमें कोई वजन नहीं होता, उसकी कोई निश्चित लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। उम्र भी नहीं होती। वह रोशनी आयी और गायब हो गया। अन्धकार प्रकाशके भयसे भागता रहता है। उसका कोई स्थान नहीं, अज्ञानमें वह अवश्य निवास करता है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं।' इसीलिए वेदमें वर्णन आया कि 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या असुतृपा: चरन्ति' अर्थात् एक ऐसा कुहरा है जिसने लोगोंकी बुद्धिको ढक दिया है। लोग केवल बात करनेमें बड़े निपुण है। अपनेको दु:खसे बचानेकी विद्या उन्हें नहीं आती। 'असुतृपाश्चरन्ति'—वे केवल अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें लग गये हैं और यह करो, यह करो, के कर्मशासनके अधीन हो गये हैं। उन्हें अपना स्वरूप नहीं दिखायी देता।

दु:खका कारण है अज्ञान। यदि आप किसी वेदान्तीसे पूछने जाओगे कि अज्ञान क्या होता है तो वह अज्ञानकी ऐसी परिभाषा आपको बतावेगा कि आपको उसे समझनेमें वर्षों लग जायेंगे। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार अनादि, भावरूप ज्ञाननिवर्त्य अनिवर्चनीय अज्ञान क्या है? यह समझनेमें बड़ी कठिनाई होगी। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार—'भ्रमोपादानत्वं अज्ञानत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं अज्ञानत्वं'—जो भ्रमका उपादान कारण है उसको अज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान होनेपर मिट जाये उसका नाम अज्ञान है। इस तरह अज्ञानकी परिभाषा करनेमें आपको बहुत कठिनाई पड़ेगी। लेकिन आप उसको थोड़ेमें ऐसा समझ लो कि समझदारीकी कमी अथवा नासमझीका नाम अज्ञान है। हमने यह किया—यहाँ भी अज्ञान है। अज्ञान भावरूप है और यह ज्ञानको ढक देता है। मतलब यह कि नासमझीने हमारे स्वरूपको ढक दिया है। इसका फल यह हुआ कि—'तेन मुह्यन्ति जन्तव:—मनुष्य मनुष्य नहीं रहा, जन्तुके समान हो गया। जैसे कीचड़में केचुआ बिलबिलाता रहता है, वैसे ही मनुष्य केवल नासमझीसे दु:ख-सुखके चक्करमें बिलबिला रहा है। संसारमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो दु:ख दे। मौत कभी आती नहीं। कोई बता दे कि हमने अपनी मौत देखी है। ऐसा कोई माईका लाल न अभीतक पैदा हुआ, न होगा, जिसने अपनेको मरते देखा हो। क्योंकि 'हम मर गये' यह कहना बनता ही नहीं। यदि मर गये, तो हो कैसे? जिसको मर गये मालूम पड़ता है वह तो जिन्दा है। वेदान्तियोंका कहना है कि मृत्यु अनुभवका विषय ही नहीं। तब हम मरते हैं, यह बात कैसे होती है? ऐसे होती है कि हम दूसरेके शरीरको छूटते देखते हैं और अपनेको शरीर मानकर मरनेकी कल्पना कर लेते हैं।

अच्छा, अब एक दूसरी बात देखो। 'मैं जड़ हूँ'—यह अनुभव कभी किसीको हो ही नहीं सकता। यह भी अनुभवके क्षेत्रसे बाहर है। यह एक आदमीकी बात नहीं, दोकी भी नहीं, समग्र सृष्टिकी बात है कि कोई भी जीवात्मा अपनी जड़ताका अनुभव नहीं कर सकता। क्योंकि जब वह 'मैं जड़ हूँ' —यह अनुभव करेगा तो उस समय उसका अनुभव विद्यमान रहेगा और अनुभव जड़का धर्म नहीं, चेतन का धर्म है। मैं बेहोश हो गया, मूर्च्छित हो गया, यह भी मालूम पड़ता है। मैं मूर्ख बन गया, यह भी मालूम पड़ता है। यदि मालूम पड़ना नहीं रहेगा तो पीछे उसकी याद भी नहीं आवेगी। इसलिए 'मैं मर गया'—यह अनुभवके क्षेत्रमें है नहीं। 'मैं जड़ हूँ'—यह भी अनुभवके दायरेसे बाहर है। 'मैं अप्रिय हूँ'—यह भी अनुभवकी सीमामें नहीं। हम किसी एकके अप्रिय होंगे, दोके अप्रिय होंगे, अमुक अपनी मूर्खतासे हमको अप्रिय समझता होगा—ऐसी

मान्यता हमारी होती है। तो अपनी मृत्युका अनुभव न होना सत् है, अपनी जड़ताका अनुभव न होना चित् है और अपनी अप्रियताका अनुभव न होना आनन्द है, अर्थात् आत्मा बिलकुल सच्चिदानन्द है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' का अर्थ है कि हम अपने-आपको जानते ही नहीं। यदि हम देशको जानते हैं तो छोटे कैसे हो सकते है? कालको जानते हैं तो हमारी उम्र कैसे हो सकती है? वस्तुओंको जानते हैं तो हमारा वजन कैसे हो सकता है? हम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव हैं। नन्हा-मुन्ना मानकर ही मोहके चक्करमें पड़ जाते हैं। हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा होते हुए भी मनुष्यतातक-से वंचित हो जाते हैं और जब मनुष्य भी नहीं रहते तब क्या हो जाते हैं? 'तेन मुह्यन्ति जन्तवः'—मोहग्रस्त होकर जन्तु बन जाते हैं, जानवर बन जाते हैं। मोहसे ग्रस्त क्यों होते हैं? इसलिए कि हमारी नासमझी काम कर रही है। अज्ञान माने नासमझी। भ्रम माने उलटी समझ। एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझ लेना, पीतलको सोना समझ लेना—इसका नाम भ्रम है और पीतलको ठीक-ठीक न पहचानना—इसका नाम अज्ञान है। भ्रमके पूर्व अज्ञान रहता है। अज्ञानसे ही भ्रमकी उत्पत्ति होती है। यह हिन्दूधर्मकी खास विशेषता है कि जो समझदारीका तिरस्कार करता है उसे वह जन्तुकी संज्ञा दे देता है। ज्ञानकी इतनी महिमा संसारके किसी भी मजहबमें नहीं दूसरे मजहब प्रायः श्रद्धा और विश्वासके आधारपर चलते हैं, किन्तु हमारा वैदिक धर्म केवल श्रद्धा-विश्वासपर नहीं, ज्ञानपर आधारित है। यह ज्ञानके प्रकाशको, ज्ञानकी महिमाको प्रकट करता है। इसकी मान्यता है कि केवल ज्ञानसे ही मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त हो जाता है, परमानन्दको प्राप्त कर लेता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ 5.16

ज्ञान प्राप्त होना चाहिए और उससे अज्ञानका नाश होना चाहिए। मध्वाचार्यने इस ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहा। श्रीरामानुजाचार्यजी भी इसे परोक्ष ज्ञान ही मानते हैं। शंकराचार्य इसको वृत्तिज्ञान मानते हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंके साथ फिट बैठानेके लिए शब्दोंकी व्याख्या करनी पड़ती है।

तो पहली बात यह है कि आप ज्ञानके अधिकारी हैं। आप यह न समझें कि आपको ज्ञान कैसे होगा? ज्ञान पढ़े-लिखेको ही होता हो, सो बात नहीं। पढ़े-लिखे लोग भी अज्ञानी होते हैं और अनपढ़ लोगोंको भी ज्ञान हो जाता है। दूसरी बात यह कि यदि आपके मनमें हीनताकी भावना हो—हम तो समझते हैं कि नहीं होगी, क्योंकि आप साक्षात् परमात्माके स्वरूप है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हैं, परम पवित्र हैं—फिर भी आप समझते हों कि मैं पापी हूँ, दीन हूँ, हीन हूँ; नासमझ हूँ, तो आप गीताके इस श्लोकपर ध्यान दीजिये—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ 4.36

यदि दुनियाके बड़े-बड़े पापियोंमें-से छाँट-छाँटकर तीन पापी अलग कर लिये जायँ और उन तीनोंमें भी जो सबसे बड़ा पापी हो—वह केवल पापकृत् और पापकृत्तर ही नहीं पापकृत्तम अर्थात् सबसे बड़ा पापी हो तो उसके लिए भी चिन्ताकी कोई बात नहीं। गीतामें श्रीकृष्णने बड़े-बड़े पापियोंको आमन्त्रित किया है,

आश्वासन दिया है कि आओ-आओ, हमारी इस ज्ञाननौकापर बैठ जाओ। तुम्हारे सारे पाप, सारे दु:ख दूर हो जायेंगे, सारी वासनाएँ मिट जायेंगी और सारे अज्ञानका निवारण हो जायेगा। श्रीकृष्ण कहाँ कहते हैं कि तुम इस ज्ञानप्लवपर, ज्ञानकी नावपर बैठने योग्य नहीं हो अथवा हम तुमको इसपर नहीं बैठायेंगे या तुम इसपर बैठनेके अनधिकारी हो। उन्होंने तो सबको अधिकार दे दिया कि दुनियाका जो सबसे बड़ा पापी है, वह भी इस नावपर आकर चढ़ सकता है। यदि कोई कहे कि हमने तो बड़े बुरे-बुरे काम किये हैं तो भगवान् कहते हैं कि आओ ज्ञानकी आग जला दो—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन

ज्ञानकी आग प्रज्वलित होगी तो तुम्हारे सोर बुरे कर्म जल जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे। ज्ञान होनेपर, पाप-कर्म कोई बाधा नहीं डाल सकते। इसलिए बाधा नहीं डाल सकते कि ज्ञानकी आगमें प्रतिषिद्ध कर्म हो ही नहीं सकते। यदि कहो कि हम अपवित्र हैं, पतित है तो भगवान् कहते हैं—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

ज्ञानके समान कोई पवित्र नहीं, सबसे पवित्र यह ज्ञान है। जो भक्तगण गीतामें—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ 9.30
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

इन श्लोकोंको जो पढ़ते हैं वे कहते हैं कि देखो, भक्तिकी कैसी महिमा है। पापी-से-पापी भी भक्ति करे तो तर जाय। इसी प्रकार गीतामें ज्ञानकी जो महिमा बतायी गयी है, उसे पढ़कर यह कहा जा सकता है कि पापी-से-पापीको पवित्र करनेके लिए ज्ञानसे बढ़कर कोई साधन नहीं। जैसे भक्ति तुम्हारे हृदयमें द्वेष नहीं रहने देगी, घृणा नहीं रहने देगी, शंका नहीं रहने देगी और प्रेमरूप होकर तुम्हारे हृदयमें प्रकट होगी, वैसे ही ज्ञान अज्ञानका नाश कर देगा। ज्ञानमें किसीसे द्रोह नहीं, किसीसे द्वेष नहीं, किसीसे बुराई नहीं। सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है और अन्धकारका नाश होनेपर सूर्य स्वयं तो प्रकाशित होता ही है, दूसरोंको भी प्रकाशित करता है। प्रकाशका यह स्वभाव है। दीपकको देखनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती। अँधेरे में कोई चीज देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत है, परन्तु रोशनी देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं होती। एक बार जहाँ अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हुआ वहाँ ज्ञानरूपी सूर्य स्वत: प्रकाशित हो जाता है। इसको देखनेके लिए दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं; अन्य सब वस्तुएँ क्या हैं, कैसी हैं, यह मालूम पड़ जाता है। तो ज्ञानमें तीन गुण हैं—

1. अन्धकारका नाश करना।
2. अपनेको प्रकाशित करना।
3. अन्योंको प्रकाशित करना।

स्वज्ञान और परज्ञान, दोनोंको दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्।

सूर्यके समान प्रकाशमान तत्त्वज्ञान परमात्माको सामने लाकर उपस्थित कर देता है। एक बात आपके ध्यानमें होगी कि ज्ञान वस्तुको बनाता नहीं, दिखाता है। रोशनी वस्तुका निर्माण नहीं करती, जो चीज जैसी होता है वैसी दिखायी देती है। सूर्योदय होता है तो पेड़ पैदा नहीं करता, घड़ा पैदा नहीं करता, स्त्री-पुरुष पैदा नहीं करता, अपितु अन्धकारका नाश कर देता है और जो पहले-से मौजूद है उसीको दिखाता है।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यात् न तु सद्विधत्ते।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात् तमिस्त्रं पुरुषस्य बुद्धेः॥

आप इस बातपर ध्यान देगें तो हमारे दर्शनशास्त्रका जो रहस्य है, वह आपको हृदयंगम हो जायेगा। परमात्माका ज्ञान स्वयं प्रकाश है। उसकी रोशनीमें, जो चीजें बिना हुए डरा रहीं हैं जैसे—यह भूत है, प्रेत है, चोर है आदि—वे सब मिट जाती हैं। यह हमारा खो गया है, यह हमारे पास नहीं—इस प्रकारकी मनमें जो कुकल्पनाएँ होती हैं, उनका निवारण हो जाता है।

तो पुरुषकी बुद्धिको शुद्ध कर देना यह ज्ञानका काम हैं, वस्तुओंका निर्माण करना—यह कर्मका काम है और वस्तुओंमें मजा लेनेकी वृत्ति उत्पन्न कर देना—यह प्रेमका काम है। प्रेमसे वस्तुमें मजा आता है, कर्मसे वस्तुका निर्माण होता है और तत्त्वज्ञानसे जो प्राप्त करोगे तब परमात्मा-रूप सत्य अपने उद्भासित हो जायेगा। वह तो केवल अज्ञानसे अनमिला प्रतीत होता है। कोई चीज आपकी जेबमें पड़ी है और आपको उसका ख्याल नहीं, तो आप समझते हो कि वह खो गयी। 'गोदमें छोरा शहरमें ढिंढोरा' वाली कहावत तो आप जानते ही हैं। ऐसा ही है यह ज्ञान जिसको आप तलाश कर रहे हो। अरे बाबा, परमात्मा तो आपके दिलमें बैठा है। गुरुनानक उसीके लिए तो कहते हैं कि 'काहे रे बन खोजन जाई।' वह तो तुम्हारे दिलमें है। उसको दिलमें देखकर जंगलमें दूसरी जगह ढूँढ़नेके लिए क्यों जाते हो?

तो, तत्त्वज्ञानका तात्पर्य यह है कि अपने ही दिलमें, अपने ही स्वरूपमें जो परमात्मा बैठा हुआ है; उसका दर्शन हो जाये, साक्षात्कार हो जाये। ज्ञानसे जो चीज मिल जाती है, वह पहलेसे मिली हुई होती है। मान लो, हमारे सम्बन्धी कहीं खो गये हैं। हमें उनके लिए दुःख भी हैं। लेकिन हम उनको पहचानते नहीं, और वे यहाँ बैठे हैं। जब मालूम पड़ गया कि वे तो यहीं बैठे हैं तो उनके खोनेका दुःख दूर हो गया। तो भाई, परमात्माके लिए, सत्यके लिए, परमानन्दके लिए, प्रार्थनाके लिए जो अपने मनमें दुःख है वह न पहचानेका दुःख है। पहचानते ही वह दुःख मिट जायेगा। जो चीज अज्ञानके कारण अनमिली होती है, वह वास्तवमें मिली हुई होती है और जो ज्ञानसे मिलती है, वह भी मिली हुई होती है। इसलिए ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति स्वीकार करनेका मतलब यह है कि अनमिला नहीं, मिला हुआ है। तो, फिर उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए क्या प्रयास करना चाहिए, यह गीता बताती है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ 5.17

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 5.18

पहली बात यह है कि अपनी बुद्धि उसमें प्रविष्ट करनी चाहिए। जैसे एक सिद्ध व्यापारीकी बुद्धि व्यापारकी सफलतामें प्रवेश करती है वैसे ही जो तत्त्वज्ञानके प्रेमी है, उनकी बुद्धिको तत्त्वमें प्रवेश करना चाहिए। जिस प्रकार अर्थसिद्धकी बुद्धि अर्थमें, धर्मसिद्धकी बुद्धि धर्ममें, कामसिद्धकी बुद्धि काममें तन्मय होती है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि परमात्माके सम्बन्धमें विचार करे। 'तद्बुद्धयः' अर्थात् हमारी बुद्धि और प्यार, हमारा विचार और प्यार दोनोंको परमात्माकी ओर अग्रसर होना चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। 12.8

भगवान् एक तो करते हैं प्रतिज्ञा और उसके बदलेमें दो चीज माँगते हैं। कहते है कि तुमने जो अपना मन अपने प्यारोंमें अटका दिया है, उसे वहाँसे उठाकर मुझमें रख दो। मन माँगनेका मतलब क्या है? मन कोई रुपया पैसा तो है नहीं, कोई चैक, कोई ड्राफ्ट तो है नहीं कि हम उसे उठाकर भगवान्में रख दें। हमने हाथमें पैसा या रुपया लिया, अक्षत लिया, जल लिया, पुष्प लिया और संकल्प किया कि यह मैं तुम्हें देता हूँ—'तुभ्यं समर्पये' अथवा 'तुभ्यं सम्प्रददे' यह मनका संकल्प नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्णकी रुचि है कि मणि तो हमारे घरमें रहे, लेकिन उससे जो रोज पैसा निकलता है, वह उनको मिले। 'मय्येव मन आधत्स्व'—अपने मनमणिको मुझे समर्पित करके रख दो और उसमें प्रेमकी जितनी वृत्तियाँ निकलें वे सब हमारे साथ जोड़ो। प्रेम भी भगवान्से हो और बुद्धि भी भगवान्में सन्निविष्ट हो—'मयि बुद्धिं निवेशय।' बुद्धि भी कोई स्थूल पदार्थ नहीं कि भगवान्के चरणोंमें ले जाकर अंगूर या सेवकी तरह रख दी जाये। बुद्धिमें तो विचार होते हैं। भगवान्का तात्पर्य है कि हमारे विचार हों परमात्माके बारेमें और प्यार भी हो परमात्माके ही बारेमें। इसका परिणाम होगा—'मय्येव निवसिष्यसि।' जहाँ हमने अपना प्यार और विचार दोनोंको भगवान्में अर्पित किया वहाँ हमारा निवास भगवान्में हो जायेगा।

'अत ऊर्ध्वं'—अर्थात् मन और बुद्धिके समर्पणके अनन्तर तो मनुष्यकी बुद्धि भगवान्में लगनी ही चाहिए। यदि कहो कि बुद्धि भगवान्में कैसे लगे तो इसका उपाय है 'तदात्मानः'—पहले अपना मन भगवान्में लगा दो, फिर बुद्धि अपने-आप लगेगी। जिससे प्यार होता है, उसके बारेमें बहुत विचार होता है। भाई, पति, पत्नी, पुत्र, धन इत्यादिके विषयमें जो इतना ध्यान लगता है उसका कारण यही है कि उनसे हमारा प्यार है। हम जो सबेरे-सबेरे उठकर धारणा-ध्यान-समाधि लगाते हैं वह अपने इष्टके प्रति प्रेम होनेपर ही लगाते हैं। तो जिस प्रकार प्रेम होनेपर प्रेमास्पदका चिन्तन होता है उसी प्रकार भगवान्से प्रेम होनेपर भगवान्में हमारी बुद्धि लगने लगेगी। अच्छा, तो प्रेम कब होगा? जब श्रद्धा होगी—'तन्निष्ठाः।' तुम माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जितना-जितना ईश्वरको जानोगे, उतनी-उतनी तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी। यह निष्ठा कर लो कि हमारा मन भले ही कभी इधरसे उधर हो जाये, किन्तु हमारा प्यारा तो भगवान् ही है। मनकी तरह बुद्धि भी कभी-कभी इधर-उधर विचार

करनेके लिए चली जाये तो उससे डरनेकी बात नहीं। बुद्धिकी यह निष्ठा होनी चाहिए कि हमें तो ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना है। जैसे समुद्रमें जहाजका पक्षी उड़कर दाहिने, बायें, सामने या ऊपर चला जाये लेकिन अन्ततोगत्वा आकर जहाजपर ही बैठता है, वैसे ही मनुष्यका मन परमेश्वरके प्रति निष्ठावान् होना चाहिए। यदि कहो कि ऐसी निष्ठा कैसे हो, जो मन घूम-फिरकर वहीं-का-वहीं बैठे, तो इसका साधन बताया—'तत्परायणा:' तत्पर हो जाओ। तत्पर अथवा तत्परायणका अर्थ है—'तदेव परमं अयनं यस्य।' यह निश्चय कर लो कि हमारा असली घर वही है। जब नवविवाहिता वधूको बोध हो जाता है कि ससुराल ही उसका असली घर है, तो बारम्बार मायकेकी ओर मन जाना धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। अबोध बहू ही थोड़ी तकलीफ, थोड़ा मनके खिलाफ होनेपर झट टेलीफोन उठाती और मायकेमें खबर भेजती है। अरी! तुम्हारा अपना घर तो ससुराल ही है। मायकेके लोग कबतक तुम्हें सँभालेंगे? सँभालना तो ससुरालके लोगोंको ही पड़ेगा। तो तत्परायणाका अर्थ है कि जीवात्मा यह समझ जाये कि ईश्वर ही हमारा वास्तविक निवास, हमारा परम अयन और चरम विश्राम-स्थान है।

तो ज्ञानमें चार बातें हुई। पहली तत्परता कि हमारा एकमात्र परमेश्वर है। दूसरी निष्ठा कि मन-बुद्धिके चंचल होनेपर भी उसीपर बैठना। तीसरी मनका प्यार और चौथी बुद्धिका विचार परमात्मामें लगाना। ऐसा होनेपर—'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:'—ज्ञान आपके सारे पापको धो डालेगा। ध्यान रहे कर्मसे पाप नहीं धुलते और इच्छासे भी पाप नहीं धुलते। यदि आप इस असलियतको समझ जाओ कि पाप क्या है तो जैसे समझ लेनेपर, जान लेनेपर भूत भाग जाता है, वैसे ही ज्ञानसे पाप भाग जाते हैं। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:'—केवल ज्ञानमें ही कल्मषके निर्धूननकी शक्ति है। आप ज्ञान प्राप्त होनेपर पुनरावृत्तिसे छूट जायेंगे, आपका जन्मना-मरना छूट जायेगा, आपको मोक्ष-ही-मोक्ष प्राप्त होगा।

वही व्यक्ति सबसे बड़ा अभागा और संसारासक्त है, जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि संसारमें कोई ज्ञानी, कोई निर्दोष अथवा कोई महात्मा नहीं। जिसकी नजरमें कोई ज्ञानी है ही नहीं, कोई महात्मा है ही नहीं, कोई निर्दोष है ही नहीं, वह अपने निर्दोष होनेकी कल्पना ही नहीं कर सकता। फिर वह कैसे निर्दोष हो सकेगा? अस्तु; ज्ञानी पुरुष इसी दुनियामें रहते हैं। कैसे रहते हैं तो समदर्शी होकर रहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 5.18

●

प्रवचन : 9

प्राय: लोगोंकी धारणा है कि धर्ममें श्रद्धा ही प्रधान होता है वहाँ केवल विश्वास ही करना पड़ता है। यह बात दूसरे मजहबोंकी दृष्टिसे ठीक भी है। वैदिक धर्ममें भी जहाँतक परलोकका प्रश्न है—यह करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा और वह करेंगे तो नरक मिलेगा—उसके साथ भी श्रद्धाका सम्बन्ध है। परन्तु वैदिक धर्ममें जो परमार्थका दर्शन है, साक्षात्कार है, वह केवल श्रद्धा-विश्वासपर अवलम्बित नहीं। 'घटवत् किं न भासते'—विद्यारण्य स्वामीने कहा कि परमार्थ क्या वैसे हीं नहीं दीखता जैसे घड़ा दीखता है। जैसे स्फीतालोक-मध्यवर्ती प्रत्यक्ष घट दीखता है, वैसे ही परमात्माका दर्शन भी स्पष्टम्-स्पष्टम् होता है। उसमें श्रद्धा-विश्वासकी बात नहीं रहती। भले ही प्रारम्भमें श्रद्धाविश्वास करना पड़ता हो, परन्तु उसका अन्त साक्षात्कारमें ही है। प्रमाणद्वारा परमेश्वरका ज्ञान, वैदिक धर्मकी विशेषता है। हमलोग केवल पुराणवादी नहीं, हमारे साथ दर्शन है। आप इस बातपर ध्यान देना कि दुनियाके किसी मजहबके साथ दर्शन नहीं, दर्शन तो केवल हमारे साथ है। इसका कहना है हमको परमात्मा केवल इसलिए अप्राप्त है कि हम उसे न जानते हैं न पहचानते हैं। श्रुति कहती है कि 'अनृतेन हि प्रत्यूढा:'—लोग मिथ्याके द्वारा बहकाये जा रहे हैं। झूठी मान्यताओंके कारण इधरसे उधर भटक रहे हैं। ऋग्वेदका मन्त्र है—'न तं विदाथ य इमा जजान'—तुम उसको नहीं जानते, जिसने यह सृष्टि पैदा की। 'अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव'—तुम्हारे और उसके बीचमें एक दूसरी वस्तु आकर खड़ी हो गयी है। नीहारेण प्रावृता जल्प्या आसुतृपा: उक्थशासा चरन्ति' दुनियाके लोगोंकी आँखोंमें कुहासा छा गया है। वे केवल प्राणपोषण-परायण हो गये हैं। बकवादी हो गये हैं, बोलते अधिक हैं, वस्तुको पहचाननेका प्रयास नहीं करते। इस अन्धकारमें विचरण कर रहे हैं। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं'—ज्ञानस्वरूप आत्मा अज्ञानसे ढका हुआ है। यदि आप ज्ञान प्राप्त कर लें तो उसका आवरण अपने-आप भंग हो जायेगा—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मन:।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

आप इस बातको वैदिक धर्मकी विशेष सम्पत्ति समझें कि यहाँ ज्ञानसे अज्ञानका नाश होकर परमार्थका परमात्माका दर्शन या साक्षात्कार होता है। जब परमात्माको निर्गुण, निर्विशेष कहते हैं तब इसका अर्थ होता है जैसा यह वैसा वह—जैसा वह वैसा यह—जैसा मैं वैसा वह, जैसा वह वैसा मैं। निर्विशेष अर्थात् विशेष नामकी वस्तुसे, भेदनामकी वस्तुसे रहित। इसलिए केवल अज्ञान ही परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक हो रहा है। जब मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब अज्ञानका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर वह स्वयं प्रकाशित होता है और अन्धकारका नाश तथा पहले-से विद्यमान वस्तुओंका दर्शन होता है; वैसे ही परमतत्त्वका प्रकाश होता है। परमके साथ जो तत् शब्द है, वह अज्ञानका भी वाचक है—'तस्मात् परम् तत्परम् अज्ञानात् परम्।'

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्।

परमात्मा वह है जो तमस्से, अन्धकारसे अज्ञानसे परे हैं। 'परे' शब्दका अर्थ भी संसारमें दूसरी तरहसे और परमार्थमें दूसरी तरहसे होता है। एक मैं हूँ और एक पराया है। एकका नाम हुआ संसार और एकका नाम हुआ मैं। लाखों मैं में एक मैं 'पर' रहकर मैंको प्रकाशित करता है। परमार्थमें 'पर' माने होता है अन्तरङ्ग, प्रत्यक् और व्यवहारमें 'पर' माने होता है पराया-दूसरा। गीता कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 3.43

कठोपनिषद्‌में इस प्रकार कहा गया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ क० 10 तृ. व.

'पिपर्ति इति परः।' जो सबका पालन-पोषण करता है, उस आत्मदेवका ही नाम पर है। वह सबका पालन-पोषण कैसे करता है, इसपर आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा। दुनियामें जितनी चीजें मालूम पड़ती हैं, जो भी सुख-दुःख, अपना-पराया मालूम पड़ता है वह सब अपने-आपके होनेसे ही मालूम पड़ता है। यह ईश्वर है, राम है, कृष्ण है, शिव है अथवा यह अच्छा है, बुरा है, समाधि है, सुषुप्ति है, जाग्रत् है आदि जितनी भी वृत्तियाँ हैं इन सबको परिपूर्ण करनेवाला, सबका पालन करनेवाला आत्मदेव ही है। यह यदि भीतर बैठकर न देख रहा हो तो कुछ भी नहीं मालूम पड़े। इसलिए सबसे परे तत्त्व कौन-सा है, तो—'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'—यह जो पुरुष है, यही सबसे परे है, प्रत्यगात्मा है। इसका दर्शन कैसे होता है, इसके दर्शनके लिए क्या उपाय करना चाहिए तो बताया—'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।'

हमारे मनमें कुछ कल्मष आगये हैं। कल्मष वह है जो हमारे सत्कर्मके फलको नष्ट कर देता है, दवा देता है, प्रतिबद्ध कर देता है। 'कर्माणि स्यति इति कल्मषः' हमने अन्तर्मुख होनेके लिए, सुखी होनेके लिए अच्छे-अच्छे काम किये हैं लेकिन पाप ऐसा आता है जो सत्कर्मोंके फलका अनुभव ही नहीं होने देता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करनेके लिए जो सत्य है, उसमें बुद्धि लगाओ। 'तद्बुद्धयः' उसपर विचार करो। जैसे व्यापारको समझनेके लिए, व्यवहारको समझनेके लिए, परिवारको समझनेके लिए हम अपनी बुद्धिको लगाते हैं, वैसे ही परमेश्वरको समझनेके लिए बुद्धि लगाना आवश्यक है। यदि कहो कि व्यापारमें बुद्धि लगानेसे धन मिलता है, व्यवहारमें बुद्धि लगानेसे यश मिलता है, किन्तु परमेश्वरमें बुद्धि लगानेसे क्या मिलता है तो इसका उत्तर है कि परमेश्वरकी पहचान जानेपर बिना मालका सुख मिलेगा, बिना परिश्रमके शान्ति मिलेगी, हर समय एक परमेश्वरका दर्शन होगा और यह जो तुम्हारी मनोवृत्ति 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' होती रहती है वह शान्त हो जायेगी। क्षणभरमें खुश हो गये, क्षणभरमें नाराज हो गये। दिनभरमें कितनी बार दुःखी और सुखी होते रहते हो, कितनी बार रोते और हँसते हो—इसकी कोई दैनन्दिनी है, कोई डायरी है? किन्तु यदि परमात्माका दर्शन हो जाये तो इस द्वन्द्वसे मुक्ति मिल जायेगी। इसलिए अपनी बुद्धि परमात्मामें लगाओ। मनुष्यके मनका प्यार यदि परमात्माके साथ जुड़ जाये तो संसारके सारे आकर्षण समाप्त हो जायें। जगह-जगह हमारा प्यारा बदलता रहता

है। हमें यह प्रिय है, वह प्रिय है। कोई यह सूची नहीं बना सकता कि उसके कितने प्यारे हैं, कौन-से स्पर्श प्यारे हैं? कौनसे संगीत प्यारे हैं, कौन-से स्वर प्यारे हैं, कौन-से रूप प्यारे हैं—इनकी गिनती ही सम्भव नहीं। इसलिए केवल एकसे प्यार करो और उसमें अपने मनको मिला दो। जहाँ-तहाँ भटकते रहनेसे तो कभी भी शान्ति नहीं होगी। धर्मका काम यही है कि वह दस जगह भटकने न दे। ब्याह हुआ तो पति-पत्नी एक हो गये, उनके मन मिल गये। मनको मर्यादित करना ही धर्मका काम है। यदि आप मनको मर्यादित नहीं करेंगे तो—'वाताहता नौरिवार्णवे' जैसे हवासे डगमगाती हुई नाव कहीं भी टिक नहीं सकती वैसे ही आपके मनको कहीं ठौर-ठिकाना नहीं मिलेगा। तो परमात्माको समझें और उसमें अपना मन लगा दें। यदि कभी मन न लगे, चंचल हो जाये, तो उस समय भी उसीपर आस्था करें और निश्चय रखें कि उसी परमात्मासे मिलना है। ऐसा करनेपर अवश्यमेव अपुनरावृत्तिकी प्राप्ति होती है। बारम्बार जाना और बारम्बार आना—जायस्व और म्रियस्व—पैदा हो और मरो—बनो और बिगड़ो—यह जो दुनियामें लगा हुआ है, यह जो अशान्ति है, इसका अन्त होना चाहिए। हम रागसे रँग जाते हैं, द्वेषसे जलने लगते हैं। इससे छुट्टी तभी मिलेगी जब परमात्माके स्वरूपका ज्ञान हो जायेगा। अपुनरावृत्तिका अर्थ है मोक्ष। लौट-लौटकर आनेका नाम पुनरावृत्ति है। हमारा मन लौट-लौटकर पीछे जाता है, पुनरावृत्ति करता है। जो कुछ दृश्यमान है—दीख रहा है, जो कुछ श्रूयमाण है—सुना जाता है, उसमें हमारा मन बारम्बार जाता है। और जो कुछ स्मर्यमाण है, याद आता है, उसमें अच्छे बुरेकी, अच्छाई-बुराईकी कल्पना करके हमारा मन सटता और हटता रहता है। इसलिए मनुष्यको अपना अदलने-बदलनेवाला मन संतुलित करना चाहिए। यह हमारे वैदिक धर्मकी, वेदान्तकी युक्ति है। इसकी साधना वैकुण्ठमें जाकर नहीं होती। वेदान्तका कहना है कि इस समय जो तुम हो, वहीं मुक्त हो। तुम न धनसे बँधे हो, न भोगसे बँधे हो और न कर्मसे बँधे हो। बिल्कुल छुट्टे छड़िंगे हो। तुम्हारी मौज हो तो किसीके साथ मिल लो। धन कमाया है तो उसका मजा ले लो। लेकिन याद रखिये कि यह चेतन आत्मा कहीं भी किसी जड़ वस्तुके साथ बँधी हुई नहीं। हमलोग बारम्बार बन्धनका अनुभव करते हैं और लौट-लौटकर यहीं आते हैं। इससे मुक्त होना अनिवार्य है। मुक्तिका अर्थ यह है कि आप जैसे धनके संग्रहसे सुखी होते हैं वैसे ही धनके त्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोग करके सुखी होते है वैसे ही ब्रह्मचर्यसे, भोगत्यागसे भी सुखी हों, जैसे भोजन-करके सुखी होते हैं वैसे ही उपवास करके भी सुखी हों, जैसे काम करके सुखी होते हैं वैसे ही काम छोड़कर शान्तिसे रहकर भी सुखी हो। आपके जीवनमें जो पराधीनता है, वह निवृत्त हो जाये। मुक्ति माने छुटकारा—पराधीनतासे, बन्धनसे। 'मानि-मानि बन्धनमें आयो'—मनुष्य अपनी मान्यताके अनुसार ही बँधा हुआ है। जो लोग लगे-लगे पीछे-पीछे डोलते हैं, उनको वह बन्धन कहाँ है? क्या तनमें कहीं रस्सी बँधी है? जीभ पकड़ी हुई है? नहीं, उनका मन ही बँधा है, पकड़ा हुआ है। मनको भी किसी दूसरेने नहीं, उनके मनमें स्वयं जाकर अपनेको पकड़वाया है। मुझसे एक बड़े बूढ़ेने स्वयं बताया कि यदि उस लड़कीसे हमारा ब्याह नहीं होगा तो मैं कूएँमें कूदकर मर जाऊँगा। उनके इतने ब्याह पहले हो चुके थे कि उनकी गिनती बताने लायक नहीं। प्रश्न यह है कि क्या वह लड़की उनको दु:ख दे रही थी? नहीं, वह लड़की दु:ख नहीं दे रही थी। लड़कीने तो कह

दिया था कि मैं तुम्हारे ऊपर थूकूँगी भी नहीं, ब्याह करनेकी तो बात ही क्या है? तो लड़की किसीको दु:ख नहीं देती, धन किसीको दु:ख नहीं देता, परिवार किसीको दु:ख नहीं देता, अपितु अपना मन ही जो संसारमें फँसा हुआ है, दु:ख देता है। किसीने आपको गाली दी तो क्या आपके कलेजेमें घुस जाती है? कहाँ जाकर लगती है? आप तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके स्वरूप हो, अपने स्वरूपको पहचानो। अपुनरावृत्ति माने यहीं होता है। मुक्त लोग तो कहते हैं कि इस दुनियाँमें दुहराने लायक कुछ है ही नहीं। हर सेंकेड, हर मिनट छूटता जाता है। लौटकर देखने लायक कुछ नहीं होता कि पीछे क्या छूट गया। जो पीछे छूट गया, वह लौटकर आयेगा नहीं और जो आगे आनेवाला है, उसको हम रोक सकते नहीं। जैसे घड़ी चलती है, पेण्डुलम चलता है, वैसे ही हमारा दिल चलता है। जो क्षण बीत गये सो बीत गये और जो आनेवाले हैं वे निश्चित हैं। उनके सिंहावलोकनकी कोई आवश्यकता नहीं। वह तो बड़े-बड़े कवियोंपर छोड़ दो। पीछे लौटकर याद करके मत रोओ अपने मनको आजकलकी भाषामें सन्तुलित रखो। पहले सन्तुलितके स्थानपर सम बोलते थे। तराजूका पलड़ा जब टेढ़ा होता है तब न्याय नहीं करता। आजकल कैसे तौलते हैं यह तो हमें मालूम नहीं, हमने बचपनमें देखा था कि तराजूकी डंडीके ऊपर एक रस्सी होती थी, उसको हाथसे पकड़कर तौला करते थे। हमने ऐसे तौलनेवाले भी देखे थे जो अपनी मुट्ठीको जरा-सी टेढ़ी कर देते थे और तराजू टेढ़ा हो जाता था। उसको डंडी मारना बोलते थे। तो हमारा यह मन भी दुनियाको तौलनेमें बड़ा भारी पक्षपात करता है, अन्याय करता है। वह, लेना हो तो दूसरे ढंगसे और देना हो तो दूसरे ढंगसे तौलता है। मैंने तो ऐसे भी बनियाँ देखे हैं जो झोलेमें तुलसीकी हजारा माला रखकर सीताराम-सीताराम जपते रहते और अपने बच्चोंसे बोलते कि बेटा! बनियेका सब फायदा तौलनेमें ही है। तो लेनेमें और तथा देनेमें और। माल दिलानेके लिए और तथा बेचनेके लिए और। पसन्द कराते दूसरी चीज और बेचते दूसरी चीज। यह सब शायद आज भी होता रहता है।

तो यह जो दो कसौटियाँ हमने अपने जीवनमें बना रखी हैं इससे हमारी समता भङ्ग हो गयी है। जिसके जीवनमें समता नहीं, मनमें सन्तुलन नहीं उसका जीवन, उसका मन सुखी नहीं रह सकता। इसलिए जीवनमें, मनमें समता या सन्तुलन आवश्यक है। तभी मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति माने दु:खसे, पराधीनतासे, अन्यायसे, वासनासे, संस्कारसे, अभिमानसे, अज्ञानसे मुक्ति। मुक्ति जीवनका एक ठोस सत्य है और दुनियामें ऐसा कोई नहीं जो बन्धनसे मुक्ति न चाहता हो। आपलोग जो मुक्तिका नाम सुनकर डरते हैं वह वैसे ही है जैसे कोई आपको परमानन्द दे रहा हो और आप उसमें यह शंका कर लें कि अरे राम, पता नहीं इसमें क्या होगा? मुक्ति तो यहीं है, हमारे जीवनमें है, आँखोंके सामने है। हम मरनेके बाद भगवान्‌के धाममें जायेंगे, तब हमें उनके नगरकी नागरिकता मिलेगी, उनके-जैसी पोशाक पहनेको मिलेगी, उनके दरबारमें बैठनेका मिलेगा, हम उनके खास मुसाहिबोंमें हो जायेंगे, हम उनके अन्दर समा जायेंगे, उनकी कचौरी बन जायेंगे, उनके समोंसे बन जायेंगे—यह मुक्तिका शास्त्रीय रूप नहीं। इसको तो भक्तलोग भी स्वीकार नहीं करते—'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना: ।' तो जीवनमें समता आनी चाहिए। यह गीताका खास सिद्धान्त है। गीता समतासे बहुत प्रेम करती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 5.18
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 5.19

ब्राह्मी स्थिति क्या है, इसपर विचार तो करो। क्या मरनेके बाद ब्राह्मी स्थिति होती है? आप लोग जो यह सुनते हो कि मरनेके बाद पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप, दिव्य स्वर्गराज मिलता है; हम उसकी चर्चा नहीं करते। हमारी दृष्टिमें तो पारमार्थिक स्थिति और जीवनके बीचमें मौतको ले आना एक अमंगल कल्पना है। यह सोचना कि बिना मरे हमारा परम कल्याण नहीं होगा, हमारे और परम कल्याणके मध्य मौत मौजूदा है, बड़ा भारी अपशकुन है। ऐसी बातको मनमें या मुँहपर लानेकी जरूरत ही नहीं। आवश्यकता तो यह देखनेकी है कि आपके इसी जीवनमें समता है कि नहीं? गीतामें कर्मयोगका वर्णन प्रारम्भ करते ही भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

आप यदि जीवनयुद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं तो आपको कभी सुख मिलेगा तो कभी दुःख। कभी आगे बढ़ोगे तो कभी पीछे हटना पड़ेगा। कभी अनुकूल होगा तो कभी प्रतिकूल। कभी तुम्हारे पक्षकी जीत होगी तो कभी सामनेवाले पक्षकी जीत होगी। कभी लाभ होगा तो कभी हानि होगी। कभी जय होगी तो कभी पराजय होगी। इस प्रकारकी परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ आपके जीवनसंग्रामकी—आपके कर्मयोगकी अनिवार्य है। अब आपको यह देखना है कि आपके अन्दर उनको सहनेकी कितनी शक्ति है। यदि आप यह सोचें कि जो आपको अच्छा नहीं लगता, वह दुनियामें न रहे, आपकी आँखोंके सामने न आवे, अथवा आपके मनमें उसकी याद न हो तो यह आपकी असम्भव कल्पना है। अरे भाई जिसकी स्मृति होती है होने दो, जो आँखोंके सामने आता है, आने दो और उसे रहने दो, किन्तु तुम जैसे हरीसन रोडकी भीड़में-से निकल जाते हो, वैसे ही निकल जाओ। इस दुनियामें राग-द्वेष करने लायक तो कुछ है ही नहीं।

अब ब्राह्मणकी बात लेते हैं। उसमें तीन बातें होनी चाहिए—**'यस्य त्रीण्यवदातानि योनिर्विद्या च कर्म च'**। वंश, विद्या और कर्म। जो रज-वीर्यसे शुद्ध हो अर्थात् जिसमें आधिभौतिक शुद्धि हो, विद्यासे सम्पन्न हो अर्थात् जिसमें आध्यात्मिक शुद्धि हो और दैवी उपासना करके अपने अन्दर अलौकिक गुणोंको जाग्रत कर चुका हो अर्थात् जिसमें आधिदैविक शुद्धि हो, उसका नाम ब्राह्मण होता है। जिस ब्राह्मणमें आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक शुद्धियाँ न हों, जो विद्या, विनय-सम्पन्न न हो, उस ब्राह्मणकी मनुजीने बड़ी निन्दा की है—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जैसे लकड़ीका हाथी होता है, चामका हिरन होता है, वैसे ही वह ब्राह्मण होता है, जो विद्या-विनयसे रहित है। वह तो केवल नामधारी ब्राह्मण है। उसको ब्राह्मण कहना भी उपयुक्त नहीं। यदि कोई ऐसे ब्राह्मण और श्वपाकको समान समझे तो इस सम्बन्धमें भगवान्ने जो बताया है उसका कोई अर्थ नहीं रहेगा। उनका आशय तो यह है कि सात्त्विक-सद्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण है, राजस गुणोंसे युक्त गाय है, तमोगुणसे युक्त हाथी तथा कुत्ता और कुत्ता खानेवाला है। ये सब अलग-अलग गुण स्वभाव और कर्मके है। इनको अलग-अलग देखते-देखते तुम्हारे दिलमें बोझ आ जायेगा। अत: जो सबमें एक है, उसको देखो।

'पण्डिता: समदर्शिन:'—गीतामें पण्डित और सम ये दोनों शब्द बारम्बार आते हैं। संस्कृत भाषामें पण्डित वह है जिसकी सदसद्विवेकिनी बुद्धि जाग्रत हो गयी हो—'सदसद्विवेचिनी बुद्धि: पण्डा सा संजाता अस्य इति पण्डित:'। जिसके अन्त:करणमें सच और झूठ, अच्छा और बुरा—इसका विवेक करनेवाली बुद्धि जाग गयी है, उसका नाम होता है पण्डित। परन्तु श्रीकृष्णने पण्डितकी जो पहचान बतायी, वह आपने प्रारम्भमें ही पढ़ ली है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:

जो शोकसे मुक्त है, उसका नाम है पण्डित। अरे भाई, जो मर गये हैं, उनके लिए शोक करना तो अपना दिल व्यर्थ खोना है। अच्छा तो जो जिन्दा हैं, उनके लिए शोक करें? नहीं, जो जिन्दा ही हैं उनके लिए शोक क्या? गतासून्—जो मर गये और अगतासूंश्च जो जिन्दा हैं, उनके लिए विद्वान् पुरुष-पण्डित पुरुष शोक नहीं करता। तो वास्तवमें पण्डित वह है, जिसको शोक नहीं छूता—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

यह भारत-सावित्री है, महाभारतकी गायत्री है। जैसे वेदमें गायत्री है, वैसे ही महाभारतमें गायत्री है। महाभारतमें गायत्रीके चार श्लोक है, उनमें-से एक यह है। इसका अर्थ है कि जो मूढ़ पुरुष हैं वे ही दिनभरमें हजार बार शोकग्रस्त होते हैं और हजार बार डरते हैं। शोक और भयसे ग्रस्त होना मूढ़ताकी पहचान है। ऐसा इसीलिए होता है कि वह कहीं-न-कहीं मोहमें फँस जाता है। वह गये हुएको छोड़ना पसन्द नहीं करता। इसी प्रकार हमारा कोई अनिष्ट न कर दे—इस डरसे ग्रस्त रहता है। मनका भविष्यमें जाना भयकी सृष्टि करता है और भूतमें जाना शोककी सृष्टि करता है। बीती हुई अच्छी-बुरी बातोंको याद करनेसे शोक और आनेवाली अच्छी-बुरी बातोंका ख्याल करनेसे भय आता है। आनेवाली अच्छी बातका ख्याल होनेपर यह आशंका होती है कि कहीं कोई अड़चन न पड़ जाये और बुरी बात आनेवाली दिखे तब तो भय होता ही है। किन्तु इस प्रकारके शोक और भय मूढ़को ही होते हैं। पण्डितकी पहचान यह है कि वह निर्भय, निर्द्वन्द होकर शेरकी तरह अपने रास्तेपर चलता है। उसको न पीछेका शोक होता है, न आगेका भय होता है और न वर्तमानसे मोह होता है। पण्डितकी एक पहचान यह भी बतायी कि—'पण्डिता: समदर्शिन:' पण्डित समदर्शी होता है। वह दिन और रात दोनोंको अलग-अलग देखता तो है लेकिन दोनोंको

काल समझता है, दोनोंमें कालको देखता है। रात होनेसे कुछ नुकसान हो गया और दिन होनेसे कुछ फायदा हो गया अथवा दिन होनेसे कुछ नुकसान हो गया और रात होनेसे कुछ फायदा हो गया—यह पण्डितकी दृष्टिमें नहीं। उसके लिए तो दिन और रात बराबर हैं, पूर्व और पश्चिम बराबर हैं। देखो, ब्रह्म सबमें एक है और बराबर है। ईश्वर सबमें एक है और बराबर है। प्रतीति सबमें एक है और बराबर है। माया सबमें एक है और बराबर है। पञ्चभूत सबमें एक हैं और बराबर हैं। तो पण्डितकी पहचान ही यह है कि उसके दर्शनमें समता होती है। गीतामें पण्डितकी एक और यह पहचान, खासकर पहचान नाम देकर बतायी गयी है जो आपके ध्यानमें होगी—

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।

विद्वान् लोग पण्डित उसको कहते हैं जिसके ज्ञानकी आगमें कर्म जलते जाते हैं। जो कर्मोंका संस्कार ग्रहण करके स्वयंको पुण्य या पापके बोझसे लाद नहीं देता उसका नाम होता है पण्डित। पण्डित वह है जो दुनियामें बड़े-छोटेका भेद होनेपर सबमें समभाव रखता है। आपकी आँखें देखनेका काम करती है और नाक सूँघनेका करती है। दोनोंके काम अलग-अलग हैं, पर दोनों आपके ही शरीरके अंग है। क्या आप आँखकी रक्षा करते समय नाक कट जाने देंगे? दोनोंमें जो शरीर-बुद्धि है यही एकत्व है, समत्व है। इसी तरह संसारकी सभी वस्तुओंमें एक परमात्माका जो दर्शन है, वही सच्चा दर्शन है, समदर्शन है। वह छोड़ने योग्य नहीं। यदि कहा कि व्यवहारकी रीति तो यह है कि जो बड़ा हो उसे छोटा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए और जो छोटा हो उसे बड़ा समझकर सिरपर नहीं बैठाना चाहिए।

हमारे धर्मसूत्र कहते हैं कि अपूज्यकी पूजा नहीं करनी चाहिए और पूज्यका अनादर नहीं करना चाहिए। फिर समदर्शनका तात्पर्य क्या है? उसका तात्पर्य ब्रह्मदृष्टि है, व्यवहारदृष्टि नहीं। व्यवहारमें तो अपना पुत्र प्रणाम करे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिए और अपना पिता सामने आ जाय तो उसके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करना चाहिए। यह व्यवहारधर्म है। किन्तु प्रणाम करनेवाले पुत्रमें भी परमात्मा है और जिस पिताको प्रणाम किया गया उसमें भी परमात्मा है। परमात्मा तो दोनोंमें ही है। बल्लभाचार्यजी महाराजके सात बेटे हुए। वे सातोंको परमेश्वरका स्वरूप समझते थे और मानते थे कि मेरे घरमें पुत्ररूपमें साक्षात् परमेश्वर आये हुए हैं। यह भी एक दृष्टिकोण है। बेटा छोटा है या बड़ा—यह ख्याल नहीं। ख्याल यही है कि इसके भीतर वही परमेश्वर है। पितामें भी परमेश्वर है, मातामें भी परमेश्वर है। यदि आप यह मान लें कि पत्नीके रूपमें लक्ष्मी ही आयी हैं तो लक्ष्मीनारायण कोई दो होते हैं? कन्यादानके समय हमारे भारतीय लोग, हिन्दूधर्मके अनुयायी लोग संकल्प करते हैं कि—

लक्ष्मीरूपिणीं इमां कन्यां श्रीधररूपाय तुभ्यं वराय सम्प्रददे

हमारी कन्या लक्ष्मी है और तुम श्रीधर है। इस प्रकार आप सब श्रीधर हुए और ये सब लक्ष्मी हुईं। यह कितनी उदार दृष्टि है कि सबमें एक ब्रह्म है, ईश्वर है, माया है, प्रतीति है, प्रकृति है, पञ्चभूत है। सबमें एक ही बैठा हुआ है।

तो इस सृष्टिपर विजय किसने प्राप्त की, इसका उत्तर गीता देती है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। 5.19

यदि आप लाभ-हानिमें समता, सुख-दुःखमें समता और जय-पराजयमें समता रखकर अपना दिल ठीक रखते हैं तो दुनियाका कोई भी परिवर्तन आपको प्रभावित नहीं कर सकता। हमने तो ऐसा देखा है कि जो लोग जुआ खेलते हैं वे भी हार और जीतमें समान रह जाते हैं। कहते हैं कि आज गया तो कल आवेगा और कल गया तो आज आवेगा। वे खुश होकर लाखों खोते हैं, लाखों कमाते हैं और हानि-लाभमें एक-सरीखे रहते हैं। जब एक जुआरी अपने मनको इतना पकड़कर रख सकता है तो आप-जैसे पुण्यात्मा, भगवद्भक्त परमार्थके सत्सङ्गी और परब्रह्म परमात्माको जाननेवाले सज्जनोंके हृदयमें सन्तुलन आनेमें क्या बाधा पड़ती है? गीता कहती है कि पापी-पुण्यात्मा दोनोंके प्रति आपके चित्तमें समता ही रहनी चाहिए—राग-द्वेष नहीं। आप गीता पढ़ते हैं तो यह श्लोक ध्यानमें रखिये—

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।

यदि एक पुण्यात्मा है और दूसरा पापी—तो रहने दीजिये। पापी नरकमें जाता है तो जाने दीजिये। आप दिल क्यों बिगाड़ें? यदि हम पापीको देखकर सोचने लगें कि यह कुम्भीपाक नरकमें जायेगा तो हमारा दिल भी कुम्भीपाक नरक हो जाता है। हमारी वृत्ति कुम्भीपाकाकार हो जाती है। इस प्रकार यदि हम सोचने लगें कि अमुक पुण्यात्मा स्वर्गमें जायेगा तो हम भी मनसा स्वर्गमें पहुँच जाते हैं। इस प्रकारकी चिन्तासे हमारा वर्तमान जीवन विस्मृत हो जाता है और हम तदाकार हो जाते हैं। इसलिए पापीको देखकर नरकमें और पुण्यात्माको देखकर स्वर्गमें मत जाओ, अपितु अपने दिलको जहाँ-का-तहाँ रखो।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

कर्ममें भी समता होती है। आपलोग गीता पढ़ते हैं तो अपने जीवनकी गतिको समतासे सम्पन्न बनावें। आपकी मोटर चलती है और बार-बार हिचकोले लगते हैं तो आपको उसकी गति अच्छी नहीं लगती। पहले हम राजस्थानकी ट्रेनोंमें यात्रा करते थे तो हमारा कमण्डलु गिर जाता था, हम स्वयं बैठे नहीं रह पाते थे, कभी ऊपर तो कभी नीचे हो जाते थे। वह यात्रा अच्छी नहीं लगती थी। अब भी कोई ड्राइवर मोटर चलाता है और बार-बार ब्रेक लगाता है तो धक्का लगता है। इसी प्रकार हमारे जीवनकी गाड़ी चल रही है, बारम्बार ब्रेक लग जाता है, बारम्बार मोड़ना पड़ता है, इसमें समता आनी चाहिए। जीवनमें समत्व आना अत्यन्त आवश्यक है। सर्दी आती है, गर्मी आती है। आपलोगोंने देखा होगा, कोई-कोई साधु ठण्डके दिनोंमें, रातके समय भी नंगे रहते हैं। इसीप्रकार गर्मीके दिनोंमें वे धूप सहते हैं, गर्मी सहते हैं। जो रातकी ठण्ड सह लेगा, वह दिनकी गर्मी भी सह लेगा। वह सहन-शक्ति समत्वसे ही आती है—'शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।' गीतामें इसका उल्लेख कई बार हुआ है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

सड़कपर न जाने कितने अच्छे-बुरे चलते रहते हैं, उनको चलने दो। तुम अपना दिल न बिगाड़ो। यह दुनियामें सबसे कीमती वस्तु है। इसीका नाम अध्यात्म है। इसीको ठीक रखनेका नाम समत्व है।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः

मान और अपमान मित्र और शत्रु दोनों बराबर हैं। आपका मित्र आता है तो आपके चेहरेपर मुस्कान आती है, ठीक है। किन्तु आप यह भी ध्यान रखें कि जब आपका शत्रु सामने आये तब भी मुस्कान आजाये। यदि शत्रुको देखकर आपके चेहरेपर मुस्कान आजाय तो समझिये कि समता आ रही है। मुस्कान हँसी उड़ानेके लिए नहीं, खुशीकी, सुखकी होनी चाहिए। आप समागत शत्रुसे प्रेमपूर्वक मीठी-मीठी बात कीजिये। वह जा रहा तो कुछ दूर उसको छोड़ने जाइये, वह बैठना चाहे तो अपनेसे ऊँचे आसनपर बैठाइये। यदि पलंगपर बैठाना चाहे हो तो सिरहानेकी तरफ बैठाइये। ऐसा करनेपर आप देखेंगे कि आपका हृदय कितना सुन्दर कितना स्वस्थ होता है। एक बात आप ध्यानमें रखो, यह व्यापारकी ही बात है। हम लोग भी एक प्रकारसे व्यापारी ही हैं। बात यह है कि यदि आप किसी फायदेकी खुशीमें व्यापार करेंगे और मान लेंगे कि आगे भी फायदा होता जायेगा तथा विचार करना छोड़ देंगे तो नुकसान उठावेंगे। कभी घाटा होनेसे घबड़ाकर कदम उठावेंगे तब भी आपका व्यापार गलत होगा। अतः न तो इतने खुश हो जायें कि कदम गलत पड़े और न इतने घबरा जायें कि कदम गलत पड़े। हमने देखा है जब किसी व्यापारीको घाटा होता है तो वह कहता है कि अभी एक रातमें करोड़पति हो जाऊँगा और ऐसे-ऐसे सौदे कर लेता है जिससे उसकी हालत पहलेसे भी खराब हो जाती है। इसलिए घबराहटमें, उतावलीमें कोई काम नहीं करना।

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ 5.20

यदि मनका काम हो जाये, मनकी चीज मिल जाये, मनका आदमी मिल जाये तो बहुत हर्ष नहीं करना चाहिए। यदि प्रसन्नता प्रकट करनी ही हो तो सन्तुलित करनी चाहिए। आज तो सुनते हैं कि मुस्कराहटकी कला भी सिखायी जाती है। यह बताया जाता है कि आप कभी मुस्करायें तो आपका ओठ किस कोणपर टेढ़ा हो, नहीं तो मुस्कराहट गलत हो जायेगी, आपका मुँह बिगड़ जायेगा। कितना मुस्कराना, कितना हँसना कि पड़ोसीकी नींद ही हराम न हो जाये। हँसीमें भी सन्तुलन चाहिए। इसी तरह फुक्का फाड़कर, फफक-फफककर रोना भी नहीं चाहिए। रोनेपर भी आपका काबू होना चाहिए, नियन्त्रण होना चाहिए। जहाँ रोना चाहिए वहाँ जरूर रो लीजिये। किसीके घरमें मातमपुर्सी करने जाइये तो थोड़ी देर रो लीजिये। इसमें कोई हर्ज नहीं। रोनेकी भी कई रीतियाँ हैं। कुछ लोग जुबानसे, कुछ चेहरेसे, कुछ बोलकर और कुछ बिना बोले भी रोते हैं। लेकिन यदि आप एक साथ दो घरमें जानेके लिए निकले हैं—एक घरमें कोई मरा है और दूसरे घरमें बेटा हुआ है, तब क्या करेंगे? जिसके घरमें मातमपुर्सी करनी है वहाँ मातमपुर्सी कीजिये और जिसके घरमें खुशी

मनानी है, वहाँ खुशी मनाइये। आप एक हैं, जैसा निमित्त सामने आये वैसा बरत लीजिये। लेकिन एकके दु:खमें इतने दु:खी न हो जायें कि सुखीके घर जाकर भी दु:ख प्रकट करने लगे और दूसरेके सुखमें इतने सुखी न हो जायें कि दु:खीके घरमें सुख प्रकट करने लगें। अपने आपको स्वस्थ और तटस्थ रखनेका नाम ही मुक्ति है। आप उस दु:खीसे भी मुक्त है जिसके घरमें दु:ख प्रकट करने गये थे और उस सुखीसे भी मुक्त हैं जिसके घरमें सुख प्रकट करने गये थे। इसीजिए किसी कविने कहा है—

सबसे मिलिए सबसे जुलिए लीजिए हरिका नाँव।
हाँजी हाँजी कहते रहिए बैठिए आपने ठाँव॥

हम जो लोगोंसे मिलकर, वस्तुओंसे मिलकर अपने आपको, ईश्वरको खो देते हैं, यही हमारा सबसे बड़ा दु:ख है और इसीका नाम बन्धन है। जो सबसे मिलता-जुलता हुआ भी अपने आपको सँभाल कर रखता है, उसका नाम मुक्त है। यह नहीं कि दुनियाकी सब बढ़िया-बढ़िया चीजें आपके खानेके लिए आपके भोगनेके लिए हैं। कई लोग पूछते हैं कि बढ़िया चीजोंको खाने और भोगनेसे शास्त्र क्यों मना करता हैं? इसीलिए मना करते हैं कि उन बढ़िया चीजोंके प्रति आपका राग है और आप उनको हड़पने जा रहे हो। राग-प्राप्त वस्तुके लिए ही तो निषेधकी आवश्यकता होती है। द्वेष-प्राप्त वस्तुको तो आप स्वत: छोड़ते जा रहे हैं। कौन सबेरे उठकर स्नान, ध्यान या अन्य सत्कर्म करे। यह आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए शास्त्र विधान करता है कि आपको प्रात:काल स्नान-ध्यान तथा अन्य सत्कर्म करना चाहिए। जब अच्छी चीज आपको नापसन्द है और बुरी चीज पसन्द होती है, तब शास्त्रका जो आदेश है उसे उपयोगी समझकर उसका पालन करना चाहिए।

आप क्या अपनेको ईश्वर अनुभव करते है कि आपके मनके खिलाफ कुछ न हो? आप ईश्वर नहीं, ब्रह्म है; या तो निर्विशेष ब्रह्म हैं या जीव हैं। इसलिए आपके मनके विरुद्ध कुछ हो ही नहीं, यह नहीं हो सकता। पुरुष कहे कि मन हमारा हो और स्त्री हमारे मनसे चले। मन हमारा और चलनेवाला दूसरा, यह अन्याय नहीं चल सकता। कबतक तुम दूसरोंको गुलाम बनाकर रखना चाहोगे कि वे तुम्हारे मनके अनुसार चलें? तो मनको स्वस्थ, सुन्दर बनाना पड़ेगा। जिस तरह मनमें प्रहर्षसे असुन्दरता आती है, उसी तरह उद्वेगसे भी आती है। आप एक कसौटी देखो। अपनी निन्दा सुनकर आपका मन कैसा होता है—'निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्।' यदि निन्दासे असन्तुलन हो गया तो आपसे काम बनानेवाले आपकी कमजोरीको पहचान लेंगे और आपकी जीहजूरी, चापलूसीसे अपना काम बनानेका प्रयास करेंगे। वे आपसे अनुचित काम भी करा लेंगे। आपके जीवनमें सन्तुलन नहीं रह जायेगा, वह एक ओर झुक जायेगा। आप तारीफ, चापलूसी और जीहजूरीकी तरफ झुक जायेंगे अर्थात् पसन्द करने लगेंगे। यह स्थिति अच्छी नहीं। किसीने कह दिया कि कौआ कान ले गया और डण्डा लेकर दौड़ पड़े कौएके पीछे। यह नहीं देखते कि हमारे कान हैं कि नहीं? हमारा कान अगर सही-सलामत है तो कौआ कैसे ले गया? तो निन्दा करनेवाले हजार निन्दा करें, यदि आपके अन्दर दोष नहीं, तो निन्दकोंकी निन्दा तो अपने-आप ही खत्म हो जायेगी। किन्तु यदि आप अच्छे नहीं और आपकी कोई तारीफ करता है, तो वह तारीफ आपके भीतर टिकेगी नहीं और आपका दोष जहाँ-का-तहाँ रह जायेगा। अत: 'न

प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य।' यदि प्रिय शब्द, प्रिय कर्म, प्रिय व्यक्ति और प्रिय भोग मिलें तो हर्षसे फूल नहीं जाना चाहिए। क्योंकि फूल जाना—सूज जाना भी एक दोष ही है। इसी तरह—'नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।' नापसन्द चीज मिले तो उद्विग्न नहीं होना चाहिए। 'स्थिरबुद्धिरसंमूढो'—बुद्धिमें, ज्ञानमें यहाँतक प्रतिकूल परिस्थितिमें भी स्थिरता चाहिए। और अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति आनेपर भी उसमें सम्मूढ़ न हों तो ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष इसीको जीवन्मुक्ति कहते हैं।

अब एक बात आपको और सुना दें। जो लोग चार, छह या आठ तरहकी मुक्ति मानते हैं—जैसे यह सद्योमुक्ति है, यह क्रममुक्ति है, यह जीवन्मुक्ति है, यह परलोकमुक्ति हे, यह सालोक्यमुक्ति है, यह सामीप्यमुक्ति है, यह सारूप्यमुक्ति है, यह सायुज्यमुक्ति है, यह सार्ष्टिमुक्ति है, यह एकत्वमुक्ति है—वे मुक्तिके रहस्यको बिल्कुल नहीं जानते। मुक्ति केवल एक है और वह है नासमझीसे, अज्ञानसे निवृत्ति। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित, मोह-निवृत्तिसे उपलक्षित अपने आत्माका नाम ही मुक्ति है, मोक्ष है। निस्सन्देह मैं मुक्त हूँ, मुक्ति हूँ—तब जब कि नासमझीसे पिण्ड छूट गया। गीता, शास्त्र, वेद, उपनिषद् और श्रीकृष्ण—ये सब हमको नासमझीसे छुड़ानेका प्रयास करते हैं। ये न पूजा करवाना चाहते हैं, न माला फिरवाना चाहते हैं। प्राणायामके द्वारा न दम घुटवाना चाहते हैं, न आँख बन्द करके ध्यान लगवाना चाहते हैं और न समाधि लगवाना चाहते हैं। केवल इतना चाहते हैं कि आपके भीतरकी जो नासमझी रह-रहकर आपको दुःख दे रही है वह मिट जाये। सत्सङ्गका फल केवल आपकी नासमझी मिटाना है। शास्त्रका यह तात्पर्य नहीं कि आपको कहीं अन्यत्र ले जाये, आपको कहीं अन्यत्र पहुँचा दे या आपको कुछ और बना दे।

●

प्रवचन : 10

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ 5.20
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ 5.21
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 5.22
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

जैसा कि कल भी बताया गया भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप प्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त हर्षित और अप्रियकी प्राप्ति करके अत्यन्त उद्विग्न न हों। इसमें एक बातपर आप ध्यान दीजिये। वह यह है कि प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिको मना नहीं किया गया, केवल हर्ष और उद्वेगको मना किया गया है। सत्पुरुष अथवा श्रेष्ठ पुरुषकी जो पहचान बतायी गयी है, उसमें यह नहीं कहा गया कि उसके जीवनमें प्रिय-अप्रिय नहीं आते। यह तो स्वाभाविक ही है कि जो उसके मनके अनुकूल होगा वह प्रिय होगा और जो उसके मनके प्रतिकूल होगा वह अप्रिय होगा। संसारमें सबके प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, और अनुकूल-प्रतिकूल होते रहते हैं। निर्माण तो केवल अपने मनका करना होता है, बाहरकी परिस्थितियोंका नहीं। यही आध्यात्मिक साधना है। साधक अपने मनको ही इतना पक्का कर लेते हैं कि चाहे जैसा आवेगा वैसा सहते जायेंगे, सँभालते जायेंगे, पार करते जायेंगे। यदि अपना हृदय ही अपने काबूमें नहीं रहा, उसमें शोथ हो गया तो फिर हम क्या कर सकते हैं? जिस प्रकार शरीरमें शोथका रोग होता है, उसी प्रकार जब संसारकी प्रिय वस्तुओंके प्राप्त होनेपर हृदय फूल जाये, तब समझिये कि वह रुग्ण हो गया। इसी तरह अप्रियकी प्राप्ति होनेपर जब हृदय सूख जाता है तब भी वह रोगी हो जाता है। ये सब मानस रोग है। इसलिए अप्रिय घटना घटित होनेपर, अप्रिय वस्तु या व्यक्ति मिलनेपर, अनचाही परिस्थितियाँ प्राप्त होनेपर मनुष्यको उद्वेग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त हर्ष अथवा अत्यन्त उद्वेगमें बुद्धि ठीक काम नहीं करती। बहुत घबराहटमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है और बहुत खुशीमें भी बुद्धि बिगड़ जाती है। शास्त्र किसीका हाथ पकड़कर काम करानेके लिए नहीं होते। ये न किसीका हाथ पकड़ते हैं और न किसीसे हाथ पकड़कर काम कराते हैं। 'वचनं ज्ञापकं न तु कारकम्'—वचन केवल आपको ज्ञान दे सकता है, आपसे काम करवा नहीं सकता। समष्टिमें प्रिय-अप्रियकी जो परिस्थितियाँ आती हैं, वे कुछ तो प्रकृतिसे आती हैं, कुछ प्रारब्धसे आती हैं, कुछ समाजसे आती हैं, कुछ ईश्वरसे आती हैं और कुछ अनिवर्चनीय अचिन्त्य कारणसे आती हैं। संसारमें सब कुछ हमारे ही करनेसे नहीं होता। इसलिए इसमें अपनेको ऐसा बना लेना चाहिए कि अत्यन्त हर्षमें फूल न उठें और अत्यन्त उद्वेगमें क्लान्त न हो जायें, श्रान्त न

हो जायें, गिर न जायें। सौ बातकी एक बात यह है कि हमारी बुद्धि बनी रहनी चाहिए, डाँवा डोल बुद्धिसे काम नहीं चलता। भली-भाँति ऊहापोह और पूर्वापर अर्थात् पहले-पीछेका विचार करके, अपने मनमें स्थिरता लानी चाहिए। निश्चय शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें होता है निचोड़ जगह-जगहसे चुन-चुनकर एक निष्कर्ष, एक निचोड़ निकालनेका नाम निश्चय होता है। चय माने चयन और नि: माने नि:शेषतया। जैसे कम्प्यूटरमें सारा विवरण ठीक-ठीक डाल दें तो वह उत्तर देता है वैसे ही हमारी बुद्धि भी भूत, भविष्यका पूर्णतया विचार करके किसी निश्चयपर पहुँच जाय तो वह स्थिर बुद्धि होती है।

दूसरी बात बतायी 'असंमूढ़'की। कहीं अटको मत, कहीं भटको मत। कहीं सटो मत,कहीं हटो मत। कुछ सटाओ मत, कुछ हटाओ मत। कहीं भी अपने मनमें सम्मोह नहीं होना चाहिए। जो कुछ भी पकड़ें विचारपूर्वक पकड़ें और जो कुछ भी छोड़ें विचारपूर्वक छोड़ें। मोहसे न तो पकड़ें और न मोहसे छोड़ें। क्योंकि मोह तमोगुण है, मोह मनुष्यको अन्धा बना देता है और मोहसे विचार नष्ट हो जाते हैं, भाई-भतीजेका पक्षपात भी मोह है, रिश्तेदार-नातेदारका पक्षपात भी मोह है। उससे बुद्धिमें न तो स्थिरता आयेगी और न असम्मोह आयेगा। भगवान्को मूढ़ पसन्द नहीं—'गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।' परमात्माकी प्राप्ति उसको होती है जो अमूढ़ होता है अर्थात् जो मूढ़ नहीं होता। पापोंसे वही छूटता है जो असंमूढ़ होता है— 'असंमूढ़: स मर्त्येषु सर्वपापै: प्रमुच्यते।' संमूढ तो पापोंमें फँसता ही जाता है अत: 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित:' जो अनन्त है, अपने आत्मासे अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, उसको जानना चाहिए। उसको जानते ही उसमें स्थिति हो जायेगी—'यो हि ब्रह्मविद् भवति स ब्रह्मणि स्थितो भवति'—इसका अर्थ यह है कि आत्मा ब्रह्म है, निश्चितरूपसे ब्रह्म है परन्तु हम जानते नहीं कि ब्रह्म क्या है इसलिए अपनेको दूसरा समझते हैं, दूसरा मानते हैं। जीवनकी यह एक भूल है कि अपनेको सबसे, सर्वात्मासे एक न समझकर केवल देहसे एक समझते हैं। जिसमें सबका भला है उसीमें अपना भला है। सच्चा आत्महित सर्वहितमें और सच्चा सर्वहित आत्महितमें ही है। इसलिए अपने और परायेको अलग करके जो भलाईकी बात सोची जाती है, वह गलत होती है। उससे केवल हानि होती है, लाभ नहीं होता। पहले लाभ मालूम भी पड़े तो पीछे उससे जो हानि होनेवाली है, वह मालूम पड़ती है। अपने-परायेका जो डर बैठा है, वह झूठा है। आप डरते इसलिए हैं कि अपना पेट अलग और दूसरेके पेटको अलग मानते हैं। पेटके कारण ही अलग-अलग लोगोंके मनमें अलग-अलग डर पैदा होता है। यदि सबके पेटमें एक परमात्मा है—यह बात ध्यानमें बैठ जाये, ज्ञानमें आजाये, इसका निश्चय हो जाये तो आप देखेंगे सबमें आप हैं और आपमें सब। सच्चा सुख मनुष्यको तभी मिलता है, जब भेद-भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है। भेद-भाव तो सर्वथा बाह्य है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ 5.21
ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध:॥ 5.22

पहली बात यह है कि बाहरसे आकर जो वस्तुएँ हमें स्पर्श करती हैं, उनमें हम आसक्त न हों। स्पर्शको संस्कृतमें त्वाचप्रत्यय कहते हैं। त्वचासे जिसका अनुभव होता है उसे त्वाच कहते हैं। दुनियामें हम जिन चीजोंको टच करते हैं और दुनियाकी जो चीजें हमको टच करती हैं, चिपकती है उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए कि हमको यही मिले, यही मिले। आप लोग तो बड़े अनुभवी हैं, जानकार हैं, सब समझते हैं। एक सज्जन इसलिए दु:खी हो रहे थे कि पहले वे लाख रूपयेकी मोटरपर चलते थे, अब उन्हें तीस पैंतीस हजारकी मोटरपर चलना पड़ता है। ड्राइवर है, दूसरी मोटर है, मकान भी है; परन्तु वे दु:खी इस बातसे हैं कि उनकी वह लाख रूपयेवाली मोटर अब नहीं रही। उनकी धारणा है कि जब वे लाख रूपयेवाली मोटरपर चलते थे, तब बड़े आदमी थे, किन्तु अब छोटी मोटरमें चलते हैं तो छोटे आदमी हो गये हैं। यहाँ आदमी बड़ा नहीं हुआ मोटर बड़ी हो गयी। उसके सामने आदमीका बड़प्पन खतम हो गया।

महात्मा गांधीजीने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि जो बढ़िया कपड़ा पहनता है, वही सबसे बड़ा नहीं होता जो गाढ़ा (खद्दर) पहनता है वह सबसे बड़ा होता है। साधुओंने ऐसी-ऐसी स्थापना कर दी कि सवारीपर चलनेवाला साधु बड़ा नहीं, जो पैदल चले, वह साधु सबसे बड़ा। यह सब अपनी-अपनी मान्यताएँ होती हैं और जितनी मान्यताएँ पराधीन करनेवाली होती है, वही गलत होती है। जहाँतक जीवनमें स्वावलम्बन है, स्वाधीनता है, वहाँतक श्रेष्ठ है। अत: जो बाह्य स्पर्श हैं, इनमें कभी अपने मनको आसक्त न होने दें, सटने न दें; वे आयें और जायें—आयें और जायें।

तब मनुष्य सुखी कैसे होगा? 'आत्मनि यत् सुखम् तत् विन्दति'—अर्थात् मनुष्यके भीतर जो सुख है, उसी सुखका वह आस्वादन करता है, उसीका लाभ प्राप्त करता है। देखो एक स्त्री है जो पुरुषको देखकर सुखी होती है और एक पुरुष है जो स्त्रीको देखकर सुखी होता है। परन्तु वे स्त्री-पुरुष यह नहीं जानते कि उनके अन्दर क्या सुख है, जो एक दूसरेको देखकर सुखी हो रहे हैं। वस्तुत: धनी तो वह स्त्री है, जिससे पुरुषको सुख मिल रहा है और धनी वह पुरुष है जिससे स्त्रीको सुख मिल रहा है। परन्तु हमें अपनेमें सुख नहीं दिखायी पड़ता। हम अपने बारेमें अन्धे हो जाते हैं और दूसरोंके सम्बन्धमें सोचने लगते हैं कि अमुकमें बड़ा सुख है, अमुकमें बड़ा स्वाद है और अमुकमें बड़ा आनन्द है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह बताता है कि आप अपनी ओर देखिये, अपनेको देखना सीखिये। उपनिषद्का कहना है—'आत्मानं मन्वीत'—अपना मनन करो। 'आत्मानं पश्येत्, आत्मन्ये-वात्मानं पश्येत्'—अपने हृदयमें अपने-आपको देखो। तुम स्वयं ऐसे सुख हो जो दूसरेमें सुख मानकर भटक रहे हो, लटक रहे हो। इससे तुमने अपना तिरस्कार कर दिया है और दुनियामें सबसे बड़ा पाप है अपने हृदयमें बैठे हुए आत्मदेवका, परमात्माका तिरस्कार करना। 'आत्मनि यत् सुखं विन्दति'—जब हम बाहरसे सुख लेना छोड़ देते हैं, बाहरकी वस्तुओंमें जो आसक्ति है, उससे मुक्त हो जाते हैं तब हमारे भीतरका सुख प्रकट होता है। सच्चा सुख मिलनेमें बाधा बाह्य वस्तुओंका आकर्षण हैं। हमने एक सज्जनके घरमें देखा, नौ कुत्ते थे। एक-एक कुत्तेपर इतना खर्च होता था कि उससे नौ बालकोंको एम.ए. कराया जा सकता था। हमारा

कुत्तोंसे कोई बैर नहीं, न हम कुत्तोंकी निन्दा ही करना चाहते हैं। हम तो यह कह रहे हैं कि वे सब कुत्ते पूँछ हिला-हिलाकर उनके ऊपर चढ़ते थे, उनको चाटते थे। वे भी एकबार आइसक्रीम अपने मुँहमें डालें तो दूसरी बार कुत्तोंके मुँहमें डालें। दोनों मिल-मिलाकर आइसक्रीम खाया करते थे! कुत्ते उनसे इतना प्यार करते थे कि उनके कन्धेपर चढ़ जायँ, उनकी छातीसे लग जायँ, उनको चाट लें। कुत्तोंको उनके भीतर कोई सुख दिखायी पड़ता होगा, किन्तु कुत्तोंकी आँखें उनके अन्दर जितना सुख देख पाती थी उतना सुख वे अपने अन्दर नहीं देख पाते थे। इसको आप क्या बोलेंगे? यही न कि मनुष्य अपने भीतर नहीं बाहरकी ओर देखता है।

'पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'—ब्रह्माजीने हमारे इन्द्रिय ऐसे बनाये कि ये दूसरेको देखते हैं, अपनेको नहीं देखते। आपकी आँखें बहुत अच्छी हैं परन्तु क्या उसने अपनी ही पुतली देखी है? आँखोंमें जो श्याम तिल है, इसने क्या कभी अपने आपको देखा है? तो आपकी दृष्टि-शक्ति अपनी आँखकी काली पुतलीको नहीं देख पाती, दूसरेकी भले देख ले। इसका मतलब हुआ कि जो सबसे नजदीक होता है, वह दिखायी नहीं पड़ता। भागवतमें बड़ी चतुराईके साथ यह बात कही गयी है कि जब हिरण्यकशिपु गदा लेकर भगवान् विष्णुको मार डालनेके लिए ढूँढ़ने लगा तो वे डर गये और उन्होंने यह सोचकर कि यदि मैं बाहर रहूँगा तो वह मुझे मारेगा, उसीके दिलमें घुस गये। जब वे उसके दिलमें बैठ गये तो हिरण्यकशिपु उनको पा नहीं सका। उसने समझा कि विष्णु मर गया। विष्णु नामकी कोई चीज दुनियामें है ही नहीं। मैंने इञ्च-इञ्च, कण-कण, क्षण-क्षण ढूँढ़कर देख लिया, कहीं भी विष्णु नामकी वस्तु नहीं। यह समझकर हिरण्यकशिपु लौट गया। तो जो चीज सबसे नजदीक होती है, बिल्कुल अपने पास होती है, सबसे ज्यादा अपनी होती है वह नहीं दिखती। कहा भी है—'घर आये नाग न पूजहिं बाँबी पूजन जाहिं।' जो लोग गंगाजीके किनारे रहते हैं स्नान करनेके लिए पुष्कर जाते हैं। क्यों? क्या गंगाजीका महत्त्व कुछ कम है? नहीं, वह अपने घरकी गंगा है और पुष्कर तो पराया है। पराये मालमें, परायी चीजमें भी रुचि होती है और अपनी विशेषता दिखायी नहीं पड़ती।

तो आत्मसुखकी प्राप्ति, अपने आनन्दकी प्राप्ति तभी होती है जब बाहरसे स्पर्श करनेवाले पदार्थोंके प्रति, उन पदार्थोंके प्रति जिनको इन्द्रियों द्वारा टच किया जाता है अथवा जो इन्द्रियोंको टच करते हैं, जिनका त्वचा-प्रत्यक्ष, ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है उनमें जब आसक्ति नहीं होती। हमें आनेवालेके प्रति आसक्ति और जानेवालेके प्रति विरक्ति नहीं होनी चाहिए। जाओ विदा है, दोनोंमें समान रहें।

कोई आवे तो उसका स्वागत कर लेना चाहिए और जाने लगे तो थोड़ी देर उसके पीछे चलकर विदा कर देना चाहिए। महात्मा गाँधीने गीतापर जो टीका लिखी—टिप्पणी लिखी, उसका नाम उन्होंने अनासक्ति-योग रखा। अनासक्ति-योगको कोई निष्काम कर्मयोग, कोई ज्ञानयोग, कोई भक्तियोग और कोई कर्मयोग कहते हैं। कुछ भी कहो, शब्दोंका अपना महत्त्व है। शब्द-समूह हमेशा हमारी बुद्धिको समझ प्रदान करते रहते हैं। तो जब दुनियामें अनासक्ति हो जाती है तब—'स ब्रह्मयोग-युक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।' जीवनमें सुखके

आस्वादनकी प्रक्रिया जाग्रत हो जाती है। असंग होनेपर ही हम कैसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं,यह मालूम पड़ने लगता है। आप लोग अनुभवी है, भलीभाँति जानते हैं कि आपके जीवनमें कई ऐसे प्यारे आये होंगे, जिनको देखे बिना आँख नहीं मानती होगी। कई ऐसे लोग आये होंगे, जिनको देखकर आँख फेर लेनेका मन हुआ होगा, मुँह कड़वा हो गया होगा, जायका बिगड़ गया होगा, मन बिगड़ गया होगा, परन्तु अब वे कहाँ विलीन हो गये? न वे प्यारे रहे, न वे दुश्मन रहे, और आप ज्यों-का-त्यों बने हुए हैं। यही सृष्टिकी प्रक्रिया है, शैली है, रीति है। अबतक आपकी आँखोंके सामने कितने आये और गये किन्तु आँखें किसीके साथ नहीं गयी। आपके जीवनमें कितने ग्रन्थ आये और गये, शब्द आये और संगीत आये और गये, परन्तु वे कहीं आपके कलेजेमें चिपके नहीं। यह दुनिया ईश्वरकी है और ईश्वरकी इच्छाके अनुसार चल रही है। आप अनासक्त होकर उसका मजा लेते चलो। अनासक्त मनुष्य ही ब्रह्मयोगसे युक्तात्मा होता अर्थात् उसका मन, उसकी अन्तरात्मा ब्रह्मयोगसे युक्त हो जाती है। फिर उसको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जो अपने-आपसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी रहता है और जो दूसरेसे सुखी होता है, वह हमेशा सुखी नहीं रह सकता। जाग्रत्की चीज स्वप्नमें छूट जाती हैं, स्वप्नकी चीजें सुषुप्तिमें छूट जाती हैं, सुषुप्तिका आराम स्वप्नमें छूट जाता है और मनमाने स्वप्न जाग्रत्में समाप्त हो जाते हैं। यह सारी दुनिया ही छूटनेवाली चीजोंसे बनी है। जो दूसरी स्थितिसे, दूसरी वस्तुसे, दूसरे व्यक्तिसे प्रसन्न होगा उसकी प्रसन्नता उधार ली हुई प्रसन्नता होगी; अपने घरकी नहीं होगी, अपनी नहीं होगी। उधारको संस्कृतमें अध्याहार बोलते हैं। उधारकी प्रसन्नता आपको कभी सुखी नहीं कर सकती। जो आत्मसुखका आस्वादन करता है, उसको बाह्य स्पर्शसे वैराग्य होता है और जो बाह्य स्पर्शमें अनासक्त है, विरक्त है, उसको अपनी आत्माकी ब्रह्मताका बोध होता है। देखो एक बात इतनी सीधी है कि इसको विद्यार्थी भी, बच्चा भी समझ सकता है। वह यह कि हमें अपना आपा दीखता नहीं; बल्कि वह तो स्वयं देखता है, इतना सबको मालूम है। जब अपना आपा दीखता नहीं तो ये क्षण-क्षण भी नहीं दीख सकते, आयु भी नहीं दीख सकती, इसकी लम्बाई-चौड़ाई भी नहीं दीख सकती, इसका वजन भी नहीं दीख सकता। जब यह स्वयंमें दीखता ही नहीं, तब इसकी लम्बाई-चौड़ाई, और वजन कैसे दीखेगा? हम सौ-पचासकी आयुवाले हैं, साढ़े तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाईवाले हैं, और हमारा वजन मन-दो-मन है—यह कल्पना अपनी आत्माके साथ कैसे जुड़ेगी? जब देखनेवालेके साथ देश-काल-वस्तुका परिच्छेद नहीं जुड़ता तो देखनेवाला अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्मके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता। जहाँ संसारकी वस्तुओंसे अनासक्ति हुई और अस्पर्शयोगमें अवस्थित हो गये वहाँ ब्रह्मयोग-युक्तात्मा हो जायेंगे तथा अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी। एक सुख वह होता है जो क्षयिष्णु है—जिसका क्षय हो जाता है। और, एक सुख वह होता है जो अक्षय है जिसका कभी क्षय नहीं होता। हम अपनेको नशेमें, मोहमें, भूलभूलैयामें डालकर सुखी होना चाहते हैं—'सुखं मोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थम्।' मैंने सुना कि आजकल जवान लोग पान ज्यादा खाने लगे हैं तो मुझे जिज्ञासा हुई और मैंने अपने एक बहुत प्यारे बालकसे पूछा कि तुम पहले तो इस आशंकासे पान नहीं खाते थे कि दाँत खराब हो जायेंगे अब क्यों खाते हो? उसने बताया कि 'आजकल पानकी दुकानपर एक नशेकी गोली

मिलती है। उसीको लेनेके लिए हम लोग पानकी दुकानपर जाते हैं। पानसे हमारा प्रेम नहीं।' तो उस नशेकी गोलीमें क्या है? निद्रा, आलस्य, प्रमाद। जो उस गोलीको खाकर सुखी होंगे उन्हें जिस दिन वह गोली नहीं मिलेगी, उस दिन उनका क्या होगा? गोली खानेसे जो सुख मिलेगा उससे तो उनका दिमाग ही खराब हो जायेगा। तो एक सुख वह होता है जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे—'विषयेन्द्रियसंयोगात्' प्राप्त होता है। वह रजोगुणी सुख है। वह पहले तो अच्छा लगता है, बादमें विरस हो जाता है। तीसरा सुख सत्त्वगुणी होता है, जो अच्छी-अच्छी आदतोंको डालनेसे मिलता है—'अभ्यासाद्रमते यत्र दु:खान्तं च निगच्छति'। परन्तु इन तीनों सुखोंको सच्चा सुख नहीं मानते, न निद्रा, आलस्य, प्रमादमें सच्चा सुख है, न विषय इन्द्रियके संयोगमें सच्चा सुख है और न अभ्यासजन्य सुख सच्चा सुख है। आप कितना अभ्यास करेंगे? हमने देखा, एक सज्जनको गीता इतनी कण्ठस्थ थी कि वे 'धर्म-क्षेत्रे'से प्रारम्भ करें और 'मतिर्मम' तक बिना रुके बोल जाँय। कभी अन्तसे शुरू करें तो प्रारम्भतक उलटी बोल जाँय। गीतामें कौन शब्द कितनी बार आया और कहाँ-कहाँ आया—यह भी उनको याद था। लेकिन जब उनकी मृत्युका समय आया तो उनका सारा अभ्यास छूट गया। वे श्लोक बोलना चाहते थे तो उनकी सारा अभ्यास छूट गया। वे श्लोक बोलना चाहते थे तो उनकी जीभ काम नहीं देती थी। उनकी स्मृति इतनी क्षीण हो गयी कि पूरा श्लोक नहीं बोल पाते थे। कहनेका मतलब यह कि यदि हम उच्चारण अथवा स्मृतिके अभ्याससे चाहें कि कोई चीज अक्षय हो जाये तो वह नहीं होगी। जो अक्षय है, वही अक्षय रहेगा और अक्षय केवल परमात्मा है। इसलिए—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। 6.21

सुख ऐसा होना चाहिए कि उनका कभी अन्त न हो। 'आत्यन्तिकं'का अर्थ है जो अन्तका अतिक्रमण कर जाये। अर्थात् ऐसा सुख हो, जो कालसे अपरिच्छिन्न हो, अविनाशी हो। फिर 'बुद्धिग्राह्यम्' हो अर्थात् जो ज्ञानमात्रसे मिलता हो और जिसके लिए कहीं जाना-आना अथवा कुछ पाना आवश्यक न हो। जो सुख ज्ञानमात्रसे मिलेगा वह तमोगुणी नहीं होगा। तीसरा सुख है 'अतीन्द्रियम्' अर्थात् वह सुख जो विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे न मिलता हो, अपने आप मिलता हो।

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥ 6.23

हम ऐसे सुखी हो जायँ कि संसारका कोई भी दु:ख हमारे साथ चिपके नहीं। हमको सुखके लिए मँगता न बनना पड़े। लोग कहते हैं 'हमारा नियम है हम किसीसे माँगते नहीं, हम मँगते थोड़े ही हैं, भिखारी थोड़े ही हैं।' भिखारियोंके प्रति लोगोंकी बड़ी ग्लनि होती हैं, बड़ी घृणा होती है। परन्तु आप विचार कीजिये हमारी इन्द्रियोंकी क्या स्थिति है? हमारे मनकी क्या दशा है? क्या हमारे मन और इन्द्रिय दूसरोंसे सुखकी भीख नहीं माँगते? तो हमें ऐसा सुख चाहिए जो अतीन्द्रिय हो, बुद्धिग्राह्य हो और आत्यन्तिक हो। ऐसा जो रजोगुण, तमोगुण, सत्त्वगुणसे रहित विलक्षण आत्मसुख है, ब्रह्मसुख है, वही अक्षय सुख है। मनुष्यको उस अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है—'सुखमक्षयमश्नुते'। इसमें जो 'अश्नुते' शब्द है उसका अर्थ 'अश्नाति' नहीं होता। अश्नातिका अर्थ होता है खाना—'अशितं-नाशितं।' 'अशितं' माने भोजन और नाशितं माने नाश्ता।

'अश्नुते' क्रिया पदका अर्थ व्याप्ति है। जैसे लिपि-भेद होता है। अंग्रेजीकी लिपि अलग है, फारसीकी लिपि अलग है, नागरी लिपि अलग है। इस प्रकार भाषाओंकी भिन्न-भिन्न लिपियाँ होती हैं। परन्तु जिसका उच्चारण 'अ' होता है वह एक होता है। तो 'अश्नुते' का अर्थ यह होता है कि लिपिके आकारका भेद होनेपर भी 'अ' अक्षर है, नित्य है लिपि क्षर है और 'अ'से जिसका उच्चारण किया जाता है वह अक्षर है, अनश्वर है। तो 'अश्नुते'का तात्पर्य यह हुआ कि विषय बदलते हैं, इन्द्रियाँ बदलती हैं, मनोवृत्तियाँ बदलती हैं, वस्तु बदलती है, व्यक्ति बदलते है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति बदलती है। समाधि और मूर्च्छा बदलती है; परन्तु सुख जैसा-का-तैसा रहता है क्योंकि वह अक्षर होता है। ऐसा कब होगा? ऐसा तब होगा जब अपना आत्मा ही सुखरूप होगा।

यह सर्वथा स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनानेकी विद्या है। आप अपने सुखकी ही बदल कीजिये। परायेके पीछे यह कहते हुए मत दौड़िये कि तू हमको सुख दे जा। यह हमारे अनुभवकी बात है कि आठ-आठ, दस-दस दिनकी रखी हुए बिल्कुल सूखी रोटियाँ जो खाने लायक नहीं, भूख लगनेपर उनको मुँहमें डाला और चुगलाया तो ऐसा रस निकला, ऐसा स्वाद आया कि उसके सामने ताजी रोटियाँ फीकी पड़ गयी। तो मनुष्यके मनमें यह भ्रम ही होता है कि अमुक ढंगकी वस्तु मिलेगी, अमुक ढंगके लोग मिलेंगे तभी हम सुखी होंगे। क्या आप बच्चों के साथ खेलकर सुखी नहीं हो सकते? क्या आप सामान्य लोगोंसे मिलकर उनके स्तरकी बात-चीत करके सुखी नहीं हो सकते? अरे भाई, उनके भीतर भी वही आत्मा है, वही परमात्मा है, जो तुम्हारे भीतर है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 5.22

श्रीकृष्णने गीतामें कितनी बढ़िया बात बतायी है। वे कहते हैं कि इस संसारमें जो भोग मिलते हैं वे अन्ततोगत्वा दुःखदायी होते हैं। हमारी आँखकी रोशनी जब एक सुन्दर आकृतिका दर्शन करेगी तभी उसकी ओर आकर्षित होगी। ये जो नाना प्रकारके पुष्प हैं, व्यक्तियोंके रूपमें भी पुष्प होते हैं, ये भी प्रकृतिके पुष्प ही हैं। यह स्त्री हैं, यह पुरुष है, यह लड़का है, यह लड़की है—इनका सुन्दर रूप देखनेपर हमारी आँख प्रसन्न होती हैं, एक बढ़िया-सी चिड़िया देखकर खुश होती हैं, बढ़िया-सा कुत्ता देखकर प्रसन्न होती हैं। और भी बहुत सारी चीजें देखकर हमारी आँख खुश होती रहती है। किन्तु ये जो संस्पर्शज भोग हैं, वे बादमें दुःख देते हैं। अर्थात् दुःखके कारण हैं। इनसे जो फल पैदा होता हैं, वह दुःख होता है। क्योंकि एक जगह जो सुख मिलता है, वह फिर दूसरी जगह नहीं मिलता है, दूसरे समयमें नहीं मिलता और दूसरेसे नहीं मिलता। फिर उनकी याद करके हम अपना दिल ही तो जलाते रहेंगे।

दूसरी बात यह बतायी कि 'आद्यन्तवन्तः' अर्थात् ये भोग तो मेहमानकी तरह आये हुए हैं, इनका आदि भी है, अन्त भी है। इनसे प्रीति करना तो परदेशीसे प्रीति करने जैसा हैं। आज तो ये रास्ते पर मिले, प्याऊपर मिले, तालाबमें मिले, क्लबमें मिले, होटलमें मिले; बादमें फिर कभी मिलेंगे कि नहीं, कुछ ठिकाना

नहीं। ये तो मिलकर बिछुड़ने वाले हैं, और आगे दु:ख देनेवाले हैं। जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना—जो फलता है वह झड़ जाता है; जो जलता है, वह बुझ जाता है वह बिछुड़ जाता है—इसलिए क्यों इनसे सुखकी आशा करते हो?

अब तीसरी बात बताते हैं—'न तेषु रमते बुध:' समझदार आदमी उन भोगोंमें नहीं रमता। रमनेकी जगह तो केवल अपना आत्मा है। 'यथा सूत्रेण प्रबद्धो हि शकुनिर्दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनं लब्ध्वा स्वबन्धनमेव उपाश्रयते'—उपनिषद्का कहना है कि एक चिड़िया सूतसे बँधी हुई है, वह फड़फड़ाती है। दाहिने जाती है, बायें जाती हैं, सामने जाती हैं, पीछे जाती है परन्तु सूतसे बँधी होनेके कारण कहीं दूसरी जगह नहीं जा सकती। अन्तमें जहाँ बँधी हुई हैं, वहीं आकर बैठ जाती है उसके फड़फड़ानेकी तकलीफ बिल्कुल मिट जाती है। इसी तरह—'प्राणबन्धनं हि सौम्य मन:' अपना मन अपने आत्माके साथ बँधा हुआ है। वह चाहे कितना भी भागनेकी कोशिश करे, आँखके दरवाजेसे भागे, कानके दरवाजेसे भागे, नाकके दरवाजेसे भागे, जीभके दरवाजेसे भागे, परन्तु वह भाग नहीं सकता। उसको कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी लौटकर वहीं आना पड़ेगा, जहाँ वह बँधा हुआ है। इसलिए सुप्रसिद्ध शायर जौकके शब्दोंमें—

जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो।
दुनियासे जौक उलफते दामनको छोड़ दो।।

हमारे मनको शान्ति तभी मिलेगी, जब यह जहाँसे उठकर बाहर भागना चाहता है वहाँ निश्चल होकर बैठ जाये। यदि यह फड़फड़ानेमें, भागनेकी कोशिशमें शान्तिका अनुभव करना चाहेगा तो कभी शान्त नहीं हो सकता। तो भगवान्ने तीन बातें बतायीं। एक तो यह कि दुनियादार लोग जिसको सुख समझते हैं, उसीमें-से दु:ख निकलता है। दूसरी यह कि ये आने-जानेवाले हैं, नाशवान् हैं। और, तीसरी यह कि इनमें बुद्धिमान नहीं फँसते। आप संसारका इतिहास देख जाइये, यहाँ जितने भी सच्चे, शिष्ट सत्पुरुष हुए हैं, वे इन भोगोंमें नहीं रमे। भोगमें रमकर मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। सच्चा मनुष्य गुस्सा आनेपर सहनेकी कोशिश करता है, कुछ बोलता नहीं। किन्तु कोई गुण्डा होता है तो कहता है कि मैंने गुस्सा आनेपर बच्चूको खूब सुनाया। इन दोनोंमें-से आप किसको पसन्द करते है? अपने आपको तौल लीजिये। निश्चय ही आप गुस्सा सहनेवालेको पसन्द करते हैं—

शक्नोतीहैव य: सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्त: स सुखी नर:॥

हम आपको पहले सुना चुके हैं कि गीता जंगलमें भागनेके लिए नहीं, जीवन-युद्धमें अग्रसर होनेके लिए हैं। अर्जुन जीवनयुद्धसे भागना चाहता था, किन्तु भगवान्ने कहा—नहीं, नहीं, तुम जीवनके इस युद्धसे, संग्रामसे पलायन नहीं कर सकते। पलायनवादी होना अच्छा नहीं। जो तकलीफ तुम्हारे सामने आयी है, उसका सामना करो। भागनेसे कैसे काम चलेगा? तुम अच्छे-से-अच्छेकी उम्मीद रखो और बुरे-से-बुरेका सामना करने के लिए तैयार हो जाओ—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' उठो जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो

कि तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है। हमको बचपनमें हमारे गुरुजीने एक मन्त्र बताया—'क्लैब्यं मा स्म गमः।' मैं कहता था कि 'मुझसे साधन नहीं होगा, आसन नहीं, प्राणायाम नहीं होगा। मेरा मन एकाग्र नहीं होगा।' इसपर गुरुजी बोलते थे—'क्लैब्यं मा स्म गमः।' अरे, नपुंसक मत बन। यह तो नामर्दका, कायरका काम है। तुम तो यह सोचो कि जो भी आपत्ति-विपत्ति या परिस्थिति हमारे सामने आयेगी, उसका हम डटकर सामना करेंगे, मुकाबला करेंगे, भागनेसे क्या होता है?

तो भाई, इसबातको आप ध्यानमें रखिये। पशुओंके मनमें काम, क्रोधका वेग आता है तो वे उसको तुरन्त चरितार्थ कर लेते हैं। उन्होंने कहीं हरी-हरी घास देखी और मनमें आया तो मुँह मार दिया, लेकिन पशुओंमें भी जो अच्छे कुत्ते होते हैं, उनके सामने भोजन रखा रहनेपर भी तबतक नहीं खाते, जबतक मालिक उनको खानेके लिए लिए न कहे। अच्छे कुत्तेका यही लक्षण है कि आपके घरमें खाने-पीनेकी बढ़ियासे बढ़िया चीजें रखी हों लेकिन वह अपनी मर्जीसे उसनें मुँह न लगावे। जर्मनीसे एक व्यक्ति आया था। उसके साथ उसका अल्सेशियन कुत्ता था। वह उसे जूता सूंघा देता और कह देता कि 'बैठो'। फिर जबतक वह लौटकर नहीं आता, उसका कुत्ता वहीं बैठा रहता। वह बिना दिये कुछ भी खाता नहीं था। कितनी वफादारी थी उस कुत्तेमें। परन्तु मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको रोक नहीं सकता। कामका वेग आता है कि भोग लें, क्रोधका वेग आता है कि अमुक को सता लें, दुःख दे लें, वाणीसे क्रोध प्रकट कर लें, क्रियासे क्रोध प्रकट कर लें, मनसे अमुकका बुरा सोच लें, किन्तु वेग भले ही आवे, आप उसे सहनेके लिए तबतक सावधान रहें जबतक यह शरीर है। प्राक् शरीरविमोक्षणात्। यह सामर्थ्य मृत्युपर्यन्त तुम्हारे अन्दर रहे, जीवनके अन्तिम क्षणतक मनमें उत्साह बना रहे कि हम काम, क्रोधके वेगको सह लेंगे। हमारा संचालक राम होगा, हम सहज भावसे चलेंगे और काम, क्रोधके वेगका कोई प्रभाव हमपर नहीं पड़ेगा। यह असम्भव नहीं। जब काम, क्रोधका वेग आये तो किसी दूसरे श्रमके काममें लग जाओ, कुछ बढ़िया-सी बात पढ़ने लगो, परमात्माके स्वरूपका ध्यान करने लगो। कहीं-न-कहीं अपने मनको लगानेका प्रयास करो। उड़िया बाबाजी महाराज महाभारतका एक श्लोक बोलते थे—

वाचो वेगं मनसां क्रोधवेगं हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यस्तु सहेत धीरो निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥

जो मनके वेगको, वाणीके वेगको, क्रोधके, वेगको, पेटके वेगको, भोजनके वेगको, मूत्रेन्द्रियके वेगको सह लेता है वह महात्मा है। एक बात और बताते थे कि जब कभी अपनी निन्दा सुननी पड़े, परम्परया सुननी पड़े, साक्षात् सुननी पड़े तो इस संकल्पका अभ्यास होना चाहिए कि निन्दा हमारे दिलको चोट नहीं पहुँचा सकती। तो मनमें काम, क्रोधका वेग सहनेका उत्साह और अभ्यास रहना चाहिए तथा उसके संस्कारको ग्रहण न करनेकी सावधानी रहनी चाहिए। जो मनुष्य ऐसा है 'स युक्तः स सुखी नरः'—वही युक्त है, वही सुखी है।

तो गीताकी प्रणाली पलायनवादी नहीं। यह तो कहती है कि आप संसारमें रहकर ही अपनी

जीवन-यात्राको अविचल ले चलिये। गीताकी दृष्टिमें समाधिस्थसे भी श्रेष्ठ योगी वही है जो व्यवहारमें सम रहे। जो हिमालयमें न जाकर व्यवहारमें समदर्शी रहता है, वही गीताका सर्वश्रेष्ठ सत्पुरुष है—'स योगी परमो मत:।'

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

मनुष्यके सामने सुख भी आवे, दु:ख भी आवे, अपना भी मालूम पड़े, परायेका भी मालूम पड़े, परन्तु वह सबमें समान रहे—'समं पश्यति।' गीताका साम्ययोग है कि बराबर रहो, अविचल रहो। तुम्हारे कदम एक सरीखे पड़ें, गर्मी हो तब भी, सर्दी हो तब भी, आँधी-तूफान हो तब भी और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चल रही हो तब भी। ऐसा मनुष्य ही सुखी होगा, शान्त होगा।

योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 6.24

भगवान् कहते है कि तुम्हारा सुख बाहरसे तुम्हारे भीतर प्रवेश न करे, बल्कि भीतरसे बाहर आये। जैसे ज्वर दो तरहके होते हैं, एक बाहरसे चढ़ता है दूसरा भीतरसे आता है। एक ज्वरका नाम शैव और दूसरे ज्वरका नाम है वैष्णव। एक हाथ पाँव गर्म होकर आता है। दूसरा पहले दिलमें गर्मी पैदा करता है, फिर शरीरमें फैलता है। तो जो सुख बाहरसे भीतर प्रवेश करता है, वह आपको दबा देता है और जो सुख भीतरसे निकल कर बाहर आता है वह सारी सृष्टिमें फैल जाता है। फिर तो सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्दका अनुभव होता है। वह अनुभव करता है कि आनन्दकी गंगा बह रही है, आनन्दके फुहारे छूट रहे हैं, आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्दके मेघ वर्षा कर रहे हैं।

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधी:॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवँ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

बृहदारण्यक उपनिषद्में बीस-पच्चीस पदार्थोंका नाम लेकर यह बात बताई है कि पृथिवी मधु हैं, आकाश मधु है, मन मधु है, बुद्धि मधु है, सम्पूर्ण प्राणी मधु हैं। रात मधु है और प्रात:काल मधु है। सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा मधु है और गौ मधु है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र मधु-ही-मधु आनन्द-ही-आनन्द है। बाहर आनन्द, भीतर आनन्द चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। हमारी वनस्पतियाँ मधुमयी हैं, हमारी इन्द्रियाँ मधुमयी है। विषय मधुमय हैं, आत्मा मधुमय है—'एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत:।' अरे, यहाँ दिल बिगाड़नेकी तो कोई जगह ही नहीं। अपने सुखका स्रोत भीतरसे फूटने दो, बाहरके गड्ढोंमें-से पानी भरनेकी जरूरत नहीं।

एक साधारण बात आपको सुनाता हूँ। हम लोग गाँवके रहनेवाले हैं। वहां सिचाई आदिके लिए कूओंसे पानी खींचते हैं। परन्तु कूएँकी एक विशेषता है कि जितना पानी उसमें-से निकालो उतना ही पानी

भीतरसे और आ जाता है। तो आपका यह हृदय भी सुखका कूप है। आप इससे सुख निकालकर जितना बाहर फेंकोगे, जितना ही दूसरोंको सींचोगे, जितना ही बाहरवालोंकी प्यास बुझाओगे, उतना ही सुखका झरना आपके भीतर बहेगा, उतना ही सुख-स्वरूप परमेश्वरका अखण्ड प्रवाह आपके भीतर प्रवाहित होगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

आपका आराम कहाँ है? क्या आप अच्छे गुदगुदे बिस्तरपर सोते हैं तब आपको आराम मिलता है? कभी-कभी बम्बईवाले वृन्दावन आना चाहते हैं तो पूछ लेते हैं कि महाराज, वहाँ एयर कण्डीशन है कि नहीं? वैसे अब तो वृन्दावनमें भी एयर कण्डीशन है और लोगोंको सोने-बैठनेके लिए सुलभ होता है लेकिन एयर कण्डीशनके बिना नींद न आना और कमोडके बिना शौचाचार न होना कितनी पराधीनता है? यदि आपका आराम एयर कण्डीशनमें है, डनलपमें है, गद्देमें है, बिजलीमें है, पंखेमें है तो आपके भीतरका जो सुख है उसका क्या हुआ? क्या वह सूख गया?

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

तो अपने भीतर आराम करो और अपने भीतरसे सुख निकाल-निकालकर बाहर बाँटो। तुम जितना सुख बाँटोगे उतना ही सुख बढ़ेगा और यदि आराम करनेके लिए पराये घरमें जाओगे तो वहाँसे निकलना पड़ेगा और दु:ख होगा। अत: अपने घरमें ही आराम करो। जिसको अपने अन्तरसे रोशनी मिलती है, उसीकी रोशनी सच्ची होती है। परायेके प्रभावसे जो रोशनी मिलती है वह गलत हो जाती है—

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।

तो ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाणका अनुभव करता है। वस्तुत: ब्रह्माकार सुख किम्भूत किमाकार सुख नही होता। आत्माके भीतर आत्माका जो सुख है वही ब्रह्मसुख है। यदि तुम्हारे भीतर सुख है तो जहाँ जाओगे वहाँ सुखी रहोगे और जहाँ जाओगे वहाँ सुखी रहोगे। किन्तु यदि हमारे भीतर सुख नहीं, तो तुम कहीं भी, किसीसे भी कभी भी दु:खी हो सकते हो। यहाँतक कि तुम सुख पहुँचानेवालेसे भी दु:खी हो सकते हो। इस प्रकार गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण हमारे जीवनके लिए बड़ी-बड़ी काम की बातें बताते हैं।

●

प्रवचन : 11

योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य:।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 6.24
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषय: क्षीणकल्मषा:।
छिन्नद्वैधा यतात्मान: सर्वभूतहिते रता:॥ 6.25
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 6.26

भगवान् श्रीकृष्ण उस पुरुषका स्वरूप बताते हैं जिसे परमात्माका अनुभव होता है, ब्रह्मानुभूति होती है और जिसको शान्ति मिलती है। पहले श्लोकको पहली पंक्तिमें तीन बातें है—'योऽन्त:सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य:'—आपका आराम, आपकी ज्योति और आपका सुख। ये तीनों कहाँ हैं? यदि आपका आराम बाहर है, दूसरी जगह है, दूसरेके हाथमें है, आप पराधीन है तो न स्वयं आराममें रह सकते हैं और न अन्यको आराम दे सकते हैं। जो धनी होता है वह दूसरेको दे सकता है, किन्तु जिसके पास है ही नहीं, वह दूसरेको कैसे दे सकेगा? अत: जिसके पास स्वयंका आराम नहीं, वह दूसरेको आराम देना तो दूर उद्विग्न ही करेगा। कोई छटपटाता रहे, खाँसता रहे, खटपट करता रहे और दूसरेसे कहे कि आराम कीजिये, तो उसकी खटपट और खाँसनेसे दूसरेको आराम कैसे मिलेगा? दूसरेको आराम देनेके लिए स्वयं आराममें रहना आवश्यक होता है। आरामका अर्थ है सत्ता, ज्योतिका अर्थ है चित्, सुखका अर्थ है आनन्द और अन्त:का अर्थ है आत्मा, प्रत्यगात्मा, अन्तरात्मा। अपना आत्मा ही सुख है, अपना आत्मा ही आराम है और अपना आत्मा ही प्रकाश है। अब आप विचार कीजिये कि ज्ञान लेनेके लिए सुख पानेके लिए अथवा आराम करनेके लिए आप पराधीन हैं या स्वाधीन हैं? यदि पराधीन हैं तो जब आप स्वयं न प्रकाशमें रहेंगे, न आराममें रहेंगे तो आपको शान्ति कैसे मिल सकेगी! जिसका आराम, जिसका प्रकाश, जिसका आनन्द स्वाधीन है, स्वतन्त्र है वही सच्चिदानन्द ब्रह्ममें स्थित रहेगा और वही ब्रह्मभूत योगी है।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।

इस बातको बहुत कम लोग समझते हैं कि 'सर्वं परवशं दु:खं' पराधीनता ही दु:ख है। 'सर्वं आत्मवशं सुखम्' आत्माधीनता ही सुख है और 'एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदु:खयो:'—मनुजीके शब्दोमें यही सुख-दु:खका संक्षिप्त लक्षण है। यदि आप पराधीन हैं, आपके हृदयमें उद्वेग है, मलिनता है, दूसरेसे सुखकी आशा रखते हैं, तब आप शान्त नहीं। आप शान्त ब्रह्मानन्द-सुख-आराम एवं ज्योतिके समुच्चय सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करोगे तो ब्रह्मभूत हो जाओगे और फिर ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् शान्ति-ही-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ 6.25

जो शब्दके बदले शब्द जानता है उसको शान्ति नहीं मिलती। पर्यायवाची शब्दोंके ज्ञानमात्रसे किसीको शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। किसीसे पूछा कि कुम्भ माने क्या? उत्तर मिला कि कलश। कलश माने क्या? घट। घट माने क्या? घड़ा। घड़ा माने क्या? तो बोला मैं नहीं जानता, आप जानें। तो, जो लोग काव्य, कोष और व्याकरण द्वारा एक शब्दके बदले दूसरा शब्द जानते हैं, उनको शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। शान्तिकी प्राप्तिके लिए ऋषि होनेकी आवश्यकता है। संस्कृतव्याकरणके अनुसार 'ऋषि तत्त्वार्थदर्शने'—ऋषि उसे कहते हैं जो तत्त्ववस्तुको देखता है, जिसको तत्त्वार्थ-दर्शन होता है। किसी भी चीजकी शक्ल-सूरत छोड़कर जो उनके उपादानका ज्ञान प्राप्त कर ले और इस बातको पहचान ले कि सबमें ब्रह्म है, सत् है, आनन्द है, उसको ऋषि कहते हैं। उस तत्त्वदर्शी ऋषिको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। जो केवल शक्ल-सूरतको देखनेमें और नामोंको याद करनेमें संलग्न रहते हैं उनको ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। शक्ल-सूरत तो बिल्कुल ऊपरी चीज है। कोई वस्तु त्रिकोण है कि चतुष्कोण, यह उसका आकार हुआ, आकृति हुई और लाल है कि पीली, यह उसका रंग-रूप हुआ। रंग-रूप आकृति दूसरी चीज है। ये दोनों तत्त्वमें उभारी जाती हैं, अध्यारोपित होती हैं। सोनेमें आप जेवर बनाते हैं तो कंगन बना या कुण्डल—ये दोनों उसकी आकृतियाँ हैं और उसपर पच्चीकारी या पालिश करनेसे उसकी शक्ल-सूरत उभरती है, आकृति पृथक् होती है और रूप-रंग पृथक् होता है। 'अनारोपिताकारं तत्त्वम्'—तत्त्व वह होता है जिसमें आकारका आरोप नहीं। जो न सोना है, न कंगन, न कुण्डल है, न सिल्ली, न चूर्ण है न द्रव्य; सबसे अलग एक तेजोमय धातु है, वह तत्त्व है। जो उस सोनेको पहचानता है, वह उससे बने हुए कंगन, कुण्डल, हार आदिको भी पहचान लेता है, किन्तु जो सोनेको नहीं पहचानता उसके लिए उससे बने आभूषण नकली सोनेके हैं या असली सोनेके और उसकी क्या कीमत है, इसकी कोई परख नहीं। वह आभूषणोंकी शक्ल-सूरत, डिजाइन देखकर ही उनपर मुग्ध हो जायेगा और जिसकी कोई कीमत नहीं, उसकी बहुत बड़ी कीमत चुकायेगा। कीमत रुपये-पैसोंके रूपमें ही नहीं होती, अपना जो परिश्रम है, अपनी जो बुद्धि है, प्रतिभा है, अपना जो जीवन है वह सबसे अधिक मूल्यवान् है। उसको खचना, शून्य कर देना ही सबसे बड़ी कीमत है। 'ख' माने शून्य और रचना माने बनाना, इस प्रकार खर्चना माने तिजोरी खाली कर देना, अपने जीवनकी पूँजी नष्ट कर देना। किसके लिए कि जिसका कोई मूल्य नहीं। मूल्याङ्कन नहीं उसके लिए। तो ब्राह्मी स्थिति, ब्राह्मी शान्ति, ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञान उन लोगोंको मिलता है जो किसी पदार्थकी शक्ल-सूरतमें, आकृति-विकृतिमें नहीं फँसते बल्कि उसकी असलियत, असल तत्त्वको पहचानते हैं। 'न सलति इति असलम्'—जो निर्गत नहीं होता, भागता नहीं, परिवर्तित नहीं होता उसका नाम होता है असल। मूल धातुसे ही सलिल शब्द भी बनता है। जो असल वस्तुको देखते हैं उन्हें ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है। उसके लिए चार पहचान बतायीं—'क्षीणकल्मषाः, छिन्नद्वैधा, यतात्मानः और सर्वभूतहिते रताः'। वे व्यवहारमें सर्वभूतहितरत होते हैं सबकी भलाई करते हैं। सबकी भलाईमें ही अपनी भलाई है, यह बात हम

आपको अनेक बार बता चुके हैं। सबका आत्मा अपना आत्मा है और अपना आत्मा सबका आत्मा है। अपना अहित करोगे तो सबका अहित अवश्यम्भावी है। 'सर्वभूतहिते रता:' का अर्थ है स्वसहित संसारके सभी प्राणियोंके हितमें तत्पर रहो तब परमसुख परम शान्तिकी प्राप्ति होगी। यदि कहो कि सबके हितमें कैसे लगें तो उसका उपाय बताया—यतात्मान:। अपनी इन्द्रियों, अपने मनको नियन्त्रणमें, काबूमें रखो। इन्द्रियों, मनको काबूमें रखनेका मतलब उनको मारना नहीं। यदि इनको मारना ही इष्ट होता तो ये आपको दिये ही न जाते। इन्द्रिय और मन मारनेके लिए नहीं, काम लेनेके लिए हैं। इनसे काम तभी ठीक लिया जाता है, जब ये काबूमें रहें, नियन्त्रणमें रहें, जैसा कि पहले भी कहा 'यतात्मान:' का अर्थ है कि जब हम चाहें न बोलें तो वाणी न निकले। इस प्रकारके नियन्त्रणके लिए व्यवस्थाकी, मर्यादाकी, प्रबन्धकी आवश्यकता है। यह नहीं कि जीभ बोलने लगी तो घड़ी आगे बढ़ गयी। घड़ीने समयका उल्लंघन कर दिया और जीभ बोलती रह गयी। जैसे घड़ीकी सूई व्यवस्थित रूपसे चलती है वैसे ही जीभ भी व्यवस्थित रूप से हिले, पाँव भी व्यवस्थित रूप से चलें और हाथ भी व्यवस्थित रूपसे काम करें। जब हम काम करना चाहें तभी काम हो और जब बन्द करना चाहें तभी बन्द हो। इस प्रकार मत दौड़ो कि जब रुकनेका समय आवे तो रुक ही न सको। तुम्हारी मोटर इतनी तेज नहीं चलनी चाहिए कि काबू से बाहर हो जाये। उसे जहाँ रोकना है वहाँ वह रुक जानी चाहिए। तो 'यतात्मान:' का तात्पर्य है कि हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हों। जो बोलना उचित हो वही हम बोलें। जो करना उचित हो वही करें। जहाँ जाना चाहिए वहाँ जायें। किसी भी अनुचित दिशाकी ओर हमारा मन, इन्द्रिय और बुद्धि न ले जायें, हम 'यतात्मान:' होनेपर ही सबका भला कर सकते हैं और 'सर्वभूतहिते रता:' वही हो सकते हैं जो अपनेको काबूमें, नियन्त्रित और मर्यादित रखते हैं। अच्छा जो कर्ममें कोई दोष न रहे—यह हुआ 'सर्वभूतहिते रता:' और मन इन्द्रियोंमें कोई दोष न रहे—यह हुआ 'यतात्मान:'। परन्तु ऐसा कैसे होगा? तो बोलते हैं कि 'छिन्नद्वैधा:'। द्विधा, द्वि-विधा, दुविधा। कभी-कभी लोग दाहिने जाय कि बायें जायें—इसका निश्चय करनेमें भी देर करते हैं। एक पिता अपने दो बच्चोंका भेद बताते हुए कह रहे थे कि व्यापार-सम्बन्धी निर्णय लेनेमें एकको जहाँ सात दिन लगते हैं वहाँ दूसरा वही निर्णय दो मिनटमें कर लेता है। यह पहले ही दिन जो बात कह देता है, उसको समझकर निश्चयपर पहुँचनेमें दूसरे लड़केको सात दिन लगाने पड़ते हैं। दोनों लड़के एक ही माता-पिताके हैं, एक ही वातावरणमें पले हैं, लेकिन उनके निश्चयमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। जो निश्चय नहीं कर सकेगा कि दाहिने जाना है कि बायें, सामने जाना है कि पीछे उसको द्विधा या दुविधा बनी रहेगी, द्वैध बना रहेगा, संशय बना रहेगा।

एक आदमी नदीमें तैर रहा था। उसको यह तो मालूम था कि इसी नदीके किनारे हमारा घर है और घर पहुँचना है। पर तैरते-तैरते उसको यह ख्याल नहीं रहा कि उसका घर नदीके दाहिने है या बायें? अब वह थोड़ी देर बायीं ओर तैरे फिर दायीं ओर तैरने लगे। जब उसकी दुविधा दूर हुई तभी वह घरकी दिशाकी ओर तैरकर पार हुआ और घर पहुँचा। तो, सबकी भलाई करनेके लिए अपने मन और इन्द्रियोंपर काबू होनेके साथ-साथ निश्चयात्मक ज्ञान होना जरूरी है—'छिन्नद्वैधा:।' दुविधा या संशय तो बड़ा भारी पाप हैं 'संशयात्मा

विनश्यति, नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'—ये गीताके ही वाक्य हैं। संशय एक प्रकारकी निद्रा ही है। जिस धातुसे 'शयन' शब्द बनता है, उसी धातुसे सम् उपसर्ग जोड़कर संशय शब्द बनता है। 'सम्+शयः=संशय।' तो संशय माने शयन-निद्रा। जब मनुष्य इस प्रकारके संशयमें अपना जीवन व्यतीत करता है कि यह कर्तव्य है या अकर्तव्य, यह भोक्तव्य है या अभोक्तव्य, तो उसका जीवन ठीक व्यतीत नहीं होता। अनिश्चयात्मक जीवनमें मन और इन्द्रिय वशमें नहीं रहते और उसके द्वारा लोकोपकार भी नहीं होता। तो, यह संशय कैसे मिटे? इसका उत्तर दिया कि 'क्षीणकल्मषाः लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्।' इसमें 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं' तो है फल और 'क्षीणकल्मषाः'का अर्थ है जिसके मनमें पापवासना नहीं, जो 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा'—कर्मसे, मनसे, वाणीसे किसीका भी बुरा नही चाहता। तो तात्पर्य यह कि पहले अपने मनकी पापवासना नष्ट हो। फिर दुविधा अथवा संशय समाप्त हो, मन-इन्द्रियाँ वशमें हों, सबकी भलाईके लिए काम किया जाये। तब 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्'—ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है।

अब जब आप जीवभावको छोड़कर ब्रह्मभावमें शान्त हो गये, लीन हो गये और ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति हो गयी तब—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 5.26

काम और क्रोधका आना बुरा नहीं, इनके वशमें हो जाना बुरा है। काम-क्रोध तो हमारे अन्तःकरणमें बीजरूपसे मौजूद हैं और अन्तःकरण हमारे शरीरके भीतर है। इतना सुरक्षित अन्तःकरण इसीलिए प्राप्त हुआ है कि हम किसीसे बचना चाहते हैं और किसीको पाना चाहते हैं। ऐसी स्थितिमें हमारे मनमें कभी कामना या क्रोध न आये यह सम्भव नहीं। अतः काम, क्रोध आजायें तो ऐसा नहीं समझ लेना कि आप नीच हो गये, हीन हो गये, गिर गये। बल्कि यह प्रयत्न करना चाहिए कि यदि काम-क्रोध आजायें तो उनपर विजय प्राप्त करें। उनके अनुसार हम नहीं चलें, हमारे अनुसार वे चलें। हम कामको जान-बूझकर भगवान्‌की ओर लगा दें,क्रोधको जान-बूझकर बुराईके निवारणकी ओर लगा दें और इस प्रकार अपने हृदयको शुद्ध कर लें—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।

कभी-कभी तो काम आनेपर जान-बूझकर क्रोध बुला लीजिये, तो काम भाग जायेगा। यह काम-निवारणकी युक्ति है। इसी प्रकार कभी क्रोध आये तो वह काम बुलानेपर भाग जायेगा। ये दोनों परस्पर ऐसे हैं कि एकके आनेपर दूसरा चला जाता है। वृन्दावनमें एक सज्जन हमारे पास बहुत ज्यादा बैठते थे। हम जानते थे कि अमुक व्यक्ति आजाये तो ये चले जायेंगे। इसलिए उनके आनेपर हमारे एक मित्र अमुक व्यक्तिको बुला लेते और वे उनको देखते ही चले जाते। अमुक व्यक्ति भी कैसे जायेंगे यह हमें मालूम था। वे हमारे हाथमें अखबार देखते ही अथवा कमरेमें रेडियोकी आवाज सुनते ही उठकर चले जाते थे। उनको अखबार, रेडियो दोनों पसन्द नहीं थे, बस उन्हें हाथमें देखा और भागे। असलमें मनुष्य को मालूम होना चाहिए। तो काम-क्रोधादिकी दवा यह नहीं कि हम उनको छोड़ दें। इनका प्रयोग औषधके रूपमें करना चाहिए। आप क्रोधपर

कामका, कामपर क्रोधका और काम-क्रोधपर लोभका प्रयोग करें। आप इस प्रकार सोचें कि यदि यह भोग हम करेंगे और इस जगहपर क्रोध करेंगे तो हमारी आमदनीमें बाधा पड़ेगी। हमारा जो मुनाफा है वह कम हो जायेंगे। इसी तरह कामका प्रयोग करनेसे क्रोध,लोभ दूर हो जाते हैं। ऐसा करनेपर आप देखिये कि ये जो दोष हैं वे औषधके रूपमें आपके जीवनमें आने लगेंगे। इसलिए हमेशा प्रयत्नशील रहिये और अपने मनको काबूमें रखिये। वस्तुत: सारी साधना ही समझदारीकी है। जो नासमझ हैं, वे करोड़ों ध्यान करें, समाधि लगावें, उनकी बेवकूफी तो बनी ही रहेगी। किन्तु जो समझदार हैं, वे अपनी प्रज्ञासे, अपनी बुद्धिसे उस लाभको अनायास प्राप्त कर लेंगे, जो दूसरेको बहुत बड़ा प्रयास करनेपर मिलता है। वास्तवमें प्रज्ञा, बुद्धि, समझदारी बहुत बड़ी वस्तु है। हमारे यहाँ प्रज्ञा, बुद्धि, ज्ञान और ब्रह्मविद्याका जितना बड़ा आदर है, उतना विश्वसृष्टिके किसी भी धर्ममें नहीं। कुछ भी हो जाये, पर हमारी बुद्धि नष्ट न हो। दुर्भाग्यवश लोग नशा पीकर, भावनाके आवेशमें अथवा अन्य अनेक साधनोंसे अपनी बुद्धिको दबाते हैं, नष्ट करते हैं। किन्तु ऐसा करना नहीं चाहिए। बुद्धि रही तो सब कुछ रहा, बुद्धि गयी तो सब कुछ गया। अत: हमें 'विदितात्मनाम्' बनकर रहना चाहिए।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनो - बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ 5.27-28

सदा मुक्तका अर्थ है कि आप हमेशा मुक्त हैं। आप यह कल्पना छोड़ दें कि जब समाधिमें जायेंगे तब मुक्त होंगे या जब ब्रह्मलोकमें जायेंगे तब मुक्त होंगे, या जब ब्राह्मी स्थिति होगी तब मुक्त होंगे। बन्धन माने हमारी बुद्धिका दोष। अज्ञानके सिवाय, नासमझीके सिवाय बन्धनका और कोई कारण नहीं। यह तो— 'प्रज्ञापराध एव एष:'—हम जिसको दु:ख कहते हैं वह हमारी समझका कुसूर है, हमारी प्रज्ञाका अपराध है। समझदारीके साथ प्रकाश रहता है, वहाँ न अन्धकार है और न दु:ख। समझ ही प्रकाश है, समझ ही परमानन्द है। इसलिए जिसकी बुद्धि निरन्तर जगमगाती रहती है, झिलमिल करती रहती है उसके लिए चारों ओर सुख-ही-सुख हैं।

तो अब एक बात यह है कि यदि श्रम करते हैं तो थोड़ा विश्रामका भी ध्यान रखें—'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्च।' हमारे जीवनमें एक ऐसा अभ्यास चाहिए, एक ऐसी दृष्टि चाहिए कि हम बिना किसी वस्तुको पकड़े भी, बिना कोई काम किये भी रह सकें। अपने जीवनमें थोड़ा-सा समय ऐसा होना चाहिए, जब हम कर्मसे, विषयोंके दर्शनसे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें शान्त बैठें। जो दिन भर काम तो करता है, लेकिन जिसके जीवनमें समयपर सोनेकी व्यवस्था नहीं, वह ठीक-ठीक काम नहीं कर सकता। श्रमके लिए विश्राम चाहिए। जब जीवनमें अनेक प्रकारके उपद्रव, विक्षेप सहन करते हैं तो थोड़ा-सा समय निरुपद्रव, शान्तिके लिए भी चाहिए। अपनी दृष्टिको बहिर्मुखी होनेसे बचाकर थोड़ी देर शान्त होकर बैठ जाइये। सांस बराबर हो, शरीर बराबर हो और इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी बराबर हो। जो अपने जीवनमें श्रम और विश्राम दोनोंको सन्तुलित

रखता है, श्रम ठीक करता है, विश्राम ठीक करता है, जागता ठीक है, सोता ठीक है, व्यवस्थापूर्वक जीवन-यापन करता है, वह हमेशा मुक्त ही है, कभी आबद्ध नहीं होता।

पाँचवें अध्यायके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने जो बात बतायी है, वह बहुत बढ़िया है। आप ध्यान दो—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

शान्ति तो सबको चाहिए, उद्वेग किसीको भी पसन्द नहीं। असलमें उद्वेग अपनी वस्तु नहीं, वह तो गुंडेकी तरह आता है और फिर भाग जाता है। कोई भी मनुष्य चाहे कि हम केवल उद्विग्न जीवन व्यतीत करेंगे तो वह वैसा कर नहीं सकता। कोई कहे कि हम हमेशा असत्य ही बोलेंगे तो वह बोल नहीं सकता। हम एक सज्जनके घर गये। वे बोले कि 'महाराज! मैं झूठ-ही-झूठ बोलता हूँ।' मैंने कहा कि आप जो इस समय बोल रहे हैं, यह क्या है? क्या यह सत्य नहीं? इसपर वे सज्जन चुप हो गये। यदि कोई निरन्तर झूठ बोले तो क्या होगा? यदि वह मुँहको नाक और नाकको मुँह कहेगा तो लो उसकी भाषा नोट कर लेंगे और आपसमें कहेंगे कि भाई, जब यह मुँह बोले तो नाक समझना और नाक बोले तो मुँह समझना। असत्य बोलकर कोई अपना जीवन-यापन नहीं कर सकता। उसको सत्य बोलना ही पड़ेगा। इसी प्रकार किसीका जीवन निरन्तर हिंसामय नहीं हो सकता किन्तु अहिंसामय रह सकता है। चोरीका जीवन हमेशा नहीं रह सकता किन्तु साधुताका जीवन हमेशा रह सकता है। परिग्रहका जीवन हमेशा नहीं हो सकता किन्तु अपरिग्रहका जीवन हमेशा हो सकता है। यही सद्गुणका स्वभाव है, उसकी विशेषता है।

शान्ति आत्मधर्म है, आत्मस्वभाव है, आत्मगुण है। आप निरन्तर शान्त रहिये। अशान्तिको तो जबरदस्ती पकड़ना पड़ता है। किन्तु शान्तिके लिए कुछ करना नहीं पड़ता, कुछ समझना अवश्य पड़ता है। आपको कई दिन सुना चुका हूँ कि सिर्फ समझ लेनेसे, जान लेनेसे, केवल ज्ञानमात्रसे ही यह मालूम पड़े कि अमुक वस्तु हमको मिली है, तो वह ज्ञान होनेके पहले भी अज्ञान कालमें भी मिली हुई ही थी। वेदान्त-दर्शनका यह कहना है कि आप भूल गये हो, इसीलिए अमुक वस्तु आपको नहीं मिली। वह आपकी जेबमें पहलेसे ही थी, अब याद आनेसे आपको मिल गयी।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

आप परमात्माको पहचानो, वह हमारा सुहृद् है। इसको ऐसे समझो कि किसी विद्यालयमें कोई सज्जन गये। उन्होंने सब विद्यार्थियोंको देखा। एक विद्यार्थी बड़ा स्वस्थ, बड़ा सुन्दर, बड़ा प्रतिभाशाली लगा। उनको कोई लड़का नहीं था। उन्होंने मनमें ही उसे गोद लेनेका निश्चय कर लिया और विद्यालयके अध्यक्षसे कहा कि उस गरीब बच्चेके खाने-पीने-रहने आदिकी सब व्यवस्था कर दो, उसका सारा खर्च हमारे यहाँसे आयेगा। जब वह लड़का पढ़-लिख लिया तब उन्होंने उसको बुलाया। वह डरने लगा कि इतने बड़े आदमीके पास मैं कैसे जाऊँ! उसको तो यह भी मालूम नहीं था कि उसका जीवन-निर्वाह कौन करता है। परन्तु जब वह गया तो उन्होंने उसको अपने बराबर बैठाया और बताया कि मैंने जिस दिन पहले-पहल तुमको देखा था, उसी दिन

तुमको अपना पुत्र बना लिया था। तुम तो मेरे पुत्र हो। अब उस लड़केको यह ख्याल आया कि अरे, मैं तो बहुत दिनोंसे इनका पुत्र हूँ, आत्मीय हूँ, प्रेम-पात्र हूँ। फिर वह आनन्दमें भर गया। इसी तरह हमारे भगवान् हैं, परमेश्वर हैं, जो सबके सुहृद हैं, सबकी भलाई चाहते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजीने अपने व्याख्यानमें एक उदाहरण दिया है। पिता और पुत्र एक नावसे एक ही घाटपर उतरे। परन्तु बहुत दिनोंसे बिछुड़े होनेके कारण एक दूसरेको पहचानते नहीं थे। सामान रखनेमें लड़ाई हो गयी। पुत्र कहे हमारा, पिता कहे हमारा। जब किसी तीसरे व्यक्तिने जो उन दोनोंको लेनेके लिए आया था, उनका परस्पर परिचय कराया तब उन्हें पता चला कि वे एक दूसरेसे मिलनेके लिए ही आये हैं फिर वे आपसमें मिल गये। यह कथा षड्गोपाचार्यकी गीतिमें भी है। द्रविणाचार्यकी भी यह उक्ति है। शङ्कराचार्यने ठीक यही उपाख्यान 'बृहदारण्यक उपनिषद्'के भाष्यमें दूसरे ढंगसे लिखा है। उनका कहना है कि एक राजकुमार बचपनमें चोरी चला गया था। वह डाकूओंमें रहा, उन्हींमें बढ़ा। कुछ लक्षणोंके आधारपर कभी पहचान लिया गया और उसे बताया गया कि तुम तो राजकुमार हो। वह राजकुमार तो पहलेसे ही था। उसे मालूम पड़ा और अपने राजकुमारपनेका अनुभव हो गया। तो 'सुहृदं सर्वभूतानां'—ईश्वर हमारा सुहृद है, मित्र है। वह सोते-जागते, सपना देखते, रणमें, वनमें, सर्वत्र हमारी मदद करता है। आवश्यकता ईश्वरको सुहृद् बनानेकी नहीं, उसके सुहृद्पनेको जाननेकी है। किसीने कहा कि ईश्वर किसी-किसी बड़े आदमीका होता होगा। बोले—नहीं, वह सबका सुहृद् है। कितने आश्वासनकी बात है। जो लोग अपने पापसे, तापसे, उद्वेगसे, दोषोंसे बहुत व्याकुल हैं, उन्हें निराश न होकर यह निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर उनका भी मददगार है, मित्र है, भला चाहता है। यह जाननेमात्रसे ही उनको आश्वासन मिलेगा। लोग कहते हैं कि वैदिक धर्ममें, हिन्दू धर्ममें पापोंकी चर्चा बहुत है। ठीक है, पापोंकी बात है, परन्तु उसके साथ-साथ आश्वासनकी भी तो बात है। कोई चाहे कितना भी पापी हो किन्तु एक राम नाम, एक ज्ञान, एक भाव, स्मृति उसका कल्याण कर देगी। मनुष्यके कल्याणके लिए इतना बड़ा आश्वासन अन्य धर्मोंमें मिलना बड़ा मुश्किल है। हमारा धर्म तो आश्वासनका धर्म है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

परमेश्वर यज्ञ और तपस्याका भोक्ता है। यज्ञका फल या तो उसको मिलता है जो यज्ञ करता है अथवा उस देवताको मिलता है जिसके उद्देश्यसे यज्ञ किया जाता है। परमेश्वर कर्ताके अन्दर अन्तर्यामी रूपसे बैठा है और भोक्ताके अन्दर भोक्ताके रूपमें भी बैठा हुआ है। असलमें हमारा आत्मचैतन्य ही अन्तःकरणमें प्रवेश करके अहंको कर्ता बना देता है और वही अपने मनसे बनाये हुए देवताके शरीरमें प्रवेश करके उसको भोक्ता बना देता है। देवतामें भोक्तारूपसे और अन्तःकरणमें कर्तारूपसे एक ही परमेश्वर बैठा हुआ है। जो भोक्तृदेवतावच्छिन्न चैतन्य है, वही कर्तृजीवावच्छिन्न चैतन्य है। 'भोक्तारं यज्ञतपसां'का दूसरा अर्थ ऐसे समझो कि आप जो दूसरोंको लिखते हैं, दूसरोंका उपकार करते हैं, भला करते है, उसका नाम ही यज्ञ है। और, आप अपने-शरीरमें जो संयम करते हैं, उसका नाम तप है। तो, स्वयं अपनेको संयममें रखिये और दूसरोंको सुख पहुँचाइये। निश्चय ही इसका उपभोग ईश्वर करेगा। ईश्वर ही आपके शरीरमें बैठकर आपके संयमका स्वाद लेता

है और सामनेवालेके शरीरमें बैठकर उसके सुखका आस्वादन करता है। वह सबका स्वामी सर्वलोकमहेश्वर है। उसके लिए अपना काम ठीक कीजिये। ईश्वर कैसे प्रसन्न होगा, इसकी चिन्ता किये बिना आप इस बातपर दृष्टि रखिये कि आपका अन्त:करण कितना निर्मल है और आप किस प्रकार पवित्र हृदयसे काम कर रहे हैं। फिर ईश्वर तो आपका सुहृद है ही और आपको केवल ज्ञानमात्र हो जानेसे ही शान्ति मिलेगी—'ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।' ऐसे ही अवसरके लिए भगवान्‌का यह वचन है—

तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम्।

यही गीताके अन्तमें है। गीताका उपसंहार इस प्रकार है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 18.78

गीताकी यह जो फलश्रुति है, उसमें यह नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपको यह फल मिलेगा, बैकुण्ठ मिलेगा, अथवा आप मरनेके बाद मुक्त हो जायेंगे। यह भी नहीं कि आप गीता पढ़ेंगे तो आपको समाधि लग जायेगी। ऐसी कोई भी बात नहीं। तब क्या है? यही कि आप जो साधन कर रहे हैं, कर्म कर रहे हैं, उपाय कर रहे हैं, वही योग है—'योगः संहननोपायः' योग शब्दका अर्थ है जोड़ना, योग शब्दका अर्थ है उपाय, योग शब्दका अर्थ है करना। तो योगेश्वरका तात्पर्य है कि आप जो कर्म कर रहे हैं, उसका प्रवर्तक ईश्वर है, उसका निर्वाहक ईश्वर है, उसका फलदाता ईश्वर है। आप तीन बातोंपर ध्यान रखें, जो कर्म आप कर रहे हैं उसकी प्रेरणा देनेवाला परमेश्वर है, उसको निभानेवाला परमेश्वर है और पूरा करनेवाला भी परमेश्वर है। आप तो अर्जुनकी तरह हाथ-पाँव बिल्कुल ठीक रखकर धनुष-बाण हाथमें लेकर, लक्ष्यवेधके लिए तैयार रहिये। तात्पर्य यह कि आपके रूपमें जीव कर्म करनेके लिए उद्यत है और प्रेरणा, निर्वाह तथा पूर्णता प्रदान करनेके लिए परमेश्वर प्रस्तुत है। फिर तो इस लोकव्यवहारमें आपको श्रीकी प्राप्ति होगी, विजयकी प्राप्ति होगी, भूति अर्थात् वैभवकी प्राप्ति होगी और आप एक निश्चयात्मिका स्थितिमें चलेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा निश्चय, मेरा ज्ञान, मेरी बुद्धि वहीं होगी जहाँ मेरी प्रेरणा होगी। इसीलिए सञ्जय बोलते हैं कि जहाँ श्रीकृष्ण प्रेरक हैं, निर्वाहक हैं, पूर्णताका दान करनेवाले हैं और जीव अपने कर्तव्यमें परायण है, अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है वहाँ शङ्काकी कोई बात नहीं। वहाँ तो श्री है, विजय है वैभव है, ध्रुव नीति है और वहीं भगवान्‌का ज्ञान भी है।

•

प्रवचन : 12

भक्तिका स्वरूप

संस्कृतमें भक्ति शब्दके मुख्य रूपसे तीन अर्थ होते है—एक तो 'भजनं भक्तिः'—प्रेमपूर्वक भगवान्‌के भजनका नाम भक्ति हैं। दूसरा 'भञ्जनं भक्तिः' भञ्जो आमर्दने धातुसे भक्ति शब्द बनता है। दुनियामें जो आसक्ति है उसको भञ्जन करने तोड़देनेका नाम भक्ति है। और, तीसरा है, 'भागो भक्तिः'—अपनेको ईश्वरके भागके रूपमें अनुभव करना कि हम ईश्वरके अंश है—इसका नाम भक्ति है। शण्डिल्यने भक्तिका यह लक्षण किया है कि ईश्वरके प्रति परम अनुरागका नाम भक्ति है। नारदजीने भक्तिका लक्षण दो प्रकारसे किया है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।' वे कहते हैं कि भक्ति परमात्मामें परम प्रेम-स्वरूप है। कहीं कस्मै पाठ है तो कहीं अस्मिन् पाठ है। अस्मिन्‌का अर्थ यह है कि जो भगवान् हमको दीख रहा है, उसमें परम प्रेम ही जिसका रूप है वह भक्ति है। जो भक्तिका रूप है परम प्रेम और वह दीखनेवाले भगवान्‌में होता है। आँखसे दीख रहा हो, चाहे मनमें दीख रहा हो, दीखना आवश्यक है। जो बिल्कुल दृश्य नहीं, मनसे जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, बुद्धि जिसको सोच भी नहीं सकती, उससे प्रेम नहीं होता। प्रेम तो उससे होता है जो हमारी आँखोंके सामने, हमारे मनके सामने प्रकट हो! प्रेमके लिए तो आँखोंके सामने एक सीधा-सादा सच्चा विषय चाहिए। इसलिए नारदजीने भक्तिका लक्षण करते हुए कहा कि हमारे सामने जो परमेश्वरका रूप है इसमें परम प्रेम होगा। यह है साधन भक्ति और दूसरी है—'अमृतस्वरूपा च'—भक्तिका स्वरूप है अमृत और रूप है प्रेम। यह फलरूपा भक्ति है।

जब भक्तिके सम्बन्धमें हम चर्चा करते हैं तो पहली बात आती है श्रवणकी। दुनियामें कोई अभीष्ट (इष्ट) चलते-फिरते दीख रहा हों तो उसको देखकर भी भक्ति कर सकते हैं। कभी उसका स्पर्श हो जाये तो गद्‌गद् हो जायेंगे, उससे प्रेम हो जायेगा। प्रेम तो जिनको आँख नहीं, उनको भी होता ही है। पर वह प्रेमास्पदका स्पर्श करके या उसकी मीठी-मीठी आवाज सुनकर होता है। कोई सुगन्ध सूँघने अथवा कोई स्वाद चखनेपर भी प्रेम हो जाता है। प्रेम केवल आँखकी अपेक्षा नहीं करता। केवल आँखवाले ही प्यार करते हों, यह कोई नियम या मर्यादा नहीं। बिना आँखवाले भी प्रेम तो कर ही सकते हैं। परन्तु ईश्वरसे प्रेम करना हो तो वह न चामसे छूआ जा रहा है, न जीभसे चखा जा रहा है, न नाकसे सूँघा जा रहा है। फिर ईश्वरसे प्रेम कैसे हो? ईश्वरको 'यह' बनानेके लिए श्रवणकी आवश्यकता होती है। दर्शनशास्त्रका नियम है कि जो वस्तु नित्य-परोक्ष हो, सर्वथा परोक्ष हो, उसका ज्ञान वाक्य-प्रमाणके द्वारा होता है। और नित्य-अपरोक्ष रहकर भी शब्द-प्रमाणके द्वारा ही होता है। जैसे हमारा आत्मा नित्य-अपरोक्ष है, परन्तु इसका जो ब्रह्मपना है वह अज्ञात है। उसके ज्ञानके लिए वाक्यकी आवश्यकता पड़ती है। तो, चाहे ईश्वर-विषयक ज्ञान हो, चाहे आत्माका ब्रह्मविषयक ज्ञान हो, ये

दोनों श्रवणसे ही प्राप्त होते हैं। इनकी प्राप्तिके लिए श्रवणके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं। जब हम भगवान्‌के गुणानुवाद-माहात्म्यका श्रवण करते हैं तब उनके दर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है। हम बचपनमें सुना करते थे कि महात्मा गाँधी नामके एक व्यक्ति हैं, वे सत्य और अहिंसाके पुजारी हैं, सत्याग्रही हैं, उनके अन्दर बड़े-बड़े सद्‌गुण हैं! उनके दर्शनकी इच्छा हुई और मैं वाराणसीसे वर्धा गया, सेवाग्राम गया। जब दर्शन किया तब पता चला कि वे कैसे हैं। जब वस्तु अपनी आँखोंके सामने नहीं होती और उसके माहात्म्यका श्रवण होता है, तब उसके दर्शनकी, उससे मिलनकी इच्छा होती है और उससे प्रेम भी होता है।

हम ईश्वरको दोनों तरहसे नहीं पहचानते। वह हमारी इन्द्रियोंसे नहीं दीखता, तब भी नहीं पहचानते और हजारों रूपोंमें दीख रहा है, किन्तु हमें उसकी पहचान नहीं, इसलिए दिखायी देनेपर भी हम उसको नहीं पहचानते। इस कारण उससे न तो प्रेम हो पाता है, न भक्ति हो पाती है। अत: परमेश्वरके प्रति प्रेम और भक्तिके लिए श्रवणकी आवश्यकता है। सुनो, समझो और उससे प्रेम करो। दुनियामें प्रेमभक्तिके मजहब बहुत हैं। यहाँतक कि बौद्ध और जैन भी, जो एक ईश्वरको स्वीकार नहीं करते, सद्‌गुणसम्पन्न, पवित्र और बुद्धत्वको प्राप्त जीवको ईश्वर कहते हैं। जो सद्गुणसम्पन्न शुद्ध इकाईके रूपमें होता है उसको वे तीर्थङ्कर कहते हैं। उनके यहाँ चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं। वे लोग भी बुद्धकी, महावीर स्वामीकी, अपने तीर्थङ्करोंकी भक्तिका वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा हमलोग अपने एक ईश्वरकी भक्तिका वर्णन करते हैं। उनके हमारे भक्ति-वर्णनमें कोई अन्तर नहीं। हम बोलते हैं—'जगन्नाथस्वामी नयनपथगामी भवतु मे।' और वे बोलते हैं—'महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे।'

तो भक्ति बौद्धों और जैनियोंमें भी है। ईसाई और मुस्लिम मजहब तो भक्तिसे भरपूर ही हैं। बाइबिल और कुरानशरीफ एक ईश्वरकी भक्तिका ही प्रतिपादन करते हैं। गुरुग्रन्थसाहिब और जन्दावेस्ता भी भक्तिसे भरपूर हैं। हमको दिखायी न देनेवाले परोक्ष ईश्वरके प्रति भक्तिका उदय श्रवणके सिवाय और किसी साधनसे नहीं हो सकता। यदि हम किसी मूर्तिकी पूजा कर रहे हैं तो वह मूर्ति पत्थर है, सोना है, चाँदी है, ताँबा है, किसकी मूर्ति है और उसमें ईश्वर है या वह स्वयं ईश्वर—यह सब भी कानसे सुनना ही पड़ता है। बिना श्रवणके कोई मूर्तिका दर्शन करे तो उसमें उसका ईश्वर-भाव नहीं हो सकता। इसलिए भक्तिका मूल रूप श्रवणमें ही निहित है। श्रवण क्या करता है? कि किसी-न-किसी रूपमें प्रेम तो आपके हृदयमें है। यदि बीज नहीं हो तो काम नहीं बने। आसक्ति सबके हृदयमें रहती है। कोई बच्चेसे आसक्ति करता है। कोई शरीरसे आसक्ति करता है कोई अपनी योग्य वस्तुसे आसक्ति करता है। आसक्ति अन्त:करणका सहज स्वभाव है। तो संसारमें जो आसक्ति है, उसकी जगहपर ईश्वरमें आसक्ति उत्पन्न करनेके लिए श्रवणकी आवश्यकता पड़ती है। जो ईश्वरके बारेमें श्रवण नहीं करेगा, उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति नहीं आयेगी। एकान्तमें बैठनेपर भी, जप करनेपर भी, ध्यान करनेपर भी जितना आपको मालूम है, वही बात आपके दिमागमें घूमेगी, उससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकेगी। अद्भुत बात यह है कि जहाँ बौद्ध और जैनोंका एक-एक व्यक्ति ईश्वर है और वे भी दुनियामें बहुत थोडे हुए है तथा ईसाई, मुसलमानका ईश्वर निराकार है, वहाँ वैदिक धर्मके अनुसार ईश्वरको न

एक व्यक्तिमें सीमित रखा गया है और न उसको केवल निराकार करके छोड़ दिया गया है। हमारी जो एक-एक व्यक्तिमें, जातिमें, मजहबमें आसक्ति है और जिसके कारण हम बहुत अनर्थ करते हैं, मोहवश भाई-भतीजोंके प्रति, अपने मजहबवालोंके प्रति पक्षपात करते हैं और मजहबी लड़ाइयाँ लड़ते हैं, यह सब ईश्वरका रहस्य न जाननेके कारण ही है। मजहबकी आसक्ति, जातिकी आसक्ति, पन्थकी आसक्ति, राष्ट्रकी आसक्ति, भाषाकी आसक्ति मनुष्यकी बुद्धिको संकीर्ण बना देती है, उदीर्ण नहीं होने देती। यहाँ तक कि भक्ति-सम्प्रदायोंमें भी ईश्वर और ईश्वरकी पूजाको एकांगी बनाकर लड़ाई करनेकी प्रवृत्ति आ जाती है। किन्तु हमारे वैदिक धर्मका जो परमेश्वर है, वह बहुत उदार है। अर्थात् वह सबमें है, सब जगह है और सबका संचालन कर रहा है। गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ 18.46

संसारके समस्त प्राणी जिससे प्रेरित होकर अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हो रहे हैं, जिससे चींटी चल रही है, चिड़िया उड़ रही है, मछली तैर रही है और मनुष्य नाना प्रकारके कर्म कर रहा है, जिससे पंखा चल रहा है, बल्बमें रोशनी हो रही है, हीटर जल रहा है, रेफ्रीजेटर ठण्डा कर रहा है, अलग-अलग यन्त्र अपना-अपना काम कर रहे हैं और जिसके द्वारा सम्पूर्ण भूतोंकी प्रवृत्ति हो रही है, जो—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां'—सबके भीतर रहकर सबका संचालन कर रहा है, वही ईश्वर है किन्तु ईश्वरके इस रूपका पता तो प्रायः सभी ईश्वरवादियोंको है। हमारे ईश्वरकी विशेषता यह है कि 'येन सर्वमिदं ततम्'—वह केवल सबका संचालन ही नहीं करता, सब रूपोंमें भी वही है। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर यदि सबका संचालन करता है तो बुराइयोंका भी संचालन वही करता होगा। किन्तु ऐसी बात नहीं। आप देखो कि बिजलीका पंखा जब कभी खट-खट बोलने लगता है या उसमें-से आग निकलने लगती है तो वह पंखेका दोष है या बिजलीका? निश्चय ही वह यन्त्रकी त्रुटि होती है, मशीनकी खराबी होती है, बिजलीका दोष नहीं होता। तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तो सबको एकरस शक्ति देता है, ज्ञान देता है, सत्ता देता है, आनन्द देता है। किन्तु जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उसको सद्‌गुणकी प्रेरणा मिलती है। आप ईश्वरसे क्या लेते हैं, यह आपके अन्तःकरणपर निर्भर करता है। परन्तु इसके आगे जो बात कही गयी है वह और बड़ी है—'येन सर्वमिदं ततम्—येन उपादानभूतेन ईश्वरेण इदम् सर्व वस्त्रेषु सूत्रवत् ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत होता है इसी प्रकार यह जो विश्वरूपी वस्त्र है, इसमें सूत तथा ताना और बाना सब कुछ वही परमेश्वर है। इस प्रकारकी व्याख्या दुनियाके किसी भी दूसरे धर्ममें स्वीकार नहीं की गयी। इसका फल यह हुआ कि उनके यहाँ न तो मूर्तिपूजाकी मान्यता हुई और न अवतारकी क्योंकि जब ईश्वर सर्वरूप है तब मूर्तिके रूपमें भी वही है। यहाँतक कि यह पेड़ भी ईश्वर है, ईश्वर ही पेड़के रूपमें प्रकट हुआ है, इससे भी प्यार करो। वृन्दावनमें एक सज्जन थे, वे जब किसी बगीचेमें जाते थे तो पेड़के साथ लिपट जाते थे और कहते कि 'प्रभु! तुम इस रूपमें आये हो! तुम गर्मी सहते हो, सर्दी सहते हो, खड़े रहते हो किन्तु हमलोगोंको सुख पहुँचानेके लिए

छाया देते हो, फल देते हो।' इसमें न मजहबका भेद है न जातिका, न प्रान्तका भेद है न राष्ट्रका, न भाषाका भेद है। एक ईश्वर ही सबके रूपमें प्रकट हो रहा है। निमित्त कारण भी वही है माने सबका संचालक वही है और उपादान कारण भी वही है अर्थात् सब रूपोंमें वही बना हुआ है।

आपु अमृत आपै अमृतघट, आपहि पीवनहारि।
आपै ढूंढे आपै ढुंढावे आपै ढूँढनहारि॥

वही अमृत है, वही अमृतघट है, वही पीनेवाला है। वह स्वयं ढूँढता है, स्वयं ढूँढा जा सकता और स्वयं ढूँढनेवाला है। परमेश्वरके इस रूपमें न लोक-परलोकका भेद है, न मैं और तूका भेद है और न शत्रु-मित्रका भेद है। ऐसा है सर्वात्मा ईश्वरका यह स्वरूप। इस प्रकार दर्शनपूर्वक जो ईश्वरकी भक्ति है, इसीको दर्शनशास्त्र बोलते हैं। पहले ईश्वरका दर्शन करो—एक सबके संचालक रूपमें, दूसरा सर्वरूपमें। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—'सर्व सर्वगत सर्व उरालय।' परमेश्वर ही सब है, सबमें है और सबके हृदयमें रहता है।

यदि यह बात ध्यानमें आ जाये कि ईश्वर जड़-चेतन, चर-अचर सबमें है, वही चलनेवाला है और वही चलानेवाला है तो मानव-समाजका दृष्टिकोण इतना उदार हो जायेगा कि भाषाका पक्ष लेकर मानवताका, मजहबका पक्ष लेकर धर्मका, प्रान्तका पक्ष लेकर, राष्ट्रका पक्ष लेकर विश्वका और दृश्य प्रपञ्चका पक्ष लेकर अदृश्य परमात्माका तिरस्कार नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि ये सब परमेश्वरके ही स्वरूप है।

अब भक्तिका स्वरूप क्या है इसपर विचार करें। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' गीता कहती है कि हमें भक्तिमें पूजा उसीकी करनी है जो सबमें है, सबका संचालक है और सर्वरूप है। हम एक महात्माके पास बैठे थे। हमारे एक साथी घास नोचने लगे। वे महात्मा किसी आसनपर नहीं, धरतीपर ही बैठते थे। जब हमारे साथीने कुछ हरी-हरी दूब नोच ली, तब वे बोल पड़े, अरे क्या करते हो? देखो यह परमेश्वर माटीमें-से निकलकर कैसे हरी-हरी घासके रूपमें आया है। इसको यदि गाय चरेगी तो दूध बनेगा। वह दूध मनुष्य पायेगा तो उससे वीर्य बनेगा। उस वीर्यसे मनुष्यका निर्माण होगा। यह माटी मनुष्यरूप धारण करनेके लिए दूब बनी है। तुम इसको नोचकर फेंक दोगे तो फिर इसको दूब और मनुष्य बननेमें वर्षों लग जायेंगे। तुम बड़े आदरके साथ धरतीपर पाँव रखो, यह सोचकर कि धरतीभी परमेश्वर है। मुँहसे आवाज निकालो परन्तु यह सोचकर बोलो कि जिससे हम बात कर रहे हैं उसमें भी परमेश्वर है इतना ही नहीं, तुम्हारी बात जो पास-पड़ोसमें सुन रहे हैं, उनमें भी परमेश्वर है। महात्माने कहा कि हमारी जीभसे जो आवाज निकलती है, मीठी-मीठी या कड़वी-कड़वी, उसको यहाँ रहनेवाले कीड़े, फतिङ्गे भी सुनते हैं। उनके कानमें भी हमारी आवाज कर्ण-कर्कश होकर कटु होकर नहीं जानी चाहिए; क्योंकि वे भी परमेश्वर हैं। तो, ईश्वर सबमें है, ईश्वर सब है, ईश्वर सबसे परे है और ईश्वर अपने-आपमें है। हम आपको श्रीमद्भागवतकी बात सुनाते हैं। उसके ग्यारहवें स्कन्धमें यह प्रश्न उठा कि ईश्वर सबमें है तो अपने-आपमें है कि नहीं? उत्तर मिला कि अपनेमें भी है । जब सबमें है तो अपनेमें क्यों नहीं होगा! तो बोले ठीक है हम आकाशमें अच्छे-अच्छे शब्द बोलकर, वायुमें सुगन्ध

फैलाकर, अग्निमें हवन करके, जलमें पवित्र वस्तुएँ डालकर, पृथिवीको स्वच्छ रखकर इन सबके रूपमें भगवान्‌की पूजा करेंगे। परन्तु अपने रूपमें जो परमेश्वर है, उसकी पूजा कैसे करें? तो इसका उत्तर मिला कि अपनेको भी कष्ट मत दो—'भोगैरात्मानमात्मनि'—अपने हृदयमें भगवान्‌की पूजा ऐसे करो कि जैसे बाहर ईश्वरको भोग लगाते हो, वैसे भीतरवाले ईश्वरको भी भोग लगाओ। उसको भी जल दो, अच्छा रूप दो, अच्छे शब्द दो, स्पर्श दो, अच्छा भाव दो। पूजा करनेके लिए ईश्वर केवल बाहर ही नहीं होता, भीतर भी होता है। अपनेको ठीक ढंगसे रखकर ईश्वरकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग अपनेको तकलीफ देते हैं, उनकी निन्दा तो गीतामें आप पढ़ते ही है—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 17.6

हमारे शरीरमें परमेश्वर रहता है। जब हम शरीरको तकलीफ देने लगते हैं तो अपने हृदयमें रहनेवाले परमेश्वरको तकलीफ देते हैं। तब पूजाकी पद्धति क्या है? आप सर्वधर्म-सम्मेलन कर लीजिये और उसमें सब धर्म समान हैं, इसकी खूब प्रेमसे चर्चा कर लीजिये। सब धर्मोंमें उत्तम-उत्तम बातें है और वे मनुष्य-जीवनका निर्माण करती है। परन्तु हमारे वैदिक धर्ममें जहाँ यह चर्चा है कि ईश्वरकी पूजा कैसे करना वहाँ यह कहते हैं चूँकि सब ईश्वर है, सबका अन्तर्यामी ईश्वर है, सबसे परे ईश्वर है और अपना आत्मा ही ईश्वर है—इसलिए ईश्वरकी पूजा करते समय यह ध्यान रखो कि किस ईश्वरकी पूजा कर रहे हो? सर्वात्मा ईश्वरकी पूजा कर रहे हो तो एक चिड़ियाका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए, चींटीका भी तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जिसका तिरस्कार होता है उसका अहित नहीं होता, जिस शरीरसे तिरस्कार की भावना निकलती है, उसका अहित होता है। इसलिए अपनेको ठीक-ठीक रखना ही, अपनेको सत्कर्म, सद्भावसे, सद्‌विचारसे सम्पन्न रखना ही ईश्वरकी पूजा है।

हमारा ईश्वर केवल वैकुण्ठमें ही नहीं, धरतीपर भी है। केवल निराकार ही नहीं आकार भी वही है। वह सर्व है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वातीत है, अद्वितीय है, अपने आत्मासे अभिन्न है। जब परमात्माका ऐसा स्वरूप है तब उसकी पूजा भी वैसी ही होना चाहिए। असलमें ईश्वर बाहरसे आवे यह जरूरी नहीं। परन्तु हमारे भीतरसे ईश्वर निकले यह बहुत जरूरी है। वह सबसे नजदीक है। तो वहींसे उसे प्रकट भी होना चाहिए। जब हम कोई कर्म करें, तो इस प्रकार करें कि जो हमारे भीतर ईश्वर है, वह हमारे कर्ममें प्रकट हो जाये। हमें यह ध्यान रहे कि जो काम हम कर रहे हैं, यह ईश्वरकी प्रेरणासे कर रहे हैं। इसको निबाहनेकी शक्ति भी ईश्वर ही दे रहा है और इसका फल भी ईश्वर ही है। तो अपने मर्ममें ईश्वरको अवतीर्ण कर लेना, यही उसकी पूजा है और यही कर्मयोगका स्वरूप है। बाहरसे बुलाकर, अध्याहार करके, ईश्वरको अवतीर्ण नहीं करना अपितु अपने भीतर जो अन्तर्यामी, अपने आत्मामें परमात्मा है उसको प्रकट करना है। जब आप कोई कर्म करें तो उसमें अपने सच्चिदानन्दको डाल दें, उसका खूब मजा लें और फिर उस कर्मको सबके प्रति अर्पित कर दें। उसके फलको अपनी ओर न खीचें, अपितु जो कर्म करें उसका फल सबको दें। आप कपड़ा बनाइये किन्तु

उसका पैसा केवल आपके घरमें आये यह नहीं होना चाहिए। होना यह चाहिए कि सबको पहननेके लिए कपड़ा मिले। आप लोहा बनाइये, रुई बनाइये, गेहूँ, चावल, जौ आदि अन्न पैदा कीजिये परन्तु उस उत्पादनका उद्देश्य व्यक्तिगत सुख, व्यक्तिगत सुविधा, व्यक्तिगत आनन्द न होकर सबका हित हो। अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट कर देना कर्मयोग है और अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट कर देना ही सबसे प्रेम करना है। यह कोई स्वार्थी प्रेम नहीं, अपने सुख और कामोपभोगके लिए प्रेम नहीं है। तो, अपने कर्ममें ईश्वरको प्रकट करके उसके द्वारा ईश्वरसे ही प्रेम करनेका नाम ज्ञान है। ईश्वर आपकी बुद्धिके पीछे बैठा है, वह बुद्धिमें आकर ईश्वरको ही देख रहा है और ईश्वरके लिए ही विचार कर रहा है। आपके काममें ईश्वर है, आपके प्यारमें ईश्वर है, आपके विचारमें ईश्वर है और आपकी एकाग्रतामें ईश्वर है। आप अपनी एकाग्रतामें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम योग होगा। आप अपने विचार में ईश्वर प्रकट करेंगे तो उसका नाम ज्ञान होगा। आप अपने प्रेममें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम भक्ति होगा और आप अपने काममें ईश्वरको प्रकट करेंगे तो उसका नाम कर्मयोग होगा। कर्मका यह मतलब नहीं कि आप झाड़ू लगाते है कि वेदका पाठ करते हैं। आप बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं कि बहुत बड़े वैदिक है, आप बहुत बड़े व्यापारी है कि बहुत बड़े सैनिक है। आप कोइ भी काम करें तो उसमे हस्तपादादिका संचालन तो होता ही है। कहीं हाथ हिलता है, कहीं पाँव हिलता है, कहीं जीभ हिलती है। तो शरीरमें हिलनारूप जो कर्म हो रहा है इसमें क्या श्रेष्ठ है और क्या कनिष्ठ है, इसका विचार नहीं है। एक आदमी हाथसे सफाई कर रहा है, एक मशीन चला रहा है। एक शास्त्र लिख रहा है, एक सेवा कर रहा है। देखना यह है कि जो कर्म वह कर रहा है, किसलिए कर रहा है?

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

गीता कहती है कि अपने कर्मसे उस परमेश्वरकी आराधना करो। तुम जो कर्म कर रहे हो, वह केवल परमेश्वरकी अर्चनाके लिए हो। चलते समय भी यह ख्याल रखो कि तुम्हारे पाँवोंकी ध्वनि ईश्वरको कर्कश न लगे। तुम्हारे बोलनेकी आवाज ईश्वरको कटु न लगे। जो भी काम करो इतनी सुन्दरतासे अपने प्यारे ईश्वरके लिए करो कि वह मुग्ध हो जाये। हम जैसे टेलीफोनपर बात करते हैं। जब अपने मित्रका टेलीफोन होता है तो मीठी आवाजमें बात करते हैं ओर जो पसन्द नहीं होता, उसको डाँट देते हैं। अपना मित्र खाने बैठा हुआ हो तो हँस-हँसकर उसको खिलाते हैं और यदि अपना मित्र न हो तो उपेक्षासे, बहुत गम्भीर होकर शिष्टाचारवश उसको खिलाते हैं। असलमें सभी तो तुम्हारे प्यारे हैं। तुम्हारे घरमें जो भी जिस किसी भी रूपमें आया है, वह तुम्हारे प्यारेके रूपमें ही तो है। तो, भक्तिका स्वभाव है, स्वरूप है कि, स्वकर्मणा अपने कर्मके द्वारा 'तमभ्यर्च्य' ईश्वरकी अभ्यर्चा कीजिये।

अब ऐसा कर्म करनेका अधिकारी कौन है इसपर विचार कीजिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अथवा बौद्ध, जैन, मुसलमान और ईसाई इनमें-से उस कर्मको करनेका अधिकारी कौन है? भक्तिका जो स्वरूप आपको बताया गया है, वैसी भक्ति कौन करे? इसका समाधान भगवान् करते हैं कि देखो कर्ताके साथ कोई विशेषण अथवा उपाधि लगानेकी जरूरत नहीं। 'सिद्धिं विन्दति मानवः' यह कर्म मानवके लिए है।

भगवान्‌की आराधनाकी, भक्तिकी, पूजाकी यह पद्धति मनुष्यमात्रके लिए है। यहाँ अधिकारी अनधिकारीका कोई प्रश्न नहीं। श्रीमद्भागवत, उपनिषद् गीता, सब-के-सब बताते हैं, कि सब कुछ भगवान्‌का ही स्वरूप है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सद् हि इदं सर्वम्। चिद् हि इदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्। स एवेदं सर्वम्। अहमेवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्।'

श्रुतियाँ घोषणा करती है कि सबके रूपमें परमात्मा ही है। गीता भी यही कहती है—सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। मया ततमिदं सर्वम्।'

सब भगवान्‌का स्वरूप है। श्रीमद्भागवत भी यही प्रकट करता है कि देखो बालक ब्रह्मरूप है। श्रीकृष्ण ही ग्वालबाल बन गये। बछड़े भी कृष्ण, ग्वाले भी कृष्ण, उनके छीके भी कृष्ण, उनके कपड़े भी कृष्ण, उनकी लठिया भी कृष्ण, उनका खाना-पीना भी कृष्ण अर्थात् सबके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं। आप जब यह श्रवण करेंगे तब भगवान्‌में भक्ति होगी। सारे श्रीमद्भागवतके श्रवणका सङ्कल्प यही है—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधार इति संकल्प्य वर्णय॥

मनमें यह सङ्कल्प करो कि सर्वात्मा भगवान्‌में हमारी भक्ति होवे। हम भक्ति किस रूपमें कर रहे हैं, इसका ध्यान न रखकर हमारे हृदयमें भक्ति है कि नहीं, यह देखनेकी आवश्यकता है। एक तो हम किसी लालसे, कालेसे, पीलेसे, नाटेसे, लम्बेसे, मोटेसे, दुबलेसे भक्ति न करें। यह देखें कि हमारे सामने जो भी है भगवान्‌का स्वरूप है और हम भक्तिपूर्वक अनुभव करें कि प्रभु, तुम यह रूप धारण करके आये हो। सन्त नामदेवकी रोटी कुत्ता उठाकर ले गया और घी लेकर यह कहते हुए उसके पीछे दौड़े कि प्रभु चुपड़ लेने दो। उनको कुत्तेके रूपमें ईश्वर दिखाई पड़ा। तो हमारा ईश्वर यह है—'देख मौतका रूप धरे, मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।' भगवान् मृत्युका रूप भी धारण करके आवें तो उनके प्रति भक्ति बनी रहे। और, हम समझते रहें कि वे तो हमारे मित्र ही हैं।

एक सज्जन सुनाया करते थे कि एकबार दो मित्र कहीं यात्रा कर रहे थे। रातका समय था और वे बहुत बीहड़ जंगलमें भटक गये। उन्होंने आपसमें परामर्श किया कि हममें-से एक सोवे और एक जागे। तो एक सो गया और दूसरा जागता हुआ बैठ गया। थोड़ी देरमें वह क्या देखता है कि एक साँप फन फैलाये फुफकारता हुआ आ रहा है। उसने अपना डण्डा बजाया और फटकारा कि दूर रहो। साँप वहीं रुक गया और बोला कि हमको इसका रक्त चाहिए, इसने हमको मारा है, हमारा खून बहाया है, हम इसका खून बहावेंगे। मित्रने कहा कि तुमको खून ही चाहिए, तो इसको छूओ मत। उसने अपनी जेबसे चाकू निकाला और मित्रके शरीरमें थोड़ा-सा घाव करके रक्त निकाला और पत्तेपर साँपके सामने रखकर बोला कि लो तुम्हें खून चाहिए था तो लेकर लौट आओ। मित्र बिल्कुल आँख बन्द किये पड़ा रहा। जब वह उठा, तब उसने पूछा कि क्यों भाई, जब मैंने तुम्हारे शरीरमें चाकू लगाया तो कैसा लगा? उसने कहा कि मैंने आँख खोलकर देखा कि तुम हो, तुम्हारे हाथमें चाकू है तो मैंने सोचा कि मेरा अहित होनेवाला नहीं, कुछ-न-कुछ हित ही होगा। फिर मैंने आँख बन्द कर ली

और मैं सो गया। सारी बात उसको मालूम थी। यह हुई एक मित्रकी मित्रपर विश्वासकी बात। किन्तु इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जब ईश्वर जैसा मित्र हमें मिला है, तब हमको प्रत्येक परिस्थितिमें उस पर भरोसा रखना चाहिए।

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक दम्पती पानीके जहाजमें यात्राकर रहे थे। मार्गमें बड़ा भारी तूफान आया। पत्नीको डर लगा किन्तु पति बिलकुल नहीं डरे और अपना काम करते रहे। पत्नीने पूछा कि इतना बड़ा तूफान आया है, जहाज ऊपर-नीचे हो रहा है, लेकिन तुमको डर नहीं लगता? पति चुपचाप उठा। उसने अपनी जेबमें-से पिस्तौल निकाली और पत्नीकी छातीपर लगाता हुआ बोला कि तुमको इससे डर लगता है? पत्नी बोली कि नहीं, पिस्तौल क्या करेगा? यह तो तुम्हारे हाथमें है। तब पति बोला कि जब मेरे हाथमें पिस्तौल देखकर तुमको डर नहीं लगता तो ईश्वरके हाथमें तूफान देखकर क्यों लग रहा है? वह भी तो हमारा मित्र है, हितैषी है। जब उसके हाथमें तूफान है तो हमको डरनेकी क्या आवश्यकता है?

तो भाई, ईश्वरकी आराधना और उससे प्रेम इस प्रकार करो कि सबकुछ सर्वात्मा परमेश्वरका स्वरूप है। उसके प्रति हमारी भक्ति और प्रीति बनी रहे। इसीलिए श्रीमद्भागवतका कहना है—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥ भा०1.7.7

आप भगवान्‌का चरित्र श्रवण कीजिये। संस्कृतमें श्रूयमाणानाम्‌का अर्थ है श्रवणसमकालम् अर्थात् सुनते समय ही। श्रीमद्भागवतके एक-एक शब्द ज्यों-ज्यों आपके कानमें पड़ेंगे त्यों-त्यों आपके हृदयमें भक्ति प्रकट होगी और जब भक्ति प्रकट होगी तो तीन चीजें मिट जायेंगी। जब आपकी आसक्तिका मुँह कानके रास्ते मोड़ दिया जायेगा और भगवत्कथा आपके कानमें पड़ेगी और हृदयमें श्रीकृष्णका प्रेम उदय होगा तो तत्काल तीन बातें आपके जीवनमें नहीं रहेंगी। एक तो आपके मनमें जो पिछली बातोंके लिए शोक होता है— हमारा यह चला गया, हमारे पास यह नहीं रहा, उसका निवारण हो जायेगा। पीछेकी जो बातें है, वह अच्छी हों तो भी आपको तकलीफ देती हैं कि अब वे नहीं रहीं और बुरी क्यों किया? भूतकी बातोंको अधिक स्मरण करना ही शोक है। शोक भूतवृत्ति होता है। आप पिछली बातोंको याद कर-करके शोकग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु जब भगवान्‌की याद आयेगी तो वह शोक मिट जायेगा। दूसरी यह कि आप भविष्यकी बातें सोच-सोचकर उनके लिए भयभीत हो जाते हैं। अच्छी बातकी भी कल्पना करें तब भी उसमें विघ्न न पड़ जाये यह भय ही है। और बुरी बातोंकी कल्पना करें तब तो फिर कहना ही क्या है! या तो आपके भूत लगा हुआ है अर्थात् भूतकालकी बातें आपके दिमागमें अधिक रहती है—जैसे कोई आदमी रास्तेमें चल रहा है और उसका पाँव पीछेकी ओर फिसल जाये तो वह गिर पड़ता है, वैसे ही भूतकालकी बातें जब ज्यादा याद आती हैं तो आदमीको गिरा देती है और जब आदमीका पाँव आगेकी ओर ज्यादा फिसल जाता है तब भी वह गिर पड़ता है। इसलिए मनपर भूत, भविष्यकी बातोंका बोझ लेकर मत चलिये। मोहके दल-दलमें मनुष्यका पाँव फँसता है। भयकी कल्पनासे मनुष्य शोक करने लगता है। लेकिन जब भगवान्‌की भक्ति आती है तब न भूतका शोक होता है, न

भविष्यका भय होता है और न वर्तमानका मोह होता है। उस समय हमारा हृदय अपनेमें ही विद्यमान ईश्वरको पकड़कर आनन्दसे भरपूर हो जाता है। इसीसे श्रीमद्भागवत और दूसरे शास्त्रोंको कहना है कि आप श्रवण कीजिये। श्रवणके साथ-साथ हमारी वाणी भी भगवान्‌के गुण वर्णन करे—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वरते।

भक्तलोग कहते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए। महात्मालोग कहते हैं—'मोक्षेणारसिकेन किम्।' उस मोक्षको लेकर हम क्या करेंगे जो मरनेके बाद मिलता हो। हमको तो वह मोक्ष चाहिए जिससे इसी समय हमें परमानन्दका अनुभव हो। हम सत्यसे वञ्चित न रहें—'असतो मा सद्गमय।' हम अन्धकारमें न भटकें—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और हम मृत्युके फन्देमें न रहें, इसी जीवनमें अमृतत्वको प्राप्त करें। तो—'न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।' हमें मोक्ष भी नहीं चाहिए, अपवर्ग भी नहीं चाहिए।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

भगवान्‌के चरित्रकी एक बूँद, एक फुहिया, एक सीकर, जब कानमें पड़ती है तो मनुष्यका मन परम पवित्र, परम पावन होकर एक अखण्ड आनन्दमें, परमानन्दमें डूब जाता है। और जब आपके हृदयमें परमानन्द प्रकट हो गया तो आनन्दपूर्वक बोलिये, आपके बोलनेसे आनन्द बरसेगा। आप आनन्दसे स्पर्श कीजिये। आपके हाँथमें-से आनन्दके झरने बहेंगे। आप जहाँ-जहाँ चलेंगे वहाँ-वहाँ पृथिवी आनन्दित होगी। आप जो-जो करेंगे, वह लोगोंके लिए आनन्दका उद्‌गम होगा, उत्स होगा, स्रोत होगा। इसलिए अपने हृदयमें भगवान्‌को, भगवान्‌की भक्तिको, भगवान्‌की प्रीतिको बैठा लीजिये। आपके समस्त कर्म-कलापसे, यहाँतक कि आपकी साँससे भी प्रेम और आनन्दकी वर्षा हो, इसीका नाम भक्ति है। भक्ति आपके हाथसे भी हो, आपके पाँवसे भी हो, आपकी वाणीसे भी हो। यही भक्तिका स्वरूप है।

●

गीता-दर्शन

(3)

गीता अध्याय - 6

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

प्रस्तुति

परमपूज्य महाराजश्रीके प्रवचनोंको सुननेका अवसर वर्षोंसे प्राप्त हो रहा है। यह मेरे लिए सौभाग्यकी बात है कि मुझे उसने इतना आकर्षित किया अब मैं अपना अधिक-से-अधिक समय उस ओर लगाती हूँ। टेप रिकार्ड सुनती हूँ, लिखती हूँ। छपने योग्य बनानेमें जितने अधिक समय और श्रमकी आवश्यकता होती है उसे करनेमें आनन्दका अनुभव करती हूँ। इसमें मुझे जो रस मिलता है-निश्चित ही वह उस प्रवचनकार विभूतिकी कृपा है। गृहस्थीमें लिप्त रहकर इस प्रकार भगवत्प्राप्ति हो रही है इसमें मेरे पतिदेवका पुण्य, सहिष्णुता सहायक है।

इतने बड़े काममें कुछ त्रुटियोंका रह जाना मेरी ग्रहण-शक्तिपर निर्भर करता है और उससे विज्ञ पाठकोंको कुछ क्षोभ हो सकता है। अत: वे सारग्राही नीरक्षीर विवेकी विद्वान् इसकी अच्छाइयोंका वरण करें—जो महाराजश्रीका प्रसाद है : आपके समक्ष प्रस्तुत है।

—सतीश

गीता अध्याय-6

प्रवचन : 1

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

वेद और गीतामें एक अन्तर यह है कि वेद अपौरुषेय ज्ञान है और ऋषि उनका दर्शन करते हैं। वेदमें वक्ताकी प्रधानता नहीं होती, मन्त्रकी प्रधानता होती है। एक ही विशेषता है वेदकी और वह है उसके ज्ञानकी विशेषता। उसमें न श्रोताकी विशेषता है और न वक्ताकी। वह अद्वैत ज्ञानका सूचक है और स्वयंमें अद्वैत है।

गीतामें ज्ञानकी विशेषता तो वही है जो वेदमें है। परन्तु उसमें उत्तम वक्ता और उत्तम श्रोता इन दोनोंकी विशेषता और बढ़ गयी है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वक्ता हैं और भगवान्‌के ही एक रूप अर्जुन श्रोता हैं। **सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्**—एक ही सत्ता, एक ही वस्तु नर-नारायण दोनोंके रूपमें स्थित है। रथ एक है शरीर, उसमें चेतन एक है ब्रह्म और वही एक रूपसे वक्ता हो रहा है तथा दूसरे रूपसे श्रोता हो रहा है। वही नारायण है और वही नर है। नर अर्जुन है तथा नारायण श्रीकृष्ण।

किसी-किसीका जीवनरथ कामके वशमें हो जाता है और उसका सारथि काम बन जाता है। काम कहाँ रहता है? इन्द्रियमें रहता है, मनमें रहता है और बुद्धिमें रहता है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

जब काम बुद्धिको, मनको, इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, मनुष्य रामके चलाये नहीं चलता, कामके चलाये चलने लगता है, तब उसकी प्रेरणाका स्रोत मलिन हो जाता है। जब हमारी बुद्धिका प्रेरक, मनका प्रेरक, इन्द्रियोंका प्रेरक नारायण होता है, राम होता है, कृष्ण होता है, हम सचमुच **धियो यो नः प्रचोदयात्** से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** ईश्वर हमारे भीतर रहकर हमें प्रेरणा प्रदान करता है, तब हम ठीक रास्तेसे सन्मार्ग पर चलते हैं। कठोपनिषद्‌का यह प्रसंग सदा याद रखने योग्य है कि **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च** आत्मा रथी है और शरीर रथ है। **इन्द्रियाणि हयानाहुः** इन्द्रियाँ घोड़े हैं। **मनः प्रग्रहमेव च** मन बागडोर है। इसमें वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण सारथिके रूपमें बैठे हैं। कहाँ बैठे हैं? बुद्धिमें **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।** तो हम अपनी बुद्धिके अन्तरालमें बैठे हुए भगवान्‌की प्रेरणा ग्रहण करने लगें—इसकी योग्यता प्रदान करती है यह गीता माता।

मैं आपको पहले सुना चुका हूँ कि संसारका कोई मजहब बुद्धिको इतना आदर नहीं देता, जितना आदर वैदिक धर्म और भगवद्गीता देती है। अन्य सब धर्म चाहे वह इस्लाम हो, क्रिश्चियन हो, जैन हो, बौद्ध हो या सिक्खधर्म हो विश्वासकी प्रधानतासे चलते हैं। जो मजहब किसी एक व्यक्तिके द्वारा चलाया हुआ होता है, वह उसी व्यक्तिके प्रति विश्वास करनेके लिए बाध्य करता है। किन्तु वैदिक धर्म एक व्यक्तिके प्रति विश्वास करनेके लिए बाध्य नहीं करता। वह सच्चे ज्ञानके प्रति, परमार्थके ज्ञानके प्रति विश्वास करनेके लिए प्रेरित करता है। यह भारतीय संस्कृतिकी विशेषता रही है कि वह बुद्धियोगका आदर करती है—**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव** बुद्धियोगका आश्रय लो। **ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।** मैं बुद्धियोग देता हूँ। तो इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि बुद्धियोगसे भगवान् मिलते हैं और भगवान् प्रसन्न होकर बुद्धियोग देते हैं। अब आप बताइये संसारका ऐसा कौन-सा मजहब है, जो बुद्धिको, बुद्धियोगको इतना अधिक आदर देता हो?

अब आप दूसरी बातपर ध्यान दें। ज्ञान अकृत्रिम होता है, अनिर्मित होता है, अपौरुषेय होता है। पुरुषके द्वारा निर्मित ज्ञानको पौरुषेय बोलते हैं। पुरुष चाहे ईश्वर हो, चाहे अवतार हो, चाहे देवदूत हो, कोई भी ज्ञानका निर्माता नहीं होता। ईश्वर भी नहीं और साक्षात् भगवान् राम-कृष्ण भी नहीं। एक अद्भुत लीला है यह। यदि ईश्वर ज्ञान बनायेगा तो प्रश्न उठता है कि ज्ञानसे बनावेगा या अज्ञानसे? ज्ञान बनानेके पहले ज्ञान होगा या नहीं? ईश्वर ज्ञानस्वरूप होगा या अज्ञानस्वरूप होगा? इसलिए ज्ञानका असली स्वरूप वह है जो अपने अनेक हिस्सोंके बावजूद एक है, अखण्ड है। ज्ञानके ही एक हिस्सेका नाम जीव है, ज्ञानके ही एक हिस्सेका नाम जगत् है। सम्पूर्ण रूपोंमें ज्ञान-ही-ज्ञान प्रकट हो रहा है। ऐसा सिद्धान्त संसारके किसी मजहबका नहीं। यह केवल भारतीय धर्म भारतीय संस्कृतिका ही सिद्धान्त है कि शुद्ध ज्ञान ही जगत् बनता है। यह सब शुद्ध ज्ञानका ही विलास है। यदि भारतीय संस्कृतिको समझना हो तो ज्ञान किसीने कभी बनाया है, यह बात भूल जाओ। किसी भी कालमें, भूगोलके किसी भी देशमें, सातवें आसमानमें या धरतीपर, किसी व्यक्तिविशेष द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति की गयी है या ज्ञान उत्पन्न हुआ है यह बात प्रमाणित नहीं हो सकती। ज्ञान स्वतः सिद्ध है, सहज है, अपौरुषेय है। मैं फिर कहूँगा कि ज्ञानके सम्बन्धमें यह धारणा विश्व-सृष्टिके किसी भी धर्म अथवा मजहबमें नहीं है।

अब एक दूसरी बातपर ध्यान दो। ईश्वरने सृष्टि बनायी है—यह तो सब मानते हैं। किसी-किसी मजहबमें नहीं भी मानते। जैन धर्म ईश्वरको नहीं मानता, सृष्टिको अनादि मानता है और कहता है कि सृष्टि कर्म-प्रभावसे चलती है। बौद्ध धर्म भी ईश्वरको नहीं मानता। वह परमतत्त्वको शून्य मानता है। परन्तु भक्ति जैन-बौद्ध दोनों धर्मोंमें है। भक्तिका भी भेद होता है। **बुद्धं शरणं गच्छामि** अथवा **ॐ नमो अरिहंताणं** इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि वे व्यक्ति-विशेषको, बुद्धको, अर्हन्‌को; तीर्थङ्करको जो कि स्वयं अनेक जन्ममें पवित्र हुए हैं, सर्वस्व मानकर उनकी उपासना करते हैं। चौरासी जन्मोंमें रहनेके बाद बोधिसत्त्व जब शुद्ध होकर वीतराग बुद्धत्वको प्राप्त हुए तो उन्हींकी भक्ति बौद्ध धर्ममें की जाने लगी। ईसाई धर्ममें ईश्वर है, इस्लाम धर्ममें ईश्वर है। सिक्ख धर्ममें भी ईश्वर है। परन्तु वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वरने सृष्टि बनायी। अब आप ध्यान दो। वैदिक

धर्मका सिद्धान्त यह है कि ईश्वरने सृष्टि बनायी ही नहीं, अपितु स्वयं सृष्टि बन गया। इससे फलितार्थमें, निष्कर्षमें बड़ा भारी भेद होता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ा बनाकर उसे बाजारमें बेचनेके लिए भेज देता है अथवा सुनार जेवर बनाकर दूसरोंके पहननेके लिए दे देता है, उस प्रकार ईश्वर सृष्टि बनाकर अपनेसे अलग नहीं करता। दार्शनिक भाषामें ईश्वर विश्वका निमित्त कारण ही नहीं, उपादान कारण भी है। यही वैदिक धर्मकी विशेषता है जो और कहीं नहीं है। ईश्वर केवल कुम्हार ही नहीं, माटी भी है। जिस माटीसे घड़ा बनता है, वह ईश्वर है और घड़ा तथा घड़ेका एक-एक टुकड़ा भी ईश्वररूप है। ईश्वर केवल सुनार ही नहीं, सोना भी है। जेवर चाहे उसकी शक्ल-सूरत कुछ भी हो, कड़ा हो, कुण्डल हो, हार हो सब-का-सब स्वर्ण ही है। तात्पर्य यह कि ईश्वर ही देवता है, दानव है, पशुपक्षी है, मनुष्य है, स्त्री-पुरुष है। वही अमीर-गरीब है और वही चींटी-हाथी है। ईश्वरने किसी दूसरे मसालेसे यह सृष्टि नहीं गढ़ी। अपितु वह स्वयं स्वरूपमें प्रकट हुए है। यह सिद्धान्त आप विश्वके किसी भी धर्ममें नहीं प्राप्त करेंगे।

मैं आपको एक बात और बड़े प्रामाणिक रूपसे सुना देता हूँ। आजसे लगभग दो सौ वर्ष पहले निर्मित कालिका पुराण और मुरुतन्त्रको छोड़कर किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें वेदमें, ब्राह्मणमें, उपनिषद्में, श्रौतसूत्रमें, कल्पसूत्रमें, धर्मसूत्रमें, गृह्यसूत्रमें, स्मृतिमें, अट्ठारहों पुराणोंमें, प्राचीन तन्त्रमें हिन्दू शब्दका प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ। हम एक जातिके लिए, एक आचार्यके अनुयायियोंके लिए, भूगोलके एक सीमित क्षेत्रके लिए धर्मका निरूपण नहीं करते। हमारा जो धर्म है, वह समग्र मनुष्यमात्रके लिए है। हमारा धर्म शब्द निरुपपद है, उसका उपपद नहीं है। तात्पर्य यह है कि धर्म शब्दसे पहले उसको संकीर्ण बनानेके लिए किसी भी शब्दका प्रयोग नहीं हुआ। जैसे—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। चोदनालक्षणार्थो धर्मः। धारणात् धर्मः।

आज मैंने भारतीय संस्कृतिकी विशेषताके बारेमें चार बातें बतायीं। हमारा धर्म जातिका धर्म नहीं, व्यक्तिका धर्म नहीं, राष्ट्रका धर्म नहीं, समग्र पृथिवीका धर्म है। **माता पृथिवी पुत्रोऽहम् पृथिव्या** पृथिवी मेरी माता है, मैं पृथिवीका पुत्र हूँ। जो ईश्वरको मानते हैं, वे ईश्वरको एक मानते हैं। यह 'एक' शब्द भी अपनी एक अपूर्वता लेकर संस्कृत भाषामें बना है। **इण् गतौ, एति अन्वेति, अनुगच्छति एति एकः।** जो दो में जाता है, तीनमें जाता है, चारमें जाता है; जिसके रहे बिना, जिसकी अनुगतिके बिना संख्या बनती ही नहीं, उनका नाम एक है। अब इस बातको ईश्वरमें लीजिए। ईश्वर एक है। ईश्वर दो में है, एक एक दो। ईश्वर तीनमें है—एक-एक-एक तीन। ईश्वरके बिना कोई वस्तु बनती ही नहीं।

तो भाई, गीताके पाँचवें अध्यायके अन्तमें आपने सुना कि मुक्त कौन है? **विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः**—यह मुक्तकी परिभाषा है। आप एक बातपर केवल ध्यान दें। मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, बहिश्त मिलेगा अथवा यह मिलेगा, वह मिलेगा, इसका कोई महत्त्व नहीं। आपके लिए इसी जीवनमें फायदेकी बात है विगतेच्छा-भय-क्रोध होना, रागद्वेष-भयरहित होना। क्रोधमें द्वेष है। भयका नाम सीधा-सादा है। जो इच्छावान् होगा, वह उसकी इच्छा करेगा जिससे उसका राग होगा। जिसके मनमें किसीसे राग नहीं, किसीके

प्रति द्वेष नहीं, क्रोध नहीं और भय नहीं, वह सदा मुक्त है, इसी जीवनमें मुक्त है। मरनेके बादकी मुक्ति सही है, परन्तु यह भी सही है कि जो इस जीवनमें मुक्त है, वही बादके जीवनमें मुक्त है। जो इस जीवनमें बँधा हुआ है, वह अगले जीवनमें भी बँधा रहेगा। अब साधनकी बात देखो--

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

यह बात भी दूसरे मजहबोंमें नहीं कि परमात्माको केवल जानने मात्रसे शान्तिकी प्राप्ति होती है **ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।** कोई कहता है कि मेरे पास आओ, तुम्हें शान्ति मिलेगी। कोई कहता है कि मेरी बात मानो, तुम्हें शान्ति मिलेगी। कोई कहता है कि मेरे अनुयायीके पीछे चलो, तुम्हें शान्ति मिलेगी। केवल जान लो, पहचान लो। जानना और पहचानना एक ही बात है।

अब आपको तीन बात सुनाते हैं। ईश्वर भोजन क्या करता है? **भोक्तारं यज्ञपतसां** यह यज्ञ और तपस्याका भोजन करता है। ईश्वर क्या करता है? **सर्वलोकमहेश्वरम्** सम्पूर्ण विश्वसृष्टि पर शासन। वह शास्ता है। तीसरी बात यह है कि उसका स्वभाव कैसा है? **सुहृदं सर्वभूतानां** वह सबका सुहृद् है। इन तीनों बातोंको आप केवल जान लो, पहचान लो और अनुभव करो।

पहले ईश्वरके भोजनकी बात सुनाते हैं। उसका आहार यज्ञ और तपस्या है। यज्ञ माने दूसरोंको खिलाना—यह सीधा सादा अर्थ है यज्ञका। उसमें सामग्री इकट्ठा करके शूद्र खाता है। उत्पादन, वितरण और विनिमयके द्वारा वैश्य खाता है। रक्षा करके क्षत्रिय खाता है। वेदमन्त्र पढ़कर ब्राह्मण खाता है। सबके अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मोंके पालन द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि सबको भोजन देना ही ईश्वरको खिलाना है। ईश्वर अपने लिए थाली लगाकर, मेजपर बैठकर, अलगसे भोजन नहीं करता। आप जो यज्ञ करते हैं, आप जो दूसरोंको खिलाते हैं, वही ईश्वर भोजन है। यज्ञमें पशुओंका भी हिस्सा होता है, पक्षियोंका भी हिस्सा होता है। गायको भी हिस्सा देते हैं, कौएको भी देते हैं, दिशाओंको भी देते हैं। यज्ञमें वायुका भी अंश है, वह सुगन्ध जो फैलती है। अग्निका भी अंश है, अग्निमें जो हवन करते हैं। जलका भी अंश है, तर्पण जो करते हैं। पृथिवीका भी अंश है, भोग जो लगाते हैं। शुद्ध मन्त्रोंका जो उच्चारण होता है, वह आकाशका अंश हैं। आप यज्ञ करो अर्थात् सबको भोजन दो, पानी दो, शुद्ध वायु दो। अपने मुँहसे अपशब्दका, अशुद्ध शब्दका उच्चारण मत करो। अपने मनसे किसीके प्रति दुर्भाव मत करो। अपनी बुद्धिसे किसीके अहितकी बात मत सोचो। यह यज्ञ है। ईश्वर यही खाता है। यदि आप यज्ञ कर रहे हैं तो ईश्वर आपके घरमें रोज भोग लगाता है, रोज भोजन करता है तो **भोक्तारं यज्ञतपसां** ईश्वर दो चीज खाता है, यज्ञ और तपस्या। यज्ञका अर्थ हैं दूसरोंका उपकार करना, दूसरोंको खिलाना, दूसरोंकी सेवा करना। तपस्याका अर्थ है कमसे-कममें अपना गुजर-बसर कर लेना। अपना निर्वाह थोड़ेसे-थोड़में हो, यह तप है और दूसरोंका अधिक-से-अधिक भला किया जाये; यह यज्ञ है।

आप अपने जीवनमें ईश्वरको भोग लगाना चाहते हैं तो यज्ञ कीजिये। भोग थालीमें नहीं लगता, पैसा

फेंकनेसे नहीं लगता, अक्षत चढ़ानेसे नहीं लगता। सबका भला कीजिये और स्वयं स्वल्प-से-स्वल्पमें निर्वाह कीजिये, यही ईश्वरका प्रिय भोग है।

दूसरी बात—**सर्वलोकमहेश्वरम्।** ईश्वर सबका स्वामी है, सबका प्रशासन करता है। उसके ऐश्वर्यको समझो।

अब तीसरी बात। ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् है **सुहृदं सर्वभूतानां** सौहार्द्र ही ईश्वरका धर्म है। सौहृद ही उसका स्वभाव है। वह सबके हृदयोंमें रहता है और सबके हृदयोंको निर्मल बनाता है। जब जलमें फिटकरी पड़ती है तो जलके मलको दूर कर देती है। ऐसे हृदयमें ईश्वरका प्राकट्य होनेपर हृदयकी मलिनता दूर हो जाती है। असलमें, ईश्वर हमारे हृदयमें रहकर हृदयकी मलिनताको दूर करता रहता है। ऐसे ईश्वरको जाननेपर शान्ति मिलती है **ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।** अतः आप भी उसको जानो, आपको शान्ति मिलेगी।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ और अब छठा अध्याय प्रारम्भ होता है। भगवान् बिना पूछे ही अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं। यह है सौहार्द भगवान्का। धर्मशास्त्रमें नियम यह है कि जब कोई धर्मकी बात पूछे तभी उसको बताना चाहिए, अन्यथा वह मानेगा नहीं और तिरस्कार कर देगा। क्योंकि वह वासनाके वशमें हैं, अहंकारके वशमें है। यदि किसीको उसके झुके बिना और पूछे बिना उपदेश किया जाता है तो वह उसे स्वीकार नहीं करता है। अतः जो नम्र हो और जिज्ञासु हो, उसे ही धर्मकी बात बतानी चाहिए। परन्तु यदि कोई बहुत अपना हो, वात्सल्यभाजन हो, पुत्र हो, शिष्य हो तो उसके हितकी बात बिना पूछे भी बता देनी चाहिए। नम्रता उसके लिए भी आवश्यक है। पुत्र अथवा शिष्य यदि जिज्ञासु न हो तब तो उन्हें धर्मोपदेश किया जा सकता है, लेकिन नम्र न हो तो धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी नम्रताको देख चुके हैं—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इस कथनके द्वारा अर्जुनने अपनी नम्रता प्रकट की है। वह नम्र हो गया। पानी-पानी हो गया। इसलिए पाँचवें अध्यायके अन्तमें अर्जुनके प्रश्न न करने पर भी भगवान् स्वयं बोले। जब करुणा बढ़ती है तब वह कोई अपेक्षा नहीं रखती और स्वयं उसकी धारा प्रवाहित होने लगती है। भगवान् अपने आप उपदेश करने लगते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 6.1

देखो, एक लोक-व्यवहार है। पहले जब वर्णाश्रम-धर्मकी महिमा थी तो लोग संन्यासी और योगीको बड़ा मानते थे। यह प्रसिद्धि थी कि एक तो संन्यासी न होनेपर भी योगाभ्यासी है, वह बड़ा है। यहाँ तक कि जो आसन बाँधकर निष्क्रिय होकर बैठ गया वह योगी घोषित हो गया। कुछ आसन, कुछ प्राणायाम और कुछ प्रत्याहार करना आ गया तो योगिराजकी उपाधि मिल गयी। आजकल बम्बई आदि बड़े शहरोंमें जब स्त्रियाँ

मोटी हो जाती हैं तब वे हेल्थसेन्टरमें जाकर कुछ आसन सीख आती हैं तो उसका नाम 'योगा' बोलती हैं। किन्तु थोड़ी-सी कसरत सीख लेनेका नाम योगा या योग नहीं, आसन-प्राणायाम आदि योग नहीं, योगके अंग हैं। योगी दूसरोंसे कैसा व्यवहार करे, इसका नाम है यम अर्थात् सत्य, अस्तेय आदि। इसी प्रकार योगी स्वयंमें कैसा व्यवहार करे, वह है नियम अर्थात् शौच, तपस्या, सन्तोष, ईश्वर-प्रणिधान आदि। योगी स्वयंमें नियमसे रहे, दूसरोंसे सत्य, अहिंसाका बर्ताव करे और शरीरको आसनसे ठीक रक्खे, यह अन्तरङ्ग योग हुआ। सबसे पहले लोकव्यवहार बादमें स्वयंका नियमन और फिर शरीरकी सम्भाल। उसके पश्चात् प्राणोंको साध ले, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियोंको साध ले और धारणासे मनको एक स्थानमें स्थित करे। मनको अमुक समयतक स्थापित करनेका नाम ध्यान है। जिस वस्तुमें ध्यान लगे उसमें तन्मय हो जानेका नाम है समाधि। इन सारी अवस्थाओंकी विवेकख्याति होकर अपने स्वरूपमे स्थित होना द्रष्टाका स्वरूपावस्थान ही योग है। जैसा कि बताया गया—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगके आठ अंग हैं और योग इनसे विलक्षण है।

जो आसन बाँधकर, आँख बन्द करके, साँस रोककर बैठ जाये वह योगी है और सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जो निरग्नि है, रोटी बनाकर नहीं खाता, अग्निसम्बन्धका परित्याग कर चुका है वह संन्यासी है और वह भी सबसे श्रेष्ठ है। उपनिषदोंमें अग्नि शब्दका अर्थ स्त्री है—**यौषावावगौतमाग्नि** छान्दोग्योपनिषद्में स्त्री ही अग्नि है। जो स्त्रीसे सम्बन्ध त्याग करके गृहस्थाश्रमका भोग विलास छोड़ देता है उसको बोलते हैं निरग्नि। तो इस मान्यताको कि गृहस्थाश्रम छोड़कर निरग्नि हो जानेवाले संन्यासी बाबा और निष्क्रिय हो जानेवाली योगी बहुत अच्छे हैं, श्रीकृष्ण भगवान् स्वीकार नहीं करते। यह क्रान्ति है, इन्कलाब है श्रीकृष्णका। वे कहते हैं कि नहीं, नहीं; संन्यासी बाबा होनेसे, स्त्रीमात्रका परित्याग करनेसे अथवा केवल आसन बाँधकर, शरीर स्थिरकर योगी होनेसे कोई बड़ा नहीं हो जाता। बड़ा होनेके लिए गेरुआ कपड़ा पहनना या आसन साध लेना पर्याप्त नहीं। तब क्या करना चाहिए? देखो, हम एक ऐसा आदमी बताते हैं, जिसमें संन्यास भी है और योग भी है। वह आसन बाँधकर बैठा हुआ नहीं, काम कर रहा है। वह पत्नीत्यागी भी नहीं, गृहस्थाश्रममें है। अपने सारे कर्तव्य कर्मोंको पूरा करता है, इसलिए अक्रिय नहीं है। वह कर्मत्यागी नहीं, परन्तु योगी है; भार्यात्यागी नहीं, परन्तु संन्यासी है। अब प्रश्न उठा कि ऐसी क्या विशेषता है जो गृहस्थाश्रमका त्याग किये बिना संन्यासी, कर्मत्याग किये बिना योगी हो गया? तो बोले कि वह बुद्धियोगी है उसमें बुद्धि है। बुद्धिकी विशेषता ही सर्वोपरि विशेषता है। पत्थर जड़ वस्तु है, एक जगह पड़ा रहता है, कोई काम नहीं करता। तो उसमें क्या विशेषता है? विशेषता तो तब है, जब वह अपने कर्तव्य कर्मको ठीक ढंगसे करे। **यः कर्म करोति स योगी**—जो कर्म करता है, वह योगी है। ठीक है; किन्तु भाई, कर्म करनेका कोई तरीका, कोई मर्यादा भी तो होनी चाहिए। उसके लिए दो मर्यादाएँ बना दीं। वह यह कि **कार्यं कर्म करोति**। पहली बात यह कि जो अपना कर्तव्य कर्म है, वही करे, सब कर्म नहीं। कर्म तो चिड़िया भी करती है। कर्तव्यमें दो बातें हैं—एक तो निषिद्धका त्याग और दूसरे विहितका

अनुष्ठान। अनुशासनके अनुसार कर्म करना चाहिए। अनुशासन माने शास्त्रका अनुशासन, गुरुका अनुशासन, ईश्वरका अनुशासन, परिवारका अनुशासन, समाजका अनुशासन। वासनाके वेगमें अनुशासनका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। कार्यका अर्थ है कि जो कर्तव्य हैं, उन्हें करो और अकर्त्तव्यका परित्याग कर दो। अब देखिये, काम करता हुआ योगी अपने कर्त्तव्यका पालन कर रहा है। इस बातको आप शास्त्रकी इस भाषाके अनुसार मिला लीजिये कि मुक्ति किसे होती है यह धर्मशास्त्रमें है। एक तो जो योगी अथवा संन्यासी होता है, उसको मुक्ति होती है। दूसरे जो युद्धभूमिमें छाती तानकर खड़ा हो जाता है—**रणे चाभिमुखे हतः** और शत्रुके आक्रमणका सामना करते हुए मरता है वह भी मुक्त होता है। क्योंकि वह अपने कर्तव्यका पालन कर रहा है। कर्तव्यका पालन करते हुए मरना—मुक्तिका साधन है।

अब बोले कि कर्म करनेवाला संन्यासी कैसे हुआ? उसने पत्नी आदिका तो परित्याग किया नहीं तो बताते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

मैं आपके कामकी एक बात सुनाता हूँ। पहले दर्शनशास्त्रकी बात कुछ अधिक आ गयी। आप काम करते हैं, किसीको एक गिलास पानी पिलाते हैं, बहुत बढ़िया है। कभी झाड़ू लगाते हैं, कभी रसोई बनाते हैं। आप कपड़ा बनाते हैं, लोहा बनाते हैं, अन्न पैदा करते हैं, दूसरोंकी भलाईके काम करते हैं। अभावग्रस्तोंको निवास-स्थान देने, भोजन देने, औषधि देने, वस्त्र देने, सत्संग देने आदिसे भी तो बुद्धि शुद्ध होती है। दूसरोंको मनोरञ्जन देना, अन्न देना जीवन देना, ज्ञान-चित् देना, आनन्द देना—ये सब बुद्धि शुद्ध करनेके साधन हैं। आप अच्छे काम करते हैं, बहुत बढ़िया बात है किन्तु एक बातपर ध्यान दीजिये। जबतक आपको आनन्द देनेका कुछ फल नहीं मिलता, तबतक आप अपनेको सफल नहीं मानते, कृतकृत्य नहीं मानते। आप तो काम करनेका फल चाहते हैं। जनसेवी हैं तो कुर्सी चाहते हैं, और कुछ नहीं तो आपकी प्रशंसा पत्र-पत्रिकाओंमें छपे, यह चाहते हैं, यश चाहते हैं, कीर्ति चाहते हैं। अधिक नहीं, तो कोई शाबाशी दे, तारीफ करे, माला ही पहननेको मिल जाये। तात्पर्य यह कि जबतक कुछ लौकिक फल हमारे कामका न मिले, तबतक हम अपने कर्मको सफल नहीं समझते। किन्तु ऐसा करके हम अपने कर्मकी कीमतको खो देते हैं। प्यासेको पानी पिलाना, भूखेको अन्न देना, नंगेको वस्त्र देना, ये स्वयंमें बहुत बढ़िया काम हैं। उनसे आपके हृदयमें आनन्द आना चाहिए, पवित्रता आनी चाहिए, अन्तःसुखका विकास होना चाहिए। यह ध्यान रहे कि विकास स्वाधीन सुखका हो, पराधीन सुखका नहीं। जो सुख माला पहननेपर, तारीफ सुनने पर, ऊँची कुर्सी मिलनेपर; सेवाके बदले पैसा मिलनेपर, धरती मिलनेपर मिलता है, वह स्वाधीन सुख नहीं। किसी फरिश्तेने आकर कहा अब तुमको स्वर्ग मिलेगा और आप सुखी हो गये। किन्तु स्वर्ग मिलनेकी बात सुनकर जो सुख मिलता है, वह सच्चा सुख नहीं। सच्चा सुख तो वह है कि जो कर्म आप करते हैं, उस कर्ममें आपको सुख मिले।

तो संन्सायी कौन है? वह है जो बादमें मिलनेवाले फलका आश्रय न ले—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं क . करोति यः।

हम यह नहीं कहते कि आपको कर्मफल न मिले। खूब मिले। परन्तु आप उसके आश्रित न हो जायँ। अन्यथा कभी शंका हो जायेगी कि फल नहीं मिलेगा तो क्या होगा? विपरीत फल मिलेगा तो क्या होगा? होना यह चाहिए कि आपका जो सत्कर्म है, वह बना रहे, नष्ट न हो जाये। फल न मिलने पर भी आपको यह सन्तोष रहे कि आपने अच्छा काम किया है। आपको ग्लानि न हो, आपका दिल मैला न हो। आप यह देखिये कि जिस क्षणमें कर्म कर रहे हैं, उस क्षणमें आपको पूर्णताका अनुभव हो रहा है कि नहीं?

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना॥

यह ब्रह्म कर्म-समाधि है। जो काम आप कर रहे हैं वह काम आपके अपने व्यक्तित्व; आपकी अपनी शक्ति, अवस्था, बुद्धि और आपके ज्ञानके अनुरूप होना चाहिए और उसमें आपको पूर्णताका अनुभव करना चाहिए। आप कर्मफलपर मत जाइये। उसकी चिन्तासे तो आपका पाँव फिसल गया क्योंकि आप जो कर्म कर रहे हैं, उस कर्मकी और नहीं देख रहे अपितु उससे आगे होनेवाले फलके आश्रित हो गये हैं। यदि आप अच्छा काम कर रहे हैं तो अच्छा काम करना स्वयंमें फल है। अच्छा काम करना सत् है। अच्छा काम करना ज्ञान है और अच्छा काम करना आनन्द है। अच्छा काम करना सच्चिदानन्द है। जो फलका आश्रय लिये विना कर्म करता है वह संन्यासी है और कर्ता भी है। वह पत्नीत्यागी भी नहीं और कर्मत्यागी भी नहीं। किन्तु गृहस्थाश्रममें रहता हुआ अपनी शक्ति, अपनी बुद्धि, अपनी सद्भावना, अपने ज्ञानके अनुसार कर्म करता हुआ पूर्ण है। जो स्वयंमें आनन्दका अनुभव करता हुआ कर्म करेगा, उसके फलमें भी आनन्द-ही-आनन्द रहेगा। उसे फलकी ओर देखनेकी कोई जरूरत नहीं। आनन्दका फल आनन्द है। जो अपने कर्मका सुख नहीं ले रहा अपने ज्ञानकी पवित्रताका अनुभव नहीं कर रहा, अपने सद्भावको नहीं देख रहा, वह चाहे गेरुआ कपड़ेवाला संन्यासी हो अथवा योगी हो, उसका काम अधूरा हो जता है।

यह गृहस्थाचार है। श्रीकृष्ण भगवान् गृहस्थाचार्य हैं और गृहस्थोंको काम करनेकी तरकीब बताते हैं कि कैसे काम करना चाहिए।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : 2

अब हम गीताके छठे अध्यायमें प्रवेश करते हैं। हम जो संगीत गावें, उसका कुछ अर्थ भी होना चाहिए और उसमें आनन्द भी आना चाहिए। केवल ताल-लय-स्वरकी जो गति है, उससे विश्राम मिलता है, शक्तिकी वृद्धि होती है और उसमें जो अर्थामृत होता है वह शाश्वत प्रेरणा देता है। इसलिए संगीतमें केवल ताल लाय स्वरका ही समावेश नहीं होना चाहिए। उसमें अर्थका भी, अभिप्रायका भी सन्निवेश होना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण संगीत-विद्यामें बड़े निपुण थे। उनकी वंशी तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु केवल बाँसुरी नहीं उसके साथ गीता भी है। उनके जीवनमें एक ओर वंशी है, दूसरी ओर गीत है। आप जानते होंगे एक बार श्रीकृष्णपर इन्द्र प्रसन्न हुए। यह कथा महभारतमें है। इन्द्र हैं तो श्रीकृष्णसे छोटे, परन्तु श्रीकृष्णमें मानवता है और इन्द्रमें देवत्व है। इसलिए इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि वर माँगो। श्रीकृष्णने कहा कि मेरी और अर्जुनकी मैत्री सर्वदा बनी रहे, हमारी मित्रता अटूट-अखण्ड हो। इन्द्रने कहा—'तथास्तु'। इन्द्रके पुत्र हैं अर्जुन। आप एक सम्बन्धपर विचार करें। इन्द्र हाथके अधिष्ठातृ देवता हैं। सब इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता होते हैं। इसको आप ऐसे समझें कि जैसे आँख है। उससे आप सब लोग दीख रहे हैं। परन्तु यदि आँखका अधिष्ठातृ देवता सूर्य न हो या प्रकारान्तरसे सूर्यका प्रकाश न मिलता हो—चाहे बिजलीमें, चाहें आगमें, चाहे चन्द्रमामें—तो आपकी आँख किसी वस्तुको नहीं देख सकती। आँख अध्यात्म इन्द्रिय है। जो रूप दीखता है वह अधिभूत है और सहायक अनुग्राहक सूर्य देवता है। जैसे आँखका देवता सूर्य है वैसे ही हाथका अनुग्राहक देवता इन्द्र है। इन्द्रका पुत्र है अर्जुन। कर्मके देवताके साथ अर्जुनका सम्बन्ध है। वह यदि कर्मत्याग कर देगा तो अपने मूलतत्त्वकी ही उपेक्षा कर देगा। इसलिए अर्जुनके जीवनमें कर्म होना आवश्यक है।

एक दूसरी बात देखें। ईश्वर अपने लिए करण सुरक्षित नहीं रखता। करण माने औजार। वह बिना किसी दूसरी वस्तुकी मदद लिए ही आनन्द स्वरूप है। जैसे आपके यहाँ घी है। वह गेहूँकी मदद लेकर, चावलकी मदद लेकर या शक्करकी मदद लेकर ही स्वाद दे सकता है। घीको स्वाद देनेके लिए मददगारकी जरूरत पड़ती है। परन्तु ईश्वरको अपना काम करनेके लिए किसी सहायककी आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके यहाँ बन्धन नहीं। ईश्वर जब कोई काम करता है तो वह किसीके अन्तःकरणमें ही बैठ जाता है। ईश्वरने अपने लिए रहनेका कोई मकान नहीं बनाया। जितने भी अन्तःकरण हैं, सब ईश्वरके मकान हैं। जितने भी कण हैं वे ईश्वरके आवास हैं। जितने भी क्षण हैं, उनमें ईश्वर चमाचम चमक रहा है। प्रत्येक क्षण ईश्वरका प्रकाश है। प्रत्येक कण ईश्वरका आविर्भाव है। प्रत्येक मन ईश्वरका निवासस्थान है।

हमारे अन्तःकरणमें बुद्धिकी उपाधिसे बैठने हैं भगवान् श्रीकृष्ण—**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।** हमारे हृदयमें उचित-अनुचितका निर्णय करनेके लिए श्रीकृष्ण विराजमान होते हैं और उनकी बात सुनने और माननेके लिए हमारा ही मन बैठता है। मनमें जो भगवत्प्रकाश है, चैतन्य है; उसका नाम अर्जुन है और बुद्धिमें जो भगवत्प्रकाश है, चैतन्य है; उसका नाम श्रीकृष्ण है। प्रत्येक हृदयमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका निवास है और वे सबको मार्गदर्शन देते हैं। पर उस मार्गदर्शनको दुर्योधन नहीं सुन पाता, अर्जुन सुन पाता है। अर्जुन सरल है। अर्जुन शब्दका अर्थ

***************************** ******************

नीलकण्ठने, महाभारतके उद्योगपर्वमें 'ऋजुत्वात् अर्जुनः' किया है अर्जुन ऋजु है, सरल है। जो दावपेचसे बात करता है वह अर्जुन नहीं होगा। व्यवहारमें दावपेच नहीं चाहिए। सरलता चाहिए। सीधे चलो। टेढ़े मत चलो। वामपन्थसे मत चलो, सीधे चलो। किसीको भूलभुलैयामें डालना या स्वयं पड़ जाना आत्माके सहज स्वभावके विपरीत है।

अब मैं आपका ध्यान एक सहज बातपर आकर्षित करता हूँ। एकदम सहज बात है, टेढ़ी नहीं। आपका जीवन दो तत्त्वोंसे बना दीखता है। वे कौन-से दो तत्त्व हैं? कर्म और ज्ञान हैं। आँख ज्ञान है और पाँव कर्म है। आप आँखसे देखते हैं और पाँवसे चलते हैं। इसी तरह ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान हैं और कर्मेन्द्रियाँ कर्म हैं। प्रत्येक मनुष्यका जीवन बिना दावपेचके सहजभावसे दो तत्त्वोंका प्रकाश है, अभिव्यक्ति है। आपके शरीरमें दो तत्त्व जाहिर हैं—दो तत्त्वोंका इजहार है। आप समझते हैं और करते हैं, करते हैं और समझते हैं। करते-करते समझ बढ़ जाती है और समझते-समझते उसके अनुसार करने लगते हैं। जीवनमें ज्ञान और कर्मका सङ्गम है। इसको संस्कृतभाषामें समुच्चय बोलते हैं। बिना ज्ञानके कर्म अन्धा है। बिना कर्मके ज्ञान पङ्गु है—लँगड़ है। सांख्यदर्शनमें एक दृष्टान्त है। इसे 'अन्ध-पङ्गु-न्याय' बोलते हैं। एक था अन्धा। वह जाना चाहता था बदरीनाथ पर रास्ता कौन बतावे? एक था लँगड़ा। वह भी जाना चाहता था बदरीनाथ, पर चल नहीं सकता था। तब दोनोंने आपसमें मित्रता जोड़ ली। अन्धेके कन्धेपर लँगड़ा बैठ गया। लँगड़ा रास्ता बताता जाये क्योंकि उसके आँख थी और अन्धा चलता जाये क्योंकि उसके पाँव थे। दोनों बदरीनाथ पहुँच गये।

हमारे जीवनमें कर्म अन्धा होता है। एक तो हम बिना सोचे-समझे, चाहे जो कुछ करनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। दूसरे, हम सोचते-समझते तो बहुत हैं, परन्तु करते कुछ नहीं। जब इन दोनोंका मेल मिलता है, तब हमारा जीवन ठीक-ठीक चलता है। हमारे जीवनकी गाड़ीके ये दो पहिये हैं। योगवासिष्ठके प्रारम्भमें ही यह प्रश्न आया है। आसमानमें चिड़िया तभी उड़ती है जब उसके दोनों ओर पंख हों। एक पंखसे चिड़िया उड़ नहीं सकती। इसी प्रकार ज्ञान और कर्मके समन्वयसे ही मनुष्यके जीवनका रथ बिल्कुल ठीक चलता है। जिस प्रकार गाड़ीके दो पहिये होने चाहिए, उसीप्रकार आदमीके दो पाँव। एक पाँवसे कैसे चलेंगे? चलनेके लिए दो पाँव होने चाहिए, काम करनेके लिए दो हाथ होने चाहिए, देखनेके लिए दो आँख होनी चाहिए, सुननेके लिए दो कान होने चाहिए। अस्तु; जीवनमें दो वस्तु आवश्यक है—एक बुद्धि और दूसरा कर्म।

कभी-कभी दोष कर्ममें भी आजाता है और बुद्धिमें भी आ जाता है। दोनोंमें समरसता आवश्यक है। बुद्धिसे संगत कर्म करें और कर्मसे संगत बुद्धि रखें। बुद्धि और कर्ममें वैसी ही मित्रता होनी चाहिए, जैसी मित्रता श्रीकृष्ण और अर्जुनमें है। श्रीकृष्ण और बलराममें मतभेद है परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुनमें मतभेद नहीं। महाभारत तथा भागवतमें बलरामजीका जो अन्तिम जीवन है, वह श्रीकृष्णसे किञ्चित् पृथक् हो गया है। परन्तु अर्जुनका जीवन निरन्तर श्रीकृष्णके साथ मिला हुआ है। आप कोई काम करते समय सीधी-सी बात देखिये। उसमें आपकी बुद्धिका विरोध तो नहीं? यदि है तो उसको अनुकूल बनाइये। यह देखिये कि आप जो कुछ सोचते हैं, उसमें कर्तव्यपालनका विरोध तो नहीं? बुद्धि और कर्म दोनोंका एक साथ मिलकर काम करना

****

अनिवार्य है, उनमें मतभेद नहीं होना चाहिए। समझ श्रीकृष्णकी और कर्म अर्जुनका। दोनोंके समुच्चय—दोनोंके सामञ्जस्यसे ही सफलता मिलती है। उनमें किञ्चित् भी अटपटापन नहीं होना चाहिए।

अब एक दूसरी बात लेते हैं। **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।** पहले बुद्धिके दोषका निराकरण हो और पीछे कर्मके दोषका निराकरण हो। बुद्धि भोगकी ओर झुकती है। हम ट्रेनसे चलते हैं तो किस-किस स्टेशनपर पानी, दूध, भोजन मिलेगा, यह सोच लेते हैं। बुद्धिका झुकाव भोगकी ओर होता है, परन्तु कबतक? जबतक भोग न मिले। भोग मिलनेके बाद बुद्धि वहाँसे सिमट जाती है। संस्कृतमें एक न्याय है—**वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः**—बुद्धिका स्वभाव है कि जिस चीजको वह सच समझ लेती है उसे किसीके कोटि यत्न करनेपर भी छोड़ नहीं सकती। वह अपने समझे हुए सत्यका पक्षपात करती है। हम अपने मित्रको चोरीका अभियोग लगनेपर भी अदालतसे छुड़ानेका प्रयत्न करते हैं। उसके लिए खर्च करते हैं, श्रम करते हैं, सिफारिश करते हैं। लेकिन सब करनेके बावजूद यदि सजा हो जाती है तो मनमें कहीं-न-कहीं यह बात फुर जाती है कि इन्होंने चोरी तो की ही थी। सत्यका, यथार्थका पक्षपात करना प्रत्येक बुद्धिका स्वभाव है। किन्तु पक्षपात रखते हुए भी बुद्धि वहाँ झुक जाती है, जहाँ तृष्णा होती है। तृष्णा बुद्धिका दोष है और कर्तव्यपथसे विचलित हो जाना कर्मका दोष है। कर्तव्य भी कर्म है और अकर्तव्य भी कर्म है। दोनों हैं। परन्तु तृष्णाका समावेश हो जाना बुद्धिका दोष है। इसलिए गीता **अनाश्रितः कर्मफलं**—इस अर्द्धालीमें बुद्धिके दोषका निवारण करती है और 'कार्यं कर्म करोति यः' में 'कार्यं' पदका प्रयोग करके कर्मके इस दोषका कि उसमें अकर्तव्यका समावेश न हो जाय, निवारण करती है। धृतराष्ट्रने संजयको पाण्डवोंके पास भेजा और सन्देश दिया कि श्रीकृष्णसे जाकर कहो, ये युद्ध टालनेका प्रयास करें। श्रीकृष्णने कहा कि सत्यको, न्यायको, धर्मको छोड़कर युद्ध न हो, इसके लिए हम प्रयास क्यों करें? सत्य छूट जाय, न्याय छूट जाय, यथार्थ छूट जाय, हित छूट जाय तो शान्ति कैसी? मैं आपको तीन सूत्र सुनाता हूँ। जैनधर्मका सार है अहिंसा, बौद्धधर्मका सार है करुणा; दोनों बड़े अच्छे हैं। किसीको लेश-मात्र ताप या तकलीफ दिये बिना हम अपने आत्मामें स्थित हो जायँ, यह जैनधर्मका सार अहिंसा है। बौद्धधर्मका सार है कि हम केवल लोगोंको दुःख पहुँचानेसे ही नहीं बचें, बल्कि हमारे हृदयमें करुणा उमड़ पड़े और हम दूसरोंको यहाँ तक कि पशु-पक्षियोंको भी दुःखी न देख सकें और उन्हें अपने हृदयसे लगा लें।

इसी प्रसंगमें तीसरी बात देखें। हमारे वैदिक धर्मका सार है हित। **यदेव हिततमं**—यह उपनिषद् बोलती है। किसीका आपरेशन न करना पड़े यह बहुत बढ़िया बात है, इस भावनामें अहिंसा है। रोगीको ऐसी दवा दे दो कि उसे दर्द न मालूम पड़े, आराम मिले, यह करुणा है। किन्तु आपरेशन करनेसे दुःख दूर हो जाय तो आपरेशन करो, मीठा खिलानेसे दुःख दूर हो जाय तो मीठा खिलाओ, कड़वा खिलानेसे दुःख दूर हो तो कड़वा खिलाओ—यह वैदिक धर्म है। सृष्टिके अनादि अनन्त शाश्वत इतिहासमें अनेक बार युद्ध और शान्तिके प्रसङ्ग आते हैं। काल अनादि है और हमेशा चलता रहता है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रसङ्ग आते रहते हैं इसमें सबके हितकी जो दृष्टि है वही वैदिक धर्म है। अहिंसासे सबका भला हो तो ठीक है, करुणासे सबका भला करो। सबकी भलाईके लिए आवश्यकता हो तो हिंसा, आवश्यकता हो तो अहिंसा, आवश्यकता हो तो करुणा

और आवश्यकता हो तो कठोरता करो। हित करुणामें भी है और कठोरतामें भी! आप श्रीरामचन्द्रका चरित्र देख लें; श्रीकृष्णका चरित्र देख लें, वे हितप्रधान हैं। श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें आपको करुणा भी मिलेगी, गीधपर कितनी करुणा है उनकी। किन्तु आपको उनके चरित्रमें करुणाके साथ-साथ कठोरता भी मिलेगी। बड़ी भारी कठोरता मिलेगी। श्रीरामचन्द्र स्वजन निष्ठुर हैं। उन्होंने भरतके प्रति, सीताके प्रति, लक्ष्मणके प्रति स्वयं अपने प्रति कुछ कम कठोरता नहीं की। परन्तु उनकी कठोरतामें हितकी दृष्टि है। इसीप्रकार उनकी कोमलतामें भी हितकी दृष्टि है। भवभूतिने कहा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

अर्थात् लोकोत्तर पुरुषका चित्त कठोर भी होता है और मृदु भी होता है, परन्तु उनमें हितका वियोग कभी नहीं होता। उनका मन सदा-सर्वदासे हितसे संयुक्त रहता है। श्रीकृष्णने संजयसे कहा धृतराष्ट्रसे कह देना कि—

कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।

अर्जुनके आत्माका नाम कृष्ण है और कृष्णके आत्माका नाम अर्जुन है। एक ही आत्माके दो नाम हैं— कृष्ण और अर्जुन, नर और नारायण! **सत्यमेकं द्विधा स्थितम्।** तो, दोष जो आजाते हैं उनको पहचाननेके लिए बुद्धिकी आवश्यकता होती है। मैं बार-बार कहता हूँ कि दुनियाके सारे मजहब श्रद्धाप्रधान हैं और गीताधर्म बुद्धिप्रधान है। ज्ञानका तात्पर्य केवल आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, अद्वैतज्ञानसे ही नहीं है। उस लौकिक बुद्धिसे भी है जो परमार्थको साथ लेकर चलती है। वह चलती है लोकमें, किन्तु परमार्थको छोड़कर नहीं, साथ लेकर चलती है। पहले बताया गया कि बुद्धिका दोष है तृष्णा। तृष्णाका मूल है काम-लोभ। काम-लोभका मूल है संकल्प। इनकी भी वंश-परम्परा होती है और उनका वर्णन वैसे ही होता है जैसे भाटलोग हमारी पूर्वपीढ़ीका वर्णन करते हैं। एक बार यह जाननेकी आवश्यकता पड़ी कि हमारे पूर्वज हिमालयका कछार छोड़कर कितने पहले काशीनरेशके पास आये थे। तो भाटोंकी विरुदावली देखी गयी और पता चला कि हमारे पूर्वज हमसे पन्द्रह पीढ़ी पहले काशीनरेशके पास आये थे। तो, देखो, हमारे मनमें हिंसा आती है; हमारे मनमें तृष्णा आती है। हिंसा क्रियामें होती हैं, क्रोध मनमें होता है और द्वेष संस्कारमें रहता है। हिंसाकी अपेक्षा क्रोध अन्तरङ्ग है और क्रोधकी अपेक्षा द्वेष अन्तरङ्ग है। क्रोध जलाता है और द्वेष सुलगता है। हिंसा दूसरेको जलाती है। यदि आप हिंसा रोकना चाहते हों तो वह केवल पुलिस और कानूनसे नहीं रुकेगी। तब रुकेगी जब लोगोंके मनमें क्रोध कम होगा। इसी तरह चोरी-बेइमानी कब रुकेगी? चोरी-बेइमानी क्रिया है। यह भी पुलिससे, कानूनसे नहीं रुकेगी? तभी रुकेगी जब लोगोंके मनमें लोभ कम होगा। ऐसी ही बात अनाचार-व्यभिचार क्रियामें है। उसे फौज नहीं रोक सकती। फौज भी अनाचारी-व्यभिचारी हो जाती है। पुलिस भी हो जाती है। सरकार भी हो जाती है। डाकू लोग भी अपना झुण्ड बना लेते हैं। व्यभिचारी लोग भी अपना चकला चलाते हैं। एक जुट बना लेते हैं। लोभी लोगोंका भी गुट होता है। लोभियोंका गुट, कामियोंका गुट, क्रोधियोंका गुट बना जाता है।

हमारे आयुर्वेदके अनुसार जो चिकित्सा होती है उसमें एक होती है व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा और दूसरी

होती है हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा। जैसे किसीको जल्दी सर्दी हो जाती है। उसे एक दवा खिला दी, इन्जेक्शन दे दिया, सेंक कर दिया और सर्दी मिट गयी तो यह व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा हुई। हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा वह होती है, जो हमेशाके लिए दोषको मिटानेका प्रयास करे। अपना अध्यात्मशास्त्र भी चिकित्साशास्त्र है। इसके भी चिकित्साके समान ही चार भेद होते हैं। यदि आप हिंसा मिटाना चाहते हैं तो क्रोध कम कीजिये। क्रोध कम करना चाहते हैं तो किसी व्यक्तिसे, जातिसे; सम्प्रदाय अथवा राष्ट्रसे द्वेष मत कीजिये।

अब आगे आपको बताते हैं कि किसी कर्मसे भी द्वेष मत कीजिये। नहीं तो वह कर्म जिसके अन्दर दीखेगा। उसीसे आपका द्वेष हो जायेगा। गीतामें है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

तात्पर्य यह कि किसी भोगसे द्वेष मत कीजिये। किसी वस्तुसे द्वेष मत कीजिए। किसी चीजको देखकर आपके हृदयमें आग न जले। हमारे कर्ममें जो चोरी-बेइमानी होती है वह क्यों होती है? लोभकी अधिकतासे होती है। कामकी पूर्ति और दूसरी अपूर्ति। कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ होता है और अपूर्ति होनेपर क्षोभ होता है—**कामात् क्रोधोऽभिजायते।** कामके दो बेटे हैं—लोभ और क्रोध। पूरा हुआ तो लोभ और पूरा न हुआ तो क्रोध। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम फल पर ही दृष्टि रखोगे तो पराधीन हो जाओगे। फल पराधीन है, कर्म स्वाधीन है। जो तुम कर सकते हो वह करो। कोई बीमार है। वह मरे नहीं, यह आपके हाथमें नहीं है। यदि आप यह चाहते हैं कि वह कभी नहीं मरे तो शास्त्रके विपरीत इच्छा करते हैं। वह एक-न-एक दिन मरेगा और आपको दु:खी होना पड़ेगा। तो कर्म कीजिए। कर्म करना, कर्तव्यपालन करना आपका धर्म है; परन्तु उसका फल समाजके हाथमें छोड़िये।

प्रसङ्गवश एक बात सुना देता हूँ। जो वर्तमान 'हिन्दू' शब्द है, यह किसी जातिका वाचक नहीं। 'हिन्दू' जाति नहीं होती, जाति तो मनुष्य होती है। 'आकृतिग्रहणाज्जति:' है। आपको देखकर कौन बता सकता है कि आप किस जातिके हैं? किन्तु मनुष्य जातिसे सब परिचित हैं। हिन्दू शब्द किसी विशेष सम्प्रदायका भी वाचक नहीं, न शाङ्कर सम्प्रदायका, न रामानुज सम्प्रदायका और न किसी अन्य सम्प्रदायका। जो किसी एक आचार्यके द्वारा प्रवृत्त होता है, उसका नाम सम्प्रदाय होता है। जैसे मोहम्मदीय सम्प्रदाय है, बौद्ध सम्प्रदाय है, जैन सम्प्रदाय है। अब आप बतलाइये कि हिन्दुत्वका प्रचलन किसने किया? इसपर बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हो चुके हैं। सर्वसाधारणको मालूम नहीं। जब श्री बिरलाजीने अपनी संस्थाका नाम 'आर्यधर्म-सेवा संघ' रखा, तब काशीमें यह विचार हुआ कि 'हिन्दूधर्म-सेवा संघ' नाम रखा जाय। जब काशीमें पण्डितोंने वर्णाश्रम-संघकी स्थापना की तो इसपर विचार हुआ कि वर्णाश्रम संघ नहीं, 'हिन्दूसंघ' नाम रखा जाय। करपात्रीजीने मेरे सामने ही धर्म-संघ बनाया। विद्वानोंने बहुत विचार किया कि हिन्दूधर्म नाम क्यों न रखा जाय। किन्तु कोई शास्त्रीय आधार नहीं मिला। तो हिन्दू न जाति है, न सम्प्रदाय। यदि चोटीवालेका नाम हिन्दू तो बिना चोटी संन्यासी लोग भी तो हिन्दू होते हैं, तो क्या जनेऊवाला हिन्दू है? नहीं, नहीं, बिना जनेऊके भी हिन्दू होते हैं। उसका लक्षणार्थ यही है कि एक समाज भिन्न-भिन्न आचार, भिन्न-भिन्न धर्म, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और भिन्न-भिन्न प्रकारसे रहनेवाले समुदायका नाम हिन्दू है। इसके अतिरिक्त यह न जाति है, न सम्प्रदाय, न वर्ग है और न लिङ्ग ही है।

अच्छा, आपको यदि हित करना हो तो क्या आप चाहते हैं कि आप पराधीन न हों, काम करके मूर्ख न

बनें, दु:खी न हों। हम सीधी-सीधी बात कर रहे हैं। पराधीन होना मूर्ख होना है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं— बाबा, तुम कर्मके आश्रय हो, कर्मके कर्ता हो। बुद्धिसे कर्म तो तुम करो, लेकिन तुमको फलके अधीन न होना पड़े, इसका ध्यान रखो। चोरी-बेइमानी अकार्य है। हिंसा अकार्य है। व्यभिचार-अनाचार अकार्य हैं। यह अकार्य तुम मत करो, लेकिन कार्य करो। यह पहली भूमिका है कि तुम्हारे कर्ममें कर्तव्यका समावेश हो। दूसरी बात यह है कि आप कर्म करके बन्धनमें न पड़ें। कर्ममें पाँच दोष हैं और उनके निवारणके लिए गीतामें चार विद्याओंका उपदेश है। विद्या अविद्याको तो निवृत्त करेगी ही। विद्यामात्र ही अविद्याकी निवृत्तिमें उपयोगी है। आपके कर्ममें नासमझी एक दोष है। आप बिना समझे-बूझे कर्ममें लग जाते हैं। ऐसे बिलमें हाथ डाल देते हैं, जहाँसे खींच न सकें। हम लोग बचपनमें गाँवमें खेल खेला करते थे। एक यह था कि छोटे मुँहवाले मिट्टीके बर्तनमें कुछ खाना रखकर, थोड़ी दूर बैठ जाते। कुत्ता आता देखता कि खानेकी चीज रखी है तो उसमें अपना मुँह डाल देता और सिर फँस जाता। वह भोजन तो कर लेता लेकिन जब उस बर्तनसे सिर निकालने लगता तो निकलता ही नहीं। तो ऐसे कर्ममें अपनेको नहीं फँसाना जहाँसे निकल नहीं सकते। ऐसा करना तो कुँएमें गिरना है, नासमझी है। ठीक वैसे ही जैसे मदारी छोटे मुँहके बर्तनमें चने रखकर मिट्टीमें गाड़ देते हैं। बन्दर आता है और उसमें हाथ डाल देता है। मुट्ठीमें चना भर लेता है। जब उसकी मुट्ठी खाली थी तब तो बर्तनमें चली गयी और जब उसमें चना भर लिया तो वह बर्तनमें-से निकलता नहीं। इतनेमें मदारी बन्दरको पकड़ लेता है और उसे मदारीके पराधीन होना पड़ता है। तो, ऐसे कर्ममें हाथ नहीं डालना, जिसके आप आश्रित हो जायँ। कर्म आपके आश्रित रहे। आप जब चाहें, दोनों हाथ उठाकर खड़े हो जायँ और कर्म छोड़ दें। यह कैसे होगा? कर्म सम्बन्धी दोषोंका निवारण होने पर। कर्म करनेमें एक तो नासमझी दोष है। इसको शास्त्रकी भाषामें अविद्या बोलते हैं। दूसरा दोष है कर्मका अभिमान। हम यह करेंगे, वह करेंगे। **यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः**—हम अज्ञानसे विमोहित होकर ही अभिमान करते हैं।

तो, कर्ममें जब अभिमानका मिश्रण होता है, अविद्याका मिश्रण होता है, तब फँसाव होता है, बन्धन लग जाता है, फन्दा लग जाता है और जब अभिमान आता है तब कर्म व्यक्तिगत हो जाता है। वह 'सर्वजनहिताय' नहीं होता, 'सर्वजनसुखाय' नहीं होता, उसमें अपने लिए व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ मिल जाता है। कर्मका तीसरा दोष है राग। किसीके रागमें आकर कर्ममें पक्षपात करना। जैसे आजकल अखबारोंमें शब्द चलता है भाई-भतीजावाद। अपने रिश्तेदारों, नातेदारों और सगे-सम्बन्धियोंको जोड़कर उनके राममें फँस गये कि जो उचित कर्तव्य था वह भूल गये, उनका घेरा बन गया, सीमा बन गयी। वे जो काम सम्पूर्ण देशके लिए करते, सम्पूर्ण जनताके लिए करते वह काम अपना विस्तार छोड़कर, विशालता छोड़कर एक घेरेमें आ गया। कर्मका चौथा दोष है द्वेष। किसीको नीचा दिखानेके लिए काम करना। उसका जो उद्देश्य है, बहुत बुरा है। कर्ममें पाँचवाँ दोष है, उसमें इतना डूब जाना कि ईश्वर, विश्व, मानवता, यहाँ तक कि अपने परिवार और सगे-सम्बन्धियों आदि सबको भूलकर केवल मूर्खतामें डूब गये। उनके चारों ओर डरका, भयका वातावरण बन गया। भयभीत होकर काम करना कर्मका पाँचवाँ दोष है। इसके लिए गीतामें विद्याका उल्लेख है। गीता विद्या है। गीता बुद्धि है। गीता ज्ञान है। वह आपको इन पाँचों गल्तियोंसे बचाती है। विद्या है, ज्ञान है माने आप अपने कर्ममें ये पाँच गल्तियाँ

न करें। इन त्रुटियोंका आपके कर्ममें समावेश न हो। इसके लिए भगवान्‌ने चार विद्या बतायी। एक तो आपके कर्ममें औचित्य होना चाहिए। इसको गीतामें धर्मविद्या बोला गया है। दूसरे, आप जो कर्म करें, उसमें अभिमान न हो, घमण्ड न हो, हेकड़ी न हो। इसको मिटानेके लिए गीतामें शरणागति विद्या है। तीसरी ऐश्वर्य विद्या है। ईश्वरके बड़प्पनकी ओर देखो तो तुम्हारे अपने बड़प्पनका अभिमान मिट जायेगा। अब आप इनको क्रमसे ले लो। यदि उचित कर्म करोगे तो निर्भय हो जाओगे। जो ठीक-ठीक काम करता है उसको कहींसे भय आ ही नहीं सकता। इसीको धर्मविद्या कहते हैं। ऐश्वर्य विद्या यह है कि ईश्वरके बड़प्पनका ख्याल रखो। पाँच मिनट, दस मिनट शान्तिसे बैठ जाओ और अपने मैंको ईश्वरके साथ मिला दो, उनके सामने अर्पित कर दो, उनके चरणोंमें गिर जाओ। अंशको अंशीसे मिला दो। यह शरणागति विद्या है। जो भाई-भतीजोंसे पक्षपात और परायोंसे द्वेष होता है, उसको मिटानेके लिए गीतामें चौथी वैराग्य-विद्या है। एक विद्या और है। वह है ब्रह्मविद्या अर्थात् अविद्याको-भ्रान्तिको, समूल मिटानेवाली विद्या—जिसमें अज्ञान नामकी चीज नहीं रहती और भयका अस्तित्व नहीं रहता। यह ब्रह्मविद्या प्राप्त कर लेनेसे आपको इसी जीवनमें तीन फल मिलेंगे।

अभयं प्रतिष्ठां विन्दते—पहले आपको अभयकी प्राप्ति होगी। दूसरे आपको स्वातन्त्र्य मिलेगा, पराधीनता मिट जायेगी। स्वातन्त्र्य ही सुख है। और तीसरी वस्तु प्राप्त होगी समझकी निर्मलता। एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान। यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसको जान लेनेसे कुछ भी अनजाना नहीं रह जाता। तो ब्रह्मविद्याका परिणाम है ज्ञानकी पूर्णता, पूर्ण स्वातन्त्र्य और पूर्ण निर्भयता। आप उस जीवनकी कल्पना भी करें। गीतामें समाधि लगाकर हमेशाके लिए संसारसे उठ जानेवाले योगका वर्णन नहीं। छठे अध्यायमें ध्यान कैसे लगायें, इसका वर्णन है। इसका नाम ही है ध्यानयोग। परन्तु यह ध्यान किसलिए? अंग है कि अंगी है? ध्यान ही लक्ष्य है या ध्यान लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन है? निश्चय ही यहाँ जो ध्यान है, वह लक्ष्य नहीं; लक्ष्यकी प्राप्तिका साधन है। इसलिए भगवान्‌ने कहा परमयोगी कौन? आप गीताके छठे अध्यायमें ढूँढ़ लेना—**स योगी परमो मतः।** एक योगी है, जो ध्यान करता है, ध्यानी है, ध्यानयोगी है, लेकिन परम-योगी कौन है? गीता कहती है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6-32

श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि भाई, यह तो समाधि-योगीसे भी बड़ा योगी है, परमयोगी है। कौन? जो दूसरेके सुखमें मिल गया है, दूसरेके दुःखमें मिल गया है। जैसे मनुष्य स्वयं अपने दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, वैसे वह सबका दुःख दूर करनेका प्रयास करे। जिस तरह वह स्वयं सुखी होनेका प्रयास करता है, वैसे ही सबको सुखी करनेका प्रयास करे। वही परमयोगी है। गीता हिमालयकी गुफामें जंगलमें ले जाकर पीठकी रीढ़ सीधी करके, आँख बन्द करके, प्राण निश्चल करके, मनको निस्संकल्प करके, हमेशा समाधिमें बैठाये रखनेवाला योग नहीं बताती। गीता तो वह योग बताती है, जिससे व्यवहारमें हम अपने कर्मको इस प्रकार कर सकें कि उसमें मूर्खता न हो, पराधीनता न हो और मृत्यु आदिका कोई भय न हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

ऐसी बुद्धि, जिसमें उचित बातके लिए प्रेरणा न हो, जीवनमें उपयोगी नहीं और ऐसा कर्म, जो बुद्धिके विरुद्ध हो—स्वयं कर्ताकी ही बुद्धि जिसको स्वीकार न करे, वह मनुष्यको पशु बना देता है। जीवनमें दु:ख क्यों है? इसलिए कि हमारी बुद्धि कुछ अलग बताती है और हम काम कुछ अलग करते हैं। जब बुद्धि और कर्ममें मेल नहीं होता, तब जीवनमें तीन बातें आती हैं। एक तो बुद्धि अपना तिरस्कार नहीं कर पाती। बुद्धिके विरुद्ध कर्म करनेपर वह अपना अपमान नहीं सह सकती और मूर्च्छित हो जाती है। संस्कृतमें मूर्ख शब्दकी व्युत्पत्ति ही मूर्च्छा है। 'मूर्च्छति इति मूर्ख: '—जो मूर्च्छित हो गया, उसका नाम ही मूर्ख है। दूसरी बात आती है, बुद्धि और कर्मके अलगावसे भयकी। आदमी अक्लमन्दीसे काम नहीं करता तो वह डरने लगता है। उसके मनमें बेचैनी आजाती है। तनाव आजाता है। बुद्धि और कर्ममें विरोध होनेपर तीसरी बात आती है दु:खकी। इसलिए बुद्धि और कर्मका समन्वय होना चाहिए। समन्वय शब्द वेदान्तियोंका है। इसलिए यहाँ समन्वयके स्थानपर 'समुच्चय' शब्दका प्रयोग किया जाये तो उपयुक्त है। लौकिक ज्ञान, आत्मिक ज्ञान और व्यवहार ज्ञानके लिए कर्म तथा बुद्धिका समुच्चय अनिवार्य है। यदि आप ज्ञान और कर्मको ठीक-ठीक मिलाकर जीवनका संचालन कर रहे हैं तो सफलता निश्चित है। प्रसंगवश एक बातकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करता हूँ, वैसे आप भी जानते हैं। नशा शरीरके लिए जहर होता है कि नहीं, यह तो डाक्टर लोग बता सकते हैं; परन्तु बुद्धिके लिए जरूर जहर होता है। वह बुद्धिके लिए विष है और उसके प्रभावसे बुद्धिका नियन्त्रण छूट जाता है। और कल ही आपको सुनाया था कि साधुके वेशमें रहनेवाले एक सज्जन विदेशमें नशा पीकर अनाप-शनाप बोलने लगे, उद्दण्डता करने लगे। इसका अर्थ है कि नशा पीनेसे बुद्धि अपने काबूमें नहीं रहती और मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है। जब बुद्धि ही काबूमें नहीं रहेगी तो वह ठीक-ठीक कर्म कैसे करेगा? इसलिए व्यावहारिक बात बतायी। **न शं यया सा नशा**—जिससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, उसका नाम नशा है।

अब आगे यह बात बताते हैं कि संन्यास और योगका समन्वय कैसे होता है? संन्यासी त्यागी होता है ओर योगी कर्मका अनुष्ठाता!, दोनोंमें क्या मेल है? त्याग एक तो बाहरका होता है, एक भीतरका। यदि बाहरका त्याग नहीं है, परन्तु भीतर त्यागकी तैयारी बनी हुई है तो त्याग आपके अन्तरमें निवास करता है। जब त्याग आपके अन्तरमें निवास करता है तो आप अपनेमें-से हीनताका भाव निकाल दीजिए। दो दिन पहले आपको सुनयाा था कि केवल पत्नीका परित्याग करनेसे, अग्निस्पर्शका परित्याग करनेसे कोई संन्यासी नहीं हो जाता। केवल कर्मत्याग करनेसे कोई समाधिस्थ योगी नहीं हो सकता। इसके लिए भीतर एक ऐसी वस्तु रहती है, जिसके सम्बन्धमें सतत सावधान होनेकी आवश्यकता है—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
नह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ 6.2

यह आपको सुना चुका हूँ कि कर्मयोग करते हुए भी, बुद्धि-योग करते हुए भी यदि आप केवल फल-ही-फल चाहते हैं तो कृपण हैं—**कृपणाः फलहेतवः।** आप कर्म करें, कपड़ा बनावें, लोहा बनावें; परन्तु जब वस्तु बने तब उसको केवल अपने लिए मत रखें। उसे सबके लिए फैला दें। ऐसा करनेपर आप द्वारा निर्मित वस्तुओंका उपयोग व्यक्तिगत उत्कर्षके लिए न होकर विश्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए हो जायेगा।

अब गीताकी एक विशेषता देखो! यज्ञ-याग करनेवाले कर्म-काण्डी लोगोंपर ध्यान दो। ऐसा मत समझना कि मैं किसी दूसरे कर्मकाण्डीकी बात कह रहा हूँ। मैं भी भूतपूर्व कर्मकाण्डी हूँ। मुझे कर्मकाण्डके विधि-विधानकी जानकारी है। जानकारी ही नहीं उनका क्रियात्मक अनुभव है। मैंने स्वयं कर्मकाण्डके अनुष्ठान किये-कराये हैं। यहाँ भगवान् कर्मकाण्डी-धर्म और गीता-धर्म, इन दोनोंका फर्क बता रहे हैं। दोनोंमें विलक्षणता क्या है? जब किसी देवताकी पूजा करनी होती है, होम करना होता है, स्वर्गकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-याग करना होता है तो उसमें एक सङ्कल्प करना पड़ता है। मैं अमुक गोत्रवाला अमुकका आत्मज अमुक व्यक्ति स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिके लिए यह यज्ञ कर रहा हूँ। आरोग्यकी प्राप्तिके लिए, दीर्घायुकी प्राप्तिके लिए, पुत्रकी प्राप्तिके लिए, व्यक्तिगत सम्पदाकी प्राप्तिके लिए यह अनुष्ठान कर रहा हूँ। यह हुआ कर्मकाण्ड। भगवान् कहते हैं कि कर्मकाण्डके अनुष्ठानमें जिस ढंगका संकल्प किया जाता है, उस ढंगका संकल्प गीताधर्मके लिए करनेकी आवश्यकता नहीं। कर्मकाण्डी लोग ऐसा मानते हैं कि पुत्रकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिए, दीर्घायु-आरोग्यकी प्राप्तिके लिए, स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिके लिए जो अनुष्ठान किया जाता है, उसमें यदि संकल्प नहीं किया गया तो उसके बिना वह अनुष्ठान निरर्थक हो जाता है। यह सकाम कर्मकाण्डी पद्धति है। किन्तु गीता-धर्मकी पद्धति यह है कि पहले विवेक करो और फिर विवेकसे कर्मके प्रयोजनको समझो। प्रयोजन दूसरी वस्तु है और संकल्प दूसरी वस्तु है। चार बातें समझनेकी होती हैं। एक यह कि अमुक कर्म हम कर सकते हैं कि नहीं। बड़ी भारी फैक्टरी तो खोल दी, परन्तु उसके लिए न धन है, न योजना है, न बुद्धि है, न आदमी है। अतः पहले उसका प्रयोजन समझना आवश्यक है। फिर यह देखना चाहिए कि हमारे पास काम करनेका सामर्थ्य है कि नहीं, योग्यता है कि नहीं। इसे कहते हैं अधिकारीका विचार, योग्यताका विचार, क्षमताका विचार। हिन्दीमें जो 'सक्षम' शब्द चलता है, वह संस्कृत भाषाकी दृष्टिसे गलत होता है। संस्कृतमें सक्षम शब्द है परन्तु वह क्षमाशीलके लिए है और समर्थके अर्थमें केवल 'क्षम' है। तो, यह देखो कि अमुक कर्मके लिए हमारी क्षमता कितनी है, अपनी क्षमतापर विचार करो।

दूसरे, उसके प्रयोजनपर दृष्टि डालो और यह देखो कि अमुक कर्म करते हुए हम कहाँ पहुँचेंगे? यह नहीं कि हाथमें लठिया उठायी और पानी पीटने लगे। किसीने पूछा कि यह क्या कर रहे हो? तो बोले, यह मत पूछो। हम कोई सकाम कर्म थोड़े ही करते हैं, निष्काम कर्म कर रहे हैं। भाई, निष्काम कर्मका अर्थ निरर्थक पानी पीटना नहीं होता, वह तो सप्रयोजन, लोकोपकारी, विश्वात्मा परमात्माकी सेवाके लिए होता है। आजकल ऐसे-ऐसे निष्कामकर्मी पैदा हो गये हैं जिनके बच्चोंकी पलटन खड़ी हो जाये। उनसे पूछो कि इतने बच्चे कैसे

हो गये तो बोलेंगे कि निष्काम भावसे। दुकानपर बैठते हैं। छलसे, कपटसे, बेइमानीसे, धोखा देकर ग्राहकोंकी गाँठ काटते हैं और कहते हैं कि हम तो निष्काम भावसे करते हैं। ऐसे निष्काम भावसे तो सावधान रहना चाहिए। कर्मके पीछे कामसंकल्प, भोगसंकल्प नहीं होना चाहिए। परन्तु अपनी योग्यताका, क्षमताका, प्रयोजनका विचार अवश्य होना चाहिए।

तीसरे, उस कर्मकी क्या रूपरेखा होगी, इसपर भी विचार होना चाहिए। चौथी बात है कर्मके परिणाम अथवा उसकी परिणतिपर विचार। प्रत्येक कर्मका परिणाम होता है, उसकी परिणति होती है। कर्म हमें एक स्थानपर पहुँचाता है।

इन चारों बातोंको वेदान्तमें, दर्शनशास्त्रमें अधिकारी, विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्ध—इन चार शब्दोंसे बोलते हैं। जो काम हम कर रहे हैं, उसको करनेकी योग्यतापर विचार। फिर किस प्रयोजनसे कर रहे हैं, इससे विश्वकी कौन-सी सेवा होगी इसका विचार। दुनियामें इसकी माँग है कि नहीं, यह भी देख लेना चाहिए। वस्तु तो आप बहुत बढ़िया बना रहे हैं, लेकिन संसारके बाजारमें उसकी माँग ही न हो, खपत ही न हो तो आपका व्यापार किस कामका? तो पहले अपनी योग्यता और बादमें कामका प्रयोजन। फिर कामकी रूपरेखा और इस कामसे हमारे प्रयोजनकी पूर्ति कहाँतक होती है; इन चार बातोंका विचार करते तब कर्म करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि इन चारों बातोंका विचार करके कर्म प्रारम्भ करनेमें संकल्पका त्याग कहाँ हुआ? इसका उत्तर यह है कि हम जो व्यक्तिगत सुख और स्वार्थमें प्रवृत्त हो रहे थे, उसका संकल्प नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें विभीषण बोलते हैं कि—

महाराज राम पहं जाउँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहउँ सोई,
जेहि साहिबहि सुहाउँगो।

मैं भगवान् रामके पास जाऊँगा और वहाँ अपने सुख, अपने भोग, अपनी कामनापूर्तिके लिए, अपने स्वार्थके लिए काम नहीं करूँगा। मैं ऐसा काम करूँगा कि अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको अच्छा लगूँ। यदि मैं अपने स्वार्थके लिए अपने सुखके लिए श्रीरामचन्द्रजीके पास जाऊँगा तो मनमें कपट हो जायेगा। मैं केवल उनकी सेवा करना चाहता हूँ, मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं। स्वार्थ माने बटोरना। स्वार्थमें अर्थ है और सुखमें कामना है, कामभोग है। विभीषणजी कहते हैं कि न हमको धन चाहिए, न भोग चाहिए। केवल राम भगवान्की प्रसन्नता चाहिए। इसी तरह कर्ताके मनमें विश्वात्माकी, परमात्माकी प्रसन्नताका भाव होना चाहिए। उसे तो **स्वस्त्यस्तु विश्वस्य**-सम्पूर्ण विश्वका कल्याण हो, यह सोचना चाहिए।

अब आपको संकल्पकी बात सुनाता हूँ। सम्यक्त्वकी कल्पना ही संकल्प है। वक्ता लोग कभी-कभी कथामें कल्पभेदकी बात सुनाते हैं। रामकथाको लीजिए। वह महाभारतमें दूसरी तरहसे, भागवतमें दूसरी तरहसे, वाल्मीकि रामायणमें दूसरी तरहसे और अध्यात्म रामायणमें दूसरी तरहसे है। इधर बंगालमें जो कृत्तिवासी रामायण चलती है, उसमें दूसरी तरहसे है। इसीप्रकार जैनोंमें दूसरी, बौद्धोंमें दूसरी, कम्बनकी दूसरी

और रंगनाथन्की दूसरी है। बोले भाई, राम तो एक हुए, उनकी कथामें भेद क्यों? इसका समाधान गोस्वामी तुलसीदासजी करते हैं—

कल्पभेद हरि चरित सुहाए।
भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

कल्पभेदसे रामकथामें भेद है। अब इस कल्पपर विचार कीजिए। एक तो इसका अर्थ कालका एक भाग है। कालमें युग है, मन्वन्तर है, कल्प है, महाकल्प है। कल्पका दूसरा अर्थ है कविका सङ्कल्प। एक कवि रामके चरित्रकी जिस विशेषताका वर्णन करना चाहता है, उसकी अपने मनमें कल्पना करता है। भगवान्के लिए की हुई कोई भी कल्पना मिथ्या नहीं होती। काल अनादि है, अनन्त है और भगवान् सर्वात्मा हैं। किसीके मनमें ईश्वरसम्बन्धी कोई भी कल्पना आती है तो वह कहाँसे आती है? अवश्य ही सर्वात्मा भगवान्ने कभी-न-कभी वैसा चरित किया होगा, तभी वह कल्पनाशील कविके मनमें प्रकट होती है। **नह्यसंन्यस्त-सङ्कल्पः** हम अच्छाईकी कल्पना तो करते ही रहते हैं, कोई-कोई कल्पना करते-करते जिद्दी भी हो जाते हैं। **किन्तु बुद्धेः फलमनाग्रहम्** यदि भगवान्ने आपको बुद्धि दी है तो आप जिद्दी मत बनो। जिद्दी होना बुद्धिमान्की पहचान नहीं।

तो, संकल्पकी बातपर आइये। कोई पिछली बात आपको बहुत अच्छी लगती है और आपके मनमें संकल्प होता है कि वैसी ही अब फिर हो, किन्तु वह नहीं होती तो आप दु:खी हो जाते हैं। यह दु:ख कहाँसे आया? आपके मनने भूतको दुहरानेका प्रयास किया। भूत माने तो आप जानते ही हैं—जो बीत गया। कई लोगोंको निद्रामें, तन्द्रामें भूत-प्रेतका दर्शन होता है। पिछली बातें भूतकी तरह ही दिखायी पड़ती हैं। कोई कहता है कि तीस-पैंतीस वर्ष पहले हमारे एक सम्बन्धीकी मृत्यु हो गयी थी। परन्तु अब भी उनकी याद करके हमको रातमें नींद नहीं आती। ऐसे लोगोंको यही उत्तर दिया जाता है कि आपको भूत लगा है। विवेकसे काम लीजिए और भूतके शोकको मनसे निकाल दीजिए। भूतके शोककी तरह भविष्यका भय होता है। एक वैज्ञानिकने बहुत परिश्रम करके यह सिद्ध किया था कि पाँच करोड़ वर्ष बाद, जहाँ आज हिमालय है, वहाँ समुद्र लहराने लगेगा। यह क्या है, यह भविष्यका भय ही तो है। अभीसे हम यह उपाय करें कि समुद्र हिमालयको न डुबो दे। ऐसा इसीलिए हुआ कि उस वैज्ञानिककी बुद्धिके पाँव बहुत आगेकी ओर फिसल गये। तो, जिसका पाँव बहुत आगे फिसल जाता है या बहुत पीछे फिसल जाता है, वह गिरता है। आप कर्म करते समय सावधानी बरतें। पीछेकी बातोंके संकल्प और बहुत आगेकी बातोंके संकल्पसे बचें। एक बात और है। चलते समय जहाँ हैं, वहीं आपके पाँव गड़ जायें तो यह हो जायेगा वर्तमानमें मोह। भूतका शोक होता है, भविष्यका भय होता है और वर्तमानका मोह होता है। यहाँ संकल्प पदसे तीनोंको ग्रहण करना चहिए। यही बढ़िया है। आगे जो आयेगा, वह बढ़िया नहीं होगा। यह सोचना ठीक नहीं। देखो इस बढ़ियाको। यह पाँवके नीचेसे सरक रहा है। क्या इसे अपने सिरपर लादकर ले चलोगे? इस तरह जिन्दगी नहीं चलती। यदि आपको योगी होना है, बुद्धि-योगी होना है तो भूत-भविष्यमें अथवा वर्तमानमें सम्यक्त्वकी कल्पना करके आबद्ध मत हो जाइये—

नह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।

जिसने सङ्कल्पका संन्यास नहीं किया वह योगी नहीं हो सकता। योगी तभी संन्यासी है, जब उसने अपने सङ्कल्पका संन्यास कर दिया है। अब बताते हैं कि आपके जीवनमें केवल कर्म ही नहीं चाहिए, विश्राम भी चाहिए और केवल विश्राम ही विश्राम नहीं चाहिए, कर्म भी चाहिए। आपको सुनाया था, यह आत्मा व्यवहारमें दो रूपसे प्रकट हो रहा है। ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा संसारका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात विषयकी प्राप्तिके साधन होते हैं। जैसे आँखसे कश्मीर देखनेकी इच्छा होनेपर आपको पाँवसे चलना पड़ेगा। पाँवसे चलना कर्म हुआ और आँखसे देखना ज्ञान हुआ। इस प्रकार मनुष्यका जीवन ज्ञान-कर्मात्मक है।

जीवन ज्ञान-कर्मात्मक होनेके कारण श्रम और विश्राम उसके दो रूप हैं। जो रातमें ठीक-ठीक नींद नहीं लेगा, वह दिनमें जागकर ठीक-ठीक काम नहीं कर सकेगा और जो दिनमें ठीक-ठीक काम नहीं करेगा, उसको रातमें नींद नहीं आयेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन है, वैसे ही श्रमके बाद विश्राम और विश्रामके बाद श्रम है। इसी तरह जीवनमें संग्रह और त्याग भी है। यदि आप केवल संग्रह करोगे और त्याग नहीं करोगे तो वह संग्रह इतना फैलेगा कि आपको फाड़ देगा और केवल त्याग करोगे तथा संग्रह नहीं करोगे तो त्याग करनेके लिए आपके पास कुछ रहेगा ही नहीं। इसलिए संग्रह और त्याग, कर्म और ज्ञान, विश्राम और श्रम इन सबके द्वारा जीवन चलता है। यही लोकव्यवहार है। हम उस ज्ञानकी चर्चा नहीं कर रहे, जो पारमार्थिक है, और जिसमें ज्ञाता एवं ज्ञेयका, ईश्वर एवं जगत्‌का भेद ही नहीं है। यहाँ तो करने-करानेवाला व्यावहारिक ज्ञान है। यदि आप 'आरुरुक्षु' हैं—चढ़ना चाहते हैं तो कर्मकी साधना कीजिए। फिर जब आपकी कर्म-साधना पूरी हो जाय तब आप शान्तिका आश्रय लीजिए। आप अपने जीवनमें रिटायर्ड होने—अवकाश प्राप्त करनेका संकल्प कभी करते हैं या नहीं—यह एक प्रश्न है। एक जवान मेरे पास आया और बोला कि महाराज, मेरी उम्र चालीस वर्षकी हो गयी है। पिताजी न तो मुझे गद्दीपर बैठने देते हैं और न मुझे चाबी देते हैं। यदि पिताजी बीस वर्ष और रह गये तो मेरा क्या होगा? तब तक मैं हो जाऊँगा साठ बरसका और पिताजी हो जायेंगे अस्सी बरसके। मुझे तो काम करनेका कोई अवसर ही नहीं मिलेगा।

असलमें जैसे-जैसे काल बदला है, वैसे-वैसे कर्मकी पद्धति भी बदलती है। नये-नये कर्म आते हैं और उनको करनेकी नयी-नयी शैलियाँ आती हैं। हमारे पास आनेवाले जवान डाक्टर पुराने डाक्टरोंके बारेमें अपनी राय जाहिर करते हुए कहते हैं कि जो लेटेस्ट साइंस है, वह हम जानते हैं। पुराने डाक्टर तो बूढ़े हो गये हैं, वे नहीं जानते। इसलिए आपसे निवेदन है कि आप नयी पीढ़ीका भी आदर कीजिए। आरुरुक्षुके लिए, उन्नतिकी ओर अग्रसर होनेवालेके लिए, बचपनसे जवानीकी ओर बढ़नेवालेके लिए, जवानीसे प्रौढ़ताकी ओर जानेवालेके लिए कर्मकी प्रधानता होनी चाहिए। फिर जब योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाय तो जीवनमें शान्ति भी होनी चाहिए। कर्मप्रधान जीवन है युवाका और शान्ति प्रधान जीवन है वृद्धका। आप कर्म कीजिए, परन्तु यदि आप वृद्ध हैं तो आपमें शान्ति अधिक होनी चाहिए और युवा हैं तो आपमें शान्ति सहित कर्म अधिक होना चाहिए। यदि जीवनको बुद्धिपूर्वक नहीं व्यतीत किया जायेगा तो वह मरणके समान हो जायेगा।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।

इसमें जो 'योगारूढ़' शब्द है, यह लोकमें परिचित नहीं है। रथारूढ़, अश्वारूढ़, आदि शब्द तो परिचित हैं। अब देखिये कि योगारूढ़ किसको कहते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 6.4

इसमें तीन बातें कही हैं। 'यदा' शब्दका अर्थ देश अथवा काल नहीं है। यदा शब्दका तात्पर्य है चित्तवृत्तिकी वह दशा, जिसमें मन परिवर्तित हो जाये। असलमें परिवर्तन मनमें होता है। तो, योगारूढ़के मनमें तीन बात आनी चाहिए। एक तो कर्मासक्ति न हो, दूसरे भोगासक्ति न हो और तीसरे अपने संकल्पोंपर काबू रखनेकी शक्ति हो।

अब इनपर जरा विस्तारसे विचार करें। कर्म करने और कर्मासक्तिमें फर्क है। इसी प्रकार भोग करने और भोगासक्तिमें भी फर्क है। हमारे एक मित्र हैं, जो हमसे बड़ी ईमानदारीसे बात करते हैं। उनकी स्त्री चल बसीं। पुत्र भी नहीं, पुत्री भी नहीं। कोई भी उत्तराधिकारी नहीं है। हमसे मिलनेके समय उनके पास बीस हजार रुपये थे, फिर बीस लाख हुए, पाँच करोड़ हुए, अब कितने हैं, नहीं बताते। दिनभर कमाईमें लगे रहते हैं। कहते हैं महाराज काम किये बिना मन नहीं मानता, पर मैं किसलिए इकट्ठा कर रहा हूँ, यह समझमें नहीं आता। वे दान नहीं करते, परोपकारका काम नहीं करते, विद्यालय नहीं बनाते, गरीबोंको नहीं बाँटते, केवल इकट्ठा कर रहे हैं। उसमें भी जो बिना हिसाबका है, वह बड़ा दुःखदायी है। वे कहते हैं कि मैं तो कर्मके साथ ऐसे सट गया हूँ, चिपक गया हूँ कि उसको छोड़ नहीं सकता। यह हुई कर्मासक्ति।

अब एक दूसरे सज्जनकी बात सुनाता हूँ। उनकी भोगमें रुचि है। बीमार पड़ते हैं, दवा खाते हैं। भोगका सामर्थ्य कम हो जाये तो उसको बढ़ानेके लिए प्रयास करते हैं। भोगके बिना रह नहीं सकते। भोगके बहुत भेद होते हैं पर हम उनका वर्णन करके कथा नहीं बढ़ाना चाहते। लोग निषिद्ध कर्मोंमें रुचि रखकर अनुशासन भंगकर शिष्टानुशिष्ट रीतिसे न चलकर, संसारका संहार करके भी भोग मिले तो उसके लिए तैयार रहते हैं। महर्षि व्यास कहते हैं कि दूसरेको दुःख पहुँचाये बिना कोई भोगी नहीं हो सकता—

नानुपहत्य भूतानि भोगः संभवति।
भोगमनुविवर्धन्ते रागाः तेषां कौशलानि च॥

जितना-जितना भोग करेंगे, उतना-उतना भोगका कौशल बढ़ेगा। सच-झूठकी तो भगवान् जाने, पर मैंने इन्दौरके एक सज्जनके बारेमें सुना था। उनकी भोगमें ऐसी रुचि थी कि उन्होंने विदेश जाकर किसी पशुका प्रजनन-सामर्थ्य अपने शरीरमें प्राप्त कर लिया था। इसी तरह एक राजाके बारेमें यह सुना था कि वह बार-बार खाता है और बार-बार वमन कर देता है। लेकिन फिर भी उसकी खानेकी रुचि कम नहीं होती। यह है भोगासक्ति।

अब तीसरी बात संकल्पोंकी देखो। भोग उतना ही करना चाहिए, जितना जीवन निर्वाहके लिए आवश्यक हो। यदि उसको निरन्तर बढ़ाते जाओगे तो उसकी सीमा नहीं रहेगी। फिर उसमें अपने-पराये और

उचित-अनुचितका विचार सब कुछ छूट जायेगा। भोगकी वासना बढ़ती जानेपर क्या खाने और क्या नहीं खानेका विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। जब अपने निज-विवेकका आदर नहीं किया जाता तब वह साथ छोड़ देता है। भर्तृहरिने कहा है कि 'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात: शतमुख:।' जिसका विवेक नष्ट हो जाता है, उसका पतन सब ओरसे हो जाता है।

अब कर्म और भोग, इन दोनोंकी बात छोड़कर जरा भीतर घुसें। क्योंकि कर्म और भोग दोनों बाह्येन्द्रियोंसे ही होते हैं। अब जरा अन्दर झाँककर देखो कि मनकी क्या हालत है? वहाँ तो जय जय सीताराम है। लोग लाटसाहबके कुत्तोंके बारेमें बहुत जानते हैं, परन्तु अपने मनके संकल्पोंसे परिचित नहीं रहते। जब लोग निकम्मे बैठते हैं तब यह कब कहाँ क्या मोड़ दे देगा, यह बताना कठिन है। अकर्मण्यता-निकम्मेपनमें ही दिमागमें बुराई फलती-फूलती है। सब अकेलेमें बैठनेके अधिकारी नहीं होते हैं। इसलिए गीता योगसाधनाकी आवश्यकता बताते हुए संकल्पका संन्यास करनेकी बात कहती है। कर्मासक्तिमें न फँसो, भोगासक्तिमें न फँसो और अपने संकल्पोंके निवारणकी सामर्थ्य रक्खे। मैं जिनके पास योग सीखनेके लिए जाता था, उन्होंने कहा बैठो और पूछा कि आसन लगाकर कितनी देर बैठ सकते हो? मैंने कहा घण्टेभर। वे बोले कि ऐसे नहीं। पहले दिन तुम दस मिनट बैठो। एक सप्ताहतक प्रतिदिन दस-दस मिनट अविचल बैठनेका अभ्यास करो। इसी तरह दूसरे सप्ताह पन्द्रह-पन्द्रह मिनट और तीसरे सप्ताह बीस-बीस मिनट बैठो। फिर प्रति-सप्ताह पाँच-पाँच मिनट बढ़ाते जाओ। जब आधा घण्टा हो जाये तो चार सप्ताहतक उसे कायम रक्खो। फिर दूसरे महीनेसे पाँच-पाँच मिनट बढ़ाते हुए एक घण्टा पूरा करो। आसनमें सुख आना चाहिए—'स्थिरसुखमासनम्।' आप लोगोंने योगदर्शनका नाम सुना होगा। वह साँपकी तरह लेटने और गर्दभासन, ऊष्ट्रासन आदि करनेकी कला नहीं सिखाता। यह सब न तो योगदर्शनमें है और न योगभाष्यमें। आसन तो सुखासन होना चाहिए और उसमें अचलता आनी चाहिए, स्थिरता आनी चाहिए। सिद्धासन भी आसन है, पद्मासन भी आसन है, स्वस्तिकासन भी आसन है और वीरासन भी आसन है। जिस आसनमें आप खूब आनन्दसे, आरामसे बैठ सकें, आपके दोनों घुटने धरती छू लें और पीठकी रीढ़ सीधी रहे और मुद्रा शान्त रहे, वही उपयुक्त आसन है। हर समय हिलते रहनेसे आसन नहीं लगता। मनके अचल होनेके बाद शरीरकी अचलताका जो विज्ञान है, वह साधकके लिए उपयोगी नहीं है। पहले शरीरकी अचलता हो, फिर मनकी अचलता हो। क्योंकि हम जहाँ हैं, वहाँसे ही साधन प्रारम्भ होता है। आप बैठनेका अभ्यास कीजिए, चुप रहनेका अभ्यास कीजिए, आँख स्थिर रखनेका अभ्यास कीजिए। आप अपनी आँखकी पुतलीको एक दिनमें पाँच मिनट स्थिर करके बैठ जाइये, वह खुली हो चाहे बन्द हो। आप देखेंगे कि आपका मन चंचलता छोड़कर आपकी गोदमें बैठ जाता है। आँखकी पुतली हिलनी नहीं चाहिए। आप कुर्सीपर बैठते हैं, पाँव हिलाते रहते हैं। आसनपर बैठते हैं, पाँव हिलाते रहते हैं। थोड़ी देर भी स्थिर नहीं बैठ सकते। यदि आप चञ्चलताके वशमें हो गये हैं तो चञ्चलता आपसे क्या कराके छोड़ेगी यह कहा नहीं जा सकता। हमारा जो 'भोजन' शब्द है, उसका संस्कृत भाषामें मजाक उड़ाया गया है। उसे कहते हैं—'**गलबिलाध: संयोगरूपव्यापार:।**' यह गलेका जो बिल है, इसके भीतर किसी चीजको भेजनेका नाम

भोजन है। तो भोजन किस चीजका करें? जो मुँहमें जा सके, उसको खा लें? ऐसा तो तभी हो सकता है जब विवेक भ्रष्ट हो जायेगा। कहाँ जाये, कहाँ न जाये? जहाँ पाँव घुस सके वहाँ चले जायँ? क्या करें, क्या न करें? अगर न करना होता तो ईश्वर हाथ क्यों बनाता? इसलिए हाथसे जो कर सकते हैं, करें? जेब काट सकते हैं तो काट लें? यह सब विवेकहीनताकी बातें हैं। आपने ईश्वरकी दी हुई विवेकशक्तिका तिरस्कार किया है तो अपराध किया है। इसलिए विवेकका आदर करनेके लिए ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। आपके जीवनमें जो चञ्चलताकी पराधीनता आगयी है, उसपर काबू पानेके लिए स्थिरता अनिवार्य है। संसारमें स्थिरताके बिना कुछ नहीं हो सकता। यह जो भोगकी पराधीनता आगयी है कि खाये बिना नहीं रह सकते, पीये बिना नहीं रह सकते, पहने बिना नहीं रह सकते, उसने मनुष्यको नीचे गिरा दिया है। यह तो देखो कि तुम उसके बिना नहीं रह सकते तो वह भी तुम्हारे बिना नहीं रह सकता है क्या? तुम चायके बिना नहीं रह सकते, पर चाय तुम्हारे बिना रह सकती है कि नहीं? तुम्हारा जो एकांगी प्रेम ईश्वरसे होना चाहिए था, वह चायसे हो गया? धन तो तुम्हारे बिना भी था और आज भी है। वह तुमको नहीं पहचानता है कि तुम उसके धनी हो। इसलिए तुम्हारा उसके प्रति एकांगी प्रेम होता है। जड़ वस्तुओंसे जितना प्रेम होता है, उतना वही होता है। एकांगी प्रेमका यही नमूना है। जिसप्रकार मछली पानीके बिना मर जाती है, चकोर चन्द्रमाके बिना मर जाता है, उसी प्रकार क्या आप चायके बिना मर जायेंगे? यह आपका प्रेम है? नहीं, यह तो जड़ता है।

तो भाई कर्मको, भोगको और संकल्पको वशमें करनेके लिए पौरुषकी आवश्यकता है। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। प्रारब्धका ग्रन्थ नहीं। जो हमारे प्रारब्धमें होगा सो हो जायेगा, यह गीता नहीं बोलती। जो प्रकृतिमें होगा वह हो जायेगा—यह गीता नहीं बोलती। वह बोलती है कि आपको अपने व्यक्तिगत जीवनमें पौरुषनिष्ठ होना चाहिए—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 6.5
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6.6

आप अपना उद्धार अपने आप कीजिए। अपने आपसे दुश्मनी मत कीजिए। यदि धरतीपर गिर पड़े हो तो कोई दोष नहीं। गिरना कोई अपराध नहीं, अपराध तो गिरकर न उठना और उठकर आगे न बढ़ना है। आप गिर पड़े हैं, इसकी कोई परवाह नहीं। यही तो भक्तोंका आश्वासन है। यही आध्यात्मिक साधना है। आपके मनमें चाहे कितना भी पतन आगया हो, वह आपको कहता है कि उद्धरेत्—उद्धार करो। यह नहीं कि गिरनेपर कोई दूसरा आकर आपको उठावे। गुरुजी उठा दें, ईश्वर उठा दे, प्रारब्ध उठा दे। गीता कहती है कि 'उद्धरेदात्मनात्मानम्'—तुम स्वयं अपनेको ऊपर उठाओ, अपना उद्धार करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

जैसा कि कल संक्षेपमें बताया गया, भगवद्गीता पौरुष-प्रधान शास्त्र है। प्रारब्धके अनुसार जैसा हो रहा है, वैसा होने दो—यह बात गीताको मान्य नहीं। प्रारब्ध बनानेवाले तो हम ही हैं। हमने पहले जो कर्म किया, उससे प्रारब्ध बना, अब नया कर्म करेंगे तो नया प्रारब्ध बनेगा। कर्ममें तीव्रता हो तो वह तत्काल प्रारब्ध बन जाता है। प्रारब्ध दूसरे जन्ममें बनता हो, ऐसा नहीं—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिर्पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥

अत्यन्त उत्कट पाप अथवा अत्यन्त उत्कट पुण्य, इसी जीवनमें फलदानोन्मुख हो जाता है, फलका निर्माण कर देता है। इसलिए प्रारब्ध हमारे प्रतिकूल है—ऐसा सोचकर, हाथपर-हाथ रखकर, बैठ नहीं जाना चाहिए। जिस प्रकार गीतामें श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह रहे हैं कि **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवासादयेत्;** उसी प्रकार योगवासिष्ठके मुमुक्षु व्यवहार-प्रकरणमें वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्र भगवान्‌से कहा है। मनुष्यको अपना प्रयत्न ईश्वरेच्छापर नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि ईश्वरने अपना अन्तःकरण अलग नहीं रखा। जीवके अन्तःकरणकी तरह ईश्वरका अन्तःकरण नहीं होता। इसलिए ईश्वर स्वयं कोई संकल्प नहीं करता। वह तो अपने भक्तके संकल्पके साथ ही अपना संकल्प मिला देता है। इसलिए यदि आप पूरे हृदयसे कोई काम करनेके लिए तत्पर होते हैं तो ईश्वरकी शक्ति, ईश्वरकी सहायता आपको प्राप्त होती है। कालवादी लोग ग्रह और कर्मको मानते हैं। गणितशास्त्र कालवाद है और फलितशास्त्र प्रारब्धवाद है। दोनोंके सिद्धान्त अलग-अलग हैं। भागवतमें तो इस प्रसंगको लेकर एक अध्याय ही है। ग्यारहवें स्कन्धके तेइसवें अध्यायमें बताया है कि ग्रह और काल किसीको दुःख नहीं देते। **मनः परं कारणमामनन्ति**—केवल अपना मन ही अपनेको दुःख देता है।

तो मनुष्यको सावधान हो जाना चाहिए। हमारा पड़ोसी हमारा उद्धार करेगा, देवदूत हमारा उद्धार करनेके लिए आयेगा अथवा भाग्यसे हमारा उद्धार होगा—यह धारणा ठीक नहीं। आप स्वयं अपने उद्धारके लिए प्रयत्नशील हो जाइये। 'उद्धरेत्' उत्-हरेत्‌की सन्धिसे बना है, जिसका अर्थ है कि तुम दूसरेके हाथमें पड़ गये हो। उसको झटक दो, दूसरेके हाथसे अपनेको छीन लो। उद्धरेत् 'उत् धरेत्' और 'उत् हरेत्' दोनोंसे बनता है। 'हृ'धातु और 'धृ'धातु दोनोंका क्रिया पद होता है+'हरेत्' और 'धरेत्' तथा 'उत्' उपसर्ग लगनेपर 'उद्धरेत्' बनता है। यदि तुम अपना भला स्वयं नहीं करते तो तुमको दूसरेके ऊपर भरोसा करनेका कोई हक नहीं। वैसे भरोसा करना, विश्वास करना भी अपना पौरुष ही है। विश्वास करो कि ईश्वर तुम्हारा भला करेगा। यह विश्वास जीव ही कर सकता है। विश्वास करना जीव-धर्म है। जीव अपने धर्मका पालन करेगा, विश्वास करेगा तो ईश्वरकी कृपा उसके ऊपर उतरेगी।

अब गीता कहती है कि **नात्मनमवसादयेत्** अपनेको अवसन्न नहीं करना चाहिए। प्रसन्न शब्दका प्रयोग तो आप लोग करते ही हैं। जैसे प्रसन्न है, विषण्ण है, वैसे ही अवसन्न है। **नात्मानमवसादयेत्** का अर्थ है अपनेको गिरओ मत, अपनेको बिखेरो मत—अपनेको विकीर्ण मत करो। जब हम अपनेको हड्डी-मांस चामके कूड़ेमें कैद कर देते हैं तब अपने आपको गिरा देते हैं। तुलसीदासजीने कहा है कि—

चेतन अमल सहज सुखरासी।

आप चेतन हो, निर्मल हो, सहज सुखराशि हो, किन्तु आपने अपनेको कहाँ गिरा दिया है? चेतन होते हुए भी जड़में गिरा दिया है। निर्मल होते हुए भी मलिनताके गड्ढेमें गिरा दिया है। सहजसुखराशि होते हुए भी दु:खोंके नीचे दबा दिया है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि उठो। श्रुति बोलती है—

उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया॥
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

सावधान! उठो। जागो। बड़ोंके पास जाकर जानो। अपने आपको सन्नद्ध कर लो। अवसादन क्या है? हमारी नागरिकता पुरुषोत्तमके विश्वकी की है। हम उस विश्वके नागरिक हैं जिसके स्वामी पुरुषोत्तम हैं, भगवान् हैं। यदि विश्व गया तो हम राष्ट्रके हो जायेंगे। राष्ट्र गया तो प्रान्तके हो जायेंगे। प्रान्तीयता गयी तो जिलेके हो गये, जिला गया तो गाँवके हो गये और गाँव गया तो घरके हो गये। विश्व-मानवता गयी तो जातीयतामें आबद्ध हो गये। इस प्रकार संकीर्ण बन जाना और एक दायरेमें बँध जाना ही अपनेको अवसन्न करना है। यह बात राष्ट्रकी दृष्टिसे, जातिकी दृष्टिसे, उम्रकी दृष्टिसे, कालकी दृष्टिसे, बड़ी क्रान्तिकारी है। आजकलके क्रान्तिकारी लोग बहुत सोचेंगे तब उनको यह बात मालूम पड़ेगी। हम अपनेको सौ दो सौ, तीन-चार सौ वर्षकी संस्कृतिके भीतर बाँध लेते हैं। अधिक-से-अधिक दो हजार, पाँच हजार, दस हजार वर्षकी बातोंकी ओर हमारा ध्यान जाता है। किन्तु काल अनादि है, अनन्त है। वह वर्षोंकी सीमामें नहीं बाँधा जा सकता। इसलिए **नात्मानमवसादयेत्** का अर्थ है कि आप अपनेको उम्रकैद मत करो। इस शरीरके पहले भी आपका जीवन रहा है और इस शरीरके बाद भी आपका जीवन रह सकता है। आप पिता और पितामह आदिके रूपमें पहले भी थे। तथा पुत्र-पौत्रादिके रूपमें बादमें भी रहेंगे। आप अपनेको परम्पराके किसी एक अंशके साथ मत बाँधिये, कालकी सीमामें मत बाँधिये, देशमें मत बाँधिये, जातिमें मत बाँधिये, मजहबमें मत बाँधिये। अपने आपको परमेश्वरमें मिला दीजिए। तभी **नात्मानमवसादयेत्** की उक्ति सार्थक होगी।

देखो, आपके मनमें कभी-कभी आता है कि हम पुण्यात्मा हैं और कभी-कभी आता है कि हम पापी हैं। कोई धनी हो, चाहे गरीब हो, उसको कभी मनमें आता है कि हम सुखी हैं और कभी मनमें आता है कि हम दु:खी हैं। जो सब तरहसे सम्पन्न हैं, जिनके पिता हैं, पुत्र हैं, जिनका शरीर स्वस्थ है, वे लोग भी कभी-कभी अपनेको दु:खी अनुभव करने लगते हैं। वैसा ही यदि वे लोग हमेशाके लिए मान लें तो अवसादन हो गया। मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ, मैं पापी हूँ, मैं शत्रु हूँ, मैं मित्र हूँ—इस प्रकारकी एक वृत्ति उड़ती हुई आयी और आपने अपनेको उसके वशमें कर दिया।

अब **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः**को लीजिये। इसमें जो बन्धु शब्द है, वह बड़ा ही प्यारा है। बंगला भाषामें बन्धु शब्दका प्रयोग बड़े प्रेमसे करते हैं। प्रियतमके लिए बन्धु शब्दका प्रयोग होता है। रासलीलामें गोपियोंने श्रीकृष्णके लिए एक बार बन्धु शब्दका प्रयोग किया—

प्रेष्ठो भलांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा

बन्धु शब्दका अर्थ भाई नहीं, आत्मा है। अपना आत्मा ही बन्धु है, हितकारी है, सुहृद् है, परम प्रियतम है और अपना आत्मा ही शत्रु है। अपनेको सुख कौन देता है? अपना आत्मा। अपनेको दुःख कौन देता है? अपना आत्मा। जो सतावे सो शत्रु—'सातनात् शत्रुः' संस्कृतमें शासन शब्द है और जो प्रेमसे बाँधले, उसका नाम बन्धु—'बध्नाति इति बन्धुः'। जो इतना प्रेम करे, इतनी सेवा करे कि विरक्तको रागी बना ले और परायेको अपना बना ले, उसको बोलते हैं बन्धु। तो भगवान्‌ने सूत्र रूपसे इसकी व्याख्या कर दी कि कौन आत्मा अपना बन्धु है, हितकारी है और कौन आत्मा अपना शत्रु है।

अब ज्ञानको भी कुछ मिश्रण चाहिए। ज्ञान जहाँ भव-रोगका नाश करनेके लिए विष है, वहीं योगवाही भी है। ज्ञान योगके साथ मिल गया तो समाधि लग गयी, भक्तिके साथ मिल गया तो वासना मिट गयी और धर्मके साथ मिल गया तो दुश्चरित्रता दूर हो गयी। ज्ञान सबका सहायक भी है और स्वयंमें महान् प्रज्वलित अग्नि भी है। यदि आपने अपने जीवनको संयममें नहीं रखा, स्वच्छन्द बना लिया तो ज्ञान दग्ध कर देगा। इसलिये उसको बुद्धियोग चाहिए—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

यदि आप बुद्धिसे चलेंगे तो पाप-पुण्य नहीं लगेगा। राग-द्वेष नहीं होगा, सुख-दुःख नहीं होगा और नरक-स्वर्ग नहीं मिलेगा। यदि आप बुद्धिसे चलेंगे तो इसी जीवनमें जीवन्मुक्त होकर रहेंगे।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ 6.7

'शीतोष्णसुखदुःखेषु जितात्मनः, मानापमानयोः प्रशान्तस्य, परमात्मा समाहितः।' परमात्मा आपके पास है। परमात्मा केवल सत्ययुगमें मिलता है—इस प्रकार परमात्माको समयमें बाँधना अज्ञान है। परमात्मा केवल वैकुण्ठमें मिलता है—इस प्रकार स्थानविशेषमें परमात्माको बाँध देना अज्ञान है और परमात्मा अमुक रूपमें ही मिलता है—इस प्रकार किसी अकारमें परमात्माको बाँध देना भी अज्ञान है। परमात्मा तो हर जगह मिलता है, हर समय मिलता है और हर रूपमें मिलता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि

इस बातको दूसरे मजहबवाले नहीं समझते। हमारे वेद-शास्त्रोंकी यह प्रतिज्ञा ही है कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है। यदि एक तत्त्व ही सब न होता तो एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान कैसे होता? परमात्मा लोहेकी तरह है, परमात्मा मिट्टीकी तरह है और परमात्मा सोनेकी तरह है। जैसा कि उपनिषदोंमें वर्णन है, जिस तरह मिट्टीकी बनी सब चीजें मिट्टी हैं, सोनेसे बनी सब चीजें सोना हैं और लोहेसे बनी सब चीजें लोहा हैं, उसी तरह परमात्मासे ही सब चीजें बनी हैं और सबकी सब परमात्मा हैं। परमात्मा केवल

सिरजनहार-बनानेवाला ही नहीं, सबके रूपमें बननेवाला भी है। उसके रूपमें भी वही है, तुम्हारे रूपमें भी वही है। सबके रूपमें वही है। परमात्माके ही सब रूप हैं।

तो भाई मेरे परमात्माका जो विज्ञान है, यह हमको समताकी समत्वकी शिक्षा देता है। इस पर बहुत जोर है भगवान्‌का। आप गीतामें जगह-जगह देखेंगे। गीता कोई बहुत बड़ी पुस्तक नहीं। महाभारतमें तो एक लाख श्लोक हैं, स्कन्दपुराणमें अस्सी हजार हैं, भागवतमें अट्ठारह हजार हैं, किन्तु गीतामें कुल सात सौ श्लोक हैं और इनमें बारम्बार 'शीतोष्णसुखदु:खेषु समः सङ्गविवर्जित:,' 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदु:खदा' आदिका उल्लेख आता है। भगवान् कहते हैं कि जीवनमें ठण्डी, गर्मी, सुख, दु:ख आते रहते हैं। इनमें अपने मनको काबूमें रखो। घबराओ मत। ठण्डी आयी है चली जायेगी, गर्मी आयी है चली जायेगी। आज सुख आया है यह भी चला जायेगा, हमारे एक मित्र हैं। उनके घरमें बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरोंमें 'यह भी न रहेगा' लिखा हुआ है। मतलब यह कि न यह फर्श रहेगा, न यह फर्नीचर रहेगा, न यह दीवार रहेगी, न यह बचपन रहेगा और न यह जवानी रहेगी। इसलिए अपने मनको ठण्डीके अधीन मत करो, गर्मीके अधीन मत करो। एक गरीब आदमी ठण्डके दिनोंमें रेलवे स्टेशनके प्लेटफार्म पड़ा था। उसके पास एक छोटी-सी गुदड़ी थी। जब सिर ढके तो पाँव उघर जायें और पाँव ढके तो सिर उघर जायँ। बड़ा परेशान था बेचारा। उधरसे एक फकीर निकला। उसने कहा क्या परेशानी है? कहा—महाराज! पाँव ढकता हूँ तो सिर उघर जाता है और सिर ढकता हूँ तो पाँव उघर जाते हैं, ठण्ड लग रही है। फकीरने कहा कि तुम्हारी यह गुदड़ी तो बड़ी हो नहीं सकती इसलिए तुम्हीं अपनेको सिकोड़ लो। पावोंको जरा समेट लो। जब पाँव सिकुड़ेंगे तब सिर भी गुदड़ीसे ढक जायेगा। तो यदि आपकी जरूरतें इतनी बढ़ गयी हैं कि आमदनीसे पूरी नहीं होतीं और अपनी आमदनी आप बढ़ा नहीं सकते तो खर्च घटा दीजिये। उसके लिए दु:खी होनेका तो कोई कारण नहीं। क्या आपसे कम साधनवाले लोग दुनियामें नहीं रहते? जिनके पास आप जैसा मकान नहीं, मोटर नहीं, वस्त्र नहीं, खाना नहीं, पीना नहीं, वे लोग क्या दुनियामें जिन्दा नहीं रहते? उनके घरमें क्या शादी नहीं होती? उनके घरमें क्या बेटा नहीं होता? मनको काबूमें रखो। 'सर्वं सुखमयं जगत्'—इस दुनियामें सुख ही सुख है। गर्मी आयेगी, जायेगी। ठण्डी आयेगी, जायेगी। सुख-दु:ख आयेंगे, जायेंगे। हमने ऐसे कितने ही दिन देखे हैं। हमारे बाबा बताते थे कि गाँवमें पहले धान पैदा नहीं होता था। इसलिए जिस दिन घरमें भात बनता, उस दिन बच्चे ताली बजा-बजाकर नाचते थे कि आज भात खानेको मिलेगा। अब तो पहले जिन खेतोंमें गेहूँ पैदा होता था, वहाँ धान पैदा होने लगा। चावल-ही-चावल होता है, समय बदल गया। हमारे पितामहके समयमें एक रुपयेका एक मन गेहूँ मिलता था। अब समय बदल जानेपर एक रुपयेका सेर भर मिलता है। तो जैसे-जैसे समय बदलता है उसके अनुसार रहना पड़ता है। अपने मनको काबूमें रखो, वह समयके साथ स्वयं जुड़ जायेगा। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो जब समय पीछे जायेगा तब मनको भी पीछे जाना पड़ेगा और वह दु:ख पायेगा।

अब **मानापमानयो: प्रशान्तस्य** के द्वारा भगवान् बता रहे हैं कि जीवनमें कभी मान मिलता है, कभी अपमान मिलता है। इन दोनोंमें मनुष्यका मन शान्त रहना चाहिए। हमारे मनुजी केवल हिन्दू-धर्मके ही व्याख्याता नहीं, सम्पूर्ण मानव समाजके धर्मके व्याख्याता हैं। मनुने जो कुछ भी कहा है, वह औषध है—

यत्किञ्च मनु वदत तद् भेषजम्। वे कहते हैं कि मानमें लाभ है, यह सोचना गलत है और अपमानमें हानि है, यह सोचना भी गलत है। उनका पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत् विषाद इव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानं द्विजोत्तम॥

ऐसा क्यों? इसलिए कि '**अवमानात् तपोवृद्धिः सम्मानात् तपसः क्षयः**'—जब आप सम्मान ग्रहण करते हैं तब आपके पुण्यकी पूँजी क्षीण हो जाती है और जब आप अपमान स्वीकार कर लेते हैं तो आपके पापकी पूँजी घट जाती है। पाप दु:ख देते हैं और पुण्य सुख देते हैं। देखो, कैसी युक्ति है मनुजीके वचनोंमें। वस्तुत: सम्मानसे जो सुख होता है वह तात्कालिक होता है और उससे पुण्यकी पूँजी घटती है। वैसे ही जैसे बढ़िया होटलमें रहनेसे पैसा खर्च हो जाता है। भक्तके लिए भी बिल्कुल यही बात है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुयायी प्रबोधनान्दजी सरस्वती वृन्दावनमें वास करनेकी विधि बताते हुए कहते हैं—'**भ्रातस्तिष्ठ तले-तले विटपिनाम्**'—पेड़ोंके नीचे रह जाओ। '**ग्रामेषु भिक्षामट**'—गाँवमें माँगकर खा लो। **स्वछन्दं पिव यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।** चीरका कन्था बनाकर तन ढँक लो और **सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।** सम्मानको जहर और अपमानको अमृत समझो।

श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

ऐसे भक्तोंके लिए धन और धरतीका क्या महत्त्व है? हानि और लाभका, सुख और दु:खका, मान और अपमानका क्या मूल्य है? मनुष्यको शानमें आकर काम नहीं बिगाड़ना चाहिए। व्यापारी तो अपनी कमायीकी ओर देखता है। ग्राहक कड़वा बोलता है कि मीठा बोलता है, इससे उसका क्या मतलब? वह तो कहता है कि—अरे भाई, कड़वा बोल ले, लेकिन माल खूब खरीद ले। तो, **मानापमानयो प्रशान्तस्य** में दो बातें बतायीं। एक तो मन काबूमें हो, दूसरे शान्ति बनी रहे। सर्दी-गर्मी आती-जाती रहती है। सुख-दु:ख आते-जाते रहते हैं। मानापमान होता रहता है। यदि लोगोंका मन अलग-अलग न होता, मान्यता अलग-अलग न होती, तो सब लोग आपके विचारोंका ही आदर करते। लेकिन आदर भी क्यों करते? यही कहते कि जैसे तुम्हारे विचार वैसे हमारे विचार। हम तुम बराबर।

तो, मनुष्य कभी-कभी वस्तुसे राग-द्वेष करने लगता है। प्रत्येक वस्तु दवा होती है। प्रत्येक घास दवा होती है। प्रत्येक अक्षर मन्त्र होता है। प्रत्येक व्यक्तिमें कोई योग्यता होती है। उसका ठीक-ठीक उपयोग करना चाहिए। हमने पचीस-तीस वर्ष पहले एक बहुत बड़ी प्रसिद्ध धार्मिक संस्थामें एक गुण्डा नौकर देखा था। उसको वे लोग पाँचसौ रुपये प्रतिमास देते थे। उसको दूसरे गुण्डोंसे निपटनेके लिए रखा गया था। वहाँ एक मुकदमेबाज-नौकर भी था। वह रोज अपना बस्ता लेकर अदालतमें पहुँच जाता। उसकी पहचान पुलिसवालोंसे थी, अदालतवालोंसे थी। संस्थावाले उनकी योग्यताका उपयोग करते थे। तो, आप किसीको अयोग्य क्यों समझते हैं? मनुष्य अयोग्य नहीं होता। वस्तु निरर्थक नहीं होती। किसी अक्षरको काटते क्यों हैं? उसका उपयोग कीजिए।

जब किसी व्यक्तिका किसी वस्तु विशेषमें आग्रह हो जाता है, तब मानापमान उपस्थित होता है। वह

वस्तु मिले तो मान, न मिले तो अपमान। इसी प्रकार किसी-किसीको भोगमें आग्रह हो जाता है। आये दिन रसोइयेपर नाराज होते रहते हैं। आज उड़दकी दाल क्यों नहीं बनी? यह नहीं कि उनकी जीभको उड़दकी दालकी जो आदत पड़ गयी है, उसको रोकें। अरे बाबा! एक दिन नहीं मिली तो क्या हो गया? मैंने एक घरमें देखा कि पन्द्रह रसोइये थे। पूछा कि इतने रसोइये क्यों? तो बोले कि महाराज, घरमें पन्द्रह बच्चे हैं और वे पन्द्रह तरहका भोजन बनानेको कहते हैं। एक रसोइया तो केवल दूधके लिए है। बच्चे अपनी-अपनी रुचिका भोजन नहीं पाते तो थाली उठाकर पटक देते हैं और रसोइयेपर बरस पड़ते हैं। यह है भोजनके आग्रहका परिणाम। असलमें भोगका जो आग्रह है वह दु:खदायी होता है। शृंगारमें मैच करनेवाली चीजोंका जो आग्रह है वह यदि पूरा न हो तो और भी दु:ख देता है। अभी दो-तीन महीने पहलेकी ही बात है। मैं ऋषिकेशके समीप गंगालहरीमें ठहरा था तो वहाँ एक सज्जन आये उनके साथ उनकी आठ-दस वर्षकी लड़की भी आयी थी। वह बोली कि स्वामीजी! हमारी माँ अंग्रेजी ढंगका बाल नहीं रखने देतीं। इसलिए बड़े-बड़े बाल रखने पड़ते हैं और साथी लड़कियाँ पकड़कर खींच लेती हैं। बार-बार कंघी करनी पड़ती है। इनकी सेवा करनी पड़ती है। आप इनको कह दीजिए कि यह मुझे बाल कटवानेकी स्वीकृति दे दें। अब मैं किसीको ब्रह्मज्ञानकी बात सुनाऊँ, योग और भक्तिकी चर्चा सुनाऊँ या बाल रखनेकी पद्धति बताऊँ? मुझे कहना पड़ा कि अच्छा तुम कटवा लेना। बोली—नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, आप लिखकर दो, मैं अपनी माँको दिखाऊँगी। तो लिखकर देना पड़ा उसको। यह है शृंगारका आग्रह। इसी तरह कपड़ेका आग्रह होता है। लोग इसमें अपना मान समझते हैं। लेकिन इसमें मान नहीं है। मान करना माने अपनेको सीमित बना देना, अपनी एक नाप बना देना, एक तौल बना देना। एक बात आपको डाक्टरोंके मानकी सुनावें। एक बड़े सेठको दिल्लीमें आपरेशन करवाना था। उन्होंने पता लगवाया कि कौन डाक्टर उनका आपरेशन ठीक करेगा। एक डाक्टरने कहा कि मैं दो सौ रुपये लूँगा। दूसरेने कहा कि मैं पाँच सौ लूँगा। तीसरेने कहा कि मैं एक हजार लूँगा। चौथेने कहा कि मैं पाँच हजारसे कम नहीं लूँगा। उससे अधिक फीस किसी और डाक्टरने नहीं माँगी। सेठजीने उसी बड़ी फीसवाले डाक्टरसे आपरेशन कराया। कहनेका मतलब यह कि डाक्टरकी योग्यताका निर्णय कैसे हुआ? उसकी होशियारी, उसकी जानकारीसे? नहीं, उसके पैसोंसे उसकी योग्यताका निर्णय हुआ।

जब हम मान करते हैं तो हमें मानमें भी समान होना चाहिए और अपमानमें भी समान होना चाहिए। एक सज्जनने मुझसे कहा कि स्वामीजी, जब मेरे सामने कोई झूठ बोलता है तो मालूम पड़ता है कि वह मेरा अपमान कर रहा है। उसके झूठ बोलनेपर मुझे बड़ा दु:ख होता है। मैंने कहा कि भलेमानुष; तब तो तुम हमेशा दु:खी रहोगे। उन्होंने कहा कि ऐसा क्यों कहते हैं आप? मैंने उत्तर दिया इसलिए कहता हूँ कि दुनियामें बहुत लोग झूठ बोलते हैं। तुम्हारे सामने सैंकड़ों आ-आकर झूठ बोलेंगे और तुम दु:खी होनेवाले अकेले रहोगे। मेरे भाई, वे झूठ बोलते हैं तो बोलने दो। तुम तो मानो कि 'तेरे भावे जो करे, भलो बुरो संसार।' तुम क्या सबकी जीभ पकड़ोगे, सबको चाँटा लगाओगे? सबके लिए जलोगे? तुम्हारे घरमें भी तो दस तरहके लोग रहते हैं। सब तुम्हारे मनके थोड़े ही हैं। तो, अशान्तिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी, मानापमान प्राप्त होनेपर भी आप अपने मनको अशान्त मत कीजिए, उसको जहाँ-का-तहाँ रहने दीजिए और गर्मी-सर्दी जो भी आवे उसे सह लीजिए।

गर्मी-सर्दी प्रकृतिसे आती है। सुख-दु:ख अपने बने हुए स्वभावसे आते हैं और मानापमान अपनी मान्यतासे प्राप्त होते हैं। इनके चक्करमें न पड़कर अपने मनको काबूमें रखिये, शान्त रहिये। परमात्मा आपके दिलमें बैठा हुआ है—**परमात्मा समाहित:।** देखो कितनी सीधी बात है। इसमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी बात नहीं है। समाधि लगानेकी बात नहीं है। गोलोक ब्रह्मलोकमें जानेकी बात नहीं है। यज्ञ-याग करनेकी बात नहीं है। इसके लिए न धर्मात्माओंकी तरह यज्ञ करना है, न भक्तोंकी तरह परलोक, बैकुण्ठ या गोलोकमें जाना है, न योगियोंकी तरह समाधि लगानी है और न ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह घटाकाश, मठाकाशका विचार करना है। करना केवल इतना ही है कि सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख और मान-अपमानके उत्पादक तत्त्वों अर्थात् प्रकृति, स्वभाव एवं मान्यताको समझकर अपने मनकी शान्ति बनाये रखना है। एक सज्जनने पत्र लिखकर मुझे अपने यहाँ बुलाया है। उसको आज ही यह उत्तर देनेका विचार हुआ है कि जब शरीर स्वस्थ लगता है तब तो मन होता है कि तुम्हारे यहाँ आजायँ, किन्तु जिस दिन शरीर बिगड़ता है, उस दिन मन होता है कि न जायँ। ऐसी स्थितिमें कौन-सा निश्चय तुमको लिख भेजूँ? समयपर जैसा होना होगा, वैसा हो जायेगा। तो अपनी बुद्धिको, विचारको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। विचारमें परमात्मा है, हृदयमें परमात्मा है। यदि तुम्हारे जीवनमें कोई निश्चित पदार्थ, समाहित पदार्थ है तो वह परमात्मा ही है। उसके सिवाय और कुछ नहीं है। जब अपने निश्चयमें कोई गलती मालूम पड़ जाये तो उसे छोड़ देनी चाहिए। अपनी गलतीपर अड़े रहनेकी कोई जरूरत नहीं। अपनी रहनी इस तरह बनाओ कि अच्छा भाई, वैसा नहीं, ऐसा ही सही।

यह बात ध्यानमें रखो कि आपकी तृप्ति कहाँ है? आपकी स्थिति कहाँ है? आपका चरित्र कैसा है?

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन:॥ 6.8

यदि मनुष्यके मनमें स्वार्थ न हो, भोगकी वासना न हो, तो वह योगी है। कई लोग योगीके बारेमें जो यह सोचते हैं कि वह कहीं हिमाचलकी गुफामें रहता है और पीतलको सोना बना देता है तो बिलकुल गलत सोचते हैं। आप जो समझते हैं कि जिसने आसमानमें हाथ मारा और हीरा-मोती निकाल दिया वह योगी है तो गलत समझते हैं। उसको योगी नहीं कहते। क्या आप समझते हैं कि योगी आँखको नाक और नाकको कान बना देगा? वेदको परम प्रमाण माननेवाले भगवान् शंकराचार्यने एक जगह दृढ़तापूर्वक कहा है कि—

न हि श्रुतिशतैरपि घट: पटयितुं शक्यते।

अर्थात् एक हजार वेदके मन्त्र पढ़े जाँय तब भी घड़ा कपड़ा नहीं बन सकता। वस्तुका स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता। जो लोग यह मानते हैं कि आसमान भभूत बरसाता है और गोलोककी बनी हुई रबड़ी-मलाई भरुये (कुल्हड़) में आती है उनकी बुद्धिको धन्यवाद! ऐसे बुद्धिसागरोंको क्या कहा जाय जो मानते हैं कि योगी लोग हाथ मारते हैं आसमानमें और घड़ी, जंजीर, जेवर, मंगलसूत्र आदि पैदा हो जाते हैं। मेरे भाई, वे पैदा नहीं होते, कहींसे चोरी करके, अथवा खरीदकर आते हैं। तो छोड़िये उस चमत्कार दिखानेवाले तथाकथित योगियोंकी बातोंको। सच्चे योगी कई प्रकारके होते हैं। एक योगी वह है, जो अपने ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त है। उसकी तृप्ति कहाँ है? उसके अपने हृदयके भीतर है। उसमें जो ज्ञान-विज्ञान है, उसकी जो परमात्माके बारेमें जानकारी

और अनुभव है, उसीमें वह तृप्त है। दूसरी पहचान योगीकी यह है कि वह कूटस्थ है अर्थात् प्रलोभनोंसे अविचल है। जब सुनार लोग जेवर गढ़ते हैं, उसे लोहेकी निहायपर हथौड़ेसे पीटते हैं, उस निहायपर कूट-कूटकर न जाने कितने जेवर बने, कितनोंपर हथौड़ोंकी चोट पड़ी, परन्तु वह निहाय ज्यों-की-त्यों है। जेवर बनते-बिगड़ते रहते हैं। हथोड़ोंकी चोट कभी पड़ती है कभी नहीं पड़ती, वह जैसा-का-तैसा रहता है। उसी प्रकार कूटस्थ योगी अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। ऐसे समझो कि जिसप्रकार चित्रकूट, त्रिकूट अथवा पहाड़का शिखर वर्षा, सर्दी, गर्मीमें जैसा-का-तैसा रहता है वैसा ही कूटस्थ रहता है क्योंकि वह मूल पुरुष है।

तीसरी पहचान है योगीकी कि उसका चरित संयमित तथा वह विजितेन्द्रिय होता है। इन्द्रियाँ उसकी अविजित नहीं होती। वह हिमालयकी गुफामें नहीं रहता, आप लोगोंमें रहता है। बनारसमें चार योगी चार स्थानोंपर रहते थे। एक तो पुलिसकी चौकीके सामने बैठा रहता था। दूसरा दालमण्डीके नुक्कड़पर रहता था। तीसरा श्मशान घाटपर रहता था और चौथा बाजारोंमें घूमा करता था। इनको किसीसे कोई मतलब नहीं था कि कौन कैसा है?

तो '**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**' योगीके लिए मिट्टीका डला, पत्थरका टुकड़ा और सोना सब बराबर है। उसको पत्थरसे मकान नहीं बनाना, मिट्टीसे खेती नहीं करनी और सोनेका जेवर नहीं बनाना। उसके-सामने अप्रयोजकत्व है। जब प्रयोजन ही नहीं, लेन-देन ही नहीं, तब वह क्यों किसीकी चिन्ता करे? जो योगी बाजारमें रहता है और अपना व्यवहार चलाता रहता है, उसे देखकर गृहस्थ लोग कभी-कभी कहते हैं कि बाबाजो, तुमको यहाँ आनेसे क्या मतलब? बड़ी विचित्र बात है। वे तो स्वयं अपनेको सत्सङ्गसे, सद्भावनासे, सद्विचारसे वञ्चित रखनेकी बात कहते हैं। एक सज्जनने कहा कि महाराज! ब्रह्म बोलकर बताया जा सकता है क्या? नहीं भाई, नहीं बताया जा सकता। उपनिषदोंमें ऐसा ही है। तब आप क्यों बोलते हैं? लो, हम चुप हो जाते हैं। चुप होनेसे हमारा क्या नुकसान हुआ? थोड़ी देरमें फिर बोले, नहीं महाराज! कुछ उपदेश कीजिए। तो यह स्थिति है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

इसका तात्पर्य है कि अपने बचाओ। पक्षी मत बनो। आदमी धरतीपर रहनेके लिए है। जो पक्षपात करता है, वह पक्षी हो जाता है। जिसमें पक्ष हो, उसका नाम पक्षी। भलेमानुष निष्पक्ष होते हैं। उसे कहते हैं कि वह निष्पक्ष है। कोई सुहृद् है, भला करता है। कोई मित्र है, स्नेह करता है। कोई अरि है शत्रुता कर रहा है। कोई उदासीन है, उसे किसीसे मतलब नहीं। कोई पंचायत करनेके लिए पहुँच जाता है। किसी-किसीका यह स्वभाव होता है कि यदि सड़कपर दो आदमी आपसमें लड़ रहे हों, तो वे मोटर रोककर उनकी लड़ाई छुड़ानेके लिए जाते हैं और पिटकर आते हैं। असलमें मनुष्यके मनमें इतना आग्रह रहता है कि वह किसीके समझानेसे उसको नहीं छोड़ता। हम तो अपनी मध्यस्थ बननेकी वासना पूरी करनेके लिए ही उसे समझाने जाते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

गीता कहती है कि आप अपने जीवनके व्यवहारमें एक ऐसी बुद्धि बनाइये, जो अनुकूल-प्रतिकूल समयपर बिगड़े नहीं, एकरस रहे। जिसकी बुद्धि बिगड़ गयी उसका जीवन बिगड़ गया। जीनेकी कला, उत्तम-से-उत्तम कला यह है कि किसी भी प्रसंगपर बुद्धि भ्रष्ट न हो। आपको किसीने गाली दी और आप भी गालीके बदले गाली देने लगे तो समझिये कि आपकी बुद्धिमत्ताने आपका साथ छोड़ दिया और आप उसी स्तरमें चले गये जैसा स्तर गाली देनेवालेका है। यह तो गालीकी बात है। नीतिशास्त्रमें ऐसा लिखा है कि यदि कोई ज्यादा तारीफ करने लगे तो समझना कि वह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। **दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**—दिल्लीके बादशाह या जगत्के स्वामी—कहने वाले जो खुशामदी लोग हैं, वे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों अपनी तारीफ करनेकी कीमत ले लेंगे। खुशामदी लोग जिसकी तारीफ करते हैं, उसका महान् शोषण करते हैं। यह बात हमने राजा-रईसोंके संग रहनेपर देखी है। तो होना यह चाहिए कि तारीफ सुनकर आपकी बुद्धि फूल न जाये और गाली सुनकर आपकी बुद्धि गाली न देने लगे। आप अपने सामनेवालेकी बराबरीमें न जाँय, अपनी बुद्धिको सम रखें। यही गीता द्वारा समर्थित शिष्टानुशिष्ट जीवनकी पद्धति है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 9 ॥

विशिष्ट अर्थात् विशेष शिष्ट व्यक्ति वही है जिसकी बुद्धि प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहती है, बिगड़ती नहीं। बुद्धि स्वर्गमें उड़ नहीं जाती और नरकमें गिर नहीं पड़ती। वह नशेमें धुत शराबियोंकी तरह न तो बहिश्त देखने लगती है और न दोजखसे डरती है। इस संसारमें तरह-तरहके लोग होते हैं और तरह-तरहके लोग मिलते रहते हैं। परन्तु उनको देखकर अथवा उनके सम्पर्कमें आकर हमारी बुद्धिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। हमारी बुद्धिका जो सौन्दर्य है वह उसकी समतामें है। 'स' का संस्कृत भाषामें एक अर्थ होता है सौन्दर्य और 'म' माने शोभा। तो 'सम' का यह तात्पर्य है कि आपकी बुद्धिका सौन्दर्य लुप्त न होने पावे, वह सुन्दर रहे। बुद्धि तब बिगड़ती है, जब गुस्सा आता है। उस समय आपको तकलीफ तो होगी, लेकिन शीशेके सामने जाकर खड़े हो जाइये, फिर देखिये कि आपका चेहरा कैसा हो गया है, आपकी भौंह कैसी हो गयी है, आपकी नाक कैसी हो गयी है। गुस्सेके समय आपका चेहरा पहले लाल होता है, पीछे काला हो जाता है। आपकी बुद्धि जब अपना सौन्दर्य खो देती है तब आपका शरीर भी अपना सौन्दर्य खो देता है। अगर आपकी बुद्धि बिगड़ जायेगी तो आपका योगी होना भी कोई काम नहीं करेगा।

अब 'सम'में जो 'म' है। उसका दूसरा अर्थ देखो। म माने लक्ष्मी। माधव माने लक्ष्मीपति। मतलब यह कि आपकी बुद्धिमें जो लक्ष्मी है, उदारता है, वह न खोवें। आप शत्रुके प्रति भी उदार हों, मित्रके प्रति भी उदार

हों। उदारता आपका सद्‌गुण है। पहले मैं दण्डी था। दण्डियोंमें यह मर्यादा है कि किसको प्रणाम करें, किसको न करें। मैंने उड़िया बाबाजीसे पूछा कि मैं क्या करूँ? तो बोले कि, प्रणाम सबको करना चाहिए। प्रणाम करना सद्‌गुण है, विनय है। वह अपने पास बना रहना चाहिए।

तीसरी बात देखो। 'सम' माने समान। संस्कृतमें समानका अर्थ होता है, मान सहित प्रमाणयुक्त अर्थात्‌ हमारी बुद्धि प्रामाणिक रहनी चाहिए। उचित-अनुचितका विचार करके जो उचित हो उसे ही ग्रहण करना चाहिए। बुद्धिका यह कर्तव्य है कि वह उचितका परित्याग कभी न करे उसके सामने चाहे कोई भी हो, कैसी भी परिस्थिति हो। जिसने उचितका छोड़ दिया, जिससे औचित्य अलग हो गया, उसके जीवनमें कोई रस नहीं रहेगा—

अनौचित्यादृते नास्ति रसभङ्गस्य कारणम्।

कविलोग रसभंगका एक ही कारण मानते हैं अनौचित्य। उनका कहना है कि अनौचित्य न होनेपर रसभंग कदापि नहीं होता।

हमारे जीवनमें एक मानक होना चाहिए। व्यापारी लोगोंके पास तौलनेका जो बाट होता है, वह बिल्कुल ठीक होता है। हमने बचपनमें अपने गाँवके एक बनियेसे सुना था कि बेटा, मुनाफा तो तौलनेमें जितनी चतुराई की जाय, उसमें है। हमने भी तराजूसे तौला है। घरमें अनाज पैदा होता था, इसलिए कभी-कभी तौलना पड़ता था। तौलते समय जरा-सी मुट्ठी दबा देनेपर तराजू बिल्कुल टेढ़ा हो जाता है। इसी तरह कपड़ा बेचनेवाले व्यापारी गजसे कपड़ा नापते हैं तो कपड़ा बचा लेते हैं।

तो हमारी बुद्धिका जो मानक है, वह बिल्कुल बराबर रहना चाहिए। हम नाप-तौलमें, विचारमें, औचित्यमें गड़बड़ न करें। यह विशिष्ट व्यक्तिकी पहचान है। जैसा कि पहले भी बताया गया, पुरुषार्थ चार होते हैं। उनमें-से एक होता है अर्थ। अर्थ माने धन। यह धन मनुष्यका समग्र जीवन नहीं है, अपितु जीवनके एक अंशका नाम धन है। वह बाहर रहकर मनुष्यकी सेवा भी करता है और अभिमान भी बढ़ाता है। वह चाहे द्रव्यके रूपमें हो, अन्नके रूपमें हो अथवा मकान आदिके रूपमें हो। उसका अस्तित्व शरीरके बाहर है। किन्तु पुरुषार्थ-चतुष्ट्यमें जो काम है, वह शरीरसे बाहर नहीं होता। धनकी अपेक्षा काम अन्तरङ्ग है। कामना मनमें रहती है। अन्त न तो काम-पिपासाका है और न धन-पिपासाका। व्यास भगवान् कहते हैं कि प्यासका अन्त नहीं—**अन्तो नास्ति पिपासायाः**। हमको यह चाहिए, वह चाहिए, इसमें सुख है, उसमें सुख है। दोनोंकी भूख बढ़ती जाती है। अन्तर इतना ही है कि अर्थ बाहरसे बढ़ता जाता है, प्यास भीतरसे बढ़ती जाती है। तो जिन्दगीमें इन दोनोंकी होड़ लग गयी है। इसलिए उनपर काबू रखना चाहिए।

तीसरा पुरुषार्थ है धर्म। यह कहाँ रहता है? बुद्धिमें रहता है। यही योग्य और अयोग्यका, उचित और अनुचितका निर्णय करता है। धर्म बुद्धिमें रहकर अर्थ और काम दोनोंके विस्तारको धारण करता है और उनपर नियन्त्रण रखनेकी कला सिखाता है। अधिक धन अथवा अधिक भोगवासना जीवनकी कला नहीं है। जीवनकी सच्ची कलाका निवास तो सम बुद्धिमें है। आप विशिष्ट पुरुष तभी बन सकेंगे जब आपकी बुद्धि

ऊबड़-खाबड़ नहीं होगी। अर्थ और काम तो आते-जाते रहते हैं। बुद्धिका धर्म है कि वह उनके आनेके दिन भी ठीक रहे और जानेके दिन भी ठीक रहे। मिलनेमें भी ठीक और बिछुड़नेमें भी ठीक। इसलिए हमारे भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंकी बुद्धिमें बैठकर काम करते हैं। देवता लोग हाथमें लठिया लेकर अपने भक्तोंकी रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसको सद्बुद्धि दे देते हैं, युक्ति बता देते हैं। देवता दीखता नहीं और हमारा मङ्गल हमारे सामने आ जाता है। देवताका यह स्वभाव है कि वह हमारी बुद्धिको ठीक करता है, प्रेरणा देता है, स्फुरणा प्रदान करता है, मार्ग बताता है—

न हस्ते यष्टिमादाय देवा रक्षन्ति साधकम्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति सुबुद्ध्या योजयन्ति तम्॥

हम बुद्धि सम्बन्धी बातोंका ज्यादा विस्तार नहीं करना चाहते। कई विद्वानोंका तो ऐसा विचार है कि गीतामें प्रधानता न ज्ञानयोगकी है, न भक्तियोगकी, न सांख्ययोगकी, न कर्मयोगकी, न अनासक्तियोगकी, न पूर्णयोगकी, न राजयोगकी और न राजधिराजयोगकी, विशेषता है तो केवल बुद्धियोगकी। यदि आप बुद्धियुक्त हैं तो पाप-पुण्यसे बचनेका उपाय आपको मालूम है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

यदि आप बुद्धियोगी हैं तो सुख-दुःखसे बचनेका उपाय आपको मालूम है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

तो पाप-पुण्यसे, नरक-स्वर्गसे, राग-द्वेषसे, सुख-दुःखसे बचनेका उपाय जिस बुद्धिको मालूम है, वही बुद्धि ठीक होती है और सारी गीतामें उसीका वर्णन है।

तो कहनेकी बात यह थी कि गीतामें जो योग है, वह समाधि लगानेके लिये नहीं। वह द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिए भी नहीं। योगियोंने गीताको अपने पक्षमें लेनेके लिए उसके साथ थोड़ी जबरदस्ती की है। जो समबुद्धि पुरुष है, वह कहाँ है। गीतामें जो योग है, वह तो बुद्धिको सम रखनेका उपाय है। हमारी बुद्धि दुकानमें, आफिसमें, हल चलाते समय, खेती करते समय, यज्ञ-योग करते समय अर्थात् सब प्रकारके व्यवहार-कालमें ठीक रहे, इसीके लिए गीता योगका उपदेश करती है—अपनी बुद्धिको सम रखनेका उपाय बताती है।

इस संसारमें चाहे कितना भी और कैसा भी व्यावहारिक व्यक्ति हो, वह अपनी बुद्धिको ठीक रखना चाहता है। इसलिए गीताका उपदेश सबके लिए और सर्वकालके लिए है। गीता केवल वर्णाश्रमी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रके लिए नहीं, केवल हिन्दुओंके लिए भी नहीं, केवल भारतीयोंके लिए भी नहीं, वह तो समस्त विश्ववासियोंके लिए है। क्योंकि बुद्धिकी आवश्यकता तो सार्वदेशिक है, सार्वभौम है, सार्वकालिक है। सबको सब जगह और सर्वकालमें बुद्धि चाहिए।

भगवान् केवल किसी जातिविशेषके लिए, प्रान्तविशेषके लिए अथवा देशविशेषके लिए नहीं बोलते। वे सेठके लिए भी बोलते हैं, श्रमिकके लिए भी बोलते हैं। धनीके लिए भी बोलते हैं, गरीबके लिए भी बोलते

हैं। वे हिन्दुस्तानीके लिए बोलते हैं। पाकिस्तानीके लिए भी बोलते हैं। कई हिन्दुस्तानी लोग जो यह समझते हैं कि भगवान् हमारा ही पक्षपात करेंगे पाकिस्तानीका नहीं करेंगे, केवल हिन्दुओंका पक्षपात करेंगे, मुसलमानका नहीं करेंगे, वे ठीक नहीं समझते। भगवान्‌की वाणीकी विशेषता ही यह है कि वह सबके कल्याणके लिए होती है।

अब जो अपनी बुद्धिको ठीक रखना चाहता है, वह कैसे ठीक रखे, इसकी एक साधनकला गीतामें देखिये—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ 6.10

ये साधन हिमालयकी गुफामें जानेके लिए नहीं, आकाशमें उड़नेके लिए भी नहीं; केवल बुद्धिको ठीक करनेके लिए, समबुद्धि बनानेके लिए हैं। आप ध्यान दो, भगवान्‌की वाणीमें एक बात देखो। आप सबके साथ मिलते हो, परन्तु एक बात छोड़ते जा रहे हो और वही जीवनकी कला है। आप दिनभर सबसे मिलते हैं, शत्रुसे मिलते हैं, मित्रसे मिलते हैं, धनसे मिलते हैं, व्यापारसे मिलते हैं, देश-विदेशसे मिलते हैं, किन्तु अपने आपसे नहीं मिलते! आपका यह एकांगी व्यवहार ही, जो आपको अपने आपसे नहीं मिलने देता, आपके ज़ीवनमें विकलता लानेवाला है।

योगी युञ्जीत सततं आत्मानं अर्थात्—योगी अपने आत्माके साथ सतत योग करे। तो, योगीका अपना वियोग ही कहाँ हुआ है जो वह योग करे? इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्यके पास दूसरोंसे अलग होकर थोड़ी देर अपने बारेमें शान्तिपूर्वक सोचने-विचारने और देखने-सुननेका समय होना चाहिए। **आत्मानं युञ्जीत** का अर्थ है आत्म निरीक्षण—आत्मयोग कीजिए। इसके लिए उपनिषद्‌में आज्ञा है कि भगवान्‌के नामका उच्चारण कीजिए। सबसे अलग होकर अपने आपमें बैठिए। ॐ—यानी प्रणव मन्त्रका लम्बा उच्चारण करते हुए जपिए। वह मन्त्र बाहरसे प्रारम्भ होगा और भीतर जाकर समाप्त होगा। आप अन्तर्मुख हो जायेंगे। यह एक युक्ति है।

अभिप्राय यह है कि आप किसी भी तरह दूसरी चीजोंको, दूसरे लोगोंको देखना छोड़कर, अपनी ओर देखिए। अपने साथ जुड़ जाइए। स्थिति यह है कि आप अपनेको छोड़कर दूसरेके साथ जुड़ गये हैं। आत्मा अनात्माके साथ जुड़ गया है, चेतन जड़के साथ सम्बद्ध हो गया है। आनन्द दुःखके साथ और स्व परके साथ बँध गया है। तो पहली बात यह है कि योगी अथवा योगार्थी, जो चाहता है कि उसकी बुद्धि ठीक रहे, वह थोड़ी देर तक अपने आपपर विचार करे, दूसरेपर नहीं।

यदि कहो कि अच्छा एक-दो दिन अथवा जब समय मिलेगा, तब अपने आपपर विचार कर लेंगे तो भगवान् कहते हैं कि नहीं **सततं** अर्थात् निरन्तर इसकी साधना करो। योग मरनेके लिए नहीं होता, करनेके लिए योग होता है। जो लोग निरन्तर शब्दका अर्थ चौबीसों घण्टे समझते हैं, उनकी समझ तो बहुत अच्छी है। लेकिन जीवनमें नींद भी तो है। यदि जागना है तो नींद भी लेना है। मनुष्यके जीवनमें खाना है, पीना है, चलना है, अर्थ है, धर्म है, काम है। तो सततंका अर्थ है लगातार।

अब आपको एक दूसरा अर्थ भी सुनाते हैं। रोज थोड़ा-थोड़ा समय निकालिए। काम करनेका तो बहुत समय है, थोड़ा शान्तिसे बैठनेका समय भी निकालिए। आप सौ रुपयोंमें दस, पाँच अथवा एक रुपया दान करते हैं। कुछ-न-कुछ दिये बिना लेना बनता नहीं। जो देगा नहीं, उसका लेना बन्द हो जायेगा। यह प्रकृतिका नियम है। देकर ही ले सकते हैं।

तो, आप अपने चौबीस घण्टेके समयमें-से पाँच मिनटमें एक मिनटके हिसाबसे चौबीस मिनट ईश्वरके लिए निकालिए। अच्छा; चौबीस मिनट जाने दीजिए, चौदह मिनट ही निकालिए। बिलकुल शान्त। उस समय संसारकी किसी भी वस्तुके साथ आपका सम्बन्ध न फुरे। आप क्या ऐसे व्यस्त हो गये हैं कि जड़ताको पाँच मिनटके लिए भी नहीं छोड़ सकते? बाहरसे आनेवाले दु:खदायी पदार्थोंसे अपनेको कुछ क्षणोंके लिए भी अलग नहीं कर सकते? यह काम सततं, लगातार, रोज-रोज होना चहिए। इससे बड़ा लाभ होता है।

एक मनुष्य था, उसने दस पन्ने रोज पढ़नेका नियम लिया। तीन सौ पन्नोंकी पुस्तक एक महीनेमें पूरी हुई। बारह महीने लगातार उसने नियम पालन किया तो हजारों पन्ने पढ़ गया। अगर यही नियम उसने दस वर्षों तक पालन किया तो देखो कितना बड़ा पण्डित हो गया। केवल दस पन्ने प्रतिदिन पढ़नेसे। तो आप भी प्रतिदिन अपना दस मिनट शान्तिसे व्यतीत करें तो एक महीनेमें तीन सौ मिनट शान्तिके इकट्ठे कर सकते हैं। इसी प्रकार बारह महीनोंमें तथा वर्षोंमें आपको प्रभूत शान्तिकी प्राप्ति हो जायेगी।

दूसरा प्रश्न यह है कि यह आत्मचिन्तन कहाँ बैठकर किया जाय? इसका उत्तर यही है कि आप अपने किसी भी प्यारे इष्टसे मिलते हैं तो कहाँ मिलते हैं? न मुसाफिरखानेमें मिलते हैं, न पार्कमें। एकान्तमें मिलते हैं। अत: प्रभुसे भी एकान्तमें मिलिए—पाँच मिनट, दस मिनट। एकान्तको 'रहसि' भी कहते हैं। 'रहसि' उलट दो तो रहका हर हो जाता है। तो एकान्त शिवरूप है।

दूसरी बात यह हे कि चलते-फिरते मत मिलिए, 'स्थित:'—बैठकर मिलिए। देखो कितनी बातें बतायीं। जिससे मिलना है उसका नाम बता दिया—**आत्मानम्**। कितने समय मिलना है **तो सततं**—रोज-रोज बताया। कहाँ मिलना है तो कहा कि एकान्तमें और कैसे मिलिए तो बताया कि खड़े-खड़े, चलते-फिरते नहीं, बैठकर मिलिए। मिलनेकी इन प्रणालियोंकी चर्चा वेदान्तोंमें भी आती है। वेदान्त-दर्शनका सूत्र है—

आसीन: सम्भवात्।

आपको परमात्मासे साक्षात्कार करना है, तो सोते-सोते मत कीजिए, क्योंकि उसमें लय हो जानेकी सम्भावना है। आँख बन्द हो जायेगी तो मन लीन हो जायेगा। चलते-चलते इसलिए मत मिलिए कि उसमें ठोकर लग जानेकी, विक्षेप उत्पन्न हो जानेकी सम्भावना है। इसलिए बताया कि सोते हुए नहीं, चलते हुए नहीं, खड़े-खड़े भी नहीं, एकाकी बैठकर मिलिए। एकाकीका अर्थ है अकेले। नौकर-चाकर दस-पाँच खड़े हों और जब घंटी बजायी तब वे दौड़कर आगये। तो ये जो सेवक लोग हैं, वे मनुष्यको पराधीन बना देते हैं। यह जीवनकी कला नहीं है।

यदि साधनमें भी आप स्वावलम्बी नहीं बनते हैं—एकाकी, असहाय नहीं होते तो आपको सफलता

नहीं मिल सकती। आपको एक आदमी जोरसे पंखा झल रहा है और आप ध्यान करने बैठे हैं, तो आपका ध्यान नहीं लग सकता। इसी प्रकार ध्यान करनेसे हमको अमुक चीज मिलेगी—इस प्रकारका चिन्तन भी ध्यानमें बाधक है।

तीसरी बात यह है कि आसपास कुछ किसमिश रख लिया, शक्कर रख ली, चूर्ण रख लिया, दवाएँ रख लीं, पीनेकी चीजें रख ली, खानेकी सामग्री रख ली, तो आपको लाभ नहीं मिलेगा। आनन्द ध्यानके लिए आपका एकाकी, निराशी और अपरिग्रही होना अनिवार्य है। उसके लिए न सहायक चाहिए, न सामग्री चाहिए और न वह करनेसे आपको अमुक लाभ होगा—यह विचार चाहिए।

आप लोग करो तो योगाभ्यास और चाहो कि हमारा चाम चिकना हो जाये, पेट छोटा हो जाये और कमर पतली-पतली हो जाये तो आपका साधन और उसका फल परस्परविरुद्ध धर्माश्रयी हो जायेगा। आप कर रहे हो आन्तर अभ्यास, योग साधन और उसका फल ला रहे हो बाहर। असलमें साधन किया जाता है बाहर और उसका फल होता है अन्तरमें। इस बात पर लोगोंका ध्यान नहीं जाता। जो नुमायशी लोग हैं, जिसका प्रदर्शन भरी सभामें किया जाता है, वह शरीरके लिए ठीक होगा—आपका कोई रोग दूर कर देगा, पर योगका वास्तविक फल बुद्धिका शोधन नहीं होगा।

अच्छा अब आप 'यतचित्तात्मा'को लीजिए। जिस समय आप अपने आपमें बैठें, उस समय आपका मन, आपकी इन्द्रियाँ नियमित हों। बैठनेका स्थान भी शुद्ध होना चाहिए—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। 6.11

× × ×

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ 6.12

आप जहाँ बैठकर खाते हैं, सोते हैं, तमोगुणी-रजोगुणी कार्य करते है, वहाँ बैठकर भी योग नहीं करना चाहिए। यदि कहो कि यहाँ बैठकर दानादि पुण्य-कर्म करते हो, वह स्थान कैसा हो, तो दान करना दूसरी कक्षा है और बुद्धिका शुद्ध रखनेके लिए अभ्यास करना दूसरी कक्षा है। स्थान पवित्र होना चाहिए, जहाँ जूठा न गिरा हो, भोग-वासना और लोभ-वासनाके संस्कार न हों। शान्त, एकान्त और पवित्र स्थान होना चाहिए।

बैठनेके आसनकी भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। बार-बार आसन हटाना ठीक नहीं है। जैसे मूर्तिमें देवताकी प्राण-प्रतिष्ठा होती है वैसे ही आसनकी भी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। आसन स्थिर हो और अपना हो, परायेका न हो। उसपर दूसरेके बैठनेका संस्कार न हो। आदमी जहाँ बैठता है वहाँ उसके शरीरमें-से तन्मात्राएँ निकलकर व्याप्त हो जाती हैं। ध्यानके लिए दूसरेका घर भी न हो तो अच्छा है। अपना घर हो, नदी-तट हो, पर्वत हो, वन हो तो ध्यानमें सहायक हैं।

अब बुद्धिकी शुद्धिकी बात लीजिए। क्या कभी आप सोचते हैं कि अमुक दवा खायेंगे तो बुद्धि ठीक हो जायेगी? दूसरा कोई आकर आपके सिरपर हाथ रख देगा और आपकी समाधि लग जायेगी? यदि आप ऐसा सोचते हैं तो वह बिलकुल गलत है। यदि कोई कहे कि हमारा मन स्वभावसे ही स्थिर रहता है तो

पहले मनको चंचल करो और चंचल करके फिर उसका नियन्त्रण करो। मनकी ये स्वाभाविक शान्ति तुमको धोखा देगी।

योगका उद्देश्य मनकी स्वाभाविक एकाग्रता नहीं, मनका नियन्त्रण है। मन काबूमें रहना चाहिए। इस समय वह स्वाभाविक शान्त हो और अगले क्षण स्वाभाविक चिन्तन करने लगे, तब क्या करोगे ? योगका लक्ष्य मनका मारण नहीं, निष्क्रियकरण नहीं, अपितु वशीकरण है। योगाभ्याससे निकम्मापन नहीं आता, कर्मशक्तिका उदय होता है। कर्मशक्तिके साथ-साथ नियन्त्रणशक्ति आती है, बुद्धिशक्ति आती है, संकल्पशक्ति आती है। जीवका जीवन ईश्वरका जीवन हो जाता है।

अब घ्यानाभ्यासके लिए बैठना किस प्रकार चाहिए वह भी बताते हैं। आसनमें भी समता होनी चाहिए। ऊपर कपड़ा, कपड़ेके नीचे मृगचर्म और मृगचर्मके नीचे धरतीपर कुश। नीचेसे ऊपर चलें तो धरती, कुश, मृगचर्म और वस्त्र—यह क्रम होना चाहिए। कुश धरतीका बेटा है। कुशपर बैठनेसे साधकके शरीरकी जो साधनजन्य शक्ति है, उसको पृथिवी खींचती नहीं। जैसे लकड़ीपर खड़े होकर बिजलीका काम करनेसे बिजली करंट नहीं मारती, खींचती नहीं; वैसे ही धरतीपर बैठकर साधन करें तो कुश होना चाहिए।

मृगचर्मके बारेमें एक बात धर्मानुसार बताते हैं। मृगचर्म साधन करनेके लिए तो ठीक है, परन्तु भोजन करनेके लिए ठीक नहीं। यदि कहो कि मृगचर्म पवित्र है तब उसपर बैठकर भोजन करनेमें क्या हानि है ? नहीं, वह भोजन करनेके लिए अशुद्ध है। उसपर बैठकर भोजन करनेसे लौकिक हानि तो यह है कि उसमें जो रोयें होते हैं वे किसी-न-किसी प्रकार निकलकर तुम्हारे भोजनमें पड़ जायेंगे। इसी तरह उसको पवित्र मानकर उसपर सोवोगे तो उसके रोयें आँखमें पड़ेंगे, नाकमें पड़ेंगे। उसमें जो धूल भरी हुई है, वह घुसेगी और चाम तो चाम ही है।

शास्त्रीय दृष्टिसे उसमें एक लौकिक लाभ है। मृगचर्मपर बिच्छू नहीं चढ़ते, साँप नहीं चढ़ते, कीड़े-मकोड़े नहीं आते। तो आप जब एकाग्र होकर बैठना चाहते हो तो साँपसे, बिच्छूसे, कीड़े-मकोड़ोंसे रक्षा करनेके लिए मृगचर्म आवश्यक है। वह जितने अंशमें विहित है उतने ही अंशमें पवित्र है। उसके अतिरिक्त उसमें कोई पवित्रता नहीं है।

मुझे इतने व्याघ्रचर्म और मृगचर्म मिले हैं कि उन सबको मिलाकर गद्दे-जैसा मोटा बिछौना बना लें। किसीने चार-चार मृगचर्मोंको एकमें जोड़कर बड़ा बना दिया। अब मैं उसका क्या करूँ ? दो-चार दिन सोकर देखा तो अनुभव हुआ कि वह सोनेके लिए नहीं है। एकके घर गया तो उसने भोजन करनेके लिए मृगचर्म बिछा दिया यह समझकर कि बड़ा पवित्र है इसपर बैठकर स्वामीजी भोजन करेंगे। किन्तु उसपर बैठकर भोजन करना अच्छा नहीं लगा।

अब आइये, आसनकी पद्धतिपर। आसन लगाते समय आपका शरीर सम होना चाहिए। कोई-कोई आसन लगाकर हिलते-झूमते रहते हैं। हमने ऐसे सिद्ध योगी भी देखे हैं, जो खड़े रहते हैं। कभी दायें घूमते हैं, कभी बायें घूमते हैं। किन्तु गीताकी पद्धतिके अनुसार, शरीर और सिर दोनोंको एक सीधी रेखामें होना चाहिए।

मैंने देखा है, जिन्होंने जीवनभर भगवान्‌की पूजाका नियम निभाया है, वे सुखी रहे। अपने जीवनको सुखी रखनेकी कला, तटस्थ रखनेकी कला समता है। जीवनमें समता रहेगी तो बुद्धिमें भी समताका उदय होगा, समताका आदर होना चाहिए। जहाँ ममता ज्यादा होती है, वहाँ समता नहीं होती। ममता और समतामें विरोध है। यदि ममताको ईश्वरके साथ जोड़ दिया जाये, तो संसारमें भी समता रहेगी।

भक्ति-सिद्धान्त यह है कि ममता, ईश्वरमें रहे, और ज्ञान-सिद्धान्त यह है कि ममता किसीमें न हो। समता नहीं होगी, ममता होगी तो बुद्धि ठीक नहीं रहेगी, कभी-न-कभी जरूर गड़बड़ा जायेगी।

अब गुरुओंकी बात सुनाते हैं। आप लोग चमत्कार मत मानना। मुझे एक ऐसे साधु मिले, जिन्होंने मेरे सिरपर हाथ रखा और हमारे मुँहसे भगवान्‌के नामका उच्चारण होने लगा। बादमें बन्द हो गया। मैंने पूछा कि अब? साधु बोले कि क्या मैं तुम्हारे सिरपर बराबर हाथ रखे रहूँगा? तुमको स्वयं यह साधन करना पड़ेगा। दूसरेपर भरोसा कबतक करोगे।

एक दूसरे साधुको मैंने देखा। उनके शरीरपर जहाँ भी कान लगाओ, वहाँसे भगवान्‌के नामका उच्चारण होता था। उनके पाँवोंमे-से भी होता, तलवोंमें-से भी होता। लेकिन प्रश्न उठता है कि जब हम स्वयं अभ्यास नहीं करेंगे तो दूसरेके शरीरसे होनेवाला भगवन्नामका उच्चारण हमारे किस काम आवेगा। हमें तो अपनी ही निष्ठामें स्थिर होना होगा।

आसनके लिए धरती सम हो, ऊँची-नीची न हो शरीर भी सम तथा पवित्र हो। यदि आपको अपने भीतर पवित्रताकी संवित् न हो तो आपका आसन लगाना, बैठना बेकार हो जायेगा। आप यह ध्यान कर सकते हैं कि आपके शरीरपर सूर्यकी किरणोंसे अमृत गिर रहा है और वह आपको बाहर-भीतरसे पवित्र कर रहा है। आप अपने सिरमें सहस्रदल कमलका ध्यान करके उसके ऊपर हमारे गुरु बैठे हैं और उनके चरणारविन्दसे हमारा सिर पवित्र हो रहा है—ऐसा ध्यान कीजिए। आप यह भी ध्यान करें कि आपके अन्दर जो शक्ति है—मूलाधारसे लेकर सहस्रार-पर्यन्त—उसमें-से एक शक्तिकी धारा निकल रही है, बौछार निकल रही है और आपको पवित्र कर रही है—जैसे भी हो अपने आपको पवित्र कर लीजिए।

जिस प्रकार एक पतिव्रता स्त्री अपने पतिके पास शरीरको स्वच्छकर, सुन्दर वस्त्र धारणकरके जाती है, वैसे ही आप भी परमात्माके पास चलें। चाहे जिस अवस्थामें रहने और पास जानेकी पद्धति ईश्वरके सामने नहीं चल सकती। शहरमें जाते हैं तब तो लोगोंको दिखानेके लिए सोलहों श्रृङ्गार करके जाते हैं, और घरमें रहते हैं तो मैला-कुचैला पहनते हैं। नहीं अपने घरमें भी, पवित्रता और सुन्दरतापूर्वक रहना चाहिए। यदि आपका पति आपकी सुन्दरता नहीं देखेगा तो क्या गाँवके लोग देखेंगे? आपको किसे आकृष्ट करना है? किसकी आँख अपनी ओर खींचनी है? तो आप पवित्र हो जाइये। आपके हृदयकी पवित्रता ही आपको परमात्माके साथ मिला देगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

योगका उद्देश्य है दुःखीको सुखी करना। योगाचार्य पतञ्जलिके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने शरीरके मलको दूर करनेके लिए चरकके नामसे आयुर्वेदशास्त्रका, वाणीके मलको दूर करनेके लिए महाभाष्यका और चित्तके मलको दूर करनेके लिए योगदर्शनका निर्माण किया। मन निर्मल हो, शरीर स्वस्थ हो और वाणी पवित्र हो—ये तीन गुण यदि मनुष्यमें हों तो उसके जीवनको पूर्ण कह सकते हैं। ब्रह्म होने, ब्रह्मसुखमें जाने और समाधि लगाने-वाली बात अलग है।

मुझे एक महात्माने बताया था कि 'मैं जीवनमें तीन बातें देखना चाहता हूँ—शरीर स्वस्थ रहे, चरित्र पवित्र रहे और मनमें सबके प्रति सद्भाव रहे। यदि किसीमें ये तीन बातें हैं तो मैं उसके जीवनको उत्तमोत्तम माननेको तैयार हूँ।' तो, बुद्धिको ठीक-ठीक रखनेके लिए थोड़ी देरतक एकान्तमें बैठकर उसका पर्यवेक्षण करना चाहिए। उसकी जाँच-पड़ताल पूरी तरह कर लेनी चाहिए। यह कब, कहाँ, किस कारणसे अभिमान करती है, फँस जाती है, जलने लगती है, वासनासे विवश होकर गलत रास्तेपर चलने लगती है, यह देखनेकी बात है।

यदि आप थोड़ी देर बैठकर बुद्धिके बारेमें विचार नहीं करेंगे तो वह गलत हो जायेगी और उसके गलत होनेके कारण सारा जीवन गलत हो जायेगा। बुद्धि शुद्ध रहनी चाहिए। अतः मनुष्य बुद्धिसे विचलित न हो, इसके लिए योगकी आवश्यकता होती है। योग बुद्धिको ठीक करनेका उपाय है।

यह विडम्बना देखो कि मनुष्यके शरीरमें किसी रोगकी सम्भावना हो जाये तो वह पहलेसे ही उसकी दवा करता है। डाक्टर लोग तो मनुष्यको डरा-डराकर भी अपनी जीविका चलाते हैं। आपमें-से कोई डाक्टर हो तो माफ करें। किसीको छींक आयी, खाँसी हुई, तो डाक्टर कहते हैं कि अभीसे दवा करो नहीं तो दमा हो जायेगा। दमा तो पता नहीं कहाँ है, भय उसका जरूर पैदा कर देते हैं। मनुष्य अपने शरीरसे भी जो महत्त्वपूर्ण वस्तु अन्तःकरण है, बुद्धि है उसकी स्वस्थताके लिए मनुष्य प्रयत्नशील नहीं है।

अतः मनुष्यको बुद्धिकी, अन्तःकरणकी और मनकी स्वस्थताके लिए अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिए। मनुस्मृतिमें, याज्ञवल्क्यस्मृतिमें, भागवतमें, महाभारतमें यह बात आती है कि मनुष्य प्रातःकाल उठकर आत्मचिन्तन करे। मनुस्मृतिका श्लोक देखिए—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥ मनुस्मृति 4.92

मनुष्यको प्रातःकाल अपनी कायाके क्लेशका चिन्तन कर लेना चाहिए। यह देखना चाहिए कि क्या

खानेसे तबीयत बिगड़ती है, क्या न खानेसे अच्छी रहती है, कौन-सा काम हमारे शरीरके लिए अनुकूल है, कौन-सा प्रतिकूल है, कैसी बात मुँहसे निकलनेपर मनमें ग्लानि होती है, इत्यादि। मनुष्यको अपने चरित्रके सम्बन्धमें, दु:ख-दारिद्र्यके सम्बन्धमें अवश्य ही विचार करना चाहिए। प्रतिदिन प्रात:काल उठकर ईश्वरसे यह प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभो, हमें याद रहे कि आप हमारा आचरण और हमारे मनकी वासनाओंको देख रहे हैं। आज दिनभरके लिए हमको वरदान दे दीजिए कि हम भीतर-बाहरसे ठीक रहे। केवल एक दिनके लिए ही नहीं, यह वरदान प्रतिदिनके लिए माँगते रहो।

आपको पुलिसके सामने, अफसरके सामने, सरकारके सामने झुकनेमें तो मजा आता हो, किन्तु सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वरके सामने प्रणत होनेमें क्यों हेठी मालूम पड़ती है? ऐसे लोग भी होते है, जो गुण्डोंकी खुशामद तो करते हैं, किन्तु ईश्वरसे कहते हैं कि हम तुमसे कुछ माँगते नहीं। वे जानते हैं कि ईश्वर बेचारा कुछ नुकसान तो करेगा नहीं, इसलिए कह देते हैं कि हम तुमसे कुछ माँगते ही नहीं।

यदि आप कदाचित् ईश्वरको न मानते हों, तो भी दृढ़तासे प्रतिज्ञा कीजिए कि आजके दिन मैं किसीका बुरा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा, मौन रहूँगा। मौन रहना भी धर्म है। बोलनेकी आवश्यकता हो तभी बोलना चाहिए। जबरदस्ती किसीके मुकद्दमेमें गवाही देने नहीं पहुँचना चाहिए। आवश्यक हो तब सत्य बोलना चाहिए। धर्मका यह नियम है कि—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्॥ मनुस्मृति 2.110

बिना पूछे किसीको उपदेश न करो। यदि कोई पूछता हो, पर बेकायदे डण्डा लेकर खड़ा हो जाये और कहे कि यह बात तुम्हें बतानी ही पड़ेगी तो भी नहीं बताना चहिए। रामचरितमानसमें एक प्रसंग है कि बिना नमस्कार किये पूछनेवालोंको विलकुल नहीं बताया गया। अत: प्रश्नकर्ताको नम्र होना पड़ता है।

आपको कितनी भी जानकारी हो परन्तु उनके सामने बिलकुल अनजानकी तरह हो जाना चाहिए, जो कायदेसे न पूछते हों या पूछते ही न हों। यह मनुजीका कथन है। मैं मनुजीका नाम लेकर आपकी बुद्धिपर कोई दबाव नहीं डालना चाहता, लेकिन बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए।

तो योगाभ्यास किसलिए? अपनी बुद्धिको, चरित्रको ठीक करनेके लिए। प्रात:काल उठिये, प्रतिज्ञा कर लीजिए कि आजके दिन चाहे कुछ भी हो जाये, परन्तु किसीको अपशब्द नहीं कहेंगे, बुरा नहीं कहेंगे, किसीका अपमान नहीं करेंगे, किसीको हानि नहीं पहुँचायेंगे। पहले प्रात:काल प्रतिज्ञा कीजिए। फिर सायंकाल दृढ़तासे बैठिये और निरीक्षण कीजिए कि आज मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, प्रार्थना की थी, भगवान्‌के चरण-स्पर्शके साथ-साथ शपथ ली थी, वह ठीक-ठीक पूरी हुई कि नहीं? यदि नहीं हुई तो पछताइये, पश्चाताप कीजिए और आगे ऐसा नहीं करेंगे—इसकी प्रतिज्ञा कीजिए।

तो, अपने ऊपर नियन्त्रण करनेके लिए नियमका और दूसरोंसे व्यवहार करते समय यमका पालन करना चाहिए। नियम और यमसे ही इस लोकमें प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण स्थापित होता है। सत्य, अहिंसा,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। मनमें किसीके प्रति क्रोध हो अथवा किसीको हानि पहुँचानेकी भावना हो, तो अहिंसाका व्रत आवश्यक है।

जो बहुत बोलते हैं, जिनकी जुबान काबूमें नहीं, वे झूठ जरूर बोलते हैं। यदि कोई ऐसा समझता है और बोलता है कि मैं झूठ कभी नहीं बोलता, तो यह भी एक झूठ है। ऐसा कौन होगा कि जिसकी जीभने कभी-न-कभी धोखा न दिया हो? तो, सच बोलना तथा किसीको तकलीफ न पहुँचाना, सत्य और अहिंसा है।

किसीका माल या किसीका हक न हड़पना अस्तेय है और आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह है। अधिक संग्रह मनको विक्षिप्त कर देता है। अपने हककी वस्तु भी आवश्यकतासे अधिक संग्रहीत करना परिग्रह और न करना अपरिग्रह है।

योगकी बात आप जानते ही हैं। ये पाँच यम समाजके साथ बर्ताव करनेके लिए हैं और अपने लिए पाँच नियम हैं। पवित्रताके नियम, तपस्याके नियम, स्वाध्यायके नियम, संतोषके नियम और ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वर-चिन्तनके नियम—ये पाँचों नियम मनुष्यके जीवनमें होने चाहिए। यम और नियम योगके अनिवार्य अंग हैं।

अब और भीतर चलिए। शरीर, प्राण और इन्द्रिय—इन तीनोंकी शुद्धिके लिए तीन साधन हैं। शरीरके लिए आसन, प्राणके लिए प्राणायाम और इन्द्रियोंके लिए प्रत्याहार। यम बहिरंग है, समाजमें है। नियम अपने जीवनमें है। आसन अपने शरीरमें है। प्राणायाम प्राणमें है और प्रत्याहार इन्द्रियोंमें है।

अब उससे भी अन्तरंग देखो। फैले हुए देशमें मनको समेटना धारणा है। कालमें फैले हुए मनको समेटना ध्यान है और वस्तुओंमें फैले हुए मनको समेटना समाधि है। इन सबका क्रम होता है। सबके सम्बन्धमें समझदारी होती है। आज्ञाकारी लोग दूसरे होते हैं, समझदार लोग दूसरे होते हैं। उनका भी स्तर होता है। जो हर बातको समझ लेना चाहते हैं, उनकी स्थिति अलग होती है। आप क्या कोई व्यापार करते हैं तो बिना समझे-बूझे कर लेते हैं? फिर योगाभ्यास बिना समझे-बूझे कैसे कर लेगें? बुद्धिका तिरस्कार करके तो कुछ भी नहीं हो सकता—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 6.13

अब आपको आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी बात सुनाता हूँ। हमारे योगदर्शनमें तीन-तीनका विभाग है। जैसे शरीर, प्राण और इन्द्रिय। प्रमाण भी तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। दुःख भी तीन हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। समाधि भी तीन है—मूढ़, क्रिया और भोग। मूढ़ समाधि है आसनमें, क्रिया समाधि है प्राणायाममें और भोग समाधि है प्रत्याहारमें। यह समझदारीकी बात है। जो लोग योगमें रुचि रखते हैं, उनकी समझमें आयेगा। अवस्था तीन प्रकारकी होती है—मूढ़, विक्षिप्त और शान्त। मनुष्य मूढ़ हो जाता है—बेहोश हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है—अत्यन्त चंचल हो जाता है, और शान्त हो जाता है। ये तीनों स्थितियाँ प्रकृतिकी हैं।

जब हम शरीरको शान्त करते हैं—एकदम स्थिर तो उसका उपाय क्या है? उसके लिए एक आधिदैविक युक्ति सुनाता हूँ। जहाँ बैठकर भजन करना हो, वहाँ पहले पृथिवीसे प्रार्थना कर लीजिए—

पृथिवि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

'हे पृथिवी माता, तुम तीनों लोकोंको धारण करनेवाली हो और तुम्हें भगवान् विष्णु धारण करते हैं। तुम हमको अपनी गोदमें ले लो। हमारा यह आसन पवित्र हो जाये। इस प्रार्थनासे आपको बड़ी भारी शक्ति मिलेगी। लोग हाथमें जल लेकर चारों ओर छिड़कते हैं और संकल्प करते हैं।'

अपसर्पन्तु ते भूताः ये भूताः भूमिसंस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

यहाँ यदि कोई प्राणी हों, चढ़ आये हों, घुस आये हों तो आसनके नीचे उनकी हिंसा न हो जाये और जो विघ्न करनेके लिए आनेवाले हों, उनका नाश हो जाये। उसका आशय यही है कि भजन निर्विघ्न होकर करना चाहिए।

अब एक दूसरी आधिदैविक बात सुनाता हूँ। जो लोग अपने मनसे केवल किताबोंमें पढ़कर साधना करने बैठ जाते हैं, उन्हें यह सब बातें मालूम नहीं हैं। ध्यानके लिए स्थिरतासे बैठना आवश्यक है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्।

शरीर, सिर और गर्दन—इन तीनोंको सम होना चाहिए, अचल होना चाहिए। शरीर स्थिर होगा, तभी प्राण स्थिर होंगे इन्द्रियाँ स्थिर होंगी और मन स्थिर होगा। यदि मनको ही चंचल रखेंगे तो प्राण भी स्थिर नहीं होगा, इन्द्रियाँ भी स्थिर नहीं होंगी और शरीर भी स्थिर नहीं होगा।

इनके लिए एक आधिदैविक उपाय सद्गुरु लोग अपने शिष्योंको बताते हैं। वह उपाय यह है कि आप थोड़ी देरके लिए यह ध्यान कीजिए कि आपके शरीरके भीतर शेषनाग है। शेषनागका रंग सफेद—श्वेतवर्ण होता है। तो, भगवान् शेषनाग आपके शरीरके भीतर हैं और फन फैलाकर बैठे हैं। उनकी गोदमें भगवान् विष्णु हैं, उनके सिर पर पृथिवी है और वे बिलकुल स्थिर हैं। अब यदि शेष भगवान् हिलेंगे तो विष्णुकी योगनिद्रा टूटेगी और पृथिवीमें भूकम्प आवेगा।

इस प्रकार शेष भगवान् बिलकुल अचल होकर आपके शरीरमें विद्यमान हैं। अब आपके मनमें जितनी देर तक शेषनागके इस रूपका ध्यान रहेगा, उतनी देर आपका शरीर स्थिर हो जायेगा और जब स्थिर रहेगा अभ्यास हो जायेगा तब आपका योगाभ्यास सिद्ध हो जायेगा। आप अभी करके देख लीजिए। जितनी देर आपका शरीर सीधा और स्थिर रहेगा, उतना ही अभ्यास आपका बढ़ेगा।

तो शरीरमें स्थिरता आवश्यक है। वही बुद्धिको शुद्ध करनेका साधन है। बुद्धिकी शुद्धि आपके व्यापारके लिए भी लाभदायक है। आपकी बुद्धि शुद्ध होगी, स्थिर होगी तो आप जिस विषयमें भी सोचना प्रारम्भ करेंगे, बिल्कुल ठीक-ठीक सोच सकेंगे। कभी-कभी तो आपकी बुद्धिमें वैसी बातें भी आने लगेंगी,

जिनको आपने न सुना और सोचा। बुद्धि शुद्ध होनेपर अत्यन्त प्राचीन कालके विचारोंके ब्राडकास्ट भी सुनायी पड़ने लग सकते हैं। श्रीरामने, महर्षि वसिष्ठने, श्रीकृष्णने, जो कुछ कहा था, वह सब आकाशमें भरा हुआ है। शुद्ध बुद्धि उन विचारोंको पकड़ सकेगी।

अमेरिका, चीन और रूस आदिमें फैलाये जा रहे विचारोंको जैसे आपका रेडियो ग्रहण करता है, वैसे ही आपकी शुद्ध बुद्धि यह ग्रहण कर सकती है कि अमुक विषयपर उनके क्या विचार हैं? अपने देशके पतञ्जलि, पाणिनी, व्यास तथा शुकदेव आदिने जो विचार प्रकट किये, वह भी आपकी शुद्ध बुद्धि ग्रहण करने लगेगी। चमत्कार प्रदर्शनीमें नहीं, बुद्धिमें है।

यदि आप स्थिरतापूर्वक भगवान्‌के नामका उच्चारण करते हैं और बिलकुल कायदेसे करते हैं तो उससे भी आपकी बुद्धि शुद्ध होती है। कोई-कोई कहते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं होता। यह चिन्ताकी बात नहीं है। सिद्धान्तकी बात यह है कि ज़ो साधन हैं, मन स्थिर होनेके बाद करने के नहीं हैं। मनको स्थिर करनेके लिए ही ये साधन किये जाते हैं। आप यदि साधन और साध्यको उलट देंगे और यह सोंचेगे कि पहले मुनाफा हो लेगा तब व्यापार करेंगे, तो यह ठीक नहीं है। पहले व्यापार किया जाता है, फिर उसका लाभ मिलता है। वैसे ही पहले योगाभ्यास किया जाता है और बादमें उसका फल मिलता है।

आप बोलते हैं राम, राम, राम, राम! एकके बाद दूसरा, दूसरेके बात तीसरा और तीसरेके बाद चौथा। बोलनेमें क्रम होता है। एक कालसे जिह्वामें क्रिया होती है। जब कालके क्रमसे जिह्वामें नाम—उच्चारणकी क्रिया होने लगेगी तो श्वासकी गति भी नियमित हो जायेगी। जीभको कायदेसे हिलानेके लिए जो प्राणशक्ति काम करेगी, वह प्राण भी आपके बिल्कुल ठीक-ठीक हो जायेंगे। आपका मन इतना तो लगा कि आपकी जीभ राम-राम बोल रही है। नामोच्चारण करते हुए आपकी जीभ हिलती है, उठती है और बैठती है।

तो, भगवान्‌के नामका जप एक क्रिया-योग है। क्रिया-योग होनेके कारण यह जिह्वाकी गतिको नियमित करता है और उससे प्राणकी गति भी नियमित हो जाती है। वास्तवमें जो भगवान्‌के नामका जप करते हैं, उनको अलगसे प्राणायाम करनेकी जरूरत ही नहीं है।

जपकी एक बात और सुनो। लोग शिकायत करते हैं कि जब जप करने बैठते हैं। तो मनीराम कहीं और चल देते हैं। कोई बात नहीं, मनको भागने दो। उसके भागनेसे डरनेको जरूरत नहीं। क्योंकि क्रियायोग जीभसे भगवान्‌का नाम बोलने पर होता है। मनके अभ्यासका नाम क्रियायोग नहीं है, जीभके अभ्यासका नाम क्रियांयोग है।

फिर भी मनकी बात लो। आप 'राम'का उच्चारण कीजिये, ऐसे कीजिये कि 'रा' बोलनेके बाद 'म'से पहले जो 'अ' है, वह इतना लम्बा हो जाये कि 'म' बोलनेमें पाँच-दस सेकेण्डकी देरी लग जाये—रा..म। अब आप बताइये कि 'र' और 'म' के बीचमें आपने जो अवकाश, जो काल निकाला, उसमें आपका मन कहाँ था? निश्चय ही 'र' और 'म' की सन्धिमें आपका मन संयत हो गया। अब आप इसको और बढ़ा

दीजिये, क्रमशः बढ़ाते जाइये तथा बारम्बार अभ्यास कीजिये, फिर आपका मन संयमित हो जायेगा। ये सब मन लगानेकी युक्तियाँ होती हैं।

एक युक्ति और देखिये। आप जिस मालापर जप करते हैं, उसका प्रत्येक मनका आँखसे देखते जाइये और 'राम-राम' करते जाइये। मैं यहाँ उदाहरणके लिए 'राम-राम' बोलता हूँ। आप 'कृष्ण-कृष्ण' जपिये, 'शिव-शिव' जपिये या और कोई नाम जपिये। बात एक ही है।

नामको लम्बा करनेसे क्रियामें कालका योग हो गया। उसमें देशयोग भी कर सकते हैं। नामका उच्चारण नाभिसे, हृदयसे, अथवा कण्ठसे करनेपर देशयोग हो जाता है और यदि उसमें कोई ध्यान आ जाय तो वस्तुयोग हो जायेगा। तो नाम-जपके माध्यमसे कालयोग, देशयोग, क्रियायोग और वस्तुयोगकी प्राप्ति एक साथ हो गयी। योग माने कसरत करना नहीं होता। परमात्माके साथ जुड़ना होता है।

अब आगे देखो, प्राणायाममें आसन क्या है? प्रकृतिके तीन स्तर हैं—तमस्, रजस् और सत्त्व। आसन तमस्का निरोध करता है, प्राणायाम रजस्का निरोध करता है और प्रत्याहार सत्त्वका निरोध करता है। शरीर, प्राण और मनमें शरीरसे सूक्ष्म प्राण है, प्राणसे सूक्ष्म मन है। यह मन इन्द्रियोंमें असाधारण करणके रूपमें रहता है। आँखमें मन हो तब दीखता है। कानमें मन हो तब सुनता है।

सम्भव है यह बात किसी-किसीकी समझमें न आवे। उन्हें भी सुननेमें संस्कार पड़ेगा। एक बार सुनेंगे। दुबारा सुनेंगे, तिबारा सुनेंगे तो फिर समझमें आ जायेगा। आप जो जानते हैं, वही आपको सुनाया जाये तो लगेगा कि कुछ नहीं सुनाया गया। किन्तु आपको जो ज्ञात नहीं है, वह सुनेंगे तो आपका ज्ञान बढ़ेगा। थोड़ा धैर्य रखना चाहिए। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह हमारे ज्ञानकी सीमाके भीतर नहीं है इसलिए सुनना व्यर्थ है।

आसनसे पञ्चभूतका नियन्त्रण होता है और उनमें जो क्रिया होती है, उसका नियन्त्रण प्राणायामसे होता है। प्राणायाममें तीन मुख्य हैं। एक प्राणायम भस्त्रिका होता है। जैसे लोहारकी धौंकनी चलती है, वैसे ही उसमें साँसको चलाना पड़ता है। दूसरा प्राणायाम उज्जायी होता है और तीसरा प्राणायाम सूर्यभेदी होता है। और भी बहुत भेद होते हैं प्राणायामके। पर उनमें तीन मुख्य हैं और वे चार तरहके होते हैं।

साँसको बाहरसे लेना, भीतर रोकना और फिर निकालना, यह कोई बड़ी बात नहीं। बड़ी बात यह है कि उसमें मात्रा होनी चाहिए। यदि साँसको दो मात्रामें भरें, तो आठ मात्रामें रोकनेका प्रयास करें और फिर चार मात्रामें निकालें। इसको ऐसे समझिये कि यदि दो सेकेण्डमें साँस लें तो आठ सेकेण्ड उसको रोकें और फिर चार सेकेण्डमें निकालें। यह क्रम है उसका।

इसमें जो मुश्किल बात है, उसकी ओर आपका ध्यान दिलाते हैं। दो सेकेण्डमें भरना भी आसान है और आठ सेकेण्ड रोकना भी आसान है। लेकिन चार सेकेण्डमें निकालना बड़ा मुश्किल है। नियन्त्रण न होनेपर वह फकसे निकल जाता है। प्राणायाममें नियन्त्रणकी मर्यादा वहीं होती है, जहाँ आप साँसको कायदेसे निकलने देते हैं। चौथा प्राणायाम वह है जिसमें साँसको बाहर ही रोक लेते हैं भीतर लेते ही नहीं।

प्राणयामका अर्थ शरीर अथवा उसके अंग-विशेषका व्यायाम नहीं है। शरीरमें जितनी भी क्रियाएँ होती

हैं—जैसे उँगली हिलती है, हाथ हिलते हैं—वह सब प्राणकी शक्तिसे होता और प्राणपर नियन्त्रण प्राणायामसे होता है। लकवा लग जानेपर, हाथ रहता है और हिलानेका मन भी करता है, परन्तु हिलाये हिलता नहीं। इसीलिए कि प्राणशक्ति निष्क्रिय हो जाती है।

अच्छा, इच्छा होनेपर भी हाथ नहीं हिलते और हाथ हां न हो, तब हिलेगा क्या? जब हाथ, प्राणशक्ति और संकल्प तीनों रहते हैं तब कोई क्रिया ठीक-ठीक होती है। तो आसनसे शरीर-शक्तिका और प्राणायामसे क्रिया-शक्तिका नियन्त्रण होता है।

अब कुछ प्रत्याहारकी बात भी सुनाते हैं। योगीके लिए भोजनकी भी जरूरत होती है। उसे ठीक-ठीक भोजन भी चाहिए। उसका भोजन उसकी अपनी दृष्टिसे पवित्र होना चाहिए। उसके लिए ज्ञान उधार लेनेकी जरूरत नहीं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि यह भोजन करनेमें स्वतन्त्र है और जो चाहे, वह खा सकता है।

भोजनके सम्बन्धमें शास्त्रकी समाजकी, जातिकी, सम्प्रदायकी मान्यताएँ हैं, सार्वभौम मान्यता भी है। इसलिए आप अपने मनकी स्वतन्त्रतासे किसी वस्तुको पवित्र मान लेंगे तो आपका मन कमजोर पड़ जायेगा। आपको कभी-न-कभी खटकेगा कि मैंने जो अमुक वस्तु खायी, वह पवित्र नहीं है अथवा जो अमुक आचरण किया, वह पवित्र नहीं है।

तो, इन्द्रियोंके सम्बन्धमें एक बात देखो। गुरुजन लोग जो बताते हैं, वही सुनाता हूँ। 'सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या' आपकी आँख खुली हो, कोई हर्ज नहीं। ध्यानके सम्बन्धमें आपने कबीरकी उक्ति सुनी ही होगी—**आँख न मूँदौं साँस न रूँधौं।** तो आँख बन्द करनेकी जरूरत नहीं। हृदयमें स्थित आत्मा परमात्माके ज्ञानका लक्ष्य ठीक होना चाहिए। चित्तमें किसी भी वस्तुकी वासना न हो। इस प्रकारकी दृष्टिको पूर्व दृष्टि बोलते हैं।

अब दूसरी दृष्टि हो। कोई दृश्य दिखायी नहीं पड़ा रहा है, आँख बन्द है। इन्द्रियाँ हैं, पर उनका विषय नहीं है। कान है, पर शब्द नहीं है। आँख है, पर रूप नहीं है। नाक है, पर गन्ध नहीं है। त्वचा है परन्तु स्पर्श नहीं है। केवल ज्ञानका ज्ञान है।

सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तम्।

अब तीसरी दृष्टि देखो। आँख चाहे बन्द हो, चाहे खुली हो। उसको अप्रतिहत दृष्टि बोलते हैं। खुली आँख, बन्द आँख, अधखुली आँख। भाई मेरे, कभी-कभी जागते हुए बैठनेका अभ्यास करो। सोकर बैठना दूसरी चीज है, बैठे हुए सो जाना दूसरी चीज है और सोते-सोते बैठे रहना दूसरी चीज। अर्थात् सावधानी चाहिए। रोम-रोम सावधान रहे, स्थिर रहे।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।

नासिकाग्रका अर्थ है, जहाँ नाक समाप्त होती है। उसका जो ऊपरी हिस्सा है जहाँ दोनों भौहें आकर मिलती है। नाकके बाहरी हिस्सेको नासिकाग्र नहीं बोलते, भीतरी हिस्सेको बोलते हैं। उसको संप्रेक्ष्य

भली-भाँति देखकर। काशी कहाँ है तो दोनों भौहेंके बीचमें है। उसको आज्ञाचक्र बोलते हैं। तो 'दिशश्चानवलोकयन्' इधर-उधर न देखकर आँखकी पुतलीको जहाँ-की-तहाँ स्थिर करके ध्यान करना।

आँखकी पुतलीपर दबाव नहीं डालना चाहिए। उसपर जोर डालोगे तो आँखमें दर्द होगा, सिरमें दर्द होगा, गर्मी बढ़ जायेगी। इसलिए आँखकी पुतलीपर जोर दिये बिना, उसे जहाँ-की-तहाँ छोड़कर ज्ञानदृष्टिको नासिकाग्रमें लगाना, अन्य किसी ओर नहीं देखना। ऐसा आप केवल पाँच मिनट कीजिये। चौबीस घण्टे करनेकी बात अभी नहीं कहते।

जब इसमें रसका विकास होगा, मजा आवेगा तब जीवनमें तीन चीजें बढ़ेगी—एक तो आपकी जीवनी-शक्ति बढ़ेगी, दूसरे आपकी ज्ञान-शक्ति बढ़ेगी और तीसरे बिना संग्रह, बिना भोग तथा बिना क्रियाके ही आपके जीवनमें आनन्दका विकास होगा। आप आनन्दमें पराधीन नहीं रहेंगे, ज्ञान आपको छोड़ेगा नहीं और जीवनी-शक्ति बढ़ती जायेगी, चरित्र शुद्ध होगा। आप दुनियाके सामने अपनी बुद्धिको ठीक लगा सकेंगे। जैसे आप पन्द्रह मिनटमें भोजन करते हैं और उस भोजनकी शक्ति आपको छह घण्टोंतक काम देती है। वैसे ही आप पाँच मिनट शान्त होकर बैठेंगे तो चौबीस घण्टोंतक स्वस्थ प्रसन्न रहेंगे।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। 6.14

गीता कहती है कि अपने मनको शान्त रखो। यदि किसीपर गुस्सा करके आओगे और यह कहते हुए आओगे कि तू घरसे निकल जा, मैं तेरा मुँह देखना नहीं चाहता तो क्या होगा? ऐसी मनःस्थितिमें जब ध्यान करने बैठोगे जिसको तुम घरसे निकालना चाहते थे, वह तुम्हारे दिलमें आकर दीखने लगेगा और तुम्हारा ध्यान नहीं लगेगा।

आप किसीको अपने दिलसे निकालना चाहें, तो उसके लिए बड़ा सीधा-सा उपाय हम आपको बताते हैं। अपने दोनों अंगूठेके नाखूनोंको आपसमें भिड़ा दीजिये। वे ढीले न पड़ने पावें इसका ख्याल रखिये। जब आप दूसरेकी ओर ध्यान देंगे तो ये ढीले पड़ जायेंगे। इसी तरह आपके मुखमें जो अवकाश है, आकाश है, उसमें आपके ऊपर-नीचेके दाँत आपसमें मिलें नहीं और ओठ बन्द रहे, सटे रहें। ओठोंको सटाकर दाँतोंको अलग कर दीजिये और जीभको न ऊपर छूने दीजिये, न नीचे छूने दीजिये, मुँहके भीतर अधरमें लटका दीजिये ऐसा पाँच मिनट करके देखिये, आपका मन दूसरी ओर कहीं नहीं जायेगा। यदि दूसरी ओर जायेगा तो आपकी जीभ पट्टसे नीचे गिर जायेगी।

ये सब युक्तियाँ हैं, मन एकाग्र करनेकी, मनकी अशान्तिको, बेचैनीको दूर करनेकी। आपको मालूम है कि मन कभी थकता नहीं। उसको कभी-कभी विषयान्तर चाहिए। जैसे खीर खाते-खाते बीचमें चटनी भी खा लेते हैं, ऐसे ही ब्रह्मचिन्तन करते-करते यदि मन उसमें न लगे तो बीच-बीचमें प्रेमका भी चिन्तन कर लेना चाहिए, काव्यका भी चिन्तन कर लेना चाहिए।

दर्शनशास्त्र पढ़नेमें मन न लगे तो काव्यशास्त्र पढ़ लेना चाहिए। ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य पढ़नेमें मन न लगे तो राम-चरित्र, कृष्ण-चरित्र पढ़ो, भागवत पढ़ो, रामायण पढ़ो। उसमें भी मन न लगे तो कालिदासको

पढ़ो, कालिदासमें भी मन न लगे तो 'प्रेम पत्तनम्' पढ़ो और भी कोई सत्साहित्य पढ़ो। तात्पर्य यह है कि आवश्यकतानुसार समय-समयपर मनके विषयोंको बदलते जाओ। इसमें कोई हर्ज नहीं है। हर्ज है, इस दुनियाका चिन्तन करनेमें हमारा पड़ोसी ऐसा है। हमारा सम्बन्धी ऐसा है उनकी बेटी ऐसी है। उनकी बहू ऐसी है। हे भगवान्, क्या लेना--देना है, इन बातोंसे तुमको? पराई चर्चा करके अपने मनको खराब न करो। अपने लक्ष्यको सामने रखो। अपने आत्माको, अपने मनको, प्रशान्त कर लो। यदि कहो कि यदि मनसे सोचेंगे नहीं तो कुछ काम बिगड़ जायेंगे तो इसकी जिम्मेवारी भगवान् लेते हैं और कहते हैं—'विगतभी:' भय छोड़ दो। भय कमजोरी है।

एक सिद्धान्त ऐसा है और बढ़िया सिद्धान्त है कि ईश्वरकी देख-रेखमें, ईश्वरकी मर्जीसे, ईश्वरकी शक्तिसे और ईश्वरमें सारी घटनाएँ घटित हो रही हैं। अत: निर्भय हो जाओ, शान्त हो जाओ, तुम्हारी कोई हानि होनेवाली नहीं। पीछेकी घटनाएँ शोक देती हैं, आगेकी घटनाएँ भय देती हैं और वर्तमानमें हम जो सुन्दरताको, अच्छाईको बाहरी दुनियामें रख देते हैं, यह हमको बहुत तकलीफ देती है। अत: 'ब्रह्मचारिव्रतेस्थित:' अर्थात् हमें सच्चाईका अनुसन्धान करना चाहिए।

मन: संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्पर:। 6.14

जैसे घोड़ेकी बागडोर अपने हाथमें रखते हैं, वैसे ही मनको अपने हाथमें रखना चाहिए। एक कहावत है कि किसी बादशाहको हाथीपर बैठा दिया गया। उसने कहा इसकी लगाम हमको दो। जवाब मिला कि हुजूर हाथीको लगाम नहीं होता। इसपर वह बादशाह कूद पड़ा हाथीसे और बोले ऐसे जानवर पर मैं बैठता नहीं, जो मेरे हाथमें न हो। तो, 'मन: संयम्य'। संयमका अर्थ होता है संयत करना, नियन्त्रणमें रखना। इसके साथ-साथ तुम्हारी जो स्थिति है उसको भगवान्‌में रखो।

मनको चंचल न होने देना, बिखरने न देना और चित्तको भगवान्‌में रखना, युक्त होकर बैठना-ये दोनों दो चीजें हैं। 'मत्पर:' माने भरोसा भगवान्‌का रखो, चित्तको भगवान्‌में स्थित करो, मनको काबूमें रखो और शान्त होकर बैठ जाओ—यही योगाभ्यास है। यह साधन चाहे आप पाँच मिनट कीजिये, दस मिनट कीजिये, परन्तु कीजिये प्रतिदिन। इससे आपकी बुद्धि शुद्ध हो जायेगी।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस:।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ 6.15

और यदि आप हमेशा ऐसा करेंगे तो आपको शान्ति मिलेगी। परन्तु इसमें साधक-बाधक तत्त्व भी होते हैं। 'नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति'—जो ज्यादा खायेगा वह योग नहीं कर सकता। 'न चैकान्तमनश्नत:'—जो बिल्कुल नहीं खायेगा वह भी योग नहीं कर सकता; क्योंकि बिल्कुल नहीं खायेगा तो कमजोर हो जायेगा। उसमें आसन—प्राणायाम करनेकी शक्ति ही नहीं रहेगी।

यह शरीर पञ्चभूतसे बना है। इसे पञ्चभूतका भोजन चाहिए। मिट्टीसे बने शरीरको, मिट्टीसे बना हुआ अनाज चाहिए। पानीसे बने शरीरको पीनेके लिए पानी चाहिए। गर्मीसे बने शरीरको गर्म रखनेके लिए सूर्यकी

रोशनी चाहिए, आग चाहिए। हवासे बने शरीरको साँस लेनेके लिए हवा चाहिए। आकाशसे बने शरीरको घूमनेके लिए अवकाश चाहिए और ईश्वरसे बने जीवनको पूर्णताके लिए ईश्वर चाहिए। तो, ज्यादा नहीं खाना, पर खाना छोड़ना भी नहीं।

निरोग कौन रहता है? वह रहता है जो हितकारी भोजन करता है, मिताहार करता है। भोजनमें एक दिन ज्यादा, एक दिन कम ऐसा नहीं होना चाहिए। उसका परिमाण, उसकी मात्रा होनी चाहिए।

पथ्यांशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा

योगी पथ्य भोजन करे, आवश्यक व्यायाम करे और कामके प्रवाहमें बह न जाये। जो इन नियमोंका पालन करता है, उसको रोग नहीं होता। यह रोगसे बचनेका उपाय है। इसके साथ एक बात और है कि योगसाधक किसीसे द्रोह न करे। यदि द्रोह करेगा तो द्रोहकी आगमें वह खुद जलेगा।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 6.16

बहुत सोनेवाले पर भी तमोगुण हावी हो जाता है। लोग जो सोनेका समय होता है, जब चिड़िया तक सोती है, उसमें तो जागते हैं और जब सब प्राणी सूर्यकी रोशनीमें क्रियाशील होते हैं, तब सोते हैं।

किसीसे पूछा—क्यों भाई! सूर्यकी रोशनीके साथ तुम जग जाते हो न?

बोले—'हाँ हाँ' हमेशा सूर्यकी रोशनीके साथ जागता हूँ।

फिर पूछा—सूर्यकी रोशनी किधरसे आती है?

बोले—वह तो पश्चिमकी ओरसे आती है।

तो जो प्रकाशका आदर नहीं करता, वह ज्ञानका आदर भी नहीं करेगा, अपने गुरुका भी आदर नहीं करेगा। सूर्य सारी दुनियाको प्रकाश देनेके लिए उदित होता है। वह ज्ञानका प्रकाशक है। आप उसके सामने खड़े होकर उसको हाथ नहीं जोड़ते, तो आप किसी विद्वान्‌का, गुरुका, ज्ञानदाताका आदर क्या करेंगे?

प्रकाशका आदर होना चहिए। बहुत सोना नहीं, बहुत जागना भी नहीं। जल्दी सोना और जल्दी जागना। नियमित सोना और नियमित जागना। यह योगीका धर्म है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 7

यह आपको बताया जा चुका है कि वेदको श्रुति कहते हैं और गीताको स्मृति। श्रुतिमें वक्ताकी प्रधानता नहीं होती, वचनकी प्रधानता होती है। सच तो यह है कि उसमें वाच्यकी प्रधानता नहीं होती, क्योंकि जिस वस्तुका वर्णन है वह वचनसे अतीत है। वचनका विषय नहीं होता। वक्तासे विलक्षण अर्थका बोध और वाच्यसे भी विलक्षण अर्थका बोध वचनके द्वारा होता है। यह श्रुतिकी विशेषता है। वह स्वयं अपने तात्पर्यका इशारा करके शान्त हो जाती है।

स्मृतिमें वक्ताकी महिमा होती है, वचनकी महिमा होती है, उसके वाच्यार्थकी महिमा होती है तथा उसमें जो निश्चय किये जाते हैं उनकी महिमा है। गीतारूप स्मृतिका वक्ता कैसा है, तो प्रपन्नपारिजात है। प्रपद माने पाँवके दोनों पञ्जे और प्रपन्न माने पकड़नेवाला। तो आप भी दोनों हाथसे श्रीकृष्णके पाँवको, भगवान्‌के चरणारविन्दको पकड़ो। वे कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो चाहो मिलेगा। अर्थ चाहो, धर्म चाहो, काम चाहो, मोक्ष चाहो, सब मिलेगा। वे अपने हाथमें संयम और शासन दोनों लिए हुए हैं, तोत्र है और वेत्र है—घोड़ोंकी बागडोर है और चाबुक है। आप उनको अपने जीवनका सारथि बना लो तथा अपने इन्द्रियोंके संयमकी बागडोर और शासन—दोनों उनके हाथमें सौंप दो। उनपर उनके ज्ञानकी मुहर लगा दो।

भगवान्‌के पास ज्ञानमुद्रा है। उसका एक अर्थ यह है कि उनका हाथ ज्ञानमुद्रामें है। दूसरा अर्थ यह है कि भगवान् अपने ज्ञानकी मुहर लगा रहे हैं, यह देख रहे हैं कि उनके ज्ञानके अनुसार तुम्हारा जीवन है कि नहीं?

उपनिषद् गाय है और गोपाल कृष्ण उनमें-से गीतामृतका दोहन कर रहे हैं। साधारण गाय-सरीखी गाय नहीं, उपनिषद् है, दूध सरीखा दूध नहीं, अमृत है और ग्वाले-सरीखा ग्वाला नहीं, वह संयमी है तथा चाबुक हाथमें रखता है। जिसके जीवन-रथके सारथि भगवान् श्रीकृष्ण हैं उसका परम मङ्गल है। आज यह पुनरावृत्ति इसलिए करनी पड़ी कि एक श्रोताने इसके लिए आग्रह किया था।

तो, आपके व्यवहारमें दूसरेको असुविधा पहुँचानेवाले, दु:ख पहुँचानेवाले तत्त्व न हों। व्यवहारमें तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—एक तो किसीको दु:ख न पहुँचे, दूसरा कोई बेवकूफ न बने और तीसरा किसीके चरित्रका नाश न हो। चरित्र हनन न करना सत् है, बेवकूफ न बनाना चित् है और दु:ख न पहुँचाना आनन्द है। तो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह सच्चिदानन्दमय व्यवहार है।

धनसे दूसरेको दु:ख पहुँचाना स्तेय और परिग्रह है, न पहुँचाना अस्तेय और अपरिग्रह है। कामसे दूसरेको दु:ख पहुँचाना अनाचार-व्यभिचार है, न पहुँचाना ब्रह्मचर्य है। लोभ और क्रोधसे दूसरेको दु:ख पहुँचाना हिंसा है और न पहुँचाना अहिंसा है। झूठ बोलकर दूसरेको बेवकूफ बनाना असत्य है, न बनाना सत्य है।

आपके व्यवहारमें सच्चिदानन्द उतरना चाहिए। इसकी एक रीति यह है कि व्यवहारको नेति-नेति मानकर अपने स्वरूपमें बैठ जाया जाये और दूसरा यह है कि व्यवहारको ही सम्हाल लिया जाये। यह गीतारूपी स्मृतिके वक्ता लोकनायक श्रीकृष्णका उपदेश है।

परमहंस शुकदेव, वामदेव, ऋषभदेव आदि महात्माओंको लोकनायक नहीं कहा जाता। श्रीकृष्ण इसलिए लोकनायक कहलाये कि वे केवल समाधि, तत्त्वज्ञान अथवा वैकुण्ठकी प्राप्तिके लिए साधन नहीं बताते, अपितु सबके लिए और सार्वकालिक धर्मोपदेश देते हैं।

तो यमका पहला योग यह है कि आप दूसरेको असुविधा मत पहुँचाइये। आपका टेपरिकार्डर बोल रहा हो और उससे किसीको एकाग्रतामें, ध्यानमें, चिन्तनमें बाधा पड़ रही है तो उसे बन्द कर दीजिए। आप जोर-जोरसे पाठ कर रहे हों, कीर्तन कर रहे हों और उससे दूसरेकी शान्तिमें बाधा पड़ती हो तो आपका पाठ और कीर्तन ठीक नहीं। मस्जिदके सामने बाजा बजाना बिलकुल गलत है। यह पहला योग है।

दूसरा योग यह है कि आप अपने चरित्रसे अपनेको हानि मत पहुँचाइये। पवित्रता, तपस्या, स्वाध्याय, सन्तोष और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम चरित्रको उज्ज्वल बनानेके साधन हैं। ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ यह होता है कि आप काम सब कीजिए, पर अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं, परमेश्वरके लिए।

अब तीसरा योग लीजिए। अपने शरीरको ऐसा रखिए कि वह थोड़ी देरके लिए चुप हो जाया करे। शरीर हिलता रहता है, पर भीतर हिले तो हिले, बाहर न हिले। इसका नाम आसन है। इससे यह होता है कि आपका शरीर पञ्चभूतके साथ एक हो जाता है। इससे आपमें व्यापकता आती है। यहाँ तक कि भूख-प्यास भी नहीं लगती। क्षुत्पिपासाकी सिद्धि हो जाती है। शरीर जबतक भीतरसे हिलता रहता है, तबतक हम दूसरेसे सुख लते हैं और जब स्थिर हो जाता है तब स्वयं सुख लेना प्रारम्भ होता है।

समाधि माने यह है कि जैसे मरनेपर आदमीको कब्रमें गाड़ दिया जाता है, वैसे ही आसन द्वारा अपने शरीरको पञ्चभूतमें दफना देना। आसनकी सिद्धि माने शरीरकी समाधि। उसके बाद प्राणायामके द्वारा अपनेपर विजय कीजिए। इसमें जो भीतरकी क्रिया होती है, उसकी समाधि लग जाती है। समष्टीकरणमें आपके करणकी समाधि लग जाती है। शरीर स्थूल है, उसकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म है।

इसके बाद इन्द्रियोंका नम्बर आता है। इन्द्रियोंकी समाधि लगती है, उनके अपने-अपने गोलकमें। पञ्चतन्मात्रासे एक हो जाना, इन्द्रियोंको पञ्चतन्मात्रामें दफना देना समाधि है। तो, आँखमें देखनेकी जो शक्ति है, वह आँखमें रहे और कानमें सुननेकी जो शक्ति है वह कानमें ही रहे। इसी तरह अपनी अल्प-ऐन्द्रियक शक्तियोंको उनके गोलकमें ही रोकना चाहिए। ऐसा थोड़ी देर करने पर भी आपका सामर्थ्य बढ़ेगा, शक्ति बढ़ेगी और ज्ञान बढ़ेगा। इसीको प्रत्याहार कहते हैं।

हमारा चरित्र जब दूसरेको हानि पहुँचाता है तब यम नहीं रहता और जब स्वयंमें असंयम करता है तब नियम नहीं रहता। जब शरीर हिलता है तब आसन नहीं रहता और जब इन्द्रियाँ बाहरसे यातायात करती हैं तब

उनको रोकनेकी शक्ति नहीं रहती। आप चाहे जहाँ चले जायें, आपकी इन्द्रियोंको आपके काबूमें रहना चाहिए। यह इन्द्रियसमाधि है।

शरीर-समाधि, क्रिया-समाधि और इन्द्रिय-समाधि प्रत्याहार है। प्रत्याहार माने आहारके प्रतीप, प्रतिकूल अर्थात् उलटा। इन्द्रियाँ जो विषयोंका आहार कर रही हैं, उसको थोड़ी देर बन्द कर देना प्रत्याहार है। इसमें एक बात मालूम पड़ जाती है।

किसी सेठको एक नौकर रखना था। उसने विज्ञापन निकाला कि घरेलू नौकर चाहिए। कई नौकर इन्टरव्यू—साक्षात्कारके लिए आये। सेठने एकसे कहा कि एक गिलास पानी लाओ। वह ले आया। सेठने कहा—फेंक दो। फेंक दिया। क्यों फेंका? आपने कहा इसलिए फेंक दिया। इसी तरह दूसरे और तीसरे नौकरोंने किया। अब एक ऐसा आया कि जब उससे पूछा गया कि तुमने पानी क्यों फेंका? तो बोला हमारी गलती है सरकार! सेठने निर्णय दिया कि यही नौकर रखने लायक है। तो,

गुण तुम्हार समुझहिं निज दोषू।
सपनेहुँ नाहिंन आन भरोसू॥

इन्द्रियाँ अपनी आज्ञाकारिणी होकर रहें, अपनी गलतीको अपनेतक सीमित रखें और मालिकके सिरपर न डाल दें। जिस सेवकसे यह आशंका है कि वह अपने मालिकको ही दोषी बना देगा वह सेवा कैसे करेगा? एक बात और। नौकरका यह काम नहीं कि वह दिनभर हाथमें कुछ रखे और मालिकके सामने बार-बार मुँहमें डालकर लाता रहे। दिनभर पिक्चर देखता रहे, विविध-भारती सुनता रहे। उसे तो मालिकके सामने सावधान रहना चाहिए, संयमसे रहना चाहिए। इसीका नाम प्रत्याहार है।

प्रत्याहारका अर्थ है कि हमारा जो द्रष्टा है, साक्षी है, अन्तर्यामी है, परमेश्वर है, उसके प्रति हमारे सब कर्म समर्पित हों और इन्द्रियाँ संयममें स्थित रहें। हमारी इन्द्रियाँ संसारका भोग करनेके लिए नहीं, प्रत्याहार करनेके लिए हैं। तो प्रत्याहारके फलस्वरूप जो शरीर-समाधि, क्रिया-समाधि, इन्द्रिय-समाधि लगती है, उसका स्वरूप देखिये। सात्त्विक तन्मात्राओंमें इन्द्रियोंकी समाधि होती है, राजस तन्मात्रामें क्रियाकी समाधि होती है और तामस तन्मात्रामें शरीरकी समाधि होती है। अब मनका नम्बर है।

थोड़ीसी बात धारणाकी सुनाते हैं। योग माने आप लोग कोई किंभभूत किमाकार पदार्थ न समझें। आप एक बात मान सकते हैं क्या, कि जितनी देर तक आप यहाँ कुर्सीपर बैठे हैं, इतनी देर तक आपका मन इस बगीचेके बाहर न जाये? कर सकते हैं ऐसा? यदि कर सकते हैं तो इसीका नाम धारणा है।

यौगिक धारणा यह होती है कि आप अपने इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर कोई एक ऐसी जगह चुनिये, भले ही हृदयको, कण्ठ हो, आज्ञाचक्र हो, दोनों भौंहोंके मध्य हो, या सिर हो और वहाँ अपने मनको इस प्रकार स्थिर कीजिए कि वह कहीं बाहर न जाये। थोड़ी देरमें आपकी समाधि लग जायेगी। मनको स्थान ही क्यों, किसी रूपमें रोकिये, अरूपमें रोकिये समाधि लग जायेगी। यह सरल-सरल योगाभ्यासकी रीति है।

देश, काल और पात्र तीनों ही मनकी कल्पना हैं। तो, कल्पनाका निरोध करके अकल्पित वस्तुमें मनका स्थिर होना समाधि है और उस स्थिरताको देखनेवालेका नाम है द्रष्टा। द्रष्टाको न दूसरा जीव मालूम पड़ता है, न जगत् मालूम पड़ता है और न ईश्वर मालूम पड़ता है। वह अपने आपमें स्थित रहता है। इसका नाम है द्रष्टाका स्व-स्वरूपमें अवस्थान। यह अष्टांग योगकी संक्षिप्त व्याख्या हुई।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

तो आपको तीन बातें बतायीं। आपका चित्त पहले अपने नियममें, नियन्त्रणमें हो। यह नहीं कि आपके न चाहनेपर भी वह दुश्मनमें घरमें, पराये घरमें चला जाये।

आपके घरसे नौकर गायब हो गया। पूछा कि कहाँ गया तो वह पड़ोसमें एयरकंडीशन दूकानमें जाकर बैठा था। क्यों भाई, वहाँ क्यों बैठा था तो वहाँ कोककोला पीनेको मिलता है। दूकानदार तुमको कोकाकोला क्यों देता है तो उसको हम ग्राहक देते हैं। लो, तुम्हारा तो नौकर और उसकी यह दशा!

तो आप अपने मनपर कड़ी दृष्टि रखिये। वह आपका नौकर है, उसे घरसे निकलने मत दीजिए। किन्तु यह सब कायदेमें होना चहिए—'यदा विनियतं चित्तम्।'

एक महात्मासे मैंने कहा कि मन मानता नहीं तो वे बोले कि तुम मनके सामने हाथ मत जोड़ो। मन हाथ जोड़नेसे काम नहीं करता, उसको अनुशासनमें रखना पड़ता है, आज्ञा देनी पड़ती है कि मन, तुमको ऐसा करना पड़ेगा। आप मनके मालिक हैं। उसको नियममें लीजिए। हुकुम दे दीजिए कि देखो, तुम इतनी देरतक यहाँसे हटना मत और इसी व्यापारपर विचार करना।

आप बैठते हैं सोचनेके लिए और कुछ, यह सोचने लगता है और कुछ। तो पहली बात यह है कि मनको काबूमें करो। वह हाथ जोड़कर आपके सामने उपस्थित रहे, आपके शरीरमें रहे, आपके विचारमें रहे, आपकी आत्मामें रहे। 'आत्मन्येव अवतिष्ठते'में 'तिष्ठते'का अर्थ है कि वह खड़ा रहे। सोवे नहीं। मालिकके सामने नौकर सो जावे तो अशिष्टता है।

तीसरी बात है—'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो।' यदि मालिक गलत काम करेगा तो नौकर उसके काबूमें नहीं रहेगा। मेरे एक मित्र थे। मैं कभी-कभी उनके पास जाता था। वे अपने नौकरसे बहुत डरते थे। उसके सामने मेरी तो क्या, अपनी पत्नीकी परवाह भी नहीं करते थे। एकदिन पत्नी रो-रोकर कहने लगी कि ये मुझे अपने नौकरके बराबर भी नहीं मानते। इसपर जब मैंने उनसे पूछा कि तुम नौकरसे इतना क्यों डरते हो, तो बोले कि महाराज मैं चुपके-चुपके इससे शराब मँगाता हूँ। किसीसे रिश्वत लेना होता है तो इसीके हाथसे लेता हूँ। परस्त्रीसे बातचीत करनी होती है तो यही माध्यमका काम करता है। यह हमारी इतनी गलतियोंको जानता है कि अब हमें इसके कहे अनुसार चलना है।

तो, आप समझ जाइये कि आपका मन आपके काबूमें क्यों नहीं है और आप क्यों मनके पराधीन हैं। आप इससे गलत-गलत काम लेते हैं, तभी यह आपका हुकुम नहीं मानता। आप अपने मनसे गलत काम लेना

छोड़ दीजिए, वह बिलकुल ठीक हो जायेगा। आप बाहरकी वस्तुओंसे निःस्पृह हो जाइये, मनसे कुछ भी मत माँगिये।

निःस्पृहका अर्थ है स्पृहारहित। आपके पास वस्तुएँ हों, किन्तु आपके मनमें उनकी स्पृहा न हो। अनमिलेको चाहना काम है, मिलेको ज्यादा चाहना लोभ है और मिलनेपर भी स्पृहा न रखना निःस्पृहता है। आप अपने पासके पदार्थोंसे भी निर्मम रहें और ममता छोड़कर भी उसका अहंकार न करें। ममता छोड़नेका भी अहङ्कार होता है कि मैंने यह छोड़ दिया, मैंने वह छोड़ दिया। इसलिए आप समस्त स्पृहाओंसे मुक्त हो जाइये—'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो।' ऐसा करनेपर आप योगीकी पदवी प्राप्त कर लेंगे—

युक्त इत्युच्यते तदा
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। 6.19

जहाँ हवा न पहुँचती हो वहाँ दीया जलता है तो वह डावाँ-डोल नहीं होता। उसी हलचलरहित दीपककी भाँति आपका मन होना चाहिए। उसपर पहले काबू कीजिए फिर वह स्थिर हो जायेगा। आप जितनी देर ध्यान करने बैठें, भजन करने बैठें, उतनी देर आपका मन निर्धूम एवं अकम्पित ज्योतिके समान प्रकाशमान रहना चाहिए।

योगशास्त्रमें इसका वर्णन दूसरी तरहसे है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ (माण्डूक्यकारिका)

मनका न तो लोप हो और न वह डाँवाडोल हो। न वह किसी चीजका इशारा करे और न बाहरके सुखका आस्वादन करे। जिस मनकी ऐसी अवस्था हो जाती है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, ब्रह्मसे मिल जाता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ 6.20-22

अब मैं आपको भागवत-सप्ताहकी शैलीसे गीता सुना रहा हूँ। आप योगकी सहायतासे अपने मनको काबूमें रखकर उपराम कीजिए। उपराम कर लेना माने रामजीके पास पहुँचा देना। संस्कृतके अनुसार उपराम वह है जो दुनियाकी किसी चीजमें रमे नहीं। उपराम अर्थात् रामका पार्श्ववर्ती लक्ष्मण। यह चित्त लक्ष्मण है जो रामके काबूमें रहकर अन्य सबसे उपराम है और जिसे दूसरोंसे कोई लगाव नहीं है। आपने रामचरितमानसमें लक्ष्मणकी पहचान पढ़ी होगी। वे अपना परिचय स्वयं देते हैं—

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहऊँ सुभाव नाथ पतिआहू॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

तो, उपराम माने लक्ष्मण, जो निरन्तर रामके पास रहता है। राम माने परमात्मा अपना आत्मा। अतः आपका जो निरुद्ध चित्त है, वह जब सब ओरसे उपराम होकर आत्माके पास आजाता है तब क्या होता है—

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।

वह स्वयंमें स्वयंको देखता है और स्वयंमें सन्तुष्ट रहता है। आत्माके पास देखने-सुननेके लिए आँख-कानकी तरह कोई करण, कोई औजार नहीं होता। वह आँखके बिन ही देखता है, कानके बिना ही सुनता है। पति-पत्नी एक दूसरेमें रति करते हैं, उन्हें जब कुछ खानेको मिलता है तब तृप्ति होती है और जब घरमें धन इकट्ठा होता है तब सन्तोष होता है। रति, तृप्ति और सन्तोष तीनों अलग-अलग हैं। इस श्लोकमें भी देखिए—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 3.17

इसमें रतिः, तृप्तः, सन्तुष्टः तीनों शब्दोंका प्रयोग है। तो, सन्तोष कहाँ है? अपने आपमें। किसको देखकर है? अपने आपको देखकर और किसके द्वारा देखकर है तो अपने आप द्वारा देखकर। अर्थात् करण भी वही है, कर्म भी वही है, अधिकरण भी वही है। वह अपनेमें, अपनेको, अपने आपसे देख रहा है और परमानन्दका अनुभव कर रहा है।

आपको यह बात न भूलने पावे कि छठे अध्यायमें योगका जो वर्णन है वह सोद्देश्य है अर्थात् बुद्धिको ठीक करनेके लिए है। उसका उद्देश्य गुहामें अथवा समाधिमें जानेके लिए नहीं है, अपितु अपनी बुद्धिको सम बनानेके लिए है।

गीता परमयोगी बननेके लिए प्रेरणा देती है और परमयोगी उसे बताती है, जो सबमें सुख-दुःखकी समताका अनुभव करता है और दूसरेके दुःखमें दुःखी तथा दूसरेके सुखमें सुखी है। वह दूसरेका दुःख दूर करनेकी और दूसरेको सुखी बनानेकी कोशिश करता है। पर ऐसा परमयोगी कोई कब होगा? तब होगा, जब पहले योगी हो जायेगा। आप दूसरेको सुख तभी दे सकेंगे जब स्वयं सुखी होंगे।

आपके हाथमें कचरा लगा हो और आप बर्तन धोने लगें तो बर्तन साफ नहीं होगा उसमें भी कचरा लग जायेगा। यदि झाड़ू साफ न हो तो उससे घरमें और भी गन्दगी फैल जायेगी। जब आपके पास स्वयं सुखकी पूँजी होगी तभी आप दूसरेको सुख दे सकेंगे। जिसके पास धन होगा वही दूसरेको धन दे सकेगा। आपके पास जो होता है वही आप दूसरेको देते हैं।

काशीमें एक मठके महन्त थे। वे पण्डितोंको गाली देते थे। एक सज्जन पण्डितने जवाबमें कहा—

ददतु ददतु गाली गालिमन्तो भवन्तः।

आपके पास गालीकी पूँजी है, इसलिए आप दूसरोंको गाली देते हैं। राजा लोग हमें आदर देते हैं और सेठ लोग धनका दान करते हैं, किन्तु आप हमें गाली भेंट करते हैं। इसपर महन्तजी लज्जित होकर चुप हो गये।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ 6.21

अब सुखका स्वरूप बताते हैं। गीतामें सुखका वर्णन कई स्थानोंपर यदि हम उनकी तुलना करें तो तीन तरहके सुखोंका वर्णन है। एक है बेहोशीमें अपनेको बेवकूफ बनाकर सुखका अनुभव करना—**सुखं मोहनमात्मनः।** यह तमोगुणी सुख है।

हम ऐसे सुखका वर्णन कर रहे हैं, जो तमोगुणी नहीं, बुद्धिग्राह्य है। आपकी अक्ल बनी रहे और आपको सुख मिले। अगर अक्ल खोकर सुखी हुए तो सब कुछ खो दिया। अक्ल ही नहीं तो सुख कैसा?

लोग अपना गम गलत करनेके लिए नशा पीते हैं, भाँग पीते हैं, गाँजा पीते हैं और कई चीजें पीते हैं जिनका नाम हम अपने मुँहसे नहीं लेना चाहते। कहते हैं कि बड़ा मजा आया। लेकिन मजा क्या आया तुम्हारी समझ और खो गयी। तो, हमें तमोगुणी मोहन सुख नहीं, बुद्धिग्राह्य सुख चाहिए।

दूसरा सुख है रजोगुणी। विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो सुख मिलता है, वह रजोगुणी होता है और तीसरा सुख सत्त्वगुणी है, जो अभ्याससे पैदा होता है—

अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।

हमें इन तीनोंमें-से कोई भी सुख नहीं चाहिए। फिर कैसा सुख चाहिए? आत्यन्तिक—जिसका अन्त नहीं है। 'अंन्तं अतिक्रान्तं—आत्यन्तिकं सुखं' अर्थात् ऐसा सुख जो तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी सुखसे विलक्षण है।

अब एक दूसरी बात देखो। आत्यन्तिक माने कालातिक्रान्त—वह सुख जो कभी नष्ट नहीं होता। बुद्धिग्राह्यम् माने अपने भीतर ही और देशातिक्रान्त माने न बाहर न भीतर, अपने आपमें। क्योंकि अपना आपा न बाहर है न भीतर है, अपने आपमें है और 'अतीन्द्रयम्' वह है जो विषयातिक्रान्त है, जिसमें विषयकी जरूरत नहीं। तो देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न सुखकी प्राप्ति आपको होगी। आपको वह सुख मिलेगा जो सब समय रहता है, सब जगह मिलता है और सबसे मिलता है।

वह सुख कैसे प्राप्त होता है? तो 'वेत्ति' अर्थात् उसका ज्ञान होता है, वह मालूम पड़ता रहता है। वह ऐसा सुख है जहाँसे आप कभी विचलित न होंगे और जिसमें जम जायेंगे—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**

वह एक बार आपको मिल जायेगा, तो उससे बड़ा कोई लाभ आपको मालूम ही नहीं पड़ेगा। सबसे बड़ा लाभ आत्म-सुखका ज्ञान, आत्मसुखका बोध ही है। यहाँ बोध शब्दपर ध्यान दें, जिसका अर्थ प्राप्ति नहीं है। बोधमात्र होनेसे परोक्ष नहीं है। बोधमात्र होनेसे श्रम नहीं है। वह वैकुण्ठमें नहीं, अपने आपमें है। आपको एक बार इसका दर्शन हो जाये तो आप दुनियाकी किसी भी बड़ी-से-बड़ी वस्तुको इससे बड़ी नहीं समझ सकते। सबसे बड़ी वस्तु आत्मसुखकी उपलब्धि है, आत्म-सुखका बोध है। इससे बड़ा सुख दूसरा कोई नहीं है—

यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

इसमें यदि स्थिति हो जाये तो 'गुरुणा दु:खेन न विचाल्यते'—बड़े-से-बड़ा दु:ख भी आपको विचलित नहीं करेगा। हमारे गुरुजीने बताया कि 'दु:खेन न विचाल्यते' और 'गुरुणाऽपि न विचाल्यते'को अलग-अलग करके अर्थ किया जा सकता है। 'दु:खेन न विचाल्यते'—दु:ख उसको विचलित नहीं कर सकते यह एक अर्थ है और 'गुरुणाऽपि न विचाल्यते'—का तात्पर्य यह है कि यदि गुरु भी कहे कि अभी तुम पूरे सुखी नहीं हुए तो शिष्य कहेगा कि महाराज क्षमा करो मैं परम सुखी हूँ।

इस प्रकार गुरु भी चाहे कि विपरीत कर दे तो नहीं कर सकता। शिष्य गुरुके हाथसे बाहर निकल गया। असलमें सच्चा गुरु वही है जो शिष्यको शिष्य नहीं रखता गुरु बना देता है। गुरु ही नहीं, परमात्मा बना देता है।

पहले तो निश्चय ही होता है। निश्चय होनेसे संशय और भ्रम दूर हो जाते हैं फिर निश्चय शान्त हो जाता है और स्वरूप रूपसे साक्षात्कार होता है। इसका भी अन्यरूपसे दर्शन नहीं होता, स्वरूपसे दर्शन होता है और दर्शन होनेके बाद आनन्द-ही-आनन्द है।

अब आप गीताकी एक बात देखो। यह योगदर्शनकी बात नहीं है। यहाँ योग कहते किसको हैं? किसीसे जुड़नेको योग नहीं कहते। जैसे पति-पत्नीका संयोग होता है, आयुर्वेदिक दवाओंका योग होता है और कर्मकाण्डी लोगोंका प्रयोग होता है, वैसा नहीं है। यहाँ तो वियोगका नाम योग है। किसका वियोग? क्या दु:खका वियोग? नहीं भगवान् यह नहीं कहते कि तुम्हारे जीवनमें कभी दु:खकी घटना नहीं घटेगी। दु:खकी घटनाएँ तो घटित होती ही रहती हैं—कभी प्रारब्धसे घटती हैं, कभी प्रकृतिसे घटती हैं और कभी दैवसे घटती हैं। अत: दु:खका तो वियोग नहीं होगा, परन्तु उनके संयोगका वियोग हो जायेगा।

आप देखिये भगवान्‌के बोलनेकी चतुराई। संभव है कभी कपड़ेमें आग लग जाय, कभी कुछ रुपये खो जायँ—चोरी चले जाय अथवा कभी रिश्तेदारों, नातेदारोंका विछोह हो जाय तो उसके फलस्वरूप जो दु:ख आया वह बाहर ही रहा, उसका संयोग नहीं हुआ। भगवान्‌ने जो 'दु:ख-वियोगं' न कहकर 'दु:खसंयोगवियोगं' कह दिया है, उसकी प्रयोग-शैलीपर ध्यान दें—

तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगम्।

हम बोलते तो कह देते 'दु:खवियोगं योगसंज्ञितम्'—दु:खके वियोगको योग कहते हैं और 'सुखसंयोगं योगसंज्ञितम्'—सुखके संयोगका नाम योग है। किन्तु यह ठीक नहीं। एक ओर आँधी चल रही है, पर वह हमको छूती नहीं; जैसे वाटरप्रूफ होता है, शाकप्रूफ होता है वैसे दु:खप्रूफ होनेका अर्थ यह है कि दु:ख है, पर वह हमको छूता नहीं, उसका स्पर्श नहीं होता। इसीको भगवान् योग बोलते हैं।

कैवल्यको योग नहीं बोलते। योगदर्शनमें कैवल्यको योग कहा गया है। गीताका योग है—'स निश्चयेन योक्तव्यो योग:।' निश्चय करण है, साधन है, ऐसा योग अवश्य करना चाहिए। कैसे करना चहिए तो अनिर्विण्ण चेतसा। कभी-कभी लगता है कि इतने दिन साधन करते-करते हो गये और अभीतक कुछ नहीं हुआ। अबतक कुछ नहीं हुआ तो आगे भी क्या होगा? चित्तमें निर्विण्णता आजाती है, वह घबरा जाता है। इसमें एक

तरहकी ऊब आजाती है, निर्विण्ण होनेका अर्थ है ऊब जाना। किन्तु भगवान् कहते हैं कि ऊबो मत, साधन करते जाओ।

मैंने एक महात्मासे कहा कि महाराज! अब इससे ज्यादा तो नहीं कर सकते तो वे बोले—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ।' नामर्द क्यों बनता है? गीता तो पौरुषका शास्त्र है। 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं'—दुर्बलता दूर करो। आगे बढ़ो। गिरो और उठो, फिर गिरो फिर उठो और फिर चलो। चारबार छह बार आठ बार या बार-बार। प्रतिज्ञा करो कि 'कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।'

बुद्धने भी प्रतिज्ञा की थी—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात्कायमिदं चलिष्यति॥

अर्थात् इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाये। हमारी चमड़ी, हमारी हड्डी, हमारा मांस खाकमें मिल जाये किन्तु बहुकल्प-दुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना हमारा शरीर आसनसे उठेगा नहीं। बैठ गये सो बैठ गये। तो 'अनिर्विण्णचेतसा' होकर हार नहीं मानना चाहिए। करते चलो, करते चलो।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ 6.24-28

'सुखमश्नुते'के 'अश्नुते'का अर्थ भोक्ता नहीं होता। 'अश्नाति'का अर्थ होता है भोगना और अश्नुतेका अर्थ होता है व्यापना—'अश्नुते इति व्याप्नोति।' जैसे लिपि है और अक्षर है। इसमें अक्षरको अक्षर क्यों कहते हैं? लिपि चाहे कोई भी हो, फारसी हो, अंग्रेजी हो, देवनागरी हो, चीनी हो, रूसी हो पर अक्षर 'अ' 'अ' ही है। लिपियाँ अलग-अलग हैं और 'अ' एक है। इसीको बोलते हैं अक्षर। लिपिका नाम अक्षर नहीं होता। वाक्से उच्चार्यमाण होता है।

अक्षर और उसको संकेतित करनेके लिए जो रेखाएँ होती हैं, वे होती हैं लिपि। तो लिपि चाहे कुछ भी हो, अक्षर एक है। तो 'सुखमश्नुते'का अर्थ है सुख—अपना आत्मस्वरूप हो जाता है। वह कैसे होता है तो उसके लिए योगाभ्यासका साधन बताते हैं।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

बुद्धिको कभी नहीं छोड़ना चाहिए। बुद्धि वह नहीं जो कुतर्क-प्रवण है, स्वच्छन्द है, उच्छृङ्खल है, 'बुद्ध्या धृतिगृहीतया'—बुद्धिको धृतिके द्वारा ग्रहण करना चाहिए। धृति माने धारणा शक्ति। बुद्धिसे चाहे जो सोचनेका नाम दर्शन नहीं होता, पारमार्थिक लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए किये गये चिन्तनका नाम दर्शन है। तो अचिन्त्य पदार्थको तर्ककी कसौटीपर नहीं कसना चाहिए। वह तो अनुभवकी वस्तु है—

आविर्भूतप्रकाशानाम् अनुपद्रुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान् न विशिष्यते॥ (वाक्यपदीय)

वैयाकरण भर्तृहरि कहते हैं कि जिनके हृदयमें प्रकाशका आविर्भाव हो गया, राग-द्वेष जिनके चित्तमें ऊधम नहीं मचाते, जिनमें अज्ञानका अन्धकार नहीं है, राग-द्वेष नहीं है उनको सारा विश्व चाहे वह भूतकालका हो, वर्तमान कालका हो अथवा भविष्य कालका हो—ऐसे दीखता है जैसे हाथमें आँवला। प्रत्यक्षकी अपेक्षा विशिष्ट नहीं है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

संकल्पसे कामनाका उदय होता है। महाभारतमें एक मङ्किगीता है, जब घटनावश दुःख हुआ तब पूछा कि मुझे यह दुःख हुआ क्यों? मेरे मनमें कामना है तो कामना आयी क्यों? संकल्पसे—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि॥

तो, बोले अरे ओ काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ। जब सम्यक्त्वकी कल्पना होती है कि यह चीज़ बड़ी अच्छी है, सुन्दर है, मधुर है, महत्त्वपूर्ण है, तभी उसको पानेकी कामना होती है। इसलिए मैं दुनियाकी किसी वस्तुमें सम्यक्त्वकी कल्पना ही नहीं करूँगा। सम्यक्त्व तो अपने आत्मामें है। हमारे सारे संकल्प और संकल्पोंसे पैदा होनेवाले सारे काम पूर्णरूपसे अशेषतः शेष ही रह जायें तो रह जायें और कोई न रहे। किन्तु जानते हो शेष कौन है? वह है, जिसकी गोदमें भगवान् रहते हैं—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।

तो एक इन्द्रियको काबूमें करनेसे काम नहीं चलेगा, पूरे इन्द्रियग्रामको—गाँव-के-गाँवको काबूमें करना पड़ेगा। यह नहीं कि आँख तो हमारी बसमें है पर कान नहीं है और कान तो बसमें है पर जीभ नहीं है—ऐसा नहीं होना चाहिए और सबके संचालक मनको वशमें करना चाहिए। इसमें जल्दी नहीं करना चाहिए।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

मनुष्यकी बुद्धि ठीक-ठीक काम करने लग जाये, गलत रास्तेपर न जाये, अपने काबूमें रहे, इसके लिए गीता योगका उपदेश करती है। गीताका योग बुद्धिको सन्तुलित—सम रखनेमें पूरा होता है। आपके सामने समाधिकी चर्चा हो चुकी है। समाधि शब्दका एक अर्थ होता है कब्रमें दफनाना। साधु लोग जब मरते हैं तो उनको समाधि दी जाती है। उनकी अन्त्येष्टि क्रियाका नाम समाधि होता है। योगमें समाधि शब्दका तात्पर्य होता है अनात्माका निवारण करके ज्ञानस्वरूप आत्माकी प्रतिष्ठा, अविचल शान्तिका साक्षात्कार और द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान। वेदान्तमें समाधान शब्दका अर्थ इससे विलक्षण है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान।

आपको हम गीताकी योग-सम्बन्धी भूमिका सुनाते हैं। दूसरोंके साथ व्यवहारका जो समाधान है, ठीक-ठीक व्यवहार है, व्यवहार-समाधि है, उसका नाम है यम। अपने चरित्रका जो समाधान है, उसका नाम है नियम—शौच, तपस्या, सन्तोष, ईश्वर-प्रणिधान। देहका जो समाधान है उसका नाम है आसन—पञ्चभूतोंसे एकात्मकता क्रियाका जो समाधान है, उसका नाम है प्रत्याहार। मनका जो समाधान है उसका नाम है धारणा। मनको उसके स्वच्छन्द आवागमन और भूत, भविष्यकी चिन्तासे रोक लेनेवाले काल-समाधानका नाम है ध्यान। बुद्धिमें जो भेद भरा रहता है, उसको मिटा देनेवाली वस्तुका नाम है समाधि।

जो सबसे अलग हो सकता है, वही व्यवहारमें राग : द्वेषसे मुक्त हो सकता है। वह व्यक्ति योगी नहीं हो सकता जो इतना बँधा हुआ है कि दुश्मनकी दुश्मनी न छोड़ सके और दोस्तकी दोस्ती न छोड़ सके, जिसे दोस्त गलत-से-गलत जगहमें घसीटकर ले जाये और जो दुश्मनके लिए स्वयं गलत-से-गलत जगहमें चला जाये।

तो चित्तके समाधानके लिए यम—व्यवहारकी शुद्धि, नियम—चरित्रकी शुद्धि, आसन—शरीरकी शुद्धि, प्राणायाम—क्रियाकी शुद्धि, प्रत्याहार—इन्द्रियोंकी शुद्धि, धारणा—देश-विस्तारकी शुद्धि, ध्यान—कालविस्तारकी शुद्धि और समाधि—वस्तु : विस्तारकी शुद्धि अनविार्य है। इसके बाद ही आत्मा सम-अवस्थामें आता है। यही अष्टांग—आठ अङ्गोंवाला योग है।

छठे अध्यायमें जो योग है, उसका मुख्य उद्देश्य ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं, वैकुण्ठकी प्राप्ति भी उसका मुख्य उद्देश्य नहीं; उसका मुख्य उद्देश्य है जीवनको बिलकुल ठीक दशामें ले आना। यह स्थित-प्रज्ञका वर्णन है, जीवन्मुक्तिके सुखका वर्णन है। स्थितप्रज्ञ इसी जीवनमें होता है, मरनेके बाद नहीं होता। बारहवें अध्यायका भक्त इसी जीवनमें होता है। चौदहवें अध्यायका गुणातीत इसी जीवनमें होता है। वही स्थितप्रज्ञ होनेके लिए, वही भक्त होनेके लिए, वही गुणातीत होनेके लिए साधनके रूपमें यहाँ योगाभ्यासका वर्णन है।

कल एक वैद्यजी आये थे। उन्होंने बताया कि आरोग्यके तीन उपस्तम्भ हैं—'आहार: स्वप्नो

ब्रह्मचर्यम्'—अर्थात् भोजन ठीक होना, नींद ठीक आना और वीर्यशक्तिका क्षय न होना। भोजन बिगड़ जाय, नींद गड़बड़ा जाय और वीर्यशक्तिका क्षय हो जाय तो मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। ये आरोग्यके तीन खम्भे हैं, इन्हीं पर मनुष्यके स्वास्थ्यका महल टिका रहता है। गीतामें भगवान्‌ने भी इसका ध्यान रखा है। आप प्राणायाम तो करें, प्रत्याहार भी करें, धारणा-ध्यान भी करें, परन्तु आपका आहार-विहार ठीक न हो योग आपके दु:खको नहीं मिटावेगा।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥ 6.17

जब आहार-विहार और कर्म ये तीनों उचितमात्रामें होते हैं—आप ठीक समयपर सोते हैं, ठीक समयपर जागते हैं और ठीक समय पर कर्म करते हैं, तभी योग आपका दु:ख मिटाता है। अन्यथा आप कितना भी योग करें, आपका दु:ख नहीं मिटेगा। बुद्धिके जागरणके लिए, बुद्धिके सन्तुलनके लिए योगाभ्यासका जो गम्भीर स्तर है वह आपके ध्यानमें आना चाहिए, क्योंकि यहाँ उसके दो भेद दिये गये हैं—एक योग और दूसरा परमयोग।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:॥ 6.32

जो धारणा, ध्यान समाधि लगाता है वह योगी है और जो दूसरेके दु:खमें सहानुभूति रखता है तथा दूसरेके सुखमें सुखी होता है अर्थात् दूसरेके सुख-दु:खको अपने ही सुख-दु:खके समान समझकर व्यवहार करता है वह परम योगी है। इस प्रसंगका उपसंहार यही है कि क्योंकि इस प्रसंगका अन्तिम श्लोक यही है।

श्रीकृष्ण बुद्धिको ठीक करनेके लिए कहते हैं कि अर्जुन! तुम जो अपने कर्तव्यसे विमुख हो रहे हो, इससे लगता है कि तुम्हारी अक्ल बिगड़ गयी है। यदि तुम योगी होते तो तुम्हारी अक्ल ऐसी मोह-ममतामें न फँसती। इसलिए थोड़ा योगाभ्यास करो। तुम्हें भक्तिकी दृष्टिसे भी अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, ज्ञानीकी दृष्टि भी कर्तव्य पालन करना चाहिए। ये सब भिन्न-भिन्न उपाय तो कर्तव्य पालनको उचित सिद्ध करनेके लिए ही बताये हुए हैं।

अब आपको यदि कर्तव्य पालन करना आता है, काम करना आता है तो थोड़ी देर बैठना भी सीखिये। बैठना केवल शरीरका ही नहीं, क्रियाका भी, मनका भी होना चाहिए।

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत:॥ 24॥
शनै: शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मन: कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ 25॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ 26॥

जिसका मन अपने वशमें नहीं, उसकी पत्नी, उसका पति, उसके बच्चे, उसके नौकर-चाकर कैसे वशमें होंगे? मन वशमें नहीं होगा तो जीभ भी वशमें नहीं होगी। उचित-अनुचित, समय-असमयका कोई ध्यान नहीं रहेगा। चाहे जो बोल देंगे, चाहे जहाँ चले जायेंगे और चाहे जो कुछ कर लेंगे। इसलिए पहली बात भगवान्‌ने यह कही कि सारी कामनाओंको पूरी तरहसे उठाकर अलग रख दो, यह मुश्किल नहीं। होता यह है कि जब मनमें संकल्प आता है तब कामना उठती है। कामका बाप संकल्प है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 2.67

तो जब पहले कोई वस्तु अच्छी मालूम पड़ती है और उसका संकल्प होता है तब उसके लिए कामना होती है। सर्वानशेषतः में जो 'सर्वान्' है उसका तात्पर्य है कि कामना एक नहीं अनेक होती है और 'अशेषत: 'का अर्थ है कि वह ऊपर-ऊपर छिछली नहीं होती, गहराईमें होती है।

गीता कहती है कि इनको उठाकर एक तरफ रख दो। कामनाको मानो मत। कह दो कि भाई, हमारी पोशाक बहुत अच्छी थी लेकिन इसको निकालकर खूंटीमें टाँग दिया है। अब इस समय हम काममुक्त होकर, संकल्प-मुक्त होकर बैठते है। आप अपनी अच्छी-से-अच्छी टोपीको, अच्छे-से-अच्छे पैंटको कभी उतारते हैं कि नहीं? हम तो देखते हैं जो लोग सभामोंमें बढ़िया-से-बढ़िया पोशाक पहनकर बैठते हैं, वे घरोंमें बस, हाथ ही जोड़ने लायक रहते हैं। सभामें पैंट, घरमें सुथना।

यदि आपकी इन्द्रियाँ आपके न चाहनेपर भी चञ्चलता करती हैं तो उनपर मनोनिग्रहके द्वारा नियन्त्रण स्थापित कीजिये—

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।

इसमें आपको एक दिनमें सफलता नहीं मिलेगी इसलिए **शनैः-शनैः** अभ्यास कीजिये। शनैः पन्थाः। रास्तेमें चलना हो तो धीरे-धीरे चलना चाहिए। घोड़ेकी तरह या हिरनकी तरह चौकड़ी भरते हुए चलनेकी जरूरत नहीं। यह योगका मार्ग है, यह अन्तरका मार्ग है। इसमें पाँवसे चलना नहीं, मनसे उपराम होना है।

बड़ी मार कबीरकी चित्तसे दिया उतार।

हम लोग ब्रजमें रहते हैं। कभी-कभी ऐसे बोलनेका संस्कार उदय हो जाता है कि—

रज्जब रोष न कीजिये कोई कहे क्यों ही।
हँसके उत्तर दीजिये, हाँ बाबा यौं ही॥
सबसे मिलिये सबसे जुलिये, सबका लीजिये नाँव।
हाँजी हाँजी करते रहिये, बैठिये अपने ठाँव॥

मतलब यह कि लोगों की बात सुनकर अपना जो मार्ग हैं, न्याय है, सत्यका निर्णय है उसको नहीं छोड़ना चाहिए। अभ्यास करते रहनेपर धीरे-धीरे आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, मन रास्तेपर आ जायेगा।

बुद्धिको पकड़नेके लिए भी उतावली बहुत दु:खदायी होती है। बुद्धिमें धृति चाहिए। वह धर्ममें मिल जाती है। मनुस्मृतिमें धर्मके जो दस लक्षण बताये गये हैं उनमें पहला लक्षण धृति है।

मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः—अपनी इन्द्रियोंको अपने मनको अपनी जुबानको, अपने पाँवको, अपने हाथको रोक सकनेकी जो सामर्थ्य है, धारण करनेकी शक्ति धृति है—**धृत्या यया धारयते।**

मनुजीने कहा भाई धैर्य रखो। अपनी बुद्धिमें धृति धारण करो। धृति शब्द पूरे धर्मका उपलक्षण है। नाम लिया केवल धृतिका, लेकिन धृतिके साथ रहनेवाले जो और नौ धर्म हैं—**धृतिक्षमादमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः** आदि उन सबकी व्याख्या हो गयी। वे सभी मनको पकड़नेवाले हैं।

अब देखिये आप अपने मनको काबूमें कर रहे हैं कि स्वयं उसके काबूमें हो रहे हैं? इसकी पहचान क्या है? यही पहचान है कि आपका मन अपने भीतर रहे, आत्मामें स्थित रहे। जो मनके सामने रहता है वह मनका विषय है और जो पीछे रहकर मनको प्रकाशित करता है, उसका नाम है आत्मा। आँखके सामने आँखका विषय है और उसके झरोखेमें-से झाँकनेवाला आँखकी आत्मा है। उसीकी शक्ति लाल-काला, नीला-पीला, स्त्री-पुरुष दिखायी पड़ते हैं। अब यह देखना आपका काम है कि आपकी आँख कहाँ लगती हैं; बाहर दीखनेवाली वस्तुओंमें या जो भीतरसे झाँक रहा है, उसमें?

आपका मन जो चुलबुलाता है, चञ्चल होता है, इधर-से-उधर जाता है, अस्थिर रहता है, इसका कारण यही होता है कि वह सारी दुनियाको अपनी मुट्ठीमें रखना चाहता है—यह भी हमारा भोग्य, वह भी हमारा भोग्य। इसलिए मनको कायदेमें लाना चाहिए।

वह कहाँ कायदेमें रहेगा? उसको 'आत्मसंस्थम्'—अपने आपमें स्थिर कीजिये और बाहरसे विषयोंका चिन्तन छोड़ दीजिये—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**' बड़ा भयंकर है चिन्तन इसका बंगलामें 'भयंकर' शब्द जरा हल्का है। उसका प्रयोग आनन्द और सत्यके साथ भी किया जाता है—भयंकर आनन्द, भयंकर सत्य। इसका अर्थ होता है पूर्ण सत्य, पूर्ण आनन्द। किन्तु हिन्दी-संस्कृतमें भयंकरका अर्थ भय देनेवाला ही होता है।

तो मनके भयंकर-चिन्तनसे बचनेके उद्देश्यसे थोड़ी देरके लिए अधर्मका तो क्या, धर्मका चिन्तन भी बन्द कर दो। शत्रुका तो क्या, दोस्तका चिन्तन भी बन्द कर दो। नरकका तो क्या स्वर्ग-वैकुण्ठका चिन्तन भी बन्द कर दो। जीवका तो क्या शिवका चिन्तन भी बन्द कर दो। ईश्वर भी यदि अन्य रूपसे है तो उसका भी चिन्तन छोड़ दो। जो ईश्वर मनका आश्रय रूप है, उसीका चिन्तन करो। मन: कल्पित ईश्वरका चिन्तन मत करो। जिसके प्रकाशमें मन दीखता है, उसमें मनको शान्त हो जाने दो।

'आत्मसंस्थं'में जो संस्थ शब्द है, उसका अर्थ संस्कृत भाषामें मृत्यु भी होता है। लेकिन यहाँ इसका अर्थ सम्यक् स्थिति मान लो। तुम्हारा मन पूर्णतः अपने आश्रयमें, अपनी मूलसत्तामें अपने मूलप्रकाशमें, अपने सच्चिदानन्दमें शान्त हो जाना चाहिए और उसे किसी प्रकारका कोई चिन्तन नहीं करना चाहिए। चिन्तन तो सच्चिदानन्दका भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि **अचिन्त्यं चिन्तमानोऽपि**

चिन्तारूपं भज्यत्यऽसौ—अचिन्त्यका चिन्तन करनेपर वह भी चिन्तारूप हो जाता है, ऐसा वेदान्तियोंका कहना है।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।

भगवान् यह मानते हैं कि मनमें दो दोष हैं। एक तो यह एक जगहसे उड़कर दूसरी जगह जाता है और फिर वहाँ भी टिकता नहीं, दूसरी जगह छोड़कर तीसरी जगह चला जाता है। मन भँवरा जैसा है, चञ्चरीक जैसा है। यह संसारके एक फूलसे दूसरे फूलपर भटकता रहता है। कहीं भी टिकता नहीं।

एक बातपर आपका ध्यान शायद न जाता हो और जाता हो तो क्या पूछना? संस्कृतमें जो 'निश्चरति' शब्द है उसका सीधा अर्थ है निकलकर जाता है। इसमें एक श्लेष है और वह भी भयंकर है—'निश्चरवत् आचरति निश्चरति'। 'निश्चर' शब्द संस्कृतमें 'निशाचर' भी है। जब सप्तमी समास होता है तब निशाचर बनता है और जब सप्तमी समासमें विभक्तिका लोप हो जाता है तब निश्चर शब्द बन जाता है। अंग्रेजीमें जो नाइट शब्द है इसका मूल संस्कृतमें 'निट्' है और 'नक्तम्' भी है। इसी 'निट्से' निश्चर शब्द बनता है।

यह शब्द और उसके अर्थकी बात हुई। अब आप अपने मूल विषयपर आइये। आपका चित्त जब चञ्चलता करने लगता है, डावाँडोल हो जाता है तो देवताकी तरह अथवा भलेमानुषकी तरह नहीं रहता, अपितु अन्धकारमें प्रवेश करके विचरण करने लगता है—'निश्चरति'।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।

अत: यह जहाँ-जहाँ भी जाये, वहाँ-वहाँसे इसको काबूमें करना चाहिए। इसको काबूमें रखना कठिन नहीं, बहुत आसान है। आसान शब्दका मूल अनायास है। अर्थात् आप बिना श्रमके इसको शान्त कर सकते हैं। इसके लिए उपनिषद्में दृष्टान्त है—**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं, पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं, पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति॥** छान्दो. 6.8.2

जैसी रस्सीसे बँधी हुई चिड़िया इधर-उधर उड़नेका प्रयास करने पर भी उड़ नहीं पाती और जहाँ बँधी रहती हैं, वहीं आकर उसे विश्राम होता है, उसी तरह हमारा मन आत्माके साथ बँधा हुआ है।

आत्मबन्धनम् हि सोम्य मनः और उससे मनको छुटकारा नहीं मिल सकता। आत्मा ही मनका विश्रामस्थल है। अब जरा प्रेमी लोग ध्यान दें इस बात पर कि वे बाहर चाहे किसीसे कितना भी प्रेम करते हों, किन्तु जब उन्हें नींद आती है तब सब प्रियतम छूट जाते हैं। बच्चा पलंगपर रह जाता है, पत्नी पलंगपर रह जाती है, हीरे-मोतीके ढेर तिजोरीमें रह जाते हैं, मन उनमें नहीं सोता, अपितु जिसका मन है उसीमें सोता है।

गीताका उपदेश मनको मारना नहीं, उपनिषदोंका भी उपदेश मनको मारना नहीं, वशमें करना है—**आत्मन्येव वशं नयेत्**। वशीकरणमें-नियन्त्रणमें और मारनेमें बड़ा भारी फर्क है। मन रहता है परन्तु काबूमें रहता है और, उसको कावूमें रखनेपर आप हो जाते हैं योगी। मन वशमें होनेकी पहचान सीधी है और वह

यह है कि जब आप कहें कि बेटा काम कर, तब मन काम करे और जब आप कहें कि अब ठप्प हो जा तो ठप्प हो जाय। आपका मन आपके हुक्मके अनुसार चलने लगे, नियन्त्रणमें, नियमनमें आजाय, उसका वशीकरण हो जाये। हमारे योगशास्त्र मनको वशमें करनेका उपाय बताते हैं।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ 6.27

तो, योगीमें तीन बातें आजाती हैं। उसका तमोगुण शान्त हो जाता है, रजोगुण शान्त हो जाता है और मन शान्त हो जाता है। ऐसे योगीके पास सुख स्वयं आता है। उसे सुखके पास जाना नहीं पड़ता। सुख भी कैसा? दो नम्बरका नहीं—**सुखमुत्तमम्।** उत्तम कोटिका सुख योगीके पास आता है। इतना ही नहीं वह सुख ब्रह्मस्वरूप और निर्मल होता है—**ब्रह्मभूतकल्मषम्।** निर्मल सुख माने जो भोगसे मिलता है वह नहीं, जो एक जगह मिलता है वह नहीं। ब्रह्मभूत सुखका तात्पर्य है कि जो सब जगह, सब समय और सब रूपोंमें प्राप्त होता है और उत्तम-कोटिका सुख वह है, जो पराधीन न करे। पराधीन करनेवाला सुख उत्तम-कोटिका नहीं है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ 6.28

कहते हैं कि आप अपने मनको शान्त करके इस सुखका आस्वादन कीजिये। वैसे योगमें आस्वादनको भी एक विघ्न मानते हैं—

नास्वादयेत् सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्।

(माण्डूक्यकारिका अद्वैत प्रकरण)

यदि अन्तर्मुख होनेपर आपको स्वाद आने लगे तो उसका स्वाद मत लीजिये। क्योंकि यदि आप अन्तर्मुखताका स्वाद लेने लगेंगे तो बहिर्मुखतासे आपका द्वेष हो जायेगा, सन्तुलन बिगड़ जायेगा और समता नष्ट हो जायेगी। इसलिए बोले कि भाई योग तो करो, किन्तु विगतकल्मष होकर करो—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।

योगीके सारे कल्मष धुल जाते हैं। कल्मष कर्मके दोषको कहते हैं। हम जो कर्म करते हैं उसमें दोष आ जाता है। कर्मषमें जो 'र' है उसका लकार हो जाता है—'रलयोरभेदः'। कर्मषः कल्मषः। कर्ममें दोष क्या है? किसी वस्तुको पानेके लिए कर्म करना दोष है, भोगकी लालसासे कर्म करना दोष है, अहंकारसे कर्म करना दोष है। अपने सिवाय दूसरेके पराधीन होनेकी इच्छा, भोगकी लालसा और अहंकार—ये तीनों अज्ञानसे होते हैं। इन तीनोंके मूलमें अपने स्वरूपका अज्ञान है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

को भल कहऊ देऊ कछु कोऊ।
अस वासना हृदय ते न जाई॥ विनय पत्रिका

मैं बड़ी साधना करता हूँ, परन्तु मनमें वह वासना बनी रहती है कि कोई हमको भला कहे, कोई हमारी

तारीफ करे और कोई कुछ दे जाय। हमारी यह वासना हृदयसे जाती नहीं। तो, वासना कर्मके मूलमें है। वासनाके मूलमें अहङ्कार है और अहङ्कारके मूलमें अज्ञान है।

वेदान्ती लोग बीचमें एक चीज और मानते हैं। उनकी मान्यताके अनुसार अहङ्कारके मूलमें भ्रम है और भ्रमके मूलमें अज्ञान है। यह विषय जरा सूक्ष्म हैं, सबके समझनेमें थोड़ा कठिन है। अहङ्कारके मूलमें भ्रमका अर्थ है 'इदं'को 'अहं' समझना और अज्ञान माने 'अहं'के सच्चे स्वरूपको न समझना। 'अहं'का सच्चा स्वरूप ब्रह्म है। उसको न समझना अज्ञान है। 'अहं'को अनात्मा समझ लेना भ्रम है। रज्जुको न पहचानना अज्ञान है और उसे साँप समझना भ्रम है।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।

तो, आपको आसानीसे, बिना श्रमके, बिना देशान्तरमें गये, बिना कालान्तरकी प्रतीक्षा किये, बिना वस्त्वन्तरको विषय बनाये, बिना कर्म किये और बिना वृत्ति समेटे सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श होगा। ब्रह्मसंस्पर्श सबसे बड़ा आत्यान्तिक, अन्तातिक्रान्त सुख है।

अत्यन्त माने=अन्त: अतिक्रान्त:—जिसका अन्त नहीं। 'सुखमश्नुते'का तात्पर्य सुखका भोग नहीं, 'सुखम् अश्नाति' नहीं, अपितु यह है कि सुख और आप एक हैं। जो सुख वह आप, जो आप वह सुख। आप सुखस्वरूप हो जायेंगे। सुखके लिए समाधिकी भी जरूरत नहीं रहेगी, वृत्तिकी एकाग्रता और ध्यान, धारणा भी आवश्यक नहीं रहेगा क्योंकि आप स्वयं सुख-स्वरूप हैं।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:॥ 6.29-32

योगके प्रसङ्गमें गीताका जो मुख्य मुद्दा है वह 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति' है। आप बाजारमें, आफिसमें, व्यवहार करते हुए सब जगह योगी हो सकते हैं। केवल योगी ही नहीं परमयोगी हो सकते हैं—**स योगी परमो मत:**। गीताने योगके प्रसङ्गमें वेदान्तको भी मिला लिया है। व्यवहार-शुद्धिके लिए वेदान्तका ज्ञान भी चाहिए। किन्तु वेदान्तका ज्ञान चाहिए जीवनको ठीक-ठीक व्यतीत करनेके लिए, मरनेके बादके लिए नहीं। धर्मात्मा लोगोंने स्वर्गको तो बैठा दिया मरनेके बाद तथा जीवनमें बैठाया आग और उसका धुआँ, फलको मौतके उसपार फेंक दिया। ऐसा उचित नहीं है।

वेदान्तका फल देखो। वेदान्तके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—पहली त्वंपदार्थका ज्ञान दूसरी,

तत्पदार्थका ज्ञान और तीसरी ऐक्यपदार्थका ज्ञान। जो लोग गीताका अनुसन्धान करते हैं, वे कभी-कभी पूछ बैठते हैं कि गीतामें महावाक्य कहाँ है? 'तत्त्वमसि' कहाँ है? 'अहं ब्रह्मास्मि' कहाँ है? 'प्रज्ञानं ब्रह्म' कहाँ है? किन्तु आप देखो गीताका जो **सर्वभूतस्थमात्मानम्**' है, यह कौन पदार्थ है? अहं पदार्थ ही तो है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्णका यह कथन भी उपनिषद्का मन्त्र ही है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

मनुस्मृतिमें भी आया है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥

यदि आप स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हों, सम्राट् बनना चाहते हों तो आपको राजधानी, सिंहासन, मन्त्री और महारानीकी कोई भी आवश्यकता नहीं। अहङ्कारका बलिदान कर दो और सबके साथ एक हो जाओ। फिर तुम स्वाराट् हो जाओगे, तुम्हें स्वराज्यकी प्राप्ति हो जायेगी। ईशावास्योपनिषद्में तो प्रारम्भमें ही आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

तात्पर्य यह कि अपने आपको समस्त प्राणियोंमें देखो। दीवाली हो, बहुतसे दीपक जल रहे हों और अग्नि देवताको भ्रम हो जाये कि इनमें मैं कौन हूँ तो क्या होगा? अरे भाई दीये अलग हैं, तेल अलग है, लौ अलग है, परन्तु सबमें अग्नि तो एक ही है। एक बार हम आगरामें शीशमहल देख रहे थे। वहाँ दियासलाई जलायी और उसकी ज्योति हजारों शीशोंमें एक साथ दिख गयी। तो एक ही सूर्य, एक ही अग्नि, एक ही वायु सबमें प्रकाशित, प्रज्वलित और प्रवाहित हो रही है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। कठ.
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। ऋ.

तुम तुम नहीं हो, मैं मैं नहीं हूँ, हम दोनोंमें जो एक है, उसका नाम आत्मा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

—और, आत्म-प्रकाशमें आत्मारूप अधिकरण अधिष्ठानमें ही सारी सृष्टि दिखायी पड़ रही है—

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।

—योगयुक्तात्मा पुरुष सर्वत्र अपने आत्माको देखता है। इसलिए आत्मत्वेन वह समदर्शी है। आत्मरूपसे सबमें एकको देखता है। एक भी दूसरा नहीं, अपना आपा।

अब परम-सत्य पदार्थको देखो। **यो मां पश्यति सर्वत्र**—जो सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें परमात्माको देखता है और **सर्वं च मयि पश्यति,** परमात्मामें सबको देखता है—इन दोनों कथनोंमें लक्षण

एक है। आत्मा सबमें और सब आत्मामें, सब परमात्मामें और सबमें परमात्मा, जिसमें सब है, जो सबमें है वह आत्मा और जो सबमें है और जिसमें सब है, वह परमात्मा। इसमें क्या फर्क हुआ, बताओ। पहचान तो सबकी एक ही हो गयी। तात्पर्य यह कि जो सर्वका अधिकरण, सर्वका अधिष्ठान, सर्वका आधार, सबका आश्रय उसका नाम आत्मा है, परमात्मा है। जो सबका उपादान है, सबमें अनुस्यूत है, व्याप्त है, उसका नाम परमात्मा।

यदि कहो कि अभी और स्पष्टीकरणकी आवश्यकता है, तो देखो—**तस्याहं न प्रणश्यामि।** संस्कृतमें प्रणाश शब्दका अर्थ सर्वथा मिट जाना नहीं होता, अभान होता है। जिसने यह पहचान लिया कि सबमें मैं और मैं सबमें, सबमें वह और वह सबमें—उसके लिए परमात्माका अदर्शन नहीं होता, अपितु उसको साक्षात्-अपरोक्ष दर्शन होता है। यह नहीं कि थोड़ी देर दीखा और थोड़ी देर नहीं दीखा। उसको सर्वमें, सर्वकालमें और सर्वावस्थामें परमात्माका दर्शन होता है। यदि इससे भी अधिक साफ-साफ समझना हो तो देखो एक 'असि' पदार्थ है दूसरा 'अस्मि' पदार्थ है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

कहते हैं कि जो सर्वभूतोंमें केवल प्राणी ही नहीं, प्राणी-अप्राणी दोनों रूपोंमें, चेतन और जड़के रूपमें, चर और अचरके रूपमें कार्य और कारणके रूपमें, दृश्य और द्रष्टाके रूपमें, भोग्य और भोक्ताके रूपमें, मालूम पड़ता है वही परमात्मा है। भक्त लोग भोक्ता और दृश्यको पकड़ते हैं तथा योगी लोग द्रष्टा और दृश्यको पकड़ते हैं। कुछ भी कहो जो सबमें एक है, उसीका नाम परमात्मा है। तो, एक हो जाओ और एक होकर—

भजत्येकत्वमास्थितः।

अब बड़े मुद्देकी बात बताते हैं—**सर्वथा वर्तमानोऽपि।** अर्थात् आप ब्राह्मचारीके रूपमें रहिए, गृहस्थके रूपमें रहिये, व्यापारीके रूपमें रहिये, त्यागीके रूपमें रहिये, राजा जनककी तरह राज्य कीजिए, वसिष्ठकी तरह पुरोहिती कीजिए, दत्तात्रेयकी तरह विरक्त रहिये, शुकदेवके समान परमहंस रहिये, कृष्णके समान लीला पुरुषोत्तम रहिये अथवा रामके समान मर्यादा पुरुषोत्तम, आपका व्यवहार, बर्ताव, वर्तना चाहे जैसा भी हो; यदि आप परमात्मामें स्थित हैं तो **स योगी मयि वर्तते।** अतः आप व्यवहारको मत देखो, आत्माको, परमात्माको देखो।

जल छलक रहा है या शान्त है, उसमें बाहरकी मिट्टी मिल गयी है या बिलकुल स्वच्छ है—यह मत देखो। जलको जलत्वेन देखो। जल रूपसे जलको देखो। **सर्वथा वर्तमानोऽपि**—यह बात भगवान्‌को बहुत पसन्द है। निरुक्तमें व्याख्याका एक नियम बताया गया है—

अभ्यासेन भूयांशमर्थं मन्यन्ते मीमांसकाः।

अर्थात् जब कोई बात दो बार कह दी जाती है तो उससे एक महान् अर्थकी सूचना मिलती है। गीतामें

कई वाक्य ऐसे हैं जो बार-बार आये हैं। तेरहवें अध्यायमें **सर्वथा वर्तमानोऽपि** और एक बार छठें अध्यायमें आया है।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। 13.23

और **सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥** 6.31

अब आप देखो कि योगीकी स्थिति क्या है? वह चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और हँसते-गाते, सब समय सारा व्यवहार करते हुए भी शासन करता है। पञ्चदशीका श्लोक देखिए—

ज्ञानिना चरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादिलौकिकम्।

श्रुति कहती है कि जिसको ज्ञान हुआ वह स्वराट् हो गया, सम्राट् हो गया, सर्वाधिपति हो गया। उसको कोई देवता भी नीचा दिखाना चाहे तो नहीं दिखा सकता। वह निर्भय हो जाता है।

स अभयं भवति स स्वराट् भवति स सम्राट् भवति।

अब बोले कि यह सब तो ठीक है। महाकाव्य भी आगये, किन्तु यह हुआ योगज्ञान। इससे जीवनमें दृष्टिकोण क्या आता है, तो देखिए—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 6.32

श्रीकृष्णका तात्पर्य यह है कि चाहे समाधि लगती हो अथवा साँस-साँसमें सोऽहं-सोऽहंका जप होता हो, किसी भी अवस्थामें साधन नहीं छोड़ना। तुम जप करो, तप करो, व्रत करो, योग करो—**सर्वथा वर्तमानोऽपि** में वह सब है। परन्तु दूसरोंके साथ अपनी आत्माके समान तादात्म्य रक्खो। भगवान् रामका जीवन देखो। महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायणमें कहते हैं कि जब राम किसीको दुःखी देखते हैं तो स्वयं दुःखी हो जाते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् भी सुदामाकी गरीबी देखकर द्रवित हो उठते हैं और उनकी क्या दशा होती है, कविके शब्दोंमें देखिए—

पानी परातको हाथ छुयो नहीं, नैननके जल सों पग धोए।

श्रीरामचन्द्रजी जटायुको आहत देखकर विह्वल हो जाते हैं और उसके धूलि धूसरित अंगको अपनी जटाओंसे झाड़ते हैं—

जटायुकी धूरि जटान सों झारे।

अस्तु, आप दुःखीको देखकर दुःखी होंगे तो आपके योगमें, ज्ञानमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। दुःखी तो आपकी ही आत्मा है। उसके साथ मिल जाइये। इसी प्रकार जब आप किसीको सुखी देखिए तो सुखी हो जाइये।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

छठे अध्यायमें भगवान्‌का जो उपदेश है, उसका नाम अर्जुनने साम्ययोग रखा है—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।

इसमें जो ध्यानका वर्णन है, वह बुद्धियोगके लिए उपयोगी है। इससे मनुष्यकी प्रज्ञा शुद्ध होती है, व्यवस्थित होती है। मनुष्यकी बुद्धिमें एक तो चाहिए पवित्रता और दूसरी चाहिए पदार्थावगाहिनी शक्ति। जिस वस्तुपर विचार करें, बिलकुल ठीक-ठीक करें। उसमें पक्षपात न हो और उसके द्वारा जो निश्चय हो उसमें स्थिरता हो। यह नहीं कि प्रतिदिन निश्चय बदलता रहे।

एक जज साहब हमारे मित्र थे। वे मुकदमा सुननेके बाद फैसला लिखवाते समय दृढ़ नहीं रह पाते थे। एक दिन एक फैसला लिखावें तो दूसरे दिन दूसरा फैसला। अन्तिम फैसला लिखवानेमें उन्हें कई दिन लग जाते थे।

तो, निर्णयमें स्थिरता चाहिए, पवित्रता चाहिए, सूक्ष्मता चाहिए। एक बात और, केवल पहलेकी घटनाओंके आधारपर निर्णय नहीं होना चाहिए। वर्तमानमें कैसा है और भविष्यमें इसका क्या परिणाम होगा, यह देख-समझकर निर्णय होना चहिए।

कोई बात कानूनसे तो ठीक हो और उसके पीछे वास्तविकता भी हो, लेकिन उससे देशमें दंगा-फसाद फैलनेकी सम्भावना हो तो से दबा देना ही उचित है। जिसका परिणाम शुभ नहीं, वह निर्णय गलत है। जजकी बुद्धि केवल प्रमाण और साक्ष्यकी अनुगामिनी न होकर परिणाम-दर्शिनी भी होनी चाहिए।

आपको भी अपनी पत्नीके साथ, भाईके साथ जज होना पड़ता है। अपने परिवार-पड़ोसीके साथ उचित व्यवहार करना पड़ता है। अत: औचित्यके निर्णयका सामर्थ्य आपके अन्दर होना चाहिए।

भागवतमें एक बात कही हुई है कि मनुष्य कितना भी अधिक बुद्धिमान् हो, कितना भी बड़ा गुणी हो, परन्तु यदि उसमें थोड़ा भी लोभ मिल गया तो मानो उसके शरीरपर कोढ़ हो गया—

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणा:।
लोभ:स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ 11.23.16

जैसे कोढ़ सुन्दर शरीरको नष्ट कर देता है, इसी प्रकार लोभ बड़े-बड़े सद्‌गुणोंको दबा देता है, भ्रष्ट कर देता है। बुद्धिको स्वार्थ और कामवासना—भोगवासना तो भ्रष्ट करती ही है, धर्मगत मूर्खता भी बुद्धिको भ्रष्ट करती है। तो अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि आपने साम्ययोगका उपदेश तो दिया, परन्तु मेरा मन बड़ा चञ्चल है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 6.34

अर्जुन कहते हैं कि मन इतना चञ्चल है कि वह भीतर ही भीतर दिलको हौंढ़ देता है, मथन कर देता है। उसको दबाना इसलिए कठिन है कि यह बड़ा बलवान् है। धीरे-धीरे अभ्यासका प्रयास करनेपर यह अपनी स्थितिपर बिलकुल दृढ़ हो जाता है। जहाँ सट गया है, वहाँसे हटना ही नहीं चाहता।

अब यहाँ एक बातपर आप ध्यान दो : जिसको स्वार्थका अभ्यास हो जाता है, वह अपने भाईसे भी स्वार्थी हो जाता है और उसको हानि पहुँचाकर भी अपना स्वार्थ पूरा करता है। लोग अपने बेटेसे, अपनी पत्नीसे, अपने माँ-बापसे भी स्वार्थी हो जाते हैं। जिसकी बुद्धिमें स्वार्थका प्रवेश हो गया, वह सबके साथ स्वार्थका व्यवहार करता है। उसके सामने स्वार्थकी पूर्तिके लिए अपने-परायेका कोई भेद नहीं रहता।

तो, स्वार्थकी आदत अपने भीतर है। वह यह नहीं देखती कि हम किसके साथ स्वार्थ कर रहे हैं। जैसे आग यह नहीं देखती कि वह किसको जला रही है, सूर्य यह नहीं देखता कि वह किसको प्रकाश दे रहा है और धुँआ यह नहीं देखता कि वह किसकी आँखमें घुस रहा है, वैसे ही स्वार्थ व्यवहार करनेमें बड़ा दृढ़ है। तो इसको वशमें कैसे किया जाये?

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।

श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन, सच है, मनका निग्रह बड़ा कठिन है। मैंने देखा है, कई बड़े-बड़े लोग सामनेवालेकी बातको पहले 'नहीं' कहकर काट देते हैं और बादमें फिर उसीका समर्थन करते हैं। उनको कहना यही होता है कि यह ठीक है, लेकिन उनकी जुबान आदतसे लाचार है। पहले बोलते हैं नहीं, नहीं, फिर उसीको दुहराते हैं, उसीको मानते हैं, उसीको ठीक समझते हैं। किन्तु श्रीकृष्णके बोलनेकी शैली देखिए—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

वे पहले अर्जुनका समर्थन करते हैं। संस्कृतमें इसको 'सत्यं-तावत्' इस प्रकार बोलते हैं। मतलब यह कि पहले सामनेवालेकी बात स्वीकार कीजिए, फिर दोष बताना हो तो बताइये।

श्रीकृष्ण अर्जुनको महाबाहो कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका आशय यह है कि तुम्हारे हाथ तो बड़े-बड़े हैं। तुम काम बड़े-बड़े कर सकते हो। निशाना अच्छा लगा सकते हो। परन्तु तुम्हारा मन तुम्हारे निशानेके भीतर अभी आया नहीं। निःसन्देह तुम्हारी बात सच्ची है। मन दुर्निग्रह है और चल है।

भगवान्‌ने अर्जुनकी सारी बातोंको दो शब्दोंमें ले लिया और फिर उसके लिए साधन बताते हैं। साधन दो

नहीं, तीन हैं। यह आप लोग गौरसे देखोगे तब मालूम पड़ेगा। जो ऊपर-ऊपर पढ़ते हैं, उनको दो मालूम पड़ते हैं और जो गहराईमें प्रवेश करते हैं उनको तीन मालूम पड़ते हैं—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

एक तो है अभ्यास। साधारण संस्कृतमें अभ्यासका अर्थ होता है दुहराना। जैसे हम किसी ग्रन्थका, श्लोकका अभ्यास करते हैं। बार-बार दुहराते हैं तो जुबानपर बैठ जाता है। परन्तु यहाँ मनके अभ्यासकी बात है। योगमें अभ्यासकी बड़ी महिमा है—आसनका अभ्यास, प्राणायामका अभ्यास, प्रत्याहारका अभ्यास आदि।

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

योगदर्शन कहता है कि अपने लक्ष्यमें स्थितिके लिए प्रयत्नका नाम अभ्यास है। आप जिस स्थितिको पाना चाहते हैं, उसको अपने मनमें बारम्बार दुहराइये और बारम्बार अपने मनकी कूँचीसे, मनकी तूलिकासे टच कीजिए। रामको पाना चाहते हैं तो रामके आकारको मनसे स्पर्श कीजिए, कृष्णको पाना चाहते हैं कृष्णके आकारको मनसे स्पर्श कीजिए। यदि मनको—**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्** की स्थितिमें ले जाना चाहते हैं तो 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'का बारम्बार स्पर्श कीजिए। इसका नाम होता है अभ्यास।

जो लक्ष्य आप प्राप्त करना चाहते हैं, उसको अपने मनसे बार-बार त्वाच् प्रत्यक्ष कीजिए, छूइये। त्वाच् प्रत्यक्ष माने छूना, टच करना।

इसी प्रकार जिसको नहीं पाना चाहते उसकी उपेक्षा कीजिए। किन्तु उससे घृणा मत कीजिए। विद्रोह मत कीजिए। द्वेष मत कीजिए। नहीं तो वह आपके मनमें और घुस जायगा। बार-बार उसकी याद आने लगेगी।

वैराग्य माने राग और द्वेष दोनोंकी शिथिलता। वैराग्यमें है तो केवल राग शब्द, लेकिन जैसे रामसे राम-लक्ष्मण और श्यामसे श्याम-बलराम दोनोंका ग्रहण होता है वैसे ही वैराग्य माने राग और द्वेष दोनों। उसका तात्पर्य है कि दुश्मनी भी मत कीजिए और मुहब्बत भी मत कीजिए। तब क्या करें? उपेक्षा कीजिए। जरा अपनी नजरको दूर ही रहने दीजिए, उससे एक मत कीजिए। उपेक्षा माने उपेक्षण, एक न होना, दूरसे देखना। उससे दुश्मनी करोगे तब भी एक हो जाओगे और दोस्ती करोगे, मुहब्बत करोगे तब भी एक हो जाओगे।

इस उपेक्षाका ही नाम वैराग्य है। वैराग्य माने राग-द्वेषकी शिथिलता, उसका अत्यन्ताभाव नहीं। जबतक जीवन है तबतक थोड़ा बहुत राग और द्वेष तो रहता ही है। परन्तु उसे शिथिल बनाकर रखना चाहिए। उसके वशमें नहीं होना चाहिए।

मनको पकड़नेके लिए अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय भगवान्‌ने बताये। आप जरा और ध्यान दें। स्यालदह स्टेशन आप लोगोंने देखा होगा! मैंने स्यालदह शब्दका उच्चारण किया और आपको स्यालदहकी याद आगयी। किन्तु न तो स्यालदह अपनी जगहसे उठकर आपके मनमें आया और न आपका मन अन्तःकरणसे निकलकर वहाँ गया। मन तो आपका अन्तःकरणमें है और स्यालदह स्टेशन अपनी जगहपर है। शब्दका उच्चारण करनेसे अर्थका एक आभास आपके मनमें आजाता है।

शीशेमें आपका जो प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है वह शीशा हटा देनेपर नहीं दिखायी पड़ता। प्रतिबिम्बमें जो लम्बाई-चौड़ाई, गहराई-ऊँचाई, रङ्ग आदि दिखायी पड़ता है, वह शीशेके भीतर कहीं नहीं है।

इसी तरह आपका मन बिलकुल शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है। उसमें कुछ नहीं है। न वह कहीं गया और न उसमें कुछ आया। शीशेमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह पसन्द आनेपर आप उसे पकड़नेकी कोशिश करेंगे तो पकड़में नहीं आयेगा और ग्लानि होनेपर हटानेकी कोशिश करेंगे तो हटेगा भी नहीं। इसलिए उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए।

मनकी स्थिति यह है कि न इसमें कुछ आता है न जाता है। सन्त कहते हैं कि—'साधो, आवे जाय सो माया' जो आता जाता है वह माया है। अगर यह बात आपको किताब पढ़नेसे मालूम न हुई तो आज समझ लीजिए कि मैं आपको पढ़ा रहा हूँ।

तीसरी बात भगवान्ने बतायी कि असंयतात्माओंके लिए योग दुष्प्राप्य है—**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।** अतः इन्द्रियोंका संयम अनिवार्य है। आप लोग कभी घोड़ेपर चढ़े होंगे। उसकी बागडोर कभी ढीली करनी पड़ती है, कभी कसनी पड़ती है, कभी दाहिने घुमानी पड़ती है, कभी बायें घुमानी पड़ती है। बागडोर ढीली छोड़नेसे घोड़ा सामान्य चालमें चलता है और कसनेसे तेज हो जाता है। इसी तरह बागडोरकी पकड़द्वारा घोड़ेको दाहिनेको घुमाना, बाँयें घुमा देना और खड़ा कर देना होता है।

संयमका तात्पर्य है कि आप घोड़ेके सवारकी तरह अपनी इन्द्रियों और मनकी बागडोरको अपने हाथमें रखिये। रोकिये तो रुक जाय, चलाइये तो चले।

हमने एक खिलौनेकी बस देखी। उसको बिना छूये दूरसे बोलते थे कि 'गो' तो वह चलने लगती थी और बोलते थे कि 'स्टाप' तो रुक जाती थी। तो इन्द्रियाँ और मन ये सब भी आपके खिलौने हैं। आप इनको आज्ञा दीजिए, इनके चलाये मत चलिए, इन्हे संयममें रखिये।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ 6.36

भगवान् कहते हैं कि आप अपने मनको तो वशमें रखनेका प्रयास कीजिए ही, शरीरको भी वशमें कीजिए। जबतक शरीर हिलेगा, डोलेगा, इन्द्रियाँ इधर-उधर चलेंगी, तबतक मन वशमें नहीं होगा। इस प्रकार मनको वशमें करनेके तीन उपाय हो गये—एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य ओर तीसरा संयम।

चौथा उपाय भी एक है जो सीखने लायक है। उपाय माने मनको वशमें करनेकी युक्तियाँ—

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ताः युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तयजे किल।

कहते हैं कि अपने मनको वशमें करना हो तो चार बातका ध्यान रखें। जो ड्राइवर केवल मोटर चलाना जानता है, मशीनको नहीं समझता, वह खराब होनेपर बीच रास्तेमें खड़ी कर देगा कि नहीं? तो आप अपने

मनसे, इन्द्रियोंसे, काम तो लेते हैं किन्तु वे कैसे काम करती हैं, यह नहीं जानते। हमारा जो मन है वह आँखमें जाता है तो देखता है, कानमें जाता है तो सुनता है। शरीरके भीतर जो प्रक्रिया हो रही है, इसीको अध्यात्मविद्या बोलते हैं—'आत्मनि एव इति अध्यात्मम्।' तो शरीरके भीतर जो मशीन चल रही है उसकी प्रणालीको ठीक-ठीक समझिये। जिन सन्तोंका मन वशमें है उनकी संगति कीजिये। अपनी वासनाओंको जरा कम कीजिये—**वासनाऽसम्परित्यागः** और साँसको अपने काबूमें कीजिये—**प्राणस्पन्दनिरोधनम्।** यह सीखकर करनेका है। बिना सीखे नहीं कर सकते। इसलिए इसीका नाम है उपाय।

उपाय शब्दका संस्कृतमें एक ऐसा अर्थ होता है कि पहले करके फिर छोड़ दे। नावसे नदी पार कर ले, और नाव छोड़ दे। जूता पहनकर कंकरीली भूमि पार कर ले, फिर जूता छोड़ दे। उसे पूजा घरमें न ले जाय। वैयाकरण शिरोमणि भतृर्हरिने उपाय शब्दका यह अर्थ किया है कि पहले स्वीकार करो पीछे छोड़ दो—**उपादायापि ये ह्येयाः उपायास्ते प्रकीर्तिताः।** यदि इन उपायोंको पकड़कर रखोगे तो ये तुमको बाँधकर दबा देंगे।

अब प्रश्न है कि एक श्रद्धालु साधक है। उससे साधनमें ढिलाई हो गयी। परन्तु वह श्रद्धालु है और आप जानते हैं श्रद्धा हृदयमें रहकर काम करती है। भगवान्‌ने श्रद्धाको बहुत महत्त्व दिया है। यह प्रश्न **श्रद्धयोपेतः** से प्रारम्भ हुआ है। श्रद्धामें उत्तरका उपसंहार किया गया है—**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।** प्रश्न श्रद्धासे और उत्तरकी पूर्णता श्रद्धामें।

इस प्रसंगमें एक बड़े भारी लोग-संग्रहकी बात आपको थोड़ेमें सुनाता हूँ। श्रद्धालु पुरुष योगसे छूट जाय और योगकी सिद्धि न मिले तो न इधरका रहा न उधरका रहा। अब उसकी क्या गति होगी? वह किधर जायेगा?

> **अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।**
> **अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥** 6.37
> **कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।**
> **अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥** 6.38

उसकी साधना भी छूटी और सिद्धि भी नहीं मिली। अब उसका क्या होगा? वह ब्रह्मके मार्गमें विमूढ़ हो जायेगा। विमूढ़ माने भटक जाना। इसके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णके प्रति अपनी बड़ी भारी श्रद्धा प्रकट की और कहा—

> **एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।**

आप पूरी शंका मिटा दीजिये क्योंकि—

> **त्वदन्यः संशयास्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।** 6.39

आपके सिवाय दूसरा कोई इस संशयको काट नहीं सकता। हर शिष्यके मनमें अपने गुरुके प्रति यही श्रद्धा होनी चाहिए कि इनके सिवाय हमारे संशयको मिटानेवाला और कोई नहीं संशय माने सोनेकी दशा।

संस्कृतमें संशय शब्दका अर्थ यही है। 'शीङ् स्वप्ने' धातु 'शय:' शब्द बनता है। 'सम्यक् शयने संशय।' इस संशयको कृष्णके सिवाय और कोई नहीं मिटा सकता है। यह अर्जुनकी श्रद्धा है।

वह कहता है कि हमसे योग-साधनामें गलती हो सकती है और सम्भव है आगे सिद्धि न मिले। परन्तु तुम्हारे ऊपर मेरी श्रद्धा है। मेरे संशयको मिटा दो—

छित्त्वैनं संशयम्।

भगवान् भी बारम्बार संशय छोड़नेको कहते हैं। जिसके हृदयमें शंका होती है उसे शान्ति नहीं मिल सकती। जो शान्ति काट दे, उसका नाम शंका—**शं शान्तिं कृत्तन्ति कृती कर्त्रने।**

तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! श्रद्धालुका विनाश न यहाँ है और न वहाँ है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

उसका न तो साधन छूटेगा और न सिद्धि छूटेगी। यहाँ-वहाँ कहीं भी उसकी हानि नहीं। इसके लिए एक शर्त जोड़ दी। आप भी इसका प्रयोग अपने व्यवहारमें कर सकते हैं—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। 6.40

अर्थात् जो अच्छा काम करेगा, उसको बुरा फल कभी नहीं मिलेगा। यह सुभाषित है। कोई अच्छा काम कर रहा हो और वह डरता हो कि करें या न करें तो आप उसको इस सुभाषितका उल्लेख करते हुए समझा सकते हैं कि वह अच्छा काम करनेसे विचलित न हो।

यदि कोई मर गया हो तो उसके सम्बन्धियोंके लिये यह आश्वासन है कि—**प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्**—वह उस उत्तम लोकमें पहुँच जायेगा, जहाँ पुण्य करनेवाले लोग जाते हैं।

वह उत्तम लोक कहाँ होता है? ऊपर भी होता है, भीतर भी होता है, नीचे भी होता है और बहुत दिनों तक स्थिर रहता है। उसके बाद पुण्यकर्ता जब इस लोकमें पैदा होता है तो श्रीमानोंके घर पैदा होता है। श्रीमान् भी ऐसे जो शुचि हैं, पवित्र है।

यहाँ आप एक बात देखें। पूर्व जन्मके पुण्यात्मा इस जन्ममें बड़े सम्पन्न हो सकते हैं, लेकिन वे सुखी भी हों—यह आवश्यक नहीं यदि वे पुर्वजन्मके पुण्यात्मा होंगे तो धन उनके पास आ जायेगा, किन्तु सुख तभी मिलेगा जब वे सत्सङ्गी होंगे। हम ऐसे बहुत-से लोगोंको जानते हैं, जिनके पास बड़ी सम्पदा है परन्तु वे सुखी नहीं।

सुख तो भगवद्भजनका, भगवच्चिन्तनका, ज्ञानाभ्यासका, सत्सङ्गका फल है और धन **कर्मका फल है।** यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं कि आपके पास चार पैसे हैं कि नहीं, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **आपका दिल** सुखी है कि नहीं।

यदि आपका दिल सुखी है तो कुछ न होने पर भी आप भाग्यवान् हैं और यदि बहुत **कुछ होनेपर भी** आपका दिल सुखी नहीं, तो आप भाग्यवान् नहीं हैं। वह धन किस कामका जो आपको **सुख नहीं दे सकता।** तो, **शुचीनां श्रीमतां गेहे** एक बात हुई।

दूसरी बात यह कि यदि पुण्यात्माकी वासना निवृत्त हो गयी हो तो वह—**योगिनामेव कुले भवति**—जिस वंशमें योगाभ्यास होता है उस वंशमें पैदा होता है या पैदा होकर योगियोंके बीचमें चला जाता है।

योगी भी दो तरहके होते हैं। एक मूर्ख योगी होते हैं और दूसरे ज्ञानी योगी होते हैं। आठ-आठ घण्टों तक आँख बन्द करके और शरीर तानके बैठे रहे, प्राणायाम प्रत्याहार भी ठीक किया, आसन भी स्थिर रहा किन्तु उठे तो मूर्खताका काम करने लगे। तो योगीको बुद्धिमान् होना चाहिए। धीमतां धी माने धारणावती। '**धत्ते इति धी**'—जो अच्छी बातोंको पकड़कर रखे, उसका नाम '**धी**' है। ऐसा जन्म दुर्लभ है—

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।। 6.42
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।। 6.43

वहाँ पूर्व शरीरका जो बुद्धियोग था, पूर्व जन्ममें जो अभ्यास किया था, वह प्रतिफलित होकर वैसी ही बुद्धि, वैसी ही साधना और वैसी स्थिति उसको फिर इस शरीरमें प्राप्त हो जाती है। उसका पूर्वाभ्यास सहायक हो जाता है।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।। 6.43
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।। 6.44

असलमें जिसको हम मरना कहते हैं वह महात्माओंकी दृष्टिमें वैसा ही है, जैसे सोना। जैसे, आप कमरेमें जिस पलंगपर जैसा बिस्तर बिछाकर, तकिया लगाकर, पंखा चलाकर सोते हैं और जब सबेरे जगते हैं तो कमरेका सामान और वातावरण ज्यों-का-त्यों मिलता है, वैसे ही मनुष्यका शरीर छूटनेपर उस समयके अन्त:करणकी जैसी परिस्थिति होती है वैसी ही परिस्थिति उसको दूसरे शरीरमें मिलती है।

जीवन जहाँ समाप्त होता है, वहीं प्रारम्भ होता है। अत: आगेके जीवनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए आप वर्तमान जीवनमें अपने चारों ओर भगवान्‌को, पवित्रताको, शान्तिको बसा लीजिये।

जैन लोग कहते हैं कि अहिंसाको बसा लीजिये, बौद्ध कहते हैं कि करुणाको बसा लीजिये। हिंसा और अहिंसा, करुणा और निष्ठुरता, दोनोंसे हित हो सकता है—ऐसी वैदिक धर्मकी मान्यता है। हमारा अहिंसामें आग्रह नहीं, लोकहित होना चाहिए। करुणा भी एकांगी है, अहिंसा भी एकांगी है। अहिंसा केवल निषेधात्मक है, करुणा केवल विधानात्मक है। हितमें बुद्धिका नाश नहीं है।

अमुक रोग आपरेशन करनेसे अच्छा होगा या मरहम लगानेसे और अमुक व्यक्तिका भला कुछ देनेसे होगा या उसे डाँट फटकारकर वापिस कर देनेसे—उसका निर्णय परिस्थितिके अनुसार होता है। इसीको हित बोलते हैं। **यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि**—यह वैदिक धर्मका सार है। अच्छा अब आगे देखो—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।। 6.44

पूर्वाभ्यास बड़ा समर्थ है। साधक कितना भी विषय-विवश हो गया हो, इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं, मन न हो, परन्तु जैसे लुटेरे जबरदस्ती लूटकर ले जाते हैं वैसे ही विषय-भोग-विवश साधकको भी उसके पूर्वका योगाभ्यास लूट लेता है, अपनी ओर खींच ले जाता है, अपहरण कर लेता है।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।। 6.44

मनुष्य जब योगका जिज्ञासु होता है, अन्तर्मुख होता है, परमात्मासे मिलना चाहता है, तब वह संसारमें कर्तव्योंके विधि, निषेधसे मुक्त हो जाता है। वह परमात्माकी प्राप्ति कर ले तब तो कहना ही क्या, यदि प्राप्त करनेका सच्चा जिज्ञासु हो जाय तो भी मुक्त हो जाता है। प्राप्त करनेवाला विधि, निषेधसे मुक्त हो जाता है—यह बात पहले कही है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

और, यहाँ बताया कि जिसको बाहरका कुछ पाना है, उसके लिए विधि, निषेध होता है। जिसको बाहरका कुछ नहीं पाना, अपने अन्तर्जगत्में महती प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है उसके लिए बाहरके विधि, निषेधका कोई अर्थ नहीं।

जिसको कहीं जाना नहीं, चलना नहीं, उसके लिए सड़कपर बाँयें चलो कि दाहिने चलोका कोई मतलब नहीं। यह सब तो उसके लिए है, जो चलता है। तो जब जिज्ञासुके लिए भी विधि, निषेधका महत्त्व नहीं तो योगीके लिए कहना ही क्या है?

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ 6.45

प्रयत्न करते-करते उसके जो किल्बिष हैं, पाप हैं, जिनके कारण वह संसार चक्रमें भटक गया था, वे नष्ट हो जाते हैं।

पहले बताया था कि संसारमें सबसे बड़ा पाप नासमझी है। दूसरे नम्बरका पाप घमण्ड है। तीसरे नम्बरका पाप मुहब्बत है। चौथे नम्बरका पाप दुश्मनी है और पाँचवें नम्बरका पाप मौतका डर है। ये पाँच पाप अन्तरङ्ग हैं और इनसे फिर पाँच महापाप दुनियामें पैदा होते हैं। तो

हरिसे लागा रहुरे भाई। तेरी बनत बनत बनि जाई॥

कितना बड़ा आश्वासन है। एक जन्ममें नहीं, तो अनेक जन्मोंमें सही, हमको तो सफलता मिलेगी। अपनी सफलतापर विश्वास रखो। विश्वासके बिना मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता। यदि प्रयोजन न हो तो मनुष्य कर्म न करे—

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।

प्रयोजनके अभावमें प्रवृत्ति नहीं होगी। कामना दूसरी वस्तु है और प्रयोजन दूसरी वस्तु है। कामना भोगको प्राप्त करके शान्त हो जाती है और भोग छूट जाता है। प्रयोजन वह होता है जो '**अवगतं सति आत्मनि इष्यते**'—मिलनेके बाद अपने आपमें आत्मसात् हो जाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ 18.25

वह कर्म तमोगुणी हो जायेगा, जिसके परिणामका हम ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर लेंगे। यह देखना

आवश्यक है कि जो परिणाम होगा, वह हमारे साथ मिल जायेगा कि नहीं, आत्मसात् होगा कि नहीं। दूध गायका हो, भैंसका हो अथवा बकरीका हो, उसमें मूल बात देखनेकी यह है कि पीनेके बाद वह हमको पच जायेगा कि नहीं? शरीरमें उसका जो पाचन है, वह प्रयोजन है। इसको देखे बिना आप दूध लेंगे तो आपको नुकसान करेगा।

यह सत्य अवगत करने योग्य है कि आहारका परिणाम शरीरके सकल अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति है। जिस प्रकार आत्मामें परमानन्दकी प्राप्ति वेदान्त-विचारका प्रयोजन होता है, वैसे ही आप कर्म करनेमें निष्काम तो रहिये, परन्तु आपको उसके प्रयोजनका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए। निष्कामको गलत नहीं समझना।

अब इस प्रसंगमें भगवान् लोक-संग्रहकी बात बताते हैं। सब लोग समझदार हो जायेंगे, यह कल्पना बिल्कुल शेखचिल्लीका ख्वाब है। इसी प्रकार सब धनी हो जायेंगे, यह ख्याल भी गलत है। आप यह शुभकामना अवश्य कीजिये कि सब स्वस्थ रहें। लेकिन सब स्वस्थ ही रहेंगे, यह बात दुनियामें कभी होनेवाली नहीं। सब ज्ञानी हो जाय, यह बात भी नहीं होगी। संसारका ऐसा ही स्वरूप है तब करना क्या है?

जो धनी नहीं, विद्वान् नहीं, बुद्धिमान नहीं, वे सब श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा तो मूर्ख भी रखता है। गाँवमें अनपढ़ लोग रहते हैं, बालक रहते हैं, पागल भी रहते हैं। किसीका ज्ञान ज्यादा होता है, किसीका कम होता है। उन सबको समान रूपसे ज्ञानी नहीं बनाया जा सकता। चाहे लाखों स्कूल और हजारों कालेज खोलो, लेकिन श्रद्धाके लिए स्कूल, कालेजोंकी जरूरत नहीं होती।

जो बच्चे पैदा होते हैं उनका विकास श्रद्धाके द्वारा ही होता है। हम पट्टीपर, स्लेटपर 'क' की एक शक्ल बनाते हैं। यदि बच्चा 'क' पर श्रद्धा नहीं करेगा तो पढ़ेगा कैसे? सीखनेवाला आदमी सिखायी हुई बातपर श्रद्धा करता है तभी सीखता है।

रसोई बनानेवाले पर हम श्रद्धा नहीं रखेंगे, विश्वास नहीं करेंगे और यह शंका करेंगे कि इसने खानेमें जहर न मिला दिया हो तो खायेंगे कैसे? बिना श्रद्धाके डाक्टरकी दवा कैसे लेंगे? नाईसे बाल कैसे बनवायेंगे? किसीका दिया हुआ पानी कैसे पीयेंगे? असलमें लोक-संग्रहके लिए ज्ञान-विज्ञान उतना अपेक्षित नहीं, जितना श्रद्धा-भाव अपेक्षित है। उपनिषद्में श्रद्धाको सम्पत्ति बताया गया है—**श्रद्धावित्तः।**

श्रद्धा धन है, श्रद्धा वित्त है। जिसके पास श्रद्धाकी पूँजी है वह पवित्रताके मार्गपर, साधनके मार्गपर चल सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि तपस्वी बड़ा है। जो पञ्चाग्नि तापते हैं, चौरासी धूनी तापते हैं, धूपमें रहते हैं, नंगे रहते हैं, ठण्डमें रहते हैं, पानीमें रहते हैं, भूखे रहते हैं, वे बड़े हैं; किन्तु उन तपस्वियोंसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक समझकर अपने योगमें, साधनमें, उपायमें स्थित है।

ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः। 6.46

जो बड़े-बड़े विद्वान् हैं, शास्त्री हैं, परोक्षज्ञानी हैं उनसे भी बड़ा वह है जो बुद्धिपूर्वक काम करता है,

समतापूर्वक काम करता है, रागद्वेषरहित काम करता है। निस्सन्देह जो लोग बहुत कर्म करते हैं। परन्तु समझते कुछ नहीं, उनसे बड़ा बुद्धियोगी है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि अर्जुन तुम बुद्धियोगी बनो। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी कह देते हैं कि तुमको तो मैंने समझाया और तुमने समझा। तुम तो योगी बन जाओगे, साम्ययोगी बन जाओगे, बुद्धियोगी बन जाओगे, पूर्णयोगी, अध्यात्मयोगी, राजयोगी, महाराजयोगी, महाराजाधिराजयोगी, अधिरूढ़राजयोगी, कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी, अनासक्तयोगी, निष्कामयोगी भी बन जाओगे। इन सब योगियोंसे भी आगे बढ़कर—**येगिनामपि सर्वेषां** के अनुसार अपनी अन्तरात्माको सर्वात्माके साथ मिला दोगे। जो तुम्हारी आत्मा सो सबकी आत्मा। तुम्हारे सामने सबके रूपमें परमेश्वर प्रकट होगा। ऐसा अनुभव न हो तो भी परवाह नहीं।

सभी पहले वसिष्ठ, शुकदेव अथवा वामदेव नहीं हो जाते। वैसे लोगोंको शुकदेव, वामदेव बननेका शौक जरा कम होता है। किन्तु जनक बननेका शौक बहुत ज्यादा होता है, क्योंकि उसमें कुछ छोड़ना नहीं पड़ता। तुम चाहे कुछ भी बन जाओ पर देखो, न तो सब वसिष्ठ होते हैं, न शुकदेव होते हैं, न वामदेव होते हैं, न जनक होते हैं, न राम होते हैं, न कृष्ण होते हैं। किन्तु एक बात सबके अधिकारकी है और वह यह कि सब श्रद्धावान् हो सकते हैं—'श्रद्धावान् भजते यो मां स ने युक्ततमो मत:'।। 6.47

जिसने परमात्माको देखा नहीं, आत्माका साक्षात्कार नहीं किया और योगकी समाधि नहीं लगायी, परन्तु यदि वह श्रद्धा-सम्पत्तिसे सम्पन्न है तो सबसे बड़ा है। इसमें कुछ करनेका ही नहीं। भगवान्‌ने बताया कि—

श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया:। 12.20

जिनके हृदयमें श्रद्धा है, वे मेरे बहुत प्यारे हैं। इसीका नाम है लोकसंग्रह। तात्पर्य यह कि केवल विद्वानों—बुद्धिमानोंसे ही दुनिया नहीं चलती। दुनिया तो श्रद्धालुओंसे, विश्वासियोंसे बात माननेवालोंसे चलती है। बड़े-बड़े महात्माओंके महात्मापनसे संसार नहीं चलता है, उनके अनुयायियोंसे संसार चलता है, जो उनके ऊपर श्रद्धा करता है।

अनुयायी राजाके होते हैं, सेठके होते हैं, विद्वान्‌के होते हैं, साधुके होते हैं। यदि जनमतकी दृष्टिसे देखा जाय तो श्रद्धालुओंकी संख्या अधिक है और श्रद्धेयोंकी संख्या बहुत कम है। इसलिए ज्ञान-विज्ञान लोकसंग्रहका हेतु नहीं, श्रद्धा लोक-संग्रहका हेतु है। युक्ततम वही है जो श्रद्धालु है। श्रद्धालु सबमें भगवान्‌के दर्शन करता है।

आप अपने दुश्मनसे मुस्कुरा कर बात कीजिए, उसको अपनेसे ऊपर बैठाइये। यदि वह कभी आपके घरमें आजाये, मार्गमें या सभामें मिल जाय तो आप उसको अपने दाहिने बैठाइये, ऊँचा बैठाइये, प्रेमसे बात कीजिए। जो सद्भाव-सम्पन्न है वह विजयी है और जो दुर्भावयुक्त है वह पराजित है। अपने हृदयमें दुर्भावको स्थान देना ही पराजित होना है। तो परमयोगी, युक्ततम योगी वही है जो अपना बड़प्पन छोड़कर, सुख-दु:खमें सबके साथ अपनेको मिला लेता है।

मैंने पढ़ा था कि कहीं सड़कपर एक बीमार पड़ा था। उसके शरीरमें कोढ़ था, मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। वह पीड़ाके कारण कराह रहा था। एक सत्पुरुष उधरसे निकले। उन्होंने उसको अपनी गोदमें उठा लिया, ले जाकर स्नान कराया। कपड़े बदलवाये। उसका उपचार किया और फिर उसको चूम लिया। बस, चूमते ही रुग्णके चेहरेपर मुस्कान आगयी। जो मरणासन्न मलिन अनाथ असहाय था, वह प्यार पाकर प्रसन्न हो उठा और केवल एक वाक्य बोला—'अब मैं सुख और शान्तिसे मरूँगा।'

तो, यदि आप किसी एक व्यक्तिको भी मरते समय सुख दे सकते हैं, शान्ति दे सकते हैं, उसमें भगवान्‌को देख सकते हैं तो आपसे बड़ा योगी और कोई नहीं।

आज यहाँका आयोजन सम्पन्न हो रहा है। कल शामको किसी व्यक्तिने मुझे उलाहना दिया कि आपने श्रोताओंकी तो बड़ी प्रशंसा की, किन्तु आयोजकोंको धन्यवाद ही नहीं दिया। वे इस समय यहाँ बैठे हुए हैं—शामके कार्यक्रमके आयोजक भी और सुबहके कार्यक्रमके आयोजक भी।

आपको एक बात बता दूँ कि आपलोग जो सुनना चाहते हैं, वही मेरी वाणी बोलने लगती है। मैं स्वयं अपनी ओरसे कुछ नहीं बोलता, आप ही बोलते हैं। आपके मनमें जो इच्छा है, वही बोलती है। इसलिए बोलनेवाला यदि किसीका कृतज्ञ है तो बुलवानेवालेका ही है, क्योंकि वही बोलनेकी प्रेरणा देता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(4)

गीता अध्याय - 7

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उसीसे लिखकर अबतक 'गीता-दर्शन' नामसे तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। उनका संकलन एवं संपादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया है।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुनः प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रातःकाल प्रवचन करनेके लिए बिरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

शेष भगवत्कृपा ।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी सं. 2036
20-10-79

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय-7

प्रवचन : 1

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अम्ब त्वामनुसन्दधामि अर्थात् हे अम्ब, हे माँ, मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। 'अम्ब' शब्दका संस्कृतमें अर्थ है—वर्णात्मिका। 'अब्' शब्दे धातुसे अम्ब शब्द बनता है। अम्बा वह है जो बोलना सिखाती है। सरस्वती माँ है इसीसे हम उसको अम्बा कहते हैं—वाग्देवी। आधिदैविक दृष्टिसे वाग्देवी सरस्वती है; आध्यात्मिक दृष्टिसे वाग्देवी वाक् है। यह गीता क्या है? भगवान्‌की वाणी—साक्षात् सरस्वती, अपने हृदयके भाव दूसरेके हृदय तक पहुँचानेवाली—ज्ञानका प्रवाह।

तो आइये, अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करें। उपनिषद्का कहना है कि हमारे जीवनमें एक सारथि चाहिए—हमारे जीवनमें एक बागडोर चाहिए।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ कठ० 1.3.9

जिसके जीवन-रथका सारथि विज्ञान है और जिसके मनकी बागडोर अपने हाथमें है, वह मार्गसे पार हो जाता है, अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। वहाँसे फिर राग-द्वेषके संसारमें उतरना नहीं होता। यह संसार क्या है? बस, राग और द्वेष—किसीसे राग होता है तो किसीसे द्वेष। यह राग-द्वेष ही संसार है। स्वर्ग-नरक इसीसे बनते हैं। अपने जीवनमें जब विज्ञान सारथि होता है और मनकी लगाम अपने हाथमें होती है तब कहीं भटकनेका डर नहीं रहता। इसीसे उपनिषद्में बताया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठ. 1.3.3-4

तात्पर्य यह कि यह जीवन रथी है, अर्जुनके स्थानपर है। **आत्मानं रथिनं विद्धि**—आपका शरीर रथ है। इसमें रथी होकर बैठा है जीव। बुद्धिमें बैठकर भगवान् सारथिका काम करते हैं। इसे यों समझिये—बुद्धिमें

वासुदेव हैं, मनकी बागडोर है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और हम जो इन्द्रियोंसे संसारके विषयोंको ग्रहण करते हैं, यही उनके दौड़नेके देश है। **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**—जीवात्मा, इन्द्रिय और मन, इनसे युक्त होकर आत्मा भोक्ता बनता है। **कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः।** जब हम अपनेको कर्ता मान बैठते हैं तो अपनेको भोक्ता माननेके लिए विवश हो जाते हैं।

क्या आश्चर्य है! मुद्रा तो है ज्ञानकी और अमृतका दोहन हो रहा है। एक ऐसा ग्वाला—गोपाल है, जो उपनिषदोंकी गाय दुह रहा है। ग्वालेका बालक (ग्वालबालके रूपमें स्वयं भगवान्) और वह उपनिषदोंकी गाय दुह रहा है! उसका हाथ है ज्ञान मुद्रामें और वह अमृतका दोहन कर रहा है।

गीताका प्रारम्भ कहाँसे होता है, इसमें भक्तों और वेदान्तियोंमें मतभेद है। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** (2.7)—यहाँसे गीताका प्रारम्भ होता है, ऐसा भक्तोंका मत है और **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** (2.11) से प्रारम्भ होता है, ऐसा वेदान्तियोंका मत है। भगवत् शरणागति मुख्य है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं और शोक-मोहकी निवृत्ति मुख्य है, ऐसा वेदान्ती कहते हैं। **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः** (18.66) यहाँ गीता समाप्त हो जाती है। गीता **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** से प्रारम्भ होती है और **मा शुचः** पर समाप्त होती है, ऐसा वेदान्ती लोग कहते हैं और **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** से गीता प्रारम्भ होती है और **करिष्ये वचनं** तव (18.73) पर समाप्त होती है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं। एक कृष्णके वचनसे प्रारम्भ और कृष्णके वचनपर समाप्ति तथा दूसरे अर्जुनके वचनसे प्रारम्भ और अर्जुनके वचनपर समाप्ति मानते हैं। बीचमें कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोगका वर्णन है।

आप कुछ करना चाहते हैं, क्योंकि कुछ पाना चाहते हैं। जिसको जीवनमें कुछ पानेकी इच्छा है उसको कुछ करना पड़ेगा। साधन और साध्यका परस्पर सम्बन्ध होता है। साध्यका भी ज्ञान होना चाहिए और साधनका भी ज्ञान होना चाहिए। यदि श्रद्धा नहीं होगी हृदयमें तो साधन और साध्यके सम्बन्धका ज्ञान नहीं होगा। जो हम कर रहे हैं और जो पाना चाहते हैं, उनके साथ हमें श्रद्धा ही जोड़ती है।

हम जो कर रहे हैं, उससे हम जो चाहते हैं, वह हमको मिलेगा। इस प्रकार पहले ज्ञान हुआ कि यह करेंगे तो यह मिलेगा। फिर श्रद्धापूर्वक साधनका अनुष्ठान हुआ। साधनका अनुष्ठान करते समय भी श्रद्धाका होना आवश्यक है कि हम जो कर रहे हैं उससे फलकी प्राप्ति होगी। श्रद्धाहीन कर्ममें रस नहीं होता—स्वाद नहीं आता। यदि आप अपने फलको सर्वथा अन्तमें फेंक देंगे तो जो कर्म आप कर रहे हैं, जो साधन कर रहे हैं, इसमें स्वाद नहीं आयेगा। श्रद्धासे रसकी उत्पत्ति होती है। यदि श्रद्धासे कर्ममें रसकी उत्पत्ति हो गयी तो फलकी ओरसे दृष्टि हट जाती है। कर्म करनेमें ही इतना मजा है, इतना स्वाद है कि बादमें कुछ मिले या न मिले, स्वर्ग मिले कि न मिले, कौन देखता है? हमको तो यह काम करनेमें ही एक उल्लास, एक हर्ष, एक प्रसादकी प्राप्ति है। यह काम करनेमें ही हमको स्वाद आता है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि काम करनेमें यदि भूत लग जाता है अर्थात् हम दौड़ रहे हैं आगेको तथा देख रहे हैं पीछेकी ओर कि हमारे पीछे कोई भूत तो नहीं आ रहा है, तो आगेके पाँव भी लड़खड़ा जाते

हैं और हम रास्तेसे च्युत हो जाते हैं। इसके साथ ही हम इतना आगे देखने लगते हैं कि पाँवके नीचे क्या है, इसका भी पता नहीं चलता; तब भी गिरनेकी सम्भावना रहती है। इसी प्रकार यदि पाँवके नीचे इतना देखने लगते हैं कि आगे क्या है यह भूल जाता है, तब भी गति अवरुद्ध हो जाती है। ये भूतके संस्कार हैं। वर्तमानमें कायदेसे अपने पाँव रख रहे हैं और ठीक लक्ष्यकी ओर—साध्यकी ओर बढ़ रहे हैं तो साधन-साध्यके सम्बन्धका ज्ञान होना चाहिए कि यह करनेसे यह मिलता है। श्रद्धापूर्वक साधनमें प्रवृत्ति होनी चाहिए। ज्ञानसे इच्छा होती है, इच्छासे कर्म होता है और कर्मसे सफलता मिलती है।

निष्काम लोग कहते हैं कि हमारा जो अन्त:करण शुद्ध हो रहा है, वही फल है। हम जो काम कर रहे हैं, बर्तन माँज रहे हैं, बर्तन धो रहे हैं और उसमें स्वच्छता आ रही है—हमारा बर्तन जो चमक रहा है तो उसको यह चमकाना हमारे कर्मका काम है। देखना यह है कि हमारा अन्त:करण शुद्ध हो रहा है कि नहीं हो रहा है।

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको बताया कि यह विज्ञान सारथि है—**सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सारयति अश्वान् इति सारथिः**—जो घोड़ोंका संचालन करे उसका नाम है सारथि। हमारी इन्द्रियाँ घोड़े हैं। संचालन ठीक हो रहा है कि नहीं, असमय में लगाम खींच दी, असमयमें ढील दे दी या असमयमें मोड़ दे दिया तो इससे हमारी इन्द्रियोंके घोड़े या तो रुक जाते हैं या तेज दौड़ने लगते हैं या बेरास्ते भटक जाते हैं। तो मनकी बागडोर भी ठीकसे चलनी चाहिए।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—**नियतं कुरु कर्म त्वं**—तुम कर्म करो। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (4.38)—ज्ञानके समान पवित्र और कुछ नहीं है। **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** (4.36)—आओ ज्ञानकी नावपर बैठो, तुम सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे पार हो जाओगे। अन्तमें भगवान्‌ने कहा कि काम करो, परन्तु अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ मिला दो। यह छठे अध्यायका उपसंहार है और सातवेंका उपक्रम है।

वेदान्ती लोग मानते हैं कि उपक्रममें बड़ा पराक्रम होता है। उपक्रम माने कोई काम हम प्रारम्भ करते हैं तो कैसे प्रारम्भ करते हैं। उस समय किसलिए प्रारम्भ करते हैं, किस लक्ष्यसे, किस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए प्रारम्भ करते हैं। जिस कामको करनेके लिए या जिस कामकी सफलताके लिए हम आरम्भ करते हैं, वही अन्तमें पूर्ण होता है—सफल होता है। भक्त लोग कहते हैं कि उपक्रममें, प्रारम्भमें कोई गलती भी हो सकती है; परन्तु जहाँ उपसंहार हो वहाँ जाकर हमारा कर्म पूर्ण होता है। उपक्रममें संकल्प है और उपसंहारमें प्राप्ति है।

आओ, अब देखो, यहाँ छठे अध्यायका उपसंहार और सातवें अध्यायका उपक्रम—दोनों एक साथ मिल जाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ 6.47

भगवान्ने कहा—हम आपका आदर करते हैं। किसका आदर करते हैं? **मत: सम्मत:** अर्थात् वे हमारी मतिके अनुरूप हैं-चाहे भक्तियोगी हों, चाहे ज्ञानयोगी हों। **योगिनामपि सर्वेषां**-जितने भी योगी होते हैं—जितने भी साधन होते हैं क्योंकि योगीका अर्थ है—'साधक' (साधन करनेवाले)।

इसका अर्थ यह नहीं है कि वे चन्दन कैसे लगाते हैं। यह तो गीतामें है नहीं। चन्दन आड़ा है या खड़ा है, इसका वर्णन सारी गीतामें कहीं नहीं है। आप तुलसीकी माला पहनते हैं या रुद्राक्षकी, इसका भी वर्णन सारी गीतामें नहीं है। आपका कपड़ा लाल है कि सफेद है, इसका वर्णन भी गीतामें नहीं है।

वहाँ तो 'योग' शब्दका जो अनेक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है वह है—**योग: कर्मसु कौशलम्** (2.50) तात्पर्य है कर्म करनेकी कुशलता। काम करते समय आप इतने आविष्ट तो नहीं हो जाते कि उसके फन्देमें आप फँस गये। ऐसी चतुराईसे, ऐसे कौशलसे कर्म कीजिए कि कर्म करते भी चलिये और उसमें फँसिये भी मत।

सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। 2.48

आपके मनमें रागद्वेष न हो, समता बनी रहे। सिद्धि-असिद्धिका ख्याल मत कीजिए। यह ध्यान कीजिए कि मैं काम ठीक-ठीक कर रहा हूँ कि नहीं। यदि आप अपना कर्म ठीकसे कर रहे हैं तो आगेकी फिक्र करनेकी कोई जरूरत नहीं। क्या अच्छा काम करना अपने आपमें सफलता नहीं है? जिस समय एक गिलास पानी लेकर आप दूसरेको पिलाते हैं उस समय वह हाथमें पानीका गिलास लेना और किसीको पिलाना आपका यह कर्म क्या आपको सुख नहीं देता? जब आप किसीको नमस्कार करते हैं तो क्या मजा नहीं आता? नमस्कार भी तो एक कर्म ही है न! जब आप किसीका स्वागत करते हैं तो क्या आपको आनन्द नहीं आता? तो कर्म स्वयंमें रस है। यदि आप कर्म श्रद्धासे करते हैं, विनयसे और निष्ठाके साथ करते हैं तो काम करना स्वयंमें एक रस है।

योग तो बहुत तरहसे किया जाता है। समाधि लगाना भी योग है, कर्म करना भी योग है, भक्ति करना भी योग है तथा ज्ञान प्राप्त करना भी योग है। यों योग विविध हैं, लेकिन जो निवृत्तिपरक योग हैं, हम यहाँ उनकी चर्चा नहीं करते। आप काम करते रहिए और आपका योग होता रहे, तो यह कैसे होगा? भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि **मद्गतेनान्तरात्मना**। यह योगकी कुञ्जी है।

आप अपनी अन्तरात्माको भगवान्के साथ मिला दीजिए। आपकी अन्तरात्मा कहाँ है? परमात्माके साथ मिली हुई है कि अलग पड़ गयी है। सर्वात्माकी दृष्टिसे विचार करिये तो यह जो विश्वसृष्टि चल रही है, इसमें पृथिवी सबको धारण करती है और सर्वात्मा पृथिवीके अन्दर बैठकर काम कर रहा है। जल सबको तृप्त करता है और जलके अन्दर बैठकर सर्वात्मा काम करता है। सूर्य सबको रोशनी दे रहा है और सूर्यके भीतर बैठकर सर्वात्मा काम कर रहा है। यों ही वायु सबको प्राण दे रहा है तथा आकाश सबको अवकाश दे रहा है। देखिए, यही है—**मद्गतेनान्तरात्मना**।

जब आपकी अन्तरात्मा पृथिवीके समान सबको धारण करती है—सबको क्षमा करती है; जलके

समान सबका आप्यायन करती है—सबको तृप्त करती है; तेजके समान—सूर्यके समान—सबको प्रकाश देती है; वायुके समान सबको प्राण प्रदान करती है और आकाशके समान सबको अवकाश देती है, तब समझिये कि आपकी अन्तरात्मा परमात्माके साथ मिल गयी। इस प्रक्रियामें यदि यह मेरा और वह तेरा तथा वह दुश्मन और यह दोस्त अर्थात् रागद्वेषमें फँस गयी तो आपकी अन्तरात्मा परमात्माके साथ नहीं मिली।

मद्गतेनान्तरात्मनाका अभिप्राय है कि अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ मिला दो। यदि ऐसा अनुभव नहीं होता है तो यह मत भूलिए कि अनुभव एक दिनमें नहीं होता।

पहले ही कहा जा चुका है कि **श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।** श्रद्धाके साथ आगे बढ़ो; **श्रद्धया सत्यमाप्यते**—वेदका मन्त्र बोलता है कि श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है। एक मन्त्र बोलता है—**नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः**—अश्रद्धालुका अविष्य देवता लोग ग्रहण नहीं करते। **प्रातः श्रद्धामावाहमहे**—प्रातःकाल हम श्रद्धाका आवाहन करते हैं; ईश्वरमें श्रद्धा हो, शास्त्रमें श्रद्धा हो, गुरुजनोंमें श्रद्धा हो, कर्ममें श्रद्धा हो और सफलतामें श्रद्धा हो। श्रद्धा हो तो रस आयेगा और उत्साह बढ़ेगा।

श्रद्धावान्भजते यो मां................
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। 12.20

क्या भगवान् अनुभवीसे प्रेम करते हैं? नहीं, अनुभवी तो भगवान्की आत्मा ही हैं, उससे क्या प्रेम करेंगे? तो भगवान् प्रेम किससे करते हैं? **यो मद्भक्तः स मे प्रियः** 12.16—उनका वचन है कि जो मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है। फिर यदि पूछिये कि अत्यन्त प्यारा कौन है तो उनका कहना है कि जिसको अनुभव भी नहीं हुआ है; अभी भक्ति भी पूरी तरहसे हृदयमें नहीं आयी है; जो अभी शिशु है, बालक है श्रद्धाके साथ—**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**—अतीव प्रिय।

गीताके द्वादश अध्यायके **अद्वेष्टा सर्वभूतानां** से लेकर अध्यायकी पूर्तिपर्यन्त आठ श्लोकोंमें भक्तके लक्षण बताये गये हैं। उनसे युक्त भक्तको ही भगवान्ने अपना प्यारा कहा है। और अत्यन्त प्यारा कौन है? जो श्रद्धासे युक्त है; जिसमें न तो अभी ज्ञान्का उदय हुआ है और न प्रेमका ही उदय हुआ है, परन्तु वह मुझपर विश्वास करके श्रद्धाके साथ मेरा भजन करता है। अतः अपनी अन्तरात्माको ईश्वरके साथ मिला दो और अपने अन्दर भगवान्की व्यापिनी आदि शक्तियोंको प्रकट होने दो।

आकाशकी शक्तिको व्यापिनी और वायुकी शक्तिको प्राणनी कहते हैं। इसी प्रकार तेजको प्रकाशिनी शक्ति और जलको आप्यायिनी शक्ति बोलते हैं। पृथिवीकी शक्तिका नाम धारिणी है। यह बात भगवान्ने सावतें अध्यायमें स्वयं कही है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः** (श्लोक 8)। यदि ये शक्तियाँ प्रकट नहीं होती हैं तो श्रद्धा रखो। भगवान् कहते हैं—तुम युक्त ही नहीं युक्ततर, युक्ततर ही नहीं युक्ततम हो—अतिशय युक्त हो।

युक्तकी चर्चा हम पीछे करेंगे, पहले सावतें अध्यायका प्रारम्भ करें। कैसा अद्भुत प्रारम्भ है सातवें अध्यायका। उसमें पाँच बातें कही गयी हैं। पहले श्लोकमें भगवान्की वाणी प्रवाहित हो रही है—

श्रीभगवानुवाच। भगवान् उवाचका अर्थ है भगवद्-वचन। व्यासजीने कहा—यह आगे जो है, यह भगवान्का वचन है। छठे अध्यायके अन्तमें किसी दूसरेका वचन तो आया नहीं, भगवान्ने ही बोल दिया कि—**युक्ततमो मतः** और फिर अध्यायका विच्छेद होकर सातवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ। तो प्रश्न हो सकता है कि बोल तो रहे हैं भगवान्, यह भगवान्का ही वचन है, फिर अध्यायका विच्छेद क्यों हुआ?

मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वानोंका मत है कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगका विशेषरूपसे वर्णन है। सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतक विशेषरूपसे भक्तियोगका वर्णन है। अतः कर्मयोग और भक्तियोगके मध्य एक रेखा खींचनेके लिए अध्याय आगया बीचमें। यहाँसे एक दूसरा अध्ययन प्रारम्भ होता है—भक्तियोगका अध्ययन, छः अध्यायों तक कर्मयोग अध्ययन है—अध्याय (अध्ययनं अध्यायः)। अध्ययनको ही अध्याय बोलते हैं। जैसे पहला पाठ, दूसरा पाठ और तीसरा पाठ कहते हैं, वैसे ही यह सातवाँ पाठ है। सातवाँ अध्याय अर्थात् सातवाँ पाठ।

स्तोत्रमें कहा है कि भगवान्की कृपा उसपर होती है जो दैन्यादि सद्गुणोंसे युक्त है, अभिमानीपर कृपा नहीं होती। इसके माने है कि अभिमानी कृपाका अनुभव नहीं कर सकता। यह बात नहीं है कि कोई ऐसा देश है, कोई ऐसा काल है, कोई ऐसा हृदय है अथवा कोई ऐसी वस्तु है जिसपर भगवान्की कृपा न हो, परन्तु अहं भावकी प्रधानतासे कृपाका अनुभव नहीं होता और जो **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** करके शरणागत होता है वह भगवान्की वाणी सुनता है।

अब देखिए, यहाँ अर्जुन मौन है और भगवान्की वाणी मुखर हो रही है। इसके लिए आवश्यक है कि विनय, दैन्यादि सद्गुण हों, जिज्ञासा हो; वाद-विवादकी रुचि न हो, मतवाद न हो। यदि आप अपने मतकी स्थापना करके चाहते हैं कि हमारे मतका समर्थन भगवान् करें तो यहाँ भगवान्की वाणी अवरुद्ध हो जायेगी और आपकी मति मुखर हो जायगी। जहाँ हम स्वयं जिज्ञासु होते हैं वहाँ भगवान् बोलते हैं। अतः हम अपने मनके विचारोंको, चिन्ताओंको समाप्त कर दें और भगवान्की वाणी सुनें।

बैखरीके भीतर मध्यमा है, मध्यमाके भीतर पश्यन्ती है तथा पश्यन्तीके भीतर परा है। परा वाक् साक्षात् भगवान् है। वही गीताके रूपमें प्रकट हो रही है। जैसे प्रेमियोंके बीचमें वेणुनाद प्रकट होता है—वंशीध्वनि, तात्पर्य यह कि जिसके हृदयमें भगवान्का प्रेम है उसके हृदयको भगवान् बाँसुरी बजाकर आकृष्ट कर लेते हैं वैसे ही जिसके हृदयमें जिज्ञासा होती है उसके हृदयको भगवान् गीता बोलकर आकृष्ट कर लेते हैं।

प्रेप्सुके लिए वंशीध्वनि है। जो पाना चाहता है—प्रेम चाहता है उसके लिए वंशीध्वनि है और जो ज्ञान चाहता है—कर्मका ज्ञान, भक्तिका ज्ञान अथवा समाधिका ज्ञान—उसके लिए भगवान्की गीता है। उसको आत्माका ज्ञान, परमात्माका ज्ञान देनेके लिए भगवान्की वाणी मुखर होती है।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ 7.1

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ 7.1-2-3

अपनी वाणीकी ओर अर्जुनको अभिमुख करते हुए भगवान् कहते हैं—'मैं तुमको एक ऐसा ज्ञान दे रहा हूँ जिसको जान लेनेपर इस विश्वसृष्टिमें दूसरा कुछ जानना शेष नहीं रहता।' देखिए, यदि दुनियासे आप सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहेंगे तो आपको भटकते ही रह जाना पड़ेगा। मिट्टीमें कितने कण हैं, पानीमें कितनी बूँदें हैं, वायुमें कितने झोंके हैं, अग्निमें कितनी लपटें उठती हैं, तेजके क्या-क्या रूप हैं और ग्रह-नक्षत्र तारे कितने हैं, इनका कभी अन्त नहीं मिलेगा। तो क्या बाहरकी वस्तुओंको गिन-गिनकर हम उनका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं? नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु एक वस्तु ऐसी है जिसका ज्ञान हो जाने पर सबका ज्ञान हो जाता है। उसको कहते हैं—अधिष्ठानका ज्ञान, उपादानका ज्ञान।

जिससे ये सब बने हैं उसको जान लो तो सबका ज्ञान हो जायेगा। सबमें जिसकी रोशनी है उसको जाल लो, सबका ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। सबमें जो रस है उसको जान लो, सबका ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। अधिष्ठानका ज्ञान, उपादानका ज्ञान, स्वप्रकाशका ज्ञान, परमानन्दका ज्ञान—एक विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यह सर्वका विज्ञान आत्मदृष्टिसे भी सुलभ होता है और परमात्म-दृष्टिसे भी।

भक्त लोग कहते हैं—एक भगवान् ही सबके रूपमें आया, अतः उसको जान लो तो सबका ज्ञान हो जायगा। शैव लोग कहते हैं—एक आत्मा ही सबके रूपमें प्रकट होता है। यह भगवान्का विलास है, ऐसा भक्त लोग कहते हैं। यह आत्माका उल्लास है ऐसा शैव लोग कहते हैं। आत्मा और परमात्मा दो नहीं, एक ही हैं। इसलिए सब ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा वेदान्तका कहना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ऐसा ज्ञान है जिसके प्राप्त हो जानेपर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

इसके लिए प्रणाली क्या है? अब प्रणाली बताते हैं। पहली बात तो यह है कि आपके मनकी आसक्ति होनी चाहिए परमात्मामें—**मय्यासक्तमनाः पार्थ**। दूसरी बात है—**मदाश्रयः**—आश्रय होना चाहिए भगवान्का। **योगं युञ्जन्** अर्थात् कर्म करते रहिये, यह तीसरी बात हुई। **यथा ज्ञास्यसि**—जिस रीतिसे ज्ञान होगा, वह रीति सुनो, **समग्रं मां ज्ञास्यसि**—समग्र मुझको जानोगे। उपर्युक्त पाँच बातोंकी प्रतिज्ञा एक श्लोक में की गयी है।

अब इनपर विचार करिये। प्रेम किससे है और आश्रय किसका है, ये दोनों दो बातें होती हैं। एक कर्मचारी है और एक सेठ है। एक सैनिक है, वह सेनापतिके अथवा राजाके आश्रित है। यों अपने सेठके या राजाके आश्रित है कर्मचारी। उसको उन्हींका आश्रय है उन्हींसे पैसा मिलता है, उन्हींसे जीविका मिलती है। वह उन्हींके लिए सब काम करता है। वे ही उसके आश्रय हैं। लेकिन उसका प्रेम कहाँ है? अपनी पत्नीसे है; अपने पुत्रसे है; अपने शरीरसे है; अपने मित्रसे है। यों, प्रेम अलग है और आश्रय अलग है।

विभाग हो गया, दोनोंका। अपनी बुद्धिका आश्रय है, अहंभावका आश्रय है। प्रेम किससे है? शरीरसे, पत्नी-पुत्र और मित्रसे।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि दोनोंकी एक कर लो—**मय्यासक्तमनाः और मदाश्रयः**। मेरा ही आश्रय हो और मुझसे ही प्रेम हो। यह है आश्रय और प्रेमास्पदकी एकता। आपका मुनीम, आपका मैनेजर आपके आश्रित है। वह जानता है कि अगर इनका काम, इनकी सेवा मैं नहीं करूँगा तो मुझको धन मिलना बन्द हो जायेगा और हम जियेंगे कैसे? तो उसका उद्देश्य है अपने प्रेमास्पद शरीरको और शरीरके सम्बन्धियोंको जिलाना, उनको सुख पहुँचाना। वह सुख किसको पहुँचाना चाहता है? शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंको तथा आश्रित किसके है? सेठके, साहूकारके। अब आप देखिये, विभाग जब हो गया तो एक जगह से लेंगे और दूसरी जगह देंगे।

भगवान् कहते हैं—'हमसे ही लो, हमको ही दो।' **मदाश्रयः मय्यासक्तमनाः**—जहाँसे प्राप्ति होती है, जहाँसे ज्ञान मिलता है। वहीं अपने आनन्दको स्थापित कर दो। **मय्यासक्तमनाः**के इसी श्लोकमें तीन बार कृष्णका '**मैं**' आता है—**मयि, मत्** और **माम्**-तीन बार वे अपनी ओर खींचते हैं। अब इससे अधिक और क्या बात हो सकती है? मुझसे प्रीति, मेरा आश्रय और मेरा ज्ञान मुझसे प्रेम करो, मेरा आश्रय लो और और मुझे जानो। कैसा जानो **समग्रं मां**—सम्पूर्ण रूपसे मुझे जानो, अधूरा मत जानो अध्यायके अन्तमें यह बात कही गयी है, समग्रता क्या होती है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

यह अधिभूत जगत् भी भगवान् है। ये पेड़-पौधे भी परमात्माके स्वरूप हैं। यह मिट्टी भी परमात्माका स्वरूप है, जल भी परमात्माका स्वरूप है। पहले राजस्थानमें बोलते थे—'बाबा, पानी है इसको व्यर्थ मत गँवाओ। धरतीपर चलो तो जूतेसे रौंदते हुए मत चलो। एक भी तिनकेको तोड़कर मत फेंको। पेड़ मत काटो। व्यर्थमें आग मत जलाओ। हवाको गन्दी मत करो। ऐसे शब्द मत बोलो जिससे आकाश गन्दा हो।'

हम जो शब्द बोलते हैं, वे सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त हो जाते हैं गन्दे शब्द बोलेंगे तो अपनी गन्दगीको आकाशके साथ, ईश्वरके साथ जोड़ेंगे। हमारी साँस गन्दी निकलेगी तो वातावरण गन्दा होगा। हम व्यर्थमें धुआँ करेंगे तो तेजस् तत्त्व दूषित होगा। पानीमें गन्दी चीज डालेंगे तो पानी गन्दा होगा। परमेश्वरको समग्र रूपमें जानो। अधिभूत भी वही है, अधिदैव भी वही है और अध्यात्म भी वही है। अपना स्वरूप भी वही है और इन्द्रादि, सूर्यादि देवताका स्वरूप वही है तथा यह जो दुनिया हम देख रहे हैं, यह भी वही है। यही है उसका **समग्रं मां**। इसके ज्ञानकी प्रणाली क्या है? विवेक। **यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु** क्या है? **भूमिरापोऽनलो** वायुः करके आगे समझायेंगे।

भगवान्के दो शरीर हैं—एक क्षर शरीर है और एक अक्षर शरीर है। एक प्रकृति है और एक पुरुष है। पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम; तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म तथा

सातवें अध्यायमें अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमात्मा ये तीन-तीन करके वर्णन किये गये हैं। तो ये सब क्षर, क्षेत्र और अपरा प्रकृति भी परमात्माका ही शरीर है, अतः दुनियाको मत बिगाड़ो।

एक बार एक महात्माके पास हम लोग बैठे थे। हमारे एक साथीने घास नोंचना शुरू कर दिया। यह वैसा ही काम था जैसे किसी बच्चेकी आदत हो कि कालीनपर बैठे तो उसमें-से रेशे निकालने लग जाये। तो दूब थी वहाँ और वह महाशय उसे तोड़ने लगे।

इसपर महात्माने कहा—'भाई, क्या करते हो? यह माटी, बीजके संयोगसे, जल और वातावरणके संयोगसे हरी-हरी घासके रूपमें आयी है। इसका विकास हुआ है। मृत्तिका विकसित होकर घासके रूपमें प्रकट है। इसमें जीवात्माका प्रवेश हुआ है। अब इसको गायें खायेंगी तो दूध बनेगा। दूधको मुनष्य पियेगा तो मनुष्य हो जायगा—तीन पीढ़ीमें यह घास मनुष्य हो जायेगी। यदि तुम इसे नोचकर फेंक दोगे तो यह फिरसे माटीकी माटी हो जायेगी। तो सावधान! घासको हानि मत पहुँचाओ। यह भी परमात्माका स्वरूप है।'

एक सज्जन किसी महात्मासे मिलने गये। उन्होंने पटाकसे जो जूता निकाला तो एक जूता दूसरे जूतेपर चढ़ गया। फिर किवाड़ी खोली तो खट्से आवाज हुई। अब गये, प्रणाम किया महात्माको और बोले—'महाराज, आप उपदेश करो—परमेश्वर क्या है और कैसे मिलता है?' महात्माने कहा—'तुम पहले बाहर जाओ। वह जो जूते एक दूसरेपर चढ़े हुए हैं, उन्हें ठीक करो। उन्हें कष्ट हो रहा होगा, जूतेकी तकलीफ दूर करो। खटाकसे जो किवाड़ी बन्द की है तो उसे चोट लगी है। उससे क्षमा माँगो।' ऐसे ही महात्माजीने यह भी बताया कि यदि फल रखे हों तो एक परसे दूसरेको उतार दो। जबतक एक फल दूसरे पर चढ़ा रहेगा, तबतक उसे सुख कैसे मिलेगा? फलको भी सुखी रखो।

इसीलिए भगवान्ने कहा—**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।** यह समग्र सृष्टि—यह पानी, यह आग, ये पेड़, ये पौधे—सभी परमेश्वरके रूप हैं। हम जड़ या चेतन जिसके भी साथ जो व्यवहार करते हैं, वह परमेश्वरके साथ व्यवहार करते हैं। हमारे हृदयमें यदि परमेश्वरकी बुद्धि है तो वह बुद्धि ज्ञानके रूपमें प्रकट हो जायेगी।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। एक बात तो यह हुई कि आप अपनी आसक्तिको तौल लीजिए। आप चिपकें कहाँ? आसक्तिके माने चिपकना होता है। सक्तिका अर्थ है सटना। हिन्दीमें **'सटना'** बोलते हैं; संस्कृतमें बोलते हैं सक्ति। किसीके साथ पूरी तरह चिपक जाना है 'आसक्ति', **'आ'के** माने है पूरी तरहसे। यह आसक्ति मनमें होती है। यह बदलती भी रहती है।

ऐसे समझिये कि यह हमारे एकके ही प्रति नहीं रहती। हम जब बच्चे थे तो अपने **साथियोंसे हमारी** दोस्ती थी। हम लोग सलाह करते थे कि अब आगे जीवनमें हम कैसे एक साथ रहेंगे, **क्या-क्या काम** करेंगे। लेकिन अब हमें उनके नाम भी याद नहीं है। यों ही जवानीमें कितने दोस्त हुए, ट्रेनमें **कितने दोस्त** बने—यात्रा करते समय कितने दोस्त बने। मालूम पड़ता था कि बस-बस, अब सब एक हो गये। **इसका**

कारण क्या है? मनमें तो उठते हैं भाव कि यह मेरा मित्र है, अब हम इसके साथ हमेशा रहेंगे अथवा यह मेरा दुश्मन है, मेरे प्रति दौर्मनस्य रखता है—दुर्मना है।

अत: जिस समय हमारे मनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि यह हमारा दुश्मन है या जिस समय यह भाव उत्पन्न होता है कि यह दोस्त है, उस समय क्रोधका उदय होता है या रागका उदय होता है। उस समय हमारा 'मैं' उस क्रोधके साथ या रागके साथ मिल जाता है। हम अपनेको द्वेषारूढ़, रागारूढ़ कर लेते हैं। फलत: हम द्वेषके साथ चिपक गये अथवा रागके साथ चिपक गये। थोड़ी देर बाद जब राग, द्वेष ढीला पड़ता है और हम अपनेको उससे अलग कर लेते हैं, तब हमें अपनी गलती मालूम पड़ती है।

हमें मालूम पड़ता है कि हमारे रागमें जो पक्षपात था, वह हमारी बेहोशी थी तथा द्वेषमें हमारे मनमें जो जलन थी, वह हमारी बेहोशी थी। तब जो भाव हृदयमें आता है उसको योगकी भाषामें 'वृत्ति-सारूप्य' बोलते हैं। क्रोध वृत्तिका उदय हुआ, काम वृत्तिका उदय हुआ या लोभवृत्तिका उदय हुआ और हमने अपने आपको उसमें मिला दिया। हम क्रोधी हो गये, कामी हो गये; लोभी हो गये। तो भगवान् कहते हैं कि तुम काममें, क्रोधमें अथवा लोभमें अपनेको मत मिलाओ। तब कहाँ मिलाओ? मेरे साथ मिला दो। मुझसे तुम एक हो जाओ। जिस दृष्टिसे मैं सारी सृष्टिको देखता हूँ उसी दृष्टिसे तुम भी सारी सृष्टिको देखो।

एक सज्जनके सामने जब कोई समस्या आती है तो वे ऐसे सोचते हैं कि हमारे पिताजीके सामने ऐसी समस्या आती।तो वे क्या निर्णय करते? ऐसे ही एक साधु हैं। उनके सामने जब कोई समस्या आती है तो वे सोचते हैं कि इस समय हमारे गुरुजी क्या निर्णय करते?

जब एक जीवात्माके सामने कोई समस्या आती है और वह यह सोचने लगता है कि इस समस्या पर परमात्माकी दृष्टि क्या होगी, तब आप देखिये—आपकी दृष्टिमें रागद्वेष नहीं होगा तथा समत्व आजायेगा।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। (9.29)

भगवान् तो किसीसे रागद्वेष नहीं करते, इसलिए परमात्माकी नजरसे नजर मिला दो। परमात्माके ज्ञानसे अपना ज्ञान मिला देना, परमात्माके प्रेमसे अपना प्रेम मिला देना, यह पार्टीबन्दीकी बात नहीं है। परमात्मा तो सबके साथ अपने आपको मिलाकर रखता है—**नामरूपे व्याकरवाणी**—उसने अपनेको विशिष्ट आकृति प्रदान की कि जिससे सारे नाम और रूप प्रकट कर दिये।

आप जब परमात्माकी दृष्टिसे प्रेम करेंगे तो देखेंगे कि चींटीको शक्कर कौन देता है? चिड़ियाको उड़नेकी शक्ति कौन देता है? एक बीजको अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेकी शक्ति कौन देता है? बिच्छूमें विष कहाँसे आया? साँपमें विष कहाँसे आया? इनपर आप विचार करिये और अपनी दृष्टिको ईश्वरकी दृष्टिके साथ मिला दीजिए, अपने ज्ञानको ईश्वरके ज्ञानके साथ मिला दीजिए। ईश्वरसे मतभेद मत करिये।

यह मनुष्य दु:खी कब है? जब ईश्वरसे मन नहीं मिला। ईश्वरसे जब अपनी मति नहीं मिलती तब हम अज्ञानी हो जाते हैं—ईश्वरसे जब अपनी मति नहीं मिलती तब हम दु:खी हो जाते हैं। ईश्वरसे जब

अपनी मति नहीं मिलती तभी मृत्युका भय सामने आता है। ईश्वरमें मृत्यु नहीं, दु:ख नहीं, अज्ञान नहीं। ईश्वरसे विमुख होनेपर ही हम अज्ञानी और दु:खी होते हैं तथा हमारे जीवनमें मृत्युका भय आता है। अपने मनको ईश्वरके साथ चिपका दीजिए—इधर चिपका है संसारमें, उधर चिपका दो ईश्वरके साथ, तो संसार आता-जाता रहेगा। इसमें उतार-चढ़ाव है। संसार कभी ऊपर आता है, कभी नीचे आता है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

—उत्तर मेघ० 46

जैसे रथका पहिया कभी ऊपर और कभी नीचे घूमता है, वैसे ही काल-चक्रमें यह संसार कभी ऊपर, कभी नीचे जाता रहता है। कभी यह आगे बढ़ता है, कभी पीछे हटता है तो कभी खड़ा हो जाता है। यह संसारकी गति है। संसार एकरस कभी नहीं चलता। बच्चा जवान होता है, जवान बूढ़ा होता है और बूढ़ा भगवान्‌के दरबारमें आता है। संसार एक सरीखा कभी नहीं रहता। यदि उसके साथ अपने मनको चिपकाकर रखोगे तो जब यह बदलेगा, तब दु:ख होगा, बिछुड़ेगा तब दु:ख होगा, यह मरेगा तब दु:ख होगा।

इसके विपरीत यदि परमात्माके साथ मनको मिलाकर रखोगे तो न परमात्मा बदलेगा, न बिछुड़ेगा, न मरेगा और न कहीं जायेगा। आपका मन हमेशा उसका स्वाद, उसका रस लेता रहेगा। आप काम करते चलो, सब काम करो। अपने पौरुषका ग्रन्थ है गीता; यह कोई आलस्यका ग्रन्थ नहीं है। इसमें अन्तमें **करिष्ये वचनं तव** और **मामेकं शरणं व्रज**का उद्घोष है। व्रज तो है न! आओ मेरी शरणमें आओ। अर्जुनने कहा—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

करिष्ये वचनं तव की प्रतिज्ञाके साथ अपने मनको भगवान्‌के साथ, परमेश्वरके साथ चिपका दो। परमेश्वरका जैसा ज्ञान, आनन्द और स्वरूप है वैसे ही अपने मनको उसमें चस्पा कर दो, चिपका दो, आसक्त कर दो। परमात्माकी ओरसे मन कभी भटक जाय, भूल जाय, तब भी उसका आश्रय मत छोड़ो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

●

प्रवचन : 2

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते

गीता माता है। आब! अम्बा शब्द कैसे बनता है। अभिवर्ण्ये-वर्णात्मिका माता है। शब्दके रूपमें माता है। भगवान्के श्रीमुखसे वाग्देवी प्रकट हुई है। उनके हृदयमें जो सम्पूर्ण विश्वके प्रति मातृत्व है, पितृत्व है, सख्यत्व है वह वाणीका रूप धारण करके प्रकट हुआ है।

गीता मे हृदयं पार्थ। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—अर्जुन! यह मेरा हृदय है। मैं गीता तुम्हें दे रहा हूँ। इतना ही नहीं—मैं अपना हृदय शब्दोंमें बाँधकर-रखकर तुम्हें दे रहा हूँ। गीता-माहात्म्यमें इस पदका प्रयोग हुआ है—**गीता मे हृदयं पार्थ।** पाँच बात बतायी गयी हैं। एक तो अपना काम करते रहो **योगं युञ्जन्।** जो साधन करते हो, जो अभ्यास करते हो, जो कर्म करते हो, उस कर्मको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, बदलनेकी आवश्यकता नहीं है। तब नयी बात क्या हुई? कर्म करो लेकिन आसक्ति मुझसे रखो—कर्मसे और कर्मफलसे नहीं। कर्मका फल देना भगवान्के हाथमें है। क्या कर्म स्वयंमें इतना बढ़िया नहीं है, इतना पूर्ण नहीं है कि उसको करते जायें और आनन्द लेते जायें। कर्म करनेके बाद आनन्दको फेंक देना—कर्मको सूखा बना देना। यदि हम कर्मके फलको बादके लिए फेंक देते हैं तो कर्मको नीरस बना देना है। यों ही कर्म करते समय यदि पीछेकी ओर देखते हैं, तब तो भूत लगा हुआ है और कर्मके फलको यदि आगे फेंक देते हैं तो कर्म स्वयंमें नीरस हो जाता है। इसलिए कर्ममें योग चाहिए। इसीलिए कहा है—**योगं युञ्जन्।**

पूरी तरहसे कर्तव्य पालन करते चलो और उसका रस लेते चलो। अच्छा काम करना स्वयंमें परमानन्द है। घरको स्वच्छ करना भी कितने सुखकी बात है। रुईको स्वच्छ करना, लोहेको स्वच्छ करना या मिट्टीको स्वच्छ करना, यह भी एक बहुत बढ़िया काम है। कर्म माने स्वच्छताका सम्पादन और अपने अन्त:करणको स्वच्छ करना है। जिस समय अन्त:करण स्वच्छ होगा हृदयमें परमानन्दका आविर्भाव होगा। अन्त:करणकी मलिनता ही आनन्दके आविर्भावमें बाधक है। वासना होती है कि हमको यह चाहिए—यह चाहिए। वह वासना आच्छादित कर देती है, जैसे वस्त्रसे कोई चीज ढँक जाती है, वैसे ही अन्त:करणमें वासनाओंका उदय होनेसे अन्त:करणाविच्छिन्न जो चैतन्य है यह आवृत हो जाता है—ढँक जाता है। इसलिए कर्ममें ज्ञान भी रहे, कर्ममें आनन्द भी रहे और कर्म ठीक ढंगसे पूरा हो।

तो फिर वासना छुड़ानेकी विधि क्या बतायी कि **मय्यासक्तमना:।** यदि हमारे मनमें परमेश्वरके प्रति प्रेम है, तो हम अपना काम ठीक करेंगे और यदि पक्षपात होगा मनमें और क्रूरता होगी तो रागद्वेप होगा तथा अपना कर्म ठीक नहीं कर सकेंगे। इसलिए संसारके रागद्वेपको मिटानेके लिए परमेश्वरमें प्रीति चाहिए। **मय्यासक्तमना:।** प्रीति करो परमेश्वरसे, तो संसारमें रागद्वेप नहीं होगा। संसारमें राग होगा तो दिल रंगीन हो

जायगा। फिर तो जिससे राग है वही वही दीखेगा। यदि द्वेष होगा तो अन्त:करणमें आग लग जायेगी, जलन हो जायेगी। ज्वलनात्मक चित्तवृत्तिका नाम द्वेष है और रञ्जनात्मक चित्तवृत्तिका नाम राग है। अन्त:करणको किसी रंगमें रँग देना राग है और अन्त:करणमें आग लगा देना, जलन पैदा कर लेनेका नाम द्वेष है। दोनों स्थितियोंमें अपने जो पाँव पड़ते हैं वे गलत हैं।

अब दूसरी बात—आसक्ति हो भगवान्‌से और आश्रय हो भगवान्‌का। कर्म कर्मका फल नहीं देता, भगवान् कर्मका फल देता है। मुनीम प्रेम करता है पुत्रसे, पत्नीसे, शरीरसे, और आश्रय रखता है सेठका! उसका दिल दुहरा हो गया। आप आश्रय भी रखिये परमेश्वरका और प्रेम भी कीजिए परमेश्वरसे। यदि आश्रय दूसरा रहेगा और प्रेम दूसरेसे रहेगा तो प्रेम द्विधा-विभक्त हो जायेगा। तो तीन बातें कहीं—कर्ताके सम्बन्धमें। अब बोलते हैं—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु। (7.1)

ज्ञानमें दो बातें होनी चाहिए। **असंशय** और **समग्र**। ज्ञातामें सन्देह नहीं रहना चाहिए और वस्तुका अधूरा ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि आपको ज्ञान भी है और संशय भी है तो आप जैसे सपना देख रहे हैं। ज्ञान सुनिश्चित होना चहिए—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।

ज्ञास्यसि क्रियाके दो विशेषण—एक **असंशयं** और एक **समग्रं**। तो असंशय है अपना अन्त:करण, अपने अन्त:करणमें संशय नहीं होना चाहिए और समग्रं है विषय। जिस विषयको तुम जानते हो, उसकी पूरी जानकारी प्राप्त करो। वह समग्रं हो। उसमें ज्ञान, बल, वीर्य ऐश्वर्य जो कुछ है उसका वह वैभव भी जानो, उसका जो स्वरूप है वह भी जानो। पानी क्या है यह भी जानो और उससे बर्फ कैसे बनता है यह भी जानो। दूध क्या है, यह भी जानो। उससे दही, मलाई, रबड़ी, छेना कैसे बनता है, यह भी जानो। एक दूध है एक दूधका वैभव है।

तो वस्तुको भी जानना चाहिए और वस्तुकी विभूतिको भी जानना चाहिए तभी उसका समग्र ज्ञान होता है। परमेश्वरको भी जानो और उसके वैभवको भी जानो। दसवें अध्यायमें परमेश्वर और परमेश्वरकी विभूतिका वर्णन है। समग्र ज्ञान माने विभूति सहित परमेश्वरका ज्ञान तथा **असंशयं** माने अपने मनमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

आपके मनमें सन्देह बना हुआ है—इधर जायें कि इधर जायें? आगे क्या मिलेगा, पीछे क्या छोड़कर आये हैं? कई लोग चलते हैं आगे और देखते हैं पीछे। वे गिर पड़ते हैं। भूतकी ओर ज्यादा दृष्टि जाना यह गिरनेका पूर्व रूप है। वह आदमी आगे बढ़ नहीं सकता जो पीछेकी ओर ज्यादा देखता है। आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, वर्तमानको देखो और आगे बढ़ो। जो हो गया सो हो गया और आगे जो आवेगा उससे निपटेंगे।

हम वर्तमानमें यदि ठीक हैं तो हमारा भूत भी ठीक हो जायेगा। जो बीतता जायेगा, वह भी ठीक होता जायेगा और जो आता जायेगा, वह भी वर्तमानके रास्तेसे आवेगा और ठीक हो जायेगा। इसलिए अपने

वर्तमानको **योगं युञ्जन्**—वर्तमानको ठीक करो और वह असंशय हो। संशय—यह सोनेके अर्थमें ही होता है। **शिञस्वप्ने, सम्यक् शयनं संशयः।** भलीभाँति सो रहे हैं और देख रहे हैं कि अमुक देशमें चले गये, अमुक कालमें चले गये। मनोराज्य बढ़ता है। संशयमें मनोराज्य बहुत होता है और निश्चयमें मनोराज्य नहीं होता।

निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

निश्चय कर लो हमें यह करना है। इस वस्तुका स्वरूप यह है, जो निर्णयमें विलम्ब करते हैं, सफलता उनसे दूर छूट जाती है। बहुत सोच-विचारकर निर्णय करनेमें कर्तव्य-पालनका समय बीत जाता है। इसलिए निर्णय और निश्चय यह तत्काल होना चाहिए। **संशयात्मा विनश्यति।** संशय अपने मनमें नहीं रहना चाहिए। तो परमेश्वरका ज्ञान हो, असंशय और वह ज्ञान कैसा हो कि समग्र परमेश्वरका हो। समग्र परमेश्वरका अर्थ यह नहीं है जैसा कि कई लोग मन्दिरमें, मूर्तिमें, मसजिदमें या अपने इष्टमें परमेश्वरको सीमित करके देखते हैं। असलमें परमेश्वर असीम है।

परमेश्वर पृथिवी है। परमेश्वर जल है। परमेश्वर तेज है। परमेश्वर वायु है। परमेश्वर आकाश है। परमेश्वर सूर्य है। चन्द्रमा है। परमेश्वर अपना आत्मा है।

ऐसी कोई चीज नहीं है जो परमेश्वरका स्वरूप न हो। समग्र रूपमें परमेश्वरको निर्गुण निर्विशेषमें डाल देना ज्ञानकी एक प्रणाली है और परमेश्वरको एक रूपमें बाँध देना, उपासनाकी एक प्रणाली है। परन्तु जव हृदयमें समग्र परमेश्वरका ज्ञान हुआ तो समग्र परमेश्वर हो गया।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

यह परमेश्वरका स्वरूप है। निर्गुण नहीं, मन्दिरमें नहीं। **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां**—जो सबके हृदयमें चेतन अन्तर्यामीके रूपमें रहकर प्रवृत्त करता है, जिसके होनेसे आँखें देखती हैं; जिसके होनेसे जीभ बोलती है, जिसके होनेसे कान सुनता है; जिसके होनेसे पाँव चलते हैं, हाथ काम करते हैं, वह परमेश्वर है। जिसके होनेसे मन संकल्प करता है, जिसके होनेसे बुद्धि विचार करती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। जैसे कपड़ेमें सूत है वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उनसे भरपूर है। पहले बताया है निमित्त कारण **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां।** सबकी प्रवृत्तिका निमित्त है वह और **येन सर्वमिदं ततम्**—सबका जो उपादान है। जैसे जेवरमें सोना, जैसे घड़ेमें मिट्टी, जैसे औजारमें लोहा अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है परमेश्वर। यह उसका है समग्र रूप।

अब पूजा उसकी कैसे करना? स्वकर्मणा—आपके जिम्मे जो काम है—कोई झाड़ू लगाकर मन्दिरमें पूजा करता है, कोई फूल चढ़ाकर करता है, कोई चन्दन लगाकर करता है, कोई भोग लगाकर करता है—यह सब-की-सब पूजा है। तो आपके जिम्मे जो पूजा है—वेद-पाठ करके आप पूजा कीजिए, पहरा देकर आप पूजा कीजिए या सामग्री प्रस्तुत करके आप पूजा कीजिए, लोगोंको अन्न मिले, वस्त्र मिले, यह भगवान्‌की पूजा

है। काम अपनी पूजाके लिए करते हो या ईश्वरकी पूजाके लिए करते हो। काम तो वही करना है जो लोग व्यक्तिगत सुख स्वार्थके लिए करते हैं। वे अपने अहंभावकी पूजाके लिए करते हैं और जो सर्वरूप परमेश्वरकी सेवा-पूजाके लिए करते हैं, उनके द्वारा भक्ति सम्पन्न होती है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य। वही जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है सबमें, उसकी पूजा करो—कैसी पूजा करो कि अपने कर्मके द्वारा पूजा करो, अपना कर्तव्य पूरा करो। इससे क्या होगा। **सिद्धिं विन्दति मानवः।** इस पूजाका अधिकारी कौन मनुष्य? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये विभाग नहीं हैं। **मानवः**—जो भी मनुष्य है वह यह पूजा कर सकता है और किस प्रकार कर सकता है? अपने कर्मसे कर सकता है। ईश्वरकी पूजा करो। देखो जब एक व्यक्ति अपने शरीरको इसलिए सजाता है कि मुझे सजा हुआ देखकर मेरा प्रियतम प्रसन्न होगा तो उसके वस्त्र पहननेमें भी, बाल सँवारनेमें भी, चिकाना-चुपड़ा होनेमें भी, अपने प्रियतमकी पूजा है। आप जो भी काम करो, यह देखकर करो कि इससे अन्तर्यामी परमेश्वर प्रसन्न होगा कि नहीं। सबका अन्तर्यामी और मेरा अन्तर्यामी एक है।

कर्म करनेकी पद्धति यह है और इस पूजासे क्या होगा? '**मदाश्रय:**' अहंभाव टूट जायेगा। यह पुलिसका आश्रय है, यह सरकारका आश्रय है, यह सेनाका आश्रय है, यह समाजका आश्रय है आदि सब आश्रय—अन्याश्रय हैं। परमेश्वरके आश्रयका अर्थ है अपने अन्तर्यामीको दिखा-दिखाकर, उनसे पूछ-पूछकर, उनकी प्रसन्नताके लिए काम करते चलो। आश्रय है परमेश्वरका प्रेम है परमेश्वरसे, कर्तव्य हो रहा है पालन। इससे परमेश्वरका, ज्ञान होगा। यह भी परमेश्वर, यह भी परमेश्वर। सामने चाहे कुछ भी हो सब परमेश्वर। अपने हृदयमें परमेश्वराकार वृत्तिका उदय हो तब परमात्माका ज्ञान होगा। भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं—जिस वस्तुका वर्णन करना है उसकी महिमा बताता हूँ अभिमुख करनेके लिए। आइये सुनिये अर्जुन, **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।** 'वक्ष्यामि' क्रियापद दो धातुओंसे बनता है। एक तो 'वक्ष्यामि' माने वर्णन करूँगा। दूसरा वह प्रापणेमें बनता है अर्थ—प्राप्त कराऊँगा। वक्ष्यामि जैसे जिस धातुसे बनता है वर्तमानमें, भविष्यमें वक्षामि क्रियापद बनता है उसी धातुसे। जैसे योगक्षेमका वहन भगवान् करते हैं वैसे भगवान् कहते हैं—'मैं ज्ञान तो तुम्हारे पास ढोकर पहुँचा दूँगा।' वक्ष्यामि ज्ञानके लिए। तुम जरा शान्त हो जाओ, तुम सुनो, मैं तुम्हें ज्ञान, अपने हृदयका ज्ञान शब्दपर आरूढ़ करके, कानके द्वारा तुम्हारे हृदयमें पहुँचा रहा हूँ। यह कैसा ज्ञान है—सविज्ञानम्। विज्ञान और ज्ञान दोनों। विज्ञान और ज्ञान दोनों क्या है?

देखो गीतामें एक तो ब्राह्मणके स्वभावमें ज्ञान-विज्ञान दोनोंका उल्लेख है। **ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं** (18.42) ज्ञान और विज्ञान। यह **ब्रह्मकर्म स्वभावजं**—जिसके अन्दर ब्राह्मणत्वका बीज है उसके स्वभावसे ज्ञान और विज्ञान प्रकट होते रहते हैं। जैसे अग्निका स्वभाव है प्रज्वलन, दाहन, वैसे ब्राह्मणत्व जो है वह ज्ञान और विज्ञानके रूपमें प्रकट होता है। ज्ञान क्या है? वेदका ज्ञान है, कर्मकाण्डका ज्ञान है, धर्मका ज्ञान है और विज्ञान माने उसके आचरणकी प्रणाली—प्रयोगात्मक ज्ञान।

प्रयोगात्म ानका अर्थ ऐसे होता है, जैसे कोई स्त्री है वह 'होमसाइंस' पढ़ लेती है। यह तो ज्ञान हुआ,

लेकिन किसी रसोई बनानेवालेके साथ रहकर यदि उसका प्रयोग करके देख ले तो यह उसका विज्ञान हो गया। कहा है कि—**विज्ञानं शिल्पनैपुण्यम्।**

एक आदमी डाक्टरी पढ़ता है। ज्ञान हो गया। परन्तु एक डाक्टरके साथ रहकर उस विद्याका प्रयोग कर लेता है—यह विज्ञान हो गया। एक वकील वकालत पढ़ता है, कानूनी ज्ञान प्राप्त करता है, लेकिन जब किसी बड़े वकीलके साथ रहकर प्रैक्टिस कर लेता है तब उसको विज्ञान हो जाता है। तो ब्राह्मणको ब्राह्मणोचित, क्षत्रियको क्षत्रियोचित, वैश्यको वैश्योचित तथा शूद्रको शूद्रोचित, ये विभाग हैं। कर्म सम्बन्धी ज्ञान, रक्षा सम्बन्धी ज्ञान और वस्तु सम्बन्धी ज्ञान जीवनके लिए आवश्यक है। धर्मका, संस्कृतिका और ब्रह्मका ज्ञान भी आवश्यक है। यदि इन ज्ञानको विभागपूर्वक प्राप्त करेंगे तो अपने अपने विषयमें बिलकुल ठीक-ठीक ज्ञान होगा और यदि गड़बड़ कर देंगे थोड़ा इधर, थोड़ा उधर कर देंगे, तो किसी विषयका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होगा। इसीलिए विभागपूर्वक ज्ञान होना चाहिए। **विज्ञानं शिल्पनैपुण्यम्** प्रयोगात्मक ज्ञान-विज्ञान यह ब्राह्मण हुआ।

देखो एक तत्त्वज्ञानका भी प्रसंग है। **ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।** नवम अध्यायके प्रारम्भमें भगवान्ने कहा—मैं विज्ञान सहित ज्ञानका वर्णन करता हूँ। वहाँ दूसरा ही स्वरूप बताया। एक परोक्ष ज्ञान और एक अपरोक्ष ज्ञान।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः (9.4)
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् (9.5)

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् (9.1) एक ऐसा ज्ञान है जिसके ज्ञान मात्रसे ही अशुभसे, संसारसे मुक्ति हो जाती है। यह अशुभ है संसार। हम अपने मैंको भूल गये। मैंके भीतर जो परमात्मा है, उसको भूल गये। जो सामने दीखता है, उसमें आविष्ट हो गये। वृत्तिसारूप्य हो गया। देखो मनुष्यका क्या स्वभाव है, हम सब लोगोंका अनुभव है कि जब क्रोध आता है तो हम क्रोधसे एक हो जाते हैं और मैंको श्रेष्ठता, क्रोधमें आरोपित हो जाती है और तब हम कहते हैं हमारा क्रोध बिलकुल ठीक है। क्योंकि 'मैं' तो बिलकुल ठीक है। अब वह क्रोधसे मिल गया तो क्रोध भी बिलकुल ठीक मालूम पड़ने लगा।

जो नहि करौं दंड सठ तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥

(रामचरितमानस उत्तर काण्ड)

हमारा क्रोध बिलकुल ठीक है और हम तुमको इसका दण्ड देंगे। तुमने गलत काम किया है। फिर घण्टे-दो-घण्टेके बाद क्रोध उतर गया। क्रोध उतर गया तो सोचते हैं—अरे हम तो क्रोधके आवेशमें आगये! क्रोधमें आविष्ट हो गये थे। जो भले लोग होते हैं, उनको अपने क्रोधपर पश्चात्ताप होता है कि हमने क्रोध गलत किया। इसी तरह जब काम आता है मनमें तो यह लगता है कि यदि हम यह भोग नहीं करेंगे तो हमारा जीवन व्यर्थ है। लेकिन जब कामका आवेश शान्त हो जाता है तब अलग हो जाते हैं उससे। अरे इतनी देर तो कुछ मालूम ही नहीं पड़ा। हम बोहोश हो गये थे।

क्रोधमें, काममें, लोभमें ऐसा आवेश हो जाता है कि लगता है कि यह चीज हमें नहीं मिलेगी तो हमारा जीवन ही क्या है। लोभमें आगये, लोभसे एक हो गये, लोभ अच्छा लगा। लोभके वश होकर हमने चोरी, बेईमानी कर ली। मोह है—मोहमें आविष्ट हो जाते हैं।

यह मेरी पार्टी है। ऐसे समझो कि जब पार्टी छोड़ते हैं तो पचास दोष उसमें बतायेंगे और जबतक पार्टीमें हैं तबतक वह बिलकुल दूधकी धुली है। जब पार्टीसे एक हो गये तो पार्टीके दोष नहीं दिखते, गुण दिखते हैं। क्योंकि आत्मा तो सर्वश्रेष्ठ है ही और जब पार्टीसे अलग होते हैं तो उसमें दोष दिखने लगता है।

तो यह कामका, क्रोधका, लोभका, मोहका, आवेश होता है कि हम अपनेको दूसरेसे मिला देते हैं। जैसे भूत चढ़ बैठा हमारे ऊपर। जैसे ज्वर चढ़ बैठा हमारे ऊपर। ऐसे ये मानसिक रोग आते हैं और हम अपनेको रोगी बना लेते हैं।

अब आओ, आप ज्ञान विज्ञान—अपने स्वरूपको जानो और कैसे दूसरोंके साथ मिल जाते हो, इसपर विचार करो। परोक्ष ज्ञान जो होता है वह होता है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि** और अपरोक्ष ज्ञान होता है—**न च मत्स्थानि भूतानि**। यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि किसमें है? परमेश्वरमें है। ऐसा हम यहाँ बैठकर सोचते हैं। लेकिन जब परमेश्वरसे एक हो जाते हैं तो परमेश्वरमें कोई सृष्टि नहीं है। परमेश्वरके सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान। यह प्रतिज्ञा है, यह दृष्टि है, यह दर्शन है। **अहं वक्षाम्यशेषतः**। लो यह ज्ञान 'अशेषतः', अर्जुन, मैं कुछ छिपाकर नहीं रखूँगा। 'अशेषतः' पूरा-का-पूरा तुमको बताऊँगा। शेष नहीं रखूँगा। सबका सब तुम्हें बताऊँगा। इस ज्ञानकी महिमा क्या है?

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते (7.2)

इसको यदि तुम जान लो—ऐसी प्रतिज्ञा कौन करेगा? बोलो। अर्जुन कहते हैं—

त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते (6.39)

तुम्हारे सिवा इस संशयको मिटानेवाला और कोई है ही नहीं और भगवान् कहते हैं—

'मैं ऐसा ज्ञान तुमको बताऊँगा कि इसको जान लेनेके बाद दूसरा कुछ जाननेको शेष नहीं रह जाता।'

यह हमारे श्रुति-ज्ञानकी विशेषता है। यह दूसरे किसी मजहबमें नहीं है। कोई भी साइंस यह नहीं कह सकता कि अब इसके आगे कुछ नहीं जाना जा सकता। क्योंकि उसके ज्ञातव्य अनेक हैं। एक-एक अणुमें-से इनकी शक्तियाँ निकलती हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। एक बीजमें-से इतने वृक्ष निकलते हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।

बड़का एक बीज ले लो। उस बीजमें-से बड़का एक पेड़ होगा और उसमें करोड़ों बीज होंगे। करोड़ों-बीजोंमें सैकड़ों, हजारों और बीज होंगे, उनसे वृक्ष पैदा होंगे, कोई गणना नहीं कर सकता। बहुत्वकी गिनती कभी पूरी नहीं हो सकती, लेकिन एकत्वकी गिनती पूरी हो सकती है।

यह श्रुति प्रतिज्ञा है—**यस्मिन् दृष्टे श्रुते मते सर्वं दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं भवति**। एक ऐसी चीज है,

जिसको आप देख लें, जिसे आप सुन लें, जिसपर आप विचार कर लें, जिसका विज्ञान आप प्राप्त कर लें, तो सब कुछ दृष्ट, श्रुत, मत, विज्ञात हो जाता है। ऐसा कैसे होता है?

उपनिषद्में यह प्रश्न उठाया है। श्वेतकेतु बड़ा भारी अभिमानमें भरकर आया था कि मैंने सब विद्या पढ़ ली है। पिताने पूछा—'क्यों बेटा', तुमने वह विद्या जानी जिसमें एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है? ऐसा कैसे हो सकता है? मिट्टीके ज्ञानसे सब मृण्मयका ज्ञान, लोहेके ज्ञानसे सब लोहमयका ज्ञान, स्वर्णके ज्ञानसे सब स्वर्णमयका ज्ञान। एक ऐसी वस्तु है जिससे यहाँ सबका विस्तार हुआ है इधरसे देखो तो बहुतोंमें एक है, परन्तु यदि उस एकसे एक हो जाओ तो बहुत नहीं है।'

सब मुझमें है और मुझमें कुछ नहीं है। सबकी दृष्टिसे सब मुझमें है। मेरी दृष्टिसे मुझमें कुछ नहीं है। तो जब उस सबका ज्ञान होगा—परमेश्वरका ज्ञान होगा तो जाननेके लिए कुछ शेष रहेगा ही नहीं। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, श्याम ही श्याम। वृक्षके रूपमें कौन आया है? परमेश्वर। पुरुषके रूपमें कौन है, परमेश्वर। स्त्रीके रूपमें कौन है? परमेश्वर। यह देखो हमारा विज्ञान। रागद्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति! **त्वं स्त्री त्वं पुमानसि**—तुम्हीं स्त्री हो और तुम्हीं पुरुष हो। तुम कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो। वृद्धके रूपमें हाथमें डण्डा लेकर तुम्हीं घूम रहे हो। यह है परमेश्वरका रूप और इसके बिना यदि यह कहोगे कि आधा संसार और आधा परमेश्वर तो या तो संसारमें ही रहोगे—उसमें राग-द्वेष, अच्छा-बुरा ढूढ़ते रहोगे और या तो परमेश्वरकी भक्ति आयेगी और संसारसे द्वेष हो जायेगा।

जब परमेश्वरके सिवा और कुछ नहीं है तो भक्ति विभक्ति नहीं। सब परमेश्वरका अनुभव है और कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं है। परन्तु यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है, ऐसा बताया है। यह मनुष्यकी प्रवृत्ति दो तरहकी होती है। कोई-कोई व्यक्ति तो ऐसे होते हैं कि यह चीज दुर्लभ है तो इसके लिए प्रयास कौन करे? परन्तु कोई-कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि वे सुलभके लिए प्रयास नहीं करते। अरे यह तो सबको मिलता है।

इसीसे भगवान् अपनेको सुलभ और दुर्लभ दोनों बताते हैं। भगवान्की भक्ति कठिन है या सुगम है। **रघुपति भगति करत कठिनई।** भगवान्की भक्ति करना बहुत कठिन है। तब एक व्यक्तिके मनमें उत्साह आया—इस कठिनको हम करके दिखायेंगे, परन्तु दूसरे लोग बोले-जब कठिन है तो हम क्यों इस रास्ते पर जायें?

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥

यह तो कुछ कठिन ही नहीं है इसमें तो कोई प्रयास ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति सुगम है कि दुर्लभ? बोले जो दुर्गम मानकर उसे पानेका प्रयास करनेवाले हैं, उनको दुर्गम बता दिया। तुम चलो, तुम्हारे उत्साहकी जरूरत है, साहसकी जरूरत है—चलो आगे और जो लोग सुगम मानते हैं कि हमको तो सुगम चाहिए तो लो उनके लिए सुगम है।

यह सुगम-दुर्गम कुछ नहीं होता। जिस मार्गसे चलनेका अभ्यास हो जाता है वह सुगम हो जाता है और जिस मार्गपर हम नहीं चलते हैं, वह बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। कठिन और सुगम कुछ नहीं है। आप उस

मार्गपर चलिए, कठिन सुगम हो जायेगा। यदि ठीक नहीं चलेंगे तो सुगम भी कठिन हो जायगा। अपने कर्त्तव्य पालनके मार्ग पर बिलकुल ठीक-ठीक चलना चाहिए।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (7.3)

अब बताते हैं, मनुष्य-शरीर मिलना आसान नहीं है। आप देखते हैं कि दुनियामें कितने शरीर हैं। केवल धरती छेद करके जो उगनेवाले बीज हैं, उनकी गिनती करना कठिन है। कितने तरहके पेड़-पौधे होते हैं। ये भी सब जीव हैं। जो पसीनेसे पैदा होते हैं—जैसे खटमल हैं। ये कितने हैं? इनकी गिनती करना भी कठिन है। जो अण्डेसे पैदा होते हैं—चींटीसे लेकर गरुड़ तक, हंस तक, इनकी भी गिनती करना कठिन है। जो जरायुसे परिवेष्ठित पैदा होते हैं, पशु हैं, मनुष्य हैं, चतुष्पाद हैं, द्विपाद हैं, उनकी गिनती करना भी कठिन है। अब चतुष्पाद जो होते हैं उनके पास कर्म करनेका, विधिपूर्वक कर्म करनेका साधन नहीं है। इनको कर्म तो करना है परन्तु विधि-निषेधपूर्वक नहीं। परन्तु मनुष्य शरीर जो हैं उसके बढ़िया दो हाथ प्राप्त हुए हैं और जैसे वज्रमें, चक्रमें मोड़ होते हैं—इन्द्रके वज्रमें सौ मोड़ होते हैं। माने उसको एक बार चलाया जाये तो सौ निशाने मारकर वह लौट आयेगा। सौ जगहसे मुड़ सकता है। 'शतार' बोलते हैं उसको और विष्णु भगवान्का चक्र है उसमें हजार अरे होते हैं—वह है सहस्रार। वह एक हजार कैसे बनते हैं इसका वर्णन भी शास्त्रोंमें प्राप्त होता है। वह घूमकर हजार निशाने मारकर और फिर विष्णु भगवान्के हाथमें लौट आता है। वह सहस्रार है।

अब हमारे हाथमें देखो कितने मोड़ हैं। अंगुलियाँ कितनी जगहसे मुड़ती हैं। यह हमारा पहुँचा कैसे मुड़ता है। अँगुली कितनी जगहसे मुड़ती है। इतने मोड़ हैं कि आपको जो करना हो काम—किसीके कलेजेके भीतर अँगुली डालकर ऑपरेशन कर लेते हैं, वहाँ क्या है उसको देख लेते हैं। जो चाहिए सो पकड़ लीजिए, कलम भी चलाइये, तलवार भी चलाइये, बन्दूकसे गोली भी मारिये, घूसा भी लगाइये, होम भी कीजिए, कर्मकी कितनी शक्ति मनुष्यके हाथमें है। लेकिन है यह हाथ लोगोंको हँसानेके लिए—**हस्यते अनेन**। हाथ किसको बोलते हैं? हाथकी एक व्युत्पत्ति यह है कि जिससे मनुष्यका जीवन आनन्दमय हो जाये, प्रसन्न हो जाये। ऐसे-ऐसे काम करनेके लिए यह हाथ बना है।

यह मनुष्यके ही ऐसे हाथ हैं। बन्दर, वनमानुषके हाथ भी जैसे नहीं हैं। यह मनुष्य शरीरकी विशेषता है। आपको यह हाथ मिला है। अपनेको और दूसरेको ठीक-ठीक सुख देनेके मार्गपर हाथ चलाइये और चलिए। यह हाथ इसलिए बना है और देखो संसारके और जो प्राणी होते हैं जैसे पेड़ हैं, ये नीचेसे भोजन लेते हैं और ऊपरको बढ़ते हैं। पशु-पक्षी आगेसे भोजन लेते हैं और उनका भोजन पीछेको जाता है। तिर्यक् योनि उनको बोलते हैं और इनको उर्ध्वस्रोत बोलते हैं। मनुष्य अधः स्रोत है, माने खाता है ऊपर और उसका भोजन जाता है नीचे।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृतिने अपनी उन्नतिके अनुरूप मनुष्य तो उन्नत बना दिया है, खड़ा कर दिया है, हाथ दे दिये हैं। अब प्रकृति जो भोग देती है, वह भोग अधोगामी हो जाता है, इसलिए आप प्रकृतिके सिरेपर पहुँच गये हैं। अब यहाँसे थोड़ा-सा प्रयास करके प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त हो जाइये और यदि आप इस

बन्धनसे मुक्त होनेका प्रयास नहीं करेंगे तो फिर अगर उत्तम कर्म करेंगे तब मनुष्य-योनि मिलेगी और गलत काम करेंगे तो पशु-योनिमें, पक्षी-योनिमें, वृक्ष-लता आदिकी योनिमें जाना पड़ेगा। इसलिए यह मनुष्य-योनि सर्वश्रेष्ठ है। यह श्रद्धा और मनुकी सन्तान है। श्रद्धा और मनन ये दो मनुष्य-योनिकी विशेषताएँ हैं। श्रद्धा माता है।

श्रद्धा मातेव योगिनं पाति। श्रद्धा माताकी तरह योगीकी रक्षा करती है और मननमें नवीन-नवीन स्फुरणाका सामर्थ्य है। आप देखते हैं कि यह पक्षी हजारों वर्ष पहले जैसा घोंसला बनाते थे वैसा ही आज भी बनाते हैं। इन लोगोंने 'साइंस'से नहीं सीखा कि हम लोगोंको घोसला कैसे बनाना चाहिए। घोड़ा जैसे पहले रहता था, वैसे ही अब रहता है। गाय जैसे पहले रहती थी, वैसे अब भी रहती है। उन्होंने अपने लिए कपड़ा नहीं बनाया, अपने लिए मकान नहीं बनाया, अपने लिए भोजन पकानेकी विधि नहीं प्राप्त की।

ये जो पशु हैं, ये जो पक्षी हैं, वे अपनी परम्परामें, अपने संस्कारमें बँधे हुए हैं, निगड़ित हैं। मनुष्य मननशील है, यह विचार करता है। यह नयी-नयी सुगन्ध निकालता है। यह नया-नया स्वाद निकालता है। यह नया-नया रूप निकालता है। यह नया-नया स्पर्श निकालता है। यह नयी-नयी ध्वनियाँ निकालता है। ध्वनिके द्वारा बातचीत, स्पर्शके द्वारा बातचीत, रंगके द्वारा बातचीत, यह हरी झंडी, यह लाल झंडी, यह सब मनुष्यकी ही निकाली हुई हैं। वैज्ञानिक आविष्कार—नव-नव आविष्कार—करनेका सामर्थ्य केवल मनुष्य-योनिमें है और दूसरेमें है नहीं। तो देखो बनावटमें नवीनता है, बुद्धिमें नवनवोन्मेषशीलत्व है। नयी-नयी बात पैदा होती है और आनन्द लेनेके लिए नया-नया तरीका निकलता है। तो सत्ताकी दृष्टिसे चेतनाकी दृष्टिसे, आनन्दकी दृष्टिसे, यह मनुष्य एक परिपूर्ण जाति है। मनुष्य जाति है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य यह जाति नहीं है, यह वर्ण है। आकृति देखकर जिसका ज्ञान हो उसको जाति बोलते हैं। सब मनुष्य एक आकृतिके होते हैं और वर्णनसे जिसका ज्ञान हो, उसको वर्ण बोलते हैं। **वर्णनात् वर्ण:**। वर्णनसे बताना पड़ेगा ये ब्राह्मण हैं, ये विद्वान् हैं, ये क्षत्रिय हैं। परन्तु मनुष्यत्व-रूप आकृति सबमें होती है। चातुर्वर्ण्य शास्त्रैकगम्य है, मनुष्य इन्द्रियगम्य है।

मनुष्याणां सहस्रेषु—मनुष्य, मनुष्य है। यह अपने जीवनका निर्माण करता है। यह अपने ज्ञानका निर्माण करता है। यह अपने आनन्दका निर्माण करता है—इसको मनुष्य बोलते हैं। **मनसा सीव्यति**—यह मनसे अपने बन्धनको जोड़ता है। निरुक्तमें मनुष्य शब्दका अर्थ ऐसा है। पाणिनीय व्याकरणमें तो मनुष्यका शब्द ऐसा है **मनो : अपत्यं मनु+यत् षुक आगम** जो मनुकी सन्तान है। श्रद्धा और मननसे पैदा हुआ। किन्तु निरुक्तका कहना है कि यह मनसे सम्बन्ध जोड़ता है। पशु भूल जाता है कि यह मेरी माँ है, पशुको बड़ा होनेपर अपनी माँकी, पिताकी पहचान नहीं होती है। न पशु पहचानता, न पक्षी पहचानते, न स्वेदज पहचानते, न उद्भिज्ज पहचानते कि यह हमारी माँ है, यह हमारा पिता है, यह हमारा गुरु है, यह हमारा सखा है। बिलकुल पहचान उनकी छूटती जाती है।

परन्तु मनुष्य एक सबन्ध जोड़ता है। एक तो भोगका सम्बन्ध होता है। जैसे भोग देशोंमें है। माँ बापसे बच्चे पैदा कर दिये, वे पढ़े लिखे, बड़े हुए, विवाह हुआ और मियाँ-बीबी बिलकुल अलग। पति-पत्नी चले गये और पिता-माताका कोई ख्याल नहीं है। भोगसंस्कृतिमें पति-पत्नीका सम्बन्ध तो होता है। वह भी भोग-

पर्यन्त ही होता है, बादमें टूट जाता है और भारतवर्षकी संस्कृतिकी विशेषता है धर्म-सम्बन्ध। धर्म-सम्बन्ध-धर्म-संस्कार। माताकी सेवा करना, पिताकी सेवा करना, पुनर्जन्म भी मानते हैं न! देहके पहले भी थे, देहके बाद भी रहेंगे। इसलिए सम्बन्ध मानते हैं। अपने पितरोंको भी तृप्त करते हैं और अगली पीढ़ीके साथ भी अपना संस्कार जोड़ते हैं। तो पिता-पितामहका जो सम्बन्ध है, वह भी धर्म-संस्कारमें आता है और अगली पीढ़ीका जो निर्माण है—वह कैसे आता है। गर्भाधान भी एक संस्कार है, सीमन्तोन्नयन भी एक संस्कार है, जातकर्म भी एक संस्कार है।

जो हमारी अगली पीढ़ी आवे वह भी संस्कार-सम्पन्न हो। इसलिए गर्भाधानके दिनसे ही चेष्टा करते हैं। उसमें भी धर्मके अनुसार गर्भाधान हो, धर्मके अनुसार उसका सम्वर्धन हो, धर्मके अनुसार प्रजनन हो और धर्मके ही अनुसार उसके और संस्कार कराये जायँ—चौल कर्म हो, कर्णवेध हो, यज्ञोपवीत-संस्कार हो, ये सब धर्मके अनुसार हों। धर्म-देशकी संस्कृतिमें और भोग-देशकी संस्कृतिमें अन्तर होता है और यह मनुष्य केवल भोगके लिए पैदा नहीं हुआ, यह धर्मके लिए पैदा हुआ है। धर्मके लिए माने अपनी जो उच्छृङ्खल प्रकृति है, उसको नियमित करनेके लिए। इसलिए इसको मनुष्य कहते हैं।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

हजार-हजार मनुष्य हैं। उनमें-से सिद्धिके लिए अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। लोग बाहर भोग बहुत मिले, सुविधा बहुत मिले, इसके लिए प्रयास करते हैं। परन्तु हमारा दिल अच्छा बना रहे, इसके लिए प्रयास नहीं करते। शुद्धि माने अन्तःकरणकी शुद्धि।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

यदि अपने कर्मको अपनी पूजाके लिए, अपने रिश्तेदारोंकी पूजाके लिए करोगे तो सिद्धि प्राप्त नहीं होगी, माने अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी। यह देखना है कि हम अपने दिलकी सफाई करते हैं कि नहीं। हमने ऐसे लोगोंको देखा है जो बाल बहुत बढ़िया रखते हैं, जो मुँहको बहुत साफ रखते हैं, लेकिन जो अंग उनके वस्त्रसे ढँके रहते हैं, उनको गन्दा रखते हैं। उनकी सफाईका ख्याल नहीं करते। लोगोंको कुक्षिमें, जोड़ोंके नीचे बहुत रोग होते हैं।

एक सज्जनको काँखमें रोग हो गया। डाक्टरने बताया—ये अपने ढँके हुए अंगोंकी परवाह नहीं करते, इनको स्वच्छ नहीं रखते। इसलिए काँखमें रोग हो गया, फोड़े हो गये। चामसे, खूनसे, चर्बीसे, हड्डीसे ढँका हुआ जो हमारा अन्तःकरण है। लोगोंको दिखानेके लिए हम बाहरके शरीरको तो बहुत चिकना-चुपड़ा रखते हैं, परन्तु हम अपने मनको शुद्ध नहीं रखते। तो अपने मनको ठीक रखिये। आपका मन कहाँ रहता है? देखो ना! आपका मन बड़ा श्रद्धालु है। श्रद्धा किये बिना तो कोई रह नहीं सकता। नाईपर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह उस्तरा नहीं मारेगा। डाक्टरपर भी श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह हमें अच्छा होनेके लिए दवा देगा। डाक्टर भी कोई-कोई ऐसे निकलते हैं कि वे ऐसी दवा खिलाते हैं कि रोग थोड़े दिन और चले। ऐसा ऑपरेशन कर देते हैं कि जिसकी कोई रत नहीं। क्योंकि लोभसे जब वे अभिभूत हो जाते हैं तो अपने कर्तव्यका ईमानदारीके

साथ पालन नहीं करते। लोभी, मोही, कामी, क्रोधी मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन नहीं कर सकते। तो जब आप अन्त:करणमें गन्दगी रखेंगे तो न तो कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे और न तो आपके सुखमें, प्रसन्नतामें वृद्धि होगी। तो **कश्चिद्यतति सिद्धये।** ऐसा मनुष्य बड़ा दुर्लभ है जो अपने दिलको साफ रखनेके लिए कुछ साधन, भजन करता है।

आपकी श्रद्धा किसपर है? बेईमानपर या ईमानदारपर। जब बेईमानपर श्रद्धा करेंगे तो आपके हृदयमें बेईमानी आयेगी, आप भी बेईमान हो जायेंगे। **यो यच्छ्रद्धः स एव सः।** 17.3। गीता बोलती है जिसपर जिसकी श्रद्धा है वह वही है। जब आप लोभीपर श्रद्धा करते हैं तो आप स्वयं लोभी हो जाते हैं। कामीपर श्रद्धा करते हैं, स्वयं कामी हो जाते हैं। क्रोधीपर श्रद्धा करते हैं, स्वयं क्रोधी हो जाते हैं। उसका सहयोग लेंगे। निष्कर्ष यह है कि श्रद्धा मनुष्यके जीवनका निर्माण करती है।

अब देखो अपना हृदय साफ करनेके लिए, शुद्ध करनेके लिए, स्वच्छ करनेके लिए आप कुछ करते हैं कि नहीं? आप प्रात:काल उठो और परमात्माका स्मरण करो। शरीरको पीछे साफ करना। पहले परमात्माके स्मरणसे हृदय शुद्ध होता है। क्योंकि वह सबके हृदयमें हैं। आप संकल्प करो कि हम कोई ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे किसीको दु:ख पहुँचे। हम लोग रोज पहले बोलते थे—

दृतेदृꣳहमा मा मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष्ये समीक्षामहे॥ शु.य.36.18

हम मित्रकी दृष्टिसे सबको देखते हैं और सबको देख रहे हैं। सब लोग मित्रकी दृष्टिसे सबको देखें। एक बात! मैं मित्रकी दृष्टिसे देख रहा हूँ और हम लोग मित्रकी दृष्टिसे देखते हैं। सब लोग देखें, मैं देखूँ और हम लोग सब देख रहे हैं। तो मित्रकी दृष्टि—**मेद्यते इति मित्रं।** सबके ऊपर अपने स्नेहकी वर्षा करते हैं। स्नेह देते हैं। किसीके प्रति रूक्षता नहीं बरतते हैं, क्रूरता नहीं बरतते हैं। अपने हृदयमें-से जैसे कुएँमें-से जितना पानी निकालके बाहर करो, उतना नीचेसे आजाता है। वैसे ही अपने हृदयसे जितना स्नेह बिखेरो, उतना स्नेह भीतरसे और आता है। यह स्नेह माने चिकनाई, मक्खन, दूध, दही, तेल, मलाई आदि चिकनी करनेवाली चीजें हैं। चिकनाई माने दो चीजोंको जोड़कर एक कर दें। चूर्णको जो पिण्ड बना दे, उसका नाम स्नेह होता है। **पिण्डीभावहेतुगुणा स्नेहः।** जो चूर-चूरको मिलाकर एक कर दे। जो मिला दे उसका नाम स्नेह है। आप वह स्नेह अपने हृदयमें धारण करते हैं, तब आपका हृदय शुद्ध होता है। जब हृदय शुद्ध होता है तो **कश्चिन्मां**—शुद्ध हृदयवाले भी सब नहीं जानते। कोई-कोई ऐसे होते हैं जो तत्त्वत: भगवान्‌को जानते हैं। तत्त्वत: भगवान्‌को जाननेके लिए क्या विवेक अपने जीवनमें करना चाहिए, अनेकमें एकको दिखा रहे हैं—**भूमिरापोनलो वायुः।**

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

●

प्रवचन : 3

अम्ब त्वामनुसन्दधामि अपने हृदयको शुद्ध करनेके लिए अनुसन्धान करें। हृदयकी शुद्धि ही अर्थको भी शुद्ध करती है, कामको भी शुद्ध करती है। धर्मको परिपूर्ण बनाती है और मोक्षकी योग्यता देती है। यह अध्यात्मशास्त्र हृदयकी शुद्धिके लिए होता है। यदि आपका उद्देश्य है हृदयको शुद्ध करना, तो अध्यात्मशास्त्रके श्रवणसे, मननसे, निदिध्यासनसे तत्काल लाभ होता है। जैसे आप यज्ञ करें, दान करें, धर्म करें तो उससे एक अपूर्व उत्पन्न होता है और वह इस जन्ममें या अगले जन्ममें, परलोकमें उससे फलका उदय होता है। यह आधिदैविक शास्त्र है धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र वह है जो अपूर्वको उत्पन्न किये बिना तत्काल अन्त:करणको शुद्ध करता है। यह दोनोंका अन्तर है। धर्मानुष्ठान अन्त:करणमें एक अपूर्व उत्पन्न कर देता है और उससे इसी जन्ममें आगे चलकर या दूसरे जन्ममें या परलोकमें आपको उसका फल, सुख मिलेगा और यह अध्यात्मशास्त्र इसी समय अन्त:करणको शुद्ध करके उसमें जो परमानन्दघन परमात्मा है, उसके अनुभवकी योग्यता उत्पन्न करता है। इसलिए भक्तिशास्त्र, ज्ञानशास्त्र—अध्यात्मशास्त्र हैं। धर्मशास्त्रकी विद्या दूसरी है।

यदि कोई वेद पढ़े और उसके अनुसार अनुष्ठान न करे तो वेदज्ञान सफल नहीं होता। ब्रह्मज्ञान केवल ज्ञान मात्रसे ही अपने स्वरूपका साक्षात्कार करा देता है। इसीसे इसे परा विद्या बोलते हैं, यह अपरा विद्या नहीं है। वेद कर्मकाण्डात्मक वेद होनेसे अपरा विद्या है। उसका फल बादमें होता है। उपनिषद् परा विद्या है, इसका फल तत्काल उदय होता है अन्त:करणमें।

अब सातवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी महिमाका सविशेष वर्णन किया है। क्योंकि माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जो भक्ति होती है वही सच्ची भक्ति होती है। कोई सुन्दरता देखकर कि यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है, यह चित्र बड़ा सुन्दर है, शृंगार देखकर, स्वच्छता देखकर जो प्रेम होगा, जो भक्ति होगी, वह यदि कहीं देखेंगे कि शृङ्गारमें कमी है, स्वच्छतामें कमी है, सुन्दरतामें कमी है तो वह भक्ति, वह प्रेम टूट जायेगा। उदारता, प्रेम-गुण देखकर प्रेम किया जायेगा तो एक दिन देखेंगे वह बड़ा कृपण है। सुन्दरता देखकर यदि प्रेम किया तो मुँहासे निकल आये फिर? तलाक हो जायेगा। सुन्दरता देखकर, मधुरता देखकर, बाहरी चरितका चाकचिक्य देखकर जो प्रेम होगा, उसमें परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक जो प्रेम होता है वह प्रेम स्थायी होता है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।
स्नेहो भक्तिर्हि कथितः तया मुक्तिर्न चान्यथा।

पहले होना चाहिए माहात्म्यका ज्ञान। जिसकी भक्ति हम करते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, जिसकी सेवा करते हैं, वह भले सुन्दर रूपमें न आवे, भले शृङ्गार करके न आवे, भले उसके चरित्रमें कोई कठोरता भी मालूम पड़ती हो, परन्तु यदि उसके माहात्म्यका ज्ञान है, महिमाका ज्ञान है, तो भक्ति हट नहीं सकती, प्रेम हट नहीं सकता।

इसीसे जिनके माहात्म्यका ज्ञान है उनके प्रति आकर्षण सर्वदा अधिक होता है। केदारनाथकी मूर्ति क्या सुन्दर है? एकलिंग मूर्ति है? पण्ढरीनाथकी मूर्तिमें क्या सौन्दर्य है? एक काले पत्थरमें कुछ रेखाएँ खिंची हुई हैं। परन्तु उनके माहात्म्यका जो ज्ञान है वह सदासे लाखोंको आकृष्ट करता आ रहा है। वहाँ न उतनी स्वच्छता है, न उतनी सुन्दरता है, न उतना श्रृङ्गार है। परन्तु लोगोंकी भक्तिको वह आकृष्ट करता है। इसलिए भगवान्‌की सुन्दरता, मधुरता भी मनको खींचती है और वह नित्य होती है परन्तु भगवान् नृसिंहके रूपमें आजाय तो क्या वे भगवान् नहीं रहते? क्या भगवान् वाराहके रूपमें आजायें तो भगवान् नहीं रहते? इसलिए महिमाका ज्ञान ही भक्तिको स्थिर बनाता है।

भगवान् अपनी महिमाका वर्णन करते हैं। इस सृष्टिमें दो प्रकारकी प्रकृति है। एक जड़ प्रकृति और दूसरी जीव प्रकृति। दोनोंको कहते हैं कि ये मेरी हैं। दोनोंका मालिक मैं हूँ। यह माहात्म्यका निरूपण है। प्रकृतिसे होते हैं सम्पूर्ण प्राणी और मैं उस प्रकृतिका भी कारण हूँ। तीन विभाग करके यहाँ परमेश्वर-स्वरूपका वर्णन कर रहे हैं। अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमेश्वर—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 4॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 5॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7॥

तीनका वर्णन है। जैसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म। जैसे पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। वैसे सावतें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण यह वर्णन करते हैं कि सारी प्रकृति, चाहे जीव प्रकृति हो और चाहे जड़ प्रकृति, यह सब मेरी प्रकृति है। अब यहाँ प्रकृतिवादकी दृष्टिसे भी अद्वैतका वर्णन है। चैतन्य प्रकृतिवादसे भी अद्वैतका वर्णन है। हम लोग जहाँ हैं, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिए। जैसे कहीं जाना हो तो जहाँ पहुँचना हो, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ नहीं होती जहाँ हम हैं, वहाँसे यात्रा प्रारम्भ होती है। तो हमको ईश्वरकी ओर चलना है।

मनुष्य जिस धरतीपर गिरा हुआ होता है, उसीका सहारा लेकर ऊपर उठता है। यहाँ भूमिसे प्रारम्भ हुआ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार एक प्रकृति है। परन्तु आठ प्रकारसे वह भिन्न हो गयी। प्रकृति माने प्रथम कृति। प्रथम रचनाका नाम प्रकृति है। प्र माने प्रथम, कृति माने रचना। प्रकृष्ट कृति—उत्तम कृति है। परन्तु कृति है। भगवान्‌ने अपने अन्दर ऐसी रेखाएँ खींच ली हैं जिनसे वे जड़के रूपमें मालूम पड़ते हैं। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है।

परमात्माको पहचाननेके लिए एक कल्पित विवेक होता है। यह जड़ है, यह चेतन है और यह ऐसी वस्तु है जिसमें जड़ चेतनका विभाग नहीं है। जड़ प्रकृतिको बताया—**भूमिः आपो-अनलो वायुः।** पहले पृथिवी है, पृथिवी तन्मात्रा। पृथिवीमें और पृथिवीकी तन्मात्रामें अन्तर होता है। जिस तत्त्वसे हमारी नाक बनी है उसको पृथिवी तन्मात्रा बोलते हैं। नाक माने जिसका फोटो लेते हैं वह नहीं। गन्धको ग्रहण करनेकी जो शक्ति है और वह सारे शरीरमें होती है।

बाहरकी वस्तुओंमें गन्ध फेंकनेकी शक्ति होती है वैसे सम्पूर्ण प्रकृतिमें गन्ध ग्रहण करनेकी भी शक्ति होती है। जैसे आगे चलकर यदि ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार हो, जो नासिकाके छिद्रमें जिस शक्तिके रहनेसे ग्रहण होता है उस शक्तिका विकास हाथमें कर लिया जाये या पाँवमें कर लिया जाय तो हम हाथसे, पाँवसे भी गन्ध ग्रहण कर सकेंगे। यह वैज्ञानिक उन्नतिकी सम्भावना है जैसे हम जीभसे स्वाद ले सकते हैं। जीभमें भी कोई शक्ति है जिससे स्वाद मालूम पड़ता है, यदि उस शक्तिका विकास कर लिया जाये तो हम शरीरके किसी भी हिस्सेसे स्वाद ग्रहण कर सकते हैं। उनमें मिश्रण नहीं होता। कहीं भी आँख हो सकती है। कहीं भी त्वचा हो सकती है, कहीं भी कान हो सकता है। ये तो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनका विकास किया जाता है।

यह विकास वैज्ञानिक ढंगसे भी हो सकता है और योगाभ्याससे भी हो सकता है। ईश्वरकी कृपासे भी हो सकता है। तीन विभाग हैं इसके। वैज्ञानिक लोग तत्त्वके शोधनसे कर सकते हैं, आध्यात्मिक लोग मानसिक विकाससे कर सकते हैं और ईश्वरकी कृपासे बिना वैज्ञानिक अनुसन्धानके और बिना योगाभ्यासके इसका प्रकाश हो सकता है। यह ईश्वरकी प्रकृति है, ऐसी इसकी माया है।

यह जो हम पृथिवी देखते हैं—यह पञ्चीकृत पृथिवी है। इसमें ऐसा बोलते हैं कि आठ आना तो पृथिवी है और दो आना जल, दो आना तेज है, दो आना वायु है, दो आना आकाश है। सोलह आनोंकी पृथिवी कैसे बनी? आठ आनेकी पृथिवी और आठ आनेके शेष चार तत्त्व। इसको कहते हैं पञ्चीकृत। पाँच-पाँचके मिश्रणसे। इसी तरह जल होता है। आधा जल, दो-दो आने पृथिवी, अग्नि, वायु और आकाश। ऐसे ही अग्नि होती है, ऐसे ही वायु होती है और ऐसे ही आकाश होता है यह प्रक्रिया है।

प्रकार भेद और इन्द्रियोंमें जो इनकी शक्ति होती है वह अपञ्चीकृत होती है। आँख केवल देख सकती है, न सूँघ सकती है, न सुन सकती है, न चख सकती है। नाक केवल सूँघ सकती है, न चख सकती है, न देख सकती हैं। जिह्वा केवल चख सकती है, न सूँघ सकती है, न सुन सकती है। इसमें एक-एक भूतकी तन्मात्राएँ होती हैं।

यहाँ जो **भूमिरापोऽनलो वायु**का वर्णन है वह अपञ्चीकृत पञ्चभूतमें है। वह मिट्टी जिसमें पानी, आग, हवा और आकाशका मिश्रण नहीं है वह जल जिसमें मिट्टी, वायु, जल और आकाशका मिश्रण नहीं है, वह तेज जिसमें मिट्टी, वायु, जल और आकाशका मिश्रण नहीं है—अपञ्चीकृत पञ्चीभूत हैं। ये पाँच महाभूत और पाँच महाभूतकी तन्मात्राएँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। **मनो बुद्धिः अहंकारः**—मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन और हो गये। तो बीस और तीन तेईसके रूपमें जो परिणत हुई है वह चौबीसवीं प्रकृति है। नाम

तो यहाँ लिया है आठका, लेकिन है इसमें प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंका निरूपण। यह क्या है? भगवान् कहते हैं—**भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।**

इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार तत्त्व, अहंकार तत्त्वसे पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्राके सात्त्विक अंशसे मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और फिर उनके पञ्चीकृत रूपसे यह सम्पूर्ण विश्व। यह क्या है—यह भगवान्का ही एक प्रकार है। ईश्वरका ही एक प्रकार है। सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिकी प्रकृति भगवान्की ही प्रकृति है। बिना किसी कारणके वे अपने स्वरूपसे इस विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। पर इस प्रकृतिको धारण करनेवाला कौन है? एक-एक शरीर। हाथ हिलनेसे कर्म नहीं होता। धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। न अधर्मकी उत्पत्ति होती है। परन्तु जब हिलानेवाला है—जीव जब कर्म करता है तब धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

हाथ जोड़ लिया। यह जान-बूझकर हाथ जोड़ा, श्रद्धासे जोड़ा, तो हाथ जोड़नेकी क्रियासे धर्मकी उत्पत्ति हुई। और दुर्भावसे घूसा तान लिया तो जीवके लिए अधर्मकी उत्पत्ति हो गयी। परन्तु कर्त्ता होना चाहिए। धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति केवल वस्तुमात्रसे नहीं होती, क्रियामात्रसे नहीं होती, उसमें जीवके कर्त्ता होनेसे धर्म, अधर्मकी उत्पत्ति होती है। अब हम लोगोंने कितने तो बुरे काम किये हैं और कितने तो अच्छे काम किये हैं, जान-बूझकर किये हैं। इसलिए उनका निवारण भी जान-बूझकर जब करेंगे तब होगा, अपने आप नहीं होगा। पाप किये हैं तो उनका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। उनके विरुद्ध पुण्यानुष्ठान करना पड़ेगा और जो दुनियाका मालिक है, उससे क्षमा माँगनी पड़ेगी क्योंकि आपने उसके प्रति अपराध किया है। यह कर्तव्यकी बात है और जो अच्छा बुरा कर्म करेगा उसे अच्छा बुरा फल भी भोगना पड़ेगा।

प्रकृति तो भगवान्की है पर कर्तव्य जीवका है। यह मिट्टी, आग, हवा, पानी, आकाश, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार सब प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति ही इनमें बनी है। यह भगवन्मयी प्रकृति है। परन्तु जब हम इसमें कर्तव्याभिमान करके कर्म करने लगते हैं, तब फलकी उत्पत्तिकी योग्यता आ जाती है। न मिट्टीमें सुख-दुःख हैं, न पानीमें सुख-दुःख हैं, न आगमें सुख-दुःख हैं, न हवामें सुख-दुःख हैं, न आकाशमें सुख-दुःख हैं, न मनमें सुख-दुःख हैं, न बुद्धिमें सुख-दुःख हैं, न अहंकारमें सुख-दुःख हैं। यह तो भगवान्की रचना है।

भगवान्के आनन्दमय हाथोंसे जो सृष्टि बनती है, बनानेवाला आनन्द है, उसका संकल्प आनन्द है, उसके हाथ आनन्द हैं। वह तो आनन्द ही आनन्दकी सृष्टि करता है। परन्तु जब जीव ईश्वरकी वस्तुको मेरी करके मान बैठता है—मैं और मेरा तब उसमें दुःखकी उत्पत्ति होती है। मिट्टी किसीको दुःख नहीं देती, पर यह मेरा खेत है और यह तुम्हारा खेत है, यह जो मेरा और तेरा बन गया, यह मेरा देश, यह मेरा प्राण, यह मेरी जाति, यह मेरा शरीर, यह मेरा परिवार, ये मेरे सम्बन्धी, यह मेरा धन, मेरेमें-से दुःख उत्पन्न होता है।

मृत्युमें-से भी दुःख उत्पन्न नहीं होता। हम देखते थे श्मशानमें बैठकर, सैकड़ों मुर्दे काशीमें मणिकर्णिका घाटपर आते थे, जलते थे और उनका जलना देखते थे। कोई दुःख नहीं था। लेकिन किसी दिन मेरे घरका आ गया तो, मेरे रिश्तेदारका आ गया तो? मुर्देने दुःख नहीं दिया, उसके मरनेने दुःख नहीं दिया,

उसके जलनेने दु:ख नहीं दिया। दु:ख तो हुआ जहाँ उसके साथ मेरापना जुड़ा। यह मेरापन तत्काल दु:खमें वदल गया!

ईश्वरकी सृष्टिमें कहीं दु:ख नहीं है। न कोई दु:ख देनेवाला है। ईश्वर दु:ख देनेवाला नहीं है। ईश्वरकी प्रकृति भी दु:ख देनेवाली नहीं है। सांख्यवादी ऐसा मानते हैं। चार्वाक भी ऐसा मानते हैं कि चारों भूतोंसे यह बना हुआ शरीर हैं, इसमें मैं-मेरा ही दु:खदायी है। न्यायवैशेषिक भी मानते हैं कि यह परमाणुओंसे बनी हुई सृष्टि है, यह दु:खदायी नहीं है। यह मैं-मेरा दु:खदायी है। सांख्ययोगी भी ऐसा मानते हैं कि यह प्रकृतिका विस्तार है, यह दु:खदायी नहीं है, इसमें इतना, ऐसा यह मैं, यह मेरा—यह, दु:खदायी हैं। पूर्वमीमांसक भी ऐसा मानते हैं कि अनादिकालसे सृष्टि ऐसी ही चल रही है। इसमें हम जो कर्तृत्वपूर्वक कर्म करते हैं, यह मेरा कर्म, यह तेरा कर्म—यही दु:ख होता है। वेदान्ती मानते हैं—नासमझी दु:ख देती है, वस्तुत: दु:ख कुछ नहीं है।

यह अपनी समझका कसूर है, जो सृष्टिमें हमको दु:ख देता है। इसीसे समझ अगर ठीक हो जाय तो दु:ख मिट जायेगा। अपनी नासमझीका परिणाम है जिसको बोलते हैं दु:ख। समझदारीकी पहचान है कि जो समझ रहा है कि जो हो रहा है—प्रकृति है। धरती अपने आपमें चल रही है और अपने आपमें दो तरहकी चाल है। एक तो आकाशमें—दिशाओंमें गति है इसकी और एक अपनेमें परिवर्तन है।

कालमें परिवर्तन है, कल कुछ थी, आज कुछ हो गयी और आकाशमें कभी यहाँ है, कभी वहाँ है और रूपमें कभी माटीके रूपमें पड़ी है, कभी पौधेके रूपमें निकल आयी। वस्तुमें परिवर्तन है, स्थानमें परिवर्तन है। परिवर्तन होता है धरतीमें; यह है प्रकृति। जब हम पकड़ते हैं यह पेड़ हमेशा बना रहे, यह जवानी हमेशा बनी रहे, यह मेरी होकर रहे, तब दु:खकी सृष्टि होती है। दु:ख जीवका बनाया हुआ है, ईश्वरका नहीं, प्रकृतिका नहीं, परमाणुओंका नहीं।

जीवकी भूल है, अविवेक है। इसको जैन लोग प्रमाद बोलते हैं। दु:ख प्रमादसे होता है। बौद्ध लोग अविद्या बोलते हैं। चार्वाक भी बेवकूफी ही बोलता है। योगमें अविद्या बोलते हैं। सांख्यमें अविवेक, वेदान्तमें भी अविद्या बोलते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

परमेश्वरकी पहचान छूट गयी, इसलिए दु:ख हो गया। यदि परमेश्वरकी पहचान बनी रहे तो दुनियामें चाहे आसमान फट जाय, चाहे पहाड़ चूर-चूर हो जाय, चाहे समुद्र बिखर जाय धरती रहे कि न रहे—बाबा! जिसकी दुनिया है वह दुनियाको सँभालेगा, तुम अपने आपको बीचमें क्यों डालते हो? यह प्रकृति है परमेश्वरकी।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

यह अपरा प्रकृति है। यह जल है, बूँद-बूँद। संस्कृत भाषामें 'अप' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। **आपः, अपः, अद्भिः, अद्भ्यः, अपाम्, अप्सु**—बस इतने ही रूप इसके बनते हैं। एक वचन और द्विवचनमें जलका रूप नहीं बनता। माने यह बूँद-बूँद है। टुकड़े-टुकड़े है। गाँवमें लड़ाई होती है—यह मेरे तालाबका पानी है।

यह मेरी पोखरका पानी है। शहरमें लड़ाई होती है—यह मेरे नलका पानी है। यह मेरी बाल्टीका पानी है। पानी किसीको दु:ख नहीं देता। मेरापना दु:ख देता है। देखो, बिजलीके लिए प्रान्तोंमें लड़ाई होती है। यह ऊर्जा जो शक्ति है वह किस प्रान्तकी है? यह हमारे देशकी बिजली है, यह तुम्हारे देशकी बिजली है। तो मेरापन दु:ख देता है। यह वायु है। यह मेरी साँस है। यह तेरी साँस है। लो हवा तो एक ही है। सबकी नाकमें हवा ही घुसती है और हवा ही निकलती है। बल्कि वह भीतर जाती है तो वहाँसे दुर्गन्ध लेकर बाहर निकलती है, बाहर शुद्ध हवामें मिलनेके बाद वह भी शुद्ध हो जाती है। प्रकृतिमें क्लेश नहीं है, परन्तु आप प्रकृतिमें मेरी मत देखो—जिसकी यह प्रकृति है उसको मेरा देखो।

चर्तुविधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

जो सुकृती पुरुष हैं वे भगवान्‌को देखते हैं और भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

जो दुष्कृती हैं, पापी हैं, मूढ़ हैं, नराधम हैं (गाली देते हैं—नराधम कह दिया) दुष्कर्म करते हैं, सोचते हैं हम दुष्कर्म करके सुखी होंगे—मूढ़तामें फँसे हुए हैं, नराधम हैं। वे भगवान्‌की शरण ग्रहण नहीं करते, भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। जो सुकृती पुरुष होता है वह वस्तुको नहीं देखता, वस्तुको मैं-मेरी नहीं करता, ईश्वरको मेरा मानता है और ईश्वरको जब समझ जाता है तब तो मैंको अभिन्न मानता है। भक्तिसे संसारका मेरापन छूटता है और तत्त्वज्ञानसे देहमें, परिच्छिन्नतामें जो मैंपना है वह छूटता है। भक्ति ममताको छुड़ाती है और ज्ञान मैं को छुड़ाता है। वह दोनोंका विभाग है। परन्तु यह दोनों छूटेगा कब? जब पहले सत्कर्म करेंगे। बिना सत्कर्मके—अपने कर्मके द्वारा आप भगवान्‌की पूजा करते हैं कि नहीं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 7.5

जो वैज्ञानिक लोग प्रकृतिका स्वरूप मानते हैं और जो सांख्ययोगी—प्रकृतिका स्वरूप मानते हैं उनकी अपेक्षा यहाँ प्रकृतिका स्वरूप विलक्षण है क्योंकि दोनोंमें—

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

भगवान् कहते हैं—यह मेरी प्रकृति है—**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।** तो यह भगवान्‌की प्रकृति है। यह न सांख्य है, न योग है। यह भगवान्‌की प्रकृति है। प्रकृति है माने स्वभाव है। अर्थात् भगवान्‌का स्वभाव ही ऐसा है कि वे जगत्‌के रूपमें, जीवके रूपमें हो जायँ या जगत्‌के रूपमें, जीवके रूपमें मालूम पड़ें। यह ईश्वरका स्वरूप है। प्रकृतिको हम लोग धारण करके बैठे हैं। देहको धारण करके बैठे हैं।

ययेदं धार्यते जगत्। यह शरीर मेरा है, मैं हूँ। यह राष्ट्र मेरा है, मैं हूँ। राष्ट्रसे भी तादात्म्य होता है। स्वामी रामतीर्थ बोलते थे 'मैं पृथिवी हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं तेजस्तत्त्व हूँ, मैं हिमालय हूँ, यह सम्पूर्ण भारतवर्ष मैं हूँ। हिमालय मेरा सिर है, कन्याकुमारी मेरा पाँव है, पश्चिम समुद्र मेरा हाथ है, पूर्व समुद्र मेरा हाथ है, मैं भारतवर्ष हूँ।' यह उनकी अहंता समग्र भारतवर्षमें हो गयी, समग्र विश्व-ब्रह्माण्डमें हो गयी। सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्डोंके अधिष्ठानसे हो गयी।

यह जो जीव है, यह सम्पूर्ण देहको भी धारण करता है—मेरा हाथ, यह मेरा पाँव, यह मेरा दिल, यह मेरा दिमाग और सम्पूर्ण विश्वको भी धारण करता है। जितनी उदात्त दृष्टि होगी, जितनी उदीर्ण दृष्टि होगी, जितनी विस्तीर्ण दृष्टि होगी उतना ही अपने आपको समझोगे।

इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे यह विश्व बना है। मिट्टीमें भी वही है। पेड़में भी वही हैं। जो देहमें है वही ब्रह्माण्डमें है। **यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।** परन्तु यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और बिगड़ते रहते हैं और इनमें मैं होता और टूटता रहता है। जैसे एक शरीरमें मैं होता है। पहले अपना मैं कहाँ था? ब्राह्मणपनेमें था। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ। नहीं संन्यासी नहीं हूँ—मैं तो जीवात्मा हूँ। जीवात्मा नहीं हूँ—मैं तो साक्षात् परमेश्वरका अंश हूँ। परमेश्वरका अंश नहीं हूँ—अंश और अंशीका जो भेद है वह परिच्छिन्नताकी दृष्टिसे है। मैं तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ।

तो ये जितनी सृष्टियाँ हैं, प्रकृतिमें जितने भेद-विभेद हैं, इनका मूल कहाँ है? अब देखो माहात्म्यज्ञान—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। 7.6

संसारमें जीव-प्रकृति और जड़-प्रकृति इन दोनोंके मेलसे ये सब-के-सब बने हैं। जो हुआ सो भी इन दोनोंसे, जो है सो भी इन दोनोंसे, जो है सो भी इन दोनोंसे, जो होगा सो भी इन दोनोंसे, यह निश्चय करो।

अब उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपना स्वरूप बताते हैं। हाथमें ज्ञान है, इसके बिना भक्ति नहीं हो सकती। माहात्म्यज्ञानके बिना सच्ची भक्ति नहीं आ सकती। यदि आप पाँच वर्षसे सुन्दरता देखकर भगवान्से प्रेम करते हैं तो पाँच लाख वर्ष पहलेके होनेवाले ऐसे रूपसे क्यों प्रेम करते हैं? आजकी सुन्दरतासे ही क्यों नहीं करते? वह तो आँखोंसे ओझल है। परोक्ष सौन्दर्यसे आप प्रेम करते हैं? नहीं भाई, कृष्ण नित्य हैं—आज भी हैं। राम नित्य हैं—आज भी हैं। यह नित्यता क्या है? यह माहात्म्यका ज्ञान है। लोग मर जाते हैं परन्तु राम, कृष्ण नहीं मरते। यह माहात्म्यका ज्ञान हो गया। मनुष्य एक स्थानपर रहता है। राम-कृष्ण सब जगह रहते हैं। सबके हृदयमें रहते हैं—यह माहात्म्यका ज्ञान हुआ। जो भक्ति करता है उसके ऊपर कृपा करके वे उसे मिलते हैं, प्रकट होते हैं। बड़े दयालु हैं। यह माहात्म्यका ज्ञान है। वे हमारे दिलकी जानते हैं—सर्वज्ञ हैं। वे सर्वशक्ति हैं—यह माहात्म्यका ज्ञान है। इतने दयालु हैं कि हमारे सामने प्रकट हुए बिना रह नहीं सकते। उनकी सर्वज्ञताका ज्ञान, उनकी सर्वशक्तिका ज्ञान, उनकी दयालुताका ज्ञान—यह माहात्म्यका ज्ञान है। बिना माहात्म्यज्ञानके—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ 6॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7॥

आओ परमेश्वरका दर्शन करें—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।

जगत् माने जो बदलता है। आप एक सरीखा नहीं रख सकते जगत्को। उन सब लोगोंको रोना पड़ता है जो दुनियाको एक सरीखा बनाये रखनेकी कोशिश करते हैं। जो कहेगा अब तो हम हटेंगे ही नहीं, हम ही रहेंगे

उसको तकलीफ उठानी पड़ेगी। यह कुर्सी हमारी—अब तो हम कुर्सीपरसे कभी नहीं हटेंगे। ऐसा चाहे पिछला बोले, चाहे वर्तमान बोले—चाहे अगला बोले, कुर्सी तो हटेगी, छोड़नी पड़ेगी। अब तो हम हटेंगे ही नहीं ऐसे सटे, ऐसे सटे कि अब तो हम हटेंगे ही नहीं, कहते हैं। जगत् माने—

गच्छति इति जगत्।

गम् धातु होनसे इसका ज्ञान भी बदलता है। इसका स्वरूप भी बदलता है। इसमें गति भी है और इसमें वृत्तिका परिवर्तन भी है और इसका मिलना और बिछुड़ना भी है। मिलना, बिछुड़ना, आना, जाना और इसके ज्ञानमें परिवर्तन। नया-नया साइन्स, नया-नया रूप, नया-नया आविष्कार होगा। नया-नया रूप बदलेगा, नयी-नयी चीज आयेगी, नया-नया मिलेगा, नया-नया बिछुड़ेगा। इसका नाम है जगत्। यह जगत् बदलता है। इसमें न बदलनेवाला भी कुछ है क्या?

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

आप अपने मनको बदलता हुआ देखते हैं कि नहीं? जो मनको बदलता हुआ देखता है वह ईश्वरका अंश है और जो सारी सृष्टिको बदलता हुआ देखता है, जिसमें रहकर जिसकी आँखोंके सामने यह सारी सृष्टि बदल रही है—इसका नाम है परमेश्वर। यदि उसके साथ अपना मन जोड़ेंगे, उसकी भक्ति करेंगे, तो दुनियाके बदलनेका तुम्हारे ऊपर कोई असर नहीं पड़ेगा। सीधी बात है—बदलती हुई चीजमें अपना मन रखेंगे तो वह चीज बदलेगी और आपका मन खट्टा हो जायेगा।

अहं कृत्स्नस्य जगतः। कृत्स्न शब्दका अर्थ है सम्पूर्ण। यह सारी जो दुनिया है यह बदल रही है और इसकी उत्पत्ति भी।

दो बात कही जाती है—जिसमें यह दुनिया पैदा हो रही है और जिसमें यह दुनिया समा जाती है। जिसमें यह पैदा होती है यह तो हुआ कारण—प्रभवः। वह निमित्त कारण भी हो सकता है। परन्तु 'प्रलीयते अस्मिन्' जो है वह केवल उपादान कारण हो सकता है—घड़ेका बनाना और घड़ेका फूटकर लीन होना। बनानेके लिए कुम्हारको जरूरत पड़ती है परन्तु घड़ा फूटकर मिट्टीमें लीन होता है। इस सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है परमेश्वर। बनानेवाला भी वही और जिसमें यह दुनिया समा जाती है वह मसाला भी वही। माने वही, वही है। बनानेवाला भी वही है **प्रभवः प्रलयस्तथा।** बननेवाला भी वही है।

अब एक दृष्टि देखें। प्रकृतिके जो दोनों विभाग हैं—जीव-विभाग और जड़-विभाग—इन दोनोंके ही प्रभव और प्रलय परमात्मा हैं। उन्हींमें सृष्टि पैदा होती है और उन्हींमें रहती होती है। अब एक दृष्टि देते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

धनञ्जयका अर्थ है तुम अग्निरूप हो। धनञ्जय अग्निका एक नाम है। अग्निरूप हो, परम तेजस्वी हो। महाबाहो माने बड़े शक्तिशाली हो। ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ तुम्हारे हाथ न पहुँच सकते हों और ऐसी कोई चीज नहीं है जिससे मुक्त होकर तुम रह नहीं सकते हो। इसका अर्थ हुआ, अर्जुन, हम तुम एक। महाबाहो माने

शक्तिमें एकरूपता है और भस्मसात् करनेमें एकरूपता है। धनञ्जयका अर्थ होता है—साधनजयी। जिसने सम्पूर्ण साधनोंपर काबू पा लिया है। साधनका एक भाग है धन।

धनञ्जय माने साधनञ्जय। तुमने सम्पूर्ण साधनोंपर विजय प्राप्त कर ली है क्योंकि तुमने अपने जीवन-रथका सारथि मुझे बना दिया। तुम मुझे देख रहे हो। मेरी आँखसे तुम्हारी आँख मिल गयी है। मेरी मतिसे तुम्हारी मति मिल गयी है। जब तक ईश्वरसे मतभेद है तबतक आदमी दु:खी है। ईश्वरकी दृष्टिसे देखें—दुनियाको ईश्वर कैसा दीखता है? दुनियाको ईश्वर कैसा दिखा रहा है? जैसा दिखा रहा है वैसा देखिये और जिस दृष्टिसे देखकर वह मजा ले रहा है, उसमें मजा लीजिए। जैसा हो रहा है वैसा होने दीजिए। जैसा दीख रहा है वैसा दीखने दीजिए। देखिये परमानन्द, अपने हृदयमें शान्ति ही शान्ति है।

'मत्तः परतरं अन्यद् किञ्चित् नास्ति'

मुझसे अलग, मुझसे परे, कुछ नहीं है। अब यह दृष्टि है। इसका नाम दर्शन है। परमात्माकी ओरसे देखो। घड़ेकी ओरसे देखो। घड़ा अलग है, सकोरा अलग है। करोड़-करोड़ घड़े हैं। करोड़-करोड़ सकोरे हैं। कोई बड़ा है, कोई छोटा है। कोई काला है, कोई लाल है। किसीमें शराब भरी है और किसीमें दूध भरा है। यह घड़ेकी विशेषता है। परन्तु जरा माटीकी ओरसे देखो—बड़ा हो कि छोटा, काला हो कि लाल, गोल हो कि लम्बा—सब माटी है। तो जिस माटीसे यह दुनिया बनी है उस मृत्तिकाको पहचानो। उस मसालेको पहचानो तो देखोगे कि घड़ेमें किसीमें शराब है और किसीमें पञ्चामृत है, गङ्गाजल है, दूध है, दही है। परन्तु घड़ेकी माटी एक है। भगवान्के सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है यह माहात्म्य है। **अन्यद् किञ्चित् नास्ति** दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

मुझसे परे कोई नहीं है मुझसे बड़ा कोई नहीं है, और मुझसे दूसरा नहीं है। माने मेरा बाप भी नहीं है और मेरा भाई भी नहीं है। मेरा दुश्मन भी नहीं है और किञ्चित् माने एक अणु, परमाणु कण भी नहीं है। मुझसे कोई बड़ा नहीं है और मेरा कोई प्रतियोगी नहीं है। मेरे बराबरका नहीं है। बड़ा भी नहीं, बराबर भी नहीं, छोटा भी नहीं। इसका अर्थ है मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।

इसमें भगवान्की पूजाकी एक प्रक्रिया है, देखो वह क्या है? यह बात संसारके किसी मजहबमें नहीं है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। यह मजहबी बात नहीं है। आप पार्थिव लिङ्ग बनाकर पूजा करते हैं। **हमको एक** पण्डित मिले, उन्होंने बताया कि हमने एक करोड़ पार्थिव लिङ्ग बनाकर उनकी पूजा की। **मिट्टीकी भगवान्के** रूपमें पूजा। बोले हमने गंगाजलमें दूध चढ़ाया है, समुद्रमें अर्घ्य दिया है, जलमें भगवान्की **पूजा की है। हमने** अग्निमें भगवान्की पूजा की है। सूर्यमें, चन्द्रमामें, भगवान्की पूजा की है। हमने प्राणोपासना की है। **अपनी साँसमें,** वायुमें, भगवान्की आराधना की है। हमने आकाशमें भगवान्की आराधना की है। यह सब क्या है?

दुनियाके किसी भी मजहबमें यह बात नहीं है कि मिट्टी भी भगवान्, पत्थर **शालिग्राम भगवान्,** नर्मदालिङ्ग भगवान्, ज[illegible]रकी गढ़ी हुई मूर्ति भगवान्। मार्बल भगवान्, लालपत्थर भगवान् **पार्थिव लिङ्ग** जो मिट्टीके बनाते हैं—भगवान्। किसी मजहबमें ईश्वरको सर्वात्मक नहीं मानते हैं। ईश्वर सर्वरूप है—**वही सब है,**

यह बात किसी मजहबमें मानी नहीं जाती है। जो ईश्वर नहीं मानते हैं, उनकी तो कथा छोड़ दो। चार्वाक मतमें ईश्वरकी कोई चर्चा नहीं है। वह तो खाओ, पीओ, मौज उड़ाओका सिद्धान्त है।

व्यक्तिपूजा है जैन मतमें। जीव शुद्ध होकर तीर्थङ्कर, बीत-राग हो जाता है और अलग-अलग उनकी उज्वलता बनी रहती है, वहाँ भी सब ईश्वर है यह बात नहीं। जो पवित्र है वह ईश्वर-समान हो जाता है। उसकी इकाई बनी रहती है। बुद्धमें आत्माका उच्छेद हो जाता है। ईश्वरकी आराधना नहीं है।

यह तो वैदिक धर्म ही ऐसा है, जिसमें सबके रूपमें परमेश्वर प्रकट हैं। इसीसे इस धर्मके बिना, इस विचारके बिना, इस दर्शनके बिना राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। जीवन्मुक्तिका सुख नहीं हो सकता। यह विचार है, यह ज्ञान है।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।

जिनका ईश्वर केवल निराकार है, तो जो कुछ हम देख रहे हैं वह उसके लिए ईश्वर नहीं है। तो मूर्ति-भञ्जक हो गये, जो मन्दिर तोड़ते हैं वे मूर्त्ति तोड़ते हैं। हमारे एक मित्र रूस गये थे। उन्होंने बताया कि लेनिनकी समाधिपर वे गये, तो एक मीलकी क्यू लगी थी और शान्त—चुपचाप। हाँ जी, ये वे हैं जो ईश्वर नहीं मानते। पर कब्रकी पूजा करते हैं। ईसाई लोग ईश्वरका आकार नहीं मानते, परन्तु कब्रपर देखो तो दीया भी जल रहा है, फूल माला भी चढ़ रही है। जो ईश्वरकी पूजा नहीं करेगा, उसे कब्रकी पूजा करनी पड़ेगी! मकबरेकी पूजा करनी पड़ेगी। हम मकबरेको बुरा नहीं मानते। वह भी ईश्वररूप है, लेकिन वे ईश्वरकी मूर्ति नहीं मानते और भूत-प्रेत जिंदकी-पूजा करते हैं। अपनी बुद्धिमें ईश्वर हो इसकी आवश्यकता है। अग्नि, मिट्टी, जल, वायु आकाशमें ईश्वरकी पूजा है। क्योंकि ये सब ईश्वरके रूपमें है, ये ही ईश्वरकी मूर्ति हैं। फिर सब अलग-अलग शक्ल क्यों हैं?

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

यह दुनियाकी सृष्टि वस्त्रके समान है और सूतके समान है परमात्मा। जैसे सूतके विन्याससे ईश्वरमें बेल-बूटे बनाये हैं—यह आदमी क्या हैं? ईश्वरमें बेल-बूटा! यह स्त्री क्या है? ईश्वरमें बेल-बूटा। तत्त्वत: ईश्वर है। यह मिट्टी क्या है? ये पेड़-पौधे क्या हैं? यह पानी क्या है? **सूत्रे मणिगणा इव** जैसे तिब्बती लोगोंकी माला होती है। जैसे सिक्खोंकी माला होती है। सूतमें गाँठ लगा ली—एक, दो, तीन, चार—कितनी गाँठे हैं? परन्तु वे सब गाँठें सूत हैं। जैसे सोनेकी माला होती है, सोनेकी जञ्जीर होती है—मिट्टीकी गोली होती है। गोलियाँ अलग-अलग हैं किन्तु मिट्टी एक है। इसी प्रकार यह सृष्टि कैसी है? जैसे सूतमें गाँठ लगी हो, जैसे सोनेमें मनके बना दिये हों। ऐसे यह सारी सृष्टि है। मन ही अच्छा होता है मन ही बुरा होता है। मन ही मेरा होता है। मन ही तेरा होता है। जब ईश्वरकी भक्ति आती है तो सब ईश्वर रूपसे अनुभवमें आता है! अब आगे बतायेंगे कि कहाँ कैसे ईश्वर स्थित है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्। समुद्रमें जैसे तरंग हो, फेन हो, बुदबुदा हो या उसका कोई भी अन्य रूप क्यों न हो, वह समुद्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, उसी प्रकार परमात्माके स्वरूपमें चाहे वह प्रकृति हो, ब्रह्माण्ड हो; धरती हो अथवा पिण्ड हो, वह परमात्माके स्वरूपसे अलग नहीं होता। भगवान्ने स्वयं कहा है—**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय** (गीता-7.7) और इसी बातका ज्ञान अभयकी प्रतिष्ठा है।

जो इस अभयकी प्रतिष्ठाको जान लेता है, वह निर्भय हो जाता है। जैसे समुद्रमें मगरमच्छ रहते हैं, मगर रहते हैं, बड़े-बड़े काटने-पीटनेवाले जीव-जन्तु होते हैं, परन्तु समुद्रको उनसे डर नहीं लगता कि ये हमको काट लेंगे। इसी प्रकार उन जानवरोंको भी डर नहीं लगता कि समुद्रमें हम डूब जायेंगे। समुद्र भी निर्भय है और समुद्रमें रहनेवाले वे हिंसक प्राणी भी निर्भय हैं।

इसी प्रकार परमात्माका जो यह स्वरूप है इसमें प्रकृति और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, हिरण्यगर्भ, महाविष्णु, महाशिव, एक-एक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश अलग-अलग और ये पिण्ड, शरीर तथा इनमें जीव अलग-अलग हैं, परन्तु हैं ये सब परमात्माका विलास। **एकं सद् बहुधा कल्पयन्ति** श्रुति कहती है, एक परमात्मा परिपूर्ण है; उसके बारेमें बहुत्वकी कल्पना होती है—**बहुधा कल्पयन्ति। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** सत्य एक है : विद्वान् लोग उसे अनेक रीतियोंसे वर्णित करते हैं। **एकं वै सद् विबभूव विश्वम्**—एक ही सत्य है वह सम्पूर्ण विश्वके रूपमें प्रकट हो रहा है। वह एक प्रधानत: आत्मा है।

देखिये न, आत्मासे बुद्धि है, आत्मासे मन है, आत्मासे अन्त:करण है, आत्मासे इन्द्रियाँ हैं, आत्मासे शरीर है और आत्मासे ही यह सम्पूर्ण विश्व मालूम पड़ रहा है। इसमें जीव है कि ईश्वर है, कि मिट्टी है कि पानी है, यह सब आत्मदृष्टिसे ही ज्ञात होता है। आत्माके सिवाय और कुछ नहीं और यह सब भगवान्से बना है, भगवान्में है, भगवान्का ही रूप है तथा भगवान्के सिवा और कुछ नहीं—यह भागवत दृष्टि है। स्पन्द दृष्टि है कि आत्मासे सब है और आत्मा ही सब है। सब कुछ आत्माके स्पन्दनसे ही माननेको स्पन्द दृष्टि बोलते हैं; आत्मा हिल गया और सृष्टि दिखने लग गयी।

यह कोई दूसरी चीज नहीं है; भगवान्की चेष्टा—भगवान्का संकल्प ही विश्वसृष्टिके रूपमें आया। असलमें एक ही चीज है, उसीका नाम है आत्मा और उसीका नाम है भगवान्। चाहे आत्मसृष्टि बोलो चाहे भागवत-सृष्टि बोलो। जब दोनोंको एकमें मिला देते हैं तो उसको ब्रह्म बोलते हैं। ब्रह्म रूपमें है यह सृष्टि, और यह चाहे कि[illegible] रूपमें दिखे, मुख्य बात अभयकी प्रतिष्ठाका ज्ञान है, इसीलिए कहा है—

अभयप्रतिष्ठां विन्दति स एव विद्। प्रलयमें भी अभय है, सृष्टिमें भी अभय है, भेदकी प्रतीति हो तब भी अभय है, हानिमें भी अभय है, लाभमें भी अभय है। लोक व्यवहारमें परमेश्वरको कैसे देखा जाय इसकी एक युक्ति बताते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ 7.8

यही उसकी प्रक्रिया है। परमात्माको देखनेका प्रकार यह है—जैसे जल क्या है? जल वह नहीं है जो दो गैसोंके मिलनेसे द्रव रूपमें पैदा होता है। वह तो मशीनी अथवा यान्त्रिक जल है। असलमें जल क्या है? जीभसे हमें जो रस-ग्रहण होता है वह विलक्षण है। आँखसे हम रूप देखते हैं, त्वचासे स्पर्श करते हैं, नाकसे गन्ध सूँघते हैं, कानसे शब्द सुनते हैं और जीभसे रस लेते हैं, रसनाग्राह्य जो गुण है उसका नाम होता है रस और उस रसात्मक रस-तन्मात्रासे जो बनता है, उसको कहते हैं जल।

इसीलिए कहा है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** परमात्मा रस है। वह रसात्मक जलमें ओत-प्रोत है। ओत-प्रोतका अर्थ होता है उसी प्रकार मिला हुआ जैसे कपड़ेमें सूत और सूतमें ताना-बाना। जैसे कपड़ेमें ताना भी सूत है और बाना भी सूत है। आड़ा भी सूत है और खड़ा भी सूत ही है। उनके विन्याससे तरह-तरहकी डिजाइनें बन जाती हैं।

इसी प्रकार यह जो विश्वसृष्टि है इसमें सूत्रके रूपमें परमात्मा है, रेशेके रूपमें परमात्मा है, रुईके रूपमें परमात्मा है, बिनौलेके रूपमें परमात्मा है। जब हम नाम रूपका अलगाव देखते हैं तो परमात्मा छिप जाता है और जब नाम-रूपोंमें छिपी हुई एकता देखते हैं तो परमात्मा प्रकट हो जाता है। उसमें जीवन और मरणका कोई भेद नहीं है—दूर और निकटका कोई भेद नहीं है—**अभयप्रतिष्ठां विन्दति।** जीवनमें निर्भयता प्राप्त करनेके लिए सबमें परमात्माको देखना आवश्यक है और वह है-जैसा है वैसा ही सब जगह परमात्माको देखो। कहीं भय नहीं है जीवनमें।

अब रही मृत्युकी बात तो मृत्युमें क्या कम हो जाता है? शरीरमें जो माटी है वह तो राख होकर माटीमें मिल जाती है; जो पानी है वह उड़कर पानीमें मिल जाता है, जो तेज है वह तेजमें मिल जाता है, जो साँस है वह वायुमें मिल जाती है और जो अवकाश है वह आकाशमें मिल जाता है। एक रत्ती भी कोई चीज कम नहीं होती। सब चीजें अपने उपादानोंमें मिल जाती हैं।

तो मृत्यु क्या हुई? केवल आकृति टूट गयी—केवल घड़ा फूट गया; माटी तो ज्यों-की-त्यों रही। जो अपनेको घड़ा मानेगा। उसको फूटनेका डर होगा और जो अपनेको माटी मान लेगा उसे घड़ा फूटनेका कोई डर नहीं—चाहे घड़ा टूटे या न टूटे, चाहे रहे या न रहे। तो इस तत्त्वज्ञानका अर्थ होता है—**अनारोपिताकार।** आकारका आरोप छोड़कर—आकार मढ़ा गया है, आकार गढ़ा गया है, वस्तुमें आकार नहीं है।

जितना जल है, उसमें जिह्वासे आस्वाद्य रस है, रसके रूपमें परमात्मा है। यह मत देखो कि पानी लाल है कि पीला है या काला है, वह बोतलमें है कि गिलासमें है, नदीमें है कि समुद्रमें है। उसमें रसनासे, जिह्वासे,

ग्राह्य जो रस है उस रसके रूपमें परमात्मा है। वह थोड़ा है कि ज्यादा है, वह बूँद है कि समुद्र है। बूँदमें भी समुद्र रहता है—

बिंदुसे सिंधु समान, यह सुनि अचरज मत करो।
हेरनहार हिरान, रहिमन आपहि आपमें॥

तात्पर्य, जलमें रस है।

इसी प्रकार चन्द्रमा है, सूर्य है, ग्रह और नक्षत्र हैं। आपकी आँखोंमें भी एक चमक है—इसका नाम है प्रभा। आकृतिको मत देखो और उसके जो नाम रखे गये हैं उनको मत देखो, उस चमकको देखो और आपको परमात्माका दर्शन होगा।

वेदमें कहा है—दुनियामें जितनी वाणी है वह ॐकारसे आच्छन्न है। अ उ म्—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; ब्रह्मा, विष्णु, महेश, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद। जितनी भी त्रयी हैं सब ॐमें प्रणवमें हैं, इसीलिए **प्रणवः सर्ववेदेषु** बोलते हैं। पहले ॐ फिर गायत्री है। गायत्रीसे सारे वेद हैं। वेदमाता गायत्री है। सारे वेद गायत्रीमें-से निकले हैं; गायत्री ॐकारमें-से निकली है; ॐकार अकार, उकार और मकार ये अर्धमात्रामें-से निकले हैं तथा अर्धमात्रा तुरीयमें कल्पित है। हम इधरसे देखते हैं तो मालूम होता है कि ये सब उसमें हैं और उधरसे देखते हैं तो कुछ नहीं—वही है। सब आत्मा ही है।

शब्दः खे पौरुषं नृषु।

आकाशमें शब्द है। आकाश ही वायु होता है और वायु आकाश हो जाता है। स्थितिका नाम आकाश है, गतिका नाम वायु है।

एक महात्माने बताया कि तुम्हारे शरीरमें मैल जमी है, जानते हो यह मैल कैसे आयी? पहले पसीना हुआ था। पसीना कैसे हुआ था? गरमी हुई थी। गरमी कैसे पैदा हुई थी? तो दौड़कर चले थे। दौड़नेके पहले क्या था तो शान्त बैठे थे। देखो, जो मैल है वह मिट्टी है, पसीना है वह पानी है, जो गरमी लगी वह तेज है और जो दौड़ते थे वह वायु है। उसके पहले जो शान्त बैठे थे वह आकाश है।

इसी तरहसे इस सृष्टिका क्रम है। जितने भी शब्द हैं वे गतिसे जुड़े हुए हैं। जहाँ गति होती है वहाँ ध्वनि भी होती है, यह नियम है। जहाँ कुछ हलचल होगी वहाँ शब्द जरूर होगा, चाहे कानसे सुनायी पड़े या न पड़े। जो शब्द हम बोल रहे हैं यदि इससे ढाई या तीन लाख गुना अधिक ध्वनि हो जाय तो वह कानसे सुनायी नहीं पड़ेगी यों ही यदि ध्वनि ढाई लाख अंश कम हो जाय तो भी वह नहीं सुनायी पड़ेगी। यह तो एक मध्यकालमें ध्वनि सुनायी पड़ती है। आकाशमें ही इसका उदय है और आकाशमें ही विलय है। जहाँ वायुकी उत्पत्ति है वहाँ ध्वनिकी उत्पत्ति है। शब्द तन्मात्रामें आकाश ओतप्रोत है। शब्द हुआ, हिला और अवकाश बन गया। इसके सम्बन्धमें भी दर्शनोंमें मतभेद है।

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्।
स्पन्दश्चापि जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा॥

जहाँ कोई काम होता है वहाँ हिलना जरूर होता है। हिले बिना कार्य नहीं होता। जहाँ हिलना होता है वहाँ शब्द जरूर होता है। आकाश हिलता है तो वायु बनती है। आकाशका हिलना—यह शब्द आकाशका गुण है। हृदयाकाशमें एक शब्द होता है इसे बोलते हैं—अनाहत। आहत शब्द क्या होता है? जब हम कण्ठमें, तालुमें-मनसे, प्राणसे, वायुसे एक तरहकी चोट करते हैं तब एक ध्वनि पैदा होती है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनश्चित्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमादत्ते स च प्रेरति मारुतम्॥
मारुतस्त्वरसि भ्राम्यन् भद्रं जनयति स्वरम्।

स्वरकी उत्पत्ति कैसे होती है? आत्माका बुद्धिसे संयोग होता है, बुद्धि विषयको देखती है, फिर बोलनेकी इच्छा होती है। इस इच्छासे वायु प्रेरित होती है और वह वायु जब हृदयमें घूमती है तब स्वरकी उत्पत्ति होती हैं। कण्ठ, तालु आदिके आघातसे शब्दका उच्चारण होता है। 'क'—कण्ठपर जोर पड़ता है। 'त'—दाँतपर जोर पड़ता है। 'ऋटु रषाणां मूर्धा'—मूर्धापर जोर पड़ता है। अक्षरोंके उच्चारणके स्थान बने हुए हैं। उन-उन स्थानोंमें जब हम प्राण वायुके द्वारा जोर लगाते हैं तो उन-उन अक्षरोंका—शब्दोंका उच्चारण होता है। सब जगह शब्द होता है—वह व्यापक है। यह परमात्मा है।

प्राणीमें पौरुषका निवास है। आप चींटीको देखते हैं, जानते हैं—उसका एक उदाहरण लीजिए। उसको पता लग जाय कि कहीं गुड़ है तो वह छेद करके वहाँ पहुँच जाती है। एक बार कमरेमें मेजके नीचे पाँवदानके पास पानी रख दिया और मेजपर मिठाई। चींटियाँ कमरेकी छतपर चढ़ गयीं। बल्बका तार जहाँसे लटक रहा था उसपर उन्होंने अपनी लाइन लगा दी। वहाँसे सीधे मिठाईमें टपकने लगीं।

एक जगह मैंने देखा—चिंतपूरणीमें चटाई बिछाकर पड़ा था। सामने एक कीड़ा मर गया था। चींटियोंने उसे घसीटना शुरू किया। सैकड़ों लग गयीं। कुछकी बिल ऊपर थी दीवालमें। कुछ चाहती थीं उसे नीचे ले जाना, कुछ ऊपरवाले अपने घरमें। यह रस्साकशी बहुत देरतक चली। ऊपरवाली जबर्दस्त निकलीं—खींचकर ले गयीं। किन्तु उनके बिलका मुँह छोटा था, कीड़ा बड़ा था—अब वह उसमें कैसे घुसे? चींटियोंका झुण्ड दो भागमें बँट गया। एक दलने उसे पकड़ रखा और दूसरेने धीरे-धीरे उसका टुकड़ा करना शुरू किया। इस प्रकार उस बिलमें वे ले गयीं।

यह पौरुष चींटीमें कहाँसे आया? यह बुद्धि चींटीको किसने दी? किसी महात्मासे पूछो तो वह कहेगा—यह 'वही है।' **पौरुषं नृषु।** सबके भीतर वही है। वही बौद्ध पुरुषार्थ है। वही मानस पुरुषार्थ है। वही शारीरिक पुरुषार्थ है। यह जो सोचते हैं, यह काम हमने किया तो यदि उसकी सत्ता न हो, उसका ज्ञान न हो, उसकी प्रेरणा न हो तो मनुष्य कोई काम नहीं कर सकता। **पौरुषं नृषु।**

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च—पृथिवीमें एक संसर्गज गन्ध होती है—किसी चीजके मिश्रणसे। मनुष्यके पेटमें जाकर सभी चीजें गन्दी हो जाती हैं। गन्दगीका खजाना पृथिवी नहीं है, गन्दगीका खजाना प्राणीका शरीर है। जो चीज शरीरमें-से निकलती है—चाहे बाल हों, चाहे कीचड़ आँखमें-से निकले, चाहे नाकमें-से,

बलगम निकले, दाँतके चप्पड़ छूटें या शरीरका पसीना निकले, मल-मूत्र निकले, पीव निकले, रक्तस्राव हो सब शरीरसे बाहर होते ही गन्दा है। शरीरसे अलगाव गन्दगीका साम्राज्य। बहिर्मुखता ही गन्दी चीज है।

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च। पृथिवीमें जो पृथिवीकी स्वाभाविक गन्ध है उसको पुण्यगन्ध बोलते हैं। जो मिलावटी गन्ध होती है उसे पुण्यगन्ध नहीं बोलते। आषाढ़ मासकी जो पहली-पहली वर्षा होती है—तब धरतीसे एक सुगन्ध निकलती है, उसे सूँघकर हाथी मतवाला हो जाता है। वह गन्ध ईश्वरकी है।

सर्वगन्धाः सर्वरसाः। श्रुतिमें वर्णन आता है सारे गन्ध, सारे रस उसके (ईश्वरके) हैं। **पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।** अग्नि क्या है? तैजस तन्मात्रा। यदि तेज न हो तो राख है। राखके ढेरका नाम तेज नहीं। अग्निमें तेज कहाँसे आया? अग्निमें तेजके रूपमें परमात्मा है। चिन्गारियोंको मत देखो, ईन्धनको मत देखो। सूर्यका आकार, चन्द्रमाका आकार मत देखो। आकारनिरपेक्ष जो तेज है उसका नाम तत्त्व है। **अनारोपिताकारं नाम तत्त्वम्।**

जब सोनेमें आकार बना दिया—यह कंगन है, यह कर्णफूल है, यह हार है, यह अंगूठी है तो इसमें आकारका आरोप हो गया। बिना आकारका सोना क्या है? जब अपनेसे अलग मालूम पड़ेगा सोना तो उसमें आकार जरूर होगा। जब सोनेका आकार दिखता है तब सोना अपनेसे अलग है। जब सोनेमें आकार नहीं है तो स्वर्ण कल्पनाका जो अधिष्ठान है वही स्वर्णाकार होकर भास रहा है।

जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु। 7.9
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्॥ 7.10

जिस तपस्याके कारण तपस्वी तपस्वी बना हुआ है, जिस जीवनके कारण हम जीवनधारी बने हुए हैं, वह जीवन, वह तप परमात्मा है। जीवन अलग-अलग होते हैं पर जीवन-सत्ता एक होती है। तपस्याएँ अलग-अलग होती हैं परन्तु उसमें तपस्तत्त्व एक होता है। यहाँतक कि सनातन बीज जिससे सबकी उत्पत्ति होती है वह परमात्मा है।

बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्। 7.10
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। 7.11

भगवान्ने बताया ये बुद्धिमान् लोग हैं। बुद्धिका कोई खजाना भी है कि बुद्धि ही बुद्धि है। एक बुद्धि बाहरकी चीजोंको देख-देखकर भीतर आती है। और एक बुद्धि होती है जो बाहरकी चीजोंको ग्रहण किये बिना भीतर जो ज्ञानस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, वहाँसे प्रकट होती है। अलग-अलग बुद्धिमान्। कोई शब्द-सौंढ होता है, कोई गन्ध सौंढ होता है, कोई रूप सौंढ होता है अलग-अलग होते हैं। ऐसी सूँड होती है जबर्दस्त।

भोज प्रबन्धमें वर्णन आता है—एक गन्धको पहचान लेता था। उसके सामने जब चावल परोसा गया तो उसने कहा—इसमें मुर्देकी गन्ध है। तलाशकी गयी। धान कहाँ पैदा हुआ? जिस खेतमें धान पैदा हुआ था उसमें जब धानके पौधोंकी रोपाई की गयी थी उसके पहले एक मुर्दा जलाया गया था। इसको गन्धसौंढ बोलते हैं। ढूँढो गन्ध कहाँ गयी?

कोई स्पर्श-सौंढ होता है। एक सज्जन बहुत बढ़िया पलङ्गपर सुलाये गये। प्रात:काल बताया—नींद नहीं आयी। उसमें ऐसी कोई चीज थी जो शरीरमें गड़ रही थी। अब तलाश शुरू हुई—निकला विस्तरके नीचेके एक बाल। बोले यह गड़ रहा था।

सूक्ष्मतासे यदि अनुसन्धान करो तो सबका जीवन वही है। सबमें तेज वही है। 'बलं बलवतां' सबका बल वही है। दुनियामें जितना बल है वह सब परमेश्वरका बल है। ऊर्जा—उर्क वेदमें कहते हैं। उसमें भी वही है। कोई चीज रुकी हुई है, बिखर क्यों नहीं जाती? बिखरी हुई चीजमें भी—अणुमें भी बल कहाँ है? परमाणुको भी जब तोड़ते हैं तो उसमें-से कितनी शक्ति निकलती है? जिस शक्तिसे परमाणु-परमाणु बना हुआ है, अणु-अणु बना हुआ है वह बल किसका है?

हम तो छोटी-छोटी चीज देखकर उसीमें रह जाते हैं। यह बैटरीका बल्ब है। टार्च कैसे जलती है? बैटरीके बलसे। रेफ्रिजेटर कैसे ठण्डा होता है? पावर हाउससे बिजली आती है। छोटी-छोटी दृष्टि है। जो पूर्ण विश्वसृष्टिकी बिजली है, जिस ऊर्जामें प्रकृति काम करती है, जिस ऊर्जामें परमाणु काम करते हैं, जिस ऊर्जामें ब्रह्माण्ड काम करते हैं वह ऊर्जाका बल किसका है। वह हमारे अन्दर भी है। पर वह छिप जाता है, जब हम काम और रागसे आक्रान्त हो जाते हैं। काम और राग हमारे ऊपर चढ़ बैठते हैं।

काम क्या है? अप्राप्तकी प्राप्तिके लिए इच्छा। जो प्राप्त है वह बना रहे और आगे और-और मिले, इसका नाम होगा—राग एवं तृष्णा। यदि तुम परमात्माके बलको समझना चाहते हो—पहचानना चाहते हो तो आगे क्या चीज मिले इसपर-से अपनी नजर थोड़ी देरके लिए हटा दो। इससे आपका कोई नुकसान नहीं होगा। आपकी योजना कार्यान्वित हो, इसपर कोई आक्षेप नहीं है। केवल थोड़ी देर अपनी योजनाको आप अपनेसे अलग कर दीजिए। जो पाना चाहते हैं उससे अपने मनको—अपनी बुद्धिको हटा लीजिए। अपनी आत्माको उसके साथ मत मिलाइये।

आपके जीवनमें जो द्वन्द्व है, जो समस्याएँ हैं, जो उलझने हैं वे क्यों हैं? आपने अपनेको दो जगह कर लिया है! अपनेको फाड़ दिया है। आधा तो यहाँ है, आधा वहाँ है। यह चीज हमको मिलनी चाहिए। हमारे पास नहीं है। तो आप यहाँ खड़े हैं और वहाँकी चाहते हैं। इस रूपमें खड़े हैं और उस रूपको चाहते हैं। आपने अपनेको दो हिस्सोंमें बाँट दिया। 'काम'का यह काम है। यह मनुष्यको दो जगह कर देता है। एक मकानमें हैं—दूसरा मकान चाह रहे हैं।

जो चीज है वह आगे भी बनी रहे यह है तृष्णा। तृष्णा माने पिपासा—प्यास। कभी न बुझनेवाली प्यास। आदमी चाहता है कि सारी दुनियाको हम अपनी जेबमें रख लें। यह झगड़ा भी रहेगा कि यह तुम्हारी जेबमें न रहे हमारी जेबमें रहे। भाई-भाईमें झगड़ा होता है। बाप-बेटेमें झगड़ा होता है। पति-पत्नीमें झगड़ा होता है। ये लड़ाई-झगड़े तृष्णासे आते हैं। प्यास बड़ी है और एक-एक आदमीकी प्यास बुझाने लायक वस्तुएँ संसारमें नहीं हैं।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवस्त्रियः।
नालमेतस्य तृप्त्यर्थं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥

दुनियामें जितना धन-धान्य है, जितना सोना है, जितने हाथी-घोड़े हैं, जितने स्त्री-पुरुष हैं, एककी तृप्तिके लिए भी वे पर्याप्त नहीं हैं। प्यास बढ़ती जाती है।

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।

यह मनुजीकी सम्मति है। आगमें घी डालनेसे वह नहीं बुझती। आगमें घीकी आहुति देते जाओ वह बढ़ती जायेगी। दशवाला सौ चाहता है, सौवाला हजार चाहता है, हजारवाला लाख चाहता है। तृष्णाका अन्त नहीं है।

बल तो भगवान् है अपने अन्दर, परन्तु वह चाहनेवाले बल नहीं, वह रखनेवाला बल नहीं। वह प्यासवाला बल नहीं। एक बार प्यास छोड़ो, रखनेका मोह छोड़ो और चाह छोड़ो। देखो, तुम्हारे अन्दर छोड़नेसे जो बल प्रकट होता है उसे अनुभव करो, जो ग्रहण करनेसे बल प्रकट होता है उसे मत देखो। त्यागसे परमात्माका जो भीतर बल है वह प्रगट होता है। ग्रहण करनेसे अपना बल, परमात्माका बल बँट जाता है। आप जीव हो जाते हैं, संसार संसार हो जाता है। संसारको पकड़नेका बल अन्य खर्च न करें तो आप जीव नहीं परमेश्वरसे एक हो जायेंगे।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 7.11

बोले—भाई, काम छोड़ दें—बिलकुल छोड़ दें तो निकम्मे हो जायेंगे। महाभारतमें एक प्रसङ्ग आता हे, यह मोक्षधर्म पर्वमें है—

अकामस्य क्रिया काचिद् विद्यते नैव कर्हिचित्।
यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम्॥

एक मङ्की नामके महात्मा थे। उन्होंने सोचा-खेती करें। दो बैल खरीद लिया। दोनोंको एक साथ जोड़ दिया कि ये दोनों कहीं भाग न जायँ। वे बैठ गये और जुगाली करने लगे। इसी बीच एक ऊँट आगया। ऊँटको आते देख वे खड़े हों तबतक वह इनके बीचके हिस्सेमें आगया। बैलोंको बाँधनेवाली रस्सी उसके गलेमें लटक गयी। बैल दोनों टँग गये और मर गये। मङ्की ऋषिने गीताकी रचना की है उसे मङ्की-गीता बोलते हैं।

जैसे आदमीके गलेमें दोनों ओर मणि लटक रही है वैसे ही ऊँटके गलेमें मेरे दोनों बैल लटक रहे हैं। अब बोले खेती कैसे करोगे? बोले खेती खतम। एक कामना लेकर आये थे उसमें विघ्न पड़ गया।

ईश्वर कह रहा है—अब शान्त हो जाओ। कामके बिना क्रिया नहीं होती। जब कुछ पाना चाहते हैं तब कुछ करते हैं। सब-के-सब निकम्मे हो जायेंगे अगर कामना नहीं होगी। भगवान्ने कहा—नहीं-नहीं, कामके रूपमें मैं ही आता हूँ। यह पाना है इसलिए यह करना है। परन्तु यह कामना ऐसी होती है जैसे अपने हकके धनके लिए कामना हुई—दूसरेके हकके लिए नहीं। अपनी विवाहित स्त्रीके लिए कामना होगी—परस्त्रीके लिए नहीं। काम जो संकोच है वह यह है कि गलत रास्तेपर कामना न जाये। धनके बारेमें न जाये, स्त्रीके बारेमें न जाये, कुर्सीके बारेमें न जाये।

धर्म माने अपने मनको धारण करनेवाली वस्तु। हम अपने मनको बुरी बात बोलनेसे रोक पाते हैं या नहीं। यदि आप गन्दी बात बोलनेसे जीभको रोक पाते हैं तो आपके अन्दर धर्म है। 'धारणात् धर्मः' झूठ मत बोलिए। बुरी बात मत बोलिए। अहित मत बोलिए। ज्यादा मत बोलिए, बेमौके मत बोलिए। आवश्यक हो तभी बोलिए।

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीत जानो।

पाँवसे आप चलते हैं—उसके बारेमें भी सोच लीजिए। हाथसे आप काम करते हैं—उसके बारेमें भी आप सोच लीजिए। आँखसे आप देखते हैं—उसके बारेमें भी आप सोच लीजिए। आपका धर्म जाग रहा है या सो रहा है?

धारणात् धर्मः, धरति इति धर्मः, ध्रियते इति धर्मः। जो यज्ञ यागादिरूप धर्म किये जाते हैं वे जीवके द्वारा धारण किये जाते हैं। हम इतना दान करेंगे, हम इतना व्रत करेंगे, हम इतना नियम करेंगे। मनुष्य जिसको धारण करे उसका नाम धर्म नहीं। एक धर्मका संस्कार आपके भीतर है और वह 'धरति'—आपको रोककर रखता है। जहाँ पुलिस नहीं रहती है, जहाँ फौज नहीं रहती है, जहाँ कानूनका पालन करानेवाला कोई नहीं रहता है, जहाँ समाज नहीं रहता है, वहाँ आपके भीतर बैठा हुआ धर्म आपको धारण करता है।

एकको हम बोलते हैं कार्यधर्म, एकको बोलते हैं कारणधर्म। कार्यधर्मको हम धारण करते हैं और कारणधर्म हमको धारण करता है। **धर्मो रक्षति रक्षितः।** हम धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्म हमारी रक्षा करता है। आपके मनमें काम करे परन्तु वह काम आपके काबूसे बाहर न हो, आपकी धारण शक्तिके अन्तर्गत हो। आप पाँव रोककर चलें। हाथ रोककर काम करें। जीभ रोककर बोलें। जो आवश्यक हो वह बोलें। जो आवश्यक हो वह करें। जहाँ नियन्त्रण नहीं है वहाँ आपके जीवनमें उच्छृङ्खलता आ जाती है। आप देखो भगवान् कहाँ है?

एक काम वह था जो शङ्करजीको विचलित करना चाहता था। देवताओंने इसे भेजा था। यदि वह विचारपूर्वक आता, प्रार्थनापूर्वक आता—'महेश, तारकासुरको मारना है, आप एक सन्तान पैदा कर दीजिए।' ऐसे नहीं आया।

भँवरे और भँवरी दोनों एक पुष्पपर बैठ गये और मधुपान करने लगे। हरिण अपने सींगसे हरिणीको खुजलाने लगा। काम आया। वह शङ्करजीको योगसे, समाधिसे विचलित करने आया। शङ्करजीकी आँख खुली।

क्रोधं प्रभो संभर संभरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।

देवता लोग हाथ जोड़कर बोले—महाराज ठहरिये, ठहरिये तबतक तो शङ्करजीके नेत्रकी आग कामको जलाने लगी। एक काम यह है जिसे शङ्करजी जलाते हैं। एक काम वह है जो श्रीकृष्ण भगवान्से रुक्मिणीमें प्रद्युम्नके रूपमें प्रकट होता है। एक काम है विचलित करनेवाला और एक काम है भगवान्का पुत्र—बेटा। बोले—'बेटा तो बाप ही है।' बाप ही बेटेके रूपमें आया है। वह ईश्वरका रूप है। परन्तु धर्मके विरुद्ध नहीं जाना चाहिए।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। 7.11

भगवान् कहते हैं भाव जितने हैं, सबमें मैं हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ 7.12

सूर्यकी रोशनीमें स्त्री-पुरुष सब दीख रहे हैं। परन्तु सूर्य तो नहीं कहता कि तुम बुरी नजरसे इसको देखो। सूर्य वस्तुको प्रकाशित करता है। सात्त्विक भाव, कभी दानका भाव आता है, कभी उदारताका भाव आता है, कभी दयाका भाव आता है। वह सब ईश्वरके प्रकाशमें प्रकाशित होता है। कभी राजस भाव आता है—भोग करो, संग्रह करो। तभी तामस भाव आता है—आलस्य है, निद्रा है, प्रमाद है। अन्त:करणमें ये भाव आते रहते हैं। इस भावोंमें हम बँध जाते हैं। ये सब भगवान्के प्रकाशमें आ रहे हैं, ठीक है परन्तु इनके साथ बँधना नहीं। सात्त्विकके प्रकाशमें प्रकाश ज्यादा है। राजसमें प्रकाश कम है। तामसमें प्रकाश नहीं है। परन्तु सब मालूम पड़ते हैं उसी आत्मरूप परमात्माके प्रकाशमें। इसलिए **मत्त एव तान्विद्धि**—सब मुझसे मालूम पड़ रहे हैं। उन भावोंमें मैं वह भाव नहीं हो जाता परन्तु वे भाव सब मुझमें रहते हैं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 13.26

विनाशी पदार्थोंमें जो अविनाशीके रूपमें मौजूद है जो विषममें सम है। आपकी गिनती होती है विषम—एक, तीन, पाँच। उसमें सम क्या है? एक। यह दोमें भी है, तीनमें भी है। चारमें भी है, पाँचमें भी है। उसके बिना कोई गिनती नहीं होती। दोसे एक-एकको अलग कर लो यह दोनों एक परमात्मा हैं। एक-एक-एक तीनों परमात्मा हैं। संस्कृतमें एक-एक माने होता है—अनुपात। **एति अन्वेति इति एकः।** जो एकमें, दोमें, तीनमें, पाँचमें है वह एक है। आत्मासे सब प्रकारसे सिद्ध होता है। वह विषयमें सम है। वह अस्थिरमें स्थिर है। वह जगत्में परमेश्वर है। सारे पदार्थोंका तो हो रहा है विनाश, वह है अविनाशी। उस अविनाशीको देखो, उस परमात्माको देखो।

दुनिया क्या करती है, लोग क्या करते हैं? ये भावोंमें बँध जाते हैं। जो भाव आया—बह गये। एकने हमको बताया (जवान आदमी है)—मैंने सुन्दर वेषभूषामें एक स्त्रीको देखा—घूँघट काढ़े हुए थी। मैंने सोचा वह बहुत सुन्दर होगी। उसका पीछा किया। गन्दी बात हुई न! जब स्त्री समझ गयी कि यह मेरा पीछा कर रहा है तो वह घूँघट हटाकर खड़ी हो गयी। उसका मुँह चेचकके दागसे भरा था। मैं लौट आया। यह बाँधकर कौन ले गया? हम कामके साथ अपने आपको बाँध लेते हैं और उसके पीछे-पीछे जाते हैं। हम क्रोधके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। जहाँ क्रोध जाता है वहाँ हम जाते हैं। मोहके साथ अपनेको बाँध लेते हैं। जहाँ मोह जाता है वहीं हम जाते हैं।

संसारमें दोष तीन ही होते हैं। गौतम मुनिने बड़ा विचार करके न्यायदर्शनमें यह निर्णय किया है। दुःख क्यों होता है? शरीरमें अहं होनेसे। इसमें मैं कैसे हुआ? प्रवृत्ति, कर्मके अनुसार दोष क्या है? राग, द्वेष, मोहकी

राशि। दोषकी ये तीन राशि हैं। हम रागके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं, मोहके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं या द्वेषके साथ बँधे-बँधे डोल रहे हैं। काममें मुँह आगेको होता है, द्वेषमें मुँह पीछेको होता है। इसने हमारा यह नुकसान किया—पीछेकी ओर मुँह हो जाता है। जिससे डरते हैं, उससे द्वेष करते हैं। वह डरावना होता है। यह अपने दिलकी कमजोरी है कि यह फिर हमारा नुकसान करेगा। इसलिए द्वेष होता है। जो हमें मिला है वह हमारे पास बना रहे। यह मोह होता है। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह ये तीन दोष होते हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः। गुण माने रस्सी। यह तीन गुण हैं माने रस्सी हैं। ये घसीटकर हमें ले जाते हैं। सात्त्विक भाव, राजस भाव, तामस भाव वहाँ-वहाँ बाँधकर ले जाते हैं।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्। 7.13

इन तीनों भावोंसे परमात्मा परे है, यह बात मालूम नहीं पड़ती। परे माने आगे नहीं। कुछ जगह बोलते हैं उरला, परला। परला माने उधर। उरला माने इधर, अपने पास। छातीसे लगा हुआ। पर शब्दका अर्थ संस्कृतमें अपनी ओर होता है। यह संस्कृत भाषाकी विशेषता है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

पर माने पीछे। इन्द्रियोंसे पीछे तन्मात्रा है। तन्मात्राके पीछे मन है। मनसे पीछे बुद्धि है। बुद्धिसे पीछे अव्यक्त है। अव्यक्तसे पीछे अपनी आत्मा है। आत्माके पीछे और कुछ नहीं है। परे माने आसमानके पीछे—सिरेपर नहीं, धरतीके छोरपर नहीं। परे माने ये सब जहाँ पैदा हुए हैं, दिखायी नहीं पड़ रहे हैं—वहाँ। उस आत्माको पर बोलते हैं।

भगवान् कहाँ बैठे हैं? इन्द्रियोंके पीछे भी बैठे हैं। मनके पीछे भी बैठे हैं। लोग उसे पहचानते नहीं। उधर देखते ही नहीं, जिधर भगवान् हैं। उसे पहचान लो तो सब जगह पहचानमें आ जावेगा। यदि नहीं पहचानोगे तो कहीं भी नहीं पहचान सकोगे। अपने घरमें पारस पत्थर है उसे नहीं पहचानते। नदीके किनारे जाते हैं ढूँढ़ने, पहचानते तो हैं नहीं। नदीके किनारे पारस हो भी तो कैसे पहचानेंगे? घरमें सिल-बट्टा बना रक्खा है। वहाँ तो पहचानते नहीं तो यह जो अपने भीतर बैठा है, इसे बना दिया सिल-बट्टा और ढूँढ़ने जाते हैं।

मोको क्या तू ढूंढे बन्दे—मैं तो तेरे पास हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह संसारी जीव मोहित हो गया है। मोह माने बुद्धिका उलट जाना। मुह् वैचित्त्ये—चित्तका विपरीत होना। जो चीज जैसी है उसको वैसी न समझकर उससे उलटा समझना। चित्तकी विपरीतता क्या है?

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ 7.13

इन तीन गुणोंको 'एभिः 'से व्यक्त कर रहे हैं। 'एभिः' माने ये सबको दीखते हैं। सबको मालूम पड़ते हैं। क्या दीखता है? यह हड्डी, मांस, चामका तमोगुणी शरीर बना हुआ है। इसमें रजोगुणी क्रिया होती है। संसारका ज्ञान होता है। वह होता है सात्त्विक वृत्तियोंसे। द्रव्यका होना तामसी वृत्तियोंसे होता है। आत्मा इनसे परे है। उसपर इन गुणोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए इनसे उसका कोई बन्धन नहीं होता। शरीर नहीं था तब भी आत्मा था। नहीं रहेगा तब भी आत्मा रहेगा। क्रिया होती है तब भी आत्मा है। नहीं होती है तब भी आत्मा है। वृत्तियाँ उठती हैं तब भी आत्मा है। नहीं उठती हैं तब भी आत्मा है।

एभ्यः परमव्ययम्—इसमें 'एभ्यः' शब्द दूसरी बार आया है। भगवान् इनसे परे हैं। आत्मा इनसे परे है। किन्तु मनुष्य इनमें फँस गया है। देह नहीं था अपनेको देह मानने लग गया। राग संसारसे उपसृष्ट वृत्ति है। हम मोहित क्या हो गये—बुद्धि ही उलट गयी—पक्षपात करके। किसीके प्रति राग करके दूसरेके प्रति क्रूरता करने लगते हैं। उसके प्रति इतना द्वेष कर लेते हैं कि दिल ही जलने लगता है। किसीके प्रति इतना मोह हुआ कि अच्छाई, बुराई, उचित, अनुचित सब भूल गया। यह है मोह जो त्रिगुणमय है। जैसे कोई रस्सी तिगुणी हो—तेहरा बटी हुई हो।

भली बावली बावरी सब कोई भर लेय।
भूप कूपकी एक गति गुन बिनु बूँद न देय॥

वह भोलीभाली बावली ही अच्छी है जिसमें-से जो चाहे पानी भर लावे। लेकिन भूप और कूपकी एक ही गति है कि 'गुन बिनु बूँद न देय।' रस्सी न हो, गुण न हो तो एक बूँद भी नहीं देते। संस्कृतमें 'गुण' माने रस्सी होता है। यह त्रिगुण हो तो पूछना ही क्या है? त्रिगुणित रस्सी बहुत मजबूत होती है। उसका बन्धन बहुत मजबूत होता है।

इस देहमें 'मैं', कर्ममें 'मैं', जानकारीमें 'मैं', विद्या—बुद्धिका 'मैं'—यह 'मैं' भी मोह है और क्रियाशीलताका अभिमान भी मोह है। देहका मोह भी अभिमान है। देहका अभिमान भी मोह है। इससे हुआ यह कि जो सबसे परे परमात्मा है वह यहीं इसी शरीरमें है और इस शरीरसे परे भी है। उसीकी वजहसे सारे काम होते हैं और वह सारे कामोंसे परे है। उसीसे सारी वृत्तियाँ होती हैं पर वह वृत्तियोंसे परे है। सतोगुणसे जागरण होता है। रजोगुणसे स्वप्न होता है। तमोगुणसे सुषुप्ति होती है। परन्तु परमात्मा इनसे जैसे परे है वैसे ही

त्रिगुणमय भावसे परमात्मा परे है। **नाभिजानाति**—परन्तु लोग उसे पहचानते नहीं। यह है भगवान्‌की माया। एक ही श्लोकमें 'माया' शब्दका दो बार प्रयोग हुआ है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14

एषा माया—यह माया है। माया माने जिससे परमात्मा संसारके रूपमें दीखने लगता है। **मीयते जगत् अनेन।** है तो परमात्मा परन्तु परमात्मा नहीं दीखता। जगत् दीखने लगता है। इसका नाम माया है।

मार्कण्डेयजीके सामने भगवान् प्रकट हुए। उनसे भगवान् बोले—'वर माँगो।' मार्कण्डेयजीने कहा—'प्रभो! आपको तो देख लिया, अब क्या माँगे?' 'कुछ तो माँगों'—भगवान्‌ने कहा। 'अच्छा, आपको देखा, आपकी माया नहीं देखी। वही दिखा दीजिये।' मार्कण्डेयजीने कहा।

मार्कण्डेयजी पुण्यभद्रा नदीके तटपर भजन करनेके लिए बैठे। देखा—बादल हो रहा है। तूफान आ रहा है। समुद्र उमड़ रहा है। लो सारी सृष्टिके प्रलय होनेकी तैयारी। घोर हाहाकार! घनघोर अन्धकार! फिर कुछ भी दीखता नहीं—शून्य शान्त! थोड़ी देरमें एक बड़का वृक्ष दीखा। महान् आश्चर्य! उसके पत्तेपर एक बालक। बालकको पाससे देखनेकी उत्कण्ठा हुई। पहुँच गये उसके निकट। निकट क्या पहुँचे—उसकी श्वाँसके साथ उसके भीतर चले गये। हजारों हजार ब्रह्माण्ड देख रहे हैं। हजारों हजार वर्ष बीत रहे हैं। विस्तृत पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर नीचेका दृश्य दीख रहा है। देख रहे हैं बड़ी भारी दुनिया। दीख रहे हैं अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश! और फिर श्वासके साथ धम्मसे बाहर। वही पुण्यभद्राका तट, हिमालयकी तहलटी और बैठकर भजन कर रहे हैं—मार्कण्डेयजी। घड़ी भरमें देखा सृष्टि और प्रलय। कोटि-कोटि कल्प। जन्म और मरण!

परन्तु यहाँ तो कुछ नहीं था। इस कुछ नहींमें देखा बहुत कुछ। यह दिखानेकी जो शक्ति है, उसे माया कहते हैं। जहाँ कुछ नहीं, वहाँ सब कुछ दिखा दे उसका नाम है माया। नारदजीको अभिमान हुआ कि मैं कामविजयी हूँ। सात्त्विक अभिमान था। उन्होंने क्या देखा? एक सुन्दर नगरी। एक राजा है, उसकी सुन्दरी राजकुमारी है। स्वयंवर हो रहा है। लड़कीपर नारदजी मुग्ध हो गये। इस लड़कीसे तो हम ब्याह करेंगे। सुन्दर रूप माँगकर आये तो मिल गया बन्दरका रूप!

अन्तमें कुछं नहीं, न नगर, न राजा, न राजकुमारी। कुछ भी नहीं। इसीका नाम है माया।

एक पुरञ्जनोपाख्यान है श्रीमद्भागवतमें। पुरञ्जनने देखा—लाखों वर्ष, अनन्त वंश-विस्तार। एक नहीं कई जन्म। वह सब क्या था? अविज्ञात सखाका ईश्वरसे बिछुड़ जानेका परिणाम। हो कुछ नहीं मालूम पड़े सव कुछ। इसीको कहते हैं—माया।

एक बार नारदजीने कहा कि—'भगवन्! हमें माया दिखाइये।' अव यात्रा आरम्भ हुई। आगे-आगे भगवान् विष्णु पीछे-पीछे नारदजी। विष्णु भगवान्‌ने थोड़ी देर बाद कहा—मुझे प्यास लगी है। यह माया है—विष्णु भगवान्‌को प्यास नहीं लगती। बिना प्यासके ही प्यास आगयी। नारदजी बोले अभी जल लाता हूँ।

नारदजीको पास ही नदी मिल गयी। नदीके सौन्दर्यने उन्हें आकर्षित किया। उतर पड़े स्नान करने। स्नान करके बाहर आये नारदसे हो गये नारदी। राजकुमार मिल गया। ब्याह हो गया। बच्चे-कच्चे हो गये। पति मर गया। नारदी रो रही है। विष्णु भगवान् आगये। अरे! नारद तुम पानी लेने गये थे कहाँ चले गये? नारदको आयी शर्म कूद पड़े पानीमें और नारदीसे नारद होकर निकले। अब देखो न वहाँ नदी थी, न ब्याह हुआ, न पैदा हुए बच्चे!

योगवासिष्ठमें ऐसी बहुत-सी कथाएँ हैं। मायाका जो आश्रय होता है वह उससे मोहित नहीं होता। जो अविद्याका आश्रय होता है वह उससे मोहित हो जाता है। अविद्या जिसके मनमें आती है उसको मोहित कर लेती है। जो माया दिखानेवाला मायाका आश्रय है वह मोहित नहीं होता। माया देखनेवाला मोहित होता है। अविद्या रखनेवाला मोहित होता है। यह अविद्या और मायाका भेद है।

माया जब भगवान्की विद्या देती है तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। जब माया अविद्या देती है तब मनुष्य बद्ध हो जाता है। सब ख्याल ही है। मनुष्य अपने ख्यालसे, कल्पनासे ही बँधा हुआ है। इससे पार जानेका उपाय क्या है?

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 7.14

एक मछुआ जाल फैलाकर समुद्रमें मछलियाँ पकड़ रहा है! कौन-सी मछली बचे? जो उस मछुएके पाँवके पास चली जाय। वह अपना पाँव जालमें तो रखेगा नहीं? सृष्टि-व्यवहारके लिए भगवान्ने एक माया फैला रखी है। आप सभी गृहस्थ हैं, कुछ साधु हैं। एक सत्यपर आप ध्यान दें। बुरा न मानें। क्या कोई भी व्यक्ति अपने साथवालेके प्रति सर्वथा ईमानदार और सच्चा होता है? क्या माँ अपने बेटेसे जीवनकी सब बातें कह देती है? बेटा अपने जीवनकी सब बातें माँसे बोलता है? क्या पति-पत्नी एक दूसरेकी पूरी बात एक दूसरेको बताते हैं?

इस सृष्टिमें थोड़ा कूट है। थोड़ी माया है। थोड़ा कपट है। थोड़ा छल है। यह है तो थोड़ा तीक्ष्ण, भयंकर सत्य। कौन अपने मनको पूरी तरहसे संसारमें दूसरेके सामने खोलता है। बाप-बेटे, भाई-भाई, पति-पत्नी, बहन-बहन, मित्र-मित्र—क्या अपना दिल पूरा-का-पूरा किसी एक दूसरेके सामने खोलकर रख देते हैं! यह कपटका कपाट है। यह संसारमें अपना काम करता ही रहता है। यही इस दुनियाकी चमक है। चकाचौंध है, यह खेल हो रहा है।

यदि आप लोगोंमें-से ऐसे कोई हों, जो एक दूसरेके प्रति सर्वथा बिना कुछ छिपाये, बिना कुछ कपट-छलके करते हों तो धन्य हैं, आप नारायणके स्वरूप हैं—चतुर्भुज हैं। आप मायासे मोहित नहीं हैं। आप धन्य और मान्य हैं।

देखें, माया माने कपट, छल, झूठ—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

'एषा'का अर्थ है अपने दिलमें है। साक्षात् अपरोक्ष है। **अहं परमात्मानं न जानामि। अहं मां न जानामि। अहं त्वां न जानामि।**—एषा। यह आपके दिलमें ही अज्ञानके रूपमें है। सच पूछो तो यह कणके सम्बन्धमें भी है। एक तृणकी ऐसी माया है—आप एक तृणमें क्या देखते हैं? आप समूचे तृणको—कणको देखते हैं। अद्भुत है! उसका रूप। देखते हैं—यह पीला है, यह काला है, यह नीला है। उसमें जो गन्ध है, उसे भी नाकसे सूँघकर मालूम कर सकते हैं। गन्ध तो गुण है, रूप भी गुण है, उसमें जो स्वाद है वह उसका गुण है, उसमें जो स्पर्श है वह उसका गुण है। उसमें कोई ध्वनि भी हो रही हो तो वह भी उसका गुण है।

तो वस्तु क्या है? हम न उसके देशको जानते हैं, न कालको, न उसके स्वरूपको जानते हैं। यह तो इन्द्रियायन सृष्टि है—यह कामायनी सृष्टि है। जिसकी जिसके प्रति कामना है उसको वह अच्छा लगता है। जिसका जिसके प्रति द्वेष है वह उसको बुरा लगता है। दिलमें द्वेष होता है। दिलमें राग होता है। राग हुआ तो अच्छा। जिससे प्रेम होता है वह दूधका धुला होता है और जिनसे द्वेष है वह अच्छा भी हो तो उसकी निन्दा करते हैं। वस्तुओंकी, इन्द्रियोंकी भी पार्टीबन्दी होती है। मनकी भी पार्टीबन्दी होती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी—दैवी माने ईश्वरका खेल। भगवान् देखते हैं और कहते हैं—देखो, तुम हमारी मायाके सामने हार रहे हो। अभिमान मत करो। बिना मायाके व्यवहार चलता ही नहीं। यह व्यवहारकी चमक है। यह व्यवहारकी तारीफ है। यह व्यवहारका सुख है। यह व्यवहारका नश्म है। यह व्यवहारकी चाल है। यह माया दैवी है—ईश्वरीय है।

दिवु क्रीडाजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।

यह एक सपना है, माया है। माया माने सपना। सपना है यह और प्रत्यक्ष है।

दैवी ह्येषा गुणमयी—यह बाँधती है। बिना रस्सीके बाँधती है। एक चीज देख लेते हैं। आँखसे देखते हैं। बहुत बढ़िया—मन बँध जाता है। कोई गन्दी चीज देखते हैं। ऐसी मनमें भर जाती है कि कई दिन बाद भी याद आती है। छः महीने छः वर्ष बाद भी गन्दगी याद आती है। अच्छाई याद आती है। उसने हमारे मनको बाँध लिया और इसके पास जाना बहुत मुश्किल। **मम माया दुरत्यया।** इसका मालिक मैं हूँ। यह माया मेरी है—और इसको पार पाना बहुत कठिन है। कभी-कभी सच्चाईपर भी ध्यान तो देना चाहिए। सत्यकी बिल्कुल उपेक्षा करके कोई सत्य-जीवन कैसे व्यतीत कर सकता है? सच्चाईकी उपेक्षा करते हैं। आप रागके रंगमें रँगकर दुनियाको देखते हैं। आप द्वेषके रंगमें रँगकर दुनियाको देखते हैं। तो दुनियाकी असलियत कहाँसे दिखायी पड़ेगी?

जो आपके दुश्मन नहीं है—द्वेषके कारण आप उनको दुश्मन मानते हैं, हितैषीको दुश्मन मानते हैं। जो आपका प्रिय नहीं है, हितैषी नहीं है—अपने रागके कारण उसे हितैषी मान लेते हैं। वह आपको धोखा देता है। मोहमें ऐसे फँसे हैं कि आस-पासको छोड़कर कुछ थोड़ा दूरतक सोच ही नहीं सकते। दुरत्यय—जैसे समुद्रको पार करना मुश्किल है वैसे इस मायाको पार करना भी बहुत मुश्किल है। ऐसे फँसे हैं, ऐसे फँसे हैं बच्चू कि छूटनेका कोई ढंग ही नहीं है। इससे छूटनेका एक उपाय है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

पहिले चक्कीमें दाल पीसते थे, गेहूँ पीसते थे, अब तो सब बिजलीसे काम होता है—उस समय ऐसा देखनेमें आता था कि गेहूँमें या दालमें कोई घुन हो और पीसने लगे तो वह घुन सरककर कीलके पास चला गया जो कीलके पास चला गया वह पिसनेसे बच गया। वह जिन्दा रहता था। वह ऊपर चढ़कर निकल आता था। इस संसारकी धुरी है परमेश्वर। इस संसारकी कील है परमेश्वर।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। इधरसे उदासीन हो गये। इधरसे उपेक्षा हो गयी। अपेक्षामें अन्धापन है और उपेक्षामें दृष्टि है। अपेक्षा माने हम किसीको चाहते हैं। चाहते हैं तो हमारी नजर उसपर बँध जाती है। उपेक्षासे देखते चलो। बड़ा बाजारमें हजारों आदमी, हजारों मोटरें आपके सामनेसे निकल जायेंगी। आपके मनपर उनका कोई संस्कार नहीं पड़ेगा। क्योंकि उपेक्षा दृष्टिसे देखते हैं। लेकिन कोई यार मिल जाय तो अपेक्षा हो गयी। फिर मिलेंगे। ट्रेनमें मिल जाते हैं। प्लेनमें मिल जाते हैं। यह तो बहुत बढ़िया है। इनसे फिर मिलेंगे। अपेक्षा होनेपर हम अपनेको भूल जाते हैं और उपेक्षा होनेपर वह हमारे मनपर कोई संस्कार नहीं डालता।

कहीं न फँसें इसके लिए युक्ति क्या है? यह कि एकसे फँस जायें। एकसे फँस जाओ—यह धर्म है। एक स्त्रीका एक पुरुषसे—एक पुरुषका एक स्त्रीसे विवाह हो गया। धर्मबन्धन हो गया। दूसरी स्त्री या पुरुषके लिए दम्पत्तीका भाव, पति-पत्निका भाव समाप्त हो गया। यहाँसे धर्म प्रारम्भ होता है और आप सारी सृष्टिसे छूटना चाहें तो परमेश्वरसे फँस जाओ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। एव शब्दका अर्थ है परमेश्वरके सिवाय और किसीकी प्रपत्ति न हो। प्रपदन—प्रपत्ति—जैसे पाँव पकड़ लिया। ऐसा भी वर्णन आता है—एक बार गरुड़पर चढ़कर भगवान् आये। किसीको दर्शन दिया, जब वे गरुड़पर चढ़कर उड़कर वैकुण्ठ जाने लगे तो उसने गरुड़का पाँव ही पकड़ लिया। भगवान्के पाँव लटकते थे—उनका पाँव पकड़ लिया। अब पाँव पकड़ लिया तो उनके साथ वैकुण्ठमें चला गया। **मामेव ये प्रपद्यन्ते।** पाँवके निचले हिस्सेको संस्कृतमें बोलते हैं तल और ऊपरी हिस्सेको बोलते हैं प्रपद। अपनी ओरसे भगवान्के चरणको पकड़ लो। हम तो इन्हींसे प्रेम करेंगे। परन्तु **मामेव**—इसमें शर्त क्या है? थोड़ा इनसे, थोड़ा उनसे नहीं। थोड़ी पुलिसकी शरणागति है, थोड़ी टैक्सवालेकी शरणागति है। थोड़ी मिनिस्टरकी शरणागति है। ऐसे शरणागति बाँटनेसे काम नहीं चलेगा।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। एकमात्र प्रभु ही हमारे शरण हैं। इसमें अपनी बुद्धि और अपनी युक्तिकी भी शरण नहीं है। हम अपनी अकलसे यह काम बना लेंगे। अपनी विद्यासे यह काम बना लेंगे। अपने प्रभावसे यह काम बना लेंगे। ऐसा नहीं। सर्वथा प्रभुके प्रति शरणागत हो जाना चाहिए। हीनके प्रति शरणागति सफल नहीं होती। विभीषणकी शरणागति थी भगवान्के प्रति। वह सफल हुआ। विभीषणने सोचा कि शरणागतिमें ही सफलता है। भगवान्को भूल गया। वह बोला रामचन्द्र! प्रभु आप समुद्रकी शरण लीजिये, आपका काम बन जायेगा। शरणागतिकी महिमा तो विभीषणके मनमें आगयी थी। लेकिन रामकी शरणमें हम हुए तब हमारा काम बना, यह बात बिसर गयी। भगवान् रामचन्द्रने कहा—पहले पहल यह हमारी शरणमें आया है और मन्त्रणा है

इसकी, नहीं मानेंगे तो यह कहेगा हमारी नहीं मानते हैं तो कहीं हमें रावणका आदमी न समझ लें, तब मान लिया। परन्तु समुद्र है जड़—

बिनय न मानत जलधि जड़

हीन की शरणागति सफल नहीं होती। कैकेयीने मन्थराकी शरण ली। न भरतको राज्य मिला, न उसके पति जीवित रहे। नीचकी शरणागति नहीं लेनी चाहिए। दशरथने कैकेयीकी शरणागति ग्रहण कर ली कि जो तू कहे सो करेंगे।

मामेभ्य: परमव्ययम्। भगवान्‌की शरण लो। **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। मैं तुम्हारे उपदेशके योग्य हूँ। ईश्वरकी जो शरण लेता है वह संसारकी शरण नहीं लेता। निषेधात्मक दृष्टिसे देखो तो संसारमें किसी वस्तुकी शरण नहीं है। यदि हम सोना, चाँदी, हीरे, मोतीके बिना नहीं रह सकते तो यह वस्तुकी शरणागति है। हम यह खाये-पीये बिना नहीं रह सकते तो यह भोगकी शरणागति है। ऐसे कपड़ेके बिना नहीं रह सकते तो यह कर्मकी शरणागति है। हम यह किये बिना नहीं रह सकते तो हम कपड़ेकी शरणमें तो हुए! शरणागति होनी चाहिए परमेश्वरकी।

अकिञ्चनो न अन्यगति:। यह शरणागतिका मन्त्र है। मेरे पास दूसरी कोई वस्तु नहीं है और दूसरेका सहारा नहीं है। हमारे पास इतना धन है। एकने हमको बताया था कि उनके घरमें जैसे—गेहूँ, चावलकी ढेर लगती है—वैसे हीरे-मोतीके ढेर लगते थे। पर वे उनकी रक्षा नहीं कर सके। उनके पास महल था, किला था—सेना थी—वह उनकी रक्षा नहीं कर सका। रक्षाके लिए अकिञ्चन और अनन्यगति चाहिए।

द्रौपदीने युधिष्ठिरसे नहीं कहा कि हमारी रक्षा करो, अर्जुनसे, भीमसे भीष्मसे नहीं कहा कि हमारी रक्षा करो। उसने तो कहा कि हे प्रभु! तुम हमारी रक्षा करो। दूसरेका सहारा नहीं है और अपना बल नहीं है। अपने पास भी कुछ नहीं है और दूसरेसे भी कोई आशा नहीं है।

मामेव ये प्रपद्यन्ते। 'प्रपद्यन्ते'का अर्थ वेदान्ती लोग करते हैं कि यह दुनिया नहीं है—परमेश्वर है। जिसको हम देख रहे हैं—वह स्त्री है, वे पुत्र है, ये भाई हैं। वह भी ये नहीं—उनमें भी बैठकर परमेश्वर हमारी रक्षा करते हैं। यदि वे भी रक्षा करते हैं तो उनके भीतर बैठा हुआ परमेश्वर हमारी रक्षा करते हैं।

मायामेतां तरन्ति ते। मायाके पार हो जाते हैं। **तरति शोकं।** 'तरति' माने पर हो जाना। अपनी नजरको पार कर लो। मायाको चीरकर उसमें जो मायाका परदा ओढ़कर परमेश्वर बैठा है उसको देख लो—बस पार हो गये।

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥ 7.15 ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16 ॥

भगवान्‌की शरण कौन नहीं लेते? 'दुष्कृतिन:'। उनके पूर्व जन्मके, इस जन्मके पाप उनके दिमागमें

छाये हुए हैं। 'दुष्कृतः अस्ति येषां इति दुष्कृतिनः' दुष्कृत है। बुरे-बुरे काम किये हैं। चोर मालिकके सामने जानेमें डरता है। कैसे जावे? वे तो ये भी नहीं हैं, वे समझते हैं—हम बुरा काम करेंगे तो हमारी रक्षा हो जायेगी। 'मूढाः'—मूढ हैं और सचमुच उन्हें मनुष्यत्व ही प्राप्त नहीं है। मनुष्य हुए परन्तु समझदार नहीं हुए. मूढ हुए और मूढ होने पर भी पुण्यात्मा नहीं रहे। पापी हो गये। और 'आसुरं भावमाश्रिताः' उनके मनमें आसुरभाव आगया। आसुर भाव क्या होता है। असुषु रमन्ते। बस खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ—इतनी ही दुनिया है और कुछ नहीं है। ऐसे लोग भगवान्‌की शरण नहीं लेते। भगवान्‌की शरण लेनेमें बाधा क्या है? अपना पाप—अपनी मूढ़ता।

ऐसी मूढता या मनकी।
परिहरि राम भगिति सुर सरिता आस करत ओसकणकी।

ऐसी मूढ़ता छायी हुई है। मूढ माने अटक गया—इसके बिना नहीं—इसके बिना नहीं। जरा लिस्ट बनाकर एक दिन देखो कि किन-किन चीजोंके बिना तुम नहीं रह सकते। ऐसा निकलेगा—ऐसा जूता न हो तो हमारी इज्जत नहीं बनेगी। ऐसा कपड़ा नहीं होगा तो हम समाजमें कैसे जावेंगे? और कपड़े मैच करनेवाली बिन्दी नहीं होगी तो कैसे जावेंगे? क्या क्या चाहिए? ऐसा खानेको चाहिए—ऐसा पीनेको चाहिए अर्थात् तुम अपने महत्त्वको भूल गये। इन सब चीजोंमें महत्त्व आगया। ईश्वरके महत्त्वको भूल गये। ऐसी मूढता या मनकी!

मैंने ऐसे सुना कि एक महिला थीं। उन्होंने देवताकी आराधना की और देवता प्रसन्न हुआ बोला कि देव जी आप वर माँगिये। उन्होंने कहा कि हमको वर तो नहीं चाहिए, आप जो चाहें दे दीजिए। उस देवताने कहा—अच्छा, आप और सुन्दर हो जायँ। तब उसने डाँट लगायी कि आप मुझे अभी कुरूप समझते हैं कि मुझे और सुन्दरता दे रहे हैं? आप देखो, बिना ऐसा शृंगार किये हम सुन्दर नहीं होंगे। बिना स्नो, पाउडर लगाये हम सुन्दर नहीं होंगे। ऐसा लिपस्टिक लगाये बिना सुन्दर नहीं होंगे। इसका अर्थ है कि स्वयंमें तो आप असुन्दर हैं। ऊपरसे जेवर, साड़ी, पाउडर, लिपस्टिक लगाकर आप सुन्दर बनते हैं। स्वयंमें असुन्दर हैं। आपमें तो कुछ है ही नहीं। जब बाहरकी चीज आती है तब आप सुन्दर बनते हैं। जो अपने भीतर परमात्माका गौरव है उसे भूल गये!

अपने भीतर परमात्मा है, आत्मा है, हम हैं यह सबसे बड़ी चीज है। हम होश-हवाशमें हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। हम बिना किसी चीजके आनन्दमें रहते हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। हम अपनेमें ही तृप्त रहते हैं, यह सबसे बड़ी चीज है। **स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्।** स्वतन्त्रताका परम सुख है। आप तो पराधीन होकर सुख मानते हैं। इसका नाम है मूढता। दुष्कृती, मूढ नराधम और आसुर भावके आश्रित। असुषु रमन्ते अर्थात् इन्द्रियोंमें रम गये। अब देखो, चार गाली दे दी।

भगवान् रामचन्द्रके मुँहसे ऐसी बात नहीं निकलती। वे राजा महाराजा हैं न! राजकुमार हैं। उनकी कम्पनी पहलेसे ही अच्छी रही है। और श्रीकृष्णको तो ग्वालोंकी कम्पनी मिली। वे तो साले कहकर बोलते एक दूसरेको। इसलिए चार गाली दी। **दुष्कृतिनो मूढ़ा नराधमाः आसुरं भावमाश्रिता**—ये परमेश्वरकी शरण

नहीं लेते। परन्तु पुण्यात्मा लोग जो हैं—**सुकृतिनः** जो सुकृती हैं, वे परमेश्वरकी शरण ग्रहण करते हैं। यह पुण्यात्माकी पहचान है।

पुण्यात्मा भगवान्‌के भरोसे काम करते हैं। भगवान्‌की शरण लेते हैं। वे अपने बाहुबलसे भी काम नहीं करते, दूसरेके भरोसे भी काम नहीं करते, अपनी धन-सम्पदाके भरोसे भी काम नहीं करते हैं। अपने नौकर-चाकरके भरोसे भी काम नहीं करते। परमेश्वरके बलपर काम करते हैं। उनको बल है तो परमेश्वरका।

दुनियामें जितना बल है, परमेश्वरसे प्राप्त होता है और वह आपको छोड़कर कभी कहीं नहीं जाता। आपके दिलमें रहता है। 'नारायण' उसका नाम है। नरके हृदयका नाम है नार। नार माने नरका हृदय वह है अयन—माने निवास-स्थान जिसका! आपका हृदय ही नारायण है। नारायण माने आपके हृदयमें रहनेवाली वस्तु सोते समय भी आपको छोड़कर नहीं जाता। सोते समय अगर वह छोड़कर चला जाये तो साँस भी आपको छोड़कर चली जायेगी। फिर लौटनेवाला होश भी आपको छोड़कर चला जायगा। सुषुप्ति भी चली जायेगी।

वह आपके हृदयमें रहता है। वह एक पलके लिए भी नहीं छोड़ता। आप ध्यान दें थोड़ा! आप उसकी गोदमें बैठे हैं। सारी सृष्टि परमेश्वरकी गोदमें एक कणके समान है और उसमें आपका शरीर भी है। आप उसीके सहारे तो बैठे हुए हैं। आप उसीमें चलते हैं। उसीमें बोलते हैं। उसीमें खाते हैं। उसीमें पीते हैं। उसीमें सोते, जागते हैं। उसीमें सोचते हैं। आपकी साँस उसीकी साँसमें चलती है। यह वायु उसकी साँस है। उसीकी रोशनीमें देखते हैं। यह सूर्य, चन्द्रमा उसकी आँख हैं।

वह आपको एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ता। आप उसको भूल जाते हैं। वह आपको नहीं भूलता। आप उससे प्यार नहीं करते हैं, पर वह आपसे प्यार करता है। आप उसे नहीं देखते हैं, परन्तु वह आपको देखता है।

सुकृतिनः जो पुण्यात्मा होते हैं उनका परदा जरा झीना होता है, वे परमात्माको देख लेते हैं। चार रीति बतायी—**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।** यह मत समझो कि भगवान् मोक्ष ही देते हैं। भगवान् सब कुछ देते हैं। धन चाहनेवालेको धन देते हैं। जो अपना दुःख-निवारण चाहते हैं उसका दुःख निवारण करते हैं। जो उनका ज्ञान चाहता है उसको ज्ञान देते हैं और जो उसके अनुभवमें मग्न रहना चाहता है, उसको अनुभवमें मग्न कर देते हैं।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी। आप थोड़ी देरके लिए व्रजभूमिमें चले चलिए। शरीर आपका यहीं रहे। शरीरसे आप कलकत्ता मत छोड़िए। मनसे देखिए व्रजका एक दृश्य। श्रीकृष्णके बिना गोपियाँ व्याकुल हो गयीं।

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥ —श्रीमद्भा० 10.30.1

जैसे हाथीका राजा हथिनियोंको छोड़कर चला जाय तब वे जैसे व्याकुल हो जाती हैं वैसे श्रीकृष्णके बिना गोपियाँ व्याकुल हो गयीं—अत्यन्त आर्त। फिर ढूँढने लगीं—हे बड़! तुम बताओ, हे पीपल! तुम बताओ, हे तुलसी! तुम बताओ—ये जिज्ञासु हैं।

दृष्टो वः क्वचिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥

—श्रीमद्भा० 10.30.5

जमुनाके तटपर बैठीं हैं और—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

यह गानेवाली—अर्थार्थी हैं। अर्थ तो श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण मिलें। फिर श्रीकृष्ण प्रकट हो गये तो **ज्ञानी च भरतर्षभ**—ज्ञानी हो गयीं। यह गोपियोंके उदाहरणसे इस श्लोकका अर्थ प्रकट किया है। गोपियोंका चरित्र साधारण नहीं है।

आर्तो जिज्ञासु—आर्ता गजेन्द्र है। गजेन्द्र क्या है? आर्त—अभिमानसे उसको यह पीड़ा मिली थी। आर्त होकर उसने छुड़ाई—यह पीड़ा। इन्द्रद्युम्न राजा थे—अभिमानमें मग्न। एक महात्मा उनके पास आये। बोले पूजा कर रहे हैं। अरे! जिस महात्माके तन-मनमें परमात्मा है वह आया है और तुम पूजा कर रहे हो! उठे नहीं! महात्माने कहा—इसे अभिमान है। अभिमानीका अभिमान प्रकट हो जाय तो मिट जायगा। महात्माने कृपा की। जितना अभिमान छिपा था वह सब-का-सब प्रकट हो गया। वह हाथी हो गया—स्तब्ध गजेन्द्र हो गया। अब उसके ऊपर आयी आर्त्ति—ग्राहने पकड़ लिया। अभिमानी लोगोंको ग्राह ही पकड़ता है। ग्राह माने पूर्वग्रह। जिद्द—अभिमानी लोग जिद्दी हो जाते हैं। हम करते हैं सो ठीक, हम सोचते हैं सो ठीक। हमारी पकड़ है सो ठीक और सब गलत—हम सही। तो गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ लिया। यह जिद्द कैसे टूटे? यह अभिमान कैसे टूटे? जबतक परमात्मा प्रकट नहीं होगा—तबतक न जिद्द टूटेगी और न जिद्दी टूटेगा।

व्यापक दृष्टि जब प्रकट होती है—तब अहं टूटता है। कब टूटता है? जब सबको देखते हैं। जब सार्वजनिक, सामाजिक, सर्वात्म, भगवद्-दृष्टि होती है तब अहंका गजेन्द्र और इदंका ग्राह दोनों टूट जाते हैं। दोनों मुक्त हो जाते हैं। अभिमानके बदलेमें आर्ति आयी। आर्त हो गया।

जिज्ञासु परीक्षितने शुकदेवसे कहा—'मुझे परमात्माका चरित्र सुनाइये। मुझे मौतसे डर नहीं है—मौत आये शरीरको ले जाय। आप तो कृष्णचरितका, विष्णुचरितका गान कीजिए—जिज्ञासु हैं। अर्थार्थी—ध्रुव हैं। बोले हम लेंगे पर राजासे नहीं, भगवान्‌से लेंगे। **अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयम्.....**। हमारा इष्टदेव कहे तो हम कीड़ा-फतिङ्गा होनेको तैयार हैं।

ये लोग देखते हैं—यह पेड़ है और भावुक भक्त देखता है यह वासुदेव हैं। एक वैज्ञानिक पीपलके पेड़को देखेगा—इसकी ऐसी लकड़ी है, ऐसा पत्ता है। इसमें ये-ये गुण हैं, ये-ये शक्तियाँ हैं। ये-ये दवाइयाँ हैं। यह हुआ वैज्ञानिक अनुसन्धान और एक भक्त कहेगा यह साक्षात् वासुदेव हैं। ज्ञानी कहेगा—जो आत्मा मेरी है वही इस पीपलकी है। इस शरीरका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है वही इस पीपलके पेड़का भी अधिष्ठान और प्रकाशक है। जैसे यह शरीर वैसे ही यह पीपल और जैसी आत्मा मैं, वैसी आत्मा यह। एक ज्ञानीके लिए आत्मदृष्टि है, ब्रह्मदृष्टि है। भक्तके लिए ईश्वरदृष्टि है। वैज्ञानिकके लिए गुणदृष्टि है, रूपदृष्टि है, नामदृष्टि है।

ज्ञानकी दृष्टि आरपार हो जाती है—न देहमें बँधती है न विषयमें बँधती है। दोनोंको आरपार करके एक ब्रह्मको देखती है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7.18॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

भगवान्ने कहा—यह ज्ञानी पुरुष क्या है? **ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः** और सब अनित्युयुक्त हैं। वे कभी भगवान्के पास रहते हैं और कभी भगवान्से अलग हो जाते हैं। परन्तु ज्ञानी—

सोवत, बैठत, पड़े उतानै। कहैं कबीर हम वही ठिकाने॥

वही है—स्त्री है कि नहीं? परमात्मा है? पुरुष है? नहीं, वह परमात्मा ही है। आप श्रीकृष्णकी लीलापर ध्यान दें ऐसा कौन-सा रूप है जो कृष्णका रूप नहीं है। माँके पेटमें-से निकलता हुआ रूप है, बच्चेके रूपमें रोता हुआ है। दूध पीता हुआ है, मिट्टीमें लोटता हुआ है, मक्खन चुराता हुआ है। काजल लपेटे हुए है, छेड़छाड़ करता हुआ है। भागता हुआ है। कुब्जाके घरमें है। कंसको मारता हुआ है।

ईश्वरका रूप क्या है? यह मामूली बात नहीं है। यह बात आप सर्वधर्म-समत्वसे नहीं जान सकते। क्योंकि जिनका ईश्वर सिर्फ निराकार है—साकार कभी हुआ ही नहीं, उनकी समझमें यह कैसे आवे? हमारा तो सर्वोपादान है—सर्वगत—वह एक बच्चा भी है, बूढ़ा भी है—स्त्री भी है, वही पुरुष भी है, वही सूअर भी है, वही मछली भी है, वही गधा भी है। यह सब परमेश्वरका रूप है। नित्ययुक्त, जहाँ है, जब है, जो है, जैसे देखता है, उसके रूपमें परमेश्वरको देख रहा है। 'एकभक्तिः' उसके मनमें जने-जनेके प्रति प्रीति नहीं है, अखण्ड परमात्माके स्वरूपमें प्रीति है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। अत्यर्थ शब्दपर ध्यान दें। 'अत्यर्थं' माने अर्थ अतिक्रम्य। हमारे और उसके बीचमें दूसरा कोई अर्थ नहीं है। कोई प्रयोजन नहीं है, कोई वस्तु नहीं है। हम और वे बिलकुल एक हैं। हम दोनोंको अलग करनेवाला कोई नहीं है। जो ज्ञानी है सो मैं हूँ—जो मैं हूँ सो ज्ञानी है।

भरतहिं मोहि कि अंतर काहू।

राम और भरतमें कहीं कोई फर्क होता है? राम भरत दोनों एक दूसरेके इष्ट हैं दोनों दोनोंके आत्मा हैं। मैं ज्ञानीका अर्थरहित प्रेमी हूँ। परमप्रेमास्पद हूँ। हमारे बीचमें कोई अर्थ, कोई वस्तु नहीं है। और **स च मे प्रियः** वह मेरा प्यारा है। **एकभक्तिर्विशिष्यते** ऐसा ज्ञानी है। एक भक्ति है और विशिष्ट है। तब और सब क्या हैं? और सब भी बहुत अच्छे हैं। **उदाराः सर्व एवैते**—उदीर्ण है—जो मैं मेरेके चक्करमें पड़ गया वह तो कृपण हो गया, कंजूस हो गया और जो परमात्माकी ओर देखने लगा—आर्त है, जिज्ञासु है, अर्थार्थी है। वह उदार है, उसकी दृष्टि उदीर्ण है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16

'चतुर्विधा'—भक्तोंकी विधा चार है। किन्तु भक्ति सबमें अनुगत है। भगवान्की भक्तिमें रुचि किनकी होती है?

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

जो पुण्य करते हैं और पापोंका अन्त हो गया है। जिसके मनमें वासना होती है कि हमको यह मिले, यह मिले उनमें दो तरहके लोग होते हैं। एक तो जो पुण्यकर्मके द्वारा ही अपनी वासनाको पूर्ण करना चाहते हैं और दूसरे वे होते हैं कि चाहे पाप भले करें पर हमारी वासना पूरी हो। चोरीसे, बेइमानीसे, छलसे, कपटसे, व्यभिचारसे, अनाचारसे वे अपनी वासनाको पूरी करना चाहते हैं। उनका पाप अभी अन्तर्गत नहीं हुआ है, वे तो पापमें संलग्न हैं। उनकी वासनाका ऐसा वेग है कि उसको कायदेसे नहीं चला सकते। अपने शरीरको, मनको मर्यादाके अनुसार नहीं चला सकते। जिस देशकी, जिस राष्ट्रकी, जिस समाजकी मर्यादा है, उसके अन्दर रहकर काम करना चाहिए।

जब रास्ता छोड़कर मोटर चलाते हैं—उस समय वासना बहुत तीव्र होती है जब निश्चित वेगसे अधिक मोटर चलाते हैं तो वेगकी मर्यादा और मार्गकी मर्यादा, और मान लो ब्रेक न हो मोटरमें और चला रहे हों तो क्रियाकी मर्यादा भी भंग हुई। अपने पास चलानेका लाइसेंस नहीं है—और चलाते हैं। इन मर्यादाओंको भंग क्यों करते हैं? वासनाका वेग तीव्र होनेसे। जैसे आप मोटर चलानेमें मर्यादा-भंग करते हैं, वैसे पैसा कमानेमें भी करेंगे, वैसे परस्त्रीमें भी करेंगे, क्रोधमें भी करेंगे, क्योंकि एक जगह मर्यादाका न होना, सब जगह मर्यादाका न होनेका उपलक्षण है, संकेत है। आपका मन जब वशमें नहीं है तो पता नहीं कब क्या कर बैठेंगे?

पहली बात तो यह है कि पुण्य कर्म करें, विहित कर्म करें, निषिद्ध कर्म न करें। आप वासनाको अपने काबूमें कर लें ईश्वरपर दृष्टि जानेका संयोग ही कहाँ है, जबतक हम बुराईयोंमें फँसे हुए हैं। गिरते हैं, कभी चलते हैं—कभी गिरते हैं। ऐसा भी एक जीवन होता है। जो चलते हैं उनका गिरना तो सम्भव है। पर गिरकर जो न उठें, न चलें तो यह अपराध है। गिरते-पड़ते आगे बढ़ो। छूट गया, कोई हरज नहीं, गलती हो गयी, कोई बात नहीं। परन्तु फिर उठो तो मुँह आगेकी ओर रहे। वहीं पड़े न रह जावें। कहीं पीछे लौट न आवें। आगे बढ़ें, आगे बढ़ें। ईश्वरकी ओर देखें। हे प्रभु! हम तो गिर गये, अब तुम उठालो।'

ईश्वरकी ओर देखते ही मनमें पवित्रता आजाती है। **यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्ष स बाह्याभ्यन्तरो शुचिः** पुण्डरीकाक्षका स्मरण हुआ, कमलनयन प्रभुका स्मरण हुआ और आगे बढ़े। यह बात जैसे ज्ञानाभिमानमें गिरनेकी होती है, वैसे ही योगकी सिद्धियोंमें फँसनेपर भी गिरनेकी बात होती है। जो कुछ करते हैं वह प्रभु ही करते हैं—जबानसे तो ऐसा बोलते हैं, परन्तु वासना-पूर्तिके मार्गपर चलते हैं। कोई कहते हैं—'हम धर्म तो जानते हैं पर हमसे पालन नहीं होता।' कोई कहते हैं—'ईश्वर जो कराता है सो करते हैं।' कोई कहता है—'हम तो सिद्ध हैं, हमारा कोई क्या बिगाड़ेगा।' किसीको ज्ञानका अभिमान हो जाता है। ये लोग भगवान्‌का भजन नहीं कर सकते।

भगवान् क़्या कहते हैं—अर्जुन, तुम उपार्जन करना चाहते हो? कुछ योग, भक्ति, ज्ञान, धर्म और इनका फल चाहते हो? तो पुण्यात्मा बन लो पहले और पुण्यात्मा होकर भगवान्‌का भजन करो। जैसे मालिककी सेवामें उपस्थित होना है, पिताके सामने जाना है, माताके सामने जाना है। स्वामीके सामने जाना है तो ठीक—बाल भी बिखरे हुए न हों, कपड़े ठीक हों। पहलेसे स्नान कर लें। पवित्र हो लें। तैयार हो लें शृङ्गार करके उसके सामने जाना। यह जानेवालोंके लिए उचित होता है। यह जो पुण्य है—धर्म है; यह जीवात्माका शृङ्गार है।

भजनमें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद हुए। ऐसा लगता है कि अर्थार्थीके बाद जिज्ञासुका स्थान होना चाहिए। आर्त वह है जो कष्ट दूर करनेके लिए भगवान्‌का भजन करता है। अर्थार्थी वह है जो कुछ पानेके लिए भगवान्‌का भजन करता है। जिज्ञासु वह है जो भगवान्‌को जाननेके लिए भजन करता है और ज्ञानी वह है जो भगवान्‌को जानकर भजन करता है। यदि क्रम बैठाना चाहें तो आर्तके बाद अर्थार्थी और अर्थार्थीके बाद जिज्ञासु और जिज्ञासुके बाद ज्ञानी आना चाहिए। एक व्याख्या तो यह है कि यहाँ क्रम विवक्षित नहीं है। पाठके क्रमसे अर्थका क्रम बलवान् होता है। इसलिए जिज्ञासुको अर्थार्थीसे ऊपर बैठाओ।

श्रीमद्भागवतमें 'अर्थ' शब्दका अर्थ ही दूसरा किया हुआ है। नलकूबर मणिग्रीवके प्रसंगमें नारदजीने गाना गाया तो वहाँ ऐसा कहा कि; **तयो अनुग्रहार्थाय** नलकूबर और मणिग्रीवपर अनुग्रहार्थ ही देवर्षि नारदने यह संगीत गाया। नारदजीने एक बात तो यह सोची कि मणिग्रीव नलकूबरसे हमारे धर्मका आविर्भाव हो जावे। जैसे हमको भगवान्‌की स्मृति रहती है, भगवान्‌से प्रेम रहता है, जैसे हमारे हृदयमें वे रहते हैं वैसे ही नलकूबर मणिग्रीवके हृदयमें भी हो जावें। नलकूबर माने बाँसकी तरह खड़ा। पीठकी रीढ़ उसकी कभी झुकती नहीं। किसीको नमस्कार नहीं करता था। मणिग्रीव माने जो अपने धनका प्रदर्शन करनेके लिए अपने गलेमें बहुत बड़ा हीरा बाँधकर रखता था, देखो हमारे पास इतना बड़ा हीरा है, इतनी बड़ी मणि है। अभिमानसे और दम्भसे दोनों ग्रस्त थे। शराब भी पीये हुए थे। जुआ भी खेलते थे। परस्त्री भी उनके पास थी। नंगे थे, बेहोश थे, परन्तु देवर्षि नारदके मनमें उनके प्रति करुणाका उदय हुआ। उन्होंने कहा जैसे हम भक्त हैं वैसे ही भक्त ये हो जायें और इन्हें भी भगवान्‌की प्राप्ति हो।

'अर्थ' शब्दका अर्थ है भगवत्प्राप्ति। एक तो आर्त है जो सङ्कट, विपत्ति दूर करनेके लिए भगवान्‌का

भजन करते हैं। **विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः। विपदो नैव विपदः**=विपत्ति विपत्ति नहीं है। **सम्पदो नैव सम्पदः**=सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। भगवान्‌को भूल जाना ही सबसे बड़ी विपत्ति है। इसीसे सारे दु:ख पैदा होते हैं! नारायणका स्मरण है तो किसी विपत्तिका स्मरण नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आता है, कुन्तीने प्रार्थना की—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यातदअपुनर्भवदर्शनम्॥ 1.8.25

हमारे जीवनमें विपत्तिपर विपत्ति आती रहे; क्योंकि जब-जब विपत्ति आती है तब-तब उसके निवारणके लिए आप आते हैं। आपका दर्शन होता है और जब आपका दर्शन होता है तो संसार दीखता ही नहीं। ऐसी प्रार्थना दुनियामें और कहीं नहीं है। अद्‌भुत है, हमको विपत्ति चाहिए क्योंकि विपत्तिसे बचानेवाले आप जो दर्शन देते हैं! द्रौपदीको सभामें नंगा किया तो क्या हुआ? बचानेके लिए आप तो आगये। दुर्योधनने दुर्वासाको भेजा तो क्या हुआ? उस विपत्तिसे बचानेके लिए, शाकान्न भोजन करनेके लिए आप तो आगये न!

आर्त जिसमें आर्ति हो। **आर्ति अस्यास्ति इति आर्तः** जिसमें आर्ति हो मत्वर्थी अच् प्रत्यय इसको बोलते हैं। आर्तिमान्‌को आर्त बोलते हैं। आर्तके बाद अर्थार्थीका अर्थ क्या हुआ? जो भगवद्-दर्शन चाहता है। अर्थ माने होता है—जिसको हम चाहते हैं। **अर्थ्यते इति**। जिसकी इच्छा हमारे मनमें रहती है। धन भी अर्थ है, भोग भी अर्थ है। स्वर्ग भी अर्थ है, भगवान् भी अर्थ है। **अर्थेन अर्थी**। जो अर्थ चाहता है। जो चाहते हैं जिससे उसपर ज्यादा ध्यान नहीं है। जो हम चाहते हैं, उसपर ज्यादा ध्यान है। यह उनकी विशेषता है।

हम जप करते हैं। कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! नागपुरमें एक सज्जन थे। उन्होंने साढ़े तीन करोड़ 'हरे राम हरे राम' मन्त्रका जप किया था। कहते थे हमको भगवान्‌का दर्शन नहीं हुआ। दर्शन इसलिए नहीं हुआ कि बीच-बीचमें जब कोई संकट पड़ता था, धनकी आवश्यकता पड़ती थी, तो वह जप करते-करते चाहने लगते थे कि मैं भगवान्‌के नामका जप करता हूँ, मेरा संकट दूर हो जावे। बीच-बीचमें नामके बदले संसारकी वस्तु चाहने लगते थे। नामकी पूर्णता कट जाती थी। भजन करते हैं भगवान्‌का और चाहते हैं संसार, तब तो दूसरी स्थिति हो गयी और भजन करते हैं भगवान्‌का और चाहते हैं भगवान्‌को—यह दूसरी स्थिति हो गयी।

कितना जप करें तो भगवान् मिलेंगे? एक करोड़में मिलेंगे, या दो करोड़में मिलेंगे अथवा पाँच-दस करोड़में मिलेंगे? अपनी जीभके बलको या अपने मनके बलको भगवान्‌की बराबरी करनेके लिए लगा दिया। यह ठीक नहीं हुआ। हमारी जीभ उन्मुख होती है भगवान्‌का नाम लेनेके लिए। उनकी ओर मुँह हो जाना है— बस; मनका मुँह उनकी ओर हो गया। यह उनकी कृपा हो गयी कि हमारी जीभपर भगवान्‌का नाम आने लगा। हमारा दिल भगवान्‌की ओर खिंचने लगा।

जब हमारी जिह्वा उन्मुख होती है तब यह न समझें कि हमारी जिह्वाके जपसे या मनके जपसे भगवान्

हमको मिलते हैं—बदलेमें कीमतपर। भगवान्‌की अनिर्वचनीय, अहैतुकी जो कृपा है वह हृदयमें भगवदुन्मुखकी ओर होती है। उन्होंने ही कृपापूर्वक जीभपर अपना नाम दिया, वही कृपा करके हृदयमें अपना रूप देते हैं और वही आँखोंके सामने आते हैं। साधन भी वही साध्य भी वही, प्राप्त करनेकी इच्छा भी वही, प्राप्त करनेकी साधना भी वही। प्राप्त होनेवाले भी वही—वही-वही-वही।

'जिज्ञासु' माने—हम भगवान्‌के स्वरूपको जानें। **ज्ञातुमिच्छा**=जिज्ञासा। ज्ञानके लिए उत्सुक है, उसे जिज्ञासु कहते हैं। जानो सही कि परमात्मा है क्या? ईश्वरके बारेमें सम्पूर्ण ज्ञानकी पहले दिन जरूरत नहीं पड़ती। जितना-जितना भगवान्‌को जानते जायँ—उतना-उतना उनको चाहते जायँ। यदि भलेमानुषको जानोगे तो उसके प्रति राग होगा, श्रद्धा होगी। और दुष्टको जानोगे तो उसके प्रति वैराग्य होगा। ज्ञानसे घृणा-द्वेष तो नहीं होना चाहिए? घृणासे तो अपना दिल गन्दा होता है। द्वेषसे अपना दिल जलता है।

ज्ञानके अभिमानसे आगेका रास्ता बन्द हो जाता है। ज्ञानकी इच्छासे जानते चलें, प्रेम करते चलें। प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। यह प्रेमका स्वभाव है।

छनही बढ़ै छनही उतरै सो तो प्रेम न होय।
बिनु गुण जौवन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित प्रेम वहै रसखानि।

रसखान कहते हैं प्रेम क्या है? जो गुण देखकर होगा कि बड़े दयालु हैं, बड़े दाता हैं, बड़े उदार हैं—और जब देखेंगे कि कंजूस है तो उस दिन प्रेम घट जायेगा। जवानी देखकर प्रेम करेंगे तो वह घट जावेगा। जवानी देखकर प्रेम करेंगे तो बुढ़ापा आनेपर कैसे रहेगा? रूप देखकर प्रेम करेंगे तो कहीं मुँहासे निकल गये—कोई दाग पड़ गया तो प्रेम कैसे होगा? धन देखकर प्रेम करेंगे तो गरीबीमें प्रेम नहीं होगा स्वार्थसे प्रेम करेंगे तो स्वार्थ पूरा होनेपर प्रेम घट जायेगा। केवल हित जानकर प्रेम होता है। यह प्रेमका स्वभाव है—

गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणवर्धमानं अविच्छिन्नम् सूक्ष्मतमम् अनुभवरूपम्।

दुनियामें जिसको प्रेम कहते हैं वह तो शारीरिक भोगके लिए होता है। काम निकालनेके लिए जो प्रीति होती है वह सच्ची प्रीति नहीं होती। जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जिसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसके बारेमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये अपने आप ही आजाते हैं। सुनो भगवान्‌को, सोचो भगवान्‌के बारेमें और उनके चरणोंमें **ज्ञानी च भरतर्षभ**। ज्ञानी भी प्रेम करते हैं।

'च'का अर्थ मधुसूदन सरस्वतीने किया है कि ज्ञानीसे भी बड़ा एक होता है—'ज्ञानीभक्त, प्रेमी।' जानकर जो प्रेम होता है—वह अद्भुत है। यहाँतक कि किसीके दोषको जानकर आप उससे प्रेम कीजिए तो फिर उसमें दोष देखकर आपको घृणा नहीं होगी। दोषीको मित्र बनानेकी पद्धति यह है कि उसके ऊपर आप अपना प्रेम बरसाइये। उसका हित चाहिए और असलमें जब आप हित बरसायेंगे तो वह अपने दोषको छोड़ देगा। जबतक वे देखते हैं कि ये हमको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं तबतक वह दोषको पकड़े रहेगा। हृदय बदलनेकी पद्धति यही है। आप अपना प्रेम दीजिए उसको। ज्ञान प्रेममें बाधक नहीं है।

सर्वेश्वरस्तु सुधियागलितेऽपि भेदे,
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते,
चैलांचलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

भेद नहीं है, फिर भी भक्तिसहित भावसे परमेश्वरकी पूजा कीजिए। देखो प्राणेश्वर है, प्रियतम है पति है, पत्नीका उससे क्या भेद है?

'परदा कहाँ भतार सों जिन देख्यो सारे अंग।'

उसने तो सारे अंग देख लिए, उससे पर्दा कहाँ? परन्तु समाजमें सबके सामने निकलते हैं-तो उसके सामने भी कपड़ा पहनते हैं। उसके सामने भी परदा रखते हैं। परमेश्वरसे आत्माका अभेद है, यह सही है; लेकिन जब लोक-व्यवहारमें उतरते हैं तब उसकी भक्ति करते हैं, उसको हाथ जोड़ते हैं। उद्दण्डता नहीं करते उसके साथ।

प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ,
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव॥

अपनी प्रेयसी है, वह प्रियतमके हृदयपर विहार कर रही है या उसके पाँवके पास बैठकर, पाँव सहला रही है। प्रेममें क्या अन्तर पड़ा? पाँवके पास बैठनेसे प्रेममें क्या अन्तर पड़ गया? जिसने तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, वह चाहे निर्विकल्प समाधिमें रहे और चाहे भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवा करे, उसके लिए दोनों बराबर हैं। ज्ञानी पुरुष भी।

द्वैतं बन्धाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्॥

अद्वैतसे भी सुन्दर है वह द्वैत। दोनों एक बातको जानते हैं। एक बुद्धि है, एक मन है। फिर भी आपसमें बैठ करके वाद-विवाद करने लगते हैं। तब उसका मजा कुछ और होता है। एकने पूर्व पक्ष लिया, दूसरेने उत्तर पक्ष लिया। वेदान्ती हँसते जाते हैं और शास्त्रार्थ करते रहते हैं। बहुत आनन्द आता है। ज्ञानी पुरुष भी भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्त्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः॥

भगवान् ही सबके प्रभव हैं और भगवान् ही सबके प्रवर्तक हैं। यह जानकर ज्ञानी पुरुष **भगवान्‌का** भजन करते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

ब्रह्मभूत है परन्तु उसको पराभक्ति प्राप्त हो रही है। वह भक्ति कर रहा है। ज्ञान होनेसे भक्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ती और यदि ज्ञानी भी हो और प्रेमी भी हो—जन्म-जन्मका प्रेमी है और अन्तिम जन्ममें उसको ज्ञान प्राप्त हो गया—तो ज्ञान प्राप्त हो जानेसे उसका जन्म-जन्मका जो प्रेम है वह कहीं चला नहीं जायेगा? वह प्रेमकी धारा बाधितानुवृत्तिसे बहती रहेगी। यहाँ तक मानते हैं—वेदान्ती कि वेदान्तका ज्ञान होनेपर कोई धर्मात्मा हो जाता है, कोई योगी हो जाता है, कोई भक्त हो जाता है। कोई समाधिमें रहता है, कोई व्यवहारमें लग जाता है।

क्वचिच्छिष्टः - क्वचिद्भ्रष्टः क्वचिद्भूतपिशाचवत्।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

यह गीतामें दो बार आया है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते।

कोई वसिष्ठकी तरह पुरोहित हो जाते हैं। कोई जनककी तरह राजा हो जाते हैं। कोई शुकदेवकी तरह निवृत्तिपरायण हो जाते हैं। कोई दत्तात्रेयकी तरह स्वच्छन्द हो जाते हैं। ज्ञान होनेके बाद कोई बाधा नहीं रहती। इसलिए ज्ञान होनेपर भक्त रहनेमें कोई बाधा नहीं रहती। हम श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे कहते थे—'महाराज! ज्ञानीके लिए ब्रह्माकार वृत्तिका विधान कहाँ है? तो कहते थे—'निषेध कहाँ है?' वे प्रश्नपर प्रश्न ही कर देते थे। इसी प्रकार ज्ञानीके लिए भक्ति करनेका विधान कहाँ हैं? क्यों? जब वह कर्ता ही नहीं है—तो उसके हृदयमें जैसे पहलेके संस्कार हैं—उसके अनुसार उससे भक्ति होती रहेगी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

भगवान् कहते हैं जो आर्त है वह आर्ति मिट जानेके बाद भक्ति छोड़ सकता है। जो अर्थार्थी है वह अर्थ मिलनेके बाद यदि कृतज्ञ न हो तो भक्ति छोड़ सकता है। जो जिज्ञासु है वह कहेगा—ज्ञान प्राप्त कर लिया—अब जिन्दगीभर उनके साथ लटके-लटके थोड़े ही फिरना है। ये सब छोड़ सकते हैं। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष है, वह नित्ययुक्त होता है। **तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः**। क्योंकि वह अपनी आत्माको तो छोड़ ही नहीं सकता। परमात्मा उसकी आत्माके रूपमें प्रकट है, यह उसकी विशेषता है। वह जहाँ है, जो है, जब है, जैसे है वैसे परमात्मा है। **एकभक्तिर्विशिष्यते**। उसके अन्दर भक्ति है—अनन्यभक्ति है। **एकस्य भक्ति**—ऐसा नहीं। **एका अनन्या भक्तिर्यस्य**। उसकी भक्ति अनन्य है। अनन्य है माने वह कहीं दूसरेको देखता ही नहीं। वह दूसरेसे प्रेम करता ही नहीं है। इसलिए ज्ञानी विशिष्ट है। ज्ञान प्राप्त करो, भक्ति तुम्हारी हमेशा बनी रहेगी। बारहवें अध्यायमें भगवान्ने बारम्बार कहा है—

यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

तुम करो भक्ति और भगवान् देंगे प्यार। अदले-बदलेकी बात नहीं समरसकी बात है। एकांगी नहीं है। कई गुण बता दिये हैं। मेरा भक्त ऐसा होता है—ऐसा होता है। **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**। उसमें 'अतीव

प्रिय' शब्द एक ही बार है। अत्यन्त प्यारा है। कौन? जो बच्चा है। **ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।** श्रद्धालु है—मुझे अभी देखा नहीं है। मिला नहीं है। परन्तु श्रद्धा मुझमें रखता है। हमारी सेवा भी नहीं करता है परन्तु भरोसा मेरा रखता है। श्रद्धा है मुझपर और भरोसा है मेरा तो वह **अतीव मे प्रियः।** ऐसे भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। लेकिन यहाँ एक विशेष बात कही, भगवान्‌का अत्यन्त प्यारा है पर ज्ञानी नहीं है। वह तो श्रद्धालु है। ज्ञानी कौन है?

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

यह ज्ञानी है। यहाँ ज्ञानीकी एक विशेषता बतायी है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

यह चातकका प्रेम नहीं है। यह चकोरका प्रेम नहीं है। यह मछलीका प्रेम नहीं है। मछली पानीसे प्रेम करती है। पानी तो मछलीसे प्रेम नहीं करता। चकोर चन्द्रमासे प्रेम करता है। चन्द्रमा चकोरसे प्रेम नहीं करता। सारसको विरहका पता नहीं है और चक्रवाकको संयोगका पता नहीं है। परस्पर प्रीति है। यह सीतारामकी प्रीति है। यह राधा-कृष्णकी प्रीति है। सीता-रामकी प्रीतिमें एकांगी प्रीति नहीं है। तुलसीदासजीकी प्रीति एकांगी है। भरतकी प्रीति एकांगी है। भरतमें तो परस्पर प्रीतिका भी वर्णन आता है। लेकिन एकांगी प्रीतिका उदाहरण भरतमें भी है।

जानहिं राम कुटिल करि मोहिं।
लोग कहहिं गुरु साहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरे।
अनुदिन बढ़ऊँ अनुग्रह तोरे॥

भरतकी भी एकांगी प्रीति है। लक्ष्मणकी भी एकांगी प्रीति है। परन्तु सीतारामकी प्रीति एकांगी नहीं है। वे परस्पर एक दूसरेके प्रेममें डूबे रहते हैं। प्रीतिका जो उत्तम आदर्श है वह सीताराममें है। वह राधाकृष्णमें है। इसको समरस प्रीति बोलते हैं। जितनी प्रीति सीताकी है राममें, उतनी ही प्रीति रामकी है सीतामें। लेना-देना नहीं है। दोनोंकी प्रीति निरन्तर-निरन्तर बढ़ती रहती है। सीताको देखकर राम प्रसन्न होते हैं। रामकी प्रीति देखकर सीता प्रसन्न होती हैं। अनुक्षण दोनोंकी प्रीति बढ़ती रहती है। **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।** ज्ञानीका प्यारा कौन है? भगवान्। भगवान्‌का प्यारा कौन है? ज्ञानी। परन्तु अत्यर्थ-का अर्थ है अर्थ अतिक्रम्य—बीचमें कोई दूसरी चीज नहीं है। दो तरंग उठती हैं अमृतके समुद्रमें। उसमें एक तरंग उठी सीता। दूसरी तरंग उठी—राम। सच्चिदानन्दघन हैं वे।

न आदि न अंत विलास करें दोऊ लाल-प्रियामें भई न चिन्हारी।

अनादि अनन्तकाल तक दोनों विलास करते हैं। परन्तु एकने दूसरेको पहचाना नहीं। जब श्रीकृष्ण पहचानने चलते हैं तो स्वयं राधा हो जाते हैं। जब श्रीराधा पहचानने चलती हैं तबतक स्वयं कृष्ण हो जाती हैं। प्रतिक्षण नवीन समागम है। लाल और प्रियामें चिन्हारी नहीं है। बीचमें कोई विभाजक रेखा नहीं है। ज्ञानीका

आत्मा भगवान्—भगवान्की आत्मा ज्ञानी। **अर्थ-अतिक्रम्य।** न ज्ञानीका रूप ज्ञानी है, न भगवान्का रूप भगवान् है। दोनों सच्चिदानन्दघन हैं। एक तरंग, एक उल्लास। आत्माका उल्लास है भगवान्। भगवान्का विलास है ज्ञानी। भगवद्विलासका नाम है ज्ञानी और ज्ञानीके आत्मोल्लासका नाम है—भगवान्। दोनों एक हैं।

उदाराः सर्व एवैते—ये सबके सब भक्त हैं। चाहे धनके लिए भजें, चाहे आर्ति-निवारणके लिए। चाहे जिज्ञासासे भजें। ये सब-के-सब उदार हैं। उदार हैं माने ऊपर उठ गये हैं। जो ऊपर उठ चुका है उसका नाम है उदार। अधिकारीको देखकर जो देता है वह उदार नहीं है। **देशे काले च पात्रे च**—संक्रान्तिका दिन है, दान करो। गंगाजीका तट है, दान करो। ये बड़े भारी विद्वान्, सदाचारी हैं इनको दान करो—यह उदारका लक्षण नहीं है। वह तो कुछ देकर लेना चाहते हैं। उदार वह जो अपनी ओर देखकर देता है, सामनेवालेको देखकर नहीं। जितनी उसकी शक्ति है उससे अधिक। उदार कौन है? उदार रघु हैं। उन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया और जब कौत्स आये तो मिट्टीके बर्तनमें उनको अर्घ्य दिया। सीताराम भगवान्ने अपने यज्ञमें सर्वस्व दान कर दिया। श्रीरामचन्द्रके शरीरपर रह गयी एक धोती और सीताजीके शरीरपर रह गयी एक साड़ी। भागवतमें वर्णन है यह।

उदारा सर्व एवैते।

आर्ति आयी, तकलीफ आयी, तापकलाका उदय हुआ। परन्तु वह दूसरेसे कहने नहीं जाता कि तुम हमारी तकलीफ दूर करो। अपने अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें जो विराजमान भगवान् हैं, वहाँ जाकर उनसे कहता है कि हमारे ऊपर यह संकट है, दूर कर दीजिए। न वह समाजके पास गया, न देवी-देवताके पास गया, न पुलिसके पास गया, न मिनिस्टरके पास गया। कहाँ गया अपना दुःख-दर्द दूर करनेके लिए? यह देखो उदारता उसकी। वह तो ईश्वरके पास गया। एकको धनकी आवश्यकता हुई। वह माँगनेके लिए किसके पास गया? सेठजीके पास धन माँगने गया। तो बाहर गया। यदि भीतर चला जाय कि 'प्रभो! हमको धनकी आवश्यकता है। आप हमको दीजिए।' यह बाहरका परित्याग करके अन्तरके पास जाना है।

जहाँ आपका मैं है वहाँसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणकी शुरुआत होती है और कालका भूत-भविष्य कहाँसे होता है? जहाँ आपका मैं है। असलमें वस्तुओंका भी प्रारम्भ वहींसे होता है। घट, पट, मठ आदिका भी प्रारम्भ वहींसे होता है जहाँ आपका मैं है। जहाँ आपका मैं है—जिससे आपका मैं है—जिसमें आपका मैं प्रकाशित हो रहा है—उसीसे देश, काल, वस्तु सब प्रकाशित होते हैं। किससे माँगने आप जाते हैं? जिसमें सब हैं उसके पास आप अपने मैंके अन्तर्देशमें प्रवेश कीजिए और वहाँ जो परमेश्वर है—उसको आप देखेंगे तो देखते ही रह जायेंगे। आपके हृदयमें इतना सौन्दर्य, इतना माधुर्य, आपके हृदयमें ऐसा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन है। जो आकारोंकी वर्षा कर रहा है वह सद्घन। जो वृत्तियोंकी वर्षा कर रहा है वह चिद्घन। जो सुखोंकी वर्षा कर रहा है वह आनन्दघन। वह आपके हृदयमें मौजूद है। आप उसके पास माँगने जायेंगे।

जेहि जाचक, जाचकता जरि जाय जो जारत जोरि जहाँनहिं रे।

आप चलकर उससे याचना कीजिए। अर्थार्थी होकर उसके पास जाइये। आप जब देखेंगे कि आपके हृदयमें ऐसा सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, धन-का-धन, जीवन-का-जीवन आपके हृदयमें बैठा है

फिर अर्थकी अर्थना ही नहीं रहेगी। मिट जायगी। जब ज्ञानस्वरूपको आप देखेंगे तो ज्ञानकी इच्छा ही मिट जायगी।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी सब बड़े उदार हैं; क्योंकि वे दूसरेको छोड़कर परमात्माके पास आर्ति-निवारणके लिए, जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए, अर्थकी प्राप्तिके लिए आते हैं। परन्तु ज्ञानी—वह तो किसी चीजके लिए नहीं आता। परमात्माका लक्षण क्या है? जिसमें किसी प्रकारका अभाव नहीं है। **ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।** ज्ञानी तो परमेश्वरकी आत्मा है। क्यों? **आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्। माम् एव** पर ध्यान दें—आर्ति-निवारणपर उसकी आस्था नहीं है। मुझपर उसकी आस्था है। केवल मेरे पास आता है। जहाँ अर्थ प्राप्त होता है उसके पास नहीं जाता। जहाँ जिज्ञासापूर्ति होती है उसके पास नहीं जाता। **मामेव**का अर्थ होता है—**अहं-अहं-अहं।** जो फुदक रहा है—मैं-मैं-मैं। वह किसमें फुदक रहा है? हजार बर्तनमें पानी रखा है और उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। वह कौन है जिसका प्रतिबिम्ब हजार बटलोइयोंमें पड़ता है? वह परमात्मा है। जो हजारों हृदयकी थालियोंमें, हृदयके ह्रदोंमें, हृदयके सरोवरोंमें चमाचम चमक रहा है। वह उसको देखता है यही उदारता है।

आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।

युक्तात्मा माने दूसरे पदार्थोंसे उसने अपने मनको समेट लिया। निरुत्तर, निरुत्तम, निरतिशय, जिससे बड़ा और कोई न हो, उसको बोलते हैं निरतिशय। उससे, अतिशय उससे विशेष और कोई नहीं है। निरुत्तर—उसके बाद कोई नहीं है। लाजवाब है बिलकुल लाजवाब है। उसका मुकाबला करनेके लिए और कोई नहीं है। **मामेवानुत्तमां गतिम्**—भगवान् अनुत्तम गति है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। ज्ञानकी और एक तारीफ की। भगवान्‌को ज्ञान बहुत पसन्द है।

भगवान् कहते हैं—देखोजी, मैं तो मामूली आदमी हूँ, मैं तो मामूली चीज हूँ। मैं तो सब जगह हूँ। मैं तो सब हूँ। जहाँ चाहो वहाँ मुझे देख लो—जिस रूपमें मुझे चाहो देख लो **वासुदेवः सर्वमिति।** लेकिन इस बातको अनुभव करनेवाला महात्मा दुर्लभ होता है! वह कहीं-कहीं होता है। श्रद्धालुके लिए सुलभ है और संशयालुके लिए दुर्लभ है। **सुलभः दुर्लभश्च।** वह महात्मा केवल श्रद्धालुके लिए सुलभ है और संशयालुके लिए दुर्लभ है। बहुत जन्मोंके बाद होता है ज्ञानवान्। जो ज्ञानी हो जाता है, उसकी क्या पहचान है? **वासुदेवः सर्वं इति मां प्रपद्यते।** सब वासुदेव है यह प्रतिपत्ति, यह ज्ञान, यह अनुभव उसको हो जाता है। परन्तु ऐसा महात्मा सबके लिए सुलभ नहीं है—दुर्लभ है।

●

प्रवचन : 7

गीता शब्द एक तो संज्ञा है। **गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्।** इस शास्त्रका नाम है गीता। दूसरे भगवता गीता—भगवान्‌ने इसका गान किया हो—असमास क्रिया। इसमें भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं—**स महात्मा सुदुर्लभः।** वह महात्मा दुर्लभ है। अत्यन्त दुर्लभ--**सुदुर्लभः। सत्संगस्तु दुर्लभः अगम्यःअमोघश्च।** सत्सङ्ग दुर्लभ होता है। सत्पुरुषका मिलना कठिन है और मिल जाय तो अगम्य है; जान नहीं पाते कि यह सत्पुरुष है। और पहचान लें तो अमोघ होता है। कभी व्यर्थ नहीं होता। **सन्तो दिशन्तिचक्षूंषि।** सत्पुरुष नेत्रदान करते हैं। **बहिरर्कः समुत्थितः।** सूर्योदय होता है तो बाहरका नेत्र बाहरकी वस्तुओंको देखता है। सत्पुरुष मिलते हैं तो अन्तरके नेत्र खुलते हैं और अन्तरकी वस्तु दीखती है।

सन्त आत्माहमेव च—मुझमें और सन्तमें कोई अन्तर नहीं है। सन्त ही आत्मा हैं और सन्त ही मैं हूँ। सन्तका मिलना भगवान्‌का मिलना है। सन्त है कौन? महात्मा है कौन? महात्मा शब्दका अर्थ होता है—जिसकी आत्मा महान् है। महान् है माने सङ्कीर्ण नहीं है, उदीर्ण है—उदार है। वह किसी वर्गमें, किसी जातिमें, किसी समाजमें, किसी प्रान्तमें, किसी राष्ट्रमें आबद्ध नहीं है। जैसे सबकी आत्मा परमात्मा है वैसे सब महात्माकी आत्मा है।

एक महात्माको मैंने देखा—नावमें हम साथ-साथ जा रहे थे। एक गाँवमें नाव रुकी। वहाँके एक पुलिस इंस्पेक्टर दर्शन करने आये। महात्माजी हाथ जोड़ने लगे—रोने लगे। बोले हम गरीब हैं। हमको सताओ मत। लोग देखने लगे यह क्या बोलते हैं? मालूम हुआ कि वह इंस्पेक्टर थानेमें उसी समय कुछ लोगोंको जूतेसे पीट करके आया था। और महात्मा उन पीटे गये लोगोंके साथ तादात्म्य होकर, एक होकर बोल रहे थे—हम गरीब हैं। हमको मत सताओ। संसारमें देवता हैं, दानव हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, सब अपनी आत्मा हैं, ऐसा जो अनुभव करे उसका नाम महात्मा।

महाभारतमें बताया है महात्मा कौन है? जो क्रोधके वेगके वशमें नहीं होता, जो पेटके भोजनकी वासनाके वेगके वशमें नहीं होता। जो मूत्रेन्द्रियके वेगकी वासनाके वशमें नहीं होता जानबूझकर इन वेगोंको सह लेता है और चाहे कोई कितनी भी निन्दा करे, उसके चित्तपर चोट नहीं पहुँचती। ऐसा उसका हृदय हो जाता है कि चाहे उसकी निन्दा करें और उसको चोट पहुँचावें, तो चोट नहीं पहुँचा सकता।

आत्मानं यदि निन्दति, आत्मानं स्वयमेव ते।

यदि वे आत्माकी निन्दा करते हैं तो अपनी ही निन्दा करते हैं। शरीरकी निन्दा करते हैं तो शरीरकी निन्दा तो हम भी करते हैं।

प्रलयस्यापि हुंकारैः चलाचलविचालनैः।
विक्षोभं नैति यस्यान्तः स महात्मेति कथ्यते॥

महात्मा किसको बोलते हैं? प्रलयकी गर्जना हो रही हो—चर अचर सृष्टि विचलित हो रही हो फिर जिसके चित्तमें विक्षोभ नहीं है। जिसके अन्तरमें विक्षोभ नहीं है का अर्थ यह नहीं कि सारा जगत् पीड़ित हो रहा है और वह मौज कर रहा है।

न जानपदिकं दुःखं एकः शोचितुमर्हति।

महाभारतका कहना है कि सारे देशको, सारे समाजको, सारे जनपदको जो दुःख हो रहा हो, उसके शोकका बोझ एक दिमागमें नहीं आना चाहिए। नहीं तो पहले दिमाग ही फटने लग जावेगा, वह करेगा क्या?

अशोचं प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् विक्रमम्।

अपनी शक्ति जहाँतक हो, उस विपत्तिके निवारणका, सङ्कटके निवारणका उपाय तो करना ही चाहिए। परन्तु शोकसे अभिभूत होकर नहीं—भयसे, डरके नहीं—मोहसे ग्रस्त होकर नहीं, **अशोचं प्रतिकुर्वीत।** अपनी आत्मामें स्थित रहकर, जो सङ्कट आवे, जो विपत्ति आवे उसका सामना करना चाहिए। उसे दूर करनेका उपाय करना चाहिए। एक सज्जनको ड्राइवरपर क्रोध आया तो आँख लाल हो गयी। मोटरमें हम चल रहे थे। मैंने उनसे कहा उसको तो दण्ड तुम पीछे दोगे, अपने आपको तो दण्ड तुमने पहले ही दे दिया। तुम्हारे हृदयमें जलन हो गयी, तुम्हारी आँख लाल हो गयी। तुम्हारा दिल बिगड़ गया। मैंने तो कहा धीरेसे, पर ड्राइवरने सुन लिया। उसने बादमें जब मालिक उतरकर चले गये तब हमसे कहा कि महाराज, आपने हमको बचा ही लिया।

स्वयं अपने आत्माको, अपने हृदयको दण्ड मत दो। महात्मा होता है दुर्लभ। महात्माका ज्ञान क्या है? महात्माका अनुभव क्या है? वह सबको अपने आत्मामें अनुभव करता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 7.19

यह ज्ञान बहुत दुर्लभ है, सुलभ नहीं। ज्ञानसंस्कारसे संस्कृत बहुत-से जन्म होते हैं। ज्ञानकी योग्यता प्राप्त करनेके लिए सत्कर्मका अनुष्ठान करना, विवेक करना, वैराग्य होना, शम, दमादि सम्पत्तिको ग्रहण करना पड़ता है। बहुत जन्मोंके संस्कारसे मनुष्यका अन्तःकरण ऐसा होता है कि उसको सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। जन्म होते हैं बहुत और ज्ञान होता है एक। ऐसा नहीं कि ज्ञानवान्के बहुत-से जन्म होते हैं। **ज्ञानवान् पुरुषः बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते**—इसका ऐसा अर्थ नहीं है। **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् सन् वासुदेवः सर्वमिति मां प्रपद्यते।** तत्त्वज्ञान होना, भगवद्ज्ञान होना, आत्मज्ञान होना कोई आसान बात नहीं है।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

अनेक जन्मके संस्कार होते हैं। और यह बात देखनेसे मालूम पड़ती है। कोई रुईके गोदामसे आवे तो उसके कपड़ेपर कुछ रुईके रेशे लगे होंगे। कोई कोयलेकी खानमें-से निकले तो उसपर कुछ कोयलेके कण होंगे। जो आदमी नरकमें-से आता है वह चिड़चिड़ा होता है—वहाँ बहुत पिटा होता है, बहुत दुःख भोगे हुए

होता है—वह चिड़चिड़ाता हुआ नरकमें-से आता है। जो स्वर्गमें-से आता है वह तृप्त होकर आता है। जो साधन-सम्पन्न होकर आता है। जन्मसे ही—**ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद् भुवः**—कहीं-कहीं धरती बड़ी चमकदार होती है। देखनेमें ही—उसके बाल्यावस्थाके खेलमें, बोलनेमें—एक प्रकारकी विशेषता होती है।

बहूनां जन्मानामन्ते ज्ञानवान् सन्। ज्ञानवान् होता है और फिर उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है—अनुभव होता है। परमात्माका अनुभव होनेके बाद जन्म-मरण नहीं है। जन्म-मरण, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, स्वर्ग-नरकमें आना-जाना ये तभीतक हैं जबतक परमात्माका ज्ञान, परमात्माका अनुभव नहीं होता। कर्ममें पाप-पुण्य, अन्तःकरणमें—व्यवहारमें रागद्वेष, भोगमें सुख-दुःख और स्वर्ग-नरकमें आना-जाना। ये तभीतक हैं जबतक परमात्माका ज्ञान, परमात्माका अनुभव नहीं होगा।

ऐसा क्या ज्ञान होता है? उस ज्ञानका स्वरूप क्या है?

वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते।

सब वासुदेव ही है, इस रूपमें वह मुझे अनुभव करता है। प्रपद्यते, प्रतिपद्यते, उसको यह अनुभव होता है कि सब है वासुदेव, सब है परात्पर, परब्रह्म—परब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह उसको अनुभव होता है—यह देखो श्याम, यह देखो श्याम, जहाँ देखो वहाँ भगवान्, जहाँ दो पद, दो पदार्थके वाचक होते हैं, वहाँ दो पदोंका अर्थ एक नहीं हो सकता। जैसे एक पद है घड़ा और एक पद है कपड़ा। घट है, पट है। यदि कोई कहे कि कपड़ा घड़ा है और घड़ा कपड़ा है तो ये पद दो हैं, पदार्थ दो हैं, दोनों एक तो कभी हो ही नहीं सकते। बिलकुल असंगत है। कपड़ा घड़ा नहीं हो सकता। घड़ा कपड़ा नहीं हो सकता। तो **वासुदेवः सर्वम्**का क्या अर्थ हुआ? वासुदेव परमात्मा ही सब है। 'सब' शब्द अलग है—'वासुदेव' शब्द अलग है और सब शब्दका अर्थ होता है अनेकका मेल। सब माने सब लोग। इतनी स्त्री, इतने पुरुष, इतने गोरे, इतने काले, इतने नाटे, इतने लम्बे, इतने मोटे, इतने दुबले—सब मिलाकर सब लोग होते हैं। सब शब्दका अर्थ होता है अनेक। अनेकका समूह होता है सब और वासुदेव होता है एक। यह बात कैसे कही गयी कि जो कपड़ा है सो घड़ा है और जो घड़ा है सो कपड़ा है—जो एक परमात्मा है सो सब है—जो सब है सो एक परमात्मा है। यह बात असंगत मालूम पड़ती है। यही है वैदिक दर्शनकी विशेषता।

वेदान्तके सिवाय किसी भी मजहबमें—न जैनमें, न बौद्धमें, न मुसलमानमें, न इसाईमें, न आर्यसमाजमें, न ब्रह्मसमाजमें 'सब परमात्मा है' यह सिद्धान्त नहीं है। किसी-किसी समाजमें परमात्मा मानते ही नहीं। कहीं सिर्फ निराकार मानते हैं। कोई सावतें आसमानमें मानते हैं—यह सब जो हम देख रहे हैं, जैसा देख रहे हैं, जब देख रहे हैं, जिस प्रकारसे देख रहे हैं—इस विश्व सृष्टिको, यह ज्यों-की-त्यों परमात्मा है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** यह श्रुति है। सब ब्रह्म है। **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।** यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है। **स एवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्।**

ऐसे श्रुति बोलती है। यह सब मैं हूँ। यह सब आत्मा है, यह सब ब्रह्म है। यह सब वही है। इसको कहते हैं सामान्याधिकरणका विचार। सामान्याधिकरण माने दो विभक्तियाँ समान अधिकरणमें हैं। **घटः पटः**—

कपड़ा घड़ा है—घड़ा कपड़ा है। कैसे हो सकता है? सब परमात्मा है, परमात्मा सब है यह बात कैसे हो सकती है? चार तरहसे इसकी संगति लगाते हैं। रामानुजाचार्य कहते हैं—परमात्मा है शरीरी और यह जीव और जगत् हैं शरीर। शरीर और शरीरीकी दृष्टिसे एक हैं। परमात्मा है आश्रय, ये जीव जगत् हैं आश्रित। परमात्मा है उपजीव्य और ये हैं उपजीवक। परमात्मा हैं शेषी और ये हैं शेष। जैसे एक आदमीको हम कहते हैं, यह आत्मा है, यह परमात्मा है—तो उसका शरीर भी है, अन्तःकरण भी है, उसके विचार भी हैं, उसके भाव भी हैं—सब मिलाकर उसको बोलते हैं मनुष्य। ऐसे हम परमात्माको जब सब बोलते हैं तो यह पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मन, महत्तत्त्व प्रकृति सब मिलाकर बोलते हैं—यह परमात्मा। परमात्माकी प्रकृति है। जीव परा प्रकृति परमात्माकी प्रकृति है। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति—दोनों प्रकृतियोंसे शरीरधारी हैं परमात्मा। हम बोलते हैं परमात्मा सब है।

श्रीरामानुजाचार्यजीके—शेष शेषी भावसे—परमात्माके लिए यह जगत् है और परमात्माका शरीर है। शरीर होनेसे शरीरी पर्यन्त विवक्षित होता है। शरीरीसे लेकर शरीरतक, सब एक परमात्मा है।

श्रीनिम्बकाचार्यजी महाराज कहते हैं कि वस्तु तो एक है, परन्तु उसकी दो अवस्थाएँ होती हैं। एक कार्य अवस्था और एक कारण अवस्था। जैसे हम कहते हैं—यह पेड़ है—यह बड़का पेड़ है—यह आमका पेड़ है। तो उसमें कार्यावस्थामें तना भी हैं—डालियाँ भी हैं—फूल भी हैं, फल भी हैं—और बीजावस्थामें तो परमात्मा होते हैं और व्यवहार-कालमें, प्रपञ्च-कालमें ये पत्ते होते हैं, ये फूल होते हैं—फल होते हैं—डालियाँ हैं—अलग-अलग हैं। कार्य अवस्थामें द्वैत है और कारण अवस्थामें अद्वैत है।

भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं, कारण अवस्थाकी दृष्टिसे बोलते हैं। यह अब बीजात्मक है। **वासुदेवः सर्वम्**। यह परमात्माकी ही शक्तिका विक्षेप है—जीवके रूपमें-जगत्के रूपमें, उनकी शक्तियाँ प्रकट होकर दिखायी पड़ती हैं। यह परमात्मनिष्ठ ऊर्जा है जो जीव और जगत्के रूपमें मालूम पड़ती है। प्राचीन संस्कृत भाषामें इसको शक्तिका विक्षेप बोलते हैं। जो हम चीजें चाहते हैं वह भी परमात्माके लिए और जो शक्ति है वह भी परमात्माकी।

शंकराचार्यने इसकी व्याख्या दूसरे ढंगसे की। **वासुदेवः सर्वम्**। वे कहते हैं कि जब दो पदार्थ हैं—एक विश्व—सर्वम् और एक वासुदेवाय तो दो पदार्थको एक समझना यह तो भ्रमकालमें होता है—भ्रमसे आदमी दो चीजको एक समझ लेता है। तब यह तो अविवेक हुआ! अविवेक कालमें वस्तु दो होती हैं और उसको मनुष्य एक समझता है। बोधकालमें एक वस्तु मिथ्या होती है और एक सत्य होती है तब वह मिथ्या वस्तु सत्य वस्तुसे पृथक् नहीं होती है। सत्य वस्तु ही मिथ्या वस्तुके रूपमें मालूम पड़ती है। एक आदमी भ्रमसे पेड़को, ठूँठको भूतके रूपमें देख ले। वहाँ भूत-पदार्थ और पेड़ पदार्थ एक क्यों मालूम पड़ता है? भ्रमके कारण। रज्जु सर्प क्यों मालूम पड़ती है? भ्रमके कारण। यदि ज्ञान हो जाय तो रज्जु ही है, सर्प नहीं है तो सर्पके मिथ्या होनेका कारण एक पदार्थ है। यह जो सर्व है—सर्व माने सब पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश इनसे बने हुए पदार्थ हजार-हजार पदार्थ, लाख-लाख पदार्थ, करोड़-करोड़ पदार्थ ये

एक परमात्मामें—केवल उसको न पहचाननेके कारण अलग-अलग मालूम पड़ रहे हैं। असलमें एक सत्य है और उससे अलग यह सर्व नहीं है। तो अलगावकी प्रतीति मिथ्या है क्योंकि अपने अभावके अधिष्ठानमें यह दीखता है। जैसे कोई कहते हैं—मिथ्या भाषण—भाषण मिथ्या नहीं है। भाषण तो है—परन्तु उसका अर्थ मिथ्या है। इसी प्रकार इस जगत्को जैसे बन्ध्या पुत्र असत् होता है ऐसे नहीं बोलते हैं। इस प्रकार परमेश्वरसे अलग यह विश्व प्रपञ्च नहीं है।

व्रजमें क्या बढ़िया दिखाते हैं श्रीबल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु। सब बछड़ोंको हरकर ले गये ब्रह्माजी—सब ग्वालबालोंको हरकर ले गये ब्रह्माजी। उनकी छड़ी छींके, बाँसुरी सब गयीं। उनके कपड़े-लत्ते भी गये—वे भी गये—सबको हरकर ले गये ब्रह्माजी। अब वहाँ है क्या? प्रकृति नहीं, जीव नहीं, श्रीकृष्ण अनेक जीव बन गये, अनेक बाँसुरी नहीं हैं—अनेक बाँसुरी बन गये। अनेक नाम नहीं है—अनेक नाम बन गये। उनके अलग-अलग अन्त:करण नहीं हैं और उनके अलग-अलग संस्कार नहीं है। सबके सब श्रीकृष्ण बन गये। उनका पूर्वजन्म किसीका नहीं था। अन्त:करण किसीके अन्दर नहीं था, प्रकृतिसे बना हुआ शरीर किसीका नहीं था, पञ्चभूतसे बना हुआ शरीर किसीका नहीं था। अब यदि हम वहाँ बोलते हैं—**वासुदेवः सर्वम्**—श्रीकृष्ण ही ग्वाल हैं, श्रीकृष्ण ही बछड़े हैं, वही बाँसुरी हैं, वही उनके कपड़े हैं, वही उसके नाम हैं, वही उनके रूप हैं। वह काला बछड़ा, वह गोरा बछड़ा—वह लाल बछड़ा—वह बड़ा, वह छोटा, वह सुदामा, श्रीदामा, वीरभद्र—सुभद्रा, रेंदा, पेंदा, मधुमंगल कुसुमासव ये सब कौन हैं? **वासुदेवः सर्वम्।**

ये सब भगवान्के रूप हैं। अलग-अलग नाम हैं तो, क्या? अलग-अलग रूप हैं तो क्या? इस प्रकारका अनुभव करनेवाले महात्मा-महात्मा क्यों? इसलिए कि संसारमें जो रागद्वेष होते हैं वे उसमें हैं ही नहीं। देखता है हमारे भगवान् हैं, वहाँ राग करके पक्षपात करनेकी आवश्यकता नहीं है और वहाँ द्वेष करके, किसीको देखकर जलनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

अन्त:शीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत्।

जब सब भगवान् हैं तो हृदय शीतल हो गया और हृदय शीतल हो गया तो सारी दुनिया शीतल हो जायेगी। असलमें जब अपना दिल जलता है तो दुनियामें आग लगती है। पहले चिनगारी अपने दिलमें पड़ती है फिर दुनिया जलती है। अपना हृदय शीतल है तो सारी दुनिया शीतल है।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

जिसमें मोह नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है। द्वेषसे क्रोध होता है। रागसे काम और लोभ होते हैं। मोहसे पक्षपात होता है।

सब लोग महात्मा क्यों नहीं हो जाते? सभी हो जायँ—यह तो बड़ी सुगम बात है। बोले नहीं—ज्ञानके चोर हैं कुछ, वे ज्ञान होने नहीं देते। ज्ञानको लूट ले जाते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ 20॥

योो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 21॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ 22॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ 23॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः हमको यह चाहिए। **तै तै कामैः**—कामनाके अनेकरूप हैं। जहाँ माया होती है, जहाँ दम्भ होता है, वहाँ एकरूपता नहीं रहती। यह चाहिए, यह चाहिए—आप कोई लिस्ट नहीं बना सकते कि हमको क्या-क्या चाहिए। चाहका अन्त नहीं है। **अनिर्वचनीयैः ये खलु इदानीम् न ज्ञायन्ते तैः तैः**—वे वे कामनाएँ जिनका अभी पता तक नहीं है कि हमारे हृदयमें क्या देखकर क्या पानेकी इच्छा हो जायगी? आप इस भोगको श्रेष्ठ समझते हैं—इस वस्तुको श्रेष्ठ समझते हैं—**कामान्-यत् कामयते**—देखनेमें बहुत मीठे लगते हैं। काम शब्दका एक अर्थ—बहुत मीठा है। देखनेमें मीठा लगता है पर परिपाकमें कड़वा होता है। कई चीज ऐसी होती है जो खानेके समय तो कड़वी मालूम पड़ती है पर परिपाकमें मीठी हो जाती है। आँवला खानेके समय कसैला मालूम पड़ता है पर परिपाकमें वह मधुर हो जाता है। संसारकी कामनाएँ मनमें आजायें, इसमें कोई दोष नहीं है। अपनेको हीन तो समझना ही नहीं, क्योंकि कामनाको आप पहलेसे नहीं रोक सकते। जब आजायेगी मनमें, उसका उदय हो जायगा तब यह ठीक है कि नहीं, यह ज्ञान हो जायगा! उस समय उसे जो गलत कामना है वे रोक सकेंगे और अच्छी कामनाको रख सकेंगे। लेकिन वह तो आपके सोचने-विचारनेसे पहले ही दबे पाँव जैसे चींटीके पाँवकी आवाज सुनायी न पड़ती हो, वैसे ही हृदयमें उदय हो जाती हैं। उनको मना करनेके लिए पहलेसे विवेक चाहिए। पहलेसे वैराग्य संस्कार चाहिए तब कामनाएँ कम उदय होंगी। लेकिन उदय हो जायँ तो यह कोई अपराध नहीं है। आगयी तो आगयी! हम जब उनके कहे अनुसार चलने लगते हैं—यहाँ चलेंगे तो यह कामनापूर्ति होगी और गलत जगह चले गये। अब कामनापूर्ति होगी। पहलेसे कामनाका उदय न हो यह एक नम्बरकी बात हुई। उदय होकर शान्त हो जाय यह दो नम्बरकी बात है। उदय होनेपर भी सही जगह ले जाय तो यह तीसरा नम्बर है। यदि गलत जगह पर ले जाये तो आपकी चेतना, आपका ज्ञान, आपकी जीवात्मा नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। क्योंकि आप रामके अधीन नहीं रहे, कामके अधीन हो गये। ये ज्ञानके लुटेरे हैं। कौनसे—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते।

ये काम किससे बनेगा? अमुक सेठके पास जायेंगे तो यह काम बन जायेगा। पुलिसके पास जानेसे बनेगा या अफसरके पास जानेसे बनेगा। हम अपने आत्मदेव, अन्तर्यामी, परमेश्वरको छोड़कर, अपने हृदयमें विराजमान जो प्रभु है, उसकी ओर पीठ करके, दूसरेके पास जाते हैं कि आप हमारी कामना पूरी कर दीजिये।

ऐसे ही जनम समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि, सेवत पुरुष बिराने॥

अपने पतिदेव हैं अपने घरमें, अपने हृदयमें—और हम दूसरे पुरुषके पास जाते हैं कि तुम हमारी कामना पूरी करो। यह व्यभिचार है, यह अपराध है। हमने ईश्वरकी ओर पीठ कर दिया और दूसरेकी ओर मुँह कर दिया। कहाँ जाते हैं? **प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।** बोले ये काम अच्छे देवतासे नहीं बनेगा। यह तो भूतसे बनेगा, यह तो भैरवसे बनेगा। मुकदमा जीतनेके लिए किसी ओझा-सोखाके पास जाते हैं तो वह कहता है देवताको माँस चढ़ाओ।

अब देवताको चढ़ानेके लिए माँस मँगवाना है। किसीसे घरमें पुरश्चरण हो रहा था तो उसके लिए कितनी योगिनी और कितने भैरव और कितने भूत हैं जो उनसे माँसकी बात करते थे। बलि देकर हम छोटे-छोटे देवताओंसे कामनापूर्ति चाहते हैं। उनके लिए नियम पालन करते हैं। ईश्वरसे नियम पूरा नहीं हुआ तो अब देवतासे नियम पूरा होगा। ऐसा क्यों होता है? सबकी एक प्रकृति होती है—पूर्वजन्मकी बनी प्रकृति होती है और इस जन्ममें भी होती है। जैसा संग किया और जैसा संस्कार पड़ा, जैसा पढ़ा-लिखा, जिनके साथ रहे—पूर्व जन्मकी प्रकृति जैसी बनी हुई है अपनी-अपनी प्रकृतिके हिसाबसे कम्पनी ढूँढ लेते हैं। जिनका मन तामसिक होता है—जिनका मन राजसी होता है, उनको तामस और राजस देवताकी शरणमें जानेसे उनका काम बनेगा, यह विश्वास होता है। किसको घूस दें तो हमारा काम बनेगा? ये अन्तर्यामीको छोड़कर बाहरकी वस्तुओंके पीछे दौड़ते हैं। वे बिचारे भी मजबूर हैं। क्योंकि उनकी सोसाइटी, कम्पनी ऐसी ही रही है। कम्पनी मनुष्यके जीवनको बनाती है।

आप कैसे लोगोंमें उठते-बैठते हैं? आप कैसे लोगोंकी सेवा करते हैं? आपके मनमें क्या बननेकी इच्छा है? इसके अनुसार आपके जीवनका निर्माण हो जायेगा। संगका असर पड़ेगा, श्रद्धाका असर पड़ेगा, अपनी इच्छाका असर पड़ेगा, पूर्व जन्मकी प्रकृतिका असर पड़ेगा। कहाँ जाते हैं आप? मनुष्यका मन बता देता है कि वह कहाँसे आरहा है। अगर मनुष्यका मन निर्वासन हो रहा है तो पुनर्जन्म नहीं होगा और यदि वासनापूर्तिके मार्गपर जा रहा है तो पुनर्जन्म होगा। यह तो देखनेसे ही मालूम पड़ जाता है।

प्रकृत्या नियताः स्वया,
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

अब उसमें बात क्या है—देवता शरीरकी पूजामें भी भक्ति और श्रद्धा होनी ही चाहिए। भगवान् कहते हैं. उस देवताके शरीरमें भी मैं ही रहता हूँ। श्रद्धाके पीछे रहकर वही तो श्रद्धाको फेंकते हैं और श्रद्धेयके पीछे रहकर वही श्रद्धाको लेते हैं यह देने-लेनेका जो रोजगार है यह प्रभुका ही है। वही श्रद्धा देते हैं और वही श्रद्धा लेते हैं। तब इसमें दोष क्या हुआ? दोष यह हुआ कि प्रभुकी पहचान नहीं है। वह समझता है अपनी होशियारीसे, अपनी बुद्धिमत्तासे, अपने नैपुण्यसे, हम यह श्रद्धा कर रहे हैं और जिसपर श्रद्धा कर रहे हैं उसमें परमेश्वर है, यह पहचानता नहीं। बुद्धि नहीं बनती।

एक राज्यमें राजकुमारीका विवाह हुआ। उस अवसरपर राजकुमार नहीं आ सका। तब उस राजकुमारकी तलवारपर सिन्दूर डालकर उसकी माँग भर दी। ऐसी राज्योंकी रीति थी। उसको युद्धमें जाना था इसलिए चला गया था। युद्ध जीतकर लौटा तो ससुराल गया और ससुरालमें बाहर सरायमें ठहर गया और ऐसी साँठगाँठ जोड़ी कि जिससे उसका विवाह हुआ था, वही लड़की उससे मिलनेको तैयार हो गयी। मिलनेपर उसने बता दिया कि मैं तो तुम्हारा पति हूँ जिससे तुम्हारा विवाह हुआ था। वह लड़की मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। क्यों? इसलिए कि वह पतिके सामने व्यभिचारिणी सिद्ध हो गयी थी। उसने कहा—अब इनको मुँह दिखाने लायक नहीं हूँ। था वही जिससे उसका विवाह हुआ था; परन्तु बिना जाने वह उससे मिलने चली गयी तो अज्ञान भी एक अपराध होता है। हम जहाँ-कहीं जाते हैं, जिस किसीकी शरण लेते हैं। जिस-किसीसे अपना काम बनाना चाहते हैं लेकिन उसके भीतर जो परमेश्वर है उसको पहचानते नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ 7.22

भगवान् बड़े चालाक हैं। बड़े बुद्धिमान हैं। संसारमें सारी बुद्धि ईश्वरकी बुद्धिमें-से ही निकलती है। देखते हैं इसके अन्दर श्रद्धा है। बल्कि गीतामें तो यहाँतक कह दिया है कि शास्त्र-विधिका उल्लङ्घन करके भी यदि कोई श्रद्धा करता है तो वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी, तामसी होती है। उस श्रद्धाके हिसाबसे फल मिलता है।

श्रद्धामें फल देनेकी शक्ति है परन्तु अन्धी श्रद्धा हो गयी जहाँ श्रद्धेयका ज्ञान नहीं है। फल दे रहा है कोई और समझ रहे हैं किसीको। यही श्रद्धाकी अन्धता हुई। परमेश्वरकी पहचान नहीं रही। इस देवताके भीतर फल देनेवाला वही परमेश्वर है। देवतापर तो दृष्टि गयी; परन्तु परमेश्वरपर दृष्टि नहीं गयी। भगवान् कहते हैं—मैं ही फल देता हूँ और तत्काल फल देता हूँ। वह जो चाहता है वह फल भी देता हूँ। लेकिन वह जो फल मिलता है वह अनन्त परमेश्वरके द्वारा मिला। यह हमारी बुद्धि ग्रहण नहीं करती। इसलिए फल मिलनेके बाद वह देवता भी छूट जायगा और वह परमेश्वर भी छूट जायेगा। लेकिन यदि यह ज्ञात हो कि यह फल हमें परमेश्वरसे मिला, तो परमेश्वर अनन्त है, परमेश्वर पर और श्रद्धा होगी। आप भी बने रहेंगे। परमेश्वर भी बना रहेगा। आपकी श्रद्धा भी बनी रहेगी और आप कहेंगे, यह परमेश्वर हमको फल देनेवाला है।

पूर्वमीमांसामें कर्मसे अपूर्वकी उत्पत्ति करके फलकी प्राप्ति मानते हैं। परन्तु वेदान्त शास्त्रमें, उपनिषद्में, गीतामें यह बात मानी जाती है कि कर्म तो जड़ है, अन्धा है। कर्म तो कृतक है। कर्म तो अपना बनाया हुआ है। वह स्वयं फल देनेमें समर्थ नहीं है। असलमें ईश्वर ही फल देता है। कर्मकाण्डी लोग कर्मसे फलकी प्राप्ति मानते हैं, वेदान्ती परमेश्वरसे फलकी प्राप्ति मानते हैं। **अन्तवत्तु फलं तेषां।** उनका जो फल है वह अन्तवत् है। अन्तवत् माने एक बार वह अपने अन्तःकरणमें प्रतिफलित होगा। फल शब्दका अर्थ ही यह है। फल बाहर नहीं मिलता, फल भीतर मिलता है। यदि आपको लाखों-करोड़ों रुपयेकी प्राप्ति हो जावे और आपको मालूम न पड़े तो कुछ मिला? जबतक मालूम नहीं पड़ेगा तबतक कुछ नहीं मिला।

एकके पास सुन्दरी स्त्री आनेवाली है और महात्माने एक नस दबाकर समाधि लगा दी। आयी और गयी। पता ही नहीं चला कि कब आयी और कब गयी। फल मिला?

भोग हमेशा ज्ञानात्मक होता है। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च। भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वं**—उपलब्धिका ही नाम भोग है। आपके जीभपर नमक पड़ा, नमक मालूम पड़ा तब सलोनेपनका स्वाद आया। आपकी जीभपर शक्कर पड़ी। जब शक्कर मालूम पड़ी तब मिठासका अनुभव हुआ। भोग होना माने मालूम पड़ना होता है। मालूम पड़ना और भोग होना एक ही चीज है। भोग अलग और ज्ञान अलग, ऐसा नहीं होता है। भोग ही ज्ञान है, ज्ञान ही भोग है। आपका ज्ञान कहाँ है, इसको देखें। फलकी उत्पत्ति कहाँ होती है? फल हमेशा अन्तरमें होता है। रुपया मिलना फल नहीं है। रुपया मिलनेपर जो सुख होता है वह फल है। क्योंकि रुपया नहीं खाया जाता। सुखका भोग होता है। स्त्रीका भोग नहीं होता। स्त्रीका जो सुख मिलता है अन्तःकरणमें उसका भोग होता है। कुरसीसे भोग नहीं होता, कुरसी मिलनेसे अन्तःकरणमें जो भोग होता है, उसका सुख होता है। सुख और ज्ञान अलग-अलग नहीं होते। सुख हमेशा ज्ञानात्मक होता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां। ईश्वरके अनुग्रहसे हमारा अन्तःकरण सुखाकार हो। यदि देवताके अनुग्रहसे मानेंगे और ईश्वरके अनुग्रहसे मानेंगे तो उसमें अन्तर कहाँ पड़ेगा? अन्तर यही पड़ेगा कि देवता तो तौलके फल देता हैं आप जितना नियम पालन करोगे, जितनी पूजा करोगे, फल भी उसके परिमाणमें ही प्राप्त होगा।

एक आदमीको चाहिए बेटा और वह पाँच मिनटतक एक मन्त्रका जप करता है। वह बेटा तो है बड़ी चीज और चाहता हैं पाँच मिनटके रोजके जपमें—वह कैसे मिलेगा? एक आदमी चाहता है करोड़ रुपया और उसके लिए पाँच सौ रुपयेका दान करता है। बड़ा प्रतिबन्ध होता है तो उसके लिए बड़ा अनुष्ठान करना पड़ेगा। यदि आपको अनन्त फलकी प्राप्ति चाहिए तो आप अनन्त परमेश्वरकी आराधना कीजिये। मरनेवाला देवता, डीह डामरमें रहनेवाला ग्राम देवता, बेचारा एक गाँवका भूत, एक गाँवका प्रेत थोड़े दिनतक रहनेवाला, फिर वह भूतयोनिसे छूट जायगा, वह देवता होनेपर भी नरकमें चला जायगा। देवता होनेपर ब्रह्मलोकमें भी चला जायगा, मुक्त भी हो जायगा। उसकी तो ड्यूटी ही थोड़ी है तो वह बेचारा चपरासी, आपको कितना फल देगा?

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।

इस देनेवालेका अधिकार बहुत थोड़ा है और आपकी बुद्धि भी छोटी है—**अल्पमेधसाम्।** अल्पमेधस् है—छोटा-सा यज्ञ करते हैं। मेधस् माने यज्ञ भी होता है। थोड़ा देते हैं, लेना चाहते हैं बहुत। पाँच रुपयेका दान करके पाँच हजार नहीं, पाँच लाख चाहते हैं। देवताओंको मानो हिसाब ही नहीं आता है। **छायेव कर्मसचिवः**—वह तो अपनी परछाँई है। वह देता है तौलकर। जितना दो उतना लो। परन्तु परमेश्वर जो है वह जिसमें जितना कम सामर्थ्य है, उसको उतना अधिक देता है। परमेश्वरके दानमें यह विशेषता है।

सनत्कुमारके सामने ईश्वरके प्रकट होनेकी कोई जरूरत नहीं। उनका ज्ञानसे ही काम चल गया। शुकदेवका ध्यानसे ही काम चल जाता है। वसुदेव देवकीके सामने प्रकट भी होकर छिप जाते हैं और जब उनके मरनेका समय आता है तब नारदजीसे कहलवाते हैं कि ये परमेश्वर हैं। बीचमें ज्ञान हुआ था तो भूल गये।

परन्तु जिनकी जाति ऊँची नहीं है, जिनका आचार ऊँचा नहीं है, जिनका ज्ञान ऊँचा नहीं है, उनको उठानेके लिए—जैसे धरतीमें कोई ताकतवर आदमी गिरा हुआ हो और उसको खुदकी ताकत हो तो उसको उठानेके लिए थोड़ी-सी ताकत लगानी पड़ती है—थोड़ी-सी सहायता करनी पड़ती है। लेकिन कोई आदमी गिरा हुआ हो और उसमें उठनेका सामर्थ्य ही न हो तो पूरी शक्ति लगाकर उसको उठाना पड़ता है। भगवान्, जो साधनसम्पन्न होते हैं, उनको उठानेके लिए थोड़ी-सी ताकत लगाते हैं अपने सङ्कल्पसे, अपनी शक्तिसे, अपने इशारेसे, उनको उठा लेते हैं। लेकिन जो दीन हैं, हीन हैं, जिनके पास कोई शक्ति नहीं है, साधन नहीं है, उनके लिए तो स्वयं आते हैं, आकर दोनों हाथसे उठाते हैं। अपनी छातीसे लगाते हैं। ***जेहि अति दीन पियारे।*** बहुत प्रिय—बहुत प्रिय वह दीन उनको होता है।

अल्पमेधसाम्—अपनी बुद्धि तो छोटी चीजोंमें लगा दी। **देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।** देवताकी आराधना करनेवाले इन्द्रके पास जायेंगे। इन्द्र कितने दिन रहेंगे? एक मन्वन्तर। मन्वन्तर पूरा होनेपर तो इन्द्र ही बदल जायेगा—मिनिस्टर ही बदल गये। ब्रह्माजीका एक घण्टा भी नहीं। ऐसा मान लें कि ब्रह्माजीकी आयु सौ वर्ष है। उनके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। अर्थात् चौदह घण्टे समझ लो। एक-एक मन्वन्तरका एक-एक इन्द्र होता है। एक घण्टेके लिए इन्द्र होता है। आपके ऊपर इन्द्र प्रसन्न हो जाय तो ब्रह्माजीके एक घण्टेके लिए कोई चीज दे सकता है। इतनी ही उसकी गति है। आप देवताको प्रसन्न करेंगे तो देवताके पास जायेंगे और यदि **मद्भक्ता यान्ति मामपि** जो भगवान्की भक्ति करेगा वह भगवान्के पास जायेगा। उनका घण्टा कितना? बोले ब्रह्माजीका एक घण्टा—एक मन्वन्तर, चौदह मन्वन्तरका एक कल्प और उससे बड़ा महाकल्प। विष्णु भगवान्का एक क्षण, ब्रह्माका एक महाकल्प—उनका पूरा जीवन शिवका एक क्षण, विष्णुका पूरा जीवन और परमेश्वरका एक सङ्कल्प और शिवका पूरा जीवन। परमात्मामें यह है सङ्कल्प कल्पित। यदि वह अगम्य—अद्वितीय वस्तु आपको मिल जाय तो आपके फलका, प्रतिफलित हुआ। आपके अन्त:करणमें जो वह विशाल है उसका कोई अन्त ही नहीं है।

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि। 7.23
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः॥ 7.24
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

भगवान्ने यह विभाग कर दिया कि जो देवताकी पूजा करता है वह देवताके पास पहुँचता है और जो मेरी भक्ति करता है वह मेरे पास पहुँचता है। यहाँ भक्तिकी स्पष्ट दो विभक्ति कर दी। विभक्ति माने विभाग। व्याकरणमें विभक्ति शब्दका प्रयोग होता है वह बँटवारेके लिए होता है। यह कर्त्ता है, यह कर्म है यह करण है। विभाग करनेके लिए ही विभक्ति होती है। **विभागो-विभक्तिः**। देवताका यजन-देवताकी आराधना। देवता लोग होते हैं एकांगी। जैसे इस शरीरमें जिह्वा है एक देवता—एकांगी। वह केवल वस्तुका स्वाद देती है। ये देवता हैं वाक्, चक्षु, श्रवण मन। इनकी गति, इनका क्षेत्र बँधा हुआ है। रूपके क्षेत्रमें नेत्र देवता काम करते हैं। श्रवणके क्षेत्रमें कर्ण देवता काम करता है। ये एक-एक विभागके अधिकारी होते हैं और अपने विभागकी भी पूर्णता इनमें नहीं होती। यह नहीं कि वे कानसे सब कुछ सुन सकें या आँखसे सब कुछ देख सकें। इनकी यदि आराधना की जाय, इनका यजन किया जाय, इनकी पूजा कि जाय तो अपने क्षेत्रमें आपकी उन्नति कर सकते हैं। जो भगवान् हैं ये किसी एक विभागके अध्यक्ष नहीं हैं। असलमें सब देवताओंके गोलकमें वेष बदल-बदलकर वही पान करते हैं।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। 7.9

भगवान्ने कहा कि सूर्यमें जो तेज है, वह मेरा है। चन्द्रमामें जो तेज है, वह मेरा है। अग्निमें जो तेज है, वह मेरा है। अर्थात् मैं ही आँखमें देखनेकी रोशनी देता हूँ। मैं ही मनमें सोचनेकी रोशनी देता हूँ। मैं ही कानमें सुननेकी रोशनी देता हूँ। यह भी कह दिया कि मैं सूर्य, चन्द्र, अग्निको तो तेज देता हूँ परन्तु ये मुझे प्रकाशित करनेमें समर्थ नहीं है।

ईश्वरको प्रकाशित करनेके लिए सूर्य, चन्द्रमाका प्रकाश नहीं चाहिए—अग्निका प्रकाश नहीं चाहिए, माने नेत्रज्योति, वाक्ज्योति, मनोज्योति इनके प्रकाशमें परमात्मा नहीं दीखता है। वह इनको प्रकाशित करनेवाला है। आप जिसकी पूजा करेंगे वही हो जायेंगे।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। 7.21

आप जिसपर श्रद्धा करेंगे वही हो जायेंगे। **यच्चित्त तन्मये मर्त्याः**। मनुष्यका चित्त जहाँ है वह वहीं है। उसका मन जो हो वह वही हो गया। मनुष्य शरीर नहीं है। मनुष्य मन है। उसका मन देवतामें है

तो देवता हो गया। उसका मन राक्षसमें है तो राक्षस हो गया। उसका मन परमात्मामें है तो परमात्मा हो गया। परमात्माका रूप देखनेका प्रयास कीजिये—परमात्माका स्वरूप सुननेका प्रयास कीजिये। परमात्माको मनमें लाकर बोलनेका प्रयास कीजिये। यदि आप संसारको मनमें चढ़ावेंगे तो आपका मन, वाणी, नेत्र सब संसारमय हो जायेंगे। **मद्भक्ता यान्ति मामपि।** भगवान्‌की भक्ति कीजिये और भगवान्‌के पास पहुँच जाइये। अब यह प्रश्न हुआ कि जैसे देवता लोग हैं, ऐसे भगवान् भी कुछ होंगे। भगवान् अपनी विशेषता बताते हैं।

जैसे देवताओंकी जाति होती है—उनका विभाग होता है उनके क्षेत्र होते हैं—वैसे हमारा नहीं है। इन्द्र, चन्द्रादि दर्शन देते हैं वैसे राम, कृष्णादि भी तो दर्शन देते हैं। आप साइंसकी नोंकपर इस बातको मत परखिये। ईश्वर कभी अपनी जाँच करानेके लिए मशीनपर नहीं चढ़ता कि तौल लो, हमारा वजन कितना है? नाप लो, हमारी कितनी लम्बाई, कितनी चौड़ाई है। नाप लो, हमारी कितनी उम्र है। वह किसी देश, काल और वस्तुके तराजूपर अपनी उम्र नपवाने नहीं आता।

का पूछौ साधौ उमर हमारी।
छप्पन कोटि जादव भये, दस कोटि कन्हाई।

वह व्यक्तिके रूपमें दीखनेपर भी व्यक्ति नहीं है। क्योंकि वह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं है। कई चीजें हम लोग व्यक्त करते हैं। एक लकड़ी है, उसे गढ़ लिया, औरत बना लिया। मर्द बना लिया। एक लकड़ीमें व्यक्ति है—यह हाथ है, यह पाँव है, यह सिर है—इसका नाम व्यक्ति होता है।

अंजु धातुसे अञ्जन शब्द बनता है—अञ्जना शब्द बनता है। उसीमें उपसर्ग जोड़नेसे यह व्यञ्जन शब्द बनता है। व्यञ्जन होनेपर इन्द्रियोंका भोजन बन जाता है और व्यञ्जना होनेपर मनका भोजन बन जाता है। व्यञ्जना काव्यमें होती है और व्यञ्जन रसोई घरमें होता है। एक भागवत-व्यञ्जन नामकी पुस्तक है, अभीतक प्रकाशित नहीं हुई। भागवत-व्यञ्जन माने वैष्णवोंका व्यञ्जन—भागवतके अर्थके व्यञ्जना। **व्यञ्जनं व्यक्तिः।** व्यञ्जन माने आँखका भोजन, कानका भोजन, नाकका भोजन, मनका भोजन और यह व्यक्ति क्या है— व्यक्तिको हम भोजन देते नहीं हैं। हम भोजन देनेके बहाने उसका भोजन करते हैं। कोई आकर उपस्थित होता है—महाराज हम आपको भोग देनेके लिए उपस्थित हुए हैं। वह भोग देनेके लिए उपस्थित नहीं होता, वह भोग लेनेके लिए उपस्थित होता है। यह संसारका छल है। कि हम आपको भोग देनेके लिए उपस्थित हैं। यही संसारका स्वरूप है, इसीका नाम माया है, इसीका नाम कपट है, इसीका नाम छल है। असलमें—तुम क्यों भोग देना चाहते हो? आपको भोग देनेमें हमको बड़ा सुख हो रहा है, तब तुम अपनेको सुखी करना चाहते हो? **व्यञ्जनं व्यक्तिः। न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन इति अव्यक्तं।** भगवान्‌ने कहा मैं अव्यक्त हूँ। अव्यक्त माने आपकी जीभ, नासिका, त्वचा इन प्रमाणों द्वारा गृहीत नहीं हूँ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। 7.24

कोई चीज प्रकृतिमें अपने आप व्यक्त हो जाती है। मिट्टीमें पत्थर अपने आप बनने लगते हैं। समुद्रकी बालूमें शंख अपने आप बनने लगते हैं। छोटे-छोटे घोंघे अपने आप बनते हैं। कीड़े पड़ जाते हैं, बना लेते हैं। कुछ प्रकृतिमें बनते हैं, कुछ कर्मसे बनते हैं। ये जो भगवान् हैं, ये कैसे बने? कर्मसे, किसी फैक्टरीमें गढ़े गये—स्वयं प्रकृतिमें पैदा हुए—ये दोनों बात भगवान्‌के श्रीविग्रहमें नहीं है। उनका जो प्राकट्य है-विलक्षण है। वे सच्चिदानन्दघन हैं। **मम अनुत्तमं अव्ययं परं भावं अजानन्तः अबुद्धयः अव्यक्तं माम् व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।** भगवान्‌का अव्यय जो परमभाव है—अनुत्तम—जिससे उत्तम और कुछ नहीं होता। उत्तमताकी अवधि 'देखी री मैंने सुन्दरताकी सीमा।' यह सीमा जो है—अनुत्तम—जिससे उत्तम और कोई न हो उसका नाम होता है अनुत्तम। इसके लिए खास तरहके सूत्र-नियम बनाने पड़ते हैं। नहीं तो अनुत्तम शब्दका अर्थ ऐसे भी तो कर सकते हैं—'जो उत्तम न हो'—ऐसा अर्थ नहीं होता। **नास्ति उत्तमो यस्मात्।** जिससे उत्तम और कोई नहीं है। माने उत्तमताकी—उत्कर्षकी अवधि। **अक्षरात् परतः परः।** सबसे परे जो अक्षर है उससे भी परे। क्षरसे अलग है अक्षर और अक्षरसे भी विलक्षण है यह **अक्षरात् परतः परः।** सबसे परे अक्षर है। उससे भी परे यह साक्षात् पुरुषोत्तम है। इससे बड़ा और कोई नहीं।

दूसरी बात अव्यय—अव्यय माने जो कभी घिसता नहीं। कभी जिसका व्यय नहीं होता। किसीके पास बहुत धन हो और खर्च करने लगो तो अन्तमें 'ख' हो जायगा। ख+रचना—खकी रचना हो जायगी। खत्मा, ख+तमं। ये संस्कृतके ही शब्द हैं। आपकी जो तिजोरी है, उसमें आमदनी न हो, बैंकमें आमदनी न हो तब क्या होगा? ख+रचना हो जायेगा। शून्य हो जायगा। अतिशय शून्य हो जायगा। खर्च हो जायगा। तो जिसका व्यय होता है उसका खत्मा हो जाता है। खर्च ही खर्च नहीं होना चाहिए, आना भी चाहिए। लेकिन यह तो परमात्मा ऐसा है, इसमें कहीं व्यय नामकी वस्तु है ही नहीं। व्यय माने विपरीत गमन—जैसे पैदा हुआ था वैसे मिट रहा है। पैदा होनेके विपरीत, बढ़नेके विपरीत यदि उसकी गति है, तो उसको बोलेंगे—व्यय। परमात्मा कैसा है? अव्यय है। परमात्माका अस्तित्व अनुत्तम है, अव्यय है और वह परम है, आत्मरूप है। हम लोग इस बातको तो जानते नहीं हैं। **अबुद्धयः**—मूर्ख हैं। सँभलकर इस शब्दका व्यवहार है। अबुद्धय:का अर्थ होता है नासमझ। मूर्ख हैं, भ्रान्त हैं ऐसे नहीं बोलते। कष्ट भूले हुए हैं—भटके हुए हैं—ऐसा नहीं, समझते नहीं, वे क्या करते हैं?

अव्यक्तं मां व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।

मैं कृष्णरूपमें भी, रामरूपमें भी साक्षात् अव्यक्त ब्रह्म ही हूँ। परन्तु नासमझ लोग ऐसा मानते हैं कि यह भी कोई प्रकृतिका विलास है, यह भी कोई देवता—दानी है, यह भी कोई व्यक्ति विशेष ही है। तो अव्यक्त सच्चिदानन्दघनको व्यक्तिविशेषके रूपमें मानना, यह मूर्खता है। पण्डित लोग इसमें-से कैसे अर्थ निकालते हैं इसका नमूना बताते हैं।

अव्यक्तं संतं मां अबुद्धयः व्यक्तिमापन्नम् मन्यन्ते।

मैं तो हूँ अव्यक्त, किन्तु मूर्ख लोग मुझे व्यक्ति भावको प्राप्त मानते हैं। इसीको उलट दो।

व्यक्तिमापन्नम् संतं मां अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।

जब मैं साक्षात् प्रकट हूँ, सच्चिदानन्दघन, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, मोरमुकुटवाला, मन्द-मन्द मुसकानवाला, वनमाली, पीताम्बरी, कुण्डली, किरीटी, जब मैं स्वयं प्रकट हूँ, मैं तो व्यक्त होकर आया तुम्हारे घरमें और तुम अव्यक्त की चिन्ता कर रहे हो! निश्चय ही आपकी बुद्धि ठीक नहीं है।

अव्यक्तं—जो मुझे साकार मानते हैं—जो मुझे अव्यक्त मानते हैं तो दोनों गलत हैं, क्यों ? अव्यक्तको व्यक्त मानते हैं वे भी अबुद्धि हैं और व्यक्तको अव्यक्त मानते हैं, वे भी अबुद्धि हैं अव्यक्त और व्यक्त दोनों माननेवाले अबुद्धि हैं क्यों? मैं व्यक्तसे भी, विलक्षण हूँ। अव्यक्तसे भी विलक्षण हूँ। दोनोंसे फर्क है। मैं इस दुनियाके रूपमें बनानेवाली प्रकृतिसे भी विलक्षण हूँ और जो दुनियाके रूप हैं उनसे भी विलक्षण हूँ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।

भगवान्‌से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है और भगवान्‌में किसी प्रकारका कोई परिवर्तन विवर्तन होता ही नहीं। वह बिलकुल एक रस, सर्वथा एक रस है। उनकी एक रसतामें किसी प्रकारकी शंका नहीं है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 24॥

उन्होंने बुद्धि नहीं बनायी। यदि वे सत्संग करते, यदि वे शास्त्रका श्रवण, मनन करते तो ऐसे अबुद्धि न होते। उनका तो संग बिगड़ गया। वे दुनियाके बारेमें तो सुनते हैं परन्तु परमेश्वरके बारेमें नहीं सुनते। अबुद्धयः—बुद्धि सम्पादनका उन्होंने प्रयास नहीं किया। कृतबुद्धि नहीं हुए। अजानन्तः। क्योंकि उन्होंने सत्संग नहीं किया। स्वशास्त्रका स्वाध्याय नहीं किया। कभी अन्तर्मुख होकर विचार नहीं किया। कभी ध्यान करने की कोशिश नहीं की। इसलिए वे ईश्वरके स्वरूपके बारमें गड़बड़ा जाते हैं।

अच्छा महाराज, आप स्वयं ही क्यों नहीं प्रकट होते? सबके सामने आकर ललकार दो कि देखो, मैं यह ईश्वर हूँ। सब लोग कैसे भटकेंगे? कैसे भ्रान्त होंगे? भ्रान्तिमें भ्रम है। भ्रम माने भ्रमण। भ्रमण करनेके लिए आप निकलते हैं न। उसमें क्या विशेषता होती है। जाते हैं- आते हैं-जाना-आना दोनों होता है भ्रमण। भ्रमणे भ्रमः-यही जो कभी आगे जाना, कभी पीछे जाना, कभी बाँयें जाना, कभी दाहिने जाना। यह जो अपनी बुद्धिका भटकना है, यही भ्रम है। निष्ठावती बुद्धि नहीं है। बुद्धिका दोष देखो-सोती है किसीके साथ और खाने जाती है किसीके घर। बुद्धिका शयन कहाँ होता? आत्माके साथ। किसीकी भी बुद्धि हो सोते समय, आकर अपने आत्माके पलंग पर, अन्तःकरणके पलंग पर और अपने साक्षी, द्रष्टा, स्वप्रकाश परमानन्दघन आत्माके साथ शयन करती है। बुद्धि सोनेमें दूसरेका साथ नहीं देतीं जब सायेगी तो अपने आत्माके पास सोयेगी। परमात्माके पास सोयेगी और जब इसको घास चरना होता है तो दूसरेके खेतमें चर आती है। गाँवमें ऐसा होता है-लोग अपनी गायको, बैलको, बकरीको रातको छोड़ देते हैं-वह रातमें चुपकेसे दूसरेके खेतमें, खलिहानमें चरकर रात रहते ही लौटकर आजाती है अपने खूँटे पर। यह हमारी बुद्धि शयनके समय तो अपने खूँटे पर रहती है-पतिके साथ, परमपतिके साथ, भगवान्‌के साथ रहती है। परन्तु जब खाने पीनेका समय आता है तो घास चरनेके

लिए-ग्रास चरनेके लिए जाती है। अभ्युदय: अजानन्त:। भगवान् सामने खड़े होकर ललकार दें। ऐ बुद्धि! कहाँ जाती है? बोले कि-नहीं। हम एक खेल खेलते हैं-

नाहंप्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ 25॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 26॥

भगवान्ने कहा-मैं सबके सामने नहीं आता। सबके सामने अपनेको प्रकाशित नहीं करता-**नाहं प्रकाशः सर्वस्य।** व्यवस्था ही बिगड़ जाती है। भगवान् स्वयं किसको मिलें और किसको न मिलें। उनके लिए तो सब एक सरीखे हैं। मिले तो सबको मिलें और न मिलें तो किसीको न मिलें। यदि सबको मिलेंगे तो सबमें खो जायेंगे। संसारका लोप हो जायेगा और यदि किसीको नहीं मिलेंगे तो भगवान् हैं, यह अनुभव किसीको नहीं होगा। यह दोनों पक्ष गलत है। भगवान् सबको मिलते हैं, यह पक्ष भी गलत है। इसके लिए एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि किसीको मिलें और किसीको न मिलें। भगवान्ने इस व्यवस्थाका भी वर्णन किया है।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। 10.10

भगवान् कहते हैं—पहले उनको बुद्धियोग देता हूँ-किनको जो अपना चित्त मुझमें लगाते हैं। जो मेरे लिए जीने लगते हैं। जैसे संसारके लोग खानेको मिले तो जिन्दा रहें और खानेको न मिले तो जिन्दा न रहें। वैसे जो भगवद्गत:प्राण हैं- भगवान्का स्मरण हो, ध्यान हो, भगवान् मिले तो जिन्दा रहें। गाँधीजी कहते थे कि राम-नाम तो हमारी खुराक है। हमारा भोजन है। उसके बिना तो हम जिन्दा ही नहीं रह सकते।

एक बार 'कल्याण' कार्यालय में एक सज्जन थे। 'दादा' उनका नाम था। उनको स्वप्न आया कि गाँधीजीका जीवन अब बहुत थोड़ा बाकी रह गया है, अब उन्हें भगवान्का भजन करना चाहिए। तो हनुमान प्रसादजीने गाँधीजीको पत्र लिखा कि ऐसा स्वप्न कृष्णदासको आया है, अब आपको भगवद्-भजन करना चाहिए। गाँधीजीने उसके उत्तरमें पत्र लिखा था उन्होंने कहा—एक तो यह बात तुम्हारी नहीं जँची कि हमको मृत्युके डरसे भगवान्का भजन करना चाहिए। हमको मृत्युसे कोई डर नहीं है। रही बात राम-नामके भजनकी! सो तो मेरी खुराक है। इसके बिना मैं रह ही नहीं सकता। भगवान्का नाम तो मेरी साँस-साँसमें है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः। हमारा प्राण भगवान्के भजनका भोजन करे। भगवान्की चर्चा ही करते रहना चाहिए। जैसे आप बोलते हैं, आज मौसम बहुत ठण्डा है, आज गरम है, आज धूप है—दोनों देख रहे हैं—आज मौसम ठण्डा है, गरम है, फिर भी बातचीत करनेके लिए वहींसे शुरू करते हैं। आप भगवान्की चर्चा शुरू कर दीजिये। कोई बादल देखता है, कोई इन्द्र देवताको देखता है—आप भगवान्को देखिये। आज भगवान्ने बादल भेज दिये हैं। आज भगवान् प्रेमरसकी वर्षा कर रहे हैं। अपनी दृष्टिको धरतीके पानी तक मत रहने दीजिये। केवल बादलतक मत रहने दीजिये। अपनी दृष्टिको इन्द्र देवता तक मत रहने दीजिये। ईश्वरतक अपनी दृष्टिको जाने दीजिये।

किसी भी घटनाके मूलमें परमेश्वरके हाथ हैं। उन्हींको एक दूसरेसे श्रोता मिलनेपर कथा सुनाइये। आपका तोष कहाँ है ? भोग मिलनेमें है, रिश्तेदार, नातेदार मिलनेमें हैं—धन मिलनेमें है ? बोलें नहीं, भगवान्के स्मरणमें सन्तोषका अनुभव कीजिये और रम जाइये उसमें। **रमन्ति च चरमन्ति च।** चरमवृत्तिका अनुभव कीजिये उसमें। तब भगवान् आपको मुक्ति देंगे और ज्ञानका मसाल लेकर आपको दिखावेंगे और यह देखो आप भगवान्के पास पहुँच रहे हैं। यही भगवान्के पास पहुँचनेकी रीति है। अब प्रश्न यह हुआ कि भगवान् सबको मिलें या सबको न मिलें—बोले यह नियम नहीं चल सकता। जो भगवान्की ओर पीठ करके खड़ा होगा, उसको भगवान्का दर्शन नहीं होगा। आप किस किनारेपर हैं ? कूल होता है न! कूल माने किनारा—नदीकूल, गंगाकूल, जैसे बोलते हैं अनुकूल। अनुकूल माने—जिस किनारेपर भगवान् खड़े हैं, उसी किनारेपर आप हैं अथवा जिस किनारेपर भगवान् हैं—आप उसके उलटे किनारे पर ? भगवान् कह रहे हैं—आज बादल होंगे, आज वर्षा होगी—बोले नहीं-नहीं आज वर्षा मत करना—तो प्रतिकूल किनारेपर बैठे। जो होता जाय उसको हाँ करते जाओ और जो होनेवाला हो उसमें सावधान रहो।

भगवान् जो करते हैं उसमें हमारा मंगल है। तो जो उनके किये हुए मंगलपर दृष्टि रखता है, उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है और जो उनकी ओर पीठ करके, उलटा होकर, वे करते हैं कुछ और हम सोचते हैं कुछ तो उनको परमात्माका दर्शन नहीं होगा। वह कभी कहेगा हमारे दुश्मनने किया है। कभी कहेगा हमारे दोस्तने किया है। कभी कहेगा हमारे रिश्तेदारने किया है। अरे मालिकने किया है। बहुत होंगे तो कहेंगे भाई! अब प्रकृतिपर हमारा क्या वश है ? उनको परमात्माका दर्शन नहीं होगा। ये परमात्मा छिपकर क्यों रहते हैं ?

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

योगाय या माया सा योगमाया। तथा **योगमायया समावृतः।** ये जो संसारके जीव हैं ये मेरी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करें। मुझे समझनेके लिए यत्न करें। साधन करें। यह हमारा खेल है। **योगाय, संयोगाय भगवत्प्राप्तये या माया सा योगमाया।** भगवान् सब जगह हैं बल्कि सब जगह भगवान्में हैं। भगवान् सब कालमें है—बल्कि सब काल भगवान्में हैं। भगवान् सब वस्तुओंमें हैं—नहीं, सब वस्तुएँ भगवान्में हैं। तब वह गुप्त क्यों हैं ? वे छिपे हुए क्यों हैं ? **योगमाया समावृतः।** कहते हैं कि आप उनकी प्राप्तिके लिए कुछ साधना करें। वे चाहते हैं—उनकी प्राप्तिके लिए आपके प्रेमको, आपकी उत्कण्ठाको, आपकी उत्सुकताको, आपकी व्याकुलताको, आपके प्रयासको देखकर वे प्रसन्न हों। ये मेरी प्राप्तिके लिए कितना उत्सुक है, उत्कण्ठित है, आकुल है, व्याकुल है—आपकी लालसा देखकर, अभिलाषा देखकर वे आनन्दित हो रहे हैं।

योगमाया समावृतः। उन्होंने अपनेको ढँका, क्योंकि योगके लिए एक माया रच दी। जैसे यहाँ नहीं हों। बच्चा खेल खिलौनेमें लग गया, माँ किवाड़की आड़में खड़ी हो गयी। माँ! माँ! माँ!!! जब माँके लिए बच्चा रोया तो बोली देखो न! अभी है तो छोटा-सा बच्चा, पर मुझसे कितना प्रेम है। मेरे बिना इसको खिलौने भी अच्छे नहीं लगते। यह तो बच्चेकी स्थिति है।

एक बालक है, मानता ही नहीं है। खेल खिलौना छोड़ता ही नहीं है, वह अपनी माँके पास जाता ही नहीं

है—तो माँने आड़में-से ऐसी आवाज की जैसे भेड़ियेकी आवाज हो, जैसे बन्दरकी आवाज हो। अब बच्चा डर गया। डरके अपनी माँकी ओर भागा। इस संसारमें भगवान्‌की योगमाया है। कहीं डराकर, कभी छिपकर जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। इस योगमायासे ही भगवान् समावृत हैं—ढके हैं।

यह आवाज, डरावनी आवाज किसकी है? छिपकर भगवान् कहाँ गया? छिपकर भगवान् कहीं गया नहीं है और यह डरावनी आवाज भी किसी दूसरेकी नहीं है। यह मूर्खता है मनकी। यह मूढ़ता है। परमात्मा छिपे हुए हैं, अभी हैं। परन्तु जो लोग—संस्कृतमें 'लोक' बोलते हैं पर हिन्दीमें 'लोग' है। ये संसारके लोग मूढ हो गये हैं। माने मुझे पहचानते नहीं हैं। दूसरी-दूसरी चीजें देख रहे हैं। **नाभिजानाति।** अभिज्ञानका अर्थ है पहचानना। **अभिज्ञाते साहचर्या।** शांडिल्यका सूत्र है कि जब अभि उपसर्गका प्रयोग होता है—उसका अर्थ होता है **अभिज्ञप्ति।** अभिज्ञप्ति माने पहचान है। तो वह है तो सामने लेकिन हम उसे पहचानते नहीं हैं। वह हमको देखता है, बोलता है, छूता है हजारोंरूपोंमें।

एक हमारा बचपनमें मित्र था। मैं था १५-१६ वर्षका। वह था १०-११ वर्षका। हम दोनों तीन दिन साथ रहे और हमारी मित्रता बहुत बढ़ गयी। फिर जबतक मिलना नहीं हुआ तबतक वह एम.ए. में पहुँच गया। चिट्ठी हम लिखते वह लिखता। एक दिन मैं प्रयागमें उसके होस्टलमें गया। मैं जाकर कुशल-मंगल पूछने लगा। घरकी बात पूछने लगा। पढ़ाईकी बात पूछने लगा। वह तो हमें पहचाने नहीं। ८-१० वर्ष हो गये थे। मैंने कहा मैं स्नान करूँगा और यही रहूँगा। वह काम तो सब करे पर पहचाने नहीं। तीन घण्टे बाद मैंने उसे अपना परिचय दिया। अरे वह तो लिपट गया हमारे साथ! अब देखो ३-४ घण्टेसे वह हमको देख रहा था पर पहचाना नहीं। देखना दूसरी चीज है और पहचानना दूसरी चीज है। उस पहचानको ही अभिज्ञान बोलते हैं।

जब ब्रह्मभूत हुआ तभीसे देखने लगा, परन्तु जब भक्ति हुई तब भगवान्‌का अभिज्ञान हुआ। यह 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्'में अभिज्ञान शब्द पहचानके ही अर्थमें है। वह अंगूठी खो गयी थी तो पहचान मिट गयी थी। शकुन्तला तो वही थी। पर पहचान दुर्वासाके शापके कारण अथवा ऐसा कोई-कोई बताते हैं कि पहचानकी जो अंगूठी थी वह किसी कारणसे खो गयी थी। तो ईश्वर कहीं गया नहीं है। ईश्वर तो योगमायाका गिलाफ ओढ़कर यहीं खड़ा है। जो हमारी पहचाननेवाली बुद्धि है वह मिट गयी है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

यह शरीरवाला दीखता है पर अजन्मा है। यह शरीरधारी तो है परन्तु यह मिटनेवाला नहीं है। यह अजर है, अमर है—यह अमृत है। लोग परमात्माको पहचानते नहीं हैं। उसने एक पर्दा बना लिया है। जैसे नट अपना वेष बदल लेता है। वैसे ही अपना वेष बदल करके संसारके रूपमें दीख रहा है। हमको पुरुष दीखता है, ईश्वर नहीं। हमको मिट्टी, पानी, आग दीखता है, ईश्वर नहीं। खूब सयाना है—अनजाना होकर बैठा है। वह कौन, यह कौन, मैं कौन—वस्तु तो एक ही है। एक चीज परमात्मा, उसने ऐसा रूप धारण क्यों किया—इसलिए कि जब हम उसकी प्राप्तिके लिए उत्सुक होंगे तो हमको वह मिलेगा। न तो सबको मिलेगा, और न तो किसीको नहीं मिलेगा। सबको मिलेगा तो संसारका दोष और यदि किसीको नहीं मिले तो ईश्वरका दोष। अनुभवका विषय तो

होना ही चाहिए। यदि कभी किसीको ईश्वर अनुभवका विषय ही नहीं होगा तो ईश्वर है इसके लिए संसारमें कोई प्रमाण नहीं रह जायगा।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 7.252-6

दृश्यतां दृश्यतां—यह मोहलीला देखिये, देखिये! भगवान् हमको अपनी गोदमें रख रहे हैं। भगवान् हमें अपनी आँखोंसे कभी ओझल करते नहीं। भगवान् अपनी गोदसे हमें कभी उतारते नहीं। भगवान् हमको जीवन देते हैं। ज्ञान देते हैं। आनन्द देते हैं। सब कुछ भगवान्की ओरसे हमें प्राप्त हो रहा है। भगवान् आदि, अन्त सब जानते हैं। जो बीत गया उसको भी जानते हैं। जो आगे आयेगा उसको भी जानते हैं। जो वर्तमान है उसको भी जानते हैं। असलमें कालभेद जीवकी दृष्टिसे होता है। ईश्वरकी दृष्टिसे होता ही नहीं है। जब हम एक जगह, यह क्षण—इस क्षणसे अगला क्षण नापनेकी सोचेंगे तबतक वर्तमान क्षण भी भूत हो जायेगा। भविष्यको नापना चाहोगे तब भी वर्तमान भूत हो जायेगा। भूतको नापना चाहोगे तबभी वर्तमान भूत हो जायेगा। भूत और भविष्यकी सन्धि कहाँ है? जहाँ वर्तमान रहता है। कालपर दृष्टि डालो, विचार करो, यदि आप भूत और भविष्यकी सन्धि कहीं निकाल सको तो वर्तमानमें चले गये। भूत अनादि है, भविष्य अनन्त है—अनादि और अनन्तकी कहीं सन्धि होती ही नहीं। परमात्मा अपनेको ही भूत-भविष्य और वर्तमानके रूपमें जानता है। वह सबको जानता है। सब उसकी आँखोंकी पुतलीमें बसे हैं। सब उसके हृदयके अन्दर बसे हैं। वही अधिष्ठान है, वही प्रकाशक है। वही सबके रूपमें स्फुरित हो रहा है। परन्तु स्फुरित होनेवाले उसको लोग नहीं देख पाते।

एक चीज हमारे बहुत पास है पर हम उसको देख नहीं पाते। हमारी आँख आप सबको देखती है। आँखमें पुतली है वह सब आकारोंको देखती है। लम्बे-चौड़े सबको देखती है। परन्तु ये आकार हमारी आँखको नहीं देख पाते। हमारे नेत्रेन्द्रिय तो सब रूप देख सकते हैं। परन्तु रूप आँखको नहीं देख पाता।

जैसे आकृतियोंके परे आँख है पर ये आकार आँखको नहीं देख सकते। इसी प्रकार परमात्मा—वह सबको अपने आपमें तौलता है। सबकी लम्बाई, चौड़ाई भी देख रहा है। मेरे सिवाय न इनका वजन है, न मेरे सिवाय इनकी शकल-सूरत है—न मेरे सिवाय इनकी उम्र है। अपने रूपमें परमात्मा सबको देख रहा है। पर सब परमात्माको नहीं देख सकते। यह रहा परमात्मा। जब परमात्मा सब है तो उसे देख क्यों नहीं पाते? अनेक रूपमें परमात्मा है। परमात्मा कहाँ है? देखो यहीं है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। 9.18

गति, भर्ता, प्रभु तीन हो गये। साक्षी, निवास, शरण छः हो गये। सुहृत्, प्रभव, प्रलय ये नव हो गये। स्थान, निधान, अव्यय-बीज बारह हो गये। एक श्लोकमें परमात्माका बारह रूपमें वर्णन किया हुआ है। यही—है परमात्मा परन्तु साधारण पुरुष यह नहीं जानते हैं और कोई-कोई मुझे तत्त्वत: जानते हैं।

तत्त्वसे परमात्माका ज्ञान होता है। पहचान होती है। आखिर इसका कारण क्या है? हम क्यों नहीं पहचानते? परमात्मा दीखता क्यों नहीं है? क्योंकि वह आपसे साधन करवाना चाहता है। आप उसका नाम लेकर पुकारो, आप उसके लिए रोओ, आप उसके लिए उसका ध्यान करो, वह आपका प्रेम देखकर, आपके प्रेमका भोग करके वह सुखी होगा, प्रसन्न होगा। आनन्दित होगा। उसके आनन्द और बढ़ जायेंगे। और हम क्यों नहीं देख पाते हैं?

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ 7.27
येषां त्वन्तगतं पापं जानानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः॥ 7.30

अब परमात्माको देख क्यों नहीं रहे हैं? मूढ़ क्यों हो गये? परमात्माने साधन करवानेके लिए, हमारा प्यार देखनेके लिए उत्सुकता दिखायी। एक बार बच्चे आँखमिचौनी खेलने लगे। ढूँढते-ढूँढते खाने-पीनेकी मिठाई मिल गयी, फल मिल गया—तो कुछ बच्चे खाने-पीनेमें लग गये। कुछ लोगोंने देखा, यह काम बहुत जरूरी है, उसको करने लग गये। कुछ लोग ढूँढते-ढूँढते थक गये तो बोले कि हमने देख लिया! क्या देख लिया? भगवान् बड़े भोले हैं बोले भाई, इन्होंने देख लिया तो इनसे छिपनेकी क्या जरूरत है? कुछ लोग थे उन्होंने रोना शुरू कर दिया—भाई, हम ढूँढते-ढूँढते थक गये। तुम हमें ढूँढनेसे नहीं मिलते हो। अब हमारा आँखमिचौनीका खेल कबतक चलेगा? जब रोने लगे तो जो छिपा हुआ बालक था वह अपने आप ही बीचमें आगया। जो देख लिया, देख लिया बोलते हैं, वे बोलते तो बिना देखे ही हैं। लेकिन देख लिया, देख लिया—उनकी यह बात पूरी करने भगवान् उनके सामने प्रकट हो जाते हैं। हम फँसे कहाँ? मोहमें फँसे कि कर्ममें फँसे कि सम्बन्धमें फँसे। एक तो है इच्छा—हमको यह चाहिए यह चाहिए—यह चाहिए और एक है द्वेष—हमको यह न मिले, यह न मिले, यह न मिले। बस, यही द्वन्द्वका मोह है। द्वन्द्व माने दो दो—**द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वः**—राग-द्वेष एक द्वन्द्व है। सुख-दुःख एक द्वन्द्व है। स्वर्ग-नरक एक द्वन्द्व है। जन्म-मरण एक द्वन्द्व है। जो जो चीज एक साथ रहती हैं उनको बोलते हैं द्वन्द्व। इच्छा-द्वेषका द्वन्द्व है। हम ईश्वरकी ओर देखते ही कहाँ है? हम तो कहते हैं—हमको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए! दुनियाको हम जानते हैं, हम चाहते हैं, उसके लिए काम करते हैं। हम अपने दुश्मनको जानते हैं, उससे द्वेष करते हैं और इस द्वन्द्वके मोहमें ऐसे फँस गये कि जो अपने अन्दर, अपनी आत्मामें परमात्मा है उसकी ओर नहीं देख पाते। हम सम्मोहमें पड़ गये! मूढ़ हो गये!!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप।

जब सर्वभूत-प्राणियोंकी सृष्टि होती है तब यह खेल प्रारम्भ हो जाता है। वह खेल क्या है? किसीकी इच्छा होती है कि यह मिले, किसीसे द्वेष होता है कि यह न मिले। यह इच्छा-द्वेषका चक्र—सर्गके प्रारम्भमें ही होने लगता है। एक अद्भुत बात है—बालक पैदा होता हैं। उसके मनमें दूध पीनेकी इच्छा आ जाती है। पशुके भी, मनुष्यके भी। हमने देखा, पशुओंके बच्चोंको माताओंके स्तनके पास मुँह कीजिए तो अपने आप वे पकड़कर दूध पीने लगते हैं। कुत्तियाँ लेट जाती हैं और उसके बच्चे जिनकी आँख अभी तक खुली नहीं है—अपना मुँह इधर-उधर घुमाकर स्तन पकड़ लेते हैं और दूध पीना शुरू कर देती हैं। उनको कोई रास्ता दिखानेवाला नहीं रहता। कोई पिलानेवाला नहीं होता है। उनके भीतर एक प्यास जन्मसे ही होती है।

बच्चा पैदा होता है, यदि न रोवे तो माताएँ उसे रुलाती हैं। चिकोटी काटती हैं और वह रोना शुरू कर देता है। माने चिकोटी काटना उसे पसन्द नहीं है। उससे द्वेष है। चिकोटीसे द्वेष है और दूधसे उसका राग है। इसका कारण क्या है? इसका कारण बताते हैं कि सृष्टिका चक्र ही ऐसा चल रहा है। पूर्व-पूर्व जन्मकी वासना जीवके साथ रहती है। प्रकृतिमें प्यास और तृप्तिका चक्र चलता रहता है। माँ-बापके संस्कार बच्चेमें आते हैं। इससे किसी वस्तुकी इच्छा होती है और किसीसे द्वेष होता है। यही है संसारका द्वन्द्व।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ 7.27
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

सृष्टिमें बन्धन क्या है? अब द्वेषको भी कम कर दो। केवल इच्छा, पानेकी इच्छा और प्रिय पानेकी इच्छा। हमको यह चाहिए, यह भी इच्छा है और हमको यह नहीं चाहिए, यह भी एक इच्छा है। इच्छा ही चाहती है और इच्छा ही नहीं चाहती। इसीसे यह सब द्वन्द्व चलता है। हमारे चाचा बचपनमें हमको गुड़ दिखाते थे। हम लेनेके लिए उनकी ओर जाते तो वे हाथ ऊपर उठा देते। एक बार, दो बार हम लपकते और वे नहीं देते तो हम फिर कहते—'हमको चाहिए ही नहीं।' अब चाहिए नहीं पर सारा झगड़ा खत्म हो जाता। वे फिर लाकर दे देते थे।

हम इच्छाके बन्धनसे बँधे हुए हैं। संसारमें हम जिस वस्तुको चाहते हैं, उससे छूटनेमें कष्ट होता है। क्या वह चीज हमें रस्सीसे बाँधती है? जंजीरसे बाँधती है? कोई उसमें चुम्बक है? नहीं, हमारी इच्छा ही उन-उन चीजोंके साथ लटकती है और इच्छा पूरी हो जावे तो थोड़ी देरके लिए तृप्ति होती है और इच्छा न पूरी हो तो और प्यास लगती है और तकलीफ होती है। इच्छाका नाम है बन्धन और इच्छाकी निवृत्तिका नाम है मोक्ष। दो शब्द हैं सीधे-सीधे। **वासना एव संसारः।** वासनाका नाम संसार है। यदि वासना मिट गयी तो संसारका कोई बन्धन नहीं रहा। बाहरकी चीज नहीं बाँधती है, भीतरकी चीज बाँधती है। ये हैं इच्छा और द्वेष।

हम ईश्वरको चाहते हैं या संसारको? जानेवाली चीज, मरनेवाली चीज, बेवफा—बहुत बार तो हम ऐसी चीजोंको चाहते हैं जो हमें पहचानती ही नहीं। जैसे चाँदी है, सोना है, हीरा है, मोती है। ये जड़ पदार्थ हमें पहचानते ही नहीं कि यह हमको चाहनेवाला है। यह हमको पाकर खुश होता है या यह हमारा मालिक बनकर अभिमान करता है। ऐसी चीजोंको हम चाहते हैं जो हमें जानती ही नहीं कि हम उनको चाहनेवाले हैं, उनके प्रेमी हैं, उनके इच्छुक हैं, उनके अभिलाषी हैं। परन्तु हमारी चाह, इच्छा ही हमें उनके साथ बाँधकर रखती है। आपको कभी तकलीफ हो तो आप निगाह कर लें कि ऐसी क्या चीज है जिसको मैं छोड़ना नहीं चाहता हूँ और मुझे तकलीफ हो रही है। आप कुछ-न-कुछ पकड़े रहना चाहते हैं जिससे तकलीफ हो रही है। द्वेष तो हम दूसरे प्राणियोंसे करते हैं। भक्ति-सिद्धान्तमें ऐसा कहते हैं—प्रधानतया भागवत-सिद्धान्तमें, कि परमात्मा सबमें है और सब परमात्मा है। सबसे परे, परमात्मा है, सबका साक्षी परमात्मा है और परमात्माको प्राप्त कर लो तो परमात्माके सिवाय और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। भगवान् विश्व है। भगवान् विश्वका कारण है। भगवान् विश्वमें व्याप्त है। भगवान् विश्वसे अतीत है। भगवान् सर्वसाक्षी है। भगवान् कोई दूसरी वस्तु नहीं हैं।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। —श्रीमद्भा० 3.29.21

मैं सम्पूर्ण वस्तुओं और प्राणियोंमें उन-उन वस्तुओं और प्राणियोंकी आत्माके रूपमें, उनके मैं के साथ एक उत्स, एक उद्गम, एक अधिष्ठान, एक प्रकाश सबके अन्दर 'मैं' बैठा हूँ। मेरे उस स्वरूपका तो मनुष्य परित्याग कर देता है। वह उसका अनादरकर मेरी पूजाका ढोंग रचता है। मेरी पूजाकी विडम्बना करता है।

तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।

जो संसारके किसी प्राणीका तिरस्कार करता है, वह चाहे हजारों मन अन्नका भोग लगावे और हजारों-लाखों-करोड़ों रुपयेसे हमारी पूजा करे मैं उसकी पूजासे सन्तुष्ट नहीं होता।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।

—श्रीमद्भा० 3.29.22

भगवान् कहते हैं तुम्हारी आत्माके रूपमें मैं हूँ और जिससे तुम द्वेष करते हो, जिसको देखकर तुम्हारे दिलमें जलन आती है, उसकी आत्मा भी मैं हूँ। अपनेको बीचमें रखकर तुम अपनी आत्मासे तो प्रेम करते हो और दूसरी आत्मासे द्वेष करते हो, परन्तु वह मैं ही हूँ। दूसरा कोई नहीं है। तुम मुझसे द्वेष करते हो। जब किसीसे द्वेष करते हो, तब तुम मुझसे द्वेष करते हो। **द्विषतः परकाये मां**—दूसरे शरीरमें मुझसे द्वेष करते हो। **मानिनः**—अपने शरीरका अभिमान करते हो। **भिन्नदर्शिनः**—दूसरी आत्माको अपनेसे भिन्न समझते हैं। आप देखो—आपके हृदयमें द्वेषकी आग जली हो तो पहले आपको जलायेगी, पीछे दूसरेके ऊपर उसकी चिनगारी पड़ेगी।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।

जो संसारके किसी भी प्राणीके प्रति वैर बाँधकर अपने हृदयमें रखता है, उसको शान्ति कभी नहीं मिल सकती। जिसके मनमें दूसरेके प्रति दुर्भाव है, द्वेष है, वैर है उसे कभी शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए भगवान्‌की पूजा कैसे करना?

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेत् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥

—श्रीमद्भा० 3.29.27

भागवतमें तीसरे स्कन्धमें कपिलदेवजी माता देवहूतिसे कह रहे हैं—मेरा मन्दिर कहाँ ढूँढते हो। यह सम्पूर्ण प्राणियोंका जो शरीर है, यह मेरा आलय है, देवालय है, मेरा मन्दिर है, मेरा निवासस्थान है। इसलिए चाहे पशु हो, पक्षी हो—उसे मेरा मन्दिर समझो—मेरा निवासस्थान समझो और उसकी पूजा करो। पूजा कैसे करें?

अर्हयेत् दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।

इसे कुछ दो, दान करो, मान दो, उसे सम्मान दो, उसके प्रति मैत्रीका, स्नेहका भाव रखो। अपनी आत्माको और उसकी आत्माको अलग-अलग मत समझो। भगवान्‌की सबसे बढ़िया सबसे बड़ी पूजा यही है।

जब हमारे मनमें इच्छाएँ और द्वेष आते हैं—ये पूर्व-पूर्व जन्मके संस्कारसे आते हैं, माता-पिता, दादा-परदादा, नाना-नानीके संस्कारसे भी आते हैं और गर्भमें जो माता खाती-पीती है, जैसा सोचती है—पिता-माताके मनमें जैसा भाव होता है, गर्भाधानके समय—उससे भी संस्कार आता है। इसी प्रकार गर्भमें बालकके रहनेपर माता जैसा सोचती है, उसका भी संस्कार आता है। बालक जैसा दूध पीता है, जिसकी गोदमें खेलता है, जिसको देखता है, उसका भी संस्कार आता है। यह सृष्टिका स्वभाव ही है। इससे मनुष्यके मनमें रागद्वेषका उदय होता है। द्वन्द्व होता है। उस द्वन्द्वमें मनुष्य इतना मोह कर बैठता है, इतना फँस जाता है कि सच्चाईको समझनेके लिए उसके मनमें कोई प्रवृत्ति ही नहीं होती। वह सत्यसे मुकर जाता है। जो अपनी पसन्दकी चीजोंको सटानेमें लग गया और नापसन्दकी चीजोंको हटानेमें लग गया वह उनमें बँध गया। जो सटाने-हटानेमें

लग गया, वह भीतर कौन बैठा है, हृदयके झरोखेसे कौन झाँक रहा है, उस आत्माको—परमात्माको भूल जाता है। इसलिए जब मनुष्य पुण्य कर्म करता है, उसके पाप अन्तको पहुँचते हैं तो वे लोग द्वन्द्वके मोहसे छूटकर दृढ़व्रत होकर भगवान्‌का भजन करते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 7.28

भजन प्रारम्भ करते हैं, छूट जाता है। चार दिन करते हैं, फिर छूट जाता है। समयका नियम टूट जाय, कोई बात नहीं—स्थानका नियम टूट जाय, कोई बात नहीं—परन्तु जो व्रत अपने जीवनमें ग्रहण करें, उस व्रतका पालन करें। समयका लोप हो जाय, स्थानका लोप हो जाय, परन्तु कर्मका लोप न होने पावे। भगवान्‌का नाम-जप, भगवान्‌का भजन दृढ़ताके साथ करना चाहिए। व्रतमें दृढ़ता होनी चाहिए। भगवान् कहते हैं—दृढ़निश्चय होकर हमारा भजन करना चाहिए। जब भजनमें रम जाओगे तो क्या-क्या हमारे साथ सटे और क्या हटे इसका ख्याल छूट जायेगा।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29

देखो शरीरके पीछे परिवर्तन लगा है। क्षण-क्षण छीज रहा है। वैसे कण-कण भी छीज रहा है। क्षण और कण असलमें दो चीज नहीं है। प्रत्येक कण अपने क्षणमें पैदा होता है, अपने क्षणमें दीखता है, अपने क्षणमें बदल जाता है। ये संसारके कण और क्षण जुदा-जुदा नहीं है। यह भी एक मोह ही है।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि यह दीपकी लौ क्या वही है जो घण्टेभर पहले जल रही थी? जो यह झरनेमें पानी बह रहा है, यह वही है जो कल बह रहा था? क्या यह वही पुरुष है जिसको मैंने कल देखा? नहीं ऐसा नहीं है। यह वचन भी मृषा है—झूठ है, ऐसा सोचना भी झूठ है और यह है क्यों?
इसलिए कि मनुष्य झूठमें ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा है।

झूठ ही लेना, झूठ ही देना,
झूठ ही भोजन, झूठ चबेना।

वे भगवान् कहते हैं, यह मनुष्य कैसा अपना जीवन व्यतीत कर रहा है? जिसने इस सृष्टिको पैदा किया, उसको आप नहीं जानते हैं। **अन्यत् युष्माकं अन्तरं बभूव।** आपके और परमेश्वरके बीचमें कोई दूसरी चीज, भेद, बुद्धिभेद, भ्रम आ गया है। आपकी आँखें कुहासे से आच्छन्न हो रही हैं। बातचीत करनेमें आप बड़े निपुण हैं, इन्द्रियोंके भोगमें लगे हुए हैं।

यह मनुष्यकी स्थिति है देखिये—यह जरा=बुढ़ापा सिरपर सवार है। पैदा होते हैं उसी क्षणसे—वह क्षण, कण और मनको पकानेमें लगा हुआ है। मृत्यु सामने है। इस सत्यको देखते नहीं। इनसे मुक्ति पानेका उपाय क्या है? भगवान्‌का आश्रय लो और प्रयत्न करो। गीता पौरुषका ग्रन्थ है। यह नहीं कि भगवान्‌के मनमें आयेगा तो किसी दिन आकर आपसे मिल जायेंगे। ऐसे नहीं सोचना चाहिए—'हमको ईश्वरसे मिलनेकी कोई गरज नहीं

है। ईश्वरको गरज होगी तो वह हमसे मिलने आयेगा। उसको गरज भी होगी किसीसे मिलनेकी तो उसमें कोई विशेषता तो होगी न!' **यतन्ति ये**—जो ईश्वरसे मिलनेका प्रयत्न करते हैं। उनसे ईश्वर मिलता है। बोले—'अपने बलसे तो नहीं मिल सकता'—तो **माम् आश्रित्य**। उसीका आश्रय हो। उसीकी शरण ग्रहण करो और उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करो। सच पूछो तो ईश्वरका मिलना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है—वह तो मिला-मिलाया है। महत्त्वपूर्ण है, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न, ईश्वरका मिलना उतना कीमती नहीं है, जितना हमारे जीवनमें ईश्वरकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नका होना है और जो प्रयत्न करते हैं वे—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

प्रयत्न—भगवान्का आश्रय लो। हम वस्तु-वर्गका आश्रय लेते हैं। हम हीरा-मोती, सोना-चाँदी भगवान्को अर्पित करेंगे और उसके बलपर भगवान् मिल जायेंगे। वस्तुका बल या कोई मददगार हो—भगवान्को हमें मिला दे। भगवान्का कोई कान पकड़े और कहे चलो मिला दें—ऐसा नहीं है। एक विश्वासकी, भरोसेकी बात अलग है। ईश्वर जहाँ प्राप्त होता है, वह अपने सूक्ष्मतर अन्तरका एक दिव्य प्रदेश है। हमारे हृदयमें ही भगवत्प्राप्ति होती है। वहाँ न बाहरका रुपया-पैसा जाता है, न बाहरकी ठूँसी हुई विद्या-बुद्धि जाती है। अन्तरमें ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। अतः उस भीतरवालेका सहारा लेना। बाहरवालेका सहारा नहीं लेना।

माम् आश्रित्य—मामेकं शरणं व्रज। एक बार मेरी शरणमें आजाओ। **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**। भगवान् कहते हैं—'सब धर्मोंका परित्याग कर दो। अपने साधनका भी बल मत रखो।' इन्द्रियाँ जिन विषयोंमें लगती हैं—**सर्वेषां इन्द्रियाणां धर्मान्**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि—सबको छोड़कर। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहते थे—सात चीजें छोड़कर बैठो। ध्यान करने बैठना हो तो सात चीज छोड़ दो और जागते रहो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख और दुःख। इन सातोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें बैठ जाओ। इसका नाम ध्यान है। किसके साथ बैठते हैं? शब्द, रूप, रस, गन्धके साथ बैठते हैं या इनको जाहिर करनेवाली इन्द्रियोंके साथ बैठते हैं या इन्द्रियोंमें घूमनेवाली मनोवृत्तिके साथ बैठते हैं, नहीं—इनको घूमने दो और तुम जो सर्वान्तर्यामी परमात्मा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।

सबके हृदय देशमें ईश्वरका निवास है।

हमको क्या तू ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।

सबके हृदयमें परमेश्वर रहता है। इस धर्मके बलसे ईश्वर मिलेगा। विषयोंका बल छोड़ दो। इन्द्रियोंका बल छोड़ दो। जो छूटे हुए हैं उनको छोड़ दो। जो अपनी आत्मा है वह तो कभी छूटता नहीं। छोड़ किसको सकता है? जो अपनी आत्मा नहीं है और पकड़कर रखा हुआ है, उसको छोड़ सकता है।

छूटे हुए को ही छोड़ना होता है। उसको छोड़ना कैसे होता है? छूटे हुएको छूटा हुआ समझ लेना—बस यही उसका छूटना है। तो परित्यज्यका अर्थ है—छूटे हुएको छोड़ना। जिनके बारेमें सोचते हो कि इन्होंने हमको पकड़ रखा है, वह तो तुम्हारी पकड़ है। असलमें वे तो छूटे हुए हैं ऐसा समझना ही परित्याग करना है।

मामेकं शरणं व्रज। अपने हृदयके मन्दिरमें, **सर्वधर्मान् अनात्म-धर्मान् परित्यज्य मामेकं, आत्मानं शरणं सर्वाधिष्ठानं व्रज।** आजाओ, अपने पास आजाओ। **अहंत्वेन अभिव्यक्तं अहम्।** मैं के रूपमें प्रकट होते हो तुम। **सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**—अविद्या और अविद्याके कार्यसे मैं मुक्त कर देता हूँ। शोक और मोह स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है! **माम् आश्रित्य यतन्ते**—परमेश्वरका आश्रय लेकर, अपनी ओरसे प्रयत्न करो। श्रवण करो। स्वास्थ्यके लिए—आप चाहे जो आसन करें, उसका फल शरीरपर्यन्त ही है। आप प्राणायाम कीजिये, उलटे टँग जाइये। शीर्षासन कीजिये। वह सब दूसरी चीज है। भगवान्का आश्रय दूसरी चीज है।

माम् आश्रित्य—भगवान्पर विश्वास, भगवान्का आश्रय, भगवान्की शरणागति और अपनी ओरसे प्रयास करना। कोई वस्तु स्वर्गादिके रूपमें नित्य परोक्ष हो, सिवाय श्रवणके उसके ज्ञानकी और कोई प्रणाली नहीं है। शास्त्रसे उसका श्रवण करना। वाक्य ही प्रमाण होता है स्वर्गके सम्बन्धमें। धर्मानुष्ठानके साथ जो स्वर्गका सम्बन्ध है, उसके सम्बन्धमें आदि अन्ततक श्रद्धा—भावनाका प्राधान्य है। परमात्माके सम्बन्धमें—नित्य अपरोक्ष है—आत्माके रूपमें परमात्मा। परन्तु अज्ञात है। उस अज्ञानताको दूर करनेके लिए और ज्ञातता उत्पन्न करनेके लिए श्रवण करना चाहिए। श्रवण करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ईश्वरके बारेमें सुनिये, तब मनन होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब ध्यान होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब भजन होगा। ईश्वरके बारेमें सुनिये तब ईश्वरसे प्रेम होगा। लोग कैसे क्या सुनें? भगवान् अपनी ओरसे—सुननेकी सामग्री देते हैं। भागवतमें ऐसा आता है।

अपने दुर्गमतत्त्वको सर्वसाधारणके लिए सुगम करनेके लिए, भगवान् अवतार लेकर प्रकट होते हैं, शरीरधारी बनते हैं और ऐसे-ऐसे चरित्र करते हैं कि उन चरित्ररूपी अमृतोंके महासमुद्र बन जाते हैं। आप उसमें जरा उतरिये। उस चरित्रामृत-समुद्रमें अवगाहन कीजिये। स्नान कीजिये। डुबकी लगाइये। उसको पीजिये। उसको देखिये। यह भगवान्के चरित्रका अमृत महाम्बोधि है।

भगवान्के चरित्रमें—मजा आता है, रस आता है। **भजन** माने बेगार नहीं होती, पूरा कर दिया—टाल दिया, भजन माने रसास्वादन होता है। **भजनं नाम रसनं।** उपनिषद्ने कहा—भजन माने स्वाद लेना और रस आना। जब रस आने लगता है तब अर्थकी ओरसे रुचि हट जाती है। प्रेमका रस लेनेमें रुचि हो जाती है। जो नीरस होता है, वह रसिक हो जाता है। भगवान्के स्मरण, भजनमें—*हर्र लगे न फिटकरी, रंग चोखा आवे।* उसको ऐसा रस आता है कि न धनका बोझ सिरपर लेना रहता है, न भोगोंकी पूर्तिके लिए प्यासा होना। न धर्मानुष्ठान करना है और न अपवर्गकी ही इच्छा रह जाती है।

अपवर्ग—माने निषेध—'नेति नेति।' महात्मा लोग कहते हैं 'नेति-नेति' करनेकी कोई जरूरत नहीं है। आओ भगवद्रसका आस्वादन करो। भगवान्का रस लो, भगवान्का आनन्द लो। अपवर्जन करनेकी—'नेति नेति'की कोई आवश्यकता नहीं है। कैसा है अपवर्ग—**अपगतो वर्गः** जिसमें पवर्ग भेद नहीं है। यह धनी है, यह गरीब है, यह धन है, यह भोग है, यह धर्म है, यह मोक्ष है। **पवर्ग-रहित अवस्था है।** उसमें कोई छोटा और बड़ा नहीं। **परमसाम्यमुपैति**—परम समताकी प्राप्ति होती है, उसको अपवर्ग **बोलते हैं। अपगतवर्ग अपवर्ग** अपवर्जन और अ'प' वर्ग: जिसमें 'प' वर्ग नहीं है। पाप, पुण्य, फल, बन्धन, भोग, स्वर्ग-**मोक्ष कुछ नहीं।** यहाँ तो रसका समुद्र उमड़ रहा है। रसके कण उड़ रहे हैं। रसकी रश्मियाँ फैल रही हैं। रसकी वायु प्रवाहित हो रही है। **मधुः क्षरन्ति सिन्धवः।** सायंकाल मधु है। प्रातःकाल मधु है। रात्रि मधु है। दिन मधु है। मधु ही मधु—मधु ही मधु।

भजनमें न वर्ण-भेद है, न पाप-पुण्य, फल-बल, बन्ध, फल, मोक्ष है, पवर्ग कोई है ही नहीं। न इसमें 'नेति' है। यह तो प्रत्यक्ष भगवद्-रस है। इसका श्रवण करो। जितना-जितना श्रवण करेंगे उतना-उतना इस कानके रास्तेसे परमेश्वर हमारे हृदयमें प्रवेश करेगा। भगवान् नाकके रास्तेसे प्रविष्ट होगा—तुलसी सूँघनेसे—थोड़ा-सा भगवद्-संस्कार आयेगा। भगवान्का प्रसाद जीभसे लीजिए तो उससे भी थोड़ा-सा भगवद्-संस्कार आयेगा। आँखसे भगवान् की मूर्तिको, सत्पुरुषोंको देखिए, उससे भी थोड़ा संस्कार आयेगा। आप स्पर्श कीजिए—पण्ढरीनाथको। दोनों हाथसे पकड़कर अपने हृदयसे लगा लीजिए। इसका भी थोड़ा संस्कार आयेगा। श्रवणसे शब्दके गरुड़पर भगवान् चढ़ते हैं और कानके रास्ते भक्तके हृदयमें, पहुँच जाते हैं। श्रवण सर्वोपरि है। वेदान्तमें भी और भक्तिमें भी। **श्रवणं, कीर्तनं विष्णोः**—विष्णुका श्रवण कीजिए। **मन्तव्यो श्रोतव्य** कीर्तन कीजिए। **निदिध्यासितव्यः**—श्रवण कीजिए। संशय हो तो अनुकूल मनन, अनुकूल चिन्तन कीजिए। श्रुत और मत जो पदार्थ हैं, उसमें अपने मनको लगाइये। **यतन्ति ते ब्रह्म तद्विदुः।** उन्हें ब्रह्मज्ञान भी होता है, **कृत्स्नम् अध्यात्मं**—वे सम्पूर्ण अध्यात्मको जान जाते हैं। **कर्म चाखिलम्**—वे समग्र कर्मको जान जाते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

अधिभूत सहित, अधिदैव सहित, अधियज्ञ सहित परमात्माको पहचान लो। इन शब्दोंका अर्थ ८ वें अध्यायके प्रारम्भमें है। अर्जुनने प्रश्न किया है—ब्रह्मज्ञान क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिदैव क्या है? अधिभूत क्या है? अधियज्ञ क्या है? भगवान्ने उसका उत्तर दिया है। आप थोड़ा-सा ध्यान दें। परमेश्वरको समग्र रूपसे जानना। सातवें अध्यायके प्रारम्भमें यह बात कही गयी।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः। 7.1

भगवान्का ही भरोसा, भगवान्से ही प्रेम और अपने साधनमें लगन—तत्परता। साधन करते रहो—प्रेम भी भगवान्से और आश्रय भी भगवान्का। इससे फल क्या निकलेगा?

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसितच्छृणु।

समग्र परमेश्वरका ज्ञान होता है। यह भागवत-धर्मकी विशेषता है। आत्माकी समग्रताका ज्ञान यह कश्मीरी शैव दर्शन है। अपना आत्मा ही तरंगायमान हो रहा है। सम्पूर्ण विश्वके रूपमें और भगवान् ही अनेकरूप धारण करके विलास कर रहे हैं जगत्के रूपमें। यह भागवत-सिद्धान्त है।

भागवत-सिद्धान्त तत्-पदार्थकी ओरसे आता है और शैव-सिद्धान्त आत्मपदार्थकी ओरसे आता है। वेदान्त यहाँ आत्माकी आत्मा और वहाँ भगवान्की आत्मा दोनोंको एक बताता है। उसमें आत्मा और भगवान्का कोई भेद नहीं है। ये दोनों सिद्धान्त यह बताते हैं कि परमात्मा समग्र है। समग्र माने वही अधिभूत है, वही अधिदैव है, वही अध्यात्म है, वही अधियज्ञ है, वही कर्म है और वही ब्रह्म। यह वेदान्त है। **ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।** जान लीजिए—समझ लीजिए कि सबके रूपमें परमेश्वर है। अपनी आत्मा ही सबके रूपमें है। **आत्मैवेदं सर्वं स एवेदं सर्वम्।** सबके रूपमें परमेश्वर है। देखो सबके रूपमें परमेश्वर, यह भागवत-सिद्धान्तकी विशेषता है। जो योग करते हैं, समाधि लगाते हैं, उसको समाधि-कालमें परमात्माका दर्शन होता है।

भागवत-धर्मका यह कहना है—आप जहाँ हैं वहीं—कहीं हटने-उठनेकी जरूरत नहीं—और जो देख रहे हैं, उसीमें यह समग्र भगवान्का ज्ञान है। आप समग्ररूपसे परमेश्वरको पहचानिये। सम्पूर्ण भूतोंमें आप भगवद्भाव कीजिए। सबमें भगवान्। मोरमें बैठकर परमेश्वर नाच रहा है। कोयलमें बैठकर वह कूहू-कूहू बोल रहा है। हमने देखा है वृक्षोंमें वह फूलता है। ओह! क्या फूलता है। फलके रूपमें वृक्षोंमें-से वही निकलता है। सुन्दर-सुन्दर मछलियोंके रूपमें वही नाचता है पानीमें। बूँद-बूँद पानी बनके वह छलकता है। **परमेश्वरः सर्वभूतेषु।** वही स्त्रीके रूपमें है। वही पुरुषके रूपमें है। वही कण-कणके रूपमें है। क्षण-क्षणके रूपमें वही है। मन मनके रूपमें वही है। तन तनके रूपमें वही है। आप सभी वस्तुओंमें—**भवन्ति इति भूतानि सर्वभूतेषु** परमात्माका अनुभव कीजिए। इससे क्या मिलेगा? यह मिलनेवाली बात पीछा नहीं छोड़ती है। कुछ न कुछ फायदा होना चाहिए। एक फायदा तो बिलकुल प्रत्यक्ष है कि जिस समय आप कण-कणमें भगवान्का दर्शन करने लगेंगे—भावना होगी तो थोड़ी ही दिनोमें आपके हृदयमें किसीसे स्पर्धा नहीं रहेगी।

भागवतमें आया है कि स्पर्धा दिलको टूक-टूक कर देती है। आपके मनमें असूया आती है? यह असूया बिलकुल बाँट देती है। यह असूया है—दूसरेके कर्ममें गुण-दोष निकालना। कोई सन्ध्या-वन्दना कर रहा है, माला-फेर रहा है। बढ़िया काम कर रहा है। बोले अरे! दिखानेके लिए कर रहा है। कोई अच्छा काम कर रहा है और आप उसमें खुचर निकाल रहे हैं। इसका नाम होता है असूया। यह हमारे हृदयमें होड़ लगाना होता है। हमारे हृदयमें दूसरोंके दोष देखनेकी वृत्ति रहती है। हम दूसरेका तिरस्कार करते हैं—और हमारे शरीरके प्रति, शरीर सम्बन्धियोंके प्रति, वस्तुओंके प्रति, विद्याके प्रति, बुद्धिके प्रति अहंकार धारण करते हैं। भागवत-धर्मका यह स्वरूप है कि उसमें किसी प्रकारका अहंकार नहीं है। बल्कि अहंकारीके बारेमें तो भागवतमें ऐसा-बोलते हैं—सब भगवान्को पा सकते हैं—क्योंकि सबकी आत्मा भगवान् है, सब

समय भगवान् है, सब स्थानमें भगवान्‌को देख सकते हैं, परन्तु भगवान्‌के देखनेमें परदा क्या पड़ता है? वे लोग भगवान्‌का नाम भी लेनेके अधिकारी नहीं हैं—कौन? जिसको अपनी जाति; जन्मका अभिमान, जिसको अपनी कुरसी, ऐश्वर्य, हुकूमत, विद्या, धनका अभिमान है, जिसका नशा छा जाता है। इससे नशा बँट जाता है, तब वह परमात्माका नाम लेनेका भी अधिकारी, हकदार नहीं होता है।

इसलिए जब हम सबमें भगवान्‌को देखने लगते हैं तो स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकारकी निवृत्ति हो जाती है। एक सहज जीवनकी प्राप्ति होती है। पराश्रित जीवन नहीं रहता। दुःखमय जीवन नहीं रहता। अज्ञानमय जीवन नहीं रहता। मृत्युके भयवाला जीवन नहीं रहता। एक दिव्य जीवनकी प्राप्ति होती है—जब हमारे जीवनमें सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन—भगवान्‌के दर्शनका आनन्द आने लगता है। इसलिए कि वह ज्ञान है। अधिदैव भी भगवान्‌का स्वरूप है। अधिभूत कहते हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आदि। सूर्य, चन्द्र इत्यादि अधिदैव हैं। और जो भी कर्म हो रहा है शरीरसे नयी-नयी चीजें जिससे पैदा होती हैं और वह ब्रह्म जो सबकी आत्मा है, यह सब अधियज्ञ हैं। जो सबके हृदयमें रहकर केवल यज्ञ कर रहा है। लो दृष्टिशक्ति देखो आँखसे। लो कान—श्रवणशक्ति, सुनो। लो त्वचा—स्पर्श करो। लो जीभ—इससे रसास्वादन करो। लो नासिका, इससे गन्ध सूँघो। लो शरीर, इससे धर्मानुष्ठान करो। लो अन्तःकरण, इससे उत्तम-उत्तम विचार करो। परमात्मा हमेशा यज्ञ करता रहता है। वह स्वयं यज्ञरूप है। जैसे चन्द्रमा यज्ञ कर रहा है—सबको आह्लाद दे रहा है। हम एक दूसरेको कुछ-न-कुछ दें। दूसरेको समझें कि जो मेरे अन्दर है वही इसके अन्दर हे और किसीकी हिंसा न करें। किसीको दुःख न पहुँचावें। हम लोगोंका फिर मिलन हो, एक दूसरेको पहचानें, एक दूसरेको कुछ दें। एक दूसरेको नुकसान न पहुँचावें। क्योंकि यह यज्ञ-स्वरूप जो परमात्मा है—वह सब जगह बैठकर कुछ-न-कुछ, कुछ-न-कुछ यज्ञकर रहा है। दे रहा है।

सर्वभूतेषु मद्भावं ब्रह्म—अध्यात्म, कर्म, भूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये सबके रूपमें कौन है? परमेश्वर—इस परमेश्वरको जान लो, तब—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

आठवें अध्यायका—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14

आपका चित्त अनन्य हो जायगा। अब आप भगवान्‌के प्रति अनन्य हो जायेंगे। जो आपके सम्मुख आता है, जो दीखता है, उसमें भगवान्‌के बारेमें श्रवण करेंगे। यह हमारी जो श्रुति है—कान है—श्रवण है—श्रवण ही हमारे मनको मार्ग दिखाता है। हमारे हृदयमें परिवर्तन करता है।

आप लोगोंने बड़े प्रेमसे, बड़ी शान्तिसे, बड़ी लगनसे श्रवण किया और हमको बोलनेका मौका दिया। आपकी बात तो आप जानें, हमको सचमुच भगवद्स्वरूप, भगवत्तत्त्व, भगवद्रहस्य, भगवच्चरित—भगवद्गुणानुवाद और भगवद्वाणी—इनके बोलनेमें जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके कारण मैं बोलता हूँ—वह

आनन्द ही हमसे बुलवाता है। यदि वह आनन्द नहीं हो तो हम बोल नहीं सकते। इस आनन्दके निमित्त आप लोग बनते हैं। भगवान् आप लोगोंको इस बोलनेका निमित्त बनाता है। आपके भीतर वही प्रभु बैठा हुआ है, जो यहाँ बैठकर बोलनेकी शक्ति देता है और वहाँ बैठकर बोलनेकी प्रेरणा देता है। वे दोनों दो नहीं हैं, बिलकुल एक हैं। इसलिए न तो कोई कृतज्ञता है, न तो कोई आभार है, न कोई धन्यवाद है—सब जो भगवान् कर रहे हैं उसमें आनन्द ही आनन्द है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन' के रुपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
टेलीफोन वाराणसी • फोन : 2392337

गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

2



संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उसीसे लिखकर अबतक 'गीता-दर्शन' नामसे तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। उनका संकलन एवं सम्पादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया हैं।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रात:काल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुन: प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रात:काल प्रवचन करनेके लिए बिरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

शेष भगवत्कृपा ।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी
सं. 2036
20-10-79

अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

गीता अध्याय-8

प्रवचन : 1

गीता सुगीता है। आओ, हम गीताके संगीतका अभ्यास करें। जैसे गायक लोग संगीतका—उसके आलापका और उसकी राग-रागिनीका चिरकालतक बार-बार अभ्यास करते हैं। वैसे ही हमें भी गीता-संगीतका अभ्यास करना चाहिए।

गीता सुगीता कर्त्तव्या : अद्भुत प्रसङ्ग है। पहले वेदान्तका उपदेश अरण्यमें होता था। आरण्यक विद्या बोलते हैं—इसको। संस्कृतमें वेदान्तका नाम आरण्यक विद्या है। अधिकांश उपनिषद् आरण्यक हैं। अरण्यमें उनका प्रकाश हुआ है। अरण्य शब्दका अर्थ है जहाँ रण न हो। जहाँ लड़ाई-झगड़ा होता हो वहाँ वेदान्त सुननेको मिले तो किसको ग्रहण होगा? वह लड़ाई-झगड़ेमें पड़नेवालोंकी—राग-द्वेष करनेवालोंकी विद्या नहीं है।

परन्तु गीताने इस परम्पराको छोड़ दिया। वह अरण्यमें नहीं, रणभूमिमें प्रकट हुई। एकान्तमें वेदान्त-चिन्तन करना एक विभाग है और रणभूमिमें वेदान्त-चिन्तन करना दूसरा विभाग है। यह दूसरा विभाग रिक्त था। श्रीकृष्णने इसकी पूर्ति कर दी। जरा सोचो तो सही, युद्धभूमिमें वेदान्त! कितना विरोधाभास है दोनोंमें?

एक बातपर आप ध्यान दें—हमारे वेदोंमें, ब्राह्मणोंमें, आरण्यकोंमें जो धर्मकी विद्या है वह यज्ञशालाकी प्रधानतासे है। यज्ञशाला बनाओ, हवन करो, वेदके मन्त्रोंका उच्चारण करो। उसमें कौन अधिकारी है कौन अनधिकारी—इसका ध्यान रखो। वेदमन्त्र शुद्ध बोले जावें। यज्ञकी सामग्री शुद्ध हो। यजमान, पण्डित योग्य होने चाहिए। पवित्र भूमि, पवित्र काल होना चाहिए। जब बड़ी पवित्रतासे यज्ञ करते हैं तब धर्म होता है। यह यज्ञशालाकी प्रक्रियावाले हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थमें जाओ। दान करके लौटो तो धर्म होगा। अमुक दिन उपवास करो तो धर्म होगा। अमुक अनुष्ठान कर लो तो धर्म होगा। तात्पर्य यह कि धर्म यज्ञशाला और कर्मकाण्डमें सीमित हो गया। किन्तु गीताने उस धर्मको जीवनके कर्मक्षेत्रमें स्थापित कर दिया। यही गीताकी विशेषता है। युद्धभूमिमें वेदान्त और जीवनकी प्रत्येक क्रियामें, उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलापमें धर्म!

अब आप दूसरी बातपर ध्यान दें। धर्मका अनुष्ठान होता था कामनापूर्तिके लिए अथवा अन्त:करणकी शुद्धिके लिए। यदि सकाम भावसे धर्म किया जाय तो कामनाकी पूर्ति होती है। आप जिस किसी कामनासे भी धर्मानुष्ठान करेंगे आपके संकल्पमें बल आयेगा। क्योंकि धर्ममें कुछ छोड़ना पड़ता है, कुछ पकड़ना पड़ता है। कुछ देना पड़ता है, कुछ नियम ग्रहण करने पड़ते हैं और वे बिना आत्मबलके पूरे नहीं हो सकते। जिसमें आत्मबल नहीं है वह कुछ छोड़नेके लिए चलेगा तो भी जब उसके मनमें लालचका, तृष्णाका उदय हो जायेगा तो वह छोड़ेगा नहीं। इसी तरह उसके मनमें कुछ नियम पालन करनेका विचार आयेगा तब वह मन निर्बल होनेके कारण नियमका पालन नहीं कर सकेगा। मनुष्यके मनोबलकी, आत्मबलकी वृद्धि ईश्वर-विश्वास और मर्यादा-पालनसे, धर्मानुष्ठानसे होती है। जो अपने नियमका पालन करनेके लिए कष्ट सहनेको तैयार नहीं है,

वह निर्बल रहेगा। जो कष्ट सहकर भी अपनी मर्यादाका पालन करता है, उसके आत्मबलकी वृद्धि होती है। नि:सन्देह बड़ा बलवान् है वह व्यक्ति जो विपरीत परिस्थितियोंमें भी धर्मानुष्ठानका, नियमका, मर्यादाका परित्याग नहीं करता।

परन्तु धर्मानुष्ठानको केवल एकादशी आदि व्रतोंतक अथवा काशी-मथुरा आदि तीर्थोंतक अर्थात् अमुक कालसे अमुक काल-तक या अमुक धर्मस्थानसे अमुक धर्मस्थान तक सीमित कर देते हैं तो उसका फल भी सीमित हो जाता है। धर्म असीम होना चाहिए। वह केवल मन्दिरमें न हो, घरमें भी हो। वह केवल यज्ञशालामें न हो, हमारे प्रत्येक व्यवहारमें भी हो। गीताने यही किया। इसने धर्मकी सीमाको देश, काल एवं समाजकी मान्यताओंसे ऊपर उठाकर सब जगह व्यापक बना दिया और ज्ञानके क्षेत्रको भी अरण्यमें-से जंगलमें-से, अयोध्यामें-से बाहर निकालकर सर्वत्र स्थापित कर दिया। अयोध्याका अर्थ भी वही होता है जो अरण्य शब्दका होता है। अयोध्या शब्दकी ब्युत्पत्ति है **नास्ति योध्यो यस्या:।** जहाँ युद्ध करनेके लिए बाकी ही नहीं है, जहाँ युद्ध है ही नहीं, जिससे कोई युद्ध कर ही नहीं सकता, उसका नाम होता है—अयोध्या।

गीताने धर्मको एकान्तसे उठाकर हमारे घरमें, सड़कपर, दूकानमें, व्यापार-व्यवहारमें और ज्ञानको उसके उपदेश-स्थल अरण्यसे निकालकर युद्धभूमिमें उपस्थित कर दिया। यह कहावत तो पहलेसे प्रसिद्ध है कि घोड़ेके रकाबमें पाँव और **ब्रह्मज्ञान!** इसका मतलब है कि ब्रह्मज्ञान घोड़ेपर चढ़ते समय भी हो सकता और तीर चलाते समय भी हो सकता है।

तो गीतामें मुख्य बात यह आयी कि **मामनुस्मर युद्ध्य च।** यह आठवें अध्यायका महावाक्य है। इसका अर्थ है 'मेरा स्मरण करो और युद्ध करो', 'युद्ध करो और मेरा स्मरण करो।' यहाँ हृदयमें, अन्तरङ्गमें अनुस्मृतिकी प्रधानता है और बहिरङ्गमें युद्धकी प्रधानता है। **मामनुस्मर युद्ध्य च।** में जो 'च' है वह युद्धको गौण कर देता है और **मामनुस्मर**को मुख्य कर देता है। लड़ते भी चलो और मेरा स्मरण भी करते चलो।

अब आपको गीताके आठवें अध्यायकी पूर्वपीठिकाकी भूमिकाकी चर्चा सुनाते हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्के समग्र रूपके वर्णनकी प्रतिज्ञा है। जैसे राजा लोग अपने महलमें रहते हैं और उनके कर्मचारी लोग उनका राजकाज सम्हालते हैं। वैसे ही भगवान् भी वैकुण्ठमें बैठते हैं और उनके कर्मचारी उनका राजकाज करते हैं। भगवान् यदि जीव हो, मनुष्य हो और संसारकी देखभाल करनेवाला हो तो यही होगा कि वह एक जगह रहेगा। उसके रहनेके स्थानका नाम वैकुण्ठ रखो या ब्रह्मलोक चाहे साकेत या गोलोक, बात एक ही है। यदि उसके एक जगह रहनेकी बात न जँचे तो भगवान् निराकार रूपसे सब जगह रहता है, ऐसा मान लो। यह भी न जँचे तो जितनी क्रिया हो रही है, उसमें प्रेरक रूपसे भगवान् ही बैठा है, यह बात मान लो। गीताके सातवें अध्यायमें इस प्रसंगको अद्भुत रीतिसे प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि भगवान्का जो रूप है, वह समग्र है। समग्र है माने निराकार, निर्गुण ब्रह्म—भगवान् सम्पूर्ण जीवोंके रूपमें विद्यमान है। इस सृष्टिमें जो क्रिया-कलाप हो रहा है वह भगवान्, जो पञ्चभूत है वह भगवान्। इनमें जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टि-संचालन, पोषण और संहार करते हैं वे भगवान्। इतनी उदार दृष्टिसे भगवान्का, परमेश्वरका वर्णन है कि उसमें एक

व्यक्ति भगवान् बनकर बैठ जाय—इसकी गुंजायिश नहीं है। उदाहरणके लिए देखें। भगवान् कहते हैं कि **मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति** मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। एक परा प्रकृति है और दूसरी अपरा प्रकृति है। दोनोंका कारण मैं हूँ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 7.4

यह अष्टधा अपरा प्रकृति है। इससे परे जीव प्रकृति है। संसारमें जो कुछ भी दिखायी पड़ रहा है। वह परा प्रकृति और अपरा प्रकृति है। इन सबका कारण मैं एक हूँ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। 7.6

मुझसे ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और मुझमें ही सारी सृष्टि लीन हो जाती है।

अतः आप गीताके इन वचनोंको ध्यानमें रखिये और ईश्वरको ढूँढनेके लिए सृष्टिके आदिमें पहुँचनेकी कोशिश मत कीजिए। क्योंकि सृष्टिका आदि आपकी पकड़में कभी नहीं आवेगा। यह असम्भव है। अशक्यानुष्ठान है कि किसी व्यक्तिकी बुद्धि सृष्टिके आदिका साक्षात्कार कर सके। काल अनादि है। आप ईश्वरको ढूँढनेके लिए वहाँ मत जाइये। यह मत सोचिये कि जहाँ सृष्टि नहीं रहेगी वहाँ परमेश्वर मिलेगा। क्योंकि काल अनन्त होता है। कालका आदि, अनादि और कालका अन्त अनन्त होता है। आप कभी प्रलयावस्थाकी अनुभूति नहीं कर सकते और न सृष्टिके प्रारम्भकी अनुभूति कर सकते हैं। ईश्वरको तो यहीं ढूँढना पड़ेगा। अभी ईश्वर मिलेंगे तो सब समय मिलेंगे। यहीं ईश्वर मिलेंगे तो सब जगह ईश्वर मिलेंगे। यदि इसी रूपमें ईश्वर मिल जावेंगे तो फिर कहना ही क्या है? फिर तो मौत भी ईश्वरके रूपमें दिखायी पड़ेगी।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः। 7.30

आठवाँ अध्याय यही बतानेके लिए आया है कि मौत भी आपको भगवान्से अलग नहीं कर सकती। मृत्युमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह आपको परमेश्वरसे, अलग कर दे। चलते-फिरते परमेश्वर, बोलते-चुप होते परमेश्वर खाते-पीते परमेश्वर, हँसते-गाते परमेश्वर, जीतते-हारते परमेश्वर, सब समय परमेश्वर ही परमेश्वर। परमेश्वरको ले जाकर एक कोनेमें डाल देना—यह गीताका अभिप्राय नहीं है। ईश्वर निराकार है, यह भी एक पन्थ है। ईश्वर साकार है, यह भी एक पन्थ है। ईश्वर किसी लोकमें रहता है, यह भी एक पन्थ है। हम पन्थकी नहीं सिद्धान्तकी बात करते हैं। सबसे बढ़िया बात यही है कि हम इसी समय ईश्वरको ढूँढकर निकाल लें—पहचान लें कि यही ईश्वर है।

श्रीकृष्णने सातवें अध्यायके अन्तमें आठवें अध्यायकी भूमिका बाँधी। इसको प्रश्न बीज बोलते हैं, जैसे किसी अङ्कुरके लिए बीजका होना आवश्यक है, उसी प्रकार आठवें अध्यायका अङ्कुर निकलनेके लिए सातवें अध्यायके अन्तमें बीज है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.29-30

आप स्वभावत: संसारके दु:खसे छूटना चाहते हैं। ऐसा कोई प्राणी नहीं होता, जो दु:खसे छूटना नहीं चाहता। पानेकी इच्छा सबके मनमें होती है। जहाँ-जहाँ दु:ख होगा वहाँ-वहाँसे छुटकारा पानेकी इच्छा होगी ही। हमने एक चींटीको छूनेकी कोशिश की तो वह भगी। एक मच्छरकी ओर हाथ ले गया तो वह उड़ गया। एक खटमलको पकड़ना चाहा तो वह पकड़में नहीं आया—एक दराजमें जा छिपा। क्यों? इसलिए कि चींटी, मच्छर, खटमल आदि सभी प्राणी दु:खसे छूटना चाहते हैं। आप सब लोग भी मोक्ष चाहते हैं। जहाँ-जहाँ दु:ख है वहाँ-वहाँसे हटना चाहते हैं। इसमें कम्युनिज्म, सोशलिज्मका कोई फर्क नहीं होता। नास्तिकको भी दु:खसे छुटकारा चाहिए। इसीलिए मोक्षको पुरुषार्थ कहते हैं। मोक्ष माने छुटकारा—मुक्ति। आप स्वयं सोचये कि छूटना चाहते हैं या नहीं? निश्चय ही आप दु:खसे छूटना चाहते हैं। जड़तामें ही हैं। जन्म भी जड़में, रोग भी जड़में, बुढ़ापा भी जड़में, मृत्यु भी जड़में। जड़ता ही बेहोशी है और आप बेहोशीसे छुटकारा चाहते हैं। वैसे आजकल कई लोग बेहोशीके लिए नशीली चीजें खाते-पीते हैं। परन्तु उनको मालूम रहता है कि इससे जो बेहोशी आयेगी, वह थोड़ी देरके लिए आयेगी। आप भी किसी दर्दसे बचनेके लिए बेहोशीका इञ्जेक्शन लगवाते हैं या गोली खाते हैं; परन्तु आपको मालूम होता है कि उससे जो बेहोशी होगी वह थोड़ी देरके लिए। यदि आपका यह ख्याल हो कि आपको हमेशाके लिए बेहोशी हो जायेगी तो आप उस इञ्जेक्शन या गोलीका सेवन बिल्कुल नहीं करेंगे। हमेशाके लिए जड़ता कोई नहीं चाहता। फिर जो चीज दो दिनके लिए आवे वह तो यही कहावत चरितार्थ करती है कि 'चार दिनकी चाँदनी फिर अँधेरी रात।' आप चार दिनोंकी चाँदनीसे भी छूटना चाहते हैं; क्योंकि उसमें भविष्यका यह दु:ख है कि वह फिर जल्दी ही बिछुड़ जायगी।

तो जड़तामें अपनी बुद्धिकी—ज्ञानकी हानि है। दु:ख हमको सर्वथा अप्रिय है। हम अप्रियसे छूटना चाहते हैं। अज्ञानसे छूटना चाहते हैं। मृत्युसे छूटना चाहते हैं। दुनियामें सब ऐसा चाहते हैं इसलिए हम लोग ऐसा कहते हैं कि आप नित्यको चाहो, प्रकाशको चाहो, ज्ञानको चाहो, आनन्दको चाहो। तब हम आपको विधान नहीं करते—आज्ञा अथवा उपदेश नहीं करते अपितु इसलिए कहते हैं कि आप सचमुच दु:खसे छूटना चाहते हैं। जड़तासे छूटना चाहते हैं। देखिये आप अपनी प्रगति चाहते हैं न? यह प्रगति क्या है? प्रगति माने जड़तासे छूटना। आगे बढ़ना। उन्नति अर्थात् ऊपर उठना। उत्थानका नाम है उन्नति और आगे बढ़नेका नाम है प्रगति। आजकल प्रगतिशील शब्दका बहुत प्रयोग होता है। इसके प्रयोक्ताओंका तात्पर्य यही होता है कि वे अपने स्थानके आगे बढ़ना चाहते हैं। जड़ता उनकी पसन्द नहीं है। यह बात दूसरी है कि जो लोग किसी पदकी कुर्सीपर बैठते हैं वे इससे उठना नहीं चाहते। उन्हें भी अनित्य कुर्सी नहीं चाहिए। जो कुर्सी आज मिले और कल उलट जाय उसका क्या ठिकाना? पर लोग बैठते उसी पर हैं।

सारांश यह कि आप अनित्यतासे, जड़तासे, दु:खसे बचना चाहते हैं। इसके लिए उपाय क्या है? श्रीकृष्णने बताया। **मामाश्रित्य यतन्ति ये।** भगवान्‌का आश्रय लो और यत्न करो। यहाँ भी दो बाते हैं। एक:

मामाश्रित्य, दूसरी: यतन्ति ये। आश्रय रखो बड़ेका। महान् है, वही आश्रय लेने योग्य है कैकेयीने मन्थराकी शरण ली—बेचारी मारी गयी। दशरथने कैकेयीकी शरण ली—बेटेका वियोग हुआ। स्वयं मर भी गये शरण अथवा आश्रय छोटेका नहीं चाहिए। आश्रय लेने योग्य वही होता है जो हमारी रक्षा कर सके। हमारे अभीष्टकी पूर्ति कर सके। इसके लिए परमेश्वरका आश्रय लेना सबसे उत्तम है।

आश्रय लेकर निकम्मा नहीं होना चाहिए। यह नहीं कि हम तो भगवान्‌के सहारे बैठ गये। नहीं, स्वयं भी प्रयत्न करो। अपना हाथ-पाँव पीटो। तुम्हारे पास जितना बल है, उतना तुम लगाओ। ईश्वरका बल तुम्हारे जीवनमें प्रकट हो जायेगा। ईश्वर बल प्रकट करनेका उपाय ही यह है कि हम अपने बलको लगानेमें कृपणता न बरतें; कञ्जूसी न करें। हमारे पास केवल पाँच रुपये हैं, उनको तो हम दबाकर रखें और सेठसे कहें कि तुम पाँच हजार हमें और दे दो। नहीं, अपने पाँच भी लगाओ, सेठके पाँच हजार भी लगाओ पर चोरी करके नहीं, छिपाकर नहीं बिल्कुल खुले लगाओ। अपने बलका पूरा प्रयोग करो। जितनी शक्ति है, जितना सामर्थ्य है, जितनी बुद्धि है, जितनी प्रतिभा है उसका उपयोग करो। जो कर सकते हो करो। पूर्णरूपसे प्रयत्न करनेपर भी जो न हो सकता हो उसके लिए ईश्वरके बलका आवाहन करो।

मामाश्रित्य यतन्ति ये—में '**आश्रित्य**' असमाप्त क्रिया है। तात्पर्य यह है कि आश्रय लेते चलो—लेते चलो और प्रयत्न करो। यतन्ति मुख्य क्रिया है। मनुष्यको अपने पौरुषका परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि मनुष्य अपने पौरुषको छोड़ देता है तो ईश्वरसे छूट जाता है। गीतामें यह बात बतायी है कि भगवान् मनुष्यके शरीरमें पौरुष रूपसे रहते हैं। **पौरुषं नृषु**। मनुष्यके अन्दर जो पुरुषाकार है—पौरुष है, प्रयत्न है वही भगवान् है। यदि आप अपनी ओरसे प्रयत्न कर रहे हैं तो समझें कि आपके जीवनमें भगवान् प्रकट हो रहे हैं। यदि आपने अपनेको मुर्दा कर दिया—अपना पौरुष छोड़ दिया तो भगवान्‌के बलको प्रकट करनेका जो मार्ग था वह अवरुद्ध हो गया—रुक गया। देखते चलो, सूर्यकी रोशनीकी सहायता लेते चलो। अपने ज्ञानका प्रयोग करो, भगवान्‌का ज्ञान आने दो। इसके लिए भगवान्‌ने सात बातें बतायी हैं।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्। 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

ये जो सात बातें हैं इनके लिए आप सात रूपमें ईश्वरको जानें। इनको जाननेके बाद ऐसी कोई चीज नहीं रह जायेगी जो परमेश्वरके रूप न हो। ये सातों परमेश्वरके रूप हैं। ब्रह्म परमात्माका रूप है और आत्मा सबके शरीरोंमें रहनेवाला आत्मदेव, जीव-समुदाय, परा प्रकृति यह भी परमात्माका स्वरूप है—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

शरीर अलग-अलग हैं और जीव अलग भोक्ता, अलग संसारी, अलग परिच्छिन्न मालूम पड़ते हैं। परन्तु सब जीवात्माओंमें आत्मा एक है। परा प्रकृति है यह। वह कौन है? परमात्मा। **कृत्स्नं अध्यात्मम्**—अध्यात्म माने जीव-समुदाय। यह जो कर्म हो रहा है सृष्टिमें उसीसे नयी-नयी उत्पत्ति होती है। आगे प्रश्न है, इसलिए

भगवान्ने उत्तर दिया। ब्रह्म क्या है? जीव क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? अधिदैव क्या है? अधियज्ञ क्या है? और मृत्युके समय भी परमेश्वरका दर्शन हो वह क्या है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ 8.2

आप अपनेको घड़ा मानोगे तो फूटोगे और मिट्टी मानो तो नहीं फूटोगे। घड़ेमें जो आकाश है वह मानोगे तो छोटे-से हो जाओगे और यदि घड़ेकी दीवार आपको छोटा नहीं बनाती है तो आप अखण्ड आकाश हो जाओगे। घटाकाशमें शराब भी भरेगा, गङ्गाजल भी भरेगा। लेकिन घड़ेकी दीवारको एक बार मनसे अलग करके आकाशकी पूर्णताको देखो तो उसमें न शराब लगेगी, न दूध लगेगा, न गङ्गाजल लगेगा। वह आकाश तो सर्वथा निर्लेप है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको कहते हैं कि 'तू अपने मनको युक्त कर।' युक्त करनेका अर्थ यह है कि हमारे जीवनमें कुछ संयम हो, कुछ नियम हो, कुछ मर्यादा हो। यह सृष्टि कभी स्थूलताकी ओर प्रवाहित होती है और कभी सूक्ष्मताकी ओर प्रवाहित होती है। जब स्थूलताकी ओर जायेगी तो आप पत्थर हो जायेंगे। सूक्ष्मताकी ओर जायेगी तो आप ब्रह्म हो जायेंगे। अपने मनको बाहर बहनेसे बचाइये। चार बातोंपर ध्यान रखिये। आप क्या भोगना चाहते हैं? मर्यादाके अन्दर या मर्यादाके बाहर? यदि मर्यादाके बाहर गये तो गये। फिर तो कहीं रोग-टोक नहीं। आप क्या इकट्ठा करना चाहते हैं? सबकी जेबका पैसा आपकी जेबमें चला आवे, यह चाहते हैं? सारी धरतीके आप मालिक होना चाहते हैं? किस-किस बातका अभिमान करना चाहते हैं? क्या करना चाहते हैं? क्या बोलना चाहते हैं? एकाग्र मनसे इन बातोंपर विचार करें। यदि आपके मनमें भोगकी इच्छा है तो उसको एक सम्प्रदाय दीजिये, एक पन्थ दीजिये, एक मार्ग दीजिये। नहीं तो भोगते-भोगते आपका अन्त हो जायेगा।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

भोग तो कभी पूरे होंगे नहीं। आपका जीवन पूरा हो जायेगा। आप असमर्थ हो जायेंगे। भोगका सामर्थ्य भी आपमें नहीं रहेगा यदि आप भोगको नियमित नहीं करेंगे। खाते जायँ—खाते जायँ तो अजीर्ण होगा, बीमार पड़ेंगे और मर जायेंगे। भोजनमें मर्यादा चाहिए। आप इकट्ठा करते जायँ, उसको बाहर न निकालें, बहने न दें और चाहें कि सारा पानी हमारे तालाबमें इकट्ठा हो तो आपका तालाब फूट जायेगा। आप केवल काम करते जायँ—करते जायँ और विश्राम न करें, सोये नहीं तो आपकी शक्तिका लोप हो जायेगा। इसमें भी संयम चाहिए। मनमें जो भी आये वह बोलने लगे तो क्षणभरमें पागल हो जायेंगे। सोचकर बोलना चाहिए। भोगमें मर्यादा रखनी चाहिए। सभी इन्द्रियोंके भोगमें होनी चाहिए। उच्छृङ्खलता नहीं होनी चाहिए। नहीं, तो आप असामाजिक प्राणी हो जायेंगे। आपके जीवनमें पशुत्वका विकास हो जायेगा।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 6.17

गीता कहती हैं कि आप यदि दुःखसे छूटना चाहते हैं तो आपका आहार युक्त हो, विहार युक्त हो, आपकी कर्मचेष्टा युक्त हो, आपका सोना और जागना युक्त हो, आपका मन युक्त हो।

यदि आप एकाग्र मनसे, युक्त मनसे परमात्माका चिन्तन नहीं करेंगे तो आपको सफलता नहीं मिलेगी। आप उच्छृङ्खल हो जायेंगे। इसलिए नियतात्मा होना चाहिए, युक्तचित्त होना चाहिए। युक्तचित्त होकर परमेश्वरको जानना चाहिए।

मनमें प्रश्न आना भी आवश्यक है। भगवान्‌ने बच्चेको कैसी जिज्ञासा दी है। छोटा-सा बच्चा पूछेगा कि यह कौन-सा पेड़ है? यह कौन-सी चिड़िया है? इसे क्या कहते हैं बाबा? बच्चेके मनमें जिज्ञासा होती है। यह ईश्वरकी देन है। ईश्वरकी नियामत है। कुछ पूछकर जानते हैं। छोटेसे बच्चेके मुँहमें शक्कर पड़े तो देख लेता है कि शक्कर कैसी है और उसको बार-बार शक्कर खानेकी इच्छा होती है। लेकिन एक बार उसके मुँहमें कोई कड़वी चीज डाल दो तो थू-थू-कर थूक देगा और फिर उसे मुँहमें नहीं डालेगा। बच्चा बार-बार आगमें हाथ डालनेके लिए दौड़ता है लेकिन जब आँच लग जाती है तो उसे देखकर डर जाता है। मनुष्य कुछ तो खुदके अनुभवसे सीखता है और कुछ बड़े बूढ़ोंके अनुभवसे शिक्षा प्राप्त करता है। मनुष्यके मनमें जो जिज्ञासा है—जाननेकी इच्छा है (ज्ञातुं इच्छा=जिज्ञासा) यह स्वाभाविक है। किसी विषयकी जिज्ञासा जाग्रत होनेपर ही उसकी व्याख्या समझमें आती है। बढ़िया अध्यापक वही होगा जो पहले विद्यार्थीके मनमें जाननेका कौतूहल, जाननेकी इच्छा उत्पन्न कर देगा और जब विद्यार्थी स्वयं जाननेके लिए उत्सुक हो तब उसको उसकी जिज्ञासाका विषय बताये। फिर विद्यार्थीको विषय-ग्रहण हो जायेगा।

हमारे एक मित्र बड़े वेदान्ती थे। उन्होंने कहा—मैं 'खण्डन-खण्डन-खाद्य' पढ़ूँगा। यह वेदान्तका उच्चकोटिका ग्रन्थ है। मैंने वह ग्रन्थ उनके हाथमें दे दिया। फिर, वे एक दिन-दो दिन पढ़कर बोले कि इसमें तो उन प्रश्नोंका समाधान है जो मेरे मनमें नहीं है। अगर मेरे मनमें ये प्रश्न होते तो उनका इसमें जो समाधान है वह ग्रहण हो जाता। जब किसी भी श्रोताके मनमें कोई प्रश्न पैदा हो और फिर उसका उत्तर दिया जाय तो वह उसे हमेशाके लिए पहचान लेगा—समझ लेगा। किन्तु यदि प्रश्न ही पैदा न हो तो उसका उत्तर देनेसे क्या लाभ?

भगवान् श्रीकृष्ण एक अच्छे अध्यापक भी हैं। अध्यापक ही नहीं अध्येता भी हैं। है न अद्भुत बात? श्रीकृष्ण भी पढ़नेके लिए गुरुकुलमें जाते हैं। एक ओर तो हम बोलते हैं कि वे भगवान् हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, आनन्दघन हैं, अविनाशी हैं, सत्य हैं, नित्य हैं, परन्तु दूसरी ओर देखते हैं कि गुरुके घरमें पढ़नेके लिए जाते हैं। उन्होंने अर्जुनके मनमें प्रश्न पैदा कर दिया—**किं तद् ब्रह्म?** जिन्होंने गीताका सम्पादन किया उन्होंने लिखा 'अर्जुन उवाच' अर्थात् यह अर्जुनका वचन है। सम्पादनकी दृष्टिसे ऐसा ही बोलना ठीक है कि आगे जो कहा गया है वह अर्जुनका वचन है। 'अर्जुन उवाच' पद क्रिया-विवक्षित नहीं धात्वर्थ-विवक्षित है।

अब अर्जुनके प्रश्नमें जो पुरुषोत्तम शब्दका प्रयोग है **किं कर्म पुरुषोत्तम**—इसके अर्थपर विचार करें। एक पुरुष होता है, दूसरा पुरुषोत्तम होता है। यहाँ अर्जुन पुरुष है और श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम माने पुरुषोंमें बड़े। लोकदृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है, तत्त्वदृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है और अधिभूत दृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है। जैसे आप लोगोंमें कई अर्थ-सिद्ध हैं। यह अर्थ-सिद्धि तब मालूम पड़ती है जब उसके भोगकी इच्छा गौण हो जाती है। आप अपने अर्थमें इतना सुख अनुभव करते हैं कि खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं

रहती है। अर्थ-सिद्धि है माने आप उसमें तृप्त हैं। आपको कहीं किसीके पास जानेकी जरूरत नहीं। इसी तरह जो कामसिद्ध होते हैं वे अपने भोग-रागमें इतने तृप्त रहते हैं कि घरमें धन हो तो उड़ा दें, धर्मको ताकपर रख दें। उनको मोक्षकी जरूरत नहीं, वे भोग-सिद्ध हैं।

यदि हम लोग चाहें कि ये हमारे पास आकर शिक्षा ग्रहण करें तो यह हमारी गलती है। उनकी गलती नहीं है। वे तो अपने आपमें तृप्त हैं। इसी प्रकार जो आचार-सिद्ध या धर्म-सिद्ध हैं वे अपने हाथसे बनाकर खाते हैं, सिला कपड़ा नहीं पहनते। यज्ञशालामें होम करते हैं। वे हमलोगोंको प्रणाम नहीं करते क्योंकि उनको इसकी जरूरत नहीं। वे अपने आचारमें, धर्ममें सिद्ध हैं। जो ज्ञान-सिद्ध होते हैं वे सोचते हैं कि हमको क्या जरूरत है किसी धनीकी? क्या जरूरत है किसी भोगीकी? क्या जरूरत है यज्ञशालामें जाकर हवन करनेकी? वे अपने आपमें, ज्ञानमें तृप्त रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारकी सिद्धियाँ होती हैं, सिद्ध होते हैं। उनमें जब एक चाहे कि दूसरा हमारे पास आवे—ज्ञानी चाहे कि धनी हमारे पास आवे, धनी चाहे कि ज्ञानी हमारे पास आवे तो समझना कि दोनों अधूरे हैं। अगर ज्ञानी चाहता है कि धनी हमारे पास आवे तो वह अपने ज्ञानमें तृप्त नहीं है। धनीसे तृप्त होना चाहता है। इसी तरह दूसरे सिद्धोंकी बात समझ लें। तो मनुष्यको होना चाहिए—अपने आपमें सन्तुष्ट—तृप्त।

अर्जुनकी जिज्ञासा देखिये—**किं तद् ब्रह्म, किमध्यात्मम्** यही उसका रूप है। बड़ा लालच है उसकी इस जिज्ञासामें। इसका समाधान जान लेनेपर आप जरा-मरणसे, जन्मसे, रोग और मृत्युके दु:खसे भी मुक्त हो जायेंगे। आइये, हमारी दूकानका जो सौदा है, उसको आप एक बार लीजिए तो सही! उसका नमूना देखिए। यह विज्ञापन है। आपको जो दिनभरमें सौ बार शोक आता है, सौ बार भय आता है, आप जन्मनेको डरते हैं, मरनेको डरते हैं, कमाई छूट जानेकी चिन्तासे डरते हैं। आप डरते हैं कि पत्नी धोखा दे देगी। हमारा पुत्र बेवफा हो जायेगा। इस तरहके जो हजारों भय लगे हुए हैं उन सब भयोंसे आप मुक्त हो जायेंगे। आप समझिये कि ब्रह्म क्या है?

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

भगवान्‌के संकल्पसे कैसे सृष्टि चल रही है? सूर्य चन्द्रमाको कौन चला रहा है? तारागणको कौन धारण करता है? यह धरती अपने चक्रमें कैसे घूमती है? वह अधिष्टान क्या है, जिसमें यह सब हो रहा है? वह 'मैं' क्या है जो कर्ता बना डोलता है? अधिभूत क्या है? **अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।**

इसमें जो अलग-अलग विभागके अध्यक्ष हैं वे तो अधिदैवत हैं और सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका जो मालिक है वह परमेश्वर है। वह स्थान कौन-सा है जिसमें यह सब हो रहा है? यह '**मैं**' कौन-सा है जो सबको देख रहा है। यह सृष्टिकी मशीन किसके संकल्पसे चल रही है? यह जो सामग्री है, मसाला है उसके रूपमें कौन है? इसके एक-एक विभागके मालिक कौन हैं? सबका अन्तर्यामी नियन्ता कौन है? वह कभी आँखोंसे ओझल न हो, हमेशा दिखायी पड़े।

प्रयाणकालेऽपि—अर्थात् और समय तो कहना ही क्या मौतके समय भी दिखायी पड़ता रहे। सब दीखे, कहीं अज्ञानान्धकार हो ही नहीं।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय

●

प्रवचन : 2

युद्धभूमिमें, जहाँ दोनों ओरसे शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग होने ही वाला है, वहाँ बीचमें बैठकर ब्रह्मकी चर्चा करनेवाले महापुरुष कितने अद्भुत होंगे; इसपर विचार कीजिए। आप लोग किसी व्यापारके कामसे कार चलाते हो और आपका मन उस व्यापार-कार्यमें उलझा हुआ हो तो क्या आप उसके बोझसे मुक्त होकर ब्रह्मचर्चा कर सकते हैं? कितना वशमें होगा अर्जुनका मन, उसमें कितनी एकाग्रता होगी; जो सामने युद्ध-जैसा कठोर कर्त्तव्य उपस्थित होनेपर भी ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न है। अर्जुनको कितनी निश्चिन्तता होगी! युद्धकी तो कोई परवाह ही नहीं है। युद्धमें जीतके सम्बन्धमें तो कोई शंका ही नहीं है। वह जानता है उसे विश्वास है कि यदि युद्ध होगा तो वह जीतेगा। उसके सामने प्रश्न केवल विवेकका है कि वह जो काम करने जा रहा है, वह ठीक है या नहीं और ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूतिमें कहाँतक सहायक है? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब विचार प्रारम्भ हो गया तब उसे बीचमें नहीं छोड़ना, अपितु अन्ततक, ब्रह्मपर्यन्त पहुँचा देना। जो विचार बीचमें रह जाता है वह तो अधूरा है। विचार करना तो पूर्णतापर्यन्त करना।

तो, यह, अरण्य नहीं है, रणभूमि है। जैसा कि बताया जा चुका है अरण्य शब्दका संस्कृतमें सीधा अर्थ होता है, शरण लेने योग्य। घर गृहस्थीसे मुक्त होकर जिस जंगलकी शरण लेते हैं और जहाँ वेदान्त-विचार करते हैं, आरण्यक विचार करते हैं, उसका नाम अरण्य होता है। वहाँ रण नहीं होता। अरण्यका दूसरा अर्थ यह हुआ कि अब रण नहीं होता। जहाँ वादविवाद है, कोलाहल है, मारपीट है, वहाँ वेदान्त-विचार नहीं होता। परन्तु यहाँ तो आप रणभूमिमें बैठकर वेदान्त-विचार कर रहे हैं। जिज्ञासु भी कोई त्यागी, संन्यासी नहीं है। उसके हाथमें शस्त्रास्त्र है और हृदयमें अपने ममतास्पद लोगोंको देखकर मोह है। वह मोहकी निवृत्तिके लिए प्रवृत्त हुआ, परन्तु उसको ब्रह्मचर्चामें इतना रस आया—इतना रस आया कि रणभूमि भूल गयी, मोहास्पद भूल गये और ब्रह्मचिन्तन प्रारम्भ हो गया। आपके मनमें जैसे सुखकी जिज्ञासा होती है कि हमें सुख कहाँ मिलेगा, कब मिलेगा और कैसे मिलेगा, वैसे ही सत्यकी जिज्ञासा होती है कि नहीं? अवश्य ही आपको सुखकी इच्छा होती है, वह चाहे ज्ञानसे मिले, चाहे अज्ञानसे! चाहे सत्यसे मिले, चाहे असत्यसे। वेद, शास्त्र, धर्मकी रीति यह है कि आप सुखको चाहें और प्राप्त भी करें, परन्तु असत्यसे नहीं, सत्यसे। आप अज्ञानमें सुखी न हों, ज्ञानसे सुखी हों, आँख बन्द करके खुश न हों, खुली आँखसे खुश हों। तो जब अर्जुनके मनमें जिज्ञासा जागृत हुई तो उसने प्रश्न करनेमें संकोच नहीं किया। कई लोगोंके मनमें जाननेकी इच्छा तो होती है, परन्तु उन्हें पूछनेमें संकोच होता है। उस प्रश्नगत संकोची स्वभावको कबतक दबाओगे? एक-न-एक दिन तो वह उभरकर रहेगा। इसलिए उसका समाधान कर लेना चाहिए। प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक अंग है, जैसा कि बच्चेके जीवनमें होता है। प्रश्न स्वयं भी जगता है और जगाया भी जाता है। यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनके मनमें प्रश्न जगा दिया है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

इस प्रश्नमें अर्जुन रस ले रहे हैं। यह सत्यका रस है, ज्ञानका रस है। किन्तु यह रस द्रव्यका नहीं है, भोगका नहीं है, कर्मका नहीं है। यह ऐसा रस है जो जिज्ञासुमें होना ही चाहिए। आप अपनेको तौलिये और देखिये कि आपको स्वाद कहाँ आता है? सोनेमें आता है? भोजनमें आता है? काममें आता है? प्रेममें आता है? विचारमें आता है? शान्तिमें आता है? आपका रस, आपका स्वाद आपके जीवनमें कहाँ रखा है?

तो, प्रश्न हुए सात। अर्जुनने सातों बातोंको ग्रहण किया। उसको एक नयी बात मालूम पड़ी। जिसको थोड़ी-सी सुनी हुई बात नयी मालूम पड़ती है, उसको और-और जाननेकी रुचि होती है। एक दिन हमारे पास एक महिला आयीं। उनसे हमारा पहलेसे कोई परिचय नहीं था। पर देखनेमें बहुत प्रभावशाली मालूम पड़ीं। उन्होंने बैठकर भागवतके एक श्लोकका अर्थ पूछा। मैंने उनको सुनाया। वे बोलीं कि स्वामीजी, यह अर्थ तो श्रीमद्भागवतकी किसी भी टीका-टिप्पणीमें नहीं है। यह सुनकर हमको खुशी हुई। मैंने कहा कि आपने भागवतकी सारी टीका-टिप्पणी पढ़ रखीं हैं? उन्होंने कहा कि हाँ महाराज! संस्कृतमें पचास टीकाएँ तो भागवतपर हैं। फिर तो उनको सुनानेमें रस आने लगा। हमको अनुभव हुआ कि यह बहुत अध्ययनशील हैं। पहलेसे इस विषयमें विचार करके आयी हैं। आप चाहे पढ़नेके लिए विद्यालयमें जायें, चाहे श्रवणके लिए सत्संग-भवनमें जायँ आपको जो विषय पढ़ना है या श्रवण करना है, उसके बारेमें यदि पहलेसे थोड़ा-सा अध्ययन कर लें, उसकी टीका-टिप्पणी देख-सुन लें तो आपको मजा आयेगा।

अब आओ सातों प्रश्नोंपर विचार करें—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ 8.3

अक्षरं ब्रह्म। अक्षर परम ब्रह्म है। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ देखो। लिपियाँ अलग-अलग होती हैं। नागरी अलग है, तमिल अलग है, अंग्रेजी अलग है, रसियन अलग है, चायनीज अलग है। परन्तु उनमें 'अ' या 'क' अक्षर एक है। लिपिके भेदसे अक्षरमें भेद नहीं होता। अक्षरके आकारका नाम लिपि है। आकारके भेदसे निराकार अक्षरमें भेद नहीं होता। आकार स्त्रीका है, आकार पुरुषका है, आकार पशुका है, आकार पक्षीका है, आकार पेड़-पौधेका है। आकार माने शक्ल-सूरत, आकृति। आकृतिसे जातिका ग्रहण होता है। जैसे गाय या भैंसको पहचानने के लिए उनकी आकृति देखनी पड़ेगी। भैंस ऐसी होती है, गाय ऐसी होती है। यह गायोंकी जाति। यह भैंसोंकी जाति। यह मनुष्योंकी जाति। जाति ब्राह्मण नहीं है। जाति हिन्दू-मुसलमान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तो वर्ण हैं। **वर्णनात् वर्णः।** शास्त्रीय वर्णनसे वर्णका नाम होता है और आकृतिसे जातिका ग्रहण होता है। आचार्योंसे मजहब बनते हैं। लिंगसे स्त्री-पुरुष बनते हैं।

तो अक्षर क्या है? परब्रह्म परमात्मा है। सम्पूर्ण आकारोंमें रहकर निराकार है। **आकारेभ्यो निष्क्रान्ताः।** निराकार शब्दका अर्थ तो यह है कि सब शक्ल-सूरतोंमें, आकारोंमें रहकर भी उनसे परे हो। जो रासमें भी हो,

कृष्णमें भी हो, शिवमें भी हो, देवीमें भी हो, गणेशमें भी हो, सूर्यमें भी हो, परन्तु हो सबसे अलग। यदि परमेश्वरकी केवल एक आकृति मान ली जाय तो वह एक व्यक्ति हो जायेगा। जैसे हम एक आदमी होते हैं, वैसे ही परमेश्वर भी एक आदमी होगा। व्यक्तियाँ अनेक हैं, लिपियाँ अनेक हैं, परन्तु उनमें जो अक्षरके समान एक तत्त्व है, उसको परम ब्रह्म बोलते हैं। महाभाष्यमें अक्षर शब्दका अर्थ है अश्नुतेति। **अश्नुते व्याप्नोति।** जो अनेक आकारोंमें व्याप्त होता है, उसका नाम है अक्षर। अक्षर माने 'न क्षरति।' जिसका क्षरण हो, जो घिस जाय, उसको क्षर बोलेंगे। जैसे भूक्षरण होता है। माटी बह जाती है। यह क्षर है। परमात्मा वह है, जो कभी घिसता नहीं, पिटता नहीं, मिटता नहीं—एक सरीखा अक्षररूप मानता है, ईसाई भी अक्षररूप मानते हैं, मुसलमान भी अक्षररूप मानते हैं। हमारे सनातन धर्ममें भी परमात्माका स्वरूप अक्षर है। अक्षर माने अविनाशी, अनेकमें एक, सब आकारोंमें रहकर भी निराकार। आप उसका ध्यान कर सकते हैं। आकृतियोंका अलगाव करके सब आकारोंमें जो एक है, उसका ध्यान कीजिए। घड़े अनेक हैं, मिट्टी एक है। तरङ्ग अनेक हैं, पानी एक है। लपटें बहुत हैं, दीये बहुत जल रहे हैं, आग एक है। साँस अलग-अलग चल रही है, हवा एक है। ऐसे ही परमात्मा होता है। अब यदि परमात्मा सगुण है तो आप उससे प्रार्थना भी कर सकते हैं। प्रार्थना माने प्रकृष्टत्वेन अर्थना। प्रभु, आप ही सबसे श्रेष्ठ हो, आपसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है। हमारे धनसे, जनसे, अहंसे सबसे श्रेष्ठ आप हो। आपकी श्रेष्ठताको मैं स्वीकार करता हूँ। आप उसको नमस्कार भी कर सकते हैं। नमस्कार माने नमः, नमः, नमः—न मम—न मम। मेरा नहीं है, मेरा नहीं है—सब कुछ तेरा है। तुम्हारे बड़प्पनके सामने मेरा बड़प्पन कुछ नहीं है। आप उसके नामका जप भी कर सकते हैं—**ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म।** 'ॐ' यह अक्षर ब्रह्म है। एक भी है, अक्षर भी है। **तस्य वाचकः प्रणवः।** उसमें केवल वाच्य, वाचकका भेद है। वाचक अनेक हैं और वाच्य एक है। वाचक राम भी बोल रहे हैं, श्याम भी बोल रहे हैं, ॐ भी बोल रहे हैं। अनेक स्थानपर, अनेक समयमें, अनेक रूपमें ॐकारका उच्चारण हो रहा है। परन्तु परमेश्वर एक है। आप उसका ध्यान कीजिए, प्रार्थना कीजिए, नमस्कार कीजिए, जप कीजिए। उसको अपने जीवनके साथ, मनके साथ, बुद्धिके साथ जोड़िये। यह जो आप एक घेरेमें सीमित हो गये हैं, आपके जीवनमें संकीर्णता आगयी है, यह अखण्ड ज्ञानमें बाधक है। मजहब एक घेरा ही होता है। अखण्ड परमेश्वरके स्थानपर एक आचार्य मजहब हो जाता है। इसी तरह एक जाति, एक परिवार, एक वर्ग, एक लिङ्गका घेरा होता है। ये सब परिच्छिन्नताएँ हैं। यदि आप परमात्माके साथ अपनेको जोड़ेंगे तो इन सारी परिच्छिन्नताओंसे अलग हो जायेंगे। आप कतरे नहीं रहेंगे, दरिया हो जायेंगे। घटाकाश नहीं रहेंगे, महाकाश हो जायेंगे। यह है अक्षर ब्रह्म।

अब दूसरा प्रश्न है अध्यात्म क्या है? उत्तर है **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।** स्वभाव माने स्वसत्ता। आप द्रष्टा हैं। इधर देखो तो सब परमात्माका स्वरूप है और उधर देखो तो वह अक्षर है, परमब्रह्म है। सह रहा विश्वदृष्टिका आधार और आप स्वयं द्रष्टा बनकर उसे देख रहे हो। द्रष्टा भी परमात्माका स्वरूप है। स्वभाव माने 'स्वस्य भावः'—अपनी सत्ता, अपना भाव अभेदमें भी षष्ठी होती है। जैसे '**पुरुषस्य चैतन्यः**' '**ब्राह्मणस्य शरीरम्**'में अभेद होता है वैसे ही 'स्वभावः' अर्थात् 'स्वस्य भावः'में अभेद है। आपकी जो

अपनी सत्ता है उसीका नाम अध्यात्म है। सबके भीतर हैं आप। इस देहके भीतर हैं, इन्द्रियोंके भीतर हैं, मनके भीतर हैं और बुद्धिके भी भीतर हैं। स्वकी सत्तासे ही सबकी सत्ता प्रकाशित होती है। इसलिए जीवका जो असली रूप है उसका नाम होता है अध्यात्म। आप सबसे निवृत्त होकर इसमें स्थिर हो सकते हैं। यह इसका स्वभाव है। आपके जितने कारखाने हैं उनको थोड़ी देरके लिए अपनी जगहपर रहने दीजिए। मकान, परिवारको अपनी जगहपर, धन-दौलतको अपनी जगहपर, शरीरको अपनी जगहपर—उन सबकी ओरसे आँख मोड़कर आप अपने आपमें बैठ जाइये। यह भी परमात्माका ध्यान है। परमात्माके उपासनाकी एक पद्धति है। वह निवृत्ति है और परमात्माके नमस्कारमें, ध्यानमें जो तन्मयता है वह जपमें प्रवृत्ति है। सभी **सांसारिक** पदार्थोंकी ओरसे मन हटाकर अपने आपमें बैठ जाना निवृत्ति और परमात्माके नमस्कारमें, ध्यानमें **तन्मय होना** प्रवृत्ति। साक्षात्कारका मार्ग एकमें परमात्मा रहा 'वह' और दूसरेमें परमात्मा रहा 'मैं'। आखिर व्यवहारमें परमात्मा है कि नहीं? 'वह' और 'यह' के बीचमें ही तो व्यवहार चलता है। उधरसे भगवत्-सङ्कल्प आता है और इधरसे चेष्टा होती है।

अब देखो, **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।** दुनियामें आपको कुछ भी बनाना है, मिट्टीसे घड़ा बनाना है, पानीसे बरफ बनाना है, इस्त्रीमें गरमी लेकर कपड़ेकी सिलवट मिटानी है तो कर्म करना पड़ेगा। भगवान् जब सृष्टिकर्म करता है, सृष्टि बनाता है तब अपनी योग-निद्रा छोड़कर अपने स्वरूप रूप वीर्यको सन्तानोत्पत्तिके लिए प्रयोग करता है, वैसे ही परमेश्वर अपने वीर्यको योगमायामें डालकर यह सृष्टि बनाता है। आप यह प्रसङ्ग चौदहवें अध्यायमें देखें—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥14.3

यह गर्भाधान ही तो है मायामें—प्रकृतिके पेटमें। **महद्ब्रह्मयोनिः अहं बीजप्रदः पिता**—महद्ब्रह्म, महद्तत्त्व, बुद्धि यह माता है और **विसर्गः कर्मसंज्ञितः** जब प्रकृतिके प्रथम परिणाम महत्तत्त्वमें भगवान्का आभास पड़ता है तो आभासरूप वीर्याधानसे यह सृष्टि होती है। **तस्मिन् वीर्यं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत**—इसका अर्थ यह है कि वह सृष्टिकर्म भगवान्ने किया है। आप भी कर्म कीजिए और अपने कर्मके द्वारा स्वयंको भगवान्के साथ मिला दीजिए। आपका और भगवान्का मतभेद न हो। आपके कर्मकी दिशा और भगवत्-कर्मकी दिशा अलग-अलग न हो। **राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।** जोड़ दो अपनेको भगवान्के साथ। एक सन्तने कहा कि प्रभो, यदि मैं नरकसे बचनेके लिए तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ तो मुझे नरकमें डालो और यदि मैं स्वर्गमें जानेके लिए प्रार्थना करता हूँ तो मुझे स्वर्ग कभी मत दो। मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो।

तो, कर्मके द्वारा भगवान्की आराधना कब होती है? वैदिक सिद्धान्तके अनुसार निष्काम भावसे किया हुआ यज्ञ अन्तःकरण-शुद्धिका साधन है। यह अपौरुषेय ज्ञान है। किन्तु गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ-योगकी बात तो सीमित है। हमारा तो कर्म ही यज्ञ है। कर्मकी इतनी उदार व्याख्या और किसी शास्त्रमें नहीं

मिलती। द्रव्ययज्ञ, कर्मयज्ञ **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे** ये सब यज्ञ हैं। यहाँ तक कि हमारा जीवन ही यज्ञ है। यह जो पृथिवी सबको धारण करती है, वह पृथिवीका यज्ञ है।

यज्ञ करते समय क्रोध नहीं आना चाहिए। आपने पुराणोंमें पढ़ा होगा कि जब पृथुके घोड़ेको इन्द्रने कई बार चुरा लिया तो उनको क्रोध आगया और उन्होंने इन्द्रको मारनेका विचार किया। इसपर अत्रिने कहा कि तुम इस समय यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण घोड़ा चुरानेवालेको भी नहीं मार सकते। ठहरो हम वेदमन्त्रसे ही इन्द्रको पकड़ते हैं और उसको मारते हैं। यदि तुम अपनी शारीरिक शक्तिका प्रयोग करोगे तो यज्ञकी शक्तिका तिरस्कार हो जायेगा। इसको ऐसे समझो कि तुम धर्मके द्वारा धन कमा रहे हो। तुम्हारे साथ किसीने गड़बड़ी की। इसपर तुमने यदि यह विचार किया कि इसने हमारे साथ बेईमानी की है, इसलिए हम भी इसके साथ बेईमानी करेंगे तो धर्मपर तुम्हारा जो आश्रय था वह छूट गया। सामनेवाला चाहता था कि तुम धर्म छोड़ दो और तुमने धर्म छोड़कर उसका साथ दिया। यदि तुम कहते कि हम तो सच बोलना चाहते थे, पर यह झूठ बोलता है, इसलिए हम भी झूठ बोलते हैं तो तुम्हारा सच छूट गया। तुम भी असत्य-वादियोंकी कोटिमें चले गये। तो कहनेका मतलब यह है कि यज्ञमें कोई विघ्न-बाधा पड़े तब भी आप क्रोध न करें, क्योंकि आपका यज्ञ सबके लिए है। यज्ञ शब्दका अर्थ है कर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करना। कर्म अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए नहीं, भगवान्‌की आराधनाके लिए हो। गीता कहती है कि

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

मनुष्य अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करके सिद्धि प्राप्त करता है। अत: आप देखिये कि अपने कर्मसे किसकी आराधना करते हैं। **कस्मै देवाय हविषा विधेम?** आप इस लक्ष्यको ध्यानमें रखिये कि आपका कर्म होता है—जिनको वस्त्रकी जरूरत है, उनको वस्त्र देनेके लिए, जिनको मकानकी जरूरत है, उनको मकान देनेके लिए, जिनको भोजनकी आवश्यकता है, उनको भोजन देनेके लिए। आप यह भावना रखिये कि हम तो अपने कर्म-कलापसे सर्वात्मा भगवान्‌की आराधना कर रहे हैं, यज्ञ कर रहे हैं, अपने कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए, अपने अन्त:करणको शुद्ध करनेके लिए, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए और अपनी गल्तियोंका परिमार्जन करनेके लिए। कर्मके चार उद्देश्य होते हैं। एक तो अबतक हमसे जो भूलें हुई हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिए कर्म करते हैं। दूसरे हमारे अन्त:करणमें जो अशुद्धियाँ हैं, वासनाएँ हैं उनको मिटानेके लिए कर्म करते हैं। तीसरे माता-पिताके प्रति, समाजके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है, उसकी पूर्तिके लिए कर्म करते हैं। अपने कर्त्तव्यके पालनमें जब हमारा अन्त:करण निष्काम होता है, निर्मल होता है तो जैसे आकाशमें सूर्य चमकता है वैसे ही हमारे अन्त:करणमें परमेश्वरका प्रकाश हो जाता है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः का तात्पर्य है कि प्राणियोंके हृदयमें नवीन-नवीन भावनाकी उत्पत्तिके लिए अथवा पञ्चभूतोंसे नवीन-नवीन वस्तुओंके निर्माणके लिए, उनके भीतर छिपी शक्तिको प्रकट करनेके लिए भगवान् जो विसर्गरूप कर्म करते हैं, उसमें तब भी अपने कर्म द्वारा सहयोग करें। भगवान् श्रीकृष्ण उठाते हैं गोवर्धन। ग्वाल-बाल गोवर्धन तो नहीं उठा सकते, लाठियाँ लगाते हैं। ऐसे ही

भगवान् जो कर रहे हैं, उसमें हमारी लाठियाका, हमारे हाथका सहयोग भी होना चाहिए। भगवत्कर्ममें अपने कर्मके सहयोग द्वारा हम भगवान्‌की आराधना कर सकते हैं। **अधिभूतं क्षरोभावः**—क्षर भी भगवान्‌का ही रूप है, कर्म भी भगवान्‌का रूप है और अधिभूत भी भगवान्‌का ही रूप है। हम लोग शिवमह्रिन स्तोत्र पढ़ते है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योमस्त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता विभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥

यह पृथिवी भगवत्‌रूप है। पृथिवीका कर्मयोग यह है कि वह सबको धारण करती है। परन्तु अपने ऊपर थूकनेवाले पर, लघुशङ्का करनेवालेपर, शौच जानेपर, अपनेको खोदनेवालेपर कभी क्रोध नहीं करती और यह नहीं कहती कि हम तुमको अपने ऊपर धारण नहीं करेंगे। यही कर्मयोगका रूप है। जब अपने भीतर जो दूध डाले, उसका भी आप्यायन करता है, पालन-पोषण करता है और जो गन्दा करे, उसको भी तर करता है। सूर्य सबको रोशनी देता है, चन्द्रमा सबको चाँदनी देता है, हवा सबको साँस देती है, अग्नि सबको तेज देती है। आकाश सबको घूमने, फिरने, बोलने, साँस लेनेका अवकाश देता है। वह यह नहीं कहता है कि गाली देनेवालेकी आवाज वहाँ तक नहीं पहुँचायेंगे और तारीफ करनेवालेकी आवाज पहुँचा देंगे। आकाशमें सबकी आवाज बराबर है। यह यज्ञ है, भगवत्-कर्म है और इस अधिभूतके रूपमें स्वयं भगवान् हैं।

ॐ भूरसि भूमिस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृ थ्ठं ह पृथिवीं मा हि थ्ठं सीः॥

'क्षरोभावः'का अर्थ है भगवान् ही क्षर रूपमें हैं। बदलनेवाले भी भगवान् ही हैं। एक वेदान्ती महात्मा थे। उनका आग्रह था कि परमात्मामें परिवर्तन नहीं होता। संसारमें परिवर्तन होता है। परमात्मा अपरिवर्तनशील तत्त्वके रूपमें एकरस और अपरिणामी है। मैंने उन महात्मासे कहा कि आप परिणाम क्यों बोलते हैं। नित्यनूतन क्यों नहीं बोलते? हमारा परमात्मा नित्यनूतन है। हम जितनी बार उसकी ओर देखते हैं, वह बिलकुल नया-नया दीखता है। यह जगत्‌का रूप है, विकारी नहीं है, परिणामी नहीं है। मोहके कारण ही इसमें विकार मालूम पड़ता है। जैसे दूधमें विकार हुआ तो दही बन गया। क्या दूध उत्तम रूप है और दही निकृष्ट रूप है? नहीं दूध भी उत्तम है, दही भी उत्तम है। दूध दहीके रूपमें बदल गया तो क्या! रस तो उसमें है। जो रस दूधमें था, वही रस एक नया रूप लेकर दहीमें आया। वही रस परमात्मा है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** यदि आप कहें कि मल-मूत्र रस नहीं होता तो किसीके लिए उसमें भी रस होता है। सूअरके लिए, पेड़-पौधोंकी खाद आदि के लिए उसीमें रस होता है। उनका भोजन उसीमें रहता है।

तो **अधिभूतं क्षरो भावः**। यह जो परिवर्तन है, इसमें पहचान लो कि इसके भीतर कौन है? यदि कोई

दिनभरमें दस तरहकी पोशाक पहनकर, दस तरहके बाल सँवारकर, दस तरहकी बोली बोलता हुआ आपके सामने आवे तो कैसा लगेगा। यदि आपका प्रिय होगा तो मजा आयेगा और अप्रिय होगा तो आप कहेंगे कि यह वनावट कर रहा है। जैसे अपने प्रियका हर वेश अच्छा लगता है वैसे ही जो लोग परमेश्वरको पहचानते हैं, वे जानते हैं कि परमात्मा नये-नये रूपमें प्रकट हो रहा है। वे सर्वरूपमें परमात्माका दर्शन करते हैं। यह क्षर भाव भी परमात्माका ही है। मिट्टी परमात्मा है तो क्या घड़ा परमात्मा नहीं है? हमलोग देहकी तरफ ज्यादा देखते हैं, तत्त्वकी तरफ नहीं देखते। इस शरीरमें जो माटी है, पानी है, आग है, हवा है, आसमान है, यह सब परमात्माका स्वरूप है। हम पढ़ते हैं—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

यह सब परमात्माका स्वरूप है।

अब आप देवताओंकी बात लीजिये। हमारे सनातन धर्मकी विशेषता है कि प्रत्येक इन्द्रियके अनुग्राहक देवता होते हैं। आप जो आँखसे रूपको देखते हैं, उसके बीचमें सूर्यकी रोशनी है। वह एक ओर जहाँ रूपपर अनुग्रह करती है, रूपको चमका देती है, वहाँ दूसरी ओर हमारी आँखोंमें जो देखनेकी शक्ति है, उसको बढ़ा देती है। रूपका अनुग्राहक भी सूर्य है और नेत्रका अनुग्राहक भी सूर्य है। सूर्य देवता है और वह भेदभाव नहीं करता। यही बात चन्द्रमामें है। सूर्य और चन्द्रमाका अद्भुत जीवन है।

स्वस्ति पन्थां अनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव।

इसका तात्पर्य है कि हम जीवनमें सूर्यके समान आगें बढ़ें, चन्द्रमाके समान आगें बढ़ें। सबको प्रकाश दें, सबको आह्लाद दें। किसीकी हिंसा न करें और सबको कुछ-न-कुछ देते चलें। ये तीन विशेषताएँ हैं सूर्य और चन्द्रमाकी, मनुष्यको इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। अज्ञानीको ज्ञान देना, प्रकाश देना, सबको शक्ति देना, सबको आनन्द देना, किसीकी हिंसा न करना और चलते रहना-कभी रुकना नहीं। **चरैवेति-चरैवेति।** यह मनुष्यका धर्म है। यज्ञ है।

पुरुषश्चाधिदैवतम्—में जो पुरुष शब्द है उसका अर्थ है—हिरण्यगर्भ। सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके मूलमें हिरण्यगर्भ है। एक ब्रह्माण्डमें है ब्रह्मा और हमारी इन्द्रियोंको शक्ति देनेके लिए वह भिन्न-भिन्न रूपमें है। आँखके लिए सूर्य है, कानके लिए दिशाएँ है, हाथके लिए इन्द्र है, वाणीके लिए अग्नि है, जीभके लिए, स्वादके लिए वरुण है। इन देवताओंकी भिन्न-भिन्न रूपसे उपासना करनेसे उन- उन इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। जैसे मिनिस्टरोंके विभाग बँट जाते हैं, वैसे ही हमारे ऐन्द्रियक कर्म हैं। उनका विभाग एक समष्टि देवताके हाथमें बँटा होता है। वही उसका मूलस्रोत होता है। उसकी आराधना अलग-अलग की जा सकती है। जैसे सूर्यकी पूजा होती है, चन्द्रमाकी पूजा होती है वैसे ही अलग-अलग अधिष्ठातृ देवताओंकी पूजा होती है। अश्विनीकुमारोंकी पूजा, वरुणकी पूजा, अग्निकी पूजा, ये सब हमारी व्यष्टिको शक्ति देनेवाले स्रोत हैं। हमको जहाँसे भोजन मिलता है, वहाँके प्रति कृतज्ञ होना, आदरभाव प्रकट करना—देव-पूजा है। यह देव-पूजा भी परमेश्वरकी ही पूजा है, क्योंकि इन सब देवताओं रूपमें परमेश्वर ही आता है।

अब भगवान्‌का छठा रूप है—अधियज्ञ। वह सबके शरीरमें होता है। थोड़ा बहुत सभीके शरीरसे यज्ञ होता है। यह बात दूसरी है कि कोई-कोई मारण-मोहन-उच्चाटनके लिए भी यज्ञ करते हैं। वहाँ उद्देश्य बदल जाता है। कहाँ प्राणियोंके पालन-पोषणके लिए किया जानेवाला यज्ञ और कहाँ मारण-मोहन-उच्चाटनके लिए किया जानेवाला यज्ञ। दोनोंका फल उनके भले-बुरे उद्देश्यके अनुसार मिलता है। जैसे वेद-मन्त्रोंका उच्चारण होता है, वैसे ही अच्छे-बुरे शब्दोंका भी उच्चारण होता है। कोई सामनेवालेको मारनेके लिए बोला जाता है और कोई जिलानेके लिए बोला जाता है। इसी तरह आँखोंकी बात है। किसीको टेढ़ी नजरसे देखते हैं, किसीको लूटनेके लिए देखते हैं और किसीको मदद करनेके लिए देखते हैं, किसीको क्रोधसे देखते हैं, किसीको प्यार देनेके लिए देखते हैं। आँख वही है, परन्तु देखनेमें अन्तर है। आपके भीतर है एक अधियज्ञ पुरुष। अधियज्ञका अर्थ गीताके इस श्लोकके सन्दर्भमें समझना चाहिए।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

मनुष्यके यज्ञ और तपस्या दोनोंका उपभोग भगवान् करते हैं। जैसे आप कोई दान करते हैं तो जिसे आप दान देते हैं, उसमें बैठकर भगवान् ही दान लेते हैं। इसी तरह आप अपने लिए थोड़ा संकोच करते हैं, तप करते हैं और दूसरेको अन्नदान करते हैं। एकादशीका या और कोई व्रत रखते हैं तो आपने जो दान दिया, वह दान ईश्वरने गरीबके हाथमें बैठकर आपसे लिया। आपने गरीबको दान नहीं दिया ईश्वरको दान दिया। आपने जो तपस्या की, उसे ईश्वरने ग्रहण किया। आप जो भोगके लिए कंगाल हो रहे थे, उसपर आपने नियन्त्रण किया। आप अन्तर्यामीसे एक हो गये। अन्तर्यामी माने परमेश्वर, नियन्ता—जो भीतर रहकर सबको नियन्त्रित करता है। वह सबके भीतर बैठकर अनुशासन करता है। आपने अनुशासित रहकर ईश्वरके अनुशासनमें सहयोग दिया। कब? जब बुरा काम करनेसे आपने अपने हाथको रोक लिया। बुरी जगह जानेसे अपने पाँवोंको रोक लिया। बुरी बात बोलनेसे अपनी जीभको रोक लिया और बुरी बात देखनेसे अपनी आँखोंको रोक लिया। यहाँ तक कि किसीके प्रति दुर्भाव होनेसे अपने मनको बचाना भी मानसिक तप है। यह मत समझना कि हम तो बुरेको बुरा समझते हैं। इसमें क्या दोष है हमारा। बुरेको बुरा समझनेसे तुम्हारा मन जो बुरा बन गया, यह क्या तुम्हारी थोड़ी हानि है? इसीलिए ईश्वर भीतर बैठकर तुम्हें पकड़े हुए है कि तुम बिखर न जाओ। वे अन्तर्यामी हैं। तुम्हारा नियमन करते हैं और तुम्हारे द्वारा जो सत्कर्म होता है उसको दोनों हाथ फैलाकर ग्रहण करते हैं। इसीलिए कहा—**भोक्तारं यज्ञतपसां।**

अब देखो—**सुहृदं सर्वभूतानां...**। ईश्वर सबका सुहृद है, सबका भला करता है। भगवान् गीतामें दूसरी जगह कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 9.24

आपके द्वारा जितने भी अच्छे कर्म होते हैं, जितना भी यज्ञ होता है, उसका भोग भगवान् लगाता है। भोग

ही नहीं लगाता, सञ्चालन भी करता है। **प्रभुरेव च**का अर्थ है कि भगवान् उसका फल भी देता है। परन्तु लोग भगवान्को अधियज्ञ रूपसे पहचानते नहीं, इसीलिए वे अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं।

आओ गीतामें अधियज्ञका जो स्वरूप है उसकी और चर्चा करें—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

परमात्मा रहता है आपके शरीरमें। भगवान् आपकी देहमें अधियज्ञ रूपसे रहते हैं। असलमें कहना यह है कि निराकार ईश्वर भी वही है, आत्मा भी वही हैं, यह पृथिवी, जल, वायु, आदि अधिभूत भी वही हैं। इसमें जो देवता हैं, उनके रूपमें भी वही है। फिर भी तुम परमात्माका असली स्वरूप जानना चाहो तो समझो कि—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मा पाससे वस्तुओंको देखता है। तुम्हारे मनमें जो चीज आती है, उसके बिलकुल पास रहकर उसको देखता है। तुम्हारी आँखें जिसको देखती हैं, उन आँखोंके पीछे बैठकर, आँखोंके झरोखोंसे वही झाँकता हैं। बुद्धिके दूरबीनमें-से भी वही देखता है। वह उपद्रष्टा है। यह काम करो इसके लिए अनुमति देता है—**अनुमन्ता च।** वही भर्ता है भरण-पोषण करता है और उस कर्मका भोक्ता भी वही है। वही सर्वान्तर्यामी है और वही निर्विकार परमात्मा है। वह कहाँ रहता है, इसी देहमें रहता है—'देहेस्मिन्'। परमात्मा तुम्हारे इसी शरीर रूपी मोटरमें बैठा है। मोटर भी वही है। मोटरका चालक भी वही है। मोटरका एक-एक कलपुर्जा भी वही है। मोटरका मालिक भी वही है। मोटरकी आत्मा भी वही है। मतलब यह कि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो संचालन हो रहा है, वह वही है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।

यह जो परमपुरुष है, पुरुषोत्तम है, यह यहीं रहता है। यह शरीर एक नगरी है और उसका वासी है परमपुरुष। पुरुष माने शरीररूप नगरका निवासी। वह इसीमें सोता है, रहता है, इसीमें बसता है। यह बिलकुल मूक रूपसे रहता है। किसीका विरोध नहीं करता। यही उस परमात्माकी पहचान है।

अभिवादतऽविरुद्धश्च यो धर्मस्ते निबोधत।

ईश्वरका किसीसे वाद-विवाद नहीं होता। उसका किसीसे विरोध नहीं है। यहाँ तक कि वह अज्ञानको भी रोशनी देता है। उसीकी रोशनीमें अज्ञान मालूम पड़ता है। दुःख उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है, पाप उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है। सब कुछ उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है। किसीको प्रकाशित करनेमें वह संकोच नहीं करता, यह नहीं करता कि हाय-हाय यह मैं कैसे दिखाऊँ? वह सबको अपनी गोदमें रखता है। सबको प्रकाशित करता है। सबको आनन्द देता है। वही जीवन देनेवाला है, ज्ञान देनेवाला है, सुख-शान्ति देनेवाला भी वही है। उसी सुहृद्को जान लेनेपर शान्तिकी प्राप्ति होती है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

यदि मनुष्य भगवान्‌को अपना सुहृद् नहीं समझता है तो यह उसका दुर्भाग्य ही है। एक विद्यार्थी विद्यालयमें पढ़ रहा था। वह अनाथ था। समझता था कि मेरे माँ-बाप नहीं हैं। एक सेठ विद्यालय देखनेके लिए आये। उनकी दृष्टि उस लड़केपर पड़ी। उन्होंने प्रिंसिपलसे कहा कि इसकी पढ़ाईका खर्च हमारी ओरसे आयेगा। इसकी देख-देख और पालन-पोषणका सब भार मेरे ऊपर होगा। किसीको बताना मत। जब लड़का बड़ा हुआ तो सेठने बुलाया। पहले तो वह डरा कि सेठने मुझे क्यों बुलाया। फिर जब उसको मालूम हुआ कि मैं जब पढ़ रहा था तभीसे इनकी दृष्टि मेरे ऊपर है। इन्हींके धनसे तो मैंने पढ़ा है। इन्हींके सौजन्यसे मैं ऐसा बना हूँ। तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह समझने लगा कि मैं निराश्रय नहीं हूँ, निराधार नहीं हूँ। मेरा कोई आश्रय है, मेरा कोई आधार है। इसीलिए मानव तुम अपने सुहृद्‌को पहचानो। भगवान्‌को सुहृद् बनाना नहीं पड़ता। सुहृद्‌के रूपमें पहचानना पड़ता है। वे कभी चपत लगाते हैं, कभी अपमान भी करते हैं। भूखे-नंगे भी रखते हैं। परन्तु उनके सौहार्दमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिए उनको पहचानो। **पुरुषः परः** का अर्थ है कि भगवान् सबसे परे रहकर सबका पालन करता है और सबकी पुष्टि देता है। संस्कृतमें पर शब्दका अर्थ होता है—**पिपर्ति-इति परः।** प्रिय धातुसे पर शब्द बनता है। उसका अर्थ होता है भीतर रहकर पालन करता है और पुष्टि देता है।

अब देखो आप इस व्याख्यासे कहाँ पहुँचे। यह कि निराकार सर्वाधिष्ठान भी वही, द्रष्टा भी वही, कर्म भी वही, अधिभूत भी वही, अधिदैव भी वही, अधियज्ञ भी वही। माने सर्वत्र सब रूपोंमें वही परमात्मा—**वासुदेवः सर्वमिति।** सब वासुदेव हैं, किन्तु **स महात्मा सुदुर्लभः**—इस बातको अनुभव करनेवाला महात्मा दुर्लभ है। माने परमात्मा तो सुलभ है, **तस्याहं सुलभः पार्थ।** महात्मा दुर्लभ है। अब स्मरणकी बात देखो—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ 8.5
प्रयाणकालेऽपि च मां ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।

मृत्युके समय परमात्माकी पहचान कैसे हो? इसका उपाय यह है कि पहलेसे पहचानकर रखो कि सब परमात्मा हैं। तब आपको मृत्युके समय कोई घबराहट नहीं होगी। गीतामें आप पढ़ते हैं कि **मृत्युःसर्वहरश्चाहम्**—मृत्युके रूपमें परमात्माको पहचान लो तो सत्-असत् अथवा मृत्यु, अमृत कहीं भी तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है, कोई घबराहट नहीं है, कोई अवनति नहीं, कोई पतन नहीं है। सर्वत्र परमेश्वर, परमेश्वर ही परमेश्वर!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

अधियज्ञोऽहमेवात्र— भगवान् कहते हैं कि मैं इस देहमें अधियज्ञ रूपसे रहता हूँ। कितने आनन्दकी बात है। भगवान् इसी शरीरमें रहते हैं। जिसमें मैं, उसीमें भगवान्। एक मकानमें दोनों, एक कमरेमें दोनों, एक पलङ्गपर दोनों। यह कितना सुगम है कि भगवान् हमसे दूर नहीं हैं। हम वे एक साथ रहते हैं। निर्गुण भगवान्को प्राप्त करना हो तब तो 'यह नहीं', 'यह नहीं', 'यह नहीं'—ऐसे निषेध करना पड़ता है और जो बच जाता है वह भगवान् होता है। **निषेधशेषो जयतादवशेषः**—सबका निषेध करनेपर जो शेष रह जाता है वही अशेषात्मा भगवान् है। सगुण भगवान्के लिए निषेध करनेकी आवश्यकता नहीं होती। यह भी भगवान् वह भी भगवान्। निर्गुण भी वही, सगुण भी वही, आत्मा भी वही, हृदय भी वही, देवता भी वही। निर्गुण भगवान् सबका निषेध करनेके बाद अपने आपके रूपमें अनुभवस्वरूप है और सगुण भगवान् जो दिखता है सबमें, सब जगह वह है। वेदान्त दृष्टिप्रधान होता है और भक्ति भावप्रधान होती है। दृष्टि जैसी वस्तु होती है वैसी ही होती है और भाव हम जैसा करना चाहते हैं, वैसा होता है। दोनोंमें अन्तर होता है। दृष्टि वस्तुतन्त्र होती है, यह भाव कर्तृतन्त्र होता है। ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। कर्त्ताके अधीन है भाव और जैसी वस्तु है उसके अनुसार है दृष्टि। जहाँ हम '**वासुदेवः सर्वम्**'—सब वासुदेव ऐसा कहते हैं वहाँ दिखता तो है पेड़, परन्तु उसमें भाव करते हैं वासुदेवका। वेदान्ती कहते हैं कि सब तो अनेक हैं। सब माने हम सब लोग स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी आदि। ये सब दीखते तो अलग-अलग हैं किन्तु इनको बताते हैं—'वासुदेव'। अब या तो भाव करो कि सब वासुदेव है या इनमें अलगाव है। निषेध करने पर जो शेष रहता है, उसको 'वासुदेव' मानो। यें दो प्रक्रियाएँ हैं। जब हम 'वासुदेवः सर्वम्' बोलते हैं तब वासुदेव एक है और सब अनेक हैं। वासुदेव, परमात्मा एक है और उसको बोल रहे हैं सब। सब माने बहुतोंका जोड़ जैसे वे-वे-वे, ये-ये-ये। मैं-मैं-मैं नहीं, क्योंकि मैंका बहुवचन नहीं होता। मैं-मैं-मैं ऐसा अनुभव तो कभी किसीको होता ही नहीं। ये-ये-ये अथवा वे-वे-वे अनुभव होता है। इसलिए मैंका बहुवचन वैयाकरणोंको अभीष्ट नहीं है। व्याकरणके नियमानुसार—जब दो बोलना होगा तो बोलेंगे 'आवाम्'। इसमें अहंका तो लोप ही हो गया। इसी प्रकार 'वयं'में भी अहं नहीं है। अहंका लोप करके ही हम 'अवाम्', 'वयं' बोलते हैं।

तो जैसे मैं का अहंका, बहुवचन नहीं होता वैसे ही वासुदेवका भी बहुवचन नहीं होता। वासुदेव तो एक ही है। ये जो कहते हैं कि मुसलमानोंका परमात्मा, ईसाइयोंका परमात्मा, वैष्णवोंका परमात्मा, शैवोंका परमात्मा—यह सब मुसलमान, ईसाई, वैष्णव, शैव आदि शब्दोंकी पूँछ जोड़ी गयी है। परमात्मा तो अनेक नहीं, एक है।

अब प्रश्न है कि एकको अनेक कैसे बोलते हैं? **वासुदेवः सर्वम्** कैसे? इसका उत्तर आचार्योंने दिया है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि वासुदेवका शरीर है सब। श्रीनिम्बाकाचार्य कहते हैं कि वासुदेवका कार्य है सब। श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि वासुदेव प्रधान है सब। श्रीबल्लभाचार्य कहते हैं वासुदेव ही सब कुछ बन गया है। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं कि सब नहीं है केवल वासुदेव ही है।

अब आपलोग सबको वासुदेवके रूपमें अनुभव कीजिए, अपनी-अपनी रीतिसे। जो सब जगह होता है, उसके लिए पन्थ नहीं होते। जो यहाँ नहीं होगा, वहाँ होगा तो वहाँ जानेके लिए पन्थ चाहिए। उसमें सिक्ख पन्थ चाहिए, इस्लाम पन्थ चाहिए, ईसाई पन्थ चाहिए, शैव पन्थ चाहिए, वैष्णव पन्थ चाहिए। जो सब जगह होता है, उसको पानेके लिए पन्थ नहीं है। उसको तो आप जहाँ हैं, वहीं पा सकते हैं। अक्षर भी ब्रह्म है, आत्मा भी ब्रह्म है, देवता भी ब्रह्म है, भूत भी ब्रह्म है और अधियज्ञ भी ब्रह्म है। इसका अर्थ हुआ कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। अब आपको स्मरणमें बाधा क्या है? जो सब है, वह तो सब जगह स्पष्ट ही है। स्मरण तो उसका करना पड़ता है, जो पहले कभी मिला हो और अब आँखसे ओझल हो। जैसे एक शास्त्रीजी कल मिले थे। आज वे हमारे सामने नहीं हैं, उनकी याद आती है। हम जिनकी याद करते थे, आज वे हमारे सामने हों तो इसका नाम स्मृति नहीं है। इसका नाम तो प्रत्यक्ष है। इसीसे ऐसा मानते हैं कि परमात्मा तो साक्षात् अपरोक्ष है। प्रत्यक्ष है यह पुस्तक, परोक्ष है स्वर्ग और अपरोक्ष है हमारे मनके काम, क्रोध, लोभ, शान्ति, धृति आदि। ये न स्वर्गके समान परोक्ष हैं, न पुस्तकके समान प्रत्यक्ष हैं। परन्तु इनको भी जाननेके लिए सामने देखा जाता है। इसी तरह अपना आपा साक्षात् अपरोक्ष है। वह देखा जानेवाला नहीं है किन्तु उसको देखना है। इसीको साक्षात् अपरोक्ष बोलते हैं। इसको देखनेके लिए किसी जरियेकी जरूरत नहीं है।

तो आओ परमात्माको देखो। परमात्माकी स्मृति नहीं होती, उसका अनुभव होता है। स्मृति और अनुभव दोनोंमें अन्तर है? अनुभव वर्तमानमें है और स्मृति भूतकी है। गृहीत स्मृति। जिसको पहले ग्रहण किया है, उसको ग्रहण करना, जाने हुएको जानना, इसका नाम स्मृति है और अनजानेको जान लेना इसका नाम ज्ञान है। गीता कहती है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

यही है परमात्मा, इसी देहमें है। संस्कृत भाषामें देह माने राशि, ढेर। लोग गाते हैं—

मेरा हीरा हेराय गयो कचरेमें।

इसी कचरेमें हीरा है, हड्डी है, मांस है, चाम है। इसीमें स्त्री है, पुत्र है। इसीमें धन-दौलत है, सब कुछ है। सारी दुनियाका कचरा इसी कलेजेमें रहता है और इसीमें वह हीरा भी है। वह हीरा क्या है? हरि है, हर है। वह शक्तोंका 'ह्रीं', वह मुसलमानोंका रहीम यहीं है। मजहब तो महज ऊपर चढ़नेकी एक सीढ़ी मात्र है। मजहबका महत्त्व कुछ परमात्मामें नहीं है। आपके पास मोटर है पर वह दरवाजेतक ही पहुँचायेगी। महलके भीतर, सोनेके कमरेतक उसकी गति नहीं है। इसी प्रकार सब महजब मोटरके समान हैं। चढ़ो, चलो, छोड़ दो। बिना छोड़े अपने महलमें नहीं पहुँच सकते—छोड़ना ही पड़ेगा। इसी देहमें परमात्मा है—वह उपद्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, महेश्वर है, परमात्मा है। अब चाहे तो उसका निषेध करके देखो या उसका साक्षात्कार करो। यह-यह-यह करके आप अपने भावको दृढ़ बना लो। दोनोंमें राग-द्वेष नहीं है।

आपके दिलमें जो जलन है, स्पर्धा, असूया, तिरस्कार किसके लिए? आप होड़ किंससे लगाते हैं? सबमें

परमेश्वर है। आप किसके अन्दर दोष देखते हैं! वह तो परमात्मा है। किसका तिरस्कार करते हैं। वह तो परमात्मा है। किसके सामने अहंकार करते हैं? जब आप अपनेसे छोटेको देखते हैं—तब अहंकार करते हैं। अपनेसे बड़ेकी ओर देखिये। अहंकारके लिए कोई जगह नहीं। सबमें देखो परमेश्वरको तो राग, द्वेष नहीं होगा। पाँच दोष अपने साथ लगे हुए हैं। हम मरनेसे डरते हैं और किसीको मारना चाहते हैं। किसीकी मुहब्बतमें फँस जाते हैं और मैं-मैं-मैं अपने जीवनमें आ जाता है। ये चार बात अँधेरेमें होती हैं। आप आँख बन्द करके ऐसा करते हैं। डरते हैं आप आँख बन्द करके। दूसरेको मारना चाहते हैं—आँख बन्द करके। दूसरेसे मुहब्बत करते हैं आँख बन्द करके। असलियतको समझें तो न दुश्मनी होगी, न मुहब्बत होगी। न डर लगेगा। आपका मैं मैं मैं इसको परमात्मामें विलीन हो जाने दो। सब प्रकाश ही प्रकाश है। अज्ञानके अन्धकारमें मैं होता है। उस मैं में मोहब्बत होती है। एकसे मुहब्बत होनेपर दूसरेसे दुश्मनी होती है और अपने मरनेका डर होता है और जहाँ प्रकाश है?

सामनेसे शेर आया—ओ हो प्रभो! तुम आये हो। पहले नृसिंह बने थे न! प्रह्लादकी रक्षा की। आज मेरे लिए नृसिंह बनकर आये हो। इससे उत्तम और क्या होगा कि मैं आपका भोजन बन जाऊँ। लोग हलवा-पूड़ीका भोग लगाते हैं—हमारे शरीरका ही भोग लग जावे। यह होता है भक्तका भाव। वह मृत्युमें भी परमेश्वरको पहचानता है। ऐसा भाव दृढ़ हो जाय कि मृत्युके समय भी परमात्माकी विस्मृति न हो।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ 8.5

संशय न करो।

अन्तकाले च—अन्तकालमें जो 'च' है उसका अर्थ यह है कि जीवनकालमें जो परमात्माका स्मरण करता है—अन्तकाले 'च' जीवनकाले—अन्तकाले 'च' दोनोंका समुच्चय है। आप जीवन-कालमें भगवान्‌का स्मरण कीजिए। स्मरण करनेके लिए गुफामें बैठनेकी जरूरत नहीं है। समाधि लगानेकी जरूरत नहीं। आप ऐसे ही स्मरण करें। स्मरण भी दो तरहसे होता है। एक तो ऐन्द्रियक अनुभवसे स्मरण होता है और एक श्रवणसे स्मरण होता है। सुनी हुई बातोंका खूब स्मरण होता है। जैसे आप संगीत सुनते हैं, उसमें जो शब्दका उच्चारण है वह धर्म है, और उसमें जो भगवान्‌का प्रेम है वह भक्ति है, उसमें जो लय है वह योग है और उसमें जो अर्थका साक्षात्कार है वह ज्ञान है। संगीत आप सुनते हैं तो गाये हुए पदका अर्थ भी समझते हैं या नहीं? जो पवित्र शब्दोंका उच्चारण है, वह तो धर्म है। क्योंकि उच्चारण क्रिया है। उससे जो भगवान्‌का प्रेम आता है। हृदयमें, वह भक्ति है और जब लय हो जाता है तो योग है। आप कहाँ हैं देख लीजिये। जिस अर्थका प्रतिपादन है, उस पदमें उस अर्थका साक्षात्कार होता है तो ज्ञान हो जाता है। शब्द सौन्दर्य है, भाव सौन्दर्य है, तन्मयताका सौन्दर्य है और साक्षात्कारका सौन्दर्य है।

अन्तकाले च—जिन्दगी भर दूसरोंका स्मरण करो और भगवान्‌का भी स्मरण करो परन्तु मरनेके समय—केवल भगवान्‌का स्मरण करो। **मामेव स्मरणम्**—केवल मुझे स्मरण करते हुए अर्थात् जिन्दगीमें जो दूसरे स्मरण हैं उनको ऐसा रखो कि वे जीवनकालमें तो भले रहे, आपके साथ परन्तु मृत्युकालमें वे आपके

साथ चिपके न रह जायँ। मृत्युकालमें केवल परमात्मा रहे। अर्थात् आप जीवनकालमें जो दूसरी वस्तुओंका स्मरण करें उनमें आसक्ति न हो, स्मरण हो और भगवान्‌में आसक्ति हो। जब आसक्ति होगी तब मृत्युकालमें भगवान्‌का स्मरण होगा। रही बात कलेवरकी। तो, जगन्नाथजीका भी कलेवर बदलता है। जब-जब आषाढ़ मासमें मलमास होता है, चाहे १२ बरसमें हो चाहे छत्तीस बरसमें हो, तब तब जगन्नाथजीका भी कलेवर बदल जाता है। कलेवर तो सबका ही छूटता है। किसीका कलेवर नहीं रहता। ब्रह्माका भी कलेवर छूट जाता है। यह ब्रह्माण्ड छूटता है तो कलेवर भी छूटता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस महत् तत्त्वमें मालूम पड़ते हैं, जब उसका कलेवर छूटता है तो हिरण्यगर्भका कलेवर भी छूट जाता है। जब निरुपाधिक ब्रह्मात्मैक्य-बोध होता है—तो प्रकृतिरूप कलेवर भी छूट जाता है। अन्तर्यामी हो गया ब्रह्मसे और उसका जो कलेवर है प्रकृतिरूप वह छूट गया। आपका भी कलेवर छूटेगा। इस सत्यसे आप आँख क्यों बन्द करते हैं। यह तो एक ठोस सत्य है। कलेवर तो छूटेगा, छूटेगा। यदि शरीर न छूटे तो आत्माकी पूर्णता जाननेकी कोई जरूरत ही न रहे।

भगवान्‌ने बड़ी भारी कृपा की है। जब आपका शरीर नहीं था तब आप थे, जब नहीं रहेंगे तब भी आप रहेंगे। इस समय भी—शरीर भी है और आप भी हैं। इस शरीरमें भी आप हैं। **स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्**—यह शरीर ज्यों-का-त्यों रहे। इस मशीनको चलाओ इससे काम लो। लेकिन इसको अपनेमें चिपकने मत दो। यदि मशीन तुम्हारे साथ चिपक जायगी, मशीनमें तुम चिपक जाओगे तो जब मशीन टूटेगी तो तुम टूटोगे। जब मशीन मरेगी तो तुम मरोगे। यह तो आपको एक खिलौना मिला है। एक काम करनेका औजार मिला है। यह करण है। यह चिपकनेके लिए नहीं है।

प्रयाणकाले—ऐसा यह शरीर छूटे कि छूटते समय ऐसा न लगे कि हाय-हाय यह छूट रहा है। जैसे हाथीके गलेमें फूलकी माला पड़ी हो और वह कब टूटकर गिर गयी, यह हाथीको पता नहीं चलता। आप तो मस्ताने हैं। भगवतमें तो शराबीका दृष्टान्त दिया है। दो, तीन, चार बार शराबीका दृष्टान्त। **मदिरामदान्धाः** मदिराके मदमें चूर हो रहा है और उसके शरीरपर-से वस्त्र कब गिर गया पता नहीं चला। इसी प्रकार परमात्माके नशेमें चूर हो जाओ—परमात्मामें ऐसे तन्मय हो जाओ—ऐसे तल्लीन हो जाओ कि शरीर कब गिर गया इसका पता न चले। **मद्भावं याति**। परमेश्वरसे मिलकर सचमुच तुमने जीवनकालमें भी शरीरको अपनेसे अलग कर रखा है, अपनी सम्पदा जिसको देनी है दे दो, उत्तराधिकारीको दे दो, चाहे ट्रस्ट को दे दो, शरीर छोड़ते समय यह सम्पदा अपनी है बात मनमें न रहे। यह शरीर भी एक सम्पदा है, बहुत बड़ी सम्पत्ति है क्योंकि यह तो सब काम करनेका यन्त्र है। इससे आप अर्थ कमाते हैं, इससे आप भोग करते हैं, इससे धर्म करते हैं, इससे सत्सङ्ग करते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। बहुत बड़ी सम्पदा है। परन्तु जब काम पूरा हो जावे तो गिर गये। कहाँ गिर गये? कुछ पता नहीं। और तुम? तुम तो परमात्मासे एक हो गये। जब देहको पकड़ोगे तो देह जहाँ जायेगा, वहाँ तुम्हें जाना पड़ेगा। परमात्माको पकड़ोगे तो देह छूट जायेगा और तुम परमात्माके साथ एक हो जाओगे। इस सम्बन्धमें एक साधारण नियम बताया। वह यह है कि मृत्युके तुम्हारा मन जिस चीजको पकड़ेगा वही हो जाओगे।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥ 8.6

अब जिन्दगी भर तो देखा सिनेमा, मरते समय क्या याद आयेगा? वहाँ अभिनेत्री है और अभिनेता है तो याद आवेगा। उसका हावभाव, कटाक्ष याद आयेगा। वहाँका दृश्य, फर्नीचर याद आयेगा। भोग-विलास याद आयेगा। यदि आप अपनेको जड़ वस्तुके साथ मिला लेंगे तो आप जड़ हो जाओगे और यदि आप चेतनके साथ अपनेको मिला दोगे तो चेतन हो जाओगे। आप अपनेको किसके साथ मिला रहे हो? समझो कि आपका मन मरते समय जो आकार धारण करेगा वह आकार तो बना रह जायेगा और यह शरीर छूट जायेगा।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

इसे बोलते हैं—सावधान भाई, सावधान! आगेके लिए यदि तुम जड़से मिल गये तो फिर चेतना तुम्हें जगेगी—चेतनाका लोप नहीं होगा। परन्तु कितने दिन जड़ रहोगे, इसका पता नहीं है। जितनी बलवती तुम्हारी तन्मयता होगी उतने ही अधिक दिन तुमको उसमें रहना पड़ेगा। तुम्हारा मन क्या बना तुम्हारा मन हीरा बन गया। सोना बन गया। एक होती है भोग-वासना, वह भी शरीरको बनाती है। बिना आकारका मन नहीं होता। कोई-न-कोई शक्ल मनमें रहती है। मनकी शक्ल कैसे बनती है? एक तो जिससे तुमने प्रेम किया है, उसके अनुसार बनेगी। जैसे वेश्यासे किसीका प्रेम है, तो मन मरते समय वेश्याकार होगा और यह शरीर छूट जायेगा और वेश्याका आकार बना रहेगा। वह मन वेश्या हो जायेगा। यह तो हुआ आकारके अनुसार।

एक समझके अनुसार बनता है। समझ क्या? तुम सबसे श्रेष्ठ किसको समझते हो? यह भी सम्भव है कि मरनेके समय जिसको तुम श्रेष्ठ समझते हो, उसका चिन्तन होने लगे और उसी श्रेष्ठ वस्तुकी शक्ल तुम्हारे मनमें आ जावे और वही हो जाओ। एक होती है वासना। जैसे कोई रहता तो है राजस्थानमें और सन्देश, रसगुल्ला खानेकी वासना ज्यादा है, चावल खानेकी वासना ज्यादा है तो उसका जन्म बंगालमें होगा, क्योंकि यहाँ चावल अधिक मिलेगा और रसगुल्ला, सन्देश अधिक मिलेगा। मतीरा (तरबूज) खानेका मन हो और दालका हलवा खानेका मन हो तो जो बंगालमें है वह राजस्थानमें जा सकता है। वासनाकी प्रबलताके अनुसार मन इधर-उधर जोड़ता-तोड़ता रहता है। आपका प्रेम आपका कर्म और आपकी प्रज्ञा पूर्व-पूर्व जन्मसे सञ्चित हैं। आप बाहरसे ले-लेकर जो मनमें भरते हैं—बाहरकी वस्तुएँ हम आँखसे, कानसे, नाकसे, त्वचासे, जीभसे उठाते हैं और उठाकर उनको अपने मनमें भरते हैं। इसको अन्त:करण बोलते हैं। अन्त:करण माने बाहरकी चीजको अन्तरमें कर ले। **अन्त: क्रियन्ते**—अनेन।

बाहरकी वस्तु भीतर आती है। यह बाहरकी वस्तु बन्धक नहीं होती। भीतरकी वस्तु बन्धक होती है। जबतक वह हमारे मनमें नहीं आयेगी तबतक बँधेंगे नहीं। अन्त:करण शब्दका सीधा अर्थ यही है कि बाहरकी वस्तुको यह भीतर कर लेती है। बाहरकी वस्तु बाहर रहे और भीतर जो है उसको आप देखिये। उसमें भी पहलेसे भीतर बहुत सारी चीजें रखी हुई हैं। उनको संस्कार बोलते हैं। उनके अनुसार वासना होती है। वेदान्ती लोग उनको भी निकालते हैं। अपने कर्तापनको ही निकालते हैं। अन्त:करणको ही निकाल देते हैं। नियम

यही है कि आप शरीर त्याग करते समय जिस जिस भावका स्मरण करेंगे, **त्यजत्यन्ते कलेवरम्** उसकी अवाप्ति होगी।

एक बात आपको सुनाते हैं। पहले पहल मैंने सुनी तो जँची नहीं। बात बहुत पुरानी हो गयी। यह जो जाना-आना है, यह बिना देहके नहीं होता। आप सोचो कि मिट्टीका जो सार है और जलका जो सार है, अग्निका जो सार है, वायुका जो सार है, आकाशका जो सार है—अवकाश है वह कहीं जाता-आता है? नहीं, यह जाना-आना—असलमें मनको कोई शकल, कोई वाहन जब मिलता है—तो आता-जाता है। मन एक देवता है। हमें बम्बईमें लोग बताते हैं—महाराज आज मोटरकी सुविधा नहीं रही, इसलिए घरसे बाहर नहीं निकले। टैक्सीपर नहीं बैठ सकते। टैक्सीपर बैठना अपनी शानके अनुरूप नहीं है। बड़े आदमी वाहनपर चढ़कर निकलते हैं। जितने देवता होते हैं—जिसको और वाहन न मिले वह चूहेपर चढ़कर निकलते हैं। भेड़ भी वाहन है। बैलपर भी चढ़ते हैं। हाथी घोड़ेपर भी चढ़ते हैं। हमारा मन है यह देवता है। जबतक इसको वाहन नहीं मिले तबतक यह कहीं जाता-आता नहीं। इसको एक आतिवाहिक शरीर चाहिए और ऐसा शरीर चाहिए जो दीवालको छेदकर निकल जाय। जो शीशेकी दीवारको भी पार कर जाय—ऐसा शरीर चाहिए। मनमें जो भाव होता है वही मनका शरीर बन जाता है।

वस्तुत: देशसे देशान्तरमें गमन नहीं होता। आप नरकमें जानेके लिए कहीं जाते हैं या स्वर्गमें जानेके लिए कहीं जाते हैं। यह पौराणिक कथा है। यह हमारे मनीराम तो ऐसे कारीगर हैं कि जहाँ हैं वहीं नरक बना लेते हैं। जहाँ है वहीं स्वर्ग बना लेते हैं। भावान्तर इसको बोलते हैं। देशान्तर गति नहीं। भावान्तर गति होती है। एक भावसे दूसरे भावमें जाना। जैसा आपने कर्म किया है, जैसा आपका ज्ञान है, जैसी आपकी वासना है—वैसा आपको स्वप्न आता है। यह एक सूक्ष्म शरीरकी गति है। कितने मरे हुए लोग जिनको पचास वर्ष हो गये होंगे, हमारा मन सपनेमें उनको बनाकर उनसे मिलता है। कितने देवता—जिनका वर्णन हमने सुना है कि बहुत ऊपर स्वर्गमें रहते हैं, सपनेमें हमारा मन उनको बनाकर, उनसे मिलता है। यह देवता लोग नहीं बनाते, जैसे आप अपने मित्रसे सपनेमें मिल लीजिये और आप उससे पूछिये क्यों भाई! कल तो तुम हमसे सपनेमें मिले थे? कहेगा-नहीं, नहीं मैं नहीं आया। आपका मन सृष्टि बनाता है। मनका गमनागमन क्या है? मनका गमनागमन है—आपने बुरा काम किया, मैं बुरा काम करने वाला हूँ—ऐसा अभिमान हुआ और उसे बुरे कामका जो फल है नतीजा है वह आपका मन स्वर्गके रूपमें या नरकके रूपमें स्वीकार कर लेगा या पुनर्जन्मके रूपमें। माँस खानेकी वासना है और हो गये जबड़ेवाले शेर काटनेका भय है किसी दुश्मनको और हो गये विषैले साँप। जितना वेग है, तीव्रता है आपके द्वेषमें उतने दिन तक आपका मन साँप होकर रहेगा।

जितने भी मजहब हैं—बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख ये शरीरसे अलग आत्माको जरूर मानते हैं। वह मजहब ही नहीं होगा जो शरीरसे अलग आत्माको न माने। यह मजहबकी परिभाषा है। मुसलमान दोजख-बहिश्त मानते हैं। ईसाई भी स्वर्ग मानते हैं। बौद्ध भी पुनर्जन्म मानते हैं—जैन भी स्वर्ग, नरक मानते हैं। मजहब माने इस देहसे अलग आपका एक जीवन है, सूक्ष्म शरीर है और यदि वह नहीं मानेंगे तो अनेक बातोंकी

संगति नहीं लगेगी। जैसे इस जीवनमें जन्मसे ही एक सुखी एक दु:खी क्यों होता है? तो इसमें पूर्वजन्मका प्रसंग मानना पड़ता है। इस जन्ममें आप जो अच्छे काम करते हैं, उसका फल सुख नहीं मिलता है, जो बुरे काम करते हैं उनका फल दु:ख नहीं मिलता है तो उन कर्मोंका क्या होगा? मानना पड़ेगा कि करनेके बाद अपना फल देंगे। ईश्वर भी यदि आपको बिना किसी निमित्तके ही सुखी-दु:खी बनाता है तो वह ईश्वर पक्षपाती होगा। इसके लिए भी यह मानना जरूरी होगा कि मरनेके बाद कर्मके अनुसार, वासनाके अनुसार और अपने निश्चयके अनुसार गति होती है।

मरनेके समय—पहले ऐसी कहावत थी कि लोग रुपये गाड़ कर रखते थे—जीवनमें तो उसका उपयोग कर नहीं पाते थे। तब मरनेपर साँप होकर उसपर पहरा दिया करते थे। ऐसी भी कहावत है कि यदि नोटके बण्डलमें बहुत रुचि हो तो मरनेके बाद कागजका कीड़ा होकर उसमें रहे। एक साधुके बारेमें यह बात प्रसिद्ध है कि वे अयोध्याजीमें बहुत अच्छे महात्मा माने जाते थे। उन्होंने अपने शिष्योंको बताया कि जब हम मरेंगे तो मुझे लेनेके लिए विमान आयेगा और उसमें घण्टियाँ बजेंगी और मैं बैकुण्ठमें—साकेत लोकमें जाऊँगा। परन्तु जब मर गये तो न घण्टी बजी, न विमान आया तो शिष्य लोगोंने कहा—हमारे गुरुजीकी बात झूठी नहीं हो सकती। शिष्य लोग तो गुरुकी झूठी बातको भी सच्ची बनाकर दिखाते हैं। अयोध्याजीमें जो सबसे बड़े महात्मा थे, बुलाये गये। शिष्योंने उनसे पूछा महाराज, यह क्या हुआ? न घण्टी बजी, न विमान आया, न हमारे गुरुजी विमानपर चढ़कर गये। उस महात्माने चारों ओर देखा। यहाँ क्या है, यहाँ क्या है? छानबीन की। सामने एक बेरका पेड़ था। उसमें बहुत बढ़िया पीला-पीला बेरका फल लगा हुआ था। महात्मा बोले—इस बेरके फलको तोड़कर ले आओ। शिष्योंने तुरन्त आज्ञाका पालन किया। महात्माने अपने हाथमें वह फल लेकर मसल दिया। मसलते ही एक कीड़ा पट्से जमीनपर गिर पड़ा। वह मर गया। बस, अब घण्टी बज उठी, देखते-देखते विमान आगया।

मरते समय उस साधुका जो मन है वह बेरके फलमें चला गया था। इसको आप दृष्टान्तके रूपमें समझिये। इसका जो सार है वह समझिये। आप अपने मनको ऐसा बनाकर रखिये जो अन्तकालमें अच्छी जगह जाये। और ऐसा कब होगा? जब आप जीवनकालमें अपने मनको अच्छी जगह रखेंगे। यदि आप अपने जीवनको ठीक नहीं रखेंगे—यह सोचेंगे कि अन्तमें सब ठीक हो जायेगा तो ऐसा नहीं होगा। जो जीवनमें भरा जाता है वह पहले निकलता है। इस जन्मके कर्मोंका फल सबसे पहले भोगना पड़ता है। उससे समय बचता है तब पिछले-पिछले जन्मोंके कर्म भी अपना फल देनेके लिए आते हैं।

कर्म दो तरहके होते हैं। एक आर्द्र, एक शुष्क। एक गीला-गीला काम होता है—एक सूखा-सूखा होता है। जो आर्द्र फल होता है उसका फल तुरन्त मिलता है और शुष्क कर्मका फल मिलनेमें देर होती है। एक कर्म लघु होता है, एक गुरु होता है। गुरु माने भारी-वजनदार। लघु माने हलका-फुलका। जो हलका-फुलका कर्म होता है उसका फल देरसे मिलता है, लेकिन जो गुरु कर्म होता है उसका फल बहुत जल्दी मिलता है। आपकी रातमें नींद टूटती है तो किसकी याद आती है? वहाँ तो कुछ नहीं होता है। नींद टूटनेके बाद, हमको आजकल

वह सता रहा है—उसकी याद आयी। हमको उसने बहुत सुख दिया है—उसकी याद आयी। आपके मनमें किसकी याद आती है? किसकी स्फुरणा होती है? क्यों भाई, वहाँ तो कोई काम नहीं है। न तो आप दुश्मनसे बदला ले सकते हैं और न दोस्तको वहाँ कुछ दे सकते हैं। वहाँ जो कुछ याद आता है वह तो आपके मनका आदर्श है—आपके मनका आईना है—आपके मनका शीशा है। आप अपने मनको देख सकते हैं।

हमने करके देखा। पहले झूठे ही सोचा अमुक आदमी हमारा दुश्मन है। हमको यह-यह तकलीफ दे सकता है। सोचते-सोचते यह बात भूल गयी कि यह तो मैंने झूठी कल्पना की थी। गुस्सा आने लगा—क्रोध आने लगा। झूठी कल्पना ही अपनेको दुःख देती है। झूठी कल्पना मनमें बैठी कि अमुक हमसे प्रेम करता है। हम उसके पास जायेंगे तो वह ऐसे मिलेगा। ऐसे मिलेगा और फिर उसके प्रति मनमें बहुत मजा आने लगा। रस आने लगा। बिल्कुल झूठी कल्पना। हमारी कल्पना बार-बार दुहरानेपर ठोस बन जाती है। मैंने कहीं राजनीतिकी पुस्तकमें यह बात पढ़ी थी कि एक झूठी बात अगर सौ बार बोली जाय तो वह बोलनेवालेको ही सच मालूम पड़ती है। यह जो दुनियाकी बातोंको अपने मनमें दुहराते हैं वह झूठी है कि सच्ची—यह बात अलग छोड़ दो। अपने मनमें उसे दुहराते हैं—यह दुहराना है हमारे सिरपर सवार हो जाता है।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।

यह मनुष्य अपनी भावनासे ही भावित हो जाता है। जैसे वैद्य लोग कोई दवा बनाते हैं। बाजारसे यह दवा ले आओ, कुचला ले आओ—जहर है, इसको सात दिन गोबरमें रखो। सात दिन पानीमें रखो, सात दिन मट्ठेमें रखो। सात दिन दूधमें रखो। सात दिन घीमें रखो। सात दिन शहदमें रखो। अब यह जहर, यह कड़वा कुचला जो पेटमें जाकर आँतको काट देता, भावित होकर औषध बन गया, रसायन बन गया। इसी प्रकार भावनाका प्रभाव पड़ता है वस्तुपर और वस्तुके स्वभावमें परिवर्तन हो जाता है। हम एक क्रोधी आदमीको देखते हैं—अभी थोड़े दिनोंकी बात है एक सज्जन दाढ़ी बढ़ाकर हमारे पास आये। गलेमें माला भी बहुत तरहकी थी। दाढ़ी मनके भावको छिपाती है। गुस्सा या प्रेम आ जाये तो मालूम नहीं पड़े। वे हमारे सामने कुर्सीपर बैठे थे। मैंने गौरसे देखा—तो उस दाढ़ीमें तेल-फुलेल लगा था। दाढ़ी बहुत चिकनी थी। लेकिन भीतर क्रूरता थी। मनुष्यकी भावना केवल अन्तरात्माको ही नहीं शरीरको भी बिगाड़ देती है। आप स्थूल शरीरको तेल-फुलेल लगाते हैं, स्नो पावडर लगाते हैं, चिकना-चुपड़ा रखते हैं, दूसरेकी आँखको मोह ले, ऐसा चाहते हैं। लेकिन आप अपने मनको इतना चिकना-चुपड़ा नहीं रखते हैं। स्नेह माने चिकनाई। दूध स्नेह है। आप मलाई अपने चेहरेपर लगाइये स्नेह है। आपके चेहरेमें चिकनापन आयेगा। दूध, दही, मक्खन सब स्नेह हैं। जैसे आप अपने बाहरके चेहरेको स्नेहसे युक्त रखना चाहते हैं, मुस्कुराकर बोलें, प्रेमसे देखें—वैसे आप अपने मनको भी, मानसिक शरीरको भी सदा तद्भावभावित—अच्छा रखें और अच्छी जगह ले जायँ। तब आपकी गति सुनिश्चित है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ 7.8

युक्तिपूर्वक मनुष्यके कर्त्तव्यका दिशानिर्देश करते हैं। एक होती है आज्ञा 'ऐसा करो।' एक आज्ञाके साथ उसका कारण भी बताया जाता है कि ऐसी आज्ञा क्यों दी है? जब युक्तिपूर्वक बात कही जाती है, तब उसमें बुद्धिमान् पुरुषकी प्रवृत्ति होती है और केवल आज्ञामें श्रद्धालुकी प्रवृत्ति होती है। श्रद्धालु पुरुष सिर झुकाकर आज्ञाको स्वीकार करता है। अनुचित, उचितका विचार छोड़कर हर समय मेरा स्मरण करो और अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन करो—ऐसा क्यों कहते हैं? इसमें हेतु क्या है? अविनाशी है परमात्मा—पहला यह हेतु है। **अक्षरं ब्रह्म परमं।** जो अविनाशी वस्तु होती है उसका हर समय स्मरण होना सम्भव है। वह अपना ही स्वरूप है—**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।** इसलिए अपना स्वरूप सर्वदा स्मरण किया जा सकता है और जो पञ्चभूतके रूपमें सर्वदा स्मरण किया जा सकता है और जो पञ्चभूतके रूपमें सर्वदा खेल रहा है, जो वही है, उसका भी स्मरण किया जा सकता है। जो अधिदैवत पुरुष है, जैसे—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि इनका भी सर्वदा स्मरण किया जा सकता है। और जो अधियज्ञ है—अधियज्ञका अर्थ होता है—जितना भी यज्ञ हो रहा है। यह जीवन हमारा यज्ञमय है। सबका जीवन यज्ञमय है। फलके द्वारा यज्ञ करते हैं, फूलके द्वारा, सुगन्धके द्वारा यज्ञ करते हैं। पत्तेके द्वारा यज्ञ करते हैं—तनेसे, छिलकेसे, जड़से, छालसे यज्ञ करते हैं। पेड़-पौधोंका जीवन भी यज्ञमय है। पशु, पक्षी भी यज्ञ करते हैं। कोई अनिष्टके निवारणमें समर्थ होते हैं, कोई इष्टके प्रापणमें समर्थ होते हैं। कुछ लेते हैं, कुछ देते हैं। यह यज्ञका स्वरूप है। आदान—जैसे हम अग्निसे उष्णता लेते हैं। जो आहुति डालते हैं उसकी सुगन्ध लेते हैं। यश लेते हैं। जो उसका स्वर्गादिरूप फल है सो लेते हैं। यज्ञमें लेनेके साथ-साथ देते भी हैं। आदान-प्रदान और उत्सर्ग। उत्सर्ग माने एक नियम। इतने समय तक भोजन नहीं करेंगे। इतने समय तक सोयेंगे नहीं। इतने समय तक कोई संसारका सुख नहीं लेंगे। यज्ञ माने जीवनको नियमित करनेकी एक पद्धति। आदान भी है यज्ञमें—प्रदान भी है—उत्सर्ग भी है।

सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रभु, जो पृथिवीके द्वारा यज्ञ हो रहा है उसमें भी है। पृथिवी अन्नदान करती है—फलात्मक। एक किलो गेहूँ आप धरतीमें बोयें और आपको एक क्विण्टल गेहूँ दे दे। थोड़ा दिया—बहुत लिया। यह पृथिवीका यज्ञ है। जलके द्वारा यज्ञ हो रहा है। यह जितना यज्ञात्मक विश्व है। **यज्ञो वै विश्वः** पृथिवी, जल, मन, विचार सब यज्ञ है। इस सम्पूर्णयज्ञमें वे प्रभु अतर्न्यामीके रूपसे सर्वव्यापीके रूपसे विराजमान हैं। **सर्वेषु कालेषु**—जहाँ देखो वहाँ वही है।

स्वर्गाश्रममें एक महात्मा थे। वे रातको बोलते थे, तू ही तू। तू ही तू। जहाँ देखता हूँ, वहाँ तू ही तू है। **सर्वेषु कालेषु**। फिर स्मरण करनेमें क्या बाधा है? रोटी बनाते हैं—किसके लिए? प्रेमसे रोटी बना रहे हों तो रोटी गोल हो, यह भी ध्यान रहेगा। मोटी पतली न हो, यह भी ध्यान रहेगा। सेंकते समय जले नहीं, यह भी ध्यान रहेगा। जिसके लिए बना रहे हैं, उसकी भी याद रहेगी और हम कहीं जल न जायँ—**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**—हमारा हाथ जले नहीं, इसका भी ख्याल है। आपका मन इतनी शीघ्रतासे सब काम करता जायगा कि कहीं आपसे त्रुटि नहीं होगी। आपको कितना सावधान कर देता है प्रेम, प्रियतमकी मानसिक उपस्थिति। काल तो एक ख्याल है। आप कभी संगीत सुननेमें तन्मय होंगे तो कितना समय बीत गया यह आपको पता नहीं चला होगा। कभी आप अपने मित्रसे बात करनेमें लग गये हों तो कालका ख्याल नहीं रहा होगा। हमको ऐसे लोग मिले हैं, जिनसे बात करनेमें सारी रात बीत गयी। अरे, चार बज गये, पाँच बज गये। हम लोग तो ब्रह्मचर्चामें लग गये। जहाँ अपनी रुचि होती है, जहाँ अपनी प्रीति होती है वहाँ कालपर ध्यान नहीं जाता, अपने प्रियपर, अपने इष्टपर ध्यान जाता है। काल तो एक काल है। दु:खका काल हो तो पाँच मिनटमें 2-3 बार घड़ी देख लेते हैं। जैसे कोई श्रोता हो, मन प्रवचनमें न लगता हो तो बार-बार घड़ी देखेंगे कि अभी यह कितना चलेगा? और किसीका मन लग गया हो तो वह पूरा होनेपर कहेगा—अरे, एक घण्टा हो गया? ये घण्टा मिनट हमारी मन:स्थितिके साथ सम्बन्ध रखता है। कालका हम दार्शनिक रूप आपको बतावें।

चार्वाक मतमें भी काल नहीं है। काल नामका द्रव्य ही नहीं है। चार भूतोंके संयोगसे मन बनता है और मन कालकी कल्पना करता है। बौद्ध मतमें भी काल कोई वस्तु नहीं है। जैन मतमें है। न्यायवैशेषिकमें काल है। परन्तु सांख्ययोगमें काल नहीं है। महत्तत्त्वमें यह काल प्रतीत होता है ऐसा सांख्यमत है। काल प्राकृत नहीं है—आविद्यक है। भ्रमजन्य है। मीमांसामें काल द्रव्य है परन्तु वेदान्तमें काल द्रव्य नहीं है। अविद्याकी वृत्ति है। भक्ति सिद्धान्तमें भी काल द्रव्य नहीं है। एक भगवत्-संकल्प है। शैव मतमें भी काल द्रव्य नहीं है। इसलिए काल आपको मालूम पड़ता है। सेकण्ड-सेकण्ड। मिनट-मिनट। उधर आपका ध्यान ही नहीं जाता। काल आपके मनका एक ख्याल है। आप कालको मत देखिए—अपने कर्मको देखिए। आप अपने भावको देखिए। अपने इष्टको देखिए। अन्तर्यामीको देखिए। अपने आपको देखिए। कालको क्यों देखते हैं? आप कालको मत देखिए। घड़ीमें अलार्म लगा दीजिए। वह टनटन करके आपका ध्यान खींच लेगा। काल दूसरेके जिम्मे कर देनेकी चीज है, अपने दिमागमें रखनेकी चीज नहीं है। हमें तो अपना कर्म पूरा करना है। कर्मको पूरा करना या कर्मफलको प्राप्त करना भी आपका काम नहीं है। आपका काम है अपने समयको कर्मसे भरते जाना। आपका कोई सेकेण्ड कोई मिनट, कोई घण्टा कर्मसे खाली न हो। यह पूरा कैसे होगा? बिलकुल चिन्ता मत करो। यदि आपका कर्म ठीक-ठीक है तो वह पूरा होगा। आप करेंगे, आपका बेटा करेगा, आपका पोता करेगा, आपका परिवार करेगा, समाज करेगा, सारी सृष्टि करेगी, यदि आपका कर्म आवश्यक है तो! अंशुमान् गंगा नहीं ला सके, दिलीप गंगा नहीं ला सके, भगीरथ गंगा लाये। गंगा लानेका काम था। यदि वह काम आवश्यक है तो कभी-न-कभी पूरा होगा। समाजकी माँग है, परिवारकी माँग है, राष्ट्रकी माँग है, ईश्वरकी सेवा है, वह

कभी-न-कभी होकर रहेगी। आप अपना हिस्सा पूरा करते चलिए। आपकी जिम्मेवारीपर—फलासक्ति नहीं—और कर्मासक्ति भी नहीं—कालक्षेप कर रहे हैं। कालको तो हम ढकेल रहे हैं। जा तू बीतता जा—बीतता जा। हम लगे हुए हैं—तेरी ओर देखनेका हमें कोई अवकाश नहीं है।

सर्वेषु कालेषु—मामनुस्मर—तस्माद् क्योंकि मैं सब समय हूँ, सब जगह हूँ, सब हूँ, मैं ही स्थूल हूँ, मैं ही सूक्ष्म हूँ, मैं ही जीव हूँ—मैं ही ईश्वर हूँ—मैं ही सर्वव्यापी हूँ और मैं तुम्हारे शरीरमें ही रहता हूँ। इसलिए मेरा स्मरण करते चलो और जीवन युद्ध—युद्ध शब्दका अर्थ यहाँ—वर्णधर्मके अनुसार या आपद्-धर्मके अनुसार या मानव-धर्मके अनुसार जो अपना कर्त्तव्य है—उसीको युद्ध कहते हैं, उसे करते चलो। यह अर्जुनके लिए युद्ध स्वधर्म है। तुम अपने धर्मको देखो और अपने धर्ममें अडिग रहो। तुम अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाओ। ये मन और बुद्धि बड़े जबर्दस्त हैं। काम वर्तमानमें तो रहनेका नाम ही नहीं लेता। बच्चेको एक खिलौना दे दो तो दूसरा चाहेगा। दूसरा दे दो तो तीसरा चाहेगा। आपका मन बालकवत् है। यह वर्तमानमें रहना नहीं चाहता। आज कलकी बात सोचेगा। फिर कल परसोंकी बात सोचेगा। यह तो पीछे जायेगा या आगे जायेगा।

भगवान् कहते हैं कि मन और बुद्धि मुझमें अर्पित कर दो। त्याग दूसरी वस्तु होती है। मायाका, मिथ्याका, दोषका, दुर्गुणका त्याग होता है। संसारका त्याग होता है। ईश्वरके प्रति समर्पण होता है। आप अपनी सड़ी चीज—गन्दी चीज ईश्वरको अर्पित मत कीजिए। वृन्दावनमें आप सुपारी खरीदने दुकानपर जाइये तो दुकानदार पूछ लेगा—देवताकी पूजा करनेके लिए चाहिए या खानेके लिए चाहिए? देवताकी पूजा करना हो तो सड़ी सुपारी बेच देगा। अपने खानेके लिए हो तो जरा ठीक-ठीक देगा। मोटर मँगनी देनी हो तो अपने घरमें सबसे पुरानी बिगड़ी हुई होती है प्राय: वही भेजी जाती है। त्याग दूसरी वस्तु है और समर्पण दूसरी वस्तु है। त्याग होता है बुराईका और ईश्वरके प्रति समर्पण होता है। असंगता होती है अन्यमात्रसे, दृश्यमात्रसे। यह अलग-अलग स्तर है। बुराईका त्याग करो। अच्छाईको अपने साथ मत जोड़ो, ईश्वरके लिए उसका उपयोग करो। आपके पास चावल है तो अपना करके ऐसा मत रखो कि रखा-रखा घरमें सड़ जाये। उसे जिनको भूख है, उन्हें खाने दो। आपके पास ऐसे कपड़े हैं जो आपके काम नहीं आरहे हैं और काम आनेके लिए भी बहुत ज्यादा हैं। थोड़ेमें काम चल सकता है। पर लोभ ही तो है यह! उसको सर्वात्मा परमेश्वरके प्रति समर्पित करो। यह समर्पण होता है। असंगता—देशमें, विदेशमें घूमो—रात हो, दिन हो, छोटी चीज हो, बड़ी चीज हो—उसपर आसक्त मत होओ, उससे चिपको मत। अपने स्वरूपमें असंगता आने दो। अपने स्वरूपमें असंगता, ईश्वरके प्रति समर्पण—बुराईका त्याग, इन सद्गुणोंको ग्रहण करो।

ये भगवान् बड़े लालची हैं। वृन्दावनके लोग कहते हैं कि और जगह तो भगवान्का हाथ ऊपर होता है और लोगोंको देते हैं—यह लो, यह लो, धन लो, भोग लो, शरीर लो, इज्जत लो। परन्तु ब्रजभूमिमें भगवान्का हाथ नीचे होता है। हमको दही दो, दूध दो, मक्खन दो, मिश्री दो, रोटी दो। ब्रजमें माँगनेवाले भगवान् रहते हैं और सारी सृष्टिमें देनेवाले भगवान् रहते हैं। ऐसा एक ब्रजवासियोंका लटका है। आपके सामने भगवान् खड़े हैं। उनको सर्वरूप मानों तो भी चले, विश्व भगवान्का रूप है।

आप लोग **विष्णुहस्त्रनाम**का पाठ करते होंगे। उसमें पहला नाम भगवान्‌का है—'विश्वम्'।

विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः। 14

विश्वके रूपमें खड़े हैं भगवान् और आपसे अपेक्षा रखते हैं कि आप आपके मनको अपने शरीरको घेरकर रहते हैं—परिवार माने जो शरीरको घेरकर रहता है, परि माने चारों ओर और वार माने घेरनेवाला। आपको एक घेरेमें रखनेवाले जो लोग हैं उनको परिवार कहते हैं। वे परिवारण करते हैं। चारों ओरसे आपको घेर लेते हैं। आपका मन किस काममें लगता है? शरीरके काममें या तो जो शरीरके सम्बन्धी हैं, उनके काममें आपका मन एक घेरेमें रहता है। आप अपने मनको उन्मुख कर दीजिए। विश्वके रूपमें भगवान् आपके सामने खड़े हैं और आपसे अपेक्षा रखते हैं। अपेक्षा क्या रखते हैं? यह कि आपका मन विश्वकी ओर भी जाय। विश्वका सुख, विश्वका कल्याण, विश्वकी प्रसन्नता आपका मन देखे। आपकी बुद्धि क्या विचार करती है? अपना और अपने लोगोंका सुख। नहीं, आपकी बुद्धि सबके सुख और समृद्धिका विचार करे। सबकी सुख-समृद्धिके लिए काम करे। आपकी बुद्धि, आपका मन भगवान्‌के प्रति आसक्त हो। अब विश्वकी बात छोड़ दें।

गीताके बारहवें अध्यायमें जो भक्तिका वर्णन है उसके सम्बन्धमें तीन मत हैं। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि यह विश्व विराट् आत्माकी भक्ति है। शंकराचार्यने स्पष्ट किया है—भक्तिका क्या करोगे?

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी। 12.13

यह तो सम्पूर्ण विश्वरूप भगवान्‌की भक्ति है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—यह चतुर्भुज नारायणकी भक्ति है, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीवल्लभाचार्य, ये लोग कहते हैं कि ये दो हाथवाले मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दरकी भक्ति है। विश्वरूपका भगवान्‌ने दर्शन दिया। ग्यारहवें अध्यायमें इसलिए कि यह विश्वरूपकी भक्ति है—यह शंकराचार्यका मत है। चतुर्भुजरूपसे ही श्रीकृष्ण रहते थे, इसलिए चतुर्भुजकी भक्ति है और **दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन**—यह अर्जुन बोलते हैं, इसलिए यह द्विभुज श्रीकृष्णकी भक्ति है। कुछ भी हो। आपके सामने भगवान् खड़े हैं और आपसे कुछ माँग रहे हैं। यह देखो करुणा है। यह देखो दयालुता, यह देखो सद्भाव।

आप हमको पाँच रुपया दे गये और बोले कि एक रुपयेकी हमको जरूरत है दे दीजिए और हमने कहा नहीं। वह पाँच रुपया जिसने दिया था वही आपसे एक रुपया माँग रहा है—और आप 'ना' बोल रहे हैं। उसका सौजन्य तो देखिए कि दिया पाँच और यह नहीं कहता है कि यह हमारा है। तुम इसमें-से हमको एक दो। वह कहता है—नहीं—नहीं तुम्हारा है, तुम अपनेमें-से हमको दो। यह देखो प्रभुका स्वभाव है। अर्पण करो—मन उसीका दिया हुआ है, बुद्धि उसीकी दी हुई है। खड़ा होकर सामने माँगता है। **सम्यर्पितमनोबुद्धिः**। यहाँ आठवें अध्यायमें तो है ही, बारहवें अध्यायमें भी है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.14

एकबार माँगनेसे नहीं दिया। दो बार माँगते हैं। और दोनों एक साथ नहीं देते हो,तो अलग-अलग भी दे दो।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। 12.8

भगवान् तुम्हारे सामने हैं—जो मालिक हैं, जिनकी दी हुई चीज है वे तुमसे माँग रहे हैं कि अपना मन, अपनी बुद्धि हमको दो।

हमसे पाँच रुपया माँगिये—अभी निकालकर दे देते हैं। रोटी माँगिये—तैयार न हो तो तैयार करके खिला देते हैं। कपड़ा माँगिये—अभी देते हैं, बाजारसे मँगा देते हैं, बनाकर देते हैं। लेकिन वे रुपया, रोटी, कपड़ा या कोई वस्तु नहीं माँगते, वे भगवान् तो मन, बुद्धि माँगते हैं—वह कैसे दें? मन, बुद्धि न कपड़ा है, न नोट है, न वह भोजन ही है। हम अपना मन, बुद्धि भगवान्‌को कैसे अर्पित करेंगे? आप इसपर थोड़ा ख्याल करो। अगर आपके मनमें अर्पित करनेकी इच्छा होगी तब तो यह प्रश्न उठेगा! भगवान् तो माँगते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

मँगता तो आपके दरवाजेपर खड़ा है। गोपी! माखन दे दे। माखन सरीखा मन दे दे। मिश्री दे दे। रोटी दे दे। पर देनेकी इच्छा होगी तब तो आप सोचेंगे कि आखिर हम मन और बुद्धि कैसे दें? और यदि आपका देनेका मन नहीं होगा तो प्रश्न ही नहीं उठेगा कि मन, बुद्धिका समर्पण कैसे हो? पहले मनका रूप देखो। आपका मन प्यारसे भरा है। भगवान्‌ने प्यार दिया है। भागवतमें वर्णन आता है—भगवान्‌ने बाँसुरी बजायी। तो वंशीकी प्यारी-प्यारी ध्वनि गोपियोंके कानमें समा गयी और कानके रास्ते उनके हृदयमें पहुँच गयी। उनका हृदय उस अमृतमय ध्वनिसे भर गया। वह अमृतमय ध्वनि, वह राग, वह रागिनी, वह रस, वह संगीत उनके रोम-रोमसे छलका। आँखोंसे छलका, ओठोंसे छलका, त्वचासे छलका और अपना दिया हुआ ही अमृत फिर भगवान् श्रीकृष्णने—वही वंशी-नादका अमृत—पीया। यह स्वभाव है : देकर लेना।

आपके मनमें भगवान्‌ने प्यार दिया। सचमुच आपका मन प्यारका खजाना है। आपको मालूम पड़े कि न पड़े—मातासे प्रेम करते हैं—पितासे प्रेम करते हैं, मित्रसे प्रेम करते हैं, पत्नीसे प्रेम करते हैं, बच्चेसे प्रेम करते हैं, धनसे प्रेम करते हैं, अपने शरीरसे प्रेम करते हैं। इतना प्रेम करते हैं कि बुराईमें भी अच्छाई ढूँढ लेते हैं। आप देख लेना जिनका चेहरा अच्छा नहीं होता, वे जब शीशा देखते हैं तब कहते हैं—'हमारी नाक बहुत अच्छी है'—'हमारी आँखकी बनावट अच्छी है'—'हमारे ओठोंकी कट अच्छी है।' पूरा चेहरा अच्छा न हो तब भी उस चेहरेमें-से कहीं-न-कहींसे अच्छाई ढूँढ लेंगे। क्योंकि अपनेसे प्रेम होता है। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुराईमें भी अच्छाई ढूँढ लें। तो आपका हृदय भगवान्‌ने प्यारसे भर दिया है। परन्तु आपके मापका जो यन्त्र है उसे गँदला-डबरा बना दिया है। जो अपने लोग हैं उनको नापनेके लिए आपके पास मशीन दूसरी है और जो बाहरके लोग हैं उनको नापनेके लिए आपकी मशीन दूसरी है। दूसरोंमें आपको बुराई ज्यादा दीखती है और अपनोंमें आपको अच्छाई बहुत ज्यादा दीखती है। यह जो आपके हृदयमें प्रेम भरा है, यही मनका स्वरूप है। आसक्ति मनका स्वरूप है। प्रेम मनका स्वरूप है। आप अपना प्यार भगवान्‌के प्रति अर्पित कीजिए। वह

आपका प्यार माँग रहे हैं। असलमें वे पत्नीके रूपमें आपका प्यार लेते हैं। पुत्रके रूपमें वे आपका प्यार लेते हैं। सब रूपमें वही आपका प्यार लेते हैं। यह बात भी गीतामें है।

न तु मां अभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। 9.24

सबके रूपमें भगवान् हैं। परन्तु हम सबके रूपमें रहनेवाले भगवान्को नहीं देखते। हम तो बहुत छोटी चीजको देखकर अपना प्यार देते हैं। जब आपका प्रेम, आपका प्यार सर्वव्यापी हो जायेगा तब आप भी बहुत बड़े हो जायेंगे। जबतक आपका प्रेम छोटी जगह पर है, आप छोटे हैं। जब आपका प्रेम बड़ी जगहपर होगा तो आप स्वयं बड़े हो जायेंगे।

अच्छा, आपसे बुद्धि माँगते हैं भगवान्। बुद्धि तो हमने कुर्सीको दे रखी है। कुरसिका माने जो धरतीपर हो। कु माने धरती। जो धरतीकी रसिक हो—हर समय धरतीको छूती रहे। हमारे गाँवमें तो कुर्सी नहीं बोलती खुरसी बोलते हैं। उसका पाँव आगे निकला होता है जैसे गाय, बैल, घोड़ेका पाँव। पाँवमें खुर होता है। खुर वाले चतुष्पाद होते हैं।—जैसे चतुष्पादका खुर होता है। उस खुर-सा कुर्सीका पाँव होता है तो वैसे ही इसे खुर-सी बोलते हैं। आपकी बुद्धि किस काममें लगती है? हमको एक अच्छी-सी कुरसी मिल जाय। यह रसिक नहीं है—'कु'रसिका है। कु माने बुरी—जैसे आपकी पतिव्रता पत्नी हो और आपसे प्रेम करे तो उसकी तो सुरसिका बोलेंगे—रसिका बोलेंगे। आपकी प्रेयसी है, पत्नी है, आपसे प्रेम करती है। वह रसिक है। लेकिन वेश्या क्या है? वह कुरसिका है। शामको बैठे सुबह उलट गयी। सुबह बैठे शामको उलट गयी। कुर्सीकी क्या कीमत? आपकी बुद्धि क्या चाहती है? बदलनेवाली चीजें, गिरनेवाली चीजें, नष्ट होनेवाली चीजें—इनमें आपकी बुद्धि लगती है?

भगवान् कहते हैं—बाबा, बुद्धि हमको दे दो। जो अविनाशी वस्तु है—उसमें बुद्धि लगाओ। पार्टीमें बुद्धि मत लगाओ। मानवतामें बुद्धि लगाओ। राष्ट्रमें बुद्धि लगाओ। पार्टीमें सबसे बड़ी भ्रष्टता यह है कि अपनी पार्टीका बदमाश भी बहुत भला है। और दूसरेकी पार्टीका भला भी बहुत बदमाश है। यह जो अपराध होता है। यह दौर्जन्य है। तो हम दूसरेके किये हुए अच्छे कामको भी बुरा बताने लगते हैं और अपने किये हुए बुरे कामको भी अच्छा बताने लगते हैं। यह पार्टीका है पाप। भगवान् कहते हैं—तुम अपनी बुद्धिको किसी पार्टीके घेरेमें मत डालो। मुझे अर्पित करो। सब पार्टीमें भगवान् हैं।

मय्यर्पितमनो बुद्धिः। बुद्धि माने विचार। बुद्धि तो पात्र है और उसमें विचारका वायन है। **उपायन**—भेंट-भरी है। बुद्धि बर्तन है और उसमें विचारके हीरे रखे जाते हैं। आप अपने विचार किसके लिए करते हैं? ईश्वरके लिए आपके विचार हों। ईश्वरके लिए माने जो सबमें रहता है उसके सुखके लिए, उसकी भलाईके लिए उसके हितके लिए, आपके विचार हों। राष्ट्रकी प्रान्तकी सीमा बदल जाती है। पहले बंगाल प्रान्त था। 'बंगला देश भी उसके अन्तर्गत था। अब कट गया। अब आगे नहीं कटेगा, यह पता नहीं और बढ़ भी सकता है।' ऐसे ही राष्ट्रकी सीमा। बचपनमें हम वर्माको अपना देश जानते थे। आज जिसे पाकिस्तान कहते हैं उसे जवानीमें अपना देश जानते थे। तो ये राष्ट्रकी जो सीमाएँ होती हैं ये भी कल्पित होती हैं। समयपर बनती हैं,

समयपर बिगड़ जाती हैं। परन्तु मानवता—सम्पूर्ण विश्वमें जितने मनुष्य हैं—सबके हृदयमें जीवात्मा है—सब हमारे भाई हैं। जिसकी आँख आगेकी ओर हो और बगलमें कान हो, सामने नाक हो, मुँहमें दाँत हो, दो हाथ हों, दो पाँव हो कितनी समानता है—बराबर ही तो हैं हम लोग। कितनी समता है हम लोगोंमें। यह स्त्री अलग—यह पुरुष अलग—यह काला अलग—यह गोरा अलग—यह गरीब अलग—यह धनी अलग—यह ठीक है। परन्तु सिर, नाक, आँख, जीभ, हाथ सबके हैं। मन सबके है। सब प्यार चाहते हैं। सब सत्य चाहते हैं। साँस लेनेके लिए सबको हवा चाहिए।

ईश्वरकी पूर्णतामें अर्पित कर दो—अपने विचार; आप अपने विचारको क्यों काटते हो? अपने प्यारको क्यों काटते हो? **मय्यर्पितमनोबुद्धिः**का अर्थ है कि अपना प्यार और अपना विचार दोनों पूर्णताको दे दो। ईश्वर माने पूर्णता—जो सब जगह हो, सब समय हो, सब हो, सबमें हो—जैसे सबमें है, वैसे ही आपमें भी हो—उसका नाम ईश्वर होता है। ईश्वरके प्रति, पूर्णके प्रति अपने प्यार और अपने विचारको अर्पित कर दो। अब भगवान्‌का कहना है—देखो तुम हीरा, सोनासे प्रेम करोगे—सोना हो जाओगे, हीरा हो जाओगे। आप क्या पसन्द करते हैं? भगवान्‌से एक होना पसन्द करते हैं कि हीरेसे एक होना पसन्द करते हैं? माने जड़से प्रेम करोगे तो तुम स्वयं अपने प्रेमके साथ उस जड़में चले जाओगे और जड़के साथ तन्मय हो जाओगे और यदि चेतनके साथ प्रेम करोगे तो आपका प्रेम आपको अपनी जगहसे उठाकर चेतनमें डाल देगा।

आप चेतन रहना चाहते हैं—होशहवाशमें रहना चाहते हैं या बेहोश हीरा होना चाहते हैं? हीरा पराधीन है। उसको देखकर दूसरे लोग सुखी होते हैं। यह भी ठीक है। परन्तु हमको देखकर कोई सुखी हो रहा है, इसका सुख भी हीरेको नहीं मिलता है। आखिर यह सुख तो मिले कि हमको देखकर कोई सुखी हो रहा है। आप जड़से प्रेम करके जड़ हो जाओगे। भगवान् आपको जड़ताकी ओरसे विमुख करके चेतनताकी ओर उन्मुख करना चााहते हैं। अपने प्यारको, अपने विचारको भगवान्‌की ओर उन्मुख कर दो, आपको भगवत्प्राप्ति होगी। भगवान् मिलेंगे। मिलेंगे भगवान्—इसमें कोई शंका नहीं। क्योंकि जो सब है वह सबको मिल सकता है। उसमें ब्राह्मण क्षत्रियका भेद नहीं है। सबको मिल सकता है। सब जगह मिल सकता है। सब समय मिल सकता है। जो सब है, उसकी प्राप्तिके लिए, हम स्वर्गमें जायेंगे तब मिलेगा, यह कल्पना बिलकुल गलत है। वह स्वर्गमें नहीं मिलेगा, इस धरतीपर मिलेगा।

हमारे जीवनमें समाधिकाल आयेगा तब परमात्मा मिलेगा। विक्षेपमें भी वही मिलेगा। समाधिमें भी वही मिलेगा। स्वर्गमें भी वही मिलेगा। धरतीपर भी वही मिलेगा। जो यहीं मिलता है, उसको आप मरनेके बादके लिए क्यों टालते हैं? अभी प्राप्त कर लीजिये। **मय्यर्पित मामेव एस्यसि** क्यों? बोले भाई देखो यदि इन सात रूपोंमें आप परमेश्वरको जान जाओगे तो आपके मनमें संशय नहीं रहेगा। संशय माने सपना। आप स्वप्नमें डूब रहे हैं। बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर रही है। आधी नींद और आधा जागना। इससे शयनमें भी वही है। शीञ् स्वप्न धातु है और सम् उपसर्ग जोड़नेपर यह संशय बनता है। आप सपना देख रहे हैं। संशय, दुविधा—यह ठीक कि यह ठीक? वहीं बुद्धि व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका बुद्धि होती ही नहीं।

आप अपने मन और बुद्धिको भगवान्‌में अर्पित कर दीजिये, सारे संशय मिट जायेंगे। संशयमें तो विनाश है। **संशयात्मा विनश्यति।**

नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

आप संशय रखेंगे अपने मनमें तब इस लोकमें भी सुख नहीं है, परलोकमें भी सुख नहीं है। आपका लोक भी नहीं बनेगा, परलोक भी नहीं बनेगा। सुख भी नहीं बनेगा। इसलिए निःसन्देह—आप संशय छोड़ दीजिये। अविनाशी परमात्मा है। आपका स्वभाव, आत्मा परमात्मा है। कर्म परमात्मा है। नयी-नयी चीज बनानेवाला **कर्म, भूतभावोद्भवकरः।** नवीन-नवीन वस्तुओंका—कच्चे चावलको पका देनेवाला कर्म—माटीको चावल बना देनेवाला कर्म, धरतीमें-से कपास पैदा करके उससे कपड़ा बनानेवाला कर्म, जलती हुई खदानमें-से द्रव्य निकालकर उससे सोना बनानेवाला कर्म—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

अपने वीर्य, अपनी शक्ति, अपनी वीरताका आप उपयोग कीजिये। यह भी ईश्वरका रूप है। अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ—सब ईश्वर है। मन नहीं लगता है। अरे बाबा! मन लगनेकी फिक्र मत करो। जो तुम्हारे अनुसार न चलता है उसको छोड़ दो। सुगम मार्ग है। बोले नहीं छोड़ सकते। नहीं छोड़ सकते तो अपने अनुरूप बनाना पड़ेगा—बनाना पड़ेगा तो अभ्यास करना पड़ेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८.८
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ८.९

अभ्यास करो। बच्चा अपनी माँको कहाँ पहचानता है? लोगोंने बताया यह माँ है, यह माँ है। दुहराते-दुहराते—लोगोंने स्वयं दुहराया, बच्चेने दुहराया और माँको पहचान लिया कि यह मेरी माँ है। आप यह मत समझना कि बच्चा पेटमें-से आता है तो अपनी माँको पहचानकर आता है। माँको माँके रूपमें पहचानना भी एक अभ्यास है। इसका नाम नाक है। इसका नाम कान है। इसका नाम दाँत है। यह क्या है? दुहराया ही तो गया है। अंग्रेजीवाले दूसरा दुहराते हैं, फारसीवाले दूसरा दुहराते हैं। अरबी वाले दूसरा दुहराते हैं। नाम अलग-अलग हैं। हमको तो बहुत आग्रह है न! यह नाक है। क्यों यह आग्रह हो गया? सुनते-सुनते, मानते-मानते अभ्यास हो गया कि इसका नाम नाक है। यह ऐसा ही है। ईश्वरका नाम राम है, कृष्ण है—अभ्यास तो करो। अभ्यास माने दुहराना। आवृत्ति। हम पहले 'मुहूर्त चिन्तामणि' पढ़ते थे। तो हमारे बाबा उस ग्रन्थका श्लोक पढ़ते थे। मुझे पढ़ाते थे। वे बोलते फिर मैं बोलता। वे कहते बोला, फिर बोलो। एक सौ आठ बार बोलनेका एक नियम बना दिया। इतनी बार बोलोगे तो फिर भूलोगे नहीं। याद करो।

गौरीश्रवःकेतकपत्रभङ्गमाकृष्य हस्तेन ददन्मुखाग्रे।
विघ्नं मुहूर्ताकलितद्वितीयदन्तप्ररोहो हरतु द्विपास्यः॥ 1 ॥

गौरीके कानमें-से गणेशजीने सूँड़से केवड़ेका पत्र खींच लिया और खींचकर अपने मुँहमें लगा लिया वे पत्ते। थोड़ी देरके लिए दो दाँत-से लगने लगे। बोले बस-बस—ऐसी शोभावाले वह गणेश हमारा मङ्गल करें। बचपनमें 8-9 वर्षके थे और 108 बार श्लोक बोलना पड़ता था। इसका नाम हुआ अभ्यास। रोज-रोज उसकी दुहरौनी करते थे—दुहराते थे। अभ्यास माने दुहरौनी। जो आपका इष्ट है, उसको आप दुहराइये। इष्ट माने जिसको आप चाहते हैं।

दुनियामें जो चीज कहीं नहीं हो, यदि आप अभ्यास करेंगे, ध्यान करेंगे, तो जो चीज नहीं है वह भी बन सकती है, फिर जो है उसका यदि आप अभ्यास करेंगे तो कहना ही क्या है! अपने मनको यदि वह चंचल होता है, एक जगह नहीं रहता है तो बार-बार एक जगह लगानेका अभ्यास कीजिये। बार-बार दुहराइये। **योगयुक्तेन चेतसा**। रतनगढ़में एक सज्जनका एक लड़का है। आजकल कलकत्तामें रहता है। अब तो बड़ा आदमी हो गया। बच्चा था तो दूध नहीं पीता था। उसके बाप उसे धरतीपर लिटाकर मुँह दबाकर थोड़ा-थोड़ा, दूध डालते। छः महीने उनको ऐसा करना पड़ा। फिर तो वह दूधके बिना रह नहीं सकता था। दूधका अभ्यास हो गया। दूध न मिले तो रोता था। आपका मन यदि एक जगह रहना पसन्द नहीं करता तो आप बार-बार अपनी ओरसे-यह भगवान्‌का रूप है—यह भगवान्‌का रूप है—बार-बार दुहराइये। उसमें मन लगेगा। बिना अभ्यासके योग नहीं होता। अभ्यास-अभ्यास कहना अलग है और अभ्यास करना पड़ता है, सो अलग है। अभ्यास करो। मनको दूसरी जगह मत जाने दो। परमात्माकी प्राप्ति होगी—इसी जीवनमें; मरनेके बादके लिए—हम वादेका सौदा नहीं करते। ठोस माल—अभी लो परमेश्वर!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

जैसे जीव शरीरके अन्दर रहता है, वैसे ईश्वरको भी किसी सीमाके अन्दर बाँध लेना, यह ईश्वरके स्वरूपके अनुरूप नहीं है। देश, कालके घेरेमें जीव रहता है। जीवका उद्धार करनेके लिए—उसको देश, कालके घेरेसे बचानेके लिए परमेश्वर कभी देश, कालके घेरेमें आता है। यह उसकी करुणा है। उसको अवतार कहते हैं—जैसे कोई कुएँमें गिरा हो तो बाहरका आदमी जानबूझकर उसको निकालनेके लिए कुएँमें उतरता है। कोई जेलखानेमें हो तो प्रेमसे उसको आश्वासन देनेके लिए बाहरके लोग भी जेलमें आते हैं। यह जीव बहुत ही सीमित क्षेत्रमें कैद हो गया है और उसमें इतना रम गया है, इतना रम गया है कि अपने घेरेसे बाहरकी वस्तुको वह पसन्द नहीं करता है। आओ परमेश्वरको इस शरीरमें भी देखें कहाँ है और बाहर भी देखें कि कहाँ है?

उपनिषद्‌में इस प्रकार वर्णन प्राप्त है—'वह बाहर भी है, वह भीतर भी है। वह अमूर्त है, अजन्मा है। वह दिव्य है, वह परमात्मा है। वह इसी शरीरमें है।'

निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है तो निराकारको पकड़नेके लिए आप कहाँ जायेंगे? आप जानते हैं जिन समाजोंमें, जिन मजहबोंमें, ईश्वरको नितान्त निराकार मानते हैं, जैसे ईसाई, मुसलमान, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, उनके यहाँ न तो भगवान्‌का दर्शन होता, न तो भगवान्‌का अवतार होता। वे भगवान्‌को नमस्कार करते हैं। वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं और भगवान्‌की आज्ञा मानकर, विश्वास करके भगवान्‌की आज्ञापर—उसके अनुसार चलनेपर प्रयास करते हैं। जैसे मुसलमान नमस्कार-प्रधान है। ईसाई प्रार्थना-प्रधान है और आर्यसमाजमें नमस्कार भी है, प्रार्थना भी है और अपने चरित्रके द्वारा परमेश्वरको प्रसन्न करनेका प्रयास है। जिसमें जो गुण हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सनातन धर्मका जो परमेश्वर है वह केवल निराकार नहीं है, साकार भी है। केवल निर्गुण नहीं है, सगुण भी है। यह वैदिक परमेश्वर है। यह जो सब दिखायी पड़ता है वह एक ही सब बना हुआ है। एक ही है यह और बना हुआ है सब। ईसाई, मुसलमान और आर्यसमाजी यह नहीं मानते कि ईश्वर सब हो गया है। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वरने सब बनाया। बना नहीं है, बनया है। आर्य-समाजी प्रकृति भी मानते हैं, जीव भी मानते हैं, कर्म भी मानते हैं और ईश्वर जीवको कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरोंमें देखता भी है। ईसाई, मुसलमानका ईश्वर बना देता है। पहलेसे वे प्रकृति, जीव, कर्म इनको नहीं मानते। यह ईश्वरने अपने आदेशसे 'कुन' 'कुन', कहकर बना दिया। वैदिक धर्मका कहना है कि बना नहीं दिया या किसी चीजसे बनाया नहीं बल्कि स्वयं बन गया। 'स एकधा भवति, द्विधा भवति—त्रिधा भवति—पञ्चधा भवति—सप्तधा भवति।' वही एक परमेश्वर सर्वरूपमें प्रकट हो जाता है। इसमें जगत्‌का उपादान भी वही, निमित्त भी वही। माटी भी वही—बनानेवाला भी वही। कुम्हार भी वही—माटी भी वही। जुलाहा भी वही सूत भी वही। सुनार भी वही—सोना भी वही। यह वैदिक सनातन धर्मका सिद्धान्त है।

इसलिए हम जहाँ चलते हैं, जहाँ देखते हैं, जो करते हैं वहाँ परमेश्वर विद्यमान है। देखनेके लिए सिर्फ आँख चाहिए। इसीसे सर्वरूपमें परमेश्वर—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

बारह बातें इस श्लोकमें कही गयी हैं—ईश्वरके बारेमें। ईश्वरकी ये विशेषताएँ हैं। वह गति है—हम जहाँ पहुँचेंगे वहीं है। वह हमारा भरण-पोषण करनेवाला भर्ता है। वही हमारा स्वामी है। वही हमारा साक्षी है। वही हमारा निवास-स्थान है। उसीका आश्रय है। वही हमारा सुहृद् है। उसीसे हमारा जन्म हुआ है—प्रभवः। इसीमें हमको मरके समाना है—प्रलय। स्थानं—उसीमें हम रह रहे हैं। वही हमारा खजाना है निधानं और वही अव्ययबीज है।

हमारा हाथ कैसे हिलता है? हमारी आँख कैसे देखती है? हमारे पाँव कैसे चलते हैं? हमारे शरीरमें ये सब क्रियाएँ अन्तर्यामी परमेश्वरके होनेसे ही होती हैं। हमारी साँस चलती है, हमारा मन काम करता है, यदि ईश्वरकी उपस्थिति न हों तो सब निष्क्रिय हो जायगा, सत्ताशून्य हो जायगा, ज्ञान शून्य हो जायगा। एक परमेश्वरके बिना जीवका कोई अस्तित्व नहीं है। आकाश न हो तो घटाकाश कहाँसे होगा? वायु नहीं तो साँस कहाँसे होगी। साँस हम हैं तो हवा ईश्वर है। शीशेकी चमक हम हैं तो ईश्वर सूर्य है। ईश्वर हमसे बिलकुल दूर नहीं है। आओ ईश्वरको देखें। उसे कहाँ देख सकते हैं? पहले अपने घरमें देख लीजिए और फिर बाहर देखने जाइये। यह साधनकी रीति है। महात्मा लोग दृष्टान्त देते हैं। किसी सज्जनको पारस पत्थर प्राप्त करनेकी बहुत इच्छा थी। वह भटकते थे। नदीके किनारे पहाड़पर। अरे! कहीं पारस पत्थर मिले—पारस पत्थर मिले। उनको पहचान नहीं थी, भटकते थे। एक दिन कोई जानकर मिला। उसने उनको पारस पत्थरकी पहचान करा दी—देखो यह है। वर्षों तक बिचारे भटकते रहे—अब मिला। जब वे पारस पत्थर लेकर अपने घरमें आये तो देखा उनके घरमें जो सील थी और लोढ़ा—सील-बट्टा पारस पत्थरके थे। बोले यह तो घरमें पहलेसे मौजूद है और मैं उसको जंगलमें, नदीमें पहाड़में ढूँढता फिरा।

काहे रे वन खोजन जाई—गुरु नानकका वचन है। तुम ईश्वरको ढूँढनेके लिए जंगलमें क्यों जाते हो? आओ अपने भीतर ईश्वरको पहले पहचान लो। अगर अपने भीतर ईश्वरको पहचान लोगे तो सबके भीतर पहचान लोगे। अहंमें ईश्वरको नहीं पहचानोगे—तो इदंमें कहाँसे पहचानोगे? भावना करोगे—जब पकड़ छूट जायेगी तो ईश्वर भी छूट जायगा और ईश्वरको पहचान लोगे तो सब जगह पहचान लोगे। भीतर पहचाननेके लिए क्या? वह बताया है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ 8.8

अभ्यास योगयुक्तेन—आपका चित्त कैसा होना चाहिए? अभ्यास योगयुक्त अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासका बड़ा सामर्थ्य है। यह जो आपका शरीर है यह आतिवाहिक है। आतिवाहिक होता है वह देवता जो

सूक्ष्म शरीरकी देहान्त प्राप्तिमें सहायक हो [अति वह्+ण्वुल्] यह पहाड़को छेदकर निकल सकता है। यह आसमानमें उड़ सकता है। यह धरतीके नीचे जा सकता है। अतिक्रम्य वहति। कोई इसको रोकनेवाला नहीं है। परन्तु आप इस हड्डी-मांस-चामसे मैं करके—अधिभौतिक सुखोंमें लिप्त हो गये हैं। यह अभ्यास ही पड़ गया कि आपने अपने आपको हड्डी-मांसका शरीर मान लिया। यह अभ्यासका चमत्कार है। एक मुसलमान मन्दिर तोड़ना चाहता है? एक हिन्दू नमाजके समय बाजा बजाकर उसको विक्षिप्त क्यों करना चाहता है? 'मान मान बन्धनमें आयो'—ऐसा बाहरसे विरोधी भाव ठूँस दिये गये हैं। सोचते-सोचते ऐसा ही हो गया है—नहीं तो मन्दिरमें जब ईश्वर रह सकता है जो मस्जिदमें क्यों नहीं रह सकता?

हमारे साधु दाढ़ी बनावें तो उनकी ईश्वर मिले और सिक्ख, मुसलमानकी दाढ़ी हो तो उसको ईश्वर न मिले। यह तो कल्पना ही बिल्कुल गलत है। मैं-मैं-मैं-का जो अभ्यास है वह बहुत बुरी तरहसे हमारे दिमागमें है। इसका दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। बिना अभ्यासके जो सुख मिलता है उसको तामस सुख बोलते हैं। **निद्रालस्यप्रमादोत्थम्**—नींदमें बड़ा आराम मिला—आलस्य आया! बड़ा आराम मिला। प्रमाद कर गये—बड़ा आराम। यह तो तमोगुण है। इन्द्रिय और विषयके संयोगसे जो सुख मिलता है वह राजस सुख है। भोगमें जो सुखी है वह रजोगुणी है और निद्रा-आलस्यमें जो सुखी है वह तमोगुणी है। जितना अधिक भोग भोगो उतना ही अधिक विक्षेप तुम्हारे जीवनमें आयेगा और जितना आलस्य करोगे, उतनी ही जड़ता जीवनमें आयेगी। सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिए अभ्यासकी जरूरत होती है।

अभ्यासात् रमते यत्र—दुखान्तं च निगच्छति।

आप अपने अभ्याससे एक नया सुख पैदा करो। तुमने परम्परासे जो चला आरहा है, जो सीखा—बहुत बढ़िया और उसमें नया-नया आविष्कार भी करो। नहीं तो तुम्हारी बुद्धि सो जायेगी। बुद्धिमें जड़ता आजायेगी। जैसी चाय पीते आये हो वैसी ही पीओगे? अरे भाई इसमें ऐसा आविष्कार करो कि लोगोंको नया आकर्षण हो। कपड़ेकी ऐसी डिजाइन बनाओ कि लोग उसपर टूट पड़ें। नया-नया आविष्कार चाहिए। तो आविष्कारके लिए अभ्यास चाहिए। बिना अभ्यासके उसके एक-एक अणुकी—उस वस्तुके एक-एक कणकी जानकारी कैसे प्राप्त होगी? उसमें यह है, यह है—**अभ्यासात् रमते यत्र**। उसमें अपने मनको रमा दो। अभ्यास माने **तमास्थितो यत्नोऽभ्यासः**। आप जिसको अपना इष्ट समझते हैं, प्रिय समझते हैं, उसमें स्थित होनेके लिए, प्रयत्न कीजिए। बार-बार प्रयत्न कीजिए। इसका नाम होता है अभ्यास योग। पहलवान बननेके लिए कितना अभ्यास करना पड़ता है। दो-दो हजार दण्ड और बैठक करते हैं। बिना कुछ किये गामा थोड़े ही बना जाता है। सर्टिफिकेट मिलनेसे अच्छा वकील, अच्छा डॉक्टर नहीं हो जाता—उसके लिए अभ्यास करना पड़ता है। आप अपनेसे बड़े जानकारके पास, बड़े अनुभवीके पास रहकर अभ्यास कीजिए। मन डाँवाडोल न हो। **नान्यगामिना** आपका ज्ञान—चेतस् माने ज्ञान होता है संस्कृतमें—चिति संज्ञाने। आपकी आँख असंग है। आप कितनी चीज देखते हो और छोड़ते जाते हो। अबतक कितनी चीजें खायी हैं। कोई याद करके बता सकता है कि बचपनसे अबतक क्या-क्या खाया है? क्या-क्या देखा है? क्या-क्या छूया है? क्या-क्या पीया है? कहाँ-

कहाँ गये हैं। ज्ञान असंग होता है। अपने विषयको वह छोड़ता जाता है। रूप बदलता है, आँख नहीं बदलती। आँख ज्ञान है। ज्ञानमें असंगत रहती है, परन्तु जब उपादेय बुद्धिसे कि यह हमें सीखना है—तब वह संज्ञान हो जायेगा। संज्ञान होनेसे उसका नाम, उसका रूप आपके दिलमें बैठेगा।

यह जो आपका हृदय है यह संस्कार पकड़नेवाला यन्त्र है। संस्कृतमें हृद् शब्दका अर्थ होता है—**हरति संस्कारान् इति हृत्।** यह 'हृ' धातुसे जो हरिमें है, हरमें है—उसी धातुसे 'तुक्' प्रत्यय हो करके 'हृत्' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—किसीको प्रेमसे देखो और उसे लाकर अपने मनमें बैठा लो। 'हृ+क्विप्, तुक्'=हरण करनेवाला। ग्रहण करनेवाला। ले जानेवाला। आकर्षक, मोहक। संस्कारको आहरण करनेके कारण—हृदयको हृदय कहते हैं। (हृ+कयन्, दुक् आगम=दिल, मन, अन्त:करण। छाती, वक्ष:स्थल। किसी वस्तुका सार या मर्म। गुप्त विज्ञान। हृद्+इ+अच्=परब्रह्म, आत्मा, बहुत ही प्रिय व्यक्ति) तो आपका चेतस है संज्ञानका पुञ्ज—इसको कैसा बनाओ—**नान्य-गामिना**। जिस विषयको ठीक-ठीक आप धारण करना चाहते हो वहाँसे इसे हटने मत दीजिए।

एक बात और है। आप अपने बेटेके बारेमें कितनी देरतक सोचते हो? सोच सकते हो? धनके बारेमें कितनी देरतक सोच सकते हो? लाखों रुपये गिननेमें एक गलती भी नहीं मिलती। कितना एकाग्र होता है आपका मन! आपके पास शक्ति कितनी है। अपने प्यारेकी याद करते जाओ—करते जाओ। अपने प्यारेसे बात करते जाओ—करते जाओ। अपने प्यारेसे बात करते जाओ—करते जाओ। जहाँ आपका मन चञ्चल होता है, इसका अर्थ है कि आपके लिए वह विषय रुचिकर नहीं है। आपका वह प्रिय नहीं है। प्रिय होता तो आपका मन वहाँसे हटना क्यों पसन्द करता? रास्तेमें खटखट हुई, देख लिया, फिर वहीं आगये, देख लिया फिर वहीं आ गये। ये योगदर्शनकी दो बातें हैं।

गीताकी भी दो बातें—**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना**। अभ्यास और वैराग्य। **नान्यगामिना चेतसा** यह हो गया वैराग्य। दूसरेसे-रागद्वेष नहीं है। रागद्वेषका लोप सुषुप्तिमें भी नहीं होता। मालूम नहीं पड़ता। लेकिन कल जिससे राग था, जागनेके बाद उसीसे राग रहता है। कल जिससे द्वेष था, जागनेके बाद उसीसे द्वेष होता है। मतलब क्या हुआ कि राग-द्वेषका बीज सुषुप्तिमें भी रहता है।

किसीकी हिंसा करनेका मन होता है। यह द्वेषकी क्रिया हुई—मार डालें किसीको मारनेका मन तो नहीं होता, लेकिन प्रतिहिंसाकी वृत्ति होती है। इन्होंने हमारा बिगाड़ा है तो हम भी इनका बिगाड़ दें। हमको इन्होंने जेलमें डाला तो हम भी इनको जेलमें डालें। यह प्रतिहिंसाकी वृत्ति होती है। आपने ईसाका वह वचन सुना होगा कि अगर तुम्हारे एक गालपर कोई थप्पड़ लगावे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। यह है साधुकी मनोवृत्ति। यह संसारी लोगोंका नहीं है। हिंसा करना नितान्त निन्दित है और उससे कम निन्दित है प्रतिहिं... यदि चित्तमें अहिंसा तो तब तो कहना ही क्या! गांधीजीके आश्रममें किसीने घड़ीकी चोरी की—उन्होंने कहा कि बाबा इसको पकड़ो मत—मारो मत क्योंकि इसको इतनी जरूरत है कि चोरी करता है और हमें इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। हम तो इसको सोनेमें छोड़कर चले गये थे। हमारी जरूरत कम है, उसकी जरूरत

ज्यादा है। उसको घड़ी दे दो। यह है सत्पुरुषकी मनोवृत्ति बिना समताके सौजन्य स्थिर नहीं हो सकता। आपने गीता पढ़ी।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

आपकी बुद्धिमें समता है कि नहीं, बिना सम हुए आपका चित्त एकाग्र नहीं होगा। कभी राग खींयेगा, कभी द्वेष खींचेगा। दो बात हुई एक तो अभ्यास बढ़ाया और दूसरे चित्तको दूसरी जगह राग-द्वेषके विषयमें जानेसे रोक दिया और तीसरे अनुचिन्तयम्—परमात्माका अनुचिन्तन करो। यह तीसरी बात है। योगदर्शनमें अभ्यास है, वैराग्य है—अनुचिन्तन नहीं है। अनुचिन्तन बहुत बाह्य स्तरपर होता है। स्थूल आलम्बनका चिन्तन, सूक्ष्म आलम्बनका चिन्तन, आनन्द आलम्बनका चिन्तन, ये सबसे सम्प्रज्ञात समाधिके स्थूल भाग हैं और अस्मिताका चिन्तन सूक्ष्मतम भागमें हैं। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और असंप्रज्ञात समाधिमें वह भी नहीं है। परन्तु यह गीता है। इसमें अनुचिन्तनकी बड़ी महिमा है। अनुचिन्तन क्या होता है? आओ आनन्द लें।

श्रीमद्भागवतका सप्ताह कभी करते हैं तो दशम स्कन्ध, एकादश स्कन्धका आनन्द लेते हैं। जो बाकी बचता है उसे घण्टे भरमें पूरा कर लेते हैं। पुस्तक पूरी करना धर्मके अन्तर्गत है। उसका रसास्वादन करना फलके अन्तर्गत है। धर्म है पुस्तक पूरी करना और धर्मका फल है उसका आनन्द लेना।

रसास्वादन करो। अनुचिन्तन क्या होता है? तुम्हारे कोई गुरु हैं कि नहीं? अर्थात् तुम्हारे आदरणीय, श्रद्धेय—जिनसे तुम सीखते हो—ऐसे महानुभाव हैं कि नहीं? अनुचिन्तनका अर्थ है—जैसा वे चिन्तन करते हैं। उसके अनुसार तुम चिन्तन करो। अनु माने अनुसार—जैसे बड़े भाईका छोटा भाई अनुज होता है। जैसे आगे चलनेवाले-के पीछे चलनेवाला अनुग होता है। वैसे चिन्तनके पीछे चलनेवाला अनुचिन्तन होता है।

प्रथम मुनिन हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

महत्माओंने जैसा चिन्तन किया है, उनके दिखाये हुए रास्तेसे परमात्माका चिन्तन करो। अनुचिन्तन—भक्त लोग एक बहुत बढ़िया बात कहते हैं। कहते हैं—परमेश्वरका चिन्तन करो—उसमें जीवको घूमनेके लिए आसमान बनाया है। साँस लेनेके लिए हवा बनायी। देखनेके लिए सूर्य-चन्द्रमा बनाया। जीवित रहनेके लिए, पीनेके लिए जल बनाया। बसनेके लिए धरती बनायी और देखनेके लिए आँख दी, सुननेके लिए कान दिया, बोलनेके लिए जीभ दी। प्रेम करनेके लिए दिया दिल। नया-नया काम करनेके लिए प्रतिभाशाली मस्तिष्क दिया। ईश्वरने चिन्तन करके कि तुम्हारे काम क्या-क्या चीज आयेगी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके लिए, जीनेके लिए, प्यार करनेके लिए, विचार करनेके लिए। इतना उपकरण, इतना औजार, इतनी सामग्री दिया। जिस घरमें तुमको रखा, उसमें सब तरहकी मशीन लगा दी। संगीत सुन लो, सिनेमा देख लो। कानसे संगीत सुनते हैं। आँखसे सिनेमा देखते हैं। तुम कोमल कठोरका स्पर्श कर लो, जो भोजन चाहिए—कड़वा, खट्टा, मीठा, सब खानेके लिए तुम्हारे पास तैयार है। वह दूकानमें नहीं मिलता है,

वह रसोईघरमें नहीं बनता। तुम्हें ऐसा घर दिया है—रहनेके लिए जिसमें सम्पूर्ण सुविधाएँ उपलब्ध हैं। यह है उसकी कृपा, उसकी करुणा। उस घरमें नयी बात सोच सकते है। प्यार बरस सकते हैं। यदि उससे मिलना चाहें तो मिलनेके लिए वाहन भी दे दिया है। आप उसके घर जा सकते हैं—उसे अपने घर बुला सकते हैं। उसे सोच-विचारकर आपको सब दिया। आपके मनमें कभी कृतज्ञता उभरती है इस सबके लिए। आप ईश्वरके प्रति कृतघ्न न हों।

अनुचिन्तयन्—जैसे ईश्वरने आपका चिन्तन किया है, वैसे आप भी उसका अनुचिन्तन कीजिए। उसने आपको प्यार दिया है। आप उसको प्यार दीजिए। उसने आपको घर दिया है, आप भी उसे घर दीजिए। उसने आपको आँख दी है, आप उसको भी आँख दीजिए। उसके सामने ले जाकर डाल दीजिए अपने आपको। **अनुचिन्तयन्**—आप ईश्वरके शीलस्वभावका उसके स्वरूपका चिन्तन कीजिए। यह आपसे कितना प्रेम करता हैं। जब आप अपने ऊपर बरसनेवाले ईश्वरके प्रेमका चिन्तन करेंगे तो आपके हृदयमें अपने आप ईश्वरसे प्रेम हो जायेगा।

संस्कृत भाषामें एक 'प्रीति-सन्दर्भ' नामका ग्रन्थ है। एक बल्लभ सम्प्रदायका भी 'प्रीति-सन्दर्भ' है। बल्लभ सम्प्रदायवाला मैंने हस्तलिखित ही देखा था। अभी सम्भवत: प्रकाशमें नहीं आया और चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायका तो प्रकाशित हो चुका है। प्रश्न यह उठाया कि प्रेम कैसे बढ़ता है? प्रीति बढ़नेका उपाय क्या है? प्रीतिका उद्दीपन क्या है? जैसे आलम्बन, उद्दीपन दो होता है। यमुनाका तट हो, बालुकामय पुलिन हो—वंशीधर हो, गौएँ चर रही हों, ग्वालबाल खेल रहे हों, यह सब उद्दीपन है। उसमें वंशीकी धुन सुनायी पड़ती है, यह भी उद्दीपन है। वहाँ श्रीकृष्णका शरीरकी गन्ध फैल गयी हो, यह भी उद्दीपन है। लेकिन वह जो श्रीकृष्णका श्रीविग्रह आपके सामने प्रकट होगा वह आलम्बन है। प्रेम एक रस है, इसका उद्दीपन क्या है? यदि आपके मनमें यह विश्वास जमेगा कि सामनेवाला—हमसे बहुत प्रेम करता है—'पानी देखकर पानी बढ़ता है' कहावत है। समुद्रमें सबसे अधिक वर्षा होती है। पानी देखकर पानी बरसता है। यदि आपके मनमें यह विश्वास हो गया कि सामनेवाला हमसे बहुत प्रेम करता है तो अनचाहे आप उससे प्रेम करने लगेंगे। इसीसे प्रेमका बाप विश्वास है।

पहले विश्वास होता है, फिर प्रेम होता है। यदि संशय हो जाय तो प्रेमकी नदी सूख जायेगी। प्रेमकी गंगा सूख जायेगी। संशयमें विश्वास नहीं बनता। पता नहीं कब धोखा दे जाय। सावधान रहेंगे। अपनेको पकड़कर रखेंगे कि कहीं हम इसकी कैदमें फँस न जायँ और संशय नहीं रहेगा, पूरा विश्वास हो जायेगा तो अपनेको मिला देनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं होगी। आपके मनमें ईश्वरपर विश्वास है। उसकी कोई क्रिया बुरी नहीं लगेगी। प्रेममें चाँटा भी लगा देते हैं। प्रेममें डाँट भी देते हैं। प्रेममें कुछ छीन भी लेते हैं। पर प्रेमपर विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ हो रहा है सो सब प्रेमसे हो रहा है।

अनुचिन्तयन्का अर्थ यह है कि ईश्वर हमसे कितना प्रेम कर रहा है। यह बात आप देखो, इसका आनन्द लो। फिर क्या होगा? आप प्रेमी नहीं रहेंगे। अलग होकर प्रेमी नहीं रहेंगे। आप उसके पास पहुँच

जायेंगे। प्रेम आपको प्रियतमसे अलग नहीं रहने देगा। प्रेमीके पास ले जाकर मिला देगा। प्रेम मिलाता है। लौकिक प्रेममें तीन दल होते हैं ऐसा मानते हैं। त्रिदल प्रेम होता है। त्रिदल माने प्रेमी अलग होता है, प्रेम अलग होता है; प्रियतम अलग होता है और जो ईश्वरसे प्रेम होता है उसमें प्रेमी, प्रेम और प्रियतम, ये तीन दल नहीं होते। प्रेमी प्रियतम हो जाता है। प्रियतम प्रेमी हो जाता है। प्रेम ही प्रेमी है। प्रेम ही प्रियतम है। इससे आपको परम पुरुषकी प्राप्ति होगी। परम पुरुष माने पुरुषोत्तम। वह दिव्य है। **दिव्यो: अमूर्तः पुरुषः।** परमेश्वरका प्रेम देखिये, आपपर कितना प्रेम है—आपके ध्यानमें यह बात आती है? आप उसे अपने गोदसे उतारकर फेंक देते हैं। परन्तु वह आपको अपनी गोदमें रखता है। ईश्वरने कभी आपको अपनी गोदसे उतारा नहीं।

चन्द्रसूर्ययोः—वह हमें अपनी आँखोंसे ओझल नहीं करता है। वह साँस-साँसमें हमको साँस—प्राण देता है वह हमारे चिन्तनमें चेतन बनकर रहता है। हमारे प्यार-प्यारमें आनन्द बनकर रहता है। हमारे अस्तित्वमें उसकी सत्ता विकसित होती है। परमेश्वरका आप चिन्तन कीजिए, आप परमेश्वरके पास पहुँच जायेंगे। **श्रद्धामयोऽयं पुरुषः**—गीतामें आपने पढ़ा होगा। आपकी श्रद्धा परमेश्वर पर है, आपको अभी परमेश्वर मिलेगा। वेदान्ती लोग इसको दूसरी तरहसे बोलते हैं।

एक बहुत गुप्त बात है। आप क्या हैं? आप वह नहीं हैं जो कुरसीपर बैठे हुए हैं। आप वह नहीं है जो कपड़े पहने हुए है। आप वह नहीं है जो आपका स्त्री-पुरुषका शरीर है। आप कौन हैं? आपका मन क्या है? जो आपका मन है, वही आप हैं।

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः।

यदि आपका मन राम है तो आप राम हैं। यदि आपका मन कृष्ण है तो आप कृष्ण हैं। यदि आपका मन राधा है तो आप राधा हैं। यदि आपका मन सीता है तो आप सीता हैं। यदि आपके मनमें चोर है, व्यभिचारी है तो आप चोर हैं, व्यभिचारी हैं। यह एक गुप्त बात मानते हैं—वेदान्ती लोग। आओ आप दिव्य पुरुषके पास चलो। कैसा है वह?

कविं पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9

अर्जुनको देखते-देखते श्रीकृष्ण छन्द ही भूल गये। आपके ध्यानमें यह बात आयी या नहीं? **पुराणमनुशासितारं**—ऐसे बोलनेपर छन्दमें एक मात्रा कम होती है। **पुराणम् अनुशासितारम्** ऐसे बोलेंगे। अलग—तब तो छन्द पूरा होगा। गानेवाले इसे पूरा कर सकते हैं। इसीसे मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्ण भी संगीतके टोनमें, लयमें, बोल रहे हैं। साहित्य-शास्त्रका जैसा नियम है, उस नियमके अनुसार नहीं है। व्याकरणमें तो दोष नहीं है। परन्तु काव्यमें दोष है। यह दोष कहाँसे आया? जैसे संगीत बोलनेवाले

आ...आ...करके पदको पूरा कर देते हैं। भजन, पद चाहे कैसा भी हो वे अपने आलापसे उसको पूरा करते हैं। **कविं पुराणम् अनुशासितारं**—यह पुराणम् संगीतके आलापसे पूरा होगा। इसका अर्थ है श्रीकृष्ण गा रहे हैं।

बाँसुरी बजायी वृन्दावनमें, शंख बजाया कुरुक्षेत्रमें, परन्तु यह गीत, यह संगीत, यह गीता शंखध्वनि नहीं है। यह वंशी-ध्वनि नहीं है। यह तो चिदानन्दमयी ध्वनि है। शंखध्वनिमें वीर रस होता है। बाँसुरीमें शृंगार होता है और इसमें आनन्द और ज्ञान दोनोंका मेल है। **कविं पुराणम् अनुशासितारं**—परमेश्वर कैसा है? बोले कवि है। वैसे कविकी परिभाषा ही बना रखी है। **कवयः क्रान्तदर्शिनः** कविको आँखके सामनेका नहीं सूझता है। क्रान्त माने अतिक्रान्त। जो आँखोंसे ओझल है—उसका वर्णन करेंगे। उनके मनमें ऐसा प्यार भरा है—जैसे देखकर आये हों। किसीके दिलमें तुम घुसे, वहाँ प्यार देखकर आये। प्यारका वर्णन करते हैं—सौजन्य, दौर्जन्यका वर्णन करते हैं। रावणका वर्णन करते हैं तो मालूम होता है, रावणसे एक हो गये—रामका वर्णन करते हैं तो मालूम पड़ता है, रामसे एक हो गये। रामकी बात कवि बोलता है। रावणकी बात कवि बोलता है। दोनोंकी बात तो आँखोंसे ओझल है। न रामकी सुनकर आये न रावणकी। रावणके दिलमें बैठे तो रावणकी बोले और रावणको अपने दिलमें बैठा लिया तो रावण हो गये और रामको अपने दिलमें बैठा लिया तो रावण हो गये और रामको अपने दिलमें बैठाया—राम हो गये। इसको बोलते हैं कवि। यह सातवें आसमानकी—सातवें पातालकी बात ले आवें। दूसरे दिलकी बात ले आवें। **कवयः क्रान्तदर्शिनः**। कवि किसको कहते हैं कि जो क्रान्तदर्शी हो।

'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।'

कविकी गति वहाँ है। तो परमेश्वरको कवि कहा। 'ईशावास्य उपनिषद्'में भी परमेश्वरको कवि कहा है।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

परमेश्वर कवि है। परन्तु कविका स्वाभाविक अर्थ है—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करनेमें निपुण। स्वभावोक्ति अलंकार है वह सबसे उत्तम अलंकार है। अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा, अनन्वय, ये अलंकार अलंकार नहीं हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं है। अलंकार है स्वभावोक्ति। **स्वभावोक्ति रसो चारु यथावत् वस्तुवर्णनम्।** वस्तुका यथार्थ वर्णन होना चाहिए। उसमें नमक-मिर्च लगाकर वर्णन नहीं करना चाहिए। कवि वह है जो वस्तुका यथार्थ वर्णन करें। **कं सुखं वाति**—जो सुखका स्रोत, सुखका झरना, सुखकी गंगा बहा दे दुनियामें। जिसकी वाणीसे सुख ही सुख बरसे। रमणीय पदविन्यास जिसमें हो। रमणीय वाक्य, उसको काव्य बोलते हैं। अर्थवत् हो, रमणीय हो। तो परमेश्वर कैसा है? वेदमें वर्णन है—परमेश्वर अकेला था एकान्तमें था, बोला—हमारा समय कैसे कटे? उसने काव्य-रचना प्रारम्भ की। वह तो परमेश्वरका काव्य था तो अर्थवाला था। आजकलके कवि बोलते हैं तो वह केवल शब्द ही रह जाता है न!

यह पेड़ क्या है, यह फूल क्या है, यह फल क्या है? आपकी बत्तीसी देखनेका मन होता है, आपकी

प्यार भरी आँखें देखनेका मन होता है। आपकी चमक देखनेका मन होता है। यह क्या है? यह ईश्वरकी कविता है। एक छोटी-सी लड़की लेकर कोई सज्जन गुरुनानकके पास गये। गुरुनानक उस समय लिख रहे थे। उन्होंने लिखना बन्द कर दिया और उस लड़कीकी ओर देखने लगे। पिताने पूछा कि गुरु साहब आप क्या देखते हैं? उन्होंने कहा—कारीगरकी रचना देख रहा हूँ। कितना बढ़िया होगा कारीगर, जिसने बराबर-बराबर कान बनाये हैं, छोटे बड़े नहीं! आँख कितनी बराबर, नाकके छेद कितने बराबर। हाथ एक लम्बा एक छोटा हो तो कैसा लगे! वह क्या कारीगर है! उस शिल्पीकी यह रचना देखो! ईश्वर गाता है। काव्य करता है। **पश्य देवस्य काव्यम्**—यह परमेश्वरकी कविता है। यह अमरकृति है परमेश्वरकी। कभी मरती नहीं और कभी बुड्ढी भी नहीं होती। वैसे भाष्यकार लोग कवि शब्दका अर्थ करते हैं सर्वज्ञ। कालिदासकी प्रसिद्धि है जिसे किसीने देखा नहीं, उसका वर्णन करके सामने रख दिया। जब हम ध्यानमें एकाग्र होते हैं तो अनदेखी चीज भी दीखने लगती है।

आओ, आप जिसकी शरण लेना चाहते हैं, जिसका ध्यान करना चाहते हैं—वह कैसा है? वह अज्ञानी नहीं है, अल्पज्ञ भी नहीं है, वह सर्वज्ञ है। तुम्हारे दिलकी सब बात जानता है। जो तुम जानते हो वह भी जानता है और जो तुम नहीं जानते वह भी जानता है। जो तुम भूल चुके हो उसको भी जानता है और आगे तुम जानोगे उसको भी जानता है। वह कवि है। सर्वज्ञ है। अज्ञानीकी शरण नहीं लेना—अज्ञानीका चिन्तन नहीं करना। उस सर्वज्ञका चिन्तन करना, जो सब कुछ जानता है।

पुराणम्—माने **पुरातिनवम् एव इति पुराणम्** पुराण शब्दका यह नैरुक्त अर्थ है। पुराने जमानेमें भी वह नया था। अब भी वह नया है, आगे भी नया रहेगा। नित्य नूतन है, चिर सुकुमार है। चिर सुन्दर है। अनादि है। ऐसा सर्वज्ञ है। **अनुशासिता-सर्वज्ञ** भी हो और बुड्ढा भी हो और उसका घरमें हुकुम न चलता हो तो! बेटे, नाती, पोते न मानते हों। बहू-बेटी न मानती हों, उसकी प्रजा उसकी बात न मानती हों तो—वह सर्वज्ञ, पुराना, अनुभवी ही नहीं है अनुशासिता भी है। वह अनुशासन करता है। सूर्य और चन्द्रमा उसकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। आग जलती है, हवा बहती है, तारे छिटकते हैं। ऋतुमें वर्षा होती है, ठण्डकमें ठण्ड पड़ती है। यह उसका अनुशासन है। मौत भी उसकी आज्ञाकी पालन करती है।

पकड़ लें उसे-नहीं, **अणोरणीयांसम्** वह अणुसे भी अणु है। यदि परमेश्वर अणु होता तो अबतक वैज्ञानिक लोग तोड़ डालते उसको। उसमें-से फिर एटम-बम निकलता। ये तो अणुको तोड़कर रख देते हैं। वह परमाणु है? नहीं परमाणु भी नहीं है। परमाणुमें अलगाव होता है। **अणीयांसं**—अणुसे भी अत्यन्त अणु है—वह किसी यन्त्रके द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। बहुत सूक्ष्म है। उसे कोई जेलमें-कैदमें नहीं डाल सकता।

कुछ हमारे काम भी तो आना चाहिए। वह कवि है, ठीक है। पुराण है, सो ठीक। अनुशासिता है यह भी ठीक। किन्तु उसका अनुशासिता होना हमारे किस कामका? बोले—**सर्वस्य धातारम्।** गाय आपको दूध पिलाती है। बच्चेको जैसे दूध पिलाती है वैसे सबको वही दूध पिलाता है। गेहूँमें-से जो दूध निकलता है, वह

क्या आपने उसमें डाला है? लेबोरेटरीमें निर्मित है? अंगूरमें-से जो रस निकलता है, आममें-से जो रस निकलता है। वह किसका डाला हुआ है?—**सर्वस्य धातारम्।**

सबको वही दूध पिलाता है, सबको वही धारण करता है। धारण—अपनी-अपनी मर्यादामें सबको रखता है। समुद्र, धरतीको डुबोता नहीं है। वायु चट्टानको उड़ाता नहीं है। सूर्य और चन्द्रमासे जितनी दूरीपर समुद्रको रख दिया है, उतनी दूरीपर समुद्र रहता है। अगर थोड़ा पास हो जाये तो चन्द्रमा जिस दिन पूर्ण होगा, उस दिन समुद्र इतना उछले कि शहरके शहर डूब जायें। सूर्यको जितनी दूरीपर बैठा दिया है, अगर सूर्य उससे थोड़ा पास हो जाये तो धरती जल जाये। सबका पालन-पोषण करनेवाला वही है।

सर्वस्य धातारं—अब अपनी बुद्धिमें उसका एक रूप बैठावें—अचिन्त्यरूपा आपकी चिन्तन शक्ति वहाँ पहुँच नहीं सकती। **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** आओ इसका अनुचिन्तन करें। हमने आपके मनोरंजनके लिए यह बात नहीं सुनायी। ईश्वरका अनुचिन्तन—आप अपने मनको जगाकर कीजिए—सुलाकर मत कीजिए। मनको सुलाकर चिन्तन नहीं होता। मनको जगाकर चिन्तन होता है। अपने मनको क्रियाशील रखकर, उसकी वृत्तियोंको जगाकर ईश्वरके बारेमें ऐसा अनुचिन्तन कीजिए। जैसे हवाई जहाज आपको अभीष्ट स्थलपर पहुँचाता है, वैसे आपकी वृत्ति परमेश्वरके पास आपको पहुँचा देगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

गीताके आठवें अध्यायमें परमात्माके अनुचिन्तन और अनुस्मरण दोनोंकी महिमा और दोनोंका फल बताया गया है। अनुचिन्तन और अनुस्मरण, चिन्तनमें जो चिन्तन करता है, उसका बल काम करता है और स्मरणमें जो सुनी-देखी, अनुभव की हुई वस्तु होती है, उस वस्तुका स्फुरण, काम करता है। कर्त्ताकी प्रधानतासे होता है चिन्तन और अनुभूत वस्तुकी प्रधानतासे होता है स्मरण। चिन्तन हमें जोर लगाकर करना चाहिए। जब अनुभव हो जायेगा तो स्मरण अपने आप होने लगेगा। आपको अपने प्रिय, अप्रिय दोनोंका स्मरण बिना बल लगाये एकाएक हो जाता है? माँकी याद आती है, बापकी याद आती है, अपने मित्रकी, पुत्रकी याद आती है। यह स्मरण जो बार-बार सुना हुआ है, बार-बार देखा हुआ है, जिस दुःखका, सुखका अनुभव हुआ है, उसका स्मरण अपने हृदयमें उतरता है। स्मरण अवतार है। चिन्तन उतार है। चिन्तन हमारी ओरसे उस वस्तुका किया जाता है जिसका हम चिन्तन करना चाहते हैं। **परं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।** पहले दिया चिन्तन और बादमें दिया अनुस्मरण।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ 8.10
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ 8.11
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 8.12
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यं प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ 8.13
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः॥ 8.14

पहले बात कही गयी अनुचिन्तनकी और बादमें अनुस्मरणकी। 'स्मरति' यह क्रम बना। परमेश्वरका निरूपण करते हुए—जो उनके गुण बताये हैं—वे कवि हैं, हमारे हृदयको जानते हैं—सर्वज्ञ हैं। कवि माने क्रान्तदर्शी हैं। हमारे हृदयके अन्तःस्थलमें, गम्भीर अन्तःस्थलमें जो बातें छिपी हैं, जिनको हम अभी नहीं जानते

हैं, उनको भी वे जानते हैं। सबकी आदि होती है और परमेश्वर अनादि होता है, ईश्वर कब पैदा हुआ? ईश्वर किसने बनाया? यह आप जान सकते हैं क्या? कल्पनाकी बात छोड़ दीजिये। क्या अपनी आदि जान सकते हैं? आप कब बने? आपको किसने बनाया? अपनी उत्पत्ति कोई जान सकता है? उत्पत्ति जाननेके लिए उत्पत्तिसे पहले होना आवश्यक है। आप अपनी उत्पत्ति भी नहीं जान सकते क्योंकि यदि उत्पत्ति जानते हैं तो उत्पत्तिसे पहले आप हैं। आब आप ईश्वरके बारेमें सोचते हैं। आप अपनी आदि तो जान नहीं सकते? एक बाबू कहते हैं—'हमारे सनातनधर्मी लोग जिस बातको नहीं जान पाते हैं, उसको अनादि कह देते हैं।' ऐसा नहीं है। एक दर्शनका नियम है कि उसमें अनादि क्या होता है? अनुभवके क्षेत्रमें अपनी उत्पत्ति और अपनी मृत्यु दोनों कोई देख नहीं सकता। अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए अपना आत्मा अनादि है और अनन्त है। इसलिए नहीं कि हम जान नहीं पाते। जानते तो हैं कि हम हैं परन्तु अपनी उत्पत्ति और अपनी अन्त ये दोनों अनुभवके क्षेत्रमें आ नहीं सकते। इसलिए अनादि और अनन्त मानते हैं। जब हम अनादि, अनन्त हैं तो ईश्वरके बारेमें तो कहना ही क्या है? किसने सृष्टिकी आदि देखी, किसने अन्त देखा, किसने बनानेवालेको देखा? आप अपने आपको देखेंगे तो सब देखा हुआ हो जायेगा। शास्ता है—उसकी आज्ञा चलती है। सूर्यपर, चन्द्रमापर, अग्निपर सबपर उसकी आज्ञा चलती है। एक तो वह सर्वज्ञ है, दूसरे सर्वशक्ति है, चाहे जो कर सकता है। सृष्टि बना सकता है, बिगाड़ सकता है, बदल सकता है और तीसरे परम दयालु है।

सर्वस्य धातारम्—सबको पुष्टि देता है। तीन बातपर आप ध्यान दें। सब जानता है, सब कर सकता है और उसका हृदय दयासे, करुणासे भरपूर है। शरण लेने योग्य वही है। जिसके हृदयमें दया न हो उसकी शरण क्या लेना! करना, चाहना हो पर जानता ही न हो कि इसके दिलमें क्या है? मूर्खकी शरण नहीं ली जाती। असमर्थकी शरण नहीं ली जाती और क्रूरकी शरण नहीं ली जाती। परमात्मा सर्वत्र है, सर्वशक्ति है, परम दयालु हैं। इसलिए शरण लेने योग्य हैं। इसका ध्यान कैसे करें?

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। आपके जीवनमें अन्धकार है। कहीं-न-कहीं अन्धकार है—जैसे आपकी आँख जब ऊपरको देखती है तो अन्धकार दिखायी देता है? नीलिमा है और जब हवाई जहाजमें बहुत ऊँचाईपर चलते हैं, तो नीचे भी नीलिमा दीखती है। यह जो क्षितिज है, वह केवल ऊपर ही नहीं है, केवल दायें-बायें नहीं है, यह नीचे भी है। माने हमारा जीवन अन्धकारके बीचमें जहाँतक हमारी आँख देख सकती है, चश्मा, खुर्दबीन, दूरबीनके सहारे, उतने प्रकाशमें ही हमारा जीवन चल रहा है। सृष्टिका आदि अन्त कौन देख रहा है? एक ऐसा प्रकाश है कि जिसके सामने कहीं अन्धकार नहीं होता। न आदिमें, न अन्तमें। न दाहिने, न बायें। न ऊपर, न नीचे। न भीतर, न बाहर—ऐसा प्रकाश है। एक ऐसा प्रकाश है, जिसके दाहिने, बायें, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर, कहीं भी अन्धकार नहीं है। ऐसा प्रकाश है, ऐसा चेतन है, ऐसा ज्ञान है और वह सारे अन्धकारोंसे परे है।

जाग्रत् अवस्थामें बाहर अन्धकार है और आँख बन्द करो तो भीतर भी है। स्वप्नमें जाग्रत्‌की स्मृति नहीं होती। वह भी अन्धकारमें डूब जाती है और सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अन्धकारमें चले जाते हैं। कुछ

नहीं मालूम पड़ता। आपने सुषुप्तिका—जहाँ वेदके मन्त्र नहीं होते। **तत्र वेदा अवेदा भवन्ति।** वहाँ माँ-बापकी याद नहीं रहती। वहाँ पति-पुत्र नहीं होते। आप एक ऐसी अवस्थामें रोज जाते हैं जहाँ सब छूट जाता है। भगवान्‌ने आपको कैसी असंगताका दर्शन करा दिया। सब छोड़कर आप सो जाते हैं और आरामका अनुभव करते हैं कि सबको भूलकर सो जानेपर आराम मिलता है। हे भगवान्। गोदमें बच्चेको लेकर सोते हैं। उसके जागते हुए, खेलते हुएका आनन्द लेते रहते हैं। थोड़ी देरमें जब बच्चा और स्वयं सो जाते हैं, वह बच्चा भूल जाता है, तब नींदका आनन्द मिलता है। तकियेके नीचे हीरा, मोती रखनेका सुख होता है और जब उसको भूलकर सो जाते हैं तब आराम मिलता है। बगलमें पति-पत्नी, जब एक दूसरेको भूलकर सो जाते हैं तब आराम मिलता है। हमें रोज त्यागका सुख दिखाता है भगवान्। संसारकी विस्मृतिका सुख दिखाता है।

अब रह गया अज्ञान। 'तमसः परस्तात्'। यह वेदका मन्त्र है। श्रीकृष्ण तो वेदके अनुसार ही बोलते हैं। **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** सारे वेद भगवान्‌का वर्णन करते हैं। वेदके सामने भगवान् हार जाते हैं। वेदकी यह महिमा है। रासलीलाका प्रारम्भ है—श्रीकृष्ण कहते हैं गोपियोंसे कि लौट जाओ। धर्मरूपसे बोलते हैं। गोपियाँ कहती हैं—तुम धर्मकी बात कहते हो—हम ज्ञानकी बात करती हैं। तुम पूर्वमीमांसा हो, हम उत्तर मीमांसा हैं। तुम मनुस्मृति हो, धर्मशास्त्र हो, हम उपनिषद् हैं। गोपियोंने स्पष्ट कह दिया—तुम्हारी बात गलत, हमारी सही। तुम्हारे पास आकर कोई लौटता है? है कहीं वेदमें यह बात कि परमात्माकी प्राप्ति हो जाय और फिर लौट जाय? **मामुपेत्य पुनर्जन्म।** श्रुति कहती है, सूत्र कहता है, गीता कहती है कि परमात्माके पास पहुँचनेके बाद फिर लौटना नहीं होता। श्रीकृष्णकी बात बड़ी कि गोपीकी बात बड़ी? गोपीने कहा—'तुम्हारी बात बड़ी नहीं—हमारी बात बड़ी।' और श्रीकृष्ण गोपियोंसे वाद-विवादमें, शास्त्रार्थमें हार गये। यह है वेदकी महिमा। जब अर्जुनसे भी बातचीत करते हैं तब बीच-बीचमें वेदके मन्त्र बोलते हैं। बहुतसे हैं—

यश्चैनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

यह भी वेदका मन्त्र है।

वेद बड़ा है। क्योंकि युक्तियाँ केवल लोकको देखती हैं—लौकिक कल्याण। धर्मशास्त्र लोक, परलोक दोनोंको देखते हैं। उपनिषदें परमार्थ-सत्यको देखती हैं। वे न केवल लोकमें फँसती हैं, न केवल परलोकमें फँसती हैं, न दोनोंमें फँसती हैं। वे केवल परमार्थको देखती हैं। गोपीको न लोककी चिन्ता है, न परलोककी चिन्ता है, न दोनोंको चिन्ता है, वे तो परमार्थस्वरूप श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। यह उपनिषद् है। इसका नाम श्रुति है। गोपी माने श्रुति—गोपी माने वेदकी ऋचा। मालूम पड़ता है कि एक मन्त्रका पति इन्द्र है। एक ऋचाका पति अग्नि है। एक ऋचाका पति वायु है, उसका प्रतिपादन करती हैं। परन्तु वे अन्तरंगसे न अग्निका, न वायुका, न सूर्यका प्रतिपादन करती हैं बल्कि वे अन्तरंगसे सब ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं। परमात्माका करती हैं। इसलिए बाहरसे देखनेमें उनके देवता अलग-अलग हैं और भीतरसे सबके देवता एक हैं। यह रास है। **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** यह श्रुतिका वचन है। श्रीकृष्ण इसको प्रामाणिक मानते हैं।

शिवपुराणमें एक कथा है—पितामह भीष्म पिण्डदान कर रहे थे अपने पिताके लिए। हाथ निकला। कथाका अर्थ समझिये। भीष्मके पिताका, शान्तनुका हाथ निकला, नदीमें-से—पिण्ड लेनेके लिए। ब्राह्मणने कहा कि हाथपर पिण्ड दे दीजिए आप! भीष्मने कहा—नहीं महाराज, आप बताइये शास्त्रमें पिण्डदानकी विधि क्या है? हाथपर देनेकी है या वेदीपर? ब्राह्मणने कहा, शास्त्रमें तो विधान है कुशा जिसपर बिछ रही हो, ऐसी वेदीपर पिण्डदान करनेका, जो उक्त पितरके लिए निर्धारित हो। बोले—तब भले हाथ निकला रहे, हम तो वेदीपर पिण्डदान करेंगे। क्यों? बोले—हमारे सामने तो पिताजीका हाथ निकला। दुनियामें ऐसे लोग पिण्डदान करेंगे, जिनके सामने हाथ नहीं निकलेगा तो कहेंगे हाथ नहीं निकलेगा तो हम पिण्डदान ही नहीं करेंगे। परम्परा ही बिगड़ जायेगी। अत: हम तो शास्त्रीय रीतिको ही करेंगे। अनुशासनका भंग नहीं होना चाहिए। अनुशासन जीवनकी एक खास वस्तु है। यह श्रुतिका अनुशासन है।

सबसे घना अन्धकार हमारे जीवनमें तब होता है, जब हम सो जाते हैं, गाढ़ निद्रामें। उससे घना अन्धकार जीवनमें और कहीं नहीं है। नरकमें भी नहीं है। सातवें आसमानमें भी नहीं है। पातालमें भी नहीं है। सुषुप्तिमें भी जो चमकता रहता है। आपने सुषुप्तिका अन्धकार देखा है—वहाँ आपकी जाग्रत्‌की वस्तुएँ नहीं है, न आपका स्वप्न है। कुछ मालूम नहीं पड़ता। जब कुछ मालूम नहीं पड़ता है तो कुछ देखते भी नहीं हैं। **तमस: परस्तात्**—परमात्मा वहाँ है। अर्थात् वह सुषुप्तिमें भी है। स्वप्नमें भी है, जाग्रत्‌में भी है। इसका यही मतलब हुआ। क्योंकि जो गाढ़ अन्धकारमें आपका साथ नहीं छोड़ता वह सपनेमें, जहाँ आपका मन टिमटिमाता है, वहाँ आपका साथ क्यों छोड़ देगा? जाग्रत्‌की याद स्वप्नमें नहीं—जाग्रत्, स्वप्नकी याद सुषुप्तिमें नहीं। परन्तु स्वप्नमें सुषुप्तिकी याद है और जाग्रत्‌में स्वप्न, सुषुप्ति दोनोंकी याद है। यह अन्धकारमें पड़े हुए गाढ़ सुषुप्तिमें भी आपके साथ, आपकी आत्माके रूपमें **धियो यो न: प्रचोदयात्, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**—उसके प्रकाशसे सुषुप्ति मालूम पड़ती है, वह परमात्मा है। इतना निकट है और इतना अपना है कि जाग्रत्‌में भी आपके पदार्थ और सम्बन्धी छूट जाते हैं। स्वप्नमें तो छूट ही जाते हैं। परन्तु सुषुप्तिमें भी जहाँ सब छूट जाता है वहाँ भी परमेश्वर नहीं छूटता है। वह इतना अन्तरङ्ग है। इसीसे परमेश्वर युक्तिसे नहीं जाना जाता। जो युक्ति होती है, तर्क होते हैं, हेतु होते हैं वे तो लोकको देखकर होते हैं। दुनियादारीमें-से तर्क निकलते हैं। वहाँ तर्ककी पहुँच नहीं होती है।

जिसके अनुभवमें अन्त है वह—**आदित्यवर्णं तमस: परस्तात्।** आओ, इस अन्धेरेको पार करो। अन्धकारको पार करो—देखो परमात्माको। जब आप सुषुप्तिमें जो प्रकाश है उसको पहचान जाओगे तो उसे प्राप्त कर लोगे। क्योंकि सुषुप्तिमें देश-काल भी नहीं होता। लम्बाई-चौड़ाई भी नहीं होती और उमर भी नहीं होती, वजन भी नहीं होता, वजन नहीं होता इसलिए द्रव्य नहीं है। और लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती इसलिए देश नहीं है और उमर नहीं होती इसलिए काल नहीं है। सुषुप्तिमें जो प्रकाश है, उसमें न द्रव्य है, न देश है, न काल है—न अन्धकार है। ऐसी वह रोशनी है। आप एक बार उसको देखो, अनुभव करो और फिर मृत्यु भी आपको उस परमात्मासे अलग नहीं कर सकती। कहते हैं कि दुनियामें जितनी भी चीजें हैं, उनमें मृत्यु सबसे ठोस है।

पर मृत्युसे भी ठोस है परमात्मा। आत्मा—यह आपको कभी छोड़ नहीं सकती। यदि आप उसे जान लो या उसका भाव कर लो या उसके अनुचिन्तनका अभ्यास कर लो।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ 8.10

आप जीवनमें एक बार परम पुरुषकी प्राप्ति जरूर करो। फिर, मौत भी परमेश्वरसे अलग नहीं कर सकती। सुषुप्ति भी परमेश्वरसे अलग नहीं कर सकती। मृत्युके रूपमें परमात्मा ही है।

देख मौत का रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
भले बने हो लम्बकनाथ॥

परमात्मा भूत बनकर आये। भूतमें परमात्माका दर्शन, मृत्युमें परमात्माका दर्शन, दुःखमें परमात्माका दर्शन, शोकमें परमात्माका दर्शन, मोहमें परमात्माका दर्शन, वह कभी आपकी आँखसे ओझल होगा ही नहीं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

अन्तमें अर्जुनका प्रश्न था—

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः। 8.2

भगवान् कहते हैं देखो—अचल मन हो, हृदयमें भक्ति हो, योगका बल हो तो आप अपने प्राणको ऊर्ध्वगतिमें ले जा सकते हैं। उसके लिए प्राणायामकी आवश्यकता नहीं पड़ती। मन और प्राण तो एक ही हैं। यदि आपका मन परमेश्वरकी ओर चले तो आपके प्राण तो अपने आप ही परमेश्वरकी ओर चलेंगे। मन भावात्मक है और प्राण क्रियात्मक हैं। और वीर्य प्रत्यात्मक हैं। ये तीनों एक ही चीज हैं—वीर्य, प्राण और मन। अत्यन्त सूक्ष्म मन है, उससे स्थूल प्राण हैं और प्राणसे स्थूल वीर्य है।

यह सुननेमें आता है कि काशीमें मरनेसे मुक्ति मिलती है, तो वह काशी बाहरकी है। यह बात भाव, भक्तिकी दृष्टिसे बिलकुल ठीक है। एक स्थान तो ऐसा होना ही चाहिए। एकादशी एक काल है वैसे ही काशी एक स्थान है। तुलसी, चरणामृत ये द्रव्य हैं। इनमें परमेश्वरका आह्वान नहीं करना पड़ता। काशीमें आवाहनके बिना ही परमेश्वर रहता है। एकादशीमें आह्वानके बिना ही परमेश्वर रहता है और तुलसीमें, गंगाजलमें, चरणामृतमें आह्वानके बिना ही परमेश्वर रहता है। जैसे उनकी महिमा है, वैसे अपने शरीरमें वाराणसी **भ्रुवोर्मध्ये**—दोनों भौहोंके बीचमें काशी है। चौरासी कोसकी काशी है। पच्चीस कोसकी वाराणसी है और तीन कोसकी अन्तर्वेदी है। उसके परे अविमुक्त क्षेत्र है। जहाँ बिना मुक्तिके कोई रहता ही नहीं। यह आध्यात्मिक काशी होती है। भौंहोंके बीचमें। अपने प्राणोंको वहाँ ले जाते हैं और फिर काशीमें मुक्ति होती है। परमपुरुष परमात्माकी प्राप्ति होती है। यह है अभ्यासकी बात, भावकी बात।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ 8.11

भगवान् यह भी वेदमन्त्र ही उद्धृत कर देते हैं। वेदवेत्ता उसे बोलते हैं और संन्यासी लोग रागद्वेष

छोड़कर 'वीतराग:' वीतराग होकर जिसमें प्रवेश करते हैं, और—**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।** वेदविद् गृहस्थ हैं, और 'यतयो वीतरागा:' 'संन्यासी' हैं और **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थके लिए वेदके पाठकी विधि है, अग्निहोत्र यज्ञयागकी विधि है। गृहस्थ पति-पत्नी दोनों साथ बैठकर यज्ञादि करते हैं। पत्नीके मर जानेके बाद अग्निहोत्र नहीं होता। उस समय अन्त:करण शुद्धिके लिए जप करते हैं। **जपेनैव तु संसिद्धि:**—विधुर पुरुषको जप करना चाहिए। गृहस्थ और वानप्रस्थ वेद मन्त्रका पाठ करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं—पत्नीके साथ। ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और संन्यासी लोग रागद्वेषसे विनिर्मुक्त होकर परमात्मामें प्रवेश करते हैं। वह पद क्या है? बहुत संक्षेपमें आपको सुनाते हैं। संग्रहेण-माने संक्षेपसे।

भागवतमें एक ऐसा प्रसंग है—बलरामजीको श्रीकृष्णसे कुछ पूछना था। एक ऐसा प्रसंग आया कि ये हमारे बछड़े, बछड़े नहीं हैं—ऋषि हैं। ग्वाले, ग्वाले नहीं हैं—देवता हैं। अब बलरामजीने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखा—सचमुच नहीं हैं। अरे! ये हमारे ग्वाल-बाल क्या हो गये? हमारे गायोंके बछड़े क्या हो गये? ये तो सब ऋषि हैं। ये तो सब देवता हैं। यह हुआ क्या? उनको ठीक-ठीक पता नहीं चला। वे ब्रह्माकी मायाको तोड़ सकते थे—प्राकृत मायाको तोड़ सकते हैं। शिवकी मायाको तोड़ सकते हैं परन्तु श्रीकृष्णकी मायाका भेदन बलराम नहीं कर सकते। उन्होंने पूछा—कन्हैया भैया! यह क्या हुआ? हमारे ग्वाले कहाँ गये? हमारे बछड़े कहाँ गये? पर पूछनेके बाद उन्होंने कहा—बस, जरा-सा बोल दो—थोड़ेमें बता दो। संक्षेपमें बोलो। क्यों? बलरामजी, श्रीकृष्णको अधिक बोलना पड़े, यह कष्ट भी नहीं देना चाहते। इशारा कर दो कि ये कौन हैं? 'निगमेन'—शब्दका प्रयोग है। मैं समझ जाऊँ—इतना इशारा कर दो। व्याख्यान देनेकी जरूरत नहीं। कोई और सुन लेगा। तुमको बोलनेकी तकलीफ न उठानी पड़े और दूसरेको पता न चले और इशारेमें मैं समझ जाऊँ—ये देवता कहाँसे आगये! ऋषि कहाँसे आगये! भागवतमें यह प्रसंग है।

यहाँ बोलते हैं—**संग्रहेण प्रवक्ष्ये।** बहुत सारी बातोंका सार-सार संग्रह करके—प्रवक्ष्ये प्रवचन करूँगा। संक्षेपमें मृत्युकी विधि बताते हैं। हमारे जन्मके समय भी विधि होती है। एक बार मैं काशीमें पण्डितराज राजेश्वर शास्त्रीके घर गया। उनका तीसरा ब्याह हुआ था। बड़ा मंगल-गान हो रहा था। मैंने पूछा आज क्या है? बोले गर्भाधान-संस्कार है। पति-पत्नीके सहवाससे आज पेटमें बच्चा आयेगा। उसके बाद पुंसवन-संस्कार आयेगा। बेटा होगा। सीमन्तोन्नयन-संस्कार होगा। पत्नी निश्चिन्त रहेगी। फिर जातकर्म-पैदा होनेके समय आयेगा। मरनेके बाद भी अन्त्येष्टि कर्म होता है। ये सब संस्कार डाला जाता है। धर्म अपने आप नहीं आता। अधर्म अपने आप आता है। अज्ञान अपने आप आता है। स्वच्छन्द आचरण अपने आप आता है। उसको नियमित करनेके लिए—स्वभावको सुनिश्चित बनानेके लिए, संस्कारकी आवश्यकता होती है। मृत्युका भी संस्कार करो। अन्त्येष्टि कर्म होता है।

पहले मरनेकी भी धार्मिक विधि होती थी। आजकल कोई माने चाहे न माने। धर्मकी रीतिसे मरना। स्वामी विशुद्धानन्दजी काशीमें रहते थे। दशाश्वमेध घाटके पास अभी उनका विशुद्धानन्द मठ है और स्वामी

दयानन्दके समयमें थे। जब उन्हें शरीरका त्याग करना था, तो बैठ गये सबके सामने। अपनी गुफा बन्द नहीं की, कहा—तीन दिनतक हमको कोई बुलावे नहीं। कुशासन बिछाकर बैठे थे। न कुछ खाया, न पीया, न शौच न लघुशंका। आँख खुली और शरीर त्याग दिया। जो लोग ऐसा नहीं कर सकते, उनके लिए पहले अक्षयवटपर जाकर प्रयाग राजमें जमुनाजीके तटपर अक्षयवटके निकट संस्कार करना पड़ता था। उसकी पूजा होती, पाठ होता, संकल्प होता। दो-तीन दिन उपवास करना पड़ता तब उसके बाद—मरनेको धर्म बना दिया हमारे शास्त्रोंमें—हमारे ऋषियोंने। मृत्युको धर्म बना दिया।

युद्ध भूमिमें मरना भी धर्म है। धर्मके अनुसार शरीरका त्याग करना भी धर्म है। तब मोक्षको भी सब जगह ले आओ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 11
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ 12

इस प्रसंगमें एक बात याद आगयी। ऐसा बोलते हैं—हमको याद नहीं है—देखा भी नहीं था मैंने। मैं ७ वर्षका था तब मेरे पिताकी मृत्यु हुई थी। उनको जीवित ही उठाकर गंगाजीके तटपर ले गये थे, पालकीमें। सैकड़ों शिष्य उनके साथ गये थे। मरते समय किसीके मल निकल आता है। किसीके मूत्र निकल आता है। किसीका मुँह खुल जाता है। किसीकी आँख उलट जाती है। हमारे पिताजी जब मरने लगे तो उनका सिर फट गया और उसमें-से एक मांस-पिण्ड निकलकर गंगाजीमें गिर पड़ा। सैकड़ों लोगोंने देखा था। आप यदि अपने नीचेके द्वारोंको स्वच्छन्द कर देते हैं—कोई रोक-टोक नहीं तब वे इतने ढीले पड़ जायेंगे कि आपके प्राण वहाँसे निकलनेका प्रयास करेंगे। यदि आपको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है तो प्राण कहींसे भी निकलें, कोई परवाह नहीं। यदि आपको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है तो प्राण निकलकर कहीं जाते ही नहीं वह तो यहीं हवामें मिल जाते हैं।

अज्ञानरहित वासनाशून्य प्राणीका जब शरीर छूटता है जब वासना ही नहीं है तो सूक्ष्म शरीरको—प्राणको निकाल करके कोई कहाँ ले जाये?

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्—आपके जीवनमें, शरीरमें, इस नगरमें नौ दरवाजे हैं। कोई खुला मिलेगा, तो उसमें-से सूक्ष्म शरीर निकलकर संसारमें जायेगा। **सर्वद्वाराणि संयम्य**—इसका नाम है साधन—अभ्यास, संयम। आपके जीवनमें संयम होना चाहिए। आप समझते हैं कि वहाँ नहीं जाना चाहिए और पाँव उठकर चले गये। आप समझते हैं कि यह काम नहीं करना चाहिए और आपने वही काम कर दिया। आप समझते हैं कि 'यह नहीं बोलना चाहिए,' और वही बात बोल दी। आप समझते हैं—कि यह नहीं लेना चाहिए और वही चीज ले ली। यह आपकी जीभ, आपका हाथ, आपका पाँव संवृत नहीं है। आप उसको ढककर नहीं रखते हैं। संयममें नहीं रखते हैं। एक स्थानमें आप अपने मनको बाँधिये और बार-बार उसको टच कीजिये, आप उसमें

तन्मय हो जायेंगे। इसीका नाम समाधि हुआ। आपका मन एक घेरेमें रहे, बाहर न जाय। अपने मनको आपने एक देशमें बाँध लिया—यह धारणा हो गयी और क्रमसे एकके बाद दो, दोके बाद तीन, तीनके बाद चार—कालमें हर सेकेण्डमें आपका मन एक वस्तुको छूये और उसी वस्तुमें तन्मय हो जाये—इसको बोलते हैं संयम।

सर्वद्वाराणि संयम्य।

मनो हृदि निरुध्य च—जैसे घोड़ेकी बागडोर आप अपने हाथमें रखते हैं—किसी बादशाहको हाथीपर बैठाया गया तो उसने कहा कि इसकी लगाम हमारे हाथमें दे दो। तो बताया गया कि हाथीके लगाम नहीं होती। तुरन्त कूद पड़ा वह बादशाह। जिस जानवरके लगाम नहीं है, उसके ऊपर मैं कैसे चढ़ूँगा। आपका यह जो घोड़ा है, वह संयमित होना चाहिए। यहाँ कलकत्तामें एक जयदयाल कसेरा थे, वे शरीरको घोड़िया बोलते थे—घोड़िया खोलिया भी बोलते थे। यह जो घोड़िया है जिसपर आप चढ़े हुए हैं—इसकी बागडोर, इसकी लगाम आपके हाथमें है कि नहीं? चाहे जब जिस द्वारको खोलें और चाहे जब जिस द्वारको बन्द कर दें। आपके नियन्त्रणमें यह घोड़ा होना चाहिए। दाहिने मोड़ो, बायें मोड़ो। सामने ले चलो, पीछे हटा लो। **इन्द्रियाणि हयानाहुः** इन्द्रियोंको घोड़ा बोलते हैं, जिसपर आप चढ़े।

इन्द्रियोंको खुला छोड़ दिया, जो मौजमें आयी बोल दिया। यह पागलपन ही तो है। असलमें किसीको किसी बातका अभिमान होता है। हम पण्डितोंमें देखते हैं। व्याकरणको अच्छा जाननेवाला पण्डित जो चाहे सो बोल देगा और कहो कि तुमने गलत बोला तो वह तुरन्त व्याकरणके सूत्र लगाकर सिद्ध कर देगा कि मैं ठीक बोला था। अभिमानी पुरुष अपनी इन्द्रियोंपर लगाम नहीं लगा पाते। एक विषयका तो अभिमान कर लेते हैं और बाकी विषयमें गिर जाते हैं। अतः सभी विषयोंपर नियन्त्रण चाहिए—**सर्वद्वाराणि संयम्य।** यह जो मनीराम हैं, इनको हृदयमें रख लो। आप चित्त शब्द पढ़ते हैं। इसका अर्थ है चुननेवाला। यह चुन लेता है—यह दुश्मन है, इसे अलग रखो। यह चुन लेता है 'यह दोस्त है'—इसको अलग रखो। **चिनोति-चिनुते इति चित्त।** जो संस्कारका चयन करता है। आप बोलते हैं तो वही बोलते हैं जो आपने चुनकर हृदयमें दोस्त या दुश्मन रखा है।

मैं बच्चा था हमारे चाचाका घर पासमें था, चुपके-से जाता उनके घरमें खा लेता—अच्छा लगता भोजन। खाकर जब आता अपने घर तो मेरी माँ कहती कि भोजन कर लो। मैं बहाना बनाता कि अभी नहीं खाऊँगा या मैं यह खाऊँगा—यह नहीं खाऊँगा, यह नहीं खाऊँगा। एक दिन मुझे कै हो गयी, तो वहाँसे जो खाकर आया था माँने कहा यह कहाँसे आया? अभी तो कह रहा था नहीं खायेंगे, नहीं खायेंगे।

यह जो हम लोग उगलते हैं—हाथसे उगलते हैं, जीभसे उगलते हैं—बोलते हैं—पाँवसे उगलते हैं अपने संकेतोंसे उगलते हैं—वही उगलते हैं जो चुन-चुनकर भीतर रखा हुआ है। कोई अपनेको छिपा नहीं सकता। क्रोध आता है तो आँखमें लाली आती ही है। काम आता है तो शरीरमें उत्तेजना होती ही है। चटोरापन आता है तो जीभपर पानी आता ही है। आप उसको रोक नहीं सकते। मनको हृदयमें रोक लो और अपने प्राणको भावसे, युक्तिसे, योगसे ऊर्ध्वगतिमें ले जाओ, योगधारणामें स्थित हो जाओ।

ॐयह निवृत्तिका मन्त्र है। इसीसे धर्मशास्त्रमें तो ऐसा वर्णन आता है कि—अकेले प्रणवका जप उन्हीं लोगोंको करना चाहिए जो संसार छोड़कर समाधिमें जाना चाहते हैं या अपनी समाधिमें स्थित होना चाहते हैं। केवल निवृत्ति प्रधान लोगोंको ही प्रणवका जप करना चाहिए। एक एकाक्षर ब्रह्म है। इसमें विस्तार नहीं है, संक्षेप है। प्रवृत्ति नहीं है, निवृत्ति है। इसमें बहिर्मुखता नहीं है। अन्तर्मुखता है।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्। उच्चारण करो अकार, उकार, मकार और अर्धमात्राके क्रमसे। इसमें निवृत्ति कला है। इसमें विद्या कला है। इसमें जाग्रत् है, स्वप्न है, सुषुप्ति है। अर्धमात्रा है। इसमें तुरीय है, इसमें विद्या है, इसमें निवृत्ति है—**व्याहरन् मामनुस्मरन्।** प्रणवका करो उच्चारण और मेरा करो स्मरण। उच्चारण अर्थशून्य नहीं होना चाहिए। अर्थशून्य उच्चारणमें लय हो जाता है। जब हम भजन करने बैठते हैं तो उसमें दो बातें है—वृत्तिलीन हो जाती है। मालूम पड़ता है, हमें समाधि लग गयी थी। पर नहीं, वह तो सुषुप्ति होती है। वृत्ति कहीं चली ज़ाती है। विक्षेप हो जाता है। कोई रागद्वेष जाग जाता है। कोई वहीं मजा आने लगता है। नहीं, इनसे अलग-वृत्ति लय भी न हो, विक्षेप भी न हो—रागद्वेष भी न आये और रसास्वादन भी न हो—अपनी वृत्तिको परमेश्वरमें जाने दो। यह परमेश्वरकी ओर चित्तवृत्ति जानेमें विघ्न आते हैं। माला हाथसे छूटकर गिर गयी। मन सो गया। मन कहीं चला गया। पता ही नहीं लगा, ऐसा मजा आगया कि परमेश्वर भूल गया। स्वयं भोक्ता बन गये।

व्रजमें यह बात प्रसिद्ध है कि एक सज्जन कहते थे कि हमें राधारानीका दर्शन होना चाहिए। प्रेमकी वे मूर्ति हैं रसकी मूर्ति हैं। उस सौन्दर्यका नाम राधा है जो श्रीकृष्णको आकृष्ट कर लेता है। भगवान्को—परब्रह्म परमात्माको भी आकृष्ट कर लेता है। जिसके प्रेमको देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। जिनकी सत्ताके सामने श्रीकृष्णको भी अपने सत्ताका भान नहीं होता है।

एक महात्माने यह निश्चय किया कि मैं तो राधारानीका दर्शन करूँगा। बड़ी भारी तपस्या की, आराधना की, प्रेम किया। आकाशवाणी हुई—देखो तुम दर्शनका आग्रह मत करो, भजन करो, प्रेम करो—दर्शनका आग्रह मत करो। एक-दो-तीन बार आकाशवाणी हुई—दर्शनका आग्रह मत करो—प्रेम करो, भजन करो। नहीं माना वह। नहीं माना तो एक हाथ उसके सामने आया—स्वर्णवर्ण—दिव्य—उसको देखते ही भक्तके मनमें काम वृत्ति जाग्रत् हो गयी। हाथको देखते ही काम-वृत्तिका जागरण हो गया। सावधान! हाथका लोप हो गया।

जब हम भजनमें अपने सुखस्वादपर दृष्टि रखने लगते हैं, हम भोक्ता बन जाते हैं, जहाँ भोक्ता और भोग्य दोनों भूल जाना चाहिए, वहाँ हम भोक्ता बनकर आजाते हैं। **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।** परमात्माकी अनुस्मृति हो। माने शब्दका जो अर्थ है, उसका ज्ञान हो। केवल शब्दमें जो अक्षर है—जनरञ्जन—उन अक्षरोंकी याद नहीं, उसमें जो ताल है, स्वर है, रागिनी है वह नहीं—उसमें जो अपना मजा है सो नहीं जो अपनी लीनता है सो नहीं—**मामनुस्मरन्**—परमात्माका स्मरण करो और उस स्मरणमें, जाग्रत्में—छूट गया शरीर।

सुमन माल जिमि कण्ठते गिरत जान न जान।

हाथीके गलेसे फूलकी माला गिर गयी। शरीर गिर गया और बिलकुल जाग्रत् अवस्थामें बैठे हैं। इस तरह जो शरीरका त्याग करता हुआ जाता है, उसको परमगतिकी प्राप्ति होती है। परन्तु यह परमगति कैसे प्राप्त हो? इसके लिए जीवन भर, यह नहीं कि उसी दिन—जब मरने लगेंगे तब बैठ जायँगे, जब मरने लगेंगे तब छोड़ देंगे। इसके लिए अभ्यास चाहिए। यह नहीं कि माँने बेटीसे कहा कि बेटी रोटी बना लो तो बोली माँ अभीसे कौन बनावे जब बनानी होगी बना लेंगे। तो उस दिन तो बाबा रोटी टेढ़ी हो जावेगी, आटा ही ठीक नहीं गूँथेगा। उसके लिए भी अभ्यास चाहिए। यह नहीं कि जब इन्जेक्शन लगाना होगा तब लगा लेंगे। पहले तकियेमें लगाकर सीखते हैं। अभ्यास तो चाहिए न उसके लिए। यह नहीं वकील बनेंगे और जाकर जजके सामने बोलना शुरू कर देंगे। लड़खड़ा जायेंगे। पाँव काँपने लगेंगे। बोलती बन्द हो जायेगी। उसके लिए अभ्यास चाहिए। जीवनमें अभ्यास चाहिए।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

मृत्युके समय भी भगवान् सुलभ हो जाते हैं। परन्तु कब सुलभ होते हैं, जब हम जीवनकालमें उनका स्मरण करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 7

अम्ब=माँ। गीता माँ है। 'अम्बा' शब्दका अर्थ होता है वर्णात्मक अ, आ, इ, ई—क, ख, ग अक्षरों-वर्णों, शब्दोंसे ही जिसकी मूर्ति बनी हो उसको बोलते हैं अम्बा। इसीका सम्बोधन होता है—'अम्ब!' गीता क्या है? वर्णात्मक है। इसका अनुसन्धान क्या है? एक-एक अक्षरका अनुसन्धान, गौरसे—गम्भीरतासे।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14

भगवान् कहते हैं—'मैं उस योगीके लिए सुलभ हूँ। किस योगीके लिए? जो **अनन्यचेताः** नित्य, सतत मेरा स्मरण करता है। वह कोई भी हो स्त्री हो, पुरुष हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो। स्वदेशी हो, परदेशी हो। इसमें कोई भेद नहीं है। हमारे भगवान् शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य दोनों इस बातका निर्णय देते हैं कि शरीरसे काम करना हो तब शारीरिक अधिकार-पर विचार करना चाहिए और जब मनसे काम करना हो—जैसे भगवान्का स्मरण। उसमें शारीरिक अधिकारपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए और यदि वेदान्तका विचार करना हो तब तो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, अन्तःकरणकी शुद्धि ही वहाँ अधिकार है। शारीरिक अधिकार—अधिकार नहीं होता। वहाँ जन्मभूमिका, जातिका, वर्णका, आश्रमका कोई विचार नहीं, जिसमें शान्ति आदि सद्गुण हैं—वह इसका अधिकारी है।'

अनन्यचित्तका अर्थ क्या? चित्त है परन्तु उसमें अन्य नहीं। चेतस् माने ज्ञान तो है परन्तु इसमें परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई ज्ञेय नहीं है। ज्ञान है और परमात्मारूप ज्ञेय है। इस-संसारमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों अलग-अलग होते हैं। जब जड़ अलग होता है तब वह ज्ञानका ज्ञेय होकर अलग हो जाता है। ज्ञेयसे अलग होता है ज्ञान। जब परमात्मा अलग नहीं होता, ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं होता। यह एक दर्शन-शास्त्रका रहस्य है। इसीसे गीतामें—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्व विष्ठितम्। 13.17

जो ज्ञान है वही ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वही ज्ञान है। जैसे यह माला हमारे ज्ञानका विषय हो रही है और इस मालासे हमारा ज्ञान अलग है। वैसे जब हमें परमात्माका ज्ञान होता है तो परमात्मा और परमात्माका ज्ञान ये दोनों अलग-अलग नहीं होते। ज्ञेयाभिन्न ज्ञान होता है। ज्ञानाभिन्न ज्ञेय होता है। यह है अनन्यकी बात। यह है अलौकिक बात।

कोई-कोई भगवान्का स्मरण करते हैं। करते हैं भगवान्का स्मरण और उनसे चाहते हैं अन्य-अन्य वस्तुएँ। जैसे कोई धनके लिए, कोई पुत्रके लिए, कोई मुकदमेमें जीतके लिए, कोई स्वास्थ्यके लिए, कोई यशके लिए, कोई संकट दूर करनेके लिए। उद्देश्य अलग होता है और स्मरणकी वृत्ति अलग होती है और भगवान्का आश्रय लेते हैं। यह तीनों चीज, तीन जगह हो जाती है। जो दूसरी वस्तुकी प्राप्तिके लिए भगवान्का स्मरण करते हैं उनको बहुत छोटा, निम्न कोटिका अधिकारी माना जाता है। हैं तो वे भी अधिकारी ही। क्योंकि

पुलिससे माँगना, सेठसे माँगना, राजासे माँगना, पड़ोसीसे माँगना भी तो होता है। वे दूसरोंसे न माँगकर भगवान्से माँगते हैं। इसलिए दूसरोंसे माँगनेवाले भिखारियोंसे तो वे बहुत श्रेष्ठ हैं। परन्तु उसमें एक व्रत होना चाहिए कि भगवान्के सिवाय दूसरे किसीसे माँगेंगे नहीं।

वृन्दावनमें एक सज्जन आये। यमुनाजीमें खड़े हो गये। बोले हमको तो भगवान् अपने हाथसे खिलावेंगे तब खायेंगे। नहीं तो भूखे रहेंगे। एक दिन, दो दिन तीन दिन बीत गये। उन्होंने देखा जमुनामें जलेबी बह रही है। उन्होंने सोचा भगवान् अपने हाथसे थोड़े ही खिलावेंगे। यह हमारे लिए ही तो जलेबी बहा रहे हैं। उठाकर खा गये। खा लिया तो उनका जो संकल्प था कि भगवान् अपने हाथसे खिलायें, वह छूट गया। अनन्यका अर्थ होता है कि यदि आप कोई दूसरी वस्तु भी चाहते हैं तो फिर उसमें यह व्रत दृढ़तासे निभावें कि भगवान्के सिवाय दूसरेसे नहीं माँगेंगे।

जिन जाचक जाचकता जरि जाई।

भवान्से जब माँगोगे तो दूसरेसे माँगना तो पहले ही छूट गया और भगवान्पर दृष्टि जायेगी तो माँगनेकी वृत्ति अपने आप शिथिल हो जायेगी। वह तो परिपूर्ण है। अब दूसरी बात होती है कि हम करते हैं अपनी ओरसे भगवान्का स्मरण और उसके बलपर चढ़ते हैं भगवान्पर। यह मध्यम अधिकारी हुआ। हम इतना जप करेंगे, इतना व्रत करेंगे। इतनी पूजा करेंगे, इतना ध्यान करेंगे। इतना दान करेंगे और इसके बलपर हमको भगवान् मिल जायेंगे। यह अपने बलपर, अपने साधनके बलपर भगवान्को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति है, इसमें भगवान्पर दृष्टि होनेमें थोड़ी सी बाधा है। क्योंकि अपने ऊपर दृष्टि है। जबतक अपने ऊपर दृष्टि रहती है, तबतक भगवान् सुलभ नहीं होते। बल्कि सुलभ भी दुर्लभ हो जाता है।

आपके ध्यानमें यह बात होगी। रासलीला हो रही थी। भगवान् गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे थे। एक भगवान् और सहस्र-सहस्र गोपियाँ। जैसे एक कूटस्थ चैतन्य केन्द्र हो और परिधि बनाकर कोटि-कोटि वृत्तियाँ उसीकी ओर देख रही हों, चमक रही हों, नाच रही हों। नृत्य कर रही गोपियोंके मनमें एक बाधाका उदय हुआ। विघ्न आया। वे सोचने लगीं कि हम इतनी सुन्दर हैं, इतनी मधुर हैं, इतनी प्रेमवती हैं कि श्रीकृष्ण हमारे ऊपर मुग्ध हैं। जब अपनी विशेषतापर उनका ध्यान गया तो श्रीकृष्णका दर्शन बन्द हो गया। यह रासलीलामें आपने पढ़ा होगा, सुना होगा—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥—श्रीमद्भा० 10.29.48

जब हम अपने बलपर भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं तो वहाँ अपना आपा दीखने लगता है। कृष्णने कहा—अच्छा, गोपियों! अब तुम शीशेमें अपना सौन्दर्य निहारो। अपने माधुर्यका स्वयं आस्वादन करो। मैं तो अन्तर्धान होता हूँ। दूसरेको देखना तो निम्न कोटि है और अपनेको देखना मध्यम कोटि है। अब एक तीसरी बात यह है कि हम भगवान्से भगवान्को ही चाहें। भगवान्से ही भगवान्को चाहें। 'हमारा बल तो कुछ नहीं है—हम तो हार गये, थक गये'—अनन्यता हुई। एक तो हम भगवान्से संसारका विषय नहीं माँगते। दूसरे अपने

बलकी ओर, अपने साधनकी ओर नहीं देखते। संस्कृत भाषामें एक 'प्रपन्नपारिजात' नामका ग्रन्थ है। उसमें ये तीन विभाग स्पष्ट किये हैं। महाविश्वास अपने चित्तमें होना चाहिए और उपाय भी भगवान्, उपेय भी भगवान्। भगवान् मिलते हैं और भगवान्के मिलनेका उपाय भी भगवान् ही हैं।

आज खूब गरमी पड़ रही है। गरमी सूर्यमें-से आ रही है एक बात। सूर्यको परमेश्वरने बनाया है, यह बात बिलकुल पक्की है। पञ्चभूतोंका रस निकला और उससे सूर्य बना, ऐसा वेदमें लिखा है।

आजान देवता है। जन्मसे ही देवता है सूर्य और पंचभूतोंके रससे भगवान्ने बनाया है। सहज स्वभावसे यह प्रकाशकी वर्षा करता है। जीवनदान करता है। इसमें सब है। पृथिवीमें फूलमें जो गन्ध आती है वह सूर्यसे आती है। जलमें जो स्वाद आता है वह सूर्यसे आता है, अग्निमें जो तेज आता है वह सूर्यसे आता है। पुष्टिका देवता है। अब यह जो सूर्यकी शक्ति है वह सूर्य देवताकी अपनी शक्ति नहीं है, परमेश्वरकी शक्ति है वह सूर्य देवताकी अपनी शक्ति नहीं है, परमेश्वरकी शक्ति है। आज परमेश्वर आपको प्रकाश दे रहा है। आज परमेश्वर बादल करके सूर्यको ढक रहा है। आज उसकी रोशनीमें तेजी है, आज मन्दी है।

अनन्यचेतनाका अर्थ क्या हुआ? यह कि भगवान्की हाँ-में-हाँ मिलाइये। ये जो बड़े लोग होते हैं, उनकी हाँमें हाँ न मिलाओ तो पसन्द नहीं करते। वे चाहे कुछ भी बोल रहे हों, एक बार उनके सामने हाँ करनी पड़ती है। एक सज्जन हैं, सम्पन्न हैं, वे कोई बात करते हैं तो करते हैं—नहीं-नहीं, स्वामीजी आपने बहुत बढ़िया बात कही। लेकिन उनके मुँहसे 'नहीं' पहले जरूर निकलता है। उसके बाद कहते हैं स्वामीजी आपने बहुत बढ़िया बात कही। ईश्वरकी हाँ-में-हाँ मिलाओ। अनन्यचेतनाका अर्थ है—जो ईश्वरका ज्ञान है, वही हमारा ज्ञान है। ईश्वरके ज्ञानमें आज गरमी है तो हमारे लिए भी गरमी है। उसके ज्ञानमें सर्दी है तो हमारे ज्ञानमें भी सर्दी है। वह मृत्युका रूप धारण करता है तो मृत्यु ठीक है। वह जीवनका रूप धारण करता है तो जीवन है। 'जीवनं सर्वभूतेषु' वही है। सबमें जीवन वही है, और मृत्यु भी वही है। **अमृतं चैव मृत्युश्च**—जैसा है—भगवान्की हाँ-में-हाँ मिलाओ। ॐ माने हाँ—संस्कृत भाषामें ॐका अर्थ हाँ होता है। 'गामानय' मालिकने कहा—गाय ले आओ तो सेवकने कहा ॐ। तो ईश्वरकी हाँ-में-हाँ मिलाओ यह अनन्य-चेता हुआ।

अब एक बातपर आपका ध्यान खींचते हैं। 'यो मां स्मरति'में 'नित्यश:' और 'सततं' दो हैं। एक बार फिर 'नित्ययुक्तस्य योगिन:'में नित्य है। अब दर्शनशास्त्रकी एक बात सुनाता हूँ। जो आदेश या विधान अशक्यानुष्ठान होता है वह अप्रमाण होता है। अर्थात् जिसको कोई कर ही न सके, ऐसा काम अगर करनेको कहा जाय तो उस कामको अप्रामाणिक मानना चाहिए। वह आदेश ही प्रमाण नहीं होता। जैसे कोई आज्ञा दे कि तुम अपने कन्धेपर बैठ जाओ। यह अशक्यानुष्ठान हो गया है! ऐसा कोई कर नहीं सकता है।

जो कर्ता है वह कर्म नहीं हो सकता। यह व्याकरणशास्त्रका नियम है। अब 'नित्यश: सततं माम् स्मरति।' सततं माने लगातार। जैसे कपड़ा बनाते हैं तो सूत एक-से-एक जुड़े होते हैं, उसको सातत्य बोलते हैं, सतत बोलते हैं—सतत माने ताना-बाना। कोई कपड़ा बनाते हैं तो उसमें एक ताना होता है, एक बाना होता है—लम्बा सूत और आड़ा सूत, उसको ताना-बाना बोलते हैं—और दोनों एकमें मिलकर कपड़ा बनाते हैं।

'सततं'का—अर्थ है कि जैसे एक सूतसे दूसरा सूत मिला हुआ होता है ऐसे ही हमारा मन भगवान्‌से निरन्तर मिला हुआ होवे—सततं। देखो इसमें थोड़ी अशक्यानुष्ठानकी आशंका है। भले आप निरन्तर-निरन्तर चिल्लाओ—निरन्तर होना शक्य नहीं है। आपको नींद आती है तो स्मरति कैसे होगा? नींदमें स्मरण नहीं होता। अनुभव तो होता है। जैसे तत्त्वज्ञानी लोग जब परमेश्वरको पहचान लेते हैं, तो निद्रामें भी उनका अनुभव खण्डित नहीं होता है। अनुभव तो खण्डित नहीं होता परन्तु स्मृति तो वृत्ति है, वह कैसे खण्डित नहीं होगी? इसलिए नित्यश:का अर्थ है प्रतिदिन। थोड़ी देरके लिए बैठ जाइये या काम करते रहिये परन्तु आपका नियम हो भगवान्-स्मरणका और पाँच मिनट, दस मिनट, आध घण्टे नित्यश:, प्रतिदिन एक नियमके अनुसार, लगातार थोड़ा-सा समय आपके जीवनमें ऐसा हो कि परमेश्वरका स्मरण करें। बीचमें दूसरी कोई वस्तु नहीं आवे।

एक सज्जन थे। वे 8 बजेसे 10 बजे तक लगातार भजन करते थे। किसीसे मिलते नहीं थे। चाहे घीका घड़ा ढरक जाय वह किसीसे मिलते नहीं थे। बादमें लोग उनके पास आते भी नहीं थे। कोई छेड़-छाड़ भी नहीं करता था। दो घण्टा चुपचाप बैठते थे। एक दिन कोई फकीर आया। हम मिलेंगे उनसे! तो उनके आदमीने बताया कि अभी भजनमें हैं तो उसने कहा वे भजनमें नहीं हैं। वह तो चमारकी दूकानमें जूता पसन्द कर रहे हैं और लौट गया। जब उठे तो नौकर बोला, महाराज, एक फकीर आया था वह ऐसे कह गया। वे बोले—कहाँ है फकीर? बुलाओ। सचमुच भजन करते-करते उनका मन चमारकी दुकानमें चला गया और वे जूता पसन्द करने लगे। मेरा मन तो ऐसा ही हो गया था। आप जरा अपने मनको देखिये। आपका मन कहाँ जाता है? 'सततं'—तार टूटने न पावे। आप पूरी शक्तिसे एक बार भगवान्‌से हाथ मिलाइये।

हमारे गाँवमें तो ऐसे सज्जन थे जिन्होंने एक बार सम्राट् पंचम जॉर्जसे हाथ मिलाया था। सन् 16 में जब दिल्ली दरबार हुआ था, तब वे आये थे। इस बातकी यादसे वे जिन्दगीभर मस्त रहे—बोलते हमारे सरीखा और कौन? उड़िया बाबाजी कहते थे कि एक बार पूर्णताके साथ भगवान्‌का स्मरण करो, मस्ती आजायेगी। हाथ मिला लो, उनके गले लग लो, उनका हाथ अपने सिरपर रखवा लो, उनके पाँव छू लो, उनसे दो-दो बात कर लो। एक बार संसारकी ओरसे अपना मन हट जायेगा। **स्मरति—नित्यश: स्मरति यावत् स्मरति तावत् सततं स्मरति।**

सततम् शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें मजेदार है। जैसे वीणा बजाते हों तो सितारकी आवाज अलग होती है और वीणाकी स्वर-लहरी अलग होती है। जैसे वीणाकी स्वर-लहरी अखण्ड और आनन्ददायिनी होती है, ऐसे अपनी स्मृति अखण्ड और आनन्ददायिनी हो। आप धन पाकर सन्तुष्ट होते हैं। आप अच्छा भोजन करके तृप्त होते हैं। आप स्त्री-पुरुष मिलकर रम जाते हैं—तो स्त्री-पुरुषके मिलनमें मन जैसा रमता है, धनकी प्राप्तिमें जैसी सन्तुष्टि है, भोजनमें जैसी तृप्ति है, उन तीनोंका आनन्द लेकर और भगवान्‌से मिलनेकी लालसाको तीव्र कर दीजिए।

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश:।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन:॥ 8.14

जब आप स्मरणमें रस लेंगे। गोपियोंकी स्थितिका वर्णन आता है—'तन्मनस्का'।

मन भगवान्‌में, चेष्टा भगवान्‌में, वाणी भगवान्‌में—आत्मा भगवान्‌में, शरीर भी भगवान्‌में, भगवान्‌के गुणका गायन करती हुई वह अपने आपको भूल गयी और घरको भूल गयी। माने देह, गेहविस्मृतिपूर्वक भगवत्-स्मरणमें तन्मयता। इसको श्रीकृष्णने स्वीकार किया। गोपियाँ ऐसी हैं।

गीता और भागवत—गीतामें अठारह अध्याय और भागवतमें अठारह हजार श्लोक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा कि गीताकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गीताकी व्याख्या तो भागवत है। उपनिषद्‌की व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है—क्योंकि उपनिषद्‌की व्याख्या तो भागवत है। जब व्यासजीने स्वयं टीकाकर दी तो अलगसे टीका करनेकी आवश्यकता कहाँ? ऐसे ही चैतन्य महाप्रभुने श्रीमद्भागवतकी महिमा बतायी। श्रीबल्लभाचार्यका तो कहना है कि जो वेद, उपनिषद्‌में स्पष्ट नहीं हुआ, जो गीतामें स्पष्ट नहीं हुआ, जो ब्रह्मसूत्रमें स्पष्ट नहीं हुआ उसको प्रकट करनेके लिए श्रीमद्भागवतका आविर्भाव हुआ है। यह तो चतुर्थ प्रस्थान है।

यो मां स्मरति नित्यशः तस्याहं सुलभः पार्थ।

गीतामें महात्माके लिए तो दुर्लभ शब्दका प्रयोग है, **स महात्मा सुदुर्लभः**—सुदुर्लभ है। महात्मा श्रद्धालुके लिए सुलभ है और तार्किकके लिए दुर्लभ है। यह सुलभ भी है, दुर्लभ भी है। क्योंकि महात्माकी रहनीको तर्कसे नहीं समझा जा सकता। जिन मान्यताओंमें संसारी लोग फँसे होते हैं, संस्कार बन्धन महात्माके जीवनमें देखनेको नहीं मिलते। संसारी लोग अपनी सीमाके बाहर किसीको देखना ही पसन्द नहीं करते। इसलिए वे महात्माको पहचान नहीं सकते। जो श्रद्धालु होगा उसके लिए तो महात्मा सुलभ है और जो कुतार्किक होगा उसके लिए दुर्लभ है।

एक बात आपको सुनाते हैं। क्या इस समय सृष्टिमें ऐसा कोई है ही नहीं, जिसको भगवान्‌का अनुभव हो, दर्शन हुआ हो? ऐसा आप मानते हैं? अगर ऐसा आप मानते हैं तो एक शाप लीजिये। डरिये मत। फिर आपको न भगवान्‌का अनुभव हो सकता है, न भगवान्‌का दर्शन हो सकता है। जब दुनियामें किसीको भी भगवान्‌का अनुभव और दर्शन नहीं है तो आप अपने लिए कैसे आशा करते हैं? आप क्या सारी सृष्टिसे कुछ विलक्षण हैं? आप भगवान्‌से ही दूर हो जाते हैं। भगवान्‌के अनुभवसे ही दूर हो जाते हैं—यदि आप ऐसे मान बैठते हैं कि संसारमें कोई भगवत्तत्त्वका अनुभवी या भगवान्‌का दर्शन करनेवाला नहीं है। पहले हुआ करता था, अब कालने भगवान्‌को दबा दिया है! भगवान्‌के सिरपर काल चढ़ बैठा। नहीं यह मान्यता गलत है। श्रद्धालुके लिए सुलभ है। और कुतार्किकके लिए दुर्लभ है, भगवान् बोलते हैं—**वासुदेवः सर्वम्।** सब परमात्मा है। वासुद्देव तो सब है। महात्मा दुर्लभ है। अच्छा आओ हम भगवान्‌को ही सुलभ बनावें। भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, सुलभ है।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

देखो, हृदयसे भगवान्‌के साथ मिल जाओ। नित्य युक्त होकर अपने जो कर्तव्य कर्म हैं, उनका पालन

करते रहो। **योगिनः**—नित्य युक्त होना और योग होना। व्यवहारमें योगी होओ, अपने कर्त्तव्यका अपने साधनका ठीक-ठीक अनुष्ठान करो और भीतरसे भगवान्‌से मिले रहो। भगवान् कहते हैं मैं उसके लिए सुलभ हूँ। अनन्य—आपको क्या सुनावें—पुस्तकोंमें तो ऐसा पढ़ा है। महाभारत पढ़े बिना गीताके अर्थज्ञानमें थोड़ी-सी बाधा पड़ती है क्योंकि गीताके सिद्धान्तका, व्यावहारिक पक्ष जो है वह पूरे महाभारतमें है और महाभारतका प्रतिपाद्य वीररस नहीं है—शान्त रस है। बड़े-बड़े विद्वानोंने अनुसन्धान किया है—महाभारतका। जुआ खेलनेमें क्या दुःख है, युद्ध करनेमें क्या दुःख है। राज्ञा होनेमें क्या दुःख है। यह तो दुःखका प्रतिपादन है और शान्तरस महाभारतका प्रतिपाद्य है। बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं इसपर। एक 'लक्षा-भरण' नामकी टीका है महाभारतपर। लाख श्लोकोंका 'आभूषण' वह अर्जुन मिश्र नामके व्यक्तिने जगन्नाथपुरीमें लिखी है। **योगक्षेमं वहाम्यहम्।** पर उनको शंका हुई और स्वयं भगवान् उनके घरमें टोकरीमें चावल, दाल, सब्जी, घी, दही आपने सिरपर लेकर उनके घरमें आये। वहामि—यह तो पुस्तकोंमें पढ़ी हुई बात है। 'ददामि' नहीं 'वहामि' है।

एकनाथजीको कोई सेवक नहीं मिलता था। पानी भरनेवाला नहीं था। भजनमें बाधा पड़ती थी तो श्रीखंडिया बनकर भगवान् इनके घरमें आये।

योगक्षेमं वहाम्यहम्। अब इससे बढ़कर सुलभता क्या होगी? कि कहीं अपने भक्तके बदलेमें किसी मालिकका पाँव दबाने आये। कहीं अपने भक्तके घरमें पानी ही भरनेके लिए आते हैं। किसीके घरमें भोजन पहुँचानेके लिए आते हैं।

मैंने देखा है—ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब हमारे पास पैसा नहीं है कि हम रेलगाड़ीसे यात्रा करें और उस समय कोई एकाएक अनजान आदमी हाथमें नोटोंका बण्डल लेकर आया उस आदमीको देते समय तो हम नहीं समझ पाते हैं कि ये भगवान् हैं, परन्तु बादमें मालूम पड़ता है कि या तो यह भगवान्‌का दूत होगा, उनका भेजा हुआ आया है या भगवान् आये होंगे। कहीं हम भूखे होते हैं—एक बार नहीं अनेक बार ऐसा अवसर मेरे जीवनमें आया है कि हमारे पास खानेको नहीं है, हम दिनभरके भूखे हैं, थके-माँदे हैं और रातको ११-१२ बजे हमारे सामने खानेकी वस्तु रख देता है। आप भगवान्‌की करुणापर—उनकी कृपापर विश्वास कीजिए। आपके रूखे मनको स्मृति भी वही देते हैं। आप उनकी ओर देखिये तो सही।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

सुलभका अर्थ इसी जीवनमें सुलभ है। ईसाई और मुसलमान ऐसा मानते हैं कि इस जीवनमें तो ईश्वरका दर्शन कभी होगा ही नहीं। जब आप मरेंगे तब भी ईश्वरको देख नहीं पायेंगे। उनके जो पैगम्बर हैं, उनके जो पुत्र हैं, उनकी सिफारिशके अनुसार आप स्वर्गके राज्यमें चले जायेंगे। परन्तु ईश्वरका दर्शन आप नहीं कर पायेंगे। आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी ईश्वरका दर्शन मानते हैं। यह तो जिस ईश्वरमें साकार होनेका सामर्थ्य है वह वैदिक ईश्वर है। जो सम्पूर्ण विश्वके रूपमें साकार हुआ है, वह वैदिक ईश्वर है। जो सम्पूर्ण विश्वके रूपमें साकार माने शकल-सूरतवाला। जो सम्पूर्ण विश्व—**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**—भगवान् सर्व है क्योंकि वह कार्यमें

उपादानके समान घड़ेमें मिट्टीके समान व्यापक है। वह केवल निमित्त कारण नहीं है जैसा कि आर्यसमाजी, ईसाई, मुसलमान मानते हैं। उपादान कारण भी वही है। **येन सर्वमिदं ततम्। त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम्। मया ततमिदं सर्वम्। येन सर्वमिदं ततम्; त्वया ततमिदं सर्वम् और मया ततमिदं सर्वम्**—देखो तीनों हैं वह। सबमें भरपूर हैं, तुम सबमें भरपूर हो, मैं सबमें भरपूर हूँ। यह गीता है। जो सबका रूप ग्रहण कर सकता है, वह उपनिषद्का ईश्वर इसी जीवनमें प्राप्त होता है। जो यहाँ है वही वहाँ है—जो वहाँ है—वही यहाँ है। बाहर-भीतर सभी परमेश्वर है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ 8.15
आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 8.16

बारम्बार जन्मना और मरना क्या है। यह बात आप छोड़ दीजिये कि एक एक शरीर छूटता है, दूसरा शरीर मिलता है। वह भी पुनर्जन्म है। परन्तु यह जो हमारा मन किसीको काटने दौड़ता है तो साँप हो जाता है, किसीसे मीठा बोलता है तो कोयल हो जाता है। हमारे मनके रूप बदलते रहते हैं। किसीके प्रति जब उदार हो जाता है तब विष्णु हो जाता है। किसीके प्रति जब कठोर होता है तब प्रलयंकर हो जाता है। यह हमारा मन दिनभरमें सैकड़ों जो रूप बदलता है यह क्या है? यह मनका जन्मपर जन्म, जन्मपर जन्म—शकल-सूरत बदल जाना, उसीका नाम तो जन्म है न! दूसरे आकारकी प्राप्ति ही तो जन्म है—सूक्ष्म शरीर, दूसरे आकार।

भयस्थान-सहस्राणि शोकस्थान-शतानि च।

सैकड़ों बार आप डरते हैं और सैकड़ों बार आप शोकसे ग्रस्त हो जाते हैं। चिन्तासे मुँह लटकता है। घोड़ेकी तरह दौड़ते हैं। हाथीकी तरह मन्द गतिसे चलते हैं। कभी भोग्य हो जाते हैं, कभी भोक्ता हो जाते हैं। कहीं जीवनमें स्थिरता तो है नहीं। जब परमेश्वरकी प्राप्ति होती है—**मामुपेत्य**—तो यह पुनर्जन्म है बारम्बार बारम्बार बदलना। एक स्त्री है, जब अपने पतिसे प्रेम करती है तो प्रार्थना करती है कि जन्म-जन्म हमारे यही पति हों। कई व्रत ऐसे आते हैं जैसे वटसावित्री व्रत करती हैं तब कहती हैं कि हे भगवान्! जन्म-जन्म हमारे यही पति हों। यहाँ मन प्रसन्न है। और जब मन नाराज होता है तब कहती हैं—हे भगवान्! कहाँ फँस गयी—अब कभी हमारा जन्म हो तो ऐसे पति न मिलें। यह बात स्त्रीके लिए ही नहीं है, पुरुषके लिए भी है। पुरुषके मनमें भी ऐसा आता है।

आपका जन्मपर जन्म, मृत्युपर मृत्यु—एक बार ईश्वरसे मिल जाइये। स्त्रीमें भी परमात्मा है पुरुषमें भी परमात्मा है। बालकमें भी परमात्मा है। बालिकामें भी परमात्मा है। जो वृद्ध लोग जवानोंका तिरस्कार करने लगे हैं—हम बुजुर्ग हैं, हमारी दाढ़ी सफेद है, हमारा इतना अनुभव है, तुम अभी लड़के क्या जानते हो? यह बात अच्छी नहीं है, उनका आदर करना चाहिए। वे भी बुद्धि लेकर आते हैं। वे नये युगको समझते हैं। नन्दबाबाने तो श्रीकृष्णका इतना आदर किया, कि श्रीकृष्णने कहा कि कुलपरम्परासे आयी हुई इन्द्रकी पूजा छोड़ दो और

पर्वतकी पूजा करो। वनकी पूजा और पर्वतमें रहनेवाले पहाड़ी, जंगली लोगोंको खिलाओ। गायोंकी पूजा करो। नन्दबाबाने श्रीकृष्णकी बात मान ली और अपनी पुश्तैनी बात छोड़ दी। यह है क्रान्ति—जवानोंका आदर। यह सृष्टि जन्म-मरणके चक्करमें पड़ी है। आप भगवान्के पास पहुँच जाइये।

भगवान्के लिए गोपियोंने कहा **नवंप्रियः नित्यं** उनको तो नया-नया प्यारा लगता है। **नित्यं नवंप्रियः।** हमको प्रतिदिन नयी-नयी चीज अच्छी लगती है। आप भोग लगाते हैं—नयी-नयी चीजका भोग लगाइये और नया-नया फूल चढ़ाइये। नयी-नयी भाषामें—डायलॉग रटकर मत बोलिये—आपके मनमें जो नया-नया भाव उठे वह भगवान्के साथ जोड़िये। क्योंकि वह जो पुनर्जन्म है यह दुःखालय है। अशाश्वत है। यह भी नहीं रहेगा। अशाश्वतका अर्थ है, आज तो है, आगे नहीं रहेगा और इसको पकड़ रखनेमें बड़ा दुःख है, बदलनेमें भी दुःख है। इसके त्यागमें भी दुःख है, ग्रहणमें भी दुःख है। भगवान्की जब प्राप्ति हो जाती है तब यह दुःखालय—दुःखालयका वर्णन विस्तारसे करनेकी जरूरत नहीं है क्योंकि आप गौरसे देखेंगे तब मालूम पड़ेगा कि आपका हृदय—दुःख माने क्या? दुःख माने आपका जो हृदयाकाश है उसमें बादल छा गये, उसमें तूफान आगया, उसमें आग लग गयी। जब क्रोध आता है तो आपके दिलके भीतर क्रोधकी आग लगती है तब आप जलने लगते हैं। जब लोभकी बाढ़ आती है तब आप उसमें डूबने लगते हैं। जब कामकी आँधी चलती है तो आप उसमें उड़ जाते हैं—आपका हृदय दुःखालय हो रहा है। क्योंकि आप आगे नहीं बढ़ रहे हैं। परमेश्वरकी ओर नहीं जा रहे हैं—परमेश्वरकी ओर नहीं बढ़ रहे है। महात्माका यह लक्षण है कि वह पकड़ लेते हैं भगवान्को, भगवान्के पास होते हैं और ये जन्म-मरणके अशाश्वत चक्करसे छूट जाते हैं। उनका अन्तःकरण शुद्ध है।

महात्मा कौन है? जिनको संसिद्धि मिल गयी है। संसिद्धि क्या है? आराधनामें, साधनामें तत्पर हैं। वह उनके लिए स्वाभाविक हो गयी है। साध, राध, सिद्धि—एक ही अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग होता है। संसिद्धौ—आराधना—राधा—आराधिका—राधिका—साधना—सिद्धि। आपके हृदयमें साधना आगयी। आप महात्मा हो गये। अब आपके लिए दुःखमय पुनर्जन्मका कोई डर नहीं है। आप भगवान्के पास पहुँचते हैं। बच्चा जब अपने माँ-बापसे दूर होता है, डरता है, कोई हमारी चीज छीन न ले। हमको कोई तकलीफ न दे। जब माता-पिताकी गोदमें आ जाता है, तब उसके लिए कोई भय नहीं रहता।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 8.16

यह आने-जानेका चक्कर कहाँ तक है? ब्रह्मलोकपर्यन्त। काकभुशुण्डिने तो ऐसा वर्णन किया है कि मैंने अपनी आँखसे देखा है कि पहले एक चींटी थी अब वह पुण्यकर्मके उत्कर्षसे ब्रह्मा हो गयी है और देखा एकको जो ब्रह्मा थे, पुण्य समाप्त होते ही चींटी हो गये। यह योगवासिष्ठमें भुशुण्डिने अपने अनुभवका वर्णन किया। हमने ऐसा युग देखा है जिसमें बिना यज्ञोपवीतके ब्राह्मण हुआ करते थे और ऐसा युग देखा है जिसमें यज्ञोपवीतधारी शूद्र हुआ करते थे। यह सृष्टि बदलती है। हम जैसा चाहते हैं, वैसी ही नहीं रहती। आप इस

परिवर्तनको स्वीकार करते हैंकि नहीं! आप परिवर्तनको स्वीकार करेंगे ता सुखी रहेंगे। यदि परिवर्तनसे लड़ेंगे तो दु:ख ही मिलेगा।

यहाँ अधिकांश नंगे सिर बैठे हैं। किसीके सिरपर टोपी है। आप अपने सिरपर पगड़ी बाँधते होंगे या बँधी हुई लगाते होंगे। पिता भी टोपी लगाते होंगे या पगड़ी रखते होंगे। बगलबन्दी पहननेवाले आपने देखे होंगे। आपके ही पिता, पितामह बगलबन्दी, शेरवानी पहननेवाले होंगे। आप स्वयं परिवर्तनके पक्षपाती हैं। आपके पिता, पितामह कैसे बाल रखते थे, आप कैसे बाल रखते हैं? वे कैसे कपड़े पहनते थे। आप कैसे कपड़े पहनते हैं? आपके घरमें पहले जो चौका था उसमें ब्राह्मण या घरके लोगोंके सिवाय कोई दूसरा जाता नहीं होगा। नौकर परोसता नहीं था। आप परिवर्तन स्वयं कर रहे हैं। पहलेको लेकर रोवें तो आप दु:खी हो जायेंगे।

ब्रह्माजी भी बदलते हैं—ब्रह्मा कभी लाल होते हैं, कभी काले होते हैं। कभी सफेद होते हैं, कभी चार मुँहके होते हैं, कभी सोलह मुँहके होते हैं, कभी बत्तीस मुँहके होते हैं—कभी चौंसठ मुँहके ब्रह्मा होते हैं। एक साथ करोड़ ब्रह्माण्डमें करोड़ ब्रह्मा होते हैं। श्रीकृष्ण-कथामें आता है—ब्रह्मा अपने गणोंके साथ श्यामसुन्दरके पास गये तो वहाँ चन्द्रानना सखीने पूछा—'तुम कौन हो?' ब्रह्मा हैं। अरे बाबा ऐसे मत बोलो, साफ-साफ बताओ, किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हो? तुम्हारे जैसे ब्रह्मा यहाँ सैकड़ों रोज आकर धूल चाटते रहते हैं। क्या होते हो तुम? गर्गसंहिताके प्रारम्भमें ही यह कथा है। ब्रह्मा और ब्रह्माण्ड सब बदलता रहता है। विष्णु भी कभी सफेद होते हैं। यह आपको मालूम है—**शुक्लाम्बरधरं विष्णुं**—पीताम्बर नहीं है, शुक्लाम्बर है। आपके ध्यानमें है, शशिवर्ण—कृष्णवर्ण नहीं है, शुक्लाम्बर है। चन्द्रमाका रंग है। यह परिवर्तन सारी सृष्टिमें होता रहता है। पुनरावर्तन होता है। एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद पहला। परन्तु भगवान् मिल जायँ तो—**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**

यह परिवर्तनका चक्कर ही छूट जाता है। ब्रह्माके भी दिन-रात होते हैं। **सहस्त्रयुगपर्यन्तं।** उसका एक माप है। चौवालीस लाख वर्षसे कुछ अधिक चतुर्युगी होती है—सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन होता है। उतनी ही बड़ी रात होती है। उसके हिसाबसे उनका महीना होता है। फिर उनका वर्ष होता है। फिर सौ वर्ष उनकी आयु होती है। **सहस्त्रयुगपर्यन्तं।** यह बताते हैं कि ब्रह्मा भी अनित्य हैं—उनमें भी पुनरावृत्ति है। यह सृष्टि ब्रह्माके साथ मरती है, ब्रह्माके साथ पैदा होती है। परन्तु एक परमेश्वर वह अव्यक्त है, उसीसे यह सब आता है—उसीमें यह जाकर मिलता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 8.18

वह अव्यक्त, परमात्मा प्राप्त हो जाय तो यह हुई परमगतिकी प्राप्ति।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 8

अम्ब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

ब्रह्माजीकी भी एक आयु होती है। उनकी कुरसी भी एक दिन उलट जाती है। कालका चक्र बड़ा प्रबल है। इसमें रहकर कोई अजर, अमर, अविनाशी नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण करुणाकी मूर्ति हैं, वात्सल्य और स्नेहके स्वरूप हैं। वे इस जीवात्माको काल-चक्रसे ऊपर उठाना चाहते हैं। कालके चक्करमें मत पड़ें। प्राचीन ग्रन्थोंमें सात दिनोंका कोई वर्णन नहीं आया है। बहुत प्राचीन ग्रन्थोंमें—हजार दो हजार वर्षोंके अन्दर ही यह सात दिनकी कल्पना हुई है। परन्तु अर्गण पहलेसे ही हैं। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन फिर एक महीना, छः महीना, एक वर्ष—कालकी गणना ऐसे की गयी है। ब्रह्माजीकी भी एक आयु होती है। जैसे हमारी एक चतुर्युगी होती है, आप जानते हैं—चार लाख बत्तीस हजार वर्षका कलियुग होता है। इसका दुगुना द्वापर होता है। कलियुगका तिगुना त्रेता और चौगुना सत्ययुग होता है। यह कालचक्रका हिसाब है।

ब्रह्माका एक दिन—आप चौदह घण्टेका मान लें। इकहत्तर चतुर्युगी उसमें होती है। चौदह घण्टेका ब्रह्माका एक दिन और एकहत्तर मिनिटका एक घण्टा। एक चतुर्युगी-मिनट—एक मिनटमें हम लोगोंका चौवालीस लाख वर्षसे ज्यादा। यह तो उनका एक मिनट है। इकहत्तर मिनटका एक घण्टा मानें तो उसमें इकहत्तर बार यह चतुर्युगी, और सन्ध्या सहित एक सहस्र चतुर्युगी—इस हिसाबसे उनका महीना। महीनेके हिसाबसे संवत्सर। संवत्सरके हिसाबसे वर्ष, और सौ वर्ष ब्रह्माकी आयु है। तो इस प्रकार वह भी कालके चक्रमें हैं।

पुराणोंमें ऐसा वर्णन मिलता है, ब्रह्माजीका विष्णुके एक क्षणमें सौ वर्ष होता है। विष्णुके क्षणके हिसाबसे उनका दिन उनका महीना, उनका वर्ष। ब्रह्माण्डका जब क्षय होता है तब विष्णु, विष्णुके रूपमें नहीं रहते। वे निराकार परमेश्वरमें मिल जाते हैं। पर ऐसा जो विष्णुका सौ वर्ष है वह शंकरजीका एक क्षण मात्र है। संहारके देवता तो वे ही हैं। फिर उनका दिन, उनका महीना, उनका वर्ष। शंकरका सौ वर्ष, निराकार परमेश्वरका एक संकल्प है और वह निराकार ईश्वरका जो संकल्प है, वह निर्गुण, निराकार, परब्रह्म परमात्माकी कल्पना मात्र है। वास्तविक नहीं है।

अविनाशी परमात्माको समझानेके लिए यह प्रक्रिया स्वीकार की गयी। एक बार सुन लेंगे तो आपके संस्कारमें यह बात रहेगी। जो परमात्माकी प्राप्ति है यह चतुर्युगी या सहस्र चतुर्युगी या ब्रह्माकी आयु, विष्णुकी आयु, शिवकी आयु, निराकारका संकल्प इसका नाम परमात्माकी प्राप्ति नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति, जहाँ काल है ही नहीं, कालकी कलना जहाँ नहीं है, संकल्प जहाँ नहीं है—उस परमात्माकी प्राप्ति होती है। यहाँ ब्रह्माकी आयुका जो वर्णन आया, यह वैराग्यके लिए है। यदि आप अविनाशी वस्तुको प्राप्त करना चाहते हैं तो यह ब्रह्माजीके मिनट, दिन और उनकी आयुमें जो रहनेवाली चीज है, उसको मत चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 18
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ 19

बस, यह दिन-रातका चक्कर—चाक घूम रहा है। पहियेका चाक घूम रहा है—चक्र है। रात हुई तो सब अव्यक्तमें लीन हो गया। दिन हुआ ब्रह्माका तो सब निकल आया।

इसका एक अर्थ और है। आपके सोनेमें जो चीज नहीं मालूम पड़ती है या नहीं रहती है, वह आपका मन है और आपके जागनेसे जो चीज रहती है वह भी आपका मन है। वस्तुका स्पर्श मत कीजिये, आपकी जाति, आपका मजहब, आपकी भाषा—जिसमें अभिनिविष्ट होकर आप दूसरोंका सिर काटनेके लिए तैयार हो जाते हैं। आप जब सोते हैं तब क्या आपकी भाषा रहती है? कौन-सी भाषा रहती है? माँके पेटमें थे तब आपकी कौन-सी भाषा थी? आपकी कौन-सी जाति है? कौन-सा मजहब रहता है? आपका क्या नाम रहता है? आपके कौन-से रिश्तेदार रहते हैं? जब आप सोते हैं तो आपके मनकी सारी कल्पना आपके साथ सो जाती है और जब जागते हैं तब सारी कल्पनाएँ उठकर आजाती हैं। सोनेतक ही जिन चीजोंका भान रहता है। उनको आप इतना कीमती क्यों समझते हैं? उनके लिए आपके जीवनमें काम आये, क्रोध आये, लोभ आये, मोह आये—यह वैराग्यके लिए है। इसीसे भूतग्राम बोलते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ 8.19

मेरे प्यारे भाई; पार्थ माने होता है—प्यारे भाई! पृथा-कुन्ती है—श्रीकृष्णकी बूआके लड़के। 'पार्थ' शब्दसे जब सम्बोधित करते हैं—पुकारते हैं तब पार्थ-माने हमारे फुफेरे भाई। हमारे सम्बन्धी हो। 'भक्तोऽसि मे', 'सखा चेति'—केवल सम्बन्धी ही नहीं हो—मेरे भक्त भी हो। 'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—तुम मेरे इष्ट हो, मैं तुम्हारा सेवक हूँ। यह हमारा भगवान्। दुनियामें किसी मजहबका ईश्वर अपने भक्तको अपना इष्ट नहीं कह सकता। आप लोगोंने 'कुरान' आदि ग्रन्थ भी पढ़े होंगे—कोई भी भगवान् अपने भक्तको अपना इष्ट कहे, ऐसा नहीं है।

अर्जुन, मैं तुम्हारा पुजारी हूँ, तुम्हारा सेवक हूँ, यह बोलनेकी शैली है। अन्धेको अन्धा कहकर नहीं पुकारना चाहिए। भगतजी बोलो, सूरदास बोलो, प्रज्ञाचक्षु बोलो। जो लोग सचके नामपर कड़वा बोलते हैं, वे बोलनेमें कहाँ धर्म अधर्म होता है, इसको नहीं समझते। व्याकरणके ग्रन्थोंमें लिखा है—कानेको काना कहकर नहीं पुकारना चाहिए, और यहाँ तो भगवान् अपने भक्तको इष्ट कहकर पुकारते हैं। **इष्टोऽसि मे** मेरे तुम इष्ट हो, प्यारे हो। दो ही चीजमें तो व्यवहार है। आप दूसरेको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं क्या? आपको अभी व्यवहार नहीं आता। आप वाणीसे कटु बोलते हैं क्या? तब भी आपको व्यवहार नहीं आता। आप दुनियामें मित्र नहीं शत्रु बनाना चाहते हैं।

मेरे प्यारे भाई! यह भूतग्राम है। बहुत मजेदार बात हुई न! भूतोंके बारेमें आपने सुना ही होगा। यह भूतोंका गाँव है। भूतोंका गाँव माने जहाँ गाँव न हो वहाँ गाँव मालूम पड़े। जहाँ आदमी न हों वहाँ आदमी मालूम पड़े। यह वेदान्तकी बात हो गयी। एक सज्जन जाकर श्मशानमें बैठे। उन्होंने देखा कि वहाँ तो ब्याह है किसीके घरमें। लड़कीका घर है, लड़केकी बारात आरही है। बाजे बज रहे हैं, मङ्गल-गान हो रहा है। खानपान हो रहा है। उनके मनमें आया कि मैं भी शामिल हो जाऊँ। जब उठकर वह बारातीकी ओरसे शामिल होने लगा तो वहाँ कुछ नहीं। न लड़की, न बारात। इसको बोलते हैं भूतग्राम। यह परमात्माके स्वरूपमें—जो भूतोंका गाँव दीख रहा है, यह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें दीख रहा है। यह वेदान्तकी भाषा है। जो चीज जहाँ न हो वहाँ यदि वह दिखायी पड़े तो उसको क्या बोलेंगे? दिखायी पड़ती है इसलिए झूठ नहीं कह सकते और वहाँ है नहीं, इसलिए सच नहीं कह सकते। उसका नाम होगा अनिवर्चनीय मिथ्या—जैसे आकाशमें नीला रङ्ग नहीं है, दिखायी पड़ता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

पैदा होता है और लीन होता है। रातके समय लीन हो जाता है और दिनके समय दिखायी पड़ने लगता है, है क्या? बोले ठीक है—इसीको बोलते हैं—अव्यक्त।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 2.28

क्यों रोते हो? रोना-धोना किसलिए? न जाने कहाँसे एक चीज टपक पड़ी थी। एक जादूगर था। उसने कहा चल और एक चीज पटसे गिर पड़ी। थोड़ी देरमें फिर उसका दीखना बन्द हो गया। **अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनंगतः।** जिसको तुम नहीं देख रहे थे वह तुम्हारे सामने आया था और फिर जैसे आया था, वैसे ही उड़ गया। अव्यक्तसे आया, व्यक्त हुआ—और फिर अव्यक्तमें चला गया। यह भूतग्रामकी दशा है। अब बताते हैं कि एक तो यह आने-जानेवाली चीज है और दूसरे जहाँसे आती है वह चीज।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ 8.20

इस अव्यक्तसे—कार्य, उसको कहते हैं जो दीखता है, पैदा होता है, मरता है। उसका नाम हुआ कार्य।

और जिसमें होता है उसका नाम होता है कारण। जिस औजारसे हम उसको देखते हैं उसका नाम होता है 'करण'। जैसे रूप हम देखते हैं, उसका करण तेजस् तत्त्व है और उसको देखनेका करण नेत्र है। इसको असाधारण करण बोलते हैं। माने बिना आँखके रूप नहीं देखा जा सकता और मनको साधारण करण बोलते हैं। साधारण करण माने कानसे सुनोगे तब भी मन रहेगा। माने बिना आँखके रूप नहीं देखा जा सकता और मनको साधारण करण बोलते हैं। साधारण करण माने कानसे सुनोगे तब भी मन रहेगा। आँखसे देखोगे तब भी मन रहेगा। सब इन्द्रियोंमें साधारण करणके रूपमें मन रहता है। एक-एक विषयको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ असाधारण करण होती हैं। जिस चीजको आप देख रहे हैं वह कार्य है और जिस उपादानसे—मसालेसे वह बनता है वह कारण है। अव्यक्तमें यह व्यक्त पैदा होता है और अव्यक्तमें लीन होता है। व्यक्त कहाँ होता है? जिसमें व्यक्त नहीं है, उसको अव्यक्त बोलते हैं। व्यक्त कहाँ नहीं रहता—जहाँ व्यक्त नहीं है। अव्यक्त हुआ आदि और अन्त तथा व्यक्त हुआ मध्य। इस अव्यक्तको प्रधान बोलते हैं—प्रकृति बोलते हैं, माया बोलते हैं—**तस्माद् अव्यक्तात् परः भावः अव्यक्तः** इस अव्यक्तसे परे एक दूसरा अव्यक्त है। माने यह अव्यक्त तो है प्रकृतिप्रधान और इससे परे है परमात्मा।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

यह सनातन है, अविनाशी है, जो इस कार्य-कारण, करण सबसे परे है वह सनातन अव्यक्त है। भगवान् श्रीकृष्णने जनकका नाम तो लिया है तीसरे अध्यायमें। विरक्त महात्माओंका नाम भी श्रीकृष्णने लिया है। परन्तु वे गीताका आचार्य किसी विरक्त महात्माका नहीं मानते। अद्भुत है, मान लो सोलह हजार पत्नी हों और इतने बड़े-बड़े महल हों और लाखों बेटे हों, और इतनी धन-सम्पदा हो, तो विरक्त महात्माको आचार्यके नामसे कैसे बोलेंगे। कैसे वर्णन करेंगे?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 4.1

इक्ष्वाकु, मनु, सूर्य इनका नाम लिया और सबका आद्याचार्य अपनेको बताया। मैं ही आत्मा; परमात्मा हूँ। मैंने बुद्धिको यह ज्ञान दिया, मैंने मनको यह ज्ञान दिया। मैंने इन्द्रियोंको यह ज्ञान दिया। इन्द्रियाँ इक्ष्वाकु हैं और मनु मन है। और विवस्वान्—सूर्य—**धियो यो नः प्रचोदयात्।** सूर्य देवता हैं और सबको ज्ञान देनेवाले कौन हैं? स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण। बोलनेका ढंग है—इस विद्याका गुरु कौन है? इक्ष्वाकु। उनका गुरु कौन है? मनु। मनुका गुरु कौन है? सूर्य। वह कर्मयोगी है। सूर्यका गुरु कौन है? छाती ठोंककर बोले—सबका गुरु मैं हूँ। ये गुरुघण्टाल सबके। यह ग्वारिया कहीं संकोच नहीं करता है? एक महात्मासे किसीने पूछा कि तुम अपनेको ब्रह्म क्यों कहते हो? उसने कहा कि तुम अपनेको मनुष्य क्यों कहते हो? बोले—हमको मालूम पड़ता है कि हम मनुष्य हैं-इसलिए हम अपनेको मनुष्य कहते हैं। बोले-हमको भी मालूम पड़ता है कि हम ब्रह्म हैं—इसलिए हम कहते हैं। जो मालूम पड़ता है वह बोलते हैं। इसमें तुमको क्या आपत्ति है? सूर्यमें जितनी विशेषताएँ मालूम पड़ती हैं, वे हमारी ही दी हुई हैं। मनुमें जितनी विशेषताएँ

मालूम पड़ती हैं—वे हमारी ही दी हुई हैं। यह गुरु-परम्परा है। श्रीकृष्णने अपने चेलोंका नाम बताया और आदर्श बता दिया जनकको।

उपनिषद्में ऐसा वर्णन है कि यह विद्या पहले राजर्षियोंके हाथमें थी। ब्राह्मणोंके, विरक्तोंके हाथमें नहीं थी। जो राजा लोग होते थे, उनको इस विद्याका ज्ञान था। जब अश्वपतिके पास महात्मा लोग गये और प्रार्थना की कि हमको आप अपनी विद्या बताइये तो उन्होंने कहा कि पहले-पहल क्षत्रियोंके—राजाओंके हाथसे निकलकर यह विद्या आपके—ब्राह्मणोंके हाथमें जा रही है।

श्रीकृष्णकी यह विद्या है। परमेश्वर कौन है? वह प्रकृतिसे परे है। उसकी पहचान बताओ। **यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।** एक बात बताइये कि उसके भीतर भी सारे प्राणी हैं—मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है, आकाश है, सारे भूत उसके भीतर हैं। **भू भवन्ति इति भूतानि।** जो पैदा होते हैं उसका नाम होता है भूत। भवन्—भव्य—यह पहले पैदा हुआ। अब यह हो रहा है—आगे यह पैदा होगा। यह सत्ताका जितना भी विस्तार होता है, उस परमात्माके भीतर ही रहता है, बाहर नहीं जाता। एक बात तो यह हुई कि हम लोग तो ईश्वरको अपना बनाकर रखते हैं। अच्छा है; अगर आप अपना बना लें। यह हमारा शरीर हमारे चामकी थैली है। इसमें हड्डी, मांस और सब मसाला भरा है। इसी थैलीमें परमेश्वरको हमने रख लिया है। परमेश्वर कहाँ हैं? हमारे भीतर है।

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ परमेश्वरकी पहचान बताते हैं—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** परमेश्वर तुम्हारे भीतर सीमित नहीं हैं, बल्कि तुम सब लोग परमेश्वरमें हो, जैसे तुम्हारे मनके पेटमें स्वर्गकी धरती, पानी, हवा, आग, आसमान, देश-विदेश, जाति, विजाति ये सबके सब स्वप्रकालमें तुम्हारे अन्दर होते हैं। वैसे यह परमेश्वर अपने मनके भीतर सबको देख रहा है। **यस्यान्तः स्थानि भूतानि।** हमारे पेटमें परमेश्वर है, यह हो गया प्रेम और परमेश्वरके पेटमें हम हैं यह हो गयी शरणागति। अपने बच्चेके प्रति शरणागति नहीं होती। अपने पिताके प्रति शरणागति होती है। जिसके पेटमें हम समा जायें उसकी शरण होती है। जो हमारे पेटमें समाया हुआ है, उसकी क्या शरण है? **यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** यह सम्पूर्ण भूतभव्यसृष्टि जिसके भीतर है, जो इसका आश्रय है, यह सृष्टि अलग हुई और ईश्वर अलग हुआ? बोले—'नहीं।' यही तो विचित्र है। यह दुनियाके सब मजहबोंसे अलग है। यह न जैन-मजहबमें है, न बौद्ध-मजहबमें हैं। न यहूदीमें है। यह हमारे वैदिक सनातन धर्मकी विशेषता है। **येन सर्वमिदं ततम्।** 'ईश्वर कैसा?' एक तो बताया सब उसके पेटमें, और दूसरी बात बतायी कि जैसे कपड़ेमें ताना-बाना दोनों सूत ही होता है, वैसे इस सृष्टिका ताना-बाना दोनों वही है।

अहमदाबादके साबरमती आश्रममें गाँधीजीका एक चित्र रखा है। पहले हमारे गाँवमें स्त्रियोंकी साड़ियाँ आती थीं उनमें भी देखते थे। साड़ीमें मोर बने हुए रहते थे। सूतको ऐसे ढङ्गसे बैठा देते हैं कि रङ्ग नहीं डालना पड़ता। सूत ही मोर मालूम पड़ता है। कपड़ेसे अलग मोर नामकी कोई चीज नहीं है। वह गाँधीजीका चित्र भी एक कपड़ा है। उसमें डण्डा भी है, एक पाँव आगे है, एक पाँव पीछे। गाँधीजी यात्रा

कर रहे हैं, परन्तु उसमें सूतोंके सिवाय कुछ नहीं है। आप लोग वस्त्रको जानते हैं, बनाते हैं, बेचते हैं, खरीदते हैं, पहनते हैं। यह क्या है? वे गाँधीजी हैं कि सूत है? जबतक आपकी व्यक्तित्वपर दृष्टि है और जब सूतको देखोगे तो आपकी दृष्टि उपादानपर चली गयी। यह जो दृष्टि दिखायी पड़ती है—यह चित्र है। गोस्वामीजीने क्या बढ़िया वर्णन किया—

शून्य भीत्तिपर चित्र रंग नहीं तनु बिनु लिखा चितेरे।

शून्यकी भीतपर यह चित्र बना हुआ है। कोई रङ्ग लगाया नहीं और लिखनेवालेके हाथ नहीं और कलम नहीं—तूलिका भी नहीं। रङ्ग भी नहीं, भीत भी नहीं और यह तस्वीर बन गयी। यह बात हमारे शैवाचार्योंने हजारों वर्ष पहले कही है।

यह जो जगत्की तस्वीर है कहाँ बनी? बोले—परमात्मापर बनी। वही आड़ा सूत है। वही लम्बा सूत है। सूतका विन्यास—उसको इस ढङ्गसे जमाया गया कि यह दुनिया दीख रही है। यह दुनिया कोई अलग चीज नहीं है। परमेश्वर ही है। उसका नाम है परम पुरुष। ब्रह्माजीकी आयुका वर्णन क्यों हुआ? आप यह जो चीज बनती-बिगड़ती रहती है जो मरता-जीता रहता है, उसको मत देखिये, देखिये उसको जिससे यह बना है। आप कभी जेवर खरीदें तो सिर्फ यही न देखें कि यह कितना सुन्दर है, इसकी शकल-सूरत कितनी अच्छी है, इसकी डिजाइन बहुत सुन्दर है, सिर्फ यह न देखें। यह देख लें कि यह चाँदी है या सोना है, पीतल है। यदि आप उसके धातुको नहीं देखेंगे तो ठीक-ठीक उसका मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। इस जगत्-चित्रका मूल्यांकन करनेके लिए आपको इसकी मूल धातु देखनी पड़ेगी। सिर्फ आकृति, शकल, सूरत नहीं।

कनखलमें एक हरिवंशपुराण है, उसपर सोनेसे बने हुए चित्र हैं, अबसे पचास वर्ष पहले लाखों रुपये उसकी कीमत मानी जाती थी। तालेमें बन्द रखते हैं, पहरा लगता है। कोई देखना चाहे तो दिखा देते हैं। उसकी कीमत सोना और कला, दोनोंकी दृष्टिसे मानते हैं। **येन सर्वमिदं ततम्।** इस कपड़ेमें सूत क्या है? खादी, रेशम, रेयोन, क्या है? जिस सूतसे यह दुनियाका कपड़ा बुना गया, वह सूत क्या है? कौन-सा रेशा है? कौन-सी कपास है? बनावटी रेशम है असली? बनावटी रेशममें और मैसूरके असली रेशममें फर्क होता है कि नहीं! आपकी नजर वहाँ जाये कि यह है क्या? **येन सर्वमिदं ततम्।**

भगवान्ने खुद ही कह दिया—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** यह भगवान्की एक पहचान—नवें अध्यायमें आयेगी। **मत्स्थानि-सर्वभूतानि** सारे भूत मुझमें स्थित हैं। और फिर बोले **न च मत्स्थानि भूतानि।** हमारे एक बुजुर्ग हैं—अब तो उनकी शताब्दी पूरी हो गयी—उन्होंने गीतापर टीका लिखी है। 'संस्कार भाष्य'—उसका नाम है। आप लोगोंकी दृष्टिमें शायद न आया हो। क्योंकि उन्होंने बड़ा गुप्त और श्रेष्ठ जीवन विद्याकी सेवामें व्यतीत किया। अद्भुत है। उसको विद्वान् समझ सकता है कि क्या उसमें आश्चर्य है। उन्होंने उपनिषदोंके मन्त्रोंसे नहीं—संहिताओंके मन्त्रोंसे, वेदोंके मन्त्रोंसे ब्रह्मसूत्रकी संगति लगायी है।

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमः।

विद्वान् ही विद्वान्के परिश्रमको समझ सकता है। उन्होंने गीतापर जो टीका लिखी है, उसमें लिखा है कि

यह श्रीकृष्णकी जुबानका तो कुछ ठिकाना ही नहीं! ये महाराज बचपनमें तो ग्वालियोंमें रहे। सो अण्ट-सण्ट बोलनेका इनको अभ्यास हो गया। आदत पड़ गयी। एक बार बोलते हैं—**मत्स्थानि सर्वभूतानि** और एक बार बोलते हैं—**न च मत्स्थानि भूतानि।** देखो न, परस्पर विरोध! बोले मुझमें सब कुछ है और मुझमें कुछ नहीं है। आपको दिखा रहे हैं कि मुझमें है सब कुछ। अर्जुनको दिखा भी दिया ग्यारहवें अध्यायमें और वेदान्तीको दिखा रहे हैं—**न च मत्स्थानि भूतानि।** अज्ञानीकी दृष्टिसे जो कुछ है सो सब मुझमें है और तत्वज्ञकी दृष्टिसे मुझमें कुछ नहीं है। यह दृष्टिभेद है। अज्ञानीकी दृष्टि है—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि** और तत्त्वज्ञकी **दृष्टि है येन सर्वमिदं ततम्, मया ततमिदं सर्वम्।**

नवें अध्यायमें येन नहीं कहते हैं। जिससे यह सारी सृष्टि बनी सो नहीं, बोले मुझसे यह सारी सृष्टि बनी है। मैं कपड़ेमें सूतकी तरह हूँ। **येन सर्वमिदं ततम्।** बोले भाई; वह मिलना चाहिए। आपको बताया आप ब्रह्माको मत चाहिए। आप ब्रह्माकी बनायी हुई सृष्टिको मत चाहिए। आप अनाशवान् वस्तुके लिए प्रयत्न कीजिए। जिसकी बाँसुरी बिना बजाये बजती रहती हैं। एक बाँसुरी वह होती है जो फूँकनेसे बजती है, और एक बाँसुरी वह है जो बिना बजाये बजती रहती है। आनन्दकी धारा, अमृतकी धारा! बाँसुरी बाजोंमें सबसे बढ़िया मानी जाती है। क्यों? आप जानते हैं, कोई बाजा लकड़ी मारनेपर बजता है। कोई हाथ मारनेपर बजता है। कोई रगड़नेपर बजता है। कोई टिनमिन अँगुलीमें रिंग पहनकर करते हैं—से बजता है। बाँसुरी यह अपने प्राणोंसे बजती है। बाँसुरी सुशिरवाद्य है। इसका मत्लब होता है, उसमें सिर्फ छिद्र होता है। आप अपने प्राणसे, अपनी साँससे उसमें-से ध्वनि, संगीत निकालते हैं। वह प्राणवासी है। परन्तु एक ऐसी बाँसुरी है—जंगलमें जो बाँस लगे होते हैं, उसमें हवा चलती है तो आवाज निकलती है और एक ऐसी बाँसुरी है जो बिना हवा चले ही बजती रहती है—वह है अमृतयमी स्वरलहरी कृष्णकी। वह है संगीत-लहरी श्रीकृष्णकी। वह बाँसुरी बजती है मिले कैसे, जिसमें सहज संगीत-माधुरी है, सहज सुखस्पर्श है। गीतामें लिखा है—**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते।** ब्रह्मका भी स्पर्श होता है। ब्रह्मकी भी स्वरलहरी होती है, वह स्वरलहरी सुनायी पड़े, उसके स्पर्शका अनुभव हो, उसके सौन्दर्यका दर्शन हो, उसके माधुर्यका आस्वादन हो, उसके सौरभका आस्वादन हो। दिव्य सुगन्ध बह रही है, परन्तु न गुलाब है न चमेली। स्वाद आरहा है परन्तु मुँहमें न रसगुल्ला है, न सन्देश। सौन्दर्य दीख रहा है पर कितनी सुन्दरता है, पता नहीं चलता। कौन है? क्या स्पर्श हो रहा है? न गुलाबकी पंखुड़ी है, न कमलकी। उसकी स्वरलहरी सुनायी पड़ रही है। कैसे देखें उसको, कैसे मिले वह? आपके मनमें कश्मीर देखनेकी इच्छा होती है? स्विटजरलैण्ड जानेकी इच्छा होती है? सुनते हैं बहुत सुन्दर है।

एक महात्मा थे वृन्दावनमें। उनके शिष्यने कहा—आप चलिये कश्मीर देखकर आप मुग्ध हो जायेंगे। उन्होंने कहा—हमको आँख बन्द करनेपर जो सुन्दरता दिखायी पड़ती है—वह सौन्दर्य, वह माधुर्य, कहीं धरतीपर हो सकता है? उस सुन्दरको देखनेसे आँख बन्द करनेपर भीतर दिखायी पड़ता है—उस सुन्दरको देखनेकी इच्छा होती है? उसके मधुररसका आस्वादन करनेकी कभी इच्छा होती है? स्वर्गका वर्णन जब पण्डित लोग करते हैं—वह नन्दनवन, वह अप्सरा, वह अमृतका पीना और वह हमेशाकी

जवानी, वह भोग! बस, मनमें इच्छा हो जाती है कि हम मरके वहाँ पहुँच जायें। मरना पड़े तो मरें लेकिन वहाँ पहुँच जायें। स्वर्गका वर्णन करके पण्डित लोग आपके मनमें लालच पैदा कर देते हैं। वह तो ऐसा होटल है महाराज कि पैसा पहले जमा करो—जब खतम हो जाये तो न निकले तो (अर्धचन्द्र देकर बोलते हैं) गरदनिया देकर निकाल दिये जायँ।

अत:, चाहे तो हम उस परम पुरुषको चाहें। जो कालातीत पुरुष है। देशातीत पुरुष है और **सर्वमिदं ततम्**—यह द्रव्यातीत पुरुष है। लोग तो ईश्वरको भी खरीदना ही चाहते हैं।

एक सज्जनने बम्बईमें किसी महात्मासे पूछा—'महाराज, कितना रुपया खर्च करें तो हमको ईश्वर मिल जाय?' बोले भाई! रुपयेसे ईश्वर नहीं मिलता। क्या चाहिए उसके लिए? तो उन्होंने कहा—'ईश्वरकी कृपा हो, महात्माकी कृपा हो तो ईश्वरका दर्शन हो जाय।'

अच्छा, ऐसा है—तो आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए—ईश्वर मिल जाय। बोले—हमने तो जिन्दगीभरमें और कुछ कमाया नहीं है—हमारे पास मकान नहीं है, धन नहीं है, परिवार नहीं है। जिन्दगीभरमें कुछ कमाया है तो मात्र ईश्वरकी ही कमायी है। हमारी कमायी, हमारा सर्वस्व 'ईश्वर' लेना चाहते हो तो तुमने अपनी जिन्दगीमें जो कुछ कमाया है वह हमें दे दो। हम अपनी कमाई तुम्हें देते हैं। बोले बाबा, यह बात मत कहो। यह तो मुँहसे निकालो ही नहीं।

पुरुषः परः पार्थ—वह मिलता है—कैसे मिलता है? **भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया**—अनन्यगामी, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत द्वारा अपने पतिको वशमें कर लेती है।

भक्तिके लिए यही दृष्टान्त भागवतमें दिया है। **वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।** जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको, अपने प्रेमके वशमें कर लेती है, वैसे भगवान्‌का भक्त अपनी अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌को अपने वशमें कर लेता है। यह भागवतके नवम स्कन्धका वर्णन है। गीतामें अनन्य भक्तिका बहुत वर्णन है। सगुण, साकारका दर्शन भी अनन्य भक्तिसे ही होता है। आप देखो—ग्यारहवें अध्यायमें अन्तमें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ 11.54

गुणातीत परमात्माकी प्राप्ति कैसे होती हैं?

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 14.26

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे होती है?

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

यह जो परमेश्वरके सिवाय—जबतक और-औरकी इच्छा है तबतक परमेश्वर और और देता है। एक महात्मा यह दृष्टान्त देते थे। एक पुरुष कहीं परदेश गये। राजा थे। वहाँसे उन्होंने अपनी रानियोंको चिट्ठी लिखी

कि तुम लोगोंको जो चाहिए सो लिख भेजो। हम यहाँसे लेते जायेंगे। किसीने कुछ मँगाया—किसीने कुछ। एक रानीने जो चिट्ठी लिखी उसपर और कुछ नहीं लिखा केवल 'एक' लिख दिया। राजाने सबकी चीज मँगा ली, पैकिङ्ग करा ली। सबके घरमें भिजवा दिया। उसके पास गये कि तुमने लिखा क्या था, समझमें नहीं आया। तो तुम्हारी माँग पूरी करनेके लिए मैं वहाँसे कुछ लेकर नहीं आया। क्योंकि कुछ समझमें ही नहीं आया कि क्या मँगाया था। स्त्रीने कहा—वह मुझे मिल गया। मुझे दूसरी कोई चीज नहीं चाहिए। मुझे जो 'एक' चाहिए था वह 'एक' मेरे घरमें आगया।

अनन्याका अर्थ क्या है? उद्देश्य एक, भाव एक, स्थिति एक और वस्तु एक। अनन्यताका चार स्तर होता है। जैसे आप किसीकी सेवा करते हैं—उसके लिए झाड़ू भी लगा देते हैं। कपड़े भी धो देते हैं। रोटी भी बना देते हैं। पंखा भी झल देते हैं। पाँव भी दबा देते हैं। मतलब यह कि काम तो आप बहुत करते हैं परन्तु किसके लिए करते हैं? एकके लिए करते हैं। काम तो आपके बहुत-से हैं परन्तु **अनेन सर्वात्मा भगवान् प्रीयताम्, तृप्यताम्।** इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। एककी प्रसन्नताके लिए आप सब काम करते हैं। इसमें भी अनन्यता है, क्योंकि उसीके लिए करते हैं। इसमें अन्य नहीं है। जिसमें अन्य नहीं होता उसका नाम अनन्या। उसके लिए काम कीजिए। एक सज्जन खूब कमाई करते थे। पर जो कमाई उनके घरमें आती थी वह अपने निर्वाहमात्रके लिए जो आवश्यक होती उतना ही रखते थे, बाकी गरीबोंकी सेवामें लगा देते थे। गरीब उनके भगवान् थे। अन्नसे, वस्त्रसे, औषधसे सेवा करते थे। काम अनेक और उद्देश्य—एक, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसको बोलते हैं धर्मभाव अनेक और भावका विषय एक। आप गोस्वामीजीको देखिये क्या बोलते हैं—

मोहि-तोहि नाते अनेक—मानिए जो भावे।

आपको जो पसन्द हो सो मानिये। आप मानिये हमारी पसन्द नहीं। तुम्हारी पसन्दका—

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण सरण पावै।
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो॥

तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं मेरे सखा हो, तुम्हीं मेरे गुरु हो। इसमें क्या हुआ? मातामें, पितामें, भाईमें, गुरुमें भाव अनेक हैं परन्तु एक साथ ही हैं। अनेकके साथ नहीं है। भक्तिभाव बोलते हैं इसको आपके मनमें निन्यानबे वृत्ति हो—सौ वृत्ति हो, परन्तु जो एक सौ एक है उसमें एकके लिए हो। सौ काम हों एकके लिए हो। उसको अनन्य सेवा—अनन्य धर्म बोलेंगे। आपके मनमें सौ भाव हों परन्तु एकके लिए हो। चारों ओरसे घूमकर आइये। बाजारमें जाते हैं। उपनिषद्में ऐसे है—**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं-दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा-न्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति।** —छा० 6.8.2

एक चिड़िया रस्सीमें बँधी है इधर उड़ती है, उधर उड़ती है, फड़फड़ाती है, चिल्लाती है परन्तु अन्तमें जहाँ बँधी है वहीं आकर बैठती है। वहीं मिलता है उसको विश्राम। ऐसे ही जो मनुष्यका मन है—यह

छटपटाता है—यहाँ जाता है—वहाँ जाता है—फिर कहाँ आकर सोता है? एक पतिव्रता पत्नी है, वह भले ही बाजारमें सौदा खरीदनेके लिए जाय, भले मायके जाय, बहनके घर जाय, लेकिन सोनेका स्थान उसका कहाँ है? अपने पतिके पास। अपने पतिकी गोदमें। वह दूसरेके साथ नहीं सोती। इसी प्रकार हमारी स्थिति है। चाहे जितना घूम आवें हम दुनियामें, हमारी सोनेकी जगह ईश्वर है। निद्राके समय आप कहाँ होते हैं—**सति सम्पद्यन्ते**—ईश्वरमें आकर सो जाते हैं। सेवा एकके उद्देश्यसे। सम्बन्ध सारे-के-सारे एकसे—ईश्वरसे। स्थिति ईश्वरमें और ज्ञान ईश्वरका ही। सब स्थितिमें ईश्वर है। सब भावोंमें ईश्वर है। सब कर्मोंमें ईश्वर है। सब वस्तुओंमें ईश्वर है। ईश्वर ही है—दूसरा कोई नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 8.22

अब यदि कालके चक्रमें पड़ोगे तो! चक्कर काटते रहोगे या तो बड़ी देर लगेगी वहाँ पहुँचनेमें। इसलिए न देरवाला मार्ग अपनाओ और न चक्कर काटनेवाला। दोनोंसे वैराग्य करनेके लिए है यह आठवाँ अध्याय। शुक्ल या उत्तरायणमार्गसे जानेका वर्णन करनेके लिए नहीं है। बल्कि दोनोंसे वैराग्य करके अभी-अभी परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिए है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

हमारे शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, गीता सब ऐसे भगवान्‌का प्रतिपादन करते हैं जो न हमसे दूर है, न जिसके मिलनेमें देर है, और न हमसे दूसरा है। यह संसारके सब ईश्वरवादी मजहबोंसे अलग है। ईश्वरसे मिलनेमें देर नहीं, ईश्वर हमसे दूर नहीं—ईश्वर दूसरा नहीं।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

हम सब जिसके भीतर हैं, माने उसका इतना बड़ा पेट है कि उसके पेटमें हम समाये हुए हैं, उसका इतना बड़ा दिल है कि हम उसके दिलमें हैं—ऐसा ईश्वर और **येन सर्वमिदं ततम्**—यह जो कुछ है, सबमें वह—कपड़ेमें सूतकी तरह व्याप्त है, भरपूर है। यही मूर्तिपूजाका मौलिक तत्त्व यहाँ है। जिनका ईश्वर निराकार होता है, नितान्त निराकार, उसमें साकार होनेका सामर्थ्य ही नहीं है। वे लोग मूर्तिको प्रतीक मानकर उसकी पूजा करते हैं। यह प्रतीकवाली भाषा निराकारवादियोंसे आयी है और हम लोग ईश्वरको नितान्त निराकार नहीं मानते। जितने आकार हैं, सब ईश्वरके ही आकार हैं, ईश्वर ही सब आकारोंके रूपमें प्रकट हैं। किसी भी आकारमें हम ईश्वरकी पूजा कर सकते हैं। जितनी मूर्तियाँ हैं सबकी सब ईश्वरकी मूर्तियाँ हैं—**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।** प्रेरक भी वही है—भीतर अन्तर्यामी—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां' और 'येन सर्वमिदं ततम्'। सबके रूपमें भी वही है। आप मिट्टीकी मूर्ति बनाकर पूजा कीजिए।

ॐ भूरसि, भूमिरसि—प्रचलित पूजा आप लोग करवाते हैं। नींव डालना होता है तो भूमिकी पूजा होती है—भूमिके रूपमें परमेश्वरकी ही आराधना है।

जलके रूपमें भगवान्‌की आराधना। अग्निके रूपमें भगवान्‌की आराधना, वायुके रूपमें भगवान्‌की आराधना। सूर्य, चन्द्रमाके रूपमें, अपने प्राणोंके रूपमें, अपनी साँसके रूपमें भगवान्‌की आराधाना। आकाशके रूपमें भगवान्‌की आराधना। पेड़-पौधेके रूपमें—**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां**—पीपलके रूपमें आराधना। हंस आदि पक्षियोंके रूपमें भगवान्‌की आराधना। गाय आदि पशुओंके रूपमें भगवान्‌की आराधना। मछली, कछुवा, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुरामके रूपमें ईश्वरकी आराधना। यह जो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर साकार हो ही नहीं सकता, उनके सिद्धान्तसे यह वेदशास्त्रका सिद्धान्त विलक्षण है। सबके रूपमें वही है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अपने कर्मके द्वारा उसकी आराधना करो। माताके रूपमें, पिताके रूपमें परमेश्वर है। माता, पिता परमेश्वरका प्रतीक नहीं, परमेश्वर रूप है। शिवलिंग जगत्‌के कारणका प्रतीक नहीं स्वयं जगत् कारण परमेश्वर ही है।

शालिग्राम प्रतीक नहीं है। यह प्रतीक पूजा नहीं है। यह साक्षात् परमेश्वरकी पूजा है। माताकी पूजा, पिताकी पूजा, गुरुकी पूजा, ब्राह्मणकी पूजा, विद्वान्-की पूजा, बल्लभाचार्य तो अपने पुत्रोंकी पूजा करते थे। ये साक्षात् भगवान् हैं। परमहंस रामकृष्ण अपनी पत्नीकी पूजा करते थे। ये साक्षात् परमेश्वर हैं। हमारे एक वर्षकी कुमारी, दो वर्षकी कुमारी, तीन वर्षकी कुमारी, पाँच वर्षका बटुक, आठ वर्षका बटुक, इनकी पूजा होती है।

यह बात मैं बराबर कहता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि आप दूसरे मजहबके जो दर्शन हैं, सिद्धान्त हैं, मत हैं, उनसे प्रभावित होकर आप भारतीय धर्मको, वैदिक धर्मको, संस्कृतिको वैसी न समझ लें। क्योंकि दूसरी भाषाके माध्यमसे और दूसरी संस्कृतिके विद्वानोंके विचारसे आप प्रभावित होकर जब ईश्वरके बारेमें सोचते हैं—हमारा ईश्वर जैसा है, हमारे वैदिक सिद्धान्तके हिसाबसे ईश्वरकी जैसी मान्यता है, उसको समझना बहुत कठिन हो जाता है। यहाँ भी नितान्त निराकारवादी ईसाई मुस्लिम संस्कृतिके प्रभावके पश्चात् ही हुए हैं। पहलेके नहीं हैं।

ईसाई, मुसलमान संस्कृतिके पहले तो जैन-संस्कृति है। उसमें मूर्तिपूजा है। बौद्ध-संस्कृतिमें मूर्तिपूजा है। पर वह मूर्तिपूजा पवित्र जीवकी पूजा है। हमारी पूजा परमेश्वरकी पूजा है। बौद्ध और जैन संस्कृतिमें ईश्वरको नहीं मानते। उनके ईश्वर नहीं है। उनके यहाँ जीवात्मा ही पवित्र होकर वीतराग, तीर्थङ्कर होता है।

अब देखो अवतार! एक भक्त रो रहा है। व्याकुल हो रहा है। आपके दर्शनके बिना हमारी आँखें नहीं मानती हैं। हमारा दिल फट रहा है। एक-एक क्षण भारी हो रहा है। हे प्रभो! मुझे दर्शन दो, दर्शन दो। भगवान्को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे वैकुण्ठसे चलकर नहीं आते। वह पद्धति दूसरी है। वे निराकारसे साकार नहीं होते। वे तो सर्वरूपमें सर्वत्र हैं ही। वहीं अपने ऊपर जो परदा पड़ा है उसको हटा देते हैं। परदा भगवान्पर नहीं है। परदा जीवकी बुद्धिपर है। हमारी समझपर परदा है। यह हमारा ईश्वर है। ईश्वर बनाना नहीं है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

ध्यान-पूजा करके निर्मित नहीं करना है। वह है, **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।** अर्जुनकी जब आँख खुल गयी तब उसने देखा कि सब परमेश्वर है। **अमृतं चैव मृत्युश्च**—मूर्तिपूजाको समझनेके लिए, अवतारको समझनेके लिए—क्या सूर, तुलसीकी ओर एक बार ध्यान देना होगा। भगवान् साकार उनके सामने प्रकट हुए। मीराके भगवान् प्रतीकात्मक नहीं थे। गुरु चेलेकी पूजा करता है, यह बात मालूम नहीं होगी। जब दीक्षा होती है—जो विधि-पूर्वक दीक्षा होती है उसमें दीक्षा देनेके बाद जब गुरु कहता है कि जो मेरी आत्मा है, वही तुम्हारी आत्मा है। हमारे अन्दर जो परमेश्वर है, वही तुम्हारे अन्दर है। तुम भावनासे गुरुके भीतर परमेश्वर देखते हो और मैं अनुभवसे शिष्य, तुम्हारे भीतर परमेश्वरको देखता हूँ। गुरु कहता है तुम भावना करते हो, विश्वास करते हो कि गुरुमें परमेश्वर होता है और मैं अनुभवसे देख रहा हूँ कि तुम स्वयं परमेश्वर हो। चन्दन लगाते हैं, फूल चढ़ाते हैं, सिरपर हाथ रखते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि **येन सर्वमिदं ततम्।** इस भगवान्को आप ज्ञानकी दृष्टिसे देख सकते हैं। अनन्य भक्तिकी दृष्टिसे देख सकते हैं।

हमारे जो प्राचीन ग्रन्थ हैं उनको समझनेके लिए शास्त्र-चक्षुकी आवश्यकता होती है। शास्त्रोंकी आँखसे हम उसको देख सकते हैं, अपने मनसे नहीं। पुस्तक पढ़ी और अपने मनसे कल्पना कर ली। आजकलके जो विचारोंके, आचारोंके और विद्वानोंके उपदेशके संस्कार हैं, वे हमारे मनमें भरे हुए हैं। उन संस्कारोंके प्रभावमें आकर हम अपनी ओरसे शास्त्रोंको देखना चाहते हैं। हम लोग जिस बोलीमें बातचीत करते हैं, दो हजार, पाँच हजार, दस हजार वर्ष पहले, उस बोलीमें बातचीत नहीं की जाती थी। तबकी बोली कुछ अलग होती थी।

मीमांसा-शास्त्रके अनुसार इस वाक्यका अर्थ कैसे करना चाहिए यह सीखना पड़ता है। व्याकरणके लिए काव्य, कोश, मीमांसा चाहिए। उसको समझना पड़ता है। कहाँ अभिधावृत्ति होती है, कहाँ व्यञ्जनावृत्ति होती है, कहाँ लक्षणावृत्ति होती है, इसे समझना पड़ता है। कोई बोलता है—अभी दो मिनटमें यह काम पूरा होता है, उसमें बीस मिनट लगता है। इस वृत्तिको नहीं समझनेके कारण कई बार काफी परेशानी खड़ी हो जाती है। मैं पूछता हूँ कि क्यों भाई! तुमने तो दो मिनट कहा था तो बोलते हैं—महाराज, लक्षणावृत्तिसे कहा था। अर्थात् दो मिनट सहित और भी कुछ मिनट। जैसे आप बोलते हैं दो ग्रास खालो। तो क्या खानेवालेको आप दो ग्रास ही खिलाना चाहते हैं। खिलाना तो चाहते हैं पेटभर पर—बोलते हैं, दो कौर। इस तरह पुरानी जो भाषा है उसको समझनेकी एक प्रक्रिया होती है। हमारे वेद, शास्त्रमें जो भाषा है, उसको थोड़े दिनोंके बाद तो समझना बहुत मुश्किल हो जायेगा। पहले आपके मकान बने होंगे—तो पुराने लोगोंने वास्तु-पूजा की होगी। मकानको देवता मानकर एक वास्तुका अधिष्ठात्री देवता होता है, उसकी पूजा होती है। अब नहीं करते होंगे। मकानमें एक देवता है जो मकानको टूटनेसे, फूटनेसे, चोरसे रक्षा करनेका काम करता है—वास्तु देवता। उसकी प्रतिष्ठा होती है। एक ग्राम देवता हुआ करते थे। सारे गाँवकी रक्षा करनेवाले होते थे। उनके लिए गाँवके बाहर बलि भी चढ़ाते थे। वह भूल गये होंगे आप लोग। ऐसे जितने भी विभाग होते हैं उसके एक-एक देवता होते हैं।

हमारे बचपनमें तो ऐसा विश्वास था। एक पेड़ था, उसके पास जाकर कहते थे—हे वृक्षके देवता! हम तुम्हें भोजनके लिए निमन्त्रित करते हैं। आज हमारे घरमें आना और जब हम भोजन करने बैठें तो हमारे अन्दर बैठकर भोजन करना। वे भोजन करते तो अत्यधिक भोजन कर लेते। आजकल लोग इस बातको मानेंगे ही नहीं। हम अन्धविश्वासकी बात आपको सुना रहे हैं। हमको जयदयाल डालमियाने बताया कि उनको एक मन्त्र बचपनमें किसीने बताया था तो उससे वे बिच्छूका विष उतारा करते थे। अब भी होते हैं बिच्छूका विष उतारनेवाले। जब १७ व १८ वर्षके हुए तो उनके मनमें आया कि जिसको बिच्छू डंक मारता है—उसको विश्वास हो जाता होगा कि इन्होंने झाड़ दिया और बिच्छूका विष उतर गया। हमने एक बार मन्त्र नहीं पढ़ा और ऐसे ही बिच्छूका विष उतारनेकी कोशिश की तो नहीं उतरा। एकके नहीं उतरा, दोके नहीं उतरता है, मन्त्रसे उतरता है। फिर जब मन्त्रका प्रयोग किया तो मन्त्रसे भी नहीं उतरता है। क्या हो गया? यह हो गया कि अविश्वास करनेसे जो मन्त्रकी शक्ति हे, उसका लोप हो गया। वह मन्त्रका देवता चला गया।

यह हम अन्धविश्वासकी बात आपको सुनाते हैं। हम स्वयं किसीको जब चमक पड़ती थी तो मन्त्र पढ़कर-एक लकड़ी होती थी—चिरी हुई, वह अपने आप चलकर सट जाया करती थी। मन्त्रका देवता काम करता था। जब हम बड़े हुए तो हमारा विश्वास उठ गया। विश्वास उठ गया तो वह लकड़ीका चलना बन्द हो गया। यह आपको इसलिए सुनाते हैं कि आपके घरमें कभी शहद गिरती हो या कभी फूल बरसते हों या कभी कोई चीज आ जाती हो तो वह परमेश्वर नहीं आते। महात्मा नहीं आता—कोई भूत, प्रेत, छोटे मोटे देवता, निम्न कोटिकी शक्तियाँ आती हैं। यह मैं इसलिए सुना रहा हूँ कि जैसे यह फूल है तो हमारी आँख देखती है और हमारी आँख है तो फूल दिखता है। हमारी आँख अध्यात्म है और फूल अधिभूत है। परन्तु इसके बीचमें कोई

देवता है, जिसका ज्ञान हमको नहीं है। अधिदेवताका ज्ञान नहीं होता। अध्यात्ममें-से अधिभूत सारा-का-सारा निकलता है। यह अध्यात्म-वादियोंका दृष्टिकोण है। अधिभूतमें-से अध्यात्म निकलता है—यह वैज्ञानिक लोगोंका दृष्टिकोण है। वेदान्तियोंका दृष्टिकोण इस सम्बन्धमें है कि मनमें-से सृष्टि निकलती है और सृष्टिसे मन बनता है। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। किससे कौन बना है यह अनिर्वचनीय है। मनसे विश्व बना है या विश्वसे मन बना है—पहले पञ्चभूत बने कि पहले मन बना? अपनी ओरसे देखेंगे तो पहले मन बना। संसारकी ओरसे देखेंगे तो संसारसे पहले—पञ्चभूतसे पहले नन बना। यह अनिर्वचनीय होता है।

आपको संस्कार रहे केवल इसलिए सुनाते हैं। इनके बीचमें एक दैवत पक्ष है—अधिदेवता। उसको आजकलके लोग नहीं जानते। प्राचीन शास्त्रोंकी भाषामें में जो वर्णन इनका है, उसमें देवताओंका वर्णन मिलता है। इन्द्र देवता है, अग्नि देवता है, वायु देवता है—सबमें परमेश्वर होनेपर भी, देवताओंका एक विभाग है। आप सरकारको तो जानते हैं न! कितने मिनिस्टर होते हैं उसमें। सबका नाम सरकार है। एक मिनिस्टरका नाम सरकार नहीं होता। सब मिनिस्टरोंका नाम सरकार होता है। परन्तु किसीके जिम्मे कोई विभाग होता है, किसीके जिम्मे कोई विभाग होता है। सबका नाम परमेश्वर होनेपर भी अपने-अपने विभागके देवता होते हैं।

यह रूप सफेद दीखता है। दो फूल हैं। एक सफेद दीखता है, एक लाल दीखता है। क्यों? हमारी आँख एक ही है—एकको लाल, एकको सफेद क्यों देख रही है? इसमें सूर्यकी जो किरणें हैं वे इस ढंगसे दोनोंपर पड़ती हैं—इसके कारण एक फूल सफेद और एक लाल मालूम पड़ता है। हम आँख और फूलको तो जानते हैं, पर सूर्यको भूल जाते हैं। ऐसे ही हमारे कानमें भी देवता हैं—नाकमें भी होते हैं, जीभमें भी होते हैं, हाथमें भी होते हैं, पाँवमें भी होते हैं और बहुत सोच-विचारकर अनुभव करके उनका निश्चय किया हुआ है। इसलिए पितरोंकी पूजासे वंश बढ़ता है, देवताओंकी पूजासे इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। ऋषियोंकी पूजासे ज्ञान बढ़ता है। परमेश्वरकी पूजासे समत्व, शान्तिकी प्राप्ति होती है। जब आप इस देवता पक्षको ठीक-ठीक समझ लेंगे तो गीतामें जो अगली बात कही गयी है उसको समझनेनें आपको मदद मिलेगी।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ 23॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ 24॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ 25॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ 26॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ 27॥

यहाँ है देवताका वर्णन। दो तरहकी गति होती है। जबतक कर्म है तबतक वासना है। वासनासे कर्म होता है। कर्मसे वासना होती है और कर्म वासना दोनों मिलकर भोग बनाते हैं। हमारी वासनाके अनुसार जहाँ भोग मिलता है, वहाँ जाना पड़ता है। सिनेमा देखने सिनेमा हॉलमें जाते हैं। भोजन करनेके लिए होटलमें आते हैं। क्यों? दो जगह क्यों जाते हैं? सिनेमा देखनेकी वासना है, आप उसका पैसा देते हैं, वहाँ जाकर देखते हैं। भोजनकी वासना है तो भोजनका पैसा देते हैं, होटलमें जाकर भोजन करते हैं। वासनाके कारण ही तो दो जगह जाते हैं न! शरीरका उतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व मनका होता है। अभी आने-जानेकी वासना है—तो एक शुक्लमार्ग है, एक कृष्णमार्ग है। अग्नि देवता है, ज्योति देवता है, अहर् देवता है। इनका राज्य होता है। आप जानते हैं यह जो बिजली जलती है, यह बिना रङ्गकी रोशनी नहीं होती और अग्निमें भी—जिस लकड़ीमें, जिस कोयलेमें आप आग जलाते हैं उसका धूँआ मिश्रित रहता है। वह शुद्ध रोशनी नहीं रहती है। सूर्यकी रोशनीमें कोई रङ्ग नहीं होता। रोशनी है, रङ्ग नहीं। वह सूर्यकी रोशनी। अग्निका क्षेत्र एक है। उसमें कुछ मलिनता है। उसके पश्चात् ज्योतिका—भौगोलिक क्षेत्र है—आकाशमें एक क्षेत्र है, दिशामें एक क्षेत्र है। फिर शुक्ल देवताका क्षेत्र है। जैसे कोई अग्निमें जला, ज्योतिसे एक हुआ। दिनके देवताके पास गया पर दिन तो बारह घण्टेका होता है। फिर पन्द्रह दिनवाले देवताके क्षेत्रमें गया। फिर उत्तरायणवाले क्षेत्रके देवतामें गया। एकसे दूसरा अत्यन्त निर्मल उज्ज्वल होता है और धीरे-धीरे वह ब्रह्मलोकमें पहुँचता है। ब्रह्मलोकमें जानेपर भी **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।** यदि संसारकी वासना नहीं होगी तो लौटना नहीं पड़ेगा। ब्रह्मलोकसे वासना होनेपर लौट भी सकते हैं और निर्वासन होनेपर ब्रह्माके साथ मुक्त भी हो सकते हैं। जब ब्रह्माकी मुक्ति होगी तब आपकी भी मुक्ति हो जावेगी। अब यह गतिका बाध है।

श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन है। एक व्यक्ति है, वह जीवनभर ध्यान करता रहा। मरनेके समय उसने सिद्धासन किया और एड़ी लगायी अपनी सिवनीमें और अपने प्राणोंको ऊपर खींचा और खींचते-खींचते, धीरे-धीरे, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहद, विशुद्ध-आज्ञा, सहस्रारके क्रमसे ऊपर उठा और सिरके बाहर निकल गया और फिर वह अग्नि, ज्योति, अहर् आदि क्रमसे ब्रह्मलोकमें गया। सैर सपाटा करते हुए, मुक्त होनेकी रुचि थी। पर जब वह ब्रह्मलोकमें गया तो देखने लगा—वहाँ जरा नहीं, बुढ़ापा नहीं, वहाँ मृत्यु नहीं है। वहाँ वियोग नहीं हैं। वहाँ इन्द्रियोंमें असमर्थता नहीं है, सब देखा उसने। देखते-देखते एक खिड़कीके पास गया। भागवतमें यह वर्णन है। वह क्या देख रहा है? बोले—मर्त्यलोक। जरा दूरबीन लाओ—देखें यहाँसे मर्त्यलोक कैसा दीखता है? उसने देखा मर्त्यलोकमें संसारके लोग बड़े दुःखी। वह तो दुःखको ही सुख माने हुए हैं। अज्ञानको ही ज्ञान मानते हैं। जन्मने-मरनेको ही बहुत बड़ी चीज मानते। वहाँसे दीखने लगा। उसके मनमें बड़ी पीड़ा हुई। वह दुःखी हो गया। दूसरे स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह प्रसङ्ग है।

यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्। श्रीमद्भा० 2.2.27

वहाँसे देखा लोग दुःखी हो रहे हैं। लोग मर रहे हैं, लोग छटपटा रहे हैं। वहाँ से देखा—उसने कहा हमको ब्रह्मलोक नहीं चाहिए। हम मुक्त नहीं होना चाहते हैं। तब क्या चाहते हो? हम धरतीमें जाकर सबका

दुःख दूर करना चाहते हैं। वह ब्रह्मलोकसे कूद पड़ा। परन्तु जब धरतीपर आया तो न तो उसके शरीरका व्यक्तित्व था और न तो मनका व्यक्तित्व था। क्योंकि वहाँसे उसने देखी थी सारी धरती। वह आकर धरतीसे एक हो गया। सारी धरती-धरतीमें जितने पशु हैं, पक्षी हैं, वृक्ष हैं—सब मैं हूँ, इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं अन्न हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं तेज हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं वायु हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। उसके बाद—मैं आकाश हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। मुक्त होनेके स्थानको प्राप्त करनेके बाद भी वहाँसे दयालु पुरुष आना ही चाहते हैं। भागवतमें ही एक कथा है।

प्रसंगवश कह देता हूँ—रन्तिदेवकी। उनके पास राज्य था। चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके पास धन था। उनकी प्रजाका पालन-पोषण होता था। उनके खजानेमें बहुत धन था। परन्तु वे कहते थे कि खजानेमें जो हैं, वह तो प्रजासे कर वसूल करके आया है। तो वह तो प्रजाके हितके लिए है। दुष्टोंको जुर्माना करके आया है वह भी लोक हितके लिए है, दुष्टोंका शिष्ट बनानेके लिए है। वह तो मेरा है नहीं। मैं तो अपने हाथसे परिश्रम करके—अपनी कमाई करके खाऊँगा। यह था उनका संकल्प। अड़तालीस दिन तक भोजन नहीं मिला। जब आदमी कोई नियम लेता है, व्रत लेता है तब उसको कष्ट सहनेकी भी शक्ति होनी चाहिए। आपने एकादशी की, किसीने मिठाई सामने लाकर रख दिया। हलवा पूरी रख दिया—बोले भाई-एकादशी तो अगले पक्षमें फिर आजायेगी। आज हलवा पूरी खा लें। जो त्यागके लिए तत्पर नहीं, वह किसी व्रतका, नियमका, संकल्पका पालन नहीं कर सकता। व्रतके पालनके लिए तो कष्ट उठाना ही पड़ता है। कष्ट उठाया। बना-बनाया भोजन अतिथिको दे दिया। जो बचा-खुचा था वह भी दे दिया। जो पानी बचा था वह भी एक कसाईको दे दिया। पुलकस-कसाई और भगवान्से प्रार्थना की—ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसके सामने आये। बोला हमको ब्रह्मा, विष्णु, महेश नहीं चाहिए।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

—श्रीमद्भा 9.21.12

मुझे परा गति नहीं चाहिए—अष्टसिद्धि नहीं चाहिए। हमको मोक्ष नहीं चाहिए—हम चाहते हैं कि हम सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें निवास करें। भगवान्ने कहा—हम पहलेसे मौजूद हैं—तुम क्या करोगे? बोले—महाराज आप रहते तो हैं, मगर टुकर-टुकर देखते रहते हैं। आप ऐसा कीजिए—मैं आपको भी दुःख देना नहीं चाहता। आप देखते रहिये और प्राणियोंका सुख भी नहीं लेना चाहता। उनके पास जो सुख है उससे वे सुखी रहें और आप देखते रहिये। तब संसारमें जितने प्राणी हैं, उनका सबका दुःख मैं अकेले भोगता रहूँ। सबके हृदयमें रहकर मैं सबका दुःख ले लूँ और संसारके सब जीव अदुःख हो जायँ। यह होता है महात्माओंका चित्त। इसके लिए वे मोक्षका भी तिरस्कार करते हैं।

दूसरी गति होती है—उसको काली गति बोलते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

धूँएँका देवता उठाकर ले जाता है, वह रातके देवताको दे देता है, फिर वह कृष्ण पक्षके देवताको देता है। वह देवता दक्षिणायनको देता है और चन्द्रमामें थोड़ा-सा अन्धकार रहता है। इसलिए अन्धकारके सम्बन्धसे चान्द्रमस् ज्योति माने मनोज्योतिको हम प्राप्त होते हैं। बुद्धिका पर्यवसान होता है सूर्यमें और मनका पर्यवसान होता है चन्द्रमामें। मनके देवता चन्द्रमा हैं और बुद्धिके देवता सूर्य हैं। **धियो यो नः प्रचोदयात्।** बुद्धिके देवतामें प्रकाशरूप सूर्य और मनके देवता हैं अह्लादरूप चन्द्र। मनके देवता चन्द्रमा कैसे हैं? अन्नसे मन बनता है, परन्तु अन्न बनता है—चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृत बरसता है उससे। अन्नको अन्न बनानेवाला है चन्द्रमा। वही अन्न खानेसे हमारा मन बनता है। इसलिए मनका देवता चन्द्रमा है, मनका प्रेरक चन्द्रमा है। प्यार-आह्लाद उसका स्वरूप है। चन्द्रमाकी ज्योति प्राप्त होनेपर वासनाएँ रहती हैं और फिर वासनाओंके कारण संसारमें लौट आना पड़ता है। **शुक्लकृष्णे गती ह्येते।** एक काली गति है और एक शुक्ल—श्वेतगति है। यह हमेशासे होती आयी है। एक मुक्तिका मार्ग है, और एक पुनर्जन्मका। अब इस गतिके बारेमें करना क्या है? एक ऐसा रास्ता बना रहा हूँ जिससे आप कभी गये नहीं। आप गये भी तो याद नहीं। ऐसी हालतमें मेरे वर्णनपर विश्वास करना पड़ेगा। यह मार्ग जाने-आनेके लिए नहीं है। आप नक्शा ले लें और मोटर चलाते हुए इसपर चले जायें ऐसा नहीं है। यह समझनेके लिए है। इसका उपयोग इसी जीवनमें है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। ८.२७

इस रास्तेको सिर्फ समझ लीजिये। 'सृती' माने मार्ग—जिसपर हम सरकते हैं। जैसे सड़क है। लोग पूछते हैं—यह सड़क कहाँ जाती है? बोले सड़क तो कहीं जाती नहीं, पड़ी हुई है। सड़क जाती है, माने क्या? आपने विचार किया होगा? यह है **जहत्लक्षणा।** वेदान्तमें इसका यह नाम है। **जहत्लक्षणा** माने आप सड़कको छोड़कर सड़कसे सम्बन्ध रखनेवाले, उसपर जाने-आनेवाले, चलनेवालोंपर ध्यान दीजिये कि वे सड़कसे कहाँ जाते हैं, कहाँसे आते हैं? बिहारमें तो 'सरक' ही बोलते हैं। जिसपर सब लोग सरकते हैं—आगेको। सरकते हैं—संस्कृत शब्द हो गया—'**सृती सरनी-सरक। नैते सृति पार्थ।**'

वासनावान् पुरुषका जाना-आना होता है। निर्वासन ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माके साथ मुक्त होता है। अब आप बतावें, आप यहाँ मुक्त हो सकते हैं या नहीं? जब परमेश्वर यहीं है, तब आप जाते-आते रहें, मुक्तिके लिए इसकी जरूरत नहीं। आप कहीं जाकर मुक्त हों इसकी भी जरूरत नहीं। यह पक्का समझिये, यदि आप जानेका संकल्प करेंगे तो जाना पड़ेगा। वासना होगी, जाना पड़ेगा। निर्वासन होंगे—यहीं, तत्त्वका इसी जीवनमें साक्षात्कार होगा।

आप इस जन्म-मृत्युके संसारमें रहिये। इस वेद-निर्मित मार्गको समझिये। शास्त्र-दृष्टिसे देखिये। आप इनके द्रष्टा हैं, द्रष्टा ब्रह्म होता है। आप साक्षात् परमात्मा हैं। भागवतमें इसको बहुत स्पष्ट करके बताया है। गीताकी व्याख्या है यह भागवतमें—

आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमोज्योतिस्त्वयं स्वयम्॥ श्रीमद्भागवत 7.15.57

वेदकी दृष्टिसे ये दो मार्ग हैं। इन्हें यहीं रहते-रहते शास्त्र-दृष्टिसे जान लीजिये। फिर आप संसारमें मोहित नहीं होंगे। ऐसा करेंगे तो जाने-आनेवाले मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा? बड़ी लम्बी यात्रा नहीं करनी होगी। यात्रा करनेपर जो चीज मिलती है, वह यहीं मौजूद है। यह जो जन है, संसार है—इसके आदिमें, अन्तमें जो सत् है, अकारके आरोपसे विनिर्मुक्त—जो बाहर-भीतर है, जो कारण, कार्य है, ज्ञान, ज्ञेय, वचन, वाच्य, प्रकाश है, अन्धकार है वह कौन है? **अयं स्वयं**—यह ज्ञानी, तत्त्वज्ञ पुरुष, वह स्वयं ही सब है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने आठवें अध्यायका उपसंहार किया। कहते हैं इसका अभिप्राय परलोकमें जाना-आना नहीं है। परलोकमें जाने-आनेका मार्ग बताना नहीं है। जिस कारणसे जाना-आना पड़ता है, उस कारणसे विरक्त होकर आप इन दोनोंको जानिये और अपने आपको जान लीजिये। इसलिए—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ 8.28

वेदके स्वाध्यायसे जो फल होता है, वेदका स्वाध्याय पूर्ण होनेपर जिस फलकी प्राप्ति होती है। वेदमें जो करनेको कहा गया है—**यज्ञेषु**—वह यज्ञ करनेपर जो फल प्राप्त होता हे, वेदमें तपस्याका भी वर्णन है। तपस्यासे क्या नहीं मिलता? सब कुछ मिलता है। जो तपस्यासे मिलता है, जो दान करनेसे मिलता है—**इदं विदित्वा तत्सर्वं अत्येति।** यदि आप इस दोनों मार्गके रहस्यको समझ जायँ तो आप दोनोंका अतिक्रमण कर जाते हैं। आपको बार-बार आना-जाना नहीं पड़ेगा। जाकर मुक्त नहीं होना पड़ेगा। **तमेव विद्वान् अमृत इव भवति। इह अमृत भवति।** इसी जीवनमें आप अमृतत्वको प्राप्त कर लेंगे।

किसीको जेलमें बन्द कर दिया—इसीमें घूमो। यह एक गति है। इसमें बार-बार आओ-जाओ। एकको बोल दिया, इस देशसे निकलकर जब दूसरे देशमें चले जाओगे, यहाँसे भाग जाओगे—हवाई जहाजपर चढ़कर, चुपचाप या सूचना देकर, किसी दूसरे देशमें, तुब तुम्हें इससे छुटकारा मिलेगा—स्वतन्त्रता मिलेगी। इस जेलमें तुम स्वतन्त्र हो यह दूसरी बात और इस जेलसे निकलनेके बाद तुमको स्वतन्त्रता मिलेगी वह दूसरी बात। नहीं बाबा, न इस जेलमें रहकर घूमना है और न जेलमें बाहर जाकर स्वतन्त्र होना है। **इदं विदित्वा तत्सर्वं अत्येति।** इस रहस्यको आप जान लो।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

जिनके भीतर ये सारे प्राणी हैं, और जो **मया ततमिदं सर्वम्** अद्भुत है यहीं-यहीं—अभी इसी रूपमें—अपने आत्माका, अपना स्वरूप क्या है, इसे जान लो—आप आदि स्थानको प्राप्त करोगे। आदि स्थान क्या होता है? आपने सुना होगा कि किसीने पूछा सृष्टि पहले पहल कहाँ हुई? तो कानपुरके पास एक स्थान है विठूर। वहाँ ले जाकर एकने बताया—यह सृष्टिका आदि स्थान है। किसीने कहा—यहाँ नहीं है। कहाँ है? बोले

ऊपरकी ओर है। वैकुण्ठसे सृष्टि प्रारम्भ हुई। ब्रह्मलोकसे शुरू हुई। गोलोकसे हुई। वह बात भी सच्ची है। पर गोलोक क्या है? वैकुण्ठलोक क्या है? ब्रह्मलोक क्या है? उसको भी जानना पड़ता है। वह अपने आप किताब पढ़कर नहीं मालूम पड़ता। उसका अनुभव होता है।

आदि स्थानका अनुभव होता है। आप अपने जाग्रत्‌की आदि जानते हैं? आप प्रतिदिन जागते हैं सोकर। आपके जागनेकी आदि कहाँ है? जहाँ सोते हैं वहीं जागनेकी आदि है। और जहाँ जागना होता है वहीं सोना है। दोनों एक ही स्थानपर है। जहाँ सृष्टि है वहीं सोना है। दोनों एक ही स्थानपर है। जहाँ सृष्टि है वहीं प्रलय है। जहाँ प्रलय है, वहीं सृष्टि है। आप अपने मनका आदि देखो—कहाँ है?

स्वप्नान्तं जागृतान्तं चोभौ येनानुपश्यन्ती।

जब आपका स्वप्न टूटता है तो आप उस टूटते हुए स्वप्नको देखते हैं। जब आपके जाग्रत्‌का अन्त होता है, नींद आने लगती है, तब आप जाग्रत्‌के अन्तको देखते हैं। सृष्टि, प्रलय कहाँ है? जहाँ जाग्रत्‌की आदि है, वहाँ सृष्टिकी आदि है। जहाँ जाग्रत्‌का अन्त है, वहाँ सृष्टिका अन्त है। माने सृष्टिका आदि, अन्त आपमें ही है।

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।

भूगोल आपको कब मालूम पड़ता है? पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कब मालूम पड़ता है? रात-दित, पहले-पीछे, कब मालूम पड़ता है? यह माँ-बाप है और यह बेटा-बेटी है, यह कब मालूम पड़ता है? कहाँसे मालूम पड़ता है? किसको मालूम पड़ता है? वह देशका आदि है, वह कालका आदि है। वह द्रव्यका आदि है और जब महावाक्य उसको बताता है कि तुम जब कालके आदि हो, तो तुम्हारी उम्र कहाँसे आरम्भ होगी? जब देशके आदि हो तो तुम छोटे-बड़े कैसे? जब तुम वस्तुके आदि हो तो वस्तुके अत्यन्ताभावके भी आदि हो। तुममें यह वस्तु कहाँसे आयी? साक्षात परब्रह्म परमात्मा होनेका अर्थ यह नहीं होता कि आप समाधि लगाकर बन्द कमरेंमें बैठ जायँ। हिमालयमें भाग जायँ। वैकुण्ठमें उड़ जायँ। मुक्त होनेका अर्थ इस धरतीको छोड़कर ऊपर उड़ना नहीं। कहीं कोनेमें भागना नहीं। कहीं भीतर घुसकर छिपना नहीं। मुक्त होनेका अर्थ है—

सर्वथा वर्तमाननोऽपि स योगी मयि वर्तते।

यह श्लोक आपने गीतामें पढ़ा होगा। सर्वथाका दो बार प्रयोग आया है। **सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते**—हँसते, खेलते काम करते, युद्ध भूमिमें तीर चलाते हुए, खेती करते हुए, व्यापार करते हुए, समाजकी सेवा करते हुए। लोककल्याण करते हुए आत्मकल्याण कीजिये। चाहे जैसे हो—गीताके वेदान्तका वैलक्षण्य देखिये। वेदमें यह बात बतायी गयी—यदि आप यज्ञ-याग आदि करेंगे, स्वर्ग-कामनासे नहीं, पशु-कामनासे नहीं, धन-कामनासे नहीं, निष्काम होकर तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। परमात्माकी प्राप्ति होगी। गीताने एक अपूर्व बात कही; केवल यज्ञयाग नहीं, आप लौकिक कर्म भी करो परन्तु लौकिक कर्म आप शुद्ध भावसे करो। शास्त्रोक्त रीतिसे करो। इससे भी आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा। तत्त्वज्ञान होगा।

जहाँ उपनिषदोंने इस बातपर जोर दिया कि तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् आपको निवृत्ति-परायण संन्यासी होकर रहना चाहिए। वहाँ गीताने कहा कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद आप युद्ध भी कर सकते हैं। आप चाहें तो

दत्तात्रेयकी तरह रहें। चाहें तो शुकदेवकी तरह रहें। चाहें तो वसिष्ठकी तरह रहें। जनककी तरह रहें। कृष्णकी तरह रहें। अश्वपतिकी तरह रहें। जनककी तरह रहें। कृष्णकी तरह रहें। रामकी तरह रहें। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् संन्यासी होकर रहना ही आवश्यक नहीं है। आप किसी स्थितिमें रह सकते हैं। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए यज्ञ-यागादि कर्म ही आवश्यक नहीं हैं। आप अपने लौकिक कर्म करते हुए भी अन्तःकरणको शुद्ध कर सकते हैं।

प्रत्येक ग्रन्थमें एक अपूर्वता होती है, माने जो पहले ग्रन्थोंमें बात नहीं कही गयी, उसे जाहिर करनेके लिए प्रत्येक ग्रन्थ होता है। उपक्रम, उपसंहारकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः बातोंसे ग्रन्थके तात्पर्यका निर्णय होता है। जो बात प्राचीन ग्रन्थोंमें ही स्पष्ट कह दी गयी है, उसको दुहरानेके लिए गीता-निर्माण करनेकी कोई प्रयोजनीयता नहीं थी। एक ऐसी बात कहें, जो है तो पुराने ग्रन्थोंमें, वेदोंमें भी है, उपनिषदोंमें भी है, शास्त्रोंमें है परन्तु आज साफ-साफ मालूम नहीं पड़ती है। उसको साफ-साफ मालूम करनेके लिए गीता बोली गयी और गीताकी ये दो विशेषताएँ आप देख लें। यह अरण्यमें, वनमें, पहाड़में, गंगा किनारे बैठकर या एक त्यागी, विरक्त जिज्ञासुके लिए नहीं बोली गयी। युद्धभूमिमें, अपने स्वधर्म-पालन करनेके लिए उद्यत किन्तु उसमें प्रतिबन्ध आजानेके कारण, जब अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ, तो 'अपने कर्तव्यपालनके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करे'—यह उपदेश करनेके लिए और यह तत्त्वज्ञान होनेपर फिर युद्धभूमिमें—'करो युद्ध'—**मामनुस्मर युद्ध्य च।**

अर्जुनने अन्तमें कहा—**करिष्ये वचनं तव।** आपकी आज्ञा स्वीकार है।

यत्र योगेश्वरः कृष्ण यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 18.78

यह देखो गीताका फल क्या है? यह नहीं है कि त्याग है, समाधि है, हिमालय है, वैकुण्ठ है, गोलोक है। इसका फल है—तत्र श्री—लक्ष्मी, विजय, अचल सम्पत्ति, अडिग नीति। यह गीताकी अपूर्वता है।

आप लोगोंने जो इतना प्रेम दिया—इतने प्रेमसे सुना, आपका प्रेम, आपकी जिज्ञासा हमारे हृदयमें बैठकर बोलती है। आपका बोलना है, आपका सुनना है—हमको आपने इसका निमित्त बनाया। इसके लिए हम आपके बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं—आभारी हैं—आपने हमको इस उत्तम कर्मका आश्रय बनाया और यह प्रवचन सम्पन्न हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(6)

गीता अध्याय - 9

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उनसे तीन खण्डोंका संकलन एवं संपादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया है।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। उसी प्रकार छठाँ भाग उन्हींके परिश्रमसे तैयार हुआ है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुनः प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रातःकाल प्रवचन करनेके लिए विरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

शेष भगवत्कृपा।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी
सं. 2037
7-11-80

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय - 9

प्रवचन : 1

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 1॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 2॥

अब पहले एक बात देखें। यह जो तत्त्वज्ञानकी—ज्ञानकी, विज्ञानकी चर्चा की जाती है—श्रवण-उपदेश होता है वह अरण्य-भूमिमें होता है। अरण्यभूमि अर्थात् पर्वतोंकी तलहटी, गंगातट। यह गीताका उपदेश रणभूमिमें हो रहा है। यह तत्त्वज्ञान अरण्य-भूमिमें-से उठाकर रणभूमिमें लाया गया है। अर्थात् जीवन-संघर्षमें जो काम आये वही उत्तम ज्ञान। 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'—नगाड़े बज रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिग्घाड़ रहे हैं। वहाँ यह ज्ञान प्रकट हो रहा है। आपके जीवनमें कितना भी कोलाहल हो और कितना भी संघर्ष हो, यह ज्ञान वहाँ काममें आनेके लिए है। न गंगातट है, न हिमालय है और न कोई नैमिषारण्य है।

दूसरी बातपर ध्यान दें। यह कि हमेशा वक्ता श्रेष्ठ होता है और श्रोताको नीचे बैठना पड़ता है। परन्तु गीताका श्रोता रथी है और वक्ता सारथि है। सारथि तो ड्राइवरकी तरह है और रथी मालिककी तरह। जीवात्मा यदि रथी है तो बुद्धि सारथि है। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।' यहाँ तो जो शिष्य है वह बड़ा है और जो गुरु है वह छोटा है। बुद्धि जीवात्माके अधीन होती है। श्रीकृष्ण अर्जुनके अधीन सारथि हैं—सारथि माने सहायक। 'अग्नेर्वायु: सारथि:।' अग्निका सारथि वायु है। यहाँ छोटा-बड़ेको उपदेश कर रहा है। इसका अर्थ है—'बालादपि सुभाषितम्।' यदि बच्चा भी कोई अच्छी बात कहे—नौकर भी अच्छा उपदेश करे तो उसे श्रवण करना चाहिए।

तीसरी बातपर आप ध्यान दें कि हमारे पूर्वमीमांसकोंने यज्ञशालामें धर्मकी प्रतिष्ठा कर दी। वेदके, शास्त्रके आदेशमें प्राप्त जो कर्मकाण्ड है, जिससे स्वर्ग-मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है, वह था धर्म। गीता हमारे जीवनके प्रत्येक कार्यमें धर्मकी प्राण-प्रतिष्ठा करती है। व्यापारमें गीताको लीजिये। अपने सेवाकार्यमें गीताको लीजिये। व्यवहारमें गीताको लीजिये। यह धर्मको जन-जनमें, मन-मनमें, घर-घरमें प्रतिष्ठित करनेके लिए है। पूर्व मीमांसाके आधारपर विद्वज्जन धर्मका निरूपण करते हैं। पूर्वमीमांसामें सत्त्व-रज-तमके आधारपर धर्मका निरूपण नहीं है। वहाँ अधिकारी-भेदसे धर्म निरूपित है। यहाँ सत्त्व, रज और तमके विभागसे धर्मका निरूपण होता है। यहाँ कोई संन्यासी ज्ञानका वक्ता नहीं है और न कोई संन्यासी, ब्रह्मचारी श्रोता है—दोनों ही

गृहस्थ हैं। श्रीकृष्ण भी गृहस्थ हैं अर्जुन भी गृहस्थ है और यज्ञशालाके धर्मका फल है वह स्वर्गमें जानेपर मिलता है तथा जो विधिपूर्वक लौकिक दृष्टिसे किया जाता है जैसे पुत्रेष्टि, उसका फल इस लोकमें भी मिलता है। परन्तु गीताका जो फल है वह दृश्य फल ही है। माने इसी समय अन्त:करण शुद्ध होता है। अन्त:करणकी शुद्धि है दृश्य फल। हमारा वेदान्त मरनेके बाद स्वर्ग पानेके लिए नहीं है। वह तो इसी जीवनमें हमको राग-द्वेषसे जीवन्मुक्त करनेके लिए है। अब नवें अध्यायपर विचार करें।

नवें अध्यायका प्रारम्भ ही यह कहता है कि आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी है उससे यह विलक्षण है। 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'—'तु'का प्रयोग अर्थात् अबतक जो बात कही सो कही—पर यह तो मैं तुम्हें गुह्यतम बात कह रहा हूँ। कोई धर्मका रहस्य बताना हो तो उसे गुह्य कहते हैं और उपासनाका रहस्य बताना हो तो गुह्यतर बोलते हैं और तत्त्वज्ञानका रहस्य बताना हो तो उसको गुह्यतम कहते हैं। 15 वें अध्यायके अन्तमें—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ 15.20

वह गुह्यतम शास्त्र क्या है? यह नहीं बताया कि इसके मिलनेसे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा या बैकुण्ठ मिलेगा अथवा मरनेके बाद मुक्ति होगी। 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्'—इसको यदि तुम समझ लो तो बुद्धिमान हो जाओगे और 'कृतकृत्यश्च भारत'—करनेके बादका फलादेश नहीं है—इसी जीवनमें कृतकृत्य हो जाओगे। 'कृतकृत्यता'—अर्थात् सारे कर्तव्य तुम्हारे पूरे हो गये और सारे ज्ञान तुमको प्राप्त हो गये। 'इदं तु'—आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी—दक्षिणायन-उत्तरायण-देवयान-पितृयानका उपदेश। साधना करनेके बाद—मरणोत्तर गति कैसी होती है? और 'इदं तु'—यह तो उससे विलक्षण है। विलक्षण अर्थात् जो लक्षण आठवें अध्यायका है वह लक्षण नवें अध्यायका नहीं है। इसके लक्षण ही दूसरे हैं। गाँवमें जैसे कहते हैं—भाई इनके लक्षण दूसरे हैं। इसी तरह इस नवें अध्यायके लक्षण ही कुछ दूसरे हैं। 'गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि'। गीतामें गुह्य शब्दका प्रयोग है, गुह्यतर शब्दका भी प्रयोग है। गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है और सर्व गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है।

अब यहाँ गुह्यतम अर्थात् गोपनीय—छिपाने योग्य। आप इसे जाहिर करके मत रहिये। जैसे आप किसीसे प्रेमका व्यवहार बाहरसे करते हैं और भीतरसे असंग हैं। तब अपनी उदासीनताको प्रकट मत कीजिये। यह मत कहिये कि मैं तुमसे प्रेमका व्यवहार तो करता हूँ, परन्तु मैं असंग हूँ। अपनी असंगताको गुप्त रखकर प्रेमका व्यवहार कीजिये। भीतरसे असंग रहकर भी बाहरसे व्यवहारमें किसी प्रकारकी त्रुटि न हो। असंग व्यवहारकी यह गुप्त बात हो गयी। आप धन कमाइये, पूरी लगनसे कमाइये—परन्तु कहीं थोड़ी घटी-बढ़ी, हानि-लाभ हो तो उसमें दु:खी मत हो जाइये। आगे बढ़िये, परन्तु यह बात गुप्त रखिये। यदि आप अपने कर्मचारियोंमें कहने लगेंगे कि हम तो हानि-लाभमें समान हैं तो आपका काम ठीक नहीं चलेगा। भीतरसे असंग रहिये और बाहरसे अपना व्यवहार बिलकुल ठीक-ठीक कीजिये। एवं गुह्यतम बात बता रहे हैं, आप व्यापारमें ऐसी आसक्ति रखेंगे कि हमको तो लाभ ही लाभ हो तो जब कभी हानि होगी तो दु:खी हो जायेंगे और मनमें हानि और लाभका समान मानकर काम करते रहेंगे तो कभी हानि होगी, कभी लाभ होगा। गुप्त

रखनेकी बात यह है कि अपनी जो समता है उसे बाजारमें फेंकते हुए मत रहिये। आपके हृदयमें एक गुप्त धन रहना चाहिए। वही गुप्त धन भगवान् अर्जुनको दे रहे हैं।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि।

प्राय: अन्य स्थानोंमें 'वक्ष्यामि' शब्द कममें आया है, यहाँ 'प्र' उपसर्ग लगा है अर्थात् प्रकृष्ट। वचनमें प्रकृष्टता है और एक विशेष अधिकारीके लिए कहा गया है। 'ते तुभ्यं'—किसको कह रहे हैं? अपने प्यारे अर्जुनको कह रहे हैं—'ते' माने अत्यन्त प्रिय विशिष्ट व्यक्तिको सुना रहे हैं। यह बात सबसे कहने लायक नहीं है। जो अपना प्रिय हो उसको बतानी चाहिए। 'प्रवक्ष्यामि'—वह विशेषता अर्जुनमें क्या है? वह हमारे जीवनमें भी आनी चाहिए। वह है 'अनसूयवे'।

वेदमें एक मन्त्र है, उसका अर्थ है—'हे ब्राह्मण! मेरी रक्षा करना; क्योंकि मैं तुम्हारी निधि हूँ। असूयकाय—जो गुणमें दोष निकालनेवाला है और जो ऋजु नहीं है नम्र नहीं है—सरल नहीं है उसको यह मत बताना।' विद्यामें बल कब आयेगा जब वह दोषदर्शीको न बतायी जाय। हम कभी कुछ लिखाते होते हैं और लिखनेवाला बीचमें टोक दे तो उसका उत्तर सोचनेके लिए बुद्धि वहाँ चली जाती है। जो विचारकी धारा बहती है वह विच्छिन्न हो जाती है। हम कहते हैं—भाई, बोलनेमें जो गलती हो वह बादमें पूछ लेना कि यह हमको ठीक नहीं मालूम पड़ा, पर बीचमें मत रोकना। 'गुणेषु दोषाविष्करणे असूया।' कोई अच्छा काम कर रहा हो और उसके अच्छे कामकी प्रशंसा तो न करे और उसमें दोष-दोष जो आये उसको बताता जावे। वह हो गया कर्णका सारथि शल्य। जब कर्ण बाण उठाता तो शल्य कह देता कि इस बाणसे क्या होगा? बस, उत्साह टूट गया। तुम जिस वंशमें पैदा हुए हो उस वंशमें किसीको निशाना लगाना भी आता है? मर गया विचारा। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। मनुष्य वीरताका काम कर ही तब सकता है जब उसके मनमें उत्साह बना रहे और उत्साह टूट जावे तो उसकी वीरता भाग जाती है। अधिकारी ऐसा होना चाहिए जो हमारी बातके गुणको समझे, उसमें जो गुण पक्ष है उसको पूरी तरहसे ग्रहण करे—केवल दोष पक्षको ग्रहण करनेवाला न हो।

अनसूयवे—असूयु:—असूया जिसमें होती है उसको असूय: कहते हैं—और अनसूयवे असूयारहिताय। जो दोषपर दृष्टि न दे। वचनके जो गुण हैं उनको अच्छी तरह देखे। समीक्षा करनेका—तुलनात्मक विवेचन करनेका ढंग ही यह है। दो पक्षोंकी तुलना करनी हो तो पहले दोनोंमें समानता क्या है, यह समझना चाहिए। फिर दोनोंमें विशेषता क्या है, दोनोंमें जो अलग-अलग विशेषताएँ हैं उन्हें समझना चाहिए। आप राजनीतिक दलोंकी तुलना करें तो दोनोंमें विशेषता क्या है, दोनोंमें जो अलग-अलग विशेषताएँ हैं उन्हें समझना चाहिए। आप राजनीतिक दलोंकी तुलना करें तो दोनोंमें राष्ट्रहित समान है या नहीं, यह देखना चाहिए। वे किस प्रक्रियासे राष्ट्रहित करना चाहते हैं—इसकी तुलना करनी चाहिए। समानता समझिये, विशेषता समझिये, विरोध समझिये। कौन-सी विशेषता अच्छी है? समानता तो दोनोंकी अच्छी है। विरोध किसका गलत है, किसका सही है—इसपर विचार कर लीजिये। अनसूयु होना चाहिए। केवल दोषदर्शी नहीं होना चाहिए। गुणदर्शी होना चाहिए। दोष तो कहीं भी निकाला जा सकता है।

ईश्वरने सृष्टिमें दुःख क्यों बनाया? ब्रह्माने हाथीको लम्बा बना दिया और सूँड़ भी इतनी बड़ी दें दी और शेरका मुँह बड़ा कर दिया। दोष तो सबमें हैं। रामने बालीको क्यों मार दिया और कृष्णने कुब्जाका संग क्यों किया? ब्रह्मामें भी दोष निकलता है, विष्णुमें भी निकलता है। परन्तु दोष देखनेसे काम नहीं बनता है, उसमें जो गुण है उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

आजकल हमारे जो राजनैतिक दल हैं, वे अपने पूर्ववर्ती पुरुषोंके गुणोंके प्रति कृतघ्न हो गये हैं। केवल उनके दोष देखने लगे हैं। इसको असूया कहते हैं। उसमें यह गलती है और यह अच्छाई है, ऐसा नहीं कहते। श्रोता तो वह है जो बातका ठीक-ठीक अभिप्राय समझे। अर्जुन सरल है। उसके नाममें ही सरलता है। ऋजु है, ऋजुत्वात् अर्जुनः। और वह—श्रीकृष्णके वचनमें दोष नहीं देखता। बल्कि कहता है—'मोहोऽयं विगतो मम, नष्टो मोहः, करिष्ये वचनं तव' आज्ञाकारी होनेके लिए तैयार हूँ। इसलिए वह सलाह देनेका अधिकारी है।

सलाह किसको देनी चाहिए? गुप्त बात किसको बतानी चाहिए? जो बातके महत्त्वको सरलतासे समझे। क्या बात बताओगे?

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

'ज्ञानं विज्ञानसहितं'—देखो पहले सुना चुके हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। 7.2

सातवें अध्यायमें तुमने सविज्ञान ज्ञानका वर्णन कर दिया। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं'—अब 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' क्या रहा? असलमें सातवें अध्यायका जो ज्ञान-विज्ञान है वह भक्तके रूपका वर्णन है। भक्तका विज्ञान है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। 7.16

भजन करनेवाले कितने प्रकारके होते हैं? आर्त होते हैं—संसारके दुःखसे मुक्ति चाहते हैं। वे संसारके दुःखसे अभिभूत हैं। जिज्ञासु हैं—परमात्माके स्वरूपको जानना चाहते हैं। अर्थार्थी—परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं। जो परमात्माका अनुभवकर चुके हैं, वे हैं ज्ञानी। इस प्रकार सातवें अध्यायमें भक्तका विज्ञान है। आठवें अध्यायमें साधनाका विज्ञान है। कैसे-कैसे ध्यान करना चाहिए और ध्यान करके कैसे उत्तरायण, दक्षिणायन गतिको प्राप्त करना चाहिए। नवें अध्यायमें जो विज्ञान है, ज्ञान-विज्ञान वह—भगवान्‌का क्या स्वरूप है, यह बताता है। तो भक्तका विज्ञान है सातवें अध्यायमें और भक्तिका विज्ञान है आठवें अध्यायमें तथा भजनीयका विज्ञान है नवें अध्यायमें। भगवान्‌का स्वरूप क्या है?

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।

यह भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन है। अठारहवें अध्यायमें ब्राह्मणके स्वभावका जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ भी ज्ञान विज्ञानका उल्लेख हुआ है।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। 18.42

ब्राह्मणको केवल शास्त्रका ज्ञान नहीं होना चाहिए। कर्मकाण्डका विज्ञान भी होना चाहिए। अर्थात् शास्त्रमें पढ़ लिया कि होम कैसे किया जाता है, विवाह, यज्ञोपवीत आदि कैसे होते हैं, परन्तु करना नहीं आया। जैसे कानूनका ज्ञान होता है और एक वकीलके साथ रहकर उसका विज्ञान प्राप्त किया जाता है। आयुर्वेदका ज्ञान होता है और एक वैद्यके साथ रहकर उसका प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान है और दूसरा उसका अनुभव। यह केवल शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, परोक्ष ज्ञान नहीं है। अपरोक्ष अनुभवयुक्त ज्ञान है। इसलिए बताया है कि 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्।' यह ज्ञान विज्ञान-सहित है। अब इस ज्ञानका फल बताते हैं, क्योंकि फलश्रुतिके बिना श्रोतामें रुचि नहीं जगती है। किसी भी वस्तुको यदि हम जानें तो जाननेसे क्या होगा, यह बात भी मालूम पड़नी चाहिए। बोले—यज्ज्ञात्वा—ज्यों आप इसको जानोगे तो यह असमाप्त क्रिया है। ज्ञात्वा—जैसे उपविश्य भुंक्ते—बैठकर खाता है। बैठना और खाना दोनों एक साथ है। ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्—जानोगे और अशुभसे मुक्त हो जाओगे। अशुभ क्या है? जब मृत्युकी चर्चा करने लगते हैं तो कहते हैं—भाई अमंगल है—इसका नाम मत लो। अशुभ है—अतः मृत्युसे छूटकर हम अमृतत्व प्राप्त कर लें। अपनेको अमृत रूपमें जान लें, यह अशुभ कर्मका फल होनेसे भी अशुभ है और दुःखको कोई पसन्द नहीं करता। वह किसीका भी प्रिय नहीं है। अप्रिय होनेसे भी अशुभ है। घरमें-से निकले कहीं जानेके लिए और जो नापसन्द है वही आकर सामने खड़ा हो गया—अशुभ हो गया। रास्ता काट दिया—अशुभ हो गया। अशुभ क्या है? अशुभ है दुःख। जिसको देखकर मनमें दुःख होता है, उसका नाम है। मृत्यु अशुभ है, दुःख होना अशुभ है और अज्ञान, बेहोशी, नासमझी—ये सब अशुभ हैं, मृत्यु अशुभ है, दुःख अशुभ है, अज्ञान अशुभ है।

अशुभात्-यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

मृत्युका डर निकल जावे और दुःख जीवनमें न आये और अपने जीवनमें जो नासमझी है वह मिट जावे तब हम अशुभसे मुक्त हुए। यह जो ज्ञान हम गीतामें देने जा रहे हैं वह कैसा है? वह अशुभसे मुक्त करनेवाला है। इसमें 'ज्ञात्वा मोक्ष्यसे'का अर्थ है—

कर्मनिरपेक्षम्, उपासनानिरपेक्षम्, योगनिरपेक्षम् ज्ञात्वैव मोक्ष्यसे।

वैसे हम लोगोंका जो जीवन है, उसमें दो चीजें हैं। आँखसे देखते हैं और पाँवसे चलते हैं। आँख हुई ज्ञान और चलना हुआ कर्म। मनुष्यका जीवन कर्म-ज्ञानका मिश्रण है। आप अपनेको देखकर पहचानो—जब आप पसन्द करते हैं कि हम अंगूर खायेंगे तब आप अंगूर खाते हैं अपने मनमें, बाहर उसे देखते हैं। देखके चलते हैं। चलते जाते हैं और देखते जाते हैं। कर्म ज्ञानकी सहायता करता है, ज्ञान कर्मकी सहायता करता है, यह है व्यावहारिक जीवन। लेकिन यदि अपने आत्माका ज्ञान प्राप्त करना हो तो कहाँ चलकर जाओगे? आत्मा आत्माके पास चलके जायेगा? इसलिए ज्ञान ज्ञानमें अन्तर होता है। आत्माका ज्ञान धर्मोपासना-सापेक्ष नहीं होता और संसारका जो ज्ञान है उसमें कर्म और उपासना दोनों चाहिए। समुचित ज्ञान कहते हैं उसको। व्यावहारिक ज्ञानमें दोनोंका समुच्चय है।

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

यह ऐसा ज्ञान है—आत्मज्ञान है कि ब्रह्मज्ञान है—यह ठीक-ठीक हृदयंगम कर लो तो न तुम्हें मृत्युका भय रहेगा, न दुःख रहेगा और न नासमझी ही रहेगी। इन तीनोंसे वह मुक्त कर देगा। कोई-कोई पण्डित हैं वे—'मोक्ष्यसेऽशुभात्'में कहते हैं 'अ' क्यों डालते हो? 'मोक्ष्यसेऽशुभात्-मोक्ष्यसे शुभात्।' यह जो शुभ-अशुभका चक्कर है—जिसकी दुविधामें अपने काम लटके रहते हैं—वह दुविधा ही छूट जावेगी—शुभ और अशुभ दोनों छूट जायेंगे। गीताको यह अभीष्ट है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

शुभ और अशुभ फल देनेवाले जो कर्मबन्धन हैं उनसे तुम मुक्त हो जाओगे। शुभ कर्मबन्धनका फल होगा शुभ और अशुभ कर्म-बन्धनका फल होगा अशुभ। सभी भगवान्को अर्पित कर दो—भगवान्के प्रति कर्म करो—अपने लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे और भगवान्के लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे ही नहीं। इसीसे गीतामें शुभाशुभपरित्यागी—कौन होता है? भक्त होता है—भगवान्का भक्त होता है। हमने सर्वस्व अपना दे दिया, किसीको अर्पित कर दिया। अब बोले भाई, जो ऋण है वह कौन चुकायेगा? नहीं-नहीं हमने धन तो दे दिया, ऋण अपना थोड़े ही दिया है। नहीं भाई, यदि किसी भलेमानुसको दिया है और उसने तुम्हारा सब कुछ ले लिया है, तो तुम्हारे ऋणकी जिम्मेवारी भी उसको लेनी चाहिए। यदि तुम उनको अपना सर्व शुभ समर्पित कर दो—अशुभ समर्पित करनेमें संकोच होता है, तभी भगवान् तुम्हें जैसे शुभ फलसे मुक्त करेंगे वैसे अशुभ फलसे भी मुक्त करेंगे और अपनेमें मिला लेंगे। इसलिए 'मोक्ष्यसे शुभात्।' अब इस विद्याकी प्रशंसा निज मुखसे श्रीकृष्णने की है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 9.2

यह विद्याओंका राजा है, विद्यानां राजा राजविद्या अथवा राज्ञः विद्या राजविद्या। दोनों तरफसे समास बनता है। यह विद्याओंका राजा है, माने जो विद्या तुम सीखते हो वह विद्या तुमको दुःखसे छुड़ाती है कि नहीं—आपकी विद्या बहुत बड़ी है। एक बाबूजी थे। वे नावपर कहीं यात्रा कर रहे थे। बातचीत किये बिना मन नहीं मानता था। जिसको बोलनेका अभ्यास हो जाता है वह बिना बोले रह नहीं सकता। उन्होंने नाविकसे पूछा—'तुम कुछ विज्ञानकी बात समझते हो?' उसने कहा, 'नहीं।'

बाबू—ज्योतिष समझते हो?

उसने कहा—नहीं।

'कुछ नक्षत्र-विद्या जानते हो?' उसने कहा, 'नहीं।'

जो पूछें सो कह दे 'ना'। थोड़ी देर बाद नाव भँवरमें फँस गयी। नाविकने पूछा, 'बाबूजी, आप तैरना जानते हैं?'

बोले कि 'नहीं।' तो वह बोला, 'आप अपनी सब विद्या लेकर डूबिये और मैं—मल्लाहकी तो लँगोटी

भींगती है—अब तैर जाऊँगा।' आप जिस विद्याको जानते हैं वह आपको दु:खसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? आपके सामने कोई समस्या आवे तो उसको सुलझानेमें समर्थ है कि नहीं? आपको दु:खसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? आपको मृत्यु-भयसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? तो विद्याओंका राजा यह है—'विद्यानां राजा'—यह राजा है। यह आपको सारे दु:खोंसे छुड़ा देगी।

यह विद्या जो हम बता रहे हैं, यह राजाओंकी विद्या है। राजाओंकी विद्या कैसे है?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावानहमव्ययम्।

× × ×

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु:।।

यह विद्या राजर्षियोंको ज्ञात है।

एक प्रसंग आता है—

अश्वपतिके पास विद्वान् समागत हुए तो राजा अश्वपतिने कहा, यह विद्या अबतक राजवंशमें ही रही है, ब्राह्मणोंको यह विद्या मालूम नहीं थी। आज पहले-पहल हम ब्राह्मणोंको यह विद्या देते हैं। इसका नाम राजविद्या है। राजर्षि विद्या है। राजा भी हो, ऋषि भी हो। राजा अलग होता है, ऋषि अलग होता है और यह विद्या ऐसी है कि जो राजाको ऋषि बना दे। याने अपना राज-काज करता रहे और असंग व्यवहार करे। यह राजविद्या है। राजवंशमें भी यह विद्या तो रही है; परन्तु राजाओंने इसको गुप्त रखा है और गुह्योंका राजा। जितने भी गोपनीय पदार्थ हैं वे सबको नहीं दिखाये जाते।

यह गोपनीय विद्या इसलिए है कि अन्तरमें इसमें आत्मस्थिति होती है और व्यवहारका ठीक-ठीक पालन होता है। अपनी जो अन्त:स्थिति है उसको गुप्त रखनेकी बात है। अब प्रश्न यह आया कि गोपनीय जो बात होती है उसमें कहीं-कहीं गन्दगी भी होती है। कोई गन्दी बात होती है तो कहते हैं—भाई इसको गुप्त रखो। जैसे तान्त्रिक अपनी साधना करते हैं तो उसको गुह्य मानते हैं। गोपनीय मानते हैं। उसमें क्या-क्या होता है, वह एक अलग बात हो जाती है। सचमुच गुप्त रखनेकी चीज है। अगर बाहर प्रकट हो गयी तो....तो क्या आप भी गीतामें कुछ ऐसा बतानेवाले हैं? तुरन्त 'राजगुह्य'के बाद क्या है? 'पवित्र' कोई गन्दी बात इसमें नहीं है। पावन करना, पवित्र करना इसका काम है। 'पवित्रं-पुनाति'—जो हमारे हृदयको, जीवनको पवित्र कर दे, ऐसी विद्या है।

यदि इन्द्र तुम्हें वज्र भी मार रहा हो तो इन्द्रका वज्र व्यर्थ जायगा, वह तुम्हारे ऊपर नहीं लगेगा। इतनी पवित्र है। जीवनकी सारी अपवित्रता दूर हो जायेगी। अच्छा, यह विद्या क्या है?

पवित्रमिदमुत्तमम्।

उत्तमका अर्थ है, पवित्र तो हो पर उत्तम न हो, ऐसा भी हो सकता है। जैसे आपको पवित्र भी जल दे दे लेकिन उसमें गँदलापन दिखेगा तो थोड़ी हिचक हो जायगी। गंगाजल तो पड़ा पवित्र है, लेकिन बरसातके दिनोंमें जब मैला होकर बहता है तो कई हमेशा स्नान करनेवाले भी स्नान करनेमें हिचकते हैं। पवित्र भी है और उत्तम भी है। 'उदिति गंगा'—उत् याने ऊपर—जो सर्वोपरि है उसका नाम होता है उत् और उत्, ऊपर,

उत्तम—जो सबसे ऊपर हो, सर्वोपरि—निरतिशय होवे, जिससे बड़ा और कोई न हो—निरुत्तर हो—इससे बड़ी विद्या और कोई नहीं है।

यह विद्या उत्तम है, इसका कोई प्रमाण भी है? हम कैसे विश्वास कर लें? उत्तरमें कहा जा सकता है कि परलोक है—किसने प्रत्यक्ष रूपसे परलोकको देखा है? कोई लौटकर आया है, बता रहा है कि हम स्वर्ग होकर आये हैं—यह देखकर आये हैं? विद्या ऐसी होनी चाहिए कि हम यहीं अपने जीवनमें उसका अवगम, अधिगम कर सकें। अदृष्ट विद्या नहीं है। जहाँ पूर्वमीमांसा धर्म, श्रौतस्मार्त-धर्म, मनुस्मृतिका धर्म, वेदोक्त धर्म अदृष्टविषयक हैं, वहाँ गीता दृष्टविषयक अर्थात् इसी जीवनमें—'प्रत्यक्षावगमंधर्म्यं'—हाथ कंगनको आरसी क्या? इसका फल अभी देख लो। आप इसका फल आँखोंसे देख सकते हैं, कानोंसे सुन सकते हैं, जीभसे चख सकते हैं, त्वचासे छू सकते हैं। प्रत्यक्षं अर्थात् 'अक्षं-अक्षं प्रति'—प्रत्येक इन्द्रियमें। आपके हाथमें काम करनेकी शक्ति रहेगी। आपकी वाणीमें बोलनेकी शक्ति आ जायगी। क्योंकि इसमें सारी दुविधा मिट जाती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

सब भगवान् ही है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि—न च मत्स्थानि भूतानि—

यह सर्वकी भगवत्ताका जो प्रतिपादन है, यह आपके चित्तमें जितनी द्विधा है, जितना द्वैत है (द्वैत शब्द अंग्रेजीमें 'डाउट'(Doubt) हो जाता है)। आपके मनमें जितना संशय है वह निर्मूल करनेके लिए यह विद्या है। 'प्रत्यक्षावगमं'—जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह धर्मसे दूर हो जाती है। केवल लौकिक भोग, लौकिक सुख, लौकिक वस्तुका जब दर्शन करेंगे तो उसमें धर्मपर परदा पड़ जायगा। हमको यह धन, स्त्री, पुत्र चाहिए—यह जो धर्मपर परदा पड़ जाता है, वह असलमें गलत है। ('गलत' शब्द संस्कृतका ही है। जैसे 'गलितं'—गलत—जो अपने स्थानसे च्युत हो गया—गलके गिर गया उसको गलत बोलते हैं—स्थानभ्रष्ट हो गया। कोई भी चीज अपनी जगहसे हट जाय, हाथ अपनी जगहसे हट जायँ, पाँव अपनी जगहसे हट जायँ तो गलत हुआ।) अब आओ जो विद्या हम बता रहे हैं कि सबमें परमात्मा है—सब परमात्मा है। परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है—**न च मत्स्थानि भूतानि।**

यह विद्या जो हम बताने जा रहे हैं, इसमें आप सर्वथा संशयमुक्त होकर, निर्द्वन्द्व होकर—अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। दाहिने जायें कि बायें, यह शंका आपके मनमें कभी नहीं आयेगी। प्रश्न उठा, कहीं धर्म छूट जाय तो? उत्तर होगा, नहीं धर्म बना रहेगा—'धर्म्यं'—धर्म होता है हमारे हृदयमें। धन बाहर होता है और काम रहता तो भीतर है, लेकिन कामना बाहरकी वस्तुकी होती है। याने अर्थ जहाँ स्वयं बाह्य है, वहाँ कामना बाह्य—अर्थ और काम दोनोंको नियन्त्रित करती है। स्पष्ट रूपसे उपनिषद्में यह बात आयी है। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि बनी रहेगी—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 2.66

तुम्हारी बुद्धिका नियन्त्रण तुम्हारे मनपर, शरीरपर बना रहेगा। अनियन्त्रित नहीं होगा। 'धर्म्यम्—धरति इति धर्म:, धारणात् गृह्यते इति धर्म:।' जिसको हम धारण करें, उसका नाम धर्म। 'धर्मो रक्षति रक्षित:'—यदि तुम धर्मकी रक्षा करोगे तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यदि तुम अपने धर्मकी रक्षा नहीं करोगे तो वह भी तुमसे निरपेक्ष हो जायगा और तुम्हारी सर्वथा उपेक्षा कर देगा। श्रोता यह सुनकर प्रश्न करता है कि भगवन्! ऐसे दुष्कर धर्मका पालन करना तो बहुत कठिन होगा। धर्म भी हो, फल प्रत्यक्ष भी हो, उत्तम भी हो—तो बहुत कठिन होगा करना, उत्तर मिला, नहीं—'कर्तुं सुसुखम्।' सुखमें पहलेसे 'सु' तो है ही, एक 'सु' और जोड़ दिया—करनेमें अत्यन्त सुगम है। ऐसी विद्या हम बतायेंगे।

पहले जितनी विद्याएँ बतायी गयी हैं, उनसे यह नवें अध्यायकी विद्या विलक्षण है। यह पूर्वार्धका उपसंहार है। इसमें जो अन्तिम श्लोक है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:॥ 9.34

इस श्लोकको मध्यवर्ती श्लोक मानते हैं। गीतामें बीचो-बीचका श्लोक नवें अध्यायमें है। करनेमें आसान है, सुगम है, अनायास है। शंका होगी, करनेमें आसान है तो फल थोड़ा होगा। बोले, नहीं—'अव्यय:'। इसका फल अविनाशी है। 'न व्ययति'—कभी वह घिसता नहीं है, कम नहीं होता है। ऐसी विद्या—आओ श्रद्धाके साथ—इसका अर्थ है, पहले श्रोताके मनमें अपने उपदेशके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके और वह प्रेमसे इसको सुने और समझे और तदनुसार आचरण करे। इसके लिए पहले विद्याकी प्रशंसा—इसको सुनकर पहले श्रोताके मनमें इच्छा जगेगी कि हम इस विद्याको प्राप्त करें और कोई इसपर श्रद्धा नहीं करेगा तो क्या होगा?

अश्रद्धधाना:पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ 9.3

श्रद्धा करो, वेद कहता है—बेटा, जब बतावें कि यह जो शकल हमने बनायी है—पञ्चकोण—इसका नाम 'अ' है,यह सुनकर यदि तुम पहले ही शंका करोगे कि इस आकृतिका नाम, इस शकलका नाम 'अ' कैसे? तो कुछ पढ़ सकोगे? इस आकृतिका, इस शकलका नाम—पहले मास्टरकी बात मानकर इसी शकलको जब देखो तब 'अ' बोलो। कहाँसे 'अ' आया? 'अ' तो भीतरसे बोला जाता है? कागजपर कहाँसे 'अ' आया? जवाब मिला, नहीं भाई, हमारे गुरुजीने बताया है कि इस शकलको देखो तो 'अ' कहना होता है। जो श्रद्धालु नहीं होगा वह तो एक अक्षर भी नहीं सीख सकेगा। तुम्हारा नाम अ,ब,स कुछ है? कैसे? बताओ? समझाओ हमको—मेरा नाम कैसे? अच्छा तुम्हारी माता यह है, नहीं, हमको दिखाओ—यह हमारी माँ कैसे? हमारे पिता है, यह कैसे मालूम हुआ कि ये हमारे पिता हैं? श्रद्धासे मालूम पड़ता है—श्रद्धस्व......

जो श्रद्धा नहीं करेगा उसके हविष्यको देवता लोग ग्रहण नहीं करते हैं।

●

प्रवचन : 2

गीता क्या है? गीता वाङ्मयी माँ है। सरस्वती माँ है। अम्बा है। अम्बाका अर्थ है वर्णमयी माँ, वाङ्मयी माँ। बालक जैसे अपनी माँका दूध पीता है वैसे ही 'दुग्धं गीतामृतं महत्'—इस महागीतामृतका पान करें!

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ 9.2-6

राजविद्या विद्याओंकी राजा है जो राजवंशमें गुप्त रही है। सर्वश्रेष्ठ गोपनीय है। सर्वश्रेष्ठ इस राजविद्याको राजाओंने अपने हृदयमें गुप्त रखकर-छिपाकर राजकाज चलाया है और सारा व्यवहार करते हुए भी मृत्युसे निर्भय होकर राज्यका संचालन किया। यदि मृत्युसे अभय नहीं हो तो युद्धमें, संघर्षमें कैसे उतरेगा? सूझ-बूझ न हो, समझदारी न हो, अज्ञान न मिटे तो राजकाज कैसे चलेगा?

दु:खसे वचनेकी विद्या अगर न मालूम हो तो मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। यह विद्या अशुभसे अर्थात् मृत्युसे, दु:खसे और अज्ञानसे मुक्त करनेवाली है। आप इसी जीवनमें इसे धारण करें।

आठवें अध्यायकी विद्या ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा परलोकमें जानेकी विद्या है और नवें अध्यायकी विद्या है इसी जीवनमें मृत्युके भयसे, दु:खसे तथा अज्ञानसे मुक्त रहकर व्यवहार करनेकी। इतनी सुगम और प्रत्यक्ष है यह विद्या। प्रत्यक्षावगर्मका अर्थ है—इसी जीवनमें प्रत्यक्ष देख लो। परमात्मासे प्रत्यक्ष मिला देनेवाली ऐसी यह विद्या है। यह विद्या धर्मके अनुकूल है। धर्म कभी इससे दूर नहीं होता। वह जीवनमें बना रहता है और परिपालनमें सुगम हो जाता है। इस विद्याका फल अव्यय, अविनाशी है। संसारमें इतने बुद्धिमान लोग हैं फिर इस महान् गुणवाली विद्याको प्राप्त क्यों नहीं करते—ग्रहण क्यों नहीं करते?

इस विद्याको प्राप्त न होनेमें एक ही कारण है—अश्रद्धा! श्रीमद्भागवतमें एक दृष्टान्त दिया है—एक मनुष्यको जलकी आवश्यकता थी और वह एक निर्मल सरोवरके पास खड़ा था किन्तु वहाँ जलपर काई छायी हुई थी। उसने सोचा, भला यहाँ जल कहाँ मिलेगा? फिर वह मरुस्थलकी ओर दौड़ा। जहाँ मृगमरीचिकाका साम्राज्य था। चारों ओर झूठा जल चमक रहा था। जैसे मूर्ख मनुष्य जलके फेनसे, काईसे, सेवारसे आच्छादित जलको देख उससे विमुग्ध हो जाये वैसे ही जीवनमें परमात्मा अपने हृदयमें ही तो है—'कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग ढूढ़ै वन माहि' जैसी स्थिति है। अपने ही भीतर परमात्माको छोड़ हम बाहर भटकते हैं।

भगवती श्रुति कहती है, वेद भगवान् कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर जब प्राप्त होता है तो इसमें आत्मा, परमात्मा सर्वथा प्रकट रूपमें रहता है। यह पुरुष शरीर अद्भुत है परन्तु श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके बिना व्यवहार नहीं चलता। यह माँ है, यह मानोगे नहीं, श्रद्धा नहीं करोगे, तो व्यवहार नहीं चलेगा। श्रद्धा नहीं करोगे कि यह मेरा पिता है तो कैसे निश्चय होगा कि यह मेरा पिता है। लेबोरेटरीमें निश्चय होगा कि यह तुम्हारा पिता है? डाक्टर, वैद्यपर विश्वास नहीं करोगे तो औषध कैसे खाओगे? बिना श्रद्धाके तो साधारण व्यवहार भी नहीं चल सकता।

पचास वर्ष पुरानी बात है। हमारे गुरुजी तमकुहीके राजाके यहाँ गये थे। जब उनके यहाँ भोजन करना हुआ तो पहले डाक्टरने भोजनकी परीक्षा की। पर डाक्टरपर भी पूरा विश्वास नहीं था। उसको भोजन करनेके लिए साथ बैठाया गया। जिस भोजनकी परीक्षा की गयी थी, वही भोजन राजा साहब करते और डाक्टरको भी खाना पड़ता। अब बताओ, इतने अश्रद्धालु, इतने अविश्वासी पुरुषका काम-काज कैसे होगा? पत्नीपर विश्वास होना चाहिए, पतिपर विश्वास होना चाहिए नहीं तो घर नरक हो जायेगा।

हमारे विद्वान् वेदान्ती मधुसूदनजी कहते हैं—'श्रद्धा मुनियोंका सम्बल है।' उपनिषद्‌का कहना है कि श्रद्धाकी पूँजी लेकर अपने हृदयमें परमात्माका, सत्यका निरीक्षण करो। एक बार पिलानीके शिक्षाशास्त्री आये, बोले—महाराज, हम लोग अनुसन्धान करते हैं—क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए? मैंने कहा—तितिक्षा, श्रद्धा, मनमें शान्ति हो तब न अनुसन्धान करोगे! अपनी इन्द्रियोंपर काबू हो, तब अनुसन्धान होगा। श्रद्धा हो तब हमें सफलता मिलेगी, तब अनुसन्धान होगा। उसमें जो तकलीफ आये, दु:ख आये, कठिनाई आये उसको सह लो। तितिक्षा—दूसरी ओरसे मन हटाकर उसीमें लगाओ। उपरति—सफलताकी श्रद्धा, मनकी एकाग्रता। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानके लिए जो-जो सामग्री चाहिए वह सब अनुसन्धानके लिए आवश्यक है। विवेक चाहिए, अनन्य वैराग्य चाहिए—यही अनुसन्धानकी सामग्री है। इसके बिना आप किसी भी विषयका ठीक-ठीक अनुसन्धान नहीं कर सकते।

महाभारतमें एक कथा है—देवताके प्रसन्न होनेपर उत्तंक ऋषिने आग्रह किया कि हमें अमृतका घड़ा चाहिए। देवता पहले तो माने नहीं फिर किसी तरहसे मनाया। लेकिन देवताओंने विचार किया कि इनको अमृत नहीं मिलना चाहिए। अत: अत्यन्त गन्दा रूप धारणकर गन्दे पात्रमें अमृत लेकर आये और बोले, 'महामुनि, लो अमृत ग्रहण करो।' उन्होंने बिगड़कर कहा,'दूर रहो! तुम इतने गन्दे हो और यह पात्र इतना गन्दा है कि इसमें

अमृत भला कहाँ हो सकता है? अमृत तो था ही, लेकिन उनकी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई और देवता अमृत लेकर चले गये।

तो, जो गढ़ा जाय उसका नाम घड़ा होता है......'घटयते स घट:।'

शरीर भी तो घट है— हाथ, पाँव, आँख, कान, मुख, नासिका, दिल, दिमाग दिखनेमें बड़ा सुन्दर है पर इनसे जो चीज निकलती है वह गन्दी निकलती है। गन्दगीका खजाना है यह शरीर। इसमें अमृत भरकर रखा है। अत: घड़ेको मत देखो। इसमें जो अमृत भरा हुआ है उसको देखो।

पुरुषके शरीरको ब्रह्माजीने बनाया है। ब्रह्माजीने पहले दैत्योंको बनाया। ये आसुरी प्रकृतिके होते हैं, दूसरोंको दु:ख देने वाले। बोले, भाई इनको ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? तब देवताओंको बनाया जिनको रुचि भोगमें होती है। अत: भुक्ति-प्रधान देवता हैं और क्रोध-प्रधान दैत्य और यह मनुष्य जीवन लोभकी प्रधानतासे पैदा हुआ है। इसमें संग्रहकी प्रवृत्ति बहुत बड़ी है। इसीसे दैत्योंके लिए दया, देवताओंके लिए दम और मनुष्योंके लिए दानका उपदेश है। क्रोधके विरुद्ध दया, भोगके विरुद्ध संयम और लोभके विरुद्ध दान।

उपदेश सदा अधिकारीके अनुरूप होता है। पुरुषमें जो लोभ है, यदि इसके प्रति त्यागकी, वैराग्यकी भावनाका उदय हो जाय और परमेश्वरके प्रति श्रद्धा जग जाय तो उसका कल्याण हो जाय। यदि मनुष्यके मनमें श्रद्धा नहीं है तो उसे महात्मा कभी नहीं मिल सकता। परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है और महात्मा श्रद्धासे मिलता है। महात्मापन अन्तरंग है, हृदयमें रहता है। वह इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए श्रद्धा करनी पड़ती है। जिसके हृदयमें श्रद्धा आती है वह महात्मा हो जाता है।

यह मनुष्य शरीर श्रद्धाके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका माध्यम है और यदि श्रद्धा नहीं आयी तो परमात्मा नहीं मिल सकता—'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।'कालयवनने पीछा किया तो भगवान् कहाँ मिले? जरासन्धने पीछा किया तो वे कहाँ मिले? क्योंकि उनके मनमें श्रद्धा नहीं थी कि ये भगवान् हैं। लेकिन जिनके मनमें श्रद्धा थी उन्होंने भगवान्‌को पकड़ लिया, बाँध लिया।

आओ हम भगवान्‌को पहचानें। गीताके नवें अध्यायमें जो भगवान्‌की पहचान है वह अद्भुत है। आप लोग अनके मजहबोंकी बातें पढ़ते होंगे, किन्तु सनातन धर्मको छोड़कर अन्य सभी मजहबोंमें ईश्वरको हमारे व्यक्तिगत जीवनसे, व्यावहारिक जीवनसे दूर कर दिया गया है। हम तो साकार हैं और साकार जगत्‌में विहरते हैं। हमारा सारा व्यवहार साकार जगत्‌में चलता है। यदि ईश्वर, सर्वथा निराकार ही हो और रहे तो हमारे जीवनके साथ इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है? आत्मा भी तो निराकार है। जीव भी निराकार है और निराकार होकर भी इस शरीरमें रहता है। तो निराकार परमात्मा क्या इस जगतमें नहीं रह सकता? जबतक हम अपनेको साकार मानते हैं, शक्ल-सूरतवाला समझते हैं हमारा परमात्मा भी तबतक शक्ल-सूरतवाला होगा।

बौद्धधर्मावलम्बी गौतमबुद्धको भगवान् मानते हैं, परन्तु वे पहले जीव थे। उनके चौरासी जन्म हुए— बकरा, हाथी, पण्डित हुए। इसके पश्चात् उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। जीवका उत्कृष्ट रूप उनके यहाँ भगवान्‌के रूपमें प्रकट होता है। महावीर भगवान् हैं, परन्तु वे भी पहले जीव थे और साधन करते-करते उन्हें भगवान्‌की

पदवी प्राप्त हुई। परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का रूप है भगवत्-स्वरूप है, यह बात किसी मजहबमें नहीं है। दुनियाको बनानेवाला ईश्वर है, जैन धर्म यह भी नहीं मानता। उसके मतानुसार जगत्की सृष्टि कर्मने की है। बौद्ध धर्मके अनुसार वासना-द्वारा सृष्टि हुई है। आर्यसमाज, मुस्लिम और ईसाई आदि धर्मोंमें ईश्वरको जगत्का सृष्टिकर्ता तो मानते हैं; किन्तु स्वयं ईश्वर जगत् बन गया या जगत्के रूपमें ईश्वर ही प्रकट हैं, ऐसा मत केवल हमारा वैदिक, श्रौत मत है।

इस विशेषताको जब आप समझ लेंगे तो आपके ध्यानमें आयेगा कि हम एक पत्थरमें भी ईश्वर-बुद्धि कर सकते हैं। पत्थरमें तत्त्वके रूपमें जो असली पदार्थ है—उपादान है वह चेतना ब्रह्म है। इसीलिए हम पीपलके रूपमें, गायके रूपमें, धरतीके रूपमें, गङ्गाजलके रूपमें, समुद्रजलके रूपमें, अग्नि-वायु-आकाशके रूपमें भगवान्की पूजा करते हैं। चिदम्बरम्में जाकर देखिये। वहाँ एक माला लटकायी हुई है। उसके भीतर जो गोल-गोल छिद्र है आकाश, उसका नाम है चिदम्बरम्। वह परमात्माका स्वरूप है। स्फटिकलिंग वहाँ परमेश्वर नहीं है। वहाँ जो मालाके भीतर अवकाश— छिद्र है उसे चिदम्बरम्—परमेश्वर मानते हैं।

ईश्वरको ढूढ़नेके लिए हमें स्वर्गमें, बैकुण्ठमें या सातवें आसमानमें नहीं जाना है। समाधिकी गुफाओंमें प्रवेश करके परमेश्वरका दर्शन नहीं करना है। उसको बाहर आनेमें कोई डर तो है नहीं। वह तो निर्भय है। जो ईश्वरको जानता है वह भी अजय हो जाता है। इसीसे ईश्वरकी पहचान बतायी गयी—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना...... ।'

संस्कृत भाषाकी एक विशेषता है—'इदं सर्व जगत्। मया ततं मया आततं'—ततं और आततं दोनों निकलता है। आततंका प्रयोग वेदमें मिलता है—'तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुरात यं।' जैसे आकाशमें सूर्यकी रोशनी फैली हुई है, जैसे आकाशमें हमारी आँखकी रोशनी फैली हुई है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्में ईश्वर परिव्याप्त हो रहा है। जैसे कपड़ा सूतके सिवा और कुछ नहीं है। चाहे उसे ताना कहो अथवा बाना, चाहे बुनाई करते समय उसमें हाथी बनालो अथवा घोड़ा, डण्डा बना लो या बाँसुरी, कृष्ण बना लो अथवा राम, पर है वह सूत ही—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' मया—मेरे द्वारा। 'इदं सर्वं जगत्'—जगत्का लक्षण है। लक्षण माने जगत्को पहचानो। जगत् क्या है? 'गच्छति इति जगत्।' जो बदलता है उसका नाम जगत् है।

ऐसे परिवर्तनशील जगत्में हमें ईश्वरको पहचानना है—'मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास।' क्या आप ईश्वरके बारेमें ऐसा ख्याल रखते हैं कि वह ऊपर कहीं सातवें आसमानमें होगा, वैकुण्ठमें होगा या हिमालयमें रहता होगा—'काहे रे वन खोजन जाई।' परमेश्वरको ढूढ़नेके लिए जंगलमें मत जाओ। यह आपका जो हृदय है, आपका जो शरीर है, यही परमात्माकी उपासनाका, निवासका स्थल है। 'मया ततमिदं सर्वम्'—जो प्रत्यक्ष है, परोक्ष और अपरोक्ष है—सर्वं इदम्।' इदम्का अर्थ है यह—आपके मनमें एक स्वर्गकी कल्पना आयी कि यह स्वर्ग है। वैकुण्ठकी कल्पना आयी कि यह वैकुण्ठ है, यह साकार है, यह निराकार है, यह घट है आदि।

घट पटादि प्रत्यक्ष है और इदं है, स्वर्गादि परोक्ष हैं और इदं हैं। वैसे ही काम क्रोधादि अपरोक्ष होकर इदं हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी अपरोक्ष है और इदं हैं। यह इदं क्या है? मया आततं—यह जो कुछ तुम हो—इदं इदं मालूम पड़ता है यह सब मेरा विस्तार है—तनु विस्तारे तन्वतेति। यह सब मेरा विस्तार है। इसमें तुम्हारा कोई शत्रु है न मित्र। इसमें न कोई जन्म है न मृत्यु। यह सब परमात्माका स्वरूप है। पापीको परमात्मा ही नरक रूपमें दीखता है और पुण्यात्माको वही स्वर्ग रूपमें दीखता है। परमात्मा ही भक्तको वैकुण्ठके रूपमें परिलक्षित होता है और जिसका मन राग-द्वेषसे भरा हुआ है उसे शत्रु-मित्रके रूपमें दिखायी पड़ता है। उसी एक परमात्माका यह सारा विस्तार है। उसको पहचानो—'जित देखो तित श्याममयी है।'

अपने हृदयसे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, शत्रु-मित्रको एक क्षणके लिए हटाकर देखो। अब श्रद्धाकी इसमें आवश्यकता कहाँ है? बोले, है! माँ प्रत्यक्ष दीखे तब भी उसमें श्रद्धा करनी पड़ती है। उड़िया बाबाने एक बात बतायी—एक वेश्या है और उसको एक बेटा है। यदि उसका बेटा श्रद्धापूर्वक अपनी माँकी भक्ति करे तो जैसे और पतिव्रताके पुत्रोंको मातृ-भक्तिका फल मिलता है, वैसे उस वेश्या-पुत्रको प्राप्त होगा या नहीं? निश्चय ही मिलेगा, क्योंकि वह अपनी माँकी भक्ति करता है। मातृभक्ति करना पृथक् वस्तु हैऔर वैश्या होना पृथक् वस्तु है।

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' श्रद्धा अपने हृदयका धन है। लेकिन यदि हमको पेड़ दीख पड़ता है तो कैसे श्रद्धा करें? बोले—हाँ, श्रद्धा करो—'अव्यक्तमूर्तिना। न व्यक्ता मूर्तिर्यस्य तेन मया—अव्यक्तमूर्तिना मया'— पेड़के रूपमें मैं ही हूँ, पर मैं दीखता नहीं, मेरी मूर्ति व्यक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि हम लेबोरेटरीमें परीक्षण करेंगे कि इस पेड़में परमात्मा है कि नहीं, तो—

'न व्यज्यते तेनातिप्रयोगेन......।'

हमारा जो स्वरूप है वह इन्द्रियगम्य होकर नहीं मालूम पड़ता; वह श्रद्धा, भक्तिसे मालूम पड़ता है। स्वर्गपर श्रद्धा करोगे तो वह मरनेके बाद मिलेगा और यदि प्रत्यक्षपर श्रद्धा करोगे तो उसका इसी जीवनमें अनुभव हो जायेगा—'अव्यक्त-मूर्तिना-मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। मत्स्थानि सर्वभूतानि—कैसी अद्भुत बात कही है। अलङ्कारकी दृष्टिसे विरोधाभास है और पहेलिका अलङ्कार भी है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि सर्वभूतानि।'यह विरोधाभास हो गया एक बार कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ मुझमें हैं और एक बार कहते हैं कि यह सम्पूर्ण मुझमें नहीं हैं। परमात्माको प्रकट करनेके लिए परस्पर विरुद्ध धर्मका निरूपण करना पड़ता है जब वही सब है तो साकार भी है, निराकार भी है। सगुण भी है और निर्गुण भी है। आदि शङ्कराचार्यका कथन है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यं निराकाशं परमाकाशं
मायाकल्पितं नानाकारमनाकारं भुवनाकारम्।

तुलसीदासजी कहते हैं—'निर्गुण सगुण नहीं कुछ भेदा'। भीतर होना—बाहर होना, पास भी होना—दूर भी होना, हिलना भी और न हिलना—परमात्मामें ये सभी बातें विरोधी होकर भी ठीक-ठीक बैठ जाती हैं।

ज्ञान-अज्ञान, राग-वैराग्य, धर्म-अधर्म, सुख-दु:ख सब परमात्माके स्वरूपमें ही है जिसने पहचान लिया उसके लिए संसारमें कोई दुविधा नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो वह हिचकेगा—यहाँ पाँव रखें कि न रखें। किन्तु जिसको ज्ञान हो गया कि सब परमात्मा है, वह निर्द्वन्द्व होकर व्यवहार करता है। श्रुतिमें ऐसे प्राणीको जीवनमुक्त कहते हैं। उसे कहीं भी पाँव रखनेमें दुविधा नहीं है। जैसे चिड़िया कहीं भी पाँव रखे वह आकाशमें होता है।

इसी प्रकार जो ब्रह्मको पहचान लेता है उसके आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, बायें ब्रह्म है, दाहिने ब्रह्म है उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म हो जाता है। हिचक-हिचककर चलनेके लिए परमात्माका ज्ञान नहीं है। कहा भी है—'जाके मनमें अटक है सोई अटक रहा।' ब्रह्म वेद ब्रह्मविद् भवति।' तो यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्माका स्वरूप है, उसमें अटको मत, लटको मत। इसमें कोई खटका मत रखो—'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो...... ।'

हिचककर पाँव रखनेपर फिसलनेका डर रहता है। परमात्माको देखो और चलते जाओ। अपने हृदयमें परमात्मापर विश्वास हो, श्रद्धा हो और उसका अनुभव हो—'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। भूत कहनेका एक अभिप्राय होता है। पञ्चभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और एक भूतका अर्थ होता है भौतिक, जिन पञ्चभूतोंसे यह दुनिया बनी है—वह सब।

एक और भूतकी बात आपको सुनाते हैं। कोई तान्त्रिक श्मशानमें मुर्देपर बैठकर कोई सिद्धि कर रहा था। उसने देखा कि कोई बारात आ रही है। बाजे-गाजे बज रहे हैं, बड़ा कोलाहल है। उसने सोचा कि मैं तो एकान्तमें साधना कर रहा था, यह क्या है? उसने अपनी साधना बन्द कर दी। परिणाम यह हुआ कि बारात, गाजे-बाजे और हो-हल्ला आया भी, समाप्त भी हो गया। इसी प्रकार एक और घटना याद आती है—हमारे एक मित्र नर्मदाके पानीमें मचान बनाकर हनुमानजीकी साधना कर रहे थे। उनको लगा कि नर्मदाका पानी बढ़ रहा है और मचान डूब रहा है और दो अजनबी प्राणी उन्हें पकड़नेके लिए चले आ रहे हैं। मारे डरके वे नर्मदाके पानीमें कूद पड़े। देखा तो वहाँ केवल घुटने भर पानी था और वहाँ उनके अतिरिक्त कोई प्राणी नहीं था। यह सब क्या है? इसीको भूत कहते हैं—वह जो न हो और मालूम पड़े। यह भूतकी माया है।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'का अर्थ है—जो यह महाश्मशान भगवान् शङ्करका दीखता है, यह सब परमात्माके अन्दर है। दूसरी बात जो कही—'न च मत्स्थानि भूतानि'—मुझमें कोई भूत नहीं।

आकाशमें हम देखते हैं—नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा अपनेमें कुछ भी नहीं है। यह तो दृष्टिकी असमर्थता है। हम जहाँतक स्पष्ट देख पाते हैं, उसके बाद नीलिमा दिखायी देती है। हमारी दृष्टि छोटी है। हम पूरे आकाशको नहीं देख पाते। इसका अर्थ है—अल्प दृष्टिसे नीलिमा है किन्तु पूर्ण दृष्टिसे नीलिमा नहीं है। भगवान्‌की दृष्टि पूर्ण है। इसीसे जब भगवान्‌से एक हो जाते हैं तब यह पंच प्रपंच नहीं दीखता और जब अल्पसे एक रहते हैं—देहाभिमान रहता है तबतक प्रपंच दीखता है। देहाभिमान छूटनेपर परमात्मासे एक हो जाते हैं तब प्रपंच नहीं दीखता।

मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। 9.5
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:। 9.4

सब मुझमें है, परन्तु मैं उनमें हूँ, ऐसी बात नहीं है। इसको आधार-आधेय भाव बोलते हैं। परमात्मा किसीको आधार बनाकर उसमें नहीं रहता, सबका आधार परमात्मा है। श्रीरामानुजाचार्यजी आधार-आधेयकी बात कहते हैं। श्रीमध्वाचार्यजी स्वतन्त्र अस्वतन्त्रकी बात कहते हैं—सबकी सत्ता मेरे अधीन है किन्तु मेरी सत्ता किसीके अधीन नहीं है। आकाशमें घड़ा रहता है किन्तु आकाशको अपने अन्दर रखकर नहीं ढोता। जल अथवा मिट्टीकी तरह आकाश घड़ेमें नहीं बँधता। आकाशमें घड़ा बँधता है। जैसे घड़ेके भीतर आकाश है वैसे ही घड़ेके बाहर आकाश है। जहाँ घड़ेकी दीवार है वहाँ भी वैसा ही है। घड़ेके टूटनेसे आकाशका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। आकाश आधार है और घड़ा आधेय है। परन्तु घड़ेमें आधेय रूपमें रखी जानेवाली वस्तुकी तरह आकाश नहीं रखा जा सकता। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित:'- भगवान्में सब हैं किन्तु भगवान् किसीके अन्दर रहते हैं अर्थात् भगवान्से भी कोई बड़ा है, ऐसा नहीं है। भगवान् किसीमें रखे नहीं जाते। भगवान्में हृदय बनता है। हृदय जिन तत्त्वोंसे बनता है वह परमात्मा है। किन्तु हृदयमें परमात्मा आबद्ध हो गया, सो बात नहीं है। हृदय बनता है, बिगड़ता है। बुद्धि बनती है, बिगड़ती है। बुद्धि पापी, पुण्यात्मा होती है, दु:ख-सुखका अनुभव करती है। बुद्धि जन्म-जन्मान्तरमें आती-जाती है किन्तु वह जिस उपादानसे निर्मित है वह चेतन है, परमात्मा है।

यह जड़वादका सिद्धान्त नहीं है—यह चेतनात् आत्मा है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि..... यही ऐश्वर्य योग है। भगवान् कृष्ण अजुर्नसे बोलते हैं—मया ततमिदं सर्वं जगत् इति पश्य'—देखो सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मैं फैला हूँ। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—सारे प्राणी मुझमें हैं। 'न चाहं तेष्ववस्थिति: '—उनमें जो परिवर्तन है—उनके साथ मेरा परिवर्तन, विनाश नहीं है—मेरे अन्दर कुछ भी नहीं है।

अर्जुन कहते हैं—महाराज, तुम्हीं हो, ठीक है। तुम बोलते हो—मैं ही हूँ, परन्तु हमको यह गड़बड़झाला दीख रहा है। भगवान् बोले— 'मम ऐश्वर्य योगं पश्य ?' यही ईश्वरता है। यह ईश्वरीय योग है, जो नहीं है उसे यह दिखा देते हैं। यह भगवान्की माया है। जैसे जादू या इन्द्रजाल होता है। यह वस्तुमें परिवर्तन करके भी होता है और आँख बाँधकर भी होता है। जादू दिखाते समय वस्तुमें हेर-फेर हो जाता है और नेत्रका दृष्टिकोण बदल जाता है। जादूगरकी शक्ति वस्तुके दर्शनमें अवरोध पैदा करती है। मुट्ठीमें बँधा रुपया जेबमें पाया जाता है, इसीको माया कहते हैं। जो बात दुनियामें सामान्यरूपसे नहीं होती माया उसे करके दिखा देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'पश्य मे योगमैश्वरम्' यह देखो, जादूका खेल, मुझमें सब कुछ है , मुझमें नहीं है, मैं किसीमें नहीं हूँ—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:।'

ऐसे ही परमात्मा सबको धारण करता है, सबको परिपुष्ट करता है। वह किसी देश-विदेशमें नहीं है। कहते हैं—'ममात्मा भूतभावन: ?' यह सब मेरा सङ्कल्प है, मेरा मन है। जैसे सङ्कल्पकी वस्तु मुझसे अलग नहीं होती। यदि हम अपने मनमें देखें कि हाथी है तो जबतक हाथी देखना चाहें, हाथी रहेगा और-और देखनेकी

इच्छा मिट गयी तो हाथी नहीं रहा—उसी प्रकार भगवान् द्वारा सङ्कल्पित वस्तु भगवान्से बाहर नहीं है, उनके हृदयमें है। अत: सङ्कल्पित वस्तु भी भगवान्से भिन्न नहीं है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि सङ्कल्पित वस्तु सावधिक होती है; किन्तु भगवान् निरवधिक हैं। अत: निरवधिकमें जो सावधिक वस्तु होती है उसका विस्तार होता है। उसमें एक गज-दो गज जैसा देश नहीं होता, एक किलो-दो ---किलो जैसा वजन नहीं होता। उसमें स्थान अथवा समय भी नहीं होता। सङ्कल्प ही उसका देश, वजन, स्थान, समय आदि है। परमात्माके अनन्त अनादि स्वरूपमें वह सङ्कल्पमात्र है—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:।'मेरा आत्मा, मेरा मन, यह सब मेरे सङ्कल्पसे सृष्टि उत्पन्न होता है।

यह जो मेरा सङ्कल्प है वही प्राणियोंको दीखता है। मेरा सङ्कल्प ही प्राणियोंका पालन एवं संहार करता है। यह मुझमें है भी और नहीं भी है। गीताके नवें अध्यायमें भगवान्की विशेषताका वर्णन है। भक्तका स्वरूप, भक्तिका स्वरूप और भजनीय—जिनकी हम भक्ति करते हैं उनका स्वरूप। और ये भगवान् तो सब समय हैं। समय ही भगवान्का सङ्कल्प है। सृष्टि भी भगवान्का सङ्कल्प है। अब भजनीय भी हमारा कहाँ? ऐसा भजनीय आपको किसी दूसरे मजहबमें नहीं मिलेगा।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि'—स्त्री भी तुम हो, पुरुष भी तुम हो 'त्वं कुमार उत वा कुमारी'-कुमार भी तुम हो, कुमारी भी तुम्ही हो। 'जातो भवसि विश्वतोमुख:' सम्पूर्ण विश्वके रूपमें परमेश्वर है। 'त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि'—बड़े बाबा बनकर लकड़ी टेकते हुए तुम्हीं हो। इसका मतलब हुआ, हर कदममें परमात्मा है। हर चीजमें, हर प्राणीमें, हर भावमें परमात्मा है। हम परमात्मामें ही डूब उतरा रहे हैं, सोच समझ रहे हैं—बैठ-उठ रहे हैं। इसमें यदि आप राग-द्वेष करते हैं तो परमात्मासे हमें कोई पक्षपात या क्रूरता करनेके लिए कहीं भी स्थान नहीं है; क्योंकि परमात्माका सब स्वरूप है। यह हमारे हृदयमें राग-द्वेषको सर्वथा उखाड़कर फेंक देनेवाली विद्या है।

●

प्रवचन : 3

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.6-13

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'—भगवान् श्रीकृष्ण यह बात सुनाते हैं कि ये सारा प्राणिवर्ग और पदार्थ सब मुझमें कैसे स्थित है और कैसे नहीं स्थित है। दृष्टान्त एक है और इसके द्वारा प्रतिपाद्य दो पदार्थ हैं। 'भवन्ति इति भूतानि' जो भी पैदा होता है उसका नाम भूत। जो पैदा होता है वह पैदा होनेसे पहले नहीं रहता है और जो पैदा होता है वह मर जाता है, बादमें नहीं रहता है। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थके साथ पहले और पीछे न होना लगा रहता है। जैसे माँ-बाप पहले होते हैं। और बच्चे बादमें पैदा होते हैं। परन्तु माँ-बाप बादमें रहें यह नियम नहीं रहता है। परन्तु ईश्वर पहले भी रहता है और बादमें भी रहता है। यह उसका नियम है। ईश्वर अनादि और अनन्त है।

एक बातपर आप विचार करो कि जिसका अन्त ही न हो और जिसकी आदि भी न हो ऐसा पदार्थ अनुभवका विषय कैसे हो सकता है? इसके लिए बड़ा स्पष्ट दृष्टान्त है। हमारे जीवनमें अनेक पदार्थोंका आदि होता है और अनेक पदार्थोंका अन्त भी होता है। कितने आते हैं, कितने जाते हैं, कितने मिलते हैं, कितने बिछुड़ते हैं, किन्तु हमारा आत्मा एक ही रहता है। पैदा होनेके पहले मरनेके पहले, मिलनेके पहले, बिछुड़नेके पहले यह-यह जितना है वह तो आता जाता रहता है; परन्तु आत्मा आदि-अन्तका विषय नहीं है। मैं कब हुआ

यह कोई नहीं जान सकता और मैं कब्र नहीं रहूँगा, किसीके अनुभवके क्षेत्रमें नहीं है। जब हम पहलेके हों तब जन्मका अनुभव कर सकते हैं कि जन्म हुआ और यदि बादमें भी रहें तो मृत्युका अनुभव कर सकते हैं। इसलिए अपने जन्मका और अपनी मृत्युका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। यह अनुभवके क्षेत्रसे अतीत पदार्थ है। ऐसा कोई न हुआ, न होगा जो अपनी मौतको स्वयं देख सके। यदि देखता है तो वह हैऔर या तो मरा नहीं और यदि अपना जन्म देखता है तो जन्मसे पहले रहकर जन्म देखता है—उसका जन्म ही नहीं हुआ। इसलिए जन्म और मृत्यु ये दोनों अनुभवके क्षेत्रमें नहीं हैं।

हमारा आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान बताता है कि आत्माका जन्म और मरण नहीं होता और जिसका जन्म-मरण होता है वे भूत हैं। माने मिट्टी है, पानी है, आग है, इनके बने हुए पदार्थ हैं, भौतिक मिट्टी कल नहीं थी या पानी कल नहीं था यह भी प्रत्यक्षका विषय नहीं है। यह अनुमानका विषय है। केवल हम अनुमान लगाते हैं कि प्रत्येक वस्तु बदलती है तो बदलनेवाली वस्तुका कभी जन्म हुआ होगा और कभी मृत्यु हुई होगी। और धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग ये अनुभवी जो महापुरुष हैं उनके वाक्यसे इनका ज्ञान होता है। परन्तु ज्ञान होता है परोक्ष-तत्काल और यह आत्मा जो है उसका अपरोक्ष ज्ञान होता है। जो जाग्रत्‌को जाननेवाला है, सुषुप्तिको जाननेवाला है—यह साक्षात् है, अभी है।

ज्ञानकी चार प्रक्रिया होती है एक तो वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे स्त्री है, पुरुष है आदि दूसरा परोक्ष ज्ञान जैसे नरक है, स्वर्ग है, पुनर्जन्म है। और तीसरा अपरोक्ष ज्ञान होता है जैसे जाग्रत् है, स्वप्न है, सुषुप्ति है, काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है। ये स्वर्गके समान परोक्ष भी नहीं होते और घट-पटादिके समान प्रत्यक्ष भी नहीं होते। ये जितनी देर मालूम पड़ते हैं, उतनी देर होते हैं। और जितनी देर होते हैं, उतनी देर मालूम पड़ते हैं। परन्तु आत्मा जो है इसका स्वरूप न घड़ा, कपड़ा, मेज, कुर्सीके समान प्रत्यक्ष है न स्वर्ग-नरकके समान परोक्ष है और न आने-जानेवाले काम-क्रोधादिके समान अपरोक्ष है—यह तो साक्षात् अपरोक्ष है क्योंकि कभी किसीका 'मैं' नहीं हो सकता।

आत्मा अविनाशी है। जिसके अभावका कभी अनुभव न हो उसीको अविनाशी बोलते हैं। यह बहुत उपयोगी ज्ञान है। मरनेके डरसे हम इतना घबड़ाते हैं। यह हमारे जीवनमें भय समाया हुआ है। मृत्युके भयसे मुक्त करनेवाला यह ज्ञान है। आप इसको बहुत आसानीसे, अनायास समझ सकते हैं कि मुझे अपने मरनेका अनुभव कभी होगा ही नहीं। आजतक कभी हुआ नहीं है।

यदि कभी भी यह अनुभव हुआ होता कि मैं मर गया तो आज हम कैसे होते? अत: उसकी हम केवल कल्पना करते हैं, इस शरीरको मैं मानकर। आप सोना हैं कि आभूषण? आभूषण हैं टूटेंगे, फूटेंगे। और यदि सोना है तो कभी वह पिघला हुआ द्रव हो जाता है, कभी वह चूरा हो जाता है, कभी वह सिल्ली हो जाता है, कभी वह आभूषण बन जाता है। शकल-सूरत बनती; बिगड़ती है किन्तु जो तत्त्व है 'अनारोपिताकार'। तत्त्व किसको कहते हैं? जिसमें शकल-सूरतकी कल्पना न की गयी हो-कल्पना माने सचमुचमें जानना होता है। शकल सूरत न गढ़ी हो जिसमें और चीज हो, उसको बोलते हैं 'तत्त्व'। आप वह तत्त्व है जिसमें शकल-सूरत बहुत-सी गढ़ी गयी

है, गढ़ी जा रही है और गढ़ी और गढ़ी जायेगी। आपका बचपन उसमें गढ़ा गया, जवानी उसमें गढ़ी गयी--बुढ़ापा उसमें गढ़ा जाता है—शरीरका छूटना, आना उसमें गढ़ा जाता है और आप बिलकुल अविनाशी रहते हैं।

पहली बात ध्यानमें रखनेकी है कि आप अपने कर्तव्यके पालनमें मृत्युका भय न रखें। आप मौतसे डर-डरके कोई काम न करें। आप अविनाशी हैं और अविनश्वर दृष्टिसे काम करें। यह इसका इलाज है। हनुमानप्रसादजी पोद्दारने गाँधीजीको एक चिट्ठी लिखी है कि हमारे मित्रको स्वप्न आया है कि 'आपकी मृत्यु निकट है। आप भगवान्‌का भजन कीजिये।' इसके उत्तरमें महात्मा गाँधीने लिखा है—आपने भगवान्‌का भजन करनेके लिए लिखा है वह तो ठीक है। राम-राम तो हमारी खुराक है। उसके बिना तो हम जी ही नहीं सकते हैं। मृत्युसे डरकर हम भगवान्‌का नाम लें यह बात हमको नहीं जँची। तात्पर्य यह कि आप अपने जीवनमें यह सोचकर मत डरिये कि हमारी मौत होनेवाली है—'पलटू तुम मरते नहीं साधू करो विचार।'

आकाशमें वायु है और वह जाता-आता है। आकाशसे बाहर वायुकी गति नहीं है। और आकाशसे बाहर क्या है? यदि हम हैं सो तो ठीक है, हमारे सिवाय और कुछ आकाशसे बाहर है तो केवल कल्पना है, उसका अनुभव नहीं हो सकता। आकाशके भी दो रूप हैं। एक वायुकी कारणता जिसमें वायु उत्पन्न होता है और एक केवल शुद्ध अवकाशात्मक। जो शुद्ध अवकाशात्मक है वह तो सद्वस्तुके अभिन्न है और जो कारणरूप आकाश है उसमें माया मिली हुई है। क्योंकि वायुके घूमनेसे ही उसको सिद्धि होती है। हमारे पूर्व मीमांसकोंने आकाशको प्रत्यक्ष माना है। कहते हैं कि चिड़िया जहाँ उड़ रही है वह प्रत्यक्ष दीख रहा है। इसलिए आकाश भी प्रत्यक्ष है। परन्तु चिड़ियाका उड़ना एक औपाधिक पदार्थ है, उसके द्वारा आधारका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वेदान्तियोंने उसका खण्डन किया।

अब आपको यह बात सुनाते हैं कि आकाशमें वायु झूला झूलता है—दाहिने-बायें, ऊपर, नीचे तिर्यक् गति है। वायुकी गति टेढ़ी है। वह लहराता हुआ चलता है। कभी चलता है, कभी नहीं भी चलता। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों है। आकाश निराकार है, उसमें गति नहीं है। चलना-फिरना आकाशमें नहीं है। आकाशकी गोदमें वायु है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—आकाश निराकार है, निर्विकार है, सम है, जरा उसके साथ चेतन जोड़ दो तो और मजा आजायेगा। वह आकाश नहीं चिदाकाश है। चेतन आकाश है। जड़ आकाश है, उसमें स्थितिसे गति उत्पन्न होती है, वायु उत्पन्न होता है। परन्तु जो चिदाकाश रूप परब्रह्म परमात्मा है वह चेतन कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। और उत्पत्तिका कारण भी उसमें नहीं हो सकता। अद्भुत लीला है। उसीमें यह वायु झूला झूल रहा है—लहरा रहा है! कभी-कभी नहीं भी लहराता है। आधार होना आकाशका लक्षण है और गतिशील होना वायुका लक्षण है। ऊष्म गरम होना यह अग्निका लक्षण है—तेजस्विता उसका लक्षण है—रूपको प्रकाशित करता है। और द्रव होना, शीतस्पर्श होना यह जलका लक्षण है। ठोस धरती है, गला हुआ पानी है, गरमी अग्नि है और गति वायु है—और इन सबका आधार आकाश। ये सब आकाशमें इतना उपद्रव करते हैं—वायु तो दौड़-धूप रहा है और आग जल रही है, पानी बह रहा है, धरती परिक्रमा कर रही है। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों। इसका अर्थ हुआ कि चार भूतोंसे बने हुए जितने भी पदार्थ हैं वे सब आकाशमें रह रहे हैं।

यह तो हो गया 'सर्वभूतानि'। अब दूसरी बात देखो। क्या आकाश जितना बड़ा है, उतनी बड़ी वायु है, उतनी बड़ी अग्नि है, उतना बड़ा जल है? उतनी बड़ी पृथिवी है? नहीं—इनका आयतन छोटा है। आकाशका आयतन बड़ा है। जिसका स्थान अधिक हो बोलेंगे अधिष्ठान। वायुकी अपेक्षा अधिक स्थान है। आकाशका। अग्निकी अपेक्षा भी, जलकी अपेक्षा भी, पृथिवीकी अपेक्षा भी बल्कि यहाँतक कि जब एक चीज हिलती-डोलती है तो आकाशसे उसका सम्बन्ध होना कठिन है। आकाश ज्यों-का-त्यों एक चीज चल रही है। चलनेका भाव भी चलनेका अभाव भी दोनों आकाशमें है। वेदान्तियोंकी बात आगयी यहाँ—क्या आ गयी?

वेदान्तमें बिलकुल न होनेका नाम मिथ्या नहीं है। जो हमारी इन्द्रियोंको मालूम पड़े और तत्त्वदृष्टिसे अलग न हो उसको वेदान्ती लोग मिथ्या बोलते हैं। तत्त्वदृष्टिसे वह वस्तु कहीं उससे सिद्ध नहीं होती। उसका अभाव भी उसीमें है और हमारी इन्द्रियोंकी दृष्टिसे मालूम पड़ती है। उसको सत्य नहीं कह सकते क्योंकि तत्त्वमें नहीं और उसको असत्य दोनोंको मिलाकर मिथ्या शब्दका प्रयोग होता है। घोड़ा अलग है, गधा अलग है। परन्तु दोनोंका मिश्रण खच्चर है। सत्य अलग है, असत्य अलग है। परन्तु दोनों का जो मिथुनीभाव है, दोनोंका जो मिश्रण है—उसको मिथ्या बोलते हैं। यह है मिथ्याका अर्थ!

जबतक हम देहको मैं समझकर इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा संसारको देखते हैं तबतक वह सत्य है और जब इस देहमें-से अभिमान निकल जाता है और परमात्मासे हम एक हो जाते हैं तब यह सृष्टि असत्य दीखने लगती है। असत्य माने न होना नहीं-जैसे आप असत्य भाषण करते हैं—कोई-कोई होंगे ऐसे जो असत्य भाषण नहीं करते होंगे। एक दिन बच्चोंने आपसमें शर्त लगायी कि जो सबसे बड़ा झूठ बोले वह इस कुत्तेको ले जाय। वे एक-दूसरेसे बढ़-बढ़कर झूठ बोल रहे थे। इसी बीच उनके बाप आ गये और बोले कि हमने तो अपने जीवनमें कभी असत्य बोला ही नहीं और तुम लोग असत्य बोलनेकी होड़ लगा रहे हो? बच्चोंने हाथ जोड़ लिये कि बापजी इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता—इसलिए आप इस कुत्तेको स्वयं ले जाओ!

असत्य भाषणका अर्थ यह नहीं है कि भाषण है ही नहीं। इसी प्रकार प्रपंचके मिथ्यात्वका जो वेदान्ती लोग वर्णन करते हैं—उसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी आँखसे दुनिया नहीं दिखती है या हमारी जीभसे वाणी नहीं निकलती है या कानसे सुनयी नहीं पड़ता है। अरे, कोई जब तुम्हारा शरीर है तो सारी दुनिया भी है। अपनेको शरीर मानकर यदि कोई वेदान्ती प्रपञ्चको मिथ्या बोलता है तो वह बिलकुल झूठ है।

हमारी ऐन्द्रियक दृष्टि—वायु आकाशमें घूमता है, परन्तु आकाश तो निरंश है। जिसमें अंश ही नहीं है, उसके कितने अंशमें वायु होगा!अच्छा आकाशसे पूछो कि हे आकाश, आपमें वायुका वजन कितना है, उम्र कितनी है? तो आकाशकी दृष्टिसे न वायुका वजन है, न उसके रहनेकी जगह है और न उम्र है। इसलिए आकाशकी दृष्टिसे वायु नहीं है और यदि हम इन्द्रियोंकी दृष्टिसे देखें तो हमारे शरीरमें आकर जो गुदगुदाता है, उसका नाम वायु है—जो हमारी सांसके रूपमें बाहर-भीतर आया-जाया करता है, उसका नाम वायु है और जो तिनकेको उड़ाकर ले जाता है, जो गरमीको शान्त करता है उसका नाम वायु है। तो व्यावहारिक दृष्टिसे वायु सत्य है और परमार्थ दृष्टिसे वायु असत्य है और दोनोंके मिश्रणका नाम हो जाता है 'मिथ्या'।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इसका उदाहरण है कि आकाशमें वायु है और आकाशकी दृष्टिसे आकाशमें वायु नहीं है। यह चिदाकाश है, चेतनाकाश है। तथा 'सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।' वैसे ही ये जितने भूतप्राणी हैं वे सब मुझमें हैं और मुझमें नहीं है। इसीसे भावाभाव दोनों होता है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।। 9.7

यह कल्पकी आदि है। कल्प एक कालका नाम है। परन्तु असलमें वह संकल्पका ही कल्प है। भगवान्के संकल्पका नाम काल है। 'कल्प' के साथ 'सं' जुड़ गया सो 'संकल्प' हो गया। ईश्वर दृष्टिसे ईश्वरके संकल्पके सिवाय और कालका नाम पदार्थ नहीं है। वेदान्तकी दृष्टिसे आत्मामें जो अपनी ब्रह्मताका अज्ञान है, उस अज्ञानकी वृत्तिके सिवाय काल और कुछ नहीं। माने तत्-पदार्थकी दृष्टिसे तत्-पदवाच्यार्थका संकल्प है काल और त्वं-पदार्थकी दृष्टिसे इसमें जो ब्रह्मपनेका अज्ञान है, उस अज्ञानको एक वृत्ति है काल।

नैयायिक और जैन लोग कालको द्रव्य मानते हैं। मीमांसक भी कालको द्रव्य मानते हैं। सांख्यमें महत् तत्त्वकी एक वृत्ति है काल। भूत, भविष्य, वर्तमान—सब, यह जो सृष्टिकाल है उसको कल्पकी आदि बोलते हैं और जो संहारकाल है उसको कल्पका अन्त बोलते हैं। भगवान् बोलते हैं कि यह जो सृष्टिका प्रवाह मुझमें बह रहा है इनका आवागमन होता है। ये कभी बनते हैं, कभी बिगड़ते हैं—कभी इनकी सृष्टि होती है और कभी प्रलय होता है। इसमें एक रहस्य है। मनुष्यको आकाशके समान निर्लेप रहना चाहिए। दुनियाकी किसी चीजको सच्ची समझकर उसमें फँस नहीं जाना चाहिए। आकाश सुगन्धित वायुसे, दुर्गन्धित वायुसे, शान्त वायुसे, विक्षिप्त वायुसे कभी अपनेको जोड़ता नहीं है। ऐसे—जीवन मनुष्यका कैसे रहे कि सृष्टि होवे, प्रलय होवे, आवे, जाय, रहे, न रहे अपने स्वरूपको न छोड़े।

दूसरी बात यह बतायी कि जो ज्ञानी है उसके लिए तो यह विक्षेपका विषय नहीं है और जो अज्ञानी है उसके लिए यह विक्षेपका विषय है। यह बात कैसे बतायी—'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम्'—कल्पक्षये—जब हम अपने संकल्पको शान्त कर देते हैं—तब ये सारे पदार्थ, सारे प्राणी मेरी प्रकृतिमें आकर लीन हो जाते हैं और जब कल्प संकल्पमें प्रारम्भ करता है तो फिर सृष्टि हो जाती है। अनेकसे एककी ओर सृष्टिका जाना प्रलय है और एकसे अनेककी ओर बिखरना सृष्टि है। संकल्पका विक्षेप सृष्टि है और संकल्पका संहार ही प्रलय है। जैसे बीज और वृक्ष होता है, जैसे प्रलय कालमें बीज शेष रहता है और सृष्टि कालमें वृक्ष जाता है। यदि केवल लय होनेसे परमात्माके साथ एक हो जाते हों तो अज्ञानकी भी मुक्ति हो जाये और यदि परमात्माके संकल्पसे ही सृष्टि बनती हो तो ज्ञानीका भी पुनर्जन्म होना चाहिए। प्रलय कालमें ज्ञानी भी बीजमें चले गये और सृष्टि कालमें निकल आये। और प्रलय कालमें अज्ञानी भी बीजमें चले गये।

बीजमें जानेसे और बीजमें निकलनेसे मुक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीना-मरना अथवा सृष्टि और प्रलयका मुक्तिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब भगवान्की प्रकृति है, आदत है। अपने शरीरको जैसे नट अनेक रूपमें कर लेता है वैसे यह भगवान्का क्रिया-कलाप है, लीला है। जैसे एक आदमी कभी सोना पसन्द

करता हैं, कभी अकेला ('कैवल्य माने अकेला')—हिन्दीमें अकेला शब्द केवल शब्दसे ही आया है। केवल व को पहले करके 'अ' बोल दो—अकेला हो गया) जब कभी मनुष्यको कुछ नहीं चाहिए—वह अपने पुत्रसे भी कह देता है—इस समय हमको विक्षिप्त उद्विग्न मत करो—शान्त रहने दो, सो ऐसा भगवान्का भी स्वभाव है। और कभी उसका मन होता है कि बच्चोंके साथ खेलें, पत्नीके साथ हँसी-खेल करे—अपने व्यापार क्षेत्रमें जाकर व्यापार करें-तो भगवान् थोड़ा मूडी है। यह उसका मूड ही है जो सृष्टि बनाता है और सृष्टि बिगाड़ता है-अपने आपको जरा-सा हिला देता है, सृष्टि बन जाती है। अपने आपको शान्त कर लेना है-प्रलय हो जाता है।

वाचस्पति मिश्रने लिखा है—ईश्वर सोया है—तो हमलोगोंकी साँस घड़घड़ाती है, वैसे उसकी साँस घड़घड़ायी और उसमें-से वेद निकले। जबतक वेद है तबतक ईश्वर जीवित है और ईश्वर चूँकि हमेशा जीवित है इसलिए वेद भी हमेशा जीवित है। केवल अपनी नाककी घड़घड़ाहट सुनकर ईश्वरकी आँख खुल गयी। नीदमें थे ही अपनी आँखोंका खेल देखकर मुसकान चेहरेपर खेल गयी सो स्त्री, पुरुष, बाल-बच्चे सब उसमें बन गये। फिर आँख बन्द कर ली और फिर सो गये। बोले, बस प्रलय! यह सब लीला कैवल्य ईश्वरका है। वह कभी अकेला सोना चाहता है तो प्रलय और कभी खेल देखना चाहता है तो सृष्टि, परन्तु यह उसकी प्रकृति है। प्रकृति माने प्रकृष्ट कृति उत्तम रचना। वेदमें तो ऐसे भी लिखा है कि एक दिन ईश्वरके मनमें आया कि कुछ गायें। जो वह कविता गाने लगा—उस काव्यका अर्थ सृष्टि बनता गया और संगीत उसमें रस भरता गया। 'पश्य देवस्य काव्यम्', इसका मतलब यह है कि किसी सामग्रीकी अपेक्षा ईश्वरको सृष्टि बनानेके लिए नहीं होती है—यह खेल है, उसकी एक लीला है, एक रंगमञ्च है और यह उसका अभिनय है। प्रलयके समय सब उसकी प्रकृतिमें मिल गये और सृष्टिके समय सब-के-सब निकल आये।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ 9.8

यह प्रकृति है, आदतकी लाचारी है, यह सहज स्वभाव है कि यह सारी सृष्टि पराधीन होकर प्रकट होती है। कभी भगवान् नयी-नयी सृष्टि दिखा देते हैं और कभी नयी-नयी सृष्टि समेट लेते हैं। यह उनका खेल है। कबड्डी खेलनेमें—खेलनेवाले मर जाते हैं और जाकर अलग बैठते हैं। वह सचमुच मरता नहीं है जिन्दा ही है। इसी प्रकार भगवान्की सृष्टिके खेलमें जो मरता है वह कभी मरता नहीं जिन्दा ही रहता है। यह भगवान्की लीला है—एक पार्ट मिलता है और एक पार्ट छूटता है—इतना ही है—यह अभिनय है, रंगमञ्च है। यही नियति कर दी गयी है। अब भगवान्ने अपना किसलिए बनाया क्यों बनाया? जो चीज हमारे कामकी नहीं हो उसको बोलनेकी तकलीफ भगवान् क्यों उठावेंगे? स्वयं तो जानते हैं परन्तु बोलेंगे क्यों? बोलेंगे इसलिए कि हमारे किसी कामकी वह बात होगी! इसीसे हमारे पूर्वमीमांसकोंने तो ऐसा माना है कि वेदके जिस मन्त्रसे हमारे लिए कोई मन्तव्य नहीं निकलता है वह निरर्थक है।

'आम्नायस्य'—वेद हमारे कर्तव्यका उपदेश करनेके लिए है—इसलिए वेदके जिस वचनसे हमारा कोई कर्तव्य नहीं निकलता वह निरर्थक है। ऐसा बोलते हैं कि ये हमारे कर्तव्यकी प्रशंसा करनेके लिए है। और है

हमारे लिए तो बोले—भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं—'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। आप सृष्टि बनाइये और सृष्टि बिगाड़िये। लेकिन सृष्टि बनानेके साथ आप मत बन जाइये। सृष्टि बिगाड़िये परन्तु आप बिगड़िये मत। आपकी भी तो सृष्टि है न! आप जो काम करते हैं, उस कामके साथ आप अपना बनना बिगड़ना मत जोड़िये। आप अलग रहिये। वहाँ हाथ डालिये जहाँसे आप खींच सकें। ये हमको किसीने बताया था। आजकलके व्यापारकी तो दूसरी गति है। हमको चालीस वर्ष पहले एक व्यापारीने बताया था कि हम महाराज व्यापार करते हैं तो सारी पूँजी नहीं लगाते हैं व्यापार न चले तो हम अपनेको तो बचा सके न! अब तो लोग बताते हैं कि व्यापारमें लोग अपना पैसा बहुत कम लगाते हैं, दूसरोंका ही लगाते हैं—चाहे आवे चाहे न आवे।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ ९.९

भगवान् कहते हैं— मैं सृष्टि बनाता हूँ और बिगाड़ता हूँ; लेकिन हमारा हाथ मैला नहीं होता।

'निबध्नन्ति धनञ्जय'—ऐसी एक असंगताका लेप चढ़ा लो। इसका मतलब दलबदलू नहीं है कि जो दल हारने लगे उसको बदल लो। भगवान्ने अपना बताया। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। हे धनञ्जय—शब्दकी वैसे संज्ञा जो है वह अग्निके लिए है। धनञ्जय अग्निका नाम है। तुम अग्नि स्वरूप हो। ये पास-पड़ोसकी वस्तुएँ—जिनको तुमने अपने साथ जोड़ रखा है, इनके साथ रहो मत।

धनञ्जय शब्दकी एक संज्ञा तो है धनञ्जय अग्निकी और दूसरी संज्ञा है धनञ्जय प्राणकी। प्राणके दस विभाग होते हैं। प्राण, अपान, उदान आदि उनमें-से जो एक सूक्ष्म प्राण हैं—उसका नाम धनञ्जय है और वह मुर्देमें भी रहता है। यदि मुर्देमें वह प्राण नहीं रहे तो शरीरके जो अवयव हैं, वे चिपके न रहें आपसमें। वे भी बिखर जायेंगे। शरीरके अवयवोंको चिपका हुआ रहनेके लिए धनञ्जय होता है। इस प्राणके न रहनेसे भी रहता है, अपानके न रहनेसे भी रहता है—उदान-व्यान समानके न रहनेसे भी रहता है। सर्वव्यापी धनञ्जय वह व्यापक प्राण है। वह वायुसे एक होकर रहता है। तुम धनञ्जय हो। तुम यह समझते हो कि हम जो कर्म करेंगे वे मेरे साथ जुड़ जायेंगे। नहीं—ये कर्म तुम्हारे साथ जुड़ेंगे नहीं—तुम अपने स्वरूपको पहचानो।

उसने तो अपनी बात बता दी—मथुरामें पैदा हुआ उसको छोड़ दिया। गोकुलमें खेला, उसको छोड़ दिया और वृन्दावनमें नाटक किया था उसको भी छोड़ दिया और मथुरामें राज्यकी स्थापना की उग्रसेनके लिए, उसको भी छोड़ दिया। द्वारकामें इतनी लीला की, उसको भी समुद्रमें डुबा दिया। समुद्रमें डूब गयी द्वारिका!

तो; यहं श्रीकृष्णके लिए बनाना और बिगाड़ना बड़ी बात नहीं है। आप कोई भी काम कीजिये खेलकी तरह कीजिये—हम लोगोंने बचपनमें कितने हाथी, कितने घोड़े, कितनी स्त्री, कितने पुरुष गाँवमें मिट्टीसे बनाते थे और तोड़ते थे। एक सेठके घरमें देखा तो उनके लड़के मोमसे, आटेसे, खिलौना बनाते थे। एक खिलौना बनाते, उसको देखते फिर बिगाड़ देते। आप लोगोंने भी जरूर किया होगा; क्योंकि यह बचपन का स्वभाव है।

यह भगवान्की खास जिम्मेदारी नहीं है, वे वैसे ही बनाते-बिगाड़ते रहते है। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'—अपने ही बनाये हुए जालेमें फँस जाना यह बुद्धिमान् आदमीका काम नहीं है। स्वयं तो

अपने कर्म बनाया और फिर बोले कि अब तो ऐसा फँस गये बाबा कि इसको छोड़ ही नहीं सकते। असलमें छोड़नेका जो सामर्थ्य है वह बना रहना चाहिए—त्यागका सामर्थ्य नहीं खोना चाहिए। 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु'—ये जो कर्म हैं वे मुझे नहीं बाँधते हैं। भगवान्ने अपने लिए बताया अग्निस्वरूप धनञ्जय तुम भी ऐसे ही बनो—तुमने धनका उपार्जन तो बहुत किया है। धनञ्जय—माने जो जीत-जीतकर धन लाया हो। यह संज्ञा होनेसे ही धनञ्जय शब्द बनता है। नहीं, जो धनञ्जय बन जावे—'धनानि जयति इति धनञ्जयः'। यह किसीके लिए भी शब्दका प्रयोग होगा, लेकिन जब धनञ्जय शब्दका प्रयोग होगा तो अर्जुनके लिए होगा। सबको धनञ्जय नहीं बोल सकते। यह संज्ञा शब्द है। इसको व्याकरणकी दृष्टिसे—यहाँ जो न पर बिन्दु है वह केवल संज्ञा अर्थमें ही होता है। चाहे अग्निकी संज्ञा है, चाहे प्राणकी संज्ञा है, चाहे कुन्तीपुत्रकी संज्ञा है—धनञ्जय—तुमने धन तो बहुत उपार्जन किया है लेकिन क्या—दिग्विजय तुम्हारे हाथ रही है? यह धन तुम्हारे साथ रहा है?

आओ, अपने किये हुए कर्मसे तुम स्वयं अपनेको बाँधो मत। जैसे वह तुम्हारा बनाया हुआ है वैसे ही तुम उसको छोड़ भी सकते हो। इसका दृष्टान्त—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।' मैं उदासीन हूँ। खेल करनेमें दिलचस्पी भी है, खेलते भी हैं; पर ऐसा खेल नहीं खेलते हैं कि उसमें सचमुच मर जावें। 'उत् उर्ध्व आसीनवत्'—जैसे किसी नदीमें आयी बाढ़ और एक आदमी पहाड़की चोटीपर खड़ा, बैठा, लेटा देख रहा है कि नदीमें बाढ़ आ रही है। क्या हुआ? उदासीन होगा। 'उत् ऊर्ध्व आसीनः'। जो ऊपर बैठा है उसका नाम हो गया उदासीन। 'उदिति ब्रह्म नाम'। ब्रह्मका एक नाम है उत् क्योंकि उससे उत्, ऊर्ध्व कोई नहीं है। सबसे ऊर्ध्व होनेसे, ब्रह्मका एक नाम है उत्। वह ब्रह्ममें बैठ गया।

जैसे जीवनसे मुक्त पुरुष ब्रह्ममें बैठ करके और सबसे मुक्त रहता है, वैसे मैं स्वभावसे ही बैठा हुआ हूँ। लोकमें जैसा जीवन्मुक्त तुमने देखा है। एक अलीगढ़के पास महात्मा थे। उनका नाम था दूल्हा बाबा। लोग बड़ी श्रद्धा करते थे। एकके बेटेका ब्याह था। रातको उन्हें जेवर पहना दिया—लड़कीको जो देना है—चढ़ाना था सो आपको पहले पहना देते हैं—पवित्र करते हैं। वे पहनाकर चले गये। दूसरे कोई रातमें आये, वे उतार ले गये। अब उन्होंने आकर कहा—महाराज, हमारा जेवर? बोले भाई कोई पहना गया—कोई उतार ले गया। न हम पहनाने वालेको पहचानते हैं—न उतारनेवालेको पहचानते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष—कोई आवे कोई जाय। यह उनकी मर्यादा होती है। 'आगच्छ, गच्छ, तिष्ठति'। आइये-आइये, जाइये-जाइये और रहिये-रहिये। ये तीनों बातें जीवन्मुक्तमें नहीं होती है—अया-आया—गया-गया—रहा-रहा।

जैसे जीवन्मुक्त पुरुष सृष्टिमें रहते हैं—किसीने प्रणाम किया किसीने गाली दी। किसीने चन्दन लगाया, किसीने धूल फेंक दी। किसीने गलेमें रस्सी डाल दी, किसीने माला डाल दी—ज्यों-के-त्यों। भगवान् कहते हैं—तुमने देखा है जीवन्मुक्त पुरुष सृष्टिमें? बोले हाँ महाराज, देखा तो है—बोले वैसे ही मैं रहता हूँ 'उदासीनवदासीनम्'—दृष्टान्त जो होता है वह देखे हुएका होता है। जिसको वक्ता भी देख चुका हो, श्रोता भी देख चुका हो, वैसा दृष्टान्त होता है। संसारका दिया दृष्टान्त और बताया कि मैं ऐसा हूँ। मतलब है कि अर्जुन तुम भी ऐसे ही बनो। ऐसा बननेके लिए वह कौन-सा भाव है जो धारण करना चाहिए।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु-'असक्तं तेषु कर्मसु'। कर्मके साथ चिपको मत। सटो मत। किसी कामके साथ मत सट जाओ कि वह काम छूटे तो तुम भी छूट जाओ। किसीके साथ इतना मत हटो कि वह तुम्हारा दुश्मन होकर रह जाय। सटना और हटना दोनोंमें ही असंग व्यवहार होना चाहिए। यह असंगता शरीरसे नहीं होती है। आसक्ति होती है मनमें—मन यदि आसक्त है तो आपको दु:ख नहीं होगा। दु:खका अधिकरण-माने जहाँ दु:ख होता है वह जगह अन्त:करण है। सुख और दु:ख दोनों मनमें होते हैं। आसक्ति जहाँ होती है, उसके मिलनेपर सुख होता है और जहाँ आसक्ति नहीं होती द्वेष होता है, उसके मिलनेपर दु:ख होता है।

संसारमें आसक्ति न हो। सब करते चलो, करते चलो। और देखो बचपनसे अबतक पकड़कर रखा क्या है! बचपन कितना अच्छा था सब छूट गया। जवानी कितनी अच्छी थी, सब छूट गयी। हमारे माँ-बाप कितने अच्छे थे, उनकी याद आती है तो मनको बहुत अच्छा लगता है। लेकिन छूट गये। कहाँ हैं वह माँ, कहाँ हैं वह बाप! बहुत अच्छे थे। और कितने रिश्तेदार, नातेदार, सभी साथी, मित्र, कितने बढ़िया कपड़े और कितने बढ़िया मकान मिले और सब छूटते ही तो गये न! अनासक्तका अर्थ होता है अभिमान-शून्य। दुनियाकी किसी क्रियाको अपनी मत मानो। अभिमान मत करो। अभिमान-शून्य जो होता है उसको कर्म बाँध नहीं सकते।

भगवान्‌ने बताया 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। न मेरे मनमें अभिमान है और न मेरे मनमें आसक्ति है। मैं तो जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें रहते हैं ठीक उससे मिलता-जुलता अपनी जगहपर बैठ गया। कभी स्थानभ्रष्ट नहीं होता। बतलानेका मतलब यह है कि मनुष्यको अपना जीवन इसी ढंगसे निरभिमान होकर व्यतीत करना चाहिए। पुण्यका बड़प्पन नहीं आयेगा और पापके कारण जो हीनता आती है वह भी नहीं आयेगी।

उसको यह पश्चाताप नहीं होता कि यह अच्छा काम मैंने क्यों नहीं किया। मुझसे यह गलती क्यों हुई? बोले जहाँ अभिमान धारण करके बैठा है, वहीं गलतीके लिए पश्चाताप होता है और यही अच्छाईके लिए अभिमान होता है। अच्छाईमें भी ठीक समयसे सम्पन्न न हो तो पश्चाताप होता है। अच्छाई भी दु:ख देती है—बुराई तो करनेपर दु:ख देती है और अच्छाई न करनेपर दु:ख देती है। दु:खदायी दोनों ही हैं। इसलिए अच्छा—बुरा दोनों छोड़ो। आगे इस प्रसंगमें बतायेंगे—भगवान्‌को अर्पित कर दो। 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:'। अच्छाई, बुराई दोनों छोड़ोगे तो दोनोंके फलसे भी छूटोगे। और यह छोड़ना कैसे होगा? हाथसे होगा, पाँवसे होगा, जबानसे होगा—नहीं, अभिमान न रहनेपर होगा और अभिमान कैसे छूटेगा? जब परमात्मासे एक होकर बैठेंगे। परमात्मासे एक होकर रहो तो अभिमान काहेका? इस तरहसे आगे आपको सुनायेंगे कि संसारमें जो फँसे हुए लोग हैं वे कैसे फँसते हैं प्रकृतिके जालमें और महात्मा लोग कैसे प्रकृतिके जालसे मुक्त हो जाते हैं। बाहरसे महात्मा नहीं, भीतरसे महात्मा रहोगे तो तुम्हारे जीवनमें भय नहीं आयेगा। दु:ख नहीं आयेगा। हमारे इसी जीवनके लिए ये वस्तुएँ हैं। यह गीता मरे हुएके लिए नहीं है। भूत, भविष्यके लिए नहीं है, हमारे इसी जीवनको परमानन्दमें मग्न करनेके लिए यह गीता है।

●

प्रवचन : 4

एक सिद्धान्त ऐसा है कि सब वस्तुओंके परमाणु अलग-अलग होते हैं: पृथिवीके परमाणु, जलके परमाणु। परन्तु सांख्य सिद्धान्त कहता है कि कारणावस्थामें सब एक ही होता है। अलग-अलग कण नहीं हैं, सब कणोंको नचानेवाली और कणोंके रूपमें रहनेवाली एक मूलशक्ति है, उस शक्तिका नाम प्रकृति है। वही सबका मूल है। जितने भी अलग-अलग बीज हैं, अलग-अलग जीवोंके शरीर हैं, वे सब एक ही तत्त्वके विलास हैं और उसका नाम है प्रकृति।

जड़वादी लोग मानते हैं कि प्रकृति ही सारा काम करती है, प्रकृतिसे ही यह वायु चलती है, प्रकृतिसे ही सूर्य-चन्द्रमा बनते हैं, ये सब प्रकृतिका काम है। मनुष्यकी प्रकृति अलग, पशुकी अलग और मूलमें सारी प्रकृतियाँ एक हो जाती हैं। नास्तिक लोग सारा काम प्रकृतिका स्वीकार करते हैं और विज्ञानशक्तिकी एकताको स्वीकार करते हैं और इसीसे सारी सृष्टि बनती है, ऐसा मानते हैं।

हमारा दर्शनशास्त्र है यह प्रकृतिकी एक साक्षी-दशा चेतन स्वीकार करता है, जिसके सामने यह प्रकृति कभी शान्त होती है और कभी विक्षिप्त होती है। इसकी दो मुद्रा हैं। जैसे समुद्र कभी शान्त हो गया और कभी लहराने लगा। ऐसे प्रकृति कभी शान्त हो जाती है, कभी विक्षिप्त हो जाती है। पर इस सबको जाननेवाला एक पुरुष रहता है। वह नियन्त्रण तो नहीं करता परन्तु देखता है। वह दर्शक है। गीता ऐसी प्रकृति स्वीकार नहीं करती जो स्वतन्त्र हो। गीतामें जो प्रकृति है, उसका एक मालिक है। उसकी देखभाल करनेवाला है। यह बात आगेवाले श्लोक बतावेंगे।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.10-14

भगवान् बोलते हैं 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः'—अध्यक्ष शब्दसे तो आप परिचित हैं। कई बार कई सभामें, सोसाइटीमें अध्यक्ष हुए होंगे अध्यक्ष शब्दमें जो अक्ष है वह तो है इन्द्रियोंका कोटर। इस शरीररूपी वृक्षमें कुछ छेद हैं, कोटर हैं। यह कान, यह नाक, यह मुँह, जो छिद्र हैं—शरीरमें उनको बोलते हैं अक्ष। इसीमें-से किसीके

रास्ते कर्म होता है और किसीके रास्ते ज्ञान होता है। कानसे शब्दका ज्ञान होता है, आँखसे रूपका ज्ञान होता। जिस चामको हम चिकना सपाट करते हैं इसमें भी छिद्र हैं। वे आँखसे नहीं दीखते, पर यन्त्रसे दीखते हैं। उसीमें से पसीना निकलता है और बाहरके वातावरणका प्रभाव भी उन्हींमें-से जाता है। यह नासिका भी एक अक्ष है। जीभ भी एक अक्ष है। जीभमें भी छेद-ही-छेद है। कोई खटाई ग्रहण करता है, कोई मिठाई ग्रहण करता है। कोई नमक ग्रहण करता है। यह छिद्रोंसे सबका ज्ञान नहीं होता। सब जिह्वाके छिद्र हैं और रस ग्रहण करते हैं।

अब आप देखो, इन्हीं अक्षोंसे अलग-अलग जो चीज देखी जाती है, उसको प्रत्यक्ष बोलते हैं—'अक्षं अक्षं प्रति प्रत्यक्षं'। आँखके लिए अलग प्रत्यक्ष है। कानके लिए अलग प्रत्यक्ष है। जैसे कठपुतलीका खेल होता है और नचानेवाला पीछे बैठता है—वैसे इन सब अक्षोंको, इन्द्रियोंको नचानेवाला जो इनके ऊपर बैठा हुआ है, सबको नचाता है। उसका नाम होता है अध्यक्ष। सबके ऊपर वही नजर रखता है। अगर वह चेतन न हो तो आँख देख नहीं सकेगी, कान सुन नहीं सकेंगे, जीभ स्वाद नहीं ले सकेगी। कोई ज्ञान नहीं होगा और कोई कर्म नहीं होगा।

अगर कोई नजर रखनेवाला न हो तो काम ठीक नहीं होता बल्कि काम करनेवालेसे देखभाल करने-वालेको निपुण होना चाहिए। महाराज रोटी बना रहा हो, गये घूमते हुए—तुम रोटी ठीक नहीं बेल रहे हो तो—कह देगा कि कैसे करें? लो तुरन्त बेलन हाथमें, लेकर बढ़िया रोटी बेल दो, तब तो तुम्हारी देखभाल चलेगी।

आजकल तो साहित्यमें कृतित्व बहुत चलता है। गतिके साथ तो 'प्र' जोड़कर प्रगति बना देते हैं लेकिन कृतिके साथ 'प्र' जोड़कर प्रकृति नहीं बनाते। वह शब्द ऐसा ही है। परमेश्वरकी सर्वोकृष्ट रचनाका नाम प्रकृति है और यह परमेश्वरकी प्रकृति है कि वह कभी बनाता है, कभी बिगाड़ता है। जैसे मनुष्य कभी एकान्तमें रहता है, कभी लोगोंमें रहता है। वैसे भगवान्का मन जब अकेले होनेका होता हैं तो अपने बनाये हुए जालेको, इन्द्रजालको समेट लेता है और जब खेलनेका मन होता है तब इस प्रकृतिके जालको फैला देता है और उससे खेलता है।

सांख्य दर्शनमें जैसे द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग है वैसे वेदान्त दर्शनमें द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग नहीं है। वे कहते हैं—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' परमात्माका ही एक नाम प्रकृति है। जब जड़ताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो प्रकृति बोलते हैं और चेतनताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो ब्रह्म बोलते हैं। असलमें वस्तु एक ही है, जो अंगरूपसे कारणका चिन्तन करते हैं, उसके लिए वह प्रकृति है और जो स्वरूप रूपसे कारणका चिन्तन करते हैं उनके लिए वह ब्रह्म है। दृष्टिकोणका ही अन्तर है।

जैसे एक सोनासे तरह-तरहके जेवर बनते हैं, एक मिट्टीसे तरह-तरहके बरतन बनते हैं, एक लोहेसे तरह-तरहके सामान बनते हैं। इसी तरहसे एक परमात्मासे यह सारी सृष्टि बनी हुई है। इसीसे यहाँ बताया कि 'सूयते सचराचरम्'—यह प्रकृति सचराचर जगत्की—जिसमें चलने-फिरनेवाले भी हैं और न चलने-फिरनेवाले भी हैं।

लेकिन इसी तत्त्वका वर्णन जब तेरहवें अध्याय में दिया तो कहते हैं कि—यहाँ जहाँ हम बैठे हैं यहाँसे

चराचरकी सृष्टि हुई है और ब्रह्ममें जब बैठते हैं और देखते हैं कि चराचर मैं ही हूँ। इसलिए केवल दृष्टिकोणका अन्तर है। ब्रह्म और प्रकृतिमें कोई तात्त्विक या मौलिक अन्तर नहीं है।

उपनिषद्का सिद्धान्त यह है कि भगवान्की मायाका ही एक नाम प्रकृति है। वह चेतन होनेपर भी जड़ दीखने लगता है। जड़ता है वह दिखायी पड़ती है और चेतन है परन्तु वह दिखायी नहीं पड़ता। इसलिए प्रकृति माने एक माया, एक जादूका खेल और यह वस्तुत: सब परमात्माका स्वरूप है। इसी मायाके अनेक रूप हैं।

भगवान्को नृत्य बहुत प्रिय है। संगीत भी प्रिय है। गाते तो स्वयं हैं ऐसा वेदमें वर्णन है। भगवान् बहुत बढ़िया गाते हैं। अपने अनेक नाम रख लेते हैं। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह बालक है, यह बालिका है, यह पशु है, यह पक्षी है—अपने ही अनेक नाम रख लेते हैं और बड़े प्रेमसे गाने लगते हैं। और जैसा-जैसा गाना गाते हैं—वैसा-वैसा बनता जाता है। यह विश्व क्या है? भगवान्का संगीत है। उनके संगीतमें वह शक्ति है, जो नाना रूप, नाना रंग-रूप, नाना आकृतिकी सृष्टि कर देता है। यह भगवान्का संगीत है और जहाँ संगीत बन्द किया, तन्मय हो गये—लीन हो गये—वहाँ सृष्टि गयी। ये नचा रहे हैं—अपनी अँगुलीको जैसे कोई नचावे। अपनी आँख नचानेका जो अभ्यास होता है जैसे वैसे ही भगवान् नचाते हैं इस सृष्टिको।

भगवान्की नर्तकीका नाम माया है। भगवान्की नर्तकीका नाम प्रकृति है। नचानेवाले भगवान् हैं—'*जग देखन तुम देखन हारे। विधि हरि संभु नचावन हारे।*' ये जो भक्तोंके भगवान् हैं ये तो नचाते भी हैं और नाचते भी है। लेकिन नाचते हैं मायाके साथ। 'रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचत निज प्रतिबिम्ब निहारी।' अपने प्रतिबिम्बको देखकर नाचते हैं। स्वयं देखनेवाले हैं—स्वयं नाचनेवाले हैं। यह सब भगवान्की लीला हो रही है।

'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।' 'जगद् वर्तते, जगत् परिवर्तते' इसमें दो उपसर्ग हैं वि और परि तथा वर्तते। वर्तते तो है क्रियापद और वि और परि हैं उसके उपसर्ग, जो वर्ततेके अर्थको बदलते हैं। उपसर्ग धातुके साथ लगाया ही इसलिए जाता है कि क्रियापदके अर्थको बदल दे। देखो हार—'हृ' धातुसे घञ् प्रत्यय कर लाने, हर लानेके अर्थमें है—तो विहार, संहार, परिहार, उपहार, आहार ये सब एक-एक अक्षर अलग उपसर्गके जोड़े और आहार हो गया, उपहार हो गया, विहार हो गया, संहार हो गया, परिहार हो गया। एक ही धातु है उपसर्ग उसके अर्थको अलग-अलग कर देता है। तो यह जगत् बरत रहा है। अब बरत रहा है तो बदलो—'परिवर्तते' परिवर्तन हो रहा है। बचपन गया, जवानी आयी—जवानी जायगी बुढ़ापा आवेगा। जीवन जायेगा, मृत्यु आयेगी। यह सपनेकी तरह सारी सृष्टि बदलती रहती है। क्यों बदलती रहती है? यह सृष्टि नाच-नाचकर बदल-बदलकर, कभी इशारेसे अपनी ओर बुलाती है और कभी इशारेसे हटाती है। यही तो मृत्युकी मुद्रा है न!

नृत्यकी मुद्रा यही है, कभी आँखको टेढ़ी कर दी और कभी सीधी कर दी। प्रेमकी चालका नाम नृत्य है। यह जो माया नदी है, यह जो प्रकृति नदी है, यह परमेश्वरके सामने नाचती है और नचानेवाले सूत्रधार वही हैं। 'उमा दारु जोसित की नाई। सबहिं नचावत राम गोसाई'। जैसे कठपुतलीको—यह जड़को नचानेका वर्णन है—काकभुशुण्डिजीने कहा मर्कटके समान जीवोंको नचाते हैं। और शंकरजीने कहा कि नहीं-नहीं चेतन तो दूसरा कोई है ही नहीं—'*उमा दारु जोसितकी नाई। सबहिं नचावत राम गोसाई।*' काकभुशुण्डिजीके ज्ञानसे

शंकरजीका ज्ञान। थोड़ा ऊपर रहता है। अब आपको सुनायें—इस सारे चराचर जगत्‌में केवल परिवर्तन नहीं है—क्या है? विपरिवर्तन है। विपरिवर्तन माने विरुद्ध परिवर्तन। विरुद्धं परिवर्तते। जैसा परिवर्तन नहीं है वैसा मालूम पड़ता है। परमात्मा तो है ज्यों-का-त्यों। प्रकृति है ज्यों-की-त्यों। स्त्रियोंके जेवर जल्दी-जल्दी बदल जाते हैं तो सोना तो ज्यों-का-त्यों रहता है। उसकी कीमत बढ़ती जाती है। पर सोना ज्यों-का-त्यों रहता है। सोनेमें जेवर क्या है? परिवर्तन है। नहीं; तत्त्वका परिवर्तन नहीं है—नाम रूपका परिवर्तन है। सोना था, वह पहले कड़ेके रूपमें था। फिर उसको कंगन बना दिया। उसकी अंगूठी बनवा दी। उसका कुण्डल बना दिया। तो नाम तो बदल गये, उसकी शकल-सूरत बदल गयी। लेकिन सोना तो सोना ही रहा। सोनेके वजनमें कोई फरक पड़ गया क्या? वजन ज्यों-का-त्यों। असल वजनका फरक न माटीमें पड़ता है न पानीमें, न तेजमें, न वायुमें, न आकाशमें—तत्त्वके वजनमें कभी फर्क नहीं पड़ता। वह घटता, बढ़ता मालूम ही पड़ता है। मरता भी कुछ नहीं। आदमीके मरनेसे क्या माटी मर जाती है? माटी-माटीमें गयी। पानी-पानीमें गया। गरमी-गरमीमें गयी। आसमान-आसमानमें गया। हवा-हवामें गयी। मरना तो कुछ है ही नहीं।

मृत्यु न जड़की होती है न चेतनकी। एक माया ही है—मनुष्य शकल-सूरतको पकड़कर बैठ गया है। जेवर बनोगे तो टूट जाओगे और सोना रहोगे तो बने रहोगे। इतनी-सी वेदान्तकी बात है। तुम अपनेको जेवर मानते हो कि सोना? यदि स्वर्ण मानते हो तो टूटोगे नहीं—गल जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। चूर-चूर हो जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। और यदि तुम अपनेको नाम-रूप अँगूठी मानते हो तो टूट जाओगे। इस प्रकार जिसने आपको ब्रह्म मान लिया उसका टूटना बन्द हो गया। तो, 'विपरिवर्तते। विरुद्धं परिवर्तते। यत्र परिवर्तनं नास्ति तत्रैव परिवर्तनं प्रतीयते।' जहाँ परिवर्तन नहीं है, वहीं यह परिवर्तन मालूम पड़ता है।

भगवान्‌ने अपनी ओर नजर खींची। भगवान्‌का काम यही है कि अपनी ओर नजर खींचे। वैसे वेदान्ती लोग एक बहुत बढ़िया बात बोलते हैं। वे कहते हैं कि शब्दके द्वारा जिसका वर्णन किया जाता है—वह सच्चा हो कि झूठ हो, सचका भी वर्णन किया जा सकता है, पर जो वर्णन करने वाला है, वह सत्य ही होता है। जो बोलेगा तो है इसमें तो कोई शंका नहीं , लेकिन जो बोला जायेगा वह है कि नहीं, इसमें शंका हो सकती है। वचनसे वक्ताका आस्तित्व सिद्ध होता है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि ये जो तुम हमको देख रहे हो, मैं मनुष्य नहीं हूँ। यह मनुष्यका आकार है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। 9.11

यह मनुष्यका आकार है, मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैंने तो मनुष्यका आकार ग्रहण किया है। अब जो लोग अपनेको आकार समझते हैं वे मायाके चक्करमें फँस जाते हैं। और जो अपनेको इस आकारमें भी निराकार अनुभव करते हैं, उनका न जन्म है, न मरण है। न जाना है, न आना है, न उसमें पाप है न पुण्य है, न स्वर्ग है न नरक है। यह तो जब शकल-सूरतवाले बनते हैं तब वे पापी होते हैं—पुण्यात्मा होते हैं, जिसने अपनेको शकल-सूरतके नाम रूपसे उठा लिया—हुलिया तो दो ही तरह की होती है एक तो नाम लिखा जाता है—अमुक नाम है, अमुकका

वेटा है—और एक ऐसी नाक है, ऐसा मुँह है, ऐसी आँख है—इन्हीं दोनोसे चोर पकड़ा जाता है। चोर पकड़नेके लिए उसका नाम पता चाहिए और शकल -सूरतकी हुलिया चाहिए। इस दुनियाँमें पकड़ा वही जायेगा जो अपना नामरूप रखके फँस जायेगा। और जो अपना नाम-रूप छोड़ देगा वह कभी पकड़ा नहीं जायेगा। उसके पकड़नेके लिए कोई रजिस्टर ही नहीं है। न यमराजके घरमें है, न कहीं बाहर है।

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।' पहलेके लोग मूढ शब्दका प्रयोग करते थे। क्योंकि परमात्माकी प्राप्ति मूढ़को नहीं होती—अमूढ़को होती है। 'गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत्'—जिसके अन्दर मान नहीं है, मोह नहीं है, जिसमें मोह है उसीका नाम मूढ़ है। मूढ़ किसको कहते हैं? जिसका चित्त सत्यकी ओरसे विमुख हो गया है, विपरीत हो गया है। सत्यका तो अनुभव होता है। और असत्यके साथ मोह होता है। उसको हम छोड़ नहीं सकते। यह जो संसारमें मूढ़ हो गये हैं, अटक गये हैं— कोई आकारमें अटक गये हैं तो कोई विकारमें अटक गये। अपने-अपने संस्कारमें अटक गये—देखो मुसलमानका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह मूर्ति तोड़ने लग गया। हिन्दूका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह नमाजके समय वहाँ जाकर बाजा बजाने लगा। यह दोनो अपने-अपने संस्कारोमें मूढ़ हो गये। भी मूढ़ हैं ये भी मूढ़ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह ये जो विकार हैं चित्तके; उनमें मूढ़ होकरके चोरी-बेइमानी करते हैं। पर स्त्रीकी ओर बुरी नजर करते हैं। ये विकारमें मूढ़ हैं। और कोई पहलवान है, जरा गोरी चमड़ी है, सुन्दर है, तो वह आकारमें, रेखाओंमें मूढ़ है। यह क्या है? नाकमें सुन्दरता काहे की है? एक रेखा! रेखाओंसे बने हुए आकार। रेखा काहेसे बनी है? बिन्दु-बिन्दुसे और बिन्दु क्या है? शून्य है। शून्यमें बिन्दु है और बिन्दुमें रेखा है और उन रेखाओंसे बनी चीजमें हम मूढ़ हो जाते हैं। उसको सच्ची समझ लिया। उसको सुखदायी समझ लिया—वह मूढ़ हो गया।

जो मूढ़ नहीं होता है सृष्टिमें उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। अब जब भगवान् मनुष्यका शरीर लेकर आये तो लोगोंने—जैसे हमारा शरीर वैसे ही उसका शरीर ऐसा समझा। अरे बाबा सोनामें और मिट्टीमें बहुत फर्क होता है। एक मिट्टीकी शकल है, हड्डी, मांस, चाम अपनेको मानते हैं और उनमें मूढ़ हो रहे हैं। और एक अपनेको परिपूर्ण ब्रह्म चेतन जानता है उसमें स्थित है। हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रकी पुड़ियाको जानते हैं, मानते हैं, उसीमें मूढ़ होते हैं। परन्तु भगवान् अपनेको चैतन्य, साक्षात ब्रह्म रूपमें जानते हैं।

अर्जुनने उनको पहचाना—तुम्हीं ब्रह्म हो, साक्षात परब्रह्म परमात्मा तुम्हीं हो। ये मूढ़ लोग मेरा अपमान करते हैं। असलमें जिनकी सृष्टि परमाणुओंसे बनती है, प्रकृतिसे बनती है, शून्यसे बनती है, वे लोग श्रीकृष्णको अवतार न मानें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन जो लोग यह जानते हैं, अनुभव करते हैं कि आत्मचैतन्य ही सारी सृष्टिके रूपमें दीख रहा है, उनके लिये तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है। वे श्रीकृष्ण श्रीविग्रहका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? उनकी तो चिद् दृष्टि है। वे चेतन हैं, वे आनन्द हैं। 'रसो वै स:।'

'अवजानन्ति मां मूढा: मानुषीं तनुमाश्रितम्।' क्यों अपमान करते हैं?

'परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' असलमें जितने भूत हैं— पृथिवी, जल, वायु, आकाश, प्रकृतिपर्यन्त—इन सब भूतोंका महेश्वर, अध्यक्ष मैं हूँ। अध्यक्षका एक और मजेदार अर्थ होता है। 'अधि

अक्षिणी यस्य'। अधि माने जो बुद्धिहीन लोग हैं उनकी देखभाल करनेके लिए नियुक्त किया जाता है। जो बुद्धिमान होगे वे बिलकुल ठीक-ठीक काम करेगें। तो जिनको बेवकूफोंका सरदार बनाया जाता है— अधीश्वर है, अधीश, अध्यक्ष है। नहीं तो जो सर्वज्ञ है उसे मालिककी जरूरत नहीं पड़ती है। अज्ञको ही मालिककी जरूरत पड़ती है।.जहाँ लोग नियन्त्रण शून्य होते है वहाँ नियन्त्रण करनेके लिए अध्यक्षकी जरूरत होती है। अनुशासनरहित हैं तो अनुशिष्ट करनेके लिए अध्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है। 'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' ये सम्पूर्ण तो भूतसृष्टि है, उसका मैं महेश्वर हूँ और मैं पर भाव हूँ। माने हूँ तो सबका आत्मा सबकी सत्ता परन्तु जो नाम-रूपमें फँसी हुई सत्ता है, नाम-रूपमें फँसा हुआ जो भाव है वह मैं नहीं हूँ।

इसका नतीजा क्या होता है? इसकी परिणति कहाँ है? जो चीज नहीं है उसको सच मान करके फँस गये। वह कभी सटेगी तो कभी हटेगी भी। कभी आयेगी कभी जायेगी। जो फल लगता है पेड़में वह गिरता है। जो आग जलती है वह कभी-न- कभी बुझ जाती है। जो पैदा होता है वह मरता है। यह नियम है जो भी जीयेगा वह मरेगा। लेकिन जीवन-मरणसे रहित जो तत्त्व है उसको जान लो तो न जीवन है, न मरण है। उस परमात्माको जानो। अब बोले-उसको तो नहीं जानते हैं, जानते हैं छोटी-छोटी चीजको ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ 9.12
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13

अब यही भेद बताते हैं कि संसारमें क्या स्थिति हो रही है लोगोंकी—ईश्वरकी ओरसे नहीं—अपनी ओरसे विमुख हो रहे हैं। दुनियाँको जाना अपने आपको नहीं जाना। और देखो अपनी योग्यताको जाने बिना कोई काम करोगे तो उसमें विफलता मिलेगी। आप यह नहीं समझ सकते कि कितना वजन उठा सकते हैं। अपनी योग्यता पता नहीं है। और एक क्विटल उठानेको जाओगे— नहीं उठेगा तो विफलता मिलेगी कि नहीं। आशा थी कि हम इसको उठाकर ले जायेंगे। असलमें जिसे लड़कीका व्याह करना होता है तो लड़की भले ही काली हो, कुरूप हो, अनपढ़ हो, हम कोशिश यही करेगे कि जो सबसे सुन्दर लड़का हो, धनी हो , स्वस्थ हो, उसीके साथ विवाह हो। ऐसा नहीं होता है तो दु:ख हो जाता है। हम सोचते हैं यह व्यापार करेंगे इसमें इतना लाभ हो जायेगा। नहीं होता तो दु:खी हो जाते हैं। तो अपनी योग्यता, अपनी शक्ति, अपनी अवस्था, अपनी परिस्थिति इनका सबका विचार करके तब काम करना होता है। ताड़के ऊपर तो फल लगा है और बौना हाथ उठाता है तो कहाँ तक हाथ उसका पहुँचेगा? ये जो लोग संसारमें ही मूढ हो गये—उनकी आशा तो होती है बड़ी-बड़ी और योग्यता और शक्ति होती है बहुत कम तो क्या होगा? उनकी आशा व्यर्थ हो जाती है।

आशावान जो है उसको थोड़ा-थोड़ा दुख जरूर रहेगा। यदि वह युवा है, उत्साही है, अपनी आशाको पूर्ण करता है तो बात दूसरी है। लेकिन अपने अन्दर जो अमृतकी धारा बह रही है उसकी ओर न देखकर

आशा दूसरी ओर देखती है। उनकी आशा व्यर्थ गयी। मोघाशा मोघकर्माण: संसार तुम्हारे हाथमें रहेगा ऐसी तो आशा मानते हैं। और संसारको पानेका करते हैं—प्रयत्न। उनका ज्ञान है झूठा और बेहोशी छायी हुई है। और फिर अपनी आशा पूरी करनेके लिये क्या करते हैं—राक्षसी प्रकृति-जो बेमतलब दूसरेको तकलीफ दे। आसुरी प्रकृति- मतलब पूरा करनेके लिए , स्वार्थ पूरा करनेके लिए जो दूसरेको कष्ट दे और जो बिना स्वार्थके भी दुसरेको कष्ट दे वह राक्षसी प्रकृति।

वह कौन है? बोले 'प्रकृतिं मोहिनीम्'—बेहोश हैं बिचारे। तमोगुणी हैं। उनको कुछ पता ही नहीं हैं कि हम दूसरेको तकलीफ दे रहे हैं या अपनेको आराम दे रहे हैं। वे तो तोड़फोड़में ही लगे रहते हैं। उनको न अपने हितका ज्ञान है न पराये हितका ज्ञान है। राष्ट्रका हित कहाँसे करेंगे? वे तो अपनी पार्टीका भी हित नहीं करते हैं। अपने व्यक्तिका भी हित नहीं करते हैं—अपनेको भी बदनाम कर देते हैं। 'मोघज्ञाना विचेतस:'। दूसरेको तकलीफ देनेवाले—जिनकी सेवा करनी चाहिए उनको ताप पहुँचानेवाले—भलेमानुषको कष्ट देनेवाले और स्वयं अपनेको भी कष्टमें डालनेवाले, वे न मानवताका हित करेंगे, न विश्वका हित करेंगे, न राष्ट्रका हित करेंगे—न अपने समाजका हित करेंगे। वे तो 'स्वयं नष्ट: परान् नाशयति'—स्वयं तो गये और दूसरोंको भी मारनेमें लगे हुए हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतस:।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता:।। 9.12

अब देखो यहाँपर प्रकृति शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं। तामसी प्रकृति अलग होती है और दैवी प्रकृति होती है। किसीका स्वभाव दिव्य होता है और किसीका स्वभाव आसुर होता है। अपने स्वभावको वशमें रखना, इसको पौरुष बोलते हैं।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रश्न है—शूरता क्या है? उद्धवजीने श्रीकृष्णसे पूछा—वीरकी वीरता क्या है? शूरकी शूरता क्या है? शौर्य क्या है? वीर्य क्या है? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—स्वभाव! जो अपनी आदतोंपर विजय प्राप्त कर लेता है वह वीर पुरुष है। अरे भाई, हमारी यह आदत पड़ गयी है। आदत पड़ गयी है तो डाली हुई तो हैं न! जैसे डाली वैसे छोड़ दो। एक दिन तुमने आदत डाल ली थी। हमने ऐसा भी देखा कि 2-3 दिन कोई काम लगातार करते हैं और उनसे पूछो कि ऐसा क्यों करते हो? तो कहते हैं—हमारी तो आदत पड़ गयी तो तीन दिनमें कोशिश करके छोड़ दो। असलमें ये जो संस्कार होते हैं, ये विकारकी जो आदतें हैं उनको रोकनेके लिए ही संस्कार किये जाते हैं। बाल उग जाते हैं शरीरमें तो उनका संस्कार करते हैं। उनको काटकर, बनाकर, तेल-फूलेल लगाकर अच्छी तरह चिकना-चुपड़ा करते हैं। इसका नाम संस्कार होता है।

यह संस्कार तीन तरहका होता है। जैसे तुम्हारे बाल रुखे हैं तो दोष है। उनको चिकना करके दोष दूर करो। आजकल हमने देखा है स्त्रियोंकी बात तो हम नहीं जानते—हम तो पुरुषोंकी जानते हैं। खेती करवा लाते हैं अपने सिर पर—बालोंकी खेती होती है। जैसे धान रोपते हैं, खेतमें ऐसे सिर पर बालोंको रोपा जाता है और यह देखनेमें बिलकुल क्यारी-की-क्यारी लगती है। अच्छा नहीं है बाल तो क्या बात है अपनेको संस्कृत रखो।

बिखरे हुए हैं तो ठीक कर लो। आपके जीवनमें, आपके मनमें कोई बिखराव है तो संस्कार करके उसको ठीक कर लेना चाहिए।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14

जल्दी-जल्दी यह पार करलें—अब तत्वका निरूपण कम है। अब भगवान्‌की भक्तिका निरूपण है। उनकी उपासना कैसे करनी? क्योंकि तत्त्वमें जैसे कोई बाजारमें कपड़ा खरीदने जाये तो यह सूत कौन-सा है इसपर दृष्टि कम जाती है। डिजाइन देखते हैं। डिजाइन देखने वाला ठगा जाता है। उसका तो मौलिक तत्त्व देखना चाहिए । आपने तो यह तो देखा ही नहीं कि सोना है कि पीतल है कि ताँबा है। उसकी धातु नहीं पहचानी। मूल वस्तुकी धातुकी पहचान है उसका नाम तो होता है तत्त्वज्ञान और केवल उसकी शकल, सूरत, डिजाइन—देखा चाम बहुत सुन्दर है—पर भीतर क्या है?

सोनेका घड़ा है ठीक है पर उसके भीतर है क्या—अमृत है कि दूध है कि शराब है? यह तो देख लेना चाहिए? जो राक्षसी, आसुरी और मोहनी प्रकृतिके आश्रित है उनसे विलक्षण है।

महात्मानस्तु—'तु' शब्दका जो प्रयोग है वह पहले जो वर्ण किया गया है उससे भिन्न है—वह ऐसा है, वह ऐसा है और यह तो 'वह' से विलक्षण है। 'महात्मानस्तु।' महात्मा बोलते हैं जिसका मन महान हो। आत्मा माने मन—आत्मा माने शरीर नहीं और जिसका आत्मा महान हो। 'महान् आत्मा = तस्य वसुधैव कुटुम्बकम्'। जो किसी घेरेमें बँधे हुए नहीं हैं। इतनी महान् आत्मा है कि एक देशके सैनिकको नहीं, विश्वके सैनिकको अपना हाथ समझता है। एक परिछिन्न दृष्टिको नहीं—समग्र मानवताको अपनी दृष्टिसे देखता है। यह प्रान्तीयता आयी, जातीयता आयी, साम्प्रदायिकता आयी और असलमें वह राष्ट्रीयता भी अच्छी नहीं है जो मानवताके विरुद्ध होती है।

अखिल विश्वमें जो मानव सृष्टि है उस मानवताके विरुद्ध अपनी राष्ट्रीयता पड़ती है तो वह भी नमस्कार करने योग्य होती है। वह एक व्यामोह है। कहाँ घेरा बनाया? पाकिस्तान हिन्दुस्तानके बीचमें कोई नदी बह गयी? कोई समुद्रकी खायीं आ गयी? कोई पहाड़ आगया? मन ही तो है। जिन्होंने पहले कराची देखा है, लाहौर देखा है, ढाका देखा है, उनके भीतर वह संस्कार बना हुआ है कि यह हमारा देश है—सारा एशिया हमारा है। सम्पूर्ण विश्व विराट् हमारा है। उसको बोलते हैं महात्मा।

एक महात्माओंका आश्रम है—बड़ा विशाल। उसमें जो गुरुजी थे मर गये। उनके दो चेले थे। उनमें हुई लड़ाई। निर्णयमें ठीक मन्दिरके सामने—हनुमानजीका बड़ा भारी मन्दिर है—उसके सामने एक दीवार खिंच दी गयी। दीवारके इधर वो रहते हैं। दीवारके उधर वो रहते हैं। अब यह कोई महात्मा लक्षण थोड़े ही है कि हनुमानजीके सामने दीवार बनाके, उधरसे तुम पूजा करो, इधरसे हम पूजा करें।

'महात्मानस्तु मां पार्थ'—महात्मा माने समग्र विश्व जिसका आत्मा है। जैसे अपने शरीरमें ही कहीं नाखून है गड़नेवाला, तो कहीं आँख है प्यार करनेवाली, मुस्कान है प्यार करनेवाली, कहीं रसरक्त है तो कहीं मलमूत्र है। परन्तु है सब अपना आपा। वैसे ही समग्र विश्वसृष्टिमें जो अच्छा है—जो बुरा है सब अपना स्वरूप है। अपना दिल कभी नहीं बिगाड़ना चाहिए। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो—पार्थ = परमेश्वरः अर्थःप्रयोजनं यस्य।' जो परमेश्वरको चाहता है उसका नाम है पार्थ । जो पृथाका पुत्र है उसका नाम है।

हे परमेश्वर चाहनेवाले अर्जुन सुनो! महात्माओंकी बात तुमको सुनाता हूँ। पहली बात यह है कि अपने जीवनमें दैवी प्रकृतिको धारण करना है। दैवी प्रकृति है क्या? दैवी संपदा। मा शुचः संपदं दैवीं अभिजातोऽसि पाण्डवः। शोक मत करो। तुम्हारे जीवनमें दैवी सम्पति है। दैवी सम्पति क्या है? अभयं—साँचको आँच क्या? अगर तुम परमात्माके स्वरूप हो तो तुम्हें डर किसका है? तुम्हारा कौन क्या ले जा सकता है? जितना परमात्माने तुमको दिया है वह कोई छीन नहीं सकता है। अभय शब्दका अर्थ है—किसीको भयभीत करे नहीं और स्वयं भयभीत होवें नहीं। किसीको डरावे नहीं और स्वयं डरे नहीं। सब वस्तु—चिद्वस्तु अपना स्वरूप है। अन्तःकरण शुद्ध रखे। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः'। और ज्ञानके अनुसार—ज्ञानयोगमें अपनी स्थिति हो। दैवी सम्पतिका कई प्रकार है। यह महात्माओंके जीवनमें रहती है। और क्या करते हैं? 'भजन्त्यनन्यमनसो '—अनन्य मनसा होकर, अन्यमना नहीं। एक आदमीको रोटी खिलाते हैं— उधर देख रहे हैं। उनसे बात कर रहे है—देख रहे हैं कहीं—बात कर रहे हैं किसीसे, दो तरफ मन बैठ गया।

यह शिष्टाचार है कि जिससे बात करना है, उनकी ओर देखकर बात करें। जिसकी रोटी परसे—जरा प्यारसे, आँखसे देखकर, रोटी पटके नहीं। कहीं दाल, कहीं साग, कहीं चटनी। ऐसा नहीं ! 'अनन्यमनसा' माने मनको कई जगह नहीं करना। अनन्य भावसे परमात्माका भजन करना। अनन्य भावसे भजन होगा कैसे? कितनी चीजें दिख रही हैं। हमको यह पेड़ दिख रहा है, चिड़िया दिख रही है, स्त्री दिख रही है, पुरुष दिख रहे हैं तो मन अनन्य कैसे होगा? 'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।' सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें जो तत्त्व मैं हूँ, परमात्मा— वह कभी घिस नहीं गया है, अव्यय है,ज्यों-का-त्यों वह सबके अन्दर मैं हूँ। नजर तुम्हारी वह चाहिए जो बाहर देखकर रह न जाये। भीतर तक पहुँच जाये। सबके भीतर परमात्मा है। यह ज्ञान महात्माको है कि सबके आदिमें, और अन्तमें अविनाशी परमात्मा है।

इसलिए नाम, रूप चाहे कोई भी हो मैं परमात्माको ही देख रहा हूँ। यह हो गया अनन्यमनसा। ऐसा मन तो नहीं बनता है। आओ ऐसा मन बनावें।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ 9.15

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

मैं क्या हूँ ? 'अनन्यमना' कैसे हों? जब सबमें भगवान्‌को देखोगे तब अनन्यमना हो जाओगे। 'अनन्यमना' माने परमात्माके सिवाय और कहीं मन जावें नहीं। यह देखो श्याम, यह देखो श्याम। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। सब परमात्माका स्वरूप। एक श्लोकमें भगवान्‌ने अपने बारह रूप बताये।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

पृथिवी बनकर आपको ऊपर उठाये हुए हैं—पानी बनकर आपको तर करते हैं। गरमी बनकर आपके टेंपरेचरेको ठीक रखते हैं। कभी-कभी चढ़ उतर जाता है। वही साँस बनकर हमारे शरीरको जीवन देता है। यही हमारे शरीरमें अवकाश है। यही हमारे शरीरमें ज्योति हैं। जहाँ देखता हूँ वहाँ तुम्हीं तो हो। परमात्माका दर्शन कैसे होगा? 'सततं कीर्तयन्तो मां'—कीर्तन करो—'कीर्तन शब्दने'—यह कीर्तन शब्दका आजकल जो अर्थ प्रचलित है कि 'ढोलक बजाओ जोर-जोरसे गाओ' यह तो महाराज, खुदा जब बहुत दूर होता है—सातवें आसमानमें होता है, तो वहाँ तक तुम्हारी आवाज पहुँच जाय इसके लिए बड़े जोरसे चिल्लाते हैं। कीर्तन शब्दका अर्थ होता है 'कीर्तन शब्दने'। कीर्त धातुका अर्थ है सं शब्द अच्छे शब्दोंमें किसी वस्तुका वर्णन करना। 'संकीर्तनं भगवतो गुण कर्म नाम्ना'—भगवानके गुणका, चरित्रका, नामका संकीर्तन बड़े प्रेमस करो, मधुर स्वरसे । बाबा, वह इतना सुकुमार है भगवान कि उसके लिये कड़ी आवाजकी तो जरूरत ही नहीं है। ऐसा सुमधुर संगीत कि उसके कानमें गुदगुदी पैदा हो जाये, इतने मधुर स्वरमें बोलो। 'सततं'—हमेशा, आज बड़ी धूप निकली है, आज बड़ा अन्धेरा छाया हुआ—आज बड़ी गरमी पड़ रही है और दोनोंको मालूम है। यह नहीं कि किसी एकको मालूम है, दूसरेको बताना है। बतानेकी क्या जरूरत है? अरे कहो न देखो भगवानकी लीला—कल ठण्ड डाल रहे थे, आज गरमी डाल रहे हैं। उसमें भगवान्‌को जोड़ो। 'सततं कीर्तयन्तो मां।' कोई भी प्रसंग हो उसमें परमात्माका कीर्तन जोड़ लो।

हमारे चैतन्य महाप्रभुवाले सततं शब्दका अर्थ दूसरा करते हैं—लगातार नहीं—'सतत वीणादिकं वाद्यं' बाँसुरी लो, वीणा लो, सितार लो और उस पर भगवत्कीर्तन कर लो। 'सततं कीर्तयन्तो वीणादिकं वाद्यं यन्त्रं'— सततंका अर्थ है तार टूटने न पावे। देखो जब सूतसे वस्त्र बनाते समय एक सूत टूट जाता है तो मशीन बन्द हो जाती है। यदि परमात्माके साथ, अपने खजानेके साथ, अपने उत्सके साथ, अपने उद्गमके साथ, जो तुम्हारा सम्बन्ध है, वहाँसे जो रस्सी जुड़ी हुई है, यदि पावर हाउससे तुम्हारी बिजलीका सम्वन्ध नहीं रहेगा तो क्या होगा? बल्ब कैसे जलेगा। 'सततं कीर्तयन्तो मां'। तार जुड़ा हो। 'यतन्तश्च दृढव्रताः'।

●

प्रवचन : 5

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14

महात्माकी विशेषता क्या है? जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित हैं वे तो भगवान्का भजन नहीं कर सकते परन्तु जो महात्मा हैं वे दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। असलमें जो भगवानका आश्रय लेते हैं, उनमें दैवी प्रकृति प्रतिष्ठित होती है और जो दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं वे भगवान्का भजन करते हैं। बिना भगवान्के आश्रयके दैवी सम्पदा, दैवी स्वभाव नहीं हो सकता और बिना दैवी स्वभावके भगवान्का भजन नहीं हो सकता। यह दोनों एक साथ हैं। जैसे भागवतमें आता है कि मैंने अपने हृदयसे भगवान्का आश्रय लिया।

ब्रह्माजी बोलते हैं—मैंने अपने उत्कण्ठायुक्त हृदयसे भगवान्को पकड़ रखा है। अपने हृदयमें धारण कर रखा है। मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती। मेरा मन व्यर्थ चिन्तन नहीं करता। हमारा मन झूठमूठकी चीजोंमें नहीं जाता है। मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्गमें गिरती नहीं। इसका क्या कारण है? उत्कण्ठायुक्त हृदयमें एक ही अभिलाषा है। लाख-लाख रूपमें वह भगवान्की ओर आगे बढ़ता है। यदि संसारका कोई काम है, कर्तव्य है तो उसको पूरा करो परन्तु मनको व्यर्थ इधर-उधर भटकने मत दो। उसको भगवान्में लगा दो। भागवतमें यहाँ तक वर्णन किया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसीमें सारे सद्गुण आकर निवास करते हैं।

जिसके हृदयमें भगवानकी भक्ति है, अकिंचन भक्ति, उसको दूसरे किसी व्यक्ति या दूसरी किसी वस्तुका सहारा नहीं चाहिए। ये भक्तिके साथ दो लक्षण हैं—'अकिंचनो' मेरा कुछ नहीं है, सब तुम्हारा है। मुझे और किसीका सहारा नहीं है, तुम्हारा सहारा है। 'अकिंचनो अनन्यगतिः।' बस, अब आयी भक्ति हृदयमें। जिसके हृदयमें यह 'अकिंचन' भक्ति आ जाती है—'सर्वे गुणास्तत्र समासते।' देवता लोग कहते हैं—भाई यह भगवान्का भक्त है, यह मालिकका अनन्य सेवक है—मालिकका कृपापात्र है। हम लोगोंको इसकी सेवा करनी चाहिए। उसके हाथमें इन्द्र बैठकर अच्छा काम करवाते हैं और पाँवमें विष्णु बैठकर अच्छी जगह ले जाते हैं। गति विष्णु हैं गति माने सब कर्मोका जो फल है वह देने वाले स्वयं विष्णु । स्वर्गमें ले जावें, बैकुण्ठमें ले जावें, फल देने वाला विष्णु। सब देवता आकरके बैठते हैं और अकेले नहीं आते हैं, अपने गुणोंके साथ आते हैं। जिस कर्मसे इन्द्र इन्द्र बना है, वह सत्कर्म लेकर आता है। जिस वरोंसे वरुण बने हैं—वह आप्यायनी शक्ति। पृथिवी देवतामें जो धारणी शक्ति है वह हमारे अन्दर होनी चाहिए, उसे धारण करें। जल देवतामें आप्यायनी शक्ति है, सबको तर करना। तेजसमें प्रकाशिनी शक्ति है, सबको ज्ञान देना। वायुमें प्राणिनी शक्ति है, सबको जीवन देना, प्राण देना। आकाशमें व्यापिनी शक्ति है, सबको अपना आत्मा समझें। अपने साथ जैसा

व्यवहार करते हैं वैसा औरोंके साथ भी करनेका ध्यान रखते हैं। सब जितने देवता हैं—पृथिवी देवता, आपो देवता, अग्नि देवता, वायुर्देवता, ये सब देवता अपने-अपने गुणोंको लेकर उसके (भक्तके) जीवनमें बैठते हैं। जिसके जीवनमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है, उसके जीवनमें महान गुण नहीं आ सकते। कहाँसे आवेंगे? क्योंकि सब महान गुणोंके आगार तो भगवान् हैं। वे आवेगें तो सब गुणोंको लेकर आवेंगे। हमेशाके लिए आवेंगे।

जो अपने हृदयमें भगवान्‌को नहीं बैठायेगा वह मनकी मोटरपर बैठा और बुरी-बुरी जगह दौड़ करके जाता रहता है। 'मनोरथेन बहि:' घरमें उसका मन नहीं लगेगा। अपने हृदयमें वह नहीं रहेगा। आप बाहर क्यों जाते हैं? या तो घरमें कोई तकलीफ हो, जहाँ हम उद्विग्न हो जाते हैं या बाहर बहुत कुछ आराम मिलता हो, सुख मिलता हो तो जाते हैं। किसीके घरमें एअरकण्डीशन नहीं है। दुकानमें एअरकण्डीशन लगा है—तो दोपहरके समय एअरकण्डीशन दुकानमें चला जायेगा। या तो अपने घरमें कोई दु:ख है या बाहर सुख मिलता है। मनोरथेन—मनकी मोटर पर चढ़े और असत्य स्थान पर, जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ चले जाते हैं। और जिनके हृदयमें भगवान् हैं—भगवान्‌की भक्ति है उन्हें कहीं नहीं जाना पड़ता है। महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता:। देवताकी जो प्रकृति है, सम्पदा है, वह प्रकृति, वही सम्पदा हैं। माशुच:।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन दैवी सम्पदा प्राप्त हो गयी है— 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति:।' 'दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपमार्जवम्!' तीन ऊपर पहले जो हैं वे मानसिक है। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योगव्यवस्थिति:।' और दानं, दमश्च, यज्ञश्च, स्वाध्याय: ये बाहरके हैं। दान करो, मनको संयममें रखो, यज्ञ करो। यह दैवी सम्पदाकी पहचान है। महात्मा कौन है? जिसके अन्दर दैवी सम्पदा हो। ज्ञानी भी हो और उसमें दैवी सम्पदा न हो तो उस ज्ञानीको महात्मा नहीं मानेंगे। और कोई भजन-पूजन खूब करता हो और उसमें दैवी सम्पदा नहीं है तो भजन-पूजन करने वाला हो सकता है पर वह महात्मा नहीं हो सकता। खूब योगी हैं पर समाधिसे उठने पर आसुरी सम्पति उसमें आ जावे तो वह महात्मा नहीं हो सकता। वह योगी हो सकता है, महात्मा नहीं। भजन-पूजन करनेवाला हो सकता है, महात्मा नहीं। महात्मा होनेकी एक ही शर्त है कि अपने जीवनमें उत्तम गुण होने चाहिए।

इस गुणकी एक भूमिका बताते हैं। 'भजन्ति अनन्यमनस:।' अब महात्माकी तात्त्विक पहचान आयी। 'वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' बहुत जन्मके बाद ज्ञानवान होता है। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवति। तत: वासुदेव: सर्वमिति मां प्रपद्यते। अनेक जन्मसे सिद्ध होने पर ज्ञान प्राप्ति होती है और ज्ञानकी प्राप्ति होने पर वासुदेव: सर्वम् इति मां प्रपद्यते। सब कुछ परमात्मा है यह अनुभूति होती है। 'स महात्मा सुदुर्लभ:।' वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। अब देखो जब तक सब परमात्मा, वासुदेव नहीं होगा तब तक भजन अनन्य मनसा होगा ही नहीं। अनन्यमनसा तभी हो सकता है, जब भगवान्‌से अन्य कुछ न हो। जब तक अन्य रहेगा तबतक अन्यमना होगा। जब अन्य नहीं रहेगा तो अनन्यमना होगा।

गीतामें इस अनन्यताकी चर्चा अनेक बार की है। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना:'—इसी अध्यायमें

आनेवाला है। 'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यश: ।' पहले आ चुका है। भगवान्‌का भजन करो। एक बात आप देखो कि आप चाहते क्या हो? जिस चीजको आप चाहते हो उसमें महत्त्वबुद्धि है कि नहीं। बिना महत्त्वबुद्धि हुए, उस चीजको कीमती माने विना आप उसको चाहेंगे कैसे? और जब उसकी इतनी कीमत मानें कि पानेके लिए व्याकुल हों। जिसमें महत्त्व बुद्धि होगी, और उसको पानेके लिए आप घर, मजहब, ईमानदारी, बेईमानी स्वीकार करेंगे। इसलिए भक्तिका अर्थ है कि आपके जीवनमें जो महत्त्वबुद्धि है वह भगवान्‌के प्रति हो जाय। बिना भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि सर्वोपरि हुए भक्ति प्रकट नहीं होगी। पहले यह देखो कि आपके अर्थसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपकी कामनापूर्तिसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपके धर्मानुष्ठानसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। मोक्षदाता प्रभु मोक्षकी अपेक्षा भी महान् हैं। जब भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि होगी, भगवान् ही सबसे अधिक कीमती वस्तु हैं, वैसा मूल्यवान पदार्थ सृष्टिमें और कोई नहीं है।

अब आपके सामने विकल्प आ गया। क्या आप भगवान्‌के लिए संसारकी बेईमानी छोड़ते हैं? चोरी छोड़ते हैं? जारी छोड़ते हैं?, हिंसा छोड़ते हैं? आप भगवान्‌को छोड़ते हैं? एक ओर आपको झूठसे, बेईमानीसे, चोरीसे, जारीसे मिलनेवाली चीज है और एक ओर भक्तिसे मिलनेवाले भगवान् हैं तो आप अपने हृदयमें क्या रखना पसंद करेंगे? भगवान्‌की भक्ति रखना पसंद करेंगे कि दुनियाके लिए अपने चित्तको विक्षिप्त करना, मलिन करना, दूषित करना पसंद करेंगे? इसलिए अनन्यमना होकरके, क्योंकि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। सद्‌गुणको अपने जीवनमें धारण करनेकी यही युक्ति है— सर्वत्र भगवद्दर्शन।

एक बात और आपको सुनाता हूँ — असलमें सद्‌गुण बहुत प्रिय है। जिस शान्तिसे असत्य छूटता है उस शान्तिका नाम सत्य है। असत्यको छुड़ानेवाला है सत्य। यह तो ठीक है परन्तु बोलनेका नाम सत्य नहीं है। मौन भी तो एक सद्‌गुण है! और वह तो मानसिक तप है—मौन! 'भावसंशुद्धि'—किसी प्रसंगमें आप मौन रह सकते हैं या बोलते-ही-बोलते जायेंगे तो झूठ जरूर बोलेंगे। निरर्थक जरूर बोलेंगे। मौन धारणका भी सामर्थ्य होना चाहिए। असत्यसे बचानेवाला मौन है और उसका नाम शान्ति है।

इसीसे मुण्डकश्रुतिके भाष्यमें आचार्यने सत्यका अर्थ सत्य बोलना नहीं लिखा। उन्होंने लिखा, असत्य भाषणका परित्याग। परित्याग तो मौनमें भी होगा और सत्य भाषणमें भी होगा। असत्यका त्याग शान्ति है। और चोरीका त्याग भी शान्ति है। हिंसाका त्याग शान्ति है। परिग्रहका त्याग शान्ति है और कामवासनाके उद्रेकका त्याग शान्ति है। असलमें आप अपने हृदयमें जो वस्तु शान्ति देती है उसको पकड़ लें तो चाहे कुछ हो, चाहे घीका घड़ा ढरक जाय हम तो अपने हृदयको शान्त रखेंगे—अशान्त नहीं होने देंगे। हमारे हृदयकी प्रसन्नता, हमारे हृदयकी निर्मलता खो न जाय। और कुछ ध्यान रखनेकी जरूरत ही नहीं है। आप इतना ही ध्यान रखो कि हमारे हृदयमें शान्ति बनी रहे। हमारा प्रसाद कोई छीन न ले जाय। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता।' हमारे हृदयकी निर्मलता, प्रसन्नता, शान्ति कहीं छिन न जाय। सारे सद्गुण आपमें निवास करेंगे और आपका मन अपनी आत्मामें जो कि परमात्माका स्वरूप है, उसमें स्थित रहेगा तब आप आत्मा नहीं, महात्मा हो जायेंगे।

आत्माकी सिद्धि विवेकसे होती है और परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है। लेकिन महात्मा कैसे होता है? स्वयंको महात्मा होना हो तो सद्गुण चाहिए। 'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।' इसके लिए परमात्माका ज्ञान आवश्यक है। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं उनका उत्स परमात्मा है। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं'—उसीमें-से सब निकलते और उसीमें सब लीन होते हैं। बस वह जान लो कि परमात्माके सब बच्चे हैं और सब परमात्माकी गोदमें हैं और अपने बच्चोंके रूपमें परमात्मा ही है। आप जहाँ देखेंगे—अच्छी-अच्छी शक्ल बनाकर आये हैं—स्त्रीके रूपमें तो, पुरुषके रूपमें तो, पेड़-पौधोंके रूपमें तो, कहीं कोई अन्य है ऐसा मन बनता ही नहीं।

अच्छा, अब उसकी प्राप्तिके लिए कायिक, मानसिक, वाचिक व्यापार—संस्कृत भाषामें व्यापार माने वाणिज्य नहीं होता है। मन, वचन, शरीर इनके द्वारा जो भी क्रिया होती है—व्याहृत उसको व्यापार बोलते हैं। संस्कृत भाषामें व्यापार शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयुक्त होता है। विशेष वह पालक और पूरक है। पाल जो अधूरेको पूरा कर दे। जिसके पास भोजन नहीं है उसकी विशेष रूपसे सम्पूर्ण भोजन पहुँचा दें—इसका नाम व्यापार है। और जो सूख रहा है उसको हरा-भरा कर दें, पोषण दे दें, पालन करें पोषण करें उसका नाम होता है पाल और विशेष रूपसे और पूर्ण रूपसे जो भरपूर कर दें लोगोंको, जिसके पास जो चीज न हो, उसके पास पहुँचा दे। तो यह शरीरसे, मनसे, वाणीसे जो हमारा व्यापार हो, जो भी क्रिया हो—वह भगवान्के लिए हो। अब व्यापार हो, जो भी क्रिया हो—वह भगवान्के लिए हो। अब व्यापार कीजिये—जिसके पास कपड़ा नहीं है, उसके पास कपड़ा पहुँचे और जिसके पास अन्न नहीं है, उसके पास अन्न पहुँचे। जिसके पास मकान बनानेकी सामग्री नहीं है, उसके पास मकान बनानेकी सामग्री पहुँचे। जिसके पास औषध नहीं है, उसके पास औषध पहुँचे। आपके व्यापारका नियम, अर्थ यह होता है कि अभावग्रस्त जो संसारके प्राणी हैं, उनके अभावकी पूर्तिकी जाय, उनको जीवनदान दिया जाय।

सबके लिए व्यापार कैसे होगा? जब भगवान्के लिए आपका व्यापार होगा। नहीं तो बहुत सीमित हो जायेगा। अपने सुखके लिए परिवारको भी छोड़ देते हैं। परिवारके सुखके लिए गाँवको छोड़ देते हैं। गाँवके सुखके लिए प्रान्तको छोड़ देते हैं। प्रान्तके सुखके लिए राष्ट्रको छोड़ देते हैं और राष्ट्रके सुखके लिए मानवताका ख्याल छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताको छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताकी अपेक्षा राष्ट्र छोटी चीज है। राष्ट्रकी अपेक्षा प्रान्त,प्रान्तकी अपेक्षा जिला, जिलेकी अपेक्षा गाँव छोटी चीज है। सम्पूर्ण विश्वको ध्यानमें रखकर हमको अपना काम करना है कि किसीको कष्ट न पहुँचे। यह कैसे होगा? हम तो सम्पूर्ण विश्वको ही नहीं जानते तब भगवत्-भावसे काम होगा? भगवान्के लिए जो काम हो जाता है वह सबके लिए हो जाता है। तो अपने हृदयमें शान्ति रखनेके लिए, प्रसन्नता रखनेके लिए, अपने हृदयको निर्मल बनानेके लिए, अपने हृदयमें पूर्णताको अभिव्यक्ति देनेके लिए भगवान्की भक्ति आवश्यक है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते। 9.14

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.15-18

वाह, क्या बढ़िया बात सुना रहे हैं। पहली बात तो यह है कि आप अपने जीवनमें कोई व्रत लीजिये। 'दृढव्रताः' जब कोई व्रत लेते हैं, तो उसको पूर्ण करनेके लिए—कभी-कभी कष्ट भी सहन करना पड़ता है। आपके अन्दर सहिष्णुता आजायेगी और नियम पालनके लिए आत्मबल आयेगा। मनोबल आयेगा। जब कोई काम आप संसारमें करेंगे तो आपको आत्मबल चाहिए—मनोबल चाहिए—'नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यः'। जो व्रत लिया, नियम लिया और जरा-सी तकलीफ होनेपर छोड़ दिया तो आपका मनोबल जो है, उसका ह्रास हो जायेगा। फिर आप कोई भी कठिन काम करनेमें समर्थ नहीं होंगे। नियम लिया और तोड़ दिया। जरा-सी कठिनाई अड़चन आयी, और तोड़ दिया। जो लोग अपने नियमका पालन नहीं कर सकते वे संसारमें कोई महान् कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि महान् कार्य करने जब चलेंगे तो विघ्न तो आयेंगे ही—'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'। अच्छा काम करनेमें विघ्न जरूर आता है। जरा-सा विघ्न आया और आप विचलित हो जायेंगे। उत्तम पुरुषका लक्षय यह है 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति'। बारम्बार उसके काममें विघ्न आते हैं परन्तु वह कोई उत्तम काम प्रारम्भ करके फिर उसको छोड़ते नहीं है। तो 'दृढव्रताः' यह बात है कि आपके जीवनमें दृढ़ नियम, दृढ़ व्रत होना चाहिए।

अब तो हमको यह हिसाब करना है, चाहे शरीर गिरे या काम पूरा हो। यहाँतक कि देखो भगीरथ गंगाजीको ले आये, तो एक पीढ़ीमें नहीं ला सके, दूसरी पीढ़ी, तीसरी पीढ़ीतक इसीमें लगे रहे और फिर गंगाजीको नीचे उतारकर उन्होंने छोड़ा। हिमालयमें-से पृथिवीपर ले आये। लोगोंके लिए अमृतका झरना, अमृतका स्रोत धरतीपर ले आये। एक पीढ़ी न सही, तीन पीढ़ी सही पर ले तो आये न! हमें भगवान्की भक्तिको अपने हृदयमें लाना है। इसके लिए शरीर, मन और वाणीसे—तीनों ओरसे सच्चिदानन्दको अपने जीवनमें बिठाना चाहिए। 'सततं कीर्तयन्तो मां'। प्रतिदिन, प्रतिक्षण लगातार—तार न टूटे। भगवान्का कीर्तन, भगवान्के स्वरूपका, उनके स्वभावका, उनके गुणका, उनके चरित्रका, उनके नामका, कीर्तन करना—अच्छे शब्दोंमें उनका उच्चारण करना। 'कीर्त संशब्दने' यह अपनी वाणी भगवान्के लिए लगे। नहीं लगती है—बीच-बीचमें बेमतलब कितनी बातें आ जाती हैं। 'यतन्तश्च' प्रयत्न करो। 'भक्त्या सततं कीर्तयन्तः' भक्तिसे भगवान्के स्वरूप, स्वभाव, गुण, चरित्र, नामका कीर्तन करो—एक बात। दूसरी बात नित्य योग, यह मानसिक

बात, नित्य योग न हो तो नित्य योगकी लालसा रखो। यह मानसिक प्रवृत्ति है और कायिक—शारीरिक क्या है?

'नमस्यन्त:' नमस्कार! देखो दुनियामें एक मजहब ही ऐसा है कि जो 'नमस् नमस् नमस् नमांसि' ईश्वरको नमस्कार करनेका है! श्रीरामानुजाचार्य तो कहते हैं कि चाहे कीचड़ हो, चाहे धूल हो, अपने शरीरकी परवाह किये बिना साष्टांग प्रणिपात करो। उसमें संसारका ध्यान रखनेकी कोई जरूरत नहीं है। 'नमस्यन्तश्च' ऐसा नमस्कार करो कि स्वयंको नमस्कार भी हो जाय। यह भी नहीं होता है, न तो नित्ययुक्त होता है— न तो सतत कीर्तन होता है और न तो नित्य नमस्यन्तश्च—यह क्या आश्चर्य है कि सततं है कीर्तनके साथ नित्ययुक्ता है युक्तके साथ और नमस्यन्तश्च मां भक्त्या और नमस्कार करो भक्तिसे। इसमें चाहिए व्रत।

वेदका मन्त्र है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणा।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

उसका अर्थ है, यदि जीवनमें कोई व्रत लोगे—ब्राह्मण लोग जब दक्षिणा लेते हैं यजमानसे तब इस मन्त्रका उच्चारण करते हैं। परन्तु केवल शब्दकी समता ही है इसमें—अर्थ तो दूसरा है। अपने जीवनमें कोई व्रत धारण करो। यदि व्रतमें कोई त्रुटि होगी, तुम्हारे करनेमें कोई गलती हो तो गुरु दीक्षा दे देगा कि यह काम ऐसे करो—यह करना चाहिए और जब कोई बतानेवाला मिल जायेगा, बता देगा तो दक्षिणा माने कौशल मिल जायेगा। वह काम करनेमें तुम्हें निपुणता मिल जायेगी।

जब कुशलतासे, चतुराईसे, निपुणतासे कोई काम करोगे तो उसमें श्रद्धा हो जायेगी। रस आ जायेगा। श्रद्धा वह वस्तु है जो सूखेमें भी रस भर देती है। और 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' जैसे ज्ञानका शास्त्रमें वर्णन है न; कि ज्ञानसे आत्माका साक्षात्कार होता है, ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वैसे श्रद्धासे सत्यका साक्षात्कार होता है। यह वर्णन है, 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' अपने जीवनमें चाहिए नियमकी दृढ़ता और सबकी सहायताके लिए चाहिए भक्ति और प्रयत्न। मुखसे कीर्तन, शरीरसे नमस्कार और मनसे दृढ़योग।

'सततं कीर्तयन्तो माँ'—सर्वसाधारण है। इसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। वाजपेय यज्ञ करना हो तो केवल ब्राह्मण कर सकता है। राजसूय यज्ञ करना हो तो केवल राजा कर सकता है और वैश्यस्तोम करना हो तो केवल वैश्य कर सकता है। लेकिन यह भगवान्की भक्ति ब्राह्मण करे या क्षत्रिय यह भेद नहीं है। मनुष्यकी दृष्टिसे कहो तो चाण्डाल भी कर सकता है।

भक्ति तो पेड़-पौधे भी कर सकते हैं। व्रजकी भक्तिमें यह वर्णन आता है कि कृष्णको देखकर लता खिलती है, पृथिवीको रोमांस हो जाता है और नदी स्थिर हो जाती है। पहाड़ोंसे मधुधारा गिरने लग जाती है। यह क्यों होता है? श्रीकृष्णके प्रेमसे! यह तो पेड़-पौधेके लिए बनायी गयी है। वहाँ गौएँ भी श्रीकृष्णको देखकर दूध झरने लगती हैं और पक्षी भी श्रीकृष्णको देखकर एकटक देखने लगते हैं। मोर भी नाचने लगता है। भक्तिमें अधिकारकी कोई समस्या नहीं है। कोई पापी हो—'अपि चेत्सुदुराचारो।' कुत्ता भी भगवान्की

भक्ति कर सकता है। यह सबके लिए है। जो भगवान्‌का बालक है, पुत्र है—जिसके स्वामी भगवान् हैं। अपने स्वामीकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने पिताकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपनी आत्मासे प्रेम करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने स्वामीकी हम सेवा करेंगे तो कोई कहेगा—तुम अधिकारी नहीं हो! अपने पिताकी कोई सेवा करेगा तो कोई कहेगा कि 'तुम अधिकारी नहीं हो'। इसीसे यह जो भक्ति है, यह प्रीति है—यह सबके लिए है। बल्कि यह बताया है कि जो यह भक्ति नहीं करता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है।

भागवतमें आया है कि हमारे पिता हैं परमेश्वर। वे हमारे स्वामी हैं। ईश्वर हमारे मालिक हैं। हमारा आत्मा है परमेश्वर। यदि हम उनसे प्रीति नहीं करेंगे तो जहाँतक हम पहुँच चुके हैं वहाँसे गिर जायेंगे। 'स्थानात् भ्रष्ट:' कुर्सी तो छिन ही जायगी, जेलमें भी जाना पड़ेगा। 'स्थानात् भ्रष्ट:' माने कुर्सी छिन गयी और जेलमें चले गये। तो उनसे प्रीति करना अपना कर्तव्य है। इसका अनुष्ठान भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते हैं। भक्तिकी एक ही प्रक्रिया नहीं होती। मालिकके चलनेके रास्तेमें, उनकी श्रीमतीके चलनेके रास्तेमें, उनके बेटेके चलनेके रास्तेमें, उनके सेवकके चलनेके रास्तेमें अगर कूड़ा-कर्कट हो तो उसको साफ करना भक्ति है कि नहीं? वह भी तो सेवा है न! रसोई बनाना, पानी भरना, पंखा झलना, संगीत सुनाना, वेद-पाठ करके सुनाना, पहरेदारी करना सब सेवा है।

श्रमका प्रकट रूप है सेवा। और प्रेमका बाप है विश्वास। जितना विश्वास होगा उतना प्रेम होगा। जितना प्रेम होगा, उतनी सेवा होगी। वह एक ही रीतिसे नहीं होती। भिन्न-भिन्न रीतिसे होती है। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।' ज्ञान-यज्ञ भी है और यज्ञ भी है। इसमें विशेषता क्या है कि एक तो होता है वेदान्तियोंका अद्वैतात्मक ज्ञान। उसमें क्रियाका समन्वय नहीं होता है। क्रिया परम्परासे समन्वित होती है। कर्म किया—अन्त:करण शुद्ध हुआ और अन्त:करणमें ज्ञान हुआ। वह एक प्रक्रिया अलग है और यह जो समग्र भक्तिकी प्रक्रिया है—उसमें रामानुज और मध्व, बल्लभाचार्य, समग्र शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर सब एक मत हैं। वे कहते हैं कि हमारा जो जीवन है इसमें कुछ कर्मेन्द्रिय हैं और कुछ ज्ञानेन्द्रिय हैं। केवल ज्ञानेन्द्रियसे जो काम होगा वह तो ज्ञान होगा और केवल कर्मेन्द्रियका जो कर्म होगा वह केवल कर्म होगा। पर जब एक शुभ उद्देश्यसे ज्ञान और कर्म दोनों एकमें मिल जावें तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो जायेगा। यज्ञ होनेसे कर्म हो गया और ज्ञान तो उसमें है ही। देखो, भगवान्‌को देखो, यह ज्ञान हुआ और भगवान्‌के लिए चलो, यह कर्म हुआ। जब भगवान्‌के दर्शनके लिए चले तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो गया। कोई भी मनुष्य चाहता है कि हम आँखको भगवान्‌में लगायें और हाथ न लगायें। कान तो लगायें पर जीभ न लगायें। जीभ लगायें पर कान न लगायें। ऐसा नहीं होगा। यदि परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करने जाओ तो प्रेम होता जायेगा और उसकी सेवा भी अवश्य होगी और सब परमात्माका स्वरूप है।

जो यह है वह भी भगवान् है और जो मैं हूँ वह भी भगवान् ही है। तब—'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।' भागवतमें लिखा है कि अपनेमें भी भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। वह कैसे? अपनेको ठीक

स्नान कराओ। ठीक वस्त्र पहनाओ। ठीक भोजन कराओ और अपनेको स्वस्थ प्रसन्न रखो। तब जैसे दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की पूजा होती है, वैसे अपने हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की भी पूजा करो। यदि अपनेको बहुत कष्ट दोगे तो अपनेको असुर बना लोगे। अपनेको सेवाके योग्य तो रखो। अपनेको सेवाके योग्य रखनेमें भी सेवा होती है। यदि अपनेको सुखाकर सेवाके अयोग्य कर दिया तो सामनेवालेकी सेवा भी नहीं हो सकेगी। श्रीमद्भागवतका कहना है, अपनेको हृष्ट, पुष्ट, स्वस्थ, प्रसन्न रख करके और फ़िर दूसरोंमें, सबमें भगवान्‌की सेवा करो। ज्ञान-यज्ञ चाहिए, ज्ञान भी चाहिए। आँखसे देखो, पाँवसे चलो।

श्रीकृष्णसे प्रेम करनेमें पेड़-पौधेके लिए भी मनाही नहीं है। दोनों एक साथ परमेश्वरके लिए काम करें। 'यजन्तो मां उपासते।' ज्ञान भी हो यज्ञ भी हो। यज्ञकी एक प्रक्रिया है। उसमें देना-लेना दोनों होता है। जैसे आप अग्निके सामने बैठकर हवन करते हैं तो आहुति तो देते हैं अग्निको और अग्निका जो ताप है—तेजस्विता है, उसको ग्रहण करते हैं अपने आप! दान और आदान दोनों ही यज्ञमें होता है। और उत्सर्ग नियम होता है। ऐसे आहुति देना, ऐसे व्रत करना, ऐसे पूजा करना, ऐसे रहना।

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है। पृथिवी यज्ञ करती है। इसके साथ कितना भी अन्याय करो, सह लेती है और भोजन सबको देती है। कोई गड्ढा खोद दे, थूँक दे, मल-मूत्र कर दे, लेकिन अन्न उसको मिलेगा ही। जलको आप कितना ही गन्दा कीजिये वह आपको मना नहीं करेगा—रस जरूर देगा। वायु आपको साँस देगा। सूर्य-चन्द्रमा बिना विश्राम किये प्रकाश, गर्मी और शीतलता दे रहे हैं।

हमारे जीवनका यज्ञ ऐसा होना चाहिए। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' किसके लिए यज्ञ हो—'मां यजन्तो' दान भी करे तो किसके लिए? बोले परमात्माके लिए—दान न गरीबके लिए है, न विद्वानके लिए। गरीबको दान करनेसे ज्ञानकी, धर्मकी, संस्कृतिकी रक्षा होती है। लेकिन गरीबमें जो है वह विद्वान्‌में भी है और विद्वान्‌में जो है वह गरीबमें भी है। गरीबका दान सत्प्रधान है और विद्वान्‌का दान चित्-प्रधान है, यह नाटकमें, संगीतमें दान है संगीत नृत्य वादनमें जो दान है, यह आनन्द-दान है। गरीबके प्रति जो दान है वह जीवनदान है। विद्वान् कहीं सृष्टिमें जीवित रहेगा तो फिरसे धर्म और संस्कृतिका झरना बहा सकता है। यज्ञमें दान होता है सद्‌गुणोंका आदान करना। अपने जीवनमें नियम निष्ठाको लाना । कष्ट सहिष्णुताको लाना। परन्तु उपासना भगवान्‌की करना।

'यजन्तो मामुपासते'। यह सब कुछ करें परन्तु करें भगवान्‌के लिए। तब इससे न तो अपने व्यक्तिमें अभिमानका उदय होगा और न तो दूसरेको हम एहसानमन्द बनायेगें। हमने तुमको दिया है नहीं, भगवान्‌को दिया है। हमने दिया है, नहीं-नहीं भगवान्‌ने दिया है। देनेवालेका हाथ उठानेवाला भगवान् है और लेनेवालेका हाथ रोपनेवाला भगवान् है। वही देता है और वही लेता है। बिचौलिएकी जरूरत भगवान्‌को नहीं है। स्वयं देते हैं, स्वयं लेते हैं। यह बात भागवतमें भरतोपाख्यानमें बिलकुल स्पष्ट है। भरतका देना—भगवान् दे रहे हैं। इन्द्रका लेना—बोले भगवान् ले रहे हैं। देवताका अन्तर्यामी भी भगवान् है और दाताका अन्तर्यामी भी भगवान् है। अन्तर्यामी ही अन्तर्यामीको देता और लेता है। इसमें अभिमानका कोई स्थान नहीं ही है।

'मां उपासते' उपासना कई तरहकी होती है। 'एकत्वेन, पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्'। अपने मैंको परमात्मासे मिला दो—एकत्व हो गया। जैसा अपनेसे प्रेम है, अपनी सेवासे, वैसे ही सबसे प्रेम, सबकी सेवा। मैं सेवक सचराचर रूप-राशि भगवंत'—यह पृथक्त्वेन। सूर्य भी वही है, चन्द्रमा भी वही है, भगवान् अष्टमूर्ति है, अष्टमूर्तिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और ऋत्विक ये आठ मूर्तियाँ भगवान्की हैं—आठोंकी सेवा करो। सूर्य-चन्द्रमाको आप अर्घ देते हैं। अग्निकी भी सेवा करते हैं, वायुकी भी सेवा करते हैं। इसका यह भी एक अर्थ है कि पृथवी, जलको गन्दा मत करो उसमें अपवित्र वस्तु मत डालो। वातावरणको दूषित मत करो। आकाशमें गन्दे शब्द मत भरो। यह भी भगवान्की सेवा है। 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा' अनेक रूपमें—माँके रूपमें, पिताके रूपमें सेवा करो। सब रूपमें यही हैं। बहुधा—सब रूपमें वही है।

बल्लभाचार्यने तो पुत्रके रूपमें भगवान्की सेवा की। यह आश्चर्य है। रामकृष्ण परमहंसने माँके रूपमें पत्नीकी उपासना की। अपनी पत्नी है न—माँ-माँ कर रहे थे पूजाकी सामग्री रखकर। और आकर उनकी श्रीमतीजी बैठ गयीं सिंहासन पर तब जगज्जननी जगदम्बा मानकर पूजा की।

कौन स्तव्य बड़ा है, कौन स्तव्य छोटा है, यह कहनेकी कोई आवश्यकती नहीं। एक परमात्मा सबमें पूर्ण है। बहुधा विश्वतोमुखम्। जल दो पीपलमें, तुलसीमें, बेलमें और कहो यह परमात्माकी पूजा है। पार्थिव लिंग बनाओ और उसपर चन्दन-अक्षत चढ़ाओ और कहो यह भगवान्की पूजा है। पत्थरकी मूर्ति हैं—लिंग है सब।

यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है, इसलिए इसको आप वहाँसे मत लीजिये। वहाँ तो ईश्वर निराकार है। वैज्ञानिक लोगोंको अभी ईश्वरका पता ही नहीं है। साइन्समें पूजा मत निकालो। दुसरे मजहबसे पूजा मत निकालो, अपना जो सिद्धान्त है कि सिवाय भगवान्के और कोई चीज नहीं है—वहाँसे पूजा निकालो—अब बताते हैं मैं क्या-क्या हूँ—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

इस श्लोकमें आठ बार अहं है—यह भगवान्के अहंको देखो—मैं तुम्हारे सामने हूँ देखो मुझे, देख लो मुझे। वैदिक रीतिसे कोई संकल्पपूर्वक यज्ञ करते हैं तो उस यज्ञके रूपमें मैं हूँ।

पहचान नहीं है भगवान्से, यही दोष है। पहचान हो तो देखो सब भगवान्। पिता, मातामें भी मैं ही हूँ। सबका माता सबका पिता। अब देखो जो माता है वह पिता नहीं है जो पिता है सो माता नहीं है। दोनो अलग-अलग होते हैं और भगवान् वह है जो माताका स्नेह और पिताकी शिक्षा, दोनों लेकर प्रकट हैं।

●

प्रवचन : 6

अपनी चित्तवृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। किस निमित्तसे होती है इसपर विचार करनेका कुछ अधिक कारण नहीं है। बाहर निमित्त कोई भी हो , पर हमारे हृदयकी वृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। क्योंकि निमित्त तो बाहर ही रह जाता है और वृत्ति तो हमसे लगकर बनती है। मनमें यदि भगवान् हो तो बाहर कैसे भी आयें।

एक महात्मा थे, उनकी ओर काला नाग बढ़ा आ रहा था। मौत सामने थी, वह कहते हैं— ओ हो, प्यारे से बिछुड़े बहुत दिन हो गया। उन्होंने हमको बुलानेके लिए अपना दूत भेजा है। एक महात्माके ऊपर शेर झपटा तो बोले कि यह देह हमको बहुत तकलीफ दे रहा था। बार-बार अपनेमें खींच लेता था। इसका अध्यास बड़ा प्रबल हो गया था। भगवान्ने इसे भेजा है। अब यह हमारे शरीरको खा जायेगा। अध्यासका कोई कारण नहीं रहेगा।

अपनी दृष्टि यदि ठीक हो तो रणमें, वनमें, जनसमूहमें, शत्रुमें, मित्रमें, किसीसे मिलके, किसीको भी देखके हम अपने हृदयको सद्भाव-सम्पन्न रख सकते हैं। थोड़ी जागरूकता चाहिए, सजग रहें तो सभी रूपोंमें भगवान्का दर्शन हो सकता है। आराधना करनेवाले कोई एक होकर आराधना करते हैं, कोई अलग रहकर आराधना करते हैं। कोई गणेश, गौरी, शिव, विष्णु, सूर्य इन देवताओंकी आराधना करते हैं। आराधना हम किस नामकी कर रहे हैं और किस रूपकी कर रहे हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उस रूपको देखकर हमारे हृदयमें भगवान्का स्मरण होता है कि नहीं—भगवदाकार वृत्ति होती है कि नहीं।

जो लोग शिव और विष्णुको ही लेकर लड़ पड़ते हैं, उनके मनमें भगवदाकार वृत्ति नहीं होती है। जो निराकार साकारको लेकर लड़ पड़ते हैं उनके मनमें भी भगवदाकार वृत्ति नहीं होगी। भगवान् तो निराकार भी है साकार भी है निर्गुण भी है सगुण भी है, शिव भी है, विष्णु भी है। काली पोशाक पहननेसे ये नहीं है कि, सफेद पोशाक पहननेसे यह नहीं है— ऐसा नहीं है। जिसको काली पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए भगवान्ने काली पहन ली और जिसको सफेद पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए सफेद पहन ली।

हम तो कइयोंके बारेमें जानते हैं कि वे दूसरेसे पूछते हैं कि आपको कौनसी पोशाक पसन्द है, हम वही पहनकर आपके सामने आवेंगे। ऐसे पूछते हैं। तबतक वही वस्त्र पहनेंगे जो तुमको भावे। 'जा भेसा म्हारा साईं रीझे सोई भेष धरूँगी'। यहाँ मीराका उदार हृदय है। तो भगवान्का हृदय तो इससे कोटि-कोटि

गुना उदार है। जिस भक्तके सामने आना होता है, वैसी पोशाक पहन लेते हैं। वैसा मेकअप कर लेते हैं। पर हैं तो भगवान् ही। आप उनको पहचान लो तो गोरे रूपमें भी पहचानोगे, काले रूपमें भी पहचानोगे। वह हाथी- सा वेष धारण करके आवेंगे, वहाँ भी पहचानोगे। असलमें अपने हृदयमें भगवान्की पहचान होनी चाहिए। इसलिए बात कही गयी कि बहुधा, अनेक रूपमें भगवान्की उपासना लोग करते हैं, यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्वके रूपमें उपासना करते हैं। आप जानते हैं—सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:।' आप सबमें व्यापक हैं इसलिए सर्वरूप हैं।

व्यापकताका अर्थ वेदान्तमें दूसरा होता है। दूसरे दर्शनोंमें मूर्त संयोगित कर्मको व्यापकत्व होता है। जैसे लोहेका गोला आगमें डाल दिया और गोलेमें व्यापक हो गयी। जब ठण्डा हो गया तो लोहेका गोला गया लोहेके लोहेमें, आग गयी आगमें। पर वेदान्तमें व्यापकका अर्थ होता है—जैसे गोलेमें लोहा हो। लम्बे औजारमें भी लोहा है। छड़में भी लोहा है और गोलमें भी लोहा है। तो जैसे लोहेसे बने किसी भी आकारमें लोहा व्याप्त है ऐसे ब्रह्ममें बने हुए किसीभी आकारमें भगवान् व्याप्त है। उपादानके रूपमें भगवान् है यह वेदान्तका मत है। मायाके आकार दिखते हैं। उपादान—मसाला सारा-का-सारा भगवान् है 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व: '।

अब आओ भिन्न-भिन्न रीतिसे भगवान्की अराधना करते हैं, इसपर एक दृष्टि डालें। असलमें भगवान्की आराधना बहुत विलक्षण है। सर्वतोमुख हैं भगवान्, जैसे किसीको कुछ खिलाते हैं-हम मोहनको खिलाते हैं कि सोहनको, यह भेद हमारे मनमें होता है। लेकिन हम भगवान्के मुँहमें ग्रास डालते हैं, भगवान्को खिला रहे हैं यह उपासनाकी पद्धति दूसरी है। सर्वरूपमें भगवान् हैं। सर्वरूपमें उनकी सेवा है। हमारे भगवान् हम लोगोंसे बहुत दूर नहीं है। उनके मिलनेमें कोई देर नहीं है। वे कोई दूसरे नहीं। न दूरी है, न देरी है, न दूसरापन है। केवल पहचानका ही फर्क है। पहचान लिया तो सब यहीं है।

अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

भगवान् कहते हैं कि जब कोई संकल्पपूर्वक देवताका ध्यान करना है तो जिस देवताकी पूजा करनी हो तो उसका ध्यान करो और उसमें भगवान् देखो। 'अग्निर्देवता, वायुदेवता' अग्नि भी देवता है—अग्नि अन्तर्यामी भगवान्, वायु अन्तर्यामी भगवान्—स्त्री अन्तर्यामी भगवान्, पुरुष अन्तर्यामी भगवान्, वृक्ष अन्तर्यामी भगवान्। संकल्प करके जिस देवताका ध्यान करते हो, उस क्रतुके रूपमें स्वयं भगवान् वहाँ आते हैं। और श्रौतस्मृति पद्धतिसे, जैसा वेदमें लिखा है, जैसा श्रुतिशास्त्रमें लिखा है, उसके अनुसार यदि यजन करते हो, यज्ञ करते हो तो उस यज्ञके रूपमें भगवान् केवल यज्ञशालामें ही नहीं हैं। अपने हृदयमें भी हैं।

इसी देहमें अधियज्ञके रूपमें भगवान् हैं। जब तुम प्रेमसे किसीके शरीरपर हाथ रखते हो और उसको सुख होता है, यह यज्ञ है। यदि अपनी आँखोंमें प्रेम और आनन्दसे किसीको देखते हो तो वह भी यज्ञ है। यदि प्रेमसे किसीसे मिलने जाते हो, तो वह तुम्हारा चलना भी यज्ञ है। बोलना यज्ञ है, देखना यज्ञ है, कोई अपनी

बात सुनानेके लिए आया और प्रेमसे उसको सुन लिया—उसको सन्तोष हुआ कि इन्होंने हमारी बात बड़े प्रेमसे सुन ली तो यह भी यज्ञ है।

यज्ञ माने जो कुछ तुम्हारे पास है—अच्छा, बुरा, अच्छे-से-अच्छा, दूसरेके काममें आये, भगवान्को अर्पित करो। यह नहीं कि लखपतिने कहा कि हमारा शरीर जब पहलवान हो जायेगा तब हम आपकी मालिस करेंगे। इसका नाम भक्ति नहीं है और पहलवानने कहा कि जब हमारे पास करोड़ रुपये हो जायेंगे तब हम आपकी सेवा करेंगे। इसका नाम सेवा नहीं है। जो तुम्हारे पास भगवान्ने दिया है, उसीके द्वारा सेवा करो। बोले, अभी तो हमको लिखना नहीं आता महाराज, जब लिखना आजायेगा तब हम आपके बारेमें बहुत बढ़िया कविता बनाकर आपकी सेवा करेंगे। अरे भाई, अब इस जन्ममें कवि बनोगे कि नहीं बनोगे वह हमको मालूम नहीं है पर तुम्हारी सेवा भी तो रह जायेगी।

यज्ञ माने होता है—जैसे सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि ये आजान (जन्मसे) देवता हैं। पृथिवी, जल जन्मसे देवता हैं। क्योंकि ये निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं। सबका पालन-पोषण करते हैं, सबको तर करते हैं, सबको गरमी देते हैं, सबको हवा देते हैं, सबको प्रकाश देते हैं। 'अभियज्ञोहमेवात्र।' तुम्हारे हृदयमें जो यज्ञका अन्तर्यामी है वह बैठा हुआ है, तुम्हारे शरीरमें ही है। तुम भी देवताकी तरह यज्ञ करो।

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।' पितरोंके लिए जो कुछ करते हैं—पितरोंके अन्नका नाम 'स्वधा' है। बहुत अद्भुत है। देखो जिसके मरनेपर भी सेवा करनी पड़ती है, उसकी जीवनकालमें ही सेवा करनी चाहिए। मृत्यु होनेपर श्राद्ध करते हैं, तर्पण करते हैं, अन्त्येष्टि-संस्कार करते हैं, वर्षी करते हैं, तीर्थ श्राद्ध करते हैं। जिनकी मृत्यु हो जानेके बाद भी सेवा करना अपना कर्तव्य है, जीवन-कालमें उनकी कितनी सेवा करनी चाहिए। सेवा करो नहीं तो पछताओगे, हाय-हाय! हमने माताकी सेवा नहीं की। पिताकी सेवा नहीं की। आचार्यकी सेवा नहीं की। 'मातृ देवो भव! पितृ देवो भव! आचार्य देवो भव।' और तुम्हारे पास जो इकट्ठा हुआ है, उसमें पिताने कम-से-कम तुम्हें जन्म तो दिया है न! माताने तुम्हें गर्भमें धारण तो किया है न! उन्होंने तुमको पढ़ाया-लिखाया तो है। पालन-पोषण तो किया है। उनके ऋणसे उऋण कैसे हो सकते हो, यदि उनकी सेवा नहीं करोगे। इसमें अपने लिए त्याग, दान करनेका मौका मिलता है। कैसे-कैसे धन आया है कुछ पता है? लेते समय तो सोचते नहीं कि लेना चाहिए कि नहीं, उचित है कि अनुचित? इसमें दूसरेको तकलीफ होती है कि नहीं? लेते समय तो नहीं सोचते हैं फिर देते समय क्यों सोचते हैं कि किसको देना चाहिए—किसको नहीं? जहाँ देनेका मौका मिले वहाँ बोलो—भाई सौभाग्यका क्षण है। भगवान्की दी हुई चीज भगवान्को दे रहे हैं। किसी मनुष्यको नहीं दिया जाता।

जिसने दिया है, उसीको दिया जाता है और देनेवाला तो एक ही है। इसलिए ईश्वर-बुद्धिसे देना चाहिए। इससे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता आती है। इससे मरनेके बाद जीवात्मा रहता है तो हम भी मरनेके बाद रहेंगे यह आस्था बनती है और यह आस्था बननेसे मरनेके बाद आत्मा रहती है यह भावना होगी। तो हमलोग पाप करेंगे तो नरकमें जायेंगे। पुण्य करेंगे तो स्वर्गमें जायेंगे। उत्तम परिस्थितिमें जन्म होगा। जैसे लोग बीमा कराते हैं। यदि

यह आस्था हो जावे कि मरनेके बाद भी हमारी आत्मा रहती है तो पाप नहीं करेंगे, पुण्य करेंगे। बुरा काम नहीं करेंगे, अच्छा काम करेंगे। क्योंकि ये कर्म जो हम करते हैं, उस कर्मसे एक अपूर्व उत्पन्न होता है जो पहले नहीं था—कर्म जो होता है वह नयी वस्तु बनानेके लिए कर्म होता है। तुम्हारे अन्त:करणमें जिस वस्तुके भोगनेकी, पानेकी, बनानेकी शक्ति नहीं थी, यदि तुम अच्छा काम करोगे तो वह शक्ति तुम्हारे अन्त:करणमें आजायेगी। कठोपनिषद्का तो प्रश्न ही यही है कि मरनेके बाद यह आत्मा है कि नहीं है? जब है में आस्था होगी तब उसपर विचार होगा। विचार होगा तो ज्ञान हो जायेगा। इसलिए पितरोंके लिए 'स्वधा', देवताओंके लिए 'स्वाहा' कहा है। जो लोग अग्निहोत्र करते हैं उन्हें प्रत्यक्ष लाभ होता है। सचमुचका मन्त्रोच्चारण करते हैं और अग्निके पासमें बैठते हैं और आहुति देते हैं, व्रत नियम लेते हैं, उनका जीवन प्राय: स्वस्थ होता है, निरोग होता है क्योंकि रक्तका संचार उनका बिलकुल ठीक बनता रहता है और उनका कोलेस्ट्रॉल कभी नहीं बढ़ेगा। यदि घी नहीं खायें तो नहीं बढ़ेगा। क्योंकि गरमी शरीरमें पहुँचती है। ये, अब आगमें डालनेके बदले खुद ही अपने शरीरमें डाल लें तो बात दूसरी है।

जबसे हविष्यके सम्बन्धमें लोगोंको अनास्था हो गयी तबसे यह भी आवश्यकता मिट गयी कि यज्ञमें हविष्य चाहिए गायका। यज्ञमें गायका घी चाहिए, दूध चाहिए, दही चाहिए, मक्खन चाहिए, मलाई चाहिए। तबसे गायकी भी आवश्यकता नहीं रही। यदि यज्ञकी प्रथा होती और हविष्यकी आवश्यकता बनी रहती तो गाय भी होती।

अब देखो 'अहं क्रतुरहं यज्ञ: स्वधाहमहमौषधम्।' यह औषध जो है यह मनुष्योंका अन्न है यह जौ है, गेहूँ, मटर है, चना है। वृक्ष वह होता है जो काटनेपर नष्ट होता है और औषधि वह होती है जो एकबार फल देकर नष्ट हो जाती है। जैसे गेहूँ है, मटर है, चना है, जौ है, अरहर है, मूँग है, उड़द है, ज्वार है, बाजरा है, मक्का है एकबार फल देनेके बाद फिर रहता नहीं! इनको बोलते हैं औषधि।

अमरकोशका वचन है—जो एकबार पका फल देकर और नहीं रहते हैं उनका नाम औषध। यह किसके लिए है? यह मनुष्यका अन्न है। यह औषधि है। शंकराचार्यने लिखा है अन्नको आप भोगके लिए, स्वादके लिए मत खाइये। यह हमारे जीवनको स्वस्थ, निर्विकार रखनेके लिए आवश्यक है, जो हम खाते हैं—औषधम्। औषधके रूपमें अन्नका सेवन करो। जिससे उसका परिपाक ठीक हो जावे और जीवनका ठीक-ठीक निर्वाह चले। औषध शब्दका प्रयोग करते हुए बताया कि जिससे हमारे शरीरके दोषोंकी निवृत्ति हो और गुणोंकी वृद्धि हो, उसका नाम औषध। चरकने स्वास्थ्यका जो लक्षण बताया है—आरोग्य क्या है? स्वास्थ्य-संरक्षणं अपने स्वास्थ्यकी रक्षा हो और जो कफ, बात,पित्तके दोष विषम होते हैं, उग्र होते हैं, उनको शान्त रखें। भोजन वह है जो कफ, वात, पित्तमें किसीको तीव्र न होने दे। ऐसा भोजन किया कि कफ बढ़ गया—सरदी हो गयी, छातीमें रोग हो गये, ऐसा भोजन किया कि पित्त भड़क गया—ऐसा भोजन किया कि वायु बढ़ गयी। भोजन औषधिके रूपमें होना चाहिए। मनुष्यके अन्नका नाम औषध है। उसकी सुगन्ध भी नाकमें अच्छी आनी चाहिए। देखनेमें भी अच्छा लगना चाहिए। जीभको भी अच्छा लगना चाहिए, परन्तु वह हमारे लिए

हितकारी हो, यह आवश्यक है। उसमें सौरभ्य हो नाकके लिए, सौन्दर्य हो आँखके लिए और स्वाद हो जीभके लिए और सौहृद्य हो हृदयके लिए। औषध रूपसे अन्नका भोजन करना चाहिए। भोगके लिए भोजन न हो।

इसी प्रकार यह स्त्री-पुरुषका विवाह भी भोगके लिए नहीं हैं। अपनी काम-वासनाके नियन्त्रणके लिए है। अनेक स्त्री, अनेक पुरुषोंमें बिखर न जाय। नहीं तो कभी तृप्ति नहीं होगी। 'स्वधाहमहमौषधम् मन्त्रोहमहमेवाज्यं'। मन्त्र मैं ही हूँ। भगवान् कहते हैं 'स्वधाहमहमौषधम् मन्त्रोहमहमेवाज्यं'। मन्त्र मैं ही हूँ भगवान् कहते हैं कि 'अन्न भी मैं ही हूं' और अन्न पचानेवाला भी मैं ही हूँ।'

तैत्तरीय उपनिषद्में कहा है—'अन्नं ब्रह्म' अन्न ब्रह्म है, अन्नसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। उसीमें स्थिति होती है। उसीमें प्रलय होता है। अन्न ब्रह्म है। चाहे जैसे हो अपने घरमें अन्न हमेशा बना रहे। भोजनके समय कोई आ जाये तो उसको भूखा नहीं लौटाना। यह अपने जीवनमें व्रत लेना चाहिए। जहाँ अतिथि भोजनके समय आकर घरसे लौटा—तो समझो कि घरमें आनेवाला जो अन्न है उसको भी वह लेकर लौट जाता है। अन्न ब्रह्म है, यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। आचार-मूलक जो धर्म है, जिनको चलानेवाले कोई आचार्य हैं या अपौरुषेय वेद, इनको छोड़कर जो किताबी धर्म हैं— पुत्रमूलक धर्म हैं, सन्देशहारक धर्म है उनमें यह बात नहीं कही गयी है। हमारा सनातन धर्म तो 'अपौरुषेय' वेदमूलक-ज्ञानमूलक धर्म है।

कीड़े मारकर तो अन्न पैदा हुआ, कीड़े मारकर तो पकाया गया, वह अन्न धरतीमें पैदा होता है—उसमें पशुका भाग होता है, पक्षीका भाग होता है, प्राणिमात्रका भाग होता है। तुम अकेले खाये जा रहे हो—अरे बाबा! जिसका-जिसका हिस्सा है, उनको भी तो याद कर लो। वेदमें, शास्त्रमें मन्त्र होते हैं—मन्त्रसे हमारा मन बहिर्मुखसे अन्तर्मुख होता है। मन्त्रमें बड़ी शक्ति होती है। गोस्वामीजीने तो साबर मन्त्रकी महिमा बतायी है— जो वेदमें है, शास्त्रमें है, वह पुराणमें है, मजहबमें है, वे मन्त्र तो हैं ही। उनकी महिमाका तो कहना ही क्या? भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें है—जो भगवान्का रूप, भगवान्का नाम लोकभाषामें लोग गाते हैं—जगह-जगहकी भाषामें बोलते हैं— उससे भी भगवान्का कीर्तन करो, ऐसा कहा गया है।

जिस सिद्ध पुरुषने जो शब्द बोल दिया है उस शब्दमें शक्ति होती है। यह मत पूछो कि किस पोथीमें यह लिखा है। यह देखो कि सिद्ध पुरुषने उसका उच्चारण किया है कि नहीं!

वे भले ही उपदेश न करते हों परन्तु उस सन्तकी सेवा करो। बोल-चालमें वे स्वच्छन्द बोलते हैं। उनकी उस स्वच्छन्द वाणीका भी नाम शास्त्र रखा जाता है। उसीसे शास्त्र बनते हैं। ये जो वेदके मन्त्र हैं, तन्त्रके मन्त्र हैं, शास्त्रके मन्त्र हैं, पुराणके मन्त्र हैं, सिद्ध पुरुषोंके बोले हुए मन्त्र हैं और मन्त्रोंमें कौन है? उसमें भगवान्की शक्ति बैठी हुई है। 'मन्त्रोऽहम्'—मन्त्र बोलकर हम अपने कर्तव्य कर्म करते हैं, उनके अर्थज्ञानकी वेदमें आवश्यकता नहीं है। वैदिक लोग इसको जानते हैं, हमको कई लोग कहते हैं—महाराज समझमें नहीं आता, तो वह हमारे किस कामका? भाई, तुम्हारी समझ ही सबसे बड़ी है? उस मन्त्रमें भी एक शक्ति है।

वेदकी व्याख्या करनेवालोंमें एक विभाग ऐसा है और वह बड़े-बड़ोंका है—जैसे कुमारिल भट्ट—माने मीमांसकोंमें जो मूर्धन्य हैं सर्वोपरि, वे कहते हैं कि देवता कहीं रहते नहीं है। जब हम किसी मन्त्रका उच्चारण करते हैं तो उस मन्त्रमें 'इदं जुहोमि—इन्द्राय स्वाहा'—ऐसे बोला जाता है। शब्दकी शक्तिसे, शब्दके धक्केसे—तुम्हारे दिलमें उसका धक्का लगा और उससे देवता पैदा होता है। और जितनी जगह मन्त्र बोला जाता है, उतनी ही जगह पैदा होता है—केवल एक देवता नहीं है कि एकके बुलानेपर स्वर्गसे आ जाये।

शब्दको भी देवता बोलते हैं। इसलिए मन्त्रमें अद्भुत शक्ति मानी जाती है। चाहे हमलोग कुछ समझें या न समझें। तान्त्रिक पद्धतिमें जो 'क्रीं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं आदि बोलते हैं—इनका अर्थ होता है, पर जाननेकी आवश्यकता नहीं होती। मन्त्रकी शक्तिसे ही सारा कल्याण होता है। मन्त्र क्या है? मैं हूँ—भगवान्‌ने कहा। कोई मन्त्रकी ही आराधना करते हैं। 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यं' जो आहुति देते हैं वह आज्य, घृत मैं ही हूँ।

बाप-दादाने बचपनमें सिखाया था कि जब भोजन करो तो भोजनके समय पहले ये मन्त्र बोलो। उस समय तो हमको पता भी नहीं था कि गीता क्या होती है और यह गीताका श्लोक है। बचपनमें जैसे बच्चोंको श्लोक सिखाते हैं न! ऐसे ही यह सिखाया था। हाथमें जल लो बोलो—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

आपका जो हविष्य है—ऐसे भोजन करनेके पहले पञ्चाहुति बतायी गयी। मैं अपने खानेके लिए मुँहमें नहीं डालता हूँ—मैं नहीं खाता हूँ—'प्राणाय स्वाहा:।' ये प्राणका भोजन है। आत्माका भोजन नहीं है। 'प्राणाय स्वाहा। अपनाय स्वाहा। व्यानाय स्वाहा। उदानाय स्वाहा। समानाय स्वाहा:।' ये पाँच आहुतियाँ दिया करते थे। 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा।' भगवान्‌का स्मरण करके, भीतर नन्हें-से भगवान् बैठे हाथ फैला देते हैं, हम जो ग्रास लेते हैं तो हाथ फैलाकर अपने मुँहमें डाल लेते हैं। 'अहं वैश्वानर:'।

वही भोक्ता है। 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्'। ताप और गति—अग्नि और वायु ये देवता हैं। इनके द्वारा यक्षको देखा जा सकता है। यक्षके रूपमें, विराट्‌के रूपमें जो परब्रह्म परमात्मा है, उनको दिखानेका सामर्थ्य किसमें है? तापमें और वायुमें। आप गतिकी परीक्षा करके और प्राणायाम आदिके द्वारा अपने शरीरमें ऊष्माको बढ़ाकर, प्राणवायुको स्थिर करके यक्षका दर्शन कर सकते हैं। परन्तु यक्षको पहचान नहीं सकते। उसकी चेतनता पहचान नहीं सकते। जब इन्द्र आवेगा—कर्मका देवता—कर्म करके आप अन्त:करण शुद्ध करेंगे तो शुद्ध अन्त:करणसे पहले ब्रह्मविद्याका दर्शन होगा। ब्रह्मविद्याका दर्शन होनेपर ब्रह्मका साक्षात्कार होगा। 'अग्रे नयति' जो मनुष्यको आगे बढ़ावे उसका नाम अग्नि है। सारे वेद अग्निसे प्रारम्भ होते हैं।

'अग्निमीले पुरोहितं'—यजुर्वेद प्रारम्भ होता है। आपके जितने कल-कारखाने चलते हैं—जितने हीरा आदि बनते हैं—जितनी फैक्टरियाँ चलती हैं यह अग्नि देवताकी कृपा है। अग्निके रूपमें भगवान् आते हैं। 'अहं अग्नि: अहं हुतम्' जो अग्निमें डालते हैं, हवन करते हैं, जो उसका ईंधन है, सो भी भगवान् ही है। हविष्य भी

भगवान्, मन्त्र भी भगवान्, अग्नि भी भगवान् और उनमें जो हवन करते हैं सो भी भगवान्। 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' किसी रूपसे उपासना करो; मन्त्रके रूपमें, यज्ञके रूपमें, स्वधाके रूपमें, निमित्त कोई भी हो, बुद्धि ब्रह्माकार होवे, ब्रह्मसे सम्पन्न हो।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' संस्कृत भाषामें पिता शब्दका अर्थ पैदा करनेवाला नहीं होता। 'पाति इत पिता।' पालन करनेवालेका नाम पिता है। जो रक्षा करे सो पति और जो रक्षा करे सो पिता। बोले दोनोंमें प्रत्ययका भेद है। धातु एक ही है। एक ही धातुसे दोनों बनते हैं—जैसे स्त्रीके लिए कुमारावस्थामें पिता रक्षक है और युवावस्थामें पति रक्षक है। रक्षणरूप साधर्म्य होनेपर भी प्रत्ययका भेद है। एकके प्रति श्रद्धा है, स्नेह है। एकके वात्सल्यका उपभोग करते हैं और एकके प्रेमका उपभोग करते हैं। बल्कि पिताके प्रति तो एकांगी प्रेम होना चाहिए। पुत्र चाहे प्रेम करे चाहे न करे— पिता प्रेम करता ही है, यह मान लेना चाहिए और पतिसे परस्पर प्रेम होता है। वहाँ एकांगी प्रेम नहीं चलता है। वहाँ चातक पपीहेका प्रेम नहीं चलता। स्वामी और दासमें चातक और पपीहेका प्रेम चलता है। पति-पत्नीके प्रेममें परस्पर प्रेम चलता है। 'दोऊ चकोर दोऊ चन्दा'— दोनों चकोर हैं, दोनों ही चन्द्रमा हैं।

'पिताहमस्य जगतः'। माता वात्सल्यमयी है, उसने गर्भमें निरपेक्ष भावसे धारण किया है। यह तो पिता नहीं करता है। पिता त्याग प्रधान होता है। उसने तो अपने शरीरकी धातु, बीज-वपन कर दिया। लेकिन वह माता है जिसने महिनो तक, बरसोंतक अपने गर्भमें धारण करके और फिर अकुंरको प्रकट किया। प्रसिद्ध तो माता ही करती है। माता माने जो हमको जाहिर कर दे। गुप्तको प्रकट करे उसका नाम माता है।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता'—अब देखो—इसमें एक तो पिता-पितामहकी जोड़ी है, और एक माता और धाताकी जोड़ी है। माताने प्रकट किया और दूध पिलानेवाला मान्धाता होता है। मान्धाता शब्दका अर्थ यही है। इस बच्चेकी माँ तो नहीं रही। दूध कौन पिलावेगा? बोले धाता-धाई। माँके रहते बच्चेको माँका दूध मिलना चाहिए। आपको जवानी भोग, सौन्दर्य चाहिए परन्तु आपका पुत्र आपके संस्कारसे युक्त हो, आपका आज्ञाकारी हो, वंशपरम्पराका पालन-पोषण करे, इसके लिए आप अपना दूध उसके अन्दर नहीं डालेंगे तो उसके संस्कार कहाँसे बनेंगे? माता भी भगवान्, धाता भी भगवान्, पिता भी भगवान्, पितामह भी भगवान्— बोले ठीक है भाई, यह तो जन्मकी और रक्षाकी बात हुई अब हम जब बुद्धिमान हो गये हैं और जानना चाहते हैं तो जाननेकी वस्तु क्या है? वेद्यं—वेद्य भी भगवान् हैं।

आप जानते हैं—गीतामें वेद्य पर बड़ा जोर है। आप जानिये, जानिये, जानिये। बुद्धिकी इतनी महिमा है गीतामें कि संसारकी किसी मजहबी किताबमें बुद्धिकी ऐसी महिमा नहीं है। जानिये— आप परमात्माको जानिये और जितने मजहब हैं सब श्रद्धा प्रधान हैं। क्योंकि वे परोक्षमें श्रद्धा करवाते हैं जो हमारी आँखोंसे ओझल है। हमारी आँखोंसे दूर है, उसमें श्रद्धा विश्वास करवाते हैं। हमारा जो वैदिक दर्शन है वही केवल मजहब नहीं है। वह केवल मिथ्या कल्पनापर आधारित नहीं है, मायथोलॉजी नहीं है और जितने मजहब हैं मायथोलॉजीके आधार पर—मायथोलॉजी माने संस्कृतका शब्द है—मिथ्या, वह मिथ्या पर आधारित नहीं है। यह दर्शन है,

दृष्टि है- 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:'। सारे वेद मेरे ज्ञानके साधन हैं। 'वेदै: अहमेव वेद्य:' में वेदोंसे ही जाना जाता हूँ।

मैं ही जानने योग्य हूँ और 'अहं वेद्यैव' हमको जानना ही चाहिए। चार बात कही उसमें—सारे वेदका तात्पर्य मुझमें है। वेदोंके द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ—मैं ही जाना जाता हूँ और मुझे जानना ही चाहिए।

पवित्र कौन है? मैं ही पवित्र हूँ—'अन्त:करणकी शुद्धि भी मैं ही हूँ। जब मैं ही अन्त:करणमें रहता हूँ तब मेरा ज्ञान होता है तो शुद्धि भी मैं हूँ। शुद्धि कैसे होती है? ॐकारसे भगवान्‌के नामका जप करो । ॐकार नाम मात्रका उपलक्षण है। भगवान्‌का नाम लो। ॐकार—किसी न किसी रूपमें सर्व धर्ममें स्वीकार है। जैन लोग ॐनमो अरिहन्तारं बोलते हैं। बौद्ध लोग ॐमणिपद्मे हुम् बोलते हैं। बौद्ध हो कि जैन हो, मुसलमानोके तो ॐ भी है और दक्षिण कालीका क्रीं भी है। उनके करीम बोलते हैं और हमारा जो ह्रीं है—हरी है, हर है—उसको रहीम बोलते हैं। हमारी प्रार्थनाको प्रेयर बोलते हैं। हमारे नमस्‌को नमाज बोलते हैं। मन्त्र होते हैं उसको सदा बोलते हैं। चार भाग होते हैं मन्त्रमें, उसको ऋग्वेद बोलते हैं। और जिनमें गीति—गा-गाकर जो मन्त्र बोले जा सकते हैं—गीति प्रधान वे साम होते हैं और जिनमें गीतकी और पाद बन्धनकी विशेषता नहीं होती है, गद्यके सामान जो बोले जाते हैं उनका नाम यजुष होता है। 'ऋक् साम यजुरेव च।' 'च' से अथर्वणकी व्यवस्था भी ग्रहण करलो।

ये सारे वेद कौन हैं? भगवान् बोले मैं हूँ। मैं ही वेद्य हूँ। मैं ही पवित्र हूँ। मैं ही ॐकार हूँ। मैं ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद हूँ। गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवास: शरणं सुहृत:। देखो भगवान ही भगवान् हैं। मुक्ति मिलेगी कहाँ? मुक्ति कौन है? बोले भगवान्। क्यों सोचते हो यह तो क्रम ही है बन्धनका। कहीं कोई आबद्ध नहीं है। अपना मन ही बँधता है। अपना मन ही छोड़ता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।' मन ही है कहो मेरा, कहो तेरा, कहो—बँध गये। मेरा नहीं, तेरा नहीं—तेरा मैं नहीं, मेरा तू नहीं—सब छूट गये। 'मानि मानि बन्धनमे आयो।' गति कौन है? साक्षात् परमात्मा है।

अन्तमें तुम्हें कौन मिलेगा? अन्तमें परमात्मा मिलेंगे। यह दुनियाँ नहीं मिलेगी, दुनियाँकी कोई चीज नहीं मिलेगी। इस समय तुम्हारा धारण-पोषण कौन कर रहा है? भर्ता। जब तक अपने पास बहुत सारी चीजें होती हैं, बहुत सेवक होते हैं, तब तक मालूम पड़ता है, हमारी सेवा करते हैं। जबतक हमारे पास बहुत सामग्री होती है तबतक मालूम पड़ता है मैं ही खा-पीकर जीता हूँ; किन्तु जिस दिन न कोई अपने पास रहता है सेवा करनेवाला और न कुछ खानेको रहता है, उस दिन आप देखो चमत्कार! उस दिन भगवान् लाकर खिलाते हैं। उस दिन भगवान् सेवा करते हैं।

यह बात मैं किताबमें-से पढ़कर नहीं बोल रहा हूँ। मेरे जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब खानेको कुछ नहीं रहा है और भगवान्‌ने खिलाया है। जब हमारे पास कोई साथी नहीं रहा है तब भगवान्‌ने साथीका काम किया है। यह केवल पढ़ी हुई बात नहीं है कि एकनाथके घरमें श्रीखण्डी बनकर भगवान् रहे। जना बाईके साथ आकर चक्की पिसवायी। नाई बनकर किसीका पाँव दबाया। यह बात केवल कल्पना नहीं है,

खयाली नहीं है, असलमें वे देखते रहते हैं, जहाँ उनके सिवाय हमारा कोई नहीं होता है, वहाँ स्पष्ट रूपसे भगवान् हमारी सहायता करते हैं।

'गतिर्भर्ताप्रभुः।' मालिक हैं—स्वामी हैं। हमको गलत काम करने पर दण्ड भी देते हैं। अच्छा काम करने पर पुरस्कार भी देते हैं। वह मालिक मालिक नहीं की नौकरसे तश्तरी टूट गई तो जुर्माना कर दिया—क्यों तोड़ा तुमने? और उसने चोरसे बचा दिया तो कुछ नहीं। यह तो उसका कर्तव्य था। यदि तुम उसकी गलती पर दण्ड देते हो तो अच्छाईपर उसको पुरस्कार भी देना चाहिए। अपना हाथ है। संस्कृत भाषामें नौकरको क्या बोलते हैं? नो करः। करो न भवति। वह हाथ नहीं है पर हाथका सब काम करता है। 'कर इव भवति।' वह हाथ नहीं है पर हाथका सब काम करता है। 'कर इव भवति। वह हाथ नहीं है। हमारा हाथ सम्हालते हैं, वैसे ही उनको भी सम्हालना चाहिए। अपने पाँवको जैसे सम्हालते हैं वैसे उसको भी सम्हालना चाहिए। यह स्वामीका काम है। स्वामी हमको कैसे सम्हालता है? जैसे अपने हाथको सम्हालता है। जैसे अपने मुँहको सम्हालता है, वैसे ब्राह्मणको सम्हालता है। जैसे अपने हाथको सम्हालता है वैसे क्षत्रियको सम्हालता है। जैसे अपने उरुको सम्हालता है, वैसे वैश्यको सम्हालता है। ईश्वर तो प्रभु है। सबका मालिक है।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'—साक्षी माने देख-भाल करनेवाला। आपलोगोंने शायद बाईबिल पढ़ी हो—आजकल रामचरितमानस न पढ़ें पर बाईबिल तो देख लेते हैं। उसमें क्या है? हमारे दर्शनका ज्ञान हो कि न हो पर विदेशके दार्शनिक लोग क्या कहते हैं उसके बारेमें तो जानकारी होती ही है। बाईबिलमें कहा कि जैसे गड़रिया अपने भेड़ोंकी देख-भाल करता है और खास करके उस समय जब वह भटकने लगती हैं, उसी तरह ईश्वर हमारी देख-भाल करता है और जब हम भटकने लगते हैं, तब खासतौरसे देख-भाल करता है।

साक्षी माने 'साक्षात् पश्यति।' चारचक्षु नहीं है—राजा लोगोंके बारेमें है कि जो उनके गुप्तचर होते हैं और वे जगह-जगहसे उनकी खबर देते रहते हैं। तो ईश्वरने गुप्तचर नहीं लगाया है। 'साक्षात् पश्यति।' अपनी आँखोंसे देखता है। साक्षी माने जो बिना किसी औजारके, बिना किसी आदमीको अपने साथ जोड़े, स्वयं देखता है, उसको साक्षी बोलते हैं। 'साक्षात् दृष्टरि संज्ञायाम्'। फिर भी साक्षी संज्ञा हो जाती है। सुनी-सुनायी बात नहीं है। ईश्वर देखता है। 'गति भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः।' हमारे हृदयमें निवास करता है। इसलिए उसका नाम निवास है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' ईश्वरने अपने लिए घर नहीं बनाया कि हमारा तुम लोगोंसे अलग मकान है, रहनेकी जगह है। बोले- घरका कोई माई-बाप हो और अपने पुत्रोके घरमें अलग-अलग रहने लगे, अपने लिए घर न बनावें तो कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा, कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा। ईश्वरकी यह विशेषता है कि वह सब बच्चोंके घर हमेशा उनके साथ ही रहते हैं। यह स्नेह है उनका- 'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' उसका निवास हमारा हृदय है। बाल्मीकिजीने कहा प्रभु वह स्थान बताओ जहाँ तुम नहीं हो? शरणं माने रक्षक—जहाँ रक्षापेक्षाका उदय

हुआ वहाँ भगवान् रक्षा करते हैं। 'शरणं गृहरक्षित:'। शरण माने रक्षक। जो चाहता है प्रभुको, उसको हाथ पकड़कर अपने पास बुला लेते हैं और उसकी जैसी अभिलाषा होती है, उसको पूर्ण करते हैं। 'शरणं सुहृत्।' सुहृत् कौन है? जिसका दिल बढ़िया है।

भगवान्का वर्णन है 'मृदुर्दयालु:' एक साथ बारह गुणोंका वर्णन है। वे अपेक्षा नहीं करते हैं कि हमने जीवको जन्म दिया, हमने जीवको पोषण दिया, हमने जीवको आँख दी, कान दिया, बुद्धि दी, दिल दिया, दिमाग दिया और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा दी। अब उसके बदलेमें वह हमको कुछ दे। भगवान् अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं— देना, देना, देना। 'सुहृत्' क्योंकि उनका ऐसा सुन्दर हृदय है कि कौन क्या कर रहा है, इसको देखे बिना सब कुछ देते हैं। वे ऐसा नहीं कहते कि भाई, यह चोर है तो सूर्य और चन्द्रमाकी रोशनी इसके लिए बन्द कर दो। यह दुष्ट है तो इसको साँस लेनेके लिए हवा मत दो। कभी वह पानी काटता नहीं है। दुनियाँमें पानीका बिल न चुकाये तो पानी कट जायेगा। बिजलीका बिल मत चुकाओ तो बिजली कट जायेगी, पंखा नहीं चलेगा, रोशनी नहीं होगी और भगवान् न कभी अपनी हवा बन्द करता है और न रोशनी कभी बन्द करता है, न पानी बन्द करता है न धरतीपर रहनेसे मना करता है। सुहृत्!' 'प्रत्युपकारं अनपेक्ष: प्रभव: प्रलय: स्थानम्'—हमारा जन्म स्थान वही है। 'प्रभव:' माने जन्म-स्थान। प्रभवति अस्मात् इति प्रभव:। हमारा प्रलय स्थान भी वही है वहींसे आये हैं, वहीं जाना पड़ेगा और तिष्ठति अस्मिन्, हम रह भी उसीमें रहे हैं। उसीमें हमारा जन्म हुआ है, उसीमें मिलना है, उसीमें रह रहे हैं। 'प्रभव: प्रलय: स्थानं निधानं'— हम जो कर्म करते हैं वह किस खजानेमें रखनेके लिए? ईश्वरके खजानेमें रख दो। निधान माने खजाना। हमारी निधि वही है। जो कुछ कमाई करो वह ईश्वरको समर्पित कर दो। यह सुरक्षित रहेगा। तुम जिस योनिमें रहोगे, तुम जिस लोकमें रहोगे, जिस रूपमें रहोगे, कहाँ रहोगे! वह ऐसा बैंक नहीं है कि कभी फेल हो जावे। 'निधानं बीजम्'— जहाँ नाना प्रकारके रूप-नाम प्रकट होते हैं वह बीज वही है। यह जबतक सब जगत रहता है, तबतक संसार रहता है। भगवान्के इस रूपमें कोई व्यय नहीं होता। कभी दिवाला नहीं निकलता। 'अव्ययं— न व्ययति इति अव्ययम्।'

•

प्रवचन : 7

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

ये साधन, जितने हैं वे सब मैं ही हूँ। चाहे वे जीवनके साधन हों, चाहे अन्य।

देवताके रूपमें मैं हूँ। जो हमारे जीवनमें कर्मानुष्ठान होता है उसके रूपमें स्वयं भगवान् प्रकट होते हैं। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः।' 'पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः 'में यह बताया कि संसारमें जितने सम्बन्ध हैं उन सब सम्बन्धियोंके रूपमें भी मैं ही हूँ—साधनका रूप मत देखो, मुझे देखो और सम्बन्धिका रूप मत देखो, मुझे देखो। तब रागद्वेष नहीं होगा। फिर ये वैदिक ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये सब भी मैं ही हूँ। 'गतिर्भर्ता, प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' । आपके लिए जो कुछ चाहिए वह सब मैं ही हूँ।

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावे॥

अपने मुँहसे कह दिया- मैं गति हूँ, भर्ता हूँ, प्रभु हूँ, निवास हूँ, प्रभव हूँ, प्रलय हूँ, स्थान हूँ, अव्यय बीजमें मैं ही सब कुछ हूँ। अब एक आश्वासन और देते हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 9.19
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ 9.20
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ 9.21
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 9.22

आश्वासन क्या है कि काल चक्रमें यह सारा जगत परिवर्तित हो रहा है। असलमें हमको ऐसा मालिक मिलना चाहिए, ऐसेसे सम्बन्ध होना चाहिए, ऐसा रिश्ता होना चाहिए जो कालकी गतिको अपनी मुट्ठीमें रखता हो। एक सवंत्सरात्मक काल, एक वर्षका एक सम्वत्—उसमें चार-चार महीनेके तीन विभाग कर लिए। चार महीने गरमीके, चार महीने वर्षाके, चार महीने शीतके, बारह महीनेका एक वर्ष। वैसे महाभारतमें तो एक प्रश्न उठाया कि समयके अनुसार राजा बनता है कि राजाके अनुसार समय बनता है? बोले-यह संशय अपने मनमें मत रखो । जैसा राजा होता है, वैसा समय नहीं आता है। पुराणोंमें कथा आती है कि जब दुष्ट राजा हुए तो दुर्भिक्ष पड़ गया। महामारी फैल गयी और श्रीमद्‌भगवत्‌में एक ब्राह्मणका बालक मरा था तो उसने सारा दोष राजाके सिर मढ़ दिया और अपने बच्चेको लाकर उनके दरवाजे पर पटक दिया। तो अर्जुनने ब्राह्मणसे कहा कि यहाँ सचमुच राजा नहीं नपुंसक है, हम तुम्हारे पुत्रकी रक्षा

करेंगे। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं कि संसारमें, जगतमें जो परिस्थितियाँ बनती हैं उसमें शासकका मुख्य हाथ होता है। सम्पूर्ण विश्वका शासक कौन है? सम्पूर्ण विश्वका शासक तो परमेश्वर है। ईश्वर शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है जो सबको अपने वशमें रखे।

सबको अपने शासनमें रखना जिसका शील स्वभाव है उसको ईश्वर बोलते हैं। यदि प्रशासन शिथिल हो जाये तो धर्म, कर्म, जीवन व्यवहार सब शिथिल हो जाता है। शुक्रनीति है, नीतिसार है, चाणक्यके सूत्र हैं—उनका कहना है यदि दुष्टोंको ठीक दण्ड नहीं मिला, उनके साथ लिहाज किया गया तो संसारमें कोई मर्यादा, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। हमारे भगवान कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। यदि दुष्टको दण्ड न मिले, शिष्टको पुरस्कार न मिले तो कोई मर्यादा पालन नहीं करेगा। 'तपाम्यहम्'— मैं ही संसारमें गरमी डालता हूँ। ग्रीष्मऋतु मैं ही लाता हूँ। 'अहं निगृह्णामि।' मैं चार महीने तक वर्षाको रोक लेता हूँ। 'वर्ष उत्सृजामि च।' और वर्षा भी मैं ही करता हूँ। अर्थात जो ये ऋतुएँ बदलती हैं, जो पक्ष मास होता है, सौरमास होता है-सावनमास होता है, सौरमासके दो विभाग होते हैं, एक सायन एक निरयन। इन संवत्सरोंका नियन्त्रण कौन करता है? भगवान् । जब वह चाहते हैं तब प्रलय होता है। जब चाहते हैं तब सृष्टि होती है। जब चाहते हैं तब स्थिति होती है। यह सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विभाग भगवान्ने किसी दूसरेके हाथमें नहीं दिया। इसमें कोई उपप्रधानमन्त्री नहीं है। तीनों विभाग स्वयं देखते हैं। पोशाक अलग-अलग पहनते हैं। लाल पोशाक पहनकर सृष्टि करते हैं, और साँवरी सलोनी पोशाक पहनकर स्थिति करते हैं। विष्णु भगवान्का श्वेत रूपमें भी वर्णन मिलता है। 'शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।' चन्द्रमाके समान सफेद हैं। और एक ही कपड़ा भगवान्के पास नहीं है कि हमेशा पीताम्बर ही पहनें। कभी नीलाम्बर पहनते हैं। कभी श्वेताम्बर पहनते हैं। कभी रक्ताम्बर पहनते हैं।

सृष्टि स्थिति, प्रलयका नियन्त्रण परमेश्वरके हाथमें रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवकी पोशाक ही तीन है। वेश-भूसा ही तीन है। ईश्वर तीन नहीं है। 'जगद्-व्यापारवर्ज्यम्।'ब्रह्मसूत्रका यह सूत्र है। बल्कि हमारे रामानुजसम्प्रदायके वैष्णव लोग तो ऐसा मानते है कि लक्ष्मीजीके हाथमें भी सृष्टि,स्थिति, प्रलय भगवान्ने नहीं दिया। रामजीने तो सीताजीके हाथमें दे दिया—उद्भव, स्थिति, संहारकारिणिम्। लेकिन नारायणने लक्ष्मीजीको उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका विभाग नहीं दिया। लक्ष्मीजीसे उन्होंने पूछा-तुमको कौन-सा विभाग चाहिए? बोलीं हमको अनुग्रह-विभाग चाहिए। ये जो संसारके दु:खी जीव हैं उनकी भलाई करनेका विभाग हमको दे दो—सदावर्तका काम हम करेंगे, सबको बाँटेंगे। तो जब लक्ष्मीजी सिफारिश करती हैं कि इस जीवका उद्धार करो तब भगवान् करते हैं। पाँव दबाती रहती हैं—उनकी छातीपर रहती हैं। जरा-सा दबा देती हैं, फिर मुसकराकर भगवान् देखते हैं तो कह देती हैं कि इसका उद्धार करो। सृष्टि, स्थिति—जैसे राजाके हाथमें शासन होता है, सारी परिस्थितियाँ राजाके अधीन हो जाती हैं।

बिलकुल सन्देह मत करो। प्रशासनके अनुसार परिस्थिति बनती है—महामारी फैले, आरोग्य रहे। यदि प्रशासन ठीक हो तो सबका मन ठीक रहे और मन ठीक रहे तो तन ठीक रहे। भगवान्ने कहा यह तीन बात

हमारे हाथमें है। बोले—देखो सब मैं हूँ—जिसको संसारके लोग अच्छा समझते हैं, वह भी मैं, और जिसको बुरा समझते हैं वह भी मैं। संसारके जो मजहब हैं उनकी अपेक्षा विलक्षण है। एक नयी बात है कि जितने अच्छे-अच्छे गुण हैं वे तो हमारे परमेश्वरमें हैं और जितनी बुराइयाँ हैं वे सब शैतानमें हैं। उनके एक ईश्वर हैं और एक ईश्वरका दुश्मन है। और हमारे जो वेदका सिद्धान्त है, मन्त्रका सिद्धान्त है, इसमें ईश्वरका दुश्मन कोई नहीं। शैतान नहीं है। ईश्वर ही ईश्वर सब!

बोले कुछ अमृत है, कुछ मृत्यु है। इसका भी विभाग कर लेते हैं। जो देवता हैं उनको अमृत पिलाते हैं और जो दैत्य हैं उनको मृत्यु देते हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी दोनोंमें एक ही भावका एक श्लोक है। जब भगवान्ने मौतको आज्ञा दी कि तुम जाकर लोगोंको मारो तो वह डर गयी कि यह हत्याका काम मैं करनेवाली नहीं हूँ। तब उसे एक मर्यादा दी। जिनका अन्न दूषित है उनको मृत्यु मारेगी, जो आलसी होंगे उनको मृत्यु मारेगी और आचारका परित्याग करेंगे उनको मृत्यु मारेगी और जो वेदका, अपने धर्मग्रन्थका अभ्यास छोड़ देंगे—सदाचारका पालन नहीं करेंगे—उनको मृत्यु मारेगी। मृत्युसे बचनेका उपाय है—आप एक लोक-कल्याणकी बड़ी योजना, लम्बी योजना मनमें बनाइये और उसको पूरा करनेके लिए दृढ़संकल्प कीजिये। आपकी प्राण-शक्ति बढ़ जायेगी, क्योंकि आप बड़ा काम करना चाहते हैं। दृढ़संकल्प चाहिए, दृढ़ सफलताकी आशा चााहिए और ईमानदारी भी चाहिए। सबसे बड़ी तो ईमानदारी है। ईमानदारीके बिना तो दिखावा नहीं चलेगा।

अब देखो कि मृत्यु भी भगवान् कैसे हैं? यह अद्भुत है। आपका बच्चा अगर गन्दा कपड़ा पहने हुए हो या जीर्ण-शीर्ण हो या मैला हो या एक ही कपड़ा पहने रखना चाहता हो तो आप क्या करते हैं? भले वह रोवे लेकिन आप उसका कपड़ा निकालकर फेंकते हैं। उसके शरीरका मैल छुड़ाते हैं। उसको नया कपड़ा पहनाते हैं। उसे ऋषिकुलमें जाना है। गुरुकुलमें जाना है। कालेज भी जाना है। समय-समयके अनुसार अपना काम करते हैं। यह नहीं कि आजका कालेज पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात पढ़ानेमें लगा रहे। आजके कालेजको चाहिए कि पच्चीस वर्ष बाद, पचास वर्ष बाद देशकी परिस्थिति कैसी होगी, उसमें हमारा छात्र ठीक-ठीक 'फिट'-सूत्रकी तरह फिट हो जाये।

संस्कृतमें फिट-सूत्र बोलते हैं। उस समय जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार काम कर लें इतना योग्य होना चाहिए। जब आपका बेटा ऋषिकुलमें, स्कूलमें, जाने लगता है तो वह अपनी पोशाक न बदलना चाहे तो भी आप बदलवाते हैं। ऐसे ही ये भगवान् हैं। जब देखते हैं कि इस शरीरसे जितना काम होना था वह हो चुका—बच्चेका भी हो जाता है। कोई योगी था उसके मनमें वासना थी कि मैं राजकुमार बनूँ और योगभ्रष्ट होकर राजकुमार बन गया। राजकुमार होने मात्रसे उसकी वासना हुई पूरी और वह शरीर छूट गया। छूट गया तो फिर वह योगी होगा। भगवान् यह बात देखते हैं। कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। मृत्युसे भी किसीका भला होता है। मृत्युसे भी किसीकी दुष्टता छूटती है। हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्णको मरनेसे ही तो दुष्टता शान्त हुई।

भगवद्दृष्टि तो बड़ी विलक्षण है। वह हिंसा-अहिंसा नहीं देखती है। इसमें भला कैसे है? हित कैसे है? जैन लोग, बौद्ध लोग अहिंसा देखते हैं। गाँधीजी अहिंसा देखते हैं। जो नहर बहती है, उसमें दुनिया बह जाती है। देखो एक देश है, जहाँ बच्चा पेटमें आता है वहाँ उसको निकाल देते हैं कि जनसंख्या बढ़ने न पावे और एक देश ऐसा है कि जहाँ बच्चा होनेपर पुरस्कार मिलता है। देश-देशका भेद है, कालका भेद है। भगवान् अनेक रूपोंमें कल्याण करते हैं। जिलाकर भी कल्याण करते हैं और मारकर भी कल्याण करते हैं। हमारा जीवन ऐसे महापुरुषके, पुरुषोत्तमके हाथमें है कि वह सब प्रकारसे हमारा कल्याण ही करते हैं। बीमार बच्चा हो, मिठाई खाने लगे तो उसके हाथसे छीन लेते हैं कि नहीं। ईश्वर कभी-कभी शरीर भी किसीका छीन लेता है। उसमें भी कल्याण होता है। अब उसको नया शरीर मिलेगा, नया उत्साह मिलेगा, नया वीर्य मिलेगा। मृत्यु भी भगवान्का रूप है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' एक ही सिक्केमें दो पहलू हैं। कभी-कभी हम सोते हैं, कभी जागते हैं। कभी जीते हैं, कभी मरते हैं। और एक ही नचानेवाला है। जन्म और मृत्युको मत देखो। देखो उसको-हमारे शायर बोलते हैं-मयको मत देखो साकीको देखो।' वह क्या दे रहा है पीनेको, यह मत देखो। पिलानेवालाको देखो। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।'

भगवान् राग भी देते हैं। वैराग भी देते हैं। मृत्यु भी देते हैं। घबड़ाओ मत देनेवाला बहुत बढ़िया है। इतना बढ़िया है, हमारा इतना हितैषी है कि हमको कभी चिकोटी काट ले चाहे कभी चपत मार दे। कभी हमारे कपड़े उतार ले और कभी बढ़िया-बढ़िया लाकर पहना दे। हमारा पूरा विश्वास है, 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' वह अमृत भी है, मृत्यु भी है। 'मृत्युः सर्वहरश्च।' भगवान्का एक रूप मृत्यु है। देख मृत्युका रूप 'धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!' अमृतं चैव मृत्युश्च। सदसच्चाहमर्जुन।' ऐसा ईश्वर दुनियामें और किसीका नहीं है, हमारा है। यह हमारा अपना ईश्वर है। दोनों तरफसे बताया है—मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ। माने मैं कार्य हूँ, मैं कारण हूँ। सत् कार्य है और असत् कारण है। सत् स्थूल है और असत् सूक्ष्म है।

दूसरी जगह अर्जुन कहते है—'सदसत्'—मैं सत् भी वही असत् भी वही। दोनोंसे परे भी वही। कहा—'हाँ ठीक है'। अर्जुन, जगत्का मूल तत्त्व है ब्रह्मतत्त्व। उसको न सत् कह सकते न असत् कह सकते। वह अनिर्वचनीय है। वह सत्, असत् भी है और सत् असत्से परे भी है। यहाँ भी वह बात है। 'सदसच्चाहमर्जुन।' एक सत् है, एक असत् है। अब यह दोनों है। अपना दिल मत बिगाड़ो। सब खजानोंका खजाना अपना दिल है—यदि अपना दिल बिगड़ गया तो दुनियामें कुछ नहीं बना। आपकी भौं टेढ़ी न हो, आपकी वाणीसे कटुवचन न निकले। आपका हृदय किसीके प्रति क्रूर न हो। देखो वही प्यारा है, वही प्रभु है, उसको पहचानो। 'सदसच्चाहमर्जुन।' ईश्वरका यह स्वरूप ईश्वरके सिवाय कुछ नहीं है। इसका एक कारण है। उन्होंने उपादान अलग माना और निमित्त कारण अलग माना। बनानेवाले अलग हैं और जिस मृत्तिकासे यह बनता है वह दूसरी चीज है। नहीं, हमारे वेद-शास्त्रका सिद्धान्त है कि वही बनता है और वही बनाता है। बनानेवाला भी वही और बननेवाला भी वही—अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वही निमित्त है, वही उपादान है। यह बात वेदान्तकी भी है, वेदकी भी है, तन्त्रकी भी है, महाभारतकी है, पुराणकी है, दर्शनकी है—हमारे दो नहीं हैं, एक ही है।

इसलिए मेरे भोले मित्र अर्जुन! (अर्जुन माने भोले मित्र) बड़े सरल स्वभावके हो तुम। तुम दुर्भाव मत करो। अपने दिलको मत बिगाड़ो। अब देखो एक शास्त्रीय प्रश्न उठता है। लोग कहते हैं जब क्रतु भी वही, यज्ञ भी वही और अमृत भी वही, मृत्यु भी वही—सत् भी वही, असत् भी वही नियम क्यों करते हो कि सदाचारसे ही कल्याण होता है—दुराचारसे भी होवे। सब वही है। यह बात कही गयी दूसरे प्रयोजनसे। प्रयोजनपर ध्यान दो कि हमारे हृदयमें भेद-बुद्धि न हो। हमारे हृदयमें दुर्भाव न हो। हमारे हृदयमें रागद्वेष न हो। भगवान् हमारे दिलको सँवारना चाहते हैं—जैसे आप अपने-अपने बाल, चेहरे, कपड़ेको सँवारते हैं-वैसे भगवान् चाहते हैं हमारे दिलको सँवारना। दिलमें जो कूड़ा-करकट है, उसे उबटन लगाकर, साबुन लगाकर साफ करना चाहते हैं।

सर्वमें परमात्मभाव किये बिना यदि तुम अपनी कामनाओंकी पूर्तिमें ही लगे रहोगे तो भले स्वर्गमें चले जाओ वह भी पातक ही है। पातक माने पतनका कारण—'पातयति' जो ऊपर चढ़े हुएको भी नीचे गिरा दे उसका नाम है पातक।

श्रीकृष्ण भगवान् बड़े क्रान्तिकारी हैं। हमारे सनातन धर्मी लोग कहते हैं जो शास्त्र-विधिको छोड़ करके स्वच्छन्द बरताव करता है, उसका पतन हो जाता है। 'न सुखं न परां गतिम्।' न उसको सुख मिलेगा, न परा गति मिलेगी। 'शास्त्रं प्रमाणं ते'। मुसलमान कहता है कुरानको मानो, इसाई कहता है बाइबिलको मानो। हमारे पण्डित लोग कहते हैं धर्मशास्त्रको मानो और उसको छोड़ दोगे तो पतित हो जाओगे। एक बातपर आप ध्यान दें। यह अर्जुनका प्रश्न है—जो शास्त्रविधिको तो छोड़ देते हैं परन्तु हृदयमें श्रद्धा है, उनकी गति क्या होगी? श्रद्धा उत्तम गति देनेवाली है और शास्त्रविधिका परित्याग अधम गति देनेवाला है। परन्तु कहीं दोनोंकी विषमता हो जाय तो! शास्त्रविधि न रहे और श्रद्धा रहे तो?

श्रद्धा हृदयको कोमल बनाती है। यदि दोनोमें परस्पर विरोध हो जावे तो क्या होगा? बोले सहज स्थिति है। वह स्वभावज श्रद्धा होती है। स्वाभाविक श्रद्धा, श्रद्धा कल्याण किये बिना नहीं रहेगी। 'श्रद्धा मातेव योगिनं पाति'। जैसे माँ अपने बेटेकी रक्षा करती है वैसे अपने हृदयमें श्रद्धा बनी हुई है तो वह मनुष्यकी रक्षा करती है। 'श्रद्धा वित्तो भूत्वा'। श्रद्धा हमारी सम्पदा है। क्रान्ति कहाँ है श्री कृष्णमें ? क्रान्ति यह है कि यज्ञ-यागमें जो बड़ा आग्रह है। उसके बारेमें बोलते हैं कि वह ठीक है, यज्ञ करना तो बहुत अच्छा है, लेकनि जो यज्ञ करके तुम स्वर्ग चाहते हो वह अच्छा नहीं है। वहाँ क्या मिलेगा? भोगनेको अप्सरा मिलेगी, पीनेको अमृत मिलेगा वहाँ घूमनेको नन्दनवन मिलेगा वहाँ। यह जो तुम्हारी वासना है वह अच्छी नहीं है। यज्ञ-याग तो बहुत अच्छे हैं। वेदोमें निन्दा है इस बातकी कि इष्टापूर्तको, जो तुम बहुत बड़ा मानते हो, वह कामना तुम्हें दुनियाँमें भटका देगी। यदि कामनाके फन्देमें फँस गये तो कहाँ-कहाँ वह ले जायेगी-वह शराबखानेमें ले जायेगी, वह जुआखानेमें ले जायेगी, वह व्यभिचारके अड्डेमें ले जायेगी। यदि तुम कामनाके अनुसार चलने लगोगे तो यह कामना कहाँ-कहाँ ले जायेगी कुछ ठिकाना नहीं। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः'। यज्ञ अच्छा है, वेदोंका अध्ययन अच्छा है। यज्ञ करना अच्छा है, उससे पाप मिटाना अच्छा है। सोमपान करना भी अच्छा है। लेकिन

यज्ञके द्वारा करते हैं हमारी आराधना और चाहते हैं स्वर्ग। राष्ट्रपतिकी, प्रधानमन्त्रीकी बड़ी खुशामत की। बोले किसलिए? इसलिए कि हम पेरिस जाना चाहते हैं। वहाँ हमको सबसे बढ़िया होटलमें रहनेकी जगह मिल जावेगी। अरे भाई राष्ट्रपतिके पास जाना अच्छा है, प्रधानमन्त्रीके पास जाना अच्छा है, पर किसीसे कहना कि अपना हाथी दे दो, हमको हाथीसे हल जुतवाना है। यज्ञ करके भगवान्‌को प्रसन्न करते हो और फिर चाहते हो कि हमको स्वर्ग मिले!

एक लड़कीने राजकुमारको प्रसन्न किया। उसने कहा तुमको क्या चाहिए? राजकुमार सब कुछ देनेको तैयार है। उसने कहा कि गाँवमें वह सबसे बड़ा गुण्डा है न ? उसके साथ हमारा व्याह कराओ।

यज्ञसे भगवान्‌को किया खुश और उनसे माँग ली अप्सरा। उनसे माँग लिया अमृत। उनसे माँग लिया नन्दनवन। उनसे माँग लिया कि हमको घूमनेके लिये एक हवाई जहाज दे दो। 'ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्'—भगवान् कहते हैं जाओ भाई सैर कर आओ। वहाँ सुरेन्द्रलोकमें जाते हैं और वहाँ दिव्यभोग उनको प्राप्त होते हैं। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्'— बोले भाई, अब पैसा नहीं है। होटलमें आये तो हैं। इतने दिन तक रहे, इतना भोग किया लेकिन जो तुम्हारे पास पूँजी थी सो चूक गयी। सो वही कर्मचारी जो तुम्हारी सेवा करते थे बाहर निकाल देते हैं।

महाभारतमें कथा है— राजा ययाति स्वर्गमें गये। इन्द्रने उनको अपने आधे सिंहासन पर बिठाया। बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सब देवता हाथ जोड़कर खड़े। लेकिन जब उनका पुण्य क्षीण हुआ तो गरदन पर हाथ लगाकर ढकेल दिया। गरदनियाँ दे दी। अर्धचन्द्र बोलते हैं संस्कृतमें—अर्धचन्द्र दिया उनको। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति।' लेकिन जहाँ पुण्यकी पूँजी गयी, वह, पुण्य भी पातक ही है जो एक बार ऊँचे पद पर ले जाकर गिरा दे। जो ऊँचे -ऊँचे ले जावे और सबसे ऊँचेके पास ले जावे वह तो सच्चा पुण्य है; नहीं तो यह भी एक पवित्र पाप ही है। पूतपापा श्लोकमें ही है। पापी तो हैं पर पूतपापी हैं। पाप तो इसलिए है कि वह हमारी रक्षा नहीं कर पाता है— पा धातु रक्षाके हेतु है। जो संरक्षणसे च्युत कर दे—उसका नाम पाप है। एक बार तो उपर उठाकर ले गया। हम गेंद मारते हैं धरती पर, वह ऊपर तक उछलता है। क्यों उछलता है ? नीचे गिरनेके लिये उछलता है। यह पुण्य उछालकर जिनको स्वर्गलोकमें ले जाता है, वहाँसे धरती पर गिरानेके लिए, पटकनेके लिए ले जाता है। धरतीसे स्वर्गमें जाते हो, स्वर्गसे धरतीमें गिरते हो। आखिर धरतीका ही आश्रय है बाबा! धरतीमें ठीक-ठीक रहो। हम स्वर्गमें जाकर ठीक रहेंगे, यह कल्पना मत करो।

श्री कृष्णने इन्द्रकी पूजा बन्द कर दी और धरतीका जो एक अंश है पहाड़, उसकी पूजा करवायी। इन्द्रकी पूजा बन्द करवायी और मिट्टीकी पूजा करवायी। यह श्रीकृष्णका क्रान्तिकारी रूप है। पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे इन्द्रकी पूजा चली आ रही थी और बोले छोड़ दो बाबा! देख हमारी गायका पालन-पोषण तो यह पहाड़ करता है। हमको खानेको तो यह पेड़ देते हैं। खेती देती है। यह धरती माता हमको अन्न देती है। कहाँ ऊपरकी ओर इन्द्रकी ओर देखता है। खसूची बन गया। खसूची माने चलते तो हैं धरती पर और देखते हैं आसमानकी ओर। आजकल दिल्लीमें देखना हो तो खसूचियोंकी भरमार है। सबके घरमें एक-एक खसूची पनपता रहता

है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना।'— शंकराचार्यका पाठ है। और दूसरे रामानुजाचार्यका—'गतागतं कामकामा लभन्ते।' एक कामना-दूसरी कामना, तीसरी कामना-कामान्—बस, अपने भोग-सुखको, अपनी इच्छापूर्तिको ही सबसे बड़ी चीज मानते हैं। 'गतागतं'—गये और आये। झूलेकी तरह झूल रहे हैं—न स्वर्गमें टिकते हैं न धरतीपर टिकते हैं। न समाजसेवी रहे, न राजनेता रहे। वहाँसे भी गये यहाँसे भी गये। सेवा तो बनती नहीं और कुरसी टिकी नहीं फिर क्या करेंगे? ये जो लोग कुरसीके चक्करमें पड़ जाते हैं—कुरसी माने वेश्या। कु-रसिका माने, वेश्या। कुरसिका— 'कु' माने धरती—जिसके पाप हमेशा धरती पर रहते हों उसको कहेंगे कुरसी। कुरसिकाके चक्करमें पड़ गये। 'गतागतं'— बैठो और उलटो। 'गतागतं कामकामा लभन्ते।' क्यों ऐसा होता है? वे स्वार्थके चक्करमें होते हैं। न मानवताकी सेवा करना चाहते हैं, न विश्वकी, न राष्ट्रकी, न प्रान्तको, न मजहबकी, न जातिकी— वह तो अपने स्वार्थके चक्करमें हैं—'गतागतं कामकामा लभन्ते।'

आओ एक बढ़िया बात आपको सुनावेंगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां निन्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 9.22

महाभारतके अन्तर्गत गीता है। इस पर एक टीका अर्जुनमिश्रने लिखी है। वे जगन्नाथपुरीमें रहते थे। टीकाका नाम है लक्षाभरण। महाभारत पर संस्कृतमें दस टीकाएँ हैं। एक तो समग्र महाभारत पर नीलकण्ठी है। और एक अर्जुन मिश्रका लक्षाभरण है। जब यह श्लोक आया टीका लिखते समय तब वह सोचने लगे कि 'योगक्षेमं वहाम्यम्'। भगवान कहते हैं कि योगक्षेमको मैं ढोता हूँ। माने वह शान्त होकर बैठे हुए हैं और मैं जो कुछ उनके पास है—साधन है, धन है, सम्पति है उसकी पहरेदारी करता हूँ। बल्कि अपने सिर पर लेकर खड़ा रहता हूँ कि कहीं चोर न ले जाय। 'वहामि, योगं वहामि क्षेमं वहामि'। जो उनके पास नहीं है वह लाकर देता हूँ। इसका नाम हुआ योग। यदि उनके साधनमें कुछ कमी है तो उसको मैं पूर्ण कर देता हूँ। यदि उनके पास खानपानकी कमी है तो खानपान सिर पर ढोकर ला देता हूँ। और 'क्षेमं'—उनको कोई हानि पहुँचानेके लिए आवे— नुकसान करनेको आवे तो 'क्षेमं वहामि' हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़ा हो जाता हूँ। उनकी रक्षा करता हूँ।

अम्बरीषको हानि पहुँचाने कृत्या आयी और हमारा चक्र घूम गया। तुलसी दासकी चोरी करने चोर आये—धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। 'क्षेमं वहामि' और 'योगं वहामि।' अब अर्जुन मिश्रके मनमें आया कि ये भगवान् 'वहामि' क्यों बोलते हैं। 'ददामि' क्यों नहीं बोलते? 'योगक्षेमं ददाम्यहम्'। मैं उनको 'योगक्षेम' देता हूँ ऐसे बोलना चाहिए। 'वहामि'का अर्थ होता है सिर पर उठाकर ढोना। सोच-विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह लेखकके प्रमादसे 'ददामि'का 'वहामि' बन गया है। हड़ताल लगा दी। पीली-पीली हड़ताल लगाकर वहाँ-उस जगह 'ददा' लिख दिया और 'मि' ज्यों-का-त्यों। चले गये समुद्र स्नान करनेको। घरमें तो कुछ था नहीं उनके।

पहले जो महात्मा लोग थे, वे खाने-पीनेकी फिक्र नहीं करते थे। एक बालक अपने सिर पर टोकरी लेकर, उसमें दाल, चावल, आटा, घी, नमक, साग, सब्जी भरकर घरमें पहुँचा दिया। बोला-मिश्राणीजी ये आप लीजिए भोजन बनाइये । उन्होंने पूछा कहाँसे आया भाई? हमको मिश्राजीने भेजा है। देख तेरे शरीर पर चोट कैसे लगी है? पीला-पीला यह सब क्या है? हल्दी काहे को लगा रखी है? बोले मिश्रजीने हमको मार-मारके भेजा है। बड़ी नाराज हुईं—मिश्रजी पर। बड़े प्यारसे उसको समझा-बुझाके भेजा।

मिश्रजी आये तो उनपर नाराज—क्यों तुमने उस सीधे-साधे बालकको मारा? अरे कौन बालक? वही जो सीधा-सामान लेकर आया था। न मैंने सीधा सामान भेजा, न मुझे मालूम, वह कौन था? वह बड़ा सुन्दर बालक था। उसको तुमने मार-मारके भेजा। वे बोले ना-ना। यह गीता भगवान्‌का रूप है, मैंने इस पर जो हड़ताल लगायी थी, अङ्ग-भङ्ग कर दिया गीताका, वहामिका ददामि बना दिया और हड़ताल लगा दी—वह हल्दी लगाकर आया था। भगवान्‌को भक्त लोग कपटी बोलते हैं। देखो तुमको तो दर्शन दे गया और हमको उसके दर्शन नहीं हुए।

'योगक्षेमं वहाम्यम्' किसका योगक्षेम ढोते हैं भगवान्? 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।' देखो भाई, तुम्हारा जन्म हुआ। जिसका जन्म होता है उसका नाम हुआ जन। मां चिन्तयन्त:। मेरा चिन्तन करते हुए । 'मां पर्युपासते।' मन मैं हूँ और चारों ओर भी मैं। पर्युपासते माने चारों ओर—ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। हृदयमें भगवान्‌का चिन्तन और चारों ओर भगवान्‌का दर्शन और अनन्य माने—अन्य कोई दूसरा नहीं । जो कुछ दूसरा मालूम पड़ता है, उसमें भगवान् हैं। उसीको देखोगे तो समदर्शी हो जाओगे।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:॥

तुम्हें चाण्डालमें मनुष्यतक तो दिखता नहीं, भगवान् कहाँसे दिखेंगे? आदमी तो उसको समझते नहीं, ईश्वर कहाँसे देखोगे? यहाँ तो बोलते हैं 'पण्डिता: समदर्शिन:।' भागवतमें तो स्पष्ट है—जबतक भगवान्‌को नहीं देखोगे समता नहीं आयेगी और समता नहीं आवेगी तो शान्ति नहीं मिलेगी। बिना समताके शान्ति नहीं मिल सकती।

'अनन्या:' भगवान्‌के सिवाय कोई अन्य नहीं है। ब्रजमें एक लटका बोलते हैं। एक बल्लभ सम्प्रदायकी यात्रा निकली थी। गोस्वामीजी महाराज बैठे थे। नन्दगाँवके ग्वाल—हैं तो ब्राह्मण—पर खेती करते हैं, सिर पर बोझा लिए द्वारका आ गये। देखा सभा जुड़ी ह—पटक दिया। लाठी टेककर खड़े हो गये। लोगोने कहा—पा लागी महाराज, पा लागी महाराज। तो बल्लभ सम्प्रदायके गोस्वामीने पूछा—तुम कौन हो? हम गोस्वामी—हमसे पूछते हो तुम कौन हो? पहले तुम बताओ तुम कौन हो? बोले हम अनन्य हैं। बोले—अच्छा; तुम अनन्य हो तो हम खनन्य हैं। अरे भाई, खनन्य क्या होता है पहले यह बताओ? उन्होंने तो देवी- देवताओंका नाम लिया—ये सब अन्य-अन्य देवता हैं—ये सब अन्य हैं और हम अनन्य हैं। तो असने कहा तुम तो इन सालोंका नाम भी जानते हो! जो इनका नाम भी न जाने उनका नाम खनन्य । व्रजमें ऐसे गाली देते हैं तो —सारे बोलते

हैं। कृष्णको भी सारे कह कर पुकारते हैं। तो तुम तो इन सारोंका नाम भी जानते हो! अनन्य हो। हम तो इनका नाम भी नहीं जानते, इसलिए हम खनन्य हैं।

तो 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्।'अनन्य माने वस्तु दूसरी नहीं है और पार्युपासते माने स्थान दूसरा नहीं है और नित्याभियुक्तानां माने काल दूसरा नहीं है। भगवान् तो योगक्षेम वहन करनेके लिए अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तके संरक्षणके लिए हर देशमें, हर कालमें, हर वस्तुमें, हर रूपमें तैयार रहते हैं। तो देखो पहले यह बात बतायी कि जो तुम साधन करते हो वह भगवान् हैं, और कालका नियन्ता भगवान् हैं, और हमारा सर्वस्व—'गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी:' भगवान् हैं।

आप यज्ञ भले करो—परन्तु उससे स्वर्ग मत चाहो। अन्त:करणकी शुद्धि, परमात्मा प्राप्तिके लिए करो। चार प्रकारसे कर्म होता है। प्रायश्चितके लिए होता है, अपने कर्तव्य पालनके लिए होता है, अन्त: करणकी शुद्धिके लिए होता है, भगवानकी प्रसन्नताके लिए होता है। आप जो भी कर्म करो , उस कर्ममें चार बातका ध्यान रखो। आपने जो बुरा काम किया है, उसका प्रायश्चित हो जाय, अपने कर्तव्यका पालन हो जाय, अन्त:करणकी शुद्धि हो जाय और भगवान् प्रसन्न हो जायँ। प्रसन्न हों माने अपना बुरका हटाके जरा सामने प्रेम भरी आँखसे देख लें, एक बार मुस्करा जायें। ये जो अपनेको ढँक-ढँक कर बैठे है न! आवृत हो गये हैं। उन्होंने गोपियोंका चीर हरण किया। हम उनका चीर हरण करना चाहते हैं। इसके लिए कर्म होता है।

●

प्रवचन : 8

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्॥ 9.22

भगवान्ने पहली बात कही अनन्यता। 'न अन्यत् तत्त्वं एषा' परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व जिनके लिए नहीं है। एक परमात्मा ही सर्व-रूपमें प्रकट है, सर्वका आधार है, सर्वका अन्तर्यामी है, सर्वका अधिष्ठान है और सर्वका प्रकाशक है। उसके सिवाय न कोई आधार है, न अन्तर्यामी, न उसके सिवाय कोई अधिष्ठान है और न प्रकाशक।

भक्त लोग कहते हैं—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' मेरे तो सब कुछ भगवान ही हैं। दूसरा कोई नहीं है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—श्रीकृष्णके सिवाय और कोई तत्त्व है, यह मुझे ज्ञात नहीं है। जिनको भगवद्रसका आस्वादन हो जाता है, एक बार भगवान्के चरणाविन्दमें मन लग जाता है, उसको अभ्याससे 'अनन्यता' लानी नहीं पड़ती है, स्वाभाविक ही 'अनन्यता' उसमें आ जाती है।

भगवान्के चरणाविन्दसे अमृतकी धारा बह रही है। झर-झर, झर-झर—'अमृतस्य' धारा। उनमें जिसने अपना मन लगा लिया अपनी आत्माको सन्निविष्ट कर दिया, उसको फिर दूसरी वस्तु पानेकी इच्छा कैसे हो सकती है—'स्थितेऽरविन्दे' मधुसे, मकरन्दसे, रससे भरपूर अरविन्द अपने सामने है। मधुव्रत निष्ठावान है। मधुके सिवाय अन्य कुछ नहीं लेता। दलको, पत्तीको, फलको हानि नहीं पहुँचाता। दूसरी वस्तु उसमें-से लेता नहीं। कण भी नहीं लेता, पराग भी नहीं लेता। जिसको अरविन्द, मकरन्दका समास्वादन प्राप्त हो जाय वह किसी सूखी घासकी ओर, सूखे तृणकी ओर क्यों देखेगा ? जिसको भगवद्रसका आस्वादन हो जाता है वह अनन्य हो जाता है। अब एक विभाग इसका क्या है? निश्चयमें अनन्यता और धारामें चिन्तन—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां निश्चय है परमात्माके सम्बन्धमें यह अनन्यता है—अनन्यतामें निश्चय है और चिन्तनमें धारा। चित्तमें जितनी वृत्तियाँ उठती हैं—ये कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण परमात्मा, भगवान्—स्मरणमें गृहीत ग्रहण होता है। माने जो पहले कहीं देखा हो, कहीं सुना हो, अनुभव किया हो, उसका स्मरण होता है। स्मृति गृहीत-ग्राहिका होती है और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली होता है। चिन्तन माने दोहराना नहीं, चिन्तन माने अभ्यास नहीं, चिन्तन माने परमेश्वरके बारेमें नयी-नयी बातोंका हृदयमें आना।

स्मरण दूसरी वस्तु है। वह जितना देखा-सुना है, अनुभव किया हुआ है, वह भी पूरा-का-पूरा नहीं, उसका आधा आता है, आधा भी आवे, चौथाई भी आवे, उलटा भी आवे—इसीसे स्मरणको दर्शन शास्त्र, प्रमाण शास्त्रमें प्रमाण नहीं मानते हैं। स्मृति प्रमाण नहीं है। और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली है। कल जैसी बात आपके सामने सुनायी थी उसकी अपेक्षा यह दूसरी शैली है। परन्तु अनन्यता एक विषय है—

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर हमारे हृदयमें रहते हैं सो दूसरेको कैसे ले आवें? चिन्तन भी हो, उन्हींका। राम भक्त कहते हैं।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुः नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

मेरे पिता राम हैं। मेरी माता राम हैं। मेरे स्वामी राम हैं, मेरे सखा राम हैं। मेरे सर्वस्व दयालु राम हैं—'नान्यं जाने नैव जाने न जाने।' मैं दूसरोंको नहीं जानता। यह अनन्यता है। माता, तात, गुरु, सखा ये सब-के-सब भगवान् हैं। सब प्रकारसे हमारे हितको भगवान् जानते हैं।

'ऊधो मन न भये दस बीस। एकहु तो सो गयो श्यामसंग, को आराधै ईस।' मन तो एक ही होता है और मनमें एक साथ दो ज्ञान नहीं होते। जिनको मनमें राम नहीं दिख रहे हैं वहाँ कामके लिए अवकाश ही कहाँ ?

एक बात हुई अनन्यताका निश्चय और दूसरी बात हुई चिन्तनकी धारा। निश्चय भी अन्तरंग है, और चिन्तन भी अन्तरंग है। बाहर देखेंगे तो क्या? 'पर्युपासते-परितः सर्वतः उपासते'। जो दिखता है, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। सम्पूर्ण जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। 'मया ततं विश्वमनन्तरूपः। येन सर्वमिदं ततम्'। अन्यके रूपमें वर्णन हैं भगवान्का। जिनके द्वारा ये सम्पूर्ण तत है— माने कपड़ेमें सूतकी तरह सब भरा हुआ है। अर्जुनने कहा 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'—ये सब परमात्माका रूप है और जो देखते हैं-'सर्वं सर्वगत—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

तीसरी बात देखो। 'नित्याभियुक्तानां।' नित्य माने कालकी धारा—अविच्छन्न। जो सर्व नहीं होगा वह कालकी धारामें विच्छिन्न हो जावेगा। कभी उसका स्मरण होगा और कभी नहीं होगा। और जो सर्व देशमें नहीं होगा उसका कहीं स्मरण होगा, कहीं नहीं होगा। कभी चिन्तन होगा, कभी नहीं होगा। जो सर्व देशमें रहता है, जो सर्व कालमें रहता है, और जिसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, उसीके साथ नित्य योग हो सकता है। 'नित्याभियुक्तानां'। जो कहीं हो, कहीं न हो, कभी हो, कभी न हो, कुछ हो, कुछ न हो तो उसके साथ हमारा योग नित्य नहीं हो सकता। नित्य योग तो तभी होगा, जब हमारा परमेश्वर सर्व होगा। योगक्षेमं वहाम्यम्। ऐसे जो भक्त हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व मान लिया भगवान्को—'अकिञ्चनो न अन्यगतिः'—दूसरा साधन भी नहीं है।

तो; अनन्यतामें शरणागति है। चिन्तयन्तोमें बुद्धिकी धारा होवे। और पार्युपासतेमें भाव हो और नित्याभियुक्तानांमें नित्य संयोग हो। अब भक्त क्या करे? पद्मपुराणमें एक कथा आयी है, एक भक्तने भगवान्से प्रश्न किया कि प्रभु जब मृत्युका समय आयेगा तब हमारे हाथ काम नहीं देंगे तब माला कैसे फे

रूँगा? जीभ काम नहीं देगी तो नामका उच्चारण कैसे करूँगा? दिल दिमाग मेरे वशमें नहीं रहेगा तो मैं आपका स्मरण चिन्तन कैसे करूँगा? भगवान्‌ने कहा तुम मेरे प्यारे भक्त निश्चिन्त हो जाओ। जब तुम्हारा हाथ, जीभ, दिल-दिमाग काम नहीं देगा तो मैं स्वयं आऊँगा और तुम्हारे आसन पर बैठ जाऊँगा और तुम्हारी माला लेकर, तुम्हारी ओरसे मैं अपने नामका जाप करूँगा, अपना चिन्तन करूँगा और तुम्हारे ही रूपमें अपना रूप प्रकट करूँगा, मैं और तुम दोनों अलग-अलग नहीं रहेंगे।

यह क्या हुआ? यह योगका वहन हुआ। ऐसी अखण्ड स्थिति भक्तको प्राप्त नहीं है कि वह मृत्युके समयमें भी भगवान्‌का चिन्तन कर सके तो भगवान् अपने भक्तका चिन्तन करते हैं। भगवान् भी वही हो जाते हैं। 'अनन्या: चिन्तयन् पर्युपासनम्—नित्याभियुक्ता:' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' भगवान् भी अपने भक्तके सिवाय दूसरेको नहीं देखते। यदि मेरे भक्त जिन्दा नहीं रहेंगे तो मैं भी जिन्दा रहूँगा? भक्त नहीं रहेंगे तो भगवान् कहाँसे? किसके भगवान्? 'पुरुषं प्रकृतिं चैव'—तेरहवें अध्यायके इस श्लोकको व्याख्यामें भगवान् शंकराचार्यने कहा—यदि कोई नियममें नहीं रहेगा, जीव नहीं रहेगा और प्रकृति नहीं रहेगी तो भगवान् नियन्ता किसके होंगे?

एक सज्जन मेरे पास आये। बोले—मैं अपने स्कूलमें हेडमास्टर हूँ। मैंने उनसे पूछा कि स्कूलमें और कितने अध्यापक हैं? तो बोले और कोई नहीं है महाराज! फिर मैंने पूछा विद्यार्थी कितने हैं? बोले विद्यार्थी भी नहीं हैं। जब विद्यार्थी नहीं कोई दूसरे अध्शपक नहीं तो हेडमास्टर किसके? उनको तनखाह मिलती है। स्कूलका नाम दर्ज है। परन्तु न विद्यार्थी हैं न अध्यापक हैं, तो वे हेडमास्टर कैसे? ईश्वरके लिए तो कोई जीव होगा तभी न उसका ईश्वर होगा! जगत है तो उसका ईश्वर 'नियम्याभावे नियन्त्रकाभावप्रसङ्ग:' यदि प्रकृति पुरुष नहीं होंगे तो वह नियन्ता किसका होगा? ईश्वर कहते हैं कि मेरा भक्त न हो तो मैं अपनेको भी रखना नहीं चाहूँगा। भक्त लोग मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या'—जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको अपने वशमें कर लेती है वैसे भक्त लोग भगवान्‌को अपने वशमें कर लेते हैं। मैं तुम्हारे सिवाय और किसी दूसरेको नहीं देखता हूँ, तो भगवान् बोलते हैं— मैं तुम्हारे सिवाय और किसीको नहीं देखता हूँ। वह तो वही प्रतिध्वनित होगा जो भक्त बोलेगा, वही भगवान् को बोलना पड़ेगा। मैं केवल तुम्हारा चिन्तन करता हूँ। भगवान् कहते हैं— मैं भी भक्तके सिवाय किसी औरको नहीं जानता हूँ। भक्तको सर्वत्र भगवान् दिखते हैं। बल्कि इस अंशमें भगवान् भक्तोंके ऋणी भी हैं—

भागवतमें यह प्रसंग आता है। 'अनुव्रजाम्यहम्'—मैं अपने भक्तोंके पीछे-पीछे चलता हूँ। पीछे-पीछे क्यों चलते हो? इसलिए कि उनके चरणोंकी धूलि मेरे ऊपर पड़ जायगी तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

भक्तके चरणरेणुसे भगवान् पवित्र होते हैं। एक महात्माने पूछा कि प्रभो, आपमें क्या अपवित्रता है कि आप पवित्र होनेके लिए भक्तके चरणोंकी धूलि लेनेके लिए भक्तके पीछे-पीछे घूमते हैं? भगवान्‌ने कहा—भाई हमारे अन्दर एक अपवित्रता है, क्या है? बोले—भक्तके प्रेम जैसा मैं उससे प्रेम नहीं कर पाता हूँ। यह मेरी त्रुटि है। मेरी अकृतज्ञता है। भक्त अनन्य भावसे मुझसे प्रेम करता है, एक भक्त केवल मुझे ही सम्हालता है

और मुझे भक्तोंको सम्हालना पड़ता है। भक्तके प्रेमके बराबर मेरा प्रेम भक्तसे नहीं होता। तो इससे मेरे अन्दर त्रुटि आ जाती है। अपवित्रता आजाती है। उस अपवित्रताको दूर करनेके लिए मैं भक्तोंके चरणधूलिको अपने सिर पर लगानेके लिए उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ।

भगवान् ऋणी भी होते हैं। भागवतमें गोपियोंसे कहते हैं—तुम्हारा प्रेम निश्छल है, निष्कपट है, मैं इससे कभी उऋण नहीं हो सकता है। तुमने मेरे लिए अपना घर छोड़ा, अपना धर्म छोड़ा, अपना परलोक—सारी जंजीरें काट दीं। सारे बन्धन काट दिये और मुझसे तुमने प्रेम किया। मैं तुमसे उऋण कैसे हो सकता हूँ? जन्म-जन्मके लिए यह भगवान्की वाणी है। जिसमें अहंकार है वह ऐसी वाणी नहीं बोल सकता है। बार-बार दुहराते हैं। मेरे हृदयमें एक ऋण ऐसा बैठ गया है, जो अब खटकता है। भगवान्की आँखोमें आँसू आजाते हैं। हमारे पर ऋण है, ऋण है और बढ़ता जा रहा है। उसका ब्याज भी बढ़ता जा रहा है।

यह ऋण मेरे हृदयमें बढ़ रहा है। बढ़ता जा रहा है और मैं दिलसे एक क्षणके लिए भी अलग नहीं होता। मेरे लिए द्रौपदीको पुकारना पड़ा। क्योंकि मैं दूर था। द्रौपदीको अपनी रक्षाके लिए मुझे पुकारना पड़ा—मैं पहलेसे सावधान नहीं था। मेरे रहते द्रौपदी पर संकट आगया और मुझे पुकारना पड़ा, यह मेरे ऊपर कर्ज हो गया है। भगवान् हमेशा तैयार रहते हैं। चक्र हाथमें है, भक्त पर कोई दूरका संकट दिखायी पड़े तो चक्र फेंक कर उसको मार दें। और निकट कोई संकट आ जावे तो गदा हाथमें है, गदासे मार दें। हमारे भक्तकी जीत तो होगी ही, इसके लिए, विजय घोषणा करनेके लिए शंख रखते हैं।

यों देखो ध्रुवके सामने भगवान् प्रकट हुए तो उसके मनमें इच्छा हुई कि भगवान्की स्तुति करे। पर ध्रुवको कुछ ज्ञान तो था नहीं। स्तुति कैसे करे? तो तुरन्त शंख लेकर ध्रुवके कपो लमें स्पर्श कर दिया और जहाँ शंखका स्पर्श हुआ, ध्रुवको तत्त्व ज्ञानकी स्फूर्ति हो गयी। तो यह योग हुआ। माने ध्रुवके पास जो साधन नहीं था वह साधन ध्रुवको दे दिया।

स्वायम्भुव मनु थे। भागवतमें कहा है कि एकान्तमें जाकर उपनिषद्का जप कर रहे थे। क्या जप कर रहे थे, 'आत्मावास्यमिदं सर्वम्—ईशावास्यं को आत्मावास्यं'। असुरोंने देखा कि अब राज-काज छोड़कर ये तो जपमें, तपमें, ज्ञानमें लग गये तो अब इनको चलकर मार डालें। और जो असुरोंने उनके ऊपर धावा किया स्वयं शंख, चक्र, गदाधारी भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। जैसे भक्त लोग भगवान्का भजन करते हैं वैसे भगवान् भी भक्तोंका भजन करते हैं। सेवा किसकी बड़ी? जीवकी सेवा बड़ी है। क्योंकि जिसके पास अनन्त धनराशि हो वह यदि किसीको हजार, दो हजार, दस हजार दे दे तो उसमें कुछ विशेष बात नहीं है। परन्तु जिसके पास एक ही रुपया हो और वह अपना एक रुपया भी दे दे तो उसकी विशेषता होती है। धनकी अधिकता या न्यूनतासे दानका महत्व नहीं होता है। जीवके पास थोड़ा-सा साधन है।

स्तोत्रमें एक बात कही कि हे प्रभो, यदि ब्रह्माजी और मैं दोनों तुम्हारी स्तुति करने लगें तो आप किसके ऊपर पहले प्रसन्न होंगे? निर्णय करो। मैं जानता हूँ कि ब्रह्माजीकी आयु बड़ी लम्बी है, कल्पस्थायी है, शक्ति बहुत है और ज्ञान बहुत है, वे आपकी स्तुति करने लगेंगे, तो वे तो न जाने कितने कल्पतक करते रहेंगे। लेकिन

मैं तो अल्पज्ञ हूँ, अल्पायु हूँ, अल्पशक्ति हूँ, अल्पज्ञान हूँ। जब मैं स्तुति करना आरम्भ करूँगा तो थोड़ी देरमें ही बेहोश होकर गिर पड़ूँगा। तब मैं जानता हूँ कि आप ब्रह्माजीको उठाने नहीं दौड़ेंगे, मुझे उठानेके लिए दौड़ पड़ेंगे।

देखो, यह बेचारा तो थक गया—तो तुरन्त अपनी गोदमें ले लेंगे। 'क्षेमं वहामि'। भगवान् अपने भक्तका जो योगक्षेम है उसको सेवककी तरह-जैसे अपने स्वामीकी वस्तु लेकर पीछे-पीछे सेवक चलता है। स्वामीकी पोटली किसके हाथमें? बोले सेवकके हाथमें। पर यहाँ उलटा है। सेवककी पोटली स्वामिके हाथमें। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

अब प्रश्न हुआ दूसरोंका भजन करते हैं न! लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं। यदि सम्राट देखे कि ये लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं तो सिपाही महाराजके सामने डरता है। महाराज समझते हैं कि यह हमारा सिपाही है, इसलिए लोग डरते हैं न! यदि इसके पास वर्दी न होती, हमारा चपरास नहीं होता, हमारा चिन्ह इसके पास न होता तो इससे लोग डरते क्यों?

लोग तो समझते हैं कि देवता लोग अलग हैं। ये विभागाध्यक्ष हैं। एक-एक विभागके अध्यक्ष—जैसे एक-एक प्रान्तके गवर्नर होते हैं, जैसे एक-एक प्रान्तके मुख्यमन्त्री होते हैं—जैसे ये स्वास्थ विभागके हैं, ये विधि विभागके हैं, ये शिक्षा विभागके हैं—वैसे ही देवता लोगोंकी मिनिस्टरी भी अलग-अलग होती है। यही देवताओंका पृथक्त्व है। और सम्पूर्ण विश्वका जो सम्राट है, वह एक परमेश्वर है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्तविधिपूर्वकम्॥ 9.23
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 9.24

कभी-कभी फोन आता है और मेरे साथके लोग अपने-अपने काममें संलग्न रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। हमको घुमाना तो नहीं आता है—अभी तक किसीको अपने हाथसे घुमाकर फोन नहीं किया है, लेकिन ये लोग जब नहीं रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। जब मैं उठाता हूँ तो कहते हैं अमुकको बुला दीजिए—जब वे आते हैं तो कहते हैं—हमारी स्वामीजीसे बात करा दीजिये। अच्छा कभी -कभी ऐसा हुआ है—आप लोगोंको आश्चर्य होगा कि मैंने पूछा कि आखिर काम क्या है? बोले—स्वामीजीसे बात करना है—मैंने कहा मैं स्वामीजी हूँ। तो बोले तुम झूठ बोलते हो। तुम स्वामीजी नहीं हो। येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाविन्ताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्। कोई कहता है देखो ये बात स्वामीजीको मालूम न होने पावे। किन्तु वह तो मुझे मालूम पड़ जाती है। वे मुझे बता देते हैं। अन्य-अन्य देवताके जो भक्त होते हैं, भक्त नहीं समझते हैं कि ये भगवान् हैं। भगवद्बुद्धि उनकी नहीं होती। और सम्भव है देवता भी न समझें कि मेरे अन्दर भगवान् हैं। वे अज्ञानी होते हैं, जिनको पूजा-पत्री ज्यादा मिलने लगती है वे थोड़े अभिमानी हो जाते हैं।

आप देखते हैं—इन्द्रको भेंट पूजा कायदेसे मिलने लगी तो उन्होंने कहा—नहीं ईश्वर कुछ नहीं है—मैं

ही परमेश्वर हूँ। और जब भगवान्‌ने उनकी पूजामें बाधा डाली तो असुर हो गये—देवता नहीं रहे—असुर हो गये। अन्य देवताकी भक्तिमें दोष कहाँ आया? एक तो भक्तके हृदयमें जो अन्य बुद्धि है या दूसरा कोई है—और देवताके हृदसमें यह बुद्धि आयी कि मैं दूसरा कुछ हूँ। भक्तमें श्रद्धा तो है, लेकिन भगवान्‌का यह स्वभाव है— देखो भाई हम तो पहचानते नहीं हैं। यह भक्तकी पूजा है। यजमानके हृदयमें भगवान् बैठते हैं। अन्तर्यामी हैं और वह कहते हैं—हे यजमान; अब मैं तुमको पसन्द कर रहा हूँ। तुम मेरे बड़े प्यारे हो। इसलिए तुम्हारे हाथसे ऐसा कोई काम कराना चाहता हूँ जिससे तुम हमारे पास आ जाओ।

जिस चेतनको भगवान् पसन्द करते हैं, यह मेरे पास आवे, उसके हृदयमें शुभ प्रेरणा देते हैं। उसके मनमें अच्छे कामकी प्रेरणा देते हैं। और उधर इन्द्रके हृदयमें बैठ जाते हैं। पहले तुमने बड़ी सेवा की है तो यह जो बड़ी पूजा मिलती है वह तुम ले लो। तो उधर यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाले वही आहुतिके दाता और वही आहुतिके भोक्ता। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'—इन्द्र हृदय और प्रभुरेव च यजमान हृदय। यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाला मैं। दोनो मेरी लीला है। दोष कहाँ है? 'न तु मामाभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते'। वे मुझे पहचानते नहीं हैं। 'न तु मामभिजानन्ति'—आत्मरूपसे, ब्रह्मरूपसे—दोनोमें मुझको नहीं देखते हैं। यह मेरा आर्दश ही उनकी च्युतिका—च्यवनका कारण है।

आप किसीकी भी पूजा करें, पीपलकी पूजा करें, गायकी पूजा करें। पतिकी पूजा करें, पत्नीकी पूजा करें, माँकी पूजा करें, बेटेकी पूजा करें,स्वामीकी पूजा करें। परन्तु आपके हृदयमें भगवद्‌बुद्धि बनी रहे। यदि भगवद्‌बुद्धि बनी हुई है तो आपकी पूजामें कोई त्रुटि नहीं है और भगवान् साक्षात् उसको ग्रहण कर रहे हैं। एक बहनजी हैं बम्बई में । वे खानेको मीठी-मीठी चीज लेकर आती हैं—मैं उनको चिढ़ा देता हूँ कि तुम मेरे लिए नहीं लायी हो मेरे पास जो तुम्हारे भाई साहब रहते हैं उनके लिए लायी हो। वे घरकी बनी मीठी-मीठी चीज खायेंगे, अगर मेरे लिए लाना होता तो तुम नमककी चीज लातीं। उसके संकल्पमें सचमुच उसके भाई ही रहते हैं, मैं नहीं रहता हूँ। परन्तु उनको क्यों खिलाती हैं—इसलिए कि हमारे साथ रहते हैं, हमारी सेवा करते हैं, हमसे प्रेम करते हैं।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।

●

प्रवचन : 9

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान्ने कहा कि जो भगवत्-भावको नहीं जानते हैं और अन्य भावसे मेरी उपासना करते हैं—हृदयमें श्रद्धा भी हो—वे आराधना तो मेरी ही करते हैं, परन्तु वे विधिको नहीं जानते हैं। मर्यादाके अनुसार हमारी आराधना नहीं करते हैं।

कल श्लोक आपको सुनाया था—'येऽप्यन्यदेवता-भक्ता:' अगले श्लोकमें कहते हैं— 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। जितनी भी आराधना होती है उसको पानेवाला भी मैं हूँ, भोगनेवाला भी मैं हूँ और उसका प्रेरक भी मैं हूँ। परन्तु करनेवाले मुझे पहचानते नहीं, इसलि च्युत हो जाते हैं।

आप भगवान्की बात समझनेके लिए पहले अपनेको समझ लें। जैसे कोई आदमी है। वह आपका कार्यकर्ता है। वह बहुत बढ़िया है। अपने सभी काम करता है। उसे दी आँखकी सेवा। वह ध्यान रखता है कि हमारी आँख अच्छी रहे,स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे, उसमें दोष निवारक औषधि डालता है, उसमें गुणवर्धक औषधि डालता है, लेकिन अन्य अंगोंकी उपेक्षा कर दी। आपका जो एक मालिक है, वह केवल आँखवाला ही नहीं है, उसके जीभ भी है, उसके कान भी है, उसके हाथ भी है, उसके पाँव भी है। एक इन्द्रियको यदि हम ठीक रखनेकी कोशिश करें और दूसरी इन्द्रियोंको भूल जायँ और मालिकको समझें ही नहीं और डाक्टर हमारा एक रोग देखकर ऐसी दवा दे दे कि उसकी जो प्रतिक्रिया हो वह शरीरमें दूसरा रोग पैदा कर दे। एक रोगकी दवा करे, एक अङ्गको पुष्ट करे और दूसरेको कमजोर बना दे तो इसमें मालिक पर नजर नहीं है केवल अङ्गपर ही नजर है। क्योंकि मालिकके दोनों ही अङ्ग हैं। जो एक-एक देवताकी आराधना करने वाले हैं वे सब देवताओंके जो मालिक हैं भगवान् हैं, उनकी सेवा, उनके सुख पर ध्यान नहीं रखते हैं, वे तो अपने सही—असली मालिकके विरुद्ध ही काम कर बैठते हैं।

आपने सुना होगा—किसीके घरमें गुरुजी आये, दो भाई थे। उन्होंने उनके पाँव बाँट लिये। दाहिना तुम्हारा, बायाँ मेरा। जब रातको सेवा करने लगे तो एक पाँव दूसरे पाँव पर आ गया—बोले रामराम यह तुम्हारा पाँव हमारे पाँवपर क्यों चढ़ता है? उस पाँवको एक चपत लगा दिया। दूसरेने डण्डा लाकर दूसरे पाँवपर मार दिया। यह है अनजानकी सेवा।

अनजान लोग जो सेवा करते हैं उसमें भी दुःख पहुँचा देते हैं। हमारी जीभकी तो सेवा की कि हमें खूब स्वाद आ जाये। जीभकी तो सेवा होगी पर पेटका क्या होगा? हार्टका क्या होगा? डायविटीजका क्या होगा? पल्स क्या होगा? समग्र भगवानकी दृष्टिसे हमारी सेवा होनी चाहिए। एकांगी सेवा नहीं होनी चाहिए। फल भी क्या मिलेगा? 'यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता:'। यदि पीतृ-पीतृ बोलेंगे तो कभी संस्कृतमें श्लोक बनाना हो, तो वह अशुद्ध हो जावेगा। क्योंकि पितृमें 'पि' हमेशा लधु ही होता है गुरु नहीं होता पीतृ बोलेंगे तो 'पी' गुरु हो जावेगा। ये जितने 'पी' वाले अक्षर हैं उनका गुरु नहीं होता है। लधु रहता है।

अब यह है कि आपका संकल्प क्या है? देवता भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। पितर भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। ये सम्पूर्ण भूत भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। एक-एक अङ्ग की आप पूजा करें और जो अङ्गी हो उसको भूल जायें। जिसके ये सारे अङ्ग हैं,उसको भूल जायें तो एक-एक विभागका अध्यक्ष है, उसकी तो सेवा पूजा हुई परन्तु जो सब विभागोंकी देखभाल करनेवाला है, मालिक है, उसकी सेवा नहीं हुई। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि मां'—जो भगवान्‌की आराधना करते हैं, उनको तो भगवान्‌की प्राप्ति होती है। लेकिन जो केवल देवताकी आराधना करते हैं, ये विभाग हैं। जैसे वरुण देवताकी आराधना करते हैं—वे जलके मालिक हैं, अग्नि देवताकी आराधना हुई तो वे तापके मालिक हैं। आप अग्नि देवताको प्रसन्न करलें और वरुण देवताको प्रसन्न न करें तो आपको ताप तो मिल जावेगा लेकिन पानी नहीं मिलेगा। पानीका देवता भी प्रसन्न चाहिए। प्रकाशका देवता आँखोंमें रहता है सूर्य— आप सूर्यकी आराधना करें तो आपको प्रकाश तो मिलेगा। परन्तु आपके लिए अग्नि भी चाहिए उसके लिए ताप भी चाहिए। एअरकण्डीशन भी होना चाहिए। वायु देवता भी प्रसन्न हों, सूर्य देवता भी प्रसन्न हों, अग्नि देवता भी प्रसन्न हों।

यही सब देवता हैं। शास्त्रोंमें, वेदोंमें, इन्हींको देवता कहा गया है। इनसे हमारे व्यवहारके सब काम चलते हैं। ऊर्जा कहाँसे मिलेगी? विद्युत शक्ति कहाँसे मिलेगी? या तो आपके पक्षमें अग्नि हो या आपके पक्षमें सूर्य हो। तब आप ऊर्जा प्राप्त कर सकेंगे। जलसे भी प्राप्त कर सकेंगे। इसका अर्थ है कि समग्र दृष्टिसे ही हमको भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। केवल एक-एक अङ्गपर ध्यान दिया- अन्न बहुत पैदा हुआ और उद्योग मिट गये और उद्योग पर ध्यान दे दिया कृषि मिट गयी। पहननेको कपड़ा चाहिए तो खानेको अन्न भी तो चाहिए न! और अन्न, कपड़ेपर ध्यान दिया, दवा मिलनी बन्द हो गयी। तो यह एक-एक देवताकी जो आराधना है वह ऐसी ही है। अश्विनकुमारकी और अन्न ब्रह्मकी आराधना छूट गयी। तो समग्र दृष्टिसे सब काम करना चाहिए—सांगोपांग हो।

इसके बाद—आप देवताके संकल्पसे करते हैं, पितरके संकल्पसे करते हैं, भूतके संकल्पसे करते हैं या भगवान्‌के संकल्पसे करते हैं। व्रत माने संकल्प। आपके हृदयमें संकल्प क्या है? देवताके लिए, पितरके लिए, भूतके लिए है या सबके अन्तर्यामी, सबमें रहनेवाले, जो देवतामें भी हैं उनके लिए हैं? आपने पंखे पर बहुत ध्यान दिया और रोशनी देनेवाला बल्ब बुझ गया और बल्ब पर बहुत ध्यान दिया पंखा चलना बन्द हो गया।

तो आपको बिजली पर ध्यान देना चाहिए। बिजली बनी रहे—वह अन्तर्यामी है। पंखेका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली! बल्बका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली। आपके घरमें बिजली रहे तो ये सब काम ठीक-ठीक चलेंगे। इसीप्रकार यदि भगवान् पर दृष्टि रहे तो आपके सब अङ्ग, आपकी सब इन्द्रिय, आपका मन आपका समग्र विश्व ठीक-ठीक काम करेगा। क्योंकि भगवान् सम्पूर्ण विश्वके मालिक हैं। सम्पूर्ण विश्वके संचालक हैं, अन्तर्यामी हैं।

अब एक प्रश्न यह उठा कि भगवान् बहुत बड़े हैं तब तो अन्तर्यामी हैं और सब यज्ञोंके भोक्ता हैं, प्रभु हैं, तो उनकी आराधना थोड़ी कठिन होगी। छोटे-मोटे सिपाहीसे मिलना हो तो चौराहेपर ही मिल लेते हैं। किन्तु

गृहमन्त्रीसे मिलना हो तो उनकी इजाजत लेनी पड़ती है। राष्ट्रपतिसे, सम्राटसे मिलना हो तो कठिन पड़ता है। हमको दस वर्ष पहले एक उद्योगपतिने बताया था कि महाराज, हम लोगोंका निश्चित है कि किसकी तनखाह पर दस गुना रिश्वत दिया जाय तो वह मान जायेगा। यह तो पहलेकी बात है। अब वह हिसाब शायद न हो! इसलिए मैं बताता हूँ। अब बढ़ गया होगा। जो जितना बड़ा होता है उसके यहाँ पूजा-पत्री बड़ी होगी। सो भगवान्‌की पूजा करना कठिन तो नहीं है? तो बोले, नहीं—वे पूजाकी सामग्रीसे प्रसन्न नहीं होते। वे पूजा करनेवालेमें जो प्रेम है, उससे प्रसन्न होते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 9.26

एक पत्ता काफी है। तुलसीदलमात्र—तुलसीका एक पत्ता भगवान्‌को चढ़ा दो, भले तुम्हारे पास जल न हो, गुड़ न हो। हम लोगोंके घरमें पहले भगवान्‌पर भोग लगता था, शंकरजीका भोग लगता था तो गुड़ और अक्षत। और फिर बँटता था तो क्या खुशीसे हम लोग खाते थे। 'आक-धतूर चबात फिरैं।' शंकरजीको तो आकका फूल जंगलमें होता है वह चढ़ता है। बेलपत्र चढ़ा देते हैं। उनको चीज, वस्तु नहीं चाहिए। 'नारायण मोंहे वस्तु न चाहिए।'

वस्तु महत्वपूर्ण नहीं होती है, महत्त्वपूर्ण होता है प्रेम! इसीसे भगवान्‌ने कह दिया— 'पत्रं'—पत्ता चढ़ा दें—तुलसीदल-मात्रेण। एक चुल्लू पानी चढ़ा दें। शिवपुराणमें ऐसी कथा आयी है कि कोई चोर भगा और बेलके पेड़पर चढ़कर छिप गया। नीचे शंकरजीकी मूर्ति थी। रातको उसका पाँव, हाथ कहीं लग गया और एक बिल्बपत्र टूटकर शिवजीकी मूर्तिपर गिर पड़ा। अरे, शंकरजी तो प्रसन्न हो गये। उसमें तो प्रेम भी नहीं था, अनजानमें।

ये देवता लोग कुछ भोले भी होते हैं। भगवान्‌में एक मुग्धा शक्ति होती है। मुग्ध होनेकी शक्ति। अजामिलने नाम लिया—नारायण—अपने बेटेका। भगवान्‌ने कहा दौड़ो-दौड़ो— बचाओ इसको! पार्षदोंने विनती की कि महाराज, यह आपका नाम नहीं ले रहा है। भगवान्‌ने कहा , चुप रहो—नारायण नाम मेरा है कि उसके बेटेका है? अनादि कालसे तो मेरा कब्जा है, नारायण नाम पर—मैं पहलेसे मानता हूँ कि नारायण नाम मेरा है और उसके बेटेका नाम तो अभी कल हुआ है—दस वर्षसे, पाँच वर्षसे—'नारायण' उसका नाम कैसे हुआ? यह नाम तो मेरा है। ये तो भोलेभाले होते हैं। जो कुब्जाको देखकर, उसके उपर मोहित हो जावें, उसको बहुत अकल नहीं चाहिए। वह तो थोड़ेमें ही रीझनेवाला है। भगवान् प्रेमसे रीझते हैं।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' सर्वत्र सुलभ है। तुलसीदलमात्रेण—भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपनी कीमत बना दी। क्या कीमत है? तुलसीक एक पत्ता—एक चुल्लु पानी। शिवपुराणमें तो ऐसी कथा है कि एक जंगली आदमी था—किसीने कहा तुम शंकरजीको जल चढ़ाया करो। उसके पास बरतन नहीं था। हाथमें लेकर नदीमें-से जल ले चले तो बीचमें गिर जाये। फिर उसने कहाकि हाथसे जल नहीं पहुँचता है, तो मुँहमें नदीका जल ले लिया और ले जाकर शिवजीके लिंग पर कुल्ला कर दिया। शंकरजी बोले ऐसा तो

हमको कभी नहीं मिला। प्रसन्न हो गये उसपर। वे जूठा नहीं देखते। ये तुमलोगोंको जो पाप-पुण्य लगते हैं वे भगवान् थोड़े ही लगते हैं! उनको नरकमें जानेका डर नहीं। स्वर्गका लोभ नहीं। उनको तो पाप लगता नहीं है। पुण्यकी जरूरत नहीं है। उनको तो प्रेम चाहिए।

गरीब लोग वस्तुकी कीमत देखते हैं— इन्होंने क्या दिया? जिसको कुछ नहीं चाहिए, उसको प्रेम चाहिए प्रेम! 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' कुछ नहीं होगा बाबा घरमें—पत्र है? नहीं है। पुष्प है? नहीं है। फल है? नहीं है। अरे बाबा पानी तो होगा। केवल पानी! वह भी अपना नहीं है। पेड़में जो पत्ता लगता है या फूल लगता है या फल होता है वह किसी आदमीका लगाया हुआ थोड़े ही होता है? उसके तो मालिक बन बैठते हैं लोग। वह तो भगवान्‌का दिया हुआ है। बिलकुल आटोमेटिक। केलेमें हलुआ भरकर आदमी थोड़े ही भेजता है। हाथ लगाया नहीं—ऐसी पैकिंग है—हलवा बिलकुल बिगड़ता नहीं है। यह आममें रस तुम लोगोंने थोड़े ही भरा है। हमने थोड़े ही भरा है। हमारे बाप-दादाने भी नहीं भरा। वृंदावनमें इसकी व्याख्या गोपीके शरीरमें ही सब होते हैं— समझकर करते हैं। यो मे भक्त्या प्रयच्छति—प्रेमसे हमको लाकर दे। हमारी चीज हमको दे। महाराज, यह आपकी चीज हमने बहुत दिनोंसे, गलतीसे अपनी मान रखी थी। त्वदीयं वस्तु गोविन्द— जो कुछ मेरा है, और जो कुछ मैं हूँ, सब तुम्हारा है। बलिने लोक दिया, परलोक दिया और अपना मैं भी दे दिया कि नाप लो यह भी तुम्हारा है।

जब सब भगवान्‌का ही है तो उनको समर्पित क्या करना? समर्पित करना माने अपनी भूल मिटाना। भगवान्‌की चीजको हमने अपनी मान रखा था, अब हमारी भूल मिट गयी—बोले महाराज, इतने दिन हम भूलमें रहे कि यह हमारा है। यह तो तुम्हारा है। चाहे तो इस दुकानमें रखो चाहे उसमें रखो। चाहे इस मुनीमके पास रखो, चाहे उस मुनीमके पास रखो। चीज तो तुम्हारी है।

उदयपुरके राजा—राजा नहीं है—दीवान हैं। महाराजा तो एकलिंगी स्वामी हैं। एकलिंग स्वामी वहाँके अधिपति हैं और वे तो दिवानकी तरह काम करते हैं। 'यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' क्षमा करो महाराज, हमने आपकी चीजको इतने दिनोंसे अपनी माना। आपकी चीज आप लो। 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'। नियमसे, निष्ठासे, अपने मनको वशमें करके, भक्तिके साथ भगवान्‌को दे दो। बोले भगवान् भूल जाते हैं कि क्या करनेका है। एकने इत्रका फाहा दिया तो वह तो देनेवालेकी तरफ देख रहा था। असलमें दी हुई वस्तुका उतना महत्त्व नहीं है। देनेवालेका बहुत महत्त्व है। जिसके हाथ पर रूईका फाहा रखा था— उन्होंने पट मुँहमें डाल दिया— यह भोलेपनका लक्षण है। भगवान् बहुत भोले हैं। कानून-कायदा भी नहीं देखते हैं। यदि उनका भक्त आजाये तो सब कानून-कायदा ताक पर रख देते हैं। यदि भगवान् कानूनके अनुसार ही भक्तसे व्यवहार करें तो भक्ति करनेकी क्या जरूरत है? दरवाजे पर लिखा— बिना इजाजत अन्दर आना मना है। अपनी पत्नीके लिए है क्या? अपने आपसे इजाजत लेकर भीतर आयें? अपने बेटेके लिए है क्या? अपने सेवकके लिए है क्या? अरे भाई, वह तो पराये लोंगोके लिए कानून होता है।

परमात्मा न्यायकारी नहीं है। अपने भक्तका पक्षपाती है। इसीसे नाम भी भक्तका पक्षपाती है। शंकरजी

प्रारब्धको भी मिटा देते हैं। भगवान्‌का भोलापन क्या है? उसपर आपका ध्यान जाये— भोलापन यह है कि पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं— कोई खानेकी चीज तो है नहीं और भगवान् खानेवाले भी नहीं हैं। यह बात वेदमें बिलकुल स्पष्ट है—जीवात्मा भोक्ता होता है। भगवान् भोक्ता नहीं होता। उसको भूख-प्यास नहीं लगती है। वह तो नहीं खाता है लेकिन जब अपने प्रेमी भक्तको देखते हैं, तो महाराज भूख-प्यास न हो तब भी ये लेकर खाते हैं, अपने प्रेमीके हाथसे भूख न होने पर भी खा लेते हैं। हम लोग भी खा लेते हैं, भले भूख न हो, भले रुचि न हो—कभी-कभी तो कड़वा भी खा लेते हैं। एक हमारे हरिबाबाजी थे—एक सज्जन उन्हें निमन्त्रण देकर भोजन कराने ले गये। उनकी स्त्री छू गई तो वह रसोई नहीं बना सकी। पतिने खाना अपने हाथसे बनाया। परन्तु घी-तेलकी पहचान नहीं थी, उन्होंने एरण्डीके तेलसे साग बना दिया। जब बाबाको परसा तो वह पहचान गये कि यह तो एरंडीका तेल है। बोले कितना बनाया है भाई, बहुत बढ़िया साग है— महाराज खूब है आप खूब खाइये। बोले ला सारा-का-सारा लेआ। आज तेरे लिए नहीं छोड़ेंगे। सब खा गये। उसको पता ही नहीं चला कि हमने एरंडीके तेलमें बनाया था। अब जब जुलाब हुआ, रेचन हुआ तो भगत लोंगोने पूछा—यह क्या हुआ? बोले चुप रहो—हमारा बहुत दिनसे मन था कि एक दिन जुलाब लेंगे, आज मिल गया। अपना प्रेमी—उसके हाथका महत्त्व है—उसके प्रेमका महत्त्व है। उसके कड़वाहट और मिठासका महत्त्व नहीं है। महात्माओंको अपने शरीरका भी ज्यादा महत्त्व नहीं होता। वे सोचते हैं—इतने जी कर हमने क्या किया, कि थोड़े दिन और जीयेंगे तो दुनियामें और कुछ कर लेंगे। अपने शरीरकी भी कीमत नहीं होती है। उनकी दृष्टि ही अलग है। तो जब सब महात्माओंका महात्मा है, जो भगवान् है—'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि'—भूल गये कि हमारा तो आज निर्जल व्रत है—कोई प्रेमी ले आया तो खाने लगे—अरे बाबा तुम तो निर्जल व्रत रखते हो—कभी कुछ खाते ही नहीं हो। बिना खाये-पिये चमकते रहते हो। बोले नहीं भाई, भक्तिका—प्रीतिका स्वभाव ही यह है कि प्रियतम अपने-आपको भी भूल जाता है।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ 9.26
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

'यत्करोषि, यदश्नासि' — आपका ध्यान खींचते हैं। 'साधु सावधान—दीजिये अवधान।' हमारे जब साधु लोग बैठते हैं तो उनमें यह बोला जाता है। साधु सावधान, दीजिये अवधान। इधर अपना ख्याल, तवज्जुह, ध्यान दीजिये। गीतामें दो-तीन जगह यह बात कही गयी है कि हम कर्म करें तो भगवदर्पणबुद्धिसे करें तब वह कर्म हमारे अन्दर पाप-पुण्य नहीं लगावेगा। पहलेसे संकल्प कर लें कि यह कर्म भगवान् अपनी प्रेरणासे ही करवा रहे हैं। देखो कोई हमसे जबरदस्ती काम करावे, डण्डा लेकर कहे—यह काम करना पड़ेगा और हम भयभीत होकर कर लें तो स्वयं करनेपर जितना पाप होता है, उतना विवश होकर करनेपर पाप नहीं लगेगा। यह तो आप जानते ही हैं। उन्होंने स्वयं संकल्प करके किया, कराया।

पहले कर्मको ब्रह्ममें रख लो और आसक्ति छोड़कर करने जाओ, फिर पाप नहीं लगेगा—'मयि संन्यस्य कर्माणि।' अध्यात्म-बुद्धिसे सारे कर्म भगवान्‌को अर्पित कर दो और फिर करते जाओ, तो तुम्हें पाप-पुण्य नहीं लगेगा। सब जगह वही है। ये तु सर्वाणि कर्माणि—वहाँ सब जगह यह बात है कि पहले संकल्प करो अपने मनमें कि यह कर्म भगवान्‌की प्रेरणासे, भगवान्‌के लिए, भगवान्‌में रहकर मैं कर रहा हूँ। यहाँ बिलकुल अद्भुत दूसरी बात है—यहाँ ऐसा है कि करनेके लिए पहले आपको भगवान्‌की याद बिलकुल न रही हो, लौकिक स्वार्थसे करने लग गये।

अपने स्वार्थके लिए, अपने भोगके लिए काम कर रहे हैं। पहलेसे संकल्प नहीं है। करते समय याद नहीं है। न भगवान्‌की प्रेरणाका अनुभव किया, न करते समय भगवान्‌का स्मरण और कर्म-निर्वाह हो रहा है। कर्म पूरा भी हो गया और पूरा करनेके बाद 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' एक बार हृदयसे निकला। पहले तो याद नहीं थी भाई! करते समय भी याद नहीं थी पर अब आ गया तो बोले—'श्रीकृष्णार्पणम् अस्तु' । हे भगवान् ! न मैं कर्ता हूँ और न यह मेरा है। करनेके बाद भी!

भगवान्‌को अपने जूठेका भोग लगता है। संस्कृत भाषामें एक ग्रन्थ है प्रेमपत्तनम्। इसके कर्त्ता एक महान् विद्वान् हुए हैं उनकी रचना है। भगवान् कहते है कि मैं उच्छिष्ट हूँ। भक्तोने मुझे चाट-चाट कर जूठा कर दिया। 'उच्छिष्ट ब्रह्म'—सब पैदा होते हैं सब मरते हैं और भगवान् बचे रहते हैं इसलिए उनका नाम उच्छिष्ट है। बोले—उच्छिष्ट मैं ही हूँ—पहले महात्मा लोग भगवान्‌को जूठा भोग नहीं लगाते थे। जब व्रजमें भगवान् आये तो उन्होंने कहा कि ये बात रही जायेगी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'—जो मुझे जैसे भजे, मैं उसी प्रकार उसका भजन करता हूँ। भक्त लोग बोलेंगे कि, यह कैसी रही—हम तुम्हारा जूठा खायँ और तुम हमारा जूठा न खाओ। बोले ला भैया—मेरे प्यारे भाई ला!

मैं जब संन्यासी नहीं हुआ था। एक महात्माके साथ भोजन करने बैठा। वे भगवान्‌को अर्पण करके, तुलसी डालके, पानी घुमाकर खाते थे। भोजन करने लगे, इसी बीचमें दही लेकर आदमी आया कि दही परोसना तो मैं भूल गया, उसने थालीमें डाल दिया। उन्होंने फिरसे हाथमें पानी लिया और बोले 'भगवद्-पर्णमस्तु'—मैंने कहा ऐसा क्यों करते हो? जूठा भोग लगाते हो? बोले, हमारा भगवान्‌का कुछ ऐसा ही रिश्ता है, हमारा जूठा वे खाते हैं, उनका जूठा मैं खाता हूँ।

रिश्ता तो जोड़ो—वह रिश्ता जोड़ो—पति-पत्नी है, माँ-बेटा है, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध तो होने दो? सम्बन्ध जुड़ जाय तब देखो क्या मजा आता है।

एक गोस्वामीजीके घरमें भोजन करने गया। भगवान्‌को भोग लगाया थाली हमारे सामने रख दी। मैंने कहा, तुम स्वयं प्रसाद नहीं लेते हो। बोले मैं तो ग्वारियेका जूठा नहीं खाता। मेरी जात बिगड़ जायगी। मैंने कहा तुम ब्राह्मण और यह ग्वारिया! इसका जूठा मैं खाऊँगा! मैंने कहा यह क्या बात है? किसी महात्मासे पूछा तो हमें बताया—देखो, वह मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता है। सक्षात् ग्वारिया, अहीरका बेटा कृष्ण समझता है, उसका कितना जागृत भाव है। मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता । साक्षात कृष्ण समझता है, यह तो देखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27

'यत्करोषि'—जो कुछ करते हो, धन कमानेका काम करते हो, बहुत बढ़िया है। संसारके और लौकिक कर्म भी करते हो, बहुत बढ़िया है। भागवतमें एक जगह लिखा है कि एक आदमीको कुत्तेने खदेड़ा। वह आदमी डर गया। उसको भगवान्‌की तो याद आयी नहीं , एक मन्दिर था सामने और भयभीत होकर भागा। मन्दिरमें गया और भगवान्‌का चरण पकड़ लिया कुत्तेके डरसे। भगवान्‌ने कहा यह तो मेरे शरणागत हो गया। भयके निमित्तसे वह भगवान्‌की ओर गया और उसको शरणागत मान लिया भगवान्‌ने।

आपको सुनावें भक्त लोग क्या मानते हैं—जब लघुशंका करते हैं, जब वह शौच जाते हैं तो वह कहते हैं यह हम भगवान्‌के लिए कर रहे हैं। पहले हम लघुशंकासे निश्चित हो जायें, मल-त्यागसे निश्चिन्त हो जायें, स्नानसे निश्चिन्त हो जायें तब भगवान्‌की सेवा करेंगे, अरे सच्चे भक्तका हर कार्य भगवान्‌की सेवाके लिए होता है। लघुशंका लगी—तो सेवा क्या करोगे ? शौच लगा तो सेवा क्या करोगे ? भक्त सोता क्यों है ? सोकर उठेंगे—चित्त शान्त रहेगा और प्रसन्न रहेंगे तब प्रेमसे भगवान्‌की सेवा करेंगे। भक्तका सोना भी भगवान्‌के लिए, मूत्र, पुरोष भी भगवान्‌के लिए। उसका चलना, बैठना, खाना सब भगवान् अपने लिए ग्रहण करते हैं। जो भूल करता है तो भूलको भी लेते हैं। जब उसके शरीरमें गन्दगी रहती है—भगवान् कहते हैं—हमारी लापरवाही है—क्यों गन्दगी आयी हमारे भक्तके शरीरमें ? अपने हाथसे उसको धोते हैं, पोंछते हैं। *'कोटि विप्रवध लागहि जाहू। आये सरन तजहिं नहि ताहू।'* ऐसा भगवान्‌का स्वभाव है।

यत्करोषि—जो करते हो। यह मत देखो क्या करते हो, जो तुम्हारा भोजन है वही भगवान्‌को अर्पित करो। नहीं तो भोजन करनेके बाद भी अर्पित कर दो कि यह मैंने खाया, उस समय भूल गया था।

जो करते हो , जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो भी हवन करते हो, जो तपस्या करते हो, वह करनेके बाद सही। भगवद् अर्पण कर दो, यह मेरा नहीं। 'शुभाशुभफलैरेवं मौक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।' यह जो कर्मोका बन्धन है, यही सुख या दुःख स्वरूप फल देनेवाला है। कर्मोके बन्धनसे छूट जाओगे तब कहोगे कर्म मेरा नहीं।

कहते हैं ड्यूटी करते समय आदमोसे जो गलती होती है उसकी जिम्मेवार सरकार है। ड्यूटी करते समय अगर कोई मर जाय तो सरकार मानती है कि ड्यूटी करते हुए मरा है, यह तो हमारा है। उसके परिवारका पालन-पोषण करते हैं। पेन्शन मिलती है। जो अपना कर्म, अपना दान, अपना भोग, अपना होम, अपनी तपस्या करनेके बाद भी भगवान्‌को अर्पित कर दे, उसको भी शुभाशुभ फलसे मुक्त कर देते हैं और संन्यासीको जो फल मिलता है, वही फल जैसे संन्यासी कर्मबन्धनसे छूटता है, वैसे वह भी कर्मबन्धनसे छूटता है गृहस्थकर्म करनेवाला। परन्तु संन्यासी त्याग करके छूटता है और गृहस्थ भगवान्‌को अर्पण करके छूट जाता है।

जो समर्पण है वही सन्यास है, जो संन्यास है वही समर्पण है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'— बल्कि संन्यास भगवान्‌के लिए हुआ कि नहीं हुआ इसमें शंका रहती है। पर यह तो संन्यासयोग है। समर्पणयोग है। क्योंकि भगवान्‌का स्मरण है, भगवान्‌का स्फुरण है। इसमें भगवान्‌का उद्‌देश्य है। यह भगवान्‌की ओर मुँह करके

किया जाता है, इसलिए योग हो जाता है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'—सारे कर्मबन्धनसे मुक्त हो करके। मुक्ति माने संसारको तलाक देना। इसका नाम है संन्यास, विनिर्मुक्त।

फिर बोले भाई एकसे मुक्ति हुई—कुछ मिले तब ना । 'मामुपैष्यसि'। मैं मिलूँगा। संसारसे होगा तलाक और मिलेगा भगवान्। कर्म करते हुए हो जायेगा। यही गीताकी विशेषता है। सर्वकर्माणि—सारे कर्म करो— 'कुर्वन्नपि न लिप्यते।' गीताकी विशेषता है। कर्मको छुड़ाकर भगवान्‌को गीता नहीं मिलाती है। कर्म करते हुए गीता भगवान्‌को मिलाती है। क्या पक्षपात करते हो ? भगवान् पक्षपाती— आर्यसमाजी तो भगवान्‌को पक्षपाती नहीं मानते—आर्यसमाजी तो भगवान्‌को न्यायकारी मानते हैं— तब भगवान्‌के पास जानेकी जरूरत ही क्या है? यमराजके दरवाजे पर चले जाओ। आपको न्याय मिल जायगा। इतना पाप, इतना पुण्य, इतना स्वर्ग, इतना नरक—न्याय करनेके लिए तो यमराज हैं। भगवान् तो पतित-से-पतितको, नीच-से-नीचको उठाकर अपने हृदयसे लगानेवाले हैं। भगवान्‌के पास क्षमा है, भगवान्‌के पास दया है। भगवान् कानून बदल देते हैं। तो यह पक्षपात क्यों?

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 9.29

'समोऽहं सर्वभूतेषु'—आपके कामकी बात सुनाता हूँ। भगवान् कहते हैं—मैं सबमें हूँ, सबको देखता हूँ, न मेरा किसीसे द्वेष है न राग है। श्री कृष्णने तो महाभारतके युद्धके अन्तमें जब परीक्षितका जन्म हुआ तो वे मृत थे—अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध थे। हाय-हाय मच गयी कि कौरव-पाण्डव वशंका अन्त हुआ। श्री कृष्णको मालूम हुआ तो अपने-आप वहाँ आये। उन्होंने हाथ उठाकर सबके बीचमें कहा— यदि कौरव-पाण्डव युद्धमें किसीके प्रति मेरे मनमें विषमता आयी न हो, मेरे मनमें समता बनी रही हो, राग-द्वेष न रहा हो तो मेरे इस समत्वके बलपर यह मरा हुआ बालक जीवित हो जाय। तुरन्त परीक्षित जीवित हो गये।

भागवतमें तो कथा है कि गर्भमें प्रवेश करके रक्षा की। महाभारतमें कथा है कि अपने समत्वके बलपर श्री कृष्णने रक्षा की। 'समोऽहं सर्वभूतेषु'—भगवान् सबमें सम है। न उनको किसीसे द्वेष है और न किसीसे राग है। यह भगवान्‌का स्वरूप है।

उड़ियाबाबाजीके पास दो भगत आये। दोनोंमें लड़ाई हो गयी थी। एक कहता था—महाराज बड़े निष्ठुर हैं, एक कहता था, बड़े दयालु हैं। बोले—महाराज आप ही निर्णय करो। आप दयालु हो किनिष्ठुर हो? वे बोले देखो मेरा स्वरूप निष्ठुर है, और मेरा स्वभाव दयालु है। स्वभावमें दया है और स्वरूपमें असंगता है। तो भगवान् भी अपने समरूपमें सम है, राग-द्वेष नहीं है, सबके अन्दर है, एक सरीखे हैं, सबको जीवन देते हैं, सबको ज्ञान देते हैं, सबको सुख देते हैं। सबमें रहते हैं। परन्तु विशेष क्या होता है? 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'— जरा प्रेम जोड़ो उनके साथ।

जैसे कल्पवृक्षमें दरवाजा बन्द किसीके लिए नहीं है। सबके लिए खुला है। पर उसके नीचे जा करके, उससे कहो हमे हीरा चाहिए, मोती चाहिए, हमको बैकुण्ठ चाहिए, हमको ज्ञान चाहिए—नीचे जाकर, उसका

आश्रय लेकर माँगो तो कल्पवृक्ष जो माँगोगे सो देगा। वहाँ जाना किसीके लिए मना नहीं है। वहाँ आर्य भी जा सकते हैं, अनार्य भी जा सकता है। कल्पतरु जैसा स्वभाव है, जो उनके आश्रित हुआ, उसका परम कल्याण, परम मंगल है।

अब 'मयि ते तेषु चाप्यहम्'—पर ध्यान दो। भगवान् कहते हैं 'मयि ते'—उनका आधार मैं हूँ। मयि माने मुझमें। भक्त कहाँ रहते हैं? भक्तके सर्वस्व भगवान् हैं। भगवान्से पूछो महाराज आप कहाँ रहते हो? तो बोले 'तेषु चाप्यहम्' मेरे आधार भक्त हैं और मेरे सर्वस्व भक्त हैं। भक्तने कहा—मेरे आधार, प्राणाधार तुम, मैं तुममें रहता हूँ—और मेरे रहनेके लिए दुनियामें कोई जगह नहीं है। मैंने कोई घर नहीं बनाया। मैं तो तुम्हारे घरमें रहता हूँ। तुम्हारा होकर रहता हूँ। यहाँ क्या हुआ? परस्पर आधार-आधेय भाव हो गया। भक्त है आधेय और भगवान् है आधार और भगवान् है आधेय और भक्त है आधार। भक्तके हृदयमें भगवान् रहते हैं और भगवान्के हृदयमें भक्त रहता है। यह बात भागवतमें बहुत साफ है। मेरे हृदयका नाम है साधु, सन्त, भक्त। साधुके हृदयका नाम है भगवान् और भगवान्के हृदयका नाम है साधु। भक्तका हृदय क्या है? देखो, निरीक्षण करो—भक्तके सिवाय और कुछ नहीं है।

अनेक स्थलोंपर भगवान्ने स्वयं कहा है—भक्त लोग मेरे सिवाय और किसीको नहीं जानते हैं और मैं भक्तके सिवाय किसी अन्य को नहीं जानता हूँ। 'हम भक्तनके भगत हमारे, सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे।'— एक बार बोल दो। भगवान् बोलते हैं—'अहं भक्तपराधीनो।' दुर्वासाजी मैं भक्तके पराधीन हूँ। मैं तो भक्तोका गुलाम हूँ। मेरे अन्दर स्वतन्त्रता तो है ही नहीं और भक्त मेरे सिवाय दूसरी किसी वस्तुको जानता ही नहीं है। इसलिए भगवान्ने कह दिया—मेरे भक्त न हों तो मैं स्वयंको भी रखना पसंद नहीं करता हूँ। कभी-कभी साधु लोग भी कह देते हैं। यदि हम न होते तो तुम्हारी क्या गति होती? बोलो, कौन पूछता तुमको? 'सन्त रामके पूत हैं राम सन्तके पूत'—सन्त न होते जगतमें तो ईश्वरका क्या होता कि उसके पूत जहाँ हैं वहीं रहते। सन्तोंने ही भगवान्को निराकारसे साकार बनाया। बैकुण्ठसे धरतीपर ले आये। जिनका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उनको सम्बन्धी बनाया। यह तो सन्तोंकी महिमा है। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।' बोले बाबा दुराचार देखते हो कि नहीं, जाति देखते हो कि नहीं? अब अगले जो श्लोक आते हैं, उनमें यह बात है। हम आचरण भी नहीं देखते। 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'। आचार नहीं देखते। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' आचरण नहीं देखते, देर नहीं लगाते और जाति नहीं देखते।

●

प्रवचन : 10

भगवान्‌ने कहा कि जो जिसकी आराधना करता है, वह उसीको प्राप्त करता है और इसी न्यायसे अपना भी वर्णन कर दिया, जैसे देवाराधन करनेवाला देवताको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरी आराधना करनेवाला मुझे प्राप्त होता है। न्यायत: संगत है परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। देवता लोग तो पूजाकी सामग्री देखते हैं कि हमारी पूजा-पत्रीमें यह क्या लगा रहा है। जैसे देवतासे हम पाँच लाख चाहते हैं और पाँच रुपयेका लड्डूका भोग लगा देते हैं। तो वह हिसाब-किताब देखता है। देवताओंको गणित, व्यापार मालूम है। उनको वेद-मन्त्रका उच्चारण चाहिए। उनको विधि-विधान चाहिए और वे पूजा तो पहले ले लेते हैं और उसका फल कभी, अपनी मौजसे देते हैं। न्याय यही है कि जो भगवान्‌की आराधना करे वह भगवान्‌को प्राप्त हो।

क्या यही बात भगवान्‌के बारेमें भी सोची जाय? उन्होंने देवताओंसे अपनी विलक्षणता बतायी। देवता अमर हैं—अमीर लोग उनकी उपासना करते हैं। अमर हैं, अमीर हैं, उमराव हैं। अमेरिका अमीरोंका निवास स्थान है। भगवान् गरीबोंके लिए हैं। अमीरोंके ही भगवान् नहीं है, भगवान् गरीबोंके भी हैं। जिनके पास कोई सामग्री न हो वे क्या करें? देखो गरीबोंकी सेवा स्वीकार करनेके लिए— 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं।' 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' में थोड़ी आपत्ति आयी थी, जो आक्षेप आया था, उसका समाधान करनेके लिए। इसको आक्षेपिकी संगति बोलते हैं। तुम भी देवताओं जैसे हो, ना-ना, मैं देवताओं जैसा नहीं हूँ। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' वस्तुकी कीमत नहीं कीमत है भक्तिकी। कितना प्रेम— 'पत्रं' एक तुलसीका पत्ता, 'पुष्पं' एक जंगलमें-से तोड़ लाओ फूल। यदि कोई मालिक है, तो उसकी अनुमति लेकर ही फल, फूल, पत्ता चुनना चाहिए या कीमत देकर लेना चाहिए, स्वयं पैदा करना चाहिए। पर यदि कोई वनमें फूल-फल लगा हो तो वहाँसे ले लेना चाहिए। क्योंकि वह तो भगवान्‌का है। तो पत्र हो, फूल हो, फल हो और नहीं तो पानी तो बहता ही रहता है। अपने पीनेके लिए मिलता है, तो भगवान्‌को पिलानेके लिए क्या पानी नहीं मिलेगा? अब यह है कि भगवान् सबके साथ अश्नामि शब्दका प्रयोग करते हैं। अश्नामि माने खाता हूँ। थोड़ा हो तो आप उसको नाश्ता बोलते हैं। 'नाशितं'— अशितं पूर्णं न भवति!' यह पूरा भोजन नहीं है अधूरा भोजन है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं भोजन करता हूँ। यह प्रेमसे दे रहा है। क्या है? सुनते हैं विदुरकी पत्नीने केला, नहीं, केलेका छिलका खिलाया था भगवान्‌को। पत्रं पुष्पं भी नहीं था वह तो त्याज्य अंश था।

महाभारतमें ऐसी कथा नहीं है पर भक्तमालमें यह कथा है। फूल, फल, पानी, 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि'। हमको बचपनमें साधुओंमें बहुत श्रद्धा थी। पन्द्रह-सोलह वर्षके थे तो कई बड़े मस्त महात्माओंके पास गया। उन्होंने इलायची उठाकर दे दी तो बिना छिले ही खा जाता था। एक दिन किसी महात्माने पिस्ता दे दिया तो ऐसे ही मुँहमें डाल दिया—तब उन्होंने डाँटा—बोले, नहीं यह छिलका गलेमें, कलेजेमें जाकर नुकसान पहुँचावेगा, ऐसे नहीं खाना चाहिए।

प्रेममें, श्रद्धामें, वस्तुका विचार नहीं होता। भगवान् भी प्रेम-मुग्ध अवस्थामें ही रहते हैं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। वस्तु नहीं देखता है कि वह कितनी कीमतकी है, कितनी बढ़िया है, कहाँसे लायी गयी है, कितने श्रमसे उत्पन्न हुई है, देखता यह है कि यह पूजा करनेवाला प्रेमसे कर रहा है कि नहीं! 'प्रयतात्मनः' का अर्थ है उसमें कोई स्वार्थ नहीं है। उसका मन उसके हाथोंमें है। तो यह बात हुई कि भगवान्‌की पूजामें वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रेमका महत्त्व है। अब यह देवताकी पूजा नहीं रही, पितरकी पूजा नहीं रही— यह भगवान्‌की पूजा है, विलक्षण हो गयी।

अब यज्ञमें यह बात है। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि मां।' प्रश्न यह उठा कि क्रियाविशेषको धर्म कहते हैं। जब शास्त्रोक्त कर्म, शास्त्रोक्त रीतिसे, शास्त्रोक्त अधिकारी, शास्त्रोक्त समय पर करता है तब यज्ञ सम्पन्न होता है। यह गीताकी विशेषता क्या है? इसमें तो ब्राह्मणादि अधिकारीकी अपेक्षा है कि ब्राह्मण करे, वेदमन्त्र पढ़े यह भी जरूरी नहीं है। 'मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे। विद्वान् वदति विष्णवे।' पण्डित बोलता है तो 'विष्णवे नमः' बोलता है और मूर्ख बोलता है तो 'विष्णाय नमः' बोलता है—अशुद्ध हो गया। ना-ना प्रेममें कहीं अशुद्धि होती है! दोनोका समान फल मिलता है।

भगवान्‌को व्याकरणका उतना ज्ञान नहीं है, जितना हमारे पण्डित लोंगोने व्याकरण जोड़ा है। भगवान्‌का तो स्वाभिक व्याकरण है। भागवतमें लिखा है 'वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं।' भगवान्‌का व्याकरण क्या है? चिड़िया। जो चिड़ियाकी तरह-तरहकी बोली बोलती है और उनकी जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृति-प्रकृति होती है, यही भगवान्‌का नामरूप व्याकरण है। चिड़ियोंकी बोलीका नाम व्याकरण है और उनकी जो आकृति है वह रूप-व्याकरण है। व्याकरण माने विशिष्ट आकृतिका सम्पादन। 'व्याकरणं' उसमें मन्त्रकी जरूरत नहीं है। अधिकारीकी आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेष कि ऐसी वेदी बनाओ और ऐसा स्थान हो और वसन्तमें आग्न्याधान करो। यह सब कुछ नहीं। सारी क्रिया ही भगवान्‌के प्रति अर्पित हानेसे धर्म हो जाती है। 'यत्करोषि'—यज्ञमें क्रियाविशेष है और भगवद्-सर्मपणमें क्रिया विशेषका सर्मपण नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

'यत्करोषि'— भगवान् सब कर्मकी बात करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने (भगवान् तो आदरवाचक शब्द है) श्रीमान् कृष्णने—श्रीमती भगवद्गीता(जैसे स्त्रीके नामके साथ श्रीमती जोड़ते हैं वैसे ही भगवान् भी विशेषण शब्द है,कहीं -कहीं संज्ञाके अर्थमें प्रयोग होता है) ने क्या किया, मन्दिरमें-से तो भगवान्‌को निकाला और 'सर्वभूतेषु मद्भावम्' कर दिया।

भगवान् कहाँ है? सबमें हैं। सड़कपर हैं, घरमें हैं, स्त्रीमें हैं, पुरुषमें हैं। परमेश्वरको तो निकालकर सबमें रख दिया और धर्मको यज्ञशालामें-से निकालकर—'यत्करोषि यदश्नासि लौकिकमपि'—जो कुछ लौकिक कर्म

करते हो, परिवारके लिए करते हो, धनार्जनके लिए करते हो—'यत्करोषि।' और पहलेसे ख्याल नहीं है—यह भगवान्के लिए है। करनेके बाद ही बोल दिया 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु।.ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' का अर्थ है कि पहले परमात्माका ध्यान रखकर तब कर्म करो। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे कि नहीं। और 'यत्करोषि'का अर्थ है—जब कर्म हो जाय तभी, पहले करो तो बहुत बढ़िया। परन्तु कर्म हो जावे तो! 'यत्करोषि।'— शुभाशुभ भगवान्को अर्पित करें—अशुभ कैसे करेंगे? 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' से कर्मका क्या रूप हो, यह बन्धन भी नहीं लगाया। 'यत् किञ्चित्सामान्यं करोषि' जो कुछ सामान्य कर्म करते हो, सब।

'यदश्नासि'—जो समय पर मिल गया और भोजन कर रहे हैं। भगवान्ने दिया— याद आजाय। भगवान् ही भीतर बैठकर भोजन कर रहें हैं यह स्मरण हो जाय। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा।' भगवान् शहद भी तो खाते हैं। पञ्चामृतमें शहद पड़ती है। आपको मालूम है शहद कैसी चीज है? न मालूम हो तो अच्छा है। उसका भी भगवान्को भोग लगता है। 'यदश्नासि यज्जुहोषि'—आप हवन करते हैं? ब्रह्म हवि है। जो दान करते हो दान अपनी सन्तुष्टिके लिए होता है। देनेवालेको सन्तोष होना चाहिए। जिसको दिया जाता है, उसका सन्तोष यदि देखोगे तो एक-एक व्यक्तिकी इतनी माँग होगी कि आप सर्वस्व दे करके भी उसको सन्तुष्ट नहीं कर सकोगे। इसलिए दान है तो बाह्य—बाहरी धर्म, परन्तु आत्मसन्तुष्टिके लिए होता है। उससे अपनेको सन्तोष होना चाहिए, हाँ हमने ठीक किया। अधिकारी कौन है? उसका मालिक है वही अधिकारी है। धन न तुम्हारा है, न जिसको दे रहे हो उसका है। वह तो जिसका है, उसीका है।

'यत्तपस्यसि कौन्तेय'—जो आत्मसंयम करते हैं, अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं। आत्मसंयमरूपी तपस्या। 'तत कुरुष्व मदर्पणम्' वह भगवान्के प्रति अर्पित हैं। हमने एक महात्मासे पूछा था। उन दिनों मैं 18-19 वर्षका था। गंगा किनारे बड़े मस्त महात्मा रहते थे। उन्होंने एक दिन उस समय पूछ लिया क्या चाहते हो? मैंने कहा हमको भगवान्के प्रति समर्पित कर दो, शरणागत कर दो। हम भगवान्के प्रति शरणागत हो जायँ, समर्पित हो जायँ यही चाहते हैं। वे बोले तुम भी सोचकर आओ ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान्को समर्पित नहीं है? धरती भगवान्की है। पानी भगवान्का ही है, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सब परमात्माका स्वरूप है। क्या है ऐसा जो भगवान्का नहीं है। कल आकर बताना समर्पण करा दूँगा। 24 घण्टे तक मैं सोचता रहा—जब मनही भगवान्का है तो शरीरकी माटी किसकी? जब पानी भगवान्का है तो शरीरका पानी किसका? जब आग भगवान्की है तो शरीरकी गर्मी—टेम्परेचर कहाँसे आता है? मैं गया उनके पास—महाराज नहीं मिले। देखो असमर्पितका भ्रम है। यह अपनी बुद्धिका दोष है कि हम किसी वस्तुको भगवान्की नहीं समझते हैं।

यह बिलकुल पक्की बात है कि सिवाय भगवान्की वस्तुके और दूसरे किसीकी कोई वस्तु नहीं है। मै आपको क्या अर्पित करूँ? शुभाशुभफलैरेवं—बोले छोटी चीज अर्पित करेंगे तो पहले प्रश्न था कि शायद न खायँ तो भगवान्ने प्रतिज्ञा कर ली कि खाते हैं। छोटी वस्तु दें, छोटा कर्म दें, थोड़ा भोजन दें तो इसका फल भी छोटा होगा? बोले—भगवान्के पास तराजू तो है ही नहीं ।

रामानुजसम्प्रदायमें बरबर मुनि हुए हैं—उन्होंने ललकार दिया है—तुमको पुण्यका साक्षात्कार हुआ है? तुमको पापका साक्षात्कार हुआ है? क्या तुम जो पाप-पुण्य मानते हो उसको भगवान् भी पाप-पुण्य मानते हैं? अरे तुम अपनी आँख भगवान्के साथ मत जोड़ो—विचार करके देखो भगवान्को ये सृष्टि कैसी दिखती है? अपना स्वरूप दिखती है—तो तुम भगवान्की शरणमें हो कि नहीं? तुम क्या दिखाते हो? अपना स्वरूप दिखाते हो। भगवान् तो हमको अपना मैं मानते हैं। हम ही भगवान्को अपनेसे अलग मानते हैं। जो भगवान्की दृष्टि है वही हमारी दृष्टि है।

'जो थारी राय सो म्हारी राय'—ऐसे बोलो भगवान्से। तब तो तुम्हें कभी दु:ख नहीं होगा और जब तुम कहोगे तुम्हारी राय अलग, हमारी राय अलग, बस जहाँ भगवान्से मतभेद हुआ, जीवनमें दु:ख आया। जीवनमें दु:खका एक ही कारण है, भगवान्से मतभेद। भगवान् किसको पापी मानते हैं? किसको पुण्यात्मा; मालूम है? हम अपने ही एक हाथको पापी मानें, एक हाथको पुण्यात्मा मानें—यह कैसे हो सकता है?

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनै:।' यह कर्म बन्धन है सृष्टि और इसीमें तुम्हारी मान्यता है, इस कर्मका फल यह है, इस कर्मका फल यह है। भगवान् अमेरिकन कानून मानते हैं कि यूरोपियन? किस संविधानके अनुसार वे पाप-पुण्यका निर्णय करते हैं? उनके पास जो संविधानकी पुस्तक है वह किस राष्ट्रकी है? किस जातिकी है? किस आचार्यकी है। यह आचार्य तो सब बादमें पैदा हुए —तो भगवान्के पास वह पोथी नहीं रही होगी जो इन लोगोने बनायी है। उस समय मनुकी पोथी कहाँ थी? जैमिनिकी पोथी, कुरानशरीफ, बाईबिल कहाँ थी—ये तो बादमें बने। इनके पहले जो भगवान्का कानून है, उसका साक्षात्कार किसने किया? बतायें तो सही! भगवान्का कानून विचित्र है। सबको अपने मैंके रूपमें अनुभव करते हैं। सृष्टि क्या है यह तो उसकी कविता है।

भगवान् अपना ही भिन्न-भिन्न नाम बनाते हैं : विलक्षण, विलक्षण नाम रखते हैं और मौजमें अकेले गाते हैं, जो गाते जाते हैं सो बनता जाता है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'—देखो सर्व कर्मार्पिण हो गया इसमें, सर्व कर्म त्याग हो गया—'विमुक्तो मामुपैष्यसि।' मुक्त हो गये और भगवत्प्राप्ति हो गयी। भगवान्की प्राप्ति मरनेके बाद होती है यह कुकल्पना है। भगवान्की प्राप्ति इसी समय हो रही है खुली आँखसे देख लो। अब एक बात आयी कि नहींजी, हम तो पापी हैं। अच्छा तुम पापी मानते हो तो मानो, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। हम तुम्हारी बात मान लेते हैं।

कल सुनाया था। 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।' मयि ते—उनका आधार मैं हूँ और तेषु चाप्यहम् और मेरा आधार वे हैं। माने मेरे दिलमें वे हैं और उनके दिलमें मैं हूँ। मनकी उपाधि ही हमको भगवान्से अलग करती है। यह डिग्री लग गयी। एक आदमीको पहले राय बहादुरकी पदवी मिली। फिर राजा बहादुरकी पदवी मिली। पहले पद्मश्री मिली तो फिर पद्मभूषण मिल गया। अरे बाबा डिग्री दो हुई, आदमी दो थोड़े ही होगा। आदमी तो एक ही है। यही आदिम है। भगवान्ने अपने सरीखा बना दिया—आदिम है यह आदमी नहीं है—मान्यता ही तो है। बोले—'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'! मुझमें भक्त और भक्तमें मैं।

भक्तके बिना भगवान् कहाँ? यदि ईशितव्य नहीं होगा तो ईश्वर कहाँ होगा? अच्छा हम पापी हैं। पापी हो तो पहले छाँटो सबसे बड़ा पापी कौन है? भगवान्‌ने कह दिया 'अपि चेदसि पापेभ्यः' सब पापियोंको इकठ्ठा करो और उनमें-से कहो कि यह छोटा पापी, यह बड़ा पापी, यह सबसे बड़ा पापी! 'पापकृत्तमः- पापकृत्, पापकृत्तर, पापकृत्तमः'—बोले, हमारी नाव तुम्हारे लिए किनारे लगी है। आओ बैठ जाओ। संकोच होता है महाराज, हम पापी हैं—नाव पर कैसे चढ़ेंगे। छोड़ दो संकोच। नहीं, हमसे नहीं आया जाता—'तेषामहं समुद्धर्ता' मैं आकर तुमको उठाता हूँ और दोनों हाथसे पकड़कर हृदयसे लगाता हूँ। ओ मेरे प्यारे 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'। साराका सारा पाप तुरन्त भस्म हो जायेगा। पापका समुद्र बहता रह जायेगा नीचे और तुम तर जाओगे।

जिसके पास वस्तु नहीं है, उसके लिए भी भगवान् हैं। जिसके पास विधि-विधान नहीं है, उसके पास भी भगवान् हैं और जिसके पास पुण्य कर्म नहीं है, पापकी पूँजी है—भगवान् महापतितपावन हैं— जो पापीको अपना नहीं सकता, जो नीचे गिरे हुएको उठा नहीं सकता, जो पिछड़ेको आगे बढ़ा नहीं सकता, जो भूले हुएको रास्ता बता नहीं सकता, वह धर्म नहीं होता, उसका नाम धर्म नहीं है। उसका नाम भगवान् नहीं है। यदि पतितको पावन न करदे तो भगवान् कैसा? 'अपि चेत्सुदुराचारः' भगवान् कहीं आचार देखते हैं?

आपने सुना होगा—पूतना राक्षसी, कंसप्रेरिता रुधिराशना बालघातिनी और हिंसासे हृदय भरा हुआ और जहर लगा हुआ। भगवान्‌के पास गयी तो उन्हें कुछ दिखा ही नहीं। यह राक्षसी है कि बालघातिनी है कि हिंसिका है, कुछ नहीं। क्या दिखा? बच्चेको क्या दिखता है—आप जानते हैं? माँका दूध दिखता है। केवल दूध दिखा, जहर वैगरह कुछ दिखा ही नहीं। कुब्जा दिखी, रूप आदि कुछ नहीं दिखा। यहाँतक कि उद्‌देश्य भी नहीं दिखा कि यह किसके लिए है। वह तो कंसके लिए था, जो कुछ उसके पास था और वह कंसकी सेविका थी। अरे यह तो बड़ी स्वामिनिष्ठा है। कंसकी सेवा बहुत कर चुकी। तुम्हारी जैसी सेविका तो हमारे घरमें चाहिए।

अनजानमें अमृत पी लिया—अमर हो जायेगा कि नहीं? अनजानमें श्री कृष्णसे प्रेम हो गया। आचार नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाति नहीं है; परन्तु भगवान्‌से प्रेम है। मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। 'साधुरेव स मन्तव्यः।' आपसे कहते हैं कि आप भी उसके आचारको मत देखिये, आप भी उसके निश्चयको देखिये। भक्ति संकल्प-प्रधान नहीं है। भक्ति क्रिया-प्रधान नहीं है—भक्ति उद्‌देश्य-प्रधान है। किसके लिए कर रहा है? 'कस्मै देवाय' यहाँ कस्मै का अर्थ है किसके लिए—उसका निश्चय, सर्वोत्तम निश्चय है। भगवान् व्यवसायात्मिका बुद्धिको पसन्द करते हैं। अव्यवसाय नहीं, उसने निश्चय कर लिया है। 'भजन्त' भजन माने प्रेमपूर्वक। अपने चित्तका सर्वतोमुखी प्रवाह भगवान्‌में लगा है। आगे भगवान्, पीछे भगवान्, दायें भगवान्, वायें भगवान्। ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। पापी भी आपका भजन करनेका निश्चय करे तो कुछ देर तो लगेगी? 'क्षिप्रं'—चुटकी बजाते ही, तत्काल पापी हो गया, धर्मात्मा। धर्मात्मा होना कोई कम तकलीफदेह नहीं है।

मच्छर मर जाये, चींटी पाँवके नीचे आ जाय—आगके आगे बैठकर होम करना पड़े तो धर्मानुष्ठान करते-करते भी हाथ तो जलते ही हैं। बोले नहीं , बादमें शान्ति मिलेगी—बादमें धर्मात्मा होगा—ऐसा नहीं, तुरन्त हो जायेगा धर्मात्मा। यहाँ मरनेके बाद धर्मका फल नहीं। श्वच्छान्ति निगच्छति। उसी समय उसको शाश्वत शान्ति मिलेगी।

बोले—अर्जुन, सुन एक बात! मेरा दोस्त है। जैसे आजकल यार-यार करके बात करते हैं न! मित्र हो तो गाली देकर भी बात करते हैं—सुन अर्जुन, जरा कान इधर दे—तू प्रतिज्ञा करले, त्वं प्रतिजानीहिं तुम प्रतिज्ञा करो—मैं क्या प्रतिज्ञा करूँ? बोल, 'न मे भक्त:प्रणश्यति' —श्रीकृष्णके भक्तका कभी नाश नहीं होता। यह प्रतिज्ञा कर। मैं प्रतिज्ञा नहीं करूँगा, तू कर। अरे बाबा करले न यार! काहको हिचकता है। बोले तुम्हीं क्यों नहीं कर लेते? मेरे सिर पर बोझ क्यों डालते हो? देख बात यह है कि मैं तो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि महाभारत युद्धमें कोई शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा। सो अभी तो युद्धका प्रारम्भ है, दो-तीन दिन बाद मुझको शस्त्र उठाना पड़ेगा, हमारी प्रतिज्ञा टूट जायगी तो दुनियामें विख्यात हो जायगा कि भगवान् अपनी प्रतिज्ञाके पक्के नहीं है। प्रतिज्ञा करते हैं तोड़ देते हैं। यदि रामचन्द्र हों तो बात दूसरी है।

कृष्णने कहा कि हमारे बारेमें थोड़ी बदनामी है और आगे और होनेवाली है। महाभारतमें भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी—क्यों? भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिए। भीष्मकी प्रतिज्ञा थी—'आजु हौं हरि सों शस्त्र गहइहौं'—महाराज आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देंगे? हाँ, लेकर चक्र दौड़े—रथका पहिया। जैसे सिंह झपटता है हाथी पर वैसे झपटे। धरती काँपने लगी। वाणी देवी काँपने लगीं कि अपनी वाणीसे श्रीकृष्णने प्रतिज्ञा की कि मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और वे हमारा तिरस्कार करके दौड़े, थरथर काँपने लगीं, अब हमारी मर्यादा क्या रहेगी? पीताम्बर गिर पड़ा। श्री कृष्णने एक परदेसे अपनेको ढँक रखा था। पीताम्बर उनके ऊपर परदा है। बोले बड़े सम हैं-बड़े सम हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सम हैं—यह किसका पक्षपात नहीं करते हैं। वे पीले-पीले पीताम्बरसे ढँके हुए थे अपनेको । पीताम्बरने कहा कि अब जाओ, बेपरद हो गये तुम!

'गतोत्तरीय'—यह अन्धी आँखोंसे भी देखनेकी चीज है। इसके लिए बाहरकी आँखकी जरूरत नहीं है। यह आत्मा प्रज्ञानेत्र है। उपनिषद्‌में कहा—प्रज्ञाकी आँख है। बोले देख भाई —मेरी प्रतिज्ञा जब झूठी होगी तो अब मैं प्रतिज्ञा करूँगा उसको लोग झूठी मान लेंगे। इसलिए तू कर ले प्रतिज्ञा—'न मे भक्त: प्रणश्यति'। और 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धि भगवान् हैं। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' — यह सारथिके रूपमें कौन बैठा है? बुद्धि है। किसी मजहबमें बुद्धिका इतना आदर नहीं है। 'बुद्धियोगात्, बुद्धियोगात्,बुद्धियोगात्'। 'न मे भक्त: प्रणश्यति'—मेरे भक्तका प्रणाश कभी नहीं होगा। 'तस्याहं न प्रणश्यामि—स च मे न प्रणश्यति।' वह मेरी आँखसे ओझल नहीं होगा और मैं उसकी आँखसे ओझल नहीं होऊँगा।

'प्रणश्यति'का अर्थ है — आँखसे ओझल होना। जब कोई चीज नहीं दिखती है तो मरती तो नहीं है पर हम समझते है कि मर गयी। एक घड़ा फूट गया, हमने कहा घड़ा फूट गया, मर गया, पर मर नहीं गया, माटीका एक कण भी नष्ट नहीं हुआ। माटीका जितना वजन था उतना ही वजन बना रहा। माटी-माटीमें मिल

गयी ज्यो-की त्यों। घड़ा मरा कहाँ? कोई नहीं मरता। मेरे भक्त हो जाओ तब इसका पता चलेगा। भगवान् भक्तको देखते हैं। भक्त भगवान्को देखता है। दोनों दोनोंको देखते हैं। 'विष्णोस्तत् परमं पदम्।'

अब जातिकी बात करते हैं—माने जो कर्मसे नीच है, जो वस्तुसे रहित है, जो कर्मकाण्डसे रहित है, जो पापी हैं, फिर बोले नहीं,नहीं, अब आओ सबके लिए दरवाजा खुला है। भगवान्का द्वार कभी किसीके लिए बन्द नहीं होता। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।' पापयोनि माने जो कुत्ता है। कुत्ता भी भक्त होता है। भगवान्का आश्रय लेता है।

हमने भक्त कुत्ता देखा है। ग्वालियरके पास एक सन्त रहते थे—उनके यहाँ एक कुत्ता था। उसको एकादशीका ज्ञान था। एकादशीके दिन जब जबरदस्ती रोटी दी—वह नहीं खाता था। हमने फलाहारी कुत्ता भी देखा है। वे मोसम्बी, अनार खाते हैं। कीर्तनमें नाचते देखा है। तालसे अपना पाँव हिलाता था। साँप भी कथा सुननेके लिए आते हैं। प्रवचन सुननेको साँप भी आते हैं। ये जो जन्तु-विज्ञानके विद्वान् हैं, वे कहते हैं, इनके अन्दर समझ सब होती है, वे केवल हमारी वाणी नहीं बोल सकते हैं। केवल भाषाका ही अन्तर है।

कुत्ता भी समझता है कि मेरी तारीफ हो रही है कि मेरी निन्दा हो रही है। गीध भी भगवान्का भक्त है—'शूकरयोनिं वा।' सुनते हैं, तोता, कौवा भी भगवान्के भक्त होते हैं। गाय, हरिण, पेड़पर रहनेवाली चिड़िया भी भगवान्की भक्त हैं। असलमें सब जानमें, अनजानमें 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते।' भगवान्की सेवा सबके द्वारा हो रही है। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः'—जो भगवान्-विमुख स्त्री हैं, जैसे पूतना है, कुब्जा है। वैश्य, जो अपने व्यापारके अनुसार लोगोंके काममें आनेवाली चीज—वह अच्छी हो चाहे बुरी—व्यापार करते हैं। 'पापयोनयः' और साथ-साथ 'तेऽपि' है। 'अपि' शूद्राः—जो छोटे-छोटे काम करते हैं। राजाकी आज्ञासे जल्लाद फाँसी देता है, उसमें उसको पाप लगेगा? निष्ठाके साथ आज्ञाका पालन करता है, संविधानका पालन करता है। वहाँ पापका प्रश्न क्या है? 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' यदि उनके हृदयमें भगवान्की भक्ति है तो उनको परागतिकी प्राप्ति होती है। 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या—जिनका हृदय पवित्र है, ब्रह्मर्षि है, जिनके हृदयमें भक्ति है, उनका क्या पूछना?

एक ब्राह्मण है। बारह पुण्योंसे युक्त है—स्वाध्याय, तपस्या, एकान्तसेवन, सब है उसके अन्दर—परन्तु भगवान्से विमुख है। बोले भाई, उस ब्राह्मणसे तो वह चाण्डाल बढ़िया है जो भगवान्के प्रति समर्पित है। यह भागवत्में श्लोक है। प्रह्लाद-स्तुतिका है। जिसकी जीभपर भगवान्का नाम है—भगवान्का नाम लेकर पुकारे और ताप, यमदूत, नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म उसके पास आयें? यह कैसे हो सकता है? उसको कोटि-कोटि यज्ञका फल मिलता है। यह भगवान्की सुगमता है। 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' उनके लिए भी द्वार खुला है, वे भी आयें। आओ भाई, यहाँ किसीके लिए रोक-टोक नहीं है, यह तुम्हारा अपना घर है, कोई पराया घर होता तो यहाँ कोई कानून लगता, कोई रोक-टोक लगती, यह तो तुम्हारा अपना घर है। आओ-आओ हमारे पास आओ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ 9.34

अपने मनको देखो। मैं हूँ तुम्हारा मन। 'अहमेव मनो यस्य।' मैं ही जिसका मन हूँ—समान अधिकरण, जब आँख बन्द की, जरा गरदन झुकायी, कौन दिखता है? हमारा मन दिखता है, ठीक है तुम्हारा मन मैं हूँ कि नहीं? मैं ही तो तुम्हारे अन्दर मन बनकर बैठा हुआ हूँ। तन्मे मनः।

मद्भक्तो भव—मुझसे प्यार करो। अपना मनन, विचार मुझको दे दो, यह हुआ मन्मना भव। और भक्ति माने प्रीति प्यार। अपने विचार हमको दे दो और अपना प्यार हमको दो। मद्याजी—अपना कर्म हमको दो। बोले बाबा—कुछ दिया लिया नहीं जाता, अच्छा हाथ तो जोड़ो, नमस्कुरु। हमारा सिर भी नहीं झुकता, कई लोग ऐसे होते हैं। बिलकुल ठूंठ होते हैं, झुकनेका तो नाम ही नहीं आता। सिर नहीं झुकता है, हाथ नहीं झुकता है। हमको तो डॉक्टरने बताया कि यदि आप साष्टांग दण्डवत् रोज किसीको करते होते तो बर्षों पहले आपके हाथकी दवा हो जाती। भगवान्ने कहा—अच्छा, सिर तो झुका लिया करो, बोले यह भी नहीं बनता है बाबा! कौन साष्टांग दण्डवत् करे। कौन सिर लगावे धरतीमें। हाथ, पाँव, छाती, घुटना लगावे धरतीमें—यह सब उपद्रव हमसे नहीं बनता है।

एकबार श्रीकृष्णके सामने झुकना दस अश्वमेध यज्ञके बराबर होता है। दस अश्वमेध यज्ञ करो फिर जन्म होगा लेकिन एकबार श्रीकृष्णके सामने नम्र हो जाओ, झुक जाओ, अपना दिल नम्र हो जाये, हृदयमें कोमलता आजाय—बस, छूट गया संसार! यह तो कठोर हृदयके लिए संसार है, कोमल हृदयके लिए संसार थोड़े ही होता है। कोमल हृदयको तो भगवान् पसन्द करते हैं—इसका कोमल हृदय है, कहीं संसारमें फँस जायेगा। आओ-आओ हमारे साथ जुड़ जाओ। जिसका हृदय कोमल होता है, वह संसारमें कहीं भी खिंच जाता है, किसी भक्तके रंगमें रँग जाय, किसीके साथ चिपक जाय तो भगवान्ने कहा—यह तुम्हारा नमन जो है यह नमक हमको पसन्द है।

नमन कहो नमक कहो कुछ फरक नहीं होता। यह तो गला देता है—नमक जिस चीजमें डाल दो गला देता है। तो हमको गला हुआ हृदय पसन्द है।

मेरा कुछ नहीं, सब तुम्हारा है, शरणागति। पहले ज्ञान है, फिर भक्ति है, फिर यज्ञ है, उसके बाद शरणागति है। बोले यह भी नहीं होता, बोले मत्परायण—मेरा भरोसा रखो, मुझपर विश्वास रखो, सब ठीक कर देंगे। 'एवं आत्मानं युक्त्वा।' इस तरह तुम अपने-आपको जोड़ दो, मेरे पास आओ।

एक बातपर आपका ध्यान खींचें। यह श्लोक 18वें अध्यायमें भी है और नवें अध्यायमें भी है। थोड़ा अन्तर है। वहाँ है 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।' विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा कि जब भगवान्ने कहा 'मामेवैष्यसि'—बोले हमको तो तुम पहले ही बता चुके हो कि तुम वादेके झूठे हो, झूठी प्रतिज्ञा करते हो। हम नहीं मानते। बोले 'सत्यं'—मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, सौगन्ध खाकर कहता हूँ। सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ। तुमसे कहता हूँ भाई, यह भी तो देख! नहीं, बाबा बचपनसे ही झूठ बोलते रहे। मैयासे

कह दिया माटी नहीं खायी—गोपियोंसे कह दिया कभी झूठ नहीं बोला—भीष्मसे प्रतिज्ञा की सो तोड़ दी। तो मुझसे भी झूठ बोल सकते हो। कुछ विश्वास नहीं है, तुम्हारा। बोले, नहीं 'प्रियोऽसि'—अर्जुन तुम मेरे प्यारे हो 'भक्तोसि मे'—ब्रजवासी लोग बात-बातमें तेरी सौं मेरी सौं कहते ही रहते हैं। ब्रजवासियोंकी सौगन्धका कुछ ठीक नहीं है। प्रेममें भी है न! 'सौंह करे भौंहनि़ हंसे'......। सौंहकी तो कीमत ही नहीं है। बोले नहीं-नहीं तुम तो मेरे प्यारे हो—'प्रियोऽसि!' अपने प्यारेसे कहीं कोई झूठी प्रतिज्ञा की जाती है। कोई पराया हो तो बात दूसरी है, तुम तो हमारे बड़े प्यारे हो। 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' तुम मेरे इष्ट हो, माने मैं तुम्हें चाहता हूँ—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

तुम मेरे भक्त हो, सखा हो, पर वहाँमें और यहाँमें फरक क्या है? वहाँ सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं। तुम अपनेको इस तरहसे मेरे साथ जोड़ो। यह अभी आधी गीता है। पूरी गीता 'प्रियोऽसि मे' पर है।

× × ×

यह बड़ा अच्छा होता कि हमें धन्यवाद पहले मिल जाता है और पूरा करनेका अवसर बादमें आता है। हम आप लोगोंके आभारी हैं कि आप अपने घरका इतना बड़ा काम-धन्धा छोड़कर बढ़िया-बढ़िया फर्नीचर और एयरकण्डीशन घर छोड़कर आते हैं, कुर्सीपर बैठते हैं, इतना श्रम करते हैं, इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे सुनते हैं। और सचमुच यदि श्रोता अच्छा न हो तो वक्ता तो कुछ बोल ही नहीं सकता। श्रोताका जो उत्तम श्रवणका संकल्प है, वह वक्ताके हृदयको प्रभावित करके उसको बोलनेकी शक्ति देता है। आभारी तो हम आपके हैं—कृतज्ञ हैं। बार-बार ऐसा मौका मिले, तो हम बहुत खुश हों। ऐसे नीचे बैठनेवाले मिलें, हँस-हँसकर हमारी बात सुनें और महाराज, माला भी पहनावें, हाथ भी जोड़ें, महाराजजी भी कहें, ऐसे श्रोता तो हमको बार-बार चाहिए—धन्यवाद हम ही देते हैं।

ॐ शान्तिः, शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(7)

गीता अध्याय-10

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

विश्वात्मा प्रीयताम्

ऋग्वेदमें एक मन्त्र है—मेरा हाथ भगवान् है। भागवतमें प्रार्थना है—भगवान् मेरी वाणीका शृंगार करें। महात्माओंका वचन है—हृदयका उत्साह ही सफलताकी कुञ्जी है। भगवान् मेरी वाणीपर बैठ गये। श्रीमती सरला बिरलाका हाथ भागवतशक्तिसे भरपूर हो गया। श्रीमान् बसन्तकुमार बिरला उत्साहसे भर गये। गीता-दर्शनका सप्तम भाग आपकी आँखोंके सामने है। इससे विश्वमानवके रूपमें मूर्तिमान् भगवान् प्रसन्न हों। सबके हृदयमें, जीवनमें, कर्ममें हितभावनाका प्रकाश हो।

अनेन कर्मणा विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्।

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय -10

प्रवचन : 1

(10-11-'80)

श्रीमद्भागवद्गीताका एक प्रसिद्ध वाक्य है—

मामनुस्मर युध्य च। (8.7)

मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस वाक्यकी व्याख्या दसवें अध्यायमें पूर्ण रूपसे की गयी है। गीताके दसवें अध्यायमें दो पदार्थोंका वर्णन है। एक है योग और एक है विभूति। अर्जुनके प्रश्नमें है—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ (10.18)

आप योगका उपदेश कीजिये। विभूतिका भी उपदेश कीजिये। श्रीकृष्णके वचनमें है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (10.7)

हमारी विभूति और योग, इन दोनोंको जो जान लेता है, उसको अविकम्प योगकी प्राप्ति होती है। अविकम्प योगका अर्थ है जो योग एक-कालिक न हो, एक-देशिक न हो, एक-व्यक्तिक न हो। अविकम्प योग—कभी काँपे नहीं, कभी हिले नहीं, कभी चले नहीं। समाधिमें भी रहे और व्यवहारमें भी रहे। जो योग समाधिमें रहता है और व्यवहारमें नहीं, वह विकम्प योग है। समाधिमें लगे तो व्यवहार छूट गया और व्यवहारमें लगे तो योग छूट गया। दोनों परस्पर विरोधी हो गये। ऐसा जो योग होगा वह विकम्प योग होगा।

योग ऐसा चाहिए—**अविकम्पेन योगेन**—जो दोनोंमें एक-सा रहे। वह कैसे होगा? इसके लिए दोनों बातें पहचाननी पड़ेंगी। यह व्यवहार क्या है? यह भगवान्‌का वैभव-विभूति और भगवान्‌का योग क्या है? उनका अनुस्मरण—यह है योग। जब आप समाधिमें हों तो परमात्माके योगमें स्थित हो जायँ और जब व्यवहारमें हों तो भगवान्‌की विभूतिमें, वैभवमें स्थित हो जायँ। जो विभूति है, विशिष्ट भवन—ईशावास्य उपनिषद्में 'संभूति' शब्द द्वारा इसको कहा गया है। संभूति और असंभूति।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते॥ 14॥

मृत्युका संतरण होता है। मौतसे पार जानेका उपाय है—व्यवहार बिलकुल ठीक-ठीक रहे। और अमृतत्व प्राप्तिका उपाय क्या है? संभूतिमें स्थित हो जायँ। दोनोंसे हमारा यह जीवन चलता है। जैसे विश्राम न हो तो व्यवहार करनेकी शक्ति भी क्षीण हो जायेगी, यदि आप काम न करें, तो नींद नहीं आयेगी। और नींद नहीं लें तो काम नहीं कर सकेंगे। जैसे—विश्राम और कर्त्तव्यपालन दोनों जीवनके अङ्ग हैं, इसीप्रकार भगवत्स्मरण और स्वधर्मका, स्वकर्त्तव्यका पालन ये जीवनके अङ्ग हैं। अत: **मामनुस्मर युध्य च** इस महावाक्यकी व्याख्या करनेके लिए यह दसवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ है। सातवें और नवें अध्यायमें भी भगवान्ने विभूतिका वर्णन किया है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो:। (7.8)

यह सूर्यमें कौन चमक रहा है? चन्द्रमामें कौन चमक रहा है? और इस चमकसे कितनी चीजें बनती हैं? इसपर आप ध्यान दें। यह आप जो देखते हैं—लाल, पीला, हरा—यह वृक्षोंकी हरियाली, यह पुष्पोंकी सुन्दरता यह जो नाना प्रकारकी वस्तुएं हैं वे हैं तो विभूति। ये जो नाना प्रकारके स्वाद हैं—इसमें जल तो एक ही है। जल योग है और उसमें जो नाना प्रकारके स्वाद हैं वे विभूति हैं। यह जलका वैभव है कि वह मिठास भी दे दे और खटास भी दे दे। जल तो एक है परन्तु उसमें जो अनेक प्रकारके रस हैं—वे जलकी विभूति है। पृथिवी तो एक ही है किन्तु उसमें जो तरह-तरहके इत्र बनते हैं, तरह-तरहके गंध बनते हैं, वह पृथिवीका वैभव है। उष्मा, तेजस्-तत्त्व तो एक ही हैं, परन्तु उससे जो आप भिन्न-भिन्न प्रकारकी मशीन चलाते हैं वह उसका वैभव है।

प्राण तो एक ही है, परन्तु ऊपर जानेवाला प्राण दूसरा, आँखको हिलानेवाला प्राण दूसरा, हाथको उठानेवाला प्राण दूसरा, रक्तको ठीक-ठीक चलानेवाला प्राण दूसरा। एक ही वायु अनेक प्रकारकी विभूति, वैभव अपने जीवनमें प्रकट करता है। आकाश तो एक हो है; परन्तु वह बाँसुरीमें कुछ और बोलता है, तबलेमें कुछ और बोलता है, हारमोनियममें कुछ और बोलता है, सितार, सारंगी, वीणामें कुछ और बोलता है, यह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी स्वर-लहरी है, यह आकाशकी विभूति है।

यह जो आप संसार देख रहे हैं, वह क्या है? सब्के भीतर छिपे हुए बैठे हुए जो भगवान् हैं उनकी यह विभूति है। यदि आप इस दृश्यमान प्रपञ्चको विभूतिके रूपमें पहचान लें तो आप जहाँ कहीं भी रहेंगे, भगवान्से जुड़े रहेंगे। भगवान्के भूलनेका जीवनमें कोई प्रसंग ही नहीं रहेगा, यदि आप इस विभूतिको, इस वैभवको पहचान लें। इसीसे उपासना-शास्त्रमें जब सर्वात्मक भगवान्का वर्णन आता है, तो कहते हैं भोग और मोक्ष दोनोंकी सिद्धि भगवान्से होती है। भक्ति-शास्त्र और तन्त्र-शास्त्र, वह चाहे द्वैत प्रधान हो, चाहे अद्वैत-प्रधान, भाग और मोक्षका युगपत्—एक साथ वर्णन करता है। हम ऐसी साधना आपको बताते हैं। जिसमें भोग तो छूटे नहीं और मोक्ष मिल जाय और मोक्षसे आप वंचित न हों और संसारका व्यवहार करते रहें।

यह गीता-शास्त्र आपके व्यवहारको भी परमार्थ बनानेके लिए अवतीर्ण हुआ है। श्रीकृष्णकी वाणीमें यह चमत्कार देखनेमें आता है। उद्धवजीसे कहते हैं—'तुम सब छोड़कर मेरे पास आजाओ। आत्मसर्मपण करो।' अर्जुन से कहते हैं—तुम सब लेकर मेरे पास आजाओ। यह तुम्हारा युद्ध कर्म भी मेरे लिए हो। 'हमारे जीवनके सारे कार्य-कलाप ईश्वरकी दृष्टिसे होवें।' गीताका यह मुख्य उपदेश है। उद्धवजीको कहते हैं, सब छोड़कर बदरीनाथ आओ और मेरी शरणमें रहो। अर्जुनको कहते हैं—'युद्ध करो और मेरे लिए करो।'

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर। (3.9)

मेरे लिए सारे कर्म करो। अम्बरीषसे कहते हैं—पवित्र होकर, धर्मानुष्ठान करो और उपासनाके द्वारा एकादशी आदि व्रत करके, पवित्र होकर मेरे पास आओ और गोपियोंसे कहते हैं—तुम जैसे हो, जहाँ हो, जो हो- कुछ सम्हालो मत, जैसे हो वैसे ही मेरे पास आ जाओ।

ये आत्मसमर्पणके चार प्रकार हैं। सब छोड़कर परमात्मासे मिलो, सब लेकर परमात्मासे मिलो, पवित्र होकर परमात्मासे मिलो, पवित्र-अपवित्र जैसे भी हो वैसे ही— जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावा—परमात्माकी ओर चल पड़ो। अपनी ओर मत देखो कि मैं पवित्र हूँ कि अपवित्र, परमात्माकी ओर देखो कि उनके पास जो जाता है वह पवित्र हो जाता है, पवित्रतम हो जाता है, परमात्मासे एक हो जाता है । नवें अध्यायमें भी विभूतियोंका वर्णन है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (9.17-19)

भगवान्‌की विभूति है—वे ही सबके पिता हैं— माता, धाता, पितामह। 'तपामि'— मैं ही गरमीके रूपमें प्रकट होता हूँ, मैं ही वर्षाके रूपमें प्रकट हूँ, यह वैभव है। भगवान् तपते हैं, यह उनकी विभूति है। मेघ बरसते हैं यह भगवान्‌की विभूति है। मैं ही दण्ड देता हूँ और मैं ही मुक्त करता हूँ। मैं ही पकड़ता हूँ, मैं ही छोड़ता हूँ। अमृत भी और मृत्यु भी, भगवान्‌का वैभव है। अच्छा बुरा जो कुछ सृष्टिमें है वह सब भगवान्‌का वैभव है, भगवान्‌की विभूति है। ग्यारहवें अध्यायमें कहा गया है।

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। (11.40)

आप सबमें व्याप्त हैं इसलिए सब हैं। इसलिए सब हैं, इसका अर्थ हुआ कि परमात्मा तो हमको किसी भी स्थितिमें छोड़ता नहीं । हम अच्छी स्थितिमें हो, हम बुरी परिस्थितिमें हों, पापमें हों, पुण्यमें हो, सुखमें हों, दुःखमें हों, मन चंचल हो कि स्थिर हो, हम काम कर रहें हों कि निक्कमे हों— परमात्मा तो हमको छोड़कर कहीं जाता नहीं परन्तु हमारा ध्यान इस बात पर नहीं जाता है कि परमात्मा हमारे साथ है।

हमारे ध्यानकी, हमारे अवधानकी, हमारे ख्यालकी कमी है, हमारी भावनाकी कमी है, कल्पना-शीलताकी कमी है कि हम परमात्माको भूल जाते हैं। वह तो पक्षियोंमें बैठकर चहकता है, वह तो वृक्षोंमें लहराता है, वह तो फूलोंमें खिलता है। वह स्त्री-पुरुष बनकर नाना प्रकारकी क्रीडा कर रहा है। परमात्मा हमसे दूर नहीं है। विभूति और योग दोनोंका अर्थ यह हुआ कि हम परमात्माके स्वरूपका केवल ध्यान रखें। चाहे काम करते हुए हों, चाहे काम न करते हुए हों। समाधिमें हो तो ठीक, व्यवहारमें हो तो ठीक। दोनोंमें परमात्मा हमारी दृष्टिमें रहे। अमृतश्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। सत् भी वही—असत् भी वही। अमृत भी वही, मृत्यु भी वही। इसीसे विभूतियोंका जहाँ वर्णन दशम अध्यायमें हुआ, वहाँ मृत्युके रूपमें भी भगवान्ने अपनेको बताया।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। (10.34)
कालः कलयतामहम्। (10.30)

यह जो क्षण-क्षण दीख रहा है वह काल नहीं, क्रम नहीं—जितना क्रम मालूम पड़ता है—बचपन आया, जवानी आयी, बुढ़ापा आया। जिनका आकलन होता है और जो आकलन करते हैं—यह सारी गणना, यह सारा क्रम परमात्मामें है और जो सबको हर लेनेवाला मृत्यु है, वह मृत्यु भी परमात्माका स्वरूप है। कितनी निर्भयताकी बात है जीवनमें लोग मौतसे डरते हैं, हाय! हाय! मर न जायँ। मृत्यु भी जीवनका एक अवश्यम्भावि रूप है और परमात्माका रूप है। मरनेके डरसे अपने कर्तव्यका परित्याग नहीं करना चाहिए। अपने कर्तव्यका पालन करते चलो—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपस्विनः।
वयं हनामभिषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

(शिशुपाल वध 2.65)

सूर्य तपे, इन्द्र बरसे, वायु चले, आग तपे, जीवन रहे, मृत्यु आवे, हम अपने कर्तव्य-पथसे विचलित क्यों हो? हम अपना काम करते चलें। यह मूल दृष्टिकोण लेकर गीताका दशवाँ अध्याय प्रवृत्त होता है। भगवान्की वाणीकी पहचान है। वह क्या है—जो सबकी भलाईके लिए हो , जिसमें कहीं भी जातिका, सम्प्रदायका, वर्णका, राष्ट्रका पक्षपात न हो, लिंग भेद भी न हो, स्त्री-पुरुष सबके लिए हो। पशु-पक्षी, देवता-दैत्य सबके लिए हो। सब भगवान्के बालक हैं, सबकी उन्नति हो, सबमें सद्भाव आवे, सबमें चिद्भाव आवे, सबका ज्ञान बढ़े और सब अच्छे-अच्छे काम करें, और सब सुखी रहें। जो सबको अच्छाईमें लगानेके लिए सबको श्रेष्ठ ज्ञान देनेके लिए और सबको आनन्दित करनेके लिए वाणी होती है, वह भगवान्की वाणी होती है। दसवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् स्वयं बोलते हैं—बिना पूछे। कितनी कृपालुता है ईश्वरकी, इसपर ध्यान दें। मनुस्मृतिमें तो कहा गया है कि पूछे बिना बोलना ही मत—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः। (2.110)

बिना पूछे किसीको बतावे नहीं और यदि पूछनेवाला अन्यायसे पूछता हो तो भी नहीं बतावे। जानते हुए

भी न बतावे। बात समझमें आ रही है, फिर भी न बतावे। मूर्खकी तरह रहे। चुप हो जावे। यह मनुस्मृतिका उपदेश है। और भगवान्‌का जो उपदेश है, वह इस प्रकार है—एक अन्धा आदमी जा रहा है, उसके सामने गड्ढा है, तुम देख रहे हो कि वह अन्धा है, उस समय क्या करोगे? तुम बिना पूछे न बतानेका नियम लेकर बैठे हो। अरे भाई, अगर वह गड्ढेमें गिर रहा हो तो बिना पूछे भी उसको बता देना चाहिए। अगर वह अन्धा गड्ढेमें गिर गया तो एक श्रेष्ठ पुरुषका क्या लाभ होगा? भगवान् अर्जुनको बिना पूछे बताते हैं—'श्रीभगवानुवाच'। तुम्हारी दृष्टिमें किसीका अहित हो रहा है, वह अपना अहित करने जा रहा हो तो उसे बोलकर बता देना चाहिए। और भगवान्‌ने तो अज्ञानियोंको समझानेका ठेका ही लिया है। जो नहीं जानते हैं, उनको समझाओ, जो पतित हैं उनको भी—साथ ले लो, जो पिछड़े हुए हैं उनको साथ ले लो। नवें अध्यायमें है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। (9.30)

दुराचारी पुरुषको भी छोड़ो मत। यदि वह ठीक रास्ते पर चलेगा तो क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।(9.31) तत्काल वह धर्ममात्मा हो जावेगा। जो कर्मसे हीन है, उसको भी अपने साथ लो। जो उत्तम जातिके हैं, उत्तम कोटिके हैं, उनको लेकर चलना ही है, लेकिन जो कर्मसे, जातिसे हीन हैं, उनको भी साथ लेकर चलो। अर्जुन चुप हैं लेकिन भगवान् बोल रहे हैं। असलमें भगवान् बोलते तभी हैं, जब आदमी चुप होकर उनकी बात सुनना चाहे। श्री भगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (10.1-3)

अर्जुनके लिए महाबाहो शब्द कहा। किसीको काममें लगाना हो तो आप उसको निरुत्साह मत कीजिए। यह मत कहो कि तुम यह काम कर ही नहीं सकते। यह बोलनेकी शैली है। महाबाहो-तुम्हारी बाँह बड़ी लम्बी है, तुम बड़े शक्तिशाली हो, तुम क्या नहीं कर सकते! हम जानते हैं कि तुम इस जीवन युद्धमें विजयी बनोगे। यह तुम्हारे बड़े-बड़े हाथ तुम्हें पराजित नहीं होने देंगे। उत्साह करो। उत्साहमें लक्ष्मीका निवास है। जो उद्योगी श्रेष्ठ पुरुष हैं, उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है। महाबाहो-भूय एव—जैसी बात मैंने पहले सातवें, आठवें, नवें अध्यायमें कही है, ठीक उसी प्रकारकी बात तुमको फिर कहने जा रहा हूँ। यदि एक बात दो बार, तीन बार क ही जाय तो मीमांसक लोग कहते हैं-यह बड़े कामकी बात है। श्रीकृष्णने कहा—'मैं तुम्हें दुबारा सुनाता हूँ।' क्या सुनाते हैं? एक प्रामाणिक वचन, तुमको सुनाता हूँ। '**श्रृणु मे परमं वचः।**' सावधान होकर सुनो—'श्रृणु' का अर्थ है- सावधान होकर सुनो और '**मे परमं वचः, मम वचः।**' यह मेरी बात है—किसी साधारण अनुभवीकी बात नहीं है। असाधारण, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टाकी बात है। और बात भी कैसी है? 'परमम्'-माने जिसमें

पूरी प्रामाणिकता हो। '**परा मा प्रमा यस्मिन् परमं वचः।**' पूरी-पूरी प्रामाणिक बात है यह। **यत्तेहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।** तुम मेरी बात सुनकर खुश होते हो। 'प्रीयमाण' माने मैंने दूसरे अध्यायसे लेकर अब तक नवें अध्याय तक जो कहा, उसको सुनकर तुम तृप्ति अनुभव करते हो, प्रीति अनुभव करते हो, तुम्हें इसमें आनन्द आता है, तुम इसको अपनी उन्नतिका साधन समझते हो। तुम्हे सुख देनेके लिए, प्रसन्नता देनेके लिए फिर बोलेंगे। बोलना तो तभी चाहिए कि जो बात बोली जावे उससे उसका हित हो, प्रसन्नता हो।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।

प्रसन्नता योग है, प्रसाद योग है और हितकाम्या विभूति है। किसीका भला करना, हित करना यह विभूति है। वैभव वही है जो दूसरेके काममें आता है। योग अपने काममें आता है और विभूति दूसरोंके काममें आती है। जहाँ हमारी आत्मशुद्धि भी हो, आत्म-साक्षात्कार भी हो, और दूसरोंका भला भी हो, ऐसी बात मैं सुनाता हूँ। 'वक्ष्यामि' शब्दका अर्थ संस्कृतमें दो तरहसे होता है। एक तो 'कहूँगा' और एक होता है 'ढोऊँगा'। मैंने तुम्हारे लिए यह बात बहुत दिनोंसे अपने मनमें पालकर रखी है, सोचता रहा हूँ कि कब मौका मिले और कब अर्जुनको यह समझाऊँ? अपने भक्तके लिए अपने प्रेमीके लिए भगवान् बोझ भी ढोते हैं। यह बात आज तक छिपाकर रखी थी।

अर्जुन, तुमसे मैं 'हितकाम्यया'से यह बात कहता हूँ—हितकाम्ययाका अर्थ है—तुम्हारा हित जिसमें है वह सुनाता हूँ। हित चाहना विभूति है और प्रियमाणता योग। तुम मेरी बात सुनकर प्रसन्न होते हो तो मुझसे एक हो जाते हो और जब तुम लोंगोके भलेमें लग जाते हो, हित साधनमें लग जाते हो, तो हमारे वैभवका विस्तार करते हो। हमको जानना सरल नहीं है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

आँखको क्या दिखता है कि हमारे अन्दर रोशनी कहाँसे आ रही है? ये देवता हैं। कामको मालूम नहीं कि भीतर वह कौनसी चीज है जो सुन लेती है। आँखको मालूम नहीं कि वह देखनेवाली रोशनी कहाँसे आती है। जीभको मालूम नहीं कि स्वाद ग्रहण करनेकी शक्ति कहाँसे आती है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

महर्षि भी नहीं जानते। सात ऋषि हैं। जिनको ज्ञान हो उनको ऋषि कहते हैं। दोनों कानोंके रूपमें ऋषि हैं, जो हमें दूसरेकी बात सुननेकी शक्ति देते हैं। देवता हैं, वे विभूति हैं और ऋषि हैं, वे योग हैं। ज्ञान होता है अन्तरंगमें और ये इन्द्रियशक्तियाँ बाहरसे ग्रहण करती हैं। देवता देवनशील हैं।

ऋषि दर्शनशील होते हैं। देवता और ऋषि क्यों नहीं जान पाते इसका कारण बताते हैं। **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।** जहाँसे ये देवता प्रारम्भ होते हैं, वहाँ मैं हूँ। जहाँसे ऋषि प्रारम्भ होते हैं, वहाँ मैं हूँ। एक बहुत सीधी तथा सबके अनुभवकी बात आपको सुनाता हूँ—कोई बता सकता है कि पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कहाँसे शुरू होता है? घूमने चले जाओ—जिधर सूर्य उगता है—उसके पहले पूरब और जहाँ सूर्यास्त

होता है उधर घूमने चले जाओ—उसके बाद पश्चिम, जो पूर्व और पश्चिमको ढूँढ़नेके लिए सूर्योदय तथा सूर्यास्तकी ओर जायगा उसे कभी पूर्व और पश्चिमकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। वह केवल अज्ञानमें भटक जायगा। जहाँ आपका 'मैं' है वहाँसे एक ओर पूरब प्रारम्भ होता है और एक ओर पश्चिम प्रारम्भ होता है। जहाँ आप बैठे हैं वहींसे, घरमें बैठे हैं तो वहींसे, धर्मशालामें बैठे हैं तो वहींसे, मन्दिरमें बैठे हैं तो वहाँसे—आपका 'मैं' ही पूर्व-पूर्वका आदि है और आपका 'मैं' ही पूर्वका अन्त है। आपका 'मैं' ही पश्चिमका आदि और आपका 'मैं' ही पश्चिमका अन्त है।

यदि आपको पूर्व और पश्चिमका सच्चा पता लगाना है तो आपको अपने 'मैं'के भीतर बैठकर देखना पड़ेगा कि वह 'मैं' क्या है और वहींसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण प्रारम्भ होता है। आप ऋषियोंको ढूँढ़ना चाहते हैं तो उसके लिए हिमालयमें जानेकी जरूरत नहीं है। गंगा-किनारे जानेकी भी जरूरत नहीं है। उसके लिए किसी मन्दिरमें जानेकी जरूरत नहीं है। आपके 'मैं'के पाससे ही सब देवता-सब ऋषि, नारायण, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, सूर्य—सब प्रकट होते हैं और आपके 'मैं' के पाससे ही सब ऋषि पैदा होते हैं।

सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तियोंका खजाना कहाँ है? ऊपर है? नीचे है? दायें है? बायें है? नहीं-नहीं—आप अज्ञानमें भटक जायेंगे। सारी शक्तियोंका खजाना वहीं छिपा हुआ है। उसका दरवाजा वहीं है जहाँ आपका 'मैं' है। अब देखो भगवान्‌का वैभव! देवता लोग तो नहीं जानते।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

देवतागण और ऋषिगण भगवान्‌के प्रभव और प्रभावको नहीं जानते। प्रभव योग है और प्रभाव वैभव है। प्रभाव फैलता है और प्रभव—जहाँसे सबकी उत्पत्ति होती है—**'प्रभवति यस्मात् इति प्रभवः'** ऋषि लोग जहाँसे पैदा होते हैं, उसको नहीं जान पाते। देवता लोग जहाँसे पैदा होते हैं जब उसको ही नहीं जान पाते तब यह आत्मा जो परमात्मा है, इसको कैसे जान सकेंगे? **अहमादिर्हि भूतानां महर्षीणां च सर्वशः।** ये सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और सारे देवता, सारा अध्यात्म-ऋषि है और सारा अधिदैव-देवता है और इनके द्वारा ये समग्र अधिभूत दिखायी पड़ते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। (7.30)

ये सब-के-सब परमात्माके स्वरूप हैं। सबका उपादान कारण मैं हूँ। सबका आदि मैं हूँ। हमारे अन्तरात्मामें बैठे हुए श्री कृष्ण बोलते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (10.20)

जन-जनमें विभूति—एक-एक प्राणी भगवान्‌का वैभव है, भगवान्‌की विभूति है। सबमें भगवान्‌को देखो। न राग होगा, न द्वेष होगा, न शोक होगा, न भय होगा। यही तो उपनिषद् बोलती है, इसीको जानो। देवता लोग नहीं जानते, ठीक है। किसी देवताके पास हाथ मत जोड़ो कि हमें बता दो। देवता नहीं बतायेगा। किसी ऋषिके पास हाथ मत जोड़ो। कौन बतायेगा? जो ऋषियोंका आदि है सो बतायेगा। जो देवताओंका आदि है सो बतायेगा। और यदि उसको पहचान लोगे—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (10.3)

भगवान्‌को जानो यह योग है। अज और अनादि—जायमान नहीं—जिसके जन्मका किसीको अनुभव ही नहीं होता। थोड़ी-सी भूमिका दसवें अध्यायकी सुना रहे हैं। फिर हँसी-खेलकी बात भी सुना देंगे।

दुनियामें ऐसा कोई माईका लाल न पैदा हुआ है, न है और न होगा कि वह बता दे कि मैं पहले-पहल कब पैदा हुआ? ज्ञानका जन्म भी पहले रहनेवाले ज्ञानसे ही मालूम पड़ता है। ज्ञानके अभावका अनुभव नहीं हो सकता। और मैं नहीं हूँ यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता। यह नियम है दर्शनशास्त्रका कि किसीको यह अनुभव हो ही नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ। क्योंकि जब मैं नहीं हूँ, यह अनुभव होगा तो अनुभव करनेवाला 'मैं' मौजूद रहेगा। विद्यमान रहेगा पहलेसे। मैं नहीं हूँ, यह एक दर्शन हो रहा है और दर्शन करनेवाला पहलेसे विद्यमान है। यह आत्मा अजन्मा है। यह कालमें प्रारम्भ नहीं होता, कालको प्रकाशित करता है। यह हमारा अनादि जो है, वह कल्पना नहीं है कि समझमें नहीं आया तो कह दिया अनादि है। विचारनेपर यह समझमें आ सकता है कि आत्माकी आदि है ही नहीं, इसकी जायमानता है ही नहीं। तो परमात्मा समझो—कहाँ है? कौन है? यह योग है। और वेत्ति लोकमहेश्वरम् यह विभूति है। विभूति क्या है? जैसे मशीनको चलानेवाली बिजली है, वैसे।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

भगवान् बोलते हैं—सबका आदि, जन्मदाता मैं हूँ। यह योग हो गया और **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—सबका संचालक मैं हूँ—यह विभूति हो गयी। आप तारमें बिजलीको आँखसे नहीं देख सकते, यह योग है। लेकिन बल्बमें जब उसकी रोशनी आती है तब उसकी विभूति देखते हैं। पंखेको घुमाना बिजलीकी विभूति है। बल्बको जलाना यह बिजलीकी विभूति है। और बिजली क्या है? छूनेसे जिसका करेण्ट लगता है वह बिजली है—नहीं वह भी उसकी विभूति है। जो इस सारे आकाशमें विद्युत्तत्त्व हैं, वह योग है। व्यापक बिजलीको देखो, यह विभूति है। लोकमहेश्वर सारी सृष्टिको नचानेवाला जो है—*विधि हरि संभु नचावनहारे*—ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको नचानेवाला वही है। **लोकमहेश्वरम्**—कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, ये ग्रह, नक्षत्र, तारे, यह माया, यह प्रकृति जिसके नचाय नाच रही है, उसको देखो। यह उसका वैभव है कि वह सारी सृष्टिका संचालन कर रहा है—**लोकमहेश्वरम्**—ईश्वर है वह। **कर्तुम् अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः**—करे सो ठीक, न करे सो ठीक बदल दे सो ठीक—सब जगह भगवान्‌का हाथ है।

दो बात ध्यानमें आनी चाहिए। सबके आदिमें अजन्मा परमात्मा ही स्थित है। वही सबका मूल मसाला है और वही सबका संचालक है—ये दो बातें आपको तुरन्त प्राप्त हो जायेंगी। **असंमूढः स मर्त्येषु**—ज्ञान हो गया। **सर्वपापैः प्रमुच्यते**। सब पापोंसे मुक्ति हो गयी। तो; अज्ञान मिटा देना यह योग है और पापोंसे मुक्त कर देना यह विभूति है। जब आप सर्वत्र परमेश्वरका दर्शन करने लगेंगे—यह देखो श्याम, यह देखो श्याम! वृक्षमें भी वही है।

भागवतमें वृक्षोंका रोमांचक वर्ण्न है। मधुक्षरणका वर्णन है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृक्षोंसे मधुधारा बहने लगती है। लताएँ खिल उठती हैं। पृथिवीमें रोमांच—दूबके रूपमें रोमांच हो जाता है, तालाबोंमें कमल खिल जातें हैं, यह वैभव है। अग्नि शान्त हो जाती है। सूर्य-चन्द्रमा ठिठक जाते हैं। माया शरीरमें रोमांच, आँखोमें आँसू, हृदयमें गोविन्द हैं। यह भगवान्‌की विभूति सृष्टिमें सर्वत्र काम करती है। आप जहाँ देखेंगे वहीं भगवान्‌का वैभव है।

यह पृथिवी दृढ़ क्यों है? फट क्यों नहीं जाती ? यह पानी सबको कहाँसे तृप्ति देता है? ये सूर्य तथा चन्द्रमामें रोशनी कहाँसे आती है? ये वाये सबको प्राण कैसे दे रहा है? आकाश सबको कैसे धारण कर रहा है? देखो, यह भगवान्‌की झलक सारी सृष्टिमें। यह स्त्री-पुरुषमें इतना प्रेम क्यों? बालक इतने प्यारे क्यों लगते हैं? लोंगोमें सद्‌भाव कहाँसे आता है? इस जड़ शरीरमें चेतना कहाँसे आती है? ये परमात्माकी विभूति ही सारी सृष्टिमें भरी हुई है। और जहाँ इसको मनुष्यने पहचाना—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

भगवान्‌ने कहा—हमारी विभूति और हमारा योग—**एतां विभूति योगं च**—'च' बोलनेसे मालूम पड़ता है कि दो चीज है। **आत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन**—तो समाधिमें भी भगवान्, पूजा घरमें भी भगवान् और फैक्टरीमें भी भगवान्, दुकानपर भी भगवान्,सड़कपर भी भगवान्—नानारूप जो दिखायी पड़ रहा है, उसमें भी भगवान्। यह विभूतियोगका अभिप्राय है।

●

प्रवचन : 2

(11-11-80)

उपनिषदोंमें बार-बार आता है—य एवमुपासते य एवं वेद—जो ऐसी उपासना करता है और जो ऐसा जानता है। दोनोंका फल एक होता है। क्योंकि उपासनामें मनकी प्रधानता रहती है और जाननेमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है। आप जानते हैं—जिस वस्तुको आप अच्छी समझते हैं उसको पानेकी इच्छा होती है। जिस वस्तुको बुरी समझते हैं उसको त्यागनेकी इच्छा होती है। पानेकी और त्यागनेकी इच्छा यह मनका काम है। और समझना कि क्या अच्छा है क्या बुरा यह बुद्धिका धर्म है। इच्छाओंका उदय होता है समझदारीके अनुसार। परन्तु समझदारीमें दो विभाग हो जाते हैं। एक सुख-प्रधन विभाग और एक सत्य-प्रधान विभाग।

जहाँ हम सत्य और सुख दोनोंको अलग-अलग कर देते हैं, ब्रह्मचर्य सत्य है, परन्तु सुख तो भोगमें है, वहाँ हमारी बुद्धिके दो खण्ड हो जाते हैं। एक तो सत्यका पक्षपात करती है और दूसरी बुद्धि सुखकी ओर आकृष्ट करती है। सत्य तो ईमानदारीमें हैं, लेकिन बेईमानीमें तो बहुत आमदनी है, उसमें सुख है। तो बुद्धिके दो खण्ड हो गये। एक सत्यपक्षपातिनी ईमानदारीकी बुद्धि और एक सुखपक्षपातिनी बेईमानीकी बुद्धि। उसमें हम स्वयं अपनेको किस बुद्धिके साथ जोड़ते हैं, किसके अनुसार जीवन चलता है। यदि सत्य और ईमानदारीके पक्षमें बुद्धि हो तो कष्ट सहना अच्छा लगेगा; परन्तु बेईमानी करना अच्छा नहीं लगेगा। और यदि तात्कालिक सुख भोगकी ओर बुद्धिकी प्रवृत्ति हो गयी तो कष्ट सहना अच्छा नहीं लगेगा। तत्कालिक सुख भोग जिससे मिले वह काम करनेकी इच्छा होगी।

अब यहाँ तो चर्चा है परमात्माके ज्ञानकी।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (गीता 10.3)

ये कहते हैं कि परमात्माको जानो। जो अज है सो परमात्मा है, जो अनादि है सो परमात्मा है। वैसे तो लोक-व्यवहारमें तो हम ईश्वरको भी अजन्मा मानते हैं और प्रकृतिको भी अजन्मा मानते हैं और जीवको भी अजन्मा मानते हैं। जो लोग विशेषण-विशेष्य भाव मानते हैं वे भी परमात्मा, प्रकृति और जीव इनको अजन्मा और अनादि ही मानते हैं। और जो लोग संयोग मानते हैं—वे भी मानते हैं कि प्रकृति स्वयं अनादि है और अजन्मा है। प्रकृति हमेशा थी, हमेशा है और हमेशा रहेगी और जीव भी कभी नहीं है, ऐसा नहीं; जीवका जन्म माने क्या, प्रकृतिसे पैदा हुआ जो शरीर उसको 'मैं' और मेरा मान लेना। असलमें जीवका जन्म और कुछ नहीं है। इस देहमें जो मैं है और मेरापन है यही जीवका जन्म है। यदि मैं और मेरापन छूट जाय तो जीवका न जन्म है, न मरण है और प्रकृतिमें जो जन्म है वह प्रकृतिमें विकार होता है। यों प्रकृतिमें बुद्धि, फिर बुद्धिमें अहंकार हुआ, फिर अहंकारसे तन्मात्राएँ पैदा हुई। उनसे फिर पञ्चभूत बने। फिर पञ्च तन्मात्राओंके सात्त्विक अशंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं, राजस अंशसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनीं, तामसांशसे पाँच भूत बने। ये पाँच-पाँचकी प्रक्रिया है—क्योंकि हमारे पास जाननेके

जो औजार हैं वे पाँच हैं—नाकसे गन्ध, जीभसे स्वाद, आँखसे रूप, त्वचासे स्पर्श और कानसे शब्द। हमारे पास सूक्ष्म वस्तुओंको जाननेके लिए , दृश्य वस्तुओंको पहचाननेके लिए जो औजार हैं, वे पाँच हैं, और पाँच विषयोंको जानते हैं और उनमें पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ बनती हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म होते हैं। आँख देखती है, पाँव चलते हैं—ज्यों-ज्यों पाँव चलेंगे त्यों-त्यों आँख देखेगी। ज्यों-ज्यों आँख देखेगी त्यों-त्यों पाँव चलेंगे। हाथ चीजको पकड़कर लायेगा और उसको हम हृदयसे लगा लेंगे। मुँहमें डाल लेंगे, नाकसे सूँघ लेंगे, कर्मन्द्रियाँ चपरासीकी तरह काम करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ बताती रहती हैं। यह हमारे जीवनकी प्रणाली है। हम लोग दूसरोंके बारेमें तो बहुत सोचते हैं। परन्तु अपने बारेमें सोचनेका मौका कम मिलता है। और असली बात यह है कि हम अपने बारेमें पहले ठीक-ठीक समझलें तो इस संसारमें जो बहुत सारी चाजें हमारे साथ जुड़ गयी हैं—मरनेका डर लग गया है—और छूटी हुई चीजोंके साथ शोक लग गया है—जो हमारे जीवनमें चीजें साथ चल रही हैं—उनके साथ मोह लग गया है। सबसे बड़ा लाभ इसमें यह होता है कि छूटी हुई चीजके लिए शोक नहीं रहेगा, और वर्तमानमें जो चीज अपने साथ जुड़ी हुई हैं उनको साथ ले चलनेका मोह नहीं रहेगा और मृत्युका जो जीवनमें भय है वह नहीं रहेगा। आप सोचिये वो जीवन कितना स्वच्छ, कितना सुन्दर, कितना सत्य, कितना शिव होगा, जिसमें मृत्युका भय न हो, वस्तुओंके छूटनेका मोह न हो। छूट जानेका शोक न हो—शोक, मोह और भयसे रहित जो जीवन होगा वह कितना उत्तम कोटिका जीवन होगा। उसको अपने कर्तव्य पालनमें कहीं कोई अड़चन ही नहीं है। शोकमें तो आपका पाँव फिसल गया पीछे, मोहमें आपका पाँव गड़ गया और भयमें आपका पाँव आगे फिसल गया। आप जीवन यात्रा कैसे करेंगे ? इसलिए जीवनमें सच्चा दृष्टिकोण प्राप्त होना चाहिए और उसके बाद आप निर्भय होकर निःशोक होकर, निर्मोह होकर—

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः। (ईशोप०7)

जीवन यापन कर सकते हैं। जब आपको परमात्माका दर्शन हो जाय माने संसारकी असलियतको सच्चाईको आप जान जायँ तो आपका जीवन कितना मुक्त, कितना स्वतन्त्र होगा, इसकी कल्पना कीजिए। प्रकृतिमें होते हैं विकार, वे बदलते रहते हैं और जीव अपने साथ जोड़कर दुःखी-सुखी होता है और परमेश्वर, सर्वज्ञ, परम कृपालु स्वेच्छासे अपने आपको प्रकट करके लोगोंको ठीक रास्ता बताता है, ज्ञान देता है, सुख देता है और सच्चा जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा देता है। ईश्वरका जन्म कृपा-परवश है, जीवका जन्म अज्ञान-मूलक है और प्रकृतिका जन्म स्वाभाविक विकार है। यदि स्वाभाविक विकारको अपनेसे अलग करलें, अज्ञान मिटाकर तो दुनियामें जो हेर-फेर हो रहा है, उसका असर उसपर नहीं पड़ेगा। और यदि वह स्वयं अपनेको न जान सके तो सर्वज्ञ परमेश्वर, परम कृपालु अवतार ग्रहण करके जो मार्ग बनाते हैं, उस मार्गको समझें और उसपर चले—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है कि अब तुमको और जाननेके लिए हम कहाँ भेजें, कि जाओ तुम ब्रह्मको जानो, आत्माको जानो, प्रकृतिको जानो, हम तुमको किसी दूसरेके पास नहीं भेज रहे हैं। तुम मुझे जानो। 'माम' माने मुझे जानो। 'मां वेत्ति' जो मुझे जान लेता है। कितना बड़ा आधार मिल गया जाननेके लिए, एक सहारा मिल

गया। आओ कृष्णको जानें। कृष्ण कैसे हैं—तो कहते हैं कि, जो तुम मेरा जन्म देखते हो और मेरी आदि देखते हो—यह दोनों बात गलत है—न मेरा जन्म-मरण है—न मेरा आदि-अन्त है—**यो मामजमनादिं च वेत्ति**—जन्म ग्रहण न करके बहुत रूपोंमें मालूम पड़ रहा है।

भगवान् कहते हैं—अपरा प्रकृति है—आठ प्रकारकी और परा प्रकृति है—एक प्रकारकी और मेरा जो यह रूप है उसमें न अपरा प्रकृति है न परा प्रकृति है। एक परमेश्वर है और सारे लोककी व्यवस्था कर रहा है। इसीको कल मैं सुना रहा था कि परमात्मा अजन्मा है, अनादि है—यह जानना तो योग है अर्थात परमेश्वर ही सबका संचालन करता है। वह ईश्वरोंका ईश्वर अर्थात् महेश्वर है। वह आपके साथ-साथ ही रहता है। यहाँ तक कि इसके बिना आपकी जीभ बोल नहीं सकती।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(भाग 4.9.6)

यदि परमेश्वर आपके हृदयमें बैठा हुआ न हो तो आपकी जीभ बोल नहीं सकती। आँख देख नहीं सकती। कान सुन नहीं सकता। केनोपनिषद्के प्रारम्भमें यही बात तो समझायी गयी है—

चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति। (1.1)

वह कौन देवता है जो हमारे मनको सोचनेकी शक्ति देता है? आँख और कानको देखने और सुननेकी शक्ति देता है? हमारी जीभको बोलनेकी शक्ति देता है? वह हमारे आँख-की-आँख है—हमारे कान-का-कान है—हमारी जीभ-की-जीभ है। वह हमारे मन-का-मन है, वह हमारे प्राण-का-प्राण है। यदि वह न हो तो हमारी साँस ही न चले। और आश्चर्य तो यह है—वह एक ही शरीरमें नहीं है—सबके शरीरमें है और सबकी आँख, कान, और सब इन्द्रियोंका संचालन कर रहा है, नियमन कर रहा है—अन्तर्यामी है। वह प्रभु है। उसका न जन्म है, न मृत्यु है। जन्म जिसका होता है वह दृश्य होता है। पहले नहीं था, यह भी हमने देखा और अब पैदा हुआ, यह भी हमने देखा। वह तो हमारे सामने नहीं था और पैदा हो गया और उसका नहींपना भी मैंने देखा और उसका होना भी मैंने देखा—तो देखनेवाला अजन्मा होगा—दीखनेवाला अजन्मा नहीं होगा।

अब आओ, यह जो हमारा देखना—एक-एक आदमीका देखना और सब लोंगोका देखना—इसमें एक-एक आदमीका देखना जिससे होता है उसको जीव बोलते हैं और सब जीवोंका देखना जिससे होता है, उसको परमेश्वर बोलते हैं। वही लोकमहेश्वर है। सम्पूर्ण दृश्य सृष्टिका महान् परमेश्वर वही है। अब इसको जान लिया। **असंमूढः स मर्त्येषु**। दो बात बतायी। इसमें भी जीवनके लिए कितनी उपयोगी बात कही गयी है। एक तो आप कहीं संमूढ न हों और एक आपको पाप नहीं लगेगा। जीवनमें लोकके दुःखसे मुक्त किया, असंमूढ बनाकर और परलोकके दुःखसे मुक्त कर दिया, पापसे मुक्त करके। आप इस लोकमें दुःखी तब होते हैं, जब आपका कहीं मोह होता है, संमूढ होते हैं। इसके भी सूक्ष्म रूपसे दो विभाग हैं। एक तो होता है मोह और एक होता है संमोह।

जैसे कोई राजा है, उसको आपने पहचाना नहीं—यह तो मोह हुआ, अज्ञान हुआ। लेकिन आपने यदि उसे चपरासी मान लिया तो राजाको राजाके रूपमें न मानना अज्ञान है और उसको चपरासी मान बैठना यह तो भ्रम है, संमोह है। चपरासी माननेसे पहले तो अज्ञान था, पर चपरासी मानने पर तो भ्रम हो गया। अज्ञानका बच्चा है भ्रम। वेदान्तियोंकी भाषामें रस्सीको न पहचानना अज्ञान है और साँप या माला या डण्डा या भूछिद्र—ऐसा कुछ मान बैठना, इसका नाम भ्रम है। भ्रम कार्य होता है और अज्ञान कारण होता है।

संसारमें हम लोगोंके जीवनमें जीतना दु:ख है, उसका एक ही कारण है—और वह कारण है संमूढ हो जाना। संमूढ हो जाना माने अटक जाना। हम अपनी जगहसे टस-से-मस होनेको तैयार नहीं है। एकने कहा—कि आप जरा इस कुर्सीपरसे उठकर इसपर बैठ जायँ। हमने कहा तुम अपमान करते हो? हम तो इसी कुर्सीपर बैठे हैं और इसीपर बैठे रहेंगे। अब कुर्सीके साथ चिपक गये। अगर आपसे ज्यादा उस कुर्सीकी और किसीको आवश्यकता हो—अपनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष हो, कोई बीमार हो तो विवेकपूर्वक उस कुर्सीको छोड़ देना चाहिए। इसमें आपको सुख होगा। एक रोगीके लिए, असमर्थके लिए कुर्सी छोड़ेगें तब भी आपको सुख होगा और एक बड़ेका आदर करनेके लिए कुर्सी छोड़ेंगे तब भी आपको सुख होगा और यदि आप कुर्सी छोड़ना पसंद न करेंगे तो कुर्सीपर तो आप भले ही बैठे रहेंगे लेकिन; आपके मनमें कभी-न-कभी उद्वेगकी प्राप्ति होगी। पश्चाताप होगा कि हमने एक असमर्थकी सेवा नहीं की या हमने एक बड़ेका आदर नहीं किया। यह जो हम संसारकी स्थितिमें संमूढ हो रहे हैं—अटक गये हैं—हम किसी भी परिवर्तनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हैं। परिवर्तन तो होता ही रहता है। पहली बात यह है कि आपको परमात्माका स्वरूप समझना होगा। यहाँ भी वही है—वहाँ भी वही है।

एक बार बहुत बड़ी सभा हुई थी। उसमें बहुतसे साधु-आचार्य जो चाँदी-सोनेके सिंहासनपर बैठते हैं और बड़े-बड़े छत्र-चँवर लगाते हैं, वे कई इकट्ठे हुए थे। एक महात्मा आये और आकर बालूपर बैठे। अब जितनी भीड़ छत्र चाँवरवालोंपर लगी हुई थी उससे ज्यादा भीड़ बालूपर बैठनेवालेके पास चली गयी। भीड़का मुँह बालूपर बैठनेवालेकी तरफ हो गया। महात्मापन छत्र-चँवर धारणकर सिंहासनपर बैठनेमें है कि बालूपर बैठनेपर है! छत्र-चँवरमें भी वही परमात्मा है—हम उसका तिरस्कार नहीं करते हैं, आदर करते हैं। पर बालूपर बैठनेवाले भी वही हैं—यह बात भूलनी नहीं चाहिए। वह धरती भी भगवान्‌का बनाया हुआ सिंहासन है। सबकी माँ है, सबकी गोद है। इसलिए भगवान् चाहे यहाँ रखें या वहाँ रखें। मालिक अपने मुनीमको इस दुकानमें रखे कि उस दुकानमें रखे, इस दुकानका माल उस दुकानमें भेजनेको कह दे, यह तो मालिककी मौज है—उसमें मुनीमको दु:खी नहीं होना चाहिए। हम तो यहीं रहेंगे, वहाँ नहीं आयेंगे— यह मुनीमका काम नहीं है। मुनीम मालिकके हुकुमको प्रसन्नतासे स्वीकार नहीं करता तथा इनकार करता है, वह संमूढ हो गया।

यदि आप परमात्माको पहचानेंगे तो उसके बाद आपको कहीं भी सम्मोह नहीं होगा, न भ्रम होगा और न अज्ञान होगा। आप देखेंगे कि सब मालिकका खेल है और उसके अनुसार सारी सृष्टि चल रही है और हमको भी उसीके अनुसार चलना है। वह न छूट जाय—इसका दु:ख अपने जीवनमें होता है और यह न

आजाय, यह न आजाय इसका दु:ख भी अपने जीवनमें होता है। दु:खसे मुक्तिका उपाय यही है कि हमारे जीवनमें सम्मोह न रहे, भ्रम न रहे। यह ईश्वरके सिवाय कोई दूसरा है, मैं कुछ दूसरा हूँ। यह सब सम्मोह अपने जीवनमें-से तब मिट जाता है। जब हम परमेश्वरको दोनों-रूपोंमें पहचान लेते हैं। दोनों रूपों-में— समाधिके रूपमें भी और व्यवहारके रूपमें भी वही है। जहाँ हम दोनों रूपोंमें परमेश्वरको पहचानेंगे वहाँ हमारे जीवनमें सम्मोह नहीं रहेगा।

अब रही बात पाप-पुण्यकी—**सर्वपापैः प्रमुच्यते।** पहले मैंने बताया कि योग तो है परमात्माके अनादि और अजन्मारूपको मानना। और विभूति क्या है? वैभव क्या है? उसके लोक महेश्वररूपको पहचानना ही विभूति है। हमारी आँख देखती है, हमारा हाथ हिलता है, पत्ते हिलते हैं, पर बिना उसकी सत्ताके कोई पत्ता हिल नहीं सकता। उसीमें यह हवा चलती है और उसीसे सूर्य, चन्द्रमा अपने रास्ते पर चलते हैं। यह सब उसी परमेश्वरकी ओरसे हो रहा है। इसीसे भगवान्ने कर्मयोगका जब वर्णन किया तो यह कहा कि मैंने कर्मयोगकी पहली शिक्षा सूर्यको दी।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। (4.1)

कर्मयोगी कौन है? कर्मयोगी सूर्य है। निरन्तर चलता रहता है। सूर्यके जीवनमें विश्राम नहीं है। एक क्षणके लिए भी विश्राम नहीं है। रुकता ही नहीं है और प्रकाश फेकना कभी बन्द नहीं करता । उसका ताप उसका प्रकाश निरन्तर फैलता रहता है। प्रकाश उसका काम है और विश्राम उसके जीवनमें है नहीं। यदि सूर्य कभी समाधि लगाले तो क्या होगा? सूर्य समाधिमें बैठ जावे और चलना बन्द कर दे तो क्या होगा? सारा विश्व अन्धकारमय हो जायेगा।

कर्मयोगी पहला गुरु भगवान्। भगवान् भी समाधि नहीं लगाते। भगवान् भी योगमें नहीं बैठते। हर समय सृष्टि, स्थिति, प्रलय। परमात्मा कभी बैठा-ठाला नहीं रहता। हर समय कुछ-न-कुछ करता रहता है। सबको सुलाता है। जैसे माँ बच्चेको सुलाती है और स्वयं इसको दूध पिलाती है और जाग-जागकर उसकी देखभाल करती है, वैसे परमात्मा निरन्तर जागता है, कभी सोनेका नाम नहीं लेता। समाधि लगानेका नाम नहीं लेता। कर्मयोगका सबसे बड़ा आदर्श परमात्मा हुआ और दूसरा नाम सूर्य। यह लोक-महेश्वर है, इसी सूर्यका वेदमें वर्णन है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। (ऋग्वेद 5.51.15)

जैसे सूर्य और चन्द्रमा कल्याणमय मार्गपर सदा चलते रहते हैं—वैसे हम भी कल्याणमय मार्गपर चलते रहें—हनुमानजीकी तरह बरोल रहे हैं—*'राम काज कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम।'* इस तरहसे लोक-महेश्वर प्रभुको जानो और फिर लोक व्यवहारमें सर्वत्र प्रभुका दर्शन करो। कर्मकाण्डी लोगोने कर्मके फलको परलोकमें डाल दिया। यह बात गीताको पसन्द नहीं। अर्जुनने कहा—

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम। (1.44)

अरे हम ऐसा पाप करके मरेंगे तो हमेशा हमें नरकमें रहना पड़ेगा। भगवान् बोले, यह तो पुष्पिता वाणी है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (2.42)

आओ, हम तुमको ऐसी युक्ति वताते हैं कि यह पाप-पुण्यका चक्कर यहीं छूट जावेगा। गीता या उपनिषद् कोई पुरोहित-विद्या या पन्थाई लोगोंकी विद्या नहीं है। गीता कहती है—आओ, हम तुम्हें ऐसी बात सुनाते हैं कि इसी जीवनमें पाप और पुण्य दोनोंसे छूट जाओ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते। (2.50)

जो बुद्धियोगी पुरुष होता है वह इसी जीवनमें, इसी लोकमें यहीं सुकृत और दुष्कृत दोनोंको छोड़ देता है। दोनोंसे मुक्त हो जाता है। आप पुण्य करके र्स्वगमें जावेंगे और वहाँ सुख पावेंगे, यह बात नहीं है। वह तो एक वासना बनती है। अपनी वासना र्स्वग बनाती है। वहाँ क्या मिलेगा? वहाँ घूमनेके लिए नन्दनवन मिलेगा, चढ़नेके लिए विमान मिलेगा, पीनेके लिए अमृत मिलेगा, वहाँ अप्सराएँ मिलेंगी, इस तरहकी वासना अपने मनमें बनायी गयी—उसका साक्षात्कार होता है, हम उसको काटते नहीं हैं—परन्तु यदि पाप और पुण्य दोनोंसे छूटना हो तो जरा बुद्धिमानीसे काम कीजिए। बुद्धिमत्ता चाहिए जीवनमें—**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।** आप दुनियामें कहीं अटकिये मत। अटकेंगे नहीं तो भटकना भी नहीं पड़ेगा।

सर्वपापैः प्रमुच्यते। (10.3)

सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायेंगे। यहाँ पाप शब्दका अर्थ पुण्य भी है। एक सज्जन आये थे, बोले—नामका उच्चारण करेंगे तो हम भले ही अजामिलकी तरह हों, हमें मुक्ति मिल जायेगी। अजामिलने अपने बेटेको भगवान्का नाम लेकर पुकारा और मुक्त हो गया। भागवतमें तो ऐसा नहीं है, उसमें तो ऐसा है कि उसने अपने बेटेका नाम लिया—भगवान्की कृपासे भगवान्के पार्षद आ गये और उन्होंने अजामिलको यमराजके दूतोके पाशसे छुड़ा दिया। उसके बाद अजामिल हरिद्वारमें गंगा तटपर जीवित रहकर बहुत दिनों तक साधन-भजन करता रहा, उसके बाद उसको भगवान्का धाम मिला—तुरन्त मुक्ति मिल गयी ऐसा तो नहीं है।

असलमें मनुष्यके जीवनमें जो पाप होता है उससे छूटनेके तो अनेक उपाय होते हैं, लेकिन समूचे संसारके बन्धनसे छूटनेके लिए परमात्माके स्वरूपका ज्ञान अपेक्षित होता है। मैंने उनसे पूछा कि ऐसा कोई श्लोक बताओ कि जिसमें यह लिखा हो कि नाम लेनेसे पुण्यका नाश हो जाता है। पुण्य बना रहेगा तो पुण्यका फल भोगनेके लिए कहीं-न-कहीं जाना पड़ेगा। चाहे इस सृष्टिमें जाओ, चाहे दूसरी सृष्टिमें जाओ। पुण्यका फल तो भोगना ही पड़ेगा। लेकिन बुद्धियोग वह है जो केवल पापसे नहीं, पुण्यके बन्धनसे भी छुड़ा देता है और जब पाप-पुण्य दोनो छूट जाता है तब मनुष्यकी वास्तविक सच्ची मुक्ति होती है।

पाप क्या है? यह आदमीकी बुद्धि नहीं सोच पाती। भिन्न-भिन्न देशोंमें पाप-पुण्य अलग-अलग हैं—रसियाका पाप-पुण्य, चाइनाका पाप-पुण्य, और अमेरिकाका पाप-पुण्य, हमारे भारतवर्षका पाप-पुण्य, हिन्दूका पाप-पुण्य, मुसलमानका पाप-पुण्य, वैष्णवका पाप-पुण्य, शैवका पाप-पुण्य अलग-अलग है।

आश्चर्य होगा आपको कि गुजरातमें ऐसे वैष्णव हैं—जो हम लोगोंकी तरह कपड़ा सीओ नहीं बोलते, क्योंकि उसमें शिवका नाम आ जावेगा।

शिवः काशी शिवः काशी काशी काशी शिवः शिवः।

हम तो शिव कहते हैं तो हमारे पाप मिट जाते हैं और वे अपने मुँहमें शिवका नाम आने ही नहीं देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पाप-पुण्यकी व्याख्या जो है वह सबकी जुदा-जुदा है और यह व्याख्या बुद्धिसे नहीं होती है—असलमें अनुशासनसे ज्ञात होती है। जिसके गुरु, जिसके सम्प्रदाय, जिस पंथवाले, जिसके दिमागमें जो पाप-पुण्य भर देते हैं—वह उसीको मानने लगता है। नहीं तो, मूर्ति तोड़नेमें या नमाजके वक्त जाकर बाजा बजानेमें कौनसा पाप-पुण्य है? यह पन्थाई लोगोंने आपत-विपत बनायी है और यही पाप है। जो बुद्धिमान पुरुष होता है वह इसी जीवनमें, इसी लोकमें—सब पाप-पुण्यकी कल्पनासे मुक्त हो जाता है। **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे**—इह—इसका माने है, इसी जीवनमें—**अमृत इह भवति**। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है—

ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति। (3.7)

यहीं अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। आपके दिमागमें जो बिना सोचे-विचारे, कहीं देखकर, कहीं सुनकर, कहीं किसीके कहनेसे जो बातें भर गयी हैं—उनसे छूटनेकी विद्या है। वह विद्या यह है कि परमात्माका वैभव देखिये। जब आपको सब जगह परमात्माका हाथ दिखेगा तो कहीं किसीके प्रति पापवृत्ति आपकी नहीं होगी। किसीके प्रति पुण्यवृत्ति नहीं होगी। सबके भीतर करानेवाला कौन है, वहाँ तक अपनी नजर जाने दो। 'सर्वलोकमहेश्वरम्' परमेश्वरको पहचानो।

पाप शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है—जिससे रक्षा नहीं है, जिसमें त्राण नहीं है। 'पा' माने रक्षा। पा रक्षणे धातु है। पाति इति पतिः—जो पत्नीकी रक्षा करे उसका नाम पति। पाति इति पिता—जो कन्याकी, पुत्रकी रक्षा करे उसका नाम पिता—उसी धातुका है पाप और उससे अप माने अपगत जिसमें 'प' प्रत्यय होता है उसका अर्थ यह कि जिसमें रक्षा नहीं है। पाप करना माने अपनेको अरक्षित बना देना। पता नहीं कब कहाँ चले जायेंगे? पता नहीं कब क्या कर बैठेंगे? पता नहीं कब क्या बोल बैठेंगे। पता नहीं कब क्या सोच बैठेंगे? तब आपका जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। लेकिन आप सब जगह परमेश्वरका प्रत्यक्ष हाथ देखें,वही नाच रहा है, 'उरप्रेरक रघुवंशविभूषण'—अपने हृदयमें रघुवंशविभूषण प्रेरक है, यदि आप इस बातको देखेंगे तो पापोंसे छूट जायेंगे।

अब कहते हैं—भगवान् हमारे जीवनमें क्या-क्या देते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ (10.4)
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (10.4-5)

इसको जानो, भगवान् क्या देते हैं? बुद्धि, वैसे भगवान्ने विष भी दिया है और अमृत भी दिया है। यह भगवान्का दान है। यदि संसारमें विष न हो तो अमृतका कोई महत्त्व नहीं। परन्तु जिसको हम विष कहते हैं वह

भी तो अनेक रोगोंकी औषध है। वह तो रत्न है। विष तो चतुर्दश रत्नमें-से एक रत्न है। हम लोग उसकी उपयोगिता कभी समझते नहीं हैं। गाय भी एक रत्न है, घोड़ा भी एक रत्न है, हार्थी भी एक रत्न है—ये वृक्ष भी रत्न हैं एक-एक वृक्ष रत्न हैं। इससे जो हवा निकलती है वह रत्न है। उसके पत्ते रत्न हैं फूल रत्न हैं—इनकी जड़ रत्न है। भगवान्‌ने कल्पवृक्षके रूपमें पहले रत्न दिया था।

भगवान्‌का दिया हुआ विष भी रत्न है और अमृत भी रत्न है। इसमें हीरे-मोती, लक्ष्मी भी रत्न हैं, वैद्य भी रत्न हैं, आयुर्वेद भी रत्न है, ओषधी भी रत्न हैं—भगवान्‌ने बड़े-बड़े रत्न दिये हैं। परन्तु मनुष्यके शरीरके भीतर जो सबसे बढ़िया भगवान्‌ने रत्न दिया वह है **बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः**। ये तीन आत्मरत्न हैं। पहले तो बुद्धि दी। उसमें ज्ञान सच्चा होना चाहिए। ज्ञानका जो आधार है वह बुद्धि है।

आपको एक दीपक प्राप्त है। आप उसे केरासीनका तेल डालकर जलाते हैं—तिलका तेल अथवा कड़वा तेल—या उसमें घी डालकर जलाते हैं। आपका स्नेह मिट्टीके तेल जैसा स्नेह है—या तिलके तेल जैसा स्नेह है या घृत जैसा स्नेह है। उसमें कहीं बिजलीका कनेक्श्न कर लिया—खूब प्रकाश हो गया। बुद्धि दी है भगवान्‌ने—पात्र—और उसमें जो ज्ञान है वह प्रमाणजन्य है। ऐसे सुना-सुनाया, देखा-दिखाया, भेड़िया चाल ज्ञान नहीं होना चाहिए। सत्यका यथार्थ ज्ञान आना चाहिए। बुद्धि वह है जिसमें यथार्थका ज्ञान होता है।

बुद्धि भी भगवान्‌ने दी और यर्थाथका ज्ञान भी भगवान्‌ने दिया। और उसका एक फल दिया — असंमोहः। आप कहीं भ्रान्त नहीं होंगे। भूलेंगे नहीं । ठीक-ठीक रास्ते पर चलेंगे। बुद्धि जिसमें ज्ञान भी होता है और भ्रान्ति भी होती है। बुद्धि में भ्रम भी होता है और ज्ञान भी होता है। यथार्थ ज्ञान और भ्रम दोनों बुद्धिमें होते हैं। आप भ्रमको निकाल दीजिए और ज्ञानको रखिये और इसका फल आपके जीवनमें क्या होगा—

असंमोहः असंमूढः स मर्त्येषु।

आपका कहीं समोह नहीं होगा। ये तीन बात आपकी आत्मामें भगवान्‌ने दी है। आपको बुद्धि मिली है कि नहीं? उसमें ज्ञान मिला है कि नहीं? और मोह त्यागकी शक्ति आपमें मिली है कि नहीं? बड़ा मोह हो किसीसे—इतिहासमें तो बहुत आता है। राजाका एक स्त्रीसे बहुत मोह था-राजाको मालूम पड़ा कि उस स्त्रीको हमारे शत्रुने हमें मारनेके लिए भेजा है। तुरन्त मोह कट गया कि नहीं कट गया! बहुत बढ़िया भोजन आया। बढ़िया थाल, बढ़िया बरतन, बढ़िया भोजन बना हुआ—देखनेमें आँखोको प्यारा, सुगन्ध बहुत अच्छी—जीभको बहुत प्यारा! परन्तु शंका होगयी कि सम्भव है हमारे शत्रुने इसमें जहर मिला दिया हो। आप भोजनका संमोह छोड़ देंगे। ये जो दुनिया आपको प्यारी-प्यारी लगती है। इसमें बड़ा संमोह है। यह स्त्री-पुरुषसे भी प्यारी है। यह भोजनसे भी प्यारी है। आपको जो चीज बहुत पसन्द है, उससे भी प्यारी है। लेकिन आपको यदि यह ज्ञान हो जाय कि इसमें जहर मिला हुआ है, तो?

उत्तर प्रदेशमें एक राजा थे—उनके यहाँ बहुत बढ़िया भोजन बनता था। वे जब भोजन करते थे तब पहले डाक्टर परीक्षा करता था कि उसमें कोई विष नहीं है न! और यह नहीं कि वह परीक्षा करके छोड़ दे—डॉक्टरको भी उसके साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। डॉक्टर पर भी विश्वास नहीं था। बुद्धि वह होनी चाहिए जिसमें

सत्यका ज्ञान हो। सत्यका ज्ञान वह होना चाहिए कि ज्ञानके विपरीत जो हो उसे त्याग देनेका सामर्थ्य हो और ये तीनों बात भगवान्‌ने आपको जन्मसे दे रखी है। बुद्धि भी दिया है, ज्ञान भी दिया है और ज्ञानके विरुद्ध जो है उसे त्यागनेका सामर्थ्य भी दिया है। यह ज्ञान हमारे जीवनमें प्रकट कैसे हो? तो आपके अन्त:करणमें भी भगवान्‌ने **क्षमा सत्यं दम: शम:**—यह चार सम्पदा डाली है। यह भगवान्‌का दिया हुआ रत्न है।

क्षमा—आपको यदि अपने लक्ष्यकी ओर चलना है तो क्षमा करते हुए नहीं चलेंगे, सबको दण्ड देते हुए चलेंगे तो सबको दण्ड देनेमें ही रह जायेंगे, आप अपनी जगह पहुँचेगे ही नहीं । स्टेशन पर गये कहीं जानेके लिए—पहले क्यू लगानेमें ही लड़ाई हो गयी। पुलिसने पकड़ लिया। टिकट लेनेमें बाबूसे ही लड़ाई हो गयी कि हमको पहले क्यों नहीं देते हो। ट्रेनपर बैठकर यात्रियोंसे लड़ाई कर बैठे! क्षमा करते चलो। क्षमता जो जीवनमें आती है। क्षम धातु एक होती है क्षमा करनेके अर्थमें और एक क्षम धातु होती है क्षमताके अर्थमें। इनके अन्दर ये काम करनेकी क्षमता है, क्षमता माने सामर्थ्य। जो समर्थ होता है वही क्षमा करता है। कमजोर आदमी निर्बल आदमी क्षमा नहीं कर सकता। भगवान्‌ने आपके अन्दर क्षमा करनेकी शक्ति डाली है। जने-जनेसे लड़ते मत चलिये।

एक ठाकुर साहबके यहाँ देखा—कोई आदमी आया एक चीज उठाकर ले गया। उन्होंने कुछ नहीं कहा। पीछे जब मैनेजर आया तब उन्होंने कहा वह चीज कहाँ है? पता लगाओ। हमने कहा तुमने तो देखा ही है—वह चीज कहाँ गयी। बोले यह हमारा काम नहीं है। हमने देखा है, पर यह मैनेजरका काम है कि पता लगावे कि वह चीज कहाँ गयी? हम अपने कामकी जानकारी रखते हैं पर उसको अपनी ड्यूटीपर चूकना नहीं चाहिए। यदि तुम हर अपराधीको दण्ड दोगे—हनुमानजीने सीताजीसे कहा कि मैं उन राक्षस-राक्षसियोंको दण्ड दूँगा। रावणके मर जानेके पश्चात जब लंकापर विजय हो गयी तो हनुमानजी गये। सीताजीसे कहा कि मैं इन अपराधियोंको दण्ड दूँगा। सीताजीने कहा हनुमानजी किसको दण्ड देंगे? क्या मैं अपराधिनी नहीं हूँ? जब रामचन्द्र मृगके पीछे-पीछे दौड़कर गये तो मैंने ही तो भेजा था—क्या मेरा अपराध नहीं था? जब लक्ष्मणजी उनकी मददके लिए नहीं जा रहे थे तब मैंने उनको जो दुर्वचन कहे—उसमें क्या मेरा अपराध नहीं था? रावणके आनेपर मैंने लक्ष्मण-रेखा भंग करके बाहर जाकर भिक्षा दी, उसमें क्या अपराध नहीं था? ऐसा संसारमें कौन है, जिससे अपराध नहीं होता है—छाती ठोंककर कहे।

ईसाने कहा—जिसने कभी चोरी न की हो, जिसने कभी व्यभिचार न किया हो वह इस चोर और व्यभिचारीको दण्ड दे।

क्षमा ईश्वरकी दी हुई सम्पदा है हमारे अन्त:करणके लिए। उसका सदुपयोग करना चाहिए। **क्षमा सत्यं दम: शम:**—सत्यके अनुसार जीवन व्यतीत करना, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना, अपने मनको शान्त रखना, हमारे अन्त:करणके लिए क्षमा। सत्य आत्मामें तीन चीज बुद्धि, ज्ञान और असंमोह और अन्त:करणमें चार वस्तु क्षमा सत्यं दमः शमः। **सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**—यह हमारे व्यवहारके लिए भगवान्‌ने छह पदार्थ दिये हैं। ●

प्रवचन : 3

(12-10-80)

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दसवें अध्यायमें एक विलक्षण वस्तुका वर्णन किया है। उनका कहना है कि मैं समाधिमें भी हूँ और विक्षेपमें भी मैं हूँ। परमार्थ भी मैं, व्यवहार भी मैं। जब यह बात मनुष्यकी बुद्धिमें ठीक-ठीक बैठ जाय कि महाप्रलय भी वही—महासृष्टि भी वही, यदि सर्वत्र भगवान्‌की पहचान हो जाय., तो आदमी चाहे समाधिमें रहे, चाहे व्यापार करे, दोनों जगह उसको भगवान्‌के दर्शन होते हैं। इसीको कहते हैं, योग और विभूति—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। (10.18)

यहाँ 'च' होनेसे दोनों अलग-अलग हो गया। भगवान्‌का एक योग है और एक विभूति है। योग क्या है? **बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः**—ये भगवान्‌के योग हैं और **क्षमा सत्यं दमः शमः**—ये विभूति हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन—भूयः कथय।

भगवान्‌ने दो बात बतायी है—योग और विभूति। भगवान्‌ने स्वयं कहा—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। इसका अर्थ है व्यवहार और परमार्थ दोनोंमें आप भगवान्‌को देखिये। तत्त्व भी वही हैं और तत्त्वका विस्तार भी वही हैं। श्रीमद्भागवतमें इसकी भी व्याख्या दी हुई है। पहले तो दृष्टान्त हैं—जैसे उपनिषद्‌में हैं। जैसे एक सोनेका पत्र है और उसपर चाहे ठप्पेसे ठोककर चित्र उभार दिये जायँ—चाहे साँचेसे ही सोनेके पत्रपर एक मकान बनाया जाय। उस मकानमें एक ओर शयनगृह है, भोजनगृह है। भोजनगृहमें मेज है तो उसमें भोजनकी सामग्री भी रखी हुई है। एक ओर बाथरूम भी है। उस मकानमें कहीं मच्छर भी उड़ रहे हैं। कहीं पेड़-पौधे भी दिख रहे हैं। है सब-का-सब सोना। सोना एक तत्त्व है और उसमें जो भिन्न-भिन्न प्रकारके चित्र हैं, मकान है, मन्दिर है, देवता है, पशु है, पक्षी है, वृक्ष है, लता है, स्वच्छ है, गन्दा है ये सब स्वयंकी विभूति है, माने स्वर्णमें ऐसी योग्यता है कि उसमें आप कोई भी चित्र बना लो। एक है स्वर्णतत्त्व और एक है उसकी योग्यताका प्रदर्शन। परन्तु कुलका कुल सोना है। भागवतमें ऐसे कहा—

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्। (भा. 10.87.26)

यह वेद-स्तुति सारे श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तोंका निचोड़ है। सोनेके बने हुए जो जेवर हैं, सिल्ली है, उसका चुरा है, उसमें चित्र हैं, उसको गला दिया—द्रव हो गया। ये सब स्वर्णका विकार है। परन्तु क्या कोई

सोनेका जानकार उन विकारोंको छोड़ देता है— **न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य।** सोनेके विकारको कोई फेंकता नहीं है। 'तदात्मतया' क्योंकि सोनेका विकार भी सोना ही होता है। द्रव भी सोना, चूर भी सोना, सिल्ली भी सोना, जेवर भी सोना। जिसको स्वर्णका मूल्यांकन है वह स्वर्णकी बनी हुई किसी भी वस्तुको छोड़ेगा नहीं।

स्वयं भगवान्ने अपने आपमें इस जगत्को बनाया और इसके एक-एक कण-कणमें प्रविष्ट हैं और भगवान् स्वयं इसको अपने आत्मरूपसे अनुभव करते हैं। इसलिए कौन ऐसा स्वर्णका जानकार है, जो स्वर्णकी आकृतियोंको छोड़ दे,विकृतियोंको छोड़ दे। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व भगवान्में, भगवान्के द्वारा ही चित्रित है। भगवान् परदा हैं और उनपर यह सारा-का-सारा चित्र दिखायी पड़ रहा है। भगवान् स्वर्ण हैं और उनमें यह सारी-की-सारी आकृतियाँ दिखायी पड़ रही हैं। योग माने सोना और विभूति माने उसमें बने हुए चित्र—दोनोंको जो जान लेता है, **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।** उनको अविकम्प योगकी प्राप्ति होती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। (10.7)

कोई संशय मत करो। अविकम्प योग माने ऐसा योग—जो कभी टलेगा नहीं—कभी चलेगा नहीं—कभी छूटेगा नहीं। मृत्युमें भी आपको अविकम्प योग बना रहेगा, क्योंकि—

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। (10.34)

मृत्युके रूपमें भी वही है—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (9.19)

यह तो आपके लिए मृत्युका नाम लिया। मृत्यु ही नहीं बुढ़ापा भी वही है, जवानी भी वही है, बचपन भी वही है। ब्रह्मचर्य भी वही है। विवाह भी वही है, वानप्रस्थ भी वही है—संन्यास भी वही है। घर-गृहस्थीमें भी वही है—वनमें भी वही है। पर्वतमें भी वही है। **सर्व सर्वगत सर्व उरालय**—गोस्वामी तुलसी दासजीने कहा। भगवान् सब हैं, सबमें हैं, सबके हृदयमें निवास करते हैं। इसीसे श्रीमद्भागवतमें इसकी बहुत उत्तम व्याख्या की हुई है। गीताके अठारह अध्याय हैं और भागवतके अठारह हजार श्लोक हैं। एक-एक अध्यायकी व्याख्यामें एक-एक हजार श्लोक समझ लें। भागवतमें भी कहा गया है—

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत
उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्। (भा. 10.87.15)

'एतद् उपलब्धम्'—यह जो जगत हमे मालूम पड़ रहा है, ये वृक्ष, ये लता, ये स्त्री, ये पुरुष, ये दाढ़ीवाले, ये चोटीवाले—चाहे कोई भी राष्ट्रीयता हो, चाहे कोई भी जातीयता हो, कोई भी साम्प्रदायिकता हो—यह सब कहाँ है? —**एतद् उपलब्धम्**—जो कुछ हमें अपने इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा उपलब्ध होता है, ज्ञान होता है—मालूम पड़ता है वह सब-का-सब परम ब्रह्म परमात्मा है—

·सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य 3.14.1)

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं। (मुण्डक 2.2.11)

आत्मैवेदं सर्वम्। (छान्दोग्य 7.5.2)

सर्वके रूपमें परमात्माका ही अनुभव करें। अवशेषतया क्योंकि जब नाम-रूप मिट जाता है तब भी वही शेष रह जाता है। उसीमें-से उसका उदय हुआ है। उसीमें अस्तमय हुआ है। जैसे मिट्टीसे बने हुए बरतन—मिट्टीका डाला, मिट्टीका चूरा और पानीमें डली हुई मिट्टी सब मिट्टी ही है। ये उपनिषद्‌में इस तरहके उदाहरण हैं। मिट्टीके उदाहरण हैं, जेवरके उदाहरण हैं, लोहेके उदाहरण हैं, वस्त्रके उदाहरण हैं, मकड़ीके जालेके उदाहरण हैं। यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि परमात्माका स्वरूप ही है। विकृते मृदिवाविकृतात्।

स्वयं परमात्मा निर्विकार है और जैसे मिट्टीके बहुतसे पदार्थ बनते हैं— खिलौने बनते हैं, वैसे यह सब परमात्माके बने हुए खिलौने हैं और परमात्मामें कोई विकार नहीं है। इस ज्ञानका फल अद्भुत बताया है।

यहाँ भागवतमें अत ऋषयो दधुः कहा गया है। यह जानना चाहिए कि जो ऋषि हैं, जिसकी आँखें खुली हैं—जो खुली आँखोंसे परमात्माको देख सकता है, वह अपने वचन और आचरण दोनोंको परमात्मामें रख देता है। हम जो कुछ बोलते हैं सो परमात्मा, हम जो कुछ करते हैं सो परमात्मा है। इसका एक और दृष्टान्त दिया—

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्।

आप पाँव रखेंगे तो धरतीपर रखेंगे। ऐसे आप कुछ बोलेंगे तो भगवान्‌में बोलेंगे—आप कुछ करेंगे तो भगवान्‌में करेंगे। अब वह महात्मा जीवन्मुक्त हो गया। न कहीं उसका राग रहा,न कहीं उसका द्वेष रहा। उसके हृदयमें समता आगयी। यही जो परमात्मा है आपकी आत्माके रूपमें बैठा हुआ है, यह योग हो गया और वह आपकी बुद्धिके रूपमे आया, यह उसका वैभव हो गया, विभूति हो गयी। आप केवल आत्माके रूपमें ही परमात्माको मत देखिये। उसका जो वैभव आपकी आँखोंके सामने आ रहा है, उसे देखिये। मन भी भगवान्‌का वैभव है—इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। पृथिवीमें सुगन्ध हूँ। जलमें रस हूँ। तेलमें रूप हूँ। आप अपने जीवनमें परमात्माका दर्शन अपने शरीरमें ही करें।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

सब भगवान् ही उच्छ्वसित हो रहे हैं—जैसे समुद्रमें तरंग उठती है तो तरंगके रूपमें कौन है? जो ज्वारके रूपमें है, वही भाटेके रूपमें है। समुद्रमें ज्वार आया तो कौन है? समुद्र है—ज्वार शान्त हो गया यह समुद्रकी मुद्रा है—समुद्र माने जिसमें दो मुद्रा हो। सम्पुट आदि मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं। नृत्यकी मुद्राएँ भी होती हैं। तो

समुद्र उसको कहते हैं जिसमें दो मुद्राएँ हों—एक विक्षेपकी मुद्रा और एक शान्तिकी मुद्रा। ज्वार आया तो विक्षेपकी मुद्रा हुई और भाटा आया तो शान्तिकी मुद्रा हो गयी। विक्षेपकी मुद्रा अलग है और शान्तिकी मुद्रा अलग है। परन्तु है तो समुद्र ही न! हमरा मुँह मुस्कराता हो जब भी मुँह ही है और रुआँसा बना हो तब भी मुँह ही है। यह परमात्मा जब मुस्कराता है तब यह सृष्टि बन जाती है।

निश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

(भामतीकार मगंलश्लोक 2)

आओ परमेश्वरको पहचान लें। परमेश्वरका श्वास क्या है? जैसे किसीकी साँस चल रही हो जोरसे और उसमें कोई शब्द निकाल ले कि यह 'नमः शिवाय' बोल रहा है कि नमो भगवते वासुदेवाय बोल रहा है। ऐसे तो ये भगवान्‌के वेद हैं। और जब अपनी साँसकी आवाज सुनकर आँख खोली तो (**वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि**) उसने देखा—पाँच भूत खड़े हैं। **स्मितमेतस्य चराचरस्य।** जब मुस्कराया तो चराचर सृष्टि बन गयी और फिर आँख बन्द करके सो गया, बोले महाप्रलय हो गया। यह सब-का-सब परमेश्वरकी सृष्टिमें हो रहा है। उसीकी साँस है उसीकी दृष्टि है, उसीकी मुस्कान है, उसीका सोना है। यह विश्व सृष्टि उससे पृथक नहीं है। इसीको बोलते हैं उल्लास। यह परमेश्वरका ही उल्लास है—ऐसे बल्लभाचार्य बोलते हैं। यह आत्माका उल्लास है—ऐसे कश्मीरी शैव बोलते हैं। लेकिन है यह उल्लास। परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब आओ आप अपने जीवनमें देखो—**बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः।** तीन बातें आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाली हैं। आपको बुद्धि किसने दी है? जन्म होनेसे पहले बुद्धि आगयी। बुद्धिका उदय जहाँसे बच्चेकी धड़कन चलना शुरू होता है, वहींसे होता है और यहीं नहीं यह तो पिताके बीजमें जो किटाणु होते हैं—उन किटाणुओंमें भी बुद्धि होती है, बुद्धिका बीज वहाँ होता है और उन किटाणुओंमें नहीं, जिस अन्नके खानेसे बीज बनता है, जिस रक्तसे बीज बनता है, उस रक्तमें भी बुद्धि होती है और जिस अन्नके खानेसे रक्त बनता है उस अन्नमें भी बुद्धि होती है। इसीसे कौन कैसा अन्न खाता है, उसका प्रभाव बालक पर पड़ता है। माता-पिताकी मनोवृत्तिका प्रभाव पड़ता है। बुद्धि नहीं होती तो कौन ग्रहण करता? दादा-दादी, नाना-नानीका प्रभाव आता है। वंशका प्रभाव आता है। भोजनका प्रभाव आता है। संगका प्रभाव आता है। चरक संहितामें कहा गया है कि सात प्रकारका प्रभाव लेकर बालक जन्म लेता है। बुद्धि तो पहले भगवान्‌के द्वारा दे दी गयी है। बुद्धिका अर्थ है—ग्रहणका सामर्थ्य अर्थात् किसी वस्तुको समझनेकी शक्ति। यह हमारी बनायी हुई नहीं है। भगवान्‌की बनायी हुई है।

फिर बुद्धिमें ज्ञान होता है। ज्ञान भी तत्त्वका ज्ञान अलग होता है और तत्त्वमें गढ़े हुए पदार्थोंका ज्ञान अलग होता है। बालकके सामने खाँडका खिलौना रख दो तो वह कहेगा यह गधा है, यह घोड़ा है, यह हाथी है, यह औरत है, यह मर्द है, उसकी दृष्टि खाँडपर नहीं जायेगी। असलमें जिन लोंगोकी दृष्टि दुनियाकी शक्ल-

सूरतमें ही लगी है और इसके तत्त्वकी पहचान नहीं है, उन लोंगोकी स्थिति-(माफ करना) बालकों जैसी ही है। शकल-सूरत देखते हैं बालक और घरके समझदार देखेंगे— खिलौना प्लास्टिकका है या स्टीलका है या माटीका है। तत्त्व-दृष्टि समझदारीकी होती है और केवल शकल-सूरतपर जो दृष्टि होती है वह बच्चोंकी होती है। बुद्धिर्ज्ञानं असंमोह:। भगवान्ने बुद्धि दी और बुद्धिमें ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति दी।

अब उस ज्ञानका फल अपने जीवनमें क्या होना चाहिए? आप अपनेको बुद्धिमान् भी मानते हैं और यह भी मानते हैं कि हम पहचानते हैं कि यह चीज क्या है—बहुत बढ़िया। पर एक बातपर ध्यान दें। भगवान्का यह योग—'असंमूढ:'—कहीं तुम संमूढ तो नहीं हो गये। संमोहमें तो नहीं फँस गये! भ्रम तो नहीं हो गया? जमीन वही है। तुम्हारे पिता,पितामहने भी उसको हमारी कहा था और तुम भी कहते हो कि यह हमारी भूमि है और तुम्हारे पुत्र, पौत्रादि भी कहेंगे कि यह हमारी भूमि है। भगवान् न करे—कहीं तुम्हारे शत्रुके हाथ चली गयी तो वे भी कहेंगे हमारी है। किसकी है? जब हम किसी वस्तुको अपनी मानकर संमोहित हो जाते हैं तब हम बुद्धि और ज्ञानका मार्ग छोड़ देते हैं। बुद्धि और ज्ञानका मार्ग है—संमोहित न होना। 'असंमोहो बुद्धिर्ज्ञानम्।' यदि आपको भगवान्की दी हुई बुद्धि ठीक-ठीक प्राप्त है, भगवान्का दिया हुआ ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त है तो आप संमोहित नहीं होंगे। अपने ज्ञानको आप कसौटीपर कस लीजिये। कहीं आपने ज्ञानमें धूल-मिट्टी, भ्रम तो नहीं मिला दिया है। आपका सोना कितने कैरेटका है—आप देख लीजिये। कहीं भी समूह नहीं होना।

ईश्वरने पेड़ बनाया। आपका शरीर है, स्त्री है, पुरुष है—ईश्वर-सृष्टि है। लेकिन इसमें जो मेरापन आता है। यह पेड़ मेरा है—यह मेरापन ईश्वरका बनाया हुआ नहीं है। यह जीवका बनाया हुआ है। क्योंकि वह चाहे तो छोड़ भी सकता है। किसीको दे सकता है। कोई उसको छीन सकता है। ईश्वरकी जो सृष्टि है वह तो रहती है ज्यों-की-त्यों और जीवकी जो सृष्टि है वह दुखदायी हो जाती है। तो वेदान्तियोंने जीव-सृष्टि, ईश्वर-सृष्टि करके दो विभाग कर दिया। और ईश्वर-सृष्टिमें दु:ख नहीं है और जीव सृष्टिमें दु:ख है। यह पेड़ किसीको दु:ख नहीं देता, लेकिन जब कोई इसको मेरा मानेगा और दूसरा कोई मेरा मानेगा और दोनोंमें छीना-झपटी होगी—हम इसको काट डालना चाहते हैं, हम इसको रखना चाहते हैं, तब यह वृक्ष दु:खदायी हो जायेगा।

यह मैं पेड़की बात नहीं कर रहा हूँ यह स्त्रीकी बात है, पुरुषकी बात है, धनकी बात है, जमीनकी बात है। इसीको योगियोंने दो विभाग कर दिया है। एक प्राकृत सृष्टि और एक आविद्यक सृष्टि। आप लोग यदि योग-दर्शन पढ़ते हों तो आपको उसमें यह बात मिल जायेगी। दो परिवार हैं। प्रकृतिके परिवारमें यह सारी सृष्टि बनती है। अविद्याके परिवारमें 'मैं' बनता है। मेरा बनता है—तेरा बनता है और मृत्युका भय बनता है। 'असंमूढ:'—आप अविद्याके परिवारमें अपना नाम मत लिखवाइये। आप अपना नाम ईश्वरके परिवारमें, भगवन्-सृष्टिके रूपमें अपनेको सम्मिलित कीजिये। एक होती है अविद्याकी सृष्टि, इसमें दु:ख होता है। एक होती है प्रकृति की सृष्टि, इसमें दु:ख नहीं होता। एक होती है जीवकी सृष्टि उसमें दु:ख होता है और एक होती

है ईश्वरकी सृष्टि, उसमें दु:ख नहीं होता है। लेकिन जीव या अविद्या कुछ नया बना देती है सो नहीं। उपादान, मसाला वही है। वही परमेश्वर मसाला है। अज्ञानके कारण उसमें दु:ख हो गया और जहाँ भगवान्‌की पहचान है, वहाँ दु:ख नहीं है। परमेश्वरकी पहचानके लिए बल्लभाचार्य 'भागवत-सृष्टि' बोलते हैं और कश्मीरी शैव 'आत्मसृष्टि' बोलते हैं। योगी लोग प्राकृत सृष्टि और आविद्यक सृष्टि बोलते हैं। आत्मा तो असंग है। वेदान्ती लोग ईश्वर सृष्टि, जीव-सृष्टि बोलते हैं। चेतनकी प्रधानतासे जीव-सृष्टि, ईश्वर-सृष्टि और जड़की प्रधानतासे प्राकृत-सृष्टि, अविद्या-सृष्टि और तत्त्वकी प्रधानतासे, अनुभव-प्रधान तत्त्वकी दृष्टिसे आत्मसृष्टि और श्रद्धाप्रधान अनुभवकी दृष्टिसे भागवत-सृष्टि। यह सब-की-सब अपने-अपने स्थानपर बिलकुल ठीक हैं। **बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः।**

अब आप जीवनमें भगवान्‌के वैभवका दर्शन कीजिये। पहले तो बुद्धि भगवान्‌की, ज्ञान भगवान्‌का—ऐसा जानें और भ्रान्तिमें न पड़ें। कहीं भी मोह करके चिपकना नहीं—यह भगवान्‌की सृष्टि है। अब व्यक्तिगत जीवनमें देखो—**क्षमा सत्यं दमः शमः।** आपको जीवनमें यदि भगवद्-भावका अधिक-से-अधिक विकास करना है—आगे बढ़ना है, माने-बहुत सारी जमीन अपनी हो, ऐसा नहीं बहुत सारा धन अपना हो, सो नहीं, अपने अन्त:करणके सम्पत्तिकी जो वृद्धि है—यह **क्षमा सत्यं दमः शमः** अन्त:करणकी सम्पदा हैं। आपके पास पूँजी कितनी है? आप तहाँतक अपराध क्षमा कर सकते हैं। हनुमानजीने सीताजीसे कहा—माता, इन राक्षसियोंने आपको बहुत सताया—हम इनको नोच लें, इनको मार डालें। जानकीजीने कहा—अरे हनुमान् ऐसा मत बोलो। इसमें न रामका यश बढ़ेगा, न रामके भक्तका यश बढ़ेगा, न मेरा यश बढ़ेगा। आर्य पुरुषका धर्म है—करुणा—चाहे कोई पापी हो, चाहे कोई पुण्यात्मा हो, चाहे वधके योग्य हो, आर्य पुरुषको तो करुणा करनी चाहिए।

सृष्टिमें ऐसा कोई नहीं है जिससे कोई-न-कोई अपराध न हुआ हो। मुझसे भी अपराध हुए हैं। मैंने स्वर्ण मृगके पीछे रामचन्द्रको भेज दिया। लक्ष्मणको दुर्वचन कहा। लक्ष्मण-रेखाका उल्लङ्घन किया। अब दण्ड दो तो हम भी दण्डके योग्य हैं। जीवनमें क्षमा-क्षमा-क्षमा—यही क्षमता है। क्षमा करना सामर्थ्यका लक्षण है, निर्बलका लक्षण नहीं है। क्षमा क्या है? अपने जीवनकी क्षमता है। हम कितना सह सकते हैं? यही अपनी नाप तौल है कि हम कहाँतक क्षमा कर सकते हैं। आत्मबल क्षमा है और जो जितना अधिक क्षमा करेगा वह उतना ही आत्मबलको प्राप्त करेगा। दण्ड देनेका सामर्थ्य रहने पर भी क्षमा करना, यह आत्म-बलकी वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है और सुगम-से-सुगम उपाय है। बुद्धिके साथ क्षमाको जोड़ दो। ज्ञानी पुरुष सत्यको पकड़कर रखता है। सत्यके बारेमें कुछ उलटी-सीधी बात भी हम कभी-कभी बोलते हैं, क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप तो सब है। महाभारतमें एक स्थानपर ऐसा आया है—**न सत्यवचनं सत्यम्**—सच बोलनेका नाम सच नहीं है। '**नासत्यवचनं मृषा**'—असत्य बोलनेका नाम झूठ नहीं। जिससे प्राणियोंका आत्यन्तिक हित हो, दूसरेकी भलाईके लिए ही जो बात की जाय, उसको हम कहते हैं सत्य। भीष्म-पितामहका वचन है—

यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम। (शान्तिपर्व 329.13)

पति-पत्नी एकान्तमें रहकर आये। बच्चेने माँ-बापसे पूछा—क्या कर रहे थे? आपको उस समय जैसे बच्चेकी शिक्षामें कोई अन्तर न पड़े, ऐसा बोलना चाहिए। जैसे बच्चेमें माता-पिताके सामने उद्दण्डता, अशिष्टता, उच्छृङ्खलता न आवे ऐसे बोलना चाहिए। सत्यके नामपर कटु तो नहीं बोलना चाहिए। यह मनुस्मृतिका वाक्य है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एव धर्मः सनातनः॥ (4.138)

सत्य बोलो, प्रिय बोलो और अप्रिय, अनावश्यक सत्य मत बोलो। सत्यमें आनन्द भी होना चाहिए और आनन्दमें ज्ञान होना चाहिए। आपकी वाणीमें सच्चिदानन्द होना चाहिए। आनन्द रहित वाणी होनेपर भी अधूरी हो गयी। सत्यसे रहित ज्ञान, ज्ञान होनेपर भी अधूरा हो गया। ज्ञानमें भी सत्य और आनन्द होना चाहिए। तब ये भरपूर होते हैं। अपने जीवनमें सत्य होना चाहिए। यदि आप सुख और सत्य दोनोंको अलग-अलग कर देंगे तो दुःखी हो जायेंगे। कभी-कभी सत्यके नामपर हम लोग कटु बोलते हैं, सत्यमें कटुता नहीं चाहिए। सत्यमें तो प्यार चाहिए। जो सुने उसके मनमें भी सत्यसे प्यार हो और जो बोले उसके मनमें भी सत्यसे प्यार हो। इसके लिए चाहिए दम। माने हमारी जीभ काबूमें हो। हमारी आँख काबूमें हो, हमारे कान काबूमें हों—वशमें हो—आप घोड़ेकी सवारी करें—तो लगाम चाहिए, बागडोर चाहिए, जिसकी ओर देखना नहीं है उसकी ओरसे आँखफेर लेनेका सामर्थ्य होना चाहिए।

लोनावलामें एक मशीन रखी है। उसके भीतर मुँह डालकर देखते हैं। उसमें बुद्धका चित्र है। एक श्रीकृष्णका भी चित्र है, मन्द-मन्द मुसकराते, बांसुरी बजाते हुए। एक विदेशी नर्तकीका चित्र है, वह नग्न नृत्य कर रही है। यह एक गन्दा चित्र है। जब आदमी देखता है भीतर, तो वह समझता है कि मैं भीतर आड़में देख रहा हूँ—मुझे कोई देख नहीं रहा है कि मैं क्या देख रहा हूँ, लेकिन उसकी नजर किस कोणपर गयी यह रेकार्ड हो जाता हो। उसने बुद्धके चित्रको देखा है प्रेमसे या नर्तकीके चित्रको देखा है, या कृष्णके चित्रकी देखा है—यह रेकार्ड हो जाता है। हमलोग जो बाहर देखते हैं—उसमें अपनी आँख भी काबूमें होनी चाहिए। दो व्यक्ति आपसमें प्रेमी हैं, क्या बात कर रहे हैं, उनकी बात सुननेके लिए हमारा कान नहीं जाना चाहिए। हमारे जीवनका जो यन्त्र है—हमारा जो बटन है, इस यन्त्रको सञ्चालित करनेके लिए, वह हमारे हाथमें होना चाहिए। इसीको बोलते हैं, इन्द्रियोंका संयम।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय (4.39)

जिसकी इन्द्रियाँ संयत है। आप दूसरेको अपने वशमें करना चाहते हैं। पति चाहता है पत्नी हमारे वशमें रहे। पत्नी चाहती है पति हमारे वशमें रहे। बेटा चाहता है बाप हमारे वशमें रहे और बाप चाहता है बेटा हमारे वशमें रहे। मालिक चाहते हैं नौकर हमारे वशमें रहे। नौकर चाहते हैं कि मालिक हमारे अनुसार चले। यह दूसरोंको वशमें रखनेकी जो इच्छा है वह है तो स्वाभाविक—उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है और यह सबके मनमें होती है। लेकिन सबसे पहले जो वशमें करनेकी चीज है वह तो अपने शरीरमें ही है। जब हमारा

हाथ हमारे वशमें नहीं हुआ तो पति-पत्नी वशमें कहाँसे होंगे? सबसे पहले वशमें करने योग्य हमारे शरीरमें जो क्लर्क हैं, मुनीम हैं, चपरासी हैं—अर्थात् हमारे शरीरमें जो इन्द्रियाँ है—क्लर्क न बोलकर क्लार्क बोल दें—कलाके भास्कर कलाके सूर्य, वे हमारे वशमें हों। हमारे शरीरमें कई नौकर हैं। जैसे नौकर शब्द हैं, वशमें हों। कई नौकर हैं—नौकर शब्द वैदिक है—'नो करः, करो न भवति'—यह हाथ नहीं है माने हाथके समान है। जैसे अपना हाथ काम करता है—ऐसे हो अपने घरमें हाथके समान जो है वह नौकर है। वे हमारे हाथ हैं, हमारे पाँव हैं। ये दान्त होने चाहिए।

वृन्दावनमें श्रीहरि बाबाजी महाराज रहते थे। वे घूमने रोज 5-7 मील जाते थे। उनका नियम था और जब निकलते तो लोग घड़ी मिलाते थे। ये कमरेसे निकले हैं तो इतना बजा है। वे हाथ छातीपर रखकर चलते थे और 5-7 मील घूमकर आनेपर भी उनका हाथ वहीं होता था। क्या मजाल कि हाथ वहाँसे हट जाय। हाथ उनका आज्ञाकारी था। जीभ उनकी आज्ञाकारिणी थी। बहुत थोड़ा बोलते थे। और आँखसे तो इतना कम देखते थे कि उनके 6-8 हाथ आगे एक आदमी चलता था और एक पीछे चलता था। नहीं तो रास्तेकी ओर भी नहीं देखते थे। अभी 85 वर्षके होकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। कितना नियम-कायदा था उनके जीवनमें! हम उन्हें कथा सुनाते थे तो हमको कह देते थे कि देखोजी, आज 4 बजकर 29 मिनिटपर कथा बन्द हो जानी चाहिए। 29 मिनिटका ख्याल रखना पड़ता था कि सेकेण्ड-मिनट कब आवें, सावधान! यह आपको अति मालूम पड़ेगी पर उनके जीवनमें नियम कितना था, नियन्त्रण कितना था यह देखने योग्य है। और 'शमः'—शमका अर्थ होता है शान्ति। भगवान्‌की दी हुई यह सम्पदा है अपने जीवनमें—अपराधीके प्रति क्षमाका भाव हो और सत्यमें दृढनिष्ठा हो तथा अपनी इन्द्रियाँ वशमें हों और मन बात-बातमें उद्विग्न न हो।

मनकी शान्ति सर्वोत्तम वस्तु है। बाहरका प्रभाव अपने मनपर कम पड़े, इसकी आदत डालिये। दो बालक हमने देखे। एक साथ दोनों धूपमें खेलने गये और एक साथ लौटकर आये। एकको आगया बुखार और एक स्वस्थ रहा। एक समय तक दोनों धूपमें खेले, दोनोंका परिश्रम समान हुआ। दोनोंके ऊपर धूप बराबर पड़ी लेकिन एक बीमार हो गया और एक बीमार नहीं हुआ। धूपके प्रभावसे बीमारी आती तो दोनों बच्चोंको आती। उसके शरीरमें जिस प्रकारके उपादान बन गये थे, उन्होंने धूपको ज्यादा ग्रहण किया और वह बीमार पड़ गया और दूसरेके शरीरमें गरमी ग्रहण करनेका मसाला है वह कम था, वह बीमार नहीं पड़ा। इसी प्रकार हमारे जीवनमें अशान्ति आजाती है और किसीको बड़ी-बड़ी बातसे भी अशान्ति नहीं आती और ऐसा भी होता है कि कभी किसी आदमीकी जरा-सी बातपर अशान्ति आगयी और कभी बड़ी-बड़ी बातपर भी अशान्ति नहीं आयी। हमारी आदत अच्छी पड़नी चाहिए।

हम जो काम करते हैं, जो बोलते हैं, जो भोजन करते हैं वह हमारे लिए अशान्ति-दायक न हो। दूसरोंका तो कोई ठेका नहीं है कि कौन कैसा रहे। किसीकी जीभ पकड़कर हम मौन बना नहीं सकते, किसीका हाथ पकड़कर उससे अच्छा काम करवा नहीं सकते। किसीका मन पकड़कर उसे अपने अनुकूल

चला नहीं सकते। तो जो अशक्य हैं, जिसको हम बदल नहीं सकते वह चीज हमारे जीवनमें अशान्ति क्यों डाले? जान लिया यह काम हमारे करनेका नहीं है, बस खतम। मरना है, मर गया कोई, अब हम जानते हैं कि इसे लौटा नहीं सकते, तब संमोहका तो कोई हेतु ही नहीं है।

जो अशक्यानुष्ठान हो, माने जिस कामको हम कर ही न सकते हों, उसके लिए हमारे मनमें अशान्ति नहीं आनी चाहिए और जो हो गया हो उसके लिए भी मनमें अशान्ति नहीं आनी चाहिए। हम जो छोटी-छोटी बात पर अपने मनको अशान्त कर लेते हैं, यह जीवनमें अच्छी आदत नहीं है। भगवान्ने हमको क्षमा दी है, सत्य दिया है—भगवान्ने हमको इन्द्रियों पर संयम दिया है, भगवान्ने हमारे मनमें शान्ति दी है। यह जो भगवान्का दिया हुआ अमृत है, रत्न है हमारे जीवनमें उसका लाभ उठाना चाहिए। यही भगवान्की विभूति है। अपनी विभूतियोंको भगवान्ने बाँट दिया है। ऐसी विभूति—स्त्रियोंके लिए भगवान्ने क्या विभूति दी है।

कीर्तिश्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। (10.34)

भगवान्ने वृक्षोंमें अपना वैभव दिया, पक्षियोंमें अपना वैभव दिया, लताओंमें अपना वैभव दिया, हमारी क्रिया-कलापोंमें अपना वैभव दिया। जहाँ जो—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (10.41)

उस भगवान्के प्रति हमारे हृदयमें कृतज्ञता आनी चाहिए, जिसने इतनी सम्पदा हमको दी है। **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**। तीन तत्त्व ज्ञानके साधन हैं। चार अन्तकरणकी शुद्धिके साधन हैं और उसके बाद **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**। यह भी भगवान्की विभूति है—जैसे बुद्धि-ज्ञान असंमोह—भगवान्का आत्मयोग-रूप विभूति है—क्षमा, सत्य, दम, शम —अन्तःकरण शुद्धिरूप विभूति है और **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**—यह लोक-व्यवहार रूपी विभूति है।

संसारमें जो पैदा हुआ है उसके जीवनमें कभी सुख आता है ,कभी दुःख आता है। कभी जन्म होता है, कभी मृत्यु आती है। कभी भय आता है। कभी र्निभयता आती है। ये लौकिक व्यवहार है। आप यह न समझें कि आपके जीवनमें कभी भय आ गया तो आपका नाश हो गया। आपके जीवनमें कभी दुःख आ गया तो आपका नाश हो गया। ये तो जीवनको खरा करनेके लिए हैं। जैसे सोनेको तपाते हैं और कोई समझेकी सोनेका नाश हो रहा है। नहीं; तपानेसे सोना और निखरता है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें सुख और दुःख दोनों दिये।

मैंने मध्य प्रदेशमें देखा एकके घरमें कोई रसोई बना रहे थे उस चीजको क्या बोलते हैं, हमें मालूम नहीं—हमने खाया तो कई बार है। थोड़ा-सा कढ़ाईमें बेसन और घी डालकर चलाते हैं फिर उसपर मट्ठेका छिंटा देते हैं। एक ओर घी तो बेसनके लिए गरम होता है और जो मट्ठेका छिंटा देते हैं वह ठण्डा होता है। एक ओरसे गरम और एक ओरसे ठण्डा—उसको चलाते हैं तो छोटा-छोटा कण बन जाता है। खानेमें बहुत

स्वादिष्ट होता है। जो गरमी और सरदी दोनों सहेगा उसके जीवनमें स्वाद आयेगा और जो चाहेगा कि हम गरम-ही-गरम रहें तो जल जायेगा, चाहे ठण्डा ही ठण्डा रहे तो जम जायेगा। केवल ठण्डा नहीं—जीवनमें ठण्डक भी चाहिए और गरमी भी चाहिए। कभी गरमीसे काम बने तो अपना काम बना लेना चाहिए। लेकिन वह थोड़ी देरके लिए होनी चाहिए। कभी आँख टेढ़ा करनेसे काम बने तो आँख टेढ़ी कर लो। और कभी आँखमें प्रेम भरनेसे काम बने तो आँखको प्रेमसे भरलो। यह जीवनके दो तत्त्व हैं—

सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।

सुख, दु:ख दोनोंमें 'ख' है। एक चीज ऐसी है जो सुखमें है और दु:खमें भी। वह क्या है? वह है 'ख'। सुखमें सु उपसर्ग है और ख धातु है—दु:खमें दु: उपसर्ग है और वही का वही है जो दु:खमें है। '**दुष्टं खं यस्मात्**'। यह 'ख' माने हृदयाकाश। जिस वस्तुके आनेसे हमारा हृदयाकाश सुन्दर, स्वच्छ, निर्मल हो जाता है उसका नाम है सुख और जिस प्रभावके इानेसे हमारा मन दूषित हो जाता है, उसका नाम है दु:ख। जैसे आकाश कभी-कभी स्वच्छ होता है तब भी आकाश ही है और आकाशमें कभी आँधी आ गयी, कभी धूल उड़ गयी, कभी गरमी पड़ गयी, कभी सरदी पड़ गयी तब भी आकाश ही है।

हमारा हृदय भी एक आकाश है। इसमें कभी बादल आते हैं, कभी धूल उड़ती है—ठीक है लेकिन इसका स्वभाव स्वच्छ है, इसका स्वभाव आकाशके समान र्निमल है। जीवनमें जो सुख-दु:ख हैं ये घबड़ानेकी चीज नहीं है। न सुख पकड़कर रखनेके चीज है। न दु:ख भगानेकी चीज है। यह हमार हृदयकी बनावटके अनुसार आते ही रहते हैं—ये आवें और जायें—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।** जैसे रथका पहिया नीचे-ऊपर होता है, वैसे ही सुख-दु:ख आते ही रहते हैं। ये जीवनके दो पहलू हैं—इसमें घबराना नहीं चाहिए। ये भगवान्‌की देन हैं। भगवान्‌की विभूति हैं।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 4

(13.11.80)

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (10.4-5)

जीवनमें सुख-दु:ख आते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति संसारमें नहीं होता जिसके जीवनमें सुख-दु:ख दोनों न आये हों। ये भगवान्के बनाये हुए हैं। जिसके जीवनमें केवल सुख-ही-सुख आया है या किसके जीवनमें केवल दु:ख-ही-दु:ख आया है?

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

जैसे रथका पहिया नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे घूमता रहता है, वैसे सुख-दु:खका एक चक्र है, जो सबके जीवनमें घूमता रहता है।

एक हल्की-फुलकी बात आपको सुनाता हूँ। संन्यासी होनेके बाद दस वर्षके अन्तरसे मैं काशी गया। जिनसे मैंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया था उनके घरमें बिना बुलाये, बिना किसी सूचनाके पहुँच गया। हमारे गुरुजीकी पत्नी थीं। आकर बैठ गयीं और खूब रोयीं। इन 8-10 वर्षोंमें उनके पुत्रकी मृत्यु हुई थी। फिर उनके पौत्रीका विवाह बहुत अच्छे घरमें हो गया था। उसका वर्णन करने लगीं तो खूब हँसी। इस तरहसे आठ वर्षका इतिहास सुनाते-सुनाते दस बार रोयीं दस बार हँसी। हम लोग अपनी ओर भी देखें! हमारे मनकी दशा कैसी होती है!

उनके एक पुत्रको ऊँचा पद मिल गया था। हमारे गुरुजी सौ वर्षके हो गये थे। उनकी आँखोंसे दिखता नहीं था। उन्हें श्री मद्भागवत आदिसे अन्ततक टीका-टिप्पणी सहित, व्याकरण सहित कण्ठस्थ था। एक रुपया रोज उन्हें मन्दिरमें मिलता था। और उसीसे उनकी उदर-पूर्ति होती थी। कहीं वेतन नहीं लेते थे। उस मन्दिरमें जाकर थोड़ी देर भागवत सुनाते थे और उन्हें एक रुपया रोज मिलता था। अबसे 55 वर्ष पहलेकी बात है।

कहना यह है कि हम अपने जीवनमें कितने संवेदनशील हो गये हैं— क्षणमें रोना, क्षणमें हँसना। क्षणमें रोष, क्षणमें तोष। कहीं एक स्थिति तो चाहिए न! स्थिरता चाहिए। एक स्थायी भाव चाहिए। स्थायी भाव सुखमें नहीं होता है और दु:खमें भी स्थायी भाव नहीं होता है। थोड़ी देरके लिये सुखमें, थोड़ी देरके लिए दु:खमें स्थिर हो जाते है। दोनोंके परे जो अपना स्वरूप है, जो सुखके समय सुखी होता है, दु:खके समय दु:खी होता है और दोनोंमें-से एक होनेसे दोनोंसे न्यारे होता है, उस पर ध्यान नहीं जाता। यदि हम अपनेको इसमें स्थिर कर लें कि-सुख आता है जायेगा, दु:ख आता है जायेगा; कोई चीज दुनियामें स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है। हमारा जो आत्मा है अजर है, अमर है, अचल है, स्थाई है। शेष सब तो सिनेमाके परदेपर जैसे आते हैं वैसे आते हैं। ऐसा समझ लें तो , सुख-दु:खका जितना असर आप अपने ऊपर ले लेते हैं, उतना नहीं पड़ेगा।

भगवान्‌ने यहाँ एक दूसरी ही ओर हमारी दृष्टि खिंची है। आप यह मत देखिये कि सुख कैसे आया। यह भी मत देखिये कि दु:ख कैसे आया। देखनेकी वस्तु यह है कि सुख-दु:ख देनेवाला कौन है? हमारी माँने एक दिन रबड़ी-मलाई खिलायी। बहुत खुशी हुई। पर एक दिन उसने कहा कि आज खानेको कुछ नहीं मिलेगा। सिर्फ सूप पियो। आज तुम्हें रोटी नहीं मिलेगी। जब माँ कह रही है कि आज रोटी खाना ठीक नहीं है। उसका कितना प्रेम होगा, उसका कितना हित होगा। क्या खिलाया जा रहा है यह मत देखो—खिलानेवाला कौन है यह देखो। जब खिलानेवाले पर नजर जायेगी तब आप देखेंगे कि वह आपका इतना हितैषी है—इतना प्रेमी है कि वह आपको खिलाता है, तब भी आपके हितके लिए और आपको भूखा रखता है तब भी आपके हितके लिए। देनेवाले पर नजर जानी चाहिए। इस प्रसंगमें श्रीकृष्णने हमारी नजर खींची है—

सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

मैं हूँ—जो तुम्हें सुख भी देता हूँ और दु:ख भी देता हूँ। सुख देनेवालेको देखो, दु:ख देनेवालेको देखो। जब उसपर दृष्टि जायेगी तो सुख, दु:ख गौण हो जायेगा और देनेवाला मुख्य हो जायेगा। जहाँ देनेवालेपर नजर गयी वहाँ सब-का-सब आनन्दमय हो जायेगा। सब-का-सब मङ्गलमय हो जायेगा।

कहते हैं एक बार श्रीराधारानी और श्रीकृष्ण क्रीडा कर रहे थे, नृत्य कर रहे थे। श्रीकृष्णका नाखून राधारानीकी कलाईमें लग गया। श्रीराधारानीने छिपा लिया। बादमें श्रीकृष्णने देखा। बोले—प्रियाजी, आपको बहुत कष्ट हुआ! परन्तु दो महीनेके बाद देखा तो यह घाव ज्यों-का-त्यों। उन्होंने पूछा यह सूखा क्यों नहीं, अच्छा क्यों नहीं हुआ? तो बोले कि यह तो तुम्हारा दिया हुआ है, हम इसको अच्छा क्यों करेंगे? इसको देख-देखकर तुम्हारी याद आती है। अपने प्यारेके द्वारा दिया हुआ कष्ट भी सुख ही है।

हमलोग बचपनमें एक दूसरेको चिकोटी काट लेते थे तो उससे लड़ाई नहीं होती थी—अच्छा तुम हो। आकर पीछेसे किसीने आँख बन्द कर ली—हम कौन है, पहचान लिया? पहचान लिया। यह तो हमारा मित्र है, शत्रु नहीं है। यदि हम अपने उस मित्रको पहचान लें जो सुखके पीछे रहकर सुख देता है, दु:खके पीछे रहकर दु:ख देता है। वही कभी नाखूनसे काटता है तो कभी दाँतसे भी काट लेता है।

एक बार मुझे ऐसी हँसी आयी, जो बन्द न हो। लोटपोट हो गया और ऐसा लगे कि अब प्राण गये। हँसी बन्द ही न हो। हमारे एक मित्र थे, उनकी समझमें बात आगयी और एक चाँटा कसकर उन्होंने हमको मारा और हमारी हँसी बन्द हो गयी। तो क्या उनका चाँटा मारना बुरा था? बुरा नहीं था, वह तो बचानेवाला था।

नारायणदास बाजोरिया बता रहे थे कि मैं लन्दनमें कहीं सड़के पार करने लगा, वहाँ सड़क पार करनेकी जगह नहीं थी। दूसरी ओरसे बड़ी तेजीसे मोटर आयी, एक आदमीने हमें ऐसा धक्का दिया कि हम फुटपाथपर गिरते-गिरते बचे। पहले तो बहुत बुरा लगा पर फिर देखा कि वहाँसे मोटर सरसे निकल गयी। यदि यह धक्का न देता तो मैं तो मर ही जाता।

हमलोक अपने हितैषीको पहचान नहीं पाते हैं जो छिपकर हमारा हित करता रहता है। उसपर जो विश्वास है, उसपर जो आस्था है, उसपर जो दृष्टि है, वह जीवनके लिए बहुत बड़ा सम्बल है। हमलोग चीज तो देखते हैं, रुपया दिया कि छीन लिया? हमारे आदमी मिले कि बिछुड़े—यह तो देखते हैं। लेकिन यह करनेवाला कौन है; उसपर नजर नहीं जाती है। यहाँ भगवान् हमको यह बता रहे हैं कि तरह-तरहके सुख आते हैं तुम्हारे जीवनमें, लेकिन देनेवाला मैं हूँ। तरह-तरहके दु:ख आते हैं जीवनमें, लेकिन देनेवाला मैं हूँ।

इस सुख-दु:खका मूल उद्गम, मूल स्रोत, मूल उत्स क्या है, उसपर दृष्टि नहीं जाती। जो शास्त्री होते हैं—वे जहाँ हमारी नजर जाती है वहाँ हमारी नजर खींचते हैं। द्वितीयाके दिन हमारे पितामह चन्द्रमाका दर्शन करते थे और कराते थे। उसको बहुत माङ्गलिक मानते थे। वे उँगली उठाते—वह देख वह चन्द्रमा—हम उनकी ऊँगलीकी ओर ही देखते। तो वे डाँटते कि तुम मेरी उँगली मत देखो। जिधर मेरी उँगली दिखा रही है, उधर देखो, तब चन्द्रमाका दर्शन होगा। ये जो शास्त्र हैं ये उँगलीके इशारेसे हमको कोई चीज दिखाते हैं और वह चीज हमारे हृदयमें बैठा हुआ परमेश्वर है, जिसे हम नहीं देख रहे हैं। वे परम कृपालु, करुणावरुणालय—कहते हैं—'तुम्हारे जीवनमें सुख-दु:ख आते हैं—ये तरह-तरहके सुख-दु:ख मैं ही देता हूँ।'

बरसानेमें एक महात्मा थे, उन्होंने अपना जीवन सुनाया। एक लड़केको जहर पिलाना था—उसकी माँने ही लड़केके लिए जहर तैयार किया। ऐसा कोई काम आगया जिससे लड़केको मालूम पड़ गया कि यह जहर है, पर उसने कहा कि जिस माँने हमको दूध पिलाया,नौ महीनोंतक अपने पेटमें रखा—पैदा होनेपर दूध पिलाया। पालकर हमको बड़ा किया—अगर वही माँ आज हमको जहर देती है तो इसको पीनेसे इनकार करना मेरी कृतघ्नता होगी और छीनकर पी गया।

ईश्वरके प्रति मनुष्यके मनमें कैसा भाव होना चाहिए? वे प्रभु जो कुछ करते हैं, हमारे मङ्गलके लिए करते हैं, हमारे हितके लिए करते हैं। सुख भी वही देते हैं। दु:ख भी वही देते हैं। **भवोऽभावः**—भव माने जन्म, अभाव माने मृत्यु; जिसने जन्म दिया है, वही मृत्यु देता है और अच्छा जन्म देनेके लिए मृत्यु देता है। इस जन्मके जो काम थे, जो प्रयोजन थे, जिन कारणोंसे यह जन्म लिया था, वह पूरा हो गया। मृत्युसे डरनेका तो कोई कारण नहीं है। हम कभी-कभी सोचते हैं—कि इतने वर्षोंमें हमने ऐसा क्या अच्छा काम कर दिया कि ईश्वर हमारी 2-4 वर्ष उम्र और बढ़ा दे, तो हम और बढ़िया काम करेंगे। अरे इतने दिनोंमें तो कुछ किया ही नहीं। 70 वर्षमें तो कुछ हुआ ही नहीं, 2-4 वर्ष भगवान् और भी उम्र बढ़ा दें तो उसमें हम ऐसा क्या कर गुजरेंगे।

जब उसका हुक्म आवे, चलो। यह नहीं कि एक क्षण ठहर जाओ। दोनों बात नहीं होनी चाहिए। हाय-हाय, मैंने जीवनमें यह काम नहीं किया—इस प्रकार पछताते हुए नहीं मरना चाहिए। और जैसे एक सैनिकको आज्ञा दी जाती है—बन्दूक उलट दो, मुड़ जाओ, सीधे खड़े हो जाओ, जैसे एक सैनिक आज्ञा पालन करता है, वैसे ईश्वरकी आज्ञाका पालन करनेके लिए हमको क्षण-क्षण तैयार रहना चाहिए।

सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।

भगवान् डराते हैं और निर्भय भी करते हैं—क्या अद्भुत है। बचपनकी बात सुनाता हूँ। आप कहेंगे गीताकी

व्याख्या करो। गीताकी असली व्याख्या पोथीमें नहीं होती—लिखी हुई नहीं होती है और वह व्याख्यानमें भी नहीं होती है। गीताकी असली व्याख्या तो अपने जीवनमें होती है। हम बच्चे थे तो खलिहानमें सोनेका आग्रह करते थे, जहाँ हमारे जौ, गेहूँ, धान खेतोंमें-से काटकर रखे जाते थे। हमारे एक चाचा थे। वे रातको काला कम्बल ओढ़कर भालूकी तरह बनकर सामनेसे आये। हम डर गये। तो सोचा कि खलिहानमें नहीं सोना चाहिए, यहाँ तो भालू आता है। पर वे भालू बनकर क्यों आये? हमको रोज खलिहानमें सोनेका जो आग्रह था वह आग्रह तोड़नेके लिए। उन्होंने डराया जरूर परन्तु अपनी जानमें उन्होंने हमारा हित किया कि हम ऐसी ज़िद्द न करें।

एक दिन मैंने देखा कि कोई भूत-प्रेतवाला आया था। उसने कहा कि हमें तुम्हें भूत दिखा देंगे। हम अपने दरवाजेपर ही बैठे थे। सामने एक फर्लांगकी दूरीपर एक पेड़ था। उससे बीच-बीचमें चिनगारियाँ छूट रही थीं और नीचे आग गिर रही थी। बोला देखो वह भूत है, आग बरसा रहा है। हमारे चाचा आगये। पिता तो थे नहीं— उन्होंने उसको डाँटा। क्यों बच्चेको डरा रहे हो? वह भूत नहीं है। यह जो बारूद होती है वह पोटलीमें भरकर बाँधकर उसने नीचेसे आग लगा दी थी। जब बारूदकी पोटली आगसे लगती बारूद जलकर गिर जाती और जब गाँठ आती तब बन्द हो जाती। जब गाँठ जल जाती है तो फिर बारूद जलती है। वह तुमको डरानेके लिए ऐसे कर रहा है। हमको भय चाचाने दिया क्योंकि हम अनुचित चिद्द कर रहे थे। और हमको निर्भय भी चाचाने बनाया। तो यह जो सबका चाचा है—सबका बाप है, सबका दादा है, वह हमको जरूरत पड़नेपर डराता भी है और निर्भय भी बनाता है। भगवान् ही हमारा पिता है, हमारा पितामह है—जैसा कि भगवान्ने ही कहा है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (9.17-18)

हमको सब दिखता है—फूल दिखते हैं पर फूल खिलानेवाला नहीं दिखता। हमको पेड़ दिखता है पर पेड़ पैदा करनेवाला नहीं दिखता है। हमको आँखसे चीजें दिखती है पर जिसने हमारी आँखमें ज्योति डाली है वह **चक्षुसः चक्षु**—वह जो हमारी आँखों-की-आँख है—**श्रोत्रस्य श्रोत्रम्**—जो हमारे कानका कान है— प्राणस्य प्राणा: जो हमारे प्राणों-का-प्राण है, उसपर हमारी नजर नहीं जाती।

गीतामें भगवान् बोलते हैं—हमारी ओर देखो।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥

अहिंसा—अहिंसा शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कर्मसे किसीको कष्ट नहीं देना। किसीके शरीरको कष्ट नहीं देना।

हम अपने परिवारकी बात सुनाते हैं। जन्मसे हम लोगोंके यहाँ मन्त्र देनेकी परिपाटी थी। शिष्य बनाया करते थे हम। हमारे घरका पेशा था। ज्योतिष बताना, मन्त्र देना—यह रोजगार था। पहले बताया करते थे। चोरी,

जारी, झूठ और हिंसा-चार बात छोड़ना। मन्त्र लेते हो तो चार बात छोड़ देना। सब लोग मन्त्र लेते समय तो कहते हैं कि हाँ हम चारों छोड़ देंगे, पर छोड़ते नहीं। संशोधन किया कि अच्छा हम और कुछ छोड़नेको नहीं कहते हैं, सिर्फ एक चीज छोड़ दो। जान-बूझकर किसीको तकलीफ मत दो। एक बात अपने जीवनमें आजाय तो अच्छा है। क्योंकि वेदकी आज्ञा है—**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।**

संसारके किसी भी प्राणीको सताओ मत, दु:ख मत दो। तुम्हारे भीतर परमेश्वर बैठा है। किसीको तकलीफ देते हो तो उसके सामने ही तो देते हो। मालिकके सामने हम अपराध करते हैं। कानून अपने हाथमें लेते हैं—सबका मालिक परमेश्वर सामने बैठा हुआ है और उसीके सामने हम दूसरेको तकलीफ देते हैं। तीन चीज जीवनके लिए मूल मन्त्र है, महोषध हैं। जिसके जीवनमें ये हैं, वही महात्मा है। केवल तीन—**अहिंसा, समता, तुष्टि:**। ये भगवान्‌के दिये हुए अपने जीवनके लिए रत्न हैं। जान-बूझकर किसीको तकलीफ न पहुँचाओ। सबके प्रति हमारे मनमें समभाव हो। और अपने भीतर सन्तोष बना रहे। **अहिंसा, समता, तुष्टि:**— ये सद्‌गुण हैं। यदि आगया तो आपके जीवनमें भगवान् प्रकट हैं। इसीको जीवन्मुक्त बोलेंगे। उसने परमार्थ और व्यवहार सबका रहस्य समझ लिया जिसके जीवनमें ये गिनी हुई तीन बातें आजायँ।

एक महात्माके ऊपर किसीने आक्रमण किया। वह आक्रमण सफल नहीं हुआ। परन्तु जो महात्माजीके भक्त थे, उन्होंने उसको पकड़ लिया। इसने हमारे गुरुके ऊपर आक्रमण किया है, मार डालेंगे इसको। महात्माजी दौड़े—जाकर उसे अपने बाँहमें भर लिया, बोले—देखो इसको अगर कोई कुछ कहेगा या इसका अपमान करेगा या मारेगा तो हम यह देश छोड़कर चले जायेंगे। और फिर कभी यहाँ नहीं आयेंगे। हम तुम लोगोंको फिर कभी नहीं मिलेंगे। श्रीमद्भागवतमें तो ऐसा आया है—बात आदर्श की है—लेकिन बहुत ऊँचा आदर्श जो अपने जीवनमें नहीं आता है, उसको भी जानना अच्छा रहता है, उससे बहुत बल, बहुत शक्ति मिलती है। संस्कृतमें एक श्लोक है जिसका तात्पर्य यह है कि 'एक आदमी कुल्हाड़ीसे हमारा दाहिना हाथ काट रहा है और एक बायें हाथपर चन्दन लगा रहा है। उस चन्दन लगानेवालेको मत देखो। उस कुल्हाड़ीसे काटनेवालेको मत देखो। दोनोंके भीतर जो प्रभु है, उसको देखो'।

जीवनकी तीन सम्पदाएँ हैं, ऐसा महाभारतमें जो सनत्सुजात-गीतामें लिखा है। महाभारतमें १८-२० गीताएँ हैं उसमें 'अनु-गीता' है, 'मंकि-गीता है, 'ब्रह्म गीता' है। एक सनत्सुजात-गीता है। उसमें ऐसा बताया कि—**प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।** (उद्योग-पर्व 42.4) यह जो हमारे जीवनमें प्रमाद है, असावधानी है, उसीका नाम मृत्यु है। जिस समय हम प्रमादमें हो जाते हैं, हमें अपने कर्तव्यका स्मरण नहीं रहना, जिसकी आज्ञामें सूर्य, चन्द्रमा चल रहे हैं, उसका ध्यान नहीं रहता। जो हमारे जीवनमें शक्ति दे रहा है उसका ध्यान नहीं रहता। प्रमाद आया तो मूल उत्ससे माने उद्‌गमसे—जैसे गङ्गोत्तरीसे गङ्गाजी चलती हैं तो जहाँ गङ्गोत्तरीकी धारासे संलग्न जलधारा होगी वहाँ तो उसको गङ्गाजी कहते हैं और जहाँ उस मुख्य धारासे अलग कोई जल गड्ढेमें रह जाता है तो शास्त्रकी दृष्टिसे उसे सुरातुल्य अर्थात् शराबकी तरह मानते हैं। उसमें स्नान करनेपर पुण्य नहीं होगा। पुण्य तो उसी धारामें स्नान करनेका होगा जो गङ्गोत्तरीसे लगातार संलग्न है।

मनुष्यका यह जीवन जिस गङ्गोत्तरीसे चला है, जीवनकी धारा भी एक गङ्गोत्तरीसे चली है, यह भी भगवान्‌के चरणारविन्दसे ही प्रभावित हुई है। यदि वहाँसे अपने जीवनका सम्बन्ध जुड़ा रहा तब तो यह गङ्गा है और यदि उससे सम्बन्ध टूट गया तो जैसे सम्बन्धसे मुक्त गङ्गाजल सुरा-जलके समान हो जाता है—वैसे ही यह जीवका जीवन भी अपवित्र हो जाता है। जहाँ परमेश्वरके साथ सम्बन्ध टूटा— यह अपवित्र हो गया।

सनत्सुजात-गीतामें तीन बात हमारे जीवनमें रहनी चाहिए, यह बताया। ब्रह्मसे हम एक हैं—जुड़ा हुआ है हमारा विस्तार। चित्तवृत्तिमें समता है—जो हुआ सो ठीक, जो हो रहा है सो ठीक—'नानक है भी सच, नानक होसी भी सच।' जो है सो भी सच है और जो होगा सो भी सच है। है शान्ति, रहेगी शान्ति—देखो उस परमात्माको देखो। उसके साथ सम्बन्ध नहीं टूटे। तत्त्वमें एकता है, चित्तवृत्तिमें समता है और व्यवहारमें असंगता है। कहीं फँसे नहीं—हाथ वहीं तक डालो जहाँसे खींच सकते हो। व्यापार भी करना हो तो ऐसा व्यापार करो कि कितनी भी मुश्किल आवे उसमें-से अपनेको निकाल सकें। अपनी क्षमता देखकर ही व्यापारमें हाथ डालना चाहिए और केवल सम्भावनाओंपर हाथ डाल दिया कि फिर निकाल न सकें तो ठीक न होगा।

असंगता माने छुटकारा। कहीं भी हम फँस न जायें, कहीं भी आसक्त न हो जायँ—कहीं भी बँध न जायँ। निर्द्वन्द जीवन व्यतीत हो और सब स्थितियोंमें समान हों और परमात्मासे जो सम्बन्ध है वह जुड़ा रहे। जीवन तो वही है।

सुखं-दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च। अहिंसा-समता तुष्टिः......

शङ्कराचार्य भगवान्‌ने कहा है कि संसारी लोग, गृहस्थ लोग जो हैं—उनको स्त्री-पुरुषके सहवासमें जैसा सुख मिलता है, अच्छा भोजन करनेपर जैसी तृप्ति होती है और धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है, उससे अधिक सुख 'आत्मरति' में होता है। **यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्** (3.17)—आत्मा ही स्त्री-पुरुष है। आत्मा ही भोजन, आत्मा ही संतोष है। आप उस जीवनकी कल्पना तो करें। कितना स्वावलम्बी वह जीवन होगा, कितना स्वतन्त्र, स्वच्छन्द वह जीवन होगा जो धनके बिना सुखी है और अच्छे भोजनके बिना भी तृप्तिका अनुभव कर रहा है। और स्त्री-पुरुषके सहवासके बिना भी अपने मनमें अपनी आत्मामें रह रहा है। पराधीनता तो वहाँसे कट गयी।

अहिंसा-समता-तुष्टिः।

किसीको तकलीफ न पहुँचायें, एक बात। यह हो गया जैन धर्म—ये लोग अहिंसाका नाम बहुत लेते हैं। करुणा बौद्धधर्मकी प्रधानता है। उसमें करुणाका समुद्र उमड़ता है। बुद्धके जीवनमें एक बात आती है। उन्हें मुक्तिके द्वारपर ले जाया गया कि आप मुक्तिके राज्यमें प्रवेश करो। बुद्ध ठिठक गये। बोले—नहीं, मैं मुक्तिके राज्यमें प्रवेश नहीं करूँगा—क्यों, क्योंकि संसारके जीव इतने दुःखी हैं—उन सबको दुःखी छोड़कर मैं चला जाऊँ। प्रवेश नहीं करेंगे, मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। समाधि छोड़कर उनकी आँखोंमें आँसूकी धारा बह रही है। संसारके जीवो! तुम दुःखमें, सुखमें, रागमें, भोजनमें हँस रहे हो—आओ-आओ, इनसे मुक्त हो जाओ।

अहिंसाकी प्रधानतासे जैन-धर्म, करुणाकी प्रधानतासे बौद्ध धर्म और हितकी प्रधानतासे वैदिक धर्म है। कभी कठोरता करनी पड़े तो कठोरता भी कर लिया और करुणा करनी पड़े तो करुणा भी कर लिया लेकिन हित-भावना दोनोंमें रहे। कभी हिंसा भी-कभी अहिंसा भी—यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। आवश्यकता पड़नेपर हिंसा भी—राष्ट्रकी रक्षा करनी हो, गरीबकी रक्षा करनी हो, धर्मकी रक्षा करनी हो, तो वहाँ हाथ-पर-हाथ धरकर बैठना नहीं चाहिए। जिसमें लोगोंका कल्याण हो वह करनेके लिए हिंसा भी ठीक है, अहिंसा भी ठीक है और समता भी ठीक है, विषमता भी ठीक है। सन्तोष भी ठीक है और असन्तोष भी ठीक है। विद्या और अर्थ प्राप्त करनेमें सन्तोष नहीं चाहिए।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।

असन्तोष, धर्म करनेमें—और करें, और करें, और करें। उसमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना। विद्या प्राप्त करनेमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना। धन प्राप्त करनेमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना; लेकिन यह बात है—आत्मस्थिति-तुष्ट। हितप्रधान हमारा वैदिक धर्म है। उसमें सन्तोषके लिए भी स्थान है और असन्तोषके लिए भी स्थान है। उसमें हिंसाके लिए भी स्थान है, विषमताके लिए भी स्थान है। परन्तु क्यों, बोले—हितदृष्टि रहनी चाहिए। जिसमें सबका भला हो, वह दृष्टि चाहिए। **अहिंसा, समता, तृष्टिः, तपो, दानं, यशोऽयशः।** अपने इन्द्रियोंका संयम करो। विवेकपूर्वक जीवन व्यतीत करना और दान करना।

दानके बारेमें तो जैसी बात वेदोंमें है—अद्भुत है। **श्रद्धया देयम्** (तै०उप० १.११.३) श्रद्धासे दान करो। **अश्रद्धया देयम्**—अश्रद्धासे भी दान करो। **ह्रिया देयम्**—शरमसे भी दान करो। **भ्रिया देयम्**—भयसे भी दान करो—**संविदा देयम्**—जान-बूझकर दो। अनजानमें दो—लज्जासे दो—देना, क्योंकि लेना-देनाकी शिक्षा तो मनुष्य अपने आप ही प्राप्त कर लेता है, उसके लिए तो कोई पाठशाला बनानेकी जरूरत ही नहीं पड़ती। बच्चे पाठशालामें पढ़े बिना ही सीख लेते हैं, लेकिन देना सिखानेके लिए तो लोगोंको पाठशाला भी नहीं बनायी कि इसमें दान करनेकी, देनेकी शिक्षा दी जाये। असलमें मनुष्यके लिए दान सर्वोपरि है।

वृहदारण्यक उपनिषद्में यह कथा आयी है। (५.२)—दैत्य गये ब्रह्माजीके पास—बोले क्या करें? बोले 'द-द-द' दया करो। तुम लोग बड़े क्रूर हो—दया करो। देवता गये ब्रह्माजीके पास क्या करें? बोले 'द-द-द' दान करो। तीन प्रकार है। दैत्य हिंसक हैं इसलिए उनके जीवनमें दया आनी चाहिए। देवता भोगी हैं, उनके जीवनमें दम आना चाहिए और मनुष्य लोभी हैं, उनके जीवनमें दान आना चाहिए। कुछ-न-कुछ देते चलो।

मनुस्मृतिमें ऐसे कहा कि अपने घरमें कोई आजाय—अपने घरमें अच्छा फर्नीचर न हो—कोई बात नहीं, चटाई बिछायें—कुशासन तो है। अगर वह भी न हो तो धरतीपर हाथ फिरा दिया। आइये यहाँ बैठ जाइये। कुछ खानेको देनेके लिए न हो तो थोड़ा-सा जल दे दो। जल भी न हो—**वाक्चतुर्थी च सूनृता।**

आपके मुँहमें तो है न। मीठा बोलिये। अपनी जबानका शरबत—आपके मुँहमें तो अमृत भरा हुआ है। कुछ-न-कुछ देते आप चलते हैं। आपके जीवनमें जो क्रोध है, उसकी तन्मात्राएँ आपके शरीरसे निकलकर फैलती हैं। आपके जीवनमें जो लोभ है उसकी तन्मात्राएँ निकलती हैं। लोभीके संसर्गमें आनेसे मनमें लोभ

आता है। क्रोधीके संसर्गमें आनेसे मनमें क्रोध आता है। कामीके संसर्गमें आनेसे मनमें काम आता है। आप तो बहुत कुछ देते चलते हैं, कुछ और भी देते चलिये। 'तपोदानम्', पर यह दान करनेकी वृत्ति आती कहाँसे है। अभिमानी मत बनो। कुछ अभिमान करने लायक नहीं है। न सुखी होनेका अभिमान, न दु:खी होनेका अभिमान। न कुलीनताका अभिमान, न मृत्युका अभिमान। मृत्युका भी अभिमान होता है—हम मरेंगे। कहाँ मरेंगे? अमुक तीर्थमें मरेंगे। उतान छाती करके—बन्दूककी गोलीके सामने मरेंगे। देशहितके लिए फाँसीपर टँगकर मरेंगे। हमको तो भाई बहुत डर लगता है, हम तो बहुत निर्भय रहते हैं—सब आता है, पर देखना उसको है जो हमारे हृदयमें सद्भाव भेजता है।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

वह साक्षी, वह प्रेरक, वह अन्तर्यामी है। आप गायत्रीका जप करते होंगे। उसमें सीधा दोनोंका वर्णन है। एक ओर योग है। **भर्गो धीमहि सवितुः वरेण्यम्।** 'धीमहि' माने ध्यान करते हैं। ध्यान करते हैं माने योग कर रहे हैं। किसके साथ? परमात्माके साथ। परमात्मा क्या कर रहे हैं? **धियो यो नः प्रचोदयात्।** वह हमारी बुद्धिको प्रेरित कर रहा है। हम परमात्माका ध्यान कर रहे हैं और परमात्मा हमारी बुद्धिको प्रेरित कर रहा है। देवता लोग बुद्धिमें प्रेरणा, स्फुरणा देकर रक्षा करते हैं। इसमें साफ-साफ बात है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' हम परमात्माके उस तेजका ध्यान करते हैं—किस तेजका? जो हमारी बुद्धिका प्रेरक प्रकाशक है। माने जो सम्पूर्ण विश्वका हेतु सविता है—इधर है, वही हमारी बुद्धिका प्रेरक आत्मा भी है। जीव और ईश्वर दोनोंकी आत्मा एक है, यही तो गायत्री बोलती है। सृष्टिकर्ता है सविता देवता। देवता—स्वयं प्रकाश और बुद्धिप्रेरक है, हमारे देहमें बैठा हुआ। दोनों एक हैं—दोनोंमें समानाधिकरण्य है।

आओ परमात्माका दर्शन करें। कहाँसे देखें? किसी मशीनमें कोई चीज बनती है तो मशीन फटाफट घूमती रहती है, वस्तुएँ निकलती जा रही हैं—उस मशीन चलानेवालेको देखो—और वह मशीन एक मिनटमें कितना चक्कर लगाती है, यह मत देखो—चलानेवाला कौन है? **भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।** सारे भाव जो हमारे हृदयमें आते हैं, उसके मूलमें परमात्मा आते हैं। और यह जो सारी सृष्टि बनी है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (10.6)

इस सारी प्रजाका मूल पिता कौन है? और सद्भावोंका प्रेरक कौन है? दो चीजें निकलीं, जो जिससे पैदा है और जो जिससे प्रकाशित होता है, वह अपने प्रकाशक और जनकसे पृथक् नहीं होता। यह सारी-की-सारी सृष्टि परमात्ममयी है, उसीकी रोशनीमें दीखती है और वही सारी सृष्टिमें हो रहा है। उसीका योग है और उसीका वैभव है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

(14-11-80)

श्रीमती भगवती गीता—गीताके विशेषण है—**गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्**—गीता शब्द संज्ञा है। व्यवहारमें और परामार्थमें दोनोंमें भगवान् हैं। **मामनुस्मर युद्ध्य च** (8.7) 'मामनुस्मर' परमार्थ है और 'युद्ध्य च' व्यवहार है। दसवें अध्यायमें परमार्थमें भगवान् योग हैं और व्यवहारमें भगवान् विभुति हैं। दो चीजें हैं। दसवें अध्यायका पाठ पहले हमने कितनी बार किया होगा। पर यह बात ध्यानमें नहीं आती थी। मेरे ध्यानमें नहीं आती थी, इसलिए मैं बार-बार इसको दोहराता हूँ। औरोंके ध्यानमें न आती हो तो वे भी ध्यान करें।

एतां विभूतिं योगं च—यह मेरी विभूति है और यह मेरा योग है। अर्जुनने प्रश्न भी किया है कि—**विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च** (10.18)। एक है योग और एक है विभूति। व्यवहार वैभव है, एक व्यक्ति है और उस व्यक्तिकी मूर्ति है। एक वस्तु है और एक वस्तुकी विभूति है। देखो मिट्टी वस्तु है और हीरा उसकी विभूति है—खानेमें-से निकला हुआ मिट्टी ही है। पाषाण-खण्ड ही है, पत्थर ही है। मृत्तिका योग है और हीरा उसकी विभूति है। जब हम परमात्माका चिन्तन करें तब देखें **मृत्तिकेत्येव सत्यम्**—(छान्दोग्य 6.1.4) केवल मृत्तिका ही सत्य है केवल परमात्मा ही सत्य है।

कल एक विलक्षण फूल देखा। बताया गया कि सालमें एक दिन खिलता है। कल खिला हुआ था। वह क्या है? उसमें मिट्टी है; उसमें पानी है। वह अपने तत्त्वसे वियुक्त नहीं हुआ है। युक्त है, योग है, मिट्टी-पानीका वैभव है; यह विभूति है कि वह इतने सुन्दर, सुगन्धित, रसयुक्त रूपमें है; उसमें सुकुमारता है। यह क्या है—यह मिट्टी पानीकी विभूति है। परमेश्वरकी जो सृष्टि है, सूर्य है, चन्द्रमा है, यह अग्नि है, यह वायु है। यह परमेश्वरकी विभूति है। जिसकी विभूति है उसको भूलना नहीं चाहिए।

विभूतिमें उसका दर्शन करते हुए विभूतिके साथ व्यवहार करना चाहिए। **रसोऽहमप्सु कौन्तेय** (7.8)—भूलनेकी वस्तु नहीं है। अग्निमें तेज भगवान् है। जलमें रस भगवान् है। पृथिवीमें गन्ध भगवान् है। ये व्यावहारिक हैं। व्यवहारमें भी भगवान्, परमार्थमें भी भगवान्। ये दसवाँ अध्यायका सार है, रस है, हमको पहले बहुत दिनतक ध्यानमें बात नहीं आयी थी। अब भगवान् कहते हैं—जितने आध्यात्मिक भाव हैं, और जितने आधिदैविक भाव हैं, वे सब-के-सब मुझसे ही होते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः—यह आध्यात्मिक भाव है हमारे हृदयमें। यह योग्यता जिससे प्रकाशित हो—विषयका भी ज्ञान हो और परमात्माका भी ज्ञान हो, उस ज्ञानकी योग्यताके रूपमें बुद्धि भी हो। फिर बुद्धिमें प्रकाश दिया और असंगता भी दी। यह भ्रम होता है कि हम फँस गये। कभी कोई फँसता नहीं। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, दादा-दादी, नाना-नानी, भाई-बन्धु—जब वे अपने साथ थे तो संमोह था कि साथ ही रहेंगे। पर जब छूट गये तब कठिनाईसे, उनका स्मरण होता है। वह पिता जो गोदमें खिलाते थे, वह माता जो दूध पिलाती थी, गुरुजी जो बड़े प्रेमसे पढ़ाते थे—सब छूट गये। कहाँसे मोह हुआ? संमोह तो कहीं हुआ ही नहीं। पति-

पत्नीमें बड़ा मोह है, बड़ा प्रेम है, माता-पुत्रमें बड़ा प्रेम है—जब आप सोते हैं तो आपका मोह कहाँ जाता है? योग हो जाता है। उस समय आप परमात्मासे मिल जाते हैं.

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। (10.5)

क्षमा सत्यं दमः शमः। (10.4)

हमने देखा है—जो पहले शत्रु माने जाते थे वे मित्र हो गये। जो मित्र माने जाते थे वे शत्रु हो गये। बदलती है दुनिया। यह क्षमा है, सत्य है, दम है, शम है—आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक माने जो हमारे शरीरके भीतर है। 'आत्मनि एव अध्यात्मम्'। जो हमारे शरीरमें ही होते हैं उनका नाम अध्यात्म है। यह लगता है कि इसने सुख दिया—इसने दुःख दिया, देता-वेता कोई नहीं, हमारे मनमें जो बैठा हुआ है, वही उभड़कर सामने आजाता है। सुख-दुःख भीतरसे निकलते हैं। बाहरसे नहीं आते। बाहर तो जिससे प्रेम हो उसकी मृत्युपर दुःख नहीं होता; बल्कि कभी-कभी तो मुँहसे निकल जाता है—अच्छा हुआ। सबके मुँहसे नहीं निकलता। आप तो बड़े सज्जन हैं, आपके मुँहसे ऐसा शब्द नहीं निकलता लेकिन भीतरसे आजाता है।

भागवतमें ऐसा कहा गया है कि बिच्छू, साँप मर जानेसे सज्जन पुरुषको भी अच्छा लगता है। **सुखं दुःखम्** यह बाहरसे नहीं, आपके भीतरका विकास है। यदि आप अपने मनको, अन्तःकरणको संयमित कर लें तो सुख देनेवाला कोई दूसरा है, ऐसा समझ लें मोह नहीं होगा और दुःख देनेवाला कोई दूसरा है, यह समझकर किसीको द्वेष भी नहीं होगा। ये तो हमारे अन्तःकरणकी ऐसी ही बनावट है। देखो शीशेका स्वरूप। शीशा चमकता है और कोयलेकी कालिमा प्रकट होती है और आतसी शीशेपर सूर्यका प्रकाश पड़ता है तो जल उठता है। उसपर रुई डाल दो—आग लग जाती है। यह वैभव है।

शीशेका वैभव दिखाता है कि आपकी नाक कैसी है, आपकी आँख कैसी है? लेकिन इसका योग देखो, शीशेमें योग है। न तो तुम उसके भीतर घुसे और न तो पैदा हुए और न उसमें तुम्हारी लम्बाई-चौड़ाई है। न तुम्हारा उसमें दाहिना-बाँया है, न मुटापा है—न आगे-पीछे है। क्या विभूति है शीशेकी! यह परमात्माकी विभूति है। यह दुनियाकी लम्बाई-चौड़ाई, इसका मोटापा, इसका आगे-पीछे, इसका छोटापन, इसका बड़ापन कुछ नहीं।

सुखं दुःखं भवो भावः।

देखो जन्म-मरण दीखता है—क्या विभूति है। बेटेका जन्म हुआ—केवल समाचार मिला। इसीसे फूल गये। झूठा समाचार मिला, किसी प्यारेकी मृत्यु हो गयी। दुःखित हो गये। है कुछ नहीं—आपके पैदा होनेसे पञ्चभूतका—धरतीका, पानीका, कुछ वजन बढ़ गया? आपके मरनेसे पञ्चभूतका वजन कुछ घट गया? सो रहा ज्यों-का-त्यों! गणेशजी बने और मूर्ति बिगड़ गयी। मूर्त्ति बनी और बिगड़ गयी। इतना ही है, मिट्टीका योग है और मूर्त्ति उसकी विभूति है। जन्मना भी भगवान् मरना भी भगवान्। दूसरेको दुःख पहुँचानेसे डरें। दूसरेने कड़वा बोलनेमें डरें। और निर्भय होकर सदाचारका पालन करनेमें भय काहेका? यह तत्त्वज्ञान तीन ही चीज जीवनमें देता है। एक तो—

अभयं प्रतिष्ठां विन्दते। (तै० उप० 2.7.1)

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह सृष्टिमें निर्भय हो जाता है। कोई आओ, कोई जाओ। भगवान्‌की विभूति मजा लेनेके लिए है। हमारे हृदयमें भय प्रकट होता है कि हम दुष्कर्म न करें। हमारे जीवनमें अभय प्रकट होता है—हम सत्कर्म करें। ये दोनों वृत्तियाँ भयकी, अभयकी सब भगवान्‌की दी हुई हैं। जरा देनेवालेको एक बार झाँक लें। आपके मनमें कोई भाव आवे तो **धियो यो नः प्रचोदयात्**‌को जरा देख लो। हमारी बुद्धिका प्रेरक जो है, उसको देख लें। एक बार उसकी ओर निहार लो। यह भेजनेवाला कौन है? अपना प्यारा है। चाँटा किसने लगाया? प्यारेने। ये चिकोटी किसने काटी? प्यारेने। बस, इसीमें तो मजा है। दूसरी बात वेदान्त-जीवनमें देखना है—एक विज्ञानसे सबका विज्ञान। ऐसी कोई दूसरी विद्या नहीं है, किसी मजहबमें नहीं। हम चुनौती देते हैं—दुनियाका कोई मजहब बता दे एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रक्रिया क्या है? यह उपनिषदोंके सिवाय और कहीं मिलती है? एकको जान लिया और सबको जान लिया।

तीसरी बात है—सर्वत्यागका सामर्थ्य! हमारे असंग स्वरूपमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे हम चिपके रहें। सब छोड़ सकते हैं। अभय पदकी प्राप्ति, एक विज्ञानसे हम चिपके रहें। सब छोड़ सकते हैं। अभय पदकी प्राप्ति, एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान और सर्व-त्यागका सामर्थ्य। **भयं चाभयमेव च-अहिंसा समता तुष्टिः**—किसीको दुःख नहीं पहुँचाना—सबके प्रति समभाव रखना और मनमें सन्तोष रहना। हमारे जीवनमें यह विभूति है या नहीं, यह देखो।

तपोदानं यशोऽयशः—अपना काम करते चलो, यश-अपयशकी ओर मत देखो। अपयश-यश देखने लगे कि किस काममें लोग हमारी तारीफ करते हैं और किसमें निन्दा करते हैं—तब हम एक कदम आगे नहीं बढ़ सकते। एक ही कामकी दस निन्दा करनेवाले मिलेंगे और दस तारीफ करनेवाले मिलेंगे। इसलिए दृढ़ निश्चयके साथ जीवनमें आगे बढ़ना चाहिए। कोई यश देता है? भगवान् देते हैं, आदमी नहीं देता। कोई अपयश देता है? भगवान् देते हैं, आदमी नहीं देता। अपयश सुनकर डरो मत और यश सुनकर खुश मत होओ। देनेवालेको देख-देखकर खुश होते जाओ। हर काममें उसको निहारते जाओ और खुश होते जाओ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

यह आध्यात्मिक भाव है। सृष्टि तो भगवान्‌ने बनायी ही है, वह तो हम आगे सुनावेंगे।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

हमारे मनके भाव भी भगवान्‌के ही भेजे हुए हैं। अब देखो आधिदैविक भाव—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (10.6)

ये सारे आधिदैविक भाव हैं। **महर्षयः सप्त**—जैसे हमारे शरीरमें सात इन्द्रियाँ हैं, आध्यात्मिक रूपसे ये सात ऋषि हैं। ऋषियोंको सात क्यों कहते हैं? दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुँह—ये सातों ज्ञानके देवता, ज्ञानके ऋषि, ब्राह्मणोचित स्थानमें हैं। मुख तो ब्राह्मण है न! देवताका निवास कहाँ है? विराट्‌के मुखरूप ब्राह्मणमें। सात ऋषि हैं और सात ही इनके देवता हैं। फिर अधिदैवमें ऋषि सात क्यों? क्योंकि इनका जो बीज है, मूल

कारण है वह भी सात है। वे प्रलयमें भी नष्ट नहीं होते हैं। जब प्रलय होता है तब मत्स्य भगवान् सप्तर्षियोंको नावपर बैठा लेते हैं। सभी वस्तुओंका बीज नावमें रख लेते हैं और प्रलय के समय विचरण करते-रहते हैं।

ये सात ऋषि कौन हैं? बोले—'पूर्वे' जो सबसे पहले रहते हैं—सबसे पहले रहते हैं का क्या मतलब है? जितना भी आपको ज्ञान होता है—यह गन्ध है—यह गन्धवाली पृथिवी है। यह रूप है, यह रूपवाला तेज है—यह रस है, यह रसवाला जल है। यह स्पर्श है, यह स्पर्शवाला वायु है—ये शब्द हैं, यह शब्दवाला आकाश है। इनका प्रकाश करनेके कारण ऋषि, ऋषन्ति=जानन्ति इति ऋषयः। ये ज्ञान देते हैं। 'पूर्वे'का अर्थ हुआ धरती देखनेसे पहले और धरतीकी गन्ध सूँघनेसे पहले। देखनेसे पहले कौन होगी? आँख। आँखके मूलमें जो ऋषि है—बड़ा तेजस्वी है। नाकके मूलमें जो ऋषि है—गन्धसौंध है, गन्ध ग्रहणमें बड़ा निपुण है। जो आदि सर्गमें पहले सात ऋषि हुए उनको भृगु आदि नामोंसे बोलते हैं। हर मन्वन्तरके सप्तर्षि नहीं; स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि, आदि सर्गके सप्तर्षि।

चत्वारो मनवस्तथा। चार मनुके विषयमें तिलक महाराजने दूसरे ढंगसे लिखा है। ज्ञानेश्वरने दूसरे ढंगसे लिखा है। शंकराचार्यने दूसरे ढंगसे लिखा है। पर बाबा, उससे हमारा कोई ज्यादा मतलब नहीं है। सप्तर्षिमें कौन-कौनसे सात हैं, इसका पता तो महाराज, ऐतिहासिक लोगोंको लगाने दो। ये तो आधिदैविक भावकी चर्चा है। चौदह मनु होते हैं—चार क्यों? चार मानस मनु हैं। स्वायम्भुव, रेवत, तामस—प्रियव्रतके तीन पुत्र हैं। उनकी उम्र कितनी है? तीन मन्वन्तरके तीन अधिपति होते हैं। तीनों प्रियव्रतके पुत्र हैं।

एक प्रश्न उठता है—एक मनुकी उम्र तीन मन्वन्तर, एक मनुकी उम्र एक मन्वन्तर और ये हैं एक ही बापके बेटे? स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ये तीनों थे और अपने-अपने मन्वतरमें भी तीनों थे। ये कोई भौतिक व्यक्ति नहीं—भगवान्के मानस भाव थे। अपने सङ्कल्पसे उनके मनुत्वकी स्थापना कर दी थी। और इतना विवेक है पुराणोंमें, इतिहासोंमें, वेदोंमें। सभी शास्त्रोंमें मनुका नाम आया है।

हमारे अन्तःकरणके चार भाग होते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। ये हैं मनन करनेके कारण 'मनु'। इनके आधिदैविक रूपको जब हम ढूँढ़ते हैं तो चार-के-चार मिल जाते हैं। **मद्भावा मानसा जाताः।** भगवान् कहते हैं—ये सप्तर्षि मेरे भाव हैं। मेरे मनसे पैदा हुए हैं। **येषां लोक इमाः प्रजाः**—इन्हीं आधिदैविक भावनाओंकी शक्तिसे संसारमें सब लोग पैदा हुए हैं।

अन्तमें भगवान्ने फलश्रुति बता दी। **एतां विभूतिं योगं च**—यदि दोनोंको अलग-अलग नहीं मानोगे तो जो 'च' का प्रयोग है वह व्यर्थ चला जायगा। **एतां विभूतिं योगं च**—यह विभूति और यह योग। पानी अपने स्वरूपमें है तब योग है और जब उसमें बरफ बन गया तब विभूति बन गयी। वस्तुओंको ठण्डा कीजिये, पानी ठण्डा कीजिये; उससे ठण्डी हवा लीजिये। अपने घरमें रखिये। पानी-पानी है। वह योग है और जो बरफ बन गया—वह उसकी विभूति है। तेज-तेज है। सूर्यकी रोशनी-रोशनी है, सूर्य योग है—उसकी रोशनी विभूति। और जहाँ बरफको ताप लगा वहाँ बरफ फिर पानी हो गया। बरफको गला देना यह तेजकी विभूति है।

एतां विभूतिं योगं च—हम अपने पितामहके पास रहते थे। योग था वह। एक दिन उनसे अलग होकर

रातमें कहीं गाड़ीपर जा रहे थे तो डाकुओंने घेर लिया। मैंने पुकारकर कहा—'मैं अमुकका पौत्र हूँ।' तो हाथ जोड़कर बोले—'पालागी महाराज! आप रातको क्यों अकेले आये?' घर पहुँचा दिया। यह हमारे पितामहकी विभूति थी, वैभव था। एक प्रभव होता, एक प्रभाव होता है। वह हमारे पितामहका प्रभाव था। **एतां विभूतिं योगं च।** हमें खूब दुःख हो रहा हो, भगवान् तो हमारे हृदयमें हैं। भगवान्के साथ तो हमारा योग है। अब इनका स्मरण कर लिया। स्मरण भगवान्की विभूति है। तुरन्त दुःख दूर हो गया। **हरिस्मृतिः सर्व विपद्-विमोक्षणम्**—भगवान्के स्मरणमात्रसे ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं।

यह तो आपको मालूम ही है कि मनमें दो बात एक साथ नहीं रह सकती। बारी-बारीसे होती है। हमारी आँख एक बारमें दो उँगली नहीं देखती है। एक बार एक, फिर दूसरी, फिर दूसरी—लेकिन बहुत ही जल्दी-जल्दी देखती है। नेत्र-वृत्ति इतनी त्वरासे एकसे दूसरीपर जाती है कि हम वह काल ग्रहण नहीं कर पाते हैं। एक साथ एक चीज रहती है। हमारे मनमें दुःख भी रहे और भगवान्का स्मरण भी रहे, यह नहीं हो सकता।

आप भगवान्के दुःखोंकी याद कीजिये। भगवान्को कम दुःख थोड़े ही हुआ। भगवान् भी कहीं पत्नीके लिए रोते हैं। कहीं बापके लिए रोते हैं। कहीं भाईके लिए रोते हैं। राम भगवान्के जीवनमें क्या रोना नहीं है? लक्ष्मणके लिए रोना है। सीताके लिए रोना है। रोते हुए भगवान्का स्मरण करो और तुम्हारा रोना बिलकुल मिट जायेगा। क्या बतावें आपको—लोगोंको सुनानेमें भी डर लगता है, संकोच होता है कि किसीको अच्छा लगे, न लगे। हमने बच्चेके रूपमें भगवान्को देखा है। रोते हुए भगवान्को देखा है। दूध पीते हुए भगवान्को देखा है। चोरी करते हुए भगवान्को देखा है। छेड़छाड़ करते हुए भगवान्को देखा है। बँधते देखा है, भागते देखा है, हारते देखा है—और कड़वी बात बोल दें—मरते देखा है। डरनेकी बात नहीं है—सही-सही बात है।

भागवतमें तो लिखा है कि भगवान्का शरीर जलाया नहीं गया। योगाग्निद्वारा वह शरीर भस्म नहीं हुआ। पर महाभारतमें दग्ध होनेकी बात लिखी है—और जगन्नाथजीका तो सारा इतिहास ही इसी बातसे भरा है कि भगवान्का शरीर समुद्रमें बहता है। ये सारी-की-सारी विभूति है। और यह हमारे दुःखोंको दूर करनेके लिए विभूति है। हम दुनियामें जिस चीजको देखकर घबरा जाते हैं, उन रूपोंमें भी हम भगवान्को देख सकते हैं.

एतां विभूतिं च योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

जो तत्त्व है इन रूपोंमें, उस तत्त्वको देखो, आकृतिको मत देखो। गाँधीजी योग हैं तो नेहरूजी विभूति हैं। हमने जान-बूझकर नाम लिया, क्योंकि आज नेहरूजीका जन्म-दिवस है। भगवान्का यह भव है; यह विभूति है। ये ग्रह, नक्षत्र, तारे भगवान्के वैभव हैं। पाल ब्रन्टन एक विदेशी था—वह उड़ियाबाबाजी महाराजसे बोला—महाराज कोई चमत्कार दिखाइये। कोई विभूति दिखाइये। बाबाने कहा कि देखो—एक बूँद पानी किसी पुरुषके शरीरमें-से टपक पड़ा और उसमें-से बना यह शरीर। यह चलता है, फिरता है, बोलता है—आगेकी बात सोचता है, पीछेकी याद करता है। बुद्धिमानीसे बड़े-बड़े काम करता है। तुमको अगर यह जीवन, यह शरीर चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो तुमको चिड़ियाकी तरह आसमानमें उड़कर दिखावें तब चमत्कार मानोगे?

देखो; यह आँखोंके सामने एक बूँद पानीका चमत्कार। इसमें मन भी है, इसमें बुद्धि भी है, इसमें

इन्द्रियाँ भी हैं, इसमें भूत-भविष्यका ज्ञान भी है। इसमें वर्तमानकी सामग्री भी है। यह है ईश्वरका चमत्कार—यह नहीं मालूम पड़ता? तत्वत: वस्तुके मूलको, रहस्यको पकड़ो। ऊपर-ऊपर तैर मत जाओ। लहराना विभूति है और शान्ति योग है। आप सोते हैं तो योग है। सपना देखते हैं तो विभूति है। वह आपके मनकी विभूति है। हमको महात्माओंने समझाया कि तुम्हारे अन्दर एक ऐश्वर्य है। जाग्रतकी सृष्टि ईश्वर बनाता है। और स्वप्नकी सृष्टि तुम बनाते हो। वहाँ धरती है, वहाँ पानी है, वहाँ आकाश है, वहाँ मीलों लम्बा स्थान है, वहाँ वर्षों लम्बा काल है, वहाँ अपने मित्र हैं, शत्रु हैं अपने मनका वैभव देखो!

इसने मित्रका रूप धारण किया, शत्रुका रूप धारण किया। दोनों लड़ने लगे। कौन लड़ रहा है? तुम्हारा मन ही शत्रु और मित्र बनकर लड़ रहा है। यह मन योग है और ये शत्रु-मित्र बनकर लड़ायी करना या प्यार करना—ये उसकी विभूतियाँ हैं। व्यवहारको भी देखो, परमार्थको भी देखो। किसीकी एक आँख होती है। वह कभी दाहिनी आँखसे देखता है—कभी बाँयीं आँखसे देखता है। हमें कभी भगवान्‌का परमार्थ-रूप देखना है, कभी उनकी विभूति देखनी है। केवल समाधिमें डूब नहीं जाना, केवल व्यवहारमें फँस नहीं जाना।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते।

हम दसवें अध्यायको विभूति-योग बोलते थे—जब ध्यान गया तो लगा अरे इसका नाम तो भगवान्‌ने विभूति-योग नहीं रखा है, इसका नाम तो भगवान्‌ने 'अविकम्प-योग' रखा है। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय:।** अविकम्प माने जो कभी कम्पित न हो, विचलित न हो। स्पन्दित न हो। यहाँ है अभी अपने घरमें; मुम्बई है तो अपने घरमें, कलकत्तामें हैं तो अपने घरमें, वृन्दावनमें हैं तो अपने घरमें—जिसका घर भगवान् है, वह जहाँ है वहीं अपने घरमें है कि नहीं? यह अविकम्प-योग है। कभी अपने घरसे बाहर निकाला ही नहीं। न जाग्रत्‌में, न स्वप्नमें, न सुषुप्तिमें, न समाधिमें, न व्यवहारमें—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय: यह हो गया अविकम्पयोग। हम रोते हुए भी भगवान्‌में हैं—हम हँसते हुए भी भगवान्‌में हैं। हम जन्मते हुए भी भगवान्‌में हैं। हम मरते हुए भी भगवान्‌में हैं। और लड़ते हुए भी भगवान्‌में हैं। जहाँ हैं वहीं भगवान्‌में। अविकम्प-योग, कभी भगवान् छूटता ही नहीं। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते।**

कुछ शंका रह गयी। बोले—मैं संशय मिटानेके लिए तो सब बता ही रहा हूँ। **नात्र संशय:।** क्या अर्जुन! तुम समझते हो, मैं ध्यान करता हूँ तब ब्रह्म हूँ और घोड़े हाँकता हूँ तब ब्रह्म नहीं हूँ? जब हम दोनों प्रेम करते हैं तब ब्रह्म हैं और जब आपसमें वाद-विवाद करते हैं तब ब्रह्म नहीं हैं? **नात्र संशय:।** कोई संशय मत करो। कभी परमात्मासे अलग होते ही नहीं। अलग होनेका भ्रम है—वेदान्त आगया। अलग होना नहीं है। अलग होनेका भ्रम है। न प्रतीतिमें अलग होते हैं, न प्रतीतिकी निवृत्तिमें अलग होते हैं। प्रतीतिकी निवृत्ति हुई तब भी परमात्मा और प्रतीति हो रही है, विश्वसृष्टि चल रही है—तब भी परमात्मा।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:॥

श्रीमता भगवता गीता=श्रीमान् भगवान्ने इसका गान किया है। भगवता गीता=भगवद्-गीता—भगवान्ने गाया है, श्रीमती भगवती गीता भगवद्गीता! वाणीमें भगवान् हैं; हमारी वाणीके भीतर बैठकर कौन **बोल रहा है?** बोल रहा है वह योग है और जो वाणी बोल रही है यह भगवान्‌की विभूति है। यह वाणी योग है—**शब्द विभूति** है। **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** मैं सबका प्रभव हूँ। एक होता है प्रभव और एक होता है प्रभाव। प्रभव योग है और प्रभाव विभूति। भगवान्ने पहले ही बताया कि दूसरे लोग नहीं जानते—मैं ही जानता हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

मैं सम्पूर्ण देवताओंका, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सबकी आदि मैं हूँ। और सम्पूर्ण ऋषियोंकी आदि मैं हूँ। परन्तु ये लोग मुझे जानते नहीं। आँख देखनेवालेको नहीं देख सकती। दूरबीन दूसरेको देखनेके लिए होती है, अपनी आँख देखनेके लिए थोड़े ही होती है?

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

किसी भी देवता या ऋषिको मेरे प्रभव, मेरी उत्पत्तिका पता नहीं है। उत्पत्ति हो तब न! मेरी उत्पत्ति नहीं है। फिर तो सब अज्ञान ही होगा क्यों?

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

भगवान्‌का जो जन्म है, उसको न कोई देवता जानते और न कोई ऋषि जानते, क्योंकि देवता और ऋषि जब नहीं पैदा हुए थे, जब आँख थी ही नहीं तब मैं था, जब कान था ही नहीं तब मैं था, जब जीभ थी ही नहीं तब मैं था—ये पट्ठे क्या जानेंगे हमको! ये तो अभी तीन दिनके बच्चे हैं और मैं अनादि महावृद्ध, मुझसे बड़ा बूढ़ा दुनियामें और कोई नहीं। ये मुझे क्या जानेंगे! बोले महाराज, आप तो जानते हो? बोले अपनी उत्पत्ति हम भी नहीं जानते कि हमारा जन्म कब हुआ, कहाँ हुआ, कैसे हुआ? पर सबका जन्म मुझसे हुआ, यह मैं जानता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अहं सर्वस्य प्रभवः—यह तो योग और मत्तः सर्वं प्रवर्तते—यह है विभूति, सबको चलानेवाला। बिजलीका विश्वमें व्यापक होना यह योग है और पावर हाउसमें प्रकट होना यह विभूति है। और पावर हाउसमें बिजलीका होना योग है—बल्ब और पंखेमें, हीटरमें, रेफ्रिजरेटरमें प्रकट होना यह उसकी विभूति है। **अहं सर्वस्य प्रभवः**—**सर्वस्य**=जो कुछ गतिशील है उसका। सर्व शब्दका अर्थ गतिशील होता है। सृ धातुसे ही सर्व शब्द बना है—जो भी बदल रहा है दुनियामें, जो भी अनेक रूपमें दिखायी पड़ रहा है—जो भी परिवर्तनशील है, जो भी ज्ञानका विषय है—सबका प्रभव-सत्ता, मूलसत्ता, सर्वोपरि सत्ता मैं हूँ और सबका प्रेरक भी मैं हूँ।

इति मत्वा बुधा भवन्ति। जब इस बातको जान लेते है तब वे ज्ञानी हो जाते हैं। और **बुधा इति मत्वा मां भजन्ते।** जो ज्ञानी पुरुष हैं वे ये बात जानकर मेरा भजन करते हैं। और **इति मत्वा बुधा भवन्ति।** जो ऐसा हमको जान लेते हैं वे ज्ञानी हो जाते हैं। ज्ञानीका लक्षण क्या है? उनकी पहचान है—**माँ भजन्ते**—जहाँ देखते

हैं—ज्ञानी पुरुषको, नजर ही भगवान्‌पर होती है—आप ऐसे समझ सकते हैं। यहाँ सब स्त्री बैठी हैं। लेकिन यदि आपकी बेटी यहाँ बैठी हो तो आप उसको स्त्री नहीं समझेंगे। बेटी समझेंगे। माँको स्त्री नहीं समझेंगे। उसमें आपका भाव, आपका संस्कार जुड़ गया। उसमें स्त्रीत्व मात्र ही नहीं है। उसमें पुत्रित्व है, उसमें मातृत्व है, उसमें पत्नीत्व है। वह कहाँसे आगया? आपके हृदयमें-से ही निकलकर गया। स्त्रीत्व तो ईश्वरसे और मातृत्व, पत्नीत्व, पुत्रित्व गया है आपके हृदयमें-से। तो चीज जुड़ गयी और आप जब देखेंगे अपने हृदयका भाव, आप स्त्रीको नहीं देखेंगे।

यह जो बुध है, इसके विषयमें कुछ समझना है—बुध माने संसारके संस्कारसे मुक्त बुद्धिवाले बुध है—ज्यों-की-त्यों बुध है। बुध सोमका पुत्र है; अत: बुधमें सोमका सोमत्व—अमृत आगया और आनन्दका पुत्र जो बुध है, वह केवल ज्ञानका पुत्र नहीं है—आनन्दका पुत्र है। हम सच्चिदानन्दके पुत्र हैं। हमारा जीवन सत्‌का पुत्र है। हमारा ज्ञान चित्‌का पुत्र है। हमारा रस आनन्दका पुत्र है। हम सच्चिदानन्दके पुत्र हैं और आत्मा वै पुत्र नामासि। हम सच्चिदानन्द हैं। भजन्ते भावसमन्विताः। भाव वह है जो आनन्दसे भरपूर है, जिसके जन्म-मरणका कोई भय नहीं है। और भावसे भगवान्‌में जुड़ गया।

गीताका यह प्रसङ्ग बड़ा आनन्ददायक है। अब यह है कि यहाँ बैठकर व्यापारकी बात सोचोगे तब तो आनन्द नहीं आयेगा। उसको थोड़ी देर आफिसमें छोड़ दो। संसारके भोगमें क्या सुख होगा? बच्चे जब खेलमें लग जाते हैं तो उनको माँ-बाप भी भूल जाते हैं। आओ, भगवान्‌में लगो। 'रमन्ति' रम गये।

इसको व्याकरणके जो पण्डित हैं वे कहते हैं 'रमन्ति' नहीं बनता है। 'रमन्ते' होता है। आत्मनेपदी धातु है। भगवान्‌ने अपशब्द भाषण किया। 'रमन्ति' क्यों कहा? तो तुरन्त काशीका पण्डित बदल देता है। तुष्यन्ति च रमन्ति च। चरमन्ति-चरमाम् अवस्थाम् अनुभवन्ति—बस-बस, इसके आगे—आगे और कुछ नहीं—चरम अवस्थाका अनुभव। 'च' बादमें भी है। दो 'च' होना भी ठीक नहीं है। और 'रमन्ति' भी ठीक नहीं है। एक पण्डितने कह दिया 'गौरीशंकराभ्या नौमि'—अशुद्ध हो गया गौरीशंकराभ्याम् नमः होना चाहिए बोले—अशुद्ध नहीं है शुद्ध है—'गौरीशं कराभ्या नौमि'—शुद्ध हो गया। ऐसे पण्डित लोग करते हैं 'चरमन्ति च'। आओ रम जाओ।

सन्तोषका अनुभव करो, दुनिया नहीं चाहिए और रम जाओ इस परमात्मामें रमनेका उपाय क्या है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।

एक बार आओ, भगवान्‌के इस अमृतमय समुद्रमें, इस ज्ञानकी गङ्गामें, हृदयके आनन्दके फुहारेमें—एक बार स्नान करो।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

(15-11-80)

सबके पिता हैं परमेश्वर, स्वामी हैं परमेश्वर और गुरु हैं परमेश्वर—जैसे पितासे पुत्र होता है और पिता पुत्रकी शिक्षाकी व्यवस्था करता है, और उसपर नियन्त्रण भी रखता है कि यह ठीक-ठीक चले। वैसे इस सम्पूर्ण विश्वका, जीवका, जगत्का पिता है परमेश्वर, शिक्षक है, गुरु है परमेश्वर और शास्ता, अन्तर्यामी है परमेश्वर। जो जीव परमेश्वर-भजन, उसकी सेवा नहीं करता है वह अपने स्थानसे च्युत हो जाता है। भगवान्ने जो मनुष्यका शरीर दिया है— जो स्थान दिया है, वहाँसे उसको नीचे जाना पड़ता है।

य एषां पुरुषं साक्षाद् आत्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

(भागवत 11.5.3)

लोग कहते हैं—परिवारमें एकता रहनी चाहिए, परिवार सङ्गठित रहता है, धनवान रहता है। फिर लोग कहते हैं गाँव सङ्गठित रहना चाहिए। प्रान्त, जिला, सङ्गठित रहना चाहिए। एक आचार्यको माननेवाले राष्ट्र नहीं, विश्व मात्र मानवता सङ्गठित रहनी चाहिए। एकताका बड़ा महत्त्व है। पर उस एकताका आधार क्या है? प्रान्त, राष्ट्र भौगोलिक हैं। आचार्यका आधार साम्प्रदायिक है। राष्ट्रीयता दूसरे राष्ट्रका विरोध करती है। एक ईश्वर ही ऐसी वस्तु है जो हम लोगोंका अन्तर्यामी, स्वामी, शिक्षक, पिता है; हम सब एक पिताकी सन्तान हैं। यह संघठनका सबसे बड़ा आधार है। अपनी पिताकी सेवाके लिए, पतिकी सेवाके लिए, गुरुकी सेवाके लिए ईश्वरकी सेवा आवश्यक है और ईश्वरको पहचानते हैं, वे **बुधा भावसमन्विताः।**

भाव शब्दका अर्थ आप समझते तो हैं ही पर भावकी आवश्यकता तब पड़ती है जब दीखता हो कुछ और उसमें भावना की जाय कुछ—जैसे शालिग्रामकी शिला है। वैज्ञानिक रीतिसे आप उसकी परीक्षा करेंगे, तो वह भी एक खास तरहका पत्थर ही निकलेगा। परन्तु उसमें भाव किया जाता है कि यह साक्षात् विष्णु है। पति, गुरु, पिता भी मनुष्य दिखते हैं—और उसमें भाव किया है परमेश्वरका। जब आप यहे जाँच करने जायेंगे कि यह परमेश्वर है कि नहीं तो कुछ हाथ नहीं लगेगा—ठन-ठन गोपाल। लेकिन हमारे हृदयमें ईश्वरका भाव है। जिस हृदयमें ईश्वरका भाव है उस हृदयका अत्यन्त उत्तम कोटिका निर्माण होता है; शालिग्रामकी शिला ईश्वर हो तो या न हो, चतुर्भुज मूर्ति ईश्वर हो या न हो, पति, गुरु ईश्वर हो या न हो। जिसके हृदयमें ईश्वरका भाव होगा वह भाव ही ईश्वरका निर्माण कर लेगा।

यह बात समझनी है कि कोई वस्तु ज्यों-की-त्यों दिखेगी तो भाव बनानेकी क्या जरूरत है? वह तो आँख ही देख रही है। आँखसे दीख रहा है, दूसरी तरहका और हमारा हृदय बन रहा है—उत्तम-से-उत्तम सर्वोत्तम। यह अध्यात्म-विद्या, हृदयके निर्माणकी विद्या है, वस्तुके निर्माणकी विद्या नहीं है। आप लोहा

बनाइये, आप कपड़ा बनाइये, आप सीमेंट बनाइये, जो मौज हो सो बनाइये। बाहरकी चीजोंको बनाना दूसरा है और अपने हृदयको बनाना दूसरा है।

यह जो हमारी आत्म-विद्या है, यह हृदयको बनानेकी विद्या है—वस्तुओंको बनानेकी नहीं। इसलिए विद्वान् पुरुष अपने हृदयमें भाव करते हैं। दीख रहा है पीपलका पेड़ और हम भाव करते हैं कि यह साक्षात् वासुदेव हैं। पीपल तो पीपल ही रहेगा और हमारा हृदय वासुदेवाकार हो जायेगा। हम अपने हृदयमें भगवान्‌का दर्शन कर सकते हैं। यही भाव जब याद होता है तब\हृदयमें परमात्माका दर्शन होता है। इस भावका व्याख्यान दें—इसे विस्तार कर सुनावें।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (10.9-11)

शीशेमें जो आप अपनेको देखते हैं वह आपका स्वरूप नहीं है। **यो यत्श्रद्धः स एव सः।** आपकी श्रद्धा किसपर है? आपका प्रेम किसपर है? आप किसकी याद करके तन्मय हो जाते हैं? आपका स्वरूप वही है।

मुखड़ा क्या देखे दरपनमें तेरे दया धरम ना मनमें।

एक गुप्त रहस्य आपको सुनाता हूँ—वह यह है कि आपके मनमें क्या है? यदि आपका मन सूअरका ही चिन्तन कर रहा है तो मन शूकराकार हो गया है और आपका मन ही जब शूकर हो गया तो आपका बाहर जो वेश है, भूषा है, उसकी क्या कीमत है? सबसे बड़ी बात है अपने हृदयको बनाना। अपने हृदयका निर्माण। और हृदयका निर्माण करनेके लिए भावकी आवश्यकता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

गीतामें चित्तकी व्याख्या है। वैसे एक सन्तने हमको गीतापर दो टीका दी थी। एकका नाम था 'स्वयंविमर्श' और एकका नाम था 'स्वप्रकाश टीका'। अपनेको कहीं फिर बादमें देखनेको नहीं मिली। स्वयं विमर्शका अर्थ है कि गीताके शब्दका अर्थ ढूँढ़ो। उसमे ढूँढ़-ढूँढ़कर बताया गया। 'मच्चित्ताः' चित्त किसको कहते है? गीतामें ढूँढ़ते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ (12.8-9)

भगवान्ने कहाकि मुझमें अपना मन रख दो और मुझे अपनी बुद्धि दे दो। और फिर बादमें कहा कि 'अगर तुम अपना चित्त मुझमें समाहित नहीं कर सकते तो'—इसका अर्थ हुआ कि मनका प्यारऔर बुद्धिका विचार, दोनों जब भगवान्में लगेगा तब हम यह कहेंगे कि हमारा चित्त भगवान्में लग गया। 'मच्चित्ता'में जो चित्त शब्द है उसकी व्याख्या बारहवें अध्याय में मिल गयी। चित्त माने प्यार भी भगवान्से और विचार भी भगवान्का। थोड़ी देरके लिए हम आपको कुरुक्षेत्रके युद्धसे हटाके दूसरी ओर ले चलते हैं।

श्रीकृष्ण-अर्जुनका संवाद है। वैसे भागवतमें तो यह शैली अपनायी गयी है कि भीष्म पितामह शरशय्यापर सो रहे हैं और उनका मन है श्रीकृष्णकी रासलीलामें (दे०भा०1.9.32-42) शरशय्यापर पड़े-पड़े भीष्म सोच रहे हैं—क्या ललित-ललित चाल है! क्या विलासपूर्ण चेष्टा है! क्या मधुर मुसकान है! क्या प्रेम-पूर्ण चितवन है। गोपियोंके सामने आये और बोले पागल हो गयीं? ऐसी प्रेमान्ध हो गयीं गोपियाँ कि श्रीकृष्ण जैसी चेष्टा करते थे वे भी वैसी चेष्टा करने लगीं। वे भी चलने लगीं। वैसे ही बोलने लगीं। वैसे मुस्कराने लगीं। मनमें कृष्ण ऐसे भर गये कि इनका शरीर भी कृष्णके अनुकरणमें लग गया। वह गाँवकी गँवार थीं। लेकिन श्रीकृष्ण हो गयीं। श्रीकृष्णकी जो प्रकृति थी वही प्रकृति गोपियोंकी हो गयी।

शरशय्यापर पड़े हुए भीष्म गोपियोंकी तन्मयताका स्मरण कर रहे हैं। उस समय भीष्म क्या हैं? उस समय भीष्म कृष्ण हैं। उस समय भीष्म गोपी हैं? मन ही सब कुछ है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। बन्धनका कारण मन है। मुक्तिका कारण मन है। जिसके मनमें जो भरा है,वह वही है। बाहरके खोलका महत्त्व नहीं है। सारा महत्त्व है मनका। उसीमें सुख है, उसीमें दुःख है। उसीमें प्रेम है, उसीमें द्वेष है। बाहरकी बातें आपके मनको कितना प्रभावित कर लेती हैं, इसपर ध्यान दें। हम 'मच्चित्ताः' की बात करते हैं—भागवतमें शुकदेवजीने गोपियोंका वर्णन किया। आप लोग सुन तो रहे हैं—गीता, पर अब मैं सुनाने लगा हूँ भागवत। कभी-कभी स्वाद बदल जाना चाहिए। कभी करेलेका साग मिलता है खानेको तो कभी सेवका हलवा मिलता है। शुकदेवजीने गोपियोंका वर्णन किया—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ (10.30.44)

गोपियोंका मन हो गया कृष्ण; गोपियोंकी वाणी हो गयी कृष्ण; गोपियोंकी चेष्टा हो गयी कृष्ण; गोपियोंकी आत्मा हो गयी कृष्ण; कृष्णका गुम गाते-गाते अपने शरीरको भूल गयीं, अपने घरको भूल गयीं। उनका मन कृष्णाकार हो गया। शुकदेवजीने गोपीका वर्णन ऐसा किया।

गोपियोंके मनमें कृष्ण है, प्राणमें कृष्ण है, कृष्णके लिए उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है। और अपने मनसे कृष्णके पास आगया है और अपने आत्माके रूपमें कृष्णका अनुभव करती हैं। इसीको बोलते हैं 'गोपी'। 'गो' माने इन्द्रियाँ और 'प' माने होता है, पीनेवाला। इन्द्रियोंसे जो भगवद्रसका पान करके बोलते हैं गोप—**गोभिः पिबन्ति इति गोपाः तेषां पत्न्यः गोप्यः**। योगी ध्यानमें ईश्वरका आनन्द लेते हैं और ब्रजवासी इन्द्रियोंमें ईश्वरका आनन्द लेते हैं। गोकुल माने सब इन्द्रियोंसे—कानसे कृष्णको सुनें, त्वचासे कृष्णको छूएँ,

आँखसे कृष्णको देखें, नाकसे कृष्णको सूँघें, जीभसे कृष्णको चाटें—हृदयसे श्रीकृष्णका आलिंगन करें। ब्रजवासियोंकी समग्र इन्द्रियाँ, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ श्रीकृष्णमें लग गयी हैं।

मच्चित्ताः—गोपी देखती है हरिणीको—तो उसका ध्यान होता है, इसको ये बड़ी-बड़ी आँखें, कृष्णको देखनेके लिए हैं। वे देखती हैं गायको प्रसन्न—श्रीकृष्णका स्मरण करके प्रसन्न हो रही हैं। वे देखती हैं धरतीपर दूर्वा—श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे यह रोमाञ्च हो रहा है। वे देखती हैं वृक्ष और स्मरण करती हैं कृष्णको जो वृक्षके नीचे लटक रहा है। इससे मधुधाराका क्षरण हो रहा है। यह कमल खिल रहा है—कमलनयन-कमलनयन-कमलनयन। कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण! मच्चित्ता मद्गतप्राणाः—यह एक सृष्टि ही दूसरी है! यह भक्तकी सृष्टि है। यह कमाईका सुख नहीं है। यह संग्रहका सुख नहीं है। यह भोगका सुख नहीं है। यह अपने बड़प्पनका सुख नहीं है। यह अपने भावका सुख है। एक बार अपने भावमें मग्न हो जायँ। गोपी देखती हैं गिरिराजमें झरना बह रहा है। बोले—श्रीकृष्णका पाँव पखारनेके लिए देखती हैं—यहाँ खड़िया मिट्टी है कि गेरू है— तो श्रीकृष्ण जब नटका वेष बनाते हैं, तो यह है उनका शरीर रँगनेके लिए। फूल खिले हैं। वे उनके शृङ्गारके लिए हैं। ये मणि हैं—उनके शृङ्गारके लिए। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको देखकर गोपीका मन कृष्णकी ओर न जाता हो।

जब वह जमुनाका तट देखती हैं—मन वही हो जाता है। आपको न आता हो तो हम कहते हैं कभी-कभी आप पिकनिक भी तो करते हैं न! आप अपने घरमें रहिये—अपने ढंगका खाइये, पीजिये, मौज कीजिये, पर कहीं कभी जंगलमें भी हो आइये। कभी पहाड़में भी हो आइये। कभी अपने मनको भी पिकनिक करा दीजिये। ले चलिये 'मन वे जात अजौं...वा जमुनाके तीर'—अपने मनको वर्तमान शृङ्खलाओंसे—वर्तमानमें जो जँजीरें हैं, उनसे थोड़ी देरके लिए निकालिये। गोपीका मन कैसा है? श्रीकृष्णको हृदयसे निकाल देनेके लिए योग कर रही है गोपी। योगी लोग चाहते हैं कि हमारा मन भगवान्‌में लग जाय और योगाभ्यास करते हैं; गोपी योगाभ्यास करती है—घरका काम नहीं हुआ—इस कारे कृष्णको अपने मनसे निकाल दें। आओ प्राणायाम करके निकाल दें। मयूरकी पाँख कहीं पड़ी हुई मिल गयी—शरीर काँप गया। घूमचीका दाना कहीं दिख गया, आँखोंसे आँसू बहने लगे। यह क्या चमत्कार है? यह चमत्कार है कि हमारा चित्त कृष्णमय हो गया।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

मत्प्राणाः—गोपियोंका प्राण कहाँ है? उनका जीवन क्या है। गाँधीजीसे किसीने कहा—मरनेका समय आरहा है, रामका नाम ज्यादा लो। गाँधीजीने कहा राम-नाम तो हमारी खुराक है। उसके बिना तो मैं जी नहीं सकता। राम-रांम तो हमारी साँसमें भरा है। हमारा प्राण है। जैसे भोजनके बिना मनुष्य नहीं रह सकता, वैसे राम-नामके बिना मैं नहीं रह सकता। गोपी कहती है—देखो तो सही, हमारा प्राण तो तुममें रहता है, तुम्हीं हमारे जीवन-सर्वस्व हो, गोपी बोलती है—तुम्ही हमारी आयु हो— तुम्ही हमारे जीवन हो—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये। (10.29.34)

तुमने हमारा मन चुरा लिया, लूट लिया और आसानीसे लूट लिया। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। नूपुर बजाकर लूट लिया। बाँसुरी बजाकर लूट लिया। अपना सौन्दर्य दिखाकर लूट लिया। अपनी सुगन्धसे लूट लिया, तुमने हमारा मन।

कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण नाम सुना—'कृष्ण नाम जब तें श्रवण सुन्यो री आली, भूलीरी भवन हौं तो बाबरी भई री।' रोज गीता सुनते हो—यह गीता है **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः**। गोपी कहती है हम तुम्हें ढूँढ़ लेंगे। तुम हो हमारे प्राण! हमारा प्राण खो गया—साँस बाहर निकलती है और निकलकर फिर आती है। प्राणका नियम तो यही है। निकल जाये और लौटकर आवे नहीं तो मृत्यु हो गयी न! अरी गोपियों, तुम हमारे विरहमें भी इस प्रकार ढूँढ रही हो, बोल रही हो, रो रही हो, हमसे अपना प्राण तुम्हारे पास तुम्हारे शरीरमें रख दिया है, अब मौत आती है ढूँढ़ने, विरहिणीको—इस विरहिणीको मार डालें। हमारे शरीरमें ढूँढ़कर देखती है मौत—प्राण तो मिलता ही नहीं। क्योंकि इस शरीरमें हो तो मौत निकालकर ले जाय। इस शरीरमें तो हमारे प्राण हैं ही नहीं। तुम्हारे शरीरमें हमारे प्राण रखे हुए हैं और हम तुम्हें वन-वनमें ढूँढ़ें—

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते। (भाग० 10.31.1)

हमारी आँख हमारी आँख नहीं है। तुम्हारी आँख है। हमारा मन हमारा मन नहीं है—तुम्हारा मन है। जैसे अपने प्राण अपनेको प्रिय होते हैं। ऐसे जब तुम रातमें घूमते हो—हम तुम्हें अपने हाथसे छूती हैं तब डर लगता है कि हमारी कठोर उँगली तुम्हारे शरीरमें गड़ न जाय! गुलाबकी पंखड़ी तुम्हारे सुकुमार शरीरमें लगकर कष्ट न पहुँचावे और तुम काँटेपर घूम रहे हो? कंकड़पर घूम रहे हो? हमारा माथा चकरा रहा है; क्योंकि हमारी आयु, हमारे प्राण हमारे सर्वस्व तुम हो!

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

जब चार भक्त बैठते हैं तो एक वक्ता बन जाता है, बाकी श्रोता बन जाते हैं—आप चार मित्र कभी बिना कामके भी मिलकर बैठते हैं तो क्या बात करते हैं? मौसमकी बात करते हैं। रशियाकी बात करते हैं, अमेरिकाकी बात करते हैं, चाइनाकी बात करते हैं। आपको यह नहीं लगता कि हम बेकार बोल रहे हैं? कभी आपके मनमें यह बात नहीं आती कि न तो हम चाइनापर आक्रमण करने जा रहे हैं, न तो रशियाकी शासन-पद्धति अपने देशमें चलाने जा रहे हैं। और न अमेरिकाके राष्ट्रपति होने जा रहे हैं। किस बातकी चर्चा? किस बातकी चर्चा करते हैं आप? एक दूसरेसे ऐसी चर्चा कीजिये कि उसका हृदय भी पवित्र हो, आपका हृदय भी पवित्र हो।

आप अपने कपड़ेका ख्याल रखते हैं कि कोई दाग न पड़े। देखा है—एकके कपड़ेपर एक बूँद चाय गिर पड़ी, मेरे सामने। हमको पता नहीं वे श्रीमतीजी यहाँ है कि नहीं? वे बोलीं कि दस रुपये हमारे खराब हुए। आप इस सभामें अपने कपड़ेका तो इतना ध्यान रखते हैं और शरीरपर कितना साबुन, कितना स्नो, कितना पाउडर लगाते हैं। एक जगह गया था वहाँ शरीरको दिव्य बनाया जाता था। मैंने देखा—पूछा कि आपके

शरीरपर महीनेमें कितना साबुन खर्च होता है? जो साबुन लगाते हैं, उसीमें रंग होता है। उसीमें चिकनाई होती है। उससे सारा-का-सारा शरीर रंग जाता है। आप शरीरके लिए कितना समय, कितना श्रम, कितनी बुद्धि खर्च करते हैं, पैसेकी बात जाने दें। उसमें क्या रखा है? पैसा तो जहाँसे आता है वहीं जाता है। कोई हीरा-मोती लेकर आजतक न गया है, न आया है। धरतीमें ज्यों-के-त्यों रहता है—'मेरा-मेरा' मानते हैं चले जाते हैं। शरीरको अच्छा बनानेके लिए आप ध्यान देते हैं न! ध्यान रखना चाहिए। हम मना नहीं करते हैं।

आप अपने मनको अच्छा बनानेके लिए कितना ध्यान रखते हैं? आपका शरीर आप अच्छा रखिये। आपका कपड़ा आप अच्छा रखिये। पर आपके जीवनमें मन भी तो एक चीज है। और वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अच्छे कमरेमें अच्छे पलङ्गपर सो रहे हों—रातको नींद टूटे और आपका मन बिगड़ जाय—सब कुछ बिगड़ जायगा। न कमरा अच्छा लगेगा, न पलङ्ग अच्छा लगेगा, न कपड़ा अच्छा लगेगा।

आपको सच्ची बात सुनाते हैं—एक लड़कीके शरीरपर हीरे फिट करनेके लिए कि कौन-सा आभूषण उसको ठीक बैठेगा, अमेरिकासे उसका जानकार बुलाया गया था मुम्बईमें। उसके बाल ठीक करनेके लिए लन्दनसे बाल ठीक करनेवाला बुलाया गया था। यह मैं कल्पनाकी बात नहीं कर रहा हूँ। बनाया हुआ बाल मैंने हाथ लगाकर देखा। मैंने कहा—भाई, नाईके आने-जानेमें दस हजार खर्च हुए हैं लन्दनसे, तो उसने बाल कैसा बनाया है वह मैं देखूँ तो सही! मैंने उस लड़कीको बुलाकर उसके सिरपर हाथ रखकर देखा कि उसका बाल कैसा बना है? शरीरका इतना ख्याल और आपका जो रत्न है, रत्नोंका रत्न है, हीरोंका हीरा है आपका मन, उसका ख्याल नहीं?

चार दीवाने इकट्ठे हुए। भगवान्‌की चर्चा चलने लगी। वे सुनते हैं, एक बोलते हैं। वे बोलते हैं, एक सुनते हैं। गोपियाँ इकट्ठी होती थीं—क्या बढ़िया, दो तीन जगह। गोपियाँ जो परस्पर बात करती हैं—उसकी चर्चा श्रीमद्भागवतमें है।

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रूरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥

(भाग. 10.35.2)

बायें भागकी ओर उनका कपोल लटकता है। बाँहें फड़कती हैं। अधरोंपर बाँसुरी रहती है। हाथ बाँसुरीके छेदपर चलते हैं। उसमें-से स्वरलहरी निकलती है—तो ऐसे लगता है कि सम्पूर्ण विश्वका आलिङ्गन करते हैं। अपने हृदयसे सम्पूर्ण विश्वको लगा लेते हैं। भागवतमें दशम स्कन्धमें ऐसे प्रसंग बहुत हैं, जहाँ चार गोपियाँ इकट्ठी होकर कृष्णके विषयमें बात करती हैं। जैसे—गोपियाँ वीणा लेकर बैठ गयीं और उसपर श्रीकृष्णकी माधुरी, उनकी चातुरी, उनकी निपुणता, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनकी अनुग्रह-भरी भौंहें, उनकी वह मन्द-मन्द मुसकान देखती जाती हैं और वीणापर गाती जाती हैं। *'लखी जिन लालकी मुसकान'*—*'मनमोहन जाकी दृष्टि परत ताकी गति होत हैं*—और, *और न सुहात भवन, तन, असन, बसन, वन हीको धावत दौर-दौर मनमोहन जाकी दृष्टि परत।'*

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
..............कथयन्तश्च मां नित्यम्॥

भागवतमें लिखा है कि भगवत्प्राप्तिका यही साधन है। वक्ता मिल जाय तो भगवान्‌को सुनो और श्रोता मिल जाय तो भगवान्‌को सुनाओ और दोनों न मिलें तो स्वयं गुनगुनाओ—सिनेमाका गीत नहीं। *'ग्वालिनी प्रकट्यो पूरन नेहु। दधि भाजन सिर पे लिए कहति गोपालहिं लेहु।'* उसके सिरपर है दहीका मटका और बोल रही है कोई गोपाल ले लो। कोई गोपाल ले लो। कोई दही लेगा—दही लेगा भूल गयी। 'दधिको नाम बिसर गयी ग्वालिन'। कोई कृष्ण लेगा, कृष्ण, कोई गोपाल लेगा-गोपाल—ऐसा बोलने लगी। इस प्रकार श्रीकृष्णके चरित्रमें, रामके चरित्रमें, भगवान्‌के चरित्रमें अपने मनको डुबो दो।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

आप अपने सन्तोषको, होशको, सुखको दूसरोंके अधीन मत करो। आप अपने सुखका, सन्तोषका, ऐसा साधन रखो जो आपके अधीन हो। यही सुखकी परिभाषा है। हम सुख चाहते हैं। किसके लिए? सुख हम चाहते हैं सुखके लिए। एक बार पत्र-पत्रिकाओंमें एक चर्चा चली थी, कला, कलाके लिए। कला, कलाके लिए नहीं होती—कला सुखके लिए होती है। धन सुखके लिए होता है। परिवार सुखके लिए होता है। जगह-जायदाद सुखके लिए होती है। परन्तु सुख किसके लिए होता है। सुख धन पानेके लिए नहीं होता, धन सुख पानेके लिए होता है। सुख पाकर हम किसी और चीजको पाना नहीं चाहते हैं और चीज जब पाते हैं तब वह सुखके लिए पाते हैं। इसलिए दूसरी वस्तुकी इच्छाके अधीन सुखकी इच्छा नहीं है। बल्कि सुखकी इच्छाके अधीन दूसरी इच्छाएँ हैं।

दोष देखकर प्रेम घटता नहीं। गुण देखकर प्रेम बढ़ता नहीं। प्रेम गुणके अधीन नहीं है। दोष प्रेमको काट नहीं सकता। और गुण प्रेमको बढ़ा नहीं सकता। दूर जानेसे न प्रेम घटता है, न बढ़ता है। देर होनेसे न प्रेम घटता है, न बढ़ता है और पराया हो जानेपर भी न प्रेम घटता है, न बढ़ता है। तुम उन ही-के रहो। यह जो स्वाधीन, स्वावलम्बन, स्वातन्त्र्य, परमसुख परमात्माके चिन्तनमें—परमात्माके ध्यानमें होता है, उसमें कोई पराधीनता नहीं। इसमें कुरसीकी जरूरत नहीं, पदकी जरूरत नहीं, धनकी जरूरत नहीं। अपने स्वयंमें अपने प्रेममें मगन हैं।

तुष्यन्ति च रमन्ति च। आपका आनन्द कहाँ है? आपका सुख कहाँ है? पहले हमारी नानी कहानी सुनाया करती थी—एक दैत्य था उसकी जान तोतेमें रखी हुई थी। वह दैत्य मरता नहीं था। जब पता लग गया कि उसकी जान कहाँ है—तोता मारा गया, तब दैत्य मरा। आपका सुख कहाँ है? आपने तो अपना सुख ही दूसरेके घरमें रख दिया। चाँदीमें रख दिया। सोनामें रख दिया। नोटके बण्डलमें रख दिया। आओ, भगवान्‌में रखकर देखो तो—'तुष्यन्ति'। भगवान्‌का स्मरण आवे और आनन्द आ जावे। शरीरमें रोमाञ्च हो रहा है। भक्तिसे मन आनन्दित हो रहा है। आँखमें प्रेमके आँसू आरहे हैं। कण्ठ गद्‌गद हो रहा है। हृदय आनन्दसे भर

रहा है। हमको तो एक क्षणका भी अवसर नहीं है कि हम किसीसे मिलें कि हम किसीसे जुलें कि किसीसे बात करें। कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण!

चलो तुम्हें मुक्तिके पास ले चलें। बोले, हमको फुरसत नहीं है। हमको मुक्तिमें जानेकी फुरसत नहीं है। हमें तो यहीं मुक्तिका परमानन्द मिल रहा है। यह जो भक्ति और वेदान्त है, यह मरनेके बादकी चीज नहीं है। इस विषयमें लोगोंको भ्रम है। यह तो मौलवी, पादरी, पुरोहित जो मजहबी मुल्ला लोग होते हैं—उन लोगोंने यह बताया कि मरनेके बाद स्वर्ग, बहिश्त मिलता है। हमारा कोई आध्यात्मिक गुरु मरनेके बादकी चर्चा नहीं करते हैं। यहीं लो, जीवन-मुक्ति। भक्ति तृप्त आनन्द है—तृप्त माने इसी जीवनके आनन्दका नाम भक्ति है। इसी जीवनके आनन्दका नाम ज्ञान है। परन्तु ऐसा आनन्द जिसमें पराधीनता बिलकुल नहीं—जिसमें समयकी जरूरत नहीं, स्थानकी जरूरत नहीं, वस्तुकी जरूरत नहीं, किसीके अनुग्रहकी जरूरत नहीं—यह तो साक्षात् आनन्द है। **तुष्यन्ति च रमन्ति च।** इसीमें रम जाते हैं। इसीमें सन्तोषका अनुभव करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषां सततयुक्तानां—मनकी वीणा बजाओ। यह बात सबको मालूम न हो। 'तत्' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ होता है—वीणा, ताना-बाना जैसे कपड़ेमें होता है—तार-तन्त्री, तत् उसी धातुसे बनता है जिस धातुसे तन्त्री शब्द बनता है। 'सततम्' माने 'ततेन संहितम्' वीणासहित। उठाओ वीणा। मनकी वीणापर हृत्तन्त्रीके तार बज रहे हैं—उसमें कौन-सा स्वर बोल रहा है? उसमें सारा स्वर कृष्णका स्वर है। उनकी बाँसुरीसे मिलकर बोल रहा है। हमारी वीणा, कृष्णकी वंशीके साथ मिलकर बज रही है। देखो-देखो बादल ठिठक गये। तुम्बरु गन्धर्व सी-सी करने लगे। सनन्दन-सनकादिका ध्यान टूट गया। ब्रह्मा आश्चर्य चकित हो गये कि हो क्या रहा है। यह बज रही है श्रीकृष्णकी बाँसुरी और उसमें मिल रही है हमारी हृदय-वीणा। हमारी हृदय तन्त्रीके तार मिल रहे हैं उसके साथ। क्या आनन्द है, आनन्द ही आनन्द है!

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीति चाहिए। बोलें तो शब्दोंमें थोड़ी-सी प्रीति भरदें। हाथसे छूयें तो हाथमें थोड़ी प्रीति भर दें। आपके हृदयकी प्रीति ऋटेगी नहीं। कम नहीं होगी। कुएँ जैसे जितना पानी निकालोगे, उतना ही नीचेसे और आता जायगा और भी पवित्र। देख-देखकर प्रीति मत दो। जो सामने आजाय, पेड़-पौधेको भी प्रीति दो। कुत्ते बिल्लीको भी प्रीति दो। धर्मात्मा लोगोंको छोड़ दो—वे कुत्ता नहीं छूते, कोई बात नहीं। प्रीति देनेमें छूनेकी भी क्या जरूरत है? पशु-पक्षीको भी प्रीति दो—पेड़-पौधेको भी प्रीति दो। जो तुम्हारे सामने आजाय, तुम्हारी आँखोंमें-से प्रेम बरस पड़े। जिसको तुम छूओ वह आनन्दसे भर जावे। जिसकी ओर देखो, अपने हृदयकी प्रीति उसके ऊपर उँडेल दो। कञ्जूस बनाकर तुम्हें नहीं भेजा गया है। तुम्हें हृदय दिया गया है। तुम्हारे हृदयमें सद्भाव दिया गया है। सब परमात्माका स्वरूप है। सूर्य परमात्मा है। चन्द्रमा परमात्मा है। ग्रह नक्षत्र, तारे, परमात्मा हैं। ये वृक्ष-लता परमात्मा हैं। ये स्त्री, पुरुष परमात्मा हैं।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

अपने हृदयको, अपने नेत्रको, अपने इन्द्रियको खूब पवित्रसे पवित्रतम् रसमय, मधुमय, लास्यमय बना दो। प्रेम करने लगें तो महाराज, जिन्दगी भर बेवकूफ ही रहेंगे? बोलते हैं—नहीं भाई, तुम करो प्रेम, मैं देता हूँ बुद्धि, बँटवारा कर लो। भगवान्ने कह दिया—

भजतां प्रीतिपूर्वकम् ददामि बुद्धियोगम्।

प्रेम तुम्हारा, बुद्धि मेरी। आओ, हो गया दोनोंका योग। जब तुम मुझसे प्रेम करोगे तो तुम्हारे लिए और सारी दुनियाके लिए बुद्धिकी जितनी जरूरत पड़ेगी, वह मेरा खजाना खुला है, लो हमसे बुद्धि—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

महाराज, कैसी बुद्धि देंगे? भोग करनेकी बुद्धि देंगे, संग्रह करनेकी बुद्धि देंगे—कर्म करनेकी बुद्धि देंगे? कौन-सी बुद्धि देंगे? देखो, मैं वह बुद्धि दूँगा—

ददामि बुद्धियोगं तं येन बुद्धियोगेन माम् उपयान्ति।

मेरे अधिक-से-अधिक निकट तुम आजाओगे। मन्त्रीकी निकटता और सेठोंकी निकटता प्राप्त करनेके लिए कितनी चापलूसी करनी पड़ती होगी और सेठ लोग तो चापलूसीसे खुश भी हो जायँ, मिनिस्टर लोग तो आजकल चापलूसीसे खुश नहीं होते हैं। उनको कलदार चाहिए। कौन-सी बुद्धि दोगे? बोलो तो? बोले—येन मामुपयान्ति—जिससे मेरे निकट आजाओगे। आना चाहते हैं मेरे पास! तो मेरे पास आनेकी बुद्धि मैं दूँगा। 'कदम्ब तरे आजइयो'—यह तो ब्रजकी भाषा है। आप लोगोंको शायद अच्छी न लगे। भगवान्ने कहा—तुम मुझसे मिलना चाहते हो तो उस कदम्ब वृक्षके नीचे आजाना। मैं वहाँ मिल जाऊँगा। यह बुद्धियोग है। कहाँ जानेसे भगवान् मिलते हैं? जरा बाहरकी जगह आँखमें आजाओ न! आँखकी जगह दिलमें आजाओ। दिलकी जगह चेतनमें आजाओ और चेतनको ब्रह्मसे एक कर लो।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।

मैं तुम्हारे रास्तेमें ऐसी मशाल लेकर खड़ा हो जाऊँगा—बुद्धि देनेवाला मैं, मशाल दिखाकर रास्ता बतानेवाला मैं, और मिलानेवाला मैं।

तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति

●

प्रवचन : 7

(16-11-80)

अम्ब त्वाम् अनुसन्दधामि। गीता माता—अम्ब—वर्णमयी। अम्ब शब्दका अर्थ है शब्दमयी-वर्णमयी, वाङ्मयी माँ,त्वाम् अनुसन्दधामि—तुम्हारा अनुसन्धान करती हूँ। माँका अनुसन्धान क्या है? जैसे बच्चा माँका दूध पीता है, वैसे गीता माँका जो दूध है—गोपालके द्वारा दुहा हुआ, अर्जुन बछड़ेने जिसका पान किया— यही माँका अनुसन्धान है। 'अविकम्प योग' विभूति योगकी जगह स्वयं भगवान्ने दसवें अध्यायको 'अविकम्प योग' नाम दिया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

ऐसा योग जो सुषुप्तिमें भी रहे। स्वप्नमें भी रहे, जगत्में भी रहे, समाधिमें भी रहे। ऐसा योग हो। पेड़-पौधा देखते समय भी रहे, पति-पत्नीमें प्रेम करनेके समय भी रहे; घरका काम करते समय भी रहे। बालकोंसे हँसते-खेलते भी रहे। इस अविकम्प योगकी विचित्रता यह है कि वह व्यवहारमें भी रहता है, और समाधिमें भी रहता है। अविकम्प योग वह है, जो शान्तिमें भी रहे और विक्षेपमें भी रहे। कभी विकम्पित न हो। एक सरीखा योग।

एक भक्त है, रोता है भगवान्के लिए। तब भी भगवान्से योग है, और हँसता है भगवान्को देखकर तब भी भगवान्से योग है, क्योंकि उसका चित्त भगवान्के साथ लगा हुआ है। भगवान् ज्ञान है, भगवान् प्रेम हैं। आप चाहे घड़ा देखो, चाहे कपड़ा, चाहे मेज देखो चाहे कुरसी—ज्ञान आपको छोड़कर कहीं गया? यह बात दूसरी है कि सूर्यकी रोशनी किस चीजपर पड़ रही है, पर सूर्यकी रोशनी तो रोशनी ही है। ज्ञान तो ज्ञान है। वह चाहे मेज-कुर्सी देखे, चाहे मन्दिरमें मूर्ति देखे। मूर्ति अलग है और कुर्सी-मेज अलग है, परन्तु ज्ञान तो वही है जो आपके भीतरसे, आँखके झरोखेसे झाँक रहा है।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे एक बार किसीने पूछा—महाराज, एक साथ कइयोंसे प्रेम हो सकता है? बोले कि माँ अपने बच्चेसे प्रेम करती है कि नहीं—अपने भाईसे, पितासे, पतिसे प्रेम करती है कि नहीं? सबसे सच्चा करती है कि झूठा-झूठा करती है। उसका पितासे भी सच्चा प्रेम है, भाईसे भी सच्चा प्रेम है, माँसे भी सच्चा प्रेम है, पतिसे भी सच्चा प्रेम है।

यह ज्ञान है, यह प्रेम है। और यह अपना जीवन है, यह तो सबके साथ जुड़ा हुआ है। आकाशसे जुड़ा हुआ ही वायुसे जुड़ता है। वायुसे जुड़ता हुआ ही तेजसे जुड़ता है। तेजसे जुड़ा हुआ ही जलसे जुड़ता है। जलसे जुड़ा हुआ ही पृथिवीसे जुड़ता है। जीवन एकाङ्गी नहीं होता है। न जीवन एकांगी होता है, न प्रेम एकाङ्गी होता है और न ज्ञान एकाङ्गी होता है। जीवन सबका हित करनेके लिए है। प्रेम सबको सुख पहुँचानेके लिए है। ज्ञान सबको प्रकाश देनेके लिए है। आपका ज्ञान सबको प्रकाशित करे। आपका प्रेम सबको सुख दे। आपका जीवन सबकी सेवा करे। सोये भी उसीके लिए, जागे भी उसीके लिए। जो सबके जन्मका कारण है, वह सबमें भरा हुआ है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अहं सर्वस्य प्रभवः में गायत्रीका पहला अंश है। **सवितुर्देवस्य**—सबका सृष्टि कर्त्ता वही प्रभु है। **अहं सर्वस्य प्रभवः**। प्रभवः माने सविता—'प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः', जिसमें सबका जन्म हुआ, सबकी उत्पत्ति हुई, जो सबका कारण है और **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**। गायत्रीका जो तीसरा पाद है **धियो यो नः प्रचोदयात्। मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** गायत्री ही तो हुई न! वेदान्ती लोग इसमें एक चीज और जोड़ देते हैं। वह क्या है? जो सारी सृष्टिका कर्त्ता है, कारण है, प्रभव है, उद्भव है वही बुद्धि-प्रेरकके रूपमें वह त्वं-पदार्थ है और समानाधिकरण्य होनेसे दोनों एक हैं। इसका अर्थ हो गया, जो परमात्मा है सो आत्मा है—जो आत्मा है सो परमात्मा है।

गायत्रीमें महावाक्य आगया—हमारी नाकसे बाहर आने-जानेवाली साँस वायुसे अलग कहाँ हैं? जो वायु है सो साँस है। जो साँस है सो वायु है। **अहं सर्वस्य प्रभवः**। भगवान् सबकी उत्पत्ति, स्थिति, गतिके हेतु हैं—वही सबके जीवनके मूल तत्त्व हैं। वही सम्पूर्ण ज्ञानके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। वही सबके अन्दर परमानन्द हैं। **इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः**। ज्ञानी पुरुष इस बातको समझते हैं। समझते हैं माने—खिलौना चाहे कुछ भी हो मशाला एक है। ज्ञान चाहे कुछ भी, किसी-किसीका भी हो, कुछ-कुछका भी हो, पर ज्ञान एक है।

रस एक है—वह चाहे राधा-कृष्णसे हो, चाहे सीतारामसे हो, रस एक है। ज्ञान एक है। तब फिर भूतने समझा, विद्वान्ने समझा कि सब कुछ वही है। अब वह जहाँ देखता है, वहीं उसका भाव लग गया। **भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः**। यह भी भगवान् है, वह भी भगवान् है। यह राजनैतिक नेताका जीवन नहीं है। यह महात्माका जीवन है। यह पार्टीबन्दीवाली बात नहीं है। पार्टी तो बहुत संकीर्ण होती है। यह सम्प्रदाय नहीं है, यह मजहब नहीं है। यह जाति नहीं है। यह लिङ्ग भेद नहीं है। यह भगवान् है। जो सब लिङ्गोमें है, सब जातियोंमें है, सब सम्प्रदायोंमें है, सब राष्ट्रोंमें है।

आप अपने मनको छोटा क्यों बनाते हैं? सबमें वही है तो 'भावसमन्विताः' का अर्थ हुआ—यह देखो श्याम, वह देखो श्याम। राजा परीक्षितके जीवनका भागवतमें वर्णन आया है कि गर्भमें उन्होंने

भगवान्का दर्शन किया था। तो वह ध्यान बना रहता था—जिसको देखत झट मनमें आता—कहीं वही तो नहीं है जो गर्भमें मुझे दर्शन दे गया—कहीं वही तो नहीं आ रहा है? परन्तु संशय भी होता तो भगवान्के लिए होता। कहीं यह रावण तो नहीं आरहा है, कहीं यह कंस तो नहीं आ रहा है—यह संशय नहीं होता। संशयमें भी भगवान् है।

भागवतमें आया **विकल्पः ख्यातिवादिनाम्** (11.16.24) जितने सत्ख्यातिवाले हैं उनमें आप कौन हैं? बोले—विकल्पः ख्यातिवादिनाम्—ऐसा भी मैं, वैसा भी मैं। यह भी मैं, वह भी मैं। यहाँ भी मैं, वहाँ भी मैं। जितने विकल्प आप बना सको सब मैं ही हूँ। जो कुछ जाहिर हो रहा है और तरह-तरहसे जाहिर किया जा रहा है उसमें एक ही भगवान् भरा हुआ है। विद्वान् वह जिसका भाव सममें है। गीतामें आया—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (5.18)

बुधा भावसमन्विताः बुधका भाव क्या है। स्वपाक, चाण्डाल, गाय, कुत्ता और हाथी कौन है? वही-वही परमेश्वर। भागवतमें इसको खोलकर बताया है। पण्डित कौन है? पण्डित वह है जिसको ब्राह्मणमें, कसाईमें, चोरमें, भक्तमें, सूर्यमें, चिनगारीमें, अक्रूरमें, क्रूरमें सर्वत्र सम भाव हो। 'भले बने हो लम्बक नाथ!' नामदेवका है—सबके रूपमें, 'जोजन भरि-भरि हाथ, क्या भूतका रूप धारण करके आये!' हम पहचानते हैं तुमको **मृत्युः सर्वहरश्चाहम्** (10.34) **अमृतं चैव मृत्युश्च** (9.19)।

जहाँतक दो वस्तु है, वहाँतक एक विज्ञानसे सब विज्ञानका जो पाण्डित्य है, वह आया नहीं। अब यह भाव आवे कहाँसे? बोले भाई थोड़ा तुम दिखाओ, थोड़ा हम दिखावेंगे। दोनो मिल-जुलकर देखें। जैसे आँख कहे मैं देखूँगा, सूर्य कहे मैं दिखाऊँगा—तो आँख न हो तो सूर्य किसको दिखायेगा? और सूर्य न हो तो आँख किसको देखेगी? आँख और सूर्य दोनोंने आपसमें सलाह कर ली। आओ हम लोग मिल-जुलकर दिखावें, देखें। आँख हो गयी अध्यात्म, सूर्य हो गया अधिदैव और दिखने वाली वस्तु हो गयी अधिभूत।

इन तीनोका जो साक्षी है, वह आत्मा है। वह सूर्यमें रहकर सूर्यसे विलक्षण है। वह रूपमें रहकर रूपसे विलक्षण है। वह आँखमें रहकर आँखसे विलक्षण है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थम्—यह देखो दया बरस रही है। **तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयामि**—यह प्रकाश बरस पड़ा। **नाशयाम्यात्मभावस्थः**—प्रेमी और प्रियतम एक हो गये। ज्ञानदीपेन भास्वता। मच्चित्ता मद्गतप्राणा—हम देखते हैं जगत् और देखते हैं अपनेको और देखते हैं भागवान्को । है तो एक ही। परन्तु हमारी बुद्धिमें अन्तर होता है। वस्तुमें अन्तर नहीं होता। भगवान् तीन नहीं बनते। एक

भगवान्, भगवान् है—एक भगवान् मैं बन जाये—एक भगवान् जगत् बन जाये। भगवान् तीन नहीं होता। हमारी बुद्धि ही तीन तरहकी हो जाती है। जैसे रस्सी साँप नहीं बनती, बुद्धि ही साँप बन जाती है। ऐसे परमात्मा जगत् या अहं नहीं बनता है। हमारी बुद्धि ही बिखर जाती है। तीन बनकर बिखर जाती है। हमारी बुद्धि ठीक होनी चाहिए।

भागवत्में एक विलक्षण लीला है। कृष्ण गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे हैं। एक श्रीकृष्ण अनेक गोपी—रासमण्डल बना और नृत्य हो रहा है। उसमें क्या हुआ? उसमें गोपियोंका यह ख्याल हुआ कि हम बहुत सुन्दर हैं, हम बहुत मधुर हैं, वे कृष्णको देखनेके स्थान पर अपने मैं को देखने लगीं। क्यों भाई तुम्हें अपना गुणगान करना है कि भगवान्का। अपना सौन्दर्य निहारना है कि भगवान्का। भगवान्से अलग कर क्यों अपनी सुन्दरता देखने लगे, अपनी मधुरता देखने लगे—यह तो उन्हींका सौन्दर्य है, उन्हींका माधुर्य है, उन्हींका प्रेम है। गोपियाँ अपनेको देखने लगीं । और जब अपनेको देखने लगी तब श्री कृष्ण अन्तर्धान हो गये। जहाँ परिच्छिन्न अहं पर दृष्टि गयी, पूर्ण अहं छिप गया। प्रान्त पर दृष्टि गयी तो राष्ट्रका लोप हो गया। राष्ट्रपर दृष्टि गयी तो विश्व व्यापकताका लोप हो गया। पन्थमें फँस गये तो गन्तव्य भूल गया। 'मैं'में फँस गये तो ईश्वर भूल गया।

एक प्रकाशकी हमारे जीवनमें जरूरत है। हम पन्थाईयोंकी बात नहीं करते। मौलबी अपना काम करे, पुरोहित अपना काम करे, पादरी अपना काम करे। आचार्य लोग अपने-अपने पंथको लेकर जावें, लड़ लें — हम भगवान्को देखें सूरदासने कहा—*'मो सम कौन कुटिल खल कामी।'* बल्लभार्चायने कहा—नहीं-नहीं, यह नहीं तुम अपने गीत क्यों गाते हो? गीत गाना हो तो भगवान्के गाओ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः। आपका चित्त कहाँ गया? यह आपके बड़े कामकी बात है। क्योंकि भगवान्में संयोगका अनुभव—कि हमारे साथ भगवान् हैं या हमारी आँखोंके सामने भगवान् हैं यह जरा मुश्किल है, कठिन है लेकिन भगवान् हमारे साथ नहीं हैं—यह तो बहुत आसान है। सबको ऐसे ही लगता है कि भगवान् हमारे साथ नहीं हैं। भगवान्की याद नहीं आती। साथकी तो बात क्या? विरहमें जो भगवान्का वर्णन है, भागवतमें विरहका बहुत वर्णन है। विरहमें भगवान्की स्फूर्ति होती है। किसका विरह ? जब हम गोपियोंका पिरह, ग्वालोंका विरह, यशोदा मैया नन्दबाबाका विरह देखते हैं, सुनते हैं तब हमारी मनोवृत्ति विरहके साथ बहुत जल्दी मिल जाती है। क्योंकि जब हम दशरथजीकी मृत्यु सुनते हैं, हमारे बापकी मृत्युका स्मरण आजाता है। रोनेमें दोनों रहता है—दशरथजीकी मृत्युके लिए रोना और अपने पिता, पितामहकी मृत्युके लिए रोना। दोनो मिल जाता है, तो भाव विरहका और मिल गया भगवान्से—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 10.9
चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ (भागवत 10.31.11)

जब तुम गोचारणके लिए प्रात:काल गायोंके पीछे-पीछे चलते हो तो तुमको क्या मालूम कि यह कहाँ काँटोमें, कहाँ कुशमें कहाँ-कहाँ घास चरनेको जायेंगी और उनके पीछे-पीछे तुम चलते हो। कितनी सुकुमार, कितनी सुन्दर, नलिनादति सुन्दर, नलिन-सुन्दर, हिन्दीमें किसीको कहें—कमल सुन्दर, नलिन-सुन्दर तो, उसका अर्थ होगा नलिनके समान सुन्दर, परन्तु संस्कृतमें नलिनादतिसुन्दरम् नलिन-सुन्दरम्—कमलसे भी अधिक सुकुमार, कोमले, आपके चरणाविन्द हैं।

कहीं कोई धान, कहीं कोई कङ्कड़ पाँवके नीचे पड़ जावेगा, कहीं कुशका अंकुर पड़ जावेगा और वह आपके पाँवमें गड़ जायेगा। जब हमको यह ख्याल आता है —हमसे अलग, हमारी आँखोसे अलग तुम वन-वनमें भटक रहे हो तो हमारा मन गड़ने लगता है। मलिन हो जाता है हमारा मन। अरे रास्तेसे चलेंगे तुम क्यों दु:खी हो रही हो? क्या गौएँ रास्ते-रास्ते चलती हैं? गौओके पीछे-पीछे जायेंगे। अरे बाबा काँटा, कुश जहाँ नहीं होगा वहींसे जायेंगे। नहीं-नहीं; वे गायोंकी ओर देखेंगे कि काँटा, कुश देखेंगे? नहीं बाबा देख-देखकर चलेंगे—देख-देखकर तो चलेंगे, लेकिन कहीं कोई असावधानीमें गड़ गया तो। देखो कृष्ण गये गोचरणको और गोपियोंका मन गया कृष्णके पीछे। इसको बोलते हैं कलिलता। जैसे एकके बाद एक, एकके बाद एक, कृष्णके बारेमें हमारा मन सोच रहा है।

कलिलता मनः कान्त गच्छति। (भागवत 10.31.11)

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

आपके चित्तमें कौन है? क्या भगवान्‌का विरह है? विरहके भी दो रूप होते हैं। एक अयोग एक वियोग। पहले मिले ही नहीं है और मिलनेकी आशा टूट जाती है तब करुण हो जाता है। भगवान्‌के बारेमें आप सोचो, आपके चित्तकी स्थिति क्या है? कब देखेंगे, भगवान्‌के दर्शन कब होंगे? इसके लिए अपने चित्तमें कितनी व्याकुलता है, धनके लिए व्याकुलता है, सम्बन्धिके लिए व्याकुलता है, शरीरके लिए व्याकुलता है, लेकिन जो सबके प्राणोंका प्राण है, उसके लिए कोई व्याकुलता नहीं है। जो सबकी आँखोंकी आँख है, कानोंका कान है, वाणीकी वाणी है, प्राणोंका प्राण है, उसके लिए कोई व्याकुलता नहीं। श्री ब्रजधाममें ललिता सखी रोती हुई आयी श्री राधारानीके पास। कुछ बोल नहीं, बोले नहीं। राधारानीने कहा मत बोल, मैं समझ गयी—श्रीकृष्ण नहीं आये न! बस इतनी सी बात तो है—**मद्‌गतप्राणा:**—नहीं आये कोई बात नहीं।

यदि श्री कृष्णके हृदयमें करुणा नहीं है, दया नहीं है तो उसमें तुम्हारा क्या अपराध है? व्यर्थमें रोवे मत। रोने-गानेसे क्या वे आजायेंगे? आगेकी बात देखो—आगे क्या करना है? मेरी प्यारी सखी! अब ऐसा प्रबन्ध कर दो, यह जो काला-काला श्याम तमाल है—मेरे इस शरीरको प्राण निकल जानेके बाद उसके साथ चिपका देना और हमारी दोनों बाँहे उसके साथ लपेट देना। ये हमारी भुजाकी लता तमाल वृक्षके साथ लिपटा देना और मेरे शरीरको श्याम तमालके साथ लगा देना। जीवन कालमें नहीं मिले कृष्ण तो क्या हुआ ? मरनेके बाद यह

शव तो उस साँवरे तमालके साथ बहुत दिनों तक लिपटा रहेगा। श्रीकृष्णने सखीसे पूछा, क्यों री सखी। उनकी क्या दशा है? बोली—जी रही है। हाँ जी रही है। अरे मैं पूछता हूँ क्या दशा है और तू बताती है—जी रही है। हाँ, जी रही है। दशा क्या है? आप क्यों बार-बार पूछते हैं—अभी उसकी साँस चल रही है तो मैं कैसे कह दूँ कि गर गयी। श्रीकृष्ण ही हमारे प्राण हैं। श्रीकृष्ण ही हमारे चित्त है। **मयि चित्तम् येषाम्**—जिनका चित्त मुझमें लग गया है और **अहमेव चित्ते येषाम्**—मैं जिनका स्वयं चित्त हूँ। आँख बन्द करके देखें तो हृदयमें भगवान्, खुली आँखोंसे देखें तो मनमें भगवान्। चित्तका अर्थ है—प्यार और विचार। जब हम सोचते हैं तो भगवानके बारेमें और जब प्रेम करते हैं तो भगवान्से। जिसके जीवनमें विरह नहीं जगा उसको संयोगका सुख नहीं आसकता।

आपके हृदयमें कभी भगवान्के न मिलनेकी व्याकुलता आयी है? कभी आपके हृदयमें ईश्वरके लिए व्याकुलता आयी है? विरहका दु:ख हुआ है? जब यह विरहका दु:ख आता है, दोनों तरफसे—विरहसे भी आता है, संयोगसे भी आता है। सबके लिए दु:ख आता है—सबके लिए रोये। परन्तु वह तो पूर्ण परमात्मा है। भले अभिमान कर लो, मैं ही हूँ। आत्मा ही है। हृदयकी रुक्षता नहीं मिटेगी। हमारे हृदयमें रूखापन, सूखापन है, भूखापन भी है। भूखापन क्या है? इधर दौड़ते हैं वहाँ स्वाद मिलेगा। उधर दौड़ते हैं वहाँ रस मिलेगा। उस मधुरताकी ओर मन खिंच गया, उस सुन्दरताकी ओर मन खिंच गया। उस गन्धकी ओर मन खिंच गया। उस संगीतकी ओर मन खिंच गया—बाबा, यह भूखापन नहीं तो क्या है? यहाँ यह खाना मिलेगा, वहाँ वह खाना मिलेगा—यह जो हमारा मन यहाँसे वहाँ, वहाँ से यहाँ भटकता रहता है।

भले अभिमान करो कि मैं अपने आपमें सन्तुष्ट हूँ, भले अभिमान करो कि हमारा प्रेम एक जगह है, स्थिर हो गया है। लेकिन यह मनकी रुक्षता है। यह जो सूखा हुआ मन है—यह जो भूखा हुआ मन है, क्षुधा-पिपासासे व्याकुल है—कहीं उसको तृप्ति नहीं मिलती है। यही दशा हमारे मनकी है। भाई, मन लगानेकी जगह यह है और व्यवहार करनेकी जगह सारी है। इस लीलाकी उत्तमता ही यह है कि इसमें समाधिके समान तो व्यवहार-त्याग करनेकी जरूरत नहीं है। समाधि मत लगाओ; यह तो विक्षेप है—ठीक है, पर विषय-विक्षेप नहीं है। व्यवहार और समाधिके बीचमें ऐसी कड़ी है—यह भगवान्का प्रेम है—**मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** जीते भगवान्के लिए हैं—**मद्गतप्राणाः।**

जब पीड़ा होती है भगवान्के न मिलनेकी तब गरलको,जहरकी जो कटुता है, उसका गर्व टूट जाता है और जब मिलनका सुख आता है तो ऐसा आनन्द प्रवाहित होता है कि अमृतका गर्व चूर-चूर हो जाता है। यह भगवत्प्रेम है। **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** कहो कि मौन हैं—बोलते नहीं है! **बोधयन्तः परस्परम्**—एक दूसरेसे भगवान्की चर्चा कर रहे हैं।

आओ, महात्माओंके पास। वहाँकी विशेषता क्या है? बाबाजी पहले मौनी था, हिमालयमें रहता था—गङ्गाकिनारा छोड़कर कहीं जाता ही नहीं था। परन्तु जब भगवान्के चरित्रामृतका आस्वादन करने लगे तो पहले कोशिश की कि पच जाये-पच जाये; अब किसीके सामने क्या बोलें? मन मस्त हुआ तो क्यों बोलें?

बोलनेकी क्या जरूरत! लेकिन लीलाने ऐसा कुरेदा उसके हृदयको, मन मुखर हो गया। बड़े-बड़े महापुरुष भी मुखरित हो गये, बोलने लग गये। महात्मा लोग बोलते ही हैं भगवान्की लीला।

मधुसूदन भगवान्के चरित्रका जो शेष है माने हृदयमें पचा लेनेके बाद जो बच गया है वह उनके मुखसे निकलता है। नदियाँ बहती हैं। जहाँ बोलेंगे—भगवान्की लीला, भगवान्का चरित्र। उनको पीनेके लिए दो चीज चाहिए—एक तो प्यास बुझे नहीं और कान दूसरी ओर जायँ नहीं। न आपके मनमें भय आवेगा, न शोक आयेगा, न मोह आयेगा। भविष्यमें मन जायेगा तब न भय आवेगा! भूतमें मन जाय तब न शोक आयेगा! वर्तमानके चारों ओर मन जाये तब न मोह आयेगा? भय, शोक, मोह, वासना अशना, पिपासा, सब-के-सब दूर हो जायेंगे। आओ, भगवान्के चरित्रमें एक बार गोता लगाओ। क्या स्थिति होती है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

कहानी भी कहो तो भगवान्की। ऐसी-ऐसी कहानियाँ हैं जो मनको खींच लेती हैं। कहानी माने भगवान्के चरित्रकी, भगवान्के गुणकी, भगवान्के स्वरूपकी, लीलाकी, चेष्टाकी, तत्त्वकी व्याख्या।

भगवान्ने ऐसा क्यों किया? आओ, कहानी कहो तो भगवान्की ओर देखो और रम जाओ। जब कोई भगवान्को देखता है, उसमें रम जाता है, सन्तुष्ट हो जाता है तो उसके बाद उसका कर्तव्य नहीं होता। कर्तव्य किसका है? भगवान्का। बेटा सुस्त पड़ जाये तो बाप उसको अपनी गोदमें उठा लेता है और बाप सुस्त पड़ जाय तो बेटा उसको अपनी गोदमें उठा लेता है—**बोधयन्तः परस्परम्।** एक दूसरेको जगाते हैं। हमारा भाई सो जाय तो हमने जगा दिया। हम सो जायें तो हमारे भाईने जगा दिया। हम लोग एक बार साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। कहो गुरुभाई—कैसा है? क्या बतावें भाई, कुछ हुआ ही नहीं। वेदान्ती लोग ऐसे बोलते हैं।

न कछु हुआ, न है कछु, न कछु होवनहार।

भक्तोंसे पूछो तो अभी तो भगवान् सोकर उठे हैं—आँखमें काजल फैल गया है, उसको धो रहे हैं। वे ऊँ-ऊँ कर रहे हैं—अभी तो अँगड़ाई ले रहे हैं। उनके लिए मैया माखन-मिश्री ला रही है—क्या हो रहा है? भगवान् अभी माखन-मिश्री खा रहे हैं—अभी मैया गोरोचनाका तिलक लगा रही है। करधनी-कंगन पहना रही है—बोधयन्तः परस्परम्। क्या हो रहा है? भगवान् इस समय क्या कर रहे हैं? आसमानमें बादल बहुत हो रहे हैं—ना-ना, बादल नहीं, वे तो श्यामघन हैं—क्या आनन्द है भगवच्चर्चाका—न राग न द्वेष।

भगवान्की चर्चा करो तो संसारमें किसीकी मोहब्बतमें फँसोगे नहीं। भगवान्की चर्चा करो, किसीसे नफरत नहीं होगी। और दुनियाकी चर्चा करोगे तो किसीसे मोहब्बत हो जायगी, किसीसे नफरत हो जायगी। काम सब करो—सेवा करो लेकिन किसीसे मोहब्बत-नफरतसे बचनेके लिए, राग--द्वेषसे बचनेके लिए यह जरूरी है कि हमारे हृदयमें उस वस्तुसे प्रेम हो, जो दोनोंमें है। जो दोनोंमें है वही प्रेम करने योग्य है। जो एकमें है, एकमें नहीं है, वह प्रेम करने योग्य नहीं है। शून्य-मन्दिरमें भी वही रहता है योगाभ्यास करते हुए जब ऊपर

बढ़ते हैं! एक शून्य-शिखर पड़ता है, ऐसा योगाभ्यासी लोग बताते हैं। सहस्रार है, हृदयकमल है—नाभिकमल है, मूलाधार है—हृदयकमलमें इष्टदेव बैठे हैं। सहस्रारमें गुरुदेव बैठे हैं। शून्य-शिखरवाले मन्दिरमें कुछ नहीं=मन्दिर तो है पर मन्दिरमें कुछ नहीं। जो साकारमें है, वही निराकारमें है। जो मूर्तिवाले मन्दिरमें है, वही बिना मूर्तिवाले मन्दिरमें है। अब भगवान् कहते हैं—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(भाग० 11.29.34)

एक बार हाथ जोड़ खड़े हो जाओ। भगवान् कहते हैं अच्छा, तुम समर्पित हो गये तो तुम्हारी सारी जिम्मेवारी मेरे ऊपर आगयी। मैं अब तुमको विशिष्ट बना रहा हूँ, क्योंकि अब मुझे सँवारना है, मुझे सजाना है।

मैंने कभी सुनाया होगा, एक लड़की मुझे पूरी परोसनेके लिए ला रही थी। रसोइयेने पूरी जरा मोटी-मोटी बना दी थी। उसने सोचा बाबाजी लोग हैं, इनको चाहे जैसा खिला दो। वह लड़की जब लेने गयी तो बोली कि यह पूरी लेकर मैं जाऊँ? मैं और ऐसी पूरी लेकर जाऊँ? दूसरी दो। जब एक अच्छे घरानेकी लड़कीपर जिमानेकी जिम्मेवारी आयी तो उसने कहा मैं अपने हाथसे ऐसी पूरी लेकर नहीं जा सकती। जब हमारे सँवारने, सजानेकी जिम्मेवारी भगवान्पर आजाती है, भगवान् कहते हैं कि 'मैं उसको विशिष्ट बनाना चाहता हूँ'—जब मैं सँवार रहा हूँ, तो 'उसको ऐसा सँवारूगा कि ऐसा दूसरा कोई होगा नहीं।' अब भगवान्की अनुकम्पा बरसी न! हम तो रंग गये उनके चरित्रमें, उनकी कथामें, उनके प्रबोधमें, उनके गुणमें, उनके रूपमें, उनकी लीलामें और वे बैठकर हमको सँवारने लगे।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

उनके उपर हमारी अनुकम्पा है— अनुकम्पाका अर्थ है दिल काँपने लगे—कम्पन-अनुकम्पन; एक आदमी दुःखसे काँप रहा है और भगवान्का हृदय उसका दुःख दूर करनेके लिए काँप रहा है। अनुकम्पा माने भगवान् व्याकुल होगा। अरे—मेरे रहते, मेरा भक्त इस तरह दुःखी हो रहा है। इस दशामें पड़ा है! मेरा भक्त, मेरी याद कर रहा है और उसका शरीर ऐसा है! उसका मन ऐसा है! मेरी याद कर रहा है, उसका जीवन ऐसा है! काँप गये भगवान्! लोग क्या कहेंगे! भक्ति सम्प्रदायका दोष हो जायगा। कोई दुनियामें मेरा नाम नहीं लेगा। डर गये भगवान्! अब दुनियामें मेरा कौन नाम लेगा! मेरा नाम लेकर, मेरे पास आकर, मेरी ओर इसकी मनोवृत्ति बह रही है। मुझमें रम जाता है। मुझमें सन्तुष्ट है। फिर भी—कहीं इसके अन्दर एक भी दाग नहीं रहना चाहिए। अज्ञानजं तमः।

अरे तुमको रास्ता नहीं दीख रहा है। भास्वता ज्ञानदीपेन। प्रज्वलित ज्ञान, उल्लसित ज्ञान लेकरके भगवान् आये और बैठे कहाँ? उसके हृदयमें—धियो यो नः प्रचोदयात्। भगवातमें लिखा है—चुम्बकके पास लोहा

नाचता है वैसे भगवान् हृदयमें बैठे हैं। भगवान् बीचमें बैठे हैं और हमारी चित्तवृत्तियाँ उनके चारों ओर नाच रही हैं। धियो यो नः प्रचोदयात्। हजार-हजार वृत्ति रूप गोपियाँ नृत्य कर रही हैं और बीचमें एक नट। ऐसा नट जो सबके साथ नाचता है। सबके हाथ-में-हाथ मिलावे और गरबा नाच कर रहे हैं। गोपियाँ तो नाचनेवाली हैं अनेक, लेकिन बीचमें एक ऐसा है जो दोनों हाथमें लकड़ी लेकर खड़ा है। सबकी लकड़ीपर उसकी लकड़ी गिरती है।

अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।

रोशनी कर दी—जहाँ रास हो रहा है वहाँ पहले **ज्ञानदीपेन भास्वता**—परम प्रकाशमय एक दीपक प्रज्वलित किया और वहाँ अन्धकार दूर हो गया, तब सब देखने लगे भगवान्‌को और भगवान् देखने लगे सबको। एक गोपी, एक कृष्ण, एक गोपी, एक कृष्ण—इस प्रकार एक गोपीके बाद एक कृष्ण विराजमान होकर नृत्य करने लगे। बाँसुरी बज रही है और बाँसुरीकी स्वर-लहरीपर हमारी वृत्ति गोपियाँ नृत्य कर रही हैं—भागवतमें ऐसा ही वर्णन है।

वेदान्ती कहते हैं कि दो वृत्तियोंकी सन्धि, सन्धिमें सामान्य चेतन और वृत्तिमें विशेष चेतन, गोपियोंके भीतर प्रवेशकर भी वही नाच रहे हैं, गोपियोंके बीचमें खड़े होकर भी वही नाच रहे हैं। वही वृत्त्यारूढ़ चेतन और वही संधिस्थ चेतन। गोपियोंका नाम कृष्ण-वधू है। 'वहन्ति इति वध्वः'। वे श्रीकृष्णको तो अपनी गोदमें उठा लेती हैं। अपने ऊपर—वहन्ति-बध्नन्ति इति बध्वः। जो अपने भुज-पाशमें बाँध ले उसका नाम वधू। वधू माने जो अपने पतिको अपने भुज-पाशमें बाँध ले। वधू माने जो अपने पतिको अपनी गोदमें उठा ले। कृष्णवध्वः—ये कृष्णको बाँध लेती हैं। ये कृष्णको उठा लेती हैं। ये हमारे हृदयकी प्रेममयी वृत्तियाँ हैं—कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

(17-11-80)

भगवान् श्रीकृष्णने भजन करनेवालोंके बारेमें दो बात कही। एक तो **भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगम्।** जो प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ और दूसरी बात कही **तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।** उनके ऊपर मैं कृपा करता हूँ। बुद्धियोग दिया उससे जीव स्वयं परमेश्वरके पास पहुँच गया। उसीके हाथमें साधन दे दिया और तीसरा बताया कि मैं ऐसी कृपा करता हूँ कि उनके हृदयमें स्वयं बैठ जाता हूँ और उनके अज्ञानान्धकारका नाश करता हूँ। जीवके बुद्धियोगसे भी परमात्माकी प्राप्ति होती है और भगवान्‌की कृपासे भी परमात्माकी प्राप्ति होती है। यह दो विभाग हो गये। जो पौरुषवान् हैं, प्रयत्नशील हैं, उनके हाथमें भगवान्‌ने साधन दे दिया—तुम आजाओ—**येन मामुपयान्ति।** और एक स्वयं दीपक लेकर मशाल लेकर रास्ता दिखाते हैं। रास्ता दिखानेवाले भी वही और मिलनेवाले भी वही।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (12.6-7)

एकको नदीके पार जाना था। पार जाकर किसीसे मिलना था, उससे पहचान नहीं थी। नदीके तटपर जाकर खड़ा हुआ। व्याकुल हुआ कि नदीके पास कैसे जायँ? जिससे मिलना था उस मित्रको पता चल गया कि वह हमसे मिलनेके लिए आया है और नाव न मिलनेपर व्याकुल हो रहा है। स्वयं नाव खोली, लंगर उठाया और डाँड़ देता हुआ पहुँच गया—उसको लेनेके लिए। अब वह तो इतना निर्बल था कि नावपर चढ़ भी नहीं सकता था। वह नावसे उतरा, उसको दोनों हाथसे उठाया।

हमारे गाँवके पास जो मल्लाह लोग थे वे हमको ऐसा किया करते थे। हम जब बच्चे थे तो नावपर चढ़नेको जाते थे तो नावपरसे हमको उठाके छातीसे चिपका लेते तथा प्यार भी करते और नावपर बैठाकर पार कर देते। अब तो मल्लाह लोग ऐसा करते हैं कि नहीं, हमको मालूम नहीं—पर हमारा पाँव कीचड़में नहीं पड़े, हमको जूता नहीं निकालना पड़े, इसके लिए वे अपनी गोदमें उठा लेते थे।

भगवान् नाव लेकर आते हैं और देखते हैं कि यह निर्बल है तो उसको अपनी गोदमें उठा लेते हैं। नावमें बैठा देते हैं। अब भक्तने भगवान्‌को पहचाना तो है नहीं—कहता है आप डाँड चला रहे हैं, हम भी थोड़ी आपको मदद करें। नहीं भाई, तुम चुपचाप बैठे रहो, नाव तो मैं चलाऊँगा। इतने कृपालु तुम कौन हो? बोले, जिससे तुम मिलने जा रहे हो— वही हम हैं। तुम मुझे निहार-निहारकर प्रेमभरी दृष्टिसे देखो। तुम आनन्द हो, मैं नावको खेकर ले चलता हूँ।

लाद दे, लदा दे लादनवारो साथ दे।

भगवान् ऐसे हैं—रास्ता भी दिखाते हैं, जो कठिन काम हो। उसको आसान भी बना देते हैं और उन्हींसे मिलना है तो वे स्वयं आकर मिल भी लेते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (10.11)

एक बात है कि कृपा भगवान्‌की सबके ऊपर बरसती रहती है। सोते हुएको जगानेमें भी कृपा है। जागे हुएका हाथ-मुँह धुलानेमें भी कृपा है। उसको खिलानेमें, सुलानेमें भी कृपा है। काम लेनेमें भी कृपा है—कृपाके सिवाय तो और कुछ नहीं है। भक्त लोग कहते हैं कि सबसे बड़ा कृपा-पात्र मैं ही हूँ।

श्रीयामुनाचार्यजीका एक श्लोक है—जिसका भाव यह है कि मैं बहुत दिनोंसे भवसागरमें डूब रहा था—इसके थपेड़े खा रहा था। बहुत दिनके बाद—जैसे डूबते हुएको किनारा मिल जाय वैसे तुम मुझे मिल गये हो। पर मुझे तुम मिले हो यही प्रसन्नताकी बात नहीं है, तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हें मैं मिल गया हूँ। अरे बाबा, तुम मिले तो कौन-सी ऐसी बात मिल गयी? बोले—दयाका ऐसा उत्तम, बढ़िया पात्र आपको कभी मिला नहीं होगा। आप भी खुश हो जाइये कि आनेवाली दया सार्थक हो जायेगी। यह दयाका अत्युत्तम पात्र, जिससे उत्तम पात्र कभी मिल ही नहीं सकता, वह मिला है। आप भी मुझे पाकर प्रसन्न हो जाइये। दयाका पात्र वह होता है, जिसमें किसी प्रकारका अभिमान न हो। दयाका भी अधिकारी होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

मैं धर्मनिष्ठ नहीं हूँ। आत्मज्ञानी भी नहीं हूँ, आपके चरणारविन्दमें मेरी भक्ति भी नहीं है। अकिंचन हूँ—मेरे पास कोई सम्बल नहीं है। कोई सामग्री नहीं। कोई साधन नहीं। आपके अतिरिक्त और किसी दूसरेका सहारा नहीं। अब तो तुम्हारे चरणारविन्दके सिवाय और कोई भी आश्रय हमारे पास नहीं है। जब भक्त निरभिमान होकर भगवान्‌की ओर देखता है तो भगवान्‌की शक्तिका आश्रय भी अपना सारा काम करने लगता है। भगवान्‌की शक्ति तो और बढ़ना चाहती है—और बढ़ना चाहती है। निरभिमान स्थल मिलते ही उसमें भगवान्‌की शक्ति प्रवेश करती है और वहाँसे अपना सारा काम करने लगती है। जबतक हम अपनी शक्ति लगाते हैं—तबतक वह थोड़ी रहती है और जब हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है, तो भगवान्‌की शक्ति प्रकट हो जाती है।

एक महात्माने बताया कि भगवान्‌के टेलीफोनका नम्बर जोड़नेके लिए 'शून्य' है—अपने हृदयको अभिमानसे रहित करो—भगवान्‌का टेलीफोन जुड़ गया। कहते हैं कि ऐसा टेलीफोन बननेवाला है जिसमें बात करनेवालेकी शकल भी दिखेगी—यह भगवान्‌का ऐसा नम्बर है कि भगवान्‌से बात भी हो और भगवान्‌की शकल-सूरत भी दिखायी पड़े।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भगवान् बुद्धि देते हैं और ऐसी बुद्धि जो भगवान्के साथ जाकर मिल जाती है। जैसे पति-पत्नीका संयोग होता है, ऐसे बुद्धि और भगवान्के संयोगका ही नाम बुद्धियोग है। हमारी बुद्धिका विवाह किससे हुआ? आप लोग इसको कोई छोटे दर्जेकी बात मत समझना। वेदोंमें जो ऋचाएँ, श्रुतियाँ है उनमें कोई अग्निदेवताका वर्णन करती हैं, कोई इन्द्र देवताका वर्णन करती हैं, कोई वरुण देवताका वर्णन करती हैं, कोई पूषा देवताका वर्णन करती हैं, कोई वृहस्पति देवताका वर्णन करती हैं। ये सब वैदिक देवता हैं और भिन्न-भिन्न ऋचाओंके द्वारा उनका प्रतिपादन होता है।

ऐसे कहते हैं कि इन वेदकी ऋचाओंका विवाह-अमुक-अमुक देवताओंसे हो गया है और सब अपने-अपने देवताका, इन्द्रका, अग्निका, वायुका, वरुणका प्रतिपादन भी करती हैं। उन्हींके साथ रहती हैं, उन्हींका प्रतिपादन करती हैं। लेकिन ये सब ऋचाएँ वस्तुत: परमात्माका प्रतिपादन करती हैं। उनका विवाह तो हुआ है, इन-इन देवताओंमें गुप्तरूपसे रहनेवाले भगवान्के साथ। उनका परम तात्पर्य तो है भगवान्में और उनका वाचनिक प्रयोग है देवताओंके लिए। इसी तत्त्वका वर्णन गोपियोंके जीवनमें किया हुआ है। बाहरसे उनके पति गोप हैं और भीतरके सब गोपोंके हृदयमें रहनेवाले भगवान्। वे पतिके शरीरसे नहीं, केवल अन्त:करणसे नहीं, उनकी अन्तरात्मासे प्रेम करती हैं—क्योंकि सबको अन्तरात्मा स्वयं परमात्मा है। यह बात भागवत्में इतनी स्पष्ट है कि कोई असावधानीसे भी पढ़ता जाय तो उसको मिलेगा।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ (10.33.36)

ये कोई 'मन्ये' नहीं है, 'जन्ये' नहीं है। जानो-मानो नहीं है, यह जनो-मनो नहीं है। यह स्पष्ट वर्णन है कि गोपियोंके हृदयमें जो अन्तरात्मा है, गोपीके पतिके हृदयमें अन्तरात्मा है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें जो अन्तरात्मा है वही यहाँ श्रीकृष्णके रूपमें क्रीड़ा कर रहा है, वही सबका अन्तरात्मा है। तब बुद्धियोगका अर्थ क्या हुआ? बुद्धिके भीतर बैठा हुआ—धियो यो नः प्रचोदयात्। बुद्धिका प्रेरक, जो परमात्मा है, उस परमात्माके साथ बुद्धिका संयोग।

यह बात आपको थोड़ा खुलासा करके सुनाते हैं। जैसे आप गीता किसी पण्डितसे पढ़िये—उसमें व्याकरण कैसे है, पदच्छेद कैसे है? कहाँ व्याकरणके अनुसार ठीक है, कहाँ गलत है? अन्वय कैसे है? एक-एक शब्दका अर्थ आप अलग-अलग सीख लीजिये। तो आपका अध्ययन हुआ, आपका स्वाध्याय हुआ। हमलोग वे गीता पढ़ानेमें वैसे इतने निपुण नहीं हैं। हम गीताका रसास्वाद करते हैं। रसगुल्ला बनाना दूसरी चीज है। रसगुल्ला बनाना सीखना दूसरी चीज है, और उसको मुँहमें लेकर उसका स्वाद लेना दूसरी चीज है। हमारे महात्माओंके सम्प्रदायमें इसके लिए अध्ययन शब्द नहीं चलता, स्वाध्याय शब्द भी नहीं चलता। आस्वादन शब्द चलता है। हम गीताका, गीताके रसका आस्वादन कर रहे हैं।

साहित्यिक लोगोंने तो 'रस-चर्वण' शब्दका प्रयोग कर रखा है—चर्वण करते हैं। होगी कोई कठोर वस्तु जिसका वे चर्वण करते हैं। हम चर्वण नहीं करते। हम तो रसास्वादन करते हैं। यह है गीताका रसास्वादन।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीतिपूर्वक भजन, भजन माने रसास्वादन होता ही है।

किं नाम भजनं, भजनं नाम रसास्वादनम्।

भजन माने रसन—स्वाद लेना। कहाँ स्वाद लेते हो? भगवान्का स्वाद ले-लेकर हम भगवान्की चर्चा करते हैं। हम भगवान्की चर्चा करते हैं। एक बार प्रेमभरी आँखसे,चितवनसे भगवान्ने हमारी ओर देख लिया। अब चलो गीतामृतका आस्वादन करें। एकबार उन्होंने मुस्कराकर देख लिया। एकबार कह दिया वाह-वाह—बहुत बढ़िया। सिरपर हाथ रख दिया—आओ रसास्वादन करें।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीति चाहिए। हम भी तृप्त हो रहे हैं और हमारा मालिक भी तृप्त हो रहा है। सेवा करनेका आनन्द सेवकको भी आ रहा है और जिसकी सेवा की जा रही है उसको भी आनन्द आ रहा है। यह स्वादका व्यापार है। स्वादका लेना, स्वादका देना। स्वादकी अनुभूति, स्वादकी वर्षा—यह रस है। भवभूतिने कहा कि प्रीति वह चीज है जहाँ हृदयको विश्राम मिलता है। बुढ़ापा आनेसे रसमें कोई कभी नहीं आती। भवभूतिके 'उत्तर रामचरित नाटक' का वचन है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥ (1.39)

यह प्रीति—चाहे अपना प्यारा सुख दे कि दुःख दे, इससे क्या मतलब है? हमें सुखसे, दुःखसे मतलब नहीं है। हमें तो प्यारसे मतलब है। वह सुख दे, तब भी देनेवाला वही, दुख दे तब भी देनेवाला वही। सुख-दुःखको नहीं देखते हैं, देनेवालेको देखते हैं। कितना प्यार है उसके दिये हुए दुःखमें, जब वह डाँटता है।

एक महात्मा थे। वे कभी किसीपर नाराज नहीं होते थे। एक दण्डी स्वामीने आकर शिकायत की कि आपके यहाँ जो सेवा करनेवाला और झाड़ू लगानेवाला है, इसने मेरा अपमान किया है। बहुत पुराना था वह झाड़ू लगानेवाला;दण्डी स्वामीजीसे भी बहुत पुराना था और बहुत प्रेमी था। बाबाने उसको बुलाया और हाथमें लिया डण्डा और उसको 1-2 डण्डा लगाया। बाबाको कभी क्रोध ही नहीं आता था, उस समय भी क्रोध नहीं था। अब वह जिसको डण्डा लगाया वह तो महाराज, नाचने लगा खुशीमें नाच गया! उसका नाम रामसिंह है, अभी जिन्दा है। बोला कि इतना प्रेम तो बाबाने कभी किसीसे किया ही नहीं। यह सौभाग्य तो जीवनमें केवल हमको मिला है।

अपने प्यार-डाँट, अपने प्यारेको फटकार, अपने प्यारेको टेढ़ी नजर, अपने प्यारेकी कड़वी बात—आप

प्यारेको देखते हैं कि कड़वाहटको देखते हैं। प्रेम वह है कि जिसमें तृप्तिका लेना, तृप्तिका देना, और कभी पेट न भरना। 'नूतनं-नूतनं पदे-पदे'। पद-पदपर नया। यह प्रीतिकी रीति है। आली, प्रीतिकी रीति निराली, प्याली भरे खाली होय।' यह हृदयका प्याला न कभी भरता है न कभी रिक्त होता है। और-और-और! **भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**

सततयुक्तानां—जो है वह तो अनुराग है। वह विधान नहीं है। अनुराग है। जिसके हृदयमें प्रीति होती है, वह तो घूम-फिरकर वहीं पहुँच जाता है। भागवतमें लिखा है कि श्रीकृष्ण बारम्बार नारदजीसे कहते थे कि जाओ, जरा स्वर्गका पता लगा लाओ क्या हाल है? जरा हस्तिनापुर भी आओ। ब्रजमें हो आओ। नारदजी आये और भगवान्‌ने उन्हें कहीं-न-कहीं भेजा। लेकिन वे तो मिनिटोंमें काम करके फिर आजाते थे।

कहीं भी गये घूमकर वहीं आगये। हम देखते हैं—दूसरा कोई जब अपने बच्चेकी चर्चा करने लगता है तो सुननेवाला उसके बच्चेकी चर्चापर ध्यान नहीं देता। तुम्हारा अपने बच्चेकी चर्चा करने लगता है। क्योंकि दिलमें तो अपना ही भरा हुआ है। बारम्बार मन धूम-फिरकर वहीं आजाता है, जहाँ प्रेम हो। मनका यही स्वभाव है। सततयुक्तानाम्‌का अर्थ है—घूम-फिरकर वहीं-का-वहीं इसका कारण बताया है भागवतमें—

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ (11.2.2)

कौन कृष्णसे प्रेम करे, भगवान्‌से प्रेम कौन करे, रामसे प्रेम कौन करे? बड़े ब्राह्मण,वाजपेयी, वृहस्पति, वेदवादी? बोले—ना-ना, केवल उनके लिए भगवत्-प्रेम सीमित नहीं है। तो राजसूय यज्ञ करनेवाले, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, क्षत्रिय? बोले—राजसूय यज्ञ करनेवाले, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले क्षत्रिय? नहीं, उनके लिए नहीं। बड़े-बड़े वैश्य स्तोम करनेवाले (वैश्य स्तोम एक यज्ञ होता है) व्यापारी? बोले—ना-ना, उनके लिए भी सीमित नहीं है। शूद्र? बोले कि उनके लिए भी सीमित नहीं है। यज्ञ सबके लिए होता है। बोले तब—

को नु राजन् इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं न भजेत्?

भगवान्‌के भजनके लिए केवल इन्द्रिय होना जरूरी है। आँखसे हमें दीखना चाहिए। कानसे सुनना चाहिए। इसमें ज्ञानकी जरूरत नहीं है, ध्यानकी जरूरत नहीं है। पूजा, उपासनाकी जरूरत नहीं है। यदि हमारे आँख है तो उससे बढ़िया देखनेकी कोई वस्तु नहीं है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः (10.21.7)

गोपी कहती है—आँख मिलनेका फल यह है—इन आँखोंसे श्यामसुन्दरको निहारें।

रुक्मिणी कहती है—इन आँखोंके लिए, आँखवालोंके लिए—सबसे बड़ा लाभ यह है कि श्यामसुन्दरकी जो मधुर मूर्ति है उसको देखें। भजतां प्रीतिपूर्वकम्, सततयुक्तानाम्—इससे व्यवहारमें कोई बाधा पड़ेगी? बिलकुल नहीं। प्रीतिकी एक रीति है। हम तो प्रेमके राज्यमें रहते हैं। यहाँ तो बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग इकठ्ठे होते हैं—इनके बीचमें बुद्धिकी बात करनी होती है। प्रीति एक रीति है। अपने प्रियतमसे भी एक चीज बड़ी होती है। जिससे हम प्यार करते हैं, उससे भी एक चीज बड़ी होती है। यह प्रेमशास्त्रियोंने निश्चय

किया है। प्रेमीके लिए प्रियतमसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु हो नहीं सकती। लेकिन प्रीतिकी रीति ऐसी विलक्षण है, निराली है कि प्रियतमसे भी बढ़कर होती है—प्रियतमकी सेवा।

यशोदा मैया कृष्णको छोड़कर दूध उतारने जाती हैं। क्योंकि दूध ठीक नहीं पकेगा, जल जावेगा तो हमारा लाल कैसे पियेगा? वे कृष्णको छोड़कर दही जमाने जाती हैं, क्योंकि ऐसा बढ़िया दही जमे कि हमारे लालको प्यारा लगे। लालाको छोड़कर अपने हाथसे दहीको मथकर माखन निकालती हैं। क्यों?
क्योंकि वह माखन लालाके लिए है। व्रज तो प्रेमकी राजधानी है न! कहते हैं—ब्रह्मलोकमें तो दास्यरस रहता है। बैकुण्ठ लोकमें ऐश्वर्य रहता है। ईश्वर-स्वामी व्रजभूमिमें वात्सल्य रस रहता है और वृन्दावनमें मधुर प्रेम रहता है। वृन्दावन मधुर प्रेमकी राजधानी है।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रियतमसे भी प्यारा कौन? बेटा, सोते रहो—क्यों? बोलीं हम चाय तो तैयार कर लें। हम तुम्हारे लिए चाय तैयार कर लेते हैं तुम लेट जाओ। हम झट लाते हैं। अपने प्रियतमसे बड़ा कौन? अपने प्रियतमको जिससे सुख मिले वह सेवा—तब फिर तो आप सेवा करते रहिये—हर समय प्रियतमसे चिपके रहनेकी जरूरत नहीं है।

सततयुक्तानाम्का अर्थ है—काम करो उसके लिए और उस प्रियतमके लिए जरा सोचो जो सबमें है और सर्वरूप है। उसकी सेवा करनेमें प्रियतमसे योग-विच्छेद कहाँ होता है? जो सबमें है, उसको सुख पहुँचाना है, उसकी सेवा करनी है—तो रोटी बनाते हैं किसके लिए? घरकी सफाई करते हैं किसके लिए? घरका शृंगार करते हैं किसके लिए?

अर्जुनने पूछा कि कृष्ण, एक बात तो हमको सच्ची-सच्ची बता दो। तुम्हारा सच्चा, सबसे बड़ा गुप्त प्रेमी कौन है? श्रीकृष्णने कहा अर्जुन! गोपियाँ अपना बाल सँवारती हैं मेरे लिए, तेल फुलेल लगाती हैं मेरे लिए, साड़ी पहनती हैं मेरे लिए, दही बेचने निकलती हैं मेरे लिए, उनका रोम-रोम मेरे लिए है। वे कहती हैं ये हाथ कृष्णका है, इसे सुन्दर रहना चाहिए। यह मुख कृष्णका है इसे खिला हुआ रहना चाहिए। ये आँख कृष्णकी है, यह कभी कुम्हलानी नहीं चाहिए। कभी मुरझानी नहीं चाहिए। क्योंकि यह उनकी हैं। अब बताओ आपके व्यवहारमें बाधा कहाँ पड़ेगी? कृष्णसे व्यवहार करेंगे तो न आपका कोई सम्बन्धी छूटेगा, न आपकी कोई वस्तु छूटेगी, न आपका व्यवहार छूटेगा। बात तो केवल इतनी ही है कि उनके लिए।

धर्मका विचार दूसरा है और प्रेमका दूसरा। दो शब्द इसके बारेमें सुनाता हूँ। धर्म कौन करता है—एक, और क्या करता है दो, और किसके लिए करता है तीन,—कौन करता है? क्या करता है? किसके लिए करता है? और प्रेम—कौन करता है? इससे कोई मतलब नहीं, क्या करता है इससे कोई मतलब नहीं। किसके लिए करता है—किससे प्रेम करता है, बस—भक्ति केवल उद्देश्य प्रधान होती है ईश्वरके लिए। एक चण्डाल भी और एक सर्वोत्तम ब्राह्मण भी ईश्वरके लिए कर्म करता है। क्या करता है? झाड़ू लगाता है कि वेद पढ़ता है—इससे कोई मतलब नहीं। किसके लिए करता है माने अपने लिए करता है? अपनेको कुछ पानेके लिए करता है क्या? नहीं किसके लिए करता है। धर्ममें और भक्तिमें बड़ा भारी अन्तर है। इसमें करने वाला कौन है इसका

विचार नहीं है। किसलिए करता है यह विचार भी नहीं है। किसके लिए करता है? आप जब अपने प्यारके लिए कर रहें हैं तो आपका सारा कर्म, धर्म हो रहा है। फिर तो आप सततयुक्त रहेंगे।

प्यारेके लिए रोटी बेलें और वह गोल न हो! तिकोनी क्यो हो जायेगी? उसको सेकें और किनारा बिना सेंका रह जावें, ऐसा कैसे हो सकता है? बीचमें जल जावें ऐसा कैसे हो सकता है? आपकी सारी सावधानी तो उसको सुख पहुँचानेके लिए है। न वह कहीं मोटी-पतली होगी, न कहीं जलेगी और न टेढ़ी होगी। सारा काम, सिर्फ रोटीकी बात नहीं है। आपका व्यापार, आपकी फैक्टरी, आपका सारा व्यवहार, सारा मिलना-जुलना जब उसके लिए होने लगेगा—

यत्करोषि यदश्नासि यत् जुहोषि ददासि यत्। (9.27)

आप हमेशा उसके साथ संयुक्त रहेंगे। संयुक्त रहने-का अर्थ है कि पति-पत्नीको परस्पर प्रेयसी-प्रियतम—आजकल युगमें पति-पत्नी न बोलकर, प्रियतम-प्रेयसी बोलना चाहिए। प्रेयसी-प्रियतमको परस्पर संयुक्त रहनेमें जो आनन्द आता है, वही आनन्द भक्तको प्रत्येक कार्य करनेमें आता है कि हम परमात्मासे आलिङ्गित हैं। हमने अपने हृदयसे परमात्माका आलिङ्गन कर रखा है और परमात्माने अपने हृदयसे हमारा आलिङ्गन कर रखा है। भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

बोले भगवान् बुद्धि देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च.........।

वेद भगवान् कहते हैं—भगवान्का दर्शन किसको हुआ? यह ऋग्वेद मन्त्र है। भगवान्को किसने देखा? बोले पनिहारिनोंने, जो यमुनाके तट पर पानी भरनेवाली हैं—गाय चरानेवालोंने भगवान्को देखा। आओ हम लोग उनका दर्शन करें।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगम्।

भगवान् बुद्धियोग देते हैं। कैसे म्लिेंगे? कैसे मिलेंगे? यह कोई प्रश्न है? जब हमारे पास आये अभिमान टूट गया। देखे बिरहमें भी यह बात है। संयोगमें भी यह बात है। औ बिरह वाली बात जो है वह लोंगोके लिए बहुत उपयोगी है। संयोगका अनुभव तो किसी-किसीको ही होता है। सारे पाप भस्म हो जाते हैं। जिनको भगवान्के लिए व्याकुलता होती है, जिनके हृदयमें भगवान्के लिए रोना आता है, उनको संसारके लिए कभी रोना नहीं पड़ता। यदि आप भगवान्के लिए व्याकुल है तो संसारके लिए कभी रोना पड़ेगा ही नहीं। अद्भुत लिला है!

भागवतमें कहा है कि जो भगवान्की मायाका वर्णन करता है, उसको भगवान्की माया नहीं लगती। श्रीकृष्ण यशोदा मैयाके सामने रोते हुए आँखसे काजल बहा रहे हैं— एक हाथ मैयाने पकड़ रखा है और एक हाथसे अपनी आँख मल रहे हैं—जो ऐसे रोते हुए भगवान्का ध्यान करेगा तो उसको रोना नहीं पड़ेगा। अद्भुत है—रोनेका करो ध्यान, तुम्हें रोना नहीं पड़ेगा और नहीं तो तुम लगो रोने और देखो भगवान्को—दोनो अगूँठा

दिखाकर ली-ली-ली-ली करते हुए। आये—बस इतनेमें ही आ गयी हँसी। रोते हुएको आकर हँसा दिया ऐसे भजतां प्रीतिपूर्वकम् ददामि बुद्धियोगम्।

आगये पास जब पास आये तो भगवान्ने देखा, इसके पास तो कुछ है ही नहीं—प्रीतिकी रीति यह है। कुछ है नहीं तब—आओ कुछ बरस दें। बलिने वामनसे कहा कि मैं एक बार तुम्हें दूँगा, फिर क्या तुम दूसरेके पास माँगनेके लिए जाओगे? नहीं, जब तुम मेरे पास आ गये तो अब तुम्हें कहीं भी याचना नहीं करनी पड़ेगी। कहीं भी माँगना नहीं पड़ेगा। दुनियाँमें किसीसे माँगिये मत। और यदि माँगना हो तो जानकीके जो प्राणपति हैं, उनसे माँग लीजिए, क्योंकि उनसे माँग लेनेके बाद याचना ही जल जाती है।

जब भगवान् देखते हैं—उनके पास जाकर माँगनेका मन भी नहीं होता। उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। जिस वरसे बढ़िया वर दूसरा नहीं है। ईश्वर है न! ईश्वरमें वर तो है ही। वरेण्य है। जिस वरसे बढ़िया वर दूसरा नहीं है—उसके पास हम गये और वह कहे कि हम तुम्हारा व्याह किससे करवा दें? अरे बाबा, जो सबसे बढ़िया वर है, उसके सामने तो हम आ गये। अब तुम दूसरेसे व्याह करानेकी बात करते हो?

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।

अनुकम्पा बरस पड़ी; क्योंकि प्रेममें अभिमान नहीं होता है। अनुकम्पाका अर्थ कम्पन है। दया पात्रका हृदय जो थरथर-थरथर काँप रहा है, उसके पीछे भगवान्का हृदय भी वैसे ही काँपने लगता है। क्योंकि भगवान्का अपना हृदय नहीं है। भगवान्का हृदय ही अपना हृदय है। इसके लिए हम वेदान्तियों की गवाही दे सकते हैं। वे कहते हैं—कार्योपाधि ज़ीवमें है। कार्योपाधि परमेश्वरमें है ही नहीं।

कार्योपाधिः जीवः, कारणोपाधिः ईश्वरः।

भगवान्के पास अपना दिल नहीं, भक्तके दिलको ही भगवान् अपना दिल मानते हैं, और जब भक्तका दिल काँपने लगता है जो भगवान् स्वयं काँपने लगते हैं। यही उनकी अनुकम्पा है। भक्तके काँपनेके पीछे काँपनेका नाम अनुकम्पा है। प्रेम बरस पड़ा, रस बरस पड़ा, आनन्द बरस पड़ा।

अब दो बात सुनाता हूँ—गोपियोंके सारे बन्धन टूटकर गिर गये। कर्मका बन्धन, वासनाका बन्धन, अज्ञानका बन्धन सब-के-सब टूटकर गिर गये। कैसे गिरे? जब श्री कृष्णके बिरहका अनुभव करती हैं, गोपियोंमें इतना ताप होता है, इतना ताप होता है कि उस बिरह नादको देखकर त्रिलोकीका त्रैकालिक ताप—तीनों लोकोंमें कभी बड़ा-से-बड़ा दुःख हुआ हो, वह दुःख थरथर काँपने लगा—अरे कृष्णके बिरहमें इतना दुःख! सारे पाप भस्म हो गये। अब हम उनको और क्या दुःख देंगे? ये तो कृष्णके बिरहमें ही इतनी दुःखी है और उनका कर्म जल गया। उनकी वासना जल गयी। उनका अभिमान जल गया। उनका अज्ञान जल गया।

कृष्णके साथ आया आनन्द, ध्यानमें मिला आलिङ्गन—श्री कृणने अपने हृदयसे लगा लिया, इतना आनन्द हुआ गोपियोंको। इतना आनन्द हुआ कि त्रिलोकके जो त्रैकालिक पुण्य हैं, तीनों लोकमें जितने जीव हुए हैं और उन्होंने जितना पुण्य कभी किया है, कर रहे हैं, करेंगे—सबने देखा—बोले सब मिला सकें जो क्या जीवको इतना आनन्द दे सकेंगे? बोले नहीं—हम तो इतना आनन्द नहीं दे सकते। तो सबका अभिमान टूट

गया। सारे पुण्य क्षीण होकर गिर गये। सारा मंगल, सारा पाप, सारा पुण्य क्षीण हो गया और भगवान् मिल गये।

विरहमें अभिमान नहीं रहता है, विरहमें तो अभिमान हो ही नहीं सकता। संयोगमें भी अभिमान नहीं हो सकता। यह है प्रीतिकी रीत निराली। भगवान्‌की अनुकम्पा, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌की दया! अब क्या करते हैं? बल्ब जलाते हैं, मसाल जलाते हैं, दीपक जलाते हैं। भगवान्‌ने कहा किसलिए? तो तुमको देखनेके लिए। अन्धेरेमें तुम दिखते नहीं हो, मैं रोशनी जलाकर तुम्हें देखूँगा और बोले तुम बैठे रहो, पलंग पर लेटे रहो—मैं अपने आप ही रोशनी कर देता हूँ। मैं बटन दबा दूँगा, मैं मशाल जलाऊँगा, मैं दीपक दिखाऊँगा।

अहम् अज्ञानजं तमः नाशायाम्यात्मभावस्थः।

यह अज्ञानजनित जो तमः है, अन्धकार है, इस अन्धकारको मिटानेके लिए तुमको कुछ नहीं करना पड़ेगा। न कर्म, न उपासना, न योग, न विवेक, न वैराग्य, न समाधि—तुमको कुछ नहीं करना पड़ेगा। मधुसूदन सरस्वतीने गीताके श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि बिना कर्मके, बिना उपासनाके, बिना योगके जब कृपा आयी, अनुकम्पा आयी तब यह देखना धर्म है कि कोई विवेकी है कि नहीं—वैराग्यवान् है कि नहीं?

कृपा-पात्रकी योग्यता यही होती है कि वह नि:साधन है। कृपा-पात्रकी योग्यता साधनाकी नहीं होती है, कृपा-पात्रकी योग्यता तो उसकी नि:साधनता है। नहीं तो आप कुब्जाके पूर्वजन्मकी कथा ढूँढें। कुब्जाने पूर्व जन्ममें कौन-सी ऐसी साधनाकी थी कि कुब्जा हो गयी और भगवान्‌ने उसको अपना लिया। अत्यन्त नि:साधन ही नहीं, कु-साधन-सम्पन्न थी कुब्जा। अजामिल था, कु-साधन सम्पन्न। परन्तु नामने उसका उद्धार किया। कुब्जा थी अत्यन्त कु-साधन-सम्पन्न किन्तु भगवान्‌के रूपने उसका उद्धार किया। भगवान्‌के नाम और रूपकी यही महिमा है। जैसा नाम वैसा रूप।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशायाम्यात्मभावस्थः।

कहाँ बैठकर मसाल दिखाते हो? 'आत्मभावस्थः।' उसके हृदयमें उसके आत्माके रूपमें ही बैठकर और वहींसे अपने ज्ञानका प्रकाशमय दीप लेकर मैं दिखाता हूँ। अज्ञानका नाश हुआ। 'तमः'का नाश हुआ। परमात्माका प्रकाश हुआ। इसमें विभूति भी है और इसमें योग भी है। इसमें अज्ञानका जो नाश है यह विभूति है और इसमें जो नाश करनेवाला आत्मभावस्थ है वह योग है। भगवान्‌का हमारे हृदयमें बैठ जाना, यह योग है और बैठकर हमारे अज्ञानान्धकारका नाश करना, यह विभूति है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 10.7

यह संसार भगवान्‌की विभूति है और हमारी आत्माके रूपमें भगवान्‌का योग है, चाहे जहाँ रहो, चाहे जब रहो, चाहे जिस रूपमें रहो, चाहे जो करते रहो। प्रेमसे करो, उसके लिए करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

(18-11-80)

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रेमसे भगवान्‌का भजन करो। अभी आप लोगोंने स्वरके साथ, संगीतके साथ वेद-मन्त्रोंका पाठ सुना। श्रीकृष्णकी महिमा, उनका सौन्दर्य उनका माधुर्य श्रवण किया। आनन्द आया। शास्त्रमें तो ऐसा लिखा है कि कोई जानकर हो, न-हो अपनी समझमें आवे-न-आवे ईश्वरका नाम संगीतमें सुनकर आनन्द आता है। न समझा हुआ भी संगीत जब कानोंमें पड़ता है हृदयमें आनन्दका झरना बहने लगता है। बड़ा आनन्द आया, प्रसन्नता हुई। फिरसे सुननेको मिलेगा। अब आपको गीताकी बात सुनाते हैं। आप कहोगे कि श्लोक एक ही बार-बार दुहरा देते हैं।

मच्चित्ताः माने हमारा अध्यात्म भगवान्‌में लगा गया है। हमारा मन हमारी बुद्धि भगवान्‌में लग गयी। **मद्‌गतप्राणाः** माने हमारा जीवन और हमारी क्रिया—प्राणसे क्रिया, मतलब है—भगवान्‌को समर्पित है। **बोधयन्तः परस्परम्** माने एक दूसरेको बुद्धि दान कर रहे हैं। वह इनको समझा रहा है, यह उनको समझा रहा है, भगवान्‌के बारेमें। **कथयन्तश्च मां नित्यम्**—परस्पर नहीं समझा रहे हैं, अकेले ही कोई कथन कर रहा है। एक हुआ मन, बुद्धिका भगवान्‌में लगना, **मच्चित्ता**—अन्तरङ्ग हो गया। मद्‌गतप्राणा—जीवन भगवान्‌के लिए हो गया। क्रिया सारी भगवान्‌के लिए और **बोधयन्तः परस्परम्**—दो, तीन, चार मिलके एक दूसरेको समझाते हैं। सामूहिक हो गया और **कथयन्तश्च मां नित्यम्**—वक्ता एक है और श्रोता अनेक है। यह हो गयी भक्तिकी साधना। अब इसमें यह बात बतायी कि **तुष्यन्ति च रमन्ति च।**

जैसे संसारमें लोगोंको धनकी प्राप्तिसे सन्तोष होता है वैसा सन्तोप भगवान्‌में मन, बुद्धि लगानेसे, भगवान्‌के लिए जीवन व्यतीत करनेसे, क्रिया करनेसे, समझने-समझानेसे और भगवत्-सम्बन्धि चर्चा करनेसे प्राप्त होता है, और 'रमन्ति च' संसारमें जैसे कोई प्रेम हो—तो घण्टे-आध घण्टे चुप भी रहें तो जहाँसे प्रेमकी बात आरम्भ होती है, वहींसे फिर शुरू हो जाती है। अपना किसीसे प्रेम हो, उससे बात करें तो घण्टे-आध-घण्टे बाद उसकी चर्चा करेंगे। भीतरमें उसका ख्याल चलता रहता है। **रमन्ति च**—जैसे प्रेयसी, प्रियतम एक-दूसरेके साथ रम जाते हैं। वैसे भगवान्‌में वे रम जाते हैं। धनप्राप्ति अथवा कामप्राप्ति होनेपर जैसा आनन्द होता है; वैसा ही भगवान्‌में आनन्द आता है। गोस्वामीजीने कहा—'**कामी नारि पियारी जिमि**'—यह 'रमन्ते च'का अर्थ हो गया। और 'लोभी प्रिय जिमि दाम' यह 'तुष्यन्ति च'का अर्थ हो गया और **चरमन्ति च चरमादवस्थाम् अनुभवन्ति**—इसके आगे कुछ और नहीं है। बस, इसीसे सन्तुष्ट हैं।

अब भगवान्ने देखा कि ये तो प्रीति और प्रीतिपूर्वक भजनमें डूब गये। इनको कोई ज्ञान ही नहीं—न शरीरकी याद है, न घरकी याद है, न संसारकी याद है तो बोले भाई, इन्होंने तो अपना सर्वस्व हमको दे दिया। अब हमको भी कुछ करना चाहिए। भगवान् केवल ले ही लें—गोस्वामीजीने तो एकांगी प्रेमका बहुत महत्त्व गाया है। पर ब्रजमें एकांगी प्रेमका बहुत महत्त्व नहीं माना है। जैसा प्रेम हम भगवान्से करते हैं, वैसा ही प्रेम भगवान् भी हमसे करते हैं। जब हम भगवान्के लिए रोते हैं तो भगवान् भी हमारे लिए रोने लगते हैं। जब हमें भगवान्के लिए नींद नहीं आती तो भगवान्को भी हमारे लिए नींद नहीं आती। यह भागवतमें है—

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥ (10.53.2)

जैसा रुक्मिणीका चित्त मुझमें लग गया है, वैसे ही मेरा चित्त भी रुक्मिणीमें लग गया है। रातको हमें नींद नहीं आती है। तारे गिन-गिनकर रात बिताता हूँ, रुक्मिणीके लिए। ऐसे भगवान् हैं। दूसरे मजहबमें ऐसे भगवान् नहीं है, जो अपने भक्तके लिए तारे गिनते हों। हम किसी मजहबपर आक्षेप नहीं करते हैं, पर यह निश्चित है कि भगवान् हैं ही नहीं ऐसे किसी मजहबमें!

झर-झर आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं भगवान् कृष्णके। हमारा भगवान् प्रेमको एकाङ्गी रखने ही नहीं देता।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जब कोई भक्त भगवान्का नाम लेने लगता है तो भगवान् भी भक्तका नाम लेने लगते हैं। आपने रामचरितमानसमें सुना होगा। रामचन्द्र 'भरत-भरत' का जप करते हैं। जग जपु राम-राम जपु जेही। जगत् राम-रामका जप करता है और भगवान् भरत-भरतका जप करते हैं। कौन बड़ा? 'राम-राम' बड़ा है कि 'भरत-भरत' बड़ा है? 'जग जपु राम-राम जपु जेही। जब भगवान् देखते हैं कि हमारा भक्त हमारे प्रेममें मग्न हो गया।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

सततयुक्तानाम्—वह और किसीके साथ जुड़ता ही नहीं है, भगवान्के साथ निरन्तर जुड़ जाते हैं और प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं। भजन करते हैं अर्थात् हमें रस देते हैं और हमसे रस लेते हैं। यह परस्परकी प्रीति है। ये जो सामान्य भक्त होते हैं, वे केवल भगवद्रसका आस्वादन करते हैं। और जो उत्तम कोटिके भक्त हैं वे भगवान्को रस देते हैं। पर जितना-जितना रस देते हैं, उतनी ही उनकी रसकी वृद्धि होती है।

श्रीराधारानीको देखकर श्रीकृष्णके बढ़ते हुए आनन्दको देखकर श्रीराधारानीका आनन्द बढ़ता है। श्रीराधारानीका बढ़ता हुआ आनन्द देखकर श्रीकृष्णका आनन्द बढ़ता है। दोनों अपने व्यक्तित्वको भूल जाते हैं, व्यक्तित्व आनन्दमें समा जाता है और आनन्द-ही-आनन्द, रस-ही-रस, प्रेम-ही-प्रेम। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्।'**

अब भगवान्के मनमें आया कि इसने जो इतने प्रेमसे मेरा भजन किया—अब हम इसको क्या दें? प्रेमी लोगोंकी बुद्धिके बारेमें जरा शङ्का होती है। बुद्धिको रखकर प्रेम नहीं करते हैं। चितरञ्जनदासने बँगलामें एक पद लिखा था। हिन्दीमें उसका अनुवाद ऐसा हुआ—

चतुराई, चेतना सभी चूल्हेमें जावे।
बस मेरा मन एक ही आश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें।
उस प्रभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें॥

जीवन भर नास्तिक रहे और जीवनकी अन्तिम सन्ध्यामें आस्तिक हो गये। भगवान्के भक्त हो गये। ये भक्त जब प्रेमके समुद्रमें डूबते हैं, तो उनका आचार-विचार भूल जाता है तो भगवान्ने कहा कि इनकी बुद्धिकी जिम्मेवारी हमारे ऊपर आगयी। **ददामि बुद्धियोगं तम्।** भगवान् बुद्धियोग देते हैं। यह दोनों तरहसे होता है। पहले बुद्धियोग आवे फिर मच्चित्तता आवे।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि—जो बुद्धियोगी होगा, उसका मन भगवान्में जरूर लगेगा। और जो अपना मन प्रेमसे भगवान्में लगावेगा, उसको बुद्धियोगकी प्राप्ति होगी। उसको वह अक्कल आ जावेगी, वह बुद्धि आ जावेगी, जिससे वह भगवान्के पास पहुँच जाय। बहुत बढ़िया बात भगवान्ने कही। इसके बाद जो भगवान्ने बात उठायी वह और बढ़िया है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

'तेषाम् एव भजताम् एव-'**तेषाम्**' पदका जो अन्वय है वह 'प्रीतिपूर्वकम् भजताम्' के साथ है और 'तेषां माम् उपयातानाम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते। बुद्धियोग मां उपयातानाम् एव।' एक अर्थ ऐसे होगा और एक अर्थ होगा—'**प्रीतिपूर्वकम् भजतां एव तेषाम्। भजतां तेषाम् एव।**'

जो प्रेमपूर्वक प्रीतिसे तृप्त होकर भजन करता है, प्रीति माने तृप्ति। तो प्रीतिके दो अङ्ग होते हैं। एक प्यास और एक तृप्ति—जो प्यासे होकर भजन करते हैं—जैसे मरुस्थलमें। पानी,पानी, पानी—प्रभु, प्रभु, प्रभु। और एक बंगाली रसगुल्ला खाकर तृप्त होवे—बङ्गाली लोग तो बोलते भी इतना मीठा है जैसे उनके मुँहमें रसगुल्ला भरा हो—'**तेषामेव प्रीतिपूर्वकम् भजताम्**' जो प्रीतिपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं—व्याकुलता और तृप्ति। तृप्ति होती रहे और प्यास लगी रहे। दोनों एक साथ चाहिए।

महात्माका स्वरूप क्या है? कृष्ण-तृष्णा मूर्तिमयी हो गयी। महात्मा है कृष्णकी तृष्णा—कृष्णविषया तृष्णा। कृष्णकी प्यास लगी है। हमको कौन चाहिए? कृष्ण चाहिए, कृष्ण चाहिए। शङ्कराचार्यने कहाकि जब कृष्णकी तृष्णा आती है तब संसारकी सारी तृष्णा मिट जाती है। गङ्गाजीकी स्तुतिमें शङ्कराचार्यने कहा—

भगवति तव नीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगत-सकल-तृष्णाः कृष्णमादधामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे
तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद॥ (7)

सारी तृष्णाओंकी निवृत्ति हो गयी—**कृष्णविषया तृष्णा**—कृष्ण तृष्णा—कृष्णके लिए तृष्णा। अथवा महात्मा क्या है? कृष्णस्य तृष्णा। भगवान्‌के मनमें भी एक प्यास होती है। वह भगवान्‌के मनकी प्यास जब मूर्तिमती होती है। तो महात्माके रूपमें आजाती है। स्वयं पेय बन जाते हैं और स्वयं पाता बन जाते हैं। स्वयं रस्य, स्वयं रसिक—वही रस देते हैं, वही रस लेते हैं। भगवान्‌के रूपमें भक्त और भक्तके रूपमें भगवान् उलटी बात हो जाती है—भक्त भगवान् हो जाते हैं और भगवान् भक्त हो जाते हैं। भक्त हो जाता है आनन्दका खजाना और भगवान् हो जाते हैं प्यासे, आनन्दके खजाने और भक्त हो जाता है प्यासा। भगवान्‌के पास जब आगये तब—

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

भक्तकी तन्मयता देखकर भगवान्‌के हृदयमें अनुकम्पाका उदय हुआ। जो अचल था वह चलित हो गया। जो नि:स्पन्द था वह स्पन्दित हो गया। भगवान्‌का हृदय थर-थर-थर थिरकने लगा—नाचने लगा। भगवान्‌के हृदयमें भक्तके लिए नर्तन है, नृत्य है, स्पन्दन है।

थोड़ी '**तेषामेव**' की बात करते हैं। भगवान्‌की कृपा सबके ऊपर क्यों नहीं होती? उनके लिए तो सब हैं, सबपर कृपा होनी चाहिए। इस प्रश्नका उत्तर दूसरे मजहबोंमें नहीं है। हम सब मजहबोंको मानते हैं। और सबकी प्रशंसा करते हैं और सब मजहबवालोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। लेकिन जब दोनोंका विश्लेषण करना पड़ता है, तब अलग-अलग करके बताना पड़ता है।

भगवान्‌ने किसी एकपर कृपा क्यों की? एकको सुखी बना दिया, एकको दु:खी बना दिया। एकको धनी बना दिया, एकको गरीब बना दिया। एकको काला बना दिया, एकको गोरा बना दिया। यह विषमता भगवान्‌में क्यों? जैन और बौद्ध तो ईश्वरकी चर्चा नहीं करते हैं। वे तो अपने अनेक तीर्थङ्करोंको और अपने बुद्धोंको ही परमेश्वरके स्थान पर रखते हैं, अनेक होते हैं तीर्थंकर और अनेक होते हैं तथागत। ये तो इस विषयमताको कर्ममूलक मानते हैं। अनादि कालसे यह सृष्टि चल रही है और कर्मके अनुसार कोई सुखी कोई दुखी, कोई काला कोई गोरा, कोई धनी कोई गरीब होता है। जैन और बुद्ध दोनों धर्मोंमें कर्ममूलक विषमता मानी जाती है।

ईसाई और मुसलमान इस विषमताको खुदाकी मौज मानते हैं। मौज माने तरङ्ग—मूड! यह ईश्वरका मूड है कि चाहे जिसको गरीब बना दे। चाहे जिसको धनी बना दे और चाहे जिसको सुखी बना दे, चाहे जिसको दु:खी बना दे। यह मौज है—तरङ्ग है—उसके चित्तका उल्लास है। लगता है जैसे खुदा बहुत मूडी हो। सनातन, वैदिक धर्मने इसकी व्यवस्था ऐसे बैठायी कि—

वैषम्य नैघृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति। (ब्रह्मसूत्र 2.1.34)

कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरमें विषमता और निर्दयता नहीं है। वह किसीका पक्षपात करे और किसीके साथ क्रूरता करे, ऐसी उस परमेश्वरकी मौज नहीं हो सकती। जिस जीवने कभी कुछ किया ही नहीं,

उसको बिना किये सुख-दु:ख भोगनेको मिल रहा है और जो इन जन्ममें कर रहा है, उसका अगले जन्ममें नहीं मिलेगा तो उसके किये हुएका नाश हो जायेगा और बिना किये हुएका आगमन होगा। दोष तो प्राप्त होंगे जीवोंको, और ईश्वरने किसीका क्यों पक्षपात किया? किसीको क्यों दु:ख दिया? किसीको क्यों सुख दिया? तो यह पक्षपात—क्या कोई अपने रिश्तेदार थे कि उनको सुख दे दिया? क्या कोई अपने दुश्मन थे कि उनको दु:ख दे दिया? नहीं, भगवान्‌में पक्षपात और क्रूरता नहीं है। क्योंकि **'सापेक्षत्वात्'** कर्म तो जड़ है—स्वयं अपना फल नहीं दे सकता। न अपने कर्ताको पहचान सकता है और न क्या फल दें यह उसको ज्ञान हो सकता है—इसलिए युक्तिसंगत मत यही है कि कर्मका फलदाता ईश्वर होवे। जिसका जैसा कर्म होता है, उसको वैसा फल देता है।

हमारे जो भक्त हैं, उनका कर्म क्या है? **भजतां प्रीतिपूर्वकम्**—प्रेममें भगवान्‌का भजन करना। जो प्रेमपूर्वक जन करते हैं, मैंने उसको बुद्धियोग दिया और बुद्धियोगके द्वारा मेरे पास पहुँचे। यह बुद्धियोग तो बहुत बढ़िया वस्तु है। यह जो तीसरी बात बता रहा हूँ वह किसी भी मजहबमें नहीं ऐसा बुद्धियोग होता है कि पाप-पुण्य दोनों यहीं नष्ट हो जावेंगे। न आगे नरकमें जाना पड़ेगा, न स्वर्गमें जाना पड़ेगा। यहीं 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।' जिसको बुद्धियोग प्राप्त हो जाता है वह सुकृत-दुष्कृत माने पाप और पुण्य लेकर अपने साथ नहीं जाता। मुक्त हो जाता है। ऐसी मुक्ति और कहीं नहीं है। अद्‌भुत है। जिसने भजन किया वह भी कयामतके दिनतक कब्रमें रहे और फिर वहाँसे निकले तो स्वर्गमें जावे—ना बाबा यहीं लो! पाप-पुण्य दोनों और पापका फल और पुण्यका फल—दोनों यहीं छोड़नेकी रीति गीतामें है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण:।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (2.51)

तो यह बुद्धियोग है। बुद्धियोग भगवान् देते हैं। ठीक है, अब इन्हींके ऊपर भगवान्‌की कृपा उतरी—दो विभाग कर दिये—एक तो बुद्धियोग प्राप्त करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं और जिनको बुद्धियोग पसन्द नहीं आया और चित्त द्रुत नहीं हुआ—अद्रुत चित्त है, उनको तो बुद्धियोगने ठीक कर दिया। लेकिन जिनका चित्त द्रुत है और बुद्धियोगको स्वीकार नहीं करते, उनको भी कुछ नहीं चाहिए।

मैं चाहे अन्नमय कोश हूँ या प्राणमय कोश हूँ—इससे हमारा कोई मतलब नहीं—हमारे ऊपर सद्‌गुण है कि दुर्गुण हैं, इससे कोई मतलब नहीं—मैं जैसा था, हूँ, होऊँगा वह सब आज अभी आपके चरणोंमें समर्पित है। भगवान्‌ने कहा—यह तो हमारी चीज है, हमारी वस्तु है, इसमें कोई दोष होगा तो सेवकका दोष तो स्वामीका दोष माना जाता है। मैं ही दोषी हो जाऊँगा।

श्रीरामचन्द्र भगवान्‌ने कहा—

परं ममैव मरणं मद्‌भक्तो हन्यते कथम्।
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्डयिष्यते॥

यदि भृत्यसे, सेवकसे, अपराध हो जावे तो स्वामीको दण्ड देना चाहिए। विभीषणसे अपराध हुआ—

रावण मर गया तो इसका दण्ड मुझे मिलना चाहिए। पद्मपुराणमें कथा है। भक्तने तो अपने आपको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दिया तो भगवान् अनुकम्पा करेंगे ही। भागवतमें जहाँ ऐसा कहा गया है—वहाँ उसका दो अर्थ किया जाता है—श्रीधर स्वामीने जगह-जगह दो अर्थ किये हैं। **'अनुकम्पाये अर्थाय च—अनुकम्पार्थम्'**—अनुकम्पा और अर्थ दोनों। दोनोंका मतलब क्या हुआ? अनुकम्पा परम-प्रेमाविर्भाव: अर्थ: मत्प्राप्ति:—मेरे परम ज्ञानका आविर्भाव हो जावे—उसके हृदयमें इसके लिए मैं उससे मिल जाऊँ। दोनों—कृपा भी आया, और वस्तु भी आयी।

एक बार आनन्दमयी माँने विचित्र खेल किया। नैमिषारण्यमें मैंने श्रीमद्भागवत सुनाया, पूरा पन्द्रह दिनोंमें चार घण्टे रोज। वे एक सिंहासनमें शालिग्रामकी मूर्ति रखकर; अपने सिरपर लेकर आयी, बोलीं—पिताजी, मैं आपको यह दक्षिणा देनेके लिए आयी हूँ। दक्षिणा लीजिये—सिंहासन और शालिग्राम-शिला। मैंने अपने हाथमें सम्हालना चाहा तो माँने कहा कि पिताजी—इस दक्षिणाके साथ मैं अपने आपको भी देती हूँ। अब इससे बढ़िया और क्या होगा? यह भगवान् जब अपने भक्तको अपनी कृपा अर्पित करते हैं तो केवल कृपा ही अर्पित नहीं करते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

उनके आत्मभावमें मैं स्थित हो जाता हूँ। आत्मभाव शब्दका दोनों अर्थ हुआ। उनके हृदयमें जो भाव है—उस भावमें भगवान् आकर बैठ जाता है। आत्मभावस्थ—भावमें भगवान् बैठ गये। भाव स्थायी भाव हो गया और जहाँ स्थायी भाव हुआ वहाँ हृदय रस हो गया। यह भावमें स्थायित्व न होनेसे ही रसानुभूति नहीं होगी। साहित्यिक लोग इस बातको जानते हैं।

खूब कोमल हृदय हो, मक्खनकी तरह कोमल हृदय हो—और ममत्वातिशयसे अंकित हो, उसमें अतिशय ममत्वकी रति हो और बहुत गाढ़ा भाव हो तो उस भावका नाम है प्रेम। ये प्रेम ही स्थायी भाव है। जहाँ भाव स्थायी हुआ वहाँ रस आया—आपके जीवनमें जो भजन करनेपर भी रस नहीं है—उसमें स्थायी भावकी न्यूनता है। भावमें स्थायित्व नहीं है।

हमारे एक महात्माने कहा—वृन्दावनमें तो रसका अनुभव होता है—जब श्रीकृष्ण और बलराम मथुरामें गये तो ग्वालवालोंकी मण्डलीके साथ नृत्य कर रहे थे। मथुरामें प्रवेश कर रहे थे। मथुराकी स्त्रियाँ—आगयीं—छज्जेपर—सड़कपर—दरवाजे पर—निकलकर जब राम-श्यामकी मण्डली नृत्य करती थी—तब वे श्यामको देखें, तब वे कहें यह हमारा प्यारा है, बहुत प्यारा है, बहुत मधुर है। हमको तो यही चाहिए। परन्तु जब नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण दूसरी ओर जायँ और उधरसे गौर सुन्दर नीलाम्बरधारी राम आजायँ सामने तो कहें—अरे यह हमारा प्यारा है। तो स्थायी भाव ही न हो। न श्याममें स्थायी हो, न राममें स्थायी भाव हो। रसानुभूति कहाँसे होगी?

जब चित्त इतना चञ्चल होगा तो रसकी अनुभूति कहाँसे होगी? स्थायी भाव आगया—भक्तको मेरे

सिवाय कुछ सूझता ही नहीं है। अज्ञानान्धकार कैसे दूर होगा? तो बोले हमको मशालची बनना पड़ता है। क्या बढ़िया है? जिसके घरमें हम जाना चाहते हैं। जिससे मिलना चाहते हों—जिसके लिए व्याकुल हो रहे हों, जिसके स्मरणसे तृप्ति हो रही हो, जिसके देखनेके लिए हमारी यह यात्रा है, वही यदि हमें रास्ता दिखानेके लिए हमारे सामने आजाय तो इससे बढ़कर और क्या आनन्द होगा? **आत्मभावस्थः**—ज्ञान दीपक दिखाते हैं—परन्तु कहाँ बैठकर दिखाते हैं—आत्मरूपमें बैठकर दिखाते हैं—आत्मभाव माने भावना नहीं—आत्म सत्ता—आत्मरूपसे बैठकर ज्ञानदीपक दिखाते हैं। भागवतमें इसकी व्याख्या है—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ (4.29.46)

जब आत्मभावसे भावित भगवान् अनुग्रह करते हैं तब हमारा ही ग्रह उनका ग्रह हो जाता है। अनुग्रहका अर्थ यह होता है कि हमारे भक्तका जो ग्रह है, वही हमारा ग्रह है। ग्रह माने ग्रहण। हम एक ही राशिके हैं भाई! एक ही तरहके हमारे ग्रह हैं। यज्ञ-यागमें सोमपान करते हैं। जिस प्यालेमें लेकर सोमपान करते हैं, वह ग्रह होता है—तो अनुग्रहका अर्थ यह हुआ कि जिस प्यालेमें भक्त पी रहा है, उसी प्यालेमें भगवान् पी रहे हैं। क्या अद्भुत ग्रह है।

ग्रह माने हमारा मतलब आकाशके ग्रहोंसे नहीं है। ये तो ज्योतिषियोंके लिए होते हैं। हमलोगोंको तो धरतीपर पाँव रखकर चलना है न! अपनेको हम ऐसा बना सकते हैं—जैसे आकाशसे वर्षा होती है तब हम छाता लगा लेते हैं—बरसाती पहन लेते हैं। तो वर्षा बन्द नहीं होती है, हम वर्षासे बच जाते हैं। जो ग्रहोंकी पूजा-पाती होती है वह यह नहीं कि ग्रहकी स्थिति या गति बदल जाय और दुनियापर जैसा उसका प्रभाव पड़ रहा है वह न पड़े। हम अपनेको सुरक्षित कर लेते हैं। उस ग्रहके प्रभावसे अपने आपको मुक्त कर लेते हैं।

भगवान्ने कहा कि तुम्हारे साढ़े साती शनैश्चर है—हमारे भी साढ़े साती शनैश्चर है। माने तुम नरकमें रहोगे तो हम नरकमें रहेंगे। तुम वनमें रहोगे तो हम वनमें रहेंगे। तुम भूखे रहोगे तो हम भूखे रहेंगे। तुम्हारे दुःखमें हम भी दुःखी रहेंगे। तुमको हम छोड़कर कहीं जानेवाले नहीं है। यह लो अनुग्रह। जब भगवान् अनुग्रह करते हैं—कैसे? आत्मामें बैठकर। तब फिर वेद-निष्ठा, लोक-निष्ठा इन दोनोंको कोई जरूरत ही नहीं रहती है। यह भागवतका श्लोक है।

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्।

सब निष्ठा छूट गयी। एक निष्ठा आगयी। '**अनुकम्पार्थम्**'—अब भगवान्ने क्या किया? बोले—भगतराज, चले आओ—चले आओ!

एक बात सुनाता हूँ—हमको किसीसे मिलने जाना था। लम्बी यात्रा थी 24 घण्टे रेलगाड़ीमें रहना था। पहचान बिल्कुल नहीं थी। चिट्ठी-पत्री बहुत थी। चिट्ठी-पत्रीमें तो खूब-खूब प्रेम था। पर देखा-देखी नहीं थी। दिल्लीमें मैंने थर्डक्लासके डब्बेमें चढ़नेकी कोशिश की तो एक सज्जन बोले आइये-आइये और अपने पास

बैठा लिया। उन्होंने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं। मैंने उन्हें शहरका नाम बताया—बोले अच्छा आप वहाँ जा रहे है, मैं भी वहीं जा रहा हूँ। अच्छा, वहाँ किसके पास जा रहें हैं? मैंने नाम बताया—बोले हाँ-हाँ मैं खूब जानता हूँ। आइये बैठिये! महाराज चौबीस घण्टेकी यात्रा—हमको पानी पिलावें। हमको वे खानेको दें। हमारे सोनेका प्रबन्ध करें। जब उनके स्टेशन पर गाड़ी पहुँची तो उनको लेनेके लिए लोग आये—बड़ा आदर-सत्कार हुआ। मैनें लोगोसे पूछा ये कौन हैं? नाम बताया—वही जिनसे मैं मिलनेके लिए जा रहा था।

जहाँसे हमारी यात्रा प्रारम्भ हुई—वहीं तो हमको मिल गये और हमको प्रेमसे सुलाया, खिलाया, हमको पिलाया, हमसे बातचीत की, प्रेम किया पर यह नहीं बताया कि मैं वही हूँ। यह भगवान्—**अहमज्ञानजं तमः नाशयात्म्यात्मभावस्थः**—हृदयमें आ कर बैठ जाते हैं, हमारे साथ हो जाते हैं। हमारी आत्माके रूपमें ही हो जाते हैं और **ज्ञानदीपेन भास्वता।** परम प्रकाशस्वरूप ज्ञानदीपक लेकर **अज्ञानजं तमः** अज्ञान जनित अन्धकार जिसके कारण हम भगवान्‌को देख नहीं पाते हैं, पहचान नहीं पाते हैं, उस अन्धकारको भगवान् स्वयं ही नष्ट कर देते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 10

(19.11.80)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

इतनी बात कहकर श्रीकृष्ण चुप हो गये। इसमें यह कहा गया कि भगवान्‌की बड़ी कृपा होती है तब वे हमारे अज्ञानजन्य अन्धकारको, भ्रमको नष्ट करते हैं। यह बात बड़े-से-बड़े वेदान्तियोंने स्वीकार की है। दो ग्रन्थोंका नाम लेता हूँ, एक तो खण्डन खण्ड-खाद्य जो श्री हर्षकी रचना है। वेदान्तके उच्च-कोटी शिखर ग्रन्थोंमें उसकी गणना है। और एक अवधूत गीता, फक्कड़ोंकी पुस्तकमें, फकीरोंकी पुस्तकमें वह सर्वोपरि मानी जाती है। दोनोंमें यह बात आयी कि—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणा द्वित्राणामुपजायते॥

ईश्वरके अनुग्रहसे ही मनुष्यके हृदयमें अद्वैत वासनाका उदय होता है। यह ईश्वरके अनुग्रहकी पहचान है। अभिज्ञान है। हमारे ऊपर ईश्वरकी कृपा हो रही है? हाँ हो रही है। कैसे हो रही है? हमारे हृदयमें अद्वैतकी भावनाका उदय हो रहा है। **महद्भयपरित्राणा**—इससे जो संसारका जन्म, मरणका महान भय है, उससे रक्षा हो जाती है। परन्तु **द्वित्राणामुपजायते**—केवल दो-तीन व्यक्तियोंकी होती है। किसी-किसीके हृदयमें अद्वैत भावनाका उदय होता है, नहीं तो अधिकांश किसी-न-किसी संङ्कीर्ण भावनाके वशमें हो जाते हैं। अद्वैत वासना संङ्कीर्ण वासना नहीं है, उर्दीण वासना है। जिसमें अपने-परायेका कोई भेद ही नहीं होता। यह भगवान् सबको नहीं देते हैं, किसी-किसीको देते हैं।

मन्मया मामुपाश्रिताः बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। (4.10)
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (5.17)

भगवान् स्वयं कहते हैं कि अपुनरावृत्ति, माने मुक्ति—जन्म-मरणसे छुटकारा—**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**। ज्ञानके द्वारा जो कल्मषको धो डालता है, जिनका हृदय शुद्ध होता है, उन्हींको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। अब आओ—**तेषामेवानुकम्पार्थम्**। एक बार फिर दुहरा लें। **तेषामेव**—जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, भजन करते हैं—बड़े प्रेमसे भगवान् उनको पहले बुद्धियोग देते हैं। मानो ऐसी बुद्धि देते हैं, जो भगवान्‌की ओर ले जाय। नहीं तो मनुष्यकी बुद्धि मायाकी ओर जाती है, भगवान्‌की ओर नहीं जाती। भगवान् ऐसा करें तो बुद्धि उनकी ओर जाती है।

जैसे जादूका खेल देखकर आते हैं, जादूगरको पहचानते ही नहीं। नाटक देखकर आते हैं— नटसे पहचान नहीं होती है। नटके अनेक रूप देख लेते हैं। अनेक क्रियाएँ देख लेते हैं, परन्तु नटसे पहचान नहीं होती है। नट कौन है? सिनेमाके परदे पर रोशनीमें जो नाच रहा है। माने एकके बाद एक, एकके बाद एक सैकड़ो चित्र जिसके उभर रहें हैं, वह नट है।

हमारे एक फकीरने जैसे अश्लील भाषामें बोलें वैसे कहा—

वेश्या किया सिंगार है बैठी बीच बाजार,
नजारा सबको मारे। ले खसम को नांव,
खसम सौं परिचय नाहीं।।

वह अपने पतिका नाम तो लेती है, पर पतिको पहचानती नहीं है। यह जिसका नाटक है वह सब परम पति है, परमेश्वर हैं, प्रभु है, उससे पहचान नहीं हुई, तो यह सारा ज्ञान, ये सारी पुस्तकें,ये सारी विद्या, ये सारी बुद्धि—किस काम आयी? उस परम दानशीलको देखे बिना हृदयमें सन्तोष कैसे हो? जो प्रेमसे भगवान्‌का भजन करता है, उसको ऐसी बुद्धि देते हैं कि वह उनके साथ जुड़ जाय—बुद्धियोगी हो जाय। वह बुद्धियोग भगवान्‌के पास पहुँचा देता है। यह अवरज्ञान है।

जब अवरज्ञान प्राप्त हो जाता है, बुद्धि भगवान्‌के साथ जुड़ जाती है, तब भगवान्‌का सिंहासन डोलता है—**तेषामेवानुकम्पार्थम्**। कहते हैं भगवान् अपनेसे मिलनेकी बुद्धि देते हैं, और वे भगवान्‌के पास पहुँच जाते हैं जब भगवान्‌का हृदय द्रुत होकर बह जाता है। **अनुकम्पार्थं तेषामेव नान्येषाम्**—केवल उन्हींपर भगवान्‌की कृपा होती है, सबपर नहीं।

एक आदमी जेलमें कैद है। उसके आचरणसे राजा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर उसने आज्ञा दी कि इसको जेलसे छोड़ दो। उसने कहा— हम सिर्फ जेलसे छूटना नहीं चाहते। हम तो आपके महलमें, आपके रनिवासमें रहकर आपकी सेवा करना चाहते हैं। बोल ना भाई—जेलसे तो हम छोड़ दें लेकिन अभी हम तुमको अपने महलमें नहीं रख सकते। रनिवासमें नहीं रख सकते। जेलसे छूटना दूसरी बात है और महलमें रहकर खास-खवासी विशेष सेवाका पात्र बनाना—दूसरी बात है। यहाँ भगवान् बोलते हैं—मैं अनुकम्पा करता हूँ—कृपा करता हूँ, दया करता हूँ। एक दया होती है, मनुष्यको दु:खसे छुड़ा दे। यह छुड़ानेकी दया है। हम रास्ता चलते किसीको दु:खी देखते हैं तो उसको दु:खसे छुड़ाते हैं। दु:ख इसको क्यों हुआ?

इसने कोई बुरा काम किया है, पाप किया है—अच्छा आओ पापसे भी छुड़ा दें। देखो बेटा, अब चोरी मत करना, जूआ मत खेलना, अब नशा मत करना—इससे बुद्धि भ्रष्ट होती है—दु:खसे बचा देना और दु:खके कारण बुरे कामसे बचा देना यह पापसे नुक्ति है, दु:खसे मुक्ति है, यह भी मुक्ति है। पापसे मुक्ति तो प्रायश्चित करके भी होती है, परन्तु पापके फल तापसे जो मुक्ति है, वह तो बिना भगवद्-कृपाके नहीं होती। क्योंकि वह तो हुकुम हो चुका है—दण्ड भोगनेकी आज्ञा दी जा चुकी है, अब उस आज्ञाको वापिस करना—राष्ट्रपति क्षमा

कर दे, यह बात दूसरी है। भगवान् क्षमा करें यह बात दूसरी है और सुप्रीम कोर्टका ओर्डर हो गया यह बात दूसरी है। जो पाप करता है उसको ताप मिलता है।

उपदेशक लोग उपदेश करके पापसे छुड़ा देते हैं और भगवान् कृपा करके तापसे छुड़ा देते हैं और दुःख और पाप दोनोंकी हेतु है वासना—वह अपने चित्तमें रहती है। हम बाहर किसीकी वजहसे पाप करते हैं, यह बात गलत है। हमारा मन ही ऐसा आकृष्ट हो जाता है, खिंच जाता है, प्रलोभनमें फँस जाता है कि उससे हम पाप करने लगते हैं। वासनासे भगवान्‌की भक्ति बचाती है। पापसे शिक्षा देनेवाले लोग बचा सकते हैं। तापसे भगवान् कृपा करके बचा सकते हैं।

परन्तु जो वासनाएँ अपने हृदयमें आती हैं, वे तो भगवान्‌की सत्तामें तो आती ही हैं, भगवान्‌के प्रकाशमें तो आती ही हैं। उनके देखते-ही-देखते आती हैं। उनसे बचाती है भक्ति। भगवान् भी वासनाओंके उदयको नहीं रोक सकते। क्योंकि सारी विश्व सृष्टि उनकी बनायी हुई है। कालिय नागको जब पीटने लगे पाँवसे तो उनकी पत्नियोंने छुड़ाया। स्त्रियोंका आदर पहले भी बहुत अधिक था। कालिय नागको ऐसे नहीं छोड़ा, लेकिन जब उनकी श्रीमती आकर बोली 'छोड़ दो महाराज' तब छोड़ दिया। छोड़ दिया तब कालिय नागने पूछा—

त्वया विश्वमिदं सृष्टम्......

तुमने यह सारी दुनिया बनायी और उसमें ब्राह्मण बनाया, क्षत्रिय बनाया, प्रकृति, महतत्त्व, सबकी सृष्टि तुमनेकी तो तुमने साँप बनाया कि नहीं? कृष्णने कहा—हाँ, साँप मैंने ही तो बनाया है। अच्छा, तुमने साँपके अन्दर विष दिया कि नहीं? दिया। उनका क्रोधी स्वभाव बनाया कि नहीं? हाँ, बनाया। अच्छा तो, साँप भी तुमने बनाया, जहर भी तुमने दिया, क्रोधी स्वभाव भी तुमने दिया—यह मानते हो न? हाँ मानते हैं। तब—बस, अब हमको कुछ नहीं कहना है!

आपकी मर्जी हो तो अनुग्रह करो, आपकी मर्जी हो तो निग्रह करो। कृष्णने कुछ जवाब नहीं दिया। उसके सिरपर पाँव रखकर अपनी मुहर लगा दी। बोले—अब जाओ तुम्हारी मर्जी हो वहाँ रहो, अब गरुड़ तुमको सतावेंगे नहीं, क्योंकि मेरी मुहर है। **मत्पादलाञ्छितम्**—मेरे चरणोंकी मुहर तुम्हारे सिरपर लग गयी, जाओ आजाद हो तुम!

वासना छुड़ाती है। क्योंकि भक्ति भी एक वासना है, वह भगवद् वासना है—शान्त होकर भगवान्‌से एक होना, भगवान्‌की सेवा करना, भगवान्‌से मित्रता करना, भगवान्‌से स्नेह करना—जैसे अपने पतिसे अपने यारसे प्रेम करते हैं, वैसा प्रेम करना। अनेक रूप धारण करके—हमारे हृदयमें भक्ति देवी क्रीड़ा करने लगती हैं तो सारी वासनाएँ भगवान्‌के साथ जुड़ जाती हैं। इससे व्यवहारमें कोई बाधा नहीं पड़ती।

व्यवहार तो शारीरिक है। सारी वासनाएँ भगवान्‌से जुड़ जाती हैं। आप चाहे स्वामीके पाँव दबा लो, चाहे उनके कन्धेपर हाथ रखकर चल लो—चाहे उनको अपनी गोदमें लेकर दूध पिलाओ—चाहे पति-पत्नीके समान उनसे प्यार कर लो—वेदोंमें इन सभी भावोंके मन्त्र आते हैं। भगवान्‌के साथ यह सम्बन्धवाली बात भी वैदिक है।

अभारतीय सम्प्रदायोंमें पुत्रके रूपमें या पतिके रूपमें या मित्रके रूपमें भगवान्से प्रेम करनेकी विधि नहीं है। सूफी लोग भगवान्से प्रेम करते हैं। पर उसमें सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध रहित प्रीति है, निर्मल प्रीति है। हमारी भारतीय संस्कृतिमें, वैदिक संस्कृतिमें भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़कर प्रेम कर सकते हैं। सम्बन्ध जुड़नेसे एक भाईसे जो प्रेम करना चाहिए, एक पुत्रसे जो प्रेम करना चाहिए—वह भगवान्से हो जाता है।

तात मात, गुरु सखा तुम सब विधि हितु मेरो।
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावे॥

छुट्टी हो गयी! हम सब कुछ नहीं। हम तो मोमकी पुतली होकर तुम्हारे सामने खड़े हैं। मोम हैं—***'मानिये जो भावे।'*** तुम्हारी मर्जी हो—बेटा बना लो। तुम्हारी मर्जी हो मित्र बना लो। तुम्हारी मर्जी हो—अपना प्रियतम बना लो, पत्नी बना लो। ***'मोहि तोहि—नाते अनेक—मानिये जो भावे।'*** सारे रिश्ते भगवान्से हैं, उनके हाथमें यह जीवन समर्पित है। गोस्वामीजीने कह दिया—'मानिये जो भावे।' हमको तो चाहिए तुम्हारा सान्निध्य! हम तुम्हारे पास रहना चाहते हैं।

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावे।

वासनाओंके जो विविध रूप हैं—सभी रूपोंमें हम भगवान्के साथ जोड़ सकते हैं। यहाँ तक कि भागवतमें तो शत्रुता करनेवाले भी भगवान्को प्राप्त करते हैं। ऐसे दृष्टान्त अनेक हैं। वेदके मन्त्रोंको और गोपियोंको जिस भगवान्की प्राप्ति होती है, उसी भगवान्की प्राप्ति शिशुपाल आदिको भी होती है। क्यों होती है? बोले—**स्मरणात्**। स्मरण तो सामान्य ही है—जैसे भक्त स्मरण करता है वैसे शत्रु भी स्मरण करता है।

शिशुपाल स्मरण करता है द्वेषसे तो जिन्दगीभर जलता रहता है और मित्र स्मरण करता है प्रेमसे तो रसास्वादन करता है और मरनेके बाद स्मरण तो एक चमत्कार दिखाता है। वह यह है कि जिसका स्मरण किया उसके साथ एक हो जाओगे। वासनाओंपर विजय भक्तिसे होती है। पापसे छुड़ाना एक बात, दुःखसे छुड़ाना दूसरी बात, वासनासे छुड़ाना तीसरी बात और यह सब होता कैसे है? जब भगवान् बुद्धियोग देते हैं।

सबके ऊपर बुद्धि बैठी हुई है। स्मरण होता है। चरित्र होता है, अन्नमय कोशमें। क्रिया होती है, प्राणमय कोशमें। वासनाएँ हैं मनोमय कोशमें। बुद्धि है विज्ञानमय कोशमें। यही सबका नियन्त्रण करती है। जिसको हम अच्छा समझते हैं, उसको पानेका मन हो जाता है। जिसको बुरा समझते हैं, उसको छोड़नेका मन हो जाता है और छोड़ने-पानेका मन होता है, तब कुछ करनेका मन हो जाता है और जब कुछ करनेका मन होता है तब मिल जाते हैं—वही हो जाते हैं।

भगवान् बुद्धियोग देते हैं। बुद्धियोगके बाद एक अहम्की ग्रन्थि होती है—वह जो अहम्की ग्रन्थि है वह झूठी है। लेकिन पड़ गयी। अहम् और इदम्की—चेतन और जड़की ग्रन्थि होती है। हमको एक जादूगर मिला था—एक ही नावपर बैठ गये थे—उसने मेरे सामने पचीस गाँठ लगायी। मैं देख रहा था बिल्कुल ठीक गाँठ

थी। हमको गाँठ मालूम पड़ रही थी। हाथमें लेकर देख लिया। पर उसने जो खींचा तो सब-की-सब गाँठ—मानो कुछ थी ही नहीं—लगती नहीं थी। गोस्वामीजी बोलते हैं—

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जद्यपि मृषा छूटत कठिनई॥

'मुधा भेद जद्यपि कृत माया।'—यह भेद बुद्धि जितनी है वह माया है—माया माने जादूका खेल। आप माया शब्दके चक्करमें न पड़ें—संस्कृतमें न जाने किभूत, किमाकार माया होती होगी। माया शब्दकी परिभाषा ही है कि जो है उसका दीखना बन्द कर दे और जो नहीं है, उसको दिखाने लग जाय—उसका नाम माया है—माया माने जादूका खेल। यह एक जादूका खेल दिखायी पड़ रहा है। ग्रन्थिको अध्यास बोलते हैं—अध्यास माने दो चीजकी गाँठ—जरासन्ध। जरासन्धका नाम आपने भागवतमें पढ़ा ही है। दो टुकड़े उसके अलग-अलग थे। जरा राक्षसीने, अविद्याने—चेतन और जड़ दोनोंको जोड़कर एक बना दिया और भीमसेनने श्रीकृष्णके संकेतसे—ज्ञानसे—जरासन्धके दो टुकड़े किये।

भागवत पढ़नेकी भी एक रीति है। भगवान्से प्रेम हो और भगवान्की कृपा उतर आवे और कृपा कर दें भगवान्! यह जो मायाका चक्कर है न—हम प्रेम करना चाहते हैं तुमसे और तुम हमें उँगलीसे दिखा रहे हो दूसरेको। यह कोई प्रेमकी बात हुई! हम तो चाहते हैं भगवान्को देखना चाहते हैं और भगवान् ही हमको दिखें और अपनेको दिखावें—यह बात चाहिए। वह जो ग्रन्थि है—छूटत कठिनई। यदि सत्य मानकर इस गाँठको खोलना चाहोगे और उलझ जायेगी।

हमारे जनेऊ रखनेका एक ढङ्ग है। हम उसको इस ढङ्गसे रखते थे कि मालूम पड़ेगा कि बिलकुल सजाके-सँवारके गाँठ लगाके रखा हुआ है—यदि हम उसको खोलें तो बिलकुल सीधा, बिना गाँठके खुल जाय और अनजान आदमी उसको खोले तो एकदम उलझ जाय। जनेऊको रखना और खोलना भी एक कला है। यह जो जड़ चेतनकी ग्रन्थि है, यह बिलकुल झूठी है और अज्ञानके कारण ही मालूम पड़ती है।

इसको हम ज्यादा खोलकर इसलिए नहीं बताते हैं कि कोई यह न समझे कि हमारी घर-गृहस्थीमें, हमारे व्यवहारमें बाधा डालना चाहते हैं। धन छोड़नेमें आदमीको तकलीफ होती है न! लेकिन आप बताओ धनके साथ आपकी गाँठ कहाँ है? कहीं ग्रन्थि है? क्या धनके मनमें है कि मैं इनका हूँ। क्या धन तुम्हारा है? तुम्हारे मनमें यह गाँठ बन गयी है—तुम अलग, धन अलग और मनमें गाँठ बन गयी कि धन मेरा। यह तो, *'जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।'*

'जदपि मृषा छूटत कठिनई।' वह गाँठ रहेगी तो नहीं! गाँठ तो सच्ची है नहीं। दुनियामें कोई चीज किसीकी नहीं है। कहीं कोई बन्धन नहीं है। बन्धनके नामपर लोग इसको कबूल नहीं करते। बन्धन खुले मुँह लोगोंके सामने आता नहीं। नहीं, हमको बन्ध नहीं चाहिए—तो ब्रह्माजीने उसके मुँहपर एक सम्‌की चादर दे दी। सम्‌की टोपी लगा दी। जहाँ बन्धके मुँहपर सम् लगा— बोले हम भी 'सम्बन्ध' चाहते हैं। अरे वह सम्‌की आड़में है तो बन्धन ही न!

बन्धनपर एक झूठा परदा सम्‌का लगा दिया—उपसर्ग माने जो मूल धातुके अर्थमें परिवर्तन दिखा दे।

आहार, प्रहार, विहार, संहार—बहुत खुला है—एक ही तो हार है। संहारका हार पहनोगे? नहीं पहनेंगे। प्रहारका हार पहनोगे? नहीं पहनेंगे। आहार? हाँ-हाँ आहार तो चाहिए—विहार तो चाहिए। हार तो वही है। यह बन्धन जो है वह झूठा है, कल्पित है और यह अन्धेरेमें मालूम पड़ता है कि मैं बँधा हुआ हूँ। असलमें कहीं बँधे हुए नहीं हैं। कहीं भी, कोई भी, बन्धन, इस आत्माके लिए नहीं है। स्वतन्त्र देश, देशान्तरमें नहीं—काल, कालान्तरमें नहीं, रूप, रूपान्तरमें नहीं—कहीं भी बन्धन नहीं—एक अज्ञान आपके बीचमें पड़ गया है—**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्** गीतामें भगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

इस अज्ञानने ज्ञानको ढँक दिया है। ज्ञानके अभावमें ज्ञानको ढँक दिया है? नहीं, अभाव किसीको ढँकता नहीं है। यह अद्भुत है—किसी वस्तुका अभाव, किसीको आवृत नहीं कर सकता। तब! अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्का क्या अर्थ है? वहाँ ज्ञान विशेषका अभाव है। जो ज्ञान भगवान् देते हैं, वह ज्ञान तुमको अभी प्राप्त नहीं हुआ और जो ज्ञान है—तुम्हारे जैसा राजनीतिका ज्ञान और किसीको नहीं है। तुम्हारे जैसा भूगोलका ज्ञान और किसीको नहीं है। ठीक है, तुम्हारे जैसा किताबी ज्ञान और किसीको नहीं है। बड़े भारी विद्वान हो—ऐसी अक्कल निकालते हैं कि सात-तालेमें रखी हुई चीजको देख लेते हैं।

ठीक, आपको सब ज्ञान प्राप्त है, परन्तु वह ज्ञान प्राप्त नहीं है, उसीको अज्ञान कहते हैं। और सारे ज्ञान प्राप्त हैं—आप न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, बौद्ध, जैन सारे शास्त्र आप जानते हैं, परन्तु वह ज्ञान प्राप्त नहीं है। कौन-सा ज्ञान? जिस अज्ञानके अन्धकारके नीचे यह जीव दब गया है। अपने आपको नहीं देख पाता। ऐसा अन्धेरा होता है, जिसमें अपना हाथ अपनेको नहीं दीखता, अपनी उँगली नहीं दीखती, अपना शरीर नहीं दीखता है।

यह वह अन्धकार है जिससे अपने आपका दर्शन बन्द हो गया है। हम अपने आपको नहीं देख पाते। अज्ञान माने ज्ञानका-विशेषभाव। क्योंकि ज्ञानका अभाव तो कभी हो नहीं सकता, इसलिए अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं होता है, ज्ञान विशेषाभावरूप होता है। खास तरहका ज्ञान नहीं है—कोई खास तरहका ज्ञान माने परमात्माका ज्ञान, आत्माका ज्ञान, ब्रह्मका ज्ञान, ज्ञाता-ज्ञेयके भेदसे रहित ज्ञान। वह सच्चा ज्ञान नहीं मिलता है। **अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**—आओ-आओ, श्रीकृष्ण भगवान्ने बड़े प्रेमसे पुकारा—एकसे कहा आओ, हम तुम्हें ज्ञान देते हैं। महाराज, मैं बड़ा पापी हूँ! हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगा—मैं पापी आदमी—हमको आप ज्ञान क्या देंगे? मैं ज्ञानका पात्र नहीं हूँ। बोले—नहीं, डरो मत—मेरी बात सुन—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

साफ कह दें, इतना बड़ा आश्वासन आपको किसी उपनिषद्में नहीं मिलेगा। किसी वेद-वेदान्तमें नहीं मिलेगा। वे तो कहेंगे अन्तःकरण शुद्ध करके आओ। गुरुजी कहेंगे—चेलाजी, पहले अन्तःकरण शुद्ध करो—पाँव दबाओ हमारा, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा। हाथ जोड़ो, सेवा करो—तब। पहले अन्तःकरण शुद्ध करके

आओ। अभी तुम्हारे हाथ गन्दे हैं। सत्रह बार माटी हाथमें लगाओ तब शुद्ध हो जाओगे। यह देखो, यह कृष्णका ज्ञान है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

दुनियामें जितने पापी हैं सब पापियोंको इकट्ठा करलो—सर्वेभ्यः पापेभ्यः और उसमें भी पापकृत्तमः—तीन पापी सबसे बड़े छाँटो। पापकृत, पापाकृत्तर, पापकृत्तम्। जिससे बड़ा दुनियामें और कोई पापी न हो, यदि वही तुम हो—भगवान् कहते हैं, आजाओ हमारी गोदें आजाओ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।

क्या करेगा पाप, क्या करेगा तुम्हारा वर्ण, क्या करेगी तुम्हारी जाति, क्या करेगा सम्प्रदाय—मैं हूँ न इस नावको खेनेवाला! 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव'—प्लव माने नाव-जहाज। आसमानमें प्लव चले उसको 'प्लेन' बोलते हैं। बिल्कुल वही धातु है—प्लवन—पानीपर चले तो बोलते हैं नाव और यह आकाशकी नाव है। संस्कृतमें तरी, तरणी शब्द है नावके लिए।

यह आपको जो मोटर है वह मृत्तरी है। यह माटीपर चलनेवाली नाव है। पानीपर जो चलती है वह पानीपर चलनेवाली नाव है। मेढक जैसे उछलकर एक जगहसे दूसरी जगह जाता है उसको मण्डूकप्लुति बोलते हैं। धातु बिलकुल वही है—प्लवन आओ, हमारी नावपर बैठो। ब्राह्मणोंके लिए और नाव होगी—क्षत्रियोंके लिए और होगी। वैश्योंके लिए और होगी। शूद्रोंके लिए अन्य होगी। पुण्यात्माओंके लिए और होगी?

श्रीकृष्ण बोले, हम तो ऐसी नाव लेकर आगये, जिसपर ब्राह्मण भी बैठें, क्षत्रिय भी बैठें। पुण्यात्मा भी बैठें और पापीसे पापी भी बैठ जायँ। ढूँढ लो शास्त्रको, ऐसी नाव लेकर अबतक कोई आया है कि नहीं? यह जेलमें पैदा होनेवाला जानता है कि जेल कैसी होती है? यह ग्वालेके घरमें रहनेवाला बोला—पुण्यात्माओंके लिए जो लोग नाव लेकर आते हैं, उनको आने दो! हमारी नावपर तो पतित-से-पतितके लिए भी जगह बनी हुई है। **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनम्।** विदुलोपाख्यान है न महाभारतमें (उद्योगपर्व 133-136)।

विदुलाका बेटा हारकर आकर घरमें सो गया था। विदुलाने कहा अरे, यह क्या करता है? नयी सेना बना। किसकी सेना बनावें? जो समाजमें बहिष्कृत हैं, जिसको कोई पूछनेवाला नहीं है। जो दीन हैं, जो हीन है—उनकी सेना बना।

उत्थातव्यं, जागृतव्यं, योक्तव्यं भूति कर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथै॥ (135.29-30)

उठो, जागो—अच्छे काममें लग जाओ। और उसमें जो तकलीफ पड़ती है, उसका अनुभव मत करो। और निश्चय करो कि तुम्हें सफलता मिलेगी। **भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा। सततमव्यथैः**—पीड़ा आती है, आने दो। तुम कहो, हमको सफलता मिलेगी। चले चलो। **चरैवेति-चरैवेति**। यह गीता ही ज्ञानकी नौका है—

कोई ज्ञानकी नौका लकड़ीकी या आल्युमोनियमकी या स्टीलकी या प्लास्टिककी नहीं है। यह जहाज है—गीता। आओ-आओ, **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव**—इस ज्ञानकी नावपर बैठ जाओ **सर्वं वृजिनं संतरिष्यसि। वृजिनम्**के साथ **सर्वम्** और जोड़ दिया। सारे पाप-तापसे पार हो जाओगे। ऐसा खेवैया, अगर जेलमें पैदा न होता—अगर ये ग्वालोंके घरमें न रहता, अगर इसको जहर पिलानेवाली पूतना आकर तकलीफ न देती, तो शायद ऐसी नाव उसके पास न होती!

सब तरहसे **अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम्** भक्तिका मार्ग दुराचारीके लिए भी खुला है। ज्ञानका मार्ग पतित-से-पतितके लिए भी खुला है। जातिहीनके लिए भी खुला है। हमारे गीताका ज्ञानी ऐसा ज्ञानी है कि जो **विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि-हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च**—सबमें परमात्माको देखनेवाला। तो ज्ञानकी नाव लेकर वह खेवैया—वह कन्हैया—वह दाऊजीका भैया आया। **सर्वं वृजिनम्**—अनादि कालसे अबतक जो तुमने स्वर्ग-नरकमें पुनर्जन्ममें आने-जानेके लिए भी भी कर्म किये हैं, उन सब कर्मोंसे छुट्टी **सम्यक् तरिष्यसि**—बिलकुल पार हो जाओगे। आओ, ज्ञानकी नौकापर आकर बैठ जाओ।

कैदकी स्त्रियोंको छुड़ाकर अपने घरमें पटरानियोंकी बराबरीका स्थान देना—यह है किसीके बूतेकी बात? यह है कृष्णका जीवन, इन्द्रकी पूजा छुड़ाकर पहाड़की पूजा करवाना—यह क्या आजके भी किसी पण्डितके दिमागकी बात हो सकती है जो कि इन्द्रकी पूजा छुड़ा दे और पहाड़की पूजा करवा दे। यह धरती स्वर्गसे बड़ी है—स्वर्गकी दिव्य भूमिसे उत्तम है—यह माटीकी भूमि आप लोगोंको शायद अच्छी न लगे!

कई लोग कहते हैं कि हमको गोपियोंकी चर्चा और प्रेमकी चर्चा पसन्द नहीं है। हम आपसे पूछते हैं—कुब्जाका उद्धार करनेवाला सृष्टिमें है कोई दूसरा? जातिहीन, आचारहीन कंसके शरीरमें मालिश करनेके लिए सामग्री लेकर जा रही थी कंसके घर, क्या उसकी सुन्दरतापर श्रीकृष्ण रीझ गये? क्या उसकी जातिपर रीझ गये श्रीकृष्ण? क्या वह जिसकी सेवा करनेके लिए जा रही थी—उसके उद्देश्य ऊँचे हैं? कंसकी सेवा बड़ा पवित्र उद्देश्य था? वह कुबड़ी देखनेमें बड़ी सुन्दर थी? आप कहेंगे—यह क्या किया? जो दुनियाका कोई नेता, कोई सुधारक, कोई उद्धारक नहीं कर सकता, वह किया। यह हैं श्रीकृष्ण, अनुकम्पाकी, कृपाकी मूर्ति लेकर, दयाकी मूर्ति लेकर पतितोंका उद्धार करने, दीनोंका उद्धार करनेके लिए, जो साधनहीन हैं, उनका उद्धार करनेके लिए, जो कुसाधन है उनका उद्धार करनेके लिए।

कृष्ण कहते हैं—बाबू, हम तुम्हारे मशालची बननेको तैयार हैं। आप देखते हैं—भगवान्‌का मशालची रूप है।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

मशाल छोटी-मोटी नहीं है। **भास्वता**—सूर्यके समान। भास्वान संस्कृतमें सूर्यको कहते हैं। भास्वान् सूर्यका एक नाम है और उसकी तृतीया विभक्तिके एक वचनमें 'भास्वता' प्रयोग बनता है। हमारा यह ज्ञान-

दीपक; दीपक नहीं है—यह सूर्य है। यह वह सूर्य है जिसने कभी अन्धकार देखा नहीं। रात-दिनका हम लोग भेद देखते हैं न! भागवतमें बहुत बताया है—विचार्यमाणे तरणा-विवाहनी—आप विचार करके देखो कि सूर्यमें दिन-रातका भेद होता है क्या?

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौस्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ (10.14.26)

यह भव, बन्ध, मोक्ष, यह जन्म, यह मृत्यु—यह मोक्ष क्या है? बोले, अज्ञानके नाम हैं—भला, शुद्ध-शुद्ध, मुक्त, अद्वितीय परमात्मामें—ये जन्म-मरण, ये बन्धन-मोक्ष क्या हो सकते हैं? केवल अविचारसे मालूम पड़ते हैं। तब? **विचार्यमाणे तरणौ**—सूर्यके बारेमें विचार करो। उसमें कभी रात-दिनका भेद होता है? क्या उसने देखा कि यह रात है, यह दिन है? तो भगवान्ने कहा—लो, हम तुम्हें एक नया सूर्य देते हैं। ज्ञानदीपेन भास्वता—यह ज्ञानका नया सूर्य और यह तुम्हारे ज्ञानको प्रदीप्त करनेवाला सूर्य, हम देते हैं—इस नये सूर्यकी रोशनीमें देखो।

बाबा, कुछ भी दिखाओ—यह अज्ञानान्धकार हमारा तो जाता नहीं है। यह तो हमारे पीछे ही पड़ गया। बोले नहीं **आत्म-भावस्थः नाशयामि**—अज्ञानान्धकारका नाश तुमको नहीं करना पड़ेगा। **नाशयामि** क्रियाका कर्ता कौन है? **अहम्**—भगवान् कहते हैं—मैं नाश करूँगा। तुम्हारे अज्ञानको मैं मिटाऊँगा। कैसे मिटाओगे? जब आत्माको आत्मज्ञान होता है तब अज्ञानकी निवृत्ति होती है। बोले, मैं ही तुम्हारा आत्मा हूँ न! तुम्हारे आत्मभावमें स्थित हो जाऊँगा। अपना अज्ञान अपने मिटाये मिटता है। दूसरेके मिटाये नहीं मिटता। एक बात आपको वेदान्तियोंकी सुनाते हैं, पर हम दूसरी भाषामें बोल देते हैं। क्योंकि भाषापर हमको कुछ ज्यादा आग्रह नहीं है।

हम ज्ञानका आदर करते हैं। भाषाके बन्धनमें थोड़े ही हैं?

ब्रह्मवेद आदि ब्रह्मविदताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद॥

वह 100 वर्ष पुराना दोहा जब भाषाका झगड़ा नहीं था—तबका विचार-सागरका (निश्चलदासजी कृत) दोहा है। जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी है। वह जो बोलता है, उसका नाम है वेद—वह चाहे भाषामें हो या संस्कृतमें हो—वह तो ब्रह्मको छिन्न-भिन्न कर देता है। तुलसीदासजीने कहा—'भाषा बद्ध करब मैं सोई'—मैं उसी रामायणको भाषामें बोलूँगा। भाषाका ख्याल मत करो।

वेदान्तियोंकी बात है। वे कहते हैं कि रूप देखनेके लिए आँखकी जरूरत होती है। यदि आपके आँख हैं तो आप देख लेंगे कि यह हरा है कि लाल है—आँख चाहिए—माने प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होता है। प्रमेयका ज्ञान होनेके लिए प्रमाण चाहिए। (यदि ब्रह्मविद्या आपके हृदयमें आगयी)—काशीमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं। पण्डितजी पढ़ा रहे हैं। हम जानते हैं। दो-पाँच रुपयेकी भी लालच करते हैं वे—और पढ़ाते हैं वेदान्त।

कोई-कोई साधु ऐसा पढ़नेवाला आता है—कोई-कोई ऐसा जिज्ञासु आता है कि पण्डितजी तो रह जाते

हैं 'गुड़' और वह जिज्ञासु चेला ऐसी चीनी होकर निकलता है कि देखते ही बनता है। गुरु जब महावाक्यका अर्थ उसको समझाने लगते हैं—पण्डितजी खुद नहीं समझते हैं और चेला समझकर महान् अनुभवी हो जाता है। इसीसे इसे बोलते हैं कि ईश्वरसे जब सिद्ध महात्मा पैदा होते हैं तब उनको गुरुकी जरूरत नहीं होती—ज्ञान अपने आप आता है।

हिरण्यगर्भमें जब विराट् पैदा होते हैं तब विराट्को गुरुकी जरूरत नहीं होती—ज्ञान अपने आप आता है। विराट्में जब नारायण प्रकट होते हैं तब उनको भी गुरुकी जरूरत नहीं होती। जब सनकादि पैदा होते हैं, तो उनके भी कोई गुरु नहीं। तब—जो प्रमाणके अधीन विद्या होती है, वह बतानेवालेकी अपेक्षा नहीं रखती है। वहाँ केवल प्रमाण, वह ब्रह्मविद्या चाहिए—इसीसे जनकादिको ऐसी अवस्थामें ज्ञान होता है, जहाँ ज्ञानकी कोई सामग्री नहीं है।

यह महाराज, श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं बोलकर ज्ञान नहीं कराता हूँ—**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।** मैं बोलकर, उपदेश देकर ज्ञान नहीं देता हूँ। मैं तो जिसके ऊपर कृपा करता हूँ, उसके आत्म भावमें स्थित हो जाता हूँ—उसकी आत्मा—जो मैं देखता हूँ सो वह देखता है—जो वह देखता है सो मैं! देखनेवालेमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। अज्ञानका नाश मैं करता हूँ।

भाई मेरे, धन्यवाद देने लायक तो कोई बात नहीं है। हमारे सारे श्रोताओंको जब मैं देखता हूँ कि मेरी ओर देख रहे हैं, किसीसे आँख मिल जाती है। किसीको देखता हूँ कि उनके चेहरेपर मुसकान आगयी, खुश हो गये! बस, और क्या चाहिए—आपकी एक मुसकान। आपकी एक चितवन हमारे लिए सबसे बड़ी दक्षिणा है। आप लोगोंने इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे, इतने हृदयसे श्रवण किया। आपने तो हमको कृतज्ञ बना दिया क्योंकि आप अगर प्रेमसे नहीं सुनते तो मैं बोलता क्यों? अभी देखो मञ्जूश्री बेटी—कैसा बढ़िया स्वागत-सत्कार कर रही थी और आयोजन करनेवालोंका आभारी होना—धन्यवाद देना, यह सब शिष्टाचारकी बात है, संन्यासियोंका एक शिष्टाचार भी आपको सुना देता हूँ, साधु लोग कैसा शिष्टाचार करते हैं—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति। स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्माननं च न ब्रूयात् यतिधर्म-परायणाः॥

धर्मनिष्ठ संन्यासीको चाहिए कि किसीको यह न कहे कि आइये-आइये और किसीको यह भी न कहे कि जाइये-जाइये और किसीको यह भी न कहे कि रहिये-रहिये। अपना बड़ा-से-बड़ा मित्र आजावे—उसका भी सम्मान करनेकी जरूरत नहीं होती है। जैसे, आप लोगोंका शिष्टाचार होता है—15 मिनिट पहले जाकर सड़कपर खड़े हो गये और आनेवालोंको नमस्कार और हाथ मिलाना। जाने लगे तो **आगतं स्वागतं कुर्यात्। गच्छतं पृष्ठतोऽनुयात्।** कोई आवे तो उनका स्वागत करो और जाय तो उसको विदा करो—उसके पीछे-पीछे थोड़ी देर चलो। यह मनुस्मृतिका स्वागत है। गृहस्थोंके लिए यह शिष्टाचार है।

शिष्टाचारमें भी फर्क होता है। सबके लिए एक ही शिष्टाचार नहीं होता। अपने तो संन्यासी केवल गेरुआ कपड़ाके संन्यासी हैं। एक दिन भी मनमें यह बात पैदा नहीं हुई—एक क्षणके लिए भी—जिस दिन

दण्ड ग्रहण किया, उस दिन भी कि मैं संन्यासी हूँ, जिस दिन हमको दण्ड दिया गया और जिस दिन हमारे सिरपर गुरुजीने पूजा की, उस दिन भी मेरे मनमें यह नहीं आया कि मैं संन्यासी हूँ। इसलिए मैं संन्यासियोंके शिष्टाचारका पालन नहीं करता। लेकिन धन्यवाद तो मैं अपनेको देता हूँ कि मेरे द्वारा आप लोगोंको थोड़ी बहुत खुशी—प्रसन्नता, सुख मिलता है।

हम यह मङ्गलाशासन करते हैं कि अगले दिनोंमें भी हम और आप ऐसे ही सुखसे, हँसते-खेलते मिलें और मङ्गलमें मिलें, कल्याणमें मिलें। भगवान्‌की कृपामें, उनकी भक्तिमें, उनके ज्ञानमें—जैसे हम लोग मिलते रहें हैं—वैसे मिलते रहें—और आयोजको नाम ले तो क्या यही लोग आयोजक हैं—मैं भी आयोजक हूँ। इस आयोजनमें जितना आयोजक और कोई हो सकता है, उससे अधिक मैं हूँ। इससे अपनेको क्या धन्यवाद देना, क्या आशीर्वाद देना। आशीर्वाद भी देतें हैं तो ऐसे देते हैं—

धर्मे मतिरस्तु, कृष्णे रतिरस्तु।

धर्ममें मति हो—कृष्णमें रति हो!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(८)

गीता अध्याय-10

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

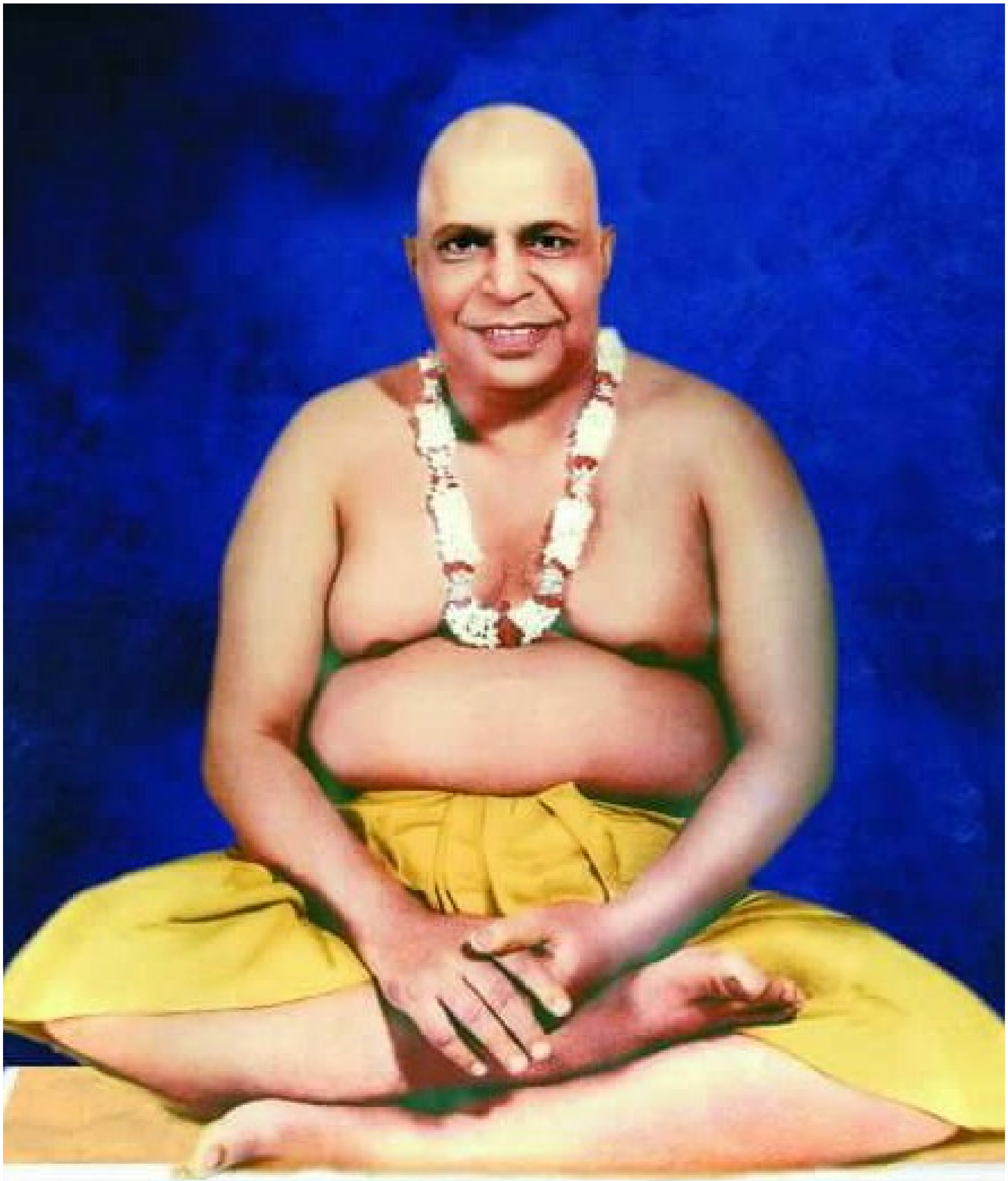
श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशंसा

भगवद्‌गीतामें जिस सिद्धान्त और कर्त्तव्य-पालनका उपदेश है, वह किसी आचार्यमूलक या सङ्घमूलक नहीं है, वह सर्वकारण-कारण परमेश्वरका हृदय है। सर्वजनहितकारी है। मानवमात्र ही नहीं, पशु-पक्षी एवं सर्पादिमें भी भगवान् का दर्शन करनेवाला है। कर्मयोगी उद्योगपति श्रीघनश्यामदास बिरलाकी प्रेरणासे श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्त कुमार बिरला जो गीताका वार्षिक आयोजन करते हैं उसका यह अष्टम पुष्प जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित है।

यह परिवार अधिकाधिक मानव जातिकी सेवामें तत्पर रहे, यही शुभ कामना है।

अखण्डानन्द सरस्वती



गीता अध्याय -10

प्रवचन : 1

(31-10-1989)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखापद्माद्विनिःसृता।। भीष्मपर्व 43.1

गीतामें चार मुख्य व्यक्ति सामने आते हैं, उभरते हैं—उनमें सबसे पहले धृतराष्ट्र हैं। धृतराष्ट्र अन्धे हैं, ममतासे ग्रस्त हैं। अज्ञान, अविवेक फिर ममता। दस दिनका युद्ध हो जानेपर और भीष्मपितामहका पतन हो जानेपर, शरशय्यापर गिरनेके बाद धृतराष्ट्रने सञ्जयसे यह प्रश्न किया कि, धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रमें, युद्धकी इच्छासे एकत्र मेरे और पाण्डुपुत्रोंने क्या किया? दस दिनका युद्ध होनेके पश्चात् प्रश्न हुआ—युद्धके प्रारम्भका। तब सञ्जयके मनमें यह बात आयी कि ये दस दिन युद्ध सुन चुके हैं, फिर पूछते हैं कि युद्धके प्रारम्भमें क्या हुआ? इस प्रश्नका आशय सीधा-साधा नहीं होना चाहिए। कोई गूढ़ आशय होना चाहिए। इसका अर्थ है, वहाँ कोई विशेष घटना घटित हुई क्या? सामान्य युद्धके अतिरिक्त वहाँ और कौन-सी विशेष बात हुई? ऐसा धृतराष्ट्रका प्रश्न है। नहीं तो, पूछे कोई युद्ध-भूमिमें क्या हुआ और कही जाय गीता—पूछे कुछ और जवाब दे कुछ! ऐसा तो नहीं होना चाहिए।

तो सञ्जयकी बुद्धिमें आया कि धृतराष्ट्र कोई विशेष प्रश्न कर रहे हैं। इसका उत्तर देना चाहिए। धृतराष्ट्रकी संसारकी पकड़ मजबूत है—'धृतं राष्ट्रं येन यः।' विश्व मानवताको छोड़कर केवल एक सीमित परिवारमें आसक्त रहकर विवेकशून्य, ममतापूर्ण हृदयसे यह प्रश्न निकला—विशेष क्या हुआ? तो इसका ऐसा उत्तर देना चाहिए, जिससे इनका अविवेक नष्ट हो, अज्ञान नष्ट हो, ममता कम हो, उनके मनमें सुख-शान्ति आये और सच्चे ज्ञानका उदय हो। करुणापूर्ण हृदयसे सञ्जयने धृतराष्ट्रको गीता सुनायी। सञ्जयका अर्थ है, जिसने अपने मनपर इन्द्रियोंपर, दोषोंपर, अज्ञानपर जय प्राप्त कर ली हो 'सम्यक् जयति।' सञ्जय जीवन्मुक्त पुरुष हैं। अज्ञानी धृतराष्ट्र—जीव, और जीवन्मुक्त पुरुष हैं सञ्जय। और कर्मी—'धनुरुद्यम्य पाण्डवः' धनुष-बाण हाथमें लेकर उपस्थित हैं अर्जुन। और सारथि जिनके सान्निध्यसे, जिनकी सहायतासे सब कुछ होता है, वे सारथिके रूपमें सहायकके रूपमें अपने सान्निध्य मात्रसे प्रेरणा देनेवालेके रूपमें—'श्रीकृष्ण।'

जब हम गीतापर दृष्टि डालते हैं कि—धृतराष्ट्रको क्या मिला? उन्होंने गीता सुनी कि नहीं सुनी, समझी कि नहीं समझी, उससे कोई लाभ उठाया या नहीं उठाया, इसकी तो कोई चर्चा ही नहीं है। एकबार उन्होंने प्रश्न किया और सञ्जयने अपने आनन्दके लिए पूरी गीता सुना दी। गीता सुनाते वक्त सञ्जयको बड़ा आनन्द आया।

.......संवादमिममद्भुतम् केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। 18.76

यह केशव और अर्जुनका परम पवित्र, परम पावन संवाद है। मैंने स्वयं अपने कानोंसे सुना है—'व्यासप्रसादात् श्रुतवान्'। हमारे गुरुजी व्यासजीकी कृपा। मैं बैठा था धृतराष्ट्रके पास और सुन रहा था कुरुक्षेत्रमें होनेवाला संवाद और संवाद ही नहीं सुना, श्रीकृष्णका वह विराट् रूप भी देखा—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।। 18.72

वह विराट् रूप देखकर मेरे मनमें विस्मय हुआ। विस्मय हुआ माने अहंकारकी निवृत्ति हो गयी। 'स्मय' शब्दका अर्थ संस्कृतमें अहंकार होता है। अतः विस्मयका अर्थ होगा—विगत-स्मयः। मैंने सब देखा है, सब जाना है परन्तु ऐसा रूप तो कभी नहीं देखा था, नहीं सुना था, नहीं जाना था। एक अकल्पित अननुभूत पदार्थके दर्शनसे जैसे आश्चर्य होता है, वैसे सञ्जयको आश्चर्य और आनन्द हुआ है। महापुरुष अपनी शान्ति, अपने आनन्दमें मग्न रहकर ही सब काम करते हैं। अर्जुनको क्या मिला? धृतराष्ट्र जो अज्ञानसे ग्रस्त है, ममतासे ग्रस्त है, अविवेकसे ग्रस्त है, बाहर-भीतर दोनोंकी फूटी है, अन्धा है, एक पदार्थको पकड़कर-जकड़कर बैठा है, उसे कुछ नहीं मिला। सञ्जय जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। इसलिए उन्हें कुछ चाहिए नहीं। उनके मनमें कुछ इच्छा नहीं है। भगवान्की गीता दुहरा-दुहराकर उसका आनन्द लेते हैं। 'संस्मृत्य संस्मृत्य'—बारम्बार-बारम्बार श्रीकृष्णका रूप आता है और अर्जुनका संवाद आता है।

जब हम दृष्टि डालते हैं तो अर्जुनको ही बहुत कुछ मिला। मोहका नाश हुआ, स्मृतिकी प्राप्ति हुई, सन्देहकी निवृत्ति हुई और आज्ञाकारी—'करिष्ये वचनं तव' हो गये और कर्ममें लग गये। केवल आज्ञाके लिए 'जी हाँ, जी हाँ' नहीं किया—स्वयं कर्ममें संलग्न हो गये। युद्धभूमिमें आगये। यह अर्जुनके जीवनकी उपलब्धि है। सञ्जयका आनन्द अन्तरंग है और अर्जुनको अन्तरंग-बहिरंग दोनोंकी उपलब्धि है और श्रीकृष्णको क्या मिला? श्रीकृष्ण भी व्याकुल रहते हैं कि हमको कोई रक्षणीय मिल जाये। कोई ऐसा मिले जिसके ऊपर हम अपने वात्सल्यकी वर्षा करें। किसी दुःखीको सुखी बना दें! यही करुणामय भगवान्का स्वरूप है।

अपारसंसारसमुद्रमध्ये निमज्जतो में शरणं किमस्ति। मणिरत्नमाला 1

मैं तो बहुत दिनोंसे संसार-सागरमें डूब रहा था—आप मिले, किनारा मिल गया। लेकिन मुझे किनारा मिल गया इतना ही नहीं है—'त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीम्।' प्रभु आपको भी मिल गया, आपको मिल गया, बहुत कुछ मिल गया। क्या मिल गया? जैसा कभी नहीं मिला था वैसा मिल गया। 'अनुत्तमम् पात्रमिदं दयायाः ।।' आपको मेरे जैसा कोई दयाका पात्र नहीं मिला था। आप भी चाहते थे कि कोई ऐसा मिले जिसके

ऊपर पूरी दया करें। आज मैं आपके सामने आपका पूर्ण दयापात्र होकर उपस्थित हुआ हूँ। भगवान् आनन्दमें आते हैं जब उनका कोई प्रेमी और उद्धार्य—अपनी गोदमें लेनेके लिए कोई मिल जाता है; तो भगवान् अपनेको कृत्य-कृत्य मानते हैं। भगवान्को मिला अर्जुन—अर्जुनके अज्ञानका नाश हुआ, विस्मृतिका नाश हुआ और आज्ञाकारित्वका उदय हुआ। सञ्जय परमानन्दमें मग्न हो गये। और इतने मग्न हुए कि उन्हें याद भी नहीं रही कि एक बार धृतराष्ट्रसे पूछ तो लें कि हमारी कही हुई गीता तुमने सुनी कि नहीं सुनी? श्रोताको ही भूल गये सञ्जय कि किसने प्रश्न पूछा था और किसको मैंने यह गीता सुनायी।

चार प्रकारके अधिकारी होते हैं। एक तो पामर और एक जीवन्मुक्त भगवान्का सान्निध्य तो सबको ही प्राप्त है। अपनी-अपनी स्थिति, गतिके अनुसार सभी लाभ ले रहे हैं। अब अर्जुन हैं श्रीकृष्णके सामने। पहले तो अर्जुन हैं श्रीकृष्णके सामने। पहले तो अर्जुनने धनुष-बाण उठानेके बाद वापिस रख दिया—रख नहीं दिया—फेंक दिया 'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः' (1.46)। चला था वह धनुष-वाण लेकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिए और हुआ क्या? धनुष-बाण फेंककर, हाथपर सिर रखकर रोता हुआ **'रथोपस्थ** उपाविशत्' (1.46) बैठ गया। धर्मसे प्राप्त था युद्ध और उसमें प्रतिबन्धकी उपस्थिति हुई—रुकावट आगयी, अड़चन आगयी—शोक और मोह, ममता और मोह—आप कुछ भी करो, चाहे त्याग करो, चाहे संग्रह करो, परन्तु ममतासे, मोहसे, शोकसे, न त्याग करना उचित है और न संग्रह करना उचित है। जो कुछ भी करना हो वह विवेकसे ही करना चाहिए।

धनुष-बाण धारण करके जब युद्ध करनेका प्रयोग उपस्थित हुआ तो शोक-मोहने आकर उसको रोक दिया। और जब भगवान् श्रीकृष्णने उपदेश दिया तो शोक-मोह भाग गये। शोक-मोह भाग गये तो पहली जो युद्धकी प्रवृत्ति थी वह अपने आप उदय हो गयी। भगवान् अर्जुनको युद्ध करनेके लिए आज्ञा नहीं देते हैं, बल्कि पहलेकी आज्ञा पालनकी प्रवृत्तिमें जो बाधा आगयी थी, उस बाधाको दूर कर देते हैं। इसलिए केवल अपनी प्रवृत्तिमें बाधा डालनेके लिए जो ममता, शोक मोह आते हैं, उनकी निवृत्तिमें ही गीताका तात्पर्य है—ऐसा आचार्य लोग कहते हैं। रुको मत, चलते चलो। चाहे कितना भी विघ्न आवे, कितनी भी बाधा आवे। अर्जुनको भगवान्ने संक्षेपमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया; विभूति शब्दका अर्थ है 'विशिष्ट भवन।' अनेक रूपमें भगवान्। 72 तो नाम लिये—आलस्य बिल्कुल नहीं है। गीताके दसवें अध्यायमें 72 नाम लेकर भगवान् श्रीकृष्णने अपना वैभव बताया—विभूति बतायी। यह भी मैं—यह भी मैं। संसारमें जो कुछ विभूतिमान् है, प्रशस्त है, शक्तिशाली है, वह सब भगवान्का तेज और भगवान्का अंश ही प्रकट हुआ है। दसवें अध्यायके अन्तमें जो उपसंहार है, वह है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्।। 10.41

जो भी वस्तु विभूतिसे युक्त है, वैभव है, श्रीमान् है और अर्जित है, वह मेरे तेजके अंशसे बना है—ऐसा जानना चाहिए।

श्री रहती है अपने पास, विभूति फैल जाती है। और ऊर्जासे क्रियाशक्ति आती है। श्री स्वनिष्ठ है—अपने पास रहती है। विभूति विशेष रूपोंमें हो जाती है और ऊर्जा अपने क्रियाशक्तिको, बलको—शरीरके, मनके, बुद्धिके बलको—आत्मबलको पूर्णरूपसे प्रभावित करती है। भगवान् कहते हैं, शक्ति मैं हूँ, श्री मैं हूँ, विभूति मैं हूँ। अब रहा क्या? उसमें ह्री, श्री—सब आगया। श्रीमत्से श्री और उर्जित से ह्री और विभूतिसे सावित्री। सावित्री, लक्ष्मी और महामाया—महाशक्ति। जहाँ कहीं इनका विलास दीखे वह सब मैं ही मैं हूँ। यह है अन्तमें उपसंहार। इसके लिए अर्जुनका प्रश्न है। प्रश्न करनेवाला भी दाव-पेंचवाला न हो। जो जानता हो और परीक्षा लेनेके लिए प्रश्न करे या दूसरोंको नीचा दिखानेके लिए प्रश्न करे, पराजित करनेके लिए प्रश्न करे तो उसके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया जाता।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः। मनु. 2.110

अन्यायसे कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर नहीं देना चाहिए।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्।। मनु. 2.110

जानता हो तब भी उसका उत्तर न दे। उनके सामने मूर्ख ही बन जावे। जैसा तुम समझते हो वैसा समझो। अर्जुन—ये दाव-पेंचवाले प्रश्न नहीं करते। अपने दिलकी बात दो टूक भगवान्से बोलते हैं। जब मनमें आया कि नहीं लड़ूँगा तो नहीं लड़ूँगा—'न योत्स्य इति' (2.9) जब मनमें आया कि श्रीकृष्ण कुछ दुविधाकी बात कर रहे हैं तो कह दिया कि तुम दुविधाकी बात कर रहे हो। साफ क्यों नहीं बोलते?

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। 3.1-2

और जब वस्तुओंको जाननेकी इच्छा हुई तो स्पष्टरूपसे पूछ लिया।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। 8.1

दाव-पेंचसे रहित रहनेका प्रमाण है।

अब आया कि विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त करें। किसीसे कोई पूछे कि तुम्हारे पास कितना धन है, कितनी संपत्ति है? सबको नहीं बताया जाता। अपनी पूँजी सबको थोड़े ही बताते हैं। विभूति माने पूँजी है। यह तो जब कोई अपना बहुत आत्मीय, बहुत प्रेमी होता है, उसके सामने यह बात खोलकर रखी जाती है। हमारी एक धनीसे बात हुई तो कहने लगे—स्वामीजी हमको तो मालूम नहीं है कि हमारे पास कितनी संपत्ति है। भगवान् भी कह देते हैं—हमारे पास विभूतियोंका हिसाब-किताब नहीं है। बताया तो उन्होंने यही—कि बहुत बतानेसे क्या लाभ है—कहा तो अन्तमें यही, लेकिन पहले बताकर। ऐसी बात किसीसे पूछनी हो तो पूछनेवाला भी तो निकटका होना चाहिए न! अर्जुन माने सीधा—अर्जुनने पूछ लिया—महाराज, हम तो किससे पूछने जावें? आप ही बता दें। दूसरेकी बतायी हुई बात तो गलत हो सकती है। पर आप अपने मुँहसे बतावेंगे तो बिल्कुल ठीक होगी। लेकिन विभूति जब पूछनी हो तो ऐसे सामान्य रूपसे तो नहीं पूछनी चाहिए। स्तुति भी चाहिए कि मैं जानता हूँ आप कैसे हैं!

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। 10.12-13

परं ब्रह्म—यह बात उन्होंने बतादी—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। 1.18
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।। 6.30
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। 10.8

साफ बता दिया कि तुम परम ब्रह्म हो। हमको योग्य शिष्य समझा आपने—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** (2.7) कोई ऐरे-गैरेको तो यह बात बतायी नहीं जाती कि मैं ब्रह्म हूँ। महाराज, आपमें ही सारी दुनियाँ है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः** (9.4) 'परमधाम' भी अपनेको बता दिया। परम तेजोमय; ज्योतिर्मय धाम माने घर जैसे होता है। जैसे चार धाम हैं। तो यह भी बता दिया कि मैं परम धाम हूँ। मुझमें सबकुछ रहता है। सारी सृष्टिका आधार मैं हूँ और अद्वितीय मैं हूँ। मेरा घर नहीं—मैं सबका घर। मैं किसीकी रोशनीमें नहीं देखा जाता, सब मेरी रोशनीमें दिखता है। अब कहते हैं—बताओगे तो सच-सच—झूठ तो नहीं बोलोगे! अर्जुन ऐसे बोलते थे।

विश्वनाथ चक्रवर्तीने टीकामें कहा कि जब भगवान्ने कहा कि '**मामेवैष्यसि**' (8.7) मुझे प्राप्त हो जाओगे। तो अर्जुनने कह दिया कि 'ग्वालिया, तुम्हारी बातका क्या ठिकाना?' झूठ-मूठ सौगन्ध खानेवाले! दिनभर तेरी सौं-मेरी सौं करनेवाले=कहीं झूठ बोल गया तो?—भगवान् बोले ''सत्यम्'' मैं सौगन्ध खाकर तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ। ये शपथ खानेकी क्या जरूरत पड़ी? जब किसीके मनमें शंका होती है तब शपथ खाकर बताना पड़ता है।

महाराज, एकबात हमें मालूम है कि आप बड़े पवित्र हैं। पवित्र माने माया, छाया न होना—कपट ही सच्ची अपवित्रता है। आपमें माया नहीं है, कपट नहीं है। परम पवित्र हैं आप! पवित्रताकी परासीमा और धामका अर्थ है आश्रयकी परम सीमा। ब्रह्मका अर्थ है अद्वितीयता। सबमें भरपूर हैं। 'पुरुषं-शाश्वतं'—कालमें भी आप नित्य हैं। कालकी दाल आपमें नहीं गलती। देशमें, कालमें परिपूर्ण हैं। वस्तुमें परिपूर्ण हैं। व्यक्तियोंके हृदयमें परिपूर्ण हैं। परम और पवित्र हैं। पवित्र माने पावन। जिनका नाम लेनेसे, जिनके रूपका ध्यान करनेसे, जिनके गुणोंका स्मरण करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं, उसका नाम है—पवित्र माने पावन—दूसरेको पवित्र करनेवाला।

जब चोरकी याद करोगे तो चोरी याद आयेगी, दिल अपवित्र हो जायेगा। व्यभिचारीको याद करोगे व्यभिचार याद आयेगा, हृदय अपवित्र हो जायेगा। जब शुद्ध वस्तुका स्मरण किया जाता है तो हृदय शुद्ध हो जाता है।

ये परमात्मा—जिनको हम देखते हैं, जिनके बारेमें सुनते हैं, ये दिव्य हैं। दिव्यका अर्थ है, कि लौकिकताकी कल्पना मत करो। संसारमें जैसे छली, कपटी, मरनेवाले लोग पैदा होते हैं, वैसे ये नहीं हैं। और **'आदिदेवम्'**। सारी सृष्टिके आदि प्रकाशक ये ही हैं। इनका जन्म कालमें नहीं हुआ है। और **'विभु'** माने सर्वत्र—व्यापक ऐसे हैं श्रीकृष्ण भगवान्। अर्जुनकी भक्ति प्रीति इससे प्रकट हुई। अर्जुनका ज्ञान प्रकट हुआ कि श्रीकृष्णके प्रति उसकी कितनी श्रद्धा, कितनी भक्ति, कितनी भावना है? भगवान् अपने रहस्यकी बात अर्जुनको बतावेंगे।

बोले—अर्जुन, यह क्या चापलूसीकी बात करते हो! दुनियाँमें लोग खुशामद करके चाटुकारितासे बहुत लाभ उठाते हैं। तुम्हारे ऊपर भी इसका कुछ असर है क्या? नहीं, मैं अपनी बात आपसे नहीं कह रहा हूँ—

'आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा' 10.13

एक शब्दमें अर्जुनने कह दिया कि—सारे वेद, सारे मन्त्र, सारे ऋषि—आपको ऐसे ही कहते हैं। ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्र भी होता है और ऋषि भी होता है। तो तपस्यासे सिद्ध हो, ज्ञानसे सिद्ध हो, वेदमन्त्रोंका द्रष्टा हो, उन महात्माओंको ऋषि कहते हैं। और वेदके मन्त्रोंको भी ऋषि कहते हैं। हमलोग कहते हैं—मन्त्र यह कह रहा है, क्योंकि मन्त्र ऋषि है। मन्त्रावच्छिन्न जो चैतन्य है, वह मन्त्रमें बैठकर अपनेको देखता है, इसलिए जितने भी ऋषि हैं, वे श्रीकृष्णको ऐसे ही कहते हैं— 'वेदमन्त्र भी उनका प्रतिपादन करते हैं'। देवर्षि नारद उसमें प्रमाण हैं। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें नारदका प्रामाण्य सर्वोपरि है। चूँकि वे देवताओंके ऋषि, पुरोहित हैं, अतः वह जो श्रीकृष्णके सम्बन्धमें बताते हैं वह बहुत प्रामाणिक रहता है। फिर और ऋषियोंका नाम लिया।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। 10.13

'असित-देवल'—देवल। काश्यप देवलको असित देवल कहा जाता है। असित विशेषण है। असित एक ऋषिका नाम भी है। इसकी विशेषता यह है कि वे कहीं आबद्ध नहीं होते। **जैगीषब्य** ब्राह्मणने एक अतिस ऋषिको बाँध लिया। जैगीषब्य मजा लेने लगे उस बन्धनमें। कभी छोटे-से बनकर उस बन्धनसे निकलकर ऊपर चले जायें और कभी बड़े-से बनकर आकर बन्धनमें बँध जायें। उसने तो उसको बाँधा था और वे उसका मजा लेने लगे। बढ़िया बात यही है कि हम जहाँ रहें—बन्धनमें रहें तो, मुक्त रहें तो—जेलमें भी रहें तो हँसे, गावें और बाहर रहें तो वहाँ भी हँसें, गावें, मजा लें। हर समय आनन्द बना रहना चाहिए। इसीसे असितको असित कहते हैं। सित माने बद्ध और असित माने जो कभी बद्ध न हो। जहाँ है वहाँ उसका ज्ञान बना है। उसका आनन्द बना है, उसका जीवन बना है। जीनेकी कला यही है कि यदि हम अपने आनन्दको खो न दें। जब हम अपने आनन्दको खो देते हैं तो ज्ञानको भी खो देते हैं और जब ज्ञान और आनन्द जीवनमें न रहा तो जीवन क्या रहा? सत् माने जीवन चित् माने ज्ञान और आनन्द—ये तीनों अपने स्वरूप हैं।

महात्माका स्वरूप यह है कि वह उनसे कभी रहित नहीं होगा। हर समय उसके आनन्दकी धारा बहती रहती है। हर समय उसके ज्ञानका प्रकाश फैलता रहता है और हर रूपमें उसकी जीवनसत्ता अपना काम करती रहती है। घड़ा फूटे कि टूटे, माटी ज्यो-की-त्यों। ऐसा है महात्माका जीवन। इसीको बोलते हैं 'असित'—

कहीं, किसी भी अवस्थामें आबद्ध न होनेवाले। न प्रान्तमें बँधे, न राष्ट्रमें बँधे, न जातिमें बँधे, न मजहबमें बँधे। समय-समयपर जितनी धाराएँ आती हैं, चली जाती हैं।

बौद्धोंके बाद हमारे दर्शनशास्त्रपर एक ऐसी काली छाया पड़ गयी कि जब लोग अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग बजाने लगे। मुसलमानोंके बाद ऐसा आहार-विहारका चक्कर चला, ऐसी जाति-पाँति, ऐसे झगड़े खड़े हो गये। किसी परिस्थितिमें, चाहे वह देशकी हो चाहे कालकी, पर उसमें आबद्ध नहीं होना चाहिए और ऐसा बन्धनहीन पुरुष जब भगवान्, ईश्वरके बारेमें बोलता है तो वह 'देवल' है। देव माने जो परमात्मा उसको देनेवाला!

और व्यासजी महाराजके बारेमें क्या पूछना, जो वेदोंके विभाग करे, ब्रह्मसूत्रका निर्माण करे, अठारह पुराणोंकी रचना करे। स्पष्ट बोलते हैं कि व्यास भगवान्के सिवाय महाभारतकी रचना करनेवाला कोई नहीं हो सकता। जिसने महाभारत नहीं पढ़ा, उसको तो मानव-संस्कृतिका मूल ही नहीं मालूम कि क्या है? मानव कैसे होते हैं? मनुष्यका मन कैसा होता है? जीवनमें क्या-क्या आता है? कितनी तरहके मनुष्य होते हैं और कितनी तरहकी दुर्घटनाएँ जीवनमें घटित होती हैं। उनमें एकरस, शान्तिका अनुभव करनेके लिए व्यासने महाभारतकी रचना की है। महाभारत शान्त-रसका ग्रन्थ है। उसमें अन्तमें निर्वेद स्थायी होकर शान्ति देनेवाला ग्रन्थ है। ऐसे व्यास भी यही कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही भगवान् है। असित देवल, व्यास, देवर्षि नारद—ये सब महात्मा, सारे वेद, पुराण, सारे ऋषि यही कहते हैं कि तुम ही भगवान् हो।

अरे बाबा, औरोंकी तो बात ही क्या—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। 10.15

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। 10.14

हम यह सब सच मानते हैं। मेरे मनमें तुम्हारे परमात्मा होनेमें कहीं असम्भावना नामकी चीज नहीं है। हमारे सामने सब परमात्मा बैठे हैं। न कोई विपरीत भावना है। हमारा हृदय असम्भावना और विपरीत भावनासे मुक्त है! हमारे मनमें यह नहीं आता कि तुम परमात्मा कैसे हो सकते हो? साढ़े तीन हाथके शरीरवाले, हमारे सारथिके रूपमें बैठे हुए, हमारे सम्बन्धी तुम परमात्मा हो सकते हो? ऐसी बात मेरे मनमें कभी नहीं आती। तुम परमात्मा हो; और फिर तो तुम कहते हो उसको भी सच मानता हूँ। तुम वस्तुतः केशव हो।

केशव शब्दका सीधा अर्थ होता है—जिसके बाल बहुत सुन्दर हों। पाणिनीने इसी अर्थमें केशव शब्दका निर्माण किया है। जिसके बाल बहुत सुन्दर हों उसका नाम होता है—केशव। अर्जुनके बाल भी कम सुन्दर नहीं थे। इसलिए अर्जुनको 'गुडाकेश' कहते हैं। गुडाकेश माने घुँघराले बालवाला। अर्जुनको भी अपने बाल बहुत पसन्द हैं। इसलिए श्रीकृष्णके बाल भी बहुत पसन्द करते हैं। महाभारतमें केशव शब्दकी व्युत्पत्ति दूसरी है। वह यह है कि जिसके मुखारविन्दसे रश्मियाँ, स्वर्ण वर्णकी किरणें निकलती हों, उसको केशव कहते हैं और पण्डितोंने केशव शब्दका अर्थ और निकाल लिया। 'क' माने ब्रह्मा 'ई' माने विष्णु और 'ईश' माने शंकर इन तीनोंका जो प्रशासक है, इस प्रशासकको, अन्तर्यामीको ईश्वर कहते हैं।

यन्मां वदसि केशव, न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः। 10.14

कोई भी देव, दानव, मानव आपके व्यक्तित्वको नहीं समझ पाता। इतना गम्भीर व्यक्तित्व है। कोई कहे चोर, कोई कहे व्यभिचारी, कोई कहे पलायनवादी, कोई कहे कूटनीतिज्ञ, कोई कहे बड़े ज्ञानी, कोई कहे साक्षात् भगवान्! अरे बाबा, इतनी तरहकी बातें लोग तुम्हारे बारेमें क्यों बोलते हैं—असलमें तुम्हारी जो असलियत है, उसे कोई जानता नहीं। जिसके दो बाप और माँ हैं। दो माँ देवकी-यशोदा—कौन जानेगा असलमें किसके बेटे हैं? आपसमें लड़ते हैं वसुदेवनन्दन हैं कि नन्दनन्दन हैं। इसके लिए सम्प्रदायोंका शास्त्रार्थ है। बल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्य महाप्रभुका सम्प्रदाय-नन्दनन्दन ज्यादा मानते हैं और रामानुज सम्प्रदायमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मानते हैं। जिसके बापके बारेमें लड़ाई, माँके बारेमें लड़ाई, 'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवाः।' बड़े-बड़े देवताओंको भी यह पता नहीं कि तुम्हारा यह जो प्राकट्य है—जो अभिव्यक्ति है, यह क्या है? किसीको मालूम नहीं है। तुम्हीं तुमको जानते हो। आठ श्लोकोंमें तो प्रश्न है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। 10.15
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया। 10.17

तुम स्वयं अपने आपको जानते हो। हमें बता दो कि हम किस-किस रूपमें तुम्हारा चिन्तन करें। यह उपासना नहीं है, भक्ति नहीं है। हम अपने हृदयमें किस-किस रूपमें तुम्हारा चिन्तन करें। पशु, पक्षी, पेड़, पौधा सबके रूपमें अपनेको श्रीकृष्ण बताते हैं। 'ऐष तूद्देशतः प्रोक्तः' वह तो केवल नाममात्र है। उसका मतलब यह है कि सब भगवान्का स्वरूप है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 2

(1-11-1981)

पाणिनीय व्याकरणकी दृष्टिसे अर्जुन शब्दका अर्थ होता है=अर्जन करनेवाला—उपार्जन करनेवाला। जैसे आपलोग धनार्जन करते हैं—अर्जनका अर्जुन हो गया है। धनञ्जयका पर्यायवाची है अर्जुन। ज्ञानार्जनमें भी उसका अर्थ संगत हो जाता है। ज्ञानोपार्जनमें बड़ा निपुण है। जैसे व्यापारी धन-उपार्जनमें निपुण होता है, वैसे अर्जुन ज्ञानोपार्जनमें निपुण है। 'अर्जनात् अर्जुनः'। दूसरा अर्थ होता है जो सीधा-सादा सरल स्वभावका है उसको अर्जुन कहते हैं। इस प्रसंगमें अर्जुनने श्रीकृष्णके अनेक सम्बोधन दिये हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। 10.14-15

अर्जुनका कहना है कि जो कुछ आपके बारेमें ऋषियोंने कहा है, मन्त्रोंने कहा है, वेदोंने कहा है, देवर्षि नारदने कहा—असित-देवलने कहा, व्यासने कहा—**सर्वमेतदृतं मन्ये।** मैं सबको सत्य मानता हूँ। सब चीज ठीक है। हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। श्रद्धा है, आत्मबल—निर्बलता नाम श्रद्धा नहीं है, एक अदृष्ट पदार्थ जिसका हमको साक्षात्कार नहीं हुआ है, और जिसको मान करके अपने जीवनका संचालन करना है—यह बिना दृढ़ आत्मबलके नहीं हो सकता। इसलिए श्रद्धा करना, जो आत्मबलसे दरिद्र हैं, उनका काम नहीं है। आत्मबलके जो धनी हैं उनका काम है कि वे अदृश्य-अदृष्टपर श्रद्धा करें।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।

आपकी जो व्यक्ति है उसके स्वरूपको देवता-दानव कोई नहीं जानते। क्योंकि न तो बलसे जान सकते हैं, न तो इन्द्रियोंसे जान सकते हैं। यहाँ दोनोंका निषेध हो गया। देवता प्रज्ञासे जानते हैं। और दानव प्राणसे, बलसे जानते हैं। कम्प्यूटरसे किसीकी गिनती कर लेना यह दूसरी बात है और लेबोरेटरीमें गलाके किसी वस्तुको जान लेना यह दूसरी बात हो गयी। दैत्य लेबोरेटरीमें रासायनिक क्रिया करके वस्तुको जाननेका प्रयास करते हैं और देवता गणितके द्वारा प्रयत्न करते हैं। ये दो पद्धतियाँ हैं। संख्या करलें तो सांख्य हो गया और निर्माण करलें तो धर्म हो गया, कर्म हो गया। कोई भी कर्मबल अथवा बुद्धिबलसे परमात्माको नहीं जान सकता है। व्यक्ति माने अव्यक्तका व्यक्त होना। व्यक्त माने जाहिर होना। व्यक्ति माने जो व्यंजित हुआ है। परमात्माकी अभिव्यंजनाका नाम यहाँ व्यक्ति है। गीतामें यह बात कही गयी कि जो लोग परमात्माको व्यक्तिभावको प्राप्त मानते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।। 7.24

मैं हूँ अव्यक्त—अव्यक्त माने किसी भी रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा या किसी भी प्रमाणके द्वारा जो ज्ञात न हो। प्रमाण-प्रधान होते हैं देवता और क्रिया -प्रधान होते हैं—देवतासे जो इतर लोग हैं। हम आँखसे देखते हैं यह प्रमाण हुआ। कानसे सुनते हैं यह प्रमाण हुआ—बुद्धिसे सोचते हैं यह प्रमाण हुआ। अपने आपमें अनुभव करते हैं यह प्रमाण हुआ और किसी वस्तुको सड़ाकर, गलाकर, कुछ मिलाकर—उसको जानना यह एक प्रक्रिया हुई। अब परमात्माका जो व्यक्तित्व है वह क्या जैसा सबका व्यक्तित्व है, वैसा ही है? अद्भुत लीला है इस व्यक्तित्वके बारेमें। कोई लोग कहते हैं कि जैसा कर्म होता है, उसके अनुसार व्यक्तिका निर्माण होता है। कोई कहते हैं जैसा कारण होता है उसके अनुरूप व्यक्तिका निर्माण होता है। कोई कहते हैं जैसा निमित्त होता है उसके कारण व्यक्तिका निर्माण होता है।

व्यक्तिके निर्माणके लिए बीज भी आवश्यक होता है। बीजमें संस्कार होता है और उपादान भी आवश्यक होता है। वस्तुमें संस्कार रहता है, वहाँ निमित्त भी होता है। जैसे पञ्चभूतका उपादान है और उसमें बीजका वंशानुगत संस्कार है और मालीने उसकी कलम बाँध दी। एक दूसरी वस्तुका निर्माण हो गया। उपादान भी है, संस्कार भी है, निमित्त भी है। इमलीके बीजसे आम पैदा नहीं हो सकता। आमके बीजसे इमली पैदा नहीं हो सकती। ये बीजगत संस्कार हैं और पञ्चभूतरूप उपादान दोनोंमें हैं। अब दोनोंकी कलम करके अगर तीसरी चीज बनानी हो तो माली उनका संकर बनायेगा—मिश्रण करेगा।

यह जो श्रीकृष्णका, ईश्वरका, व्यक्तित्व है यह क्या वैसे ही है? पञ्चभूत उपादान है और जीवके पूर्व संस्कार हैं। माता-पिता निमित्त हैं—और एक जीवका व्यक्तित्व उदय होता है—एक मनुष्य प्रकट होता है। अब बताओ वह चिद्वस्तु चेतन, जिसमें साक्षी होनेसे उपादानता नहीं है, अकर्ता होनेसे जिसमें संस्कार नहीं है, अदृश्य होनेसे जिसमें कोई क्रियाका प्रयोग नहीं है, जो सच्चिदानन्दघन चेतन है, वह श्रीकृष्ण व्यक्तिके रूपमें कैसे आया? मनुष्यको व्यक्तिके रूपमें आनेके लिए माता-पिताका बीज भी है, पञ्चभूत भी है, उसके कर्मरूप निमित्त भी हैं। एक जीव मनुष्यके रूपमें व्यक्त हुआ तो उसके पास तो सारी सामग्री थी। परन्तु ईश्वरको व्यक्ति बननेमें, एक मनुष्यके रूपमें आनेमें क्या कारण है? पञ्चभूतके उपादानसे शरीर बना नहीं, पूर्वजन्मके संस्कार हैं नहीं, इनके वास्तविक माता-पिता कोई है नहीं। किसीने उनको संकर बनाया नहीं। फिर श्रीकृष्णका व्यक्तित्व क्या है? उन्होंने कहा कि मैं तो अव्यक्त ही हूँ—व्यक्ति-भावको कभी प्राप्त हुआ नहीं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । 7.24

कभी कोई दर्शन-शास्त्रकी बात भी सुना दें। कभी कथा भी सुना देंगे। पण्डितोंमें जब इसकी चर्चा होती है—उसका नमूना आपको सुना दें—आपको श्लोकके साथ सुना दें। जैसे आप व्यापारमें पैसेके साथ खेलते हैं, वैसे हमलोग शब्दोंके साथ खेलते हैं।

भगवान्ने कहा—जब मैं प्रत्यक्ष व्यक्तिके रूपमें प्रकट हूँ—ये साँवरा सलोना, ये पीताम्बरधारी, ये

मन्दमन्द मुसकान, ये प्रेमभरी चितवन, मैं तुम्हारे सामने हूँ तो फिर निराकारका चिन्तन कौन करेगा? बोले— 'अबुद्धयः'—

अव्यक्तं सन्तं माम् अबुद्धयः व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।
व्यक्तिमापन्नं मां अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।

मैं हूँ बिलकुल निराकार लेकिन जो हमको साकार मानते हैं—वे क़ौन हैं? बोले—'अबुद्धयः'।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं च माम् अबुद्धयो मन्यन्ते।

भगवान् निराकार है कि साकार है? इस झगड़ेमें मूर्ख लोग फँसते हैं। न भगवान् साकार है, न निराकार है—यह शब्दलीला है। यह पौराणिकोंका काम नहीं है और कवियोंका काम भी नहीं है। ये हमारे दार्शनिक और वैयाकरण—दोनोंका काम है।

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्। 9.11

हमको मनुष्य समझकर मूढ़ लोग हमें अपमानित करते हैं। हम मनुष्य नहीं हैं, देवता भी नहीं, दानव भी नहीं। क्या हैं—विलक्षण—साक्षात् परब्रह्म, परमात्मा हैं। देखनेमें मनुष्य हैं और हैं साक्षात् परब्रह्म, परमात्मा। व्यक्तिकी जानकारी कैसे होगी? एक बालक अपने पितासे एक दिन लड़ाई कर बैठा—पिताजी जब मेरा विवाह होगा तब मैं आपको आमन्त्रित नहीं करूँगा। उसने पूछा—'क्यों बेटा?' ऐसा क्यों करोगे? बोला, 'तुमने अपने व्याहमें हमको आमन्त्रित नहीं किया था। हम तो बदला लेंगे।' अपने बापके जन्म-कर्मको पुत्र कैसे जान सकता है? क्योंकि जब पुत्र नहीं था तब पिताका जन्म हुआ। अब यह भगवान्‌की जो अभिव्यक्ति है— भगवान्‌का जाहिर होना, यह भगवान्‌के बाद पैदा हुआ और जिसके पहले भगवान् थे वे अगर जानना चाहें कि हम भगवान्‌के जन्मको जान लें तो कैसे जानेंगे?

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।

क्रियाशक्तिसे भी नहीं, ज्ञानशक्तिसे भी नहीं—और व्यक्ति जो है वह सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति है। सत्‌में आवृत्ति कैसे बनी? चित्‌में विशेष ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हुई? आनन्दमें भोगका सम्बन्ध कहाँसे हुआ? न आनन्दमें भोगका सम्बन्ध होता है, न ज्ञानकी वृत्तियाँ बनती हैं और न सत्‌में आकृतियाँ बनती हैं। तब यह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा जो है, वह व्यक्तिके रूपमें कैसे आया? कोई इस बातको नहीं जानता। सबके ऊपर पानी फेर दिया। किसीको यह बात मालूम ही नहीं है कि भगवान् अव्यक्तसे व्यक्त कैसे हुए? निराकारसे साकार कैसे हुए? निर्गुणसे सगुण कैसे हुए? अजन्मासे जन्मवान कैसे बने? यह बात किसीको मालूम नहीं है। जो लोग बताते हैं कि हमको मालूम है वे अललटप्पू गप्प हाँकते हैं। भगवान् निराकार भी हैं, साकार भी हैं। पर निराकारसे साकार कैसे हुए, इसको जाननेवाला कोई नहीं है। सब अज्ञानके चक्करमें फँस गये। अपनी-अपनी कल्पना-जल्पनासे यह बात बोलते हैं कि भगवान् ऐसे प्रकट हुए, भगवान् ऐसे प्रकट हुए। बोले, कोई तो जाननेवाला चाहिए न! बोले, हाँ, जाननेवाला तो है। अर्जुनने कहा हम जाननेवालेको जानते हैं, हम उसको पहचानते हैं।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।।

अपने आपको, अपने आपसे, आप स्वयं जानते हैं। 'स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ'। तुम स्वयं ही अपने आपको जानते हो। माने तुम्हारा ज्ञान और तुम्हारी व्यक्ति एक है—दो नहीं। जो ज्ञान है वही व्यक्ति है और जो व्यक्ति है वही ज्ञान है। श्रीरामानुजाचार्यसे किसीने पूछा—महाराज, आपकी यह व्यक्ति क्या है? और आप क्या हैं? श्रीरामानुजाचार्यने उत्तर दिया—'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः? यदात्मको भगवान्'।

भगवान्‌की जो अभिव्यक्ति होती है, अभिव्यञ्जना होती है, जाहिर होना होता है—उस अव्यक्त स्वरूपको प्रकट करनेवाली व्यक्ति, वह क्या होती है? बोले 'यदात्मको भगवान्' अभिव्यक्ति क्या है? स्वयं भगवान् ही अभिव्यक्ति है। उसमें दूसरे कुछका मिश्रण नहीं है। 'किमात्मको भगवान्'? भगवान् क्या है? 'यदात्मिका अभिव्यक्तिः'—जैसी उनकी अभिव्यक्ति है। जैसे जाहिर हैं वैसे ही वे अनजाहिर भी हैं। जैसे प्रकट हैं वैसे ही गुप्त भी हैं। जैसे गुप्त हैं वैसे प्रकट भी हैं। भगवान् बिल्कुल एक सरीखे हैं और उनको जाननेवाला कोई दूसरा नहीं है।

अब देखिये क्या युक्तिसे यह बात बतायी है! 'स्वयमेव', स्वयमेवका अर्थ हुआ-अपने आप जानते हैं। कोई गुरु नहीं है। 'स्वयमेव'का अर्थ है कि भगवान्‌को किसीने नहीं कहा हो कि 'तत्त्वमसि'। भगवान् 'निगुरे' हैं। उनका गुरु कोई नहीं है। उनको किसीने बताया नहीं कि तुम प्रभु हो। जीवको बताना पड़ता है कि तुम ब्रह्म हो। ईश्वरको बताना नहीं पड़ता। अभी अध्यात्म रामायणमें मैंने देखा। ईश्वरके लिए 'निरीश्वर' शब्दका प्रयोग है। ईश्वर आस्तिक होता है कि नास्तिक? ईश्वर यदि अपना ईश्वर किसी औरको मानता है तो छोटा ईश्वर हो गया न? दो नम्बर का। ईश्वरका ईश्वर नहीं होता, इसलिए ईश्वरको 'निरीश्वर' कहते हैं। भागवतमें प्रयोग है-ईश्वरका आत्मा कोई दूसरा नहीं है। वह स्वयं आत्मा है।

आगे जाननेकी प्रक्रियाका खण्डन करते हैं। 'आत्मना आत्मानं वेत्थ'। हम जब किसी चीजको जानते हैं, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा जानते हैं। आँखसे रूपको देखते हैं-काला है, गोरा है। आकृतिको भी आँखसे जानते हैं? कानसे शब्दको जानते हैं। त्वचासे स्पर्शको जानते हैं। आत्मना नहीं जानते। करणेन-किसी इन्द्रियके द्वारा हम संसारको जानते हैं। मनके द्वारा जानते हैं, बुद्धिके द्वारा जानते हैं और परमात्माको जाननेके लिए इन्द्रिय, मन और बुद्धिका तिरस्कार करना पड़ता है। जाओ इन्द्रियो-तुम संसारको देख सकती हो-देखो। पति पत्नीपर नाराज हुआ, बोला दिनभर तुमको बाजार ही अच्छा लगता है। जाओ बाजारमें। वैसे स्त्री भी पुरुषको कह सकती है कि दिनभर तुम्हें पैसा, पैसा, पैसा-हम भी तो घरमें कुछ हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। कठ० उप०

इन्द्रियाँ तो बाहरकी वस्तु देखनेके लिए जाती हैं। आत्माके अस्तित्वसे ही सबकी प्रवृत्ति हो सकती है। परमात्माको देखनेके लिए, आँखसे देखें, कि कानसे सुनें, कि त्वचासे स्पर्श करें, कि नाकसे सूँघें कि जीभसे चक्खें कि मनसे कल्पना करें तो बोले 'आत्मना'। यह तो सब अनात्मा है। इनके द्वारा परमात्माका ज्ञान नहीं होता। इनका निषेध करके परमात्माका ज्ञान होता है। किसको जानते हैं?

एक बात और है। जैसे हमें दूसरेके कन्धेपर चढ़ना हो तो चढ़ सकेंगे । लेकिन अपने कन्धेपर चढ़ना हो तो कोई स्वयं अपने कन्धेपर नहीं चढ़ सकता। इसलिए यदि आत्मा परमात्माको अन्य रूपमें जाने तो कर्तृ-कर्म विरोध हो जायेगा। जाननेवाला और, जाना जानेवाला और। परमात्मा जब अपनेको जानता है तब ज्ञाना जानेवाला और, जाननेवाला और, ऐसा नहीं होता। 'स्वयमेव बुद्धम् स्वयं च तत्त्वम्'। अपने आप ही उसका बोध होता है। माने आत्माका ज्ञान दूसरेका ज्ञान नहीं है। आत्माका ज्ञान, दूसरोंके द्वारा इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता और स्वयमेवका अर्थ है-स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। अभिव्यक्तिमें और ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है।

अब सम्बोधन दे दिया 'पुरुषोत्तम'। आप जानते ही हैं गीतामें तो पुरुषोत्तम शब्द पारिभाषिक है। एक खास मतलबसे पुरुषोत्तम शब्दका प्रयोग होता है। ऐसे तो व्यवहारमें किसीको भी पुरुषोत्तम कह सकते हैं। अरे भाई, ये तो प्रधान मन्त्रीके नाकके बाल हैं-हो गये न पुरुषोत्तम! राष्ट्रपति इनकी सलाहसे काम करते हैं। डॉक्टरोंके लिए कहते हैं-ये राष्ट्रपतिके खास चिकित्सक हैं-'पुरुषोत्तम' हो गये। महात्मा लोग भी जिनकी प्रशंसा करें, विद्वान् भी जिनकी प्रशंसा करें। हजार गवाही देकर लोग किसीका बड़प्पन सिद्ध करते हैं। 'राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः। साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः।' दुनियाँमें पुरुषोत्तम कौन है? बोले राजा, विद्वान् और साधु तीनों जिसकी प्रशंसा करते हों। यह तो लौकिक पुरुषोत्तम हुआ और श्रीकृष्ण कैसे पुरुषोत्तम हैं? आपने गीतामें पुरुषोत्तम शब्दकी व्याख्या पढ़ी है। जो जड़-सृष्टि है और जो जीव-सृष्टि है, इन दोनोंका सञ्चालक, अन्तर्यामी, प्रेरक, प्रकाशक जो प्रभु है, क्षराक्षर विलक्षण है; क्षर अर्थात् जड़-सृष्टिसे विलक्षण और अक्षर अर्थात् जीव-सृष्टिसे विलक्षण! उसको बोलते हैं-'पुरुषोत्तम'!

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। 1६.17
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। 15.18

लोकमें भी मेरा नाम पुरुषोत्तम है और वेदमें भी मेरा नाम पुरुषोत्तम है। क्योंकि क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष, अष्टधा प्रकृति और परा प्रकृति दोनोंसे परे मैं हूँ। ये उलाहना मत देना कि भगवान्ने अपनेको पुरुषोंसे ही उत्तम बताया-स्त्रियोंसे भी उत्तम क्यों नहीं बताया? संस्कृत भाषामें स्त्री-पुरुषके लिए भेद नहीं है। पुरुष शब्दका प्रयोग दोनोंके लिए होता है। क्योंकि जीवको देखकर वे बोलते हैं, शरीरको देखकर नहीं बोलते। स्त्रीके शरीरकी बनावट दूसरी है और पुरुषके शरीरकी बनावट दूसरी है। पर शरीरकी बनावट दूसरी-दूसरी है, आत्मामें, जीवात्मामें कोई फर्क नहीं है। न पञ्चभूतमें कोई फर्क है, और न चेतनमें कोई फरक है।

इसलिए संस्कृत भाषामें दोनोंके लिए प्रकृति शब्दका प्रयोग भी आता है। अष्टधा प्रकृति, परा प्रकृति, आपरा प्रकृति -परा प्रकृति रूप अक्षर-पुरुष और अपरा प्रकृति रूप ये पञ्चभूत। इन दोनोंसे विलक्षण है पुरुषोत्तम। क्षेत्रसे भी विलक्षण है और क्षेत्रज्ञसे भी विलक्षण है। तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ। सातवें अध्यायमें

परा प्रकृति, अपरा प्रकृति। पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर और अक्षर पुरुष-इन दोनोंके लक्षणोंसे जिसका लक्षण अलग है विलक्षण है। विलक्षण कहनेमें कभी निन्दा भी होती है, कभी स्तुति भी होती है। भाई, यह तो विलक्षण पुरुष है। माने पता ही नहीं चलता कि क्या है? न इसमें पूरा-पूरा साधुका लक्षण मिलता है, न पूरा-पूरा दुष्टका लक्षण मिलता है। तब कहेंगे 'विलक्षण' है। साधु-लक्षणसे भी विपरीत है और दुष्ट-लक्षणसे भी विपरीत है।

अब भगवान्के बारेमें क्या कहेंगे? भागवतमें तो ऐसा लिखा है कि जब दो आदमी परस्पर वाद-विवाद करने लगते हैं, उसके पास भी वे धीरेसे बैठ जाते हैं। एक काटता है और एक उसका समर्थन करता है। काटनेवालेके भीतर बैठकर उसे धीरेसे काटनेकी युक्ति बताते हैं और समर्थन करनेवालेके भीतर बैठकर धीरेसे उसे समर्थन करनेकी युक्ति बताते रहते हैं।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति। भागवत 6.4.31

एक वकील वादी और प्रतिवादी दोनोंको सलाह दे तब उसे क्या कहें? पर ये भगवान् ऐसे विलक्षण-पुरुषोत्तम हैं। उनके लिए कोई अपना-पराया है ही नहीं-जो उनकी सन्निधिमें है उसको अपना ज्ञान देते हैं, अपनी शक्ति देते हैं, अपनी प्रेरणा देते हैं। यह देव-दानवका झगड़ा संसारमें है, भगवान्में नहीं है। अपने-परायेका व्यामोह बिल्कुल संसारी है। भगवान्में अपने-परायेका कोई भेद नहीं है।

यह जो पुरुषोत्तमत्व है उसका विवरण देनेके लिए-यदि पुरुषोत्तमपनेको समझनेमें कोई परदा पड़ा हो तो आओ इसका खुलासा कर देते हैं। अभी मैंने वाल्मीकि रामायणमें एक बढ़िया सूक्ति देखी। जब सीताजीको विभीषण लेकर पालकीमें आने लगे श्रीरामचन्द्रके पास-उन्हें वानर देखनेके लिए दौड़े। वहाँ छड़ीदार मार-मारकर वानरोंको दूर भगाने लगे, बोले पालकीके पास मत आओ। वे रक्षक कपड़े भी पहने थे। साफा भी बाँधे थे। उनके हाथमें छड़ी भी थी, रामचन्द्रने देखा क्या कोलाहल हो रहा है? सीताजीके दर्शनके लिए हल्लागुल्ला हो रहा है। बोले सीताजीको कह दो कि पालकीसे नीचे उतरकर पैदल आवें। वहाँ ऐसा बढ़िया वचन कहा है कि स्त्रीके लिए घरका परदा नहीं है कि वह चहार दीवारीके भीतर ही रहे। उसके लिए पालकीका परदा भी नहीं है। उसके लिए कपड़ेका परदा भी नहीं है।

'वृत्तमावरणं स्त्रिया:' (रामा० युद्ध० 114.27) जो आचरण है-वही उसका परदा है। क्या बढ़िया सूक्ति है -'वृत्तं चरित्रम् आवरणं अवगुण्ठनं स्त्रिया:' स्त्रीका परदा क्या है? उसका आचरण। यदि उसका आचरण ठीक है तो वह परदेमें है। पुरुषके लिए भी ऐसा ही वर्णन है। 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' (15.1) यह जो अश्वत्थ वृक्षमें वेदका छन्दस् है, आच्छादन है, यही पत्ता है। इस अश्वत्थ वृक्षका पर्दा क्या है? पत्ता क्या है? छन्दस्-वेद। शास्त्रके अनुसार, संविधानके अनुसार, मर्यादाके अनुसार जो जीवन व्यतीत होता है, उसी जीवनको बोलते हैं कि वह पवित्र जीवन है। भगवान् सबमें रहकर सबको ज्ञान दे रहे हैं। अब उसका हम विवरण कर रहे हैं। पुरुषोत्तम-विवरण माने खुलासा। भगवान्को-पुरुषोत्तमको परदा हटाकर देख रहे हैं, अनावृत्त करके देख रहे हैं।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।-ये पुरुषोत्तम हैं। 'भूतानि भावयति'। सब भूतोंको-'भवन्ति इति भूतानि'। संस्कृत भाषामें केवल भूत-प्रेतके लिए भी भूत शब्दका प्रयोग नहीं होता। और केवल भूत कालके लिए भी भूत शब्दका प्रयोग नहीं होता। 'भवन्ति इति भूतानि'। जो इस समय हो रहे हैं। बच्चा हो रहा है-भूत है। बच्चा जवान हो रहा है-भूत है। इन सबको बनानेवाले-'भूतानि भावयति।' जो सबको रसीला बना देता है। जो मुर्देमें जान फूँक देता है। उसका नाम है भूतभावन। मूर्खको पण्डित बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन। जड़को चेतन बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन। दु:खीको सुखी बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन, जैसे वैद्य लोग किसी वस्तुको भावना देते हैं। एक कुचिला जो कड़वा होता है-उसको भावना देते हैं-गोबरमें रखते हैं। फिर दूध, दही, घी, शहदमें रखते हैं। अब वह कड़वा कुचिला जो है, वह भावना देते-देते एक रसायन बन जाता है।

इसी प्रकार इस विश्वसृष्टिमें जिसने भावना दे-दे करके अपने प्राणोंसे जीवित किया, अपनी आवाज भर दी, चिड़ियामें कितनी मधुर, कितनी सुरीली आवाज! अपनी हरियाली भर दी वृक्षोंमें, अपना रस भर दिया फलोंमें-वह है भूत-भावन। कोयलमें जिसने मीठी आवाज भर दी वह भूत-भावन है। जिसने सुरीली, वीणाके तारमें मीठी आवाज भर दी-उसका नाम भूतभावन है। जिसने जलको रसीला बना दिया 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (उसका) नाम भूत-भावन है। सबमें भावना भर रहा है। सब जीवित रह रहे हैं। सब जान रहे हैं। सब मजा ले रहे हैं। ये कौन हैं? यह वही है। यह हमें दीखता नहीं है। यह जादूका खेल तो दिखाता है पर जादूगर नहीं दिखता। न तं विदाथ य इमा जजान। (ऋग्वेद 10.82.77)। लोग बगीचा तो देख रहे हैं पर यह बगीचा है किसका? उसको नहीं देखते-वह है भूतभावन, माने सारे जगत्का माता-पिता है, पालक-पोषक है।

कोई-कोई लोग ऐसे भी निकल जाते हैं, जिनका माता-पितासे प्रेम नहीं होता है। वे केवल माता-पिता ही नहीं है। डंडा मारकर भी ठीक करनेवाले हैं। भूतेश-भूतोंके ईश्वर हैं-स्वामी हैं-ईशनशील हैं। ईश हैं-नियन्ता हैं। माता-पिताके काबूमें बालक भले ही न आवे; किन्तु ये तो ऐसे हैं कि सबको अपने नियन्त्रणमें कर लेते हैं। भूतेश-कोई-कोई स्वामीसे भी विद्रोह करते हैं। भले कोई छोटे-मोटे स्वामीसे विद्रोह करे-ये तो देव-देव हैं। देव-देवका अर्थ है-सूर्यमें, चन्द्रमामें, ग्रहमें, नक्षत्रमें, तारामें जो चमक, जो प्रकाश है, ये इन सब प्रकाशोंके प्रकाशक, देवताओंके देवता—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस परमात्माके प्रकाशसे ही यह सृष्टि प्रकाशित हो रही है। सबमें एक चमक है, उस चमकको, प्रकाशको, उस रश्मिको, उस रौनकको देखो जो सबमें भरी हुई है।

स्त्रीमें वही है, पुरुषमें वही है। परमात्मा वह तत्त्व है, जो नाम-रूपके भेदसे अलग-अलग नहीं होता। परमात्मा वह प्रेम है जिसमें प्रेमी और प्रियतमका भेद नहीं होता। परमात्मा वह धर्म है जिसमें मजहब नहीं होता। आचार्यमूलक जितने धर्म होते हैं सब पीछेसे चलते हैं-इन्होंने चलाया, उन्होंने चलाया। आदमीकी लिखी हुई किताब-आदमीके द्वारा चलाया हुआ मजहब-ये सब-की-सब पीछेकी चीजें हैं। परमात्मा वह धर्म है जिसको चलानेवाला कोई आचार्य नहीं है-जो किसी समयमें नहीं चलाया गया। परमात्मा वह धर्म है जो भूगोलके

किसी हिस्सेमें नहीं चलाया गया। वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सम्पूर्ण देवताओंका-सूर्य, चन्द्र आदिका भी-देवता है।

वह है देव-देव। 'देवानामस्मि देव:'। देवताओंका भी देवता है। सारी केनोपनिषद् देव-देवोंसे भरी हुई है। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (केन० 1.2) देव माने कान-का-कान है। 'चक्षुष: चक्षु' (केन० 1.2) आँख-की-आँख है। वह प्राण-का-प्राण है, वह मन-का-मन है, वह वाणी-का-वाणी है। देव-देव वही है। कहाँ है परमात्मा? 'हमको क्या तू ढूँढ़े बंदे हम तो तेरे पास हैं'। हमको कहाँ ढूँढ़ने जाता है? हम तो तेरे दिलमें हैं।

हम माँकी ओर न देखें पर हैं उसकी गोदमें। हम सूर्यकी ओर न देखे पर देखते हैं उसकी रोशनीमें। हम हवाको न पहचानें यह ठीक है, पर हम साँस लेते हैं हवामें। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरमें जो चेतन है, चैतन्य है, वह अपने मूलभूत चैतन्य रूपको जाने या न जाने, वह उससे अलग होकर कभी रह नहीं सकता। वह देवताओंका भी देवता है। देवता मान लेते हैं कि जीत हमारी हुई-हमने यह चीज देखी है। दैत्य मान लेते हैं हमने यह चीज बनायी है। कर्मके द्वारा विजय प्राप्त करना और ज्ञानके द्वारा विजय प्राप्त करना। देव ज्ञानको लेकर लड़ें, दैत्य कर्मको लेकर लड़ें और दोनोंको अभिमान हुआ—हमने जीत लिया। दोनोंमें ज्योति आयी? कहाँसे रोशनी आयी? 'देव-देव जगत्पते!' आप जगत्के स्वामी हैं! पति शब्दका अर्थ केवल मालिक नहीं होता। पति शब्द भी स्त्री-पुरुषके लिए एक सरीखा ही चलता है।

एक बार एक सभा हो रही थी। उमा नेहरूजी उसकी अध्यक्ष थीं। हमारे गाँवके पास हो रही थी। सम्पूर्णानन्दजीने उन्हें सम्बोधन किया—सभापत्नीजी! स्त्रीके लिए सभापत्नी शब्द नहीं हो सकता। सभापति शब्द ही होगा। हँसी हो गयी। उन्होंने जान-बूझकर मजाक किया था। उनके साथ कृष्णकान्त मालवीय आये थे। पति शब्द जो है, यह पाति इति पति:-जो सबकी रक्षा करता है, उसका नाम होता है पति। और पत्नी उसको कहते हैं जो धर्मकार्यमें अपने पतिकी सहचारिणी हो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टाध्यायी ४.१.३३)।' पत्नी जप करे तो पतिको उसका फल मिले। औ र पति कोई कर्म करे, दान-पुण्य करे तो पत्नीको उसका फल मिले। यह पति, पत्नी दोनों मिलकर धर्मके रथका सञ्चालन करते हैं। इसलिए पति शब्दका अर्थ केवल पुरुष नहीं होता-पति शब्दका अर्थ धर्मरक्षक होता है।

आप जगत्के पति हैं-जगत् माने परिवर्तनशील। जितना भी पदार्थ है, उसको जगत् कहते हैं—दुनियामें सभी वस्तुएँ चल रही हैं, हिल रही हैं, उनमें परिवर्तन हो रहा है, ऐसा कुछ नहीं है—जो अचल हैं। एक परमाणुको यदि विखण्डित कर दें-तब भी गति रह जाती है, तब भी शक्ति रह जाती है। गति और शक्तिका लोप कभी नहीं होता। प्रलयमें भी गति रहती है, परन्तु साम्यावस्थापन्न रहती है। सत्त्व, रज:, तम:की विषम परिणति-विषम गति रहती है सृष्टि कालमें और प्रलय कालमें सम गति रहती है, परन्तु गति रहती है। 'गच्छति इति जगत्'। जो व्यवहार-कालमें भी और प्रलयकालमें भी चल रहे उसका नाम होता है-जगत्। उसको मिट जाना चाहिए। क्षण-क्षण-क्षणमें मिट जाना चाहिए। परन्तु एक ऐसी वस्तु है जो अनादि कालसे अबतक प्रवाह कालमें नित्य इस जगत्की रक्षा करती है। जिसकी सत्ता, ज्ञान, आनन्दसे यह विश्व-सृष्टि बनी हुई है, उसको

जगत्पति कहते हैं। पुरुषोत्तम किसको कहेंगे? तो भूतभावन होगा, भूतेश होगा, देवदेव होगा और जगत्पति होगा-उसको कहेंगे कि पुरुषोत्तम है। और उसको कौन जानता है? बोले-स्वयं जानता है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। 10.15.16

अब अर्जुन कहते हैं कि जब आपके सिवाय कोई जानता ही नहीं तो आप ही बताइये। 'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'। आप अपने आपको जानते है, तो अपनी विभूति बताइये। क्योंकि आपकी विभूतियाँ भी दिव्य हैं। असलमें अलौकिक क्या है? जहाँ लोक नहीं है वहाँ क्या है? सम्पूर्ण निवृत्त होकर-अन्यका निषेध करके-स्वरूपमें स्थित होकर स्वयं अपनेको अलौकिक रूपमें अनुभव किया जा सकता है। यदि उस अलौकिकका वर्णन करना हो तो उसकी विभूतिका भी वर्णन किया जा सकता है।

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः।। भाग० 2.6-37

भागवतमें बताया कि हम लोग केवल अवतार-कर्मका ही गान कर सकते हैं। उस परमतत्त्वका सम्यक् वर्णन करके गान करें-यह शक्य नहीं है। 'न तं विदाथ न इमा जजान' ऋग्वेद (10.82.7)में यह मन्त्र आता है कि देखो भाई, उसको तुम नहीं जानते, जिसने यह सृष्टि बनायी है। जब-जब वह अवतार लेकर आता है, व्यक्त होकर आता है, विभवनशील होता है, उसको देखो। विभूतियाँ, जिन बहत्तर विभूतियोंका आगे वर्णन है। इसमें भगवान्‌का अजन्मा-रूप नहीं है, विभव-रूप है। भगवान्‌का एक रूप होता है अजन्मा और एक रूप होता है प्राकट्यवाला-जो सामने दिखायी पड़ता है। 'अशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।' भगवान्‌की विभूति-भगवान्‌की संभूति। विभूतियोंका, बृहदारण्यक उपनिषनमें, संभूतिके नामसे वर्णन है-ईशावास्य उपनिषद्‌में भी संभूतिके नामसे वर्णन है।

भगवान् की अपनी विभूति हैं ये नैमेत्तिक नहीं हैं मायिक नहीं है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4)। कहनेका अर्थ यह है कि एक दृष्टिसे ये हैं और एक दृष्टिसे नहीं हैं। यह देखो हमारा वैभव, ये देखो चमत्कार, ये देखो जादूका खेल—अच्छा, आपका जादूका खेल, महाराज! आप ही समझाइये। पूरा-पूरा समझाइये—अशेषेण—अधूरा नहीं। एक बात और है—शेषसे प्रारम्भ करके मत सुनाइये—आत्मविभूति। शेष माने जब सृष्टिका प्रलय होता है तब बीज जो है वह शेष रह जाता है। बीजमें-से सृष्टि-वृक्ष कैसे हुआ और वृक्षमें-से बीज कैसे निकला—वह जो कार्य-कारण परम्परा है, इसके द्वारा मत समझाइये। स्वयं आत्मरूपमें ही अपना वैभव समझाइये। यह बताइये कि इस समय आप किन-किन रूपोंमें दीख रहे हैं? 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि' (10.16)। 'इमांल्लोकान्' ये जो दुनिया दीख रही है इसमें भगवान् क्या है? इसमें भगवान्‌की विभूति क्या है? भिन्न-भिन्न रूपोंमें भगवान्‌का दर्शन इस सृष्टिमें

कैसे हो रहा है? पहले कभी आपको सुनाया होगा। मैं बालक-अवस्थामें गया अयोध्याजीमें, एक महात्माके पास। उनसे बोला—हमको भगवान्‌का दर्शन कराओ—उन्होंने पूछा कहाँसे आ रहे हो? मैंने कहा—कनक-भवनसे, सीतारामका दर्शन करके आया हूँ। तो बोले कि तुमने वहाँ क्या देखा? लाखों जिसमें भगवान् होनेपर श्रद्धा करते हैं, हजारों आदमी जिसके लिए सर्वस्व समर्पित करते हैं, सैकड़ों आदमी जिसकी सेवामें लगे रहते हैं, उसको पत्थर समझकर—देखकर आये हो और हम अब क्या भगवान्‌का दर्शन करावें? डाँट दिया।

दूसरे महात्मासे कहा तो वे बोले—तुम क्या देख रहे हो? यह सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र ये तारे, ये धूल जिससे पृथिवी बनी है यह क्या है? यह जल है, जिसमें रस है, यह क्या है? अग्नि है, जिसमें तेज है, यह क्या है? यह वायु है, जिसमें प्राण है—वह क्या है? यह आकाश है, जिसमें सब रह रहे हैं—वह क्या है? तुम देख क्या रहे हो? कभी विचार किया है? जब 'इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। जिन चीजोंको हम देख रहे हैं, उन चीजोंमें क्या है? यदि इनमें तुम्हें भगवान् नहीं दीखता है तो क्या सो जाने पर भगवान् दिखेगा?

समाधि लगानेपर भगवान् दिखेगा? खुली आँखोंसे भगवान् नहीं दिखता है तो बन्द आँखसे भगवान् क्या दिखेगा? इसका तो अर्थ हुआ कि आँखवालेको भगवान् नहीं दिखेंगे, अन्धेको भगवान् दिखेंगे। भगवान् है, भगवान् दीखता है और इन्हीं आँखोंसे दीखता है। और दीख रहा है। परन्तु हम भगवान्‌को पहचानते नहीं हैं। अर्जुनने कहा कि हमको वह विभूति बतावें जिनके द्वारा तुम इस लोकमें—माने इसी जीवनमें,—इन्हीं आँखोंसे, इसी नाकसे तुम देखे-सूँघे जाते हो। इसी जीभसे तुम चखे जाते हो, सो बताओ। इन्हीं त्वचासे छूये जाते हो, सो बताओ, हमारे रिश्तेदार, नातेदारके रूपमें बताओ। 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'—ऐसे बोले। 'पाण्डवानां धनञ्जय'—ऐसे बोलो। हमको यहीं-यहीं इसी जीवनमें इसी व्यवहारमें तुम अपने आपका दर्शन कराओ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

(2-11-1981)

नर-नारायण—श्रीकृष्ण-अर्जुन—एक रथपर बैठे हुए हैं। 'शरीरं रथमेव च'। यह शरीर रथ है और इस पर जीवात्मा और परमात्मा—नर और नारायण—दोनों इसी शरीरमें हैं। परमेश्वर ही शिक्षा देता है। गीतामें आप पढ़ते हैं—'आत्मैव आत्मनो बन्धु: आत्मैव रिपुरात्मन:'। आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा ही आत्माको शिक्षा देता है और आत्मा ही आत्मासे शिक्षित होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा 'यस्त्वां द्वेष्टि समां द्वेष्टि'। अर्जुन—जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है। जो जीवात्मासे द्वेष करता है वही परमात्मासे भी द्वेष करता है। जीवात्मासे द्वेष करना ही परमात्मासे द्वेष करना है।

किसी जीवसे द्वेष मत करो। न अग्रज न अन्त्यज, न शैव न वैष्णव, न हिन्दू न मुसलमान। सबके हृदयमें वही साईं बैठा हुआ है। 'सबके हृदय में साईं बैठा कटुक वचन मत बोल रे। तोहे पीव मिलेंगे। घूँघटको पट खोल रे।' एक ही रथपर जीव और ईश्वर, अर्जुन और श्रीकृष्ण बैठे हैं और परमात्मा ही आत्माको शिक्षा दे रहा है। अर्जुनने कहा—'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय:। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। आप अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करें। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ थोड़ी-सी त्रुटि है। 'वक्तुम् अर्हसि'को कर्म होना चाहिए 'दिव्या आत्मविभूती: कथयिस्यामि'।

व्याकरण तो ऐसे ही बनते-बिगड़ते रहते हैं। यह तो आर्ष वचन है। यहाँ पाणिनिको भी चुप होना पड़ता है। व्यासकी रचना माहेश व्याकरणके अनुसार है, पाणिनीय व्याकरणके अनुसार नहीं है। अर्जुनने प्रार्थना की—जैसे शिष्य गुरुसे प्रार्थना करते हैं। 'या: दिव्या: आत्मविभूतय:, ता: अशेषेण वक्तुमर्हसि'।

कृपा करके अपनी सम्पूर्ण दिव्य विभूतियोंका वर्णन कीजिये। श्रोताके हृदयमें कितनी उत्सुकता है, कितना प्रेम है कि वह भगवान्‌की विभूतियोंको पूर्ण रूपसे सुनना चाहता है। फिर बोले भगवान्‌की विभूतियाँ तो दिव्य हैं। परन्तु विशेष, विशेष सुनावें। बड़े विनयसे 'वक्तुमर्हसि' आप वर्णन करनेकी कृपा कीजिये। आज्ञा नहीं है, आदेश नहीं है। पूरा शिष्टाचार है। विभूति क्या है? जल है, बरफ हो गया जमकर। जल है योग—भगवत्स्वरूप और उसमें जो बरफ जमा, वह है उसका वैभव। जल है—वह दूधके साथ मीठा है, दहीके साथ खट्टा है, नींबूमें वही दूसरा खट्टा है, आममें दूसरा खट्टा है, इमलीमें दूसरा खट्टा है—यह जलका वैभव है।

जल आमके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, इमलीके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, नींबूके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, यह है जलकी विभूति अपनी विशेषताको छोड़े बिना दूसरेकी विशेषताके साथ मिल

गया। यह आपको पता है। यह देखो भगवान्‌की रचना। सबके साथ मिल गये, लेकिन उन्होंने अपनी भगवत्ता छोड़ दी—नहीं, भगवान् रहते हुए ही सबके साथ मिल गये। कह दिया मैं रस हूँ, जलमें रस हूँ—कौन-से रस हो? खट्टे हो, मीठे हो, चरपरे हो, तीखे हो, कौनसे रस हो। नहीं यह सब नहीं—मैं रस हूँ। चाहे वह खट्टा हो, चरपरा हो, मीठा हो—मृत्युका रस हो कि जीवनका रस हो। रस है भगवान्—इसीको विभूति बोलते हैं। यह है उनका वैभव। विशेष, विशेषरूपमें भवन—होना। यह होना ही विभूति है।

हमारे एक शंकरजीका लिङ्ग है —हमारे पुजारीजी कभी-कभी उनका श्रृंगार करते हैं। है तो वह लिङ्ग परन्तु जब वे भस्मका श्रृंगार करते हैं, तो उसमें नाक अलग, कान अलग, मुँह अलग, कुछ जोड़ते नहीं हैं, केवल विभूति ही ऐसी लगाते हैं कि वह लिङ्ग साकार हो जाता है। उसमें आँख-भौं हो जाती है। विच्छित्ति इसको बोलते हैं। संस्कृत भाषामें इसका नाम विच्छित्ति है। विच्छित्ति माने शोभा। जैसे स्त्रियाँ अपना बाल सँवारती हैं न! तो एक लट इधरको छोड़ देती हैं, एक आँखके ऊपर छोड़ देती हैं तो दो भागमें हो जानेसे सुन्दरता और बढ़ जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी शोभा दिखाते हैं। कालिख लगाना सुन्दरताकी बात थोड़े ही है। लेकिन भौंहोंमें कालिख और आँखोंमें कालिख लगानेसे आँख बड़ी-बड़ी लगने लगती हैं। इसीका नाम विभूति है, भस्म है। वह कोई चीज नहीं है-भस्मके द्वारा शोभा बढ़ गयी है।

भगवान्‌का जो सौन्दर्य है, उनका जो माधुर्य है, उनका जो ऐश्वर्य है, अनेक रूपमें प्रकट होकर हम लोगोंके सामने जो झलक रहा है, उसका नाम है विभूति। भगवान् शंकर अपने शरीरमें विभूति लगा लेते हैं। यह है ईश्वरकी विभूति। ईश्वरने अपने ऊपर जो भस्म लगाया है, विभूति लगायी है, जो नाना रूप धारण किया है, उसको विभूति कहते हैं। अब देखो, मिट्टी तो मिट्टी है, पृथिवी है और जो ताँबा है, वह मिट्टी ही तो है। पीतल है, चाँदी है, सोना है यह सब पृथिवीकी विभूति है। पृथिवी एक तत्त्व है, उसके साथ आप मिल सकते हैं। लेकिन पृथिवी अपना वैभव कितने रूपमें प्रकट कर रही है और जब तप जाती है तब तो और वैभव प्रकट करती है।

जब ज्वालामुखी फूटता है, जब बहुत ताप मिलता है, तब मिट्टी कोयला और कोयलेका चूरा कैसे बन जाती है? उसको कैसे छानकर निकालते हैं? मशीनपर, कोयलेपर कोयला जा रहा है-तब इसमें-से हीरा छाँट लेते हैं। हीरा क्या है? यह मिट्टीका वैभव है, मिट्टीकी विभूति है। सोनाको पुराने लोग तेजस् मानते थे। अग्निकी विभूति है। अब सोनेको भी भस्म करनेकी विधि निकल आयी है। वह भी राखकी राख ही हो जाती है। वह भी मृत्तिकाकी ही विभूति है। विद्युत एक तत्त्व है। सर्वव्यापी। इसकी विभूति क्या है। पंखा चलाना विभूति है। बल्बमें-से प्रकाश देना विभूति है। गरम करना विभूति है। ठण्डा करना विभूति है। यह सब बिजलीकी विभूति है।

यह जो विश्व-सृष्टि है। इसमें किसीमें कुछ, किसीमें कुछ-सबमें एक विशिष्ट चीज विद्यमान है। कोई अयोग्य नहीं है। सबमें कोई-न-कोई योग्यता है। हमारे गाँवसे 14-15 मील दूरपर गंगा किनारे एक महात्मा रहते थे-वैसे तो वे 40-50 वर्षसे रहते थे-हमलोग उनके पास गये तो उन्होंने बताया-40 वर्षमें परमात्माके

विषयमें चर्चा करनेवाले केवल तीन आदमी मेरे पास आये। नहीं तो कोई रोगी होकर आता है, कोई कुछ लेने आता है। वे महात्मा घासपर नंगे बैठते थे। कोई आता तब जो भी घास उनके सामने होती उसको नोंचकर दे देते। जा, पीसकर पी जा। और बहुतोंका रोग दूर होता। मैंने एकदिन पूछा कि बाबा क्या करते हो? तो बोले-'सर्वस्वं सर्वम्'। एक ही प्रकृति है वह सब रूपमें प्रकट होती है।

प्रकृतिके सब गुण सब चीजमें रहते हैं। हम संकल्प कर दे देते हैं कि भाई, इसमें तू प्रकट हो जा। इसमें रोग मिटानेवाली दवा प्रकट हो जा। इसमें टी. बी. मिटानेवाली औषधि प्रकट हो जा। तो है सबमें सब, संकल्पसे वह प्रकट होती है। जिसका संकल्प कमजोर होगा-उसके द्वारा तो प्रकट नहीं हो सकती। भगवान् सत्य-संकल्प हैं और अपनेमें ही जो सारी विशेषताएँ भरी हुई हैं, उनको विभूतिके रूपमें प्रकट किया है। बोले, बाबा प्रकट तो कर दिया पर हम पहचानते नहीं। अब हमको पहचान करा दो। 'वक्तुमर्हसि' माने पहचान करा दो। पहचान भगवान् केवल शिष्योंको ही करवाते हों, सो बात नहीं है। मनुष्योंको अभिमान है कि हमको ही बताते हैं।

हमने एक जगह हमारी कुटियाके सामने देखा-एक नेवला और साँप दोनों लड़ रहे थे। साँप नेवलेको डँसनेको और नेवला साँपको काटनेको तैयार थे। जब साँप नेवलेपर अपना फण मारता तब झट वह छोड़कर थोड़ी दूरपर चला जाता और वहाँ एक घास अपने मुँहमें लेकर फिर आकर भिड़ जाता। साँपके जहरकी दवा नेवलेको भी मालूम है। हमने देखा जब कुत्तोंका अपच होता है तो वे दूब खा लेते हैं क्योंकि उनको मालूम है कि पाचनकी औषधि है। सारिवाद्यारिष्ट जो आप लोग पीते हैं न! वह दूबका रस ही तो है? सारिवा माने दूब। सबमें यही विभूति है।

भगवान्की यही विभूति है कि भगवान्का जीवन, भगवान्का आनन्द, भगवान्का अभेद सबमें प्राप्त है। श्रीकृष्णने कहा-अर्जुन, हमको ही जान ले तो सब विभूति जान ली गयी। अलग-अलग विभूति जानकर क्या करना है? ना, महाराज-आप अपने स्वरूपमें हैं तो छिपे हुए हैं। 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। हमको तो इस लोकमें चाहिए। हम जो देखते हैं-उसमें चाहिए। इन दृश्य पदार्थोंमें ये जो दीखनेवाली वस्तुएँ हैं, इनमें-तुम कहाँ हो? हमको दीखनेवाली चीजोंको अपनेमें बताओ। अनदेखेसे हमारी क्या दोस्ती? अनमिला साजन और अनजाना रास्ता वह नहीं चाहिए। हमको यह चाहिए कि हम देखें-यह परमात्माकी विभूति है, यह वैभव है परमात्माका। हर जगह दिखायी पड़े।

'त्वं तिष्ठसि' तुम तो स्थिर हो-तुम अचल हो, सब जगह हो-सब समय हो-यह जो कहते हैं न कि सदा परमात्माका चिन्तन करो। यदि बहुत-सी चीजें होंगी और हम बहुत-सी चीजोंको देखेंगे तो बहुत-सी चीजोंकी याद आयेगी-सदा परमात्माकी याद कैसे आवेगी? सर्वत्र परमात्माकी याद कैसे आवेगी? यदि जगह अलग-अलग है और चीज अलग-अलग है और टाइम अलग-अलग है तो जो अलग-अलग चीजें हैं, उनकी भी तो याद आयेगी। जब उनकी आयेगी तो उनकी नहीं और उनकी आयेगी तो उनकी नहीं। जब सब परमात्मा होवे तो सदा, सर्वत्र और सर्वरूपमें परमात्माका स्मरण होगा। 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा

पश्यन्ति सूरयः। दितीव चक्षुराततम्' (ऋग्वेद 1.22.20)। सूर्य है योग और उसकी जो रोशनी है यह उसकी विभूति है।

जब हम लाल, पीला, काला, नीला देखते हैं तो सूर्यकी रोशनीमें देखते हैं। और सूर्यकी रोशनी ही लाल, नीली, काली, पीली होकर दिखायी पड़ती है। अब देखते हैं-सूर्यकी रोशनी और कहते हैं-हरियाली देख रहे हैं, हरी, नीली साड़ी देख रहे हैं। यह सब क्या है? कभी याद आता है कि सूर्यकी रोशनीमें सब दीख रहा है। रोशनी न हो तो लाल, पीला, काला, नीला कहाँसे दीखेगा? असलमें हम देखते हैं प्रकाश, परन्तु उपाधिके रंगको प्रकाशमें जोड़ देते हैं।

हमको किसीने बताया था कि बिजलीसे जितनी भी रोशनी होती है-शुद्ध नहीं है; सूर्यका प्रकाश जितना शुद्ध होता है उतना शुद्ध बिना रंगका अन्य प्रकाश नहीं होता। रंग होता है वस्तुओंका और हम वस्तुओंका रंग देखते हैं और जो सूर्यका प्रकाश है वह नहीं देखते। क्या माया है भगवान्की जो असली चीज है उसपर तो नजर आती नहीं है और जो नकली चीज है उसको हम देख-देख करके मजा लेते हैं। ध्यान ही नहीं रहता कि सफेद कुरता देख रहे हैं कि हरी साड़ी देख रहे हैं-हरीमें हरियाली और सफेदमें सफेदी -सूर्यकी रोशनीकी है। सूर्यकी यह विभूति-एक चीजमें आकर सफेद, एक चीजमें आकर हरी दीखती है। यह जो वैभव है, इसपर हमारी दृष्टि नहीं जाती।

इसका व्यवहारमें बड़ा भारी उपयोग है। निर्द्वन्द्व हो जाओ। माने परमात्माके सिवाय और कोई ज्योति है नहीं। 'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्' (यजुर्वेदमाध्यन्दिन 37.1) वही वेद बोलता है। गीता बोलती है-'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (13.17) जितनी भी चीजें चमक रही हैं उसमें एक ही वस्तु चमक रही है। जहाँ हो वहाँ परमात्मा तुम्हारे साथ है। जब हो तब परमात्मा तुम्हारे साथ है। परमात्माको देखो, परमात्माकी रचनाको देखो।

एक महात्मा लखनऊमें आये थे। उनके पास एक बंगली सज्जन अपने मनमें यह प्रश्न लेकर गये कि हम ईश्वरकी सेवामें लग जायें या जो संसारके काम हैं, उनको भी करते रहें। जब महात्माजीके पास गये प्रणाम किया और एक फूलोंका गुच्छा उन्होंने भेंट किया तब महात्माजी वह गुलदस्ता लेकर देखने लग गये। आहा, कितना बढ़िया गुलाबका फूल है-यह सफेद है, यह लाल है, यह गुलाबी है-कैसा बढ़िया है-बिना सीखे ऐसा सुन्दर सजाया नहीं जा सकता! क्या बढ़िया क्या बढ़िया!! दस मिनट वह गुलदस्ता ही देखते रहे, तो बंगाली बाबूने हाथ जोड़कर कहा कि महाराज-इससे तो अच्छा होता कि मैं गुलदस्ता आपके पास न लाता तो आप मुझे तो देखते!

अच्छा, लो तुम्हारा गुलदस्ता फेंक दें-ना-ना महाराज फेंकिये मत। मैं बड़े प्रेमसे बनाकर लाया हूँ। इसके बनानेमें बहुत समय लगा है। मैंने अपने हाथसे बनाया है। अच्छा तो तुम बताओ हम क्या करें? गुलदस्तेको देखते हैं तो तुम कहते हो-हमको नहीं देखा, और तुमको देखने लगे तो तुम कहते हो हमने बड़ी उत्तम रचना रची, इसको देखो। तो महाराज थोड़ी देर हमको देखिये, थोड़ी देर उसको देखिये। दोनोंपर आपकी नजर होनी चाहिए। महात्माजीने कहा यही तुम्हारे प्रश्नका उत्तर है—

ईश्वरकी ओर देखें कि ईश्वरकी रचनाकी ओर देखें। ईश्वरकी रचना भी देखो, काम भी करो और ईश्वरका ध्यान, स्मरण भी करो!

काम करनेसे प्रमाद दूर होता है, असावधानी दूर होती है और परमात्माका चिन्तन करनेसे बुद्धि प्रखर होती है-स्वच्छ होती है। जैसे आप अपने घरमें कोई रोशनी रखते हैं तो उसे स्वच्छ रखते हैं। नहीं तो कीड़े-मकौड़े भर जाते हैं। वृन्दावनमें रोशनी करते हैं तो उनमें कीड़े भर जाते हैं। बार-बार उसकी सफाई करनी पड़ती है। पर फिर उसमें कीड़े घुस जाते हैं। यह जो हमारी बुद्धि है न, यह हमारे जीवनकी रोशनी है। यह बल्ब है, उसको भी स्वच्छ रखना चाहिए।

एक बार जब संसारका चिन्तन छोड़कर भगवान्का चिन्तन करते हैं तब बुद्धि स्वच्छ हो जाती है, साफ हो जाती है। फिर इससे चाहे जो कुछ सोचो। धन कमानेकी बात सोच सकते हैं। यह मत सोचना कि बेवकूफ हैं। यदि हम अपनी बुद्धि धन कमानेमें लगावें तो ठीक-ठीक समझ सकते हैं। धर्म करनेमें बुद्धि लगाओ, भोग भोगनेमें बुद्धि लगाओ, मोक्ष प्राप्त करनेमें बुद्धि लगाओ—व्यवहारकी शुद्धिमें बुद्धि लगाओ। पर आपकी बुद्धि स्वच्छ होनी चाहिए। बार-बार जब लक्ष्यका बुद्धि स्पर्श करती है तब वह स्वच्छ हो जाती है और जब बुद्धिपर वासना का रंग चढ़ जाता है, तब वह अशुद्ध हो जाती है।

संस्कार भी इतने ही होने चाहिए जिसको हम धो सकें। यह संस्कृति, संस्कृति जो होती है—जैसे शरीरपर मैल लग गया—विकृति आगयी। अब साबुन लगाकर संस्कार किया। साबुनमें मैलको लिया और फिर उसको शुद्ध जलसे धो लो। यदि उस साबुनको लगा हुआ छोड़ दोगे—उसके धोये बिना तुम्हारे शरीरकी क्या दुर्गति होगी। एक बार तो उस पावडरके संस्कार तुम्हारे शरीरको चमका देगा। लेकिन फिर उसको धोना पड़ेगा न! ऐसे ही ये जो संस्कार, ये संस्कृतियाँ जो आती हैं—ये भी किसी विकारको धोनेके लिए आती हैं और फिर उनको धो देना पड़ता है, रोग अगर विकार है तो दवा संस्कार है। दवा जिन्दगीभर खानेकी नहीं होती—जबतक रोग मिट न जाय तबतक खानेकी होती है। रोगीकी निवृत्तिके पश्चात् दवाकी आवश्यकता नहीं होती।

ये जो संस्कार होते हैं ये भी विकारकी निवृत्तिके लिए होते हैं। कोई संस्कृति अनादि, अनन्त नहीं होती। आती है जाती है। अबतक कितनी संस्कृतियाँ आयीं और चली गयीं। हमारा जो लक्ष्य है वह विकार और संस्कार, दोनोंसे निराला है। वस्तु तत्त्व है, इसलिए जगह-जगह जब उस वस्तु तत्त्वका दर्शन होता रहेगा—नाम चाहे कुछ भी हो, रूप चाहे कुछ भी हो। एक तत्त्व है उसका साक्षात्कार होना चाहिए। और कहाँ होना चाहिए? इसी जीवनमें होना चाहिए।

मरनेके बादकी बात तो पादरियोंपर छोड़ो, मौलवियोंपर छोड़ दो, पुरोहितोंपर छोड़ दो। ये पुरोहित संस्कृति और मौलवी संस्कृति और पादरी संस्कृति, ये लामा संस्कृति, अरहन्त संस्कृति, शून्य संस्कृति—ये तो बीच-बीचमें आती हैं और चली जाती हैं। इनमें जो एक है उसपर ध्यान दो। लोग बदलते हैं पर वह नहीं बदलता। 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। सारी दुनिया बदल गयी।

एक बार नीरज आये थे वे कविता सुना रहे थे। 'सपने मिट-मिट जाते हैं—जीवन नहीं मिटता है'। यह विकृतियाँ, संस्कृतियाँ मिट जाती हैं, परन्तु जो सच्चा जीवन है—परमात्मा, वह कभी मिटता नहीं है। यह सब संस्कृति, विकृति सपनेकी है। इनमें कहीं फँसो मत। निर्द्वन्द्व होकर आगे बढ़ो। 'चरैवेति चरैवेति'।

जो छूटे उसको छूटने दो, जो टूटे उसको टूटने दो, चलते जाओ। आज भूखे हो, कल साग मिलेगा। निराश मत हो जाओ। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। यह बात बतानेका अर्थ ही यह है कि हमारे जीवनमें कहीं नैराश्य, कहीं उदासीनता नहीं आनी चाहिए। सर्वत्र परमात्मा तुम्हारे साथ है। आगे चलो। पीछे लौटकर देखने की कोई जरूरत नहीं है। 'आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं काम मर्दानोंका'। हमारे आल्हा गाते हैं न! हमारे गाँवमें गाते हैं—'छमछम-छमछम लेजा बाजे। चम-चम कूके परवा'। बढ़ते चलो, बढ़ते चलो। यह विभूतिका वर्णन आपको अटकानेके लिए नहीं, भटकानेके लिए नहीं है। ये आपको खटकानेके लिए नहीं है। इसका हमारे जीवनमें बहुत बड़ा उपयोग है। अच्छा बताओ महाराज—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।।

अर्जुनको संबोधनका कुछ शौक है। जैसे कोई बात कहते हैं तो बार-बार सर-सर-सर बोलते हैं। बंगाली लोग बार-बार महाशय बोलते हैं। अर्जुनको श्रीकृष्णको पुकारनेका शौक है—कि कहीं दूसरी ओर न देखने लग जायँ, कहीं दूसरी बात न सोचने लग जायँ, कहीं हमारी बातपर ध्यान न दें, उपेक्षा कर दें। इसलिए बार-बार बुला लेता है। योगिन्—आप तो बड़े योगी हो—महायोगी हो 'कथं विद्यामहं—योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'। योग शब्दका अर्थ है मिलना। ये परिवार हमारे अन्दर इतने घुल मिल गये हैं कि हम उनको देख नहीं पाते हैं। एक महाराजा हैं। वह अपने कर्मचारियों के साथ काम करने लगते हैं तो उनके साथ ऐसा हँसते हैं, ऐसा बोलते हैं कि कर्मचारी भूल जाते हैं कि यह तो महाराज हैं।

एक सेठ चुपचाप मुँह बनाये बैठे रहते थे खाटपर कई बार देखा वे बिलकुल चुप। मैंने उनसे पूछा तुम इतना मुँह बनाये क्यों बैठे हो? हँसते क्यों नहीं? तो बोले कि मैं हँसने बोलने, खेलने लगूँगा तो ये छोटे लोग जो हमारे साथ रहते हैं—ये माँगना शुरू कर देंगे। कोई माँगे नहीं, इसके डरसे वे हँसते नहीं थे। अरे भाई, माँगे तो तुम्हारी इच्छा हो तो देना। तुम्हारी इच्छा हो तो मत देना। इसके लिए चौबीसों घंटे मुँह बनाकर रखनेकी क्या जरूरत है? जरा बत्तीसी खिलने दो ना? योग माने जो सबसे मिल गया हो—आपने अपने आँखकी पुतली कभी देखी है? शीशेमें नकली पुतली देखी होगी।

लोग कहते हैं हम भगवान्को देखें नहीं तो मानें कैसे? आपकी आँखकी पुतली आपने कभी देखी है? है न? आप पुतली देखते नहीं हो पर आँखकी पुतलीकी वजहसे ही सबको देखते हो। भगवान् तो आपकी आँखोंके तारे हैं। ये प्यारे-प्यारे, ऐसे नन्ददुलारे, ये आँखोंके तारे, आँखकी पुतली हैं। लेकिन सब रूपके साथ

वह पुतली ऐसी मिल गई है कि हम रूपको तो देख लेते हैं और देखनेवाली पुतलीको नहीं देखते हैं। हम भगवान्‌को कैसे पहचानें? वे सबके साथ जुड़ गये। और इतने जुड़ गये—माँ बन गये, बाप बन गये, भाई बन गये, बेटा बन गये, पति बन गये—ऐसे बने वैसे बने। विभूतियोंका स्वरूप है। कोई सम्बन्धसे है, कोई निर्धारणसे है। कोई अपने उत्तमत्वसे है और कोई उत्तमत्व प्रयोजक है। जड़-चेतनका तो कोई विवेक ही नहीं है।

पर्वतोंका वर्णन करने लगे तो बोले—'पर्वतानां हिमालयः' (10.25)—मेरे बाबा, यह पत्थरकी बरफकी ढेर तुम हो? हाँ हम ही हैं। कुछ तो विचार करके बोलो बाबा, अपनेको पहाड़ बता रहे हो। बरफका ढेर बता रहे हो अपनेको? बोले—हम पीपल हैं—अपनेको पेड़ बताया। दूसरे कोई कह दे कि तुम पेड़ हो, तो आदमी नाराज हो जाता है। तुम पहाड़ हो—अगर मोटा आदमी हो तो जरूर चिढ़ जायेगा। 'पर्वतानां हिमालयः' मैं हिमालय हूँ। 'सर्पाणामस्मि वासुकिः 10.28—मैं साँप हूँ।

भला बताओ तो यह कोई बड़प्पनकी निशानी हुई? वे साँप भी हैं, वे पेड़-पौधे भी हैं, वे पहाड़ भी हैं—कहीं उत्तमताकी दृष्टिसे भगवान्‌ने अपनेको बताया, कहीं उत्तम बनानेवालेकी दृष्टिसे बताया? जितने जलजन्तु हैं, उनमें मैं वरुण हूँ। वरुणको तो किसीने देखा नहीं। मगरको तो देखा है, घड़ियालको देखा है, जल-जन्तु देखे हैं, चिड़िया देखी हैं। इनका जो अदृश्य नियामक है, वह मैं हूँ—ऐसा भगवान्‌ने कहा। यह जो भगवान्‌की विभूति है इसका अर्थ ही है कि आप किसीका तिरस्कार मत कीजिये। सबमें भगवान्, सब रूपमें भगवान्। अच्छा तो आओ, इनका ध्यान करें—'**सर्पाणामस्मिवासुकिः**'

आओ वासुकिका ध्यान करें—पीपलका ध्यान करें, हिमालयका ध्यान करें। नहीं, ये उपास्य नहीं हैं। ये उनकी विभूतियाँ हैं। ये जो मरने-जीनेवाले प्राणी हैं, उनमें परमात्माका ध्यान न करके नित्य रूपमें परमात्माका ध्यान किया जाता है। यहाँ विभूति बताते-बताते श्रीकृष्णने अर्जुनको भी विभूति बता दिया है। 'पाण्डवानां धनंजयः (10.37)—वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि (10.32)। मैं भी विभूति हूँ और तुम पाण्डुनन्दन भी विभूति हो। गुरुजी ही विभूति नहीं हैं, चेला भी विभूति है। ये सब आचार्य अपनेको भगवान् या भगवान्‌का रिश्तेदार बताते हैं। कोई अपनेको सुदर्शन या कोई अपनेको चक्र बताता है, कोई अपनेको शेष बताता है। लेकिन अपने चेलेको कोई अपनी विभूति नहीं कहता। यहीं आचार्यता अधूरी हो जाती है। हमको बोलनेमें किसीका डर नहीं है। असलमें आचार्यता वहाँ है—जो मैं सो ही तुम हो। अपनेसे छोटा करके किसीको देखना, इसका नाम आचार्यता नहीं है। 'वृष्णीनां वासुदेवः' ठीक है—'पाण्डवानां धनञ्जयः' यह भी ठीक है। जो मैं हूँ सो तुम हो।

जैसे मेरा व्यक्तित्व विभूति वैसे तुम्हारा व्यक्तित्व भी एक विभूति। 'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'। मैं चाहता हूँ कि सदा तुम्हारा 'परि' माने परितः, सब जगह और 'सदा' माने सब कालमें और 'परि' माने सब देशमें और 'त्वां' माने तुमको। चिन्तन करनेके लिए एक ही वस्तु हो—चाहे काम कोई हो, चाहे स्थान कोई हो चाहे नामरूप कोई हो। चिन्तन करनेके लिए वस्तु एक हो। मैं कैसे तुम्हें पहचानूँ? बड़ा भारी

परदा ढककर हमारे सामने आये हो। अनजाना बने बैठे हो। आपमें आप पिछे, परदा करके बैठे। वह कहो चाहे तुम कहो, यह कहो चाहे मैं कहो, वस्तु तो एक ही है। यह ऊपरकी खोल, अलग-अलग परदेके भेदसे दृश्यका भेद हो रहा है, यह मेक-अपके भेदसे व्यक्तिका भेद हो रहा है। कभी बाल मुड़ाकर आगये तो कभी बाल लगाकर आगये। आदमी तो वही है, कभी मूँछ लगा ली, कभी मूँछ उड़ा दी।

वस्तु बिलकुल एक ही तभी 'सदा' और 'परि'—उसका चिन्तन हो सकता है। जैसे एक योगी अनेक रूप धारण कर ले, अनेकमें व्याप्त हो जावे, परमात्मा भी वैसा ही विभिन्न रूपोंमें विद्यमान है। परमात्मा वह नहीं जो सातवें आसमानमें रहता है—जिसको मोहम्मदने भी नहीं देखा, वह निराकार सातवें आसमानमें रहता है। वे खुदा—केवल परचे लिख-लिखकर आये। जिसको ईसाने भी नहीं देखा कि वह वस्तुत: क्या है। जिस निराकारको किसीकी भी आँख नहीं देख सकी—हिन्दू हो, मुसलमान हो, शांकर हो, रामानुज हो—जिसको कोई दृश्य नहीं बना सका, उसका सब जगह सब समय हम चिन्तन कैसे करें? 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'। किन-किन भावोंमें अधिकरणोंमें उनको देखें?

आप एक बात पर ध्यान दें। एक वस्तु है उसको सत् बोलेंगे परन्तु वही जब बदलती रहेगी—भवनशील होगी तव उसको भाव कहेंगे। भाव माने जो बदलता हुआ विद्यमान; जैसे फिल्ममें चित्र बदलता है, वैसे। एक चित्र एक मिनट नहीं रहता वह। इतनी शीघ्रतासे बार-बार नये-नये चित्र आते-जाते हैं कि मालूम पड़ता है कि एक हैं। भाव माने होनोला। 'है' एक होता है और 'भाव' अनेक होते हैं। 'अस्ति' है, भाव माने होना। जो है वह तो सत्य है और जो होना है, वह परिवर्तनशील है। वह दुनियाँ बदल रही है। किसीके रोके न रुकी न रुकेगी। बड़े-बड़े आचार्य हुए और बड़े-बड़े अवतार हुए। दुनियाँमें क्या रह गया?

भगवान् रामने जिस धर्मकी स्थापना की थी आज वह पोथियोंमें लिखा रह गया है। और श्रीकृष्ण जिस धर्म-स्थापनाके लिए आये थे, वह आज दुनियाँमें ढूँढनेसे कहाँ मिलता है? इसीको बोलते हैं 'भाव'—यह भवनशील है। 'भाव'—इस भाव शब्दमें प्रत्यय है अथवा अधिकरणें प्रत्यय है। जो चीजें होती हुई दिखती हैं इनमें एक है। आइये, उसका चिन्तन करें—

हमें अपना दिल बनाना है—वस्तु नहीं बनानी है। दुनियाँमें वस्तु बनाकर कोई पार नहीं पा सका है। ब्रह्माको भी सन्तोष नहीं होता था। एक सृष्टि बनायी। फिर, अरे गलती हुई; फिर बनानेवाले शरीरको—मानको—ही तोड़ दिया। भागवत्के तीसरे स्कन्धमें है—बहुत मजेदार है। एक चीज बनायी और छोड़ दी—फिर बनानेवाले भावको ही छोड़ दिया। फिर दूसरा भाव बना लिया। फिर उसमें भी संतोष नहीं; उसको भी छोड़ दिया। यह बहना है—इसमें भाव आता है, जाता है। अब कहो कि हम एक ही भावको बनाकर रक्खेंगे—तो पत्थर बनाा चाहते हो? भाव बदले, तुम मत बदलो। भाव बदले, परमात्मा न बदले। यह जड़ता जीवनमें आनेकी जरूरत नहीं है। जितना नया-नया आविष्कार हो, उसको स्वीकार करो। जितनी नयी-नयी सृष्टि बने उसको स्वीकार करते चलो। देखो, हम उसकी परम्पराके हैं, जिसमें नन्दबाबा जैसे बुड्ढे और कृष्ण जैसे सात वर्षके बालक हैं। और पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे इन्द्रकी पूजा चली आयी।

भावको स्वीकार करना चाहिए। 'भावेषु'का अर्थ है 'परिणामेषु'। 'केषु -केषु भावेषु'। भाव बहुत हैं और एक-एक भाव भी परिवर्तनशील है। उनमें हम आपका चिन्तन कैसे करें? यह भी वही, यह भी वही। फिर कहीं रुकनेकी जरूरत नहीं, चलते-चलो, चलते चलो, देखते चलो। वही है—'केषु-केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'। 'योगिन्'का अर्थ है, सबमें मिले हुए हो और 'भगवान्'का अर्थ है—बड़े ऐश्वर्यशाली हो और बड़े सुन्दर, बड़े मधुर हो। आप जहाँ देखोगे—वहाँ भगवान्की मुस्कान मिलेगी। जहाँ देखोगे वहाँ उनकी प्यारभरी चितवन मिलेगी। वहाँ तुम्हारे जीवनके लिए एक नया सन्देश मिलेगा, एक नयी प्रेरणा मिलेगी। विभूतिका अर्थ है—यह संसार भगवान्का वैभव है। आपके पास ऐसा कोई कम्प्यूटर है, जो गणना करके बता दे कि आगे सृष्टिमें कितने परिवर्तन होंगे और कितने परिवर्तन हुए हैं? परिवर्तन होते रहते हैं और उसमें जो एक सत्य है, एक परमात्मा है उसका चिन्तन होता रहता है।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।

अमृत ही कथा—यह कौन-सा अलङ्कार है—साहित्यिक लोग इसका पता लगावें। 'श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'—'अमृतं श्रृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति'। मैं अमृतको सुन रहा हूँ और मुझे तृप्ति नहीं है। वाक्यका अर्थ क्या है? तृप्ति नहीं—अमृत सुन रहा हूँ। अमृत सुननेकी चीज नहीं होती, पीनेकी होती है। और सुनना वाक्यका होता है, अमृतका नहीं होता। तृप्ति नदारद, पीते रहे, पीते रहे, परन्तु प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। आओ, थोड़ा विस्तारसे इसको सुनावें। योग है 'अस्ति' और विभूति है 'भवति'—है, होता है। है तो भगवान् है और होता है—उसका वैभव है और यह सब कौन होता है? वही एक था, द्विधा भवति, त्रिधा भवति—यह उसकी विभूति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

(3-11-1981)

वक्ता संक्षेपमें बोलना चाहता है, श्रोता विस्तारसे सुनना चाहता है। इससे श्रवणमें जो रुचि है, वह प्रकट होती है। 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूयः कथय।' फिरसे कहो और विस्तारसे कहो। इससे श्रवणमें श्रद्धा, श्रवणमें रुचि प्रकट होती है। श्रोताका यह विशेष गुण है। यदि वह कह दे बहुत लम्बा मत करो- अरे, तुमने तो दुहरा दिया-बारबार वही बात बोलते हो। उससे श्रोताकी अश्रद्धा और अरुचि प्रकट होती है। श्रोतामें तीन गुण होने चाहिए। एक तो वह श्रद्धालु हो, दूसरे चित्त एकाग्र हो और तीसरे मननशील हो। श्रवणके तीन अंग हैं। यदि सुनकर विचार न करे तो बैलने जैसे भूसा खा लिया, वैसे खा लिया उसने। वस्तुतः श्रवण ही मुख्य साधन है, ज्ञान-प्राप्तिका साधन है। सामने दीखती हुई चीज भी अगर बतायी न जाय कि वह क्या है तो उसका ज्ञान नहीं होता। लाल, काला, पीला आँखसे जान सकते हो और परोक्ष जो वस्तु है वह कैसे ज्ञात हो?

जैसे पूरबका आदि कहाँ है? पश्चिमका अन्त कहाँ है? यदि इसकी कल्पना करने लगो तब भी तुम्हें मालूम नहीं पड़ सकता। हमारे जीवनका प्रारम्भ कहाँसे और अन्त कहाँ है? आँख बन्द करके चाहे कितनी भी कल्पना करो, न इसका आदि-अन्त कभी मिला है, न मिलेगा। और खुली आँखसे देखो तो जहाँ तुम बैठे हो, वहींसे पूर्व-पश्चिम प्रारम्भ होता है और वहीं पूर्व-पश्चिमका अन्त है। जहाँ-जहाँ तुम रहोगे वहाँ पश्चिम आदि भी रहेगी और अन्त भी रहेगा। ऐसे जीवनका आदि और जीवनका अन्त यदि ढूँढ़ने जाओ तो ढूँढ़े नहीं मिलेगा। जहाँ तुम हो, वहीं आकृतियोंके बीजका आदि भी है और अन्त भी है। आत्मज्ञानसे जन्म-मरणकी निवृत्ति हो जाती है और आकृतियोंका आदि अन्त ढूँढ़नेसे अज्ञान ही मिलता है।

अब आओ मनन करें। मनन उत्पत्तिके द्वारा भी होता है और उपपत्तिके द्वारा भी होता है। किससे क्या चीज बनती है आप प्रयोगशालामें देखेंगे। हम लोगोंकी प्रयोगशाला हमारे साथ रहती है। शान्त बैठे। फिर हलचल हुई। गरमी हुई। पसीना आया। फिर माटी हो गयी। माटीके मूलमें पसीना-पसीनेके मूलमें गरमी, गरमीके मूलमें हलचल और हलचलके मूलमें शान्ति। यह है सृष्टिकी उत्पत्तिका मनन। पहले गाढ़ सुषुप्ति। फिर नींद टूटी, होश आया, इसी प्रकार परा प्रकृति और बुद्धिका जागरण-फिर मैं कौन हूँ-कहाँ हूँ? देश, काल, वस्तुका युक्तिके द्वारा, उपपत्तिके द्वारा, मनन किया जाता है। सारी वस्तुएँ अपने अभावमें ही दीखती हैं। दोनों उँगली दीखती हैं, जब दोनों उँगलीके बीचमें उनका अभाव है। शब्द, अक्षर तब सुनाई पड़ते हैं जब एकके बाद दूसरे अक्षरके उच्चारणमें थोड़ा अवकाश हो। कोई भी वस्तु अपने अभावसे ही दिखायी पड़ती है। इसलिए अपने आत्माको जाननेके लिए योग करना पड़ता है।

अर्जुन सरल बुद्धिसे प्रश्न करते हैं-आप अपना योग और विभूति बताइये। भगवान्‌ने अपने योग और विभूतिके ज्ञानकी बहुत प्रशंसा की-ललचाया। लोभ भी उत्पन्न करना चाहिए। हमारे एक महात्मा कहते थे यदि मनुष्यके मनमें लोभ न हो और भय न हो तो कर्ममें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। किसीको भी काममें लगाना

हो तो थोड़ा ललचाना पड़ता है। इससे तुम्हें यह लाभ होगा और नहीं करोगे तो-भय बताना पड़ता है तुम्हारी हानि होगी। हानिसे बचनेके लिए और अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए, भय और लोभसे, मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है।

अर्जुनने प्रश्न क्यों किया? भगवान्ने ललचा दिया।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। १०.७

अरे अर्जुन, मेरे योग और विभूतिको जो तत्त्वत: जान लेना है। वह योगसे युक्त हो जाता है। तत्त्व उसको कहते हैं जिसमें नाम-रूपकी कल्पना न की गयी हो। नाम-रूपकी कल्पनाके पूर्व जो स्थिति होती है उसे तत्त्व कहते हैं। जैसे ये कंगन हैं, ये हार हैं, ये कुण्डल हैं-जब अलग-अलग शक्ल नहीं बनायी गयी होगी और अलग-अलग नाम नहीं रखे गये होंगे, तो पहले सोना था और सोना क्या है-सिल्ली है-चूरा है, द्रव है। अन्तमें स्वर्णकी एक ऐसी अवस्था मिलती है जहाँ वह मुझसे अलग नहीं मालूम पड़ेगा। स्वर्णका, मृत्तिकाका तत्त्व क्या है?

अब अविकम्प योगकी चर्चा करें। इस योगका नाम गीतामें ही है।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

आओ, हमारी विभूतिको जानो और हमारे योगको जानो तो हमारा-तुम्हारा ऐसा योग होगा, ऐसा मिलन होगा, हम दोनों ऐसे मिल जावेंगे कि उसनें कभी विकम्प नहीं होगा, कभी भूकम्प नहीं आवेगा। कभी दोनोंकी धड़कन अलग-अलग नहीं चलेगी। हम दोनों एक हो जावेंगे। 'अविकम्पेन योगेन।' और योग वह होता है जो आता है और जाता है। आसन या प्राणायाम या प्रत्याहार किया, मनको एकाग्र किया। थोड़ी देरके लिए समाधि लग गयी। यह समाधि आती है और चली जाती है। इसलिए महात्मा लोग समाधिको पसन्द नहीं करते। हमें तो ऐसी चीज चाहिए जो अपना स्वरूप हो। न कहीं अलगसे आवे, न कहीं हमको छोड़कर जावे। तब अविकम्प योग, कम्पनरहित योग, अचल योग प्राप्त होगा।

भगवान्के मिलनेकी इच्छा बहुत बढ़िया है-जैसे भगवान् सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें रहते हैं-ये चीज बना ली, इसकी स्थापना कर दी, इसको मिटा दिया। जैसे 'बैठा बानिया क्या करे? इस कोठेका धान उस कोठे करे।' ऐसे भगवान् हर समय काममें लगे रहते हैं कभी निकम्मे नहीं रहते। एक जगह सृष्टि हो रही है, एक जगह प्रलय हो रहा है। एक जगह ब्रह्माण्ड बन रहा है, दूसरा फूट रहा है। सूर्य-चन्द्रमा निरन्तर चल रहे हैं। अविकम्प योगका अर्थ होता है-सब कुछ करते हुए भी विचलित नहीं होता।

जिसने परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया-जैसे हृदय एक बल्ब है-इसका मूलभूत विद्युत्से जो जोड़ना है-उसको योग बोलेंगे। पावरहाउसके साथ जो अपना रिश्ता है वह जब टूट जायगा तो हम निकम्मे हो जायेंगे। पावरहाउसके साथ कनेक्शन बना रहेगा तो हमें कभी कोई नीचा नहीं दिखा सकता। वह प्रदीप्त अन्त:दृष्टि बनी रहेगी। किसी देशमें रहो, किसी समयमें रहो, किसी परिस्थितिमें रहो, बिलकुल तार-से-तार मिला हुआ है। इसीको 'अविकम्प योग' कहते हैं। ईश्वरका ज्ञान अपने ज्ञानमें उतरता रहे। ईश्वरकी शक्ति अपनी शक्तिमें उतरती रहे। ईश्वरका अनन्त जीवन अपने जीवनके साथ सम्बद्ध रहे। इसका नाम है 'अविकम्प योग'।

यह जो दसवें अध्यायमें विभूति और योग दोनोंका वर्णन है वह हमारे इस व्यक्तिगत जीवनको-परिच्छिन्न जीवनको-जो कतरा हो रहा है-एक कतरेको दरियाके साथ एक करनेका नाम 'अविकम्प योग' है। एक बल्बको मूलभूत शक्तिके साथ जोड़ देनेका नाम अविकम्प योग है। काम करो परन्तु ईश्वरसे जुड़कर काम करो।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

ईश्वरका ऐश्वर्य, ईश्वरका वीर्य, ईश्वरका तेज, तुम्हारे जीवनमें प्रकट हो जावेगा। यह योग निकम्मेपनका नाम नहीं है। शुकदेवजीका वचन है-जब मैं बोलता हूँ तो भगवान् मेरी जीभपर आकर बैठ जाते हैं। जीभ तो होती है निमित्त और बोलती है वह अनन्त शक्ति। उसको हम छोटा बनानेका प्रयास तब करते हैं जब हम उसको किसी जातिमें, किसी मजहबमें, किसी भूगोलके एक हिस्सेमें, किसी परिस्थितिमें किसी मध्यकाल या वर्तमान्‌कालमें जोड़ देते हैं। तब हम उस शक्तिका जो विशाल रूप है, उसको सीमित बना देते हैं। अत: इसे परमात्माके साथ जोड़ दो। इसको योग कैसे बताया?

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। 7.1

दो ओरसे जोड़ो-एक आसक्ति और एक आश्रय। आपका एक मुनीम है-सेठका आश्रय लेता है। आश्रय है सेठका और आसक्ति है किससे? अपनी स्त्रीसे, पुत्रसे। उसका जीवन बँट गया-एक ओरसे लेता है, दूसरी ओर देता है।

'योगं युञ्जन्'का क्या अर्थ हुआ? जहाँसे लेना, उसीको देना।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

भगवान्‌से ही प्रीति है-सर्वात्मा प्रभुसे प्रेम है और सर्वात्मा प्रभुका आश्रय है। योग जुड़ गया। भक्तने भगवान्‌से लिया और भगवान्‌को दिया। प्रीति है तो भगवान्‌से और आश्रय है तो भगवान्‌का। इसका नाम हो गया 'योग'। आप अपनी प्रीतिको भी तौलो और सहाराको भी तौलो। यदि दोनों एक होंगे तो आपका योग अविकम्प होगा। अविचल-योगका अर्थ हो जायेगा और अगर दो होंगे तो कभी दिल इधर जायेगा, कभी दिल उधर जायेगा। झूलेमें रहेंगे। झूलेका भी एक मजा होता है। वह दूसरा मजा है। लेकिन वह कभी दाँयें है कभी बाँयें है। कभी सामने है, कभी पीछे। और यह योग स्थिर है।

व्रजनाथ झुलाओ सारी रैन आओ प्यारे।

हमारे हृदयके झूलेपर बैठ जाओ और मैं दिनरात तुमको झुलाता रहूँ। यह 'अविकम्प योग' है। सारी रैन माने सारी रात-सम्पूर्ण जीवन। झुलाओ माने भगवान्‌के साथ खेलो। खेल उनसे खेल रे मन! एक योग यह है। दूसरा योग कहाँ है? दसवें अध्यायमें है-विभूति योगमें। सातवें अध्यायके अन्तमें यह बात बतायी गयी कि-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। 7.30

पहचान लो भगवान्‌को-सूर्य, चन्द्रमा आदि अधिदैवके रूपमें भी वही है। पृथिवी, जल, अग्नि आदि

अधिभूत रूपमें भी वही है और मन, बुद्धि आदि अध्यात्म रूपमें भी वही है। सब परमात्माका स्वरूप है, निर्द्वन्द्व है। कहीं हिचकनेकी कोई बात ही नहीं है। बेखटके चले चलो।

आप लोगोंको शायद सुनाया हो! एक बार हमने दिल्लीसे हरिबाबाके बाँधकी यात्रा की। सेकण्ड क्लासका टिकिट था-सेकण्ड क्लास उस ट्रेनमें था ही नहीं। हमने कहा 'हिचको मत' फर्स्ट क्लासमें चलकर बैठो। फिर उन दिनों हमारे साथ कोई थे, वे नलका पानी नहीं पीते थे। वे चले गये कूएँपर पानी लेने। गाड़ी चल पड़ी। मैंने कहा हिचको मत जंजीर खींच लो। न मेरे पास पैसा था, न कोई साथी था, न टिकिट था-क्या करते? टिकिट कलेक्टर आया-टिकिट लेकर चला गया। एक दो स्टेशन बाद आकर दे गया। ट्रेनसे उतरे तो कोई लेने ही नहीं आया और शाम हो गयी थी। हमने कहा-'हिचको मत' चलो।

बैलगाड़ी जा रही थी; उसके मालकिने आकर हाथ जोड़ा महाराज, आप बैठ जाइये। ना बाबा, तुमलोग स्त्री हो तुमलोग बैलगाड़ीसे चलो। हम पैदल चलते हैं। हमारा सामान तुम ले लो। फिर पीछेसे दूसरी अनजाने आदमीकी बैलगाड़ी आयी और उसने हमको पहुँचा दिया। वहाँ गया तो हमारे लिए जो कुटिया बनायी गयी थी, उसमें ताला लगा हुआ था। मैंने कहा 'हिचको मत'। रातमें बारह बजे ताला तोड़ दिया। हाथसे खींचा सो टूट गया। 'जाके मनमें अटक रही सो ही अटक रहा'। अटकोगे तो भटक जाओगे। 'चरैवेति-चरैवेति'-चलते जाओ। दूसरा भगवान्का योग क्या है?

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9.4-5

योग क्या है? अद्भुत योग है। भगवान् कहते हैं—सब मुझमें हैं। जैसे सब घड़े माटीमें हैं। शक्ल-सूरत बननेपर भी घड़े माटी से अलग नहीं हो सकते। ये सब अलग-अलग शक्ल-सूरत बनी है। हमसे लोग पूछते हैं कि जन्म कैसे होता है? पादरी बताते हैं कि जीव स्वर्गमें कैसे जाता है, नरकमें कैसे जाता है? पुरोहित, मौलबी बताते हैं कि जन्म-मरण कैसे होता है। जन्म-मरणसे छूटें कैसे? हम जो जन्म-मरणकी कल्पनामें भटक गये हैं, अटक गये हैं। अपनेको तो देखा नहीं—आकृतिमूलक अनुमान करते हैं। सामने प्रश्न यह है कि इसी जीवनमें जन्म-मरणसे मुक्ति कैसे हो? हम जीते रहें, हर काम करते रहें, हम सुखी रहें, हम जानते रहें और जन्म-मरणसे मुक्त हों। मुक्त करने वाला हमारा 'सन्त-विभाग' 'फकीरी विभाग' विभूति-विभाग है। जन्म-मरणके बन्धनमें आपको डालनेवाले नहीं हैं, छुड़ानेवाले हैं।

हमने श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा—पुनर्जन्म किसका होता है? क्यों होता है नहीं पूछा। यदि तुम क्यों पूछोगे तो उसका जवाब दूसरा है। कैसे होता है, पूछोगे तो उसका जवाब दूसरा है। जन्म-मरण किसका होता है, इसका जवाब दूसरा होता है। श्रीरामसुखदासजी महाराज भी थे। मैं मौन था, इसलिए लिखकर पूछा—सन् 36 की बात है। मैंने कह दिया कि मुझे यह मत बताइये कि यदि जन्म नहीं होगा तो इस कर्मका फल क्या होगा? यह भी मत बताइये कि ईश्वरमें पक्षपात् या निर्दयता होगी, वह भी मत बताइये कि 17

तत्त्वका लिंग शरीर, वासनाके कारण जन्म होता है। हमको तो बताइये वह तत्त्व—वह चेतन वस्तु जिसका जन्म-मरण होता है।

बाबा बोले—बेटा, तुम्हारा काम लोगोंको जन्म मरणसे छुड़ानेका है, जन्म-मरण सिद्ध करनेका नहीं है। तुम तो यह कहो कि इस जन्मका बन्धन भी तुम्हारे नहीं है। पूर्व-पूर्व जन्मके बन्धन होंगे कि उत्तर-उत्तर जन्मके बन्धन होंगे। यह तुम्हारा विभाग नहीं है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि—देखो यह ग्वालियेकी बात। बिलकुल ग्वाला, जैसे अनपढ़ बोल रहा हो। **मत्स्थानि सर्वभूतानि**—सब प्राणी मुझमें हैं। **न च मत्स्थानि भूतानि।** एक मिनट नहीं बीता—एकबार कहता है—सब मुझमें हैं और एकबार कहता है कि मुझमें कुछ नहीं है। 'न च मत्स्थानि भूतानि' वही 'भूतानि' है, जिनको पहले वाक्यमें कहा कि मुझमें सब भूत हैं और दूसरे वाक्यमें कह दिया—'न च मत्स्थानि भूतानि'—मुझमें कुछ नहीं है। ये सब अपने अधिष्ठानमें, आधारमें दिखायी पड़ रहे हैं। अधिष्ठान दृष्टिसे यह कुछ नहीं है। अनन्तमें कोई भी टुकड़ा नहीं होता। किसी भी गणितके द्वारा हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कोई धरती और आसमान अनन्त अद्वितीय ब्रह्मके किस हिस्सेमें है। जब हम ब्रह्मको नहीं देखते तब मालूम पड़ता है कि यह सब अनन्तमें है। जब अनन्तमें देखते हैं तो अन्तमें कोई हिसाब-किताब, कोई हिस्सा, होता ही नहीं है। हमारी देहकी आँखसे सबकुछ है। हमारे ब्रह्मकी आँखसे कुछ नहीं। हम जन्मको भी जानते हैं और जन्माभावको भी जानते हैं। यह योग है।

कौन-सा योग बताया? 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।' ये ऐश्वर्य, आश्चर्य है; जादूगरकी दृष्टिसे जो चीज नहीं है, वही जादूमें फँसे हुए को दिखायी पड़ रही है। इस योगको यदि हम जान लेंगे—फिर तो हर हालतमें—सोते-जागते, 'सोवत-जागत पड़े उताने…' हर समय हम वही हैं। इसमें न जन्मका अन्तर है न मृत्युका। न बीमारीका अन्तर है न आरोग्यका। न इसमें भारतीय है, न पाकिस्तानी। न इसमें यूरोपी है, न अमेरिकन। न हिन्दू है, न मुसलमान। न इसमें प्राकृतिक जातियाँ हैं। (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब कल्पित जातियाँ हैं।) और अकल्पित जाति मानव है। पशु-पक्षी ये प्राकृत जाति हैं।

मजहब किसी व्यक्तिके द्वारा कभी चलाये गये। वे पहले थे ही नहीं। अन्तमें रहेंगे भी नहीं। देखो आश्चर्य कि हम भूगोलके एक कोनेमें ही हैं—एशियाई हैं; भारतीय हैं—बंगाली हैं। एक बंगालीको भारतीय होनेका क्या प्रयास करना पड़ेगा? कौन-सी साधना वह करेगा तो भारतीय हो जायेगा? एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें कौन-सी साधना करनी पड़ेगी? जैसे एक हिन्दूको अपनेको मनुष्य समझनेके लिए किसी साधनाकी जरूरत नहीं है—वह पहलेसे ही मनुष्य है। इसी प्रकार यह जो आत्मा है, यह पहलेसे ही परमात्मा है। हमारे मनमें जो भ्रम बैठ गया है—हम ये हैं-ये हैं—हम महाराष्ट्र हैं, हम भारतीय हैं, हम पाकिस्तानी हैं—उसे दूर करना है। भला बताओ, हमारे सामनेसे ही पाकिस्तान नाम पैदा हुआ। न बीचमें समुद्र आया, न नदी आयी, न पहाड़ आया, न कोई खाई खोदी गयी। किसने विभाग किया? दिमागने विभाग किया। हमारे मनमें—हमारे मानसिक मनमुटावने विभाग किया। ये जितने भेद हैं, अपनेको परमात्मासे अलग करनेवाले हैं, ये सब-की-सब मानसिक भ्रान्तियाँ हैं।

घड़ेको मिट्टीसे अलग किसने किया? दूधको पानीसे अलग किसने किया? चिनगारीको आगसे अलग

किसने किया? हमारी साँसको हवासे अलग किसने किया? बरफको पानीसे अलग किसने किया? इस तत्त्वको ठीक-ठीक समझ जायें तो इसका नाम हो गया 'योग'। अर्जुन कहते हैं—जरा विस्तारसे बताओ। अपना वैभव भी बताओ, विभूति भी बताओ। इन विशेष-विशेष रूपमें तुम कैसे हुए? 'भूति' माने भवन और 'विभूति' माने विशेष-विशेष रूपमें होना। 'विभूतिं च जनार्दन'।

भूयः कथय तृप्तिर्हिश्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्। 10.18

'भूयः कथय'—दुबारा कहो। संस्कृतके पण्डित लोग इसको ऐसे बोलते हैं—'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'। यदि किसी चीजमें दो गाँठ लगा दी जाये तो वह भली प्रकार बँध जाता है। एक बात अगर दुबारा कहकर सुना दी जाय तो वह ठीक-ठीक समझमें आजाती है। 'भूयः कथय'—पुनः-पुनः और विस्तारसे कहो। 'भूयः कथय'में सुननेकी रुचि है और 'विस्तारसे' कहनेमें उस वचनमें, उस पदार्थमें रुचि है—पदार्थमें रुचि होना और समझमें रुचि होना। समझनेकी रुचि अपने भीतर होती है और बाहरवाले पदार्थके सम्बन्धमें हम श्रवण करते हैं। पदार्थ बाहर होता और श्रद्धा भीतर होती है।

फिर कहो! अरे अर्जुन, तुम शिष्टाचारवश तो नहीं बोल रहे हो। अर्जुन और श्रीकृष्णमें कोई शिष्टाचार नहीं है। बिलकुल साले-बहनोई जैसे बात करते हैं, वैसे ही बात करते हैं। श्रीकृष्ण साले हैं और अर्जुन बहनोई हैं। श्रीकृष्णकी बहन सुभद्रा अर्जुनसे ब्याही है। गीतामें सालेका भी वर्णन है—'स्यालासम्बधिनस्तथा'। खास सम्बन्धी होता है साला—'जिसकी बहन अन्दर उसका भाई सिकन्दर'। साफ-साफ अर्जुनने कह दिया कि तुम मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो? 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन'—असंदिग्ध बात क्यों नहीं बोलते? दुहरी बात बोलते हो। तुम कहीं हमको झूठ-मूठ तो नहीं बोलते हो, जनार्दन!

जनार्दन शब्दका अर्थ होता है—लोग जिससे प्रार्थना करें कि हमको हमारी अभीष्ट स्थितिमें पहुँचा दो। 'जनैः अर्द्यते प्रार्थ्यते इति जनार्दनः'। लोग जिसे हाथ जोड़कर कहें—हे प्रभो, तुम हमारी नावके मल्लाह होकर खेओ। तुम हमारी मोटरके ड्राइवर हो। भगवान्‌की करुणापर भी एकबार विचार करो। सबका जो मालिक है, वह अर्जुनको रथी बनाकर रथपर बैठा देता है और स्वयं सारथि होकर, गौण होकर, मददगार होकर, ड्राइवरके स्थानपर बैठकर मोटर चला रहा है। भगवान् तुम्हारे ड्राइवर, तुम्हारे जीवन-रथके सारथि स्वयं भगवान् हैं। जहाँ किसीका हित करना हो और उसको ठीक-ठीक समझाना हो और हमको बड़ा बनाकर हमारा हुक्म न मानना चाहता हो, तो उससे छोटे बनकर ही उसका हित कर देना चाहिए। उसको समझा देना चाहिए।

हाँ, भाई! तुम बहुत समझदार हो, हम तुम्हारी समझका आदर करते हैं। लेकिन हमारी विनती तो सुन लो। हम बड़े विनयसे तुमसे निवेदन करते हैं। लोग जिनसे प्रार्थना करते हैं हमारी मदद करो, उनको 'जनार्दन' बोलते हैं। हमको आगे बढ़ावे और हमसे काम ले, यह ईश्वरका दोनों काम है—इसलिए उसको जनार्दन कहते हैं। जो हमारे जीवनमें प्रगति दे और उन्नति दे—उसका नाम है जनार्दन। जो जन्म-मृत्युके चक्करसे छुड़ा दे, उसका नाम है जनार्दन। क्या देखते हो कि कहाँसे पैदा हुए और क्या देखते हो कि मरकर कहाँ जाओगे? अपने जीवनको बिलकुल ठीक-ठीक सञ्चालित करना चाहिए। मरनेके बाद हम क्या होंगे, यह मालूम करना हो तो

मरे बिना मालूम नहीं पड़ेगा और हमारे जन्मके पहले क्या थे, यह सिवाय कल्पनाके और कुछ हाथ नहीं लगेगा। नयी-नयी कल्पना करते जाओ। ये थे, ये थे, ये थे।

योगदर्शनमें जो पूर्व जन्मके ज्ञानकी प्रक्रिया लिखी है, वह बड़ी मजेदार लिखी है। हमको यह शरीर क्यों मिला? और इनके पहले क्या शरीर था? अगर यह जानना हो किस प्रकारका ध्यान और किस प्रकारकी साधना करनी चाहिए—इसका उल्लेख योग-दर्शनमें मिलता है। एक महात्मा कहते थे कि हमको मालूम पड़ जाता है। मैंने उनसे पूछा कि कैसे मालूम पड़ता है? तो उन्होंने कल्पनाकी रीति बतायी।

बोले—जहाँतक तुम्हें बचपनका होश आता है, वहाँतक चलो। माँके पेटसे निकलनेके बाद तुम जब दूध पीते थे, उसकी याद आती है? बहुत कम। अच्छा; माँके पेटमें तुम्हारा कैसा रूप था, उसका ध्यान करो। अब जब ध्यान करने लगा तो और बच्चोंके बारेमें पढ़ते-सुनते हैं, जैसे कि पेटमें वे बड़े होते हैं, कैसे जीवन-प्राण आता है—उसकी कल्पना होने लग गयी। उसकी कल्पनाके पहले रज-वीर्यका मिश्रण याद आया। फिर उसके पहले वीर्यमें जीवन-शक्ति थी। वीर्यमें कहाँसे आया? तो इस तरहसे योगदर्शनमें प्रक्रिया बतायी है कि अगर अपने पूर्व जन्मका साक्षात्कार करना हो तो कैसे करना। तो उसमें तो कल्पना ही जुड़ती जाय—कल्पना ही जुड़ती जाय। इसके पहले यह होगा—इसके पहले यह होगा। अरे बाबा—यह कल्पना छोड़ो—यह देखो मैं कौन हूँ?

अर्जुन कहते हैं फिरसे सुनाओ। फिरसे सुनोगे तो ऊब जाओगे। एकबात बार-बार कही जाय तो वे बोर हो जाते हैं—जब देखो तब वही रट लगाये रहते हैं, ये तो और कुछ जानते ही नहीं। अर्जुन कहते हैं नहीं—मैं तो बार-बार सुनना चाहता हूँ, क्योंकि एकबार सुननेसे तृप्ति नहीं मिलती। अमृत कहीं सुना जाता है? अमृत तो पीया जाता है। पीनेके लिए अमृत चाहिए। वह भी सुना ही हुआ है? आप लोगोंमें-से किसीने अमृत पीया हो तो पीया हो। ऐसे वाक्यको रूपकालंकारसे अमृत बोलते हैं और वाक्यमें जो माधुर्य है, उसके लिए अमृतत्त्व अतिशयोक्ति है। यह अलङ्कारकी बात है और इसमें वाक्य शब्द छिपा दिया तो अपह्नति हो गयी। तब यहाँ क्या है? अलङ्कारोंका सङ्कर हो गया। श्रीकृष्ण बड़े भारी साहित्यिक थे। अर्जुन बड़े भारी साहित्यिक थे। उन्होंने कहा—**अमृतं शृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति।**

फिरसे सुनाओ। मैं अमृत सुन रहा हूँ। अमृत पी रहा हूँ। यह गीतारूपी अमृत है। श्रीकृष्ण स्वयं अमृत, उनकी वाणी अमृत और जो सुननेको मिल रहा है सो अमृत। अरे यह वाक्य नहीं है—अमृत है। अमृत क्यों बोलते हैं? जो जन्म और मृत्युसे छुड़ा दे उसका नाम अमृत होता है। 'मृतं मृत्युर्नास्ति यस्मात् तत् अमृतम्'—जिसके सेवनसे मौतका डर बिलकुल मिट जाय, उसका नाम अमृत है। अपने मरनेका तो मिट ही जाय, दूसरेके मरनेका भी मिट जाय।

यह गीता तो ऐसी है न! अर्जुनको अपने मरनेका डर नहीं है। दूसरोंके मरनेका बहुत डर था। बोले—बाबा मैं मर जाऊँ तो मर मर जाऊँ, लेकिन मेरे ये लोग न मरें। श्रीकृष्णने वह अमृत पिलाया अर्जुनको कि अपने मरनेका डर भी गया और दूसरोंके मरनेका डर भी गया। मृत्युसे निर्भय करनेवाली वस्तु यदि कोई है तो यह अमृत है सृष्टिमें। हमने देवताओंके अमृतको देखा नहीं है—न तो समुद्र-मन्थनके समय देखा, न

देवताओंको पीते समय देखा, न कहाँ वह घड़ेमें रखा हुआ है, यह देखा। हमें तो यह वचनामृत, वाक्यामृत देखनेको मिलता है, क्योंकि हमें मृत्युसे बचानेवाला तो यही है।

अरे भाई, बहुत बार सुन चुके हो—तृप्ति नहीं होती तो—यह भी एक प्रेमका लक्षण है। प्रेममें दो ही चीज होती है। एक प्यास और एक तृप्ति। पीते जायें और तृप्ति न हो—और चाहिए और चाहिए और मजा आता जाय उसको 'तृप्ति' बोलते हैं। मजा आता जाय और प्यास लगी रहे और प्यास लगी रहे और मजा आता जाय— इसको बोलते हैं 'प्रेम' यदि प्यास-ही-प्यास रहे तो प्रेमको कोई चाहेगा नहीं, जब देखो तब प्यास ही लगी रहती है और ऐसी तृप्ति रहे कि भूख-प्यास लगे ही नहीं, तब भी कोई तृप्ति नहीं चाहेगा। प्रेम वह वस्तु है जिसमें प्यास और तृप्ति दोनों एक साथ चलती है। श्रीकृष्ण प्यास हैं तो राधा तृप्ति हैं। राधा प्यास हैं तो श्रीकृष्ण तृप्ति हैं और कभी वे तृप्ति कभी वे प्यास। वे कभी प्यास कभी वे तृप्ति।

आओ गीताका अमृत पीने चलें और प्यासे भी रहें— **भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।**

मैं पीता जा रहा हूँ—पर मेरा मन भरा नहीं। यह कोई हानिकारक शराब नहीं है। यह अमृत है। रस देनेवाली वस्तु है। 'नूतनम् नूतनम् पदे पदे'। पद-पद पर नूतन है। 'स्वादु स्वादु पदे पदे'—पदे-पदे संस्कृतमें बोलते हैं तो उसका दो अर्थ होता है। कदम-कदम पर स्वाद बढ़ता जाता है। 'पदे-पदे' माने एक-एक कदम पर और एक-एक पदमें, एक-एक शब्दमें एक-एक शब्द सुनते जाते हैं और हमको रस आता जाता है। अब भगवान् बोले—ऐसे श्रोताको नहीं बतावेंगे तो किसको बतावेंगे—श्रोता तो ऐसा ही चाहिए। कवि लोग श्रोता ढूँढते रहते हैं। लोग कविता सुनते-सुनते ऊब जाते हैं। लेकिन यहाँ तो ऐसा श्रोता मिला जो कहता है—'और और और' 'स्वादु स्वादु'-'नूतनम् नूतनम्'—और बोलो। खुशीकी बात है 'आश्चर्य है, हर्ष है।'

आश्चर्य है अर्जुन, तुम्हारे मनमें इस युद्धभूमिमें जब दोनों ओरसे शस्त्रास्त्रकी वर्षा होनेवाली है—'प्रवृत्ते शास्त्रसंपाते' (1.20) वहाँ तुम हमारा योग और विभूति सुनाना चाहते हो? आश्चर्य! श्रोता तो ऐसा चाहिए! सुननेमें अर्जुनको मरनेकी भी परवाह नहीं। चलता है शस्त्र तो चले। लोग मरते हैं तो मरें। लेकिन हम तो तुम्हारी वाणीका अमृत पीयेंगे। आश्चर्य! तुम ऐसे श्रोता हो? बड़ा हर्ष! अरे कहाँ तो तुम रो रहे थे और कहाँ तुम्हें सुनते-सुनते अतृप्ति हो रही है। माने, और-और सुनना चाहते हो!

'हन्ति'का अर्थ है विषाद; खेदकी बात है। क्या बात खेदकी है? यह कि इस युद्धभूमिमें मैं विस्तारसे तुमको कैसे सुनाऊँगा? तुम्हारे मनमें इतनी प्यास होनेपर भी मैं तुम्हें पूरी तरहसे सुना नहीं पाऊँगा ।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 10.19

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, विस्तारसे नहीं कह पाऊँगा। किन्तु आश्चर्य यह है कि ऐसी परिस्थितिमें भी तुम सुनना चाहते हो! हर्षकी बात यह है कि अब तुम्हारा रोना छूट गया और तुम सुनना चाहते हो। सुनो, मैं अपनी दिव्य विभूति सुनाऊँगा। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ अशुद्धि है। जब 'कथयिष्यामि' यह क्रिया पद बोल दिया तो 'दिव्या आत्मविभूतयः' कर्म होना चाहिए। अर्थात् 'दिव्या आत्मविभूतीः कथयिष्यामि' कहना चाहिए।

लेकिन गाँवके ग्वालियेको व्याकरण वगैरहकी कुछ परवाह नहीं है। बीसों जगह गीतामें ऐसी हैं जहाँ श्रीकृष्णको व्याकरणकी परवाह नहीं है। अपनी बात कहना चाहते हैं-भले अशुद्ध हो। भाषा अशुद्ध हो, पर हमारी बात तुम्हारी समझमें आजावे। भाषाके पक्षमें जाकर ज्ञानका अनादर कभी नहीं करना चाहिए। जिस भाषासे ज्ञान मिले, उससे ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। बोली पर मत आओ; यह देखो कि अच्छी समझ मिल रही है कि नहीं? फिर इस वाक्यको इस प्रकार भी समझा जा सकता है-'या मे मम दिव्या आत्मविभूतय:, तास्ते कथयिष्यामि'। हमारी जो दिव्य आत्मविभूतियाँ हैं, उनको मैं तुम्हें कहूँगा। प्रतिज्ञा कर ली कि कहूँगा। क्या कहेंगे? दिव्य आत्मविभूतिका वर्णन करेंगे।

यह दिव्य शब्द भी बहुत विलक्षण है। दिव्य माने अनिर्वचनीय दिव् क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु (धातुपाठ) सबसे अधिक फैलाव-वाले जो धातु हैं उनमें एक 'दिव्' धातु भी है। 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:' गीतामें ही तो है (4.9)। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'-मेरा जन्म भी दिव्य है-दिव्य है माने कर्मके अधीन होकर यह जन्म नहीं है, मैंने इस शरीरको धार लिया है। मेरे कर्म भी दिव्य हैं, उनमें कर्तापन नहीं है। देखो, कर्तापनका तो अभिमान न हो और मनमें, वासना न हो और फलकी उत्पत्ति होकर अपने साथ जुड़े नहीं-खेलते चलो। यदि तुम ठीकसे खेलो-उसमें भी जीत होती है, उसमें भी हार होती है, लेकिन खेल खेल ही है। उसमें दुश्मनी नहीं होती। आजकलके खिलाड़ी आपसमें दुश्मनी कर लें, वह बात दूसरी है।

दिव्य जन्मका अर्थ क्या है? जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़नेके लिए नहीं है। दिव्य कर्म क्या है? फल भोगनेके लिए नहीं है। यह सब दुनिया क्या है? बिना कर्तापनके, बिना वासनाके और बिना फल-सम्बन्धके, यह भगवान् इस संसारमें क्रीडा कर रहे हैं, खेल रहे हैं। इसलिए इसको दिव्य बोलते हैं। हमारी ये विभूतियाँ दिव्य हैं।

यदि भगवान् विभूतयाँ या विभूति कह देते, तब भी एक दूसरी बात होती। 'आत्मविभूति' कहनेका अर्थ है-'आत्मरूपा विभूतय:'-यह सब मैं ही हूँ। 'माँ' तो 'तुमने पीछे मानी-बाप पीछे मान लिया' 'भाई पीछे मान लिया'। पुत्र पीछे मान लिया। ये सब माने हुए हैं। कहते हैं कि हम प्रयोगशालामें आँखसे देखेंगे, परीक्षा करेंगे कि हमारी माँके साथ हमारा खून मिलता है कि नहीं? हमारे पिताके साथ हमारा खून मिलता है कि नहीं? परीक्षा करके देखोगे? ना बाबा, माँकी बातपर विश्वास करो कि ये तुम्हारे पिता हैं और गाँववाले बड़े-बूढ़ोंकी बातपर विश्वास करो कि यह तुम्हारी माँ है। उस समय तुम्हारी आँख बन्द थी। तुमने देखा तो है नहीं। जो उपयोगी हो उसको रखना पड़ता है। वह सत्य है कि नहीं, यह प्रश्न दूसरा है और वह उपयोगी है कि नहीं, यह प्रश्न दूसरा है।

यह जमीन हमारी है। क्यों भाई, धरती तुम लेकर आये थे? धरती तो पहलेसे थी-तुमने अपने उपयोगके लिए उसे अपनी मानी। इसका अर्थ हुआ-उपयोगी। कोई लड़की लेकर लड़का आता है दोनोंका विवाह होता है। सत्य क्या है? वे पति-पत्नी पहलेसे ही रहकर आये हैं? नहीं पति-पत्नी होनेका बड़ा भारी उपयोग है। उसमें अनेक प्रकारके जो अनाचार-व्यभिचार हैं; उनकी निवृत्ति हो जाती है। कोई बात उपयोगकी दृष्टिसे मानी जाती

है, कोई बात प्रयोजनकी दृष्टिसे मानी जाती है और कोई बात सत्यकी दृष्टिसे मानी जाती है। सत्य यह है कि हमसे अलग रहकर कोई चेतन ही नहीं रह सकता।

'प्राधान्यतः'-प्रधान रूपसे हम वर्णन करते हैं। प्रधानका मतलब है-जैसे राजधानीमें 'धानी'-जैसे मसिधानी-जिसमें स्याही रखी जाती है। धानी माने 'धीयते अस्यान्'; प्रधानम्। 'प्रकर्षेण धीयते अस्याम्'-छोटी-सी बातमें बहुत बड़ी बात रख दी जाय। हमको प्रधानका अर्थ ऐसे समझाते थे-एकके घरमें दस पतीली-सबसे छोटी पतीलीको उससे बड़ीमें रखा और उसको उससे बड़ीमें रखा, और उसको उससे बड़ीमें रखा तो दस पतीली एक पतीलीके पेटमें आगयीं-एक पतीलीको उठाया तो दसों उठ गयीं। प्रधान उनमें कौन है? जिसके पेटमें सब आगयीं उसका नाम हो गया प्रधान? संस्कृत भाषामें शब्दोंकी माया ऐसी है कि उस शब्दमें उसका अर्थ भरा रहता है।

जिस एकके वर्णनसे अनेकका वर्णन हो जाये, उस ढङ्गसे मैं प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि तुम कुरुश्रेष्ठ हो, श्रोता बहुत अच्छे मिले थे—कुरुश्रेष्ठका अर्थ है कि तुम सुनकर करोगे। 'कुरु' माने करनेवाला। ऐसे आदमीको बताकर क्या करना जो कभी करे ही नहीं। हम बतावें प्राणायाम ऐसे किया जाता है और करनेवालेने एक मिनट भी प्राणायाम नहीं किया। आसन समझनेमें हमारा घण्टाभर गया और उसने एक आसन भी नहीं किया। बतायी हुई बातको जो करे उसको बोलेंगे-कुरुश्रेष्ठ। कर्मशील है, जो काम करना चाहता है।

अच्छा प्रधानरूपसे हम तुमको बताते हैं, क्योंकि तुम करना चाहते हो। विस्तारसे क्यों नहीं बताते? 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'। मेरे विस्तारका अन्त नहीं है। यदि मैं अपना विस्तार बताने लगूँ तो उसका अन्त नहीं होगा। यह आसमान धरतीका कितना गुना है? आप बता सकते हैं। यह नहीं बताया जा सकता। धरती इतनी छोटी है कि आकाशके किस कोनेमें यह है-यह बताया नहीं जा सकता। अनिर्वचनीय होता है। दिक्तत्त्व धरतीका कितना गुना है? लाखगुना, करोड़गुना-नहीं; अनन्त दिक्में पृथिवी कहाँ है—मूलार्थरूपसे यह भी नहीं बताया जा सकता।

एक सेठके घरमें गये। उनके घरमें विश्वका गोल नक्शा था। उसे घुमा-घुमाकर वे बता रहे थे कि यह अमेरिका है। यह यूरोप है। हम भूगोल-इतिहास नहीं जानते—पर जिसको भूगोल-इतिहास मालूम पड़ता है, उसको जानते हैं। भारत वर्ष यह है। बम्बई कहाँ है? यह बिन्दी है—बम्बईकी जगहपर एक बिन्दी थी। मैंने कहा—सेठजी आपका महल कहाँ है? विश्वके नक्शेमें तो सेठजीका महल ही नहीं था!

यह जो अनन्त वस्तु, अनन्त तत्त्व है-इसमें वे चीजें जिसको हम बहुत महत्त्व देते हैं-प्रयोजनको दृष्टि भी देते हैं, अपने लिए देते हैं। अपनी जातिके लिए देते हैं, अपने धर्मके लिए देते हैं, वह सब ठीक है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे विश्वके नक्शेमें सेठजीका महल ही नहीं है!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

(4-11-81)

यह है भगवान्‌की करुणा-अपने भक्तको यदि अपनेको छोटा बनाकर भी ठीक रास्ता बताना बताना पड़े तो छोटा बनकर भी रास्ता बताना चाहिए। रथी अर्जुन और सारथि भगवान्। रथी तो बड़ा होता है और सारथि छोटा। परन्तु यदि किसीका कल्याण करनेके लिए, भला करनेके लिए कभी अपने बड़प्पनको छोड़कर छोटा भी बनना पड़े तो उसको स्वीकार करना चाहिए। नरका हित करनेके लिए नारायण सारथि बने हैं। अर्जुन हैं नर और श्रीकृष्ण हैं नारायण।

नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्। उद्योगपर्व 49.21

एक ही तत्त्व दो रूपमें एक ही परब्रह्म परमात्मा जीव और ईश्वर दोनोंके रूपमें स्थित है। यह उसका उपलक्षण है। परब्रह्म परमात्मा है एक और जीव और ईश्वर ये दोनों उसके विभाग हैं।

हमारे एक मित्र थे वृन्दावनमें। वे कहते थे गीता कोई शास्त्र थोड़े ही है। यह तो दो मित्रोंकी बात-चीत है। एक मित्रको युद्धके समय विषाद हो गया और दूसरेने उसको प्रसाद दे दिया। गीता प्रसाद है। अर्जुनको हुआ विषाद और श्रीकृष्णने दिया उसको प्रसाद। जब उसने अपने बुद्धिकी जीभसे उसका आस्वादन किया तो वह भी हँस पड़ा। जैसे एक मित्र उदास हो रहा हो, विषण्ण हो रहा हो और दूसरा उसके कन्धेपर हाथ रखकर और बड़े प्रेमसे समझा दे कि यह समय विषण्ण होनेका नहीं है। इस समय तो तुम अपना पौरुष दिखाओ। पौरुषके लिए उत्साहित करनेवाले मित्र हैं-श्रीकृष्ण। वह प्रेरणा देते हैं, प्रेरक हैं। भक्तोसि मे।

श्रीकृष्ण अर्जुनको कहते हैं तुम हमारे इष्ट हो-तुम हमारे मित्र हो, तुम हमारे सखा हो और तुम्हारे रूपमें मैं ही हूँ। 'पाण्डवानां धनञ्जय:' (10.37)। इसलिए दोनोंकी बातचीत बड़े प्रेमसे सुनना और समझना चाहिए। 'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि'-श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि जो तुमसे द्वेष करते हैं वह मुझसे द्वेष करता है। जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। आओ; तुम हमारी विभूति और योग सुनना चाहते हो तो तुम्हें योग और विभूति सुनावें।

आप भागवतके साथ गीताको मिलाइये। भागवतमें मौतका पता चल जानेके बाद कि कब होगी, राजा परीक्षित सब कुछ छोड़कर गङ्गा-तटपर विराजमान हैं। और शुकदेवजी-जैसे अवधूत उनको भागवतका उपदेश दे रहे हैं। वहाँ प्रवृत्तिका प्रश्न नहीं है, वहाँ तो निवृत्तिका प्रश्न है, मरणोत्तर गतिका प्रश्न नहीं है यहाँ प्रश्न यह है कि कुरुक्षेत्रमें जहाँ कर्तव्य-पालन और कर्तव्य-त्यागका प्रश्न उपस्थित है युद्ध करें कि न करें? 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' (१.२३)। दोनों ओरसे हथियार चलनेवाले हैं। वहाँ उस प्रवृत्तिके क्षेत्रमें, धर्मक्षेत्रमें श्रीकृष्ण अजुर्नको अपनी दिव्य विभूति बता रहे हैं। यहाँ यह नहीं है कि ऐसे प्राण-त्याग करो तो मुक्त हो जाओगे। यहाँ ऐसे हैं—इस प्रकार लड़ो तो मुक्त हो जाओगे। लड़कर मुक्ति पानेके लिए है गीता और मरके मुक्ति पानेके लिए हैं भागवत। दोनोंका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। अधिकारी श्रोता भी पृथक् हैं, वक्ता भी पृथक् है।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 10.19

आओ खुशी की बात है कि हमारी विभूति जानना चाहते हो। आश्चर्यकी बात है कि ऐसे कोलाहलमें भी तुम्हारी ऐसी जिज्ञासा है। और भगवान्‌ने बताया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। 10.20

जब अँगूठे और तर्जनीको जोड़ देते हैं तो गुडा नामकी मुद्रा बनती है। ऐसे हैं केश जिसके अर्थात् घुँघराले बालोंवाले। यह प्रेमका सम्बोधन हो गया। रूपकी प्रशंसा, बालोंकी प्रशंसा तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं हुई। उसका दूसरा अर्थ करते हैं—'गुडाका-निद्रा तस्य ईशाः'। गुडाका माने नीद। नींदपर जिसने विजय प्राप्त कर ली हो। निद्रापर विजय प्राप्त करना माने—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इन पाँचों पर विजय प्राप्त करना। निद्रा तो उपलक्षण मात्र है। किसी बातपर विचार करना हो तो प्रमाणपूर्वक विचार करनेवाले तुम हो। तुममें प्रमाद नहीं है। विपर्यय कभी तुमको होता नहीं। विकल्पपर भी तुमने विजय प्राप्त कर ली है, दुविधा नहीं है। स्मृति तुम्हारी ठीक है, और जब सोना चाहो तब सो सकते हो, जब जागना चाहो तब जाग सकते हो।

अपनी अवस्थाएँ भी मनुष्यके अधीन होनी चाहिए। यह नहीं कि काम करना है और नींद आगयी। सोना है और नींद आवे ही नहीं। ऐसा नियन्त्रण चाहिए अपने शरीरकी अवस्थाओंपर भी कि मनुष्य उनके पराधीन न हो। इसीसे योगमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट—दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। एक तो क्लेश देनेवाली अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँचों वृत्तियाँ क्लेश देनेवाली हैं। हमारी नासमझी हमको दुःख देती हैं और अभिनिवेश—जब हम किसी वस्तुमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं—वह हमको दुःख देता है। दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

ईश्वर न किसीको दुःख देता है, न प्रकृति दुःख देती है, न प्रारब्ध दुःख देता है। घटनाएँ सब घटित हो सकती हैं, पर हम अपने अन्तःकरणको ऐसा बनाकर रख सकते हैं कि उनसे प्रभावित हुए बिना, हम अपने कर्त्तव्यका पालन करते रहें। यह जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशसे अनुबिद्ध वृत्तियाँ होती हैं उन्हीं को क्लिष्ट कहते है। समयसे निद्रा आवे, समयसे दूर हो जावे। अपने सारे काम समय-समयसे होते रहें। उनमें अनवधानता न हो, प्रमाद न हो। उसको कहेंगे गुडाकेश। 'गुडाका निद्रा तस्य ईशः—गुडाकेशः'। अर्जुनने प्रमादपर विजय प्राप्त कर ली है। असावधान नहीं है—हर बातमें अर्जुन सावधान है, हर काममें सावधान है। जो अपने कर्म और भोगके परिणामका गणित नहीं जानता, वही दुःखी होता है। हम जो कर रहे हैं, उसका फल क्या निकलनेवाला है, इसके बारेमें हमेशा सावधान रहना चाहिए।

'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'। (उद्योग. 42.4)—प्रमादका नाम है मृत्यु। 'न वै मृत्युर्व्याघ्र इवऽत्ति जन्तून्'। (उद्योग 42.5) शेरकी तरह आकर मौत किसीको नहीं झपटती है। जब हम असावधान हो जाते हैं, हमारे जीवनमें प्रमाद आ जाता है, तब मौत हमारे सिरपर छा जाती है। गुडाकेश अर्जुन। तुम सावधान हो—एक तो सौन्दर्यकी प्रशंसा हुई, और दूसरी प्रशंसा हुई उसके संयमकी, निद्रापर विजय की और तीसरा अर्थ इसका

होता है—शिवजीका कृपापात्र—टीकाकारोंने यह अर्थ भी किया है और ऐसा अर्थ होना सम्भव भी है। शंकरजीके प्रति तुम्हारी श्रद्धा बहुत है तो संहार-शक्तिको प्रधानता होनेसे जितने भी दोष-दुर्गुण हों तुम्हारे अन्दर, उनको मिटा देनेकी सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर है। तुमने तपस्यासे शंकरजीको प्रसन्न नहीं किया। युद्ध करके शंकरजीको प्रसन्न किया। ऐसा प्रसन्न किया कि उन्होंने अपना पाशुपत-अस्त्र अर्जुनको दे दिया।

अर्जुन सुन्दर है, संयमी है और वीर है तथा श्रीकृष्णका मित्र है, उसको सम्बोधन करके श्रीकृष्ण बोलते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

अब अपना योग बताते हैं। क्योंकि प्रश्न यह है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

एक विभूति है और एक योग है। और 'विभूतिं योगं च'—दोनोंके बारेमें अर्जुनका प्रश्न है। परमात्मा हमसे कहाँ मिला हुआ है? योग कहाँ है, हमारा और परमात्माका। हम परमात्माकी शक्तिको, प्रेरणाको, उनकी सत्ताको, उनके ज्ञानको, उनके आनन्दको कहाँसे ग्रहण करते हैं? वह कौन-सी वस्तु है, जहाँ परमात्माके सत्से अनन्त जीवन हम प्राप्त करते हैं—जहाँ परमात्माके चित्से अनन्त ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। जहाँ परमात्माके आनन्दसे हम अनन्त आनन्द प्राप्त करते हैं। वह जो हमारे जीवन, ज्ञान और आनन्दका उत्स है, उद्गम है, मूल स्रोत है, वह कहाँ है? भगवान् ने बताया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

पहले तो अपना अपना पता बताया। भगवान् कहाँ रहते हैं? एक तो हम मौन होते हैं तब भगवान् बोलते हैं। यह नहीं है कि जैसे सट्टा बाजारमें दस आदमी एक साथ बोल रहे हों—उसमें एक आदमी चिल्ला रहा है, तो हम भी चिल्लाते रहें, बोलते रहें—और कोई बड़े आदमी भी उसके बीचमें बोलना शुरू कर दें तो यह तो बड़ोंका स्वभाव नहीं है। जब और लोग बोलते हों तो वे कहेंगे—बोल लो भाई तुम—हम चुप हैं। जब एक चुप होता है तब दूसरा बोलता है। जब जीव अपने संस्कारके अधीन होकर, अपनी वासनाओंके अधीन होकर, सुने-सुनायेके अधीन होकर बोलने लगता है तब भगवान्की आवाज सुनायी नहीं पड़ती है। और जब जीव चुप हो जाता है तो वहाँ भगवान्की आवाज सुनायी पड़ती है। इसीसे अर्जुन हो गये चुप और भगवान् लगे बोलने।

उनका पता देखो—यदि हम सौन्दर्यका अभिमान छोड़ दें तो भगवान्का सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। यदि हम अपनी बुद्धिमत्ताका अभिमान छोड़ दें तो भगवान्की बुद्धि हमारे जीवनमें प्रकट हो जाती है। यदि हम अपने सुखका, थोड़ेसे सुखका जो अभिमान हो लिये बैठे हैं, उस अभिमानको छोड़ दें तो अनन्त सुख हमारे जीवनमें प्रकट हो जाता है। भगवान्का पता कहाँ है? किसीने पूछा भगवन्का टेलीफोनका नम्बर क्या है? मालूम रहना चाहिए। बोले भाई—अपने दिलको खाली कर दो। शून्य कर दो। शून्य ही परमात्माके साथ बात करनेका

नम्बर है। जबतक अपने विचार, अपने संस्कार, अपना ढंग, अपनी वासना लेकर हम बैठे रहेंगे, तबतक परमात्माका साक्षात्कार कैसे होगा?

भगवान् मिलते कहाँ हैं? 'सर्वभूताशयस्थित:'। सम्पूर्ण भूतोंके, प्राणियोंके आशयमें भगवान् स्थित हैं 'आशेरते संस्कारा अस्मिन् इति आशय:।'

जिसमें संस्कार सोते रहते हैं, उनका नाम है आशय। हमने बचपनमें एक दृश्य देखा था। विश्वनाथजीकी गलीमें-से नीलकण्ठ महादेवकी ओर जा रहा था। ऊपरसे बन्दर कूदा और एक पत्थर गिरा। वह एक आदमीके सिरपर गिरा और वह वहीं मर गया। जरा-सी घटना—अबतक याद है। वह चीज क्या है? इसीको हृदय बोलते हैं—आशय। हरति संस्कारान् इति हृत्—जो संस्कारोंको इकट्ठा करके अपनेमें रख लेता है, उसका नाम होता है हृदय, जिसमें संस्कार सोये रहते हैं और समय-समयपर जाग जाते हैं। कौन-सा संस्कार पहले है, कौन-सा पीछे है और कितने संस्कार हमारे हृदयमें सोये हुए हैं। इसकी कोई गिनती नहीं है।

अभीतक ऐसा कोई यन्त्र नहीं बना जो हमारे हृदयकी परीक्षा करके बता दे कि इसमें क्या-क्या संस्कार हैं। यन्त्रकी पकड़में नहीं है। वे मालूम कब पड़ते हैं जब उभर आते हैं। जब उनकी वृत्ति उभर आती है तब मालूम पड़ता है कि ये संस्कार हमारे हृदयमें कहाँ बैठे हुए थे। हम पढ़ रहे थे। मैं बाँचता जाता था और हमारे गुरुजी लेटकर सुनते थे। एक शब्द हमसे छूट गया। गुरुज़ीने क़हा एक शब्द छूट गया। महाराज, कौन-सा शब्द छूट गया? बोले—जो तुम हो वही शब्द छूटा? अब वह शब्द क्या था? 'उल्लू' शब्द था। यह बात आप समझो कबकी होगी। हम 10-11 वर्षके रहे होंगे। वह अबतक कहाँ बैठी है? आप किसी मशीनसे उसको बता सकते हो? है कोई आपके पास ऐसा यन्त्र, ऐसा गणित जिससे निकल आवे कि यह अमुक जगहपर बैठा हुआ है—कलेजेके अमुक हिस्सेका ऑपरेशन करके निकाल दिया जाय तो वह बात निकल जावेगी? इसीको बोलते हैं, सूक्ष्म संस्कार।

सूक्ष्म शरीर इसीका नाम होता है। वह शरीरके साथ बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं रखता है, स्थूल शरीर। उसका नाम होता है—आशय। कभी-कभी ऐसी बातें याद आती हैं और कभी-कभी भविष्यकी ऐसी कल्पना उदय होती है कि देखकर आश्चर्य होता है। यह निश्चय है कि वह आत्मा नहीं है। आशय ईश्वरमें नहीं होता। योगदर्शनमें यह है—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय ये चार बात ईश्वरमें नहीं होतीं। ईश्वरमें अविद्या-नासामझी, अभिमान, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये नहीं होते। क्लेश नहीं होता। और कर्म के अनुसार ईश्वर सुखी दु:खी नहीं होता और आशय माने संस्कार उसमें जमा नहीं होते।

अपनेको अगर तत्त्व जानोगे तो न तुम्हारा जन्म है, न मरण है, न पवित्रता है न अपवित्रता है, न काला है न गोरा है। अब तुम मिट्टी हो कि घड़ा? मूल प्रश्न यहीं जाकर अटकता है कि हमारा 'मैं' कहाँ है? इसी आशयको अपना स्वरूप मानकर यह जीव बैठ जाता है। जैसे स्वप्न-कालमें, मनोरथ-कालमें, हम किसी दृश्य शरीरको अपना मैं समझकर बैठ जाते हैं— और उसके सुख- दु:ख भोगने लगते हैं—वैसे ही हम इस शरीरको 'मैं' समझकर बैठ जाते हैं। यह जो द्रव्यके अनुभवका अन्त:करणमें सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यके साथ 'मैं' का

जुड़ना इसका नाम जन्म है। और उस सामर्थ्यके साथ जो 'मैं' जुड़ा है उसका छूट जाना, उसका नाम मुक्ति होगा।

यह जो जीवके साथ आशय लगा हुआ है—मैंने यह काम किया, मैंने यह भोग किया, मैंने यह बात कही—ये हमारे अन्त:करणमें इकट्ठा होता रहता है और यह आशय सब प्राणियोंके हृदयमें होता है। शरीर तो होते हैं सबके अलग-अलग और अन्त:करण भी होते हैं सबके अलग-अलग। संस्कार भी होते हैं सबके अलग-अलग और उनमें जो अभिमान करनेवाली चेतना है, वह भी होती है अलग-अलग। लेकिन परमात्मा ऐसा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: ।

भूत अलग-अलग—आशय अलग-अलग, लेकिन उनमें जो तत्त्व है वह सबमें एक है। यह है परमात्माका पता। जबतक अलगाव मालूम पड़े कि मैं तू अलग, वहाँतक तो हम विशेषणको देखते हैं। जिसके जीवनमें अलगाव जितना कम है—परिवारका अलगाव है, शरीरका अलगाव है, जाँत-पाँतका अलगाव, धर्मका, मज़हबका, अचार्यका अलगाव—वह उतना महान् होता है। ये जितना-जितना अलगाव जिसके मनमें ज्यादा है—वह संसारमें उतना फँसा हुआ है। और जिसके चित्तमें अलगाव जितना कम है वह उतना मुक्त है, उसको दु:ख भी उतना ही कम होगा। आओ परमात्माको ढूँढ़ें—कहाँ है?

सब शरीरमें एक आशय है, अन्त:करण है। शरीर अलग, अन्त:करण अलग, संस्कार अलग और उसमें चेतना अलग और उनमें परमात्मा एक। घड़ा अलग—काले-गोरे घड़े अलग, उनकी बनावट छोटे-बड़े अलग और उनमें शराब और गङ्गाजल अलग और उनका चलना-फिरना, उठना-डोलना अलग, उनमें चन्द्रमाकी ज्योति अलग, उनमें सूर्यकी ज्योति अलग, परन्तु सबमें एक चीज क्या है? जो आकाश है वह सभी घड़ोंमें एक है। इसी प्रकार जो चिदाकाश परमात्मा है, वह सबमें एक होता है। जबतक उस एक को नहीं पहचानेंगे तबतक न अज्ञानकी निवृत्ति होगी और न दु:खकी निवृत्ति होगी। अब प्रश्न होगा कि हमारे शरीरमें तुम क्या हो?

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित: ।

इसमें भी आप देखो, एक चेतनाका वर्णन है और एक परमात्माका। 'भूतानामस्मि चेतना' (10.22) भूतोंमें जो चेतना है वह मैं हूँ। एक ओर बुद्धि पैदा होती है वह दूसरी चीज है। उसी परमात्माको लखानेके लिए यह विभूतिका वर्णन है। हमलोग संस्कृतके शब्दोंसे ही थोड़ा खेल लेते हैं। हमने ताश तो कभी छुई ही नहीं—हम गाँवके रहने वाले, वहाँ जिसके पास ताशके पत्ते हों उनको बड़े आदमी समझते थे। हम लोगोंका खिलौना शब्द है। हम उसके साथ खेलते हैं। भगवान्ने अपने लिए कहा—'अहम्'—अच्छा, आप हैं, ठीक है। पर कहाँ रहते हैं? 'सर्वभूताशयस्थित: ' सबमें मैं हूँ—सबमें आप कौन हैं? आत्मा हैं। आत्मा माने उसकी जो स्वयंता है। वह जो खुद है। आत्मा माने स्वयं—खुद—जो वह है, वही है वह। 'अहमात्मा गुणाकेश : सर्वभूताशयस्थित: ।' एक है, आत्म-अनात्म-विवेक है, वे विवेकी हैं। यदि जो लोग जिज्ञासापूर्वक श्रद्धासे, एकाग्र मनसे आत्माका

विचार करते हैं, मनमें जाननेकी इच्छा न हो तो ऊपर-ऊपरसे पढ़ सुनकर निकल जावेंगे। गम्भीरतामें प्रवेश नहीं करेंगे।

यह हमलोगोंका आत्मा क्या है? देखो हड्डी, मांस, चामका बना हुआ शरीर, मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान—इसमें धातु जो है—क्या इसका नाम आत्मा है? इसका नाम आत्मा नहीं है। विवेक करके गम्भीरतासे जब चिन्तन करो तब अपने आपको देख सकोगे। हाथ उठाते हैं, हाथ उठता है, गिरता है। उठानेकी शक्ति क्या है? यह हाथ ही उठानेकी शक्ति है क्या? हाथमें उठानेकी शक्ति है जो पक्षाघात होनेपर नहीं रहती है और वह प्राणशक्ति जो है—क्रियाशक्ति जो है—वह क्या है? वह मिट्टी, पानी आगका बना हाथ है और इसमें जो शक्ति है, वह प्राण है। और इसको उठाने और गिरानेकी जो इच्छा है वह मन है और उठाने, गिरानेका जो अभिमान है, उसको बोलते हैं 'अहंकार'। उसमें जो सुख है उसको बोलते हैं—'आनन्दमय कोश'। यो पाँचों चीजें आती और जाती रहती हैं और अपना आत्मा साक्षीके रूपमें रहता है, इनके बदलनेसे बदलता नहीं है। यदि कोई अपनेको मिट्टीका ढेला ही मान ले तब भी उसको विचार करना चाहिए कि यह मिट्टीका ढेला एक बूँद पानीमें-से निकला।

पॉल ब्रन्टन उड़ियाबाबाके पास आया था। सन्तोंकी खोज करने आया था। बोला—बाबा, हमको कोई चमत्कर दिखाओ। वह चमत्कार ही ढूँढ़ता फिरता था। रमण महर्षिका पास गया। विशुद्धानन्दजीके पास गया। जगह-जगह जाता था, चमत्कार दिखाओ। उड़ियाबाबाने उससे कहा—देखो भाई, हमारे बापके शरीरमें एक बूँद पानी था। वह माँके शरीरमें आकर एक बच्चा बन गया। वह बच्चा छोटा-सा बाहर निकला और यह लम्बा-चौड़ा हो गया। यह चलता है, फिरता है, सोचता है, विचारता है, प्रेम करता है। कितनी वृत्तियाँ इसमें आगयीं? एक बूँद पानीसे ऐसी वस्तुका बन जाना—यह यदि तुम्हें चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो तुम्हें और क्या चमत्कार दिखावें। यह तो अद्भुत साक्षात् अपरोक्ष संस्कार है। चमत्कार है!

आओ बाबा, यह अपना आत्मा क्या है, इस शरीरमें, यह ढूँढ़ें। जो इस शरीरमें अपनी आत्माको ढूँढ़ लेता है वह विश्वका रहस्य, सृष्टिका रहस्य वहीं प्राप्त कर लेता है। जो अपने आपको ही नहीं जानता है, वह दूसरेका रहस्य क्या जानेगा? आपके हाथमें एक दूरबीन है, एक खुर्दबीन है। लेकिन आपको यह मालूम नहीं है कि यह खुर्दबीन किसी वस्तुको कितना गुना कम करके दिखाती है यह दूरबीन किसी चीजको कितना बड़ा करके दिखाती है। जब यह मालूम नहीं है तब आप उससे जब देखेंगे तो आपके मनमें गलत धारणा बनेगी। छोटी चीजको बड़ी मान लेंगे। बड़ी चीजको छोटी मान लेंगे। आपकी आँख ठीक है कि नहीं? वह खुर्दबीन ठीक है कि नहीं? आप सावधान होकर देख रहे हैं कि नहीं? यदि अपने बारेमें आपको मालूम नहीं है तो दूसरेके बारेमें जितनी धारणाएँ बनेंगी उनके गलत होनेकी सम्भावना तो बनी ही रहेगी।

भगवान्ने कहा आओ पहले देखो—अपने अन्दर देखो—मैं क्या हूँ? गीताके सातवें अध्यायमें पहले भूतप्रकृतिका वर्णन अलग है और परा प्रकृतिका वर्णन अलग है। जैसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्रका वर्णन अलग है और क्षेत्रज्ञका वर्णन अलग है। यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ है पराप्रकृति । क्षेत्र तो है भूत। भूत जोहै वह क्षेत्र है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7.4

यह वह खेत है जिसमें हम पाप-पुण्यका बीज बोते हैं और उनके द्वारा सुख-दुःखका फल प्राप्त करते हैं। यह शरीर ही खेत है और क्षेत्रज्ञ माने किसान—यह जीवात्मा है, जो अपने खेतको पहचानता है—यह मेरा खेत है। पाप-पुण्यकी मनुष्य खेती करता है। पाप माने—जिससे रक्षा न हो सके। पा धातु रक्षाके अर्थमें होती है और प प्रत्यय होता है—उसका अर्थ होता है जिसमें रक्षा नहीं है। यदि पाप करोगे तो आज नहीं कल, कल नहीं परसों—तुम्हारी रक्षा कोई नहीं कर सकेगा और उसका फल भोगना पड़ेगा। और पुण्य उसको कहते हैं जो अपने हृदयको पवित्र कर दे—'पुनाति यः' जो हमारे हृदयको निर्मल बनावे, उज्ज्वल बनावे, प्रसन्न कर दे। उसका नाम है—पुण्य।

किसीने महात्माजीसे पूछा, महात्माजी ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है कि नहीं। कैसे मालूम पड़े? बोले—बेटा, तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो कि नहीं? अपने कर्मसे तुम प्रसन्न हो? अपने भोगसे तुम प्रसन्न हो? अपनी भावनाओंसे तुम प्रसन्न हो? अपनी स्थितिसे तुम प्रसन्न हो? ना बाबा; ऐसा तो नहीं है। तुम स्वयं अपने ऊपर प्रसन्न नहीं हो तो ईश्वर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न कैसे होगा? तुम्हें स्वयंको ही अपने जीवनसे संतोष नहीं है तो ईश्वर हमारे ऊपर संतुष्ट है, ऐसा सोचनेका तो कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि ईश्वरसे अपने लिए कोई कुटिया बनायी नहीं, कोई महल बनाया नहीं। 'सर्वभूताशयस्थितः'। एक माँ है—बम्बईमें उनके सात बेटे हैं। वह एक महीना एक बेटेके घरमें—दूसरे महीने दूसरे बेटेके घरमें—अपना घर बदलती रहती है। ईश्वरको घर बदलना तो नहीं पड़ता, पर अपना घर अलग बनाना नहीं पड़ता। वह तुम्हारे घरमें ही रहकर अपनी गुजर कर लेता है।

'सर्वभूताशयस्थितः'। 'स्वे महिम्ने प्रतिष्ठितः'।

परमात्मा किसी दूसरे घरमें नहीं रहता। सब उसीमें रहते हैं। अपनी महिमामें वह प्रतिष्ठित है। अपने स्वरूपमें स्थित है। आपके हृदयमें ही परमात्मा रहता है। यही है उसका घर। नया घर बनाकर परमात्मा नहीं रहता। यदि आप अपने ऊपर प्रसन्न हैं तो आपके घरमें रहनेवाला, आपके हृदयमें रहनेवाला परमात्मा भी आपके ऊपर प्रसन्न है। यह जो परा प्रकृति है उसको कह दिया 'आत्मा' और अपरा प्रकृतिको कह दिया—'भूताशयस्थितः'। और परमात्मा जो स्वयं है उसके लिए आया 'अहम्' शब्द। भगवान् अपने लिए बार-बार 'अहम्' शब्दका प्रयोग करते हैं। 'अहम्' माने परमात्मा होता है। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्'। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम् (9.16)। अहंकी झड़ी लगा दी। एकने गीतामें अनुसन्धान करके देखा। सर्वापेक्षा 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग गीतामें ज्यादा मिलता है। अहम् मम मया—ये सब अपने आपके वाचक शब्द हैं। उनका प्रयोग गीतामें सर्वापेक्षा अधिक है। परमात्माने कहा अहम्, अहम्, अहम्।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि परमात्मा क्या है? तो बोले कि देखो जब दाल पकती है तो उसमें खुदर-बुदर, खुदर-बुदर आवाज निकलती है। तो खुदर-बुदर आवाज तो अलग-अलग होती है लेकिन पानी

एक ही रहता है। इसी प्रकार ये सबके हृदयकी बटलोईमें जो 'अहम्-अहम्-अहम्' ये खुदर-बुदर हो रहा है। देखनेमें तो बिलकुल अलग-अलग हैं, लेकिन परमात्मा सबके अन्दर एक ही है। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम्। इस तरहसे सारी गीतामें भगवान्ने अस्मत्—शब्दका प्रयोग ज्यादा किया। 'अहम्' है परमात्मा और 'आत्मा' है परा प्रकृति। और दोनोंका यहाँ सामानाधिकरण्य है। माने जिस विभक्तिका अहम् है, उसी विभक्तिका आत्मा है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों एक हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अब आपको शब्दका खेल सुनाते हैं। 'अहम्' माने जिसका हनन कभी न हो—'अ' माने नहीं है और 'हं' माने हत्या। जिसकी हत्या कभी न हो सके, उसका नाम है 'अहम्'। आप या हम कोई भी अपनेको मार नहीं सकता है, आत्महत्या नहीं कर सकता। कभी दुनियामें कोई यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं मर गया, यह अनुभवके क्षेत्रमें है ही नहीं। इस बातको निश्चय कर लो, 'न हित्कश्चित् सन्दिग्धे अहं वा नाहं वेति' (भामती, अध्यासभाष्य) किसीको यह अनुभव कभी हो ही नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ। मैं मर गया। यदि यह अनुभव किसीको हो कि मैं नहीं हूँ—मैं मर गया तो जिसको अनुभव हो रहा है वही मैं है और वही रह रहा है। वह तो कभी मिटा ही नहीं है। विचार करके देखलो तुम्हारी मृत्यु कभी नहीं होती है। वह घड़ा फूट जाना दूसरी बात है और घड़ेका अभाव होना यह दूसरी बात है। वह तो बिलकुल मिट्टी है। मिट्टीके रूपमें तो घड़ा हमेशा रहेगा ही रहेगा।

महात्मा गाँधी बनारस आये थे तो एकने भजन गाया—'अब हम कबहूँ न मरेंगे।' अरे बाबा। कभी मरोगे नहीं सो बात नहीं है। कभी मरे नहीं हो। यदि अबतक कभी मर गये होते तो आज तुम कैसे होते? मृत्युकी कल्पना बिलकुल झूठी है। न अभी मरकर उसका स्मरण कर सकते हैं और न मरनेका अनुभव कर सकते हैं और जब अनुभव नहीं कर सकते तो मरनेकी कल्पना बिल्कुल झूठी है। ये तो कपड़े उतारनेको और दूसरे पहननेको—जैसे बच्चे रोनेका कारण मान बैठते हैं वैसे ही इस सृष्टिमें है। और 'अहम्' न हन्यते इति अहम्, न हन्ति इति अहम्, न हीयते इति अहम्, न जहाति इति अहम्—'ओहाङ्गतौ'—न कहीं जाता है, न मरता है, न कभी बदलता है—यह तो ज्यों-का-त्यों—यह अहं है। हमारा अहम्—उपाधियाँ बदलती हैं—छाया बदलती है, प्रतिबिम्ब बदलता है।

कोई अनजान बच्चा है—उसने प्रातःकाल देखा कि हमारी छाया बड़ी लम्बी है, तो बोला कि मैं बढ़ गया, लम्बा हो गया। और दोपहरमें जब छाया छोटी हो गयी, तब उसने कहा—हाय-हाय! मैं तो छोटा हो गया। अब परछाईं छोटी-बड़ी होनेसे जैसे मनुष्य छोटा, बड़ा नहीं होता, इसी प्रकार यह जो हमारा शरीर है, अन्तःकरण है, इसके छोटे-बड़े होनेसे हम छोटे-बड़े नहीं होते। और असलमें यह है क्या? 'न जहाति', 'न हीयते'—'न जिहीते'। न कहीं जाता है, न किसीको छोड़ता है, न मरता है। योगवासिष्ठमें 'अहम्' शब्दकी व्याख्या ऐसे की गयी है—वर्णमाला 'अ' से शुरू होती है और 'ह' पर शेष होती है। अ से ह तक जितने भी अक्षर हैं उन अक्षरोंके द्वारा, वर्णोंके द्वारा अकारादि स्वरोंके द्वारा और ककारादि व्यञ्जनोंके द्वारा, जितने भी

शब्द बनते हैं, जितने भी वाक्य बनते हैं—और जितना भी उनका अर्थ होता है वह सब-का-सब 'अहम्' है। 'अ' और 'ह' से लेकर जो कुछ बोला गया, बोला जा रहा है—बोला जायगा, वह सब अहम् है।

'अहमात्मा'; तुम्हारे इस शरीरमें, अन्त:करणमें, मैं ही आत्माके रूपमें विराजमान हूँ। आत्मा अर्थात् जो जाग्रत-अवस्थामें बाहरके विषयोंको देखता है। स्वप्नावस्थामें भीतर विषयोंको बना लेता है और सुषुप्तिके समय सबका उपसंहार करके अकेला होता है। जैसे एक बाबूजी हैं, वह ऑफिसमें जाकर काम करते हैं, उसकी जाग्रत्-अवस्था है। प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करते हैं—बड़ी भारी प्रयोगशाला है—स्वप्नावस्था। उसकी शक्तियों पर विचार करो, देखो, तुम्हारे मनमें क्या अद्भुत सामर्थ्य है। यह कोई झूठ-मूठकी चीज नहीं है। तुम्हारा मन नये-नये आदमी बना लेता है। वह नयी धरती बना लेता है। नया पानी, नयी हवा, नया सूर्य-चन्द्रमा गढ़ लेता है। यह तुम्हारा मन कितनी बड़ी सृष्टि रचता है।

यह जो स्वप्नमें नवीन-नवीन वस्तुओंके निर्माणकी शक्ति है, वह जाग्रतमें कहाँ चली जाती है? कभी आपने इसपर विचार किया? सपनेमें तो आपके मनमें इतनी ताकत है कि वह नयी-नयी चीज बनाकर देख सके, भोग सके। जाग्रत्-अवस्थामें वह शक्ति उतनी नहीं रहती है। सच भगवान्ने हमको दिखा दिया है—तुम्हारे मनमें इतनी शक्ति है —तुम जैसे स्वप्नकी सृष्टि बना सकते हो, वैसे जाग्रतमें भी तुम वैसी ही सृष्टि बना सकते हो। तुम्हारा सामर्थ्य कम नहीं है। समेटनेका सामर्थ्य है—सुषुप्ति अवस्थामें। जो तुम चाहो—दुनियाकी वस्तुओंको छोड़ दो। जैसे सुषुप्तिमें सो जाते हो, वैसे तुम संसारकी किसी वस्तुको छोड़ सकते हो, किसी वस्तुको बना सकते हो। ये जीवात्मामें जो निहित शक्तियाँ हैं—उनका प्रदर्शन भगवान्ने हमारे सामने एक नुमाइश करके रख दी। रोज-रोज देख लो और अपनेको ठीक-ठीक ढंगसे सञ्चालित करो। आफिस जाग्रत्-अवस्था, प्रयोगशाला स्वप्नावस्था और विश्राम-कक्ष है सुषुप्ति-अवस्था। विश्रामकी भी सबको आवश्यकता होती है। परन्तु उसमें उपसंहारका सामर्थ्य किन्हीं लोगोंमें ही देखा जाता है। यह स्थिति, जाग्रत्-अवस्थामें, सृष्टि, स्वप्नावस्थामें और प्रलय, सुषुप्ति-अवस्थामें जो हमको दिखायी पड़ते हैं—ये सब क्या हैं? हमारे अन्दर यह सामर्थ्य है। यह कहाँसे आया? इसके अन्तर्हित होनेका कारण है—परमात्मा अलग हो गया और जीवात्मा अलग हो गया। शक्तिका लोप हो गया। परमात्मा और आत्मा एक हो गया तो सारी शक्तियाँ अपने काबूमें आगयीं।

'अहमात्मा गुडाकेश'—आत्मा माने जाग्रत्-अवस्थामें काम करनेवाला। हाथ काम नहीं करता, हाथमें आरूढ़ चेतन काम करता है। बुद्धि भी काम नहीं करती, बुद्धिमें आरूढ़ चेतन काम करता है। तत्त्वज्ञान भी अज्ञानको नहीं मिटाता है। यह जो हमारे जीवनमें सबकुछ हो रहा है, उसपर जरा ध्यान दें। उसीको बोलते हैं 'अत्ति इति आत्मा'। जो भोग करता है, उसे बोलते हैं आत्मा। 'अतति व्याप्नोति'—इसका नाम है आत्मा। 'आदत्ते इति आत्मा'—जो पुण्य-पापको ग्रहण कर लेता है उसका नाम आत्मा। जो सुख-दु:खका भोग करता है, उसका नाम आत्मा। जो तीनों अवस्थाओंमें चलता है, उसका नाम आत्मा और जो कभी नहीं थकता उसका नाम आत्मा। 'न ताम्यति इति आत्मा'—यह कभी थकानका नाम नहीं लेता। घर बदल-बदलकर कुछ-न-

कुछ समेटता रहता है। कुछ-न -कुछ फैलाता रहता है। कुछ-न-कुछ करता रहता है। थकान नामकी वस्तु आत्मामें नहीं है। इसलिए इसको बोलते हैं आत्मा। दर्शन पढ़ो, विज्ञान पढ़ो, इतिहास-पुराण पढ़ो, काव्य पढ़ो, कहानी पढ़ो कभी थकनेका नाम नहीं है। यह सोते समय भी टुकुर-टुकुर देखता रहता है।

यह जो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ द्रष्टा है-सुषुप्तिका भी द्रष्टा है-यह कौन है? तो भगवान्‌ने बताया अहमात्मा। तुम और मैं ये दो चीज नहीं हैं। बिलकुल एक हैं। 'अहमात्मा' महावाक्य हो गया। 'अहमात्मा' 'अयमात्मा ब्रह्म।' 'अहं ब्रह्मास्मि।' यहाँ अहं माने ब्रह्म और आत्मा माने पराप्रकृति -अक्षर पुरुष। ये सब एक हैं। परमात्माके योगका वर्णन है। सबके हृदयमें परमात्मा हमसे जुड़कर, मिलकर रहता है। हम जब उसको अलग मान बैठते हैं, तब हमारी वे शक्तियाँ, वह ज्ञान और वह आनन्द सारा-का-सारा पीछे पड़ जाता है। हम व्यवहारमें जो भी काम करें, उसको पकड़कर करें। उसके साथ मिलकर काम करें। हमारा मददगार कौन है? सारथि कौन है? यही अहं जीवनका सारथि है।

जो अपने ज्ञानसे, अपनी शक्तिसे, अपनी सत्तासे, अपने आनन्दसे सर्वदा हमारे इस जीवनको अनुप्राणित करता रहता है, उस परमात्माके साथ हमारा योग हो जाता है तब फिर क्या पूछना? किसके लिए रोयेंगे? किसके लिए दु:खी होगे? किसके लिए शोक करेंगे? क्या खो जायगा? क्या मिल जायगा? कहाँ योग होगा और कहाँसे योग होगा? यह जो जीवन है, मरण है, गमनागमन हैं और स्वर्ग-नरक हैं और पाप-पुण्य हैं-उस परमात्माकी शक्तिसे मिलते ही ये सारे-के-सारे समाप्त हो जाते हैं और यदि देहसे मिले रहोगे तो जन्म हुआ ही है। जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी होती है। जो आया है वह जायगा भी। जो ऊपर उड़ेगा वह नीचे गिरेगा भी। यह संसारका नियम है। इससे छूटनेका एक ही उपाय है। हम अपने आपका परमात्माके साथ जो योग है, उस योगको समझें और परमात्माके योगको समझ लेनेके बाद ये संसारके जितने विकार हैं, वे छूट जाते हैं।

अब देखो एक नयी बात आती है, वह यह कि-यह भूत क्या है? यह क्षेत्र क्या है? यह अपरा प्रकृति क्या है? असलमें परमात्मासे अलग ये सब भी कुछ हैं क्या? ये श्रीकृष्णका तत्त्वज्ञान यहाँतक कि उनको जब हम युद्धभूमिमें देखते हुए, युद्धभूमिसे पलायन करते हुए, उनको चोर-चोर लोग पुकार रहे हैं, वह भी देखते हैं-उनको छैल-चिकनिया कह रहे हैं-वह भी देखते हैं। उनको वीर-बहादुर कह रहे हैं, वह भी देखते हैं, उनको छली-कपटी कह रहे हैं, वह भी देखते हैं। श्रीकृष्णके जीवनमें यह निर्द्वन्द्वता कहाँसे आयी? क्योंकि सर्वात्म-बोध जो है, वह उनके अन्दर प्रतिष्ठित है। कोई भी सृष्टि, स्थिति, प्रलय कोई भी गति-अगति ऐसी नहीं है, जो श्रीकृष्णका स्वरूप न हो। 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।' बताते हैं-सब मैं ही हूँ। केवल आत्मा ही हूँ सबके हृदयमें-ऐसा नहीं। बल्कि जो कुछ दिखायी पड़ रहा है, आदि, मध्य, अन्त-ये सब मैं ही हूँ।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 6
(5-11-81)

अर्जुनने प्रश्न किया—

कथं विद्यामहं योगिन्। 10.17

मैं आपकी कैसे जानूँ? भगवान्‌ने उत्तर दिया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10.20

पहले सबसे पास जो मैं हूँ तुम्हारे 'अपना आत्मा' उसके रूपमें मुझे जानो। और—

केषु-केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया। 10.17

उसका उत्तर है—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। 10.20

'आदि मध्य अन्त राम साहिबी तुम्हारी' तुलसीदासजी-ने कहा है। 'कथं विद्यामहम्'का उत्तर है—'अहमात्मा गुडाकेश' और 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योषु भगवन्मया'—इसका उत्तर है—'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'। भगवान्‌की बात कभी टेढ़ी होती है, कभी सीधी होती है। भगवान् खुद भी टेढ़े हैं और सीधे भी हैं। श्रीकृष्ण भगवान् जरा टेढ़े-मेढ़े हैं। पाँव टेढ़ा, कमर टेढ़ी, ठुड्डी टेढ़ी, आँख टेढ़ी। रामचन्द्र भगवान् सीधे-सीधे हैं।

चिन्तन कहाँ करना? भगवान्‌का दर्शन कहाँ करना? कैसे करना? 'कथं विद्यामहं योगिन्'। बोले—'सर्वभूताशयस्थितः'। 'सर्वेषां भूतानां आशयेषु परिवर्तमानेषु स्थितः अचलः आत्मा अहम्'। सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो अन्तःकरण-वृत्ति है, आशय है, चित्तवृत्ति है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। ऐसा किसीका मन नहीं होता, जो बदलता न हो। 'भूताशयेषु परिवर्तमानेषु'। मन बदलता रहता है लेकिन मैं एक ही रहता है। बचपनका मन बदल गया। जवानीका मन बदल गया। बुढ़ापेका मन बदल गया। कितनी स्मृतियाँ आयीं, कितने संस्कार आये। इसमें बहुत बखेड़ा है। भगवान्‌ने तो अपना ऑपरेशन ही कर दिया। आशयको निकालकर फेंक दिया। जैसे आजकल स्त्रियाँ गर्भाशय निकाल देती हैं, वैसे भगवान्‌ने अपने अन्दर आशय रखा ही नहीं—अद्भुत है!

जो लोग भगवान्‌के बारेमें कम सोचते-विचारते हैं—उनको शायद यह बात मालूम नहीं होगी—भगवान्‌को किसीकी स्मृति नहीं होती। स्मृति नामक वस्तु भगवान्‌में है ही नहीं। लोग तो नाराज हो जायेंगे। भगवान्‌को हमारी याद नहीं आयेगी? अरे भाई, याद उसको आती है जिसको वस्तु परोक्ष होती है। कलकी देखी आज याद आयेगी। वहाँ देखी यहाँ याद आयेगी। वह देखी यह याद आयेगी। अब भगवान्‌के लिए तो देश-कालका कोई भेद नहीं है। इसलिए उनको परोक्ष नहीं होता। और परोक्ष नहीं होता तो अपरोक्ष ही रहता है। तुम्हारे लिए जो भूत, वर्तमान और भविष्यका भेद है, वह तो भगवान्‌में है नहीं। जो सब देख रहा है, उसको

स्मरण करनेकी क्या आवश्यकता? इसीसे क्लेश, कर्मविपाक और आशय ये तीनों भगवान्‌में नहीं होते। यह बात योगदर्शनके प्रारम्भमें ही कही हुई है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'। (१.२४)

तो भगवान्‌में तो अपनेमें आशय रखा नहीं और जीवोंके साथ लग गया यह आशय। देखो जो बड़े लोग होते हैं वे अपने पास न नोट रखते हैं, न चाभी रखते हैं। सब मुनीमके पास होता है। भगवान्‌ने अपने खजानेकी चाभी अपने पास नहीं रखी। वह तो महात्माओंको दे दी। जब जरूरत हो तब खोल लेना, देख लेना। रजिस्टर भी महात्माओंके पास ही रहता है। एक चीज अपने पास नहीं रखी। अपने पास पैसा वे लोग रखते हैं जो जहाँ जा रहे हैं वहाँ यदि पैसा मिलनेकी सम्भावना न हो तो लेकर जाते हैं। जिनको सब जगह पलङ्ग मिल जाये, सब जगह बिस्तर मिल जाये, सब जगह खाने-पीनेको मिल जाय, नौकर-चाकर मिल जायें तो साथ क्यों रखें? हवाई जहाजमें जाते हैं तो लेकर थोड़े ही जाते हैं।

परमात्मा तो सब जगह है न! उनको न भूतकी स्मृति रखनी पड़ती है, न भविष्यकी कल्पना रखनी पड़ती है, न वर्तमानमें कोई चीज अपनी करके रखनी पड़ती—वह तो हैं बिलकुल ठन-ठनपाल-खाली। और यह जो जीवोंका आशय है—उसमें जीव पीछेकी लेकर भी आते हैं और आगेकी कल्पना भी रखते हैं और वर्तमानमें भी मैं, मेरा रखते हैं। इसीका नाम होता है आशय। यह बदलता है। कलकी स्मृति सम्भव है पचास वर्ष बाद आवे, और पचास वर्ष पहलेकी स्मृति आज आजावे। स्मृतियाँ बदलती रहती हैं। कल्पनाएँ बदलती रहती हैं। मैं-मेरा बदलते रहते हैं। पर इसमें एक अचल है, कूटस्थ है। उसको बोलते हैं—'प्रत्यगात्मा'।

परमात्माका चिन्तन करना हो तो बदलते हुए देशको देखनेवाला, बदलते हुए कालको देखनेवाला, बदलती हुई वस्तुओंको देखनेवाला, अन्तःकरणकी वृत्तियोंको बदलते हुए देखनेवाला, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिको बदलते हुए देखनेवाला—जो स्थित आत्मा है, शास्त्रकी दृष्टिसे इसका नाम होगा कूटस्थ आत्मा-प्रत्यगात्मा-अपना आत्मा। यह कौन है? भगवान्‌ने कहा—मैं हूँ। यदि तुम्हें मेरा चिन्तन करना हो, मुझे जानना हो, तो अपनेको जानो। यहाँ बड़े-बड़े महात्मा प्रवचन करने आते होंगे—कभी रङ्गनाथानन्द आते होंगे। कभी चिन्मयानन्द आते होंगे। कभी जे. कृष्णमूर्ति भी आते होंगे—नेति-नेति करनेवाले। हम उस ढङ्गका गीताका अर्थ आपको नहीं सुनावेंगे जो आगे कट जायेगा।

इसलिए आओ सर्वभूत, सब प्राणी, सबका अलग-अलग अन्तःकरण—और बदलता हुआ—कभी काम आता है, कभी क्रोध आता है, कभी लोभ आता है, कभी मोह आता है, कभी शान्ति आती है, कभी प्रेम आता है, कभी परोपकारकी वृत्ति आती है। कभी निष्ठुरता आती है, कभी कोमलता आती है। सबके हृदयकी यह स्थिति है। उसमें एक चिर स्थित है, वह रहता ही है। चेतन है कि जड़ है? बोले आत्मा है। आत्मा है माने साक्षी है। द्रष्टा है—सबको देखता रहता है। भगवान् बोले कि वह मैं ही हूँ। 'अहमात्मा गुडाकेश।' एक महात्मासे किसीने पूछा कि परमात्मा कैसा है? महात्माने पूछा—तुम कैसे हो? सो तो नहीं मालूम है महाराज!

अरे भलेमानुष, साढ़े तीन हाथके शरीरमें तुम—अपनेको तो जानते नहीं तो सम्पूर्ण विश्वमें रहनेवाले परमात्माको तुम कैसे जान सकते हो?

कितनी मूर्तियाँ गढ़ी जाती हैं और कितनी तोड़ी जाती हैं। परन्तु वह जो निहाय है वह ज्यों-का-त्यों रहता है। यह हमारे अन्त:करणमें कितने अबतक आये और कितने गये। एक दिन एक चेलेपर गुरुजी नाराज हुए। चेलेको भी जोश आगया। उसने कहा जाओ-जाओ—तुम्हारे जैसे सैकड़ों गुरु बनाकर मैंने छोड़ दिये। इसीको बोलते हैं 'कूट' यह जो हमारी मनोवृत्तियोंकी स्थिति है, यह बदलती रहती है। एक सरीखी नहीं रहती है। जो आज प्यारा है वह कल दुश्मन हो जाता है, जो दुश्मन है वह प्यारा हो जाता है। जो अच्छा लगता है, वह बुरा लगने लगता है। जो बुरा लगता था वह अच्छा लगने लग जाता है। पहले हमको खीर बहुत अच्छी लगती थी। जब बड़ा हुआ तो खीरसे ऐसी ग्लानि हो गयी कि देखकर बमन आवे। हमारे गाँवमें एक हलुवा-पूरी खानेवाले ब्राह्मण थे। बुढ़ापेमें यदि अनजानमें भी घीकी चीज उनकी थालीमें आजाय तो उनको बमन हो जाता था। यह मनोवृत्तियाँ बदलनेवाली हैं। इनमें अचल है अपना 'आत्मा'। यही है ज्यों-का-त्यों।

हमको बचपनमें एक महात्माने बताया था—देखो अनित्यमें परमात्माको जब तुम ढूँढ़ने जाओगे—अनित्य माने जो बदलता रहता है—आज है कल नहीं है। कल था आज नहीं है। वह तो बदल गया। उसमें परमात्माको मत ढूँढ़ो। परमात्माको उसमें ढूँढ़ो जो नित्य है। इदम्-इदम्-इदम्—'यह यह यह'—इस प्रकार बदलता रहता है और मैं बिलकुल एक रहता है। परमात्माको ढूँढ़ना हो तो 'यह'में मत ढूँढ़ो 'मैं'में ढूँढ़ो। नहीं तो, अयोध्यामें जाओगे तो वृन्दावनीको बदल देंगे। और वृन्दावनमें जाओगे तो अवधूको बदल देंगे। काशीमें जाओगे तो अवध, वृन्दावनको बदल देंगे। ऐसी नहीं बनेगा। जो एक 'मैं' है वहाँ परमात्माको ढूँढ़ो। वह वहाँ मिलेगा।

अनित्यमें परमात्माको मत ढूँढ़ो। अनित्यको कर दो बाहर। नित्य है अपना आत्मा। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:। अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप०)। श्रुति कहती है—यह आत्मा ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृहदा. 1.4.10) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत. उप. 3.4) श्रीकृष्ण बोलते हैं—'अहमात्मा' और वसिष्ठजी बोलते हैं—'तत्त्वमसि'। वसिष्ठजी जब रामचन्द्रको उपदेश देते हैं तब कहते हैं—'तत्त्वमसि' राम, तुम्हीं ब्रह्म हो। और श्रीकृष्ण जब अर्जुनसे बोलते हैं तो—मैं ही ब्रह्म हूँ।' दोनोंका अर्थ एक ही है। दोनों परमात्माकी दृष्टिसे ही अपनेको ब्रह्म कहते हैं, परमात्माको ढूँढ़ना कहाँ? 'अयमात्मा ब्रह्म'। अब दूसरी बात बोलते हैं—'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया' (10.17)। यह कोई कहानी, उपन्यास नहीं है।

सभी प्रामाणिक आचार्योंने गीताको प्रमाण माना है। शांकर-भाष्य है गीतापर, रामानुजका श्रीभाष्य है गीतापर, निम्बार्काचार्यजी तभा बल्लभाचार्यजीकी टीका भी है। मध्वाचार्यका आनन्द भाष्य है। गीतापर सभी आचार्य शैव-शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव—सभी गीताका आदर करते हैं। गीताको कहानीकी तरह नहीं—मन एकाग्र करके थोड़ी गम्भीरतासे इसका श्रवण करना चाहिए। दुर्गापाठ है; वह केवल पाठ करनेके लिए है, श्रवणके लिए नहीं। और उपनिषदें श्रवण करनेके लिए हैं, पाठ करनेके लिए नहीं हैं और यह गीता जो है—यह

श्रवण करनेके लिए भी है और पाठ करनेके लिए भी है। पाठ करनेसे पुण्य होता है और श्रवण करनसे ज्ञान होता है। कान ज्ञानेन्द्रिय है और जीभ कर्मेन्द्रिय है। जिह्वासे कर्म होता है और कानसे ज्ञान होता है। गीता ज्ञान और कर्म दोनोंको मिलाकर कल्याण करनेवाली है। अद्भुत लीला है भगवान्‌की—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतय:। 10.18

आप देखें—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। 10.20

ये जितने भूत हैं, माने जो कुछ पैदा हुआ है, 'भवन्ति इति भूतानि' जो हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे—उनका नाम है भूत। जो पहले हुए और गिर गये—अब हो रहे हैं और मिटते जा रहे हैं और आगे होंगे और मिट जायँगे, उनका नाम है—'भवन्ति इति भूतानि'। केवल 'भवन्ति' कह देनेसे काम नहीं चलता है, उसको सोचना पड़ता है। 'अस्ति' और 'भवति' में क्या अन्तर है? यद्यपि धातुका अर्थ एक ही है और फिर 'अस्ति' और 'भवति'में अन्तर होता है। यह कहते हैं कि जो कुछ हु आ है, और होगा—उसका आदि मैं—मध्य मैं—अन्त मैं, मानो सभी पदार्थोंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, हमारा चिन्तन करो—

केष केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया। 10.17

किस-किस पदार्थमें आपका चिन्तन करें तो सभी पदार्थोंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें मेरा चिन्तन करो। ये भगवान् बताते हैं। अब एक ऐसी बात है कि भूतोंका तो आदि, मध्य, अन्त है परन्तु जो भगवान् बता रहे हैं कि 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामहमेव च', उस 'अहम्'का आदि, मध्य, अन्त है कि नहीं। बस, यहाँ विवेककी आवश्यकता होगी।

गीता सब लोग पढ़ेंगे पर इस बातपर ध्यान नहीं जायेगा। वह कहते हैं कि भूतोंका आदि; मध्य, अन्त तो होता है, पर आदि, मध्य, अन्त मैं हूँ। मेरा आदि, मध्य, अन्त नहीं है। यह उसमें-से ध्वनि निकलती है कि भगवान्‌की न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। और सबके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, भगवान् ही हैं। हम घरसे निकलें तो भगवान्‌का स्मरण करके निकलें और बीचमें कहीं बैठें तो भगवान्‌का स्मरण कर लिया और फिर लौटकर जब घरमें आये तब भी भगवान्‌का स्मरण किया। आदि, मध्य, अन्तमें सर्वदा भगवान् हैं।

मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते। महाभाष्य 1.1.1

आदि, मध्य, अन्त सबमें भगवान् हैं। अब आपको थोड़ी-सी वेदान्तकी बात सुनाते हैं। जो अपनी आदिके पहले नहीं था और जो अपने अन्तके बादमें नहीं होगा उसकी स्थिति क्या है? अनन्तमें वह क्या चीज है? लोग पूछेंगे, यह सब सुननेसे क्या फायदा है? फायदा यह है कि आप कहीं बँधोगे नहीं। आदि, मध्य, अन्तवाले पदार्थोंमें आप फँस जाते हो, आसक्ति हो जाती है; पाशबद्ध हो जाते हैं, फँस जाना माने पाशबद्ध हो जाना। यह जो जीवनमें फँसावट है, यदि संसारके रहस्यको केवल एक बार—बार-बार विचार करनेकी जरूरत नहीं है—एक बार संसारको समझ लो तो कहीं भी फँसावट नहीं रहेगी। बिल्कुल निर्द्वन्द्व

व्यवहार करो। यह चीज छूट गयी। उसके लिए कभी रोना नहीं पड़ेगा। छूटनेवाली चीजके लिए रोना नहीं पड़ेगा—आनेवाली चीजके लिए ललकना नहीं पड़ेगा। व्याकुल न हीं होना पड़ेगा और वर्तमान वस्तुसे मोह नहीं होगा।

आओ सुनो आदि, मध्य, अन्तमें कौन है? अब सृष्टिका विचार हुआ तब कहा गया 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (माण्डूक्यकारिका 2.6)। जो आदि, मध्य, अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी नहीं है। एक कहानी वेदान्ती लोग कहते हैं—एक कुम्हार गधा लेकर माटी लानेको जाता था। रोज-रोज जाता। दोपहरको गधोंको बाँध दिया करता था और खुद माटी खोदता था—खाता था, पीता था—लौटते समय गधोंपर लादकर ले आता था। बीचमें गधोंको बाँध देता था और चलते समय गधोंको खोल देता था। अब बन्धनके पहले गधे खुले होते थे। और अन्तमें भी खुले होते थे। बन्धन तो बीचमें आता था। भाग न जायँ इसके लिए बाँध दिया और माटी लेकर घर चलना है, इसके लिए खोल दिया। एक दिन एक रस्सी कम होगयी। एक गधा खुला रह गया। अब वह कान पकड़कर विचारा खड़ा, क्योंकि गधेके बारेमें आपको मालूम होगा कि वह एक बार जब घास चरने जंगलमें जाता है तो लौटकर स्वयं अपने मालिकके घरमें नहीं आता। उसको लाना ही पड़ता है—डण्डा मारकर, कान पकड़कर लाना पड़ता है, खदेड़कर लाना पड़ता है तब वह आता है।

एक गधेकी रस्सी नहीं—कैसे बाँधे? फिक्रमें पड़ा था; इतनेमें कोई सज्जन आगये। उन्होंने कहा भाई उसे जहाँ रोज बाँधते हो वहाँ ले जाकर झूठ-मूठ हाथसे बाँध दे। बाँध दिया, गधा खड़ा हो गया। उसको तो यह लगा कि हम बँध गये। उसने खाया, पीया—मिट्टी लाद दी—चलनेके लिए और सब गधोंको खोल दिया—उसकी नहीं खोली। उसको डण्डा मारे कि चल, तो चले नहीं। वहीं-का-वहीं बँधा समझे। फिर वह सज्जन मिले। उन्होंने कहा—जैसे झूठमूठ बाँधा है, वैसे झूठमूठ खोल दे। जाकर हाथ अपना घुमाया और खोल दिया। फिर चलने लगा। देखो बन्धन उसके पाँवमें पहले भी नहीं था और बीचमें भी नहीं था और बादमें भी नहीं था, लेकिन गधेके मनमें जो भ्रम हो गया कि मैं बँधा हुआ हूँ—उसीसे वह बन्धनमें है।

यह जो सृष्टिका, संसारका बन्धन है यह बन्धनकी उत्पत्तिके पहले नहीं था और बन्धनके बाद नहीं है। यह तो बीचमें है। अब हम अपने लोगोंको क्या बोलें? ईश्वरके घरसे आये, ईश्वरके भेजे हुए आये और लौटनेकी तो सुध है नहीं। आप लोग दृष्टान्तको अपने ऊपर मत घटावें। लेकिन ऐसा लगता है कि जबतक कान पकड़कर कोई ले न जाय, जबतक कोई डण्डा न मारे, जबतक कोई खदेड़े नहीं, इस जंगलमें भटकते रहते हैं। दुनियाँमें जब कोई खदेड़ता है, डण्डा मारता है, कान पकड़कर ले जाता है, सभी लोग ईश्वरकी ओर चलना चाहते हैं। यह जो सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त है, यह कहाँ है? अद्भुत है। कोई सातवें आसमानमें कोई रस्सी होगी और उससे हम लोग बँधे होंगे! अच्छा; रस्सी सातवें आसमानमें नहीं होगी तो नीचे कहीं होगी? अगाड़ी-पिछाड़ी कुछ लगी होगी।

हम एकबार स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी महाराजके यहाँ गये—उत्तरकाशीमें—एक महीना रहे—जब मैंने कहा

कि अब लौट जानेका मन है तो बोले—क्यों लौटते हो? स्वामी तपोवनजीने कहा—तुम क्यों लौटकर जाते हो? अब यहीं रहो। वे लोग माण्डूक्यका प्रवचन सुनते थे। स्वामी तपोवनजी, ब्रह्मप्रकाशजी, देवीगिरीजी सबलोग इकट्ठे होते थे। वे बोले—देखो भाई, पीछे कुछ छोड़कर आये हो, तब तो लौटना ही पड़ेगा; क्योंकि घोड़ेको बाँधते हैं तो एक रस्सी आगे लगती है और एक उसके पिछले पाँवमें बँधी रहती है। तो अगलीको तोड़ भी दे लेकिन पिछलीको नहीं तोड़ पाता है। यदि तुम्हारी पिछाड़ी लगी हुई हो तब तो लौट जाओ और नहीं तो यहाँसे जानेका क्या काम है? देखो, आनन्दसे सत्संग करते हैं!

हम जो बँधे हैं—कहाँ बँधे हुए हैं? ऊपरसे कि नीचेसे—रस्सी तो कहीं दिखती नहीं—अगलसे, बगलसे-इस सृष्टिमें जो बन्धन है वह कहाँसे हैं? ये केवल मानसिक बन्धन हैं। नहीं तो हिन्दूको कब किसने कहा था कि तुम मनुष्य नहीं हो, मुसलमानको कब किसने कहा था कि तुम मनुष्य नहीं हो। मनुष्य रहते हुए ही वह अपनी मनुष्यताको भूलकर हिन्दू, मुसलमान बन गया। मनुष्यता रहते हुए ही शैव और शाक्त बन गया। मनुष्यता रहते हुए ही शिया, सुन्नी बन गया। और मनुष्यता रहते हुए ही कैथोलिक और प्रोस्टेटंट बन गया। किसने मनुष्यको यह सब बनाया था?

यही भ्रम उत्पन्न हो गया—कैसे ? जैसे गधेको बन्धनका भ्रम पैदा होता है, वैसा ही यह बन्धन है। हम ब्राह्मण और तू अन्त्यज, दोनों मनुष्य हैं। मनुष्यताके रहते ही एकमें अन्त्यजपनेका बन्धन हो गया। एकमें ब्राह्मणपनेका बन्धन हो गया। मनुष्यता कहाँ चली गयी? एक ब्राह्मणको मनुष्य होनेके लिए क्या करना पड़ेगा? कौन-सा साधन? छूने-न-छूनेकी बात जुदा है—जब मासिक धर्म होता था तब अपनी माँको नहीं छूते थे। अपनी बहनको, अपनी पत्नीको, नहीं छूते थे। तो क्या हम उससे घृणा करते थे? घृणा नहीं करते थे। जैसे गधेका बन्धन पहले नहीं था बादमें झूठमूठ उसके मनमें बैठा दिया गया। और जैसे बन्धन नहीं था, खोल दिया गया। इसी प्रकार हम लोगोंने अपने मनमें, सुनके-सुनाके, बोलके अपने जीवनमें बन्धन समेटकर रख लिया है।

देखो सृष्टिके आदि, मध्य, अन्तमें कौन है? एक आठ वर्षका बालक अध्यात्म-रामायण सुननेके लिए रोज आता था। पूरा अध्यात्म-रामायण सुनाया और वह आकर पूरे समय बैठता था। एक दिन उसने पूछा—स्वामीजी, आप बीचमें बोलते थे तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान—यह सब क्या होता है? आठ वर्षकी उम्र है। मैंने कहा—देख घड़ेमें जो माटी रहती है न, उसको तत्त्व बोलते हैं, माटी तत्त्व है और उसमें घड़ा गढ़ा हुआ है। समझ गये? हाँ समझ गया। अच्छा घड़ा जिसमें गढ़ा हुआ है उसका नाम माटी है और माटी जिसमें गढ़ी हुई है, उसका नाम ब्रह्म है, समझ गये? बोला—हाँ, समझ गया। माटीको समझना तत्त्वज्ञान है और माटी जिसमें गढ़ी हुई है, उसको समझना ब्रह्मज्ञान है। संतोष हो गया उसको। ये जो आदि, मध्य, अन्त दिखायी पड़ता है, यह किसमें गढ़ा हुआ है? यह मत समझना कि यह बन्धन पूरबसे आता है। हम अपनी शक्तिको समझते नहीं। यह जो सपना आता है, भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके दिया यह। इससे हम अपनी मानसिक शक्तिको समझ पाते हैं। जहाँ रथ नहीं है वहाँ रथ, जहाँ पथ नहीं है वहाँ पथ—जहाँ अथ-इति नहीं है वहाँ अथ-इति—किसने बनाया रथ, पथ?

एक दिन मैंने स्वप्नमें देखा था कि कल्याण-सम्पादनका जो विभाग है, वहाँ लक्ष्मणनारायण गर्दे, नन्ददुलारे वाजपेयी, माधवजी, देवधरजी ये सब इटलीका युद्ध देखने गये। वहाँ जाकर हमको नीचे उतारकर छोड़ दिया और स्वयं हवाई जहाज लेकर उड़ गये। हम पुकारें कि अरे बाबा! हमको भी ले चलो—हमको भी ले चलो! ये लोग कोई सुने नहीं। लेकिन इतनेमें सपना टूट गया तो न हवाई जहाज, न देवधरजी, न माधवजी, कोई नहीं। मैंने पूछा क्यों माधवजी, रातमें तुमने हमसे ऐसा व्यवहार क्यों किया? बोले—हमको तो मालूम नहीं है। आप लोगोंको तो ऐसा नहीं करना चाहिए था। बोले—बाबा, न तो हम इटली गये, न हवाई जहाज न हम, न तुम! देखो, वह निर्माण किसने किया था? और जिस समय निर्माण हुआ था, बिलकुल सच्चा। उस समय झूठा नहीं मालूम पड़ता था। यह है हमारे मनकी शक्ति। विश्वामित्रने जो नयी सृष्टि बनायी थी, वह शक्ति विश्वामित्रको कहाँसे मिली थी? सारे संसारको संहार करनेकी शक्ति—हमारी सुषुप्ति, हम सब समेटकर सो जाते हैं।

हम दूसरी बात कह रहे थे। भूत, भविष्य बनानेवाला कौन है? आपका जो यही मिनट है—आपका जो यही वर्तमान जीवन है, यह एक ओर भूतको फेंकता जा रहा है और एक ओर भविष्यको बुलाता जा रहा है। भविष्यको भविष्य नाम किसने दिया? आपके वर्त्तमानने। और भूतको भूत नाम किसने दिया? आपके वर्तमानने। जरा वर्तमानका भी पोस्टमार्टम करलो। एक मिनट—आधा भूत, आधा भविष्य। एक सेकेण्डके अरबों हिस्से कर दो और उसमें आधा बादमें और आधा पीछे—बीचमें कौन है? अरे बाबा, भूत और भविष्यका जो विभाजक है, वह तुम हो।

तुम भूत बनाकर चलते हो और भविष्यकी सृष्टि करते चलते हो और भ्रमसे जो कभी दिखा नहीं, जो कभी पकड़में आया नहीं, उसको वर्तमान बोलते हो। एक महात्मा थे, वे कहते थे—जिसको कभी कोई छोड़ नहीं सका उसका नाम है 'परमात्मा' और जिसको कभी कोई पकड़ नहीं सका, उसका नाम है 'संसार' सीधी-सीधी बात है न! आजतक कोई इस संसारको पकड़ नहीं ले गया और कोई नहीं छोड़ सका, अपनी आत्माको। आप अपनी शक्तिपर विचार करें। यह पूरब-पश्चिम किसने बनाया है? ईश्वरने? ये ऊपर, नीचे, सामने, पीछे, दाहिने, बाँये किसने बनाया? ऐसे लगता है कि ईश्वरने पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण हमारे साथ कर दिया है।

देखो, हम यहाँ बैठे हैं तो आपलोग किस तरफ हैं? और वहाँ बैठ जायें तो? आप किस तरफ होंगे? ये बिन्नाणीजी और संगीताचार्य गङ्गादासजी बैठे हैं। अभी तो हमसे पूरब हैं और देवधरजी पश्चिम हैं लेकिन हम इनके पूरब जाकर बैठ जायँ तो ये हमसे पश्चिम हो जायेंगे। कौन पूरब-पश्चिम वनाता है? ईश्वर नहीं बनाता है। आपका मैं जहाँ रहता है, वहाँसे पश्चिम शुरू होकर-इधरको आता है। पूरव-पश्चिमका आदि-अन्त देखो। हमारे पास आकर पश्चिमका अन्त हो जाता है। नया-नया पूरब, नया-नया पश्चिम, नया-नया ऊपर, नया-नया नीचे हम बनाते चलते हैं। लेकिन इस आत्मशक्तिका बोध कहाँ है?

हमको दूसरी बात कहनी है। ये जो दुनिया दीख रही है, ये पेड़, ये पौधे, ये चिड़ियाँ, ये स्त्रियाँ, ये पुरुष,

ये पोथियाँ, ये रेकार्डर, ये सब किसने बनाये? हमारे ज्ञानने बनाया है। जब हम सो जाते हैं तो ये सब कहाँ जाते हैं? जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसमें जिसकी स्थिति होती है और जिसमें जो लीन हो जाता है, उस उत्पत्ति, स्थितिके आधारसे, अधिकरणसे, अधिष्ठानसे उत्पन्न होनेवाला, स्थित होनेवाला, अलग होना ही नहीं है। हे भगवान्! सृष्टिका निर्माता कहाँ रहता है? बच्चेसे पूछते हैं। सृष्टि बनानेवाला कहाँ रहता है? अङ्गुली दिखा देगा आसमानमें। ठीक है, वह बच्चा है। धरती कहाँ टिकी है? बैलके सींगपर। आपलोगोंने सुना है कि नहीं? नहीं; आठ हाथी आठों तरफ रहते हैं और वे अपनी सूँड़पर धरतीको उठाये हैं। पर असली बात यह है कि धरतीको उठाये हुए है आपका मन—आपके मनके भीतर रहनेवाला परमात्मा। इसको आत्मा कहो, परमात्मा कहो। यदि यह नहीं, तो लय नहीं होता। जब हमारा भान रहता है तब सब मालूम पड़ता है। जब हमारा भान शान्त हो जाता है—भान माने मालूम पड़ना-प्रतीत होना। जब कुछ नहीं—मूर्च्छामें, सुषुप्तिमें, समाधिमें किसने यह दुनिया देखी है? कहाँ जाती है वह? जह हमारा होश है तब सब है और होश नहीं है तो कुछ नहीं है। होशसे जुदा दुनियाँ कुछ नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जो पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा—मध्यमें भी वह नहीं है, केवल नाम मात्र है, कल्पित नाम है। जिसके पहले माटी—पीछे माटी—मनगढ़न्त घड़ा। भूत माने प्रसिद्ध; जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, और जिससे जिसका भान होना है, वह अहम्—परमात्मा। जो दूसरेके द्वारा प्रकाशित होता है और दूसरेसे उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न हुई परन्तु, वह मालूम पड़नेवाली वस्तु जिससे मालूम पड़ती है, जिससे उत्पन्न होती है, उससे निराली नहीं होती है, न्यारी नहीं होती है, जुदा नहीं होती है वह। वह ब्रह्म है, परमात्मा है। हमारे जाननेमें सब दुनियाँ बची है, हमारे सोनेसे हमारी दुनियाँ बिगड़ जाती है। 'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः बेदा अवेदाः'। (बृहदा 4.3.22)। इसका नाम वेदान्त-दर्शन है। केवल भानसे मालूम पड़ता है और अभानसे लोप हो जाता है और केवल सत्से उत्पन्न होता है और सत्में लीन हो जाता है। सत् और भान दोनों एक हैं; इसलिए परमात्मासे अलग यह सृष्टि नहीं है। सृष्टि परमात्मा-रूप है।

गाँधीजी एक वाक्यका प्रयोग किया करते थे 'सबै भूमि गोपालकी यामे अटक कहाँ? जाके मनमें अटक है सोई अटक रहा'। कौन दुश्मन है? कौन दोस्त है? न दुश्मन है, न दोस्त है। अपने मनके खिलाफ हो तो दुश्मन हो गया और अपने मनके मुताबिक हो तो दोस्त हो गया। मतलब क्या हुआ? दोस्त-दुश्मन किसने बनाया? मनने बनाया। और हम मनके साक्षी, द्रष्टा मनसे परे, मनके भीतर बैठकर मनको देख रहे हैं। मनने देखी मनकी आदि। जब नींद टूटी तो मन आगया सामने। जाग्रत रहा, स्वप्न रहा—मन बना रहा। जाग्रत-स्वप्न गया फिर सुषुप्ति आयी मनकी आदि देखी। मनका मध्य देखा। मनका अन्त देखा। ये कौन है? हमने माँ बनायी, हमने बाप बनाया। हमने भाई बनाया। हमने जाति बनायी। हमने मजहब बनाया। हमने राष्ट्र बनाया। अपने-परायेका भेद किया और अपने ही बनाये हुए भेदमें ऐसे उलझ गये मानो यही त्रिकालाबाधित सत्य हो। यही परमात्मा हो—कभी न मिटनेवाला।

एक दिल्लीमें सेठ रहते थे। आर्यसमाजी थे। वे मुहूर्त वगैरह नहीं मानते थे। पञ्चाङ्ग, मुहूर्त, ग्रह कुछ नहीं मानते थे। एक बार उनके लड़केकी शादी पड़ी तो उन्होंने स्वयं निश्चय किया कि बारात यहाँसे शामको सात बजे निकलेगी और घण्टेभरमें वहाँ दरवाजेपर पहुँचेगी और फिर साढ़े आठ या नौ बजे तक विवाह सम्पन्न हो जायेगा और फिर खान-पान होगा। अब बरात निकलनेके समय बाजेवाले नहीं आये। देर हो गयी—देर हो गयी तो वे छटपटाये—भीतर जायें, बाहर निकलें और कहें मुहूर्त बिगड़ रहा है। अब सात बजेका मुहूर्त तो उन्होंने ही बनाया था, वह कोई ज्योतिषीने नहीं बनाया था। हमने एक बड़े पण्डितसे पूछा—यह सब भद्रा-वद्रा वहाँ वेदोंमें है? वेदमें तो भद्रा शब्द बड़े अच्छे अर्थमें आता है।

आनोभद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः। ऋग्वेद 1.89.1

भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवाः भद्रं पश्ये माक्षभिर्यजत्रा। ऋग्वेद 1.89.8

तब ज्योतिषमें खराब अर्थमें भद्रा कहाँसे आयी? अब पण्डितजने तो कुछ बताया नहीं और हमको मिला नहीं। बात रह गयी ज्यों-की-त्यों। ये रविवार, सोमवार, मङ्गलवार जो हैं, इनका 2000 वर्षके पहलेसे किसी ग्रन्थमें वर्णन नहीं है। किसने बताया कि रविवार और शुक्रवारको पश्चिम नहीं जाना; सोमवार, शनिवारको पूरब नहीं जाना और मङ्गल, बुधको उत्तर नहीं जाना और गुरुवारको दक्षिण नहीं जाना। अब यह प्राचीन ग्रन्थोंमें तो कहीं मिलता ही नहीं है। किसने बनाया? हमारे बापने बनाया। हमारे दादाने बनाया। लेकिन भाई वह इसलिए नहीं बनाया कि कभी रविवार, शुक्रवारको पश्चिम चले जाओ तो नरक मिले—सोमवार शनिवारको पूरब जाओगे तो नरक मिलेगा? नहीं उसका स्वर्ग-नरकसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक लौकिक मान्यता है। हम बनाते हैं और अपने बनाये हुए जालमें स्वयं उलझ जाते हैं।

यह सारी सृष्टिकी स्थिति यही है। हमने बनायी यह—जातीयता, राष्ट्रीयता और मजहबीपना। यह सब हमने बनाया और हम बनाकर उसमें इतने उलझ गये—देखो आदिमें, मध्यमें, अन्तमें भगवान्‌की यह लीला है। इसका नाम विभूति है। आदिको मत देखो—अहम्‌को देखो—अन्तकी मत देखो, परमात्माको देखो। और महात्मा लोग यह देखते हैं, और देखते हैं इसलिए उनके लिए जीवन-मरण एक हो जाता है। आप तो गणितके बड़े विद्वान् हैं। सूर्यका सम्बन्ध पृथिवीसे क्या है, इसकी गणना करनेके लिए कोई गणित है? ज्योतिषी लोग नाराज न हों। अपने आप बनाते हैं और अपने आप रोते हैं।

आपने सुना होगा एक सज्जनने बाजारमें एक घड़ा तेल खरीदा। और एक कुलीके सिरपर रखवा लिया और तय किया कि एक रुपया मजदूरी देंगे हमारे घर तक पहुँचा दो। जब वह कुली चला—उसने सोचा, एक रुपयेसे मुरगी खरीदेंगे फिर बचे तो बकरी खरीदेंगे। फिर गाय खरीदेंगे। फिर घोड़ा खरीदेंगे। फिर मकान बनवायेंगे। फिर व्याह करेंगे। फिर घरवाली होगी। फिर बच्चे होंगे और मैं दरवाजेपर, पलङ्गपर बैठकर गुड़गुड़ी पीता होऊँगा और बेटा आकर कहेगा कि मुझे भोजनके लिए बुलाया है और मैं कहूँगा उँ! बस घड़ा गिर गया।

अब मालिकने कहा तुमने हमारा एक घड़ा तेल खराब किया!

उसने कहा—बाबू, तुम्हारा एक घड़ा तेल खराब हुआ और हमारे तो बकरी गयी, गाय गयी, घोड़ा गया, घर गया, घरवाली गयी, बच्चा गया, हमारा तो सर्वनाश हो गया।

यह अपने मनसे जो दुनिया बनाते हैं, यदि आप सोचोगे तो मालूम पड़ेगा। हम आप यदि इसपर विचार करेंगे कि क्या-क्या आपने बनाया है, और क्या-क्या आप बिगाड़ कर सो जाते हैं—तो केवल आत्मसत्ताके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।

एक कुम्हार किसी राजाके महलके पास रहता था। दिनभर बिचारा घड़ा बनाता—माटी लाता, उसको तपाता, बाजारमें बेचता, रुपया दो रुपया मजदूरीका मिल जाता, काम चलता था। पर रातको जब सोता तब राजा हो जाता। महलका मालिक, रानी, सेनापति, धन, सम्पदा—रोज-रोज! अब वह जब घड़ा बनावे, माटी खोदे, बजारमें बेचने जावे तो रोता रहे—क्यों रोता रहे—अरे कब नींद आयेगी? हम सो जायेंगे और फिर राजा हो जायेंगे। वह सपनेका राजा उसके लिए इतना प्यारा हो गया, इतना अभ्यस्त हो गया। इतना वह ठीक समझने लगा, उस राज्यको कि उसको जाग्रत-अवस्थाकी कोई वस्तु अच्छी ही न लगे।

हमने यह जो अपना सपना सँजोया है, वह इतना पक्का हो गया है कि अपनी असलियत अच्छी नहीं लगती, अपनी बनावट अच्छी नहीं लगती। भगवान्‌को जाननेका, सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त जाननेका फायदा क्या है? सच यह है कि हम जो अपने ही बनाये हुए कटघरेमें हैं, अपने ही बनाये जेलखानेमें हैं, अपने ही बनाये हुए बन्धनमें बँध गये हैं। इससे मुक्त हो जायेंगे। जीवन्मुक्त हो जायेंगे। जीवन्मुक्त हो जायेंगे और फिर निर्द्वन्द्व होकर जो काम करेंगे निश्चिन्त होकर करेंगे। उसमें न कोई आगेकी चिन्ता है, न पीछेकी चिन्ता है। इस समयको हम अपने-आपसे भर रहे हैं। अपने-आपसे हम सारे समयको भरते चल रहे हैं। हम समयके पराधीन नहीं है। समयको हम जान-बूझकर भर रहे हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 7

(6-11-81)

सारी गीता सुनकर अर्जुनने अन्तमें कहा—'करिष्ये वचनं तव' (18.73) मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। गीताके प्रारम्भमें अर्जुनकी आज्ञाका श्रीकृष्णने पालन किया था! 'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् (1.24)। कृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ जमा दो। पहले भगवान्ने अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया, और अन्तमें अर्जुनने कृष्णकी आज्ञाका पालन किया। 'करिष्ये'—करूँगा, कर्म-प्रेरणा प्राप्त हुई। पर कर्म-प्रेरणाके मूलमें दर्शन है कि नहीं, दृष्टि है कि नहीं? दृष्टिहीन कर्म अन्धा होता है। आँख न हो और आदमी चलता हो तो उसको दृष्टिहीन कर्म कह दिया। बुद्धि न हो, तब भी कर्म करता है तो उसको दृष्टिहीन कर्म कह दिया। गीतामें अर्जुनको कर्म नहीं दिया है, दृष्टि दी है। बिना दृष्टिके जो कर्म होगा वह 'कान्दिशीक'—(संस्कृत भाषामें) कहलाता है—किधर जाना? आँखके बिना अन्धा चले तो कहाँ जावे? कर्म अन्धा है और दृष्टि पङ्गु है। पङ्गु माने लंगड़ी। आँख है लंगड़ी और पाँव है अन्धा।

एक जगह दो भिखारी थे। एक लंगड़ा और एक अन्धा। दोनोंके मनमें यह इच्छा थी कि हम बद्रीनाथकी यात्रा कर आवें। चुप-चुप रहते थे मनमें, एक दिन सलाह कर ली। सलाह कर ली तो दोनोंकी वही वासना थी। अन्धेने कहा क्या करें भाई; हमको दीखता नहीं, नहीं तो हम बद्रीनाथ जाते। लँगड़ेने कहा हमसे चला नहीं जाता—अगर चल सकते तो हम भी बद्रीनाथ जाते। अब दोनोंमें सलाह हुई। अन्धेके कन्धेपर लंगड़ा बैठ गया और वह रास्ता बताता जाय और अन्धा चलता जाय। तो लंगड़ेकी आँख और अन्धेके पाँव। दोनोंमें जब दोस्ती हो गयी तो बद्रीनाथकी यात्रा कर आये।

ये सांख्य-दर्शनके मूलमें ही सूत्र है। 'अन्ध-पङ्गु न्याय' बोलते हैं इसको। यह जो हमारा कर्म है यह अन्धा होता है—यह आगे-पीछेकी कुछ नहीं समझता और हमारी अन्तर्दृष्टि होती है, वह आगे और पीछेका सब समझती है। मनुष्यके अन्दर, जीवके अन्दर शक्ति तो है परन्तु अन्तर्दृष्टि जो है वह शुद्ध नहीं है। शुद्ध नहीं है माने कभी घबड़ा जाता है—घाटा निकला सेठजीको—हमलोग तो सेठोंकी ही बात करते हैं—घाटा आया घबड़ा गये—तबीयत खराब हुई। डॉक्टरने आकर 2-4 सुई लगादी। पर वह जो घाटेवाला दुःख है, वह सुई लगानेसे तो नहीं मिटता है। घबड़ाहटमें भी काम नहीं करना चाहिए और लोभमें आकर भी काम नहीं करना चाहिए। लोभमें आदमी गलत कदम उठाता है और घबड़ाहटमें, उद्वेगमें भी गलत कदम उठाता है। दृष्टि बनी रहनी चाहिए। और अपनी दृष्टिमें जब वासना मिल जाती है तब वह गन्दी हो जाती है और जब हमारी दृष्टिमें वासनाका मेल नहीं होता है तब स्वयं भगवान् बोलते हैं।

अद्भुत लीला है—आप देखें दोनों ओरसे भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' तब यह जगत् क्या है? यह संसार क्या है? यह प्रश्न हुआ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

ये जो संसारके पदार्थ, प्राणी दीख रहे हैं, इनका आदि, मध्य, अन्त नहीं है। इसका अर्थ है कि जगत्के रूपमें भी मैं ही हूँ और आत्माके रूपमें भी मैं हूँ। तब? जहाँ जाओ वहाँ परमात्मा, जहाँ रहो वहाँ परमात्मा। जहाँ पहुँचो वहाँ परमात्मा। फिर तो फिक्र करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। बेफिक्र अपने कर्तव्यका पालन करते रहो। अब दृष्टि यहाँ क्या है? दृष्टि है—आत्मा ही परमात्मा है। यह तो देहके बन्धनमें, वासनाओंके बन्धनमें आजानेके कारण हम ठीक-ठीक नहीं देख पाते हैं।

एक बार महात्माओंकी पञ्चायत जुड़ी। 8-10 अच्छे-अच्छे महात्मा गङ्गा किनारे बैठ गये। श्रीउड़ियाबाबाने 12 घंटेका आसन जमाया। चर्चा हो रही थी कि हम यह कैसे समझें कि हमारे मनमें जो यह बात आयी है वह ईश्वर-प्रेरणा है या हमारी वासना है। आप समझ सकते हैं। यदि शत्रुको नीचा दिखानेके लिए आपके भीतर कोई प्रेरणा आती है तो उसमें वासना है और अपने सगे-सम्बन्धियोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कोई प्रेरणा आती है तो उसमें भी वासना है। जब कभी हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है—ऐसे क्षण जीवनमें कभी-कभी आते हैं—जब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, जब चञ्चलताएँ मिट जाती हैं, जब भीतरका प्रकाश निर्बाधरूपसे अपने जीवनमें प्रकट होने लगता है—उस समय ईश्वरकी वाणी सुनायी पड़ती है। उस समय ईश्वरकी प्रेरणाका अनुभव होता है।

उसी समय 'इलहाम' अन्तः-प्रतिभा जाग्रत होती है—इसके लिए थोड़ी देर शान्त रहकर विचार करना आवश्यक है। पाँच मिनट ही सही। एक बार सब सम्बन्धोंसे, सब वासनाओंसे, मुक्त होकर, सब विक्षेपोंसे मुक्त होकर, थोड़ी देरके लिए बैठ जाना चाहिए। और देखो ईश्वर क्या बोलता है? 'हमको क्या तू ढूँढ़ें बन्दे हम तो तेरे पास हैं।' ऊपर जानेसे ईश्वर मिलेगा? नहीं, ऊपरका कभी अन्त नहीं होगा। पश्चिम-पूरब जानेसे ईश्वर नहीं मिलेगा। पूरब-पश्चिमका कभी अन्त ही नहीं मिलेगा। यदि संसारका अन्त कहीं मिलेगा तो अपने आपमें मिलेगा। द्रष्टामें संसारका अन्त मिलेगा। कितनी बड़ी प्रेरणा है अपने जीवनके लिए कि हमें ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए, उसकी शक्ति लेनेके लिए—कहीं जानेकी जरूरत नहीं है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। 18.81

हृदयमें ईश्वर रहता है। अब यह हुआ कि दुनियामें कुछ ऐसा है, कुछ वैसा है तो इसमें हम भटक जाते हैं। तो दूसरी बात भगवान्ने यह बतायी कि संसारके रूपमें भी, जगत्के रूपमें भी, मैं ही हूँ। यह तो हमलोग छोटी-छोटी चीजोंको देखते हैं। एक उच्चकोटिके वेदान्तका ग्रन्थ है—'खण्डन-खण्ड-खाद्य।' हमारे पितामह जब वेदान्त-ग्रन्थोंका नाम लिया करते तब 'अद्वैत सिद्धि', 'चित्त सुखी', 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' और सिद्धान्तलेश' इन चार ग्रन्थोंका नाम एकसाथ लेते थे। वे बड़े गम्भीर ग्रन्थ हैं संस्कृत-साहित्यके। अब तो इनको पूरी तरहसे पढ़ने-पढ़ानेवाले भी कम होंगे। 'खण्डन-खण्ड-खाद्य'में एक प्रश्नोत्तर है। मैं जरा सरल

करके बोलता हूँ। इसकी भाषा तो कठिन है। एक जिज्ञासु आया। उसने सन्तसे प्रश्न किया—महाराज, यह सृष्टि कैसे हुई? जिनको अवकाश होता है और जिज्ञासा होती है और सत्सङ्गमें रुचि होती है, वे जानना चाहते हैं कि यह सृष्टि कैसे हुई?

महात्माजी बोले—भाई मेरे, हम तो स्वप्रकाश, चिदात्मा परब्रह्ममें बड़े आनन्दसे रह रहे हैं। हम मौजमें रह रहे हैं। हमको सृष्टि कैसे हुई, इस उधेड़-बुनमें पड़नेकी क्या जरूरत? अपने तो मस्तराम हैं—सृष्टि चाहे कैसे भी हुई हो! हम तो बड़े आनन्दमें हैं। कुछ पूछने-बतानेकी जरूरत नहीं।

नहीं महाराज, हमारी बड़ी जिज्ञासा है। आपको तो बतानेकी जरूरत नहीं पर आप हमपर कृपा करके बता दीजिये। हमें जरूरत है।

बोले—अच्छा तुमको कैसा लगता है?

बोले—हमको तो ऐसे लगता है कि सृष्टि हमेशासे ऐसी ही है।

भलेमानुष, सृष्टि रोज तो बदल रही है, हमेशासे ऐसी ही है—ऐसा कैसे मानते हो?

बोले महाराज, परमाणुओंसे जुड़कर बनी होगी?

बोले—परमाणु जुड़ेंगे कैसे ? वे तो निवयव होते हैं। उनके अङ्ग नहीं होते तो वे जुड़ेंगे कैसे ?

अच्छा महाराज, चित्तसे सृष्टि हुई होगी?

चित्तकी सृष्टि तो टिकाऊ नहीं होती। स्वप्नमें सृष्टि होती है, टूट जाती है।

अच्छा, तो शून्यसे सृष्टि हुई होगी?

अच्छाजी, प्रकृतिसे सृष्टि हुई होगी तो प्रकृति नित्य और बदलनेवाली भी हो, यह कैसे हो सकता है?

अच्छा, तो ईश्वरसे सृष्टि हुई होगी? ईश्वरको क्या पड़ी है कि वह सृष्टि करने आगया।

अब वह जिज्ञासु जितने सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रकार बतावे, वह महात्मा उसका खण्डन करते जावें। यह सृष्टि क्या है? बोले जो मैं हूँ सो ही सृष्टि है। देखो!

अहमात्मागुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

और,

अहमादिश्चमध्यं च भूतानामन्त एव च।

भगवान्‌ने कहा कि जो मैं हूँ सो तुम हो। और जो मैं हूँ सो सृष्टि है यह तो अद्भुत बात हो गयी। एकबार मैं अपने मित्रके घर ठहरा हुआ था। वे अफसर थे। दस बजे वे जब जाने लगे, उस समय एक बड़े अच्छे महात्मा ही थे बातचीतके प्रसङ्गमें उन्होने कहा कि तुम्हारी बुद्धि चञ्चल है। और उसके बाद 10 बजे वे किवाड़ बन्द करके मैं तो भीतर और वे कचहरी करने चले गये। जब कचहरी करके 4-4।। बजे लौटे, मैं वहींपर बैठा था। और तबतक मैंने यही विचार किया कि चञ्चलता क्या होती है? 6 घण्टेके भीतर यही विचार किया और आनेपर उनको सुनाया। सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

जो कुछ हमको सृष्टिमें दिखता है और जो मैं देखनेवाला हूँ—देखनेवाला 'मैं' होता है और

दीखनेवाला 'यह' होता है। और यहमें जो पास होना है उसको 'यह' बोलते हैं और जो दूर होता है उसको 'वह' बोलते हैं। हमारे लिए तुम 'तुम' हो मैं 'मैं' हूँ। परन्तु तुम्हारे लिए तुम 'मैं' हो और मैं 'तुम' हूँ। यह मैं और तुम—जिसका नाम 'मैं' है उसका नाम 'तुम' हो जाता है—जिसका नाम 'तुम' है, उसका 'मैं' हो जाता है। असलमें सृष्टि बिलकुल एक है, इसमें स्रष्टा, द्रष्टा और सृष्टि, दृष्टि—सब परमात्माका एक अविचलित स्वरूप है। इस विचारसे क्या हुआ कि हम संसारसे वैराग्य करें? या राग करें? भागवतमें इसकी बहुत विलक्षण व्याख्या है।

अच्छाजी, संसार है विकार और आत्मा है निर्विकार; तो आओ संसारका परित्याग कर दें। भागवतका कहना है कि यह तर्क अशुद्ध है—

नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया, स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्।

10.87.23

जैसे—सोना है। इसका विकार क्या है? कङ्गन है, हार है—ये उसमें आकार बने—चूरा, द्रव—सिल्ली सब आकार हैं। अच्छा जी, सोनेको तो रख लो और इन सबको फेंक दो। वस्तु तो रख लें और उसके विकारको फेंक दें। सोना तो रख लें और जेवर फेंक दें। मिट्टी रख लें और घड़ा फेंक दें? यह सर्वथा अयुक्त है। 'नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया।' सोनेके विकारका कोई भी परित्याग नहीं करता क्योंकि 'तदात्मतया'—जो सोना है वही सोनेसे बना जेवर भी है। जो परमेश्वर है, वही जीव है। और जो परमेश्वर है वही यह सृष्टि है। कोई वस्तु इसमें तिरस्कार कर-कर छोड़ने योग्य नहीं है। 'स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्म-तयावसितम्।'

स्वयं बन गये, स्वयं बना लिया, स्वयं सबके रूपमें हो गये। यह श्रुति है। 'तज्जलानिति शान्त उपासीत'। (छान्दोग्य उप. 3.14.1) यह सृष्टि क्या है? तज्ज, तल्ल, तदन—उसीमें यह पैदा हो रही है, उसीमें यह स्थित हो रही है, उसीमें लीन हो रही है। अपने हृदयको रोग-द्वेष रहित जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख अनुभव करनेके लिए इससे और कोई बढ़िया चीज नहीं होती है। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम—जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। यही परमेश्वरका निरन्तर दर्शन है। ऋग्वेदके ऋषिने गाया—'अयं मे हस्तो भगवान्'। (10.60.12) अद्भुत मन्त्र है। ये मेरा हाथ ईश्वर है। यह मेरा हाथ ईश्वरसे भी बड़ा है। 'अयं मे भगवत्तरः'। (10.60.12)

मैं जिसको छू दूँ उस मुर्देमें भी जान आजाय, ऐसा है यह मेरा हाथ क्योंकि इसमें-से ईश्वरकी शक्तिकी धारा प्रवाहित होती रहती है। जो जाग्रत कर लेते हैं—वे किसीके सिरपर हाथ रखकर भी शक्ति सञ्चार कर देते हैं। छूकर भी शक्ति सञ्चार कर सकते हैं। किसी-किसीके छूनेसे करेन्ट लगता है। अभी तो वैज्ञानिक लोगोंने भी यह अनुसन्धान किया है—वे ऐसा यन्त्र बनावेंगे कि शरीरसे जो उष्मा, गरमी निकलती है, उससे बैटरी चालू हो जावेगी तो वे उड़ सकेंगे। हमारे शरीरमें ही ऐसी गरमी है कि उस बैटरीके साथ सम्बन्ध जोड़कर एक व्यक्ति उड़ सकता है; जब उस शक्तिका सञ्चार हो जायेगा।

सारी शक्तियोंका केन्द्र—यह जो हाथ उठा लेता है और गिरा देता है, जो पाँव उठा लेता है और गिरा देता है, इन सब शक्तियोंका केन्द्र तो इस शरीरमें ही है न! और इसका जहाँ प्रेरक उपादान होकर सबका निर्माण करता है। उपादान समझो घड़ेके लिए मिट्टी। उपादान उसको बोलते हैं जो कार्यमें अनुगत होता है, जैसे मिट्टी घड़ेमें आयी—डण्डा तो नहीं आया, चाक तो नहीं आयी, कुम्हार तो नहीं आया तो वे सब निमित्त कारण होते हैं और उपादान कारण होता है वह, जो अपने कार्यमें भीतर रहता है।

ईश्वर जगत्‌का कुम्हार जैसा कारण नहीं है—माटी जैसा कारण है और माटी जैसा कारण होनेपर भी वह चेतन है। चेतनरूपसे तो वह द्रष्टा रहता है, आत्मा रहता है और उपादानरूपसे वह सारा संसार बन जाता है। अद्भुत है—माने ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब अर्जुनके लिए यह युद्ध भी भगवद्रूप ही है। इसमें भी धर्मका अनुगमन है। जो प्रेरक परमात्मा है, जो उपादान परमात्मा है, वह युद्धमें भी आया, वह कर्ममें भी आया। और तुम क्रिया को, मनको देखो, छोटी-मोटी चीजोंको मत देखो। यह मत देखो कि भीष्म ऐसे हैं और द्रोण ऐसे हैं और जयद्रथ और कर्ण और दुर्योधन ऐसे हैं—यह मत देखो। तुम यह देखो कि सबके भीतर एक परमात्मा है।

हत भी मैं ही और हन्ता भी मैं ही। तुम मुझपर दृष्टि रखकर अपना काम करो। वह दृष्टि दे दो जो सर्वात्म-भावसे युक्त होती है। जिनको यह सर्वात्म-भावकी दृष्टि नहीं प्राप्त होती है उनको कोई काम करनेसे ग्लानि हो जाती है, और कोई काम करनेसे अभिमान हो जाता है। देखो, हमारे महात्मा लोगोंने ऐसा कहा कि अपने मनसे अच्छा-से-अच्छा काम करोगे तो अभिमान होगा कि मैंने कितना बढ़िया काम किया है। और दूसरेकी आज्ञासे अगर कभी गलत भी काम हो जायेगा तो अपने मनमें उसकी ग्लानि नहीं होगी। यह होगा कि यह तो आज्ञासे हुआ है, अनुज्ञासे हुआ है। अच्छे कामका अभिमान अपनेमें नहीं आवे और बुरा कामकी ग्लानि नहीं आवे इसलिए 'करिष्ये वचनं तव'—अन्तमें अर्जुनको यह बोध प्राप्त हुआ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।

अब देखो, इसीमें यह प्रेरणा भरी हुई है कि आप जो अपना काम करते हैं, उसको कीजिये। वह कैसे ?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव।। 18.46

ये सबलोग चलते-फिरते कैसे हैं? अभी आत्मरस तो बना नहीं—आत्मबटी भी नहीं बनी—कलेजा, किडनी बदल देते हैं। अङ्ग-अङ्ग ब दल देते हैं। वह सब ठीक है, लेकिन कोई चैतन्यवटी बनाकर उसे मुर्देमें डाल दिया करे। अभी तो ऐसा कोई तत्त्व प्रकट हुआ नहीं है, जिसमें चैतन्यरस, चैतन्यवटी बन सके। उसका आविष्कार नहीं हुआ है। तो ये सब चलते-फिरते कैसे हैं? हमारी जो धड़कन है, यह पिताजीके वीर्यमें भी चल रही थी, माताके पेटमें भी चल रही थी और मरणपर्यन्त—अन्तिम क्षणतक चलती है—यह अपना काम करती है। धड़कन अपना काम बन्द नहीं करती। ये बाबाजी लोग कहीं-कहीं नुमाइश करते हैं—कि हम अपनी

धड़कन बन्द कर लेते हैं, यह एक मिथ्या अपचार है। इसमें कुछ सच्चाई नहीं है। हाँ, उसको हम ग्रहण नहीं कर पाते हैं। यह बात दूसरी है, लेकिन वह बन्द नहीं होती है।

वह तो प्राणन शक्ति है शरीरमें—शरीरमें एक धारणी शक्ति होती है पृथिवीकी और आप्यायनी शक्ति होती है जलकी। और प्रकाशिनी शक्ति होती है तेजकी—तेजस्विनी और चालिनी शक्ति होती है वायुकी और आधार-शक्ति होती है आकाशकी और वह सबके शरीरमें एक सरीखी रहती है, परन्तु चैतन्य रसके सम्बन्धसे ही सब-का-सब काम होता है। यह जो हमारी धड़कन है, यह अपना काम कभी बन्द नहीं करती और पृथिवी-शक्ति, जलकी शक्ति, वायुकी शक्ति, अग्निकी शक्ति, आकाशकी शक्ति, कभी काम बन्द नहीं करती है। इसलिए गीतामें बताया 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'। (3.5) कोई निकम्मा तो क्षणक्षर भी रह ही नहीं सकता।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। 3.5

यह प्रकृतिजन्य गुण ही है कि वे हर समय कोई-न-कोई काम लेकर रहते हैं। उसमें विश्राम भी एक दृष्टि है। विश्राम एक अवस्था नहीं है। विश्राम एक दृष्टि है। वह महात्माओंको प्राप्त होती है। काम करते रहते हैं और उनको विश्राम मिलता रहता है। काम करते हुए भी विश्राम! देखो, यह हमारा शरीर प्रवृत्त कैसे होता है? और किस मसालेसे बना है? आप इसी श्लोकमें देखो—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्'—यह तो है 'अहमात्मा गुडाकेश ' और 'येन सर्वमिदं ततम्' यह है 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'। जो सबको हिलाता है और जो सब बना, अपने कर्मके द्वारा हमें उसीकी पूजा करनी है। गँवारू सेवा नहीं करनी चाहिए।

एक गँवारके घरमें गुरुजी आये। दोनों गँवार भाई-भाई थे। उन्होंने सेवा बाँट ली। दाहिना पाँव बड़े भाईका और बायाँ पाँव छोटे भाईका। बायाँ पाँव करवटमें दाहिने पाँवपर चढ़ गया। अब वह गँवार बोला—हमारेवाले पाँवपर तुम्हारेवाला पाँव चढ़ा है? हटा लो इसे। अब गुरुजीने फिर करवट बदली तो फिर चढ़ गया। अब उसने आकर एक लाठी उस पाँवको मारा। गुरुजी महाराज तो तिलमिला गये।

भगवान्के स्वरूपमें गँवारू सेवा जो होती है वह मूर्खता है, वह दुखदायी है। असलमें हमारी सेवा, हमारा कर्म जो होना चाहिए, वह सबके कल्याणके लिए, सबके मङ्गलके लिए होना चाहिए। जब हम उसको परिच्छिन्न कर देते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

कोई भी मनुष्य, इसमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है—न हिन्दू-मुसलमानका, न अग्रज-अन्त्यजका—मानवको होना चाहिए मानव यानी मनुकी सन्तान और पूजा किसका करें? जो सबको हिलाता-डुलाता है और सब बना हुआ है। पूज्य कौन है? जो सर्वात्मा और सर्वरूप प्रभु है, वह पूज्य है और पुजारी कौन है? मनुष्य है। और पूजा किससे करता है? 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'। अपने कर्मसे पूजा करता है। जो तुम्हारे हिस्सेका काम है उसके द्वारा 'अनेन सर्वात्मा भगवान् प्रीयताम्'—इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। बस हो गयी पूजा। यहाँ जो योगका वर्णन किया, उसमें आत्माके रूपमें भगवान् और प्रपञ्चके रूपमें भगवान्। यह हो गया योग।

अब विभूतिकी बॉत आपको सुनाते हैं। अब देखो आदित्यका नाम ही पहले आता है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। 10.21

'आदित्यानामहं विष्णु:'। आदित्य शब्दका अर्थ होता है, अदितिके पुत्र। अदिति और दिति दक्षकी पुत्री हैं। काममें दोनों चतुर हैं। दक्ष माने जो कर्ममें अत्यन्त कुशल है। कौशलको ही दक्षता बोलते हैं। आजकल हिन्दीमें एक 'सक्षम्' शब्द आगया है—वह निरर्थक है। 'सक्षम' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। सक्षम नहीं, क्षम होता है। क्षमके समान ही दक्ष शब्द है। दक्ष माने कोई भी काम आवे, निपुणतासे कर ले। दूसरोंको करते देखे—एक बार देख लिया-सीख लिया। एक बार सुन लिया, यह दक्षता होती है। दक्षकी पुत्री है दिति और अदिति। दिति माने—जो काटे, टुकड़े-टुकड़े करे, उसका नाम होता है दिति और जो जोड़ दे—काटे नहीं, उसका नाम होता है अदिति। 'दीङ् क्षये' धातुसे भी दिति शब्द बनता है और 'दो खण्डने' धातुसे भी बनता है। जो खण्ड-खण्ड करे, उसका नाम दिति और जो अखण्ड रखे, उसका नाम अदिति। टुकड़े-टुकड़े करना यह दिति वंश है; ये दैत्य कहलाते हैं और मेल-मिलाप कराना ये अदिति वंश है—ये आदित्य कहलाते हैं।

दिति, अदितिके हैं पति कश्यप। कश्यप माने होता है द्रष्टा 'पश्यक:-कश्यप:, पश्यति इति पश्यक:, पश्यक एव कश्यपो भवति' जो देखता है उसका नाम है पश्यक और पश्यक ही विपरीत विधासे कश्यप होता है। दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जो है, उसका दक्षकी पुत्री दिति और अदितिसे विवाह होता है। दितिके जो पुत्र हैं वे तो हानिकारक काम करते हैं। दूसरोंको जिससे हानि हो, ऐसा काम करते हैं। वे सद्भाव-सम्पन्न नहीं हैं और अदितिके जो पुत्र हैं, वे सद्भाव-सम्पन्न हैं। उनको देवता बोलते हैं। आदित्य माने देवता। अदिते: अपत्यं पुमान्=आदित्य: । अदितिका जो पुत्र होता है—कश्यप रूपी द्रष्टा और अदिति रूपी मिलाप—दोनोंसे जो प्रकट हुआ उसका नाम हुआ 'आदित्य'। इसको हमलोग वेदमें 'आजान देवता'के नामसे जानते हैं। आजान देवता माने जो जन्मसे ही देवता हो। हम लोग जो पुरुष-सूक्त पढ़ते हैं—उसमें परमात्मा-रूप पुरुषके चक्षुसे सूर्यकी उत्पत्ति कही गयी है—

चक्षो: सूर्यो अजायत। (ऋग्वेद 10.90.13)

ये सूर्य जन्मसे देवता है। आदित्य जन्मसे देवता है। 'जन्मसे देवता हैं'—इसका अर्थ है कि उसमें पाँचों भूतोंका रस है। पृथिवीका रस, जलका रस, अग्निका रस, वायुका रस, आकाशका रस और सबसे बना एक रूप और वह रूप लेकर सूर्य देवता हमारे पास आ रहे हैं। सारी सृष्टि इन्होंने ही बनायी। बल्कि जो जलमें स्थिरता है वह भी सूर्यके कारण है, जलकी उत्पत्ति भी सूर्यकी किरणोंसे है और पृथिवीमें जो स्थिरता है वह भी सूर्यके कारण है।

यह जो सूर्य हैं अदिति और कश्यपके पुत्र, बारह देवता उसमें मुख्य हैं। द्वादश आदित्य बोलते हैं। इन्द्र भी उसीके पुत्र हैं और विष्णु भी उसीके पुत्र हैं। इन्द्र माने हमारे हाथमें रहकर जो काम करनेकी शक्ति है—

उसको इन्द्र बोलते हैं। और पाँवमें रहकर जो चलनेकी शक्ति है, उसको विष्णु बोलते हैं। हमारे शरीरमें सभी देवता रहते हैं। हाथोंमें इन्द्र माने बज्र उनके हाथमें है। कर्मकी बहुत बड़ी शक्ति है । जो हमारे जीवनमें प्रगति होती है उसके देवता विष्णु हैं। मुक्ति देनेवाले, विष्णु हैं—और साधन देनेवाले इन्द्र हैं। साधन और प्रगति ये दोनों सविता देवतासे प्राप्त होती है। गायत्रीमें भी सविता देवता है न! **'तत्सवितुर्वरेण्यम्'।**

जैसे सब देवता हमारे शरीरमें रहते हैं वैसे ही सारे देवता ब्रह्माण्डोंमें भी रहते हैं। यह पिण्ड ब्रह्माण्डका नमूना है। सब देवता हैं। आँखमें सूर्य देवता हैं। नाकमें अश्विनीकुमार हैं। जिह्वामें वरुण हैं। बोलनेवाली जिह्वामें अग्नि है। कानमें दिग् देवता हैं। त्वचामें वायुदेवता हैं। यह देवमय हमारा शरीर है और इसी तरहसे हम ब्रह्माण्डोंको समझते हैं। ये जो आदित्य हैं—अदिति और कश्यपके पुत्र—इनमें भगवान्‌की विभूति कहाँ है? मुख्यरूप भगवान्‌का क्या है?

आदित्य बहुत-से हैं। आदित्य है आँखमें, आदित्य है कानमें, आदित्य है त्वचामें, ये वायु, अग्नि, दिक्‌देवता सब आदित्य हैं। इन्द्र और विष्णु भी आदित्य हैं। परन्तु आदित्योंमें सबसे श्रेष्ठ कौन? बोले—**आदित्यानामहं विष्णुः।** (१०.२१)। मैं विष्णु नामका आदित्य हूँ। विष्णुका तीन रूप मानते हैं। एक तो विष्णुका रूप होता है—सब विभूतियाँ हैं न! सबको ऐसे ही समझनेका है। यह तो एक उसका नमूना है। आदित्य कहो सूर्यको तो जब हम सूर्यका चिन्तन करते हैं, तो उनके अनेक परिवर्तनशील रूप दिखायी पड़ते हैं। उनमें ध्यान किया जाता है। 'हिरण्यः पुरुषः' एक जैसे सोनेका चमाचम चमकता हुआ रूप होता है, वैसा।

सशङ्खचक्रं सकिरीटिकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियम् नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्।।

पहले आदित्य-मण्डलका ध्यान किया और आदित्य-मण्डलमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी नारायणका ध्यान किया। अब वे नारायण क्या हैं? नारायण भी प्रतीक हैं, उपलक्षण हैं किसके उपलक्षण हैं? वे ब्रह्मतत्त्वके उपलक्षण हैं। परमतत्त्वके रूपमें वे नारायण हैं। आराध्य देवताके रूपमें विष्णु हैं और मण्डलके रूपमें सूर्य हैं। अब विष्णुका एकरूप है व्यापक।

विवेष्टि विश्वम् इति विष्णुः।

× × ×

अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।

वेदमें बताया कि सारी दुनियाको घेरकर विष्णु स्थित हैं और दुनियासे परे हैं। व्यापक का ही नाम विष्णु होता है। जितने भी दृश्य पदार्थ हैं उनसे जो बड़ा है, उसका नाम विष्णु है। भगवान्‌की विभूतिके रूपमें उपासना किसकी करनी? बोले व्यापक तत्त्वकी उपासना करनी। परिच्छिन्न तत्त्वकी उपासना नहीं करनी। अपनेको जेलमें मत डालो। अपनेको किसी घेरेमें बन्द मत करो।

दो जो विभूति यहाँ बतायी हैं—आत्मा और भूतोंकी आदि, मध्य, अन्त, ये तो दोनों मुख्य रूपसे योग हैं

और जो विभूति बतायी, वह आदित्यसे प्रारम्भ की। अब इन विभूतियोंको जब आप पढ़ते होंगे तो उस समय कितना आश्चर्य होगा—जब आप देखते होंगे कि उसमें जूएको भी भगवान्‌की एक विभूति बताया है। 'द्यूतं छलयतामस्मि'—उसमें जड़को भी विभूति बताया है। 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (10.26)। 'स्थावराणां हिमालयः' (10.25)। हिमालयको भी एक विभूति बताया हुआ है। 'नराणां च नराधिपम्' (10.27)। राजाको भी एक विभूति बताया है। शाण्डिल्य भक्तिदर्शनमें इसपर बहुत विवेचन किया है कि ये विभूति कैसे हुई?

विभूतियोंका विभाजन, विश्लेषण कर दिया। कुछ तो उत्तम होनेके कारण विभूति हैं। कुछ उत्तमताकी प्राप्तिके हेतु होनेके कारण विभूति हैं। कुछ वर्जित विभूति हैं। वैभव तो बहुत है परन्तु आराध्यके रूपमें सब नहीं है। आत्मरूपसे सब विभूति है। प्रपञ्चाभावके अधिष्ठानके रूपमें सब ब्रह्म है परन्तु सब विभूतियाँ आराध्य नहीं हुआ करती है। 'प्राणित्वात् न विभूतिषु'—यह शाण्डिल्य दर्शन (2.1.24) का सूत्र है।

आखिर भगवान् इतने बने क्यों? क्या जरूरत थी कि वे इतने बने? अनेक हेतु बताकर कुमारिल भट्टने ईश्वरका खण्डन किया। यदि कोई कहे कि इस कारणसे ईश्वर है तो वह उचित नहीं है। नास्तिकताकी बात हम लोगोंके यहाँ बहुत अधिक है। चार्वाक-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन, सांख्य-दर्शन, पूर्व मीमांसा-दर्शनने तो अनेक दृष्टियोंसे उनका खण्डन किया। यह काम तो बिना ईश्वरके ही हो सकता है। यह करनेके लिए ईश्वरकी क्या जरूरत है? जो काम हम बटन दबाकर कर सकते हैं, उसके लिए ईश्वरको बुलानेकी क्या जरूरत? कुमारिल भट्टने खूब खिल्ली उड़ाई है।

शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें उसका समाधान किया है। यह है भगवान्‌की करुणा। चाहे कोई साधन-सम्पन्न हो, चाहे निःसाधन हो, चाहे कुसाधन हो, सबके ऊपर भगवान्‌की करुणा बरसती रहती है। यदि भगवान् जीवके लिए नाक न बनाते तो वह सूँघता कैसे ? उसको गुलाब और जूहीकी सुगन्धका पता कैसे चलता? यदि कान न बनाते तो सङ्गीत-स्वर कैसे सुनता? यदि आँख न देते तो रूप-सौन्दर्य कैसे निहारता? ये भगवान्‌की करुणा ही है कि सबके लिए भोग्य रूपसे भी और भोक्ता रूपसे भी। भोक्ता जीवको इन्द्रिय देते हैं और भोग्य रूपसे विषय बनकर सबके सामने प्रकट होते हैं।

आओ विभूतिके रूपमें भगवान्‌की आराधना करें। बोले नहीं सब विभूतियोंकी आराधना नहीं की जाती। क्यों नहीं की जाती? वेदमें स्पष्ट वर्णन है। 'अक्षैमीर्दाव्यः' (ऋग्वेद 10.34.13) चौपड़ मत खेलो। पौरुष छोड़कर एक आकस्मिक वृत्तिपर भरोसा करना—यह उचित नहीं है। जूआ कभी मत खेलो। यह वर्जित है। वह भगवान्‌की विभूति होनेपर भी उपादेय नहीं है, आराध्य नहीं है। दूसरी बात कही उन्होंने राजसेवा की। आप लोगोंने शायद कभी सुना हो। चन्देका अन्न, गणान्न और गणिकान्न—वेश्याका अन्न और राजान्न—राजाका अन्न और चण्डिकान्न—देवीका अन्न, जो मांस वगैरह होता है, इसके खानेसे मनुष्य पतित हो जाता है। उसकी जो मनोवृत्ति है वह तामस भावनासे ग्रस्त हो जाती है। चारों अन्न शास्त्रमें एक कक्षामें माने गये हैं।

हमारे एक भगत मुम्बईमें आये कि हम आपके लिए कुछ चन्दा कर लें। चन्दा कर लेते हैं तो आप जिस

फ्लेटमें रहते हैं तो इसकी व्यवस्था चलती रहेगी। हमने कहा—भाई मेरे, तुम लाख-पचास हजार चन्दा करके हमारी सारी आमदनीका सत्यानाश करना चाहते हो! ऐसे तो हमें रोज ईश्वर भेज देता है। बनी-बनायी सब्जी हमारे पास खानेको आजाती है और दूध आजाता है। कहींसे चावल आता है, कहींसे गेहूँ आता है! यदि तुम लोगोंसे रुपया लेकर बैंक वगैरहमें रख दोगे तो लोग कहेंगे उनकी तो व्यवस्था हो ही गयी, उसमें हमारी चले— न चले, हमारे ऊपर तो कृपा ही रखो। हमको चन्देके अन्नमें बिलकुल रुचि नहीं है।

रतन-सी भाईका ही जैसे सत्-साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट है—मैं उसका ट्रस्टी नहीं हूँ। उसके रुपयेसे, पैसेसे, हिसाबसे, किताबसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही लोग जानते हैं। हम तो कभी उसमें-से कुछ रुपया नहीं लेते हैं। वैसे लेनेका हमारा हक है। रॉयल्टी तो हमारी होनी चाहिए न! लेकिन हम कभी कुछ उससे लेते नहीं हैं। किसी दूसरे ट्रस्टसे भी नहीं लेते हैं। ट्रस्टोंमें मैं ट्रस्टी हूँ, पर इनके ट्रस्टमें तो ट्रस्टी भी नहीं हूँ। ये जो चन्देका अन्न है, इससे बुद्धि विकीर्ण होती है, बिखर जाती है।

भिखारीसे भी नहीं लेना चाहिए। ये चन्दा करनेवाले भिखारी ही तो होते हैं। यहाँ बताया—राजा एक विभूति हैं। राजसेवा तो शास्त्रमें वर्जित है। सेवा भी वर्जित है। माने उसकी व्यक्तिगत सेवामें न रहना। उसके बहुत पास जाना, यह भी एक खतरेका काम है। पता नहीं कब उनका मूड बिगड़े? फिर वे तो फाँसीका ही हुकुम देंगे और उसकी कोई अपील नहीं। इसलिए उनके बिल्कुल निकट नहीं जाना चाहिए। राजसेवाका निषेध है। उसको शास्त्रमें श्ववृत्ति बोलते हैं। श्ववृत्ति माने जैसे कुत्तेको पूँछ और जीभ हिलानी पड़ती है—ठीक वही काम करना पड़ता है। राजाकी सेवा भी निषिद्ध है और जूआ भी निषिद्ध है और भगवान्ने अपनी विभूतियोंमें इन दोनोंकी गणना की है। स्पष्ट रूपसे शाण्डिल्यने इसका निषेध किया कि ये द्यूत और राज सेवाको विभूतिके रूपमें भगवान्ने वर्णन किया है, यह आराधनाके लिए नहीं है।

तब आराधना किनकी करनी चाहिए? तो जिनकी आराधना शास्त्रमें वर्णित है। शास्त्रमें वर्णित है माने मत्स्य, नृसिंह, वराह, वामन, कच्छप, परशुराम—इनकी आराधना कर सकते हैं और यहाँ देखो 'आदित्यानामहं विष्णुः' वाक्यमें माने वामन।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

(7-11-81)

भगवान्‌के गुणोंका जितना वर्णन आता है, उनमें भक्तोंने यह निश्चय किया है कि करुणा ही सर्वश्रेष्ठ गुण है।

मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्। 2.1.23

यह शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनका सूत्र है। करुणा ही भगवान्‌के गुणोंमें मुख्य है। गुणोंमें परस्पर विरोध भी कभी होता है। कभी दया आती है, कभी असंगता आती है, कभी स्नेह होता है। कभी स्वरूप-स्थिति हो जाती है। भगवान् यह सब काम क्यों करते हैं? क्यों आते हैं? उन्होंने बताया कि सृष्टि तो बीज-वृक्ष न्यायसे अनादि ही है। आजतक कोई यह निश्चय नहीं कर सका कि पहले बीज कि पहले वृक्ष। पहले भी जीव था, प्रलय हो गया तो सो गया फिर सृष्टि हुई तो जाग गया।

भगवान् यह सृष्टि क्यों बनाते हैं? करुणावश। जीव सोता न रहे। अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करे। इसके लिए सोते हुए को जगाते हैं। बुद्धि देते हैं, संकल्प देते हैं, इन्द्रिय देते हैं। शरीर देते हैं कि वह अपने पूर्व-पूर्व संकल्पके अनुसार पौरुष करे। जीवोंपर करुणा करके ही भगवान् यह सृष्टि बनाते हैं। फिर यह हुआ कि वे प्रकट क्यों होते हैं? प्रकट भी करुणा करके ही होते हैं। जब देखते हैं कि जीव अनात्म-वस्तुमें अत्यन्त आसक्त हो गया, जिसको न तो वह भगवान्‌के रूपमें देख पाता है और न तो अपनी आत्मासे अभिन्न देख पाता है, उस वस्तुके पराधीन होकर संसारमें जब भटकने लगता है तो करुणा करके भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं।

उनमें एक रूप वामन है। यहाँ जो विभूतिका वर्णन है 'आदित्यानामहं विष्णुः' वह वामनका ही नाम यहाँ विष्णु है। केवल संकेत रूपमें आपको सुनाता हूँ। वेदमें मन्त्र है—'वामनो ह विष्णुरास' (शतपथ 1.2.55)। जो वामन है वही विष्णु हो गया। माने पहले बलिके यज्ञमें नन्हें-से वामनके रूपमें आये थे और फिर विराट् रूप धारण करके उसने बलिका सर्वस्व नाप लिया। 'आदित्यानामहं विष्णुः'। अदितिके पुत्रोंमें मैं विष्णु हूँ माने अन्तिम पुत्र मैं वामन हूँ—इसका अर्थ यह होता है। इसमें यदि आप करुणा देखेंगे तो पहली बात तो यह लगती है कि भगवान् अपने भक्तका पक्षपात करते हुए लगते हैं।

भगवान् अपना जितना शरीर प्रकट करते हैं, वह नित्य और पवित्र होता है। दिव्य और शाश्वत—माने हमेशा रहनेवाला होता है। हमारे शरीरमें भी वामन प्रकट हैं। उपनिषदोंमें इसका वर्णन है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।। कठोप. 2.2.3

प्राण हमारा ऊपरके रास्तेसे बाहर जाता है, लौटता है. और अपान नीचेके रास्तेसे निकलता है। इन दोनोंको अलग करके दोनोंके मध्यमें सन्धि जो है—वहाँ परमात्मा है।

कई लोग परमात्माका ध्यान प्राण और अपानकी सन्धिमें करते हैं। बहुत छोटा-सा, बहुत नन्हा-सा वह सन्धि-स्थल है। प्राणकी गति निराली और अपानकी गति निराली और दोनोंको अलग-अलग करनेके लिए बीचमें बैठ गये वामन भगवान्। नहीं तो मनुष्य जिन्दा ही नहीं रहेगा। प्राण यदि अपानमें मिल जाय और अपान प्राणमें मिल जाय तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। यह जो हमारा जीवन चल रहा है, वह हमारे हृदयमें वामन भगवान् बैठे हैं, इसलिए चल रहा है।

हमारे ऊपर प्रत्यक्ष करुणा है भगवान्की, नहीं तो साँस बाहर निकलकर फिर लौट आये यह लोगोंको मालूम नहीं पड़ता—पर आश्चर्य है। साँस बाहर जाती है, और फिर लौट आती है। जब साँस शरीरसे बाहर निकल गयी तो क्या विश्वास है कि वह लौटकर आवे कि न आवे। लेकिन भगवान् भीतर बैठे हुए हैं। वही साँसको बाहर भेजते हैं और वही साँसको भीतर खींचते हैं, जिससे हम लोग जिन्दा रहते हैं। वैसे भगवान् प्रत्यक्ष दिखायी भी पड़ते। ऐसा नहीं है कि प्रत्यक्ष न दीखते हों। एक वामन तो ये हुए जो आपके शरीरमें रहकर प्राण, अपानका विभाग कर रहे हैं—जीवन दे रहे हैं। ये भी अदितिके ही पुत्र हैं।

अब दूसरे वामनका ध्यान करो। पक्षपाती भगवान्। हम भगवान्को पक्षपाती बोलते हैं। आर्यसमाजियोंके भगवान् न्यायकारी हैं। ब्रह्मसमाजियोंके भगवान् भी न्यायकारी होते हैं और जो इसाई, मुसलमान और हमारे सनातनधर्मी लोग हैं, इनके भगवान् सर्वदासे भक्तोंका पक्ष करते हैं। यद्यपि इसाई, मुसलमानके भगवान् निराकार हैं। पर वे मुहम्मद साहबके सिवाय तथा ईसाके सिवाय और किसीकी सुनते ही नहीं हैं। वे जिसकी सिफारिश कर दें, मान लेते हैं। तो वे निराकार होनेपर भी पक्षपाती हैं।

और हमारे भगवान्को तो कोई तुलसीदल चढ़ा दे, बेलपत्र चढ़ा दे, एक चुल्लू गङ्गाजल चढ़ा दे—उसीका पक्षपात करने लगते हैं। जब पक्षपात करते हैं तब भगवान्को थोड़ा छोटा होना पड़ता है। क्योंकि पार्टीमें आगये न! पार्टीमें आगये तो छोटे हो गये। अपने भक्तों की पार्टीबन्दीमें जब भगवान् आते हैं तब पक्षपात करने लगते हैं। देखो, अदितिने तपस्या की, कश्यपके बताये हुए विधानसे। उसमें पति, पत्नी दोनोंका योग है न! कश्यपजीने विधि बतायी और अदितिने उसका पालन किया—तेरह दिन। द्वादशाह पयोव्रत—बारह दिनका पयोव्रत है और तेरहवें दिन उसका उद्यापन है।

अब भगवान् प्रकट हुए अदितिके पास। अदितिसे पूछा क्या चाहिए? बोले—हमारे पुत्रोंकी विजय चाहिए। तुम्हारे पुत्रोंके जो शत्रु हैं बड़े धर्मात्मा हैं, यज्ञ-याग कर रहे हैं। उनको मारनेका तो समय नहीं है। भगवान्ने कहा जो रास्तेसे चल रहा है—जो ठीक सन्मार्गसे चल रहा है, उसको परमेश्वर भी गिरा नहीं सकता, पतित नहीं कर सकता। भगवान्ने अदितिको साफ कह दिया कि तुम्हारे पुत्रोंके शत्रु जो दैत्य हैं वे इस समय यज्ञ कर रहे हैं, धर्मात्मा हैं, उनको जीतकर पार नहीं पाया जा सकता। अदितिने कहा कि हमारा काम तो भगवान्, आपको करना ही पड़ेगा। तब कैसे करें? हमारा पक्षपात करना पड़ेगा। यदि जिसकी हम पूजा करते हैं वह हमारा पक्षपात न करें तो हम उनकी पूजा क्यों करें? तब तो बिना पूजाके ही हम बिलकुल ठीक हैं, जैसे हैं वैसे हैं। पूजा करने पर तो भगवान्को हमारा पक्षपात करना चाहिए।

भगवान्‌ने कहा कि ऐसे तो पक्षपात नहीं बनेगा। हम तुम्हारे बेटे बन जाते हैं। तब फिर पार्टीमें आगये। अब अपनी पार्टीमें आगये तो बदमाश भी दूधका धुला और दूसरेकी पार्टीका है तो दूधका धुला भी बदमाश! तो भगवान्‌ने पार्टी बन्दीमें अपनेको मिला दिया। अदितिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उसके बेटे बने तो आदित्य हो गये। अदितिके पुत्र होनेसे भगवान्‌का नाम हो गया 'आदित्य'। यह तो हो गया अदितिके प्रति पक्षपात अथवा देवताओंके प्रति पक्षपात।

अब यह कहो कि भगवान्‌ने इतनी कठोरता दैत्योंके साथ क्यों की? दैत्योंके साथ कठोरता नहीं की बल्कि देवताओंको जितना दिया, उससे ज्यादा दैत्योंको दिया। ऐसा प्रसंग है—'आदित्यानामहं विष्णुः।' इन्द्रमें भी व्यापक वही हैं और बलिमें भी व्यापक वही हैं। इसलिए उनका नाम होता है 'विष्णु'। माँगने वालेको छोटा बनना पड़ता है। इसलिए भगवान् विष्णुसे वामन हो गये—बौने। माँगनेवाला कभी बड़ा तो हो ही नहीं सकता। पर जब बलिके यज्ञमें जाकर उन्होंने माँगा तो वहाँ स्पष्ट लगता है कि इन्द्र और देवताओंका उन्होंने पक्षपात किया। छोटे होकर माँगने गये और लेते-लेते विराट् बन गये। और बलिका सर्वस्व ले लिया।

भगवान् बड़े अन्यायी हैं भाई! नहीं, भगवान्‌की रीति यही है कि छोटे-से बनकर हृदयमें आते हैं—जैसे कामना जो है वह छोटी-सी बनकर अपने हृदयमें आती है और जब संग मिलता है तब तरङ्गके रूपमें आती है और समुद्र बन जाती है। भगवान् भी ऐसे ही हृदयमें पहले छोटे-से बनकर आते हैं। दो मिनटके लिए भगवान्‌का नाम लेना शुरू करो, दो मिनटके लिए भगवान्‌का ध्यान शुरू करो, जब उसमें रस आजायेगा तब वह ध्यान घण्टोंके लिए हो जायेगा।

भगवान् जीवनमें नन्हें-सें बनकर प्रवेश करते हैं और फिर विशाल रूप धारण कर लेते हैं। बलिके सामने नन्हें-से बनकर आये और थोड़ी-सी चीज माँगी। दो मिनट माँगा—तीन मिनट समझ लो। केवल तीन मिनट माँगा। केवल तीन पग धरती माँगी। बाबा—हम थोड़ेमें ही सन्तुष्ट हैं। देखो, भगवान्‌की चालाकी है यह! पहलेसे ज्यादा माँगेंगे तो देंगे नहीं। शुक्राचार्य उसी समय काने हो गये थे। जब उन्होंने दान देनेमें रुकावट डाली तो काने हो गये। पक्षपात ही देखो—तीन पग माँगा दूसरे शरीरसे! संकल्प ले रहे थे दूसरे शरीरमें और बन गये बिलकुल विराट्।

एक पगमें बलिका लोक नाप लिया—दूसरे पगमें परलोक नाप लिया, परन्तु इतने-से उनके तीन पग पूरे नहीं हुए। हमें बताना यह है कि बलिपर भी भगवान् की कितनी करुणा है। इन्द्रको मिला एक पग—नहीं, उपेन्द्रको मिला दो पग। और बलिको डाँटा—तुमने तीन पग देनेकी प्रतिज्ञा की थी—तुम दे नहीं सके, इसलिए तुम्हें नरकमे जाना पड़ेगा। क्योंकि जो अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता है, उसको नरकमें जाना पड़ता है। नहीं महाराज, हमारी प्रतिज्ञा झूठी नहीं है। आप तीसरा भी नाप लो। अब तुम्हारे पास है क्या? न लोक है, न परलोक है। हम नापें क्या? झट बलिने अपना सिर झुकाया।

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् । भाग. 8.22.2

आप तीसरा पग हमारे सिरपर रख लीजिये। हमने संकल्प करके अपने पौरुषसे उपार्जित यह लोक

दिया और धर्मसे उपार्जित परलोक दिया। लेकिन मैं जो पुरुष हूँ—पौरुष करनेवाला, पुरुषकार करनेवाला जो मैं हूँ, वह मैं तो अभी आपको अर्पित नहीं हुआ। मेरा पैदा किया हुआ लोक आपने एक पाँवमें लिया। मेरा पैदा किया हुआ परलोक दूसरे पाँवमें लिया। पैदा करनेवाला मैं तो हूँ न! मेरे सिरपर पाँव रखो। इसीको बोलते हैं—'अहम्'—सर्वस्व आत्मसमर्पण।

बलिको क्या मिला? भगवान्‌का चरणारविन्द मिला। इन्द्रको मिला राज्य—लोक, परलोक। और भगवान्‌का पक्षपाती होनेका सुयश मिला कि वे देवताओंका पक्षपात करते हैं और बलिने जब अपने आपको भगवान्‌को दिया—बलिने अपना सिर दिया—उसपर उन्होंने पैर रखा। बलि हो गये भगवान्‌के। बलिको क्या मिला? भगवान् मिले। भगवान् हो गये बलिके।

बलि अब जहाँ सुतल लोकमें रहते हैं, भगवान् हाथमें गदा लेकर उनके बारहों दरवाजोंपर, अकेले वामन भगवान् बलिके बारहों द्वारपर रहकर पहरा देते हैं। रावण आया—ऐसा अंगूठेसे उसको उछाला कि जाकर लंकामें ही गिरा।

अब आप देखो, भगवान् पक्षपाती हैं कि उनके हृदयमें करुणाकी प्रधानता है? अदितिका मनोरथ पक्षपाती होकर सिद्ध किया। वह भी एक करुणा है। अपने भक्तके प्रति पक्षपात। और बलिने अपना सर्वस्व दिया तो भगवान्‌ने बलिको लोक दिया, उसे अगले मन्वन्तरके लिए इन्द्र बनाया—परलोक भी दिया और—सबसे बड़ी चीज—बलिने जब अपना आपा दिया तो भगवान्‌ने अपना आपा भी दे दिया। यह है 'आदित्यानामह विष्णु: 'का अर्थ। वह नन्हें-से वामन भी हैं—कश्यप, अदितिके पुत्र भी और वह स्वयं विराट् भी हैं और वह प्राण-अपानके विभाजक भी हैं। ये विष्णु ऐसे हैं! इसपर शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें बहुत विचार है। उसपर दो बहुत विस्तृत भाष्य हैं। एक स्वप्नेश्वराचार्यका, एक हमारे नारायण तीर्थका। दिया क्या? अपना आपा।

अब यह जो विष्णुका वामनरूप है वह हम लोगोंके रूपकी तरह नहीं है। जैसे पञ्चभूतसे बना, वासनामूलक हम लोगोंका शरीर होता है। इसपर माता-पिताका भी प्रभाव होता है। नाना-नानी, दादा-दादीका भी होता है और कभी-कभी तो गोत्र-प्रवर्तक ऋषि हैं—जैसे किसीका गोत्र वत्स है—और किसीका गोत्र गर्ग है, किसीका गोत्र गोभिल है; पहले बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं—जहाँसे हमारा गोत्र चला है, उनके वीर्यमें भी एक संस्कार था और वह संस्कार आजतक सुषुप्त था, आज आकर हमारे जीवनमें प्रकट हो गया। इसीको गोत्र बोलते हैं।

वसिष्ठ गोत्र, गर्गगोत्र, शाण्डिल्य गोत्र—जैसे गोयल। गोयल माने गोभिल गोत्र ही है। ये बंसल बोलते हैं जिसे उसके वंश-प्रवर्तक वत्स ही हैं। यह इसकी रीति है। उन आचार्योंके संस्कार, परम्परासे रजवीर्यमें छिपे रहकर कभी-कभी हजारों वर्षके बाद, लाखों वर्षके बाद प्रकट होते हैं। ये बात लोगोंको तब पता चलती है जब बहुत गम्भीरतासे सृष्टिके रहस्यपर विचार करते हैं—आपने सुना होगा—सैबेरियामें कुछ जौके दाने मिले। जाँच की गयी तो २००० वर्ष पहलेके थे। और वहाँ ज्यों-के-त्यों पड़े थे क्योंकि ठंड ज्यादा होती है। जब

वहाँसे उठाकर लाये गये, सामान्य भूमिमें इधर लाये गये, तो उनमें अङ्कुर निकल आये। २००० वर्ष बाद उनमें जो बीजशक्ति छिपी थी, वह ठंढमें प्रकट नहीं हो रही थी और अब प्रकट हो गयी। यह जो हम लोगोंके गोत्रका नाम लेते हैं, वह शक्ति भी रहती है।

मनुष्यका शरीर पञ्चभूतरूप उपादनसे बनता है और नाना-नानी, माता-पिता, तकमें गोत्र-प्रवर्तक ऋषिके उसमें संस्कार छिपे रहते हैं। इसीसे सज्जनको भी दुर्जन होते देखा जा रहा है। और दुर्जनको भी सज्जन होते देखा जाता है। हमने देखा है जो पहले बहुत दुष्ट थे वे शिष्ट हो गये। निराश कभी नहीं होना चाहिए कि यह दुष्ट है। इसके अन्दर शिष्टता कभी नहीं आयेगी। आशा रखनी चाहिए कि यह दुष्ट है। इसके अन्दर शिष्टता कभी नहीं आयेगी। आशा रखनी चाहिए, विश्वास रखना चाहिए कि यह आगे चलकर ठीक हो जायेगा। आप किसीको भी हमेशाके लिए बुरा मत समझिये। उसके भीतर जो अच्छाई है, उसपर ध्यान दीजिये। उसके भीतर शक्ति है, विशेषता है। हम लोगोंका जो शरीर बनता है, वह पञ्चभूतसे बनता है, जीवके पूर्व कर्मसे बनता है। जीवके पूर्व पुरुषोंसे आता है और गर्भके खानपानसे बनता है और संगसे बनता है। यह चरकसंहितामें सात प्रकारका कहा गया है।

भगवान्का जो शरीर है, उसमें ये सातों नहीं होते। न उनमें माता-पिताका प्रभाव है, न संगका प्रभाव है, न नाना-नानीका, न दादा-दादीका, न गोत्रप्रवर्तक ऋषिका; उनका शरीर-कर्म और वासनासे बना हुआ नहीं है। वह जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, वह केवल करुणापरवश होकरके ही एक व्यक्तिके रूपमें प्रकट हुआ है। अब आप जब विभूतियोंका विश्लेषण करें तब उसमें देख लें कि कौन-सी विभूति, परमात्माका आविर्भाव है। जैसे यहीं 'आदित्यानामहं विष्णुः' ये उपास्य हैं। माने विष्णुकी उपासना की जानी चाहिए, क्योंकि उनका शरीर जड़ वस्तुओंसे बना हुआ नहीं है।

अब मत्स्य हैं, कच्छप हैं, वराह हैं, नृसिंह हैं, वामन हैं, राम हैं, कृष्ण हैं तो जो दिव्य सच्चिदानन्दघन-मूर्ति हैं। वे होते हैं, उपास्य और जो जड़ता-प्रधान हैं वे उपास्य नहीं होते हैं। यह सच्चिदानन्दघन अवतार लेकर आता क्यों है ? 'मुख्य तु तस्य कारुण्यम्।' यह उसकी करुणा, कृपा ही मुख्य है—करुणाके कारण ईश्वरकी असंगता द्रवित हो जाती है और जीवोंके कल्याणके लिए वे हम लोगोंके बीचमें कूद पड़ते हैं। जैसे गजेन्द्रके उद्धारके लिए भगवान् जलावतार ग्रहण करते हैं। जैसे द्रौपदीके लिए भगवान् वस्त्रावतार ग्रहण करते हैं। वैसे हम लोगोंके लिए भगवान् हमारे जैसा आकार लेकर अवतीर्ण होते हैं। लेकिन वह कर्म न वासना है, न परम्परा है, न कर्म है, 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'। (ब्रह्मसूत्र 2.1.33) 'आकारमानत्वात्'। (शा० भ० सू० 2.26) शाण्डिल्यने बताया कि ये जो उपास्य विभूतियोंमें भगवान् हैं, उसमें आकार ही देवताका या मनुष्यका है—तत्त्व जो है वह तो सच्चिदानन्दघन ही है। मैटर वही है और शक्ल-सूरत भगवान्ने अपने मनसे गढ़ी है। केवल कर्मसे गढ़ी हुई नहीं है।

इस बातपर आपको यदि ज्यादा समझनेका मन हो तो जगत्के उपादानके सम्बन्धमें विचार करना पड़ता है। हमलोग जब दर्शनशास्त्र पढ़ते हैं तो देखते हैं कि चार्वाक सृष्टिका उपादान बहिरंग मानता है। चार-भूतोंसे

सृष्टि हुई। नैयायिक भी सृष्टिका उपादान बहिरंग मानते हैं। जैन भी मानते हैं परमाणु। लेकिन बुद्ध न चार भूतको उपादान मानते हैं, न परमाणुको। वे वासना विशिष्ट विज्ञानको ही जगत्‌का उपादान मानते हैं। माने अन्तरंग उपादान मानते हैं। यह जो बाहर सृष्टि दिख रही है, यह हमारे भीतरसे निकली हुई है।

सांख्ययोगमें जो सृष्टिका उपादान मानते हैं वह प्रकृति है। प्रकृति कहाँ रहती है? आजकल तो प्रकृतिवादी लोग तरह-तरहकी बात करते हैं। एक बार किसीने उड़िया बाबाजीसे कहा ये सब प्रकृतिने ही बनाया है। बोले तूने कभी प्रकृति देखी है? बोला—हाँ महाराज, यह सब क्या है? सब प्रकृति ही है न?

नहीं यह प्रकृति नहीं है, यह तो कार्य है। इस कार्यको देखकर तुम कारणके रूपमें प्रकृतिका अनुमान करते हो। प्रकृति बुद्धि और आत्मा दोनोंके बीचमें रहती है। प्रकृति से बुद्धि बनती है। यह जो हमारी बुद्धि बाहरकी चीजोंको देखती है, इसका नाम प्रकृति नहीं है। जब हमारी बुद्धि शान्त, सुषुप्त रहती है तब प्रकृतिमें स्थित रहती है। प्रकृति भी जगत्‌का अन्तरंग उपादान है। जो लोग सांख्ययोग मानते हैं वे मानते हैं कि वह बिलकुल अन्तरङ्ग है। कर्म भी किसीके साथ रहते हैं तो वे भी अन्तरङ्ग कारण हैं। ईश्वर भी अन्तर्यामी होनेसे अन्तरङ्ग कारण है। और माया? माया तो आत्मामें रहती ही है। इसलिए माया भी अन्तरङ्ग कारण है। लेकिन ये सब-के-सब, जब आत्माकी ब्रह्मरूपताका बोध होता है तो कारण और कार्यभाव ये दोनों विनष्ट हो जाते हैं।

दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे संसारका, विश्वका, सृष्टिका जो उपादान है वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है। इसीसे हमारे सिद्धान्तमें मूर्तिपूजा भी होती है क्योंकि उसमें भी उपादान सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। मत्स्य, कच्छप, वराह आदि आकृतियाँ होती हैं, शक्ल-सूरत होती है, लेकिन उपादान रूपसे उसमें ब्रह्म ही है। देखो भाई, बात दो टूक करनी चाहिए। यह बात संसारके किसी मजहबमें नहीं है। न इसाईमें है, न मुसलमानमें है, न बौद्धमें है, न जैनमें है, न यहूदीमें है, न पारसीमें है, न सिक्खमें है।

यह सर्वात्मा, सर्वकारण-कारण सर्वोपादान, अभिन्न निमित्तोपादान कारण हमारे परमात्मा है। इसीसे हमारी मूर्ति-पूजा भी है, अवतार भी है। श्राद्ध भी है, गौ-पूजा भी है, अश्वत्थ-पूजा भी है। अब यह बात आप यदि ध्यानमें न लोगे और खुदाको निकालोगे कुरानमें-से और ईश्वर निकालोगे बाइबिलमें-से और फिर कहोगे इसमें मूर्तिपूजा कहाँ है?

सत्यार्थ प्रकाशमें-से जो ईश्वर निकलेगा उसमें मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध कुछ नहीं होगा। लेकिन वेद, शास्त्र, पुराणमें-से जो ईश्वर निकलेगा उसमें अवतार, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, वर्णाश्रम सब-का-सब उसमें-से निकल आयेगा क्योंकि यह सारा-का-सारा परमात्माका ही विलास है। यह जो हम देखते हैं कि राम क्षत्रियके रूपमें हैं। और श्रीकृष्ण यादवके रूपमें हैं और मत्स्य मछलीके रूपमें—यह आकार मात्र हैं, यह कोई कर्मजन्य या वासनाजन्य या प्रकृति आदि उपादानोंसे जन्य नहीं है। यह तो साक्षात् परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। इसलिए जब हम भगवान्‌के रूपका चिन्तन करने लगते हैं तब सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्माका रूप निकल आती है।

यह केवल विभूति जो है—इसकी चर्चा इसलिए की कि ये हमारे हृदयमें जो राग-द्वेष हैं, जो शत्रु-मित्र हैं, जो गुण-दोष हैं ये सारे कलङ्क-पङ्कका प्रक्षालन करके और शुद्ध परमात्माके साथ मिला देनेके लिए हैं। अब ये जो विभूतियोंका वर्णन है वह एक तो भगवान्के रूपका ही विभूतिके रूपमें वर्णन है। जैसे मैं वृष्णिओंमें वासुदेव हूँ, 'वृष्णीनां वासुदेवोस्मि' (40.37) जैसे 'रामः शस्त्रभृतामहम्' (10.31)—शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ। यह तो भगवद्रूप हूँ और कुछ अपनी-अपनी जातिमें उत्तम होनेके कारण विभूतिके रूपमें कहे गये हैं। जैसे 'स्थावराणां हिमालयः' (10.25) नराणां च नराधिपम् (10.27) ये अपनी-अपनी जातिमें श्रेष्ठ होनेके लिए कहे गये हैं। कुछको विभूति इसलिए बताया है कि वे उत्तमत्वापादक हैं। माने हमको उत्तम बना देनेवाले हैं—जो उस विभूतिका आश्रय लेगा वह उत्तम हो जायेगा।

तो भगवद्रूपको भी विभूति बताया गया उपासनाके लिए और जो अपनी-अपनी जातिमें उत्तम हैं, उनको भी विभूति बताया गया। और जो उत्तमत्वापादक हैं—उत्तमत्त्वापादक माने जैसे—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (10.25) अब यह जप यज्ञको भगवान्की विभूति क्यों कहते हैं? इसलिए कि यदि आप जप यज्ञका आश्रय लें तो आप उत्तम हो जावेंगे। आप स्वयं भगवद्विभूतिरूप हो जायेंगे। उत्तमत्वापादक, जो इस यज्ञका आश्रय लेगा उसको यह यज्ञ उत्तम बना देगा। इसलिए इसको विभूति कहा गया।

हम विभूतियोंका केवल उद्देश्यमात्र सुनाते हैं। अब जप-यज्ञ क्यों है और वह भगवान्की विभूति क्यों है? यदि जपका आश्रय लें तो उत्तम हो जाते हैं? हम स्वयं उत्तम हो जाते हैं? इसलिए जप-यज्ञ—भगवान्की विभूति है। हमारे बाबा बोलते थे—

जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्न संशयः।

आपको कोई भी सिद्धि प्राप्त करना हो तो जप कीजिये, जप कीजिये, जप कीजिये। वे अभागे लोग हैं जिनका जपपर विश्वास नहीं है। कोई भी सिद्धि जपके द्वारा प्राप्त हो सकती है। समाधि लगानेसे जो सिद्धि होती है सो, योगाभ्यास करनेसे जो सिद्धि होती है सो, क्योंकि जब हम भगवान्के नामका, मन्त्रका जप करते हैं, जप दोनोंका होता है—मन्त्रका भी होता है और नामका भी होता है। नाम अलग वस्तु है और मन्त्र अलग वस्तु है।

जपको जप क्यों कहते हैं—जन्मन: पाति। जो जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ा दे। उसका नाम होता है जप। अब आओ आप भगवान्का नाम लो। पाठ दूसरी चीज है, उसमें अनेक शब्दोंका उच्चारण होता है और जप दूसरी चीज है, उसमें एक छोटा-सा शब्द या वाक्य ले लो और उसको दुहराते जाओ। 'जपश्रान्तश्चरेद् ध्यानम्'। जब जप करते थक जायें तब ध्यान करें। 'ध्यानश्रान्तश्चरेज्जपः।' जब ध्यान करते-करते थक जायें तब जप करें। 'जपध्यानपरिश्रान्तो ह्यात्मतत्त्वं विचारयेत्।' जब जप और ध्यान दोनोंमें प्रवृत्ति शिथिल हो जाय तो अपने स्वरूपका विचार करना चाहिए।

सब सिद्धियोंका निरूपण न करके आओ, जपके बारेमें थोड़ा विचार करें। हमने ऐसे जप करनेवाले देखे हैं, बड़े-बड़े बालवाला शरीर भगवान्का मान लिया, एक रोंवा खड़ा हो गया, दुबारा भगवान्क' ।म

लिया, दूसरा रोंवा खड़ा हो गया—ऐसा देखा। आप लोगोंको सुनाया होगा—जबलपुरके पास भेड़ाघाट पर एक रामसनेही साधु रहते थे। एक बार कैलाशके महामण्डलेश्वर स्वामी चैतन्यगिरिजी भेड़ाघाट पर आये। देखा तो एक साधु पड़ा हुआ है। चैतन्यगिरिजीके मनमें करुणाका उदय हुआ। उसके पास जाकर बोले—महात्मा जवान हो उठो, भगवान्‌के नामका जप करो, ध्यान करो, अपनी उम्र ऐसे ही क्यों गँवा रहे हो?

उमरिया गँवाय दई रे प्रभु नहीं चीह्ना।

यह वहीं कि बोली है। उठो जप करो। उन्होंने आँख खोलकर देखा कि यह तो कोई महात्मा है तब बुलाया, हमारे पास आओ। यह हमारी हथेली अपने कानमें लगाओ। वह हथेली कानमें लगाये तो उसमें-से 'राम' 'राम' की ध्वनि आरही थी। फिर बोले हमारे सिरपर हाथ रखो। सिरपर हाथ रखा। सिर बोलता था 'राम' 'राम'। बोले मेरी छातीपर अपना कान लगाओ—छाती बोलती थी 'राम' 'राम' 'राम'—फिर बोले। हमारे पाँवपर अपना कान लगाओ। पाँव भी बोले 'राम' 'राम' 'राम'। अब चैतन्य गिरिजीने नमस्कार किया। बहुत बड़े विद्वान् थे—बोले महाराज, तुम पड़े रहो। तुम्हारे लिए जप, ध्यान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारे वृन्दावनमें एक चोर बाबा हैं तो जब मैं जबलपुर जाया करता था तो वे हमारे साथ कभी-कभी चले जाते थे। मुझसे पूछते—आप जबलपुर क्यों जा रहे हैं? मैंने कहा हम कथा कहने, प्रवचन करने जा रहे हैं। तुम क्यों जा रहे हो? बोले—हमारा एक यार है। उससे मिलने जा रहे हैं। वे यार वही थे। शरीरपर जपका कितना प्रभाव पड़ता है? रग-रगमें रोम-रोममें मन्त्रकी ध्वनि व्याप्त हो जाती है। जपकी एक बात आपको सुनाते हैं। आप समझो कि हमारे मनमें या तनमें परिवर्तन करना है तो कम्युनिस्टोंका जो हँसिया, हथौड़ा है, उससे तो हमारे हृदयका या हमारे मनका परिवर्तन नहीं हो सकता। और न तो वहाँ डाक्टरका हाथ पहुँचकर ऑपरेशन कर सकता है।

आप लोगोंने सुना होगा—आजकल एक ध्वनि-चिकित्सा विज्ञान निकला है। हमारे घुटनेमें दर्द होता था तो हेमलता रतनसी भाई एक डॉक्टर ले आये थे। वह एक मशीन हमारे घुटनेपर रखता था और वह कहता था, हमारा कान जितना सुन सकता है, उससे तीन लाख गुना ऊँची ध्वनि इस मशीनमें-से निकलकर घुटनेमें प्रवेश कर रही है। यह एक संचार कर देती है और घुटनेका दर्द मिट जायेगा। यह शब्द-चिकित्सा है। यह जो हमारे शरीरमें भगवन्नामकी ध्वनि व्याप्त होती है—रोम-रोममें, रग-रगमें, हमारे तनमें, हमारे मनमें, इस ध्वनिके कारण शरीरमें भी परिवर्तन हो जाता है और मनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसको आप साधारण बात न समझें।

हमको तो आश्चर्य होता है कि लोगोंका जप-पर विश्वास क्यों नहीं होता? एक ताराबाई महाराष्ट्रमें थीं। वे विदेशकी यात्रा करने गयीं थीं तो उनकी महिमा यह थी कि उनके सामने एक पात्रमें पावडर रखा जाता था। जब वह वीणा लेकर बजाती थीं तो जो राग-रागिनी बजातीं, उस राग-रागिनीका चित्र उस पावडरपर बन जाता था। माने ध्वनि जाकर जब उस पावडरपर टकराती थी तब कुछ पावडर उधर, कुछ इधर होकर वैसी तसवीर बन जाती। वहाँ एक बङ्गाली सज्जन थे तो उन्होंने कहा कि तुम शंकराचार्यका भैरवाष्टक गाकर सुनाओ तो

उन्होंने भैरवाष्टकको राग-रागिनीमें बाँधकर जो गाया सो उस पावडर पर एक तो बन गया कुत्ता और एक बन गया नाटा-सा काला-कलूटा पुरुष भैरव।

शब्दमें शक्ति होती है, उसके उच्चारणमें, उसकी ध्वनिमें शक्ति होती है। हमने एक खिलौना देखा। जब हम बोलते थे गो (go), वह खिलौना चलते देखा—जब हम बोलते थे स्टाप (stop)—वह खिलौना जो अंग्रेजी समझता था, संस्कृत नहीं समझता था, स्टाप कहनेपर खड़ा हो जाता था। मैंने पूछा यह क्या है? तो बोले इसकी बैटरी ऐसे ढङ्गसे बनायी गयी है कि जब 'गो' शब्द टकराता है तब बैटरी बन्द हो जाती है। इसीसे यह खिलौना चलता है और हिलता है। यह एक शब्दकी शक्ति बतानेके लिए मैंने सुनाया।

अभी हमारे पास कोई शाबर मन्त्रोंकी चर्चा कर रहा था। तो मैंने दो-चार शाबर मन्त्र बचपनमें सीखे थे। गोंडोंसे प्रत्यक्ष उसकी शक्ति देखनेमें आती थी। अब लोग कहेंगे कि यह सब अन्धश्रद्धा है, अन्धविश्वास है—हमने तो हमारे हृदयमें उस पिटारीको बन्द कर दिया कि जा भाई, अब मत निकल—अब मत निकल क्योंकि; लोग सुनकर विश्वास नहीं करते हैं तो उस यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रकी पिटारी थी उसे बन्द कर दिया। अब वह हमारे किये होता भी नहीं है। कोई हमसे कहना भी मत। न अब उसका स्मरण है। मन्त्रका हमने चमत्कार देखा है। शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह देवताको हृदयमें-से निकालकर बाहर रख दे और देवताको स्वर्गमें-से बुलाकर सामने ही खड़ा कर दे। ऐसी मन्त्रोंमें शक्ति होती है।

ब्रह्मसूत्रमें एक प्रकरण आया है—यह आपको जान-बूझकर सुनाते हैं—यह जो यज्ञ होता है, अग्निहोत्र होता है—उससे अन्त:करणकी शुद्धि होती है। परन्तु वह तब करना चाहिए जब पत्नी साथ हो। पति-पत्नी मिलकर साथमें यज्ञ करते हैं। ब्रह्मसूत्रमें यह अधिकरण आया कि जिसकी पत्नी मर गयी हो वह अपनी शुद्धिके लिए क्या करे? क्योंकि अग्निहोत्र तो कही नहीं सकता, यज्ञ तो कर नहीं सकता। तब उसकी अन्त:करण-शुद्धि कैसे हो? उसके उत्तरमें यह प्रकरण है। इस प्रकरणका नाम है 'विधुराधिकरण' माने विधुर पुरुषके अन्त:करण-शुद्धिके लिए क्या कर्तव्य है। वहाँ बताया कि विधुरके लिए यज्ञकी कोई जरूरत नहीं है। क्या बिना यज्ञ, बिना अग्निहोत्रके अन्त:करण शुद्ध ही नहीं हो सकता? यह बात नहीं है।

जपेनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। मनु० 2.87

यदि ब्राह्मण जप करेगा—ब्राह्मण माने क्षत्रिय, वैश्य सब—जपके अधिकारी हैं—वे जब जप करेंगे तो जपसे ही उनके अन्त:करणकी शुद्धि हो जायेगी। आजकल तो हम जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ-न-कुछ आश्चर्य तो हमको मिलता है। क्या आश्चर्य मिलता है? चाहे जो जिसको चाहे जो मन्त्र जपनेको बता देता है। अब उसको मालूम नहीं है कि यह मन्त्र किसके साथ ठीक बैठेगा? मन्त्रकी शक्ति कैसे काम करती है, उसको तो वह जानता नहीं है। गायत्रीका जप है उसमें मन्त्रकी शक्ति है, वह अलग है और मन्त्रसे जो लाभ होता है सो अलग। परन्तु वह जब ठीक जगहपर बैठे तब लाभ पहुँचाती है। यह नहीं है कि चाहे जिसको 'आनन्द-भैरव-रस' पिला दो—तो छटपटाने लगेगा गरमीके मारे। और हमको आनन्दभैरवरस पिला दो तो हममें ताकत आजायेगी। क्योंकि पित्तप्रकृति और वात प्रकृतिका अन्तर होता है।

इसी प्रकार ये मन्त्र भिन्न-भिन्न प्रकृतिवालोंके लिए होते हैं। गायत्रीका जप अलग है। महामृत्युञ्जयका जप अलग है। यजुर्वेदके तो प्रत्येक मन्त्रपर—कात्यायन सूत्रमें बहुत प्राचीन जप करनेकी विधि कही गयी है। यह श्रौतसूत्र है। श्रोतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र—ये तीन प्रकारके सूत्र होते हैं। वे वेदके छह अङ्गोंमें-से एक अङ्ग हैं। एक-एक मन्त्रका अलग-अलग कल्प कात्यायन-सूत्रमें बताये हैं। ये लोग जो कहते हैं अरे, मैंने तो किया, उसको ठीक अधिकारी पुरुष, ठीक विधिसे, परम्परासे प्राप्त करके जब उसका अनुष्ठान करता है, तब वह सफल होता है। अब संन्यासी होकर होम करे। कैसे काम बने? न चोटी न जनेऊ और वर्णधर्मसे भ्रष्ट संन्यासी होकर होम करने लगे—होम संन्यासीके लिए नहीं होता; क्योंकि उसके लिए अग्नि-स्पर्श वर्जित है।

एक सज्जन हैं। हमलोग उनके यहाँ जाते हैं। वे कोई साधारण क्रिया करते हैं और उँगली पर हमको उठा लेते हैं। प्रबुद्धानन्द, विमलानन्दको भी उठा लिया। लेकिन उसमें एक बात देखनेमें आयी कि यदि रजस्वला स्त्री उठानेवालोंमें शामिल हो जाये तो वह प्रक्रिया बिलकुल काम नहीं करती। जब उसको हटा देते हैं तब वे उठा सकते हैं। यह क्या संसारकी प्रक्रिया है, इसको साधारण दृष्टिसे नहीं समझ सकते हैं।

वेदके मन्त्रोंका जप अलग होता है। तन्त्रके मन्त्रोंका जप अलग होता है और पुराणके मन्त्रोंका जप अलग होता है और पञ्चरात्रके मन्त्रोंका जप अलग होता है। जप ओठ हिलाकर करना कि गलेसे करना कि हृदयके करना कि मूलाधारसे जप करना, इसकी भी अलग-अलग प्रक्रिया होती है। इसको यज्ञ इसलिए कहते हैं कि बाहर अग्नि प्रज्ज्वलित करके ब्राह्मण बुलाकर वेद-मन्त्रका सही-सही उच्चारण करके किया जाता है।

आप लोगोंको मालूम होगा कि त्वष्टाने इन्द्रको मारनेके लिए एक वेदके मन्त्रका उच्चारण करके अग्निमें हवन किया और उस मन्त्रके उच्चारणमें एक स्वरका अन्तर आगया—केवल एक स्वरका—और उसका अर्थ हो गया कि इन्द्रको नहीं मारे—इन्द्र अपने शत्रुको मारे। एक स्वरके अन्तरसे यह अर्थ हो गया। एक बार नारदजीको बड़ा अभिमान हो गया कि मैं संगीतका बड़ा भारी ज्ञाता हूँ। भगवान् अभिमान नहीं देख सकते। एक बार नारदजी गन्धर्वलोकमें गये। देखा कि राग-रागिनी कोई लंगड़ी हो गयी है, कोई लूली हो गयी है, कोई अन्धी हो गयी है। राग-रागिनी गन्धर्व-लोकमें मूर्तिमान होकर रहती हैं—लेकिन सब अन्धी, लंगड़ी, लूली—नारदजीने कहा—यह क्या हुआ? बोले महाराज, आप जो बेसुरा बजाते हो न! उससे हम लोगोंका अङ्ग-भङ्ग हो गया है। बेसुरा राग बजानेसे राग-रागिनियोंका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है।

इसी प्रकार जब जप-मन्त्रोंका ठीक-ठीक जप नहीं किया जाता तब उनका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है। हमारे जीवनके उत्तमका, जिसका हम नाम लेते हैं—बड़ा समझकर नाम लेते हैं—राम-राम, कृष्ण-कृष्ण तो उनको उत्तम भगवत्-रूप समझकर नाम लेते हैं। उनको उत्तमताका हमारे अन्दर अवतरण होता है और जब हमारे उच्चारण किये हुए शब्द जाकर उन भावमय मूर्तियोंका स्पर्श करते हैं—तो हमारे भाव ऊर्ध्वगामी हो जाते

हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि जो नीचेकी शक्तियाँ हैं, निम्न शक्तियोंसे सब ऊर्ध्वमुखी होकर जपसे ऊपर उठती हैं।

जप-यज्ञ क्या हैं? यह व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें ले जानेवाले होते हैं। हृदयमें श्रद्धा आयी, ध्यान हुआ देवताका, उत्तम शब्दोंका उच्चारण हुआ और शरीरमें उत्तम स्फुरण हुए और रग-रगमें उस उच्चारणकी शक्ति व्याप्त हुई। तो जीवनमें सिद्धि लानेके लिए, शक्ति लानेके लिए और अपने जीवनका विकास करनेके लिए जप-यज्ञ बहुत श्रेष्ठ यज्ञ है, इसलिए भगवान्ने गीतामें 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' कहा। यज्ञ बहुत प्रकारके होते हैं। कोई शब्दादि विषयोंको इन्द्रियाग्निमें हवन करते हैं। कोई इन्द्रियादिको शब्दादि विषयोंमें हवन करते हैं। कोई प्राणको अपानमें करते हैं। कोई अपानको प्राणमें करते हैं। बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन गीतामें एक स्थानपर लिखा हुआ है। परन्तु वे सब यज्ञ हैं ही और जो बाहर यज्ञ होते हैं—जैसे अश्वमेध यज्ञ है, राजसूय यज्ञ है, वृहस्पति सव है, वाजपेय है, वैश्यस्तोम है, निषाद-स्थपति-याग है, आदि उन सब यज्ञोंके बीचमें भगवान्के नामका, भगवान्के मन्त्रका जप मूर्धन्य बन गया है।

यह जप अभिमानोत्पादक नहीं होना चाहिए, परम्परासे प्राप्त होना चाहिए, अधिकारीके द्वारा होना चाहिए, विधिपूर्वक होना चाहिए, श्रद्धासे होना चाहिए तो यह जप-यज्ञ मनुष्यको श्रेष्ठ बना देता है। जैसे यहाँ विष्णुका आराध्यके रूपमें विभूतिका वर्णन है वैसे वहाँ अनधिकारीको भी अधिकारी बना देनेवाले प्रेरकका प्रतिपादन है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 9

(8-11-81)

सबके अन्तर्यामी, सबके प्रेरक और सबके सारथि भगवान् हैं। पर सबके सारथि होनेमें और अर्जुनके सारथि होनेमें थोड़ा अन्तर है। साधारण जीवके सारथि हैं भगवान् अदृश्यरूपमें सामान्य प्रेरणा देते हैं। भक्तके सारथि हैं भगवान्—दृश्य रहकर। भक्त देखता है कि भगवान् हमको प्रेरणा दे रहे हैं, आज्ञा दे रहे हैं, अनुज्ञा दे रहे हैं। और जो अभक्त हैं उनको दिखाई नहीं पड़ता। वैसे सञ्चालक सबके भगवान् ही हैं। जैसे वर्णन आता है—'अग्निर्वै' वायुसारथि:'। अग्निका सारथि वायु है। 'अग्निर्वै वायु सचिव:'। अग्निका सचिव कौन है? वायु। सचिव है, सारथि है—सारयति अश्वान्—जो घोड़ेको चलाता है। पर अभक्तोंको इस बातका पता नहीं चलता है कि वह प्रेरक कौन है?

उपनिषदोंमें यह प्रश्न आया है कि किसकी प्रेरणासे हमारा मन कहीं जाता है? केनेषितं पतति प्रेषितं मन: (केन उप० 1.1) कौन हमारे प्राणोंका सञ्चालन करता है? किसकी प्रेरणासे हमारी आँखें देखती हैं? हमारे कान सुनते हैं। हमारी वाणी बोलती है। हमारा मददगार कौन है? क्या विडम्बना है जीवनकी कि हम अपने उस सहायकको, उस सचिवको, उस सारथिको, उस मददगारको पहचानते नहीं है। सो जानेपर भी जो हमारा साथ नहीं छोड़ता है—हमारे जीवनकी रक्षा करता है, मर जानेपर भी जो हमको मरने नहीं देता है, हमारे जीवनकी गतिको चालू रखता है। वह प्राणोंका प्राण प्रभु हमारे जीवनका सखा है। वेदमें एक मन्त्र आता है। जिसका भाव यह है कि जो अपने साथी और सचिव सखाको नहीं जानता है, उसको कुछ बोलनेका भी अधिकार नहीं है। जिसको यह मालूम नहीं है कि वाणीके भीतर बैठकर हमारी वाणीको शक्ति कौन देता है, उसको वाणीका प्रयोग करनेका भी अधिकार नहीं है। वही है अर्जुनका सारथि और यही है हमारा सारथि।

'धियो यो न: प्रचोदयात्' (ऋग्वेद 3.62.10) जो हमारे बुद्धिको प्रेरित करता है। दो बात गायत्रीमें कही गयी है। एक तो वह सृष्टिकर्ता स्वयंप्रकाश है और दूसरे हमारे बुद्धि-वृत्तियोंका प्रेरक है। एक प्रकारसे महावाक्य भी आगया इसमें और यह भी बात बता दी कि तुम विश्वके मूलमें जाकर परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते। यहीं अपने अन्त:करणके मूलमें बैठकर परमात्माका साक्षात्कार करो। 'अन्त: प्रवृत्त: शास्ता जनानाम्'। वेद भगवान् कहते हैं, वह सबके हृदयमें बैठा है। और सबका शासन कर रहा है। वही 'शरीरं रथमेव तु' (कठ उप० 1.3.3) शरीर रथ है और 'आत्मानं रथिनं विद्धि', (कठ० 1.3.3)। आत्मा रथी है और 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।' तथा बुद्धिमें बैठकर वासुदेव सारथिका काम कर रहे हैं। गीताके जो गुरु हैं भगवान्, वे हमारे हृदयमें बैठे हैं। और हम उनके शिष्य अर्जुन हैं। वे जो कुछ कहते हैं हमसे ही कहते हैं। हम गीताकी बात सुनें तो भगवान् हमारे हृदयमें बोल रहे हैं।

देखो आपको एक कौतूहल दिखाते हैं। हमने कहा यदि हम मनुष्य न होते, ऊँट होते और भगवान् हमको बता रहे हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (2.47)

वहाँ कर्मका अर्थ क्या होता? बोझ ढोओ, गाड़ी चलाओ। खानेको तो तुम्हारा मालिक देगा 'मा फलेषु कदाचन'। अच्छा, हम बैल होते तो इसका क्या अर्थ होता? हम चिड़िया होते तो इसका क्या अर्थ होता? ऐसे हम लोग पहले गीता पढ़ते थे। 5-4 जने बैठ जाते। एकके हाथमें ज्ञानेश्वरी, एकके हाथमें शाङ्करभाष्य, एकके हाथमें मधुसूदनी, एकके हाथमें लोकमान्य तिलक। मैं, अवधूत, चक्रजी, गोस्वामीजी, पुस्तक खोल-खोलकर एक-एक श्लोकका अर्थ देखते। फिर थोड़ी देर आँख बन्द कर लेते। आओ भाई, अलग-अलग सोचें-हम स्त्री हैं तो भगवान् क्या बोल रहे हैं? हम पुरुष हैं तो भगवान् क्या बोल रहे हैं? सबके लिए निकलता था अर्थ। ऐसे नहीं कि जो भक्त चन्दन-टीका लगाकर जनेउ पहनकर गीताका पाठ करते हों उन्हींके लिए गीता हो, यह बात नहीं है। यह जो गीतामें बोलनेवाले भगवान् हैं, वे सबके लिए बोलते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। 10.8

मैं सबका बाप हूँ-संचालक हूँ। साफ कह दिया-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। 18.46

जो लोगोंका संचालन करता है और जो सब बना हुआ है। वह भगवान् है। गीताके भगवान्को, गीताके प्रेरकको आप अपनेसे दूर मत कीजिये। अबसे 5000 वर्ष पहले महाभारत-युद्ध कुरुक्षेत्रमें हुआ। और वहाँ एक रथ था, एक अर्जुन था, एक कृष्ण थे। हम उस इतिहासको मना नहीं करते। परन्तु अब जिस युगमें आप हैं-आपसे 5000 वर्ष दूर नहीं हैं भगवान्। आपसे 1000-2000 मील दूर नहीं है भगवान्। वह कुरुक्षेत्रमें नहीं हैं, आपके हृदयमें हैं। वह द्वापरमें नहीं हैं, इसी कलियुगमें हैं और वह दूसरे रथमें नहीं हैं, इसी रथमें हैं। वह अर्जुन दूसरा नहीं है, आप ही हैं। अपनेको पहचानिये। देखिये आपका मार्ग-दर्शक, आपका पथ-प्रदर्शक 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'-वह जगदगुरु आपके साथ है।

जब हम पहले बोलते थे 'पिताहमस्य जगतः'-आनन्दमें भरकर बोलते थे। कभी-कभी चिल्लाकर भी बोलते थे-

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। 9.17-19

आपने शायद दूसरे मजहवोंकी कितावें पढ़ी होंगी? मैं सत् और असत् दोनों हूँ। 'सदसच्चाहमर्जुन'। यह बोलनेवाला ईश्वर, हमारे कृष्णके सिवाय, दूसरे किसी मजहबका ईश्वर ऐसे नहीं बोलता। मैं ही सत् हूँ, मैं ही असत् हूँ। ऐसे बोलनेवाला ईश्वर 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (10.34)-मैं मौत हूँ। और फिर भी आप लोगोंको आश्चर्य हो जाता है कि 'द्यूतं छलयतामस्मि' (10.36) क्यों बोलते हैं? अरे भाई जब वह असत् है, सत् है-

मृत्यु है-'जीवनं सर्वभूतेषु' (7.9)। सबका जीवन है और 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (10.34)। वही मृत्यु है। वही सत् है, वही असत् है। ऐसा बोलनेवाला सर्वात्मा ईश्वर कोई मजहबी ईश्वर नहीं होता है। यह मजहब नहीं है। यह किसी आचार्यके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है। यह कहीं पेड़के खोडरसे आया हुआ सन्देश नहीं है। यह अपने बेटेके लिए भेजी हुई चिट्ठी नहीं है। यह तो आपके दिलमें बैठा हुआ जो आपका दिलदार है, वह बोल रहा है-आपके लिए।

उसने बताया-यह मैं, यह मैं, यह मैं, जड़ भी अपनेको बताया-चेतन भी अपनेको बताया। ऐसा परमात्मा आपको किसी मजहबमें नहीं मिलेगा। 'अचरं चरमेव च' (13.15) चर भी वही है-जो चलती-फिरती चीजें हैं। वह भी वही है और जो अचल चीजें हैं वह भी वही है। वैज्ञानिक कह देते हैं सब जड़ है, चेतन है ही नहीं। कोई कहते हैं परमात्मा चेतन ही है, जड़ है ही नहीं। यह ऐसा परमात्मा है कि अपनेको जड़ और चेतन दोनों बतावे। यह अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नामका जो निरूपण है, वही कुम्हार है, वही माटी है, बननेवाला भी वही, बनानेवाला भी वही। बननेवाला घड़ा भी वही और बनानेवाला कुम्हार भी, माटी भी वही, ऐसे परमेश्वरका वर्णन है। मैं बार-बार यह बात इसलिए कहता हूँ कि दूसरे मजहबोंके मत हमारे ऊपर हाबी हो जाते हैं।

अहं आदिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

मैं ही भूतकी आदि हूँ, मध्य हूँ, अन्त हूँ। 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदमहर्जुन'। सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं हूँ। विभूति बतानेकी एक शैली है। इस तरफ आपका ध्यान खींचते हैं। आप ध्यान दें। जड़ वस्तुओंका नाम ले-लेकर भगवान्ने बताया ही है—विभूतियोंमें कि यह मैं हूँ—'स्थावराणां हिमालय:'। अपनेको साँप भी बताया है—'सर्पाणामस्मि वासुकि:। अनन्तश्चास्मि नागानां'—नाग भी बताया। और 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'—अपनेको चिड़िया भी बताया। यह 'मरीचिमरुतामस्मि' आया। ये मरुद्गण हैं, आदित्यगण हैं, वसुगण हैं, रुद्रगण हैं। इनमें एक-एक नाम लेकर भगवान् अपनेको बताते हैं। परन्तु एक-दो बात ऐसी हैं, अभी आपके सामने चर्चा करूँगा। मरुद्गणके उनचास नाम हैं। ग्यारह रुद्र होते हैं। द्वादश आदित्य होते हैं। आठ वसु होते हैं।

उनचास मरुद्गण होते हैं। जितने मरुत हैं—बहुत भेद होता है, उनका आवह प्रवह, आदि; किसीकी गति नीचेको होती है, किसीकी गति ऊपरको होती है। किसीकी गति टेढ़ी होती है, कोई बादल लानेवाला होता है, कोई गरमी लानेवाला होता है, कोई गन्ध लानेवाला होता है, वायुके अनेक भेद होते हैं। भगवान्ने बताया कि ये जितने मरुद्गण होते हैं उनमें मैं मरीचि हूँ। मरीचि नामक कोई मरुत् नहीं है। इसका अर्थ—वायुमें जो रश्मियाँ हैं, किरणें हैं वह मैं हूँ। सम्पूर्ण वायुके भेदोंमें जो एक ज्योति है, जो एक चमक है, जो एक गति देनेवाली संज्ञा है, वह मैं हूँ। बहुतोंमें एक—ऐसे बता दिया। मरुद्गण बहुत हैं और उनमें मैं मरीचि, सबमें रहनेवाला, मैं एक हूँ।

'अक्षराणामकारोस्मि' (10.33)। अक्षर बहुत-से हैं। जो कागजपर लिखते हैं, उनका नाम अक्षर नहीं होता है। ये जो लिपि है—काली स्याही या नीली स्याही पोत देते हैं कागजपर, वह स्याहीसे पुती हुई जो शकल है, लिपि है, उसका नाम अक्षर नहीं है। टङ्कण है—टाईप कर देते हैं—उसका नाम भी अक्षर नहीं है। जो तालके

पत्तेपर उल्लेख कर देते हैं, वह अक्षर नहीं है। एक लिपि होती है, एक उल्लेख होता है, एक टङ्कण होता, इनका नाम अक्षर नहीं है। लिपि चाहे चाइना हो, चाहे लेंटिन हो, चाहे रशियन हो, चाहे नागरी हो, जो हम 'क' बोलते हैं वह एक होता है। और क ख ग में 'अ' होता है वह एक होता है। 'अक्षराणामकरोस्मि'—ज़ो कण्ठ, तालु आदिके आघातसे उच्चारित होता है वह अक्षर है—चीनमें भी क क ही है और लेंटिनमें भी क क ही है और एशियामें भी क क ही है।

हमारे संस्कृत उच्चारणमें भी क क ही है। जो लिपियाँ अनेक होनेपर भी और देश अनेक होनेपर भी एक रूप जिसका उच्चारण होता है, उसका नाम होता है 'अक्षर'। 'न क्षरति' उसका नाश कभी नहीं होता। ब़िना 'अ'के कोई भी अक्षर बोला नहीं जा सकता। जिसके बिना किसी अक्षरका उच्चारण नहीं हो सकता वह क्या है? वह 'अ' है। परमात्मा कैसा है? जिसके बिना किसीकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिसके बिना किसीका ज्ञान सिद्ध नहीं होता। जिसके बिना कोई रूप-रङ्ग नहीं है। उसको बोलते हैं अक्षर—अब आपका मन्त्र आया 'अक्षराणाम् अकारोस्मि' यह अलग हो गया। और 'गिरामस्म्येकं अक्षरम्'। (10.25) एक अक्षरमें, वाणीमें मैं एक अक्षर हूँ; यहाँ एक अक्षरका अर्थ है—ॐकार—'अक्षराणाम् अकारोस्मि' 'अ' है और वाणीमें ॐकार है।

अब देखो 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि'। (10.25) जप-यज्ञ हिंसा यज्ञ नहीं है। न इसमें लकड़ी लानी पड़े न आग जलानी पड़े—न मन्त्रके लिए ब्राह्मणकी आवश्यकता पड़े और न इसमें खास अधिकारीकी जरूरत पड़े। जप-यज्ञ सब कर सकते हैं। यहाँ तक कि 'अशुचिर्वा शुचिर्वापि'। चाहे पवित्र हो चाहे अपवित्र। जब भगवान्‌का स्मरण करेंगे तब पवित्र हो जायेंगे। न आग जलानी पड़ी, न लकड़ी लानी पड़ी, न घी लाना पड़ा और न ब्राह्मणको मन्त्र बोलना पड़ा। न आहुति देनेका प्रयास, न अधिकारका कोई प्रश्न। केवल जीभ हिला दी। जप हो गया। यज्ञ सम्पन्न हो गया।

और देखो गायत्रीका भी नाम है—'गायत्री छन्दसामहम्' (10.35)। छन्दोंमें गायत्री हूँ। जपके दो मन्त्रोंका स्पष्ट उल्लेख गीतामें हो गया। 'ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'। और 'गायत्री छन्दसामहम्' और 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि।' जपमें सुगमता क्या है? इसमें 'हर्र लगे न फिटकरी और रङ्ग चोखा आवे'। बैठ गये—जीभ हिलाओ, चाहे मनसे करो। यह जो भेद करते हैं कि मनका जप सूक्ष्म है, यह वैखरी वाणीका जप है, यह मध्यमा वाणीका जप है, यह पश्यन्ती वाणीका जप है, यह परावाणीका जप है। ये वाणीके अनेक भेद होते हैं। मूलाधारसे परावाक् होती है। किनारामी लोग मानते हैं। मणिपूरकसे होती है। तान्त्रिक लोग मानते हैं—हृदयसे होती है। मूलाधारसे भी होती है—दोनों ही बात तन्त्रमें हैं। कोई कहते हैं कण्ठमें मध्यमा वाणी है। जिह्वामें वैखरी वाणी है। पर जप इसलिए नहीं किया जाता कि हम कहाँसे उसको बोल रहे हैं। जप इसलिए किया जाता है कि उसमें अपने प्यारे प्रभुका स्मरण हो। उसमें प्रभुकी शक्ति आती है।

भक्तिका सिद्धान्त यह है कि हम जो जप करते हैं वह हमारी शक्तिसे काम नहीं करता, प्रभुकी शक्तिसे काम करता है। नहीं तो अजामिलने किस नियमके अनुसार अपने बेटेका नाम लिया था? और कुब्जाने किस नियमसे कृष्णका रूप देखा? कोई नियम नहीं। परन्तु भगवान् अपने आपको कृपा करके प्रकट कर देते हैं।

एक बात तो जल्दी श्रद्धाके अन्दर नहीं आयेगी और असलमें बुद्धिसे जो बात समझमें नहीं आती उसीपर श्रद्धा करना चाहते हैं तो वह आपकी समझदारीके अन्तर्गत आगया। उसपर श्रद्धा करनेका कारण कहाँ रहा? श्रद्धा तो उसी बातपर की जाती है, जो ठीक-ठीक समझमें नहीं बैठती है। समझके बाहरकी वस्तुपर श्रद्धा की जाती है।

आपको एक हलकी-फुलकी बात सुना देते हैं। एक था गाँवका किसान। वह किसी महात्माके सत्सङ्गमें कभी-कभी जाता। एक दिन उसने बाबाजीसे पूछा कि बाबाजी, हमको कोई भगवान्का नाम बता दो हम उसका जप करेंगे। बार-बार लेते रहेंगे। हल भी जोतना है—नाम भी लेना हैं। बाबाजीने सोचा कि गाँवका गँवार क्या नाम लेगा? उसको बता दिया—'अघमोचन'। अघमोचन, अघमोचन 2-4 बार बोल दिया। हमारे पास भी ऐसे लोग बहुत आते हैं, जिनको हम कोई मन्त्र बता दें—वर्ष-दो वर्ष बाद मिलते हैं तो कहते हैं—भूल गये महाराज—याद नहीं है क्योंकि जब करेगा नहीं तो भूल ही जायेगा। कैसे याद रहेगा? वह बिचारा अघमोचन-अघमोचन करता चला। रास्तेमें भूल गया तो 'घमोचन घमोचन' बोलने लगा। 'अ' छूट गया—'घमोचन घमोचन' बोलने लगा और जाकर हल जोतने लगा।

यह नाम जब भगवान्ने वैकुण्ठमें सुना तो उनको हँसी आगयी। हँसी आयी तो लक्ष्मीजीने पूछा प्रभो, आप क्यों हँस रहे हैं? भगवान्ने कहा ऐसे ही हँस रहे हैं। उसमें कोई बात नहीं है। अब वे तो जिद्दपर आगयीं कि बताओ। मेरी कोई बात सोचकर हँसे होंगे। बताना पड़ेगा। आखिर लक्ष्मी-लक्ष्मी ही तो हैं। भगवान्ने कहा कि आज हमारा एक नया नाम संसारमें रखा गया है, वह सुनकर मैं हँस रहा हूँ। लक्ष्मीजी ने कहा क्या नाम है? बोलीं—बताने लायक नहीं है, बोले क्यों नहीं बताने लायक है? भगवान्ने कहा कि अच्छा तुम जाकर सुन आओ। देखो नया है कि नहीं? लक्ष्मीने कहा मैं अकेली नहीं जाऊँगी, तुम भी साथ चलो। अब दोनों हल जोतनेवाले किसानके पास पहुँच गये।

भगवान्ने कहा कि तुम जाकर सुन आओ, मैं जरा आड़में गड्ढेमें छिप जाता हूँ। वे गयीं—जाकर पूछने लगीं—भगतजी—भगवान्का क्या नाम ले रहे हो? अब वह तो बोले ही नहीं—'घमोचन, घमोचन'। सुन तो लिया तुम 'घमोचन-घमोचन' कह रहे हो, लेकिन यह नाम किसका है? अब वह तो अपना 'घमोचन' करे कि उनसे बात करे। जो जप करता है, उसको बात करना नहीं सुहाता है, वह नाराज हो गया। बोला—तेरे खसमका नाम ले रहा हूँ। अरे, लक्ष्मीजीने कहा कि यह तो हमको पहचान गया तब पूछा, उन्होंने कि आखिर वह है कहाँ? तो बोला गड्ढेमें। अब तो भगवान् और लक्ष्मी दोनों आकर उसके सामने प्रकट हो गये। इसको बोलते हैं—विश्वास। उसका विश्वास था कि भगवान्की ऐसी करुणा है कि वे अपने बलसे अपना दर्शन देने आते हैं।

जो लोग यह सोचते हैं कि हमारी श्रद्धा ही काम करती है—आप इसको थोड़ा गौरसे सोचो—जो लोग सोचते हैं कि हमारी मानसिक शक्ति काम करती है, हमारी श्रद्धा काम करती है, हमारा आत्मबल काम करता है, वे भगवान् पर विश्वास कहाँ करते हैं? उनका विश्वास तो भगवान् पर नहीं है, अपने मनपर है, अपनी श्रद्धापर है, अपनी करतूतपर है, वे भगवान् पर विश्वास कहाँ करते हैं? जपका अर्थ यह होता है कि जिसमें देवताकी शक्ति प्रकट होती है। स्वाध्यायात् इष्टदेवता-शम्प्रयोग: (योगसूत्र 2.44)। भगवान् पतञ्जलिने कहा कि ज़ब हम

जप करते हैं तो इष्टदेवता आकर स्वयं हमसे मिलता है। वह जपकी शक्ति नहीं है वह भगवान्‌की शक्ति है। भगवान्‌ने अपनी शक्ति जपमें डाल दी। आपको यदि नामपर विश्वास न होता कि यह भगवान्‌का है तो आप बार-बार उसका उच्चारण क्यों करते ? बार-बार उच्चारण करते हैं, इसलिए आपका विश्वास है कि यह भगवान्‌का नाम है। इसका बोलना महत्वपूर्ण है—यदि यह श्रद्धा आपकी न होती तो क्यों बोलते? और बार-बार क्यों बोलते हैं। बार-बार बोलनेमें प्रेम है और विश्वास भी है।

जब बार-बार एक क्रिया जीभसे होगी—राऽऽऽम, राऽऽऽम—थोड़ा लंबाना चाहिए। राम-रामको रॅम-रॅम नहीं करना चाहिए, रम-रम नहीं बोलना चाहिए। राऽऽऽऽम, राऽऽऽऽम—आपके हृदयमें जो कूड़ा-करकट भरा हुआ है उसको हटाता है। इसको थोड़ा लंबादें। देखो 'रा' और 'म'के बीचमें आप जितना अवकाश, जितनी पोल—जितना स्थान रखेंगे—उसमें आपके मनमें कोई संसारकी वस्तु नहीं आयेगी। राऽऽऽऽम, कृऽऽष्ण, कृऽऽष्ण, कृऽऽऽष्ण—आधे सेकंडके लिए आपका मन विषय-वासनासे और विषय-चिन्तनसे रिक्त हो जायगा, खाली हो जायगा। और उतनी देरके लिए आपका मन जब लावारिस हो जायेगा तो उसमें भगवान् प्रकट हो जायेंगे। उसको संधिस्थान बोलते हैं। 'रा' और 'म' की सन्धि सामान्य चेतन। यह जो जपकी महिमा है, यह बड़ी विलक्षण है।

हमको तो यह कहना था कि वायुके रूप अनेक हैं उनमें मरीचि एक है। और अक्षर अनेक हैं और उनमें 'अ' एक है। और वाणी अनेक है और उसमें प्रणव एक है। इसमें भी लौकिक प्रणवसे वैदिक प्रणवका भेद होता है। वह अपने मनसे पुस्तकमें देखा—हमलोग संस्कृतमें ॐ कैसे बोलते हैं? किसीने कहा गाम् आनय—गाय ले आओ। उसका उत्तर हम देंगे ॐ, ॐ माने अच्छाजी। हाँ। दो-के लिए ॐ बोलते हैं। वहाँ भगवन्नाम नहीं है। किसीने कोई आज्ञा की और ॐ इति स्वीकारे। स्वीकारके लिए ॐ बोल दिया। इसको लौकिक ॐ बोलते हैं। अपने बेटेका नाम लोग ॐ रखते हैं। ॐ प्रकाश। ॐ नामके लड़के भी हमको कई मिले हैं। केवल ॐ । आर्यसमाजी लोग ओम् लिखते हैं तो ओ और म् के बीचमें ३ और लिखते हैं। माने उसका प्लुत उच्चारण होना चाहिए। यह उसका अभिप्राय होना है 'ओऽऽऽऽम्'।

एक तान्त्रिक भेद और होता है। हमलोग जो अ, आ, इ, ई, ए, ऐ 'ओ' चौदहवाँ स्वर जो बोलते हैं—इसपर बिन्दी लगा दी जाय—अनुस्वार लगा दिया जाय, तो ओं हो जाता है। वह भी वैदिकमें ही है। और एक वेदमें जिस रीतिसे प्रणवका उच्चारण आता है, अकार-उकार-मकार अर्धमात्रा; नौ विभाग होते हैं इसके। बिन्दु नाद, कला, अकार, उकार, मकार—अर्धमात्रा, तुरीय, नाद इनसे शरीरका कल्प होता है जैसे वैद्यलोग आयुर्वेदिक कल्प करवाते हैं वैसे ही मान्त्रिक कल्प होता है। भगवान् अपनेको ऐसे बता रहे हैं। यह तो नमूना है।

अब आप लोगोंको स्त्रियोंमें जो भगवान्‌की रुचि है, उसकी चर्चा भी कर देते हैं। जैसे वाणी अनेक है और उसमें प्रणव एक है—जैसे लिपि अनेक है, उसमें अक्षर एक है। स्वर-वर्ण अनेक हैं, उसमें 'अ'कार एक है, वैसे अर्जुनने कहा—कृष्ण, तुम अपनी सब विभूति बताते हो—किसी महिलाका नाम भी ले दो कि वह भी

तुम्हारी विभूति है। नहीं तो पीछे तुम्हारे ऊपर आक्षेप होगा कि स्त्रियोंका इतना प्रेम लिया और इतने ब्याह किये और जब विभूतियोंकी गिनती करनी हुई तो किसी महिलाका नाम ही नहीं लिया। इतनी उदासीनता क्यों ? श्रीकृष्णके मनमें भी यह बात आयी कि यदि मैं किसी एक महिलाका नाम लेऊँगा तो दूसरी महिलाएँ नाराज हो जायेंगी। यह मैं आप लोगोंपर कटाक्ष करनेके लिए नहीं कह रहा हूँ। यह कटाक्ष नहीं है—यह स्वभावका चित्रण है। भगवान् ने सोचा कि बात ऐसे ढङ्गसे कहनी चाहिए कि सब कहें कि यह हममें है, यह हममें है। हमको ही श्रीकृष्ण अपनी विभूति बता दें।

आप लोग सब उनकी विभूति ही हैं। क्योंकि पुरुषमें भगवान्ने जब अपनी विभूति बतायी तो आपके ध्यानमें होगा 'पौरुषं नृषु'। (7.8) पुरुषोंमें जो पौरुष है वह मैं हूँ। एक आदमीका नाम कहाँ हुआ? सामान्यरूपसे जो पौरुषयुक्त है, उसको भगवान् अपनी विभूति बताते हैं। उसमें आप हो सकते हैं कि नहीं? निश्चय ही जब आप पौरुष कर रहे हैं तो आप भगवान्की विभूति हैं। मुर्दे हो गये तो क्या विभूति हो?

उत्तिष्ठध्वं जागरध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः।

अरे भारतो, प्रतिभा-सम्पन्न पुरुषो! उठो, जागो—अपने जीवनमें अग्निके ज्वलन—प्रकाशका आवाहन करो, यह भगवती श्रुति बोलती है। जैसे सब पुरुषोंमें पौरुषके रूपमें भगवान् हैं। बोले फिर हमारे अन्दर भगवान् हों तो पुरुषोंकी बराबरी हो गयी। भगवान्ने कहा नहीं-नहीं, पुरुषोंसे माताओं तुम बड़ी हो, महिलाओ, तुम्हारे अन्दर मैं एक नहीं सात रूपमें रहता हूँ। एक स्त्रीके भीतर सात रूपमें भगवान्।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। 10.34

अब आप देखो, आप भगवान्की विभूति हैं कि नहीं? हम आपका नाम लेकर नहीं बोलते। आप स्वयं सोच लीजिये? आप भगवान्की विभूति हैं कि नहीं है? 'नारीणाम्' जितनी भी स्त्री जाति है—

विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु। सप्तशती 11.6

यह सब जगत्-जननी जगदम्बाका रूप है। इनमें भगवान् किस रूपमें रहते हैं। पहले बताया कीर्ति। आपके पासमें, पड़ोसमें, दूर, दूसरोंके मुँहमें आपका कीर्तन कैसा है? लोग भला कहकर आपका वर्णन करते हैं कि नहीं? यह भली स्त्री है। यह जो आपके अन्दर भलापन है वह भगवान्की विशेष विभूति है। फिर बोले 'श्री' जहाँ पाँव रख दिया, वहाँ लक्ष्मी आगयी। हम कई अच्छे घरोंकी बात जानते हैं। लोग बताते हैं महाराज, हमारे घरमें तो पहले कुछ नहीं था। जबसे इस बच्चेके पाँव हमारे घरमें पड़े हैं और लक्ष्मी अपने आप ही हमारे घरमें आने लगी है। 'श्री' माने लक्ष्मी लेकिन श्रीका अर्थ सौन्दर्य भी है। आप अपनेको ठीकठाक रखती हैं कि नहीं? शारीरिक सुन्दरता—असलमें चामकी सुन्दरता-सुन्दरता नहीं है। आँखकी सुन्दरता सुन्दरता नहीं है। ओठकी सुन्दरता-सुन्दरता नहीं है—जो चरित्रका सौन्दर्य है वही वास्तविक सौन्दर्य है। जहाँ चारित्र्य है वहाँ सुन्दरताका निवास है। इसीसे मनुस्मृतिमें तो ऐसे कहा—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। 3.56

जहाँ नारीका आदर है, वहाँ देवता लोग अपने आप ही आते हैं। स्वयं लक्ष्मी आपके घरमें स्त्रीके रूपमें

निवास करती हैं। परन्तु अपने रूप-सौन्दर्यको भी ठीक बनाये रखना चाहिए, गुण-सौन्दर्यको भी ठीक बनाये रखना चाहिए। यह नहीं कि बाजारमें गये तो सजधजकर गये और घरमें रहे तो बाल ऐसा, शरीर ऐसा, कपड़ा ऐसा। अब आपके पति यदि आपकी सुन्दरता देखना चाहते हों तो उन्हें बाजारमें जाकर आपकी सुन्दरता देखनी पड़ेगी। घरमें उन्हें देखनेको नहीं मिलेगी। नहीं—घरमें ही सुन्दर दिखना चाहिए। आपका सौन्दर्य बाजारमें लुटानेके लिए नहीं है। घरमें—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'। (कुमारसम्भव 5.1) अपने प्रियजनोंको भाग्यशाली बना देना इसका नाम सौन्दर्य है। (यह कुमारसम्भवमें कालिदासका वचन है)। जो अपने प्रिय लोगोंको भाग्यवान् बना दे, भाग्यशाली बना दे, उसका नाम सुन्दरता है।

अब देखो एक बात आपको सुनाता हूँ। अपनी विभूति सुनाते-सुनाते श्रीकृष्णको व्रजकी याद आगयी। जब स्त्रियोंका नाम लेना था तो ब्रजकी याद आगयी। बोले पहले श्रीजीका नाम लेना चाहिए। श्री माने राधा है, पर पहले पत्नीका नाम लेंगे तो लोग हमको पत्नी भक्त कहेंगे। सबसे पहले सासका नाम लेना। 'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणाम्।'—यह राधारानीकी माँ हैं। इस बातको आप ध्यानमें लें तब मालूम पड़ेगा। राधाकी माँ कौन? कीर्ति। श्रीकृष्णकी माँ कौन? यशोदा। यश और कीर्ति। जहाँ भगवान्का यश आप श्रवण, वर्णन करेंगे, वहाँ भगवान् प्रकट हो जायेंगे। और जहाँ कीर्ति होगी—वहाँ आराधना-राधा प्रकट हो जायेगी। आराधिका कौन बनेगा? जिसकी माँ कीर्ति होगी। पहले कीर्तिका श्रवण-वर्णन करो। राधारानी आयेंगी। सब स्त्रियोंमें कीर्ति भी है और श्री भी है।

अब तीसरी बात है कि सरस्वतीजी भी आकर बसी हैं। बड़ी मुखरा हैं। एक श्लोक है—जगन्नाथपुरीमें भगवान् लकड़ीके क्यों हो गये? बोले उनकी एक पत्नी हैं सरस्वती। वह इतना बोलती हैं कि भगवान्को बोलनेका मौका ही नहीं मिलता। और दूसरी पत्नी हैं लक्ष्मी। घरमें उनके पाँव टिकते ही नहीं। दिनभर घूमती रहें तो आदमी आदमी कैसे रहेगा? वह तो लकड़ीका हो जावेगा।

एका भर्या प्रकृतिमुखरा चञ्चला च द्वितीया।

एक बेटा है- उसका नाम है, काम, प्रद्युम्न। मन्मथ था; वह लोगोंका मन प्रचलित करता है और किसीकी बात मानता नहीं। दुर्निवार है। बेटेकी यह हालत। और साँपके पलङ्गपर सोना पड़ता है। और साँपोका जो दुश्मन है गरुड़-वह वाहन है। इसलिए-'दर्श दर्श स्वगृहचरितं दारूभूतो मुरारिः।' अपने घरका चरित्र देखकर भगवान्को लकड़ी का बन जाना पड़ा।

वाणी सत्य हो, प्रिय हो- एकबार आपके बारेमें आयडिया बिगड़ जायगा कि हमारी माँ, हमारी पत्नी, हमारी बहन, हमारी बेटी हमसे झूठ बोलती है, तो जिन्दगी भरके लिए आपको एक कष्ट आ जायेगा। सत्य बोलें, प्रिय बोलें, हित बोलें, थोड़ेमें बोलें, मौकेकी बात बोलें। कोई कठोर वाणीमें बोले तब भी आप मृदु बोलें। कोई कठोर-से-कठोर बोले आप कोमलतासे बोलिये। किसीने आपका बुरा कर दिया हो उसको भूल जाइये और प्रिय बोलिये। यदि कोई कैसे भी एक बार अनजानमें भी आपका उपकार कर दे, तो उससे सन्तुष्ट रहिये, उसकी याद रखिये। उस उपकारको बार-बार दुहराइये और अपकारकी चर्चा कभी मत कीजिये। दुश्मन

भी अपने घरमें आजाये तो पहले उठकर उसका स्वागत कीजिये। हाथ जोड़िये। उसको ऊपर बैठाइये। मुस्कराकर उससे बात कीजिये। आपकी वाणीमें भगवान्‌की विभूति है, भगवान्‌का निवास है।

स्मृतिः-पतिने कहा आज जरा हमारी बुशर्टमें बटन लगा दो और जब उनको ऑफिस जाना हुआ तो बोले मैं भूल गयी। यह विस्मृति-अपने कर्तव्यको भूल जाना, यह प्रेमकी कमीका लक्षण है। यह नहीं कि भूलना मेरा स्वभाव है। ऐसे नहीं चलता। स्मृति होनी चाहिए-ठीक समयपर। हमारे एक मेहमान आये। हमने एकसे कहा-इनको ले जाकर सुलाओ, भोजन कराओ। ले जाकर उन्होंने सुला दिया और भोजन कराना भूल गये। दूसरे दिन दस बजे जब वे पूजा-पाठ करके आये तो मैंने पूछा कि रातको सब भोजन-भाजन ठीक हो गया तो बोले-हाँ,हाँ,हाँ! पाँच शास्त्रके आचार्य हैं-उनकी उम्र अब ८5 वर्षकी है। यह सच्ची घटना है। ब्रह्मचारी हरदत्त। माने अपने कर्तव्यकी स्मृति होनी चाहिए—ठीक समय पर। यह जो स्मृति है यह स्त्रीके जीवनका कोष है। उसको समयपर कर्तव्यका स्मरण होना चाहिए। अच्छा माल लो यदि किसीने नहीं कहा है तो अपनी अकल कहाँ गयी है? कहीं चरने थोड़े ही गयी है।

स्मृतिर्मेधा-मेधाका अर्थ है-एक बार जो बात बता दी गयी उसको धारण करे। और 'धृतिः'। धृति माने धैर्य्य। सहिष्णुता रहनी चाहिए जीवन में। कोई भी कष्ट आजाय। बोलते हैं दुनियामें पत्नी ही एक ऐसी होती है जो कष्टके समय अपने पतिका साथ नहीं छोड़ती। वह चाहे दोषी-से-दोषी हो जाय, शराबी हो जाय, कबाबी हो जाय, दुष्ट हो जाय अपने धैर्य्यको बढ़ाना चाहिए क्योंकि उसी समय तो पत्नीकी जरूरत है कि यदि वह नालीमें गिर गया तो वह जाकर उठावे और लाकर स्नान करावे। उसको होशमें ले आवे और उसको समझावे कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए। यदि उसी समय स्त्री साथ छोड़कर चली जावेगी, सहिष्णुता उसके अन्दर नहीं होगी तो विवाह करनेका तो काई अर्थ ही नहीं हुआ। स्त्री ऐसी होनी चाहिए, चाहे बहन हो, चाहे पत्नी हो, चाहे माँ हो, जो संकटके समयमें साथ न छोड़े, सब कुछ सह ले।

क्षमा-यदि किसी से कोई अपराध हो जाय-बेटे से हो जाय तब तो क्षमा कर ही देते हैं। अपने आपसे हो जाय तब! तब तो इतनी क्षमा करते हैं कि बिलकुल किसीको पता ही न चले। अपने सौ-सौ अपराध आदमी क्षमा कर लेता है और दूसरोंमें जरा-सा भी अपराध दिख जाय-देवर है-कभी हँसी-मजाक कर दे, बेटा है-कभी गलत संगमें चला जाता है। पतिसे भी कोई गलती हो जाती है तो स्त्री के अन्दर क्षमा होती है। यह क्षमा कौन है? यह धैर्य्य कौन है? यह मेधा कौन है? यह स्मृति कौन है? यह मधुरवाणी कौन है? ये सौन्दर्य कौन है? ये कीर्ति कौन है? ये भगवान्‌की विभूति है। तो औरोंमें, भले ही पुरुषोंमें एक ही रूपमें भगवान् बैठे हों, लेकिन स्त्री-शरीरमें तो सात-सात रूपमें रहते हैं। बल्लभाचार्य ने तो लिखा है कि श्रीकृष्णका तो अवतार ही स्त्रियोंके लिए हुआ। यह भगवान्‌की विभूति सात-सात रूपमें एक-एक स्त्रीमें निवास करती है। पर नाम नहीं लिया। मैं समझता हूँ किसीका नाम लेनेमें डरते होंगे। बताया-सबमें रहता हूँ, जिससे कोई नाराज न हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 10

(9-11-81)

माँ मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ । तुम्हारा ध्यान करता हूँ। एक सरस्वती वह है जो ब्रह्माके मुखसे निकलीं। वाग्देवी, वेदवाणी और एक सरस्वती गीता है, जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुई है। यह गीता-सरस्वती-गीता-भारती हमारी माँ हैं। माँका अनुसन्धान करना चाहिए।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। तै० उप० 1.1.2

आओ गीतापर ध्यान दें। हमको बचपनकी एक स्मृति है। किसी सन्तके पास जाकर हम उससे कहते कि हमको भगवान्‌का दर्शन करा दें। एक सन्तसे मैंने यही बात कह दी-मुझे भगवान्‌का दर्शन करा दीजिये। वे तो नाराज हो गये। आजकल जैसे हमलोग लल्लो-चप्पो करते हैं न! वैसे पहलेके फकीर लोग नहीं करते थे। वे तो बहुत खड़कझंझारी होते थे। डाँट देते थे। उन्होंने डाँट दिया। तुम भगवान्‌का दर्शन करना चाहते हो? यह सब क्या हो रहा है। तुम्हें सूर्य, चन्द्रमा दिखते हैं कि नहीं? तुम्हें धरती, पानी, आग, हवा, अष्टमूर्ति भगवान् शंकरका दर्शन होता है कि नहीं? यह विराट्‌रूपका जो दर्शन हो रहा है, यह विराट कौन है?

इतना दर्शन दे रहे हैं तुमको भगवान्, इतनी-दर्शन, योग्य वस्तुएँ, पशु बनकर आगये, पक्षी बनकर आगये! वृक्ष बनकर आगये! सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे बनकर आगये। स्त्री, पुरुष बनकर आगये! इतने रूपोंमें भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं। तुमने भगवान्‌को क्या निहाल कर दिया? कोई पूजा की? कोई भक्ति की? कोई सेवा की? जितने रूपोंमें भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं उनका तो तुमने अपने जीवनमें कोई आदर नहीं किया, सेवा नहीं की और तुम अपने मनकी एक मूर्ति बनाओगे और कहोगे कि उसके रूपमें भगवान्‌के दर्शन हों। बड़ी डाँट पड़ी मेरे ऊपर। माता भगवान् है, पिता भगवान् हैं, गुरु भगवान् हैं। प्रकृतिमें दीखनेवाले अनेक पदार्थोंका नाम, शास्त्रमें भगवान्‌ने बताया है। जितने रूपोंमें भगवान् दीख रहे हैं, उन रूपोंमें तो हम भगवान्‌की सेवा नहीं करते, ध्यान नहीं करते, उपासना नहीं करते। उनको देखकर अपने हृदयमें सद्‌भाव नहीं लाते और जो नहीं दिखता है, उसके लिए व्याकुल होते हैं।

अभी थोड़ी देर पहले यह बात हमको याद आगयी। भगवान् दुर्लभ नहीं हैं। भगवद्-भाव दुर्लभ है। जिसके हृदयमें भगवद्‌भाव-का उदय हो गया, उसके लिए तो जब हमारी आँखकी रोशनी भगवद्‌भावसे अनुप्राणित होती है, भगवद्‌भावके रंगमें रंगकर जब हमारी आँखकी रोशनी निकलेगी तब तो हम जहाँ देखेंगे वहाँ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान् कहीं चले नहीं गये हैं। न दूर हैं भगवान्, न उसके मिलनेमें देर है। न दूसरा है। हमारा मन ही कुछ-का- कुछ पकड़कर बैठा है। एक पिताने अपने पुत्रसे कहा-छोटेसे पुत्रसे-कि बेटा, तुम यह काम कर दो तो तुम्हें मिठाई देंगे। पुत्रने वह काम कर दिया। और पिता जब मिठाई देनेके लिए आये तो पेड़ा लाये। पुत्रने कहा हमको मिठाई चाहिए, हमको पेड़ा नहीं चाहिए। यह तो पेड़ा है, यह तो पेड़ा है, यह तो बरफी है, यह तो कलाकन्द है। हमको तो मिठाई चाहिए। यह तो शक्कर है, यह तो मिश्री है, हमको तो मिठाई

चाहिए। मिठाई तो शक्कर भी है, मिश्री भी है, ओला भी है, पेड़ा भी है, बरफी भी है, जलेबी भी है। मिठाई तो हमको मिल रही है मगर जो सबमें मिठाई है वह तो हमको दीखती नहीं है और कोई कल्पित मिठाईके लिए हम तरस रहे हैं। जितने रूपोंमें हमें परमेश्वरका दर्शन हो रहा है, उसका हमारे हृदयमें कितना आदर है, यह चिन्तनीय है। यह विचारणीय है।

शास्त्रके अनुसार ही तो अवतारका ज्ञान होता है। यह नहीं कि चाहे जो कल्पना कर ले कि मैं अवतार हूँ। अपनी कल्पनासे भी कोई अवतार नहीं होता। और लाख-लाख बेवकूफ चेलोंकी कल्पनासे भी कोई अवतार नहीं होता। आपलोग बुरा मत मानना, हम आप लोगोंके लिए नहीं कह रहे। आपको छोड़कर बोल रहा हूँ। यदि बेवकूफ न होते तो चेला बननेकी जरूरत ही क्या होती? माने कुछ नहीं समझते हैं, उसको समझनेके लिए ही तो गुरु बनाने जाते हैं। वैसे ही नासमझ लोग यदि किसीको भगवान् कहने लगें तो उसकी कोई कीमत नहीं होती है। वह तो नासमझोंके भगवान् होते हैं। शास्त्रीय पद्धति इसमें यह है कि समग्र विराट्को हम देख नहीं पाते हैं। समझ भी नहीं पाते हैं। दिशाएँ विराट्के कान हैं। आकाश विराट्की नाभि है। सूर्य-चन्द्रमा विराट्के नेत्र हैं। वायु विराट्का श्वास है, पृथिवी विराट्का पाँव है।

यह पृथिवी ही नहीं जिसपर हम हैं, वह मृत्तत्त्व जो जलमें लीन है। अग्नि=तेजस्तत्त्व विराट्का मुख है। ये जितने अवतार होते हैं और जितनी मूर्तियाँ होती हैं ये सब विराट्के अवयव होते, विराट्के अङ्ग होते हैं। जहाँ वैदिक शास्त्र नहीं है, वहाँ भगवान्की पूजा पृथिवीके रूपमें होती है, जलके रूपमें होती है अग्निके रूपमें होती है, वायुके रूपमें होती है, आकाशके रूपमें होती है और हमारे शास्त्रज्ञोंने जब देखा कि मानवकी शक्ति कितनी है, उसकी बुद्धि कितनी है? तब उन्होंने निश्चय किया कि समग्र विराट्की धारणा मनुष्य ठीक-ठीक नहीं कर सकता। विराट्के एक अवयवमें एक अङ्गमें विराट् बुद्धि, विराट् पाँव है समझो धरती तो उसमें शिवलिङ्ग है, जो नर्मदामें-से निकलता है। उसमें शालग्राम है, जो गण्डकीमें-से निकलता है। और भी कहीं भी पाषाण-खण्डको हम गढ़के वैसी मूर्ति बना लेते हैं—चतुर्भुज, द्विभुज। वह है विराट्का अङ्ग। उसकी पूजाको भी विराट्की पूजा बोलते हैं।

एक बालक है, अपने पिताकी एक उंगली पकड़कर चल रहा है। लोग क्या कहेंगे? अपने पिताको पकड़कर चल रहा है। चल रहा है—वह पिताकी एक उंगली पकड़कर, पर कहा जायगा यह कि वह पिताको पकड़कर चल रहा है। इसी प्रकार हम उपासनामें विराट्के एक अवयव, एक अङ्ग, एक अंश, एक हिस्सेकी उपासना करते हैं और वह समग्र विराट्की उपासना हो जाती है। मनुष्यको गलेमें माला पहनाते हैं तो समूचे मनुष्यका आदर होता है। इस तरहसे भगवद्-बुद्धिसे हम विराट्के एक अंशकी ही सेवा करते हैं।

सब प्यासोंको हम पानी नहीं पिला सकते तो एक प्यासेको एक गिलास पानी पिलाते हैं। सब भूखोंको नहीं खिला सकते तो एक भूखेको खिलाते हैं। सब रोगियोंको दवा नहीं दे सकते तो एक रोगीको दवा देते हैं। तो यह जो भगवान्का विराट् रूप है, इसमें जहाँ ध्यानसे आप देखेंगे वहाँ आपको भगवान्की विभूति मिलेगी। जब आपने 'पुण्यो गन्ध: पृथिव्यां च' (7.9) पढ़ा तो विभूति सब जगह मिली या नहीं मिली? 'रसोऽहमप्सु

कौन्तेय' (7.8)—'तेजस्तेजस्विनामहम्' (7.10) पढ़ा, 'पवन: पवतामस्मि' (10.31) पढ़ा, 'शब्द खे पौरुषं नृषु' (7.8)। तो यह समग्र विराट् ही भगवान्‌की विभूति है, वैभव है। वर्णन करके इसका अन्त स्वयं भगवान् भी नहीं पा सकते हैं।

हम लोगोंको यह कहनेमें कि भगवान् यह बात नहीं जानते हैं, कोई संकोच नहीं है। हम ईश्वरके ज्ञानकी सीमा भी जानते हैं। हम कह दें कि यह बात ईश्वर नहीं जानते हैं—और यह काम ईश्वर नहीं कर सकते, यह भी हम बता सकते हैं। भागवतके मूलमें ही यह प्रसंग है। क्या भगवान्‌को अपना अन्त मालूम है? भगवान्‌का अन्त कहाँ है? किस देशमें है? किस कालमें है? किस रूपमें है?

भागवतके मूलमें यह बात कही कि भगवान् अपना अन्त नहीं जानता। तय यह हुआ कि भगवान् अज्ञानी हुआ। नहीं, अज्ञानी नहीं हुआ। यदि अन्त होता और ईश्वर न जानता तो अज्ञानी होता। जब अन्त है ही नहीं तो ईश्वर कैसे जाने? अन्तको न जानना ही ज्ञान है। ईश्वर क्या नहीं कर सकता, यह हम बतावें? ईश्वर दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता। यदि ईश्वर दूसरा ईश्वर बनावेगा तो बनावटी ईश्वर पहले तो था ही नहीं। जो पहले ईश्वर था वह अभी ईश्वर है, आगे ईश्वर रहेगा और वह बीचमें बनाया गया होगा। नित्य ईश्वर अपनेको मार नहीं सकता—ईश्वर कहे कि—हमारी मौत हो जावे, नहीं हो सकती। ईश्वरके किये भी नहीं हो सकती। यह जो ईश्वरका विस्तार है, इस विस्तारको स्वयं ईश्वर भी नहीं जानता।

अब हम आपको एक-एक नाम लेकर बतावें, तो जो नाम लेकर बतानेमें स्वयं ईश्वर ही हार गया है, उनके नामोंकी गिनती हम कैसे करेंगे?

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। 10.40

यह तो नाम गिना दिया। केवल उद्देश्य मात्र। एक गणना कर दी। दिग्दर्शन करा दिया। यह विभूति है, यह विभूति है। जब सब विभूति है तो उसकी गणना कहाँ करें? ऐसा आप समझो कि एक लड़कीका पिता लड़का देखने गया। पहले उसने देखा कि उसके पास धन-सम्पदा कितनी है? यह विभूति हो गयी। यह दसवें अध्यायमें है और फिर ग्यारहवें अध्यायमें देखा उसने—उसकी विशालता—उसका विस्तार कितना है? उसका व्यक्तित्व कितना बड़ा है? ये आसपाससे जान लिया। फिर तो महाराज, उससे प्रेम हो गया। यह बारहवाँ अध्याय है। भक्ति हो गयी। वह बड़ा वैभवशाली है—बड़ा विराट् है, यह तो भक्ति करने योग्य है। फिर तेरहवें अध्यायमें उससे पहचान हो गयी। उसका ज्ञान हो गया। और चौदहवें अध्यायमें उसका उसके सिवाय जो कुछ था उसको छोड़ दिया। गुणत्रय-विभाग हो गया। पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम-योग हो गया। उससे विवाह हो गया। पन्द्रहवें अध्यायमें बेटी बिलकुल ब्याह दी।

यह गीताका क्रम देखो। दसवें अध्यायसे लेकर पन्द्रहवें अध्याय तक! वैसे सारा ही क्रम रहस्यपूर्ण होता है लेकिन अभी उसपर कहनेका समय नहीं है। यह आपने वैभव देखा। अब कोई तो पड़ोसीसे पूछ गया, कोई दलालसे पूछ गया। अर्जुनने कहा हम पड़ोसी या दलालकी बात नहीं मानते हैं। यदि कोई अपना झूठा वैभव

बताता हो तो उसकी बातपर विश्वास न करके, पड़ोसीसे पता लगाया जाता है। अब तुम तो स्वयं यहाँ मौजूद हो। अपने मुँहसे ही बता दो कि तुम्हारे पास क्या-क्या वैभव है? अर्जुन श्रीकृष्णका परम मित्र है और श्रीकृष्णने तो यहाँतक शिष्टाचारका पालन किया कि जब खाण्डव-दाहके समय इन्द्रकी इच्छा पूरी करनेके लिए श्रीकृष्णने अर्जुनसे नागकी रक्षा करवायी तब इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि श्रीकृष्ण, तुम वरदान माँगो। कृष्णने कहा, अच्छा महाराज, आप देवता हैं, मैं मनुष्य हूँ आप मुझे एक वरदान दीजिये। क्या? अर्जुन आपका पुत्र है, इससे मेरी मित्रता बनी रहे। कभी-कभी बाप लोग जो हैं वे अपने बेटेसे मित्रता करनेमें बाधा डालते हैं। तो आप हमेशाके लिए हमको यह वरदान दे दीजिये कि अर्जुनके साथ हमारी मैत्री सर्वदा बनी रहे। और इन्द्रने कहा कि यह वरदान हम तुमको देते हैं। इन्द्रने यह वरदान दिया।

अर्जुनके जो पिता हैं इन्द्र—इन्द्रके वरदानसे, अनुमतिसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मित्रता है। और मित्रता तो स्वाभाविक रूपसे भी है। जीव-ईश्वर हैं? कहीं-कहीं तो बड़े शिष्टाचारके साथ अर्जुनको बोलते हैं, तुम मेरे भक्त हो, मेरे सखा हो, मेरे इष्ट हो और कभी बड़ी सादगीसे बुला लेते हैं—'अर्जुन'। यह मैत्रीकी बात है। मैत्रीमें बहुत शिष्टाचारकी आवश्यकता नहीं रहती है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। 10.40

यह मैंने जो विभूतिका विस्तार तुमको सुनाया, यह तो केवल नाम-मात्र, गणनामात्र है। वैसे तो सब नाम भगवान्‌के हैं और सब रूप भगवान्‌के हैं।आपको क्या बतावें—यह आँख देखनेके लिए जहाँसे शक्ति और चेतना लेती है, उसी शक्ति और चेतनाको अपने सामने रखकर देखती है। ईश्वर कहाँ रहता है? जहाँसे आँखमें रोशनी आती है। वह एक ऐसा, वह तार जो हृदयसे लेकर आँख तक जुड़ा हुआ है। जैसे तारपर चढ़कर बिजली आती है, वैसे उसी एक रश्मिपर चढ़कर ईश्वरकी चेतना और ईश्वरकी शक्ति आँखमें आती है। और आँख बाहर रखकर उसको देखती है।

यह हमारी जीभ बोलती है। बोलनेकी शक्ति कहाँसे आती है? कोई कहते हैं ऊपरसे आती है, कोई कहते हैं नीचेसे आती है। परावाक् मूलाधार चक्रमें है; वहाँसे बोलनेकी शक्ति ऊपर चढ़ती है और कोई कहते हैं नहीं, मस्तिष्कमें ही चेतनाका केन्द्र है। वहींसे वाणीमें शक्ति आती है। ठीक है। ईश्वर ऊपर भी है, नीचे भी है। पर वाणी जहाँसे चेतना और शक्ति लेकरके शब्दोच्चारण करती है वही चेतना और वही शक्ति वह अपने शब्दोंके द्वारा वस्तुमें रखकर देखती है। वही सत्ता, वही ज्ञान सर्वत्र भरपूर है। लोक-व्यवहारमें बोलते हैं, ईश्वरकी सत्ताके बिना पत्ता भी नहीं हिलता है।

योन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।। भा० 4.9.6

हमारी 'इन्द्रियोंमें, हाथमें, पाँवमें, मनमें, जितनी भी शक्ति है, उस शक्तिके बिना—उसके अधिष्ठान, उसको धारण करनेवाले, अखिल कारक शक्तिधर वही एक प्रभु हैं जो भीतर भी हैं और भीतरसे इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर अनेक रूपमें दर्शन देते हैं। आपको मालूम है—यदि हम सो जायें तो? इन्द्रियाँ बन्द हो जायें तो? तो बाहरकी वस्तुएँ नहीं दिखायी पड़ेंगी। सब भीतर सिमट जाती हैं।

यह उसकी विभूति है। यहाँ तो नाममात्र बता दिया। अच्छा तो विभूति पहचाननेका एक तरीका बताते हैं। तौर-तरीका, प्रक्रिया, शैली, ढङ्ग। किस ढङ्गसे हम भगवान्की विभूतिको पहचानें?

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। 40.41

आप हमारी विभूतिको पहचानिये। जहाँ-जहाँ विभूति है, विशिष्ट भवन है वहाँ-वहाँ विभूति है। यह नहीं कि सारी सृष्टिमें सादृश्य है। सादृश्य होनेपर तो सृष्टिका बोध नहीं हो सकता। कानसे कुछ मालूम पड़ता है, आँखसे कुछ मालूम पड़ता है, नाकसे कुछ मालूम पड़ता है। जीभसे चखते हैं तो कुछ मालूम पड़ता है। और सब वस्तुओंकी अपनी-अपनी विभूति है। विशिष्ट भवन है। भवन माने होगा। विशिष्टरूपसे पृथक होना। कल एक सज्जन जैसे जिज्ञासा कर रहे थे। प्रेमसे पूछ रहे थे। असलमें यन्त्रके अनुरूप बिजली काम करती है। यह बात ध्यानमें रहनी चाहिए। बिजली एक होनेपर भी जहाँ जैसा जो यन्त्र होता है, उसके अनुरूप काम करती है। लाउडस्पीकरमें आवाज फेंकती है, हीटरमें गरमी, रेफ्रिजरेटरमें ठण्डक, पंखेमें हवा—बिजली तो एक ही है, परन्तु ये विभूतियाँ पृथक्-पृथक् क्यों हैं?

पूर्व-पूर्व कर्मानुसार विशिष्ट प्रकारका जो यन्त्र बन जाता है, भगवत्-शक्ति उसमें वैसा काम करती है। इसकी शक्तिमें विषमता नहीं, यन्त्रमें विषमता है, जिसके कारण विषमता आती है। दुनियामें कोई बड़ा भी होता है, कोई छोटा भी होता है 'यद् यद् विभूतिमत्'। अब आपको भगवान्का दर्शन करना हो तो देखिये कहाँ-कहाँ विभूति हैं? 'श्रीमत्'—कहाँ-कहाँ 'श्री' है? श्री माने सौन्दर्य भी होता है। श्री माने सम्पदा भी होता है। श्री माने आदर भी होता है—आदरणीय। आजकल जो बाबू लोग—कई लोगोंको ऐसी आदत पड़ी होती है 'सर' (Sir) बोलनेकी हमसे भी बात करते हैं तो 'सर' बोलते हैं। हम तो जानते ही नहीं हैं सर क्या होता है? लेकिन यह हम लोगोंके नामके साथ जो 'श्री' है इसका सर काटकर अलग रख लिया है। श्रीका 'सर' है—जहाँ-जहाँ विभूति है—सत्ता और जहाँ-जहाँ श्री है—लक्ष्मी और जहाँ-जहाँ ऊर्जा है—शक्ति। यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा' जो-जो पदार्थ हमें सृष्टिमें दिखायी पड़ते हैं।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्। 10.41

भगवान्ने कहा 'देखो हमारा अंश'—हमारे तेजका ही—हमारे अंशका ही वह एक रूप है जहाँ तुम्हें ऊर्जाशक्ति दिखायी दे। यजुर्वेदके पहले ही मन्त्रमें ऊर्जा शब्दका प्रयोग है—इत्वा ऊर्जेत्वा (1.1)। जहाँ ऊर्जा है, जहाँ श्री है, विभूति है वहाँ भगवान्का दर्शन करो। आपको कोई ऐसी जगह नहीं मिलेगी जहाँ भगवान् नहीं। भगवान्को पहचानो। पर वर्णन करते-करते तो ऐसे लगता है कि श्रीकृष्ण भी थक गये। वर्णन करके पार नहीं पा सकते।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। 10.42

आओ मेरे अर्जुन, तुम यह बहुत लम्बी-चौड़ी बात सुनकर, जानकर क्या करोगे ? बात तो जितनी थोड़ेमें होती है, उतनी ही अच्छी लगती है। जब हम किसीको बहुत विस्तारसे समझाने लगते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया क्या होती है, आपको बतावें ! अरे भाई, तुम्हारी बात तो हम पहले ही वाक्यमें समझ गये कि क्या कहना चाहते हो ! अब तुम हमको इतना बेवकूफ समझते हो कि घण्टेभर वही बात समझा रहे हो ? लेकिन वकील मुवक्किलकी बात एक मिनिटमें भले ही समझ जाय लेकिन यह नहीं कह सकता कि बस-बस समझ गया और मत बोलो। उसको तो सुनाना पड़ेगा। डॉक्टरको अपना रोग बताओ। डॉक्टर कहे—बस, मैं समझ गया। अरे साहब, मेरी तकलीफ तो समझ लीजिये। समझ लिया भाई। थोड़ा और सुन लीजिये। बोलनेवालोंको सन्तोष नहीं होता है। बहुत बोलनेकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होती। इतने संक्षेपमें अपनी बात साफ-साफ समझा दें कि सुननेवालेकी समझमें आजाय और अपनेको सन्तोष हो जाय कि हमने समझा दिया। यहाँ अर्जुनकी प्रशंसा है।

देखो अर्जुन, तुम तो मुझको जानते हो। मेरी विभूति जानकर क्या करोगे ? 'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन'। एक-एक नाम लेकरके हम तुमको बतावें तो तुम जानकर क्या करोगे ? उससे क्या लाभ है ? 'यह तो नदिया एक घाट बहुतेरे'। नदी एक है घाट बहुतसे हैं। 'ऋजु-कुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' (महिम्न स्तोत्र 7)। हजार-हजार विभूतियोंको मान लें परन्तु परमेश्वर तो एक ही है। जैनधर्ममें एक श्लोक बोलते हैं—जिसका भाव यह है—हे पार्श्वनाथ भगवान्, जैसे सारी नदियाँ जाकर समुद्रमें मिल जाती हैं वैसे सारी दृष्टियाँ जाकर आपमें मिल जाती हैं। उपर्युक्त महिम्न श्लोकमें कहा—कोई सीधे मार्गसे, कोई टेढ़े मार्गसे चलते हैं, फिरते हैं। मधुसूदन सरस्वतीने कह दिया—ऋजु मार्गसे वैदिक लोग जाते हैं और कुटिल मार्गसे अवैदिक लोग जाते हैं। पर पहुँचते सब एक ही स्थानपर हैं। बहुत वर्णन करके क्या करना है ?

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'। हमने अपने एक छोटेके हिस्सेसे सारे जगत्को स्तब्ध कर रखा है। और मैं स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्को जो हिलती-डुलती चीज है, जो चलती-फिरती चीज है, जो ज्ञानमें आती-जाती है, जो सत्तामें आकृति बनती-बिगड़ती है, उस सबको तो मैंने एक अंशमें स्तब्ध कर लिया है, स्तम्भित कर लिया है। और स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। यह भगवान्का कहना है।

आप गीता पढ़ते होंगे। न पढ़ते हों तो पढ़िये। वाल्मीकि रामायणमें जानकीजी रामचन्द्रजीसे कहती हैं—स्मारये त्वां न शिक्षये। मैं आपको स्मरण दिलाती हूँ; शिक्षा नहीं देती हूँ। सिखाती नहीं हूँ, याद दिलाती हूँ। गीता आप पढ़ते हैं, आप इसको समझते हैं। गीताके भगवान् यह बोलते हैं कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय (7.7) मुझसे अलग दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। 7.6
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। 7.7

मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव भी हूँ और प्रलय भी हूँ। विभूति जो होती है वह प्रभवके पहले नहीं होती और

प्रलयके पश्चात् नहीं होती। विभूति तो जीवन कालमें ही होती है। सृष्टि कालमें ही विभूति होती है। 'अहं सर्वस्य प्रभव: ।' (10.8) जब विभूति नहीं थी तब मैं सबके कारणके रूपमें था और जब विभूति नहीं रहेगी तब मैं सबके प्रलयके रूपमें रहूँगा। मैं ही नामरूपात्मक इस विभूतिमय सृष्टिका आदि और अन्त हूँ। यह पहले ही कह दिया। 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' (10.20)।'बीजं तदहमर्जुन' (10.39)। इस विश्व सृष्टिका जो बीज है सो मैं हूँ। आपके ध्यानमें यह बात आनी चाहिए कि मजहब मजहब होते हैं और सिद्धान्त सिद्धान्त होते हैं। एक मनुष्यमें ही अनेक जातियाँ कल्पित होती हैं और एक ज्ञानको प्रकट करनेके लिए ही अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। यह भूलने लायक बात नहीं है। आप भाषाको पकड़कर बैठ जायेंगे तो ज्ञानसे वञ्चित हो जायेंगे। किसी भी भाषामें ज्ञान मिलता हो, हम उसको ग्रहण करनेके लिए तैयार हैं। सारी पार्टियाँ एक देशकी सेवा करनेके लिए होती हैं। पार्टीकी सेवा करनेके लिए देश नहीं होता।

हम बात तो मजहबकी कर रहे थे वह छूट गयी। इसको अर्थान्तरन्यास बोलते हैं। यह भी वाणीका एक अलङ्कार है। एक वस्तुका वर्णन करते-करते औरोंका भी नाम ले लिया। एक धर्मकी परिपुष्टिके लिए मजहब होते हैं। जहाँ वे एक धर्म विश्वधर्म, मानवधर्मके परिपोषणसे पृथक होकर अपने-अपने मजहबका पोषण करने लगते हैं, वहाँ वे धर्म नहीं रहते अधर्म हो जाते हैं। जब पार्टियाँ करने लगते हैं, वहाँ वे धर्म नहीं रहते अधर्म हो जाते हैं। जब पार्टियाँ राष्ट्रकी या राजनीति छोड़कर पार्टी-पोषणमें लग जाती हैं तब वे राष्ट्र-विरोधी हो जाती हैं। फिर वे विदेशसे भी धन लेंगी। दूसरोंके चलाये भी चलेंगी। देशको हानि भी पहुँचायेंगी। और जब भाषाका आग्रह हो जाता है तब भी चिन्तनमें संकोच हो जाता है। अरे; इस भाषामें तो चाहे जैसा साइन्स हो कैसा भी ज्ञान हो, कैसी भी औषधि हो, है तो दूध लेकिन जरा बकरेके चाममें रखा हुआ।

हमें किसी भाषामें ज्ञान लेना है। हम किसी भी पार्टीसे देशको सेवाकी अपेक्षा रखते हैं। किसी भी जातिसे हम मानवताका सम्पोषण चाहते हैं। किसी भी मजहबसे हम—एक जो विश्व-धर्म है, भगवद्-धर्म है, उसकी रक्षा चाहते हैं, उसका सम्वर्धन चाहते हैं। जहाँ परमात्मा छूट जाता है और किसी भी जीवकी सेवा करते हैं—जीवको तो पकड़ लिया और परमात्मा छूट गया, यह भी उचित नहीं है। राष्ट्रके व्यामोहने विश्वको खण्ड-खण्ड कर दिया। जातिके व्यामोहने मानवताका तिरस्कार किया। भाषाके व्यामोहने ज्ञानका तिरस्कार किया। मजहबके मोहने सत्यधर्मका तिरस्कार किया। देखनेकी बात यह है कि हम कहाँ जा रहे हैं? परमात्मा एक है—यह गीताका सिद्धान्त है। सबसे बड़ा महात्मा दुनियामें कौन है?

गीता अपने मुँहसे बोलती है—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते—वासुदेव: सर्वमिति' (7.19) वासुदेव: सर्वम् इति मां प्रपद्यते। सब परमात्माका स्वरूप है—'स महात्मा सुदुर्लभ: ।' देखो यह दृष्टिकोण है। हम भगवान्के पास गये तो क्या देखा? यह देखा कि वह तो सब है। जिसको मैंने गाली दी वह भी भगवान् है; जिसको मैंने मारा, वह भी भगवान् ही है। जिसकी निन्दा की वह भी भगवान् ही है। अरे भाई, पहुँच गये भगवान्के पास। बड़ी गलती हुई महाराज—'स महात्मा सुदुर्लभ: '। वह महात्मा जिसकी दृष्टिमें सब परमात्मा, सब वासुदेव हो जाता है, वह महात्मा दुर्लभ है।

आप देखो बोलनेकी शैली! संस्कृतमें भङ्गी बोलते हैं। बोलनेकी भङ्गी, भङ्गिमा। भङ्गिमा माने दृष्टिकोण होता है। नेत्र-भङ्गिमा भी तो होती है न! देखो यह बोलनेकी भङ्गिमा, यह शैली, यह प्रणाली है कि परमात्मा तो सब है परन्तु महात्मा सुदुर्लभ है। जिसकी दृष्टिमें सब परमात्मा है वह महात्मा इस सृष्टिमें सुदुर्लभ है। किसीने कहा—ईश्वरने अपने संकल्पसे सृष्टि बनायी। बहुत बढ़िया—तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। पर ईश्वरने संकल्पसे जो सृष्टि बनायी वह अपने भीतर बनायी कि बाहर बनायी? जैसे हम अपने संकल्पसे कोई सृष्टि बनाते हैं तो वह हमारे हृदयमें रहती है। हमारे हृदयमें संकल्प और संकल्पसे बनी चीज हमारे हृदयमें। ऐसे सर्वव्यापी परमात्माने यदि संकल्पसे यह सृष्टि बनायी तो अपने आपमें ही बनायी और अपने आपको ही सृष्टिके रूपमें देखा। यह बात दुनियाके किसी भी मजहबमें नहीं है। जीव भी वही—जगत् भी वही। 'अचरं चरमेव च' जगत भी वही है और स्थावर भी वही है। अचरं माने स्थावर और चर माने जंगम। सारी सृष्टि, स्थिति, प्रलय जो है, इसका एक कारण, सबके रूपमें एक होनेवाला भगवान् अपने एक अंशमें सारी सृष्टिको लेकर स्थित है।

अब शंकराचार्य भगवान् ने अंशका विचार किया है। देखो, आकाशके किस हिस्सेमें यह पृथिवी है? आप लोगोंके पास बड़े-बड़े कॉम्प्यूटर हैं। कुछ यहाँ हैं, कुछ जर्मनीमें हैं, कुछ अमेरिकामें हैं। आपके पास गणितकी कोई ऐसी रीति है, कि आकाशके जिस करोड़वें लाखवें, हजारवें या अरबवें हिस्सेमें यह धरती है, उसे आप गिन सकते हैं? यदि आप यह गिन सकते तो आकाशको नाप सकते हैं कि पृथिवीका इतना बड़ा आकाश है।

शंकारचार्यने कहा कि अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है। शून्यका लाखवाँ अंश क्या होगा? शून्यका अंश होता ही नहीं। अंश क्या होता है? अद्वितीयके किस अंशमें यह सृष्टि है? अद्वितीयमें तो अंश होता ही नहीं। फिर? इस सृष्टिका कितना गुना परमात्मा है? नापो! तब उन्होंने अंश शब्दका व्याख्यान किया। अंश इवांश:। ममैवांशो जीवलोके (15.7), इस श्लोकके अंशकी व्याख्यामें आचार्य शंकरने कहा कि 'अंश इवांश:'। हमलोग लौकिक दृष्टिसे जैसे अंशकी कल्पना करते हैं वैसे परमात्मामें भी यह अंशके समान कल्पित अंश है। वस्तुत: वहाँ अंश नहीं है। हमारी दृष्टिसे अंशांशि-भावकी कल्पना होती है। परमात्मदृष्टिसे अंशांशीकी कल्पना नहीं होती। यह तो देहमें 'मैं' करके नापने लगे! दुनियामें नाप-तौलकी बात की है। मुनियोंने बहुत कोशिश की, पर ईश्वरमें कोई वजन नहीं मिला कि ईश्वरका कितना वजन है। ये लेबोरेटरीमें तो वजन ही ढूँढ़ेंगे न! और वजन नहीं है तो मैटर ही नहीं—द्रव्य ही नहीं है। कितनी लम्बाई-चौड़ाई है ईश्वरमें? किसीके ढूँढ़े नहीं मिला। कितनी उम्र है ईश्वरकी? यह भी ढूँढ़नेसे नहीं मिली। उम्र न मिलना माने ईश्वरमें कामका अभाव है। लम्बाई-चौड़ाई न मिलना माने देशका अभाव है ईश्वरमें; और वजनका न मिलना माने द्रव्यका अभाव है ईश्वरमें।

तब यह अभाव ही अभाव है—नहीं; अभाव प्रकाशित किससे होता है, इसका साक्षी कौन है? चैतन्यरूप अधिष्ठान या चैतन्यरूप प्रकाशके बिना तो अभावकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। ईश्वरको यदि जानना है तो वजनके मापसे मत जानो। देशकी लम्बाई-चौड़ाई मापकर मत जानो। उम्र मापकर मत जानो। क्या-से-क्या तक? तब, जरा अपनी ओर नजर डालो। जबतक अपने आपको इस शरीरमें रहनेवाले अपने आपका नहीं

जानेंगे तबतक आपको यह कैसे ज्ञात होगा कि ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'अहं कृत्स्नस्य प्रभवः'। कैसे समझेंगे?

ईश्वरका जब अनुभव होता है, तब मालूम पड़ता है—ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मरूपमें यदि मैं ईश्वरसे अलग रह गया तो ईश्वर अधूरा हो गया। 'मैं' की न्यूनता और ईश्वर। और यदि मुझसे ईश्वर हो गया तो दृश्य, परोक्ष कल्पित ईश्वरका जो साक्षात्कार होता है, वह आत्मरूपसे ही होता है और इस सत्यको समझानेके लिए यह हमारे सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, उपनिद्, गीता, ब्रह्मसूत्र हैं।

वेद तो हमारे ज्ञान हैं। गीता हमारी वाणी है। परमात्मा हमारा आत्मा है और विश्व-सृष्टि जो है वह अपना ही सर्वरूपमें दर्शन है। यह महात्माओंकी अनुभूति आप कल्पना करके, छोटा करके मत समझिये—'स महात्मा सुदुर्लभः' (7.19)—जिसने अपने अद्वितीयको, अपने आत्माको अद्वितीय रूपमें 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' 'न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4-5) करके जो बोलनेवाला है, जो जाननेवाला है, जो अनुभव करनेवाला है, जो साक्षात् अनुभवस्वरूप है।

श्रीकृष्णकी वाणी है यह गीता—आप लोग प्रेमसे सुनते हो। सबेरे जल्दी उठते हैं, आते हैं, तकलीफसे बैठते हैं—हमारे आयोजक—ये सब काकोजीकी प्रेरणासे ही होता है। यह जो आयोजन होता है, इसमें मूल वही हैं। उन्होंने एक बार आदित्यसे कहा कि तुम स्वामीजीका व्याख्यान कराओ। आदित्यने कराया और इन लोगोंके मनमें भी जो प्रेरणा है, वह वहींसे आयी हुई है। ये लोग अपने मनसे थोड़े ही करते हैं? ये तो निमित्तमात्र हैं। इनका भी प्रेम है, इनकी भी रुचि है, पर मूलस्रोत वही है, तो धन्यवादके पात्र तो ये लोग उतने नहीं हैं जितने वे हैं।

सारे परिवारके जो लोग अलग-अलग रहते हैं, सबकी धर्ममें व ईश्वरमें रुचि है। आप लोगोंका प्रेम, रुचि, यह तपस्या और उन लोगोंका आयोजन—हमको बोलनेका अवसर देता है और हम सच बताते हैं आपको, हमको यह बोलनेमें मजा आता है। हमारे कई रोग बोलनेके समय मिट जाते हैं। बुखार उतर जाता है। पल्स 130-150 होती है यहाँ आकर बैठ जाता हूँ तो यहाँसे उठनेके समय 100-90 रहती है। ब्लड प्रेशर कम हो जाता है। कल कड़ा जुकाम था—बोलनेके समय ठीक हो गया।

इसका अर्थ यह है कि जिस काममें अपनेको मजा आता है, आनन्द आता है, उसमें सब रोग, शोक, भय, सब निवृत्त हो जाते हैं। जो लाभ आप लोगोंका है सो तो है ही। पर हमारा इसमें बहुत लाभ है। हमको ईश्वरके बारेमें चिन्तन करनेका अवसर मिलता है। हम आप लोगोंके आभारी हैं, कृतज्ञ हैं और धन्यवाद देनेसे यदि वह पूरा होता है तो धन्यवाद भी देते हैं। परन्तु हमारी जो कृतज्ञता है—ये जो घण्टे भर रोज ईश्वरकी चर्चा करनी पड़ती है या चिन्तन करना पड़ता है, उसके लिए तो हम आप लोगोंके सदा-सदाके लिए कृतज्ञ हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

आभार

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज,
व
सत्संगप्रेमियो!

समापनका दिवस बहुत शीघ्र आजाता है। इन दस दिनोंका आनन्द हमें वर्ष भर तृप्त रखेगा। पूज्य स्वामीजी महाराजने यहाँ पधारकर हम सबको कृतकृत्य किया। मैं उन्हें हम सबकी तरफसे प्रणाम करती हूँ।

स्वामी प्रबुद्धानन्दजी व श्रीविमलानन्दजीने कार्यक्रमको सुचारु रूपसे चलानेमें सहायता की है। पं० श्रीदेवधरजी दिल्लीसे इसी सत्संगका लाभ उठाने आये हैं। मैं सबको धन्यवाद देती हूँ।

अब नूतन वर्षमें यहीं पूज्य स्वामीजीके वचनोंका श्रवण करेंगे। ईश्वर उन्हें स्वस्थ रखे, यही प्रार्थना है।

ईश्वर आप सबको स्वस्थ रखें। आप सबको धन्यवाद!

—जयश्री मेहता

सौ. मञ्जुश्री खेतानका समापन-भाषण

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज तथा सज्जनवृन्द,

परमेश्वरकी असीम अनुकम्पासे आज इस गीता-ज्ञान यज्ञकी पूर्णाहुति होने जा रही है। इस ज्ञानामृतके रसास्वादनसे हम सबको अत्यन्त आनन्द मिला है तथा ज्ञानके अङ्कुर हृदयमें उदित हुए हैं। ये अङ्कुर अध्ययन, मनन, चिन्तनसे भविष्यमें पेड़-पौधोंके रूपमें विकसित होंगे, यही आशा है।

इसके लिए मैं पूज्य स्वामीजीके चरणोंमें सादर-प्रणाम समर्पित करती हूँ। गीता-ज्ञान यज्ञकी सफलताके लिए पूज्य स्वामीजीका अखण्ड ज्ञान, उनकी दिव्य वाणी, उनकी सुगम शैली तथा प्रातःकालका शान्त वातावरण, इनसे उत्तम साधन और क्या हो सकते हैं? मेरा विश्वास है कि आजके भौतिक युगमें इस प्रकारके आयोजन जीवनके लिए सहायक एवं उपयोगी हों। मैं समवयस्क भाइयों एवं बहनोंसे प्रार्थना करूँगी कि वे इन प्रवचनोंसे अधिक-से-अधिक लाभान्वित होनेका प्रयास करें। पूज्य महाराजश्रीने आगामी वर्ष इसी समय यहाँ पधारनेकी स्वीकृति दी है तथा हम सबपर गीतामृतकी वर्षा करेंगे। पूज्य स्वामीजी, स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा आप सबको अनेक-अनेक धन्यवाद!

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन'के रुपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्दकानन प्रेस

गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

3



संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

मङ्गलं विश्वरूपाय

कर्मयोगी श्रीघनश्यामदास विरलाकी प्रेरणासे प्रवर्तित गीता-प्रवचनका यह नवम भाग आपके हाथोंमें उपस्थित है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णके विराट् विश्वरूपका वर्णन है। जीवन-मरण, हेय-उपादेय, सुख-दुःख, वन्धन-मुक्ति सव उन्हींका स्वरूप है। भीष्म, द्रोण, दुर्योधन-शल्य सव उन्हींके शरीरमें हैं। ऋषि, मुनि, देवता, मानव, दानव कुछ भी उनसे अलग नहीं है। क्षर अक्षर, वाह्य-आभ्यन्तर, दिशा-विदिशा, भूत-भविष्य-वर्तमान सव उनका ही स्वरूप है। हम सव भी उनसे एक रहकर उनके शरीरमें स्फुरित हो रहे हैं। वह सहस्र-शीर्षा पुरुष प्रत्यक्ष है। वही देखता है, वही दिखाता है। प्रपन्न व्यक्ति उन्हींसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त करके उनका अनुभव कर सकता है।

श्रीमती सरला बिरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरलाके प्रेम, श्रद्धा एवं साधनका ही यह सत्फल है। विश्वरूप भगवान् उनको और उनके समस्त परिवारको सद्भाव, सद्‌विचार एवं अपनी भक्ति प्रदान करें।

विश्वरूपाय मङ्गलम्।

अखण्डानन्द सरस्वती

प्रस्तुति

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज, सत्संगप्रेमियो!

इस महायज्ञके शुभारम्भपर मैं पूज्यश्री स्वामीजीको प्रणाम करती हूँ तथा आप सबका स्वागत करती हूँ। पूज्य स्वामीजी अपनी वाणीसे हमें अमृत पान करायेंगे, हम सब उसके लिए उत्सुक हैं। पूज्य महाराजजीको अच्छा स्वास्थ्य तथा लम्बी उम्र ईश्वर दें, यही प्रार्थना करती हूँ।

अनेक धन्यवाद!

—सरला बिरला

गीता अध्याय - 11

प्रवचन : 1

(19.11.82)

अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवद् गीता अम्बा है। अम्बा माने माँ। इसके मूल धातुका अर्थ होता है 'वर्ण'। वर्णमयी माँ। पचास वर्णोंसे मातृका बनती है। 'अ'से लेकर 'क्ष'तक।यह मातृका है, माता है, स्वरोंके रूपमें, वर्णोंके रूपमें, उनसे बने पदोंके रूपमें, वाक्योंके रूपमें—सबके प्रति स्नेह, वात्सल्यकी वर्षा करनेवाली, अमृत रस पिलानेवाली भगवद्गीता अम्बा है। इसका निवास भगवान्का हृदय है। भगवान्को भी साकार रूप देनेवाली यही है। यदि ये अम्बा न हो तो भगवान्का रूप भी कोई नहीं जान सकता।

यही स्वतन्त्र परावाक्के रूपमें रहती हैं। मूलाधारमें पश्यन्तीके रूपमें आती है। मणिपूरकमें मध्यमा वाक्के रूपमें कण्ठमें आती हैं और वैखरी वाणीके रूपमें आती हैं—मुखमें जीभ पर इनको परा वाक् कहो, मूल सरस्वती कहो, जगदम्बा कहो, ईश्वरकी भी माँ कहो—इसीसे गीताका निरूपण करते हैं।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

भगवान्ने यह कहा कि गीता! तुम हमारे हृदयमें-से बाहर निकलो! तुम प्रकाशित हो जाओ—ऐसा भगवान्ने नहीं कहा। यह स्वयं भगवान्के मुँहसे—मुखारविन्दसे प्रकट हुई। अर्थात गीताका ज्ञान ईश्वराधीन ज्ञान नहीं है। यह स्वतन्त्र ज्ञान है। अपौरूषेय ज्ञान है। यह श्रीकृष्णके द्वारा निर्मित नहीं है। यह जीवके द्वारा भी निर्मित नहीं है। यह ईश्वर निर्मित भी नहीं है।यह अनादि है, यह अपौरुषेय है। जब-जब श्रीकृष्णावतार होता है, प्रत्येक द्वापरमें तब-तब एक ही ज्ञान प्रकट होता है। अनेक श्री कृष्णका अवतार होता है। अनेक श्री कृष्णमें जो ज्ञान रहता है वह एक होता है। वह एक ज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञानका नाम गीता है।

भगवान् श्रीकृष्ण इसकी रचना नहीं करते। इसका गान करते हैं। रचना करना दूसरी चीज है और गाना दूसरी वस्तु है। बना बनाया गाना गा दिया जाता है। इसे संगीत कहनेका अभिप्राय है। यह मधुर है—यह ललित है। इसमें स्वर है, ताल है, व्यवस्था है, मर्यादा है। संगीत अमर्यादित होने पर संगीत नहीं रहता। संगीतमें स्वर, ताल, लय, विराम, मूर्च्छना, जातियाँ सब व्यवस्थित होनी चाहिए। गीताका ज्ञान समग्ररूपसे व्यवस्थित है, मधुर है, गम्भीर है और स्वतःसिद्ध ज्ञान है। परिस्थितियाँ बदलती है, समय बदलता है, पर नित्य-संगीत हमेशा ही उपयोगी होता है। जो अनुपयोगी होता है, उसे लोग छोड़ जाते हैं।

काशीके प्रकाण्ड पण्डित महामहोपाध्याय श्रीशिवकुमार शास्त्रीने एक प्रसंगमें लिखा है—यह काम लोगोंने क्यो छोड़ दिया? क्योंकि यह अनुपयोगी था। जिस वस्तुका उपयोग नहीं रहता वह छूट जाती है। परन्तु

यह गीताका योग सर्वदा उपयोग करनेके लिए है। जहाँ जीवन है वहाँ गीताका उपयोग है। जीवन और गीताका उपयोग एक साथ जुड़ा हुआ है। यह मित्र-मित्रका संवाद है।

अर्जुनके मनमें उदासी आयी। विवाद हुआ। उसने कहा—'मैं शस्त्र-शस्त्र फेंक कर भीख माँगकर खाऊँगा।'

श्रीकृष्ण घोड़ेकी बागडोर तो संभालकर रखी ही, अर्जुनके कन्धे पर हाथ रखा और कहा—मित्र,जब दो मित्र इकट्ठे हो तब किसी निश्चयकी घोषणा अकेले नहीं करनी चाहिए। सलाह तो कर लेनी चाहिए।

अर्जुनने कहा—मेरी बुद्धि काम नहीं करती। तुम सलाह दो मैं मानूँगा।

'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' 2.7

श्रीकृष्णने अर्जुनको अनेक प्रकारसे समझाया। अन्तमें कह दिया—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 10.42

सम्पूर्ण जगतको विस्तब्ध करके अपनी मुट्ठीमें रखा है। धरतीसे मैं कहता हूँ अपनी जगह पर स्थिर रहो। हटो मत। दृढ़ रहो। हमारी आज्ञासे पृथ्वी दृढ़ है। जल रसीला प्रवाहित रहता है। तेज तेजस्वी रहता है। वायु प्राण देता है। आकाश अवकाश देता है। सम्पूर्ण जगत मेरे एकांशसे स्तब्ध, स्तम्भित अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित है।

सम्पूर्ण जगत्को स्थिर रखनेवाले, मर्यादामें रखनेवाले तुम्ही हो। यह बात तो बड़ी गुप्त थी। तुमने मुझसे कह दी। ऐसा लगता है कि तुमने अपने जीवनका रहस्य—गुप्त-से-गुप्त बात मुझे बता दी। ग्यारहवें अध्यायमें आरम्भमें ही अर्जुन कहता है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ 11.1-4

अर्जुनका कहना है कि जो बात, जो वचन तुमने मुझसे कहा है, वह केवल मुझपर अनुग्रह करनेके लिए ही कहा है। बोलनेके ढंगसे प्रकट होता है कि यह सब तुमने अपने किसी स्वार्थसे नहीं कहा है। अपनी ख्यातिके लिए नहीं कहा है। अपने लाभके लिए नहीं कहा है। अपनी पूजाके लिए नहीं कहा है। केवल अनुग्रह करके यह बात कही है। यह अनुग्रह सबके ऊपर है? नहीं, अर्जुनने कहा—नहीं। मैं तो अनुभव करता हूँ कि यह अनुग्रह केवल मुझपर है—'मदनुग्रहाय'।

मदनुग्रहाय—मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए तुमने यह बात बतायी है। वैसे अनुग्रह शब्द यह बताता है कि पहले कुछ हो, उसके बाद अनुग्रह होगा। अनुग्रह छोटा भाई है। इसका बड़ा भाई कोई होना चाहिए। जैसे अनुमानका बड़ा भाई है प्रत्यक्ष प्रमाण और छोटा भाई होता है अनुमान। जो प्रत्यक्षमूलक और प्रत्यक्षफलक होता है, उसको अनुमान कहते हैं। प्रत्यक्षके आधारपर ही अनुमान होता है। निराधार अनुमान नहीं होता। अनुग्रहका भी कोई आधार चाहिए। जैसे अनुज बड़े भाईका छोटा-भाई है। अनुज—आगे चलनेवालेके पीछे चलनेवाला है। ऐसे ही अनुग्रहके पहले कुछ चाहिए। इसमें भक्तोंका और वेदान्तियोंका थोड़ा-सा मतभेद है। कहते हैं ईश्वरके सामने एक समस्या है। वे किसपर कृपा करें और किसपर न करें? यदि कृपा करें तो उनके सब हैं, सबपर करें और न करें तो किसीपर न करें। फिर तो कृपाका कोई अर्थ ही नहीं रहा। सार्वजनिक हो गयी। है तो सार्वजनिक और नहीं है तो बिल्कुल नहीं है।

हमारे आर्यसमाजी भाइयोंने कृपाको अछूता कर दिया। वे कहते हैं, ईश्वर निराकार है और न्यायशील है। वह कृपा नहीं करता। वह न्याय करता है। हम लोगोंने देखा कि ईश्वर मात्र न्याय करेगा तब तो हमारे लिए कोई मार्ग नहीं, कोई स्थान नहीं। इतनी त्रुटियाँ हैं अपने जीवनमें, इतने अपराध हैं कि न्याय प्राप्त करके हम आगे बढ़ नहीं सकते, ईश्वरमें करुणा अवश्य होनी चाहिए। यदि वह करुणा करके उद्धार नहीं करेगा तो हम बढ़ नहीं सकते। उद्धार माने ऊपर उठाना। उद्धार माने यह नहीं कि नरकसे उद्धार कर दिया। उद्धार माने जिस स्थितिमें हम अटक गये हैं वहाँसे उठाकर हमको आगे बढ़ाना।

सब काम मरनेके बादके लिए नहीं होता। इस जीवनमें भी तो कुछ होता है न! इस जीवनमें जहाँ हम पिछड़ गये हैं वहाँ वह हमें आगे बढ़ावे। जहाँ गिर गये हैं वहाँसे वह हमें उठा ले। जो हम नहीं समझते हैं वह हमें समझा दे। यदि ईश्वर यह नहीं कर सकता तो उसमें ईश्वरत्व क्या है? तब व्यवस्था चाहिए कि किसपर अनुग्रह करें किसपर न करें! इसके लिए वेदान्तदर्शनमें एक विवरण है—

नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति। (ब्रह्मसूत्र 2.1.34)

भगवान् किसीके साथ पक्षपात नहीं करते। और किसीके साथ निर्दयता, क्रूरता भी नहीं करते। तब क्या करते हैं? अनुग्रह करते हैं। अनुग्रह कैसे करते हैं? 'गृह्णन्तम्'—जो भगवान्का पाँव पकड़ ले उसको वे पकड़ लेते हैं। अनुग्रह क्या हुआ? जो उनकी ओर देखे उसकी ओर देखकर अपनी आँखोंमें बिठा लेते हैं। देखनेवाला तो केवल देखता है। भगवान् तो अपनी आँखोंमें बिठा लेते हैं। उनको कोई सिर झुकावे तो उसके सिरको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेते हैं। उनकी ओर कोई एक कदम चले तो सौ कदम पार करके उसके साथ मिल जाते हैं। सम्मुख होना—***'सनमुख होई जीव मोहि जबही—जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं'***—यह भगवान्का अनुग्रह है।

अर्जुनने जब कहा कि 'शिष्यस्तेऽहम्'—तब उसको पहले गुरुत्व दिखाया—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् (2.11)

डाँट दिया, फटकार दिया कि हमको गुरु बनाकर, हमारे शिष्य होकर तुम शोकग्रस्त हो! हमारे होकर

दु:खी रहोंगे तो हमारी बदनामी होगी। अपने गुरुकी बदनामी न हो, अपने इष्टकी बदनामी न तो—अपने पिता-माताको बदनामी न हो, इसका ख्याल तो रखना ही चाहिए। मेरे होकर तुम शोक करोगे तो लोग मेरा बनना ही पसन्द नहीं करेंगे। भक्ति सम्प्रदायका ही लोप हो जायेगा। मेरा अपना हो और दु:खी हो यह दोनों एक साथ नहीं हो सकता। अर्जुन कहता है तुमने मुझपर अनुग्रह किया, मुझे अपना बना लिया। अनुग्रह किस रूपमें किया? तुमने कुछ वचन कहे—कैसे वचन कहे? 'परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्'—ये वचन गुह्य हैं—गुह्य माने गोपनीय है। जैसे मनुष्य अपने शरीरके गुह्य स्थानको वस्त्रोंके द्वारा गूहन करके छिपाकर, आवृत करके रखता है, ऐसे ही यह वचन जो तुमने कहे हैं—परमं गुह्यं हैं—छिपाने योग्य हैं। भगवद्-गीतामें भगवान्ने—'गुह्य' शब्दका प्रयोग स्वयं भी बहुत किया है।

'गुह्यात् गुह्यतरम्': 'गुह्यतमम्, परमं गुह्यतमम्' में गुह्यात् गुह्यतर आजाता है। संस्कृत भाषामें परम शब्दका अर्थ ऐसा होगा कि 'परा-मा-यस्मिन्—तत् परमा' जिसकी शोभा सबसे बड़ी हो, परा—जिसमें सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मीका निवास हो, 'तत्र श्रीर्विजयो भूति:' और पराका प्रमा 'यस्मिन्' जिसमें परम सच्चा ज्ञान, यथार्थ ज्ञान, तत्त्वज्ञान भरा हुआ हो, ऐसा परम गुह्य वचन। इसका नाम क्या दें? 'अध्यात्मसंज्ञितम्' इसका नाम है 'अध्यात्म'। अच्छा भाई, मैंने तो तुमको बहुत गुह्य बात बतायी—दोनों आपसमें बातचीत करते हैं—कृष्णने कहा कि अर्जुन, मैंने तो तुमको बहुत गुह्य बात बतायी। तुम समझ भी ॰।ये कि मैं तुम्हारे ऊपर अनुग्रह भी कर रहा हूँ—इसका कुछ नतीजा निकला कि नहीं? कुछ फल हुआ कि नहीं। जो श्रेष्ठ वचन होते हैं वे कभी व्यर्थ नहीं जाते। व्यर्थ बोलना ही नहीं चाहिए। अभिप्राययुक्त वचन ही बोलना चाहिए। वाणीका अपव्यय नहीं होना चाहिए।

अच्छा भाई, हमने तो बोल दिया—इसका कुछ परिणाम निकला? कुछ नतीजा हुआ? परिणतिका हो गया—नति और परिणतिमें जो फल होता है उसको बोलेंगे नतीजा। भाषा तो सब एक ही जगहसे निकली हैं। लड़ाई करनेवाले भाषाके मूलको नहीं जानते। नतीजा निकला इसका? 'मोहोऽयं विगतो मम'। हमारा जो मोह है यह विगतकी वस्तु हो गयी। भूतमें कभी मोह था—अब नहीं है। 'मोहोऽयं विगतो मम'। मोह शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है चित्तकी विपरीतता। 'मुह वैचित्त्ये'। जब चित्त विपरीत हो जाता है। आत्माको शरीर समझना भी मोह है। शरीरको आत्मा समझना भी मोह है। और फिर हमारे जन्मसे पहलेकी चीजें हैं, उनको अपना समझना मोह है कि नहीं?

उन्हें अपना मत मानो। धरती है, चाँदी है, सोना है—तुम्हारे जन्मके पहलेके हैं ये सब। तुम धरतीपर पैदा हुए और धरतीको अपनी मानकर फँस गये। हम धरतीके हैं, ऐसा मानकर धरतीकी सेवा करो। हम माँके पुत्र हैं तो पुत्रका कर्त्तव्य होता है माँकी सेवा करना। माँको अपनी मानकर अपनी इच्छाके अनुसार उसको नचाना—यह तो कर्त्तव्य नहीं होता है। यह मोह है। मोह क्या है? ये मेरे, ये मेरे, ये मेरे—यही मोह है। सब ईश्वरके हैं, यह कहो, तब भी चलेगा। सब स्वयंप्रकाश है, यह भी चलेगा। परन्तु यह मेरी और यह तेरी—करके अपने हृदयको कठोर बना लेना और अपने हृदयमें हिंसाको स्थान देना—यह मोह है। अर्जुनने कहा—मेरा मोह छूट गया। तो वचनका फल निकला—हाँ महाराज, फल इसलिए निकला कि आपने बड़ी युक्तिसे समझाया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥

हे कमलपत्राक्ष—यह श्रीकृष्णके लिए सम्बोधन है। पहली नजर श्रीकृष्णकी सुन्दरतापर और सुन्दरतामें भी आँखपर—यह अर्जुनकी दृष्टि है। आँख-से-आँख मिली है। कमलपत्राक्ष—कमल-दलके समान जिनके नेत्र हैं। अर्जुनकी दृष्टि कहाँ है? कृष्णकी आँखपर, उनके इशारेको देख रहा है। मैंने तुम्हारे मुखसे सुना कि संसारकी उत्पत्ति और प्रलय कैसे होते हैं। 'भवनं भवः' होनेका नाम है भव और 'अप्ययनम् अप्ययः' डूब जाना—सो जाना—प्रलीन हो जाना। यह संसारके जितने प्राणी हैं ये कैसे जनम जाते हैं और कैसे इनका प्रलय हो जाता है यह मैंने तुमसे सुना। यहाँ एक अद्भुत बात है। माण्डूक्योपनिषद्में है—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (6)

यह जो परमेश्वर है यह सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर है और सम्पूर्ण प्राणियोंका जन्म और प्रलय यही है। माने इसीमें इसीसे सबका जन्म होता है और इसीसे इसीमें सबका प्रलय होता है। यह तो वेदका मन्त्र ही उद्धृत कर दिया। लेकिन 'श्रुतौ' शब्द जो है वह दो अर्थोंमें आया है। श्रुतौ माने मैंने श्रवण किया और दूसरा अर्थ है श्रुतौ—मैंने वेदोंमें भी सुना है—माण्डूक्य उपनिषद् भी यही बोलती है—श्रुतौ उपनिषदि।

लेकिन वह उपनिषद् तुमने स्वयं मुझे सुनायी। तुमने उपनिषद् मुझे सुना दी और वह भी विस्तारसे और अपनी महिमा भी सुनायी 'माहात्म्यमपि चाव्ययम्'। अपनी विभूतियाँ सुनायी। अपना योग सुनाया—क्या वैभव है भगवान्का? सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, तारे। यह पृथिवी दृढ़ रहती है, फटती नहीं है, धारिणी शक्ति है। यह जल भगवान्की आप्यायिनी शक्ति है जो तृप्ति देता है। यह तेज है—यह भगवान्की तेजस्विनी, प्रकाशिनी शक्ति है। वायु है, प्राणिनी शक्ति है। आकाश है—यह भगवान्की श्रावणी शक्ति है।

मैंने तुम्हारी अद्भुत, अव्यय महिमा (जिसका कभी व्यय नहीं होता) तुमसे सुनी। असलमें जो कभी अपने स्वरूपसे विचलित न हो, च्युत न हो उसको असल कहते हैं। यथार्थ—असल शब्द भी संस्कृतका ही है। न सलति इति असल। सल् गतौ जिससे सलिल बनता है—सलिल शब्द जिस धातुसे बनता है उससे असल शब्द बनता है। असलमें बाहरी आदमीसे बात करते हैं—तो दूसरेकी चर्चा करते हैं। वे ऐसे हैं, वे ऐसे हैं, वे ऐसे हैं। पर अपनी बात सबको बताना सम्भव नहीं है। मित्रके लिए ही सम्भव है। जैसे कोई बतावे कि हमारे पास इतनी पूँजी है, इतने हीरे हैं, इतनी मोटरें हैं—यह बात सबको नहीं बतायी जाती। बल्कि हमको तो ऐसा मालूम है कि कहीं-कहीं पति अपनी पत्नीको भी नहीं बताते। पत्नी अपने पतिको भी नहीं बताती है कि हमारे पास क्या-क्या है?

अपनी बात जो श्रीकृष्णने अर्जुनको बतायी यह तो बड़ी दुर्लभ बात है। सत्य क्या है? ईश्वर क्या है? यथार्थ क्या है? श्रीकृष्णने अपनी ओर इशारा करके उँगली अपने हृदयकी ओर रखी—यह है सत्य। इस तरह अपनी महिमा बतायी। आत्माकी जो यह महिमा है, यह अव्यय है। कभी इसका व्यय नहीं होता। कितना भी

करो। आत्मरूपसे ईश्वरका बोध होगा क्योंकि बाहरकी जो चीज होगी वह कभी आयेगी, कभी जायेगी। अपना आपा तो न आता है, न जाता है। अव्यय महिमा किसीकी है, तो आत्माकी है और श्रीकृष्णने स्पष्टरूपसे बता दिया।

अच्छा अर्जुन, मैंने तो बता दिया, तुमको कैसा लगा? कहीं तुमको ऐसा तो नहीं लगता कि झूठ-मूठ डींग हाँक रहा हूँ। मित्रकी बात है। मित्रके मनमें ऐसा लग सकता है कि देखो—यह क्या 'अपने मियाँ मिट्ठू' बन रहे हैं। सात सौ श्लोक हैं गीतामें और सात सौसे भी अधिक बार अस्मत् शब्दका प्रयोग है। अहं मया, मम, मयि, आदि। सात सौसे भी अधिक बार—किसी-किसी श्लोकमें तो 4-4, 5-5 बार अस्मत् शब्दका प्रयोग है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि। (18.65)

एक श्लोकमें पाँच बार मैं मैं मैं—कहीं अर्जुन तुम्हें ऐसा तो नहीं लगता कि यह मैं मैं मैं करके—बस अपनी तारीफ अपनी प्रशंसाके पुल बाँधते जा रहे हैं, डींग हाकते जा रहे हैं। अर्जुनने कहा—ना, ना, हे परमेश्वर! तुमने अपने आपको जैसा बतलाया है—एतत् तत्—यह बात ऐसी ही है। तुम परमेश्वर हो। एक योगी भी कोई बात झूठमूठ कहे तो वह भी सच हो जाती है। यह योगदर्शनकी सिद्धि है।.

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (2.36)

जब जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो बिना किये क्रियाका फल मिल जाता है। इसका अर्थ है कि यदि उसके मुँहसे कोई बात निकल गयी तो वह सच्ची होकर रहेगी। तुम तो साक्षात् परमेश्वर हो। जब योगियोंकी बात इतनी पक्की होती है तो तुम्हारी बात पक्की हो, इसमें तो शंका ही क्या है? तुम तो परमेश्वर हो।

द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।

जैसा तुमने अपनेको बताया है, तुम्हारे उसी ईश्वररूपको—ईश-रूपको, जैसे ईश्वरसे ऐश्वर्य होता है वैसे ईशसे एक हो जाता है। तुम्हारे हम उस ईश्वरीय रूपको देखना चाहते हैं।
द्रष्टुमिच्छामि।

सम्बोधन देखो, कमलपत्राक्षसे शुरू किया अर्थात् सुन्दरतासे किन्तु केवल सुन्दर ही किसीको कहा जाय कि वे बड़े सुन्दर हैं तो बात पूरी बनती नहीं। अभी एक सज्जन बोल रहे थे हमने लड़कीको देखकर ब्याह किया है, पार्टीको देखकर नहीं किया। यहाँ केवल सुन्दरता ही नहीं, पारमैश्वर्य है। परमेश्वर-रूप सारी दुनियाका 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' परमेश्वर है। वह ईश्वरोंका भी ईश्वर है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशको प्रशासित करना उसका स्वभाव है। 'ईशनं शीलमस्य स ईश्वरः'। शील अर्थमें प्रत्यय लगता है। और ईश्वरः च परमः च परमेश्वरः'। ब्रह्मा, विष्णु, महेशको जो नचाता है। 'विधि हरि-सम्भु नचावन हारे'—वह हो तुम। तुम्हारी बात झूठी कैसे हो सकती है। अब क्या चाहते हो?। 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं' बता तो दिया तुम्हें (11 वें अध्यायके अन्तमें उपसंहारमें ऐसा है।'

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।

एक हुआ ज्ञान, एक हुआ दर्शन और एक हुआ प्रवेश। तुमने ज्ञान तो करा दिया कि तुम कैसे हो परन्तु अब मैं तुम्हारे विश्व रूपको देखना चाहता हूँ—तुम मेरी सभी इच्छाएँ पूरी करते आये हो—मेरे लिए तुमने क्या नहीं किया। भगवान्ने इन्द्रसे वरदान माँगा—अर्जुन आपका पुत्र है, इससे मेरी मित्रता बनी रहे। इन्द्रको प्रसन्न करके श्रीकृष्णने अर्जुनसे मैत्री बनाये रखनेका वरदान माँगा। कौरवोंके पास सन्देश भेज दिया—अर्जुन और मैं—हम दोनोंको जो दो समझते हैं वे मूर्ख हैं। जो अर्जुनका मित्र है वह मेरा मित्र, जो अर्जुनका शत्रु वह मेरा शत्रु। 'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि'। कृष्णो धनञ्जयस्य आत्मा।' मेरे लिए तुमने क्या-क्या नहीं किया। सारथि बन गये। हमारे पार्षद—हमारी सभाके सदस्य बन गये। पहरेदार बन गये। हमारे दूत बन गये। हमारे लिए कौरवोंकी सभामें तुमने विराट्-रूप प्रकट किया। मेरी एक छोटी-सी इच्छा और है। क्या? जैसा रूप तुमने अपना अभी बताया है उसका मैं दर्शन करना चाहता हूँ। कौन-सा रूप देखना चाहते हो? 'ऐश्वरम्'—ईश्वर-रूप देखना चाहता हूँ। क्योंकि पहले भी तुमने कई बार कहा, पर मैंने ध्यान नहीं दिया।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

ऐश्वर्य-योगकी चर्चा तुमने बहुत बार की। कौन-सा आसन करें, कौन-सा प्राणायाम करें—क्या प्रत्याहार, धारणा, ध्यान करें कि तुम्हारे ईश्वररूपका दर्शन हो—यह मैं उपाय नहीं पूछ रहा हूँ। मैं तो कह रहा हूँ कि मुझे उपाय न करना पड़े और तुम दर्शन भी करा दो। 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम् ऐश्वरम्' बिना साधनके तुम दर्शन करना चाहते हो। उपाय तो बादमें छोड़ ही देने पड़ते हैं। एक सन्तसे किसीने आग्रह किया कि हमको शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्का दर्शन करा दो। बोले—भाई, शीघ्र-से-शीघ्र क्यों? बोले घण्टे भरके बाद तो दूकानपर जाना है। आफिस जानेकी शीघ्रता है। इसलिए घण्टे भरके भीतर ही भगवान्का दर्शन हो जाना चाहिए। ऐसे दर्शन नहीं होता। महात्माने पूछा—अच्छा मान लो तुम्हें भगवान्के दर्शन अभी हो जायँ तो तुम अपना जीवन कैसा व्यतीत करोगे? पूछनेवालेने कहा—भगवान्का भजन करूँगा, सेवा करूँगा। अच्छा तो दर्शनके बाद सेवा ही करोगे न! भजन ही तो करोगे? तो जो काम दर्शनके बाद करना है वह काम अभीसे करो।

यह नहीं, यह करो तो यह होगा—उसके पास जाओ तो यह होगा। जो कर सकता है उसका कर देता है। पुरुषोत्तमका स्वभाव जो है, वह दूसरेके पास भेजना नहीं है। जो अन्य पुरुष होता है—संस्कृतमें 'प्रथम पुरुष' बोलते हैं। वह तो दूर होता है। जो मध्यम पुरुष होता है वह पास होता है। लेकिन उत्तम पुरुष तो अपनी आत्मामें ही होता है। सः होता है प्रथम पुरुष, अन्य पुरुष त्वम् होता है मध्यम पुरुष और अहम् होता है उत्तम पुरुष—तुम तो उत्तम पुरुष हो। इसका मतलब यह है कि यदि तुमने कभी कोई साधन करके अपने आपका दर्शन किया हो, साक्षात्कार किया हो तो जो तुमने किया है उसका फल हमको दे दो। और यदि तुम बिना किसी उपायके ही स्वयं अपने आपको जानते हो कि मैं पुरुषोत्तम हूँ तो जैसे तुम स्वयं जानते हो अपनेको वैसे

हमको भी स्वयं जना दो। कुछ उपाय, साधन करनेकी जरूरत नहीं है—हम नहीं करेंगे। हमको तो तुम अपना रूप दिखाओ।

अब अर्जुनके मनमें आया कि मैं जरा उद्धत निवेदन कर रहा हूँ। हमारी योग्यता है कि नहीं इसपर विचार किये बिना तुम दर्शन करा ही दो तो, यह कहना उचित नहीं है। एक सज्जन एक सेठके पास गये और बोले कि हमको पाँच लाख रुपया दे दो, हम गो-सेवाका काम करेंगे। हमारे सामनेकी ही बात है। सेठ तो नहीं हैं पर माँगनेवाले सज्जन तो हैं। सेठने कहा कि तुमने अबतक कितनी गायें रखी हैं? उनकी क्या सेवा की है? गायोंके बारेमें तुम्हारा क्या अनुभव है? अपनी योग्यता भी तो देखनी चाहिए। तुम कहते हो ईश्वररूपका दर्शन कराओ—तुम देख सकोगे या नहीं?—बोले हाँ यह तो हमसे गलती हुई।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

अब मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। मैंने अपनी इच्छा तो प्रकट कर दी लेकिन हे प्रभो! प्रभो कहनेका अर्थ है कि यदि मैं योग्य नहीं हूँ तब भी तुम दर्शन तो करा सकते हो क्योंकि प्रभु हो, समर्थ हो। प्रभु शब्दका अर्थ संस्कृतमें समर्थ होता है। यदि उस रूपका दर्शन आप मेरे लिए शक्य मानते हो तो 'योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्'। हे योगेश्वर! योगेश्वरका अर्थ है—यदि कोई उपाय करना हो—योग माने उपाय; वैद्य लोग तो कई दवाओंको मिलाते हैं तो उसको योग बोलते हैं और योगी लोग आत्मयोगको ही योग बोलते हैं। अनात्मासे वियोगको ही योगी लोग योग बोलते हैं। गीतामें भी वियोगको योग बताया है।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (6.23)

दुःखके संयोगके वियोगका नाम योग है। अनात्म-प्रकृति और प्राकृत वस्तुसे जो योग है उसको योगी लोग योग कहते हैं। योगका अर्थ एकाग्रता भी होता है और जुड़ना भी होता है। समाधिके रूपमें भी योग शब्दहै और जुड़नेके अर्थमें योग शब्द है। हे योगेश्वर! यदि एकाग्रतासे दीखता हो तो हमको एकाग्र बना दो। और यदि तुम्हारे आलिंगनसे, तुम्हारे स्पर्शसे होता हो तो वह भी कर दो। लेकिन अपनी अव्यय आत्माका दर्शन, अविनाशी आत्माका दर्शन मुझे कराओ। मेरे मनमें बड़ी इच्छा है। यदि मैं दर्शन के योग्य नहीं हूँ तो मुझे योग्य बना लो।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥

देखो, प्रभु यह नहीं बोले कि मैं तुमको कोई उपाय बताता हूँ। करो आसन-प्राणायाम, योग करो। भगवान्ने यह नहीं कहा कि तुम योग करो। बोले कि पश्य—देखो—पहला शब्द बोले कि 'पश्य' मे पार्थ

रूपाणि—देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है कि अन्वय करेंगे तो 'हे पार्थ मे=मम रूपाणि पश्य'—हे अर्जुन, मेरे रूपोंको देखो—लेकिन में रूपाणिके स्थानपर 'मे पार्थ' कहकर गजब कर दिया। इसका अर्थ होता है—मेरे प्यारे अर्जुन, 'मे पार्थ—'पश्य' के बाद 'मैं' हो जाता है नहीं तो 'मम' रहता। बोले पश्य 'मे पार्थ रुपाणि'—पार्थका मतलब है प्रथनशील। पृथिवीमें जो धातु है—जो वस्तु फैलकर बड़ी होनेवाली है—अर्जुन, तुम ब्रह्मसे एक होनेवाले हो, मुक्त होनेवाले हो—तुम विश्वात्मासे एक होनेवाले हो।

पार्थका दूसरा अर्थ है-पृथा माने कुन्ती और उसके पुत्र पार्थ और तीसरा अर्थ है—पाति इति पः, स एव अर्थो यस्य असो पार्थः। जो केवल परमात्माको चाहता है। देखो तुमने अपनी इच्छा प्रकट की—यह इच्छा प्रकंट नहीं की कि मैं कौरवोंपर विजय प्राप्त करूँ—मैं धर्म-राज्यकी स्थापना करूँ, तुमने तो केवल यह इच्छा प्रकट की कि तुम्हारे स्वरूपका दर्शन हो जाय। हे प्यारे पार्थ! देखो, मेरे रूपको, देखो, यह ऐश्वर्य-रूप है। जो हम देख रहे हैं—'शतशः सहस्रशः' सैकड़ों हजारों माने असंख्य अगणित जो रूप हम देख रहे हैं ये भगवान्के रूप हैं। 'पश्य मे पार्थ रूपाणि'—जिसके द्वारा किसीका निरूपण होता हो, उसको रूप कहते हैं। 'रूप्यते अनेन इति रूपम्'। जिसके द्वारा हम समझ सकें, कि कोई कितना बड़ा है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है; उसकी आयु कितनी लम्बी है, उसके अंग-प्रत्यंग कितने बड़े हैं—जिनके द्वारा हम किसीको समझ सकें उसका नाम है। रूप देखो, मेरे रूप सैकड़ों-हजारों देखो। जैसे जादूगर-बोलता है न! देख लो, देख लो! वैसे बड़े मायावी-मायापति बोले—देख लो, देख लो—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

इनके प्रकार अनेक हैं—है एक चीजपर विधा अनेक है। विधा माने प्रकार। विशेष अवधानके लिए जो विशेष प्रकार होता है उसे 'विधा' बोलते हैं। धारणा—ठीक-ठीक अवधारणा हो जाय किसी वस्तुकी, उसकी रीतिका नाम 'विधा' होता है। इनकी रीति अलग-अलग है—एक आमका पेड़ है, एक बड़का पेड़ है, एक अंगूरकी लता है। एक धरती है पर ये सबके सब परमात्माको दिखानेवाले दिव्य हैं—सबमें दिव्यता भरी हुई है। 'नाना-वर्णाकृतीनि च।' इनके रंग रूप निराले हैं। वर्ण-माने रंग रूप और आकृति माने आकार। जैसे एक आदमीका रंग साँवला है या गोरा है या पीला है—वह तो है वर्ण। और आकृति है—वह आड़ी है कि टेढ़ी है कि लम्बी है। नाक नुकीली है कि चपटी यह आकृति है। नाना प्रकारके रंग देखो, नाना प्रकारकी आकृतियाँ देखो। सबकी शक्ल-सूरत बिल्कुल अलग-अलग—सबका नाम, रूप अलग-अलग, सबका आकार-प्रकार अलग-अलग—नाम-रूप क्रियात्मक समग्र प्रपञ्च—यह देखो मेरा ऐश्वर्यरूप है।

बहु स्यां प्रजायेय। (छान्दोग्य० 6.2.3)

यह मैं सबके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ। केवल लौकिक ही नहीं-जो कुछ अलौकिक है सो भी देखो!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 2

(20-11-82)

अम्ब त्वाम् अनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अर्जुनने बड़ी ही शालीनता और विनयके साथ अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं आपका ऐश्वर-रूप देखना चाहता हूँ। उसने यह भी कहाकि यदि मैं इसको देखनेकी योग्यता रखता हूँ—तो मुझे इसका दर्शन कराइये। केवल हमारी इच्छा ही इसके लिए पर्याप्त नहीं है, कि मैं कुछ चाहूँ और वह कर दिया जावे। उसके लिए मेरी योग्यता भी देख लीजिये। यदि हो तो दिखाइये और न हो तो मत दिखाइये। यह भी एक बोलनेकी शिष्ट शैली है। किसीसे यह कहना कि आप यह काम कर दीजिये, उसके साथ-साथ यह भी कहना चाहिए कि यदि आप उचित समझें तो कर दीजिये। अपनी इच्छा दूसरेके ऊपर लादी नहीं जाती है। भगवान्के ऐश्वर-रूपका जो दर्शन है यह ईश्वरके रूपका है। ईश्वरीय रूप माने विश्वरूप। एक देहधारी व्यक्ति जो पंचभूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ है, उसको ऐश्वर-रूप नहीं कहते हैं वह तो देवरूप है। जीवने पूर्व-पूर्व जन्ममें जो कर्म किये हैं, उनकी जो संचित राशि है, उसमें-से प्रारब्धके अनुरूप यह जो शरीर प्राप्त हुए हैं—पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, दानव—वे तो प्रारब्ध-रूप हैं। देवरूप हैं। जीवके कर्मानुसार बने हुए रूप हैं। और ईश्वरका जो रूप है उसमें न संचित कर्मका लेश है, न प्रारब्धका लेश है, न वहाँ कर्ता, कर्मका कोई सम्बन्ध है। ईश्वरीय-रूप तो स्वत: सिद्ध होता है। इसका निर्माण नहीं होता। उसका दर्शन होता है। दर्शन पूर्वसिद्ध वस्तुका होता है। जो वस्तु पहलेसे होती है, उसका दर्शन होता है। और जो बनायी जाती है वह तो कृतक होती है, कृत्रिम होती है, बनावटी होती है। अर्जुनने ईश्वरसे इसी रूपके दर्शनकी प्रार्थना की। यह कल सुनाया था।

अब आगे भगवान्ने तुरन्त बोलना शुरू कर दिया। श्रीभगवानुवाच—माने आगे जो कुछ कहा जा रहा है वह भगवान्की वाणी है भगवान्के वचन है। यहाँ 'उवाच' में जो क्रिया पद है भूतार्थक है। उसका अर्थ यह नहीं है कि कभी भगवान् बोले थे। उसका अर्थ है, भगवान् बोल रहे हैं। पहले भी बोले, अब भी बोल रहे हैं—आगे भी बोलेंगे। ये भगवान्के वचन है, यह इसका अभिप्राय है। भगवान् बोल रहे हैं—हम सबके सामने कह रहे हैं। हमेशासे कह रहे हैं। क्या कह रहे हैं, कि मुझे देखो।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः। (11.5)

इसमें अर्जुनके लिए तीन सम्बोधन हैं। इस वचन-परम्परामें एक है पार्थ, दूसरा है भारत और तीसरा है गुडाकेश। बार-बार अपने मित्रको अभिमुख करनेके लिए भगवान् ऐसा बोलते हैं। पार्थका लौकिक सम्बन्धसे अर्थ है कुन्तीपुत्र। पृथा-पृथा माने कुन्ती। कुन्तीका अर्थ है जिसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण हो। कुन्त जो बन्दूकके सिरेपर संगीन लगाते हैं। बहुत सूक्ष्म—सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि, जो निरूपणीय वस्तुकी तहतक पहुँच जाय, उसके सच्चे स्वरूपको प्रकट कर दे, उसका नाम कुन्ती है। पृथाका अर्थ है प्रथनशील। जिसकी कीर्ति चारों ओर फैली हुई हो वह। तो सम्बन्धसे अर्जुन बड़े कीर्तिशाली भी हैं और सूक्ष्म बुद्धिशालिनी कुन्तीके पुत्र

होनेसे सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न भी हैं। एक बात यह है कि अब उनके जीवनका प्रयोजन परमात्मा है। 'पाति इति प: स एव अर्थो यस्य स पार्थ:।'

जो सबकी रक्षा करनेवाला परमात्मा है, वही अर्जुनके लिए अर्थ है, धर्म है, काम है, मोक्ष है। अर्जुनको श्रीकृष्णके सिवाय और कोई पुरुषार्थ नहीं है। वे केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नता, श्रीकृष्णका ज्ञान, श्रीकृष्णका स्वरूप चाहते हैं। भारतका एक अर्थ है वंशसे श्रेष्ठ भारतवंशी होनेके कारण वंशके श्रेष्ठ। दूसरा है 'भा प्रतिभा तस्यांरत: भारत:'। जो प्रतिभा-परायण हो। नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि, बुद्धि हर समय जागती हुई होनी चाहिए। प्रमाद बुद्धिमें नहीं होना चाहिए। जागती हुई बुद्धि ही मनुष्यके लिए कल्याणकारिणी होती है, सोती हुई बुद्धि नहीं। भा माने प्रकाश—दीप्ति। हर समय नयी-नयी बात सूझती है, अर्जुनकी बुद्धि कभी सोती नहीं। वह कोई काम बुद्धिको छोड़कर नहीं करते हैं। यह युद्ध क्षेत्र है, यह कोई अरण्यभूमि तो है नहीं, रण-भूमि है। दोनों ओरकी सेनाएँ शंख बजा-बजाकर और शस्त्र-अस्त्रके प्रहारके लिए तत्पर है। यहाँ भी अर्जुनने बुद्धिका परित्याग नहीं किया। श्रीकृष्णने कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥ (1.21.22)

मैं देख तो लूँ कि लड़नेके लिए कौन-कौन आये हैं। इनसे लड़ना योग्य भी है या नहीं? माने परिस्थिति चाहे कितनी भी भयंकर हो परन्तु उचित-अनुचितका विचार करके, सोच-विचारकर काम करना चाहिए। नारेके चक्करमें नहीं आना चाहिए। जो भी काम करना हो, विवेकपूर्वक विचार करके ही करना चाहिए। अर्जुनकी रति है—भा में, प्रतिभामें, ज्ञानमें। तीसरा सम्बन्ध इस प्रसंगमें गुडाकेशसे। अर्जुनका यह नाम थोड़ा अप्रसिद्ध है। शास्त्रोंमें तो है ही—

अङ्गुष्ठतर्जनीयोगो गुडा नाम्नैष मुद्रिका।

जब अंगूठा और तर्जनी दोनोंको एकमें मिलाते हैं तो उसका संस्कृतमें नाम होता है गुडा। गुडा माने घुंघराला। गुडाकेश माने घुंघराले बाल। अर्जुनके बाल बड़े सुन्दर हैं और प्रभावशाली व्यक्तित्वके लिए बालोंका सौन्दर्य भी अपेक्षित है। हम देहकी अपेक्षा नहीं करते हैं।

सुन्दरको सुन्दर कहकर पुकारते हैं। बंगालके केशकी तो बड़ी प्रसिद्धि है। हम लोगोंके गाँवमें बोलते हैं—'छाजा बाजा केश, यह है बंगला देश।' घर बढ़िया बनाते हैं। बाजा बढ़िया बजाते हैं। अर्थात् संगीत—स्वर सौष्ठव बंगालका प्रसिद्ध है। और बाल यहाँ बहुत अच्छे होते हैं। अर्जुनके केश बड़े सुन्दर थे। इसलिए गुडाकेश कहते हैं पर शारीरिक सौन्दर्यसे भगवान् अर्जुनकी ओर आकृष्ट हों और उसको अपना विश्वरूप दिखायें—यह आवश्यक नहीं है। इसके लिए तो संयमी, सदाचारी होना चाहिए। 'गुडाका निद्रा यस्या एष: गुडाकेश:। गुडाका अर्थात् निद्रा। उसका स्वामी है अर्जुन, माने निद्रापर अर्जुनका वश है। जब चाहे तब सो जाय, जब चाहे तब जाग जाय। यह नहीं है कि नींद अर्जुनको सोनेके लिए विवश करती हो।

यहाँ निद्रा शब्दका अर्थ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—इन पाँचों वृत्तियोंके साथ है। जब

चाहे तब देखे और जब चाहे तब न देखे। कोई बात कर रहा हो—उसका मन हो तो सुने, उसका मन न हो तो न सुने। श्रोत्र-वृत्तिपर भी निरोध है। गुडाकेशका अर्थ है कि अपनी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंको प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा, स्मृति—इनको अर्जुन अपने वशमें रखते हैं. जैसे बड़े-बड़े योगी लोग वृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होते हैं वैसे अर्जुन भी वृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ है। इसलए़ि गुडाकेश—अर्जुनके अधिकारका सूचक गुडाकेश शब्द है। एक गुडाकेश शब्दका और अर्थशास्त्रमें प्रसिद्ध है। उद्योगपर्वमें महाभारतमें इन नामोंके अर्थ दिये हुए हैं।

'गुडं ब्रह्माण्डम् आप्ति व्याप्नोति इति गुडाक: शिव:, स ईशो यस्य।' गुडाक माने शंकरजी—यह ब्रह्माण्ड गोल है इसमें व्याप्त होनेके कारण शंकरजीका एक नाम है गुडाक। वह है ईश जिसके। इसका अर्थ है कि अर्जुन बड़े वीर हैं। उन्होंने अपने युद्ध-कौशलसे शंकरजीको प्रसन्न कर दिया। पूजा नहीं की। मन्त्रका जप नहीं किया। चन्दन, अक्षत, बेलपत्र शङ्करजीको नहीं चढ़ाये। दोनोंमें लड़ाई हो गयी तो अपनी बाणविद्यासे अर्जुनने शङ्करजीको संतुष्ट कर दिया। और उन्होंने प्रसन्न होकर अर्जुनको पाशुपत अस्त्र दिया जो अमोघ होता है। अपनी वीरता, वीर्यके द्वारा शङ्करजीको भी सन्तुष्ट करनेवाले हैं अर्जुन। ये भगवान्‌के बहुत प्यारे हैं। सौन्दर्यका वाचक भी गुडाकेश शब्द है, और संयमी, योगीका वाचक भी गुडाकेश शब्द है और जिसको देवताका आधिदैविक प्रसाद प्राप्त है, उसका भी यह वाचक है।

केशवाला अर्थ तो अधिभौतिक है। शङ्करजी वाला अर्थ आधिदैविक है और निद्राको जीतनेवाला जो गुडाकेश शब्द है वह आध्यात्मिक है। उसका अर्थ है अर्जुन आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—तीनों प्रकारकी योग्यतासे सम्पन्न है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण उनपर प्रसन्न होकर कहते हैं—अर्जुन, देखो मेरे सैकड़ो रूप, हजारों रूप। माने हमारे विश्वरूपका दर्शन करो। जैसे जीव एक शरीर होता है, वैसे यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वरका शरीर है। भगवान् शरीरी हैं। जैसे इस शरीरमें जीव शरीरी होता है, वैसे विश्वमें ईश्वर शरीरी है। सम्पूर्ण विश्वमें उसके हाथ, उसके पाँव, उसके सिर हैं, जैसे वेदोंमें सहस्रशीर्षा पुरुषका वर्णन है। कहा गया है—उनके हजारों सिर हैं, और हजारों हाथ हैं और हजारों पाँव हैं—वहाँ हजारकी गिनती नहीं है। ब्राह्मण लोग पुरुष-सूक्त का पाठ करते हैं तो हजार सिर, हजार पाँव, हजार हाथ ऐसे बोलते हैं। यदि हजार सिर हो तो दो हजार हाथ भी होने चाहिए और दो हजार पाँव होने चाहिए। वहाँ गिनतीमें तात्पर्य नहीं है। 'शतशोऽथ सहस्रश: '। सैकड़ो और हजारो उनके रूप हैं। आश्चर्य यह है कि सब-के-सब भगवान्‌के निरूपणमें समर्थ हैं। एक-एक रूपको हम गौरसे देखें तो उसमें से भगवान् निकल आवेंगे। बात समझमें आनी कठिन जरूर है। पर आप सोनेको पहचाननेकी कोशिश करें कि स्वर्ण यह है तो आप कंगनके रूपमें पहचानेंगे, तब भी पूरी पहचान नहीं है। कंगन तो उसमें गढ़ा हुआ है। सिल्लीके रूपमें पहचाने तो वह भी बनायी हुई है। चूर्णके रूपमें सोनेको पहचाने तो वह भी गलत है। द्रवके रूपमें पहचाने तो वह भी गला हुआ है, पर गला हुआ भी तो सोनेका रूप नहीं है।

जब हम सोनेके पहचानकी कोशिश करेंगे तो जहाँ ज्ञान होता है वहाँ पहचान जायेंगे। स्वर्ण और स्वर्णाभाव—दोनो जिस वृत्तिसे ज्ञात होते हैं उस वृत्तिसे अवच्छिन्न तो चैतन्य है। उसको आत्मा कहते हैं।

आत्मासे भिन्न स्वर्ण नामका कोई द्रव नहीं है। और आत्मा ही सोना है। जब ऐसे ही सम्पूर्ण वस्तुओंके बारे में सोचेंगे तो लगेगा असलमें वस्तु, वस्तु नहीं हैं। ये आत्मदेव ही एकमात्र वस्तु है। रिश्तेदार, नातेदार बात छोड़ो। ये सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च जो हैं वे आत्मासे भिन्न नहीं है। आत्मासे भिन्न और परमात्मा भी नहीं है।

रामानुजाचार्य आदि मानते हैं कि परमात्मासे भिन्न आत्मा नहीं है। और शङ्कराचार्य आदि मानते हैं कि आत्मासे भिन्न परमात्मा नहीं है। यह अद्भुत शैली है। आओ देखो हजारों रूप, उनके नाना विधान, नाना प्रकार और नानावर्ण! आकृतियाँ नाना हैं और सब-की-सब दिव्य हैं। जैसा लौकिक हम अपनी इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं वैसा नहीं है। उससे बहुत विलक्षण हैं जरा-सी आँख उससे कितना रूप देख सकती है। एक फर्लांग, दो फर्लांग, एक माइल, दो माइल। खुर्दवीन लगाओ तो उससे छोटी-से-छोटी चीज दिखेगी और दूरबीन लगालो तो दूरकी चीज भी दिखेगी। पर कितनी दूर तक? उसकी एक सीमा होगी। असलमें ये जितने पदार्थ हमको दिख रहे हैं, ये दिखनेमें तो छोटे-मोटे हैं—क्योंकि हमारी इन्द्रियां ही छोटी-छोटी हैं तो पूर्णको ये दिखा कैसे सकती हैं। परन्तु इनकी तहमें घुसकर विचारकर देखें तो हमें इन्द्रियोंसे जितना दिखता है, यदि उसको सम्पूर्ण मानते हैं तो—वह समझदारीसे परेकी बात हो जाती है। हम जितना देखते हैं, उतना ही नहीं है। हमारे पास शक्ति सीमित है। मान लीजिए पाँचकी जगह छह इन्द्रियां होती तो हम दुनियांको और देख पाते। हमारे मनमें जितनी विज्ञता है, जितनी सूक्ष्मता है, उससे भी सूक्ष्म होती तो हम और ज्यादा देख सकते!

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। (योगसूत्र 3.26)

यदि सूर्यमें संयम करे तो चौदह भुवनका ज्ञान हो सकता है। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् (3.27)। चन्द्रमामें संयम करें तो हर तारेका ज्ञान हो सकता है।

इसप्रकार हम जितना देखते हैं, उतनेमें ही फँसे हुए हैं। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि भाई, जरा अपनी नजर फैलाओ, देखो—

पश्यादित्यान्वसून्रूद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। (11.6)

एक नहीं बहुत सारे सूर्य हैं। आदित्य माने सूर्य—बारह सूर्योका वर्णन पुराणोंमें आता है। वसून् आठ वसुओंका वर्णन आता है। देखो वसु। जो इन आँखोंसे नहीं देखे जा सकते उन देवताओंको देखो। रूद्रान्—रूद्रोंको देखो। अश्विनौ—अश्विनीकुमारको देखो। उनचास मरुद्गणको देखो। देखो अर्जुन, देखो, जिनको तुमने पहले कभी नहीं देखा है। बहून्यदृष्टपूर्वाणि—जैसे कोई जादूगर, जादू दिखानेवाला खड़ा हो और बोले, देख लो-खोल दो पलक, देख लो झलक, पलकमें खलक। जैसे कोई आश्चर्य दिखानेके लिए जादूगर खड़ा हो! उस प्रकार अर्जुनको भगवान् बोलते हैं—जो तुमने कभी नहीं देखा, वह देखो!

आश्चर्यका अर्थ यही होता है, जो चीज पहले कभी नहीं देखी गयी हो उसको जब एक बार देखते है तो आश्चर्य हो जाता है। मैंने कभी नीबूका सत नहीं देखा था। बचपनकी बात है। हमारे सामने एक ने जरा सत एक गिलास पानीमें डाला और उसकी मैल तैर कर अलग हो गयी और जल स्वच्छ हो गया। बड़ा आश्चर्य हुआकि यह कौनसा चूर्ण है जिससे पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया। सोडाके दो पाउडर अलग-अलग रखे थे।

उन्हें एकमें मिलाया और वह पानी खौलने लगा, उसमें उफान आया। मैंने कभी नहीं देखा था तो बड़ा आश्चर्य हुआ। जब देख लिया तो वह रोज-रोजकी चीज हो गयी। उसमें कुछ आश्चर्य नहीं रहा। परन्तु यह ईश्वरका रूप ऐसा आश्चर्यमय—'नानाश्चर्याणि' है। आह! आह! आह! जिसको देखकर आदमी बोले वही आश्चर्य।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति, श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (2.29)

कोई आश्चर्यमय पुरुष, आश्चर्यमय नेत्रोंसे इस आश्चर्य-रूप दृश्यको देखता है। उपनिषद्में है—

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा। (कठ1.2.7)

जो इस तत्वका निरूपण करता है, वह भी आश्चर्य है। उनकी बहू ऐसी है, उनकी बेटी ऐसी, उनका बेटा ऐसा, उनका व्यापार ऐसा, उनकी संपदा ऐसी, उनकी दरिद्रता ऐसी—इसका वर्णन तो सब लोग करते हैं लेकिन जो परमात्माका वर्णन करे— वह आश्चर्य है। किसको दुनियामें इतनी फुर्सत है कि परमात्माका वर्णन करने जाय।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।

जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया, उसके समान कुशल और कोई नहीं है। देखने वाला आश्चर्य, देखना आश्चर्य, देखा जानेवाला आश्चर्य, वक्ता आश्चर्य, वचन आश्चर्य, वाच्य आश्चर्य, श्रोता आश्चर्य—कहाँसे मिले? कहीं सिनेमा हो, कहीं जादूका खेल हो—हजारों लाखों आदमी इकट्ठा हो जाते हैं। परन्तु परमात्माको सुननेवाले कितने होते हैं? उसको समझना और भी मुश्किल है।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।

आओ, आश्चर्य देखो। क्या देखें— क्या आश्चर्य है—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

देखो, मेरी ओर देखो, दूसरी ओर मत देखो। श्रीकृष्णके छोटेसे व्यक्तित्वको देखो—वह जब यशोदाकी गोदमें दूध पी रहें हो तब भी आश्चर्य है। यशोदा मैया दूध पिला रही थी। मनमें आया नन्हासा बालक। ज्यादा दूध पियेगा तो अपच हो जायेगा। लाल-पीली टट्टी आने लगेगी। मना किया। मना करते ही उन्हें जो जम्हाई आयी सो यशोदा माता क्या देखती हैं कि उनके मुँहमें, पेटके भीतर। न तो उनकी कमर मुट्ठि भरसे अधिक थी, न उनका पेट बड़ा, न उनका मुँह कुछ बड़ा हुआ—वे थे ज्यों-के-त्यों, गोदमें ही और मैया देखती क्या हैं—सारी दुनियाँका गड़बड़झाला—कृष्णके मुँहमें—यह आश्चर्य है!

श्रीकृष्णका जो व्यक्तित्व है वह साधारण लोगोंकी दृष्टिमें साधारण है और जिनको असाधारण दृष्टि प्राप्त है उनके लिए तो—यह देखो इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्— जितना चल दृष्य, जगत्— गच्छति परिवर्तते, जितना भी परिवर्तन है, वह सम्पूर्ण जगत है। देखो चराचर सृष्टि मेरे अन्दर — ये पहाड़ हैं। मेरे अन्दर यह समुद्र लहरा रहा है। ये नदियाँ बह रही हैं। और यह सृष्टि सूर्यकी परिक्रमा कर रही है। दृढ़ है हटती नहीं है। यह चराचर

जगत् हमारे शरीरमें देखो। अभी तो कुछ नहीं दिखता है। और भी कुछ तुम्हारा देखनेका मन हो—मनमें थाकि हम जीतेगें-था न तुम्हारे मनमें! अपनी जीत देखनी हो तो आओ, हम तुम्हारी जीत भी दिखा देते हैं। यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि। हम जीतेगें कि वे जीतेगें? तुम्हारे मनमें संशय है न ! आओ हम तुमको दिखाते हैं जो तुम देखना चाहो वह देख लो! देखो जन्म, देखो जीवन, देखो मौत, देखो सृष्टि, देखो स्थिति, देखो प्रलय।

आओ मेरे समान कुश्ती लड़नेवाला कौन है? आजाओ— कोई ललकार देते हैं। आओ, मेरे समान बाँसुरी बजानेवाला कौन है? मेरे समान गानेवाला कौन है। हर बातमें अभिमान—यह क्या जादुगरकी तरह बोल रहे हो? यह देखो, यह देखो, यह देखो—मैं तो देख रहा हूँ कि मेरे रथपर बैठे हो और घोड़ोंकी बागडोर तुम्हारे हाथमें है और मेरी ओर देख-देखकर बोलते जा रहे हो। कुछ दिखाओ तो सही! सिर्फ कहनेसे क्या होता है?

कृष्णने कहा ठीक बात है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ (11.8)

'न तु मां शक्नोसि द्रष्टुम्'। 'शक्यसे' की जगह 'शक्नोसि' बोलना पसन्द करते हैं। श्रीकृष्णको पाणिनीय व्याकरणका कुछ अभ्यास नहीं था। पाणिनि श्रीकृष्णके बाद हुए हैं तो अभ्यास कहाँसे होगा? क्योंकि पाणिनिके सूत्रोंमें वासुदेवका नाम आता है, अर्जुनका भी नाम आता है। पाणिनिकी अष्टाध्यायी है—जब वासुदेव और अर्जुनका नाम पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें है तो वासुदेव और अर्जुन तो पहले ही हो गये। पहले हो गये तो उन्हें पाणिनिके व्याकरणका अभ्यास कैसे होगा? फिर गाँवमें रहे थे तो जरूरी नहीं कि शुद्ध ही बोलें। व्याकरणका कोई अभ्यास भी नहीं था। दूसरी बात यह है कि जहाँ व्याकरणके विरुद्ध किसी शब्दका प्रयोग आता है, वहाँ ऐसा मानते हैं कि पहले जो लोग थे उनको वेदोंका बहुत अधिक अभ्यास होता था। वेदोंका बहुत अधिक अभ्यास होनेके कारण वेदोंमें जैसा शब्दोंका संस्कार होता है वैसा ही बुद्धिमें आरूढ़ हो जाता था और जिह्वापर वे रूप इस प्रकार बैठ जाते थे कि किसी व्याकरणके संस्कारके बिना ही वैदिक संस्कारसे संस्कृत होकर वैसे शब्दोंका प्रयोग करते थे। वे अपशब्द नहीं हैं बल्कि पवित्र होते हैं।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

अर्जुन, तुम अपनी इन्हीं आँखोंसे मुझे देखना चाहते हो तो नहीं देख सकते। संसारमें जितने रूप हैं—जो प्रयोगशालामें दिखाई पड़ते हैं वे क्या अपनी आँखसे देख सकते हैं? दूधमें जो कीटाणु हैं वे आँखसे दीखते हैं? आपके दहीमें कितने कीटाणु हैं, यह क्या आप देख सकते हैं? आँखकी शक्ति तो बहुत सीमित है। देशमें भी सीमित है। थोड़ी दूरतककी चीज ही दिखती है और कालमें तो इतनी सीमित है कि भूत और भविष्यको आँख देख ही नहीं पाती है। और वस्तुमें इतनी सीमित है कि इससे कुछ बड़ा हो तो नहीं देख सकेगी और इससे छोटा हो तब भी नहीं देख सकती। अब इस आँखसे कोई विराट् भगवान्‌को देखना चाहे तो कैसे सम्भव होगा? यह विराट् जो विविध रूपोंमें विराजमान है उसको आपकी यह आँख कैसे देख

सकेगी? अतः प्रभु बोले ठीक है—यही आँख जिससे तुम देखते रहे हो—यह मेरी माँ है यह मेरे पिताजी हैं—ये मेरे शत्रु और मित्र हैं। ये काले हैं, गोरे हैं, लाल हैं, ये लम्बे हैं, नाटे हैं। 'अनेनेव स्वचक्षुषा।' इस आँखसे तुम मुझे देखना चाहो तो नहीं देख सकते। तब 'दिव्यं: ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'। तुम्हें मैं दिव्य चक्षु देता हूँ।

दिव्य चक्षु मध्यवर्ती नेत्र है। क्योंकि आत्मदृष्टि, ब्रह्मदृष्टि सर्वोत्तम दृष्टि है। और यह जो लौकिक आँख है जिससे हम संसारको देखते हैं, यह निम्न दृष्टि है। इसके बीचमें एक अन्तर्दृष्टि होती है। वह अन्तर्दृष्टि कैसी होती है? न तो वह पञ्चभूतसे बनी हुई है, पाँच भौतिक शरीरसे बनी हुई नहीं। और न तो शुद्ध चेतन है। चिन्मात्र वस्तु और लोकवस्तुको देखनेवाली जो दृष्टि है, उस दृष्टिके मध्यमें एक दिव्य दृष्टि होती है। दिव्य दृष्टिका मतलब है कि इन इन्द्रियोंसे जो चीज नहीं दिखायी पड़ती है, वह उससे दीखती है। एक आचार्यने तो कहा 'एकाग्रं मन एव दिव्यं चक्षुः'। एकाग्र मन ही दिव्य दृष्टि है। जब मनमें एकाग्रता आती है तब यह जो देहमें परिच्छिन्न सीमित दृष्टि है—इस सीमाको पार कर जाती है और वह असीम पदार्थको देखनेमें समर्थ हो जाती है। परन्तु भगवान्‌के लिए तो यह सब खेल है। दिव्यका प्रयोग गीतामें और भी है। इसी अध्यायमें कई बार है। लेकिन भगवान् कहते हैं कि मेरा जन्म, कर्म दिव्य है। इसपर आप लोगोंकी दृष्टि जरूर गयी होगी।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (4.9)

भगवान्‌ने कहा कि मेरा जन्म दिव्य है और मेरा कर्म दिव्य है। जन्म, कर्मकी दिव्यताका अर्थ क्या होता है? एक खेल है। दिव्य शब्दका एक अर्थ होता है-खेल। पहला ही अर्थ है खेल। खेल माने जिसमें पाप-पुण्य नहीं लगता। जब कर्म साधारणरूपसे करते हैं तो उससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है। अपेक्षा बुद्धिसे जो कर्म होता है कि इस कर्मका यह फल हो और वह हमको मिले वहाँ कर्म खेल नहीं होता। वहाँ तो कर्म वस्तुतः कर्म होता है और करनेवालेको चिपक जाता है। जहाँ कर्ता हो, पूर्व संकल्प हो और जो आयाससाध्य हो, उसमें कुछ अपेक्षा हो और बादमें उसके फलकी उत्पत्ति हो तो वह साधारण कर्म होता है। लेकिन जहाँ कर्ता भी न हो और कोई कामना भी न हो और उससे किसी फलकी आकांक्षा भी न हो और कर्म कर रहे हैं तो, वह तो खेल खेल ही हो जाता है।

खेल माने 'खे लीयते'। 'ख' और ली धातुसे खेल बनता है। यह संस्कृतका शब्द है। लेकिन जिसका फल आसमानमें लीन हो जाय, करनेवालेको फल लगे नहीं—पाप-पुण्य लगे नहीं। दिवु धातु जो है, उसका पहला अर्थ है 'खेल' क्रीडा; अन्य अर्थ हैं—विजिगीषा, अपने विजयको दिखाना, व्यवहार, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति। दिव्य शब्द बड़ा विलक्षण है। भगवान् जब अपने जन्मको दिव्य कहते हैं—तब उनका अर्थ यह होता है कि जैसे जीवोंका जन्म कर्मके अनुसार होता है वैसे मेरा ज़न्म कर्मके अनुसार नहीं है। जैसे ब्रह्ममें यह समग्र सृष्टि प्रतीतमात्र होती है, वैसा यह प्रतीतिमात्र भी नहीं है।

यह तो भगवत्-संकल्प ही इसमें मूल हेतु है। ऐसा जन्म है भगवान्‌का जन्म कर्ममूलक नहीं है। ऐसा

जन्म है भगवान्‌का जिससे नरक-स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, जिसमें मृत्यु नहीं होती, जिसमें जड़ता नहीं होती। इस अर्थमें 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्—दिव्य शब्दका प्रयोग किया है। यहाँ 'दिव्य चक्षु' का अर्थ है जो अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंमें-से तेजस् तत्त्वसे बनी हुई न हो। हमलोगोंकी आँख कैसे बनती है? जैसे यह रूप आप देखते हैं—लाल रूप है, हरा रूप है—यह कैसे बना? इसमें पाँचों भूतोंका मिश्रण है। गुलाबका फूल है, कमलका फूल है। इसमें सुगन्ध पृथिवीका अंश है। इसमें रसीलापन जलका अंश है। इसमें जो रूप है, चमक है वह तेजका अंश है। और इसमें जो हिलना-डोरना है यह वायुका अंश है। और यह जब चुरमुर-चुरमुर बोलेगा, आवाज करेगा तो वह आकाशका अंश है। परन्तु हमारी इन्द्रियोंमें ऐसा नहीं है। विषयमें तो पाँचों चीजें मिली हुई होती हैं पर इन्द्रियोंमें एक-एक चीज अलग-अलग होती है। कानमें केवल शब्द है, त्वचामें केवल स्पर्श है, आँखमें केवल रूप है। इसलिए अपञ्चीकृत पंचभूतोंसे बनी हुई होती हैं इन्द्रियाँ। इनमें पाँचोंका मिश्रण नहीं होता। ये एक-एक विषयको ग्रहण करती है।

यह भी आपको प्रसंगवश सुना देते हैं कि हमारी जीभसे जो रसका, स्वादका, ग्रहण होता है, वह किसी भी मशीनके द्वारा यदि आप ग्रहण करना चाहें तो नहीं ग्रहण कर सकते। जो स्वाद आता है-खट्टा-मीठा-चरपरा वह जीभसे ही आता है। लेबोरेटरीमें कोई मशीन लगाकर आप निश्चय कीजिये कि यह चीज कैसी है? वह तो रसनाको ही ग्राह्य है। इसीसे जब लेबोरेटरीमें पंचभूतोंकी परीक्षा की गयी तब पाँच नहीं चार निकले। जलतत्त्व ही नहीं निकला, लेबोरेटरीमें। वह तो, दो प्रकारका गैस मिला देते हैं उससे पानीकी वर्षा हो जाती है। पानी तो बन जाता है पर हमारी जीभपर जो स्वाद आता है, उस स्वादका पता मशीनसे चल सकता है कि नहीं? नहीं चल सकता। इसलिए रसनाको भी पाँचवीं इन्द्रिय मानना चाहिए और उसमें ग्रहण किया हुआ जो विषय है-स्वाद-रस उसको भी एक पदार्थ मानना आवश्यक है और उस रसका आश्रय जल है। जबतक जीभपर पानी नहीं होगा तबतक स्वाद कैसे मालूम पड़ेगा! प्रसंगवश यह बात आपको सुनायी।

हमारी जो आँख है वह कितना देख सकती है। यह किसी भी वस्तुको पूरी नहीं देख सकती है। इसकी भी एक मर्यादा है। इसलिए दिव्य दृष्टिकी आवश्यकता होती है। ऐसी दिव्य दृष्टि जो पाँचोंको देख सकती हो। अब आप दिव्य दृष्टिको फिरसे समझिये। आँख केवल रूपको देख सकती है। लेकिन अर्जुनको जो दीख रहा है, वह केवल रूप नहीं दिख रहा है—उसको गन्ध भी दिख रही है, यहाँ तक कि मरे हुए, मरनेवाले लोग भी दीख रहे हैं। जो आगे मरेंगे,

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठायुध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान॥ (11.34)

जो आगे मरेंगे उनको भी देखनेकी शक्ति अर्जुनकी दृष्टिमें आजाती है। वहाँ भूत और भविष्यकी सीमा नहीं रहती है। वहाँ पूर्व और पश्चिमकी सीमा नहीं रहती है। वहाँ सूक्ष्म और स्थूलकी सीमा नहीं रहती है। ऐसी दृष्टि जो इन आँखोंसे बहुत विलक्षण है और अद्वैत दृष्टिसे निम्न कोटिकी है। ऐसी दिव्य-दृष्टि भगवान् अर्जुनको देते हैं। अर्जुन ब्रह्मको नहीं देख पाते अर्जुन तो विश्वविराट्‌को इस दृष्टिके द्वारा देखते हैं। 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः

पश्य मे योगमैश्वरम्। मेरा ईश्वरयोग देखो-ऐश्वरयोगका अर्थ ऐसा अद्‌भुत है। नवें अध्यायमें इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तिमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। (4.9.5)

यहाँ भी यह पद है—'पश्य मे योगमैश्वरम्'। जरा देखो, यह ईश्वरीय योग देखो। ईश्वरीय योगकी क्या विशेषता है? एक तो कह दिया—तुमको यह दुनिया दिखती है? अर्जुन—हाँ, दिखती है महाराज। कहाँ दिखती है? देख, मुझमें है-'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। मैं आकाशसे बड़ा हूँ। मुझमें है दुनिया—बोले अच्छा महाराज, एक बात बताओ—जैसी मैं दुनिया देख रहा हूँ—वैसी आप भी देखते हैं? बोले—'न च मत्स्थानि भूतानि'। बोले—कुछ नहीं, तुम्हारी दृष्टिसे सारी सृष्टि मुझमें है और मेरी दृष्टिसे सृष्टि मुझमें है ही नहीं। यह क्या आश्चर्य है? यह आश्चर्य है। यह आश्चर्य है कि आकाशमें नीलिमा है। हाँ जी, हमारी आँख बताती है कि आकाशमें नीलिमा है। अब कहीं आकाश भी आँखवाला है! और उससे पूछो कि क्यों आकाशजी—आप नीले हो? तो आकाशको अपने अन्दर नीलिमा बिलकुल नहीं दिख सकती।

योग-दर्शनमें यही विभाग किया हुआ है। 'कृतार्थके प्रति यह सृष्टि नहीं है; और साधारणके प्रति यह सृष्टि है।' तब ईश्वरके प्रति यह सृष्टि क्या है? है भी और नहीं भी है। है कहो तो जीवदृष्टिसे है। ईश्वर-दृष्टिसे नहीं है। ईश्वर-दृष्टिसे नहीं कहो तो जीव-दृष्टिसे है। इसलिए अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय अर्थात् न हाँ बोल सकते, न ना बोल सकते। यह ईश्वरीय सृष्टि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' और न च मत्स्थानि भूतानि'। यह भगवान्‌में है भी और नहीं भी है।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ (11.9-10)

ऐसा कहा भगवान् महायोगेश्वरेश्वरने। भगवान्—श्रीहरि, भगवान् महायोगेश्वर हैं। एक होते हैं योगीश्वर और एक होते हैं योगेश्वर—इन दोनोंमें फरक होता है। जैसे एक होती है मण्डली और उसमें एक होते हैं मंडलीश्वर, महात्माओंमें होते हैं। असलमें शब्द मण्डलीश्वर ही है। बादमें लोगोंने उसको मण्डलेश्वर बना दिया। दुनियामें बहुत-से योगी होते हैं। अष्टांग-योगी हैं, हठयोगी हैं, मन्त्रयोगी हैं, राजयोगी हैं, लययोगी हैं—उनका जो नियन्त्रण करे, योगकी शिक्षा दे—योगमें स्थिर करे, उसका नाम होता है योगीश्वर। लेकिन जो जिसको चाहे योग दे दे, योग ही जिसके हाथमें है, वह योगेश्वर है। अर्जुनसे भगवान्‌ने यह नहीं कहा कि तू आसन, प्राणायाम साध, तब तुझे दृष्टि प्राप्त होगी और तू मुझे देख सकेगा। उससे बिना योग कराये अर्जुनको योगका फल देनेमें समर्थ हैं श्रीकृष्ण। इसलिए वे योगेश्वर हैं।

वह भी देना नहीं पड़ता है—वचनसे बोल दिया देख और अर्जुन देखने लगा, इसलिए महायोगेश्वर। सीधा प्रश्न यह है कि भगवान् यह सब करते क्यों हैं? क्या मतलब है? कुछ न कुछ तो प्रयोजन होगा। बिना प्रयोजनके मूर्खसे-मूर्ख आदमी भी कोई काम नहीं करता है। कामना दूसरी चीज होती है और प्रयोजन दूसरी चीज होती है! अनुबन्ध-चतुष्टयके बिना कोई ग्रन्थ होता ही नहीं है। और उसमें एक प्रयोजन होता है।

अच्छा तो भगवान्का क्या प्रयोजन है? प्रयोजनके लिए हरि शब्दका प्रयोग है। हरति दु:खम्। हरि माने सीधे चोर होता है। जो हर ले उसका नाम हरि। सोते समय हर ले और ध्यान दूसरी हो तब हर ले तब वह चोर होता है, पाकेटमार होता है। और आँखके सामने ही ठग ले—तो वह ठग हो जाता है। मारकर लूट ले तो वह लुटेरा हो जाता है। सुनारोंके बारेमें तो 'पश्यतोहर' शब्दका प्रयोग आता है। तुम्हें पता ही नहीं चलेगा और ले लेंगे। हरि हैं माने 'हरति दु:खम्'। जो अर्जुनका विश्वका दु:ख मिटानेके लिए यह रूप दिखा रहे हैं। 'हरति वासनाम्', 'हरति पापम्' क्योंकि पापसे दु:ख होता है तो पाप ही हर लेते हैं। वासनासे पाप होता है, वासनाको हर लेते हैं। 'हरति अभिमानम्'। वासना अहंताके आश्रित रहती है। उसको हर लेते हैं। अहंकारसे छुड़ा लेते हैं। अज्ञानको हर लेते हैं क्योंकि अहंकार अज्ञानसे होता है, इसलिए इनका नाम हरि है।

मनोहर—सबके मनको अपनी ओर खींचनेवाले हैं। परमसुन्दर परममधुर—परमाश्चर्य—लोगोंकी इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचनेवाले, मनको खींचनेवाले। भागवतमें तो कहते हैं—'प्रारब्धहृत्' जीवोंके प्रारब्धको ही चुरा लेते हैं। उनके जीवनमें प्रारब्धसे जो दु:ख आनेवाला हो—बोले दु:ख चुरानेका क्लेश कौन उठावे, उसका प्रारब्ध ही हर लें। प्रारब्ध हरनेकी भी युक्ति है। प्रारब्ध आपका जैसा भी अच्छा-बुरा हो, फल कहाँ देगा? आपके अन्त:करणमें। चाहे वियोग हो या संयोग हो—चाहे मृत्यु हो, चाहे जन्म हो—उस मृत्यु-जन्मका, संयोग-वियोगका जो सुख-दु:ख है, वह हृदयमें ही होता है। और जब भगवान् आकर हृदयमें बैठ जाते हैं तो हृदय भर जाता है।

अब प्रारब्धके जो फल आते हैं उनको दिलमें घुसनेकी जगह नहीं मिलती है। वे जब दिलमें घुसनेकी जगह नहीं मिलती है तो वापिस हो जाते हैं। इसलिए जहाँ आकर प्रारब्ध सुख-दु:ख देता है—बिना मनमें आये तो सुख-दु:ख दे ही नहीं सकता। भगवान् उसी मनमें आजाते हैं, उसमें तनिक भी स्थान नहीं छोड़ते। डॉक्टर लोग एक इन्जेक्शन लगाकर सुख-दु:खका होना बन्द कर देते हैं। एक गोली खिलाकर सुख-दु:खका अनुभव होना बन्द कर देते हैं। तो भगवान् स्वयं आकर हृदयमें जब बैठ जाते हैं तब प्रारब्धके लिए कोई स्थान नहीं होता। इसलिए हरिका अर्थ है—तुम्हारे जीवनमें प्रारब्धसे जो कुछ आनेवाला है, उसको भी ये हृदयमें बैठकर चुरा लेते हैं। इसलिए हरि हैं। ये भगवान् क्लेशघ्न हैं। ये प्रारब्धहृत् हैं, प्रारब्धहारी हैं। ऐसे भगवान्ने अर्जुनसे कहा—देखो अर्जुन, 'परमं रूपमैश्वरम्'।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 3

(21-11-82)

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने ऐश्वररूपका दर्शन कराया। ऐश्वर माने ईश्वरीय रूप। जीव कर्मवश एक शरीरमें आता है, बारम्बार भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करता है। परन्तु ईश्वर सर्व शरीरी है। यह बात आपलोग दूसरे मजहबोंकी नजरसे या दृष्टिकोणसे समझनेकी कोशिश करेंगे तो नहीं समझ सकेंगे। क्योंकि लोगोंने ईश्वरको प्रायः संसारका—जगत्का निमित्तकारण माना है। ईसाई भी, मुसलमान भी, पारसी भी, आर्यसमाजी भी, ब्रह्मसमाजी भी और हमारे जितने द्वैतवादी हैं वे सब ऐसा मानते हैं कि जैसे कुम्हार माटीसे घड़ा बनाता है या जुलाहा सूतसे कपड़ा बुनता है, इसी प्रकार ईश्वरने—कुम्हारकी तरह, जुलाहेकी तरह, किसी और उपादानसे, परमाणुसे यह सृष्टि बनायी। वैदिक धर्मका सिद्धान्त यह है कि विश्वके रूपमें बनता भी भगवान् ही है और बनाता भी भगवान् ही है। वही माटी है और वही कुम्हार है—उपादान कारण जिसको कहते हैं वह ईश्वर ही है, इस जगत्का। इसलिए सूतसे चाहे जैसे कपड़े बनें वे सब सूत-रूप ही होते हैं। जैसे माटीसे जितने रूप बनें वे सब माटी ही होते हैं—चाहे घड़ा हो, सकोरा हो या खपरैल हो। ऐसे ही ईश्वरसे बनी हुई यह सृष्टि, ईश्वर-रूप ही है।

यदि पाश्चात्य मजहबोंकी दृष्टिसे इस सृष्टिको आप पहचाननेकी कोशिश करेंगे तो उपादानके रूपमें ईश्वरको नहीं पहचान सकेगे। इसलिए जगत्के रूपमें भी ईश्वरको नहीं पहचान सकेंगे। तब राग-द्वेषकी जो आत्यन्तिक निवृत्ति होनी चाहिए, वह कभी होगी ही नहीं। यह अच्छा है, वह बुरा है, यह उचित है, वह अनुचित है, किन्तु सम्पूर्ण जगत् ईश्वर-रूप है, यह जो राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप स्थिति है वह नहीं मिल सकेगी। इसलिए अर्जुनको भगवान्ने बताया है कि जैसे जीवका शरीर यह देह है— पशुके शरीरमें जीव है, पक्षीके शरीरमें जीव है, कीट-पतंगके शरीरमें जीव है—जीवोंके जैसे एक-एक शरीर होते हैं वैसे ही यह समग्र विश्व ईश्वरका शरीर है। आप भी अपनेको देहधारीके रूपमें मानते हैं परन्तु इस देहमें कितने कीटाणु होते हैं—तो हमारे पूरे शरीरमें कितने कीटाणु होंगे और उनका शरीर कैसा-कैसा होगा और देहके रूपमें वे सब मैं ही हूँ।

अब समझ लो कि मेरे शरीरमें एक कीटाणु ऐसा हो जो अर्जुनके रूपमें हो और मैं कृष्णके रूपमें उसको अपना दर्शन कराऊँ तो मेरा सम्पूर्ण शरीर ही देवताओंसे और जीवात्माओंसे और पृथिवीसे, जलसे, अग्निसे भरा हुआ भी इस कीटाणुको दिखेगा, और वह सब मेरा स्वरूप होगा। ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्णके शरीरमें अर्जुन सब प्रकारके जीवोंको और अजीवोंको भी सचराचर विश्वको श्रीकृष्णके रूपमें ही देख रहा है। विराट् विश्वके रूपमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है।

यह बात बार-बार दुहरायी जाती है। लेकिन जगत्का उपादान कारण माने मैटर, मसाला—जिससे यह दुनिया बनी है वह ईश्वर है, यह बात हम लोगोंके ध्यानमें जल्दी नहीं बैठती है। यही श्रीकृष्णने अर्जुनके लिए किया। दिखा दिया उसको—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ 11.10-12

अनेक मुख हैं, अनेक नयन हैं। अनेक अद्भुत वस्तुएँ जो कभी नहीं देखी गयी हैं, वे उनके शरीरमें हैं। अनेक दिव्य आभरण धारण किये हुए हैं और अनेक आयुध उठाये हुए हैं। वे आयुध भी दिव्य-ही-दिव्य हैं। दिव्य माल्य और वस्त्र धारण किये हुए हैं। दिव्य गन्धका अनुलेपन है। उनके शरीरमें सब आश्चर्य-ही-आश्चर्य है। न कहीं ओर है न छोर। न आदि है न अन्त: 'विश्वतोमुखम्'-जिधर देखो उधर भगवान्-ही-भगवान्। इसको अभूत उपमा बोलते हैं—जैसा कभी न हुआ हो ऐसा। अभूतोपमालंकार होता है शास्त्रमें। इसको मम्मटने तो अतिशयोक्तिके रूपमें स्वीकार किया है और दूसरे आचार्योंने अभूतोपमाके रूपमें ही इसको स्वीकार किया है। क्योंकि ऐसा उपमान सृष्टिमें और कहीं मिलता नहीं इसलिए कल्पना की—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।

हजारों सूर्य एक साथ उदय हों और उनका प्रकाश, उनकी आभा चारों ओर फैल जाये तो कदाचित् वह उस विराट्-रूपके सदृश हो सकती है।

'महात्मनः' बड़ा भारी है शरीर जिसका—आत्मा शब्दका अर्थ संस्कृतमें शरीर भी होता है। 'महान् आत्मा शरीरं यस्य।' इतना बड़ा शरीर है—न ओर न छोर, पूर्वकी ओर यहाँसे अपनी नजर हम फेकें—फेंकते जायँ—कहीं पूर्वका ओर-छोर नहीं मिलेगा। कोई अपने मनसे, बुद्धिसे पूर्वकी आदि ढूँढ़ना चाहे या पूर्वका अन्त ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिलेगा। पश्चिमका, ऊपरका, नीचेका आदि-अन्त नहीं मिलेगा। यदि आप सबका आदि अन्त ढूँढ़ना चाहें तो इससे फायदा क्या होगा? कौन-सी आमदनी हो जायगी इससे? क्या मुनाफा होगा? मुनाफा यह होगा कि आपको सत्यका ज्ञान हो जायेगा। तो ढूँढ़ने आप कहीं भी जावेंगे तो न अन्त मिलेगा न आदि मिलेगी। लेकिन हमलोग उस आदि, अन्तको ढूँढ़ लेते हैं। वह हमारा व्यापार है। वह आदि, अन्त कहाँ है? जहाँ हमारा 'मैं' है। वहीसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर, नीचे—सब वहीसे शुरू होता है। अगर आप अपनेको ढूँढ़ लें तो देखेंगे हमसे शुरू होकर हमारे बायें, पूरब है। हमसे शुरू होकर हमारे दाहिने पश्चिम रहता है। हमसे शुरू होकर हमारे सामने दक्षिण है और हमसे शुरू होकर हमारे पीछे उत्तर है। उनका ओर-छोर यदि ढूँढ़ना हो तो 'मैं' को जानना पड़ता है। यदि 'मैं' को नहीं जानेंगे तो कोई

चीज नहीं जान सकते। भूतकी आदि आप जानने जाँय तो कभी मिलेगी? अज्ञानान्धकारमें, घोर अन्धकारमें, अज्ञान निद्रामें डूब जायेंगे।

अच्छा भविष्यका अन्त ढूँढ़ने जायें तो कहीं मिलेगा? परन्तु यह जो वर्तमान है, यहीसे भूतकी आदि है और यही भूतका अन्त है। और यहीं भविष्यकी आदि है और भविष्यका अन्त है। इसके कहनेका अभिप्राय है कि अपने मैंको जाने बिना जो कुछ भी हम जानना चाहते हैं उसमें सिवाय अज्ञानके और कुछ भी नहीं मिलेगा। इसलिए महात्मा लोग जो वासनानुसारी नहीं होते हैं कि हमें यह वस्तु चाहिए, ऐसी वस्तु चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए वह पहले जहाँसे वासनाएँ उठती हैं उसके मूल 'मैं' का अनुसन्धान करते हैं—कि आत्मा क्या है? इसीको 'कोऽहम्' बोलते हैं और इसीको 'सोऽहम्' बोलते हैं। मैं कौन हूँ? मैं वह हूँ। कौन? कालका आदि, अन्त जहाँसे शुरू होता है। वह देशका आदि, अन्त जहाँसे शुरू होता है। वस्तुओंका भान जहाँसे प्रारम्भ होता है, वह मैं हूँ। उत्पत्ति कब हुई, कहाँ हुई, कैसे हुई, क्या हुई? यह ढूँढ़ने जाओगे तो कुछ नहीं मिलेगा। केवल अज्ञान हाथ लगेगा। लेकिन मालूम कैसे पड़ता है? उत्पत्तिका मूल ढूँढ़ोगे और कहीं नहीं मिलेगा। लेकिन भानका मूल ढूँढो। मालूम कैसे पड़ता है? मेरे 'मैं' से मालूम पड़ता है। मुझसे मालूम पड़ता है। यदि वह 'मैं' मालूम पड़ जाय तो सब कुछ मालूम पड़ जाय। यदि सृष्टि मालूम न पड़े तो क्या है? भगवान् आवें सामने और मालूम न पड़े तो क्या है? ईश्वर सामने हो और मालूम न पड़े तो क्या है? आप सब हैं और मालूम न पड़े तो क्या है? जहाँसे मालूम पड़ना प्रारम्भ होता है, वहाँ सत्यका दर्शन होता है। इसलिए कल्पना करो ऐसा है, ऐसा है—कल्पना करनेसे नहीं बनेगा।

इस भावको ढूँढ़ना पड़ेगा कि यह भाव क्या है? 'यदि भा:सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।' यह जो आत्मदेव हैं यह सबसे महान् हैं, क्योंकि ईश्वरको ये ही जानते हैं। जीवको ये ही जानते हैं। जगत्को ये ही जानते हैं। इसलिए आत्मा जो जाग्रत्में विषयोंको ग्रहण करता है, जो स्वप्नमें विषयोंको बनाता है, जो सुषुप्तिमें सबका उपसंहार कर लेता है और तीनोंमें स्वयं जगमग-जगमग झलकता रहता है, वही सबके भानका निमित्तकारण है और वही सबके होनेका, अस्ति-का उपादान कारण है और वह तो एक सरीखा ही रहता है। यह बात ध्यानमें आनेकी है। आपको यह तो मालूम नहीं कि आपकी आँखमें कितनी ताकत है? आपकी खुर्दबीन कितना गुना करके वस्तुको दिखाती है। और फिर वस्तुको नापते है, तोलते हैं तो झूठी होगी ही। आप यहाँ जिसको एक किलो तौल लें और फिर ऊपरके देशमें राकेटमें बैठकर जायँ तो वहाँ उसका एक किलो वजन नहीं रहेगा। एक किलो वजन उस चीजका नहीं है, यहाँकी परिस्थितिके अनुरूप उसका एक किलो वजन है; वह तो देशिक है, कालिक है। इसलिए विराट्को देखना चाहनेपर महात्माने (भगवान्के लिए महात्मा शब्दका प्रयोग है। अर्जुनको उसे अपनेमें ही दिखा दिया, उस महात्माके शरीरमें अर्जुनने समस्त जगत्को देखा।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ (11.13-14)

सम्पूर्ण जगत् 'कृत्स्नं जगत्' एकमें स्थित है। ज्ञानकी प्रक्रिया यही है कि जितनी अनेकताएँ दिखती हैं जब एकमें समा जायँ जबतक तीन दीखता है, दो दीखता है—तबतक वस्तुका ज्ञान ठीक नहीं हुआ। जब ज्ञानमें 'मैं' जाननेवाला और यह जाना जानेवाला 'यह' भी भेद न रहे, शुद्ध ज्ञान ही रहे तब ज्ञानस्वरूप अनुभव स्वरूप होता है। देखा उसने 'अनेकधा प्रविभक्त' बँट तो गया है अनेकों प्रकार, लेकिन सब एकमें ही स्थित है।

देवदेवके शरीरमें अर्जुनने इस विश्व-विराटको देखा। इसके बाद अर्जुनकी क्या स्थिति हुई, यह बताते हैं।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

पहले विस्मयका भाव हुआ। विस्मय माने आश्चर्य। अद्‌भुत दर्शनके कारण विस्मयका, आश्चर्यका भाव अर्जुनके हृदयमें हुआ। फिर वह उसमें आविष्ट हो गया। आविष्ट हो गया तो स्थायीभाव हो गया और स्थायीभाव हो गया तो भगवान् तो हैं आलम्बन और उनका यह विराट्‌रूप है उद्दीपन और 'हृष्टरोमा' 'प्रणम्य कृताञ्जलिः' अनुभाव, सात्त्विक और संचारी सभी भाव उसमें आगये और अद्भुतरसका उदय हुआ और उसका अनुभव हुआ, तादात्म्यापन हो गया अर्जुन। अर्जुनको यही न मालूम पड़े कि मैं इस विराट्से अलग हूँ या इस विराट्के एक हूँ।

मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ अद्भुत रस माना है चूँकि आश्चर्यका अनुभव हुआ। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथके मतमें यहाँ अद्भुतरस नहीं है। यहाँ अर्जुनको धनञ्जय कहा गया है। अर्जुन दिग्विजय करके धन ले आते हैं इसलिए उनका नाम धनञ्जय है अथवा 'धत्ते इति धनं साधनं—तत् जयति'—साधन-सम्पत्तिके बिना ही भगवान्‌ने उन्हें सारे साधन दे दिये। और शरीरमें रोमाञ्च हुआ। हाथ जुड़ गये और सिरसे प्रणाम करके भगवान्‌के प्रति उन्होंने भाषण किया।

प्रणामकी भी अनेक रीतियाँ हैं—जैसे हाथ जोड़नेका; अभिप्राय यह है कि आपकी आज्ञा मैं अपने हाथोंपर लेना चाहता हूँ। आप जो आज्ञा करेंगे सो मैं करूँगा। हमारे हाथ जुड़े हुए हैं मानो खाली हैं। सब काम छोड़कर मैं आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। दोनों हाथ आपके हैं। सिर झुकानेका अर्थ होता है कि हम अपनी बुद्धि, अपने विचार आपके सामने झुका रहे हैं। आपके विचार ही हमारे विचार है। हमारे विचार आपसे अलग नहीं है और जब साष्टांग प्रणाम करते हैं—तब उसका अर्थ होता है कि हम सम्पूर्ण जीवन ही आपको अर्पित करते हैं—सिरसे पाँव तक।

आपके विचारके अनुसार विचार, आपके कर्मके अनुसार कर्म,आपके प्रेमके अनुसार प्रेम और आप जहाँ ले चलेंगे वहाँ चलनेको तैयार। सिरसे, आँखसे, हाथसे, हृदयसे, पाँवसे, साष्टांग प्रणाम होता है। कोई भी क्रिया यदि भावको प्रकट न करे—कोई भी वचन यदि भावको प्रकट न करे तो वह थोथा है, दिखाना मात्र है।

उसमें किसी-न-किसी भावकी अभिव्यक्तिका सामर्थ्य होना चाहिए। प्रणमनका अर्थ होता है झुकना। भगवान्‌के सामने अर्जुन झुक गया और 'कृताञ्जलिरभाषत'।

मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंमें जो प्रणामका विधान है वह तो ऐसे है—दाहिने हाथसे दाहिना पाँव छूना और बाँये हाथसे बाँया और हाथ उतान हों, मानें हथेली ऊपरकी हो और पाँवका निचला हिस्सा छूते हैं प्रणाम करते समय और यह भी बताकर—अमुक-अमुक गोत्र और अमुकका पुत्र और अमुक नामवाला मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। पहचान करानेवालेकी जरूरत नहीं है। अपनी पहचान स्वयं दे देनी चाहिए। और उतान हाथ करनेका अर्थ यह है कि आपके चरणोंसे आशीर्वाद, कोई शक्तिबल हमारे लिए अपेक्षित है, जो उसको मैं अपने हाथोंमें लेता हूँ, सिरसे लगाता हूँ, शिरोधार्य करता हूँ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।' 'अर्जुन उवाच'—अब अर्जुनकी वाणी है—अर्जुन शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें पाणिनि व्याकरणके अनुसार तो अर्जन करनेवाला होता है—'अर्जनात् अर्जुनः' पर नीलकण्ठने—महाभारतके व्याख्याताने ऋजुत्वात् अर्जुनः किया है। यह शब्द पाणिनि व्याकरणसे नहीं बनता है। लेकिन उन्होंने निरुक्तके अनुसार अर्थ किया है। जो बहुत सरल है, सीधा है। जिसके हृदयमें दाँव-पेंच होता है, कुटिलता होती है, वह किसी वस्तुको देखे भी तो ईमानदारीसे सच्चे रूपमें ग्रहण नहीं कर पाता है। लेकिन यदि हृदय सरल हो तो सामने वालेकी बात उसके हृदयमें प्रवेश करके बैठ जाती है। यह अर्जुन ऋजु है, सरल है। सरल चित्त हैं इसलिए उसको अर्जुन कहते हैं। उन्होंने देखा और देखकर कहा कि मैं—सचमुच देख रहा हूँ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ 11.15-16

अर्जुनने कहा है देव, क्या खेल है. आपका! आपके शरीरमें मैं देवताओंको देख रहा हूँ। सब इन्द्रादि जितने देवता हैं, सब हैं। अपने शरीरमें भी इन्द्रादि देवताओंकी अभिव्यक्ति होती है। हाथमें इन्द्रकी, पाँवमें विष्णुकी—गतिके देवता विष्णु हैं। कर्मके देवता इन्द्र हैं। बोलनेवाली जीभके देवता अग्नि हैं और स्वाद लेनेवाली जीभके देवता वरुण हैं। आँखोंमें सूर्य हैं। कानोंमें दिक् देवता हैं। त्वचामें वायु हैं। नासिकामें अश्विनीकुमार हैं। जैसे पिण्डमें होता है, ठीक ऐसे ही ब्रह्माण्डमें होता है। लेकिन श्रीकृष्णने अर्जुनको ब्रह्माण्डरूप नहीं दिखाया।

ब्रह्माण्ड तो पंचभूतोंमें बनते हैं और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। आकाशमें न जाने कितने ब्रह्माण्ड हैं। सबमें हवा चलती है। सबमें गरमी रहती है। सबमें पानी होता है। सबमें धरती होती है। पंचभूतोंके बने हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड होते हैं। अर्जुनको विश्वात्मक विराट् शरीर भगवान्‌ने दिखा दिया अपनी देहमें। देह शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है 'जो बहुत वस्तुओंसे बना हो।' 'दिह् उपचये'। राशि-शशि पदार्थ हैं-देहके-

देह—यह बात आपको मालूम ही होगी कि जब बहुत-से पार्ट जोड़कर कोई मशीन बनायी जाती है तब वह मशीन मशीनके लिए नहीं होती। मशीन किसी दूसरेके लिए होती है। बैलगाड़ी बनाओ, चाहे मोटर बनाओ, चाहे राकेट बनाओ—जब उसके पुरजे बहुत-से हैं और सब जोड़े गये हैं, तो वह चीज स्वयंके लिए नहीं होती है। किसी औरके लिए होती है। अर्जुनके लिए भगवान्ने अपना विराट् देह प्रकट किया। उसमें सम्पूर्ण भूतविशेष अर्थात् जितने भूतविशेष हैं—उनका संघ है। फिर देखा कि ब्रह्माजी भी उसमें हैं।

ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ऋषींश्च सर्वान्-उरगांश्च दिव्यान्।

सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके स्वामी हैं, ईश हैं, वे ब्रह्माजी कमलासनपर बैठे हुए हैं। देखा—ब्रह्माजी भी श्रीकृष्णके शरीरके एक कोनेमें, कमलपर बैठे हैं।

इसका दूसरा अर्थ भी होता है। ब्रह्मा माने ब्रह्माजी और ईश माने शंकरजी और कमलासनस्थ माने विष्णुजी 'कमलाया आसने तिष्ठति इति कमलासस्थ:' लक्ष्मी, नारायण दोनों। श्रीकृष्णके विराट् शरीरमें ही ब्रह्मा हैं, शंकर हैं—लक्ष्मी-नारायण हैं। सबके सब श्रीकृष्णके शरीरमें बैठे हुए हैं। मह:, जन; तप: लोकमें रहनेवाले जितने ऋषि हैं और जितने पातालमें रहनेवाले दिव्य सर्प हैं—किसीके अनेक बाहु हैं, अनेक पेट हैं, अनेक मुँह हैं, अनेक नेत्र हैं-भगवान् चारों ओर देखते हैं। आप अपनी घर-गृहस्थी देखनेका ख्याल करें तो घर-गृहस्थी एकबार भूल जायगी। जिनकी चिन्तामें आप दिन रात मगन रहते हैं। छोटे दर्जेपर ही चिन्ता होती है। यदि महान् वस्तुओंको देखें तो उसमें कहीं चिन्ता नहीं होगी। महात्माओंके बारेमें वर्णन आता है कि महात्मालोग आकाशको ही अपना शरीर समझते हैं। उसमें न प्यार है, न विचार है, न वासना है, शान्त अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाते हैं।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप। 11.16

विराट्का न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। जिसका आदि और अन्त होता है, उसीका मध्य होता है। गणना आपको करनी हो तो हम जिस पृथिवीपर रहते हैं, इसका कितना गुणा आकाश है, गणितके लिए कोई आधार नहीं है। कोई दिमाग, कोई कम्प्यूटर इसकी गणना नहीं कर सकता। और आकाशके किस हिस्सेमें यह धरती है? अरबवें खरबवें? जब आकाशका ओर-छोर ही मालूम नहीं हैं तो पृथिवी आकाशके किस हिस्सेमें है—यह कैसे मालूम हो सकता है? और कं ब्रह्म, खं ब्रह्म—यह आकाश तो भगवान्का शरीर है। जिसका शरीर आकाश है, उसका आदि अन्त, मध्यको भी जाना जाय। यदि 100 वर्ष पहले जन्म हुआ और सौवें वर्षमें शरीरका अन्त हो रहा है तो इसका मध्य होगा पचासवाँ वर्ष। लेकिन जिसका आदि और अन्त दोनों न हो, उसका मध्य कहाँसे होगा? तो हे बिश्वेश्वर, हे विश्वरूप, तुम्हारे आदि अन्त, मध्यको मैं नहीं देख रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ 11.17

आपके सिरपर किरीट है—ब्रह्मलोकका किरीट होता है। वेदोंकी गदा होती है और कालचक्र होता

है और तीनों राशि प्रकाशमय स्वरूप है। चारों ओर दीप्ति फैली हुई है। आँखें देख नहीं पाती हैं। यह तो तुमने दिव्य दृष्टि दे दी हैं। इसके कारण मैं देख रहा हूँ, पर देखना कोई आसान नहीं है। चारों ओर जैसे आग जल रही हो। चारों ओर जैसे सूर्य उग रहे हों? अप्रमेयम् किसी प्रमाणके द्वारा आपको देखा नहीं जा सकता। प्रमाण होता है, देखनेवालेके पास और लक्षण होता है, जो चीज देखी जाती है, उसके पास।'

कल कोई स्त्री-पुरुषके बारेमें चर्चा कर रहा था। स्त्री और पुरुषमें क्या अन्तर है, क्या विशेषता है? स्त्री-शरीर ग्रहण प्रधान होता है और पुरुष शरीर त्याग-प्रधान होता है। यह प्राकृत विभाग है। गर्भाधान कराना पुरुषका काम है और उस गर्भको ग्रहण करके अपने अन्दर पालन-पोषण करना, यह स्त्रीका काम है। संग्रह और त्याग दोनोंमें प्राकृत विशेषता है। बीजका त्याग, बीजका वपन, यह पुरुष-धर्म है और बीजको ग्रहण करके उसमें.अंकुर, पौधा उत्पन्न करना यह क्षेत्रधर्म है। कुरसीपर समान रूपसे बैठ सकते हैं—उसमें कोई प्राकृत भेद नहीं है। पढ़ाई समान रूपसे कर सकते हैं, ऊँचे ओहदेपर समानरूपसे जा सकते हैं परन्तु स्त्रीका लक्षण है गर्भाधान—गर्भको अपने भीतर ग्रहण करना और पुरुषका धर्म है बीजका परित्याग करना। इसी प्रकार कमाई करके पुरुष ले आवे और स्त्रीको दे दे। स्त्री उसको सम्हाले यह स्त्री-धर्म है। सम्हालना स्त्रीका धर्म है और लाना पुरुषका धर्म है। यह स्त्री-पुरुषका लक्षण हुआ।

पर यह मालूम कैसे पड़ेगा? यह तो बुद्धिसे मालूम पड़ेगा। आँखसे स्त्री-अभिव्यंजक चिह्न दूसरे होते हैं और पुरुष-अभिव्यंजक चिह्न दूसरे होते हैं। यह प्रमेय है, हमारे पास नेत्र आदिका रूप प्रमाण है और स्त्री-पुरुषके जो लक्षण हैं उनके द्वारा इनका बोध होता है। लेकिन भगवान्‌को पहचानना हो तो कौन-सा प्रमाण है? और भगवान्‌का कौन-सा लक्षण? किसी भी प्रमाणके द्वारा आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा ये जो प्रत्यक्ष प्रमाणके कारण हैं, हमारे पास इनके द्वारा परमात्माका पूरा ग्रहण नहीं हो सकता और जो योगज प्रत्यक्ष है, उसमें भी तारतम्य होता है। जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। उपमान तो परमात्माका कोई है ही नहीं, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणोंसे भी परमात्माका ग्रहण नहीं होता। इसलिए परमात्माको अप्रमेय बोलते हैं—माने वे प्रमाणके विषय नहीं है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ 11.18

वह अक्षर तत्त्व परम वेदितव्य है। लिपिके लिए झगड़ा होता है। चीनी लिपि ऊपरसे नीचे जाती है, वह ठीक है कि अरबी-फारसी लिपि ठीक है जो दाहिनेसे बाएँकी ओर जाती है, या नागरी लिपि ठीक है जो बाएँसे दाहिनेकी ओर चलती है। आकृति भी अनेक है। 'क' की आकृति अंग्रेजीमें और है—अरबी-फारसीमें और है। तेलुगू-तामिलमें और है—बंगला-असामियामें और है। लिपियाँ अलग-अलग हैं। लिपिके माने रंग खोद करके लिपि बनायी जाती है। कोई ताड़पत्र आदिमें लिखित करके लिपि बनाई जाती है। और कोई टंकणके द्वारा टाइप करके लिपि बनायी जाती है। किसीको लिपि कहते हैं, किसीको लेख कहते हैं। किसीको टंकण कहते हैं। उनमें मुँहसे एक क अथवा ख बोलनेके लिए जो इशारे होते हैं—वे सबमें अलग-अलग हैं

परन्तु उन संकेतोंसे जो चीज बोली जायगी-अ क च ट त प वह तो एक ही होगी। इशारे अनेक होनेपर भी जो अक्षर हैं, वह एक है।

लिपि तो क्षर है—माने 'क्षरति'-बदल जाती है, नष्ट हो जाती है। परन्तु अक्षर वह है जो 'न क्षरति'। अ एक ही रहेगा चाहे तामिलमें लिखो चाहे बंगलामें लिखो चाहे नागरीमें लिखो अ तो एक ही रहेगा। क्योंकि कंठ, तालु आदिके आघातसे 'अ' का जो उच्चारण होगा वह एक ही होगा चाहे लिपि उसका उच्चारण करनेके लिए अनेक बना दो। इशारे—लिपियाँ 'क्षर' होती हैं और 'अक्षर' एक होता है। इसी प्रकार इस संसारमें जितने 'क्षर' हैं—वे 'अक्षर' को प्रकट करनेके लिए इशारे हैं। सारेके सारे भूत 'क्षर' हैं और जो कूटस्थ है उसको 'अक्षर' कहते हैं। अक्षर भी अनेक होते हैं। उनसे बनते हैं—पद। पदोंसे बनते हैं—वाक्य। वाक्योसे निकलते हैं—अर्थ। अर्थसूचक वाक्य होता है। अर्थ भी होते हैं अनेक। उन अनेक अर्थोंमें जो एक परमार्थ है उसको अक्षर परमत्त्व कहते हैं। अश्नुते इति अक्षरम्।' जो सबमें व्याप्त हो उसका नाम अक्षर होता है।

अर्जुन कहते हैं कि प्रभु, इस विनाशी जगत्में आप अविनाशी हैं। इस अनेकरूप जगतमें आप एक हैं। इस अनित्य जगत्में आप नित्य हैं इस छोटेसे जगत्में आप बिना ओर-छोरके हैं। इस दुःखरूप जगत्में आप आनन्दरूप हैं आप जड़में चित् हैं। आप दुःखमें परमानन्दस्वरूप हैं। ऐसा आपका स्वरूप है 'त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं' जानने योग्य यदि कोई वस्तु है तो यह परमात्मा है। त्वं परमं वेदितव्यं। आप जानते हैं—बहुत-बहुत चीजें जानते हैं। आजकल तो लाटसाहब नहीं होते हैं। हमारे बचपनमें तो ऐसे कहते थे कि हमारा आज-कलका पढ़ा-लिखा जो आदमी है उसको यह मालूम रहता है कि लाटसाहबके कितने कुत्ते हैं। यह ज्ञान रहता है और कौन लाट कबसे आया, कितने दिन रहा? उसकी पत्नी कौन, उसके बच्चे कौन—यह सब लोगोंको पढ़ाया जाता है। सब वेदितव्य हैं—आप उनको जानो। हम आपकी जानकारीमें कोई बाधा नहीं डालना चाहते। आपको जो जाननेका शौक है वही तो जानेंगे न!

एक विदेशी विद्वान्ने एक डिक्शनरी लिखी। एक महिलाने उस डिक्शनरीको आदिसे अन्ततक पढ़ा और पढ़कर उनको चिट्ठी लिखी कि आपने अपनी डिक्शनरीमें १४० गालीके शब्द लिखे हैं। इनकी क्या जरूरत थी। जबाब दिया उन्होंने कि गिनती तो हमको भी मालूम नहीं थी। आपने मालूम करायी यह आपकी कृपा है। लेकिन आपकी दिलचस्पी केवल गालीके शब्दोंमें ही क्यों हुई? इसका कारण नहीं मालूम पड़ता। तो वेदितव्य तो बहुत हैं। इतिहास पढ़ लिया, डिग्री भी मिल गयी। लेकिन अपने इतिहासका तो पता नहीं। हमारे गाँवके आस-पासके कोई आते हैं तो हम उनसे पूछ लेते हैं कि तुम्हारे दादा कौन थे? दादाका नाम तो वे बता देते हैं। पर परदादाका नाम उनको पता नहीं। अपना गोत्र ब्राह्मणोंसे पूछते हैं तो उनको पता नहीं रहता। आपकी दिलचस्पी, रुचि जिसमें हो, उसको ही जानते हैं। पर सब वेदितव्योंके साथ एक परम वेदितव्य जुड़ा हुआ है। जिसको जाने बिना कोई भी ज्ञान पूरा नहीं होता है। उसको परमवेदितव्य बोलते हैं।

गीतामें बताया है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (15.15) 'अहं वेदवेद्यः'। मैं वेदोंसे ही जाना जाता हूँ।

'सर्वैर्वेदैर्वेद्यः'। वेदमें चाहे ऊपरसे कुछ भी वर्णन हो परन्तु उसका तात्पर्य मुझमें है। 'अहमेव वेद्यः'। मैं ही केवल जानने योग्य हूँ। और

'अहं वेदवेद्यः'। यदि इस जीवनमें हमको नहीं जानोगे—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥ केन उप० 2.5

यदि तुमने इसी जीवनमें परमात्माको जान लिया तो तुम्हारा जीवन सत्य हो गया। परमात्मासे मिल गया।

यदि इसी जीवनमें परमात्माको नहीं जाना तो 'महती विनष्टिः'। अगले जन्मके लिए कुछ रखना ही नहीं। आपको जो कुछ जानना है, जो कुछ करना है, जो कुछ पाना है, जो कुछ छोड़ना है, इसी जीवनमें। इन चारों बातोंपर आप ध्यान दें। आपको इस जीवनमें जो जानना है सो जान लीजिये, जो करना है सो कर लीजिये—जो पाना है सो पा लीजिये। जो छोड़ना है सो छोड़ दीजिये। अगले जन्मके लिए कुछ उधार मत रखिये। नहीं तो 'महती विनष्टिः'। फिर न आप कर सकेंगे, न पा सकेंगे, न छोड़ सकेंगे। वैसे जीवनकी अनेक सम्भावनाएँ हैं परन्तु उनके होनेपर भी जो आवश्यक है—आप अपना धन पूरा करना चाहते हैं? आपको कल्पना है कि आपके पास कितना हो जावेगा तब आप पूरा मानेंगे? जितना भी बढ़ता जायगा—और, और, औरकी वासना बढ़ती जायगी। वह कभी पूरा नहीं होगा। जो आप करना चाहते हैं—कहीं आपको जाकर सन्तोष होगा? कि जो करना था सो कर लिया? जो पाना था सो पा लिया? जो छोड़ना था सो छोड़ दिया? नहीं, ऐसे आपको सन्तोष नहीं होगा। जब आपकी आत्माका जो पूर्णस्वरूप है उसको आप जानेंगे तभी आपका जीवन पूरा होगा और तभी सत्यका साक्षात्कार होगा।

जो सत्यके ज्ञानके बिना भी अपनेको ज्ञानी मानते हैं और सत्यको समझे बिना ही करते रहते हैं—सत्यको समझे बिना ही पाते रहते हैं—उनका जीवन कैसा है? उनका जीवन तो ऐसा है जैसे—हमको पैसा चाहिए—चाहे ईमानदारीसे मिले, चाहे बेईमानीसे। जो चाहे बोलते रहते हैं पर सत्यको समझते नहीं, उनका जीवन कैसा है? सत्य चाहे कुछ भी हो, हम तो बोलते रहेंगे। जो लेते हैं—हमारे हकका हो या न हो, हम तो लेते रहेंगे। सत्यके ज्ञानके बिना हमारा जीवन कैसा हो रहा है—सच्चाईको तो समझते नहीं—तो 'परमं वेदितव्यम्' क्या है—यह जो परमात्माका अक्षर स्वरूप है—जो नाशवान्‌में अविनाशी है, जो अनेकमें एक है, जो जड़तामें ज्ञान है, दुःखमें सुख है, वह जानने योग्य है। एक परमात्मा ही जानने योग्य है।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्मात् लोकादमृता भवन्ति॥ केन 2.5

यह दुनियाका जो परम विधान है, जहाँसे यह दुनिया निकलती है और जहाँ यह समाती है उसका ठिकाना कौन-सा है? इसको जाननेमें यह जो वासनाओंका झगड़ा है, आप सब भले लोग हैं—आपके बीचमें बोलने लायक नहीं है पर सब एक दूसरेकी जेब काटनेको तैयार है।

यह मारामारी जो है यह उस समय टूट जायगी जब आप सत्यके साक्षात्कारके मार्गपर चल पड़ें। दुनियामें चाल यही है कि उनकी मोटर पीछे रह जाय हमारी मोटर आगे बढ़ जाय। उनके जेबमें है वह हमारी जेबमें आजावे। यह दुनियाकी गति है। यह मारामारी क्यों? असलमें सत्यके साथ साक्षात्कार नहीं है। यदि सत्यके साक्षात्कारके लिए प्रयास प्रारम्भ हो जाय—हम उसको आवश्यक समझें और हमारे जीवनकी वासना सत्यकी ओर मुड़ जाय तो हमारे जीवनमें जितने दोष हैं—चोरी, दया, व्यभिचार क्या—अनाचार क्या, दुराचार क्या, भ्रष्टाचार क्या, वे सब दूर हो जायेंगे क्योंकि उस सत्यके ज्ञानकी जिज्ञासा होने मात्रसे जीवनकी दिशा मुड़ जाती है। 'त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'। मैंने जान लिया। मे मम मत:। मेरी मान्यता ऐसी है, मेरा विचार ऐसा है—मेरा ज्ञान ऐसा है, 'मत:' में मति रहती है। 'त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे'।

एक बातपर आप ध्यान दें। आपका ईश्वरसे कुछ मतभेद है कि उसके मनसे आपका मन मिलता है? ईश्वरकी मतिसे आपकी मति मिलती है कि नहीं मिलती? गुरुके अनुभवसे चेलेका अनुभव मिलता है कि नहीं मिलता। ईश्वरकी नजरसे जीवकी नजर मिलती है कि नहीं मिलती? आपका सारा दु:ख मिट जायगा, अगर आप इस बातपर ध्यान देंगे। आप ज्ञानमें ईश्वरसे मतभेद रखेंगे तो आपका ज्ञान झूठा है। यदि आप ईश्वरके प्यारसे अपना प्यार अलग बना रहे हैं तो आपका प्यार टिकाऊ नहीं होगा। आप ईश्वरको छोड़कर औरको पकड़ना चाहते हैं तो कभी पकड़ नहीं सकेंगे। आप अपनी युक्तिपर विचार कीजिये। अपनी बुद्धिपर विचार कीजिये। कभी आप सोचते हैं कि ईश्वरको यह दुनिया कैसी दिखती है। जैसी ईश्वरको यह दुनिया दीखती है यदि वैसी ही आपको दीखने लग जायेगी तब तो आपकी दृष्टि सच्ची होगी। और ईश्वरको जैसी यह दुनिया दीखती है वैसी आप नहीं देख पाते हैं तो आपकी आँख बिलकुल अधूरी है। और अधूरी दुनियाको देख रही है, सच्ची नहीं देख रही है—आओ ईश्वरकी आँखमें आँख मिलाकर देखें।

ईश्वरने कहा—अर्जुन, मैं देखता हूँ। यह सम्पूर्ण विश्व मेरा स्वरूप है। अर्जुनने कहा—हाँ महाराज, यह सम्पूर्ण विश्व आपका स्वरूप है। तब अर्जुन भय किस बातका? जब जीवन,जन्म और मृत्यु दोनों ईश्वरका स्वरूप है। जब होना और न होना दोनों ईश्वरका स्वरूप है तब भय किसका? छूटनेका शोक किसका? मरनेका भय किसका? इस परिवर्तनशील वर्त्तमानमें मोह किसका? भगवान्पर जब दृष्टि जाती है—तब शोक, मोह और भयको अपने जीवनसे भगा देती है। देखो, यदि आपका जीवन शोक, मोह, भयसे मुक्त न हो तो आप सुखी नहीं होंगे। जो स्वयं सुखी नहीं है, वह दूसरेको सुखी नहीं रख सकता। इसलिए ईश्वरकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलना आवश्यक है। वह अविनाशी है, वह शाश्वत धर्मका गोप्ता=रक्षक है, वह सनातन पुरुष है। आप वह जैसा है, उसको वैसा जानिये और जैसा वह देखता है वैसा देखिये। मालिककी नजरसे अपनी नजर मिल जाने दीजिये और देखिये शान्ति ही शान्ति है—आनन्द ही आनन्द है!

ॐ शान्ति:, शान्ति:, शान्ति:

●

प्रवचन : 4

(22-11-82)

अर्जुन विश्वरूपका दर्शन कर रहे हैं। विश्वरूपका दर्शन भगवत्-कृपापात्र मनुष्यको ही होता है। कौरवोंकी सभामें भगवान्ने जब विश्वरूप प्रकट किया तो भीष्म, द्रोण, कृप और दूसरे जो वहाँ कुछ महापुरुष थे, वही देख सके। धृतराष्ट्रको तो भगवान्ने देखनेके लिए आँख दी, तब देख सके। जो संसारकी छोटी-छोटी वस्तुओंको पकड़कर बैठा है उसको महान्‌का दर्शन नहीं होगा। हमारा मन, हमारा नेत्र अगर छोटी-छोटी वस्तुओंको ही पकड़कर बैठा रहेगा तो जो भगवान्‌का महान् विश्वरूप है उसका दर्शन कहाँसे होगा? अर्जुनको भूल गया अपना शरीर, भूल गया अपना परिवार और दीखने लगे भगवान्।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥
द्यावा पृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं, दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ 11.19-24

धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो'—अर्जुन कहते हैं कि जिस विश्वरूपका मैं दर्शन कर रहा हूँ उसका कालमें न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। काल उसमें मालूम पड़ता है। कालमें भगवान् नहीं होते। कालकी गोदमें भगवान् यदि होंगे तो भगवान्से पहले भी काल होगा— बादमें भी काल होगा। भगवान्‌की उत्पत्ति और भगवान्‌का प्रलय कालमें होगा। इसलिए भगवान् कोई कालिक तत्त्व नहीं है बल्कि भगवान्ने अनेक रूपमें अपनेको प्रकट करके जो क्रम दिखाया पहला मिनट, दूसरा मिनट, तीसरा मिनट, पहले दिन फिर रात। पहले रात, फिर दिन—यह जो क्रम मालूम पड़ता है, इस क्रमकी संवित्‌का ही नाम काल है। संवित् तो परमात्मा है और काल संवित्‌का विषय है—इसलिए काल आता है, जाता है। जा रहा है, जा रहा है, काल जा रहा है, परन्तु ज्ञान एक सरीखा। जिसने रात देखी, उसीने दिन देखा। जिसने जाग्रत् देखा, उसीने सुषुप्ति देखी। देखनेवाला एक है और ये कालके खण्ड-खण्ड अवयव जो हैं ये अनेक हैं। आदि, मध्य, अन्त कालमें होता है। और जो

उसका अधिष्ठान है, माने जिसमें आदि, मध्य, अन्त मालूम पड़ता है वह सत् है। जिसको मालूम पड़ता है वह चित् है और परमार्थमें दोनों एक हैं। इसलिए काल चित्स्वरूप अधिष्ठानमें कल्पना मात्र है, परमात्माका स्पर्श नहीं करता।

अनादिममध्यान्तमनन्तवीर्यम् । उनका जो वीर्य है—वीर्य माने वीरभाव। वीरभावका अर्थ है, सामने दृश्य कैसा भी हो, उसमें विकार न हो—उसको देखकर, जन्मको देखकर, यौवनको देखकर, वृद्धताको देखकर, मृत्युको भी देखकर जिसके मनमें विकार न हो उसको वीर कहते हैं। उस वीरके भावका नाम वीर्य। वह किसीसे पराभूत नहीं होता। चाहे कुछ भी आवे, कुछ भी जावे। इस वीरताका परमात्मामें कहीं भी अन्त नहीं है। कितनी सृष्टि होती है, कितने प्रलय होते हैं। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। जैसे एक घड़ेसे दूसरे घड़ेको मारकर फोड़ दिया जाय, ऐसे दिन-रात कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते रहते हैं और परमात्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसकी शक्तिपर किसीका प्रभाव नहीं पड़ता है।

'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्'। संसारमें जितने भी काम हो रहे हैं—कर्मके भारका वहन करनेवाला यह वाहु है। चाहे बोझ उठाना हो तो इससे उठा लो-उसका वहन करो और चाहे कर्तव्यका भार उठाना हो तो करके वहन करो। इसलिए जो प्राणियोंके पास बाहु है और प्राणियोंमें खास करके मनुष्यके पास ही बाहु है। उस बाहुसे कर्मके भारका वहन किया जाता है। जब चाहें, जहाँ चाहें कलमसे लिख लें और मूसलसे धान कूट लें। ऐसे काम—भोजनका ग्रास उठा लें, चावल उठा लें, तिल उठा लें, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तु उठा लें। इतने मोड़वाला इच्छायन्त्र अभीतक सृष्टिमें बना नहीं है। कहते हैं—लोगोंने यान्त्रिक मानव बनाया है। पर इतने मोड़ और इतनी स्वच्छता, मनुष्यके सिवाय दूसरे किसी प्राणीमें नहीं है। कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको है। प्रकृतिसे कहो, ईश्वरसे कहो ये दोनों हाथ मिले हैं।

चाहें तो ये पत्नीका बोझ वहन करनेके लिए भी हैं और पतिका बोझ वहन करनेके लिए भी हैं। और अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिए हैं। संसारमें जितने बाहु हैं माने कर्म करनेकी संसारमें जितनी शक्तियाँ हैं वे सब परमात्माकी शक्तियाँ हैं । हम लोगोंके जो हाथ हैं ये हमारे हाथ नहीं हैं, ये भगवान्के हाथ हैं। जब अपने हाथ मानते हैं तब हम गड़बड़ कर बैठते हैं। और जब भगवान्के हाथ मानते हैं तब इनसे कोई भी अपवित्र, कलुषित कर्म नहीं होगा। जितने हाथ हैं, संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं वे सब भगवान्की बाहु हैं। अर्थात् जितना भी कर्म हो रहा है, उसमें भगवान्की शक्ति ही काम कर रही है।

'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्'। 'ये चक्षुषि चन्द्रसूर्यौ'—वेदमें वर्णन आता है कि ये चन्द्रमा और सूर्य विराट् भगवान्के नेत्र हैं, माने वे चन्द्रमासे भी देखते हैं और सूर्यसे भी देखते हैं। आप देखिये तापन और प्रकाशन दोनों शक्तियाँ सूर्यमें होती हैं। और आह्लादन और प्रकाशन ये दोनों शक्तियाँ चन्द्रमामें होती है। आह्लाद—आनन्द देना और प्रकाशित करना तथा प्रकाशित करना और ताप देना। कर्मयोगके ये दो उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं भगवान्ने अपने नेत्रोंके द्वारा। 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्या चन्द्रमसाविव (ऋग्वेद 5.5.15)।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा प्रतिक्षण चलते ही रहते हैं, उनकी गतिमें कहीं रुकावट नहीं है, वे कहीं

आसक्त होकर रुक नहीं जाते हैं और कभी किसीसे द्वेष करके अपना ताप, प्रकाश और आह्लाद देनेसे रुकते नहीं। कर्मयोगीके लिए कोई आदर्श है तो सूर्य और चन्द्रमा हैं। चलते रहो, प्रकाश बरसाते रहो, आनन्द बरसाते रहो, शीतलता बरसाते रहो। ताप और शीतलता, प्रकाश और आनन्द—ये भगवान्‌की आँखोंसे बरसते हैं। और निरन्तर बरसते रहते हैं। कभी इनकी गति में अवरोध नहीं होता है। यही कर्मयोगीका काम है।

श्रीकृष्णने अपना पहला चेला सूर्य को ही बनाया है। गीतामें है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। 4.1

यह कर्मयोग पहले मैंने सूर्य को बताया, ऐसा भगवान् कहते हैं। भगवान् का निकटवर्ती शिष्य सूर्य है। कर्मयोगकी शिक्षा उसे दी गयी है। वह तपाता भी है और प्रकाशतापी है। चन्द्रमा और सूर्य भगवान्‌के नेत्र हैं, जब हम विराट् स्वरूपको देखते हैं। कौन देख रहा है? भगवान् देख रहे हैं। शशिसूर्यनेत्रम्। नेत्र शब्दका अर्थ आँख तो होता ही है। पर संस्कृतमें इसका अर्थ नेता भी होता है। नी प्रापणे धातुसे ष्ट्रन्‌प्रत्यय होकर नेतृ शब्द बनता है, उसका अर्थ होता है नेता माने संसारमें अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहनेके लिए भगवान्‌के दोनों नेत्र नैताका काम करते हैं। भाई हमारे पीछे-पीछे चलो। जैसे हम काम करते रहते हैं वैसे तुम भी काम करो। 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' मनुष्यसे बड़ी संसारमें और कोई वस्तु नहीं है। जितना भी स्वर्गका वैकुठका, अधिदेवका, अधिभूतका निरूपण है—

मत्त्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः। निरुक्त 1.7

मनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ करके मनुष्य उसमें-से कर्त्तव्यकी शिक्षा ग्रहण करता है। स्वर्गका वर्णन है—अब स्वर्ग है कि नहीं यह तो खास-खास लोग वहाँ जाकर देखते होंगे। लेकिन इतना हमारी समझमें आता है। कि स्वर्ग पानेके लिए जो कर्म करने चाहिए वह हमारे लिए उपादेय है। मनुष्य जीवनमें इन कर्मोंका ही उपयोग है। वे श्रेष्ठ कर्म हम अपने जीवनमें करें। स्वर्ग मिलेगा तब देख लेंगे और नहीं मिलेगा तो कोई पछतावा भी नहीं है। क्योंकि हमने अच्छे काम किये। अच्छे काम हम करते रहें—बादमें स्वर्ग मिलेगा कि नहीं, वह जो उसके अनुभवी हैं उनके ऊपर छोड़ दिया जाय। नरकका भी वर्णन इसलिए है कि जिन कर्मोंसे नरक मिलता है, वे कर्म नहीं करने चाहिए। मनुष्यके जीवनमें उसका उपयोग यही है।

अब जो नरकसे लौटकर आये हैं, उसका स्मरण करेंगे कि नरक कैसा है? और जिनके मनमें वहाँ पहुँचनेकी योजना है—वे उसकी योजना बनाया करें। हमारे जीवनमें इतना ही अभिप्राय है कि स्वर्ग-प्रापक कर्म हम करें और नरक प्रापक कर्म हम न करें। मनुष्यके जीवनमें उसकी यही उपयोगिता है। ये सूर्य और चन्द्रमा भगवान्‌की आँखें हैं। हर समय खुली रहती हैं और सबको ये देखती रहती हैं। इनकी दृष्टि कभी बन्द नहीं होती। इनकी पलकें नहीं झपकतीं। ये निर्निमेष हैं। मनुष्यकी दृष्टि भी निर्निमेष हमेशा सजग रहनी चाहिए। जिसको ताप देना हो तपा लो। आगपर चढ़ाकर गला लो। उसको पीटनासे पीट लो। आभूषण बनाना हो, बना लो। बेचना हो बेच लो। उसमें ताप भी है, प्रकाश भी है। आह्लाद भी है और प्रकाश भी है। ये ही भगवान्‌की आँखें हैं, जो हमेशा हमको देखनेको मिलती हैं।

पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्। 11.15

भगवान्‌का मुख क्या है? अग्नि। ये अग्नि देवता हमेशा लोगोंको भोजन देते हैं। भोजन करते भी हैं और भोजन देते भी हैं। यह अग्निकी विशेषता है। 'अग्रे नयति'। आगे बढ़नेका साधन अग्नि है। अग्नि एक तो होती है भौतिक अग्नि जो लकड़ी आदिसे जलती है और एक होती है जठराग्नि जो पित्तमें रहकर अन्नको पचाती है। और एक होती है बाडवाग्नि जो जलमें-से प्रकट होती है। एक है वैद्युताग्नि जो आकाशमें बिजलीके रूप में गिरती है। अग्नि भगवान्‌का मुख है। वे बोलते भी इसीसे हैं और भोजन भी इसीसे करते हैं--और भोजन भी इसीसे पकाते हैं। ये आजकल जितनी फैक्टिरियाँ-कारखाने चलते हैं—कोई कपड़ा बनाकर खाता है, कोई सीमेंट बनाकर खाता है—खाये ही जाता है।

यह भोजन अग्निकी शक्तिसे ही मिलता है। अग्निका विभाग है विद्युत् और अग्निका विभाग है काष्ठादिसे प्रज्वलित होना, पेटमें रहनेवाली अग्नि, जलसे बननेवाली अग्नि। जलके वेगसे विद्युत्‌की रचना होती है। यह भगवान्‌का सब बल्ब है। अग्निके द्वारा वे बोलते हैं। और अग्निके द्वारा ही मनुष्यको आगे बढ़ाते हैं। 'अग्रे नयति इति अग्निः'। जो हमको आगे बढ़ावे उसका नाम अग्नि होता है। आपलोग ईशावास्य उपनिषद् कभी पढ़ते होंगे। 'अग्ने नय सुपथाराये' हे अग्निदेवता हमको सुन्दर मार्गसे ले चलो, जिसमें हम धन-संपदासे परिपूर्ण हो जायें 'राये' माने जो धन हम चाहते हैं, उस संपदाकी प्राप्तिके लिए तुम हमको आगे ले चलो।

'हुताशनं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्' ये पानीसे बना विश्व यदि तपाया न जाय, तप्त न हो तो उपयोगी होगा ही नहीं। असलमें यदि मनुष्यके या प्राणियोंके जीवनमें दुःखकी, तापकी सृष्टि न होती, रेलगाड़ीमें अगर भाप पैदा न की जाती तो वह आगे कैसे बढ़ती? यह ताप मनुष्यके जीवनमें आगे बढ़नेके लिए शक्ति और प्रेरणा देता है। 'स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्'। जहाँ कहीं गरमी मालूम पड़ी कि ठण्डमें जानेकी रुचि पैदा हो जाती है। तो भगवान् तपा-तपाकर इस विश्वको पक्का करते हैं।

मैंने एक सत्पुरुषके व्याख्यानमें सुना था कि भगवान्‌ने पहले जब मनुष्य-सृष्टि करना प्रारम्भ किया तो जरा आँच तेज हो गयी तो जो काले लोग हैं न! हबशी निग्रो—ये पैदा हो गये। फिर उन्होंने कहा—ओ हो ज्यादा आँच दे दी यह ठीक नहीं है। तो जल्दीसे पकनेके पहले ही उतार दिया। तब गोरे लोग पैदा हो गये। फिर वही सावधानीसे जब बनाया तो ये गोरे और कालेके बीचमें हम भारतीयोंको बनाया। भगवान् पक्की, कच्ची, कच्ची-पक्की रसोई बनाते हैं, न जली न कच्ची रही। यह ताप दे-देकर ही भगवान् यह सृष्टि बनाते हैं। सारे विश्वमें जो भी निर्माण होता है उसमें तापकी आवश्यकता होती है। ताप ही निर्माणका मूल है।

अपने तेजसे भगवान् विश्वको तप्त कर रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

ये जो पृथिवी और द्युलोक है इनके बीचमें अन्तरिक्ष है और जितनी दिशाएँ हैं वे सब एक ही भगवान्‌से व्याप्त हो रही हैं। व्याप्तिका अर्थ भी ध्यानमें लेने योग्य है। जैसे हम एक लोहेका गोला उठावें और

आगमें डाल दें तो अग्नि उस लोहेके गोलेमें व्याप्त हो जाती है और वह लोहेका गोला भी आग हो जाता है। एक व्यापकता लोहेकी होती है जो दूसरेमें दूसरेका अनुप्रवेश होता है। इसको 'सर्वमूर्त-संयोगित्व' रूप व्यापकता बोलते हैं। जितनी भी स्थूल वस्तुएँ हैं, उनमें वह सूक्ष्म परमात्मा लौहके गोलेमें अग्निके समान व्यापक है। दूसरी व्यापकता होती है जैसे घड़ेमें मिट्टी। उसमें तो मिट्टी और घड़ा दो वस्तु नहीं है। केवल मृत्तिकामें एक आकार गढ़ दिया गया है। साधारणत: लोग मिट्टीको और घड़ेको अलग-अलग समझते हैं। क्यों समझते हैं कि घड़ेमें तो पानी रख सकते हैं; दूध रख सकते हैं, शराब रख सकते हैं। घड़ेसे तो अपना काम चलता है और माटी न तो पानी रखनेके काम आवे, न शराब रखनेके काम आवे, न दूध रखनेके काम आवे। परन्तु मिट्टीसे पृथक् घड़ा नामकी कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है। तत्त्व माने वजन।

एक राजाके यहाँ शास्त्रार्थ हुआ तो नैयायिकोंने सिद्ध किया कि घड़ा एक अलग चीज है और मिट्टी एक अलग चीज है। वेदान्ती सिद्ध कर रहे थे कि घड़ा और मिट्टी दोनों एक ही चीज है। क्योंकि वेदान्तियोंको वासना नहीं है। न वे पानी पीनेके लिए घड़ेमें रखना चाहते हैं, और न दूध रखना चाहते हैं, न शराब रखना चाहते हैं। वे निर्वासन भावसे तत्त्वके स्वरूपका निश्चय करना चाहते हैं। बादमें जो रखना है, सो रख लो। हमे तो यह देखना है कि यह चीज क्या है?

नैयायिक लोग जीत गये और वेदान्ती हार गये। परन्तु राजा था वेदान्ती। उसने कहा अच्छा नैयायिकजी आप जीत गये। मिट्टी और घड़ा बिलकुल अलग-अलग होते हैं। अब हमारे देशमें जितने घड़े बने हों वे सब आपको इनामके रूपमें दिये जाते हैं, ले जाइये। पर मिट्टी नहीं ले जा सकते। मिट्टी हमारी वापिस कर दीजिये और घड़ा ले जाइये। मिट्टीके सिवाय घड़ा नामकी और चीज होगी क्या? एक व्यापकता वह होती है कि यह जो विश्व बना हुआ है यह किस उपादानसे, किस मसालेसे, किस मैटरसे बना हुआ है? यह जो मसाला, जो सामग्री है, वह इसमें व्याप्त है।

तीसरी व्यापकता यह होती है जैसे आकाशकी नीलिमामें आकाश व्यापक है। नीलिमा नामकी तो कोई वस्तु ही नहीं है। यह तो हमारी आँख समूचे आकाशको ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए आकाशके अग्रहणसे नीलिमा दिखायी पड़ती है। हम अपनी आँखोंसे पूरे आकाशको नहीं देख सकते—हमारी आँखोंकी जो असमर्थता है उससे यह नीलिमा दिखायी पड़ती है। यह जो नीलिमामें आकाशकी व्यापकता है, वह मिथ्यामें सत्यकी व्यापकता है और घड़ेमें जो मृत्तिकाकी व्यापकता है वह कार्यमें कारणकी व्यापकता है। और लोहेके गोलेमें अग्निकी जो व्यापकता है वह दूसरेमें दूसरेकी व्यापकता है। परमात्माकी व्यापकता विश्वमें कैसी है? जो बालक-कक्षाका होगा वह लोहेके गोलेमें अग्निकी व्यापकताके समान बतायेगा—जो उससे अधिक उत्कृष्ट बुद्धिमान होगा वह घड़ेमें मृत्तिकाके समान कहेगा और जो उससे भी अधिक ब्रह्मतत्त्वको आत्मत्वेन अनुभव करनेवाला होगा उसे आकाशमें नीलिमाके समान यह प्रपंच व्याप्त मालूम पड़ेगा। और उसमें व्यापक जो है वह आत्मतत्त्व है।

'व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः'। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—कोई चार दिशा बोलते हैं—कोई आठ

दिशा बोलते हैं—चारों कोनोंको भी लेते हैं। कोई दस दिशा बोल लेते हैं—ऊपर और नीचे। दोनोंको और जोड़ देते हैं। तो दिक् शब्दका अर्थ दिशा होता है। सर्वत्र एक ही परमात्मा भरपूर है।

'दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं, लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्'। आपके इस उग्र रूपको देखकर तीनों लोक व्यथित हो रहे हैं। ऐसा मैं देख रहा हूँ। महात्माजी आप ऐसा रूप क्यों दिखा रहे हैं—जिससे सबको व्यथा पहुँचे। संस्कृतमें आत्मा शब्दका एक अर्थ पेट भी होता है। 'महान् आत्मा उदरं यस्य'-जिसका पेट बड़ा हो उसको महात्मा कहेंगे। देखो यह लक्षण मेरे ऊपर तो पूरी तरह लागू होता है।

जिसका पेट बड़ा हो, जिसके पेटमें बहुत-सी बातें पच जायें, उगलनेकी जरूरत नहीं पड़े कि जो अनुभव हो सो उगलते जाओ। जिसको उगलनेकी जरूरत न पड़े। दुनिया भरकी जानी हुई बातें जिसके पेटमें पच जायँ—ओहो! आप ऐसे महात्मा सारी दुनियाको पेटमें लिये बैठे हैं—बाबा! आपसे बड़ा और कोई नहीं होगा। आपके इस बड़प्पनको देखकर दुनिया काँप रही है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताःप्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ 11.21

दो तरहका पाठ मिलता है। एक 'त्वां' और एक 'त्वा'। आजकल जिन ग्रन्थोंकी टीका-टिप्पणी संस्कृतमें बहुत अधिक मिलती है, उनमें गीता ही प्रधान है। कोई 900 के लगभग गीतापर टीकाएँ लिखी गयी हैं। इस समय जो उपलब्ध है उनकी संख्या 900 के लगभग है और जो नहीं हैं उनकी बात तो छोड़ देते हैं। प्रचुर प्रचारित यह ग्रन्थ है। इसके अर्थको देखने लगते हैं और पाठ-भेदको भी कहीं-कहीं देखते हैं तो आश्चर्य होता है।

अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति। अमी तु आ असुर संघा विशन्ति=अमी त्वा सुरसंघा विशन्ति; तथैव अमी तु आ आ विशन्ति। आ को यहाँसे उठाकर विशन्तिके पहले जोड़ देंगे। आ-विशन्ति। ये जितने देवता-दानव हैं, ये सब आपमें प्रवेश कर रहें हैं। चाहे कोई देवताका व्यवहार करे चाहे दैत्यका। सब परमात्माके अन्दर ही हैं। देवतासे राग मत करो दैत्यसे द्वेष मत करो। संसारमें देवता और दैत्य भगवान्के शरीरमें दिखायी पड़ते हैं।

एक छोटी-सी कथा आपको सुनाता हूँ। श्री रामानुजाचार्यजी महाराज भगवान्के श्रीविग्रहपर अपना हाथ फिरा रहे थे। भक्त लोग मूर्तिको प्रत्यक्ष भगवान् मानते हैं। असलमें जिनके यहाँ जड़ और चेतन दो तत्त्व हैं, उनके लिए भगवान्की मूर्ति परमात्मा नहीं होती, भगवान् नहीं होती। पर जिनके यहाँ तत्त्व एक ही है उनके लिए मूर्ति भी भगवान् होती है। यह दर्शन है, यह सिद्धान्त है। एक जड़ है, एक चेतन है। दो तत्त्व हैं। तो बोले—मूर्ति तो जड़ है, चेतन भगवान् तो कोई और हैं। लेकिन जिनके लिए चेतन एक ही तत्त्व है उनके लिए मूर्ति भी भगवान्-स्वरूप हैं। और असलमें चेतन अपनी आत्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं होता।

जो दृश्य है उसका नाम चेतन नहीं होता। जो द्रष्टा है उसीका नाम चेतन होता है। ज्ञानस्वरूप है वह! यदि चेतनताको हम कही ढूँढ़ेगे—मशीनकी नोकपर, प्रयोगशालामें चेतनताको ढूँढ़ेगे, तो ढूँढ़नेवाला ही वहाँ चेतन होगा। ढूँढ़ा जानेवाला चेतन नहीं होगा। जो लोग द्वैत मानते हैं वे मूर्तिपूजा करना पसन्द नहीं करते। जड़की पूजा हम क्यों करेंगे? लेकिन जो मानते हैं कि चेतन ही चेतन सब कुछ है, आत्मा के सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं, वह तो पेड़-पौधेकी भी पूजा करते हैं। तुलसीकी, पीपलकी, गायकी, ब्राह्मणकी, स्त्रीकी, पुरुषकी—सबकी पूजा करते हैं। तंत्रोंमें तो एक वर्षकी कन्यासे लेकरके 19 वर्षतककी कन्याकी पूजा की अलग-अलग विधि है। ये सब साक्षात् जगज्जनी जगदम्बा हैं—इनके पेटमें सम्पूर्ण विश्वसृष्टि भरपूर बैठी हुई है।

अब कथाको सुनें। श्रीरामानुजाचार्यजी भगवान्‌की मूर्तिपर हाथ फिरा रहे हैं और अपने मनमें बोल रहे हैं—गुनगुनाते जा रहे हैं कि 'आपके चरणारविन्दसे अमृतकी एक धारा झरझर बह रही है। और जिसने अपना मन इसमें लगा दिया उसको तो दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती। जब भौंरेके सामने झर-झर मकरन्द झरता हुआ अरविन्द कमल है तब वह सूखी घासकी ओर क्यों देखने जायगा?' आँखोंसे प्रेमके आँसू गिर रहे हैं और वे भगवान्‌के शरीरपर हाथ फिरा रहे हैं। सो उन्हें लगा कि भगवान्‌की पीठपर कोई घाव है। व्याकुल हो गये कि भगवान्‌की पीठपर यह घाव कहाँसे आया? इतने व्याकुल हुए कि भगवान्‌की मूर्ति बोल पड़ी। बोले—'रामानुज रोते क्यों हो? ये तो तुमने वाक्‌बाण मारे हैं—दूसरोंका खण्डन करनेके लिए जो वचनके बाण मारे हैं वे ही हमारी पीठमें लगे हैं और उसीका घाव है। एक तो भगवान्‌के पीठमें घाव और दूसरे उसके निमित्त स्वयं रामानुजाचार्य। प्रभु बोले कि खण्डनके जितने बाण हैं वे सब मुझे ही लगे हैं। श्रीरामानुजाचार्यने कहा—यह क्या बात है महाराज! हमने तो अधर्मका खण्डन किया। हमने तो जो श्रुति-विरुद्ध था उसका खण्डन किया। वे बोले—सब मेरा ही स्वरूप है, जो कुछ विरुद्ध है, जो कुछ अनुरुद्ध है, जो कुछ सिद्ध है, जो कुछ साध्य है, सब मेरा ही स्वरूप है।

अब तो रामानुजाचार्यकी आँखोंसे आंसू गिरने लगे। मुझसे बड़ा अपराध हुआ महाराज। तो भगवान्‌ने कहा देखो, अबसे खण्ड़न-मण्डन छोड़ दो। और मेरा भजन करो, सर्वरूपमें मेरा दर्शन करके अपने जीवनको जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखसे, हमारी कृपा और भक्तिके विलक्षण सुखसे जीवन भर दो। यह खण्डन-मण्डन करनेमें क्या मजा है?

क्या संघर्ष ही जीवन है? शान्ति जीवन नहीं है? क्या श्रम ही जीवन है? विश्राम जीवन नहीं है? क्या अशान्ति ही जीवन है? अशान्ति किसलिए? शान्तिकी प्राप्तिके लिए और शान्ति कभी मिले ही नहीं। हमेशा अशान्ति अशान्तिमें ही जीवन व्यतीत हो 'अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति।' सब-के-सब दैत्य आपमें प्रवेश कर रहे हैं। सब-के-सब देवता आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं। और 'अमी तु आ विशन्ति' सम्पूर्ण रूपसे आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं—केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति। कुछ लोग ऐसे हैं कि हाय हाय! प्रवेश कर जायेंगे तो हम कहाँ रहेंगे? अपने अस्तित्वका लोप होनेके कारण डर जाते हैं और हाथ जोड़-जोड़कर भगवान्‌की अनुकूल भावनासे प्रार्थना करते हैं—हे प्रभो, हमारी रक्षा करो। हमारी रक्षा करो।

जो भगवान्‌के अनुकूल हैं, पहले उनका दर्शन करते हैं। भगवान्‌के जो भक्त हैं—वे हाथ जोड़कर भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। 'प्राञ्जलयः' का अर्थ हाथ बन्द करना नहीं होता है—खुले हाथसे महाराज आपके प्रसादके हम अभिलाषी हैं। और डरते-डरते हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने गुनगुना रहे हैं। अनुकूल हैं।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः।
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ 11.21

ये सब अनुकूल हैं। महर्षि, बड़े-बड़े सिद्ध, बड़े-बड़े ज्ञानवान् महर्षि होते हैं। महान् ऋषि महर्षि। ये बड़े भारी महान् ऋषि हैं। जो छोटे दर्जेमें है वह महान् नहीं होता। एक जिलेका नेता महान् नहीं होता, एक प्रान्तका नेता महान् नहीं होता। एक राष्ट्रका नेता भी महान् नहीं होता। महान् वह होता है जो सम्पूर्ण विश्व-सम्पूर्ण मानवताको अपनी दृष्टिमें रखे वह, जिससे सबको सुख मिले। जो सबका सुख चाहता है। जो हिन्दुस्तानका सुख चाहता है पाकिस्तानका नहीं और जो पाकिस्तानका सुख चाहता है—हिन्दुस्तानका नहीं, वह तो टुकड़ा नेता है। जो मुसलमानको दुःखी करना चाहता है हिन्दूको सुखी और हिन्दूको दुःखी करना चाहता है मुसलमानको सुखी, वह बड़ा नेता नहीं है। महान् ज्ञान उसका है, जिसके ज्ञानमें पापी और पुण्यात्मा दोनों होते हैं। पापियोंकी उन्नति भी—उनकी पवित्रता भी जिसके ध्यानमें रहती है, वह महापुरुष होता है। वह श्रीकृष्ण 'अपि चेत् सुदुराचारो भजते माभनन्यभाक्'। (1.30) दुराचारका भी कल्याण करनेके लिए श्रीकृष्ण तैयार हैं।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ 4.36

जो सबका कल्याण चाहता है, वह महात्मा होता है। वह ऋषि होता है।

वेदमन्त्रोंके जो द्रष्टा हैं उनको ऋषि कहते हैं। 'ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः'। ये जो वेदके मन्त्र हैं किसी जातिके लिए नहीं है। इनमें साम्प्रदायिकता नहीं है। इनमें राष्ट्रीयता नहीं है। सम्पूर्ण विश्व मानवसे लेकर कीट-पतंगपर्यन्त सबके कल्याणके मन्त्र आते हैं। आप सुनेंगे—मण्डूक भी मन्त्रके ऋषि हैं। मण्डूक-सूक्त है वेदोंमें। माण्डूक्य उपनिषद् है। तित्तिरि है—तैत्तिरीय उपनिषद् है। कितना ज्ञान है तीतरमें और कितना ज्ञान है मण्डूकमें, कितना ज्ञान है श्वेताश्वतरमें। स्त्रियाँ जो हैं वे मन्त्र-दर्शन करनेवाली हैं। वहाँ स्त्री-पुरुषका भेद नहीं। स्त्री-पुरुषका भेद लिंग-भेद है। और मनुष्य और पशुका जाति-भेद है और जो ईसाई, मुसलमान, हिन्दूका भेद है यह आचार्यमूलक सम्प्रदाय-भेद है। नदीके घेरेमें, समुद्रके घेरेमें होनेसे कोई वस्तु भिन्न हो जाती हो सो बात नहीं है। पूर्णताकी दृष्टि ही महर्षिकी दृष्टि है। जो महर्षि हैं, सिद्ध हैं, वे सब-के-सब पुष्कल—'पुष्टा कलाः येषु ते'—जिसमें परिपुष्ट कला है, माने सकलके रूपमें परमेश्वरकी वे आराधना करते हैं—ये सब परमेश्वरका स्वरूप है।

'स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।' एक स्तोत्र शब्द है और एक स्तुति है। स्तुति शब्द भाव-प्रधान होता है और स्तोत्र शब्द वर्णप्रधान होता है। 'स्तुत्यते अनेन इति स्तोत्रम्; स्तवनं स्तुतिः।' जब हम अपने भावसे

भगवान्‌की स्तुति करते हैं तो उसका नाम स्तुति हो जाता है। और जब हम दूसरेके लिए हुए स्तोत्रका पाठ करते हैं तब उसका नाम स्तोत्र होता है। उसमें अपना भाव मिलाना पड़ता है। जिसने जिस भावसे स्तुति की है, उस भावके साथ हम एक हो जाते हैं कि नहीं? यदि एक हो जायेंगे तो वह स्तोत्र हमारा हो जायेगा और नहीं तो वह स्तोत्र उसका रहेगा और हम अलग हो जायेंगे। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते हो भी जाता है। हम अपनी भावमय स्तुतिसे भगवान्‌की स्तुति करते हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ 11.22

मैं ही क्या, सब देख रहे हैं, आपको। रुद्र, आदित्य, वसु साध्य ये देवताओंके गण भी आपको देख रहे हैं। रुद्रगण ग्यारह होते हैं, आदित्यगण बारह होते हैं। वसुगण आठ होते हैं। इस प्रकार विश्वदेवा, साध्यगण, अश्विनीकुमार दो होते हैं। मरुद्‌गण उनचास होते हैं। और पितरोंके भी अनेक गण होते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि संसारमें जितने प्राणी हैं, गन्धर्व, यक्ष. असुर, सिद्ध ये संघ-के-संघ आश्चर्यचकित होकर तुम्हींको निहार रहे हैं। कोई भी तुम्हारा पार नहीं पाता। 'आश्चर्यवद् पश्यति कश्चिदेनम्; श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिद्' (2.29)। देखकर, सुनकर भी तुम्हारे पूर्ण रूपको नहीं जान पाते हैं। तुम्हारे अधूरे रूपको देखकर आश्चर्यचकित हो रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ 11.23

महाराज, आपका यह महान् रूप है। महान्‌में महत्त्व तो भरा हुआ है। यह ही पूजनीय है, आदरणीय है। इसमें तो कोई शंका नहीं। 'मह्यते इति महत्'—पूज्य है आपका रूप—चाहे किसी भी रूपमें वह प्रकट हो। 'मौतका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ! भक्त लोग कहते हैं कि मैं तुम्हें मृत्युका रूप धारण किये हुए देखकर भी डरूँगा नहीं। एक भक्तके सामने बड़ा भारी काला नाग आया—ओहो प्यारे! मैं तुमसे बहुत दिनोंसे अलग था। आज तुम साँप बनकर मुझे अपने पास बुलानेको आये हो? आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगा। यह है भावकी प्रधानता। कुत्ता रोटी लेकर भागने लगा। नामदेवजी दौड़े। थोड़ा घी ले ले भाई! चुपड़ लेने दे। ऐसे ही क्यों रोटी लेकर जा रहा है? गधा प्यासा मर रहा था, गंगोत्तरीका जल रामेश्वर ले जा रहे थे—देखा, गधा प्यासा है। बोले—ओ हो! ये हमारे भगवान् हैं—प्यासे भगवान् और वह काँवरमें लाया हुआ जल नामदेवने गर्दभ भगवान्‌को पिला दिया। यशोदा मैया तो कभी-कभी कृष्णको भी गधा कह देती थीं।

कथा है कि किसी समय—एकदम खूब कीचड़में लथपथ हो रहे थे कृष्ण। यशोदा मैयाको आया गुस्सा। बोलीं—ओ कन्हैया! मालूम पड़ता है तू पूर्व जन्ममें सूअर था। तभी तो मिट्टीमें लोटता है। सो महाराज कृष्णको मुसकान आगयी! अरे, मैयाने तो हमारे पूर्व जन्मको पहचान लिया। देखो ये हैं हमारे भगवान् जो केवल ब्राह्मणोंके रूपमें नहीं आते, मछलीके रूपमें आते हैं—बंगालमें तो लोग आत्मसात् कर लेते हैं। सूअरके रूपमें आते हैं—सिंहके रूपमें आते हैं। पक्षीके रूपमें आते हैं। घोड़ेके रूपमें आते हैं। स्त्रीके रूपमें आते हैं।

पुरुषके रूपमें आते हैं। यह जो हमारा सर्वरूप है भगवान्‌का, असलमें यही महत्, यही महनीय, यही पूजनीय रूप है भगवान्‌का। हमारे पूज्योंने भी इसकी पूजा की है। इसलिए पूज्य-पूजनीय ये हमारे भगवान्‌के रूप हैं। उनको पहचानने भरकी आवश्यकता है। आपका यह स्वरूप महान् रूप—जिसमें बहुत-से मुख—हमलोग जितने मुख देखते हैं—या अनुभव करते हैं—मुख तो चींटीके भी होता है—कीड़ेके भी होता है, वे सब भगवान्‌के ही मुख हैं। इसीसे चींटीको भी थोड़ा आटा दे देते हैं। कबूतरको भी चना देते हैं। उनके मुखसे भी भगवान् ही खाते हैं। 'बहुवक्त्रनेत्रम्'--सब आँखोंसे भगवान् ही देख रहे हैं।

एक महात्माके पास कोई सज्जन आये—बोले। महाराज, आप हमको अपना चेला बनालें। महात्माजीने उनको कोई जादूकी चिड़िया दी, बोले इसे ले जाओ और कोई ऐसी जगह मारकर आओ जहाँ कोई देखता न तो। चेला गया। कहीं आड़ देखा कि कोई देख नहीं रहा है और उसका गला ऐंठ दिया और आया। महाराज, ऐसी जगह मारा जहाँ किसीने नहीं देखा। फिर एक दूसरे चेलेको दिया। वह घूमकर आया बहुत देरतक और बोला महाराज ऐसी कोई जगह नहीं मिली, जहाँ कोई न देखता हो। शान्तिपर्वमें कहा गया है—'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः।' (184.13) पेड़ भी देखते हैं। कीड़े-मकोड़े भी देखते हैं। सूर्य-चन्द्रमा भी देखते हैं। दिशाएँ देखतीं हैं। और देखनेवालेकी आँख तो देखती थी और भगवान् तो देख ही रहे थे। ऐसी कौन-सी जगह है जहाँ भगवान्‌की दृष्टि न हो और भगवान् न देख रहे हों। लोग कहते हैं ऐसे एकान्तमें अपराध करके आये हैं महाराज, कि सुराग नहीं लगेगा। सुराग नहीं, अरे! वह बात तो तुम्हारे वहाँसे लौटनेके पहले ही दुनिया भरमें फैल गयी। देखनेवाले बहुत हैं। बहुवक्त्रनेत्रम् भगवान्‌के अनेक मुख हैं और अनेक नेत्र हैं। महाबाहो बहुबाहूरुपादम्। उनके बाहू, उरु बहुत सारे हैं। बहुतसे उदर हैं और बड़ी कराल उनकी दाढ़ हैं। इनको देखकर सारी दुनिया प्रव्यथित हो रही है और मैं भी प्रव्यथित हो रहा हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ 11.24

हे विष्णो—विष्णु शब्द ऋग्वेदमें बीसों बार आता है, दो तो विष्णुसूक्त हैं। एक ही ऋग्वेदमें, एक ही शाखामें दो विष्णुसूक्त हैं। विष्णु शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है—वेवेष्टि जैसे हम पोथीको वेष्टनमें लपेट देते हैं। ऐसे जो सम्पूर्ण विश्वको अपने अन्दर लपेटकर बैठा है, उसको विष्णु कहते हैं। यह जो सम्पूर्ण विश्व है, यह विष्णुसे घिरा हुआ है। प्रत्येक भी घिरा हुआ है और सम्पूर्ण भी घिरा हुआ है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें विष्णु भरपूर नहीं। इसीसे आप कभी विष्णु-सहस्रनामका पाठ करते हो तो देखेंगे भगवान्‌का पहला नाम है विश्व और दूसरा नाम है विष्णु। 'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः'। आप भगवान्‌को कहाँ ढूँढते हैं? 'हमको क्या तूं ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।' भगवान्‌को कहाँ ढूँढते हैं? गौरसे देखते नहीं है। यदि हम गौरसे देखें तो सांप नहीं दिखेगा, रस्सी दिखेगी। यदि हम गौरसे देखें तो यह सम्पूर्ण दुनिया परमात्माके रूपमें दिखेगी।

'नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम्'। आकाशस्पर्शी है। सब जगहसे आकाशका स्पर्श कर रहा है। आकाश अवकाशात्मक है तो उसका स्पर्श करनेवाला तो अनन्त ही होगा। जो आकाशसे बड़ा होगा, वह सर्वतोमुख आकाशको स्पर्श करेगा। वह प्रदीप्त हो रहा है। चारों ओर उसके चमक है। यह जो स्त्रीमें, पुरुषमें, बालकमें, बालिकामें चमक है वह परमात्माकी है। 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (श्वेताश्व० उप०4.3)। वही स्त्री है। वही पुरुष है। वही कुमार है। 'त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (वहीं)। सम्पूर्ण रूपमें वही परमात्मा है। उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अच्छा भाई! कुमार है, कुमारी है, स्त्री है, पुरुष है। ये बुड्ढे लोग कौन हैं? बोले 'जीर्णो दण्डेनवञ्चसि'। बुड्ढे बाबा बन करके लठिया टेकते हुए तुम्हीं चलते हो और लोगोंको धोखा देते हो कि तुमको पहचान न सके। ऐसा कुछ है ही नहीं जो परमात्माका स्वरूप न हो।

'नभः स्पृशम्' उसीकी चमक है, हमारी आँखमें चमक है, हमारे मनमें चमक है, हमारे चाममें चमक है, हमारी इन्द्रियोंमें चमक है। यह किसकी चमक है? सब लाल-काले पीले-हरे पत्ते चमक रहे हैं। इसीकी चमक सबमें भरी हुई है। 'दीप्तम्' अनेक वर्ण अनेक उसके रंग है। 'व्यात्ताननम्' उसका मुँह फैला हुआ है। सबको निगलनेके लिए तैयार है। 'दीप्त-विशालनेत्रम्'। बड़े-बड़े उसके नेत्र हैं। देखकर तुमको हमारी अन्तरात्मा हमारा मन प्रव्यथित हो रहा है। न तो हमारे मनमें धैर्य है, न शान्ति है—देखो हम और भी तो देख रहे हैं न!

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

11.25-27

ये सब, वह काल कराल दाढ़े—तुम्हारा मुँह बड़ा कराल लगता है। क्योंकि बड़ी-बड़ी दाढ़ें दिख रही है और ऐसा लगता है कि प्रलयाग्नि कालानल प्रकट हो गया है। ऐसा तुम्हारा मुख है। हमको तो पूर्व-पश्चिममें-उत्तर-दक्षिणका पता ही नहीं चलता है। और शान्ति, मनमें नहीं है। हे देवेश, हे जगन्निवास, मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। और मैं क्या आश्चर्य देख रहा हूँ। जिन्होंने दुनिया बड़े जोरसे पकड़ रखी है हिलानेपर भी नहीं छोड़ते है उनका नाम है धृतराष्ट्र और उनके पुत्र कौन हैं। दुर्योधनादि। माने जो बुरे-बुरे काम करके संसारकी सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं। योधन माने अपनी जीवन-संग्राममें जो ईमानदारीके साथ युद्ध नहीं करते हैं, दुष्टतासे युद्ध करते हैं, छल-कपटसे युद्ध करते हैं, उनका नाम हो गया दुर्योधन।

यह जो दुनियाको पकड़ने वाले धृतराष्ट्र हैं 'धृतं राष्ट्रं येन'—जो दुनियाको बड़े जोरसे पकड़कर बैठा

हुआ है। उसके जो बेटे हैं वे क्या करते हैं? इस समय उनकी क्या स्थिति है? तब वे सब राजाओंके साथ; अरे औरोंकी तो बात क्या, ये भीष्म देवता, ये द्रोणाचार्य, ये कर्ण और केवल दुर्योधनकी सेनाके ही नहीं—हमारी सेनामें भी जो बड़े-बड़े योद्धा हैं वे भी! ये कहाँ भागे जा रहे हैं—'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति'। विश्व रूपका दर्शन और बहुतोंको हुआ परन्तु यह रूप जिसमें भीष्म द्रोण, कर्ण, दुर्योधन और पाण्डवी, कौरवी सेना सब-की-सब नष्ट हो रही हो—ऐसा किसीको नहीं दिखाया। 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति'। जल्दी-जल्दी करके ये तुम्हारे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं।

भगवान्के मुख कैसे हैं? 'दंष्ट्राकराल'—बड़े भयावह। अर्जुनने देखा कि भगवान्के दाँतोंके बीचमें जो छेद हैं, उनमें कई लगे हुए हैं और उनका सिर चूर-चूर हो रहा है। यह सारी सृष्टि तुम्हारी ओर वैसे ही बहकर जा रही है जैसे नदी।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीराविशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ 11.28

अर्थात् जैसे नदीके बहुत सारे वेग, बहुत-सा ज्वार बहुत-सी तरंगे बड़ी-बड़ी लहरें—समुद्रकी ओर दौड़ करके जाती हैं वैसे ही यह नरलोक, वीर—सब-के-सब तुम्हारे जलते हुए आगके समान मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। जैसे कोई कीड़ा-मकोड़ा, जैसे शलभ-पतिंगा अपने नाशके लिए आगमें जाकर कूदें, ऐसे ये कूद रहे हैं। अर्जुनने बहुत बढ़िया देखा। यदि यह न देखता तो उसके मनमें युद्धके लिए जितना उत्साह जगना चाहिए शायद उतना नहीं जगता।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 5

(23-11-82)

अम्ब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अर्जुन श्रीकृष्णके विश्वरूपका दर्शन कर रहे हैं। विश्वरूपका दर्शन कराया अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय सबको एक साथ भगवान्ने दिखाया। इससे कोई भी ऐसी बात नहीं रह जाती जो भगवान्के स्वरूपके बाहर हो। शरीरको ऊपरसे देखते हैं तो चाम बहुत सुन्दर चिकना-चिकना दिखायी पड़ता है पर यह समग्र रूपका दर्शन नहीं है। इसके भीतर शिराएँ हैं, वायु भी चलती है, खून भी चलता है, माँस भी है, चरबी भी है। कोई-कोई देखनेमें बहुत बढ़िया भी लगते हैं। इसमें कोटि-कोटि कीटाणु हैं। कोई रोगके हैं, कोई आरोग्यके हैं। कोई सद्भावका स्थान है—जैसे सिरका अगला भाग, कोई दुर्भावका स्थान है जैसे सिरका पिछला भाग। कोई भूरे रङ्गका है, कोई सफेद रङ्गका है। हम अपने पूरे शरीरको ही ठीक-ठीक नहीं देख पाते हैं। यह तो विश्वरूपका मॉडेल ही है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

जैसा इस शरीरमें है वैसा ही समूचे ब्रह्माण्डमें है। एक दिन हमारे रक्तकी जाँच हुई। हमारे डॉक्टर मित्रने हमको दिखाया कि उस दिन रक्तमें सफेद कीटाणु बढ़ गये थे। फिर औषधि देनेके बाद जब जाँच हुई तब दिखाया श्वेत कीटाणु कम हो गये और लाल कीटाणु बढ़ गये। उसी शरीरमें मल भी होता है। मूत्र भी होता है। बहुत-से कीड़े मरते होते हैं, बहुत पैदा होते हैं। यदि हम इस नमूनेको ठीक-ठीक जाँच करके देख लें तो यह जो विश्वकी सृष्टि है, स्थिति है, संहार है इसका रहस्य हृदयंगम हो जाता है।

लेकिन मूल बात तो यह है कि मनुष्यको अपनी ओर देखनेकी फुरसत, अवकाश ही नहीं है। यह हीरा, मोती देखता है, सोना, चाँदी देखता है, कल-कारखाना देखता है। खाना-पीना देखता है, पड़ोसीको देखता है पर जो सबको देखनेवाला है, उसको नहीं देखता। यदि इस शरीरको देखे तो विराट्का ज्ञान होगा और यदि स्वप्न सहित अपने अन्तःशरीर, सूक्ष्म शरीरको देखे तो हिरण्यगर्भ-पर्यन्त सूक्ष्म समष्टिका बोध हो जायेगा। और यदि कारण शरीरको देखे तो प्राज्ञ अर्थात् ईश्वर-पर्यन्त सृष्टिका बोध हो जायेगा। और यदि अपनी शुद्ध आत्माको देखें तो ब्रह्मत्वका बोध हो जायगा। पर यह मनुष्य इतना व्यस्त है—जैसे यह अपने लिए हो ही नहीं। स्त्रीके लिए है, पुत्रके लिए है, परिवारके लिए है, शत्रुके लिए हैं, मित्रके लिए है—अरे बाबा—सबके लिए तुम हो तो अपने लिए भी तो हो न? अपनेको खोकर तो सबके लिए नहीं हो! विश्वरूपका रहस्य यही है कि जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा सब भगवान्के शरीरमें है। उसमें अच्छा करके ललचनेकी जरूरत नहीं है और बुरा कहकर घृणा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

आपने कभी ध्यान दिया होगा कि आपके शरीरमें पाँवके नाखूनसे लेकर और सिरके बाल तक जो कुछ बाहर निकलता है वह सब गन्दा होता है। कोई चीज ऐसी बताओ—बाल निकलें तो गन्दे—लगे हैं—जब

काट लोगे तो क्या हो जायगा? नाखून हैं, कानमें खोंट है, आँखमें कीचड़ है, नाकमें बलगम है। मुँहमें थूँक है। खून है, हड्डी है—गन्दगीका पिटारा कौन है? जहाँ शरीरका सम्बन्ध नहीं होगा वहाँ गन्दगी होगी ही नहीं। अपवित्रता होती वहाँ है जहाँ किसी प्राणीके शरीरसे निकली हुई वस्तुका सम्बन्ध होता है। चाहे पशुका हो, चाहे पक्षीका हो, पर हम 'मैं मैं' करके छाती तानकर चलते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे परमेश्वरको मात देनेके लिए चल रहे हैं। इस शरीरपर इतनी शान जो जरा विश्वरूपको देखो तो मालूम पड़ेगा कि अपना मन जो है उसे उद्विग्न, व्यग्र करनेका कोई काम नहीं है। सहज भावसे चलना होगा।

सबसे भयंकर हमको इस दुनियामें मृत्यु दीखती है। महात्मा लोग मृत्युको मधुर बना लेते हैं। जब हम मृत्युको अभीष्ट बना लेते हैं, उस समय अभीष्ट हो जाता है। बुद्धिपूर्वक सोच विचारकर—जैसे विनोबाजीने अपने शरीरका त्याग किया—मृत्यु अभीष्ट हो गयी। जैसे पहले तीन दिन उपवास करते हैं, सात दिन करते हैं, ग्यारह दिन करते हैं, मासव्यापी चान्द्रायण करते हैं। फिर पुण्यद क्षेत्रमें गंगा-यमुनाके तटपर अपने शरीरका परित्याग करते हैं। या योगमें स्थित होकर करते हैं—वहाँ मृत्यु भी मधुर हो जाती है। आप सोते हैं तब भी सब छूटता है और मरते हैं तब भी सब छूटता है। पर सोते समय आशा रहती है—कल जगेगे तो यह दुनिया मिलेगी और मरते समय अपनी बनायी हुई दुनिया छूटनेके डरसे हम थरथर कांपने लगते हैं। अवस्थामें कोई भेद नहीं है। विस्मृति तो दोनोंमें ही होती है।

अर्जुनको मृत्युका भी दर्शन हो रहा है।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ (11.29)

अर्जुनने कहा—जैसे जलता हुआ दीपक हो और बहुत प्यार करके पतंगा उसपर टूटता है कि हमारा बहुत प्रिय है। मोहित हो जाता है, ऐसी मान्यता है। अब वह क्या सोचकर गिरता है यह तो उसने किसीको बताया नहीं। सम्भावना ही तो है न! अब वह उसको बुझानेके लिए दौड़ता है या स्वयं मरनेके लिए दौड़ता है—पर पतंग जलते हुए दीपकपर, जलती हुई आगपर जाकर गिर पड़ता है। किसलिए गिरता है। अपने नाशका हेतु स्वयं बनता है।

वैसे एक बात आपके ध्यानमें ला दें। संस्कृत भाषामें किसी वस्तुकी नवीन उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। उत्पत्ति शब्दका अर्थ है कि जो चीज नीचे दबी थी वह उत् माने ऊपर पत्ति माने पत्तन—जो छिपी हुई चीज थी वह जाहिर हो गयी। इसका नाम उत्पत्ति होता है यानी प्रादुर्भाव है—जो चीज छिपी ती, उसका प्रकट होना इसका नाम जन्म है। और नाश शब्दका अर्थ अत्यन्त अभाव नहीं होता। भाषामें ये शब्द जान-बूझकर रखे हुए—'नश अदर्शने' जो चीज अबतक दीख रही थी वह अब नहीं दीख रही है। न दीखनेका ही नाम नाश हो गया—और दीखने लगनेका नाम हो गया उत्पत्ति। दुनियाको भूल जानेका नाम मृत्यु है और शरीरको मैं माननेका नाम जन्म हुआ।

उत्पत्ति और विनाशका जैसा अर्थ साधारण लोगोंमें समझा जाता है वह तो संस्कृत भाषामें है ही नहीं।

संस्कृत भाषाका अर्थ भी यह नहीं है कि कोई नया शब्द किसीने गढ़ दिया। उसका भी अर्थ है—पहलेसे जो धातु है, जो प्रत्यय है उसका संस्कार करके शब्दको निकाल लिया—भू धातु है चाहे भव कहो चाहे भव्य कहो—चाहे भविष्यमाण कहो चाहे बोभूयमान कहो—अनेक प्रक्रियाएँ हैं उसकी। भवन कहो भवानि कहो। धातु पहलेसे रहती है, प्रत्यय माने अपने मनकी वृत्ति जोड़-जोड़ करके हम एक वस्तुमें-से जैसे शब्द निकालते हैं। एक पत्थर है, उसमें-से लोढ़ा भी निकाल सकते हैं, ऊखल भी निकाल सकते हैं और राम-कृष्णकी मूर्ति भी निकाल सकते हैं और शालग्रामकी शिला भी निकाल सकते हैं।

पत्थर तो धातुके रूपमें और जो हमने उसमें अपनी मानसिक कल्पनासे रूप निकाले उनका नाम हुआ प्रत्यय। संस्कृत माने यही होता है कि भलीभाँति हम उसको संस्कार दें। एक हीरा निकला। उसमें-से मिट्टीको धो दिया, दोषापनयन कर दिया। जहाँ कहीं कमी थी उसको पूरा कर दिया। जो बेडौलपना था उसको दूर कर दिया। जो छेद नहीं था उसमें छेद कर दिया।

दोषापनयन, गुणाधान और हीनांगपूर्ति हीरेके ये तीन संस्कार कर दिये गये—वह कामका हो गया। इसी तरह शब्द तो पहलेसे हैं परन्तु वे मिट्टीमें दबे हुए हैं—बेडौलको सुडौल बना देते हैं, मिट्टी धो देते हैं। कोई भी नया शब्द नहीं निकलता है। यह जन्म और मृत्युका दुनियामें कोई अर्थ नहीं है। यह केवल अपने सुखके लिए जन्मको हम अच्छा मानते हैं और कभी-कभी ऐसा समय आता है, जब जन्मको बुरा माना जाता है। मृत्युको हम लोग सामान्यरूपसे बुरा मानते हैं। पर कोई-कोई समय आता है जब मृत्युको अच्छा माना जाता है।

इस सृष्टिका यही क्रम है। यह सब-की-सब सेना जो इकट्ठी हुई है कौरवी और पाण्डवी—ये जैसे पतिंगे आगमें गिरते हैं ऐसे अपने अदर्शनके लिए, विनाशके लिए भगवान्‌के मुखमें 'अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि'—यह क्रियापद नहीं है यह 'शत्रन्त' है। वक्त्राणिका विशेषण है। उसमें प्रवेश कर रहे हैं। और वह भी 'समृद्धवेगा:'—बड़े बेगसे, जोरसे कहाँ जा रहे हैं? मालूम तो नहीं पड़ता है। घड़ीमें एक-एक सेकेण्ड सुई चलती है—एक-एक-एक मिनट चलती है। घण्टे चलती है। घण्टे-घण्टे चलती है। चौबीस घण्टे पूरे करती है। यह घड़ी चल-चलकर हमको भी साथ चला रही है। घड़ी जितनी चलती है, कम-से-कम उतने वेगसे तो हम चलते ही हैं—और कहाँ जा रहे हैं? बस उसकी याद मत करो, नहीं तो डर जाओगे। घड़ी कहाँ जा रही है? घड़ीकी एक डिजाइन बनी—यह शरीरका आकार हुआ और वह कितने चक्कर लगानेकी उसमें योग्यता है यह साँस लेनेके लिए धौंकनी कितनी चलेगी? वह हुआ। और किस-किसकी घड़ी है?

यह देखा इसकी कितनी आयु है और कितनी गरमी-सरदीमें वह काम करेगी। ज्यादा सरदीमें जानेपर ठप्प हो जायगी। ज्यादा गरमीमें जानेपर जल जायगी। यह आपकी घड़ी जैसी होती है, आपके शरीरकी धड़कन जो है—यह चलती रहती है। और पेटमें ही चलनी शुरू होती है। मृत्युपर्यन्त चलती है। यह घड़ीकी सूई है, कितने चक्कर लगायेगी। यह पक्का है। इसकी डिजाइन क्या है? शकल-सूरत क्या है? यह भी पक्का है। और कितनी गरमी-सरदी सहेगी? कितना सुख-दु:ख सहेगी—यह गरमी-सरदीकी तरह है। कितने चक्कर

लगायेगी यह उमरकी तरह है और कैसी शकल-सूरत है, यह जैसी आप मशीन बनाते हैं बिलकुल वैसे ही है। यह अपने ढङ्गसे घड़ी चल रही है। जब चक्कर लगानेकी शक्ति पूरी हो जायेगी, क्षीण हो जायेगी, समाप्त हो जायेगी।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः। 11.30

आपके मुखसे ज्वाला निकल रही है और यह सारा जो दृश्यभाव प्रपञ्च है—लेलिह्यसे—तुम उसको चाट रहे हो—जैसे हम लोग चाटते हैं ऐसे—'लेलिह्यसे'। लिह् आस्वादने—धातु है संस्कृतमें। कुछ मुँहमें आये हैं—कुछ नहीं आये हैं। अच्छा ठीक है नहीं आये हैं—उनके लिए अर्जुन आलङ्कारिक रूपमें बोल रहा है कि जैसे सामने कोई बहुत बढ़िया चीज खानेकी रखी हो और आदमी अपनी जीभसे मुँहके दोनों कोनोंको चाटे। इस प्रकार भगवान्‌का यह विश्वरूप है—यह चटनी बना डालनेके लिए भगवान्‌की जीभ लपलपा रही है। 'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्'। सबको ग्रस्त कर लेनेके लिए जीभ लपलपा रही है। आगकी लपटें निकल रही हैं—'वदनैर्ज्वलद्भिः तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं। भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो'। तुम्हारे पेटसे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। और तुम्हारी उग्र किरणें हैं, आभास है, वह सबको तपा रही हैं—पका रही हैं। महाभारतमें यक्षने युधिष्ठिरसे एक प्रश्न किया है। दुनियामें क्या हो रहा है?

भूतानि कालः पचतीति वार्ता। वनपर्व 313.118

यह काल सबको पका रहा है। काल एक दिन सबको खाना चाहता है। जैसे हम लोगोंके घरमें खाना पकता है वैसे सब लोग अभी पकाये जा रहे हैं। बटलोईमें आगये, पतीलीमें चढ़ गये हैं। इस प्रकार भगवान् सबको पका रहे हैं। तुम्हारा नाम तो विष्णु है, विष्णुका काम तो पालन करना है। यह तुम सबको मृत्युकी ओर क्यों ले जा रहे हैं? उनको यह शंका है कि तुम विष्णु हो तो तुमको रक्षा करनी चाहिए, पालन करना चाहिए—यह खा क्यों रहे हो? पका क्यों रहे हो? इसलिए अन्तमें 'विष्णु' सम्बोधन कर दिया। अब बताओ तुम कौन हो? क्या हमारे प्यारे कृष्ण ही हो कि संसारकी रक्षा करनेवाले, पालन करनेवाले विष्णु हो, कि तुम संहार करनेवाले कोई और हो?

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ 11.31

हे देववर—देवता होते हैं अलग-अलग। जैसे रूपको दिखानेवाला देवता, आँखमें बैठकर रहता है। और स्वादको चखानेवाला देवता जीभमें बैठकर रहता है। ऐसे ही विश्वसृष्टिमें देवता अलग-अलग होते हैं। एक देवताकी पूजा करोगे तो केवल एक काम होगा और सब देवता जिसमें है उस ईश्वरकी पूजा करोगे तो सब काम होंगे। यदि तुम्हें कुछ नहीं चाहिए तो तुम आत्माके रूपमें ईश्वरकी पूजा करो, उससे बढ़िया और तो कुछ है ही नहीं। जब कुछ चाहिए तब अन्यकी पूजा अभीष्ट होती है। आजकल तो ऐसी गड़बड़ होती है—विभाग-विभागके मिनिस्टर होते हैं न! ऐसे देवताओंका विभाग भी अलग-अलग होता है। जल-विभागके देवता वरुण हैं। रूप-विभागके देवता अग्नि हैं। शब्द-विभागके देवता दिक् हैं। कर्मके देवता इन्द्र हैं।

जैसे मिनिस्टरीमें विभाग बँटे रहते हैं ऐसे इन देवताओंके विभाग बँटे हुए हैं। आजकलके देवता गड़बड़ बहुत करते हैं। हमारे एक मुम्बईमें भक्त थे। उनको शिक्षा-विभागसे कोई काम लेना था। उसने कहा इतना रुपया हमारे काममें खर्च करना पड़ेगा तो सेठ बोले ले लो। उन्होंने कहा—नहीं, हम नहीं लेंगे। जाकर स्वास्थ्य-विभागवालेको दे दो। जब स्वास्थ्य-विभागवालेका कोई काम होगा तो हमारे विभागमें दिला देंगे। हम तुम्हारा काम करेंगे और अपने विभागमें लेंगे तो पकड़े जायेंगे। तुम दूसरे विभागमें दो। इस तरहसे ये आजकलके देवता करते हैं। यह बात अलग है कि देवता है कि देवताका पार्ट है। पार्ट भी ठीक नहीं होता है। ये देवता लोग तो बहुत छोटे-छोटे हैं और आप परमेश्वर हैं। इतना उग्ररूप धारण करके क्यों आये हैं? हम आपको नमस्कार करते हैं। आप देववर हैं। मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये। 'विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यम्'। सृष्टिके आदिमें जो आपका रूप है, उसको देखनेकी मैंने इच्छा प्रकट की थी। देख तो लिया परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं? 'आद्यम् आदौ भवम्'।

एक पन्थाई बात आपको इसी श्लोकपर सुनाते हैं। वैष्णवोंका और शैवोंका शास्त्रार्थ है। गीतापर तो बहुत टीकाएँ हैं। अर्जुनने कहा कि आदिरूप दिखाओ और मैं उस रूपको जानना चाहता हूँ। शैव लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णका आदि रूप तो शिव है और यह श्रीकृष्ण-रूप तो बादका है। और वैष्णव लोग कहते हैं कि आदिरूप श्रीकृष्ण हैं। अब इस बातको लेकर दोनोंमें बड़ा झगड़ा है। श्रीदीक्षितजीका ग्रन्थ ही है, इसका निर्णय करनेके लिए। पन्थमें जब आग्रह हो जाता है तो ऐसा ही होता है जैसे पार्टीमें हो जाता है—अपनी पार्टीका आदमी दूध धुला होता है और दूसरेकी पार्टीका आदमी बिलकुल गन्दा होता है। ऐसे ही शैव-वैष्णव भी जब आपसमें लड़ाई करते हैं तो शैव वैष्णवोंको दस गाली सुनाते हैं और वैष्णव लोग शैवोंको दस गाली सुनाते हैं। यह शिया-सुन्नीका झगड़ा यह कैथोलिक-प्रोटेस्टण्टका झगड़ा—इस झगड़ेके चक्करमें बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए। ईश्वर एक है और वह चेतनरूपसे आपका आत्मा है। उसमें शिव-विष्णुका भेद नहीं है।

'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्'। हे प्रभो! आप क्या करना चाहते हैं, यह हमको मालूम नहीं पड़ता। आपकी प्रवृत्ति क्या है, यह ज्ञान नहीं होता। इस रूपमें जब आप हैं तो करना क्या चाहते हैं? आप युद्ध चाहते हैं कि शान्ति चाहते हैं कि संघर्ष चाहते हैं? बाबा लड़ना है तो सीधे-सीधे कह दो। लड़ जाओ और मारना है तो सीधे-सीधे कह दो मर जाओ। ये इतना उग्ररूप हमको क्यों दिखा रहे हो? आखिर आप क्या करना चाहते हैं? आगे भगवान्की वाणी है—'श्रीभगवानुवाच' जबतक सामनेवाला आदमी चुप नहीं हो जाय तबतक भगवान् बोलते नहीं हैं। यह शिष्टानुशिष्ट मर्यादा है।

मैंने एक बार देखा जहाँ चाँदीका सट्टा होता है—दस, बीस, पचास आदमी सब एक साथ बोलते थे। एक साथ सबका बोलना यह शिष्ट प्रकृति नहीं है। सभ्यताकी बात नहीं है। जबतक सामनेवाला बोलते-बोलते चुप न हो जाय तबतक सभ्य मनुष्य बोलना पसन्द नहीं करेगा। भगवान्की वाणी कब सुनाई पड़ती है जब जीव चुप हो जाता है। जब जीव शान्त हो जाता है, उसकी वाणी बन्द हो जाती है। उसका मन शान्त हो जाता

हैं, तब शान्त मनवालेके प्रति, निर्वचनके प्रति, निर्वासनके प्रति, अमनाके प्रति भगवान्‌की वाणी अभिव्यक्त होती है। वह तो भीतर ही हैं।

भागवतमें तो ऐसा कहा है कि भगवान्‌की बाँसुरी निरन्तर बजती ही रहती है। पाँच हजार वर्ष पहले नहीं बजी थी। वह अब भी बज रही है। उसके पहले भी बजती थी। आगे भी बजती रहेगी लेकिन हम लोग अपने मनके चक्करमें—अपनी वाणीके चक्करमें इनकी चंचलतामें, वासनामें ऐसे लथपथ रहते हैं कि उस वंशीध्वनिको सुन नहीं पाते हैं। ये भगवान् गा रहे हैं। अनादि कालसे गा रहे हैं। अर्जुन जीव है और भगवान् उस जीवके अन्तर्यामी नारायण हैं। नर है जीव, नारायण हैं भगवान्। नारायण नरको अपना सङ्गीत अनादि कालसे सुना रहे हैं। लोरी दे रहे हैं कि सो जा बेटा, जरा वासना छोड़कर, चञ्चलता छोड़कर सो तो जा—लोरी दे रहे हैं-जैसे अपने बच्चेको लोरी दे रहे हैं। कभी जगाते हैं जा पढ़ आ। भगवान्‌की बाँसुरी बज रही है। वह कब सुनायी पड़ती है, जब हम शान्त होकर उसको सुनना चाहते हैं। श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ 11.32

अब देख मैं क्या करना चाहता हूँ। पहले मुझे पहचान। 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'। भगवान्‌ने कहा—मैं काल हूँ काल। बड़े भयंकर रूपमें थे न! यह काल भी एक अजब, गजबका तत्त्व है। जैन और वैशेषिक दर्शन और मीमांसक लोग कालको वास्तविक द्रव्य मानते हैं और चार्वाक मनकी कल्पना मानता है। क्यों? यदि हम कहीं संगीत-सभामें बैठ जायँ तो पता ही नहीं चलता कि कितना काल बीत गया। और कहीं मुर्दनीमें, मातमपुर्सीमें बैठ जायँ तो थोड़ा-सा समय भी बहुत बड़ा लगता है। मन लग जाय तो काल कुछ नहीं और मन न लगे तो काल बड़ा भारी लम्बा हो जाता है। ये काल मनकी खुमारी है, ऐसा चार्वाक मानते हैं। विज्ञानमें जो अन्तर पड़ता है, विज्ञानका ही एक रूप है काल—माने बुद्धिसे मालूम पड़ता है। उसका यह अर्थ है।

सांख्य और योग कालको महत्तत्त्वकी एक अवस्था मानते हैं। वेदान्तमें अविद्याकी वृत्ति मानते हैं। और भक्तलोग भगवान्‌की शक्ति, भगवान्‌का संकल्प और भगवान्‌की चेष्टा मानते हैं। काल परमात्माके स्वरूपमें नहीं है। यह जो हमलोग सूर्यकी चालको नापते हैं और बताते हैं—इतना काल बीत गया और इतना काल आनेवाला है। चन्द्रमाकी चालको नापते हैं। पृथिवीकी चालको नापते हैं। नापते हैं दूसरेको और नाम धरते हैं कालका।

कालकी गति औपाधिक मालूम पड़ती है। दूसरेको गिनते हैं और कालको बताते हैं। पृथिवी एक मिनटमें कितना चलती है तो कालकी गति हो गयी। चन्द्रमा एक मिनटमें कितना चलता है—कालकी गति हो गयी। सूर्य अपनी धुरीमें कैसे घूमता है—कालकी गति हो गयी। सूर्य-चन्द्रमाकी गतिसे कालका क्या सम्बन्ध है? इसको कहते हैं—नापते हैं दूसरेको और बताते हैं दूसरेको। और यदि नापनेके लिए कोई साधन न रहे तो काल अखण्ड होगा—और अखण्ड वस्तु परमात्मासे अलग नहीं रहेगी।

असलमें परमात्माका ही नाम है 'अखण्डकाल'; यह बात छोड़ देते हैं। यह बात दसवें अध्यायमें भी आयी है। ज्यादा फिलासफीकी बात करेंगे तो आप लोग बोर हो जायेंगे। हमारा मतलब यह है कि हमारे जीवनमें मामूली-मामूली चीजें जो चल रही हैं, इनका मूल कहाँ है, यह भी एक विचारका विषय है। हमारे जो लोग रसोई बनाते हैं वे सभी सोचते हैं कि इसमें क्या चीज मिलावेंगे तो अच्छी बनेगी। फिर किससे छोंकेगे? क्या मसाला डालेंगे? एक चिन्तनका विषय यहभी है और एक चिन्तनका विषय यह भी है। आप लोग हमको ठीक-ठिकानेसे रोटी पहुँचा दिया करो तो हम यही सब सोचते रहेंगे। वह तो रोटीकी फिकरमें यह सब छूट जाता है। बड़ी गम्भीर-गम्भीर बातें चिन्तन करनेके लिए सृष्टिके स्तरमें हैं।

दसवें अध्यायमें श्रीकृष्णने कहा 'काल: कलयतामहम्'—जो गणना करनेवाली चीज है—गिनती जिससे होती हैं, वह काल है। जैसे गड़रिया अपने भेड़ोंको गिनता है—सौ है कि पाँच सौ हैं। हम तो गाँवके रहनेवाले हैं न! दस गड़ेरियाकी भेड़ें एकमें मिल जाती हैं पर जब चरानेको चलते हैं तो बिलकुल अलग-अलग कर लेते हैं और गिन लेते हैं कि हमारी इतनी हैं कि नहीं। इस प्रकार संसारमें भेड़ोंकी गिनती करनेवाला जो है न, 'कलनात्काल:' वह गड़ेरिया भगवान् है—'कालोऽस्मि'। वह 'काल: कलयतामहम्' गिननेवालोंमें काल है और इस समय लोकक्षय करनेके लिए एक कौरवीय और पाण्डवीय सेना जो बढ़ गयी है उसका नाश करनेके लिए बढ़कर आया है। तुम क्यों आये हो बाबा!

'लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त:'। हमारी प्रवृत्तिका कारण यह है कि लोगोंको मैं समेटना चाहता हूँ। बहुत फैला दिया। घरमें दस पतीली थीं। छोटी थी उसको उससे बड़ीमें डाला,उसको उससे बड़ीमें, उसकी उससे बड़ीमें। बड़ा भारी जो पतीला है घरमें उसमें सब अगये। उसको प्रधान बोलते हैं। 'प्रलीयन्ते अस्मिन् इति'। सारी छोटी-छोटी जो पतीलियाँ थीं वह सब एकमें रख दी गयीं। इसका नाम हो गया समाहार। सबको खानेके लिए आया हूँ यह मेरी प्रवृत्ति है।

अब देख ले मेरे प्यारे अर्जुन, 'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषु योधा:'। जो हमारे सामने बड़े-बड़े योधा दिखायी पड़ रहे हैं; युद्ध करनेमें बड़े निपुण—दोनों सेनाओंमें—जो सामने धनुष, बाण, तलवार, तरकस लेकर खड़े हैं—तुम इनको मारो, चाहे न मारो—अर्जुन तुम रहो, ये नहीं रहेंगे। तुम जो सोचते हो कि ये बने रहेंगे—सो ये बने नहीं रहेंगे। तुम्हारे बिना भी—तुम धनुष-बाण फेंक दो—अपने हाथको निकम्मा बना लो—इनको कुछ न कहो तब भी यह पक्का है कि ये नहीं रहेंगे। जो बुरा है वह भी नहीं रहेगा, जो भला है वह भी नहीं रहेगा। यह अपने मनमें आग्रहका ग्रह नहीं बसाना चाहिए।

ज्योतिषी कोई यहाँ होंगे तो बुरा मानेंगे। ज्योतिषी लोग आते हैं तो अपने साथ कोई-न-कोई दो चार ग्रह लेकर आते हैं, उनके पीछे-पीछे चलते हैं। यह प्रकृतिका नियम है कि ये जो आसमानमें ग्रह हैं उनमेंसे किस ग्रहका इस पृधिवीपर क्या प्रभाव पड़ता है—यह निकालंनेके लिए तो गणित है और पृथिवी के किस अंशपर किस ग्रहका प्रभाव पड़ेगा, यह भी ज्योतिषसे निकाला जा सकता है, इसका गणित है। परन्तु एक व्यक्तिपर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इसको निकालनेके लिए कोई गणित नहीं है। अपनी-अपनी

मान्यताएँ हैं। जैसे डॉक्टर कोई दवा रोगीको देता जाय और सौ रोगियोंको दिया और उसमेंसे तीस-चालीस तक मर जायँ तव तो वह उस दवाको बुरा नहीं मानता है। लेकिन पचास-साठ मर जायँ तो उस दवाको बुरा मानने लगता है।

इसी प्रकार लोक व्यवहारमें अनुभव किया जाता है। डॉक्टर लोग यहाँ बैठे होंगे—हमारे गाँवमें यह वात कही जाती है कि जो पहले सौ रोगीको मार लेता है वह अच्छा डॉक्टर होता है। आकाशमें चन्द्रमा है वह महीनेके कम-से-कम साढ़े छः, पौने सात दिन तक सबको खराब रहता है। चतुर्थमें, अष्टममें, द्वादशमें। अगर ज्योतिषीको राहु-केतु नहीं मिलेंगे तब वह कह देगा कि चन्द्रमाकी ही पूजा करवाओ। यह तुम्हारे लिए ठीक नहीं है। डॉक्टरके पास जाओ और वह डिस्टलवाटरका भी इञ्जेक्शन न लगावे तो उसकी फीस कैसे मिलेगी?

ये जो मान्यताएँ (दुराग्रह) अपने मनमें बैठ गयीं, ये छोटे-छोटे ग्रह हैं। लेकिन सबसे बड़ा मनमें दुराग्रह है, संग्रह है, परिग्रह है—ये सब ग्रह—राहु केतु, शनैश्चर—ये सब-के-सब तुम्हारे हृदयमें रहते हैं। आग्रहग्रहग्रहीता हो गये हो। दुराग्रह छोड़ो। तुम्हारे होने-न-होनेसे दुनियाका कुछ बना-बिगड़ा नहीं। बड़े-बड़े अवतार हुए। चले गये। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आये चले गये। इस संसारकी गतिमें क्या फर्क पड़ा है? कहाँ इस संसारकी गतिमें फर्क पड़ा है? इसीलिए जो अवधूत होते हैं, जो विरक्त होते हैं, जो सृष्टिके रहस्यको समझनेवाले होते हैं वे कहते हैं—चाहे बायें, चाहे दाहिने-यहाँ यों भी वाह-वाह है, यहाँ यों भी वाह-वाह है। राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है। महात्माओंकी दृष्टि बड़ी विलक्षण होती है। इसलिए अर्जुन देखो—कोई रहेगा तो नहीं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङक्ष्व राज्यं समृद्धम्।

इसलिए अर्जुन क्या बैठ गये?

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः। 1.47

मनमें यह आग्रह है कि ये सब जिन्दा रहें। मनमें यह आग्रह है कि धर्मराज्यकी स्थापना हो। मनमें यह आग्रह है कि मैं बड़ा भारी वीर हूँ। और मनमें बड़ा भारी आग्रह है कि मैं बड़ा भारी ज्ञानी हूँ—बड़ा भारी समझदार हूँ। हमको लड़ना नहीं चाहिए। धर्मराज्यकी स्थापना भी होनी चाहिए। हमको लड़ना भी नहीं चाहिए—इधर कोई मरना भी नहीं चाहिए। यह क्या हुआ। यह तो अपनी ही वृत्तियोंमें लड़ाई है।

शामको एक सज्जन सोचने लगे कि सन्ध्यावन्दन करें। सात्त्विक वृत्ति आयी। फिर मनमें आया कि नहीं, आज क्लबमें चलें। सन्ध्यावन्दन तो लौटकर कर लेंगे। क्या जल्दी है? बोले भाई—क्लब नहीं, सिनेमा ही देख आवें। अच्छा सिनेमा क्या देखेंगे—अब सो जायँ। तमोगुणी वृत्ति आगयी। अब इतनी वृत्तियोंका परस्पर विरोध हो गया—'गुणवृत्तिविरोधाच्च' (योग शास्त्र २.१५) जिसके मनमें सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी—वृत्तियोंका इतना संघर्ष मचा हुआ है वह चित्त संस्कारके किस काममें सफल होगा। निर्द्वन्द होकर कटु सोचना पड़ता है। जैसे बाघ अपने शिकारपर कूद पड़ता है। जैसे संन्यासी अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सबको

छोड़कर चल देता है। वैसे साहसके साथ उत्साहके साथ अपने लक्ष्यपर टूट पड़ना चाहिए। बैठनेसे क्या होगा?

'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे'। बाबा यदि तुम नहीं लड़ोगे तब भी ये कोई नहीं रहेंगे। इसलिए तुम उठो, देखो मैं तुम्हारा मित्र हूँ—सखा हूँ। तुम्हें यश देना चाहता हूँ। विश्वरूपसे मैं बोल रहा हूँ कि शत्रुओंको तुम जीत लोगे। जो सताये उसका नाम शत्रु होता है। 'शातनात् शत्रुः'। इनको जीत लो और बहुत बड़े राज्यका भोग करो—'समृद्धं राज्यं भुंक्ष्व'—यह मत देखो कि जब पिण्डदानका लोप हो जायगा तो हमारे पितर लोग जो स्वर्गमें हैं वे भूखे-प्यासे मर जायेंगे। अर्जुनको यह भी तो फिकर लगी थी न कि पितरोंका क्या होगा—'लुप्तपिण्डोदकक्रियाः'। (1.42) यह फिकर मत करो कि स्वर्गमें उन्हें खाना मिलेगा कि नहीं! वे भी अपना पुण्य लेकर जायेंगे—उन्हें खाने-पीनेको मिल जायगा। तुम यह तो देखो कि यह जो शत्रु तुम्हारे सामने तुम्हें कष्ट दे रहे हैं, उन्हें नष्ट करो और समृद्ध राज्य, निष्कंटक राज्य तुम्हारे सामने है, उसका भोग करो।

बाबा, इतने लोगोंको कौन मारे—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—मैं तुमसे इसलिए कहता हूँ कि तुम सव्यसाची हो। अर्जुनने उद्योगपर्वमें बड़ा ललकार कर कहा है कि मैं सव्य और अपसव्य दाहिने और बाँये—दोनों हाथोंसे गाण्डीव धनुषको चलाता हूँ और मैं चाहूँ तो मिनटोंमें दुनियाका संहार कर सकता हूँ। मेरे पास ऐसे-ऐसे बाण हैं—बाण माने यह नहीं कि बच्चे विजयादशमीपर खेलते हैं। बाण तो विश्वको ध्वंस करनेकी शक्ति रखनेवाला होता है। हजारों-लाखों मील दूर जाकर मार सकता है और लौटकर फिर फेंकने वालेके हाथमें आ सकता है। इस प्रकार बाणोंका वर्णन शास्त्रमें आता है। तो अर्जुन दोनों हाथोंसे बाण चलानेमें समर्थ था। भगवान् बोले—इसलिए तुमसे कह रहा हूँ कि ये जो तुम्हारे सामने वीर खड़े हैं, इनको तो कालने मैंने—पहलेसे ही मार रखा है। अब तुम इनपर विजय प्राप्त करनेमें निमित्त मात्र बन जाओ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ 11.34

नाम लेकर बोलते हैं—ये द्रोणाचार्य। जिनकी आयु सैकड़ों वर्ष है। अब मरनेके लिए तैयार हैं। देखो, तुमने देख ही लिया कि ये मेरे शरीरमें मर गये। ये भीष्म जो इच्छा-मृत्यु धारण करनेवाले हैं, जब चाहें तब मरें। ये जयद्रथ हैं जिनके पिता बड़ी भारी तपस्या कर रहे हैं कि मेरे पुत्रके सिरको जो धरतीपर गिरावे उसका सिर भी गिर जाय। और ये कर्ण जिसके पास इन्द्रकी दी हुई शक्ति है, जिसको अमोघ कवच प्राप्त है। वह कर्ण, जिसकी प्रतिज्ञा है कि जबतक भीष्म जिन्दा रहेंगे तबतक मैं नहीं लड़ूँगा। जब भीष्म हार जायेंगे, गिर जायेंगे तब मैं लड़ूँगा। वह कर्ण है। और भी तुम्हारे पक्षके, उनके पक्षके बड़े-बड़े योद्धा भी हैं। मैंने पहले ही इन्हें मार दिया है। 'मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः'।

अर्जुनने कहा कि जब तुमने मार ही दिया है तो वे मारे हुएको क्यों मारना? पिसे हुएको क्या पीसना।

मार दिया—अपने आप मर जायेंगे। हमको इसमें क्यों लगाते हो? बोले कि नहीं भाई—पिता, पितामह आदि भले कैसे भी मर जायें परन्तु पुत्रका तो कर्तव्य होता है कि आगमें लेजाकर उनको जलावे, अन्त्येष्टि कर्म करे। मार तो दिया है इनको हमने, लेकिन अन्त्येष्टि कर्म करनेका विभाग अब तुम्हारे सिरपर आगया है। 'मया हतांस्त्वं, जहि मा व्यथिष्ठा:'। रोओ-गाओ मत 'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्'। सिर मत पीटो, युद्ध करो। तुम जेता हो। जेता अर्जुनका महाभारतमें एक नाम है। 'जि' धातुसे तृच् प्रत्यय होकरके यह जेता शब्द बनता है। अथवा यह क्रिया पद भी हो सकता है—जेतासि। जैसे 'भवितासि' होता है वैसे एक 'जेतासि' होता है। तुम जेता हो, तुम्हारा नाम ही जेता है। तुम्हारे शत्रु सब-के-सब मर जायेंगे। मैं पक्की भविष्यवाणी करता हूँ कि तुम्हें शत्रुओंपर विजय प्राप्त होगी।

इसपर कोई टीकाकारोंने ऐसा अर्थ निकाल कि अर्जुनके मनमें जो शङ्का थी पहले कि—यदि वा नो जयेयु:' (2.6) हम जीतेंगे कि वे जीतेंगे इसका तो कुछ पता नहीं तो भगवान्ने स्वमुखसे दूर कर दिया कि जीत तुम्हारी होगी। बोले कि नहीं अब तो वह श्रीकृष्णके शरीरमें सब मरे हुआको देख चुका है तब अपनी जीतके बारेमें तो उसे शङ्का नहीं है। तो फिर 'जेतासि' कहनेका क्या अभिप्राय है? अरे भाई, देख तूने मुझे पहचान लिया। बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष जो होते हैं, उनके शरीरमें भी प्रारब्ध होता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध तो जबतक शरीर रहता है तबतक रहता ही है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 18.59

तुम्हारा तो स्वभाव है—तुम्हारे प्रारब्धमें यह बात भरी हुई है। मैं जैसे मरे हुए भीष्म, द्रोणको दिखा सकता हूँ वैसे तुम्हारा प्रारब्ध भी तो देख सकता हूँ। 'जेतासि'—आगे तुमको यह काम करना है। तुम्हें शत्रुओंको मारना पड़ेगा। 'संजय उवाच'—अब भगवान् जब चुप हो गये तो संजय धृतराष्ट्रको समझाते हैं।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमान: किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीत: प्रणम्य॥ 11.35

अर्जुनने तो हाथ जोड़ दिया, थरथर काँपने लगे। अर्जुनका एक नाम किरीटी भी है। दस नाम अर्जुनके प्रसिद्ध है। हमारे घरमें कर्मकाण्ड और ज्योतिषका काम होता था तो मैं उसको बहुत बढ़िया समझता था। हमारे पिता-पितामह सब करते थे। मैं ज्योतिषका रहस्य जानता हूँ। परन्तु उसकी पोलपट्टी भी हमको सब मालूम है। यह तो लोगोंके मनमें धैर्य नहीं होता। किरीटी भगवान्का एक नाम है। जब बैल, गाय व भैंसके पाँवमें एक बीमारी होती है, गाँवमें उसको खंगवा बोलते हैं। तो अर्जुनके दस नाम पीपलके पत्तेपर लिखकर उसको पशुके गलेमें बाँधा जाता है। उन दस नामोंमें 'अर्जुन:, फाल्गुन:, जिष्णु:, किरीटी, श्वेत-वाहन:, वीभत्सु:, विजय:, पार्थ:, सव्यसाची, धनञ्जय:'—ये सब अर्जुनके नाम हैं। किरीटी माने जो किरीट धारण किये हुए हो उसका किरीटी नाम होता है।

उसने ज्यों केशवका वचन सुना तो 'कृताञ्जलिर्वेपमान:'। हाथ उसके जुड़ गये। बाबा, जो कहो सो

करनेको तैयार हूँ। देखो कहीं कोई गलती न हो जाय। थरथर काँपने लगा। संस्कृत भाषामें—महाभारतके उद्योग पर्वमें—तो लिखा है कि चूँकि कृष्णके शरीरमें-से रश्मियाँ निकलती हैं;बड़ी तेजस्विनी रश्मियाँ, किरणें निकलती हैं—इसलिए उनका नाम 'केशव' है। केशव शब्दका दूसरा अर्थ है—अर्जुनके केश भी बड़े सुन्दर हैं और श्रीकृष्णके केश भी बड़े सुन्दर हैं। 'प्रशस्ताः केशा अस्य इति केशवः'। इसका दूसरा अर्थ भी है—क, अ और ईश तीनोंका जो प्रशासन करे—ब्रह्मा, विष्णु, महेशके प्रशासक केशव।

उनके सामने तो हाथ जुड़ गया और नमस्कार करके फिरसे उसने श्रीकृष्णसे कहा—वाणी उसकी गद्‌गद् हो गयी थी और 'भीतभीतः' डरा-डरा-सा, डरे हुएसे भी ज्यादा डरा 'भीतादपि-भीताः'—जो श्रीकृष्णके इस स्वरूपमें लोग डरे-डरे लग रहे थे, उनसे भी अधिक डरा हुआ अर्जुन प्रणाम करके बोला—'अर्जुन उवाच'—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च। 11.36

इस स्तुतिको बतानेके लिए मैंने अबतक जल्दी की। स्तुति और भगवान्‌के वचन 11वें अध्यायके सार-सार हैं।

हे हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति इति स्थाने,
अनुरज्यते च त्वयि इति स्थाने,
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति इति स्थाने,
सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति इति च स्थाने।

अरे सब ठीक-ठीक हो रहा है। तुम्हारा कीर्तन करनेसे जगत्‌में आनन्दका सञ्चार होता है। वह बिलकुल उचित है। संसारके सब लोग तुमसे प्रेम करते हैं। तुमको देखकर राक्षस लोग भाग जाते हैं। यह भी बिलकुल ठीक है। और बड़े-बड़े सिद्ध लोग तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करते हैं, यह भी ठीक है। आज मैंने देख लिया, ये बड़े-बड़े लोग जो तुम्हारे सम्बन्धमें व्यवहार करते हैं, वह सर्वथा उचित है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

(24-11-82)

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद् गीते भवद्वेषिणीम्।

वर्णमयी माँ अम्बा शब्दका अर्थ होता है। वर्णमयी माँ—साक्षात् परावाक् जगत्की जननी—यह वर्णमयी माँ है। बस, नये-नये नाम रखते जाते हैं, वस्तु एक ही है। नामसे ही सृष्टिका विस्तार हुआ है। रूपका हेतु भी नाम ही है। वैसे श्रुतिमें नाम और रूप दोनों एक कक्षाके माने जाते हैं। एक ही वस्तुकी व्याकृति है—नाम और रूप। 'नामरूपे व्याकरवाणि'। (छान्दोग्य 6.3.2)। जगत् जननी जगदम्बा परावाक् भगवती गीता शब्दमयी है। इसमें अब अर्जुनकी वाणी बोलते हैं। बोलनेके पहले उसने हाथ जोड़कर श्रीकृष्णको नमस्कार किया। वाणी गद्गद हो रही थी। पुन: प्रणाम किया।

भगवान्को नमस्कार करके तब अर्जुनने यह बात कही है। 'नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीत: प्रणम्य। प्रणामका अर्थ है—नम्र हो गया है। नम्र हो गया माने अभिमान टूट गया। विश्वरूपको देखनेपर अपने शरीरमें जो मैंपनेका अभिमान है, यह टूट जाता है। वैसे लौकिक बात है कि यदि अपने धनका, विद्याका या सुन्दरताका या शरीरकी शक्तिका अभिमान हो तो अपने-से बड़ेको देखना चाहिए। बड़ेको देखोगे तो अपना अभिमान कम हो जावेगा और यदि गरीबी सता रही हो तो अपनेसे गरीबको देखना चाहिए। जब अपनेसे भी गरीबको देखेंगे तो अपनी गरीबीका दु:ख कम हो जाता है। अपनेसे बड़ेको देखना—यह अभिमानको कम करनेवाली वस्तु है।

अर्जुन बोले—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघा:॥ 11

पहले एक बात सुना दूँ। यह जो श्लोक है यह विष्णुपञ्जर नामके ग्रन्थमें मन्त्रके रूपमें उल्लिखित है। 'स्थाने हृषीकेश' यह एक मन्त्र है। जब किसी भी प्रकारका मनुष्यके जीवनमें भय हो तो इसका पाठ करना चाहिए। भूतका भय, प्रेतका भय, चोरका भय, शत्रुका भय, रोगका भय—सभी प्रकारके भयोंको मिटानेके लिए इसका उपयोग होता है। किस काममें कैसे इसका उपयोग करना चाहिए? मन्त्रसार-सुधानिधि नामक संस्कृत ग्रन्थमें इसका प्रयोग बताया हुआ है कि कैसा भय उपस्थित होनेपर इसका कैसे प्रयोग करना चाहिए।

‘स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च’। हे हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति इति स्थाने’। ‘युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने’। (अमरकोश 3.4.11)। यह ‘स्थाने’ एक अव्यय शब्द है, हर विभक्तिमें ज्यों-का-त्यों रहता है और इसका अर्थ होता है—‘युक्तं साम्प्रतं’। समयके अनुसार है और ‘युक्त’ माने सुसङ्गत है, युक्तियुक्त है। स्थाने सप्तमीका एक-वचन नहीं है—अव्यय है। अथवा ‘हे स्थाने हृषीकेश’—बिलकुल सच्ची बात है कृष्ण, क्या कि आप इन्द्रियोंके स्वामी हो? हृषीकाणि इन्द्रियाणि तेषामीश: हृषीकेश:, इसके सम्बोधनमें होता है—हृषीकेश—आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं। आपकी वजहसे हमारे हाथ,पाँव, जीभ चलते हैं।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥ भाग० 4.9.6

यदि भगवान् हमारे भीतर बैठे हुए न हों, अन्तर्यामी न हों तो हमारी जीभ बोल भी नहीं सकती है। भगवान् भीतर हैं, इसीलिए हमारे हाथ काम करते हैं। हमारे पाँव काम करते हैं। उस पावर-हाउससे हमारे हृदयके वल्बका ऐसा कनेक्शन है कि उस कनेक्शनकी वजहसे ही हृदयमें रोशनी होती है और वह सब इन्द्रियोंके द्वारा बाहर निकलती हैं। और सब इन्द्रियाँ उसीसे सञ्चालित होती है। यह बहुत ही सङ्गत है, इसके बिना किसी वल्बमें रोशनी कैसे आती है?

अच्छा, तो यह सम्बन्ध है। यह उजागर कैसे होता है? उसके लिए कहते हैं—‘तव प्रकीर्त्या’—भगवान्का कीर्तन किया जाय। प्रकृष्ट कीर्तन—भगवान्का नाम लेकर ही जगत्में आनन्द है। उसीसे अनुराग, प्रेमकी वृद्धि हो जाती है।

यहाँ दूसरी बात अर्जुनके मनमें यह है कि आपने यह जो हमें विश्वरूप दिखाया है, इससे आपकी कीर्तिका विस्तार हुआ है। भगवान् भक्तवत्सल हैं। भक्तकी इच्छा मान करके उसके रथके सारथि बनते हैं, माने जीवनमें दिशा देते हैं। सारथि बननेका अर्थ है कि भगवान् बता देते हैं कि जहाँसे दो-तीन-चार रास्ते फूट रहे हैं, वहाँसे तुमको किस रास्तेसे चलना चाहिए। अन्तर्यामी प्रेरणा देते हैं। प्रेरणा भगवान्से प्राप्त होती है। आपकी कीर्ति बढ़ी। क्या कीर्ति बढ़ी? कि हमारे सारथि बने। लोग कहेंगे भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं—अपने भक्तका पक्ष लेते हैं तो आपकी भक्ति करेंगे। भक्तिका सम्प्रदाय बढ़ेगा। दूसरे मेरी इच्छा पूरी करनेके लिए आपने अपना विश्वरूप प्रकट कर दिया। यशोदा मैय्याने विश्वरूप देखा था तो उनके मनमें देखनेकी कोई इच्छा नहीं थी। कौरवोंने देखा था तो उनके मनमें भी कोई इच्छा नहीं थी। धृतराष्ट्रने कौरवोंकी सभामें देखा था। उत्तङ्कने देखा तो उनके मनमें भी कोई इच्छा नहीं थी। उत्तङ्कने भगवान्को धमकाया कि तुमने महाभारत युद्ध कराकर देशका सत्यानाश कर दिया तब भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया। उत्तङ्क, तुम मुझे क्या शाप देना चाहते हो? तुम तो मेरे शरीरमें एक कीटाणुके बराबर भी नहीं हो!

परन्तु अर्जुनको जो भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया वह 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम् पुरुपोत्तम'। मैंने इच्छा प्रकट की और मेरी इच्छासे तुमने यह विश्वरूप दिखाया जो स्वयं अपनी इच्छासे कभी-कभी प्रकट किया करते हो। इससे तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी। और इस कीर्तिकी वृद्धिसे क्या होगा कि आगे भी जो जगत्में होगे उनको आनन्द होगा। भगवान् कभी हमारी इच्छा भी पूरी करेंगे। 'प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति'।

संसारमें हर्ष और अनुराग दोनों बाहरसे आते हैं। किसीके बेटा हुआ, बड़ा हर्ष हुआ—प्रशंसा हुई, वड़ा हर्ष हुआ। जो सुख पहुँचाता है उससे अनुराग होता है। लेकिन यहाँ तो अद्भुत हुआ, भगवान्के सम्बन्धसे हर्ष और भगवान्के सम्बन्धसे अनुराग—'जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।' आप अपनेको तौल सकते हैं। आपके घरमें पाँच रुपया आजाय तो आपको उससे हर्ष होता है या आप पाँच बार भगवान्का नाम लेते हैं उससे हर्ष होता है।

यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि हम अपने मुखसे भगवान्का नाम ले सकें।

नाम चिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वात् नामनामिनोः॥

भगवत्-सन्दर्भधृत पद्मपुराण, पृ०103

यह जो भगवान्का नाम है यह तो चिन्तामणि है। साक्षात् भगवत्-स्वरूप है। यह चैतन्यरस-विग्रह है। 'अभिन्नत्वात् नाम-नामिनोः'—नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्का नाम मुखपर आजाय, उनका प्रकीर्तन हो जाय। 'हरे! नारायण!'— इससे केवल लेनेवालेको ही हर्ष हो यह बात नहीं है। इसकी ध्वनि जो संसारमें फैलती है वह उसे आनन्दसे भर देती है। 'जगत्प्रहृष्यति, अनुरज्यते च'। अनुरज्यते माने अनुरागसे भरपूर हो जाता है। भगवान्का प्रेम हमारे मनमें आवे इसके लिए भगवान्की कीर्ति जो है, प्रकीर्ति—प्रकृष्ट कीर्ति, उत्तम कीर्ति—वही मुख्य हेतु है। यह तो आपके ध्यानमें होगा ही कि श्रीकृष्णकी माताका नाम है—यशोदा और राधारानीके माताका नाम है—कीर्तिदा। कीर्ति और यश। जो कीर्तिदान करे वह कीर्तिदा उससे राधा माने आराधनाकी उत्पत्ति होती है हृदयमें और जो यशदान करे वह यशोदा।

यशोदासे श्रीकृष्णकी उत्पत्ति होती है हृदयमें। यह कीर्तिदा और यशोदा एक ही चीजके नाम हैं। बतायें, है तो गुप्त बात—बता देते हैं! यशोदा और कीर्तिदा दोनों कथाके नाम हैं। भगवान्की जो कथा है यही कीर्तिदा है और यही यशोदा है। इसीसे आराधना-रूपी राधिका और इसीसे परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण—ये अपने हृदयमें उत्पन्न होते हैं। दोनोंका अनादि नित्य सम्बन्ध है, दोनोंका अनादि नित्य सम्बन्ध है, दोनोंकी माँ कथा है। ये शब्दमयी गीता जगज्जननी, जगदम्बा है। 'जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च'—प्रहर्षरूप श्रीकृष्ण और अनुरागरूपा श्रीराधा ये दोनों जगत्में भगवान्की प्रकीर्तिसे आते हैं।

'जगत्प्रहृष्यति स्थाने इति स्थाने युक्तम्'। 'जगत् अनुरज्यते इत्यपि युक्तम्'। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति'। विघ्न डालनेवाले बहुत हैं। जो भगवत-भजनमें विघ्न डालनेवाले हैं, उनके लिए इस शब्दका प्रयोग सर्वोत्तम है। ये न देवता हैं न दैत्य हैं न मनुष्य हैं—ये तो राक्षस हैं। भगवद्भजनमें जो विघ्न डाले वह राक्षस।

जब भगवान्के नामका कीर्तन, कथाका कीर्तन, गुणका कीर्तन होने लगता है तो राक्षस लोग भयभीत होकर भाग जाते हैं। 'दिशो द्रवन्ति'। अरे बाबा यहाँ तो गुञ्जाइश नहीं है।

एक बार मैंने ऐसा देखा—एक बहुत बड़ा आयोजन, एक प्रकारसे मेला था। लाखों आदमी उसमें आते थे। श्री उड़िया बाबाजी महाराज थे। करपात्रीजीके गुरु थे—विश्वेश्वरानन्दजी। वे भी आये हुए थे। उसमें आवागढ़के राजा थे, वे 60-70 बालकोंको लेकर बैण्ड बाजेके साथ 'राम-हरे सुखधाम-हरे' गाते हुए आये। सो एक वेदान्ती सज्जन वहाँ बैठे थे, वे उठकर बड़े जोरसे भागे। बोले संसार आया—द्वैत आया, द्वैत आगया। सब लोग भगवान्के नामको सह भी नहीं सकते हैं। जिनका हृदय कठोर हो गया है—'यस्तु प्रकृत्या अश्मसमान एव'। पत्थरका दिल जिसका हो गया है अथवा—'कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः' दिन भर व्याकरण रटते-रटते जिसका दिल बिगड़ गया है।

ये लोग भगवान्का नाम सहन नहीं कर सकते। इनसे सुना नहीं जाता। हमारे यहाँ प्रातःकाल आरती होती है और शंख बजाते हैं—जब महादेवजीके मन्दिरमें और नृत्यगोपालके मन्दिरमें दोनों ओर शंख बजाते हैं तब कुत्तोंको शंखध्वनि सहन नहीं होती है। वे स्वयं बड़े जोरसे चिल्लाने लगते हैं। भगवान्का नाम सब नहीं सह सकते। 'दिशो द्रवन्ति—युक्तम्' ठीक है, उनको भाग जाना चाहिए। उनका भागना ही युक्त है। हमारा अभिप्राय जो सच्चे वेदान्ती हैं उनसे नहीं है। सच्चे वेदान्तीका तो अपना आत्मा ही भगवान् है। वह तो अपनी कीर्ति, अपना नाम, अपना यश सुनते हैं और परमानन्दमें मग्न होते हैं। ये जो अधूरे हैं, कच्चे हैं, बच्चे हैं, उन्हींको द्वैतसे दुश्मनी होती है—द्वैत तो हमारा स्वरूप है। 'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।' कपिल आदि जो बड़े-बड़े सिद्ध हैं वे संघबद्ध होकर आरहे हैं और आपको नमस्कार कर रहे हैं। 'नमस्यन्ति च'।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

आजकल कोई पाणिनि व्याकरणका विद्वान् हो तो कहेगा 'नमेरन्' नहीं चाहिए, 'नमेयुः' चाहिए। परस्मैपदी प्रयोग होना चाहिए, आत्मनेपदी प्रयोग नहीं होना चाहिए। परन्तु वह तो लौकिक विषय है; यह तो वैदिक विषय है। 'कस्माच्च ते'—ते का अर्थ वे। आपको=क्यों न नमस्कार करें—ऐसे नहीं बोलते हैं—'ते तुभ्यं न नमेरन्' ऐसे बोलते हैं। और वैसे तो ऐसी भी युक्ति है कि चाहे तो ऐसे भी कर दें—वे आपको भला क्यों नमस्कार नहीं करेंगे? 'नम इव आचरन्ति इति नमन्ते'—एक विशेष प्रत्ययसे यह रूप बन सकता है। 'नमेरन् महात्मन्'—महात्मा आपका स्वरूप बहुत बड़ा है। बड़प्पनको भगवान् कैसे प्रकट करते हैं।

'गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'। गुरुसे भी गुरु हैं भगवान्। यह योगदर्शनमें आया है—स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (1.) यह परमेश्वर ये जितने गुरु हुए हैं, पहलेके पहले, उनका भी गुरु है। उनको भी ज्ञान इसीने दिया है। जैसे पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, तो पुत्रकी उत्पत्तिका कारण भी पिता है और उसको वही सिखाता है—शिक्षा भी वही देता है तो जिसने यह सृष्टि बनायी है वही शिक्षाका आदि गुरु है। और किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं है। हमेशा रहता है। 'अतिशयेन गुरुर्गरीयान्' तस्मै गरीयसे। अतिशय गुरु है। उससे

वड़ा और कोई गुरु नहीं है। असली गुरु तो सबका परमेश्वर ही है। 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'। एक ब्रह्मा नहीं होते—बहुत सारे ब्रह्मा होते हैं।

गर्गसंहितामें एक कथा है कि जब पृथिवीपर बहुत उत्पात हुआ तो ब्रह्मा-इन्द्र-शंकर सब-के-सब गोलोकमें गये। गोलोकमें महिलाओंकी प्रधानता है। वहाँ श्रीराधारानीका राज्य है और वहाँ मन्त्री भी महिला, दीवान भी महिला—क्लर्क भी महिला, चपरासी भी महिला—सब वहाँ महिला ही महिला हैं। वहाँ महिलाओंका राज्य है। और वे वड़े बलवानोंसे भी बलवान होती हैं। जब ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र सब गोलोकके द्वारपर पहुँचे तो वहाँ चन्द्रानना नामकी एक सखी देख-रेख कर रही थी। वही वेत्र-धारिणी थी। इन्द्रने बताया ये ब्रह्माजी हैं और ब्रह्माजीने बताया ये इन्द्र हैं। परस्पर एक दूसरेका परिचय देने लगे। क्योंकि—दूसरा तो कोई परिचय देनेवाला था नहीं।

तो उस सखीने पूछा तुम लोग बार-बार ब्रह्मा-ब्रह्मा बोलते हो, इन्द्र-इन्द्र बोलते हो! यहाँ तो दिनभरमें सैकड़ो ब्रह्मा आते हैं, सैकड़ों इन्द्र आते हैं—भगवान्के दर्शन करनेके लिए। तुम लोग यह तो बताओ कि किस गाँवके ब्रह्मा हो? किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हो? अब तो इन्द्रको भी मालूम नहीं कि किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं। उस सखीकी ओर टुकुर-टुकुर देखने लगे कि यह क्या पूछती है? ब्रह्माजीने बताया कि हम उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं जिसमें वामनावतार हुआ था—और जब वे त्रिविकम हुए तो—उनके पदनखसे निर्भिन्न होकर ब्रह्माण्डका शिरोभाग टूट गया था और उससे गङ्गाजीकी धारा प्रकट हुई थी। हम उस ब्रह्माण्डसे आये हैं।

तो एक ब्रह्मा नहीं, करोड़ों ब्रह्मा जिनसे प्रकट होते हैं, उनको आदि बनानेवाले ये भगवान् हैं। 'अनन्त देवेश जगन्निवास—त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'। हे अनन्त-अनन्त! माने विभागशून्य। अनन्त माने जिसके बढ़नेकी भी गुंजाइश न हो और जिसके टुकड़े करनेकी भी गुंजाइश न हो, उसको बोलते हैं अनन्त। अनन्त बटे दो नहीं होता है। और अनन्त-अनन्त दो भी नहीं होता है। अनन्त माने बहुत्व नहीं। जिसका ओर-छोर, आदि-अन्त न हो उसको अनन्त कहते हैं। न कालमें आदि अन्त हो—न देशमें आदि अन्त हो—उसको अनन्त कहते हैं। अनन्तको समझनेकी जो कोशिश करेगा वह कालमें जहाँ भूत प्रारम्भ होता है, वहाँ भी अन्त नहीं है और वर्तमानमें तो है ही है। जहाँ पूर्व प्रारम्भ होता है वहाँ भी अन्त नहीं है—जहाँ पश्चिम समाप्त होता है वहाँ भी अन्त नहीं है।

अनन्त शब्दका अर्थ यदि समझना होगा तो जानना होगा कि देश-काल क्या होते हैं और कैसे वे अन्त करते हैं—वस्तुमें जो घड़ा है, वह कपड़ा नहीं। जो कपड़ा है सो घड़ा नहीं—दोनोंका अन्त मिलता है। लेकिन परमात्मा वह है जो देश, काल, वस्तुमें कहीं भी जिसका अन्त नहीं होता है, वह अनन्त है। और ये सब देवता हैं! देवता दो तरहके होते हैं एकको कहते हैं—'आजान-देवता' और दूसरेको कहते हैं 'कर्मदेवता'। भाई मेरे; शास्त्रोंको समझनेके लिए यह सब जरूरी होता है। ये सूर्य हैं—ये आजान देवता हैं। वायु हैं—ये आजान देवता हैं। आजान देवता माने जन्मसे देवता, इनको देवता होनेके लिए कुछ कर्म नहों करना पड़ता है।

अजानत एवोत्पत्तित एव ये देवास्त आजानदेवाः।

ऐसा शंकराचार्यने कहा है—(बृहदा० 4.3.33 भाष्य)।

पाँच भूतोंका रस इकट्ठा हुआ और वह सूर्यके रूपमें परिणत हो गया। सूर्यमें सब देवोंका सामर्थ्य है। फूलोंमें वे सुगन्ध देते हैं और जलकी वर्षा भी करते हैं सूर्य ही। लोगोंमें चमक भी देते हैं सूर्य ही। शरीरमें ऊष्मा देते हैं सूर्य ही। ये प्राण जो बाहर निकलकर लौट आते हैं वह भी सूर्यकी शक्तिसे सम्भव है। ये जो हमारे शब्द हैं, वे सूर्यकी किरणोंमें जो गति है, वायु है, उसपर आरूढ़ हो करके आकाशमें यात्रा करते हैं। ये सूर्य आजान देवता हैं। वायु, अग्नि आजान देवता हैं लेकिन इन्द्र देवता नहीं हैं। वह कर्म देवता है। उसने पहले बहुतसे यज्ञ किये—यज्ञ करके वह इन्द्र हो गया।

देवता भी अनेक प्रकारके होते हैं। 'देवानां गुणलिङ्गानाम्' (भागवत 3.25.32) ये हमारे सामने विषयोंको प्रकाशित करते हैं। सूर्य न हो तो तरह-तरहके रूप हमको दिखायी नहीं पड़ेंगे और अग्नि न हो तो तरह-तरहके रस भी खानेको नहीं मिलेंगे। ये जो खट्टा, मीठा और भिन्न-भिन्न प्रकारके रसोंका परिपाक है, यह सूर्य और अग्निके बिना, तेजस् तत्त्वके बिना नहीं हो सकता। इन सम्पूर्ण देवताओंके एक स्वामी हैं भगवान्। एक जगत् नहीं हजार-हजार जगत् जिसमें निवास करते हैं। जैसे रज्जुमें मालाकी, सर्पकी अनेक कल्पनाएँ होती हैं वैसे ही जिस अधिष्टान-स्वरूप परमात्मामें अनेक-अनेक जगत्की कल्पना होती है—सम्पूर्ण जगत्के निवास वही हैं।

'त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्'। वहीं भगवान् अक्षर हैं। 'अश्नुते इति अक्षरम्'—महाभाष्यमें अक्षर शब्दका अर्थ दिया हुआ है—'अश्नुते व्याप्नोति'—जो सब लिपियोंमें और सब भाषाओंमें है, जिसके बिना कोई पद बन नहीं सकता; जैसे राम एक पद है, कृष्ण एक पद है—यदि उसमें र अ म ये अक्षर न हों तो राम पद कैसे बनेगा? जितने पद बनते हैं वे सब अक्षरसे बनते हैं। लिपियाँ जितनी बनती हैं, सब अक्षरोंको प्रकट करनेके लिए बनती हैं। और जितने वाक्य बनते हैं ये सब पदोंसे बनते हैं। तो अक्षरोंसे पद और पदोंसे वाक्य और वाक्य पढ़कर-सुनकर हम किसी अर्थको बताते हैं या ग्रहण करते हैं। तो वह अक्षर तत्त्व जो है सर्व व्यापी है, सर्व लिपियोंमें, सर्व पदोंमें, सर्व वाक्योंमें, सर्व वस्तुओंमें व्याप्त है। वह अक्षर कौन है? वह यही परमेश्वर हमारे भगवान् हैं।

'सदसत्तत्परं यत्'—जो अस्ति पद, जिसको हम बोलते हैं और जिसको बोलते हैं नहीं हैं। अद्भुत बात है। हम कहते हैं कि नहीं है परन्तु उसमें भी है बोलते हैं। बिना है के नहीं होता नहीं। लोग कहेंगे यह सब विस्तार करनेका क्या प्रयोजन है—लेकिन अभावमें भी सद्बुद्धि होती है। अभावका शास्त्रके अनुसार एक प्रतियोगी होता है। जिसका अभाव होता है उसे प्रतियोगी कहा जाता है। जैसे, हम कहते हैं, यहाँ घड़ा नहीं है, तो इस 'नहीं है' का प्रतियोगी कौन है? घड़ा! कोई भी अभाव बिना सद्बुद्धिके हो ही नहीं सकता। किसका अभाव? जब सत् होगा तब सत्के अभावका बोध होगा। इसलिए सद्बुद्धि भी है और असद्बुद्धि भी बुद्धि है। दोनोंमें ज्ञान है—भावका भी ज्ञान होता है—अभावका भी ज्ञान होता है। इसलिए कोई अभाव ऐसा नहीं होता है

जिसमें ज्ञान न हो—अभावका भी ज्ञान होता है। वस्तुका भावाभाव हो सकता है। परन्तु ज्ञानका भावाभाव नहीं हो सकता। वह सत्में भी है और असत्में भी है। वह अस्तिमें भी है और नास्तिमें भी अनुगत है। जो कुछ है; बस यही है। यह बात विलक्षण है।

दूसरे मजहबोंमें जो भगवान् माने जाते हैं वे निराकार होते हैं या साकार होते हैं और यह जो सब मजहबोंसे परे जो भगवान्का सच्चा रूप है, उसमें 'अमृतं चैव, मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' कौन ऐसा मजहब है जो मौतको भगवान् मानता हो? आपलोग ढूँढ़कर बताओ। हम गीतामें स्पष्ट पढ़ते हैं। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।' मैं अमृत हूँ मैं मृत्यु हूँ। अच्छा, दुनियाके कौन भगवान् हैं जो यह हिम्मत करके बोल दें। भगवानोंकी हिम्मत टूट जाती है कि मैं असत् हूँ—यह कह दे! सद्सच्चाहमर्जुन—मैं ही सत् हूँ और मैं ही असत् हूँ। दुनियामें जो अच्छा है वह भी मैं—बोले यह सत्पुरुष है, महात्मा है, वसिष्ठ हैं। विश्वमित्र हैं। भगवान् बोले मैं हूँ। बोले महाराज यह रावण है, यह कुम्भकर्ण है—अब दूसरे भगवान् होते तो डर जाते—कहेंगे नहीं, नहीं मैं रावण-कुम्भकर्ण नहीं हूँ। और ये छाती ठोंककर सामने बोलनेवाले हैं—मैं ही रावण हूँ; मैं ही कुम्भकर्ण हूँ। हनुमानजीने कह दिया—*'जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि। तासु दूत हौं'*—तुम्हारे अन्दर रहकर जो तुमको शक्ति दे रहा है, तुमको बल दे रहा है। अच्छेके रूपमें, बुरेके रूपमें—वह भगवान् है।

एक बात है। जो भजनीय भगवान् होते हैं, वे भजनीय भगवान् अच्छे-ही-अच्छे होते हैं और जो ज्ञेय भगवान् होते हैं, वे अच्छे-बुरे दोनों होते हैं। हमको जिनको जानना है, पहलेसे ही हम निश्चय कर लेंगे कि हम अच्छे होंगे तो जानेंगे, बुरे होंगे तो जानेंगे। जहर होगा तो जानेंगे, अमृत होगा तो जानेंगे। हमको तो सत्यका ज्ञान प्राप्त करना है।

अच्छा भाई, हम जिनकी सेवा करें वह अच्छा होना चाहिए और जिससे परहेज करें वह बुरा होना चाहिए लेकिन जो सच्ची चीज है वह क्या है? अच्छाई और बुराई। मौतमें अगले जन्मकी कारणता होती है। और जन्ममें भी मृत्युकी कारणता होती है। दुनियामें जिसको हम बहुत अच्छा देखते हैं, आगे चलकर वह हमें बहुत दुःख देता है। जिसको बहुत बुरा देखते हैं, उसमें-से सुख निकल आता है। जो वर्तमानमें बहुत भयंकर दिखता है वह भविष्यके लिए सुख देनेवाला हो जाता है और जो वर्तमानमें बहुत सुखकारक है, वह भविष्यमें बहुत रुलानेवाला हो जाता है। यह संसारका नियम है, इसको कोई काट नहीं सकता।

हमारे गाँवमें एक बड़े-बूढ़े थे वे ऐसे बोलते थे। 'सराहो मत सराहो मत निन्दना पड़ेगा—निन्दो मत निन्दो मत—सराहना पड़ेगा।' दुनियामें किस बुराईमें-से अच्छाई निकलेगी और किस बुराईमें-से अच्छाई निकलेगी, पहलेसे ही यह कैसे बताया जा सकता है।

गोबरमें-से बिजलीकी रोशनी निकल आती है—देखो क्या आश्चर्य है? और बिजली घरमें आग लगा देती है। दुनियामें सब जगह परमात्माको देखना—कहो कि अच्छा-बुरा बस यही भगवान् है, नहीं—'तत्परं यत्' इन दोनोंका परम्—'तत्परम्'। जिसको अच्छाई-बुराई कभी स्पर्श नहीं करती। दोनोंसे जो विलक्षण

है,'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'। मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ—ठीक है, बहुत बढ़िया-महाराज, अच्छा बताया। देखो मैं सत् हूँ—सत्राजित्‌की स्यमन्तक मणि खो गयी थी तो इतनी खोज की, इतनी खोज की कि जाकर जाम्बवान्‌से लड़ाई करके निकालकर ले आये। यह सत्पुरुषका काम है। कलंक नहीं लगने दिया। मैं असत् भी हूँ—कैसे? गोपियोंके घरमें मैंने माखनकी चोरी की। गोपियोंसे छेड़छाड़ की थी। मैयाके पूछनेपर बोल दिया मैंने माटी नहीं खायी है और जरासंधके सामनेसे युद्धमें भाग गया। ये भगवान्‌के सब रूप हैं। मत्स्य, कच्छप, वराह—सत्-असत् वही हैं। असलमें वे दोनोंसे विलक्षण हैं। 'तत्परं यत्' जो भी उसके परे है वह भगवान्‌का स्वरूप है। 13 वें अध्यायमें आप पढ़ेंगे 'न सत्तन्नासदुच्यते' (13.12)। न का अन्वय 'उच्यते' इस क्रियापदके साथ है। न उसको सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ 11.38

'त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः'—तुम आदिदेव हो—स्पष्टरूपसे अपने शरीरमें देखो आपकी आदि कहाँ है? कानकी आदि कहाँ है? जीभकी आदि कहाँ है? जीभमें रसज्ञानकी शक्ति, कानमें शब्द-ज्ञानकी शक्ति, आँखमें रूपज्ञानकी शक्ति कहाँसे आती है? एक ही जगह है, वहींसे ये बिजलीके तार फैलते हैं। आँखमें आकर रोशनी कर दी। कानमें आकर सुना दिया, जीभमें आकर स्वाद ले लिया, हाथको हिला दिया, पाँवको चला दिया।

'त्वमादिदेवः' ये सब इन्द्रियरूप जो देवता हैं, विषयोंके प्रकाशक इनके आदि भगवान् हैं। यह तो हुआ पिण्डमें; इसी प्रकार ब्रह्माण्डमें—सबके प्रकाशक हैं भगवान् 'आदिदेव'—अधिदेवके भी प्रकाशक हैं। अध्यात्मके भी प्रकाशक हैं और अधिभूतके भी प्रकाशक हैं—इनको बोलेंगे आदिदेव। 'त्वमादिदेवः पुरुषः'—रहते कहाँ हैं? अता-पता क्या है? 'पुरि शयनात् पुरुषः'—सबके हृदयमें भगवान् रहते हैं। पुरुष शब्दका अर्थ होता है 'पूर्षु शेते' यह जो अलग-अलग पुरी बनी है 'नवद्वारे पुरे देही' यह जो नौ दरवाजेवाली नगरी है, इस नगरीमें एक हृदयरूप पलंग बिछा है—उस पलंगपर सबके घरमें रहते हैं? भगवान्‌ने अपने लिए कोई घर नहीं बनाया। सबके घरमें एक साथ! बोले किसके घरमें रहें, किसके घरमें न रहे? मच्छरके हृदयमें भी रहते हैं, चींटीके हृदयमें भी रहते हैं। यहाँतक कि वृक्ष आदि हैं, जो कण-कण हैं, इनमें भी रहते हैं।

एक बार मैंने कल्पना की कि मेरा अंगूठा कट गया। कटके अलग हो गया। उसमें चेतना नहीं रही। चेतनावाला मैं तो शरीरके रूपमें रह गया। अब अँगूठेमें चेतना नहीं रही। एक कल्पना हुई कि अब यह सट जायेगा तो इसमें कीड़े पड़ेगे। तो वे कीड़े जो हजारों लाखों अलग-अलग होंगे अभी उसमें खून है, खूनमें कीड़े हैं सो—सड़ जानेके बाद कीड़े बढ़ेंगे सो—उनमें चेतना कहाँसे आवेगी? अरे भाई, चेतन जो मूल तत्त्व है वह पैदा नहीं होता है। जो होता है वही पैदा होता है। जो नहीं होता है वह पैदा होता ही नहीं। कीड़ेमें चेतना कहाँसे आयेगी? सारी सृष्टि चिन्मयी है—चेतन रूप ही है। 'पुरुषः पुराणः', पुराणः पुरापि नव इव'—जब

इसको देखोगे नया-नया मालूम होगा। पहले भी नया, आज भी नया, आगे भी नया। नित्य-नूतन, चिर सुन्दर, चिर सुकुमार। पुराण माने बुड्ढा नहीं—पुराण माने नित्य नूतन।

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

यह दुनिया रखी कहाँ जाती है? पहले तो बताया कि आदि देव हैं। पुरुष हैं—सबमें रहते हैं। और नित्य-नूतन हैं—और इतना ही नहीं—सृष्टिके कर्ता भी हैं, निर्वाहक भी हैं और सृष्टिके निधान माने खजाने भी हैं। जैसे जेवर पहनते हैं और फिर उसे तिजोरीमें रख देते हैं। यह जो सम्पूर्ण विश्वरूप आभूषण है, इनको रखनेकी तिजोरी कौन-सी है? लाकर कौन-सा है? आभूषण बनवाते हैं—कंगन बना, हार बना, कुण्डल बना—डिजाइन बदली फिर हर साल या सालमें दो वार स्त्रियाँ बदल सकती हैं तो बदल लेती हैं—उसको गलवा देती हैं फिर दूसरे ढंगका बनवा लेती हैं। भले इसमें स्वर्णका संहार हो जाय। लेकिन उनको नयी डिजाइन चाहिए। गलनेके बाद जेवर किसमें होते हैं, वही उनका खजाना है। स्वर्ण है। ऐसे ही यह सारी दुनिया जो दीख रही है, यह गलनेके बाद, मिटनेके बाद, गढ़नेके बाद जिस रूपमें जाकर समा जाती है, उसका नाम—निधान! यही तुम हो।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।

जाननेवाले तुम हो—वेत्ता माने जाननेवाले। 'वेत्तासि'—विद् धातुसे तृच् प्रत्यय करके यह शब्द बनता है। जानेवाले तुम हो। 'वेद्यं च', जो जाना जाता है सो भी तुम हो। दुनियामें जो मजहबी ईश्वर होता है वह जाननेवाला तो होता है पर जाना जानेवाला जो विश्व है उससे निराला होता है। हमारे ब्रह्मसमाजी भाई, आर्यसमाजी भाई, मुसलमान भाई, ईसाई भाई ये ईश्वरको दुनिया बनानेवाला तो मानते हैं पर बनी हुई दुनियाके रूपमें नहीं मानते हैं। जाननेवाला तो मानते हैं पर जाने जानेवाली जो दुनिया है उसको ईश्वरका रूप नहीं मानते। इसको हमारे दर्शन-शास्त्रमें अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। आप तेरहवें अध्यायमें पढ़ लें—परमात्माका क्या स्वरूप है।

चरं च अचरमेव च।

वह ब्रह्म क्या है? जो चलने-फिरनेवाली चिड़िया, मनुष्य, पशु, कीड़ा,मकोड़ा जो चलनेवाला है सो 'चर' वही है और 'अचरमेव च' यह जो पहाड़ है, धरती है, पेड़-पौधे हैं, वह भी वही है। जब इस बातको जान लोगे तब तुम्हें आँख बन्द कर-कर ध्यान करनेकी जरूरत नहीं रहेगी। क्योंकि खुली आँखसे ईश्वर दिख रहा है। तब वैकुण्ठ जानेकी जरूरत नहीं रहेगी तब समाधि लगाकर उसके पास जानेकी जरूरत नहीं रहेगी। वेत्ता भी वही है, वेद्य भी वही है। 'जहँ-जहँ डोलूँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा'। जंगलमें भेजनेके लिए नहीं है हमारा ज्ञान और गुफामें कैद करनेके लिए नहीं है हमारा ज्ञान। हम व्यवहारमें जिससे बोलते हैं वह भी परमात्माका स्वरूप है, जिससे हँसते हैं वह भी परमात्माका स्वरूप है। छूनेवाला भी वही है और जो छूया जाता है वह भी वही है।

'वेत्तासि' माने जाननेवाला। उसको संस्कृतमें ऐसे बोलेंगे श्रोता, स्पृष्टा, दृष्टा, रसयिता, घ्राता

परमात्मा है। ठीक है परन्तु श्रव्य भी परमात्मा है। स्पृश्य भी परमात्मा है, दृश्य भी परमात्मा है, रस्य भी परमात्मा है और घ्रेय भी परमात्मा है। वही विषयी है—'वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम' स्वयं प्रकाशमान है—अथवा सबका आधार है। धाम शब्दका दोनों अर्थ होता है। पूरेका फलितार्थ बताते हैं। 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'। हे अनन्तरूप—सब रूप उसीके हैं। जिसके रूपोंका अन्त नहीं है। उन्हें कोई गिनना चाहे कि हम गिन लें—नहीं गिन सकते। न बुद्धि गिन सकती है न कम्प्यूटर गिन सकता है। किसी गणितकी सीमामें आनेवाला नहीं है। उसके रूपोंका अन्त नहीं है। इसलिए अनन्त रूप बोलते हैं। कैसा भगवान्! बिहारीका वह दोहा स्मरण करने योग्य है।

लिखनि बैठि जाकी सब गहि गहि गरब जरूर।
पये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर॥

बड़े-बड़े चित्रकार अभिमान लेकर बैठे, हम उसकी तस्वीर बना देते हैं। चित्र बना देंगे। लेकिन बड़े-बड़े चित्रकार निष्फल हो गये। उनका गर्व टूट गया। उसकी तस्वीर नहीं बन सकी। उसके रूपोंका अन्त नहीं है। नित्य-नूतन है। चिर सुन्दर है, चिर सुकुमार है। परन्तु रूप अनन्त है। तब 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'।

यह विश्व एक कपड़ेके समान है और ईश्वर सूतके समान है। दूसरे मजहबवाले ईश्वरको जुलाहेके समान मानते हैं वह जुलाहा जैसे कपड़ा बुनता है। वैसे ईश्वर कपड़ा बुनकर उसको बाजारमें बेचनेके लिए भेज देता है और खुद अलग बैठ जाता है और यह वैदिक धर्म मजहब नहीं है। यह धर्म केवल भारतके लिए है, यह तो कहीं है ही नहीं। यह धर्म केवल हिन्दूके लिए है ऐसा कहीं है ही नहीं।

हम आपको बड़े प्रामाणिक रूपसे सच बताते हैं कि चारों वेदके जितने भी विस्तार आजकल मिलते हैं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सहित और उनके जो छहों अङ्ग मिलते हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दः, ज्योतिष और निरुक्तये जो छहों दर्शन मिलते हैं तथा जो महाभारत और वाल्मीकि-रामायण आदि हैं, ये जो अठारह पुराण मिलते हैं, इनमें कहीं एक जगह भी यह बात नहीं है कि हम जिस धर्मका वर्णन करते हैं वह केवल हिन्दुओंके लिए है। कहीं एक जगह भी यह बात नहीं है कि मुहम्मद ईसा जरथुस्तके समान किसी आचार्यने किसी समयमें यह धर्म चलाया है, ऐसा बिलकुल नहीं है।

वे आचार्यमूलक धर्म हैं और बौद्धोंका धर्म संघमूलक है। संघने यहाँ धर्म बनाया। न यह धर्म संघका बनाया हुआ है—न किसी आचार्यका बनाया हुआ है और न किसी खास विभागके लिए है। इसमें तो मनुष्यमात्रका ही नहीं, पशुधर्मका भी वर्णन है। कीट-धर्मका भी वर्णन है, पतङ्ग-धर्मका भी वर्णन है। पक्षी-धर्मका भी वर्णन है। हमारा परमेश्वर सबको धारण कर रहा है और सबमें धर्म है। अपनेको रोकनेकी शक्ति सबमें होती है। धर्म मानें रोकनेकी शक्ति। 'धारणात् धर्मः' जिसमें जो योग्यता है, उस योग्यताके विपरीत कर्ममें जब प्रवृत्ति होती है तब भीतर जो एक शक्ति है, वह हमको उस कामको करनेसे रोकती है, वह धृति है।

इसीलिए मनुने धर्मका वर्णन किया तो 'धृति'का नाम पहले लिया। धृति अर्थात् धारणा शक्ति हमारा धर्म है। ऐसा क्यों है? हमारे तो जड़ भी ईश्वर और चेतन भी ईश्वर। यही सनातन धर्मका रहस्यात्मक रूप है। यदि सब कुछ भगवान् न होता तो पत्थरमें भगवान्‌की पूजा नहीं की जा सकती। यदि सब भगवान् न होते तो पति परमेश्वर नहीं हो सकते थे। तब पत्नी जगज्जननी जगदम्बा नहीं हो सकती थी, तब पिता ईश्वर नहीं हो सकता था। तब गुरु ईश्वर नहीं हो सकता था। तब तुलसी और पीपल ईश्वर नहीं हो सकते थे।

अगर सब ईश्वर नहीं होते तो 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप' कैसे कहा जाता। विलायतसे जो धर्म सीखकर आते हैं उन्हें हमारे धर्म और ईश्वरका पता नहीं है। हम लोगोंको बेकार अनुपयोगी समझकर अलग कर दिया गया है। हमलोग पीछे फेंक दिये गये। हमलोग जो पीछे फेंक दिये गये तो हममें ईश्वर और धर्म सम्बन्धी जो बुद्धि थी वह भी फेंक दी गयी। 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप। यह सम्पूर्ण विश्व जैसे वस्त्रमें सूत— इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें परमात्मा ही भरपूर है। देखो भगवान्‌का दर्शन करो।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 11.39

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 7

(25-11-82)

अम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

गीता अम्बा है। मराठीमें बोलते हैं गीताई। आई माने माँ? मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ। माताका ध्यान कर रहा हूँ। यह माता वर्णमयी हैं। शब्दमयी माँ हैं। परावाक्। इसीसे श्रीकृष्णके मुख-कमलसे इसका अवतार हुआ।

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ 11.40

अर्जुन अपना विनय अपनी नम्रता भगवान्‌के सामने प्रकट कर रहे हैं। 'नमः पुरस्ताद्'—सामनेसे आपको नमस्कार करता हूँ। अथवा 'पुरः नमः स्ताद्' इसमें विसर्गका लोप हो गया है पुरस्ताद् आपके सामने नमस्कार करता हूँ। नमस्कार माने अहंता-ममता छोड़कर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। नमनका अर्थ नम्र होना भी है और 'न मे इति नमः'—नमः शब्दका अर्थ 'मेरा कुछ नहीं—सब कुछ तेरा'। नचावे तो नाचो, बुलावे तो बोलो। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'। भगवान्‌की कठपुतली बनकर नाचनेका नाम नमः है। 'उमा दारु जोषितकी नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥ विधि हरि संभु नचावन हारे।' यह अहम्-अहम्-अहम्, मम-मम-मम तो व्यर्थ हैं—'नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते'। सामनेसे नमस्कार है। पीछेसे नमस्कार है—'नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः' हे सर्वस्वरूप आपको सब ओरसे नमस्कार है।

आप अनन्तवीर्य हैं। आप ही अनन्तविक्रम हैं। और 'सर्वः' आप ही सब हैं। 'यतः सर्वं समाप्नोषि'। क्योंकि आप सबमें व्यापक हैं। सब क्यों हैं? क्योंकि सबमें व्याप्त हैं इसलिए सब हैं। इसको बदल भी दे सकते हैं—सबमें व्याप्त होनेसे सब हैं और सब होनेसे सबमें व्याप्त हैं। 'यतस्त्वं सर्वः अतः सर्वं समाप्नोषि—यतः सर्वं समाप्नोषि अतः सर्वोऽसि। इसको केवल साकारी भी नहीं समझते, केवल निराकारी भी नहीं समझते। हमारे सब आचार्योंके मतमें जो वैदिक हैं—शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ सबके मतमें जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्मा है। अवान्तर भेद हैं—यह बात दूसरी है।

केवल सातवें आसमानमें रहकर परमेश्वर संसारका संचालन नहीं करता, इस जगत्‌के रूपमें रहकर जगत्‌का संचालन करता है। इसलिए हमारा ईश्वर मजहबी ईश्वर नहीं है। न आचार्यमूलक है, न संघमूलक है। न पुस्तकमूलक है—अमुक किताबमें लिखा हुआ है, इसलिए अमुक आचार्यने पहले कहा है, इसलिए अमुक संघने इसका निर्माण किया है, इसलिए वह ऐसा है, यह हम नहीं मानते—जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है वह। वही कुम्हारा, वही माटी। परिणामी है कि विवर्ती है—यह प्रश्न अवान्तर है। परन्तु 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। परमात्मा हमारा सर्वस्वरूप है।

सर्वस्वरूप परमात्मा है। यह जो आचार्योंके द्वारा चलाये हुए मजहब हैं उनमें नहीं होता है। आचार्योंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था, पुस्तकोंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था, संघोंके पहले भी धर्म था, ईश्वर था। बौद्धादिकोंने संघमूलक धर्मको स्वीकार किया। साम्प्रदायिकोंने आचार्यमूलक धर्मको स्वीकार किया। हम अपौरुषेय ज्ञान-मूलक धर्मको स्वीकार करते हैं और उसमें सब-का-सब परमात्मा है।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

11.41-42

अब अर्जुनके मनमें आया कि मैंने श्रीकृष्णके साथ जैसा शिष्टानुशिष्ट व्यवहार करना चाहिए वैसा व्यवहार नहीं किया। ऐसे अप्रमेय साक्षात् परमेश्वरके साथ मैंने जो व्यवहार किये वे अनुचित थे। तो क्षमा माँगते हैं। 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्'। तुम मेरे सखा हो—'सहैव ख्यायते इति सखा', तुम्हारा हमारा नाम एक साथ लिया जाता है—श्रीकृष्णार्जुन, राम श्याम-श्रीकृष्ण-उद्धव, श्रीकृष्ण-सुदामा—जो दोका नाम एक साथ लिया जाता है तब उनको सखा बोलते हैं। लोक-व्यवहारमें—'सहैव खादति'से भी सखा बनता है। जो एक साथ खावें, एक साथ पीयें। वे सखा कहलाते हैं। देना-लेना, पूछना-बताना, खाना-खिलाना : यह प्रीतिका लक्षण है। सो हम लोगोंका साथ होता था। और उस समय हम अभिमानकारक शब्द तुम्हारे लिए प्रयुक्त कर लेते थे। शब्दोंका अर्जुनने उल्लेख किया है। 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति।'

सारस्वत व्याकरणके अनुसार तो 'सखे इति'। में 'सखेति' हो सकता है। यहाँ ए के स्थानपर अय होनेके बाद 'य' का लोप हो जानेपर भी सन्धि हो गयी। पर कोई-कोई—हे सखे अति ऐसा पदच्छेद करते हैं। हे सखे अति—हे अति सखे—हमारे सखा-सर्वस्व तुम, ऐसा कह करके मैंने तुम्हें सम्बोधन किया। अच्छा; इसमें यदि देखें तो कोई अपराध तो मालूम नहीं पड़ता। क्योंकि किसीका नाम लेकर पुकारना कोई अपराध हो गया? अर्जुनने कृष्ण कहकर पुकारा तो क्या अपराध हुआ?

अच्छा रामचन्द्रको 'हे राघव' कहकर पुकारें—तो कोई अपराध हो गया? और मित्रको मित्र कहकर पुकारें तो इसमें क्या अपराध होता है? उसके स्नेहका सूचक है। यह तो बड़े ही प्रेमका सूचक है। तुम हमको इतना प्रेम करते हो—मित्र कह दिया? यदुवंशी कह दिया? कृष्ण कह दिया—इसमें क्या अपराध हुआ? पर अर्जुनको मालूम पड़ता है कि मैंने अपराध किया। अपराधकी कोई बात तो होनी चाहिए। वह क्या है? वह यह कि कृष्णको कृष्ण कहकर जब अर्जुन पुकारते थे तब उनको यह ध्यान नहीं रहता था कि कृष्ण माने सच्चिदानन्दस्वरूप।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

तब उनको ख्याल होता था? कृष्ण माने काले। कृष्णवर्ण-वालेको ही कृष्ण कहते हैं।

किसी कालेको काला कहना, गूँगेको गूँगा कहना, लंगड़ेको लंगड़ा कहना यह तो अपराध है। अन्धेको अन्धा नहीं प्रज्ञाचक्षु कहकर बोलना चाहिए। आदरपूर्वक बोलना चाहिए। एकबार अप्सराओंकी सभा थी और शंकर, महाकाली दोनों उसमें गये थे। अप्सराएँ तो थीं गोरी-गोरी चमाचम चमकें, बिजलीकी तरह इधर-ऊधर फुदकें! उनके बीचमें शंकरजीने पुकारा—ओ काली! कालीजी बेहद नाराज हुई। यह पुराणकी कथा है। ये देवी लोग कब नाराज हो जायँ उसका पता नहीं है। कभी कारणसे रूठती हैं कभी बिना कारणके रूठ जाती हैं। वे बोली गोरी-गोरी अप्सराओंके बीचमें हमारा अपमान करनेको तुमने काली कहकर पुकारा है। महादेवजीने बहुत मनाया। नहीं मानीं। फिर बड़ी भारी तपस्याकी और काले शरीरको छोड़कर उसमें-से गोरी होकर निकलीं, तब गौरी हुई। दुर्गापाठमें भी इसका इशारा है।

कृष्णको अर्जुन सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर कृष्ण नहीं पुकारते थे। मित्रतामें 'काला' कहकर पुकारते थे। इसलिए कृष्ण कहना अपराध हो गया। अब रही बात यादवकी। राघव बोले तो रामचन्द्र प्रसन्न होते हैं। रघु हैं, राघव हैं, कौरव हैं—भारत हैं—भरतवंशी होनेसे पूर्वजोंका नाम है। बड़ा उत्तम है। अर्जुन जब यादव कहकर पुकारते थे तो उसमें एक व्यंग होता था। राजा यदुने अपने पिताकी आज्ञा नहीं मानी और राज्यसे वंचित हो गये। तो अर्जुन श्रीकृष्णको जब यादव कहकर पुकारते थे तो उसका अर्थ होता है राज्यच्युत—पिताकी आज्ञाका पालन जो नहीं करता था उसके वंशमें उत्पन्न होना अपराध हो गया! शब्द तो यही है पर भाव तो देखना पड़ता है!

हे सखे—जो अप्रमेय है, अच्युत है उसको सखा कहकर पुकारना—जिसको अभी ये बोलते हैं 'पितासि लोकस्य चराचरस्य। जिसको बोलते हैं 'वायुर्यमोऽग्निर्वरुण: शशांक:'। उसको ही सखा कहकर पुकारा तो अपराध हो गया! गीताप्रेसमें हम लोगोंका एक संकेत था। सामने-सामने बोल लेते थे। कल्याणके सम्पादन-विभागमें कोई आता था तो भाईजी यदि उस आदमीसे हमको सावधान रखना चाहते थे, तो उसका परिचय देते थे कि ये हमारे ही जैसे हैं। हम लोग समझ जाते थे कि ये क्या कह रहे हैं। ये हमारे जैसे हैं। यह तो भक्तोंकी वाणी हो गयी। इसमें बड़ी निन्दा वहाँ और कोई नहीं थी। ये सांकेतिक शब्द हैं—सखा बोलना—सखेति। इसमें बहुतसे हैं 'अजानता महिमानं तवेदम्'।

किसी-किसी पुस्तकमें 'इमम्' पाठ है और शांकरभाष्यमें 'इदम्' पाठ ही है। तो इसकी संगति लगाते हैं कि 'इदं विश्वरूपम्' यह जो विश्वरूप है, इसको न जानकर और तुम्हारी महिमाको न जानकर—यह विश्वरूप तुम्हारी महिमा है—यह बड़े रूपमें तुम ही अपनेको प्रकट कर रहे हो, यह हमको मालूम नहीं था—हमको ज्ञात नहीं था—इसलिए मैंने ऐसा कहा। 'अजानता महिमानं तवेदम्-मया प्रमादात्।' कभी प्रमादवश कह दिया और कभी प्रेमसे कह दिया। इसमें अजानता महिमानम्का सम्बन्ध जोड़ते हैं—कृष्णके साथ। आप साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमेश्वर हैं—आपकी यह महिमा मालूम नहीं थी। और प्रमादवश मैंने यादव कह दिया। और 'प्रणयेन सखा इति'—प्रणयसे मैंने सखा कहा। 'सखेति हे सखे इति'।

यथासंख्य अलंकारकी दृष्टिसे ऐसा फर्क करते हैं। 'अजानता—कृष्ण इति, प्रमादात्-यादव इति, प्रणयेन सखे इति।'

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि-विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ 11.42

हँसी-हँसीमें मैंने तुम्हारा असत्कार किया। मैंने तुम्हारे लिए हँसी उड़ाने जैसे शब्द कहे। किसीको व्यंग्यसे कहें कि आप तो बड़े सच्चे हैं तो बड़े सच्चेका अर्थ वहाँ झूठा होता है। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि। वाच्यमें-से जो ध्वनि निकलती है कि सच्चे हैं, उसका अत्यन्त तिरस्कार हो गया। बिलकुल झूठा अर्थ हो गया। हाँ-हाँ हम तुमको जानते हैं। माँने पूछा मिट्टी खायी; बोले नहीं खायी। कितने सच्चे हो तुम! गोपियोंने पूछा माखन चुराया? राम-राम, मैं नन्द बाबाका बेटा कभी माखनकी चोरी कर सकता हूँ? हम तो दूसरेके बनवाये हुए कुण्डमें भी नहाना पसन्द नहीं करते। दूसरेके खुदवाये हुए तालाबमें स्नान करना हो तो कम-से-कम दो मुट्ठी माटी निकालकर बाहर रखते हैं। हम तुम्हारे घरका माखन खायेंगे?

'तुम तो कितने सच्चे हो?' तुम्हारी हँसी उड़ानेके लिए मैंने ऐसी बातें कह दीं। असत्कार किया। और एक जगह नहीं—विहारके साथ, जब घूमनेके लिए जाते थे, उस समय भी, सोते समय भी, आसनपर बैठते समय भी, भोजन करते समय भी, प्रत्येक क्रियामें, हमलोग भूल ही जाते हैं। यह तो अर्जुनकी भावना है कि हम लोगोंके किए हुए असत्कारको भी वह अपना मानकर भगवान्से क्षमा माँग रहा है। हम चलते हैं—पौधोंको, फूलको, फलको रौंदते हुए—मचमच जूता पहनकर विश्वरूप भगवान्के ऊपर रौंदते हुए। सोते हैं तो भगवान्का स्मरण करके नहीं सोते हैं। उपनिषदोंकी दृष्टिसे जब हम सोने लगते हैं तब परमात्मासे एक हो जाते हैं।

सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे। छान्दोग्य उप० 6.9.2

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्रपञ्चको छोड़कर इसको भूलकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है तब वहाँ कोई परिच्छिन्नता नहीं रहती है। परन्तु अपरिच्छिन्नताका ज्ञान भी नहीं होता है कि मैं अपरिच्छिन्न है। सोते तो हैं परमात्मामें परन्तु उन्हें ज्ञान नहीं होता कि मैं परमात्मामें सोता हूँ। यदि यह स्मरण करके सोवें कि बस अब ऑफिस नहीं है, अब बाजार नहीं है। अब काम-धन्धा नहीं है। अब तो 'जिस सिरका है यह बाल उसी सिरमें जोड़ दो' अर्थात् जहाँसे मैं निकला हूँ अब उसी परमात्मामें शयन कर रहा हूँ। यह तो सत्कारकी बात हुई और जाते हैं परमात्मामें परन्तु अज्ञाननिद्रा बलात् ले जाकर ढकेल देती है। उसमें—यदि जान-बूझकर प्रवेश करें तो क्या पूछना है! वह जाग्रत और सुषुप्तिकी सन्धि परमात्मासे मिलन हो जायगी।

हम भोजन करते हैं। आप जानते हैं भोक्ता तो भगवान् ही हैं। चराचर सृष्टिका भोजन भगवान् करते हैं। 'अत्ता: चराचरग्रहणात्। (1.2.9)' इस ब्रह्मसूत्रमें बताया कि चराचर सृष्टिके भोक्ता भगवान् हैं। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन:....' (क० उप० 1.2.24)। ब्रह्मशक्ति प्रज्ञा और क्षत्रशक्ति प्राण ये प्रज्ञा और प्राण दोनों आत्माके साथी हैं—उपाधि हैं। प्राणके द्वारा बल यह अभिव्यक्ति होती है और प्रज्ञाके

द्वारा ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है—ये भगवान् प्राण और प्रज्ञा—ब्रह्म और क्षत्र दोनोंको एक साथ निगल लेते हैं।

जेमनके साथ तेमन भी चाहिए। जेमनवार—जीमना, भोजन। तेमन माने अचार-चटनी जो लगाते हैं। 'मृत्युर्यस्योपसेचनम्' (क० 1.2.24)—मौत तो भगवान्‌की चटनी है और प्रज्ञा और प्राण ब्रह्म और क्षत्र जिसके ओदन हैं, भात हैं। भगवान् कुछ बंगाली टाइपके होंगे। क्योंकि उनको भात पसन्द है। सारे भागवतमें रोटीका कहीं वर्णन ही नहीं है। जहाँ देखो वहाँ भात ही भात है। भात भगवान्‌को बहुत प्यारा है। भात—'भज्यते'से है। पहले तो ऊखलमें कुटता है—जब छिलका अलग होता है तो तमोगुण है—उसकी लाली रजोगुण है, उसका सात्त्विक शेष अंश है, वह प्रकट होता है और उसको फिर पानीमें पकाते हैं। फिर जब वह पके तो उसमें अभिमानकी कणिका नहीं होनी चाहिए। कण नहीं होना चाहिए। सब गल जाना चाहिए। मधुर होना चाहिए। उज्ज्वल होना चाहिए। तब संस्कृतमें उसका नाम होता है—भक्त। भात जिसको बोलते हैं। भगवान्‌को बहुत प्यारा है। बहुत प्यारा है। हमलोग भोजन करते हैं और भोजन करनेवाला भीतर बैठा हुआ है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ गीता 15.14

जो चार प्रकारका अन्न हम भोजन करते हैं। चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय सबको भगवान् खाते हैं पर हम खाते समय यह भूल जाते हैं कि हम भगवान्‌को खिला रहे हैं। हम तो स्वयं भोक्ता बन बैठते हैं। अपराध हो गया न! जो असली खानेवाला है उसको तो देखा ही नहीं, जो कहीं अपने हृदयमें-से जाता नहीं—हमेशा भोक्ता है, उस भोक्ताको तो भूल गये और अपने साक्षीपनेको, भूलें, हमारा काम है उस भोक्ताको देखना। खा रहा है भगवान्। भोजन कर रहा है भगवान्!

भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
श्वेताश्वतर 1.12

इस भोक्ताको भूल जाते हैं तो उसका तिरस्कार ही तो होता है न! हमारे घरमें बैठकर कोई खा रहा है उसको तो हम भूल गये और स्वयं खाने लगे। यह शिष्टाचारकी पद्धति तो नहीं है। इसमें अपराध है।

'एकोऽथवा'—कभी-कभी एकान्तमें जहाँ कोई नहीं होता था वहाँ भी मैं आपका तिरस्कार कर बैठता था। ऐसा वर्णन आता है कि कभी-कभी मस्तीमें अर्जुन अपना पाँव भी श्रीकृष्णकी गोदमें रख लेते थे। श्रीकृष्णने तो अपने महत्त्वके कारण अर्जुनके सारे अपराध सह लिये। अर्जुनके मुखसे यह बात प्रथम स्कन्धमें निकली है। अर्जुन क्या-क्या नहीं करते थे। श्रीकृष्णने कहाकि जो मैं सो अर्जुन 'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्'। जो नर है सो नारायण है— जो नारायण है सो नर है। जो अर्जुन करता है सो मैं करता हूँ। जो मैं करता हूँ सो अर्जुन करता है।

भगवान्‌की तो इतनी दिव्य दृष्टि—व्यापक दृष्टि, पर अर्जुनकी समझमें यह बात नहीं आती थी। 'एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षम्। (11.42)। 'तत्समक्षम्' का अर्थ है कि पिताके सामने भी, मित्रोंके सामने भी।

पहले जिनका वर्णन किया सखा और पिता—उनके सामने कहा मैं तुम्हारा अपराध करता था। 'तत्क्षामये त्वामहम-प्रमेयम्'—मैं तुमसे क्षमा करवाता हूँ। आप क्षमा कर दीजिये। असलमें सहनशक्तिका नाम क्षमा है। निरपराधको क्षमा करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जहाँ अपराधको क्षमा करते हैं—वहाँ क्षमा-क्षमा है।

एक जगह ऐसे वर्णन किया है। गोपियाँ फूल चुन रही हैं, वृन्दावनमें। श्रीकृष्णके सखा ग्वालबाल आये उन्होंने कहा हमारे सखाके उपवनमें तुम लोग पुष्प चयन कर रही हो? पशुपतिकी पूजा करनी है। तो गोपीने कहा 'यस्य चेते पशव:'—गौएँ जिनकी इतनी हैं वे क्या पशुपति नहीं हैं? हमारे कृष्णकी पूजा करो। गोपियोंने कहा यह क्यों नहीं कहते: 'यस्य वयमेते पशव:'—जिसके हम पशु हैं—उसकी पूजा करो। गोपोंने कहा—नहीं तुम अपराध करती हो। उन्होंने कहा कि हम अपराध नहीं करती हैं। अपराधी तो तुम हो—जिनके साथ राधा नहीं है, वे अपराध हैं; हम तो राधाके साथ हैं, हम आपराध कैसे हैं?

क्षामये—इसका अर्थ है कि हमसे जो अपराध हुआ है उसको आप क्षमा कीजिये। क्षमा करवाते हैं।

गीतामें शब्दोंका प्रयोग बड़ा विलक्षण है। एक सम्बोधन 'अच्युत' है और एक 'अप्रमेयम्' है। अच्युतका अर्थ है कि साधारण लोग जो हैं वे किसीका अपराध देखकर अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं। क्रोध कर बैठते हैं और आप तो अच्युत हैं। महाप्रलयमें भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं। बड़े-से-बड़े अपराधको देखकर भी आप स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं। आपका तो स्वभाव ही है अपराध क्षमा करना।

दूसरे आप अप्रमेय हैं। आप इतने ही नहीं हैं जितना हम आपको जानते हैं। 'अप्रमेयम्'। आपको कोई भी प्रमा, कोई भी प्रमाण अपना विषय नहीं बना सकता। सबसे परे हैं। दुनियामें जो भी मालूम पड़ता है वह किसी मालूम करनेवालेको, मालूम पड़नेवालेको पड़ता है। एक होता है 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय'। वेत्तासि वेद्यं च। आप जानते हैं और आप जाने जाते हैं। गुरु नानक बोलते हैं—*'आपन खेल आप करि देखें, खेल संकोचे तब नानक लेखे'।* अपना खेल स्वयं देखता है। 'आपे अमृतका घड़ा है और वही पीनेवाला है। *'आपहि ढूँढ़े, आप ढुढ़ावे आपहि ढूँढ़नहारी'*। वही ढूँढ़ता है, वही ढूँढ़वाता है, वही ढूँढ़नेवाला है।

अब यह जो 'वेत्ता' और 'वेद्य' का, 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' का, 'प्रमाता' का और 'प्रमेय' का खेल हो रहा है, इसमें प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणका विषय न होकर अपरोक्ष है। माने स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं है और घटादिके समान प्रत्यक्ष नहीं है। घटादिके समान वेद्य न होकर, साक्षात् अपरोक्ष है—अपना आपा ही है। वैसे क्षमाकी पद्धति यह है कि दूसरेसे कोई गलती हो जाये तो क्षमा करना चाहिए। अपनेसे कोई गलती हो जाय तो उसको क्षमा नहीं करना चाहिए। अपनी गलतीका दण्ड अपनेको देना चाहिए। क्षमाकी रीति यह है। यहाँ क्या है? भगवान्‌के स्वरूपके सिवाय और कोई है ही नहीं। भगवान् आँखोंसे दीखते नहीं है। प्रमाणकी नोकपर—किसी प्रमाणके आगे आते नहीं हैं। प्रमेय तो बाधित हो जाता है। और जो प्रमाता है उसका वास्तविक स्वरूप, प्रमातृत्वसे भी विलक्षण जो शुद्ध चैतन्य है आत्मा, वह साक्षात् ब्रह्म है। भागवतमें यही परिभाषा ब्रह्मकी है।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्। 1.2.11

जिसमें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद नहीं होता है, ऐसा अद्वितीय ज्ञान ही तत्त्व है—तो अप्रमेयका अर्थ है—'दृश्यत्वेन अप्रमेयत्व' जो दृश्य होगा वह प्रमेय अवश्य होगा। श्रुति—वेदमें परमात्माको अप्रमेय कहा, वह क्या है? वह अपनी आत्मासे अलग कभी नहीं होता। प्रत्यगात्माका नाम ही अप्रमेय है। यह प्रमाणकी कसौटीपर कसनेका नहीं है।

जो लोग विषयमें परमात्माको ढूँढ़ने गये, वे तो लेबोरेटरीमें चले गये। अब वहाँ वह अनुसंधान कर रहे हैं; पर यह ईश्वर बिलकुल कहीं नहीं मिलेगा। और जो लोग स्वर्ग-वैकुण्ठकी ओर ढूँढ़ने लगे वे परोक्षमें गये और अज्ञानान्धकारमें डूब गये। क्योंकि परोक्षताका कहीं भी अन्त नहीं है—अज्ञात ही अज्ञात है। और जिन्होंने अपने आपमें परमात्माको ढूँढ़ा उन्होंने साक्षात्—जिसके विनाशका कभी अनुभव नहीं हो सकता—'न कश्चित् सन्दिग्धे नाहमिति'—मैं नहीं हूँ यह अनुभव किसीको नहीं हो सकता और मैं अचेतन हूँ—यह अनुभव भी नहीं होगा। मैं अप्रिय हूँ यह अनुभव भी नहीं होगा। परिच्छिन्नता भी अदृश्य होती है। इसलिए मैं परिच्छिन्न हूँ, यह अनुभव भी कभी किसी किसीको नहीं होगा।

जिन लोगोंने यन्त्रसे, इन्द्रियोंसे परमात्माको ढूँढ़ा वे जड़वादी हो गये। और जिन लोगोंने श्रद्धासे परमात्माको ढूँढ़ा वे परोक्षवादी हो गये। और जिन्होंने बुद्धिसे परमात्माको ढूँढ़ा वे शून्यवादी हो गये। और जिन्होंने अपनेमें परमात्माको ढूँढ़ा उन्होंने साक्षात् अपरोक्ष परमात्माका दर्शन किया। अप्रमेय शब्दका यही अर्थ है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। 11.43

तुम चराचर लोकके पिता हो। यह ईश्वर चराचर लोकका पिता है। लोक माने दृश्य—जो हम दुनिया देखते हैं। जो देखा जाता है उसको कहते है लोक। उसमें दो तरहकी चीजें देखनेमें आती है। एक चलती-फिरती और एक स्थिर। जो स्थिर होती है उसको अचर बोलते हैं और जो चलती-फिरती होती है उसको चर बोलते हैं। पर परमात्माका जो वास्तविक रूप है उसमें चर-अचर दोनों परमात्मा है 'चरं चाचरमेव च'। गीतामें ब्रह्मतत्त्वका जहाँ निरूपण है, वहाँ चर और अचर दोनों ही परमात्मा हैं। वह तो हमको वासनाके कारण भेद करना पड़ता है। देखो कङ्गन भी सोना है, हार भी सोना है, कुण्डल भी सोना है, पर कानको सजानेकी वासना कुण्डलको कानमें ले जाती है और हाथको सजानेकी वासना कङ्गनको हाथमें ले आती है। और हृदयको सजानेकी वासना हारको हृदयपर ले आती है। सोना तो एक ही है—और जिसके मनमें सजानेकी वासना नहीं है, उसके लिए आकारका कोई भेद नहीं है।

एक परमेश्वर परिपूर्ण है। हम अपनी वासनाके अनुसार एक ही तत्त्वमें अनेक प्रकारके भेद बना लेते हैं। हमें धर्म सीखना है—'रामो विग्रहवान् धर्मः (अरण्यकाण्ड 37.13)। मूर्तिमान् धर्मका नाम है। कहाँ हमको सद्भाव सीखना है, कहाँ चिद्भाव सीखना है। यह जानना चाहिए। ज्ञान सीखना है तो कपिल सर्वस्व हैं। उनसे द्रष्टा-दृश्यका विवेक करके चेतनका स्वरूप समझ लो। यदि आनन्दभाव सीखना है तो हमारे नारदादि भक्तिके

आचार्य हैं, उनसे आनन्दभाव प्राप्त कर लो। सद्भावके लिए राम, चिद्भावके लिए कपिलादि और आनन्द भावके लिए नारदादि। ये सब भगवान्‌के अवतार हैं। तीनों भावोंको एक साथ देखना हो तो ये गीतावक्ता हैं! यह चरवाहा—जो गायोंका चरवाहा होता है—वही सच्चिदानन्द होता है। गाय माने—हमारी आँख दूसरे रास्ते चल रही है, कान दूसरे रास्ते चल रहे हैं, ये सब इन्द्रियाँ हैं 'गच्छन्ति'। ये सब चलती-फिरती रहती हैं। इन सबको एक सूत्रमें बाँधकर जो रखे वह संयमी, उनका चरवाहा होता है, गोप होता है। और उन गोपोंके सखा होते हैं वह परमेश्वर साक्षात् भगवान्, सच्चिदानन्दघन-यह ब्रह्म।

'त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्'। चराचरके लोगोंके पूज्य तुम्हीं हो। भीष्म पितामहने कहा—कि मैं पहचानता हूँ कृष्ण कि तुम कौन हो? युधिष्ठिरकी सभामें जब सहदेवने प्रस्ताव किया—सबसे पहले पूजा होनी चाहिए श्रीकृष्णकी! भीष्म पितामहने दोनों हाथ उठाकर-समर्थन किया कि—यह सारी दुनिया श्रीकृष्णके वशमें है। 'पूजनीय है। 'गुरुर्गरीयान्'। गुरुके भी गुरु हैं—सबको ज्ञान देनेवाले हैं। 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योगसूत्र 1.26)। पिता भी वेदोंमें लिखा ही है इनको, 'त्वं नः पिता जनिता नो विधाता'। वही पिता है, वही गुरु है, शिक्षक है और वही हमारा पूज्य है।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव। 11.43

इसके समान तो और कोई है ही नहीं। श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है कि इसके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। न कोई जनयिता है, न कोई पूज्य ही, न इनके समान कोई है तो अधिक तो होगा ही कहाँसे! निरतिशय और निरुत्तर शब्दका प्रयोग करते हैं। हिन्दीमें तो निरुत्तरका अर्थ लाजवाब हो जाता है न! लाजवाब नहीं। जिसके बाद कोई न हो। जिसके बाद कुछ बोलनेका, कुछ सोचनेका, कुछ जाननेका है ही नहीं, उसको निरुत्तर बोलते हैं। 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव'। प्रभावकी प्रतिमा, उपमा, उपमान नहीं है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः (श्वेताश्व 4.15)। वेद भगवान् कहते हैं कि ईश्वरकी कोई प्रतिमा नहीं है। प्रतिमा माने प्रतिमान नहीं है। यदि कोई ईश्वरका मॉडेल बनाना चाहे कि ईश्वर है तो वह नहीं बना सकता—इसकी उपमा, उपमान कोई है ही नहीं। उसके प्रभाव अप्रतिम हैं। कोई उसके समान प्रभावशाली नहीं है। तीनों लोक भूर्भुवः स्वः होते हैं न! स्वर्ग-नरक-पाताल भी होता है—और सत्त्व, रज, तम भी होता है। और कार्य, कार्य-कारण और केवल कारण ये तीनों लोकमय हैं और इन तीनोंसे जो विलक्षण है, वह परमात्मा है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युःप्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ 11.44

'तस्मात् कार्यं प्रणिधाय-प्रणम्य च' अपने शरीरको संयत करके प्रणाम करता हूँ। यह नहीं चलने-चलते मार दिया घुटनेपर कि प्रणाम करता हूँ। चलते समय किसीको छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिए। दूरसे हाथ जोड़ लो। चलते समय प्रणाम नहीं करना। सोते समय प्रणाम नहीं करना। ध्यान करते समय प्रणाम नहीं करना। कोई अन्यमनस्क हो उस समय प्रणाम नहीं करना। प्रणामका भी विधान है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि

हम रास्तेमें चलते हैं तो घुटनेपर हाथ मारते हैं—नाखून—लग जाता है—और कहते हैं महाराज, कुछ चेतावनीकी बात सुना दीजिये। अब उनको क्या चेतावनी सुनावें—चेतावनी तो यही है कि हमारे घुटनेपर न मारें! फिर बोलते हैं कि महाराज, कुछ तत्त्वकी बात सुना दीजिये। अच्छा भाई, पाँच मिनट चलो मेरे साथ—अभी तो चल रहे हैं? तो कहेंगे कि नहीं-नहीं अभी तो दूकानपर जानेकी जल्दी है। अब उनको तत्त्वकी बात क्या सुनावें।

एक हाथसे प्रणाम करना भी भारतीय संस्कृतिमें नहीं है। दोनों हाथोंसे प्रणाम होता है। नमस्कार मुखसे भी बोलते हैं। हाथ जोड़कर भी प्रणाम करते हैं। सिर झुकाकर भी प्रणाम करनेके समय शरीरकी जैसी स्थिति होनी चाहिए—जैसे हम देखते हैं—चौराहेपर जो पुलिसवाले खड़े होते हैं, कभी जब साहबकी मोटरमें हम निकलते हैं तो फट अपना पाँव पीटकर तनकर खड़े हो जाते हैं। वह भी एक प्रणामकी पद्धति है। छाती तो तन गयी और बोलते है 'प्रणाम महाराज! ॐ नमो नारायणाय स्वामीजी—हे भगवान्! 'प्रणिधाय कायम्' का अर्थ है—जो अपना शरीर है, काय है, वह सर्वथा प्रणहित करके तब प्रणाम करना चाहिए। प्रणाम एक प्रकारसे भगवन्नामका उच्चारण है। नामके ही साथ प्र-उपसर्ग जुड़ गया तो प्रणाम बन गया। प्रणाम है भगवान्के सामने नमन। उसीकी जो प्रकृष्ट रीति है, उसको प्रणाम बोलते हैं।

हे ईश—जो सबका नियन्ता है। 'ईड' माने 'स्तुत्य' है। ईश और ईड्य दोनों वैदिक शब्द है। वेदप्रतिपाद्य जो परमेश्वर है, उसको स्तुत्य और ईश कहते हैं। मैं आपको प्रसन्न करता हूँ। 'प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्'। मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये। संस्कृत भाषामें प्रसन्न होनेका अर्थ है—निर्मल हो जाना। निर्मलता ईश्वरमें क्या है? ईश्वरमें निर्मलता यह है कि अपनेको छिपाकर बैठा देगा पर्दा ओढ़कर—अपने ढँक रखा है—हम उसको पहचान नहीं पाते हैं। 'प्रसादये' माने अब पर्दा हटा दो। हम तुम्हें पहचान लें कि तुम ही हो! 'आपमें आप छिपे पर्दा ढके बैठे हो। खूब जाना है कि अनजान बने बैठे हो।' 'प्रसादये' का अर्थ यह है कि हमने आपसे कपट किया, सो तो ठीक है। मैं अज्ञानी आपसे कपट करूँ तो इसमें आश्चर्य क्या? लेकिन आप इतने महान् होकर भी हमसे अपनेको छिपाते हैं। नहीं-नहीं—'प्रसादये त्वाम्' अब प्रकट कर दो अपनेको।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम। 11.44

बहुत लोग तो कहते हैं कि यहाँ उपमा दो ही है—'पितेव-पुत्रस्य, सखेव सख्युः'। और 'प्रिया-प्रियायार्हसि'। शङ्कराचार्य आदि सब आचार्योंने तीन मानकर ही व्याख्या की है। यदि पुत्रसे कोई अपराध हो जाय तो पिता उसको क्षमा करता है। आप हमारे पिता सरीखे हैं अब न फुफेरे भाई और न ममेरे भाई, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तुम हमारे मामा वसुदेवके लड़के हो और मैं तुम्हारी बुआका पुत्र हूँ—ऐसे नहीं; अब तो 'पितेव पुत्रस्य'। जैसे पिता अपने पुत्रका अपराध क्षमा करता है। ऐसे आप हमारा अपराध क्षभा कर दीजिये।

'सखेव सख्युः'। जैसे एक सखा अपने सखाका अपराध क्षमा करता है, ऐसे क्षमा कर दीजिये। और

'प्रिय: प्रियाया:' जैसे अपनी पत्नीका प्रिय पति, अपनी पत्नीका अपराध क्षमा करता है—सन्धि तो आर्ष है—'प्रिय: प्रियायार्हसि देव सोढुम'।

हमारे कई विद्वान् गीताके एक-एक शब्दको व्याकरण सम्मत बनाना चाहते हैं, वे कहते हैं इसमें 'प्रियाया:' क्यों जोड़ते हैं। ऐसे ही कह दो न 'प्रिय: प्रियाय अर्हसि देव सोढुम्'। षष्ठीके अर्थमें चतुर्थी है, जैसे अपने प्रियके लिए। महाभारतमें ऐसे बहुत प्रयोग मिलते हैं कि जहाँ षष्ठीके अर्थमें चतुर्थीका प्रयोग होता है। मैं तुम्हारा प्रिय, तुम मेरे प्रिय। हम दोनों प्यारे-प्यारे, अब हमारा अपराध तो सहना तुम्हें उचित ही है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.45

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 8

(26-11-82)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.44.42

'तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्' शरीर भी संयममें होना चाहिए, प्रणिधाय कायम्। प्रणाम करे किसीकी ओर देखे किसीकी ओर—पाँव पटकता है तो यह अशिष्ट प्रणाम हो जायगा। 'कायं प्रणिधाय'। शरीरको पूर्ण रूपसे संयत करके। और प्रणम्य—अहंकारको आपके सामने झुकाकर—प्रणामका अर्थ होता है जिसको हम प्रणाम करते हैं उसको अपनेसे श्रेष्ठ मानते हैं। अपनी अपेक्षा दूसरेकी श्रेष्ठताका सूचक जो क्रियाकलाप है, उसको प्रणाम कहते हैं—अपने अपकर्षका ज्ञापक जो व्यापार है, वह प्रणाम है। कहीं-कहीं व्यंग्यसे बोले कि महाराज, आपको दूर हीसे प्रणाम है। वह दूसरी बात है।

प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

आपको मैं प्रसन्न करना चाहता हूँ। प्रसन्न करना चाहता हूँ—माने मनाना चाहता हूँ। जब पत्नी रूठती हैं तो पति उसका प्रसादन करता है। प्रसादन माने—मान किया है, किसी कारणसे उसने अपना अपमान समझा है, उसको प्रसन्न करनेकी प्रक्रिया। क्यों प्रसन्न करना चाहते हैं? बोले ईशम्—ईड्यम्—ईड्यम् आप जगत्के नियन्ता हैं और ईड्य हैं माने स्तुत्य हैं। वेदोंमें आपकी स्तुति आती है और वेदोंमें, परमेश्वरके रूपमें आपका वर्णन आता है, ऐसे परमेश्वरके साथ मैंने धृष्टताका व्यवहार किया। इसलिए आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। प्रसन्न करनेमें तीन बात कहीं है—कल मैंने दो-की व्याख्या की थी। आज तीनोंकी सुना देंगे।

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः—प्रियः प्रियाया इव हे देव सोढुम् अर्हसि।' तीन अपराध अर्जुनने अपने पहले बताये थे। 'अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।' कुछ अपराध मैंने अज्ञानके कारण किये, कुछ प्रमादसे किये और कुछ प्रेमसे भी किये। अज्ञानसे जो प्रमाद किया, अपराध किया,उसके लिए 'पितेव पुत्रस्य'। जो सबका पालन करनेवाला है—सबका पिता—वह अपने पुत्रका अपराध क्षमा करता है। श्रीमद्भागवतमें इसके लिए एक बहुत उत्तम भाव प्रकट किया हुआ है—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥

10.14.12

ब्रह्माजी पिता, माता दोनों मान करके भगवान्से क्षमा प्रार्थना करते हैं। क्योंकि ब्रह्माजीने अपराध किया था और वहाँ भी अजानता महिमानं था। श्रीकृष्ण भगवान्की महिमाको न जानकर उन्होंने बछड़ोंकी

ओर ग्वालबालोंकी चोरी कर ली थी। वह अपराध था ही। कलके श्लोकोंमें पिताके रुपमें भगवान्‌का वर्णन किया और ये श्लोक जो मैं बोल रहा हूँ। इनमें माताके रुपमें वर्णन है। कहते हैं—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः।

जब माताके गर्भमें बच्चा रहता है तो अपने पाँव उछालता है उससे माँको चोट भी लगती है। लेकिन 'किं कल्पते.....'

हे इन्द्रियातीत प्रभो—आपको पाँव लगेगा कहाँसे 'अधोक्षजागसे।' कहते हैं कि कोई आसमानपर थूके तो थूकनेवाले पर ही गिरता है। सब जगत्‌के जो माता-पिता हैं उनके गर्भमें हैं—अनजानमें अपना पाँव पीटते हैं, उछालते हैं—जानते तो हैं नहीं कि हम माँके पेटमें हैं और माँको उससे चोट लगेगी। 'अजानता महिमानम्'। माता-पिताकी महिमाका ज्ञान नहीं है। इसलिए माता अपने बच्चेके पाँव पीटनेको कभी अपराध नहीं मानती है।

किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः।

हम कहें कि परमात्मा है अस्ति और हम कहें कि परमात्मा नास्ति। चाहें हम हाँ बोलें कि ना बोलें— आपके पेटमें रहकर ही तो हाँ ना बोलते हैं—कि क्या आपके पेटके भीतर हमारा निवास नहीं है? हम जो कुछ बोलते हैं आपके पेटमें रहते हुए ही बोलते हैं। आपके पेटमें रहते हुए ही बोलते हैं। इसलिए माताके पेटमें रहनेवाले बच्चेकी क्रिया जैसे माताके लिए अपराध नहीं होती, वैसे हमारी जो क्रिया है, यह आपके लिए अपराध नहीं होगी। यह क्षमाकी भी एक प्रक्रिया है।

एक बात इस प्रसंगमें और भी ध्यान देनेकी है। बौद्ध और जैन पुनर्जन्म मानते हैं। वे ईश्वरको तो नहीं मानते पर ईश्वरको न माननेपर भी हम उनको आस्तिक मानते हैं। ये हमारे चार्वाक आदि हैं, जो पुनर्जन्मको नहीं मानते । वे नरक स्वर्ग भी नहीं मानते तो जो चार्वाक मतानुयायी हैं वे हिन्दू हैं कि नहीं! इस बातको छोड़ दें। हमारी जो नयी पीढ़ी आ रही है—वे चोटी नहीं रखेगी, जनेऊ नहीं पहनेगी, ईश्वरको नहीं मानेगी—भगवान् करें ऐसा न हो—और वह पुनर्जन्मको नहीं मानेगी। तब उनके हिन्दुत्त्वमें कहीं बाधा पड़ सकती है क्या? इसलिए जो लोग हिन्दुत्त्वको मजहबी रूप देना चाहते हैं—जैसे ईसाई एक मजहब है—इसी प्रकार हिन्दू भी एक मजहब है ऐसा मानकर हिन्दुत्वके साथ न्याय नहीं करते हैं। हमारा बच्चा चोटी नहीं रखेगा तब भी हिन्दू है, जनेऊ नहीं पहनेगा तब भी हिन्दू है। नरक-स्वर्ग नहीं मानेगा तब भी हिन्दू है। पुनर्जन्म नहीं मानेगा तब भी हिन्दू है। हम उसको हिन्दुत्वसे बहिष्कृत नहीं कर सकते। यह बात हम अभी आपको और स्पष्ट करेंगे।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। 11.53

कौन ऐसा मजहब है दुनियामें कि जो कह दे कि जो कुरान शरीफको न मानता हो वह मुसलमान है। जो बाइबिलको नहीं मानता हो वह ईसाई है। कौन कहेगा कि कुरानशरीफके हिसाबसे चलनेसे ईश्वर नहीं मिलेगा? बाइबिलके अनुसार चलनेसे ईश्वर नहीं मिलेगा? सब मजहबोंसे परे यह हमारी गीता है जो कहती है—'नाहं वेदैर्न तपसा'। तपसा, वेदका ज्ञान प्राप्त करो, यज्ञका ज्ञान प्राप्त करो—इससे ईश्वर नहीं मिलता अपने

मूल ग्रन्थको ही ऐसा बोलनेवाला कोई मजहब नहीं हो सकता। यह तो विश्वधर्म है—सम्पूर्ण प्राणियोंके लिए जो ईश्वरीय धर्म है उसका इसमें वर्णन है।

अजानता महिमानं तवेदम्।
पितेव पुत्रस्य यो नः पिता जनिता यो विधाता। ऋग्वेद 10.82.3

हम उसको जानें कि न जानें, मानें कि न मानें वह हमारा पिता है। हम अपने पिताको नहीं पहचानते, यह सही बात है परन्तु पिता तो हमको पहचानता है कि यह मेरा पुत्र है। उसके ज्ञानमें तो कोई अन्तर नहीं है। हम उसकी दयासे, कृपासे कभी वञ्चित नहीं हो सकते। हम चाहे खोटे हैं, चाहे खरे हैं, अच्छे हैं कि बुरे हैं। पिताकी प्रीति सबके ऊपर समान होती है। जैसे पिता पुत्रका अपराध क्षमा करता है, वैसे आप भी कीजिये, क्योंकि पुत्र अज्ञानी है।

'सखेव सख्युः'। मित्र मित्रके साथ प्रमाद करता है। दण्डवत् प्रणाम करनेकी तो कोई जरूरत ही नहीं है। कभी हाथ भी मिलाया या नहीं मिलाया। हाथ मिलानेकी प्रथा वैसे पुरानी है। वाल्मीकि रामायणमें हाथ मिलानेका वर्णन कई बार है। भागवतमें भी कई बार है। यह नहीं कि सब कुछ पश्चिमसे ही आया है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। सूर्योदय तो पूर्वमें ही होता है। ज्ञानका, सूर्यका उदय पूर्वमें होता है। पूर्व—यह सर्वनाम है। 'पूर्वस्मिन्' बोलते हैं—सब जगहोंका नाम पूर्व है। कहीं भी किसी भी जगहको आप पूर्व बोल दीजिये और वह पूरब हो जायगा। किसी भी जगहको पश्चिम बोल दीजिये, दक्षिण बोल दीजिये, उत्तर बोल दीजिये। सब जगह दक्षिण भी है। कोई भी जगह उत्तर है, कोई भी जगह पूर्व है। यह तो अपने मनमें ही पूर्व-पश्चिमका भेद है।

'सखेव सख्युः'—मित्रसे जब कोई प्रमाद होता है तब मित्र उसको क्षमा ही नहीं करता है, उसको मैत्रीका सूचक मानता है। देखो, हमको कितना अपना मानते हैं—हमारे लिए शिष्टाचारकी जरूरत नहीं है, उठनेकी जरूरत नहीं। हाथ जोड़नेकी जरूरत नहीं है। बड़े आदरसे श्रीमान् कहनेकी जरूरत नहीं है। मारवाड़ियोंमें कोई नामके साथ 'जी' लगावे तो वे मना कर देते हैं—नहीं-नहीं आप 'जी' नहीं बोलिये। ईश्वरके लिए भी 'नमो भगवते' नहीं बोला जाता है—आपको नमस्कार है ऐसे ईश्वरके लिए नहीं—तुम्हें नमस्कार है ऐसे बोला जाता है। 'नमस्ते—त्वां नमामि'। 'तुभ्यं नमः' इतना अपना है, इतना अपना है ईश्वर! अपना सखा है। और वह जीवके अपराधको तो कभी अपराध गिनता ही नहीं। प्रमादको भी अपराध नहीं मानता है।

तीसरी बात 'प्रणयेन वापि'—'अजानता पितेव पुत्रस्य'—'अजानता पुत्र इव' और 'प्रमादात् सख्युः सखा इव' और 'प्रणयेन प्रियायाः प्रिय इव'। प्रेमसे अपनी अनेक प्रकारकी बात कह देते हैं और वह अब प्रणयसे कहते हैं। प्रेमसे कहीं हुई बातको अपराध नहीं माना जाता। प्रेमसे की हुई क्रियाको अपराध नहीं माना जाता, इसलिए अर्जुन यहाँ 'प्रियः प्रियायाः इव' ऐसे बोलते हैं। तीन हेतु पहले बताये थे। प्रणय, प्रमाद और अज्ञान। तीनोंके लिए यहाँ तीन उपमाएँ दी गयी हैं। प्रियः प्रियायाः है कि देव सोढुम—'प्रियायाः इव'—एक

तो इवका अध्याहार करना पड़ेगा। बाहरसे लेना पड़ेगा और यह जो 'प्रियाया:' में सन्धि हो गयी है यह व्याकरणके अनुसार नहीं होनी चाहिए। ये जो हमारे व्यासके शब्दरत्न हैं वे पाणिनि-व्याकरणमें नहीं आते हैं। महाभारतमें ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि-व्याकरणसे निराले हैं। हे देव, सहनेमें ही आपकी योग्यता है। और 'अर्हसि देव सोढुम्'-हे देव सोढुम् अर्हसि। आप सहनके योग्य हैं माने आपकी योग्यता यही है कि आप हमारे अपराधको सहन करें। आपका बड़प्पन इसीमें है कि हमसे अपराध बार-बार बनें और आप उसे बार-बार सहन करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 11.45

बताते हैं कि 'पूर्वम् अदृष्टम्' अदृष्टपूर्वं पहले जो मैंने कभी नहीं देखा था, ऐसा आपका रूप देखकर एक ओर तो बड़ा हर्ष हुआ और दूसरी ओर 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'। मेरे मनमें भयके कारण व्यथा भी आयी। माने हर्ष भी हुआ और व्यथा भी हुई। उसको 'भावशाबल्य' बोलते हैं। दो प्रकारके भाव एक साथ हर्ष भी और भय भी। ऐसा कब होता है? जब अपने सामने बहुत बड़ा पदार्थ आजाय तो उसको देखकर हर्ष भी होता है—अरे! इसको हम कैसे सँभाल सकेंगे, इसको हम सह सकेंगे कि नहीं सह सकेंगे? ऐसी दशा होती है। तब अर्जुन तुम चाहते क्या हो? हर्ष भी हो रहा है। दु:खी भी हो रहे हो और ठीक भी हो रहे हो।

तो अब मैं क्या करूँ? बोले—'तदेव मे दर्शय देवरूपम्'—हे देव, मुझे अपना वही रूप दिखाइये। जैसे हमेशा हमारे पास रहते हो, वैसे ही रहो। एक ओर विश्वरूप भी देख रहे हो। हृष्ट भी हो रहे। 'दर्शय देव रूपम्' हमको वही रूप दिखाइये। अच्छा मैंने आपको आज्ञा दी है कि वही रूप दिखाइये? यह भी एक प्रमाद हुआ—यह भी एक अपराध हुआ। 'प्रसीद देवेश जगन्निवास'—हे देवेश आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ क्योंकि सम्पूर्ण जगत् आपका ही है।

भगवान्में ही राग है, भगवान्में ही वैराग्य है। भगवान्में ही ज्ञान है, भगवान्में ही अज्ञान है। भगवान्में ही धर्म है, भगवान्में ही अधर्म है—सनातन धर्मकी यह मान्यता है, स्वीकृति है। ये भगवान्के सिंहासनमें जो चार जोड़े आठ पाँव हैं—इसपर भगवान् बैठेंगे और भगवान्का शरीर है—ज्ञान, अज्ञान, सुख, दु:ख, राग, वैराग्य। इसीलिए जो महात्मा लोग भगवान्को पहचान लेते हैं उनको कहीं विक्षेप ही नहीं होता। ये भी हैं, ये भी हैं जिन्होंने जीवन और मृत्युके रूपमें भगवान्को पहचान लिया। जो सत्ययुग और त्रेतायुग दोनोंके रूपमें भगवान् को पहचानेंगे और कलियुगके रूपमें नहीं, सिर पीटते उनकी जिन्दगी बीत जायगी।

यह बुरा, यह बुरा—आज ऐसा हो गया, कल ऐसा हो गया। रोते रहो जिन्दगी भर, क्या होगा? और सच पूछो तो तुम्हारे पिताजी भी तुम्हारे बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि हमारा लड़का ऐसा हो गया। और उनके पिताजी भी अपने लड़केके बारेमें ऐसा ही सोचते थे कि आजकल ऐसा हो गया। अब उनकी उम्रमें जब पचीस वर्षका फर्क पड़ता है, उसको वो स्वीकार करनेको तैयार नहीं होते। सासका घूँघट एक हाथ लम्बा था, उसकी

बहूका घूँघट सिरपर आया और उसकी बहूका घूँघट कन्धेपर चला गया। और उसकी बहू जो है वह साड़ी पहनती ही नहीं, तो घूँघट कहाँसे आवेगा? सबने यही कहा कि अब कलियुग आगया।

ऐसे ही कलियुग-कलियुग कहते जिन्दगी बीत जाती है। जो है, भगवान्‌की ओरसे जो आ रहा है, उसको उन्मुक्त हृदयसे स्वीकार करते जाओ। भगवान्‌की रायमें राय मिलाओ। दु:ख नामकी कोई चीज है ही नहीं। भगवान् जब देते हैं तो बहुत बढ़िया, जब लेते हैं तब बहुत बुरे? हमने यह दशा देखी है कि धरोहर भी किसीके पास रखते हैं, तो रखते समय उनको मालूम पड़ता है कि हमारा विश्वास करते हैं, हमारे पास रख रहे हैं—आनन्द होता है। और यदि अपनी ही धरोहर उसके सामने लेनेको जाये तो उसको तकलीफ होती है।

ईश्वरने जो वस्तु हमारे सामने रख दी, हमको दी—उसकी बड़ी कृपा और ले ली तो हमको जिम्मेदारीसे मुक्त कर दिया। प्रसन्न होना चाहिए। उसका देना भी ठीक, उसका लेना भी ठीक। ये जो अनुपयोगी चीज है, वह जायेगी। कुछ हमारे दादाने छोड़ा था। कुछ हमारे पिताजीने छोड़ा था। कुछ मैंने छोड़ा। कुछ बेटे छोड़ेंगे। कुछ उनके बेटे छोड़ेंगे। जो अनुपयोगी होगा, वह छूटता जायगा। उसके लिए रोनेकी कोई जरूरत नहीं है। ईश्वरकी ओरसे जो आवे सिर झुकाकर स्वीकार करते जाओ। सबके मूलमें है 'अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानाम्'। देखो हम मजहबी बात नहीं, कर रहे हैं—अगर हमको भी किसी ऊँचे सिंहासनपर बैठा दिया जाता तो हम ऐसा नहीं बोलते। फिर तो बोलते नहीं—नहीं हमारा ही जो कानून है वही ठीक है। स्वयं नहीं मानते यह अलग बात है।

देखो, किसी-किसी आचार्यकी परम्परापर 123.24 तक मानते हैं कि इतनी पीढ़ीसे उनकी परम्परा चल रही है। लेकिन चार पीढ़ी पहले उस गद्दीपर बैठे हुए लोग जैसे रहते थे वैसे आजके कहाँ रहते हैं? तो स्वयं अपनी गद्दीकी परम्परा भी तोड़ते जाते हैं और दूसरोंको कोसते भी रहते हैं। भगवान् जो राय करे उसीमें आनन्द है। भगवान्‌की रायमें राय मिलाओ, पत्थरसे सिर मत टकराओ। कालकी गतिको कोई रोक नहीं सकता है। जगन्निवास—जगन्निवासका क्या अर्थ है? जगच्च जगच्च जगच्च जगन्ति, तेषां जगतां निवास: जगन्निवास:— कितनी दुनिया बदली, अबतक लेकिन वह तो वही है। परमात्मामें अन्तर नहीं पड़ा उसको हम पहचानते हैं; जब वह एक है तो बदलनेवाली चीजके लिए वह क्या है? यह तो सिनेमाका दृश्य है। आता है, जाता है।

'सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते'। इस समय आप हजार-हजार हाथसे हमारे सामने प्रकट हो रहे हैं। 'विश्वमूर्ते'—समस्त विश्व आपकी मूर्ति है। मूर्ति उसको कहते हैं जो अमूर्तसे मूर्त होती है। मूर्ति माने—जैसे एक पत्थर हमने देखा और मनमें आया कि इसको द्विभुज या चतुर्भुजके रूपमें बनावें। आँख बन्द करके इस पत्थरको देखा कि कहाँ-कहाँ काटनेसे इसमें चतुर्भुज निकल आवेगा? पहले पत्थरमें चतुर्भुज अमूर्त था। फिर हमारी कल्पनामें आया। फिर गढ़के हमने उसको प्रकट किया। ऐसे परमात्माकी जो मूर्ति है, वह अमूर्तकी मूर्ति है। अमूर्तको अभिव्यक्त करनेवाली जो प्रक्रिया है उसको मूर्ति बना देना; जैसा आजकल साहित्यमें

वोलते हैं—'अभिव्यक्ति देना'। जो अव्यक्त भाव था उसको अभिव्यक्ति दे दी ऐसे जो अमूर्त पदार्थ था, उसको मूर्ति दे दी। यह विश्व जो है वह भगवान्‌की मूर्ति है। आप विश्वमूर्ति हैं, आप सहस्रबाहु हैं। आपको उसी रूपमें देखना चाहता हूँ—जरा मन वहाँ बैठ गया है—आँखें लग गयी हैं।

किरीट तो अव भी वहुत है। अभी तो विश्व-रूपके सिरपर एक नहीं हजार किरीट हैं। मैं अब एक किरीट वाला देखना चाहता हूँ।

किरीट माने मुकुट। किरीटिनम्—माने जिसमेंसे किरणें निकलती हैं। जिससे रश्मियोंका उद्दीर्ण होना है उसका नाम होता है किरीट। किरीटिनं गदिनम्—गदा वोलती है। जब किसीको मारते हैं तब चटाचट, पटापट वोलती है—'गदति इति गदा।' चक्र जब किसीको लगता है तब आवाज नहीं होती और गदा जब किसीको लगती है तब खटसे आवाज होती है। इसलिए 'गदनं गदा'। आपको हम गदिनंके रूपमें देखना चाहते हैं—'गदिनं चक्रहस्तम्।' कालचक्र घूम रहा है हाथमें। सहस्रार—कालके हजारों अरे होते हैं। जैसे रथका पहिया होता है और उसमें आड़े-आड़े अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌के पास जो चक्र है उसमें सहस्र अरे हैं। उसको 'शतार' भी कहते हैं,'सहस्रार' भी कहते हैं। हमारा हाथ है यह पंचार है। इसके पाँच अरे हैं और इसको हम कितनी कलासे मोड़ सकते हैं कि भगवान् चक्र जब फेंकते हैं तब हजारों मोड़से मुड़के, शत्रुओंको मारके और फिर उनके हाथमें लौट आता है।

यह जो कालचक्र है, इसकी भी हजारों प्रकारकी गतियाँ है। यही बच्चा बनकर आता है यही जवान बनकर आता है। यही जीवन बनकर आता है, यही मृत्यु बनकर आता है। यह सब चक्रके अरे हैं। और इनमें मोड़ होते ही होते हैं। बिना मोड़के कालचक्र नहीं होता। ये चक्र जिसके हाथमें है, उसको हम कहते हैं भगवान्।

वैसे हाथ होता है हँसानेके लिए, 'हस्यतेति'। जिससे हम हँसे उसका नाम होता है। हस्त। इससे ऐसे काम करो, ऐसे काम करो कि तुम्हारे जीवनमें हँसी-खुशी बनी रहे। जीवनमें हँसी-खुशी बनाये रखनेके लिए ये हाथ हैं। कभी हाथ जोड़कर हँसाते हैं—कभी दिखाकर हँसाते हैं। यो करके भी हँसाते हैं—त्यों करके भी हँसाते हैं। यह हाथ तो हँसनेके लिए है। इसमें जितने मोड़ हैं यह सब हँसनेके लिए हैं। आज मैं आपको कोई गम्भीर बात नहीं सुना रहा हूँ। यदि आपके पास हाथ है तो आप निरन्तर हँसते रहेंगे। ऐसे-ऐसे काम कीजिये कि मजा-ही-मजा मजा ही-मजा आता जाय। जो छूटता जाय उस पर भी हँसिये, जो आता जाय उसमें भी हँसिये। बनता जाय उसमें भी हँसिये, जो बिगड़ता जाय उसमें भी हँसिये।

यह कालचक्र भगवान्‌के हाथमें है। 'चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव'। मैं तुमको वैसे ही मनुष्यके रूपमें देखना चाहता हूँ, सखाके रूपमें, मित्रके रूपमें, 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते। आप वही चतुर्भुज रूप धारण कीजिये—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ जिनकी भुजामें निवास करते हैं, वे चतुर्भुज! हमारे कोई भक्त बोलते हैं आप मनुष्य बोलते हैं—पुरुष बोलते हैं, और स्त्री क्यों नहीं बोलते? क्या स्त्री मनुष्य नहीं है? क्या स्त्रीमें पौरुष नहीं है? पुरुषत्व, जीवनत्व, मनुष्यत्व—स्त्री, पुरुष

दोनोंमें ही रहता है—जब ब्याह करते हैं तो पहले तो रहते हैं द्विभुज, फिर ब्याह होता है तो हो जाते हैं चतुर्भुज। लक्ष्मीनारायण, पतिके दो हाथ पत्नीके दो हाथ चतुर्भुज हो गये। और दोनों जब मन मिलाकर काम करते हैं तो जो काम नारायण कर सकते हैं वह वे कर सकते हैं। और यदि मन न मिले तो चतुष्पाद हो जाते हैं। चतुर्भुज नहीं चतुष्पाद हो जाते हैं—पशुके समान। मन मिलाकर काम करो तो नारायणवाला काम कर सकते हो। भगवान्‌का रूप चतुर्भुज है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—चारोंको देनेवाला है। वैसे ब्रह्मका वर्णन कभी चतुष्पादके रूपमें भी आता है, कभी चतुर्भुजके रूपमें भी आता है। माण्डूक्य-उपनिषद्‌में चतुष्पादके रूपमें वर्णन है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय—ये चतुष्पाद है।

वैष्णवोंमें चतुष्पाद दूसरी तरहका मानते हैं। एक पादमें संसारको मानते हैं और तीन पादमें परमात्माको—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादोऽस्यामृतं दिवि' (ऋग्वेद 10.90.3)। और वेदान्ती तीन पादको प्रपञ्च मानते हैं और केवल एक पाद तुरीय पादको ब्रह्मसाक्षात् मानते हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड काल नहीं है। वह उपासनाके लिए कालका अध्यारोप करते हैं—तत्त्वज्ञानके लिए पादका अध्यारोप करते हैं। जैसे जानवरके चार पाद होते हैं, ऐसे चार पाद भगवान्‌में नहीं है। जैसे एक रुपयेमें पहले चार चवन्नी हुआ करती थी—अब तो कितनी होती हैं, हमको मालूम नहीं—वह अलग-अलग नहीं होती है इसी प्रकार परमात्मामें चार पाद हैं। वह परमात्मा तो एक ही है। उसमें चार चवन्नियाँ नहीं हैं। इसमें चार भुजा नहीं है। पर उसमें जो-जो हम चाहते हैं, सब उसीमें भरा हुआ है। इसीलिए उसको हम चतुर्भुज कहते हैं। पर हमारे चैतन्य महाप्रभुके जो व्याख्याता हैं, उन्हें चतुर्भुजजी पसन्द नहीं है। वे कहते हैं—द्विभुज ही भगवान् हैं। रामचन्द्रके जो भक्त हैं वे भी द्विभुज कृष्णचन्द्रके जो भक्त हैं वे भी द्विभुज मानते हैं। माने अर्थ और काम उनके पुरुषार्थ नहीं हैं; उनके धर्म और मोक्ष ही पुरुषार्थ हैं। दो भुजा मानते हैं भगवान्‌में, चतुर्भुजेन' का अर्थ बदल दिया है। चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें दो टीकाएँ तो स्पष्ट छपी हुई मिलती हैं बाजारमें—एक विश्वनाथ चक्रवर्तीकी और एक विद्याभूषणकी—'चतुर्भुज' का क्या अर्थ होगा। 'चतुर्भुजानां देवानाम् इनः श्रेष्ठः, तत्सम्बोधने चतुर्भुजेन'—चतुर्भुजों (अर्थात् देवों) में श्रेष्ठ= चतुर्भुजेन।

अर्जुनने कहा—हे चतुर्भुजोंमें श्रेष्ठ! आप अपना वही रूप दिखाइये। भगवान्‌की वाणी हैं—अर्जुन, मैंने जो तुमको यह रूपका दर्शन कराया—यह प्रसन्न होकर कराया है।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ 11.47
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 11.48
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ 11.49

अर्जुन, मैंने तुम्हें जो विश्वरूपका दर्शन कराया है यह प्रसन्न होकर कराया है। प्रसन्न होकर माने जो

व्यक्तित्वका पर्दा मैंने ओढ़ रखा था, उसको थोड़ी देरके लिए हटा दिया। मैंने खोल पहन रखी थी व्यक्तित्वकी—जैसे मनुष्य साढ़े तीन हाथके होते हैं—उतने साढ़े तीन हाथके बड़े श्रीकृष्णके रूपमें यह मैंने तुम लोगोंके साथ मिल-जुलकर रहनेके लिए एक पोशाक पहन रखी थी। भलेमानुष लोग जिस देशमें जाते हैं वहाँकी वेशभूषा धारण करके उन लोगोंमें मिल जाते हैं। हम तुम्हारे साथ रहते हैं तो तुम्हारे जैसी वेशभूषा धारण करके रहते हैं। और जब तुम्हें दिखाना हुआ कि जीवन क्या है और मृत्यु क्या है? और शत्रु क्या है और मित्र क्या है? जब यह तुम्हें साफ-साफ दिखाना हुआ तब मैं प्रसन्न हुआ और प्रसन्न होकर तुम्हें दिखा दिया माने प्रसन्नतामें पर्दा नहीं रहता है।

हम जिसके ऊपर प्रसन्न होते हैं कि यह मेरा प्यारा है—अपने प्यारेके सामने कोई पर्दा नहीं रहता। बच्चेको माँ दूध पिलाती है तब पर्दा नहीं करती है। पति-पत्नी एक साथ रहते हैं। तब उनके बीचमें पर्दा नहीं रहता। मित्र-मित्रमें पर्दा नहीं है। यह जो आवरण है, यह तो झूठे ही जो लोग अपनेको कट्टर कहते हैं—जिनको न तो रसास्वादनकी प्रक्रिया मालूम है और न सत्यके साक्षात्कारका पता है, वे ही ऐसे ही रहना ऐसे ही रहनाकी धारणामें फँस गये हैं।

प्रसाद क्या है? 'प्रसादस्तु प्रसन्नता'—प्रसाद है यह अर्जुनके प्रति भगवान्का। प्रसाद क्या हुआ? विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् है। सुख-दु:खसे ऊपर उठ गये हैं। दोनों भगवान्, राग-द्वेषसे ऊपर उठ गये। धर्म-अधर्मसे ऊपर उठ गये, दोनों भगवान्! ज्ञान-अज्ञानसे ऊपर उठ गये—दोनों भगवान्। अरे भाई जब हम सोते हैं तो हम ही रहते हैं कि दूसरे हो जाते हैं। तो उस समय अज्ञान हम होते हैं कि नहीं होते। सोते हैं तब सो जानेपर हम तो हम ही रहते हैं न!

सोते समयका जो अज्ञान है, वह कौन है? हम हैं और अपना बनाके देखते हैं वह बनानेवाला कौन हैं? हम ही तो हैं और उसको मिटानेवाला कौन है? हम ही तो हैं। जागकर हम किसीसे राग द्वेष करते है, किसीसे मित्रता करते हैं—किसीसे शत्रुता करते हैं तो हम ही तो हैं न! जब सुखी होते हैं तब भी हम ही होते हैं, दु:खी होते हैं तब भी हम ही होते हैं। यह सुख-दु:ख, राग-द्वेष आते-जाते रहते हैं—धर्म-अधर्म आते-जाते रहते हैं।

कोई कितना भी धर्मात्मा होनेकी डींग हाँके तो दूसरेको समझा सकता है कि हम अखण्ड धर्मात्मा हैं। लेकिन जब वह अपनी ओर देखेगा तब उसको मालूम पड़ेगा कि वह लोगोंको धोखेमें डालता है कि स्वयं धोखेमें है। सभीके जीवनमें धर्म-अधर्म दोनों ही होते हैं। कोई नितान्त दूधका धुला हुआ नहीं होता है और न कोई गन्दगीमें पला हुआ होता है। यह जीवनका एक सत्य है और इसको स्वीकार किये बिना कोई सुख-दु:खमें समान नहीं रह सकता। इस सत्यका साक्षात्कार तो जीवनमें करना ही पड़ेगा।

यह मैंने कैसे दिखाया? 'आत्मयोगात्'—जब मैं अपनेको एक देह मानता हूँ तो एक देह हूँ और जब मैं अपनेको सम्पूर्ण विश्व मानता हूँ तो सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैंने यहाँ कई बार सुनाया—एक ब्राह्मणको हिन्दू होनेमें कौन-सी प्रक्रिया करनी पड़ेगी? क्या साधन करेगा तो एक ब्राह्मण हिन्दू हो जायगा? ब्राह्मण तो एक छोटा-सा

वर्ण है, और हिन्दू तो बहुत बड़ा समाज है। हिन्दू जाति नहीं है। हिन्दू वर्ण भी नहीं है—हिन्दू मजहब भी नहीं है। हिन्दू तो समाज है—मानव-समाज है।

अच्छा, एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें कौन-सी साधना करनी पड़ेगी कौन-सी पूजा, जप, तप, प्रायश्चित करेगा तब वह मनुष्य होगा? अरे वह मनुष्य तो पहले से है, बादमें अपनेको हिन्दू, अपनेको संन्यासी मान लिया। संन्यासी तो पैदा हुआ ही था। बादमें अपनेको गृहस्थ मान लिया। प्रत्येक व्यक्ति संन्यासीके रूपमें ही पैदा होता है। समझो तब मालूम पड़ेगा। जब पैदा होता है तब न माँ, न बापकी पहचान है न जातिकी पहचान है—न चोटी है, न जनेऊ है, न भाषा है, न अपना है, न पराया है। प्रत्येक व्यक्ति संन्यासीके रूपमें पैदा होता है।

इसीसे जानेकी भी मुख्य प्रक्रिया कही है। जाते समय जैसा आया था, वैसा ही जाय। एक संन्यासीको हिन्दू होनेमें, एक हिंदूको मनुष्य होनेमें और मनुष्यको जीव होनेमें, जीवको ईश्वर होनेमें, ईश्वरको ब्रह्म होनेमें—किसी साधनाकी जरूरत नहीं पड़ती; वह तो एक सत्य है; उसको समझना पड़ता है—'आत्मयोगात् दर्शितम्'—अपने आपको जहाँ जोड़ दिया, मनुष्य वही बन जाता है।

पहले कोई गृहस्थकी निन्दा करता था तब बुरा लगता था। अब संन्यासीकी निन्दा करता है तो बुरा लगता है। पहले हिन्दूकी निन्दा करता था तो बुरा लगता था। अब मनुष्यकी निन्दा करता है तो बुरा लगता है। अब ईश्वरकी निन्दा करते हैं तो बुरा लगता है। अरे बाबा सब वही है। निन्दा करनेवाला भी वही है और जिसकी निन्दाकी जाती है वह भी वही है। दोनोंमें किसी प्रकारका फर्क नहीं है। यह तो 'आत्मयोग' है।

आपने अपनेको कहाँ जोड़ दिया? पहले हम सारा भारतवर्ष मानते थे। पहले महाभारतमें जिस भारतका वर्णन है उसमें रूस और दर्रे बानियार और कम्बोज, आर्यायन माने ईरान ये सब थे । पहले हम ही भारतवर्षके अन्तर्गत मानते थे। श्रीलंकाको तो थोड़े दिन पहले भारत मानते थे, बर्माको हमारे युवा कालमें भारत मानते थे। हमारे जीवनकालमें कराँची, लाहौर, ढाका भारत था।

हम अपनेको छोटा करते गये और वे पराये होते गये। आत्मयोग ही इसमें है। जहाँ आत्मीयता होगी वहाँ हम है। सम्पूर्ण विश्वमें आत्मीयता होगी तो हम सम्पूर्ण विश्व हैं। और साक्षात् परब्रह्म परमात्मामें आत्मयोग होगा तो हम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। अपने जुड़नेकी ही बात है। श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ अपनेको जोड़कर दिखा दिया कि मैं सम्पूर्ण विश्व हूँ।

'दर्शितम् आत्मयोगात् तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्। मैंने जो अपना तेजोमय, अनन्त, आद्य विश्वरूप दिखाया है, यह तुम्हारे सिवाय दूसरे किसीने कभी नहीं देखा था। दूसरेने देखा भी था तो भीष्म, द्रोण, जयद्रथको, कर्णको मरते हुए नहीं देखा था। सबसे विलक्षण हुआ। न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः—मार दिया ग्वालेने—ऐसा ऐसा बमगोला फेंका महाराज!

हमारे वेदान्तियोंमें चर्चा चलती है तब ऐसे ही बोलते हैं कि भाई, यह जो तुमने बात कही है, यह तो बमगोला है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 11.48

यह मत समझना कि सब काटते ही काटते है आगे है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ 11.54

साफ बता दिया, इसके लिए चाहिए अनन्यभक्ति। अनन्यभक्तिसे भगवान्‌का ऐसा दर्शन होता है। अनन्यभक्ति माने जिसमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई न हो। ऐसी भक्ति चाहिए बाबा, भगवान्‌को काटो मत। इतना भगवान् और इतना भगवान् नहीं। अन्यतासे रहित भगवान्—जिस भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई नहीं। जिस भक्तके हृदयमें वह भगवान् आगया वह देख सकता है। और कहो कि आधा-तिहाई करते रहेंगे—ये तो भगवान्‌को भी टुकड़े-टुकड़े करके देखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान, पाकिस्तानका टुकड़ा क्यों किया, टुकड़े-टुकड़े करनेवालोंको ऐसा शौक होता है। भाई-भाईमें बँटवारा होता है तो एकके खेतमें, बीचमें मेंढ़ पड़ जाती है।

हरिद्वारके पास ज्वालापुरमें एक मन्दिर है। बड़ा भारी हनुमानजीका विशाल मन्दिर और उसका विशाल प्रांगण था। जब दो गुरुभाइयोंने आपसमें झगड़ा किया तो ठीक हनुमानजीके बीचमें दीवाल खींच दी गयी। एक ओरका आँगन एकको गया। दूसरे ओरका आँगन दूसरेको गया—हनुमानजी बेचारे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये—खड़े ही रहे! उनके देखते-देखते उनका आँगन बँट गया। यह ईश्वरके बारेमें बँटवारा ठीक नहीं है।

'न वेदैर्नयज्ञाध्ययनैर्नदानैः'—कहो कि हम क्या कर लेंगे? वेद पढ़ेंगे—यज्ञ करेंगे। वेद पढ़कर जो वेदका यज्ञ नहीं जानता है वह केवल भारवाही है। जैसे ऊँटपर दो-चार मन पुस्तकें लाद दी जायँ तो वह केवल पुस्तकोंका बोझ ही ढोता है। उन पुस्तकोंमें क्या लिखा है वह नहीं जानता 'दर्वी पाकरसं यथा'। कलछीसे बढ़िया-बढ़िया भोजन बनता है और कलछी उसमें घूमती है। जैसे उसको स्वाद नहीं आता!

वैसे ही बड़े-बड़े वेद पढ़ते हैं—यज्ञोंके बारेमें जानकारी रखते हैं। बड़े-बड़े दान करते हैं, बड़े-बड़े कर्म करते हैं, बड़ी उग्र तपस्या करते हैं, सब कुछ करते हैं, पर यह नहीं जानते हैं कौन करा रहा है, यह नहीं जानते हैं किसके लिए कर रहे हैं, यह नहीं जानते हैं, क्या कर रहे हैं। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। (कठ० उप०1.2.5) जैसे एक अन्धेके पीछे दूसरा अन्धा चलता है। इस प्रकार—एक भेड़के पीछे दूसरी भेंड़, समझने का तो प्रयास ही नहीं करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

प्रवचन : 9

(27-11-82)

अम्ब त्वाम् अनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान्ने अर्जुनसे कहाकि मैंने प्रसन्न होकर इस परमरूपका दर्शन तुम्हें कराया है। और कैसे कराया उसकी युक्ति भी बता दी। 'आत्मयोगात्' अपने आपको विश्वरूपके साथ जोड़कर आत्माका योग कर दिया कि मैं विश्वरूप हूँ। विश्वरूप हो गये। जैसे आप अपनेको अग्रवालसे जोड़ लें तो अग्रवाल और पूरे राजस्थानसे जोड़ लें तो पूरे राजस्थानी और भारतसे जोड़ लें तो भारतीय। एक ब्राह्मण अपने ब्रह्मणत्वका अभिमान करे तो ब्राह्मण और हिन्दुत्वका अभिमान करे तो हिन्दू।

पहले इस विषयपर बहुत चर्चा हो चुकी है विद्वानोंकी। इन्दौरके महाराजने एक विदेशी स्त्रीसे विवाह किया और शङ्कराचार्यने उसकी शुद्धि करवायी थी। उसका नाम शर्मिष्ठा रखा गया था। अभी 2-4 बरस पहले तक थीं वे। पण्डितोंने उसका विरोध किया। तब शङ्कराचार्यने यह प्रश्न उठाया कि हिन्दू कौन है? 'किं नाम हिन्दुत्वम्'। हिन्दू किसको कहते हैं। चोटी-वाला? शङ्कराचार्यने बता दिया कि हमारे तो चोटी नहीं है—हमको हिन्दू मानते हो कि नहीं! जनेऊवाला? हमारे जनेऊ भी नहीं है। अच्छा तो पुनर्जन्म माने सो? हमारे चार्वाक हैं ये लोकयतवादी है उनको हिन्दू मानोगे कि नहीं? ईश्वरको माने सो? बौद्धको हिन्दू मानोगे कि नहीं? एक बात नहीं कही कि जिसकी भारतमें जन्म-भूमि हो वह हिन्दू? बोले कि जो विदेशी यहाँ आकर जन्म लेते हैं, वे हिन्दू है कि नहीं? अब मैं आपको कहाँ तक सुनाऊँ—इसकी कई कक्षाएँ हैं। सावरकरने भी जो परिभाषाकी वह यही थी कि हिन्दू वह है भारत जिसकी जन्मभूमि और पितृभूमि हो। विदेशी हों, जो दो-तीन-चार पीढ़ीसे यहीं हों—उनकी जन्मभूमि है। मुसलमान भी यहाँ दस-दस पीढ़ीसे रहते हैं—उनको हिन्दू मानोगे कि नहीं?

विद्वानोंके विचारसे यह बात निकलती है कि जो अपनेको हिन्दू माने सो हिन्दू। भगवान् जब अपनेको द्विभुज मानते हैं तब द्विभुज, अपनेको चतुर्भुज मानते हैं तो चतुर्भुज, अपनेको विश्वरूप मानते हैं तो विश्वरूप। हमारे मनमें संन्यासीपनेकी संविद् कभी नहीं हुई। संन्यासी होनेके पहले ही ब्रह्मसंविद्का जागरण हो गया था। उसमें-से कहाँ संन्यासी, कहाँ गृहस्थ, कहाँ भारतीय, कहाँ अभारतीय—इसलिए मानवताका पक्ष अपने चित्तमें प्रारम्भसे ही अधिक रहा, किसी घेरेमें बँधे नहीं।

तो यह भगवान्का विश्वरूप क्या है? आत्माका विश्वके साथ योग है। और उसीके द्वारा भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूपका दर्शन कराया। सत्य-संकल्प हैं प्रभु और यह विश्व तो तेजोमय है, ज्योतिर्मय है। जैसे आगमें-से लपट निकलती है, उसको हमलोग देखते हैं कि दाहिने जाती हैं कि बाँये जाती हैं, पीली है कि सफेद है और उसमें जो लपटें निकलती हैं, उनसे गाय बनती है कि घोड़ा बनता है कि हाथी बनता है? उसके लक्षण लिखे हैं शास्त्रमें। तेजोमय रूप है। भगवान् सबके रूपमें प्रकट हैं। और इसको कोई गिनना चाहे, तौलना चाहे, कोई घेरा बनाना चाहे तो नहीं बना सकता।

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि तुम्हारे सिवा इसको पहले किसीने नहीं देखा। असलमें पति भी एक संविद् है—एक ज्ञान है—यह मेरा पति है। पत्नी भी एक ज्ञान है—मेरी यह पत्नी है। इसको संविद् बोलते हैं। संविद् माने ज्ञान। यह संविद् है, यह ज्ञान है। महात्मा भी ऐसा साधन करते हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, पृथिवी हूँ, मैं जल हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं वायु हूँ—आकृतिमें, आकारमें अपनेको बाँधकर तत्त्वसे इसको मिलाते हैं। मैं वायु, मैं आकाश हूँ—इसको पञ्चभूतोंकी धारणा बोलते हैं। योगवासिष्ठमें तो बड़े विस्तारसे है। हमारे भी 'भक्ति सर्वस्व' नामक ग्रन्थमें बहुत करके पञ्चभूतोंकी धारणाका उल्लेख है।

मनुष्यकी धारणा शरीरमें अहंभाव अधिक होनेसे सच्ची नहीं होती है। और भगवान्‌को तो शरीरमें अहंभाव है ही नहीं—वह तो चाहे जहाँ जो-भी हो—ऐसा सोच लेते हैं। मैं सूअर हूँ, मैं मछली हूँ—ऐसे भगवान् सोच लेते हैं। और फिर वह सच्ची निकलती है, वह उनका ज्ञान है। और ऐसा ठीक ज्ञान है कि सबको वैसा दिखायी देने लगता है। यह जो मजहब बनते हैं, जैसे—जैन और बौद्धोंका जो मजहब बना वह मजहब है—वह संघके द्वारा बनाया गया। एक सोसाइटी बन गयी—वह न महावीर स्वामीने बनायी, न ऋषभदेवने बनायी, न बुद्धने। और इन लोगोंने किसी संघकी कल्पना नहीं की थी। बादके लोगोंने बनायी। और जैसे ईसा, मुहम्मदसे धर्म बनते हैं तो आचार्यमूलक होते हैं। सिक्खोंका धर्म पहले तो आचार्यमूलक था बादमें ग्रन्थमूलक हो गया।

पर जिसको हमलोग वैदिक धर्म कहते हैं वह ग्रन्थमूलक, पुस्तकमूलक नहीं है। वह ज्ञानमूलक है—कुछ मन्त्रोंके समूहको 'वेद' नहीं कहते हैं। विद्याको वेद कहते हैं। वह हृदयमें रहती है। बल्कि शङ्कराचार्यने तो 'वेद' का विलक्षण अर्थ किया है—वह 'तैत्तिरीय उपनिषद्के—'तस्य यजुरेव शिर:' (2.3.1)इस मन्त्रके भाष्य में देखें। वे कहते हैं—'मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्न मनोवृत्ति-निष्ठम् आत्मचैतन्यमनादिनिधनं यजु: शब्दवाच्यम् आत्मविज्ञानं मन्त्रा इति'—अर्थात् आत्मा ही वेद है। और 'अन्यथा विषयत्वे रूपादिवद् अनित्यत्वं च'—यदि आत्मासे अन्य होगा 'वेद' नामका कोई ग्रन्थ तो वह अनित्य होगा। उसमें नित्यता होगी ही नहीं। आत्मब्रह्मचैतन्यके सिवाय और कुछ नित्य हो ही नहीं सकता। आत्म-चैतन्यके अतिरिक्त ईश्वर भी होगा तो वह अनित्य हो जायगा।

कभी आवेगा, कभी जावेगा, कभी मालूम पड़ेगा, कभी नहीं मालूम पड़ेगा। आत्मचैतन्य ही अखण्ड वेदस्वरूप जो है, यही ईश्वर है, यही वेद है—तैत्तिरीय उपनिषद्के भाष्यमें आप देखें। यह बात इसलिए कही कि एक तो किसी मजहबमें विश्व परमात्मा रूप नहीं है। मजहबी लोग ऐसा बोलनेका साहस नहीं कर सकते। इसमें जो हमारे आचार्यको मानता है सो भी, नहीं मानता है सो भी, जो किताबी है सो भी, जो गैर किताबी है सो भी—सब परमात्माका स्वरूप है। वे तो कहते हैं हमारे आचार्यको नहीं मानेगा वह कुफ्र है—दोजखमें जायेगा। इसलिए हमारा धर्म मजहब नहीं है—ज्ञान है। इसमें पोथीपर भी आश्रय नहीं है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

अक्षर ज्ञान होता है और यज्ञका अनुष्ठान होता है और दोनोंके बारेमें जानकारी प्राप्त की जाती है। वेदका अक्षर ज्ञान तो हो जाय पर उसका अनुष्ठान न होवे तो वह वेदका बोझ हो जाता है। उसको हमलोग केवल इसी दृष्टिसे अच्छा मानते हैं कि चलो वेदोंकी रक्षा तो होती रहेगी। लोगोंको कण्ठस्थ रहेगा, लोग पढ़ेंगे। और यदि चारों वेद पढ़ लेनेपर यज्ञ करना न आवे और कराना न आवे तो अनुष्ठानके बिना वेद सफल कैसे होंगे? वेद पढ़े और उसमें जो यज्ञ करानेको कहे गये हैं उन्हें कराना आवे, श्रौतसूत्र आदिका भी अध्ययन करे।

धर्मसूत्र, गृह्यसूत्रमें अपने घरमें कैसे खाना, कैसे पीना, कैसे रहना—ऐसी बातें बतायी गयी हैं। देखो जो लोग वस्तुग्राही हैं—क्रियाको और द्रव्यको बहुत महत्त्व देते हैं—उनके कामकी एक बात सुनाते हैं। मुँह धोते समय, कुल्ला करते समय—वैसे तो मुँह साफ हो जाना चाहिए। लेकिन वहाँ साफ कहा गया कि दाँतमें कोई ऐसी चीज चिपक गयी हो जो छूटती ही न हो तो उससे मुँह अशुद्ध नहीं होता। यह भी शास्त्रमें लिखा है। और मुँह धोते समय जूठे पानीके जो छीटे शरीरपर आजाते हैं उससे भी शरीर जूठा नहीं होता। यह बात मनुस्मृतिमें है। एक-एक बातका गम्भीर चिन्तन, सूक्ष्म चिन्तन मिलता है। दानका चिन्तन है—श्रद्धाका दान, हर्षका दान, भयका दान, सम्बन्धका दान। दानके कितने भेद होते हैं? 'द्विहेतुं षडधिष्ठानम्' यह श्लोक इस विषयमें प्रसिद्ध है।

दानके दो कारण होते हैं। श्रद्धा और शक्ति, छह उसके अधिष्ठान होते हैं। छह उसके अङ्ग होते हैं। चार उसके प्रकार होते हैं—छह उसके फल होते हैं। यह सब बहुत सूक्ष्मरीतिसे चिन्तन किया हुआ है। ऊपर-ऊपरकी योजना नहीं है। बहुत सूक्ष्म चिन्तन है। पर यह नन्दनन्दन महाशय कहते हैं कि चाहे वेद कितना पढ़ो, यज्ञ कितना करो, उनसे में ऐसा नहीं दीख सकता हूँ। उससे तुम अपने भक्तिको अलंकृत कर सकते हो। व्यक्तित्वमें आभूषण पहन सकते हो। मेरे विश्वरूपका दर्शन नहीं हो सकता। दानसे भी नहीं, कर्मसे भी नहीं, उग्र तपस्यासे भी नहीं। कोई मजहब अपने मूल ग्रन्थके सम्बन्धमें और अपने परम्परागत आचारके सम्बन्धमें ऐसा नहीं बोल सकता। यदि मुझे ऐसा कोई देखना चाहे तो अर्जुन इन सब साधनोंसे मेरा विश्वरूप नहीं दिखता है। मैंने सचमुच प्रसन्न होकरके तुम्हें इस रूपका दर्शन कराया है।

बोले कि आपको तो आदित्यने देखा, वसुने देखा बड़े-बड़े सिद्ध लोग दर्शन करके आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह तो मैंने देखा। भगवान् बोले—हाँ, तुमने जो देखा वह मेरे विश्वरूपका ही एक हिस्सा था। मैं ही स्तुति कर रहा था और मैं ही आदित्य वसु होकर अपनेको देख रहा था। मैं ही था। लेकिन मनुष्य रूपमें दूसरा ऐसा कोई नहीं है जो मेरे उस रूपको देख ले। इसलिए मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्' (11.49)। 'मा ते व्यथा'—लोकत्रयं प्रव्यथितम् महात्मन्। तुम कहते हो कि सबको व्यथा हो रही है, मैं व्यथित हो रहा हूँ। तो बोले व्यथा मत करो और—

'दिशो न जाने न लभे च शर्म'।

अपना विमूढ़ भाव बता रहे हो हमको! यही मालूम पड़ता कि क्या उत्तर, क्या पूर्व, क्या दक्षिण—यह भी असलमें भगवान्‌के विश्वरूपमें है। तो विमूढ़ भावका अर्थ है दिङ्मूढ़ होना और व्यथाका अर्थ है कष्ट

अनुभव करना, सङ्कट अनुभव करना। क्योंकि अपना जो माना हुआ है वह सब छूट जाता है। जब सर्वको परमेश्वरके रूपमें देखने लगते हैं तो अपनी बनायी हुई दुनिया अपनी नहीं रहती, भगवान्‌की हो जाती है। और भगवान्‌की होनेमें भी लोगोंको तकलीफ होती है। भगवान्‌की दी हुई चीज अगर फिर भगवान्‌की हो जाय— तो गाली देने लगते हैं। तुमने छीन क्यों लिया? 'तेरी तुझको सौंपते क्या लागत है मोर'—तुम्हारी चीज है तुमने दिया, तुमने लिया—इसमें मेरा क्या लगता है? यह भगवान्‌का जो पूर्णरूप है, इसमें जिसकी अघोर वृत्ति हो जाती है, वह महात्मा हो जाता है।

आदमीको भय क्यों लगता है? दूसरेके मरनेसे नहीं लगता है। अपना सम्बन्ध टूटनेसे लगता है। अपनी बनायी हुई चीज छूटनेसे लगता है। हम कभी काशीमें मणिकर्णिका घाटपर जाकर बैठते थे। कितने मुर्दे आते थे, जलते थे, जलाये जाते थे। लेकिन जब वहाँ बैठे-बैठे देखते थे कि हमारे कोई रिश्तेदार आये हैं, कोई सम्बन्धी आये हैं—जान-पहचानके आये हैं तो दुःख हो जाता। सम्बन्धसे दुःख होता है, मृत्युसे दुःख नहीं होता। यह भगवान्‌का जो घोर रूप है इसका कोई ध्यान करे तो उसका लाभ तुरन्त होगा। उसके मनकी कामवासना शान्त हो जायगी। यह भगवान्‌का जो रौद्ररुप है इसका दर्शन करो, चाहे नृसिंहका दर्शन करो, काम शान्त हो जायगा। 'व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्-तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य व्यपेतभीः। अब भय मत करो— जब डर होता है, भय होता है—सपनेमें चोर दिख जाता है, भूत दिख जाता है तो भी करने लग जाते हैं। यह अनुकरणमूलक शब्द है। जैसे आप चप्पलको चप्पल बोलते हैं तो चलते समय यह चप-चप बोलती है। यह हवा तेज चलती है, तब इसे झंझा बोलते हैं क्योंकि यह झन-झन-झन बोलती है। अनुकरण-मूलक शब्द होते हैं। इनकी धातु खोजनेकी जरूरत नहीं होती, प्रत्यय करनेकी जरूरत नहीं होती।

'तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य'। 'प्रपश्य' का अर्थ यह है कि—पहले तुम हमको व्यक्तिके रूपमें देखते थे कि मैं श्रीकृष्ण तुम्हारे रथका सारथि हूँ। फिर तुमने मेरे—विश्वरूपको देखा। अब जो तुम मेरा रूप देख रहे हो यह साक्षात् ब्रह्म है। गौरसे देखो—देखनेमें यह द्विभुज है कि चतुर्भुज है—प्रपश्य। जो 'पश्य' क्रियापदके साथ 'प्र' उपसर्गका योग है—उसका अर्थ है 'प्रकर्षेण पश्य' देखो यह विश्वरूपका भी मूल यही है—व्यक्तित्वका मूल भी यही है। यही जो अव्यक्त ब्रह्मरूप है वही विश्वरूप होता है। और वही व्यक्ति होता है। व्यक्तिमें विश्वरूप है, विश्वरूपमें व्यक्ति है। और दोनों अनादि, अनन्त, अद्वितीय ज्ञानमें है—बिना ज्ञानके कोई रूप नहीं होता—रूप हो और मालूम न पड़े तो रूप कहाँ है? इसीसे सृष्टिका विचार होता है।

जो साधारण जिज्ञासु होते हैं वे उत्पत्ति क्रमसे कहते हैं—मिट्टी पानीमें-से निकली, पानी गरमीमें-से निकला, गरमी हवामें-से निकली, हवा आसमानमें-से निकली, ऐसे यह उत्पत्तिक्रमका जो विचार है वह परोक्ष परमात्मा, छिपे हुए परमात्माकी ओर जानेका मार्ग है। और यह भान कैसे होता है? आँखसे मुँह दीखता है। मनसे आँख दिखती है। अब यह भानकी प्रक्रिया है। यह भारतीय प्रणालीकी विशेषता है। यह विश्वके पर्देपर किसी जातिमें, किसी मजहबमें कहीं नहीं है। यह हमारी प्रक्रिया है कि हम भान क्रमसे सृष्टिको देखना चाहते हैं। फिर कहते हैं—कि सपनेमें तो सब एक साथ भान होता है—वहाँ बाप और बेटा दोनों एक साथ पैदा

हुए। मिट्टी और पानी एक साथ पैदा हुए, पैदा नहीं हुए, पैदा हुए-मालूम पड़ते हैं। मालूम पड़नेके सिवाय और कोई चारा नहीं है। 'प्रपश्य' का अर्थ हुआ—प्रकृष्ट ज्ञान-स्वरूप, सर्वोत्तम ज्ञान-स्वरूप। जो मेरा स्वरूप है, उसको देखो।

सञ्जय बोलते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ 11.50

वासुदेव हो गये अब--यह विश्वरूप है—वह वासुदेव नहीं है। वह वसुदेवका बेटा नहीं है। अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें जो है वे वसुदेवके पुत्र हैं। अब वासुदेव हो गये। संस्कृतमें वासुदेव, शब्दका अर्थ बहुत विलक्षण होता है। 'वसौ दीव्यति इति वसुदेवः' जो कारणवारिमें प्रकाशमान रहता है। कारणवारि माने समझ लो कि जैसे मनुष्यकी, पशुकी या पक्षीकी उत्पत्ति होती है तो उसमें जो वीर्य होता है वह जलरूप—उसको बोलते हैं कारणरूप। उसमें जैसे चेतना रहती है—उसको बोलते हैं बीजायन—नार माने जल होता है। आपो नारा इति प्रोक्ताः (1.10)। उस जगत्के मूलरूप जैसे—ब्रह्माण्ड है या अण्डा है। इस अण्डेमें एक तरहका जल है। उसमें सबमें बीजका संस्कार है। उसमें जो चेतना है उसको बोलते हैं—'नारायण'—और उसमें जो प्रकाशमान चैतन्य है उसको बोलते हैं 'वसुदेव' और 'वसुदेव एव वासुदेवः'। विष्णु-पुराणमें बताया—'वसति दीव्यति' दो क्रियापदसे वासुदेव शब्द बना—जो सबमें बसता है और सबमें प्रकाशता है। माने कारण रूपमें सबसे-सबमें आवर्त है, आया हुआ है, अनुगामी है और ज्ञानके रूपमें सर्वत्र विराजमान है। उस सत्तास्वरूप ज्ञान और ज्ञानस्वरूप सत्ताका नाम वसुदेव है। वही वासुदेवके रूपमें प्रकट होते हैं।

भागवतमें वसुदेव शब्दकी व्याख्या दूसरी तरहसे है। 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्' (4.3.23) वसुदेव माने शुद्ध अन्तःकरण। शुद्ध अन्तःकरणमें जिनका अवतार होता है। जिनका प्रतिबिम्ब होता है—इसलिए अन्तःकरणको शुद्ध कर दें—अन्तःकरणको शुद्ध करना ही इस जीवकी साधना है। ये नानाप्रकारकी मान्यताएँ, वासनाएँ ठूँस-ठूँस करके अध्यारोपित करके—ऐसे बोलते हैं कि सबसे बड़े ज्ञानी हम ही हुए हैं। हमसे पहले तो कोई था ही नहीं—सबको काट देंगे।

तो ये कहाँसे ज्ञान लेकर आये हैं? ये जो छोटे-छोटे फिरके बनते हैं। पन्थ बनते हैं—ये तो फिरका-परस्ती है, यह जो पन्थ-परस्ती है—यह अनादि ज्ञानपर दृष्टि न रखनेके कारण ही है। संस्कृतमें ऐसा नहीं मानते हैं। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नास्ति का प्रमा'? यदि कपिल सर्वज्ञ थे तो कणाद सर्वज्ञ नहीं है? इसका निर्णय कैसे करोगे? 'जैमिनिर्यदि सर्वज्ञो व्यासो नास्तीति का प्रमा'। यदि जैमिनि सर्वज्ञ है तो व्यास सर्वज्ञ नहीं है? इसमें क्या प्रमाण है। एकको ऐसा पकड़ते हैं—महाराज, घड़ियालकी पकड़से। जो शुद्ध ज्ञान है उसको तो छोड़ देते हैं। एक आदमीको पकड़ लेते हैं और उसके पीछे विचारे मरते रहते हैं। फिर लड़ते हैं—हमारे गुरुने कहा सो ठीक, दूसरेके गुरुका कहा हुआ झूठा। महाराज! गुरु तो विचारे आनन्दमें थे और चेले लाठी चलाने

लगे। चेले अदालतमें जाते हैं। यह जो बात है यह ज्ञानका तिरस्कार है। यह कोई साधना करनेसे नहीं,जैसा भगवान्‌का दर्शन है—यह कुछ करनेसे नहीं होता है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ 11.53

चार बार नकार नकार नकार नकार बोल दिया। एक ही नकार काफी होता है। अगर एक होता तब भी काम चल जाता, लेकिन अत्यन्त निषेध करनेके लिए ये हैं—इन साधनोंसे भगवान् बिलकुल नहीं मिलता है।

एक नकारकी बात आपको सुनाते हैं। काशीमें एक धनी सज्जन नन्दनसाव थे। आज भी उनके नामकी गली है जो चौकसे नीचीबागकी तरफ है—नीची बागसे और नीचे है। एक ब्राह्मण नन्दनसावसे कुछ पानेकी आशासे आये थे। नन्दनसाव बड़े उदार थे। देते भी थे। लेकिन उनके मुनीमोंने ऐसा कुछ किया कि वे बेचारे नन्दनसावसे मिल ही न सके। एक दिन रास्तेमें नन्दनसावको वे मिले तो सावने पूछा—पण्डितजी क्या हाल-चाल है? बोले क्या पूछते हो? नन्दन नाम ही ऐसा है। 'आदौ नकार: परतो नकार: मध्ये नकारेण हतो दकार:'। शुरूमें 'न' है, अन्तमें 'न' है—बीचमें 'द' था देनेवाला, सो उसमें 'न' कार—ने 'द' कारको मार डाला। 'इत्थं नकारामयसंयुतस्य का दानशक्ति: खलु नन्दनस्य।' जब तीन-तीन न तुम्हारे नाममें लगे हैं तो तुम्हारे अन्दर दान शक्ति कहाँ? अब लो नन्दसाव तो महाराज! पाँव पकड़कर लेट गये—बोले पण्डितजी, तुमको जो चाहिए सो ले लो। यह कृष्णने अपने दर्शनके लिए चार-चार नकार कर दिया।

नाहं वैदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।

जैसा तुमने मुझे देखा है वैसा नहीं देख सकते। दूसरे नहीं देख सकते। अर्जुनने कहा तुम देखनेका ढंग तो बताओ। नाहीं नाहीं नाहीं, कहीं हाँ तो बोलो! हमारे एक बुजुर्गने हमको बताया था—पहले ना ना करते जाओ। कि हम नहीं दे सकते—नहीं कर सकते पर पीछेसे भी अगर हाँ कर दो तो बात सफल हो जाती है। लेकिन पहलेसे हाँ, हाँ करते जाओ कि हाँ देंगे—हाँ देंगे और बादमें ना कर दो तो विचारा मर जायगा न! धोखा हुआ उसको। पहले ना-ना करो लेकिन बादमें हाँ जरूर कर दो।

श्रीकृष्णने पहले तो किया ना-ना और बादमें कर दिया 'हाँ'-मिल सकते हैं, एक युक्ति है, क्या युक्ति है? 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन' (11.54)—जहाँ सन्धि होनी चाहिए, वहाँ भी सन्धि नहीं की। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ 'शक्योऽहमेवम्' ऐसा होना चाहिए था। परन्तु अपने मिलनेकी खुशीमें व्याकरण भूल गये। जब कहीं बहुत खुशी होती है, बहुत घबड़ाहट होती है, बहुत शोक होता है तो बात भूल जाती है। श्रीकृष्णको भी—पाणिनीय व्याकरण उस समय था तो नहीं, लेकिन जो संस्कृतका प्रयोग होता है उसमें पाणिनि व्याकरणको ही मुख्य माना जाता है।

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य-अहमेवं विधोऽर्जुन—श्रीकृष्णने कहा—प्यारे अर्जुन, तुम बड़े-भोले-भाले

हो, सीधे हो इसलिए यह तो कह दिया, इससे नहीं मिलूँगा, इससे नहीं मिलूँगा और यदि मैं मिलने वाली बात न बताऊँ तो तुम भोले-भाले-गड़बड़ा जाओगे, इसलिए वह भी बताना जरूरी है। कैसे मिलते हो महाराज? अनन्य भक्तिसे मैं मिलता हूँ। 'अनन्यया भक्त्या, अहमेवंविधोऽर्जुन ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप'। (11.54) अर्जुन सुनो—मैं अनन्यभक्तिसे मिल सकता हूँ। जैसा तुमने मुझे देखा है—व्यक्तिके रूपमें देखा सो, द्विभुज कृष्णके रूपमें देखा सो, चतुर्भुज विष्णुके रूपमें देखा सो, विश्वरूपके रूपमें देखा सो, और ब्रह्माके रूपमें देखा सो—ऐसा मैं मिल सकता हूँ तो अनन्यभक्तिसे ही मिल सकता हूँ। अनन्य शब्दसे श्रीकृष्णको थोड़ा प्रेम है। इसका दो अर्थ होता है—एक तो 'अन्य-योग व्यवच्छेद' माने दूसरेके साथ सम्बन्ध हो ही नहीं। और दूसरा अर्थ होता है—'अनन्य'—केवल अपने इष्टदेवके साथ ही सम्बन्ध हो। दोनोंमें अन्तर है। दूसरेके साथ सम्बन्ध न होना 'अन्ययोग व्यवच्छेद' है और अपने इष्टदेवसे ही एक मात्र सम्बन्ध होना अनन्यता है, अनन्यनिष्ठा है। निष्ठामें जो अनन्यता है वह इष्टदेवके प्रति है। और अन्यके प्रति व्यवच्छेद है, दूसरेके प्रति निष्ठा नहीं है। भक्ति चाहिए अनन्य।

इसपर पण्डितोंका तो बहुत शास्त्रार्थ है। यदि मैं साहित्यकी, काव्यकी, बात छोड़कर दर्शन शास्त्रकी बात करने लग जाऊँ तो हमारा दिमाग घूम जाता है। एक बात देखो—भक्ति क्या है? भक्ति है अनुराग। भगवान् मुझसे कितना प्रेम करते हैं, इस बातका जब हम चिन्तन करते हैं तो हमारे हृदयमें भगवान्‌के प्रति अनुरागका उदय होता है। भगवान्‌के बच्चे हैं हम! 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:'। (अथर्ववेद 12.1.12): पृथिवी मेरी माँ है, मैं पृथिवीका पुत्र हूँ। पृथिवी पत्नी किसकी हैं? भगवान्‌की।

जिन राजाओंने अपनेको भूपति बनाया वे मारे गये कि नहीं, वे नहीं रहेंगे। जो अपनेको भगवान्‌की पत्नीका पति बनायेगा—वह कैसे रहेगा? जो श्रीपति बनेगा कि मैं लक्ष्मीपति हूँ—लक्ष्मी तो भगवान्‌की पत्नी है। तुम कहाँसे आगये बीचमें—दाल-भातमें मूसलचन्द। लक्ष्मी भगवान्‌की और लक्ष्मीके भगवान्। तुम बीचमें लक्ष्मीपति और भूमिपति कहाँसे आगये?

यह है अनन्यता—भगवान् ही हमारी माता और भगवान् ही हमारे पिता। प्रकृतिकी गोदमें हम रहते हैं। भगवान्‌की गोदमें हम रहते हैं। उनका ही जो दिया हुआ जल है वह पीते हैं। उनकी दी हुई रोशनीमें देखते हैं। उनकी दी हुई हवामें उनकी साँसमें साँस लेते हैं—यह वायु भगवान्‌की श्वास है। और यह प्रकाश उनके नेत्र हैं। हम उनकी आँखकी रोशनीमें देखते हैं और उनके प्राणमें साँस लेते हैं। भगवान्‌ने कभी हमको अपनी गोदमें-से अलग नहीं किया। और हम उसकी याद भी नहीं करते हैं। वे देखते रहते हैं। हम कभी उनकी ओर देखते भी नहीं है कि हमको देखनेवाला भी कोई है।

जब भगवान्‌के रागका चिन्तन होता है—वे हमसे कितना प्रेम करते हैं, हमसे कैसे मिले हुए हैं, हम उनके अंश, वे अंशी। जब भगवान्‌के इस रागका चिन्तन होता है, तब हमारे मनमें अनुरागका उदय होता है। भक्ति अनुरागात्मिका वृत्तिका नाम होता है—यदि आप भगवान्‌के बच्चे न होते तो सूर्यकी रोशनीका बिल आता। वर्षाका जल गिरता है उसका बिल आता। म्युनिस्पैलिटी पानी और विजलीका बिल भेजती है न! और

आपके पास पंखेकी हवा आती है, उसका बिल आता है कि नहीं! आपके पास भगवान्‌का बिल नहीं आता। न हाउस-टैक्स देते हैं धरतीपर रहनेके लिए। भगवान्‌ने कभी धरतीपर रहनेका हाउस-टैक्स माँगा नहीं। क्योंकि हम उनके बेटे हैं। इतना राग भगवान्‌का हमारे साथ है—हवाका टैक्स नहीं, रोशनीका टैक्स नहीं, पानीका टैक्स नहीं, धरतीका टैक्स नहीं और हमको कभी चार फूल चढ़ाते हो—चार अक्षत चढ़ाते हो तो झट सवाल हो जाता है क्यों चढ़ावें?

यह जो कृतघ्नता है—अपने पिताके प्रति, अपनी माताके प्रति, अपने दाताके प्रति, अपने शरण्यके प्रति--यही दु:ख देती है। अनुरागात्मिका होती है भक्ति और वह रहती है वृत्तिमें। वृत्तिके द्वारा भगवान् कैसे मालूम पड़ेंगे? कैसे दिखेंगे? वृत्तिसे तो भगवान् नहीं दिखने चाहिए। नहीं, अब इस संसारके विषयोंका राग ज्यों-ज्यों छूटता जाता है त्यों-त्यों हमारी वृत्ति चिन्मयी होती जाती है। और जहाँ केवल भगवद्राग ही भगवद्राग रह जाता है, वहाँ तो हमारी यह भक्ति चिद्रूपा हो जाती है। परमानन्दमयी हो जाती है। तब भगवान्‌में और हमारी वृत्तिमें कोई भेद नहीं रहता।

एवं विधा—भगवान् कैसे? कहा ऐसे। किसीने पूछा भगवान् कैसे? महात्माने कहा तुम जैसे! ऐसे ही है। इस शरीरमें जैसे हम हैं वैसे संसारमें भगवान् हैं और शरीर और संसारको एक बार मन-ही-मन बट्टे खातेमें डाल दो। हिसाबमें अन्तर हो तो क्या करते हैं? उचन्त खातेमें डाल देते हैं। परमात्माके अद्वितीय अनन्त स्वरूपमें देहका और प्रपञ्चका कोई गणित बैठता ही नहीं है, क्योंकि अद्वितीय बटे दो होता नहीं है। अद्वितीय, अद्वितीय दो होता नहीं है। तो जो अद्वितीय अधिष्ठान है, उसमें यह गड़बड़झाला आया कहाँसे? इसका तो हिसाब नहीं लगता है।

अच्छा थोड़ी देरके लिए इसको बट्टे खातेमें डाल दो। इसका हिसाब-किताब मत देखो। शरीर और प्रपंच जहाँ है वहाँ रहने दो। देखो शरीर और प्रपंचके बिना—इसका नाम वेदान्त है—यह हम लोगोंके मध्य बातचीतका वेदान्त है। हमको अधिष्ठान, अध्यस्त उपाधि और अवच्छेद, इन शब्दोंके प्रयोगकी जरूरत नहीं है। हम घरेलू भाषामें वेदान्तकी सब बात बोल सकते हैं।

देखो, वेदान्तमें एक अध्यास शब्द है। अध्यास कैसे होता है? रास्तेमें मोटरसे चलते हैं। दूरपर एक श्रीमतीजी गेरुए कपड़े पहनकर आ रही हैं। गेरुए कपड़े पहननेका आजकल शौक है। दूरसे मालूम पड़ा कि एक बहुत बड़े संन्यासी महात्मा गजगतिसे चले आ रहे हैं। यह हुआ कि महात्माजी आ रहे हैं। हाथ जोड़े! जब मोटर पास पहुँची तो वह तो श्रीमतीजी थीं। महिला थीं। श्रीमतीमें जो संन्यासीपनेका भ्रम हुआ, इसी भ्रमको अध्यास कहते हैं। संस्कृत भाषामें उसका नाम अध्यास होता है। 'अतस्मिंस्तद् बुद्धि:' जो चीज जैसी नहीं है उसको वैसा मान लेना।

एक मजहबी आदमीको मनुष्य मान लेना भ्रम ही है। वह तो मनुष्य नहीं है—टुकड़ा है। एक कणिका है। मनुष्य तो मनुष्य है। अनन्य भक्ति होती है, उसको भगवान् कैसे देखते हैं? एवं विधा विश्वके रूपमें भगवान् देखते हैं। नरक भी भगवान्‌के गुह्यदेशमें है, अधर्म भी भगवान्‌के पृष्ठ देशमें है। धर्म भी

भगवान्के वक्ष:स्थलपर है। समग्र विश्वसृष्टि जो है वह भगवान्के स्वरूपमें है। कहाँ राग? कहाँ द्वेष? यह तो मच्छरका काम है—बन्दरका काम है।

बन्दरका काम क्या है? एक राजाने बन्दर पाल रखा था। बड़ा प्रेम करता था उससे और बन्दरका भी राजापर बड़ा प्रेम था। जब राजा सो जाता तो बन्दर प्रेमके कारण बैठकर पहरा देता था कि हमारे मित्रपर कोई मक्खी न आवे, मच्छर न आवे। एक दिन राजा साहब सो रहे थे, उनकी नाकपर एक मक्खी आकर बैठ गयी। बन्दरने उसे उड़ा दिया, वह फिर उड़ानेपर फिर आकर बैठ गयी। झुँझलाकर बन्दरने उठाकर मच्छरको ऐसी तलवार मारी कि मच्छर तो उड़ गया और राजा साहबकी नाक कट गयी।

यह मजहबी लोग मक्खीसे बचाना चाहते हैं और ईश्वरको ही काट देते हैं। मेरे ईश्वर तुम्हारे नहीं, तुम्हारे ईश्वर मेरे नहीं। ईश्वरका बँटवारा करनेवाले ये मजहबी लोग ज्ञानका बँटवारा कर लेते हैं और इसका फल यह होता है कि उसका आनन्द भी चूर-चूर होकर तड़फड़ाता है। सिर अलग कटकर गिर गया। धड़ अलग कटकर गिर गया। देह कटकर गिर गयी। हमने बचपनमें सूअरको काटते देखा था। भैंसे काटते भी देखे थे। एक हाथ जोरसे मारते हैं। सूअरका सिर अलग छटपटा रहा है। धड़ अलग छटपटा रहा है। एसे ही मजहबी लोगोंने ईश्वरको टुकड़े-टुकड़े किया—ज्ञानको टुकड़े-टुकड़े किया। आनन्दको टुकड़े-टुकड़े किया—सत्ताको टुकड़े-टुकड़े कर दिया। मेरा-तेरा कर तोड़ दिया।

यह हुआ अच्छी भावनासे, पर उसका जो परिणाम निकला वह हमारे सामने है। शिया-सुन्नीका क्या एक आचार्य नहीं है? क्या ईसाइयोंके जो दो दल हैं उनके एक आचार्य नहीं हैं? क्या शैव और वैष्णव दोनोंका एक ही वेद नहीं है? भेद सब ऐसे ही है। हमारे सब वैदिक हैं। बौद्ध भी वैदिक हैं। जैन भी वैदिक, ईसाई मुसलमान भी वैदिक हैं। ईश्वरको मानते हैं, सदाचारको मानते हैं, जो सदाचार मात्रको मानता है, वह वैदिक हो गया जो। समाधि मात्रको मानता है वह वैदिक हो गया। जो वीतरागताको मानता है, वह वैदिक हो गया। जो अहिंसाको मानता है वह वैदिक हो गया।

जो नमस्कारको मानता है वह वैदिक हो गया। जो प्रार्थनाको मानता है वह वैदिक हो गया। लड़ाई काहेकी? झगड़ा काहेका? यह जो अनन्य भक्ति है उससे 'एवं वेद' अर्थात् उस स्वरूपमें भगवान् दिखाई पड़ते हैं। 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप'—जान लो, देख लो, घुस जाओ, एक हो जाओ—'ज्ञातुम्' माने जान लो, जानने योग्य है। 'द्रष्टुम्' माने देख लो—देखने योग्य है और 'तत्त्वेन प्रवेष्टुम्' प्रविष्ट हो जाओ—यह कैसे होता है? अनन्य भक्तिसे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 10

(28-11-82)

वेदका, शास्त्रका, यह सनातन सिद्धान्त है कि परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है नहीं। अर्थात् परमात्मा ही सब कुछ है। जब हम कहते हैं कि परमात्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो उसका अर्थ होता है कि रज्जु ही है, सर्प नहीं परन्तु यह सिद्धान्त है, महात्माओंका अनुभव।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 7.19

बहुत जन्मोंके बाद ज्ञानवान् होता है और ज्ञानवान् होकर सब वासुदेव हैं, यह अनुभूति होती है। जब हम महात्माओंके उदात्त और उदार सिद्धान्तोंका वर्णन करने लगते हैं तो जिसकी दृष्टि महात्माओंके विस्तीर्ण अनुभवको नहीं ग्रहण करती है, उन लोगोंको थोड़ा अटपटा-सा लगता है।

सचमुच यह दृष्टि उत्तम कोटिकी है। सर्वोत्तम है निरुत्तर, निरतिशय; पर महात्माओंकी यह दृष्टि सबके हृदयमें आजाय, ऐसा सुगम भी नहीं है और इसके लिए जो प्रयास करेंगे कि सब लोग इसीका अनुभव करे, उनको भी कष्ट ही होगा। रह गयी सिद्धान्तकी बात तो इस सिद्धान्तका अनुभव करनेके लिए अनन्य भक्ति चाहिए। अनन्य भक्तिका अर्थ है ऐसी भक्ति जिसमें भगवान्के अतिरिक्त आपको जो दिखता है, उससे अपनी दृष्टि हटाते जाना। आपकी नजरमें क्या ईश्वर मालूम पड़ता है? जो आपको स्वयं आपकी दृष्टिमें ईश्वर मालूम पड़ता है? जो आपको स्वयं आपकी दृष्टिमें ईश्वर न मालूम पड़े, आप स्वयं सोचें कि वह ईश्वर नहीं है, यह तो चोर है, यह तो भूत-प्रेत है, यह तो जड़ है, यह तो कोई छोटा-मोटा देवता है, तो उसके साथ अपने हृदयको मत जोड़िये। जब आप अपना दिल कहीं चस्पा कर देंगे, जैसे कहीं दिलचस्पी कर लेंगे तो वह आपके दिलमें घर कर जायगा।

आपकी रुचि क्या है? सर्वात्माको, विश्वात्माको, परमेश्वरके रूपमें अनुभव करके सर्वथा राग-द्वेष विनिर्मुक्त, जीवन-मुक्त होनेकी है कि थोड़ा-थोड़ा राग-द्वेष रखकर अपनी रुचिके अनुसार बरतनेकी है, कि ईश्वरकी रुचिमें रुचि मिला देनेकी है? भक्ति चाहिए अनन्य और अनन्य भक्तिसे आप समझ सकेंगे कि यह सब परमेश्वर है। केवल समझ नहीं सकेंगे, देख भी सकेंगे। और केवल देख ही नहीं सकेंगे उससे एकमेक हो सकेंगे। उसमें प्रवेश कर सकेंगे।

आगे जो श्लोक है वह समापनका श्लोक है। कई लोग समाप्ति शब्द बोलनेमें हिचकिचाते हैं। इसकी समाप्ति नहीं होनी चाहिए तो सम्पन्न होना बोलते हैं। सम्पूर्ण होना बोलते हैं। पूर्णाहुति बोलते हैं। पर संस्कृत भाषामें समाप्ति शब्दका अर्थ बहुत सुन्दर है। आप्ति माने प्राप्ति। जैसे आप कोई व्यापार करते हैं तो उसमें जो प्रॉफिट होता है, वह प्राप्तिका प्रॉफिट है—लाभ। इसीके लिए संस्कृतमें प्राप्ति शब्द है। आप्ति माने प्राप्ति, आप्तिके मुँहपर 'प्र' लगा दिया तो प्राप्ति हो गयी। 'आप्त' धातु जो है वह प्राप्तिके अर्थमें है, लाभके

अर्थमें समाप्तिका अर्थ होता है 'सम्यक् प्राप्ति'। आपने अबतक जो कुछ किया जो कुछ सुना, जो कुछ समझा उससे जो वस्तु आपको फलके रूपमें भलीभाँति मिल गयी, उसका नाम है समाप्ति। समाप्ति शब्दसे डरनेका कोई कारण नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण भी इस विश्वरूप योगका जो अध्याय है उसको समाप्त करते हैं। समाप्त करते हैं माने समग्र विश्वरूपाध्यायके श्रवणसे, पाठसे, जो 'प्राप्ति' हुई, जो फल मिला, मनुष्यके जीवनमें जो आना चाहिए उसका वर्णन करते हैं। चौवनवाँ श्लोक उपपादन है और पचपनवाँ श्लोक समाप्ति है। और यही बारहवें अध्यायका बीज है। यह ग्यारहवें अध्यायकी समाप्ति है और बारहवेंका अंकुर इसीमें-से निकलता है। इसमें जो अनन्य भक्ति कही गयी है, उस भक्तिसे सम्पन्न पुरुषकी पहचान बतायी गयी है, उसका जीवन बताया गया है, उसकी रहनी बतायी गयी है।

जिसने विश्वरूपका दर्शन कर लिया, जिसने विश्वरूपके रूपमें भगवान्को पहचान लिया, वह तो भक्ति किये बिना रह ही नहीं सकता है। भक्ति माने प्रीति-विशिष्ट सेवा। प्रेमसे सेवा करना। यह भक्तिका व्यावहारिक अर्थ है। यह प्रीति हमारे जीवनमें जपसे भी आ सकती है। तपसे भी आ सकती है। पूजासे भी आ सकती है, पाठसे भी आ सकती है, ध्यानसे भी आ सकती है—इस भक्तिके आनेके साधन बहुत हैं पर आनेके बाद जीवन कैसा होता है, यह मद्भक्त जो है वह इसमें प्रतिपाद्य है और उसके प्रतिपादक चार तत्व हैं।

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 11.55

अर्जुन, मेरे पास कौन आता है? मुझसे कौन मिलता है? मुझे कौन जानता है? मुझे कौन अनुभव करता है? यह एक ही जो क्रियापद है 'माम् एति यः' इण् मतौ' संस्कृतमें जो धातु है, जिसका अर्थ आना-जाना दोनों हैं—'मामेति' में जो कर्म 'माम्' है, इसलिए आना-जाना हो गया। जानना और संसारसे मुक्त होना। चार अर्थ है—इण् गतौका; 'गमन-ज्ञान मोक्षेषु प्राप्तौ चापि गतिर्मता'। इण् धातुका अर्थ है—गति और गतिका अर्थ है—भगवान्के पास आना—'मामेति','माम् जानाति' 'प्रपञ्चात् मुच्यते', 'बन्धानान्मुच्यते','माम् प्राप्नोति'। जो मेरा भक्त होता है वह मेरे पास आजाता है। मुझे जान लेता है। संसारसे छूट जाता है। और मुझसे एक हो जाता है। भक्तके लिए ये चार बात कही गयीं।

भक्त होता कैसा है? संस्कृत भाषाका यह चमत्कार है—'मम भक्तः मद्भक्तः' जो मेरा भक्त है उसको मद्भक्त कहेंगे। पर यही शब्द यदि बहुव्रीहि समासमें प्रयुक्त हो तो उसका अर्थ हो जायेगा—'अहं भक्तो यस्य मद्भक्तः'—मैं जिसका भक्त हूँ, वह'। भगवान् कहते हैं मैं उस भक्तकी सेवा करता हूँ। मैं उस महात्माकी, उस मनुष्यकी सेवा करता हूँ। मद्भक्तका अर्थ यही नहीं होगा कि वह मेरा भक्त है—उसका अर्थ होगा—मैं उसका भक्त हूँ। दोनों ही अर्थ होंगे।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। 7.17

ज्ञानीका प्यारा मैं हूँ और मेरा प्यारा ज्ञानी है। वह मेरे प्यारको देख-देखकर उल्लसित होता रहता है।

प्रेम होनेपर भी अगर मनमें यह हो कि इतना देंगे—इतना नहीं देंगे—आत्मदानमें सङ्कोच हो—प्रेम तो बहुत है पर देखो भाई, पाँच रुपयेसे ज्यादा नहीं देंगे। यह बहुत प्रेमका लक्षण नहीं है। जहाँ प्रेम हुआ वहाँ हृदय खिल गया, हृदय खुल गया। वहाँ मेरा, तेराका भेट मिट गया। उधरसे प्रीति आ रही है, इधरसे प्रीति जा रही है। प्रीतिमें दोनों लहरा रहे हैं। एक तरङ्ग उधरसे आयी—एक तरङ्ग इधरसे गयी—दोनों मिलकर एक हो गयीं—'उद्यन्ति—खेलन्ति—प्रविशन्ति। प्रेमकी लहर उठ रही है, आपसमें टकरा रही हैं—आपसमें खेल रही हैं और एक दूसरेसे मिल रही हैं।

जब महात्मा भगवान्‌के प्रेममें तन्मय हो जाता है, तल्लीन हो जाता है, तब भगवान् ही इष्ट नहीं रहते हैं—भक्त भी इष्ट हो जाता है। यह बात आपने गीतामें पढ़ी होगी—स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—इष्टोऽसि मे दृढमिति (१८.६४)। अर्जुन, तुम मेरे इष्ट हो—इष्टका अर्थ है कि यदि अर्जुन होम करे तो 'श्रीकृष्णाय स्वाहा' करे। श्रीकृष्णाय इदम् न मम'—'यज्' धातुसे इष्ट शब्द बनता है और यदि श्रीकृष्णको होम करना हो तो बोले 'अर्जुनाय इदं न मम'—यह अर्जुनके लिए हैं मेरे लिए नहीं और अर्जुन कहे यह कृष्णके लिए है—मेरे लिए नहीं। इष्टोऽसि मे दृढमिति।

जो भगवान्‌का प्रेमसे भजन करते हैं—उनका भजन भगवान् करते हैं—यह भी गीतामें है। 'मद्भक्तः' के दोनों अर्थ होंगे—यह है कि अन्य भाषामें इसका अनुवाद किया जायेगा तो बेचारा अनुवाद क्या करेगा? उसको तो यही कहना पड़ेगा कि जो भगवान्‌का भक्त है, उसका नाम मद्भक्त। अब वह चाहे हिन्दीमें करे कि बंगलामें करे कि अंग्रेजीमें करे। उसको तो मेरा भक्त ही कहना पड़ेगा। यह तो संस्कृतकी प्रकृति है जो तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों कर देती है।

मेरे भक्तका लक्षण क्या है? मैं कई बार बोलता हूँ तो आप शायद ऊब जाते हों, बोर हो जाते हों। यहाँ भक्तके चार लक्षण बताये हैं—आड़ा चन्दन कैसे होता है? खड़ा चन्दन नाककी नोकसे शुरू होता है और कोई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है। इसीका नाम भक्ति है? कोई लाल कपड़ा पहनते हैं, कोई पीला पहनते हैं—इसीका नाम भक्ति है? कोई तुलसीकी माला पहनते हैं, कोई रुद्राक्षकी, कोई लाल चन्दनकी माला पहनते हैं, कोई स्फटिककी माला पहनते हैं। क्या इसीका नाम भक्ति है? यह भगवान्‌ने अपने भक्तकी चार पहचान दिखाई। दो हैं भीतरी जीवनमें और दो हैं व्यवहारमें—'मत्कर्मकृत्'=मदर्थं कर्म करोति इति मत्कर्मकृत्'। यह जो विश्वरूप परमात्मा हैं उनके लिए जो कर्म करता है। इस प्रसङ्गमें विश्वरूप ही परमात्मा है।

शंकराचार्यने परमेश्वरको विश्वरूप कहा है। पहला कदम यही है कि हम अपनेको देहमें-से निकालकर विश्वरूपमें अनुभव करें। दूसरा कदम यह है कि सूक्ष्म समष्टिके रूपमें अपनेको अनुभव करें। तीसरा कदम यह है कि कारणमें जो प्राज्ञ ईश्वर चैतन्य है, उसके रूपमें अनुभव करें। और चौथा कदम यह है कि तुरीय ब्रह्मके रूपमें अनुभव करें। भक्तिका पहला कदम यह है कि आप जो कर्म करते हैं वह किसके लिए? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋग्वेद 10.121.1)। इसका अर्थ है—'एकस्मै देवाय हविषा-विधेम' एक हि देवताके लिए हम काम करते हैं। जैसे पुत्र अपनी माताके लिए। जैसे पत्नी अपने पतिके लिए। माताके

लिए कर्म करनेमें भी उसके दूसरे पुत्रोंका, उसके सम्बन्धियोंका ध्यान रखना पड़ता है। माँ की तो भक्ति करें और माँके भाईका तिरस्कार करें। वह नहीं बनता है। माँ की भक्ति करें और माँके दूसरे पुत्रोंका तिरस्कार कर दें। यह नहीं बनता है। पत्नी अपने पतिकी तो भक्ति करे लेकिन उसके भाइयोंका, उसके पिताका तिरस्कार करे—उसकी माताका तिरस्कार करे, यह पतिभक्ति नहीं होगी।

पतिकी सेवा माने पतिको सुख पहुँचाना, तो जो पतिके सगे सम्बन्धी हैं, जो मित्र हैं उनको भी सुख पहुँचानेमें पतिभक्ति होती है, भगवान्‌की भक्ति। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'—यहाँ एकका लोप हो गया है—इसको 'आदि वर्ण लोप' कहते हैं। 'ए' वर्णका यहाँ नाश हो गया है। नाश माने अदर्शन—बोलनेके लिए दिखता नहीं है।

आप जो काम करते हैं वह किसके लिए? दूसरेको हानि पहुँचानेके लिए करते हैं? निरर्थक करते हैं? अपने व्यक्तिगत लाभके लिए करते हैं—सीमित लाभके लिए करते हैं? भगवान्‌ने कहा 'मत्कर्मकृत्'। देखो भाई, तुम यदि भक्त होना चाहते हो तो सारे काम मेरे लिए करो। 'मदर्थं यत् कर्म तत् करोति'— 'करोति इति कृत्'। जो भी काम करो, यह देख लो—ऐसी गुरुपूजा मत करो—एक पाँव तुम्हारा, एक पाँव मेरा—तुम्हारेवाला पाँव मेरे पाँवपर चढ़ बैठा तो उसको डण्डा मारो। ऐसी गुरुभक्ति मत करो। दोनों पांव गुरुजीके हैं। ऐसी गुरुभक्ति करो—दोनों पाँव भगवान्‌के हैं, ऐसी भक्ति करो। कर्मका उद्देश्य माने संकल्प—अन्त:करण-शुद्ध्यर्थम् भगवत्प्रसाद-सिद्ध्यर्थम्—हमारा हृदय शुद्ध हो, उसमें भगवान्‌की प्रसन्नता चमाचम चमकने लगे—भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए, उनके अनुभवके लिए कर्म करो, यह पहली बात है।

यह भक्तका पहला लक्षण है कि उसके कर्मकी दिशा कौन-सी है, वह किधर जा रहा है? दूसरी बात आयी कि 'मत्परम:'—अगर हम सब काम भगवान्‌के लिए करने लगेंगे तो खाना पीना कहाँसे मिलेगा? मकान कहाँसे मिलेगा? हमारी इज्जत कहाँसे बढ़ेगी? अगर हम सब काम तुम्हारे ही लिए करेंगे तो हमारा क्या होगा? हृदयमें शरीरसे जो काम हो रहा है, वह भगवान्‌के लिए और हृदयमें 'मत्परम:'। मेरा ही भरोसा हो 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (9.22)—मेरी प्रतिज्ञाके अनुसार मेरे लिए जो काम करेगा वह तो मेरा हाथ है। वह तो भगवान्‌का हाथ हो गया। उसके योगक्षेमकी क्या बात रही? जब हृद् देशस्थ भगवान्‌के लिए वह कर्म कर रहा है—आप अपने हृदयमें रस-रक्त पहुँचानेके लिए भोजन कर रहे हैं—अपने हृदयको बलवान् बनानेके लिए कोई काम कर रहे हैं, तो आपके हाथको रस-रक्त मिलेगा या नहीं? सिरको रस-रक्त मिलेगा या नहीं? 'मत्परम:' का अर्थ है—विश्वास मुझपर रखें—महाविश्वास रखें, भगवान्‌पर—'अहमेव परमो यस्य स मत्परम:'। उसका परम तत्त्व मैं हूँ। यह दोनों हुई उसके जीवनकी बात—एक कर्मकी और एक महाविश्वासकी। यह भक्तका जीवन है।

दो बात और बताते हैं। देखो भाई, चाहे जिससे मिलो, चाहे जिससे जुलो। जिसके साथ हँसो-खेलो, घूम आओ बाजारमें—देख आओ दूकान—ले आओ सौदा, लेकिन कहीं दूकानदारके साथ ही चिपक मत जाना।

एक पत्नीने हमसे बताया कि मैं एक दुकानपर सौदा लेने जाती हूँ तो मेरे पतिदेव शंका करते हैं कि बार-बार उसी दूकान पर ही क्यों जाती हो? देखो कितनी मोटी बात है? जब हम भगवान्‌का काम करनेके लिए संसारमें प्रवेश करते हैं तो संसारमें कहीं किसीसे हमारी आसक्ति न हो जाय। संग न हो जाय—किसीके साथ चिपक जानेका नाम संग होता है। संस्कृत भाषामें साथ-साथ होनेका नाम संग नहीं है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ 2.62

कहीं किसी चीजमें चिपक जाते हैं। यही चीज तो हमारे साथ रहनी ही चाहिए। काममें चिपक जाते हैं। भोजनमें चिपक जाते हैं। कपड़ेमें चिपक जाते हैं। आदमीके साथ चिपक जाते हैं। पशु-पक्षीमें चिपक जाते हैं। देवतामें चिपक जाते हैं। दुआ-सलाम सबके साथ करो, व्यवहार सबके साथ करो। दुआ भी करो, सलाम भी करो, लेकिन कहीं आसक्ति मत करो। चिपको मत—चिपको तो एक भगवान्‌के साथ, जो अपना आत्मा है। यह भक्तिका तीसरा लक्षण हुआ।

न प्रपञ्चमें, न वस्तुमें, न क्रियामें, न भोगमें, न भावमें—

तात-मात गुरु सखा सब विधि हितु मेरो।
मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे॥

जैसे भगवान् रखें वैसे ही रहनेको तैयार हैं। बेचें तो बिक जाऊँ—मारे तो मर जाऊँ—चाहे हरिण बनाकर प्यार करें, चाहे तोता बनाकर पढ़ावें—चाहे बगुला बनाकर बैठावें। जैसे नाच नचावें, नाचनेके लिए तैयार हैं।

चौथी बात बतायी—'निर्वैरः सर्वभूतेषु'। किसीके प्रति वैर न करो। 'बैर न कर काहू से न कोई'। किसीसे बैर मत करो। यह बैरकी आग जब हृदयमें जलती है। आप लोगोंको तो मालूम ही होगा—ये जो जलनेवाली लकड़ियाँ होती हैं—इनमें बेरकी लकड़ीकी आग सबसे तेज होती है। बदरीफलकी बड़ी तेज आग होती है। उसको जाड़ेके दिनोंमें भी तापना मुश्किल होता है। किसीके साथ बैर मत करो। बैराग्नि अपने हृदयको ही जला देती है। 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' का अर्थ है अपने हृदयमें किसीके प्रति बैर न रहे।

जो मेरा भक्त है, उसकी भक्ति मैं स्वयं करता हूँ। मैं अपने भक्तके पीछे-पीछे चलता हूँ। क्योंकि उसके चरणोंकी धूलि मेरे ऊपर पड़ जाय तो मैं पवित्र हो जाऊँ। फिर वही बात कहनी पड़ेगी—ऐसा भगवान् किसी मजहबमें नहीं मिलेगा। नाम लेकर हम बोल दें। कौन-से मजहबमें ऐसा भगवान् है—महाराज, उनको पीछे-पीछे चलनेवाला क्या बनाओगे, जब शकल-सूरत ही नहीं है। सम्पूर्ण विश्वके स्वामी होकर भी अपने भक्तकी चरणरेणु लेनेके लिए भगवान् व्याकुल हैं।

किसीने पूछा—भगवन्, यह क्या करते हैं? तो भगवान्‌ने बताया भाई, हमारे अन्दर एक दोष है—क्या दोष है? मैं मायावी हूँ, कपटी हूँ। क्यों कपटी हो? एक भक्त तो अपना सर्वस्व अर्पण करके मेरा अनन्य भक्त होता है। परन्तु मैं अपना सर्वस्व अर्पण करके एक भक्तका अनन्य भक्त नहीं होता। सब भक्तोंसे यही कहता

हूँ—'मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा हूँ'—यह जो मेरे अन्दर माया है, उस मायाका दोष दूर करनेके लिए मैं अपने भक्तोंके चरणकी धूलि धारण करके अपनेको पवित्र करता हूँ।

'निर्वैर:' जो किसीसे बैर नहीं करता है, उसके चरणोंकी धूलि मुझे चाहिए। उससे मैं पवित्र होता हूँ। अब इसीमें-से 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' आदि भक्तके लक्षण बारहवें अध्यायमें निकलेंगे। शंकराचार्यका अभिप्राय है कि यह विश्वरूपकी भक्ति है। और श्रीरामानुजाचार्यका अभिप्राय है कि यह चतुर्भुज नारायणकी भक्ति है।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन।

मध्वाचार्यका भी यही अभिप्राय है। निम्बार्काचार्य, चैतन्य-महाप्रभु और बल्लभाचार्य भी कहते हैं 'दृष्टवेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन'—यह द्विभुजकी भक्ति है। बारहवें अध्यायमें सुनाऊँगा कि भक्ति कैसी है? किसकी है? मनुष्यकी भक्ति करके मेरी भक्ति सीख नहीं लोगे तो चतुर्भुजकी भक्ति भी नहीं और चतुर्भुजकी यदि भक्ति करके सीख नहीं लोगे तो विश्वरूपकी भक्ति कैसे होगी? और विश्वरूपकी भक्ति नहीं कर लोगे तो हिरण्यगर्भ ईश्वरकी भक्ति भी नहीं होगी। और यदि अपना जीवन भक्तिमय नहीं हो जायेगा तो तुरीय तत्त्वसे एकताका अनुभव भी नहीं होगा। भगवान्‌के पास आनेकी व्यवस्था स्वयं भगवान्‌ने कर दी, आजाओ मेरे पास!

अब आप लोगोंको धन्यवाद क्या दें? धन्यवाद न देनेके लिए एक बहुत बढ़िया युक्ति है। वह आपको सुना दें। आप सब लोग तो अपने ही है। जो मैं हूँ—सो ही आप हैं। तो अपने आपको कोई धन्यवाद दिया जाता है? लो बच गये भाई! यह गीताप्रेसी परम्परा है। किसीको धन्यवाद न देना हो तो कहते हैं—आप तो अपने ही हैं। आपको धन्यवाद देनेमें हमको संकोच होता है। हम उनका नाम यदि छाप देंगे तो उनको बहुत संकोच होगा, क्योंकि वे अपना नाम छपाना तो चाहते नहीं है—इसलिए उनको संकोचमें डालना यह हमारा कर्तव्य नहीं है। नाम छापनेसे बच गये!

श्री घनश्यामदासजी बिरलाका संकल्प, उनकी प्रेरणा और बसन्तकुमारजी और सरलाका यह आयोजन और आप सब लोगोंका श्रवणमें सहयोग प्रशंसनीय है। असलमें मैं वक्ता नहीं हूँ और आप श्रोता नहीं है। एक ही परमेश्वर प्रेरक हैं। वही कर्ता हैं, वही वक्ता है, वही श्रोता है। यही विश्वरूपका अर्थ है। एक ही परमात्मा भरपूर हो रहा है और इसीका नाम 'सम्यक् आप्ति'= प्राप्ति=सबसे बड़ा लाभ यह है कि हमारे-हृदयसे राग-द्वेष दूर होकर सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन होने लगे।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

गीता-दर्शन

(10)

गीता अध्याय -12

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

मंगलं मंगलम्

भगवान्‌की कृपासे गीता-दर्शनका यह दशम भाग आपके सम्मुख उपस्थित है। कर्मयोगी श्रीघनश्यामदासजी बिरलाकी प्रेरणासे परम प्रिय श्रीसरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरलाके आयोजनमें वर्षोंसे गीता-दर्शन आपके पास पहुँच रहा है। भगवान्‌की मंगलमयी भक्तिका बारहवें अध्यायमें पूर्ण निरूपण है, उसीका यह संकलन है। बिरला-परिवारपर भगवान्‌की ऐसी ही कृपा बनी रहे जिससे कि वह समग्र परिवार और इष्ट-मित्रों सहित इस मंगलमय कार्यमें प्रवृत्त रहें।

मंगलं मंगलम्!

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय -12

प्रवचन : 1

11-11-83

पहले श्रीगणेशका स्मरण करते हैं। गणेशका अर्थ यह है कि जो गण-गण-गण अलग हो जाते हैं, विषयोंके गण, इन्द्रियोंके गण मनोवृत्तियोंके गण टुकड़े-टुकड़े -जैसे सेना हो और उसका कोई नायक न हो, कोई स्वामी न हो, गणोंका संचालक न हो तो ये विघ्नरूप हो जाते हैं। जहाँ इनमें फूट पड़ी-जैसे कई संस्थाएँ बन रही हों या संस्थाओंके कई सदस्य हों, उनमें फूट पड़ जाय तो वे कोई काम नहीं कर सकतीं।

ऐसे ही जो हमारे भिन्न-भिन्न गण हैं-विनायक, नायक-रहित हो जाते हैं। विघ्नदाताओंको ही संस्कृत भाषामें विनायक बोलते हैं। उन विनायकोंके जो स्वामी हैं-गणेश, वे हमारे विषयभोगको भी व्यवस्थित रखें, कर्मेद्रियोंको भी व्यवस्थित रखें, ज्ञानेद्रियोंको भी व्यवस्थित रखें; मनोवृत्तियोंके जो गण हैं उनको भी व्यवस्थित रखें, और काम, क्रोध आदि जो विघ्न हैं, उन विघ्नोंका निवारण करें। इसलिए किसी भी कर्मके प्रारम्भमें गणेशका स्मरण किया जाता है। आपके कारखानोंमें भी यदि कई यूनियन हों तो उनके जो अध्यक्ष हों, उनको अपने हाथमें रखना चाहिए।

पहले गणेशको नमस्कार कर रहे हैं। फिर ज्ञानदाता सद्गुरुके लिए नमस्कार। फिर ये जो वाग् देवता हैं—सरस्वती माने वाणी—'अमुष्य वाणी रसनाग्रनर्तकी' श्री हर्षने कहा कि इनकी जीभपर सरस्वती नाचती है। हमारे भीतर जो छिपे हुए तत्त्व हैं उनको बाहर लाकर प्रकट करनेवाली वाग्देवता हैं। जो जीवनमें ज्ञानका संचय हुआ है, पाँच नदियोंने ले जाकर जो हृदयमें रसकी धारा संचित की है, उस रससार-संग्रहको, बाहर उँड़ेलती हैं-वाग्देवी, वे जिह्वापर आकर अपना काम करें। भागवतमें है-'सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे'- भगवान् मेरी वाणीको अलंकृत करें।

भगवद्गीता-यह भगवती गीता है-यह भगवान्के द्वारा गीत है। भगवान्का संगीत है। आप इस बातकी कल्पना कीजिये कि रणभूमिमें, युद्धभूमिमें, अर्जुन यह भूल जाता है कि हम किसी पक्षसे युद्ध करने आये हैं, या हमारे पक्षी-प्रतिपक्षी अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा करनके लिए उद्यत हैं, तैयार खड़े हैं, तत्पर हैं। अर्जुन प्रश्न करते हैं-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ 12.1

यह प्रश्न कोई गंगाकिनारे या हिमालयमें या वृन्दावनमें या किसी एकान्तवासी महात्माके सामने जाकर करता तो उचित लगता। परन्तु देखो उस अर्जुनकी ओर जो उस युद्धभूमिमें रहकर, युद्धके लिए

उपस्थित होकर, युद्धकी परिस्थितिको बिलकुल आँखोंसे ओझल कर सकता है, उसका मन कितना वशमें है, उसकी बुद्धिमें जिज्ञासाकी शक्ति कितनी है, जैसा कि कहीं कोई युद्धकी चर्चा ही न हो, युद्धकी स्थिति ही न हो, बड़ी शान्ति, बड़ी एकाग्रता बड़ी सफलताके साथ प्रश्न कर रहा है।

असलमें परिस्थितिसे ऊपर उठे बिना परमार्थ विषयक जिज्ञासा या तत्सम्बन्धी समाधान हो नहीं सकता। अर्जुन परिस्थितियोंसे ऊपर उठकर यह प्रश्न कर रहा है। यदि हम परिस्थितियोंकी हवासे उड़ते जायेंगे-जो कि सायं दूसरी, प्रातः दूसरी-उन परिस्थितियोंके चक्रवातमें यदि हम फँस जायेंगे तो शाश्वतकी, सत्यकी, यथार्थकी जिज्ञासा जीवनमें नहीं आ सकेगी। अर्जुनका प्रश्न है-अर्जुन माने जो ज्ञानका अर्जन करे, पाणिनीय व्याकरणके अनुसार अर्जुन शब्दकी व्युत्पत्ति ऐसी ही है। परन्तु नैरुक्त व्युत्पत्ति यह है-'ऋजुत्वात् अर्जुनः' जो सरल हो। ऋजुसे अर्जुन बना-यह निरुक्त है और अर्जनसे अर्जुन बना यह पाणिनीय व्याकरणसे है। कितनी सरलता है प्रश्नमें-

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

'एवम्' का अर्थ है- पूर्व अध्यायसे जैसा तुमने वर्णन किया। पूर्व अध्यायके अन्तमें भक्तको दो ओरसे घेर लिया गया है। 'मद्भक्तः' बीचमें और 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' पहले है और 'संगवर्जितः' और 'निर्वैरः' बादमें है।

हम जो कर्म करते हैं उसका उद्देश्य क्या है? 'भगवत्प्रीत्यर्थं'-यह हुआ 'मत्कर्मकृत्'-हम भगवान्की प्रसन्नताके लिए कर्म कर रहे हैं। प्रीति माने तृप्ति, प्रसन्नता। आप जो काम करते हैं, उसका उद्देश्य क्या है? मेरे लिए काम करो। माने सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी, सर्वस्वरूप प्रभुके लिए काम करो। अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं। भगवान्को ध्यानमें रखकर काम करो। 'मत्परमः' और भरोसा, आश्रय मेरा रखो। भगवान्के लिए काम और भगवान्का भरोसा, भगवान्का आश्रय-ये भक्तके दो पहिले लक्षण हैं। और दो दूसरे हैं-'संगवर्जितः' 'निर्वैरः'। किसीसे आसक्ति मत करो, किसीसे वैर मत करो। इन लक्षणोंसे युक्त भगवान्का भक्त है। उसके लिए भगवान्ने कहा कि ऐसा जो भक्त होता है, मुझे प्राप्त होता है। मुझे प्राप्त होता है माने जैसा मैं हूँ वैसा ही वह है। जैसे सबके हृदयमें रहकर सबको जीवन-दान करनेवाला सबको ज्ञान-दान देनेवाला, आनन्ददान करनेवाला, अन्तर्यामी जैसा मैं हूँ, वह मुझे प्राप्त हो जाता है, माने वह भी सबको जीवन देता है, सबको ज्ञान देता है, वह भी सबको आनन्द देता है। 'मामेति' मेरे पास पहुँच जाता है। मेरा अनुभव और उसका अनुभव एक हो जाता है।

इसका अर्थ है जैसे भगवान् अपनेको सर्वात्माके रूपमें अनुभव करते हैं वैसे वह भक्त भी अपनेको सर्वात्माके रूपमें अनुभव करने लगता है। 'एवं' अब उसके साथ बात जुड़ी 'सततयुक्ता ये भक्ताः त्वां उपसाते'। 'सतयुक्ता' का अर्थ ऐसा विलक्षण लगता है-सतत माने लगातार। जैसे कपड़ा बुनते हैं तो उसमें तानें-बानें होते हैं, उसीको संस्कृतमें 'तत' बोलते हैं। ढरकी-पर-ढरकी जो दोनों ओरसे आकर सूतोंको जोड़ती जाती है-लगातार, अगर एक बार भी चूक जाय तो कपड़ा ठीक नहीं बुनेगा। 'मया ततमिदम्'-'त्वया

ततमिदं'-'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप:' 'मया ततमिदं सर्वम्' 'येन सर्वमिदं ततम्।' तत शब्दका प्रयोग गीतामें वहुत बार है। सतत शब्दका अर्थ है लगातार, कहीं चूक न हो-एक पर एक, एक पर एक। शान्त वृत्ति और उदित वृत्ति। जो शान्त वृत्ति थी वह भी भगवदाकार और जो उदित वृत्ति हुई, वह भी भगवदाकार। भगवान्से जुड़े रहें।

यहाँ एक प्रश्न है कि आदमी लगातार ईश्वरके साथ कैसे जुड़ा रहे? यदि यह मानेंगे कि स्मृति बनी रहे, तो ऐसा दुनियामें कोई प्राणी नहीं है, न है, न हुआ है-न होगा-जिसकी स्मृति लगातार बनी रहे। स्मृतिका विज्ञान ही यह है। प्रीति और स्मृतिमें अन्तर होता है। जैसे आप अपने पुत्रसे प्रेम करते हैं, उनकी प्रीतिमें तो कोई अन्तर नहीं है। पत्नी, पति, माता, पिता सबसे प्रेम करते हैं परन्तु किसीकी लगातार स्मृति तो नहीं रहती है। कोई कहे कि प्रेमका स्मृतिके साथ कोई अव्यभिचरित सम्बन्ध है कि जहाँ प्रेम वहाँ निरन्तर याद रहेगी, यह नियम नहीं बना सकते। स्मृति हो, चाहे विस्मृति-पुत्रसे जो प्रेम है उसमें बाधा नहीं पड़ती है। जब हम उसको भूले हुए रहते हैं, उस समय भी उसका प्रेम हृदयमें ज्यों-का-त्यों बना ही रहता है। भगवान्के प्रति प्रीतिकी ऐसी स्थापना होनी चाहिए। जब हम सो जाते हैं और विस्मृतिके अत्यन्त गर्भमें लीन हो जाते हैं, उस समय भी पुत्रके प्रेममें कोई बाधा पड़ती हो, ऐसा देखनेमें नहीं आता।

तो भगवान्के प्रति ऐसी अन्तरंग प्रीति हो, जो मुर्च्छामें भी बनी रहे, सुषुप्तिमें भी बनी रहे, मृत्युमें भी बनी रहे, प्रलयमें भी बनी रहे। वह प्रीति क्या हो, अपने आत्माके साथ एक हो जाय। प्रीतिके स्वरूपको समझना पड़ेगा। 'सतत-युक्ता ये भक्ता:'। भक्त शब्दके अर्थपर विचार करें। प्रीति केवल एकसे ही होना चाहिए। अभी ग्यारहवें अध्यायमें आपने विश्वरूपका दर्शन किया है। और बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें निरन्तर जुड़े रहनेकी बात कही गयी है, निरन्तर-जुड़े रहना दो ही स्थितिमें हो सकता है-या तो सर्व-विषयके रूपमें विश्वरूप भगवान् अपने सामने हों-वृक्ष भी, लता भी, पशु भी, पक्षी भी, देवता, दानव, मानव, मुर्दा और जिन्दा-विश्वरूपमें हमने मुर्दे भी देखे हैं, जिन्दा भी देखे हैं। यदि सर्व विराट्का रूप है तो हम जो देखते हैं, जो सुनते हैं, जो छूते हैं, जो सूँघते हैं, जो चखते हैं- जहाँ चलते हैं, जहाँ करते हैं, उन सबोंसे कभी वियोग नहीं होगा, सतत युक्त रहेंगे।

एक पद्धति यह है कि सर्वरूपमें, विराट्रूपमें भगवान् हमारे सामने हैं और हम उसीमें देखते हैं, उसीमें चलते हैं। जो आँखोंसे देखते हैं वह भगवान्, जो कानसे सुनते हैं वह भगवान्। या तो सर्वमें विराट् बुद्धि, भगवद्-बुद्धि-सब भगवान्का स्वरूप है, ऐसा हो जाय और या तो आत्माके रूपमें जब परमात्माका बोध हो जाय तो आत्मासे वियोग तो कभी होगा ही नहीं। सततयुक्तके रूपमें या तो हमारी वृत्तियोंका आश्रय भगवान् हों तो वृत्ति सोयेगी भगवान्में, जागेगी भगवान्में, निरन्तर युक्त रहेगी भगवान्से। या तो हमारी वृत्तियोंके विषयके रूपमें भगवान् हों- सामने वही हों, उनके सिवाय और कोई न हो। अनेकों रूप धारण करके भगवान् ही हमारे सामने हैं। सतत युक्त रहेंगे। 'त्वां पर्युपासते'-'पर्युपासते' शब्दका अर्थ होता है 'परित: उपासते।' चारों ओर-जहाँ देखो वहाँ भगवान्। एक टीकाकारने इसका ऐसा अर्थ किया है। 'अप परिवर्जने'-यह पाणिनिका सूत्र

(१.४.८८) है। 'अप' और 'परि' ये तो उपसर्ग वर्जनके अर्थमें होते हैं। 'अन्यान् सर्वान् वर्जयित्वा इति परिवर्ज्य'। कोई दूसरा है यह चिन्तन छोड़कर भगवान्‌के पास, भगवान्‌में विराजमान हैं।

'त्वाम्'के अर्थपर विचार करें। 'त्वाम्'का अर्थ शंकराचार्यने किया 'विश्वरूपम्'। 'पर्युपासते'-जो विश्वरूपकी उपासना करते हैं। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। 'आत्मैवेदं सर्वम्'[1] 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'[2] 'स एवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्'[3] 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'।[4] श्रीरामानुजाचार्यने 'त्वाम्'का अर्थ किया है अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुणगण-निलय। जिनमें सौशील्य, वात्सल्य, सौकुमार्य, सौख्य, सौरभ्य-परम कृपामयी जिनकी मूर्ति है, उन भगवान्‌की, नारायणकी उपासना करते हैं। 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन'। बल्लभ और चैतन्य सम्प्रदायके आचार्योंने 'त्वाम्' का अर्थ किया-यह जो आपका परमसुन्दर, नन्दनन्दन, मुरलीमनोहर सौम्यरूप है-उसकी जो उपासना करते हैं। एक विभाग यह हुआ सगुण साकारकी उपासनाका।

अब प्रश्न यह है कि कोई सगुण-साकारकी उपासना न करके अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं।'ये चाप्यक्षरम् अव्यक्तम्'-दूसरे लोग ऐसे हैं वे कहते हैं कि व्यक्तिके रूपमें भगवान्‌की उपासना करनेसे हृदयमें जो संकीर्णता है, उसका निवारण नहीं हो सकता। छोटा-सा भगवान्, छोटा-सा दिल, छोटे-से मन्दिरमें, छोटा बनकर उसकी उपासना कर रहे हैं। तो भगवान्‌की जो पूर्णता है उनके साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 7.24

कोई-कोई ऐसे हैं बुद्धिमान्, जो अपनी परिच्छिन्नताको मिटाकर, अपनी सीमाको तोड़कर किसी प्रमाणसे जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, और जिसका कभी उदय-विलय नहीं होता है, जो अक्षर है 'न क्षरति' अथवा 'अश्नुते इति अक्षरम्' (महाभाष्यसे अक्षर शब्दकी व्युत्पत्ति है अश्नुते, व्याप्नोति) अनेक आकृतियोंमें एक है वह अक्षर है। जैसे लिपियाँ अनेक होनेपर भी अक्षर या वर्ण एक हैं। जो किसी भी इन्द्रियसे, करणसे, वृत्तिसे व्यक्त नहीं होता, व्यञ्जित नहीं होता, उसको अव्यक्त कहते हैं। उसकी उपासना करते हैं, कई बुद्धिमान् निर्गुणकी उपासना करते हैं। इस बातको मत भूलिये कि 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'-शंख बज चुका है, शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ होनेवाली है और अर्जुनका प्रश्न यह है कि सगुणसाकारके उपासकोंमें और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें योगवित्तम कौन है? योग माने परमात्माकी प्राप्तिके लिए उपाय है, उसको योग कहते हैं। उसको जो जाने उसको योगविद् कहते हैं। और जो जाननेवालोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उसको योगवित्तम कहते हैं। वित्-वित्तर-वित्तम्।

अब आप सोचिये कि कहीं लाखोंका सौदा करना हो और वहाँ आपको कोई बाबाजी मिल जाय और सौदेकी बात भूलकर आप उससे परमार्थकी चर्चा करने लगें। एक मित्र आजाय तो कहेंगे भाई-बाबाजी तो अपने घरका है, पूछ लेंगे। मन कहाँ-से-कहाँ चला जाता है। यह है अर्जुन-सचमुच गीताका अधिकारी। जो विपरीत-से-विपरीत परिस्थितिमें भी अपनी चित्तवृत्तिको यथास्थान लगाये हुए हैं। तृतीय अध्यायतक अर्जुनके

1) छान्दोग्य 7.25.20 2) वृहदारण्यक 5.3.1 3) छान्दोग्य 7.25.1 4) छान्दोग्य 3.14.1।

जो प्रश्न हैं वे तो युद्धकी कर्तव्यताके सम्बन्धमें हैं। चतुर्थ अध्यायमें श्रीकृष्णके गुरुत्वके सम्बन्धमें प्रश्न हैं। 'अपर भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः'। पाँचवे अध्यायके प्रारम्भसे लेकर जितने भी अर्जुनके जो प्रश्न हैं उसमें जैसे अर्जुनको युद्धकी कहीं स्मृति ही न हो। युद्धको भूल गया। हम लोगोंके सामने तो कोई चिड़िया बोल देती है तब उसीपर ध्यान चला जाता है। अर्जुनके सामने न हाथियोंकी चिग्घाड़का कोई असर है, न घोड़ोंकी हिनहिनाहटका! न शंखध्वनिका, न मारो-मारोकी ध्वनि हो रही है, उसका। भगवान्ने कहा-हाँ, यह है उत्तर देने योग्य।

श्रीभगवानुवाच-असलमें भगवान् परिस्थितियोंकी उपेक्षा करके, जो अन्तर्देशके निभृत प्रदेशमें भगवान्की ओर अपनी बुद्धिका मुँह करके और उनसे ज्ञान लेना चाहता है, उसको वही अन्तर्यामी बुद्धिमें आरूढ़ होकर, मनरूप अर्जुनको शिक्षा देते है। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' (कठोपनिषद् 1.3.3)। बुद्धि सारथि है। 'सारयति अस्मान्'। यहीं है भगवान् और यहीं है यह जीवन-रथ या शरीर-रथ और यहीं है अर्जुन! आपका मन ही अर्जुन है, आपकी बुद्धिमें ही भगवान् बैठे हैं पर आप अपने मनको ऐसा तो कर लीजिये कि यह जो विषयोंका और इन्द्रियोंका द्वन्द्व मच रहा है, इसमें वह अन्तर्यामीकी ओर-'धियो यो नः प्रचोदयात्'-हमारी बुद्धिका जो प्रेरक है उसकी ओर देखे तो सही। वह बोलेंगे-भगवान् बोलेंगे। यदि आप ऐसा नहीं कर सकेंगे तो भगवान् नहीं बोलेंगे, आपकी वासना बोलेगी। और यदि आप अपनेको अर्जुन बना सकेंगे तो आपकी वासना नहीं बोलेगी, भगवान् बोलेंगे।

भगवान्के वचनकी व्याख्या दैवी मीमांसामें जो अधिदैव मीमांसा है-अधिदैव मीमांसाका अर्थ यह होता है कि जैसे हम यज्ञशालामें वेदके मन्त्र पढ़ते हैं न! पहले मण्डप बनाते हैं, फिर चारों ओर पूजा करते हैं, फिर बीचमें देवताओंकी स्थापना कर लेते हैं। तो, उन-उन देवताओंके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब हम मन्त्र पढ़ते हैं तो अधिदैवके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाला वेद-मन्त्र होता है-'इन्द्र प्रातर्हवामहे' (ऋग्वेद 1.16.3) 'गणानांत्वा गणपतिं हवामहे' (ऋग्वेद 2.23.1)-जैसे हमसे कोई दूर हो और हम बेतार-के-तारसे या रेडियोसे बात करते हों-तो, यह देवताओंसे बातचीत करनेकी भाषा है, यह अधिदैव मन्त्र है। गीता मुख्यतः अध्यात्म मन्त्र है। अध्यात्म मन्त्र माने भीतरवाले भगवान्से बातचीत।

अब ये भगवान्के वचन हैं, 'भगवान्' शब्द गीतामें संज्ञाके अर्थमें प्रयुक्त है। नाम है 'भगवान्'। वैसे वाल्मीकि रामायणमें, महाभारतमें वेदोंमें भी विशेषणके अर्थमें 'भगवान्' शब्दका प्रयोग होता है। जैसे हमलोग श्रीमान् बोलते है, वैसे 'भगवान् वसिष्ठः, भगवान् नारदः, भगवान् शुकः' ऐसे बोलते हैं।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ 12.2

अच्छा भाई! हम शास्त्रार्थकी बात छोड़ देते हैं।

मे मताः, मे मम मताः।

मतः माने अभिप्रेताः। देखो, मे-मैं अपना अभिप्राय सुनाता हूँ। यह बहुत बड़ी बात हो गयी। हमारे

पास कोई सलाह लेने आवे, तो हम पहले उसीका अभिप्राय जाननेका प्रयास करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है, फिर उसके घरवालोंका अभिप्राय, उसके मित्रोंका अभिप्राय, उसके कर्मचारियोंका अभिप्राय जानकर तब अपनी सलाह देते हैं। और यदि बिना जाने सलाह देंगे, केवल अपनी-अपनी उगल देंगे तो वह सलाह बिलकुल गलत होगी। यह ऐसा ही है कि जैसे किसीको छींक आयी, उसने तुरन्त अपनी जानी हुई दवा बता दी कि यह दवा तुम खा लो, अच्छी हो जायेगी। उसको यह मालूम नहीं है कि यह हार्टकी खराबीसे छींक आ रही है कि डायाविटिजकी वजहसे आ रही है कि टी.वी. की वजहसे आरही है कि न्यूनोमियाकी वजहसे आ रही है उसने छींक सुनी और झट अपना अभिप्राय दे दिया। वह दवा बिल्कुल गलत हो जायेगी। एक आदमीको हार्टका रोग है-बड़ा डाक्टर उसकी चिकित्सा कर रहा था, दवा देते समय वह भूल गया कि यह हार्टका रोगी है। उसने दमासे जो खाँसी आती है, उसकी दवा दे दी। हार्टकी वजहसे खाँसी आती है वह अलग, दमाकी वजहसे खाँसी आती है वह अलग। अन्य किसी वजहसे खाँसी आती है, वह अलग। पूरी जानकारीके बिना दवा दे दी और उलटी पड़ गयी। मरते-मरते बचा। सलाह देनेमें भी ध्यान रखना चाहिए। रोगीके इतिहासकी, उसके विगतकी, उसके सब रोगोंके बारेमें जानकारी होनी चाहिए, तब सलाह देनी चाहिए।

भगवान्ने कहा हमको और कुछ जानकारीकी जरूरत नहीं है, लो मेरा अभिप्राय! वे तो सर्वज्ञ हैं। अर्जुन जब सोता था तो उसके रोम-रोमसे कृष्ण-कृष्णकी ध्वनि निकलती थी। हमने ऐसे महात्मा देखे हैं, जिनके अंग-अंगसे भगवन्नामकी ध्वनि निकलती है। उनके साँससे मन्त्रका उच्चारण होता है-ऐसा देखा है। गाढ सुषुप्तिमें मन्त्रका उच्चारण होता है। अर्जुनका रोम-रोम श्रीकृष्णमय है। श्रीकृष्णने कहा 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।' जो लोग मुझमें मनको आविष्ट कर देते हैं-अद्भुत बात है-यहाँ 'मुझ'का अर्थ क्या है? शंकराचार्यकी भाषामें 'मुझ'का अर्थ है 'मयि विराजि'। जैसे तुम्हारा मन इस शरीरमें आविष्ट हो गया है इस प्रकार जिसने अपने मनको विराट् रूपमें आविष्ट कर दिया, वे मेरे सर्वोच्च भक्त हैं।

आप लोगोंने सुना होगा कि किसी-किसीको आवेश होता हैं-भूतका, प्रेतका-वही होकर बोलता है। वह सच है कि झूठ, यह हमारे अनुभवकी बात नहीं है। पर हमको कभी कामका, क्रोधका, लोभका जब आवेश होता है- हमारे अन्दर जब दयाका, स्नेहका, ममताका आवेश होता है, तो और सब कुछ भूल जाता है। यह आवेश है-मनका आवेश है। कहाँ है? भगवान्में। एक चतुर्भुज भगवान् हृदयकमलपर खड़े हैं। हृदयकमलमें-से मन निकला और भगवान्के चरणोंमें होकर उनके सारे शरीरमें आविष्ट हो गया। अब भगवान्का देखना तुम्हारा देखना, एक हो गया। अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य चतुर्भजावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो गया। भगवान्की आँखसे तुम देख रहे हो, भगवान्के हाथसे शंख, चक्र, गदा धारण करते हो, भगवान्की मुसकानमें तुम्हारी मुसकान मिल गयी है। अपनेको मत देखो, दुनियाको मत देखो-भगवान्की मुस्कान तुम्हारी मुसकान हो गयी है; उनका उदार हृदय तुम्हारा हृदय हो गया है; उनकी सुन्दरता तुम्हारी सुन्दरता हो गयी है।

मय्यावेश्य-कई-कई भक्तोंने 'मय्यावेश्य'का अर्थ किया है, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारिणि,

श्यामसुन्दरे, नन्दनन्दने, मयि आवेश्य। मैं जो श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण हूँ-उसमें, अपने मनको आविष्ट कर दो। श्रीमद्भागवतके अनुसार सात वर्षकी उम्रमें श्रीकृष्णने गोवर्धन उठाया था, यह स्पष्ट है। और ग्यारह वर्षकी उमर तक व्रजमें रहे हैं। उनकी सब लीलाओंमें काम, क्रोधकी कल्पना मत करो। वह तो ऐसी हो गयी जैसे हम छोटे बालकको सजा-सँवारकर कृष्ण बना देते हैं अथवा सखी गोपी बना देते हैं और वह निर्विकार रूपसे ही जो संवाद बोलते हैं, जो चेष्टा करते हैं, जो नाचते हैं। ग्यारह वर्षसे कम उम्रके बालककी चेष्टाका क्या अर्थ होता है? उसमें विकारकी कल्पना बिलकुल व्यर्थ है कि नहीं है! वहाँ नाचना, गाना ऐसा ही है जैसे हम अपने बालक-बालिकाओंको किसी उत्सवमें सजा देते हैं, उनको नचाते हैं, गवाते हैं। बड़ा आनन्द है!

अपने मनको पूरी-की-पूरी लीलामें ही आविष्ट कर दो। मयि नवनीतचौरे। 'मयि चीरापहारिणि।' 'मयि रासेश्वरे'। आवेश्य-अपने मनको मिला दो। तुम्हारा मन नाचे, तुम्हारा मन गावे और भगवान्‌में लगे रहो- 'नित्ययुक्ता उपासते' यह आनन्दोद्रेककी लीला है। आनन्दोल्लासकी लीला है। जब ज्ञान नाचने लगता है तब उसको भक्ति कहते हैं। थिरकते हुए ज्ञानका नाम, उल्लसित ज्ञानका नाम भक्ति है। जब रसकी फुहारें उठें, रसकी बूँदें बरसें, रसकी गंगा तरंगित हो, रसके समुद्रमें ज्वारमें आजाय तब उसको भक्ति कहते हैं। जुड़ गये। 'नित्ययुक्ता उपासते' भक्तिकी यही परिभाषा है, आनन्द-प्रधान वृत्ति। स्थिर आनन्दमें जो वृत्तियोंका नृत्य है, चापल्य है उसका नाम भक्ति है। भक्तिमें एक चीज जरूरी है-श्रद्धा-पराकाष्ठाकी श्रद्धा।

'ते मे युक्ततमा मताः।' बारहवें अध्यायका उपसंहार भी श्रद्धासे ही है। यह उपक्रम उपसंहारकी एकता है-तात्पर्य-निश्चयके लिए। भगवान्‌ने उपक्रम किया-'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' (12.2) और उपसंहार किया-

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 12.20

हमारा प्यारा कौन है? जो पहले हमसे मिल ले और फिर हमसे प्रेम करे वह? नहीं। मिल ले और प्रेम करे-इसमें तो विशेषता ही क्या? विशेषता तो तब है जब मिले नहीं और प्रेम करे। ईश्वरसे मिलकर प्रेम नहीं किया जाता, ईश्वरसे बिना मिले प्रेम किया जाता है। उसी बिना मिले प्रेमका नाम श्रद्धा है। जो शास्त्रमें, श्रुतिमें, सद्‌गुरुने तात्पर्य बताया है, उसरपर सत्यबुद्धि, दृढ सत्यबुद्धि होना-इसका नाम श्रद्धा है। 'श्रदिति सत्यस्य नाम, तदस्यां धीयते इति श्रद्धा'-यह निरूक्त-व्याख्याकारका मत है। 'श्रदिति आस्तिकताया विधानम्'-यह मध्वाचार्य बोलते हैं। सत्‌को परोक्ष बनानेके लिए श्रत् कर दिया। रेफ जो उसमें मिलाया है, वह सत्‌को परोक्ष करनेके लिए। परोक्षमें श्रद्धा होती है। कोई हमको गोदमें उठा ले तो वह तो प्रत्यक्ष है। उसमें श्रद्धा क्या? जैसे कोई शिशुको अपने गोदमें रखकर उससे प्रेम करता है, वैसे बिना गोदमें लिये ही मुझसे कोई वैसे ही प्रेम कर रहा है, ऐसी श्रद्धा।

आप देखें-जो हमको साँस लेनेको हवा दे रहा है-वह हमारे सामने आकर बताता है, हम तुम्हें झल रहे

हैं ? बिना हमको दिखाये ही जो रोशनी दे रहा है-बताता है कि मैं तुम्हारे घरमें दिया जलाता हूँ। बिना धूपबत्ती दिखाये ही जो तुम्हारी नासिकाको सुगन्ध देता है- अजी, सुगन्धको छोड़ो, वायुको छोड़ो, जिसने नाक दी है सुगन्ध ग्रहण करनेके लिए, जिह्वा दी है रस ग्रहण करनेके लिए, जिसने त्वचा दी है, स्पर्शका अनुभव करनेके लिए, जिसने नेत्र दिया है देखनेके लिए। सूर्य-चन्द्रमाकी रोशनी छोड़ो, जिसने ऐसी धौंकनी बना दी है भीतर कि वह बारम्बार पुरानी हवाको छोड़े और नयी हवा खींचती रहे। उस शिल्पीको, उस रचनाकारको देखो, देखो नहीं, उसपर श्रद्धा करो-'श्रद्धत्स्व सोम्य, श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मानं पश्येत्' श्रद्धाकी पूँजी लेकर अपने आपमें इस परमात्माको देखो। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' श्रद्धयापरयोपेताः।' परयाका अर्थ है पराकाष्ठा-वही हमारे जीवनको भर रही है। प्राणान्त उपस्थित होनेपर भी, विकट-से-विकट परिस्थिति आनेपर भी, सब कुछ टूट जाय पर श्रद्धा न टूटे। 'श्रद्धाधनेन मुनिना' मधुसूदन सरस्वती कहते हैं-भाई हमारे पास और कोई धन नहीं है, एक ही धन है-श्रद्धा। मैं संन्यासी हूँ, मेरे पास और कोई सम्पदा नहीं हैं, केवल श्रद्धाकी सम्पदा है। श्रद्धाकी सम्पत्तिसे युक्त रहो।

'ते मे युक्ततमा मताः'। आप जानते हैं गीतामें 'युक्त' शब्दका भी प्रयोग है और 'युक्ततम' शब्दका भी प्रयोग है। स्थितप्रज्ञके लिए युक्त शब्दका प्रयोग है। आपके ध्यानमें होगा-'युक्त आसीत मत्परः।' स्थितप्रज्ञको बताया कि वह युक्त है-बिखरा हुआ नहीं है, मिला हुआ है-जो बिखर गया वह टूट गया, फूट गया, अयुक्त है। हाथ युक्त है, पाँव युक्त है। सब युक्त, युक्त है, लेकिन भगवान्‌ने युक्तको वहीं तक नहीं छोड़ा-योगीको भी युक्त बताया।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 6.18

चित्त सुनिश्चित हो और इधर-उधर भाग-दौड़ न करे। भोगकी स्पृहा न हो। हमारे भोग बने रहें, वे आते हैं-जाते हैं, आते हैं-जाते हैं और असलमें नये-नये भोगमें ही आनन्द होता है। नये-नये देशमें जाओ, नया-नया स्थान देखो, नयी-नयी वस्तुओंका उपयोग करो। पर टूटे नहीं। 'निस्पृहः सर्वकामेभ्यः'। यह स्थान हमारा बना रहे। यह वस्तु बनी रहे, यह व्यक्ति बना रहे। जब अपना ही शरीर बना रहनेवाला नहीं है तो अन्य वस्तु कभी नहीं बनी रहेगी।

यदा निनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। 6.18

लो, युक्तका लक्षण और गहरा लो।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8

वहाँ तो मिट्टीका डला, पत्थर, सोना बराबर। तब आनन्द आवेगा ? बोले 'ज्ञानविज्ञान-तृप्तात्मा'। हमारे जो विद्वान् थे, जिन्हें पहले हमने देखा था, काशीमें पञ्चाननजी बंगालके, लक्ष्मणशास्त्री द्राविड थे, चित्रस्वामी,

नित्यानन्द पर्वतीय, वामाचरण भट्टाचार्य-सिला हुआ कपड़ा नहीं पहनते थे और यथा-तथा उनके जीवनका निर्वाह होता था। पर वे किसी राजा-रईसको अपनेसे ज्यादा सुखी नहीं मानते थे। हमने ऐसे महात्मा देखे हैं जिनके पास नाश्ता नहीं है-नाश्ता तो करते ही नहीं-भोजन भी नहीं है। आयेगा कि नहीं आयेगा, मालूम भी नहीं है। पर 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'। उनको तृप्ति है-जैसे धनीको धनसे तृप्ति होती है-भोगीको भोगसे तृप्ति होती है। वैसी तृप्ति उनके हृदयमें अपने ज्ञान-विज्ञानसे ही बनी है। इसको 'युक्त' बोलते हैं। पराधीन होकर तृप्त होना-यह कोई तृप्तिकी पहचान थोड़े ही है।

ये तो सब महात्माओंकी बात हुई। अब जरा व्यवहारकी बात देखो-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 5.23

काम-क्रोधके जो वशमें नहीं होता है, जिसको काम नचाता नहीं, जिसको क्रोध जलाता नहीं, उसका नाम युक्त है। काम करते रहो, फँसो मत। यह तो है सब युक्त, लेकिन 'अतिशयेन युक्तः युक्ततरः;' अतिशयेन युक्ततरः युक्ततमः'। जो अतिशय युक्त है वह कौन है? 'ते मे युक्ततमा मताः'। वह युक्ततम है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना। 6.47

अपनी अन्तरात्माको मेरे शरीरमें डाल दिया। चतुर्भुज हो गया भाई! वह तो मुरलीमनोहर हो गया। वह तो अन्तर्यामी नारायण हो गया। वह तो विराट् हो गया जिसने अपने मनको भगवान्‌में मिला दिया-'ते मे युक्ततमा मताः'। 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेताः ते मे युक्ततमा मताः।' भगवान् कहते हैं- इनसे बड़ा मुझसे कोई मिला हुआ दूसरा नहीं है-सबसे बड़े वही हैं। वही योगवित्तम है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 2

12-11-83

अर्जुनका प्रश्न यह था कि सगुण साकार विराट् रूपके जो उपासक हैं वे योगवित्तम हैं अथवा जो अक्षर अव्यक्तके उपासक हैं वे योगवित्तम हैं? योगवित्तम माने परमात्माकी प्राप्तिके उपायको जाननेवालोंमें सवश्रेष्ठ। योग माने उपाय और वित माने ज्ञान और तम माने श्रेष्ठतम। यदि सगुणकी उपासना न करके पहले निर्गुणकी ही उपासना की जाय तो वह बहुत कठिन पड़ती है। पहले सगुणकी उपासना हो जाय तो निर्गुण उपासना सुगम हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा-

भरि लोचन विलोकि अवधेसा।
तब सुनिहौं निर्गुण उपदेसा॥

निर्गुण और सगुणमें भेद क्या है? निर्गुण चुपचाप अचल बैठा रहता है, वह किसीको अपनी ओर खींचता नहीं है, जिसको सब कुछ छोड़कर उससे मिलना हो वह उससे जाकर मिले। और सगुण वह है जो अपने गुण प्रकट कर दे। फन्दा फेंककर, डोरा डालकर, हँसकर, गाकर, नाचकर, सम्बन्ध जोड़कर अपनी ओर खींच ले-इसको सगुण बोलते हैं। जो अपनी ओर भक्तोंको खींचता है। निर्गुण उपासक वे हैं जो नामरूप क्रियात्मक प्रपञ्चसे विरक्त होकर और उसकी जिज्ञासा, जानकारी प्राप्त करनेके लिए महात्माओंके पास जाते हैं। वेदका श्रवण करते हैं, मनन करते हैं, अपने आप आवरण-भंग करके, परदा फाड़कर परमात्मासे एक हो जाते हैं। सुगमताकी दृष्टिसे सगुणकी जो उपासना है वह श्रेष्ठ है।

यह कहो कि भगवान् दो हैं तो असलमें भगवान् दो तो हैं नहीं, ईश्वर तो एक ही होता है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने यह कहा-अपने मनको मुझमें आविष्ट कर दो। जैसे क्रोध आनेपर तुम क्रोधमें आविष्ट हो जाते हो, काम आनेपर काममें आविष्ट हो जाते हो, जैसे लोभ आनेपर लोभमें आविष्ट हो जाते हो। इन दृष्टान्तोंको आप छोटी किस्मका न समझें।

कामिहि नारि-पियारि जिमि लोभिहिके जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहिं राम॥

आपने देखा होगा कि जब कोई भूत-प्रेतके आवेशमें आ जाता है, दिमाग उसका फिर जाता है तब वही हो जाता है। छोटी-मोटी बातोंमें अपने दिमागको आविष्ट न करके, मनको न लगाकर, परमात्मामें अपने मनको आविष्ट कर दो। 'नित्ययुक्ता' और 'सततयुक्ता' दो पद अर्जुनके प्रश्नमें हैं। उसमें 'सततयुक्ता' का अर्थ है लगातार लगे हुए। उसी तरह दूसरा है 'नित्ययुक्ता'। यह बात तभी सम्भव है जब हम यह देखें कि सब भगवान हैं।

सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वः। 11.40

जब मौत भी भगवान्का रूप मालूम पड़े। आप लोग गीतामें पढ़ते हैं-

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

मैं अमृत हूँ, मैं मृत्यु हूँ। मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ-स्थूल हूँ, सूक्ष्म हूँ, कार्य हूँ, कारण हूँ, अच्छा हूँ, बुरा हूँ। सब भगवान्के रूपमें दिखे तो आपका भगवान्से वियोग कभी नहीं होगा। जाग्रत् भी वही, स्वप्न भी वही, सुषुप्ति भी वही और दूसरी बात यह है कि वृत्तियोंके आश्रयके रूपमें जो सबका अधिष्ठान है, सबका प्रकाशक है- **धियो यो नः प्रचोदयात्।** वह परमात्मा निरन्तर हमारी वृत्तियोंके साथ जुड़ा रहता है। उसीकी सत्तासे वृत्तिमें सत्ता है-सत्ता माने होना। विद्यमानता-परमात्मा है। इसीलिए हमारी वृत्तियाँ हैं। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है इसीलिए वे जानती हैं-और परमात्मा आनन्दस्वरूप है, इसीसे प्रेम होता है। या तो सच्चिदानन्दघन अद्वितीय, जो सर्वाधिष्ठान परमात्मा है, उसका बोध हो जाय, या तो सर्वरूप परमात्मा है, यह सर्वात्मभाव हो जाय।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। 15.19

अब निर्गुण उपासनाकी बात दो श्लोकोमें बोलते हैं-और तीसरेमें उसमें जो कठिनता है, उसका वर्णन करते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 12.3-5

कुछ लोग ऐसे है जो अक्षर अव्यक्तकी उपासना करते हैं, उसका वर्णन करते हैं। संस्कृतकी रीति यह है कि उसमें गिन-गिनकर शब्दोंका प्रयोग होता है जितना प्रयोजन हो उतने ही शब्दोंका प्रयोग करना। वागाडम्बर, घटाटोप बाँधना, ढूँढने गये हाथी और मिला चूहा। खोदा पहाड़ निकली चुहिया। बड़ा भारी जो शब्दाडम्बर होता है उसमें बात थोड़ी-सी होती है, तत्त्वकी। कुछ शब्दालंकार, कुछ अर्थालंकार-कुछमें बात नहीं निकलती है। दर्शनशास्त्रमें तो इसके लिए कोई स्थान ही नहीं है कि हम निरर्थक शब्दोंमें प्रयोग करें।

पहले बात कही गयी 'अक्षरं'। अक्षर माने क्या है? गीतामें ही अक्षर शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। वेद अक्षरात्मक हैं। 'अ' से लेकर 'ह' और ळ मिलाकर पचास अक्षर होते हैं। सीधे गिनें तो पचास और उलटे गिनें तो पचास, इससे हो जाते हैं सौ और अ.क.च.ट.त.प.य.यें आठ वर्ग हैं। आठोंको मिलाकर पूरे एक सौ आठ हो जाते हैं। जो लोग ध्यान करते हैं, उनको यह मालूम है और ऐसे 'क' से लेकर 'व' तक और 'क' से लेकर 'र' तक और 'क' से लेकर 'ह' तक और 'क' से लेकर 'म' तक यदि गिनती गिनलें तो एक सौ आठ तक पूरी हो जाती है। एक होता है अक्षरात्मक वेद! वेदका सार है गायत्री-गायत्रीमें हैं चौबीस अक्षर और गायत्रीका सार है महावाक्य और महावाक्यका सार है ॐ। गीतामें 'ॐ इत्येकाक्षरं' ॐ को एकाक्षर ब्रह्म बताया है। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ क्या है? ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम्-

ॐ कारकी उपासना करते हैं। वेद पढ़ते हैं, गायत्रीका जप करते हैं। महावाक्यका चिन्तन करते हैं। ॐकारका जप करते हैं-इसका क्या अभिप्राय है?

गीतामें परमात्माके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग आता है- 'तदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः'। वेदविद् लोग जिसको अक्षर कहते हैं और वीतराग महात्मा लोग जिसमें प्रवेश करते हैं। जीवके लिए और प्रकृतिके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग गीतामें है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। 15.16
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः॥ 15.18

ये क्षर अष्टधा प्रकृति हैं और अक्षर जीवरूपा पराप्रकृति हैं। इसका कोई प्रकृति अर्थ करते हैं, कोई अक्षर ब्रह्म या जीव ऐसा करते हैं। परमात्माके लिए भी अक्षर शब्दका प्रयोग है। 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः तमाहु परमां गतिम्'। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ परमात्मा है। यहाँ इसका अर्थ शब्द-राशि वेद है, गायत्री है, महावाक्य है, प्रणव है-क्या है? वैसे अक्षर शब्दकी सामान्यरूपसे दो व्युत्पत्ति मानते हैं-न क्षरति जिसका नाश न हो और अश्नुते-जो लिपियोंमें व्याप्त रहता है। सर्वत्र सब आकृतियोंमें व्याप्त रहता है। जैसे घड़ा, सकोरा, सबमें माटी है। जैसे बूँद, फेन, लहर सबमें पानी है। जैसे लपटोंमें आग है, जैसे झोकोंमें, साँसोंमें हवा है। इस प्रकार जो सबमें भरपूर रहता है, उसको अक्षर कहते हैं। अब इसको हम आगे बढ़ाते हैं।

आगे बढ़ाते हैं का अर्थ क्या है? इतना कहनेसे स्पष्टता नहीं आयी। पहले निर्देशका ही विवरण करते हैं। अनिर्देश्यं-संस्कृतिमें व्याख्याकी यह पद्धति है। इसको हेतु-हेतुमद्भाव बोलते हैं। एकके बाद दूसरे शब्दका प्रयोग क्यों किया गया? पहला कहनेमें कुछ कसर रह गयी। एक शब्द और कहकर उसका परिष्कार करते हैं।

अनिर्देश्यं-शब्द जितने भी होते हैं, निर्देश करते है। उसकी भी गिनती है, ऐसे नहीं कि चाहे जिस शब्दसे कैसे भी सूचित कर लें। शब्दके द्वारा जाति बताते हैं, अयं गौ-पुलिङ्गका प्रयोग किया। यह बैल है। अयं महिषः यह भैंस है। यह जाति हो गयी। यह मनुष्य है। शब्द एक तो जाति है, एक गुण बताता है। अयं शुक्लः अयं कृष्णः। यह गोरा है, यह काला है। एक क्रिया बताता है। अयं पाचकः, यह रसोई बताता है। अयं सारथिः, यह रथ हाँकता है। किसीका बोध जातिके भेदसे हो जाता है, किसीका गुणके भेदसे हो जाता है, किसीका क्रियाके भेदसे हो जाता है-किसीका बोध सम्बन्धसे होता है। ये अमुकके पुत्र हैं। ये अमुकके पिता हैं। ऐसें हम आपसमें परिचय देते हैं। ये अमुक मेमसाहबके हसबेण्ड हैं-यह सम्बन्धके द्वारा। विदेशमें स्त्रियोंसे परिचय पहले हो जाता है, पुरुषोंसे परिचय बादमें कराया जाता है। कहीं रूढ़िसे भी होता है। रूढ़िके भी कई भेद हैं। तो शब्द किस तरहसे अपना बोध कराता है, इसको एक गिनी हुई प्रक्रिया शास्त्रोंमें है।

शब्द किसी भी रूपमें परमात्माका बोध करानेमें समर्थ नहीं है। न परमात्मामें जाति है, न गुण है, न क्रिया है, न सम्बन्ध है, न रूढ़ि है। तो अनिर्देश्यंका अर्थ हुआ अक्षरात्मा। जो शब्दराशि है वह परमात्माको समझानेमें किसी प्रकारका निर्देश नहीं कर सकता। यह परमात्मा है, ऐसे नहीं बताया जा सकता। न चेष्टाके द्वारा

और न तो शब्दशक्तिके द्वारा परमात्माका बोध होता है। लोगोंके लिए थोड़ी मुश्किल बात पड़ेगी पर यह निर्गुणका प्रसंग है न!

ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यं अव्यक्तं पर्युपासते।

अव्यक्त है परमात्मा। अव्यक्त शब्दका प्रयोग गीतामें प्रकृतिके लिए भी है, जीवके लिए भी है, ईश्वरके लिए भी है, तो उसको पहचानना ही पड़ेगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। 2.28
अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रवहन्त्यहरागमे॥ 8.18

यह अव्यक्त शब्द प्रकृतिके लिए है। दूसरे अध्यायमें 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते'- आत्माके लिए अव्यक्त शब्द है। और 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त:' यह परमात्माके लिए अव्यक्त शब्द है। अव्यक्त शब्दका अर्थ होता है, केवल शब्दसे ही नहीं-किसी भी प्रमाणसे जिसको जाहिर न किया जा सके, उसका नाम अव्यक्त होता है। 'न व्यज्यते केनापि प्रमाणेन अव्यक्तं'। प्रमाणके द्वारा परमात्मा प्रकट नहीं होता। प्रमाण दो तरहका होता है। एक चशमदीद गवाही-आँखोंसे देखी हुई और एक दस्तावेज। ये जो पुस्तकें हैं वे दस्तावेजके समान हैं। और जो अनुभवी महात्मा लोग होते हैं, वे अनुभवकी बात बताते हैं।

कोई कहता पोथीकी लेखी।
मैं कहता आँखोंकी देखी।

तुम पोथीमें लिखी बात सुनाते हो। दो तरहसे परमात्माके बारेमें लोग बोलते हैं। लेकिन प्रत्यक्ष इन्द्रियोंका विषय तो परमात्मा है नहीं। कानसे थोड़े-से शब्द सुनते हैं। हमारे एक मशीन लगाते हैं और वह उसके बारेमें बोलते हैं-आप जितना भी सुन सकते हैं उससे तीन लाख गुना आवाज इसमें हो रही है। पर आपका कान सुन नहीं सकता। एक हद तक कान सुन सकता है। एक हद तक आँख देख सकती है। एक हद तक नाक सूँघ सकती है। एक हद तक त्वचा छू सकती है। एक हद तक जीभ स्वाद ले सकती है। जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं है वहाँ प्रत्यक्ष नहीं होगा। जहाँ बुद्धिकी गति नहीं है वहाँ अनुमान नहीं होगा। जिसके समान दूसरा कोई है ही नहीं-वहाँ उपमान नहीं होगा।

अव्यक्त है वह परमात्मा। इसका अर्थ है कि सब प्रमाणोंको प्रमाणित करनेवाला जो भीतर अन्तर्यामी अपना आत्मा है जिससे आँख, आँख सिद्ध होती है, जिससे कान, कान सिद्ध होता है, जिसको मालूम पड़ता है कि यह कान है, शब्द ग्रहण करता है-यह आँख है, रूप देखती है। यह नाक है, गन्ध देती है। जो भीतर बैठकर सबका मजा लेता हुआ भी किसीके साथ बँधता नहीं है। आप भी अपने घरमें अपने व्यवहारमें सबसे मिलिये-जुलिये, लेकिन जैसे आत्मा आँखमें बँध नहीं जाता, नाकमें बँध नहीं जाता, वैसे सब प्यारे हैं। आत्माको नाक भी प्यारी है; सुगन्ध देती है। कान भी संगीत सुनाता है। कानमें बँधिये मत, आँखमें बँधिये मत, जीभमें बँधिये मत, त्वचामें बँधिये मत!

आप इस घरके मालिक है। अपने बेटेका पक्षपात करेंगे, भाईका पक्षपात करेंगे, पत्नीका पक्षपात

करेंगे, सब आपके हैं, परन्तु जब पक्षपात करेंगे तो फिर फूट हो जायेगी। जैसे आत्मा अपनी इन्द्रियोंमें-से किसी इन्द्रियका पक्षपात नहीं करता, निरन्तर उसके साथ नहीं रहता। असंगताका यही नमूना है। सबसे बड़ा उदाहरण इस शरीरमें रहकर आत्माकी जो समग्र इन्द्रियोंसे अनासक्ति है, यही ज्ञानका स्वरूप है। आपकी आँखोंने आजतक कितने रूप देखे हैं, कहीं फँसी रह गयी? निकलकर गयी कहीं आपके शरीरसे। देखती है सबको, रहती है अपनी जगह पर। कान किसी संकीर्तनके साथ गया? नाक किसी सुगन्धके साथ गयी? यह ज्ञान है। नाक एक ज्ञान है, त्वचा एक ज्ञान है, जीभ एक ज्ञान है, कान एक ज्ञान है। यह किसी भी अपने विषयके साथ कहीं जाता नहीं हैं। यह अपनी जगहपर महाराजाधिराजकी तरह बैठा हुआ सबको देखता है, सबको सुनता है, सबसे व्यवहार करता है। बल्कि यह सबको देखते हैं, इसको दूसरा कोई नहीं देखता है। आँखने आत्माको नहीं देखा। आत्मा आँखको देखता है। हमारी आँख अन्धी है, मन्दी है, आँख तेज है। इनके कान बड़े तेज है। सब मालूम पड़ता है पर कहीं आत्मा फँसा नहीं।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

सबसे प्रेम हटाकर भगवान्‌से प्रेम जोड़ोगे तो सबसे प्रेम हो जायेगा। क्योंकि भगवान् सबमें है। जो भवगान्‌से प्रेम करता है वह सबसे प्रेम करता है। यह देखो श्याम, यह देखो श्याम। जो अपनी आत्माको जानता है वह सबकी आत्माको जानता है। 'पर्युपासते' माने परिवर्ज्य उपासते। दूसरोंके प्रेममें न फँसकर परमात्माको प्रेम करता है, उसके पास बैठता है-

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।

अच्छा भाई, भगवान्‌को चिट्ठी लिखें तो कहाँ लिखें? कहीं चिट्ठी लिखनेके जरूरत नहीं है, तार भेजनेकी भी जरूरत नहीं है। हिमालयमें जानेपर परमात्मा मिलेगा-ऐसा नहीं। अपने अन्त:कारणके निर्माणके लिए साधना होती है। बाहरकी प्रसिद्धि प्राप्तिके लिए साधना नहीं होती। परमात्मा कहाँ है? सब जगह है। 'सर्वत्र गच्छति-इति सर्वत्रगम्' है। यहाँ है? यहाँ भी है। वहाँ है? वहाँ भी है। यहाँ छोड़कर वहाँ क्यों जाते हो? जो अपने दिलमें ही दिलदार होकर बैठा है, उसके लिए दिलको हवाई जहाज बनाकर, उड़ाकर ले जानकी क्या जरूरत है? मौजसे भाई, यहीं देख लो!

अच्छा तो ध्यान करें, चिन्तन करें उसका, वह सब जगत् है। सब जगह है, बात निर्गुणकी है तो टेढ़ी तो जरा होती ही है। जिसका चिन्तन करना पड़ता है या जिसकी चिन्ता करनी पड़ती है, वह हमारे दिमागमें तनाव देता है। 'अचिन्त्यमचिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजते'-जब अचिन्त्यका-जो चिन्तासे परे है-जो सारी चिन्तासे छुड़ानेवाला है, उसीको आपको चिन्ता हो रही है? जो अपना आपा है, उसको आप ढूँढ़ रहे हैं-जो यहीं है, उसके लिए वहाँ जा रहे हैं।

हमारा यार है हममें-हमनको इन्तजारी क्या?
कबिरा इश्कका नाता, दुईको दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या?

कहाँ जाना है ? किसको ढूँढना है ? किसको पाना है ? जो सब है, जो सब जगह है, जो सब समय है उसके लिए चिन्ता कैसी ? चिन्ताको खोलकी तरह अलग रख दिया-जैसे रजाई, कम्बल उतारकर रख देते हैं- इस तरह चिन्ताका जो बोझ है, उसको उतार दो। इसका बोझ उतर जानेपर जो रहता है, वही तो परमात्मा है। 'अचिन्त्यम्'-वह चिन्ताका विषय नहीं है, वह चिन्ताका प्रकाशक है। वह चिन्तासे परे रहकर, अलग रहकर, आगे नहीं, चिन्ताके पीछे रहकर अर्थात् अपने आत्माके रूपमें रहकर चिन्ताको प्रकाशित करता है। चिन्तनीय नहीं है। संस्कृतमें जिसका तिरस्कार करना होता है-जिस बातकी उपेक्षा करनी होती है, उसके लिए बोलते हैं, चिन्त्य है यह तथ्य। यह चिन्तनीय है माने सरल नहीं है। जैसे हिन्दीमें बोलते हैं-शोचनीय है। रामायणमें शोचनीय कई बार है। संस्कृतमें चिन्त्य, चिन्तनीय है माने सरल नहीं है। जैसे हिन्दीमें बोलते हैं-शोचनीय है। रामायणमें शोचनीय कई बार है। संस्कृतमें चिन्त्य, चिन्तनीय बोलते हैं। ऐसा सोचनेसे वह सिद्ध तो नहीं हुआ, हम इसके लिए और सोचेंगे तब पता चलेगा। ऐसा नहीं है कि परमात्मा अब नहीं है, जब हम बहुत सोचेंगे तब मालूम पड़ेगा, सो नहीं-अचिन्त्यम्।

कूटस्थम्-वह सबका मूल पुरुष है। जैसे कोई परिवार है-उसका शाण्डिल्य गोत्र है तो कूटस्थ कौन हुआ ? शाण्डिल्य ऋषि हुए और उनके पाँच बेटे हुए फिर पाँचोंके पाँच-पाँच हुए। लाखोंके रूपमें शाण्डिल्य गोत्र हो गया। शाण्डिल्य गोत्रका कूटस्थ पुरुष कौन है ? स्वयं शाण्डिल्य। गर्ग गोत्रक मूल पुरुष कूटस्थ कौन है-गर्ग। इसी प्रकार आप अपने-अपने वंशमें जो पहले एक था और बादमें उसका विस्तार बढ़ गया, उसको कूटस्थ बोलते हैं। आप पता लगा लें आपका वंश कहाँसे चला है। प्रजापति ब्रह्मासे चला है कि विष्णु भगवान्‌से। अन्तर्यामी ईश्वरसे चला है या ब्रह्मका विवर्त है। कूटस्थ है वह।

कूटस्थ माने ऐसे होना है जैसे सोनार या लोहारके घरमें निहाय रखी है और कितने औजार और कितने जेवर उसपर गढ़े गये! वह ज्यों-का-त्यों है। कितनी बार सृष्टि बनी और बिगड़ी, परमात्मा कूटस्थ है। जैसे चित्रकूट है, त्रिकूट-कूट माने पहाड़का शिखर। वर्षा आती है, ठण्ड आती है-गरमी आती है-कभी सूखा पड़ता है और वह ज्यों-का-त्यों सिर उठाये खड़ा है। इसे कूटस्थ बोलते हैं। जो सब झूठोंमें एक सच होता है उसका नाम कूटस्थ है। कूट साक्षी बोलते हैं। कूट माने झूठ भी होता है। जो झूठी गवाही देता है उसको कूटसाक्षी बोलते हैं। जो बात वह कह रहा है वह झूठी है। पर गवाह तो सच है-उसका बोलना झूठा है। परमात्मा सच है-उसके ये जो नानारूप हैं-उसके बारेमें सोचनेका है। कूटस्थ तो है पर कहीं चलकर जाता हो, कभी बैकुण्ठमें रहता हो, कभी गोलोकमें, कभी कैलासमें, कभी साकेतमें, बोले-नहीं, 'अचलम्'। वह एक जगहसे दूसरी जगह नहीं जाता। वह वरदान देनेके लिए भी नहीं जाता। वह दुष्टोंको मारनेके लिए भी नहीं जाता।

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।

वह रावणके भीतर भी रहता है और रामके भीतर भी रहता है। अचलं ध्रुवम्-उसकी सत्ता बिलकुल निश्चित है।

सिद्ध वस्तु है भगवान्। धर्म और उपासनाके द्वारा साध्य वस्तुकी प्राप्ति होती है। जो हम पाना चाहें

उसको धर्मके द्वारा बना सकते हैं। केवल स्वर्ग ही धर्मसे नहीं बनता। लोक भी धर्मसे बनता है। आप धर्मके बलसे सम्राट् हो सकते हैं। धर्मके बलसे स्वर्गके राजा हो सकते हैं। आप धर्मके बलसे विश्वामित्रके समान नवीन सृष्टिकी रचना कर सकते हैं। धर्ममें बल है आप इतने बलवान् हो जायेंगे कि सृष्टिमें उलट-पलट कर सकते हैं, धर्मके बलपर। उपासनाके बलपर आप ईश्वरकी मूर्ति बना सकते हैं। चाहे जैसी बना सकते हैं- काली बना लें, गोरी बना लें, नाटी-वामन बना लें, यह उपासनाका बल है। उपासनामें यह बल है कि वह ईश्वरको अपनी इच्छाके अनुसार बना सकता है। और धर्ममें वह बल है कि वह प्रकृतिमें परिवर्तन कर सकता है। योगमें वह बल है कि वह प्रकृतिमें परिवर्तन कर सकता है। योगमें वह बल है कि धर्मसे और उपासनासे बनायी हुई जितनी चीजें हैं, उनको छोड़कर योगदशामें, समाधिमें आप बैठ सकते हैं। उस समय न धर्मका फल, न उपासनाका फल, सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो जाता है। आप द्रष्टा-साक्षीके रूपमें बैठे हुए हैं। ज्ञान तो प्रकृतिका निर्माण कर नहीं सकता, वह तो विज्ञान करता है। और न तो वह इष्टदेवके रूपका ही निर्माण कर सकता है। न निरोध ही कर सकता है। ज्ञान जो चीज जैसी है-ज्यों-की-त्यों उसको जाहिर कर देना, उसके ऊपरसे परदा हटा देना, अविद्यावरण भंग कर देना, यह ज्ञानका काम है। 'सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः'। भाई, गाँवके गाँवको कैद करना पड़ेगा।

मुश्किल बात है-'इन्द्रिय-ग्राममें', एक इन्द्रियको रोकनेसे काम नहीं चलेगा। ये जो इन्द्रियोंका गाँव है-इन्द्रियाँ कहाँ बसती हैं? शरीरमें। इसमें दोनों ओर कान हैं। सुनो दो, बोलो एक। ऐसा महात्मा लोग बोलते हैं। दोनों कानसे सुनो और एक जीभसे बोलो। यह नहीं कि दोसे सुना और चार बोल दिया। सुनना ज्यादा चाहिए, बोलना कम चाहिए। देखो भी ज्यादा, पर बोलो कम। दो-दो आँखें हैं। यह बात ध्यान देने लायक है। इस इन्द्रियग्रामको काबूमें करो। 'सन्नियम्य' माने काबूमें होना चाहिए आप स्थूल शरीरके ही मालिक नहीं हैं तो सूक्ष्म शरीरके मालिक कहाँसे होंगे?

नियन्त्रणकी युक्ति क्या है? 'सर्वत्र समबुद्धयः'। चाहे लाल दीखे, चाहे पीला, चाहे नीला, चाहे ऊँची, कठोर आवाज सुनायी पड़े चाहे मीठी। बैर करोगे तो कठोरसे करना पड़ेगा, परहेज और मीठी आवाजकी ओर होगा आकर्षण। अपनी तारीफ सुनेंगे, उसमें रस लेंगे तो बन्दर बन जायेंगे। तारीफ करनेवाले नचायेंगे। आलोचना करनेवालेकी बात ध्यानसे सुननी चाहिए कि शायद वह दोष हमारे अन्दर हो, हमको मालूम न हो। लेकिन तारीफ कहनेवालोंसे तो सावधान रहना ही चाहिए। हो सकता है, वह कोई अपना काम निकालनेके लिए तारीफ करते हों। नहीं तो अपने मनमें ही तारीफ रखें। बाहर सुनानेकी जरूरत क्या होती है? सावधान रहना चाहिए।

सर्वत्र समबुद्धयः-अब कोई गाली दे-दे तो डण्डा लेकर दौड़े उसके पीछे। कोई जरा मीठी बात कर गया तो मिठाई लेकर दौड़े कि आओ जरा नाश्ता कर लो। नाश्ता करानेमें और डण्डा लेकर दौड़नेमें तुम परमात्मामें बैठकर उसकी उपासना नहीं कर सकते। या तो डण्डा लेकर दौड़ो या मिठाई लेकर दौड़ो। तारीफ करनेवालेको मिठाई खिलाओगे और गाली देनेवालेको डण्डा मारोगे तो सारी जिन्दगी इसीमें बीत जायगी। इसलिए 'सर्वत्र समबुद्धयः'का अर्थ है, चाहे कोई अपने किनारेका हो चाहे दूसरे किनारेका हो-कूल-अनुकूल,

प्रतिकूल। कूल माने किनारा। जो हमारे किनारेपर है उसको अनुकूल बोलते है, जो दूसरे किनारेपर है उसको प्रतिकूल बोलते हैं। समुद्रके इस पार, समुद्रके उस पार अनुकूल, प्रतिकूल हो गया न! नहीं बाबा, दोनों जगह धरती है, दोनों जगह आदमी हैं। पहाड़के इस पार, पहाड़के उस पार।

एक कल्पित लकीर खींच देते हैं। एक ही पहले लोगोंके घरमें भोजन करनेके लिए क्यारी बनती थी न! तो जिस धातुकी बनी क्यारी उसी धातुकी बनी मेड़। दोनोंको अलग-अलग कर दिया, तुम उसमें बैठकर खाओ, हम इसमें बैठकर खायें। ब्राह्मणोंके घरमें कोयलेसे लीकर खींच देते थे। रसोई बनती थी दूसरी लकीरके भीतर लकीरके भीतर बैठता-इससे छूआछूतका दोष नहीं लगेगा। यही अनुकूल-प्रतिकूल हो गया न! यह सब एक हैं-जो हिन्दुस्तानमें हैं वे भी, पाकिस्तानमें हैं वे भी। जो दाढ़ी रखता है वह भी, जो चोटी रखता है वह भी। जो सात दिनमें एक दिन प्रेयर करता है वह भी, जो दिन भरमें पाँच बार करता है वह भी, जो तीन बार करता है वह भी-सर्वत्र समबुद्धय:।

अपनी बुद्धिमें किसीको नीच-ऊँच मत करो। अपनी बुद्धिमें समता बनी रहनेका अर्थ है-लक्ष्मी बनी रहना-श्री बनी रहना-शान्ति बनी रहना। मा=श्री:, मा=शोभा-माया सहित=समा। हमेशा आपके दिलकी शोभा, सुन्दरता बनी रहे। आप मुँह सुन्दर बनाते हैं, कपड़ा सुन्दर बनाते हैं-अपना दिल सुन्दर बनाईये न! दिलकी सुन्दरता क्या है- सम। संगीतकी सुन्दरता भी सम ही है। संगीतमें यदि सम न आवे तो संगीत असुन्दर। आपके दिलमें भी यदि सम नहीं रहेगा तो आपका दिल बिलकुल बेसुरा हो जायेगा। न कोई टेक है; न ध्रुव है। समके बिना आपका दिल बेसुरा है। अत: 'सर्वत्र समबुद्धय:' 'सर्वभूतहिते रता:'।

एक तो हुआ निरोध, निरोध माने योगियोंका निरोध नहीं-इन्द्रियाँ काबूमें हैं-आप देखिये, बोलिये, चलिये, खाइये-पीजिये लेकिन आपके काबूमें इन्द्रियाँ रहें, बेकाबू न हो जायें। जिस दिन आप यह कहते हैं कि इसके बिना मैं नहीं रह सकता-आप सोचो उसदिन आदमी रहेगा? यह खाये बिना नहीं रह सकता, यह भोगे बिना नहीं रह सकता, इससे मिले बिना नहीं रह सकता। आप क्या रह गये! जिसके बिना आप नहीं रह सकते वहीं आपका सर्वस्व हो गया न!

'संन्नियम्येन्द्रिग्रामं' का अर्थ यह है- कोई भी इन्द्रिय आपसे यह न कहे कि हम इसके बिना नहीं रह सकते या इसके बिना तुम नहीं रहे सकते। और 'सर्वत्र समबुद्धय:' अपने हृदयकी जो शोभा है, समता है, सौन्दर्य है-जो उसमें लक्ष्मीका निवास है, जो उसमें प्रमाका निवास है-उसको कहते हैं सम। हमारी बुद्धिमें शोभा बनी रहे। लक्ष्मी बनी रहे। यथार्थ ज्ञान बना रहे-ऐसी हो बुद्धि। तीसरी बात-'सर्वभूतहिते रता:।' आपमें रति हो, हम रतिको मना नहीं करते हैं। वह आनन्द आपमें बना रहे जो संसारी लोगोंका स्त्री, पुरुषके मिलनेपर होता है। इस बातसे डरो मत। जैसे-

यस्त्वातमरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव:।
रति: अस्य अस्ति इति: रत:।

जिसके हृदयमें रति बनी रहती है, उनको बोलते हैं रत। आपकी रति कहाँ रहे? 'सर्वभूतहित निहिते

रता: ।' सब प्राणियोंमें जो एक है, उसमें आपकी रति हो। हित माने निहित, डाला हुआ, जो सबमें रहता है- नहीं तो सम्पूर्ण प्राणियों का जो हित है, हित माने भलाई। जहाँ तक हो सके हम किसीको दु:ख न पहुँचावें। तब निर्गुणकी उपासना बनेगी। निर्गुणकी उपासनों तीन बात। इन्द्रियोंको मारना नहीं, इन्द्रियोंको कैद करना नहीं, इन्द्रियोंको काबूमें रखना। विषमता बुद्धिमें नहीं आये। जानबूझकर किसीको हानि न पहुँचायें। सबका भला करें। यह है निर्गुणकी उपासना। 'सर्वभूतहिते रता: '। इससे होगा क्या ? 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव '-जो ऐसा करते हैं, उन्हें मिलता मैं ही हूँ।

मामेवका अर्थ है-मैं ही मिलता हूँ। उनके माम्‌के रूपमें मैं हूँ सो मिलता हूँ- यह भी अर्थ हो सकता है। और माम् माने मैं, जो परमात्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, सो मिल सकता हूँ। यह बात गीतामें देखनेमें आती है कि जो भक्ति करते हैं उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। और जो निर्गुणकी उपासना करते हैं उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति होती है। कहनेका मतलब यह है कि दोनों एक ही हैं। हम ऐसा विश्वास करते हैं कि आप सबलोग गीता पढ़ते होंगे ! और न पढ़ते हों तो पढ़ना।

हमारे एक विद्वान् जर्मनी गये थे, वहाँ सुना कोई संस्कृतका विद्वान् है, उससे मिलनेके लिए गये। वह जब गीताकी बात करने लगा तो यहाँके न्यायाचार्य, व्याकरणाचार्यको, वेदाचार्यको-यहाँके पी-ए.डी.को, डी-लिट्‌को मालूम नहीं था कि गीतामें क्या है ? उसने बताया कि हमने टीका-टिप्पणी सहित नब्बे बार गीता पढ़ी है, आपने गीता पढ़ी कि नहीं, तो वे बोले हमने तो नहीं पढ़ी। वे बोले अपने देशमें जाना तो गीता जरूर पढ़ना। महात्मा गाँधी कहते थे कि जब हमारे सामने कोई समस्या आती है, कोई उलझन आती है, तब मैं गीता खोलता हूँ और गीता माता मेरी समस्याका तत्काल समाधान कर देती हैं। बेटेके जीवनमें कोई उलझन हो तो माँको सहन कैसे होगा ? गीता बोलती है-

मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

चौदहवें अध्यायका श्लोक है, जो अव्यभिचरित भक्तियोगसे मेरी सेवा करते हैं-श्रीकृष्णकी सगुणकी-'सगुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते'-वह गुणातीत हो जाते हैं और उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। भक्तिसे कौन मिलता है ? ब्रह्म।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

भगवान्‌में जो भक्ति है उसका नाम ज्ञान है। यह श्लोक तेरहवें अध्यायका है। तेरहवें अध्यायमें हैं-

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

मेरा भक्त जब इसको जान लेता है तो मेरा स्वरूप हो जाता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत: ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

भक्तिके द्वारा मुझे पहचानता है और मुझे पहचानकर मुझसे एक हो जाता है। भक्तिका फल ज्ञान है, ज्ञानका फल भक्ति है। जो पहले ज्ञानमार्गसे चलते हैं, उनको कुछ अटपटा-सा लगता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 12.5

कहते हैं, देखो परमात्माकी प्राप्ति तो एक सरीखी है, लेकिन जो देहमें बैठे हुए लोग हैं देहाभिमानी- जो इस देहको ही मैं मानकर बैठे हुए हैं, वे लोग जब बिना देहके परमात्माके बारेमें विचार करेंगे-तुम देहवाले हो, तुम्हारा ईश्वर भी देहवाला है- और यदि तुमने अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय कोशका विवेक करके अपनेको साक्षी-द्रष्टाके रूपमें जान लिया है तो तुम अपनेको ब्रह्मरूपमें जान सकते हो। साकार जीवके लिए साकार भगवान् और निराकार आत्माके लिए निराकार ब्रह्म। तो हम तो रहें साकार और मिलना चाहें निराकारसे तो कैसी तो हुई, जैसे कोई दोनों हाथ फैलाकर आसमानको समेटना चाहे तो हाथ और हाथवाला तो हो गया साकार और आसमान है निराकार, उसको वह समेटना चाहता है तो अपनेको हाथवाला भी माने और उसमें आकाशको भी समेटना चाहे तो यह कितनी उल्टी बात हो जायेगी।

इसलिए अपनेको देह मानते हुए, निर्देह परमात्माको, अदेह परमात्माको कोई पाना चाहेगा तो- 'क्लेशोधिकतरस्तेषां'- अधिकसे कुछ ज्यादा क्लेश होगा। उसको इससे बड़ा तो और कोई क्लेश ही नहीं होगा। नहीं, जो अधिकतम क्लेश है वह नहीं होगा। न अधिकतम क्लेश होगा और न अधिक होगा। अधिकसे कुछ ज्यादा तो होगा, लेकिन कोई अन्तिम सीमाका क्लेश नहीं होगा। क्योंकि उन्होंने व्यक्त होकर अव्यक्तोंसे आसक्ति की। जैसे आसमानमें चिड़िया उड़ती हैं और उसके पदचिह्नको कोई पकड़ना चाहे तो मुश्किल है। लेकिन यदि आकाश ही हो तो यह अव्यक्तकी गति है-वह देहाभिमानीके लिए बहुत कठिन है। तीन श्लोकोंमें अक्षर अव्यक्तका स्वरूप और उसकी उपासना, दोनों भगवान्‌ने बतायी और बताकर कहा कि देहाभिमानीके लिए वह कठिन है। अब सारा-का-सारा अध्याय जो है-'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता-उपासते' की व्याख्या है। माने सगुण-साकार भगवान्‌की भक्ति कैसे की जाती है-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥

सगुणका उपासक अपनी दोनों बाँहोंमें मुझे भर लेता है और मैं उसको अपनी दोनों बाहोंमें भर लेता हूँ। और निर्गुणके उपासकको बाँह छोड़ देनी पड़ती है और मैं भी अपनी बाँहसे उसको पकड़ता नहीं। वह आवे मिल जावे। यह सगुण उपासनाका प्रसंग यहाँसे शुरू होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

13-11-83

अक्षर अव्यक्तकी उपासना देहभिमानीके लिए अत्यन्त कठिन है। अब सबके लिए जो सुगम है उस साधनाका वर्णन करते हैं। हम लोगोंको तो यह भी कठिन भासती है। पर भगवान्ने अव्यक्त अक्षरको अलग करके तब इसका वर्णन किया है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। 12.6-7
ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् पर्युपासते। 12.3

एक 'तु' तो वे थे। और अब ये दूसरे 'तु' प्रारम्भ हो रहे हैं। 'तु' और 'अपि' की भी एक कथा प्रसिद्ध है। मीमांसकोंमें प्रभाकर गुरु नामके बड़े विद्वान् हुए हैं। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ये दो मत ही मीमांसामें चलते हैं। वे जब अपने गुरुजीसे मीमांसाशास्त्र पढ़ रहे थे तो उसमें आया-'तत्र तु नोक्तम् अत्रापि नोक्तम्'। तो गुरुजी तो ग्रन्थ देखते ही रह गये और समझमें न आवे कि यह क्या है? पहले एकमें मिलाकर ही अक्षर लिखे जाते थे। तो गुरुजी बोलकर गये कि अच्छा अभी नहीं-कल पढ़ावेंगे। जब गुरुजी चले गये तब प्रभाकरजीने उनकी पुस्तकमें 'तत्र तुना उक्तम्' 'अत्र अपिना उक्तम्' वहाँ 'तु' शब्दसे जो बात कही गयी है वही यहाँ 'अपि' शब्दसे कही गयी है। अक्षर अलग-अलग कर दिये। जब गुरुजी आये। देखा-बोले किसने किया? यही प्रभाकरने। तो बोले भाई आजसे तू शिष्य नहीं रहा-गुरु हो गया।

प्रायः गुरु लोग ऐसे ही उदार होते थे। वासुदेव शास्त्रीने कोई गणित किया था-वे काशीमें ज्योतिषके बहुत बड़े विद्वान् थे। उनके नामपर अब उनकी शैलीके पञ्चांग निकलते हैं। उन्होंने गणित किया था तो अपने नीचेवाले अध्यापकको दिया कि तुम देख लो। अध्यापकने कहा-आप इतने बड़े पण्डित, विद्वान् हम क्या देखेंगे इसको? प्रशंसा करके देने लग गये। उस समय सुधाकरजी उनके यहाँ पढ़ते थे। छोटे पण्डित थे। उन्होंने कहा-गुरुजी जरा मैं देख लूँ! देख लिया तो उसमें वासुदेवजीकी 20-30 गलती गणितमें निकाल दी। सहायक पण्डित बोले-हम गुरुजीको कैसे बतावें? गुरुजीने कहा-लाओ-लाओ हमारे पास, देखें! देखा तो सब ठीक

थीं-जितनी गलती निकाली गयी थीं। उन्होंने लिखकर दिया कि सुधाकरकी बुद्धि बृहस्पतिके समान है। अपने शिष्यके प्रति इतना आदरका भाव। पहले गुरु लोग अपने बड़प्पनके अभिमानमें नहीं आते थे। ये 'तु' और 'अपि' पहले जो बात कही गयी है और उसके जो अधिकारी हैं-उनसे अलग ढंगके अधिकारी हैं इसलिए 'ये' के बाद 'तु' शब्दका प्रयोग किया गया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अब सुगमता कहाँ है, उसको देखिये। यज्ञ, याग होता है तो उसमें विशेष प्रकारका कर्म होता है। उसको सब लोग नहीं कर सकते। वह अद्भुत है। ब्राह्मण-वृहस्पति सब कर सकता है, वाजपेय कर सकता है, परन्तु राजसूय-यज्ञ नहीं कर सकता। और क्षत्रिय राजसूय-यज्ञ कर सकता है परन्तु बृहस्पति-सव या वैश्यस्तोम नहीं कर सकता। वैश्य वैश्यस्तोम कर सकता है परन्तु राजसूय या वाजपेय नहीं कर सकता। धर्ममें अधिकारका भेद होता है। आजकलके लोगोंकी दृष्टिमें तो अधिकार माने कुर्सी हो गया है- 'कुरसिका-रसिक' हो गये हैं। और साधारण लोगोंके सामने अधिकार-भेदकी बात करें तो उनकी समझमें नहीं आता है।

अधिकारीमें चार बातें होनी चाहिए। जो काम हम बताते हैं, उसको वह करना चाहता हो, उसका फल चाहता हो। केवल चाहनेसे ही अधिकारी नहीं हो जाता। उसको करनेमें समर्थ हो। हम एक बड़ी फैक्टरी खोल रहे हैं, चाह तो है पर उसके करनेके लिए जो सामग्री चाहिए वह आपके पास नहीं है। तो अर्थ चाहिए, सामर्थ्य और उसके विषयमें पूरी जानकारी चाहिए, विद्वान् चाहिए और वह गैर-कानूनी न हो, अशुद्ध न हो। यदि मना किया हो कि दाहिनेसे मत जाओ तो आप दाहिनेको रास्ता खाली देखकर भी उधरसे मत जाइये। आप अपनी वासनाको, अपने मनोवेगको, अपने हाथमें रखकर काम कीजिये। जो अपने मनोवेगको हाथमें रखकर काम नहीं करता, जो मनमें आया सो ही करने लगता है, वह कभी ऐसा काम कर बैठता है जो उसके लिए अनर्थकारी हो जाता है।

संस्कृत साहित्यमें अधिकार-भेदका अर्थ यह होता है धर्ममें, यज्ञादिमें अधिकारका भेद है। अभी एक सेठने हमको कहा कि हम वैश्य-स्तोम करना चाहते हैं-जैसे पहले क्षत्रिय राजसूय-यज्ञ करते थे, ब्राह्मण वाजपेय करते थे- हम वैश्य-स्तोम करें। पण्डित इकट्ठे हुए, विचार हुआ कि ये कैसे करेंगे? बोले अग्निहोत्री होना चाहिए। पहलेसे अग्निहोत्र करते हों तो वैश्यस्तोम कर सकेंगे तो वे तो अग्निहोत्री नहीं है, अतः श्रौत-यज्ञ नहीं कर सकते। देवताओंसे बातचीत करनेके लिए अलग-अलग लाइन होती है। ये मन्त्र हैं, वे मृत्युलोकमें बैठकर देवताओंसे बात करनेके लिए हैं।

पहली बात यह है कि धर्मके समान भक्तिमें अधिकारीका भेद नहीं है। यह सबके लिए है। दूसरी बात यह है कि इसको चाण्डाल भी कर सकता है, ब्राह्मण भी कर सकता है, अन्त्यज, अग्रज दोनोंके लिए है और पापी, पुण्यात्मा दोनोंके लिए है। पापी भी भक्ति कर सकता है, उसके लिए वर्जित नहीं है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। 9.30

पशु-पक्षी भी भवागन्की भक्ति कर सकते हैं। गीध भी भगवान्की भक्ति करता है। रामभक्तोंमें

गीधकी प्रसिद्धि है। भक्तिमें एक सुगमता तो यह है कि हम करनेके लिए अधिकारी हैं कि नहीं यह बात छोड़ दो। दूसरी बात यह है कि क्या करना है? यह करोगे तो हवन करना पड़ेगा और संकल्प करना पड़ेगा। ब्राह्मण ब्राह्मणोचित, क्षत्रिय क्षत्रियोचित, वैश्य वैश्योचित कर्म करें। भक्तिमें कर्म-सम्बन्धी नियम नहीं है कि हम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कौन-सा काम करें। यह अद्‌भुत है झाड़ू लगानेसे भी भक्ति होती है। शबरी झाड़ू लगाकर भगवान्‌की सेवा करती है। रसोई पकाकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। भोग लगता है। संगीत सुनाकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। नाचकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है, पूजा करके भी भगवान्‌की भक्ति होती है। रोकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है, हँसकर भी भगवान्‌की भक्ति होती है। इसलिए 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' इसपर ध्यान दो।

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।' सर्वाणि कर्माणि यत् करोषि'-भगवान्‌ने कहा-'यत् करोषि' (भाग 11.2.36)। 'यदश्नासि'-जो करते हो सो-जो खाते हो सो। पुराने संस्कारके लोगोंको तो पसन्द नहीं आवेगा, परन्तु पुराणोंमें ऐसी-ऐसी कथाएँ हैं, जो किरात थे, भील थे, कोल थे वे जो खाते थे, भगवान्‌को अर्पण करके खाते थे। ऐसे भक्त थे। हम उनकी कथा सुनावेंगे तो आपलोगोंको अच्छा नहीं लगेगा। जो खाते थे वही भगवान्‌के सामने रख दिया। प्रभु लो, भोजन करो। भगवान् तो सबके पेटमें बैठते हैं-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 15.14

खटमलका अन्न भी वही पचाते हैं, चूहेका अन्न भी वही पचाते हैं-चिड़िया, पशुका अन्न भी वही पचाते हैं क्योंकि वैश्वानरके रूपमें तो वही है। हमारी संस्कृतिकी, परम्पराकी बात दूसरी है, परन्तु 'सर्वाणि कर्माणि', 'यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोषि, ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरूष्व मदर्पणम्। (९.३७)-यह तो आपलोग पढ़ते हैं-अर्थ क्या बतावें। श्लोकका रूप ऐसे कर लीजिये 'यत्करोमि यदश्नामि, यज्जुहोमि ददामि यत्। यत् तपस्यामि भगवन् करोमि तत्तदर्पणम्'। 'सर्वाणि कर्माणि।' एक कुत्ता खानेवाला श्वपाक भगवान्‌के नामका उच्चारण करके, भक्ति करके सद्यः तत्काल यज्ञ किये बिना ही यज्ञका फल प्राप्त कर लेता है। तपस्या पूरी हो गयी। हवन पूरा हो गया। वेदका हवन पूरा हो गया सद्यः। ब्रह्मका अनुवचन हो गया। किनका? जो भक्तिके मार्गमें आगये। 'भक्तिः पुनाति मन्निष्ठाः श्वपाकानपि सम्भवात्।' जो प्रारब्धसे श्वपाक हुए हैं वे भी पवित्र हो जाते हैं। ये प्रारब्धहत् भक्ति-प्रारब्धका नाश करनेवाली भक्ति-'मेटत कठिन कुअंक भालके' 'भाव्यो मेट सकै त्रिपुरारि।' क्या करेगा प्रारब्ध? जबतक राष्ट्रपति भवनमें राष्ट्रपतिके पास बैठे रहेंगे तबतक थानेदारको भी बाहर बैठकर इन्तजार करनी पड़ेगी। वहाँ जाकर गिरफ्तार नहीं कर सकता। बैठ जाओ भगवान्‌के पास-'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः'। 'मयि संन्यस्य' का अर्थ है भगवान्‌के प्रति। 'संन्यास' का अर्थ सामने रख दिया।

कई लोग कहते हैं कि भाई भगवान्‌के प्रति जो हम समर्पण करेंगे, उसमें तो वृद्धि हो जायेगी। अतः

पुण्यका समर्पण करना चाहिये। पापका समर्पण तो भगवान्को नहीं करना चाहिए। भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो, हमारे पुण्यमें जो सुख होनेवाला है वह तो तुमको मिल जाय और हमारे पापका जो दु:ख मिलनेवाला है वह हम भोगनेके लिए तैयार हैं। हमें दण्ड दो। जब भक्त इस प्रकार हाथ जोड़कर भगवान्के सामने बोलता है-तब भगवान् कहते हैं-भाई जिसकी आमदनी हमने ले ली, उसका कर्ज चुकाना भी हमारा कर्तव्य हो गया।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:। 18.66

पापसे छुड़ानेवाले तो भगवान् हैं। 'संन्यस्य' का अर्थ 'समर्प्य' नहीं-भगवान्के आगे रख दो। 'संन्यस्य' का अर्थ है 'सर्वाणि कर्माणि मयि भगवति-संन्यस्य=सम्यक् स्थापयित्वा' उनके सामने निवेदन कर दो- महाराज, देखो ये- ये हमारे पाप हैं और ये-ये हमारे पुण्य हैं। भगवान्से छिपाओ मत! उनके सामने रख दो। इतना तो विश्वास रखो कि बड़े सहृदय हैं, दयालु हैं, सौशील्य-वात्सल्य-जलद हैं-जब हम सच्चे हृदयसे दोनों चीज भगवान्के सामने संन्यस्त कर देते हैं, स्थापित कर देते हैं, रख देते हैं-निवेदित कर देते हैं तो उनके हाथसे दण्ड भी मिलेगा तो बहुत बढ़िया!

एक आदमी अभी वृदावनमें है। उसने एक दण्डी स्वामीका अपमान कर दिया था और रहता था बाबाकी सेवामें। उड़ियाबाबाने एक छड़ी पड़ी थी, उसे उठा लिया और दण्डी स्वामीको प्रसन्न करनेके लिए एक डण्डा उसको लगा दिया। वह तो नाचने लगा कि बाबाने जिन्दगीमें यह कृपा किसीपर भी नहीं की है। इस कृपाका अधिकारी तो मैं हूँ। रामसिंह उसका नाम है। भगवान्के सामने अपना गुण-दोष, पाप-पुण्य रख दो-निग्रह-अनुग्रह उनके ऊपर छोड़ दो। 'मयि संन्यस्य त्पा:'। भगवान्पर भरोसा करो, विश्वास करो। वे जो कुछ करते हैं, वही मंगलमय है। उनका प्यार भी वही, उनकी मार भी वही। जैसे भगवान् रखें वही ठीक। 'जाहि विधि राखे राम-ताहि विधि रहिये'। 'संन्सस्य मत्परा:'।

यह बात निश्चित है कि भगवान्से बड़ा और कोई नहीं है। 'अहमेव परो येषां ते मत्परा: '। जिसकी दृष्टिमें परम तत्त्व मैं ही हूँ, उसको बोलेंगे 'मत्पर:'। भगवान्के विश्वासपर, भगवान्के बलपर, अपने बलपर नहीं। भगवान्के बलसे-'अपने करमसे जो उतरेंगे पार तो पै हम करतार, करतार तुम काहे के।' फिर तो मैं करतार हो गया-तुम करतार काहे के? ऐसे बोलते हैं। भगवान्पर जो विश्वास करते हैं-उनके अन्दर तो वह श्वास लेता है और छोड़ता है। उसका भी कर्तृत्व उसके अन्दर नहीं होता है। श्वासके कर्तृत्वसे भी मुक्त होते हैं कि मैं प्राणायाम कर लूँ तो साँस रुक जायेगी। पूरक हो जायगा, कुम्भक हो जायगा, रेचक हो जायगा-नहीं बाबा, साँस आवे चाहे जावे, उससे कोई मतलब नहीं, हम तो भगवान् भरोसे बैठ गये। 'मत्परा:'-

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। 12.6

अन्य योग विवच्छेदके द्वारा। अनन्य योग दो तरहसे होता है एक दूसरेका योग छोड़ दिया तो अनन्य योग हो गया। अन्य योग कट जाना अनन्य योग है और एक अपने इष्टदेवके प्रति अनन्य होकर जुड़ जाना।

हमारे आचार्योंके मतमें बहुत विलक्षणता है। 'अनन्येनैव योगेन'। योग माने होता है-'उपाय'। उपाय

तो करते हैं, परन्तु हम उपाय करते हैं भगवान्से मिलनेका ? नहीं, हमारे उपाय तो स्वयं भगवान् हैं। हमारा योग अनन्य है। अनन्य है माने इष्टदेवसे अलग नहीं है ! इस बातपर ध्यान दें। बल्लभाचार्य भी ऐसे ही मानते हैं और श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें भी यही मानते हैं। उपाय भी भगवान् और उपेय भी भगवान्।

साधक लोगोंको जरा अलग रख दो। हमको तो साधक-बाधकका ठीक-ठीक पता नहीं है। हाँ, इतनी बात तो आपको सुनाते हैं कि कुछ लोग भगवान्की करते हैं भक्ति और उनसे चाहते हैं दूसरी कोई चीज। जैसे स्वास्थ्य चाहते हैं, धन चाहते हैं, प्रतिष्ठा चाहते हैं, ऐश्वर्य चाहते हैं। भगवान्की भक्ति करते हैं और चाहते हैं भगवान्से वेतनके समान कोई दूसरी वस्तु। एक तो ये हैं। दूसरे वे हैं जो करते हैं दूसरे उपाय-जप करते हैं, व्रत करते हैं, तप करते हैं, साधन करते हैं। हमने साढ़े तीन करोड़ नामका उच्चारण किया-इसके बलपर हमको भगवान् मिलें। करते हैं साधन और उससे चाहते हैं भगवान्को। और पहले वे हैं जो भगवान्की पूजा करते हैं और चाहते हैं भगवान्से भगवान्के अतिरिक्त दूसरी चीज।

तीसरे ये होते हैं-जिनका वर्णन हमारे भक्तिके आचार्योंने किया है कि हम जिस चीजको चाहते हैं, वही हमारा उपाय भी है-साध्य और साधन दोनों एक है। हम ईश्वरको चाहते हैं और ईश्वरसे चाहते हैं। ईश्वर ही हमें अपने आपको मिला दे। हमारा उपाय है तो ईश्वर और उपेय है तो ईश्वर। साधन है तो ईश्वर, साध्य है तो ईश्वर। 'अनन्येनैव योगेन' का अर्थ हुआ हमारा योग अनन्य हो अर्थात् हमारे इष्टदेवसे अलग न हो। हे प्रभो, हमारे अन्दर तो शक्ति नहीं है, सामर्थ्य नहीं है कि तुम्हारी प्राप्तिके योग्य कोई साधन, कोई उपाय कर सकें। इसलिए तुम स्वयं हमारी ओरसे थोड़ी माला फेर दो। हमारी ओरसे एकाधदिन भूखे रह जाओ। हम जब युक्ति करके, उपाय करके किसीसे मिलते हैं, तो उसमें हृदय पूरा मिलता नहीं है, उपायपर विश्वास रह जाता है। विश्वास तो उपेयपर ही होना चाहिए। जिसको हम पाना चाहते हैं, वही आकर मिला दे।

एक सज्जन बादशाहसे मिलना चाहते थे। बीस कानून लग गये। पहलेसे अर्जी दो, चपरासीको खुश करो, दीवानकी इजाजत लो, बहुत कानून लग गये। एक दिन यमुना किनारे बैठके बजा रहे थे एकतारा। बेगम-बादशाहने सुना। वे चुपचाप चोर दरवाजेसे निकले और जाकर झोपड़ीमें चटाई पर बैठ गये। 'अनन्येनैव योगेन'। जो भगवान्की प्राप्तिके लिए उपाय कर रहा था-स्वयं बादशाह वहाँ आगये। जहाँ योग-और योगके द्वारा प्राप्तव्य-ये दोनों अलग-अलग नहीं होते हैं, वहाँ योग अनन्य हो जाता है-'अनन्येनैव योगेन मां धायन्त उपासते'। मेरे पास बैठे रहते हैं-पर कोई पास बैठे, उप-आसते='उपासना' माने पास बैठना। कोई पास तो बैठे; पर पास बैठकर याद करे किसी और की-ध्यान करे किसी और का। जैसे मन्दिरमें पुजारी बैठा हो और देख रहा हो वह यात्रियोंको- इन्तजार कर रहा हो कि वे राजा कब आते हैं, वे सेठ आते हैं। बैठा है भगवान्के पास और ध्यान कर रहा है सेठका!

भगवान् कहते हैं-बैठे भी मेरे पास और ध्यान भी मेरा करे। 'मां ध्यायन्त उपासते।' 'ध्यायन्तः' माने ध्यान करते हुए-ध्यै चिन्तायाम्-चिन्तन-परम्परा। जैसे लोभीको धनकी चिन्ता होती है, जैसे कामीको कामिनीकी चिन्ता होती है। ठीक इसी प्रकार ध्यान करके भगवान्के पास बैठा रहे। अब ये तो बैठ गये।

भगतजी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवान्‌के पास बैठ गये और अपने कर्मोंको भगवान्‌के सामने रख दिया। कर्म तो अच्छे बुरे सब भगवान्‌के सामने रख दिया और पूरा-पूरा भगवान्‌का विश्वास कर लिया और भगवान्‌का विश्वास करके उसका चिन्तन करते हुए बैठ गये। अब इनको मिलेगा क्या? स्वर्ग मिलेगा, वैकुण्ठ मिलेगा, मुक्ति मिलेगी, ज्ञान मिलेगा? बोले, इसकी हमको कोई परवाह नहीं है। हम तो अपना काम करते हैं। हमको कुछ मिलने, न मिलनेकी, जरूरत नहीं है।

हमने एक बार श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा-बाबा, निष्काम कर्म कैसे होता है? तो बोले, देखो एक गिलास पानी किसीको पिलाते हैं-जब नौकर पिलाता है तो वह वेतनकी आशा रखता है, या कुछ इनाम मिलेगा, इसकी आशा रखता है। हम किसीको पानी पिलावें और पानी पिलानेकी जो सुख है-पीनेवालेको पानी पीनेका जो सुख मिला है, उससे अधिक सुख जब पिलानेवाला लेता है, तब उसका निष्काम कर्म हो जाता है। वह पानी पीकर सुखी नहीं होता है वह पानी पिलाकर सुखी होता है। यही बात योगदर्शनमें ईश्वरप्रणिधानकी व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षुने कही। उन्होंने कहा कि जीव उसको कहते हैं जो खाकर खुश होता है और ईश्वर उसको कहते हैं जो खिलाकर खुश होता है। भोजयिता है ईश्वर, भोक्ता है जीव। खिलाकर खुश, देकर खुश-ऐसा ईश्वर! रघुवंशकी टीकामें एक जगह मल्लिनाथने लिखा है कि जैसे शरद ऋतुमें बादल निर्मल हो जाते हैं, कैसे होते हैं? उनके पास जो पानी था उन्होंने बरस दिया। जब उन्होंने अपना पानी बरस दिया तब वे काले नहीं रहे, सफेद हो गये। निर्मल हो गये। इसी प्रकार जो मनुष्य खिलाकर खुश होता है वह ईश्वरके पास हो गया। क्योंकि ईश्वर भी खाकर खुश नहीं होता, खिलाकर खुश होता है। 'अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।' (ऋग्वेद 1.164.20) में आया-उपनिषद्‌का कहना है-

न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन। बृहदारण्यक. 3.8.8

ईश्वरको कोई खा नहीं सकता और ईश्वर खाता नहीं। एक खाकर खुश होता है और एक बिना खाये ही खुश रहता है। हमारे जीवनमें यदि यह आजाय तो अच्छा है। अच्छा, हमने जो किया था वह तो भगवान्‌के सामने रख दिया। विश्वास है भगवान्‌का और दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। और हमारे उपाय हैं, साधन हैं तो भगवान् और उपेय हैं, प्राप्तव्य हैं तो भगवान्! और चिन्तन हो रहा है भगवान्‌का! बैठ गये भगवान्‌के पास। बोले अब उद्धार हो। उद्धार तो तब हो जब मृत्यु-संसार-सागर दीखता है- उसको तो दीख रहे हैं भगवान्! तो वह क्या चाहेगा कि भगवान्‌के दर्शनसे हमारा उद्धार हो जावे। भगवान्‌का दर्शन कोई छोटी चीज है और अब हमारा उद्धार हो जावेगा।

राधिकारमण प्रसाद सिंह-वे हमसे मिलते थे। उन्होंने बताया था कि हमारे पिताका रखा हुआ एक नौकर था, पंखा खींचा करता था। जब बिजली आगयी, वह भी वृद्ध हो गया था-मैंने कहा हम तुम्हें पेंशन देंगे। तुम अपने घर चले जाओ। बोला बाबू! देखो, हमारे सामने तुम पैदा हुए, मैंने अपनी गोदमें खिलाया और तुमको अपने हाथसे खिलाया। अब तुम बड़े हुए। पंखा खींचते-खींचते जिन्दगी बीत गयी। अब हम कहाँ जायँ? तुम्हारे सिवाय हमारा घर कहाँ है? हमको पेंशन नहीं चाहिए। हमको अपने घर जानेकी छुट्टी नहीं चाहिए।

हमारे तो तुम ही हो, तुमको छोड़कर हम कहाँ जायें? वह समझते थे कि इसको पेंशन देकर घर भेज देंगे तो यह खुश हो जायेगा।

भक्त अपना उद्धार नहीं चाहता कि हे भगवान्, हमारा उद्धार कर दो। अब भगवान्‌के मनमें फिकर हुई-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। 12.7

बोले-आगये। एक वृद्ध सज्जन थे। उन्हें नदी पार करनी थी। नदीके किनारे जाकर खड़े हो गये। मल्लाहने देखा कि एक बुड्ढा आदमी-जिसको नावपर चढ़नेकी शक्ति नहीं है, नदी किनारे खड़ा नावका इन्तजार कर रहा है। मल्लाह अपनी नाव लेकर बीच नदीमें-से किनारे आगया। बोला, आजाओ। बुड्ढेने कहा हमारे हाथ पाँव नहीं उठते, हम यहीं खड़े हैं। मल्लाह स्वयं नावपरसे उतरकर नीचे आया और दोनों हाथसे उसे पकड़कर हृदयसे लगा लिया और उठाकर नावपर बिठा लिया। वृद्ध नावपर बैठ गये। वह नहीं आता तो उसके पाँवमें कीचड़ लगता, पानीमें चलना पड़ता, पाँव फिसल जाता, गिर पड़ता। मल्लाहने उठाकर नावमें बिठा लिया। नावपर बैठकर वृद्ध महाशय बोले, हम भी बैठे हैं तो पतवार पकड़ लें, इधरसे उधर घुमाते रहें-बोले डाँड़ ही दे दो-एक डाँड़ खेवेंगे। बोले, न्हीं-नहीं डाँड़ खेना तुम्हारा काम नहीं है। तब हम क्या करें? अरे, तुम तो हमको देखो। तुम हमको प्रेमसे न्हिारो, हम डाँड़ भी चला लेंगे, पतवार भी खे लेंगे और पार भी कर देंगे।

'तेषामहं समुद्धर्ता।' मृत्युरूप संसार-सागरमें जो डूब रहा है, उसको आकर स्वयं भगवान्‌ने उठा लिया। उसको तो ध्यान ही नहीं है कि हम मृत्यु-संसारमें हैं। मृत्युका अर्थ है, जहाँ मरना पड़ता है और संसारका अर्थ है, जहाँ आना-जाना पड़ता है। संसरणं संसर: । जहाँ आदमी सरकता रहता है। कभी नरककी ओर सरक गया, कभी स्वर्गकी ओर सरक गया। कभी पीछेको सरक गया तो गिर गया और कभी आगेका सरक गया तो गिर गया। संसारमें स्थिरता नहीं है। जब तक स्थिर वस्तुको नहीं पकड़ोगे, तब तक स्थिर नहीं होओगे। संसारमें या तो पीछे फिसलोगे या तो आगे फिसलोगे। या तो दलदलमें गड़ोगे। भूतकी चिन्तामें लग जाना पीछे फिसलना है और भविष्यके लिए डरना, यह आगे फिसलना है और वर्तमान-मोहके गड्ढेमें, दलदलमें गड़ जाना यह तीनोंमें फँस जाना है।

अब निकालने वाला कौन है? संसारसे जो निकालता है उसको बोलते हैं 'समुद्धर्ता।' पहले तो समुद्धर्ता हरता है, जबरदस्ती हरण करता है। वह नहीं निकलना चाहते-ध्यान करके बैठे हैं-भगवान्‌के पास बैठे हैं। आकर हिला दिया-ओ उठो, भगतजी! बाबा, हम मजेमें बैठे हैं। हम उठेंगे नहीं। अच्छा, बहुत मजेमें बैठे हो तो हम तुम्हें उठाते हैं। यह हरता है। बोले केवल बैठे-बैठे हर ले सो नहीं। उद्धर्ता-ऊपर उठा लेता है, कन्धेपर ले लेता है। उद्धर्ता ही केवल नहीं, यह नहीं कि थोड़ी देरके लिये उद्धर्ता हो गया, उद्धार कर लिया और फिर छोड़ दिया-नहीं 'समुद्धर्ता' सम्यक् उद्धर्ता। जिसके बाद फिर कभी मौत न हो, ऐसा उद्धार; जिसके बाद कभी आवागमन न हो, संसरण न हो, आना-जाना पड़े; ऐसा उद्धार। ऐसा उद्धार कौन करता है? 'अहं

समुद्धर्ता।' छाती ठोंककर बोल दिया। अरे बावा, तुम अपने उद्धारकी फिकर मत करो। हम तुम्हारे उद्धारकी फिक्र करते हैं।

सुदामाने भगवान्‌से कहा कि हमको कुछ नहीं चाहिए। अपने मनमें कहा- हम यदि कुछ चाहेंगे- तुमसे कुछ लेंगे तो तुम भूल जाओगे। अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्-इति कारूणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् (भाग 10.81.20)। बड़े करुणाशील हैं भगवान्। इसको धन मिल जायगा तो हमको भूल जायगा। इसलिए भगवान्‌ने हमको धन नहीं दिया। सुदामामें ऋषित्व था। भगवान्‌ने कहा-तुमको नहीं चाहिए तो क्या! 'कुटुम्बपाल रघुराई'-तुम हमसे मिलनेके लिए आये। तुम्हारे कुटुम्बका पालन हमारे सिर आगया। तुमको नहीं चाहिए तो क्या हुआ? तुम्हारी पत्नीको चाहिए। जो तुम्हारे साथ जुड़ गया, उसका ख्याल भी तो हमको ही करना है न! 'मृत्यु संसारसागरात्'। सागरका अर्थ है-बहुत बड़ा समुद्र। परन्तु वह सगरसे सागर बना है इसका भी ध्यान रहना चाहिए न!

सगर वह राजा थे जिनके साथ गर्भसे ही गरल, विष जुड़ा हुआ था। वह तो और्व ऋषिकी कृपासे वह विष उनके ऊपर प्रभाव नहीं करता था और उनके पुत्र हुए उन्होंने सागर बनाया। जिसको जन्म-जन्मका जहर लगा हुआ है और इस जन्ममें भी जहर लगा हुआ है मौतसे घिरा हुआ है, स्वर्ग और नरकमें आनेजानेवाला है, पुण्यात्मा और पापी है और साथ ही इस जीवनमें भी विषैला है, वहाँसे भगवान् सम्यक् 'उत् धर्ता' हो जाते हैं, हरता हो जाते है। 'उद्धर्ता' शब्द दोनों तरहसे बनता है। धरता भी है, हरता भी है।

अच्छा महाराज; आप उद्धार करोगे। अहं भवामि। क्रियापदका प्रयोग तो बिलकुल वर्तमानमें किया, परन्तु फिर भी होऊँगा ऐसा है। बोलना चाहिए 'हूँ' -'अस्मि' बोलना चाहिए। 'भवामि' बोलते हैं। तेषामहं समुद्धर्ता। बोले-'न चिरात्'। देर नहीं लगेगी।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा। 9.31

भगवान्‌को कोई काम करना हो तो देर नहीं लगती।

भवामि न चिरात्।

वे सत्य-संकल्प हैं।

नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते। तैत्ति. आर. 3.12.7

भगवान् गाते हैं। भगवान्‌को सब आता है। गाना आता है, गवाना आता है। नाचना आता है, नचाना भी आता है। 'विधि हरि संभु नचावनिहारे।' 'नाच नटी इत सहित समाजा।' मायाको नचाते हैं। 'उमा दारू जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।' नट मरकट इव सबहिं नचावत'। सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं, बानरकी तरह नचाते हैं। सबको नचाते हैं। मायाको नचाते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेशको भी नचाते हैं। और खुद भी नाचते हैं। 'नाचहिं' निज प्रतिबिम्ब निहारी। रूपराशि नृप अजिर बिहारी। स्वयं नाचना भी आता है। जब उनके मनमें कोई संकल्प आया-तो संकल्प और कृत्यमें अन्तर उसके पड़ता है, जो सत्यसंकल्प नहीं होता। इसीसे वेदोंमें ऐसा वर्णन आया है कि एक दिन भगवान्‌के मनमें काव्यका उदय हुआ।

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। अथर्ववेद 10.8.32

यह भगवान्‌की कविता है। क्या? जो देख रहे हो। यह हरियाली, यह पक्षियोंकी चहक, यह पुष्पोंकी महक-यह सब भगवान्‌की कविता है। यह स्त्री, यह पुरुष, यह मोरका नृत्य, यह कोयलकी कुहक। कहाँसे आयी? भगवान् गुनगुना रहे हैं अपने मनमें कविता और वह कविता सिनेमाकी तरह बिना परदेके, क्योंकि चामका ढक्कन नहीं है भगवान्‌के मनमें। मनुष्यका अन्त:कारण है, उसपर चामका ढक्कन है, इसलिए जो मनमें आता है, जाहिर नहीं होता और भगवान्‌के ऊपर तो चामका ढक्कन है ही नहीं। जैसा मन हुआ वैसा ही दिखायी पड़ने लगता है। और एक बार जो बन गया सो बन गया। 'न ममार न जीर्यति।' यह जो भगवान्‌का काव्य है, वह न कभी मरता है और न बुड्ढा होता है। अमर है, अजर है भगवान्‌का यह काव्य। इनको गाना भी आता है, बजाना भी आता है, नाचना भी आता है, नचाना भी आता है।

अब यह हुआ कि यह सबके लिए ऐसा क्यों नहीं कर देते। जुएँका भी उद्धार कर दें। खटमलका भी उद्धार कर दें। पशु-पक्षीका भी उद्धार कर दें। उद्धार करना माने दु:खसे छुड़ा दें। अज्ञानसे छुड़ा दें। मृत्युसे छुड़ा दें। भटकनेसे छुड़ा दें। सबको क्यों नहीं छुड़ा देते? बोले-भाई, ऐसी बात तो ईश्वरके लिए व्यवस्था बिगाड़नेवाली हो जायेगी। वह अपने ही गाये हुएको, अपने ही बनाये हुएको, अपनी ही मर्यादाको तोड़े कैसे? वैषम्य हो जायेगा। किसीके प्रति पक्षपात हो जायेगा। किसीका उद्धार कर दिया और किसीका नहीं किया। बोले-नहीं भाई, मर्यादा है। जबतक लीला करते हैं, तबतक लीला करते है। जब केवल रहते हैं तो केवल रहते हैं।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति। ब्रह्मसूत्र 2.1.34

व्यास भगवान् कहते हैं कि एक बार जो उनकी ओर आँख उठाकर देख लेता है, उससे उनकी आँख मिल जाती है। नजर-नजर एक हो गयी। एक बार जिसने अपना मन भगवान्‌की ओर कर दिया, उसका मन भगवान्‌के मनसे एक हो गया! 'मय्यावेशितचेतसाम्'। यही मर्यादा है कि भगवान्‌में अपने चेतस्‌को, अपने चित्तको, अपने ज्ञानको, अपने मनको आविष्ट कर देना है। भगवान्‌के मनसे मन मिला दिया। *'जो थारी राय सो म्हारी राय।'* तुम्हारी मर्जी ठीक है। जो करते हो सो ठीक है। अपनी कोई मर्जी रही नहीं। 'मय्यावेशितचेतसाम्'। यहाँ चेतस् शब्दका अर्थ है 'ज्ञान'।

हमारे एक महात्मा आज बोल रहे थे-भक्तिका जो दूसरा रूप है उसके साथ इसका सामञ्जस्य है? यह चेतस् शब्द जो है वह 'चिति संज्ञाने' धातुसे बनता है। संज्ञान माने-यह पशु है, यह मनुष्य है, यह आम है, यह जामुन है, यह जो एक-एक वस्तुका पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है, उस ज्ञानका समूह जिसमें रहता है, वह 'अयं घट:, अयं पट:, अयं मठ:' उस ज्ञानराशिका नाम होता है चेत्स। यह दुनिया भगवान्‌को जैसी दीखती है वैसी ही देखने लग जाय।

एक बार हमारे एक पण्डित सुन्दरलालजी थे, उन्होंने हरिबाबाजीसे कहा कि तुम तो ऐसे सिर झुकाये बैठे रहते हो, किसीको ओर देखते नहीं हो। और ये तुम्हारे साथ रहनेवाले जो हैं, जो क्या-क्या करते हैं? उनको

रोकते क्यों नहीं? पुराने पण्डितजी थे। काशीनाथजीके शिष्य थे। अच्छे विद्वान् थे। बाबाको भी डाँट देते थे। हरिबाबाजीने कहा कि देखो पण्डितजी! सब तो उसीके सामने हो रहा है, जो उसको बुरा लगेगा, उसको रोक देगा। और जब उसको बुरा नहीं लग रहा है तो हम अपना दिल क्यों बुरा बनावें। भगवान्के मनमें अपना मन मिला दो। अपने चेतसको, संज्ञानको- जिसको वे मिट्टी कहते हैं वह मिट्टी, जिसको वे पानी कहते हैं वह पानी, जिसको हवा कहते हैं वह हवा। हमें अपनी ओरसे किसीका नाम बनानेकी क्या जरूरत है, किसीका रूप बनानेकी क्या जरूरत!

जैसा भगवान्को दीखता है यदि वैसा ही आपको नहीं दीखता तो आपका ज्ञान गलत है। भगवान्का ज्ञान सत्य है, भगवान्की दृष्टि सत्य है, वह स्वयं अपनी दृष्टिसे प्रपंचको जैसा देख रहे हैं, वही सत्य है। और उनकी दृष्टिसे अलग होकर, उनके ज्ञानसे अलग होकर जो हमारी दृष्टि बनी, जो हमारा ज्ञान बना, वह बिल्कुल गलत है। आप किसी बुजुर्गका नाम लेकर हमको दबाना मत कि अमुक बुजुर्ग ऐसे बोलते हैं-या तो भगवान्का ज्ञान सच्चा या तो आपका ज्ञान सच्चा। भगवान्के ज्ञानसे जब आपका ज्ञान मिलेगा तभी आपका ज्ञान सच्चा होगा और तब भगवान्को उद्धार करनेकी तकलीफ भी उठानी पड़ेगी।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

अपने चित्तको मुझमें आवेशित कर दो, आविष्ट कर दो और देखो फिर कहीं देर नहीं है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामंह समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ 12.6-7

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

प्रवचन : 4

14-11-83

धर्म, योग, ज्ञान इन तीनोंकी अपेक्षा भक्तिमें अपूर्वता क्या है-नवीनता क्या है ? जो उन तीनोंमें न हो और भक्तिमें हो। वह यह है कि योगमें पहिले तो कर्ताका बल होता है, यम-नियम, आसन प्राणायाम, योगीको करना पड़ता है; समाधि लगानी पड़ती है। बादमें वह स्वयं ही अपनेको द्रष्टारूपमें अनुभव करता है। पहले अभ्यासके बलका प्रयोग है और बादमें सहज स्थिति है। धर्म करते समय भी कर्ताका बल है और उनका जो फल है स्वर्गादिरूप, उसको भी पकड़कर ही रखना पड़ता है। सावधान रहना पड़ता है। नहीं तो स्वर्गसे ढकेल दिया जाता है। राजा ययातिकी महाभारतमें कथा है-बहुत पुण्य, दान, धर्म करके स्वर्गमें गये। इन्द्रके आधे सिंहासनपर उनको अधिकार प्राप्त हुआ। आधेपर इन्द्र बैठें और आधेपर ययाति। ययातिने पूछनेपर बताना शुरू कर दिया कि मैंने यह धर्म किया-इन्द्र पूछते गये, ययाति बताते गये, किस धर्मके बलपर स्वर्गमें आये हैं। अब वे अपने धर्मका जब वर्णन करने लगे तो धर्म क्षीण होता गया और अन्तमें इन्द्रने उनको सिंहासन परसे ढकेल दिया। नीचे मुँह करके गिरे। परन्तु धर्मात्मा थे इसलिए ऐसी जगहपर गिर रहे थे जहाँ महात्माओंका सत्संग हो रहा था।

महात्माओंने उनको अपने तपोबलसे ऊपर रोक दिया और पूछा। ययातिने बताया कि हम धर्मके बलपर स्वर्गमें गये थे। परन्तु वहाँ अपने धर्मका अपने मुँहसे वर्णन करनेके कारण, धर्म क्षीण हो गया और हमको गिर जाना पड़ा तो उन्होंने कहा-अब तुम आओ, सत्संग करो। ऐसी स्थिति-गति प्राप्त होगी जहाँसे गिरना नहीं पड़ता है। धर्म करनेके समय भी अपने बलका प्रयोग होता है और उसके फलकी रक्षा करनेके लिए भी अपने बलका प्रयोग होता है। और योगमें साधनके समय तो स्वयं अभ्यास करना पड़ता है। फलस्थिति जो है वह द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति, उसमें कोई प्रयास नहीं रहता है।

तत्त्वज्ञानमें साधन पहले करना पड़ता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये अन्तरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्ग साधन हैं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा। पहले यह करना पड़ता है। आवरण-भंग जब हो जाता है उसके बाद वह समस्त गतियोंके लिए और स्थितियोंसे और समाधियोंसे मुक्त हो जाता है। वह चाहे विक्षेपमें रहे, समाधिमें रहे, जहाँ रहे, जैसे रहे सहज ही रहता है। धर्ममें साधन और फल दोनोंमें कर्ताका बल है और योगमें साधनकालमें कर्ताका बल है, बादमें सहज स्थिति है। ज्ञानमें कर्तत्व, भोक्तृत्वका सर्वथा उच्छेद हो जाता है क्योंकि ये भ्रान्तिमूलक हैं।

भक्तिमें क्या विशेषता रही-क्या अपूर्वता रही कि उसमें भगवान् ही बल हैं। उसमें अपना बल साधकके लिए न पहले होना चाहिए और न पीछे! भगवान्पर ही भक्तको निर्भर होना चाहिए। भगवान्का भरोसा ही उसकी साधना है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

किसी भक्तके सामने भगवान् प्रकट हुए। भक्तने पूछा प्रभो, अभी तो मैं आपका नाम ले लेता हूँ, पूजा भी कर लेता हूँ, ध्यान भी कर लेता हूँ। जब हमारा शरीर शिथिल हो जायगा, हाथ उठेगा नहीं- जीभ चलेगी नहीं- मन अपने वशमें रहेगा नहीं तब आपकी आराधना हम कैसे करेंगे? तो भगवान्ने कहा- मेरे प्यारे भक्त, जब तुम्हारे हाथ नहीं चलेंगे, जीभ नहीं चलेगी, तुम्हारा सामर्थ्य नहीं रहेगा तब मैं आकर तुम्हारे आसनपर बैठ जाऊँगा और तुम्हारी माला लेकर, तुम्हारी ओरसे अपना जप करने लगूँगा। तुम्हारी ओरसे अपनी पूजा भी कर लूँगा, तुम्हारी ओरसे ध्यान भी कर लूँगा। तुम्हारी साधनाकी पूर्णता या अपूर्णता, जो कुछ है वह सब मेरे हाथमें है, मेरे बलपर है। ज्ञानीको अपना बल होता है7 भक्त को प्रभुका बल होता है 'तेषामहं समुद्धर्ता'का अर्थ हुआ कि भक्तको अपने उद्धारके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

वह तो केवल प्रभुकी सेवा जानता है, प्रभुका चिन्तन जानता है। वह अपनेको प्रभुके सामने निवेदित कर देता है। अब उनकी जो मरजी हो सो करें। 'मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव'। हे माधव, हे नाथ जो कुछ मेरा है और जो कुछ मैं हूँ वह सब तुम्हारा है। अबतक मैं जानता नहीं था। अब जान गया। मेरी बुद्धि सोयी हुई थी। जग गयी। फिर समर्पण करनेके लिए भी मेरे पास क्या है? मेरा क्या है, जो मैं तुम्हें समर्पित करूँ-'अथवा किं समर्पयामि ते'। मालिकका ही सेवक! गिलासमें पानी लेकर मालिकको समर्पित करते हैं। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। 'तेरी तुझे सौंपते क्या लगत है मोर!'

मैं क्या हूँ, मुझे मालूम नहीं है। चाहे जो कुछ भी मैं हूँ-पापी-पुण्यात्मा, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय-जो कुछ भी मैं हूँ और मेरे अन्दर चाहे गुण-दोष जो भी हों, मैं जैसा हूँ वैसा ही आपके चरणकमलोंमें समर्पित हूँ। समर्पणका बोध है कि मैं प्रभुका हूँ। यह बोध जो है, समर्पण-बोध, शरणागति-बोध, शरणागति-योग नहीं- शरणागति-बोध। भक्त तो समर्पित करके-निश्चित भगवान्के भरोसेपर बैठा हैं। अब भगवान्ने कहा-यह तो बैठा ही रह जायगा तो आओ, इसके साथ थोड़ी जबरदस्ती करें। तो हरता बनकर हरण करनेको आये। यह बात दुनियाके और किसी मजहबमें नहीं है। यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। रुक्मिणीका हरण श्रीकृष्ण भगवान् करते हैं। जब रुक्मिणीने कह दिया-मैंने अपनी आत्माका समर्पण कर दिया, अब मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है। तुम्हारा जो कर्तव्य है वह तुम करो, चाहे मत करो। मेरा कर्तव्य पूरा। श्रीकृष्णने हरण किया। यह हरता भगवान् हैं। फिर हरता भी कैसे? गोदमें उठाकर। जब रुक्मिणी श्रीकृष्णके सम्मुख आयी तो झट उन्होंने दोनों हाथसे पकड़कर गोदमें उठा लिया और रथपर बिठा लिया। हरण करके भाग चले। अब जिसकी मर्जी हो पीछा करो। ये तो हो गये हर्ता। फिर उद्धरता। 'उद्धर्ता' माने उठाकर हरण करनेवाले और उसके बाद 'समुद्धर्ता'।

रुक्मिणीके साथ तीन बार व्याह किया। एक तो प्रेम-विवाह हुआ; और जब हरण किया तो राक्षस विवाह हुआ और फिर द्वारिकामें लाकर विधिपूर्वक वैदिक रीतिसे विवाह सम्पन्न हुआ।

और करते हैं तो थोड़े दिनके लिए नहीं हमेशाके लिए। इसलिए केवल 'उद्धर्ता' नहीं हैं 'समुद्धर्ता'-हमेशाके लिए। और धर्ता हैं-जिसको स्वीकार करते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं-और उर्द्ध्वगतिमें ले जाकर, अपने पास लाकर पालन-पोषण करते हैं-और हमेशाके लिए करते हैं। यह 'मृत्युसंसारसागरात्' जो है, यह ऐसे है जैसे पहले समुद्री जहाजोंको दस्यु लोग लूट लिया करते थे वैसे अपने भक्तोंको जानमें-अनजानमें भगवान् लूट भी लेते हैं। यह बात भागवतमें तो कई जगह आयी है। आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा। जो अकिंचन हो जाता है, उसके ऊपर भगवान्‌की कृपा ही यह होती है कि यदि वह अर्थकी ओर झुके, कामकी ओर झुके, धर्मकी ओर झुके तो इसके आयासको निष्फल करके भी भक्तको अपनी गोदमें ले लेते हैं। यदि वह दूसरी जगह जाना चाहता है तब भी उसको जानेको रोक देते हैं और अपने पास खींच लेते हैं।

गीतापर टीका बहुत हैं। 100के लगभग टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं। देशमें भी हैं, विदेशमें भी हैं। और दुनिया भरमें बाइबिलके बाद अगर प्रकाशनका नम्बर किसी ग्रन्थका है तो गीताका ही है। मधुसूदन सरस्वतीकी गीतापर टीका है, उसमें उन्होंने इस प्रंसगपर कहा-जो भगवान्‌का कृपा-पात्र है उसको धर्मानुष्ठानके बिना, चित्तवृत्ति निरोधके बिना, बिना भ्रमके, बिना मननके, बिना निदिध्यासनके भगवान् अपनी कृपासे, अपनी करुणासे अपने सन्मुख आये हुए जीवका उद्धार कर देते हैं यद्यपि उनकी प्रकृति 'भवामि' की नहीं है, 'अस्मि' की है। माने सत्-रूप हैं। परन्तु वे सत्-स्वरूप होनेपर भी करुणाके वशमें होकर अपने भक्तके लिए 'समुद्धर्ता भवामि'। 'समुद्धर्ता अस्मि'-बैठे हुए नहीं है! बन जाते हैं-समुद्धर्ता। माने साम्राज्य-सिंहासनपर बैठा नहीं जाता। वे वहाँसे कूद पड़ते हैं। आपने गजेन्द्रके प्रसंगमें सुना ही होगा। बैकुण्ठसे भगवान् जब गजेन्द्रकी गो' सुनकर दौड़े-वह निःसाधन था-तो लक्ष्मीजी पूछती ही रह गयीं-कहाँ जा रहे हो? मुझे भी ले चलो!

खड़ाऊँ जो रखी वह टूट गयी क्योंकि उसपर जोरसे पाँव पड़ा और गरुड़जी जो सामने आये कि मेरे ऊपर चढ़कर चलिये जो उनको हाथसे झटक दिया। और 'गो' और 'विन्द' के उच्चारणमें तो सन्धि थी, बोलनेके पहले आकर गजेन्द्रके चरणोंमें लगे हुए ग्राहको भगवान्‌ने अपने दोनों हाथसे उठा लिया। अरे-भक्तके चरणोंमें लगा हुआ है-उठाया और बोले भक्तको पीछे मुक्त करेंगे, पहले भक्तके भक्तको मुक्त कर लें! उन्होंने ग्राहको गजेन्द्रका शत्रु नहीं समझा। भगवान्‌की दृष्टिमें कोई बुरा होता ही नहीं है। उन्होंने ग्राहको भी अपने भक्तका भक्त समझा और पहले ग्राहका उद्धार करके फिर गजेन्द्र उद्धार किया।

यह जो वैकुण्ठसे एक छलांगमें भक्तके पास पहुँच जानेकी प्रक्रिया है यह दुनियाके किसी धर्ममें, किसी मजहबमें, किसी आचार्यके द्वारा चलाये हुए सम्प्रदायमें यह बात नहीं हैं। यह करुणाके वरुणालय (वरुणालय माने समुद्र) भगवान्‌को जो कृपामयी वृत्ति है उसका विलास है। भगवान्‌का आदेश है।

देखो भाई सबका उद्धार कैसे करें? कुछ तो तुम्हारे अन्दर विशेषता होनी चाहिए। नहीं तो कीट-पतंगादि सबका ही उद्धार करें। फिर हमारी यह लोकलीला बन्द ही हो जायेगी। इसलिए कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी कि किसका उद्धार करें और किसका न करें। वह व्यवस्था क्या है?

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ 12.8

'मयि एव मन आधत्स्व'। भगवान् और यह जीवात्मा दोनोंके बीचमें व्यवधान क्या है? अन्तर क्या है? वह ऐसी कौन-सी चीज है जो आत्मा और परमात्माके बीच आकर खड़ी हो जाती है और परमात्मासे एक नहीं रहने देती। परमात्मामें नहीं रहने देती. ऐसी कौन-सी वस्तु है? बोले ऐसी दो चीजें आकर जीवनमें अड़ गयीं हैं, जिनके कारण आत्मा अपनेको परमात्मासे अभिन्न अनुभव नहीं करता। वे दो चीजें क्या है? मन और बुद्धि। दो नाम लिये। क्योंकि दो काम ऐसे हैं--आप सोचकर देखो, आपका प्यार कहाँ जाता है? और आपके विचार कहाँ जाते है? हमारे वेदान्तियों में और भक्तोंमें कुछ ऐसी बात आकर अटक गयी है कि वेदान्ती भगवान्के वचनसे तो बहुत प्रेम करते हैं-भगवान्ने यह कहा, यह कहा, यह कहा-वह देखो भगवान् बोल रहे हैं- क्या बोल रहे हैं? भगवान्-'मत्स्थानि सर्वभूतानि'-'न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4.5) क्या बढ़िया बोल रहे हैं। मुझमें सब है और मुझमें कुछ नहीं है अनिर्वचनीय प्रपञ्चका वर्णन कर रहे हैं। भगवान्की वाणी है। भगवान् कहते हैं-'अनादिमत्परम् ब्रह्म' (13.12)।

वेदान्ती लोग भगवान्की वाणीका आदर करते हैं। परन्तु भगवान्का जो मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, गोपीजनबल्लभ, प्रेममय स्वरूप है उसमें उनका प्रेम नहीं होता। वे वचनसे प्रेम करते हैं। रूपसे प्रेम नहीं करते। धर्मात्मा लोग आज्ञाकारी तो होते हैं, आदेश मानते हैं परन्तु भगवान्के रूपमें प्रेम नहीं करते। ज्ञानी लोग भी वचनका अभिप्राय तो मानते हैं परन्तु वचनको नहीं मानते। उसके तो ज्ञान ही अपौरुषेय है। फिर वक्ताका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। योगी लोग तो रूपका भी, वचनका भी निरोध करते हैं, समाधि लगाते हैं। कोई वचनको मानते हैं, रूपको नहीं मानते। और भक्तोंमें क्या है? ये रूपसे तो बहुत प्रेम करते हैं। ये तो झट बोल देते हैं-जिन आँखिनमें यह रूप बस्यो, उन आँखिन ते अब देखियेका? जिन आँखोंमें यह रूप बसा है, उन आँखोंसे अब क्या देखें? *बाबरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि विलोकति गोरो।* जो साँवरेको छोड़कर गोरेको निहारती हैं वे आँखें जल जायँ। रूपके तो भक्त लोग इतने प्रेमी होते हैं!

पहले वृन्दावनसे एक पत्रिका प्रकाशित होती थी, उसमें भक्तिके विघ्न छपते थे। उसमें बहुत-सी बातें थीं जिसमें एक थी-तत्त्वरूपसे भगवान्का चिन्तन भक्तिमें बाधक है। उनको पृथिवी, जल, अग्निके समान तत्त्वरूपमें नहीं-मूर्तिमान् मनुष्यके रूपमें भगवान्का चिन्तन करना चाहिए। और प्रपञ्चके मिथ्यात्वका चिन्तन भी भक्तिमें बाधक है। यह वहाँकी पत्रिकामें चौथे पेजपर छपता रहा। भक्त लोग रूपके तो बड़े प्रेमी होते हैं, लेकिन भगवान् जिस तत्त्वका निरूपण करते हैं, उसपर ध्यान नहीं देते हैं। फल इसका क्या होता है-वे विचार करते हैं और वस्तुओंके बारेमें और प्रेम करते हैं भगवान्से। वे भगवान्की रूप-माधुरी निहारना तो चाहते हैं

परन्तु उनका मन यहाँ-वहाँ, यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। वैसे प्रेममें मनका दूसरी ओर जाना ही अपराध हो सो बात नहीं है।

हमने एकबार श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा था कि क्या प्रेम दोसे भी हो सकता है? बोले क्यों नहीं हो सकता रे! महाराज दोसे प्रेम कैसे होगा? 'एक म्यानमें दो खड़ग देखी सुनी न कान'-बोले कि एक माता है, अपने पुत्रसे भी प्रेम करती है और अपने पतिसे भी प्रेम करती है और अपने भाईसे भी प्रेम करती है। यह कैसे होता है महाराज! तो बोले कि कोठरी अलग-अलग है। पुत्रके प्रेमकी कोठरी अलग है, पतिके प्रेमकी साथ जुड़ हुए जो भाव हैं-उस भावके अनुसार प्रेम होता है। यह कोई अपराध नहीं है कि एक स्त्री अपने पतिसे भी प्रेम करती है और अपने पुत्रसे भी प्रेम करती है, भाईसे भी प्रेम करती है, अपने शरीरसे भी प्रेम करती है। यह कोई प्रेमका विघ्न नहीं है। यह है कि मन कहीं जाता है, घूम-फिरकर आजाता है। अब यह श्रीकृष्ण जो हैं ये जिद्दी पक्के हैं। हमलोग वृजवासी श्रीकृष्णके बारे में कुछ भी बोल सकते हैं। हमको यह हक है।

हम पाठ करते हैं- 'चोरजारशिखामणि'-चोरोंके शिरोमणि हैं। अभी तो रुक्मिणीकी लूटकी बात बतायी थी। लुटेरे भी हैं। माखनचोर भी हैं, चित्तचोर भी हैं-चीरापहारी भी हैं। उनको कुछ बोलो-ग्वाले तो 'सारे' कहकर बोलते हैं। पर भगवान्‌को सब बढ़िया लगता है। भगवान्‌को कोई किसी नामसे पुकारे, उनके ज्ञानमें, उनकी दृष्टिमें, उनके स्वरूपमें तो सब वही है। यह भगवान्‌की नजर है कि भगवान्‌के सिवाय कोई दूसरी चीज नहीं है। 'मय्येव मन आधत्स्व'-यह जो अपना मन है उसको मुझमें ही आहित कर दो, आधान कर दो। जैसे बरतनमें कोई चीज रख देते हैं वैसे भगवान्‌रूप आधारमें, भगवान्‌रूप पात्रमें अपने मनके सारे प्रेमको उड़ेल दो, रख दो, स्थापित कर दो।

मनको मैंने बहुत ढूँढा-वर्षों तक कोशिश को कि मन हमको मिल जाय। कुछ काला मिले, एक छटाँकका मिले, चालीस सेरका मिले, पर मिला नहीं। यह एक अमूर्त पदार्थ है। असलमें सविषय चेतनको ही मन बोलते हैं। मन नामका कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। मिलता कहाँ है? जब वह किसी विषयका चिन्तन करता है तो उस विषयका आकार धारण कर लेता है। विषयाकार हो जाता है। तन्मय हो जाता है।

यदि आपका मन स्त्रीका चिन्तन कर रहा है, तो मन स्त्रीके रूपमें मिलेगा और मन पुत्रका चिन्तन कर रहा है तो पुत्रके रूपमें मिलेगा। किसी आकारके साथ बिना तन्मय हुए मन मिलता नहीं है। मनको श्रीकृष्णके साथ तन्मय कर दो 'मय्येव मन आधत्स्व।' (12.8) जब देखो-देखो भगवान्। ये देखो श्याम! आपका मन ही श्याम होकर आपको दिखायी पड़ेगा। मनमें क्या रहे? मुदित और शान्त वृत्ति रहे। 'श्याम श्याम श्याम! नाहिंन रह्यो हिय मां ठौर, नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और। ऊधो मन न भये दस बीस! एक हुतो सो गयो श्याम संग, को आराधे ईस!'

मनको एक आकार दो। हमारा आकारसे मतलब चाहे शिव जैसा हो, चाहे विष्णु जैसा हो, चाहे राम जैसा हो, चाहे कृष्ण जैसा हो, चाहे देवी जैसा। मन को एक आकार दो और समग्र पूर्णताको उसमें आरोपित कर

दो। माने उसमें महत्त्वबुद्धि भी हो। महत्त्वबुद्धिपूर्वक अपने मनको जिस आकारसे मिला दोगे वही आकार तुम्हारा मन ग्रहण कर लेगा। रख दो अपने मनको। कहाँ? बोले मुझमें। मैंने पहले भी यह बात आपको सुनायी थी। मन दो ही अवस्थामें निरन्तर भगवान्‌में लग सकता है। या तो विराट् भगवान् हो-जो कुछ जीवन, मरण, जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, शत्रु-मित्र है वह सब भगवान्‌के विराट्‌रूपमें ही है। सारे दृश्य भगवान्‌के रूपमें, सारे शब्द भगवान्‌के रूपमें तथा शब्द और दृश्य मिले हुए भगवान्‌के रूपमें एवं शब्द और दृश्य तथा इनका अभाव भी भगवान्‌के रूपमें जहाँ देखता हूँ वहाँ तू ही तू है।

ऐसे ही जिसमें मन फुरफुराता है, वह जो मनका आश्रय है- अधिष्ठान, उससे अभिन्न रूपमें मनको जान लें। 'मय्येव मन आधत्स्व'-बात तो जरा कठोर भी है, कठिन भी है। जब तक ईश्वरको दूसरा मानकर हम उसमें अपना मन लगावेंगे तब तक मन वहाँसे खिंचकर अपनेमें आवेगा। थोड़ा उससे प्रेम करेगा, थोड़ा अपनेसे प्रेम करेगा। थोड़ा उसके घरमें रहेगा, थोड़ा अपने घरमें रहेगा। निरन्तर नहीं लग सकता। या तो सर्व भगवान् हो या तो अपनी आत्मा भगवान् हो तो दूसरेके घरमें जाने-आनेकी तकलीफ मिट जाती है। जहाँ है वहीं भगवान्‌में हैं-तो 'मय्येव मन आधत्स्व' का यह अर्थ है। मुझे पहचानो-'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (7.6) अथवा 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय' (7.7)। मुझको पहचानो और मुझमें अपने मनको रख दो। अथवा मेरे विराट्‌रूपमें अपना मन रख दो।

अब रही बात बुद्धिकी। बुद्धिसे तो हम कितना विचार करते हैं। धन कैसे मिले-यह विचार है। इज्जत कैसे मिले-यह विचार है, कुर्सी कैसे मिले-यह विचार है, सुख कैसे मिले-यह विचार है, दुःख कैसे छूटे-यह विचार है। परमार्थ व काम-सम्बन्धी विचार बुद्धिमें आते ही रहते हैं। यह बुद्धिका विपरीत चार हो जाता है। 'विचार' माने 'विपरीत चार'। बुद्धि चलती है, पर कहाँ चलती है? ईश्वरको छोड़कर दूसरेकी ओर चलती है। यह विचार हो गया-नहीं; जब विशिष्ट चार हो तब विचार होता है। 'वि' माने विपरीत भी होता है, 'वि' माने विशिष्ट भी होता है।

विशिष्ट चार क्या होवे? कि वे नाचते-नाचते दूर न जाकर, नाचते-नाचते आकर गिरे ढुलककर पीत-पटपर, खुली रह जायँ ये आँखें मुकुटपर। आकर भगवान्‌की गोदमें गिर जाय। 'मयि बुद्धिं निवेशय'। बुद्धिको भटकानेसे, यहाँ-वहाँ भेजनेसे भगवान् नहीं मिलते हैं। भगवान् तो जहाँ बुद्धि उठती है, जहाँ बुद्धिका जन्म होता है-उसके पहलेसे ही भगवान् वहाँ बैठे रहते हैं। जब बुद्धिको जन्म हो जाता है तब भगवान् वहाँ बैठे रहते हैं। जब बुद्धिका जन्म हो जाता है तब भगवान् उसमें प्रवेश करते हैं। 'जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छान्दोग्य 6.3.2)। फिर बुद्धिमें अनेक नाम और अनेक रूपको अभिव्यक्त करते हैं। बुद्धिका जन्म नहीं हुआ था, तबसे भगवान् बैठे हुए हैं। बुद्धिका जन्म नहीं हुआ तभी उसका संचालन करने लगे, 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। और जब बुद्धि अनेक नाम-रूप बनाने लगी, तो समस्त काम-रूपोंमें भी प्रवेश करके भगवान् ही उनको सत्ता देते हैं। आनन्द देते हैं। उनमें ज्ञान देते हैं।

अपनी बुद्धिको आप जड़ वस्तुके विवेचनमें, विचारमें न लगाकर, जो सबमें भगवान् विराजमान हैं-

उसपर लगायें। पहले कल्याणमें चित्र छपा करते थे-एक गाय बना दी-उसके भीतर कृष्ण, एक हाथी बना दिया उसके भीतर कृष्ण, एक स्त्री बनायी, उसके भीतर कृष्ण-एक आदमी बनाया- उसके भीतर श्रीकृष्णका चित्र बना दिया- 'मयि बुद्धिं निवेशय' बुद्धिको ऐसा बनाओ कि वह सबमें जो भगवान् भरे हैं उनमें जाकर मिल जाय, निविष्ट हो जाय, तन्मय हो जाय, अभिनिविष्ट हो जाय-माने उस रूपमें बुद्धि भगवान्‌को ही ग्रहण करे।

सम्पूर्ण विचारोंका पर्यवसान, परिसमाप्ति, आखिरी चीज सभीमें-भगवान् हैं। और आखिरी चीज ढूँढ़नेके लिए आप पश्चिमकी ओर जायँगे तो जहाँ सूर्यास्त होता है, उससे भी पश्चिम होगा, उससे भी पश्चिम होगा, कहीं पश्चिमका अन्त नहीं मिलेगा। बुद्धिका पर्यवसान पश्चिममें नहीं मिलेगा। जाकर बेहोश हो जायेगी और होशमें आयेगी तो लौट आयेगी। और सूर्योदयसे पूर्व अगर पूरब ढूँढ़ने जायँ तो कहीं पूर्व नहीं मिलेगा। फिर बुद्धि जगेगी, बेहोश होकर फिर जगेगी और लौटकर फिर अपने पास आजायेगी जहाँ बुद्धिका जन्म होता है, उस वस्तुमें, उस बुद्धिके प्रेरकमें जब परमात्माको देखेंगे।

पूर्वका प्रारम्भ आप है, पश्चिमका प्रारम्भ आप हैं, पश्चिमका अन्त, पूर्वका अन्त आप हैं। आपके हृदयमें बैठे हुए भगवान् हैं। किसी भी चीजको देखिये। एक सोनेका जेवर आया। क्या है भाई-गला दिया तो जेवरका रूप गया। आकार गया-द्रव हो गया। द्रवको चूर्ण बना दिया। बिखेर दिया, चूर्ण हो गया। द्रव सोनाका नहीं है, चूर्ण सोना नहीं है-सोना तो एक ऐसी तेजोमयी धातु है कि आप उसको नेत्रसे भी, अपने आपसे भी अलग नहीं देख पायेंगे। जो सद्धातु आत्माकी है, वही सद्धातु स्वर्णकी है। 'बुद्धिं निवेशय'का अर्थ है, भगवान्‌के बारेमें ऐसा विचार कीजिये कि भगवान्‌के सिवाय और कुछ न रहे।

भगवान्‌के बारेमें ऐसे-ऐसे संकल्प कीजिये कि भगवान्‌के सिवाय और कुछ न रहे। सारे संकल्प भगवान्‌के लिए उठें। पहलेसे संकल्प कर लें कि ये भगवान्‌के लिए हैं। कोई भी काम करें, किसी एक कामसे मतलब नहीं है। जो काम आप करते हैं वह करनेसे पहले आपके मनमें आये कि यह काम मैं भगवान्‌के लिए कर रहा हूँ। अच्छा काम करनेके पहले याद न आये पर करते समय याद आजाये तो भी चल सकता है। अच्छा करते समय भी याद न आये, पूरा होनेके बाद याद आजाय कि भगवान्‌के लिए हुआ तो बहुत बढ़िया। आप काम कोई भी करें, आपके सामने चीज कोई भी रहे, व्यक्ति कोई भी रहे, आपके सामने चीज कोई भी रहे, व्यक्ति कोई भी रहे, स्थान कोई रहे, समय कोई रहे, लेकिन आपकी नजर ऐसी पैनी, आपकी बुद्धि ऐसी तीक्ष्ण हो, ऐसी सूक्ष्म हो कि वह हर कहीं परमात्माको निकाल सके। परमात्माको ढूँढ़ ले कि यहाँ परमात्मा किस रूपमें है।

सन्त तुकाराम भूतमें भी परमात्माको देखते थे। 'भले बने हो लम्बकनाथ'। नामदेवने कुत्तेमें भगवान्‌को देख लिया। वह भी एक नजर थी। वह भी एक दृष्टि थी। भगवान् हमारे सामने मछली बनकर आये, पर पहचाना किसने? कछुवा बनकर आये, पर पहचाना किसने? सूअर बनकर आये पर पहचाना किसने? सिंह और घोड़ा बनकर आये पर पहचाना किसने? वामन बनकर आये, परशुराम बनकर आये। राम

बनकर आये। कृष्ण बनकर आये। ऐसे बनकर आये कि ईश्वर कोई न माने। यह भी एक ईश्वरके ईश्वरताकी पहचान है। ईश्वरमें एक गुण यह भी है कि ईश्वरका कोई दूसरा ईश्वर नहीं होता।

आप लोग विष्णु-सहस्त्रनाममें पढ़ते होंगे। भगवान्‌का एक नाम 'अनीश' है। 'नास्ति ईशो यस्य असौ अनीश:'। जिसका ईश्वर दूसरा कोई नहीं होता, उसका नाम है अनीश। अनीश्वरवादी बुद्ध बनकर आये। यह भगवत्ता ही है। इसीसे हमलोग बुद्धको ईश्वर मानते हैं। यह भी भगवान्‌का एक गुण है कि उनका कोई ईश्वर नहीं होता। कल्कि बनकर आये। अनेक-अनेक महात्माओंके रूपमें आये। पर हमारी नजर भगवान्‌को एकांगी रूपमें मानती है। सर्वतोमुखी दृष्टि नहीं है।

भगवान्‌ने कहा-बस दो बात कर लो-पाँच-सात बात करनेकी नहीं है। न धर्मके दस लक्षण धारण करनेकी जरूरत है-'दशकं धर्मलक्षणम्' (मनु ६.९२), न योगके आठ अंगके सेवनकी आवश्यकता है। बस दो बात ध्यानमें रखो। उसमें न आसन है, न प्राणायाम है। न उसमें यज्ञ है, न मन्दिर है। न उसमें तीर्थयात्रा है और न व्रत है। दो ही बात है। कितनी आसान-एक तो मन मेरे पास रख दो-जैसे कोई जेवर लॉकरमें रखकर बेफिकर हो आते हैं वैसे अपना मन भगवान्‌में रख दो-बेफिकर हो जाओ-अपनी बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिसे मिला दो। बिलकुल व्यावहारिक है। यह अव्यवहार्य नहीं है। यहाँ यों भी वाह वाह है, और त्यों भी वाह वाह है।

बुद्धि मिलाना क्या हुआ? एक दिन हमको कोई दु:खका अनुभव हो रहा था तो हमको गुरु-वाणी याद आगयी। 'उसते होई नहीं कछु बुरा और कहो किने कछु करा'। गुरु नानककी वाणी है। उसके हाथोंसे कुछ बुरा होता नहीं, दूसरा कोई करनेवाला है नहीं। उसीने किया है। जेबमें-से सौ रूपयेका नोट किसने निकाला? हमारी पत्नीने-अच्छा उसीने निकाला तब ठीक है, कोई हरज नहीं। बाबा हम लोगोंके साथ छेड़खानी करते थे। मान लो हम कभी ऐसी चद्दर ओढ़े हों जो कहींसे फटी हुई तो उसमें उँगली डालकर खींच देते थे और फाड़ देते थे। बाबाने फाड़ दिया। हँसी आगयी। अगर दूसरा कोई फाड़ता तो गुस्सा आता। बाबाने फाड़ दिया-ठीक है।

राधाजीको श्रीकृष्णका नाखून लग गया। अरे प्यारेका नाखून-उसने अगर यह किया है तो कुछ बुरा हो नहीं सकता और दूसरा कोई करनेवाला है नहीं। हमारा वह संकट तुरन्त सुख हो गया। अपनी बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिको भगवान्‌की बुद्धिके साथ मिला दी। वह अपनी बुद्धिसे जो कुछ कर रहे हैं-ठीक है। और अपने मनको उनके पास रखो। भगवान् हमारे मनको मछलीकी तरह पकाते हैं। बंगालमें तो लोग बहुत जानते हैं। एक बार उसको गरम तवेपर डालते हैं फिर मट्ठा छिड़ककर ठंडा करते हैं। फिर गरम करते है, फिर सेंकते हैं, फिर ठंडा करते हैं। भगवान् हमारे मनको मछलीकी तरह गरम-ठंडा रहते हैं। ठंडा करनेके समय खुश होनेकी जरूरत नहीं और गरम करनेके समय नाराज होनेकी जरूरत नहीं है। क्योंकि वे स्वादु बना रहे हैं। हमारे मनको मधुर बनानेके लिए स्वादु बनानेके लिए, हमारे मनमें सहिष्णुता लानेके लिए दु:ख भेजते हैं-हमारे मनमें उल्लास लाने के लिए सुख भेजते हैं। हमारा मन सोवे नहीं, उल्लसित होवे इसके लिए सुख भेज देते हैं। हमारी

सहिष्णुता बनी रहे, इसके लिए दु:ख भी भेज देते हैं। उनके मनसे अपना मन मिलाओ। उनकी बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिलाओ।

इसके बाद क्या होगा? 'अत ऊर्ध्वम्'-इसके बाद क्या? 'मय्येव निवशिष्यसि'-यह नहीं कहते हैं कि घरमें रहोगे, मेरे लोकमें रहोगे। 'मयि एव निवशिष्यसि'-कभी कचौरी बनाकर तुमको खावेंगे, कभी स्नो-पावडर बनाकर अपने शरीरमें लगावेंगे। कभी अपने बालमें तेलकी तरह लगावेंगे। कभी मालपूवेकी तरह खा लेंगे। 'मयि इव निवशिष्यसि'-दूर नहीं-राज्यमें नहीं रखेंगे, प्रान्तमें नहीं रखेंगे, नगरमें नहीं रखेंगे, महलमें नहीं रखेंगे। मुझमें रखेंगे। तुम्हारा निवास कहाँ? 'मयि एव'- मुझमें मेरे सिवाय और किसीमें नहीं-आओ तो सही-मेरे मन-से-मन मिलाकर देख लो। जैसे राखो वैसे ही रहौं। हमारे महात्मा लोग बोलते हैं-'ज्यों ही ज्यों ही रखियत हौं त्यौं ही त्यौं रहियत हौं हे हरि! हरिदासका पद है। मन मिलाना क्या? हर काममें अपने प्यारेका हाथ-हर स्थितिमें प्यारेका दर्शन-उसके दर्शनमें उसके किये हुए काममें दु:खका स्थान कहाँ? जब मन, बुद्धि उसमें बस गयी-उसमें हम बस गये। 'निवसिष्यसि मय्येव'-पहले भी मुझमें ही निवास करते हो लेकिन ये मन-बुद्धि ले जाकर दूर फेंक देते हैं। तुम मन-बुद्धि मुझमें लाकर रख दो तो देखोगे कि तुम पहलेसे ही मुझमें निवास कर रहे हो। पर यह कब मालूम पड़ेगा? मनके आधानके पश्चात् और बुद्धिके निवेशनके पश्चात् यह अनुभव होगा कि तुम मुझमें निवास कर रहे हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

****

प्रवचन : 5

15-11-83

मन और बुद्धि भगवान्‌में स्थापित कर देनेके बाद जीव भगवान्‌में ही निवास करता है। अपना मन भगवान्‌में स्थापित हो गया आधान हो गया। जैसे घरमें, गाँवमें कोठिला बनाते हैं और उसमें चावल, गेहूँ या धान-धान ही धान भर देते हैं-उसका नाम हो जाता है 'आधान'। जैसे किसी पात्रको हीरेसे भरके रख लें तो पात्रमें हीरेका आधान हो गया। ऐसे ही अपने मनको भगवान्‌के अन्दर रखकर सुरक्षित कर दिया जाय जाय और अपनी बुद्धिको भगवान्‌में रखकर सुरक्षित कर दिया जाय तो यह हुआ आधान अथवा निवेशन। निवेशनका अर्थ प्रवेशण भी होता है और निवेशनको अर्थ सुला देना भी होता है। 'जैसे सोवत सुख तुलसी भरोसे एक रामके।' एक मात्र रामचन्द्रके भरोसे सो जाइये। निर्भरता चाहिए भगवान्‌के ऊपर। इसका जो फल बताया-'निवशिष्यसि मय्येव'-उसके बल पर हमको मनके आधान और बुद्धिके निवेशनकी बात सोचनी चाहिए।

संस्कृतमें एक रीति यह भी है कि 'फल-बल-कल्प्य' हो यह साधनका स्वरूप होता है, नतीजा क्या निकला? जैसा नतीजा निकलता है उसीके अनुरूप साधन होता है। 'नतीजा-परिणति।' अन्तमें क्या निकला? अन्तमें निकला भगवान्‌में ही निवास। मरणमें भगवान्‌में निवास हुआ कि जिन्दामें ही निवास हुआ? कहते हैं कि मन, बुद्धि भगवान्‌में गया और निवास भगवान्‌में हुआ। हमलोग जीवनकी चर्चा करते हैं। मरनके बादकी चर्चा तो मौलवी और पादरी और पुरोहितोंकी है। मरनेके बादका ठेका मजहबी आचार्योंका है। और फकीर जो है वे इसी जीवनमें जो परमानन्द है उसकी चर्चा करते हैं। महात्मा लोग इसी जीवनमें आपको सुखी बनाना चाहते हैं। इसी जीवनमें परमानन्द देना चाहते हैं।

अभी यहीं आप परमानन्दमें स्थित हो जायँ तो आगेकी तो कोई बात ही नहीं। इसीसे कभी-कभी महात्माओंके सिद्धान्तमें और मौलवियोंमें, पुरोहितोंमें, पादरियोंमें विरोध भी हो जाता है। वे बहुत विरोध करते हैं, सन्तोंका, फकीरोंका, अवधूतोंका। इसी समय आप परमात्मामें विराजमान हो जायँ। माने अपने जीवनकी अनन्तताका अनुभव करें। अपने ज्ञानकी अनन्तताका अनुभव करें। अपने आनन्दकी परिपूर्णताका अनुभव करें-इसी समय। यहाँ उधार सौदा नहीं है, बिलकुल नगद माल है। गीतामें अर्जुनने तो मरनेके बादकी फिक्र की है- 'नरकेऽनियतं वासो भवति' (१.४४) परन्तु श्रीकृष्णने मरनेके बादकी कहीं भी फिक्र नहीं की हैं। सारी गीता इसी जीवनके लिए है और आपको 'निवसिष्यसि मय्येव'- मुझ परमात्मामें स्थित होनेके लिए-निवास करनेके लिए है।

यदि फलके बलसे हम साधनके स्वरूप पर विचार करें तो ऐसे सोचना पड़ेगा कि हमारा मन जो संकल्प करता है वह कैसा है? आगे यह हो जाय, यह हो जाय,-यह मनोराज्य है। कहाँ जानेका संकल्प होता है? आप अपनी कल्पना शक्तिको देखिये-

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनोभावोऽपाकरोति।
गतागतायाः समपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥

****

सदा सदानन्द पदमें मन डूबा रहे, फिर मन मन नहीं रहता, वह तो परमात्मासे एक हो जाता है। 'गतागताया: समपास्य सद्य:'। उसको स्वर्गमें, नरकमें, पुनर्जन्ममें जो जाने-आनेकी मेहनत है, श्रम है, परिश्रम है, वह सब तुरन्त छूट जाता है। पर और अपर दोनोंसे जो विलक्षण तत्त्व है वह यहीं मिल जाता है। यह बहुत ही प्रत्यक्ष मार्ग है। प्रत्यक्षको ही एकमात्र चार्वाक जैसे प्रमाण मानता है, मानस-प्रत्यक्षको भक्त लोग प्रमाण मानते हैं। साक्षी-प्रत्यक्षको योगी लोग प्रमाण मानते हैं; हमारे अनुमानकी कोई जरुरत ही नहीं है। यह होगा, यह होगा, यह होना-देखो भाई! इसी समय परमानन्द लहरा रहा है। फल-बल-कल्प्यके जो साधन हैं उसका स्वरूप यह होगा कि हमें भगवान्‌में ही सर्वदा निवास करना है, इसलिए हम अपने बड़े-बड़े मनोराज्यको छोड़कर तुरन्त संवित् साम्राज्यमें चैतन्य लोकमें प्रतिष्ठित हो जायँ। हमको जो चेतन-स्वरूप देख रहा है, जो अन्तर्यामी सबको प्रदर्शित कर रहा है।

एक रहस्यकी बात आपको सुनाते हैं-पुराने युगमें परमात्माके लिए आत्मा शब्दका ही प्रयोग होता था। वेदोंमें, ब्राह्मणोंमें, उपनिषदोंमें परमात्मा ढूँढ़ने पर कहीं-कहीं मिले तो मिले, परमात्माका ही नाम पहले आत्मा बोला जाता था। जैसे पहले घी को घी ही बोला जाता था फिर नकली घी चलने लगा तब असली घी, शुद्ध घी, उसका विशेषण लगाना पड़ा। आत्माके साथ परम शब्द तब जोड़ना पड़ा जब लोगोंने अपरको-माने देहको और प्राणको और मनको, बुद्धिको, अहंकारको आत्मा कहना शुरू किया-तब हमारे महात्माओंने आत्माके साथ एक परम शब्द जोड़कर परमात्मा बना दिया। परमात्मा आत्माका ही नाम है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तः (13.22)

ये तो सब कहे गये हैं-है कौन-'देहेस्मिन्पुरुष: पर:'-इसी शरीरमें जो पुरुषका शुद्ध रूप है, उसीके ये नाम हैं। बात थोड़ी टेढ़ी होती जा रही है! इसको हम छोड़ देते हैं। क्योंकि आत्मा-परमात्माकी चर्चा करते हैं तब थोड़ी-सी असाधारण बात भी उसमें आनी आवश्यक हो जाती है। क्योंकि मैं पुराणके अश्रयसे यह कथा नहीं करता हूँ। मैं तो दर्शनके आश्रयसे कथा करता हूँ तो उसमें समझनेमें कभी-कभी कठिनता लोगोंको अनुभव होती है। आपका निवास भगवान्‌में हो इसके लिए आवश्यक है कि आप जहाँ बैठें, वह भगवान् हो, जो छूएँ वह भगवान् हो, जो देखें वह भगवान् हो, जो सुनें वह भगवान् हो, जो सूँघें वह भगवान् हो, जो चखें वह भगवान् हो, जो आपके दिलमें हो सो भगवान् हो, जो दिमागमें हो सो भगवान् हो।

अब शंकराचार्यकी बात आगयी। विराट्‌के रूपमें जब आप भगवान्‌का अनुभव करेंगे या विश्वके रूपें जैसा कि अर्जुनको, भगवान्‌ने अपने विश्वरूपका दर्शन कराया। यदि आप विश्वरूपसे भगवान् का अनुभव कर लें तो 'निवसिष्यसि मय्येव'-'एव' शब्द चरितार्थ हो जायेगा। जहाँ हम हैं, जैसे हम हैं, जो हम हैं, ऐसी कोई स्थिति नहीं है जो विश्वरूपमें न हो! उसमें क्रोधी भी हैं, उसमें लोभी भी हैं, उसमें कामी भी हैं, उसमें मरे हुए भी हैं, उसमें जिन्दा भी हैं, उसमें आगे मरनेवाले भी हैं, पैदा होनेवाले भी हैं, ऋषि-मुनि भी हैं। जब आप उस विश्वरूपके रूपमें भगवान्‌का अनुभव करेंगे तब आपकी सर्वदा स्थिति भगवान्‌में रहेगी। इसलिए यह भक्ति बोलती है!

वैसे तो गीतामें अर्जुनने 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन' (11.46) 'दृष्टवेदं मानुषं रूपम्' (11.51) ऐसे कहा है। परन्तु श्रीकृष्णने कहीं भी अपनेको चतुर्भुज या द्विभुज या वंशीधारी या चक्रधारी-ऐसे रूपका वर्णन सारी गीतामें कहीं नहीं किया है। अर्जुन तो करते हैं, पर अर्जुनकी दृष्टि और भगवान्‌की दृष्टिमें भेद न होता तो इतना उपदेश करनेकी जरुरत ही न पड़ती। वह तो अपनी आँख-से-आँख मिलानेके लिए श्रीकृष्णने इतना उपदेश किया। अरे भाई, मेरी नजरसे देख!

हम अपनी-अपनी आँख, नजर लेकर, महात्माओंके पास जाते हैं तो हम चाहते हैं कि ये हमसे नजर मिलावें। हम इनसे नजर न मिलावें। अपना मत उनसे मनवाना चाहते हैं। उनका मत माननेमें रुचि नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे यही चाहते हैं कि मेरी गति-रति-मति और अर्जुनकी गति-रति-मति एक हो जाय। इसीका नाम 'शरणागति' भी होता है। 'मय्येव मन आधत्स्व' का अर्थ है-'अर्जुन, तुम स्वतन्त्र रूपसे जो कल्पनाएँ करते रहते हो वह मत करो। मेरे मनसे अपना मन मिला दो। अपने मनको जबतक तुम अपने पास रखोगे तबतक वह तुम्हें तुम्हारे अन्दर अपूर्णताका अनुभव करायेगा और दूसरी चीजोंको पानेके लिए व्याकुल कर देगा।'

स्त्री चाहती है कि मैं पुरुष नहीं हूँ मुझे पुरुष मिले और पुरुष चाहता है कि मैं स्त्री नहीं हूँ मुझे स्त्री मिले। सेठ लोग जब किसीको नंगा रहते देखते हैं तो उनकी श्रद्धा उमड़ पड़ती है-ओ हो! हम तो नंगा नहीं रह सकते और यह नंगा रह सकता है, बहुत बड़ा है। जिस गुणका अपनेमें अभाव होता है वह गुण जब दूसरेमें दिखायी पड़ता है, तब हम उसपर लट्टू हो जाते हैं। वह अपनेमें अभावका जो दर्शन है वह दूसरेमें महत्त्वकी स्थापना कर देता है। मनमें भगवान्‌को देखना, भगवान्‌को मनमें मिला देना, माने अपने अन्दर अभाव नामकी कोई चीज है ही नहीं-सारे वेदान्तका सार यह है कि अभावकी भी और अभाववाली वस्तुकी भी सत्ता नहीं होती है। न अभावकी, न अभावके प्रतियोगीकी सत्ता है; केवल परमात्मा ही परिपूर्ण है।

आप गीतामें पढ़ते हैं-'मय्येव मन आधत्स्व'। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु'। (७.८) यदि आपको खूब पौरुष करनेवाला, प्रयत्न करनेवाला, कोई आदमी दिखायी पड़े तो आप उस आदमीको मत देखिये, उस आदमीके भीतर जो पौरुषके रूपमें भगवान् है, उसको देखिये। आप जलको देखिये तो उसमें स्वादके रूपमें भगवान् है उसको देखिये। 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च-तेजोऽस्मि विभावसौ' पृथिवीमें जो गन्ध है सो भगवान् है। सूर्य, अग्निमें जो तेज है वह भगवान् है। भगवान्‌को देखिये-'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'-(9.18) उस भगवान्‌में मन लगाना है। कोई आदमी चल रहा है। गति किसकी है? भगवान्‌की। यदि भगवान् उसमें न होते तो स्पन्द कहाँसे होता? हिलना-डुलना कहाँसे होता? उसके भीतर जो एक अखण्ड चेतना सतत क्रियाशील है, उसीसे गति होती है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

गरमी पड़ रही है। कौन है? 'तपाम्यहमहं वर्षम्' वर्षा हो रही है- कौन है? वही तप रहा है-वही बरस रहा है। 'निगृह्णामि उत्-सृजामि च।' (9.19) मैं ही धरतीमें-से जल खींच लेता हूँ और मैं ही धरती पर

जल बरस देता हूँ। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (9.19)। वह भगवान् नहीं है जो मीठे-मीठे होते हैं, कड़वे नहीं होते हैं। मीठा भी भगवान्, कड़वा भी भगवान्। 'अमृतं चैव मृत्युश्य सदसच्चाहमर्जुन'। यही तो बात हुई कि श्रीकृष्णने देखा कि लोग चोरको बहुत घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। तो बोले, भाई! देखो, चोरको भी घृणाकी दृष्टिसे मत देखो। तुम अपना मन क्यों बिगाड़ते हो? मैं भी तो चोर हूँ। देखो, कोई छेड़छाड़ करता है तो उसे सिपाही पकड़े, सरकार सजा दे-उसकी शिकायत करे, करने दो-तुम देखो, छेड़छाड़ तो मैं भी करता हूँ, तो क्या तुम मुझसे भी घृणा करोगे? मुझे भी छोड़ दोगे?

बोले अरे-यह तो नचकैया है, नाचता रहता है। हे वेदान्तियों, हे दार्शनिकों-तुम नाचनेवालोंको अपनेसे छोटा समझते हो? देखो नाचता तो मैं भी हूँ। कहीं तुम्हारे हृदयमें ग्लानि न रहे, घृणा न रहे-'मय्येव मन आधत्स्व'। (12.8) 'पिताहमस्य जगतो माताधाता पितामहः'। (9.27) ये माँ हैं-माँ नहीं हैं-मैं हूँ। ये बाप नहीं है, मैं हूँ! ये तो धाय हैं-बोले, धाय नहीं हैं मैं हूँ, ये तो दादा-परदादा हैं? नहीं, दादा नहीं-मैं हूँ। देखो ऐसा भगवान् है 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'। रोगीके रूपमें भगवान् आते हैं। मेरी सेवा करके अपना जीवन सफल कर ले। नंगेके रूपमें भगवान् आते हैं। मुझे कपड़ा दे-दे भाई-तेरा कपड़ा सफल हो जायेगा। भूखेके रूपमें भगवान् आते हैं। मुझे अन्न दे-दे भाई-तेरे पास रोटी है-सफल हो जायेगी। ये सब नाटक उन्हींका है।

हमारी जो भगवद् दृष्टि है उसे पहचान लेंगे तो आपका हृदय सचमुच हृदय हो जायेगा। हृदय माने संस्कृतमें भगवान् होता है। 'हृदि अयते-हरति इति 'हृदयम्' संस्कारावासः'। जो सब जगहसे संस्कारको हरण करता है, उसका नाम है-हृदय। यह हमारे भिन्न-भिन्न संस्कारोंके बीचमें-ये भारतीय संस्कार हैं, ये अरबी, फारसी संस्कार हैं, ये यूरोपीय संस्कार हैं-संस्कार अलग-अलग हैं, पर उनमें चेतन बिलकुल एक है और वहीं भगवान् है। भगवान्में अपना मन लगाओ-देखो-बाबाजी लोगोंने स्त्रियोंकी निन्दा की तो भगवान् बोले-नहीं निन्दा मत करो! मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ। 'कुमार उत वा कुमारी' मैं लड़की हूँ, मैं लड़का हूँ। सर्वरूपमें वही प्रकट होता है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानससि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।।

श्वेताश्वतर उप. 4.3

बुड्ढेबाबा बनकर लठिया टेककर आप ही सड़कपर चल रहे हैं। मैं आपको पहचानता हूँ-कुमार आप, कुमारी आप, स्त्री आप, पुरुष आप, बुड्ढे आप, जवान आप। मैं आपको पहचानता हूँ-'अजायमानो बहुधा विजायते'। एक जवान हमारे सामने आरहा है। वेदोंमें क्या वर्णन है-

युवा सुवासा परिवीत आगात्। ऋ० 3.8.4

देखो, हमारे सामने यह जवान आरहा है। कितने बढ़िया इसके कपड़े हैं। 'परिवीतः' कैसा इसने अपनेको सुरक्षित कर रखा है। अरे भाई, यह तो जन्मसे ही श्रेष्ठ है। भगवदीय विशेषता लेकर यह प्रकट हुआ है। 'तं धीरा सः कवयः उन्नयन्ति'। ऋग्वेद 3.8.4) जो धीर हैं, जो कवि हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं, अन्तर्दर्शी हैं, वे

पहचानते हैं-यह जवान, जवान नहीं, यह परमात्मा है। नहीं तो बुड्ढे लोग लम्बी दाढ़ी, सफेद दाढ़ी दिखाकर जवानोंको दबा देते हैं। तुम कलके छोकरे क्या जानो, मैं जानता हूँ। बोले-नहीं, जो धीर हैं, जो कवि हैं, जो क्रान्तदर्शी हैं, वे ही जानते हैं। नन्दबाबाने कहा-बुड्ढोंकी बात नहीं, बड़े भाईजी आपलोग चुप रहो संनन्द, महानन्द, उपनन्द आपलोग चुप रहो! क्या करें? यह हमारी जो नयी पीढ़ी बोलती है-(स्वर्गके देवताको छोड़ो) गोवर्धनकी पूजा करो, धरतीके भगवान्‌की पूजा करो। नहीं-नहीं, हमारी तो पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे यही चला आरहा है। अच्छा भाई, पकड़े रहो! जवानोंकी बातपर भी ध्यान चाहिए। उसमें भी भगवान् है, तुम्हारे अन्तरात्माके रूपमें आया। तुम्हारे बापके युगमें, तुम्हारे बापके अन्तरात्माके रूपमें आया। अब बच्चेके युगमें बच्चेकी अन्तरात्माके रूपमें आते हैं। अपनेको सड़ाओ मत। 'मय्येव मन आधत्स्व'।

देखो, भगवान्-सर्वके रूपमें भगवान्। 'मयि बुद्धिं निवेशय' मेरी बुद्धिमें अपनी बुद्धि मिलाओ। देखो भगवान्‌की बुद्धि है पूर्ण। लेकिन अपनी पूर्ण बुद्धिको वे हर समय प्रकट नहीं करते हैं। जब जिस समय, जिस स्थानपर, जिस कामके लिए जैसी जितनी बुद्धिकी आवश्यकता होती है, उतनी बुद्धि प्रकट करते हैं। रास करनेके लिए मत्स्यावतार नहीं हुआ था। कपिलकी तरह ब्रह्मज्ञानका प्रचार करनेके लिए कच्छपावतार नहीं हुआ था। जहाँ जितनी शक्ति, जितनी बुद्धि प्रकट करना आवश्यक होता है, भगवान् वहाँ उतना ही प्रकट करते हैं। ब्रजमें हाथमें शंख, चक्र आया ही नहीं-क्या श्रीकृष्ण शंख, चक्र वृन्दावनमें धारण नहीं कर सकते थे? वहाँ जब पूतना आयी, शकटासुर आया और बकासुर आया, अघासुर आया, वत्सासुर आया-उनको मारनेके लिए भगवान् गदा-चक्र नहीं ले सकते थे? नहीं लिया। इतने मधुर स्थलमें, मधुर रसमयी भूमिमें, प्रेममयी भूमिमें गदा मारना, चक्र मारना-भगवान्‌को नहीं भाया। द्वारिकामें गये तो वहाँ चक्र ले लिया, गदा उठा ली।

वहाँ तो धनुष-वाण भी रखते थे। महाभारतमें स्पष्ट वर्णन है। शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्गं, धनुः, शूल-सभी अस्त्र-शस्त्र रखते थे। जहाँ जितनी आवश्यकता होती है, वहाँ अपनी बुद्धि उतनी प्रकट करते हैं। यह कम बुद्धिवाला है-मत बोलो-यह ज्यादा बुद्धिवाला है मत बोलो। सबमें आवश्यकताके अनुसार उपयुक्त बुद्धि भगवान्ने प्रकट की है। उससे लाभ उठाओ। 'अयोग्यः पुरुषो नास्ति प्रयोक्ता तत्र दुर्लभः'। कोई अयोग्य नहीं है। उसका ठीक-ठीक उपयोग, ठीक-ठीक प्रयोग करनेकी जरूरत है।

'मयि बुद्धिं निवेशय' का अर्थ है, भगवान्ने अपनी जहाँ जितनी बुद्धि प्रकट की है, उसका ठीक-ठीक दर्शन करो। भगवान् अपने हितकी दृष्टि प्रकट करते हैं। एक दिन मैंने देखा-ज्वालामुखी जाते हैं तब चिंत्यपूर्णी एक स्थान है, वहाँ छप्परमें मैं चटाई पर लेटा हुआ था, देखा एक झेंगुर--जो बरसातमें आवाज करते हैं, मर गया था। चींटीयोंमें झगड़ा हुआ-नीचे वाली चींटी चाहती थीं कि हम नीचे ले जायँ और ऊपर वाली चाहती थीं कि हम ऊपर ले जायँ। दोनोंमें पार्टीबन्दी बड़ी जबरदस्त। राजनीतिक लोग क्या पार्टीबन्दी करेंगे? उनसे बहुत ज्यादा उनमें थी। कोई कुर्सीपर बैठे हुए थे, कोई कुर्सीसे उतरे हुए थे-ऐसे समझो। ऊपरवाले जबरदस्त निकले झेंगुरको खींचकर अपनी दिवाल तक ले गये। लेकिन वहाँ जानेपर एक समस्या खड़ी हो गयी। बिलका मुँह था छोटा और झेंगुर था मोटा। उसमें घुसे नहीं। घुसे नहीं तो नीचे वालोंने अपना आक्रमण

जारी रखा। उसमें-से काटकर निकालने लगे और ऊपर वालोंने भी अपनी दो पार्टी बना ली, एक तो उसे पकड़कर रखे हुए थे और दूसरे उसमें-से काटकर अपने बिलमें ले जा रहे थे। मैं कई घंटे तक-दोपहरीके सारे समय उनका तमाशा देखता रहा। कैसी बुद्धि उनको भगवान्‌ने दी है। जो भी बुद्धिमान् है; उनमें बुद्धिके रूपमें कौन है? भगवान!

तेजस्तेजस्विनामहम्। 10.36

तेजस्वीमें तेज हैं भगवान्-बुद्धिमान्‌में बुद्धि है भगवान्। अपना दिल क्यों बिगाड़ते हो? यदि आपने भगवान्‌के मनसे अपना मन मिला दिया, भगवान्‌की बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिला दी-जहाँ जितना संकल्प दिया है वहाँ काम कर रहा है। जहाँ जितनी बुद्धि उन्होंने अपनी दी है, उन्हींकी है। खटमलको छूनेका प्रयास किया; भाग गया। उसको भागनेकी बुद्धि किसने दी? मच्छर पहले तो आकर कानमें गा रहा था। जो हमारा हाथ पकड़नेको गया, अपना संगीत छोड़कर भगा-उसको भागनेकी बुद्धि किसने दी? बुद्धि किसीकी नहीं है। एक पौधा निकल रहा था, उसके सामने पड़ गयी ईंट, तो वह झुक गया और झुककर ईंटके बाहर होकर और फिर ऊपरको बढ़ा। भला बताओ-यह उसमें बुद्धि है कि नहीं? सांख्यवाले तो प्रकृतिकी बुद्धि मानते हैं। प्रकृतिसे महत्तत्त्व होता है। वेदान्तमें महत् शब्दका अर्थ बुद्धि नहीं होता, परमात्मा होता है। वेदान्त सांख्यके सिद्धान्तको नहीं मानता कि यह महत्तत्त्व प्रकृतिका विकार है। वेदान्त कहता है-

महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति। क० उप० 2:2.22

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। श्वेताश्वतर 3.8

हम बुद्धिको प्रकृतिका पुरुषं कार्य नहीं मानते हैं। हमारे जीवनमें तो बुद्धिके रूपमें साक्षात् भगवान् ही प्रकट हुए हैं।

अब आप अपने संकल्पको पहचानो। आपका मन क्या कहता है? हम यहाँसे काशी चलें--संकल्प हुआ न! फिर मनने दुविधा पैदा की-चलें कि न चलें? बुद्धिने निश्चय किया-चलना चाहिए। दोनोंका संस्कार चित्तमें इकट्ठा हो गया। अब हम नहीं जायेंगे यह-अहं उदय हुआ, या हम जायेंगे यह अहं उदय हुआ। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये जो हमारे अन्त:कारणके चार भाग हैं, यहाँ दो नामसे कहा गया है, यह उपनिषदोंमें कहीं एक नाम हैं, कहीं दो नाम हैं, कहीं तीन नाम हैं, कहीं चार हैं और कही पाँच भी हैं। एक पैंगलोपनिषद् है-सिर्फ इसीमें अन्त:करणके पाँच भेद बताये हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्त:करण। इसमें जो भी हलचल है, शक्ति है, स्पन्दन है और इसमें जो भी संकल्प, विकल्प निश्चय, अंहकृति अथवा संस्कार है वह सब भगवत्-सत्तासे ही अनुप्राणित है। हम अनुमानकी बात नहीं करते हैं। सांख्य लोग तो अनुमान करते हैं। हम साक्षात् अपरोक्ष प्रत्यक्षकी बात करते हैं। यह सब परमात्माका खेल है। इसमें आना-जाना भी खेल है। इसमें सुख-दु:ख भी खेल है। सुखको सुख बतानेके लिए दु:खको दु:ख बतानेके लिए सुख-दु:ख है और दोनोंमें एक सरीखा परमात्मा है।

अब आप देखो-आप जहाँ रहते हैं, वह अमृत होगा या मृत्यु होगी? परमात्मा है, वहाँ सत् होगा, या असत् होगा, परमात्मा है!

सदसत् चाहमर्जुन सदसत् तत्परं यत्।

सत् भी वही-असत् भी वही और उनसे परे भी वही।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। 10.34

एक साधु थे, उनके पास स्त्रियाँ घेर-घेरकर बैठी रहती थीं। साधुओंमें चर्चा चलती थी-ये कैसे साधु हैं; ये तो स्त्रियोंसे ही घिरे रहते हैं। किसीने जाकर हरि बाबाजीसे कहा-महाराज, इनको जब देखो स्त्रियाँ ही घेरे रहती हैं तो हँसे, बोले-अरे भाई इनके अन्दर श्रीकृष्णका अंश कुछ ज्यादा है। बोले-ये बाबाजी तो यज्ञशालामें ही बैठा रहता है-बोले, इनके अन्दर भगवान् रामका अंश कुछ ज्यादा है। यह साधु पानीमें ही डूबा रहता है। खपोलीके पास गगनगढ़वाले बाबाजी थे, वे पानीमें डूबे रहते थे। उनमें मछलीका अंश ज्यादा होगा। कभी बाहर कभी भीतर तो कछुवेका अंश ज्यादा होगा। एक बनारसके पास बाबाजी थे, जहाँ गन्दगी होती थी वहीं जाकर उनका आसन लगता था। उड़ियाबाबाजी महाराज गये-देखा गन्दगीमें बैठे हैं। उनका मन नहीं लगा-बोले भाई, इनमें वराह अवतारका अंश बहुत ज्यादा है-सूकर अवतार। बोले ये बाबाजी तो ऐसा नाराज होता है कि लगता है खा जायेगा-बोले नृसिंहका अंश है इसमें। अरे यह बाबाजी तो चन्दा करने आया है, माँगने आया है। बोले इसमें वामनांश ज्यादा है। अपना मन क्यों बिगाड़ना?

'निवसिष्यसि मय्येव'-जब तुम्हारे मनमें, तुम्हारी बुद्धिमें भगवान् ही भगवान् भर जावेंगे-तो जहाँ तुम रहोगे, जो देखोगे-हमने तुलसीकी पूजा की, हमने पीपलकी पूजा की, हमने बेलकी, बड़की पूजा की। ऐसा उदार सिद्धान्त-हमने मिट्टीसे पार्थिव लिंग बनाकर उसकी पूजा की, हमने नर्मदाके पत्थरकी पूजा की। गण्डकीके पत्थरकी पूजा की। 'निवसिष्यसि मय्येव' का क्या अर्थ है? आप इसी जीवनमें भगवान्में निवास कीजिये। ये देखो भगवान्, ये देखो भगवान्।

आपके लिए जो उद्वेगका कारण हो रहा है वह है आपके मनमें भगवान्का न होना-अनुभव न करना। भगवान् तो मनमें हैं ही, बुद्धिमें भगवान् हैं ही, पर उधर नजर नहीं जाती है, दृष्टि नहीं जाती है। बोले बाबाजी, तेरी बात तो बहुत अच्छी लगती है, पर मनमें जमती नहीं है। हमारे मित्र ऐसे ही बोलते हैं! बात सुननेमें मजा आता है पर दिलमें जमती नहीं है। भगवान्ने कहा-हाँ, यह बात तो हम मानते हैं कि जमती नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 12.9-11

भगवान्के दरबारमें सबके लिए जगह है। एक सज्जनने एक महात्माके पास जाकर पूछा-महाराज, हमको झूठ बोलनेकी ऐसी आदत पड़ गयी है-जब देखो मैं गप्प हाँक देता हूँ-बोलने लगता हूँ तो ख्याल नहीं

रहता। असलमें जो लोग बहुत बोलते हैं, वे झूठ तो बोलते ही हैं। क्योंकि बोलनेकी सामग्री इतनी नहीं होती है, जितना हमलोग बोलते हैं। इसीसे जीवनमुक्तोंके लिए तो ऐसा कहा गया है कि जैसे गाय बछड़ेके लिए बोलती है या प्यास लगनेपर बोलती है, वैसे जब आवश्यक हो तब बोल लिया-जीवनमुक्तिके लक्षणोंमें है, अनावश्यक वाणीका अपव्यय नहीं करना चाहिए। उपनिषदोंमें भी है-

नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्। बृहदारण्यक 4.4.21

अपनी वाणीकी शक्तिका अपव्यय है-अपनी शक्तिसे अधिक बोलना। उसने महात्मासे कहा-महाराज, हमको झूठ बोलनेकी ऐसी आदत पड़ी है-आदत क्या पड़ी, आदत हो गयी। जीवनमें गृहीत हो गयी। महात्मा बोले-अरे, यह तो बहुत बढ़िया आदत है। भगवान्ने कृपा करके तुमको दी। तुम ऐसा करो कि यह ख्याल करो कि हम रामजीके सामने बैठे हैं। उनका झूठमूठ ही दरबार लगा है-ये रामजी हैं, ये सीताजी ये लक्ष्मणजी है, ये हनुमान्जी हैं, उनको हँसानेका कार्यक्रम चल रहा है।

अब यह हुआ कि जो सबसे बड़ा झूठ बोलेगा उससे भगवान्को हँसी आयेगी। तो तुम रामजीके सामने झूठ बोलना शुरू करो। रामजीके सामने झूठ बोलोगे और यह भी देखो बीच-बीचमें कि वे मुस्करा रहे हैं, कभी ठठाकर हँस पड़ते हैं। झूठ बोल-बोलकर भगवान्को रिझाओ। कहा-भाई, दरबारमें भाँड़ लोग भी तो अपनी सेवा देते हैं न! दरबारमें वेश्याएँ भी अपनी सेवा देती हैं-भाँड़ शब्द संस्कृतमें भाण है सौसे अधिक भाण ग्रन्थ है। रामदरबारके बन गये भाँड़। झूठ बोल-बोलकर रिझा रहे हैं भगवान् को। हँस रहे हैं भगवान्। अब क्या होगा आप जानते हैं। बारम्बार भगवान्का ध्यान आनेसे, उनकी मुस्कान आनेसे, उनकी हँसी आनेसे, उनका रूप आनेसे, भगवानमें स्थिति हो जायेगी। अभ्यास होना चाहिए।

अर्जुन, तुम धन कमानेमें बड़े निपुण हो। हम आदर करते हैं। साधन तो केवल धनके साथ नहीं होता है वह तो अधनके साथ भी होता है-इसीलिए उसका यह नाम है। अधनके साथ साधन-'अधनेन सह वर्तते इति।' वह तो धनीमें भी होता है, गरीबमें भी होता है। सबके साथ होता है। अर्जुन क्या है? धनञ्जय है। धन शब्दका अर्थ है-दिग्विजय करके उसने राजसूय यज्ञके लिए बड़ा भारी धन एकत्र किया था, इसलिए उसका नाम धनञ्जय हुआ। और धनञ्जय एक प्राणका भी नाम है। शरीरमें दस जो प्राण है उनमें-से देह छूटनेपर भी जो देहको नहीं छोड़ता है, उस प्राणका नाम धनञ्जय है। प्राण भी धनञ्जय है। अग्नि भी धनञ्जय है। अग्निके समान जो तेजस्वी है, वह यह कहे कि हमसे यह नहीं होता, यह नहीं होता, यह नहीं होता, तो फिर वही नपुंसकताकी बात आगयी न!

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। 2.3

अरे अर्जुन, तू अग्नि है। तेजस्वी भव! उठो अपने तेजको सम्हालो-'उत्तिष्ठत, जाग्रत'। वेदमें एक मन्त्र है, जिसका अर्थ है-अरे प्रतिभाशाली प्राणियों, प्रतिभाशाली मनुष्यों, ओ भारतवासियों, ओ प्रतिभाशालियों उठो! उठो जागो, अग्निका आवाहन करो। तुम्हारा जीवन तेजस्वी हो। अग्निके रूपमें परमात्मा तुम्हारे अन्दर निवास करे। जो तुमको दबाना चाहे वह जल जाय। तुमको अभिभूत करनेवाले शक्ति सृष्टिमें कौन है? तुम यह मत कहो कि

यह काम मैं नहीं कर सकता। तुम नहीं करोगे तो क्या पशु करेगा? और यह भी आग्रह नहीं रखना चाहिए कि यह काम हमारे जीवनमें ही समाप्त हो जाय। नहीं आयेगी गंगा अंशुमानसे तो क्या हुआ? उसका बेटा लायेगा। बेटेसे नहीं आयेगी तो क्या होगा? अन्तमें भगीरथ लायेगें। भगीरथ प्रयत्न करनेपर तो गंगाजी आयेंगी न!

धनञ्जयका अर्थ है-उत्साह और पौरुषका परित्याग मत करो। अरे धनञ्जय, झूठमूठका अग्नि बना है? झूठमूठका दिग्विजयी है? सचमुच दिग्विजयी बन! सचमुच आग बन जा और क्या नहीं हो सकता? मन नहीं लग सकता? बुद्धि नहीं लग सकती? अच्छा तो फिर अभ्यास करो। अभ्यास करो। अभ्यास माने थोड़ी-थोड़ी देरमें प्रयत्न, आपका आसन न जमता हो तो पहले आसन अधूरा ही करनेका अभ्यास कीजिये। पश्चिमोत्तान करना कठिन पड़ता है तो पाँव फैलाकर बैठ जाइये। फिर धीरे-धीरे लटकते चलिये, घुटना उठने न पावे, पाँव पकड़ लीजिये। एक मिनटके लिए हो जायेगा। दो-तीन महीनेमें मिनटके लिए हो जायेगा।

आपका ध्यान न लगता हो तो पहले पाँच मिनट ध्यान कीजिये। दूसरे महीने में दस मिनट कर दीजिये। तीसरे महीनेमें पन्द्रह मिनट कर दीजिये। चौथे महीनेमें बीस मिनट कर दीजिये। हर महीने बढ़ाते जाइये। देखिये आपका ध्यान घण्टों लग जायगा। यह कह देना कि यह काम हमसे नहीं हो सकता, यह अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामीकी शक्तिका अपमान है। 'पौरुषं नृषु'। (7.8) मनुष्यके भीतर भगवान् पौरुषके रूपमें निवास करते हैं।

बोले-'अभ्यासयोगेन ततो'। यदि अपने चित्तको-चित्त माने मन और बुद्धि दोनोंको तुम समाहित करनेमें असमर्थ हो, वही आधान और निवेषण। जो पहले श्लोकमें दो बात कही गयी थी, उसके लिए इसमें एक शब्द है-'समाधातुम्' और उसमें मन और बुद्धि-दो चीज कही गयी थी, उसके लिए एक शब्द है-'चित्तम्'। मन बुद्धिको समेटकर श्रीकृष्णने 'चित्त' कर दिया और आधान और निवेषण दोनोंको समेटकर 'समाधान' कर दिया।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

अभ्यास करो-आदत डालो, क्या नहीं कर सकते।

एक सज्जनने उड़िया बाबाजीसे कहा-महाराज हम पूड़ी नहीं खा सकते। बोले-आधी पूड़ी रोज खा। फिर एक पूड़ी खाना शुरू कर। फिर दो पूड़ी खा लेना। छः पूड़ी कभी मत खाना-ऐसे कहते, आधी पूड़ी खाओ-पच जायगी। अभ्यास हो जायेगा। हमको खीर देखकर कै आती थी। बचपनमें मन ऐसा बिगड़ गया था-खीर देखते ही वमन आजाये। बाबाको जब मालूम हुआ तो उन्होंने मखानेकी खीर बनवायी, उसको पिसवा लिया और धीरे-धीरे मैं खाने लगा। फिर चावलकी खीर मथवा लिया, वह खाने लगा। फिर खीर खाने लगा, हमारी ग्लानि मिट गयी। यह जो मैं कहता था कि मैं खीर नहीं खा सकता, यह हमारी अशक्तिको, असमर्थताको बाबाने महीने-दो-महीनेमें मिटा दिया। यह क्यों बोलते हो कि तुम यह नहीं कर सकते।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

16-11-83

चित्तको अपनेमें लेना चाहते हैं। उसके लिए 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव'। (१८.५७) बुद्धियोगका आश्रय लो और अपने चित्तको मेरा स्वरूप बना दो। वैसे तो लोग 'मयि चित्तं यस्य असौ मच्चित्तः' मुझमें जिसका चित्त है उसको 'मत् चित्तः' कहते हैं। संस्कृतके जो विशेष पण्डित हैं, वे 'अहमेव चित्तं यस्य'-- मैं ही जिसका चित्त हूँ माने ढूँढनेपर भी शरीरमें चित्त नहीं मिलता है, ढूँढो भगवान् मिलते हैं। माने चित्त भगवन्मय भगवदाकार, भगवत्-स्वरूप हो गया है। उसको कहेंगे 'मत् चित्तः'। अहमेव चित्तं असौ मत् चित्तः।

वृन्दावनमें एक महात्मा थे, भक्त कोकिल। उनकी जीवनी भी मैंने लिखी है। उनके मुखसे मैंने सुना था-

तेरी गलीमें आकर खोये गये हैं दोनों।
दिल तुझको ढूँढता है, मैं दिलको ढूँढता हूँ॥

दिल और मैं दोनों खो गये हैं। आजकल तो वह है जो हमारे मनको भगवान् बना दे। आत्माका भगवान् होना तो वेदान्त-सिद्ध है, श्रुति-सिद्ध है। वह तो यथास्थित है, उसको बनाना नहीं पड़ता। पर भक्तिका यह काम है कि मनको भगवान् बना दे। चित्तको भगवान् बना दे। भक्ति निर्मात्री है। भक्ति वह शक्ति है जो सच्चिदानन्दघन भगवान्को अपने हृदयमें अभिव्यक्ति देती है। दूसरी जगह भगवान् कहते हैं कि 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि'। मच्चित हो जाओ तुम। कहीं-कहीं लोग 'मत्' शब्दका प्रयोग जब गलत करते हैं-जैसे मद्भागवत-तो हमने कई सेठोके मुँहसे सुना-उनको श्री बोलनेका अभ्यास नहीं-तो 'मद्भागवत' बोलते हैं। मद्भागवत शब्दका कोई अर्थ नहीं है। वहाँ तो श्रीमान्के लिए श्रीमद् है। श्रीमान् भागवत-कोई बोले मान भागवत-तो क्या अर्थ होगा उसका?

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥ 18.58

देखो आश्वासन भी देते हैं और धमकाते भी हैं। यदि तुम अपना चित्त मुझमें लगा दोगे या तुम्हारा चित्त मेरा स्वरूप हो जावेगा तो जितनी कठिनाइयाँ तुम्हारे जीवनमें आती हैं, सबको पार कर जाओगे। कोई कठिनाई तुम्हें रोक नहीं सकेगी। 'अथचेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि'- अगर तुम मेरी बात अहंकारके वश होकर

नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे-विनष्ट हो जाओगे। यह ग्वालोंकी भाषा है-बहुत घमण्ड है तुमको, मेरी बात नहीं सुनते हो? जाओ तुम्हारा सत्यानाश हो जाय। आगया होगा ग्वालापन-घमण्ड करते हो मेरे सामने? इसीसे जहाँ भक्तकी पहचान बतायी गयी वहाँ—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 10.9-11

'आत्मभावस्थः'। उनके भाव में आकर मैं खड़ा हो जाता हूँ। और ऐसा मशाल, ज्ञानका दीपक दिखाता हूँ कि वह अज्ञानान्धकारसे पार हो जाय। मेरे पास पहुँच जाय। इसको भगवान्‌का बड़ा भारी सौशील्य बोलते हैं। जब कोई उनके पास पहुँचनेके लिए चलता है और रास्तेमें कहीं अन्धेरा होता है, तो बेचारा क्या करे? तो भगवान् मशालची बनकर आजाते हैं-भगतजी, इस रास्ते आओ। अब वे पहचानें कि न पहचानें-वह ले जाता है और देखता है वहाँ सिंहासनपर विराजमान-तो कहता है अरे यही तो हमको मशाल दिखा रहे थे। हमको रास्ता बताने वाले यही हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानादीपेन भास्वता॥ 10.11

बाहरके मशाल दिखा रहे हैं ये, सूर्य-चन्द्रमाके रूपमें दिखा रहे हैं ये, आँखोंके द्वारा भी दिखा रहे हैं वही और बुद्धिके द्वारा भी दिखाते हैं वही! यदि हम अपने चित्तको माने मन और बुद्धिको न लगा सकें तो अभ्यास-योग करना चाहिए। योग शब्दका जब प्रयोग होता है तब वह वस्तु भगवान्‌के लिए हो जाती है। ज्ञान तो सब विषयोंका होता है परन्तु जब भगवान्‌का ज्ञान होगा तब उसका नाम ज्ञानयोग। मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, देश-भक्ति, स्वामी-भक्ति सब भक्ति होती है परन्तु जहाँ भक्तिके साथ योग लगा, वह भगवान्‌के साथ जुड़ गयी। भक्तियोग माने भगवान्‌के साथ विवाह। भगवान्‌के साथ प्रेम।

कर्म भी-जबतक कर्म है जबतक भगवान्‌के लिए नहीं होता, भगवान्‌से जुड़नेके बाद योग हो जाता है। भक्ति भी जबतक मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति है, जबतक माता-पितामें भगवान्‌का दर्शन नहीं होता, योग नहीं, भगवान्‌का दर्शन होनेपर मातृभक्ति, पितृभक्ति भी योग हो जाती है। देशभक्ति भी योग हो जाती है। अभ्यास-योग तो करना है पर जो कमर पतली करनेके लिए 'जोगा' किया जाता है-वह नहीं-वह दूसरा है। और भगवान्‌से मिलनेके लिए जो अभ्यास किया जाता है वह दूसरा है। बारम्बार-बारम्बार अभ्यास करो। पाँच सेकेण्डसे अभ्यास शुरू करो, एक मिनट तक बढ़ा लो। एक मिनट होनेमें बारह दिन लगेंगे। अब इसी तरह आप बढ़ाते जाइये। इसमें कठिनाई क्या है?

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जग मख तप उपवासा॥
सहज सुभाउ न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई॥

एक महीना छः दिनमें तीन मिनट हो जायेगा। कहाँ-से-कहाँ पहुँच जायेंगे। मूल बात यह है कि हम चाहते ही नहीं है। इसलिए देखो-

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।

इच्छा शब्दका प्रयोग है। इच्छा करो-हमारी तलाश करो, हमको ढूँढो, हमें पानेकी इच्छा करो। जैसे प्यास लगनेपर पानी-पीना चाहते हैं, जैसे भूख लगनेपर भोजन करना चाहते हैं, जैसे अपने बच्चेसे मिलना चाहते हैं, जैसे अपने माँ-बापका पाँव छूना चाहते हैं, ऐसे एकबार-बाबा, पाँव मत छूओ-भगवान्‌से हाथ मिलाओ। एक सेकेण्डके लिए-पाँच सेकेण्डके लिए-भगवान्‌से हाथ मिलाओ।

हमारे उड़िया बाबाजी तो कहते थे-सबेरे उठकर भगवान्‌से एक बार हाथ मिलाओ-दोनों हाथसे दोनों हाथ पकड़कर जोरसे दबा देते हैं-'गृह्यतां पाणिना पाणिः' यह बाल्मीकि रामायण (किष्किन्धा 5.12)में सुग्रीव और रामचन्द्रजीके हाथ मिलानेकी बात है। रामचन्द्रने जरा जोरसे दबा दिया-कि सुग्रीवको पता चल जाय कि इनके हाथमें कुछ बल है-अगर परदेमें रहकर ही हाथ मिलाना चाहते हैं तो ऐसा ही सही! परदानशीनसे हाथ मिलाना तो और मजेदार होता है। नहीं दिखते हैं तो क्या? कभी मुस्कुरा देंगे तो दाँत चमक जायेंगे। कभी आँखमें-से रोशनी निकलकर तुम्हारे ऊपर पड़ जायेगी। नहीं तो कभी नाखून ही चमक जायेंगे जरा मिलाना शुरू तो करो।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।

आदत डालो, अच्छी आदत डालो, भगवान्‌से हाथ मिलानेकी आदत डालो। थोड़ेसे रुपये मिल जायँ, आमदनी हो जाय, कोई अपना प्रिय व्यक्ति अतिथि हो जाय- प्रिय अतिथि हो तो कितना मजा आता है। अपने प्यारेसे हाथ मिलानेमें क्या लगता है? 'अभ्यासयोगेन' का अर्थ है-बारम्बार, रोज-रोज। रोज नहीं, हप्तेमें एकदिन सही! हमारे गाँवके पास एक बुड्ढे सज्जन थे। वे जब दिल्ली दरबार हुआ था। यानी जब दिल्लीमें पञ्चम जॉर्ज आये थे-उन्हें बुलाया गया था-उनसे सम्राट्‌ने हाथ मिलाया। तो बुढ़ापेमें गुड़गुड़ा लेकर पलंगपर मसनदके सहारे लेटे रहते। बोलते-हमारे सामने लोग क्या हैं, जिसने सम्राट पञ्चम जॉर्जसे हाथ मिलाया है। उनको बुढ़ापेमें इस बातका बड़ा अभिमान था। भगवान्‌से हाथ मिलाओ। 'अभ्यासयोगेन ततो'-अभी मालूम नहीं पड़ता है तो झूठमूठका मिलाओ। झूठमूठका मिलानेमें भी आनन्द है!

एक कथा है-वृन्दावनमें भाद्रशुक्ल चतुर्थी जिसको हमारे गाँवमें 'ढेलहिया- चौथ' बोलते हैं। यदि उस दिन चन्द्रमाका दर्शन हो जाय तो कलंक लगता है। इसलिए किसीके घरपर ढेला फेंकते हैं। वह गाली दे दे तो कलंक उतर जाता है। गाँवमें यह रिवाज है। चन्द्रावली सखी जो है वह भाद्रपदशुक्ल चतुर्थीको चन्द्रमाके सामने खड़ी होकर अर्घ्य दे रही थी। इसी बीचमें नारदजी आ गये। बोले अरी बावरी क्या कर रही है? आज तो कोई चन्द्रमाको देखता नहीं। कलंक लग जाता है। बोली कि बाबा, यही तो मैं चाहती हूँ-आज अर्घ्य

इसीलिए दे रही हूँ। क्योंकि सब गोपियोंके बारेमें मशहूर है, प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण उनके ऊपर कंकड़ फेंकते हैं, किसीका पीछा करते हैं-किसीका नाम लेकर बाँसुरीमें पुकारते हैं। वृन्दावनमें मैं ही एक ऐसी अभागिनी हूँ कि मेरा कोई नाम नहीं लेता।

अत: उस नौजवानके साथ अगर झूठा कलंक भी लग जाय तो मैं अपनेको गौरवान्वित अनुभव करूंगी। इसलिए मैं आज चन्द्रमाको अर्घ्य दे रही हूँ। ईश्वरके साथ झूठमूठ भी हाथ मिलाओ तो वह झूठमूठ भी सच्चा हो जायेगा। भगवान् झूठको सच बनानेमें बड़े निपुण हैं। और सचको भी झूठ बना देते हैं। उनका ऐसा सामर्थ्य है। बोले-भाई, हमसे अभ्यास भी नहीं बनता है-भगवान् जानते हैं। पहले उन्होंने कहा-मन-बुद्धि मुझमें रखो। एक नम्बरकी बात तो यह हुई। दो नम्बरकी बात यह हुई कि यदि तुम मन-बुद्धि मुझमें नहीं रख सकते तो अभ्यासयोगके द्वारा लगानेका प्रयास करो। बोले-हमसे तो अभ्यास भी नहीं होता है-कौन झगड़ा पाले! बोले अच्छा तुम अभ्यास भी नहीं कर सकते-देखो नरसे बात कर रहे हैं नारायण। मेरे प्यारे दोस्त, तुम अभ्यासमें भी असमर्थ हो-किसी कामको दुहरा भी नहीं सकते हो? नया-नया काम करना पड़े तो थोड़ी हिचक होती है और एक ही काम बार-बार दुहराना पड़े तो उसमें क्या हिचक है? एक बार सिखा दिया ऐसे कर लो और बारम्बार करने लगे। लेकिन अब तुम ऐसा मानते हो कि मुझसे अभ्यास भी नहीं बनेगा-'मत्कर्मपरमोभव'-मेरे लिए कर्मपरायण हो जाओ। ऐसे कर्म करो जो मेरे लिए होता है।

इसको सुनकर आप लोग घबड़ायें नहीं, डरें नहीं। आप क्या काम करते हैं? झाड़ू लगाते है? भला आप लोग झाड़ू लगायेंगे। यह तो बड़े-बड़े नेता लोग फोटो खिंचवानेकें लिए झाड़ू लगाते हैं। यह तो बड़े नेताओंका काम है। वैसे कभी झाड़ू छूते नहीं हैं हाथेसे। पर फोटो खिंचवाना हो तो झट लगा लेते हैं। आप लोग झाड़ू नहीं लगाते हैं। रसोई पकाते हैं? झाड़ू भी लगावें तो मनमें याद आ जाय कि इस रास्तेसे शायद भगवान् आ जायें! उनको यह रास्ता साफ मिलेगा। पता नहीं कौन-कौन रूप धारण करके भगवान् आते है-मैं बड़े प्रेमसे झाड़ू लगाकर रास्ता साफ कर रहा हूँ। सम्भव है किसी-न- किसी रूपमें भगवान् इसी रास्तेसे आ जायँ!

इसमें आपको क्या लगा? रास्ता साफ हुआ और दिल भी साफ हुआ। रसोई पकाते हैं? भगवान्को भोग लगानेके लिए रसोई पकाते हैं। हम कहाँ ले जाकर भगवान्के सामने थाली रखेंगे? थाली मत रखो। तुलसी डाल दो। वह भी नहीं बनता। अच्छा आगमें थोड़ा-सा डाल दो। अग्निके रूपमें भगवान् हैं। वह भी भगवान् हैं। वह भी भगवान्का भोग है। किसलिए बनाते हैं? पंचमहायज्ञके लिए बनाते हैं। यह तो हमारी वैदिक परम्पराको बिलकुल लोग भूल गये। साफ-साफ बात कही हुई है-

केवलाघो भवति केवलादी। (ऋग्वेद 10.117.6)

जो सिर्फ अपने खानेके लिए पकाता है, वह केवल पाप खाता है। **दूसरोंका भी उसमें हिस्सा होता है।** आमका फल पेड़पर लगता है, चिड़िया खाती है। अन्न उगता है, उसको **पशु खाते हैं, चिड़िया खाती है,** चूहा खाता है। आपने समेटकर लाकर अपने घरमें रख लिया। उनका हिस्सा **गया कि नहीं? चिड़ियाका** हिस्सा चिड़ियाको दे दीजिये, गायका हिस्सा गायको दे दीजिये। उसमें दूसरेके **भोजनका हिस्सा आ गया हो तो** अपने

मनसे उसको भी निकाल दीजिये। पण्डित लोग पढ़ने-लिखनेमें अपना समय बिताते हैं, थोड़ा उन ब्राह्मणोंके लिए कर दीजिये। जो आप भोजन करते हैं, उसमें हिस्सा सबका होता है। यह नहीं कि आपका पैसा और आपने पका लिया तो वह पूरा-का-पूरा आपका हो गया। जिनका हिस्सा उसमें दबकर आया है, उसका भी तो ध्यान रखिये। कोई मुश्किल काम नहीं हैं।

आप कपड़ा बनाते हैं? हाँ, बनाते हैं। देखो, हमारे भगवान्‌के पास न कपड़ा था न उनको कपड़ा पहनना ही आता था। आप लोगोंने भागवतमें पढ़ा होगा। जब मथुरा शहरमें गये, तब उन्हें कपड़ेकी जरूरत मालूम पड़ी। और एक तमाचा मारकर धोबीके सब कपड़े छीन लिये। अब पहनना ही न आवे। दर्जीने आकर जिसके शरीरमें जैसा फिट बैठना चाहिए वैसा बैठाया। आपके तो कपड़े ट्रेन-के-ट्रेन लदकर, ट्रक-के-ट्रक लदकर, जहाज-के-जहाज लदकर जाते हैं-वह तो सब भगवान्‌के कामके हैं, भगवान्‌के पहननेके हैं। नानारूप धारण करके भगवान् ही उनको पहनते हैं। सर्वरूप भगवान्‌के लिए आप कपड़ा बना रहे है। आप उनके रहनेके लिए जो मन्दिर बनवाते हैं-सर्वरूपमें भगवान् ही तो निवास करते हैं। उनके लिए सिमेन्ट बना रहें हैं, उनके लिए पात्र बना रहे है। इन चीजोंको बनानेके लिए मशीन बना रहे हैं।

ये सब सर्वरूप जो भगवान् हैं, उनकी सेवाके लिए है। केवल भावकी जरूरत है। आपको इसमें एक पैसेका भी घाटा नहीं होगा। कपड़ा बाजार में बिकेगा। सिमेन्ट बाजारमें बिकेगा, मशीन बाजारमें बिकेगी। लेकिन कृपणता कहाँ है? कृपणता वस्तुकी नहीं है, कृपणता भावकी है। दिलमें आप ऐसे मक्खीचूस हो गये हैं-मैं अपना शब्द वापिस लेता हूँ। (आजकल तो संसदमें भी लोग कहकर शब्द वापिस ले लेते हैं) यह भावकी, मनकी भी कृपणता है। बच्चे खेल रहे थे। उन्होंने आपसमें कहा थोड़ी देर बैठकर मन-ही-मन सत्तू खायँ। तो एकने कहा 'बेवकूफों'-जब मन-ही-मन खाना है, तो सत्तू क्यों खाते हो? लड्डू क्यों नहीं खाते?' जब मन-ही-मन भगवान्‌को समर्पित करना है तो उसमें कृपणता किस बातकी? वे लक्ष्मीनारायण खड़े हैं। हर-हर गिन्नीयोंकी वर्षा हो रही है-हीरोंकी वर्षा हो रही है। फिर नोटोंकी वर्षा क्यों सोचते हो?

मत्कपरमो भव।

भगवान्‌की सेवाके लिए जो कर्म होते हैं वे आप कर्म कीजिये। और उसमें परायण हो जाइयेका अर्थ है-सब कर्म। सब कर्म कैसे होंगे? जैसे सबेरे क्यों उठते हो? भगवान्‌की सेवाके लिए। जाते हैं शौचालयमें क्यों? निश्चिन्त होकर भगवान्‌का भजन करेंगे न! पहले हल्के हो लें। स्नान किया-नींद, प्रमाद, आलस्य टूट जाय। जरा हरे-भरे होकर भगवान्‌का भजन करेंगे। बाल सँवारने लगे। स्नो-पावडर लगाने लगे। भगवान् देखेंगे तो उनको अच्छा लगेगा। बाल बिखरे हुए, गन्दे कपड़े पहने हुए, इधर-से-उधर घूम रहे हैं! भगवान्‌के सामने जाना है तो जरा ठीक-ठीक होकर जाना चाहिए।

वृन्दावनमें एक सम्प्रदाय ही ऐसा है। वे करते हैं भगवान्‌का भजन और तेल-फुलेल, रेशमी कपड़ेका ज्यादा ख्याल रखते हैं। काशीमें दामोदरलालजी गोस्वामी रहते थे, वे बहुत बड़े विद्वान् थे। काशीके विद्वानोंमें माने हुए विद्वान् थे। हमारे गुरुजीने कहा कि उनके दरवाजेपर कभी जाना मत। क्यों? क्योंकि वे तो इत्र लगाये

रहते हैं और बाल सँवारे रहते हैं। बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनते हैं। तुम्हारे मनमें कहीं वैसी ही वासना हुई तो पढ़ाई-लिखाई चौपट हो जायेगी। कभी मत जाना। मैं नहीं गया। वे ही जब आये तब मैंने उनको देखा। मैं उनके पास कभी नहीं गया।

बनारसमें एक सिद्ध थे। गोपीनाथ कविराज उनको बहुत मानते थे। उनके सामने शालिग्रामकी मूर्ति रखी जाय और वे कड़ी दृष्टिसे देखें-तो सुनते हैं कि फट जाती थी। इतना तेज था उनके नेत्रोंमें। झूठ कि सच, भगवान् जाने। गुलाबका पौधा दीख रहा है, उन्होंने नजर डाली और वह चम्पाका पौधा हो गया। बँगलामें एक पुस्तक है-'विशुद्धानन्द-प्रसंग'। उसमें गोपीनाथ कविराजने लिखा है। मेरे सामने वे थे। गुरुजीने कहा कभी उनके मठके भीतर आश्रमके भीतर पाँव मत रखना। क्यों? पढ़ना-लिखना चौपट हो जायेगा। और फिर जाकर आँख बन्द करके ध्यान लगाकर बैठ जाओगे। सिद्धियोंके चक्करमें कभी मत पड़ना। गुरुजीका नाम था पण्डित रामभवन उपाध्याय। आजकल जिसको सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय कहते हैं उसमें पढ़ाते थे। भाई देखो, चलो भगवान्के पास।

मत्कर्मपरमो भव।

भूलो मत! पहलेसे संकल्प कर लो कि यह हम भगवान्के लिए कर रहे हैं। करते समय याद करते जाओ। नहीं तो करनेके बाद ही समर्पित कर दो। एक हमारे जाने हुए वकील हैं, उन्होंने पहले तो यह नियम किया था कि 1500 रुपये महीनेसे अधिक फीस लेनेका काम ही नहीं करेंगे और यदि हमको मालूम पड़ेगा कि मुकदमा झूठा है तो बीचमें ही छोड़ देंगे। इसलिए कोई झूठा मुकदमा लेकर मेरे पास नहीं आवेगा। और वे जिस मुकदमेंमें अदालतमें जाकर खड़े हो जाते थे, उनके आते ही जज लोग उनके पक्षमें फैसला दे देते थे। अभी वे बम्बईमें हैं, वृन्दावनमें हमारे आश्रममें आकर महीनों तक रहते हैं। अपनेको भगवान्के सामने ऐसा प्रतिष्ठित बनाओ, तुम्हारा दिल इतना सुन्दर हो, इतना मधुर हो कि उसको देखनेकी लालच भगवान्की आँखोंमें आजाय। उसका स्वाद लेनेकी इच्छा भगवान्के मनमें आजाय। जब वे चोरी करके मक्खन खा सकते हैं तो तुम्हारे दिलकी जो मिठास है, उसका आस्वादन क्यों नहीं कर सकते?

एक बार एक सज्जन नन्दगाँव गये तो देखा-किवाड़ी तो खुली है और भीतर दूध, दही, मक्खन भी खुला पड़ा है। अरे भाई, दरवाजा बन्द क्यों नहीं करता है? कहीं लाला आ गया तो उसको किवाड़ी खोलनेकी तकलीफ करनी पड़ेगी। हम तो, उसको कोई तकलीफ न उठानी पड़े, इसीलिए खुला रखते हैं। आपके घरमें भगवान्के लिए क्या-क्या है, जरा सोचिये तो! अभी बात कर रहे थे, तुलसी खानेसे जुकाम नहीं होता है ऐसा कई लोग बताते हैं-तुलसीकी हवा लगनेसे भी जुकाम कम होता है। कई कहते हैं तुलसीका पत्ता खानेसे कैंसर नहीं होता है। कई कहते हैं तुलसीका पत्ता खानेसे मूत्रेन्द्रिय सम्बन्धी रोग नहीं होते।

शरीरका रोग तो सब मिटाना ही चाहते हैं-पर आप बेलपत्र शंकरजीपर चढ़ाकर खायें, तुलसी शालिग्रामपर चढ़ाकर खायें तो आपका मन प्रसन्न होगा, निर्मल होगा, श्रद्धा बढ़ेगी तथा तुलसी और बेलपत्र तो आपके पेटमें ही जायेगा न! और तो कहीं नहीं जायेगा? जायेगा तो जो उसमें गुण है वह मिलेगा ही। आप

उसको एकांगी क्यों बनाते हैं? केवल शरीरके लिए क्यों रखते है? अपने-हृदयके निर्माणके लिए भी कर दीजिये। क्या भगवान्को समर्पित करके तुलसी खानेसे या शंकरजीको समर्पित करके बेलपत्र खानसे आपका कोई घाटा हो जायेगा?

'मत्कर्म परमो भव' का अर्थ है-जो-जो हम करते हैं- 'करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।' हमको याद है, बच्चे थे, जनेऊ वगैरह कुछ नहीं हुआ था। बाबाके साथ भोजन करने बैठते तो बिना सिला कपड़ा पहने, हाथ पाँव धोकर, चौकेमें बैठते। बाबा कहते हाथमें पानी लो और 'बोलो कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'। जो-जो मैं करता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, सब नारायणको अर्पित है। गीतामें आप पढ़ते हैं 'यज्जुहोसि यदश्नासि'- 'अश्नासि' का क्या अर्थ है? खाना ही न! मुँहमें ग्रास डाला और नन्हा-सा बालक आपके भीतर बैठा हुआ है, पर उसने आपके हाथसे छीन लिया और अपने मुँहमें ले लिया। वह आयेगा आपके पेटमें पर आपको उस नन्हें-से बालकको खिलानेका जो आनन्द आयेगा, वह जो भावनाका आनन्द होगा, वह कितना बड़ा होगा!

'मत्कर्मपरमो भव मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि'। रोगी बनकर भगवान् हमसे दवा लेनेको आये। टॉलस्टायकी एक कहानी पढ़ी थी। भगवान्ने किसीको स्वप्न दिया कि कल तुमसे मिलूँगा। वह रोगी बनकर बोले दवा दे दो। नंगे बनकर आये कि हमको कपड़ा दे दो। भूखे होकर आये कि हमको भोजन दे दो। उस सज्जनने कहा भाग, भाग। आज हमारे घरमें भगवान् आने-वाले हैं! चौबीस घण्टे बीत गये, भगवान् नहीं आये। भगवान्ने फिर सपनेमें डाँटा कि रोगी बनकर मैं आया था-नंगा बनकर मैं आया था, भूखा बनकर मैं आया था। तूने मुझे पहचाना ही नहीं 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि'।

यदि मन-बुद्धिको नहीं दे सकते हो और अभ्यास भी नहीं कर सकते हो, तो जो काम तुम कर रहे हो, उसको मेरे लिए करो। आपके लिए करेंगे तो सब आप छीन ले जायँगे। बोले, नहीं छीन नहीं ले जायेंगे। वह तो जैसे होता है, वैसे ही होगा। केवल उद्देश्य, केवल भावके परिवर्तनसे भक्ति हो जाती है।

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुंमद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

बढ़िया बात बोले। अच्छा भाई, मन-बुद्धि तो हम नहीं लगा सकते, अभ्यास भी हम नहीं कर सकते और सब कर्म तुम्हारे लिए करें, ऐसा भी नहीं है, हमको तो अपने लिए भी करना पड़ता है। बहुत बढ़िया! अपने लिए भी करो भाई! अब यह कौन-सा नम्बर हुआ? तीन नम्बर। मन-बुद्धि अर्पण, मन बुद्धिके अर्पणका अभ्यास करना और भगवान्के लक्ष्यके उद्देश्यसे कर्म करना! अब चौथे नम्बरकी बात है-

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।

काम करो लेकिन उसके फलका त्याग कर दो। आपके लिए यह मुश्किल है और भगवान् इसको आसान बता रहे हैं पर सबसे मुश्किल यही है। अपने मनको हमेशा प्रयत्नशील रखो, काबूमें रखो कि वह वर्तमान कर्मको छोड़कर उसके फलकी ओर दौड़ न जाये। हमारा मन वर्तमानमें तो रहना पसन्द करता नहीं।

हमको बचपनमें अभिमान था कि हमारे घरमें सबसे बढ़िया रसोई बनती है। लेकिन फिर भी चुपचाप पड़ोसीके घर चले जाते थे और खाकर आते थे। क्यों -कभी-कभी उनके घरकी रसोई खानेमें बहुत स्वादु लगती थी। अच्छी लगती थी। रोज खानेको मिले तो वैसी नहीं लगती।

आपको एक बात सुनाता हूँ-कर्मका एक तो होता है प्रयोजन और एक होता है फल। कोई भी काम करना हो तो वह निष्प्रयोजन नहीं होता है, सप्रयोजन होता है। यह काम कर रहे हैं तो इसका कुछ लक्ष्य है कि नहीं। लक्ष्य है-हम इतना उत्पादन करेंगे। पर उत्पादन करके सब-का-सब हम ही खा जायेगे? नहीं भाई, औरोंको भी खिलायेंगे। उसको हम बेचेंगे, उससे हम धनी होंगे, उससे हम सुखी होंगे। यह मत सोचिये!

यह सोचिये कि हमको यह कर्म करना चाहिए। हम आपको इसका नमूना सुनाते हैं-जैसे नमूनेके लिए श्राद्ध-अपने पिताके लिए माताके लिए, दादाके लिए, दादीके लिए, नानाके लिए, नानीके लिए, श्राद्ध किया जाता है। यह श्राद्ध क्या है? कर्म तो करें और उसका फल हमका मिले-यह न चाहें। इस कर्मका नमूना है ऐसा निष्काम कर्म, कि हम माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानीके प्रति श्रद्धा करके उनके लिए हम कुछ कर रहे हैं। श्राद्ध कर्म जो है यह निष्काम कर्मका नमूना है कि हम कर्तव्यपालन करते हैं।

कर्ममें चार प्रकारसे निष्कामता आती है। एक रीति तो यह है कि हमारा माता-पिताके प्रति या ईश्वरके प्रति यह कर्त्तव्य है कि हम यह काम करें। इससे क्या मिलेगा, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए शास्त्रने संध्या-वन्दन कर्म हमारे जीवनमें स्थापित किया। यह मत सोचो कि संध्या-वन्दन करनेसे क्या मिलेगा? हमारे ऊपर कर्त्तव्यका कोई बोझ नहीं है। सारे काम लाभके लिए ही होते हैं? इससे कुछ मिले-इतनी गरीबी हमारे जीवनमें आ गयी! यह दरिद्रताकी पराकाष्ठा है। सुना है कि अहमदाबादमें किसीने पूछा कि यह कौन-सा स्टेशन है? तो प्लेटफार्मके आदमीने बताया कि चार आना लाओ तब बतायेंगे। अरे भाई! बस, हम समझ गये कि यह वह स्टेशन है, जहाँ लोग चवन्नी लिये बिना स्टेशनका नाम भी नहीं बताते। यह बहुत प्रसिद्ध है।

सन्ध्या-वन्दन क्यों करें? भला कोई बात हुई? यह हमारा धर्म है, हमारा कर्त्तव्य है-माता-पिताके प्रति श्राद्ध करना, हमारा कर्त्तव्य है। उनके जीवनमें उनकी सेवामें जो त्रुटि रह गयी है वह पीछे श्राद्ध करनेसे पूरी हो जायेगी। उनका कमाया हुआ जो धन है वह उनके नाम पर खर्च हो जावेगा। और हमारे हृदयमें श्रद्धाकी वृद्धि होगी। श्रद्धाको शास्त्रमें धन बोलते हैं। 'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत्' (माध्य०शतथब्रा० 7.2.28) हमारे हृदयमें श्रद्धाका धन बढ़ता है।

एक बात यह है कि 'सर्वकर्मफलत्यागं'में हम कर्त्तव्यबुद्धिसे कर्म करें। दूसरी बात देखो-हमारा अन्त:करण शुद्ध हो, इसके लिए कर्म करें। यह भी फलेच्छा नहीं है। हमारे अन्त:करणमें जो मैल लगी है, उसको कोई हथौड़ासे, छेनीसे या बँसूलेसे तो साफ कर नहीं सकता। साबुन लगनेसे मनका मैल दूर नहीं होता। उसके लिए तो अन्त:करण शुद्धिकी दृष्टिसे हमें कुछ पाना नहीं है, केवल सफाई करना है। हमारा दिल साफ हो, इसके लिए हम कर्म करते हैं। कई चीज ऐसी होती है कि जो रगड़नेसे ही साफ हो जाती है। कई चीज झटकनेसे ही साफ हो जाती है। किसीमें नींबू लगाना पड़ता है, किसीमें दही लगना पड़ता है।

आप तो यदि फल न चाह करके अपने कर्त्तव्य कर्मको करेंगे तो आपका अन्त:करण निष्काम हो जायेगा। निष्कामता अन्त:करणकी शुद्धि है। निष्कामता अन्त:करण-शुद्धिका साधन नहीं है, वह तो हल्की-फुल्की बात है। अन्त:करणका निष्काम होना ही अन्त:करणकी शुद्धि है। सेठजी जयदयादलजी गोयनकासे हम लोग भिड़ जाय: करते थे कि आप बताओ जब तक आत्मामें भोक्तापनका भाव रहेगा-तब तक कर्म निष्काम कैसे होगा? वह तो जब तत्त्वज्ञानसे भोकृत्वकी भ्रान्ति दूर होगी, कामना नहीं रहेगी तब अन्त:करण निष्काम होगा। सेठजी बोलते-हमारा अभिप्राय पूर्ण निष्कामतासे नहीं है। नि:स्वार्थ होकर कर्म करें-अभिप्राय इतना ही है।

पूर्ण निष्कामता तो बिना कर्त्तापन और भोक्तापन मिटे हो नहीं सकती। एक बात तो यह है कि कर्त्तव्य-पालनके लिए कर्म करें-फल न चाहें। दूसरे अन्त:करण-शुद्धिके लिए कर्म करें और कोई फल न चाहें और तीसरे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करें-भगवत्-प्रीत्यर्थ। जो कुछ मैं करता हूँ, जो मेरे द्वारा होता है, उससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। बस यही कसौटी है। जाँच लो कि तुम जो कर रहे हो उसे तुम्हारे पिताजी देखते तो खुश होते कि नहीं? तुम्हारे गुरुजी को मालूम पड़ता तो वे खुश होते कि नहीं! दुनियाके मालिक जो भगवान् हैं, उनकी दृष्टि जब तुम्हारे कर्मपर पड़ेगी तो प्रसन्न होंगे कि नहीं?

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करो। काम करते समय यह भी देखलो, उनको कैसा लगेगा? इसका भी ध्यान रखना चाहिए। बस, इतना ही तो देखनेका है। यह तीसरे प्रकारका कर्मफल-त्याग है। अपने कर्त्तव्यकी पूर्तिके लिए; अन्त:करणकी शुद्धिके लिए; भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए। चौथे प्रकारका भी कर्म होता है। वह होता है-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए। कर्मसे सीधे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कच्चे वेदान्ती-ज्यादा करके जो लोग पंचदशी भी पढ़ते हैं, विचार-सागर पढ़ते हैं और अपनेको वेदान्ती मान बैठते हैं। वे मानते हैं कि सत्कर्म करनेसे मनमें ब्रह्मको जाननेकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है और विवरण-प्रस्थान मानता है कि नहीं, सत्कर्मके अनुष्ठानसे ज्ञान ही उत्पन्न हो जाता है। 'विविदिषा' उत्पन्न होती है कि 'वेदन' उत्पन्न हो जाता है यह दोनों प्रस्थानोंका मतभेद है। जान-बूझकर मैंने शास्त्रकी चर्चा कर दी। जो काम करने लगते हैं उनको उस विषयमें अनुभव होता है कि नहीं होता! अनुभव बढ़ता है, जितना-जितना आप काम करोगे, उतना ही उतना आपका अनुभव बढ़ेगा। आप कर्म क्यों करते हो? भाई, हमको कोई तनख्वाह नहीं लेनी है। फायदा नहीं उठाना है। अनुभव प्राप्त करनेके लिए काम कर रहा हूँ। भगवत्-सम्बन्धी अनुभव प्राप्तिके लिए जो कर्म किया जाता है, वह भी भगवान्‌के लिए कर्म है। जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म किया जाता है, वह भी भगवान्‌के लिए है। जो अन्त:करण-शुद्धिके लिए किया जाता है वह भी भगवान्‌के लिए है और जो अपने कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे होता है वह भी भगवान्‌के लिए है।

हमारे एक मित्र थे-अभी असहयोगके जमानेमें ही पागल हो गये। क्यों पागल हुए? घरके लोग, उनके इष्ट-मित्र घबड़ाये। मैंने उनसे धीरे-धीरे पूछा कि तुमको क्या तकतीफ है? उन्होंने कहा कि मैं तो झण्डा लेकर घूम रहा था-'झण्डा ऊँचा रहे हमारा।' राष्ट्रकी सेवा कर रहा था और उधर हमारी पत्नीको दवा नहीं मिली।

पानी पिलानेवाला कोई घरमें नहीं था। पथ्य नहीं मिला। वह मर गयी। मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया। ऐसा खटक गया था उनको कि उनका दिमाग ही ठीक न हो!

मैंने कहा भाई, तब नहीं किया तो अब कुछ करो-बोले-अब क्या हो सकता है? वह तो मर गयी। नहीं अब भी हो सकता है। क्या हो सकता है? रोज उसके नामसे संकल्प करके गीताका पाठ करो-रोज द्वादशाक्षर मन्त्रका जप किया करो थोड़ी देर, उसकी शान्तिके लिए। है कुछ घरमें? गरीबोंको उसके नामपर दो। कुछ है तुम्हारे पास? बोले-हाँ, है तो सही? जप कर सकते हो? हाँ। पाठ कर सकते हो? हाँ। उसके लिए आजसे ही करना शुरू करो। हमारे पास पाँच-छ: दिन रहो, शुरू करो। करना शुरू किया-थोड़े दिनोंमें ऐसा उनका मन ठीक हो गया, जैसे लगे कि हमने कुछ किया है।

उस कर्मका फल वे अपने नहीं चाहते थे। परन्तु उनके चित्तमें जो अशान्ति आयी थी वह दूर हो गयी। 'मत्प्रसादाद् अवाप्रोति शाश्वतं पदमव्ययम्'। (18.53) यदि आप कर्मफलका त्याग करके कर्मका अनुष्ठान करें-आप अच्छा काम कर रहे हैं यह देखिये। आप किसीको प्रणाम कर रहे हैं, वह आपकी ओर देखे या न देखे। अरे, मैंने तो इतना हाथ जोड़ा, नमस्कार किया पर आपने तो हमारी ओर देखा ही नहीं, हमें पहचाना ही नहीं। क्या जरूरत है? तुमने एक अच्छा काम किया, नमस्कार किया, हाथ जोड़ा, बढ़िया काम किया। उसमें कोई देखे और तुमको कोई धन्यवाद दे, आशीर्वाद दे, इसकी क्या जरूरत है? अच्छा काम स्वयंमें फलात्मक ही होता है। उसका फल आगे नहीं मिलता है।

जिस समय हम अच्छा काम करते हैं, उसी समय हमारे हृदयमें जो सन्तोष होता है, जो प्रसन्नता होती है, जो शान्ति होती है, वहाँ कर्म और कर्मका फल दो नहीं रहता। आप उसी कर्ममें तन्मय रहिये। फलको छोड़िये-आयेगा-आयेगा। नहीं आयेगा-नहीं आयेगा। उसकी ओर देखनेकी कोई जरूरत नहीं है। किसीने कहा-यह करनेसे क्या मिलेगा? राम-राम करनेसे क्या मिलेगा? सन्ध्या-वन्दन करनेसे क्या मिलेगा? अरे तुम एक अच्छा काम कर रहे हो, यह क्या तुम्हारे सन्तोषके लिए शान्तिके लिए पर्याप्त नहीं है!

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 7

17-11-83

अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12.10-12

एक प्रधान बात यह हुई कि मन और बुद्धि भगवान्‌में आहित करना, समाहित करना। दूसरी बात यह हुई कि यदि मन, बुद्धिको भगवान्‌में न लगा सकें-क्योंकि वह दो ही स्थितिमें पूर्णतः लग सकती है। या तो आश्रय अद्वितीय हो, ब्रह्म-अथवा भगवान् विषयरूपमें सर्व हों, विराट् हों। यदि सर्वरूपमें भगवान् होंगे तब मन-बुद्धिका समर्पण सार्वकालिक, सार्वदेशिक और यथार्थ परमार्थ हो जायेगा। जो देखते हैं, वही भगवान् है। जो सुनते हैं, वही भगवान् है, जो छूते हैं वही भगवान् है। शंकराचार्यने सारे अध्यायका अर्थ विश्वरूपकी उपासनामें लगाया है और यही उसका गूढ़ अभिप्राय है। और वृत्तिका जो आश्रय है वह वृत्तिके अभावका भी आश्रय है। इसलिए वृत्ति और वृत्तिका विषय-दोनों उसमें बाधित हैं, तो परमात्माके सिवाय और कोई है ही नहीं।

दूसरी बात यह कही कि यदि यह स्थिति न प्राप्त हो सके तो अभ्यासयोग करो। अभ्यासयोग माने भगवान्‌में अपने मन और बुद्धिको लगानेका अभ्यास। बारम्बार भगवान्‌में मन लगाया जाय। उनसे प्यार हो, उनका विचार हो। मन लगाना माने भगवान्‌से प्रेम और बुद्धि लगाना माने भगवान्‌का विचार। यह ठीक वैसे ही है जैसे जब सत्राजित्‌ने कहा कि श्रीकृष्ण, तुम स्यमंतक-मणि ले लो, मैं दहेजमें देता हूँ। तो श्रीकृष्णने कहा-तुम सूर्यके भक्त हो, उनकी दी हुई मणि तुम्हारे घरमें रहे। लेकिन उनसे जो आठ भार सोना रोज निकलता है वह हमको भेज दिया करो। मन तो अपने पास रखिये, लेकिन जो मनमें संकल्प उठें और बुद्धिमें विचार उठें वे भगवान्‌के पास भेज दिया कीजिये। क्योंकि मन और बुद्धि तो एक अमूर्त तत्त्व हैं-मन और बुद्धि आकृतिवाले तत्त्व नहीं हैं। जो आकृति मन और बुद्धिका विषय बनती है वही उनकी आकृति होती है। उनकी अपनी आकृति नहीं है।

जो वस्तु मनमें मालूम पड़ रही है वही मन है। जो बुद्धिमें मालूम पड़ रही है वही बुद्धि है और ऐसी-ऐसी हजारों वस्तुएँ मनमें आती हैं और बुद्धिमें आती हैं। इसलिए उनका आकार तो निश्चित होता नहीं। अतः जो

भी आकार आवे, उनमें जो भी संकल्प उठे, जो भी विचार उठे वह भगवान्‌का रूप हो, भगवान्‌को लेकर उठे- भगवान्‌के लिए एक मन्दिर बनावेंगे। यह संकल्प ही भगवद्-अर्थ हो गया। भगवान् साकार हैं, निराकार हैं, कि सगुण हैं, निर्गुण हैं, हृदयमें है, बाहर हैं-इस प्रकारका विचार भी बुद्धिको भगवान्‌में लगाना है। अब उसका अभ्यास करना माने उसको दोहराना।

अभ्यास शब्दका अर्थ संस्कृतमें दोहराना ही होता है। जैसे भू धातुकी जब अभ्यास संज्ञा होती है, तो 'भू भू बभूव' बन जाता है। अभ्यास माने बारम्बार पुकारना। किसी शब्दको बारम्बार दुहराना। जैसे सन्धिमें उदाहरण है-'कांस्कान्'-यह अभ्यास है किसको? रामको। रामको-तो इस अभ्यासका भगवान्‌के साथ योग हो जावे-माने हम बारम्बार भगवान्‌को ही दोहरावें। बोले भाई, यह भी बहुत कठिन। बोले अच्छा यह कठिन है तो तीसरी बात लो। 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि' मेरे लिए कर्म करो। जो काम करो, यह देख लो कि यह हम किसके लिए कर रहे हैं। विराट्‌की सेवाके लिए कर रहे हैं, अन्त:करण शुद्धिके लिए कर रहें हैं, कर्त्तव्यपालनके लिए कर रहें हैं-ये तीन विभाग ब्रह्म-सिद्धिके टीकाकारोंने किये हैं।

कर्तव्यपालनके लिए कर्म, अन्त:करण शुद्धिके लिए कर्म, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म, और विविदिषा या वेदन-जिज्ञासा अथवा ज्ञानप्राप्तिके लिए कर्म। इसमें भामतीकार मानते हैं विविदिषाके लिए, जिज्ञासाके लिए कर्म और विवरणकार मानते हैं-ज्ञानके लिए कर्म। सेठ जयदयालजी विवरण पक्ष लेकर कर्मसे ज्ञान होता है, ऐसा बोलते थे। पर साधारण पञ्चदशी, विचारसागर पढ़नेवालोंको तो यह मत मालूम नहीं है। इसलिए वे लोग आपत्ति करते थे। भगवान्‌के लिए कर्म, अन्त:करण-शुद्धिके लिए कर्म-

योगिन: कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये। 5.11

लेकिन कई लोग होते है, उनको कैसे-कैसे की ऐसी आदत पड़ जाती है। किसीने महात्मासे पूछा-महाराज, भगवान्‌का ज्ञान कैसे हो? तो उन्होंने कहा-ध्यान करो। ध्यान कैसे करें? बोले भगवान्‌से प्रेम करो, ध्यान लगने लगेगा। जिससे प्रेम होता है, उसका ध्यान अपने आप लग जाता है। महाराज, भगवान्‌से प्रेम भी कैसे करें? किसी प्रेमीका सत्संग करो तो प्रेम हो जायेगा। प्रेमीका सत्संग कहाँ मिलेगा? भक्ति-प्रेमका स्वाध्याय करो। स्वाध्याय करनेके लिए तो समय नहीं मिलता है। अच्छा तो नाम जपो। बोले-भूल जाते हैं। नाम भी हर समय कहाँ लिया जाता है! हर समय नहीं लिया जाता है तो घण्टे, आध घण्टे, पाँच मिनट, दस मिनट बैठकर भगवान्‌का नाम लिया करो। बोले-महाराज, अगर रोज न हो सके तो कभी-कभी कर लिया करें? अच्छा भाई, रोज नहीं कर सकते हो तो कभी-कभी कर लिया करो। अच्छा महाराज, महीनेमें एक दिन? बोले, अच्छा वह भी ठीक है। बोले-महाराज, महीनेमें न हो तो छ: महीनेमें? बोले-अच्छा, छ: महीनेमें सही; बोले अच्छा वह भी भूल जाय, तो एक वर्षमें? बोले ठीक है-एक बरसमें, वह भी सही!

उसने कहा महाराज, न करें तो कैसा रहेगा? कैसे मानें करोगे-करना शुरू कर दो। एक मिनट करो, दो मिनट करो, पाँच मिनट करो। बाल जब कंघीसे सुधारते हैं, उसी समय पर कर लिया करो। जब स्नान करते

हैं, घण्टे भर साबुन लगाते हैं-उस समय करें! हम तो ऐसे लोगोंको जानते हैं, जो दो-दो घण्टे बाथरूममें रहते हैं। वहाँ भी भगवान्‌का नाम लें तो कोई हरज नहीं! पहले तो हमलोग बहुत विरोध करते थे। बचपनमें हँसी भी उड़ाते थे। पर गांधीजीके सम्बन्धमें यह बात अखबारोंमें छपती थी कि जब वे बाथरूममें जाकर बैठते हैं तो गीताका पाठ कर लेते हैं। हमलोग तो उस समय पण्डिताईके चक्करमें थे। हँसी उड़ाते थे। बाबा 'अकरणामन्द-करणं श्रेयः'। जो बिल्कुल नहीं कर सकते हैं उनका जैसे-तैसे करना भी अच्छा है! कर्म-लोप न हो। काल-लोप हो जाय तो हो जाय, देश-लोप हो जाय तो हो जाय, सामग्री-लोप हो जाय तो हो जाय, कर्म-लोप नहीं होना चाहिए। यह हमारे कर्म-काण्डका सिद्धान्त है।

सन्ध्या-वन्दनके लिए जल मिले तो अर्घ्य दो और न मिले तो मिट्टीसे अर्घ्य दे लो क्योंकि उसमें पानी रहता है। और यदि मिट्टी भी न मिले तो? बोले-मानसिक दे लो। पर कर्म-लोप नहीं होना चाहिए। जिस कर्मका नियम लो उसको पूरा करना चाहिए। बोले-भगवान्‌के लिए कर्म करना भी बड़ा मुश्किल है। अच्छा, यह भी आप नहीं कर सकते तो चौथी चीज लीजिये। दुकानदारके पास कोई जाता है तो कहता है, यह पसन्द नहीं तो यह लीजिये। यह पसन्द नहीं है तो यह लीजिये। छोड़नेका नाम तो वह लेता ही नहीं है। ये कृष्ण भगवान् जो हैं वे कहते हैं, हम ऐसे नहीं छोड़ेंगे। हमारे लिए काम नहीं करते हो न सही-

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 12.11

भगवान्‌के लिए कर्म करनेमें मद्‌योग, भगवान्‌का योग-यह आवश्यकता होती है और कर्मफल-त्यागमें मद्‌योगकी आवश्यकता नहीं होती। यह अद्भुत है। यह निरन्तर वाली जो बात है-सतत स्मरण, निरन्तर स्मरण-यह अखबारों में, किताबोंमें बहुत अच्छी लगती है। परन्तु जब जीवनमें देखने लगते हैं-तो देखो एक साथ दो स्मृति नहीं रह सकती। दो अँगुलियोंको भी हम एक साथ देख नहीं सकते हैं। मनकी पहचान ही यह है कि वह दो ज्ञान अपनेमें एक साथ नहीं रख सकता। शब्द सुनेगा तो शब्द सुनेगा। आँखसे देखेगा तो आँखसे देखेगा। वह एक साधारण करण है जो प्रत्येक इन्द्रियके साथ मिल-मिलकर उसके विषयको ग्रहण करता है। यह मन एक क्षणमें किसी एक विषयको ग्रहण करता है। दो अंगुली देखते हैं-अलग-अलग देखते हैं। एक अंगुली देखनेका समय दूसरा है। दूसरी अंगुली देखनेका समय दूसरा है। पर इतना सूक्ष्म है कि एक अंगुलीसे दूसरी पर जाती हुई मनोवृत्तिको हम पकड़ नहीं पाते हैं। दोनों अंगुलीका अभाव बीचमें है, वह भी ग्रहण होता है।

तब फिर-बोले अच्छा, भाई! स्मृतिकी बात अभी छोड़ देते है। सुषुप्तिमें स्मरण नहीं होगा। पुत्रके स्मरणमें भगवद्-स्मरण नहीं होगा। धनके स्मरणमें भगवद्-स्मरण नहीं होगा। अपनी विपत्ति-सम्पत्तिमें स्मरण नहीं होगा। इसीलिए उसके लिए एक समयकी जरूरत पड़ती है-अभ्यास बढ़ानेके लिए। वृन्दावनमें ऐसी रिवाज है कि माला तो खूँटापर टंगी रहती है और जब घरमें-से निकलना होता है तो कई लोग अपना मुँह धोकर चन्दन टीका लगाकर, माला हाथमें लटकाकर शहरमें निकलते है। तब अवश्य माला उनके हाथ में

होती है। घरमें तो वह खूँटीपर रहती है। स्मृति जो है 'मद्योगमाश्रित:,' 'एतद् मदर्थं कर्म'- यह जो मेरे लिए कर्म हैं इनमें मुझे तुम योग नहीं कर सकते तो-बोले काम सब करो परन्तु उसका फल भगवान् पर छोड़ दो। इसमें भी कुछ करना नहीं है क्योंकि सचमुच फल तो किसीके हाथमें होता ही नहीं हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। 2.47

ये हमारे पूर्वमीमांसक तो ऐसा मानते हैं कि कर्म स्वयं अपना फल दे लेता है। जैन भी ऐसा ही मानते हैं कि कर्म अपना फल दे लेता है। बौद्ध लोग मानते हैं कि वासना फलको अपनी ओर खींचती है और चार्वाकका कहना है कि खाना-पीना, मौज करना यही उसका फल है-और कोई दूसरे जन्ममें उसका फल नहीं मिलना है। वेदान्तियों का इस सम्बन्धमें यह कहना हैकि कर्म जड़ है और वह जिस क्षणमें होता है,उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है। आपने महिम्नस्तोत्रमें तो पढ़ा ही होगा 'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते' (श्लोक २०) कर्म तो प्रध्वस्त है।

जिस क्षणमें होता है उसके बाद मिटता जाता है-मिटता जाता है। मीमांसक कहते हैं कि नहीं जबतक कर्तव्य है तब तक कर्ताके अन्त:करणके कर्मसे अपूर्व उत्पन्न होता है। और वह रहता है- फलका समय आनेपर फल देता है। वेदान्तियोंका इस सम्बन्धमें यह कहना है कि कर्म तो जड़ है और क्षण-क्षणमें नष्ट होता है, इसलिए फल देनेका काम ईश्वरका है। वेदान्त-दर्शनमें सूत्र है 'फलमत उपपत्ते:'। (3.2.38) फल ईश्वरसे ही मिलता है। कर्ताके बलसे कर्मका फल नहीं मिलता। कर्ताके बलसे कर्म होता है, परन्तु कर्मका जब फल देनेवाला समय होता है तो ईश्वर ही उस कर्मका फल देता है।

इसलिए फल जब अपने हाथमें है ही नहीं, तो उसकी चिन्ता व्यर्थ है। अपनी ओरसे अपना जो काम है उसको करते जाना चाहिए और फलको छोड़ देना चाहिए। 'मीरा गिरिधर हाथ बिकानी-होनी हो सो होई रे'। अपना कर्तव्य पालन करते जाना चाहिए। यह अपना काम है। अपने कर्ममें यदि त्रुटि होगी तो आगे पश्चाताप भी हो सकता है, ग्लानि भी हो सकती है। अपने कर्तव्य कर्मके विधानका उल्लंघन होनेके कारण आगे प्रत्यवाय भी हो सकता है। अपना काम ठीक-ठीक करना यह मनुष्यका अवश्य कर्तव्य है।

अच्छा, अब फलकी बात करें। देखनेमें तो यह चौथे नम्बरकी बात है तो बहुत सरल होनी चाहिए। पर इसमें भी एक शर्त है उसपर ध्यान नहीं जाता है। लोग सुनते हैं-बस फलका त्याग कर दिया-सबसे सुगम, सबसे सरल यह बात है-महाराज, जिन लोगोंके अन्त:करण दूषित होते हैं वे ऐसे सोचते हैं, कि हम बुरा काम करें या बुरा भोग भोगें तो उसका जो फल है उसका त्याग कर दें। अच्छे कर्मका फल तो हमको मिलेगा ही मिलेगा, लेकिन हम बुरे कर्मका फल छोड़ते हैं। हमने जो काम किया, हम फल उसका चाहते ही नहीं हैं। इसमें एक जो शर्त है, उसपर आप ध्यान दें।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।

यतात्मवान्को उड़ा मत दो। उसे अपने साथ रखो। भगवान् भोग लगानेसे ही नहीं खा लेते। आप लोगोंने पढ़ा है-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

वहाँ तो 'प्रयतात्मनः', 'यो मां भक्त्या प्रयच्छति तदहं भक्त्युपहृतम्'- कहा गया है। भक्ति तो दो बार है। भक्तिसे भगवान्‌को देना है और भगवान् उसको भक्तिके उपहारके रूपमें स्वीकार करते हैं। सो भी 'प्रयतात्मनः'- जिसका शरीर, जिसकी इन्द्रिय, जिसका मन प्रयत है। 'प्रयत' है माने काबूमें है, नियन्त्रित है, नियमित है। प्रयत्नसे विमुख नहीं है, प्रयत्नशील है 'यती प्रयत्ने'।

कर्म-फलका त्याग तो करो, परन्तु यतात्मा होकर करो। 'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'। इन्द्रियाँ वशमें हों माने संयमी होना आवश्यक है। व्यभिचार करो और फलका त्याग करो-चोरी करो और फलका त्याग करो, मना किया हुआ काम, गैरकानूनी काम करो और फलका त्याग करो, यह तो ऐसे ही है जैसे पाँच हजार आपको पुरस्कार मिलता है-बड़ी कृपा है, लेनेको तैयार हैं। पाँच हजार आपको जुर्माना हुआ। बोले-मैं इस सजाका परित्याग करता हूँ। पुरस्कारका परित्याग करें-सरकारसे कहें वह भी अपमानसे अस्वीकार करनेपर काम नहीं चलेगा। कहेंगे, हाँ-हमने स्वीकार किया, फिर कहा यह किसी अच्छे काममें लगा दिया जाय-ऐसा चाहते हैं। ठीक है-अब! पुरस्कारको तो अस्वीकार कर सकते हैं, परन्तु आपको कोई जुर्माना हो और कहें कि हम उसको अस्वीकार कर रहे हैं तो आपको अस्वीकार करनेसे जुर्माना अस्वीकार नहीं होता।

'सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्'का अर्थ है-आपके शरीरसे कोई बुरा काम न हो। शरीर काबूमें रहे। और जुआ है, चोरी है, व्यभिचार है, हिंसा है, ये करनेमें इन्द्रियाँ अपने संयममें नहीं रहती हैं। वे तो उस समय व्याकुल हो जाती हैं ओर गलत रास्तेपर जाती हैं। इन्द्रियोंको काबूमें रखकर जो भी काम आप करते हैं, उसके फलका त्याग कर दीजिये। भगवान्‌की याद न आवे, कोई बात नहीं। परन्तु जब फलकी इच्छा होगी तब तो वह आपके साथ जुड़ेगा और उसको भोगनेके लिए आपको परवश होना पड़ेगा।

मनुष्य भोग भोगनेमें परवश है तो हम संसारी लोगोंकी रीति है कि भोगको भी कर्म बना देते हैं। भोग तो फल है, भोग ऐसा होना चाहिए कि फल-का-फल न हो। भोगका फल न हो, इस ढंगसे आप भोग करते हैं क्या? जब आप वासनासे भोग करते हैं, आसक्तिसे भोग करते हैं, कर्तापनसे भोग करते हैं, तो आपका भोग भी नया कर्म बन जाता है और वह आपको फँसानेवाला बन जाता है।

भोजन इस ढंगसे होना चाहिए कि वह आपके बन्धनका हेतु न बने। भोजन मिला है प्रारब्धसे। हमें थोड़ी देर पहले कोई सुना रहा था कि जो भी भोजन करता है, अपने प्रारब्धसे मिला हुआ भोजन करता है। वह हमारे घरमें भोजन करने आता है सो भोजन तो उसके प्रारब्धका होता है, उसका अपना होता है और हमारे घरमें आकर खाता है तो मैं उसका शुक्रगुजार हूँ। उसको धन्यवाद देता हूँ कि वह अपने घरका भोजन लाकर हमारे मेजपर बैठकर ख़ा रहा है। भोजन तो मिलता है प्रारब्धसे। सब अपना-अपना प्रारब्ध लेकर आते हैं, लेकिन हम जब उसमें कर्तापन लगा देते हैं, वासना जोड़ देते हैं-आज हम यह खायेंगे-अपनी कमायीका खायेंगे, हमारी

कितनी बुद्धिमानी है, तो वह बन्धनका हेतु बन जाता है। आप फलको जो कर्म बना देते हैं, इसको हम अपनी गँवारू भाषामें बोलें तो बेककूफी ही कहना पड़ेगा। भोगते हैं फल और उसको बना देते हैं नया कर्म।

ज्ञानी पुरुष जो हैं, वे करते है कर्म और कर्तापन न होनेसे उसको बना देते हैं फल। कर्म ऐसा हो जिसका फल न हो-फल ऐसा हो जिसका कर्म न हो। हमलोग तो फँसते जाते हैं। इन्द्रियोंका संयम चाहिए। 'यतात्मवान्' का अर्थ है, काबूसे बाहर न हो। जब हम खाने लगते हैं, तब जीभ काबूसे बाहर हो जाती है। पेटमें जितना बोझ सम्भालनेकी ताकत है, जीभ अपनी पसन्दकी वजहसे उसपर ज्यादा लाद देती है। पेटको गधा बनानेका पाप तो जीभको ही लगेगा। पसन्द है जीभकी और लाद रही है पेटको। जीभ काबूमें रहनी चाहिए। हाथसे काम करें तो यह नहीं कि करने चले तो करते ही जा रहे हैं-आप कभी चलते हैं तो बोल दिया बस बन्द-जैसे फौजी अनुशासनमें होता है, वैसा अनुशासन अपने जीवनमें आना चाहिए।

एक फौजी सज्जन थे, रिटायर होकर बनारसमें रह रहे थे तो विद्यालयके विद्यार्थी उनको पहचानते थे कि ये फौजी सज्जन हैं। एक दिन वे एक बड़ा-सा दहीका कुल्हड़ लेकर चले आ रहे थे। एक विद्यार्थीको मजाक सूझा-तो फौजमें बोलते हैं न! सीधे खड़े हो जाओ-एक विद्यार्थीने पीछेसे बोल दिया 'अटेन्शन'। अब वे सीधे खड़े हो गये। और जो दहीका कुल्हड़ था वह तो फेंक दिया, खड़े हो गये हाथ-पैर ठीक, सावधान-मुद्रामें।

'यतात्मवान्'-कान वशमें, आँख वशमें, त्वचा वशमें, जीभ वशमें, नाकवशमें-यतात्मवान् होकर सर्वकर्म-फल त्याग करो। बड़ी भारी बात है। एकने कहा कि दो-नम्बरका काम हमको पसन्द नहीं है। तीन-नम्बर और चार=नम्बरका तो पसन्द ही क्या होगा? यह तो बड़ी छोटी बात हो गयी। चार नम्बरका काम है, सर्वकर्म-फलत्याग। हम इतना छोटा काम नहीं करेंगे। हम तो बड़े-बड़े काम करते हैं। भगवान्‌ने कहा, हाँ-किसी-किसीके मनमें यह शंका हो सकती है। उसको मिटा देना चाहिए। कैसे मिटावेंगे? यह उपसंहार-श्लोक है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ 12.12

भगवान्‌ने बताया कि किसी चीजको समझे बिना जो अभ्यास करते हैं-इससे अच्छा है उसको समझकर उसका अभ्यास करें। जैसे एक आदमी मोटर चलानेका अभ्यास करता है, लेकिन वह पुरजोंको समझता नहीं है। अभ्याससे देख-देख करके उसने सीख लिया कि कौन-सा बटन दबाते हैं तो मोटर चालू होती है-ऐसे यह घुमायी जाती है, यह सब सीख लिया। पर चलानेकी अपेक्षा, मोटरके बारेमें जितना ज्ञान है वह पहलेसे प्राप्त कर लेना चाहिए। चालू कैसे होती है? करन्ट कैसे दौड़ता है? पेट्रोल कहाँसे जाता है? यदि आप अपनी मशीनको समझकर उसको चलावें तो 'श्रेयो हि ज्ञानं अभ्यासात्'। ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है।

'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। अब यह तो दुनियाका ज्ञान आपको प्राप्त होता है, भिन्न-भिन्न विषयोंका।

ज्ञान तो प्राप्त कर लिया, लेकिन चिन्तन करके उसके रहस्यको नहीं समझा। पद्म पुराणमें एक अध्याय ही है जिसमें 'ज्ञान' और 'ध्यान' दोनोंका तुलनात्मक विवेचन है। ज्ञान और ध्यान-पद्मपुराणमें सोमशर्माकी कथा आती है। उसमें इसका विवेचन है। किसीका जानना, यह दूसरी बात है और उसके ध्यानमें तदाकार हो जाना, यह दूसरी बात है।

अब यहाँ ज्ञान शब्दका अर्थ ब्रह्मज्ञान नहीं है। समग्र अभ्यासके मूलमें जो ज्ञान होना चाहिए वह ज्ञान है। क्योंकि सब चीजका ज्ञान अपनी अलग-अलग विशेषता रखता है। रातको आपको घड़ी देखनी हो तो रोशनी चाहिए। परन्तु रोशनी देखनी हो तो रोशनी नहीं चाहिए। रोशनीको तो आँख ही देख लेगी। ज्ञानका रीति अलग हो गयी न! अब हमारी आँख है कि नहीं, इसको देखनेके लिए आँख नहीं चाहिए। इसको तो हमारी बुद्धि देख लेगी। बुद्धिको देखनेके लिए बुद्धि नहीं चाहिए, उसको तो साक्षी हो देख लेगा। यह नहीं कि सब चीजें एक ही तरहसे जानी जाती हैं। सब चीजोंके जाननेकी शैली अलग-अलग होती है। आँखसे रूप जाना जाता है शब्द नहीं, और कानसे शब्द ज़ाना जाता है, रूप नहीं।

'स्वविषयशूराणि इन्द्रियाणि भवन्ति'। सारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें पहलवान होती हैं। दूसरे इन्द्रियके विषयको वे नहीं जान सकतीं। एक ज्ञान होता है, जिसको जाननेके बाद कुछ करना पड़ता है और एक ज्ञान ऐसा होता है जिसको जाननेके बाद कुछ करना नहीं पड़ता। वह क्या है-आप दूसरेके बारेमें यदि जानेंगे कि वह कैसा है? यदि बुरा आदमी है तो उससे परहेज करेंगे और अच्छा आदमी है, तो उससे मिलेंगे-जुलेंगे। अच्छे आदमीका ज्ञान, बुरे आदमीका ज्ञान। वह आपकी क्रियामें फरक डालेगा, अन्तर डालेगा। एक ज्ञान यह हुआ। दूसरेको जानेंगे तो पकड़ें या छोड़ें, यह निश्चय करना पड़ेगा। अन्य सम्बन्धी जितना भी ज्ञान होता है, उसमें दो विशेषता होती है। एक तो उसको जानकर, उस ज्ञानको प्राप्तकर कुछ करना पड़ता है और दूसरे उस ज्ञानका संस्कार अपने हृदयमें जमा होता है और बादमें स्मृति होती है।

परन्तु अपना जो ज्ञान है वह न पकड़नेके लिए होता है, न छोड़नेके लिए। क्योंकि न तो अपनेको पकड़ जा सकता और न छोड़ा जा सकता। इसलिए जैसे घड़ेका ज्ञान होता है, कपड़ेका ज्ञान होता है, भले मानुषका, बुरे मानुषका ज्ञान होता है, वैसा अपना ज्ञान नहीं होता है। यहाँ अभ्यासका हेतु जो ज्ञान है, जिससे अभ्यास सुन्दर होता है और जिससे बढ़कर ध्यान है, वह अन्य वस्तुका ज्ञान है। अन्यके रूपमें परमात्माका ज्ञान है अथवा अन्यके रूपमें जगत्का ज्ञान है। ज्ञानरहित अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानयुक्त अभ्यास श्रेष्ठ है। और 'ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते'। केवल दूसरी वस्तुको हम जान लें-हम यह जानते हैं, यह जानते हैं, इससे अच्छा है कि अभ्यास करके उसका ध्यान करे लें। ध्यानसे भी बड़ा क्या है? तो सीधी बात तो यही आती है कि 'ध्यानात् कर्मफलत्यागः'। ध्यानसे कर्मफलका त्याग। ध्यान तो करें लेकिन ध्यानरूप कर्मका फल छोड़ दें। अच्छा उस बातको यदि छोड़ दें-चौथे नम्बरका सर्वकर्मफल-त्याग दें-तो इसमें-से भी, फलत्याग करनेसे तत्काल वहाँ कर्म ही शान्तिरूप बन जायगा।

आप विक्षेपमें भी शान्त रहेंगे यदि आप अपने कर्मका कोई फल नहीं चाहते हैं। शान्ति अगर प्राप्त

करना है तो फलकी वासना छोड़ देना जरूरी है। अब इस विराट् भगवान्का जो ज्ञानी, विवेकी भक्त है-उसके विषयमें कुछ कहना है। विवेक माने पृथक्करण-'विचिर् पृथग्भावे, विवेचनं विवेक:'। विवेक माने, दो चीजें एकमें मिल गयी हों तो उनको अलग-अलग करके, विश्लेषण करके, प्रयोगशालामें जैसे देख लेते हैं, इसमें क्या-क्या चीज है, वैसे देख लेना। भक्त चार तहरके होते हैं-यह बात पहले बतायी है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोर्जुन।
आर्तो जिज्ञासु अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 7.16

देखो, पापी लोगोंकी तो भगवान्में श्रद्धा ही नहीं होती है! किसने देखा है ईश्वरको?

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥ 7.15

एक शास्त्रार्थ-महारथी थे दिल्लीमें-माधवाचार्य। जिनकी पुस्तक 'क्यों?' बहुत प्रसिद्ध हुई। बम्बई गये। उनका व्याख्यान नर-नारायणके मन्दिमें हुआ। तो उन्होंने गीतापर जो अनुसन्धान किया था, उसको प्रकट किया। अनुसन्धान तो उनके बहुत अच्छे-अच्छे थे पर उनमें एक अनुसन्धान यह भी था कि गीतामें श्रीकृष्णने 108 गाली दी है। बोले इतने भले मानुष होकर-धर्मराज युधिष्ठिर जिनका इतना आदर करते थे, बड़े-बड़े महापुरुष आकर जिनके चरणोंमें प्रणाम करते थे, उनको यह गाली देनेका अभ्यास कहाँसे आगया? 'नराधम' को गाली ही तो बोलते हैं।

गीताप्रेसमें एक सज्जन थे, वे अपनेको अधम बोला करते थे। उन्होंने अपना नाम अधम रखा था। यदि देवधरजी कभी अधमाधम बोल देते तो वे चिढ़ते थे। और स्वयं अपने आपको अधम लिखा करते थे। उनका उपनाम अधम था। भगवान् स्पष्ट रूपसे कहते हैं कि जो मेरा भजन नहीं करते हैं वे दुष्कृति हैं, पापी हैं, मूढ हैं और नराधम हैं। मायाने उनका ज्ञान हर लिया है और वे आसुर भावको प्राप्त हो गये हैं। इस गालीसे बचना चाहो तो भगवान्की भक्ति करो-उन्होंने 108 गाली ढूँढी थी। उनमें आप लोगोकी दिलचस्पी नहीं होगी, यह मैं जानता हूँ। एक सज्जनने कोई कोश लिखा था-एक महिलाने उसका अध्ययन किया। अध्ययन करके उनको लिखा-आपने अपने कोशमें 144 अश्लील शब्दोंका प्रयोग किया। उन्होंने लिखा-धन्यवाद, आपकी दिलचस्पी अश्लील शब्दोंके अनुसन्धानमें इतनी अच्छी है-आओ, गन्दगीकी बातें छोड़ दें। जो भगवान्की भक्तिसे विमुख हैं, उनकी भगवान् निन्दा करते हैं और जो भगवान्की भक्ति करते हैं उनको पुण्यात्मा बोलते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन।

वे सुकृति हैं जो मेरा भजन करते हैं। और वे भजन करनेवाले चार प्रकारके होते हैं। 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ'। एक तो आर्त होते हैं, जैसे गजेन्द्रको ग्राहने पकड़ लिया। जो अभिमानी होता है उसको दुराग्रह पकड़ता है। अभिमानी आदमी दुराग्रही हो जाता है-आप जानते हैं-ज्योतिषियोंके ग्रह तो आसमानमें रहते हैं। व्याकरणमें ज्योतिषियोंका एक नाम खसूचि है। खसूचि माने आसमानके चुगलखोर। वे

धरतीकी ओर नहीं देखते। सातवें आसमानकी ओर देखते हैं। और जो अभिमानी होता है वह अपने हृदयमें आकर ग्रहोंको बसा लेता है। तो विग्रह, संग्रह, परिग्रह, उपग्रह, आग्रह ये सब ग्रह-राहु, केतु, शनैश्चर सब अभिमानीके दिलमें ही अपना काम करते रहते हैं।

यह आग्रह हृदयका ग्रह है-दुराग्रह अन्त:करणका ग्रह है। आसमानका नहीं है-हृदयाकाशका ग्रह है। यह अभिमानी गजेन्द्र और उसका दुराग्रह रूप जो ग्रह है, उसने उसके पाँवको पकड़ लिया-मुक्त नहीं होने देता था तो भगवान्‌ने पहले उसके दुराग्रहको आकर छुड़ाया फिर गजेन्द्रके अभिमानको तोड़ा। वह दुराग्रहके फन्देमें फँसकर आर्त हो गया था। द्रौपदी, दु:शासनके चक्करमें पड़ गयी। दुर्योधनकी सभामें आर्त हो गयी। भगवान्‌ने उसकी आर्त प्रार्थना सुनकर उसको मुक्त किया। जिज्ञासु उद्धव, आदि हैं, अर्जुन जिज्ञासु है और नारद, सनकादि ज्ञानी हैं। इनमें दोनों तरहके होते हैं! दत्तात्रेय आदि भी ज्ञानी हैं और सनकादि भी ज्ञानी हैं-कोई ज्ञानी होनेपर भक्त होते हैं, कोई ज्ञानी होनेपर स्वतन्त्र रहते हैं।

सर्वथा वर्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते। 13.23
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। 6.31

ज्ञानी स्वत्रंन्त्र है, उसकी रुचि हो तो भक्ति करे, न रुचि हो तो न करे। मधुसूदन सरस्वतीने 'च' शब्दका अर्थ-प्रेमीको भी ज्ञानीके अन्तर्गत मानना चाहिए ऐसा किया है। ये चार प्रकारके होते है। अब प्रश्न यह है कि बारहवें अध्यायमें जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च। निर्ममो निरहंकार: समदु:ख सुख: क्षमी'। (12.13) यह जो लक्षण बताया, यह आर्तभक्तका है कि जिज्ञासु भक्तका है कि अर्थार्थी भक्तका है? ध्रुव आदिको अर्थार्थी मानते हैं।

हमारे एक महात्मा कहते थे, कि जब श्रीकृष्ण विरह हुआ तब गोपियाँ आर्त हो गयीं। वह आर्त-भक्ति है और जब वे बन-बनमें घूम-घूमकर वृक्ष, लता आदिसे पूछने लगीं तब वह जिज्ञासु हो गयीं और जब गोपीगीतका उन्होंने गान किया तब अर्थार्थी हैं और जब भगवान् मिल गये तब वे ज्ञानी हो गयीं। गोपियोंमें ही चारों प्रकारकी भक्ति है। वे कहते थे, ऐसा अर्थ नहीं मानोगे तो आर्तके बाद अर्थार्थीका नम्बर आना चाहिए, जिज्ञासुका नहीं आना चाहिए। आर्तके बाद जिज्ञासु क्यों होना चाहिए? आर्तके बाद जिज्ञासु है, इसलिए गोपियोंके जीवनमें यह क्रम बैठ जाता है।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:

●

प्रवचन : 8

18-11-83

कल आपको सुना रहा था कि जो चार प्रकारके भक्त होते हैं, उनमें-से ये लक्षण केवल ज्ञानी-भक्तमें पूरी तरहसे रह सकते हैं। इसलिए यहाँ ज्ञानी-भक्तका लक्षण बताया गया है। दूसरे अध्यायमें कर्मकी प्रधानतासे स्थितप्रज्ञका लक्षण है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 2.64

राग-द्वेपसे रहित होकर संसारका सब व्यवहार करते हुए, मनुष्यको शान्ति प्राप्त हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। निश्चयका पक्का होना चाहिए और काम करता हुआ होना चाहिए। तेरहवें अध्यायमें जिज्ञासुका लक्षण बताया है। 'अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसाक्षान्तिमार्जवम्।' चौदहवें अध्यायमें विवेककी प्रधानतासे, ज्ञानकी प्रधानतासे, 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।' कहा गया है। वहाँ ज्ञानकी प्रधानतासे ज्ञानी पुरुषका वर्णन है। रात आये, दिन आये, रोशनी आये, प्रवृत्ति आये, मोह आये, ज्ञानी पुरुष ज्यों-का-त्यों अपने स्वरूपमें मगन। अठारहवें अध्यायमें जो साधक है, उसकी प्रधानतासे-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः॥ 18.51-52

ध्यानयोगीको कैसे रहना चाहिए यह बताया। बारहवें अध्यायमें भगवान् लक्षण तो ज्ञानीका ही बताते हैं परन्तु उसमें एक विशेषता जोड़ देते हैं।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं अहं स च मम प्रियः।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 7.17-18

अत्यर्थ प्रियः। 'अर्थम् अतिक्रान्तः' है। हमारे और हमारे भक्तके बीचमें कोई अर्थ नहीं है। बीचमें धन रख लिया, अब ग्राहक करता है दुकानदारसे प्रेम और दुकानदार करता है ग्राहकसे प्रेम। दोनोंके प्रेमके बीचमें अर्थ है। दुकानदार और ग्राहकका जो परस्पर प्रेम है वह बीचमें अर्थको रखकर है और भगवान् और ज्ञानीका जो प्रेम है वह अत्यर्थ है; अर्थका अतिक्रमण करके है। 'अहं स च मम प्रियः।' मेरे और ज्ञानी भक्तके बीचमें कोई धनदौलतका, कुछ लेने-देनेका सवाल नहीं है। वैसे ही ज्ञानी-भक्तका यह लक्षण है। क्योंकि वहाँ ज्ञानी-भक्त प्रिय है-यह बात बतायी और ज्ञानीका प्रिय मैं हूँ यह बताया। वही यहाँ लक्षणोंमें है-'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्रिय है। माने भगवान्ने अपनी प्रियताको विविक्त कर दिया। सबने प्रेम करते

हैं परन्तु सबसे साधारण प्रेम है और भक्तका जो प्रेम है वह विशेष प्रेम है। यह बात गीतामें जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसंग आया है-बिलकुल स्पष्ट कही है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 9.29

मैं सबके प्रति सम हूँ। मैं किसीसे द्वेष भी नहीं करता और किसीके प्रति मेरी आसक्ति भी नहीं है। परन्तु जो भक्तिके साथ मेरा भजन करते हैं, 'मयि ते तेषु चाप्यहम्'-मैं और वे एक हो जाते हैं। मुझमें वे, उनमें मैं। अब यहाँ 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' यह इसका सम है। यह नहीं कहते हैं-सब मेरे प्यारे हैं। यह परस्पर प्रेम है। एकांगी प्रेम नहीं है। भगवान् भी प्रेम करते हैं। खास करके हमारे भगवान् अपने भक्तके लिए रोते भी हैं। ऐसा भागवतमें वर्णन है।

रुक्मिणीके लिए श्रीकृष्णको नींद नहीं आती है। सुदामाके गले लगने पर श्रीकृष्णकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरते हैं। और *'पानी परातको हाथ छुयो नहीं-नैननके जलसे पग धोये।'* देखो हम नाम लेकर बोलते हैं- ऐसे भगवान् आर्यसमाजीके पास नहीं हैं जो अपने भक्तके लिए रोवें और तारे गिनगिनकर रात काटें। ब्रह्मसमाजीके पास नहीं है, पारसीके पास नहीं है, यहूदीके पास नहीं है। ऐसे भगवान् जो अपने भक्तके लिए रोते हों हमारे वैदिक धर्मके सिवाय और किसी मजहबमें नहीं हैं। होंगे निराकार, होंगे निर्गुण, होंगे न्यायकारी, होंगे सबके प्रति समान। जब तक भगवान् अपने भक्तका पक्षपात नहीं करेंगे तब तक उनकी भक्ति कोई क्यों करेगा?

ज्ञानी भक्तकी अब पहचान बताते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.13-14

ये दो श्लोक एकमें हैं। एकान्वयी हैं। संसारके किसी भी प्राणी या पदार्थसे भी जिसका द्वेष न हो वह अद्वेष्टा है। देखो द्वेष जिससे किया जाता है, उसकी कोई हानि हो कि न हो, सम्भव है हो जाय, सम्भव है न भी हो। सम्भव है द्वेषका विषय होकर वह वैराग्यवान् हो जाय। ऐसा भी सम्भव है कि संसारमें द्वेषका विषय होनेके बाद वह सोच ले कि संसारमें कोई प्रीति करनेवाला नहीं है। अब तो हम भगवान्से ही प्रीति करेंगे। वैराग्य भी हो सकता है, द्वेषका पात्र होनेपर, भगवान्से प्रेम भी हो सकता है, जिज्ञासाका भी उदय हो सकता है। जिससे द्वेष किया जाता है उसकी हानि नहीं होती। जो द्वेष करता है, उसकी हानि होती है।

ज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो द्वेषः।

द्वेष किसको कहते है? अपने हृदयमें जलन होती है। कोई-कोई चीज देखकर भी किसीको जलन होती है। आदमी देखकर होती है, पशु देखकर होती है, पक्षी देखकर होती है। पेड़-पौधा देखकर होती है।

किसी-किसीका स्वभाव ही जलनका होता है। पित्तकी अधिकतासे भी द्वेष होता है। भक्त वह है, जिसके दिलमें कभी, किसीके लिए आग नहीं जलती।

अब पहली बातके साथ इसका मिलान कर लो। आग जहाँ जलती है, पहले उसको जला देती है फिर दूसरेको जलाती है। यदि हमारे हृदयमें किसीके प्रति द्वेष होगा तो हमारा हृदय जलता रहेगा और इसमें एक मूर्खता, एक अन्धता यह आती है कि द्वेष होता है किसीसे और हम बरस पड़ते हैं किसीके ऊपर। कहते हैं-'ठोकर लगी पहाड़में फोड़ी घरकी सील।' पिटकर आते है कहींसे, गाली सुनकर आते हैं कहींसे, चिढ़कर आते हैं कहींसे और जहाँ सोचते हैं कि अब यह तो कुछ जवाब देनेवाला नहीं है, उसीके ऊपर बरस पड़ते हैं। ऑफिसमें पिटकर आवेंगे, पत्नीपर नाराज होंगे और पत्नी अगर तेज निकली तो बच्चेपर नाराज हो जावेंगे। इतना मूर्ख बनाती है द्वेषरूपी यह आग, दिलमें जलनेवाली आग।

'सर्वभूतानाम्' कहनेका अर्थ यह है-'भवन्ति इति भूतानि सर्वाणि च तानि भूतानि-सर्वभूतानि, तेषां सर्वभूतानाम्'-जो भी पैदा हुई चीज है वह भूत है। ज्ञानीजी महाराजको सावधान रहना चाहिए कि ये दृश्य कहकर, उत्पन्न कहकर, विनष्ट कहकर कहीं दुनियासे द्वेष न करने लगें। घृणा न हो किसीसे, ग्लानि न हो किसीके प्रति और जब मनमें द्वेष आ जाता है तो वह तो संस्कारके रूपमें रहता है, लेकिन जब वृत्तिमें आता है तब उसका नाम क्रोध हो गया और जब इन्द्रियोंमें उतर आया, क्रोधमें आकर बोलने लगे या मारने लगे तब मारनेवाले ऐसा करते हैं कि कभी अपना बाल नोचने लगते हैं। आपलोगोंने ऐसा क्रोध देखा है कि नहीं! हमने देखा है। अपना ही सिर पटक देते हैं पत्थरकी दीवार पर। क्रोध जब क्रियामें आता है तो उसका नाम हिंसा हो जाता है और वह जब सार्वजनिक रूप धारण करता है तब विद्रोह हो जाता है।

यह द्वेषका वंश है। द्वेषका बेटा क्रोध, क्रोधकी बेटी हिंसा-हिंसाका बेटा विद्रोह। यदि जीवनमें द्वेष आगया तो आदमी स्वयं जल जायगा। इसलिए जिस हृदयमें भगवान्‌को रहना है या देखना है, उसमें पहलेसे ही तकलीफ पाले रहते हैं! जब हम किसीसे द्वेष करते हैं, तब हमारे प्यारे भगवान्, हमारे प्रेमी भगवान् जो हमारे हृदयमें रहते हैं उनको हमारे द्वेषकी आँच लगती है। लेकिन फिर भी वे सहते रहते हैं, छोड़कर जाते नहीं हैं। चले थे भगवान्‌की सेवा करने और दुःख पहुँचाने लगे। सबसे पहली बात ध्यानमें रखनेकी है कि हमारे हृदयमें कोई ऐसी चीज न रहे कि हमारे हृदयमें विराजमान जो भगवान् हैं, वे उसे देखकर दुःखी हों। वह दुःखी हो जायँ ऐसी कोई चीज हमारे दिलमें नहीं रहनी चाहिए। हमारे घरमें अच्छा मेहमान आता है तो रास्तेकी भी सफाई कराते हैं। श्रीहरिबाबाजीका कहीं जाना होता था तो उस गाँवके लोग मीलों तक रास्ता साफ कर देते थे। बाँधकी, मकानकी मरम्मत हो जाती थीं। घरमें सफाई हो जाती थी और हमारे घरमें भगवान् रहें और हम अपने दिलको साफ न रखें-यह कितने दुःखकी बात है। रोज पढ़ते हैं-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। 18.61

ईश्वर रहता हृदयमें है। किसीके प्रति द्वेष न हो। यह बात तो दूसरे धर्मोंमें भी होती है। यह सर्वमान्य है। यह बात इन्होंने आगे बढ़ायी। केवल किसीको दुःख न पहुँचाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, अपने

हृदयमें मित्रताका भाव होना चाहिए। मित्र शब्दकी जो संस्कृतमें धातु है वह है 'मिदा स्नेहने' 'मेद्यति इति मित्रम्'। जो स्नेहसे तर कर दे। और उस मित्रका जो भाव है, उसको बोलते हैं 'मैत्री' और उस भावसे सम्पन्न व्यक्तिको बोलते हैं 'मैत्र'। सबके प्रति हमारे हृदय में स्नेह हो। पौधेको भी सूखने न दें। धरतीपर चलें तो स्नेहसे चलें। धमाधम-धमाधम धरतीको पीटते हुए नहीं चलना चाहिए। बोले तो इतनी सावधानीसे बोलना चाहिए कि किसीके कानमें उसकी चोट न लग जाय। क्योंकि जो हम शब्द बोलते हैं वह कानोंसे झिल्लीमें जाकर टकराता है। तो अधिक जोरसे न टकरावे।

बम्बईमें एक बाजार है वहाँ बहुत करके मारवाड़ी लोग ही होते हैं, इतना चिल्लाते हैं कि वहाँ खड़ा होना मुश्किल। लिया-लिया, दिया-दियाके शोरसे कान गूँजता रहता है। यह व्यापार तो इशारेसे करनेका है। लिया-दिया भी व्यापार इशारेसे होता है। दूसरेसे कानमें चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। 'मैत्रः'-देखो स्नेहसे-बोलो स्नेहसे, चलो स्नेहसे। खाटपर बैठे और ऐसे धमसे बैठे कि टूट ही गयी। खास करके हमारे जैसा वजनदार हो तो बहुत ही डर है। बिस्तर लेकर झाड़ दिया। किसकी आँखमें उसकी धूल पड़ रही है, इसका कोई ध्यान नहीं है। पंखा करते हैं तो स्नेहसे-हमको कई लोग पंखा करते हैं-तो हमको लग रहा है-यह भी भूल जाते हैं और पासमें बैठे आदमीकी आँखमें लग रहा है यह भी भूल जाते हैं। 'मैत्र' का अर्थ है-हमारी चलन, हमारी बोलन, हमारी करनी, हमारी रहनी सब स्नेहसे तर हो।

'मैत्र' चुन-चुनकर स्नेह नहीं करता है, जो अपने सम्पर्कमें आवे उसको एक गिलास पानी पिलाकर भेजो, प्यारसे अपनेसे ऊपर बैठा लो, हाथ जोड़ लो। उसको घी मत खिलाओ, दूध मत पिलाओ पर अपना स्नेह तो दो। यह घी, दूध, दही, मक्खन, रबड़ी, मलाईसे बड़ी चीज है। यह सब बाहरकी चिकनाई हैं। अपने दिलका स्नेह दो जो तुम्हारे पास आवे। पहले सन्ध्यावन्दनके समय एक मन्त्र पढ़ते थे। अब तो सुनते हैं-सन्ध्यावन्दनकी पुस्तकमें-से लोगोंने इसको निकाल दिया।

'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां-मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजुर्वेद 36.18)।

सन्ध्या-वन्दनका यह मन्त्र पढ़ते थे। आप सब लोग मित्रके नेत्रसे सबको देखिये। मैं मित्रके नेत्रसे देखता हूँ और हम सब लोग मित्रके नेत्रसे देखते हैं। आपका कोई दुश्मन नहीं है। 'अब हम कासों बैर करौं'। कोई आपको नुकसान पहुँचानेवाला नहीं है। आप जो नुकसानका ख्याल करते हैं वह आपका नुकसान नहीं है। उसमें आपका फायदा है। समयपर मालूम पड़ता है-अच्छा हुआ। कभी-कभी तो किसीका मरना भी, बादमें मालूम पड़ता है कि इसमें क्या लाभ था, इसमें क्या हित था। 'करुण एव च'। अब योग-दर्शनकी दृष्टिसे मिलावें-तो द्वेष तो किसीसे नहीं करना; लेकिन किसीको सुखी देखो तो ईर्ष्या हो जाती है, स्पर्धा हो जाती है, डाह हो जाता है।

बोले-नहीं, सुखीके साथ मित्रता करो। जो भी सुखी हो रहा है, वह तो हमारा मित्र है, उसके सुखमें हमारा सुख है। दुनियामें कोई भी सुखी है तो हमारा भाई सुखी है-हमारी बहन सुखी है-हमारा पिता सुखी है,

हमारा पुत्र सुखी है। दुनियामें कोई भी सुखी हो, उसके प्रति मित्रताका भाव करके उसके सुखको अपने अन्दर ले लेना। सुखीको देखकर स्वयं सुखी हो जाना और दु:खी मिले तो-'करुण एव च'। सामान्यके प्रति 'अद्वेष', सुखीके प्रति 'मित्रता' और दु:खीके प्रति 'करुणा'। योग दर्शनमें ऐसे है-मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणाम्' (1.33)। करुणा माने हृदय-इसमें जो कठोरता है-दु:खीको देखकर द्रवित हो जाय। हमारे योगियोंके योगसे यह वड़ा योग है। 'स योगी परमो मत:' गीतामें ही है-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन:।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत:॥ 6.32

परम योगी है। आँख बन्द करके जो समाधिमें बैठा है वह तो योगी है और जो दु:खीको देखकर उसके साथ एक हो गया और यथाशक्ति, यथाबुद्धि, उसके दु:खको दूर करनेका प्रयास करता है वह तो परम योगी है। योगी गुफामें बैठा हुआ नहीं है, आँख बन्द किये हुए नहीं है। सड़कपर चलता हुआ सर्वत्र- 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समम्'-रास्तेमें चलते हुए समान देखता है।

मैंने सुना है कोई अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट थे। वह अपने स्वागतके लिए जा रहे थे। रास्तेमें देखा कि कोई आदमी कीचड़में फँस गया है। मोटर रोककर स्वयं उतर पड़े और जाकर उसको कीचड़से निकाला। उनके शरीरमें कीचड़ लग गया। जब स्वागत-सभामें जाने लगे, तो द्वारपालोंने रोक दिया। राष्ट्रपतिका स्वागत हो रहा है। आप इसमें कैसे जा सकते हैं? फिर वे लौटकर गये, कपड़े बदलकर आये और जब स्वागत होने लगा तो उन्होंने बताया कि आप लोग कपड़ोंका स्वागत कीजिये, मेरा स्वागत मत कीजिये। आप कपड़ोंके प्रेमी हैं, मनुष्यके प्रेमी नहीं हैं।

वाल्मीकिरामायणके पहले-दूसरे अध्यायमें अयोध्याकाण्डमें रामचन्द्रजीके गुणोंके एक सूची है। आप लोगोंको कभी मनुष्यके जीवनमें कितने गुण होने चाहिए, यह देखनेका यदि शौक हो, तो रामचन्द्र कैसे वोलते हैं, कैसे चलते हैं, कैसे मिलते हैं, ब[illegible] कैसा व्यवहार करते हैं, मेरा ख्याल है 70-80 गुणोंकी एक साथ लिस्ट इस अध्यायमें बनी हुई है। दशरथजीने जब प्रस्ताव किया कि रामको युवराज बना दें, तो प्रजाने जयजयकार किया। सबने अपनी राय दे दी! अब दशरथजीने प्रश्न कर दिया कि तुम लोगोंने हमारी हाँ-में-हाँ मिलानेके लिए यह स्वीकृति दी है कि सचमुच राममें कोई ऐसी विशेषता है?

उस समय प्रजाने भी और दशरथने भी रामचन्द्रके गुणोंका वर्णन किया है। दु:खीको देखकर दु:खीसे भी ज्यादा दु:खी हो जाते हैं। कहते हैं-यह जो दु:खी है यह मेरी वजहसे दु:खी है। अगर मैं इसका ध्यान रखता तो यह दु:खी क्यों होता? दु:खी होनेमें दोष दु:खी होनेवालेका नहीं है, दु:खी होनेमें दोष मेरा है- ऐसा रामचन्द्र मानते थे। आओ-

निर्ममो निरहंकार: समदु:खसुख: क्षमी।

मित्रता करो, करुणा भी करो लेकिन जिससे मित्रता करो, जिसपर करुणा करो, उसको भगवान्‌का ही समझो, अपना मत समझ बैठो। नहीं तो राजा भरतकी जैसी हरिणमें आसक्ति हो गयी थी, वैसे हो जायेगी।

'निर्मम'-मम-मम-मम-मेरा-मेरा-मेरा-ऐसा 'मेरा' दिमागमें चढ़ा रहता है। अभी हम एक बालकका वर्णन करें जिसको हमने कहीं देखा था। कई लोगोंके मनमें अपने बालककी याद आजावेगी। और यदि उसे बोलनेका मौका होता है तो उसका वर्णन करना शुरू कर देता है। किसी लड़कीका वर्णन करें-झट वह अपनी लड़कीका वर्णन शुरू कर देता है। हमको तो चुप हो जाना पड़ता है। ममता-ममता-ममता--'निर्मम' तो गीतामें बहुत जगह है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 2.71

ममता सुखसे, शान्तिसे बैठने नहीं देती। ममता तू न गयी मेरे मनसे। ममता बहुत दुःख देती है। करुणा करो, मैत्री करो, स्नेह करो सबसे, मिलो-जुलो सबसे, लेकिन मेरा-मेरा मत करो। देखो, यह धरती है, जब हमलोग नहीं थे तब भी थी, और नहीं रहेंगे, तब भी रहेगी। हीरा है, मोती है, सोना है, चाँदी है, हमलोग नहीं थे तब भी थे और हमलोग नहीं रहेंगे तब भी रहेंगे। वे हमको मेरा कभी नहीं कहते हैं। हम ही उनको मेरा कहकर फँस जाते हैं।

यहाँ एक जयदयालजी कसेरा थे-उनके सम्बन्धी यहाँ बैठे हैं। तो कहते थे-पण्डितजी! (मैं उन दिनों संन्यासी नहीं था) हमको आधा ब्रह्मज्ञान हो गया है। कसेराजी, आधा ब्रह्मज्ञान कैसा होता है? आधा ऐसा होता है कि ज्ञानमें दो चीज होती है-सब चीजको अपनी समझना और अपनी चीजको सबकी समझना। तो मुझे आधा हो गया! सबकी चीजको अपनी समझता हूँ, यह तो आधा हो गया। पर अपनी चीजको सबकी नहीं समझता हूँ। यह आधा अभी बाकी है। जल्दी क्या है? इस जीवनमें नहीं, अगले जीवनमें सही! इसकी कोई जल्दी नहीं है। बहुत हँसाते थे।

एकबार हमलोग तीन महीने उनके साथ रहे। ट्रेनमें यात्रामें गये थे। एक ही डब्बेमें एक बर्थ हमारी थी एक उनकी। अपने सुना हो कि न सुना हो, यहीं सड़क पर उनके बेटेका एक्सीडेण्ट हो गया। पुलिसने जब उनको फोन किया तो उन्होंने पूछा—जिन्दा है कि मर गया? पुलिस बतानेमें घबड़ाती थी। तब बोले कि साफ-साफ बताओ—जिन्दा है तो अस्पताल चलनेकी सामग्री हम लेकर आवें और यदि मर गया तो हम लोगोंको कहकर उसको श्मशान लें चलनेकी तैयारी करें। साफ-साफ बताओ। और वे जब लार्ड साहबके पास भी गये तो ऐसे ही बोलने लग गये—'जयराम हरे, सुखधाम हरे'। किसीने कहा—अरे यहाँ ऐसे बोलते हो! उन्होंने कहा—यह रामका दरबार है, रावणका दरबार थोड़े ही है। बड़े बेफिक्र थे—दुःखकी स्थितिमें भी मस्त रहते थे। आदमीको अपना मन ही तो बनाना है।

'निर्ममो निरहंकारः।' अहंकार-बाहरी चीजोंका अहंकार होता है वह तो झूठा है ही, विद्या है, बुद्धि है, जाति है, धन है—ऐश्वर्य माने हुकूमत है, झूठा अहंकार है सब-का-सब। अपनी विद्या भी समय पर साथ नहीं देती है। बुद्धि भी साथ नहीं देती है। धन भी साथ नहीं देता है। आप लोग बुरा मत मानना—हम ऐसे अरबपतिको जानते हैं, जब उनकी छातीमें दर्द हुआ तो न पत्नी थी, न भाई थे—नौकर भी नहीं था। उन्होंने

स्वयं फोन उठाकर कहा तो डॉक्टर आ गया पर कार्डियोग्राम भी नहीं हुआ। और शरीर पूरा हो गया। उनके पास बड़ा धन, बड़ी सम्पदा, बड़े सेवक, बड़ी प्रतिष्ठा, परन्तु जब छातीमें दर्द हुआ तो कोई काम नहीं आया। सावधान रहनेकी चीज है।

हम किस बातको लेकर अहंकार करते हैं। इसका जो सबसे सूक्ष्म रूप है वह यह है कि और सबमें अहंकार है और मैं निरहंकार हूँ। और तो सब अहंकारी हैं, अभिमानी हैं—मैं ही एक ऐसा हूँ जो निरभिमानी हूँ। यह अपने आपको जैसे हम अपनी आँखसे नहीं देख सकते, वैसे ही है। आपने अपनी आँखकी पुतली कभी देखी है? आपकी आँखकी पुतली सबको देखती है, पर आँखकी पुतली शीशेमें देख सकते हैं, पर ऐसे नहीं देख सकते। न आँखसे आँख दिखती है। अपनी दिखने वाली आँख ही अपनेको नहीं देख पाती। यह अभिमान जो है—यह सबको अभिमानी देख सकता है, लेकिन अपनेको अभिमानके रूपमें नहीं देख सकता। यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा हो तब ममता और अभिमान छूटता है।

एक बात आपको सुनाते हैं—अहंकार जो है यह एकदम पिशाच जैसा है। इस ठूँठमें रहता है। हमारी समझमें नहीं आता है, कैसा है? जो लोग सोचते हैं कि अहंकार छूट जायगा तब ममता छूटेगी, वह गलत समझते हैं—ममता अहंकारके अधीन रहती है। जब पहले ममता निवृत्त होती है तब ममतावाला अहंकार निवृत्त होता है। अहंकार निवृत्त होनेपर क्या होता है? 'समदु:खसुख:'—यह सुख आकर अहंकारको फुलाता है—और दु:ख आता है तो यह अहंकार सूख जाता है। जो सुख और दु:ख दोनोंमें न फूले, न पटके—न सुखमें सूजन आवे—न दु:खमें सूखना आवे। दु:ख और सुख गीताका खास शब्द है और सभी लक्षणोंमें आता है। चाहे भक्तका लक्षण हो, ज्ञानीका लक्षण हो, स्थितप्रज्ञका लक्षण हो!

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। 2.15

सुख आया तो दिनकी तरह आया। दु:ख आया—रातकी तरह आया। रात भी आती है हमें विश्राम देनेके लिए, सुख देनेके लिए। ये दोनों हमारे जीवनको गढ़ते हैं। जैसे गरमी और सरदी, रात और दिन हमारे जीवनके लिए दोनों आवश्यक हैं—इसी प्रकार जीवनमें सुख-दु:ख दोनों भगवान्‌ने बनाया है।

यह तो जीवनका एक सहज रूप है कि इसमें कभी दु:ख आवे कभी सुख आवे। इस सहज गतिको कोई रोक नहीं सकता है। इसलिए हमेशा इसके लिए तैयार रहना चाहिए। और 'क्षमी'—आजकल तो हिन्दीमें एक सक्षम शब्द है। पता नहीं कहाँसे आया? संस्कृतमें भी सक्षम शब्द है पर वह क्षमावान्‌के लिए है। 'क्षमया सहित: सक्षम:'। और 'क्षम' तो होता है समर्थ। यह इस काममें अक्षम है ऐसा बोलते हैं, उसका अर्थ होता है—असमर्थ। लेकिन 'क्षम' बोलना होता है तो उसके साथ 'स' जोड़ देते हैं। वह भाषाकी प्रकृतिसे मेल नहीं खाता। सशक्त बोल सकते हैं। अब देखो—'क्षमी'का अर्थ है—यदि दूसरा कोई अपराध करे तो—बोले क्षमा कर देंगे। स्वयं अपराध करना नहीं—अपराध करना तो क्षमा माँग लेना, दण्ड भोग लेना, पश्चाताप कर लेना, प्रायश्चित कर लेना—स्वयं! लेकिन दूसरेसे कोई अपराध हो जाय तो 'क्षमा शान्ति:'।

अपनेमें शान्तिका बड़ा रूप है। अपनेमें शान्ति, अपराधीके प्रति जो क्षमा है, वही वास्तवमें क्षमा है। जो उपकार करनेवालेके प्रति भले मानुष है; उसका भले मानुष होना कोई गुण नहीं है। जो अपकार करनेवालेके प्रति सज्जन है वही असलमें सज्जन है। 'क्षमी'—यह ज्ञानी भक्तका जीवन है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

हम उदाहरण देकर बहुत-सी बात बता दें, पर अभी सात श्लोक हैं। हमेशा सन्तुष्ट रहो, खुश रहो—अमुक चीज मिलेगी तब हमको सन्तोष होगा ऐसा नहीं—स्वभावसे ही सन्तुष्ट रहो। धन मिलनेपर सन्तोष हो, भोजन मिलनेपर सन्तोष हो, इज्जत मिलने पर सन्तोष हो। सन्तोषको पराधीन मत बनाओ—स्वाधीन रखो। हमारा सन्तोष हमारे दिलमें हमेशा बना रहे। सन्तोषसे सन्त होता है, सन्त हो जाओगे। 'सन्तोषवन्तः खलु भाग्यवन्तः'। जीवनमें सन्तोष है वही भाग्यवान् है। नहीं तो प्यासा है, भूखा है, कंगाल है, इधर-उधर भटक रहा है।

'सन्तुष्टः सततम्'। सतत माने लगातार—हमेशा सन्तोष ही सन्तोष रहे। ऐसा कैसे होगा? बोले—योगी, भगवान्के साथ जुड़े रहो। भगवान्के साथ रहोगे—इससे बड़ी चीज हमें क्या मिलेगी जिससे हम सन्तुष्ट होंगे। देखो, हम हैं—हमारी सत्ता सन्तोषका हेतु होनी चाहिए। हम जानते हैं—हमारा होश-हवाश सन्तोषका हेतु होना चाहिए। योगी यह भूल जाता है—यतात्मा होकर प्रयास करो। इसमें हेतु-हेतुमद्भाव है—व्याख्यानकी यह पद्धति है। एकको पूरा करनेके लिए दूसरी बात कही जाती है।

प्रयास करो। प्रयास नहीं होता—अरे भाई निश्चय करो। जरा पक्का निश्चय करो कि हम प्रयास करेंगे। प्रयास करोगे, तो योग होगा—योग माने प्राणायाम करना नहीं—भगवान्के साथ जुड़े रहना, मिले रहना—और भगवान् आपके घरमें हैं जब, तो इससे बढ़कर और कौन-सी चीज आवेगी जिससे आपको सन्तोष मिलेगा। इससे बड़ी चीज दुनियामें मिलेगी? आप अमर हैं, आप ज्ञानस्वरूप हैं, आप परमानन्दरूप हैं, पूरी ईश्वरता आपके हृदयमें निवास करती है। निश्चय करो। निश्चय पक्का कब होगा?

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पित कर दो। अर्पित कर दो का अर्थ क्या है? जैसे एक सोनेका पत्र है। उसमें मूर्तियाँ उभार दीं। यह महल है, यह मन्दिर है, इसमें देवता है, यह है सोना, यह गाय है, यह कुत्ता घूम रहा है। तत्त्वदृष्टिसे सब सोना है और मूर्तियाँ उसमें अलग-अलग उभारी गयी हैं—ठप्पेसे उभारी गयी हैं या गलाकर उभारी गयी हैं या पीटकर उभारी गयी हैं—है सब सोना।

आपको जो मन है, आपकी जो बुद्धि है, आपका जो जीवन है, ये भगवान्‌रूप स्वर्णमें घटित है—अर्पित है—पहलेसे ही अर्पित है। अक्षत लेकर, कुश लेकर भगवान्‌को अर्पण नहीं किया जाता है। यह तो भगवान्‌का है। यह बोध है कि हमारा जीवन भगवान्‌के जीवनसे, उनके ज्ञानसे, उनके आनन्दसे, उनके ऐश्वर्यसे हमारा जीवन बिलकुल अलग नहीं है। 'मय्यार्पितमनोबुद्धिः'—ऐसा जो मेरा भक्त है—ज्ञानी है, भक्त है वह मेरा प्रिय है।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। 7.17
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

बड़ी मुश्किलकी बात है। और यही एक श्लोक ऐसा है जो ज्ञानी हुए बिना जीवनमें घटित नहीं हो सकता। यही श्लोक शंकराचार्य पकड़ते हैं—यह लक्षण अज्ञानीमें कैसे आ सकता है? यदि वह साक्षी नहीं है, यदि वह ब्रह्म नहीं है, यदि वह सर्वात्मा नहीं है तो यह लक्षण किसी व्यक्तिका लक्षण कैसे हो सकता है? 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'—जिससे दुनियामें किसीको उद्वेग नहीं होता। 'लोकान्नोद्विजते च यः'—जो दुनियामें किसीसे उद्विग्न नहीं होता, जो किसीको भय, घबराहट, उद्वेग देता नहीं है, और जो किसीसे भय, उद्वेग, घबराहट लेता नहीं है।

एक टीकाकारने लौकिक उदाहरण दिया है। बड़ा भयंकर समुद्र है। उसमें उत्ताल तरंगें उठ रही हैं और उसमें बड़े-बड़े मीलों लम्बे मगर हैं। लेकिन मगरसे समुद्र नहीं डरता है कि हमको खा जायगा और समुदसे मगर नहीं डरता है कि मैं इसमें डूब जाऊँगा। यह तो भगवद्-रूप समुद्र है, इसमें जीव रहता है। न जीवको भगवान्से डर है, न भगवान्को जीवसे डर है। दोनों एक है—ऐसा उन्होंने लिखा है। इसमें मुश्किल क्या है? हम किसीसे उद्विग्न न हों, यह तो हम साधनाके द्वारा अभ्यासके द्वारा, भगवद्-भक्तिके द्वारा, अपने जीवनमें ला सकते हैं कि हमारे इस नन्हेंसे दिलमें—उद्वेग न आने पावे, उछाल न हो। यह तो हम कर सकते हैं। पर हमसे किसीको उद्वेग न हो यह कैसे हो सकता है? दूसरेको हम उद्विग्न होनेसे कैसे बचा सकते हैं?

कुछ टीकाकारोंने संस्कृत व्याकरण लगाया—'यस्मात् नोद्विजते लोको'—'यस्मात् हेतुभूतात् लोको न उद्विजते'। जो स्वयं जान-बूझकर लोगोंके उद्वेगका कारण नहीं बनता है, माने जान-बूझकर लोगोंको उद्विग्न नहीं करता है, ऐसा अर्थ है। और किसीसे उद्विग्न नहीं होता। किसीसे उद्विग्न न होना यह तो सरल है। पर हमसे किसीको उद्वेग न पहुँचे, इसका उपाय क्या है? तब शंकर बोलते हैं—भाई! जब अपनेको साक्षीरूपमें, ब्रह्मरूपमें सबके आत्माके रूपमें अनुभव करोगे तो साक्षीसे किसीको उद्वेग नहीं होगा, ब्रह्मसे किसीको उद्वेग नहीं होगा। इसलिए ज्ञानी भक्तोंमें ही यह लक्षण आ सकता है। अज्ञानी भक्तोंमें यह लक्षण नहीं आ सकता।

यस्मान्नोद्विजतेलोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 12.15

भगवान् बोलते हैं—मैं किससे प्यार करता हूँ? भगवान्का प्यारा—मरनेके बाद! नहीं, जिन्दा ही! मरनेके बाद भगवान्का प्यारा होता है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं है। यह तो जिन्दा रहते ही भगवान्का प्यारा बनता है। और भला कौन ऐसा होगा जो यह न चाहे कि भगवान् हमारे प्रेमी हो जायँ। भगवान् प्रेमी होते हैं, तो बड़े मजेदार प्रेमी होते हैं।

भगवान् कहते हैं कि मैं तो अपने भक्तके पीछे-पीछे चलता हूँ कि उसके पाँवकी धूल मेरे ऊपर पड़

जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ! अरे प्रभु, तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या अपवित्रता आगयी कि पवित्र होनेके लिए भक्तोंके चरणोंकी धूल अपने लिए चाहते हो! क्या अपवित्रता है? बोले हैं भाई—हमारे अन्दर एक अपवित्रता है—वह क्या है? कोई भक्त मुझसे प्रेम करता है तो वह सिर्फ मुझसे ही प्रेम करता है। और मैं ऐसा बहुवल्लभ हूँ कि जो भक्त मेरे सामने आता है उससे मैं यही सहता हूँ, तुम मेरे प्यारे हो! हमारा भक्त तो सचमुच हमसे प्रेम करता है, लेकिन मैं किसी एक भक्तसे नहीं करता। भक्त तो अनन्य हो जाते हैं पर मैं अनन्य नहीं होता। मेरी गलती है भाई! मेरे प्रेममें थोड़ा कपट, थोड़ी माया मिली हुई रहती है, इसलिए मैं सोचता हूँ चुपकेसे इसकी चरणकी धूल ले-लें तो पवित्र हो जायँ।

भक्त कौन? 'स च मे प्रियः'। भगवान्‌का प्यारा कौन? बोले जो दुनियाकी चीजोंको पाकर हर्षसे फूल नहीं जाता। जब आदमीको दुनियाकी चीज मिलनेपर खुशी होती है तो उसको दर्प हो जाता है। और जब दर्प हो जाता है तब वह धर्मका उल्लंघन करने लगता है कि हमारा कोई क्या करेगा? कई लोग विदेशसे आते हैं तो बड़े गौरवके साथ वर्णन करते हैं—वहाँ हमने अपना रात्रि-जीवन ऐसा व्यतीत किया, यह खाया, यह पिया, यह किया। बड़े गौरवके साथ। वे सोचते हैं कि हम कहेंगे तो लोग जानकर भी हमारा क्या बिगाड़ेंगे? यह दर्प है। पाप भी किया, बुरा भी किया और उसका दर्प भी प्रकट करते हैं। ऐसे दर्पवान् लोग जो हैं वे धर्मका अतिक्रमण करते हैं। हर्ष-अमर्ष- किसीके साथ चिढ़ नहीं होनी चाहिए। कोई कैसा भी हो, अपने दिलमें चिढ़ क्यों रहे हो? 'अमर्ष' माने असहिष्णुता—मर्षणकी अयोग्यता। और भय, किससे डरें? बाबा, जिसका रक्षक कोई न हो डरा करे। 'मोरे सँया भये कोतवाल—अब डर काहेका?' हमारे स्वामी तो भगवान् हैं; अब हम डरें किससे? हर्ष-अमर्ष, भय और उद्वेग—इनसे जो मुक्त रहता है, भगवान् कहते हैं मैं उनसे प्रेम करता हूँ। नहीं तो मैं उसका प्रेमी बनकर उसके पीछे-पीछे घूमूँ और वह दुनियाकी चीजोंको ले-लेकर खुश होता रहे! मैं उससे प्रेम करूँ और वह किसीसे चिढ़ता रहे! मैं उससे प्रेम करूँ और वह किसीसे डरता रहे? मैं किसीसे प्रेम करूँ और वह उद्विग्न रहे?

बाबा, हाथ जोड़ा—ऐसे लोगोंसे हम प्रेम नहीं करते! वे तो अपने प्रेमीको दुःख पहुँचायेंगे, सतायेंगे। जो इनको छोड़ देता है वह मेरा प्रिय होता है, मैं उसका प्रेमी होता हूँ, उससे प्रेम करता हूँ।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

●

प्रवचन : 9

19-11-83

भक्तके हृदयमें कोई उद्वेग नहीं रहता है। उद्वेग, घबराहट—ऐसी हूल उठती है जैसे दिल कलेजेसे बाहर हो जाय। हूल उठती है—भीतरका एक वेग जैसे कलेजेमें-से निकलकर मुँहके रास्ते बाहर जाना चाहता है। हम तो जानते नहीं उस शब्दका अर्थ क्या होता है—आजकल लोग आकर कहते हैं कि उनको 'डिप्रेशन' हो गया है। हम तो 'डिप्रेशन' का मतलब नहीं जानते हैं। भक्त यदि संसारी कारणोंसे उद्विग्न होगा, तो भगवान्‌का विस्मरण तो हो ही जायगा—याद तो छूट ही जायगी, लेकिन हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की ओर पीठ भी हो जायेगी। भगवान्‌का अपमान भी हो जायगा।

इसलिए किसी भी कारणसे अपने हृदयमें उद्वेग नहीं आने देना चाहिए और न तो दूसरेको उद्विग्न करना चाहिए, क्योंकि फिर उसको भी भगवान् भूल जायेंगे, विमुख हो जायगा भगवान्‌से। उसके द्वारा भी भगवान्‌का एक प्रकारसे अपमान, तिरस्कार ही होगा।

जब अपने घरमें भगवान् बैठे हों तो दूसरे कारणसे हर्ष होना, उद्विग्न होना, डरना, चिढ़ना क्यों होगा? मालिकके सामने सावधान रहकर उसकी सेवा ही करनी चाहिए। यह बात मालूम होनी चाहिए कि हमारे हृदयमें वह बैठा हुआ है, तब भगवान् बहुत प्रेम करते हैं। देखो, दुनियामें यह आया, खुशीका काम आया और यह तो मुझको देख रहा है। उद्वेगका हेतु आया और यह तो मुझे देख रहा है। चिढ़नेका कारण उपस्थित हुआ, परन्तु यह तो मुझे देख रहा है। भयका कारण उपस्थित हुआ, परन्तु यह तो मुझे देख रहा है। हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगसे मुक्त होकर जो भगवद्भावसे भावित रहता है, भगवान् उससे प्यार करते हैं। चाहते तो सभी हैं कि भगवान्‌का प्रेम हमें प्राप्त हो, परन्तु भगवान्‌से सेवा लेनेके लिए भगवान्‌का प्यार चाहते हैं। तुम हमसे प्रेम करो, यह भगवान्‌के साथ पहली शर्त है—हम करें कि न करें—और फिर तुम हमारी सेवा करो—जो हम कहें सो ही करो—जो हम चाहें सो ही करो।

हम ईश्वरके साथ एक बढ़िया नौकरका व्यवहार करना चाहते हैं। जैसे नौकरको देते हैं, लेते हैं, खुश रखते हैं, और चाहते हैं कि यह हमारे मनका काम करे। यह तो कोई भगवान्‌की इज्जत नहीं है, कोई सम्मान नहीं है। और भगवान् काम भी करते हैं तो वे हृदयकी अपेक्षासे ही करते हैं। जिसके हृदयमें भगवान् बैठे हैं, उस हृदयमें जो भगवान्‌की ज्योति जगमगा रही है, जो उनकी छवि छलक रही है, वह अपने हृदय-दर्पणमें प्रतिबिम्बित जो भगवान्‌की छवि है, वह हमारा काम करती है, स्वयं भगवान् काम नहीं करते हैं।

अब यह है कि कभी-कभी किसी भक्तको देखकर अपने आपको भगवान् भूल जायँ, उसके लिए द्रवित हो जायँ, 'जटायुकी धूरि जटानसे झारी'—तो वह बात दूसरी है। नहीं तो भगवान्‌का प्रतिविम्ब ही हमारे हृदयमें रहकर हमारा सब काम बनाता रहता है। भगवान्‌को तो पता ही नहीं चलता। यदि भगवान्‌से काम लेना हो तो अपने हृदयका दर्पण स्वच्छ रखिये और उसमें भगवान्‌की छाया, प्रतिबिम्ब पड़ने दीजिये।

पहले एक 'छाया-पुरुष'की साधना होती थी। अब भी कोई करते होंगे। शीशेमें अपनी परिछाई पड़ती थी और उसको चेतन कर लेते थे और हुकुम देते थे कि तुम यह काम करो। ऐसी एक साधना हमारे बचपनमें प्रचलित थी। भगवान् भी अपनी परिछाई, प्रतिबिम्ब, छाया हमारे स्वच्छ हृदय-दर्पणमें डाल देते हैं और वह अपने भक्तका जो अभीष्ट है, लालसा है, (वह प्राइवेट भगवान् होता है—वह सार्वजनिक नहीं होता) उसको वह प्रतिबिम्ब ही पूरा करता है—

भक्तकी अब आगे पहचान बताते हैं—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ 12.16-19

ये तो जैसे अपने घरकी कुञ्जी, ताली किसी दूसरेके हाथमें दे दी जाय, वैसे भगवान् अर्जुनको अपने प्यारकी कुञ्जी-चाबी दे रहे हैं कि यदि मेरा प्यार कोई पाना चाहे—मेरे हृदयको खोलकर, उसमें-से मेरे हृदयमें जो प्यार भरा हुआ है, उसको अपने घरमें लेना चाहे तो ले, उसके लिए हम एक रहस्य बताते हैं। चाबी कहाँ रहती है? भगवान्ने बताया कि हमारी चाबी तो तुम्हारे दिलमें रखी है। हम अपनी चाबी अपने पास नहीं रखते, तुम्हारे पास रखते हैं। तुम पहचानते नहीं हो। हमारा प्यार पानेकी चाबी क्या है? 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः'—अनपेक्ष हो जाओ। दो शब्द प्रायः एक साथ चलते हैं—अपेक्षा और उपेक्षा। जब हम दूसरेसे कुछ उम्मीद रखते हैं तो उसका नाम हो जाता है 'अपेक्षा'। और जब हम दूसरेसे कोई उम्मीद नहीं रखते हैं, तब उसका नाम हो जाता है 'उपेक्षा'। यहाँ अपेक्षा न होनेको अनपेक्ष कहा है।

हम किसीसे कुछ उम्मीद न रखें। हमारे हैं भगवान्—'मोर दास कहाइ नर आसा, करई तो कहहु कहा विश्वासा।' सेवा करो सेठकी—अपने मालिककी, और तेल-साबुन माँगनेको जाओ दूसरेके घर। इससे सेठकी बेइज्जती है कि नहीं? वह अपने नौकरको तेल, साबुन नहीं देता है। 'मोर दास कहाइ—नर आसा करई।' मेरा सेवक होकर किसी मनुष्यकी आशा करता है तो 'कहहु कहा विश्वासा।' बताओ मेरे ऊपर विश्वास कहाँ? किसीकी अपेक्षा नहीं है। वैसे संस्कृतमें अपेक्षा माने होता है अन्धापन। ईक्षा-ईक्षण, दर्शन और अप माने समझ लो अपगत। जब आपकी आँख ठीक-ठीक नहीं देख पाती है तब जैसे आप दूसरेका हाथ पकड़कर चलना चाहते हैं न! अपेक्षा हो गयी। आँख अन्धी है तो दूसरेका हाथ पकड़कर चलनेकी जरूरत हो गयी। हमारे पास गरीबी है तो धनीकी अपेक्षा हो गयी। मूर्खता है तो विद्वान्की अपेक्षा हो गयी। जब अपनी

नजर कमजोर होती है तब दूसरेकी आँखसे देखनेकी जरूरत पड़ती है। इसीको अपेक्षा कहते हैं। 'अपगतम् ईक्षणं अपेक्षा।'

यह अपेक्षा न हो—अर्थात् हमारी दृष्टि भरपूर हो। और दृष्टि भरपूर तब होती है जब भगवान्की रायसे अपनी राय मिलती जाती है। हमारा मतभेद, बहुतोंके साथ मतभेद है। ईश्वरके साथ मतभेद है। कई वर्ष पहले हमने देखा, किसी बड़े अफसरसे मतभेद हो गया तो उसने मतभेद रखनेवालेको बिलकुल पीस दिया, नष्ट कर दिया। अफसरोंकी यह स्थिति है। और हमारी यह हिम्मत, हमारी यह हिमाकत कि हम ईश्वरसे मतभेद रखते हैं? यह हो गयी अपेक्षा। उधरसे हो गये हम अन्धे और दुनियामें उम्मीद रखने लगे, आशा रखने लगे, परवाह रखने लगे। फिर बे-परवाह हो गये। एक साधुका नाम था बेख्वाहिश, बे-परवाह—किसीसे कुछ चाहना नहीं—किसीकी कोई परवाह नहीं।

मनमें है गन्दी आदत, गन्दा मन और बनने चले अनपेक्ष। भगवान्का प्यार नहीं मिलेगा। 'शुचि:'—अपनी ओरसे पवित्रता चाहिए। जैसे कपड़े धोते हैं। श्रीबल्लभाचार्यजी महाराजने एक जगह लिखा है कि यदि कपड़ेको आगमें डाल दें तो जल जायगा। लेकिन उस आगकी गरमी जब पानीमें उतार लेते हैं और उसमें कपड़ा धोते हैं तो साफ हो जाता है। यह जो अद्वैत वेदान्तियोंका ज्ञान है, यह सीधे-सीधे आजाय तो जला देता है और यदि भक्ति रसमें सराबोर करके अपने हृदयमें बुलाते हैं तो वह अनन्त जीवनदान करता है। जिलानेवाला भी वही है, मारनेवाला भी वही है। ज्ञानाग्नि है, भस्म करनेवाली लेकिन वही जब भक्ति रसमें उतरकर आती है तो जीवनको रसमय बना देती है। पवित्रता चाहिए।

अब तीसरी बात बोलते हैं—यह भगवान्का प्यार पानेकी चाबी है। निकम्मा नहीं होना चाहिए और भगवान्की बदनामी नहीं करनी चाहिए। हमलोग भगवान्का भजन करते हैं—भाई हमें दाल पकाते समय ख्याल नहीं रहा कि कच्ची है कि, पक्की! नमक डाल दिया कि नहीं? बोले, अच्छा भगवान्का भजन करनेसे ऐसा हो जाता है, कि आपको कच्ची-पक्की दालका पता न चले, और नमक डाला कि नहीं डाला, इसका पता न चले! यह भगवान्की भक्ति बेशहूर बनानेवाली है? 'दक्ष:'—हर काममें दक्ष होना चाहिए। यह भक्तकी पहचान है, यह लक्षण है।

नौकर कोई काम कर रहा हो, आप उसको कुछ मत बोलिये, उसका काम अपने हाथमें लें लीजिये और करके बताइये—देखो यह ऐसे किया जाता है। रसोइयेकी रोटी अगर गोल न बनती हो तो आप अपने हाथमें बेलन लेकर बेलकर बता दीजिये कि ऐसी गोल होती है। यदि वह सेंकते समय जल जाती हो या कच्ची रह जाती हो तो आप सेंककर बना दीजिये। झाड़ू अगर ठीक न लग रही हो, पोतना घरमें ठीक न लगा रहा हो तो आप हाथमें पोतना लेकर बता दीजिये। शरम आ जायगी उसको कि हमसे अच्छा काम तो हमारे मालिक जानते हैं। वह स्वयं बढ़िया करने लगेगा। हर काममें दक्ष रहना चाहिए।

हमने गीताप्रेममें एक बार जिल्दसाजीका काम देखा था—आजकल एक ऊँची गद्दी पर हैं—वे किया करते थे। गंगाबाबू जब देखते कि जिल्द ठीक नहीं बन रहा है तो जाकर अपने हाथमें ले लेते। पण्डितजी जिल्द

ऐसे बनाइये। गंगाबाबू गीताप्रेसके मैनेजर थे। अपने हाथसे जिल्द बनाकर दिखाते थे—ऐसे बनायी जाती है। अब करनेवाला क्या करे? उसको करना ही पड़ता है। भक्तको हर काममें दक्ष होना चाहिए। बोलनेमें दक्ष, करनेमें दक्ष, दूध आगपर चढ़ाकर किसीसे बात करने लगे, उफनकर गिर गया। सावधान रहना चाहिए। भाई—किसीके बिलकुल मुँहके पास जाकर बात करने लगे और थूँक पड़ने लगा। जरा दूरसे बात करनी चाहिए। हम तो बहुत गँवारू बात आपको सुना रहे हैं। आप लोगोंका तो ऐसा काम करनेका क्या मौका मिले। बड़े लोग हैं।

व्यवहारका धरातल है उससे थोड़ा अपनेको ऊपर रखना चाहिए। 'उदासीनः'—आपके साथ जो बात करता है वह किसीके प्रेममें मुत्तसिल है—उर्दूका शब्द है। किसीके प्रेममें मगन है, तन्मय है। जैसे वह प्रेममें कहीं फँसकर उसका पक्षपात रखकर, उसका काम बनानेके लिए कर बात कर रहा है—आप थोड़ा उससे ऊपर रहिये। उसके पक्षपातमें बह मत जाइये। आपसे जो बात कर रहा है, उसके मनमें किसीसे द्वेष है और वह चाहता है कि जिससे मैं द्वेष करता हूँ उससे यह भी द्वेष करे। आपको अपने द्वेषके चक्करमें वह फँसाना चाहता है। आप उसकी बात सुनते समय उसके ऊपर रहिये। 'उद्' माने ऊपर और 'आसीन' माने बैठा हुआ। व्यवहारमें बिना राग-द्वेषके लोग कोई काम नहीं करते हैं। यदि आपको भगवान्‌की भक्ति करनी है तो उनके स्तरसे आपका स्तर ऊँचा होना चाहिए।

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यःशोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थःसर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

आप प्रज्ञाके महलपर, सबसे ऊँची छतपर बैठ जाइये और दुनियाके लोग-जिस बातके लिए शोक नहीं करना चाहिए, उस बातके लिए शोक कर रहे हैं। जैसे पहाड़की चोटीपर खड़ा आदमी नीचेके लोगोंको देखता है वैसे आप भगवान्‌के साथ खड़े होकर देखिये। न रागके चक्करमें फँसिये, न द्वेषके चक्करमें फँसिये।

यदि उदासीन नहीं होंगे तो आप भी रागी हो जायँगे। आप भी द्वेषी हो जायँगे। भगवान्‌की जो प्यारकी चाबी है वह आपके हाथसे गिर पड़ेगी। 'गतव्यथः'—अब हर बातकी पीड़ा ही होती जा रही है। पीड़ा, पीड़ा, पीड़ा, नहीं होनी चाहिए। एक बात है कि व्यथा तब होती है जब हम कोई अपनी शक्तिसे बाहरका काम शुरू कर देते हैं। हाथ वहीं तक डालना चाहिए जहाँ तक खींच सकते हों। बन्दर उस छोटे मुँहके बरतनमें हाथ डालकर चना निकालना चाहता है जहाँसे उसकी बँधी मुट्ठी निकल नहीं पाती है। पकड़ा जाता है। हाथी उस हथिनीके साथ अपने शरीरको सटा देता है जहाँसे वह छूट नहीं पाता और गड्ढेमें जाकर गिरता है। ये बहेलिया जो होते हैं—कोनेमें गोंद लगाकर रख देते हैं। चिड़िया उसमें घुस जाती है। पाँखमें गोंद लग जाती है, निकल नहीं पाती है। गतव्यथ होनेका, माने व्यथासे मुक्त होनेका तरीका यह है, युक्ति यह है कि बहुत बड़े-बड़े काम शुरू न करें। छोटेसे प्रारम्भ करें और उसको धीरे-धीरे बढ़ाते जायँ। बड़ा काम करनेके लालचमें कर्ज ले लिया। सारी आमदनी ब्याज चुकानेमें चली गयी। सोच-विचारकर काम करें।

सर्वारम्भपरित्यागी।

एक लखनऊमें साधु थे। उन्होंने यज्ञ किया। बहुत ब्राह्मण बुला लिये और लाखों रुपयेका चन्दा इकट्ठा कर अपने पास रख लिया कि ब्राह्मणोंको दक्षिणा देंगे। अब जिस दिन दक्षिणा देनी थी, उनका रुपया ही कोई लेकर चला गया। टापते रह गये। हमको बहुत यज्ञोंका पता है। कहीं-कहीं तो चन्दा इकट्ठा करनेवाले ही लेकर चले गये। 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ है—गणान्न, गणिकान्न, राजान्न—इनसे बचना चाहिए। ऐसे बड़े-बड़े काम नहीं करना चाहिए—कि जिनके लिए हम काम कर रहे हैं, उसीको भूल जायँ। ईश्वरके लिए कर रहे हैं, ईश्वरकी पूजाके लिए कर रहे हैं, इतना बड़ा काम शुरूकर दिया कि उसमें अपनी नसें तन गयीं, दिमाग खिंच गया, व्याकुल हो गये। महात्मा बुद्धने कहा—हाथ खींचो। हाथ वहीं तक डालो जहाँसे अपनेको निकाल सकते हो। गहराईमें वहीं तक उतरो जहाँसे फिर ऊपर चढ़ सको। गीताका तो कहना है—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। 18.48

जितना हम बड़ा-बड़ा काम शुरू करते हैं, उसमें कोई-न-कोई दोष जरूर होता है, जैसे आगमें धुँआ होता है। वैसे बहुत बड़े काममें किसी-न-किसीको कष्ट पहुँचनेकी सम्भावना बनी रहती है। इसीसे साधुके लिए भागवतमें तो कहा 'नारम्भानारभेत्क्वचित्'—कभी कोई बड़ा काम आरम्भ न करना चाहिए। जो ईश्वरके सहारे न चल सकता हो, जिसमें आदमीका सहारा लेना पड़े, धनका सहारा लेना पड़े, माँगना पड़े—ऐसा कोई काम साधुको नहीं करना चाहिए। 'सर्वारम्भ-परित्यागी' और दिलमें क्या रखे? 'भक्तिमान् यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' तुम करो मेरी सेवा, मैं करूँ तुमसे प्यार। तुम करो मुझसे प्यार, मैं करूँ तुमसे प्यार। परस्पर—दो चकोर दोइ चंदा—तुम देखो मुझको, मैं देखूँ तुमको। फिर जो अनन्यभक्त होते हैं वे कह देते हैं—तुम हमें देखो न देखो—हम तुम्हें देखा करें। तुम उनके रहो, उन्हींके रहो। पर यह एक प्रोढोक्ति है।

प्रेम बढ़ता है प्रेमसे। प्रेमका उद्दीपन प्रेमसे होता है। हमारे नाट्यशास्त्रके जो आचार्य हैं भरतमुनि, उन्होंने कहा—आठ रस मुख्य हैं और नवाँ शान्त-रस गौण है। 'शान्तोऽपि नवमो रसः'। अभिवन गुप्तने कहा—नहीं शान्त-रस तो मुख्य है। किसी-किसीने एक वत्सल-रस भी बताया है। महाकवि कर्णपूरने अलंकार-कौस्तुभमें प्रेम-रसकी स्थापना की। मधुसूदन सरस्वतीने भक्तिरसायनमें यह स्थापना की कि भक्ति रस है। और उन्होंने तो बड़े-बड़े जो साहित्यके रीतिकार हैं, उनको भी फटकार दिया—ऐसे ही कहा—मूर्खों, तुमको बीभत्समें रसकी सारी सामग्री मालूम पड़ती है, रौद्रमें सारे रसकी सामग्री मालूम पड़ती है और भक्तिमें रसकी सारी सामग्री नहीं है? बीभत्समें आलम्बन है, उद्दीपन है. संचारी है, व्याभिचारी है, स्थायी है। और भक्तिमें ये सब नहीं? आँखें फूट गयी हैं तुम्हारी!

भक्ति रस है। अलंकार-कौस्तुभमें महाकवि कर्णपूरने प्रेमरसकी स्थापना की। तो किसीने पूछा—आलम्बन भाव तो तुम्हारे राधा-कृष्ण हैं, उद्दीपन क्या है? तो उन्होंने कहा उद्दीपन है परस्परका प्रेम। जब मालूम पड़ता है कि सामनेवाला हमको बहुत प्रेम करता है, तब हमारे हृदयमें भी प्रेमरसका उद्वेलन होने लगता है, प्रेम रस उद्दीप्त होने लगता है। प्रेम करनेवालेसे प्रेम होता है। भगवान्‌ने कहा देखो, भाई! चारों ओरसे आँख

फेरो, हमारे ऊपर ले आओ और तुम करो मुझसे प्रेम, मैं करूँ तुमसे प्रेम—'ज्ञानी-त्वात्मैव मे मतम्'। हमारे तुम्हारे बीचमें जब कोई दूसरी चीज नहीं होगी तो हम तुम एक हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ 12.17

देखो भाई! वह मेरा प्यारा है। कौन? जो मेरी भक्ति करता है। अच्छा महाराज, आपकी भक्ति करता है यह कैसे पता चलता है? भक्तिका पता दूसरेको चले, इसकी तो कोई जरूरत ही नहीं है। स्वसंवेद्य है अथवा भगवत्-संवेद्य है। और ज्ञान स्व-स्वरूप है। यह भक्ति और ज्ञानका विश्लेषण है। भक्ति हृदयमें वृत्तिके रूपमें रहती है, इसलिए साक्षी भक्तिको देखता है। अथवा अन्तर्यामी भगवान् भक्तिको देखते हैं और ज्ञान स्वस्वरूप है। इसलिए स्वसंवेद्य भी नहीं होता और परसंवेद्य भी नहीं होता। वह ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय इस त्रिपुटीसे रहित 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्' है। अवेद्य रहकर अपरोक्ष होता है। बीच-बीच में वेदान्त थोड़ा-थोड़ा सुना देता हूँ।

बात यह है कि कोई पुस्तक छपती है, कहीं रेकार्ड होता है तो यह बतानेका भी मन होता है कि सुननेवाला यह न समझ जाय ये बाबाजी सिर्फ भावुक ही भावुक हैं। अत:आवश्यकता होने पर वेदान्त रीतिसे बिल्कुल कर्कश तर्क भी सामने उपस्थित करना पड़ता है। आओ देखो, भक्तका स्वरूप। ऐसे चुपचाप पढ़ जानेसे काम नहीं चलेगा। 'यो न हृष्यति, ने द्वेष्टि'-यह वर्तमान-दोषकी निवृत्ति है। 'न शोचति'-यह भूत-दोषकी निवृत्ति है, 'न कांक्षति'-यह भविष्यत्-दोषकी निवृत्ति है। ध्यानसे देखो तब मूलम पड़ेगा। इस समय हमको कोई चीज मिली और खुश हो गये, नाचने लगे। महाराज, पता ही नहीं लगा गुरुजी कहाँ बैठे है?

भागवतमें है-इन्द्रको मिल गया स्वर्गका राज्य और सब देवता उनके आस-पास खड़े होकर उनकी तारीफ करें-महाराज, आपसे बड़ा और कोई नहीं-ऐसा हर्षोन्माद हुआ-ऐसा खुशीका पागलपन इन्द्रको आया कि उनके गुरु वृहस्पति उनके सामने आये और उनकी ओर देखा ही नहीं! पागल हो गया-इतने लोगोंके सामने हम बैठे हैं सिंहासनपर। राजेन्द्रबाबूका स्वभाव था-राष्ट्रपति होनेपर भी यदि उनके सामने उनसे बड़ा आजाय सांष्टाग दण्डवत् करते थे; कोर्टमें भी लाल चन्दन लगाकर जाते थे। अनन्त शयनम् आयंगर जो लोक सभाके अध्यक्ष थे, उनको साष्टांग दण्डवत् करनेका अभ्यास था। 'हृष्यति'-ऊँचा ओहदा पाकर इतना हर्ष हुआ कि हमसे कोई बड़ा है, यह बात भूल गयी। तब उन्माद हो गया। 'हृष्टो दृप्यति'। दर्प हो गया और मर्यादाका अतिक्रमण हो गया।

अब भगवान् देख रहे हैं-बोले, बड़ा होनेके करण तुम्हारा विनय चला गया-बड़ा होनेसे तुम्हारी उदारता चली गयी? बड़ा होनेसे तुम्हारे शील-स्वभावमें फरक आ गया? तो आओ जरा उलटकर देखते हैं। 'मसकहि करहिं विरंचि प्रभु विधि मसक ते हीन।' रंकको राजा, राजाको बनाना, यह भगवान्‌का खेल है। यो न हृषति-वर्तमानमें अगर तुम्हें तुम्हारे मनकी कोई चीज मिल जाती है तो उस समय भी सावधान रहो,

देनेवालेको मत भूलो। देनेवाला वही है। 'न द्वेष्टि'-तुम्हारे मनके विपरीत किसीने काम किया और आगबबूला हो गया। काम तो हुआ सो हुआ, तुम्हारा दिल जलने लगा। आग तो लगायी थी किसीने कपड़ेमें और जलने लगा कलेजा!

हमने एकबार गोरखपुरमें देख था। साधकोंको रहनेके लिए फूसकी कुटिया वनी हुई थी। 18के लगभग थी। उसमें दो-दो जने रहते होंगे। एक दिन रातमें आग लग गयी। उसमें सेठ लोग साधना कर रहे थे; उसमें 10 हजारका नोट भी था। ठाकुरजी भी थे। आग लगी। सब लोग घबड़ाये, व्याकुल हुए। मैं सेवाकुटियामें रहता था। देखनेको बाहर निकल आया। भाईजी हनुमानप्रसादजी आये। बोले-घी लाओ, शक्कर लाओ बोले अग्निके रूपमें भगवान् आये हैं, उनका स्वागत करो, सत्कार करो। यह हमारे सामनेकी बाते हैं।

'न द्वेष्टि'- विपरीत परिस्थिति आनेपर भी जो उस कर्मका प्रेरक है, आदमीका प्रेरक है, जो परमेश्वर है, उसपर नजर चली जाय; अरे भगवान् कहते हैं यहाँ भी तुम हमको देख रहे हो? हाँ महाराज, मैं देख रहा हूँ, तुम हमारे बहुत प्यारे हो!

यो न हृष्यति, न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

'शोचति'-एक सच्ची बात आपको सुना रहा हूँ। हमारे साथ एक पण्डितजी रहते थे। पण्डित सुन्दरलालजी उनका नाम था। पहले ज्वालापुर महाविद्यालयमें प्राध्यापक थे। बहुत अच्छे विद्वान् थे। काशीके जो मूर्धन्य वेदान्तके विद्वान् थे, उनसे उन्होंने शिक्षा ली थी। हमारे साथ कभी-कभी भोजन करने बैठते थे। जिस दिन बढ़िया भोजन सामने आ जाय, झर-झर आँसू गिरें-क्या बात है पण्डितजी? अपनी पत्नीका नाम लेते, उसकी याद आ गयी है? क्या बात है? 35 वर्ष पहले उसने हमको ऐसा भोजन कराया था। अब वैसा भोजन करानेवाला कौन है? मर गयी। पत्नीकी याद करके वे रोने लगे! अब हम गये-हमारा परोसा हुआ भोजन गया, वह दाल गयी, वह चावल गया-वह पी गया और उनको 35 वर्ष पहलेकी श्रीमतीजी याद आयीं। स्त्रियोंको तो खुश होना चाहिए कि ऐसे प्रेमी भी पति होते हैं!

एक पति-पत्नी आगरा ताजमहल देखने जा रहे थे। पत्नीने कहा कि देखो, एक वह पति था जिसने अपनी पत्नीकी यादगारमें ताजमहल बनाया। तुम मेरे लिए क्या करोगे? उन्होंने कहा-पहले मर जाओ; तब करेंगे। अभीसे क्या बतावें? 'शोचति' जो है उसपर कालिदासने तो कहा है कि यह मूर्खकी पहचान है।

'खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये। द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्...।' भोजने कालिदासको कहा-मूर्ख हो तुम! कालिदासने कहा कि मैं खाते हुए तो चलता नहीं-उठाओ खाओ पार्टीका तो मैं हूँ नहीं और 'हसन्न जल्पे'-हँसते हुए बात नहीं करता हूँ और गयी हुई बातोंके लिए शोक नहीं करता हूँ और जो काम करता हूँ उसका अभिमान नहीं करता हूँ और दो आदमी बात कर रहे हों तो मैं उनमें तीसरा नहीं बनता। फिर मैं मूर्ख कैसे? क्या कारण है कि मैं मूर्ख हूँ। मूर्ख कैसे होता है यह बताया है। मूर्ख माने जिसकी बुद्धि मूर्च्छित है। 'मूर्च्छति इति मूर्खः'। उसकी बुद्धि बेहोश है। 'न शोचति'- जो बात बीत गयी वह बीत गयी उसके लिए शोक करनेका क्या कारण है?

शोकस्थानसहस्त्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

महा० स्वर्गारोहण-पर्व 5.62

(यह भारत सावित्री है। महाभारतमें चार श्लोक हैं-उनको गायत्री-रूप माना जाता है।) बोले भाई-दिनभरमें दस बार रोये, दस बार हँसे, दस बार डरे, दस बार डराया-यह कोई जीवन है? जीवनमें एकरसता लानेका प्रयास करना चाहिए। धूप हो तो, ठण्डा हो तो तो, गरमी हो तो-अच्छा आवे सामने तो, बुरा आवे सामने तो। पता लग जाता है महाराज-जब किसीके मनके विपरीत कोई काम होता है तो ऐसा चेहरा बिगडता है-चेहरेपर मुर्दनी छा जाती है और कोई मनका काम हो तो झट खिल जाते हैं। आदमीको इतना गम्भीर होना चाहिए कि सामनेवालेको पता ही न चले कि इनके मनमें दु:ख हुआ कि सुख हुआ। गहराई इतनी होनी चाहिए कि जिसकी थाह किसीको लग न सके। 'न शोचति'-वर्तमानमें राग-द्वेषके अधीन नहीं होता और भूतके बारेमें शोक नहीं करता और 'न काङ्क्षति'-भविष्यमें हमको यह मिले, यह मिले, यह मिले! आप लोगोंके कामकी बात नहीं है, यह मैं जानता हूँ।

एक सज्जन एक महात्मासे पूछ रहे थे कि महाराज, यह जीभ जो है बहुत चटोरी है, और कोई-न-कोई वासना इसमें आती ही रहती है। ये खायें, ये खायें! इसपर विजय कैसे प्राप्त करनी चाहिए? बोले कि ऑर्डर मत दिया करो। भोजनके समय जो तुम्हारे सामने आजाय, उसको आवश्यकताके अनुसार खा लो। पहलेसे मत कहो कि हम आज यह खायेंगे। मालूम ही न हो। थाली सामने आनेसे पहले मालूम ही न हो कि आज खानेको क्या मिलेगा? बस, अब अन्धकारमें कहीं वासना थोड़े ही होती है? रोशनीमें होती है। मालूम होता है यह खायेंगे, यह खायेंगे और किसी दिन तो सोचते हैं कि बहुत बढ़िया खायेंगे और खानेके समय अपने मनकी चीज ही नहीं मिलती। कई बार देखा है।

भविष्यके लिए आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। भूतके लिए शोक, और वर्तमानमें रोग-द्वेष नहीं करना चाहिए। वर्तमान, भूत, भविष्यसे तो छुट्टी मिल गयी। लेकिन लोक-परलोककी फिकर तो कुछ-न-कुछ होती ही है। वैसे मैं बोलनेमें कोशिश करता हूँ कि हम नरकके लिए आपको डरावें नहीं। नरकका डर न दिखावें। वह काम तो पुरोहितोंका है, मौलवियोंका है, पादरियोंका है और स्वर्गकी लालच भी आपको न दें। वर्तमान जीवनमें हमलोग एक साथ हैं, मजेसे यह जीवन बीत जाय। कभी लोक-परलोककी चर्चा भी करते हैं तो दिल बहलानेको ही करते हैं। मैंने सुना था-

खूब मालूम है-जन्नतकी हकीकत।
लेकिन दिल बहलानेको गालिब यह खयाल अच्छा है।

परलोककी बात छोड़ो-सहज जीवन जिसका व्यतीत होता है, वह भगवान्‌का प्यार पाता है। पापासक्त हो गया तब भी उसको भगवान्‌के प्यारका अनुभव नहीं होगा और पुण्यासक्त हो गया, तब तो अपने बलका बोध होने लगेगा।

हम यह पुण्य करते हैं, यह पुण्य करते हैं, यह पुण्य करते हैं। पुण्यमें अपने मनोबलका अपने कर्मबलका अनुभव होने लगता है और पापमें बुद्धि विपयाक्रान्त हो जाती है। पाप वहीं होता है जब हम कामके, क्रोधके, लोभके वश होकर अनुचित मार्गमें चलने लगते हैं। इसीसे स्थितप्रज्ञके लक्षणमें-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 2.57

और यह 'शुभाशुभपरित्यागी' तो कृष्णको इतना प्यारा लगा कि गीतामें दो बार कह दिया। गुणातीतके लक्षणमें भी शुभाशुभपरित्यागी है। भक्तके लक्षणमें भी शुभाशुभ-परित्यागी है। अशुभ माने जिससे नरक मिलता है, शुभ माने जिससे स्वर्ग मिलता है। हमलोग तो केवल पौराणिक तो हैं नहीं। यह जो पुराणोंमें नरक-स्वर्णका वर्णन है न, ऐसा जैनोंके दर्शनमें तो है-बौद्धोंके दर्शनमें भी है। लेकिन हमारे वैदिक दर्शनमें ऐसा वर्णन नहीं है। वहाँ कहते हैं कि यह जो स्वर्ग-नरकका वर्णन है-वह तो अर्थवाद है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो काम करनेसे नरक मिलता है ऐसा जो शास्त्रमें लिखा है, वहाँ अभिप्राय है कि यह काम नहीं करना चाहिए। शास्त्र हमारे जीवनके लिए होते हैं, मरनेके बादके लिए शास्त्र नहीं होते। शास्त्र हमारे जीवनको सँवारने, सुधारनेके लिए होते हैं।

तो शास्त्र कहता है कि देखो-यह काम नहीं करना चाहिए। अभिप्राय तो उसका इतना ही होता है। स्वर्गका वर्णन करता है तो उस शास्त्रका अभिप्राय सिर्फ इतना होता है कि यह काम करना चाहिए। निषेधको प्रौढ़ बनानेके लिए नरकका वर्णन है और विधिको प्रौढ़ बनानेके लिए स्वर्गका वर्णन है। इसलिए अपने जीवनमें हमको सावधान-होशियार रहना चाहिए कि हम किसी अच्छे या बुरे काममें इतने आसक्त न हो जायँ कि भगवान् ही भूल जायँ। हम भगवान्की भक्ति करें।

अब यही देखते चलने लगे कि हमारे जूतके नीचे कोई कीड़ी न आजाय। तो आपका पहुँचना मुश्किल हो जायगा, आगेका रास्ता नहीं दिखेगा। गिर पड़ेंगे। कीड़ी मरे तो कोई बात नहीं! आपको अपना जो भक्तिका मार्ग है वह नहीं छोड़ना चाहिए। कोई पुण्य करनेमें ऐसे लगे, ऐसे लगे कि वे चान्द्रायण आदि व्रतपर व्रत करते जा रहे हैं और भीतरका जो देवता है उसको भूखे रख रहे हैं। गीतामें तो है-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 17.6

अपने शरीरमें जो पञ्चभूत हैं उनको दुर्बल बना रहे हैं, कृश कर रहे हैं। पालकके पत्तेका रस पीकर फौजमें लड़ने जायेंगे? आप क्या उम्मीद करते हैं? प्राकृत चिकित्सकोंको इसका ध्यान रखना चाहिए कि भाई, यह फौजी आदमी है-इसको पालकेके पत्तेका रस पिलाकर रखेंगे तो यह मर जायगा! जलोदर होनेकी संभावना है। पेटमें पानी भर जायेगा। उसका ध्यान रखना चाहिए। 'कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः'। केवल वस्तुको नहीं देखना चाहिए-अधिकारीकी ओर भी देखना चाहिए।

अन्न नहीं देंगे तो आपके शरीरकी माटी तकलीफ पायेगी। दुबली हो जायेगी। पानी नहीं देंगे तो गरमी

बढ़ जायेगी। ऊष्मा नहीं देंगे तो शरीर ठण्डा हो जायेगा। हवा नहीं देंगे, चौबीस घण्टे कठोर प्राणायाम कर लिया-इक्कीस दिनकी समाधि लगायेंगे तो शरीरके प्राण सूख जायेंगे। बोलेंगे नहीं-जीभ बेकार हो जायेगी। अपने शरीरमें जो भूतग्राम हैं उनको कृश नहीं करना चाहिए। 'अचेतसः' भगवान्ने कहा जब तुम अपनेको तकलीफ देते हो तब तुम्हारे भीतर बैठा हुआ मैं भी तकलीफ देते हो तब तुम्हारे भीतर बैठा हुआ मैं भी तकलीफ पाता हूँ। शुभासक्ति भी दुःखदायी है और अशुभासक्ति भी दुःखदायी है। शुभ-अशुभकी ओर न देखकर भगवान्की ओर देखना चाहिए।

भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जो मेरी भक्ति करता है-मुझे मत भूलो। चींटी भूल जाय तो भूलने दो। पाँच रूपये भूलते हैं तो भूलने दो। कई लोग प्रशंसा कर-करके अपनी जीविका चलाते हैं और कई लोग अपनी तारीफ सुन-सुनकर अपनेको खुश रखते हैं। प्रशंसा करनेवाला तुमको गलत रास्तेपर ले जा सकता है।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि-तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जो भक्तिवाला है-जिसके हृदयमें सोते समय भी भक्ति बनी रहती है। सपनेमें भी भक्ति है, जाग्रतमें भी भक्ति है-वहाँ व्यवहारमें भगवान्की सेवामें कहीं चूक नहीं होती है। भगवान् कहते हैं कि वह मेरा प्रियतम है-मैं उससे प्रेम करता हूँ। भगवान्ने अपने प्यारकी चाबी आपके दिलमें रख दी। आप यदि भगवान्का प्यार पाना चाहते हैं तो जरा अपने दिलकी ओर देखिये-वहाँ तो उन्होंने अपना सारा रहस्य ही आपके जीवनमें रख दिया।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

●

प्रवचन : 10

20-11-83

यह प्रश्न यदि अपने जीवनमें उदय हो जाय, अपने हृदयमें आ जाय तो पता लगेगा कि हम कितने दुराग्रही है, कितने ढोंगी हैं और आखिरी बात कितने मूर्ख हैं। प्रश्न है कि सत्यको तो जानते नहीं और एक भेंड़के पीछे जैसे दूसरी भेंड़ चलती है अपनी बुद्धिका अभिमान, अपनी मान्यताकी जिद्द-यही हमारे जीवनके प्रेरणा-स्रोत बन गये हैं। क्या शुभ है और क्या अशुभ-जो परमात्माके स्वरूपको, यथार्थको, सत्यको पहचानता है, उसीको यह विभाग करनेका अधिकार है, और उसको तो यह विभाग होता ही नहीं और इधर-उधर भटकनेवाले लोग, जैसे राजनीतिमें पार्टीबन्दी होती है, ऐसे अपनी-अपनी पार्टी बनाकर और आपसमें रोग-द्वेष करते हैं और अपने दिलको कलुषित करते हैं। भगवान्ने कहा-भाई देखो, तुम्हें अगर सत्यसे प्रेम है-यदि भगवान्से प्रेम करना है और भगवान्का प्रेम पाना है तो यह जो लौकिक शुभाशुभका विभाग है, इसको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दो और अपनी प्रीति, अपनी रीति भगवान्के साथ जोड़ो।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

जो व्यक्ति आपके सामने स्पष्ट रूपसे बोल रहा है-

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

वह यदि 'सर्वारम्भ परित्यागी' कहे, अथवा शुभाशुभपरित्यागी कहे, तो आश्चर्य क्या होना चाहिए?

तत् तत् प्राप्य शुभशुभम् नाभिनन्दति, न द्वेष्टि।

वह आपके शरीरका निर्माण नहीं कर रहा है, वह तो माँ-बाप करते हैं; आपके कर्मका निर्माण नहीं कर रहा है-वह आपका शिक्षक बताता है-कैसे करना, कैसे नहीं करना। वह तो आपके हृदयका निर्माण कर रहा है। और वह भी जहाँ वह रहता है उसी स्थानको स्वच्छ बना रहा है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे, भगवान् स्वामी नहीं है। भगवान् सेवक है। वह आपकी इतनी सेवा करता है कि यदि आप उसपर ध्यान दें तो आप अपनेको उसके सामने शून्य पावेंगे। भगवान्की सेवाके सामने-आप समुद्रके सामने, बिन्दु भी नहीं हैं। आपका अभिमान बिलकुल मिट जायेगा और तब भगवान्का जो अपने आपसे प्रेम है, वहीं प्रेम आपके साथ हो जायेगा। यदि आप अलग रहेंगे तो भगवान्को भी कुछ अपना-पराया लगेगा और जब आपका अभिमान बिलकुल मिट जायेगा तो भगवान्को भी अपना-पराया नहीं लगेगा।

आओ, भक्तकी पहचानपर थोड़ा ध्यान दो।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ 12.18-19

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ 12.20

'समः शत्रौ च मित्रे च'-एक शत्रु है और एक मित्र है। आप दोनोंके प्रति सम हैं-यह क्या है? सम ज्ञान है कि सम भावना है? कि सम वर्तन है। ज्ञान, भावना और वर्ताव इसके चक्करमें हम नहीं पड़ते हैं। देखो, एक आदमी आपको कभी ठण्डे जलसे स्नान कराता है, और एक आदमी गरम पानीसे स्नान कराकर मल-मलकर आपके शरीरकी मैल छुड़ाता है। आप ठण्डे पानीवालेको मित्र समझते हैं और गरम पानीवालेको शत्रु समझें तो यह कोई समझदारीकी बात नहीं है। मैं सांसदिक शब्दोंका प्रयोग कर रहा हूँ! असांसदिक शब्दोंका प्रयोग करें तो अच्छा नहीं लगेगा। जजके सामने कहना पड़ता है कि मैं समझा नहीं पाया यह नहीं कि आप समझे नहीं। यदि संसदमें बोल दिया जाय कि आप सत्य नहीं बोल रहे हैं तो ठीक है। पर यदि यह कह दिया जाय कि आप झूठ बोल रहे हैं तो असांसदिक हो जाता है। बोलनेमें भी थोड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। शत्रु आपका उतना ही हित करता है, जितना हित मित्र करता है। असलमें अपने चित्तमें द्वेष रहनेके कारण हम शत्रुको देखकर जलने लगते हैं और मित्रको देखकर स्नेहिल हो जाते हैं। 'ञिमिदा स्नेहने'। मित्र शब्दका अर्थ है, जिसको देखकर हमारा हृदय तर हो जाय वह मित्र है और जिसको देखकर हमारा हृदय जलने लगे उसका नाम शत्रु है। 'शातनात् शत्रुः, मेदनात् मित्रम्।'

हमने पहले एक किताब पढ़ी थी 'मानो न मानो'-कई लोग ऐसे होते हैं कि उनको अनजानमें भी वह चीज छू जाय तो बेहोशी आ जाती है। उसमें कई उदाहरण देकर बताया था। तो हम अपने दिलको ऐसा बना लेते हैं-किसी वस्तुके प्रति द्वेष हो जाता है-यद्यपि उसी वस्तुसे दूसरे लोग बहुत प्रेम करते हैं।

किसी क्रियासे द्वेष हो जाता है, यद्यपि कई लोग वह क्रिया बड़े प्रेमसे करते हैं-किसी व्यक्तिसे द्वेष हो जाता है, यद्यपि उस व्यक्तिके बहुत-से प्रेमी होते हैं। वस्तुसे द्वेष, क्रियासे द्वेष, व्यक्तिसे द्वेष हो जाता है। एक हमारे मित्र बहुत पढ़े-लिखे थे, उनके सामने यदि हम मिथ्या शब्दका उच्चारण कर देते, तो वह चिढ़ जाते थे। उनको मिथ्या शब्दसे द्वेष हो गया था। यह अपने मनकी बनावट ऐसी है।

हमको श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने यह बात समझायी थी। 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि'। भारविका वचन है। प्रेममें गुण दिखता है और द्वेषमें दोष दिखते हैं-किसी भी वस्तुमें सचमुच न गुण है, न दोष है-निर्गुण ब्रह्म है। गुण और दोष हमारी कल्पनासे पैदा होते हैं। द्वेषमूलक कल्पनामें दोष और रागमूलक कल्पनामें गुण दिखायी पड़ते हैं। इसलिए जो आपको सताता है-'शातनात् शत्रुः'-वह आपको सहिष्णु बनाता है और उसका सताना आगे आपके लिए हितकारी होगा। हमारे पास तो छोटे-छोटे लड़कियाँ-लड़के आकर कहते हैं-हमारे माँ-बाप हमको बहुत सताते हैं। हर बातमें टोकते रहते हैं-स्वामीजी हम करें क्या? उनको लगता है हमारे माँ-बाप हमको सता रहे हैं। लेकिन उनके भलेके लिए सता रहे हैं। यह बात उनके ध्यानमें नहीं रहती है। आगे उनका जीवन उत्तम बन जायेगा।

शत्रु भी आपको सताता है, आपके अन्दर जो छिपे हुए दोष हैं और अभी नहीं हैं, आगे आनेवाले हैं,

उनसे सावधान करता है और आपको सहिष्णुता सिखाता है। सहिष्णुताकी शिक्षा देता है, वह एक प्रकारका गुरु है। और मित्र सामने लल्लो-चप्पो करता है-मालूम पड़ता है इस समय बड़ा सुख दे रहा है लेकिन वह सुख नहीं दे रहा है, आपको फँसा रहा है। आप उसको छोड़ेंगे तब भी दु:खी होंगे और वह आपको छोड़ेगा तब भी दु:खी होंगे। मित्र आपको अब सुख दे रहा है-बादमें दु:ख देगा और शत्रु आपको अब दु:ख दे रहा है और बादमें सुख देगा। दोनोंमें एक प्रकारकी समता है समता ज्ञान है, समता भाव है, समता क्रिया है। अन्तमें दोनोंके जीवनका गणित करके आखिरी हल आप निकालेंगे तो बिलकुल एक ही निकलेगा। परिणाममें एक ही है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

मान अपमानमें भी सम-मया सह=समः। मा=प्रमा। श्रीहर्षने एक ही श्लोकमें 'उमया' शब्दका प्रयोग किया है। खण्डन-खण्ड-खाद्यमें श्रीहर्षने दोनों अर्थमें इस शब्दका एक साथ प्रयोग किया है।

केवल उमाने ही शंकरको प्राप्त नहीं किया, मैंने अनुमानसे भी शंकरको सिद्ध किया और मा=प्रमाणके द्वारा, यथार्थ अनुभवसे भी सिद्ध किया और मैंने भी उसका अनुभव किया। शब्द तो एक ही है पर हर्षकी बोलनेकी शैली यह है। 'समः' माने मुँहकी शोभामें फर्क न पड़े। चाहे शत्रु सामने आवे, चाहे मित्र और चाहे मान हो, चाहे अपमान। मुख-प्रभामें अन्तर नहीं पड़ना चाहिए। यह पहली बात है। 'समः' मा=शोभा-लक्ष्मी-अपने भावमें भी अन्तर नहीं पड़ना चाहिए और दोनोंमें जो परमात्मा है, उसका ज्ञान भी रहना चाहिए।

'मानापमानयोः'-मनुजीने कहा कि जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उसको सम्मानसे डरना चाहिए। 'सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यम् उद्विजेत विषादिव'। जैसे कोई जहर पिलाने आया है। 'अमृतश्चैव कांक्षेत अवमानं द्विजोत्तमः।' और अपमान अमृत है। धर्मकी बात है। 'अवमानात् तपोवृद्धिः सम्मानात् तपसा क्षयः।' अपमान जहाँ मिलता है, वहाँ हमारा तप बढ़ता है और सम्मान जहाँ मिलता है वहाँ हमारे तपका क्षय होता है। पुण्यका फल मिल गया। पुण्य घट गया। मान और अपमान दोनोंमें सहिष्णुता चाहिए। सम्मानसे फूल नहीं जाना चाहिए और अपमानसे पटक नहीं जाना चाहिए। वह तो अपने स्वभावके अनुसार बर्त्ताव कर रहा है। दूसरेके स्वभावपर अपना कोई वश नहीं है। हम अपने स्वभावमें स्थिर रह सकते हैं। दूसरेको उसके स्वभावमें रहने देना चाहिए। वहाँसे विचलित करनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह तो धर्मकी बात है। यह दूसरे धर्ममें नहीं है।

अभी थोड़े ही दिन पहले मैंने कुरानशरीफ पढ़ी है। हमारा तो धर्मशास्त्र ऐसे बोलता है। अच्छा भक्तिकी बात देखो—वृन्दावनी लोग तो बड़े प्रेमसे बोलते हैं—सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधा श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावन मा त्यज।' सम्मानको जहर समझो। अपमानको अमृत समझो और राधा-गोविन्दका भजन करो। वृन्दावन मत छोड़ो। यह भक्तलोग बोलते हैं। और ज्ञानियोंके लिए तो कहना ही क्या? यदि सब ब्रह्म है तो मानापमान नहीं है। आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है तो अपमान मान नहीं है। माया है तो भी मानापमान नहीं है। प्रकृति है तो भी मानापमान नहीं है। पञ्चभूत है तब भी मानापमान नहीं है और क्रिया, स्पन्दन—केवल हिलना-चलना है तो भी मानापमान नहीं है। सबमें भगवान्का हाथ है तब भी मानापमान नहीं है। सब प्रकृतिसे विवश हैं तब भी मानापमान नहीं है।

यह मत देखो कि सामनेवाला क्या कर रहा है। यह देखो कि हमारे भीतर क्या हो रहा है। सबके पास तो वही है न!

'तथा मानापमानयो:' मान जो करता है वह हमको एक मानमें बाँधता है, कैद करता है। ऐसे हैं, ऐसे हैं, ऐसे हैं—सीमा बनायी न! एक सज्जन हमारी बड़ी प्रशंसा करते थे—ये भागवतके बड़े पण्डित हैं। और लोग तो सुनकर बहुत खुश होते थे और हमको तो अपमान मालूम पड़ता था। मानो और शास्त्रोंके पण्डित नहीं है, केवल भागवतके पण्डित हैं। यह तो एक बोलनेकी, समझनेकी शैली होती है।

एक विद्वान् अनेक शास्त्रोंके आचार्य थे, हमको पढ़ानेके लिए आते थे। वृन्दावनमें संन्यासी होनेके बाद, वे निम्बार्क-सम्प्रदायके थे। एक दिन मैंने उनका परिचय दिया कि वे निम्बार्क-सम्प्रदायके बहुत बड़े विद्वान् हैं तो वे तो नाराज हो गये—बोले मैं केवल निम्बार्क-सम्प्रदायका विद्वान् हूँ? मैं निखिल वेदशास्त्र-पुराणका विद्वान् हूँ। यह प्रशंसा करनेवाले आपके किसी एक अंगकी प्रशंसा करते होंगे। उसमें आप लोगोंकी दिलचस्पी नहीं होगी। वह तो प्रशंसा क्या करते हैं आपको सीमित कर देते हैं। मानमें—माने सौ-पचास वर्षमें ऐसा कोई विद्वान् नहीं हुआ, इस देशमें। ऐसा कोई विद्वान् नहीं हुआ। बँध गये न! इस देशमें नहीं हुआ। विदेशमें तो हुआ न! सौ-पचास वर्षमें नहीं हुआ तो इसके पहले पीछे तो हुआ? सम्मान देनेवाले आपको सीमित करते हैं। और अपमान देनेवाले आपको मानसे बाहर उठाते हैं—अपगतमान कर देते हैं। आप अमान हैं।

शीतोष्णसुखदु:खेषु समः संगविवर्जितः।

जिस दिन भगवान् गरमी ज्यादा डालते हैं—तो हम कहते हैं—चलो मसूरी, चलो शिमला और जब ठण्ड ज्यादा पड़ने लगती है तो बोले, चलो बम्बई। यदि हम दोनों जगह रहके—राजस्थानमें रहके गरमी सह लें और मसूरीमें रहकर ठण्ड सह लें, तो हमारे शरीरमें ठण्ड और गरमी दोनों भगवान्‌की दी हुई लगेगी और हमारे शरीरको पक्का बना देगी। जो दोनोंमें रहता है। वह पक्का रहता है। देखो हमलोग केदारनाथ जाते हैं पिछले वर्ष हमें सरला, वसन्तकुमार ले गये थे—काकोजीकी प्रेरणा होगी! वहाँ ठण्ड लगती थी। हमसे ठण्ड सहन नहीं होती—वैसे 'नहीं-नहीं' करते भी सह लिया। लेकिन आपको कहना पड़ेगा न कि हमको गरम अच्छा लगता है, ठण्ड बुरी लगती है।

गंगोत्रीमें एक श्रीकृष्णाश्रम स्वामी थे। वे ठण्डमें वहीं रहते थे। करीब पचास वर्षसे वहीं रह रहे थे। उनको एक दिन यहाँ हम लोगोंकी धरतीपर लाना हुआ—मालवीयजी विश्वविद्यालयमें शंकरजीकी प्रतिष्ठा कराने लाये थे। तो माघ महीनेमें हरिद्वारमें उनको दो-तीन आदमी पंखा झलनेके लिए लगते थे। विकल हो जाते थे। उनसे गरमी सहन नहीं होती थी। हम लोग समझते हैं वे लोग बड़ी तपस्या करते हैं। हम भी यहाँ रहकर तपस्या करते हैं। वे वहाँ रहकर ठण्ड सहते हैं, हम यहाँ रहकर गरमी सहते हैं। न हम ठण्ड सह सकते, न वे गरमी सह सकते, बराबरी तो हुई न!

जीवनको ऐसा बनाना चाहिए—'शीतोष्णसुखदु:खेषु।' जब गरमी आवे तो गरमी सह लिया, सरदी

आयी तो सरदी सह लिया और दोनोंसे बचेंगे तो आपका शरीर दोनोंकी सहिष्णुतासे, तितिक्षासे वंचित हो जायगा और सुख और दु:ख ये तो दिन-रातकी तरह हैं। जीवनमें आते ही रहते हैं। जरा-सी बातमें हृदय निर्मल हो गया—'ख' माने शून्य—हृदयाकाश और 'सु' माने सुष्ठु। आज जैसे बाहरका आकाश निर्मल हो गया—चाँदनी छिटक गयी—मौसम बहुत अच्छा हो गया। ऐसे अपने हृदयका भी मौसम बदलता रहता है। कभी चाँदनी छिटकती है तो कभी बादल घिर आते हैं तो कभी गरमी पड़ती है। जैसे बाहरके मौसमको आप देखते हैं वैसे ही भीतरके मौसमको भी आप देखिये कि आज आपके हृदयमें तूफान आया है, कि बाढ़ आयी है, कि बड़ी गरमी पड़ रही है कि बड़ी ठण्ड पड़ रही है। बिलकुल बाहरका जैसा आकाश बनता-बिगड़ता है, और आकाशपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वैसे ही आपके हृदयाकाशमें कभी सुखकी चाँदनी छिटकती है, कभी लोभका बलगम बढ़ता है, कभी क्रोधकी गरमी आती है। डरना नहीं चाहिए। ये तो आने-जानेवाले हैं।

आगमापायिनोऽनित्याः तांस्तितिक्षस्व भारत। (2.14)

सुख आवे तो यह मत समझो कि यह रहेगा। जानेवाला है, मेहमान है। दु:ख आवे तो यह मत समझो कि यह रह जावेगा। यह तो गुण्डा है जायेगा ही जायगा। यह घरमें रहनेवाला नहीं है, रखनेका नहीं है। 'समः संगविवर्जितः'। शीतोष्णसुखदु:खेषु'—सम अर्थात् दोनोंकी प्रमा एक है। क्या एक है? कोई जाड़ेके दिनमें तपस्या करते हैं, ठण्डे पानीमें रहते हैं और गरमीके दिनोंमें धूपमें बैठकर पंचाग्नि तापते हैं। वर्षाके दिनोंमें खुले आसमानमें रहते हैं। उनकी तपस्या होती है। वह कहते हैं हमने बड़ा भारी तप किया और आपको घर बैठे तप करनेको मिलता है। आप किसीके साथ चिपकिये मत। 'समः संगविवर्जितः'। आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति तो सचमुच अपने आपसे ही होती है या अन्तर्यामी भगवान्‌से होती है। दूसरेके साथ जो आसक्ति होती है वह बिलकुल झूठी है। और टिकनेवाली नहीं है। हम सबको छोड़ सकते हैं।

स्वामी रामतीर्थने कई दृष्टान्त दिये हैं। ऑफिसमें पता चला, मकानमें बेटा गिर गया है। बाबूजी क्लर्क थे, दौड़े हुए आये—देखा आगसे दरवाजा घिर गया है—बोले हजार रुपया लो, हमारे बच्चेको कोई निकाल दो, दस हजार लो—अरे भाई, हम कर्ज लेकर लाख रुपया देंगे। हमारे बच्चेको इसमें-से निकालो। एकने कहा कि दूसरोंको तुम लाख रुपया देनेको तैयार हो। खुद घुसकर क्यों नहीं निकाल ले आते? बोले भाई, बच्चेकी अपेक्षा भी अपने शरीरसे आसक्ति—प्रीति ज्यादा है। धन छोड़ देते हैं, स्त्री छोड़ देते हैं, पति छोड़ देते हैं, पुत्र छोड़ देते हैं। आसक्ति तो असली जहाँ मैं है—वहाँ असली आसक्ति रहती है और तो सब झूठी है। जोशमें आकर दूसरेके लिए मर जायँ तो मर जायँ। होशहवाशमें लोग दूसरेके लिए मरनेको राजी नहीं होते।

समः संगविवर्जितः, तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।

जीवन्मुक्ति-विवेकमें एक प्रसंग आता है—बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीका ग्रन्थ है—वे कहते हैं कि तुम्हारी निन्दा करनेवाला शरीरकी निन्दा करता है कि आत्माकी निन्दा करता है? यदि शरीरकी निन्दा करता है, तो शरीरकी निन्दा तो हम बहुत करते हैं। दुनियामें जितनी गन्दगी है वह शरीरमें-से ही निकलती है। आप यह

निश्चय कर लीजिये कि चाहे कीट-पतंगका शरीर हो, मधुमक्खीका शरीर हो, पशु-पक्षीका शरीर हो, मनुष्यका शरीर हो, प्राणीके शरीरमें-से निकली हुई चीजको ही गन्दा मानते हैं। पसीना हो तो, रोआँ हो तो, दाँत हो तो, थूँक हो तो, बलगम हो तो, कीचड़ हो तो—जो भी गन्दगी दुनियामें मल-मूत्र आदिके रूपमें निकलती है, जिसको हम गन्दा मानते हैं—वह सब-का-सब किसी-न-किसीके शरीरमें-से निकला हुआ होता है। मिट्टीमें, पानीमें कुछ गन्दगी नहीं है—आगमें नहीं है—हवामें नहीं है—आसमानमें नहीं है—प्रकृतिमें नहीं है, परमात्मामें नहीं है। गन्दगी तो मनुष्यके शरीरमें-से निकलती है। शरीरकी निन्दा कोई करता है तो यथार्थ करता है। हमारा, उसका शरीर एक सरीखा। और आत्माकी निन्दा करता है तो अपनी ही निन्दा करता है। आत्मा तो हमारा, उसका दो है ही नहीं।

एक मजेदार बात उन्होंने कही कि—देखो दूसरा आदमी हमसे खुश हो इसके लिए लोग बड़े कष्टसे पैदा किया हुआ धन भी खर्च करते हैं कि यह हमसे खुश हो जाय। और यदि कोई हमारा दोष देखकर खुश हो जाता है तो उसकी हमारे ऊपर कितनी कृपा है! कुछ न देना पड़ा, न लेना पड़ा, हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा आया। हमारा दोष देख-देखकर कोई खुश होनेवाला तो है। हमारी वजहसे किसीको खुशी तो होती है।

मन् निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।

मैंने तो कुछ किया नहीं। और वह मेरे दोष देख-देखकर खुश हो रहा है। अब उसको खुश देखकर हमको भी खुश हो जाना चाहिए। 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी'। मौनी का अर्थ यह नहीं कि भगवान्‌की दी हुई जो जीभ है उसको काटकर फेंक दिया जाय या बाँध दिया जाय। यह मौनका अर्थ नहीं होता। मौनका अर्थ होता है कि आप अपने चिन्तनमें संलग्न रहिये। जितनी जरूरत हो, उतना ही बोलिये। सत्य बोलिये, हित बोलिये, मित बोलिये, आवश्यक बोलिये, अवसरोचित बोलिये और आनन्दप्रद बोलिये। ब्याहमें मौतकी, मौतमें ब्याहकी चर्चा मत कीजिये। 'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानौ।' पण्डितोंके बीचमें अपनी पण्डिताई जाहिर करने लगोगे तो? मूर्खता जाहिर हो जायेगी। 'विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।' वहाँ मौन रहना ही अपना भूषण है। और बोलनेका अवसर हो और न बोले, श्रीहर्षने कहा—

वाक्‌जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्‌भूते वस्तुनि मौनिता चेत्। नैषधीयचरित 8.32

अद्भुत गुणवाली वस्तुको देखकर भी यदि आप मौन रह जाते हैं, तो भगवान्‌का जीभ बनाना व्यर्थ हो गया और केवल एक असह्य शल्य आपके जीवनमें रह गया। मौनका अर्थ, निरर्थक नहीं बोलना, अनावश्यक नहीं बोलना। भगवान्‌का नाम ले रहे हैं, भगवान्‌का चिन्तन कर रहे हैं। चिन्तनमें—बहुत आवश्यक हो तभी बाधा डालनी चाहिए—

सन्तुष्टो येनकेनचित्।

पहले भी एक बार संतुष्ट आया है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।

भक्तिकी पहचानमें संतुष्ट शब्दका दो बार प्रयोग हुआ। वह है 'आत्म-तुष्टि'—अपनेमें संतोष। और

यहाँ है 'येनकेनचित् संतुष्टः।' कोई भी मिले—अपना सन्तोष बना रहे। ओ हो, आओ आओ! भाईसे मिलो। आजकल आपकी पार्टीमें क्या हो रहा है? आपकी प्रवृत्ति क्या है? मुस्कराकर बात करनी चाहिए। जो मिल जाय—बजानेवाला मिल जाय उससे खुश, गानेवाला मिल जाय उससे खुश, राजनीतिक नेता मिल जाय उससे खुश, नाचनेवाला मिल जाय, उससे खुश, झाड़ू लगानेवाला मिल जाय, उससे खुश, जूता बनानेवाला मिल जाय उससे खुश। किसीके कारण भी अपनेमें असन्तोष नहीं आना चाहिए। स्वयंका सन्तोष पहला है और दूसरोंके साथ व्यवहार करते हुए भी सन्तुष्ट रहना यह दूसरा है।

अनिकेतः स्थिरमतिः।

यदि आप ब्राह्मण हैं तो एक जगह मत रहिये। 'स्वदेशे पूज्यते राजा'-राजाकी पूजा अपने देशमें होती है, 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'। विद्वान्को घूमते रहना चाहिए। यदि आप सैनिक हैं तो यह आग्रह मत कीजिये—कि हमको इसी छावनीमें रखा जाय। घूमते रहना चाहिए। यदि आप वैश्य हैं तो हमारा व्यापार इतनेमें ही रहे—सन्तुष्ट मत हो जाइये। अपने व्यापारके लिए घूमते रहिये। यदि आप शूद्र हैं—अपने कर्मको सीमित मत कीजिये। 'अनिकेतः' घर बनाकर झण्डा मत फहराओ कि हम यहीं रहेंगे। अरे भाई, जहाँ अपना काम हो, जहाँ कर्तव्यपालन हो, वहाँ जाओ। सब जगह अपना घर है। जहाँ भगवान हैं वहीं अपना घर है। भक्तके लिए यही बात है, जहाँ भगवान् हैं वहीं घर है। 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्।' और भगवान् कहाँ नहीं हैं? तो सब जगह अपना घर है। 'अनिकेतः'।

भागवतमें घर बनानेकी हँसी उड़ायी है। दो या तीन जगह है-बोले घर तो औरतोंके लिए बनाया जाता है। 'स्त्री-आश्रमः' 'अङ्गनाश्रम'। दोनों शब्दका प्रयोग है। मर्दके लिए मकानकी जरूरत नहीं है। स्त्रीके लिए मकानकी जरूरत है। अब आपलोग मकान बनायेंगे तो आपकी गिनती कहाँ हो जावेगी? मतलब यह है कि पुरुष तो वह है जो सब देशमें, सब कालमें, एकरस विचरण करता रहता है, कहीं डरनेकी कोई जरूरत नहीं है। भगवान् सब जगह हैं—भगवान्में भक्ति है। 'स्थिरमतिः' बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। डाँवाडोल नहीं हो। 'गंगा गये गंगादास—जमुना गये जमुनादास।' यह कोई रहनी नहीं है। अपनी बुद्धि स्थिर होनी चाहिए।

एक बात है—यह बात सब लोग नहीं समझते हैं—जबतक स्थिर पदार्थको आपकी बुद्धि नहीं जानेगी तबतक वह स्थिर नहीं होगी। अचल पदार्थको जब आपकी बुद्धि जानेगी तब तो बुद्धि अचल हो जायेगी। और यदि चल पदार्थोंमें ही आपकी बुद्धि लगी रहेगी तो बुद्धि भी चल रहेगी। डाँवाडोल। दिल्लीमें अभी जब पार्टीयोंका चक्कर था तो शामको एक पार्टीमें हैं, सुबहको दूसरी पार्टीमें—'स्थिरमतिः'—कोई लक्ष्य नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं है। न कोई साधन-निष्ठा है, न कोई साध्यनिष्ठा है।

एकने हमको बताया कि उसको अपने पक्षमें वोट लेना था—संसदमें तो वोट बहुत-से उसके पक्षमें थे। 17-20 वोटोंकी कमी थी। उनसे बात करने लगे कि हमारे पक्षमें तुम वोट दो तो किसीसे एक लाखमें बात तय की तो किसीसे दो लाखमें बात तय हुई। हमको उसीने बताया। और एक सज्जनसे जब उन्होंने वोट देनेकी बात की तो बोले कि मैं एक-दो लाख रूपयमें अपना ईमान नहीं बिगाड़ूँगा? तो उसने कहा कि एक-दो लाखमें

नहीं तो आप बता दीजिये कि कितने लाखमें आप अपना ईमान बिनाड़नेको तैयार हैं, उतना ही हम आपको दे देंगे। पर वोट हमारे पक्षमें दीजिये। अन्तमें यह तय हुआ कि वे उस दिन बीमार पड़ जायेंगे, वोट देने नहीं जायेंगे। पर ईमान तो बिक गया। जबतक स्थिर वस्तुमें आपकी वस्तु नहीं जायगी-चल वस्तुमें आपकी बुद्धि लगी रहेगी तबतक डाँवाडोल रहेगी।

भक्तिमान्यः स मे प्रियः।

जिसके हृदयमें भगवान्की भक्ति है—तो भगवान् तो अचल हैं-डाँवाडोल नहीं हैं। भक्तोंके भगवान् कभी-कभी विचलित हो जाते हैं पर वेदान्तियोंके भगवान् तो कभी विचलित नहीं होते। पर भक्तोंके भगवान् भी अपने भक्तके प्रति जो करुणाका उद्रेक है, विवश हो जाते हैं, अपनी करुणासे-भगवान् भक्तका दुःख दूर करनेके लिए विचलित नहीं होते—वह भी अपना ही दुःख दूर करनेके लिए विचलित होते हैं। उनके हृदयमें जब किसीके प्रति दया होती है, करुणा होती है, तो ऐसी गड़ती है, उनके हृदयमें कि वह अपनी वेदना दूर करनेके लिए कूद पड़ते हैं। जो भक्तिमान् है वह भगवान्का प्यारा है।

भक्तिमान् यः स मे प्रियः।

अब भगवान्ने एक नयी बात कही जो अबतक नहीं कही थी।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 12.20

'धर्मात् अनपगतं धर्म्यम्'। जो धर्मसे कभी अलग नहीं होता उसको धर्म्य बोलते हैं। यह भगवान्ने जो कहा ये अमृत है, परन्तु अमृत कभी-कभी धर्मसे चूक जाता है। अमृत रहता है स्वर्गमें, तो देवता लोग जब अमृत पीते हैं, तो कभी-कभी उनकी रूचि अधर्ममें हो जाती है। वह मादक है, जैसे शराब पीकर आदमी मतवाला हो जाता है-ऐसे जब अमृतका भी नशा छा जाता है तो आदमी नशेमें आजाता है। 'नशा' संस्कृतका शब्द है। माने='न शं यया'—जिससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, उसका नाम है नशा। जो नशा पीकर अपनेको शान्त रखना चाहता है, कभी सफल नहीं होगा।

यह गीता क्या है? अमृत है। परन्तु धर्मसे युक्त है। धर्मसे दूर कभी नहीं होती है। यह जो भक्तका लक्षण है। यह धर्मयुक्त अमृत है। यह भक्तका लक्षण वही अमृत है। स्वर्गके अमृतको तो जो लोग पीकर आये हैं, वे उसका वर्णन करेंगे—बखान करेंगे और जो नरककी आगमें झुलसकर आये हों वे नरकका वर्णन करेंगे। हम तो इसी जीवनकी बात करते हैं। भगवान्से प्रेम चरित्रको—सबको ऐसा धारण कर लें कि उस सबमें अमृत-ही-अमृत बरसने लगेगा। जैसे हमने धर्म्यामृतका वर्णन किया है—उसकी जो 'यथोक्तं पर्युपासते'—भली-भाँति उसकी उपासना करते हैं वे अमृतपान करते हैं।

अब है कि 'श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्ते अतीव मे प्रियाः'। अतीव शब्दका प्रयोग इसके पहले कभी नहीं किया गया। अतीव माने अत्यन्त। वह अत्यन्त प्यारे हैं। कौन? बोले, एक तो जिनमें वे लक्षण हैं, वे प्यारे हैं। और जो उन लक्षणों पर और मुझपर श्रद्धा करके और मेरी उपासना करते हैं—अभी वे लक्षण पूरे नहीं आये

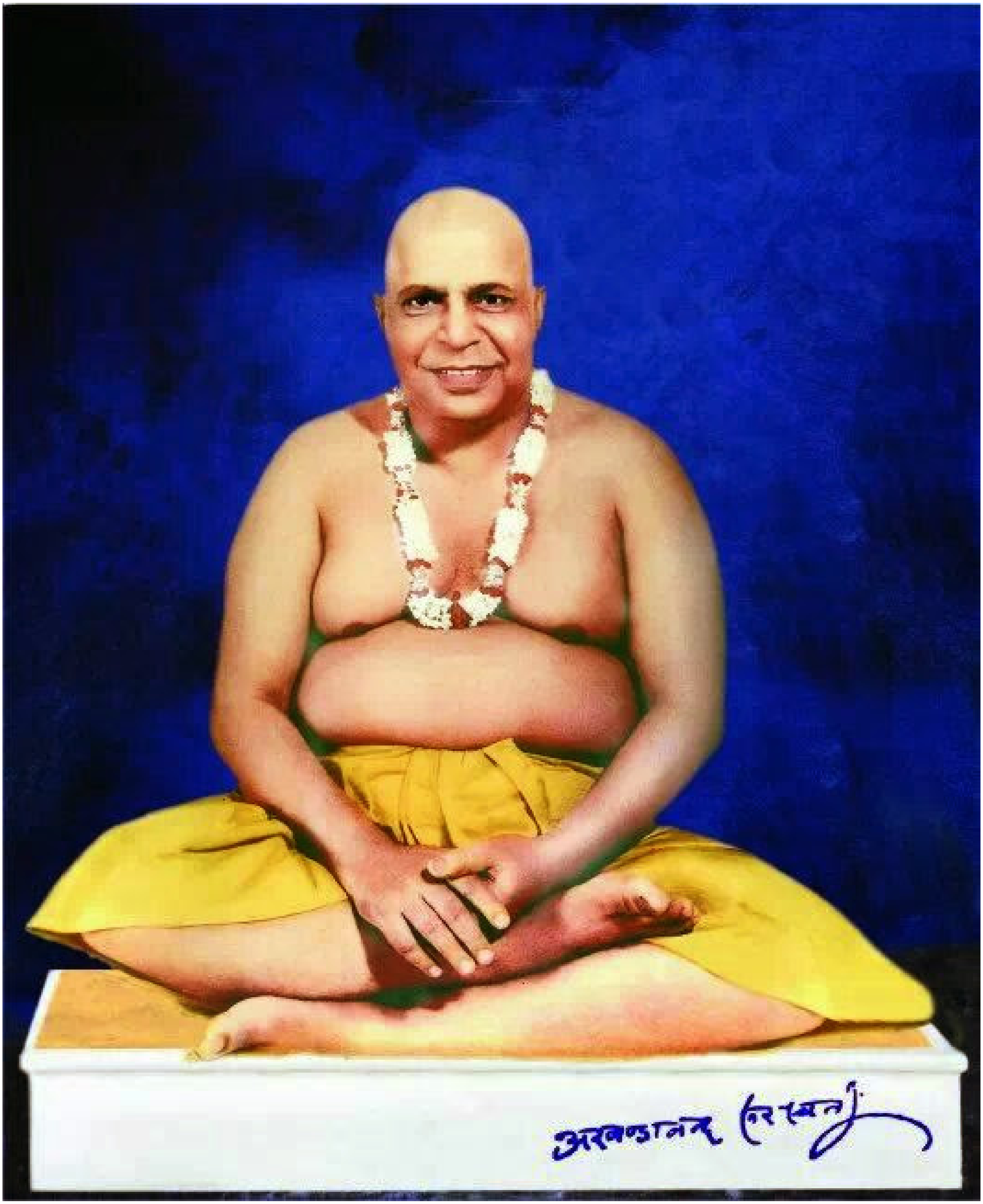
हैं। भगवान् कहते हैं अधूरे लक्षणवालेको हम ज्यादा प्यार करते हैं। प्यारकी जरूरत तो उन्हींको है। जिनको भक्तिके पूरे लक्षण प्राप्त हो गये हैं, उनको प्यार करनेकी जरूरत क्या?

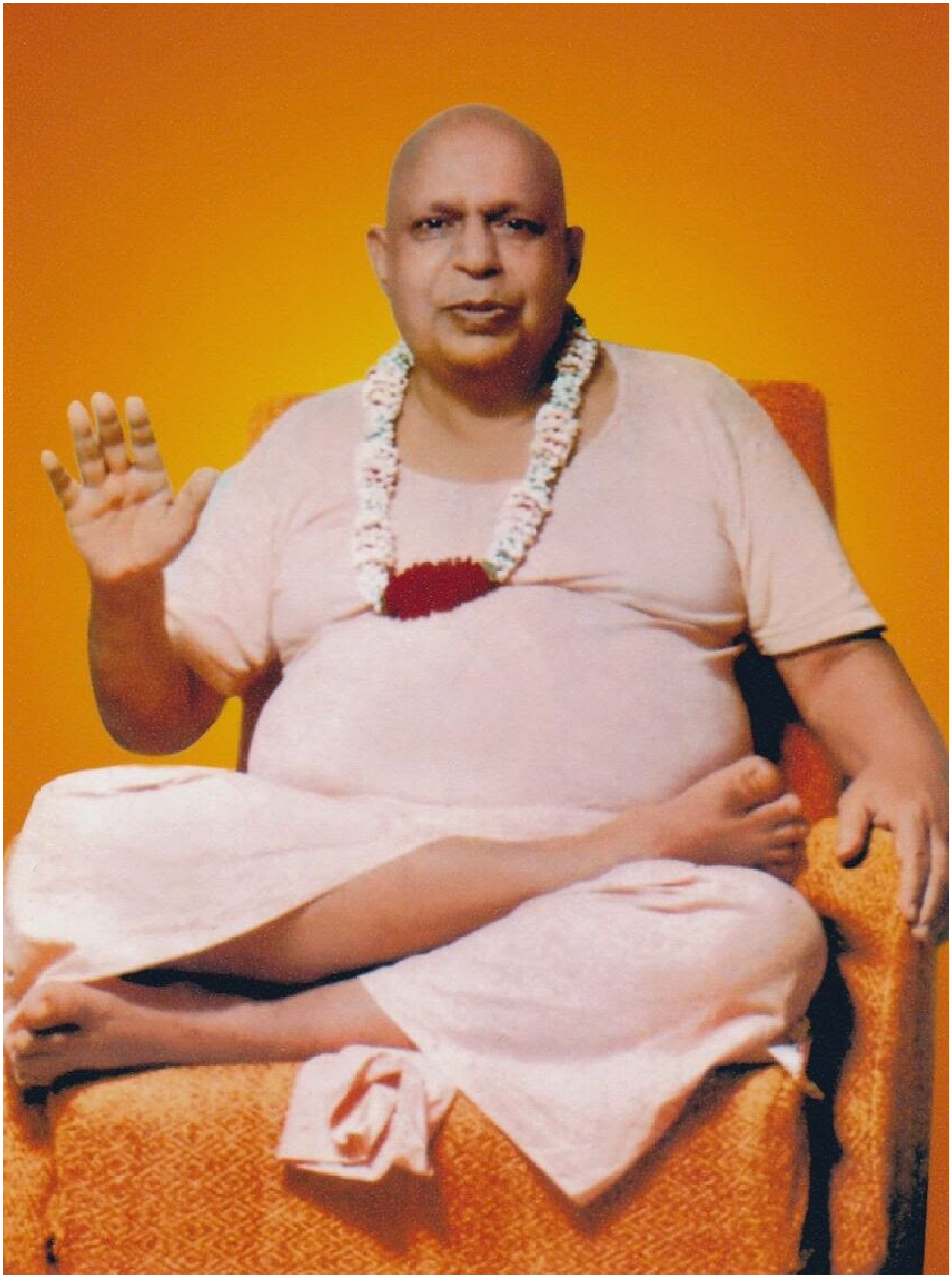
वे तो भगवान्के पास पहुँच गये। मिल गये। उनके साथ हँसते हैं, बोलते है; लेकिन अभी जो भक्तके लक्षणोंको अपने जीवनमें अपनानेकी कोशिश करते हैं, अभी पूरे भक्त नहीं हुए, पर ईमानदारीके साथ पूरा भक्त वनना चाहते हैं और भरोसा रखते हैं—भगवान्का, उनको मैं ज्यादा प्यार करता हूँ। देखो एक आदमी है, वह हमसे मिलता है, हमसे व्यवहार करता है, हमारी भलाईको पहचानता है—वह हमसे प्रेम करे तो विशेष बात नहीं है—हम माने आप सब लोग। लेकिन जिसने कभी हमको देखा नहीं है—हमसे मिला नहीं है, हमारे बारेमें केवल सुना है और सुनकर ही यदि उसका इतना प्रेम है तो वह मिलनेवालोंसे आगे बढ़ गया। सुन-सुनकर उसकी ऐसी श्रद्धा बनी, ऐसा विश्वास उसका हुआ कि वह आगे बढ़ गया। बोले—हे भाई, ये मिलकर भक्ति करनेवाले लोगोंसे, बिना मिले, बिना जाने, बिना पहचाने, सुन-सुनकर भक्ति करनेवाला अतीव प्रिय है—'यो मद्भक्त: स मे प्रिय:,' भक्तिमान् य: स मे प्रिय:। भक्तास्ते अतीव मे प्रिया:'। वे अत्यन्त प्यारे हैं जो उस अनमिले साजनसे, अनजाने रास्तेसे चलकर, मिलनेके लिए व्याकुल और उसको खुश करनेके लिए—उसे पसन्द आवे, इसलिए धर्म्यामृतका पान करते हैं, तो बहुत ही प्यारे हैं।

देखो भाई, दस दिन तो हो गया और बीस श्लोक हैं—हमने कभी महीने-दो महीने-चार महीनेमें भी इसकी व्याख्या की है, कभी दस दिनमें भी करते हैं। पहले भक्तियोग छपा हुआ है। वह तो महीनोंका व्याख्यान होगा, ऐसा मेरा ख्याल है। पर वह व्याख्यान दूसरा है, यह दूसरा है। दोनों एक नहीं है। यह नहीं कि वह पढ़ोगे तो यह उसमें आजायेगा या यह सुनोगगे तो वह उसमें आजायेगा। दोनों बिलकुल अलग-अलग है। आप लोग इतने प्रेमसे सुनते हैं। नीचे बैठते है—अपने घरकी सुख-शान्ति, आनन्द है, उसको छोड़कर आते हैं। एक बाई थी बम्बईमें—कृष्णराज ठाकरसीकी माँ मोतीबाई—उसने हमसे कहा—स्वामीजी हम कथा तो आपकी सुनना चाहते हैं पर लोगोंके बीचमें बैठकर नहीं। लोगोंकी साँस हमको लग जायेगी तो हमको तकलीफ हो जायेगी। जहाँ बहुत लोगोंकी साँस चलती हैं, वहाँ मैं नहीं बैठ सकती। हमको अकेलेमें कथा सुनाओ। बहुत भावुक थी—अच्छी थी, घरमें ठाकुरजीकी सेवा थी। पर आप लोग लोगोंकी साँसकी परवाह नहीं करते हैं। श्वास-सम्मेलनमें सम्मिलित हो जाते हैं।

यह आपका अनुग्रह है और आप लोगोंके चेहरेपर हँसी देखकर सिर हिलाते देखकर आपकी खुशी देखकर हमको खुशी होती है। ऐसा लगता है कि आपलोग अनुग्रह ही कर रहे हैं। आयोजन करनेवालोंका तो प्रेम है ही, नहीं तो क्यों करते? ये जो श्रोता हैं, सुननेवाले हैं वे सब भगवानके प्रेमी हैं, कृपालु हैं, अनुग्रह करते हैं। हम आप सब लोगोंके कृतज्ञ है, आभारी है। अब बिरला परिवारसे तो इतनी एकता-सी हो गयी है कि आभार प्रकट करनेका मन तो नहीं होता। लेकिन आप लोगोंकी इतनी प्रीति है यह देखकर खुशी होती है और आपका प्रेम हमेशा भगवान्में, भगवान्की कथामें, उनकी भक्तिमें बना रहे, यही मेरी इच्छा है।

●





स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

गीता-दर्शन

(11)

गीता अध्याय - 13

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

भूमिका

आपने द्वादश अध्यायका श्रवण किया। आप भक्त हो गये, भगवान्‌के अत्यन्त प्यारे हैं न! अच्छा तो अब भक्तको भगवत्-तत्त्वका विज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय

जिसकी सेवा करोगे उसके स्वरूपका अनुभव होगा ही। तदाकार वृत्ति होगी तो मैं, तू, यह, वहका भेद मिट ही जायेगा, क्योंकि अनुभविता और अनुभाव्यकी एकता हुए बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता। अनुभव अर्थात् दृश्यका द्रष्टा! दृश्यके पीछे विद्यमान अधिष्ठान! अनु अर्थात् पीछे; भव अर्थात् है—होना। यह तो आश्चर्य है। इस देहमें ही परम पुरुष अर्थात् पुरुषके प्रत्यक् रूपको परमात्मा कहते हैं। 'परमात्मेति चाप्युक्तो'.....।

त्रयोदश अध्यायमें वर्णित-'परम ब्रह्म परमात्मा', यह नाम आपका ही है क्या? अवश्य! इसमें कोई संशय नहीं। आइये इसमें प्रवेश करें-

देह माने जो विविध प्रकारकी वस्तुओंकी राशि हो। समूहीकृत वस्तु अर्थात् अनेक वस्तुओंका मिला-जुला रूप, स्वयं उस वस्तुके लिए नहीं होता; किसी दूसरेके लिए होता है; उसका कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता कोई और ही होता है। साथ ही, वह होता है-शरीर। शरीर माने जीर्ण-शीर्ण होनेवाला क्षयिष्णु। परिवर्तनशील, अनित्य एवं विनश्वर होनेपर भी स्वभावतः इसका आदि-अन्त नहीं है। वह क्षेत्र है। क्षेत्रका अर्थ है, वह खेत जिसमें पाप-पुण्यके बीज बोये जाते हैं। वे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होते हैं और अन्ततोगत्वा अपना बीज छोड़ जाते हैं। बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज। यह अनादि परम्परा है। तत्त्वज्ञानकी तलवारसे इसका उच्छेद हो सकता है, स्वयं नहीं।

अच्छा तो देखिये, इसका विस्तार कितना है। महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, बाप रे बाप! क्षेत्रके विस्तारका आकलन नहीं किया जा सकता है। देशके बाद देश, कालके बाद काल, वस्तुके बाद वस्तु; विविध करण, विविध कार्य। कारणके परिणममान रूपोंकी गणना सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक 'अज्ञेय' कहकर चुप हो गये। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि विकारोंकी संख्या उनकी ख्यातियाँ क्या बुद्धिमें समेटी जा सकती है? बुद्धि भी एक विकृति ही है। इनके अन्तका पार नहीं है। ये धूप-छाँवकी तरह चमकते रहते हैं। चाकचिक्य हैं, आभास हैं, मायाके चमत्कार हैं। इन्हें न शुद्ध अन्तःकरण अपना विषय बना सकता, न अशुद्ध। ये जो कुछ हैं, क्षेत्रज्ञके स्वरूपको सूचित करनेवाले हैं। है इनका कोई ज्ञाता? हाँ, तो जिस ज्ञानसे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनों ही जगमग-जगमग, चम-चम, झिलमिल झलकते हैं, वह निर्विकार ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान हो सकता है।

उस वास्तविक अर्थात् सिद्ध ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए अर्थात् अज्ञान और तज्जन्य भ्रान्ति, क्रान्ति, श्रान्ति, क्लान्तियोंके चक्रव्यूहसे मुक्त आत्माके रूपमें अनुभव करनेके लिए अर्थात् आवरणसे मुक्त करनेके लिए अन्तःकरणकी शुद्धि अपेक्षित है। यदि यह शुद्धि न हो तो आप अन्तःकरणके इन्द्रजालमें कहीं-न-कहीं

फँसेंगे, हँसेंगे, रोयेंगे। अज्ञान निवृत्तिके लिए बीस साधक और बीस बाधक गिन लीजिये-अमान, अदम्भ, अहिंसा आदि। ये ही अन्त:करणमें वह योग्यता लाते हैं जिससे हम दृश्य सम्बन्धके त्यागके योग्य बनते हैं। यही है ज्ञानका साधन।

ज्ञान और अमृतत्वमें 'व्याप्ति'; इसका अभिप्राय है अमृत हो जाना। 'अश्नुते' क्रियापदका अर्थ है अमृतसे तादात्म्य। अमृत माने ब्रह्म। वह कर्त्तव्य, उपासितव्य, ध्यातव्य एवं योक्तव्यसे विलक्षण है। वही ज्ञातव्य है। ज्ञान अमृत है, अज्ञान मृत्यु है। ज्ञान ही सुख है, अज्ञान ही दु:ख है। ज्ञान क्या? जो अनेकानेक ह्रास-विकास, उल्लास, प्रकाशके विविध रूपोंमें एक ही रहता है। एकता भी वह जिसको दोहरानेसे दो नहीं बनता। हाँ वह एकता, जिसमें आधा-चौथाई या किसी प्रकारके विभाग नहीं बनते। एक, किन्तु अद्वितीय एक। दूर भी वही निकट भी वही। चर भी वही अचर भी वही। जिसमें जड़-चेतनका विभाग नहीं। सुख-दु:खका विभाग नहीं हैं। जन्म-मरणका विभाग नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है, ज्ञानसे उपलब्ध होता है। अवश्य, ज्ञातव्य भी वही है। वह कौन? उपलब्धि-मात्र जिसमें न ज्ञाता, न ज्ञेय, न अनुभविता, न अनुभाव्य-यही सत्य है, यही ज्ञान है, यही आनन्द है। यह उपलब्धिका विषय नहीं है, स्वयं उपलब्धि है, अपना स्वरूप है, आप ही हैं।

बारहवें अध्यायके भगवद्-भक्तके लिए यही भगवत्-तत्त्व विज्ञान प्राप्त करना होता है और वह स्वयं भगवत्-सत्तासे अपना अभेद अनुभव करता है। यही है तेरहवें अध्यायमें-मद्भावोपपत्ति।

पुरुष एवं प्रकृति दोनों ही अनादि हैं। अनादि शब्दको सुनते ही द्वैतवादी उछल पड़ते हैं। क्या आश्चर्य है! प्रकृति भी पुरुषके समान अनादि है? हाँ, है तो सही! ज्ञान पुरुष है, अज्ञान प्रकृति है। दोनोंके आरम्भका पता नहीं है। ज्ञान कबसे, अज्ञान कबसे? अज्ञानसे तो कबका पता नहीं चलेगा। ज्ञानसे भी उसके पहले, उसके पहले.....अर्थात् अज्ञानमें ही पर्यवसान होगा। परन्तु दोनोंमें अर्थात् ज्ञान-अज्ञानमें अद्भुत विलक्षणता है। अज्ञान मिट जाता है, ज्ञान नहीं मिटता। अर्थात् अज्ञान सान्त है, ज्ञान अनन्त है। कुछ लोगोंने विषयको ज्ञानमें आरोपित करके विषयकी उत्पत्ति-विनाशको ज्ञानका उत्पत्ति एवं विनाश मान लिया। अच्छा, छोड़ो उनकी बात! यह सार्वजनिक अनुभव है कि किसी भी वस्तुका अज्ञान अनादि होनेपर भी ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। तेरहवें अध्यायका कहना है कि परमात्मा केवल अनादि ही नहीं, निर्गुण भी है-'अनादित्वात् निर्गुणत्वात्......।' निर्गुणका अर्थ है निष्प्रकृति, कार्य-कारण भावसे विनिर्मुक्त। प्रकृतिके अत्यन्ताभावका प्रकाशक, अधिष्ठान, चेतन। प्रकृति, पुरुषके ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है, पुरुषके अधीन है। प्रकृति या तो प्रथम कृति है या तो परमात्माके अधीनसत्ताक है अथवा परिणामी कारण है। प्रकृतिको बहुत-बहुत महत्त्व या आदर दिया जाय तो वह ब्रह्मका ही एक नाम है। एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा अथवा लौह, मृत्तिका, स्वर्ण आदिके दृष्टान्तके अनुरोधसे उसकी पृथक सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतएव पुरुष पूर्ण है, प्रकृति व्यवहार-दशामें कार्य-वर्गकी सिद्धिके लिए पुरुषमें कल्पित है। इसीसे तेरहवाँ अध्याय अन्ततोगत्वा पुरुषके ब्रह्मत्वका ही निरूपण करता है। एकमें ही स्थिति, एक-से ही विस्तारका अनुभव पुरुषकी ब्रह्म-संपत्ति है।

जहाँ सत्ता जड़ात्मक होती है, वहाँ परिणाम अथवा विकारकी सम्भावना होती है। वह दृश्य है, दृष्टिका

विस्तार है, दृष्टिका कम्पन है, दृष्टिसे पृथक नहीं है, दृष्टिमें ही स्थित है, एकस्थ है। वह एक कौन है? 'ईशावास्य'से मिलाइये। आत्मन्येवानुपश्यति.....' फिर तो हुआ न वही! अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें स्थित द्वैतका भ्रम मिट गया।

द्वैत होता नहीं है, द्वैत-सा होता है-'द्वैतमिव भवति' इसी 'इव'में समग्र व्यवहारका उपपादन है, एक दूसरेको विषय बनाना-विषय-विषयी भाव। अद्वैतमें विषय-विषयी भाव नहीं है। 'यत्र तु सर्वं आत्मैवाभूत्....।' कहाँ है व्यवहार? सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-पुराण इसी 'द्वैतमिव'की व्याख्या करते हैं। 'नेति'के इति पदका व्याख्यान है सब। 'न' सबका निषेध करता है। रहा कौन? ज्ञान, आत्मा। 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।' कर्ता, करण, कर्मका निषेध है-'न करोति।' भोक्ता, भोग एवं भोग्यका निषेध है-'न लिप्यते।' अहं, इदं दोनों उड़ गये। रहा कौन? आप, केवल आप। दृष्टान्त है, आकाश। यह वायु आदिके कारण तथा आधारके रूपमें कल्पित है। आत्मानुभूतिकी दृष्टिसे यह चिदाकाशसे पृथक नहीं है। 'निर्विशेष' पदका अभिप्राय भी अशेष, विशेषके निषेधमें ही है, अवशेष रूपसे निर्विशेषत्वकी स्थापनामें नहीं है। इसका अभिप्राय है, ज्यों-का-त्यों। न परिवर्तन, न प्रवर्तन, न परिवर्द्धन, न प्रतिषेधन।

त्रयोदश अध्यायमें साधनका विचार भी विलक्षण है। केवल क्षेत्र ज्ञान नहीं, और केवल क्षेत्रज्ञ ज्ञान भी नहीं। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञानके विषय हैं, ज्ञान प्रकाशक है-'एतज्ज्ञानं मतं मम।' 'ज्ञात्वाऽमृतम् अश्नुते' इसमें ज्ञान-वृत्ति अबाधित नहीं है, उसका भी बाध होता है। अमृतत्वकी प्राप्ति भी नहीं है, व्याप्ति है, अर्थात् वृत्तिव्याप्ति तो है, फलव्याप्ति नहीं है। फिर साधन क्या है? ज्ञानोत्पत्तिके पूर्व ज्ञानकी प्राप्तिके लिए साधन हैं, अमानित्व...आदि। ठीक है, अब जिनके लिए अमानित्वादि साधन और वृत्तिव्याप्ति दोनों दु:साध्य हैं उनके लिए चार प्रकारके साधनोंका निरूपण है-

1. ध्यान-इससे अपने अन्त:करणमें ही एकाग्र एवं सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा अपने आत्माका ध्यान-अनुसन्धान होता है। यह दर्शन ध्यान-सम्पाद्य होनेके कारण किसी दूसरे मतवादियोंका है-'केचित्'। ध्यानमें पहले कल्पित ध्येयाकार वृत्ति होती है। उससे तादात्म्य परमार्थ नहीं हो सकता। परन्तु साधन है, क्योंकि स्वनिर्मित ध्येयका द्रष्टा ध्येयके बाधमें समर्थ हो जाता है।

2. सांख्ययोग-इसमें द्रष्टा-दृश्यका विवेक होता है। दृश्य एक कोटिमें आजाता है और द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। 'विवेकख्याति'का यह श्रेष्ठ उपाय है, परन्तु यह अद्वैत-बोध नहीं है-'अन्ये सांख्येन....'।

3. कर्मयोग-आलस्य, निद्रा, प्रमादका त्याग। तदनन्तर क्रमश: निषिद्ध एवं सकाम कर्मका परित्याग। फिर निष्काम कर्ममें कतृत्वका परित्याग। कर्तृत्वका त्याग होनेपर विक्षेप या समाधि दोनों स्थिति रह सकती हैं। भोग सम्बन्ध टूट जाता है। अकर्ता, अभोक्ता आत्माके ज्ञानमें स्पष्टता आजाती है परन्तु अद्वितीयताका बोध नहीं होता। यह साधन करनेवाले भी 'केचित्' एवं 'अन्ये'के समान 'अपरे' हैं।

4. अब है चतुर्थ, साधन। ठीक है, साधनोंका विवेक नहीं है, तब आत्मज्ञानका कोई उपाय नहीं है क्या?

है। वह है श्रद्धा। आत्मज्ञानियोंसे श्रवण करके निष्ठाके साथ उपासना करनी चाहिए। उन्हें भी 'अतिमृत्युमेति'के समान ही मृत्यु-संतरणका मार्ग मिल जायेगा; तर ही जायेंगे।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि वस्तुके निर्माणका विभाग है-कर्म। कर्मके द्वारा वस्तुका उत्पादन, प्राप्ति, संस्कार और परिवर्तन किया जाता है। विद्यमान वस्तुका यथार्थ बोध प्राप्त करनेमें कर्मका साक्षात् उपयोग नहीं होता है। विद्यमान पदार्थ यदि स्थूल है तो प्रत्यक्षके द्वारा, सूक्ष्म अथवा दूर है तो अनुमानके द्वारा, देखा हुआ नहीं है तो सादृशके द्वारा, नित्य-परोक्ष है तो शास्त्रके द्वारा ज्ञात होता है। स्वयं अपने आत्माको जो कि साक्षात् अपरोक्ष है, कर्मके द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। आत्मानुभूति न कर्म-संस्कारसे उत्पन्न होती है और न तो किसी प्रकारका संस्कार बनाती है। आत्मा कभी परोक्ष न था, न है और न होगा। वह स्वयं है। इसलिए कर्म-परीक्षा तथा प्रमाण-परीक्षाके द्वारा उसका निर्माण या विषयोंके समान ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। उसके लिए तो 'ये विदुर्यान्ति ते परम्।' 'पर' शब्दका अर्थ-देश, काल एवं वस्तुसे परे अन्यके रूपमें नहीं है। परत्व है आन्तरसे, आन्तरकी पराकाष्ठा अर्थात् स्वयं। इसीसे इसको 'अविज्ञेय', 'सूक्ष्मत्वाद् तदविज्ञेयं' कहा गया है। 'अविज्ञेय' होनेपर भी अवश्य ज्ञातव्य है, इसलिए 'ज्ञेय' है। ज्ञेयके साक्षात्कारका असाधारण करण ज्ञान ही है- 'ज्ञानगम्यं'। इतना ही नहीं वह स्वयं ज्ञान अर्थात् ज्ञप्तिस्वरूप है, ज्ञाताज्ञेयकी कल्पनासे असंस्पृष्ट। तब साधनका अर्थ क्या है? अन्त:करणकी शुद्धि। वह पहले ही कर ली गयी।

अविज्ञेय एवं ज्ञेय दोनोंका एक साथ प्रयोग निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। घट-पटादिके समान विज्ञेय न होनेपर भी, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासकके रूपसे साक्षात् अपरोक्ष ही है। अवेद्य एवं अपरोक्ष, यह ही स्वयं-प्रकाशका लक्षण है। त्रयोदश अध्याय बारम्बार 'एकस्थमनुपश्यति', 'य: पश्यति स पश्यति' दुहराकर श्रुतियोंकी भाषामें ही बोलता है-'एकत्वमनुपश्यत:', 'आत्मन्येवानुपश्यति'। है न श्रुति-वचन! जहाँ सूर्यज्योति, चन्द्रज्योति अर्थात् दृष्टि एवं मन अपना कार्य करनेमें विफल हो जाते हैं-वहाँ वाग्ज्योति काम देती है। अज्ञानसे ही ज्ञान आवृत है-'अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्।' ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है-'ज्ञानेन तु तदज्ञानम्।'

'ज्ञान' व्यक्तिका अलंकार नहीं है। व्यक्ति ही ज्ञानकी एक चमक है-धूप-छाँव जैसी। व्यक्तिमें अनेकता, संस्कारोंकी अनेकतासे होती है। 'ज्ञान' व्यक्तिका व्यवस्थापक नहीं है, संस्कार ही उसका व्यवस्थापक है। यदि ऐसा न होता तो सब ज्ञानियोंका व्यक्तित्व एक-जैसा ही होता। सब समाधिस्थ होते अथवा सब विक्षिप्त होते। परन्तु 'ज्ञान' समाधि तथा विक्षेप दोनोंका प्रकाशक है। ऐसा हो अथवा वैसा हो। योगी तथा ज्ञानीके व्यक्तित्वकी विद्यमानतामें तो कोई सन्देह है ही नहीं। वह है-आत्मरूपसे हो, समाधिस्थ रूपसे हो, क्रियाशील रूपसे हो, है अवश्य। परन्तु उसकी वर्तमानतामें सन्देह है। विद्यमानता अस्तित्व है। वर्तमानता व्यवहार है। 'विद्' सत्ता है। 'वृत' वर्तन है। छठवें अध्यायका कहना है कि योगी कैसा भी बर्ताव करे मुझमें ही बर्तता है। त्रयोदश अध्यायका कहना है कि ज्ञानी चाहे कैसा भी बर्ताव करे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। जन्म-मरणकी भ्रान्ति निवृत्त हो गयी, यह जन्म ही उसका नहीं तो उत्तर जन्मका क्या प्रसंग है!

रही बात वर्तमान व्यक्तित्वकी, सो ज्ञानके अनन्तर विविध प्रकारका देखा जाता है। शुकदेवकी समाधि,

वसिष्ठका पौरोहित्य, जनक-अश्वपतिका राज्य, रामका विवाह, अर्जुनका युद्ध, सनत्कुमारकी बालक्रीड़ा, ऋषभदेवकी अनवधानता, दत्तात्रेयकी स्वच्छन्दता शास्त्र-प्रसिद्ध है। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि......' का अभिप्राय जाति, सम्प्रदाय, देश, काल आदिसे आबद्ध जीवन नहीं है। ज्ञानीके स्वातन्त्र्यमें कुछ भी बाधक नहीं है। वेद, शास्त्र, पुराण, आचार्य-परम्परा, संस्कार आदि आकाशकी नीलिमाके समान बाधित होकर प्रतीत हो रहे हैं। उपाधिके मिथ्यात्व-निश्चयके साथ ही आधि, व्याधि, समाधि सबका सत्त्व-महत्त्व समाप्त हो गया। लोक, परलोक, अलोक सबका वैराग्य-कालमें ही तृणीकार हो गया था, अब ब्रह्मीकार हो गया। ज्ञानीको स्वदृष्टिसे दूसरा कुछ है नहीं या भासता है, तो सब आत्मा ही है। अतएव आप चौदहवें अध्यायमें देखेंगे कि सत्त्वात्मक प्रकाश, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति एवं तमोगुणात्मक मोहकी सम्प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमें ज्ञानी पुरुषको किञ्चित् भी राग-द्वेष नहीं है। 'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।' भक्त तथा गुणातीत, 'सर्वारम्भ परित्यागी'के साथ-साथ शुभाशुभ-परित्यागी भी होते हैं।

बारहवें अध्यायकी भक्ति दोष-निवारक जैसे 'अद्वेष्टा' आदि एवं भगवत् -प्रीतिजनक है। तेरहवें अध्यायकी भक्ति ज्ञानके लिए अधिकार-सम्पत्ति प्राप्त करती है। चौदहवें अध्यायकी भक्ति गुणातीत करती है। पन्द्रहवें अध्यायकी भक्ति सर्वभावको भजन बना देती है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

आप विचार करके देखेंगे तो भक्तिके यह सब रूप आत्मानुभूतिके क्रमिक साधन अथवा क्रमिक विकास है। 'ज्ञान'से ही भूत 'प्रकृति-मोक्ष' एवं परतत्त्वका-साक्षात्कार होता है।

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय -13

प्रश्न-उत्तर

प्रथम दिवस

(28-10-84)

श्रीमती सरला बसन्त कुमार बिरला द्वारा पूज्य स्वामीजीका स्वागत

पूज्य स्वामीजी महाराज को श्रद्धासहित हमारा प्रणाम। आप प्रतिवर्ष यहाँ पधारकर हमपर अत्यन्त अनुग्रह करते हैं। गतवर्ष गीताके बारहवें अध्यायका सुन्दर निरूपण हुआ था। इस वर्ष इस शृङ्खलामें नयी कड़ी जुड़ेगी। गीताके चौथे अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिस्तत्त्वदर्शिनः॥

हमलोग अपनी जिज्ञासाएँ पूज्य महाराजश्रीके समक्ष प्रस्तुत करेंगे तथा वे अपनी अमृतवाणी और उत्तम विचारोंसे उनका समाधान करेंगे। हम प्रश्न करनेवालोंका स्तर तो पहली कक्षाका है तथा पूज्य स्वामीजी हमारे देशके सबसे उच्च कोटिके विद्वान् हैं। इस अन्तरको पूज्य स्वामीजी अपने उदात्त भावसे ठीक करेंगे, यही मैं आशा करती हूँ। आप सब महानुभावोंका अपनी तरफसे स्वागत करती हूँ। स्वामी प्रबुद्धानन्दजीके सहयोगसे यह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा। जिज्ञासाओंको एकत्रित करनेमें पं० विष्णुकान्तजी शास्त्री एवं श्री बिन्नाणीजीने सहयोग दिया है; इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देती हूँ। ईश्वर पूज्य स्वामीजी महाराजको उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायु प्रदान करें। आप सबका जीवन मङ्गलमय रहे तथा हमें इस प्रकारके सत्संगका सुअवसर हमेशा प्राप्त होता रहे। अब मैं शास्त्रीजीसे अनुरोध करूँगी कि वे अपना कार्य आरम्भ करें।

श्रीविष्णुकान्त शास्त्रीजी द्वारा प्रश्न-प्रस्तुति

यह हमलोगोंका सौभाग्य है कि हम पूजनीय गुरुजीके समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ रख पा रहे हैं। सच बात यह है कि देशमें प्रश्नोंकी भरमार हो गयी है और लगता यह है कि उत्तर किसीके पास नहीं है। प्रश्न ज्यों-ज्यों बढ़ रहे हैं, घट रहे हैं त्यों-त्यों जवाब। होशमें भी एक पूरा देश बेहोश हैं। हमारा पूरा देश तथा कथित होशमें बेहोश जैसा व्यवहार कर रहा है। जिसे देखिये वे प्रश्न पूछते चले जा रहे हैं और जवाब देनेवाले नहीं मिलते। प्रश्न दो मुद्राओंमें पूछे जाते हैं। एक मुद्रा जाननेकी होती है, विनम्रताकी होती है, जैसा कि गीतामें बताया गया कि प्रणिपात और सेवासे सम्पुटितकर परिप्रश्न करनेका अधिकार है। विनम्रतासे गुरुके पास जाकर सेवा करनेके बाद विषयको समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। उसका अभाव है। अहङ्कारसे, दर्पसे, सामनेवालेको नीचा दिखानेकी नीयतसे जो सवाल उछाले जाते हैं; वे अनुचित सवाल होते हैं। दूषित होते हैं। दृष्टि यदि दूषित है तो इसका निष्कर्ष भी उत्तम नहीं होगा। लगता यह है कि हम सब जैसे खूँटियोंमें टँग गये हैं। काम, क्रोध,

लोभ, मोह, शोषण, स्वार्थ, दृष्टिहीनताकी खूँटियोंमें हैं। उन खूँटियोंपर टँगे-टँगे हम यह सोच रहे हैं कि हमारा नहीं, खूँटियोंका अपराध है। क्या हम चल नहीं पा रहे हैं, हम टँगे हैं। अपराध हमारा ही है। हम स्वयं अपनेको मुक्त नहीं करना चाहते। हम सवाल उछालते हैं, जाननेके लिए नहीं, अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनके लिए, सामनेवालेको निरुत्तर करनेकी इच्छासे, इसलिए उत्तर नहीं मिलता। हमसब श्रद्धासे, विन्रमतासे, पूजनीय गुरुजीके समक्ष अपनी जिज्ञासाएँ रखेंगे। सीमा यह है कि जिज्ञासा भी वही कर सकता है जो विषयको जानता हो, जबतक विषय हृदयंगम नहीं होता तबतक उसमें पूछने लायक क्या है, यह समझमें नहीं आता और जैसा कि माननीया सरलाजीने बताया कि पूछनेकी हमारी पात्रता प्रथम श्रेणीकी है, पहले दर्जेकी है; विषय इतना कम हम जानते हैं कि उसके सम्बन्धमें सार्थक प्रश्नोंकी तलाश हमारे लिए कठिन है। फिर भी चेष्टा की गयी है। जो कुछ हमारी कमी है, गुरुजी उसे अपनी तरफसे सुधार लेंगे।

प्रश्न : यह है कि भक्तियोगके निरूपणके अनन्तर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योगके कथनकी संगति क्या है?

उत्तर : बारहवें अध्यायके पश्चात् तेरहवाँ अध्याय क्यों प्रकट हुआ क्योंकि—'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनि:सृता' भगवान्‌के हृदयमें गीता पहलेसे भरी थी और वह प्रकट हो गयी। एक बारकी बात है जब पढ़ते समय काशीमें छुट्टियाँ होती तो हम कहीं ऐसे ही घूम आते। एक बार चुनार चले गये। चुनारमें एक दुर्गाखोह नामकी जगह है, उसमें दो-चार महात्मा उन दिनों रहते थे। एक महात्मा थे, उनका नाम था एकलिंगस्वामी। मद्रासी थे। गीताकी चर्चा चली तो उन्होंने बताया कि गीताकी एक 'स्वयंविमर्श' टीका है— माने गीताके सम्बन्धमें जो भी प्रश्न हो गीता मातासे ही उसका उत्तर माँगो तो वह स्वयं दे देती है। अब हम गीता मातासे ही पूछते हैं कि भक्ति और भक्तका वर्णन करनेके प्रश्चात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकको क्या आवश्यकता पड़ी? गीता माता तेरहवें अध्यायमें ही कहती हैं—'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'—मेरा भक्त यह विज्ञान प्राप्त करके कि क्षेत्र क्या है, क्षेत्रज्ञ क्या है और दोनों परमात्माके स्वरूपमें अन्तर क्या है और दोनोंकी प्राप्तिका साधन, ब्रह्मके साक्षात्कारका साधन क्या है, यह बतलाकर बोलती हैं—क्षेत्रका लक्षण, क्षेत्रज्ञका लक्षण, साधन और तत्त्वज्ञान। इनका उपदेश करके गीता माता फिर बोलती हैं 'मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपद्यते'। मेरा भक्त जब यह विज्ञान प्राप्त कर लेता है तो मेरा 'स्वरूप' हो जाता है। मैं समझता हूँ कि प्रयोजन बतानेके लिए इससे बढ़िया और कोई उत्तर नहीं है। और ज्ञानके साधनोंमें 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'—अनन्य योगसे भगवान्‌में अव्यभिचारिणी भक्ति—जैसे एक सती, पतिव्रता स्त्री देखती है कि मेरे पतिके सिवाय और कोई पुरुष है ही नहीं—जब ऐसी भक्ति भक्तके हृदयमें प्रकट होती है तब उसको परमात्माकी एकताका, अद्वितीयताका बोध होता है। भक्ति पतिव्रता तब होती है जब उसकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय दूसरा कुछ नहीं रहता। यह तो हमारे बचपनकी बात है। गीता स्वयं-प्रकाश है और गीता स्वयं विमर्श करने पर अपने सम्बन्धके सारे प्रश्नोंका उत्तर दे देती है।

अब थोड़ी-सी बात पुराने आचार्योंकी भी करते हैं। गीतापर इस समय जितनी भी टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें यदि हनूमत्-कृत पैशाच भाष्यको पीछेकी न मानें तो वह सबसे पुरानी माननी पड़ेगी। परन्तु उसको

पुरानी माननेमें कई शंकाएँ है; क्योंकि शंकराचार्यके भाष्यका ही संक्षेप उसमें मिलता है। वे ही पंक्तियाँ हैं, वे ही वाक्य हैं। शङ्कराचार्य भगवान्‌ने ऐसे निरूपण किया कि सातवें अध्यायमें परा प्रकृति और अपरा प्रकृतिका वर्णन आया; अपरा प्रकृति जड़, प्रपंचरूपा है, 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च'। वह क्षेत्र है और 'इतस्तु अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो'—यह परा प्रकृति है, जीव क्षेत्रज्ञ है और 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'। परमात्मामें क्षेत्र बाध सामानाधिकरण्यसे और क्षेत्रज्ञ मुख्यसामानानिधकरण्यसे एक होता है। तो वही परा प्रकृतिका और अपरा प्रकृतिका सातवें अध्यायमें जो संक्षेपसे वर्णन था, उसको तेरहवें अध्यायमें स्पष्टताके साथ निरूपण कर रहे हैं। दूसरा, सातवें अध्यायमें ही यह उठाया कि हमारी भक्ति करनेवाले चार प्रकारके लोग हैं। 'आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च'। तो ज्ञानी भक्त कैसा होता है, इसका निरूपण बारहवें अध्यायमें किया गया है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' आदि श्लोकोंमें जो भक्तके लक्षण हैं—किसीसे द्वेष न करना, सबसे मित्रता रखना, दुःखीपर करुणा करना, संसारमें कहीं ममता नहीं जोड़ना, किसी बातका अहङ्कार नहीं करना, इन लक्षणोंके प्रसङ्गमें, कुछ ऐसे लक्षण भी बताये गये हैं जो सिवाय ज्ञानीके दूसरे किसीके जीवनमें होने कठिन हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

जिससे किसीको उद्वेग न हो और जो किसीसे उद्विग्न न हो। इतना विलक्षण और विचक्षण लक्षण है कि जिससे किसीको उद्वेग न हो और जो किसीसे उद्विग्न न हो। यह बात तभी हो सकती है जब एकताका अनुभव हो। यदि सम्प्रदायमें आग्रह होगा, तो दलबन्दीमें आग्रह होगा, क्षेत्रबन्दीमें आग्रह होगा तो वह मनुष्य किसी-न-किसीको एक सम्प्रदायवाला दूसरे सम्प्रदायवालेको, एक जातिवाला दूसरी जातिवालेको और एक पार्टीवाला दूसरी पार्टीवालेको उद्विग्न करेगा ही करेगा। जो दलबन्दीसे, सम्प्रदायसे, जातिवादसे, क्षेत्रवादसे सर्वथा निर्मुक्त है वह अद्वितीय, परब्रह्म, परमात्माका अनुभव करनेवाला तत्त्वज्ञ ही ऐसा हो सकता है जो किसीको उद्विग्न न करे और किसीसे उद्विग्न न हो। वह तो समुद्र अपने अन्दर रहनेवाले मगरमच्छोंसे उद्विग्न नहीं होता और मगरमच्छ समुद्रकी गहराईसे उद्विग्न नहीं होते। न समुद्र मगरमच्छोंसे डरता है न तो मगरमच्छ समुद्रसे। यह ज्ञानी ब्रह्म-समुद्रमें विचरण करनेवाला एक मगरमच्छ है, न इसको उद्वेग है, न समुद्रको उद्वेग है। यह लक्षण ज्ञानीके सिवाय और किसीके जीवनमें होना कठिन है। इसलिए तेरहवें अध्यायमें उत्तम ज्ञानका निरूपण हुआ—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यतज्ज्ञानं मतं ममः।

जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान है, जिससे क्षेत्र मालूम पड़ता है कि क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ मालूम पड़ता है कि क्षेत्रज्ञ है—इन दोनोंका प्रकाश जिस ज्ञानसे होता है, वह परमात्माका शुद्ध ज्ञान है। एक तीसरी प्रक्रिया है, जो पूरे महाभारतके व्याख्याता श्रीनीलकण्ठाचार्यने की है। भारत-भावदीप उनकी पूरे महाभारतपर टीका है। और महाभारत जैसा तो दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। और सब तो प्रकरण-ग्रन्थ हैं—कोई भक्तिके प्रतिपादक, कोई योगके प्रतिपादक, कोई सामाजिक व्यवहारके प्रतिपादक, कोई राजनीतिके

प्रतिपादक पर महाभारत ऐसा है कि विश्वसृष्टिमें जितने प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं, जितनी प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ हो सकती हैं, उन वृत्तियाँको पात्रका रूप देकर महाभारतमें चित्रण किया गया है। उसी महाभारतका एक अङ्ग गीता भी है और पूरे महाभारतपर टीका लिखते समय उन्होंने गीतापर भी टीका लिखी है। उनका कहना है कि दूसरे अध्यायमें आत्माका लक्षण बताया गया—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

आत्माका स्वरूप है अव्यक्त अविकार्य। और बारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी कि यह परमात्माका लक्षण है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

द्वितीय अध्यायमें जो आत्माका लक्षण बताया गया और वहाँ उसको सर्वगत कहा गया—'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः' और यहाँ 'ये त्वक्षरम् अनिर्देश्यं' में परमात्माका, ब्रह्मका, लक्षण बताया गया और उसको भी 'सर्वत्रगम्' कहा गया कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। सर्व देशमें, सर्वकालमें, सर्व वस्तुमें। जब लक्षण एक है तो आत्मा एक हो और परमात्मा अलग हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही लक्षणकी दो वस्तु नहीं हो सकतीं। वह लक्षण ही नहीं होता जो दो पदार्थोंमें घटित हो जाय। तो इसका अर्थ यह हुआ कि द्वितीय अध्यायका आत्मा और बारहवें अध्यायका परमात्मा दोनों एक हैं। यह दोनों एक हैं, इसका बोध कैसे हो—इसके लिए तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ किया जाता है और इसमें एकताका ऐसा वर्णन है कि इसमें तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही परमात्मा हैं, इसका वर्णन आता है। 'अनादिमत्परम् ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। सर्वतः पाणिपादं तत्'—फिर 'सर्वस्य हृदि विष्ठितम्' 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्' 'अचरं चरमेव च'। अचर भी वही है और क्षेत्रज्ञ भी वही है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

इसलिए सम्पूर्ण जगत् भी परमात्मासे अभिन्न है। जीवात्मा भी परमात्मासे अभिन्न है। इसलिए परमात्मासे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है। इसका विवेक करनेके लिए तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ है—नीलकण्ठके भारत-भावदीपमें ऐसी अवतरणिका दी हुई है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जीवन हमारा विवेकसे पूर्ण होना चाहिए। यह शरीर क्षेत्र है। क्षेत्र माने? जैसे कहते हैं यह पुण्य-क्षेत्र है। यह नैमिषारण्य-क्षेत्र है। यह दण्डकारण्यक्षेत्र है—यह वाराणसी-क्षेत्र है। जहाँ पवित्रात्मा लोग निवास करें उसका नाम हो जाता है क्षेत्र। और जो अन्तमें क्षीण हो जाय उसको भी क्षेत्र कहते हैं और जिसमें बोये हुए पाप-पुण्य अङ्कुरित होते हैं और अपना फल देते हैं उसको भी क्षेत्र कहते हैं। इस क्षेत्रमें खेती करनेवाला क्षेत्री है तथा जो खेती न करे

लेकिन क्षेत्र-क्षेत्री दोनोंको जाने वह क्षेत्रज्ञ है। वह क्षेत्रज्ञ अद्वितीय परमात्मासे सर्वथा पृथक् नहीं है यह बतानेके लिए तेरहवें अध्यायका आरम्भ होता है।

प्रश्न : शाङ्कर भाष्यमें इसका नाम है 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग' तथा रामानुज भाष्यमें इसे 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग' कहा गया है। क्या इन नामोंमें अन्तरका कोई विशेष कारण है? डॉ० राधाकृष्णन्ने अपने गीता-संस्करणमें इसके आरम्भमें एक श्लोक स्वीकृत किया है जो शङ्कर और रामानुज दोनों आचार्योंके भाष्योंमें नहीं मिलता। वह श्लोक है—

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

आप इस श्लोकको मूल मानते हैं या क्षेपक? इसे मूलके अन्तर्गत स्वीकार करनेपर गीताकी श्लोक संख्या 701 हो जायगी—जब कि सामान्यत: इसके 700 श्लोक माने जाते हैं।

उत्तर : ऐसा है कि श्रीरामानुजाचार्यके मतमें तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान होनेपर भी वे अलग ही अलग रहते हैं। क्षेत्र-विभाग अलग रहता है। 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' और 'एतद् यो वेत्ति' क्षेत्र-विभाग अलग रहता है और ये दोनों चिद्-अचिद् (चिद् जीव और अचिद् जगत्) अयुतसिद्ध विशेषणके रूपमें परमात्मामें लगे रहते हैं। माने चिद्-अचिद् विशिष्ट है परमात्मा; इसलिए दोनोंका विभाग समझना उनके लिए है कि 'क्षेत्र' यह है, 'क्षेत्रज्ञ' यह है और यह दोनों परमात्माके विशेषणके रूपमें लगे रहते हैं। जैसे 'नीलम् कमलम्' जब बोलते हैं (कमल नील होता है) तो नील रंग जो है वह कमलका विशेषण है और वह कमलसे जुड़ा हुआ है। इसीसे कमलको अद्वितीय भी कहेंगे और कमलका नीलकमल, पीला कमल, सफेद कमल ऐसा कमलमें भेद भी होगा। श्रीरामानुजाचार्यकी दृष्टिसे भेद है और वह भेद परमात्माके साथ हमेशा जुड़ा हुआ है और जुड़ा रहेगा। इसलिए केवल विभाग ही बताना उनको अभीष्ट है। परन्तु शङ्कराचार्यके मतमें यह तो विशेषण और विशेष्य विशेषण-विशेष्य नहीं है बल्कि परमात्माके लक्षण हैं। जब हम अद्वैत तत्त्वका वर्णन—'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'—सुनते हैं तब मालूम पड़ता है कि 'अहं कृत्स्नस्य जगत: प्रभव: प्रलयस्तथा' और 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—परमात्मा ही व्यक्तिस्वरूप है, परमात्मा ही ज्ञेय है और परमात्मा ही ज्ञानगम्य है। माने परमात्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। तो वहाँ विभाग बतानेकी जरूरत नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों परमात्मासे एक हो जायँगे। जब यह निश्चित कर लेते हैं कि इस सिद्धान्तका हमको प्रतिपादन करना है तो उस सिद्धान्तकी सिद्धिके लिए जिस शास्त्रकी व्याख्या करते हैं उस शास्त्रकी भी वैसे ही पद्धति और वैसी ही प्रक्रिया निश्चित कर लेते हैं। हमें शंकर और रामानुज दोनों इस दृष्टिसे अच्छे लगते हैं कि दोनों ही परमेश्वरको मानते हैं। दोनों ही वेदको मानते हैं। दोनों ही भक्तिको मानते हैं, दोनों ही सदाचारको मानते हैं और दोनोंका दृष्टिकोण मानवताके पक्षमें है। न उनका पक्ष किसी प्रान्त, राष्ट्र, जाति, वर्ण पर है और न किसी खास परम्पराके प्रति उनका आग्रह है। वे चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें सत्यका साक्षात्कार करे और वह देखे कि

यह जो विश्व-सृष्टि दिख रही है, यह सब परमात्मासे अभिन्न है। तो जो दुनियादारीमें हमारी फँसी हुई दृष्टि है उसको ऊपर उठाकर भगवान्‌में लगानेका प्रयास दोनों ही करते हैं। इसलिए विशिष्टाद्वैतकी दृष्टिसे यह विभागका वर्णन है—'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग' और शंकराचार्यकी दृष्टिसे यह विभाग नहीं है; यह तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका परमात्माके साथ सीधा-सीधा योग है। इसलिए दोनोंके नाममें अन्तर होने पर भी नामके भेदसे वस्तुमें कोई भेद नहीं होता है।

श्लोकके सम्बन्धमें ऐसा है कि शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्यके व्याख्याता हैं केशव कश्मीरी—ये लोग इस श्लोकको नहीं मानते हैं। बल्लभ सम्प्रदायके जो व्याख्याता हैं—बल्लभ दीक्षित और पुरुषोत्तमजी गोस्वामी—वे भी नहीं मानते हैं—इस श्लोकको और चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदाय के जो व्याख्याता हैं—बलदेव विद्याभूषण और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती—वे दोनों भी नहीं मानते हैं। ये जो कश्मीरी शैव हैं उनके पाठमें यह श्लोक आता है और बल्लभ सम्प्रदायवालोंने तो स्पष्ट रूपसे लिख दिया है कि कई लोग यह श्लोक तेरहवें अध्यायमें मानते हैं, परन्तु वह वस्तुत: है नहीं। अब हम लोगोंकी बात है कि सम्प्रदाय-परम्परासे जो प्राप्त है, उसीमें विशेष आदर रखते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी हमको लग सकता है कि जो लोग सीधी संगति बारहवें अध्यायके साथ तेरहवेंकी नहीं लगा पाते हैं वे एक प्रश्न बीचमें रख देते हैं। तो इसको प्रक्षिप्त माननेमें हमको तो कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न : शरीरको क्षेत्र कहनेकी आवश्यकता क्यों पड़ी? क्षेत्र यदि शरीर है तो क्षेत्रज्ञ क्या जीवात्मा है? फिर प्रभु कहते हैं—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'—तो क्या प्रभु ही क्षेत्रज्ञ हैं? यदि ऐसा ही है तो अर्जुन अलग रहते हुए सभी क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें प्रभुको कैसे जान सकता है?

उत्तर : हमारे एक शङ्करानन्द नामके गीताके टीकाकार हुए हैं। बड़ी अद्भुत टीका है उनकी। वे तो कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञं चापि' जो है, उसमें 'चापि' का अर्थ यह है कि 'क्षेत्रमपि क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' मैं ही क्षेत्र हूँ और मैं ही क्षेत्रज्ञ हूँ। ये शङ्करानन्द स्वामी विद्याचरण्य स्वामीके गुरु थे और बारहवीं शताब्दीमें इनकी उपस्थिति मानी जाती है। इन्होंने श्रीमद्भागवतके भी बहुत-से उद्धरण लिये हैं। पहले इस शरीरमें जो जड़ता है उससे अपनेको अलग करना आवश्यक है। हमारा जो अविवेक है, इसने हमको हड्डी, मांस, चाम, मल, मूत्रसे एक करके रख दिया है। यह हमको पता ही नहीं कि इतनी गन्दी चीज हम अपनेको मानकर कैसे जी रहे हैं। इस गन्दे गड्ढेमें-से निकालनेके लिए विवेककी आवश्यकता होती है।

विवेक कैसे करना होता है? जैसे एक तो हड्डी-मांसका बना हुआ शरीर है और इसमें क्रिया होती है। एक तो हुआ शरीररूप द्रव्य और उसमें जो क्रिया होती है, वह प्राणका काम हुआ। इसमें एक ज्ञान है। पहले विवेक यह करना पड़ता है कि एक द्रव्य है, क्रिया इसमें होती है और ज्ञान भी होता है। ज्ञान इस शरीरके साथ इतना मिल गया कि इसके द्वारा जितनी क्रिया होती है, उसको वह अपनी समझता है। ज्ञान अपनेको ज्ञान नहीं समझ पाता। अपनेको वस्तु और क्रियाओंका-कर्मोंका कर्ता मान बैठा है। ऐसी स्थितिमें वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इस परम्परासे—ज्ञानके अनुसार शरीरकी प्राप्ति हो और शरीरके अनुसार क्रिया हो। क्रियाके अनुसार

शरीरकी प्राप्ति हो। यह जो अनादिकालसे अबतक प्रपञ्च चल रहा है, इससे कभी उसको छुट्टी नहीं मिल सकती। तो ऐसी अवस्थामें यदि किसीको ऐसे बन्धनसे मुक्त होना हो तो विवेककी आवश्यकता पड़ती है। विवेक माने संस्कृतमें होता है पृथक्करण—दो चीजें जब एकमें मिल गयी हों तो उनको अलग-अलग करनेका नाम विवेक होता है। 'विचिर पृथक् भावे' एक धातु है और उससे 'विवेचनं विवेक'—दाल, चावल एकमें मिल गये हों तो उनको अलग करना। एक बहुत साधारण-सी बात है—आप ध्यान दें तो पता लगे!

एक मनुष्य हमारे सामने बैठा है। उसको अपने मनुष्य होनेका भान कितनी देर होता है? आप देखें—मनुष्यने विभिन्न सम्बन्धोंमें अपनेको इतना फँसा दिया है कि या तो वह अपनेको किसीका पुत्र समझता है या तो किसीका पिता समझता है—किसीका नाना, किसीका भाई, किसीका बहनोई, किसीका फूफा, किसीका साला, किसीका साढ़ू और कोई अपनेको ब्राह्मण समझता है, कोई क्षत्रिय समझता है। कोई संन्यासी समझता है, कोई गृहस्थ समझता है। लेकिन जिस मानवमें ये सारे आरोप किये गये हैं—वे सारे सम्बन्ध जोड़े गये हैं। मानवता कहाँ चली गयी? कुछ ब्राह्मणने हर ली, कुछ संन्यासीने, कुछ गृहस्थने, कुछ नानाने, कुछ नानीने, कुछ बेटाने, कुछ बेटीने-कुछ बहनने, कुछ बूवाने-यह अपने आपको इतना भूल गया कि सिवाय सम्बन्धके अपने स्वरूपके सम्बन्धमें जानता ही नहीं कि मैं—ये सब पीछेसे आरोपित, सम्बन्धोंसे पहले, सबसे पहले—मैं मनुष्य हूँ, उसके बाद और कुछ हूँ। यह अपने स्वरूपका ज्ञान न होनेसे जीवनमें कितनी संकीर्णता आ गयी कि हम दूसरेको अपनेसे नीच समझने लगे, पराया समझने लगे, शत्रु, मित्र समझने लगे!

हम अपनेको भी शत्रु, मित्र समझते हैं। परन्तु जिस मानवताके आधार पर यह सारी दुनिया टिकी हुई है वह मानवता हमसे अलग हो गयी। इसीप्रकार जिस ज्ञानके आधारपर ये सारे व्यवहार टिके हुए हैं—जिस ज्ञानसे ईश्वर-ईश्वर, जीव जीवन और जगत् जगत् मालूम पड़ता है, वह मानवताके समान हमारा जो मूलभूत ज्ञान है वह कहाँ खो गया है? उसको ढूँढ़ निकालनेके लिए क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञको अलग समझनेकी आवश्यकता पड़ती है। यदि हम उसको अलग नहीं समझेंगे तो किसी-न-किसी बन्धनमें इतने उलझ जायँगे, पत्नी रह जायँगे, पुत्र नहीं रहेंगे। और पुत्र रह जायेंगे—पत्नी नहीं रहेंगे। पत्नी-पुत्र रह जायँगे, पिता नहीं रहेंगे। सम्पूर्ण सम्बन्धोंके साथ हमारी कड़ी जोड़ने वाली जो मानवता है, वह यदि टूट गयी तो कोई सम्बन्ध हमारा पक्का नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जो क्षेत्रको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है, यदि वहाँसे हमारी कड़ी टूट जायेगी तो हम केवल जड़ ही जड़ रह जायँगे और जड़के साथ ही चिपकेंगे भी—तब हमारे लिए हीरा, मोती, मकान ये ही सर्वस्व रह जायेंगे। ये सबके हृदयमें जो जीव हैं—उनके प्रति मैत्रीका भाव नहीं रहेगा, करुणाका भाव नहीं रहेगा। जब हम स्वयं जड़ हो गये तो जड़के साथ मिलेंगे—चेतन तो हमसे छूट ही जायगा। इसलिए मनुष्यके जीवनमें यह बहुत आवश्यक है कि क्षेत्रसे अलग करके अपनेको क्षेत्रज्ञ जाने।

यहाँ तक जो विवेक है वह बिना किसी साधनके हो सकता है। इसको लेबोरेटरीमें भी यदि जानना चाहें तो क्षेत्रको जान सकते हैं, और जाननेवालेका नाम क्षेत्रज्ञ हो सकता है। परन्तु इसके आगे जो क्षेत्रज्ञकी पूर्णता है जिसको भगवान् कहते हैं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि,' वह जो क्षेत्रज्ञकी भगवद्रूपता है, उसको बिना साधनके नहीं

जान सकते। इसलिए क्षेत्रज्ञके निरूपण और परमात्माके स्वरूपके निरूपणके बीचमें साधनोंका वर्णन आता है—'अमानित्वमदम्भित्वम्' आदि। और यह विवेक इतना महत्त्वपूर्ण है कि 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'। इसके लिए ऋषियोंका नाम लेते हैं भगवान् अनेक प्रकारसे ऋषियोंने वर्णन किया, वेदके मन्त्रोंने वर्णन किया है—पृथक्-पृथक्, अलग-अलग और ब्रह्मसूत्रोंमें भी इसका निरूपण किया हुआ है विनिश्चित युक्तियोंके द्वारा। इसलिए विषय महत्त्वपूर्ण है और यदि हम अपनेको एक सीमामें बाँध देंगे तो दूसरी सीमामें रहनेवालोंके प्रति हमारे मनमें द्वेष हो जायेगा। इसलिए राग, द्वेषसे विनिर्मुक्त करनेके लिए अपनी चिद्रूपता और उनकी भगवान्‌से एकता करनी है। भगवान् कहीं सातवें आसमानमें छिपा हुआ नहीं है। वह कहीं बैकुण्ठमें नहीं रहता है। वह हमारे इसी शरीरमें, हमारे इन्हीं प्राणोंमें, हमारी इन्हीं चित्तवृत्तियोंमें, हमारी इन्हीं स्थितियोंमें, अवस्थाओंमें परमात्मा भरपूर है और ऐसा भरपूर है कि कहीं भी राग, द्वेष करनेकी गुंजाइश नहीं है। अब रही बात यह कि हम भविष्यको बहुत सोचकर निराश भी हो जाते हैं। भूतकी याद करके तड़फने लगते हैं। आप वर्तमानको आनन्दसे भर दो। इसमें पहलेकी पवित्रता और आगेके प्रति आशा इससे भरपूर करके अपने चित्तको ले चलो—आगे परमात्मा है। नैराश्य नहीं है—आगे परमात्मा है।

प्रश्न : महाभारतमें 'आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः प्रयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः' कहा गया है—तो क्या गीता और महाभारतमें क्षेत्रज्ञ शब्दका प्रयोग अलग-अलग अर्थमें किया गया है। और एक सवाल गुरुजीकी बातपर उठा है। गुरुजीने इसके पहले कहा कि यह शरीर क्षेत्र है और जो यह शरीरवाला है इसको क्षेत्री कहते हैं—और जो इस क्षेत्र और क्षेत्री दोनोंको जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्री शब्दका प्रयोग गीतामें हुआ ही नहीं—गुरुजीने भी क्षेत्री शब्दका प्रयोग चलते हुए कर दिया तो उस क्षेत्रीका भी विश्लेषण और व्याख्या करें और महाभारत और गीतामें जो क्षेत्रज्ञ शब्द आये हैं उनकी संगति बतावें?

उत्तर : गीतामें क्षेत्री शब्दका प्रयोग है 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'। अब यह है कि जो क्षेत्रको मेरा मानता है वह तो है क्षेत्री—जैसे किसान किसी एक खेतको अपना खेत मानता है तो वह खेतका मालिक क्षेत्री हो गया और एक वह होता है जो गाँव भरके खेतोंको पहचानता है। हम अपने गाँवमें जब रहते थे और कभी कानूनगो जाँच पड़ताल करनेके लिए आते थे—तहसीलदार आते थे तो तहसीलदार जाँच करने लगते थे। किसी भी खेतके बारेमें पूछें, हम बता सकते थे कि यह किसका है और उसको कैसे प्राप्त हुआ है तो बड़ा आश्चर्य करता था। मेरी उम्र 18-19 वर्षकी होगी। फिर जब सरपञ्चका चुनाव हुआ तो उसने अपनी ओरसे मेरा नाम रख दिया। एक खेतको अपना—मैं मानकर—जो बैठा हुआ है वह 'क्षेत्री' है। उस 'क्षेत्री' को सूर्यके समान बताकर समग्र क्षेत्रोंका प्रकाशक बताया गया है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

अब यह बात जाननी है कि महाभारतके क्षेत्रज्ञमें और गीताके क्षेत्रज्ञमें कोई अन्तर नहीं है। केवल नामका ही अन्तर है, क्षेत्रके साथ जुड़ा हुआ है, क्षेत्रसे संयुक्त है—यह बात वहाँ कही गयी है। और यहाँ क्षेत्रको

जानता है। तो ज्ञाता, ज्ञेयका सम्बन्ध यहाँ भी है। जब यह सम्बन्धसे विनिर्मुक्त हो जायगा तथा वही 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'। यह इसका स्वरूप हो जायेगा। एक दृष्टान्त ऐसा देते हैं जो सामान्य लोगोंको शायद स्वीकार्य नहीं होगा कि हमारे वेदान्तके अनुसार तेजसे जलकी उत्पत्ति होती है—भाप बनती है, पानी बनता है गरमीसे, और जलसे माटी बनती है पृथिवी। तो यह जो तेजस तत्त्व है वही जल भी है, वही घड़ा भी है। घड़ा किससे बना? मिट्टीसे। मिट्टी किससे बनी? जलसे। जल किससे बना? तेजसे। अब घड़ेमें रखा हुआ है जल। दोनों तेजके बने हुए हैं—और उस घड़ेमें जो पानी है उसमें एक प्रतिबिम्ब पड़ता है सूर्यका, चन्द्रमाका-तेजस् तत्त्वका ही प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब भी तेज है और कार्य-कारण परम्परासे जल भी तेज है। और मृत्तिका भी, मिट्टी भी तेज है।

जो क्षेत्रज्ञ है, उसकी परमात्मासे एकता तो बहुत स्पष्ट हो जाती है परन्तु क्षेत्रके साथ जो परमात्माकी एकता है वह तुरन्त स्पष्ट नहीं होती है। इसलिए जहाँ परमात्माका वर्णन है वहाँ 'अचरं चरमेवच' कहकर अथवा 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः, न च मत्स्थानि भूतानि' कहकर चराचर सृष्टिका निषेध कर दिया। एक परमात्मा रह गया। पहले क्षेत्रसे क्षेत्रीको अलग करो और क्षेत्रीसे क्षेत्रज्ञको। वह ज्ञाता हो गया और क्षेत्रज्ञमें भी क्षेत्रकी उपाधिको छोड़ दो तो ज्ञप्तिमात्र जो है वह परमात्मा है। इसलिए महाभारतके क्षेत्रज्ञमें और गीताके क्षेत्रज्ञमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं।

प्रश्न : क्षेत्र, क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, इस कथनका तात्पर्य क्या है? अन्य ज्ञानोंसे इसकी विशेपता क्या? यह क्षेत्र जो 'यत्' है, 'यादृक् जैसा है—'यद्विकारी',जिन विकारोंवाला है, और 'यतः' जिस कारणसे हुआ है उसकी संक्षिप्त व्याख्या करनेके लिए भगवान् प्रवृत्त होते हैं। कृपया यत् यादृक् आदिको स्पष्ट करते हुए बताइये कि उनका उत्तर आगेके किन श्लोकोंमें, किस प्रकार है?

उत्तर : क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तो दो हैं और दोनोंका ज्ञान एक है। तो भगवान् ज्ञान किसको कहते हैं? जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको विषय करनेवाला, उन दोनोंसे पृथक्, ऐसा प्रकाश जिसमें झिलमिल-झिलमिल चन्द्रमा भी दिख रहे हों और यह दुनिया भी दिख रही हो और सूर्य भी उदित हो। एक ऐसा ज्ञान है जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको प्रकाशित करता है, माने जिससे दोनों जाने जाते हैं; और वह ज्ञान कौन है? वह ज्ञान अपना आत्मा है—'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। भगवान्ने अपने मतके अनुसार ज्ञानका स्वरूप यह बताया कि जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंसे विलक्षण और दोनोंको प्रकाशित करनेवाला और दोनोंको अपने पेटमें रखनेवाला ज्ञान है, उसीको मैं ज्ञान कहता हूँ। 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः,प्रकाशकं यद् ज्ञानम् तदेव ज्ञानं इति मम मतम्'। अपना उन्होंने एक विलक्षण मत अभिव्यक्त किया कि जो क्षेत्रज्ञका ज्ञान है, विषयोंको जानना, 'ज्ञातृत्व'-वह असली ज्ञान नहीं है और जो ज्ञानका विषय है 'ज्ञें'-जो ज्ञानके द्वारा जाना जाता है वह भी ज्ञानका असली स्वरूप नहीं है। ज्ञानका असली स्वरूप तो वह है जो अपने पीछेवालेको कहे कि ज्ञान हमारी मुट्ठीमें—उसको तो ज्ञाता बनाकर चूरकर देता है, अहं बना देता है और जो कहे कि यह ज्ञेय—उसको सर्वथा जड़कर देता है। जो ज्ञानसे अलग ज्ञेय होगा वह जड़ होगा और जो ज्ञानसे अलग ज्ञाता होगा वह अहंकार होगा। इसलिए वह ज्ञान है, जिसमें 'अहं' और 'इदं' दोनों पैदा

होते हैं, दोनों रहते हैं, दोनों मिट जाते हैं, लेकिन ज्ञानस्वरूप जो है, वह अखण्ड ही रहता है। वह भगवान्‌के मतमें ज्ञान है, और 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्‌च' इसका उत्तर तो अनुपद ही दिया हुआ है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (13.5-6)

इन दोनों श्लोकोंमें 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्‌च' इसका उत्तर पूरी तरहसे आजाता है। एक अद्‌भुत बात यहाँ यह है कि आपका शरीर है। इसमें जितनी माटी है उसको तो आप अपना शरीर मानते हैं लेकिन यदि शरीरमें रहनेवाले मिट्टी आपकी है तो यह सारी बाहर रहनेवाली मिट्‌टी किसकी है? जिसको हम अपना शरीर 'मैं' मानते हैं—असलमें इतना ही शरीर मेरा नहीं है। यह सम्पूर्ण धरती, सम्पूर्ण जल, सम्पूर्ण तेज, सम्पूर्ण वायु, सम्पूर्ण आकाश 'महाभूतानि' शरीर है। जब कोई साधक यह विचार करने लगता है—चिन्तन करने लगता है तो सारी मिट्टी मिट्‌टी एक है। अपनी शरीरकी मिट्टी भी मिट्टी ही है। पानी भी पानी ही है, तेज भी तेज ही है। यह साँस जो बाहर है—बाहर हवा चल रही है, वह दूसरी है और जो भीतर जाती आती है वह दूसरी है, ऐसा नहीं है। एक ही प्राण है—और आकाश, हमारे नाकमें जो पोल है, कानमें है, मुँहमें है, पेटमें है, जिसमें हमारा हाथ हिलता-डुलता है उस आकाशमें और शरीरके भीतर मालूम पड़नेवाले आकाशमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इसलिए भगवान् कहते हैं—भाई अपनेको तुम एक शरीरका शरीरी मत समझो, यह सम्पूर्ण विश्व ही तुम्हारा शरीर है।

श्रीमद्‌भागवतमें इसका ऐसा खुलासा वर्णन है। एक व्यक्ति अपनी योगसाधनाके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें गये। यह बात दूसरे स्कंधमें है। पर जो लोग भागवत बाँच जाते हैं उनको नहीं मिलेगा जो गम्भीरतासे पढ़ेंगे, उनको मिलेगा। जब वे ब्रह्मलोकमें पहुँच गये तब उनकी इच्छा हुई कि हम देखें कि धरती कहाँ है? अब महाराज सूर्य ही इतना बड़ा है—धरतीसे लाखों गुना बड़ा कि सूर्यसे तो धरती एक बिन्दुके रूपमें दिखायी पड़े। और ब्रह्मलोकसे तो कितनी छोटी होगी यह आप समझ लें। तो उन्हें यह शक्ति दी गयी कि वहाँसे वे धरतीको देख सकें। उन्होंने धरतीकी ओर देखा; ब्रह्मलोकमें कोई खिड़की होगी—ब्रह्मलोक एक विमानकी तरह है। ब्रह्माका एक विमान ही है जिसको हम लोग लोक बोलते हैं। उसमें बुढ़ापा नहीं है—उसमें मृत्यु नहीं है, शोक नहीं है, कोई दोष नहीं है। बड़े सुखी थे वे, किन्तु इन्होंने जब धरतीकी ओर देखा तो यह देखा कि यहाँके लोग छोटी-छोटी चीजोंमें फँसकर बहुत दुःखी हो रहे हैं और जो लोग असलियतको, सच्चाईको, परमार्थको नहीं समझते हैं, केवल अपने अज्ञानसे कितने दुःखी हैं और दुःखके मारे मर रहे हैं। असलमें हमलोग संसारमें जो दुःखी होते हैं, उसमें दुःखके साथ थोड़ी बेवकूफी रहती है। और बेवकूफीके साथ मौतका भय रहता है। ये तीनों दुनियामें कभी अलग-अलग नहीं होते हैं।

जब हम दुःखी होते हैं तो अज्ञानसे और अज्ञान होता है तो उसमें अपनी मृत्युका भय रहता है। इसलिए असत्, तमस् और मृत्यु ये तीनों एक हैं; और सत्, ज्योति और अमृत ये तीनों एक हैं। अब जब उसे

ब्रह्मलोकमें दु:ख हुआ तो उसने कहा मैं अकेले ब्रह्मलोकका सुख भोगूं और संसारके लोग इतने दु:खी रहें तो ब्रह्मलोकको छोड़कर वह कूद पड़ा—'**ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय:......**(2.2.28)

और धरतीपर आ गया। धरतीपर आकर उसने यह नहीं समझा कि मैं हिन्दुस्तानी हूँ कि पाकिस्तानी। उसने यह समझा कि मैं समग्र पृथिवीपर हूँ और पृथिवीपर रहनेवाले सब प्राणी मैं ही हूँ। उसके बाद उसने अपनेको जलरूपमें अनुभव किया। जलकी एक-एक बूँद और जलका एक-एक प्राणी स्वयं मैं हूँ। इसके बाद उसने समग्र तेजके रूपमें अपनेको अनुभव किया और उसके बाद समग्र वायुके रूपमें और उसके बाद समग्र आकाशके रूपमें और इस तरह उसकी तत्त्वनिष्ठा हो गयी। आकारनिष्ठा, विकारनिष्ठा— हम तो शकल-सूरतमें फँस गये और इसमें जो विकार है उनमें फँस गये और संस्कार करके उनको धोनेके लिए चले तो साबुन ही लगा रह गया। उसको छुड़ाया ही नहीं। संस्कारोंमें ही फँस गये। अब उसने देखा कि संसारमें तो लोग अपने शकल-सूरतमें अपने व्यक्तित्वमें, उसके विकारोंमें, उसके निर्माणमें, उसके संस्कारोंमें फँसे हुए हैं, और सोचते नहीं हैं कि तत्त्व क्या है? तत्त्व तो एक है। अद्वितीय है। जब उसको तत्त्वका अनुभव हुआ तब उसने देखा कि हम जो लोगोंके दु:ख-सुखकी कल्पना करते थे, वह तो हमारा ही मनोविकार था। ब्रह्मलोकमें जानेपर भी दु:खकी निवृत्ति नहीं हुई। जबतक अपनेमें पूर्णताका अनुभव नहीं होगा, तो न तो ब्रह्मलोक, न कैलास और न बैकुण्ठ, न गोलोक, न साकेत—इस दु:खको दूर कर सकते हैं। दु:ख तब दूर होगा, जब हमारे जीवनमें पूर्णता आयेगी और जितनी-जितनी पूर्णता आती जायगी, उतना ही उतना दु:ख दूर होता जायगा। पूर्णता ही दु:खको दूर करती है।

कभी हम पिछली बातको इतनी पकड़ लेते हैं कि उसके बिना दु:ख होने लगता है; कभी हम वर्तमानकी बातोंको इतना पकड़ लेते हैं कि आह! ये छूट जायँगे तो हम कैसे रहेंगे? कभी भविष्यकी कल्पना कर-कर दु:खी होने लगते हैं कि हाय-हाय! भविष्यमें क्या होगा? और जब हम पूर्णतामें देखते हैं—भूत, वर्तमान, भविष्य, दूर-निकट, अपना-पराया, सबमें जो परिपूर्ण है उसको देखते हैं तो हमारे लिए दु:ख नहीं होता है। दु:खसे छूटनेके लिए अपने क्षेत्रका जो निश्चय है, वह बहुत बड़ा होना चाहिए—'महाभूतानि-अहंकारो, बुद्धि: अव्यक्तम्' ये पूर्णताकी ओर चले गये।

पंचमहाभूत है—फिर इनका मूल कारण अहंकार है। जब दुनिया दिखती है तो पहले 'मैं' जाग लेता है। 'मैं' कहाँसे जागता है? ज्ञानमें-से और बुद्धि कहाँसे जागती है? अव्यक्तमें-से। यह एक क्रम हो गया। फिर 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिमव्यक्तमेव च'। फिर इन्द्रियाणि दश एकं च। यह क्षेत्र है। 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि'—विकारका वर्णन है ही 'इच्छा द्वेष: सुखं दुखं संघातश्चेतना धृति:' ये विकार हैं उसके। लेकिन क्षेत्रका स्वभाव विकारी है इसलिए चाहे इनको मानो स्वभाव और चाहे विकार, क्षेत्र विकारी तो है ही। अपने निर्विकार स्वरूपका अनुभव करनेके लिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवेकसे जो तत्त्वज्ञान होता है, वह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

●

***

द्वितीय दिवस

(29-10-84)

प्रश्न : यह क्षेत्र जो 'यत्' है 'यादृक्' जैसा है, 'यद् विकारि'—जिन विकारोंवाला है और 'यतः' जिस कारणसे हुआ है उसकी संक्षिप्त व्याख्या करनेके लिए भगवान् प्रवृत्त होते हैं। कृपया 'यत्' 'यादृक् आदिको स्पष्ट करते हुए बताइये कि इनका उत्तर आगेके किन-किन श्लोकोंमें किस प्रकार किया गया है?

उत्तर : क्षेत्रका स्वरूप बताया पहले—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (13.5-6)

परमात्माके सिवाय और जो कुछ है, वह सब विकारी होता है। मनका विकारी होना माने बदलना। एक परमात्मा ही ऐसी वस्तु है जो कभी बदलता नहीं है। पहले अव्यक्त है। अव्यक्त माने जो प्रमाणके द्वारा व्यञ्जित न हो, जिसको जाहिर करनेमें आँख, कान, नाक, ये सब समर्थ न हों। जैसे घनी, गाढ़ सुषुप्तिमें। एक क्षेत्र वह है। अब उसके बाद—गाढ़ सुषुप्तिके बाद जैसे बुद्धि जगती है—होश आता है—वह द्वितीय क्षेत्र है। और फिर मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, यह मालूम पड़ता है। आप रोज इसका अनुभव करते हैं। गाढ़ सुषुप्ति अव्यक्त है, होश आ जाना माने नींद टूटना और यह होश आना बुद्धि है; इसको महतत्त्व बोलते हैं। और फिर मैं कौन हूँ, यह अहंकार है और उसके बाद दुनिया दिखती है। महाभूत आकर सामने खड़े हो जाते हैं। उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये होते हैं और उसके बाद अपनी इन्द्रियाँ मालूम पड़ती हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय और इसके बाद मन—फिर यह होता है कि हमको क्या चाहिए, क्या नहीं चाहिए। विषयोंका ज्ञान होता है। अब इसके लिए बताया कि हमारे जीवनमें जो विकार आते हैं वे सब इसी क्षेत्रके हैं, तो क्षेत्रोंकी गिनती कर दी। कितने क्षेत्र हैं और उनका स्वभाव है, अव्यक्तसे बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्र, इनकी उत्पत्तिका क्रम जो बन गया। और उसमें विकार बताया इच्छा द्वेष; सुखं दुःखम्। मनमें राग होता है कि यह चीज हमको मिलनी चाहिए—इससे बहुत सुख मिलता है। पहले-पहले दिनकी याद होती है, इससे हमको बहुत सुख मिलता है तो और चाहिए और इससे दुःख मिलता है तो उससे द्वेष होता है। सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः (योगसूत्र 2.7-8) फिर वर्तमानमें सुख-दुःख होते हैं।

सुख जो है वह जिसको जैसा अभ्यास हो गया है, उसीके अनुसार होता है। जैसे दक्षिण भारतका हो तो उसको इडली-दोशामें ही सुख मिलेगा। हम लोगोंकी रोटी-दाल उसको अच्छी नहीं लगेगी। एक-दो दिन खायेगा, फिर उसको इडली-दोशा खानेकी इच्छा होगी। और हम लोग जब दक्षिण भारतमें जाते हैं, 2-4 दिन इडली-दोशा मिल जाये तो रोटी-दाल खानेकी इच्छा हो जाती है। यह सारा-का-सारा अभ्याससे ही आता है।

हमारी जो इच्छाएँ बनती हैं और द्वेष बनते हैं, ये कृतक माने कृत्रिम होते हैं। ये बनाते, बनाते, बन जाते हैं। और उसीसे सुख मिलता है। सुख माने जो किसी और वस्तुकी प्राप्तिके लिए नहीं होता। आप ध्यान देंगे तब इस बातका रहस्य मालूम पड़ेगा। आपको रुपया चाहिए; क्यों? उससे कोई मकान बनाना है, फैक्टरी बनाना है। कपड़ा लेना है, भोजन करना है। आपको पैसा पैसेके लिए नहीं चाहिए। किसी दूसरे कामके लिए चाहिए। ब्याह भी करते हैं तो सुखके लिए करते हैं। परन्तु सुख किसलिए? असलमें सुख वही होता है जो किसी दूसरेके लिए नहीं होता है। सुख अन्तिम अवस्था है और वह अपना आत्मा है। ये जो विकारी सुख होते हैं ये तो अदलते-बदलते हैं। जब आप स्त्रीमें, पुरुषमें सुख मानेंगे, धन-दौलतमें सुख मानेंगे, तारीफ सुननेमें सुख मानेंगे तो वे विकारी हैं, बदलते हुए होंगे और जो सच्चा सुख है वह तो आपके हृदयकी वह स्वच्छता है, जिनमें आप अपनेको देख सकते हैं। 'सु' माने सुष्ठु और 'ख' माने हृदयाकाश। वह हृदयका निर्मल दर्पण जिसमें आप अपनेको ठीक-ठीक देख सकें। तो अपनेको ही आप सुख-रूपमें हृदयमें देखते हैं। और दु:ख वह होता है। जो किसीकी इच्छाका विषय नहीं होता। कोई उसे नहीं चाहता है। हृदय जिससे दुष्ट, दूषित हो जाता है, उसके प्रति द्वेष ही होता है कि यह हमको कभी न हो। और यह संघात बना है शरीर और इसमें चेतना एक नयी वन जाती है। एक चेतन तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है जो परमात्म-स्वरूप है। जिसके सिवाय और कुछ नहीं और उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है मायामें और एक चेतन ऐसा है जो अविद्यासे लथपथ बन गया है। और एक चेतना ऐसी होती है जो यह शरीर बननेके साथ बनती है और शरीर बिगड़नेके साथ बिगड़ जाती है।

आजकल लोग चेतनाके सम्बन्धमें इतना विवेक नहीं करते हैं यही होश आता और जाता है। मैंने तो एकको मरते समय देखा—पाँवसे लेकर कमरतक काला पड़ गया पहले। उसके बाद छातीतक काला पड़ गया, पर मुँहपर ज्योति थी। उसके बाद एक बार सिर हिला, मुँह खुला और जो मुँहपर ज्योति थी वह गायब हो गयी। शरीरके साथ भी एक चेतना होती है, उसे 'संघातजन्य चेतना' बोलते हैं। वह कई चीजोंके मिलनेसे पैदा होती है। यह सब-के-सब क्षेत्र हैं, क्षेत्रज्ञ नहीं है। उनमें एक धृति है। बुद्धिपूर्वक हम अपने जीवनमें जो धारणा करते हैं, उसका नाम धृति है। यह सब-के-सब क्षेत्र हैं। संक्षेपमें यहां बताये गये हैं। क्षेत्रका लक्षण है, विकारी होना और क्षेत्रज्ञका लक्षण है, अनेकतामें एक होना—जड़में चेतन होना और प्रिय-अप्रिय के द्वन्दोंमें सर्वथा निस्पृह होना। यह आत्माका लक्षण होता है। यहाँ क्षेत्रका लक्षण करके भगवान्ने क्षेत्रज्ञको बताया कि इनको जो जानता है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपको समझते हैं वे 'तद्विद्' हैं और वे इनको—'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको'—जाननेवाले हैं। वे किसका नाम क्षेत्र रखते हैं—किसका क्षेत्रज्ञ? इसके विवेकसे यह होता है कि आदमी जो फँस गया है—शरीरके सम्बन्धमें और जो आत्मजीवन है, चैतन्य जीवन है, इसको भूल गया है। जब विवेक करते हैं कि इसमें कितना जड़ है और कितना चेतन है तो जड़के साथ जो ममता, मोह है, वह कम होता है। और उसीके कारण तो पक्षपात होता है दुनियामें और दुश्मनी भी होती है, वैमनस्य भी होता है। शरीर और

शरीरके सम्बन्धमें ज्यादा जकड़ जानेके कारण यह विवेक होनेसे मनुष्यका मोह कुछ कम होता है, राग, द्वेष कम होता है और वह अपनेको पहचानता है। विवेकके बिना तो मनुष्य अपने आपको भूल ही जाता है। उससे पूछो तुम कौन हो तो कह देगा— हम ब्राह्मण हैं, संन्यासी हैं। हम बेटेके बाप हैं। हम नानाके दौहित्र हैं। यह सब तो आप बता देंगे। लेकिन मैं मनुष्य हूँ, इस बात पर ध्यान नहीं जायेगा। तो जैसे व्यवहारमें ऐसा होता है वैसे ही जब हम अपने स्वरूपका विवेक करते हैं तो इस बात पर ध्यान नहीं जाता कि असलमें हम हिन्दू, मुसलमान नहीं है और हम संन्यासी, गृहस्थ नहीं है, हम एक मानव हैं, मनुष्य हैं। इसी प्रकार आत्माका विवेक होने पर, मैं हड्डी, मांस, चाम, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण नहीं हूँ, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा हूँ। ऐसा निश्चय हो जानेपर कोई सुख-दुःख हमारे पास नहीं फटकता है। यह जो जीवका शुद्ध रूप है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विवेकसे प्राप्त होता है। यहाँतक तो है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक और यह शास्त्रोंके द्वारा प्रमाणित है। परन्तु क्षेत्रज्ञ भी परमात्माका स्वरूप ही है यह बात जाननेके लिए गीतामें फिर आगेका प्रसंग है कि बिना साधनके कोई आत्माको परमात्मरूप नहीं समझ सकता। आप क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका भले ही विवेक कर लें कि यह जड़ है और मैं चेतन हूँ। लेकिन यदि इसके असली स्वरूपको जानना होगा तो जीवनमें साधनकी आवश्यकता होगी।

प्रश्न : विकारोंके सहित क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें, छठें श्लोकमें आया है वह वर्णन कहीं-कहीं सांख्य-दर्शनसे मिलता है और कहीं-कहीं अलग भी। क्या यहाँ क्षेत्र और प्रकृति दोनों पर्यायवाची हैं? सांख्य और गीताके चिन्तनमें साम्य कहाँ है? और वैशिष्ट्य कहाँ है?

उत्तर : सांख्य दर्शनमें जो प्रकृति है वह स्वतन्त्र मानी गयी है। और गीतामें जो प्रकृति है वह परमात्माके पराधीन मानी गयी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

सांख्य-दर्शनमें पुरुष साक्षी है, द्रष्टा है; वह न कुछ करता है, न कराता है और उसके भोगके लिए प्रकृति स्वतन्त्रतासे काम करती रहती है। परन्तु गीतामें जो प्रकृति है वह स्वतन्त्र नहीं है; वह परमेश्वरके अधीन है। इसलिए सांख्य-दर्शनके साथ गीताकी तीन बात नहीं मिलती है। प्रकृतिकी स्वतन्त्रता और उसके कार्य जो हैं स्वतन्त्र—यह गीताको मान्य नहीं है, वह परमात्माके पराधीन है। और दूसरी बात यह है कि प्रकृति और प्राकृतकी अनेकताका वर्णन करके भी जीवकी अनेकताका वर्णन गीतामें नहीं है। क्योंकि अपरा प्रकृति तो है क्षेत्र और परा प्रकृति है क्षेत्रज्ञ।

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 7.4

अपरेयम् यह अपरा प्रकृति है।

अपरेयं इतस्त्वन्याम् प्रकृतिं विद्धि में पराम्।

और परा प्रकृति क्या है?

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

यह परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ है और,

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।

यह परमात्माके रूप है जिसमें परमात्माके सिवाय, दूसरी और कोई वस्तु नहीं होती। सांख्य यदि प्रकृतिकी स्वतन्त्रता छोड़ दे और जीवकी अनेकता छोड़ दे और योग-दर्शन ईश्वरकी पृथक्ता, अन्यता छोड़ दे तो गीताके साथ इन सब लोगोंका एकदम मेल, समन्वय बैठ जाता है। सांख्य और योग-दर्शनमें जो जगत्की सत्यता, जीवकी अनेकता और परमात्माका अलगाव माना हुआ है—ये तीनों बातें गीताको मान्य नहीं है। इसलिए सांख्य-दर्शनकी अपेक्षा गीतामें विशेषता है। एक बात और है, प्रकृति अनुमानसे सिद्ध होती है और आत्माकी ब्रह्मता वेदसे सिद्ध होती है। इसलिए वैदिक प्रमाणके आधारपर आत्मा और ब्रह्मकी एकता सिद्ध होती है। किसी योगाभ्याससे अथवा किसी युक्तिसे, अनुमानसे यह बात सिद्ध नहीं होती है।

प्रश्न : इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, चेतना और धृति यदि क्षेत्रके विकार हैं तो अनुभव जड़ शरीर करता है कि चेतन क्षेत्रज्ञ? गीताको जड़-चेतनकी कौनसी परिभाषा स्वीकृत है? यदि क्षेत्रज्ञ इन सब विकारोंको अनुभव करता है तो क्या वह सुखी-दु:खी भी होता है?

उत्तर : क्षेत्रज्ञका जो असली स्वरूप है वह 'अनुभव' है। अनुभव करता नहीं है, बल्कि स्वयंमें अनुभव है। इसलिए जिसको शुद्ध स्वरूपका बोध हो जाता है, वह इन विकारोंसे अलिप्त रहता है और जिसको अपने शुद्ध स्वरूप ज्ञान नहीं है, वह दु:खका अनुभव करता है, इच्छा, द्वेषका अनुभव करता है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान होना बहुत जरूरी है और ज्ञान होने पर इन विकारोंको अपनेमें अनुभव नहीं कर सकता। क्षेत्रज्ञ—जबतक ज्ञान नहीं है तब तक इनको अपनेमें अनुभव करता है। इसका मतलब यह हुआ कि दुनियामें हम जो दु:खी हैं, विकारी हैं वह केवल नासमझीके कारण हैं, अज्ञानके कारण हैं। यदि हम सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लें—गीतासे ज्ञान सीख लें तो हमारे जीवनमें जो रोज सत्रह बार दु:ख आता है और सत्रह बार सुख आता है, वैसा नहीं होगा। बताते हैं कि जो मूढ पुरुष है वही—

शोकस्थान सहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ़माविशन्ति न पण्डितम्।

ये जो सैकड़ों बार जीवनमें शोक आता है और सैकड़ों बार भय आता, ये समझदारके जीवनमें नहीं आता। यह नासमझीका लक्षण है। इसलिए यदि गीताके द्वारा हम सच्ची समझ प्राप्त कर लें तो चाहे दिन-रात कर्म करें और चाहे उपासना करें, चाहे योग करें, चाहे मस्त रहें बार-बार जो दु:ख और भय हमारे जीवनमें आ जाते हैं, इनकी निवृत्ति हो जाये। इसलिए क्षेत्रज्ञ-स्वरूप तो निर्विकार है, लेकिन अज्ञानके कारण वह अपनेको विकारी अनुभव करता है और इस अज्ञानके कारण ही इस जीवनमें और संसारमें ये सारे-के-सारे दु:ख मालूम

पड़ते हैं। दु:ख दूर करनेका एक ही उपाय है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको ठीक-ठीक जान लिया जाय। भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि क्षेत्रज्ञ तो मैं ही हूँ। भगवान् क्या दु:खी होते हैं?

जहाँतक भगवद् अंशका सम्बन्ध है वहाँ तक क्षेत्रज्ञमें ये संसारी मनोभाव नहीं है। जब वह अपनेको जड़ताके साथ जोड़ लेता है; तब वह दु:खी-सुखी होता है। अपनेको विकारी मान बैठता है, विकारी होता नहीं है। इसलिए विचारकी दृष्टिसे क्षेत्रज्ञ निर्विकार है और अविचारकी दृष्टिसे जो भेड़ियाधसान—एकके पीछे दूसरे भागते हैं—उन्हींकी दृष्टिसे आत्मा दु:खी होता है। नहीं तो जो छूट रहा है, उसको छूट जाने दो, जो आ रहा है उसको आने दो, जो रह रहा है उसको रहने दो। बीते हुएको फिरसे बुलानेकी कोशिश मत करो। कोई भी क्षण, जो चला जाता है वह लौटकर नहीं आ सकता और जैसे क्षण नहीं आता है वैसे ही कण भी नहीं आता। क्षण और कण दोनों साथ-साथ बदलते रहते हैं। इसीका नाम विकार है। आप विकारको—बदलनेवालेको पहचानिये। आपने जीवनमें हजारों लोग देखे हैं। हजारों चीजें देखी हैं—उनको पसन्द किया है, नापसन्द किया है। अब उनकी यादभर आती है। वह तो कुछ अपने साथ चलनेवाली नहीं है, इसलिए निर्विकार आत्माको, आँख कुछ बताती है, कान कुछ बताता है। अलग-अलग चीजें बताती हैं और कोई भी पूरी-पूरी नहीं बताती। न तो आँख पूरा रूप बताती है, न कान पूरा शब्द बताता है। न नाक पूरा गंध बताती है। ये सब अधूरा ज्ञान देनेवाली इन्द्रियाँ हैं जिनपर आप भरोसा करके समझते हैं कि हम सत्यको जानते हैं। बुद्धि भी अधूरा ज्ञान देनेवाली है। इनके भरोसेपर अपनेको मत छोड़िये। स्वयं जो अपना ज्ञान-स्वरूप है—स्वयं देखिये—गुप्तचरके पीछे भी गुप्तचर लगाइये। और जो पीछे लगा हुआ गुप्तचर है उसपर भी नजर रखिये कि वह ठीक काम करता है कि नहीं। आप अपने काममें बहुत सफलता प्राप्त करेंगे और कभी धोखा नहीं खायेंगे। धोखा खाना दु:ख है। धोखामें अज्ञान है। उससे दु:ख होता है। और धोखेमें मृत्यु भी है क्योंकि आपके जीवनकी शैली ही बदल जायेगी। इसलिए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार अपने जीवनमें बहुत उपयोगी और आवश्यक है।

प्रश्न : जन्म, जरा, आदिमें 'दोषानुदर्शनम्' कहनेसे क्या हमारी आनन्दवादी उपनिषद्-धाराका विरोध नहीं होता? क्या यह बौद्ध दर्शनका प्रारम्भक स्वर नहीं है? जीवनको उल्लाससे वंचित करनेवाला क्या यह नकारात्मक पहलू नहीं है?

उत्तर : 'दु:खदोषानुदर्शनम्' में पहुँचनेके पहले और बहुत सारी बातें कही हुई हैं। उनपर भी थोड़ा ध्यान देनेकी जरूरत है। मनुष्य जीवनमें दु:खी क्यों है? पहली बात यह है कि जब उसके अभिमानपर चोट लगती है तब वह दु:खी होता है। अभिमानके बारेमें सावधान रहना चाहिए। यह बाहरसे भी आता है और भीतरसे भी आता है। किसी संसारकी सम्पदा बढ़नेसे अभिमान आता है। वह न आने पाये। किसीको विद्यासे आता है। किसीको अपने वंशसे आता है। किसीको अपनी हुकूमतसे, ऐश्वर्यसे आता है। पहली बात यह है कि दु:खसे बचना है तो अभिमानसे बचो। दूसरी बात यह है कि हम कभी-कभी बनावटसे चक्करमें पड़ जाते हैं। दम्भ अर्थात् जो शान हमको नहीं है, उसको जानकार लोगोंके बीचमें दिखाते हैं। जहाँ वेदका पण्डित होगा, वहाँ वैय्याकरण बन जायेंगे? जहाँ व्याकरणका पण्डित होगा, वहाँ वैदिक बन जायेंगे? जहाँ दोनों नहीं होंगे वहाँ दोनों

बन जायेंगे। और जहाँ दोनों होंगे वहाँ बिलकुल बेवकूफ हो जायेंगे। यह जो अपने अन्दर नहीं है, वह जब हमलोगोंको दिखाने लगते हैं तब एक ऐसे फन्देमें जाते हैं कि उससे निकलना मुश्किल हो जाता है।

दु:ख क्या हुआ? अभिमान एक दु:ख हुआ। और बनावट एक दु:ख और फिर दूसरेको जो सताना चाहते हैं या पीछे हटाना चाहते हैं या गिराना चाहते हैं, उसमें भी हमको बहुत दु:खी होना पड़ता है। क्योंकि आप स्वयं चाहें कि हम दूसरेको गिरा देंगे और हमको कोई न गिरावे ऐसा कभी हो नहीं सकता। जो दूसरेको कर्मसे, मनसे, वचनसे, दु:ख पहुँचाना चाहेगा उसको दु:ख जरूर मिलेगा। सावधान रहना चाहिए। ज्ञान यह है कि जीवनमें किसी भी प्रकारका दूसरेको नीचा दिखानेवाला अभिमान न हो। और झूठी शान दिखा करके जो चीज अपने पास नहीं है, उसका दम्भ करके हम अपनेको बड़ा न माने और दूसरेके दु:ख न पहुँचायें, और कोई अपराध भी करता हो तो क्षमा करें। यह क्षमा ऐसी चीज है जो आपको बहुत आगे बढ़ायेगी। यदि आप हर अपराधीको दण्ड देने चलेंगे तो सबसे अधिक दण्डनीय आप ही मिलेंगे। होना तो यह चाहिए कि दूसरेसे कोई गलती हो जाये तो आप उसको क्षमा कर दें। भूल जायँ। और अपनेसे कोई गलती हो जाय तो उसको याद रखें अपनेको क्षमा न करें। अपनी गलतीको दूर करें, क्षमा न करें। परन्तु यह सब बातें कैसे होंगी?

जब आप आचार्यकी उपासना करेंगे। श्रीज्ञानेश्वरीमें ज्ञानदेवजी महाराजने २० पृष्ठके लगभग आचार्योपासनाकी व्याख्या की है। इसका अर्थ यह है कि यदि आप अपने आचार्यके पास रहेंगे, गुरुके सान्निध्यमें रहेंगे तो अभिमान तो उसके सामने कैसे करेंगे? अभिमान छूट जायगा। गुरुसे कपट, दम्भ नहीं करेंगे। गुरुके प्रति मनमें हिंसा भी नहीं आयेगी। और यह देखेंगे कि गुरुजी कैसे निर्मान हैं, कैसे निर्दम्भ हैं—कैसे अहिंसक हैं, तो आपके अन्दर भी वह सद्गुण आयेगा। और वे किसी अपराधीके प्रति कैसे क्षमा करते हैं—क्षमा बड़नको चाहिये—बड़प्पनका अर्थ ही यह है कि जो लोग अपराधी हैं उनको हम अपने दिलमें न बसायें। श्रीकुमारिल भट्टजीने कहा कि जिसको हम गाँवमें नहीं रहने देना चाहते हैं उसकी याद कर-करके उसको हम अपने दिलमें बसा लेते हैं। यह कितनी मूर्खताकी बात है। जब देखेंगे कि हमारे आचार्य अपराधियोंको कैसे क्षमा करते हैं और अपराधकी दशामें भी कैसे सम रहते हैं तो उनके पास रहनेसे अपने जीवनका निर्माण हो स्थिरता रहे। यह नहीं कि आज ये, कल ये, परसों ये। इस प्रकार अब आप गुण-दोषका विवेक कर लीजिये। 'दु:खदोषानुदर्शनम्' का अर्थ किसी भी प्रकार निराशाका जीवन जीवन नहीं है और दु:खवादी जीवन नहीं है। हमको यह सुनकर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि ये बौद्धोंका प्रभाव है, और यह जैनोंका प्रभाव है। अरे भाई, सबसे पहले तो उपनिषद्‌का प्रभाव होना चाहिए न! बौद्धोंसे भी पहले उपनिषद् है, जैनोंसे भी पहले उपनिषद् है। यह जो अपौरूषेय ज्ञान है, यह तो सबसे पुराना है। यह किसीसे प्रभावित होकर नहीं आया है। बल्कि इसीका प्रभाव दूसरोंपर पड़ा हुआ है।

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दु:ख-दोषानुदर्शनम्'

क्या उपनिषदोंमें जन्म-मृत्युके दु:खका वर्णन नहीं है? 'जायस्व, म्रियस्व'-बस, तुम्हारा काम क्या है? पैदा होओ और मरो? अपने स्वरूपको बिलकुल न जानना, हम कौन है—यह न जानना और पैदा होते

रहना और मरते रहना और खाना, पाखाना। क्या यही जीवनका एक स्वरूप है? यथार्थका ज्ञान भी जीवनमें आवश्यक है। यदि जीवनमें दुःखका पता चल जायेगा तो उसको दूर करेंगे। बुढ़ापा आनेवाला है, इसका पता चल जायेगा तो हमारा नित्य यौवन कैसे रहे, इसका उपाय भी कर सकते हैं। और मृत्यु जब सिरपर खड़ी है तो कहीं फँसना नहीं चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहङ्कारएव च।
जन्म - मृत्यु - जरा - व्याधि - दुःखदोषानुदर्शनम्॥

और फिर एक बात और है। हमको अपने बचपनकी याद है। एक महात्मासे मैं तर्क-वितर्क कर रहा था तो उन्होंने मुझसे कहा कि तुम ऐसा तर्क-वितर्क करोगे तो बौद्ध-मतकी प्राप्ति हो जायेगी। तो मैंने कहा—हमको बौद्धसे कोई परहेज नहीं है। हमको तो सत्यका साक्षात्कार चाहिए। न हमको बौद्धसे परहेज है, न जैनसे परहेज है—न ईसाईसे, न मुसलमानसे। हम सत्यका साक्षात्कार करनेके लिए सबकुछ छोड़-छाड़कर निकले हैं, अब आप हमको बौद्ध होनेका डर दिखाकर अगर सत्यसे वंचित रखेंगे तो कैसे बनेगा? यदि चार आर्य-सत्य—जिसका साक्षात्कार बुद्धने किया—'दुःखं दुःखं, क्षणिकं-क्षणिकं, स्वलक्षणं स्वलक्षणं, शून्यं शून्यम्'—तो यदि वे सच्चे हैं तो उनसे परहेज क्यों करते हैं? हम तो सत्यका आदर करते हैं। एक सज्जन थे उनसे मैंने कहा कि हमारे धर्मका जो पालन करते हैं उसको तो स्वर्ग मिलता है। अब मुसलमान यदि अपने धर्मका पालन करेगा तो क्या होगा? वे बड़े कट्टर थे, बोले—वह नरकमें जायगा। यह तो वैसे ही हुआ कि जो इस्लामको न माने सो काफिर और जो हमारे सम्प्रदायको न माने वह म्लेच्छ। इस प्रकारका भेद-भाव अपने मनमें नहीं रखना चाहिए। हर जगह सत्यका आदर चाहिए। यदि जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, दोष—यदि सच्चे हैं और इनका अनुदर्शन होता है—और दिखायी पड़ते हैं तो यह हमारे जीवनके अनेक दुःखोंसे, फँसावटोंसे, बचानेके लिए है। संसारमें सौ-सौ धक्के खायँ तमाशा घुसकर देखें—यहाँ भी धक्का लगा, वहाँ भी धक्का लगा और इसी तमाशेमें फँसे हुए हैं। अब किसी किसीकी प्रकृति ऐसी होती है।

सन् 28में हमको लोग द्वारिकाजी ले गये। द्वारकाजीमें मालूम हुआ कि एक रुपया चार आना तो स्नान करनेका लगता है और आठ आना धर्म-दर्शनका लगता है और डढ़े रुपये चरण छूनेका लगता है। हमारे पास तो एक पैसा भी नहीं था। हम तो एक तरफ बैठ गये कि ऐसे भगवान्‌का हम दर्शन ही नहीं करेंगे जिनके दर्शनके लिए पैसेकी जरूरत पड़ती है। हमको पैसेवाले भगवान् नहीं चाहिए। जब मैं एक तरफ जाकर बैठ गया तब मन्दिरमें-से एक सज्जन आये हमारा हाथ पकड़कर ले गये। भगवान्‌का दर्शन करा दिया। वैसे हम गिड़गिड़ाते तब भी नहीं होता। तिरुपति बालाजीमें गये—लोगोंने कहा—चार घण्टेकी क्यू लगेगी। हम तो एक तरफ बैठ गये। कोई ले गया दर्शन करा दिया। यह बात है कि अपनी-अपनी रुचि, प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। कहीं किसीको सुख मालूम पड़ता है तो वहीं किसीको दुःख मालूम पड़ता है। यदि आपके जीवनमें दुःख है और आप उसका दर्शन करते हैं तो यह बौद्ध और जैनका प्रभाव नहीं है। यह एक सत्यका दर्शन है। यदि आपके जीवनमें मृत्यु है और उसपर दृष्टि जाती है तो आप उससे अपनेको अलग करनेका जो ज्ञान है वह प्राप्त कीजिये। आप ऐसा

क्यों कहते है कि यह तो बौद्धोंने दिया, कि जैनोंने दिया, कि वेदोंने दिया, कि मुसलमानोंने दिया, कि इसाइयोंने दिया। यदि आपके जीवनमें दु:ख है तो वह किसीका दिया हुआ नहीं है। वह आपका अनुभव है।

यदि आपके जीवनमें मृत्यु है तो वह किसीका दिया हुआ नहीं है। वह तो आपने अपनेको देह मानकर, आपने अपने साथ जोड़ लिया है। जन्म है, मृत्यु है, जरा है, व्याधि है, दु:ख है—ये किसीके प्रभावसे कहीं नहीं आये हैं। ये हमारे जीवनके अनुभव है, उससे आये हैं। इसलिए यदि आप इसमें फँसे रहेंगे तो 'अज्ञानं यदतोऽन्यथा'—यदि इनका अनुदर्शन नहीं करेंगे तो आप अज्ञानमें फँसे रहेंगे। और यदि आप इनका ज्ञान प्राप्त करेंगे तो 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' इनका ज्ञान प्राप्त करके आप अमृतत्व प्राप्त कर लेंगे। गीता आपको मृत्युसे अमृतमें ले जानेवाली है। गीता आपको दु:खसे बचाकर सच्चा सुख देनेवाली है। गीता आपके बुढ़ापेको दूर निकालकर फेंक देगी। आप ज्योतिर्मय, नित्य-यौवन—चिर-यौवन प्राप्त करेंगे—यदि गीताका अनुसन्धान करेंगे। इसको दु:खवादी क्यों कहते हैं? इसको नैराश्यवादी क्यों कहते हैं? यह तो इतना बड़ा उत्साह देनेवाला ग्रंथ है—सारा-का-सारा ग्रन्थ एक रोते हुएको हँसानेवला है। एक धनुष-बाण फेंकनेवालेको युद्धमें प्रवृत्त करने-वाला है। एक दु:खीको सुखी बनानेवाला है। इसपर कोई नैराश्यकी छाया छायी हुई है, ऐसा कहना तो जँचता नहीं है।

प्रश्न : अमानित्व, अदंभित्व जैसे ज्ञानके सूचक गुणों, भक्ति, अध्यात्म, ज्ञान और तत्त्वज्ञानार्थ दर्शन, इन सबको ज्ञान किस दृष्टि और किस उद्देश्यसे कहा गया है?

उत्तर : सबको ज्ञान इसलिए कहा गया है कि संस्कृतमें ज्ञान शब्दकी व्युत्पत्ति (ज्ञान शब्द कैसे बना) दो तरहकी मानी जाती है। एक तो 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'। जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानके साधनको ज्ञान कहते हैं। हमको बचपनकी याद आती है। कोई छिपा हुआ कागज, लिखा हुआ कागज धरतीपर गिरा हुआ होता और हमारा पाँव उसपर पड़ जाता तो हमारे पितामह कहते कि इसको प्रणाम करो। यह तो ज्ञान है, यह तो विद्या है। इसके ऊपर पाँव नहीं पड़ना चाहिए। वह कागज, जो प्रेसमें छापा हुआ कागज है, उसका नाम क्या ज्ञान है? नहीं, जो ज्ञानके साधनका आदर करेगा, पुस्तकको आदरणीय समझेगा, जो अक्षरको-क-ख-गको आदरणीय समझेगा।-वह ज्ञानका आदर करेगा।

आपको जानना चाहिए कि एक-एक अक्षरकी पूजा होती है। अ कैसे लिखना चाहिए इसका संस्कृत भाषामें नियम है। उसमें पाँच कोण होने चाहिए। 1 ऊपर 1 नीचे और तीन आगेकी ओर। तब यह पंचकोण 'अ'कार बनता है और उसमें परमात्माकी, वासुदेवकी पूजा होती है। ऐसे सभी अक्षरोंके बारेमें है। तो जिससे ज्ञान हो उसका नाम ज्ञान है। ज्ञानके साधनको ज्ञान कहते हैं। एक दिन एक स्वामीजी मेरे पास आये। आकर नीचे बैठ गये। मैं तख्ते पर था, वे नीचे बैठ गये। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं आपसे श्रीमद्भागवत पढ़ना चाहता हूँ और इसीलिए आया हूँ। मैं उनको पहचान गया। वे समझते थे कि ये नहीं पहचानते हैं। मैंने उनसे कहा कि आप तो इतने बड़े विद्वान् हैं, कि आप मुझे वर्षों तक पढ़ा सकते हैं। आप मुझसे क्या पढ़ेंगे? तो बोले हाँ ऐसा भी है, मैं वर्षों तक पढ़ा भी सकता हूँ। तो मैंने कहा आप अब नीचे मत बैठिये। हमारे तख्ते पर बैठ जाइये।

देखो भाई! जिसको सीखना होता है, ज्ञान प्राप्त करना होता है, उसको अभिमान छोड़कर करना पड़ता है। यदि वह अपना मान रखेगा तो न तो उसको प्रेम मिलेगा और न तो सच्चे जीवनका आनन्द मिलेगा।

संभवत: कल्याण—गीता प्रेसकी ही बात है। एक सेठ भाईजीके पास आते थे। वे मुँह फुलाकर चुपचाप बैठे रहते थे। एक दिन बातचीतमें मैंने कहा कि आप इतने गम्भीर क्यों रहते हैं? जरा हँसिये, बोलिये—तो बोले कि क्या बतावें पण्डितजी, हमारे पास ज्यादातर माँगनेवाले लोग आते हैं। पहले तो हँसकर मेल-मिलाप कर लेते हैं, बादमें कुछ-न-कुछ माँगना शुरू कर देते हैं। तो सब लोगोंसे हँसना, बोलना नहीं बनता है। बिचारे चुपचाप—कोई माँग न ले, इस डरसे बैठे रहते थे।

यह मान है—ज्ञानमें तो मान यह है कि आप अपनेको साढ़े तीन हाथका शरीर समझते हैं और आप मिनिट-मिनिट जोड़कर जो घंटे, दिन बनाते हैं, उससे जो उम्र जोड़ते हैं, वह काल-मान है। और गज जो है, फुट जो है, वह देशमान है। और आपका जो वजन है, 100-150 पौण्ड यह आपका द्रव्यमान है। इसीको जो अपना 'मैं' समझता है वह हो गया मानी और उस मानीके भावको लेकर जो रहता है, उसका नाम मानित्व होता है। पहले मानित्व छोड़ो और आओ ज्ञान प्राप्त करो। संस्कृत भाषामें दूसरा ज्ञानका अर्थ होता है—'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्।' जिसमें न कोई जाननेवाला अहंकार और न कोई जाननेवाला विषय है। उसको कहते हैं शुद्ध ज्ञान। उसका नाम है 'आत्मा', उसका नाम है ब्रह्म। भाव प्रत्ययसे ज्ञान शब्द बनता है और करण प्रत्ययसे भी ज्ञान शब्द बनता है। इसलिए संस्कृत भाषामें ज्ञानका दो अर्थ होता है। इसको आप इसी प्रसंगमें तेरहवें अध्यायमें ही देख लें। 'ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्' 'ज्ञान' तो है शुद्ध ज्ञान जिसमें अहं और इदं नहीं है मैं यह नहीं है। और 'ज्ञानगम्यं' का अर्थ है, जो ज्ञानसे जाना जाता है मानो जिससे माना जाता है वह ज्ञान यह ज्ञान है--माने ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

इनका नाम है ज्ञान और इससे जो विपरीत है, अमानित्व आदि जाननेका साधन है, अभिमान छोड़कर जानो। पाँव छूना सीखो, नीचे बैठना सीखो, हाथ जोड़ना सीखो। अपने जीवनमें विनय आजावे। मैं जब दण्डी स्वामी हुआ तो हमको बताया गया कि जिनके पास दण्ड न हो, और दण्ड हो तब भी अपनेसे पुराने न हों और पुराने हों तब भी अपनेसे ज्यादा विद्वान् या त्यागी न हों, उनको प्रणाम नहीं करना चाहिए। अब मैं श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास गया। प्रश्न था कि श्रीहरि बाबाजी वहाँ रहते हैं। हम हरि बाबाजीको हमेशा बाल्यावस्थासे प्रणाम करते थे। न तो वो दण्डी और न तो ब्राह्मण। हम अब क्या करें? बाबासे पूछा। बाबा बोले कि प्रणाम करना तो मनुष्यका एक सद्गुण है, सद्भाव है, कि वह किसीको देखकर सिर झुका दे या हाथ जोड़ दें। भागवतमें तो ऐसा वर्णन है कि सभीको प्रणाम करना चाहिए—मन ही मन—कि सबमें भगवान्का निवास है। जो मान लेकर रहेगा उसको ज्ञान नहीं मिलेगा। क्यों नहीं मिलेगा? ज्ञान एक गंगाकी धारा है। वह हिमालयके शिखरसे उतरती है और नीचेकी ओर आती है—'ज्ञान-गंगा।' यदि ऊँचा शिखर होगा तो उसपर ज्ञान-गंगा कैसे चढ़ेगी? जो लोग सिर उठाकर अभिमानमें मगन रहते हैं, उनको ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती।

प्रत्येक ज्ञान चाहनेवालेको मान छोड़ करके तब रहना चाहिए। और यदि छाती ठोंक देंगे कि हम तो पहलेसे ही जानते हैं तो बतानेवाला तुम्हें बतायेगा ही नहीं। दूसरी बात यह है कि ज्ञानमें दम्भ नहीं होना चाहिए। मनुष्यके मनमें दम्भ बहुत होता है। हम यह नहीं खाते हैं, हम यह नहीं पीते हैं, हम यह नहीं छूते हैं—हम ऐसे नहीं रहते हैं। भले ही आदत पड़ गयी हो। पर आदत डालनेसे ही पड़ती है और छोड़नेसे छूट भी जाती है। कोई आदत आदमी माँके पेटसे लेकर नहीं आता, न तो गेहूँके दानेमें-से। अब कहो कि हम पहले गेहूँ या चनेके दानेमें थे तो आदत हमको पड़ी हुई है। वैसे ही रहेंगे। बापके पेटमें एक बूँदके रूपमें थे. वैसे ही रहेंगे। माँके पेटमें एक मांसके लौंदेके रूपमें थे, हम वैसे ही रहेंगे। नहीं भाई, जब बाहर निकलते हैं तब सब आदतें सीख-सीखकर अपने अन्दर डाली जाती है, आती हैं। यदि विचारसे कोई विरुद्ध हो तो उसको छोड़ देना चाहिए। और दम्भ नहीं करना चाहिए।

दम्भ माने बनावट। मैंने शायद यहाँ कभी सुनाया होगा। यह कथा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक एक नाटकमें है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीका लिखा हुआ ग्रंथ है। उससे भी पुराना हो सकता है, उसमें यह कथा आयी है। ब्रह्माजीकी सभामें एक सज्जन आये तो उनके हाथमें एक कमण्डलु था और कुशासे जल छिड़क-छिड़क करके तब पाँव रखते थे। आये, खड़े हो गये। लोगोंने सोचा कहीं आस-पास बैठ जायेंगे पर नहीं बैठे। लोग उठकर खड़े हो गये। महाराज, आप बैठिये! नहीं बैठे। सब जूठे आसन हैं। सब पर लोग बैठ चुके हैं। ब्रह्माजीने बुलाया, आओ हमारी गोदमें बैठ जाओ। वहाँ भी उन्होंने कुशसे जल छिड़ककर 'अपवित्र: पवित्रो वा'—उच्चारण किया और ब्रह्माजीकी गोदमें बैठ गये। बैठ गये तो ब्रह्माजीकी साँस निकले नाकमें-से, तो बोले—अरे यह तो गन्दी है, नाकमें-से, गलेमें-से, निकलकर आती है। यह साँस हमको नहीं लगनी चाहिए। ब्रह्माजीने कहा कि कौन दमघोटू आगया। हम तो घुट जायेंगे। तो उन्होंने जरा लटककर सामनेकी ओर देखा। कौन है भाई—अरे बेटा दम्भ, तू बहुत दिनके बाद आया है। उसमें एक व्यंग भी है। पूछा—कहाँ रहा इतने दिन? बोला मद्रास चला गया था पिताजी। वहाँसे यह सीखकर आया हूँ। बहुत बढ़िया!

जहाँ जैसा देश हो, जैसा काल है, जैसी वस्तुकी उपलब्धि हो, जैसे लोग हैं, उनमें, उनकी हीनताका भान न करा करके, इस ढंगसे व्यवहार करना चाहिए कि किसीको अपने नीच होनेका पता न चले। यह जो दम्भ है, इसको वेदान्ती लोग तो और ज्यादा सूक्ष्म करके निरूपण करते हैं। उनका कहना है कि जैसे नहीं हैं, वैसा अपनेको जाहिर करना यह तो स्थूल दम्भ है, मोटा-मोटी दम्भ है। सूक्ष्म दम्भ तो यह है कि जैसे अपने हैं वैसे भी दूसरेको बता देना, दिखा देना कि मैं ऐसा-ऐसा हूँ—'ख्यातिर्दम्भ:'। अपनेको जाहिर करना ही दम्भ है। जैसे हो ऐसे रहो। जिसके मनमें जैसा हो वैसा तुम्हारे प्रति भाव करे। दूसरेके भावका ख्याल मत करो। कोई नाना समझे कि नानी। कोई दादा समझे कि दादी। तुम्हारी जो मानवता है उसका लोप नहीं होना चाहिए। यह सबसे बड़ी चीज है। बिना मानवके न ब्राह्मण होगा, न संन्यासी होगा, न दादा होगा, न दादी होगी। अपनी मानवता किसी भी रूपमें न छूटनी चाहिए। अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसमें स्थिर रहनेका प्रयास—यह ज्ञानका साधन है। और बनावट, दम्भ है, यह अज्ञानका साधन है।

एक दिन महर्षि महेशजीका कोई साधक आया था। हमारी एक परिचित संसद-सदस्या हैं, उनको महर्षिजीके पास ले गया। पहलेसे परिचय था। उन्होंने बताया कि उत्थान कैसे होता है। आदमी धरती परसे आसमानमें कैसे उठता है। तो रतनकुमारजी मालपाणीने कहाकि महर्षिजी उठनेके बाद फिर क्या होगा? जो उठेगा वह फिर धरतीपर आयेगा कि नहीं? तो फिरसे धरतीपर ही आना है तो उठकर क्या करेंगे? चिड़िया तो बहुत उड़ती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि आप जहाँ हैं वहाँ स्थिर रहिये और दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचे, इसका ध्यान रखिये। अपनी सुख-सुविधाका तो बहुत ध्यान रखें और दूसरेके कष्टका ध्यान न करें, यह ज्ञान प्राप्तिका साधन नहीं है। सावधान रहिये।

बुद्धचर्या एक ग्रंथ है। उसमें बताया कि आदमी जब अपना बिस्तर पलंगपर डालता है तो कभी-कभी इतने जोरसे डाल देता है कि या तो बिस्तरको या पलंगको चोट लग जाती है और जब उसको झाड़ता है तब किसकी आँखपर इसकी धूल पड़ेगी इसका ध्यान नहीं रखता। और जब चलता है तो ऐसा धम-धम चलता है कि जैसे कहींसे पिटकर आया हो और गुस्सेमें पाँव रख रहा हो। और तृष्णा ऐसी होती है या मनमें चिढ़न है, कुढ़न है वह, वह ऐसी होती है कि मनुष्यकी प्रवृत्तिको बदल देती है। यह ध्यान रखना कि हम 'हूँ' करके किसीको न बोलें। रातमें एकबार प्रबुद्धानन्दजीको बुलाया, इतने प्रेमसे बोले, इतनी मीठी आवाज थी उस समय कि मेरे मनमें यह नहीं आया कि कितनी मीठी आवाजमें बोल रहे हैं, मैंने तो यह सोचा कि हर समय ऐसी मीठी आवाजमें क्यों नहीं बोलते हैं? जब आप अपने किसी प्रिय व्यक्तिसे बात करते हैं तब आपकी आवाज कितनी मीठी होती है! आपका चेहरा कितना सौम्य होता है, कितना प्रेम देते हैं। और वही जब किसी दूसरेसे, जिससे आप प्रसन्न नहीं है, बोलते हैं तो आपके वचनमें, आपकी चेष्टामें, आपके भावमें दु:ख पहुँचानेवाली बातें आ जाती हैं। जो अपनी दु:ख देनेवाली प्रकृतिको छोड़नेमें समर्थ नहीं है, वह असलियत, सत्य है, असल है, उसका ज्ञान कैसे प्राप्त करेगा? इसलिए अपनेको बहुत सम्हालके रखना है। हमारे साधु जब भोजन करते हैं तब बोला जाता है—साधु सावधान—अवधानसे रहिये। अपने मनको बहुत फैलने मत दीजिये। वर्तमानको साथ लेकरके चलिये। हिंसा नहीं होगी। नहीं तो आपकी बोलीकी भी किसीके दिलपर चोट लग जाती है। आपकी आँखकी चोट लगती है। आपकी बातकी चोट लगती है। सावधान होकर जब आप रहेंगे तब अपने बारेमें आप जान सकेंगे। और यदि दूसरों-दूसरोंको देखेंगे और अपना कोई ख्याल नहीं करेंगे तो आपका जीवन ज्ञानके अनुकूल नहीं होगा। इसलिए—

एतद्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

ये 20 के करीब हैं। अमानित्व, अदंभित्व, अहिंसा, क्षाति, आर्जव, आचार्योपासन—इन सबकी बड़ी सुन्दर व्याख्या ज्ञानेश्वरीमें मिलती है। आप ज्ञानेश्वरीमें पढ़े तो बड़ी कामकी चीज है और यह हमारे जीवनका निर्माण करनेवाली वस्तु है।

●

तृतीय दिवस

(30-10-84)

प्रश्न : 'अनन्ययोगेन' और 'अव्यभिचारिणी' कहकर भक्तिकी किन विशेषताओंपर बल दिया गया है? क्या केवल भक्ति कहना पर्याप्त न होता? ऐसे कुछ भक्तोंके उदाहरण देकर भक्तिके इस विशिष्ट रूपको स्पष्ट करें।

उत्तर : सत्यका साक्षात्कार करनेके लिए पहले तो अभिमानका परित्याग होना चाहिए। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।' परसों सरलाजीने ध्यान दिलाया था। प्रणिपातका अर्थ होता है, अभिमान-त्याग। सेवाका अर्थ होता है भक्ति। और परिप्रश्नका अर्थ है जिज्ञासा-जाननेकी इच्छा होना। जिज्ञासा-बिना यदि दूसरेसे कुछ सुने भी तो उसको ठीक-ठीक नहीं ग्रहण कर पाता है या सुनी हुई अद्‌भुत-से-अद्‌भुत, नवीन-से-नवीन बातको भी अपनी जानकारीके अन्दर ले आता है इसलिए उसको अज्ञानका ज्ञान नहीं होता। अज्ञानके ज्ञानमें निरभिमानता सहायक है। और जबतक वस्तुका यथार्थ अनुभव न हो जाय तबतक दम्भ करना कि मैं जान गया, अनुभव हो गया, ईश्वर मिल गया, ऐसा दम्भ नहीं आना चाहिए। अधूरेपनमें ही पूरेपनका प्रदर्शन नहीं आना चाहिए। और मन, वचन, कर्मसे किसीको दु:ख नहीं पहुँचाना चाहिए। क्योंकि जब दूसरेको दु:ख पहुँचता है तो उसके मनमें जो हायकी वृत्ति उठती है वह दूसरेके ज्ञानपर भी परदा डाल देती है और दूसरेसे कोई अपराध हो जाय तो उसको क्षमा करना चाहिए।

क्षान्ति—यदि एकने अपराध किया और दूसरने उसे दण्ड दिया तो तीसरा उसको भी दण्ड देगा और चौथा तीसरेको दण्ड देगा, पाँचवा चौथेको दण्ड देगा। अपराधकी परम्परा बढ़ती चली जायगी और यदि एकने अपराध किया और दूसरेने क्षमा की तो अपराधकी परम्परा वहीं समाप्त हो जायगी। जीवनमें सरलता चाहिए। जिज्ञासु, शिष्यको टेढ़ा नहीं होना चाहिए। मनमें कुछ है, कर्ममें कुछ है, वचनमें कुछ है। 'मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।' यह दुरात्माकी पहचान है। 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।' जो मनमें, वही कर्ममें, वही वचनमें—यह महात्माकी पहचान है।

अर्जुन जो गीताके श्रवणके मुख्य अधिकारी हैं, वे 'अर्जुन' इसलिए कहे जाते हैं कि एक तो वे ज्ञानार्जनके लिए तत्पर हैं, दूसरे सरल चित्त हैं—'ऋजुत्वात् अर्जुन:'। ये सद्‌गुण अपने जीवनमें कैसे आवें—उसके लिए आचार्यकी उपासना चाहिए। 'आचार्योपासनम्।' आपको यह बात मालूम ही है कि जो वस्तु इन्द्रियोंसे दिखायी नहीं पड़ती है, अनुभवमें नहीं आती है, उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। जब पहले आग और धुँआ दोनोंको एक जगह आँखसे देख लेंगे तब कहीं भी धूँआ देखकर आगका अनुमान कर सकते हैं। परन्तु जबतक धूँएँ और अग्निके सम्बन्धका ज्ञान नहीं है तबतक अनुमान नहीं हो सकता। परमेश्वर किसी भी इन्द्रियके द्वारा देखा नहीं जा सकता, क्योंकि कोई इन्द्रिय, किसी भी वस्तुको पूरी तरहसे नहीं दिखा सकती। न आँख रूपको, न कान शब्दको। थोड़ा-थोड़ा दिखाते हैं। न जीभ स्वादको। तो एक

अज्ञात जो परमात्माका स्वरूप है, उसका ज्ञान केवल उपदेशसे ही हो सकता है। वाक्यसे ही उसका ज्ञान हो सकता है। जब कोई अनुभवी पुरुष वेद-शास्त्रके वचनसे या अनुभवके वचनसे उसको समझावेगा, तभी हम उसको जान सकते हैं।

आँखसे शालिग्रामको देखेंगे, तो कोई बतावेगा कि भावना करो कि ये भगवान् हैं। शिवलिङ्ग देखेंगे तो कोई बतावेगा कि भावना करो कि ये भगवान् हैं। जबतक भावना करनी पड़ती है, तबतक भगवान्का दर्शन नहीं हुआ। इसलिए 'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' उपनिषद्का कहना है कि जिसके गुरु हैं, जिसके आचार्य हैं, वही इस परमेश्वरको जान सकता है। नहीं तो आँखसे दूरबीन, खुर्दबीन लगाके देखो या कानमें लाख गुना सुननेकी मशीन लगाकर सुनो और वाणीसे कुछ भी बोले, उससे परमात्माकी पहचान नहीं होगी; क्योंकि पहचानमें परमात्मा नहीं है। जिसने परमात्माको पहचाना है उस पुरुषकी वाणी, उसका उपदेश ही आपको परमात्माका ज्ञान करा सकता है। इसलिए 'आचार्यद्धयैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति' (छान्दोग्य उप0 4.9.3) आचार्यसे जानी हुई जो विद्या है, वही परमात्माका साक्षात्कार करा सकती है। कोई छोटा-मोटा आदमी यदि इसका उपदेश करे तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि यह बड़ा सूक्ष्म है। इसलिए आचार्यकी उपासना इसमें आवश्यक है।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यं आत्मविनिग्रहः ॥ (13.7)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ 8 ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समाचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ 9 ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ 10 ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिि प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा ॥ 11 ॥

जब आचार्यकी उपासनाका अर्थ यह होता है कि परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, सत्स्वरूप है—अद्वितीय है, इसको जो स्वयं अनुभव करे और दूसरेको अनुभव करा दे, उसका नाम होता है आचार्य। और उपासनाका अर्थ होता है, उसमें इष्ट बुद्धि, आदरणीय बुद्धि, उपास्य बुद्धि—अपने सद्गुरुमें जो श्रद्धापूर्वक प्रीतिपूर्ण सेवा है उसको आचार्योपासना कहते हैं और सीधा-सीधा उसका अर्थ है आचार्यके पास बैठना। देखो, महात्मा वह नहीं होता जिसको आप देखते हैं। आप तो हड्डी-मांस-चामकी शरीर देखते हैं। महात्मा वह होता है जो वह अपना स्वरूप बताता है। उसके पास बैठना माने उसकी अनुभूतिके पास बैठना।

आचार्य अनुभव कर रहा है कि मैं भगवान्के पास बैठा हूँ। ऐसे श्रीरामानुज सम्प्रदायमें सोचते हैं।

शेष-शय्या है, उसपर नारायण लेटे हुए हैं। लक्ष्मी उनके चरणोंकी सेवा कर रही हैं। श्रीरामानुजाचार्य स्तोत्रका पाठ कर रहे हैं। तो अब भक्त भी वहाँ गया। श्रीनारायणने अधखुली आँखसे देखा, लक्ष्मीजीने पूरी आँखसे देखा, आचार्यको इशारा किया और उसने कहा, लग जाओ भगवान्‌की सेवामें, और लग गया। जो गुरुका अनुभव है वहीं अपना आसन लगे। तुम जहाँ हो वहाँसे मन-ही-मन उठ जाओ और जहाँ तुम्हारे आचार्य बैठे हैं वहाँ मनसे बैठ जाओ। इसको कहेंगे—'आचार्योपासन' यह रास्ता ऐसा है कि बड़े-बड़े महात्मा लोग जिस मार्गसे गये हैं उसी मार्गसे इसपर चलना चाहिए। ईश्वरके बारेमें आप अपने मनसे कल्पना उठाओगे, फिर दूसरी आवेगी, तीसरी आवेगी। एक मिलेगा, दूसरा मिलेगा, कहीं भी स्थिरता नहीं आ सकेगी। इसलिए, अपने मनको स्थिर करनेके लिए किसी अनुभवीका अनुभव चाहिए।

अब पवित्रता जीवनमें आवश्यक है। पवित्रता क्या है? साबुन, तेल लगानेका नाम पवित्रता नहीं है। स्वच्छता एक दूसरी वस्तु होती है। आप साबुनसे, पानीसे और तरह-तरहके रसायनसे अपने शरीरको, वस्त्रको स्वच्छ कर सकते हैं। परन्तु पवित्रता तो वहाँ आती है जहाँ पवित्रताकी भावना होती है। 'आचार्योपासनम्'। जब गुरुके पास रहेंगे तो कम-से-कम गन्दे हाथसे उसका काम नहीं करेंगे। गन्दी बात गुरुके सामने नहीं बोलेंगे। गन्दे ढङ्गसे नहीं बैठेंगे। जीवनमें एक प्रकारकी पवित्रता आयेगी। साबुनके जलसे, रसायनसे शरीर स्वच्छ होता है। पर गंगाजलसे शरीर पवित्र होता है क्योंकि यह भगवान्‌के चरणोंका जल है और यह भाव है कि इसमें भगवान्‌की पवित्रता भरी हुई है। तो जब उस पवित्र वस्तुका ध्यान करेंगे तो हमारा हृदय भी पवित्र हो जायगा। इसके लिए पवित्र चिन्तनकी आवश्यकता होती है।

कई लोग मानते हैं कि हमारा भोजन पवित्र होना चाहिए। आजके युगमें तो इसकी चर्चा भी झूठी हो गयी है। भोजनका बड़ा प्रभाव पड़ता है मनुष्यके मनपर। भोजनमें हम क्या वस्तु खा रहे हैं उसका असर भी मनपर पड़ता है। एक दिन एक सत्पुरुषके मनमें चोरी करनेकी इच्छा आने लगी। जाकर उन्होंने अपने गुरुसे पूछा—महाराज, मेरे मनमें आज चोरी करनेकी इच्छा आयी। कितनी गन्दी बात है। गुरुजीने पूछा—आज तुमने भोजन कहाँ किया था? तो शिष्यजीने बताया कि आज मैंने एक स्वर्णकारके घरमें भोजन किया था। तो स्वर्णकारके घरमें भोजन किया तो जो स्वर्णकारके मनमें है, उसका प्रभाव उसके भोजनमें है। और चोरीकी बात मनमें आ गयी। भोजनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। भोजन पवित्र है कि अपवित्र; अपनी कमाईका है कि नहीं; जिसने पकाया है, उसने शुद्ध भावसे पकाया है कि नहीं; पकानेवालेके मनमें तो शोक भरा है, आँसू टपाटप गिर रहे हैं और भोजन पका रहा है, तो खानेवाला कैसे अपने मनको पवित्र रख सकेगा। यह कह देना कि इसका क्या असर पड़ता है, कुछ नहीं—ऐसे काम नहीं चलता है। गाय भूखी है, उसकी आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं—उसका दूध निकालकर पीया तो उसके दुःखका असर पीनेवाले पर भी पड़ेगा। भोजनमें भोजनकी वस्तु शुद्ध हो और जो पकावे वह भी शुद्ध हो, तथा जिन पात्रोंका उपयोग किया जाय वे भी शुद्ध हों और उनमें जो चीजें डाली जायँ—मसालेके रूपमें—वे भी शुद्ध हों।

हमारे एक व्रजके सज्जन 2-4 वर्ष पहले उनकी मृत्यु हुई। कराँची गये थे। सिन्धी लोग ले गये थे। वे

अपने हाथसे कुएँसे पानी खींचकर बरतन माँजकर रसोई बनाते थे। भगवान्‌को भोग लगाते। सिन्धियोंने उनको चावल, दाल, आटा दिया, सब्जी दी, मसाले दिये। मसाला डालनेपर उनको भोजन बड़ा स्वादु लगा। और मँगाया। चार महीने वहाँ रहे, खाते रहे। जब चलने लगे तो बोले कि उस मसालेमें क्या-क्या पड़ता है, हमको बता दो तो हम घरमें जाकर बनायेंगे। मसालेमें तो मछलीका चूरा पड़ता था। भोजनमें हम क्या डाल रहे हैं? जो विदा ही पदार्थ है—अत्यन्त नमक और अत्यन्त उष्ण, गरम, अत्यन्त रुक्ष विदाही—जलन पैदा करनेवाले जो पदार्थ हैं, उनके भोजनसे मनमें पवित्रता नहीं आती; वे उत्तेजक होते हैं।

यदि सत्यके, परमार्थके, भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गमें चलना है तो आहार-शुद्धि होना आवश्यक है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दोग्य 7.26.2)। इसको शौच कहते हैं। शौच माने पवित्रता, शुचिता। काम भी जो हम करते हैं, उसमें यदि ऐसा काम करेंगे, जिनसे मनमें भय पैदा हो, डरानेवाला काम करें—कहीं पुलिस पकड़ न ले। कहीं कोई देख न ले! अगर ऐसा काम करेंगे तो भले ही काममें आपको सफलता मिल जाये लेकिन आपके मनमें जो उससे कँप-कँपी होगी वह आपके शरीरको रोग उत्पत्तिके योग्य बना देगी। ऐसे ही आप जब सोचते हैं—कल्पवृक्षके नीचे; हृदयमें अन्तर्यामी भगवान् बैठा है वे उसीके नीचे बैठकर सब कुछ विचार करते हैं। जब गन्दे विचार करेंगे तो वह आपके जीवनके साथ जुटेंगे और कहीं-न-कहीं वे आपको गन्दी जगहपर पहुँचा देंगे।

गुरुके पास रहनेसे, आचार्योपासनसे इन सबसे बचनेका अवसर मिलता है। और अब उसके सामने कोई शोक आता है, दु:ख आता है, गुरुजीके सामने दु:खका निमित्त आया, उनका कोई प्रिय नहीं रहा, सम्बन्धी नहीं रहा तो वे उस समय कैसे रहते हैं! जिस दिन उनको भोजन अनुकूल नहीं मिलता, उस दिन कैसे रहते हैं। अप्रिय घटना घटनेपर, अप्रिय व्यक्तिके आनेपर गुरुजी कैसे शान्तिके साथ उससे मिलते हैं। वे बुरा करनेवालोंका भी कैसे भला चाहते हैं। ये जब हम आचार्यके पास रहेंगे तो यह शुचिता, यह पवित्रता-तनकी पवित्रता, मनकी पवित्रता, भोजनकी पवित्रता आयेगी और जो उद्धत वस्त्र आभूषण हैं, उनसे बचनेकी इच्छा होगी। ये जो वासनाको भड़कानेवाली चीजें हैं—जिनसे वासना भभकती है, उनसे बचनेकी विद्या, अपनेसे बड़ेके पास रहनेसे आती है। सीखनेको मिलेगा तो अपनेसे बड़ेसे ही मिलेगा, छोटेसे तो मिलेगा नहीं और इसके साथ जीवनमें स्थिरता आनी चाहिए। माने यह नहीं कि क्षणमें यह और क्षणमें वह। निर्णयकी शक्ति और उसमें निष्ठावान् होना स्थिर हो जाना—यह मनुष्यके जीवनकी एक विशेषता है और वह अपने जीवनमें रहनी चाहिए। जहाँ हम निर्णयमें विलम्ब कर देते हैं वहाँ चीज वासी पड़ जाती है, पुरानी पड़ जाती है।

एकबार हमलोग गंगाके किनारे-किनारे चल रहे थे तो पश्चिमवाहिनी गंगाके तटपर एक सराय गाँव है। वहाँ जगराम सिंह थे। वे वहाँके जमींदर थे। वे भी हमारे साथ चल रहे थे। मल्लाहोंने एक बहुत बड़ी-सी मछली पकड़ी, उसको एक आदमी नहीं उठा सकता था। चार आदमी मिलकर उठाते थे। चलते-चलते उन्होंने कहा कि मछली छुड़वा दें। ये मार डालेंगे। फिर वोले कि ये तो इनकी जीविका है। हम क्यों दखल दें। चलते रहे। फिर बोले जीविका है तो क्या? हम तो यहाँके जमींदार हैं—रोक सकते हैं। हमको अधिकार है। फिर थोड़ी दूर

चलते रहे। मनमें आया कि मेरे सामनेकी बात है तो छुड़वा देना चाहिए। इतनेमें तो उन मछुओंने उस मछलीपर ऐसा कुल्हाड़ा मारा कि उसके दो टुकड़े हो गये। निर्णय जितना शीघ्र होता है, और उसमें निष्ठा स्थिर होनेकी जितनी शक्ति होती हैं, उतना ही अच्छा होता है। सवेरे कुछ, दोपहर कुछ, रात कुछ-आज मनमें आया, यह करेंगे। थोड़ी देर बाद मनमें आया, यह नहीं यह करेंगे—यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। सर्वथा जीवनमें स्थिरता होनी चाहिए। हमारे उड़िया बाबाजी कहते थे कि जो लोग बैठकर झूमते रहते हैं, दाहिने-बायें हिलते हैं—उनके जीवनमें आलस्य बहुत है। उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें वे हिलते रहते हैं। आलसी माने नीरस जीवन। अ-लस, अ-रस जिसके जीवनमें रस नहीं है उसको अरस बोलते हैं। रस नहीं है स्वाद नहीं है। फिर वह अलस हो गया। अलस हो गया माने उसके जीवनमें कोई शोभा, कोई सौन्दर्य नहीं रहा। निकम्मा हो गया। और उसके मनके भावका नाम आलस्य—

अलसस्य भावः आलस्यम्।

मनुष्य यदि आलसी हो गया तो उसके जीवनमें कोई भी सफलता नहीं मिलेगी। हमेशा आशा और उत्साहसे भरपूर जीवन होना चाहिए। अब यह लिया अब यह लिया, और संकट भी आ जाय, कष्ट भी आ जाय तो उसको सहकर अपने साधनमें, निष्ठामें दृढ़ रहना चाहिए। यह बात आचार्यसे सीखनेको मिलती है। कब बोलना, कब नहीं बोलना। 'मौनम्।' बोलनेमें भी पाँच बातका ध्यान रखना चाहिए। यह नहीं कि चाहे जो गप्प हाँक दिया। एक तो जो हम बोलें, उसमें झूठ न हो। सच बोलें यह नियम नहीं है। सच तो बहुत-से ऐसे होते हैं जो कहे नहीं जा सकते। अपने बीजककी जानकारी देना व्यापारीके लिए ठीक नहीं है। ठीक है वह दिखावे क्यों? परन्तु झूठ-झूठ गढ़के न बतावें—उसको मौनसे निभा लें। या दूसरे लोग जैसा सोचें वैसा सोचने दें। बोलनेकी आवश्यकता हो, तो जहाँ तक संभव हो सके—झूठसे बचें। और जो किसीके लिए हितकारी हो वह बोलें और बोलें तो बहुत मीठा बोलें, मधुर बोलें। आवश्यक हो तो बोलें। और अवसरके अनुकूल हो तो बोलें। और अपने ज्ञानका बोलनेमें अपमान न करें।

जब कोई बोलनेमें बैठकर पाँव हिलाता रहता है, तब वहाँ शक्तिका अपक्षय होता है। बैठकर हाथ हिला रहे हैं। बिना प्रयोजनके कोई काम कर रहे हैं। पानी पीट रहे हैं। अपने आपको रोकनेका सामर्थ्य होना चाहिए। यह नहीं कि जो चीज देखी उसको खाने लग गये, चीज मिली उसको भोगने लग गये। जो चीज मिली उसको इकट्ठा कर-करके रख लिया। इससे तो जीवनमें एक प्रकारका पागलपन ही आता है। पागलोंको हम देखते हैं, सड़क पर कागज मिले चाहे रस्सी वे अपने हाथको रोक नहीं सकते, उठाके अपनी झोलीमें या कंधे पर रख लेते हैं। कहीं हम अपने जीवनमें, ऐसा तो नहीं करते कि निष्प्रयोजन, निकम्मी वस्तुओंको इकट्ठे कर-करके अपने सिरपर बोझ बढ़ा रहे हों। अपनेको रोकनेका सामर्थ्य ही धर्म है। जो नहीं देखना चाहिए उसको आँखसे न देखें। जो नहीं करना चाहिए उसको हाथसे न करें। जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ पाँवसे न जायँ। जो नहीं बोलना चाहिए वह न बोलें। अपने ऊपर नियंत्रण होना चाहिए। कुछ नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं, कुछ मारनेकी आवश्यकता नहीं। केवल अपना नियन्त्रण, नियमन उस पर रहना चाहिए। हम जो उचित समझते हैं

सो कर सकें और जो अनुचित समझते हैं, उसको छोड़ सकें। इसीको संस्कृत भाषामें 'धृति' अथवा 'धर्म' बोलते हैं। और राग-द्वेषसे बचें।

किसीसे दुश्मनी कर लेंगे तो अपना ही दिल जलेगा। द्वेष जो है, वह आग है। जिसके हृदयमें आग जलती है—पहले उसी हृदयको जलती है और बादमें दूसरेका स्पर्श करती है। यह राग जो है, ऐसा रंग है कि अपने दिलमें किसीका रंग चढ़ जाय तो उसकी गलती मालूम नहीं पड़ेगी। हमारे रागके भीतर छिप जायेगी। वह जो गलत काम कर रहा है उसको हम पकड़ नहीं पायेंगे। कहेंगे—भाई, ऐसा तो सब लोग करते हैं, यह करता है तो करने दो। स्नेह होना चाहिए परन्तु वह पोषक स्नेह होना चाहिए, जिससे हम दूसरेको परिपुष्ट कर सकें। जिससे हम दूसरेको रस दे सकें, तृप्ति दे सकें ऐसा प्रेम होना चाहिए। श्रद्धा होनी चाहिए। परन्तु ऐसी होनी चाहिए जिससे हम दूसरेको आदर दे सकें। श्रद्धा आदर देती है, प्रेम रस देता है। स्नेह पुष्टि देता है।

अपनी वृत्तियोंके सम्बन्धमें जो ध्यान है, आप वस्तुको पहचानते हैं वह दूसरी चीज है। रुई साफ करते हैं, ठीक है। मिट्टी साफ करते हैं, ठीक है। कपड़े साफ करते हैं, ठीक है। अन्न साफ करते हैं, वह भी ठीक है। परन्तु वह श्रम है। जब आप अपने दिलको साफ करने लगते हैं तब उसका नाम 'धर्म' होता है। राग-द्वेषसे बचें। किसीके प्रति इतना पक्षपात न हो जाय, उसकी बुराईमें भी शामिल हो जायँ और किसीसे इतनी दुश्मनी न हो जाय कि हम उसकी अच्छाईका भी अपमान कर दें। इस तरहसे अपने जीवनको यों चलाना कि किसी बातका अहंकार न हो। अहंकार होता है कि हमारे पास ये-ये चीजें हैं। एक बालकको मैंने बम्बईमें देखा। अब वह विदेशमें रहता है। उसके घरके लोगोंने उससे छिपाकर रखा था कि उसके पास कितनी सम्पदा है। अरबोंकी सम्पदा थी। पर लड़केको बताया नही गया था। उसकी उम्र 18-19 वर्षकी हो गयी। एक बार जब वह विदेश गया और उसने अपने ऑफिसमें देखा कि हमारी कितनी ब्राञ्च हैं तो उससे सहन नहीं हुआ, उसका दिमाग काबूसे बाहर हो गया। इस बातको पन्द्रह वर्ष हो गया। अभी उसके दिमागका सन्तुलन ठीक नहीं है।

रागमें, द्वेषमें, मोहमें अपने संग्रह-परिग्रहको देखकर एक प्रकारका अहंकार आता है और वह शरीरसे सहन नहीं होता। भोगकी अधिकतासे, संग्रहकी अधिकतासे और मनोराज्य-इतना बड़ा मनमें राज्य बना लिया कि वहाँतक पहुँचाना कठिन है। हाथ वहीं तक उठाना चाहिए जहाँतक शरीरमें शक्ति हो। मोटर बहुत तेज चलावेंगे तो रोक नहीं सकेंगे। अभी हालमें ही हम किसी मोटरसे चल रहे थे। इतने वेगसे वह चल रही थी कि ड्राइवर सम्हाल नहीं सका। हालमें ही एक दुर्घटना हुई। कोई एक सेठका लड़का मोटर चला रहा था। मोटर बिलकुल उलटी ही हो गयी। ऊपरका हिस्सा नीचे, नीचेका ऊपर—उलट गयी। अपने शरीरकी जो मोटर है, इसको चलानेमें भी नियंत्रण चाहिए। अहंकेकार पर बैठ करके इसको नियंत्रणसे बाहर नहीं होना चाहिए और केवल अच्छाईका पक्ष ही नहीं देखना चाहिए कि हम जवान हैं। बुढ़ापेको भी देखना चाहिए कि जीवनमें आनेवाला है।

आज स्वस्थ हैं पर यदि स्वस्थ्यताकी रक्षा नहीं करेंगे तो रोग भी आनेकी सम्भावना रहती है। हमेशा सावधान रहकर आचरण करना चाहिए और जैसा कि हमारे बिन्नाणीजीने प्रश्न किया—भगवान्‌की भक्ति होनी

चाहिए। भक्तिके दो पहलू होते हैं। एक तो जो बुरा है उसको छोड़ना—जो हमारा इष्ट नहीं है, उसको छोड़ देना। और जो हमारा इष्ट है, उसको पकड़ना। संस्कृत भाषामें 'भजनसे' भक्ति बनती है और 'भंजन'से भी भक्ति बनती है।

हरिसों जोरि, सबन सों तोरयो।

अपने इष्टदेवके साथ अपने मनको जोड़ दिया। बड़े लाभकी बात है यह। व्यवहारमें भक्ति बड़े लाभकी वस्तु है। मातृ-भक्ति भक्ति है। पितृ-भक्ति भक्ति है। देश-भक्ति भक्ति है। देश-भक्ति भी भक्ति है। लोक-भक्ति भी भक्ति है। देवता-भक्ति भी भक्ति है। परन्तु भगवान्की भक्ति जो है वह पूर्ण जीवन, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्दके साथ अपने भावको जोड़ना है। माने हम कोई काम करें तो अधूरा रहकर काम न करें। पूरा रहकर काम करें। भक्ति माने सर्वरूप जो भगवान् हैं-विराट्-उनकी सेवा, हम जो काम करें वह किसी देशके लिए हानिकारक न हो। वह किसी जातिके लिए हानिकारक न हो। वह किसी सम्प्रदायके लिए हानिकारक न हो। भक्ति माने प्रीतिपूर्वक सबकी सेवाकी भावना। हमारा काम एकदेशी न हो जाय। दूसरे गाँवमें आग लगाकर, अपने गाँवको खाद देना ऐसा न हो जाय। सबकी भलाई रखकर जो काम किया जाता है वह भक्ति है। भगवान् भी पूर्ण हैं और भक्ति भी पूर्ण है। उसमें एक पशुको भी हानि न पहुँचे—जान-बूझकर हम एक कणको भी हानि न पहुँचावें।

एक सज्जन किसी महात्माका दर्शन करने गये। जूते बाहर उतारे। इतने जल्दीमें उतारा कि जूते पर जूता चढ़ गया। दरवाजेके भीतर घुसे तो ऐसी खट्टसे किवाड़ी लगी—धक्का लगा कि उनको भी चोट लगी और किवाड़ी बोल गयी। हड़बड़ाकर पहुँचे। महात्माजीने पूछा—'कैसे आये'? बोले, आपका दर्शन करनेके लिए। जूते पर जूता चढ़ाकर आये हो, पहले उसको ठीक करो। यदि जूता निकालनेमें तुम सावधान नहीं हो, तो जो बात मैं तुम्हें बताऊँगा, उसको तुम कैसे सावधानीसे ग्रहण करोगे? किवाड़ीको चोट लगी है, उससे माफी माँगी। जब किवाड़ीको भी चोट न लगे, हम यह ध्यान रखेंगे और जूता जूते पर न चढ़े—यह ध्यान भी रखना है।

सावधानी अपने जीवनमें ऐसी ही चाहिए। कपड़ेको झाड़ रहे हैं और दूसरेकी आँखमें गंदगी पड़ रही है। भक्ति जो है वह सबकी आँखका ख्याल रखती है, सबके दिलका ख्याल रखती है सबके दिमागका ख्याल रखती है। किसीकी मान्यताको गलत बतानेका कोई कारण नहीं है। जहाँ उसका भाव है, श्रद्धा है, वह सफलता प्राप्त करेगा। भक्ति कैसी? भक्तिमें एक तो बताया कि 'अव्यभिचारिणी' होनी चाहिए। भक्तियोग होना चाहिए,'अनन्ययोगेन', साथ ही 'अव्यभिचारिणी' होनी चाहिए। चार दिन इनकी भक्तिकी, चार दिन उनकी भक्ति की।

हमारे आश्रममें एक सज्जन रहते थे, उनका नाम था आनन्द ब्रह्मचारी। मैं एक दिन उनकी कुटियामें चला गया। बाईस चित्र देवताओंके लगाये हुए थे। ब्रह्मचारीसे मैंने पूछा कि ब्रह्मचारीजी, इतने चित्र क्यों लगा रखे हैं? क्या आपके शिष्योंने अपने-अपने चित्र लाकर आपके ठाकुरजीके साथ रख दिया है? बोले ना

स्वामीजी, मैं सोचता हूँ कोई देवता नाराज न हो जाय। इसके लिए दो-दो माला सबकी फेरता हूँ और सबको प्रणाम करता हूँ। तो देखो भाई—यह भक्ति तो हमारे पातिव्रत धर्मके जैसी शिक्षा है। एक पत्नी एक पुरुषके साथ सम्बन्ध रखे और एक पुरुष एक पत्नीके साथ सम्बन्ध रखे। तो क्या होगा? हजारों स्त्री-पुरुष भ्रष्ट होनेसे बच जावेंगे। और हमको एक रास्तेकी प्राप्ति होगी। हमारे जीवनमें वासनाके विरोधका एक अवसर आवेगा। नहीं तो हम वासनाके गुलाम हो जावेंगे। वासनाकी गुलामीसे बचनेके लिए हमें एकनिष्ठाकी आवश्यकता होती है। और यह आरम्भमें ही पतिव्रता धर्मका जो उपदेश किया जाता है, वहाँसे इसका प्रारम्भ होता है। एक पुरुषके प्रति अपनी निष्ठा। श्रीरामचन्द्रजी महाराजकी भागवतमें यही प्रशंसा मिलती है—'एकपत्नीव्रतधर:'। श्रीरामचन्द्रके जीवनमें यह व्रत था कि हमारी पत्नी तो एक सीता है। यज्ञके समय ऋषियोंके कहनेपर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। स्वर्णकी सीता बना करके यज्ञ किया।

कुंदमाला नामक एक नाटक है। अबसे दो हजार वर्ष पहलेका नाटक है। उनका कहना है कि यज्ञके समय वाल्मीकि आश्रमसे जब श्रीसीताजी लव-कुशके साथ आयीं तो वहाँ ऐसा अद्‌भुत चमत्कार हुआ कि फिरसे प्रजाके बीचमें सीताजीको ग्रहण कर लिया रामचन्द्रने—और वे यज्ञमें उनके साथ बैठीं। ऐसा हमारे कुन्दमालाके नाटककारने लिखा है। भक्ति कैसी? जैसे एक सती एक पतिव्रता, पत्नी अपने पतिके प्रति अपने जीवनकी निष्ठा रखती है और अन्य योगका व्यवच्छेद जहाँ है, अनन्य योग है। अपने पतिके सिवाय दूसरे किसीके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। और जो सम्बन्ध है—ये हमारे पतिके पिता हैं, ये हमारे पतिकी माता हैं, ये हमारे पतिके मित्र हैं। यह हमारे पतिका भाई है। पतिके सम्बन्धसे ही उसके सारे सम्बन्ध हैं। यहाँ तककी ससुरालके सम्बन्ध हैं यानि पत्नीके जो मायकेके सम्बन्ध हैं, वे भी पतिके सम्बन्धसे ही हैं।

एक पत्नीने अपने पतिसे कहा कि अपने रिश्तेदारोंसे तो बहुत प्रेम करते हो, मेरे रिश्तेदारोंसे प्रेम नहीं करते हो। बोले, क्यों नहीं, मैं तुम्हारे रिश्तेदारोंसे भी प्रेम करता हूँ। किससे करते हो? तुम्हारी साससे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे ससुरसे प्रेम करता हूँ, तुम्हारे देवरसे प्रेम करता हूँ। संसारमें जितने भी सम्बन्ध जैसे पतिव्रताके होते हैं और अपने पतिके सम्बन्धसे होते हैं—वैसे हमारा संसारका जो व्यवहार है,वह ईश्वरके सम्बन्धसे, भगवान्‌के सम्बन्धसे होवे। जिससे हम मिलते हैं वह भी भगवान्‌की संतान हैं। जिससे हम मिलते हैं वह भी भगवान्‌का सेवक है। वह भी भगवान्‌के द्वारा संचालित है। यह सब पशुके रूपमें, पक्षीके रूपमें, पेड़-पौधेके रूपमें, ये सब भगवान्‌के ही प्रसाद हैं। उन्हींकी प्रसन्नताके लिए हैं। उन्हींके बनाये हुए हैं। 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' का अर्थ यह होता है कि दूसरेके साथ हमारी आसक्ति न हो अनन्ययोग न हो— परमात्माके साथ अनन्ययोग हो और उसमें जैसे एक सती पतिव्रताके मनमें व्यभिचार नहीं होता है वैसे क्षणमें यह, और क्षणमें वह, ऐसा नहीं होता।

श्रीरूप गोस्वामीजी महाराजने तो यहाँतक इसको पहुँचा दिया है कि जब मथुराकी सड़कपर श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ग्वालबालोंके साथ चल रहे थे, तो मण्डलाकार नृत्य करते चल रहे थे और ग्वालबाल उनके साथ। एक ओर बलराम और एक ओर कृष्ण, दोनोंके बीचमें ग्वालबाल! रास-नृत्य-गरबा करते हुए

चल रहे थे। जो छज्जेपर स्त्रियाँ खड़ी थीं वे जब बलराम गौरवर्णको देखें तो मुग्ध हो जाँय—यह बड़ा सुन्दर है, प्रिय है और जब मण्डल घूमे और सामने साँवरे कृष्ण आजायँ तो उनको देखकर मुग्ध हो जायँ। उन्होंने इसको रसाभासके रूपमें उद्धृत किया है कि यहाँ जो मथुराकी स्त्रियाँ हैं उनके हृदयमें सच्चा रस नहीं! नहीं तो एक बार जब साँवरेका रस आजाता तो गोरेमें रस लेनेकी कोई जरूरत नहीं होती। एक बार गोरेमें आजाता तो साँवरेमें रस लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। उनके मनमें रस जो बदलता जा रहा है, इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण रस नहीं है। भगवान्‌की भक्तिमें भी ऐसी भक्ति होनी चाहिए जो अनन्य हो और अव्यभिचारिणी हो। यह अनन्य और अव्यभिचारिणी भक्ति किससे हो सकती है? जब हम इसपर विचार करें तो वह यदि हमसे दूर होगा, उसके मिलनेमें देर होगी, वह दूसरा होगा तो हम निरन्तर उसकी भक्ति कैसे कर सकेंगे? इसलिए परमात्मा दूर नहीं है।

'हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'

हमारे हृदयमें ही भगवान् रहता है। हृदयमें भगवान्‌के सिवाय और कोई नहीं है। भगवान्‌ने हमारे हृदयके सिवाय अपना दूसरा कोई मन्दिर, कोई लोक नहीं बनाया है। परमात्माका लोक यही है। कौन-सा? हमारे हृदयमें। इसी देशमें रहता है और हमेशा रहता है। कहीं जाता नहीं है। इन्तजार नहीं करना पड़ता है और हम जो भी देखते हैं, उसीकी रोशनीमें देखते हैं। जबतक आत्मा और परमात्माकी एकता नहीं हो जायेगी, तबतक अनन्ययोग और अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं हो सकती। जब हम भक्तिको पूर्ण करना चाहेंगे—यह ज्ञानका साधन है तो उसका ज्ञान होकर ही रहेगा क्योंकि हम उसकी भक्ति करना चाहते हैं जो गाढ़ सुषुप्तिमें भी, मूर्च्छामें भी, समाधिमें भी और महाप्रलयमें भी हमको नहीं छोड़ता है। ऐसा कौन है? वह हमारा अपना आपा है। तो निश्चय ही यह ज्ञानका साधन हो जायेगा।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

× × ×

सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।

यह बात चौदहवें अध्यायमें कही गयी। और तेरहवें अध्यायमें **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** कहा गया। जो सचमुचमें परमात्माके साथ सच्ची भक्ति करेगा उसको परमात्मा अपने हृदयमें ही, अपने आपमें ही दिखेंगे और अपना आप तो कभी दूर जाता नहीं और अपना आप कभी देरसे आता नहीं। अपना आप कभी दूसरा होता नहीं। इसलिए जब हम भगवान्‌की सच्ची भक्ति करना चाहेंगे कि वे हमेशा हमारे साथ रहें, हर जगह हमारे साथ रहें, हर रूपमें हमारे साथ रहें तो अपने आप ही मनुष्यको विवश होकर अपने आत्माके ज्ञानकी ओर आना पड़ेगा।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

इसीसे अठारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी कि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

भक्तिसे भगवान्का 'अभिज्ञान' संस्कृतका जो शब्द है, वह पहचान है। पहलेसे जाना हुआ तो है, देखा हुआ तो है। परन्तु भूल गया या याद नहीं आ रहा है, हाँ; पहचान लिया। वही हो न तुम? 'भक्त्या मामभिजानाति'। जिसके हृदयमें भक्ति रहती है, वह भगवान्को पहचान लेता है। जिससे आपका प्रेम होगा, वह कैसे सोता है, कैसे जागता है, कैसे उठता, बैठता है? क्या खाता-पिता है, यह आपको मालूम पड़ जायेगा। जिससे आपको प्रेम होगा उसके बारेमें आपको जानकारी मिल जायेगी। और जिसकी आपको सच्ची-सच्ची जानकारी मिल जायेगी—अगर वह बुरा है तो आप उसको छोड़ेगे, सावधान रहेंगे और यदि वह अच्छा है तो उसके साथ प्रेम करेंगे, उसके साथ जुड़ेगे। इसलिए भक्तिसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे भक्ति होती है और यदि प्रेमसे कुछ पाना चाहते हैं तो उसके बारेमें आपको पूरी जानकारी चाहिए और बिना प्रेमसे पूरी जानकारी मिल भी नहीं सकती। इसलिए प्रेम और भक्ति दोनों सत्यके ज्ञानमें पूरी तरहसे सहायक होते हैं।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

'यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः'—

भगवान्को शकल-सूरतसे जानना जानना नहीं होता, मानना होता है। क्योंकि जब हम एक साढ़े तीन हाथका कोई व्यक्ति देखते हैं, तो इसीने यह सृष्टि बनायी है यह तो मानना पड़ेगा—यही सर्वज्ञ है, यह भी मानना पड़ेगा। ये सर्वशक्तिमान् हैं, यह भी मानना पड़ेगा। जब हम एक छोटी-सी चीजमें,छोटे-से आकारमें, भगवान्का भाव करेंगे तो वहाँ मानना पड़ेगा। लेकिन जब उससे पूरी भक्ति हो जायेगी तब हम जान जायेंगे कि यह कितना बड़ा है। वह कितना बड़ा है—देशकी कल्पना, कालकी कल्पना, द्रव्यकी कल्पना, उसके अन्दर, उसके एक कणमें होती रहती है और मिटती रहती है। वह है क्या? उसका तत्त्व क्या है? जैसे आभूषण हम बहुत देखते हैं—छोटा बच्चा चमकता हुआ आभूषण देखता है, पहनता भी है, लेकिन वह सोनेको नहीं पहचानता है। उसी प्रकार भगवान्को जो लोग बहुत छोटे रूपमें देखते हैं, वे आभूषण तो पहनते हैं, परन्तु आभूषण स्वर्ण है यह ज्ञान उनको नहीं होता। जब सोनेसे प्रेम होगा तब पता लगावेंगे कि यह क्या है? आभूषणका नाम सोना है? नहीं। सिल्लीका नाम सोना है? नहीं। कणका, चूरेका नाम सोना है? नहीं। द्रव्यका नाम सोना है? नहीं—सोना तो एक ऐसी वस्तु है कि जब उसके स्वरूपका पता लगेगा कि क्या है तो देखोगे कि सबसे बड़ा स्वर्ण तुम हो। जिसने स्वर्णको स्वर्ण बना रखा है। यदि तुम न होते तो सोनेको सोना बनाता कौन?

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

जब तत्त्वतः परमात्माका ज्ञान होता है—आकारसे नहीं—क्रियासे नहीं, लीलासे नहीं. भावसे नहीं, विचारसे नहीं—जो सचमुच भगवत्-तत्त्व है, उसका ज्ञान कब होता है, जब हमारे जीवनमें सच्ची भक्ति आती

है। 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा'—और जब परमात्माका ज्ञान होता है तो जैसे घड़े और मिट्टीमें फर्क नहीं है, जैसे आभूषण और स्वर्णमें फर्क नहीं है, जैसे औजार और लोहामें फर्क नहीं है—जैसे कार्य और कारणमें फर्क नहीं है, जैसे स्वप्न और स्वप्नद्रष्टामें कोई फर्क नहीं है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मामें कोई फर्क नहीं रह जाता। इसका अर्थ बहुत विलक्षण है और व्यावहारिक है। जबतक आप अपने अन्दर पूर्ण शक्ति और पूर्ण ज्ञानका अनुभव नहीं करेंगे, तबतक आपके काम भी अधूरे रहेंगे, संकल्प भी अधूरे रहेंगे, सफलता भी अधूरी रहेगी। लेकिन यदि आप अपनेमें, पूर्णताका अनुभव कर लें तो आप जो-जो करेंगे, वही पूर्ण होगा। आपके जीवनमें उत्साह बना रहेगा, कभी टूटेगा नहीं। आपको हमेशा सफलता मिलेगी। कहीं विफलता है ही नहीं। कभी आप दु:खी नहीं होंगे। हमेशा सुखी रहेंगे। कभी आप अपनेको दीन-हीन महसूस नहीं करेंगे। व्यावहारिक जीवनको पूर्ण बनानेके लिए अपनी पूर्णताका बोध बहुत उपयोगी और आवश्यक होता है।

श्रीरामचन्द्र भगवान्ने पहले अपनी पूर्णताका ज्ञान प्राप्त कर लिया। मेरा जीवन क्या है? अनन्त मेरा ज्ञान क्या है? अनन्त। मेरा आनन्द क्या है—अनन्त। मेरी शक्ति कितनी है? अनन्त। जब श्रीरामचन्द्र भगवान्को अपनी पूर्णताका बोध हो गया, उसके बाद वे जीवन्मुक्त पुरुषके समान, अपनी भगवत्ताके साथ सारे कर्म करते थे और कहीं उदासी, नैराश्य उनके जीवनमें नहीं था। सम्पूर्ण समग्रताके साथ भगवान्के रूपमें उन्होंने सम्पूर्ण विश्वका हित किया, कल्याण किया। इसलिए यह जो ज्ञान है यह केवल समाधि लगानेके लिए नहीं है, हिमालयमें जानेके लिए नहीं है या केवल मन्दिरमें बैठनेके लिए नहीं है। यह केवल यज्ञशालामें रहनेके लिए नहीं है या केवल मन्दिरमें बैठनेके लिए नहीं है। यह केवल यज्ञशालामें रहनेके लिए नहीं है। आप जहाँ रहें—रणमें, वनमें, आप पहाड़पर रहें, एकाकी रहें, भीड़में भले लोगोंमें रहें, बुरे लोगोंमें रहें, आप सबको आनन्द बाँटते रहेंगे, सबको ज्ञान बाँटते रहेंगे, सबको जीवन-दान करते रहेंगे। यह तत्त्वज्ञान है, यह भक्तिके द्वारा प्राप्त होता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

भक्तिमें विशेषता क्या है? एक तो दलीय भक्ति होती है। दलीय भक्ति माने आज चरणसिंहजीके भक्त हैं तो कल अटलजीके भक्त हो गये। परसों इन्दिराजीके भक्त हो गये। यह भक्ति बदलती रहती है और अनन्य भक्तिका अर्थ होता है, ईश्वरके साथ भक्तिका सम्बन्ध रखें जो कभी बदलेगी नहीं। फिर आप परिवारमें रहिये, ईश्वरकी भक्ति बनी है, समाजमें जाइये, ईश्वरकी भक्ति बनी है। व्यापारमें जाइये, राजनीतिमें जाइये-फँसिये कहीं नहीं। दुनियाके सारे फँसावोंको, पक्षपातोंको, क्रूरताओंको मिटानेके लिए, हमारे हृदयमें जब ईश्वरकी भक्ति आती है तो वह ऐसा चमत्कार दिखाती है कि मनुष्यके जीवनमें कोई दु:ख, कोई दीनता, कोई हीनता रहती ही नहीं है।

●

चतुर्थ दिवस

(31-10-84)

प्रश्न : ऐसे कुछ भक्तोंके उदाहरण देकर भक्तिके इस विशिष्ट रूपको स्पष्ट करें।

उत्तर : हमलोग परीक्षा देनेके लिए बैठते थे तो ऐसे ही प्रश्नपत्र आया करते थे। यहाँ ज्ञान प्राप्त करना है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हमारे अन्दर क्या-क्या योग्यता होनी चाहिए, यह बात इस प्रसङ्गमें कही जा रही है। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानकी तो बात छोड़ दें, केवल रासायनिक ज्ञान भी प्राप्त करना हो—माने विज्ञानकी रीतिसे किसी वस्तुका विश्लेषण करना हो तो उसके लिए भी शान्ति चाहिए, उसके लिए भी इन्द्रियोंकी चञ्चलता छोड़कर उसको समझना चाहिए, नहीं तो समझमें आयेगा नहीं। थोड़ी देरके लिए दूसरे कामसे मन हटाकर उसमें लगाना चाहिए। उसको समझते, सीखते समय कोई तकलीफ आजाय तो उसको सह लेना चाहिए। विश्वास श्रद्धा रखना चाहिए कि इस काममें हमको सफलता मिलेगी। आज नहीं समझमें आता है तो कल आ जायेगा और अपने चित्तमें जितने भी संशय हों उनको मिटाते जाना चाहिए। सबसे बड़ी बात है कि यदि आप कोई भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उसमें रुचि होनी चाहिए, प्रीति होनी चाहिए। साधुओंने हम लोगोंको बताया था कि किसी गाँवमें भिक्षा लेनेके लिए जायें तो कई घर ऐसे मिलेंगे जहाँ भिक्षा नहीं मिलेगी, कई घर ऐसे होंगे जहाँ मिलेगी। कहीं डाँट-फटकार मिलेगी। कहीं कुत्ते दौड़ेंगे। कहीं माई गाली देने लगेगी। तो इसकी परवाह नहीं करना। गाँवमें भिक्षाके लिए जाते रहना। जो पहले दिन नहीं देंगे, वे दूसरे दिन देंगे। हप्तेभर बाद देंगे। देंगे जरूर। किसी भी वस्तुका यदि हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें—और एक दिनमें समझमें न आवे तो दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिनमें समझमें आयेगा। *'हरिसे लागा रहु रे भाई—तेरी बनत-बनत बन जाई।'* ऐसा कौन-सा ज्ञान है जो किसीको प्राप्त हो जाय और हम उसको प्राप्त न कर सकें। ईश्वरकी शक्ति तुम्हारे अन्दर है।

आप देखो—मोटर चलाते हैं, जिनको मशीनरीका ज्ञान होता है कि स्टार्ट करनेसे कहाँ-कहाँ होकर बिजली घूमती है, कैसे मशीनोंको चलाती है, रास्तेमें कहीं बिगड़ जाय तो ठीक कर लेते हैं और जिनको मशीनका ज्ञान नहीं है, उनको यदि पेट्रोल कहीं अटक जाय तो खड़ा होकर किसी जानकारकी इन्तजार करनी पड़ती है। किसी भी वस्तुका समग्र ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ऐसा भगवान्‌का कहना है।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।

अपने ज्ञानमें संशय नहीं होना चाहिए और दूसरे उस विषयका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए—अधूरा नहीं। जब परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना है तो उस ज्ञानमें—परमात्मामें रुचि होनी चाहिए। भक्तिमें वह चीज है। एक तो है प्रीति और एक है सेवा। भज धातु सेवाके अर्थमें है—'भज सेवायाम्'। प्रीतिविशिष्ट भजन=सेवन, माने किसी चीजको प्रेमसे बार-बार, बार-बार दुहराओ।

हम अपने बचपनकी एक बात सुनाते हैं। आठ नौ वर्षकी उम्रमें हम संस्कृत पढ़ते थे तो हमारे

पितामहने बताया कि जो श्लोक तुम्हें हृदयंमग करना हो उसको माला लेकर 108 बार जप लो। और दूसरे दिन पाठ करो तो केवल एक बार। एक दिन 108 बार कर लो और दूसरे दिन एक बार। हमारी उम्र तो छोटी थी। हमारे यहाँ विद्यार्थी लोग पढ़ते थे, हमलोग होड़ लगाते—देखो, आज सबसे अधिक श्लोक कौन याद करता है। मैं एक दिनमें बड़े-बड़े श्लोक कण्ठस्थ कर लिया करता था। युक्ति यही थी कि एक श्लोकको बार-बार दुहराया। एक दिनमें वह याद हो गया। पहले पुस्तक देखकर याद किया। फिर आँख बन्द करके याद किया, फिर लोगोंमें बोलने लग गये। किसी भी वस्तुका ठीक-ठीक स्मरण रहे, ज्ञान प्राप्त हो, इसके लिए प्रेमकी भी आवश्यकता होती है और पुन:-पुन: सेवनकी भी। यह है भक्ति जो हमें ज्ञान देती है। जिस वस्तुमें हम प्रेमसे लग जायेंगे और उसको दुहरायेंगे तो आज नहीं कल उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त हो जायेगा। भगवान्‌की भक्ति, प्रेमसे भक्ति उसमें रस आना चाहिए। स्वाद आना चाहिए। उसकी प्यास बढ़ती जानी चाहिए। अब यदि वस्तु वहुत सूक्ष्म है तो एकबार मनको चारों ओरसे खींचकर उसमें लगाना चाहिए। यह नहीं कि मन कभी यहाँ गया, कभी वहाँ गया।

वहुत वर्षकी बात है, शायद 25-30 वर्षकी बात होगी, मैं वृन्दावनमें था, पिलानीके कुछ शिक्षा-शास्त्री लोग आये थे, विद्या बिहार के और उनका प्रश्न था वेदान्त-विद्याके सम्बन्धमें और उनका कहना था कि जब ज्ञान ही प्राप्त करना है तो उसमें साधनचतुष्टयकी क्या जरूरत है? मैंने उनको बताया कि तुम्हें साइंसके अनुसार भी किसी चीजका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा तो उसमें साधन-चतुष्टयकी आवश्यकता तो होगी ही। तुम्हें जो आविष्कार करना है—नया विज्ञान प्राप्त करना है, उसमें विवेक चाहिए, दूसरी ओरसे मन हटाना चाहिए। अपने मनमें इधर-उधर जाने-आनेका संकल्प छोड़ना चाहिए। कुछ त्याग-वैराग्य चाहिए। आपने सुना होगा पोटेशियम परमेंगनेटमें स्वाद कैसा होता है, यह एक सज्जनको पता लगाना था। तब तक इसका आविष्कार नहीं हुआ होगा। उसने कलम कागज लेकर अपने जीभपर पोटैशियम डालकर लिखना चाहता था कि इसमें क्या स्वाद है। पर जीभपर डालनेपर तो मृत्युकी ही सम्भावना थी। परन्तु उसके मनमें ऐसी जिज्ञासा थी कि हम मर जायेंगे तो मर जायेंगे लेकिन इस रहस्यका उद्‌घाटन करेंगे। सत्यका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसा अव्यभिचरित—माने कभी इधर गयी, कभी उधर गयी, ऐसी भक्ति नहीं-भक्ति चाहिए। मनको ऐसी लगन चाहिए कि हम तो इसका पता लगाकर ही छोड़ेंगे। बीचमें भटकेंगे नहीं। महात्मा बुद्ध जब समाधि लगानेको बैठे तो बोले—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां। (बुद्धचरित)

इस आँगनपर बैठे-बैठे हमारा शरीर सूख जाये। और चाम, हड्डी, मांस खाकमें मिल जाय। लेकिन हम तो सत्यका पता लगाकर ही उठेंगे। दूसरेके साथ जुड़ें नहीं, भक्ति इधर-से-उधर भटके नहीं—परमात्माका बारम्बार चिन्तन करें तो परमात्माका जो सत्य ज्ञान है वह प्राप्त हो जाता है। असलमें परमात्मा माने क्या होता है? जैसे हम कहें परम मधुर—तो मधुरताकी पराकाष्ठा—इसी प्रकार हमारा जो यह आत्मा है, इसका जो परम-

चरम-अन्तिम-जो सत्यरूप है, जिसके पीछे और कुछ नहीं है, उस वस्तुको जाननेकी रीति क्या है? यह भगवान्‌की भक्ति है। जब लोग प्रेमसे भक्ति करते हैं, उदाहरण पूछते हैं। उदाहरण तो आप लोगोंको बहुत मालूम होगा। हमसे ज्यादा। क्योंकि आप लोग कथा-कहानी बहुत पढ़ते हैं। भक्तोंके चरित्र बहुत पढ़ते हैं। हम तो आप लोगोंके बीचमें आकर कथाकार बन जाते हैं। नहीं तो हमारा मुख्य विषय तो दर्शनशास्त्र है। उसमें ज्यादा कथा-कहानी नहीं चलती है। अब रही बात कि आपने सुना होगा, श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि हमारे जीवनमें वह दिन कब आयेगा—यह सोचकर उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया।

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥ (शिक्षाष्टक.....)

हे प्रभो; वह समय मेरे जीवनमें कब आयेगा कि आपके नामका उच्चारण करते ही हमारी आँखोंसे झर-झर, झर-झर आँसू गिरने लगें और वाणी गद्‌गद हो जायेगी। बोला नहीं जायेगा और शरीरमें रोमाञ्च हो जायेगा। जो रससे, प्रेमसे, रोमाञ्च होता है, आँसू गिरते हैं उससे शरीरमें जो छिपी हुई शक्तियाँ है वे प्रकट हो जाती है। मनकी जो छिपी हुई तहें हैं वे सब-की-सब खुल जाती हैं। और शोकसे, दुःखसे जब रोते हैं, तो उनके द्वार बन्द हो जाते हैं। शक्तियाँ रोनेमें अपना सहयोग नहीं देना चाहतीं। जो चित्तके भीतर ज्ञान है, प्रेम है, वे दुःख-शोकमें सहयोग देना नहीं चाहते। परन्तु यदि कोई प्रेमसे रोये तो सब-की-सब शरीरकी शक्तियाँ खिल जाती हैं वह दिन हमारे जीवनमें कब आयेगा?

एक भक्त बोलते हैं—मेरे ये दिन बहुत बुरे बीत रहे हैं। तुम्हारा नाम मुखसे नहीं निकलता। तुम्हारी याद नहीं आती। तुम्हारे दर्शन नहीं होते। हमारे अन्दर साधन नहीं है, यह तो ठीक है। परन्तु जिसके पास कोई साधन नहीं है उसके हितैषी, हितकारी तो आप ही हैं। जिसके पास बहुत साधन हैं, बहुत बुद्धि है, बहुत योग्यता है, उसके विषयमें भगवान् सोचते हैं कि यह तो अपनी योग्यता से ही काम कर लेगा। परन्तु जो अपनी अयोग्यताका अनुभव करता है, उसके अन्दर भगवान् योग्यता अपनी ओरसे देते जाते हैं। आप दीन-हीनके बन्धु हैं।

बन्धुका अर्थ है—उसको दोनों हाथसे पकड़कर उठा लेते हैं, अपने गलेसे लगाते हैं। जो दीन-हीनको उठाता नहीं है, उसकी शक्ति किस कामकी? जो अज्ञानीको ज्ञान नहीं देता, उसका ज्ञान किस कामका? जो पिछड़े हुएको आगे नहीं बढ़ाता है, उसका विवेक, उसकी बुद्धि किस काम की? अभावग्रस्त में जो अभाव है, उसको परिपूर्ण करते चलो। और यही भगवान्‌की विशेषता है कि जो खाली है, उसको वह भर देता है। हमारा यह समय कैसे बीते? प्रार्थना करो। भक्तिमें प्रार्थना है। एक प्रार्थना के बलपर सारा ईसाई धर्म चलता है। प्रार्थना और सेवा दो ही उसकी विशेषता है।

इस्लाम धर्ममें क्या है? नियम है और उपासना है। नमांसि-नमाज और नियम-निष्ठा। इसीसे उस धर्मकी कितनी वृद्धि हुई। हमारे जीवनमें प्रार्थना भी आवे, सेवा भी है—नियम निष्ठा-भी आवे और भगवान्‌की शक्ति जो सबसे अधिक शक्तिवाला है—ज्ञान-सम्पन्न—वह हमारे जीवनमें आवे। यह भक्ति, मरनेके लिए नहीं

होती। भक्ति नया जीवन प्राप्त करनेके लिए होती है। जिस कुएँमें-से पानी बाहर नहीं आता है—उसको निकालो; निकालो तो भीतर से बाहर आना शुरू हो जावेगा। तो अपने हृदय में जो परमात्माका ज्ञान छिपा हुआ है उसको प्रकट करनेके लिए भगवान्‌की भक्तिकी आवश्यकता होती है। यह जो अव्यभिचारिणी भक्ति है माने सती, पतिव्रताके समान जो भगवान्‌के प्रति भक्ति है और जिसका मुँह हमेशा भगवान्‌की ओर रहता है वह भक्ति हमें झूठमें नहीं रखती है। वह सत्यके साथ रहती है—

'अनृतात् ऋतं प्रपद्ये'।

हम झूठी दुनियासे छूटकर, एक सच्ची दुनियामें पहुँच जाते हैं। अपने हृदयमें जो योग्यताएँ हैं उनका काममें लेना चाहिए तो वे बढ़ती हैं। इसके बाद बताया कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए सबसे बड़ी बात यह है कि—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जनसंसदि॥ 10॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 11॥

इसके लिए हर समय हँसी-खेलमें नहीं रहना चाहिए। मनोरंजन ही जीवनका रहस्य नहीं है। पवित्र और एकान्त देशमें बैठ करके विचार करें तो मनमें पवित्रताका भाव आयेगा और कोई भी तत्त्वज्ञान-भीड़-भाड़में, मनोरंजनमें, नृत्य-गानमें नहीं आता। उसके लिए थोड़ी देर तक हम एकान्त, एकाग्र चित्तसे—एकान्तमें पवित्रताके साथ बैठें। पवित्रका चिन्तन ही पवित्रता है। आप विचार करो कि आपके मनमें क्या-क्या आता है। जितनी पवित्र वस्तुएँ आपके मनमें आयेंगी उतनी ही आपके मनकी पवित्रता बढ़ेगी। उस स्थानमें, उस देशमें आकर बैठिये—जहाँसे ज्ञानकी धाराएँ निकलती हैं।

यह हमारे आँख, नाक, त्वचा, कान बाहरसे ज्ञान लेकर भीतर पहुँचाते हैं और भीतरसे ज्ञान लेकर बाहर पहुँचाते हैं। ये अपने जीवनमें नदी हैं जो कभी बाहरसे भीतर जाती है और कभी भीतरसे बाहर आती है। इनके सम्बन्धमें हमारी जानकारी ऐसी होनी चाहिए कि जब हम चाहें तभी हमारे जीवनमें पवित्रताकी और आनन्दकी धारा बहने लगे। जीवनमें आनन्दकी धारा बहानेके लिए प्रकट करनेके लिए और पवित्रताकी धारा जीवनमें प्रकट करनेके लिए भक्तिकी आवश्यकता होती है। भक्ति माने रसकी पवित्र धारा। आनन्दकी पवित्र धारा—भक्ति माने थिरकता हुआ ज्ञान—ऐसा ज्ञान जो अपने नृत्यके द्वारा, अपने संगीतके द्वारा, अपनी वंशी ध्वनिके द्वारा सबके मनको मुग्ध कर ले। कृष्ण ज्ञान है—उसकी सुन्दरता, उसकी मधुरता, उसकी वंशी-ध्वनि, उसका संगीत इस सम्पूर्ण विश्वपर छा जानेवाला, एक सुधा-समुद्र है, आनन्द-समुद्र हैं। भक्ति इसीको प्रकट करती है। एकान्तमें होनेसे यह प्रकट होती है। थोड़ी देर एकान्तका सेवन करके अपने चिन्तनकी शक्तिको जागृत करना चाहिए।

विविक्तदेशसेवित्वम् अरतिर्जनसंसदि।

और ज्ञान प्राप्त करना हो तो क्या करना चाहिए? भगवान्ने बताया कि ज्ञान प्राप्त करनेके लिए—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 12॥

आप अभिमान मत कीजिये, निर्मान रहिये। बनावट मत कीजिए। यथार्थ सरल जीवनमें स्थित रहिये। किसीको दु:ख मत पहुँचाइये। किसीसे अपराध हो जावे तो क्षमा कीजिये। सरल जीवन बिताइये। ये सब तो साधन हैं ही हैं। जरा अपने भीतर भी झाँकना चाहिए।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
आत्मनि इति अध्यात्मम्॥''

आपके भीतर ही जो कुछ है—शरीरके भीतर-उसीको अध्यात्म कहते हैं। मनुजीका तो ऐसा कहना है—

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित क्रियाफलमुपाश्नते। (6.82)

यदि आप अपने शरीरमें जो क्रियाएँ हो रही हैं, उनको ठीक-ठीक नहीं समझेंगे तो बाहरकी क्रियाको ठीक नहीं समझ पायेंगे।

हम छूते हैं अपने पाँवका अंगूठा और दिमागमें उसका अनुभव होता है। तो वह कौन-सी रस्सी है, कौन-सा तन्तु है जो पाँवको छूते हैं और उसका बोध सिरको करा देता है। खाते हैं मुँहके द्वारा, जाता है पेटमें, वे कौन-सी नाड़ियाँ हैं जो उसका रस बनाकर सारे शरीरको पोषण देती हैं। इसका नाम अध्यात्म है। माने यह नहीं समझना कि उसमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं'का विचार है; कि उसमें सातवें आसमानमें रहनेवालेका विचार है। उसका नाम अध्यात्म नहीं है। अपने शरीरमें कैसे क्रिया हो रही है, कैसे वायु घूम रही है, कैसे पाचन हो रहा है—ऐसी बढ़िया फैक्ट्री है यह जानना अध्यात्मज्ञान है।

हमको तो एकबार नक्शा बनाकर दिखाया था कि ठीक भीतरके नक्शेके अनुसार ही बाहरकी फैक्ट्री बनायी जाती है। यदि भीतरके नक्शेको ठीक-ठीक समझ लें तो बाहर हम अनेक नवीन निर्माण कर सकते हैं। भीतरकी वस्तुओंका जानना जैसे—कचरा कहाँसे—निकलता है?—मशीनें-शरीरके सब यन्त्र कैसे चालित होते हैं?—कहाँसे उनमें क्रिया आती है? कहाँसे वायुका सञ्चार होता है? कहाँ रक्त बनता है? कैसे चलता है? आँखमें देखनेकी शक्ति कहाँसे आती है?—यह अध्यात्मज्ञान है। यह ठीक है—किताबोंमें लिखा होगा। परन्तु किताबोंमें लिखा अपने काम नहीं आयेगा। जब आप अपने शरीरके इन यन्त्रोंको ठीक-ठीक समझ जायेंगे—ज्ञानकी धारा, क्रियाकी धारा, वायुकी धारा, रक्तकी धारा, संवदेनकी धारा-शरीरमें कैसे बहती है?—आप इस मशीनको चलाते रहिये। कभी थकेगी नहीं। यह जो थकान है, इसमें भी यन्त्रका जो ठीक-ठीक विज्ञान है, वह न होना है। महात्मा लोग भगवान्का निरन्तर स्मरण रख लेते हैं। जो सिद्धयोगी होता है वह व्यवहारमें भी अपनी समाधिको कायम रखता है—यह आपने सुना होगा। तत्त्वज्ञानीकी समाधि अखण्ड-जीवनपर्यन्त होती है। आप यदि दर्शनशास्त्र पढ़ते हों और थकान मालूम पड़े तो आप तुरन्त पुराण पढ़िये, तो थकान मिट जायगी। पुराण

पढ़ते-पढ़ते यदि थकान मालूम पड़े तो काव्यका ग्रन्थ पढ़ें—मजा आ जायगा। लोगोंके बीचमें बैठे-बैठे ऊब गये हों तो अपने घरमें बच्चोंसे बात कीजिये। बच्चोंसे बात करनेमें मन न लगता हो तो पत्नीके पास बैठकर बात कीजिये। जिससे आपका प्रेम है, उससे आप बात करेंगे तो रात-रात भर बात करते रहेंगे—कभी थकान नहीं होगी। यह थकान भी यन्त्रको ठीक-ठीक न चलानेके कारण होती है यह अद्भुत बात है।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'।

आपके शरीरके भीतर कैसे क्रिया होती है, इसको हमेशा समझते रहनेकी कोशिश कीजिये। कहीं दिमागमें बोझ हो तो बाहरका प्यार लीजिये और बाहरका प्यार ऊबता हो तो भीतरका आनन्द लीजिये। आपके घरमें भी आनन्द हो और बाहर भी आनन्द हो तो सबसे उत्तम है।

केवल बाहर-ही-बाहर होगा तो भीतर आप रूखे-सूखे हो जायँगे। और केवल भीतर ही होगा तो बाहरका आपका व्यवहार नीरस हो जायेगा। इसलिये 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्'।

अब एक प्रश्न फिर यहाँ उठाया कि फिर हमें आखिर तत्त्वज्ञान क्यों चाहिए? मशीन—मशीनको समझें, किस मैटरसे यह मशीन बनती है? उसकी जो मृ[illegible]ग है, जो उसका उपादान माने मूल मसाला है जिस मसालेसे वह यन्त्र बनता है उसको हम न समझें, घड़ेको तो समझें कि पानी भरने के काम आयेगा लेकिन यह कैसी माटीसे बना है या पीतलका है या चाँदीका है या सोनेका है—उसकी मूल धातुको न समझें, तो पानी पीनेका काम तो आपका माटीके घड़ेसे चल जायगा लेकिन यदि आप उसकी धातुको ठीक-ठीक नहीं समझें तो उसका मूल्यांकन आप ठीक नहीं कर सकेंगे और इतनी कीमती चीजको आप कहीं कौड़ीके दाम बेंच देंगे। असलियत जो है—तत्त्व जिसमें आकार बना है, जिसमें शकल-सूरत गढ़ी गयी है, उसको तत्त्व कहते हैं।

'अनारोपिताकारं तत्त्वम्'।

जिसमें अभी कोई आकार नहीं बनाया गया, शकल-सूरत नहीं बनायी गयी-जिसमें कोई संस्कार, रंग-रोगन नहीं दिया गया, ज्यों-की-ज्यों जो मूल वस्तु है उसको कहते हैं तत्त्व। उसके पानेका, उसको जाननेका अभिप्राय क्या है? यदि आपको मालूम हो कि आभूषण सोनेका बना है तो आभूषण भले टूट जाय या पहनने योग्य न रहे, फिर भी क्योंकि वह सोना है आप आभूषणकी कीमतको समझ सकेंगे और आपके अन्दर दीनता, हीनता, कंगाली नहीं आयेगी। वह सोना आपको धनी बनाये रखेगा, भले ही आप उसको पहन न सकते हों। इसी प्रकार जो तत्त्वका, सत्यका ज्ञान है, जो परमात्मा का साक्षात्कार है, आप जिससे प्रेम करते हैं, जिससे आपका राग है, वह आभूषण है। वह रहे कि न रहे, काम दे कि न दे। लेकिन उसमें जो असली मूल्य है, तत्त्व है जो आकार, विकार, प्रकार, संस्कारके टूट जानेपर भी रहता है, यदि आप उसको जानेंगे। एक तो हम जगह-जगह द्वेष कर बैठते हैं-वह नहीं होगा। आपको हर चीजमें वही दिखेगा जो सबमें है-परमात्मा। आप मुक्त रहेंगे। मुक्त रहनेका क्या अर्थ है कि आपके घरमें सोना कंगनके रूपमें ही रहे—कि हारके रूपमें ही रहे कि कुण्डलके रूपमें ही रहे—कि सिल्लीके ही रूपमें रहे यह आग्रह नहीं रहेगा। वह किसी भी रूपमें आपके घरमें रहे आपका है न! तो यह तत्त्व जो है वह आपका है। आपका अपना आत्मा है। कोई भी चीज छूट जानेसे वह नहीं छूटता है।

कोई भी चीज बदल जानेसे यह नहीं बदलता है। कभी जगह बदलनी पड़ती है, कभी समय बदलना पड़ता है। जीवनमें जड़ता नहीं आनी चाहिए। यदि सत्य आपके साथ है तो आप अपने जीवनको जड़ नहीं होने देंगे और जीवनमें जड़ हो जाना या कहीं जकड़ जाना या किसी बन्धनमें पड़ जाना कि उससे छूट न सकें। इन सब फँसावोंसे मुक्त करनेवाला, इन सब बन्धनोंसे, इन सब जड़ताओंसे छुड़ानेवाला है असलमें तत्त्वका ज्ञान। तो उसका प्रयोजन क्या है? हमारी स्वतन्त्रता। मुक्ति कहो, मोक्ष कहो। पूर्ण स्वतन्त्रता जो अपनी है—पराधीनतासे मुक्ति। तत्त्वज्ञानका प्रयोजन क्या है? यह आपके ध्यानमें रहना चाहिए, आपकी जानकारीमें रहना चाहिए कि यदि आप अपने आत्माके स्वरूपका जान लेंगे तो मरनेका डर छूट जायगा। वियोगकी जो भीति है वह छूट जायगी। यह मिलनेपर हम सुखी होंगे—यह जो लालच है, यह भी छूट जायगा। और इसके छूट जानेपर हम सुखी होंगे—हम उस वस्तुके कारण दुखी हो रहे हैं, वह दु:ख भी छूट जायगा।

सचाई का यदि ज्ञान रहे कि यह भूत है कि नहीं है तो डर नहीं रहेगा। तुकारामके सामने भूत आया। तुकारामने कहा यह भूत नहीं है। यह तो भगवान् हैं। पहचान गये। काम बन गया। हम हर जगह भावनाओंमें अपनी कल्पनाओंमें, अपनी वासनाओंमें फँस न जायें इस बातके लिए जो सत्य है उसका ज्ञान होना जरूरी है। एक बहुत मोटा दृष्टान्त आपको देते हैं—

एक सज्जन यह कहते थे कि हम जितने कहो उतने नोट निकालकर बरसा देते हैं। आजकल भी कई लोग हैं जो बरसाते हैं। उनसे पूछा गया कि बाबू ये जो नोट आप बरसाते हैं, इनके नम्बर सच्चे हैं कि झूठे? अगर नम्बर सच्चे हैं तो कहीं हिसाब-किताबमें-से निकलकर आये होंगे। और झूठे हैं तो नकली हैं और यह बड़ा भारी अपराध है। सचाई जो है उसको कभी छोड़ना नहीं चाहिए। सत्य ही आपकी रक्षा करेगा। मिथ्या यदि थोड़ी देरके लिए रक्षा करता हुआ दिखेगा तो वह हमेशा रक्षा नहीं कर सकता। तत्त्व माने सत्य, यथार्थ। जो चीज जैसी है वैसी। उसको जाननेसे हमारे जीवनमें कितनी सहजता आजायेगी। कितना सरल जीवन हो जायेगा। हम पहचानते हैं कि यह रंग ऊपरसे इसपर डाला हुआ है—रंग देखकर लुभायेंगे नहीं। हम जानेंगे कि इसमें जो बुराई है वह ऊपरसे डाली हुई तो द्वेष करके जलेंगे नहीं। इसलिए सचाईके ज्ञानका यह फल है कि हम सर्वदा स्वतन्त्र, स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यदि हम सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो—

तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

करना होगा।

यदि आप अपने भीतरकी सच्चाइयोंको समझेंगे नहीं-एकान्तमें बैठकर चिन्तन करेंगे नहीं—हमेशा भीड़-भाड़में ही लगे रहेंगे तो तत्त्वज्ञानको प्राप्तकर सकेंगे?

हमारा एक बालक आंध्रामें है। उसने कहा कि हम तो ईश्वर नहीं मानते है। ईश्वर मानना कोई मामूली बात नहीं है। जिसने पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर सब ढूँढ़कर देख लिया तो वह कह

सकता है कि हमने ढूँढ़कर देख लिया। ईश्वर नहीं मिला। फिर भी नहीं कह सकता क्योंकि अभी उसने अपनेको नहीं देखा है कि यह ढूँढ़नेवाला मैं कौन हूँ। यह तो झूठे ही कहीं सुनकर आते हैं, कहीं पढ़कर आते हैं। उनका वेदपर विश्वास नहीं होगा। शङ्कराचार्यपर विश्वास नहीं होगा। कहेगा हम बड़े-बड़े विद्वानोंसे सुनकर आये हैं—ईश्वर नहीं है। यह सुनी-सुनायी बातसे काम तो नहीं चलता है।

उस बालकने कहा—स्वामीजी मैं तो ईश्वर नहीं मानता। अच्छा भाई, तुम बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने ढूँढ़कर सब देख लिया—बहुत बढ़िया। लेकिन तुम्हारे ऊपर मेरा विश्वास है कि तुम मुझको मानते हो। उसने कहा—हाँ, स्वामीजी आपको हम मानते हैं। अच्छा तुम मुझे मानते हो? हाँ मानते हैं—मैंने कहा—तुम्हारे पास कितना समय है? उसने कहा-1440 मिनिट रोजके हमारे पास होते हैं—मैंने कहा अच्छा तुम सौ मिनिट में-से एक मिनिट हमको दे दो रोजका। माने 14 मिनिटसे कुछ थोड़ा ज्यादा दे सकते हो तुम हमको? बोले हाँ स्वामीजी, क्यों नहीं दे सकते? हम 14 मिनिट आपके नामपर रोज बितायेंगे। जो आप कहोगे सो ही करेंगे। मैंने कहा ले भाई तू रोज 14 मिनिट तक भगवान्‌का स्मरण और उनके नामका जप किया कर और उनके बारेमें सोचा कर—ईश्वर कैसा होता है? अभी वह लड़का है। बड़ा पराक्रमी—दिन-रात काम करनेवाला है। उसकी लगनकी सब लोग तारीफ करते हैं और अब तो वह ईश्वरको मानने लगा है।

यह जो हम—इसका प्रयोजन नहीं समझते हैं कि हमें किसी भी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए—केवल आँखसे देख लेना काफी नहीं है। केवल किताबमें पढ़ लेना काफी नहीं है—उसको अपने हृदयके ज्ञानसे, अपने हृदयके यन्त्रसे उस ज्ञानको एक होना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय यह है। और यदि इनके विपरीत काम करोगे तो अज्ञान बढ़ेगा। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे जीवनमें ज्ञान बढ़नेका तरीका क्या है? पढ़ो, पर पढ़ना न आये, सुनो, पर समझमें न आये! गणितकी रीतिसे कोई हलको याद कर लें—इसका हल यह है! परन्तु गणित करनेकी प्रक्रिया न आये तो वह ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए पहले ज्ञान पानेकी रीति समझनी चाहिए और उसमें यहाँ बीसके लगभग गुण बताये गये हैं।

किसी भी वस्तुकी सचाई चाहे भौतिक हो, चाहे दैनिक हो, चाहे आध्यात्मिक हो, और चाहे सत्य हो—ये तीनों सत्य नहीं होते हैं। आध्यात्मिक भी बदलते हैं—आधिभौतिक भी बदलते हैं और अधिदैविक भी बदलते हैं। परन्तु सत्य वह है जो कभी बदलता नहीं है। उसको पहचान लोगे तो दुनियामें ऐसी कोई चीज रहेगी ही नहीं जिसको तुम न पहचानो—

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते, मते, विज्ञात इदं सर्वं विदितम्। (बृहदा० 4.5.6)

यदि आप उसको सुन लो, चिन्तन कर लो, अनुभव कर लो कि दुनियामें ऐसी कोई चीज ही नहीं है जिसमें तुम्हें सत्यका दर्शन न हो, जिसके अन्दर छिपे हुए सत्यको पहचान लो। उसके लिए हिन्दुस्तान, पाकिस्तान अलग-अलग नहीं होगा। उसके लिए पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी अलग-अलग नहीं होगी। उसके लिए पुराना सोना और नया सोना अलग-अलग नहीं होगा। वह शुद्ध वस्तुको पहचानेगा और सबमें देखेगा। जब ज्ञान प्राप्तिकी योग्यता आ जाती है, तब हम ज्ञेयको ठीक-ठीक पहचानते हैं। हमारा ज्ञान किसी चीजको उत्पन्न

नहीं करता है, जो उसकी सच्ची स्थिति है उसको जाहिर कर देता है। उसमें क्या-क्या छिपा है? उससे क्या-क्या बनता है? और सब कुछ बननेपर भी वह कैसे ज्यों-का-त्यों रहता है।

यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि।

पहले ज्ञानकी योग्यता जब आयेगी तब सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान होगा। और योग्यता सम्पादन नहीं करेंगे तो सूक्ष्म वस्तुका ज्ञान नहीं होगा। वह अमृत जो स्वर्गमें नहीं होता वह अमृत आपको सब जगह भरपूर मिलेगा—छल-छल-छलकता हुआ—झिलमिल करता हुआ। जगमग जगमगाता हुआ—वह अमृत आपको आपके जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें मिलता रहेगा—यदि उसको एकबार पहचान लें। उस अमृतका वर्णन आगे प्रारम्भ होता है। उसके सम्बन्धमें कोई प्रश्न हो तो सुना देंगे।

प्रश्न : एकान्त स्थानका सेवन तथा जनसमाजमें अप्रीति—ये दोनों गुण तो केवल संन्यासमें संभव है। फिर लोक-संग्रह और कर्मयोग कैसे सम्भव होगा?

उत्तर : हमको तो ऐसा लगता है कि जब पति-पत्नी मिलते हैं तो उनको एकान्त मिल जाता है कि नहीं? माँ-बेटे मिलते हैं तो एकान्त मिल जाता है कि नहीं? और परमात्माकी प्राप्तिके लिए एकान्त—माने जंगल नहीं है। एकान्त माने गुफा नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिके लिए अपना जो निर्मल हृदय है, वही सबसे बड़ा एकान्त है। जैसे आप माँ-बापसे मिलते-जुलते हैं-दूसरेकी ओर नहीं देखते हैं। पत्नी-पति मिलते हैं। गुरु-शिष्य मिलते हैं—तो जीवनमें एकान्त तो हो ही जाता है। एकान्त माने एकमें तात्पर्य जैसे वेदान्त है और लौकिक रूपसे भी यदि आप भीड़-भाड़में ही रहते हैं तो आप अपने व्यापारके बारेमें भी कैसे सोचेंगे? अपने परिवारके बारेमें कैसे सोंचेगे? हमारे मनुजीने कहा है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कामक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥ (4.92)

सोचना चाहिए कि आज हम क्या-क्या धर्म करेंगे? लोगोंकी भलाईके लिए कौन-कौन-सा काम करेंगे? संध्यावन्दनका समय कौन होगा? दानका समय कौन-सा होगा? इसका चिन्तन करें। सबेरे सोच लेना चाहिए। कम-से-कम एक दिनकी योजना तो बना ही लेनी चाहिए कि आज हमको यह करना है। दूसरी बात **'धर्मार्थावनुचिन्तयेत्'।**

अर्थका भी चिन्तन करे कि आज हमको कमाईके लिए, अपने व्यापारके लिए कौन-कौन-सी बात देखना जरूरी है। कहाँ हानि हो रही है? कहाँ लाभ हो रहा है? हानिको कैसे पूरा करें? लाभको कैसे बढ़ावेंगे? क्या-क्या नयी योजना करेंगे? यह सारे संकल्प एकान्तमें ही किये जाते हैं। भीड़-भाड़में योजना नहीं बनती है। योजना तो बिलकुल एकान्त स्थलमें एकाग्रचित्तमें बनती है। तीसरी बात मनुजीने यह कही कि हमारे शरीरमें कष्ट क्या है? हमारे शरीरमें क्लेश क्या है? वह क्लेश कब बढ़ता है और कब घटता है? इसका एकान्तमें ही चिन्तन करना चाहिए। कि क्या खानेसे हमारे शरीरका रोग बढ़ता है और क्या खानेसे घटता है? अपने आप एकान्तमें इसका चिन्तन कर लेना चाहिए। और अपने आपको जितना मालूम पड़ता है उतना दूसरेको नहीं

मालूम पड़ता है। पहले हमारे वैद्योंकी रीति थी कि एक, दो, चार रोगियोंको लिया और वे प्रात:काल बैठकर उनके बारेमें सोचते थे। इसके रोगका कारण क्या है? इसका निवारण क्या है? इसके लिए औषध क्या ठीक रहेगी? और उनकी औषध, उनके सङ्कल्पसे शक्तिशाली हो जाती थी।

आज डॉक्टर दिन भर में 100-200 मरीजोंको देखता है। किसीके बारेमें कुछ नहीं सोचता है। उसका जो किताबी ज्ञान है—देखा और झट निश्चय किया और दवा बता दी। अभी हमारे नाकमें बलगम रुक गया था तो डॉक्टरने फट आधी गोली खिला दी तो बलगम तो निकल गया होगा—हमको याद नहीं है लेकिन हमारी दोनों आँख ऐसी सूज गयी जैसी जीवनमें कभी नहीं सूजी। अब उसने यह नहीं चिन्तन किया कि यह दवा देनेपर इनकी आँख सूजेगी। यह साइड इफेक्ट हर कामका पहले एकान्तमें बैठकर सोच लेना चाहिए। और उसके समझनेकी रीति, नीति युक्ति अपनेको आनी चाहिए। यह बात बिना एकान्त-चिन्तनके तो नहीं हो सकती।

अब हमारे मनमें किसके लिए राग है। कहाँ फँस रहे हैं? फँसते जा रहे है। देखनेमें क्या हानि है, देख लेंगे। बात करनेमें क्या हानि है? कर लेंगे। छूनेमें क्या हानि है? छू लेंगे। भोगनेमें क्या हानि है? बस बात कट गयी। इसी प्रकार हमारे हृदयमें किसीसे दुश्मनी तो नहीं बढ़ रही है? यह अपने मनकी स्थितिको एकान्तमें बैठकर चिन्तन करना चाहिए। इसके लिए संन्यासी होनेकी कोई जरूरत नहीं है। इसको आप घर-गृहस्थीमें रहकर खूब मजेसे सोचिये। आप अपने धर्मको घरमें ले आइये। परिवारमें, बाजारमें, दुकानमें, ऑफिसमें। अपने धर्मको अपनी आँखोंसे देखते रहिये। आप अपने ईश्वरको जन-जनमें ले आइये। सब जगह देखिये। आप अपने ज्ञानको निरन्तर साथ रखिये। ज्ञानको आलेमें मत रखिये। इसके लिए संन्यासी होनेकी कोई जरूरत नहीं है। यह तो हम लोग एक सुविधाके लिए संन्यासी बनते हैं। और वह संन्यासी कपड़ा पहननेसे लोग समझते हैं कि इसका भरण-पोषण करनेकी जिम्मेदारी हम लोगोंकी है, इनकी नहीं है। तो लोग रोटी लाकर दे देते हैं। लेकिन यह साधु बीचमें खड़ा है। यह धनीसे कहता है देखे—हम बिना धनके सुखी है। क्यों लालच बढ़ाता है? क्यों धनके लिए दूसरोंको सताता है। यह गरीबसे कहता है—देख मैं तुझसे भी ज्यादा गरीब हूँ और मैं सुखी हूँ। एक गरीब भी सुखी रह सकता है। और धनी जो समझता है कि हम केवल धनसे ही सुखी हैं, उसकी वह गलत मान्यता भी मिट सकती है। सुख जीवनकी एक अमूल्य सम्पत्ति है। अपना जीवन है। इसको जाहिर करनेके लिए साधु गरीब और अमीर दोनोंके बीचमें खड़ा होकर एक समन्वय स्थापित कर रहा है। और जिस दिन वह नहीं रहेगा, उस दिन दोनों आपसमें लड़ मरेंगे।

●

पंचम-दिवस

(1-11-84)

(31 अक्टूबरको प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधीके दिवंगत होनेके पश्चात् सत्संग-सत्रमें श्रद्धांजलि)

सरला विरला द्वारा श्रद्धांजलि—आज हमारा हृदय दु:खी है, मस्तिष्क बोझिल है, व्यक्त करना मुश्किल है, एकबार तो अन्धकार ही अन्धकार दीख रहा है। इन बचे हुए दिनोंके संत्सगका पुण्य-फल हम अपनी प्रिय एवं सम्माननीय दिवंगत प्रधानमन्त्रीकी सद्गतिके लिए समर्पित करते हैं। तथा ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि वह देशवासियोंको सम्मति प्रदान करें तथा हमारे नये प्रधानमन्त्रीजी राजीव गाँधीको सर्वथा सफलता दे—हमें विश्वास है कि श्रद्धेय श्री स्वामीजी महाराजकी प्रेरक वाणीसे हमें यथेष्ट सम्बल एवं प्रकाश मिलेगा।

पूज्य स्वामीजीने कहा—भगवान्की लीला ही ऐसी है कि वह कब, कहाँ और कैसे, किस दिशामें मोड़ लेगी इसका जीवोंको पता नहीं चलता। एक भौंरा कमलके प्रेमसे रातमें बैठा रह गया, कमल बन्द हो गया। वह सोचता था कि रात बीतेगी। सुप्रभात होगा। सूर्योदय होगा। कमल फिर खिलेगा, हँसेगा, ऐसा सोच ही रहा था, इतनेमें एक हाथी आया और उसने कमलको उखाड़कर अपने मुँहमें डाल दिया। सब उसका मनोराज्य, मनोरथ वहीं-का-वहीं रह गया। मनुष्य सोचता है कुछ और, हो जाता है कुछ। किसीके मनमें यह कल्पना नहीं थी कि देशके लिए ऐसा महाहानिकारक और विश्व-मानवताके लिए भी इतना ही हानिकारक यह दुर्घटना, यह हत्याकाण्ड, बर्बर नृशंस हत्याकाण्ड हम लोगोंके सामने आयेगा, कानसे सुनेंगे, देखेंगे। व्यक्ति तो न जाने कितने आते-जाते हैं, जीवन-मरण सबके साथ लगा है परन्तु जिससे राष्ट्रका, विश्वका, मानवका हित होता हो, उसके न रहने पर एक बहुत बड़ा धक्का लगता है।

हमारी प्रियदर्शिनी इन्दिरा गाँधी—गाँधी तो बादमें हुईं—इनके पूर्ववर्ती लोगोंसे हमारा बहुत प्रेम-श्रद्धाका सम्बन्ध था। जब हम गंगा-स्नान करने जाते थे वहाँ स्वरूपरानी रोज स्नान करने जाती थीं। स्वरूपरानी नेहरू छोटी-सी नाँवपर देवताकी तरह चुपचाप भजन करती हुई जाती थीं। पंडित मोतीलाल नेहरूकी क्या प्रतिष्ठा थी! पंडित जवाहरलाल नेहरूने देशके लिए क्या-क्या काम किया! एक वंश-परम्परा अनोखी थी और देशके लिए गौरवकी वस्तु थी। इसमें आयीं इन्दिरा गांधी। बाल्यावस्थासे ही बहुत होनहार। मैंने तो पढ़ा है और माँ आनन्दमयी बताया करती थीं कि जब कमला नेहरू उनके पास आतीं तो वहाँ माँ की गोदमें कभी सो जातीं, कभी खेलती रहती, कभी दर्शन करती। बाल्यावस्थासे ही इनका ईश्वरमें विश्वास था। हमको जो बात पसन्द थी—वह यह कि वे अपने देशको विश्वकी आँखोंके सामने ऊँचा करना चाहती थीं कि लोग देखें कि भारतकी कैसी उन्नति हो रही है। उन्होंने इसके लिए संविधानके आश्रयसे, गाँधीजीके सम्पर्कसे, नेहरूजीकी शिक्षासे, जिस नीतिपर चलना प्रारम्भ किया था—उसमें सारे देशकी एकता मुख्य थी। उनके मनमें कोई जातीयता नहीं थी, वर्णभेद नहीं था, सम्प्रदायभेद नहीं था, प्रान्तभेद नहीं था। सम्पूर्ण देशवासियोंका कल्याण हो, उन्नति हो—

यही उनके सङ्कल्पमें था और वे उसके अनुसार कष्ट सहकर भी, अपनेको भयङ्कर वातावरणमें डालकर भी सबका हित करना चाहती थीं।

जिन दिनोंमें प्रधानमन्त्री पदसे उतर गयी थीं, उन दिनों अकेले ही झोला लेकर कहीं देशमें गरीबोंमें चली जाया करती थी। विपत्तिका समय आनेपर भी अडिग रहती थीं। अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करती थीं। जैसे देशवासियोंका कल्याण हो, वैसा काम करती रहीं। और अन्तमें बहादुरीके साथ—यह नहीं कि कोई उनको पदसे च्युत कर दे या निश्चयसे च्युत कर दे—वे अपने मार्गसे कभी च्युत नहीं हुईं। यह दृढ़ता मनुष्यके जीवनके लिए बहुत आवश्यक सद्गुण है। उनका ईश्वर-विश्वास उनकी अपने निश्चयकी दृढ़ता, उनकी जातीयता, साम्प्रदायिकतासे ऊपर होनेका भाव, देशका हित, ये सब ऐसे सद्गुण थे जो प्रत्येक देशवासीके लिए आदर्श, अनुकरणीय होते हैं—हम बड़े आदरके साथ उनका स्मरण करते हैं, यद्यपि आमने-सामने हमलोगों का कभी मिलना नहीं हुआ था। कभी बातचीत नहीं हुई थी। वहाँके लोग आकर कहते थे कि आप चलिये। कभी-कभी तो तिथि भी निश्चित कर देते थे। परन्तु मेरी रुचि जानेकी नहीं होती थी। अब उनका भौतिक शरीर नहीं है परन्तु उनके आदर्श हैं, उनके विचार हैं, उनकी वीरता है और उनके सङ्कल्प हैं। वे सब लोगोंके हृदयमें उतरें, आवें और हमलोग भी देशके कल्याणमें और विश्व-मानवताके कल्याणमें केवल किसी जिला, प्रान्त, राष्ट्र, जाति मजहबके बन्धनोंसे मुक्त होकरके भवगद्रूप जो यह विश्व है, उसकी सेवामें लगें। इस प्रसंगसे हमको इनकी प्रेरणा लेनी चाहिए। और भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिए कि दिवंगत आत्माको शान्ति मिले और उसके भाव और उद्देश्य और साधनोंकी रक्षा करके हम देश को और भी उत्तम बनायें और विश्वमें इस देशका सिर ऊँचा हो, गौरवान्वित हो, इसके लिये प्रयास करें।

ॐ शान्तिः शन्तिः शान्तिः

प्रश्न : जिन गुणोंका उल्लेख ज्ञानके अन्तर्गत किया गया है यदि वे अर्जित कर लिये जायँ और क्षेत्रज्ञको न जाना जाये तो क्या हानि हो सकती है?

उत्तर : इन गुणोंको कोई अपने जीवनमें ग्रहण कर ले—धारण कर ले तो वह एक उन्नत मानव हो गया, इसमें तो कोई शंका नहीं है और यह भी एक बहुत बड़ी बात है, कोई छोटी बात नहीं है। परन्तु बहुत गुण जब अपने जीवनमें आ जाते हैं तो उसका एक अभिमान हो जाता है। और उसमें यह डर रहता है कि हम अपनेको तो बहुत गुणी, गुणयुक्त समझने लगें और जिनमें ये गुण नहीं है, उनको हीन समझें, उनसे घृणा करने लगें, उनको नफरतकी निगाहसे देखें। इन गुणोंसे भी परे एक सत्य है, एक परमात्मा है, आत्मा है, ब्रह्म है। केवल गुणोंको देख न सके, पहचान-पहचानके हम दूसरोंका आदर करें और जिनमें गुण नहीं दिखते हैं, उनकी उपेक्षा करें, द्वेष करें, घृणा करें। तो हमारे अन्दर ये गुण भी नहीं टिक सकते हैं। इसलिए हमारे जीवनमें ये गुण रहें और दूसरोंके जीवनमें न हों तो उनमें भी कोई ऐसी वस्तु दीखनी चाहिए जो स्थिर रूपसे, अचल रूपसे उनके भीतर रहती है। साथ ही अपने भी वे गुण हैं, वे हमेशा जीवनमें बने ही रहें—उनमें चढ़ाव-उतार न आये ऐसा नहीं हो सकता।

गुण कभी बढ़ जाते हैं तो कभी घट भी जाते हैं। कभी एक गुणकी वृद्धि होती है तो दूसरे गुणका ह्रास हो जाता है। कभी दूसरे गुणकी वृद्धि होती है तो पहले गुणका ह्रास हो जाता है। अपने जीवनमें भी गुणोंका ह्रास-विकास होता रहता है और दूसरोंके जीवनमें भी इन गुणोंकी कहीं न्यूनता दिखेगी और कहीं अधिकता। जहाँ न्यूनता दिखेगी वहाँ घृणा हो सकती है, उपेक्षा हो सकती है, द्वेष भी हो सकता है, और जहाँ अपनेसे अधिक ये गुण दिखेंगे वहाँ ईर्ष्या हो सकती है, वहाँ स्पर्धा हो सकती है, द्वेष भी हो सकता है। इसलिए केवल गुण ही गुण जीवन नहीं होते हैं, इन सम्पूर्ण गुणोंका जो आधार है, अधिष्ठान है, जिसमें ये गुण रहते हैं और घटते-बढ़ते रहते हैं, आते-जाते रहते हैं, पैदा होते, मिटते रहते हैं—वह जो वस्तु है परमात्मा—वह सबके जीवनमें बिलकुल एक है। इसलिए 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'—जिसका आगे वर्णन आता है। उस निर्गुणका ज्ञान लेना भी आवश्यक है। निर्गुणका जब ज्ञान होता है तब गुणोंके कारण होनेवाला जो अपने जीवनमें राग-द्वेष है वह अपना पाँव नहीं जमाता है और अपना अभिमान भी नहीं बढ़ता है। अपनेमें हीनताका भाव भी नहीं आता है। इसलिए दृष्टि वहाँ तक पहुँचनी चाहिए जो इन गुणोंसे परे है, पार है। और वह यदि हमसे दूर होगा तो केवल कल्पनाका ही विषय होगा, कि एक निर्गुण-निराकार परमात्मा है, वह कहीं छिपा हुआ है, हमसे बहुत दूर है। बहुत साधना करनेपर उसका साक्षात्कार होता है? नहीं, वह जो परम सत्य परमात्मा है वह इसी क्षेत्रज्ञके रूपमें ही है।

'क्षेत्रज्ञं मां विजानीयात्'।

इस क्षेत्रज्ञके रूपमें ही उस गुणातीत, उस निर्गुणका साक्षात्कार होना चाहिए। उसके बिना ये सब गुण सोते समय लुप्त हो जाते हैं। समाधिमें लुप्त हो जाते हैं। मूर्च्छामें लुप्त हो जाते हैं। किसी एक गुणमें आवेश हो जानेपर दूसरे गुण जो हैं कभी गौण हो जाते हैं, ऐसी स्थितिमें एक ऐसी सम सत्ताका, एक ऐसी प्रकाश सत्ताका, एक ऐसी आनन्द सत्ताका, जो अद्वितीय रूपसे गुणोंमें, दोषोंमें, जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, दूर देशमें, निकट देशमें, देरसे, सबेरसे और दूसरेमें, अपने-में-सबमें, एक जो अखण्ड सत्ता है, उसका यदि बोध हो जाय तो न गुणाका अभिमान होगा और न तो दूसरेके गुणावगुणपर दृष्टि जाकर राग-द्वेष होंगे। इसलिए राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए क्षेत्रज्ञ जो कि निर्गुण, अद्वितीय, परब्रह्म परमात्मा ही है—उसका ज्ञान होना आवश्यक है।

प्रश्न : ज्ञानके अन्तर्गत वर्णित गुणोंकी व्याख्या करते हुए यह बतायें कि उनको जीवनमें उतारनेकी साधना प्रणाली क्या हो?

उत्तर : श्रीमद्भावगतमें इनकी व्याख्या ऐसी आयी है कि वैसे तो एक दोष मिटानेके लिए एक प्रकारकी साधना होती है। जैसे अपने मनमें कामनाएँ बहुत उठती हैं—उनके लिये जो सङ्कल्प है कि यह मुझे मिले, यह मुझे मिले—

उनका **'असंकल्पात् जयेत् कामं, क्रोधं कामविवर्जनात्'**

सङ्कल्प न करनेसे कामकी निवृत्ति होती है और कामकी निवृत्ति होनेसे क्रोधकी निवृत्ति होती है। क्या

हमारे जीवनका यही अर्थ है ? इतना ही प्रयोजन है ? इस बातपर विचार करेंगे तो लोभपर विजयकी प्राप्ति होती है। परन्तु इनके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका कहना है कि यदि आप किसी बड़ेके पास रहें और उसका साथ करें तो बड़ी सुगमतासे इन दोषोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है। जो सत्पुरुषका संग है, अपनेसे बड़ेका संग है, बड़ोंके सामने मनुष्य अपनेको बहुत संयममें रख सकता है। अपने शिष्टाचारमें तो ऐसा मानते हैं—कि बड़ोंके सामने बैठें तो पाँवपर पाँव रखकर भी न बैठें। यदि अपनेसे बड़ा सामने कोई बैठा हो तो वहाँसे उठकर बाहर जाकर बात करनी चाहिए। इधर-उधर देखना भी नहीं चाहिए। किसीके ऊपर क्रोध भी नहीं करना चाहिए। दण्ड भी नहीं देना चाहिए। दण्ड देना हो तो अलग जाकर दण्ड देना चाहिए। कोई खाने-पीनेकी चीज हो, लेनेकी चीज हो तो उसको अलग जाकर ही करना चाहिए। जो हम बड़ोंके साथ रहते हैं और उनके प्रति आदरका भाव रखते हैं, प्रीति रखते हैं।

वह हमारे जीवनमें काम, क्रोध जन्म आदि जितने दोष हैं, उनके निवारणकी शक्ति देती है और वैसी परिस्थिति आनेपर हमको कैसे क्षमा करना चाहिए और कैसे उस दोषसे बचा लेना चाहिए, यह सीखनेको मिलता है। आपने सुना होगा कि बड़े लोग कैसी दृष्टि रखते हैं। विश्वामित्र और वसिष्ठका बड़ा भारी झगड़ा बरसों तक चलता रहा कि विश्वामित्र इतने बड़े तपस्वी हैं तो उनको वसिष्ठ ब्रह्मर्षि मान लें। पर वसिष्ठजी उनको ब्रह्मर्षि माननेको तैयार नहीं। यह बात को लेकर बड़े-बड़े युद्ध भी हो गये। कभी-कभी तो विश्वामित्र बात को लेकर बड़े-बड़े युद्ध भी हो गये। कभी-कभी तो विश्वामित्र जब हार जाते थे तो अपनेको धिक्कारते भी थे—

धिग् बलं-क्षत्रियबलम्

ब्रह्म बल जो है, प्रज्ञाका जो बल है वह सबसे बड़ा बल है, प्राणका बल सबसे बड़ा बल नहीं है। एक दिन विश्वामित्रके मनमें आया कि ये वसिष्ठ ही हमको ब्रह्मर्षि नहीं मानते है और बाकी सब तो मानते हैं। ये यदि मर जायँगे तो सबलोग हमको ब्रह्मर्षि मान लेंगे। रातके समय तलवार लेकर वसिष्ठजीकी कुटियाके पीछे खड़े हो गये। अब रातके समय वसिष्ठ और अरुन्धती दोनों जग रहे थे। और अरुन्धतीजीने पूछ लिया कि जब सारे ऋषि, महर्षि विश्वामित्रजीको ब्रह्मार्षि माननेको तैयार हैं तो आप क्यों नहीं मान लेते हैं। तब वसिष्ठजीने कहा कि विश्वामित्र जैसा तपस्वी तो आज सृष्टिमें दूसरा कोई है ही नहीं। वे तो नयी सृष्टि बनानेकी योग्यता रखते हैं, क्षमता रखते हैं। अरुन्धतीने पूछा—फिर आप क्यों नहीं मानते ? कहा हम इसलिए नहीं मानते कि अभी चित्तमें क्रोध और क्रोधका मूल द्वेष विद्यमान है। जबतक उनके अन्त:करण में इतना द्वेष मौजूद है तबतक मैं उन्हें ब्रह्मर्षि कैसे मानूँ? ये बातें पीछे सुनायी पड़ रही थी। विश्वामित्रने सुना। उसी समय आकर उन्होंने द्वारा खटखटाया और तलवार वसिष्ठके चरणोंमें रखकर प्रणाम किया। तो वसिष्ठ बोले—'ब्रह्मर्षि, उठो।' तुरन्त विश्वामित्रजी उठे और उनको गलेसे लगा लिया।

हम लोगोंके चित्तमें जो सूक्ष्म दोष होते हैं—उनको हम पहचान नहीं पाते हैं। इसलिए दोषोंके निवारणके लिए निर्दोष व्यक्तियोंका संग अवश्य होना चाहिए। यदि हम ऐसा मानते हैं कि दुनियामें निर्दोष

कोई हो ही नहीं सकता तो यह मान्यता भी गलत है क्योंकि परमात्मा ही निर्विकार है, परमात्मा ही निर्दोष है। जो महात्मा अपनेको परमात्माके साथ एक अनुभव कर लेते हैं वे निर्विकारसे मिलकर निर्विकार, निर्दोष हो जाते हैं। और यदि आप ऐसा मानते हैं कि दुनियामें कोई निर्विकार है ही नहीं तो आप भी निर्विकार नहीं हो सकते। इसलिए महात्माओंके संगमें रहकर दोषोंके निवारणकी और गुणोंके ग्रहणकी प्रक्रिया सीखनी पड़ती है।

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः। (भाग० 11.3.22)

गुरुको ही अपना परम प्रेमास्पद आत्मा और परमाराध्य परमेश्वरके रूपमें मानकर वहाँ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि हम दूसरोंकी निन्दासे कैसे बचें? और अपने धर्ममें कैसे निष्ठावान् रहें और क्रोधका अवसर होनेपर भी क्रोध न करें, कामका वातावरण होनेपर भी कामसे बचें। लोभका वातावरण होनेपर भी दूसरोंकी हानि करनेसे, बेईमानीसे बचें—इसके सिवाय भिन्न-भिन्न दोषोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रक्रिया आती है।

एक हमारे मित्र हैं—वे व्यापार करते हैं—कभी कभी बाजारमें लोग यह निश्चय कर देते हैं कि इस वस्तुको इसी भावमें बेचा जाय उनको लगता है कि यह तो बड़ी बेईमानी है किन्तु बाजारके साथ उन्हें भी काम करना पड़ता है। तो जो रुपया उनकी दृष्टिसे ईमानदारीसे अधिक उनके घरमें आजाता है, उसको वे गरीबोंको दान कर देते हैं। माने वे कहते हैं कि यदि हम रखेंगे ही नहीं—बेईमानीका आया हुआ पैसा तो हम लोभसे तो कम-से-कम बचते ही रहेंगे। भले ही लोगोंके दबावमें आकर वैसा काम करना पड़े।

एक सज्जन हैं—वे कहते हैं—पहले तो हम अपनी इच्छा चलाते नहीं—यदि फिर भी क्रोध आ जाता है तो चुप हो जाते हैं। वहाँसे हट जाते हैं—अपने ऊपर जुर्माना कर रखा है कि एक बार क्रोधमें कुछ बोलेंगे तो इतना दान करेंगे—इतना पैदल चलेंगे। ऐसा व्रत करेंगे। ऐसी प्रिय वस्तुको थोड़े दिनोंके लिए छोड़ देंगे। इसी प्रकार कामके सम्बन्धमें है। विरक्त लोग तो अपने लिए दूसरा ही ढंग अपनाते हैं। स्त्री-पुरुषका काम हो तो वे बिना चामका शरीर देखनेका अभ्यास करते हैं। बिना चामका शरीर देखनेपर उसमें कामना नहीं रहती है। वे भगवान् शङ्करका ध्यान करते हैं जिन्होंने कामको भस्म कर दिया था। वे भगवान्‌की सुन्दरताका चिन्तन करते हैं जिसके सामने सृष्टिमें और कोई सुन्दर नहीं है। वे उपनिषदोंका पाठ करते हैं, जिसमें कामनाके सम्बन्धमें बड़ी अद्भुत-अद्भुत बातें मिलती हैं।

यह तो कङ्गालका काम है कि हमको यह मिले, यह मिले। अपनी कङ्गालीका प्रदर्शन है कि हमारे हृदयमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है, सन्तोष नहीं है। तो यदि कामना करेगा, किसीके मनमें मांस खानेकी इच्छा आये, कामना आये तो उस कामनाके वश होकर उसको गीध होना पड़ेगा, व्याघ्र होना पड़ेगा। उस कामनाकी पूर्तिके लिए उसको बड़े कष्टका अनुभव करना पड़ेगा। और जो अपने हृदयमें परमात्मा जैसी अनन्त सम्पत्तिको देखता है, अनुभव करता है, उसका मन तो उसके वशमें है। वह निष्काम, सबसे बड़ा धनी-दुनियामें सबसे बड़ा सम्पन्न वही है, जिसको कुछ नहीं चाहिए।

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

जिसके मनमें जितनी अधिक तृष्णा है वह उतना बड़ा दरिद्र है। और जब मनमें सन्तोष है तो धनी-गरीवका अपने मनमें कोई भेद नहीं है।

हमने पहले टॉलस्टॉयकी एक कहानी पढ़ी थी—एक गरीबको दो पैसे मिले और वह उस दिन खर्च नहीं हुए। वह सोचने लगा क्या करें! कोई गरीब दो पैसेके लिए अपनेको गरीब नहीं मानता था। वह दे किसको? अन्ततोगत्वा उसने सुना कि एक राजा दूसरे राज्यपर चढ़ाई कर रहा है। क्यों? धनके लिए। कहा वही गरीब है। और जाकर दो पैसे उसकी गोदमें रख दिया। उन्होंने कहा यह क्या है? तो भिखारी बोला, महाराज सुना है आप बहुत गरीब हो गये हैं तो मैं अपनी सारी सम्पत्ति आपको दे रहा हूँ। उसने कहा—मैं गरीब? तो बोले, गरीब न होते तो दूसरे राज्यपर क्यों चढ़ाई करते? इतने लोगोंकी हिंसा होगी। स्त्रियाँ विधवा होंगी। बच्चे अनाथ होंगे। यदि आप गरीब न होते तो ऐसा कुकर्म क्यों करते? अब तो राजाको सूझ गया और उसने अपनी युद्धकी घोषणा वापिस ले ली।

यह सब जो चित्तमें विचार है—अच्छे विचार आयें और अपने दोषोंके निवारणकी सच्ची इच्छा हो—आप कीजिये सब कुछ, बड़े-से-बड़ा व्यापार कीजिये। परन्तु उससे लोगोंका हित हो। उनको अन्न मिले, वस्त्र मिले, औषधि मिले। उनको मकान मिले, विद्या मिले, उनकी प्रतिष्ठा बढ़े लोगोंकी उन्नतिके लिए, देशकी उन्नतिके लिए आप काम कीजिये। और व्यक्तिगत तो आपके काममें उतना ही आता है—साढ़े तीन हाथमें सोते हैं। दो पाँव धरतीपर रखकर ही चलते हैं। और पेट भरके ही खाते हैं। इससे अधिक तो व्यक्तिगत स्वार्थके काममें कोई चीज आती ही नहीं है। केवल अभिमान ही होता है कि हमारे पास यह है, वह है। चाहे आपके पास सैकड़ों मोटर हों, पर सबपर एक साथ थोड़े ही चढ़ते हैं। एक मोटरपर ही तो चढ़कर चलते हैं। इन सब बातोंके द्वारा अपने मनको अभिमानयुक्त न बना करके, अपना निर्वाह जितनेसे हो जाय, उतना शुद्ध सात्त्विक वृत्तिसे करते जाना। और बाकी जितनी भी वस्तुएँ हैं उसको लोगोंके हितमें लोगोंके कल्याणमें लगाना। इस प्रकार अपने जीवनमें जो दोष हैं वे निवृत्त हो जाते हैं।

बच्चेसे मोह है—इसीसे पहले अपनेसे दूर ऋषिकुलमें, गुरुकुलमें रखते थे कि उनको स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करनेका अभ्यास हो जाय और हम भी उनसे अलग रहनेके अभ्यासी हो जायँ। उनको योग्य बनाना चाहिए। उनके प्रति इतना मोह नहीं रखना चाहिए कि उनकी योग्यतामें भी बाधा पड़े और अपनी उन्नतिमें भी बाधा पड़े। इस ढंगसे सभी दोषोंकी निवृत्तिके उपाय शास्त्रोंमें बताये हुए हैं और एक तो आयुर्वेदके ग्रन्थ चरकसंहितामें वृत्ताध्याय है कि मनुष्य किस प्रकारसे अपना सद्गुण-सम्पन्न जीवन व्यतीत करे तो रोग नहीं आयेंगे, उसके शरीरमें। आयुर्वेदमें भी है और चाणक्यके अर्थशास्त्रमें भी एक नीतिका अध्याय है कि मनुष्यको किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। दोषोंको दूर करनेके लिए जो विद्या है उसको

सत्पुरुषके साथ रहकर विचार करके, सद्ग्रन्थोंसे जानकर और इतिहासमें हमारे महापुरुषोंने जैसे-जैसे आचरण किये हैं, उनसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

एक प्रसङ्ग आता है—काशीराज अयोध्याकी ओर जा रहे थे और अयोध्याके राजा आ रहे थे काशीकी ओर। दोनोंका रथ आमने-सामने आ गया। दोनोंके साथ जो सेवक थे वे एक दूसरेके पास गये कि आप अपना रथ सड़कसे अलग कर दीजिये, हमारे महाराजका रथ निकल जाय। आपसमें दोनों ओरके लोग अड़ गये कि हमारे महाराजका रथ नहीं हटेगा। तुम्हारे महाराजाका रथ हटेगा। सो काशी-नरेशके लोगोंने आकर अयोध्या-नरेशसे कहा—हमारे महाराज किसीके लिए रास्ता नहीं छोड़ते हैं, ऐसी उनकी परम्परा है। तो अयोध्या-नरेश रथपरसे उतर गये और आकर बोले कि महाराज, आप अपना रथ ले जाइये। हमारी परम्परा यही है कि कोई सामनेसे आ रहा हो तो उसके लिए रास्ता छोड़ दें—रास्ता दे दें। और नमस्कार करके वे आगे बढ़ गये और उनका रथ भी रास्ता छोड़कर आगे बढ़ गया। जहाँ जीवनमें विनयका प्रसङ्ग हो वहाँ विनय स्वीकार करना चाहिए-झुक जाना चाहिए और जहाँ कड़ा होनेका प्रसङ्ग हो, दृढ़ताका प्रसङ्ग हो वहाँ दृढ़ हो जाना चाहिए। विवेकपूर्वक यदि हम अपना जीवन व्यतीत करेंगे तो दोष छूट जायेंगे और गुण हमारे जीवनमें बढ़ेंगे। यही उनकी प्रक्रिया है।

प्रश्न : अज्ञानको अलगसे क्यों नहीं समझाया गया? वह यदि ज्ञानका अभाव न होकर उसका विपरीत है तो उसके प्रमुख लक्षणोंको समझकर ही उसे नष्ट किया जा सकता है क्या?

उत्तर : स्पष्ट रूपसे कह दिया गया कि अभिमान न करना ज्ञान है, दम्भ न करना ज्ञान है, हिंसा न करना ज्ञान है, क्षमा करना ज्ञान है, सरल जीवन व्यतीत करना ज्ञान है। अब संस्कृतमें बोलनेकी प्रणाली यह है कि यदि इतना ही कहनेसे कि इसका उलटा अज्ञान है—'अज्ञानं यदतोन्यथा'—अज्ञानका स्वरूप समझमें आ जायेगा। मान न करना ज्ञान है—तो अभिमान करना अज्ञान है। दम्भ न करना ज्ञान है तो दम्भ करना अज्ञान है। एक बार बोलनेसे जब बात स्पष्ट हो जाती है तो उसको बहुत नहीं बोलना चाहिए। हमारे जो ऋषि, महर्षि होते हैं वे सूत्रवत् बोलते हैं।

कपड़ा बनाना तो दूसरोंका काम है। भाष्यकारोंका काम है कपड़ा बनाना और ऋषि लोग तो सूतकी तरह सूत्र देते हैं। अब वे सूतसे चाहे जैसा वस्त्र बना लें, विन्यास कर लें। कपड़ेमें हाथी ही हाथी हो जायगा, चिड़िया ही चिड़िया हो जायगी। महात्मा ही महात्मा हो जायगा। सूत उन्होंने दे दिया और उसकी वृत्ति इकहरा कर लीजिये, दोहरा कर लीजिये। त्रिगुणित कर लीजिये। अपने अनुसार उसकी वृत्ति बना लीजिये। उसका वस्त्र बना लीजिये, उसका विस्तार कर लीजिये। इसमें बहुत स्वतन्त्रता रहती है और यदि सारी बात अलग ही बोल दें तो सुननेवालेको सोचननेका मौका नहीं रहेगा। और इस तरहसे हम दूसरेको विवेकसे वंचित कर देंगे। हम जो बोलें उसमें दूसरेके विवेककी हानि न हो, उसको विवेकका अवसर मिले। वे बढ़ें इसकी गुञ्जाइश अपनी बोलीमें रखनी चाहिए। इसलिए स्पष्ट कह दिया—

एतद्ज्ञानमिति प्रोक्तम् अज्ञानं यदतोऽन्यथा।

माने ज्ञानका साधन तो बता दिया। अब जो इससे उल्टा होगा उसका ज्ञान अज्ञान होगा। इतना ही कहनेसे जैसे बीस ज्ञानके साधन हो गये तो बीस अज्ञानके कारण हो गये। चालीस बात कह दी गयी और बोलना पड़ा केवल एक वाक्य। तो ऋषियोंके बोलनेकी यही प्रणाली थी। वे बहुत विस्तार करके नहीं बोलते थे। संक्षेपमें ही बोलते थे। और भगवान् श्रीकृष्णके सामने तो थोड़ा-सा समय था, दोनों सेनाओंके बीचमें, शंख बज चुके थे, अस्त्र-शस्त्र चलनेवाले थे और वहाँ अर्जुन जैसे समझदार आदमीको यदि पूरा महाभारत सुनाने लगते तो फिर तो काम करनेका कोई अवसर ही नहीं निकलता। इसलिए संक्षेपमें भाषण करना भी एक कला है।

हमने पहले सुना था कांग्रेसके जब अधिवेशन हुआ करते थे तो श्रीनिवास शास्त्री, सत्यमूर्तिजी, राजगोपालचारी इन दक्षिणी लोगोंको जब अधिवेशनमें तीन-तीन मिनटका समय दिया जाता है बोलनेके लिए—वे पहले वक्ताओंको तीन मिनटमें ही ढेर कर देते थे। क्योंकि वहाँ वाद-विवाद सरीखा होता—पक्ष-प्रतिपक्ष होता कि क्या निश्चय किया जाय। ये तीन-तीन मिनटमें अपनी बात ऐसे ढंगसे कह देते थे कि पहले वाली बातका जो प्रतिपक्ष होता, वह सामने आजाता और सबके भाषणमें ताली बजती और सबको लोग उस समय यही समझते कि बिल्कुल ठीक। अब उसके बाद मालवीयजी बोलते तो मालवीयजीका थोड़ा विस्तार करनेका ढंग होता था। गाँधीजी बड़े संक्षेपमें, बड़ी सादगीसे, बोलते थे। तो बोलनेका भी एक ढंग होता है। किसी बातको बढ़ाकर बोला जाता है। कभी किसी बातको छोटी करके बोला जाता है। इसको संस्कृतमें समास-पद्धति और व्यास-पद्धति बोलते हैं। व्यासजी किसी बातको बड़ी करके बोलते हैं। और समास पद्धतिमें बातको थोड़ेमें कह दी जाती है। यहाँ समास-पद्धतिसे अज्ञानका निरूपण किया गया है।

प्रश्न : ब्रह्म क्या ज्ञातासे भिन्न वस्तुके रूपमें ज्ञेय है? वह यदि सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता तो फिर उसकी प्रतीति या उपलब्धि किस रूपमें हो सकती है?

उत्तर : ज्ञेय शब्दके दो अर्थ संस्कृतमें होते हैं। यह ज्ञेय है माने जानने योग्य है। यह नहीं कि वह ज्ञानका विषय है कि ज्ञानके घेरेमें आगया। हमारा कर्तव्य है कि हम उसको जानें। इसलिए

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।

भगवान् कहते हैं कि अब मैं तुम्हें उस विषयका उपदेश करूँगा—जो जीवनमें अवश्य जानने योग्य है—ज्ञातव्य है—जिसको जाने बिना हमारा जीवन पूर्ण नहीं होता है। जिसको जाने बिना हम पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्दका अनुभव नहीं कर सकते। वही जानने योग्य है इस जीवनमें, और मैं तुम्हें सुना रहा हूँ। उससे फल-श्रुति भी बता दी। इसको जाननेसे क्या लाभ है? बोले—

यद्ज्ञात्वा अमृतम्-अश्नुते।

जिसको जाननेके साथ-ही-साथ अमृत प्राप्त होता है। यहाँ ज्ञात्वा शब्द जो है—'क्त्वा प्रत्यय' बोलते हैं इसको, उससे इसका अर्थ होता है—साथ-साथ जानना और अमृत होना—जाननेके साथ ही साथ अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है,जैसे 'उपविश्य भुङ्क्ते' का अर्थ होता है—बैठकर आदमी खाता है।

अमृतत्वकी प्राप्तिका अर्थ यह है कि कई चीजें ऐसी होती हैं कि कर-करके पैदा की जाती है, कर्मसे बनायी जाती हैं। कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि उपासना करके भाव बनाया जाता है। राम, कृष्ण, शिव आदिके दर्शन होते हैं। कर्मसे यज्ञ होता है और कर्मसे संसारकी और वस्तुएँ मिलती हैं। एक योगाभ्यास होता है। बहुत दिनों तक अभ्यास करनेके बाद समाधि लगती है। तब शान्ति मिलती है। एक ऐसी अनोखी वस्तु हम तुमको बता रहे हैं जो दुनियामें और कहीं नहीं हैं। वह यह है कि उसके ज्ञान मात्रसे ही, जानने मात्रसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। आपको यह बात मालूम है कि ज्ञान कोई चीज बताता नहीं है—जो चीज पहलेसे विद्यमान रहती है, मौजूद रहती है, उसको दिखा देता है। अब यदि ज्ञान अन्य रूपसे किसी वस्तुको दिखायेगा तो उसको पानेके लिए कर्म, उपासना, योग कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा। या तो ध्यान करना पड़ेगा, या तो वृत्ति बनानी पड़ेगी या तो कर्म करना पड़ेगा। लेकिन जहाँ वह वस्तु अपना आत्मा ही है और नित्य प्राप्त ही है वहाँ केवल उसका ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। दूसरेको जानेंगे तो उससे प्रेम करेंगे या परहेज करेंगे। लेकिन अपनेको जब जानेंगे तो उसमें न राग है, न द्वेष है। न पाना है, न परहेज है। अपना आत्मा ऐसी वस्तु है कि इसके ज्ञान मात्रसे ही मनुष्यको अनन्त जीवन, अमृत जीवनकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए यहाँ ज्ञानकी ही महिमा विशेष-रूपसे बतायी गयी है और यह बहुत ही सूक्ष्म है क्योंकि इन साधन-सम्पदाओंके होनेपर ही यह ज्ञान अपने अमृत्वको प्रकट करता है।

तमेव विदित्वा अमृतत्वमेति। (श्वेताश्व० 3.8)

जो इसको जानेगा सो अमर हो जायेगा। ऐसा यह तत्त्वज्ञान है जिसका वर्णन करते हैं।

जैसे घड़ा है यह तो हुआ 'घटः अस्ति' और घड़ा नहीं है यह हुआ 'घटो नास्ति' तो किसी चीजके 'है' और 'नहीं' दो रूप होते हैं। यह बात तो ठीक है। परन्तु जो उसको जानता है—जिनको 'अस्ति-नास्ति' दोनोंका ज्ञान है वह क्या है? उसके लिए गीतामें एक प्रक्रिया तो यह दी गयी है कि—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।

भगवान्ने कहा कि अमृत भी मैं ही हूँ; मृत्यु भी मैं ही हूँ, अस्ति भी मैं ही हूँ, नास्ति भी मैं ही हूँ—सत्, असत् सब मैं हूँ। एक पूर्णताका अनुभव सगुण रूपसे भगवान् बता रहे हैं कि जो कुछ 'है' 'नहीं' होने जाता है सो सब मैं ही हूँ। दूसरी जगह बोलते हैं 'सदसत्तत् परं यत्'—जो सत् है वह भी तुम, जो असत् है वह भी तुम और जो दोनोंसे परे है वह भी तुम। तीसरी जगह भगवान् श्रीकृष्ण बोलते हैं—

'न सत्तन्ना सदुच्यते'

वह ऐसी वस्तु है जो वाणीसे कही नहीं जा सकती और मनमें उसका कोई नाम-रूप बैठाया नहीं जा सकता। तो निषेध करनेवालेको ही परब्रह्म परमात्माका स्वरूप बतानेके लिए 'अस्ति' और 'नास्ति'—'सत्' और 'असत्' दोनोंका ही निषेध किया जाता है। आष यह समझ लें कि दुनियामें मजहब तो बहुत हैं और उनकी उपासना-प्रार्थनाके मार्ग भी बहुत हैं। परन्तु अपनी आत्माको ही पूर्ण परमात्माके रूपमें लखानेवाली जो विद्या है वह हमारी वेदान्तविद्या है।

दूसरेकी पूर्णता बतानेके लिए तो उपासना होती है या किसी भावमें दृढ़ स्थिति करनेके लिए योग होता है। कोई वस्तु बनानेके लिए कर्म होता है। परन्तु अपनी पूर्णता जो कि वास्तविक है, सच्ची है, उसको लखा देनेके लिए ज्ञान होता हैं। तो अपनेको लखानेके लिए यह जरूरी हो जाता है कि अपनेसे अलग जो चीज मालूम पड़ती है—'है' के रूपमें और 'नहीं'के रूपमें, 'सत्'के रूपमें या 'असत्'के रूपमें उसको एकबार निषेध कर दें। अपवाद कर दें। उसका बाध कर दें। जिसका बाध नहीं हो सकता, अपवाद नहीं हो सकता, जिसका निषेध नहीं हो सकता वही अपना आत्मा होता है और उसीको यहाँ इस प्रसङ्गमें ब्रह्मके रूपमें वर्णन किया जा रहा है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ 13.12

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13.13

परमेश्वरका ऐसा बढ़िया स्वरूप यह माननेका नहीं है और यह घड़ेकी तरह देखनेका भी नहीं है। यह अपना ही स्वरूप है और सबको अलग कर देने पर इसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। यह न स्वर्गके समान परोक्ष है। न घड़ेके समान प्रत्यक्ष है। 'अस्ति' 'नास्ति' पदका विषय नहीं है! तब यह क्या है? जो अस्ति-नास्तिको जानता है वह है। जो स्वर्ग, नरकको मानता है सो है। जो जन्म और मृत्युको जानता है सो है। जो जीव और ईश्वरको जानता है सो है। यह उत्पन्न वस्तु नहीं है। जो जिसको भान हो रहा है, मालूम पड़ रहा है-सोऽहम्। और दुनियामें जितने लोग हैं उन्होंने ईश्वरको ढूँढ़ा है, दुनिया बनानेवालेके रूपमें। परन्तु न तो उस समय दुनिया थी, न उनकी बुद्धि थी, न वे थे। उसका अनुभव नहीं हो सकता कि दुनिया बनानेके पहले क्या थी? और यह अनुभव भी नहीं हो सकता कि दुनिया न रहनेपर, हम न रहनेपर, हमारी बुद्धि न रहनेपर, क्या रहेगा? केवल अन्दाजी बात रहती है, अनुमान लगाया जाता है।

इसलिए हमारी जो सत्यके साक्षात्कारकी पद्धति है, वह सृष्टिके पहले वालेकी नहीं, सृष्टि बनानेवालेकी नहीं और सृष्टि बिगाड़नेवालेकी भी नहीं। जो इस समय है और है-नहीं-दोनोंको प्रकाश रहा है। जिसको दोनोंका भान होता है, उस परमात्माके निरूपणमें हमारा अभिप्राय है। और हम उसको अभी बिना किसी औजारके, बिना किसी यन्त्रके, बिना आँखके, बिना कानके, बिना नाकके, बिना जीभके यहाँ तककी बिना मनके, बिना बुद्धिके हम उस वस्तुका अनुभव करते हैं। न वह परोक्ष है स्वर्गके समान और न तो प्रत्यक्ष है घटके समान--न उसको जाननेके लिए किसी करण या वृत्तिकी आवश्यकता है। वह तो साक्षात् अपना आपा है।

साक्षाद् अपरोक्षात् ब्रह्म।

●

छठा दिवस

(2-11-84)

स्वर्गीया प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधीकी अन्त्येष्टि क्रिया पर पूज्य स्वामीजीका निवेदन-

गर्भाधानके दिनसे लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त और उसके बाद भी धर्म संस्कार किये जाते हैं। उपनिषदोंका कहना है कि जब रोग आता है तो वह भी एक तप है। उसको सहना चाहिए। फिर कल्पना ऐसी होती है कि लोग श्मशानमें ले जा रहे हैं-बोले, मेरा वन-गमन हो रहा है। और जब अग्निमें जलाते हैं, अन्त्येष्टि क्रिया करते हैं। अन्त्य: इष्टि है=अन्त्येष्टि। इष्टि माने यज्ञ। अपने शरीरका हवन किया जाता है। इस प्रकार वैदिक धर्मके अनुसार अन्त्येष्टि संस्कार भी एक संस्कार है और वह यज्ञ-रूप है। ऐसा अपने समग्र जीवनको धर्मके रूपमें बना देना यह वैदिक संस्कारकी विशेषता है। आज प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी-प्रधानमंत्रीकी अन्त्येष्टि क्रिया है। यह बहुत बड़ी आहुति है देशकी ओरसे। इससे भी धर्म सम्पन्न होता है, अन्त:करण शुद्धि होती है। भगवत्-प्रसाद होता है। इसलिए इसके उपलक्ष्यमें आज हम सब लोग खड़े होकर एक मिनटका मनका मौन या मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना करें कि जिससे विश्व मानवताका मंगल हो, राष्ट्रका हित हो, लोगोंके मनमें सद्भाव और शान्तिका उदय हो ऐसा संकल्प करके एक मिनटके लिए खड़े हो जायँ और मौन रहें—

प्रश्न : अद्भुत प्रक्रिया है सृष्टिकी कि बड़े-से-बड़ा आघात पाकर भी क्रम चलता रहता है। शायद प्रभुकी इच्छा क्रम चलाते रहनेकी ही है और सङ्कटके क्षणोंमें वह हमारी परीक्षा भी लेता है कि हम कितने धैर्यके साथ सही क्रम चला सकते हैं। हमलोगोंका गीता-ज्ञान-यज्ञ जो चल रहा है उसके प्रश्न क्रममें आज जो प्रश्न है वह मैं पूज्य गुरुजीके सामने उपस्थित कर रहा हूँ—

ज्ञेयके रूपमें ब्रह्मका निरूपण है, वह सगुण साकार, निर्गुण-निराकार दोनोंका ही मालूम पड़ता है—और परस्पर विरोधी गुणोंसे भरा है। इस वर्णनमें संगति किस प्रकार बिठायें?

उत्तर : परमात्मामें दृष्टि-भेदके कारण भेद जान पड़ते हैं। कोई किसी कोणसे देखता है, कोई किसी कोणसे। हमने चित्र लेते देखा है। ऊपरसे लेते हैं तो आदमी नाटा हो जाता है। नीचेसे लेते हैं तो लम्बा हो जाता है। दाहिनी ओरसे लेते हैं तो दूसरा बायीं ओरसे लेते हैं तो दूसरा। यह मनुष्यमें भेद नहीं होता है, जो चित्र लिया जाता है, उस कैमरेके कोणमें भेद होता है।

जाकी सभी लिखनी बैठी गहि-गहि गर्व गरूर।
भये न केते जगतके चतुर चितेरे कूर।

बहुत बड़े-बड़े चित्रकार अभिमान लेकर बैठे कि हम उसका चित्र बनायेंगे। तस्वीर बनायेंगे। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। सब अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार चित्र बना-बनाकर रह गये। जो अज्ञानान्धकारमें इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें जड़ता ही दीखती है, ईश्वर नहीं दीखता है। कोई-कोई ऐसे होते हैं उनको जड़ता और चेतना दोनों मिली हुई दिखती है। किसी-किसीको केवल चेतनका ही अनुभव होता है।

तत्त्व-ज्ञानीकी दृष्टिसे जो निर्गुण, निराकार, अद्वितीय अपना आत्मा है, अज्ञानीकी दृष्टिसे वही विराट् जड़ है और जिज्ञासुकी दृष्टिसे वही जड़ता, चेतनता दोनोंके मूलमें है। इसीको अनिर्वचनीय कहते हैं। तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे दूसरा कोई है ही नहीं—अपना आत्मा ही परमात्मा है। जिज्ञासुकी दृष्टिसे वह अनुसन्धान करने योग्य है—है परन्तु अदृश्य है। भक्तकी दृष्टिसे भी दर्शन योग्य है—दर्शन होता भी है और जो संसारकी जड़तामें ही फँसे हुए हैं उनके लिए नहीं है और है भी तो जड़ है। इसलिए ईश्वर वहाँ है जिसको लोग भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे भिन्न-भिन्न रूपमें देखते हैं और वह सबमें रह करके भी सबसे निराला होता है। गीतामें—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (13.15)

सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी वही है भीतर भी वही है।

स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। मुण्डकोप. (2.1.2)

विवादमें ऐसा कहा हुआ है। 'अचरं चरमेव च'। वही पृथिवी, पर्वत, पत्थर—यह सब अचरके रूपमें है और वही चर पेड़, पौधे उद्भिज्ज, ऊपरको चलते हैं, वही स्वेदज—जूएँ, खटमलके रूपमें हैं। वही अण्डज पक्षियोंके रूपमें हैं। वही जरायुज, द्विपाद और चतुष्पादके रूपमें हैं और जो कुछ सुने हुए हैं शास्त्रोंमें, देवता दानव। जो कुछ भूत, भविष्य जाना जाता है, सब परमात्माका स्वरूप है।

सूक्ष्मत्वात् तद् अविज्ञेयम्।

इतना सूक्ष्म है कि उसको हम यन्त्रोंके द्वारा—इन्द्रियोंके द्वारा, मनकी कल्पनाके द्वारा, बुद्धिके, विचारोंके द्वारा अथवा अभ्यासजन्य स्थितियोंके द्वारा उसको विज्ञेय नहीं बना सकते क्योंकि वह 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरम्'—सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है—'अक्षरात् परतः परः' सबसे परे जो अक्षर है, उससे भी परे है। इसलिए जो दूर देखता है उसके लिए दूर है। यह आपकी दृष्टि है कि परमात्मा दूर है। जो निकट देखता है उसके लिए निकट है। यह आपकी दृष्टि है कि वह निकट है। दूर और निकट यह तो देशमें होता है, कालमें होता है और देश और काल परमात्माका स्पर्श नहीं करते। इसीसे स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनेको इस ढंगसे वर्णन करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगत्।

यह सारी दुनिया—सारा जगत् एक वस्त्र है, तो मैं उसमें सूत्र हूँ। सबका उपादान मैं हूँ। फिर बोलते हैं 'मत्स्थानि भूतानि' मुझमें दूसरे कोई भूत, दूसरे कोई पदार्थ तो हैं ही नहीं। स्वयं इस ढंगसे अपना वर्णन करते हैं कि ये दुनियाके लोग जितना भी निर्वचन करते हैं वह एक ओर रखे रह जाते हैं और वह निर्वचनोंका जो कर्ता है, भोक्ता है—जो उनको करता है, उनका रस लेता है और जो उनका ज्ञाता है, जानकार है, जो उनका द्रष्टा है, उस द्रष्टाके असली स्वरूपका ज्ञान अगर हो जाय तो परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु न रहे।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजयः।

ऐसा परमात्माका स्वरूप है और तेरहवें अध्यायके इस प्रसंगमें तो उसका इतना उत्तम निरूपण है कि—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। 13.17

वही ज्ञानस्वरूप है। करणरूप ज्ञान नहीं। जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान नहीं। जो बिना ज्ञातारूप अभिमानके और बिना करणरूप साधनके और जो ज्ञेयताका विषय हुए बिना 'ज्ञान' है, वह शुद्ध अद्वितीय 'ज्ञान' कौन? तो बोले परमात्मा। जो जाना जाता है सो—वही है—ज्ञातव्य है। कैसे ज्ञातव्य है? ज्ञानगम्यम्—वह ज्ञानसे ही अमानित्वादि जिसका वर्णन किया है—उसीसे उसका ज्ञान होता है। फिर तो कहीं दूर रहता होगा? बोले नहीं—'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'। सबके हृदयमें—'सर्वस्य हृदि'। चींटीके हृदयमें भी, खटमलके हृदयमें भी, जूँएँके हृदयमें भी, देवता, दानव, मानव सबके हृदयमें जहाँ स्मृति रहती है, संस्कार रहते हैं। हृद् शब्दका अर्थ होता है। 'हंरति संस्कारानीति'। जहाँ स्मृतियाँ इकट्ठी होती रहती है और जहाँसे संस्कारोंके अनुसार विचार नानारूपमें प्रकट होते हैं।

वहीं—उस अपने आपमें ही परमात्माको ढूँढ़िये—वहीं वह स्पष्ट रूपसे स्थित है—साक्षात् अपरोक्ष है। उसको देखनेके लिए न इन्द्रियाँ चाहिए, न मन चाहिए, न बुद्धि चाहिए, न कोई स्थिति चाहिए—वह तो अपना आपा है। यह तो हम दूसरी वस्तुओंको पकड़-पकड़कर उनसे वंचित हो जाते हैं। इसलिए परमात्माके स्वरूपका यहाँ निर्गुण रूपसे भी वर्णन है। 'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'। परमात्मा निर्गुण है। और गुणोंका उपलब्धिकारी है। उसीको गुण मालूम पड़ते हैं। 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासम्' वही है, 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' वही है। यह परमात्माके स्वरूपका वर्णन जो गीतामें है, उसको आप यदि शुद्ध अन्तःकरणवाले अमानित्वादि साधन-सम्पन्न अधिकारी हैं तो साक्षात् अपरोक्षरूपमें—जान सकते हैं और—'**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**'

उसको जान लेने मात्रसे कुछ करना नहीं—दूसरी चीजका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान होनेके बाद कुछ करनेका होता है। माने उसको छोड़ो या उसको पाओ। लेकिन यह जो अपने स्वरूपका ज्ञान है, उसमें 'ज्ञात्वा अमृतमश्नुते'। न कोई कर्म, न कोई उपासना, न कोई अभ्यास, अपने स्वरूपका बोध ही अमृत बना देता है। तो ज्ञान कुछ बनाता नहीं है, ज्ञान तो जो चीज जैसी होती है वैसा लखाता है। अपना स्वरूप अमृत। 'अमृतम् अभयं ब्रह्म'। उस अमृतपर जो परदा पड़ा हुआ है, ज्ञान होते ही वह हट जाता है और हम अपनेको अमृतके रूपमें अनुभव करते हैं। ऐसी श्रुति है।

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति (श्वेताश्व. 3.1)

प्रश्न : ब्रह्म यदि ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य है तो ज्ञाता कौन है?

उत्तर : दूसरेको जाननेके लिए ज्ञाता होता है। जब करणके द्वारा—माने वृत्तिके द्वारा या इन्द्रियके द्वारा—हम किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करते हैं,'ज्ञान' हो जाता है करण, और उसका जाननेवाला 'अहं' जो है वह ज्ञाता हो जाता है और जो 'इदम्' होता है, उसको 'ज्ञेय' कहते हैं। लेकिन ज्ञाता तो एक शुद्ध वस्तु नहीं है—ज्ञानरूप करण और ज्ञेयरूप दृश्यका ज्ञाता है। परन्तु जिसमें ज्ञाता, ज्ञेयका भेद ही नहीं है और जो 'ज्ञान' करण स्वरूप नहीं है वह तो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न स्वजातीय, विजातीय, स्वगत-भेदसे रहित साक्षात् ज्ञानरूप ब्रह्म ही है।

आप इस बातपर ध्यान दें कि यदि ब्रह्म हमसे अलग रहेगा या होगा तो अचेतन होगा। क्योंकि उसको जाननेवाले, प्रकाशनेवाले 'हम' हैं और यदि हम ब्रह्मसे अलग होंगे तो कटे, पिटे, परिच्छिन्न होंगे। ब्रह्मसे अलग होनेपर मनुष्य कट-पिट जाता है। आत्मा कटी-पिटी मालूम पड़ती है। और आत्मासे भिन्न होनेपर ब्रह्म जड़ हो जायगा, क्योंकि हम निरिन्द्रियको जड़ नहीं कहते हैं। हम तो दृश्यको जड़ कहते हैं। जो-जो वस्तु दृश्य होगी वह जड़ हो जायेगी। द्रष्टा केवल चेतन होता है और दृश्य होता है जड़ और दृश्यमें देश, काल, वस्तु तीनों होते हैं और वह उस द्रष्टामें भासते हैं जिसमें ये तीनों नहीं हैं। इसलिए—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। 13.13
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ 13.14
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ 13.15
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ 13.16

यह परमात्माके स्वरूपका जो गीतामें निरूपण है—अधिकारी निरूपणके पश्चात्—यह ऐसा निरूपण है जैसे सब उपनिषदोंका सार-सर्वस्व यहाँ इकट्ठा करके रख दिया गया हो। और एक-एक शब्दपर यदि विचार करें तो एक-एक शब्दमें परमात्माके दर्शन करानेकी शक्ति है। यदि उपासना करनी है, तो परमात्मा साकार भी है। विश्व ही उसका आकार है। यह साकारता है। फिर सारे विश्वकी आराधना नहीं कर पाते, कल्पना भी नहीं कर पाते तो उसके एक अवयवमें परमात्म-बुद्धि करते हैं। मिट्टीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, आकाशमें, मनमें, इन्द्रियोंमें भी और विज्ञानमें, आनन्दमें, परमात्माकी बुद्धि करते हैं। यह विराट्के एक अवयवकी उपासना है। एक अंगकी, एक अंशमें, जैसे पुत्र पिताका हाथ पकड़कर चले तो लोग कहते हैं यह पिताको पकड़कर चल रहा है। इसी प्रकार एक व्यक्तिकी उपासना की जाती है और सम्पूर्ण व्यक्तियोंका जो आधारभूत परमात्मा है, उसकी उपासना मानी जाती है। उसीके अवतारकी भावना करके अवतारोंकी पूजा होती है। एक-एक मूर्तिमें पूजा होती है।

बुद्धि भगवदाकार बनती है, निमित्त चाहे शिवलिङ्ग हो, शालग्राम हो, राममूर्ति हो, कृष्णमूर्ति हो, शिवमूर्ति हो, मूर्तियाँ अलग-अलग होती हैं, परन्तु उनको निमित्त बना करके, हमारी जो चित्तवृत्ति है वह भगवदाकार, ईश्वराकार होती है। और आकारोंको हटा देनेपर जो निराकार है, सो भी परमात्मा है। निराकार भी सगुण होता है, निर्गुण होता है। तो यदि सगुणताका भाव न हो—कुछ परमात्मासे लेना न हो तो परमात्मा निर्गुण और मैं भी निर्गुण—तो निर्गुण और निर्गुण दोनों एक। परमात्मा कहता है कि हे जीव, तुम सगुण हो। मैं निर्गुण

हूँ। जीव कहता है—नहीं भगवान्—मैं निर्गुण हूँ आप ही सगुण हैं। दोनोंमें यह विवाद अनादि कालसे चल रहा है। जीव कहता है कि ईश्वर सारे अचिन्त्य कल्याण-गुणगण आपमें है। परमात्मा कहता है नहीं-नहीं—मैं तो निर्गुण हूँ, मुझमें कोई गुण नहीं है। यह तो तुम्हारा भाव है, सद्भाव है। भक्ति है कि तुमको मेरे अन्दर गुण दिखायी पड़ता है। जीवात्मा अपनेको निर्गुण कहता है, परमात्माको सगुण। परमात्मा अपनेको निर्गुण कहता है, जीवात्माको सगुण। असलमें जो गुणका अभिमान अपनेमें करेगा वह गुणी हो जायगा, परिच्छिन्न हो जायगा। जब आत्मा भी गुणके अभिमानसे मुक्त होता है, परमात्माको गुणके अभिमानसे मुक्त जानता है तब निर्गुण निर्गुण, निर्विशेष निर्विशेष, निर्धर्मक निर्धर्मक-एक हो जाते हैं। ये धर्म, गुण विशेष हैं। यही अलग करनेवाले होते हैं। वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्णने सारी गीतामें ही इस उपनिषद्-तत्त्वका निरूपण किया है।

प्रश्न : भक्त यदि ज्ञान, ज्ञेय, क्षेत्र आदिको जानकर ही प्रभुके भावोंको प्राप्त करने योग्य बन सकता है तो ज्ञान भक्तिका अनिवार्य साधन ठहरता है। एक ओर कुछ आचार्य भक्तिको ज्ञान, कर्म आदिसे निरपेक्ष बताते हैं, दूसरी ओर कुछ आचार्य भक्तिको ज्ञानका साधन बताते हैं। गीताकारको क्या अभीष्ट है?

उत्तर : गीतामें साधनके रूपमें भी भक्तिका वर्णन है और बहुत अधिक है। जैसे—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 14.26

जो अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरी आराधना करता है वह गुणातीत हो जाता है और ब्रह्म हो जाता है। यहाँ अव्यभिचारी भक्तियोगको साधन बताया है। जहाँ अमानित्वादि साधनोंका वर्णन है वहाँ भी कहा गया है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

भक्ति ज्ञानरूप ही होती है। ज्ञान तो ऐसा होता है—कभी बुराईका ज्ञान होगा तो उससे द्वेष होगा। बुरे आदमीसे द्वेष हो जायेगा। अच्छे आदमीका ज्ञान होगा तो उससे प्रीति हो जायगी। और यदि जो न अच्छा है न बुरा है—दोनोंसे निराला है उसका ज्ञान होगा और अपनी ओर झाँकेंगे तो कितनी अच्छाइयाँ आजतक आयीं और चलीं गयीं और कितनी बुराइयाँ आजतक आयीं और चली गयीं। इसकी कोई सीमा नहीं है। अच्छाइयाँ, बुराइयाँ आती-जाती रहती हैं और अपना आत्मा एक सरीखा रहता है तो परमात्मासे एकताका योग बन जाता है। यहाँ जिस प्रसंगमें यह प्रश्न है वहाँ तो स्पष्ट ही है बिना किसी लाव-लपटके।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

मद्भक्ता इति अधिकारी, एतद् विज्ञाय साधनम्, मद्भावायोपपद्यते इति फलम्।

अधिकारी कौन है? भगवान्का भक्त। जो भगवान्का भक्त होता है उसीके सामने भगवान् अपनेको बेपरदा करते हैं, निरावरण करते हैं। सब परदे हटाकर फेंक देते हैं। जो अपना प्रेमी है, सेवक है, जो अपना प्यारा यार है, उसके सामने लोग निरावरण होनेमें कोई संकोच नहीं करते।

माँ अपने पुत्रके सामने दूध पिलानेके लिए अपनेको निरावरण कर देती है। पति-पत्नीके रूपमें निरावरण हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई भगवान्‌का सच्चा प्यारा बने, परमात्मासे यारी हो जाय तो वह अपनेको छिपाकर नहीं रखेगा। 'एतद्विज्ञाय'। 'एतद्' माने 'अनादिमत्परम्'से लेकर के यह जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन हुआ है—उसका विज्ञान। विज्ञान माने साक्षात् अनुभव। यह विज्ञान शब्द भी उपनिषदोंका ही है। 'विजानत:', 'एकत्वमनुपश्यत:'! विज्ञान—जहाँ परमात्माका विज्ञान हुआ वहाँ 'मद्भावायोपपद्यते'। परमात्मासे एक हो जाता है, इसके ज्ञान-मानसे। क्योंकि श्रुति कहती है—

तदपश्यत्-तदभवत् तदासीत्।

परमात्माको देखा, परमात्मा ही हो गया क्योंकि पहलेसे परमात्मा ही था। अब इस दृष्टिसे देखें तो यहाँ भक्तिको साधनके रूपमें बताया हुआ है। अब भक्त और परमात्माकी अनुभूति दोनोंके बीचमें विज्ञान है। माने, भक्त विज्ञानके द्वारा परमात्मभावको प्राप्त करता है। 'एतद्विज्ञाय'। विज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति एक ही है क्योंकि एक साथ—युगपद् इसका प्रयोग है। जैसे उपविश्य भुंक्ते—बैठकर कोई खा रहा है। तो जान करके भगवान्‌का स्वरूप हो रहा है। कहीं कहीं ऐसा लगता है कि—

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:।

ज्ञानी लोग मेरे स्वरूपको जान करके भावसे युक्त होकर भजन करते हैं।

चतुर्विधाभजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय:॥ 7.16-17

मैं ज्ञानीका ऐसा प्रिय हूँ कि मेरे और उसके बीचमें कोई अर्थ नहीं है, कोई वस्तु नहीं है। न कुछ लेना है, न कुछ देना है, न कोई इच्छा है, न वासना है, न मम है—

अर्थम् अतिक्रम्य-इति अत्यर्थम्।

कोई भी अर्थ हमारे और उसके बीच नहीं है। क्योंकि राजा होता है, उसका सेवक होता है तो राजा चाहता है कि सेवक हमारी सेवा करे। सेवक चाहता है कि राजा हमारे ऊपर अनुग्रह करे, हमको कुछ दे। परन्तु ज्ञानी भक्त और भगवान्‌के बीचमें कोई दूसरी चीज होती ही नहीं। न भगवान्‌को ज्ञानीसे सेवाकी अपेक्षा है और न तो ज्ञानी भक्तको भगवान्‌से कुछ लेना है। यह लेना-देना तो व्यापार है। इसीसे प्रह्लादने भागवतके सातवें स्कन्धमें कहा है—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रय:।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥ (7.10.6)

जो कुछ चाहकर भजन करता है उसके लिए तो प्रह्लादने कहा—

न स भृत्य: स वै वणिक्। (7.10.4)

वह तो सेवक नहीं है, वह तो वणिक् है—व्यापारी है जो कुछ चाहकर भजन करता है। इससे स्पष्ट होता है—सच्ची भक्ति जो है वह ज्ञानीके जीवनमें ही प्रकट होती है। मधुसूदन सरस्वतीने कहा कि जैसे ज्ञानी भक्तके जीवनमें किसीसे द्वेष नहीं होता, 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' सबसे स्नेहका भाव होता है। श्रद्धा आदर और सेवा देती है। प्रेम रस देता है। स्नेह पुष्टि देता है। श्रद्धा बड़ोंके प्रति होती है। प्रेम समान कक्षामें होता है। और स्नेह छोटोंके प्रति होता है। छोटोंको पोषण मिलना चाहिए, पुष्टि मिलनी चाहिए। भागवतमें बताया—

ज्ञानेनासौ विभर्ति माम्।

ज्ञानी अपने ज्ञानके द्वारा मेरा भरत-पोषण करता है। यदि ज्ञानी लोग न हों तो दुनियामें हमारी सत्ताको सुरक्षित रखनेवाला दूसरा कोई रहे ही नहीं। फिर एक स्थान ऐसा आता है जहाँ—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

समः सर्वेषु भूतेषु—जिसके चित्तमें विषमता है उसको पराभक्ति नहीं मिलती है। परा भक्ति तो उसको मिलती है, जो ब्रह्मभूत है, निर्मल अन्तःकरण वाला है और जिसके मनमें शोक और आकांक्षा नहीं है, और सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति राग, द्वेषसे विनिर्मुक्त जो सम है। असलमें शोभा वही जीवन प्राप्त करता है, जो सम होता है। स=समाना, मा=शोभा यस्य असौ समा। प्रकृष्टा मा=प्रमा। मया प्रमया सहितः=समः, मया लक्ष्म्या सहितः=समः। मया शोभया सहितः समः। जो सम होता है, उसको भगवान्की परा भक्ति होती है। माने जिससे परे और कोई भक्ति नहीं होती, वह भक्ति प्राप्त होती है। यहाँ यह बात कही गयी कि ब्रह्मज्ञानसे भक्ति की प्राप्ति होती है, परन्तु यहाँ भी अन्तमें जो उपसंहार है,

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 18.55

यहाँ यह भी बताया कि यह जो पराभक्ति प्राप्त होती है, इस भक्तिसे परमात्माका—जितना बड़ा परमात्मा है, और जो परमात्मा है उसका—तत्त्वतः ज्ञान होता है। और तत्त्वतः ज्ञान होनेपर परमात्मासे एक हो जाता है। भक्तिसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानसे भगवान्की एकता। सारी गीतापर यदि हम दृष्टि डालें तो भगवान्ने अर्जुनसे पूछा—

कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः॥ 18.72

तुमने एकाग्र चित्तसे श्रवण तो किया और श्रवण करनेसे तुम्हारे मनमें जो अज्ञान, सम्मोह था वह नष्ट तो हो गया—माने भगवान् अर्जुनके अज्ञान सम्मोहका नाश चाहते हैं। यदि अबतक न हुआ हो तो और भी कुछ प्रयत्न करके, उपदेश करके, अज्ञान सम्मोहका नाश करें। और अर्जुनने तुरन्त स्पष्ट रूपसे कह दिया—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। 18.73

तुम्हारा प्रसाद, तुम्हारा अनुग्रह—तुम्हारी कृपा—अर्जुन कृतघ्न नहीं है। कृतज्ञता स्पष्ट है पर उसको मिला क्या? मोहका नाश हो गया और स्मृतिकी प्राप्ति हो गयी और 'करिष्ये वचनं तव'—जो उसके धर्म-

पालनमें विघ्न आया था, प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया था, वह प्रतिबन्ध निवृत्त हो गया और उसकी जो प्रथम प्रवृत्ति थी—क्षत्रिय धर्मके अनुसार उसमें प्रवृत्त हो गया। उसीको 'करिष्ये वचनं तव' कहा हुआ है। इसलिए गीताका यदि अनुसंधान करें तो उसमें सकाम धर्मका भी वर्णन है; निष्काम धर्मका भी वर्णन है; उसमें उपासनाका, भगवद्भक्तिका वर्णन है, उसमें योगाभ्यासका वर्णन है; उसमें तत्त्वज्ञानका वर्णन है, उसमें आत्माके अकर्तापनका बीसों जगह वर्णन है, उसमें जगत्के मिथ्यात्वका अनेक स्थलोंपर वर्णन हैं, उसमें परमात्माकी अद्वितीयताका अनेक स्थलोंपर वर्णन है और कहीं-कहीं तो नैष्कर्म्यका ऐसा वर्णन है कि जल्दी मनुष्यके ध्यानमें आ भी नहीं सकता—जैसे 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। (5.7) ऐसा लगता है कि भगवान् कह रहे हैं कि करता हुआ भी लिप्त नहीं होता तो करना चाहिए। पर वह 'अपि' शब्द ऐसा है कि वह कहता है कि—

किं पुनः अकुर्वन्।

जो जब करता हुआ भी लेप नहीं होता है तो यदि वह न करनेवाला होगा ओर अपने स्वरूपमें मग्न होगा तब तो कहना ही क्या है? इस प्रकार भगवान्—

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति। (18.49)

यहाँ संन्यासका भी प्रतिपादन पूर्णरूपसे करते हैं। इसलिए गीताको एकांगी नहीं मानना चाहिए। यह तो कामधेनु है। इसमें-से रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत दुह लेते हैं; निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य द्वैत, बल्लभाचार्य विशुद्धाद्वैत, कश्मीरी शैव स्वातन्त्र्य, योगी योग, और अद्वैतियोंको इसमें सर्वत्र अद्वैत ही भासता है। इसलिए गीताको एक पन्थकी पुस्तक नहीं मानना चाहिए। यह तो सम्पूर्ण देशके लिए, सम्पूर्ण विश्वके लिए एक सिद्ध वस्तुका निरूपण करनेवाला और मार्गदर्शन करानेवाला, साध्य वस्तुका निरूपण करनेवाला एक महान् ग्रन्थ है। इसको जो लोग एक पन्थका बना देते हैं, वे पन्थमें ही रह जावेंगे। वे मंजिले मकसूदपर, गन्तव्यपर कभी पहुँचेंगे ही नहीं। पन्थमें रहना किसीको अभीष्ट नहीं है। इसलिए सम्पूर्ण पन्थोंको पार करके जहाँ पहुँचना चाहिए उस स्थानपर ध्यान देना चाहिए और एक बात ध्यानमें रखने लायक है—जहाँसे पन्थका प्रारम्भ होता है वहीं आकर पन्थका अन्त होता है। यह नहीं कि पन्थ प्रारम्भ होगा कहीं और उसका अन्त होगा कहीं। इसलिए जिस आत्माके प्रकाशमें पन्थ प्रारम्भ होता है, सारे पन्थोंका अन्त उसीमें आकर होता है।

यहीं गीताका सार भी है। इसमें भक्ति बड़ी कि ज्ञान बड़ा, ऐसा कुछ बतानेकी जरूरत नहीं है।

एकबार श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा, महाराज भक्ति बड़ी कि ज्ञान बड़ा? बोले भक्ति बड़ी। क्यों महाराज? भक्ति कैसे बड़ी? बोले—ज्ञानमें कोई बड़ा-छोटा नहीं होता—इसलिए भक्ति बड़ी है। बोले महाराज, आपके निरूपणमें और भक्तोंके निरूपणमें क्या अन्तर है? बोले, अन्तर यह है कि भक्त लोग, भक्तिको ही सब कुछ मानते हैं और हम लोग भक्तिसे भी बड़ा कुछ मानते हैं। वह क्या है? 'भगवान्'। जिसकी भक्ति की जाती है वे भगवान् भक्तिसे भी बड़े हैं और वे भक्त-अभक्त दोनोंके हृदयमें एक सरीखे रहते हैं। भक्त और ज्ञानकी लड़ाई बहुत छोटे दर्जेपर है। वह तो जैसे प्रान्त और राष्ट्रकी लड़ाई है—बहुत छोटे दर्जेपर,

जैसे जातीयता और मानवताकी लड़ाई है, बहुत छोटे दर्जेपर। जैसे पन्थ-पन्थकी, सम्प्रदाय सम्प्रदायकी, फिरका—फिरकाकी फिरकेबाजी है, वह बहुत छोटे दर्जेपर है।

उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

जिनका चरित्र उदार है उनके लिए तो सम्पूर्ण मानव, सम्पूर्ण पृथिवी, तीनों लोक, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड, सब-के-सब परमात्माके स्वरूप हैं। और गीता यह बताकर लोगोंको धर्मनिष्ठ बनाती है—यह उसका आश्चर्य है।

प्रश्न : प्रकृति, पुरुष-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ—दोनोंमें अन्तर क्या है? प्रकृति, पुरुष अनादि हैं—ऐसा माननेसे क्या द्वैतवादकी प्रतिष्ठा नहीं होती? गीतामें किसी एक दार्शनिक सिद्धान्तका प्रतिपादन है या भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका समन्वय?

उत्तर : प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। 13.19

क्षेत्र और क्षेत्रमें जो विकार होते हैं उनका सबका कारण प्रकृति है। और कारणरूपसे वह अनादि है। और पुरुष जो है वह द्रष्टा-रूपसे, साक्षीरूपसे अनादि है। अनादितामें एक बात तो लोगोंके ध्यानमें यह नहीं आती है कि जो चीज अनादि होती है उसको वे अनन्त भी मान बैठते हैं।

गीतामें प्रकृति अनन्त है—यह बात तो कहीं मिलेगी नहीं। प्रकृति अनादि है यह बात मिलेगी। अनादि है और प्रवाहरूपसे नित्य है और वास्तविक रूपसे केवल प्रतिभासमात्र है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे प्रकृति आकाशकी नीलिमाके समान अनादि होकर भी और जबतक हम आँखसे देखेंगे तबतक दीखती रहनेपर भी वस्तुतः प्रकृति परमात्मासे अलग नहीं है।

अब गीतामें प्रकृति अनादि है और जीव भी अनादि है, यह बात जो कही गयी, इसके भाष्यमें शंकर भगवान् कहते हैं—

ईशितव्याभावे ईश्वराभाव-प्रसङ्गः।

यदि हम ऐसा मान लें कि कभी प्रकृति नहीं रहेगी या जीवन नहीं रहेगा या प्रकृति जीव इस समय नहीं हैं ऐसा यदि हम मान लो तो ईश्वर, ईश्वर किसका होगा? यदि प्रकृति और पुरुष दोनों होंगे तभी दोनोंका मालिक ईश्वर होगा। इसलिए ये अनादि है। पर अन्तर यह है कि ये सांख्यकी प्रकृतिके समान स्वतन्त्र प्रकृति नहीं है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। 9.10

असलमें अव्यक्त और अव्यक्तसे बुद्धि और बुद्धिसे अहङ्कार और अहङ्कारसे पञ्चमहाभूत—ये सब-के-सब क्षेत्र हैं। और क्षेत्रका विस्तार बतानेके लिए यहाँ प्रकृतिका प्रसंग आया। प्रकृतिसे ही पुरुष बन जाता है—यह चार्वाक-सिद्धान्त है। प्रकृति और पुरुष अलग-अलग है—यह न्याय-वैशेषिक। पर न्याय-

वैशेषिक प्रकृति शब्दका प्रयोग नहीं करते हैं—परमाणु आदिका करते हैं और पुरुष जो है चेतन वह द्रव्योंमें एक है—वह भी एक पदार्थ है। ऐसा न्याय-वैशेषिक सोचते हैं और प्रकृति, पुरुष दोनों अलग-अलग हैं यह सांख्य और योग कहते हैं। सांख्य सिद्धान्तका निरूपण करता है और योग उसको व्यावहारिक-आभ्यासिक बना देता है—अभ्यासके द्वारा साक्षात्कार हो जाता है। वेदान्त न तो परमाणुओंके समान अनेकता, जीवोंके समान एकता और न तो प्रकृतिकी स्वतन्त्रता मानता है। इन बातोंको वह न स्वीकार करके एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करता है। तो तत्त्व-निरूपण शैली ही यह है कि अनेकतासे एकताका हम साक्षात्कार करें।

यहाँ यदि अनेक तत्त्व जो सृष्टिमें दिख रहे हैं, उनको दो विभागोंमें बाँट दिया गया तो इससे कोई अद्वैतका विरोध नहीं हुआ। बल्कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपको अलग-अलग समझानेके लिए और विवेक करनेके लिए कि पहले जो बहुत मानते हो, उनको दोमें तो कर दो। सभी सृष्टिकी राशि हो गयी। एक चैतन्य राशि और एक जड़ राशि। जड़ राशिमें कार्य-कारण भाव होता है इसलिए वह प्रकृति-राशि है और चैतन्य राशिमें कार्य-कारणका विभाग नहीं होता, वहाँ विकार नहीं होते, इसलिए निर्विकार चेतनके विभागमें पुरुषको डाल दिया। इस प्रकार यह विवेककी एक पद्धति है।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति-सम्भवान्। 13.19

प्रकृतिमें ही गुणोंका भेद मालूम पड़ता है और प्रकृतिमें ही गुण मालूम पड़ते हैं। और फिर इसका आगे विस्तार भी है—

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। 13.20

जीव कौन है? जो सुख-दुःखका भोक्ता है और प्रकृति कौन है? जिससे यह कार्य-कारण क्षेत्ररूप बनता है। पर भोक्ताका अर्थ भी ज्ञाता ही होता है—यह बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए। जीभपर आप खट्टा डालिए तो मालूम पड़ेगा खट्टा। उससे यदि आपकी आसक्ति है तो अच्छा लगेगा और यदि खट्टेमें आपकी रुचि नहीं है तो थूक देंगे। स्वाद आता है वासनाके अनुरूप और जो ज्ञान होता है वह वस्तुत: भोग है—सुख-दुःखका भोग वही है। ऐसे ही नाकमें सुगन्ध-दुर्गन्ध आँखमें कुरूप-सुरूप, जीभमें स्वाद-बेस्वाद-त्वचामें कठोर-कोमल—ये सब भोग—माने उपलब्धित्व, ज्ञातृत्व-जानना। केवल जानना ही भोग है। ज्ञान ही भोग है—नामकी चीज नहीं है। ज्ञान न हो, कोई भोग बता दो। यह जो पुरुष है, उसीको सम्पूर्ण भोगोंका ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञातृत्वमें हेतु है यह पुरुष। इन दो विभागोंमें सारी विश्व-सृष्टिको लाकरके रख देना-यह वक्ताकी निपुणता है और—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। 13.23

ऐसे कहके इस ज्ञानका फल बताया और अन्तमें इसी पुरुषको परमात्माका स्वरूप बता दिया।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

इसी देहमें परमेश्वर रहता है। परमेश्वर कहीं दूसरे लोकमें नहीं, दूसरे स्थानमें नहीं, दूसरे कालमें नहीं—'अस्मिन् देहे'। यही जो तुम्हारा शरीर है इसमें बैठा हुआ है परमात्मा। उसीको कहते हैं परमात्मा और उसीका नाम है परमेश्वर और गीतामें उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, गुण-भोक्ता अभी-अभी कहा गया है उसको क्योंकि वह परमात्मा ही है।

सच पूछो तो जिससे यह दृश्य ज्ञात होता है—यह शब्द है, स्पर्श है, रूपहै, रस है, गन्ध है, यह कान है, यह त्वचा है, यह आँख है, यह जीभ है, यह नाक है, यह जिसको मालूम पड़ रहे हैं, वे इनसे अलग रहकर—साक्षात् परमात्माके साथ मिला हुआ है और 'न स भूयोऽभिजायते'। इसके पुनर्जन्मका तो कोई कारण ही नहीं है। इसलिए इस परमात्माको जान लेना, सम्पूर्ण बन्धनोंसे, दुःखोंसे, शोकोंसे, मोहोंसे मुक्त होनेकी प्रक्रिया है। 'न स भूयोऽभिजायते' का अर्थ है—हम दिनभरमें दस बार जन्म लेते रहते हैं और दस बार मरते रहते हैं। जब हम अपनेको पापी मानते हैं तो पापीका जन्म हो गया। जब हम अपनेको पुण्यात्मा मानते हैं तो पुण्यात्माका जन्म हो गया। जब हम अपनेको दुःखी मानते हैं तो दुःखीका जन्म हो गया। जब हम अपनेको सुखी मानते हैं तो सुखोंका जन्म हो गया। जिसने अपने वास्तविक स्वरूपको जान लिया वह दिन भरमें हजारों रूपमें जन्म लेता है और मरता है। यह जो वृत्तियोंकी अनेकता हमारे साथ जुड़ी हुई है, इससे वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। न जन्मता है और न मरता है। उसका जीवन तो एकरस है। एकरस जीवन व्यतीत करनेके लिए, जिसमें आनन्द ही आनन्द हो, ऐसा जीवन, इस तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता होती है।

प्रश्नः कार्य-कारणके कर्तृत्वका हेतु यदि प्रकृति है तो सुख-दुःखका भोक्तृत्व भी उसीका होना चाहिए। फिर पुरुषको सुख-दुःखोंके भोक्तृत्वका हेतु क्यों कहा गया है? क्या यहाँ हेतुके द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वके अतिरिक्त कुछ संकेतित है?

अगले श्लोकमें यही बात है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ 13.21

नहीं यह है कि जब हम देहमें स्थित हो जाते हैं, देहको 'मैं', 'मेरा' मान लेते हैं तो देहमें जो बचपन है, जवानी है, बुढ़ापा है, गोरापन है, कालापन है उनके गुणोंका भोग करने लगते हैं प्रकृतिस्थ होनेपर। अर्थात् प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें तादाम्य होनेपर, एकत्व होनेपर, अध्यास हो जानेपर, इसको अपनेमें आरोपित कर लेनेपर, हम कर्ता-भोक्ता बन जाते हैं। यदि प्रकृति और प्रकृतिके कार्यके साथ तादात्म्य न हो तो—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 2.19

देखो अज्ञान है और—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 2.21

सुख-दुःखकी धारा भी प्रकृतिमें ही है। उस प्रकृतिमें 'कारणं गुणसंगोऽस्य'। ये प्रकृतिके गुणोंमें जो संग है,'ये मैं हूँ,' ये मेरा है,' इसीके कारण सद्-असद् योनियोंमें जन्म होता है। सुख-दुःख, सुख-दुःखकी अनुभूति-जन्म-मरणकी अनुभूति ये सब एक दूसरेको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण ही होता है। इसका हेतु तादात्म्य है। और असलमें वेदान्तकी दृष्टिसे प्रकृति परमात्मासे भिन्न नहीं होती। एक श्रुति तो कहती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उप. 4.10

प्रकृति और माया दोनोंका एक ही अर्थ है। वेदान्तसूत्र कहता है—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। 1.4.23

प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके बलसे, एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान हो जाता है, इसलिए प्रकृति भी स्वतन्त्र सत्तावाली कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जबतक पुरुषोंमें और प्रकृतिमें भेद है तबतक पुरुष अपने स्वरूपको भूलकर प्रकृतिसे एक हो गया तो प्रकृतिके कर्मको अपना कर्म मानने लगा और प्रकृतिके भोगको अपना भोग मानने लगा। लेकिन कर्तापन जो है, कर्तृत्व जो है वह कर्मेन्द्रियोंकी प्रधानतासे है जो कि अन्धी है। और भोग जो हैं वे ज्ञानेन्द्रियोंकी प्रधानतासे हैं जिनमें ज्ञानकी प्रधानता रहती है। इसलिए पुरुषके अत्यधिक निकट होनेके कारण ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाला जो भोग है, उसका पुरुषमें आरोप कर दिया और कर्मेन्द्रियाँ पुरुषसे थोड़ी दूर पड़ती हैं इसलिए उनका सर्वथा प्रकृतिमें समारोप कर दिया।

इसको देखनेके लिए अमानित्वादि साधन-सम्पत्ति हो तो सबसे बढ़िया और उससे तो अद्वैत तत्त्वका ही अनुभव हो जायेगा, परन्तु वह न हो तो उसके लिए और भी साधन हैं अब साधनोंकी चर्चा आती है तो वह सरल हो जायेगी। परमात्माकी चर्चा तो थोड़ी सर्वसाधारणसे अलग होती है।

●

सातवाँ दिवस

(3-11-84)

प्रश्न : परमात्मा उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि है, इसका अनुभव साधक किस प्रकार करे? इन शब्दोंका रहस्य हृदयंगम हो सके, ऐसी व्याख्या करें। इसीके साथ एक और प्रश्न है कि परमात्माने यह कैसे कहा कि 'द्यूतं छलयतामस्मि'—मैं छल करनेवालोंमें द्यूत हूँ। यह कैसे कहा कि मैं सत् भी हूँ असत् भी हूँ अमृत भी हूँ, मृत्यु भी हूँ। इसके ऊपर विचार बतावें।

उत्तर : पहली बात इसमें ध्यान देने योग्य यह है कि परमात्मा कहीं दूर देशमें नहीं है। 'अस्मिन् देहे'। इसी देहमें परमात्मा है। कहीं दूसरे कालमें भी नहीं है। माने उसके लिए न प्रतीक्षाकी आवश्यकता है, और न लम्बी यात्रा करनेकी। उसके पास पहुँचनेके लिए समाधिकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे दूर देश, दूर काल दोनों कट गये।

अस्मिन्नेव देशे, अस्मिन्नेव काले, अस्मिन्नेव देहे।

यह जो एक मोटर सरीखा शरीर बना है—'देह' शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है—ढेर, राशि। जैसे अनेक पुरजोंको जोड़ करके बैलगाड़ी बनती है, मोटर बनती है, वैसे अनेक पुरजोंको जोड़ करके यह शरीर बना है। दर्शनशास्त्रका नियम यह है कि जो चीज बहुत पुरजोंको जोड़कर बनती है वह चीजके लिए नहीं होती है, यह किसी दूसरेके लिए होती है। मोटर मोटरके लिए नहीं, मालिकके लिए होती है। नमक, हल्दी, दाल, पानी पकाकर जब पकवान् बनाते हैं वह पकवानके लिए नहीं होता है, किसीके खानेके लिए होता है। यह देह स्वयं अपनेमें कोई पूर्ण पदार्थ नहीं है। किसीका यह उपकरण है, किसीका वाहन है। हम वाहनको तो देखें लेकिन वाहनके मालिकको न देख सकें, तो पूर्ण दर्शन नहीं हुआ। जड़का दर्शन हुआ, चेतनका दर्शन नहीं हुआ। इस देहको मेरा देह कहनेवाला जो है—जो देहवाला है, उसको पुरुष कहेंगे।

देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।

उस पुरुषकी भी कक्षा होती है एक जाग्रतको मेरा कहनेवाला पुरुष, एक स्वप्नको मेरा कहनेवाला पुरुष, एक सुषुप्तिको मेरा कहनेवाला पुरुष। जब जाग्रत पुरुष विलीन हो जाता है, स्वप्न देखनेवालेमें, तो जाग्रत पुरुषसे परे स्वप्न पुरुष हो जाता है और जब स्वप्न देखनेवाला पुरुष, सुषुप्तिवाले पुरुषमें विलीन हो जाता है—तब चैतन्य ही रह जाता है। चैतन्य तो एक होता ही है। तो जरा उसकी तलाश करनी चाहिए कि जो देहको मेरा कहता है, वह कौन है? जो स्वप्नको मेरा कहता है वह कौन है? जो सुषुप्तिको मेरा कहता है वह कौन है? और

आप निश्चित समझो कि हमारा ज्ञान तबतक बिलकुल अधूरा है जबतक हम केवल जाग्रत अवस्थाको ही परमार्थ मानकर, सत्य मानकर विचार करते हैं। अपने जीवनके दो हिस्सेको, जिसमें हम सोते हैं, वह भी विचारणीय है। जिसमें हम स्वप्न देखते हैं, वह भी विचारणीय है। जो तीनोंमें एक रहता है वह भी विचारणीय है। 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः' का अर्थ है कि यह देहरूप पुरुष नहीं अथवा अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, हिन्दू, मनुष्य माननेवाला पुरुष नहीं है अथवा अज्ञान दशामें सोकर अज्ञानको अपना माननेवाला पुरुष नहीं है। वह पुरुष जो इन सबसे परे है, जिसको सातवें अध्यायमें अपरा प्रकृति, पराप्रकृति और पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष कहा गया है, क्षर पुरुषसे परे अक्षर पुरुष है और अक्षर पुरुषसे भी परे पुरुषोत्तम है। वही उत्तम पुरुष इस शरीरमें रहता है और उसके अनेक नाम हैं। और वह नाम कहीं गवाहके रूपमें है; सब कुछ देख रहा है, तो उपद्रष्टा है; कहीं मन बुद्धिको अनुमति दे रहा है, उनकी हाँ-में-हाँ मिला रहा है तो अनुमन्ता है। कहीं उनको भरण-पोषण दे रहा है तो भर्ता है, कहीं उनसे सुखकी उपलब्धि कर रहा है तो भोक्ता है, कहीं सबपर नियन्त्रण कर रहा है तो महेश्वर है। भोग लेना भोक्ता-व्यवहार दशामें होता है और महेश्वर तो ऐश्वर्यकी दशामें होता है। यही जो इसी शरीरमें परम पुरुष है, वह परमात्मा है।

मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पासमें।

जो इसी शरीरमें है और सबके शरीरमें है। जूँएँके शरीरमें भी है। खटमलके शरीरमें भी है। पेड़-पौधेके शरीरमें भी है। पशु-पक्षीके शरीरमें भी है। वह परमात्मा जो शरीरके भेदसे भिन्न नहीं होता। विज्ञान वह है जो एक वस्तुसे अनेक वस्तु तैयार कर दे। और दर्शन, तत्त्वज्ञान वह वस्तु है जो सम्पूर्ण अनेकतामें एकताका दर्शन कर ले। इसलिए विज्ञान जहाँ संघर्ष, वैमनस्यकी सृष्टि करता है, अपना-पराया बनाता है, वहाँ तत्त्वज्ञान अपने-परायेका भेद मिटाकर परम शान्ति देता है। इसी शरीरमें जो परम पुरुषकी खोज है, वह बहुत आसान है और साक्षात् अपरोक्ष है। अपरोक्ष है माने स्वर्गादिके समान नहीं है और साक्षात् है माने उसमें मनकी कल्पनाकी भी जरूरत नहीं है। ऐसा यह सत्य इसी शरीरमें है और इसको कठिन नहीं कहना चाहिए।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्। 9.2

इस आत्माका आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं और 'कर्तुंसुसुखम्। बड़ी आसानीसे कर सकते हैं। ये दोनों बातें गीतामें ही हैं।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। 6.28

बड़ी आसानीसे मनुष्य ब्रह्म-संस्पर्श कर सकता है। दुनियाके साथ जोड़नेमें जितनी कठिनाई पड़ती है; व्याह करनेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, मित्रको निभानेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, जाति, सम्प्रदायको निभानेमें जितनी कठिनाई पड़ती है, उससे बहुत अधिक आसान है—'अस्मिन् देहे' कहनेका यही अभिप्राय है।

इसी गूड़िके कूड़ेके ढेरमें-मेरा हीरा हेराय गयो।

इस देहके कचरेमें एक बहुमूल्य हीरा पड़ा हुआ है और हम उसको पहचान नहीं पाते। देख नहीं पाते

हैं। यदि सत् और असत्, मृत और अमृत दोनों ही परमात्मा नहीं होगा तो जीवनमें समत्व आ ही नहीं सकता। जीवन-मरण दोनों परमात्मा है। और जिसको दुनिया अपनी दृष्टिसे सत्-असत् बोलती है वह भी परमात्मा है। मजहबी लोगोंने अपना सत्-असत् कुछ अलग बना रखा है, जातिवादी लोगोंने अलग बना रखा है; राष्ट्रवादी लोगोंने अलग बना रखा है। अपने-अपने विचार, अपनी-अपनी मति, अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार लोगोंने सत्-असत् और मृत्यु-अमृतका भेद बना रखा है। वस्तुतः यह भेद परमात्मामें नहीं है। यह बात तेरहवें अध्यायमें—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ 13.28

तेरहवें अध्यायके अन्तमें जो 2-3 श्लोक हैं उनमें सत्-असत् और मृत्यु-अमृतकी समता अपने आप ही आजाती है। भगवान्ने मरते हुए लोगोंको दिखाया कि मुझमें ही प्रवेश कर रहे हैं और जो रह रहे हैं उनको भी अपनेमें ही दिखाया। भगवान्के शरीरमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड प्रकट हो रहे हैं, रह रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं। वे ज्यों-के-त्यों है। सत्-असत्, मृत-अमृत—ये सब परमात्माके स्वरूप हैं। कहीं भी अपनेको परमात्मासे विमुख नहीं करना। सब जगह परमात्माको देखना। अलगसे भी मृत्यु अपनेको बताया हुआ है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्। 10.34

ऐसा जीवन व्यतीत करना चाहिए जिससे अपनी समता भङ्ग न हो। जैसे पार्ट करते हैं, कभी खलनायकका और कभी नायकका, कभी चोरका, कभी साहुकारका लेकिन पार्ट करनेवाला एक ही रहता है, इसी प्रकार यह सब भगवान्की लीला है और उसको देखते हुए अपना जो अभिनय है, उसको पूरा करना चाहिए। जन्म, मृत्यु, सत्-असत् ये सब परमात्माका स्वरूप है और इसी शरीरमें उपद्रष्टा, अनुमन्ता आदिके रूपमें माने सर्वरूपमें वह रह रहा है।

प्रश्न : पर पुरुष और क्षेत्रज्ञ ये तो अलग सत्ताएँ हैं या दो स्थितियोंमें एक ही तत्त्वके दो नाम हैं? पर पुरुष यदि भर्ता, भोक्ता है तो क्या वह सुख-दुःखसे आबद्ध भी होता है?

उत्तर : यहाँ भोग शब्द जो है वह जैसे भोजनका भोग होता है या स्त्री-पुरुषका भोग होता है, वैसा भोग दर्शनशास्त्रमें नहीं माना जाता। भोग माने होता है, यह सुख है-ऐसे ज्ञानका ही नाम सुख है या दुःख है ऐसे ज्ञानका ही नाम दुःख है। पहले पहचान बना लेते हैं—ऐसा हो तो सुख है—ऐसा हो तो दुःख है और बिलकुल अलग-अलग बनाते हैं। हमारा जब कान छिदवाया गया था तब मैं तो रोया और कर्णवेध संस्कारका उत्सव मनाया गया। तो अपने-अपने ढङ्गसे लोग सुख-दुःखकी कल्पना करके उसको जमा लेते हैं अपने मनमें। और उसका जब ज्ञान होता है तो उस ज्ञानका नाम ही भोग होता है।

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम्।

शंकराचार्यने टीकामें कहा—भोग माने उपलब्धि-अन्तमें हमें सुखकी संवित् हुई या दुःखकी। इसलिए परमात्माके भोगका अर्थ यह नहीं है कि जैसे पराधीन जीव सुख भोगकर हँसता है और दुःख भोगकर

रोता है। ज्ञान मात्र जिससे सुख और दु:ख दोनों प्रकाशित होते हैं उसीको दर्शनशास्त्रमें भोग मानते हैं। परमात्मा ही ज्ञान-स्वरूप है। इसलिए दर्शनमें भी वही है, अनुमन्तृत्वमें भी वही है, भतृत्वमें भी वही है, भोक्तृत्वमें भी वही है, माहेश्वर्यमें भी वही है और सबसे परे रहकर सब कुछ होते हुए भी वही आत्माका परम स्वरूप है, परम आत्मा है—परम मधुर है, शुद्ध है। यह शुद्ध परमात्माका स्वरूप शुद्ध ही रहता है और बाकी सब उपाधिके द्वारा आता है।

प्रश्न : ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग क्या एक ही फल प्रदान करते हैं? और क्या श्रुति-परायण उपासक भी वही फल पाते हैं? फिर ज्ञान या भक्तिकी महत्ता क्या है? इस श्लोकमें 'अन्येभ्य:' (25) और 'श्रुतिपरायणा:' (25)का क्या अभिप्राय है।

उत्तर : देखो; एक तो मुख्य मत है भगवान् श्रीकृष्णका—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। 13.12

मैं वह ज्ञेय तुम्हारे अनुभवमें लाना चाहता हूँ 'प्रवक्ष्यामि' 'वह' धातुसे भी बनता है और 'वच्' धातुसे भी बनता है, भूय धातुसे भी वक्ष्यामि क्रियापद बनता है। भगवान्ने 'प्रवक्ष्यामि' इस उत्तम पुरुषकी क्रियापदका प्रयोग करके यह बताया कि मेरा मत यह है कि 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते'। ज्ञेय वह है जिसके ज्ञानमानसे ही अमृतमें व्याप्ति हो जाती है। स्वयं मनुष्य अमृत हो जाता है। यहाँ 'अश्नाति' क्रियापद नहीं है। 'अश्नुते' है। अमृतका भोग नहीं होता है, अमृत्वकी प्राप्ति नहीं होती है। और उस ज्ञेयका निरूपण किया, 'अनादिमत्परम् ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'। अब मतान्तरका उल्लेख करते हैं। मुख्य मत है—यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' जिसको अनुभव करनेके लिए कुछ करना नहीं पड़ता—न कर्म, न उपासना, न योग, न ध्यान। केवल ज्ञानमात्रसे कृतार्थता। यह तो है गीताका मुख्य मत। अब गौणमतका जो वर्णन है,

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना'। 13.24

यह 'केचिद्' जो है वह मुख्य मतसे पृथक् करनेके लिए है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिद् आत्मानं आत्मना।

कोई-कोई लोग ऐसे होते हैं जो 'आत्मनि,' आत्मना, 'आत्मानं' ध्यानेन पश्यन्ति। अपने अन्दर अपने आपसे, अपने आपको ध्यान द्वारा देखते हैं। देखो इसमें देखनेका अधिकरण भी आत्मा ही है और करण भी है 'आत्मना' और कर्म है 'आत्मानम्'। अपने आपमें, अपने आपके द्वारा अपने आपको देखते हैं। माने अपने हृदयमें ही शुद्ध मनके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका दर्शन करते हैं और यह कैसे होता है? ध्यानके द्वारा। जिनको ज्ञानसे प्राप्ति नहीं हुई, माने शुद्ध ज्ञान नहीं हुआ, उनके लिए 'केचित् ध्यानेन पश्यन्ति'। कोई-कोई ध्यानके द्वारा देखते हैं। 'अन्ये सांख्येन योगेन'—यहाँ भी 'अन्ये' है। एक नम्बर हुआ ज्ञान, दो नम्बर हुआ ध्यान और तीन नम्बर हुआ सांख्ययोगका विचार। यह प्रकृति है, यह पुरुष, यह दृश्य है, यह द्रष्टा है। 'अन्ये सांख्येन योगेन'—विचारके द्वारा। और चार नम्बर कर्मयोग। 'कर्मयोगेन चापरे'। अब पाँचवा नम्बर आया।

अन्ये त्वेवमजानन्त: श्रुत्वान्येभ्य उपासते। 13.25

ध्यानयोग, विचारयोग, कर्मयोग यह तो पौरुष है। लेकिन जो यह पौरुष भी नहीं कर सकते हैं वे 'अजानन्त:'—जो सर्वथा अज्ञानके, ध्यानके, विचारके और कर्मयोगके भी अज्ञानी हैं, उनके लिए क्या उपाय है? 'श्रुत्वान्येभ्य उपासते'। उन्हें ज्ञानी पुरुषोंसे श्रवण करके वैसी उपासना करनी चाहिए—श्रद्धा विश्वासपूर्वक।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः । 13.25

वे यदि अपने श्रवणके अनुसार ठीक-ठीक साधन करते हैं तो वे भी मृत्युको पार कर जाते हैं। माने मृत्युकी असत्ताको समझ जाते हैं। मौत तो है ही नहीं। मिट्टीकी मृत्यु नहीं होती। घड़ा फूटता है। जलकी मृत्यु नहीं होती, लहर शान्त होती है। अग्निकी मृत्यु नहीं होती, ज्वाला उठना बन्द हो जाता है। वायुकी मृत्यु नहीं होती, साँसका भीतर आना-जाना बन्द होता है। असलमें किसी भी तत्त्वकी मृत्यु होती ही नहीं। इसलिए जो तत्त्वकी दृष्टिसे संसारका, आत्माका, परमात्माका विचार करता है, उसकी दृष्टिमें मृत्यु कहीं मिलती ही नहीं है। इसलिए यदि श्रवणमें भी निष्ठा हो, और अपनेसे जो तत्त्वके अधिक जाननेवाले हैं उनकी बात सुनकर, वैसी उपासना की जाय, तो उनका भी कल्याण हो जाता है। पर श्रोतामें श्रद्धा, विश्वासकी अधिकता होनी चाहिए। एक बहुत बड़ी सम्पत्ति श्रोतामें है। और कर्मयोगमें अनुष्ठान होना चाहिए। और सांख्ययोगीमें द्रष्टा-दृश्यका उत्कृष्ट विचार होना चाहिए। और ध्यानयोगमें चित्तकी एकाग्रता होनी चाहिए। परन्तु इन चारोंके बिना भी जो शुद्धान्त:करण पुरुष है वह तत्त्वज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको चुटकी बजाते ही जान जाता है।

जिसकी बुद्धि शुद्ध है वह केवल सुनकर ही ग्रहण कर लेता है और नहीं तो बुद्धि कुन्द है, जेहन कुन्द है तो जिन्दगी भर सुनता रहेगा और उसको ग्रहण नहीं होगा। उसको असम्भावना मालूम पड़ेगी कि इतना उच्च कोटिका तत्त्व ऐसे कैसे मिलेगा? कुछ-न-कुछ तो करना चाहिए। क्योंकि कुछ किये बिना तो दुनियामें कुछ नहीं मिलता है, तो यह तत्त्व ही कैसे मिल जायगा। अरे बाबा, बिना कुछ किये ही अपना आपा मिला हुआ है। अपने आत्माकी जो सत्ता है, जो चित्ता है, जो आनन्द है वह कहीं कुछ करनेसे थोड़े ही मिलता है? वह तो मिला हुआ ही है।

ज्ञान मिले हुएको ही मिलाता है और मिटे हुए को ही मिटाता है। न ज्ञान 'है' को मिटाता है न 'नहीं' को बनाता है। ऐसी ज्ञानकी स्थिति है। इसलिए इन श्लोकोंमें ज्ञानकी निरतिशय महिमा बतानेके लिए इन चारोंमें तो कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। परन्तु तत्त्वज्ञान जो है वह स्वयंमें परिपूर्ण है। उसमें न ध्यान, न विचार, न कर्मयोग और न तो श्रद्धा, विश्वास, मान्यता। सम्प्रदायोंमें मान्यता होती है। कर्मयोगमें निष्कामता होती है। विचारमें मिली हुई वस्तुओंको पृथक्-पृथक् करनेकी योग्यता होती है। ध्यानमें एकाग्रता होती है। परन्तु ये सब दूसरी वस्तुको पानेके लिए होता है। अपने आपको पानेके लिए तो ये केवल निमित्त मात्र होते हैं। अपना आपा मिला हुआ ही है। इसलिए भगवान्ने तेरहवें अध्यायमें अन्य मतोंका उल्लेख करके अपने मतकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। हाँ; अन्तमें विश्वास भी निष्काम कर्मयोगी बना देगा। निष्काम कर्मयोगी विचारवान् हो जायगा। विचारवान् भी ध्यानी हो जायगा। ध्यानीको भी ज्ञान हो जायगा। इसलिए यह स्वतन्त्र साधन नहीं है।

सव भगवद्-अभिमत उसीके अङ्ग हैं। हो सकता है कि यह बात आपको किसी दूसरी टीकामें न मिले। लेकिन इसका जो स्वयं-विमर्श है—अथवा स्वयं-प्रकाश है उसका स्वरूप यही है।

प्रश्न : मृत्युसे तरनेके जिन साधनों, पद्धतियोंका इस अध्यायमें वर्णन किया गया है, उनका अन्तर समझाते हुए यह बतलाइये कि इसमें गीताका झुकाव किस ओर और क्यों है? सामान्यजनके लिए इसमें व्यावहारिक कौन-सा साधन है?

उत्तर : मृत्युकी परवाह नहीं करनी चाहिए। जिसको अपने लक्ष्यसे प्रेम होता है, वह दाहिने, बायें, पीछे नहीं देखना है, वह तो केवल लक्ष्यको ही देखता है। 'नायं हन्ति न हन्यते'। न यह मारता है न मारा जाता है। यह आत्मा अविनाशी है। यह हमारे पौरुषके लिए कितनी बड़ी प्रेरणा है। जैसे एक पक्षी वृक्षपर टाँग दिया गया और दुर्योधनसे पूछा गया, क्या देखता है? दुर्योधन बोला—वृक्षकी डाली है-डालीपर पक्षी है—अरे भाई निशाना तो आँखमें लगाना है। बोला हमको सब दीख रहा है। कर्णसे पूछा गया—तुमको क्या दिखता है? बोला पक्षी दिखता है और उसकी आँख दिखती है। अर्जुनसे पूछा गया—तुमको क्या दिखता है? उसने कहा—हमको आँख दिखती है। आँखमें निशाना मारना है। लक्ष्यमें ध्यान इतना केन्द्रित हो जाना चाहिए कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु बुद्धिमें आये ही नहीं; जो डर-डरके पाँव रखेगा, घबड़ाकर पाँव रखेगा वह कहीं-न-कहीं लड़खड़ा जायेगा। जो चीज है ही नहीं उसके लिए डरकर आगे बढ़ना, यह भगवान्‌को सम्मत नहीं है। गीताका अभिप्राय यह है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। (23.7)

छोड़िये इसकी परवाह। आत्मा तो अविनाशी है। खुदीराम बोसका साथी बोला कि 'हमको यदि काला पानीकी सजा होती तो दस-बीस बरसकी और देर हो जाती। अभी तो हम, शरीर छूटेगा, दूसरा जन्म लेंगे और फिर देशकी स्वतन्त्रताके लिए काम करेंगे।' 'तस्मात् युद्धस्व भारत'। जन्म और मृत्युके चक्करमें पड़कर घबड़ाना नहीं। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना। आपका जो भी लक्ष्य हो; हमें लक्ष्यमें कोई आपत्ति नहीं है। अर्थ भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह सत्ताका एक स्वरूप है। काम भी लक्ष्यका एक स्वरूप हो सकता है; क्योंकि वह भी आनन्दका ही एक रूप है। किसी वस्तुके रहस्यको समझना भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह चित्तका ही एक स्वरूप है। और अपनेको समग्र रूपमें अनुभव करना भी लक्ष्य हो सकता है; क्योंकि वह भी पूर्णताका ही एक स्वरूप है। इसलिए अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी जीवनमें हिचकिचाहट नहीं रहे, दुविधा नहीं रहे, उसकी प्राप्तिमें असंभावना नहीं रहे। हम निर्द्वद्व होकर अपने लक्ष्यको प्राप्त करें। अनुभव करें, उसके लिए गीता जोर देती है।

साधनोंमें गीताका मत यह नहीं है कि मनुष्य जीवनभर कर्म-योग ही करता रहे, जीवनभर विचार ही करता रहे, जीवनभर ध्यान ही करता रहे, जीवनभर श्रद्धा ही करता रहे। इनमें गीताका तात्पर्य नहीं है। किसी भी साधनके द्वारा हम अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लें, इसमें गीताका अभिप्राय है। वह लक्ष्य कैसे प्राप्त होता है? अज्ञानसम्मोहका नाश होनेपर और सारी गीता अज्ञान-सम्मोहका नाश करनेके लिए कहती है—

वेदाविनाशिनं नित्यं (2.21) **यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।** (13.12)

इसलिए लक्ष्यके बारेमें कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए और फिर निर्द्वन्द्व होकर उसकी ओर चल पड़ो।

प्रश्न : विनाशवानोंमें अविनाशीको समभावसे स्थित देख पाना किस तरह संभव होता है? ऐसा सच्चा द्रष्टा बननेमें क्या बाधाएँ हैं और किस साधनापथसे उसका निराकरण किया जा सकता है?

उत्तर : देखो यह जो विनाश है यह भी एक दृश्य है। जैसे सिनेमामें या नाटकमें किसी चीजका विनाश दिखाते हैं तो उस विनाशका तमाशा देखनेवाला भी होता है। यदि विनाश देखा न जाय, विनाशका अनुभव न हो तो विनाश नामकी कोई चीज है यह किसीको पता लगे ही नहीं। है एक ऐसा जो जाग्रतके सम्बन्धोंको देखता है। वस्तुओंको देखता है। जो स्वप्नको बनाकर देखता है। जो सुषुप्तिमें सबको मिटाकर देखता है। उस परमात्माका जो स्वरूप है वह इस प्रकार कहा गया है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ (13.28)

आप अपनेको दीन मत समझिये। अपनेको हीन मत समझिये। आप अपनेको असहाय मत समझिये। हमने गाँवमें देखा है, गाँजा पीनेवाला कोई आजाता है और उसकी धूनि जल जाती है तो दो-चार गाँवके गँजेड़ी गाँजा पीनेवाले इकट्ठे हो जाते हैं और उसको दण्डवत् प्रणाम करने लगते हैं। वह साधु पूजा जाता है। आप अपने मार्गपर चलिये। अपनेको असहाय मत समझिये। ईश्वर आपके साथ है। आप दीन-हीन नहीं हैं। आपमें नयी दुनिया बनानेकी शक्ति है। जो शक्ति विश्वामित्रमें नयी सृष्टि करनेकी थी वह आपमें भी है। जो निग्रह-अनुग्रहका सामर्थ्य वसिष्ठमें था वह आपमें भी है। जो परमेश्वर राम-कृष्णके रूपमें आया था, वह आपमें भी मौजूद हैं।

न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।

आप अपने आपको स्वयं हीन मत समझिये, दीन मत समझिये। आपके अन्दर वह शक्ति है कि आप जो चाहें सो कर सकते हैं। ईश्वर हो सकते हैं आप! और ईश्वरत्वको छोड़ भी सकते हैं आप! इतना सामर्थ्य! ऐश्वर्यकी उपाधि छोड़ सकते हैं—हमारा संविधान है—आप राष्ट्रपति हो सकते हैं और राष्ट्रपतिका पद त्याग भी सकते हैं। आप प्रधानमंत्री हो सकते हैं और उसका त्याग भी कर सकते हैं। इसी प्रकार इस आत्माका ऐसा सामर्थ्य है कि संसारकी किसी भी वस्तुको यह प्राप्त भी कर सकता है और त्याग भी कर सकता है। अपनेमें जो हीनताका भाव है, दीनताका भाव है—गीता उसपर कहती है, 'न हिनस्त्यात्मनात्मानम्'। आप स्वयं अपने आपको हीन मत बनाइये। 'हिनस्ति'का अर्थ है—हीन न बनना। और आप अपने आपको दीन-हीन मत बनाइये। आप ईश्वरकी शक्तिसे भरपूर हैं। ईश्वरकी सहायता आपको प्राप्त है। ईश्वरकी बुद्धि प्राप्त है। और ईश्वरका ऐश्वर्य और आनन्द भी प्राप्त है। आप आगे बढ़िये और अपनी पूर्णताका अनुभव कीजिये। परमात्मा सबमें हैं। इसीसे आप देखते हैं कि हमारे यहाँ मछली भी

परमैश्वर्यशाली है— मत्स्यावतार। कच्छप भी परमैश्वर्यशाली है। एक मछली प्रलयके जलमें भी औरोंकी रक्षा कर सकती है। एक कछुआ समुद्र-मंथनके लिए—अमृतकी उत्पत्तिके लिए मंदराचलको अपनी पीठपर धारण कर सकता है। एक सूअर भी पानीमें डूबी हुई धरतीको निकाल सकता है। एक घोड़ा भी अपनी हिनहिनाहटसे वेदका ज्ञान दे सकता है। एक नृसिंह भी बड़े-से-बड़े अत्याचारीका दमन कर सकता है। आप मनुष्यके रूपमें हैं। जो शरीर रामका था, जो शरीर कृष्णका था, जो शरीर परशुरामका था अथवा शान्तिकी दृष्टिसे जो शरीर बुद्ध का था, वही मानव शरीर आपको प्राप्त है। आप अपनेको दीन-हीन न समझें; जो अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर रोनेको तैयार है, विषादग्रस्त हो गया है—वह अवस्था आपके जीवनमें नहीं रहनी चाहिए।

उत्तिष्ठत भारत, उठो! उठो खड़े हो जाओ। ओ प्रतिभाशाली पुरुष, उठ खड़ा हो। उठो जागो और अग्निका, प्रकाशका, आह्वान करो, अपने तेजको प्रकट करो।

न हिनस्त्यात्मनात्मानम्।

इसमें भगवान्का अभिप्राय है—

कच्चिदज्ञानसंमोह प्रनष्टस्ते धनंजय। (18.72)

मोहान्धकार दूर हो गया कि नहीं! कर दे दूर उसको।

प्रश्न : विनाशवालोंमें अविनाशीको देखनेकी क्षमता कैसे आवे?

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।

उत्तर : यह उपनिषद्में ही है—

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्वस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (क० .2.22)

अभीतक किसीने इस दिशामें प्रयास नहीं किया कि गीताके एक-एक श्लोकको उपनिषदोंमें-से निकाल लें। जो उपनिषदोंमें है वही गीतामें है।

वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः। (15.15)

कहके बताया गया है। शरीर अलग-अलग होते हैं परन्तु माटी तो सबमें एक होती है न! पानी तो सबमें एक होता है न! यह तत्त्व है। माटी, पानी यह तत्त्वज्ञानकी परम्परा है और आँख, कान, हाथ-पाँवकी बनावट जो है यह आकृतिकी परम्परा है। नाम तो अलग-अलग एक ही चीजके रख दिये जाते हैं। एक ही पानीके न जाने कितने नाम होते हैं। नाम भेदसे तो वस्तुभेद नहीं होता; परन्तु आकृतिके भेदसे, शकल-सूरतके भेदसे लोग तत्त्वमें अन्तर समझने लगते हैं। इसीको मिटानेके लिए यह बात बतायी जाती है कि माटी, पानी, आग, हवा, आकाश या ज्ञान-तत्त्व या सत्ता या आनन्द, इसमें कोई भेद नहीं है। ये जो भेदभावनाके कारण मनुष्य अपनेको कटा-पिटा समझ लेता है, यह समझ गलत है। इसके लिए क्रमसे विचार करें तो उपनिषदोंमें पंचीकरणका विचार है—अन्नमय, प्राणमय, कोशोंका विवेक है। तत्त्वोंके पंचीकरणका विवेक है। त्रिवृत्-

करणका विवेक है; अवस्थात्रयका विवेक है। विचारके बिना यह मालूम नहीं पड़ता कि सबमें एक ही परमात्मा है।

हमने तो एक दिन नीरजको गाते हुए सुना था—'सपने मिट-मिट जाते हैं जीवन नहीं मिटता है।' मिटनेको तो घड़ीकी एक-एक सेकण्ड मिटती जा रही है। मिनिट मिटते जा रहे हैं। प्रत्येक कण बदलता जा रहा है। क्या आपका बचपन नहीं गया? आपकी जवानी नहीं गयी? आपका अधेड़पना नहीं गया? आपका बुढ़ापा नहीं जा रहा है? तो सबमें आप एक हैं। सब नष्ट होता जा रहा है और आप वही-के-वही हैं। बचपनमें जो मैं खिलौनोंके साथ खेलता था और जवानीमें भोग करता था, और रोगी-अवस्थामें रोगका अनुभव किया, वहीं मैं बुढ़ापमें बुढ़ापेका अनुभव कर रहा हूँ। मैं एक-का-एक हूँ। देखो न! सबके विनाशका, अदर्शनका, लोपका—मैं द्रष्टा हूँ। संस्कृतमें विनाश शब्दका अर्थ होता है—अदर्शन—जो दिख रहा था वह अब नहीं दिख रहा है। जो मालूम पड़ रहा था वह नहीं मालूम पड़ रहा है परन्तु जिसको मालूम पड़ता है वह तो एक ही है न!

आपका अनुभव ज्यों-का-त्यों है यदि उसको जान लीजिये तो फिर तो कहना ही क्या है? इस सृष्टिमें कितने प्रलय आपके सामने होते रहते हैं। आप ध्यान नहीं देते, नहीं तो सचमुच आप अनुभव करते कि मिटनेवालोंमें आप ही, एक ऐसे हैं जो कभी नहीं मिटते हैं। और 'यः पश्यति स पश्यति'—जिसको यह बात नहीं दिखती है वह तो अन्धा है। जिसको यह दिखता है कि बदलाव वाली, नष्ट होनेवाली चीजोंमें परमात्मा एक है, आत्मा एक है, वही असलमें आँखवाला है, वही देखता है।

प्रश्न : आत्मा अकर्ता है और परपुरुष भर्ता-भोक्ता; क्या यह परस्पर विरोधी बात नहीं है।

उत्तर : जितनी बातें बोली जाती हैं वे कुछ समझानेके लिए ही बोली जाती हैं। अपनेमें ज्यों-का-त्यों उनका ग्रहण नहीं होता है। देखो, गीता कहती है कि आत्मा अकर्ता है,

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (3.27)

यः पश्यति तथात्मानं अकर्तारं स पश्यति। (13.29)

सब लोग अपनेकी अकर्ता नहीं देख पाते। जो देखते हैं कि प्रकृतिके गुण कर्म कर रहे हैं, वे अपनेको अकर्ता अनुभव कर पाते हैं।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (3.27)

जो अपनेको कर्ता मानता है वह अहङ्कार-विमूढ़ात्मा है। अटक गया है अहङ्कारमें। अब यह पाप-पुण्यका जो दुनियामें चक्र है, जिससे साधारणतः कोई छूट नहीं सकता, उससे छुड़ानेके लिए कर्मको उपाधिके द्वारा किया हुआ बताते हैं। कर्म कहीं समाजके दबावसे होते हैं। वे पंचायती कर्म हो जाते हैं।

अधिष्ठानं तथा कर्ता। (18.14)

हुकुम मिल गया—सञ्चालकका। अब बोले भाई यह तो पार्टीका हुकुम है, इसको तो मानना पड़ेगा। वहाँ कर्ता हो गये। कर्ता न होनेपर भी अपनेको पंचायती मान लेनेसे कर्ता हो गये। भगवान्ने बताया—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः॥ (18.14-16)

यह जो कर्ता है, इसको अपने कर्मका योग करना पड़ता है और वह भोक्ता भी है। इसीप्रकार ईश्वरके स्वरूपमें भी प्रकृतिके कर्तृत्वका आरोप करके, क्योंकि बिना ईश्वरके तो प्रकृति भी नहीं कर सकती—उसको कर्ता भी माना जाता है।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

कभी-कभी पासवालेके कामको भी—सेनाकी जीत होती है और राजाकी जीत मानी जाती है। तो यह जो आत्मदेवकी सेना है यह कर्म भी करती है, भोग भी करती है, भरण-पोषण भी करती है। परन्तु सेनाके जो मालिक हैं—उनमें औपचारिक दृष्टिसे इसका आरोप होता है। नहीं तो ईश्वर कर्त्ता है या स्वभाव कर्ता है या प्रकृति कर्त्री है या प्रकृतिके गुण कर्ता हैं, या अज्ञान कर्ता है इसका निरूपण नहीं होता। भोक्तापन भी कर्तामें है।

न करोति न लिप्यते, नायं हन्ति न हन्यते। (2.4)

यह 'हन्यते' भोग है, 'लिप्यते' भोग है। सब-का-सब परमात्माके स्वरूपको समझानेके लिए है, क्योंकि उसीकी सत्तामें उसीकी दृष्टिमें सबका सब हो रहा है, इसलिए जहाँ हम बैठे हैं, वहाँसे उसमें आरोपित कर देते हैं और जब परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो जाता है तो यह ज्ञात होता है कि उसमें न कर्म है, न भोग है, न विनाश है, न परिच्छिन्नता है। इसको अनिर्वचनीय कहते हैं। माने तत्त्व-दृष्टिसे न होने पर भी मनुष्य जहाँ बैठकर विचार करता है, वहाँसे ऐसा दीखता है। आकाश नीला न होनेपर भी जब हम आँखके द्वारा देखते हैं तब वह नीला मालूम पड़ता है। इसीप्रकार हम अपने जैसे अन्त:करणको लेकर परमात्माके बारेमें सोचते हैं, परमात्मामें उन-उन भावोंका आरोप हो जाता है। और जब शुद्ध परमात्माका अनुभव करते हैं तब वह सब कुछ नहीं होता है। नित्य शुद्ध बुद्ध एकरस परमात्मा है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजव्ययम्। (2.21)

अथवा और भी परमात्माका अनेक स्थानों पर वर्णन है। अभी आया है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।

कहीं-कहीं परमात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन होता है और कहीं 'शाखाचन्द्र-न्याय' से। जैसे द्वितीयाके दिन चन्द्रमाको दिखानेके लिए किसीने कहा वह देखो पेड़! हाँ, देख रहे हैं—उसके ऊपरवाली शाखा। हाँ ठीक है, उसको भी देख रहे हैं। बोले, उससे दो हाथ ऊपर देखो वह एक चाँदीका हँसिया दीख रहा है? हाँ, उसीका नाम चन्द्रमा है। अब न पेड़से उसका कोई सम्बन्ध है, न डालीसे सम्बन्ध है, न दो हाथकी

दूरीसे सम्बन्ध है और न चाँदीके हँसियेसे सम्बन्ध है। परन्तु चन्द्रमाको दिखानेके लिए यह सब बोलना पड़ता है। कहीं-कहीं अज्ञानीको ज्ञान करानेके लिए परमात्मामें यह सब सृष्टि, स्थिति, प्रलय इनका आरोप करके परमात्माको एक बताया जाता है, अन्य कारणोंका वारण करनेके लिए और कहीं-कहीं परमात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन होता है। इसलिए दृष्टि-भेदसे, अधिकारी-भेदसे, प्रकरण-भेदसे, वक्ताके भेदसे, श्रोताके भेदसे एक ही वस्तुको समझानेके लिए अनेक प्रकारकी प्रक्रिया स्वीकार करनी पड़ती है और खास करके गीता तो एक वस्तुको सिद्ध करनेके लिए प्राय: सभी दर्शनोंके सिद्धान्तको—यहाँ तककी चार्वाक-दर्शनके सिद्धान्तको भी स्वीकार करती है।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ (2.26)

शोक-निवृत्तिके लिए भगवान्ने चार्वाकको भी नहीं छोड़ा। कह दिया कि बाबा, चार्वाक-मतमें भी शोक करनेकी जरूरत नहीं है। मीमांसा-मतमें भी नहीं, न्यायवैशेषिक-मतमें भी नहीं—सांख्ययोगमें भी नहीं। भक्तिमें भी नहीं। ये शोक, मोह, भय जो हैं, ये सिद्धान्तके आधार पर नहीं हैं। ये अज्ञानके आधारपर ही अपने जीवनमें आते हैं। यह गीताका कहना है।

●

आठवाँ दिवस

(4-11-84)

प्रश्न : भगवान्‌को अपनी बातपर या अपने कथ्यके महत्त्वपर श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिए ऋषियों, वेदोंके मन्त्रों और ब्रह्मसूत्रके पदोंका हवाला देनेकी आवश्यकता क्यों पड़ती थी?

उत्तर : भगवान् कहते हैं कि जब मैं भी वेदोंपर और ऋषियों पर श्रद्धा करता हूँ, तो तुम भी करो। अपनी श्रद्धाका हवाला देकर, वे दूसरोंके चित्तमें वेदों और ऋषियोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं, क्योंकि भगवान् हमेशा प्रकट नहीं रहते हैं। कभी-कभी अवतार लेते हैं। और वेद और ऋषि तो हमेशा रहते हैं। यदि लोगोंकी श्रद्धा वेदोंपर और ऋषियोंपर नहीं रहेगी—सब भगवान्‌को ही ढूँढने लगेंगे कि वे बोलें तब श्रद्धा करेंगे तब तो श्रद्धाका ह्रास अथवा विनाश ही हो जायेगा। इसलिए भगवान् केवल अपने वचनपर ही नहीं, वेदों और ऋषियों पर भी श्रद्धा उत्पन्न करवाते हैं।

शिव पुराणमें एक कथा है—जब भीष्म पितामह अपने पिता शान्तुनके लिए पिण्डदान कर रहे थे, तो वहाँ जलमें-से हाथ निकल आया। हाथ किसका है? पिताजीका है। भीष्मने पिण्डदान रोक दिया। हाथमें पिण्ड रख लिया और ब्राह्मणसे पूछा—'शास्त्रमें हाथमें पिण्ड देनेका विधान है या कुशावली वेदीपर?' ब्राह्मणने बताया कि कुशावली वेदीपर ही पिण्डदानका विधान है। तो भीष्म पितामहने कहा कि मैं हाथ पर पिण्डदान नहीं करूँगा। मैं तो शास्त्रमें जैसा लिखा है वैसा ही पिण्डदान करूँगा, क्योंकि बादमें जब लोगोंका पिण्डदान करना होगा और कहेंगे कि हमारे पिताका हाथ प्रकट हो तब पिण्डदान करेंगे तो पिण्डदानकी पद्धतिका लोप हो जायगा। इसलिए शास्त्रोक्त पद्धतिसे ही पिण्डदान करना चाहिए। हमारे शास्त्रपर, परम्परापर, ऋषियोंपर श्रद्धा बनी रहे, इसलिए भगवान् भी कहते हैं कि हम वेदों, शास्त्रों और ऋषियोंके अनुसार ही बोलते हैं। यह बात ईशावास्य उपनिषद्‌में भी है।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे। (10)

केनोपनिषद्‌में भी है।

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे। (3)

केनोपनिषद्‌में भी यही वचन है। उपनिषद् भी कहते हैं कि हम ऋषियोंपर, धीर पुरुषोंपर, जीवन्मुक्तोंपर श्रद्धा करते हैं। भगवान् श्रद्धा करते हैं, उपनिषद् भी, वेद भी महात्माओंपर श्रद्धा करते हैं। इसलिए श्रद्धाकी सम्पदाको सर्वथा परोक्षपर नहीं डालना चाहिए। प्रत्यक्षमें जो महत्त्व-बुद्धि है, उसके आधारपर श्रद्धा होनी चाहिए। भगवान्‌ने इस परम्पराको बहुत बल दिया है।

प्रश्न : भूतोंके पृथक् भावको एकस्थ देखकर उसीसे सब भूतोंके विस्तारको देखनेका अभिप्राय क्या है? ऐसा करनेमें समर्थको ब्रह्मकी प्राप्ति क्यों हो जाती है?

उत्तर : पहले बताया कि सम्पूर्ण भूतोंमें सम रूपसे परमात्मा स्थित है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

सम्पूर्ण पदार्थोंमें भूतका अर्थ होता है—'भवन्ति' जो भी कार्यके रूपमें पैदा होते हैं, उनका नाम होता है भूत। जो सबमें समरूपसे परमात्माको देखता है, वह तो ठीक देखता है—

यः पश्यति स पश्यति।

भगवान् कहते है कि और लोग देखते ही नहीं है। सब अन्धे हैं। जो सबमें स्थिति परमेश्वरको नहीं देखते वे सब अन्धे हैं। और फिर बताया कि जब सबमें परमेश्वरको समरूपसे देखने लगते हैं, तो जो सबमें है वह अपनेमें भी है। यह बात कभी-कभी भक्त लोगोंके ध्यानमें नहीं आती है कि हमको तो भगवान् कहते हैं कि चराचरमें भगवान् हैं। माने हमारी दृष्टिसे तुम भगवान् हो। इसका अर्थ यह है कि मैं तो सेवक हूँ—'मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त' मैं सेवक हूँ और चराचर भगवान्का स्वरूप है। लेकिन जब दूसरा देखेगा—हम सैकड़ों लोगोंमें भगवान्का स्वरूप देख रहे हैं। परन्तु ये सैकड़ों लोग हमको क्या देख रहे हैं? यह भी तो सोचो! हमारी दृष्टिमें तुम भगवान् हो, तो तुम्हारी दृष्टिमें हम भी तो भगवान् हो गये न!

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

जब तुम सबमें परमात्माको देखने लगोगे तो अपनेको भी परमात्माके रूपमें देखोगे और अपनेमें जो दीनता-हीनता-हाय-हाय मेरे पास यह धन नहीं है—यह जन नहीं है—यह शक्ति नहीं है—मैं यह नहीं कर सकता हूँ—इत्यादि अपनेमें जो असमर्थताका भाव है वह मिट जायगा। अब इसके बाद बताते हैं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

यह जो भूतोंमें पृथक्ता दिखायी पड़ती है, यह असलमें आपात दृष्टिसे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह सब अलग=अलग हैं। देखो, आकारमें भी हम देखें तो सबकी आँख आगेकी ओर हैं और दो-दो हैं—कितनी समानता है। कान दोनों बगलमें हैं। आँखसे सामने देखो, कानसे अगल-बगलकी भी सुन लो—नाकसे सूँघो, जीभसे बोलो, ज्ञानेन्द्रियोंका प्रवाह सामनेकी ओर है और सबके है। ऐसे सबके शरीरमें माटी है, पानी है, आग है, हवा है—जितनी कठोरता है शरीरमें वह माटीकी है, जो द्रव है वह पानीका है, जो परिपाक होता है, वह अग्निका है, जो चेष्टा होती है वह वायुकी है, जो सबके शरीरमें अवकाश है वह आकाशका है। सबके मनमें जो-जो संकल्प होता है वह मनका है; जो विचार होता है वह बुद्धिका है, जो सबका साक्षी है, वह अपना आत्मा है। यह सबके लिए एक-सी ही बात है। ऐसी स्थितिमें यह जो पृथक्-भाव दिखायी पड़ता है, यह केवल उन रेखाओंसे बना हुआ है जो बिन्दु-बिन्दु होते हैं और अपनेमें लम्बाई-चौड़ाई दिखाती हैं। और बिन्दु वह होता है जिसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती है। यह चित्र बनाते हैं—क्या है? रेखाओंका ही तो विस्तार है न! यह शकल-सूरतका, नामका जो भेद है, यह बिलकुल ऊपरी है। और धातु एक है। आपने देखा होगा, सोनेके पत्रमें ठप्पा मार देते हैं और उसमें गणेशजीकी मूर्ति, शंकरजीकी मूर्ति उभर आती हैं। यह आँख है, सूँड है, यह मुकुट है,

यह लड्डू है। यह हाथ है, यह पाँव है। छोटे-छोटे पाँव होते हैं, गणेशजी बौने है। पेट बड़ा है, लम्बा है—लम्बोदर हैं। है क्या? वे रेखाएँ जो उसमें उभरीं, उसमें पेट अलग कर दिया, पाँव अलग कर दिया और हाथ अलग कर दिया, सूँड़ अलग कर दिया—लड्डूको अलग बना दिया, आँख अलग बना दिया—है क्या? वह दरअसल है सब-का-सब सोना! जब उस एकपर दृष्टि जाती है तो उनमें चूहा और गणपति दोनों एक हो जाते हैं।

ऐसी कहानी सुनी थी—बचपनमें कि एक सज्जनके घरमें सोनेके गणेश और चूहा दोनों अलग-अलग थे। पहले तो पूजा होती थी, पर संकट हुआ तो बेचनेके लिए गये। व्यापारीने तौला, देखा तो जितना वजन गणेशका, उतना ही वजन चूहेका! उसने दोनोंकी एक कीमत बता दी। उसने शकलकी, सूरतकी, रेखाओंकी, कटिंगकी, कोई कीमत नहीं रखी। सोना बराबर, कीमत दोनोंकी बराबर। सज्जनने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है? ये स्वामी हैं गणेश और यह सेवक है चूहा! दोनोंकी कीमत एक कैसे? व्यापारी बोला हम यह सब नहीं जानते। हम सोना जानते हैं।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।

जितना अलगाव दुनियामें मालूम पड़ता है वह एक ही माटी, एक ही पानी, एक ही आग, एक ही हवा, एक ही आकाश, एक ही मन, एक ही बुद्धि और एक ही आत्मा, एक ही परमात्मामें ये सारे-के-सारे भेद मालूम पड़ते हैं। इसीसे वेद भगवान्की प्रतिज्ञा है कि एक वस्तुको यदि ठीक-ठीक जान जाओ तो—

अस्मिन्, श्रुते मते, विज्ञाते सर्वं श्रुतं, मतं, विज्ञातं भवति।

यदि उस एकके बारेमें तुम्हारी जानकारी ठीक-ठीक हो जाय तो तुम सबको सुन लोगे, सबको समझ लोगे, सबका अनुभव कर लोगे। ऐसा एक तत्त्व है। जब एकमें सबको देखेगा और यह देखेगा कि उसीमें यह सारा विस्तार है। जैसे सूतका विस्तार वस्त्र है, और है सब-का-सब सूत। वस्त्रमें ऐसे ढंगसे सूतको बैठाते हैं कि उसमें गाँधीजी दिखने लगते हैं। हाथमें डण्डा हैं। एक पाँव आगे एक पाँव पीछे। डांडीकी यात्रा कर रहे हैं। और है केवल वह सूतोंका एक प्रकारका विन्यास। और सूत क्या है? रेशे है? रेशे क्या है? बिनौलामें-से निकले हैं। बिनौला क्या है? संस्कार-विशिष्ट पंचभूत हैं। जब हम मूलका अनुसन्धान करते हैं तो मालूम पड़ता है कि जो जगत्का मूलतत्त्व है, उपादान है, वही सबके रूपमें है। तब हमें ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा नहीं है। 'ब्रह्म संपद्यते तदा—उस समय हम ही ब्रह्म हो जाते हैं। जहाँ यह बात मालूम पड़ी, कि एकका यह सारा विस्तार है—

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।

जो-जो 'अनुद्रष्टा' है, 'एकस्थम् अनुपश्यति' जिसने एकमें सबका अनुभव कर लिया, वही 'ब्रह्म सम्पद्यते' वही जो विधाता है, अदृष्ट द्रष्टा है, अश्रुत-श्रोता है, अविज्ञात-विज्ञाता है वही ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार भगवान्ने विचारशीलके लिए भेदभावका सर्वथा निषेध कर दिया। भेद जो है यही मृत्युका कारण है। जो एकत्व देखता है—

अथ सोऽभयं गतो भवति। (तै० प० 2.7.1)

उसको अभयकी प्राप्ति हो जाती है और;

उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति।

जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसको दूसरेसे भय होता है।

द्वितीयाद् वै भयं भवति। (वृहदा० 1.4.2)

इसलिए एकत्व-दर्शनपूर्वक अपने आपको ब्रह्मके रूपमें अनुभव करना, यह भगवान्‌के वचनका तात्पर्य है।

प्रश्न : पुरुषको और गुणोंके साथ प्रकृतिको क्या साथ-साथ जानना पड़ता है? क्या इनको अलग-अलग भी जाना जा सकता है? एवं 'वेत्ति' का अर्थ क्या है? उन्हें जान लेनेके बाद सर्वथा वर्तमान रहनेवाला ज्ञाता फिर क्यों नहीं पैदा होता?

उत्तर : य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

पुरुषका वर्णन किया पहले क्षेत्रज्ञके रूपमें।

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।

प्रकृतिका वर्णन किया क्षेत्रके रूपमें। अब ये हो गये दोनों प्रकृति और पुरुष। और 'एवं वेत्ति'का अर्थ है—

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

जब उसको 'अचरं चरमेव च, ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्'—इस प्रकार प्रकृति और पुरुष—दोनोंको—परमात्मासे अभिन्न जान लेते हैं, तब 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—चाहे वह दत्तात्रेयके समान स्वच्छन्द विचरण करें, चाहे वसिष्ठके समान ज्ञानोपदेश करें, चाहे जनकके समान राज्य करें, चाहे श्रीकृष्णके समान रास-विहार करें—'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—उनके बरतावमें कहीं भी भेदभाव नहीं होता—चाहे जैसे रहें; लेकिन ब्रह्मसे एकता हो जाने पर पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती। माने बारम्बांर अहंभावमें परिवर्तन नहीं होता। पुनर्जन्मका अर्थ यह है कि मैं पहले गृहस्थ-जन्म था; फिर संन्यासीका भाव आया तो संन्यासी-जन्म हो गया; जब पापीका भाव आया तो पापी-जन्म हो गया; जब पुण्यात्माका भाव आया तो पुण्यात्मा-जन्म हो गया। जन्म माने देशसे देशान्तरमें या आकारसे आकारान्तरमें या कालसे कालान्तरमें जानेका नाम जन्म नहीं है। भावसे भावान्तरका होना ही जन्म है। जिसको अपने ब्रह्मत्वका बोध हो जाता है, उसको फिर मैं जीव हूँ, मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ,

पापी हूँ, पुण्यात्मा हूँ, इस प्रकारका भावोदय उसके चित्तमें नहीं होता है। उसने वस्तुत: अपने परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया है। जन्म जैसा लोकमें प्रसिद्ध है, वैसा नहीं होता। दिनभरमें कई बार पुण्यात्माके रूपमें, कई बार हम पशु हो जाते हैं—किसीको काटना चाहते हैं तो सर्प हो जाते हैं। खा जाना चाहते हैं तो शेर हो जाते हैं। यही जन्म है, जो हमारे मनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है—आता-जाता रहता है। जब अपने स्वरूपका सच्चा बोध और अनुभव हो जाता है तो भाव-परिवर्तनकी वहाँ गुंजाइश नहीं होती। सत्यका साक्षात्कार हो जाता है। चाहे जैसे हैं—रोते हैं, गाते हैं, धरतीपर लोटते हैं, सब कुछ भूल जाते हैं, सब कुछ याद रखते हैं। लेकिन अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ता है। महात्मा लोग एक भावकी दृष्टताको ही—साक्षात्कारको ही—पुनर्जन्मसे मुक्ति मानते हैं। नहीं तो दिनभरमें चौदह जन्म होगा और चौदह मृत्यु होगी। कभी दु:खी होंगे, कभी सुखी होंगे, कभी रोयेंगे, कभी हँसेंगे। उन सबमें जो एक है, उसका साक्षात्कार हो गया तो चाहे जो होता रहे।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' 'किं पुन: अवर्तमान:'?

और यदि वह समाधिमें ही रहे और यदि वह निश्चित रूपसे परमात्मारूपमें ही रहे तब तो कहना ही क्या है? कोई भी बरताव उसके लाभ-हानिका हेतु नहीं हो सकता।

'हत्त्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते।
'न करोति, न लिप्यते' 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'—
नायं हन्ति न हन्यते'।

सारी गीतामें यही बात बतायी हुई है।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

योगीके लिए बताया—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।
'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—

गीतामें दो बार आया है। वह तो परमात्मामें ही है। उसके लिए जन्म-मरण सब परमात्म-स्वरूप ही है।

प्रश्न : पुरुष और प्रकृतिको क्या अलग-अलग भी जाना जा सकता है? क्या यह सम्भव है कि हम केवल प्रकृतिको जानें, पुरुषको न जानें या केवल पुरुषको जानें और प्रकृतिको न जानें, या दोनोंको साथ-साथ जाना जाता है?

उत्तर : ऐसा है कि विवेक दशामें (विवेक माने अलग-अलग करना) पहले संप्रज्ञात समाधि लगती है। वह स्थूल आलम्बनको लेकर भी होती है और सूक्ष्म आलम्बनको लेकर भी होती है। आलम्बनके बिना समाधि नहीं होती। सम्प्रज्ञात समाधि बिना आलम्बनके नहीं होती। तीसरी समाधिमें आनन्दका आलम्बन रहता है। चौथी समाधिमें 'अस्मि' 'हूँ' केवल इसका आलम्बन रहता है। लेकिन विवेकख्याति न होनेके कारण यहाँ

द्रष्टा और दृश्य दोनों एक होते हैं। जब विवेकख्याति हो जाती है और असम्प्रज्ञात समाधि लगती है उस निरुद्ध दशामें प्रकृति परित्यक्त हो जाती है और द्रष्टा जो है वह उससे अलग हो जाता है। इसको विवेक कहते हैं। माने समाधि जो है वह सांख्योक्त तत्त्वोंका साक्षात्कार करा देती है—गुणों सहित प्रकृति यह दृश्य-कक्षामें निरुद्ध हो गयी है और द्रष्टा चेतन उससे बिलकुल अलग रहता है। सिद्धान्त है सांख्यका और उसके अनुभवकी प्रक्रिया के रूपमें योग है। ऐसे ही वैशेषिकके तत्त्व हैं और न्याय उनमें प्रमाण है। और ऐसे वेदान्तका तत्त्व है और उसमें मीमांसाके द्वारा अन्तःकरण शुद्धि—ये दो-दो दर्शन एक-एक जोड़ीके रूपमें होते हैं। यह प्रकृति-पुरुषका विवेक है, यह सांख्यका सिद्धान्त है और योग उस सिद्धान्तको अनुभव करानेवाली प्रक्रिया है। सो समाधि-दशामें सर्वथा ही द्रष्टा-दृश्यका पृथक्त्व हो जाता है। और कभी-कभी तो द्रष्टा अपने स्वरूपमें ऐसा अवस्थित होता है कि प्रकृति और गुणोंका पता ही नहीं चलता कि वे हैं।

दृश्यका दर्शन ही नहीं होता, 'विवेक' माने पृथक्करण भी होता है। दोनोंकी पृथक्-पृथक् अवस्थिति भी होती है और अज्ञान-दशामें जब देहसे एक हो करके रहते हैं तो द्रष्टाका पता नहीं चलता है। सुषुप्ति कालमें जिसको विवेक नहीं है उसको द्रष्टाका पता नहीं चल सकता। और समाधि कालमें जहाँ द्रष्टा स्वरूपमें अवस्थित है, वहाँ प्रकृतिका पता नहीं चल सकता। तादात्म्यकी दशामें दोनोंकी पृथक्ता रहती है और निर्विकल्प, निर्बीज समाधिमें आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु प्रतीत ही नहीं होती है। परन्तु वेदान्त इन दोनोंसे विलक्षण है। ये साधनाके साथ सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं, इसलिए साधारण लोगोंकी बुद्धिमें इसका आना जरा कठिन पड़ता है। अविवेकीके लिए शरीर ही है, आत्मा नहीं है—जैसे चार्वाकके लिए—और विवेकी के लिए व्यवहार दशामें भी देह और आत्माका पार्थक्य है और समाधि दशामें उसकी अपने आपमें स्थिति है। आत्मा ही है—दृश्य नहीं है। परन्तु ये सब चित्तकी दशाएँ है। तत्त्व दृष्टिसे जो विवेचन है वह बिलकुल दूसरा होता है। इसलिए व्यवहार दशामें एकता है, विवेक दशामें पृथक्ता है और अनुभव दशामें अद्वितीयता है। इस तरहसे

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

× × ×

कृष्णो भोगी शुकः त्यागी।

कृष्ण भोगी हैं, शुक त्यागी हैं। 'नृपौ जनक-राघवौ'—जनक और रामचन्द्र राजा है। 'कर्मनिष्ठा वसिष्ठाद्या'। वसिष्ठ आदि कर्मनिष्ठ हैं। इनके ज्ञानमें कोई फर्क है? नहीं, ज्ञानमें कोई फर्क नहीं हैं। पुरुष और प्रकृतिको गुणोंके साथ जो जान लेता है—माने दोनोंका प्रकाशक जो एक ज्ञान है—एकत्वका ज्ञान जिसको प्राप्त हो जाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।

इसमें प्रधानता 'वेत्ति'की है, न पुरुषकी है, न प्रकृतिकी है, न गुणोंकी है।

'एवं' माने 'अचरं चरमेव च'।

सूक्ष्मत्वाद् तदविज्ञेम्, ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यम्।

इस प्रकार जो जान लेता है,

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

उसका शरीर चाहे जैसा रहे, वह धरतीपर लोट रहा हो, हाय-हाय कर रहा हो लेकिन—

ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः (परमार्थसार 81)

वह ज्ञानी पुरुष ज्ञान होते ही मुक्त हो गया है और उसको रोना, गाना, हँसना, लोटना-पोटना, सब अपना स्वरूप ही मालूम पड़ता है और जैसे एक अभिनेता घावका अनुभव करता है और प्रेमका अनुभव करता है—और उसका अभिनय करता है, लेकिन है वह एक-का-एक, इसी प्रकार तत्त्वज्ञको उस स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी है कि उसकी जो मरजी होती है, सो नाट्य कर लेता है और अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। और नाट्यमें तन्मय भी हो जाता है। एक नाटकका वर्णन मैंने सुना था कि बंगालमें कोई 'नील दर्पण'-नाटक हो रहा था। और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उसको देखनेके लिए गये थे। नाटकमें अंग्रेजने एक भारतीय स्त्रीके साथ छेड़छाड़ की तो ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको इतना क्रोध आया कि यह भूल गये कि नाटक है और वह चढ़ गये मञ्चपर और लेकर जूता, उस अंग्रेज बने हुए पात्रको पीटना शुरू कर दिया। परदा गिरा, मैनेजर आया। धन्य है कि आज हमारा नाटक इतना सफल हुआ कि ईश्वचन्द्र विद्यासागरने भी उसको सच्चा समझ लिया। ज्ञानी लोगोंको कोई भी नाटक करनेमें किसी प्रकारकी दुविधा नहीं होती है। और वे अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। इसलिए 'सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'।

प्रश्न : परमात्मा शरीरमें रहकर अलिप्त है, अकर्ता है, फिर भी सर्वलोक-प्रकाशक है, यह कैसे संभव है?

उत्तर : अनादित्वात्, निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति, न लिप्यते।।

यह आत्माका जो परम रूप है, जैसे गुड़का परम रूप शक्कर है, शक्करका परम रूप मिश्री है, मिश्रीका परम रूप ओला है, ओलाका परम रूप कन्द है। कन्दकी प्रथा सर्वत्र नहीं है और ओला भी काशीमें तो हमको मिल जाता था—पर सब जगह न मिले। जितना-जितना शुद्ध करते जाते हैं गुड़को-उतना ही उतना शुद्ध रूपसे प्रकाशित होता जाता है। गुड़की मैल निकालते जाओ, निकालते जाओ अंततोगत्वा वह शुद्ध ग्लुकोजके रूपमे, माधुर्यके रूपमें रह जायेगा। इसी प्रकार आत्माके साथ हम लोगोंने जो बाहरकी चीजें जोड़ रखी हैं—हम धनी है, हम हाकिम हैं, हम विद्वान् हैं, हम समाधिमान् हैं।

यह सब बाहरसे आयी हुई चीजें अपने साथ जोड़ी हुई हैं। शुद्ध करनेका अर्थ हुआ, इनको अपने अन्दरसे हटाकर, शुद्ध अपना स्वरूप रह जाय। फिर क्या होगा? अब सोचें कि हमारा जन्म कब हुआ? अपना जन्म अनुभवके क्षेत्रमें नहीं होगा। किसीको यह मालूम नहीं है कि हमने अपना जन्म होते देखा है। और किसीके भी अनुभवके क्षेत्रमें मृत्यु नहीं है कि हमने अपनेको मरते देखा है। जो अपनेको जन्मते देखेगा वह

जन्मके पहलेसे होगा और अपनी मृत्यु देखेगा वह मृत्युके बादमें भी रहेगा। इसलिए हड्डी-मांसका जन्म-मृत्यु भले ही होता है पर अनुभवका जन्म और मृत्यु नहीं होता। अनुभव तो अनादि होता है। और अनादिके साथ-साथ उसमें सत्त्व, रज, तम ये गुण नहीं होते हैं। यहाँतक कि दया और क्रोध, राग और द्वेष, सुख और दु:ख, ये भी गुण ही हैं। ये भी उसमें नहीं होते हैं। इसलिए जिसका जन्म होता है, उसका तो व्यय होता है, वह धीरे-धीरे घिस जाता है।

अरे बुढ़ापा तोरे मारे हम तो अब नकियाय गये रे!

व्यय होता है उसका, जो जन्मता है। उसकी शक्ति खर्च होती जाती है। लेकिन जिसका जन्म ही नहीं है, जिसकी मृत्यु ही नहीं है, और जिसमें ये सत्त्व, रज, तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—अवस्था ही नहीं है। उसमें व्यय होनेका घिसनेका, पुराना पड़नेका, उसकी मरम्मत करनेकी कोई जरूरत नहीं पड़ती है। अब वही आत्मा, वही परमात्मा, आत्माका वही परमरूप, वही शक्कर, मिश्री, ओला, कन्द, ग्लुकोजका शुद्ध रूप।

परमात्मा माने हमारी आत्मा ही अमिश्रित, शुद्ध-स्वरूप। उसीको बोलते हैं परमात्मा। जैसे मधुरका परम मधुर। इसी प्रकार ज्ञानका परम ज्ञान। उसीका नाम होता है परमात्मा। और वह ऐसा है कि न उसमें कभी जन्म हैं, न कभी 'अस्ति' पदका विषय है, न कभी वृद्धि है, न अपक्षय है, न विनाश है। षड्भाव विकारोंसे रहित यह आत्माका स्वरूप है। सो 'शरीरस्थोऽपि' जब शरीरमें है तब भी वह न तो कोई पाप-पुण्य करता है और न उसके साथ लिप्त होता है। माने शुद्ध आत्मा जो है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है। इसलिए न उसको पाप-पुण्य लगता है, न उसमें कभी सुख-दु:ख होता है। आत्माका स्वरूप ऐसा ही है। न वह पापी है, न पुण्यात्मा है, न राग करता है, न द्वेष करता है। न नरकमें जाता है, न स्वर्गमें जाता है। न वह कटता है न पिटता है।

न करोति न लिप्यते।

वह सर्वदा अखण्ड रूपमें ही रहता है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं है—प्रकार भी नहीं है, संस्कार नहीं है। आकारसे, प्रकारसे, और संस्कारसे रहित अपना आत्मा है। इसमें पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दु:ख, आना-जाना, कटा हुआ और पूरा ये भेद इस आत्मामें नहीं होते।

न करोति न लिप्यते।

प्रश्न : ऐसे आत्माका शरीरस्थ होनेका क्या प्रयोजन है? और वह सर्वलोक प्रकाशक कैसे हो जाता है?

उत्तर : जान-बूझकर कोई अपनेको गरीब नहीं बनाता। गरीब हो ही जाता है। किसी दिन आपको सुनाया होगा—मैं अलिफ या ब क्लासमें पढ़ता था और जोड़ना था हमको 8 और 6=14 बतानेकी जगह हमने अपनी पटरी 13 लिख दिया। इन्स्पेक्टरने पूछा कि यह तुमको किसने सिखाया है कि 8 और 6 तेरह होता है। अब बताओ क्या बतायें? बेवकूफी सिखायी नहीं जाती है। बेवकूफी अपने अन्दर रहती है। और वह दूर करनेपर दूर हो जाती है। यह जो शरीरमें स्थिति है, यह तो इस समय हमको प्राप्त है—हम शरीरस्थ हो रहे हैं। परन्तु शरीरस्थ होनेपर भी, इससे छूटनेका उपाय सोचो। जब साँप सामने आता है, तो यह मत सोचो कि यह

किस जातिका है। यह मत सोचो कि यह विषैला है कि निर्विष है। पहले उसको झटक दो, वह जाकर दूर गिर पड़े। जब हमसे दूर हो जाय तब सोच लेना कि यह कहाँसे आया है। असलमें यह हमारा आत्मा जन्मसे लेकर अबतक अपनेको शरीर समझता रहा है—हमने अपनेको शरीर समझा है। किसने समझाया, इससे कोई मतलब नहीं। अब हमें विवेक करना है।

अज्ञान अनादि होता है मतलब अज्ञान आगन्तुक नहीं होता। सिखाया हुआ नहीं होता। यह तो ऐसा है जैसे एक दिन कर्णसे किसीने पूछा-तुम कौन हो भाई? बोला—मैं राधाका बेटा हूँ। था तो वह कुन्ती-पुत्र। लेकिन सुनते-सुनते उसको यह भ्रम हो गया था कि मैं राधेय हूँ—राधाका पुत्र हूँ। अब उस राधाके पुत्र बने हुए कर्णको कुन्ती-पुत्र बननेमें कितनी देर है वह असलमें कुन्ती-पुत्र ही है और लोगोंके सिखाने-पढ़ानेसे अपनेको राधाका पुत्र मानता है। जहाँ उसका भ्रम मिटा, भ्रम मिटनेके बाद एक भी क्रिया नहीं करनी पड़ेगी उसको कुन्ती पुत्र होनेके लिए।

इसी प्रकार हम रतनगढ़में रहते थे तो हमको लगता था कि जो हनुमानपार्क है और हनुमान-पुस्तकालय—वह जहाँ हम भाईजीके घरमें रहते हैं—वहाँसे पूर्व दिशामें है। और जो गुरुकुल-ऋषिकुल है वह पश्चिम दिशामें है। भुवालकाजीका घर दक्षिण दिशामें है। स्टेशन उत्तर दिशामें है। परन्तु हमारी समझमें धीरे-धीरे सूर्योदय, सूर्योस्त देखकर आ गया कि हमको दिग्‌भ्रम है। दिग्‌भ्रममें पूर्व पश्चिम नहीं हो जाता, पश्चिम पूर्व नहीं हो जाता। अपनी बुद्धिका ही भ्रम होता है। इसी प्रकार जो अशरीरी है, उस आत्माको शरीरमें स्थित होनेका भ्रम हो गया है कि यह शरीर मेरा है। यह शरीर मैं हूँ। यह शरीर सच्चा है। इसके बिना मैं रह नहीं सकता हूँ। जब आत्मज्ञान होता है (जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण बता रहे हैं) अर्थात् अनादि, निर्गुण, अव्यय, अविनाशी, आत्मदेवका जब ज्ञान होता है, तब जाना जाता है कि न शरीर मेरा है, न शरीरवाला मैं हूँ। अब उसमें शरीरके द्वारा जो कर्म होते हैं, उनमें न तो कर्तापनेका भय होता है और न तो भोक्तापनेका भ्रम होता है। वह छूट जाता है। असलमें यह एक भूल ही है जिनमें यह सारी दुनिया दु:ख पा रहा है। यदि यह भूल मिट जाये तो दु:ख होनेका कोई कारण ही नहीं है।

प्रश्न : फिर यह सर्वलोक-प्रकाशक है, ऐसा कहनेका क्या अर्थ है?

उत्तर : माने हम आत्माके बारेमें दो चीज बताना चाहते हैं। एक तो जो कुछ मालूम पड़ता है वह। आत्माको माने अपने आपको। ईश्वर है यह भी अपनेको मालूम पड़ता है और दुनिया है यह भी मालूम पड़ता है, अपने आपको। एक तो हम यह बताना चाहते हैं कि जितना भी ज्ञान होता है, जितना भी प्रकाश है, वह आत्माका ही है। और दूसरी बात यह बताना चाहते हैं कि जैसे सूर्य अलग रहकर सबको दिखाता है, ऐसे हमारा ज्ञान, आत्मा अलग रहकर नहीं दिखाता। बल्कि अपने अन्दर ही सबको दिखाता है। इसका अर्थ हुआ दृश्य होते हैं, उसमें माँ, बाप, भाई, बन्धु, पत्नी, मित्र, शत्रु, अच्छा-बुरा जो कुछ स्वप्नमें होता है, वह मुझसे मालूम पड़ता है और मुझमें ही मालूम पड़ता है।

स्वप्नमें एक पचास वर्षका आदमी मिला और उसका दस वर्षका बेटा है। न बेटा दस वर्षका है, न

आदमी पचास वर्षका है, यह अभी मालूम पड़ता है। बेटेका वजन बीस पौंड है और बापका वजन पचास पौंड है। असलमें न वह पचास पौंड है न बीस पौंड। इसी प्रकार एक छोटा लगता है—लम्बाईमें बहुत कम है। और एक बड़ा लगता है छः फुटका, सात फुटका। लेकिन वहाँ लम्बाई-चौड़ाई सब मुझमें है। वहाँ वजन मुझमें है। वहाँ उसकी उम्र मुझमें है। उम्र दिखानेवाला भी उसको देखनेवाला भी, बाप-बेटेको दिखानेवाला प्रकाशक भी मैं हूँ और उनका आधार—जिसमें वे दिख रहे हैं वह अधिष्ठान भी मैं हूँ। इसी प्रकार यह समझानेके लिए जो संसार दीख रहा है, इसका प्रकाशक भी आत्मा है और इसका अधिष्ठान भी आत्मा है। यह दुनिया ऐसे स्वप्रकाश सत्-अधिष्ठानमें दिख रही है जिसमें न इसकी उम्र है, न लम्बाई, न चौड़ाई है, न वजन है—अपने अभावके अधिकरणमें दीखनेके कारण यह बिना हुए ही दिख रही है। यह दो बात समझनेके लिए यहाँ भगवान्ने एक साथ ही दो दृष्टान्त दिये हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।

एक आकशका दृष्टान्त है: जैसे आकाशमें सब हैं वैसे आत्मामें सब हैं। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है वैसे आत्मा ही सबको प्रकाशित करता है। माने आत्मा वह सत्ता है जिसमें सबके आकारकी रेखाएँ खिंचती हैं—और आत्मा वह प्रकाश है जिसमें यह सब कुछ मालूम पड़ता है। ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि मालूम पड़े तो सुख, मालूम पड़े तो दु:ख, मालूम पड़े तो ईश्वर, मालूम पड़े तो जीव, मालूम पड़े तो जाना, मालूम पड़े तो पुण्यात्मा, मालूम पड़े तो आना, मालूम पड़े तो पापी, मालूम पड़े तो छोटा, मालूम पड़े तो बड़ा। इस प्रतीतिका इतना महत्त्व है कि बौद्धों ने तो सारी सृष्टिको ही 'प्रतीतिके समुत्पाद' के रूपमें निरूपण किया। पहले मालूम पड़ता है, फिर होता है, यह एक प्रक्रिया है। पहले होता है फिर मालूम पड़ता है, यह दूसरी प्रक्रिया है। पर मालूम पड़ना और होना दोनों एक साथ ही हैं, यह तीसरी प्रक्रिया है। मालूम पड़ना और होना दोनों ही केवल अज्ञान विजृम्भित हैं और मालूम पड़ना और होना दोनों अपने आत्माका स्वरूप ही है—यह पाँचवी प्रक्रिया है।

इस प्रकार सृष्टिके रहस्यको समझनेके लिए लोग अपना जीवन खपाते हैं—जैसे व्यापारी व्यापारके लिए, शिकारी शिकारके लिए, भोगी भोगके लिए, संग्रही संग्रहके लिए अपने समग्र जीवनको समर्पित कर देता है, इसी प्रकार जो अपने समग्र जीवनको सत्यके चिन्तनमें और साक्षात्कारमें लगा देते हैं, उन लोगोंको यह मालूम पड़ता है कि यहाँ कुम्हार और माटी दो नहीं हैं। यह जो घड़ा दिख रहा है वह कुम्हार और माटी दोनों एक ही चीज है—एक तेजस् तत्त्व है, उसीसे पानी बना, ऊष्मासे ही जल बना और जल ही माटी बना। सब तेजस् तत्त्व ही है। परन्तु उसी माटीसे घड़ा बन गया। घड़ेमें पानी रख दिया और पानीमें सूर्य जो तेजस् तत्त्व है उसका प्रतिबिम्ब मालूम पड़ने लगा। यह आत्मापर परमात्माका जो भेद है वह बिम्ब-प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे या आभासके दृष्टान्तसे

या अवच्छेदके दृष्टान्तसे या दृष्टि-सृष्टिके दृष्टान्तसे स्वप्नके समान समझाया जाता है। यह नहीं कि परब्रह्म परमात्मा कोई अवच्छेद है या बिम्ब-प्रतिबिम्ब है या कोई आभास है, या कोई दृष्टि-सृष्टि है। यह सब प्रक्रिया परमात्माको समझानेके लिए है। जो यहाँ जिसमें दीख रहा है, वह भी परमात्मा है और जिससे दीख रहा है वह परमात्मा है। और यह दीखता और दिखाना ये दोनों हमारे आत्माका ही स्वरूप है।

गह बतानेके लिए उपर्युक्त दोनों श्लोक यहाँ बोले गये हैं। और आकाशका दृष्टान्त देकरके दोनोंकी एकता—'अधिष्ठान सत्' और 'प्रकाशक चित्'—ये सत् और चित् दोनों अलग-अलग नहीं हैं। यदि दोनों अलग-अलग होवें तो बेमजा हो जायेगा बिलकुल। चित्के बिना सत् सिर्फ जड़ रह जायेगा। चितिसंज्ञाने धातुसे चित् शब्द बनता है। यदि होश न हो तो केवल बेहोशी, मूर्च्छा जड़ता रहेगी। और यदि सत् न हो तो चित् क्षणिक हो जायेगा-वह टूट-टूटकर मर-मरके-क्षण-क्षणमें पैदा होता रहेगा। चित्की क्षणिकता भी अनुभवके विरूद्ध है और सत्की जड़ता भी अनुभवके विरुद्ध है। इसलिए सत् आकाश और चित् प्रकाशक सूर्य इन दोनोंकी एकता बतानेमें ही अभिप्राय है। आकाशमें ही सूर्य दिखता रहता है। दिखता है, प्रकाशता है। आकाशसे ही एक होता है। यह सच्चिदानन्द परमात्माकी एकता बतानेके लिए दृष्टान्त है।

प्रश्न : अनुभवका जन्म-मरण नहीं होता तो अनुभव होता किसका है? अनुभव है क्या? क्या अनुभव और आत्मा एक ही है?

उत्तर : 'अनु' माने पीछे 'भव' माने होना—'भवनं भव:।'

अनु पश्चाद् भवनं—अनुभव:।

जो सबके पीछे रहकर सबको प्रकाशित करे उसका नाम अनुभव। ज्ञानकी पराकाष्ठा। लेकिन भव जोड़नेके कारण यह भी सत्ता हो गया। 'भू' धातु जुड़नेके कारण तो यह सत्ता हो गया और 'अनु' जुड़नेके कारण यह ज्ञान हो गया। इसलिए अपनी आत्माके अगर पीछे कोई है तो कल्पना मात्र है। और अपनी आत्माके सामने कोई है तो जीने-मरनेवाला है, आने-जानेवाला है। आने-जानेवाला भी अनुभव नहीं है और पीछे जो कल्पित है वह भी अनुभव नहीं है। अनुभव तो वह है जो आगे और पीछे, दोनोंकी कल्पनाको प्रकाशित करता रहता है। इसलिए, अनुभवका न जन्म है, न मरण है और न अनुभवमें परिवर्तन है। यदि परिवर्तन होवे तो उस परिवर्तनका जो अनुभव है, वह अपने आत्माका स्वरूप है। इसलिए अनुभवमें छ: बातें नहीं होतीं। एक तो वह जन्मता नहीं है। दूसरा सामने आकर दृश्य नहीं होता। तीसरा बढ़ता नहीं है, चौथा घटता नहीं है। पाँचवा—बदलता नहीं है। छठा क्षीण नहीं होता है और अनुभवका विनाश कभी नहीं होता है।

जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।

ये छ: बातें अनुभवमें नहीं होती हैं। अनुभव अपने आत्माका ही स्वरूप है और एकरस है। चाहे कितना भी परिवर्तन हो, शरीर बदल जायगा, मन बदल जागया, पाप-पुण्य बदल जायगा, राग-द्वेष बदल जागया, ह्रास-विकास होता रहेगा। और ये जो आत्मदेव हैं—सर्वदा एकरस, सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र रहते हैं।

●

नववाँ दिवस

(5-11-84)

सौ० जयश्री मोहता द्वारा समापन भाषण

पूज्य स्वामीजी महाराज,

आजके सत्रके बाद इस वर्षका यह अनुष्ठान समाप्त होगा। प्रवचन हो, अथवा जिज्ञासाओंके उत्तर, पूज्य श्रीस्वामीजीकी दिव्यवाणीका प्रभाव और आनन्द कुछ और ही है। गहरी-से-गहरी बातें अथवा ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंका विवेचन श्रीस्वामीजी महाराज इतने सरल और बोधगम्य तरीकेसे करते हैं कि श्रोता सहज हीमें मुग्ध हो जाते हैं। हमारे परिवारकी हार्दिक श्रद्धा और सादर प्रमाण ज्ञापित करते हुए और आभार मानते हुए पूज्य श्रीमहाराजजीसे निवेदन है कि, इधर वर्षों की परम्पराके अनुसार दीपावलीके बादके ये दिन प्रति वर्ष हमारे लिए सुनिश्चित और सुरक्षित रखें। ईश्वर आपको उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु प्रदान करे और इसी प्रकार आप देशमें ज्ञान एवं प्रकाश प्रसारित करते रहें। आपके साथ विराजमान स्वामी श्रीप्रबुद्धानन्दजी महाराजकी उपस्थिति आयोजन-गरिमाको बढ़ाती है।

आप सभी देवियों और महानुभावोंने पधारकर इस सत्संगमें हमारा साथ दिया, हम आपके आभारी है। इस कार्यक्रममें जिन-जिन महानुभावोंने योगदान दिया, उनको भी हम धन्यवाद देते हैं और सबके मंगलके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं।

× × ×

प्रश्न : प्रश्नोत्तरका जो पावन ज्ञान-प्रवाह चल रहा है, उसीके क्रममें एक प्रश्न है—'भूत-प्रकृति-मोक्ष' का तात्पर्य क्या है? क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अन्तरके बोधके साथ-साथ उसे जाननेसे परब्रह्मकी प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर : इस श्लोकमें जिसके बारेमें यह प्रश्न है, मानों तेरहवें अध्यायका सारा ही अर्थ एकत्र करके रख दिया गया है, और फलश्रुति भी कर दी गयी है। वैसे गीतामें तेरहवाँ ही अध्याय ऐसा है जिसमें तीन बार फलश्रुति आयी है।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

जब मेरा भक्त क्षेत्र, ज्ञान-ज्ञेयको ठीक-ठीक जान लेता है तो मेरा स्वरूप हो जाता है। यहाँ अधिकारीकी प्रधानतासे है। दूसरी फलश्रुति है—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।

यदि इसको ठीक-ठीक जान ले तो यह जो जीवनमें, मरणमें परिवर्तनकी कल्पना है वह छूट जाती है और निर्द्वन्द्व व्यवहार कर सकता है। आपको मालूम है कि यदि दुविधामें पड़े रहे और कोई व्यापार करें तो उसमें सफलता मिलना मुश्किल है। और दुविधामें पड़े हुए भोग करें तो उसमें भी सफलता मिलना, सुख मिलना मुश्किल है। और कोई धर्मका काम करें, उसमें भी दुविधा हो तो धर्म पूर्ण नहीं होता।

संदिग्धो हि हतो मन्त्रः।

बिलकुल निश्चयात्मक रूपसे सब कुछ करना चाहिए। यह तेरहवाँ अध्याय मनुष्यको अपना कर्म करनेसे—निर्द्वन्द्व-दुविधा रहित और निर्भय बना देता है। पहले बताया भगवत्प्राप्तिरूप फल। दूसरेमें बताया, इसी जीवनमें हम असंदिग्ध, नि:संशय होकर अपने सारे काम करें। यह छुट्टी कब मिलती है ? जब यह ज्ञान हो जाता है। आप किधर भी चलिये दाहिने, बाँये, सामने, पीछे, ऊपर, नीचे अपने लक्ष्यपर पहुँच जायेंगे। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि'—जैसे किसीको अमेरिका जाना हो तो चाहे जापानकी ओरसे जाय, चाहे यूरोपकी ओरसे—वह वहाँ पहुँच ही जायगा। इसी प्रकार जब परमात्मा सर्वरूप है, परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है तो वह साधनाके चाहे जिस रूपको स्वीकार करेगा वह परमात्माकी ओर पहुँच जायगा। तीसरी फलश्रुति यह है।

ये विदुः यान्ति ते परम्।

इसमें मोक्ष शब्दका भी प्रयोग है जो इसके पहले नहीं आया है। तेरहवें अध्यायमें इसी श्लोकमें मोक्षका प्रयोग है।

ये ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवमन्तरं भूतप्रकृत्तिमोक्षं च विदुः, ते परं यान्ति, परम् ब्रह्म यान्ति।

जैसा कि इस अध्यायमें निरूपण किया गया है, उसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-खेत और खेतिहर किसान—यह शरीर क्षेत्र है, खेत है और इसमें पाप-पुण्यका बीज बोनेवाला किसान है—क्षेत्री और उसका फल उसको मिलता है सुख-दु:खके रूपमें, बन्धन-मुक्तिके रूपमें—समझ आवश्यक है—जैसे यन्त्र चलानेवालेको यन्त्रके एक-एक पुरजेका और उसमें बिजली दौड़नेका, उसमें काम करनेका पूरा-का-पूरा ज्ञान होना चाहिए। वैसे शरीररूप जो यह यन्त्र है इसको चलानेवाले को भी इसके बारेमें पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए, तब इसको ठीक-ठीक चला सकता है। यन्त्र क्या है ? बिजली क्या है ? ज्ञान क्या है ? इसका अन्तर—सबमें जो वैलक्षण्य है—विशेष है वह क्या है ? एककी पहचानसे दूसरेकी पहचान अलग है—अलग-अलग सबको पहचान लेना चाहिए।

इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, सन्धान, चेतना, धृति ये सब इस शरीरमें विकार हैं और विकारके आधार हैं महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और अहंकार जो सबको समन्वित करते हैं। हाथसे ग्रास उठाते हैं तो हाथ ग्रासको मुँहमें ही डाले—आँखके पास मक्खी आवे तो उसको हाथ जाकर हटावे। जो आँख और हाथ दोनोंको मेरा समझनेवाला है, वह मेरावाला अहंकार है। और उसमें जो बुद्धि है और उसमें सबके मूलमें एक ऐसी चीज है जो किसी इन्द्रियके द्वारा देखी नहीं जाती। उसको अव्यक्त बोलते हैं जो किसी इन्द्रियके द्वारा देखी नहीं जाती। उसको अव्यक्त बोलते हैं। यह है क्षेत्र—माने मशीनकी बॉडी क्या है इस बातको ठीक-ठीक समझना और उसको चलानेका ज्ञान और चलानेकी शक्तिका ज्ञान—यह जब होगा तो जैसे हम कोई मशीन ठीक-ठीक चलाते हैं—चाहे तो उसे उखाड़कर रख दें और फिर जोड़ लें। चाहे तो जहाँ चाहे उठाकर ले जावें-उसमें कुछ टूट जाय बिगड़ जाय तो उसको बना लें। ये सारी विधियाँ क्षेत्रको जान लेनेसे, शरीरको जान लेनेसे, आ जाती हैं। जो लोग यन्त्रके एक-एक पुरजेको नहीं जानते हैं, वे जरा-सी रुकावट पड़ जाने पर ही घबड़ा जाते हैं। और जो लोग उसके रहस्यको जानते हैं उनको कोई घबड़ाहट नहीं होती।

यह रहा एक पुरजा और इस पर बैठा है क्षेत्रज्ञ—परन्तु क्षेत्रज्ञ कितना बड़ा है, जिसका पता लोगोंको नहीं चलता। आप क्या है? अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं। कभी अपनेको नाना समझते हैं—कभी मामा, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी भाई, कभी बहन। यह सब तो आप समझते हैं। लेकिन जो अविच्छेद्य मानवता आपके साथ लगी है, उसपर ध्यान नहीं जाता है। आप केवल नाना-नानी—मामा-मामी, बाप-बेटा, भाई-बहन नहीं है। आप केवल साले-बहनोई नहीं हैं, फूफा-फूफी नहीं है। एक मनुष्यता है आपके अन्दर जिसके बिना आप दूसरा कोई हो ही नहीं सकते। आप अपनेको हिन्दू तो मान बैठते हैं पर मानवको भूल जाते हैं। आप अपनेको मुसलमान मान लेते हैं—मानवताको भूल जाते हैं। तो व्यावहारिक दृष्टिसे मानवता है ब्रह्म और उसमें जितने रिश्ते, नाते हैं—चाहे तो जातिके हों, चाहे सम्प्रदायके हों, चाहे परिवारके हों—वे सब कल्पित हैं।

एक दृष्टिसे आप पिता हैं, दूसरेकी दृष्टिसे पुत्र हैं। तो अनिर्वचनीय हो गया। न आप केवल पिता हैं न केवल पुत्र हैं, न केवल मामा हैं, न नाना हैं लेकिन आप मनुष्य जरूर हैं। इसी प्रकार जब अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तो आप पाप-पुण्यके करनेवाले हैं। सुख-दु:ख भोगनेवाले हैं, नरक-स्वर्गमें जानेवाले हैं, एक टुकड़े हैं, कतरा है। लेकिन एक चीज ऐसी है, एक सत्ता ऐसी है, एक ज्ञान ऐसा है, एक आनन्द ऐसा है जिसके बिना आप और कुछ है ही नहीं। जब आप हैं तब सब कुछ है। आप अपने प्यारे हैं तब सब कुछ हैं। यह जो अपना आपा है जिसके बिना दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता, उसको भूल जाते हैं। उस क्षेत्रज्ञको माने शरीररूपी जो खेत है, इसका जो जाननेवाला है उसको जानना—तब होगा जब कुछ साधन होगा। कुछ निवृत्ति होगी, कुछ भजन होगा। इसलिए अन्तमें यह बताते हैं कि—

'ये तु ज्ञानचक्षुषाः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो एवम् अन्तरं, भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः।'

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अन्तर करो। अपनेको मामा, नाना, चाचा सारेसे एकबार अलग करो। मनुष्यके रूपमें समझो। यह समझमें कैसे आयेगा?' 'ज्ञानचक्षुषा'। अपनेको ब्रह्मरूपमें समझो। यह कैसे आयेगा? 'ज्ञानचक्षुषा'। इसके लिए साधन है, शास्त्र, आचार्य, सत्संम्प्रदायके द्वारा जो आपको सत्-ज्ञान मिला है उसकी आँखसे इसको दिखये। रंगीन चश्मेसे नहीं देखिये। शुद्ध चश्मेसे देखिये। हमको किसीने बताया था कि सूर्यकी रोशनीमें कोई रंग नहीं है। लेकिन जितनी रोशनी गढ़ी गयी है, बल्बकी, दीपककी, उनमें कोई-न-कोई रंग होता है। एक ज्ञान ऐसा होता है जिनमें कोई संस्कार नहीं है विकार नहीं है, प्रकार नहीं है, आकार नहीं है। एक ऐसा ज्ञान होता है जिसमें कोई चिन्ता नहीं है, कोई व्याधि, रोग नहीं है। कोई समाधिकी एकाग्रता नहीं है और उपाधिका अन्य पदार्थ उपाधिरूप जुड़ा हुआ है। आधि, व्याधि, समाधि, उपाधि इनसे रहित एक ज्ञान होता है। उस ज्ञानसे जब हम किसी चीजको देखते हैं तब बिलकुल ठीक-ठीक देखते हैं। और चश्मोंपर रंग चढ़ाकर देखते हैं, तो किजस रंगसे चश्मेको रंग देंगे, उस रंगकी वह चीज दीखने लगेगी।

इसलिए 'ज्ञानचक्षुषा'का अर्थ है कि आप अपने मनगढ़न्त जो विकार और संस्कार है उनसे मुक्त रहकर ज्ञानदृष्टिसे जब आप देखेंगे तो यह शरीर अलग रह जायेगा। 'ज्ञानचक्षुषा' कहनेका एक अर्थ यह भी है कि सचमुच डंडेसे मारकर या चाकूसे काटकर शरीरको अलग करना नहीं पड़ेगा। ज्ञानसे ही अलगाव मालूम

पड़ जायगा कि शरीर क्या है और हम क्या हैं! यह बात समझनेकी है फिर यह जो क्षेत्रज्ञ है यह सबके शरीरमें एक है। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'। बड़ी अद्भुत बात है यह कि सबके शरीरमें माटी तो तत्त्व रूपसे एक है और जल भी तत्त्व रूपसे एक है और ऊष्मा भी तत्त्व रूपसे एक है और ऊष्मा भी तत्त्व रूपसे एक है—वायु भी। हम सब लोग एक ही हवागें सांस लेते हैं। आकाश भी सबमें एक है और उस आकाशको अपने अन्दर भान करानेवाला जो चेतन है वह एक है; इसमें तो कोई शंका ही नहीं है। जब हमारे और आपके शरीरकी हवा एक है, एक हवामें हम साँस लेते हैं और आकाश एक है तो आकाशसे भी सूक्ष्म उसको प्रकाशित करनेवाला चेतन तत्त्व है। वह आपसे—हमसे अलग हो ही कैसे सकता है? पहले देहमें-से चेतनको अलग समझिये, जानिये। और इसके बाद अद्भुत बात बतायी—'भूत-प्रकृतिमोक्षं च'—भूत और उनकी प्रकृतिको जानना चाहिए।

पहले हम लोगोंको महात्मा लोग सुनाया करते थे कि मशान चेतता है तो उसमें ऐसा लगता है कि भूत-प्रेत नाच रहे हैं, उनके घरमें ब्याह-शादी हो रही है—होता कुछ नहीं—लेकिन मालूम पड़ता है। इसी प्रकार ये जो भूत हैं—मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश ये भूतकी तरह हैं। महादेव शिवजीके महाश्मशानमें ये बिना हुए ही हमारी इन्द्रियोंके दोषसे मालूम पड़ते हैं, यदि हमारी इन्द्रियाँ निर्दुष्ट हो जायँ या देखना पसंद न करें तो यह सारा श्मशानका खेल बन्द हो जायगा। महाश्मशान ज्यों-का-त्यों। भूतोंकी प्रकृति क्या है? उसका नाम है अविद्या—अज्ञान। असलमें एक सत्ताको न जाननेके कारण ही हमको भूतोंकी अलग-अलग सत्ता मालूम पड़ती है। तो भूतोंकी जो प्रकृति है—अविद्या, अज्ञान, नासमझी—जितना भी भेद-विभेद मालूम पड़ता है, जिसके लिए हम लड़ते हैं—वह सब हमारी नासमझीका खेल है—नहीं तो यदि स्वप्नावस्थापर विचार करें तो वहाँका जीना, वहाँका मरना, वहाँका सुख, वहाँका दु:ख, वहाँका ब्याह, वहाँका गौना, सब एक ही है। स्वप्नके दृश्य अलग-अलग मालूम पड़नेपर भी वस्तुत: एक ही तत्त्व के ताने-बाने हैं। यह बात कब मालूम पड़ती है? जब हम अभिमान छोड़कर, दम्भ छोड़कर, हिंसा छोड़कर, अपराधीके पीछे डंडा लेकर दौड़ना छोड़कर और छलकपट छोड़कर ज्ञानी सद्‌गुरूकी शरणमें जाते हैं तब यह मालूम पड़ता है। तो भूत-प्रकृति मोक्षका अर्थ यह है कि यह जो कार्य और कारण, भूत माने कार्य और प्रकृति, माने कारण, इन दोनोंका मोक्ष, मोक्ष माने दोनोंका छूट जाना, दोनोंको उसके अभावके अधिकरण परब्रह्म परमात्मामें देखना। यह दृष्टि जिसको प्राप्त हो जाती है वह परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भक्तियोग बारहवें अध्यायमें 'धर्म्यामृत'का वर्णन किया और यहाँ तेरहवें अध्यायमें शुद्ध अमृतका वर्णन किया।

धर्मयुक्त अमृत माने धर्म्यामृत-साधन सहित अमृतका निरूपण और यहाँ फलात्मक अमृतका निरूपण किया। जो इसको जान जाते हैं उसको परम सत्य, परम तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, नहीं तो लोग कुहासेमें घिर गये हैं और एक दूसरेको देखते नहीं हैं। एक दूसरेको पहचानते नहीं हैं। अपना हाथ भी अपनेको नहीं दिखता है—ऐसा घोर अन्धकार—और एक दूसरेको पुकारकर, बोल-बोलकर अपना व्यवहार चलाते हैं। देखता किसीको कोई नहीं—केवल जबानी जमा-खर्चमें लगे हैं, न धर्म समझे, न अधर्म समझे, न सुख जाने, न दु:ख जाने। यदि यही पूछें कि आप सुख किसको मानते हैं तो यह बता देंगे—इतना रुपया हो, ऐसी स्त्री हो,

ऐसा मकान हो और ऐसा भोग हो तो उसका नाम सुख है। सुख सब चाहते हैं परन्तु सुखको पहचानते नहीं हैं। दु:खसे परहेज करते हैं पर दु:खको पहचानते नहीं हैं। अपना-पराया मानते हैं पर अपने-परायेको पहचानते नहीं हैं। ऐसे घोर अन्धकारमें यह जीवन व्यतीत हो रहा है।

नीहारेण प्रावृता प्रजल्प्या:। (तै० स० 4.6.2.2)

कुहासेमें घिरे हुए हैं, केवल बकवाद करते हैं। इन्द्रियोंकी तृप्तिमें, खाने-पीनेमें फँस गये हैं। एक नौकरकी तरह मजदूरकी तरह अपने मनकी नौकरीमें लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति लोगोंकी हो गयी है। परन्तु यदि अभिमान, दम्भ छोड़कर सद्‌गुरुकी शरण लेकर पवित्रतासे रहकर, स्थिर चित्तसे इन्द्रियोंको रोककर, यदि कोई इन इन्द्रियोंके पीछे रहनेवाले, **धियो यो न: प्रचोदयात्—**

इस सत्यको समझ जाय तो न केवल मोक्ष—मोक्ष माने संसारमें जितने संशय है, दुविधा हैं, उनसे छुटकारा, जितनी चंचलता है, विक्षेप है उनसे छुटकारा, नरक-स्वर्गसे छुटकारा कहीं जाना नहीं, आप जहाँ हैं, वहीं आप अपना पाँव जमा लीजिये और परब्रह्म परमात्मा सत्य प्राप्त है। अन्यथा जाना-आना लगा रहेगा एवं भटकना पड़ेगा। इसलिए ये जो हमारे उपनिषद्, गीता आदि शास्त्र हैं ये केवल मरनेके बादके लिए नहीं हैं। यह जो पुरोहितोंकी विद्या है, या मौलवियोंकी है या पादरियोंकी है या दस्तूरोंकी है या ग्रन्थियोंकी है, यह विद्या मरनेके बादके लिए है। और यह जो हमारी उपषिद्-विद्या है, अध्यात्म-विद्या है, यह इसी जीवनके लिए है कि हम कैसे काम करें, कैसे भोग करें, कैसे धर्म करें और सब कुछ करते हुए भी निर्द्वन्द्व, निर्भय, निर्मुक्त रहें। इसलिए—**ये विदु: ते परम् यान्ति।**

जो इसको जान लेते हैं और अपने बारेमें केवल जानना ही होता है। हम अपनेको छोड़ नहीं सकते, इसलिए छोड़नेका प्रयास मत कीजिये। अच्छा; हमको पाना नहीं है कि हम किसी प्रकारसे हमको पायें। हम तो मिले हुए ही हैं। जिसको छोड़ सकते नहीं और जो मिला हुआ ही है उसको तो जान लेनेसे ही कि यह नित्य, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त है—परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। यहाँ 'भूत-प्रकृतिमोक्ष'का अर्थ यह है कि यह कार्यकारण रूप जो शरीर है, इससे विलक्षण रूपमें जब अपनेको जान लेंगे तो इसके सगे-सम्बन्धियोंमें फँसेंगे नहीं, इसकी आधि-व्याधिमें फँसेंगे नहीं। इसके रोग-रागमें फँसेंगे नहीं और निर्द्वन्द्व हो करके बिना पीछेकी ओर देखे, और बिना आगे पाँव फिसले, हमारे चलनेमें हमारा पाँव पीछे फिसल जाय तो भी गिरते हैं और आगे ज्यादा फिसल जायँ तो भी गिरते हैं और वहीं-का-वहीं गड़ जाय तो यात्रा ही बन्द हो जाती है। इसलिए इसको कहते हैं भूतकी चिन्ता, भविष्यका भय, भूतके लिए शोक, होनेवालेके लिए भय—इसको छोड़कर और वर्तमानमें कहीं भी मोह न हो—ये काले बाल हमारे हमेशा बने रहें—नहीं; जब काले होते हैं तब तो जवानी है। खूब उत्साहसे काम कीजिये और जब सफेद होते हैं तो आप बुजुर्ग हो गये—अनुभवी हो गये और अपने अनुभवसे लोगोंको शिक्षा दीजिये, उनको चलनेका रास्ता बताइये। काले बाल हैं तो आप उत्साही, नवजवान, कर्तव्य-परायण हैं—और सफेद बाल हैं तो आप अनुभवी हैं। सब बुजुर्गोंसे बड़े सब, अनुभवियोंमें श्रेष्ठ, आप सबको ज्ञान दीजिये। यह तो विद्या है।

ये विदु: यान्ति ते परम् यान्ति।

'अनुभवन्ति'। ज्ञानके साथ ही यह अनुभव हो जायगा कि संसारमें कोई ऐसा बन्धन नहीं है जो आपको बाँध सके, ऐसा कोई भय नहीं है जो आपको डरा सके। कोई ऐसा शोक नहीं है जो आपको हमेशाके लिए शोकग्रस्त कर सके। कोई ऐसा मोह नहीं है जो छूट न सके। 'चरैवेति चरैवेति' चलते चलो—चलते चलो! आगे मधु ही मधु है। 'चरन्वै मधुं विन्दति' (7.13.17) जो चलता है उसको मधु परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न : गीताके तेरहवें अध्यायमें ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा, पर एवं ब्रह्मका प्रयोग एक ही तत्त्वकी भिन्न स्थितियोंके द्योतकके रूपमें सकारण प्रयुक्त हुए हैं या वे एकदम पर्यायवाची हैं?

उत्तर : वैसे तो सभी शब्दोंके अर्थमें कुछ-न-कुछ विशेषता बतायी जा सकती है और उसके ठीक-ठीक अर्थका जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए जानना आवश्यक भी है। परन्तु तत्त्व एक ही होता है। घड़ेका आकार अलग है, सकोरेका आकार, खपरैलका आकार अलग है परन्तु सबका नाम मिट्टी है कि नहीं? तत्त्वत: सब-के-सब मिट्टी हैं।

एक सुनार था, उसके यहाँ कोई ग्राहक आया तो उसने अपने बेटेसे कहा कि तिजोरीमें सोना रक्खा हुआ है, ले आवो। बेटेने जाकर देखा, लौटकर आया पिताजी उसमें तो सोना नहीं है। बड़ा आश्चर्य हुआ पिताको! गया, दिखाया-यह देखो-कंगन है—सोना ही तो है! नहीं पिताजी, यह कंगन है, सोना नहीं है। कंगन नाम है, परन्तु तत्त्व सोना है। उसने कड़ा उठाया, पिताजी यह तो कड़ा है— नहीं यह सोना है, कुण्डल उठाया—यह तो कुण्डल है, हार है—नहीं बेटा; यह सब सोना है! सिल्ली है? नहीं यह भी सोना है। तत्त्वकी दृष्टिसे सिल्ली नाम लो चाहे सोनेका चूर्ण नाम हो, चाहे कंगन हो, कड़ा हो, हार हो, कुण्डल तो—काम लेनेवालोंके लिए वह अलग-अलग है और जो तत्त्व देखते हैं, उनके लिए तो एक ही है। इसमें यह तत्त्वज्ञान उसका स्थिर होता है जिसको पहननेके काममें सोना नहीं लेना है। सोनेकी जो पूँजी है उसको जो पहचानना चाहता है उसके लिए सब सोना है, चाहे उसको नाम कुछ भी हो, रूप कुछ भी हो।

एक बापने अपने बेटेसे कहा कि बेटा; यह काम कर दो तो तुम्हें मिठाई खिलायेंगे। काम कर दिया बेटेने। अब उसका बाप मिठाई लेकर आया, बोला पिताजी यह मिठाई तो नहीं है। यह क्या है? यह तो पेड़ा है, बरफी है। अब तो जो शक्ल-सूरत लेकर बाप आवे उसका कोई न कोई नाम रखा हुआ है—यह शक्कर है, यह मिश्री है। भाई यह सब मिठाई है—इसका नाम चाहे कुछ भी रखा हो—और शकल-सूरत कैसी भी बना दी गई हो। परन्तु यह सब मिठाई हैं। तुम्हें आँखके लिए रूप चाहिए, नाकके लिए गंध चाहिए। जीभके लिए स्वाद चाहिए। लेकिन है यह सब-की-सब मिठाई। जो पहचान लेते हैं—उस मिठाईको—

'नारायण तिन कहँ सब फीको जिन चाखी'

यह रूप-मिठाई। यह जो परमात्माके स्वरूपकी मधुरता, माधुर्य जिसने चख लिया उसके लिए सब-का-सब मीठा ही मीठा हो जाता है। चाहे नाम कुछ भी हो, रूप कुछ भी हो। तो अवान्तर अर्थ अलग-अलग होते हैं। अहंका जो सार है उसको आत्मा कहते हैं। सबके अहं अहं अहं—बुलबुले उठ दाल चुर रही है,

बुलबुले उठ रहे हैं—फुदुर-फुदुर-फुदुर—लेकिन वह है सब पानी ही। इसी प्रकार सबके हृदयमें जो एक चेतन जाग्रत हो रहा है, वह अहंका जो सार है, उसको कहते हैं आत्मा। वह जाग्रत-अवस्थामें विषयोंको देखता है, ग्रहण करता है। स्वप्नावस्थामें सब बना लेता है। सुषुप्ति अवस्थामें सबका संहार कर लेता है और तीनों में बिलकुल एक सरोखा साक्षी रहता है। अब जो सक्षी अलग-अलग मालूम पड़ते हैं उनको एकमें देखो तो उनका नाम परमात्मा हो गया और वही सब ब्रह्मा आदि ईश्वरोंसे बड़ा है। इसलिए उसको परमेश्वर कहेंगे। सबसे बड़ा ऐश्वर्य उसीमें है, इसलिए उसको महेश्वर कहेंगे। और जिसमें किसी प्रकारका परिच्छेद, टुकड़ा कतरा नहीं है उसको ब्रह्म कहते हैं। जो सबको सत्ता स्फूर्ति देनेवाला और सबसे परे है उसको पर कहते हैं। ये सब एकके ही बहुत सारे नाम हैं, परन्तु कोई-न-कोई विशेषता सूचित करनेके लिए इन नामोंका खास-खास तरहसे प्रयोग होता है और आत्मा, सत्य, ब्रह्म, परमात्मा, परतत्त्व ये सब जो हैं वे व्यवहार के लिए हैं—

'कल्पितव्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः।'

उसी एक सत्य तत्त्वके अनेक नाम रखे गये हैं—परस्पर व्यवहार करनेके लिए। यह तो एक भाषाकी बात हुई। दुनियामें जितनी भाषाएँ हैं और जितनी लिपियाँ हैं, उनमें शब्द तो अलग-अलग होते हैं और उनसे भाषा भी अलग-अलग बनती है, परन्तु तत्त्व तो सबमें एक ही होता है। इसलिए जो एकत्त्वको पहचानते हैं वे सबमें उस एकको देख लेते हैं और इससे किसीके प्रति नफरत, या मुहब्बत नहीं होती; मुहब्बतमें फँसकर बुराई करना या नफरतमें फँसकर बुराई करना ये दोनों बुराई-बुराई हैं। जो परमात्माकी एकताको जान लेता है वह इन बुराइयोंसे मुक्त हो जाता है।

प्रश्न : गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका है उसमें कहा है—श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे—तो एक ही साथ गीताको उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र तीनों क्यों कहा गया?

उत्तर : यों कहा गया कि गीताके एक, एक श्लोकको चाहें तो उपनिषद् मन्त्रोंके साथ मिला सकते हैं। जो कुछ उपनिषदोंमें कहा गया है, वह सब गीताके श्लोकोंमें मिलता है। दूसरी बात यह है कि उपनिषद् जो है वह मनुष्यको परमात्माके पास पहुँचा देती है इसलिए उसका नाम उपनिषद् है। गीता भी परमात्माके पास पहुँचा देती है। उपनिषदोंके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। गीताके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिए यह ब्रह्मविद्या है। इसकी विशेषता यह है कि जहाँ उपनिषदें निवृत्ति-परायण वैराग्यवान्‌की ओर ज्यादा झुकती हैं—वहाँ गीता निवृत्ति-परायण वैराग्यवान्‌के प्रति अत्यन्त महत्त्व-बुद्धि रखते हुए भी उसकी ओर झुकती नहीं है। यह तो युद्धभूमिमें आकरके अपना महत्त्व दिखाती है।

हमसे भगवान्‌ने कहा—हमको मन्दिर पसन्द नहीं हैं। इसमें बन्द मत करो। ताला मत लगाओ। हमको ले चलो दुकानेमें, मैदानमें, सब जगह ईश्वर चाहिए। धर्मने कहा हमको केवल यज्ञशालामें कैद मत करो—धूँआ खाते-खाते बहुत दिन हो गया—अब जरा घरमें ले चलो—परिवारमें ले चलो। यह जो गीता भगवती हैं यह ब्रह्मविद्याके साथ-साथ योगशास्त्र भी है। योगशास्त्रका अर्थ यह है कि आप कर्मयोग करें, भक्तियोग करें।

अष्टांग योग करें। गीता कहती है—खूब व्यवहारमें लगे रहें, काम खूब करें। यह गीता ब्रह्मको गाँवमें लेकर आयी है, युद्धभूमिमें लेकर आयी है। अरण्य-भूमिसे रणभूमि लेकर आयी है। यह ब्रह्मविद्या है। यह उपनिषद्, जो पहले संन्यासी होकर पढ़ा करते थे, उसको गृहस्थोंके घरमें ले करके आयी है, इसलिए योगशास्त्र है। वहाँ निवृत्ति-परायण होकरके लोग शान्त एकान्तमें बैठते थे। वहाँ ब्रह्मविद्या रहती थी। अब काम-धन्धा करते हुए—**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।**

सब काम करते जाओ और यह ब्रह्मज्ञान तुमको शक्ति देता रहेगा। इसलिए इसको योगशास्त्र कहते हैं। लोकमान्य तिलकने गीतापर अपना 'गीता-रहस्य' लिखा है—गीताकी टीका तो उनकी बहुत छोटी-सी है; परन्तु 'रहस्य' में ही उनका सारा ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है। उन्होंने योगशास्त्रपर बहुत अधिक जोर दिया है और कहा है कि जंगलमें, पहाड़में, नदियोंके संगमपर रहनेवाले जो महात्मा है उनकी विद्याको गीता हमारे परिवारमें, घरमें सब जगह पहुँचा देती है, इसलिए गीताका नाम योगशास्त्र है।

प्रश्न :-ज्ञानके, व्यवहारके, भक्तिके बहुत-से साधन आपने गीताके अनुसार बताये। किन्तु हम साधारण लोग, किस साधनको स्वीकार कर आगे बढ़नेमें समर्थ होंगे? कौन उपाय सुरक्षित और सुगम है।

उत्तर : ऐसा है कि हम जब-जब घोड़ेपर चढ़ेंगे तब-तब पट्से गिर पड़ेंगे। बड़ा कठिन लगता है घोड़ेपर चढ़ना। और साइकिलपर तो बैठनेको जब मिला—तो साइकिल उलट गयी। कितना कठिन है साइकिल चलाना मेरे लिए और उन बच्चोंको देखते हैं कि जब साइकिल दोनों पाँवसे चलाते हैं और हाथ दोनों उठा देते है—कभी-कभी पाँव चलाना भी बन्द कर देते हैं और सर्कसमें तो साइकिलको कुएँमें भी उतार लेते हैं। सुगम और कठिन क्या होता है? जिसको जिसका अभ्याय होता है वह उसके लिए सुगम हो जाता है। और जिसका जिसको अभ्यास नहीं होता है, अभ्यास माने आदत; दुहराना, उसके लिए वह कठिन हो जाता है। असलमें कठिनता और सुगमता किसी साधनमें नहीं होती और न तो किसी साध्यमें। जो हमारे लिए अन किया है, जिसको हमने कभी नहीं किया है, अनजाना है, जिसको हमने नहीं जाना है, वह हमारे लिए कठिन मालूम पड़ता है। और जो किया हुआ है, करनेका अभ्यास है, वह सरल हो जाता है। किसी भी वस्तुमें सुगमता और कठिनता स्वरूपसे नहीं होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

रघुपति भगति करत कठिनाई।

भगवान्‌की भक्ति बड़ी कठिन है। हाँ; होगी! फिर एक जगह कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥

हमारे झँवरजीको राग-रागिनी बजाना हो तो पट बजायेंगे—कोई गा रहा हो पट बता देंगे कौन-सी रागिनी कहाँ चूक गया? और हम लोग तो सब धान सोलह पसेरी, पहचानते ही नहीं है कि क्या है! ऐसी स्थितिमें साधनको सुगम, कठिन, मत कहो। हमने ऐसे साधन करनेवाले देखे हैं कि जिनके रोम-रोमसे भगवान्‌के नामकी ध्वनि निकलती है। ऐसे साधन करनेवाले देखे हैं जो घण्टों चुपचाप, बिना हिले-डुले,

पलक झपके बिना बैठे रहते हैं। पहली बात तो यह है कि जो आप करेंगे वही आपके लिए सरल हो जायेगा। सबसे सुगम साधन आपके लिए वही होगा जिसको आप करना शुरू कर देंगे और जिसको नहीं करेंगे, वह हमेशा कठिन बना रहेगा। पर हमें तो यह कहना है कि आप चाहते तो हैं अरबों रुपयेका व्यापार और उसके लिए लाख रुपया भी लगाना नहीं चाहते हैं। अब आपका लक्ष्य बड़ा है तो उसके लिए बड़ी पूँजी भी लगानी पड़ती है। बड़ा व्यापार भी करना पड़ता है। आप चाहें तो अविनाशी ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायेगी जो ब्रह्म कालमें कभी न पैदा हुआ, न मरता है, कालसे परे है, वह परब्रह्म—जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण किसी दिशामें सीमित नहीं है, सब दिशाओंको अपने भीतर धारण करके सबसे बड़ा है। आप चाहते तो हैं उस परमात्माको जो जगत्की सृष्टिका मूल कारण है, जिसमें सृष्टि होती और विलीन होती है।

इतने बड़े सत्यको, इतने बड़े परमेश्वरको, इतने उत्तम लक्ष्यको आप प्राप्त करना चाहते हैं और कठिन साधनसे घबराते हैं! क्यों सुगम चाहिए—जब आपको इतना बड़ा लक्ष्य प्राप्त करना है? ऐसे कहिये न कि हम कठिन-से-कठिन साधन करनेको तैयार हैं—हमें तो अपने लक्ष्यकी प्राप्ति चाहिए। आप घबड़ाइये मत—अपनेको तैयार कीजिये। असलमें कठिन-से-कठिन साधन करके परमात्माको प्राप्त करनेका अपने जीवनमें जो उत्साह है—वह उत्साह ही सबसे बड़ी साधना है। यदि आपके हृदयमें लक्ष्यकी प्राप्तिकी, भगवत्प्राप्तिकी, आशा बँध गयी और उसकी प्राप्तिके लिए उत्साह आ गया। तो आप ईश्वरके लिए बैठ जाइये, वह आपके पास आजायेगा। ईश्वरके लिए सो जाइये, वह आकर आपको जगायेगा। ईश्वरके लिए आप दौड़िये और वह आकर आपको गलेसे लगा लेगा। ईश्वरकी प्राप्ति, लक्ष्यकी प्राप्ति, साधनाकी कठिनता, सुगमतापर निर्भर नहीं है। हमारे हृदयमें उस साधनके लिए जो श्रद्धा है, जो उसका अनुष्ठान है, वह हमारे लिए परम कल्याणकारी है और यदि आप उत्तम-से-उत्तम लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं तो थोड़ा कठिन साधन भी कर लीजिये। रही बात सुगमकी; तो सुगम तो जो आप करेंगे वह सुगम हो ही जायगा।

आजकल हमारे पूछनेवाले यह चाहते हैं कि हम यह कह दें कि नाम लेना सबसे सुगम है। नामका उच्चारण करो, सबसे सुगम साधन है। अकेलेमें बैठकर न हो तो मिल-जुलकर कीर्तन करो तो वह भी बड़ा सुगम है। किसी महात्माके लिखे हुए ईश्वर-परक ग्रन्थका पाठ कीजिये, वह भी बड़ा सुगम है। ईश्वरके लिए थोड़ा हाथ जोड़ लीजिये—यह भी सुगम है। ईसाई लोग तो कहते हैं; हप्ते में एक दिन गिरजामें जाओ। प्रेयर करके आ जावो, सुगम हो गया। मुसलमान लोग कहते हैं पाँच बार नमाज पढ़ा करो। कितना कठिन हो गया। हिन्दू लोग कहते हैं तीन बार सन्ध्या किया करो। असलमें ईश्वर या लक्ष्य-प्राप्तिका सम्बन्ध अपने हृदयके सद्भावसे है। और वह न कठिन है न सुगम है। आप एक क्षणमें अपना भाव पक्का कीजिये और देखिये उसका मजा आपको आने लगता है।

●

गीता-दर्शन

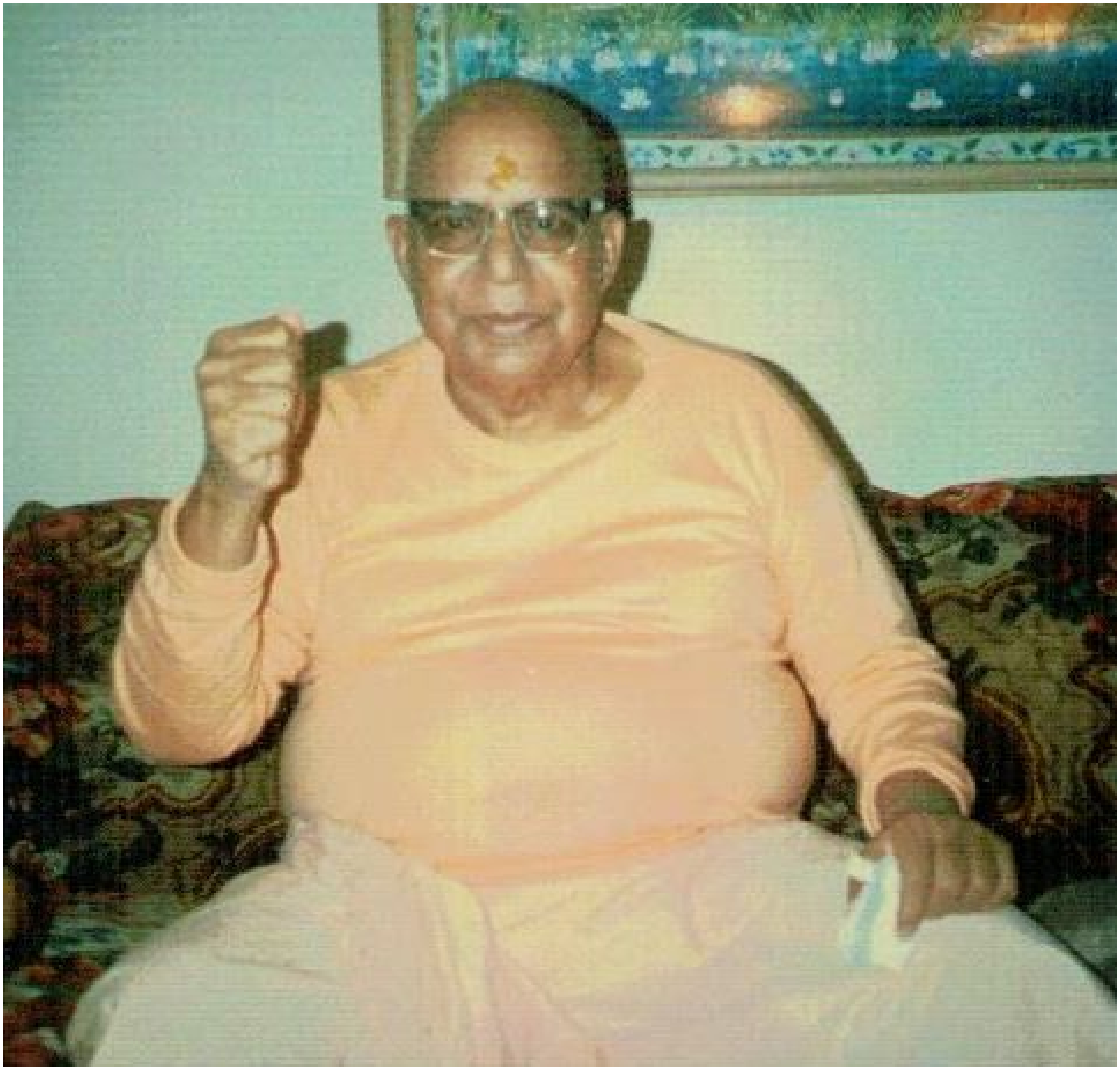
(12)

गीता अध्याय - 14

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

श्रीहरिः

शुभाशीर्वाद

बिरला-परिवार अपनी परम्परागत धर्मरुचिके कारण सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रायः उसके द्वारा निरन्तर कोई-न-कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न होता रहता है। यह गीता-दर्शन भी अनेक वर्षोंसे चले आ रहे गीता-प्रवचनका एक अध्याय है। श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्त कुमार बिरलाकी ओरसे 'संगीतकला मन्दिर'में यह चौदहवें अध्यायके प्रवचन आयोजित हुए थे। उनके परिवार एवं इष्ट मित्रों तथा साधारण जनताने इसका पूरा आनन्द लिया है। हम भगवान्से प्रार्थना करते हैं, इसी प्रकार मानव-जीवनको सदाचार, सद्भाव, सद्बुद्धिसे सम्पन्न करनेके लिए, इनका उत्साह बढ़ाता रहे। भगवान्की कृपा तो सर्वत्र है ही।

बम्बई
17-7-86

अखण्डानन्द सरस्वती

समारम्भ

15-11-85

स्वागत-भाषण :

श्रीरमणलालजी बिन्नाणी

परम श्रद्धेय, युग-पुरुष, युगके प्रकाण्ड महान् विद्वान स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजके चरणोंमें हम सबका सादर प्रणाम! महानुभावों! यह हमारा परम सौभाग्य है कि महाराजश्रीके दिव्य वचन सुननेका हमें सुअवसर, सौभाग्य मिल रहा है। हमारे देशके परम संत, महान् विभूति, प्रकाण्ड विद्वान्, अधिकारी व्याख्याता—(और क्या-क्या कहें) स्वामी अखण्डानन्दजी महाराजका सान्निध्य—हमारे परम सौभाग्यका उदय है। प्रतिवर्ष इन दिनों स्वामीजी यहाँ पधारकर हम सबपर बड़ी कृपा करते हैं। स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज—अखण्ड आनन्द तो हैं ही लेकिन मैं कहना चाहूँगा—विद्वत्ताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। कितनी गहरी पैठ आपकी है—हमारे धर्मग्रन्थोंमें! ऐसे महामानव, महामना, महान् सन्तका सान्निध्य पाकर हम अपनेको कृतकृत्य मानते हैं।

यह प्रात:कालीन कार्यक्रम बिरला-पार्कमें हुआ करता था। कुछ ऐसे कारण बन गये कि इस बार यह कार्यक्रम बिरला-पार्कमें सम्भव नहीं हो सका और संगीतकला मन्दिर तथा संगीतकला मन्दिर ट्रस्टके साथ यह प्रोग्राम यहाँ कर लिया। यह भी हमारा बड़ा सौभाग्य है।

इस वर्षका सत्संग-प्रसंग गीताके 14 वें अध्यायमें केन्द्रित रहेगा। इस प्रश्नोत्तर-सत्रमें यह लाभ है कि इसके श्रोता भी अपने घरमें गीताका अध्ययन करते हैं। इस वर्ष प्रश्न काफी आये हैं। यह रुचि सराहनीय है। मैं सबका नाम नहीं लूँगा पर श्री रामकरणजी गुसाने सत्ताइस पेज (Full Scape) पर प्रश्न लिखकर भेजे हैं। वे प्रश्न दो दिन पूर्व ही प्राप्त हुए हैं और दिवालीका मौका होनेसे ज्यादा ध्यान न दे सके। अब ध्यान देकर जितने प्रश्न पूछ सकेंगे, पूछेंगे।

पूज्य महाराजजीने विगत वर्षोंमें बताया कि गीता हमारी माता है। माता जिस तरह दूध पिलाकर हमें पुष्ट बनाती है, हमें सशक्त बनाती है, जीवनयापन करनेके लिए हमारे शरीरको सुदृढ़ करती है, उसी प्रकार गीता माता मानसिक स्तरपर हमें बहुत सुदृढ़ बनाती है और जीवनकी विषमतामें हम जहाँ खड़े होते हैं, वहाँ हमें रास्ता दिखाती है, प्रकाश दिखाती है। गीता स्वयं पद्मनाभके श्रीमुखसे विनि:सृत है और उनकी अपनी वाणी है, उनका अपना वचन है। गीता स्वयं प्रश्न और उत्तरोंपर ही आधारित है।

आप पहले ही श्लोकमें देखेंगे कि 'किमकुर्वत संजय।' धृतराष्ट्र पूछते हैं कि क्या किया? यहींसे प्रश्न चालू होता है और सारी गीता वहींसे उत्तर है। इसके बाद भी जगह-जगहपर अर्जुन पूछते हैं और भगवान् जवाब देते हैं। भगवान् पूछते हैं, अर्जुन भी जबाब देते हैं। अर्जुनने कहा 'पृच्छामि त्वां' मैं पूछ रहा हूँ और उसके बाद भगवान् सारा उपदेश देते हैं। यह प्रणाली गीता सम्मत है। और श्रोता भी इसमें शरीक हो जाते हैं। श्रोताओंके भ्रम-निवारणका यह सुन्दर संयोग है। अठारहवें अध्यायके बहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने यही कहा है कि—**कच्चिदेतछ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेणचेता।**

हमें एकाग्र चित्तसे सुनना चाहिए। भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा मैंने जो कहा वह तुमने एकाग्र चित्तसे सुना तो—तब अर्जुन जवाब देते हैं—**नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**

तो मैं निवेदन करना चाहूँगा कि हम जितना ध्यानसे सुनेंगे उतना ही हमें लाभ होगा। चौदहवें अध्यायका हम अध्ययन घरपर करके आवें तो इसका अनुसरण करनेमें, समझनेमें बड़ी सुविधा होगी। मैं महाराजजीको पुन: प्रणाम करता हूँ।

गीता अध्याय -14

प्रवचन : 1

प्रश्न : हम चौहदवें अध्यायमें प्रवेश करें उसके पूर्व चौदहवें अध्यायकी भूमिका एवं सन्दर्भके बारेमें हम श्रद्धेय स्वामीजीसे संक्षेपमें अपेक्षा रखते हैं कि वे हमें प्रवेश करावें। इससे आवश्यक पृष्ठभूमि बनेगी!

उत्तर : तेरहवें अध्यायमें ब्रह्मतत्त्वका सम्पूर्ण निरूपण किया गया है।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। 13.12
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥ 13.13

चर-अचर स्थावर-जंगम सब परमात्माका स्वरूप है। जो कुछ प्रपंचमें चेतन मालूम पड़ता है और जो कुछ अचेतन मालूम पड़ता है। मालूम पड़ते हैं दो तरहके परन्तु हैं सब परमात्माके ही स्वरूप। इस बातको समझनेके लिए तेरहवें अध्यायके प्रारम्भमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका उल्लेख किया है। और बीच-बीचमें—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। 13.19
ये एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। 13.23

प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, सर्वभूत और सर्वमें स्थित परमात्मा—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 13.27

बादमें भूत प्रकृतिसे मोक्षका वर्णन किया। यह अलग-अलग अन्त:करणके कारण, अलग-अलग वासनाओंके कारण, अलग-अलग शरीरोंके कारण, जो अलग-अलग भूत, पैदा होनेवाले पदार्थ दिखायी पड़ रहे हैं, इनकी एक प्रकृति है, उससे जो मुक्त हो जाते हैं, वे परतत्त्वको प्राप्त होते हैं।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्। 13.34

संगति तेरहवें अध्यायकी चौदहवें अध्यायके साथ इतनी स्पष्ट है कि तेरहवें अध्यायके अन्तमें है 'परम्'—

भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।

और चौदहवाँ अध्याय जब भगवान् आरम्भ करते हैं तो—

परम् भूयः प्रवक्ष्यामि।

तेरहवें अध्यायके अन्तमें 'परम्' और चौदहवें अध्यायके प्रारम्भमें 'परम्'। परम् यान्ति, परम् प्रवक्ष्यामि। उस परतत्त्वके निरूपणके लिए जो आवश्यक, अनिवार्य तत्त्व है उसका निरूपण चौदहवें अध्यायमें किया हुआ है। ऐसा अद्भुत है यह अध्याय कि संसारमें लोग सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण मानते हैं।

तमोगुणसे श्रेष्ठ रजोगुण, रजोगुणसे श्रेष्ठ सत्त्वगुण। सत्त्वगुणसे ऊपर भी कुछ है, इस बातको प्रायः जानते ही नहीं हैं और चौदहवें अध्यायका समग्र प्रतिपाद्य यह है कि आप तमोगुण, रजोगुण, सतोगुण—सबसे विलक्षण हैं—सबसे अन्तरंग हैं—गुणातीत हैं। जबतक आप अपनेको गुणातीत नहीं समझेंगे तबतक कर्तापन और भोक्तापनसे मुक्ति नहीं होगी और करते रहेंगे कर्म और कर्मका फल भोगते रहेंगे। संसारमें 'जायस्व' 'म्रियस्व'—पैदा होओ और मरो इसीमें फँसे रह जायेंगे।

चौदहवाँ अध्याय यह बताता है कि सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण बन्धनके हेतु हैं। यह जरूर है कि सत्त्व गुण अच्छाईसे बाँधता है, तमोगुण बुराईसे बाँधता है और रजोगुण अच्छाई-बुराई दोनोंसे बाँधता है! सत्त्वं सुखे संजयति।

सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।

सत्त्वगुण सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिमें बाँध देता है। दोनोंमें बन्धन। रजोगुण तृष्णामें बाँधता है। आलस्य प्रमादमें तमोगुण बाँधता है। तीनोंके लक्षण, तीनोंके फल अलग-अलग बताये और तीनोंसे अलग होनेका उपाय बताया। और तीनोंसे अलग हुए जो महापुरुष हैं उनका लक्षण बताया। अब आप भगवान्‌के मुखसे जब चौदहवें अध्यायका श्रवण करते हैं तब मालूम होता है—कि वहाँ त्वं-पदार्थ-प्रधान निरूपण है—हम गुणातीत कैसे हैं? और पन्द्रहवें अध्यायमें तत्-पदार्थ-प्रधान निरूपण है कि परमात्मा क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण पुरुषोत्तम कैसे हैं? तत्-पदार्थका निरूपण प्रधान रूपसे पन्द्रवें अध्यायमें है और त्वं-पदार्थका (त्वं-पदार्थ माने आत्मा मैं) निरूपण है चौदहवें अध्यायमें। एक बात ध्यान रखिये कि ईश्वर आपके हृदयमें ही है। जितना-जितना आप बाहरसे भीतर प्रवेश करेंगे, उतना ही-उतना परमात्माके निकट पहुँचेंगे और परमात्माका अनुभव होगा।

एकबार एक महात्मासे मैं सत्संग कर रहा था—सामने श्लोक आया—

न जायते म्रियते वा कदाचित्।

आत्माका न जन्म है न मरण है। मैं तो उस समय यही समझता था कि कोई आत्मा नामकी वस्तु होगी और उसका जन्म-मरण नहीं होता होगा। महात्माने बताया—यह तुम्हारा ही वर्णन है—

न जायते न म्रियते वा कदाचित्।

यह तुम हो, न तुम्हारा जन्म है, न मरण है।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कोई दूसरा आत्मा हो, कोई दूसरा परमात्मा हो, उसके शरीरकी मृत्यु तो प्राप्त है ही नहीं। मृत्यु तो इसी शरीरकी होती है। इसलिए इस शरीरमें रहकर तुम अजन्मा हो और अमृत हो। गीता तुम्हारा ही, तुम्हारे ही स्वरूपका निरूपण करती है।

देखो, आप धर्म करो परन्तु जन्म और मृत्युसे डरकर धर्म मत करो। धर्म तो आपका स्वभाव बन जाय। जिस समय हम कोई काम करते हैं, अच्छा काम करते हैं, और चाहते हैं कि इसके बाद हमको इसका

कुछ इनाम मिले, पुरस्कार मिले—हमने सुना है कि होटलमें बेअरा लोग सेवा करते हैं तो बादमें कुछ उम्मीद रखते हैं! उसको क्या कहते हैं? हाँ 'टिप'—हम तो जानते नहीं क्या होता है—जो लोग अच्छा काम करके और उसका कुछ इनाम या पुरस्कार चाहने लग जाते हैं, तो उनकी कक्षा, उनकी कोटि वही हो जाती है। जो कर्म हम कर रहे हैं उसके प्रति महत्त्वबुद्धि नहीं हो तो—उसके फलके प्रति महत्त्वबुद्धि हो जाती है। जो घरमें आया है, हमको मिल रहा है, हम जो कर रहे हैं, उसके प्रति तो आदर-बुद्धि है नहीं और जो अभी नहीं आया है, पता नहीं आयेगा कि नहीं आयेगा, उसकी ओर हमारी नजर चली गयी। कर्मसे तादात्म्य करके जो सत्-स्वरूप परमात्मा सत्कर्मके रूपमें हमारे जीवनमें आया, उसका अनादर हो गया। कर्मके रूपमें हमारे जीवनमें परमात्मा ही आया है क्योंकि सत् तादात्म्यके बिना कर्म तो होगा ही नहीं।

और यदि वह सत्कर्म है तो उचित होगा और उचित होगा तो आपका प्रिय होना चाहिए। वह सत्कर्म है, आपकी जानकारीसे ठीक है, आपका प्यारा है, वह तो इस समय आपके जीवनमें बरत रहा है और आप उसकी ओरसे अपनी नजर हटाकर आगेके लिए कुछ चाह रहे हैं। गीता आपके उस स्वरूपका वर्णन करती है कि आप धर्मके लिए हैं, आप अजर हैं, आप अमर हैं—सत्कर्म कीजिये। न पीछे घूमकर अपने जन्मके कारणकी ओर देखनेकी आवश्यकता है, और न तो, वर्तमानको छोड़कर भविष्यकी ओर देखनेकी बहुत आवश्यकता है, आप सत्कर्म इसी समय कीजिये और उसके औचित्यका और उसके आनन्दका अनुभव करते चलिये। आपके जीवनमें जो सद्‌गुण है उसका सदुपयोग कीजिये।

जो योग्यता भगवान्‌ने आपको दी है—पाँवसे चलनेकी योग्यता दी है, हाथसे काम करनेकी योग्यता है, मुँहसे बोलनेकी योग्यता है, दिलसे प्यार करनेकी योग्यता है—यो योग्यता भगवान्‌ने आपको दी है, उसका आप अपने जीवनमें सदुपयोग कीजिये। और इसके बदलेमें कुछ चाहिए मत और अपने कर्तापनका अभिमान मत रखिये। तीन बातोंपर ध्यान रखकर जब आप कर्म करते हैं,तो वह कर्म आपके बन्धनका कारण नहीं बनता है। 'ज्ञानानां उत्तमम् परम् ज्ञानं प्रवक्ष्यामि'। ज्ञान माने ज्ञानके साधन। पहले आप समझिये, उत्तम ज्ञान प्राप्त कीजिये। श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कीजिये। आपके जीवनमें साध्य क्या है? साधन क्या है? आप भक्ति कीजिये, अपनेको अजर-अमर जानकर। आप सत्कर्म कीजिये—अपने अजर-अमर जानकर। आप योग कीजिये अपनेको अजर-अमर जानकर। आप तत्त्वज्ञान प्राप्त कीजिये, अपनेको अजर-अमर जानकर। यही जो अमृतका अनुभव है—अपने जीवनमें अमृतत्वका अनुभव, वह गीता देती है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको यही ज्ञान प्राप्त हुआ है।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥

ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान—ज्ञान तो बहुत सारे हैं। गीता आपको अमरत्वका सन्देश पहले देती है। एक दिन मर जायेंगे ऐसा सोचकर आप कर्मसे विमुख मत हो जाइये। सत्कर्म करते चलिये। मर जायेंगे तो पता नहीं क्या होगा, ऐसा सोचकर भक्ति मत छोड़िये, आपको भगवान् मिलेंगे और अपनी बुद्धिकी मन्दता देखकर या

अयोग्यता देखकर निराश मत होइये। आपको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान होगा। गीता आशाका ग्रन्थ है, उत्साहका ग्रन्थ है, प्रेरणाका ग्रन्थ है, अमृतत्वके प्रदानका ग्रन्थ है। छोटी-छोटी चीजोंसे आपका ध्यान हटाता है।

आप जरा-सा ध्यान दें, अर्जुनको यह डर था कि इस महाभारत युद्धमें न जाने कौन-कौन, कितने-कितने बड़े लोग मर जायेंगे। श्रीकृष्णने कहा—ये मरेंगे नहीं ये तो मरे हुए हैं। ग्यारहवें अध्यायमें स्पष्ट दिखा दिया कि ये तो मरे हुए हैं। तुम अपने कर्म करते जाओ। अपने धर्मसे विमुख मत होओ। यह गीताका सन्देश है। चौदहवें अध्यायमें इस सन्देशको इतने अच्छे ढंगसे समझाया गया है कि ये तो सत्त्व, रज, तमकी वृत्तियाँ हैं, ये तो दूसरेमें हैं, ये तो प्रकृतिमें हैं, ये तो गुणोंकी वृत्तियाँ हैं और तुम स्वयं गुणातीत हो। चौदहवाँ अध्याय गुणोंको पकड़नेके लिए नहीं है, गुणोंको छोड़नेके लिए है। गुणातीत होनेके लिए है। कहीं कोई आसक्त न हो। सत्त्वगुणमें आसक्त होकर रजोगुणी-तमोगुणीका तिरस्कार न करें और तमोगुणमें स्थित होकर, रजोगुणी-सतोगुणीका तिरस्कार न करें। ये तो अपने आपमें बरतते रहते हैं। आप अपनी स्थितिमें सम होकर—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥ 14.24
मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।

इस प्रकार आप अपने जीवनको समतामें स्थित रखकर चलते रहिये। आपके साथ इन गुणोंका लेप नहीं होगा। सब गुणोंसे मुक्त रहेंगे। क्योंकि गुणोंके साथ अगर जुड़े रहेंगे तो कोई गुण आपको ऊपर ले जायेगा, 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था'—कोई आपको बीचमें लटका देगा—'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः', कोई आपको नीचे ले जायगा। परन्तु गुणोंसे न अटककर, गुणोंसे भटकाये न भटककर, यदि आप सम रहकर, स्वस्थ रहकर, बिना किसी घबड़ाहटके, बिना किसी भयके, अपने कर्तव्य कर्मका पालन करते जायेंगे तो कहीं भी आपके जीवनमें च्युति नहीं आयेगी। इसके लिए भगवान्‌ने उत्तमोत्तम ज्ञान, परम ज्ञानका चौदहवें अध्यायमें उपदेश दिया है और साथ-ही-साथ यह बताया है, कि पहले जितने ऋषि, मुनि हुए हैं, उन्होंने इसी ज्ञानको स्वीकार करके—

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।

इसी ज्ञानका आश्रय लेकर परा सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। उनको मुक्ति मिली है, मुक्ति मिलती नहीं है, मुक्ति तो आत्माका स्वरूप है। उनको भगवान् मिले हैं—भगवान् कहीं दूर नहीं रहते, वे तो अपने हृदयमें ही रहते हैं। उनको शुद्ध अन्तःकरण प्राप्त हुआ है। वह शुद्ध अन्तःकरण इसी ज्ञानसे प्राप्त हुआ है। परा सिद्धिमें अर्थकी प्राप्ति, धर्मकी प्राप्ति. कामकी प्राप्ति—धर्मार्थ कामकी प्राप्ति अर्थ, काम धर्मकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति इसी ज्ञानसे होती है। भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायकी यहाँ तक प्रशंसा की रुचि उत्पन्न करनेके लिए—

इदं ज्ञानं उपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ 14.2

आपको ऐसा सम जीवन प्राप्त होगा कि सृष्टि होती रहे, आप नहीं होंगे। आपका जन्म नहीं होगा। और सृष्टि व्याकुल रहे, व्यथासे, पीड़ित रहे परन्तु स्वयं आप पीड़ित हुए बिना ही साक्षी बने रहेंगे, भक्त बने रहेंगे—सत्कर्मके कर्त्ता बने रहेंगे—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्यं।

इसमें विद्वानोंने ऐसा भेद किया है।

यज्ज्ञात्वा मुनयःसर्वे—

ज्ञात्वा—केवल जान लेने मात्रसे—आप चौदहवें अध्यायको केवल समझ लीजिये—इसमें समझना यही है कि हमारा स्वरूप गुणातीत है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ 14.19

सत्त्वगुणकी धारा आती है, आप अच्छे काम करते हैं। रजोगुणकी धारा आती है, आप व्यापारके काममें लग जाते हैं—

रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्। 14.7

आपमें तमोगुणकी वृत्ति आती है, आप सो जाते हैं। आप शान्तिसे बैठ जाते हैं। ये तो शरीरमें आते हैं, जाते हैं, रहते हैं। आप स्वयं गुणातीत हैं। इनमें किसीसे बँधिये मत और—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ 14.22

आपके जीवनके लिए एक परम आवश्यक और परम उपयोगी और परम सुखप्रद, शान्तिप्रद मार्ग भगवान् चौदहवें अध्यायमें बताते हैं और इसकी महिमा यह है कि 'यज्ज्ञात्वा' इसको समझ लेने मात्रसे, इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्रसे पहले भी मुनियोंको सिद्धि मिली है और—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

इस ज्ञानका यदि तुम आश्रय ले लोगे तो मेरी समर्धता प्राप्त होगी। माने जैसा मैं हूँ—मैं ब्रह्मा होकर सृष्टि बनाता हूँ—ज्यों-का-त्यों। मैं रुद्र होकर सृष्टिका संहार करता हूँ—ज्यों-का-त्यों। न सृष्टि बनानेमें हमको कोई राग है और न इसका प्रलय करनेमें कोई द्वेष है। सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें एकरस रहकर—जैसे मैं सारा कार्य सम्पन्न कर रहा हूँ। वैसे तुम भी असंग रहकर सारा कार्य सम्पन्न करो।

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य' और 'ज्ञात्वा' ये दोनों असमाप्त क्रिया हैं। जाननेके समकाल ही 'ज्ञात्वा अनुष्ठाय' और—इसमें अनुष्ठाय पदका अध्याहार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपको 'परम सिद्धि' इसको जानने मात्रसे मिलेगी। इसमें करना नहीं है, इसमें केवल जानना है।

कितनी बातें ऐसी होती है—जैसे पत्नी हो मायकेमें और पति अपने घरमें हो। उसको समाचार मिला कि पुत्र हुआ है तो पुत्र होनेके ज्ञानमात्रसे ही वह सुखी हो जाता है। किसीके घरमें हीरा है। मालूम नहीं है।

मालूम पड़ने मात्रसे ही वह सुखी हो जाता है। इसी प्रकार 'यज्ज्ञात्वा' और 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य' का अर्थ है—जानने मात्रसे परम कल्याण।

यह बात आजकलके कर्मपरायण लोगोंके ध्यानमें नहीं आती है और महात्मा लोग जब जानते हैं—मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ, मैं असंग हूँ, मैं चिन्मात्र हूँ, मैं परमानन्द स्वरूप हूँ तो इस ज्ञान मात्रसे ही उनके लिए फिर कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता है। सारे कर्त्तव्य अपने आप ही पूरे होते रहते हैं। इसलिए चौदहवें अध्यायका महात्म्य बहुत बड़ा है और उसका प्रेमसे श्रवण करना चाहिए।

प्रश्न : बड़ा ही सुन्दर और बोधगम्य हमारे लिए पूज्य महाराजश्रीने आगेका कार्यक्रम बना दिया चौदहवें अध्यायका सारा सारांश कहकर, और हमें सूत्र भी दे दिया और वह यह—पहला श्लोक है—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।

ज्ञान तो अपने आपमें उत्तम है ही लेकिन यहाँ ज्ञानके साथ उत्तमम् एक तुलनात्मक विशेषण है। तीन अवस्थाएँ होती है। मूलावस्था, उत्तरावस्था और उत्तमावस्था—तो ज्ञान और फिर उत्तम ज्ञानके निरूपणके लिए हमारा निवेदन है। ज्ञानके भी कई भेद-विभेद हो सकते हैं भौतिक भी, आध्यात्मिक भी—भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानोंके भेदोंको बताते हुए उत्तम ज्ञानका स्वरूप बतानेकी कृपा करें और यह ज्ञान किस प्रकार साधारण ज्ञानसे उत्तम है यह बतावें?

उत्तर : ज्ञानके तीन भेद और उसके अतिरिक्त एक चौथा भेद है। चार भेद गीतामें बताये गये हैं।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ 18.22

तमोगुणी ज्ञानका क्या स्वरूप है? एक छोटी-सी चीज पकड़ लो और समझते हैं कि यही सब कुछ है। आपकी बुद्धि छोटेमें लगी तो छोटी और बड़ेमें लगी तो बड़ी! बुद्धि स्वयंमें छोटी-बड़ी नहीं होती है। आपको एक उदाहरण दें। सम्भव है कोई यहाँ अपनेको ऐसा माननेवाले हों तो बुरा लगे उनको।

आप एक हिन्दू हैं—बहुत बढ़िया! आप हिन्दुत्वमें आसक्ति कर लीजिये। पर आप एक मनुष्य भी है। हैं कि नहीं? जब आप अपनेको हिन्दू मानकर अपनी मनुष्यताको भूल जाते हैं तो आपका वह हिन्दुत्व तमोगुणी हो जाता है। वह फिर मुसलमानको मारने लगेगा, ईसाईको मारने लगेगा। एक छोटी-सी चीज है—संसारकी मानवतामें 'हिन्दुत्व' कितना छोटा है! कहाँ मानवताका दृष्टिकोण और कहाँ—मैं अन्त्यज हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, फिर मैं हिन्दू हूँ और मैं मानव हूँ। एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें क्या लगता है? कौन-सी साधना करेगा तो हिन्दू हो जायगा—केवल ज्ञानका ही फर्क है न! केवल बुद्धिका ही फर्क है। जिनको हिन्दुओंसे रुपया मिलता है वे अपनेको हिन्दू मानकर हिन्दुत्वका प्रचार करते हैं और जिनको देशी-विदेशी, जाति—सबसे जिनको धन मिलता है वे सबके प्रति समान हो जाते हैं। वहाँ तो प्रीति धनसे है। न हिन्दुत्वसे है, न मनुष्यत्वसे है। एक गुटमें आसक्ति—फिर एक पार्टीमें आसक्ति फिर 'सर्वजनहिताय' सबके मंगलमें आसक्ति।

जिसमें कोई युक्ति नहीं है, तत्त्वार्थ भी नहीं है, अल्प है यह तामस ज्ञान हो गया। और जो विभक्त ज्ञान है—बाँटता है—प्रान्तका इतना पक्षपात हुआ कि देशका भले ही नाश हो जाय और देशसे इतनी आसक्ति हुई कि विदेशका नाश हो जाय। यह क्या हुआ? अपनी पार्टीको देखना, दूसरेको न देखना। देहके प्रति आसक्ति, परिवारके प्रति आसक्ति, जातिके प्रति आसक्ति, सम्प्रदायके प्रति आसक्ति, प्रान्तके प्रति आसक्ति, राष्ट्रके प्रति आसक्ति जबकि पृथिवीमें ईश्वरने कोई राष्ट्र-भेद नहीं बनाया।

जब कि ईश्वरने मनुष्यतामें कोई जाति नहीं बनायी, धर्ममें कोई सम्प्रदाय नहीं बनाया। यह जो भेदमें आसक्ति है यह राजस ज्ञान है। और जो सर्वभूतेषु—सबमें एक परमेश्वर है—यह ज्ञान सात्त्विक ज्ञान है। अब 'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्' का आप अर्थ लगा लीजिये। यह जो तमोगुणी ज्ञान है, छोटी-सी चीजमें फँसा हुआ और यह जो ज्ञान है भेद बनानेवाला, कहाँ हिन्दुस्तान, पाकिस्तानके बीचमें नया समुद्र आगया, कोई नया पहाड़ आगया, कोई प्रकृतिने दोनोंको फाड़-फाड़कर अलग कर दिया!

अब 'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानं'—तमोगुणी, रजोगुणी सत्त्वगुणी—ये जो तीन प्रकारके ज्ञान हैं इनमें उत्तम ज्ञानको लो। उत्तम ज्ञान कैसा है? वह तो ज्ञान एक है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। 13.27

अथवा चौदहवें ही अध्यायमें आप पढ़िये। ये गुणके भेदसे ज्ञानीमें भेद होता है नहीं तो—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति। 14.22

न किसीसे द्वेष है, न किसीसे राग है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ 14.23
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चन। 14.24

यह उत्तम-से-उत्तम—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्। 13.17

'ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्' का अर्थ हुआ—तमोगुणी ज्ञानसे भी उत्तम, रजोगुणी ज्ञानसे भी उत्तम और सत्त्वगुणी ज्ञानसे भी उत्तम। वह क्या है?

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

सबके हृदयमें विराजमान जो वह ज्ञान है, जिसमें 'मैं' और 'मेरा' किसीके प्रति नहीं है, उस शुद्ध ज्ञानका—उसकी दो प्रक्रिया बतायी है। एक तो कर्त्तापनको गुणोंपर डाल दो—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

और एक भगवान्‌की भक्तिपर—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

ऐसे मत देखो कि इसमें भगवान् हैं, इसमें भगवान् नहीं है। अरे बाबा, कितने बड़े-बड़े राज्याध्यक्ष हुए—राजा हुए, सम्राट् हुए—उनका बड़प्पन कहाँ है? कितने इन्द्र हुए, कितने ब्रह्मा हुए—बदल गये। आज लोगोंको उनका नाम भी नहीं मालूम है। दुनियामें कौन-सी चीज है, जिसको पकड़कर बैठा जाय! पकड़कर बैठने योग्य तो एक परमात्मा है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अद्वैत ब्रह्मभावकी स्थिति कैसे होगी? सबमें देखो परमेश्वरको। यह बल्ब ही छोटे-बड़े होते हैं—बिजली एक होती है। लाउडस्पीकरमें वही बिजली शब्दको ऊँचा कर देती है। पंखेमें आकर वही बिजली हवा देती है। एअर कंडीशनमें आकर ठंडक देती है। बल्बमें आकर रोशनी देती है। वही गन्धका विस्तार करती है। विद्युत एक है। सबमें परमात्माको देखो। बच्चेके लिए पङ्खा अलग है। बल्ब अलग है, लेकिन जो विद्युत्-तत्त्वका ज्ञाता है, उसमें सबमें एक परमात्मा है। यह ज्ञान है। —इन्द्रपद भी हमेशा नहीं रहता है। टूट जाता है। ब्रह्माका पद भी हमेशा नहीं रहता। न तो ये साम्राज्य हमेशा रहे हैं, न सम्राट् हमेशा रहे हैं—न देवी-देवता हमेशा रहे हैं। सबमें जो एक परमात्मा है वही हमेशाकी सीमाको पारकर रहता है। वही वस्तुओंकी सीमाको पारकर रहता है। वह मजहबोंमें, जातियोंमें, प्रान्तोमें, राष्ट्रोंमें, लोक-परलोकमें कहीं भी अलग-अलग नहीं होता। उसी एकको पकड़ो—

ज्ञानानां उत्तमम् ज्ञानम्।

वही सम्पूर्ण ज्ञानोंका उत्तम ज्ञान है और उसके ज्ञानमात्रसे ही परासिद्धि मिलती है और उसके ज्ञानमात्रसे ही यह आत्मा परमात्मा हो जाता है।

●

प्रवचन : 2

16-11-85

प्रश्न : परां सिद्धिमितो गताः—भगवान्‌के कथनके इस ज्ञानको जानकर मुनियोंको भी परम सिद्धि मिलती है। सिद्धि और परम सिद्धिको समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : जनक आदि जो महापुरुष हुए हैं उन्होंने कर्मसे ही संसिद्धि प्राप्त की है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' अपने कर्मके द्वारा परमात्माकी आराधना करो, सिद्धि मिलेगी। वहाँ तो 'जनकादयः' विशेष नाम है और यहाँ तो किसीका नाम नहीं है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

मनुष्य मात्रको सिद्धि मिलती है और सिद्धि भी सब तरहकी। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में उपनिषद्‌के पाठका जो फल बताया है उसमें 'अन्नवान् अन्नादो भवति (3.9) कहा गया है। अन्न माने भोगकी सामग्री बहुत होती है और भोगका सामर्थ्य भी होता है। यह उपनिषद्‌का फल दिखाया। आश्चर्य है माने किसीके पास रोटी तो बहुत है पर पचता नहीं, खानेका सामर्थ्य नहीं है।

सन् 36में हमलोग एक सेठजीके घर गये थे। बहुत दुबले-पतले हो गये थे। धूपमें सबेरे लेटते थे। दो घण्टा मालिश होती थी। रूखा एक या दो फुलका खा सकते थे। हमलोग जब भोजन करने बैठे (उस समय हमारी उम्र 24-26 वर्षकी होगी) हमलोग तो एक-एक सेर खीर खा जाते। वे आश्चर्यचकित हो जाते। अन्नवान् होना और अन्नाद होना। भोगकी सामग्री हो, भोगका सामर्थ्य हो और 'प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन' (तै०उप०3.9) इसलिए उपनिषद् कहता है-धर्म हो, प्रजा अनुकूल हो, घोड़ा, गाय हो, (आजकल मोटर समझ लो) ब्रह्मचर्य हो-यह तैत्तिरीय उपनिषद्‌का फल उपनिषद्‌में ही कहा है। यह जो अध्यात्म विद्या है, यह केवल स्वर्गकी प्राप्तिके लिए नहीं है; न तो बैकुण्ठमें जानेके लिए है। इस लोकमें भी सुखी रहें और परलोकमें भी सुखी रहें, इसके लिए कौन-सी सिद्धि चाहिए? गीतामें बताया है-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

भगवान् कहाँ हैं? हमारे भीतर रहकर हमारे जीवनका संचालन कर रहे हैं। और वे 'सर्वमिदं ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत वैसे वे हमारे जीवनमें व्याप्त हैं। वही चलानेवाले हैं और वही चलाये जानेवाले शरीरके रूपमें हैं।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

चाहे कोई भी मनुष्य हो—जात-पाँतकी कोई बात नहीं। हमारा पन्थ, ग्रन्थसे कोई मतभेद नहीं, किसीके लिए बाइबिल है तो कुरान नहीं है; किसीके लिए कुरान है तो बाइबिल नहीं है। किसीके लिए मनुस्मृति है, तो किसीके लिए जिन्दावेस्थ है।

एक मनुष्यको जीवनको सफल बनानेके लिए संचालकके रूपमें ईश्वर और उनके नाम-रूपका दर्शन करते हुए आगे चलते रहना चाहिए। किसीने कहा, महाराज! हमारे हाथ-पाँव मजबूत हो जायेंगे तब आपकी सेवा करेंगे। एक गरीबने कहा, जब हमारे पास लाखों रुपये हो जायेंगे, तब आपकी सेवा करेंगे। दोनों गलत रास्तेपर हैं। तुम्हें भगवान्ने योग्यता दी है, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—जो तुम कर सकते हो वह सब लगाओ—परमेश्वरकी सेवाके लिए। रोटी बनाओ परमेश्वरकी सेवाके लिए। सीमेन्ट बनाओ, कपड़े बनाओ! सर्वके रूपमें परमेश्वर है, उसकी सेवामें तुम्हारी शक्तिका जितना भी योग हो सकता हो उतना करो। 'स्वकर्मणा तमभ्यचर्य'—जो तुम्हारा कर्म है, उसीके द्वारा परमात्माकी आराधना होती है। चलनेका सामर्थ्य है, तो चलकर करो। हाथसे करनेका सामर्थ्य है, तो हाथसे करो। बोलनेका सामर्थ्य है तो बोलकर करो। बुद्धि और भावका सामर्थ्य है, तो बुद्धि और भावसे करो। सभी मनुष्य कर सकते हैं। वहाँ ब्राह्मण शब्द नहीं है, क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शूद्र नहीं है, वहाँ है मानव मात्रको सिद्धि प्राप्त होती है। अब देखो, यह सिद्धी संन्यःसियोंके लिए भी है, उसका भी वर्णन गीतामें है—

नैष्कर्म्यं सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।

कर्मसे, कर्तृत्वसे, परिछिन्नताके अभिमानसे, मुक्त होकर ब्रह्मरूपकी प्राप्ति होती है।

सर्वभावकी प्राप्ति भी होती है। यह उत्तम ज्ञान ऐसा है कि इसी ज्ञानसे बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको सिद्धि मिली है। कौन-सी सिद्धि मिली है? परासिद्धि मिली है। परासिद्धि माने जिससे परे और कुछ नहीं। इस अध्यायमें उसी ज्ञानका वर्णन है। इससे अर्थसिद्धि भी होती है—भोग-सिद्धि भी होती है, धर्म-सिद्धि भी होती है, मोक्ष-सिद्धि भी होती है। मननशील पुरुषको जो कुछ करना हो, समझ-बूझकर करना चाहिए। हम जो काम कर रहे हैं, उसका प्रयोजन क्या है? प्रयोजन माने कामना नहीं। मैं उसका अधिकारी हूँ कि नहीं। और जिस स्तरसे मैं कर रहा हूँ, साध्यके साथ इसका क्या सम्बन्ध है, इसका ज्ञान हो। और कर्मके स्वरूपका बोध हो। अपने अधिकारका बोध, कर्मके स्वरूपका बोध, प्रयोजनका बोध और जो कर्म हम कर रहे हैं, उससे इस प्रयोजनकी सिद्धि होती है कि नहीं इसका बोध होना चाहिए। 'यज्ज्ञात्वा मनुयः सर्वे'—'ज्ञात्वा' है न! अच्छी तरहसे कर्मको समझकर कीजिये।

दुनियाकी हालत तो यह है कि पीछेसे कोई ढकेल रहा है, कालके साथ तादात्म्य करके

ढकेलनेवाला कौन है? हम जानते नहीं। और ढकेले हुए जा रहे हैं। कहाँ जाकर पहुँचेंगे या गिरेंगे, इसका पता नहीं है। एक अन्धेके पीछे दूसरा अन्धा चल रहा है। बिलकुल अन्धकार-अन्धकारमें चलानेवालेको भी अन्धकारमें छोड़ दिया तुमने, फिर भूल गये और जहाँ पहुँचाना है उसको भी भूल गये। एक विदग्ध जीवन हमारा चल रहा है।

'मनुय:' का अर्थ है मननशील। 'मननात् मुनि:'। जो भी काम करना हो, विचार करके करो, बुद्धिको छोड़ करके कोई काम मत करो। इसलिए सर्वोत्तम ज्ञानको जानना परासिद्धिकी प्रासिका साधन है। और सिद्धि आप जैसी चाहते हैं, वैसी मिलेगी। अर्थ-सिद्धि मिलेगी, धर्म-सिद्धि मिलेगी। धन रहता है बाहर, बैंकमें, तिजोरीमें, जेबमें और काम रहता है मनमें और धर्म रहता है बुद्धिमें और मोक्ष रहता है अपनी आत्मामें। काममुनि भी मुनि होता है—वात्स्यायन मुनि, जिन्होंने कामशास्त्रका निर्माण किया। धर्ममुनि, मन्वादि, ये धर्ममुनि हैं और मोक्षमुनि याज्ञवल्क्यादि उपनिषदोंके आचार्य हैं। सबको इसी ज्ञानका उत्तम रूप जान लेनेसे ही सफलताकी पराकाष्ठा प्राप्त हुई है, उसीको सिद्धि कहते हैं।

× × ×

प्रश्न : 'ज्ञानानाम् उत्तमम्' को परमसिद्धि और 'मम साधर्म्य' बताया है। इन दोनों अवस्थाओंके सात्त्विक भेदों और अभेदोंको बतानेकी कृपा करें।

उत्तर : जो अमृतका पुत्र है, वह अमृत ही होता है। सेठका बेटा सेठ, ब्राह्मणका बेटा ब्राह्मण। यहाँ जो श्लोक है-

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञानका आश्रय ले लो। साधर्म्य का अर्थ है, जैसे ईश्वर निरन्तर सृष्टि-स्थिति-प्रलयके कर्ममें लगा हुआ भी असंग है और उसके ऊपर कर्मका कोई प्रभाव नहीं है, कभी बँटता नहीं है। 'मम साधर्म्यमागता:'का अर्थ है कि सबमें समाधि लगायी फिर भी उसकी आसक्ति नहीं हुई। सृष्टि बनायी तो यह नहीं कि हमेशा बनाते ही रहेंगे। पालन किया तो यह नहीं कि पालन ही करते रहेंगे। यह नहीं कि संहार किया तो संहार ही करते रहेंगे। जब अपने समक्ष, अपने सामने जो चीज अपने कर्त्तव्यके रूपमें उपस्थित होती है, अपने संकल्पसे, अपने भावमें उसको करते हुए तब अपना जो ऐश्वर्य है, जो ईश्वरता है, वह बनी रहती है।

ईश्वरताका अर्थ है कि संसारकी किसी भी वस्तुसे अभिभूत न होना, दबना नहीं। ऐसी दुनियामें कोई चीज नहीं है-न नाम, न रूप, न इतिहास, न भूगोल। ईसाकी कब्र कहाँ है? कश्मीरमें है कि इंग्लैण्डमें है। खोजो, आपकी रुचि है उसमें। गड़े मुर्दोंको उखाड़-उखाड़कर फेंको-यह ईसाका है कि नहीं है? भूगोलका पता लगाओ। हिन्दुस्तान-पाकिस्तानकी सीमा हमारे सामने ही तो बनी है। कालका आदि नहीं है, इसलिए इतिहास कल्पित रेखासे आरम्भ होता है। देशका आदि नहीं है, इसलिए भूगोल कल्पित रेखासे उत्पन्न होता है, विश्वसृष्टिका आदि नहीं है, अन्त नहीं है। इसलिए जो कोई इसकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन करते हैं,

कल्पित रेखासे करते हैं। इसलिए कल्पित वस्तुओंमें न फँसकर जो सब कल्पनामें अकल्पित है, इसपर दृष्टि रखकर कल्पनाओंके साथ खेलो। यह तो मनोरंजनकी सामग्री है—बनाओ, बिगाड़ो, छोड़ो, पकड़ो—ये सब मनोरंजनकी सामग्री है। सबमें एक परमात्मा ऐसा है जो छोड़नेकी वस्तु नहीं है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:।

ईश्वरत्वकी प्राप्ति माने अनभिभूत जीवन। कोई स्त्री, कोई पुरुष, कोई कर्म, कोई भोग; कोई वस्तु तुम्हें अपनेमें न ले सके, पूर्ण स्वातन्त्र्यमय जीवन। न कामकी परतन्त्रता, न अर्थकी परतन्त्रता, न धर्मकी परतन्त्रता, न ईश्वरकी परतन्त्रता। जो लोग 'विष्णु सहस्त्र नाम'का पाठ करते हैं-वे 'ईश:'के साथ 'अनीश:'का पाठ जरूर करते होंगे। 'ईश: अनीश:।' ईश्वरका कोई ईश्वर नहीं। सृष्टि होती है तो होती रहे-हमारा जन्म नहीं है। हम तो सृष्टि होनेके पहले भी थे और बादमें भी रहेंगे। अच्छा बताओ सृष्टि होनेके बाद ज्ञान बना तो सृष्टि क्या अज्ञानसे बनी? ज्ञान अगर ईश्वरके बाद हुआ, तो क्या ईश्वर अज्ञान था? जीवनमें ईश्वरत्वका आभिर्भाव होता है। यह प्राणी, देखनेमें यह छोटा-सा मनुष्य, ईश्वर हो जाय, जब इस ज्ञानका आश्रय लें।

मम साधर्म्यमागता:।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।

'व्यथन्ति'की जगह पाणिनीय व्याकरणके अनुसार बोलें तो 'व्यथन्ते' बोलना पड़ेगा। प्रलये न व्यथन्ति च—हो जाय प्रलय, कोई व्यथा नहीं है। ऐसा सुख, ऐसा ज्ञान, ऐसा आनन्द—इसीके आश्रयसे प्राप्त होता है।

× × ×

प्रश्न : भगवान्ने दूसरे श्लोकमें बतलाया कि इस ज्ञानका आश्रय प्राप्त किये पुरुष सृष्टिके आदिमें पुन: उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते। सर्ग एवं प्रलयकालके सिद्धान्तोंको स्पष्ट करें!

उत्तर : है तो स्पष्ट। वैसे गीतामें-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: संभवन्ति या:।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता।।

तो यह सर्गका स्पष्टीकरण हो ही गया। जैसे हमलोग नींदमें होते हैं। वह प्रलयकी स्थिति है। और नींद टूटते ही होश जो आता है, वह महत्तत्त्वकी स्थिति है। फिर मैं कौन हूँ यह अहंकारकी स्थिति है। और फिर स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्ध दुनिया दिखने लगती है। उसको पंचतन्मात्रा बोलते हैं। तो प्रकृति, सुषुप्ति और होशका आना, बुद्धिका जागरण, यह महत्तत्त्व है। और अहं-भावका उदय यह अहंकार है और शब्द स्पर्शात्मक प्रपंचका मालूम पड़ना, यह पंचतन्मात्रा है। जैसे रोज हमलोग सोते हैं, जागते हैं, रोज सृष्टिका क्रम हमारे सामने आता है। जब सोने लगते हैं तो पहले बाहरी दुनियाके बारेमें सोचनेसे अरुचि हो जाती है। चुपचाप लेट जाते हैं, थोड़ी कुछ बात इधरकी आयी, तो आयी, नहीं तो फिर बेहोश हो जाते हैं। उस समय न शब्द,

स्पर्श, रूप, रस दिखायी पड़ता है, न अहंभाव रहता है, न बुद्धि जागती है। सब-का-सब प्रकृतिमें लीन हो जाता है। यह जो सांख्यशास्त्रका सिद्धान्त है सृष्टि और प्रलयका, वह हमारे दैनिक अनुभवपर ही आधारित है; इसको वेदान्तमें अनुमान बोलते हैं, जैसे हम सोते, जागते हैं वैसे समूची प्रकृति भी सोती, जागती है। इसी प्रकार यह सृष्टि होती है। और ब्रह्मसूत्रमें अनुमानको मुख्य प्रमाण नहीं, आगमको मुख्य प्रमाण माना गया है।

अब आप देखो, कि जहाँ हम बैठे हैं, वहींसे सृष्टिके बारेमें सोचा जाये। हमको एक नहीं, अनेक चित्र दिख रहे हैं, सब तस्वीरें ही तो हैं। आकृति हैं। आकृति कैसे बनती है? रेखाओंसे रेखाएँ कैसे बनती हैं? बिन्दुसे बिन्दु एक दूसरेसे सम्बद्ध हुए बिना ही रेखाकी प्रतीति कराते हैं? जो सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र होता है, जिससे छोटी-छोटी चीजोंका देख लेते हैं। आप किसी रेखाको देखिये, एक रेखा नहीं है, उसमें तो हमारों बिन्दु हैं और बिन्दु वह हैं जिनमें न लम्बाई है, न चौड़ाई है, पर अपने अधिष्ठानमें होते हैं।

आकृतिका मूल क्या हुआ? रेखा-रेखाका मूल क्या हुआ? बिम्दु-बिन्दुका क्या हुआ? अधिष्ठान, उसीको सत्-तत्त्व कहते हैं। जहाँ हम बैठे हैं, यहाँसे हमने रेखाके आधारपर परब्रह्म परमात्मामें बिन्दुओंकी कल्पना की और बिन्दु-बिन्दु अपने अनादि संस्कारगत विशेषता के कारण, पृथक्-पृथक् आकृति बनाता है। जैसे, आप कागजपर लिखते हैं, 'अ', 'अ' में कोण होते हैं। प्रत्येक अक्षरोंकी अलग-अलग पूजा भी की जाती है। इनके मन्त्र भी होते हैं। पंचकोण आकृतिका नाम संस्कृत भाषा में 'अ' है। देखेंगे तो उसमें केवल पंचकोण रेखा ही नहीं है, बिन्दु भी है। अपने स्थानमें प्रत्येक बिन्दु लम्बाई, चौड़ाईसे रहित है, इसलिए सृष्टिका मूल केवल सत्ता है।

अब आप शब्दको देखिये—बोलते हैं 'अ', 'क', 'च', 'ट', 'त', 'प', 'य'—ये क्या हैं? इसको अष्टवर्ग बोलते हैं। ये हैं क्या? एक ध्वनि है। और उसमें हम कहीं गलाको दबाते हैं—अमुक प्रयत्नसे अमुक स्थानपर तो 'अ' निकलता है। दूसरे स्थानको, दूसरे प्रयत्नसे दबाते हैं, तो 'क' निकलता है। इसीप्रकार स्थान-प्रयत्न भेदसे 'च' निकलता है। फिर 'ट' निकलता है, फिर 'त' निकलता है। यह क्या होता है? ध्वनि है। और उसमें स्थान-विशेषसे, प्रयत्न-विशेषसे अनेकता आती है। जैसे, हम हारमोनियममें सरगम निकालते हैं। जैसे, तबलेमें ताधिन्नाधिन निकालते हैं, जैसे पाँवके पटकनमें ताताथेई निकालते हैं, इसी प्रकार हम एक ही ध्वनिमें-से अनेक ध्वनि प्रकट कर लेते हैं। यह नाम-सृष्टि हुई।

रूप-सृष्टि होती है बिन्दुओंसे और नाम-सृष्टि होती है ध्वनिसे। अब ध्वनि क्या है? जहाँ स्पन्दन होगा, वहाँ ध्वनि होगी। स्पन्दन माने हिलना। बिना पहले हिले ध्वनि नहीं हो सकती और जब, जहाँ हिलना नहीं है, जो साक्षी है, अधिष्ठान है, जो ज्ञानस्वरूप है, जो हिलनेको जाननेवाला एकरस है, उसमें ध्वनियाँ भी नहीं हैं। स्पन्दनसे ही क्रिया होती है, स्पन्दनसे ही ध्वनि निकलती है, स्पन्दनसे ही बिन्दु होते हैं। नाद और बिन्दु ये दोनों सृष्टिके मूलमें होते हैं।

जब हमलोग किसी देवी-देवताकी उपासना करते हैं, तब उसमें नाद और बिन्दु दोनोंका उपयोग करते हैं। राम शब्द—यह ध्वनिका एक रूप है और रामकी आकृति बिन्दुका एक रूप है और इन दोनोंको जब

एकमें जोड़ देंगे, तब हमारा इष्टदेव हो जावेगा। वह हमारे मनको वहाँ ले जावेगा, जहाँ नाम और रूप दोनोंकी प्रतीति हो रही है। इसलिए सृष्टिकी नामरूप-क्रियात्मक प्रक्रियाका अनुभव महात्मा लोग करते हैं कि सृष्टि कैसे होती है। इसीसे सिद्ध महापुरुष नवीन सृष्टिकी रचना भी कर सकते हैं, जिसका आजकल लोगोंको विश्वास नहीं होता है।

विश्वामित्रकी सृष्टिका वर्णन शास्त्रोंमें आता ही है। विश्वामित्रने ब्रह्माकी सृष्टि से एक पृथक् सृष्टि बना दी। एक पृथक् स्वर्ग बना दिया। दक्ष प्रजापति मनसे ही सृष्टि किया करते थे।

मनसा प्रजाः असृजत्।

ऐसा वेदोंमें वर्णन है। इसलिए यह सृष्टि-स्थितिका क्रम बिलकुल अलग है, वह न हमारे करनेसे होता है, न हमारे बिगाड़नेसे बिगड़ता है। इसलिए—

सर्गेपि नोपजायन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च।

जन्म-मरणका हमको कोई भय नहीं है क्योंकि हमारा जन्म और मरण है ही नहीं।

× × ×

प्रश्न : प्रलयके विषयमें और बतावें। प्रलय कब होता है? क्यों होता है?

उत्तर : जब संसारमें पाप और दुःखकी वृद्धि हो जाती है और अव्यवस्था हो जाती है; एक दूसरेका खून चूसने लगते हैं, उनको चबाने लगते हैं; जब कोई सामाजिक, धार्मिक, प्रशासनिक व्यवस्था नहीं रहती है; जब मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं रहता है, तब परमेश्वर कहता है-मैंने तो अपने मजेके लिए सृष्टि की थी, अब बेमजा हो गया। बेमजा हो गया, तो वह सृष्टिको समेट लेता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्रने एक श्लोक लिखा है। वे बड़े अद्‌भुत विद्वान् थे—सभी दर्शनोंपर उनकी टीका, उनका भाष्य मिलता है। न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त, सबपर। ऐसे विलक्षण थे कि विवाह हुए तीस वर्ष हो चुके थे और उनकी पत्नी उनकी सेवामें रहती थी-ध्यान ही नहीं—लिख रहे हैं।

एक दिन कोई आया कि हमारी कन्याका विवाह है, आप कुछ सहायता कर दीजिये। उन्होंने इधर-उधर देखा, कुछ मालूम नहीं था, उनकी पत्नीने अपना कंगन उतारकर रख दिया। आप इसको दे दीजिये। तब पूछा कि तुम कौन हो? मैं आपकी पत्नी हूँ।

पत्नी शब्दके लिए संस्कृतमें धर्मपत्नी कहनेकी आवश्यकता नहीं है। पत्नी शब्द ही बनता है कि जो धर्मके अनुसार पत्नी हो।

पत्युर्नो यज्ञ संयोगे। (अष्टाध्यायी 4.1.33)

पति शब्दसे 'न' प्रत्यय होता ही तब है जब धर्मके अनुसार विवाह हुआ हो। हिन्दीमें तो 'धर्मपत्नी-अधर्मपत्नी' दोनों बोलते होंगे। संस्कृत भाषामें पत्नीके साथ धर्म शब्द नहीं जुड़ता है। पत्नी तो वही है जो धर्मके अनुसार अपनी है।

कौन हो देवी? मैं आपकी पत्नी हूँ। हाँ, ब्याह तो मेरा हुआ था। अच्छा तुम्हें क्या चाहिये? महाराज,

पत्नीको अपना नाम चले, यही चाहिए—उसका अभिप्राय था कि पुत्र हो! बोले—अच्छा, नाम चले तो यह ग्रन्थ मैं लिख रहा हूँ, इसका नाम 'भामती' रख देता हूँ। ऐसे थे वाचस्पति मिश्र। उन्होंने सृष्टि-प्रलयका ऐसा वर्णन किया है—

निःश्वसितमस्यवेदाः।

भगवान्‌को थोड़ी-थोड़ी नींद आ रही थी, तो नाक घड़घड़ायी। तो उनके नाककी जो घड़घड़ाहट है, वे वेद बन गये।

वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।

अपनी आवाज सुनकर ही उन्होंने आँख खोलकर देखा-यह आवाज कहाँसे आयी? तो पंचभूत-पाँचभूत दिखायी पड़ने लगे-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।

स्मितमेतस्य चराचरम्।

पाँच भूत देखकर भगवान्‌को मुसकान आ गयी। जब मुस्कराये तो यह चराचर सृष्टि लाखों, करोड़ों रूपोंमें बन गयी।

अस्य च सुप्तं महाप्रलयः। (भामतीका मङ्गलाचरण, श्लोक 2)

और फिर वे अलसा गये—देखनेमें थक गये। अपनी आँख बन्द की, तो प्रलय हो गया। यह भगवान्‌का देखना, मुस्कराना, आँख बन्द कर लेना—इसीका नाम सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है। पहले मैं शास्त्रीय ढंगसे बिन्दु और नादकी बात सुना रहा था। अब ये भावुकताकी रीतिसे सुना दी। भगवान्‌ने आँख खोली तो सृष्टि, भगवान्‌ने आँख बन्द की तो प्रलय। इसमें उनको कोई श्रम नहीं होता है। यह तो पलक खुलती है, पलक बन्द होती है। सृष्टि होती है, प्रलय होता है। यहाँ तक हमारे विद्वानोंका सूक्ष्म अन्वेषण है कि कोई भी वस्तु दो क्षण तक रहती ही नहीं है।

आमका फल कब बढ़ता है? आपके बाल कब बढ़ते हैं? आपको पता नहीं है। पानीकी धारा वही, वही मालूम पड़ती है, दीपक वही, वही मालूम पड़ता है, पर बदलता जाता है। प्रतिक्षण नयी वस्तुका जन्म होता है और पुरानी वस्तुका प्रलय होता है। इसीसे भामतीकार मानते हैं कि अज्ञान भी अनेक हैं, ज्ञान भी अनेक हैं। घरका ज्ञान प्रत्येक क्षणमें नया-नया उत्पन्न होता है और पुराने अज्ञानका नाश करता जाता है।

यह जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय हैं—एक तो होते हैं स्वाभाविक—प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण हो रहा है। जो कल था वह आज नहीं है, पर मालूम नहीं पड़ता है। आपके बाल बदल गये। आपके रक्तमें परिवर्तन हो गया। मलापसरण हो गया। रोएँ बढ़ गये। पाचन हो गया। कल वाला तो कुछ है ही नहीं। एक सृष्टिप्रलय ऐसा होता है और एक होता है—कालमें गणना करते हैं—जब ब्रह्माजीका एक कल्प पूरा होता है, उनको निद्रा आती है तब एक प्रलय होता है। और दूसरा प्रलय यह होता है, जब प्रकृति शान्त हो जाती है—ठप्प! कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भी उस समय नहीं होते हैं और एक प्रलय तब होता है जब महापुरुषको अपनी आत्माके स्वरूपका

बोध होता है। ब्रह्मज्ञान होता है। उसको बोलते हैं—आत्यन्तिक प्रलय। नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय। ये चार प्रकारके प्रलय माने गये हैं। महात्मा जीवनमें जीवित रहता है, लोगोंकी दृष्टिमें वह बोलता है, हँसता है, खेलता है। लेकिन उसके प्रपंचका आत्यन्तिक प्रलय हो चुका है। न उसमें जन्म है, मृत्यु है, न कर्म है, न कर्मफल है, न भोग है—ऐसा होता है महात्मा।

× × ×

प्रश्न : 'मम साधर्म्य' का यह पद द्वैतपरक है या अद्वैतपरक?

उत्तर : जो द्वैत प्रेमी हैं, उनके लिए द्वैतपरक है। जो अद्वैतके प्रेमी हैं, उनके लिए अद्वैतपरक है। हमारा कोई द्वैत-अद्वैतमें आग्रह नहीं है। यह जो द्वैत-अद्वैतका झगड़ा है वह बहुत निचले स्तरपर है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

कोई अद्वैत चाहते हैं, कोई द्वैत चाहते हैं। और वे सब तत्त्व जिसमें द्वैत-अद्वैतकी कल्पना की हुई है वे तो सम हैं और महात्मा लोग इसी उसीको जानते हैं। असली धर्म वहीं है जिसमें विवाद नहीं है; असली धर्म वह है जिसमें विरोध नहीं है। जो एकका विरोध करके धर्म होता है, वह धर्म नहीं, कुधर्म है।

अविवादोऽविरुद्धश्च देशिनस्तं नमाम्यहम्। (माण्डूक्यकारिका 4.2)

गौड़पादाचार्य कहते हैं—हम ऐसे धर्मका उपदेश करते हैं जिसमें न विवाद है और न तो विरोध है। विवाद और विरोधसे बिलकुल रहित धर्म-उपासनामें भगवान्‌का अनुरोध है। तुम जो करो सो ठीक है। योगमें निरोध है और ज्ञानमें अविरोध है।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधस्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

महाभारतमें कहते हैं कि धर्म वह है जो वाद-विवादमें नहीं पड़ता है। तुम्हारी दृष्टिसे, तुम जहाँ बैठे हो, वहाँसे वैसे ही दिखता है।

एक बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों इकट्ठे हुए। शंकरजीने कहा कि तुमलोगोंकी शकल-सूरत ठीक नहीं बनी है। सिरपर जटा रखो परन्तु दाढ़ी-मूँछ मत रखो। शंकरजीके दाढ़ी-मूँछ नहीं होती, सिरपर जटा होती है। सबको ऐसे ही रहना चाहिए। ब्रह्माजीने कहा कि दाढ़ी-मूँछ तो जरूर चाहिए, सिपर छोटे-छोटे बाल हों तो कोई हरज नहीं। मुकुटसे उनको ढक देना चाहिए, पर दाढ़ी-मूँछ जरूर होनी चाहिए। बड़े-बूढ़ोंकी यह पहचान है। विष्णु भगवान्‌ने कहा कि न तो दाढ़ी-मूँछकी जरूरत है, न तो सिरपर बड़े-बड़े बात बाल रखनेकी जरूरत है। जब तीनोंमें वाद-विवाद हुआ, तो आँख लाल होने लगी। विवाद होने लगा। अब ब्रह्मा, विष्णु, महेश होकर दाढ़ी-मूँछके विषयमें वाद-विवाद करें, कितनी नीच दृष्टि है, कितनी हीन दृष्टि है। छोटी-छोटी बातोंको विवादका, विरोधका आधार नहीं बनाना चाहिए। चाहे द्वैत हो, चाहे अद्वैत—जो द्वैतका प्रेमी है, भक्त है, उसको हम द्वैतके अनुसार उसकी व्याख्या करके सुना देते हैं। और जो अद्वैतका प्रेमी है, उसको अद्वैतकी व्याख्या

करके सुना देते हैं। जब वह अधिकारी होगा, जब उसका अन्त:करण शुद्ध होगा निर्वासन होगा, तब वास्तविक अर्थ अपने आप ही उसकी समझमें आ जायेगा।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्म शब्दसे क्या प्रकृतिका निर्देश होता है? महद्ब्रह्म शब्दका प्रयोग सांख्य वेदान्त आदिमें हम कहीं नहीं पाते। इस शब्दका भगवान् क्यों प्रयोग करते हैं? इसके तात्पर्यका कृपया विशद वर्णन करें।

उत्तर : प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि होते हैं। यह गीताका सिद्धान्त है—

पुरुषं प्रकृतिं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणाँश्चैव विद्धि प्रकृति-संभवान्॥

प्रकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती वह अनादि है। स्वरूपसे ब्रह्म है और कारणरूपसे उसको प्रकृति कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (ब्रह्मसूत्र 1.4.23)

इसमें कहा गया है कि प्रकृतिका जो वस्तुत: स्वरूप है वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यहाँ सृष्टिकी जो प्रक्रिया बतायी गयी है, वहाँ उद्बुद्ध प्रकृतिका नाम 'महद्ब्रह्म' है। ब्रह्म महद् और महद् ब्रह्म दोनों तरहसे प्रयोग किया हुआ है। तीसरे श्लोक में 'ममयोनिर्महद्ब्रह्म' है और चौथे श्लोक में—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: संभवन्ति या:।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद: पिता॥

पहली बात यह है कि आदि सृष्टिमें कैसे हुआ? असलमें सृष्टि आदि होती ही नहीं, अनादि होती है। इसलिए 'बीजांकुर न्याय'से—जैसे बीजसे वृक्ष होता है, फिर वृक्षसे बीज होता है, इसी प्रकार यह प्रकृति-पुरुषकी धारा चलती रहती है। इसमें—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणै: सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

जो प्रकृति-पुरुषके परम तत्त्वको जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। यहाँ जो उत्पत्ति बतायी है, वह न पुरुषकी है, न प्रकृतिकी। यह तो शरीरोंकी उत्पत्ति होती है और आत्मा तो चेतन है, साक्षात् ज्ञानस्वरूप है; उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। अब देखो, उत्पत्तिकी प्रक्रिया कितनी सरल रीतिसे समझायी गयी है। जैसे, माता-पितासे सन्तानकी उत्पत्ति होती है, 'मम योनिर्महद् ब्रह्म'—मेरी पत्नी है। भगवान् कहते हैं—मेरी पत्नी है। कौन? महद् ब्रह्म। महद् ब्रह्म माने महत्तत्त्वके रूपमें उद्बुद्ध प्रकृति और वस्तुत: वह भी ब्रह्मस्वरूप ही है। माने मैं ही हूँ, वो ही माने माता-पितामें कोई भेद नहीं है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

जब प्रकृतिमें परिणाम होता है और वह महत्त्वके रूपमें प्रकट होती है-महद् ब्रह्म—तब उसमें

भगवान् गर्भ माने चिदाभास पड़ता है। उस समय स्वच्छ होती है प्रकृति अर्थात् महत्तत्त्व। उसमें भगवान्‌की परछाईं पड़ती है। वह जो प्रकृतिमें पड़ी हुई भगवान्‌की छाया है, उसीको बोलते हैं गर्भाधान। अब उसी प्रकृतिमें अनेक प्रकारके शरीर—बेटा-बेटी, देवताओंके भी होते हैं।

कहते हैं न कि इन्द्रके पुत्रका नाम जयन्त है और इन्द्रकी बेटीका नाम जयन्ती है, इन्द्रकी पत्नीका नाम शची है। शंकरके महाकाली है, विष्णुके लक्ष्मी है। ऐसे जो परमेश्वर हैं, उसकी जो प्रथम उद्‌बुद्ध ज्ञानशक्ति है, उस ज्ञानशक्तिमें जो परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है, छाया है, आभास है, अथवा तदवच्छिन्न चैतन्य है—वेदान्तियोंमें तरह-तरहकी बात चलती है। जैसे, माता-पितासे सृष्टि होती है, यह बात बालक समझते हैं। उसी प्रकार माता है महद्‌बुद्धि, जो कि वस्तुत: ब्रह्म है और प्रकृतिका प्रथम परिणाम बुद्धिरूप, ज्ञानरूप है। उसमें जो भगवान्‌की छाया है उसीसे ये सारे-के-सारे शरीर—जैसे, धूप-छाँह होता है—चमाचम चमक रहा है। शुद्ध प्रकृतिमें ये अनेक जीवोंके शरीर—बेटा-बेटी भी और जूँआ और खटमल भी और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी, ये सब-के-सब उसी महाप्रकृति, महामाताके गर्भमें परमपिता परमेश्वरके प्रतिबिम्बिनसे उत्पन्न होते हैं। इसीसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सबके पिता परमेश्वर हैं। यदि पिताका पर्यवसान करना हो कि आदि पिता कौन होगा? तो वह परमेश्वर होगा। आदि माता कौन होगी? तो प्रकृति—महत्तत्त्व होगा। असलमें सबके माता-पिता वही हैं और उनकी प्रकृति पुरुषकी सेवा करते हुए, ज्ञानके द्वारा परमात्माकी सेवा करते हुए और कर्मके द्वारा प्रकृतिकी सेवा करते हुए, प्रत्येक जीवको अपना जीवन यापन करना चाहिए। माता-पिताकी सेवा छोड़कर और कोई मार्ग नहीं है।

मातृदेवो भव।
पितृदेवो भव।
मातर एव देवा:।

हमारे देवता कौन हैं? ये माताएँ—एक माँ का अर्थ नहीं है वहाँ, वहाँ सभी माताएँ देवता हैं, पूजनीय हैं और पितृदेवो भव—सभी पिता अपने पिता हैं। सभी मनुष्य अपने पिता हैं। जैसे, माता-पिताके प्रति अपना कर्तव्य होता है कि उनकी सेवा करें, इसी प्रकार संसारमें जितने भी स्त्री-पुरुष हैं, उनके प्रति अपना कर्तव्य है कि हम अपने सद्भावयुक्त सेवाके द्वारा सबको सुख पहुँचावें। सबके ज्ञानमें सहायता करें। सबके सत्कर्ममें, सुखमें वृद्धि हो। इसीलिए यहाँ माता-पिताके रूपमें परमेश्वरका वर्णन है कि आप ईश्वरके प्रति जो कर्तव्य निभाना है, वह सबके प्रति निभावें। माताके प्रति जो कर्तव्य निभाना है, वह सबके प्रति निभावें।

तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र कहा हुआ है—खेत और क्षेत्रज्ञ—ज्ञेत्रज्ञ माने खेतको जाननेवाला किसान। इसमें कैसी माटी है, कितनी गीली है, कितनी सूखी है, यह करैली है कि बलसुनरी है? (ये मिट्टीके भेद होते हैं)—इसमें कौन-सा बीज बोवेंगे तो उससे उत्पादन बढ़िया होगा? जैसे, क्षेत्रज्ञ अपने खेतमें खेती करता है। इसीप्रकार यह परमेश्वर जो है, अपनी पत्नीरूप प्रकृतिमें नाना प्रकारकी सन्तान उत्पन्न करता है। बीजप्रद—

जैसे, खेतमें किसान बीज बोता है, इसप्रकार भगवान् प्रकृतिमें बीज बोते हैं, और नाना प्रकारकी पौध पैदा होती है। यह है—

अहं बीजप्रदः पिता।

× × ×

प्रश्न : प्रकृतिको महद्‌रूपी योनि, अपनेको बीजप्रदाता कहकर सृष्टिके मूलमें द्वैत है, ऐसा प्रभु मानते हैं। गीताको अद्वैतवर्षिणी कैसे कहा जाय?

उत्तर : जहाँ सृष्टि और प्रलयका वर्णन है, वहाँ द्वैत नहीं होगा तो सृष्टि कैसी? और द्वैत नहीं होगा, तो प्रलय कैसा? यह एक अद्‌भुत दृष्टि है, जैसे मिट्‌टी रहती है—मिट्टी अद्वैत है और घड़े द्वैत हैं। है कि नहीं भाई? ऐसे ही पंचभूत एक है और सृष्टिमें नाम-रूप अनेक होते हैं। तो परमात्मा चेतन एक है और चिदाभास अनेक हैं। एकतामें कोई फरक न डालकर ही यह अनेकताकी सृष्टि और प्रलय होता है। आकाश एक है और हर घड़ेमें आकाश अलग-अलग है। वायु एक है, वायु अद्वैत है, लेकिन हमलोगोंके शरीरके भेदसे वही श्वासरूप होकर अनेक हो जाता है। तो क्या अनेक प्राण होनेसे, अनेक साँस होनेसे, वायुमें भेद हो जाता है? क्या नाकमें छेद अलग है, कानमें अलग है, मुँहमें अलग है, पेटमें अलग है तो आकाशमें भेद हो जाता है?

क्या सौ घड़ोंमें सूर्यकी सौ परछाई पड़ती हो तो सूर्य अनेक हो जाता है? समुद्रमें अगर कोटि-कोटि तरंगे उठती हों तो क्या समुद्र अलग-अलग हो जाता है? और पृथिवीमें कोटि-कोटि धूलिकण उड़ रहे हों, तो क्या पृथिवीतत्त्व अलग हो जाता है? इसलिए अद्वैत तत्त्व अक्षुण्ण रहते हुए भी, ज्यों-का-त्यों रहते हुए भी, उसमें अनेकताका आभास होता है। यह सृष्टि होनेसे परमात्माके स्वरूपमें किसी प्रकारका द्वैत नहीं होता है। यदि आपको घड़ेसे पानी पीना है, घरमें रखना है, तो आप बाजारसे खरीदकर ले आइये। आपके लिए वह घड़ा है और जिसको उसमें कुछ रखना नहीं है, पानी पीना नहीं है, जिसको कोई उससे प्रयोजन नहीं है, जो निर्वासन है, उसके लिए जैसी माटी वैसा घड़ा। निर्वासन पुरुषके लिए तत्त्व अद्वैत होता है और वासनावान्‌के लिए इसमें अनेकता दिखायी पड़ती है और अनेकता दिखायी पड़नेसे एकतामें कोई बाधा नहीं पड़ती है।

•

प्रवचन : 3

17-11-85

प्रश्न : कल परमपूज्य स्वामीजीने जो कहा, उसपर एक प्रश्न है। चौथे श्लोकमें नाना प्रकारके योनियोंकी त्रिगुणमयी माया-रूप योनि और ब्रह्म, बीजप्रद पिता कहा गया है। पाँचवें श्लोकके अनुसार प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुण जीवात्माको बाँधते है। यहाँ तक तो समझमें आता है कि अपने त्रिगुणात्मक आचरणोंसे जीवात्मा बार-बार जन्मान्तरमें बँधता रहता है; किन्तु आद्य स्थितिमें जब जीवात्मा विशुद्ध चैतन्य था, उसे परमात्माने अपनेसे पृथक् प्रपंचमें क्यों डाला?

उत्तर : वैसे उन्होंने कल ध्यानसे सुना होता तो इस प्रश्नका उत्तर उसमें आ गया था। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों अनादि होते हैं।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। अनादि हैं माने किसी कालमें उत्पन्न नहीं हुए हैं। यदि आप मानोगे कि जीवात्मा और प्रकृति दोनों कालमें हुए हैं, तो जगत्का मूलतत्त्व काल ही हो जायगा। वहाँ तो जगत्का मूलतत्त्व परमात्मा है और वह अनादि प्रकृतिके संयोगसे सबका उत्पादक है—

यावत्संजायते किंचित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संयोगात् तद् विद्धि भरतर्षभ॥

क्षेत्र भी अनादि है, क्षेत्रज्ञ भी अनादि है और इनका संयोग भी अनादि है। महाप्रलयके समयमें ये जो योनियाँ हैं, अर्थात् स्त्री है, पुरुष है, पशु है, पक्षी है—ये सब शरीर नहीं रहते हैं और जब सृष्टि होती है तब ये शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। और अविद्यावान् जो जीव है, वह महाप्रलयके समय शान्त रहता है और सृष्टिके समय शरीरधारी होकर अपना कोई काम करता है। यह विशुद्ध चैतन्यस्वरूपसे तब भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। अविद्याके कारण अपनेको कालमें, जन्म लेनेवाले शरीर, स्थान-विशेपमें रहनेवाले शरीर, रूप-विशेषमें रहनेवाले शरीर या नाममें रहनेवाले शरीरको अपना आपा मान लेता है। इसलिए उत्पत्ति जो है वह जीवकी कभी नहीं होती। जीव अनादि और ब्रह्मविद्याके द्वारा उसके जीवत्वकी निवृत्ति, ब्रह्मत्वका बोध होता है।

जीवकी उत्पत्ति ईश्वरसे भी नहीं होती है क्योंकि वह ईश्वरका स्वरूप है। और प्रकृतिकी उत्पत्ति भी कभी नहीं होती है, वह तो अनादि है। और यह जब तक प्रपंच है—जब तक माने हमेशा, यह प्रपंच चलता रहता है। जीवात्माको अपने ब्रह्म होनेका ज्ञान होता है, वह मुक्त हो जाता है और यह सृष्टि तो—

यथापूर्वम् अकल्पयत्। (ऋग० 10-190-3)

जैसे महाप्रलयके पहले थी वैसे ही बादमें रहती है—अनादि है और चलती रहती है। इसलिए जीव कभी विशुद्ध चैतन्य था और अब वह अशुद्ध चैतन्य हो गया, ऐसा नहीं है। जीव तो वस्तुत: विशुद्ध चैतन्य

ही है; परन्तु अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण, यह प्रकृतिके कार्य जो शरीर हैं उनमें 'मैं' और 'मेरा' करके फँस जाता है और तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर मुक्त हो जाता है। अज्ञानकी प्रकृति होती है कि आपसे पूछें कि आप रशियन भाषा और लिपि जानते हो? तो बहुत-से लोग इसमें होंगे, कहेंगे हाँ, जानते हैं, कबसे जानते है? जबसे सीखा है, तबसे जानते हैं। कबसे नहीं जानते थे? जन्मसे नहीं जानते थे। पूर्व जन्म में? तो सीखकर ही तो जाना होगा न! जो रशियन भाषा और लिपिका आपको अज्ञान होगा, वह अज्ञान अनादि होगा। लेकिन सीखनेसे उसकी निवृत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार अविद्याको अनादि मानते हैं। प्रकृति भी अनादि है। जीव भी अनादि है। परमेश्वर भी अनादि है। यह सृष्टिकी प्रक्रिया भी अनादि और प्रवाह रूपसे नित्य है। इसमें जो अविवेकके कारण सम्बन्ध है, अविद्याके कारण जो 'मैं' , 'मेरा' है—वह तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।

जन्म, मरणसे उसका सम्बन्ध छूट जाता है। देखो, जीवको यहाँ भी उत्पन्न नहीं बताया। श्लोक तो शायद आपने उद्धृत भी किया है—**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।**

देही तो अव्यय है, माने यह जीवात्मा जो है, यह तो अव्यय है, अनादि है, अनन्त है। इसकी जो परिच्छिन्नता है, वह अविद्याकल्पित है। अनादि भावरूप अविद्याके द्वारा यह कल्पित है और ज्ञाननिवर्त्य है। इसलिए शरीरोंकी उत्पत्ति ही प्रकृति और प्रारब्धके अनुसार होती है। जीवात्माकी और प्रकृतिकी उत्पत्ति नहीं होती है। ये अनादि होते हैं और तत्त्वज्ञानके द्वारा बाध्य होते हैं। जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होगा तबतक इनसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्मयोनि तथा बीजप्रद पिता द्वारा अनगिनत शरीरधारी जीवोंकी उत्पत्ति होती है। क्या प्रत्येक उत्पत्ति इस प्रकारके संयोगसे ही होती है? अथवा सृष्टिके प्रारम्भ कालमें ऐसी होती है? क्या प्रारम्भिक जीव-सृष्टिकी वृद्धिमें जीव एवं प्रकृति ही हेतु है? परमात्मा नहीं है? इसके अतिरिक्त क्या दूसरा कोई रहस्य सृष्टि एवं जीवोंकी उत्पत्तिका है?

उत्तर : मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

भगवान् हैं अध्यक्ष और उनकी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचरकी सृष्टि करती है। परमात्माकी अध्यक्षतामें प्रकृति सृष्टि करती है। यह बात तो गीताको मान्य है, पर स्वतन्त्र प्रकृति गीताको मान्य नहीं है। प्रकृति भगवान्‌के अधीन रहकर अपना सारा काम करती है। जीवोंकी उत्पत्ति होती है, यह बात तो गीताको बिलकुल मान्य नहीं है। शरीरोंकी उत्पत्ति होती है और कर्मके अनुसार वे बदलते भी रहते हैं। कभी कर्मके अनुसार मनुष्य होगा, कभी पशु होगा, कभी पक्षी होगा, कभी देवता होगा; परन्तु जीव तो तबतक जीव रहेगा, जबतक उसको अपने ब्रह्मपनेका ज्ञान नहीं हो जाता।

इसलिए सारे प्रश्नका उत्तर यह हुआ कि प्रकृतिके द्वारा, कर्मानुसार शरीरकी सृष्टि होती है; परन्तु अध्यक्ष है परमात्मा। परमात्माके स्वामित्वमें यह उत्पत्ति होती है और परमात्माका बोध होनेपर जब परमात्मासे एकता हो जाती है, तब प्रकृति और कर्मकी गति वहाँ नहीं रहती है। अब आप शायद अनादित्वके बारेमें कुछ शंकाशील है! आप पूर्वकी आदि बताइये।

कल एक सज्जन आये थे, वे पूर्वी धर्म और पश्चिमी धर्मकी बात कर रहे थे। भाई, पूर्वी और पश्चिमीका भेद कैसे होता है? क्या पश्चिमी देशमें सूर्योदय नहीं होता? क्या वहाँ सूर्यास्त नहीं होता? जहाँ सूर्योदय होता है वहाँ पूर्व है, जहाँ सूर्यास्त होता है वहाँ पश्चिम है। पूर्व और पश्चिम तो सर्वत्र ही रहते हैं। यदि कोई चाहे कि हम यहाँसे जापानकी ओर जाकर पूर्वकी आदि पकड़ लें, तो उसके बाद भी पूर्व, उसके बाद भी पूर्व। हम लंदनसे पश्चिम जायें, तो वहाँ पश्चिमका आदि-अन्त मिलेगा? नहीं, कितना भी जाओ आदि-अन्त नहीं मिलेगा। बल्कि उसीमें आदमी बेहोश होकर गिर पड़ेगा, भटक जायेगा, मर जायगा। देशका आदि-अन्त नहीं होता, न ऊपर, न नीचे, न दाहिने, न बायें, न सामने, न पीछे।

इसी प्रकार काल जो है—कोई भूतकी आदि चाहे कि हम स्पर्श करें, तो वह केवल कल्पना ही कर सकता है, उसके पहले, उसके पहले, उसके पहले, उसके बाद, उसके बाद, उसके बाद। काल भी भूतकाल भी, अनादि होता है और भविष्यकाल अनन्त होता है। इसलिए जो लोग इतिहास लिखते हैं, वे एक झूठी विभाजक कल्पना कर लेते हैं कि यहाँसे इतिहासका आदिकाल है, यहाँसे मध्यकाल है, यहाँसे वर्तमानकाल है। यदि एक सेकेण्डका हम अरब हिस्सा कर दें, नहीं, अरब-अरब हिस्सा कर दें, तब भी भूत-भविष्य उसका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। इसलिए देश, काल और वस्तुएँ—ये जिसको आप सृष्टि बोलते हैं, ये वस्तुएँ—इनका भी आदि-अन्त नहीं होता है। ये सब प्रवाहरूपसे चलती रहती हैं। इनमें जो मैं-मेरा है, वह आत्मा और अनात्माके अविवेकके कारण है। और इनमें जो भी परिच्छिन्न होगा, वह दृश्य होगा। उसमें जो आत्मबुद्धि है, वह अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण है। इसलिए हमारे वेद, शास्त्र, पुराण, महात्मा समय-समयपर आनेवाले भगवान्—ये सब उसी अज्ञानको दूर करनेके लिए उपदेश करते हैं।

× × ×

प्रश्न : महद्ब्रह्म योनि तथा बीजप्रद पिताकी संतान तो पिताके तुल्य ही होनी चाहिये। उसका पतन किस प्रकार होता है?

उत्तर : ऐसा है कि पिता और पुत्र तो वस्तुतः एक ही हैं। अपने पिताका अज्ञान और अपने पुत्रत्वका अज्ञान—यह अज्ञान अपनेको छोटा बना देता है, तब हम अपनेको कंगाल अनुभव करने लगते हैं। हमारे पास यह नहीं, यह नहीं, यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए। फिर अपने स्वरूपके अज्ञानसे और दूसरेमें महत्त्वबुद्धि होनेसे कामना होती है और कामनाकी पूर्ति करनेके लिए कर्म होते हैं। कर्ममें पाप-पुण्य होते हैं और पाप-पुण्यसे बँधकर विवशता आ जाती है, फिर नरक और स्वर्गमें आना-जाना पड़ता है, तो असलमें हम जिस अमृतके पुत्र हैं, जिस परमात्माकी संतान हैं, उसका अज्ञान ही क्षुद्रताका कारण है। यहाँ तो बाप और

बेटेका सम्बन्ध ही अज्ञान हो गया है। हमारी समझमें ही नहीं आता कि हम परमात्माकी सन्तानें हैं और हमको परमात्म-स्वरूप ही होना चाहिए और यदि आपको इसका बोध है तो बहुत बढ़िया। आप सचमुच परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। परमात्माके पुत्र है, परमात्माके समान नहीं है, परमात्मा ही हैं।

× × ×

प्रश्न : बीज और चेतन तत्त्वपर प्रकाश डालें।

उत्तर : देखो, माटी तो सब बीजोंमें माटी ही रहती है और बीजके भेदसे एक ही खेतमें, एक साथ ही, मेड़पर आलू लगा देते हैं। और गन्नेको नालीमें लगा देते हैं और लाल मिर्चके बीज उसपर छिड़क देते हैं। माटी एक रहती है और लाल मिर्चका बीज तीता होता है, उससे तीती मिर्च पैदा होती है। गन्नासे मीठा रस पैदा होता है। और आलूको चाहे मीठेमें मिलाओ, चाहे खट्टेमें, चाहे नमकमें—सबके साथ मिलनेको तैयार है। माटी एक होनेपर भी बीजके भेदसे जैसे, पौधे अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार यह जो जीव है—(आपने ध्यान दिया होगा—ज ई, व, व ई और ज)—चेतनकी प्रधानतासे जो बीज होता है, उसको जीव कहते हैं। बीज और जीव दोनों मूलत: एक ही हैं। पेड़-पौधा चाहे कुछ भी हों, उसमें जीव होता है और बीज भी होता है। मिट्टीके एक होनेपर भी बीजकी अनेकतासे पौधेमें अनेकता हो जाती है। इसी प्रकार चेतनके एक होनेपर भी कर्मरूप संस्कारकी अनेकताके कारण जीवमें अनेकता हो जाती है। और जबतक वह अपनेको कर्ता, भोक्ता मानता रहेगा, तबतक वह अलगाव बना रहेगा। और बादमें ब्रह्मज्ञानसे अपनेको वह गुणोंसे मुक्त कर लेगा।

आगे इसी अध्यायमें आवेगा—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

वह जीव परमात्मा हो जावेगा। कौन जीव? जो गुणोंको अपनेसे अलग कर देगा और कर्ता, भोक्तापन उनमें डाल देगा। और जो भक्ति करेगा वह भी—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

दो उपाय बताया—या तो गुण और आत्माका विवेक हो जाय, तो आप गुणोंके बन्धनसे, जन्म, मृत्युसे छूट जायेंगे। आपकी जो बीजात्मकता है। वह दग्ध हो जायगी। फिर कोई पौध पैदा नहीं होगी—न मनुष्यकी, न पशुकी, न पक्षीकी। फिर तो आप अपनेको परमात्माके रूपमें ही अनुभव कर सकेंगे। दूसरा उपाय है भक्ति।

× × ×

प्रश्न : प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण अव्यय जीवात्माको कैसे बाँध लेते हैं? कृपया विस्तारसे समझावें।

उत्तर : एक महात्माके पास कोई सज्जन गये और बहुत दु:खी हुए कि महाराज संसारके लोगोंने

हमको ऐसा पकड़ रखा है कि हम छूटते ही नहीं है। मन होता है कि छूटें, एकान्तमें बैठें, भगवान्का भजन करें। परन्तु लोग हमको छूटने ही नहीं देते हैं। तो महात्मा चुप रहे। थोड़ी देर बाद बगीचेमें जाकर उन्होंने एक पेड़को पकड़ लिया और पुकारने लगे—दौड़ो, छुड़ाओ रे! पेड़ने हमको पकड़ लिया है। अब जो भक्त था उसने कहा महाराज, पेड़ने आपको नहीं पकड़ा है। अब वे चिल्लाये—नहीं नहीं, पेड़ने हमको पकड़ लिया है। अन्तमें उन्होंने बताया कि ये गुण किसीको नहीं बाँधते हैं, हम ही जब अपनेको गुणी मान बैठते हैं, तो उनके साथ बँध जाते हैं। जहाँ-जहाँ आप गुण प्रकट करोगे या गुणको पकड़ोगे, वहाँ-वहाँ आपके लिए बन्धन हो जावेगा।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः।

संस्कृत भाषामें गुण माने रस्सी होता है। और उसको हम अपने शरीरमें लपेट लेते हैं—अहं गुणवान्, अहं गुणी। देखो, यह हड्डी, मांस, चामका जो बना हुआ शरीर है, यह तो तमोगुणका कार्य है और इसमें जो क्रिया होती है—चलना, फिरना, उठना, बैठना, यह रजोगुणका कार्य है। और इसमें जो ज्ञान होता है, यह शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गंध है यह सत्त्वगुणका कार्य है। यह तीनों बात हमारे जीवनमें प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

जड़ शरीरके कारणके रूपसे तमस्का और क्रियाके कारणके रूपमें रजस्का और ज्ञानके कारणके रूपमें सत्त्वका अनुमान होता है कि इन तीनोंके तीन मूल होने चाहिए। और गुणोंके मूल साम्यावस्थामें जब यह सृष्टि नहीं होती है, तब एक होने चाहिए। उसीको प्रकृति कहते हैं और एक ही बूँद वह पानी है जो पिताके शरीरमें-से माताके शरीरमें आया था। और उसीमें-से आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा-ये सब निकल आये। ज्ञानेन्द्रियाँ आगयीं, उसीमें-से हाथपाँव कर्मेन्द्रियाँ आगयीं और उसीसे हड्डी मांसका शरीर निकल आया। वह बीजात्मक प्रकृति जो है वही केवल पिताके शरीरमें-से आयी थी और उसीके ये सब हाथ, पाँव, आँख, कान, नाक और यह हड्डी, मांसका डेढ़-दो मन वजनका शरीर प्रकट हो गया। यह चमत्कार है, यह आश्चर्य है! प्रकृतिके एक बूँद पानीने यह क्या कौशल दिखाया है? क्या निपुणता दिखायी है? इससे बढ़िया चमत्कार और कोई नहीं हो सकता।

आपके घरमें शहद गिरना चमत्कार नहीं है। भभूत गिरना चमत्कार नहीं है। आपके मनकी बातको कोई जानले, यह चमत्कार नहीं है। यह एक बूँद पानीका चमत्कार, जिसमें बुद्धि है और जिसमें प्रेम है, जिसमें इन्द्रियाँ हैं, कर्मेन्द्रिया हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ है, शरीर है, यह चमत्कार है! यही प्रकृतिके—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति-संभवाः।

तो ये एक बीजमें-से निकले हुए, लेकिन आँखसे देखनेमें हम इतने फँस गये। कानसे सुननेमें इतने फँस गये। हाथ पाँवसे काम करनेमें इतने फँस गये और यह हड्डी, मांस, चामके शरीरको ऐसा मैं मान लिया कि हम बँध गये। इसलिए यह जो रस्सी है, उसको गुण कहा जाता है।

पहले एक उपदेशक थे, वे बोला करते थे—

भली बावली बावली, सब कोई भरि लेत।

यह जो पानीकी बावली होती है, यह पगली सचमुच बहुत भली है, क्योंकि जो चाहे, सो इसमें-से जाकर पानी निकाल ले आवे।

भली बावली बावली, सब कोई भरि लेत।
भूप कूपकी एक गति, गुण बिन बूँद न देत॥

पर राजा और कुँआ इनकी एक गति है, क्योंकि रस्सी न हो तो कुँआ पानी न देगा और गुण न हो तो राजा एक पैसा नहीं देगा। गुणोंको हमने जो गुण समझ लिया, आगे आवेगा। कौन गुण कैसे बाँधता है यह अगले श्लोकोंमे आने ही वाला है। आप पूछते हैं, हम गुणोंके साथ कैसे बँधते हैं? और गीता स्वयं आगे बताती है कि कैसे गुण बाँधते हैं—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

सत्त्वगुण निर्मल है, क्योंकि उससे ज्ञान प्रकट होता है और उसमें कोई दु:ख नहीं है। आपको शरीरमें दु:ख होता है, आँखका गोलक दुखता है, देखनेवाली आँख नहीं दुखती है। कानका गोलक दुखता है, सुननेवाला कान नहीं दुखता है। वह तो ज्ञानात्मक है। 'अनामय' माने दु:ख रहित—निर्मल है, प्रकाशक है। बाँधता कैसे है?

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।

जब आप सुख लेनेके आदी हो जाते हैं कि हमको तो बस मजा-ही-मजा चाहिए। अरे भाई, आप भोजन करते हैं और यदि चाहें कि मीठा-ही-मीठा खायें, वही बहुत मजेदार है या नमक-ही-नमक खायँ, तो आप ऊब जायेंगे, कै आने लगेगी। इसी प्रकार जो लोग सुखका आस्वादन करने लगते हैं—भोजनके समान ही उसमें थोड़ी मिर्च भी चाहिए। उसमें थोड़ी खटाई चाहिए, थोड़ा नमक चाहिए, थोड़ा तीता चाहिए, थोड़ा कसैला चाहिए। छह रसोंको मिलाकर जब आप भोजन करेंगे तब वह शरीरके लिए उपयोगी होगा।

इसी प्रकार जीवनमें जब सुखासक्ति हो जाती है कि नहीं हम तो बच्चेकी तरह खीर ही खायेंगे, रोने लग जायेंगे और 'ज्ञानसङ्गेन चानघ' का हम तो हर बातको ठीक-ठीक समझकर ही रहेंगे। अत: हर बातको ठीक-ठीक समझना तो यह एक जीवनमें होना सम्भव नहीं है। एक परमात्माको समझ सकते हैं ठीक-ठीक और बाकी तो दुनिया सदैव बदलती रहती है। देश बदलता है, काल बदलता है, नाम बदलते हैं, रूप बदलते हैं, शकल-सूरत बदलती है। जब तुम्हारी आसक्ति होगी कि हमारी चाम चिकनी ही रहे, इसमें झुर्रियाँ न पड़ें। कितना ही स्नो-पावडर लगाओ, आप क्या हमेशा उसको चिकना रख सकोगे? क्या बालको काला रख सकोगे? क्या आँख, कान, नाकको ऐसे ही रख सकोगे? यह जब हम ज्ञानकी आसक्ति और सुखकी आसक्तिमें फँस जाते हैं—यह ऐसा रहेगा तभी हम सुखी होंगे। बाबा कभी बिना बिस्तरके भी सो जाया करो और कभी बिना नमक, मीठाके भी खा लिया करो। जीवनका यही रंग-ढंग है।

जहाँ आसक्ति हुई, सुखके निमित्तमें आसक्ति होगी तो भी फँसोगे। यदि आपकी पत्नी जान जायगी कि ये मेरे बिना नहीं रह सकते तो आपसे ऐसे काम भी करायेगी जो आपको नहीं करना चाहिए। और जब पति जान जायगा कि पत्नी हमारी गुलाम है, हमारे बिना नहीं रह सकती—यह आसक्ति ही गन्दे कामकी ओर ले जाती है। इस आसक्तिसे ही हम बुराईमें फँसते हैं। वही बन्धन जो जाता है। सुखसङ्ग और ज्ञानसङ्ग ये दो सात्त्विकतामें ही हैं। जिन लोगोंके पवित्रताका अभ्यास हो जाता है—स्नान करनेपर कोई छू न दे। देख लो मजा! उनके मनमें क्रोध आ जावेगा। क्यों भाई, आप पवित्रात्मा हैं। शरीरमें अपरसके कपड़े पहनते हैं, स्नान करके अलग रहते हैं, मिट्टीसे हाथ धोते हैं। किसीने छू लिया तो आपको क्रोध क्यों आ गया? भाई, उस पवित्रतासे इतने बँध गये कि उसको छोड़ नहीं सकते। हर स्थितिके लिए मनुष्यको तैयार रहना चाहिए। देखो, उपनिषदोंमें क्या आता है? जूठे उड़दको खा लिया, जूठा पानी नहीं पीया। यह सत्त्वगुण बन्धनमें हेतु, आरामतलब बना देता है और जानकारीके पीछे इतना डाल देता है कि सारा काम छूट जाय। और—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्गसमुद्भवम्।

रजोगुणमें रंगीनी है। संन्यासी लोग भस्म लगाते हैं और वैष्णव लोग रंगीन माटीका तिलक लगाते हैं। भस्मका अर्थ है उनका प्रारब्ध, उनका प्रपंच भस्म हो गया है। अब प्रारब्ध तो उनके शरीरमें भस्मके रूपमें जला हुआ प्रारब्ध लगा है। और वे रागात्मक हैं, रंगीनी हैं-बड़े-बड़े मजे हैं। मनमें फिर तृष्णा होती है। तृष्णा माने संस्कृतमें होता है 'प्यास'। आप देखो, आप प्यासे हो कि तृप्त हो। संसारमें जितनी-जितनी तृप्ति होती है, उतनी-उतनी प्यास बढ़ती है और जितनी-जितनी प्यास बढ़ती है, उतनी-उतनी तृप्ति होती है। और संसारको छोड़ नहीं सकते। तो तृष्णा और आसक्ति ये राग के दो कार्य हैं। और रजोगुण इनसे बाँधता है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम्॥

अब उसमें कर्मासक्ति आ जावेगी—यह करे, यह करे, यह करे। बोले बाबा, एक सेठ थे। हम तो सेठोंकी ही हँसी करते हैं। क्या करें? उनसे किसीने कहा कि चलो हाथी बाबाका दर्शन कर आओ। तो कहने, सुननेसे बिचारे गये। अब हाथी बाबाने कहा—भाई, तुम बहुत दिनके बाद आये। बोले, महाराज, क्या करें, मरनेकी फुरसत नहीं है। हाथी बाबाने कहा, भाई मरना आवेगा तब तो फुरसत मिलही जायेगी। उसके लिए आप क्यों फिक्र करते हो।

मनुष्यको ऐसी कर्मासक्ति हो जाती है कि वह अपने दूसरे कर्तव्योंको भी भूल जाता है। थोड़ा अपने अच्छे-बुरे कर्मोंकी याद करे। सन्ध्या-वन्दनमें अच्छे-बुरे कर्मोंकी याद की जाती है। 'यदह्ना पापमकार्षम्' इत्यादि मन्त्रमें दिनमें किये गये पापकी बात कही जाती है। उसी प्रकार 'यद्रात्र्या……' इत्यादि मन्त्रमें रातमें कृत पापकी बात कही जाती है। इन पापोंकी याद करके, उनका प्रक्षालन होता है। अब सन्ध्या-वन्दन करके—माने अपनी बुराइयोंके प्रक्षालनका समय नहीं है। आप शरीरको तो धो लेंगे जरूर, लेकिन मनको धोनेके लिए आपके जीवनमें फुरसत नहीं होती है। कर्मासक्ति इतनी बढ़ जाती है कि

ईश्वरको भूल जाता है, अपनी आत्माको भूल जाता है, दुनियाको भूल जाता है, दीनको भूल जाता है और फँस जाता है। और—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

अज्ञान माने बेवकूफी। ये हाथ-पाँव बेवकूफ होते हैं और बुद्धि समझदार होती है। बुद्धि ज्ञानवती है और हाथ-पाँव ना समझ हैं। आँख देखती हैं, कान सुनता है लेकिन हाथ-पाँव देखते नहीं हैं। आँख देखकर बतायेगी—पाँव यहाँ रखो। यह अज्ञानसे तमस्‌की उत्पत्ति होती है। अज्ञान माने प्रकृति—'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि' यह अज्ञान सबको मोहित कर लेता है। मोहित कर लेता है माने मोहमें डाल देता है—

प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत।

जीवनमें प्रमाद आ जाता है। समयपर कामकी याद न आना, अपने कर्तव्यका स्फुरण ही न होना, प्रमाद है। नशेमें आ गये, भूल गये मैं कौन हूँ? मोहन—माने मोह—नशा। उसमें क्या होता है? नालीमें गिर पड़े फिर भी पता नहीं है।

एक श्रीमतीजी हमको बताती थीं कि उनके पति जब चार बजेके करीब बाहरसे लौटकर आते हैं और मोटरसे उतरते हैं तो मैं खड़ी देखती रहती हूँ छज्जेपरसे और जब वे मोटरसे बाहर निकलकर गिर पड़ते हैं, कभी-कभी नालीमें गिर पड़ते हैं, तब मैं दौड़कर जाती हूँ और उनको उठाकर ले आती हूँ, धोती हूँ, स्नान कराती हूँ। जैसे वे स्वस्थ हो वैसा काम करती हूँ। तुम्हारा मन कैसा रहता है? तो वह बोली—मेरा मन ऐसा रहता है कि इसी समय तो इनको मेरी जरूरत है। देखो, यह है पत्नीका भाव। यह तमोगुण सबको मोहित कर लेता है। इसमें अपने कर्तव्यका बोध नहीं रहता और बोध होनेपर भी आलस्य आ जाता है कि चलो आज नहीं, कल कर लेंगे। वह कल फिर कभी नहीं आता है। और ऐसे ही लोगोंके जीवनमें तनाव बहुत ज्यादा होता है जो अपने समयका काम समयपर पूरा नहीं करते। आलसी लोगोंके जीवनमें ही तनाव बहुत ज्यादा रहता है और नहीं तो फिर निद्रा, सो गये। कैसे बँधे आप? तमोगुणके द्वारा बँध गये। यह एक बीजमें-से ही तीनों निकले हुए हैं। आपको यह सम्हालकर देखना पड़ेगा कि आप कहाँ फँसते हैं? निकम्मे हो गये, निद्रामें फँस गये—

मा ते संगोस्त्वकर्मणि।

निकम्मापन तो अपने जीवनमें आना ही नहीं चाहिए और आलस्य माने जिस समयका जो कर्तव्य है उस समय रसके साथ, रुचिके साथ उसको पूरा न करना और विस्मरण हो जाना। भूल ही जाय, कर्तव्य याद ही न आवे तो समझना तमोगुण बहुत बढ़ रहा है। यह जीवको बाँध करके कहाँ पटकते हैं, सुखमें और ज्ञानमें आसक्ति होनेसे बन्धन बना है। जैसे एक हाथी हथिनीका स्पर्श करके मुग्ध हो जाता है—वहाँ बँध गया और रजोगुणने तृष्णा उत्पन्न की—हमको यह चाहिए, यह चाहिए—

यद् यत् प्रीतिकरं पुसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति॥ (विष्णु पु० 6.5.55)

दुनियामें जिसमें हम ज्यादा मजा लेने लगते हैं, वही अन्तमें हमको दु:ख देनेवाली सिद्ध होती है। उसीसे स्वास्थ्य बिगड़ता है, उसीसे बुद्धि बेकाबू हो जाती है। अगर अपने जीवनको बनाना है, तो दुनियामें बहुत मजा लेनेकी कोशिश करेंगे तो अन्तमें शरीर अशक्त हो जायगा। आपकी इन्द्रियाँ आपका साथ नहीं देंगी। आपके मनकी रुचि बदल जायगी। रुचि आबद्ध हो जायगी, इसलिए जहाँ तक हो सके, तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण इन तीनोंके बन्धनसे मुक्त होकर व्यवहार करना चाहिए। उन्मुक्त व्यवहार—कहीं फँसाव न हो, पाँव ऐसी जगह रखिये जहाँसे उठा सकें। हाथ ऐसी जगह डालिये जहाँसे खींच सकें। आपके जीवनमें ऐसी आदतें हों कि उनको छोड़ करके भी आप रह सकते हों। यह जो गुणोंकी आसक्ति है यह मनुष्योंको बहुत दु:ख देती है—इन सब गुणोंसे छूटनेकी बात आगे बतायी गयी है। इसी अध्यायके अन्तमें बताया है कि आप परमात्माकी भक्ति कीजिये—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

यदि आप परमेश्वरकी भक्ति करेंगे तो इन गुणोंमें कहीं आपकी आसक्ति नहीं होगी। कहीं बन्धन नहीं होगा। आपके दिल, दिमागमें कहीं तनाव नहीं रहेगा। मस्त होकर आप अपने सारे कर्त्तव्योंको पूरा करेंगे। यह गीता जीनेकी कला है। जीवनका ग्रन्थ है। यह आपके जीवनको अमृतमय बनानेवाला है।

× × ×

प्रश्न : यहाँ 'देहिनम्' जीवात्माको अव्यय कहा गया है जबकि परमात्मा और ब्रह्मको भी अव्यय कहा जाता है, फिर क्या दोनों एक हैं? समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' यह जो अश्वत्थ है वह अव्यय है। संसारवृक्ष अव्यय है। 'देहे देहिनमव्ययम्'—यह आत्मा भी अव्यय है और परमात्मा भी अव्यय है। यहाँ अव्ययपर विचार करेंगे। व्यय माने होता है घिसना। जैसे कोई मशीन चलते-चलते घिस जाती है, तो उसको बदलना पड़ता है, इसी प्रकार व्यय कहते हैं—

वि इति विपरीतम् एति—व्ययनं व्ययः।

जैसा पहले था वैसा नहीं रहा। आपका शरीर व्यय है, आपका मकान व्यय है। इतना बड़ा व्यय है कि मालूम तो पड़ता नहीं! हम पहले स्वर्गाश्रममें जाते तो गंगा-किनारे एक जगह बैठते। एक वहाँ चट्टान थी। गंगाकी धारा उसपरसे छलककर गिरती थी। हर साल वैसी-की-वैसी। लेकिन सोचो क्या वही जल, वही धारा—कहाँ-की-कहाँ मिनिटोंमें जाती थी। पर मालूम पड़ती थी उसी प्रकार छलक रही है। इसी प्रकार यह जो संसार है, यह तो सदैव परिवर्तित होता रहता है।

आत्मा और इस संसारको भी अव्यय कहा जाता है। और अव्यय माने अपने सत्-स्वरूपसे इसमें कोई परिवर्ततन नहीं है, अपने चित्-स्वरूपसे इसमें कोई परिवर्तन नहीं है, अपने आनन्द-स्वरूपसे इसमें कोई

परिवर्तन नहीं है। उसीको अव्यय बोलते हैं। यदि आप अपनेको अव्ययसे एक समझें तो इस संसारके व्ययका कोई प्रभाव आपके ऊपर नहीं पड़ेगा।

एक माता थीं। उनके बारेमें लोग यह प्रचार करते थे कि ये कभी वृद्ध नहीं होंगी। जब बाल सफेद होने लगे तो रोज देख-देखकर उनके सफेद बाल निकाल दिये जाते थे कि वृद्ध नहीं हो रही हैं। बादमें रँगानेका भी कार्यक्रम आ गया। अब दाँत भी टूटने लगे और झुर्रियाँ भी पड़ गयीं। आँख भी कमजोर हो गयी। चश्मा लगानेकी जरूरत पड़ी। तो यह संसार व्यय हो रहा है। वही दीपकलिका नहीं है जो एक मिनिट पहले थी। बत्ती जल गयी। तेल जल गया। यह वही बल्बकी रोशनी नहीं है। यूनिट-पर-यूनिट खाती जा रही है। नयी शक्ति आती है, जलती है, खर्च होती है। यह खर्चनेका नाम ही व्यय है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी ख-रचना नहीं होती। ख-रचना माने शून्य रचना, खात्मा-शून्यात्मा। आत्मा ही एक ऐसा है जिसका खात्मा नहीं है और जिसका ख-रचना नहीं है। यह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसीलिए सत्‌रूपमें प्रपंच और चित्‌रूपमें जीवात्मा और आनन्दरूपमें परमात्मा, ये अव्यय हैं और तीनोंको ही अव्यय कहा गया है।

× × ×

प्रश्न : दसवें श्लोकमें बतलाया है कि रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण प्रबल होता है। रजोगुण एवं सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण प्रबल होता है। तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण प्रबल होता है। कृपया इस प्रक्रियाको दृष्टान्तके साथ समझावें।

उत्तर : एक दिन मनमें आया कि आओ, मन्दिरमें चलें, भगवान्‌का दर्शन कर आवें। ठीक उसके दूसरे ही क्षणमें आया कि आज तो टी०वी० पर बहुत बढ़िया नाटक आ रहा है, वह देखना चाहिए। फिर उसके एक क्षण बाद आया—अजी ऐसे ही थक गये हैं, अब टी०वी० कौन देखे—सो जायें। अब आप देखो, ये तीनों अपने ही मनकी वृत्तियाँ हैं—एक सो जानेकी वृत्ति है, टी०वी० देखनेकी वृत्ति है और एक मन्दिरमें दर्शन करनेकी वृत्ति है। आपके मनमें जब दर्शन करनेकी वृत्ति प्रबल होगी तो टी०वी० और सोना छोड़ देंगे और रजोगुणकी वृत्ति प्रबल होगी तो दर्शन और सोना छोड़ देंगे, टी०वी० देखेंगे। और जब तमोगुणकी वृत्ति प्रबल हो जायेगी। तो सब छोड़-छोड़कर सो जायेंगे।

हमसे एकने कहा कि महाराज, आप रविवारको हमारे यहाँ टेलीफोन मत करवाया करना, क्योंकि उस दिन टी०वी० पर बहुत बढ़िया नाटक आता है, तो देखनेमें 'डिस्टर्व' होता है। अब यह देखो, कौन-सी वृत्ति किसको दबाती है। तमोगुण वृत्ति रजोगुणीको, रजोगुणी सत्त्वगुणीको, सत्त्वगुणी रजोगुणीको, रजोगुणी तमोगुणीको। यह परस्पर एक दूसरेसे लड़ते ही रहते हैं। आप जिसके पक्षमें हो जावेंगे, यह प्रबल हो जावेगा।

आप सत्त्वगुणी प्रकृतिके पक्षमें हो जावें, इसके लिए यहाँ इसका वर्णन है। वैसे तो तीनोंमें-से कोई भी गुण पकड़नेके लिए यह अध्याय है। परन्तु इनमें भी जब अच्छे गुण और बुरे गुणका भेद करना है तो आप खूब मौजसे अपना विवेक करके देख लीजिये। जो परमात्माका आनन्द है, उसमें न वस्तुकी आवश्यकता है, न परिश्रमकी आवश्यकता है और न किसी प्रकारका तनाव है। और परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तुओंका जो

आनन्द है, उसमें या तो निकम्मापन है, या तो किसी चीजकी जरूरत है, या तो किसी मेहनतकी, परिश्रमकी आवश्यकता है—वह शान्त आनन्द नहीं है। इसलिए आप इन गुणोंसे मुक्त रहनेके लिए थोड़ा विचार करें।

इसके लिए भगवान् अर्जुनको कह रहे हैं कि गुणोंसे असङ्ग हो जाओ। दिनभर पूजा ही करते रहो, यह बात नहीं है, या दिनभर काम ही करते रहो, यह बात नहीं है, दिनभर सोते ही रहो, यह बात नहीं है। अपने जीवनको व्यवस्थित कर लो। समयपर पूजा करो, समयपर काम करो, समयपर विश्राम करो और तीनोंमें एक होनेसे तुम इनसे असङ्ग रहोगे। यदि एक-एकको ही अपने जीवनमें ग्रहण करना चाहोगे, तो आसक्ति होनेसे बँध जाओगे। इसलिए व्यवस्थापूर्वक इनका सेवन करो—यह इसका अभिप्राय है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।

यह जो श्लोक है, उसमें यह बात कही गयी—'भारत' सम्बोधन है। कहनेका अर्थ यह है कि हे प्रतिभाशाली स्त्री पुरुषों!', 'भा' माने प्रतिभा और 'रत' माने प्रतिभामें रुचि रखनेवाले। हे बुद्धिमान् पुरुष, स्त्री—कोई भी हो—देवता, दानव। यदि वह बुद्धिमान है तो अपने जीवनको व्यवस्थापूर्वक चलाना चाहिए और व्यवस्था यह है कि सोये तो सोते ही न रह गये। पूजा करने बैठे, तो पूजा ही करते न रह गये और खाने-पीने, गप्प हाँकने बैठे, तो उसीमें न रह गये। अपने समय और अपने कर्तव्यका ध्यान रख करके अपने जीवनको ठीक ढंगसे चलाना चाहिए।

× × ×

प्रश्न : आजका विश्व रजोगुण-तमोगुण-प्रधान है। और परिस्थितियाँ तमोगुण, रजोगुणकी ओर—कर्म, राग, लोभकी ओर ढकेल रही है। इन परिस्थितियोंमें रहते हुए तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर कैसे अभियान किया जाय?

उत्तर : देखो, एक तो संसारमें तमोगुण और रजोगुणकी ही प्रवृत्ति है। यह मान बैठना तो आप अपने चारों ओरके जैसे घेरेमें घिरे हुए हैं—जैसे अखबार पढ़ते हैं, जैसी किताबें पढ़ते हैं, जैसे लोगोंमें रहते हैं, उसका बहुत असर पड़ता है, इसलिए मान्यताएँ बन जाती हैं। हमको तो ऐसा लगता है—वृन्दावनमें अगर निकलो तो जगह-जगह आपको संकीर्तन मिलेगी। देवताका दर्शन मिलेगा वहाँ गरीबोंकी सेवा मिलेगी, वहाँ विद्याध्ययन मिलेगा। ऐसा लगेगा कि सत्त्वगुण रजोगुण, तमोगुणसे दबा नहीं है। अभी सत्त्वगुण है। लेकिन आप हरीसन रोडमें चले जाओ या बम्बई कालबादेवी रोडमें चल जाओ या चाँदनी चौकमें चले जाओ तो आपको रजोगुण ही रजोगुण दिखाई पड़ेगा। असलमें मनुष्य अपने घिरावसे इतना अभिभूत हो गया है कि संसारमें अभी कितना सत्त्वगुण है, कितना रजोगुण है; कितना तमोगुण है—उसको यह अपनी बुद्धिसे ही नापता है।

हमको तो आज जितने संकीर्तन मिलते हैं और जितनी कथा वार्ता मिलती है और संत्सगकी चर्चा जितनी मिलती है, हमारा हरिद्वार, ऋषिकेश, हमारी विद्याकी नगरी काशी, हमारी प्रेमकी नगरी वृन्दावन—विनयकी नगरी अयोध्या, प्रणयकी नगरी व्रजभूमि—परिणयकी नगरी द्वारिका—सब जगह तमोगुण ही तमोगुण हो या रजोगुण ही रजोगुण हो, ऐसा नहीं है। आप यही सत्त्वगुणी परिस्थिति चाहते हों तो कलकत्तेमें ही हम दस

नहीं, वीस-बीस नहीं, पचास ऐसी परिस्थितियाँ बता सकते हैं जहाँ आप अपने सत्त्वगुणको बढ़ा सकते हैं। और रजोगुणकी परिस्थिति बढ़ानेके लिए भी और तमोगुणकी परिस्थिति बढ़ानेके लिए भी। यहाँ मदिरालय होंगे, वेश्यालय होंगे, मांसालय होंगे। तो तमोगुणी प्रकृति बढ़ानेवाले स्थान भी यहीं है। रजोगुणी प्रकृति बढ़ानेवाले स्थान भी यहीं हैं। सत्त्वगुणी स्थान भी यहीं हैं, जहाँ आपकी वृत्ति सत्त्वगुणी बने। अब यह रही कि आपकी बुद्धि किसका चुनाव करती है। आप जैसे लोगोंमें बैठेंगे, वैसे ही हो जायेंगे।

यादृशान् सन्निविशते, यादृशांश्चोपसेवते।

आप बड़ा किसको मानते हैं? आप किनके साथ बैठते-उठते हैं? आपके मनमें क्या बननेकी इच्छा है? आप देखिये तो! सच पूछो तो हरिद्वारमें, ऋषिकेशमें, वृन्दावनमें, हिमालयमें रमण महर्षिके आश्रममें, अरविन्द-आश्रममें और शंकराचार्योंके आश्रमोंमें कलकत्ते बम्बईसे निकलकर ही लोग जाते हैं। यहींके लोग वहाँ बड़े सात्त्विक और बड़े महात्मा बनते हैं। आप जिस घेरावमें रचपच गये हैं, वही-वही आपको दिखता है। सबके लिए हृदयमें परमेश्वर हैं, सबके लिए उत्थानकी सम्भावना है। आप बिलकुल निराश न हों, उदास न हों। यदि आप अपनेको सात्त्विक प्रकृतिमें स्थित करनेका प्रयास करेंगे तो सात्त्विक पुरुष आपके चारों ओर आ जायेंगे। सात्त्विक स्त्रियाँ आ जायेंगी और सात्त्विक भोजन मिलने लगेगा। सात्त्विक वातावरण बन जायेगा। आपकी आत्मामें वह शक्ति है कि केवल आपके आसपासको नहीं, यदि आप सात्त्विकताको धारण करें तो विश्वमें सात्त्विकता आपको दिखने लग जायेगी।

दो हजार वर्ष पहले एक ईसा हुए। और उनका प्रभाव इतना है कि अब भी सेवा और प्रार्थनाकी वृत्ति चलती रहती है। एक शंकरचार्य—आपको मालूम है, देशके कितने विद्वान् उनके सिद्धान्त और उनके साधन और उनकी प्रक्रिया समझनेमें अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। एक रामानुजाचार्य हुए, उनके कितने मन्दिर हैं, कितने मठ हैं। एक बुद्ध हुए, कितने बौद्ध हैं—एक महावीर हुए—कितने जैन हैं। हम तो आपसे यह आग्रह करते हैं कि आप तमोगुण और रजोगुणकी वृद्धि मत देखिये, अपनेको सत्त्वगुणी बनाइये। और जब आप अपनेको सत्त्वगुणी बनायेंगे तो सब दुनिया ही आपके लिये सत्त्वगुणी हो जायेगी। इसलिए आप दूसरोंकी परिस्थिति मत देखिये—स्वयं अपनी देखिये। आपके पीछे दुनिया चलने लगेगी।

हमारे गाँवके पास पहले गाँजा पीनेवाले लोग आया करते थे। एक साधु आगया—जटाजूटधारी गाँजा पीता था। आकर गाँवके बाहर पेड़के नीचे बैठ गया। थोड़ी देरमें वहाँ आग आगयी, चिलम आगयी, गाँजा आगया और सौ पचास आदमी वहाँ घेरकर बैठ गये—कि किसकी लौ ऊपर उठती है! एक गाँजा पीनेवाला आया और उसके पास तुरन्त आसपासके गाँवके गाँजा पीनेवाले इकट्ठे हो गये! आप स्वयं अपनेको सात्त्विक बनाइये फिर देखिये आपके शहरमें, आपके गाँवमें, आपके आसपास देश-विदेशमें जो सात्त्विकताके प्रेमी होंगे, वे आपके पास आयेंगे और आपका वातावरण सात्त्विक बना देंगे। और आप दूसरोंको सात्त्विक बनाना चाहेंगे तो आपके चाहनेसे दूसरे सात्त्विक नहीं बनेंगे। आप अपनेको चाहिये और अपनेको सात्त्विक बनाइये।

●

प्रवचन : 4

18-11-84

प्रश्न : एक प्रबुद्ध जिज्ञासुने अंग्रेजीमें प्रश्न भेजा है जिसका हिन्दीकरण इस प्रकार है—सारे विश्वमें सृष्टिके उद्भव और उद्देश्यके बारेमें बड़ा विवाद है। चौदहवाँ अध्याय इस दिशामें प्रकाश डालता है। पू० स्वामीजी महाराजसे यह बतानेके लिए अनुरोध है कि आत्माका किस प्रकार उस विराट्से सीधा सम्बन्ध है और किस प्रकार ईश्वर बीजका प्रदाता है।

उत्तर : जैसे लकड़ीके बने कुर्सी और मेज लकड़ीसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकते, जैसे नीबूकी खटास, इमलीकी खटास, गन्नेकी मिठास—जलसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकते। गन्नेमें भी रस है। नीबूमें भी रस है, इमलीमें भी रस है, आममें भी रस है। बिना रसके तो चावल, गेहूँ कुछ नहीं होते। परन्तु वे यदि समष्टि जलसे सम्बन्ध न रखते हों तो उनका कोई अस्तित्व नहीं हो सकता, न खट्टा न मीठा, न नमकीन, न कड़ुवा, न तीता, न कसैला जैसे छहों रस और उनके मिश्रणसे बने हुए अनेक प्रकारके रस जलके साथ सम्बन्ध रखते हैं। जैसे अनेक प्रकारके रूप चाहे वे कृत्रिम हों, चाहे स्वाभाविक हों, प्रकाशसे सम्बन्ध रखते हैं। जैसे किसी प्रकारकी वायु चाहे वह शरीरके भीतर हो, चाहे बाहर हो, चाहे भोंपूमें हो, समष्टि वायुके साथ सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकता। जैसे कोई भी शब्द आकाशसे सम्बन्ध रखे बिना नहीं हो सकता। वैसे ये अलग-अलग जो वस्तुएँ हैं किसी एक सत्ताके तादाम्यके बिना नहीं हो सकती है।

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि समवाय सम्बन्धसे सबमें सत्ता अनुगत होती है—जैसे कपड़ेमें सूत। कोई मानते हैं समवाय-घटित सामान्याधिकरण्यसे सत्ता सबमें अनुगत होती है। कोई मानते हैं सत्ता तादात्म्यसे अनुगत होती है। तो प्रबुद्ध श्रोताको, जिज्ञासुको यह समझना चाहिए कि पृथक्-पृथक् कीट-पतंग आदि प्राणियोंमें, पशु-पक्षी आदि प्राणियोंमें, मनुष्यादि प्राणियोंमें जो एक चेतना अनुगत है वह अपनी समष्टि चेतनासे सम्बन्ध रखती है। पूर्णतासे सम्बन्ध रखे बिना कोई परिच्छिन्नता हो ही नहीं सकती। परिच्छन्नताके बिना पूर्णता होती है। परन्तु पूर्णताके बिना परिच्छिन्नता नहीं होती।

इसी प्रकार चाहे कोई अपने अन्त:करणमें सोचे ईश्वर है और कोई सोचे ईश्वर नहीं है। ये दोनों प्रकारके विचार जिस चेतनासे प्रकाशित होते हैं, आस्तिकमें भी और नास्तिकमें भी, वह महाचैतन्य, वह पूर्णचैतन्य-सर्वव्यापी है। और उसीकी देखरेखमें, साक्षित्वमें, उसीकी अधिष्ठानतामें, यह सारी-की-सारी सृष्टि होती है। उसके सम्बन्धके बिना तो कोई सृष्टि है ही नहीं। रही बात सृष्टि होने की प्रक्रिया, तो प्रक्रियाके सम्बन्धमें जो विचारशील महापुरुष हों, वे अनुमान करते हैं। प्रत्यक्षके आधारपर जितने अनुमान होते हैं, वे सब दूसरेके बारेमें होते हैं। अपने स्वरूपके सम्बन्धमें अनुमान नहीं होता है।

यह तो साक्षात् अनुभव-स्वरूप है। इसलिए बाहरका कोई दूसरा ईश्वर है, तो वह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। लेकिन जहाँ अपना आत्मा ही परमेश्वर है, वहाँ उसके होनेमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं

है। और उसीके सम्बन्धसे ये सारी सत्ताएँ, सारी चेतनाएँ सारी प्रियताएँ और सारी वस्तुएँ—रोशन हो रही हैं, दीख रही हैं। यह अनुभव ही परमात्माका एक ऐसा स्वरूप है जिसके कोई काट नहीं सकता। सब-के-सब जो इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होते हैं, कट सकते हैं, सारे अनुमान कट सकते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि कट सकती है परन्तु जो सबका अनुभव करनेवाला अपना आत्मा है वह नहीं कट सकता और उसके बिना आँख, कान, नाक सबके अलग-अलग होनेपर भी कोई काम नहीं कर सकते हैं।

उस परमात्माके साथ इस सृष्टिका सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात् परमात्मा ही सृष्टिके रूपमें दीख रहा है, और अपने प्यारसे, अनुग्रहसे भर रहा है। उसके सम्बन्धके बिना तो सृष्टिकी कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। इसलिए—**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**

वह सर्वज्ञ है। कौन? जो सर्वरूपमें और सब भावनाओंके द्वारा परमेश्वरका भजन करता है।

× × ×

प्रश्न : महद् ब्रह्मयोनि तथा ब्रह्मबीजसे उत्पन्न हुए जीवको प्रकृतिके गुण बाँधते हैं। अन्यथा वह जीवात्मा अविनाशी होता है। जिस कालमें वह गुणोंके संसर्गमें नहीं आता, वह किस प्रकारकी अविनाशी अवस्थामें स्थित रहता है?

उत्तर : ऐसा है कि अवस्थाएँ जो हैं, ये कालकी बच्ची हैं। अवस्थाएँ माने कालके टुकड़े। जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था, समाधि-अवस्था। समाधिमें भी चार प्रकारके सम्प्रज्ञात और चार प्रकारके असम्प्रज्ञात—आठ अवस्थाएँ—सम्पूर्ण निरोध—से सब-के-सब कालकी सीमाके भीतर होते हैं। इन सब अवस्थाओंके आते-जाते, चलते-बदलते रहनेपर भी जो एकरस प्रकाशमान है, उसका नाम परमात्मा होता है और उसीसे एक होनेपर महात्मा हो जाता है।

जब तक किसी अवस्थाके साथ तादात्म्य है (तादात्म्य माने एकता), तबतक शुद्ध स्थिति नहीं है। यहाँ कहीं भी दृश्यमें बँध जाना—स्थूल वस्तुमें बँधना, सूक्ष्म वस्तुमें बँधना और आनन्दमें बँधना अपनी अस्मितामें बँधना ये चार प्रकारकी तो सम्प्रज्ञात समाधि हैं और सविकल्प, निर्विकल्प, सबीज, निर्बीज ये चार प्रकारकी असंप्रज्ञात समाधि हैं—इनमें-से किसी अवस्थाको हम यह नहीं कह सकते कि यह परमात्मा है, क्योंकि अवस्था अन्तर्देशमें होती है इसलिए देशकी बच्ची हैं। किसी कालमें होती हैं इसलिए कालकी बच्ची हैं। उनका कोई आकार होता है इसलिए वस्तुकी बच्ची हैं।

देश, काल, वस्तु इन तीनोंका जो अधिष्ठान है, जिसमें ये आरोपित हैं, अध्यस्त हैं और इनका जो स्वयं प्रकाश प्रकाशक है, उसको परमात्मा कहते हैं। और जिसको उसका अनुभव हो जाता है—अवस्थाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आसमानमें जैसे बादल उड़ते-पड़ते, गिरते-पड़ते रहते हैं वैसे अवस्थाएँ भी आती जाती रहती हैं। इनकी कोई परवाह उस महात्माको नहीं होती जो परमात्मासे एक हो जाता है।

× × ×

प्रश्न : छठा श्लोक है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

सत्त्वगुणको प्रकाशक अनामय तथा निर्मल बताया एवं उससे सुख एवं ज्ञानके प्रति आसक्ति भी होती है और मनुष्यको बाँधता भी है। तो सत्त्वगुण निर्मल तथा अनामय किस प्रकार हुआ?

उत्तर : ऐसा है कि देखो आपके शरीरमें एक तो हैं नाखून—हाथमें पाँवमें—और एक है आँख, आँखकी पुतली! आप आँखकी पुतलीसे तो देख सकते हैं और पाँवके नाखूनसे नहीं देख सकते। इसका अर्थ हुआ कि सत्ता और ज्ञान एक होनेपर भी पाँवमें तमोगुणका आवरण बहुत अधिक है। अँधेरा है—और आँखमें तमोगुणका आवरण बहुत कम है। ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ ऊपरी भागमें ही अधिक होती हैं। जैसे गन्ध सूँघनेके लिए नाक, रस चखनेके लिए ज़ीभ, रूप देखनेके लिए आँख, छूनेके लिए त्वचा और सुननेके लिए कान और विचार करनेके लिए बुद्धि। चिन्ता ज्यादा होती है तो सिर दुखने लगता है और सिरपर पसीना आ जाता है और भय होता है तो दिल धड़कने लगता है। भयका निवास-स्थान हुआ नीचेकी ओर चिन्ताका निवासस्थान हो गया ऊपरकी ओर।

ज्ञान—यह दैहिक आवरणको पार करके रहता है और यह वस्तुका बोध कराता है। हाथ बोध नहीं कराता, आँख बोध कराती है। जीभ बोध नहीं कराती, कान बोध कराता है। बोधक जो इन्द्रियाँ हैं वे सात्त्विक हैं—मन भी सत्त्वगुणका, बुद्धि भी सत्त्वगुणकी, ज्ञानेन्द्रियाँ भी सत्त्वगुणकी और ये कर्मेन्द्रियाँ जो हैं, ये जड़ात्मक हैं। जड़ और चेतन उभयात्मक यह जीवन है। इसमें सत्त्वकी प्रधानतासे ज्ञान होता है और उसमें जितना तम हड्डीमें होता है या मांसमें होता है या नाखूनमें होता है, उतना तम वस्तुके प्रकाशक इन्द्रियोंमें नहीं होता। इसलिए वे निर्मल होती हैं और दूसरी वस्तुओंका बोध कराती हैं। निर्मल होनेसे सत्-अंशकी प्रधानता, प्रकाशक होनेसे चिद्अंशकी प्रधानता और अनामय होनेसे आनन्दांशकी प्रधानता भी होती है। बिना ज्ञानके कोई आनन्द नहीं हो सकता।

आनन्दकी तो अज्ञात सत्ता होती ही नहीं है। यह सुख-दु:ख जितनी देर जाने जाते हैं, उतनी ही देर होते हैं और जितनी देर होते हैं, उतनी ही देर जाने जाते हैं। इसलिए सुख-दु:खकी सत्ता अज्ञात सत्ता नहीं होती। इसलिए इनको ऐन्द्रियक नहीं मानते हैं-'साक्षिभास्य' मानते हैं।

यह सत्त्वगुण जो है यह निर्मल है, माने सत् है, प्रकाशक है माने चित् है और अनामय है माने आनन्द है। अब यह तो बहुत बढ़िया है। परमात्माका स्वरूप है। लेकिन जब हम बँधते हैं तब कैसे? जैसे आँखसे बारम्बार यही रूप देखें। किसीको किसीका सौन्दर्य या रूप प्रिय लगने लगता है तो उसके चारों ओर मँडराने लगते हैं। किसीका रूप या सुन्दरता देखनेमें आसक्ति हो जाय तो वहीं जायेगा। भोजनमें किसी वस्तुसे आसक्ति हो जाय तो संदेश खानेके लिए कलकत्ता आना पड़े। फल खानेके लिए कश्मीर जाना पड़े। स्वच्छन्द रहनेके लिए गोआ जाना पड़े। भोग-विलासकी राजधानी पेरिस जाना पड़ेगा। कमाईके लिए अमेरिका जाना पड़ेगा। यही बन्धन है, रस्सी है जो आपको जगह-जगह खींचकर ले जाती है। यह सुखमें बाँधता है और ज्ञानमें भी बाँधता है।

देखना ज्ञान है, भोगना सुख है और इसमें बन्धन न हो तो सत्त्वगुण है तो परमात्माका स्वरूप ही है। आप बिना बँधे रहिये। कश्मीर जाइये तो वहाँकी विशेषता देखिये और सुन्दरवनमें जाइये तो वहाँकी विशेषता

देखिये। केरलमें केरलकी, हिमालयमें हिमालयकी—यह नहीं कि बस अब तो हम यही भोगेंगे और यही देखेंगे और यही करेंगे। छोड़ते चलो भाई! आगे बढ़ना जीवन है। पहलेका पाँव रखा हुआ है, वहीं गड़ मत जाओ। आगे पाँव रखो बढ़ते चलो, बढ़ते चलो!

संगच्छध्वं संवदध्वं-संवोमनांसि जानताम्। (ऋग.10.191.2.)

मिलो-जुलो, बोलो-चालो पर आपकी प्रगतिमें कोई बाधा न पड़े तभी मंगल है। मंगल शब्दका अर्थ संस्कृतमें प्रगति होता है। बढ़ते चलिये खूब आनन्दसे। बन्धन छोड़कर तत्त्वको जीवनमें रखिये। जीवनमें सत्त्वगुण तो रहे परन्तु बन्धन न रहे। यही आपका विवेक है।

× × ×

प्रश्न : क्या सत्त्वगुणकी उपलब्धि होनेमें ईश्वर-कृपा अनिवार्य है? अथवा वह ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग आदिके साधन-अभ्याससे हो सकती है?

उत्तर : ऐसा है कि ईश्वरकी कृपा तो प्रधान है ही—उसकी शानके खिलाफ तो मैं कुछ नहीं बोलूँगा। सभी बातोंमें ईश्वरकी कृपा है। परन्तु वह कब होगी और कब हमारे अनुभवमें आयेगी, इसका हमको कोई पता नहीं है; ऐसी स्थितिमें जब हम किसी वस्तुको छोड़ देते हैं कि ईश्वरकी मर्जी होगी जब तब वह हमसे आकर मिलेगा तो इसका अर्थ यह होता है कि मेरे मनमें उसके लिए कोई लालसा, कोई उत्कंठा या कोई व्याकुलता नहीं है इसलिए ईश्वरकी जब मर्जी होगी, जब कृपा होगी, करेगा, कृपालु होगा, अनुग्रह करेगा। और हमारा काम यह है कि अपना हाथ-पाँव पीटें, थोड़ा अपने पाँवसे उसकी ओर चलें। थोड़ा अपने हाथसे उसके लिए कुछ करें, जीभसे उसके लिए बोलें, मनसे उसको प्यार दें, बुद्धिसे उसके बारेमें विचार करें।

जब हम अपने कर्तव्यको पूरा करेंगे तो ईश्वरका अनुग्रह जो कि सदा है, सर्वत्र है, वह अपने आप ही अनुभवमें आने लगेगा। लेकिन यदि हम अपनी ओरसे कुछ नहीं करेंगे, केवल उसीके ऊपर छोड़ेंगे तो ईश्वर यह भी तो सोच सकता है कि इसको मेरी कृपाकी आवश्यकता ही नहीं है तो इतनी जल्दी क्या है करनेकी। कृपा आनेमें लाखों जन्मकी देर हो सकती है। लेकिन यदि आप उसके लिए व्याकुल होंगे, उत्कण्ठित होंगे तो वह एक क्षणकी भी देर नहीं करेगा। इसलिए सत्त्वगुणकी वृद्धिको आप ईश्वरपर मत छोड़िये। सात्त्विक देशमें रहिये। कालका सात्त्विक उपयोग कीजिये। जैसे तीर्थ है, मन्दिर है, सत्संग है, आपके रहनेका स्थान सत्संगमय हो, आप प्रात:कालका समय कैसे व्यतीत करते हैं? सोकर व्यतीत करते हैं तमोगुणमें, भोग-विलासमें व्यतीत करते हैं रजोगुणमें और परमात्माके चिन्तनमें करते हैं तो सत्त्वगुणमें। आप मन्त्र कैसा जपते हैं—कोई भूत, भैरव, हिंसा-प्रधान दुश्मनको मारनेके लिए या बलि चढ़ानेके लिए मन्त्रका जप करते हैं—सात्त्विक मन्त्रका जप कीजिये। बारम्बार भगवान्‌के चरणोंकी शरणागति। आप अपने लिए एक नया जन्म ग्रहण कर लीजिये। ईश्वरका दिया हुआ, प्रकृतिका दिया हुआ जन्म—मनुष्य है। आप वैष्णव हो जाइये, आप शिव-भक्त हो जाइये और आप अपने कर्मपर भी दृष्टि रखिये कि कैसा करते हैं! श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया है कि जन्म, कर्म, ध्यान, मन्त्र, संस्कार आदि दस बातोंपर यदि ध्यान रखा जाये तो आप पवित्र सात्त्विक हो सकते हैं।

आप ध्यान क्या करते हैं, जप क्या करते हैं, आपके संस्कार कैसे हैं? ये सब सत्त्वगुणी हों। आप पानी कैसा पीते हैं? पानी तो बोतलमें रंगीन पानी भी होता है—वह भी पानी है और एक पवित्र गंगोत्रीका, गोमुखका पानी, पानी है। तो कैसा जल पीते हैं? कैसे स्थानमें रहते हैं? क्या खाते हैं? कैसा संग करते हैं? सात्त्विक वस्तुओंके व्यवहारसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है।

× × ×

प्रश्न : ज्ञानका संग यदि अभिमान एवं अहंकार उत्पन्न करे तो वह ज्ञान ही किस प्रकार जानें?

उत्तर : ज्ञानका संग यह है कि मैं जितना जानता हूँ और जो जानता हूँ वह तो ठीक है और बाकी दूसरे लोग जो जानते हैं सो गलत है। अपनी बुद्धिका और अपनी मान्यताका जो दुराग्रह है, यही है ज्ञानासक्ति। आप नये-नये ज्ञानके लिए हमेशा उत्सुक रहिये, तैयार रहिये। आप कपड़ा तो नया-नया चाहते हैं, साबुन नया-नया चाहते हैं। बालोंकी तर्ज भी नयी-नयी चाहते हैं और संगीतमें कितने राग-रागिनी निकालते हैं, चित्र कैसे बनाते हैं। जरा अपने ज्ञानमें जो दुराग्रह हो जाता है कि मेरा ही ज्ञान ठीक है और दूसरेका ज्ञान ठीक नहीं है। यह तो ऐसा ही है कि आँख कहे कि जो मैंने देखा सो ठीक—कान, तुम्हारा सुना हुआ ठीक नहीं और नाक कहे कि जो मैंने सूँघा सो ठीक, जीभ तुम्हारा चखा हुआ ठीक नहीं। जैसे अपनी ही इन्द्रियाँ आपसमें लड़ जायँ वैसे जब हम अपनी बुद्धि और ज्ञानमें अत्यन्त दुराग्रही हो जाते हैं तब वह ज्ञानासक्ति होती है। अरे दूसरेकी भी मानते चलो न! हाँ बाबा, यों ही सही—यदि उसमें अधर्म नहीं है, यदि उसमें पतन नहीं है। कोई युक्तियुक्त बात कहता है तो उसे स्वीकार करते चलो।

युक्तियुक्तम् उपादेयं वचनं बालकादपि।

एक बालक कभी युक्तियुक्त बात कहे तो उसको स्वीकार कीजिये।

अयुक्तं च वचस्त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना।

ब्रह्माजी आकर भी यदि युक्ति-विरुद्ध बात बोलते हों तो उसको नहीं मानना चाहिए।

युक्तिहीन-विचारे तु धर्महानिः प्रजायते।
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः॥

केवल किताब देखकर निर्णय नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि युक्तिहीन विचार होगा तो वह किताब ही मर जायेगी। इसलिए ज्ञानमें जो दुराग्रह है, वही उसका आसंग है, वही उसकी आसक्ति है।

एक महात्माके पास हम लोग जाते थे। उनसे कहा—महाराज, वे तो ऐसा मानते हैं। बोले—'बेटा, जहाँ वे बैठे हैं, वहाँसे ऐसा ही दिखता है। जैसी आँख उन्होंने बनायी है, वहाँसे ही दिखता है। बिलकुल ठीक है—और कभी तो ऐसा बोलते हैं कि वे जहाँ बैठे हैं वहाँसे ऐसा ही दिखता है।' जैसे फोटो लेते समय हम जिस कोणसे फोटो लेते हैं—वही होता है। नीचेसे फोटो लें तो लम्बा हो जायगा और ऊपरसे फोटो लें तो छोटा हो जायगा। बगलसे फोटो लें तो दूसरा हो जायगा। इसप्रकार जो अपनी बुद्धि जिस कोणपर रखकर दुनियाकी देखता है, उसको वैसी ही मालूम पड़ती है। इसलिए केवल अपने कैमरेका जो दुराग्रह है उसे छोड़ो।

बोले भाई—अपनी घड़ीमें बारह बजकर एक मिनिट हुआ है—दूसरेने कहा नहीं अभी आधा मिनिट हुआ है। तीसरेने कहा—अभी बारह ही बजे हैं। अब वह बारह और आधा मिनट और एक मिनटके लिए जो झगड़ा है वह बिलकुल मूर्खतापूर्ण है। इसी प्रकार ज्ञानासक्तिमें भी, जहाँ हम दूसरेके ज्ञानका अपमान करते है, वह ठीक नहीं है। बच्चे भी जैसा देखते हैं वैसा बोलते हैं। उनकी नजरसे नजर मिलाकर आप देखिये और इतनी उदारता आपके जीवनमें आनी चाहिए कि दूसरेकी दृष्टिसे भी आपकी दृष्टि मिल सके। ज्ञानासक्ति छोड़कर ज्ञानका आदर करना चाहिए। मनुस्मृतिमें तो ऐसा कहा है—

आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (12.106)

जो ऋषियोंके द्वारा किया गया धर्मोपदेश है उसको अविरोधी तर्कसे उसका अनुसंधान करना चाहिए। उसकी यथार्थता प्रकट होगी। ज्ञानमें जड़ताका सन्निवेश नहीं होना चाहिए। दुराग्रह जड़ता है और ज्ञान प्रकाश है।

× × ×

प्रश्न : कामना तथा आसक्ति क्यों पैदा होती है? इनकी उत्पत्तिको कैसे रोका जाय? अथवा कम किया जाय। किस प्रकारकी कामना तथा आसक्ति शुभकर, हितकर हो सकती है?

उत्तर : जो शुभमें आसक्ति है, वह शुभ है और जो अशुभमें आसक्ति है वह अशुभ है। हितकारी आसक्ति वही है जो संसारकी आसक्तियोंसे छुड़ावे और सबसे बड़ा हित वह है जिसमें सबमें निहित हित-स्वरूप परमात्माका दर्शन हो। राजा प्रतर्दनपर इन्द्र प्रसन्न हुए। युद्धमें प्रतर्दनने सहायता की थी—बोले प्रतर्दन, 'वर माँग लो'। प्रतर्दनने कहाकि मैं इतना शक्तिशाली हूँ कि तुम्हारी भी मदद कर सकता हूँ युद्धमें, तो तुमसे मैं और क्या माँगू?

यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि।

जो सबसे बड़ा हित हो वह हमको बताओ। इन्द्रने कहा, 'मामेव विजानीहि' अपने स्वरूपको जानो। यह जो कामना होती है, यह अपनेको कंगाल समझकर होती है। जो लोग अपनेको बड़े आदमी मानते हैं, वे माफ करें—यदि उनके भीतर चाह है, कामना है, तो उनका सुख दूसरी जगह रखा हुआ है। यदि उनके हृदयमें सुख होता, उनके पास सुख होता तो वह दूसरी वस्तुसे सुख लेना क्यों चाहते? अपने आपमें तृप्त रहते। अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका अज्ञान है, अतः दूसरेमें सुखका भ्रम और फिर दूसरेको समेटकर सुखी होनेका भ्रम होता है और 'इससे हमको सुख मिला' यह भ्रम होता है।

असलमें कोई किसीको सुख नहीं देता है। सुख तो स्वसंवेद्य है, साक्षिभास्य है, अपने हृदयमें रहता है। सुखका देना-लेना नहीं होता। सुख कोई व्यापारकी चीज नहीं है। जब हम अपने स्वरूपभूत सुखसे विमुख हो जाते हैं, और दूसरेमें सुखकी कल्पना करते हैं, तो उसकी कामना होती है; और इससे हमको सुख मिल रहा है, यह भ्रम जब होता है तब उससे आसक्ति हो जाती है। किसी दूसरेमें सुख मानकर उसको चाहा जाता

है और उससे सुख मिला, यह भ्रम होनेपर आसक्ति हो जाती है। इसलिए अनमिले सुखकी कामना होती है और मिले हुए सुखसे आसक्ति हो जाती है। असलमें सुखसे न आसक्ति होती है, न कामना होती है। जिसको हम सुखका निमित्त मान बैठते हैं, उसकी कामना और उसमें आसक्ति होती है। और असलमें सुख तो अपनेको ही होता है। सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती।

सुख तो जगमग, जगमग, झिलमिल, झिलमिल, झलकता हुआ बिलकुल चमचम चमकता हुआ अपनी आत्माका स्वरूप है। दूसरेकी कामना क्यों? 'जब अपनी ही कुदरत, अपना ही जलवा, तब तेरी तमन्ना कौन करे?' अपनेको कंगाल मानकर तब हम दूसरेसे सुख चाहते हैं और अपने सुखको जब नहीं समझते हैं, सोचते हैं, दूसरेसे मिल रहा है, तब उससे आसक्ति हो जाती है।

प्रश्न : अज्ञान द्वारा तमोगुण उत्पन्न होता है जो प्रमाद, निद्रा, आलस्यमें बाँधता है। अज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है? क्यों उत्पन्न होता है? देहका ध्यान तथा उसमें मोह तो जीवमात्रका सहज स्वभाव है। उससे त्राण पानेके लिए क्या किया जाय?

उत्तर : वेबकूफी कब पैदा हुई? यहाँ इतिहासके विद्वान् बैठे होंगे बड़े-बड़े! अभी उनकी खोजमें यह बात नहीं आयी है। अज्ञान माने बेवकूफी। न तो यह किसी स्कूलमें पढ़ायी गयी, न कालेजमें पढ़ायी गयी। न इसके लिए किसी सन्त-महन्तने उपदेश किया। यह तो आगयी है। ऐसा मालूम पड़ता है।

इसके लिए महात्मा लोग कहते हैं कि जैसे कोई आदमी कहीं बैठा हो और उसके सामने एक साँप गिर जाय तो पहला काम यह है कि उसको दूर झटक दो या मार डालो। यह नहीं कि पहले यह खोज करोगे कि यह किस जातिका है, कितने वर्ष पहले पैदा हुआ था और विषैला है कि नहीं? यह कोबरा है कि गेहुँअन है?

साँपोंकी बहुत जातियाँ होती हैं। भविष्य पुराणमें तो साँपोंकी कई सौ जातियोंकी गणना है और उनके लक्षण हैं, पहचान हैं। आप पहचान पहले मत कीजिये कि इस साँपका बाप कौन था और कितने वर्षकी इसकी उम्र है। और यह विषैला है कि नही है। पहले उसको फेंक दीजिये। इसी तरहसे यह बेवकूफी हमारे जीवनमें जो आगयी है कि हम किसी चीजको ठीक-ठीक समझ नहीं पाते, उसको फेंक दें। आप बुरा न मानें!

हाथमें एक तृण ले लीजिये। आप देखेंगे वह पीला है, और मान बैठेंगे कि हाँ, मैंने देख लिया कि यह तृण पीला है या हरा है। आँखसे देख लिया। परन्तु क्या तृणको देख लिया? नाकसे सूँघेंगे, तो उसमें एक गन्ध आयेगी। वह तो आँखसे नहीं मालूम पड़ी। जीभसे चखिये, तो उसमें एक स्वाद आयेगा। वह तो आँखसे नहीं मालूम पड़ा। त्वचासे सटाइये तो वह कोमल या कठोर मालूम पड़ेगा। और कानके पास ले मत जाइये—वह मशीन लगा लीजिये, जिससे एक शब्द लाखों गुना होकर सुनायी पड़ता है, तो आपको उस तृणमें शब्द भी सुनाई पड़ेगा। तो आप तृणको कितना जानते हैं? एक इन्द्रियसे जानते हैं, अनेक इन्द्रियसे जानते हैं। तृणके चूरेको जानते हैं, कि तृणके द्रवको जानते हैं, कि नाम-रूप न रहनेपर तृणकी जो सत्ता है, उसको जानते हैं, कि उसकी सत्ता, जो ज्ञानसे अभिन्न है उसको जानते हैं? जहाँ आप और तृण दोनों एक हैं, उसको जानते हैं? क्या जानते हैं? यह

जो हमारा ऐन्द्रियिक बोध है, यह बहुत अल्प है। और सचमुच अज्ञानसे ही यह अन्धकार हमारे सामने आया है। **'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि'**

यह तमस् अज्ञानका बेटा है। इसमें सब लोग मोहमें पड़ जाते हैं और प्रमाद जीवनमें आया, तब तो बस मृत्यु ही मृत्यु है। वह जिन्दा नहीं है, मुर्दा है वह आदमी जिसका जगमगाता हुआ ज्ञान सर्वदा सावधान नहीं रहता है। अपनी बुद्धिको सावधान रखिये। उसको किसीके चक्करमें मत फँसने दीजिये भगवान्ने आपको बुद्धि दी है, वह आपके कल्याणके लिए पर्याप्त है। उसके लिए किसीके चक्करमें पड़ना तमोगुणी होना है। तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा इनसे बचकर अपने कर्तव्यका पालन करते चलिये।

अगले श्लोकोंमें है कि यह तमस् जो है, यह ज्ञानका आवरक है। **ज्ञानमावृत्य देहिनम्**

आवरण माने परदा है। ज्ञानके तीन परदोंका उल्लेख गीतामें मिलता है। एक तो—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

अज्ञानसे ज्ञान ढँक गया है। दूसरा है, काम-क्रोधसे ज्ञान ढँक गया है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

जब हम सत्त्वको, अपने ज्ञानको पराधीन कर देते हैं—पराधीन कर देते हैं माने—हजार वर्ष पहले तो ज्ञान था और अब नहीं है। हमने ज्ञानको कबरमें गाड़ दिया। जब यह हमने सोचा कि एक हजार वर्ष पहले या दस हजार वर्ष पहले ज्ञान था, अब नहीं है, तो हमने ज्ञानको दफना दिया। और ज्ञानको यदि यह कह दिया कि यह सौ-दो-सौ वर्ष बाद पैदा होगा या दस-बीस वर्ष पैदा हुआ, तो अभी बन्ध्यापुत्र हो गया, उसका जन्म ही नहीं हुआ है। और ज्ञानको यदि पराधीन कर दिया, तो यह भी ज्ञानका एक परदा है। ज्ञान स्वतन्त्ररूपसे सबका प्रकाशक है, पराधीनरूपसे नहीं। ज्ञान स्वतः-प्रकाश है, इसलिए ज्ञानको जब हम पराधीन कर देते हैं, तो वह आवृत हो जाता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रासे तो जीवनमें बुद्धि दब जाती है, यह देखनेमें ही आता है। जैसे—

एक बूढ़े सज्जन कहते थे कि इस किशोरीसे हमारा विवाह नहीं होगा, तो मैं मर जाऊँगा। अब देखो न! उनका ज्ञान पराधीन हो गया न! उस किशोरीमें उनका ज्ञान चला गया। अरे! यह खाये बिना हम दुःखी हो गये, यह मिले बिना हम दुखी हो गये। और भगवान्! हम कितनी बढ़िया रेशमी साड़ी पहना करते थे, आज हमको सूती साड़ी पहनना पड़ रहा है। तो तुम्हारा सारा ज्ञान साड़ीमें चला गया न! इसलिए प्रमाद, आलस्य, निद्राके रूपमें तमोगुण ज्ञानको आवृत करता है और जब क्रोध आता है, दुश्मनको मारना चाहते हैं, उसको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं, तब ज्ञानपर परदा आ जाता है। जब हम दूसरी चीजमें अपनी जान रख देते हैं, अपने प्राण रख देते हैं!

तो ज्ञानपर परदा आजाता है। नानीकी कहानियोंमें सुना करते थे कि अमुक दैत्य जो है वह अपनी जान किसी तोतामें रखता था। वह तोता जबतक न मरे तबतक वह दैत्य नहीं मरता। वह तो महाराज, जब पता लग गया कि तोतेमें इसकी जान रहती है, तो तोतेका गला ऐंठ दिया और दैत्य मर गया। हमलोग जो अपनी जान किसी दूसरेमें रखकर जी रहे हैं, यह काम है और दूसरोंके नुकसानमें रखकर जी रहे हैं, यह क्रोध है और

प्रमाद आलस्यमें रखकर जी रहे हैं, यह तम है और नासमझीमें जी रहे हैं। कौन पीछेसे ढकेल रहा है? पता नहीं। कहाँ जा रहे है? पता नहीं। यही तो जीवन है न! अगले क्षणमें कहाँ गिरेंगे? इसकी मालूम नहीं है। और पीछेसे ढकेलनेवाला परमेश्वर है, तो अभी उसका आनन्द ले लीजिये! और यदि आपके जीवनका संचालक काम, क्रोध है, तो आप कहाँ जायेंगे? पता नहीं।

प्रश्न : तमोगुणको पार करनेपर मनुष्य रजोगुणमें स्थित होगा या वह सीधा सत्त्वगुणमें जा सकता है?

उत्तर : ऐसा है कि इसमें क्रम नहीं है। क्योंकि प्रकृति त्रिगुणमयी है। एक साथ ही तीनों गुण प्रकृतिमें उद्भूत होते हैं। इसलिए सीधे तमोगुणसे सत्त्वगुणमें जा सकते हैं और सत्त्वगुणसे सीधे तमोगुणी भी हो सकते हैं। और सत्त्वगुणसे रजोगुणमें भी जा सकते हैं और तमोगुणसे रजोगुणमें भी जा सकते हैं। इसलिए ये प्रकृतिके तीनों गुण युगपत् होते हैं। वे प्रलयमें साम्यावस्थामें रहते हैं और सृष्टिमें विषम अवस्थामें रहते हैं; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक गुणसे दूसरे गुणमें जायँ। माने पहले सो रहे हैं तो सोकर उठें, तो पहले पूजा न करें। पहले दुश्मनको मार लें या पहले भोग कर लें, तब पूजामें जायँ। ऐसा कभी नहीं करना, बल्कि जिस समय नींद टूटती है, उस समय मनमें वासनाओंका उदय कम रहता है। कलकी बातें प्राय: भूली रहती हैं। उस समय यदि परमात्माका चिन्तन करो—सीधे नींदमें-से उठकर परमात्माके चिन्तनमें चले जाओ, तो परमात्माका चिन्तन बहुत अधिक होगा। इसलिए बीचमें रजोगुण लानेका प्रयास मत करो कि पहले भोग करलें, कि पहले दुश्मनको मार लें, तब परमात्माका चिन्तन करें। इनमें क्रम नहीं है।

ये युगपद् होते हैं और आपके वशमें हैं। आप चाहे जब तमोगुणको छोड़कर अपनेको परमात्माके चिन्तनमें, सत्त्वके चिन्तनमें, दूसरोंके हितके चिन्तनमें, दूसरोंकी सेवामें लगा सकते हैं। यदि आपका जीवन दूसरोंकी सेवामें लगा है, दूसरोंकी भलाईमें लगा है, सबमें एक परमात्माको देख रहा है, तो फिर रजोगुणमें ले जानेकी कोई जरूरत नहीं है। यदि क्रम मानोगे तो सत्त्वगुणके बाद तमोगुणमें जाना भी आवश्यक हो जायेगा। इसलिए इनमें क्रम नहीं है। वे एक साथ रहते हैं। आप एकको अपनाइये। चुन लीजिये एकको कि हमको इस गुणकी प्रधानता से काम करना है।

प्रश्न : सत्त्वगुणके विकस्गि्त स्वरूपकी विशेषताएँ कृपया निरूपित करें।

उत्तर : देखो, सत्त्वमें 'सत्'में 'त्व' प्रत्यय लगा हुआ है। सतोभाव: सत्त्वम्। सत्का जो भाव है, उसका नाम है सत्त्व। माने भावात्मक सत्ता। एक वस्तुसत्ता और एक भावात्मक सत्ता। वस्तुसत्ताको परमात्मा कहते हैं और भावात्मक सत्ताको सत्त्वगुण कहते हैं। इसका विकास क्या है? आप जितना-जितना सत्के पास पहुँचेंगे, उतना विकास है। संसारमें जो कुछ है, उसमें सत्ता है। आप उसके कितने निकट हैं? आपने बीचमें समुद्र, पहाड़, चहारदिवारी और तार खींचकर सत्तामें कोई भेद तो नहीं बनाया है?

पहला सत्त्वगुण स्वरूप है अभेद दृष्टि। और दूसरी, एक बात देखो, बहुत सहज है, सरल है। सत्तामें चाहे कोई कुछ भी आरोप करे, एक वस्तु है, उसको कोई भली समझे, कोई बुरी समझे, अप्रिय समझे—वह वस्तु ज्यों-कि-त्यों रहती है।

आपके अन्दर सत्त्वगुण बढ़ रहा है, यह कब समझा जायगा? कि मध्यस्थ द्वारा जो आपके बारेमें कही हुई बातें हैं—कोई आपके प्रशंसक हैं, कोई आपके निन्दक हैं, कोई आपके आलोचक हैं, कोई आपके गुण-दोष दोनों बतानेवाले हैं, उनका असर आपके चित्तपर बिलकुल न पड़े। सबमें अभेद-दृष्टिमें-भावात्मक सत्ताका लक्षण है और अध्यस्त कुछ भी हो, तुम्हारे ऊपर चाहे कोई कुछ भी आरोपित करे, उसका प्रभाव आपपर नहीं पड़ना चाहिए। इसीसे क्षमा जो है सद्‌गुण है, क्योंकि वह आरोपको नहीं देखती है। सहिष्णुता सद्‌गुण है, अहिंसा सद्‌गुण है, अस्तेय सद्‌गुण है, क्योंकि ये सत्त्व हैं।

आप एक अखण्ड पूर्ण सत्ताके जितने पास रहोगे, उतना ही सात्त्विक रहोगे। और बीच-बीचमें कभी सत्ता दिख गयी, कभी नहीं दिखी, वह रजस् आपका शीशा है, बिलकुल स्वच्छ। आप ज्यों-के-त्यों दिखते हैं—वह हो गया सत्त्वगुण। आपके शीशेमें कहीं पीछेसे मसाला उड़ गया है, कहीं रह गया है, कहीं धूल पड़ गयी है। कहीं नहीं पड़ी है—कुछ दिखता है। कुछ नहीं दिखता है—उसका नाम रजोगुण हो गया। और बिलकुल अँधेरा है, कुछ दिखता ही नहीं है—शीशा एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो गया तो उसका नाम तमोगुण हो जाता है। सत्त्वगुणकी वृद्धि कब समझना चाहिए? कि जब जीवनमें—

'सर्वद्वारेषु देहेस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

सारी इन्द्रियोंमें प्रकाश हो—आँख गलत न देखे, कान गलत न सुने या ग्रहण ही न करे!

हमारे उड़िया बाबाजी महाराजसे कोई कहता कि महाराज, वे हमारी निन्दा करते हैं, बड़ा क्रोध आता है। तो तूँ सुनता क्यों है? मच्छरकी बोली क्यों समझने लगा तूँ? ऐसे ही बोलते थे—तूँ मच्छरकी बोली समझनेकी कोशिश क्यों करता है? कोई भुनभुनाता है, भुनभुनाने दो!

एक माता थीं। हमारे सामने ही चर्चा हो रही थी, उनसे किसीने कहा कि आपके पीठके पीछे लोग आपकी निन्दा करते हैं। तो बोलीं कि पीठके पीछे निन्दा करते हैं तो क्या हुआ? पीठके पीछेसे गोली भी मार दे, तो हमारा क्या बिगड़ता है? पीठ पीछे जहाँ हम हैं ही नहीं, वहाँ गोली मार दे कि गाली दे दे, उससे क्या बिगड़ता है? तो सत्त्वकी वृद्धि तभी समझना चाहिए जब प्रकाश-ही-प्रकाश जीवनमें रहे। इसीमें ऊर्ध्वगति है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें उन्नति है। उन्नति माने, ऊपर उठना। ऊर्ध्वगति—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

आपका अधोगमन तभी रुकेगा, रजोगुण तभी मिटेगा, जब सत्त्वगुणका आश्रय आप जीवनमें लेंगे। सत्त्वगुणका आश्रय यह है कि आपके मनमें आपको कंगाल बनानेवाली कोई चाह न हो और किसीको हानि पहुँचानेकी वृत्ति न रहे। हानि-लाभ दोनोंमें आपकी वृत्ति समान रहे!

●

प्रवचन : 5

19-11-85

प्रश्न : गुणोंके लक्षण—ग्यारहवें श्लोकमें—सत्त्वगुण याने चेतनता, विवेकशक्ति आदिका उदय अथवा अभिवृद्धि, बाहरवें श्लोकमें—रजोगुण याने लोभ, स्वार्थ, अशान्ति, विषय भोगोंकी लालसा आदिमें वृद्धि और तेरहवें श्लोकमें—कर्त्तव्य कर्मोमें अप्रवृत्ति, प्रमाद, निद्रा आदिकी स्थितियोंमें रुचि अथवा अभिवृद्धि के सूत्र कहे हैं। उनके संकेत सूत्र क्या हैं? साधारणतया मानव परदोषदर्शी होता है और स्वयंको निर्दोष अथवा दोषमुक्त समझ लेता है। अपने लिए तो वह सहनशील और क्षमाशील होता है, तो फिर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, प्रवृत्तियोंके उदय अथवा अवसानका मापदण्ड क्या होगा? कृपया बतायें।

उत्तर : अपने जीवनमें सत्त्वगुणकी जो वृद्धि होती है, उसकी पहचान क्या है? पहचानको संस्कृत भाषामें लक्षण बोलते हैं। लक्षण, लखाना, पहचान—संस्कृत शब्द देखकर ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि न जाने इसमें क्या है? वहीं जो हम अपने घरोंमें अपनी बोलचालमें बोलते हैं, वही बात संस्कृतमें बोली हुई होती हैं। उसको अपनी घर-घरेलू भाषा से दूर नहीं करना चाहिए। सत्त्वगुण जब बढ़ता है, तब क्या होता है कि हमारा यह जो जीवन है, यह ज्ञान, कर्म दोनोंके मेलसे बना हुआ है। कुछ कर्म, करनेके लिए इन्द्रियाँ हैं, कुछ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए इन्द्रियाँ हैं। कान, त्वचा, आँख, रसना और नासिका ये ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हैं और हाथ, पाँव, जीभ, मलत्याग, मूत्रत्यागके लिए पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनी हुई हैं। ये घरके समान हैं, तो सत्त्वगुणकी वृद्धिकी पहचान यह है कि—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।

रोशनी-ही-रोशनी, प्रकाश-ही-प्रकाश। ऐसा न मालूम पड़े कि कुछ सूझता ही नहीं है या ठीक-ठीक सूझता है। कुछ नहीं सूझ रहा है, यह तमोगुणकी वृद्धिकी पहचान है और बिलकुल ठीक सुन रहे हैं, छू रहे हैं, देख रहे हैं, चख रहे हैं, सूँध रहे हैं। हमारा मन सही जगहपर प्यार कर रहा है, हमारी बुद्धि सही-सही विचार कर रही है। तो न सूझना भी नहीं है और संशय भी नहीं है। इस तरहसे अपने निश्चयात्मक जीवनकी जो प्रवृत्ति है उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि कहते हैं। तो, वह इसी देहमें, इसी जीवनमें रहता है। आप देखो, आपका मन कैसे काम करता है? भाई, हमको अमुक मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए जाना है—ठीक है। जायँ कि न जायँ! एक विकल्प। अब विचार करके उचित निर्णय किया कि आज इस समय जाना चाहिए या इस समय नहीं जाना चाहिए। यदि जानेका निर्णय हुआ, तो चलनेकी क्रिया हुई। चाहे सवारीसे जाओ चाहे पैदल जाओ।

एक ही बातके बारेमें आपके मनकी चार स्थितियाँ हुईं—जाना हैं, जायँ कि न जायँ? जाना या न जाना उचित है और उसका फिर क्रियान्वयन होना। यह जो हमारा प्रकाशात्मक जीवन है, उसमें दुविधामें रहनेके लिए कोई क्षण नहीं है।

बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

आप कोई भी व्यवसाय करते हैं। व्यवसाय माने संस्कृतमें निश्चय होता है—'वि'माने विशेष और 'अवसाय' माने अन्तिम। विशेष और अन्तिम निश्चयका नाम व्यवसाय होता है कि हाँ, यह करना ही है। देखो, व्यापारमें भी उस आदमीको सफलता नहीं मिलती है, जो शीघ्र निश्चय नहीं कर सकता। निर्णय करनेकी शक्ति जिसकी बराबर बनी रहती है, उसमें सत्त्वगुण है और जिसमें दुविधा बनी रहती है—उसमें रजोगुण है और जिसको कुछ सूझता ही नहीं है कि क्या करें, क्या न करें—उसमें तमोगुण है। तमोगुण मान अंधेरा। रजोगुण माने धुन्ध छायी हुई। तमस् माने रातका अंधेरा और रजस् माने आसमानमें जैसे धूल छा गयी हो, धुन्ध छा गया हो और सत्त्व माने निर्मल आकाश, निर्मल प्रकाश। सुननेमें भी शंका न हो कि हमने ठीक सुना कि नहीं! देखनेमें भी शंका न हो कि हमने ठीक देखा कि नहीं! चखनेमें शंका न हो कि यह नमक है कि खटाई है! कभी-कभी लोग पूरा-पूरा भोजन कर लेते हैं और उनको पता ही नहीं चलता कि क्या खाया!

हमने एक सेठजीके बारेमें सुना था कि वे अपने नौकरोंसे पूछ लिया करते थे कि अभी मैंने भोजन किया है कि नहीं किया? कभी-कभी नौकर ऐसे ही कह देते कि आपने भोजन कर लिया है, तो वे अपने काममें लग जाते। सत्त्वगुणका लक्षण यह है कि न तो जीवन अन्धा हो और न तो दुविधामें हो। निश्चयात्मक रूपसे अपने लक्ष्यकी ओर गतिशील हो, तो कहेंगे कि इनके जीवनमें सत्त्वगुण बढ़ा है। प्रकाश माने ज्ञान। गीताने ही इस श्लोकमें व्याख्या कर दी—

सर्वद्वारेषु देहेस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

निश्चित रूपसे ही उसके जीवनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि हो रही है। अब यह हुई सत्त्वगुणकी पहचान—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

भरतवंशियोंमें तुम श्रेष्ठ ज्ञानी हो। ऋषभ माने अपने ज्ञानसे जो प्रकाशमान हो, उसको ऋषभ कहते हैं—

ऋषेण ज्ञानेन भाति इति ऋषभः।

भरतवंशियोंमें तुम्हारा ज्ञान श्रेष्ठ है। इसलिए रजोगुणको पहचानो कि रजोगुण क्या होता है? तो उसमें आया लोभ। पहली बात है लोभ। परधनलिप्सा—दूसरेके जेबमें जो पैसा है वह हमारे जेबमें आजाय। इसमें भी ऐसा होता है—मर्यादाके अनुकूल, संविधानके अनुकूल, औचित्यका परित्याग किये बिना वह हमारे पास आये। यदि औचित्य बना रहेगा, तब तो सत्त्वगुण बना रहेगा और यदि उचित, अनुचितका ध्यान छूट जायगा, तो सत्त्वगुण छूट जायगा। लोभ माने दूसरेके पास जो न्यायोचित धन है, उसको उचित, अनुचित मार्गसे हड़प लेनेकी इच्छा! और प्रवृत्ति माने बस लगे हुए हैं। प्रवृत्तिमें यह नहीं देख रहे हैं कि कहाँ जायेंगे!

एकदिन एक बालकने मुझसे बम्बईमें पूछा था कि हमको व्यापारमें किस बातका ध्यान रखना

एक व्याख्या तो इसकी यह है कि ठीक है, लोभ आपके मनमें है, बात नहीं कोई, पर कैसे ले लें? चोरोंसे ले लें, जूआसे ले लें, छीनकर ले लें। जब स्पृहा बढ़ती है, तो वह अनुचित मार्गमें ले जाती है। स्पृहाका दूसरा अर्थ यह है कि हम किसी चीजको चाहते हैं, यह तो लोभ है और वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा है। एक चीज हमारे पास नहीं है, उसको चाहते हैं, यह काम हुआ और होनेपर भी उसको बहुत अधिक चाहते हैं यह लोभ हुआ और आयी हुई चीज हमारे पास ही रह जाय, यह स्पृहा हुई। और यह मेरी है, इसमें तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है, यह ममता हुई। और मैं इस चीजका मालिक हूँ, यह अहंकार हुआ। अब देख लो, आपके जीवनमें रजोगुण किस तरहसे काम कर रहा है—

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।

जब रजोगुणकी वृद्धि होती, माने धुन्ध छाया हुआ होता है, तो इसमें धुन्ध क्या है? हमारे पास जो है, वह नहीं दीखता है। जो हमारे पास नहीं है और दूसरेके पास है, वह दीखने लगता है। हम अपनी सम्पदाका आनन्द नहीं ले पाते, दूसरेकी सम्पदाके लिए व्याकुल हो जाते हैं। तो धुन्ध छाया, यह कि अपने घरकी चीज तो दीख नहीं रही है और पराये घरकी चीज दीख रही है। पर इसलिए पराये घरकी चीज दीख रही है, तो अँधेरा नहीं है और अपने घरकी चीज दीख नहीं रही है, तो धूल छायी हुई है। यह हो गया 'रजस्येतानि जायन्ते।' और—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते.....

यह तमस्में—अँधेरेमें क्या स्थिति होती है कि न अपनी, न परायी। न दुनिया दीखती है ठीक, न जीव दिखते हैं ठीक, न ईश्वर दिखता है ठीक। बिलकुल अन्धकार छाया हुआ है। जो काम हम करने जा रहे हैं या कर रहे हैं, उससे हमारे भूतका क्या होगा? भूत माने पहले जो कर्म किये हैं, जो सेवा की है, जो उत्पादन किया है, जो समझा है, अब हम जो काम करने जा रहे हैं, हमारे उस अतीत जीवनपर, हमारी अतीत सेवापर, अतीत योग्यतापर इस कामका क्या असर पड़ेगा? आपने वर्षों तक बड़ी ईमानदारीसे काम किया और एक छोटी-सी चीजके लिए आपकी बुद्धिपर इतना अन्धकार छा गया कि सबको मटियामेट कर दिया। बीस वर्षमें जो विश्वास प्राप्त हुआ, वह पाँच मिनिटमें समाप्त हो गया। दूसरेके विश्वासका नाश हुआ और अपनी जो विश्वसनीयता थी वह गयी। इसको अप्रकाश कहेंगे। अच्छा, आगे क्या होगा? सब सूझना चाहिए!

बुद्धि जो है वह भूत और वर्तमानके आधारपर भविष्यको देख लेती है। भविष्य दिखता है—कब दिखता है? जब हम अपने भूतको ठीक-ठीक रखते हैं और वर्तमानको ठीक रखते हैं तो भविष्य ठीक होगा। भविष्यमें इसकी क्या गति हो सकती है यह नहीं सूझेगा। अपने भूतकी योग्यता भूल गयी और भविष्यमें इसका फल क्या होगा। इसपर दृष्टि नहीं गयी और अँधेरेमें ही उठकर चल पड़े। यह हो गया तमस्। इसका नाम हो गया अप्रकाश। बोले कि सूझता नहीं है तो क्या करें? हाथ-पाँव हिलाना बन्द कर दें?

पत्नीको छोड़ देंगे, या पत्नीसे प्रेम करेंगे तो माँको छोड़ देंगे, या गुरुसे प्रेम करेंगे तो पिता, माता, भाई, बेटेको छोड़ देंगे। ऐसा नहीं, उनका ऑफिस अलग-अलग होना चाहिए और पिछली बार उस ऑफिसका काम जहाँ तक देखा है वहींसे उसकी कड़ी जुड़ जानी चाहिए। अगर वह कड़ी नहीं जुड़ पाती है, तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि रजोगुणसे आच्छादित है।

मैंने सुना था कि एक सज्जनकी स्मरणशक्तिकी बड़ी प्रशंसा थी कि उनको याद रहता है। तीस वर्षके बाद किसी व्यक्तिसे वे मिले। उस व्यक्तिने पूछा—हमलोगोंने क्या खाया था? उसने झट कहा—खिचड़ी। फिर 20-25 वर्ष और बीत गये फिर दोनों मिले, तो उस आदमीने पूछा—किस चीजके साथ? न आगे-न पीछे, प्रश्न कर दिया किस चीजके साथ? खिचड़ीकी याद नहीं दिलायी। पर उसने झट बोल दिया—चटनीके साथ। अपना दिमाग ऐसा रहना चाहिए कि जहाँसे जिस आदमीसे बातचीत करके छोड़ें—मिलनेपर हमारे दिलकी कड़ी वहीं-की-वहीं जुड़ जाय। जब हम अपने दिल-दिमागको बहुत अधिक फैला देते हैं और कड़ी टूट जाती है, तो वह जो कड़ी टूट जाती है, वह हमारे जीवनको एक रेखामें, एक लक्ष्यकी ओर चलनेमें बाधक हो जाती है।

कर्मोंका आरम्भ—आरम्भ माने सकाम कर्मोंका आरम्भ। निष्काम कर्ममें तो ऐसी प्रवृत्ति अधिक होती ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि आप जब काम करते हैं तब आपके चित्तकी शान्ति बनी रहती है कि नहीं? रजोगुणकी पहचान क्या है? अशान्ति। हमारे चित्तमें शान्ति नहीं है। जो काम हम करते हैं, वह उतावलीमें करते हैं, घबड़ाकर करते हैं। चित्तमें अशान्ति नहीं होनी चाहिए। जिनलोगोंको कभी व्यापारमें घाटा लग जाता है, घबड़ा जाते हैं।

भागवतमें वर्णन है कि रुक्मीकी पौत्रीके विवाहमें जुआ होने लगा। बरातियोंके साथ घरातियोंका। उसमें झूठमूठ बेईमानीसे कह दें कि बलरामजी हार गये। फिर दाँव-पर-दाँव लगने लगे। लाखका लगा, फिर करोड़का लगा, फिर अरबका लगा, फिर पद्मका लगा। अब जोशमें आगये और जब जोशमें आगये, तो जूआ खेलनेवालेको ही मार डाला। जूआ कितना दुखदायी होता है कि उसमें जब आदमी जोशमें आता है तो युधिष्ठिर अपनी पत्नीको दाँवपर लगा सकते हैं और बलरामजी उस व्यक्तिको मार सकते हैं, जिसको छुड़ानके लिए कृष्णसे उन्होंने भला-बुरा कहा था। चित्त भी उबले नहीं। सब काम ठंडे चित्तसे करेंगे, तब तो सात्त्विक होगा और यदि हमारा चित्त गरमा जायगा, जोशमें आ जायगा, तो सब काम बिगड़ जायेंगे।

एकबार हमारे एक मित्र अदालतमें बयान दे रहे थे, तो वकील उनसे जितनी भी जिरह करे, वे बड़े बुद्धिमान्, विद्वान् थे, काट दें। वकील घबड़ा गया। घबड़ाकर उसने उनको उत्तेजित कर दिया। उत्तेजित कर दिया, तो वे बोले तुम क्या हमसे जिरह करोगे? दस वर्ष हम तुमको पढ़ा देंगे। बहस पूरी हो गयी। अपनी विद्या, अपनी बुद्धि, अपना धन, अपनी योग्यताको लेकर जब हम शानमें आजाते हैं, तो हृदयमें अशान्ति हो जाती है। यह रजोगुणका लक्षण है। और स्पृहा—किसी वस्तुको पानेके लिए जो लोभ है, वह दूसरी चीज है। पर उस चीजको पानेके लिए जो प्रक्रिया है, वह स्पृहाकी कक्षामें आती है।

एक व्याख्या तो इसकी यह है कि ठीक है, लोभ आपके मनमें है, बात नहीं कोई, पर कैसे ले लें? चोरोंसे ले लें, जूआसे ले लें, छीनकर ले लें। जब स्पृहा बढ़ती है, तो वह अनुचित मार्गमें ले जाती है। स्पृहाका दूसरा अर्थ यह है कि हम किसी चीजको चाहते हैं, यह तो लोभ है और वह हमेशा हमारे पास बनी रहे, यह स्पृहा है। एक चीज हमारे पास नहीं है, उसको चाहते हैं, यह काम हुआ और होनेपर भी उसको बहुत अधिक चाहते हैं यह लोभ हुआ और आयी हुई चीज हमारे पास ही रह जाय, यह स्पृहा हुई। और यह मेरी है, इसमें तुम्हारा कोई हिस्सा नहीं है, यह ममता हुई। और मैं इस चीजका मालिक हूँ, यह अहंकार हुआ। अब देख लो, आपके जीवनमें रजोगुण किस तरहसे काम कर रहा है—

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।

जब रजोगुणकी वृद्धि होती, माने धुन्ध छाया हुआ होता है, तो इसमें धुन्ध क्या है? हमारे पास जो है, वह नहीं दीखता है। जो हमारे पास नहीं है और दूसरेके पास है, वह दीखने लगता है। हम अपनी सम्पदाका आनन्द नहीं ले पाते, दूसरेकी सम्पदाके लिए व्याकुल हो जाते हैं। तो धुन्ध छाया, यह कि अपने घरकी चीज तो दीख नहीं रही है और पराये घरकी चीज दीख रही है। पर इसलिए पराये घरकी चीज दीख रही है, तो अँधेरा नहीं है और अपने घरकी चीज दीख नहीं रही है, तो धूल छायी हुई है। यह हो गया 'रजस्येतानि जायन्ते।' और—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते.....

यह तमस्‌में—अँधेरेमें क्या स्थिति होती है कि न अपनी, न परायी। न दुनिया दीखती है ठीक, न जीव दिखते हैं ठीक, न ईश्वर दिखता है ठीक। बिलकुल अन्धकार छाया हुआ है। जो काम हम करने जा रहे हैं या कर रहे हैं, उससे हमारे भूतका क्या होगा? भूत माने पहले जो कर्म किये हैं, जो सेवा की है, जो उत्पादन किया है, जो समझा है, अब हम जो काम करने जा रहे हैं, हमारे उस अतीत जीवनपर, हमारी अतीत सेवापर, अतीत योग्यतापर इस कामका क्या असर पड़ेगा? आपने वर्षों तक बड़ी ईमानदारीसे काम किया और एक छोटी-सी चीजके लिए आपकी बुद्धिपर इतना अन्धकार छा गया कि सबको मटियामेट कर दिया। बीस वर्षमें जो विश्वास प्राप्त हुआ, वह पाँच मिनिटमें समाप्त हो गया। दूसरेके विश्वासका नाश हुआ और अपनी जो विश्वसनीयता थी वह गयी। इसको अप्रकाश कहेंगे। अच्छा, आगे क्या होगा? सब सूझना चाहिए!

बुद्धि जो है वह भूत और वर्तमानके आधारपर भविष्यको देख लेती है। भविष्य दिखता है—कब दिखता है? जब हम अपने भूतको ठीक-ठीक रखते हैं और वर्तमानको ठीक रखते हैं तो भविष्य ठीक होगा। भविष्यमें इसकी क्या गति हो सकती है यह नहीं सूझेगा। अपने भूतकी योग्यता भूल गयी और भविष्यमें इसका फल क्या होगा। इसपर दृष्टि नहीं गयी और अँधेरेमें ही उठकर चल पड़े। यह हो गया तमस्। इसका नाम हो गया अप्रकाश। बोले कि सूझता नहीं है तो क्या करें? हाथ-पाँव हिलाना बन्द कर दें?

बैठे-बैठे किसीको पुकार तो लो? जहाँ चक्षुज्योति काम नहीं करती है, आँखसे नहीं दिखायी पड़ता और जहाँ मनज्योति काम नहीं करती है—माने मनसे समझमें नहीं आती है। उस समय वाक्ज्योति काम करती है। वाक्ज्योति माने वाणी। आप अपनी वाणीका भी प्रयोग कीजिये और दूसरेकी वाणी सुनिये। वाणी ऐसी चीज है जो वक्ताको जगा देती है।

आपको खूब नींद आ रही हो, उस समय आप गीताका पाठ शुरू कर दीजिये, थोड़ी देरमें नींद भाग जायगी। जपमें नींद आती हो पाठ कीजिये। ध्यानमें नींद आती हो तो जप कीजिये। बन्द आँखमें नींद आती हो तो खुली आँखसे कीजिये। जब आप अपनेको प्रवृत्ति-शून्य कर देंगे, तब तो घोर तमस्‌में, घोर अन्धकारमें लीन हो जायेंगे।

गाँवमें पहले लालटेन थी ही नहीं। हमारे पढ़नेके समय मिट्टीकी ढिबरी होती थी। छोटी-छोटी, उसमें किरासिनका तेल भरकर जलाते थे। पढ़कर अगर उसको बुझा न दें तो सबेरे उठनेपर नाकमें-से कालिख निकलती थी। कालिख भर जाती थी। जहाँ लालटेन नहीं होती है और अँधेरेमें कोई आता हुआ दिखता है तो पूछ लेते हैं—'कौन है?' और वह बता देता है कि मैं अमुक हूँ। व्यवहार हो जाता है। तो यदि आप अँधेरेमें अपना व्यवहार ही बन्द कर देंगे, तो उस अँधेरेको दूर करनेका उपाय नहीं हो सकेगा। इसलिए उस समय यदि मानसिक प्रवृत्ति या चाक्षुष प्रवृत्ति न होती हो तो वाक्प्रवृत्तिके द्वारा उस अन्धकारको दूर करना चाहिए। यह तमोगुणको दूर करनेके लिए स्वाध्याय, जप, पाठसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है।

ये जो लोग कहते हैं न, कि हम तीन घंटा ध्यान करके आये हैं—वे तीन घंटा नहीं, तीन मिनट भी ध्यान नहीं करते हैं। बिना पाठके, बिना जपके, वाक्शक्ति जो है वह जाग्रत नहीं होगी। और बिना वाक्शक्तिके जागरणके लक्ष्यमें भी उसका नाम होता है और उसके रूप होते हैं, उनका ग्रहण नहीं होगा। इसलिए अप्रवृत्ति जो है, अपना हाथ-पाँव बन्द करके बैठ जाना। हाय, हाय मुझसे तो कुछ होता नहीं, मेरे किये क्या होगा? यह तमोगुणी प्रवृत्ति है। माने वह आदमी अन्धकारमें डूबा हुआ है—बौद्धिक अन्धकारमें। एक होता है चाक्षुष अन्धकार, वह बाहर होता है और तमोगुण जो है वह बौद्धिक अन्धकार है और वह हमारे भीतर रहता है।

पाकिस्तानसे एक सज्जन वृन्दावनमें आकर रहे। वे बताते थे कि मैं अपनी दूकानका सब सार लेकर आया हूँ। पाकिस्तानसे खाली हाथ नहीं आया हूँ। लेकर आये हो तो यहाँ कुछ काम करो। बोले, सोच रहा हूँ महाराज! पचीस वर्ष बीत गये, वे सोचते ही रहे। सब लाये थे, वह खतम हो गया। मर भी गये। सोचना, सोचना भी एक हद तक ही होता है। यह नहीं कि सोचने-सोचनेमें में ही अपना जीवन व्यतीत हो जाय। जितना-जितना समझमें आता जाय, उतना करते भी जाना चाहिए, नहीं तो तमोगुण और घना हो जाता है।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च।

अच्छा बोले—करना तो चाहते हैं, पर क्या करें हमको समय पर याद ही नहीं आती है। प्रमाद आ जाता है। यह भी तमोगुण है। क्यों नहीं अपने कर्तव्यका स्मरण होता है? क्यों नहीं स्फुरण होता है?

एक हरदत्तजी ब्रह्मचारी थे—अभी दो वर्ष पहले तक तो वे थे। 85-90 वर्षकी उम्र हो गयी थी। एक बार गीता प्रेसमें मुझसे मिलनेके लिए आये। मैंने वहाँके प्रबन्धकको बुलाया और कह दिया कि ब्रह्मचारीजीके सोनेकी, भोजन आदिकी व्यवस्था तुम कर दो और कल इनसे हम मिलेंगे। पाँच या सात विषयों के वे आचार्य थे। जिनके जिम्मे यह काम था, उन्होंने एक कमरा खोल दिया, बिस्तर लगा दिया, बिछा दिया और उसके बाद चले गये। दूसरे दिन दस बजे ब्रह्माचारीजी स्नान करके, ध्यान करके—वे बड़े पवित्र, बड़े तेजस्वी प्रकाशमान पुरुष थे, मेरे पास मिलनेके लिए आये। तो मैंने उनसे पूछा कि रातमें आपका सब भोजन-भाजन ठीक हो गया? तो बोले—हाँ, हाँ सब ठीक हो गया। जब उन्होंने हाँ, हाँ सब ठीक हो गया कहा, तब मेरे मनमें शंका हुई। फिर जिनके जिम्मे काम था उनको बुलाया। अब वे बोले कि हाय! हाय! मैं तो भूल गया, मुझे तो नींद आ गयी। मैंने तो इनको खिलाया ही नहीं। अब देखो, अतिथि घरमें आया और उसको हम खिलाना-पिलाना ही भूल जायँ तो यह तमोगुण नहीं तो और क्या है? इसीका नाम है, बुद्धिका, मनका अन्धकार। इसीका नाम है तमस्—जिसके मनमें अपने कर्तव्यका स्फुरण होता है, उसको अपना कर्तव्य पूरा किये बिना, नींद कैसे आ सकती है? यह जो मतवालापन है—प्रमाद जो है वह मतवालापन है, एक प्रकारका पागलपन है। और सावाधन रहकर इसको दूर करना चाहिए।

मोहका अर्थ है चित्तका विपरीत हो जाना। 'मुह् वैचित्ये'। अच्छेको बुरा समझे, बुरेको अच्छा समझे। असलमें यह होता कैसे है? कि हम जब अपनेमें ही, अपनी बुद्धिमें, अपने विचारमें अपने मनमें खोट रखते हैं—जैसे हमलोग चार जने बैठते हैं। एकने अपने बच्चेकी बात शुरू की। मैंने जब बोलना शुरू किया तो किसीने अपने बच्चेकी बात शुरू कर दी। जब उसने बच्चेकी बात शुरू की तो उसमें आप दिलचस्पी लीजिये। उनकी क्या उमर है? कैसे पढ़ते हैं? किस विषयमें उनकी रुचि है? क्या काम करते है? जब किसीने अपने बच्चेकी बात शुरू की तो आप उसके बच्चेकी बातमें दिलचस्पी लीजिये। वहाँ अपने बच्चेकी बात क्यों शुरू करते हैं कि हाँ, हाँ, हमारा भी बच्चा ऐसा ही है और उसका ऐसा हुआ था, उसका ऐसा हुआ था। अब सामनेवाला जो अपने बच्चेके बारेमें अपने मनकी बात कहना चाहता था, वह तो जहाँ-की-तहाँ धरी रह गयी। और बीचमें आपका बच्चा आगया। यह क्या है? यह अपने बच्चेके प्रति मोह है।

एकने अपनी बात शुरू की कि हमने काम-धन्धा ऐसे शुरू किया था और उसको ऐसे बढ़ाया और ऐसे फैक्टरी लगायी। वह अपनी बुद्धि और अपने गुणकी महिमा सुनाना चाहता था आपको। उसमें उसकी दिलचस्पी थी। और आपने बीचमें ही अपने व्यापार और अपनी फैक्टरी और अपनी निपुणताकी बात करनी शुरू कर दी। यह क्या है? असलमें बुद्धिकी विपरीतता है और मोहाक्रान्त बुद्धि है जो सामनेवालेकी दिलचस्पीसे नहीं मिल सकी और अपनी दिलचस्पीमें उसको खींच लेनेका प्रयास कर रही है।

बड़ी सहानुभूतिके साथ उसकी बात सुनिये जो आपको सुना रहा है। चित्तकी विपरीतताका नाम होता है 'वैचित्य' और मोह शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है 'वैचित्य'। कहाँ है मोह आपका? वहीं खुलेगा, जब

दूसरा कोई अपने मनकी बात कहने लगेगा तो आप उसके मनकी सुनना पसन्द नहीं करेंगे। अपने मनकी कहना शुरू कर देंगे। माने अपना मन और अपनी मनोवृत्तियोंमें आपका बहुत बड़ा मोह है।

'प्रमादो मोह एव च' 'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च'।

तमोगुणकी वृद्धि होनेपर यहाँ आलस्यको बीचमें और भी लेना चाहिए। प्रमाद और मोहके बीचमें आलस्यको भी लेना चाहिए। ऐसा आचार्योंका मत है। क्योंकि प्रमादका अर्थ तो होता है बिलकुल भूल जाना और अपने मोहकी वस्तुओंमें इतना डूब जाना कि दूसरेकी बात न सुन सकें। और आलस्य होता है—स्मरण तो है कि यह काम करना चाहिए, इनसे मिलना चाहिए; परन्तु याद आने पर भी अलसा गये। उस मनुष्यके जीवनमें कभी शान्ति नहीं रह सकती और कभी श्रीलक्ष्मीका निवास नहीं रह सकता। वह अलस हो जाता है। 'न लसति'—उसकी शोभा नष्ट हो जाती है और अरस हो जाता है। उसके जीवनमें कोई रस भी नहीं रहेगा और कोई शोभा भी नहीं रहेगी। जो भीतरसे स्मरण आये हुए और बुद्धिसे बताये हुए कामको, अपने मन और बुद्धिका, अपने ज्ञान और अपने कर्तव्यका, तिरस्कार करके बैठा रह जायगा। इसलिए प्रमादमें स्मरण नहीं होता है—आलसमें स्मरण होनेपर भी कर्तव्यसे विमुखता होती है और मोहमें दूसरेकी न सुनकर अपनी-ही-अपनी हाँकनेकी वृत्ति होती है। यह तमोगुणके बढ़नेपर होता है।

इसमें भी सावधान रहनेकी बात है कि हम गुणातीत हो जायँ। हमारा सात्त्विकताका बन्धन भी दूसरेके लिए दु:खदायी न हो। आप दूसरेको यह मत टोकिये कि तुम यह क्यों करते हो? आप आवश्यकता हो तो यह बता दीजिये कि यह हमारा नियम है, हम यह चीज नहीं करते हैं। हम यह नहीं खाते हैं, हम ऐसे नहीं रहते हैं—अपने नियम मर्यादाको आप भले प्रकट कर दीजिये। लेकिन दूसरेकी रहनीपर आक्षेप करनेका कोई कारण नहीं है।

सात्त्विक लोगोंमें प्राय: यह बात आजाती है कि वे अपनी रहनीमें ठीक रहते हैं, लेकिन दूसरोंकी तमोगुणी और रजोगुणी रहनीपर आक्षेप करते रहते हैं। जहाँ वे दूसरोंपर आक्षेप करनेके लिए जाते है वहाँ उसकी बुद्धि भी क्षिप्त हो जाती है, विक्षिप्त हो जाती है। अपना घर छोड़कर पराये घरमें चली जाती है। जैसे कोई स्त्री शृङ्गार तो अपने घरमें करे लेकिन शृङ्गार करके अपने पतिके सामने न जाय उसको खुश न करे और बाजारमें चली जाय कि दूसरे लोग हमको इस शृङ्गारमें देख-देखकरके खुश होंगे। इस प्रकारकी जो प्रवृत्ति है वह सात्त्विकतामें भी बन्धनका हेतु है। हम अपनी पवित्रतामें और अपनी रहनीमें और अपने ढंगमें इतने फँस जायँ कि दूसरोंको बुरा समझने लगे।

हमने हिमालयमें देखा—लोग मुर्दा फेंककर-जलाकर-स्नान नहीं करते हैं, वही कपड़ा पहने हुए चले जाते हैं। केरलमें हमने देखा, वहाँके बड़े-बड़े प्रोफेसर भी कोट-पैंट नहीं पहनते हैं, केवल चद्दर ओढ़कर कॉलेजमें चले जाते हैं। अब हम उनके ऊपर आक्षेप करने लगें कि तुम सिले कपड़े नहीं पहनते, उनसे कहें कि तुम स्नान नहीं करते!

कलकत्तेमें एक कसेराजी थे। वे अदालतमें गये। वहाँ जाकर बोल पड़े 'जय राम हरे, सुखधाम हरे!'

लोगोंने कहा—यह अदालत है, यहाँ मत बोलो, मत बोलो। उन्होंने कहा—'मैं तो धर्मराज युधिष्ठिरकी अदालतमें आया हूँ, कोई हिरण्यकशिपुकी अदालतमें थोड़े ही आया हूँ कि भगवान्का नाम मत लो। अपनी सात्त्विकता भी अपने लिए ही होनी चाहिए।' दूसरेके ऊपर आक्षेप करनेके लिए नहीं।

× × ×

प्रश्न : चौदहवें श्लोकके अनुसार सत्त्वगुणमें स्थित आत्मा निर्मल लोगोंको प्राप्त करता है और पन्द्रहवें श्लोकके अनुसार रजोगुणी आसक्त लोगोंमें और तमोगुणी मूढ योनियोंमें जन्म लेता है। कृपया इस कथनका सन्दर्भ भगवान्के इस वाक्यके साथ—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

समझानेकी कृपा करें।

उत्तर : **यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।**
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

अब बताते हैं कि मृत्युके समय अपने जीवनमें कौन-सा गुण रहेगा, तो उत्तम फलकी प्राप्ति होगी! यहाँ यह बताया है कि यदि अपने जीवनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि हो तो बड़े-बड़े ज्ञानियोंको जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, वह आपकी भी होगी। सत्त्वगुणमें रहनेका फल—देखो, एक तो आपका भूत सुधरता जायगा। वर्तमान ही भूत होता जाता है, आप इस समय सत्त्वगुणमें स्थित रहियें, अच्छा काम कीजिए, आपके पिछले काम सब अच्छे हो जायेंगे। और जो आगेसे आयेगा वह भी अच्छा होगा। क्योंकि भविष्यको वर्तमानमें से होकर गुजरना पड़ता है। और वर्तमानको ही भूत होना पड़ता है। जिसका वर्तमान मीठा होगा, मधुर होगा—जो कड़वा भविष्य भी आनेवाला होगा, उसकी मीठी जीभपर आकर मीठा हो जायेगा। और पहले जो उसके जीवनमें कड़वाहट रही होगी, वह भी हर क्षणमें मीठी होती जायगी। इसलिए हमें सुवृत्तमें हमेशा अच्छे काममें रहना चाहिए। जो उत्तम काम है, आपकी योग्यता जो है, उससे बड़ा काम करना शुरू करोगे तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जायगा। लाख रुपयेका काम करनेकी योग्यता मिलना कठिन हो जायगा। लाख रुपयेका काम करनेकी योग्यता है और करोड़की शुरू करोगे तो उसमें सफलता मिलना कठिन हो जायगा। अपनी योग्यताके अनुसार चलना चाहिए। और अपना बड़प्पन न धनमें, न विद्यामें, न बुद्धिमें, न जातिमें, न मजहबमें, कहीं भी दिखानेकी आवश्यकता नहीं रहती है। तदेतत् सुकृतम् इसका नाम होता है सुकृत और इसका फल होता है सात्त्विक और वह फल कैसा होता है? निर्मल होता है। हमारे तन-मनकी जो मलिनता है, वह धुल जाती है। देखो, क्या आश्चर्य है कि हम अपने कपड़ेको कितना साफ रखना चाहते हैं, मकानको कितना साफ रखना चाहते हैं! मकान साफ रहे, मोटर साफ रहे, कपड़ा साफ रहे, शरीर साफ रहे। साफ माने स्वच्छ रहे। लेकिन मनके बारेमें क्या सोचते हैं? वह तो बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आपका वस्त्र और शरीर खूब

स्वच्छ रहे और मनमें मलिनता भरी रहे तो आप क्या स्वच्छ रहेंगे? उस स्वच्छताको बढ़ानेका एक ही उपाय है। उसको आप ध्यानमें लीजिये। कूएँमें-से जितना पानी निकलता है और लोगोंके काम आता है, उसको लोग पीते हैं, नहाते हैं—उतना ही कूएँमें भीतरसे और स्वच्छ-से-स्वच्छ जल बाहर निकलता आता है। और यदि कुएँके जलका ठीक-ठीक उपयोग न किया जाय—वह स्नान और पानके काममें न आये तो वह जल गन्दा हो जाता है, उसमें कूड़ा पड़ जाता है और कभी-कभी तो इतना विषैला हो जाता है कि यदि कोई कुएँमें उतरे तो उसकी हवासे उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसा मैंने कितनी बार गाँवमें देखा है कि ऐसा कूँआ खाली रहे और लोग उसमें साफ करनेके लिए उतरे तो उन्हींका सफाया हो गया। हमेशा कूएँका पानी लोगोंके काम आना चाहिए। आपके जीवनमें भी कुछ सद्गुण रहेंगे, कुछ योग्यता है, उसका यदि आप सदुपयोग करते हैं तो आपकी योग्यता और बढ़ेगी। सुकृतका अर्थ है कि आप जो भी काम करें, अपनी योग्यताके अनुसार करें और पूरी रुचिके साथ करें और अपने मनको उसमें पूरी तरह लगाकर करें। यह बात सब लोगोंके समझमें आनेकी नहीं है। परन्तु है बिलकुल सत्य कि सब स्थानमें, सब समयमें, सबके रूपमें परमात्मा मौजूद है। आप यदि ईमानदारीसे, रुचिसे अपना मन पूरा वहाँ लगा देंगे तो वहीं आपको परमात्माका दर्शन हो जायगा। यह जो आपका मन इधर-उधर भटकता फिरता है, वह किसी भी कामको आप बढ़िया तरहसे करके देखिये तो—सुष्टु कृतम्=सुकृतम्—जो अच्छी तरहसे किया जाय, भलीभाँति किया जाय, उसका नाम होता है 'सुकृत'। भगवान्का भजन सुकृती लोग करते हैं, यह बात तो गीतामें आपने पढ़ी ही है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

जो सुकृतो मनुष्य होते हैं, वे भगवान्का भजन करते हैं और भले वे भगवान्का भजन किसी भी लक्ष्यसे करें, पर भगवान्के लिए करें! 'जनाः सुकृतिनोऽर्जुन' आर्त, दुःख मिटानेके लिए भगवान्का भजन कीजिये।

यहीं एक सेठ थे, उनका नाम तो हम भूल गये हैं—जब यहाँ बड़े-बड़े कविराज लोग हुआ करते थे—अस्पतालमें निश्चय हो गया था कि उनका पाँव काट दिया जायगा। उनके पाँवमें कोई दोष था। बड़े डरे और जब मनमें भय आया तो उनको कोई सहारा नहीं दिखा और भगवान्के चित्रको अपने हृदयमें लगाया और आर्त हो करके उन्होंने प्रभुको पुकारा! नींद आगयी। नींदमें स्वप्न आया कि तुम अच्छे हो गये, उठो! नींद टूटी। उन्होंने कहा—यह तो सपना है, इसमें क्या रखा है! फिर रोये, रोकर भगवान्के चित्रको हृदयसे चिपकाया और भगवान्के सिवाय और कोई सहारा नहीं है, बिलकुल अनन्य। न कोई उपाय, न कोई व्यक्ति अब तो हमारे दोनों पाँव कट जायँगे! निराश्रय होकरके, अकिंचन होकरके, अनन्यगति हो करके उन्होंने भगवान्को पुकारा। फिर स्वप्न आया। भगवान्ने कहा—अरे, तू उठ तो भाई! अच्छा हो गया। दूसरी बार सपना आया, तीसरी बार सपना आया। उन्होंने सोचा, सचमुच देखें क्या बात है! पलंगपरसे अपना पाँव नीचे किया तो सचमुच नीचे उतर गये। उतरकर वे बाथरूममें गये। अपने आप सब काम कर लिया। फिर लौटकर आये और देखा कि हम तो बिलकुल ठीक हैं। तो वे चुपकेसे अस्पतालमें-से अपने घर चले गये। सबेरे जब ऑपरेशनके

समय डॉक्टर लोग इकट्ठे हुए तो वहाँ रोगी ही नहीं। खोज हुई तो उन्होंने अपने घरसे बताया कि मैं तो बिलकुल ठीक हूँ। तो डॉक्टर लोग उनके घरमें ही गये कि कहीं पागल तो नहीं हो गया है। और जाकर जाँचकी तो पाँवमें कोई रोग नहीं।

आर्त लोग यदि भगवान्‌के प्रति अनन्यगतिक और अकिंचन (दूसरेका कोई सहारा नहीं है और दूसरा कोई अपने पास उपाय नहीं है)—होकर भजन करते हैं और भगवान् उनकी आर्ति पूरी करते हैं। अर्थार्थीको अर्थ मिलता है। ध्रुवको अर्थ मिला। जिज्ञासुको ज्ञान मिला। ज्ञानीको जीवनमुक्तिका विलक्षण सुख मिला। जो सात्त्विक पुरुष होगा, जिसके जीवनमें सत्त्वगुण होगा और सुकृति होगा, तो उसके अन्तिम जीवनके अन्तमें भगवान्‌का स्मरण होता है और—

अन्तकाले च गामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

उसको तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अपने जीवनमें सत्त्वगुण बढ़ाना चाहिए। परन्तु यह अध्याय जो है वह केवल सत्त्वगुण तक ही पहुँचाकर छोड़नेके लिए नहीं है—गुणातीत करनेके लिए है। आपको आश्चर्य होगा कि जहाँ ब्रह्मसूत्रमें यह विचार है—

रम्भति संपरिष्वक्तो।

रम्भति अधिकरणमें कि जब पुण्यात्मा मनुष्य मरने लगता है तो दो अमानव पुरुष आते हैं और उसको लेकर परलोकमें जाते हैं। वहाँ शंकराचार्यने लिखा है कि देखो, यह जो प्रसंग है, यह चाहनेके लिए नहीं है कि भगवान्‌के पार्षद आयें और हमको ले जायँ—यह भगवान्‌के पार्षदोंको कष्ट देनेके लिए नहीं है। बल्कि इतना वैराग्य देनेके लिए हैं कि हमको कहीं जाने-आनेकी आवश्यकता ही न रहे। इसलिए सत्त्वगुण भी निर्मल फलकी प्राप्तिके लिए नहीं है और वह निर्मल फल कोई है तो निर्माय परमात्माकी, मायारहित परमात्माकी प्राप्ति है। गुणातीत होनेके लिए ही यह सारा-का-सारा प्रसंग है।

●

प्रवचन : 6

20-11-85

प्रश्न : जन्मके पूर्व और मृत्युके उपरान्त, यह प्रश्न संसारके बुद्धिजीवियोंके विचार-विमर्शमें बराबर रहता है—मृत्यु ध्रुव है। यह तो संसारके सभी आस्तिक अथवा नास्तिक मानते ही हैं। लेकिन जहाँ हमारे यहाँ 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' स्पष्ट उद्घोष है, वहाँ संसारके अन्य धर्मावलम्बी अपनेको भ्रममें ही पाते हैं। जीवन, मृत्यु और पुर्नजन्मकी इस प्रक्रियापर कुछ प्रकाश डालनेकी कृपा करें!

उत्तर : जो वर्तमान जन्मको ठीक-ठीक समझ लेता है, वही जन्मके पूर्वकी और मृत्युके अनन्तरकी स्थितिको समझ सकता है। वर्तमान जीवन ही जिसकी समझमें नहीं आया. वह पूर्व जीवन और उत्तर जीवनकी कल्पना भी क्या कर सकता है? तत्त्व-दृष्टि जो है वह सर्वोत्तम होती है। कारण, हमेशा ही अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कल्पित होता है। हमारा जन्म क्यों हुआ? ईश्वरकी इच्छासे। तो ईश्वरकी इच्छा किसीको पशु, किसीको पक्षी, किसीको मनुष्य, किसीको सुखी, किसीको दु:खी, किसीको लम्बा, किसीको नाटा, किसीको लँगड़ा, किसीको स्वस्थ-सुन्दर, ऐसे भिन्न-भिन्न रूपमें बनानेकी क्यों इच्छा हुई? इसका उत्तर है कि जिसका जैसा पूर्व कर्म होता है, उसके अनुसार ईश्वर नया जन्म देता है। यदि अपनी मौजसे ईश्वर सबको जन्म देता है, किसीको पशु, पक्षी, मनुष्य, सुखी, दु:खी, लँगड़ा, लूला, काना, आँखवाला बनाता है तो यह तो एक प्रकारकी बड़ी उच्छृङ्खलता हुई।

एक ही प्रकारके जीव, एक ही प्रकारके उपादान, एक ही बनानेवाला और तरह-तरहके बनाकर रख दे, किसीको सुखी, किसीको दु:खी, तो वह तो अन्याय होगा। इसलिए कर्मकी अपेक्षासे ईश्वर जन्म देता है। जो पापी है उसको शूकर-योनिकी प्राप्ति होती है और जिसके कर्म-पुण्य होते हैं, उसको देवयोनि, मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। ईश्वरको बनानेके लिए भी कोई अपेक्षा चाहिए, इसके लिए पूर्व-पूर्व कर्मकी आवश्यकता होती है। मुसलमान और ईसाई मानते हैं कि ईश्वर स्वेच्छासे ही विषम सृष्टि बना देता है और वैदिक धर्म मानता है कि कर्मानुसार बनाता तो ईश्वर ही है, परन्तु जिसका जैसा कर्म होता है, उसके अनुसार बनाता है।

कई चीजें ऐसी होती हैं, जिनको हम बनाते नहीं हैं, बनी-बनायी मिलती हैं। जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, ये प्रलयके पूर्व भी होते हैं। प्रलयकालमें बीज रूपसे रहते हैं और सृष्टि कालमें अङ्कुरित अथवा पल्लवित, पुष्पित, फलित वृक्षके समान रहते हैं। और नींद तो सबको आती है। जागना भी सबको होता है, सपने भी सबको आते हैं। अब इनका जो सदुपयोग, दुरुपयोग है, वह कैसा है?

मैंने सुना एक बार रामकृष्ण परमहंसने देखा कि ढोलक बजाते हुए लोग बड़े ऊँचे स्वरसे कीर्तन करते हुए जा रहे हैं, तो वे दुःखी हो गये। किसीने पूछा, आप दुःखी क्यों हो रहे हैं? बोले-ये सब खोल बजाते हुए, कीर्तन करते हुए एक जगह इकट्ठे होंगे और जब रातको बाहरके लोग चले जायेंगे, तब ये कहीं चोरी करेंगे, कहीं डाका डालेंगे, व्यभिचार करेंगे, अनाचार करेंगे। ऊपरसे दिखावा है सत्त्वगुणका और भीतर रजोगुणी, तमोगुणी कर्म करनेकी इच्छा है।

एक व्यक्ति है, वह बहुत जल्दी सो जाता है कि जल्दी उठेंगे, पर जल्दी उठकर क्या करेंगे? भगवान्का भजन करेंगे या कोई व्यापारका हिसाब-किताब लगायेंगे अथवा भोग-विलास करेंगे या कहीं चोरी, डाका करनेके लिए जायेंगे। इस तमोगुणी निद्राका जो आगे सदुपयोग होगा उसकी दृष्टिसे निद्राका महत्त्व या उसकी न्यूनता होगी। आप किस कामके लिए सत्त्वगुण स्वीकार कर रहे हैं।

'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटकमें एक दृश्य दिया है कि काशीमें एक सज्जन थे। वे प्रायःकाल सबसे पहले जाकर गंगास्नान करते और गंगाजीमें जो भीतरतक लकड़ीके पट्टे लगे हुए होते उनपर जाकर बैठ जाते। हाथमें जपमाला। परन्तु उनका उद्देश्य यह था कि प्रातःकाल वहाँ जो स्त्रियाँ आकर स्नान करती हैं, उनके स्नान करते हुए शरीरको देखें। प्रातःकाल उठना भी सात्त्विक, स्नान करना भी सात्त्विक और जप करना भी सात्त्विक; परन्तु उद्देश्य उनका निम्नकोटिका। यह सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण भी सबके जीवनमें आते हैं; परन्तु वे उद्देश्यके अनुसार फल देते हैं। प्रकृतिके गुणोंमें भी, जीवनमें, तमोगुण वृत्ति है, रजोगुणकी वृत्ति है, सत्त्वगुणकी वृत्ति है; परन्तु जब उसका सदुपयोग किया जाय तो ईश्वर उन सबका फल भी उत्तम देता है। इसलिए इस जन्मको देखकरके पूर्वजन्मका अनुमान हो जाता है। जो नरकमें खूब दुःख भोग करके आता है, वह इतना चिड़चिड़ा होता है कि वह सबको डाँटने-फटकरनेका ही मजा लेता है। और जो स्वर्गका सुख भोगकर तृप्त होकर आता है वह सबको तृप्ति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतमें पाँचवें स्कन्धमें एक श्लोक आता है कि—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥ 4.29.66

मनुष्यका जो वर्तमान मन है वह बता देता है कि यह कहाँसे आया है। नरकसे आया है कि स्वर्गसे। जैसे कोई रुईकी गोदाममें-से आये तो उसके शरीरपर, कपड़ेपर कुछ रुईके रेशे लगे होंगे और यदि कोई कोयलेके खानेमें-से निकले तो कुछ कोयलेके कण उसके ऊपर पड़े होंगे। यदि कोई दवाके कारखानेसे निकले, तो दवाकी कुछ गन्ध उसके शरीरमें लगी होगी। इसी प्रकार मनुष्यका जो यह जन्म होता है, उसीके द्वारा पूर्व जन्मका अनुमान किया जाता है कि ईश्वरने कैसा जन्म दिया था। और आगे यह कहाँ जायगा?

समझ लो कि किसीकी रुचि मांस खानेमें बहुत अधिक है। ठीक है, ईश्वर देख रहा है कि अभी मांस खानेकी इसकी वासना है, तो उसको मांसाशी योनियोंमें भेज देगा। वह गीध हो जायेगा, वह चील हो जायेगा,

वह कौआ हो जायगा और वहाँ जाकर अपने मांस खानेकी वासना पूरी करेगा। कोई दूसरोंको बहुत सताता है, साँप हो जायगा। वह दूसरोंको काटेगा, बिच्छू हो जायगा, डंक मारेगा। मनुष्य होगा तो वह ऐसी कड़वी बात और ऐसी व्यंग्य वक्रोक्ति, दूसरेके दिलमें चुभ जानेवाली बात बोलेगा। और यदि वह सुखी होगा तो सुख देनेवाली बात बोलेगा। कोई कहेगा—शान्त होकर भजन करना अच्छा है, तो कोई कहेगा कि दिन-रात कर्ममें लगे रहना अच्छा है।

यह जो वर्तमान जीवन है, यही पूर्वजीवन और भविष्य जीवनका सूचक है। अब किसका जन्म नहीं होगा, इसका भी पता लगता है। कैसे लगता है? किजिसके जीवनमें वासना जितनी कम है, जो सर्वथा निर्वासन है, उसको ईश्वर कहाँ भेजेगा? ईश्वरको भेजनेके लिए कोई जगह ही नहीं हो सकती उसके लिए, जहाँ निर्वासन पुरुषको भेजे। तो ईश्वर कहता है भाई! निर्वासन आत्मा तो हमारी है; आओ तुम हमसे एक हो जाओ; अब तुम्हें जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ता पड़ेगा। तो जो इस जीवनमें निर्विकर होगा वह र्निविकार ब्रह्मसे एक होगा। जो ऐश्वर्यवासन होनेवाला होगा, वह अगले जन्ममें शक्तिशाली होगा। जो हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठमें लगा होगा उसको उसकी सुविधावाली योनि और जन्म आगे मिलेंगे। और जो पवित्रताके विचार वाला होगा, उसको पवित्रता मिलेगी।

एक दार्शनिक दृष्टिकोण होता है और एक पौराणिक, मजहबी दृष्टिकोण होता है। हमारे धर्मके मूलमें अन्ततोगत्वा दर्शन है—अनुभूति है। और इसी जीवनमें वह अनुभूति प्राप्त हो सकती है—वैदिक धर्ममें। और जो दूसरे धर्म हैं वे पौराणिक हैं और प्राय: कथा, कहानियोंके आधारपर बने हुए हैं और उनमें श्रद्धा और आदेश तो बहुत अधिक हैं; परन्तु उनका उपपादन अनुभूति और युक्तिके द्वारा कम मिलता है। हमने कुरानशरीफके हर सफेदपर प्राय: पढ़ा कि जो कुरानशरीफ और अपने पैगम्बरको नहीं मानता है, वह दोजखमें डाल दिया जाता है। परन्तु अपने जो वेद हैं, उपनिषद् हैं, दर्शन शास्त्र हैं—उनमें ऐसी मजहबीमें बातें नहीं हैं। अपने धर्ममें भी मजहबी किताबें बहुत हैं—कि जो वैष्णव नहीं होगा वह नरकमें जायगा, जो शैव नहीं होगा वह नरकमें जायगा। ये मजहब हैं एक-एक देवताकी उपासनामें निष्ठा करानेके लिए हैं। दर्शनशास्त्रकी जो स्थिति है वह सर्वथा निर्मल हैं। आप जान सकते है कि आप पूर्वजन्ममें कहाँसे आये हैं, अगले जन्ममें कहाँ जायेंगे या आपका जन्म नहीं होगा। इसको आप इसी जन्ममें जान सकते हैं—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोध: (योगशास्त्र 2.39)

एक महात्मासे मैंने पूछा कि आप पूर्व जन्म या उत्तर जन्मकी बात सही-सही जान सकते हैं? उन्होंने कहा, दूसरोंकी तो नहीं पर अपनी जान सकते हैं। अच्छा—अपनी जान सकते हैं, तो कैसे जान सकते हैं? जो कुछ परिग्रह हुआ है, माने जो कुछ हमने बाहरसे लिया है, कुछ इस जन्ममें लिया है, कुछ पूर्व जन्मका भी हो सकता है, तो जो इस जन्ममें हमने ग्रहण किया है, उसको हम छोड़ देंगे तो पूर्वजन्मके संस्कार कितने आये हैं, इसका पता लग जायेगा। कुछ नानीसे लेते हैं, कुछ नानासे लेते हैं। कुछ दादीसे लेते हैं, कुछ दादासे लेते हैं, कुछ अपने पूर्वजन्मका होता है, कुछ गर्भका होता है, कुछ संगका होता है, कुछ पढ़े-लिखेका होता है कुछ

खाने-पीनेका होता है—इन सबको जब छोड़ देते हैं और अपने शुद्ध रूपमें स्थित होते है तो अपना अतीत भी और अपना भविष्य भी दीखने लगता है। इसलिए पूर्वजन्मकी और उत्तर जन्मकी एक दार्शनिक, वैज्ञानिक प्रक्रिया है। हमने तो गरुड़ पुराणके बहुत-से पाठ किये हैं, प्रवचन भी किये हैं। जिनमें नरक, स्वर्ग, पूर्वजन्मका बहुत वर्णन होता है। तबियत घिनघिना जाती है। ऐसे तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी प्रवृत्तियोंका भी कोई मूल है, और आगे उसका कोई फल है—यह बात सुनिश्चित है।

× × ×

प्रश्न : श्लोक 14-15 एवं 16में भगवान् अलग-अलग गुणोंको प्राप्त होकर मरनेवालेकी गति उत्तम, मध्यम और अधम लोकोंकी प्राप्ति बतलाते हैं। मरणोपरान्त प्राप्त होनेवाले लोकों और विभिन्न योनियोंका तात्त्विक विवेचन करनेकी कृपा करें। कृपया परलोकका भी तात्त्विक विवेचन गीताके सिद्धान्तों एवं हिन्दू मान्यताओंके अनुसार हमें समझायें।

उत्तर : भाई देखो, दर्शनमें हिन्दू-मुसलमानका लिहाज नहीं किया जाता। सत्य, सत्य ही होता है। वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाईके लिए अलग-अलग नहीं होता है। आचार अलग-अलग होते हैं। विचारके सूत्रमें हम कार्य कारण सम्बन्धसे जुड़े होते हैं, जो कि प्राकृत हैं। प्रकृति कारण होती है और उसके कार्य होते हैं बीजके अनुसार। आमका पेड़ अपने बीज के अनुसार होता है और आँवलेका पेड़ अपने बीजके अनुसार होता है। बीजके अनुसार वृक्ष बनता है और वृक्षके अनुसार फिर उसके फल होते हैं। यहाँ तक यह कार्य-कारणका अनुसन्धान है, वहाँ तक धर्मकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। और जिसको देखना है कि इसमें है क्या? वह यदि बीजको जलाकर—आगमें जलाकर नहीं, अपनी बौद्धिक अग्निमें बीजत्वको जला दे, तो देखेगा कि उसमें मिट्टी-पानी-आगके सिवाय कुछ नहीं है और मिट्टी, पानी, आगको भी यदि तात्त्विक दृष्टिसे देखे, तो सत्ताके सिवाय और कुछ नहीं है। और सत्ताको भी यदि जाँचें तो वह चेतनसे पृथक् सत्ताका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है।

चेतन सत् होनेके कारण अविनाशी है और सत् चेतन होनेके कारण जड़ नहीं है। सत् होनेके कारण चेतन क्षणिक नहीं है और चेतन होनेके कारण सत् जड़ नहीं है, दृश्य नहीं है। इस प्रकार जब आप विचार करेंगे तो आपका आत्मा ही सच्चिदानन्दघन रूपसे प्राप्त होता है और चाहे इसको वैदिक दृष्टि कहो, चाहे हिन्दू दृष्टि कहो, चाहे भारतीय दृष्टि कहो। नाम आप अपने प्रसन्नताके अनुसार, जैसे आपको सन्तोष होता हो वैसे रख लो। यह आत्मा सच्चिदानन्दघन है। इसके सिवाय और कोई सत्य नहीं है। सब सत्य अपनी-अपनी मान्यताके सत्य हैं और जब हम अपनी अज्ञान मूलक मान्यताओंसे ऊपर उठेंगे तब इस सत्यका साक्षात्कार होगा। और सत्य तत्त्व होता है। जो नाम और रूपकी उत्पत्तिके पूर्व होता है। नाम-रूपके पृथक्-पृथक् होनेपर भी होता है और नाम-रूपके मिट जानेपर भी होता है। वही सच्चिदानन्दघन अद्वितीय, पृथक् चैतन्य ही ब्रह्म है, सत्य है। इसके सिवा और कोई सत्यता अनुभव-सिद्ध या वेद-उपनिषद्-अपौरुषेय-ज्ञानसे सिद्ध और दूसरी कोई सत्ता नहीं है।

प्रश्न : इन योनियोंके चक्रके बारेमें कुछ प्रकाश डालें। कहते हैं योनियाँ कुल 84 लाख हैं। यदि ऐसा है, तो यह तो एक बहुत बड़ा चक्र है। इस चक्रमें आत्मा एक योनिसे एक ही बार गुजरती है अथवा एक बारसे अधिक ?

उत्तर : ऐसा है कि ये योनियाँ तो मनमें जितनी वासनाएँ हैं, उनकी वृत्तियोंको गिन-गिन करके योनियाँ बनी हैं। माने योनियाँ हैं भिन्न-भिन्न प्रकारके आकार। आकारका निर्माण वासनासे होता है। इसलिए चार इनके आकार हैं और चौरासी लाख इनके रूप हैं। चार खजाने और उनमें चौरासी लाख रूप। उनको गिनती करनेकी प्रक्रिया भी है। आप देखो, एक वे प्राणी हैं जो पृथिवीको छेदकर बाहर निकलते हैं। जैसे पेड़-पौधे हैं, इनको उद्भिज्ज बोलते हैं। यह धरतीको छेदकर नीचेसे ऊपर निकलते हैं। और पाँवसे खाते-पीते हैं। यह अपना भोजन नीचेसे ही ले लेते हैं। इनको पादप बोलते हैं।

पादैः पिबन्ति इति पादपाः।

जो अपने पाँवसे ही अपना भोजन ले लेते हैं। उसके बाद दूसरी योनि होती हैं 'स्वेदज' जो पसीनेसे, मैलसे जो पैदा हो जाती है। जैसे सिरमें जुएँ होती हैं। खटमल हैं। ये पानीकी विशेषतासे ही पैदा होते हैं? पृथिवीकी विशेषतासे उद्भिज्ज और जलकी विशेषतासे 'स्वदेज' होते हैं। उसके बाद अण्डज होते हैं। उनमें जल पृथिवी, वायु, आकाश—विशेषता तो सबकी होती है। परन्तु वे अण्डज होते हैं—द्विपाद और तिर्यक् गति होते हैं। पेड़-पौधे नीचेसे भोजन लेते हैं, ऊपर बढ़ते हैं और स्वेदज और अण्डज ये आगेसे भोजन लेते हैं और पीछेको ले जाते हैं और ये आकाशमें तिरछे चलते हैं। तिर्यक् गति होती है इनकी।

चौथे होते हैं 'जरायुज'—जरायुज माने जो जेरमें बँधे हुए पैदा होते हैं। जिनमें ऊपरसे एक परदा होता है लगा हुआ, उनमें पशु भी होते हैं और मनुष्य भी होते हैं। वे चतुष्पाद, चार पाँववाले पशु होते हैं और दो पाँववाले मनुष्य होते हैं। यह प्रकृति ही मिट्टी, पानी, आगको उद्भिज्जका रूप देती है, उद्भिज्जका और वही स्वेदजका रूप देती है, वही अण्डजका रूप देती है और वही जरायुका रूप देती है। परन्तु जरायुजोंमें पशु और मनुष्यमें भेद होता है। पशु तिर्यक् गामी होता है और वह स्वतन्त्र कर्मका अधिकारी नहीं होता। क्योंकि उसके हाथ नहीं हैं। इसलिए पशुको कभी पापपुण्य नहीं लगता है। क्योंकि कर्म करनेके लिए उसके हाथ होते ही नहीं, न तो वाणी होती है बोलनेके लिए। उनकी वाणी दूसरे प्रकारकी होती है। वह अ-च-ट-प आदिके रूपमें सिखायी हुई नहीं होती है।

यह जो जरायुकी चौथी कोटि है। इसमें द्विपाद और चतुष्पाद होते हैं। जो द्विपाद होते हैं, उनके दो हाथ होते हैं और हाथ भी ऐसे होते हैं कि उनसे वह 'स्वाहा-स्वाहा' अग्निको आहुति भी दे सकें और स्वच्छन्द रूपसे अपने मुँहमें अपने हाथसे उठाकर जो चाहें सो खायें और जो चाहें सो न खायें। कर्म करनेमें स्वतन्त्रता मनुष्य योनिमें आकर प्राप्त होती है। इसका अर्थ है कि प्रकृति एक प्राणी को जितना उन्नत बना सकती है, उतना उन्नत बना देती है। प्राणि वर्गमें मनुष्य सर्वोत्तम है। यह खाता है ऊपर और इसका जाना होता है नीचे। इसलिए ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक् स्रोत और अधःस्रोत ये तीन प्रकारके प्राणी स्रोतकी दृष्टिसे माने जाते हैं। अब प्रकृतिने जहाँ

तक आपको पहुँचाना था, पहुँचा दिया। अब आप चाहें कि इस प्रकृतिके चक्करसे छूट जायँ और ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक् स्रोत, अध:स्रोत, तीनोंसे छूटकर आप परमात्माके साथ मिल जायँ।

मनुष्यमें तीन बातकी पूर्णता स्पष्टरूपसे देखनेमें आती है। एक तो वह अपनी बुद्धिके द्वारा नवीन-नवीन आविष्कार कर सकता है। आप देखते हैं कि चींटियोंकी रहनी हजारों वर्ष पहले थी वैसी ही है, बिल खोदना, अण्डे देना और उसमें रहना, खाने-पीनेकी वही रीति। चिड़ियोंके घोंसले भी वैसे ही हैं। पशुओंके घरमें सुगन्ध लेनेके लिए इत्र और सेंट नहीं बनते हैं। माने बाँधमें विशेषता बनानेकी बुद्धि उनमें नहीं है। तरह-तरहके भोजन, आग जलाकर रसोई भी उनके घरमें नहीं बनती है। तरह-तरहके रसास्वादनकी बुद्धि भी उनमें नहीं है। वे चित्र भी नहीं बनाते हैं और तरह-तरहकी डिजाइनके कपड़े भी बनाते हैं। रूप निर्माणकी क्षमता भी पशुओंमें नहीं है। और पंखा लगाना, अपने लिए सुकोमल स्पर्शकी व्यवस्था करना, ये भी उनके यहाँ नहीं है। और ये बाजे-गाजे, ये राग-रागिनी, ये तरह-तरहकी भाषा पशु बनाते नहीं हैं। ये सब नवीन-नवीन आविष्कारकी बुद्धि मनुष्यमें आती है।

हाथी, घोड़े, गाय, बैल जैसे हजारों वर्ष पहले रहते थे, वैसे ही रहते हैं। पेड़ोंपर घोंसला बनानेवाले पक्षी—जैसे पहले घोंसला बनाते थे, वैसा ही अब भी बनाते हैं। लेकिन मनुष्यने अपने गन्धमें, रूपमें, स्पर्शमें, शब्दमें, रहनीमें और नवीन-नवीन ज्ञान प्राप्त करनेमें अद्भुत उन्नति प्राप्त की है और आविष्कार किये हैं।

इसलिए मनुष्य-योनिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है—नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि—प्रतिभा, जिसमें नयी-नयी बातें आती हैं। दूसरी बात है, कर्म करनेकी जो प्रणाली है, वह मनुष्यकी जैसी है वह भी पशु-पक्षियोंमें नहीं है। वह प्रकृतिके अधीन होकर जैसे रहते आये हैं, रहते हैं और मनुष्यमें तो प्रकृतिसे पार जानेकी क्षमता है, योग्यता है। तीसरी बात है मुसकान। आँखोंमें जो यह प्यार है, यह तो पशुओंमें आ जाता है और पूँछ हिलाकर जो चापलूसी है वह पशुओंमें भी है। वे चाटते भी बड़े प्रेमसे हैं। लेकिन यह जो हमारी मन्द-मन्द मुसकान है या ठठाकर हमारी जो हँसी है, वह सत्की प्रधानतासे मनुष्यमें कर्मका प्रकाश होता है। और चित्की प्रधानतासे बुद्धिका प्रकाश होता है और आनन्दकी प्रधानतासे मुस्कानकी प्रधानता मनुष्यके जीवनमें आती है। माने सच्चिदानन्दके आविर्भावकी योग्यता मनुष्यके शरीरमें होती है। इसलिए जिन तीन गुणोंका वर्णन चौदहवें अध्यायमें बड़े विस्तारसे किया हुआ है, उसके अतिक्रमणकी योग्यता जो है वह मनुष्यमें आती है, यह बात स्पष्ट रूपसे कही गयी है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।

यह चाहे तो इसका आगे जन्म न हो, यह चाहे तो बुढ़ापेके दु:खसे मुक्त हो जाय। यह चाहे तो मृत्युके दु:खसे मुक्त हो जाय। ऐसी योग्यता मनुष्यके शरीरमें आती है। कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर कैसा है? एक अन्धे आदमीको एक बहुत बड़ी चहारदीवारीके भीतर छोड़ दिया गया और कह दिया गया कि तुम दीवाल पकड़ लो। जहाँ द्वार मिले वहाँ बाहर निकल जाना। तुम कैदसे मुक्त हो जाओगे। अब चार वर्ण और चौरासी लाख योनि इनका भी एक हिसाब है, गणित है—पर मुझे गणित बहुत अधिक नहीं आता है, इसलिए मैं हिसाब

लगाकर नहीं बता सकता कि योनियोंके चौरासी लाख रूप कैसे होते हैं। वैसे वर्णन तो इनका भी शास्त्रोंमें मिलता है। अब यह मनुष्ययोनि जो प्राप्त हुई है, यह अन्धेको द्वार प्राप्त करनेकी योग्यता इसमें है। यदि यह भीत (दीवाल)को पकड़े हुए चले और द्वार मिल जाय तो वहाँसे निकल जाय; लेकिन यदि बद-किस्मतीसे इसके सिरमें खुजली हो जाय और दीवार छोड़कर अपना सिर खुजलाने लगे, विषय-भोगमें लग जाय। तो संसारसे निकल नहीं सकता।

ये विषय-भोग एक तरहकी खुजली ही है। यह बात आपके ध्यानमें नहीं आयेगी। कानकी खुजली मिटानेके लिए, मीठी आवाज और मीठा संगीत, त्वचाकी खुजली मिटानेके लिए मधुर-मधुर स्पर्श, जीभकी खुजली मिटानेके लिए रस, नाककी खुजली मिटानेके लिए गन्ध। ये असलमें सब-का-सब विस्तार इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए ही प्रपंचका हुआ है। प्रशंसा सुननेमें बहुत रस आता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कह दिया—

कोउ भल कहउ-देउ कछु कोऊ, असि वासना हृदयते न जाई।

जहाँ अपनी प्रशंसा होती है, वहाँ बारम्बार सुननेका मन होता है।

हमारे पास एक सज्जन थे, केवल एक कटिवस्त्र पहने हुए। हमारे पास एक झोला लिये हुए आये थे। पर वे जब कुछ लिखते थे तो बहुत बढ़िया लिखते थे। पंडित रामकिंकरजी उपाध्यायने उनका लिखा हुआ पढ़ा, बोले—यह तो खलिल जिब्रानकी तरह लिखते हैं—बहुत बढ़िया। यह सुनकर उस आदमीको कितना अच्छा लगा! हम तो हमेशा ही डाँट-फटकारकर रखते थे। ईमानदार बहुत था। जब पंडितजी कहीं गये तो वह भी सामान लेकर पंडितजीके पास पहुँच गया। फिर पंडितजीने उसको डाँट-फटकारकर मेरे पास भेज दिया। क्यों गया? अपनी प्रशंसा उसको इतनी प्यारी लगी—यह जो हमलोगोंके मनमें बाहरसे खुजला-खुजलाकर अपनेको सुखी करनेकी आदत पड़ गयी है, वह बहुत दुःखदायी होती है।

अपने भोग-विलासमें न अटककर, खुजली मिटानेमें न लगकर, हमें इस द्वारका सदुपयोग करना चाहिए। आप सुन रहे हैं, तमोगुणकी निन्दा, पर आप सोइये न! पाँच घण्टेकी, छः घण्टेकी नींद ले लीजिये। बच्चेको तो अठारह घण्टे तक ही नींद आये तो अच्छा रहता है। परन्तु बड़े-बूढ़ोंको छः घण्टेसे अधिक नींद नहीं लेना चाहिए। और बाकी जो आपका समय बीतता है, आप उसको अपने व्यापारमें लगाइये, अपने धर्म-कर्ममें लगाइये। उसका दुरुपयोग मत कीजिये। व्यर्थकी बात करनेमें जो समय जाता है, केवल उसको छोड़ दीजिये। देखिये, आपका जीवन बिलकुल दिव्य हो जायगा। आप बोलनेके पहले सोच लीजिये कि यदि हम यह बात न बोलें तो क्या किसीको कुछ हानि हो जायगी? बस इतना ही ध्यानमें रखिये। यदि आपके न बोलनेसे आपकी या किसी दूसरेकी हानि न हो तो उस बातको बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप देखेंगे कि आपके जीवनमें पाँच, छः घण्टे समय बिलकुल सही-सही बितानेका शुभ अवसर मिल जायगा। आप सोइये, परन्तु उठनेके बाद बढ़िया काम करनेके लिए, आप कर्म कीजिये, कमाइये, व्यापार कीजिये, परन्तु उस व्यापारसे जो आमदनी होती है उसको अच्छे

काममें लगाइये तो आपका वह रजोगुणी व्यापार सत्त्वगुणमें ले जायगा। आपकी वह तमोगुणी निद्रा सत्त्वगुणमें ले जायगी।

कोई बुराई करनेकी हो और आप आलस्य कर जायँ- -कौन जाय, पीछे कर लेंगे। बुरा काम मनमें आ रहा हो—अलसा जाइये उस समय! वह आलस्य आपको बुरे कामसे बचा देगा। भूल जायँ—कोई बात नहीं। भूल गये, बुरे कामसे बच गये। प्रमादसे यदि बुरे काम भूल जाते हैं और आलस्यसे यदि बुरे काम छूट जाते हैं और निद्रासे यदि अच्छा काम करनेमें आपको मदद मिलती है तो वह तमोगुण भी आपके लिए बहुत हितकारी है। और रजोगुणसे आप खूब धन कमाइये और दुनियामें बड़े-बड़े काम कीजिये। आप उत्साही जवान बनिये, जीवनमें उन्नतिकी आशा रखिये। खूब खाइये, पीजिये और अपने निश्चयपर दृढ़ रहिये। बलवान् हो जाइये। परन्तु किसलिए? आपका उद्देश्य क्या है?

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुबर भगत जासु सुत होई।।

आप पुत्र पैदा कीजिये, परन्तु ऐसा पुत्र पैदा कीजिये जो भगवान्‌का भक्त हो और ऐसा कब होगा? जब आपके हृदयमें भक्ति रहेगी तो आपके हृदयका रस, आपके पुत्रके हृदयमें भी जायगा। वह भी भक्त होगा। वह स्वार्थी न हो, वह लोक-कल्याणकारी हो। हम अपने वर्तमान जीवनको जितना ठीक-ठीक व्यतीत करेंगे, हमारा भविष्य-जीवन या जीवन्मुक्तिका सुख या भगवत्-प्राप्ति, ये सब हमारे हाथमें है। यह मनुष्य-शरीर प्रकृतिके द्वारा जितना उन्नत किया जा सकता है, उतना उन्नत कर दिया गया है—अब उसकी उन्नतिका लाभ उठाना तो—

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।

अथवा

......उत्तमविदां लोकान् अमलान् प्रतिपद्यते।

यह सब-का-सब आपके हाथमें है। आप अपने तमोगुणका भी सदुपयोग कीजिये। रजोगुणका भी सदुपयोग कीजिये। नहीं तो जिन्दगीभरकी कमाई रखी-रखी मिट्टीमें मिल जायगी।

जबलपुरमें एक सज्जन थे। बड़ी मुश्किलसे 400 रु० उनके पास इकट्ठे हुए। उन्होंने कहाकि इसको रख दें। उन्होंने एक डब्बेमें 400 रु० के नोट भरे और धरतीमें गाड़ दिया। चार महीने बाद जरूरत पड़ी। जब निकाला तो वह नोट पानी हो गये थे। न अपने काम आये, न दूसरेके काम आये। वह तो गल गये। इसी प्रकार यह रजोगुण और तमोगुण इसका भी अपने जीवनमें सदुपयोग हो। अपनेको दुरुपयोगसे बचाइये। सात्त्विकताकी धारणा कीजिये। सात्त्विक होकरके ही आप गुणातीत होंगे।

मृत्युके समय मोह सबको होता है। मोह माने बेहोशी। सबको बेहोशी आती है। लेकिन बेहोश होनेके एक क्षण पहले जो आपके चित्तकी स्थिति होगी, जो वृत्ति होगी—अव्यवहितपूर्ण क्षणमें जैसी वृत्ति होगी, वैसा अगला जन्म मिलेगा। और अव्यवहित-पूर्वक्षणमें वृत्ति कैसी होगी? जिसका आप जीवनभर अभ्यास करेंगे। यह नहीं कि मरनेके समय एकाएक भगवान्‌का स्मरण आजायेगा—या आप बड़े भारी उदार

हो जायेंगे। मरते समय सब दान कर जायेंगे। अरे, वह तो सब-का-सब छूटनेवाला है ही! यदि आप जीवनमें ही उदारताके साथ दान करके अपने धनका आनन्द लें और दूसरोंका भी भला करके अपनी कर्म-शक्तिका आनन्द लें और दूसरोंको ज्ञान-दान करके और सुख-दान करके अपनी वाणीका आनन्द लें तो आपका अगला जन्म भी बहुत बढ़िया होगा।

× × ×

प्रश्न : संस्कार किसे कहते हैं? संस्कार जीवनको किस प्रकार प्रभावित करते हैं? एक जन्मके कर्मोंके फल क्या मृत्युके साथ ही समाप्त हो जाते हैं अथवा ये जन्ममें भी उनका प्रभाव रहता है? जिस प्रकार व्यवसायमें वर्ष समाप्त होनेपर, उस वर्षका लेखा-जोखा, वर्ष समाप्त होनेसे ही समाप्त नहीं होता, बल्कि आगामी वर्षमें भी उसी प्रकार स्थापित रहता है; इसी प्रकार पूर्व जन्मके कर्म अथवा उनके फलका प्रभाव नये जन्ममें भी उसी प्रकार रहता है क्या?

उत्तर : हाँ जी! रहता तो है ही है। वह तो देखनेमें आता है और अगले जन्ममें भी रह सकता है। लेकिन यदि आप सावधान होकर और सत्पुरुषोंकी सलाहसे अपने कर्मको सुधारें और उनके प्रभावसे मुक्त होना चाहें तो मुक्त भी हो सकते हैं। इसलिए सत्संगके द्वारा आप जो चाहे सो प्राप्त कर सकते हैं। संसारमें जितने भी सत्-परिवर्तन हुए हैं, वे सत्संगके द्वारा ही हुए हैं।

मति, कीरति, गति भूति भलाई।
जो जेहि जतन जहाँ जो पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ बेदहुँ न आन उपाऊ॥

आप जिसको सत् समझते हैं, उससे आसक्ति कीजिये। सत्कर्मसे, सद्भावके, सद्विचारसे, सद्स्थितिसे, सत्पुरुषसे, सद्ज्ञानसे, सत्तत्त्वसे—जिसको आप सत् समझते हैं, उसके प्रति अपने जीवनकी रुझान, अपने जीवनका रुख मोड़ दीजिये और आपका जीवन सुखी हो जायेगा। और कर्मोंका प्रभाव तो स्पष्ट रूपसे इस जीवनमें देखनेको आता है और यदि इसमें हम मुक्त न हुए, गुणातीत न हुए तो वह अगले जन्ममें जायेंगे ही। गीतामें ऐसे भी कहा है कि योगी भी यदि भ्रष्ट हो जाय तो अगले जन्ममें पैदा होगा—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

एक सज्जन योग कर रहे थे, योग करते-करते एक राजकुमार साहब उनके पास दर्शन करने आये, तो उनके मनमें आया कि हम भी राजकुमार हो जाते, इसी वासनाको लिये हुए मर गये। तो राजाके घरमें उनका जन्म हुआ, राजकुमार हुए। राजकुमार होनेकी वासना पूरी होनेपर फिर उनका शरीर छूट गया। और फिर दूसरे जन्ममें उन्होंने योगाभ्यास किया—या उसी जन्ममें—राजकुमार होनेके बाद उन्होंने राज्यका भोग नहीं किया। योगाभ्यास किया और अपना जो लक्ष्य था, उद्देश्य था, उसको प्राप्त कर लिया।

प्रभाव तो पड़ता ही है। इसके लिए आपकी बुद्धिमें जो सत् है उसको आप स्वीकार कीजिये। और

उसके अनुसार अपना जीवन बनाइये। हमारे बताये हुए सत्यपर उतना ध्यान मत दीजिये, अपने बुद्धिके जाने हुए सत्यपर ध्यान दीजिये। यदि आप अपने ज्ञानका अपमान नहीं करेंगे, अपने उत्कृष्ट ज्ञानको जीवनमें उतरने देंगे, उसमें बाधा नहीं डालेंगे तो आपका जीवन उत्कृष्ट हो जायगा। और वासना तो कष्ट देती ही है।

सुनते हैं अयोध्याजीमें एक संत थे, उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा कि जब मैं मरूँगा तो मुझे लेनेके लिए विमान आयेगा और उसमें घण्टियाँ बजती होंगी और मैं शरीर छोड़कर उसमें बैठूँगा और भगवान्‌के धाममें जाऊँगा। सन्त तो मर गये। परन्तु न विमान आया, न घंटियाँ बजीं। उनके शिष्योंने कहा कि हमारे गुरुजीकी बात झूठी तो नहीं हो सकती। कोई-न-कोई बाधा पड़ गयी। अयोध्याजीके सब सन्त मणि-पर्वतपर इकट्ठे किये गये। और वहाँ यह निश्चय हुआ कि सन्त जहाँ मरा है, वहाँ चलकर देखो। वहाँ देखा, तो सामने एक बड़ा सुन्दर फल वृक्षपर लगा हुआ था। मधुर, मधुर और देखनेमें भी बहुत सुन्दर। बोले, इसको तोड़ो। फलको तोड़ा तो उसमें एक कीड़ा मिला। सन्तोंने कहा—इसको रामका नाम सुनाओ और सद्‌गति दो। रामनाम सुनाकर जब सद्‌गति दी गयी फलवाले कीड़ेको, तो तुरन्त घण्टे बजने लगे और लेनेके लिए विमान आगया।

मनुष्यको अपने जीवनमें सावधानीसे रहना चाहिए। यदि वह गुणोंमें रहेगा, तो गुणोंके चक्रसे छूटेगा नहीं और यदि वह अपनी गुणातीत आत्माको जान लेगा—आपके साथ कभी आकर गुण्डा मिलता है और कभी आकर भलेमानुस मिलता है। कभी आपके जीवनमें कोई सत्पुरुष आजाता है। वे तीनों आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु आप वे तीन नहीं हैं, चौथे हैं। तमोगुण आता है, जाता है, आप उसको पकड़कर मत रखिये। क्योंकि उसके लिए तो—नींद आयेगी तो आप नींदसे लड़िये मत। कर्म-प्रेरणा आवेगी ही, लड़िये मत—कुछ कर लीजिये। उनको आने-जाने दीजिये। और आप तो वे चौथे व्यक्ति हैं जो इन तीनोंके आने-जानेसे अलग होते हैं।

अपने उस स्वरूपकी ओर ध्यान ले जानेके लिए ही यह चौदहवाँ अध्याय है। चौदहवाँ अध्याय आपको तमोगुणी, रजोगुणी या सत्त्वगुणी बतानेके लिए नहीं है या आपको उनमें बाँधकर रखनेके लिए नहीं है। यह अध्याय तो तीनों गुणोंसे मुक्त करनेके लिए है। इस बातपरसे ध्यान हटना नहीं चाहिए। यह अध्याय तो त्रिगुणातीत होनेके लिए है—

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

स्वर्ग-नरकके चक्करमें मत पड़ो और न मर्त्यलोकमें रहनेकी इच्छा करो। अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ, इसके लिए यह गीता आती है।

× × ×

प्रश्न : उन्नीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने गुणोंको ही कर्ता बतलाया है—गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं। जीवात्मा तो मोहवश अपनेको कर्ता मान लेता है। कृपया इसे समझावें!

उत्तर : नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्‌भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतश्नुते ।। गीता 14.19-20

यह कहते हैं कि ये तीन गुण कर्ता हैं माने मनुष्य प्रकृतिके जो गुण अपने जीवनमें प्रधानता या गौणतासे आगये हैं, उनके अनुसार कर्म करता है। परन्तु जिनके साथ कर्म किया जाता है, वे भी गुण हैं और जो कर्म करते हैं, वे भी गुण हैं। यह गुण-गुणीका जो सम्बन्ध है, वह प्रकृतिमें है। और आप प्रकृतिसे मुक्त हैं। प्रकृति क्या है? कोई भी काम करते-करते, उसको करनेकी आदत पड़ जाती है। जैसे एक आदमी कुर्सीपर बैठता है, तो पाँव हिलाता रहता है। एक आदमी किसीके घरमें प्रवेश करता है, तो दरवाजेसे बोलता हुआ ही, यह नहीं कि पहले मिल लें, नमस्कार, प्रणाम कर लें, तब बातचीत शुरू करें। नहीं, वह तो दरवाजेमें प्रवेश करते ही बोलना शुरू कर देता है। एक आदमी जो बोलनेकी आवश्यकता नहीं है, वह भी बोलता है। क्यों बोलता है? ऐसा करते-करते उसका ऐसा स्वभाव बन गया है। तो यह इसी जन्मके कर्मोंका बना हुआ प्रारब्ध है।

जीवोंके जीवनमें प्रारब्ध काम करता है, वह यही है कि उसकी ऐसी आदत पड़ गयी है। बंगाली है, तो उसको जन्मसे भात खानेकी आदत पड़ गयी है। पंजाबी है, तो जन्मसे रोटी खानेकी आदत पड़ गयी है और दक्षिणी है, तो उसको दोसा, इडली खानेकी आदत पड़ गयी है। वही उसकी प्रकृति हो गयी है। उसके शरीरके साथ तादात्म्य हो गया है उसका। उसके बिना रहनेमें उसको कष्ट होता है। यह जो हमारे शरीरकी प्रकृति है—(जड़ता एक प्रकृति है) उसमें आलस्य, निद्रा आदि आते हैं और क्रिया दूसरी प्रकृति है, जिसमें काम किया जाता है—उसको रजोगुण बोलते हैं और एक शान्त रहनेकी प्रकृति होती है, वह सत्त्वगुणी प्रकृति होती है। यह प्राणियोंमें अलग-अलग होती है।

प्राणियोंमें भी हंसकी प्रकृति अलग है और कौएकी प्रकृति अलग है। पेड़ोंमें बबूलकी, शीसमकी, आमकी, पीपलकी यह प्रकृति अलग-अलग होती है। पशुओमें भी गायकी, भैंसकी प्रकृति अलग-अलग है। भैंस अगर सड़कपर आजाय, आप भोंपू बजाते रहिये, वह हटनेका नाम नहीं लेगी। गधेको जबतक डण्डा न मारो, हटेगा नहीं—उसकी आदत पड़ गयी है। और हरिण हो, तो आपकी मोटरको दूरसे देखकर ही भाग जायगा। खरगोश हो, तो वह भाग जायगा। ये सबके शरीरके साथ, कुछ पूर्वजन्मके कारण, कुछ इस जन्मके कारण आदतें बन जाती हैं और उनके कारण वह कर्म करता है और ऐसा मानता है कि जो कुछ होता है सो सब मैं ही करता हूँ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

आप गीता पढ़ेंगे, तो एक निष्कर्षपर अवश्य पहुँचेंगे। गीताका कहना है कि—इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते। आँख रूप देखेगी, कान शब्द सुनेगा, त्वचा स्पर्श करेगी। यह तो कानका स्वभाव है, प्रकृति है शब्द सुननेकी, आँखकी प्रकृति है रूप देखनेकी—इन्द्रियाणि इद्रियार्थेषु वर्तन्ते। गुणा गुणेषु वर्तन्ते। गुण गुणोंमें—गुण माने इन्द्रियाँ और गुण माने विषय। इन्द्रियाँ विषयोंमें बरतती हैं। किसीने कहा कि प्रकृतिसे ही कर्म होते है। किसीने कहीं कहा—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।

स्वभावसे कर्म होते हैं। कोई कहते हैं—श्री कृष्ण ही कहीं बोलते हैं कि—

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।

ईश्वर सबको खेल खिला रहा है। और कहीं आयेगा नहीं, यह पाँच वस्तुएँ हैं, वे मिलकर कर्म करती हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। गीता 18.14

शरीरवाड्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः। गीता 18.15

सब इन्हींसे होता है। अरे यह तो इतनी अलग-अलग बात हो गयी, जिसकी कोई हद नहीं। इन्द्रियाँ इन्द्रियोंमें बरतती हैं, गुण गुणोंमें बरतते हैं; प्रकृतिसे कर्म होता है, स्वभावसे कर्म होता है; पञ्चायतसे कर्म होता है। आपको मालूम है, यहाँ आपका जितना वजन है, यदि आप रॉकेटपर चन्द्रलोककी यात्रा करें तो ऊपर जाकर आपका वजन इतना कम हो सकता है कि आप आसमानमें उड़ सकते हैं। यह तो प्रकृतिकी एक ऐसी स्थिति है कि आप इतना वजन लिये हुए यहाँ बैठे हुए हैं। यह चौदहवाँ अध्याय बताता है कि आप यह नहीं हैं। जो कुछ किया जा रहा है या जो कुछ हो रहा है या जो कुछ कहा जा रहा है,आप वह नहीं हैं। आप इससे कुछ विलक्षण हैं। ये कर्म तो गुणोंके अनुसार होते हैं। कुलका निष्कर्ष क्या है? कि आप कर्ता नहीं हैं, अकर्ता हैं—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।

न आप करते हैं, न किये जाते हैं—

'नायं हन्ति न हन्यते', 'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्'।

सारी गीताका अनेक प्रकारसे बात कही जानेपर भी निष्कर्ष यही निकलेगा कि आत्मा जो है वह असंग है, अकर्ता है, अभोक्ता है; वह तो 'उपद्रष्टानुमन्ता च'—इस शरीरमें परमात्माका नाम ही आत्मा है। तो प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त करनेके लिए इस अध्यायमें आपके गुणोंके कर्तृत्वका वर्णन है और अपने अकर्ता आत्माका वर्णन है।

●

प्रवचन : 7

21-11-85

प्रश्न : बीसवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि इन तीनों गुणोंको लाँघकर ऊपर उठ जानेवाला पुरुष सभी प्रकारके दु:खोंसे मुक्त हो जाता है और 'अमृतमश्नुते'—कृपया इसका निरूपण करें।

उत्तर : श्लोक है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्म-मृत्युजरादु:खैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ गीता 14.20

इसके पहले—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गीता 14.19

इसमें दो बातपर जोर दिया गया है। दो हैं साधन और एक है उसका फल। साधन यह है कि आप गुणोंको इन आँखोंसे नहीं देख सकते, इस बातको समझ लीजिये। न्याय वैशेषिकमें जो गुण होते हैं, वे तो कोई प्रत्यक्ष होते हैं, कोई अनुमानित होते हैं। गीतामें जिस सांख्ययोगके अनुसार गुणोंका वर्णन हो रहा है, वे गुण स्थूल नहीं हैं कि हम इन्द्रियोंके द्वारा उनको देख सकें कि यह सत्त्वगुण है, यह रजोगुण है, यह तमोगुण है।

गुणानां परमं रूप न दृष्टिपथमृच्छन्ति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

(व्यासभाष्य 4.13 में उद्धृत वाक्य)

सत्त्व, रज, तम तीनों गुण इन्द्रियोंसे नहीं देखे जाते और जो देखनेमें आते हैं, वे तो जादुगिरीके खेलके समान हैं। उनमें फँसना नहीं चाहिए। इन गुणोंको हम कैसे पहचानते हैं? कि जब हमारे मनकी वृत्ति शान्त, प्रकाशमय, सुखमय रहती है, तब यह सत्त्वगुणका कार्य है और जब हमारी वृत्ति राग, तृष्णासे युक्त होती है, तब यह रजोगुणका कार्य है। और जब मोह, अन्धकार, तमस्‌में हमारी वृत्ति होती है तब वह तमोगुणका कार्य होता है। कार्य देखकर कारणका अनुमान होता है। जीवनमें कुछ दोषोंको यदि समेटकर देखना हो—माने कम-से-कम सिमटे हुए रूपमें आप अपने दोषोंको जान लें तो सावधान रहनेमें, बचनेमें, सुलभता होती है। राग, द्वेष, और मोह कुल ये तीन दोष हैं। एक तो हमारे जीवनमें जितने दोष आते हैं, जब हम किसी वस्तुके, चीजके मोहमें फँस जाते हैं। फिर राग, मुहब्बत कर बैठते हैं। यह चीज हमारे पास होनी ही चाहिए। यह भोग हमको मिलना ही चाहिए। यह आदमी हमारे साथ रहना ही चाहिए। हमारी स्थिति हमेशा ऐसी ही रहनी चाहिए।

एक तो मुहब्बतके कारण हमारे जीवनमें दोष आते हैं। उतना धन बनाये रखनेके लिए, उतने सम्बन्धी बनाये रखनेके लिए। शरीरमें वैसी ही अवस्था, वैसा ही बल बनाये रखनेके लिए, अपने परिवारको उसी रूपमें रखनेके लिए मनमें राग होता है। राग मोहके रूपमें बदल जाता है। इसी प्रकार मनमें द्वेष होता है। यह चीज

नहीं होनी चाहिए। यह सामूहिक रूपसे भी होता है और व्यक्तिगत रूपसे भी होता है। यह आदमी ऐसा नहीं होना चाहिए। यह काम ऐसा नहीं होना चाहिए। यह वस्तु ऐसी नहीं होनी चाहिए। जैसे भगवान्‌ने हमको जज बनाकर भेजा हो, हम किसीके पहरेदार हों। हम अपनेको मालिक मान बैठते हैं कि यह चीज ऐसी नहीं होनी चाहिए। पहले समझा-बुझाकर काम लेना चाहते हैं, नहीं होता है, तो डाँट-डपटकर काम लेना चाहते हैं और फिर भी नहीं होता है, तो दूसरेको नुकसान पहुँचाकर भी वैसा काम करना चाहते हैं।

आप देखेंगे कि जीवनमें जितने भी दोष आते हैं, उनमें कहीं राग है, मुहब्बत है, कहीं द्वेष है, नफरत है, दुश्मनी है। और कहीं.मोह है। बिना समझे-बूझे हम उसके साथ जकड़ गये हैं। जड़ हो गये हैं। तो आप सत्त्वगुण,रजोगुण,तमोगुणको ढूँढने कहाँ जायेंगे? यह देखिये कि हमारा मन यह काम रागसे, द्वेषसे या मोहसे तो नहीं कर रहा है? यही राग, द्वेष, मोह हमसे बहुत सारे काम करवाते हैं। हमारे पास इतना धन है, रहे, हो जाय, इस रागसे हम लोगोंके मनमें लोभ, चोरी, बेईमानी, छल-कपट आता है। यह हमारा दुश्मन हमसे ऊपर न उठे, हमारे सामने न बैठे, इस द्वेषके कारण हम दूसरोंको हानि पहुँचाने लगते हैं। और कभी-कभी तो ऐसी नासमझीमें फँस जाते हैं कि कुछ दीखता ही नहीं है।

अब यह बात जो है, राग, द्वेष, मोह—यह स्थानसे भी होता है। जूआघरमें जायेंगे, तो देखते-देखते एकाध दाँव लगानेका मन हो जायेगा। मन्दिरमें जायेंगे, भगवान्‌का नाम लेनेका मन हो जायेगा। सिनेमा देखेंगे, टी.वी. देखेंगे, वीड्रियो देखेंगे, तो अपनी आँखको कोई दृश्य इतना भा जायगा कि ऐसा फर्नीचर हमारे घरमें आये। ऐसे सुन्दर स्त्री-पुरुष हों, ऐसी बातें आपसमें की जायँ, ऐसे काम किये जायँ, तो स्थानका भी प्रभाव पड़ता है और वस्तुओंका भी प्रभाव पड़ता है। माँस खाना शुरू कर दें, तो हत्या करनेकी मनोवृत्ति भी आजायेगी। और गंगाजल पीयेंगे, तो मन दूसरा होगा, शराब पीयेंगे, तो मन दूसरा होगा और दान करेंगे, तो मन दूसरा होगा और दान लेने लगेंगे—तो मन दूसरा हो जायगा। यह सब गुणोंके कार्य हैं। इनके भीतर सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी वृत्ति बैठी रहती है। ऐसे ही काल भी सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी होता है। वस्तु भी होती है, स्थान भी होता है। आदमी भी होते हैं। जैसे आप आदमीका—सत्त्वगुणी, रजोगुणीका संग करेंगे, उनका असर आपके जीवनमें आने लगेगा। संगका रंग जरूर चढ़ता है। इसके लिए मनुष्यको बहुत सावधान रहना चाहिए। यही जो सात्त्विक, राजस, तामस स्थान हैं, समय है, क्रिया है, व्यक्ति है, भाव है इनसे मनुष्योंके जीवनका निर्माण होता है।

इसमें पहली बात यह कही गयी कि 'अनुपश्यति'। आपकी दृष्टि बनी रहे कि यह क्या हो रहा है? आँख सावधान रहनी चाहिए। आप कहाँ फँसते जा रहे हैं? माने इतनी वेगसे मोटर न चलायें कि जहाँ रोकनेकी जगह हो, वहाँ आप रोक न सकें। मोटरमें वेग उतना ही होना चाहिए कि वह ब्रेकको तोड़ न दे। ब्रेक ही मोटरको रोक दे। इसलिए दृष्टि हमेशा बनी रहनी चाहिए कि हम अब किसको देखनेमें फँस रहे हैं, किससे बात करनेमें फँस रहे हैं, क्या खाने-पीनेमें फँस रहे हैं?

हमारे गाँवके पास एक आदमी था, वह अफीम खाता था। जिस दिन उसको नहीं मिलती, उस दिन

आकर वह पहले तो कहता कि थोड़ी-सी अफीम दे दो। फिर गिड़गिड़ाता, फिर रोने लगता, फिर धरतीपर लोट-पोट हो जाता और इतनेपर भी न दें, तो गाली दे देता। बचपनमें हमलोगोंके घरोंमें अफीमकी खेती होती थी। तो जिसकी अफीमकी आदत पड़ जाती है, गाँजा पीनेकी आदत पड़ जाती हैं, भाँग खानेकी आदत पड़ जाती है। शराब पीनेकी आदत पड़ जाती है, वह छूटती नहीं है। नशीली चीजें जो हैं, वे बुद्धिको भ्रष्ट करती हैं। बुद्धि परसे अपना नियन्त्रण हटा देती हैं—जैसे कोई मोटर चलाये और मोटरपर उसका नियन्त्रण न रहे, वैसी स्थिति होती है।

बचपनमें हम लोग दौड़ते थे। तो जब बहुत वेगमें दौड़ते थे, तो जहाँ रुकना चाहिए, वहाँ नहीं रुकते थे, उसके आगे चले जाते थे। गिरनेकी जगह होती तो गिर पड़ते थे। इसलिए 'अनुपश्यति' जो है उसका अर्थ है—आप होने दीजिये, परन्तु पीछे रहकर देखते रहिये। आप देखभालका काम कीजिये। वही मत हो जाइये!

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

अच्छे काम कीजिये। लेकिन, उसके किये बिना रहा न जाय, यह तो फसाव हो गया और

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति

इस पर ध्यान रखें। आप वह हैं कि आपके जीवनमें कभी सत्त्वगुण आता है, कभी रजोगुण आता है, कभी तमोगुण आता है। आप उनसे तटस्थ रहकर, कूटस्थ रहकर और उदासीन रहकर, उनको आने-जाने दीजिये और उनका सदुपयोग कीजिये। आप नींद लीजिये, परन्तु कब-से-कब तक लेना है, इसका नियन्त्रण रखिये। निन्द्रा भी एक वृत्ति है। समाधि लगानेके लिए निन्द्रापर भी विजय प्राप्त करना पड़ता है। जब चाहें, तब दुनियाकी चिन्ता छोड़कर सो जायँ और जब जागनेका संकल्प हो, बिना घड़ीके, बिना आलर्मके ठीक आज हमको दो बजकर पाँच मिनिट पर आपकी नींद अपने-आप टूट जायगी; क्योंकि आपका जो संकल्प है वह निद्रासे भी गहरा है और वह निन्द्राको तोड़ सकेगा। अपनेको गुणोंसे अलग रखकरके और गुणोंकी वृत्तिको देखते रहिये, उनका दर्शन करते रहिये। वृत्ति सारूप्य मत होने दीजिये।

जैसे देखो, हमारे साथ कई लोग आगे पीछे चलते हैं। कहते चलते हैं, पाँव मत छूइये, महाराजजीका रास्ता मत रोकिये। खास करके वृन्दावनमें भीड़ होती है—तो ऐसा करते हैं। जब कोई नहीं मानता है, तो मना करनेवालेको क्रोध आता है—ऐ, तुम नहीं मानते हो? इतनेपर भी न माने, तो जाकर हाथसे पकड़ लेते हैं और पकड़नेपर भी पाँव छूना चाहे तो जबरदस्ती उसको ढकेल देते हैं। मैं पूछता हूँ कि भाई, यह जो तुमको क्रोध आया, उसको झटक दिया, वह मेरा पाँव छू रहा था, इस कारण आया कि उसने तुम्हारी बात नहीं मानी, इस कारण आया! आप दृष्टि देखो, आपकी दृष्टि बनी रहे! असलमें आपको क्रोध इसलिए आया कि बार-बार आपके मना करनेपर भी आपकी बात उसने नहीं मानी। हमको तो हँसी आ गयी। छू ही लेता तो क्या बात थी? एक क्षण रुक जाते। परन्तु मना करनेवालेकी आँख लाल हो जाती है। जबान कड़ी हो जाती है और हाथसे वह झटका देता है। उन लोगोंको मैं मना भी कर देता हूँ कि मेरे आस-पास मत चलो।

आप अपने मनपर दृष्टि रखिये। जब उसमें पहले भलमनसाहतसे कोई बात आती है और बादमें

उसमें बाधा पड़नेपर क्रोध आता है। फिर बादमें बदला लेनेके लिए उसके संस्कार पड़ जाते हैं। द्वेष हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'अनुपश्यति' और 'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति' पर ध्यान दें। दृष्टि बनी रहे। अच्छा, वह दृष्टि कैसे बनी रहेगी? जब आप इन गुणोंसे परे अपने आपको जानेंगे।

गुणेभ्यश्च परम् आत्मानं वेत्ति।

भगवान् कहते हैं कि मेरे प्यारे जीव, मेरे भक्त! यदि तुम्हारी ऐसी दृष्टि बनी रही, इस बातको तुमने पहले खूब समझ लिया और ऐसी दृष्टि तुम्हारी बन गयी। तो 'मद्भावं सोऽधिगच्छति'। मैं और तुम दोनों एक हो गये। तुम्हें मेरे भावका, मेरे स्वरूपका, मेरे स्वभावका, मेरे अन्दर जो गुण हैं, उनका तुमको अधिगम हो गया, प्राप्ति हो गयी। तुम तो मेरे जैसे हो गये। जैसे सृष्टि होती है, स्थिति होती है, प्रलय होता है और मैं एक सरीखा रहता हूँ, वैसे तुम हो गये। इसलिए, जहाँ समझदारी आयी और गुणोंके साथ एकता नहीं हुई, दृष्टि बन गयी।

आगरा जिलामें एक खांडे गाँव है, वहाँ कई कट्टर वेदान्ती रहा करते थे। सन् '36में मैं वहाँ गया था। वहाँके जो वयोवृद्ध वेदान्ती थे, वह जब देखते कि अभी वेदान्त इसकी समझमें नहीं आया, कहीं विचारा लुभा गया, कहीं गुस्सा आ गया, कहीं फँस गया, तो कहते थे कि भाई, तुमने वेदान्त तो बहुत सुना; लेकिन अभी दृष्टि नहीं बनी। दृष्टि बननी चाहिए। और दृष्टि समझदारीसे बनती है और यदि समझदारीसे दृष्टि बन गयी, तो यह जीव शिव हो गया। शिव वे हैं, जिनके सिरपर पवित्रताकी गंगा, आनन्दमय चन्द्रमा—वह ज्ञानदृष्टि-तृतीय नेत्र भी है; पवित्रताकी गंगा भी है और आनन्दकी चाँदनी भी है। गलेमें खोपड़ीकी भी माला है तमोगुणका मूर्तरूप है। भस्म लगा है शरीरमें, मुर्देका और सर्प लिपटा हुआ शरीरमें, रजोगुणका मूर्तरूप है। और शिव मस्ताने हैं। मद्भावं सोऽधिगच्छति'का अर्थ होता है कि वह जीव ही शिव हो जाता है, जब वह समझ लेता है पूरा, उसकी दृष्टि बन जाती है। अपने-आपको गुणोंसे न्यारा, निराला जान लेता है, उसको परमात्माके भावकी प्राप्ति हो जाती है।

अब कहते कि कहीं किसीके मनमें ऐसा न आये कि यह सब मरनेके बाद होता होगा! देखो, ये जो पुरोहित लोग हैं, वे मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा, इसका प्रतिपादन करते हैं। यज्ञ करो—स्वर्ग मिलेगा। मौलवी लोग कहते हैं—कुरानपर यकीन लाओ, मुहम्मदपर यकीन लाओ, मरनेके बाद विहिश्त मिलेगा। पादरी लोग तो चिट्ठी लिखकर भी देते थे, कि तुम्हें स्वर्गमें हमारी चिट्ठीके साथ कब्रमें गाड़े जाओगे, तो स्थान मिलेगा। ये मजहबी लोग हैं। मौलवी, पादरी, पुरोहित, दस्तूर ये सब मजहबी लोग होते हैं। और यह जो भगवान्का रास्ता है, मार्ग है यह मजहबी नहीं है। यह मरनेके बादका कुछ नहीं बताता।

इसी जीवनको अमृतमय बना देता है। अमृत स्वर्गमें है कि नहीं है, इसमें शंका है, क्योंकि इसको सिद्ध करनेके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं, तो उसको असिद्ध करनेके लिए भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इसलिए हमेशा ही कुछ लोग उसपर शंका करेंगे और कुछ लोग नहीं करेंगे। परन्तु यह जो भगवान्की वाणी है, वह कहीं अमृत बना देनके लिए नहीं, यहीं अमृतमें व्याप्त हो जानेके लिए है—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्। गीता 14.20

यही जन्म लिया हुआ जो शरीर है, इससे परे, इसकी मृत्यु होनेवाली है, उससे भी परे—इसमें जो दु:ख आते हैं, उससे भी परे। विमुक्त हो जाओगे इसी जीवनमें। तो पूर्व जन्मोंके कर्मोंके फलस्वरूप यह तुम्हारा जीवन है और न तो मरनेके बाद कोई अगला जीवन बनानेवाला है और न तो इस जीवनमें दु:ख भोगनेवाला है। आप इन तीनों गुणोंसे परे होकर ऐसी दृष्टि बना लीजिये कि ये गुण आते-जाते रहते हैं—आप गंगा-तटसे भी गुजरिये, गंगोत्री भी देखिये और हरिसन रोड भी देखिये। आप विशाल समुद्रका दर्शन भी कीजिये और कालबा देवी रोड भी देखिये। इस जीवनमें जन्म है, तो रोग भी आयेंगे। आयेंगे, चले जावेंगे—इस जन्ममें संयोग भी होगा, वियोग भी होगा। इसमें तो संयोग, वियोग, सुख, दु:ख, राग, द्वेष, जाग्रत, सुषुप्ति ये वृत्तियाँ आती-जाती रहेंगी।

आपके देहमें आनेवाली जो चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके साथ मिलिये मत। जिस समय हमको क्रोध आता है, क्या होता है? पहले तो क्रोध कहींसे आता है, फिर अपने मनमें आकर जरा अपनी तेजी, अपनी लाली डालता है और फिर हम अपने मैंको उसके साथ मिला देते हैं। योगकी भाषामें इसको 'वृत्तिसारूप्य' बोलते हैं। मैं और क्रोध दोनों एक हो जाते हैं। मैं क्रोधसे अलग नहीं रह पाता हूँ, क्रोधसे अभिन्न हो जाता हूँ। देखो, हमारी घड़ीको कोई गलत बताता है, तो हम आग्रह करते हैं कि हमारी घड़ी सही है, तुम्हारी गलत है। क्योंजी? तुम्हारी ही घड़ी क्यों सही है, दूसरेकी क्यों नहीं है? कोई कहता है—यहाँसे पाँच मील है, आप कहते हैं, नहीं, साढ़े पाँच मील है। क्योंकि अपनी जीभसे निकली हुई बात। उसके साथ हमारा 'मैं-मेरा' मिल जाता है। इसी प्रकार काम आता है तो मैं कामसे मिल जाता हूँ। अब वह सत्ता तो होती है अपनी, ज्ञान होता है अपना, प्रियता होती है अपनी और जब हम कामसे, क्रोधसे, लोभसे मिलते हैं तो अपनी सारी सत्ता काममयी, क्रोधमयी, लोभमयी, मोहमयी हो जाती है और हम कहते हैं, इसके बिना हम नहीं रह सकते। क्रोध ही सबसे बढ़िया है।

ज्यों मैं दंड करहुँ नहीं तोरा। भ्रष्ट होई श्रुति मारग मोरा॥

यदि यह भोग मैंने नहीं किया, तो हमारे जीवनमें क्या रहा? हमने अपनेको उठाकर बिलकुल क्रोधकी आगमें डाल दिया। हमने कामकी आँधीमें फेंक दिया। हमने अपनेको उठाकर लोभके दलदलमें, लोभके पानीमें डुबो दिया। अब वही अच्छा लगता है। जैसे, नरकके कीड़ेको नरक अच्छे लगते हैं नरकके कीड़े नरकमें व्याह भी करते हैं, उनके बच्चे भी होते हैं, उनकी वृद्धि भी होती है। नरकमें जो कीड़े होते हैं, उनको रोग भी होता है और उसकी दवा भी होती है। जब हम अपनेको काम, क्रोध, लोभके साथ मिला देते हैं, तब हम उनसे अभिन्न हो जाते हैं।

हमारे एक बड़े घनिष्ठ एवं बुद्धिमान मित्र थे। दो आदमी झगड़ा कर रहे थे, उनको समझानेके लिए बीचमें चले गये। वे समझने लगे कि ये हमारे दुश्मन हैं और हमारे बीचमें आकर हमलोगोंको नकुसान पहुँचाना चाहते हैं। दोनोंने लाठी मारी और बेचारे वहीं ढेर हो गये। उनका नाम था तारकेश्वर। अच्छे लोगोंमें उनकी गिनती थी। जब हम क्रोधके साथ एक एक हो जाते हैं और हमारे क्रोधको कोई गलत बताता है कि तुम क्रोध करते हो, तो ठीक नहीं करते हो, तो क्रोध क्योंकि मैं हूँ, मेरा है, इसलिए क्रोध ही श्रेष्ठ लगता है। काम क्योंकि

मैं हूँ, मेरा हो गया है, इसलिए काम ही श्रेष्ठ लगता है। ऐ, तुम चुप रहो, हम जो कर रहे हैं, सो ठीक! लोभ क्योंकि मैं और मेरा हो जाता है, मैं उससे मिल जाता हूँ, इसलिए हम लोभको सही बताने लगते हैं। आप अपने दोष, दुर्गुणोंको क्यों नहीं देख पाते हैं? जैसे आँखकी पुतली अपनेको नहीं देख पाती है, दूसरेको देखती है, वैसे ही मैं भी दूसरेको देखता है, मैं को नहीं देख पाता है।

जब हमारा मैं काममें, क्रोधके, लोभमें मिल जाता है। तब हम मैं को नहीं देख पाते हैं। इसलिए इन तीनों गुणोंसे अलग होकर—यह नहीं कि बोलने लगे, तो दूसरेकी बात सुनते ही नहीं। अरे भाई, उसके भी बुद्धि है, कुछ बोल रहा है, उसकी भी सुन तो लो। शिष्टाचार तो यह है कि यदि कोई बोलता हो, तो जबतक उसकी बोली खत्म न हो जाय, तबतक या तो सुनते रहो, या बहुत विस्तार हो, तो वहाँसे हाथ जोड़कर उठ जाओ। लेकिन बोलते समय तुम जब स्वयं अपनी जीभको नहीं रोक पाते, अनावश्यक होनेपर भी बोलते जाते हो, तब तुम हृदयमें नहीं हो। तब तुम मस्तिष्कमें नहीं हो, तब तुम आकर जीभपर बैठ गये। ऐसे ही भोजन करने लगे, तो वह भोजन आपके लिए हितकारी है कि यह बुद्धि दिमागको छोड़ करके जीभ पर आकर बैठ गयी और आपका दिल जो है वह दिलमें न रहकर भोजनके स्वादमें आकर बैठ गया।

आपने अपने दिल और दिमागको भोजनके साथ मिला दिया और आप स्वयं उसके साथ मिल गये। अब क्या खा रहे हैं, कितना खा रहे हैं, उसका पता हीं नहीं चलता। हर बातमें जो अपनी एक तटस्थ दृष्टि है, कूटस्थ दृष्टि है, वह नष्ट नहीं होनी चाहिए। और यदि आपकी दृष्टि बनी है, तो आपके जीवनमें जो रोग, भोग, वियोग—जो इसमें जीवन, मरण, वनगमन, भवन-दहन, होता है, सबमें आप एकरस रहेंगे—

विमुक्तोऽमृतम् अश्नुते।

संस्कृत भाषामें एक क्रियापद होता है '**अश्नाति**' और एक क्रियापद होता है 'अश्नुते' तो 'अश्नाति' होता है आस्वादन, भोजनके अर्थमें और 'अश्नुते' होता है व्याप्ति के अर्थ में।

अश्नुते इति अक्षरम्।

जैसे आप अंग्रेजी लिपिमें 'क' लिखते हैं और रशियनमें 'क' लिखते हैं, चाइनामें 'क' लिखते हैं, तमिलमें, तेलगूमें, हिन्दीमें, संस्कृतमें, लिपि अलग-अलग होने पर भी 'क' एक ही होता है, तो उसको अक्षर कहते हैं।

लिपि अलग-अलग होनेसे, अक्षरमें अन्तर नहीं होता। 'अमृतम् अश्नुते' का अर्थ होता है—काम अलग होगा, क्रोध अलग होगा, लोभ अलग होगा, नींद अलग होगी, सपना अलग होगा, सुषुप्ति अलग होगी। ये सब होंगे लिपिके समान और आप होंगे उस 'क' अक्षरके समान, जो सब लिपियोंमें एक है—

अमृतम् अश्नुते

लिपियाँ बनती और बदलती रहेंगी, बिगड़ती रहेंगी। हमारे देखते-देखते भाषा और लिपिमें बहुत फर्क पड़ा है। लिपिमें भी और भाषामें भी। मूर्धन्य षकार और ख लिखनेमें पहले प्राय: भेद नहीं होता था। रेफ एकदम दूसरे ढंगसे लिखा जाता था। हमारे बचपनमें कायस्थ लिपिमें अलग होता था, ब्राह्मण लिपिमें अलग

होता था। अभी तो ऐतिहासिक लोग लिपियोंका अध्ययन करनेमें लगे हुए हैं कि यह कौन-सी लिपि है। परन्तु अ क च ट त प वही पुराने हैं। यह जो जीवनकी परिस्थितियाँ हैं यह बदलती रहती हैं इसमें एक अमृत है, परिस्थितियाँ मरती रहती हैं, स्थान बदलते रहते हैं, समय बदलता रहता है, वस्तुएँ बदलती रहती हैं, उनकी शकल-सूरत बदलती रहती है, मरती रहती है, नष्ट होती रहती है; परन्तु उसमें एक अमृत है, जो कभी मरता नहीं है और वह क्या है? उसीका नाम है परमात्मा, उसीका नाम है आत्मा!

'अमृतम् अश्नुते' अर्थात् आप आत्माके रूपमें, आप परमात्माके रूपमें स्थित रहेंगे। 'विमुक्तोऽमृतमश्नुते'। कितनी बार आपको दु:ख नहीं आया है।

एक दिन हमारे लिए किसी होमियोपैथिक डॉक्टरको बुलाकर लाये थे, वह अमेरिकाके ताजा, लेटेस्ट होमियोपैथ सीखकर आया था। बड़ा तेजस्वी! उसने हमको एक दवा दे दी। हमारे शरीरमें दाने निकल आये। मैंने उसको फिर बुलवाया। भाई, ये तो दानें निकल आये। बोले, स्वामीजी! आपको बचपनमें कभी खाज हुई थी? मैंने कहा—हाँ, हुई थी। तो बोले, ठीक है, वह जो भीतर छिपी थी, वह जाहिर हो रही है। मैंने कहा, क्यों डॉक्टर, बचपनसे अबतक जितने रोग हैं, उन सबको उभाड़कर तुम ठीक करोगे? हे भगवान्! ये जो दाने उभड़े हैं, उनको आप शान्त कर दो। हम बचपनसे अबतक हुए रोगोंको झेलनेके लिए तैयार नहीं है। रोग तो कितने हुए हैं, कितने गये हैं।

अच्छा यदि बचपनसे आप यह देखने लगें कि आपके जीवनमें आनेवाले कितने लोगोंसे वियोग हुआ है? वे आपको छोड़कर चले गये हैं या उनको छोड़कर आप चले गये हैं। या कितने लोग मर गये हैं, तो उनकी गणना क्या सम्भव है? और उस अवसरपर कितना दु:ख हुआ था? लेकिन, आप उनकी याद भी पूरी तरहसे नहीं कर सकते हैं।

आत्मा वह तत्त्व है, वह अमृत है जो किसीके मरनेपर मरता नहीं है। देहके मरनेपर भी मरता नहीं है। सपनाके मरनेपर नहीं मरता है जैसे,वैसे जाग्रतके मरनेपर भी नहीं मरता है। वैसे सुषुप्तिके मरनेपर भी नहीं मरता है। ऐसा एक अमृत तत्त्व है और हमारी व्याप्ति जैसे अभी काममें है, क्रोधमें है, लोभमें है, मोहमें है, उसमें हम डूब गये हैं, गर्त हो गये हैं, जैसे हम देहमें डूब गये हैं। ऐसे हम देहकी जगहपर आत्मामें, परमात्मामें डूब जायँगे—स्वयं अमृत हो जायँगे।

विमुक्तोऽमृतमश्नुते।

अर्जुनने कहा कि यह तो बहुत बढ़िया बात है। इसके बाद उसने प्रश्न कर दिया।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चेतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥ 14.21

देखो, अर्जुनकी स्थितिपर आप ध्यान दो। दोनों ओर सेना खड़ी है। एक ओर कौरवोंकी, एक ओर पाण्डवोंकी। बीचमें है अर्जुनका रथ और उसपर आज्ञाकारी सारथी हैं स्वयं भगवान्। अर्जुनके आज्ञाकारी हैं भगवान्! भगवान्का आज्ञाकारी अर्जुन नहीं है। अद्भुत दृश्य है और इसका फल यह हुआ कि वह भगवान्को

अपने मनके अनुसार चलाना चाहता है। जैसे उत्तर युद्धमें यह हुआ था कि उत्तरके सारथि बने अर्जुन और बादमें उत्तर सारथि बनाकर तो ले गया। बोला कि बस मैं तो नहीं लड़ूँगा, मैं तो भाग जाऊँगा। अर्जुनको यह बात अच्छी नहीं लगी। उत्तरको पकड़कर रथमें बाँध दिया और स्वयं युद्ध करके उसने कौरवोंपर विजय प्राप्त की। जो दशा उत्तरकी हुई थी, गो-ग्रह युद्धमें वही दशा अर्जुनकी हो गयी, कौरव-पाण्डव युद्धमें।

श्रीकृष्णको सारथि बनाकर सामने ला दिया। अब वह यह नहीं देखता है कि हमने किसको सारथि बनाया है, इसकी भी कुछ इज्जत है, इसका भी कुछ गौरव है, इसका भी कुछ स्थान है। बोले मैं तो नहीं लड़ूँगा। बैठ गया नीचे। कृष्णने उसको समझाया। उस समय भी वह कह रहा है 'न योत्स्य इति'। मैं लड़ूँगा नहीं, मैं लड़ूँगा नहीं। अब वही अर्जुन है गीता श्रवण करता हुआ-न तो उसको कौरवी सेनाका ध्यान है और न पाण्डवी सेनाका ध्यान है—न अपने गौरवका, वीरताका ध्यान है। वह तो श्रीकृष्णकी बात सुननेमें, उनकी समझदारीको ग्रहण करनेमें—श्रीकृष्णकी बुद्धिसे अपनी बुद्धि मिलानेमें, इतना तन्मय हो गया है कि उसको दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। दोनों ओर शंख बज चुके हैं 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते'—बस अस्त्र-शस्त्र गिरनेवाले हैं और अर्जुन—देखो परिस्थितिसे कितना ऊपर उठ गया है। न धर्मराज्य स्थापनाकी सात्त्विकता है, न दुश्मनोंको मारनेके लिए रजोगुण है।

कहा अच्छा—तो कैसे होता है महाराज यह बताओ। यह दो मित्रोंका संवाद। मिल गयी आँख। आपके दु:खके समय आपके मनके विपरीत कोई क्रिया हो तो इस बातपर ध्यान देना कि भगवान्‌की आँख मिल रही है क्या? भगवान्‌की बुद्धिसे आपकी बुद्धि मिल रही है क्या? भगवान्‌की क्रियासे आपकी क्रिया मिल रही है क्या? आप बिलकुल उलटा चाहते हैं, कि जो क्रिया मुझे पसन्द है वह भगवान् करे। जो मेरी आँखको पसन्द है, वही भगवान्‌की आँखको पसन्द हो, जो मेरी बुद्धिको पसन्द है, वही भगवान्‌की बुद्धिको पसन्द हो! आप तो भगवान्‌की बुद्धिको, दृष्टिको, क्रियाको अपने अनुसार बनाना चाहते हैं। जरा बनके तो देखिये—अरे कृष्ण बताओ तो सही, प्यारे—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।

प्रभु हो तुम तो, मेरे सारथि नहीं हो, नौकर नहीं हो, आज्ञाकारी नहीं हो। तब कौन हो? तुम तो मेरे प्रभु हो, तुम तो मेरे जीवन रथके सारथि हो। तुम तो मेरे प्रेम रथके सारथि हो, तुम मेरे ज्ञान-रथके सारथि हो। प्रभु! प्रभविष्णो! तब, जो इन गुणोंसे पार जाता है, उसके अन्दर कौन-कौनसे चिह्न होते हैं?

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणान्नेतानतीतो भवति प्रभो!
एतान् त्रीन्गुणान् अतीतः पुरुषः कैर्लिङ्गैः भवति।

उसमें कौन-से चिह्न ऐसे होते हैं कि हम पहचान लें कि वह तीनों गुणोंसे परे पहुँच गया है। किमाचार:—उसका आचरण कैसा होता है? कैसा आचरण होनेपर पहचानें कि यह गुणातीत है।

रज्जब रोष न कीजिये, कोई कहे क्यों ही,
हँसके उत्तर दीजिये, हाँ बाबा यों ही।

अरे चल भाई, ऐसे ही सही। जहाँ तक धर्मकी हानि न हो, वहाँ तक दूसरेकी बात स्वीकार करनेमें केवल अपना अहंकार ही बाधक है। यदि कोई कहे कि स्वामीजी इस तख्ते पर मत बैठो, नीचे जमीन पर बैठो! तो जमीनपर बैठनेमें क्या आपत्ति है कि हम बड़े हैं, वक्ता हैं, साधु हैं, महात्मा हैं हमको ऊँची चौकीपर बैठना चाहिए। हम नीचे बैठें? आ गया न क्रोध? अरे बाबा, नीचे बैठना है नीचे बैठ जाओ, ऊपर बैठना है, ऊपर बैठ जाओ।

एक बार दिल्लीमें एक बहुत बड़ा यज्ञ हो रहा था। दस लाख आदमी उसमें शामिल हुए—यमुनाके पार—तो श्री उड़ियाबाबाजी महाराजको उन लोगोंने बड़े प्रेमसे आमन्त्रित किया और बड़े-बड़े परचे लगाये। तो हमसे पूछा, वे आवेंगे तो बैठेंगे कहाँ? सब शंकराचार्य तो सोने-चाँदीका सिंहासन लेकर बैठेंगे। सभी सम्प्रदायके आचार्य आनेवाले थे। बाबाको कैसे बैठाया जायगा? मैंने कहा—बाबा तो ऐसे बालूमें बैठते हैं, धूलमें बैठते हैं, बिना आसनके बैठते हैं! उनके लिए क्या प्रश्न है? आवेंगे तो कहीं भी बैठ जावेंगे।

एक जगह वे कासगंजमें गये। सनातनधर्मियोंने बाबाको ऊपर सिंहासनपर बैठा दिया। आर्यसमाजियोंने कहा,—'तुम भी मनुष्य, हम भी मनुष्य, तुम ऊपर क्यों बैठे हो?' लो बाबा, हम तुम्हारे साथ बैठ जाते हैं। सिंहासनपरसे उतरे और उनके साथ बैठ गये। अब सनातनधर्मियोंने कहा—'हम मारेंगे आर्यसमाजियोंको। भाग जाओ तुम लोग हमारी सभामें-से!' बाबा बोले—'भगाओ मत! मारो मत, मैं फिर ऊपर बैठ जाता हूँ।' यह नीचे-ऊपर क्या है? आगे हुए तो ड्राइवर, पीछे हुए तो गार्ड और बीचमें हुए तो दोनोंके मालिक-जनता। आपका जो आत्म-स्वरूप है, उसमें तो कोई बाधा पड़ती नहीं है। किमाचारः—जो गुणोंसे परे है, उसका आचरण क्या होता है? वह भी अर्जुनकी एक गुणातीत अवस्था ही है, जिसमें वह गीता-ज्ञान सुननेके बाद भी कभी रोता है, कभी दु:खी हो जाता है, कभी आगमें जलनेको तैयार हो जाता है। वह सब उसकी गुणातीत अवस्था ही है। वह तो जो नहीं पहचानते हैं, उनकी बात दूसरी है। तो त्रिगुणातीतका आचरण क्या होता है? और-**कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।**

वह क्या युक्ति है, वह क्या उपाय है। कौन-सा साधन किया जाय, जिससे मनुष्य तीन गुणोंसे परे हो जाय। देखो, तीन गुणोंसे परे हो जाना, माने तीनों गुणोंमें बराबर हो जाना।

आप इस बातको ध्यानमें रखो। गोस्वामी तुलसीदासजीका एक पद है, सम्भवत: दोहा है कि कृष्ण पक्षमें जितने घण्टेतक अन्धकार रहता है, उतने ही घण्टे तक शुक्लपक्षमें प्रकाश और शुक्लपक्षमें जितने घण्टे तक प्रकाश रहता है, उतने ही घण्टे तक कृष्णपक्षमें अन्धकार। दोनोंमें कोई फर्क नहीं है।

नामभेद विधि कीन्ह सम प्रकास, तम पक्ष दोहू नामभेद विधि कीन्ह।

हमारे जीवनमें जितना जागना आवश्यक है, उतना ही सोना भी और जितना जागना और सोना आवश्यक है, उतना ही कर्म करना भी! तब बोले भाई—

कथं चैतांस्त्रीन्गुणानति वर्तते।

ये तीनों गुण ही है—सोना भी गुण है, जागना भी गुण है, काम करना भी गुण है। परन्तु जब एकमें

आप इतने आबद्ध हो जाओगे कि दूसरेका तिरस्कार करोगे, और अपने भावोंमें फँस जाओगे। बस एक ही बात है। किसी गुणसे सटो मत, हटो मत, पचाते हुए चले चलो। 'चरैवेति'। चले चलो, चले चलो। इन तीन गुणोंसे परे होनेका उपाय क्या है? कौन-सा साधन करें तो तीनों गुणोंसे परे हो जायँ।

यह अर्जुनकी, (अर्जुन माने एक सीधा सादा, सरल व्यक्ति) उँचाई है। उँचाई तो बहुत है; परन्तु बहुत सीधा है। अर्जुन शब्दका अर्थ ही होता है—बहुत ऊँचा है; परन्तु बहुत सीधा है। अर्जुन वृक्ष है, परन्तु सीधा, ऊँचाईमें गया हुआ है। सरल है, ऋजु है, अपने मनकी बात इसने पूछ ली और भगवान् श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'अरे अर्जुन! तुम तो बड़े बुद्धिमान हो। पाण्डव शब्दका अर्थ पण्डित होता है। पण्डा शब्द (पडिधातुसे बना) बुद्धिके अर्थमें होता है। इसीसे पण्डित शब्द भी बनता है और पाण्डु शब्द भी बनता है और पाण्डव भी इसीसे बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन बड़े बुद्धिमान हो। क्या बुद्धिमानी है महाराज, हमारे अन्दर? बुद्धिमानी यह है कि तुम पूछ रहे हो त्रिगुणातीत हुए पुरुषका लक्षण, उसके आचरण और त्रिगुणातीत होनेका उपाय। इससे बड़ा बुद्धिमान् और कौन होगा, जो ऐसे जीवनका मार्ग पूछे, जिसमें न सुख हो, न दुःख हो, न संयोग हो, न वियोग, न राग हो, न द्वेष हो, न मृत्यु हो, न अमृत हो। ऐसे जीवनका मार्ग पूछनेवाला कितना बुद्धिमान होगा!

श्रीकृष्णने 'पाण्डव' कहा। तुम हमारे फुफेरे भाई हो, पाण्डुके पुत्र हो, बुद्धिमान् हो। आओ अब हम इसका उपाय बताते हैं।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 14.22-27

अब तीन दिनोंमें गुणातीतका लक्षण आपको सुनायेंगे।

●

प्रवचन : 8

22-11-85

प्रश्न : कल परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराजने बीसवें एवं इक्कीसवें श्लोकमें सम्बन्धित प्रश्नोंके बड़े ही बोधगम्य उत्तर दिये। और हमारा मार्ग प्रशस्त किया। अब सिर्फ तीन दिन बाकी हैं। और विवेचनके लिए छः श्लोक बाकी हैं। इन छः श्लोकोंके मुख्य केन्द्र विषय हैं—गुणातीतके लक्षण और स्थितिमें पहुँचनेके साधन, अव्यभिचारिणी भक्ति, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं' श्लोक आदि। इनके बारेमें अब हम प्रश्नके रूपमें अपनी जिज्ञासाएँ नहीं उपस्थित करना चाहते। यूँ स्वामीजी महाराजके विवेचनमें सभी सम्भव प्रश्नों, जिज्ञासाओंके उत्तर समाहित रहते ही हैं। बल्कि अन्य प्रश्नोंका भी बहुत कुछ रहता है। पू० स्वामीजी महाराजसे निवेदन है कि चौदहवें अध्यायके उपसंहारके इन श्लोकोंमें निहित तत्त्वोंके विवेचन, निरूपण रूपका शुभारम्भ करें। प्रणाम!

उत्तर : स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत, जिज्ञासु एवं तत्त्वज्ञानी इन सबके लक्षण स्थान-स्थानपर गीतामें आये हैं। दूसरे अध्यायमें सत्पुरुषका वर्णन स्थितप्रज्ञके नामसे किया गया है। उनकी बुद्धि स्थित होती है, डावाँडोल बुद्धिवाला मनुष्य सत्पुरुष नहीं हो सकता। आज कुछ, कल कुछ, परसों कुछ—किसी बातपर स्थिर न रहे। किसी निश्चयपर स्थिर न रहे। तो प्रज्ञा होनी चाहिए स्थिर—माने सत्पुरुष होनेके लिए दृढ़निश्चयी, स्थिरनिश्चयी होना आवश्यक है। बुद्धि आपकी स्थिर है, निश्चय स्थिर है, परन्तु आपकी प्रीति कहीं डावाँडोल हो जाय तो! आज इसके पक्षमें हो गयी, कल उसके पक्षमें हो गयी। तो अपनी आसक्ति प्रीतिके अनुसार बदलते रहेंगे। स्थितप्रज्ञमें जहाँ बुद्धिकी स्थिरता है, वहाँ भक्तमें आसक्तिकी स्थिरता है, प्रीतिकी स्थिरता है। यदि प्रीति स्थिर नहीं होगी, तो मनुष्य गृह-पशुके समान द्वार-द्वारपर भटकेगा। सिरपर बोझ लिये वैसे, फिर भी यह मूढ़ मनुष्य मानेगा नहीं, वहाँ-वहाँ भटकेगा! अपने स्वरूपका या कर्त्तव्यका दृढ़निश्चय और प्रीति भगवान्‌से होनी चाहिए जिज्ञासुके जीवनमें सद्‌गुण चाहिए—तेरहवें अध्यायमें—

अमानित्वमदंभित्वम् अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। गीता 13.7

स्वयं अभिमानी न हो, दूसरोंको सम्मान दान करें। क्योंकि जो लोग बहुत कृपण होते हैं, कँजूस होते हैं, उन्हें भी सम्मान-दानमें तो कोई हिचक है ही नहीं। यदि वे किसीको देखकर खड़े हो जायँ, हाथ जोड़ लें, मुस्करा दें, स्वागत करलें, तो उनका पैसा तो खर्च होता नहीं है। और कुछ नहीं दे सकते, तो दूसरोंको मान-दान तो करना ही चाहिए, सम्मान देना चाहिए और स्वयं मान नहीं करना चाहिए।

बीस गुणोंका वर्णन जिज्ञासुके जीवनमें किया गया। चौदहवें अध्यायमें गुणोंका वर्णन किया गया। यह गुणोंका स्वभाव ऐसा है कि ये जीवनमें बदलते रहते हैं। कभी प्रकाश, कभी प्रवृत्ति, कभी मोह—सामान्य रूपसे ये जीवनमें आते ही रहते हैं।

हमने एक ऐसा महात्मा देखा, जो लेटा ही रहता था; सो हमारे साथ रहनेवाले ब्रह्मचारी, संन्यासी हमको तो अकेले छोड़ जायँ और जो लेटा हुआ था, उसको चारों ओर घेरकर बैठ जायँ और जब यह कहे

चाय, चाय, चाय तो सौ कुल्हड़ तक लोग उसको चाय पिला देते थे, पर लेटा ही रहता था। पोस्ट ऑफिस के सामने बगलमें सड़कपर और ऐसे ही लेटा रहता था। अब कोई जाकर कहे—ओ महात्मा, क्यों पड़े-पड़े निकम्मे यहाँ अपना जीवन नष्ट कर रहे हो? अरे भाई, वह तो मस्त रहता था। भला! उसकी उस चुप्पीमें, उस शान्तिमें, उस निकम्मेपनमें कितनी ऊँची स्थिति छिपी हुई थी इसको साधारण लोग पहचान नहीं पाते थे।

एक महात्मा जबलपुरके पास भेड़ाघाटमें थे, लेटे रहते थे, शरीर जरा मोटा था। ऋषिकेशमें कैलाशके स्वामी चैतन्यगिरिजीने कहा—ओ! महात्मा, क्या पड़ा हुआ है तमोगुणी! उसने इशारेसे बुलाया था। हमारी हथेली कानमें लगाओ। हथेलीमें-से राम-राम! सिरपर कान रखो—राम-राम! छातीपर कान रखो—राम-राम! तलवेमें कान रखो—राम-राम! तो बाहरसे देखनेमें जो तमोगुणी मालूम पड़ते हैं, उनके भीतर भी बहुत शान्ति और सत्त्वगुण रहता है। सामान्यत: हम पहचान नहीं पाते हैं।

वृन्दावनके पास एक बहुत बड़ा कुँआ है। मन्दिर सौ वर्ष पुराना है। अब तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया, टूट-टाट रहा है। एक-दिन हमको कोई दिखानेके लिए ले गया था। चार सौ वर्षका वहाँ तमाल वृक्ष है। मालूम हुआ कि उस कूएँका पानी पहले बहुत मीठा था। एक ऐसा घूमता हुआ कोई औघड़ आया और उसने कुएँपर बैठकर ही दातुन करना शुरू किया। वहाँके पुजारियोंने उसको मना किया कि यह कुआँ पवित्र है ठाकुरजीको सेवाके लिए, भोग लगानेके लिए बना हुआ है। इसपर बैठकर दातुन मत करो—नहीं माना। नहीं माना तो उसको चार-छ: गाली सुनायी। हटा दिया उसको जबरदस्ती वहाँसे। उसने कहा जाओ तुम्हारे कुँएका पानी अब खारा हो जायगा। तबसे वह कुँआ ऐसे ही पड़ा है। पानी खारा है। कौन पहचान सकता है कि कौन-सा व्यक्ति किस अवस्थामें घूम रहा है?

एक समय ऐसा था, जब मेरे मनमें था कि जो लोग भजन करते हैं, वही सबसे श्रेष्ठ हैं। एक संन्यासी बड़े विद्वान् भी थे, प्रसिद्ध भी थे, परन्तु वे राजनीतिमें बहुत दिलचस्पी रखते थे। मैंने उड़ियाबाबाजी महाराजसे कहाँ—'महाराज यह शान्ति छोड़कर, ध्यान-धारणा छोड़कर, ये तो सुधारमें लग गये। बाबा बोले, ठीक है, जिसको शान्ति आवे वह शान्त रहे और जिसको प्रवृत्ति आवे वो प्रवृत्तिमें रहे। जैसे शान्ति जीवनमें अपने आप आयी है, वैसे प्रवृत्ति भी अपने आप आयी है। तुमको उसमें दोष देखनेका कोई प्रयोजन नहीं है, कोई अधिकार नहीं है, वे प्रवृत्त होते हैं, तो होने दो। ऐसा कहते थे बाबा! तो बहुत-कर हमलोग दूसरोंके बारेमें अधिक सोचते हैं और अपनी स्थितिके बारेमें कम देखते हैं। होना यह चाहिए कि पहले हम अपनी स्थितिको ठीक-ठीक पहचान लें और उसके बाद दूसरेको देखें, तो दूसरेकी स्थितिको ठीक-ठीक पहचान सकते हैं। आँखका स्वभाव ऐसा बन गया है कि यह दूसरेको देखती है और अपनेको नहीं देखती है।

हमारे पास एक सेठ आते हैं, कलकत्तेमें ही। वे कहते हैं-'पहले हमको भविष्य सूझ जाता था कि क्या होनेवाला है। हाय! हाय! अब नहीं सूझता है। सूझता है। सूझ तो प्रकृतिकी प्रकाशरूपी थी। वह चली गयी। प्रवृत्ति आगयी, प्रवृत्तिके बाद मोह आगया। अब इसके लिए हाय-हाय! करनेकी क्या जरूरत है? जो आया उसका मजा लो!'

अब एक साधनकी बात आपको सुनाते हैं। मैं भजन करता था, तो नींद आने लगती थी, तो मैंने स्वामीजीसे जाकर पूछा कि महाराज नींद आती है। तो वे बोले कि नींदसे अगर लड़ोगे, तो न भजन होगा, न नींद आयेगी। दोनोंसे वंचित हो जाओगे। इसलिए जब नींद आये, तब जाकर सो जाओ। जब सो जाओगे तो तुम्हारे भीतर जो भजन करनेकी रुचि है, वह तेज होगी और कहेगी कि हाय-हाय! तुम भजन करनेके समय आकर सो गये हो। कितने निकृष्ट हो? भजनकी रुचि बढ़कर नींदको भगा देगी और यदि नींद आजायेगी, तो थोड़ी देर विश्राम करनेके बाद जो भजन करोगे, वह शान्तिसे होगा।

बात यह है कि अपने जीवनमें राग-द्वेष नहीं पालना चाहिए। शान्त व्यक्तिके प्रति भी राग न हो, न द्वेष हो। नहीं तो कहे—महाराज, यह तो दिनभर माला फेरनेमें लगा रहता है। अरे भाई, फेरता है तो फेरने दो। अरे, यह तो इतना काममें लगा रहता है कि इसको खानेकी भी याद नहीं रहती। अरे भाई, ईश्वर-कृपासे काममें इतनी रुचि है, तो करने दो। बोले, इसको तो इतना अपना-अपना-अपना सूझता है कि पराया सूझता ही नहीं। भला अपना तो सूझता है।

तदा बन्धा यदा चित्तमासक्तं कासु दृष्टिषु।

यदि हमारी वृत्ति किसी दृष्टिमें आसक्त हो जाती है, तो वह बन्धन है।

तदा मुक्तिः यदा चित्तं नासक्तं कासु दृष्टिषु।

मुक्ति तब है, जब हमारा दृष्टिकोण कहीं आसक्त नहीं। रास्तेमें चलते-चलते किसी चीजको देखने लगते हैं, ठोकर लग जाती है। किसीको धक्का लग जाता है। साइकिल चलानेवाले दूसरी ओर देखने लगते हैं, तो उनकी साइकिल मुड़कर उधर चली जाती है। इसलिए जो भी काम कीजिये, अपने स्वरूपमें रहकर कीजिये। पाँवसे चलिये, हाथसे काम कीजिये, मुँहसे बोलिये; शौच, लघुशंका कीजिये। आँखसे देखिये, कानसे सुनिये, त्वचासे छूइये, इन्द्रियोंको अपना-अपना काम करने दीजिये। परन्तु किसीमें ऐसी आसक्ति न हो जाय कि हम उसके साथ बँध जायँ। गुणातीत एक सिद्ध स्थिति है, एक महापुरुषकी स्थिति है, एक असंग स्थिति है। जैसे आप नाटकमें किसीका पार्ट करते हैं तो वही नहीं हो जाते हैं।

सुनते हैं एक सज्जन नाटकमें राणाप्रताप बने, तो अपनी पोशाक पहने हुए ही जब घर जाने लगे, तो बसमें आकर बैठे। कण्डक्टरने टिकट माँगा, तो बोले, देखते नहीं, मैं महाराणा प्रताप हूँ। जब बहस शुरू हुई, तो कण्डक्टर बोला—सरकार अब चित्तौड़गढ़ आगया है, अब उतर जाइये। यह अपने पार्टमें इतनी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। कर लिया आपने, हो गया। और ईमानदारीकी बात आपको सुनायें—तो हम माताके सामने दूसरे ढंगसे व्यवहार करते हैं, पत्नीके सामने दूसरे ढंगसे, बहनके सामने दूसरे ढंगसे, गुरुके सामने दूसरे ढंगसे। विचार करके आप देखेंगे, तो एक अभिनय, एक नाट्य इस संसारमें चल रहा है। यदि आप पत्नीकी बात माँको और माँकी बात पत्नीको सुनायेंगे, तो दोनोंको पसन्द नहीं आयेगा। दोनोंके मनमें सद्भाव नहीं रहेगा। आप पत्नीसे जैसे मिलना चाहिए, वैसे मिलिये। और माँसे जैसे मिलना चाहिए, वैसे मिलिये। गुरुको जैसे प्रणाम करना चाहिए, वैसा कीजिये। माँकी जैसी सेवा करनी चाहिए, वैसी कीजिये।

पत्नीसे जैसा प्रेम करना चाहिए, वैसा कीजिये। अपने बच्चेको वैसा स्नेह दीजिये, जैसा एक बच्चेको देना चाहिए।

व्यापारीसे व्यापारीकी बात कीजिये। राजनीतिक नेताओंसे मिलना हो, तो बहुत सावधान रहिये। उनकी हाँ, ना बहुत धोखा देनेवाली होती है, केवल दिखाऊ होती है।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

जब तक आँख खुली रहकर देखना चाहे, आप देखिये। और जब आँख घूमकर अगल-बगल देखना चाहे, तो देख लीजिये। और यदि बन्द होना चाहे, तो उसको बन्द कर लीजिये। आँखके साथ लड़िये मत। एक औचित्यकी स्थापना करके अपने जीवनके क्रमको ज्यों-का-त्यों चलने दीजिये। मनमें किसी वस्तुसे राग न हो जाय, न किसी क्रियासे और न किसी व्यक्तिसे। और द्वेष न हो जाय किसी वस्तुसे, किसी क्रियासे, किसी व्यक्तिसे, किसी स्थानसे। अपने अन्त:करणकी सुरक्षा आपके किये होगी। आप उसी समय टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे, आपकी पूर्णता खण्डित हो जायगी, जब आप राग करके किसीका पक्षपात करेंगे और द्वेष करके क्रूरता, अन्याय करेंगे किसीके साथ मान लो, कभी पक्षपात ही आगया रागके कारण, आ जाने दो; क्योंकि वह तो आनेपर मालूम पड़ता है। लोग मन-मनकी बात करते हैं। अगले क्षण मनमें क्या आयेगा, यह आपको मालूम है? टेलीफोन करके तो आता नहीं, तार देकर आता नहीं, चिट्ठी लिखकर आता नहीं। जब आजाता है, तब मालूम पड़ता है। यदि कभी राग भी आगया, कभी प्रकाश भी आगया, कभी प्रवृत्ति भी आगयी। ठीक है, आ जाने दो। परन्तु मनमें आये और चला जाये—इतना ही उसका जीवन होना चाहिए। जैसे स्वप्न आता है और स्वप्न चला जाता है। यदि रागको रखना चाहेंगे कि रहे, तो वह आपको बाँधेगा। यदि द्वेषको रखना चाहेंगे कि यह बना रहे, तो आपको बाँधेगा।

एक आदमीने किसीको कड़ी आवाजमें कुछ कह दिया और जिन्दगी भरके लिए दिलमें एक गाँठ पड़ गयी। भाई, कह दिया, कह दिया, उड़ गयी उसकी बात। अब तो ऐतिहासिकोंकी और वैज्ञानिकोंको अनुसन्धान करने दीजिये कि उसकी बात आकाशमें कहाँ-कहाँ तक फैली है और कहाँ-कहाँ रह रही है। वह काम वैज्ञानिकोंके जिम्मे कर दीजिये। आपके तो कानमें पड़ी थी और निकल गयी। आपके तो मनमें आयी थी और उसके बाद आपने नींद ले ली। दूसरी हजारों बातें सोच लीं। उनको पकड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

गुणातीतका मुख्य लक्षण यह है कि वह अपने जीवनमें, अपने तनमें, अपने मनमें, पक्षपात करानेवाला राग और दुश्मनी करानेवाला द्वेष अपने जीवनमें नहीं रखता है। यदि आगया, आगया, आकर चला गया। उसके लिए ही, ही, हा, हा,हो, हो,करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आया, गया। यदि आपसे पूछा जाय कि बचपनसे लेकर अबतक किससे आपका प्रेम हुआ है? किससे आपका द्वेष हुआ है? किसके-किसके मरनेपर आप दु:खी हुए हैं और किसके-किसके मिलनेपर आप सुखी हुए हैं? तो ऐसी लिस्ट बनाकर रख सकना या दिखा सकना किसी मनुष्यके लिए सम्भव नहीं है। एक दिनमें ही मनमें कितने विचार, कितने

संकल्प, कितने भाव आते-जाते हैं और वे आ-जा रहे हैं, यह उनका स्वभाव है। आप दु:खी क्यों होते हैं? जलते क्यों हैं? यह जो मनमें द्वेष आता है, वह अन्तरङ्ग है और क्रोध आता है, जब द्वेष वृत्तिमें अङ्कुरित होता है। जब वह वृक्ष बनता है, तो हिंसा बन जाता है। जब वह पुष्पित और फलित होता है, तब विद्रोह बन जाता है। एक ही द्वेष, क्रोधके रूपमें आपके जीवनमें आता है। सबसे बड़ी सावधानी, जीनेकी कला यही है कि आपके मनमें कोई ऐसा राग-द्वेष न पल जाय, जो राग आपको बाँध दे और द्वेष आपको जला दे। द्वेषका स्वभाव है जलाते रहना—

ज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो द्वेषः।

जो चित्त-वृत्तिका एक खास स्वरूप है जलन, उस जलनका नाम द्वेष है।

सुखानुशायि रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेष रागः।

कहीं, किसी चीजसे हमको सुख मिला है। उसका रंग चढ़ गया है। मनमें बना है।

एक साधु था, अपने हाथमें खप्पर रखता था। लंगोटी पहनता था और जगह-जगह घूमता रहता था। एक जगह किसी गृहस्थके घरमें गया, बहुत बढ़िया कढ़ी और भात खानेको मिला. उसको बड़ा स्वाद आया। खानेके बाद वह चला गया। एक वर्ष तक उसको कढ़ी-भातकी याद आती रही, बीच-बीचमें, बीच-बीचमें। भजन करने बैठे, कढ़ी-भातकी याद आगयी। एक वर्ष बाद फिर लौटकर उस गाँवमें आया और बोला, भगत! आज हमको फिर कढ़ी-भात खिलाना। और भी कुछ विरक्त पीछेसे आनेवाले हैं, अधिक बनाना। विरक्त तो कोई आया नहीं। उसने कहा अन्तरिक्षसे आयेंगे। एक कमरेमें बैठ गया। वहाँ बहुत सारी कढ़ी और भात रख लिया और खाना शुरू किया। गन्दी बात, बीभत्स! खाते-खाते पेट भर गया। कै आने लगी। खाओ बेटा, सालभर तुम याद करते रहे कढ़ी और भातको, अब आज खाओ! अन्तमें उसे ऐसी ग्लानि हुई कि फिर कढ़ी-भातका नाम लेनेपर भी गिनगिना उठता था। कहीं कढ़ी-भातकी तरह दुनियाकी कोई चीज अपने मनमें समा न जाय, इसका ध्यान रखना चाहिए।

हर ऑफिसको ऑफिसमें रहने दो, उसको घरमें मत लाओ। एक ऑफिसकी बात दूसरे ऑफिसमें मत ले जाओ। यह प्रकाश ऑफिस दूसरा है, प्रवृत्ति ऑफिस दूसरी है। मोह ऑफिस दूसरा है। जहाँ गये, वहाँका आदि-अन्त देखा। कहाँसे छोड़कर गये थे, अब कितना करना है और ध्यान रखो, कहाँ तक किया है और दूसरे ऑफिसमें जाओ, तो वहाँ शुरू कर दो। इस तरह अपने मनके भी ऑफिस होते हैं। एक ऑफिसकी बात दूसरे ऑफिसमें ले जानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। घरकी बात ऑफिसमें, ऑफिसकी बात घरमें। उनकी बात, उनसे, उनकी बात उनसे न करो।

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।

मुख्य बात यह है कि हमारे जीवनमें राग-द्वेष न हों। अब गुणातीतका लक्षण बताते हैं—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

आप ऊपर बैठिये, उत् माने ऊपर, उदिति ब्रह्मनाम, उत् माने ब्रह्म, उत् माने परमात्मा, उत् माने ऊर्ध्वमूलका ऊर्ध्व-सबसे ऊपर बैठिये। उसके समान बैठिये।

एक दिन बम्बईमें कफपरेडमें किसीके सबके ऊपरके तल्लेमें गये, तो वह दिखाने लगा कि यहाँ समुद्र कैसा दिखता है! सड़क कैसी दिखती है! नीचे जो सड़क पर मोटरें चलती थीं, वे बिलकुल सूअरकी तरह छोटी-छोटी, छोटी-छोटी लगें। यह मोटरें नहीं दौड़ रही हैं जैसे सूअर दौड़ रहे हैं। आदमी बौने ऐसे दिखते थे। मकान बहुत ऊँचा था। जब मनुष्य परमात्मामें बैठ जाता है, तो ये दुनियाकी जो चीजें हैं, वे अपनी महत्ता खो बैठती हैं। यदि आप सूर्यमें बैठ जायँ, तो यह धरती कितनी बड़ी होगी? आप अन्दाज कर सकते हैं। आप लोग तो जानते हैं। लाखों गुना बड़ा है सूर्य और लाखों मील दूर है। वहाँसे यह धरती कैसी दिखती है? एक बिन्दुके समान! बैठ जाइये न सूर्यमें। आप आकाशमें बैठ जाइये, तो सूर्य आपको कितना बड़ा मालूम पड़ेगा?

आजतक किसी गणितज्ञने, किसी कम्प्यूटरसे क्या यह निकाला है कि आकाशके किस हिस्सेमें सूर्य है? जब आप छोटी चीजको पकड़ते हैं—इसने हमको ऐसे कह दिया, इसने हमको ऐसे देख लिया, इसने हमारे साथ ऐसा व्यवहार कर लिया, तो वह व्यवहार करनेवाला छोटा नहीं होता है। आप स्वयं छोटे हो जाते हैं। आप अपनी स्थितिको तो सम्हालिये। जब पहाड़पर बैठते हैं और नीचे नालेमें कोई जानवर, चाहे शेर हो, चाहे सूअर हो-चलता है, कितना छोटा दिखता है। सेठके घरमें पृथिवीका नक्शा होता है। उसमें भारतवर्ष जरा-सा, कलकत्ता एक बिन्दुके रूपमें। उसमें सेठकी कोठी, बस ईश्वर-कृपासे कहीं छिपी हुई है। हमारी नजर जितनी छोटी है, उतनी छोटी चीजमें अटकती है, यही उसका मापदण्ड है।

बच्चा एक कौड़ीके लिए भी रोता है और उदार पुरुष करोड़ों रुपये फेंक देता है। आप दूसरेको मत देखिये, अपने चित्तको देखिये। जैसे कोई ऊपर बैठा हो, ब्रह्ममें बैठा हो। वैसे आप बैठे हुए हैं। ये जो गुण हैं, ये आते-जाते रहते हैं। रूप भी गुण है, रस भी गुण है, गन्ध भी गुण है; शब्द, स्पर्श भी गुण है। लम्बाई, चौड़ाई भी गुण है, मिलना-जुलना भी गुण है। विभाग भी गुण है। ये आते-जाते रहते हैं। समयमें भी इनका विभाग होता है, स्थानमें भी होता है, व्यक्तिमें भी होता है, चित्तमें भी होता है। जब आपके मनमें भेद-बुद्धि उपजती है, तब आप कलियुगमें हो गये। आपके मनमें संशय आगया, तो आप द्वापरमें पहुँच गये। यज्ञ-याग पूजामें मन लग गया, तो त्रेतामें पहुँच गये। ये सब केवल कालके माप नहीं हैं, कालके कल्पित माप हैं, मनोवृत्तियोंमें अनुभूयमान ये भाव हैं। और वस्तुसत्य ब्रह्ममें इनका कोई अस्तित्व नहीं है। अब 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'—हमारी इन्द्रियाँ—

गुणा इन्द्रियाणि गुणेषु विषयेषु वर्तन्ते।

अरे भाई, कानका काम है शब्द सुनना। सुनने दो, उसको पकड़कर मत रखो। आँखका काम है रूप देखना, देखती हुई चली गयी। उसको पकड़कर चारों ओर मँडराओ मत। नासिकामें सभी तरहकी गन्ध आती है। फूलोंके बगीचेमें जाते हैं, बड़ी सुगन्ध आती है, कहीं गन्दे रास्तेसे निकलते हैं, दुर्गन्ध आजाती है। नाक

दुर्गन्धको भी बता देती है और सुगन्धको भी बता देती है। पर आप उसमें फँसो मत। आपको कभी खानेका नमक मिलता है, कभी खटाई मिलती है, कभी मीठा मिलता है, कभी कसैला मिलता है, कभी तीता मिलता है, कभी कड़ुआ मिलता है, जीभ सब बताती है। पर जीभको कहीं फँसने मत दीजिये। यह इन्द्रियोंका काम है, विषयोंके साथ बर्तना। विषयोंके साथ बँधना इन्द्रियोंका काम नहीं है। यह बात आप ध्यानमें ले लें।

आँख आपको काला, गोरा बता सकती है, परन्तु आँख आपकी आजतक न काले, गोरेके साथ बँधी है, न बँधेगी। वह तो आप स्वयं अपनेको मनके साथ मिलाकर किसी चीजके साथ बाँधते हैं, आँख तो ज्ञानात्मक है। ज्ञानका काम बन्धनमें डालना नहीं है। वह तो जो चीज जैसी है, आँख वैसा दिखा देती है। काला है, गोरा है। अब काला बहुत प्यारा होता है, गोरा बहुत प्यारा होता है। आखिर हबशियोंमें भी आसक्ति होती है, निग्रो लोगोंमें भी आसक्ति होती है, जंगली जातियोंमें भी आसक्ति होती है। वह तो मोटे-मोटे होंठ और चिपटी नाक और काले शरीर, उसीमें सुन्दरताको देखते हैं और उसमें फँस जाते हैं। और सच पूछो, तो आप भी वैसे ही फँसते हैं। आप अपनी जगहपर बैठे रहिये। इन्द्रियोंके सामने जो आवे, जैसे सड़कपर तमाशा देख रहे हैं। कितने लोग सड़कपरसे आये और गये, आप तो बैठे-बैठे देख रहे हैं।

बहुत वर्षकी बात है, सम्भवत: चालीस वर्षसे अधिक हो गया। मरीन लाईनमें डॉ० मोदी एक सर्जन था, मैं उसके यहाँ बैठा था। मेरे एक मित्रका ऑपरेशन हुआ था। वहाँसे सड़क बताती थी—हजारों आदमी और हजारों मोटरें निकल रही थीं। एक मिनटमें पचास मोटर निकल जायँ। मैं बैठकर देख रहा था। उस समय तो मेरे मनमें यही आता था कि कहीं आग लगी है, उसको बुझानेके लिए ये लोग दौड़ रहे हैं। इतनी भीड़ कहाँ जा रही है? कहीं आग लगी होगी, बुझानेके लिए जा रहे हैं। बादमें मालूम पड़ा कि आग कहीं बाहर नहीं थी, उनके कलेजेमें ही थी और वे उसको बुझानेके लिए दौड़ रहे थे—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

इन्द्रिय और विषयोंका संयोग होनेपर भी, आँखसे रूप देखनेपर भी, विचलित नहीं होना, रूप अपनी जगहपर, आँख अपनी जगहपर। किसी भी रूपके साथ आजतक आँख नहीं गयी है और कोई भी रूप आँखमें आजतक घुसा नहीं है, और घुस सकता नहीं है। 'योऽवतिष्ठति नेङ्गते'—अपनी जगहपर बिना तनावके निश्चिन्त बैठे हैं। जो होता है, सो होने दो, जो कहा जाता है, सो कहा जाने दो और जो किया जाता है, सो किया जाने दो। तुम अपने स्वरूपसे विचलित मत होओ।

'गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते'।

आगे क्या बढ़िया यह गीताका सिद्धान्त है! हमारा जीवन कैसा होना चाहिए? अभी नहीं है। आगे हो जाय! निराश न हों, उदास न हों, उत्साहमें रहें। एक दिन ऐसा आयेगा। हम किसीसे भी निराश नहीं हैं। हम सोचते हैं कि आज वह गिरा है, तो क्या एक दिन उठेगा। आज उसको अपनी गलती नहीं मालूम होती है, तो क्या! एक दिन उसको अपनी गलती मालूम पड़ेगी। आज इसको अपनी योग्यताका पता नहीं है। कल इसको अपनी योग्यताका पता चलेगा। किसीके बारेमें यह सोच बैठना कि यह हमेशा ऐसा ही रहेगा, यह गलत है।

सबके जीवनमें गलती होती है, सबके जीवनमें अच्छाई होती है। और वह समयसे प्रकट होती है। सुख-दु:खसे घबराइये मत।

समदु:खसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सः उच्यते॥ गीता 14.23-24

अब जैसे, आप यह सोचने लगें कि ऐसा तो मेरा जीवन नहीं है, तो मेरे लिए यह बात किस कामकी! नहीं, आप इसपर यदि ध्यान देंगे, तो आपके मनमें आज ही जो दु:खीपन और सुखीपनका अभिमान है, वह टूट जायगा। इसमें स्थिति ऐसी होती है, कि एक तो दु:खके निमित्त होते हैं। कोई मर गया, कोई बिछुड़ गया, कहीं आग लग गयी, दु:ख हो गया। ये भौतिक निमित्त हैं और कहीं बिजली गिर गयी, तो दैवी निमित्त हो गया। कोई मनमें उलझन आगयी तो, आ:ध्यात्मिक निमित्त हो गया। अब आप इसकी युक्ति कर सकते हैं कि आपके मनमें दु:ख घुसे नहीं, दु:खाकार वृत्ति न हो।

इसके लिए संसारी लोग तो कहते हैं कि जो हम चाहते हैं, वह हमको मिल जाय, तो दु:ख नहीं होगा, यही घोर संसारी पुरुषका लक्षण है कि वह कहता है कि हम संसारमें जो चाहते हैं, वही हो और वह हमको मिले, तो हम सुखी हो जायेंगे। परन्तु ऐसा कभी होना सम्भव नहीं है। दूसरे लोग चाहते हैं कि जब हम धर्म करेंगे, धर्मात्मा हो जायेंगे, तो हमेशा सुखी रहेंगे। तो वे भी, पूरी तरहसे धर्मात्मा होना है तो अशक्य, पर हम उनको अशक्य न कहकर कठिन कहते हैं। और दैवी कारण न हो, भौतिक कारण न हो, आध्यात्मिक कारण न हो—जीवनमें दु:खके बारेमें ऐसा नहीं हो सकता। इसका एक बढ़िया उपाय यही है कि आप अपनी प्रीति, आसक्ति, चिन्तन भगवान्‌के साथ जोड़ दीजिये। यदि आपके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजायेगी तो आपके हृदयमें दु:खका प्रवेश नहीं होगा। विषय-भोगसे तो दु:ख कभी दूर नहीं हो सकता। धर्मानुष्ठानसे पचास प्रतिशत दु:ख दूर हो सकता है और भक्तिके अनुष्ठानसे निन्यानबे प्रतिशत दु:ख दूर हो सकता है। क्योंकि उसमें भगवान्‌के लिए भी दु:ख होता है। तत्त्वज्ञान ऐसा है, जिसमें दु:खका अभिमान मिट जाता है। भक्तिमें क्या होता है कि वृत्ति भगवदाकार हो जाती है, इसलिए दु:खाकार वृत्ति होती ही नहीं और तत्त्वज्ञानमें क्या हो जाता है कि मैं दु:खी हूँ, इस दुखीपनका अभिमान छूट जाता है—

समदु:खसुखः स्वस्थः।

देखो, आप वस्तुसे कैसी ममता जोड़ते हैं—आपकी चीज नहीं थी। उसमें आग लग गयी, जल गयी, आपको मामूली-सा दु:ख हुआ। बादमें, भाई! वह तो हमारी थी ही नहीं। और अपनी थी, बेच दिया और उसके बाद उसमें आग लग गयी। तो भी मामूली-सा दु:ख हुआ। ईश्वरने अच्छी बुद्धि दी मैंने बेच दी। बीमा करा देते हैं, तो लोग बताते हैं—महाराज, कोई बात नहीं है, बीमा कराया हुआ था। अपनी जो मान लेते हैं। खरीद करके अपनी मानते हैं। बना करके अपनी मानते हैं। मुकदमा जीत करके या युद्धमें जीतकर

अपनी मान लेते हैं। किसीने दान कर दिया, तो अपनी मानते हैं। उत्तराधिकारमें मिल गया, आपकी कमाई मिल गयी, तो अपना मानते हैं। और उसपर अपना कब्जा हो। बारह वर्षसे हमारा कब्जा है, तो कब्जेसे अपना मानते हैं।

चीज तो अपनी कोई होती ही नहीं है। भागवतमें लिखा है कि धरती माता हँस रही थीं। क्यों हँस रही थीं?

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्। भा० 12.3.1

राजा लोग आपसमें लड़ते हैं। यह धरती मेरी, यह धरती मेरी, धरतीने कहा—ये लोग पैदा ही नहीं हुए थे, इनके बाप, दादा भी पैदा नहीं हुए थे, तबसे मैं हूँ और ये मुझे मेरी-मेरी कहकर अपनी मान रहे हैं। यह देखो, हम मेरी-मेरी मानकर कितना फँसते हैं और सुख-दु:ख कैसा बनाते हैं! स्वयं बना-बनाकर, गढ़-गढ़कर, सुख-दु:ख अपने जीवनमें बैठा लेते हैं और फिर उसके लिए रोते हैं। गोद लिये हुए बेटेके लिए उतना ही दु:ख होता है जितना जन्मे हुए बेटेके लिए। स्त्री-पुरुष विवाह होनेके बाद कितना एक दूसरेको अपना मानते हैं! ये मानी हुई ममता, ये मानी हुई आसक्तियाँ, माना हुआ अपनापन, ये सब हमारे मनके ही बनाये हुए सुख-दु:ख होते हैं, जो जितना कम सुख-दु:ख बनाकर रखेगा, वह उतना ही स्वस्थ रहेगा। और जो लोग चाहते हैं कि हमारे जीवनमें दु:ख आये ही नहीं, वे तो ऐसे बुद्धिमान् हैं कि चाहते हैं, कि रात आये ही नहीं। इसके लिए उद्योग कर रहे हैं कि रात हो ही नहीं।

प्रियव्रतने ऐसा उद्योग किया था कि रात न हो। अन्ततोगत्वा रात आ ही गयी। उसके रोके नहीं रुकी। तो बुढ़ापा आये ही नहीं, जीवनमें वियोग हो ही नहीं। मृत्यु हो ही नहीं। ये जो लोग संसारकी गतिमें ही बाधा डालना चाहते हैं, वे स्वयं बाधित होते रहते हैं। इसलिए भाई, ये सुख और दु:ख जो हैं, ये जीवनमें आते हैं। इनके लिए तैयार रहना चाहिए। सुख आये स्वागत है, पधारिये! फिर जाने लगे, तो भले पीछे-पीछे थोड़ी दूरतक जाकर हाथ जोड़ लीजिये। अच्छा आप पधारिये! सुख आपके घरमें एक मेहमान आया था और जितनी देर रहा उतनी देर ही उसका जीवन है, आनेके पहले और जानेके बाद सुखका कोई जीवन नहीं है। दु:ख भी जितनी देर आता है, रहता है, जाता है। आवे तो हाथ जोड़ लीजिये—आइये दु:ख महाराज, बहुत दिनके बाद आपने दर्शन दिये। या बहुत जल्दी-जल्दी आप आजाया करते हैं। और जब थोड़ी देर रहकर वे जाने लगें, तो पहुँचा दीजिये।

आपके मनका स्वभाव ऐसा है हमने श्मशानमें बैठकर देखा है कि मुर्देको बड़े प्रेम, स्नेह, मोहके साथ श्मशानमें ले आते हैं और जब आगमें जलनेमें देर होती है, तो बैठकर गप्प हाँकते हैं, हँसते हैं फिर खाते-पीते हैं। और नहीं तो जलाकर लौट जाते हैं। दिन-दो-दिन याद आती है, फिर भूल जाते हैं। पहली चोटमें जितना दु:ख मालूम पड़ता है, उतना दूसरी, तीसरी, चौथी चोटमें नहीं लगता है।

हमारे समयमें, हमारे बचपनमें एकबार प्लेग आया था। प्लेगका दौर आया था, दिनभरमें गाँवमें कई आदमी मर जाते। लोग उन्हें श्मशान पहुँचानेके लिए ले जाते, तबतक दूसरा मरा मिलता, उसको छोड़कर

आते, तबतक तीसरा मिलता, तो बीचमें बैठ-बैठकर खा-पी लेते थे, फिर दूसरेको लेकर श्मशान जाते थे। आपसमें हँसते भी थे, बात भी करते थे। आप अपने दिमागको भारी क्यों बनाते हैं? सुख-दुःख तो आनेवाली हवा है। कभी दुर्गन्ध आयी, कभी सुगन्ध आयी। कभी रात आयी, कभी दिन आया। मोटरसे चलते हैं, कभी अच्छा रास्ता आया, कभी बुरा रास्ता आया। कभी सामनेसे गन्दा आदमी निकल गया, कभी सुन्दर निकल गया। पर आप स्वस्थ रहिये न! आप अपनेको छोड़कर दूसरेको देखने जाते क्यों हैं?

समदुःखसुखः स्वस्थः।

स्वस्थका लक्षण यही है। हमने पहले आयुर्वेदमें पढ़ा था कि कोई बच्चा हो और बोल न सकता हो, तो उसको कहाँ दर्द हो रहा है, इसका पता कैसे चलेगा? तो लिखा था कि बेहोश आदमीका हाथ भी वहाँ जाता है, जहाँ दर्द है। बच्चेका हाथ भी बारम्बार वहाँ जाना चाहता है, जहाँ उसको दर्द होता है।

आप कहाँ रहना पसन्द करते हैं, अपने घरमें या दूसरेके घरमें? आपके इतने मित्र हैं, इतने सम्बन्धी हैं कि यदि आप घर-घरमें घूमते रहेंगे, यदि आपका मन घर-घरमें घूमता रहेगा, तो आप अपने घरको बिलकुल भूल जायेंगे। आपका दिल-दिमाग गन्दा हो जायगा। क्योंकि आप तो वहाँ रहते ही नहीं हैं। आप अपने कमरेको साफ नहीं रखेंगे, उसको सजाकर नहीं रखेंगे। दूसरेके घरमें जाकर उसका आनन्द लेने लगेंगे। दुनियाकी तो सब चीजें आती है, जाती हैं। अबतक आपने कितनी चीजोंको सुन्दर समझकर अपना घर सजाया है और फिर उनको बदल दिया है। ऐसे आप अपने संसारकी आसक्तियोंको समझिये। इसमें न कोई वस्तु हमेशाके लिए प्रिय होती है, न कोई वस्तु हमेशाके लिए अप्रिय होती है। ये चीजें आपके व्यवहारके लिए हैं। आपके व्यापारके लिए हैं। आप उनसे व्यवहार कीजिये, उनके साथ व्यापार कीजिये, परन्तु उनके साथ चिपक मत जाइये। क्योंकि कितना भी चिपकेंगे, अन्तमें छूटेंगी।

सुनते हैं एक बच्चा था, उसके सामने सोनेकी छोटी-सी चवन्नीवाली गिन्नी आ गयी। उसने हाथमें ली और मुट्ठी बाँध ली। अब मुट्ठी खोले ही नहीं। लोग बहुत घबड़ाये। घंटोंतक मुट्ठी नहीं खुली। तो लोगोंने डॉक्टरको दिखाया। डॉक्टरने कहा कि ऑपरेशन करके खोलेंगे यह तो बन्द हो गयी है। एक वहाँ बुढ़िया माई थी, उसने कहा ठहरो, ठहरो! क्या बात थी? इसने गिन्नीकी चवन्नी लेकर मुट्ठी बन्द कर ली है। खुलती नहीं है, इसके हाथ जकड़ गये हैं। उसने कहा-जरा एक पूरी गिन्नी ले आओ, चार चवन्नी वाली। पूरी गिन्नी आयी, उसने बच्चेको दिखाया। झट उसने अपनी मुट्ठी खोल दी। चवन्नी छोड़कर उसको पकड़ लिया। आप चवन्नीमें मत जकड़ जाइये और फिर जकड़ते चलेंगे, तो अठन्नीमें जकड़ेंगे, रुपयेमें जकड़ेंगे। मजा सबका लेते चलिये। सबमें जो रस है, उसको लेते चलिये। पर फँसिये मत। किसीसे दुश्मनी मत कीजिये, किसीसे फँसिये मत। राग-द्वेष-रहित जीवन ही गुणातीतका जीवन है।

●

प्रवचन : 9

23-11-85

प्रश्न : हमलोग चौदहवें अध्यायके उपसंहारकी ओर हैं। कल जैसा निवेदन किया था कि अब उपसंहारमें चौदहवें अध्यायका सार पूज्य स्वामीजी महाराज समटेंगे। उपसंहारमें प्रश्नकी आवश्यकता नहीं है।

उत्तर : **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ गीता 14.24-27

भगवान् श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हमारा हृदय सर्वदा प्रेमसे, आनन्दसे, अमृतसे भरपूर रहे। इसके लिए जीवन कैसा होना चाहिए? किमाचारः? अर्जुनका प्रश्न यह है कि गुणातीतका आचरण कैसा होता है? उसका उत्तर दे रहे हैं। इसमें पहली बात यह है कि हम सुखसे चिपक जाते हैं और दुःखसे घबड़ाते हैं। 'ख' शब्द जो है, वह सुखमें भी वही है और दुःखमें भी वही है। 'ख' माने हृदयाकाश, जिसमें तारे छिटकते हैं, जिसमें चाँदनी फैलती है, जिसमें सूर्यका प्रकाश होता है। जिसमें इतने ग्रह, नक्षत्र, तारे, आकाश-गंगाका निवास है।

हमारा वह हृदय वही है; उसमें कभी बादल आ जाते हैं, कभी धुन्ध छा जाती है, आँधी आती है, कभी वर्षा होती है। आकाश तो वही-का-वही है। आप हृदयको आकाशके समान रखिये। उसमें कभी 'सु' आती है, कभी 'दु' आता है। यह दोनों उपसर्ग हैं। 'ख, यह हृदयाकाशका नाम है और उसमें सुष्ठुपना, सुन्दरपना और उसमें दुष्टपना, ये आते-जाते रहते हैं। आप अपने हृदयको ऐसा मत मान लीजिये कि इसमें कल एक बुराई आ गयी थी, तो आज भी रहेगी, कल भी रहेगी, नहीं वह तो आयी-गयी, उसको पकड़िये मत। बार-बार उसकी याद करेंगे, तो और अपना स्थान बनायेगी। कोई अच्छाई आ गयी, तो निरन्तर अच्छाई-ही-अच्छाई हमारे हृदयमें बनी रहे! यह अच्छाईके रहनेमें कोई बाधा पड़ती है तो तनाव मनमें आता है, दुःख आता है। इसलिए गीताके आरम्भमें ही यह बात कह दी गयी कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ गीता 2.14-15

आप देखो, यहाँ गुणातीत होनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है यह बात कही गयी है और गुणातीत कैसा होता है? सुख-दु:खमें समान होता है। और गीताके आरम्भमें ही यह बात कही गयी—

समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। गीता 2.15

आप धीर रहिये। बच्चा अँधेरेको देखकर घबड़ाता है। बड़ेके लिए तो रोज अँधेरा आना स्वाभाविक है। कभी बुद्धिको सूझ जाता है, कभी नहीं सूझता है। ये दोनों बुद्धिके ही विलास हैं। कालिदासकी एक सूक्ति है, मेघदूत (2.49) में—

कस्यैकान्तंसुखमुपनतं दु:खमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमि क्रमेण।

जैसे, रथका पहिया, वही पहिया, पहियेका वही हिस्सा कभी ऊपर होता है और कभी नीचे होता है। इसी प्रकार हृदयमें कभी सुखकी वृत्ति आती है, कभी दु:खकी वृत्ति आती है। यह तो रथके पहियेके समान ऊपर-नीचे होती रहती है। न कभी किसीको हमेशा सुख मिलता है और न तो कभी किसीको हमेशा दु:ख मिलता है। जैसे, कालमें रात-दिन होते हैं, जैसे, स्थानमें कोई अच्छा स्थान, प्रिय स्थान होता है, कोई अप्रिय स्थान होता है। जैसे, वस्तुमें कुछ अच्छा लगता है, कुछ बुरा लगता है, उसी प्रकार इस मनमें भी द्वन्द्व आते रहते हैं। अपनी समता बनी रहनी चाहिए। जैसे आप सिनेमा देखते हैं, उसमें कभी मार-काटका दृश्य आता है और कभी शान्तिके, तो कभी विक्षेपके, कभी उत्थानके दृश्य होते हैं, कभी पतनके दृश्य होते हैं।

इसी प्रकार यह हृदय भी एक नाटकके रङ्गामञ्चके समान ही है। इसमें अनुकूलता, प्रतिकूलताके दृश्य आते-जाते रहते हैं। मैंने जिनको महाराजा देखा, उनको दरिद्र भी देखा। जिनको दरिद्र देखा, उनको धनी भी देखा। स्वस्थको रोगी देखा, रोगीको स्वस्थ देखा। योगीको वियोगी देखा, वियोगीको योगी देखा। यह संसारका बदलना चालू रहता है और इसको देखनेवाला जो साक्षी है, द्रष्टा है, गुणातीत है, वह इसमें कभी फँसता नहीं है, भले कोई दृश्य देख करके आँखमें आँसू आ जाये। भावविह्वल जो जायँ आप और कभी कोई दृश्य देखकरके खिल उठें, यह तो जीवन रहेगा, तो होता ही रहेगा। इसलिए इसमें सुखको पकड़िये मत, दु:खके पीछे डण्डा लेकर पड़िये मत। आया, आया—गया, गया। यही विचित्र जीवनकी कला है कि आप अपनेको एकरस रखिये!

यदि आप यह चाहेंगे कि दुनियामें कोई बुरा आदमी न रहे, कोई मूर्ख न रहे, कोई पागल न रहे, तो आप ही पागल हो जायेंगे। यदि आप सोचें कि दुनियामें मेरे मनके, मेरे विचारके विरुद्ध कोई घटना न घटे, तो घटनाएँ तो घटती रहेंगी और आपका जो दिल है, वह और रुग्ण हो जायगा। उसमें बीमारी आ जायगी। इसलिए जीनेकी एक कला यह है कि सामनेका दृश्य माने वस्तु; क्रिया, व्यक्ति, चाहे अपने अनुकूल हों, चाहे, प्रतिकूल हों, उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अपने दिलपर उनका कोई असर नहीं पड़ना चाहिए।

देखो, 'असर' शब्दको यदि हम संस्कृतका मानें, है तो उर्दूका, तो उसमें जो सरक जाय वह तो 'सर' हुआ, 'सरति अपसरति'—जो दूर हो जाय, वह सर है। और यदि वह न सरके, दिलमें जम जाय, तो उसने

अपना असर छोड़ दिया। नहीं सरकता है। अरे भाई, दिन गया, रात गयी, वह आदमी गया, वह घटना गयी और उसका असर तुम पकड़कर वैठे हुए हो अपने दिलपर। तो तुम्हारे दिलको क्या कोई नया काम नहीं मिलता है?

सुख-दु:खके दृश्यको अपना चित्त देखे, नाटकको तरह देखे, सिनेमाकी तरह देखे। उसको आने दे, जाने दे। दूसरी बात है, जीवनमें स्वस्थता चाहिए। शरीरकी स्वस्थताके लिए तो बहुत डॉक्टर हैं, वैद्य हैं, हकीम हैं पर वह स्वस्थता दूसरी है, जो हम अपने स्वमें, स्वरूपमें स्थित रहते हैं।

आप देखो, एक आदमीने किसीके घरमें चोरी की। उसने सोचा, इसने हमारे घरमें चोरी की है, तो हम भी इसके घरमें चोरी करें। चोरीके बदले जब चोरी करेगा, तो वह स्वयं चोर हो जायगा, वह साहुकार कहाँ रहेगा? एकने गाली दी, उसके बदलेमें दूसरेने भी गाली दी, तो दोनोंका मुँह गन्दा हो गया न!

सुनते हैं पण्डित मोतीलालजीने मालवीयजीसे कहा—'मालवीयजी आप मुझे सौ गाली दें, तब भी मैं बुरा नहीं मानूँगा।' मालवीयजीने कहा—भला मैं अपना मुँह गन्दा क्यों करूँ? मैं गाली दूँगा, तो मेरा मुँह गन्दा होगा न! चाहे दूसरा कोई कैसा भी काम करे, हम अपने स्वरूपके विपरीत न हों। आप परमात्माके अंश हैं।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख राशी॥

आप सहज सुख-राशि हैं, सहज निर्मल हैं, सहज चेतन हैं। अपनेको विकारी हृदयके साथ क्यों जोड़ते हैं? आप अपने स्वरूपके विपरीत काम मत कीजिये। मैंने कई बार सुनाया होगा! एक लड़कीके मुँहसे मैंने सुना—वह रसोइयेको डाँट रही थी कि मैं परोसनेके लिए जाऊँ और ऐसी मोटी-मोटी कच्ची पूरी ले करके जाऊँ? तुम समझते हो कि खानेवाले भिखारी हैं, तो उनको चाहे जैसा दे दिया जाय? और मैं ले जाकर परोस दूँ? बढ़िया पूरी बनाओ, जो मेरे परोसने योग्य हो।

आप अपने स्वरूपका ध्यान रखिये। दूसरेको बिगड़ता देखकर आप अपनेको मत बिगाड़िये।

समलोष्टाश्मकाञ्चन।

मिट्टीका डला, पत्थरका टुकड़ा और सोनेका टुकड़ा—ये उपयोगकी दृष्टिसे इनमें महत्त्व होता है, स्वयंमें ये महत्त्वपूर्ण नहीं होते हैं। मैंने सुना है कि लंका सोनेकी थी। वहाँ माटी थी ही नहीं। एक दिन किसीको कोई रोग हुआ। रावणको ही समझ लो तो सुषेण वैद्य बुलाये गये। उन्होंने कहा—इस रोगको दूर करनेके लिए पीली मिट्टी चाहिए। सारी लंका में खोज हुई, पीली मिट्टी नहीं मिली। यह हुआ कि इसके लिए तो भारतवर्षमें विमान भेजा जाय। विमान भेजा गया। कहाँकी माटी ठीक रहेगी? इसके लिए तो पश्चिमी भारतमें कोई पीली मिट्टी होती है, वह मिट्टी सर्वोत्तम रहेगी।

उस मिट्टीको ले जानेके लिए जितना परिश्रम और जितना व्यय करना पड़ा, वहाँ घरमें सोना होने पर भी वह किसी काम नहीं आया। मिट्टीकी जगह तो मिट्टी ही काम आयेगी। आप सोनेके खेतमें गेहूँ-चावलकी खेती नहीं कर सकते।

आपके घरमें सोनेका जितना उपयोग है, उतना ही मिट्टीका उपयोग है। आप ध्यान देकर देखेंगे,

प्रशंसा किसी प्रकारसे हो। परन्तु विचार करके देखें, तो स्तुति सुननेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और निन्दा सुननेसे आत्मनिरीक्षणका अवसर मिलता है।

अब आप देखो, यदि हम निन्दा करनेवालेके पीछे डण्डा लेकर दौड़े, तो बेवकूफी हो गयी। और निन्दा करनेवालेकी बात सुनकर हम अपनी ओर देखने लगे कि क्या सचमुच हमारे अन्दर यह दोष है, यह दुर्गुण है? तो वह निन्दा हमारे लिए कल्याणकारिणी हो गयी। कई लोग प्रशंसा सुनकर, स्तुति सुनकर ऐसे फूल जाते हैं कि उसको सच मान बैठते हैं। अपना दोष देखनेमें मुनष्यको निपुण होना चाहिए और दूसरेका गुण देखनेमें निपुण होना चाहिए।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, बिनु साबुने निर्मल करे सुभाय॥

निन्दक अपने पास रखना चाहिए। अपने आँगनमें उसके लिए जगह दे देनी चाहिए; क्योंकि वह साबुनका काम करता है। पैसा तो खर्च होवे नहीं और हमारी गलतियोंको बताता रहे।

आपने सुना होगा, परमहंस रामकृष्णके पास, दक्षिणेश्वरमें, जो रसोई बनानेवाला था, वह लोगोंके बीचमें, सार्वजनिक रूपसे परमहंसजीको पागल कहता था और 'दिनभर हुक्का गुड़गुड़ाता रहता है, पागल है, क्या जाकर उसके पास सत्संग करोगे?'—ऐसे बोलता था। और परमहंसजी निर्द्वन्द्व वैसे ही रहते थे। वह जिन्दगीभर उनके साथ रहा। क्या चित्तकी समता है!

दादूदयाल बैठकर शिष्योंको पढ़ा रहे थे। एक माता आयी और उसने गाली देना शुरू किया। शिष्य लोग देखने लगे। बोले, क्या देखते हो, पढ़ो तुम लोग। वह किसीको गाली देती होगी। वह पास आगयी। बोली—'मैं इसीको गाली देती हूँ।' अरे! इसने तो हमको देखा ही नहीं है। उसने आकर उनका सिर हिला दिया, इस दादूको गाली दे रही हूँ। उन्होंने कहा देखो तो, अन्नमय कोष तक तो देखती है यह। इसको अभी प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय, आनन्दमय—साक्षी आत्माका ज्ञान ही नहीं है। मुझको इसने कभी देखा नहीं तो मुझे क्या गाली देगी? आप अपनेको जितना जानते हैं, उतना तो दूसरे जानते ही नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि आप अपने बारेमें न सोचें, आप अपने मनकी गंदगीको न समझें, अपने हृदयके दोषको न समझें। दूसरेके बारेमें समझें।

दूसरा ऐंचा-ताना हो तब भी दिख जाता है और अपनी आँखमें बड़ा-सा ढींढर हो, तब भी वह नहीं दिखायी पड़ता है। निन्दा करनेवाला बुरा है, ऐसा क्यों सोचते हैं? यह क्यों नहीं सोचते कि हमारे अन्दर जो दोष है वह बता रहा है या अब नहीं है, आगे होनेकी सम्भावना है, वह बता रहा है। यह तो हमारा कोई गुरु हो, कोई हमारा हितैषी है। इस जन्मका न सही, पूर्व जन्मका गुरु होगा। और दोष बताना गुरुका काम है। जो हमको स्वच्छ करना चाहता हैं, निर्मल करना चाहता है, जो हमारे जीवनमें कोई दोष नहीं देखना चाहता है, कहीं भी दाग हो और उसको वह धो देना चाहता है। निंदक तो वह काम करता है जो गुरु करते हैं। जीवन्मुक्ति-विवेकमें एक प्रसंग आया है—

किसीको बहुत प्रिय समझेंगे, तो वह आपके जीवनमें एक अवरोध उत्पन्न करेगा। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में यह प्रसंग आया है।

प्रियं त्वां रोत्स्यति। 1.4.8

यदि किसीसे तुम बहुत प्रेम करोगे, तो वह तुम्हें आगे बढ़नेसे रोक लेगा। तुम उसीके पास रुक जाओगे।

'रुध् धातु'से 'रोत्स्यति'अथवा रुद् धातु यह शब्द है। रुद्‌का अर्थ है रोना। यदि तुम संसारकी किसी भी वस्तुसे बहुत प्रेम करोगे, चाहे तो वह तुमको छोड़कर जायगा और चाहे तो उसको छोड़कर तुम्हें जाना पड़ेगा और अन्ततोगत्वा रोना ही हाथ लगेगा। इसलिए संसारमें प्रिय-अप्रिय बराबर ही सुख-दु:ख देते हैं। अपनेको सावधान रखना चाहिए। ऐसी जगह हाथ मत डालो, जहाँसे निकाल न सको। तुल्य प्रियाप्रियो धीरः—यह बात कैसे होगी? मनुष्यको धीर होना चाहिए। यह भी गीताके आरम्भमें ही सुनाया गया—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ गीता 2.15

'धत्ते इति धीः।' धी शब्दसे रक् प्रत्यय होकर मत्वर्थमें धीर शब्द बनता है। धीर=धीयुक्त। आप बुद्धिमान बने रहिये। अपनेको सम्हालकर रखिये। धीर माने वह जो अपनेको सम्हालकर रखता है।

धियं राति इति धीरः। धियम् ईरयति इति धीरः।

रक् प्रत्यय हुआ तो धीर बन गया या ईरणसे धीर बन गया। धीर किसको कहते हैं? कि—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। कुमारसम्भव 1.59

कालिदासका ही यह वचन है। सुन्दर खान-पान देखकर, विचलित न हो, सुन्दर वस्त्राभूषण देखकर विचलित न हो। किसीके शरीरका सौन्दर्य-माधुर्य देखकर विचलित न हो, विकारके हेतु उपस्थित होनेपर भी, क्रोध करनेका कारण होनेपर भी, दु:खी होनेका कारण होनेपर भी, सुखी होनेका कारण होनेपर भी, जिसका चित्त विकृत नहीं होता, उसको धीर कहते हैं—**तुल्यप्रियाप्रियो धीरः**

अब बाहरसे आनेवाली जो बातें होती हैं, उनकी ओर ध्यान खींचते हैं—**तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।**

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। गीता 14.24
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ गीता 14.25
धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः। गीता 14.14

कोई निन्दा करता है, कोई स्तुति करता है। हमने तो एक ही वस्तुके बारेमें देखा है, उसको कोई अच्छा बताते हैं, तो कोई बुरा बताते हैं। चीज एक ही है। एक ही आदमीमें बारेमें कुछ लोगोंका ख्याल है कि यह बहुत अच्छा है, और कुछ लोगोंका ख्याल है कि यह बहुत बुरा है। सब लोग अपने-अपने भावके अनुसार, निन्दा और स्तुति करते रहते हैं। स्तुति सुनकर तो बड़ी प्रसन्नता होती है। तारीफ करे कोई 'को भल कहउ.'। अपनी तारीफ करवानेके लिए तो लोग बड़े-बड़े श्रमके काम करते हैं। बड़ी-बड़ी युक्ति करते हैं कि हमारी

दस वर्षकी उम्र थी। बोले, तुम भी पढ़-लिखकर जब बड़े होओगे तब तुम्हें पाँच रुपया मिलेंगे, अभी तो तुम अनपढ़ हो। जज साहबके घरसे भी भगे।

रास्तेमें एक मुसलमान मिला। उसने कहा—तुम भूखे हो, प्यासे हो, आओ भोजन करो! बोले, मैं ब्राह्मण हूँ, मुसलमानके घरका नहीं खा सकता। उसने अहीरसे दूध मँगवाया, कँहारसे पानी मँगवाया। उनके लिए सब तैयारी क़रके खीर पकाकर खिलायी और यहाँसे किराया देकर उनको बनारस भेज दिया। वहाँ जाकरके उन्होंने शिवकुमार शास्त्रीसे अध्ययन किया। व्याकरणके विद्वानोंमें, एक नम्बरके मान्य विद्वान् हो गये। वह पाँच रुपये और दो रुपयेका फर्क उनके दिलमें खटक गया। बड़ी उन्नतिका हेतु हुआ। स्वयं शिवकुमार शास्त्रीजी महाराज भैंस चराते थे। भैंस किसीके खेतमें चली गयी। चाचाने आकर उनको दो चपत मारा। तू पाणिनि, पतञ्जलि बनना चाहता है? भैंस नहीं देखता, किताब देख रहा है? सोलह वर्षकी उम्रमें वे ऊँदी नामके गाँवसे निकले। काशीसे थोड़ी दूर पर था। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब तबतक घर लौटकर आऊँगा ही नहीं जबतक पातञ्जलि और पाणिनिके समकक्ष विद्वान् नहीं हो जाउँगा। और सचमुच वे दूसरे पाणिनि, दूसरे पतञ्जलिके समान विद्वान हो गये। अपमान हानिकारक नहीं होता है। उससे लाभ उठानेकी विद्या-बुद्धि होनी चाहिए। देखो, मानमें भी दोष है, यदि आदमी फँस गया। अपमानमें भी दोष है, यदि चिढ़कर उसकी प्रतिक्रियामें लग गया। यह तो दोनों झटककर फेंक देने लायक हैं। अपने रास्तेमें, अपने लक्ष्यकी ओर चलो। न सम्मानमें फँसो, न अपमानसे लड़ो। निकलते जाओ, निकलते जाओ, आगे बढ़ते जाओ—

मानापमानयोस्तुल्यः।

ये दोनों भगवान्ने बराबर तौलकर बनाया है। भक्त लोग तो कहते हैं कि यदि भक्ति करनेमें खूब अपमान हो और भगवान्का भजन होता रहे, आँख बन्द कर—

सम्मानं कलयातिघोर-गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

हमारे स्वामी प्रबोधानन्दजी सरस्वती अपने वृन्दावन महिमामृतमें बोलते हैं—

भातृ पिष्ठलते तले विटपिनाम्। 1.48

मेरे प्यारे भाई एक पेड़के नीचे मत रहा करो। नहीं तो यह मेरा पेड़ है, मेरा रहनेका पेड़ है, ऐसा भाव मनमें आ जायेगा। अलग-अलग पेड़के नीचे रहो। और एक गाँवमें भिक्षा मत करो। भिन्न-भिन्न गाँवोंमें भिक्षा करो। और पानी किसीसे माँगकर मत पीओ। यमुनाजीमें पी लिया करो। और जो लोग नया कपड़ा पहनते हैं, उसमें-से चार अंगुल निकाल देते हैं, उसकी लंगोटी बनाकर पहनो और सम्मानको समझो जहर और अपमानको समझो, अमृत! राधा-माधव! राधा-माधव! श्रीराधामरण-श्रीराधावल्लभ, निकुंजविहारी प्रभुका ध्यान करो, चिन्तन करो, वृन्दावनमें रहो। भक्तोंके लिए तो अपमान जो है, वह संसारमें मोहसे छुड़ानेवाला है। तत्त्वज्ञानियोंके जीवनमें ऐसा हम देखते हैं। साधारण लोगोंकी समझमें यह बात आनेकी नहीं

****

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति, नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।

यदि मेरी निन्दा करके किसीको सुख मिलता है, ओ, हो! बड़ी खुशीकी बात है—मैं तो चाहता था कि इसको दस रुपया दें और यह खुश हो जाय। इसको कपड़ा दे दें, खुश हो जाय, दवा दे दें, खुश हो जाय और यह तो हमारे दोष देख-देखकर ही खुश हो रहा है। हमको तो कुछ करना ही नहीं पड़ा। यह तो हमारे दोष देख-देखकर खुश हो गया; क्योंकि दूसरेको खुश करनेके लिए बहुत कुछ करना पड़ता है।

शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम।

यदि शरीरकी निन्दा करते हैं तो क्या समझते हैं कि शरीर कोई बहुत अच्छा है? इस चामकी चिकनाईसे कोई अच्छा नहीं होता है! चामकी चिकनाई और रुक्षता कोई बहुत कीमती चीज नहीं है। असलमें तो शरीरको गन्दा देखकर अपनेको निर्मल आत्माके रूपमें देखना चाहिए। और आत्मा तो सबका एक ही है। निन्दा-स्तुतिका असर क्या है?

जीवन्मुक्ति-विवेकमें, जीवन्मुक्तके लक्षणमें यह बात आयी हुई है। अपनेको झटपट उबल नहीं जाना चाहिए। हर बातमें उखड़ नहीं जाना चाहिए, उत्तेजित नहीं हो जाना चाहिए। गंभीरतासे विचार करना चाहिए। और मान लो उसकी निन्दा झूठी है तो! झूठी है तब तो आपको हँसी आ जानी चाहिए या सहिष्णुता आपकी बढ़नी चाहिए। सच्ची हो तो आत्मनिरीक्षण करके वह दोष निकालना चाहिए और झूठी है तो आपको अपने अन्दर सहिष्णुताका गुण धारण करना चाहिए।

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' 'मानापमानयोस्तुल्यः।' 'तुल्योमित्रारिपक्षयोः॥'

देखो, मनुस्मृति धर्मशास्त्रका ग्रन्थ है। हमको तो वहाँ पहले-पहले यह बात दृष्टिके सामने आयी—

'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।' 2.162

जहाँ सम्मान मिले, वहाँ बुद्धिमान पुरुषको उद्विग्न होना चाहिए। जैसे कोई विष पिला रहा हो। क्योंकि सम्मान करनेवाला हमारे अभिमानको बढ़ाता है। और हमारे अभिमानकी वृद्धिमें जो हेतु होता है वह आगेके लिए दुःखकी सृष्टि करता है। यही साधकको पहचान है। यदि वह उन्नति करनेवाला है, तो सम्मानमें फँसेगा नहीं। उसको तो वहाँ पहुँचना है, जहाँ मान-अपमानकी पहुँच ही नहीं है। अपने उस स्वरूपका साक्षात्कार करना है, उस स्वरूपमें स्थित होना है। यदि वह सम्मान प्राप्त कर वहीं रह गया तो यह रुकावट आयी। और—

'अमृतस्येव चाकाङ्क्षेद् अवमानस्य सर्वदा।' मनु० 2.162

जो अपमान होता है उसका अभिनन्दन करें। कई महात्मा ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपमानके कारण बहुत उन्नति की है। यहीं बंगालके हारणचन्द्र शास्त्री थे। सन् 42में ब्रिटिश सरकारने उनको महामहोपाध्यायकी पदवी दी। यहाँ उनके माँ-बाप नहीं थे। मामाके घरमें रहते थे। बहुत काम लेते थे वे। पढ़नेकी कोई सुविधा नहीं। वहाँसे भागकर अपने पिताके शिष्य एक बंगालके जज थे, उनके घरमें गये। जज साहबने और ब्राह्मणोंको 5-5 रुपये दक्षिणा दी—उनको दो रुपया दिया। बोले, हमको दो ही क्यों दिया जबकि सबको पाँच-पाँच दिया?

****

दस वर्षकी उम्र थी। बोले, तुम भी पढ़-लिखकर जब बड़े होओगे तब तुम्हें पाँच रुपया मिलेंगे, अभी तो तुम अनपढ़ हो। जज साहबके घरसे भी भगे।

रास्तेमें एक मुसलमान मिला। उसने कहा—तुम भूखे हो, प्यासे हो, आओ भोजन करो! बोले, मैं ब्राह्मण हूँ, मुसलमानके घरका नहीं खा सकता। उसने अहीरसे दूध मँगवाया, कँहारसे पानी मँगवाया। उनके लिए सब तैयारी क़रके खीर पकाकर खिलायी और यहाँसे किराया देकर उनको बनारस भेज दिया। वहाँ जाकरके उन्होंने शिवकुमार शास्त्रीसे अध्ययन किया। व्याकरणके विद्वानोंमें, एक नम्बरके मान्य विद्वान् हो गये। वह पाँच रुपये और दो रुपयेका फर्क उनके दिलमें खटक गया। बड़ी उन्नतिका हेतु हुआ। स्वयं शिवकुमार शास्त्रीजी महाराज भैंस चराते थे। भैंस किसीके खेतमें चली गयी। चाचाने आकर उनको दो चपत मारा। तू पाणिनि, पतञ्जलि बनना चाहता है? भैंस नहीं देखता, किताब देख रहा है? सोलह वर्षकी उम्रमें वे ऊँदी नामके गाँवसे निकले। काशीसे थोड़ी दूर पर था। उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब तबतक घर लौटकर आऊँगा ही नहीं जबतक पातञ्जलि और पाणिनिके समकक्ष विद्वान् नहीं हो जाउँगा। और सचमुच वे दूसरे पाणिनि, दूसरे पतञ्जलिके समान विद्वान हो गये। अपमान हानिकारक नहीं होता है। उससे लाभ उठानेकी विद्या-बुद्धि होनी चाहिए। देखो, मानमें भी दोष है, यदि आदमी फँस गया। अपमानमें भी दोष है, यदि चिढ़कर उसकी प्रतिक्रियामें लग गया। यह तो दोनों झटककर फेंक देने लायक हैं। अपने रास्तेमें, अपने लक्ष्यकी ओर चलो। न सम्मानमें फँसो, न अपमानसे लड़ो। निकलते जाओ, निकलते जाओ, आगे बढ़ते जाओ—

मानापमानयोस्तुल्यः।

ये दोनों भगवान्‌ने बराबर तौलकर बनाया है। भक्त लोग तो कहते हैं कि यदि भक्ति करनेमें खूब अपमान हो और भगवान्‌का भजन होता रहे, आँख बन्द कर—

सम्मानं कलयातिघोर-गरलं नीचापमानं सुधा,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज।

हमारे स्वामी प्रबोधानन्दजी सरस्वती अपने वृन्दावन महिमामृतमें बोलते हैं—

भातृ पिष्ठलते तले विटपिनाम्। 1.48

मेरे प्यारे भाई एक पेड़के नीचे मत रहा करो। नहीं तो यह मेरा पेड़ है, मेरा रहनेका पेड़ है, ऐसा भाव मनमें आ जायेगा। अलग-अलग पेड़के नीचे रहो। और एक गाँवमें भिक्षा मत करो। भिन्न-भिन्न गाँवोंमें भिक्षा करो। और पानी किसीसे माँगकर मत पीओ। यमुनाजीमें पी लिया करो। और जो लोग नया कपड़ा पहनते हैं, उसमें-से चार अंगुल निकाल देते हैं, उसकी लंगोटी बनाकर पहनो और सम्मानको समझो जहर और अपमानको समझो, अमृत! राधा-माधव! राधा-माधव! श्रीराधामरण-श्रीराधाबल्लभ, निकुंजविहारी प्रभुका ध्यान करो, चिन्तन करो, वृन्दावनमें रहो। भक्तोंके लिए तो अपमान जो है, वह संसारमें मोहसे छुड़ानेवाला है। तत्त्वज्ञानियोंके जीवनमें ऐसा हम देखते हैं। साधारण लोगोंकी समझमें यह बात आनेकी नहीं

है। ब्रह्माजीके पुत्र थे ऋभु। उनको एक ब्राह्मणने एक दिन भिक्षा करायी। जैसे सनक, सनन्दन हैं, नारदजी हैं, ऐसे ही ये ब्रह्माके पुत्र हैं। परन्तु ज्ञाननिष्ठ हैं। भिक्षा करायी, उसने आग्रह किया तो उसको उन्होंने एक मार्ग बता दिया।

ऋभुजीका वचन है—

तस्माच्चरेत् वै योगी सतां मार्गमदूषयन्।
जना मयावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम्॥ विष्णु पु. 2.13.43

लोगोंको इतनी आदर-बुद्धि न हो जाय कि हमेशा उसको घेरकर रखें, भजन-पूजन न करने दें—आत्मचिन्तन न करने दें। ऐसे अलमस्त रहना चाहिए।

मानापमानयोस्तुल्यः तुल्योमित्रारिपक्षयोः।

अरि कौन ? जो हाथमें चक्र लेकर मारनेवाला है जिसमें अरे होते हैं। जंगलमें जो लोग आदिवासी होते हैं, उनके पास ऐसे अरे होते हैं। अभी तक, जो किसीको मारनेके लिए चलाते हैं, कई जगह टेढ़े-मेढ़े होते हैं। तो कहाँ-कहाँ वह टेढ़ा होगा और अपने लक्ष्यको मारकर घूमेगा और फिर उसके हाथ में आ जायेगा। पहले जैसे पुराणोंमें बाणोंके लौटनेका वर्णन आता है, आदिवासियोंके पास अभी तक ऐसी विद्या शेष है कि उनका फेंका हुआ जो शस्त्र है, वह लौटकर उनके पास अपने आ जाता है।

मित्र कौन ? जो स्नेहसे अपनेको तर करे। मेद्यनि इति मित्रम्। और 'न राति'—जो सम्मान न दे, स्तुति न करे—अनादर करे, उसको बोलते हैं 'अरि'। दोनोंके दो पक्ष हो जाते हैं। देखो, लोकतन्त्रमें दो पक्ष रहना आवश्यक मानते हैं। अगर दो पक्ष न हों तो एक ही पार्टीके लोग दो पक्ष बनाकर कोई खण्डन करते हैं, कोई मण्डन करते हैं। दोनों पक्षका होना आवश्यक है, जो हमारा गुण भी बताये और उसका सदुपयोग हो और जो हमारा दोष भी बतायें और उसकी निवृत्ति हो। दोनों ही हमारे जीवनके लिए शोधक होते हैं। दुश्मनसे द्वेष मत करो, ईर्ष्या मत करो, स्पर्धा मत करो, वह तो तुम्हारा शोधन करनेके लिए है। यदि एक चीज रुक्षताको मिटानेवाली हैं, तो एक चीज चिकना करनेवाली है। इस बातका ध्यान रखना चाहिए। इसमें बुद्धिका ही फेर होता है।

सबकी बातसे लाभ उठाया जा सकता है और सब क्रियासे लाभ उठाया जा सकता है। सबसे हास्यरसका अनुभव किया जा सकता है। और सबसे बीभत्स और करुणरसका भी अनुभव किया जा सकता है। किसके शरीरमें बीभत्सका अनुभव करनेके लिए गंदगी नहीं है। और किसके शरीरमें गुण नहीं है पारसमणिमें एक प्रसंग आया है आगे गुरु, पीछे शिष्य जा रहे थे। शिष्यने गुरुजीसे कहा—'गुरुजी इस रास्तेसे मत चलिये, देखिये, वह कुत्ता मरा पड़ा है, दुर्गन्ध आ रही है। जरा इसको छोड़कर दूसरे रास्ते चलिये। गुरुजी बोले—देखो तो सही, उसके दाँत कैसे सफेद-सफेद चमक रहे हैं। उसने पूर्व-जन्ममें कोई पुण्य किया होगा, तब उसको इतने स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल दाँत मिले होंगे, चलो उसके पाससे चलें। जो आज सुगन्ध है, वही कल दुर्गन्ध हो जायगी। आप अपने शरीरमें इत्र लगायें, सेंट लगायें। हमको तो सेंटकी गन्धसे जुकाम हो जाता है।

लेकिन आज जो सुगन्ध है उसको शरीरमें-से छुड़ाओ मत तो देखो, कल दुर्गन्ध हो जाती है। जिस आदमीको आप अच्छा समझकर उसके गुलाम बन जायँ, तो कल आपको सताना शुरू कर देगा। यह सृष्टिका नियम है। इसलिए—

तुल्यो मित्रारिपक्षयोः सर्वारम्भपरित्यागी।

जरा बात यह कड़वी है—सर्वारम्भपरित्यागी। ये आरम्भ जो किये जाते हैं—जैसे बड़े-बड़े यज्ञ-याग, उत्सव चन्देसे जो होते हैं, जिनके लिए बहुत यत्न करना पड़ता है। अब चन्देके पैसेसे जो यज्ञ होता है, उसका फल पैदा होकर चारों ओर ढूँढता है कि हम किसको मिलें? गणान्न, गणिकान्न और राजान्न—इन तीनोंको धर्माशास्त्रमें एक कोटिमें माना है। वेश्याका अन्न, चन्देका अन्न और राजाका अन्न। राजाके अन्नमें जुर्माना और टैक्स ये दोनों मिले रहते हैं। गणान्नमें भाव-दुर्भाव दोनों मिले रहते हैं।

ये जो क्षेत्रोंमें रोटी बँटती है (आप लोग बुरा मत मानना; क्योंकि इस बातमें हम आपसे ज्यादा अनुभवी हैं) पहले हमारे गुरुजनोंने मना कर दिया-कभी क्षेत्र में रोटी मत खाना। एक गृहस्थके घरमें-से रोटी माँगकर खाओ। क्यों महाराज, इसमें क्या है? इसमें दुर्भाव रहता है। किसीके घरमें कोई प्रायश्चित होता है, कोई श्राद्ध होता है, कोई मर जाता है, मरे हुएके हाथसे छुआकर क्षेत्रमें भेज देते हैं। यह चन्देसे जो काम होता है, वह भले लोकोपकारी हो, वैसे करना चाहिए। आप धर्मशाला बनवाइये, औषधालय खोलिये—वह सब ठीक है। लेकिन ये जो स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-याग होते हैं—वे असलमें तो स्वर्गके लिए होते भी नहीं हैं। होते हैं डौंडी बजानेके लिए कि लोग इकट्ठे हों। उनका उद्देश्य—एक पार्टी या पार्टीमें भी एक ही आदमीका स्वार्थ मुख्यरूपसे रहता है।

हमारे साधुओंने एक बार एक ब्राह्मणके आमन्त्रण पर भोजन कर लिया था। दण्डी स्वामी लोग थे। गढ़मुक्तश्वेर में स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज ठहरे हुए थे। दस-बारह दण्डी थे उनके साथ। एक ब्राह्मणने आमन्त्रित किया और सब लोग भोजन करने चले गये। अब उसने भोजन तो खूब बढ़िया कराया ही, दक्षिणा भी दी और वस्त्र भी दिये। जब लौटकर आये तब स्वामीजीने पूछा—अरे वह तो दरिद्र है। इतना रुपया और इतना कपड़ा वह देगा कहाँसे? अब महाराज, तुरन्त आदमीने जाकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि एक वेश्याने इसी कामके लिए कि दण्डियोंको हमारी ओरसे भोजन कराओ, दिया था। अब तो प्रायश्चित करो। सब लोगोंसे प्रायश्चित करवाया गया। यह जो गणान्न है, गणिकान्न है, राजान्न है, इनसे बड़े-बड़े काम आरम्भ किये जाते हैं और इसमें भी सार्वजनिक प्रशंसा, स्तुति, यश और कीर्ति प्राप्त करनेकी वासना भरी रहती है। ऐसे आरम्भसे बचना चाहिए। अपनी ओरसे जितना भी धर्म करना हो, करना चाहिए। अपना सर्वस्व दान कर दो।

रामचन्द्रने इतना दान किया था कि उनके पास पहननेके पीताम्बरके सिवाय और जानकीजीके पास सौभाग्य-चिह्नके आभूषणके सिवाय, दूसरा कोई आभूषण नहीं रह गया था—भागवतमें यह बात है। रघुने इतना बड़ा दान किया था, उनके घरमें ब्राह्मणका पाँव धोनेके लिए कोई धातु-पात्र नहीं था, मिट्टीके पात्रमें

उन्होंने धोया था। आप खूब दान कीजिये। खूब उदार रहिये। लेकिन यह जो दूसरोंसे माँग-माँगकर स्वयं स्वर्ग पाना चाहते हैं, वह असलमें लौकिक विशेषता ही प्राप्त करना चाहते हैं और उसका फल, अगर होता भी है तो वह केवल सांसारिक होता है। हृदयको पवित्र करनेवाला नहीं होता। सबसे बड़ा स्वर्ग हमारे हृदयमें है, वैकुण्ठ हमारे हृदयमें है, भगवान् हमारे हृदयमें हैं, आत्मा-परमात्मा हमारे हृदयमें हैं—बड़े-बड़े आरम्भ न कर, ऐसा धर्म करो, जिससे हमारे आत्माके शुद्ध स्वरूपपर जो परदा पड़ा हुआ है, वह फट जाय—

सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।

पर गुणातीत होनेका उपाय क्या है? हम क्या करें? तो तमोगुण, रजोगुण, सत्त्वगुणकी आसक्तिसे, बन्धनसे, बन्धन माने रस्सीका बन्धन नहीं, अपने मनका लगाव, अपने मनका बन्धन—जो सत्त्व, रज, तममें हमारे मनका बन्धन है, उनमें हम न फँसें, इसके लिए क्या उपाय है? क्या साधन है? कैसे रहें? तो हम बिना फँसावके जी सकते हैं, यह बात आपको कल सुनायेंगे!

●

विश्राम दिवस

24.11.85

निवेदन

आज समापनका दिन है। कार्यक्रम इस प्रकार है कि आभार ज्ञापन, इन कार्यक्रमोंके संयोजक श्रीश्रीकान्तजी मन्त्री, प्रस्तुत करेंगे। बड़े ही सौम्य, बड़े ही गम्भीर कार्यकर्ता हैं श्रीकान्तजी मन्त्री। उसके बाद महाराजश्रीका प्रवचन होगा ही। उपसंहार—प्रवचनके रूपमें ही हो गया है। समापनके बाद श्रीविनयबापना एक भजन कहेंगे। जबतक महाराजश्री अपने स्थानसे न उठें तबतक आप भी अपने स्थानपर विराजमान रहें—धन्यवाद!

श्रीकान्त मन्त्री

परम श्रद्धेय महाराजश्री एवं श्रद्धालु श्रोतागण! आज इस दस दिवसीय प्रवचनके समापनके अवसरपर मैं बिरला अकादमी ऑफ आर्ट एण्ड कल्चर, संगीत कला मन्दिर, एवं संगीत कला मन्दिर ट्रस्टकी ओरसे परम श्रद्धेय महाराजश्रीको शत-शत प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने हर वर्षकी भाँति इस वर्ष भी हमारा निमन्त्रण स्वीकारकर इस कार्यक्रमके लिए यहाँ पधारनेकी महती कृपा की। विगत 9 दिनोंमें परम श्रद्धेय महाराजजीने प्रश्नोत्तर एवं प्रवचनके माध्यमसे त्रिगुणामयी सृष्टिकी जो विवेचना हमारे लिए की यह सचमुच विलक्षण है। इस विवेचनाके फल स्वरूप हम यह जान पाये कि समय, स्थिति एवं स्थानके अनुरूप गुण बदलते रहते हैं। महत्त्व स्वयं गुणोंका ही नहीं, बल्कि उनके लक्ष्य एवं उद्देश्यका अधिक है। गुणातीतकी स्थिति, त्रिगुणसे अलग या विमुख होनेकी नहीं, बल्कि तीनों गुणोंसे सही समन्वयसे उत्पन्न, सच्चिदानन्द स्वरूप है। गुणातीत होनेके साधनोंको भी महाराजजीने बड़े ही सरल एवं सहज रूपसे हमें समझाया है।

जब मनुष्यका मन अपनी इन्द्रियोंकी क्रिया, प्रक्रियासे विलग एवं तटस्थ हो जाय तब वह अनासक्त हो जाता है। फलस्वरूप सांसारिक क्रिया-कलापोंकी प्रतिक्रिया, उसके मनपर नहीं होती और वह गुणातीत हो जाता है। परम श्रद्धेय महाराजजीका हमपर सदा ही अनुग्रह रहा है। इस वर्ष तो पूर्णतया स्वस्थ न होते हुए भी यहाँ पधारकर हम सबको ज्ञानका प्रकाश देकर लाभान्वित किया। हमारी ईश्वरसे प्रार्थना है कि वह महाराजजीको स्वस्थ रखे और दीर्घायु करे, जिससे हमें आपके प्रवचनका अमृतपान निरन्तर मिलता रहे। हम आशा करते हैं कि अगले वर्ष भी, इसी समय परम श्रद्धेय महाराजजीके प्रश्नोत्तरका पुनः आयोजन करें। अन्तमें मैं एक बार पुनः परम श्रद्धेय महाराजजीके प्रति आप सबकी ओरसे हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ और इनसे आजका उपसंहार आरम्भ करनेका निवेदन करता हूँ।

प्रवचन : 10

महाराजश्री

अनजानमें अज्ञानसे हम त्रिगुणके साथ मिल गये हैं। कभी आलस्य, प्रमाद, निद्रासे मूढ हो जाते हैं—यह तमोगुण है। माने हम अपने मैंको आलस्य, निद्रा प्रमादके साथ एक कर देते हैं। कभी लोभ-कर्म-प्रवृत्ति, अशान्ति, तृष्णा आदिके वेगके साथ अपनेको मिला देते हैं और उन्हींको अच्छा समझकर उसमें डूब जाते हैं। कभी सुख मिलता है, प्रकाश होता है, तो हम अपने मैं को उसके साथ मिला देते हैं।

चौदहवें अध्यायमें पहले विवेकके द्वारा इन अवस्थाओंसे अपने अलग स्वरूपको समझनेका आदेश, उपदेश, संदेश दिया है। इसीको उपनिषद् कहते हैं, और यह बताया कि—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।

विचार-दृष्टिका उदय हो जानेपर, विवेक-दृष्टिका उदय हो जानेपर जब द्रष्टा यह देखने लगता है कि गुणोंके अनुसार ये सब कर्म होते हैं और 'आत्मानं गुणेभ्यः पृथग् वेत्ति' आत्माको इन अवस्थाओंसे इन गुणकी वृत्तियोंसे अलग अनुभव करता है, तब वह मुझसे एक हो जाता है। 'मद्भावं सोऽधिगच्छति'। परन्तु यह विवेक टिकाऊ तब होता है जब मनमें वैराग्य हो। वैराग्यके बिना विवेक निर्बल होता है, कमजोर होता है, हम समझते तो हैं कि इस समय हमको सोना नहीं चाहिए, आलस्य नहीं करना चाहिए, या तृष्णाके जालमें इतना नहीं फँसना चाहिए या हर समय यह ज्ञान और सुखकी स्थिति नहीं बनी रह सकती, तो इसके पीछे दुःखी होंगे। विवेकका उदय होनेपर यह समझमें तो आ जाता है परन्तु वैराग्य न होनेके कारण विवेकमें स्थिरता नहीं होती। माने वृत्ति टिकती नहीं है, दृष्टि बनती नहीं है। इसलिए गुणातीतके लक्षणके पहले विवेक और वैराग्यकी प्रधानतासे गुणातीत होनेका उपाय बताया और गुणातीतके लक्षणके अन्तमें भक्तिके द्वारा गुणातीत होनेका उपाय बताया। इसमें अन्तर क्या है ? जैसे आप अज्ञानमें किसीके साथ मिल गये हैं, तो समझ-बूझकर आपको अलग कर लिया और उसके बाद आपकी दृष्टि ऐसी बदली कि जिससे आपने अपनेको अलग किया था उसमें भगवान्‌का दर्शन होने लगा। वेदान्तकी भाषामें इसको 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' बोलते हैं।

पहले आप घड़ेसे अलग माटीको समझ लीजिये, मेज, कुर्सीसे अलग लकड़ी, लोहाको समझ लीजिये और उसके बाद यह माटी ही है, यह लकड़ी या लोहा ही है—उसमें जो समताकी बुद्धि है, उसको रख लीजिये। यहाँ भक्तिका अर्थ क्या है ? सम्पूर्ण प्रपञ्चको भगवान्‌के रूपमें देखना। तभी आप अव्यभिचारी भक्तिसे युक्त योगी बन सकते हैं। नहीं तो कभी सत्त्वगुणमें गये, कभी रजोगुणमें गये, कभी तमोगुणमें गये—कभी उससे व्याह किया, कभी उससे व्याह किया—जैसे एक व्यभिचारी स्त्रीकी स्थिति हो जाय या एक व्यभिचारी पुरुषकी स्थिति हो जाय। स्त्रीको भी अव्यभिचारिणी होना चाहिए और पुरुषको भी अव्यभिचारी होना चाहिए।

इस प्रकार हमारे जीवनमें टिकाव कैसे आयेगा ? जब सर्वत्र भगवद्-भक्ति हो जायेगी। 'मां च'का एक अर्थ तो यह है कि विवेक-वैराग्यके द्वारा आप अपनेको असंग रूपमें जान लीजिये। और 'मां च'में जो 'च' है उसका अर्थ यह हुआ कि भक्तियोगके द्वारा आप सबमें भगवान्‌को देख लीजिये। दोनों तरहसे समता आयेगी।

यदि आप अपनेको घड़ा, सिकोरा, खपरैल, सबसे अलग, असंग, साक्षी, आत्माके रूपमें जान लेंगे तो भी दृश्यमात्रमें समता हो जायगी। और यदि आप उसको भगवद्-रूपमें जान लेंगे, तब भी उससे असंगता हो जायेगी। 'मां च'का दूसरा अर्थ है, मामेव अन्वाचय और अवधारण—अवधारणका अर्थ है 'मां च' अर्थात् 'मामेव'। जो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन, जो दिखे सो भगवान्। सब भगवान्का रूप है। सोता हुआ आदमी भी समाधिस्थ मालूम पड़े।

हमारे पितामह बताया करते थे कि बेटा कोई सो रहा हो तो देखो कि यह निश्चिन्त समाधिमें स्थित हो गया है—यदि बहुत आवश्यक न हो, उसकी कोई हानि न हो रही हो तो उसको जगानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब उसको विद्याका अध्ययन करना है और सो रहा है, तो जगा दिया, कोई बात नहीं। उसको कहीं जाना है, ट्रेन छूट जानेका डर है तो उसको जगा देना चाहिए। लेकिन निश्चिन्त होकर वह निद्राके समय भी परमात्मासे एक हो रहा है; क्योंकि—

सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। छान्दोग्य 6.8.1

निद्राके समय वह आत्मा, परमात्मासे एक हो जाता है।

न विदुः सति संपद्यामह। छान्दोग्य 6.9.2

उसको इस बातका पता तो नहीं चलता कि हम परमात्मासे एक हो गये। परन्तु निर्विकार, निश्चिन्त परमात्मासे एक हो जाता हैं। कोई सोया भी हो तो वह परमात्मामें स्थित है। कोई लोभ, तृष्णाके वश होकर भाग-दौड़ कर रहा हो, वह भी अनजानमें—**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।**

सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिए ही व्याकुल होकर जा रहा है। उसमें दोष-बुद्धि नहीं करनी चाहिए और यदि कोई ज्ञानमें, सुखमें आसक्त हो, देखो, उसको इसीके रूपमें परमात्मा मिल रहे हैं। 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन'का अर्थ है जहाँ देखो, वहाँ परमात्माका ही दर्शन हो रहा है। शाण्डिल्य-भक्तिदर्शनकी व्याख्यामें, भाष्यकार स्वप्नेश्वरने कहा कि आत्मा ब्रह्म है, यह तो हम मानते हैं, परन्तु यह जो वेदान्ती कह देते हैं कि जगत् आत्मा नहीं है, यह उनका अधूरापन है। क्योंकि परमात्मा तो अद्वितीय है, दूसरा कोई है नहीं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य 3.14.1)

सद्धीदं सर्वम्। चिद्धीदंसर्वम्। (नृसिंह उत्तर 7-8)

स एवेदं सर्वम्। ब्रह्मैवेदं सर्वम्। (बृहदा॰ 5.3.1)

आत्मैवेदं सर्वम्। (छा॰ 7.25.2)

अहमेवेदं सर्वम्। (छान्दोग्य 5.2.6)

केवल गुणातीत हो जाना या असंग हो जाना या विवेक-वैराग्य सम्पन्न हो जाना, इतना ही पर्याप्त नहीं है। बल्कि यह जो उपाधि है, जिसके कारण संसार दिखता है, अपने अन्तःकरणकी उपाधि भी, इन्द्रियोंकी उपाधि भी और विषयोंकी उपाधि भी—यह सब परमात्म-स्वरूप हो जायँ, क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। तो ये कैसे होंगे? तो ये भक्तियोगके द्वारा होंगे, जब आप सबमें भगवान् देखेंगे।

आप किसी एक नामको पकड़िये, एक रूपको पकड़िये, और नाम-रूपको पकड़कर एक नामको परमात्माके रूपमें पहचानिये। सब नाम परमात्मा हो जायेंगे। एक रूपको परमात्माके रूपमें पहचानिये, तो सब रूप परमात्मा हो जायेंगे। इसको बोलते हैं—'स्थालीपुलाक-न्याय'। जब बटलोईमें भात पकाते हैं तो एक-एक चावलको उठा-उठाकर देखें कि यह पक गया है कि नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता। चम्मचके अगले या पिछले भागसे दो-चार चावल उठा लेते हैं और उनको देख लेते हैं कि पक गये हैं! हाँ ठीक है, अब इनमें अभिमानकी कणिका नहीं है? बस दो-चार चावल पके हैं तो सब पक गये। इसी प्रकार आप कहीं एक नाममें, एक रूपमें भगवान्‌को पहचान लीजिये तब आप देखेंगे कि जैसे एक घड़ा मिट्टीका है, वैसे सब घड़े मिट्टीके हैं। उपाधियोंको भी माने अपने अन्त:करण, इन्द्रिय शरीर और विषय सहित, सम्पूर्ण प्रपंचको भी, जब आप परमात्माको पहचान लेंगे तो अव्यभिचारी भक्तियोग हो जायगा। माने परमात्माके सिवाय दूसरी किसी वस्तुसे प्रीति या भक्तिका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा। आप एक बार, एक रूपमें, एक नाममें परमात्माको पहचानिये। परमात्माका स्मरण करते ही, स्फुरण होते ही, आँखोंमें आँसू आजाये, शरीरमें रोमाञ्च हो जाय, कण्ठ गद्‌गद हो जाय, हृदय रससे, तृप्तिसे भर जाय—आपका यह व्यक्तिगत जीवन परमात्मासे परिपूर्ण हो जाय—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

सर्वके रूपमें परमात्माको जाना और सर्वके रूपमें ही परमात्माका भजन करने लगे—ये भी भगवान्, ये भी भगवान्, ये भी भगवान् जब सब भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तो भक्तियोगमें जो व्यभिचार है, वह निवृत्त हो जायगा। व्यभिचार क्या है? परमात्माको न पहचानकर किसीसे प्रीति करना। यही व्यभिचार है। आप इस बातको ध्यानमें लो।

एक राजकुमारसे विवाहका दिन तय हो गया था। समय निश्चित था। परन्तु उसी दिन शत्रुसे लड़ाई करनेके लिए उसे मोर्चे पर जाना पड़ा। अब विवाह कैसे हो? तो पहलेकी प्रथाके अनुसार तलवारकी नोकपर सिन्दूर रखकर उसने अपनी ससुराल भेज दिया और वह राजकुमारीके माँगमें डाल दिया गया।

बहुत दिनोंके बाद विजयी होकर राजकुमार लौटा और वह अपनी ससुरालमें गया। और ससुरालमें जाकर सैनिकके रूपमें कहीं सरायमें ठहरा। वहाँ पहले भी ऐसी प्रथा रही होगी कि इस गाँवमें सबसे सुन्दरी कौन है? ऐसी कुछ साँठ-गाँठ जुड़ी कि वही लड़की, जिसके माँगमें तलवारके द्वारा सिन्दूर डाल गया था, वह उसके पास लायी गयी। प्रेम-परस्पर, बातचीत हुई। लड़कीने अपना परिचय बता दिया कि पहले हमारा ब्याह हो गया था—तलवारके सिन्दूरसे परन्तु हमारे पति लौटकर आये नहीं!

अब उसे राजकुमारने बताया कि मैं वहीं हूँ जिससे तुम्हारा विवाह हुआ था। बस लड़की बेहोश होकर गिर गयी और मर गयी। यह क्या हुआ? उसने प्रेम तो अपने पतिके साथ ही किया था, किसी दूसरेके साथ नहीं किया था। उसके अन्दर बेहोशी कहाँसे आयी? उसने अपने पतिसे प्रेम किया था पर वह अज्ञात था। उसको यह मालूम नहीं था कि यह मेरा पति है। इसलिए उसके मनमें व्यभिचारकी वृत्ति आ गयी और वह व्यभिचारिणी हो गयी।

अब परमात्माको यदि हम पहचान लेते हैं कि सर्वरूपमें परमात्मा है, तो—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।। गीता 14.26

गीतामें भक्तियोग शब्दका प्रयोग अनेक बार आया हुआ है और तेरहवें अध्यायमें भी—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी।

और चौदहवें अध्यायमें—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। गीता 14.26

अनन्य भावसे—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। गीता 15.19

परमात्माके स्वरूपको समझो। लिङ्गकी पूजा करो। मिट्टीके रूपमें परमात्माको समझो। शालग्राम शिला भी मृत्तिकाका ही एक भेद है। मिट्टी है। नर्मदा लिङ्गका पत्थर भी मृत्तिकाका ही एक भेद है। आप यदि शालग्राम शिलाके रूपमें अथवा नर्मदा-लिङ्गके रूपमें परमेश्वर पहचानते हैं तो जब आपकी बुद्धि स्वच्छ होगी तो आप पृथिवी मात्रको, पाषाणमात्रको परमेश्वरके रूपमें पहचान सकते हैं।

जलके रूपमें परमात्मा है—यदि कलशके जलको, गंगाजलको, पुष्कर-जलको आप परमात्माके रूपमें समझ सकेंगे तो जलमात्र ही परमात्मा है। यदि आप सूर्यमें, चन्द्रमामें, हीरेमें, मोतीमें परमात्माको समझ सकेंगे, दीपकमें परमात्मा देखकर, अग्निकुण्डमें, होम करते हुए यदि परमात्माको देख सकेंगे तो सब तेजोमय परमात्मा हो जायेगा। आप यदि प्राणमें परमात्माका अनुभव कर सकेंगे तो सम्पूर्ण वायुमें भी परमात्माका अनुभव कर सकेंगे। यदि हृदयाकाशमें परमात्माका अनुभव कर सकेंगे तो सम्पूर्ण महाकाशको भी परमात्माके रूपमें अनुभव कर सकेंगे। इसलिए आप कहीं एक स्थानमें, एक वस्तुमें, एक कालमें, अपनी एक भावनासे, निष्ठावान् होकर परमात्माका दर्शन कीजिये। आपके सारे दुःख मिट जायेंगे—

मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।
न व्यथन्ते।

जन्म और मृत्युका व्यष्टि और समष्टिरूप, जितना भी चक्र है वह सब छूट जायगा, अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा।

गुणातीत होनेका एक उपाय तो यह हुआ कि हम दृश्यमात्रसे अपने आपंको विभक्त करके, अलग करके और वैराग्यके बलपर अपने स्वरूपमें टिक जायें। वस्तुतः स्वरूप निर्विकार ही है। परन्तु यदि विवेक और वैराग्यका बल नहीं है, तो आप भगवान्की भक्तिका आश्रय लीजिये। सबसे अलग करके सबको सम और एक कर देना, दूसरी बात है—मिथ्या कर देना दूसरी बात और सर्वके रूपमें परमेश्वरका अनुभव ही है। यह विराट् परमेश्वर है। हाँ, उसका एक अंग भी परमेश्वर है। जैसे बचपनमें हम अपने पितामहकी उँगली

पकड़कर चलते थे। वे हमको चलाते थे। जिस ओरसे सूर्यकी धूप आती थी उस ओर हमारे पितामह स्वयं खड़े होकर चलते थे और जिधर उनके शरीरकी छाया पड़ती थी, उस छायामें मुझे रखा करते थे।

आप इस वात्सल्यपर ध्यान दें। स्मरण हो आता है। अब कोई हमसे पूछता—तुम कैसे चल रहे थे? तो हम कहते—हम अपने बाबाको पकड़कर चल रहे थे। बाबा तो साढ़े तीन हाथके हैं, उनको कैसे पकड़ा? तुमने तो सिर्फ उनकी उँगली पकड़ी! उँगली पकड़ना भी बाबाको ही पकड़ना है। यह विराट्के अवयवमें, जो स्त्रीकी, पुरुषकी, पक्षीकी, मिट्टीकी, पानीकी जो मूर्ति है, ये सब-की-सब मूर्ति भगवान्की ही मूर्ति है। यह दादाकी ऊँगली नहीं है। यह साक्षात् दादा ही है। इस प्रकार जो मूर्तिपूजाका आश्रय लेकर या बिना आश्रयके, भगवान्के एक नामका आश्रय लेकर या बिना किसी आश्रयके किसी क्रियाका आश्रय लेकरके हाथ जोड़ना—यह क्रिया है अथवा बिना क्रियाके आश्रयके; शब्द बोलकर, अथवा बिना बोले, सर्वदेशमें, सर्वकालमें सर्वरूपमें परमात्माका साक्षात् अनुभव करता है, उसकी वृत्ति कभी व्यभिचारिणी होती ही नहीं। वहाँ केवल आत्मा ही ब्रह्म नहीं होता, वहाँ सम्पूर्ण प्रपञ्च ही ब्रह्म हो जाता है। आत्मा ब्रह्म अलग है और प्रपञ्च कुछ अलग है। यह भाव ही मिट जाता है।

स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत। गीता 15.19
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।

उसके गुणोंमें गुण-बुद्धि ही नहीं रहती। उसकी जगत्में, जगत्-बुद्धि ही नहीं रहती। उसको प्रकृतिमें प्रकृति-बुद्धि ही नहीं रहती। यह तो सारा-का-सारा बुद्धिका फेर है। आप जानते ही हैं। हम सब मनुष्योंको देख रहे हैं, हमारे सामने बैठे हैं—स्त्री-पुरुषके रूपमें, परन्तु जब किसीको पहचान लेते हैं, तब मालूम पड़ता है, यह इनकी माँ हैं, यह इनका बेटा है, इनका बाप है, यह अमुक है, तमुक है। नहीं तो हैं सब-के-सब मनुष्य। मनुष्यत्व व्यापक है और व्यक्तित्व जो है माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई, ये व्याप्य हैं। जैसे मनुष्यताके बिना कोई पत्नी, पुत्र आदि नहीं हो सकते। इसी प्रकार परमेश्वर व्यापक है। बिना परमेश्वर व्यापकताके कोई भी व्याप्य वस्तु हो नहीं सकती। इसलिए—

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। गीता 14.26

'भू' धातुसे भाव अर्थमें क्यच् प्रत्यय हो जाता है, तब भूय शब्द बनता है।

ब्रह्मभूयाय कल्पते, ब्रह्मभावाय कल्पते।

ब्रह्मभावकी उसको प्राप्ति हो जाती है; ब्रह्म भावके योग्य हो जाता है। पहले भी कहा—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ गीता 14.19

और भक्तिके अन्तमें भी बताया—

ब्रह्मभूयाय कल्पते=ब्रह्मभावाय कल्पते।

ब्रह्म भवनके योग्य हो जाता है। माने ब्रह्म ज्ञानकी योग्यता उसके अन्दर आ जाती है। भगवान्से एक होनेकी योग्यता उसके अन्दर आजाती है। इसके बाद प्रश्न यह उठाया कि—होगा स्वयं असंग गुणातीत और भक्ति करेगा भगवान्की और हो जायगा ब्रह्म—भगवान्की भक्ति करेगा और हो जायेगा ब्रह्म। भगवान् तो सगुण हैं और ब्रह्म निर्गुण है। गुणातीत है। अद्भुत है यह गीताका खेल! स्पष्टरूपसे बारहवें अध्यायमें यह बात कही गयी—कि भक्ति करेगा ब्रह्मकी और मिलेंगे कृष्ण। कृष्णका 'माम्' मिलेगा, कृष्णका 'मैं' मिलेगा।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थम् अचलं ध्रुवम्।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।। गीता 12.3-4

आप सर्वव्यापी, अव्यक्त, कूटस्थकी उपासना कीजिये। कैसे उपासना होती है? तीन बात बतायी। एक तो अपने इन्द्रियोंपर सम्यक् नियम हो। यही नहीं कि चाहे जो खा लिया, चाहे जो पी लिया, चाहे कैसे रह लिया। औचित्यका नियन्त्रण, धर्मका अपनी इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रहना चाहिए। और 'सर्वत्र समबुद्धयः'। सबके प्रति बुद्धि समान होनी चाहिए।

उपासनाका दूसरा रूप हुआ। पहला रूप हुआ इन्द्रियोंपर—मनपर नियन्त्रण, उपासनाका दूसरा रूप हुआ, सर्वत्र समबुद्धि और उपासनाका तीसरा रूप हुआ, 'सर्वभूतहिते रताः'। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हो। माने जान-बूझकर किसीका अहित न करें। 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'। निर्गुण उपासनाके तीन रूप—'इन्द्रियोंका संनियमन', 'सर्वत्र समबुद्धि' और 'सर्वभूत हितमें रति' और फल क्या हुआ? श्रीकृष्णकी प्राप्ति। निर्गुणोपासना करो और श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई। और यहाँ बताते हैं कि मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करो और फल क्या हुआ? 'ब्रह्मभूयाय कल्पते।' ब्रह्म हो जायगा।

इसका अर्थ हुआ कि जो 'ब्रह्म' है वही 'माम्' है जो 'माम्' वही 'ब्रह्म' है।

योऽहं स एव ब्रह्म—यद् ब्रह्म स एवाहम्।

श्रीकृष्ण बोलते हैं—जो मैं हूँ वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है; वही मैं हूँ। ब्रह्म और मुझ आत्मामें कोई फर्क नहीं है। अर्जुनने तो कहा ही—**परं ब्रह्म परं धाम, पवित्रं परमं भवान्।**

परं ब्रह्म तुम ही हो—अर्जुनका यह वाक्य है। श्रीकृष्णने भी कहा—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। गीता 10.20

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें एक आत्माके रूपमें स्थित मैं हूँ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। गीता 14.27

संसारके सब प्राणी ऐकान्तिक सुख चाहते हैं। सबके मनमें यह शुभ इच्छा रहती ही है कि हमको सुख-ही-सुख मिले! आप कहते होंगे कि हमको घर चाहिए, हमको धन चाहिए, हमको स्त्री चाहिए, हमको पुत्र

चाहिए। परन्तु आप धनके द्वारा, स्त्रीके द्वारा, घरके द्वारा, पुत्रके द्वारा सुख चाहते हैं। सुख सबका इष्ट, है, अन्तिम इष्ट है। माने सुख किसी दूसरेके लिए नहीं चाहा जाता है। हम धन चाहते हैं। किसके लिए? सुखके लिए। माने धनके लिए धन नहीं चाहते हैं, सुखके लिए धन चाहते हैं। स्त्री चाहते हैं—किसके लिए? सुखके लिए। पुरुष चाहते हैं। किसके लिए? सुखके लिए। परन्तु सुखके किसके लिए चाहते हैं? तो और जितनी भी इच्छाएँ संसारमें होती हैं, वह सुखकी इच्छाके अंगके रूपमें होती हैं। मूलभूत जो जीवनमें है, वह सुखकी इच्छा है। इसलिए—

अन्येच्छानधीन-इच्छा-विषयत्व।

सुखमें है। हम कुछ और पानेके लिए सुख नहीं चाहते है? सुख पानेके लिए सुख चाहते हैं। यह हुई सुखकी परिभाषा। दर्शनशास्त्रमें जब सुखकी परिभाषा करेंगे तो—

अन्येच्छानधीन इच्छाविषयत्व।

जो है वह सुखकी परिभाषा होगी। कितने दिनके लिए चाहते हैं? हमेशाके लिए। कहाँ-कहाँ चाहते हैं? सब जगह। किससे किससे चाहते हैं? सबसे। परिश्रमसे कि बिना परिश्रमसे? बिना परिश्रमसे; बहुत बढ़िया। अच्छा पराधीनता चाहते हैं कि स्वाधीनता? स्वाधीनता चाहते हैं, पराधीनता नहीं। अच्छा सुखको मालूम पड़ता हुआ चाहते हैं कि बिना मालूम पड़ता हुआ—मालूम पड़ता हुआ।

सुखस्यैकान्तिकस्य च।

यह एकान्तिक विषय है सबका। एकामात्र सुख ही सब चाहते हैं और उसको हर जगह चाहते हैं, हर समय चाहते हैं, हर वस्तुसे चाहते हैं, बिना परिश्रमके चाहते हैं, बिना पराधीनताके चाहते हैं और जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल करता हुआ, साक्षात् अपरोक्ष सुख चाहते हैं। इसकी प्रतिष्ठा कहाँ है? इसकी प्रतिष्ठा है परमात्मामें—**प्रति-तिष्ठति अस्याम् इति प्रतिष्ठा।**

उसीमें—वही एक वस्तु है, क्योंकि हमेशा वही रहेगी, हर जगह वही रहेगी, हरमें वही रहेगी, बिना परिश्रमके वही मिलेगी, बिना पराधीनताके वही मिलेगी और ज्ञान-स्वरूपसे वही मिलेगी, इसलिए जो लोग ऐकान्तिक सुख चाहते हैं और सब चाहते हैं, वे परमात्माको चाहते हैं। इस ऐकान्तिक सुखका पिण्डीकृत एकमें करके यदि इसका नाम बोलें तो परमात्मा होगा। अच्छाजी, चाहते तो हम सब हैं, यह बात सच्ची है, तब कैसे मिलेगा? '**शाश्वतस्य च धर्मस्य**' जहाँ धर्मकी शाश्वत प्रतिष्ठा होगी वहीं इसकी प्राप्ति होगी।

शाश्वत धर्म क्या है? आप देख लो—जरा परमात्माकी ओर देखो! न कभी पैदा होता है न मरता है। परमात्माका धर्म है अजन्मा और अमर—'शाश्वतस्य च धर्मस्य।' चाहे परमात्माको कोई हाँ करे, चाहे ना करे, चाहे गाली दे, चाहे भला कहे, चाहे बुरा—कितना तितिक्षु है, कितना सहिष्णु है, कितना क्षमाशील है। साकार कहो, निराकार कहो, सगुण कहो, निर्गुण कहो, दूर कहो, पास कहो, काँपनेवाला कहो, निष्कंप कहो, 'तदेजति तन्नैजति'—उसके बारेमें चाहे जो बोलो, चाहे जो सोचो, चाहे जो करो, वह टस-से-मस नहीं होता है।

यह परमात्माका धर्म है। जब आपके अन्दर तितिक्षा आयेगी, सहिष्णुता आयेगी, क्षमा आयेगी तब अपने आप ही सत्य, अहिंसा, अस्तेय आपके जीवनमें आकर निवास करेगा। इसका नाम है, शाश्वत धर्म,

इसकी प्रतिष्ठा है परमात्मा और जब आपको परमात्माकी प्राप्ति होगी तब इसकी प्राप्ति हो जायगी। और अमृत कहाँ है? अव्यय कहाँ है? अमृतत्व और अव्ययत्वकी प्रतिष्ठा। ऐसा अमृत, देवताओंका अमृत बड़ा कठिन है। पहले तो बेचारोंको समुद्र-मन्थन करना पड़ा। देवता-दैत्योंका आपसमें बड़ा भारी संघर्ष, युद्ध हुआ। अमृतका कलश भी मिल गया। तो उस समय मोहिनीने थोड़ा-थोड़ा पिला दिया। अब तो महाराज, जब उनकी पार्टी होती है तो मेजपर लाकर अमृतका कलश रख दिया जाता है और उसका ढक्कन खोल दिया जाता है और उसकी जो सुगन्ध उड़ती है, उसीसे देवता लोग तृप्त होते हैं। पीनेको एक बूँद तक नहीं मिलती। लेकिन यह अमृत ऐसा है कि कभी इसका विनाश होनेवाला नहीं है। अविनाशीके रूपमें यह प्राप्त होता है। जन्म नहीं, मरण नहीं, परिवर्तन नहीं, परिवर्धन नहीं, परिमण नहीं और विनाश नहीं, ऐसा यह अमृत, आपका स्वरूप है। किसका स्वरूप है? कृष्णने कहा इसकी प्रतिष्ठा मैं हूँ, ऐसा जो ब्रह्म उस ब्रह्मकी प्रतिष्ठा मैं हूँ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।

जैसे शंकरजीका दर्शन करना चाहो तो जिस मन्दिरमें उनकी प्रतिष्ठा हो, उस मन्दिरमें जाओ। प्राण-प्रतिष्ठा कर जैसे मूर्तिकी उपासना होती है वैसे ब्रह्मकी प्राण-प्रतिष्ठा कोई है तो मैं 'कृष्ण' हूँ। मुझमें ब्रह्मकी प्राण-प्रतिष्ठा है। आप मुझे चोर कह लीजिये। मुझे हँसी आ जायगी। आप मुझे सविकार कह लीजिये, बड़ा मजा आयेगा, आप सगुण कहिये, ठीक, निर्गुण कहिये, ठीक। रस्सीमें बँधा कहिये, ठीक। हार करके भागता हुआ कहिये, ठीक। जो आप मेरे बारेमें कह दीजिये—वह सब ठीक; क्योंकि मैं सब हूँ। तो ब्रह्मकी प्रतिष्ठा श्रीकृष्णमें है, उन्होंने बताया कि यह ऐकान्तिक सुख, शाश्वत धर्म, अव्यय अमृत और ब्रह्मत्व ये सब-के-सब मुझमें निवास करते हैं और यह चौदहवाँ अध्याय जहाँ—

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ गीता 14.1

यह परासिद्धि और सर्ग व्यथासे रहित, जन्म-मृत्युसे रहित, तत्त्वका निरूपण करनेके लिए आरम्भ हुआ। यहाँ अन्तमें उस अमृतत्वकी प्रतिष्ठा, अजत्वकी प्रतिष्ठा, सुखकी प्रतिष्ठाके रूपमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने आपको बताया।

भगवान्का भजन, भगवान्की भक्ति करो, नाम लो, पूजा करो, ध्यान करो, नाम-रूपको भगवन्मय बना लो—सारी सृष्टि भगवन्मयी, ऐसी शिक्षा देता है यह गीताका चौदहवाँ अध्याय। गीता तो अद्वैतामृत-वर्षिणी है ही! अम्बा है, माँ है। जैसे माँ अपने बच्चेको सब प्रकारसे जीवन-दान करती है, प्राण-दान करती है, शिक्षा-दान करती है, हित-दान करती है, इसी प्रकार यह गीता, सम्पूर्ण प्राणियोंको जीनेके कला बताती है, सिखाती है, दिखाती है और अमृतत्व प्रदान करती है। परमात्माके साथ एक करती है। आप लोगोंने बड़े प्रेमसे सुना। अभी संगीत होगा, उसको आप लोग प्रेमसे सुनिये! भगवान्का स्मरण कीजिये, अपने जीवनको सफल बनाइये! ●

गीता-दर्शन

(13)

गीता अध्याय-15

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला



कृतकृत्यश्च भारत!

गीताका पन्द्रहवाँ अध्याय जगत्, जीव, ईश्वर और जीवके लिए ईश्वरकी प्राप्तिका साधन—इनका संक्षेपमें सम्पूर्णरूपसे वर्णन करता है और अन्तमें ज्ञान और कर्म दोनोंकी पूर्णता बताता है। बुद्धिमान् होना और कृतकृत्य होना—यह दोनों पन्द्रहवें अध्यायकी फलश्रुति है।

कर्मयोगी श्रीघनश्यामदास बिरलाने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञान और कर्मके अनुष्ठान और अनुशीलनमें ही व्यतीत किया। उनके आशीर्वाद और प्रेरणासे उनके पुत्र श्रीबसन्तकुमार बिरला, श्रीमती सरला बिरला एवं उनकी परम्परामें ही उनका प्रभाव स्पष्ट देखनेमें आता है। हम हृदयसे चाहते हैं कि बिरलाजीका यह प्रभाव, प्रेरणा और आशीर्वाद हमेशा इस वंश-परम्परामें बना रहे और ईश्वरके प्रति भक्ति, सदाचार एवं तत्त्वज्ञानके प्रति ऐसी ही अभिरुचि बनी रहे। ईश्वरकी कृपासे सर्वदा इस परिवारके सार्वधिक् उन्नति होती रहे-यही शुभ कामना है।

वृन्दावन
29-7-1987

अखण्डानन्द सरस्वती

निवेदन

पूज्य स्वामीजी महाराज, सत्संग-प्रेमियों,

गोस्वामी तुलसीदासजीकी एक अमर पंक्तिसे मैं अपनी बात प्रारम्भ करूँ 'बिनु हरिकृपा मिलहि नहिं सन्ता' प्रभुकी यह अनन्त कृपा है कि हम प्रभातकी इस अमृत-बेलामें पूज्य महाराजश्री अखण्डानन्दजीका, एक ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रियका दर्शन कर रहे हैं, उनकी अनुभूत वाणीका श्रवण कर रहे हैं। जो वाणी भगवद्वाणीको हमारे सामने साकार कर रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल ग्रन्थ नहीं है। वह भगवान्की वाङ्मयी काया है। भगवान्का दिव्य अक्षरोंमें अवतरण है। आज हम गीताके पन्द्रहवें अध्यायके जिज्ञासु हैं। पुरुषोत्तमयोगके श्रवणके आकांक्षी। गीताके इसी एक अध्यायको शास्त्र कहा गया है। यह भगवान्के शब्दोंमें गुह्य नहीं; गुह्यतर नहीं, गुह्यतम शास्त्र है, जिसमें क्षरका, जगत्का, जिसमें अक्षरका-सनातन अंशभूत जीवका एवं पुरुषोत्तमका गम्भीर विवेचन है—भक्तिसे परिप्लुत और ज्ञानसे आलोकित। इसी गुह्यतम शास्त्रकी सरलतम व्याख्या सुननेका हमें परम सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

पूज्यश्री महाराजजीका स्वास्थ्य इन दिनोंमें ठीक नहीं है फिर भी वे अपने सब भक्तोंको आशीर्वाद देने स्वयं जाते हैं। हम सब उनके उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायुके लिए ईश्वरसे प्रार्थना करें। महाराजश्रीके चरणोंमें प्रणति निवेदन करती हुई एवं आप सभी सहृदय धर्मानुरागी बन्धुओं एवं बहनोंका हार्दिक स्वागत करती हुई मैं हर्षित हो रही हूँ।

पूज्यश्री बिन्नाणीजीका स्वास्थ्य खराब होते हुए भी उन्होंने प्रश्नोत्तर पूछनेका काम अपने जिम्मे लिया। हमलोग उनके आभारी हैं। मैं उनसे प्रार्थना करूँगी कि वे अपना सत्र शुरू करें।

—सरला बसन्तकुमार बिरला

गीता अध्याय -15

प्रवचन : 1

5-11-86

श्रीश्रीमती भगवती गीता, उपनिषद्रूप हैं। अनेक उपनिषदोंका समूह हैं। यहाँतक कि विद्वानोंने प्रकरणको उपनिषद्के रूपमें नहीं, एक-एक श्लोकको भी उपनिषद्के रूपमें बताया है। यह उपनिषद् है। उपनिषद्में वस्तुका निरूपण होता है। कुछ धर्मका, कुछ उपासनाका, कुछ ज्ञानका—सीधा-सादा निरूपण होता है। परन्तु गीताके रूपमें उसको मधुर बना दिया गया। यह गीता उपनिषद् है, संगीतमय उपनिषद् है। इसमें एक माधुर्य है, इसमें एक सौरस्य है, इसमें एक सौरभ्य है, इसमें एक सौकुमार्य है, इसमें एक सस्वर्य है, संगीत है, लोगोंको आकर्षित करनेवाली, लोगोंके कान-कानमें प्रवेश करनेवाली है।

उपनिषदें सबके कानमें नहीं जा सकती थीं। गीता पशु-पक्षीके कानको भी पवित्र करनेवाली है। पेड़-पौधे भी गीताको सुनकर आनन्द लेते हैं। गीत है, गीत भी है तो किसका? बोलते हैं न कि यह अमुक घरानेके संगीतज्ञ हैं, बहुत अच्छा संगीत गाते हैं। तो यह भगवद्-गीता है। इस संगीतके गायक वही बाँसुरीवाले मनमोहन, गोपीजनबल्लभ, श्यामसुन्दर हैं। जो विषादके अवसर पर भी एक दिव्य संगीत गाते हैं और अर्जुनके हृदयको अपने सम्मुख करके उसको अपने हृदयका दान करते हैं।

'गीता मे हृदयं पार्थ' यह मंडप सजा करके विवाहकी रीतिसे हृदय-दान नहीं हुआ है, युद्धभूमिमें, जहाँ दोनों ओरसे युद्धके शंख बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं, हाथी चिग्घाड़ रहे हैं-'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' वहाँ यह मधुर-मधुर संगीत प्रकट हुआ है। एक मित्र रोता है, एक मित्र गाता है, क्या आश्चर्य है? जहाँ गानेका अवसर है, वहाँ अर्जुन तू रो रहा है? पहला उपदेश है, अर्जुन! मुझे तो यह वातावरण देखकर, परिस्थिति देखकर, संगीत आ रहा है मेरे भीतरसे, और तू रो रहा है? हाँ मित्र। एक मित्र, जिसको भयंकर परिस्थिति समझ रहा है, समस्यासे भरपूर, संघर्षमयी, वहीं दूसरा मित्र है जो उसको उस परिस्थितिके बोझसे सर्वथा मुक्त करके 'प्रहसन्निव भारत'-जोर से हँसकर-ठठाकरके उस परिस्थितिका समाधान करता है। यह सम्वाद है।

वेद भगवान्की आज्ञा है कि हे मनुष्यों, तुम एक स्वरमें बोलो संवदध्वं-संगच्छध्वं-सं वो मनांसि जानताम्-मेरे प्यारे मनुष्यों! कदमसे कदम मिलाकर चलो। संगच्छध्वं-तुम्हारी गति सम्वादी हो। एक पाँव इधर, एक पाँव उधर पड़ रहे हों, ऐसे नहीं। संगच्छध्वं-मिलकर चलो! मिलकर बोलो-संवदध्वम्।

संवादमिममश्रौषं अद्भुतं रोमहर्षणम्।

गीताके अन्तमें सञ्जयने श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्वादको-सम्वाद कहके-दो मित्रोंकी बातचीत-ऐसा

कहा। बातचीतमें कोई गोपनीयता नहीं होनी चाहिए-कठोरता भी नहीं होनी चाहिए, बल्कि कोई गुप्त-से-गुप्त बात कहनी हो-इशारा कर दिया कि भाई बात तो गुप्त है, लेकिन सरल ढंगसे कह दी गयी। सम्वादमें दाव-पेंच नहीं होते हैं, सीधा-सादा, सरल होता है। इसीलिए, गीताके अधिकारीका जहाँ वर्णन है, वहाँ ये, तु करके वर्णन आता है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

यः कश्चित्-कोई भी जाने! उपनिषद्को जाननेमें सबके लिए छूट नहीं है। परन्तु गीताको जाननेमें सबके लिए छुट्टी है, यह सार्वजनिक ग्रन्थ है, सार्वदेशिक है, सार्वभौम है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्॥

भगवान्की शरण में जो आ जाय उसके लिए गीता खुला ग्रन्थ है।

अब पन्द्रह अध्यायसे पूर्व जब चौदहवाँ अध्याय समाप्त होना है-वहाँ भगवान् एक आकर्षण-सूत्र बोलते हैं। आकर्षण सूत्र क्या है? लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए! ऐसा भगवान् भी करते हैं। जैसे स्त्रियाँ तरह-तरहका शृंगार करती हैं, पुरुष तरह-तरह का शृंगार करते हैं कि लोग हमको देखें-वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान्ने भी-लोक-हितकी दृष्टिसे सही-आपके कल्याणके लिए-उन्होंने बताया कि जो कुछ है सब मुझ में ही है। मैं ही हूँ। अर्जुन, दुर्योधनकी ओर मत देखो, युधिष्ठिरकी ओर भी मत देखो। ये हाथी-घोड़े अस्त्र-शस्त्र इनकी ओर मत देखो! देखो मेरी ओर और व्यवहार करो सबसे। 'मामनुस्मर युद्ध्य च'-काकोजीको भी यह अर्धांश बहुत पसन्द था। वैसे चतुर्थांश है। देखो मुझे और अपने जीवनका जो कर्त्तव्य है, उनका पालन करो। देखो मुझे-क्यों देखें तुम्हें? 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्-चौदहवें अध्यायका अन्तिम श्लोक है

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 14.27

सुना है न वेदान्तोंमें ब्रह्म नाम? सुना तो है-अच्छा सुना है तो एक अद्भुत बात देखनेको मिलेगी कि दस उपनिषदोंमें कहीं भी परमात्मा शब्दका प्रयोग नहीं है। आत्माका है और ब्रह्मका है। और दोनोंकी एकताका है। तीन प्रकारके वाक्य आपको उपनिषदोंमें मिलेंगे। परब्रह्म क्या है? सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। आत्माका वर्णन मिलेगा। सोऽयमात्मा-अयमात्मा ब्रह्म। परन्तु आत्मा के अतिरिक्त परमात्मा शब्दका प्रयोग नहीं मिलेगा। ब्रह्म या आत्मा-और फिर दोनोंको एक कर दिया। अयं आत्मा ब्रह्म। यह आत्मा ही ब्रह्म है। दुनियाका कोई मजहब या कोई दर्शन ऐसा नहीं है जो हमारी आत्माको ही सर्वशक्ति, सर्वज्ञ, सर्वोपादान परिपूर्ण परमार्थ के रूपमें निरूपण करे ऐसा कोई शास्त्र नहीं है। गीताने कहा सुनते हो-सुनते हो! 'मैं इनके भीतरका रहस्य जानती हूँ। इनका मैं दिल हूँ। गीता मे हृदयं पार्थ। श्रीकृष्ण के हृदय का नाम गीता है। मैं उनका हृदय हूँ। बताती हूँ-ये कृष्ण कौन हैं? इन्हींके मुँहसे सुनो! ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।

प्रति इष्ठति अस्याम् इति प्रतिष्ठाम्।

ब्रह्म कहाँ रहता है ? श्रीकृष्णकी आत्माके रूपमें साक्षात् है। अच्छा; हमको ब्रह्म नहीं चाहिए। हम तो अमृत पीना चाहते हैं। 'अमृतस्याव्ययस्य च।' मैं अमृतकी भी प्रतिष्ठा हूँ। माने मुझमें ही अमृतका निवास है। मैं अमृत हूँ और वह स्वर्गवाला अमृत नहीं! अव्यय अमृत। अच्छा-यह अमृत तो धर्मसे मिलता है।

बोले—शाश्वत धर्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ। धर्मप्रतिष्ठाके लिए तो मेरा अवतार ही हुआ है। फिर -बोले 'सुखस्य एकान्तिकस्य च' जो ऐकान्तिक सुख, मोक्ष सुख है-त्यागका सुख है-ऐकान्तिक सुख माने-जिस सुखसे बड़ा कोई सुख न हो। जिसके बाद कोई सुख न हो। जिसमें तारतम्य न हो, छोटा-बड़ा न तो-तारतम्य न होना माने स्वगत-भेद न होना वैसा सुख दूसरा न होना। माने सजातीय सुख न होना। उसके सिवाय दूसरेमें उस सुखका न होना माने विजातीय सुख न होना। विजातीय, सजातीय-स्वगत-भेदसे मुक्त जो सुख है, वह मैं हूँ। आपका जीवन एक रथ है-आप इसमें रथीके रूपमें बैठे हुए हैं। इन्द्रियाँ इसमें घोड़े हैं। मनकी बागडोर है। बुद्धि इसमें सारथि है। और उसी बुद्धिके अन्तर्यामीके रूपमें स्वयं भगवान् बैठे हुए हैं।

आपका जीवन इस कामके हाँके हँक रहा है-जीवनके रथका सारथि काम है कि जीवनके रथ का सारथि राम है, श्याम है-निश्चिन्त हो जाइये कृष्णने कहा-मेरी ओर आओ। पन्द्रहवें अध्यायमें आरम्भ हुआ तो पहले देखो-संसारको पहचानो। संरारमें कर्मकी गतियोंसे जो ऊँच-नीच योनियाँ प्राप्त होती है, उनको पहचानो। और ये यथार्थ हैं कि अयथार्थ हैं, इनको पहचानो। फिर यथार्थ को पहचानने के लिए जो साधन हैं, उनका अनुष्ठान करो।

अभी चार बात ले लेते हैं। संसारका स्वरूप क्या है? इसमें नीच-ऊँच योनियाँ क्या हैं? और यह यथार्थ हैं कि अयथार्थ हैं और किन साधनोंसे इसकी प्राप्ति होती है। 'ऊर्ध्वमूलमध: शाखं' में संसारका स्वरूप है और 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'में इसकी नीच-ऊँच योनियाँ हैं और 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'में इसकी अयथार्थताका निरूपण है और 'निर्मानमोहा जितसंगदोषा'में साधनका निरूपण है।

जब पन्द्रहवें अध्यायके बारेमें ही बोलना है तो प्रश्न तो बने बनाये हैं। यह जो जगत् है-संसार है, इसका दो भेद महापुरुषोंने किया है। होता तो सब कुछ परमेश्वरकी शक्तिसे ही है और उसीके ज्ञानसे होता है और उसीके आनन्दसे इसमें आनन्द भी आता है। प्रत्यक्ष परमात्मा! टुकड़े-टुकड़े जर्रे-जर्रे, कतरे-कतरे, जो चीजें हैं, उनको एक सत्ता प्रदान करना-जो अलग-अलग शरीरोंमे ज्ञान मालूम पड़ते हैं, उनको एक ज्ञानका रूप देना-सब सत्ता एक है, सब चेतन एक है-सब सुख एक है, आनन्द एक है। यह मेरा-मेरा करके मनुष्य भटक गया है।

ईश्वरकी सृष्टि—आप ध्यान देकर देखें—भगवान्ने एक धरती बनायी, एक पानी बनाया, एक सूर्य, चन्द्रमा तेजस्-तत्त्व बनाया—एक साँस दी सबको—एक हवा दी सबको साँस लेनेके लिए। आकाश बनाया सबके वाक्-व्यवहारके लिए! यदि आकाश न हो तो वाणीका व्यवहार नहीं हो सकता। मुँहमें-से शब्द निकलता है, कानमें प्रवेश करता है। एक छेदमें-से निकला, दूसरेमें गया।

अब यदि दोनोंके बीचमें अवकाश न हो, तो यह शब्द यहीं रुक जायगा, आपके कानतक नहीं

पहुँचेगा। वाक्-व्यवहारके लिए कान बनाया, स्पर्श-व्यवहारके लिए त्वचा बनायी, रूप-व्यवहारके लिए आँख बनायी, स्वाद, रस-व्यवहारके लिए जिह्वा बनायी और गन्ध-व्यवहारके लिए नासिका बनायी। यह सब भगवान्‌की रचना है। स्त्री है, पुरुष है, पशु है, पक्षी है, पेड़ है, पौधा है—यह तत्त्व तात्त्विक जितनी सृष्टि है यह सब परमेश्वरकी बनायी हुई है। सांख्यवादी कहते हैं, प्रकृतिकी बनायी हुई है। वैशेषिकोंने कहा—परमाणुकी बनायी हुई है। जैनोंने कहा पुद्गलोंकी बनायी हुई है।

बौद्धोंने कहा—विज्ञानका ही एक रूप है। हम अपना हाथ झाड़ देते हैं। हमारी बनायी नहीं है—चाहे किसीने बनायी हो, किसी चीजसे बनायी हो, पर यह जो प्राकृत सृष्टि है, ईश्वरीय सृष्टि है, यह हमारी बनायी हुई नहीं है। तब यह जो मेरा-मेरा आता है, वह कहाँसे आता है? पैसेसे खरीदते हैं—या उसमें कुछ हाथसे या मशीनसे टेढ़ामेढ़ा रख देते हैं—रुई तो तुमने बनायी नहीं—कपड़ेके बनानेवाले हो गये। रुई भी बनायी तो कपासका बीज तो तुमने बनाया नहीं; बीज भी बनाया तो मिट्टी तो बनायी नहीं। मिट्टी भी बनायी हो तो पञ्चभूत तो बनाया नहीं—सब ईश्वरीय सृष्टि है और इसको ठीक उसी रूपमें जो देखता है, वह सदा आनन्दमें रहता है, उसको कृष्ण मिल गये। जो कृष्णकी रचना देखे, जो भगवान्‌की रचना देखे—उसको पग-पगपर भगवद् प्राप्ति, रोम-रोमसे भगवद्-प्राप्ति हो जाती है। एक सृष्टि होती है जीवकी बनायी हुई। एकको अनेक करनेमें सबसे ज्यादा यह जीव निपुण है।

साइंसके जो आविष्कार हैं वे विश्लेषण करके एकको अनेक करनेके लिए होते हैं। उसका अनेक उपयोग होता है, उसके अनेक रूप होते हैं। और यह जो भगवल्लीला है वह सबको एकमयी बनाकर, एक बनाकर हमारे हृदयको राग-द्वेषसे रहित करनेकी होती है। 'ऊर्ध्वमूलमध: शाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'—यह भगवान्‌की रचना है और कहता कौन है? भगवान् ही कहते हैं—श्रीभगवानुवाच।

अब चौदहवें अध्यायवाली बात भी कर देते हैं। माने भगवान् ऐकान्तिक सुखके रूप हैं, यह जाननेके लिए, यह जो ऊपर-ऊपर संसारका पेड़ है, छिलका है इसको अलग करके देखना पड़ेगा। बालूमें सोना मिल गया है, तो सोने और बालूको अलग-अलग करना पड़ेगा। और असली हीरोंमें नकली हीरे मिलाये जाते हैं—राधेश्याम! पहचानना ही मुश्किल हो जाय। यह जो हम अपने सामने देख रहे हैं उसका वृक्षके रूपमें वर्णन किया है। वृक्ष माने पेड़-पौधा संस्कृतमें इसका अर्थ होता है, जो काटनेसे मिटे उसका नाम वृक्ष! ओवृष्टु छेदने! वृष्यते इति वृक्ष:।

गेहूँ, जौ, मटर, चने एकबार फल देनेके बाद दुबारा फल नहीं देते, उनका पौधा मिट जाता है, बीज रह जाता है। ओषधियाँ 'फलापाकान्ता:' एकबार उनका फल पग गया, उनका जीवन पूरा। अब अगली पीढ़ीके रूपमें आयेंगे। और वृक्षोंमें कई ऐसे होते हैं, जिनमें पल्लव तो लगता है, और एक ऐसे होते हैं जिनमें पल्लव लगते ही नहीं है। करील है, उसमें पल्लव नहीं लगता है। एक वृक्ष ऐसा होता है जिसमें पल्लव भी लगता है, फूल भी लगता है, परन्तु फल नहीं लगता है। एक वृक्ष ऐसा होता है, जिसमें फल तो लगता है लेकिन फूल नहीं लगते। इनके भेदका भागवतमें वर्णन है। बड़े ध्यानसे पढ़ने लायक है।

यह संसार क्या है? यह वृक्ष है माने यह चलता रहेगा—एकके बाद एक, एकके बाद फल लगता रहेगा, बीज पैदा होते रहेंगे। बढ़ता रहेगा। पुत्र-पुत्रादिके रूपमें हम अमर होते रहेंगे। अमरताकी एक यह भी व्याख्या है। ब्रह्मासे लेकरके आजतक हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी होते आये हैं। अनादिकालमें न जाने कब ब्रह्माने यह सृष्टि बनायी थी और उनके सन्तानकी अविच्छिन्न परम्परा आपतक पहुँची है और यह आगे भी चलती रहे तो अमर बनी रहेगी। दार्शनिकोंका एकमत इस प्रकारका है।

अब आओ अश्वत्थकी बात करें। अश्वत्थ माने पीपलका पेड़। बड़का पेड़। अश्वत्थ शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें दोनों ही अर्थमें आता है—बड़ भी और पीपल भी! एक पेड़ है—यह विचित्र है। वह कौन-सा है? ऊर्ध्वमूलं अध:शाखम्। उसकी जड़ तो ऊपरको है और शाखा नीचेको है। देखा कहीं ऐसा पेड़? कोई कौतुकिया हो तो कह भी दे कि, हाँ हम कुल्लूकी तरफ गये थे, वहाँ एक सरोवर है, उसका करार बहुत ऊँचा है। वहाँ ऊपर पेड़ होकर नीचेको लटक गया है। मैंने देखा है। नहीं, उस पेड़से मतलब नहीं है। दृष्टान्त वही होना चाहिए जो सबका देखा हुआ हो। कोई चिन्तामणि है, उसमें कोई विकार नहीं होता और चीजें पैदा हो जाती है। कोई कल्पवृक्ष है, कोई कामधेनु है उसमें-से जो चाहे कोई दुह ले—ये दृष्टान्त नहीं हो सकते। क्योंकि जो दृष्ट हो उसीका दृष्टान्त होता है। देखी हुई चीज हो उससे समझाया जा सकता है।

हाँ, हम आपको ऐसा पेड़ दिखाते हैं जो सबका देखा हुआ है। वह पेड़ कौन-सा है? आप स्वयं हैं। यह जो शरीर है—'ऊर्ध्वमूलं अध: शाखम्।' इसकी जड़ है ऊपरकी ओर और शाखाएँ—हाथ-पैर इत्यादि नीचेकी ओर लटके हुए हैं। 'अश्वत्थं अपि अव्ययं प्राहु:।' है तो यह अश्वत्थ—'ऊर्ध्वमूलं—ऊर्ध्वका अर्थ होता है ऊपर क्योंकि चौदहवें अध्यायमें 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था:।' ऊर्ध्व शब्दका प्रयोग है। और उपनिषदोंमें 'मूलेन शुगेन अन्वेषणीय:। एक रस्सी पकड़ लो और ऊपर चढ़ते चले जाओ। इसी प्रकार इस वृक्षका अनुसन्धान करो—ऊपर-ऊपर-ऊपर चलते जाओ तो ऊपर परमात्मा मिलेगा!

हे भगवान्, पहली बात तो यह है कि जहाँ चाँद-सितारे रहते हैं वह संस्कृतमें ऊपरके माने नहीं होता है। संस्कृतमें ऊपरके माने होते हैं जैसे लाउडस्पीकर—इसके भीतर जबान बोलनेवालेकी—इसके ऊपर है बोलें नहीं तो लाउडस्पीकर क्या करेगा? जबानसे ऊपर अपना मन, बोलनेका संकल्प न हो तो क्या होगा? संकल्पके ऊपर भी उसका साक्षी। प्रत्येक शरीरमें एक है सो परमात्मा और जो शरीरमें अलग-अलग मालूम पड़ता है, वह आत्मा ऊर्ध्वमूलं माने—सृष्टिकी उत्पत्ति कहाँसे होती है? यह मेरी माँ है यह सृष्टि कहाँसे आयी? मेरे भीतरसे। यह मेरा बाप है, यह मेरा पुत्र है—एक व्यक्ति आप है, आप अपने पिताके पुत्र हैं, नानाके धेवते हैं, दादाके पौत्र हैं; भाईके भाई हैं; पुत्रके पिता है, पत्नीके पति हैं, बहनके भाई हैं। आप क्या हैं? देखो एक अदद आदमी है और वह इतना कैसे बनकर बैठ गया? यह देखो मानस सृष्टि है—मानसी। इसके सबके ऊपर वह है जो इसको बनानेवाला है, जो जाननेवाला है, अपने भीतर है—भीतरसे भीतर, भीतरसे भीतर, इन्द्रियेभ्य पराह्यर्था: अर्थेभ्यश्च परं मन:। ऊर्ध्व यही है।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।

महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

आपकी आत्मा ही सारी सृष्टिको मालूम करती है। जिसको मालूम पड़ता है उसकी सृष्टि है। अश्वत्थः ऊर्ध्वमूलं अधः शाखम्। सबसे ऊपर जो परमात्मा है, ब्रह्म है वह इसका मूल है, मूल है माने जड़ है। मायाविशिष्ट परब्रह्म परमात्मा इसका बीज है। और अधःशाखम्, महतत्त्व, अहंकारतत्त्व, पञ्चतन्मात्रा, षोडशविकार, ये सब इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। माने जितनी ईश्वर सृष्टि हम कहते हैं, या जितनी प्राकृत सृष्टि हम कहते हैं, या जितनी पारमाणविक सृष्टि कहते हैं—या जितनी चातुर्मतिक सृष्टि कहते हैं—यह सब सृष्टि अश्वत्थ रूप है और जड़ है। इसकी अपनी अन्तरात्मा, अन्तर्यामी—ईश्वर भी हमारे हृदयमें बैठकर इस सृष्टिको बनाता है। मैं-ईश्वर-सृष्टि, सृष्टि-ईश्वर-मैं सबसे सुगम अगर संसारमें देखनेकी वस्तु है तो वह ईश्वर हैं। क्योंकि सृष्टि दिखनेसे पहले ही उसका दर्शन हो लेता है।

आप सब लोगोंको भी देखनेसे सुगम क्या है? प्रकाश! पहले हम रोशनीको देख लेते हैं, तब उस रोशनीमें आपको देखते हैं। यह है परमेश्वर! अश्वत्थं। अश्वत्थ शब्दका वर्णन वेदोंमें दो रूपसे आता है। 'एक ब्रह्माश्वत्थ, एक कर्माश्वत्थ! ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

कहते हैं कि एक वन है और उस वनमें कोई पेड़ हैं। उस पेड़को गढ़ करके विश्वकर्माने यह सृष्टि बनायी। वेदमें ऐसा मन्त्र आता है।

कि तत्र वनं कौ वृक्षाः सः।
ब्रह्म तद्वनं ब्रह्मवृक्षा सः॥

इसीसे त्वष्टाने, बढ़ईने, सुतारने गढ़-गढ़कर यह दुनिया बनायी। अश्वत्थ है। अश्वत्थ शब्दका अर्थ शब्दार्थकी दृष्टिसे ऐसा होता है 'न श्वोपि स्थाता-इति अश्वत्थः।' रामानुजने, शंकरने, दोनोंने यह व्युत्पत्ति दी है। कल नहीं रहेगा। 'अ' माने नहीं-'श्वं' माने सुबह-कल, 'स्थ' माने स्थाता। अश्वत्थ—माने यह कलतक नहीं रहेगा। इसलिए इसको कहते हैं अश्वत्थ। है तो इसका रूप बदलता हुआ। नित्य बदलता है। कल जो समुद्रमें जल था, वह आज नहीं है। वह तो परस्परके द्वन्द्वसे कहाँ-का-कहाँ गया। गङ्गाजीमें जो कल जलधारा आ रही थी वह आज नहीं है—चली गयी। वृक्षमें जो कल फल फला था, वह आज नहीं है। परिवर्तन हो गया। सारी सृष्टि परिवर्तनमयी है, वर्तनमयी है, नित्य-नूतन सृष्टिको देखकर परमात्मा प्रसन्न होते हैं और जीव जो अज्ञानी हैं, वे इसके किसी एक रूपको पकड़ लेते हैं और इसका मजा नहीं ले पाते हैं। जब नृत्य करते हैं, तो उसमें छवि जितनी बदलेगी, हस्तक जितने बदलेंगे, नेत्रका संचार जितना बदलेगा, पाँवकी पटकन जितनी बदलेगी, उतना ही तो उसमें आनन्द आवेगा!

यह तो भगवान्के नचकैया रूपका नाम संसार है। वह तो इसका मजा ले रहा है, कभी हाथसे बुलाता है तो कभी यों कर देता है। आओ—भगवान् नाच रहा है। पेड़के रूपमें नाच रहा है, पक्षियोंके रूपमें गा रहा है।

क्या संगीत,क्या संगीत, साँस-साँसमें आकर जीवनदान कर रहा है। वही तो है न! अश्वत्थका एक और अर्थ लेते हैं। अश्वके समान स्थित है।

अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थाः। अश्वत्थम् प्राहुरव्यम्।
अश्वोपि तिष्ठति इति अश्वत्थः। अश्ववत्स्थः अश्वत्थः॥

अश्व जब विश्राम करनेके लिए खड़ा होता है तो उसके तीन पाँव धरतीपर लगे रहते हैं। 'सोयमात्मा चतुष्पाद।' तीन पाँव धरतीपर लगे और एक पाँव जब वह उठा लेता है तो वही उसका विश्राम है। विश्राममें एकपाद जो है वह आत्माका विश्राममें है और तीन पाद प्रपंचमें है। इसीलिए—

पादोस्य विश्वा भूतानि; त्रेधा निदधे पदम्

चतुष्पाद बोलें—तो सत्, चित्, आनन्द-तीन पाद उसके ऊपर हैं—और एक चतुष्पादमें नाम-रूप हैं और ऐसा मानें कि चतुर्थ पाद तुरीय है और तीन पादमें यह सृष्टि है।

इसको भी लोग 'अव्ययं' कहते हैं। 'अव्ययं' कहनेका मतलब है कि अपने आप नहीं मिटेगी। यह मत सोचना कि एक दिन ऐसा आवेगा कि मुक्ति हो जावेगी। एक दिन अपने आप ऐसा आजावेगा कि परमात्मा मिल जावेंगे। इसकी कड़ी जुड़ी रहेगी जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लते।

अपने जीवनको पुरुषार्थमय बनाकर करो—हमारा विश्वास है भाई, मिल जायेंगे परमात्मा! धन्य हो तुम, यह विश्वास जो तुम्हारे अन्त:करणमें है यह तुम्हारा पुरुषार्थ। विश्वास तुम करोगे, अनुग्रह भगवान् करेगा। अब इस संसारका असली रूप क्या है? रूप इतना नंगा है महाराज! किसीको दिखाने लायक नहीं है। क्षण-क्षण परिणामी है। चीजें बदल रही हैं और समझी हुई चीजोंको हम सुखदायी समझते हैं। और यदि इसका विश्लेष्ण किया जाय, दुनियाकी बखिया उधेड़ दी जाय तो महाराज बस, बस, देखने लायक नहीं है।

हमारे ही शरीरको यदि बखिया उधेड़ दी जाय तो हम देखनेसे इनकार कर दें। इतना मल है, इतना मूत्र है, निकलता क्या है, इसके भीतरसे—आपको मालूम है नाकमें-से बलगम, मुँहमें-से थूँक और आँखमें-से कीचड़, चाममें-से पसीना, कानमें-से खोंट, यही सब तो इसके भीतरसे निकलता है जो खजाना भरा है, वही तो निकलता है न इसमें-से!

आओ खोलकर रख दें! नहीं-नहीं—वेदोंने कहा ऐसा न करो! संसारकी पोलपट्टी मत उधेड़ो, नहीं तो लीला ही नहीं चलेगी, मना कर दिया। ढँक दिया इसको!

छन्दांसि यस्य पर्णानि—पर्णानि आच्छादकानि।

वेदने कहा देखो—एक होता है नरक वह तो बहुत बुरा है और एक होता है, स्वर्ग वह बहुत अच्छा है। जो अधर्म करते हैं, वे नरकमें जाते हैं, जो धर्म करते हैं, वे स्वर्गमें जाते हैं। जिनका आचरण रमणीय होता है, सुन्दर होता है, वे आगे और सुन्दर हो जाते हैं।

वेदने क्या किया—यह सुन्दर है, यह असुन्दर है, यह हेय है, यह ग्राह्य है, ये उपादेय हैं, ये त्याज्य हैं,

ऐसा भेद बना दिया। स्वर्गके लिए बनाओ यज्ञशाला। क्या सुन्दर रचना करो कि देख-देखकर मुग्ध हो जाओ ओर एक ओर कुरूप नरक रख दो—कि नहीं हम नरकमें नहीं जायेंगे।

चीज बिलकुल एक ही है—एक सोनेका पत्र ले आये, उसके ऊपर ठोंक-ठोंककर चित्र बना दिये। एक ओर गणेश हो गये, दूसरी ओर दक्षिणकाली हो गयी—हड्डियोंकी माला पहने हुए। एक ओर चमाचम चमकते हुए बड़े मुलूक लक्ष्मीनारायण, राधा-कृष्ण, सीताराम। मन्दिर बना, फिर मन्दिरमें-से पनाला बना, पनालेमें-से निकलकर एक जगह पानी इकट्ठा हुआ, पानी इकट्ठा होकर सड़ गया, गन्दा हो गया, पर है सब सोना ही वह तो उसपर केवल लकीर उभारी हुई है, है सब सोना।

ये वेदने भेद किया कि मनुष्य इसको छोड़े, इसको पकड़े तो इसकी जो कुरूपता थी वह ढक गयी। आदमी अच्छेके लिए प्रयास करने लगा—'छन्दांसि छादनात्।' जो ढँक दे उसका नाम होता है छन्द। छन्द माने वेद। वही जैसे पत्तेके बिना पेड़ नंगा होता है छन्द। छन्द माने वेद। वही जैसे पत्तेके बिना पेड़ नंगा होता है, और दर्शनीय नहीं होता है, उसमें सब डाली एक सरीखी नहीं मालूम पड़ती हैं, परन्तु पत्ते लग जानेपर उसमें सुन्दरता आजाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ वृक्ष—जिसका मूल ऊर्ध्व, जिसकी शाखाएँ अधः—यह था तो बिलकुल नंगा, यदि इसमें वेद न होते, वाक्य प्रणामके द्वारा यदि इसमें सुन्दर, असुन्दर, देय, उपादेय, अमृत और विषकी कल्पना न आती, यदि वेद इसको सँवारते नहीं, सिंगारते नहीं तो यह कुछ नहीं होता,यह सब वेदोंकी महिमा है। **यस्तं वेद स वेदवित्।**

जो इसको जान लेता है वह वेदवित् है। जानेगा संसारको—अश्वत्थको जो जानेगा—

अश्वत्थं वेद अश्वत्थवित् भवति।

अश्वत्थको जब उसने जान लिया तो अश्वत्थको जाननेवाला हो गया। वह वेदका जाननेवाला कैसे हो गया? जो जिसको जानता है, उसका जाननेवाला होता है। पर यहाँ कृष्णको तो अपनी प्रशंसा ही करनी है। श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करते हैं। जैसे एक सच्चा मनुष्य है तो वह अपनेको मनुष्य नहीं कहेगा तो क्या पशु कहेगा? जो परम सुन्दर, परम मधुर, साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, अगर वह अपनेको परब्रह्म परमात्मा नहीं कहे, तो क्या मूर्ख कहे? कि कीड़ा कहे? कि मकोड़ा कहे? **यथा नरत्वप्रवृत्ते नरस्य।**

श्रीकृष्ण जो अपनेको जानते हैं, अनुभव करते हैं, वहीं तो बोलते हैं। छाती ठोंककर इनको कहना है अन्तमें। क्या?

वेदविदेव चाहं; अहमेव च वेदवित्।

असलमें मैं ही वेदवित् हूँ। अब देखो दोनोंको मिला लो। पहले—

वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

पन्द्रहवाँ अध्यायका आदि है कि वह पुरुष है, वेदवित् मालूम पड़ता है, होगा कोई गोलोकमें, बैकुण्ठमें—बोले वह नहीं वेद विदेव चाहं'—मैं ही वेदवित् हूँ। पहले तो बताया कि मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया अमृतकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया धर्मकी प्रतिष्ठा हूँ, फिर बताया सुखकी प्रतिष्ठा हूँ और बोले कि मैं ही

वेदवित् हूँ। वेदवित् कहनेसे भी श्रीकृष्णको सन्तोष नहीं हुआ। हमलोग वृजवासी हैं, ऐसे ही बोल देते हैं। मित्र हैं, कभी गुल्ली-डण्डा भी खेल लिया, कभी कबड्डी भी खेल ली। यह क्रिकेट, हाँकी तो पता नहीं उस समय थे कि नहीं थे। उसमें एक बात और कहनी थी कि जो वेदवित् होता है वह सर्वविद् हो जाता है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

जो वेदवित् है वह सर्वविद् है, जो सर्वविद् है वह वेदविद् है। अब देखो उपनिषद्को जोड़ लो। एक ऐसी वस्तु है जिसको जान लेनेपर सब जान लिया जाता है। 'यस्मिन्, दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते, सर्वम् दृष्टम्, श्रुतम्, मतम्, विज्ञातम् भवति।'

एक दुनियामें ऐसी चीज है कि उसको जान लो तो सब कुछ जान लिया जायगा। सबको अलग-अलग जाननेकी कोशिश करें? आओ उसीको जान लें। सब कुछ जान लिया जायगा। बोले भाई यह कौन है? सर्वविद्—तो कृष्णने कहा—मुझको जानता है वह सर्वविद् है। तुम क्या जानते हो? तुम अपना जानना बताओ। अहं वेदवित्। मैं वेदवित् हूँ—वेदको जानता हूँ। वेदको कौन जानता है? जो सम्पूर्ण प्रपञ्च और प्रपञ्चाधिष्ठानके रहस्यको जानता है,जो दुनियाको जानता है, दुनियाको रोशन करनेवालेको जानता है, जो दुनियाके अधिष्ठानको जानता है, जो उस स्वप्रकाश अधिष्ठानमें द्वैतके अभावको जानता है, वह जाननेवाला वेदवित् है। वह वेदवित् मैं हूँ। और मैं सर्ववित् हूँ। इसलिए 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्'—'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत'—अर्जुनको कृष्णने कहा—अरे अर्जुन! भारत, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो, भरतवंशमें पैदा हुए हो, आनुवंशिक योग्यता है तुम्हारे अन्दर, पीढ़ी दर पीढ़ीसे आयी है और भारत देशके तुम हो लाडले सुपुत्र, भरतवंशके हो और 'भा' माने प्रतिभामें निरन्तर रत हो। देशिक योग्यता है, आनुवंशिक योग्यता है और तुम्हारी प्रातिभ योग्यता है।

इस योग्यतासे सम्पन्न हो। आओ आओ तुम जानो! क्या जानूँ? मुझे जानो। तुम कौन हो? मैं वेदवित् हूँ। इसलिए मैं सर्ववित् हूँ। सर्ववित् ही नहीं हूँ, अर्जुन! सुन लो। वेदान्तकृत्—सम्पूर्ण वेदोंका जो परम तात्पर्य है अन्त—उसको मैं जानता हूँ। जहाँ वेद नहीं थे, उसको भी जानता हूँ और जहाँ वेद नहीं होते हैं, उसको भी जानता हूँ। वेदान्तकृत। मैं वह हूँ जिसमें सम्पूर्ण वेद-वेदान्त पूरे हो जाते हैं। इस तरह छाती ठोंककर अपने मित्रके सामने—कभी कभी डींग भी तो हाँकी जाती है न! अब आओ कल इसके आगेका प्रसंग कहेंगे कुल 20 श्लोक हैं—3-4 श्लोक रोज कहेंगे पूरा हो जायेगा।

●

प्रवचन : 2

6-11-86

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखं अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ 1 ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 2 ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 3 ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 4 ॥

यह पन्द्रहवाँ अध्याय पुरुषोत्तम-विज्ञान है। उत्तम पुरुषको पहचाननेकी प्रक्रिया है। अनुभवके क्षेत्रमें उत्तम पुरुष अपनी आत्माको ही कहते हैं। वह अन्य पुरुष हुआ, प्रथम पुरुष तुम, मध्यम पुरुष हुआ और मैं, उत्तम पुरूष हुआ। वह दूर है, तुम निकट है और मैं अपना आपा है। अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष अपने आत्माका ही नाम होता है। पर आत्माका साक्षात्कार करनेमें बाधा क्या है? हम अपने आत्मासे जो बाहरकी वस्तुएँ हैं उनको पकड़ लेते हैं, उनमें हमारी आसक्ति हो जाती है, संग हो जाता है। यह जो बाहर संसार है, उसके दो प्रकार हैं-एकका नाम है ब्रह्माश्वत्थ और दूसरेका नाम है कर्माश्वत्थ, ये दो विज्ञान यहाँ अश्वत्थके रूप में हैं। अश्वत्थ माने पीपलका पेड़ और कहीं-कहीं अश्वत्थ बड़का भी नाम आता है। कम मिलता है; परन्तु कोषोंमें कहीं-कहीं अश्वत्थका मतलब बट वृक्ष भी है।

यहाँ जब यह बात कही गयी कि सुखस्वरूप केवल परमात्मा ही है-'सुखस्यैकान्तिकस्य च' तो वह सुख जो ऐकान्तिक सुख माने अनन्त सुख, दिव्य सुख। उपनिषदोंमें एक तो सुख भूमाके नामसे वर्णित है छान्दोग्य उपनिषद्में और आनन्द इसी नामसे वर्णन है तैतरीय उपनिषद्में-

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते॥

सृष्टि के मूलमें आनन्द-ही-आनन्द है। और वही उर्ध्वमूलम् है। इसके अतिरिक्त यह बात कही गयी है कि-

मां च यो व्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अनन्य योगसे, अव्यभिचारी योगसे जो मेरी भक्ति करता है वह गुणोंका अतिक्रमण करके

ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मभावकी प्राप्तिके लिए भगवान्‌की भक्ति करनी चाहिए। जिसकी भक्ति की जाती है उस भगवान्‌का क्या स्वरूप है, पुरुषोत्तमका क्या स्वरूप है, उसका वर्णन करनेके लिए यह पन्द्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है।

पहली बात हुई, परमानन्दकी प्राप्तिके लिए, जिसको बृहदारण्यक आदिमें अमृतके नामसे कहा गया है, मधुके नामसे कहा गया है। मधु है, रस है, आनन्द है, सुख है, अमृत है उसकी प्राप्तिकी इच्छा तो सभीको होती है। जानमें-अनजानमें सभी लोग चाहते हैं कि हमको नित्य सुख मिले। सब जगह सुख मिले। सबसे सुख आनन्दित रहते हैं और जो विनश्वरके रूपमें, दु:खीके रूपमें देखते हुए भी इसमें फँस जाते हैं, वे दु:खी होते हैं।

अब अश्वत्थ और अव्यय देखो-गंगाजी एक रकम सेती-मैंने मारवाड़ी लोगोंसे बोलते हुए सुना है-तो एक रकम सेती, ये गंगाजीको जबसे भगीरथ लेकर आये तबसे बह रही हैं और अव्यय हैं। और एक रकम सेती देखो तो निरन्तर बहती जा रही हैं-समुद्रमें मिलती जा रही हैं-बदलती जा रही हैं। तो अब इनको आप अश्वत्थ भी कह सकते हैं और अव्यय भी कह सकते हैं। तो प्रवाह रूपसे तो यह प्रपञ्च है-संसार जो है वह अव्यय है और वस्तुत: यह प्रतिक्षण परिणामी, प्रतिध्वंसी है। इसलिए इसको दोनों ही कहा जा सकता है। दीयेकी लौकी तरह, गंगाजीकी धाराकी तरह, वृक्षमें लगे हुए फलकी तरह। अथवा यह मनुष्यका शरीर, मालूम नहीं पड़ता-आत्मा है नित्य और शरीर है अनित्य।

बाल कब पक गये पता नहीं लगा। एक महात्मा थे उनको यह शौक था कि हमारे बाल काले रहें। तो रोज सबेरे शीशेमें देख लेते और जो सफेद बाल निकलता उसको काट देते। पर कितने दिन तक काटें? आजकल तो बालको रंगकर रखते हैं। पर रँगा हुआ बाल कितने दिनतक रँगा रहेगा? जोड़कर रखते हैं। रँगते भी हैं और जहाँसे टूट गये हों वहाँसे जोड़ते भी हैं और बिलकुल सिर चिकना हो गया हो तो आरोपण भी पर करवाते हैं। हमने देखा है जैसे धानके खेतमें धान रोपते हैं, वैसे लोगोंके सिरमें बाल रोपा हुआ! पर कितनी भी कोशिश करो, यह बदले बिना तो रहेगा नहीं, तो जो प्रतिभाशाली पुरुष होगा, नवनवोन्मशेषशाली पुरुष होगा, वह तो इसके नृत्यके पोज देखेगा कि यह अब कैसा बदल रहा है और जो इसके विनाशको देखेगा वह दु:खी होगा।

वैराग्यके लिए भी इस दुनियाको दिखाना है और आनन्दके लिए भी दिखाना है। इसलिए दो दृष्टि होनेसे 'अश्वत्थमपि अव्ययं प्राहु:।' यद्यपि यह कल नहीं रहनेवाला अश्वत्थ है, तथापि इसको अव्यय कहते हैं। न व्ययति, छीजता नहीं है घटता नहीं है-जैसे सोना है। उसमें तरह-तरहकी शकल बनाओ-भूत-भैरव बनाकर देखो चाहे उसे राधा-कृष्ण बनाकर रास-लीलाका आनन्द लो-सोना-तो-सोना ही है।

आपकी बुद्धिपर बहुत कुछ इस संसारके सुख-दु:ख आलम्बित हैं, आधृत हैं। सुख-दु:खको आप संसारमें न देख करके अपनी बुद्धिकी स्थितिसे परखिये। अच्छा; बुद्धिसे परखनेकी प्रक्रिया क्या है? 'छन्दांसि यस्य पर्णानि।' छन्दम् माने वेद। छादनात् छन्द:। देखो एक पेड़ है आपके पास। एक पेड़को वेदने बता दिया यह अयज्ञ है-यज्ञमें इसको काममें नहीं लेते हैं। दूसरे पेड़को बता दिया यह यज्ञ है। यह यज्ञके काममें आयेगा।

मनुष्य दोनों है। एकको बता दिया कि यह अन्त्यज है और एकको बता दिया अग्रज है। गाय दोनों जगहमें है। यज्ञमें भी और कसाई-खानेमें भी। एक जगह पाप है-कसाई खानेमें गायका जाना पाप है और यज्ञशालामें गायका जाना पुण्य है। ब्रह्मचारीके लिए चोटी रखना बहुत पुण्य है, आवश्यक है, संन्यासीके लिए चोटी रखना बिलकुल आवश्यक नहीं है-त्याज्य है। गृहस्थके लिए पति पत्नीका सहवास, ऋतुगमन पुण्य है, तो संन्यासीके लिए स्त्रीका स्पर्श भी निषिद्ध है।

अब है क्या? ये वेदोंने भेद बनाये हैं-हमारे व्यवहारकी सिद्धिके लिए। हमारी जीवन-यात्रा चल सके-क्या खाना, क्या नहीं खाना- हम एक दूसरेके साथ व्यवहार कर सकें, इसके लिए भेदकी जरूरत है। 'यात्रार्थं, व्यवहारार्थ, धर्मार्थं'-हम अधर्मसे बचकर धर्म कर सकें, इसके लिए भेदकी जरूरत है और हम विवेक कर सकें कि यह भेद जो बनाया गया है, इसका कारण क्या है? जब हम विवेक करेंगे तो हमारी बुद्धि जागेगी। हमारी बुद्धिको जगानेके लिए ये भेद बनाये गये हैं।

छन्दस क्या करते हैं-ये 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' जैसे हैं- जैसे कहते हैं, सारे जगतको ईश्वरसे ढँक दो तो था तो संसार और उसको ऐसा ढँका कि जो ऊपरकी कालिख थी वह छूट गयी और भीतर जो शीशा था वह चमाचम चमक गया। इसीप्रकार ये वेद जो हैं ये सृष्टिके मूल-रहस्यको चमकानेके लिए, इनका आच्छादन करते हैं। बताया कि जो इस अश्वत्थको जाने ले वह वेदका असली रहस्य जान लेता है। 'यस्तं वेद स वेदवित्।' अन्तमें भी भगवान्ने वेदवित् शब्दका प्रयोग किया। 'वेदैश्च सर्वै रहमेववेद्यः वेदान्तकृतवेदविदेव चाहम्।' जिसने जगतको जान लिया, उसने वेदको जान लिया और मैं ही वेदवेत्ता हूँ, यह भी श्रीकृष्ण कहते हैं। और 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' वह सर्ववित् है, तो वेदवित् होना, सर्ववित् होना, और श्रीकृष्ण होना ये तीनों अन्तत्वोगत्वा एक ही बात हो जाती है। वह परमात्माका स्वरूप हो जाता है, जो इस संसारके रहस्यको जानता है।

अब यह अश्वत्थ माने वट, पीपलका वृक्ष दो प्रकारका होता है। एक तो भूत-भैरवका निवास होता है-जब अपने यहाँ श्राद्ध करते हैं तब पीपलपर मटका टाँग देते है, जल देते हैं, पूजा करते हैं, भूतके रूपमें और एक वासुदेवके रूपमें पीपलकी परिक्रमा की जाती है। यह वासुदेव वृक्ष है। शंकरजीका वृक्ष है बड़ और वासुदेवजीका वृक्ष है पीपल और ब्रह्माका वृक्ष है प्लक्ष-पाकड़। यह भगवान्के रूपमें पूज्य भी है और भूतोंके निवासके लिए भी प्रसिद्ध है। रातके समय पीपलके पेड़के नीचे मत जाना। उसके पत्ते फड़फड़ाते हैं तो डर लगता है। थोड़ी-सी भी हवा चले तो पीपलके पत्ते बहुत खड़खड़ाते हैं और अनजान आदमी तो डर जाता है कि कोई इसपर चढ़कर खड़खड़ा रहा है।

अश्वत्थ वृक्ष दो प्रकारके हो गये। वेदोंमें इसका वर्णन है 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखा एषोऽश्वत्थः सनातनः।' यह मन्त्र कठोपनिषद् में भी हूँ और संहितामें भी! कहीं आवकि शाखा है। कहीं आवाक् शाखा है। और शुक्ल यजुर्वेद संहितामें वर्णन है कि 'अश्वत्थे न वो निषदे पर्णे वो वसति।' आप पीपलके पेड़पर रह रहे हैं और पीपलके पत्तेपर जैसे ओसकी एक बूँद लटकी हो, वैसा आपका यह शरीर है। कब पत्ता हिले और गिर जाय। कुछ भी

ठीक नहीं है कि यह ओसके बूँदकी तरह पीपलके पत्तेपर लटका हुआ जीवन कब गिर जायगा। इसलिए यह वैराग्य करने योग्य है। और दूसरा अश्वत्थ बताया कर्माश्वत्थ—उसका अगले श्लोकमें वर्णन है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा, गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 15.2

यहाँ बताते हैं कि एक तो ऊपरसे नीचे ईश्वरीय शाखा आती है और एक नीचे ऊपर दोनों ओर ले जानेवाली कर्मशाखा है इसकी। 'अधश्च ऊर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'—ईश्वरके बाद प्रकृति, बेहोशी, निद्रा—उसके बाद होश, बुद्धि, उसके बाद मैं कौन हूँ। आप जागनेका क्रम देख लीजिये। जब आपकी नींद थी, नींद टूटी तो जरा-जरा-सा होश आया, परन्तु मैं कौन हूँ यह स्फुरण नहीं हुआ।

फिर हुआ—मैं हूँ—फिर यह कौन-सा स्थान है—कलकत्ता है कि वृन्दावन है। उसके बाद यह पंचतन्मात्रा क्या है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-प्रतिदिन हमलोग सांख्य तत्त्वका अनुभव करते हैं। निद्रा है प्रकृति और होश आया तो हो गया महतत्त्व और अहंभावका उदय हुआ तो अहंकार हो गया। और शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध इनका दर्शन होने लगा तो पंचतन्मात्रा हो गयी। उनके बाद इनके विकारोंसे सारी सृष्टि बनती है। यह शास्त्रोंमें लिखा है। वह अत्यन्त अननुभूत, किंभूत, किमाकार नहीं है—है तो सब हमारे अनुभवका स्वरूप ही, लेकिन जब कही फँस जाते हैं तब उनका पता नहीं चलता है।

यह ऊपरकी ओर प्रकृतिपर्यन्त और नीचेकी ओर नरक-पर्यन्त, यह संसारका विलास है। कीट है नीचे तो ब्रह्मा है सिरपर और एक तृण है नीचे तो प्रकृति है सबसे ऊपर। प्रकृति ऊपर है और तृण नीचे है। अघश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा।' यह हमारा शरीर है, ऊपर सिर है नीचे हाथ लटके हैं। पाँव लटका है। अधश्च शाखा। 'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'-इसमें नीचेसे ऊपर भी जाते हैं और ऊपर से नीचे भी आते हैं। रक्तका संचार है, हृदयमें होता है—सिरमें जाता है। मल है—भोजन करते हैं ऊपर और मूलमूत्रादि नीचे जाते हैं। तो 'अघश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा'-यह सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणोंके अनुसार ह्रोते हैं।

विषयप्रवालाः—इसमें ये जो संसारके विषय हैं, माने एक तो शब्द सुनायी पड़ते हैं तो कोई कठोर होता है, बड़ा क्रूर शब्द होता है और कोई बहुत मधुर शब्द होता है। हम कठोर शब्दसे परहेज करते हैं। (परिजिहासा=परहेज) और जो मधुर शब्द होता है—मधुर माने जो मधुका क्षरण करे—'मधु एव मधुरं' अथवा 'मधुराति इति मधुरे।' जो हमारे कानके रास्ते आकर हमारे हृदयमें मधुरताका संचार कर दे। कोई सुकुमार स्पर्श होता है,कोई मृदु स्पर्श होता है और कोई बहुत कठोर स्पर्श होता है। कोई बहुत सुन्दर रूप होता है, कोई कुरूप होता है। कोई पेय बहुत रसदार मधुर होता है और कोई कड़वा होता है, कोई कटु होता है। कोई सुगन्ध है, कोई दुर्गन्ध है।

अतः इन्हींको संसारमें कहते हैं विषय और इनमें लोग फँस जाते हैं। विशिण्वन्ति इति विषयाः। जो लोगोंको विशेष रूपसे सी दें उनका नाम होता है विषय। विशिष्ट-सीना सींय बन्धने-एक दूसरेको बाँध देनेवाला—बखिया काढ़नेवाला, सुईसे सीनेवाला—उसको बोलते हैं विषय।

हमारी आँखको रूप बाँधता है, कानको शब्द बाँधता है। इसीसे हम जो बहुएँ आती हैं—तब कह देते हैं तुम दो काम करना अपने घरमें—खूब बढ़िया-बढ़िया तो अपने पतिको भोजन कराना तब उनकी जीभ तुम्हारी पकड़में आजायेगी। वह भी मीठा-मीठा बोलने लगेंगे। और तुम मीठा-मीठा बोलोगी तो उनका कान पकड़ लेना। पतिका कान पकड़ना हो तो मीठा बोलो। माने दोनोंमें परस्पर प्रेम बढ़ानेकी, प्रीति बढ़ानेकी यह रीति है।

यह संसारके जो विषय हैं—सुगन्ध, दुर्गन्ध, सुरस, कुरस, सुरूप कुरूप और सुकुमार, कठोर। मधुर संगीत और कठोर शब्द ये हमारे चारों ओर फैले हुए हैं और ये दोनों ही हमको बाँधते हैं। विषयप्रवाला:। ये देखनेमें तो बड़े सुन्दर होते हैं परन्तु कठोर शब्द द्वेष उत्पन्न करके बाँधता है, जो बुरी वस्तु है वह अपनी बुराईसे हमारे हृदयमें द्वेष पैदा करती है और द्वेषसे क्रोध आने लगता है और क्रोधसे हिंसाका भाव आता है और हिंसाका भाव आनेसे संघर्ष होता है।

यह बुरे भी हमको बाँधते हैं। रातको सोते समय कहीं दुश्मनकी याद आगयी तो उसीके बारेमें चिन्तन करने लगे और संसारमें जो सुन्दर लगते हैं वे भी हमको बाँधते हैं। उनकी प्रियता होनेसे उनके चिन्तनमें सुख आता है। जैसे कोई कवि अपनी कविता रातको लिखने लगे—मन-ही-मन रचना करने लगे—अब उसमें उसका इतना मन लग जायेगा कि नींद नहीं आयेगी। रातभर जागेगा। ये जो प्रिय पदार्थ है— ये हमको निद्रासे, विश्रामसे—(उस काव्यने भी) हमको विरक्त कर दिया। निद्रासे हम छूट गये तो 'विषयप्रवाला:' का अर्थ है कि हमारे दिमागमें जो सुख है, शान्ति है, विश्राम है उसको संसारकी वस्तुएँ अपने साथ बाँध लेती हैं। या तो हम बुरा समझ करके उनका चिन्तन करने लगते हैं या तो भला समझ करके चिन्तन करने लगते हैं। और दिमाग तो रह गया शरीरके भीतर और खिंचाव हो गया बाहर। अब वह जो खिंचाव है, वही हमारे जीवनमें तनाव पैदा करता है और उसीसे किसीको डिप्रेशन (Depreesion) होता है किसीको टेन्शन (Tension) होता है। वह क्यों होता है? क्योंकि एक चीज है तो यहाँ और वह खिंचकर दूसरेके साथ जुड़ गयी है। तो वहाँ खींचती है। वहाँसे यहाँ आती है। यहाँ आये बिना रह नहीं सकती और वहाँ जानेके लिए हमने बहुत सारी सामग्री जोड़ ली है। अब यह जो जीवनमें खिंचाखिंची है यही हमको बहुत तकलीफ देती है।

यह जो संसारके विषय हैं, ये बन्धनके हेतु हैं—और देखनेमें तो हैं प्रबाल-कोंपल—किसी वृक्षमें लाल-लाल पत्ते लगते हैं। देखनेमें कितने आनन्ददायक, देखकर सुखी हो लो। आँखके लिए भोजन देते हैं। परन्तु इस संसारमें फँस गये तो कहीं भी सार नहीं है। कोई भी ऐसी वृत्ति नहीं है जो सोते समय हमारे साथ रह सके। दुनियामें सोते समय, गाढ़ निद्रामें अपने साथ जो चीज रख सको, वह तुम्हारी है। लिखित प्रमाणपत्र ले लो, यदि सुपुप्तिमें वह वस्तु तुम्हारे साथ रह सकती हो तो तुम्हारी है और वह खिंचाव पैदा नहीं करेगी, तनाव पैदा नहीं करेगी। उससे डिप्रेशन, टेन्शन (Depression, Tenison) कुछ नहीं होगा। यदि आप उसको सुपुप्तिमें रख सको तो।

विषयप्रवाला:—देखनेमें संसारके सम्बन्ध और संसारकी वस्तुएँ बहुत सुखप्रद मालूम पड़ती हैं परन्तु मूलमें इनका कोई तत्त्व नहीं है, कोई रस नहीं है। 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि, कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'। एक तो प्रकृतिमें प्रकृतिसे ऊँचा-नीचा होता है, पहले आकाश है, फिर ऊँचे—फिर वायु है, फिर तेज है, फिर आकाश है अवकाशात्मक पोल उसमें हवा घूमती है वह उससे छोटी है और उस हवासे जो संघर्ष होता है उससे तेज ऊष्मा पैदा होती है—गरमी उससे नीचे है। और बाफ उठती है वह उससे नीचे है, वह जमकर मैल बन जाती है, वह उससे नीचे है। मिट्टी कहाँसे आयी? गतिसे। गति कहाँ हुई? आकाशमें। अब ऊँचे-नीचे कौन हुआ? मिट्टी हो गयी नीचे और आकाश हो गया ऊपर। ऐसे होश कहाँसे निकला? वह हो गया ऊपर। वहाँसे मनमें आया, मनसे आँखोंमें आया। आँखोंसे विषयमें गया तो विषय हो गये नीचे।

इस प्रकार—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 15.2

और सब तो हैं सो हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कीट हैं, पतंग हैं परन्तु यह मनुष्य शरीर ऐसा है जो अद्भुत है। यही पाप और पुण्य पैदा करनेमें समर्थ है। साँप किसीको काट ले तो उसको पाप नहीं लगता है और आदमी काट ले तो? पाप लगेगा। वह क्या अद्भुत है! यह पुष्प टपककर शंकरजीकी मूर्तिपर गिर पड़े तो पेड़को पुण्य नहीं होगा, लेकिन एक मनुष्य अपने हाथसे यदि एक पुष्प शंकरजीपर चढ़ा दे, तो उसको पुण्य होगा। ये पाप-पुण्य जो हैं, ये मनुष्य-शरीरमें ही होते हैं, मनुष्य-से ही होते हैं-यह मनुष्यका जो शरीर है सम्बन्ध बनानेवाला है। शास्त्रका इस सम्बन्धमें कहना है कि मनुष्य उसको कहते हैं जो अपने मनके साथ किसीसे सम्बन्ध जोड़ सकता है। मनसा सीव्यति—निरुक्तमें मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति यह है कि मनसे यह सम्बन्ध बना लेता है। सारे सम्बन्ध—ये मेरे पति हैं, ये मेरी पत्नी है। ये मेरे साले हैं, ये मेरे बहनोई हैं, ये भाभी हैं, ये दादी हैं, ये नानी हैं—ये सब सम्बन्ध मनसे बनाये हुए होते हैं। ये सम्बन्ध मनुष्यको छोड़ करके और किसी भी योनिमें—कीट, पतंग, पशु-पक्षी किसी भी योनिमें ये सम्बन्ध नहीं होते हैं।

इसलिए शास्त्रका आदेश है, ईश्वरका आदेश है कि मनुष्यों, तुम सब कुछ करो परन्तु सम्बन्ध बनानेमें सावधान रहो। 'सम्बन्धे सावधानता।' किसी वस्तुके साथ, स्थानके साथ व्यक्तिके साथ, क्रियाके साथ, भावके साथ सम्बन्ध बनानेमें सावधान रहो। इसीका नाम ध्यान है, इसीका नाम असंगता है। तुम जो सम्बन्ध जोड़ रहे हो उसमें सावधान रहो। यह सम्बन्ध जिससे तुम जोड़ रहो हो उसको घसीटकर तुम चल सकोगे अपने पीछे, यह उम्मीद मत रखो। वह चीज ही तुमको घसीटकर अपने पीछे-पीछे ले जायेगी। इसलिए अपनेको किसीके साथ जोड़नेमें सावधान रहो। तो यह मनुष्यलोक ऐसा है जो सम्बन्ध जोड़ भी सकता है और सम्बन्ध तोड़ भी सकता है और सम्बन्धको मोड़ भी सकता है। मनुष्य-योनिमें, यह शक्ति, यह सामर्थ्य विद्यमान है।

अब तुम ऊपर जाना चाहते हो कि नीचे? 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके' इस मनुष्यलोकमें आकर आप ऐसे कर्म कीजिये जिससे आप ऊपर जायें और ऐसे कर्म न कीजिये, जिससे आप नीचे जायँ। ये देखिये, यह

भी बहुत साफ है कि यदि आप अपने सिरपर बोझ रखकर यात्रा करना चाहेंगे तो आपपर दबाव ज्यादा पड़ेगा। और यदि बोझ छोड़कर जीवन-यात्रा करना चाहेंगे तो आप हलके-फुलके उड़ते रहेंगे। जो भारसे ग्रस्त है वह नीचे जायेगा और जो भारसे मुक्त है वह ऊपर तैर जायेगा। कर्मानुबन्धीनि-आपके जो कर्म हैं-वही आपको ऊपर-नीचे ले जानेवाले होते हैं। अब यह तो रहा संसारका स्वरूप माने यह हमेशा बदलता रहता है। परन्तु एक मालूम पड़ता है। आप जीवनमें बदलनेका आनन्द लीजिये। बचपन बदलेगा, जवानी आयेगी, जवानीमें बचपनका मजा मत लीजिये। उसको जवानीकी तरह पूरा कीजिये और जवानीमें बुढ़ापेका मजा मत लीजिये और बुढ़ापेमें जवानीका मजा मत लीजिये। जो जब आपके सामने आया, उसका आनन्द लेते चलिये। जो जब आपके सामने आया, उसका आनन्द लेते चलिये। अब इसमें ऐसा है कि आज जो कानून हैं, वे दस वर्ष बाद नहीं रहेंगे। सालतक बदल जायँ इसकी भी शंका है, दुनिया बदल रही हे। जो इस समय है वह अगले क्षणमें बदल सकती है कानून बदल सकते हैं, समाज की रूपरेख बदल सकती हैँ व्यापार बदल सकता है लोगोंकी मान्यताएँ बदल सकती हैं। जिसको आज आप सबसे उत्तम समझते हैं, उसको कल सबसे हीन समझा जा सकता है और जिसको आज सबसे हीन समझते हैं, उसको सबसे उत्तम समझा जा सकता है।

ऐसी स्थितिमें आप अपनेको वर्तमानके साथ जोड़े चलिये और यदि वर्तमानके साथ जोड़े नहीं चलेंगे, छूटते हुएको पकड़ लेंगे तो आप भी पीछे रह जायेंगे या जो कभी नहीं आया है उसको पकड़नेकी कोशिश करेंगे तो भी आपके गिर पड़नेकी सम्भावना रहेगी। इसलिए अपने जीवनको ऐसा रखिये जो हर परिस्थितिके साथ, फिट बैठता चले। आपकी योग्यता ऐसी हो जो प्रत्येक क्षणका लाभ उठा सके, प्रत्येक परिस्थितिका लाभ उठा सके, प्रत्येक व्यक्तिका, प्रत्येक वस्तुका, प्रत्येक स्थानका लाभ ले सके। आपके व्यक्तित्वका निर्माण ऐसा हो और यह निर्माण कैसे होता है, तो 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' यह बात आगे भगवान्ने इस संसारका रूप बता करके कही।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 15.3
ततःपदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृतापुराणी॥ 15.4

जिसको हम पकड़े हुए बैठे हैं, इस संसारका रूप क्या है? जितना हम देखते हैं उतना ही है? जितना हम जानते हैं क्या उतना ही है? यदि आप ऐसा समझ लें कि बस हमने सब जान लिया, इतना ही है तो आपने कुछ नहीं जाना। एक कोण भी नहीं जाना। और यहाँ तो वह विद्या चल रही है-

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

यह पन्द्रहवें अध्यायका उपसंहार है कि जो इसको जान लेता है, वह सबको जान लेता है और सबको जान करके सर्वरूपमें मेरी सेवा करता है। अद्भुत है-ऐसा कहीं कोई दर्शन नहीं है, न कोई मजहब है। न्याय और वैशेपिकको तो ऐसा उठा करके 'नासतो विद्यते भाव:' इस श्लोकसे फेंक दिया दूर-असत्से उत्पत्ति नहीं

हो सकती और सत्का विनाश नहीं हो सकता-न्याय वैशेषिकको एक ओर रख दिया और 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' कहकरके पूर्वमीमांसाको एक ओर फेंक दिया और व्यवहार करनेवालेमें दूसरेके सुख-दुःखके साथ तादात्म्य करनेवालेको परम योगी कहकर समाधिको एक ओर डाल दिया। योग गया। और 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'-कहकर सांख्यको एक ओर फेंका। यह तो ऐसा ग्वाला खड़कझंझारी है कि किसीको छूने नहीं देता है कि कोई आकर उसको छू ले-स्पर्श कर ले। वेदको कह दिया- 'यावानर्थ·····निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'

वेदकी प्रशंसा करते हुए भी कह दिया कि एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ वेदकी भी आवश्यकता नहीं रहती। सर्वधर्मान्परित्यज्य-धर्मके लिए मरना सिखानेवाला कृष्ण-'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' और बोलता है 'सर्वधर्मान्परित्यज्य।' इतना वह दिव्य पुरुष और यह उसकी दिव्य वाणी। दिव्य गीता-बोल रही है-जैसा तुम देख रहे हो, वैसा नहीं है बाबूजी! यह है जादूका खेल, 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्नच सम्प्रतिष्ठा। अस्य-अश्वत्थस्य इह विचारकाले-तथारूपं न उपलभ्यते।' यदि हम विचार करके देखें तो न तो यह अश्वत्थ ही मालूम पड़ता है और न तो अव्यय ही मालूम पड़ता है। 'अस्य इह तथारूपं नोपलभ्यते'-जिनको मालूम पड़ता है नाशवान, उनको अव्यय नहीं मालूम पड़ता और जिनको मालूम पड़ता है अव्यय उनको यह नाशवान नहीं मालूम पड़ता।

संसारी लोग-इसमें हमेशा रहनेवाले रह करके इसमें फँसे हैं-इसके नाशवान रूपको नहीं देख पाते और जो लोग नाशवान रूपको देखनेमें लगे हैं, उनको नाश ही नाश दिखता है, इसमें जो अविनाशी है, उसका दर्शन नहीं होता। इस नाशीमें अविनाशी है, इस अविनाशीमें भी नाशी है। तत्त्वज्ञ पुरुष जो हैं वे इस विनाशीमें अविनाशीको देखते हैं और जो मूढ़ पुरुष हैं-वे विनाशीमें विनाशीको ही देखते हैं। 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते- इह यथा वस्तुतः अस्य रूपं तथा न उपलभ्यते।' वस्तुको लेकर वे फूले नहीं समाते हैं। जरा-जरा-सी चीजमें उलझ जाते हैं।

देखो-यह हमारे प्रान्तकी सीमा है। उसमें दूसरे प्रान्तकी यह सीमा अवश्य मिलनी चाहिए। तुम्हारा राष्ट्र नहीं है- प्रान्त नहीं है? प्रान्तकी सीमामें फँसे और राष्ट्रसे द्रोह हुआ। और एक राष्ट्रमें फँस गये तो विश्वसे द्रोह हो गया। पशु-पक्षीको सेवामें लग गये तो मनुष्यकी हत्यापर दृष्टि ही नहीं जायेगी और मनुष्यकी हत्यापर दृष्टि चली गयी-तो पशु-पक्षीकी हत्यापर दृष्टि नहीं जायेगी। अपने मजहबमें फँस गये तो दूसरी मजहबकी अच्छाईका पता नहीं लगेगा। अपनी जातिमें फँस गये तो समग्र मनुष्य जाति है, प्राणी जाति है, इसका पता ही नहीं लगेगा। जहाँ आदमी फँसा हुआ है, वहाँ वह देख नहीं पाता कि असलमें हम कहाँ हैं।

देखो बम्बईमें एकके घर गये थे, न जाने कितने मंजिलका वह मकान था-25-30 का होगा। ऊपर चढ़ गये। वहाँ ऊपरसे जो सड़क पर चलती हुई मोटरें दिखती थीं वह मालूम पड़ता था कि सूअर चल रहे हैं या भड़े-बकरी चल रही हैं। ये बड़ी-बड़ी मोटरें भेड़-बकरीसे भी छोटी लगें और मोटरमें बैठते हैं तब-हमारी मोटर सबसे बड़ी है। हमारी मोटर बहुत बढ़िया है। निश्चय करो आप कि आप कहाँ बैठे हो। पूरब हो कि

पश्चिम-देखकर बता दो। ऊपर हो कि नीचे हो कि बीचमें हो, कहाँ हो? आदि और अन्तमें आपके शरीरका वजन कितना है, बताओ? आप रोज तौलते होंगे। एक औंस भी घटने-बढ़ने नहीं देते होंगे! यह ठीक है लेकिन आप यह बताओ आपका शरीरका वजन यहाँ कितना और रॉकेटसे जब चन्द्रलोककी ओर उड़कर जाते हैं तब कितना है? एक वजन पकड़कर बैठ गये न! जिस कालमें आदि और अन्त नहीं है-आप निश्चय कर लो कि कालकी आदि कहाँ है? कहीं होगी, माने अज्ञान है। इसका अन्त कहाँ है-कहीं होगा-क्या मतलब हुआ? अज्ञान है। आप अज्ञानमें ही कालके आदि अन्तका व्यवहार करते हैं।

यदि ज्ञान-दृष्टिसे देखें तो कालका न आदि है, न अन्त है। जिसका आदि और अन्त नहीं होता उसका मध्य होता ही नहीं है। आदिके भाव और अन्तके भावका प्रतियोगी होता है मध्य! और जिसका आदि और अन्त होता ही नहीं है, उसका मध्य होगा ही नहीं। आपकी उम्र कितनी है? कालमें आपकी उम्र कितनी है? देशमें आप कितने इंचके हैं और वजनमें आपका कितना वजन है? 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'। विचार करके देखो तो जय-जय सीताराम, कुछ नहीं सब ठन-ठन पाल निकलता है। 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' न इसका आदि है, न इसका अन्त है, न इसकी सम्प्रतिष्ठा है, स्थिति है-लेकिन हमारे दिमागमें, हमारी बुद्धिमें, हमारे ज्ञानमें ऐसा जड़ जमा करके यह बैठा है। हमारे पास दो बच्चे खेलनेके लिए आते हैं-छोटा है-उसे कह देता हूँ कि अब तुम्हारे बड़े भाईको अपने पास रखेंगे-तुम जाओ हम तुमको नहीं रखेंगे तो रोने लगता है-दौड़कर अपने भाईको पकड़ लेता है। वह कहता है यह मेरा भाई है-मैं इसको नहीं छोड़ूँगा।

इस संसारमें जड़ कितनी पक्की जमती है-आपको शायद पहले भी सुनाया हो; काशीमें चौकके पास ही रानी कुँआके पास लक्खी-चबूतरा नामकी गली है। म्युनिसिपेलिटीकी एक हाथ जमीन एक सेठने दबा ली थी। दोनों ओरसे मुकदमा चला। प्रिविकौंसिल तक गया। सेठ कहता था, हमारा चबूतरा बन गया है, हम छोड़ेंगे नहीं। म्युनिसिपेलिटी कहती थी यह गलीमें आगया है, हम इसको छुड़ाकर रहेंगे। अंग्रेजोंके जमानेमें मुकदमा चला। लाख रुपया खर्च हुआ। पर सेठने चबूतरा नहीं छोड़ा शान रह गयी। उस मुहल्लेका नाम है लक्खी चबूतरा।

अब आप देखो कहीं-कहीं शान रखनेके लिए हम ऐसी-ऐसी चीजोंको पकड़ लेते हैं, जिसको हम पकड़कर रख नहीं सकते हैं। 'सुविरूढमूलम्।' हमारी ममता, हमारा मोह, हमारी माया-अत्यन्त कठोर हो गयी। पक गयी है। सुविरूढमूलं-ऐसे बोलते हैं जैसे लाख है-चाँदी है, सोना है, उसको गलाते हैं, और गलानेके बाद जैसे साँचमें डालते हैं-वैसी ही उसकी शकल हो जाती है और ऐसो शकल पक्की हो जाती है कि फिर वह छोड़नेका नाम नहीं लेती है।

यह हमारा जो दिल है, हृदय है-संस्कारोंको बटोरकर रखता है। हृत् शब्दका एक अर्थ चोर ही होता है। हरति-इति हृत्। हृदय-जो संस्कारोंको इकट्ठा करके अपने अन्दर रखता है, उसका नाम होता है हृत्-हृ-हरणे-धातु है तो प्रत्ययान्त है हृत्। बचपनका देखा हुआ आज याद आता है-कलका देखा हुआ आज याद आता है। आजका देखा हुआ कल याद आवेगा।

सो ये स्मृतियाँ हमारी जहाँ छिपी रहती हैं-उसका नाम होता है हृत्। यह संस्कारोंको रखता है। अब कोई-कोई संस्कार ऐसे गाढ़ हो जाते हैं-यह हमारा दुश्मन है, यह हमारा दोस्त है। वैसे मैंने देखा है कि जो हमारे पिता, पितामहके सामने शत्रु थे वे हमारे मित्र हो गये और जो मित्र थे शत्रु हो गये। इसकी भी कोई परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहे सो बात नहीं है। आज जो मन है, कल वैसा ही रहेगा, इसका ठेका किसीके पास नहीं है। इसलिए कलके मनपर भरोसा कर-करके चलना नहीं होता है, इस समय जो अपना सावधान मन है, जगमग-जगमग, झिलमिल-झिलमिल, झलकता हुआ, नाचता हुआ, गाता हुआ, बजाता हुआ, परमानन्दमें डूबता हुआ, उतराता हुआ, उसका आप मजा नहीं ले सकते हैं, जब आप ढूँढ़ने लगते हैं, पीछे और आगे तब इसका मजाक हो गया।

हमारे सेठजी हैं, वे कमाते हैं खूब लाखों रुपया कमाते हैं-काहेके लिए? कि अगली पीढ़ीके लिए। यह नहीं कि आज दान देकर आनन्द ले लें, भोग करके आनन्द ले लें। वह इकट्ठा करनेका आनन्द लेते हैं। और इकट्ठा करनेके बाद कभी आनन्द लेंगे ऐसा ख्याल उनके मनमें बना हुआ है। और आज बीत रहा है, पता नहीं कल आवे कि नहीं? इस समय जब तुमने अपने आनन्दको उधार कर दिया-हमारे पितामहने कहा था कि बेटा कभी किसीसे ऋण मत लेना और कभी किसीको ऋण देना भी मत। ऋण लेनेपर भी बोझ होता है और देनेपर उसके पीछे-पीछे घूमना पड़ता है। उन्होंने एक यह भी कहा था कि किसीसे माँगना भी मत और यह भी कि किसीसे दिलाना भी मत। सब ओरसे बाँध दिया।

लेकिन दुनियाका जो व्यवहार है, उसमें आदमी सुखी कैसे रह सकता है-यह सीखना पड़ता है। सीखना यही है कि कहीं चिपक मत जाओ, तिकोनीमें मत घुस जाओ। बहेलिया तिकोनी बनाते हैं- यह तीन पाँवका बनाते हैं, उसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा मारकर बाँध देते हैं। उसको खानेको जब चिड़िया जाती है तो तिकोनीमें जो गोंद लगा होता है वह चिड़ियाकी पाँखमें लग जाता है और वहीं पकड़ी जाती है। तुम तिकोनीके भीतर त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमके भीतर फँसे हुए हो, कभी प्रकाश भी अन्धा बना देता है। बहुत घनघोर प्रकाश हो, तो उसमें दिखायी नहीं पड़ता। कभी अपना हिलना-बोलना भी अन्धा बना देता है और कभी जड़ हो जाना भी अन्धा बना देता है।

तिकोनीके अन्दर मनुष्यका जीवन फँसा हुआ है। जो सावधान नहीं रहेगा, जिसकी प्रतिभा सुषुप्त हो जायेगी, जिसकी बुद्धि जड़ हो जावेगी वह इस जीवनमें परमानन्दका आस्वादन नहीं कर सकता-

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

इसको काटनेका क्या उपाय है? पीपलका पेड़ काटना हो तो आप पाप-पुण्यका विचार कर लेना। असलमें किसी भी हरे-भरे पौधेको काटना-यदि उसकी उन्नतिके लिए हो, विकासके लिए हो तब तो हम कह सकते हैं, ये इसको भोजन दे रहे हैं, अन्न दे रहे हैं, कटाई-छँटाई कर रहे हैं, सफाई कर रहे हैं-लेकिन किसी भी पौधेको काटना पुण्य नहीं होता, पाप ही होता है।

एकबार हमलोग एक महात्माका दर्शन करने गये। महात्माजीकी उम्र 90 वर्षकी थी। और कपड़ा पहनते नहीं थे। घासपर ही बैठते थे। ऐसे जीवन व्यतीत करते उनको 50 वर्ष हो चुके थे। नर्मदाकी घाटीमें उन्होंने अपना साधनका जीवन व्यतीत किया था। हमलोग जाकर घासपर बैठे, वे भी दूबपर बैठ हुए थे। हमारे साथीने दूब नोंचना शुरू किया। जैसे किसी भले लोगोंको भी आदत होती है, किसीके घरमें कालीनपर बैठे तो धीरे-धीरे उसके रेशें नोचने लगते हैं। बच्चे भी नोचते हैं, बड़े भी नोचते हैं। बाबाने कहा-यह क्या करता है? इस दूबको गाय खायेगी। दूब घास है, गाय खायेगी तो दूध बनेगा। मनुष्य पीयेगा तो मनुष्य बनेगा।

अब तो यह दूब मनुष्य योनिमें आनेके लिए बिलकुल तैयार बैठी है और तू नोचकर फेंक देगा तो यह फिर मिट्टीकी मिट्टी हो जायेगी। किसी भी हरे-भरे पौधेको काटकर उसे मिट्टी बना देना। यह तो बढ़िया बात नहीं है। लेकिन खासकर यह अश्वत्थ वृक्ष जो है, जिसमें हम वासुदेवकी पूजा करते हैं, 'पत्रे-पत्रे च वासुदेवः वासुदेव नमोस्तुते' -जिसके पत्ते-पत्तेमें वासुदेव हैं, उसको हम काटे क्यों? ठीक है-यहाँ काटनेका जो शस्त्र बताया गया है, वह बड़ा विलक्षण है, वह तो कहते हैं, इसको छूओ मत-असंग-शस्त्रेण-न छूना ही इसको काटना है। स्पर्श मत करो, दूरसे प्रणाम कर लो, दूरसे जल चढ़ा दो। पीपलपर चढ़ाकर बैठो मत, उसको अपने अंकमें मत भरो, गोदमें मत लो, छोड़नेकी वस्तु है। असङ्गशस्त्रेण दृढ़न छित्त्वा। आप किसी वस्तुके साथ चिपकनेमें आसक्त होनेमें डरें-कहीं हम फँस न जायँ, कहीं चिपक न जायें, कहीं बन्धनमें न पड़ जायँ।

ऐसे-ऐसे जादूके खेल हैं, आसमानसे घड़ियाँ बरसती है, और घड़ियाँ इसी धरतीपर किसी कम्पनीकी बनायी हुई होती हैं। राख गिरती हुई दिख सकती है, रोली गिरती हुई दिख सकती है। परन्तु वह भस्म, रोली यहीं की होती है। आप आश्चर्यमें न पड़ें—चिड़ियाँ उड़ती हैं, आदमी उड़ जाय तो आदमी उड़ता है तो आश्चर्य नहीं हो जाता।

दुनियामें जो आश्चर्य दिखायी पड़ते हैं, यह बड़ा चमकदार हीरा है, यह बड़ा चमकदार सोना, यह सुन्दर स्त्री है, यह पुरुष है, यह मूल्यवान पदार्थ-उनसे द्रष्टाका आनन्द लो; परन्तु उनके सङ्गका आनन्द कभी नहीं लेना चाहिए-यह भी न रहेगा दुनियामें, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो तुम्हारे साथ जायेगी।

यहाँ 'असङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा' का अर्थ है, उसकी आसक्तिमें मत फँसो-आसक्ति छोड़कर, उदासीन रूपसे यदि तुम व्यवहार करोगे, उदासीन माने उपेक्षा नहीं, असङ्गता। जीवनके तीन धन हैं। तत्त्व दृष्टिसे एकता और हृदयकी दृष्टिसे समता और व्यवहारकी दृष्टिसे असङ्गता। चित्तमें शत्रु-मित्र सबके प्रति समता रहे क्योंकि तत्त्व दृष्टिसे एक है। और व्यवहारमें अपनी आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है तो कहीं चिपकनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। राम-राम कहते चलो, अपना काम करते चलो। न ऊधोका लेना न माधवका देना। मस्त रहो!

●

प्रवचन : 3

7-11-86

पहली बात तो यह है कि अश्वत्थ माने पीपलके पेड़के दो विशेषण दिये गये है। उनमें-से ऊर्ध्वमूलं जो है, उसके साथ अव्ययं और अध:शाखंके साथ अश्वत्थ। अभिप्राय यह हुआ कि जो इस संसार वृक्षका मूल है, वह तो अव्यय है और जो इसकी शाखाएँ हैं-अध:शाखं-वह अश्वत्थ है-कलतक रहनेवाली नहीं हैं। इसलिए अश्वत्थ और अव्यय दोनोंकी व्याख्या मूलसे ही निकल आती है। उसके लिए टीका-टिप्पणीमें जानेकी जरूरत नहीं है। अब ऊर्ध्वमूलंका क्या अर्थ है? यह आगे जाकर प्रकट होता है। आदि पुरुष शब्दका प्रयोग होगा तब आदि पुरुष ही ऊर्ध्व है यह बात निकलेगी।

दूसरी बात इसमें यह है कि जहाँतक ब्रह्माश्वत्थ है, ब्रह्मरूप वृक्ष है, वहाँतक तो मूल ऊर्ध्व है, आदि है अपना आत्मा है-लेकिन जब कर्मानुबन्धी संसारका विस्तार होने लगता है तो ऊपर और नीचे दोनों प्रकार 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।' मनुष्य-शरीरमें आनेपर पाप-पुण्य होने लगते हैं। यही सम्पूर्ण योनियोंमें श्रेष्ठ योनि है। पेड़-पौधे नीचे हैं-क्योंकि वे पाँवसे खाते हैं और ऊपरको बढ़ते हैं और मनुष्य ऊपर खाता है और नीचेको जाता है और पशु-पक्षी तिर्यक् होते हैं। प्रकृतिमें प्राणीको जहाँतक उन्नत शरीरकी प्राप्ति हो सकती है, वह मनुष्य है। मनुष्यसे बड़ा और कोई भी शरीर सृष्टिमें नहीं है। प्रकृतिने उसको इतना ऊँचा कर दिया, जिसके आगे वह स्वयं नहीं ले जा सकते।

अब तो ऐसी जगह पहुँचा दिया है, जहाँसे जरा भी ऊपरको छलकें और परम सत्यको, परमात्माको प्राप्त कर लें। इसलिए, जो मनुष्य-शरीर प्राप्त करके भी सत्यकी खोज नहीं करते हैं, सत्य परमेश्वरको प्राप्त नहीं करते हैं, वे बड़े लाभसे वंचित हो जाते हैं। एक कला उद्भिज्ज माने वृक्ष लता आदिमें है। और दो कला जूएँ-खटमल आदिमें है जो कि श्वेदज हैं और तीन कला अण्डजोंमें है-पक्षियोंमें है और चार कला जरायुज पशुओंमें और पाँच कला जरायुज मनुष्योंमें। चेतनाका विकास होता है। छठेमें महापुरुष लोग होते हैं-छह और सात दो कला। पाँचवेंमें साधारण मनुष्य और छठेमें ज्ञानी मनुष्य और सातवेंमें जीवन्मुक्त महापुरुष और सातवीं कलामें तुरीयातीतका सम्पर्क, संस्पर्श होता रहता है।

कबहुँक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नरतनु भवबारिधि कहँ बेरा।

यह जो मनुष्यका शरीर है, संसार सागरसे पार जानेके लिए बेड़ा मिला है। यही नाव है, यही जहाज है, इतने ऊपर आ गये हैं कि अब आप अपने मनसे बुद्धिसे परमात्माका स्पर्श कर सकते हैं और स्वयं उससे मिल सकते हैं। और बाकी तो देखो साधना करते हैं तो कोई साधना करते हैं वाणीकी। वैखरी वाणी जिह्वामें है, मध्यमा वाणी है फिर पश्यन्ती है, फिर परा है और परा वाणीमें जाकर चेतनसे मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं। और कोई-कोई साधना करते हैं कि मूलाधार, स्वाधिष्ठानसे ऊपर उठते-उठते सहस्त्रार और उसके ऊपर जो चक्र है उनमें जाकर परमात्मासे मिल जाते हैं।

तो परमात्मा ऊपर हैं कि नीचे है? किसीने कहा नहीं-नहीं हृदयमें ही मिलते हैं। ठीक है। किसीने कहा नाभिचक्रमें मिलते हैं, वह भी ठीक हैं। परमात्मा तो सब जगह है। जहाँ आपकी निष्ठा हो जायेगी, वहाँ परमात्माकी प्राप्ति हो जावेगी। चाहे ऊपर और चाहे नीचे। अब आप मनुष्य-शरीरमें आकरके यदि ऐसे कर्म करते हैं कि आपके सिरपर हमेशा बोझ बना रहे, तो जिसपर बोझ रहेगा वह नीचे जावेगा और जो निर्भार हो जायेगा वह ऊपर जायेगा। इसलिए भक्ति भी गोस्वामी तुलसीदासजी माँगते हैं-

भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां,

निर्भ़रभक्ति-निर्भारभक्ति हमारे ऊपर कोई बोझ नहीं रहे। भगवान्‌पर तो कोई बोझ होता नहीं और जीवने अपना बोझ छोड़ दिया। यह निर्भारता जो है, यह भर और भार शब्द संस्कृतमें एक ही है। निर्भार भक्ति चाहिए-कोई अपनी जिम्मेवारी नहीं। छोटा बच्चा है, माँकी गोदमें है, वह सुलाती है, खिलाती है, पिलाती है ऐसी निर्भरता भगवान्‌के प्रति होनी चाहिए। इससे ज्ञान और भक्तिमें अन्तर नहीं पड़ता है। ज्ञानी लोग कहते हैं प्रारब्धपर छोड़ दिया, प्रकृतिपर छोड़ दिया। प्रारब्धका संचालक भी परमात्मा ही है और प्रकृतिका संचालक भी परमात्मा ही है और भक्तने सीधे कह दिया भगवान्‌पर छोड़ दिया। बात एक ही है कि बोझ अपने ऊपर कोई नहीं है।

आप ईश्वरपर कितना विश्वास करते हैं, देख लें, तौल लें अपनेको जितना-जितना आपका विश्वास है, उतनी ही उतनी भगवान्‌की कृपा है-यह कृपा और अनुग्रह दोनोंके मेलसे ही मनुष्यका जीवन ठीक-ठीक संचालित होता है। अब उसको ढूँढनेकी जो प्रक्रिया बतायी, कि आप एक तो सत्कर्म कीजिये और दूसरे 'असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्त्वा।' इसको भी बहुत साधारण सरल रीतिसे ही समझना चाहिए क्योंकि व्याख्याका अर्थ कठिनीकरण नहीं होता है-सरलीकरण ही होता है।

ऐसी भाषामें बोला जाय कि सुननेवाला समझ जाय। ये कहते हैं कि यह जो संसाररूपी वृक्ष है, वृक्षमें और संसारमें भेद क्या? वृक्ष तो काटनेसे कटता है, उसके लिए शस्त्र चाहिए, फरसा चाहिए, कुठार चाहिए, लेकिन संसारको काटना हो तो क्या चाहिए? असंगता चाहिए। यह अद्भुत है। वहाँ वृक्ष काटेंगे तो वृक्ष सूख जायेगा, वृक्ष विच्छिन्न हो जायेगा, वृक्ष नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा, कट जायगा। लेकिन असंगताका शस्त्र जो है वह ऐसा है कि वृक्ष ज्यों-का-त्यों बना रहे।

आपको यह नहीं करना है कि संसारमें हीरे-मोती न रहें-उनका अपना स्थान है। स्त्री-पुरुष न रहें, रहें उनका अपना स्थान है। पशु-पक्षी न रहें, उनका अपना स्थान है। अपने-अपने कर्मके अनुसार नाना प्रकारकी आकृति, प्रकृति प्राप्त करके अपने विकार-संस्कारके अनुसार मनुष्य संसारमें व्यवहार कर रहा है। पौधेको वैसे ही धरतीमें उगने दो और ऊपर बढ़ने दो। और पशु-पक्षी जैसे पैदा होते हैं, वैसे ही पैदा होने दो और आसमानमें उड़ने दो या धरतीपर चलने दो। स्त्री वैसी-की-वैसी रहे, पुरुष वैसा-का-वैसा रहे, परन्तु संसारमें किसी प्रकारका परिवर्तन करनेकी इच्छा न करके, असंग बने रहो।

यह सुधारक नहीं है, यह समाज-सेवी तो है, परन्तु समाज-सुधारक नहीं है। सबको सुख मिले,

सबका हित हो यह तो चाहता है, परन्तु जैसा होता जा रहा है, उसको हाँ-हाँ करता जा रहा है। यह नहीं कि ईश्वरसे कह दे कि ठहरो-यह काम ऐसे न हो। ईश्वरका सलाहकार बनना, बड़ी हिमाकतका काम है भला! बड़ा दुस्साहस है कि हम ईश्वरको सलाह दें कि तुमको ऐसे करना चाहिए और ऐसे नहीं करना चाहिए।

असंग शस्त्रका अर्थ यह है कि समाज स्वाभाविक परिवर्तनको स्वीकार करता जा रहा है, और करना चाहिए। यह बात नहीं कि महावीरके बाद बुद्ध न आवें, और बुद्धके बाद गाँधी न आवें, ऐसा नहीं या ईसाके बाद मुहम्मद न आवें-ऐसा भी नहीं। समयके अनुरूप जैसा-जैसा समाजमें, राज्यमें, लोगोंकी रहनीमें परिवर्तन होता जा रहा है-पहले तो जब रेलगाड़ी आयी तो पुराने लोग उसपर बैठना पसन्द नहीं करते थे। हवाई जहाज आया तो उससे डरने लगे। अब तो चन्द्रलोक, शुक्रलोक और मंगललोकमें जानेके लिए भी लोग आगे पाँव बढ़ा रहे हैं।

पुरानी बातोंका इतना न पकड़ा जाय कि हमारा आगे बढ़ना बन्द हो जाय। भूतके प्रति भी असंग और वर्तमानके प्रति भी असंग। यह असंगता-कहें कि फिर तो वेद, शास्त्र सब छूट जायेंगे, सनातन धर्म छूट जायगा, नहीं-इससे वेद, शास्त्र, सनातनधर्म नहीं छूटता है-क्योंकि यह वेद-शास्त्र ही बोल रहा है कि 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।' तो वेद ही तो बोल रहा है न! 'असंगोऽयं पुरुषः। असंगो न हि सज्जते। यद् भव्यं तद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।' शास्त्र ही तो बोल रहा है न! इसलिए भूतको पकड़नेकी बहुत जिद्द नहीं करनी चाहिए और वर्तमान इसी रूपमें हमारे साथ चले-राज्यकी यही परिपाटी रहे, माने लोकतन्त्र नहीं रहे इसमें भी आग्रह करनेकी जरूरत नहीं है।

कभी एकतन्त्र होता है, कभी गणतन्त्र होता है, कभी प्रजातन्त्र होता है। यह भी बदलता रहता है। इसमें यह दुराग्रह करके बैठ जाना कि हम तो यही रक्खेंगे और इसमें यह दुराग्रह करके बैठ जाना कि यह न रहे! एक हमको बड़े नेता मिले थे-नाम लेना उचित नहीं है क्योंकि मैं उनकी बात काट रहा हूँ। मैंने उनसे पूछा कि आखिर आप चाहते क्या हैं? तो बोले मैं इतना ही चाहता हूँ कि इन्दिरा सरकार उलट जाय। और मैं कुछ नहीं चाहता। यह तो उलट देनेवाली पद्धति है, यह भी असंगताके विपरीत है। और यह बना रहे यह पद्धति भी असंगताके विपरीत है।

हमें तो जैसा देश हो, जैसा काल हो, जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार अपना बर्ताव करते जाना चाहिए। हमारे गुरुजीकी मूँछ जब काली-काली थी तब भी कंघीसे ऐसा बनाते थे, जैसे कौएकी पाँख हो और जब सफेद हो गयी, तब भी वैसे हो जमाते थे जैसे बगुलेकी पाँख हो। काले बाल कौएकी पंख जैसे—सफेद बाल बगुलेके पाँख जैसे और बीचमें हो तो तिलतण्डुल डौलायमान—काला तिल और चावल एकमें मिला दिया, उसकी भी एक शोभा है, खिचड़ी है। 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा' का अर्थ यह है कि आप दुनियाको मत बदलिये, अपने मनको ऐसा बनाइये कि वह हर हालतको ठीक-ठीक स्वीकार करते जाय। यदि बुड्ढे लोग सबेरे स्नान करते हैं, सन्ध्या-वन्दन करते हैं, तो बहुत बढ़िया, उसको स्वीकार कर लीजिये। और यदि बालक लोग रातको ज्यादा जागते हैं—और सबेरे थोड़ी देरतक सोते हैं तो उनको माफ कीजिये, उनके साथ लड़िये मत। अपने

बगीचेमें ही आँवलेके दो पेड़ साथ-साथ हैं, एक देशी है एक विदेशी है। जो देशी आँवला है वह सूर्योदयके साथ-साथ जाग जाता है-हरे-भरे पत्ते उसके खिल जाते हैं और जो विदेशी है वह आठ बजेके करीब उठता है।

तो आपको देश, विदेश, दोनोंकी जैसी-जैसी आदत है, स्वभाव है, उसको स्वीकार नहीं करेंगे तो आपके दिमागमें बहुत तनाव पैदा होगा, बहुत खिंचाव रहेगा। 'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।' देशके अनुसार, कालके अनुसार, अपनी वयके अनुसार, अवस्थाके अनुसार, मनोवृत्तिके अनुसार, रुचिके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। उसमें कहीं यदि आप आसक्त हो जायेंगे तो फिर उसीको पकड़े रहनेमें आपकी पूरी ताकत लग जायगी, आपकी शक्ति केवल पकड़े रहनेके लिए नहीं है।

आपकी शक्ति आगे बढ़नेके लिए है—और आगे बढ़िये—जैसे क्षण-क्षण घड़ीकी सुई आगे बढ़ती है, जैसे कण-कणमें निरन्तर परिवर्तन होता है, जैसे कोण-कोणमें नवीन-नवीन पदार्थ भरे पड़े हैं, इसी प्रकार आपकी बुद्धिमें, आपकी प्रतिभामें परमात्माका नया-नया रूप आये—नया-नया दर्शन हो, नया-नया साक्षात्कार हो। मेरे जीवनमें कुछ समय ऐसा रहा है कि जिस दिन हमको कुछ नयी बात न सूँझ जाय वह दिन हमको बेकार लगता था।

'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' का अर्थ है—फँसिये मत, अटकिये मत। चरैवेति—आगे बढ़िये—चरेवैति। 'तत: पद छेदनेन तन्मार्ग परिमार्गितव्य'—छित्त्वा यह त्वा प्रत्ययका प्रयोग हो जानेपर तत: कहनेकी जरूरत नहीं रहती है। 'छित्त्वा तत: तत् परिमार्गितव्य' ऐसे बोलना चाहिए कि असंगता ही इसका छेदन है, अपनेको कट करो, संसारको कट मत करो। 'असंगशस्त्रेण' का अर्थ यह है कि दुनियाको मत काटो अपने आपको उससे अलग रखो—अलग-न रखो—यह संस्कृतका शब्द अलग-अलग हलन्त भी है—एकारान्त भी है। अलग् भी है और अलग-अलग भी है।

अपनेको अलग रखो, इसके साथ जोड़ो मत। बदलती है तो बदलने दो, नदी बहती है तो बहने दो—अपनेको मत जोड़ो। यह जीवनकी एक व्यवहारकी शैली है—और उत्तम-से उत्तम शैली है। शैली माने धारा-शिलासमुच्चयका नाम होता है शैल—चट्टानें। चट्टानोंको बोलते हैं पहाड़—चट्टानोंका ढेर और उनके ढेरका नाम होता है शैल और शैलमें-से जो धारा निकलती है, झरने निकलते हैं, उसको बोलते हैं शैली—माने यह ज्ञानके पर्वतमें-से तरह-तरहके जो विचारके, प्रतिभाके स्रोत उदय होते हैं उनकी एक शैली होती है—आप अपने जीवनकी यह शैली रखिये कि—

कही फँस मत जाइये। कारखाना घाटेकी ओर जाने लगा—चिपक गये, चिपक गये तो दूसरोंको भी लेकर चला गया। अरे चिपक गये-अरे छोड़ दो भाई—'हम तो छोड़ना चाहते हैं पर यह नहीं छोड़ता है'। ऐसे नहीं पकड़ना चाहिए, अपनेको बचाकर काम करना चाहिए। यह असंगशस्त्रेण हुआ और तत: माने छेदनेन तत: छित्त्वा छेदनेन इत्यर्थ:-इस असंगताके द्वारा आप परमात्माके स्वरूपका अनुसन्धान कीजिये। तत: पदं तत्परिमार्गितव्यं—उस पदका परिमार्गण कीजिये। कौनसा पद? ऊर्ध्वमूल-जो सबसे ऊपर है। वह ऊर्ध्व है और आदि है। इस बातको यदि ध्यानमें रखें तो सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं।

आदि माने आप कहाँ सोचना चाहते हैं कि सृष्टि हुई, उसके पहले सृष्टि पूरबमें हुई कि नीचे हुई कि ऊपर हुई, कि पश्चिममें हुई। सृष्टि हुई। असलमें सृष्टि होती है, जहाँ आप हैं वहाँसे। यह दर्शनशास्त्रकी बात बहुत गम्भीर मानी जाती है कि एक तो होनेवाली सृष्टि होती है जो होती है। और एक मालूम पड़नेवाली सृष्टि होती है। हमको मालूम कैसे पड़ा? होनेकी आदि क्या है? इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। संसारमें कालका आदि कहाँ है? कौन-सा प्रथम क्षण है जहाँसे सृष्टिका प्रथम हुआ वह प्रथम क्षण यत्र सृष्टि प्रवर्वते—जहाँ सृष्टिका फैलाव शुरू हुआ, वह समय कौन-सा है।

वह स्थान कौन-सा है? आपने सुना होगा ब्रह्माजीसे पूछा गया सृष्टिका मध्य कौन-सा है? बीचों-बीच कहाँ है? तो ब्रह्माजीने एक कील उठायी और कानपुरके पास एक बिठूर जगह है, वहाँ उन्होंने गाड़ दी। बोले-सृष्टिका मध्य यह है। अभी जो दर्शन करते हैं तो वहाँ कील गढ़ी हुई है। तो किसीने ब्रह्माजीसे पूछा—यह सृष्टिका मध्य है, यह हम कैसे जानें? बोले नहीं जानते तो आओ ढूँढो। अकबरके बारेमें भी ऐसी ही बात है। बादशाहने पूछा कि बीरबल सृष्टिका बीचोबीच कहाँ है? उसने एक खूँटा लाकर गाड़ दिया—बोला जहाँपनाह जहाँ आप हैं, वही सृष्टिका मध्य है। बोले कैसे? बोला—आप पता लगवा लीजिये—ढूँढनेके लिए सी.आई.डी. लगवा दीजिये। सृष्टिका आदि अन्त जो ढूँढनेको जायगा, उसको सृष्टिका आदि-अंत नहीं मिलेगा। क्या मिलेगा? अज्ञान मिलेगा। अज्ञान माने नासमझी, बेवकूफी। आप कभी जान नहीं सकेंगे कि सृष्टिकी आदि कहाँ है और सृष्टिका अन्त कहाँ है?

सृष्टिकी आदि कब है और सृष्टिका अन्त कब है? कब और कहाँमें नहीं जान सकेंगे। तब कैसे जानेगे? जहाँसे मालूम पड़ता है, इसलिए 'छित्त्वा ततः छेदनेन तत् आत्मपदं तत्पदं आत्मपदं परिमार्गितव्यम्'। आप ढूँढो—ढूँढनेका रास्ता परिमार्गण है—मार्गण नहीं परिमार्गण है। रास्तेसे चलना—इसको ढूँढना नहीं है। रास्तेसे लौटना इसको ढूँढना है। 'परि' उपसर्गका अर्थ कहीं-कहीं वर्जन होता है। वर्जन माने कहीं ढूँढने मत जाओ। ढूँढनेके लिए अपने पास लौट जाओ। देखो तुम क्या हो? घड़ा कहाँसे पैदा हुआ? माटीसे। माटी कहाँसे पैदा हुई? पानीसे। ढूँढते जाओ। आकाश और आकाश कहाँसे पैदा हुआ? यह तो कहना पड़ेगा कि तुम तत्त्वको नहीं जानते हो। उसके कारण आकाश पैदा हुआ या पैदा हुआ ही नहीं है और या तो यह कहना पड़ेगा कि आकाश जिसको मालूम पड़ता है, उससे पैदा हुआ है। इसीको तस्माद्-वा एतस्माद् आत्मनः आकाशःसम्भूतः। हमको मोकलपुरके बाबाने बताया था कि मिट्टी पानीसे, गरमीसे, गरमी हवासे, हवा आसमानसे कैसे पैदा हुए।

महाराज उपनिषदोंमें तो लिखा है। हम उसको मानते हैं—देखो यह जो लिखा है वह सिर्फ माननेके लिए नहीं है, जाननेके लिए भी है। अपने शरीरमें मैल कैसे जमती है? पसीनेसे आती है। मैल माटी है और पसीना पानी है। पसीना कहाँसे आता है? गरमीसे आता है। पसीना पानी है और गरमी तेज है, अग्नि है। गरमी कहाँसे आती है? गरमी गतिसे आती है। जब बुखारमें ठंण्डक लगती है और हमारी नस-नड़ियाँ बड़ी जोरसे काँपने लगती हैं—तो क्यों काँपती हैं? वह ठण्डेको गरम बनानेकी प्रक्रिया है। शारीरिक प्रक्रिया है कि जब शरीर ठण्डा होने लगता है तो हमारी नस-नाड़ियाँ काँपकर उसको गरम बना लेती हैं।

गरम होना यह अग्नि है और काँपना यह वायु है। और यह कहाँ होता है ? आकाशमें होता है। यह बात केवल सुनने और माननेके लिए नहीं है—जाननेके लिए है और अनुभव करनेके लिए है। दर्शन-शास्त्रका अर्थ ही यह है कि सत्यको, तत्त्वको जो दिखा दे। आप तत्त्वको देखना नहीं चाहते हैं, देखना चाहते हैं कागजका बण्डल—चाहे वह ऑफिसमें रजिस्टर हो, चाहे नोटका बण्डल हो, देखना चाहते हैं, कागजका बण्डल, तत्त्वको, असलियतको कहाँ देखना चाहते हैं ? 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्'-ढूँढो कहाँ ढूँढें ? बाहर मत ढूँढो-लौट आओ। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दु:ख और मोह ये कैसे मालूम पड़ते हैं ?

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्द्रियोंसे मालूम पड़ते हैं और सुख-मोह, ये बुद्धिकी अवस्थाएँ हैं। कहीं नहीं मिलते हैं—आपने सुख कहीं देखा है? सुख लाल होता है कि पीला होता है? स्त्रियोंका सुख और पुरुषोंका सुख सफेद कपड़ेमें भले हो—3-4 दिन पहले एक ब्रह्मचारी आया था, कपड़े तो उसके सफेद थे लेकिन इतने सफेद थे कि बिना (Tinopol) से रंगे इतने सफेद कैसे हो सकते हैं। ब्रह्मचारीजी कपड़ा तो सफेद ही पहनते हैं पर वह टिनोपॉलमें रंगा हुआ होता है। एक साधुका चेहरा जरा खुरदरा था पर दिखते बड़े चिकने थे। बिना स्नो-पावडर लगाये वे उतने चिकने कैसे दिख सकते हैं ? परिमार्गण जो है-आप देखें संसारके शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गन्ध ये तो इन्द्रियोंसे मालूम पड़ते हैं-लेकिन सुख-दु:ख ये बुद्धिमें होते हैं। यह अपने दिमागमें लोगोंने बैठा लिया है कि गरमी पड़े तो बड़ा दु:ख है—सरदीका मजा लेने ठण्डे देशमें जाते हैं। और ठण्डे दिनोंमें गरमीका मजा लेनेके लिए गरम देशमें जाते हैं। अब यदि आप गरमीके दिनोंमें गरमीका आनन्द ले लें और सरदीके दिनोंमें सरदीका आनन्द ले लें तो कहीं जानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी।

सरदीके दिनोंमें ईश्वरकी दी हुई सरदी अच्छी नहीं लगती, गरमी ढूँढते हैं और गरमीके दिनोंमें ईश्वरकी दी हुई गरमी पसन्द नहीं आती है तो सरदी ढूँढनेके लिए जाते हैं। बाबा! यह शरीर गरम-सरद दोनों सहनेके लिए बना है। सुख-दु:ख क्या है ? आपके मनमें किसीने बैठा दिया—1000-2000 साड़ी अपने पास हो तो हम बड़े सुखी हैं। साड़ीकी बात कभी-कभी हेमलता हमको सुनाती है। दिखाती है, यह साड़ी वहाँकी बनी है, यह साड़ी यहाँकी बनी है। हमारी जानकारी बढ़ती है उससे। इतनी साड़ी अपने पास हो तब तो हम सुखी हैं और उससे कुछ कम है तो दु:खी हैं। इतना हीरा, इतना मोती, इतना सोना, इतना चाँदी—बाबूकी कोई हँसी कर रहा था कि इतनी आमदनी क्यों हुई इस कारखानेमें ? इस मिलमें 20 करोड़ क्यों आया 40 करोड़ आना था! तब किसीने इनकी हँसी कर दी। एक बेटा क्यों हुआ ? दो होना चाहिए था। भाई मेरे, यह शब्द, स्पर्श रूप, रस गन्ध तो इन्द्रियोंसे मिलते हैं, देखे जाते हैं पर सुख और दु:ख ये दोनों मनमें ही होते हैं, इनका अधिकरण मन है और हमारे मनमें जैसा बैठा दिया—खाँड़के खिलौने—गधे भी और घोड़े भी परन्तु हमको गधा नहीं चाहिए, घोड़ा चाहिए खानेके लिए तो गधा और घोड़ा दोनों शक्कर ही है। सुख और दु:ख जो है ये बिलकुल मनमें बैठाये हुए हैं—ये हैं नहीं। मन:कल्पना हैं ये।

अब सुख-दु:ख मनमें होता है तो मन कहाँसे बना है ? हमारे एक सामान्य चेतनमें संस्कार डाल दिये गये हैं। उस चेतनको ढूँढो— 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं'—ज्ञान है-शुद्ध ज्ञान है, उसमें विकार और संस्कार ये

दोनों बाहरके निमित्तसे आये हुए हैं। स्त्रीको देखकर मनमें विकार होता है, क्योंकि हमारे माता-पिताको भी हुआ था। स्त्री-पुरुषको देखकर मनमें विकार आता है और विवाह करते हैं, वह संस्कारसे होता है, कि एक पुरुषमें, एक स्त्रीमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। अब विवाह करनेके प्रकार जो हैं, वे देश-विदेशमें, जाति-जातिमें तरह-तरहके हैं। विकार आते हैं, उनके लिए संस्कार होता है। संस्कारके प्रकार होते हैं और वे जो प्रकार हैं वे एक ही प्रकृतिमें भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं। इसलिए आओ उनको अपनी ओरसे ढूँढें। इसको ढूँढनेसे आखिर होगा क्या? बोलते हैं तुम्हारा भटकना छूट जायगा।

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।

व्याकरणके अनुसार निवर्तन्ते चाहिए परन्तु श्रीकृष्णने अपना व्याकरण लगा दिया इसमें। निवर्तन्ते न कहकर निवर्तन्ति कह दिया। जगह हो तो कहीं जायेंगे और जगह हो तो कहीं आयेंगे। न निवर्तन्ति कहनेका अर्थ है न निवर्तन्ते तो उसका अर्थ होता है-

न प्रवर्तन्ते। न प्रवर्तन्ते न निवर्तन्ते।

वहाँ न जाना है न आना है। कबीर बोलते हैं 'अबकी गौना-बहुरि न आवना'। अबकी जावेंगे तो लौटकर नहीं आवेंगे। 'सुरति बिरह्लिया छाई निज देस। जहाँ न सरत. जहाँ न मूरत-पूरन घनी दिनेस। झण्डा गाड़ो जाइके हद-बेहदके पार।' यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। जहाँ जानेके बाद फिर लौटना नहीं पड़ता। ऐसे घर क्या जाना जहाँसे निकाल दिये जायँ-नरकमें-से भी निकाल दिये जाते हैं, स्वर्गमें-से भी निकाल दिये जाते हैं और तो क्या जय-विजय बैकुण्ठमें-से भी निकाल दिये गये। कथा सब लोग जानते हैं।

गोलोकमें-से श्रीदामाको १०० वर्षके लिए मनुष्यलोकमें आना पड़ा और सौ वर्षके लिए राधारानीका वियोग हो गया श्रीकृष्णसे। जहाँ संयोग और वियोग दोनों लगे हैं वहाँ सुख-दुःखके संस्कार अवश्य रहेंगे। इसलिए सुख-दुःख और मोह-हम फँसे हैं मोहमें-यह तमोगुणका रूप है और दुःख जो है वह रजोगुणका रूप है और सुख जो है वह सत्त्वगुणका रूप है। सदंशके अज्ञानसे मोह होता है, चिदंशके अज्ञानसे भ्रम होता है। और् आनन्दांशके अज्ञानसे दुःख होता है आनन्दका विवर्त है सुख और चित्तका विवत है जड़ और सत्का विवर्त है असत् मिथ्या।

इन तीनोंको देखा जाता है, इनका साक्षात् अनुभव होता है, परमात्माका दर्शन होता है, आपके मनमें देखनेकी इच्छा! 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।' इसको हम जब 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'का प्रसंग आवेगा तब सुनावेंगे कि यह धाम क्या है-गोलोक है कि वैकुण्ठ है कि स्वर्ग है कि अपने हृदयमें ही कोई भगवान्का धाम है कि स्वयं भगवान् ही धाम हैं। स्वयं भगवान् ही धाम हैं, स्वयंप्रकाश होनेसे ज्योतिर्मय हैं, ज्योतिरूप हैं और सद्रूप होनेसे अधिष्ठान हैं-सत् होनेसे सबके अधिष्ठान हैं, और चित् होनेसे सबके प्रकाशक हैं-स्वयं प्रकाश परमात्माका नाम ही धाम है

..............यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 15.4

अब उसको कैसे ढूँढना चाहिए इसकी शैली, प्रक्रिया, इसका ढंग बताते हैं। श्रीकृष्ण तो महाराज बड़े नट हैं-भगवान्‌का रूप नट है, शङ्करजीको नटराज बोलते हैं-और श्रीकृष्णको नटवर बोलते हैं।

सोई सोई रूप दिखावइ आपुन होइ न सोई।

गोस्वामीजीने कहा 'जथा अनेक रूप धरि नृत्य करई नट कोई। सोई-सोई भाव दिखावइ आपुन होइ सोई।' कैसे ढूँढना चाहिए? तो नाटक किया-'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये'-यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।' उस आदि पुरुषकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ जिससे ये पुरानी पुराणकालसे यह सृष्टि चली आ रही है, फैली है, यह दुनिया इतनी फैल गयी है-जिस आदि पुरुषसे, उसकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ। प्रपद्ये-माने सृष्टिका आदि जहाँ है वहाँ जाकर इस सृष्टिके रहस्यको जाना जाता है। आदिमें पहुँची-विषयोंकी आदि कहाँ है? इन्द्रियोंमें। इन्द्रियोंकी आदि कहाँ है? पञ्चतन्मात्रमें। पञ्चतन्मात्राकी आदि कहाँ है? मनमें, और मनकी आदि कहाँ है? बुद्धिमें। बुद्धिकी आदि कहाँ है? समष्टि बुद्धिमें और समष्टि बुद्धिको आदि कहाँ है? अव्यक्तमें, प्रकृतिमें और प्रकृतिकी आदि कहाँ है? अपने आपमें।' तमेव चाद्यं पुरुष प्रपद्ये'-यहाँ प्रपद्ये यतः के पाठमें प्राचीनकालसे ही मतभेद चला आ रहा है। 'प्रपद्ये तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ययतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'-यह एक पाठ है। श्रीरामानुजाचार्यके सम्प्रदायमें इस पाठको स्वीकार करते हैं। ढूँढे कैसे? ईश्वरकी शरणमें होकर ढूँढे। भगवान्‌ने नाटक करके बता दिया कि भगवान्‌की शरणमें होकर, परमेश्वरकी शरणमें होकर ढूँढे।

जब मुझे भी भगवान्‌की शरणमें होकर ढूँढना पड़ता है तो अर्जुन, तुमको तो भगवान्‌की शरणमें होना ही चाहिए। मैं तो हो गया हूँ महाराज-तुम अभी शरणमें कहाँ हुए? अभी तो तुम शरणमें नहीं हुए।

अर्जुनने कहा मैं तो हो चुका हूँ-'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' मैं तो तुम्हारा शिष्य हूँ, 'शाधि' मेरा शासन करो- आज्ञा दो कि यह करो, यह मत करो-बाबू पहले तो बोल गये कि आज्ञा दो, जो आज्ञा दोगे सो करेंगे और फिर बोल गये कि 'न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा'-मैं लड़ूँगा नहीं। और सब बात तुम्हारी मानूँगा पर लड़नेवाली नहीं मानूँगा।

लो, इसीका नाम शरणागति है! एक बात छोड़कर और सब माननेको तैयार हूँ। तो मानना कहाँ हुआ? भगवान् श्रीकृष्णने कहा 'प्रपद्ये' जो है-मैं स्वयं प्रपद्य होकर जानता हूँ और तुम भी शरण हो करके जानो। और किसी-किसीने तो 'प्रपद्ये यतः' को 'प्रपद्ययतः' कर दिया। प्रपद्यमें-से इ निकालकर यतः के साथ जोड़ दिया।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ययतः प्रवृतिः प्रसृता पुराणी।

तीन पाठ मिलते हैं 'प्रपद्य, प्रपद्ये और प्रपद्ययतः।' अर्जुन भगवान्‌की शरणमें नहीं है क्या? शरणागति ऐसी सीधी-सीधी नहीं है। बहुत सरलता, पूर्ण सरलता जीवनमें हो तब शरणागति होती है। जरा भी दाँव-पेंच होवे तो शरणागति नहीं होती। थोड़ा भी छल-कपट रखकर शरणागति नहीं होती है। बोले-हाँ महाराज और सब तो ठीक है-हम आपकी शरणमें हैं, कहो तो हम होम करें, कहो तो सन्ध्यावन्दन करें, कहो तो गायत्रीका जप करें, कहो तो भूखे रहें-सब आज्ञा पालन करनेके लिए हम तैयार हैं।

बोले बस-बस तुम्हारी कमजोरी पकड़ गयी। अभी तुम्हें तुम्हारा धर्म, तुम्हारा मंगल करेगा यह भरोसा है तो आगे कहा-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

× × ×

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

देखो यहाँ शरणागति में भी दो भाव है। एक तो 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'-अपने सब भावोंको लेकर भगवान्‌की शरणमें आओ और एक में है-सब भावोंको छोड़कर भगवान्‌की शरणमें आओ। 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।' अपना सबकुछ लेकर भगवान्‌की शरणमें जाओ। पहलेमें कही गयी बात और दूसरेमें कही गयी-सबकुछ छोड़कर मेरी शरणमें आओ।

अर्जुन-तुम्हें ढूँढना है तो 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यत: प्रवृति प्रसृता पुराणी' उस आदि पुरुषको ढूँढो। अच्छा महाराज-यह प्रपत्ति क्या है यही बता दो; शरणागति क्या है? शरणागति यह है कि जब हम अपने स्वामीके पास जाते हैं तो जरा चिकने-चुपड़े होकर जाते हैं।

एक सेठके बारेमें हमको मालूम है-हमारे एक मित्र गये उनसे मिलने-सेठके भी मित्र थे, हमारे भी मित्र थे। सेठने उनको दूरसे देख लिया-आशीर्वाद, नमस्कार हुआ। पहले जाकर बाल बनवाओ, स्नान करो, कुछ नाश्ता-पानी करके फिर मेरे पास आओ। ऐसे रूखे-सूखे, भगे कहाँसे चले आ रहे हो? भगवान्‌के सामने भी जाना हो तो जरा चिकना-चुपड़ा होकर ही जाना चाहिए।

भगवान्‌की बदनामी तो नहीं करवानी चाहिए न! कि भगवान्‌का भक्त होकर, भगवान्‌का सेवक होकर यह दीनहीन है।

मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

शीशा तो मैला है, गन्दा है और आँख है नहीं-रामरूप कैसे देखेंगे? दुनियाके लिए गरीब हो रहे हैं, हमको यह चाहिए-यह चाहिए। बाबा जाओ! पहले वही लो तुम, फिर पीछे मेरे पास आना। भगवान् कहें-सुग्रीव जा, राज्य कर। विभीषण जा लंकाका राज्य कर, मन्दोदरीके साथ व्याह कर, मेरे पास पीछे आना। अभी तुमलोग मेरे पास रहनेवाले नहीं हो। और श्रीरामने हनुमानजीको नहीं कहा कि आओ! हनुमानजीने खुद ही कहा कि हम तुमको छोड़कर नहीं जावेंगे।

शरणागतिमें भी, कैसी शरणागति होनी चाहिए-'निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा:। द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुखदु:खसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।'

अब आप देखो-वहाँ तो अव्यय शब्दका प्रयोग अश्वत्थ वृक्षके लिए आया और यहाँ परमात्माके लिए अव्यय शब्दका प्रयोग आया। दोनोंकी मिलान तो करनी ही पड़ेगी। वहाँ अव्ययके साथ एक अश्वत्थकी उपाधि लगी हुई है, इस उपाधिको जब छोड़ देंगे तब निरुपाधिक अव्यय परमात्मा हो जायगा।

इसलिए सोपाधिक परमात्माका नाम अश्वत्थ होगा और निरुपाधिक परमात्माका नाम शुद्ध अव्यय होगा।

गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।

परमात्माके पास कौन पहुँचता है? परमात्माके पदका साक्षात्कार किसको होता है? जो मूढ़ नहीं होता। मूढ आदमीको अपने घरमें रख लें तो आग ही लगा दे, कहाँ बरतन फोड़ दे।

हमारे पितामह थे, हमलोगोंको बहुत डाँटते, फटकारते थे। गिलासको थालीमें रक्खा-खनसे बोल गया। अरे राम-राम-राम, क्या करते हो? सावधानीसे रक्खो। चलते समय पाँव क़हीं टकरा गया, ठोकर लग गयी। बोले-देखके चलो। चलते समय सिर दरवाजेमें टकरा जाता था। बड़े होनेपर किवाड़ियोंमें तारकोल लगा होता, उसमें चिपक जाते, तो हर बार डाँट पड़ती कि देखो, यह सब सावधान रहनेके लिए है। सावधान रहो-मूढ हो गया-कौन?·जो चिपक गया वह।

मूढ माने अटक जाना। 'गर्भो मूढः।' पेटमें बच्चा भटक गया। माने अपने रास्तेसे नहीं आ रहा है। अब वैद्य लोग औषधि करेंगे, हकीम लोग उसकी युक्ति निकालेंगे, डाक्टर लोग आपरेशन करेंगे तो अब आपरेशनकी जरूरत हो गयी, क्योंकि हम इस प्रकृतिके गर्भमें अटक गये, मूढ हो गये, इससे बाहर निकलनेका उपाय हम नहीं करते हैं, रास्ता ही भूल गया, तो 'परिमार्गितव्यं' करके-अमूढाः जो रास्तेमें कहीं अटकेगा नहीं, भटकेगा नहीं-वह परमात्माके पास पहुँचेगा।

एक जंगलमें कोई आदमी रहता था तो उसको मालूम नहीं था कि हमारे राजा, महाराजा कैसे होते हैं, कोई शहरके सज्जन गये और उन्होंने बताया कि महाराज तो ऐसे होते हैं, ऐसे उनके वस्त्र होते हैं, ऐसे आभूषण होते हैं, ऐसे चमाचम चमकते हैं, उसने कहा कि हम तो राजाका दर्शन करेंगे। अब वह भी अपना कपड़ालत्ता बढ़िया पहनकर राजाके दरवाजेपर पहुँचा, वहाँ देखा-एक आदमी खड़ा है, उसकी पगड़ी और उसकी पोशाक देखकर दण्डवत् करने लगा और कहा महाराज, मैं आपका ही दर्शन करने आया हूँ। बोले-अरे भाई! तुम किसका दर्शन करने आये हो? वह बोला-मैं महाराजका दर्शन करने आया हूँ। मैं महाराज नहीं हूँ, और भीतर जाओ।

अब और भीतर गया तो मुनीम मिला, उसकी शान-बान और-महाराज, आपका दर्शन करनेके लिए मैं आया हूँ-वहाँ मालूम पड़ा कि यह नहीं है। और आगे गया। दीवान साहब मिले-महाराज, मैं आपका ही दर्शन करने आया हूँ बोले-नहीं, नहीं मैं महाराज नहीं हूँ और आगे जाओ, तब वह महाराजके पास पहुँचा, तो जो लोग रास्तेकी वस्तुओंमें ही फँस जाते हैं-बड़े-बड़े चमाचम चमकते हुए दृश्य मिलते हैं। देवताका रूप धारण करके भूत-प्रेत आते हैं, ईश्वरका रूप धारण करके पितर और देवता आते हैं-कभी ब्रह्माको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है, कभी रुद्रको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है, कभी विष्णुको देखकर ईश्वर होनेका भ्रम होता है और कभी निराकारको देखकर ईश्वरके होनेका भ्रम होता है।

तो अमूढा, जो रास्तेमें छोट-छोटी चीजोंमें नहीं अटकते हैं-जो छोटी-छोटी चीजोंमें ही फंस गये-अठन्नी पकड़कर हाथमें बैठ गये और उसको छोड़नेके लिए तैयार नहीं है तो रुपया कहाँसे आयेगा?

हमारे पास पाकिस्तानसे एक सज्जन आये थे। बहुत रुपया लेकर आये थे। वे कहते थे कि मैं तो

पाकिस्तानसे सार-सार निकालकर ले आया हूँ। कोई काम अब सोच रहा हूँ। तीस वर्षतक जिन्दा रहे-सोचते रहे कि काम क्या करूँ? सब चौपट हो गया, अन्तमें खाने-पीनेको कुछ नहीं रहा। काम तो धड़ाधड़ करना होता है, उत्साहके साथ, साहसके साथ-जिसमें साहस नहीं है वह काम क्या करेगा? यह जो अपने चित्तमें अटकन है, जो भटकन है, जो लटकन है, जो फटकन है, उसको जो छोड़नेके लिए राजी नहीं होगा, मूढ हो जायेगा, वह परमात्माको कैसे प्राप्त करेगा!

आगे बढ़ना है। कैसे आगे बढ़ना है। आप अपनी पकड़को देखिये। निर्मानमोहा—मान, मोह आपकी एक पकड़ है। शान बनानेमें, इज्जत बनानेमें आदमी अपनेको नष्ट कर देता है।

20-25 वर्ष पहले कि बात है, एक सज्जन एकान्तमें हमारे पास दु:खी होने लगे। महाराज, अब तो व्यापार टूट गया, उखड़ गया। अब हमारे जीवनमें कुछ सार नहीं है। मैंने उससे पूछा—तुम्हारे सात मोटरें चलती हैं, जब तुम्हारे पास पैसा कम है तो तुम सातकी जगह दो रख लो। बोले महाराज ऐसा मत कहो—लोगोंको मालूम पड़ेगा कि हमारे पास पैसा कम हो रहा है तो अपना-अपना उठा लेंगे। हमारा कल दिवाला निकलना है तो आज ही निकल जायगा। हमें शान तो बनाये ही रखनी पड़ेगी!

मान अटकाता है। यदि शान-शौकत छोड़कर आदमी सरल जीवन व्यतीत करें, काहेका अभिमान है? मोह है, छोड़ नहीं सकते—एक आदमी पानीमें डूब रहा था—उसको कोई कहे, हम कपड़ा फेंकते हैं, इसको तुम पकड़ लो—तो वह कहेगा हम नहीं पकड़ेंगे। हम पकड़कर निकलेंगे! तो फिर डूबोगे। एकने कहा देखो तुमने उस दूसरे आदमीको पकड़ रखा है, तुम भी डूबोगे, वह भी डूबेगा—छोड़ दो उसको—हम नहीं छोड़ेंगे। दोनों हालतमें डूबेगा।

निर्मानमोहाका अर्थ है, मान है अपनी शानको बनाये रखनेके लिए। अभी हालकी ही बात है एक सज्जन आये थे, उनके कारखानेमें बहुत बड़ा नुकसान हो गया था तो मैंने कहा कि तुम जाहिर करोगे तो सरकारकी ओरसे तुमको मदद भी मिलेगी और सब ठीकठाक हो जायेगा—तो बोले महाराज, हम जाहिर कैसे करें कि हमारा इतना नुकसान हो गया है। तब क्या करेंगे? बोले, जाहिर करेंगे तो लोग अपना शेयर ही निकाल लेंगे। हम तो जाहिर नहीं करेंगे, किसी-न-किसी तरहसे सह लेंगे।

मानसे आदमी दु:खी होता है। और मोहसे भी दु:खी होता है और संगमें भी दु:खी होता है। 'जितसंगदोषा'—छूटता कैसे है? 'अध्यात्मनित्या:' अपने भीतर देखो, तुम्हारे भीतर ईश्वर है। झिलमिल-झिलमिल झलक रहा है, जगमगा रहा है तुम्हारे भीतर, चमचम चमक रहा है। परमेश्वरकी धूप-छाँह क्षण-क्षणमें प्रकट हो रही है और वह धूप-छाँह तुम्हारी है, तुम्हारी छाया है। प्रश्नोपनिषद्में है, 'यथा पुरुषे छाया'—वह परमेश्वर तुम्हारे हृदयमें है। मान, मोह, संग, कामना छोड़ करके परमात्माको देखो, तुम्हारी आँखोंके पीछे परमात्मा है, ऐसा इन्द्र-विरोचनको प्रजापतिने बताया था। तुम्हारी आत्माका ही नाम परमात्मा है! ऐसा सनकादिने कहा है। आप ढूँढ़ो तो सही। 'अध्यात्मनित्य' हो जाओ-आपके हृदयमें ही सत्यकी, परमेश्वरकी, यथार्थकी, परमार्थकी प्राप्ति हो जायगी। ●

प्रवचन : 4

8-11-86

भगवान्की ओर चलनेके लिए, संसारसे लगाव कम होना चाहिए। काम सब करें पर लगाव भगवान्के साथ रखें। जैसे कोई मुनीम सेठके यहाँ काम करता है, तो उसको आश्रय तो सेठका है, लेकिन उसका प्रेम अपनी पत्नीसे, अपने पुत्रसे, अपने घरसे रहता है। परन्तु भक्त जब भगवान्की भक्ति करता है, तो उसके आश्रय भी भगवान् हैं और प्रेमास्पद भी भगवान् हैं। मुनीमका मन दो जगह बंटा हुआ है। एक मालिककी सेवा करनेमें और एक अपने शरीर और शरीरके सम्बन्धियोंके पालन-पोषणमें। भक्त जो है वह मुनीम नहीं है। परिवारके लिए सेठका जैसा आश्रय मुनीमने लिया है वैसे नहीं; यह तो भगवान्से शुद्ध प्रेम करता है।

आप जानते हैं हमारे ब्रिटिश सरकारके एक सदस्यने, एक स्त्रीसे प्रेम किया और उसके लिए उसने इतना बड़ा साम्राज्य अस्वीकार कर दिया। सम्राट पदको अस्वीकार किया और स्त्रीको प्राप्त किया। भगवत्-प्राप्तिके लिए लालसा जो मनमें होती है वह ऐसी होनी चाहिए कि एक लालसा बन जाय। बम्बईमें एक लड़की थी वह संगीत सीखनेके लिए किसीके पास जाया करती थी। बड़े नामी गायक थे। लड़कीको हो गया उनसे प्रेम—वह 19 वर्षकी और सिखानेवाले चालीस वर्षके। घरवालोंको कुछ पता नहीं था। जब एकदिन उसने घोषणा की कि हम तो उसके साथ विवाह करेंगे, चली गयी उनके घर, फिर पंचायत हुई। बड़े-बड़े लोग इकट्ठे हुए। उसके माँ, बाप, दादा, दादी रोये। मेरे पास भी आकर रोये। लड़कीसे पंचायतमें पूछा गया कि तुम क्या पसन्द करती हो अपने माँ, बाप, दादा, दादी, भाई, बन्धुओंको या उस प्रेमास्पदको? उसने जहाँ बैठी थी वहाँसे उठकर उस व्यक्तिका हाथ पकड़ लिया और बगलमें जाकर बैठ गयी कि मैं तो इनको चाहती हूँ। भगवत्-प्राप्तिके लिए मनमें होनी चाहिए एक लालसा और व्यवहारमें सबसे होनी चाहिए असंगता। संग—आसक्ति केवल भगवान्से चाहिए। घूमो फिरो, आओ, जाओ, मिलो, जुलो और अन्तमें आकर भगवान्के पास बैठ जाओ।

'जैसे उड़ि जहाजको पंछी, पुनि जहाजपर आवे। मेरो मन अनन्त कहाँ सुख पावै।' मेरा मन अन्यत्र कहाँ सुख प्राप्त करेगा? घूम-फिरकर भगवान्के पास आकर बैठेगा—उनसे मिल लिया, उनसे जुल लिया, वह काम कर लिया और अन्तमें विश्राम-स्थान भगवान्का स्वरूप ही है। दूसरी बात चाहिए, अनुसंधानकी तीव्र आकांक्षा। हम तो भगवानको पा करके ही रहेंगे। हमेशाके लिए प्राप्त करेंगे और भगवान्की प्राप्तिमें भगवान्की सहायता ही सर्वोपरि साधना है। यह तो ऐसे हैं कि कोई चाहे कि हम भगवान्को प्राप्त करेंगे तो स्वयं नाव लेकर आजाते हैं।

व्रजमें यह बात प्रसिद्ध है कि गोपियाँ जमुना पारसे जब सायंकाल लौटने लगीं—कोई नाव नहीं थी कोई मल्लाह नहीं था, तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नाव लेकर उनके पास पहुँच गये। उन्होंने उनको पहचाना नहीं कि ये कृष्ण हैं—नाव और पास ले आओ तो बोले, नहीं नाव तो इतनी ही आ सकती है, तुमको आना पड़ेगा। नहीं हम पानीमें नहीं आसकती हैं—बोले इतनी गोपियोंको मैं एकबारमें पार भी नहीं कर सकता। उनका मटका छुड़ा दिया, उनके जेवर उतरवा लिये, उनके कपड़े भी कम करवा दिये और स्वयं उठा-उठाकर अपनी गोदमें ले-लेकर उनको नावपर रख लिया और नाव चलाने लगे।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

जब मनुष्य भगवान्की ओर जानेके लिए तत्पर होता है तो भगवान् स्वयं उसकी यात्रामें सहायता करते हैं। उसको बल देते हैं।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।

जिन्होंने यह दुनियाका जाल फैलाया है। प्रवृत्तिका जाल फैलाया है—अनादि कालसे बहुत पुरानी संसारकी ओर प्रवृत्ति चल रही है। यह जिन्होंने फैलायी है, उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। कहते हैं कि मल्लाह जब जाल फैलाता है मछलियोंको पकड़नेके लिए तो जो मछली मल्लाहके पाँवके पास चली जाती है वह जालमें नहीं फँसती। जालमें वही मछली फँसती है, जो मछुयेके पाँवसे दूर होती है। जो भगवान्के चरणोंकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके लिए इस संसारमें फँसनेका डर नहीं रहता है। पहले तो हम लोगोंके घरमें दाल दली जाती थी, आटा पिसा जाता था, चक्की चलती थी, जाँता चलता था। तो उसमें यह बात देखनेमें आयी कि जो मटरमें या अरहरमें या मूँगमें कीड़े हैं—वे चक्की के मध्य लगी कीलके पास जो पहुँच जाते थे वे जिन्दा बच जाते थे और जो कीलके पास नहीं पहुँचते वे पिस जाते थे।

यह भगवान्का जो फैलाया हुआ जाल है, चलती हुई चक्की है। इसमें जो कीलके पास पहुँच गया, मछुएके पाँवके पास पहुँच गया वह छूट जाता है। इसलिए इससे छूटनेका उपाय है—भक्ति। इसके सिवाय अपने जीवनमें भगवान्की ओर चलनेकी तैयारी चाहिए वह तैयारी हमें ध्यान रखकर करनी चाहिए। तैयारी तो ऐसी है कि यदि वह तैयारी हम अपने जीवनमें करें तो भगवत्-प्राप्ति तो होगी ही, अपने जीवनका भी उत्तमसे उत्तम कोटिका निर्माण हो **सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषादिव।**

एक धर्मात्माको चाहिए कि वह जहाँ सम्मान प्राप्त हो—अखबारोंमें नाम छपे, कीर्ति बढ़े—सरकार खुश हो, लाइसेन्स मिले, इस दृष्टिसे धर्माचरण न करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धिकी दृष्टिसे—

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

इससे हमारे हृदयमें पवित्रता आवे इसके लिए कर्म करना चाहिए। सेवक भी हो और मान भी चाहे, तो 'सेवक सुख और मान भिखारी'—सेवामें अपने बड़प्पनको रखकर सेवा नहीं की जाती है। अपने बड़प्पनका त्याग करके सेवाकी जाती है। और ज्ञानकी जो प्राप्ति है, उसमें व्यक्तित्वकी जो अभिमान है वह छोड़ना ही पड़ता है। ज्ञानका अर्थ ही है। कि हम छोटी-छोटी बातोंको लेकर जो अपनेको बड़ा मानते हैं—

वहाँसे हम मुक्त हो जायँ। अपने आपको जब परमात्माके प्रति समर्पित करना होता है तो उसमें मानका परित्याग करना पड़ता है। 'मानमोहाभ्यां निष्क्रान्तः निर्मानमोहश्च,निर्मानमोहश्च,निर्मानमोहश्च'-प्रत्येक साधकको अलग-अलग मान और मोहसे मुक्त होना चाहिए। इसमें मान जो है वह स्वनिष्ठ है और मोह जो है वह परनिष्ठ है। अपने बड़प्पनका तो होता है मान। हम बड़े भारी ज्ञानी हो गये—ज्ञानी नहीं हो गये आप अज्ञानी हो गये। 'ज्ञान-मान जहँ एको नाहीं'—ज्ञान तो वह होता है, जहाँ किसी भी प्रकारका मान होता नहीं है। ज्ञानी यह अभिमान नहीं करता कि मैं बड़ा ज्ञानी हूँ।

जीवन तो सर्वथा जिज्ञासुका ही होना चाहिए। नयी-नयी विधा नयी-नयी प्रतिभाका उन्मेष जीवनमें होना चाहिए। नया-नया विकास होना चाहिए। जीवन ठप्प करनेके लिए ज्ञान नहीं है। जीवनको प्रकाशमान करनेके लिए ज्ञान होता है। यदि आप अपने व्यक्तित्वको पकड़कर बैठ जायेंगे—श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने एक दिन चर्चा चलने लगी कि ज्ञानी कौन है? बाबाने ऐसी बात कही कि ज्ञानी तो न आज कोई है, न हुआ, न होगा। लोग आश्चर्यचकित रह गये कि बाबा क्या बोल रहे हैं?

बड़े-बड़े महात्मा बैठे हुए थे। बंगाली बाबा, स्वामी उग्रानन्दजी—12-12 घण्टे एक आसनसे बैठकर बात करनेवाले—एक आसनसे ध्यान करनेवाले—तो बाबाने कहा ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो है परन्तु अपनेको ज्ञानीपनेका अभिमान रखनेवाला कोई नहीं है। यदि ज्ञानीपनेका अभिमान रहेगा तो वह आदमी बनकर रह जायेगा उसमें जो परमात्माका सत्यस्वरूप है, वह प्रकट कैसे होगा? बड़े-बड़े विद्वानोंने,महापुरुषोंने भी यही कहा है कि यह जीवन तो विद्यार्थीका जीवन होना चाहिए। सीखते चलो, सीखते चलो यह मत सोचो कि अब इति-परिमिति हो गयी, इसके आगे कुछ नहीं है।

जो अपने व्यक्तित्वका, अपनी जातिका अभिमान करेगा वह ज्ञानसे वंचित हो जायेगा। यह सिखाना कोई मामूली काम नहीं है। सीखते जाओ और सिखाते जाओ इसमें तो कोई हर्ज नहीं है, लेकिन अब हमको सिखानेका ही अधिकार प्राप्त हो गया है और सीखनेके अधिकार से हम मुक्त हो गये, यह बहुत बड़ी हानि है। दूसरी बात यह है कि यह मोह जो है—मोह माने उलटी खोपड़ी—संस्कृतमें मुह् वैचित्ये—चित्तका विपरीत हो जाना, जहाँसे प्रकाश मिल रहा है उस ओर नहीं देखना—जहाँ अन्धकार है वहाँ देखना—दृश्यकी ओर—प्रपंचकी ओर, जड़ताकी ओर, कि अन्धकारकी ओर जाना है और वहीं मोह हो जाता है। दुनियामें गौतम ऋषिने गिनकर प्रकट किया है कि तीन ही दोष हैं—दोष जीवनमें केवल तीन ही हैं—दु:ख तो उन्नीस प्रकारके होते हैं; किन्तु दोष केवल तीन प्रकारके होते हैं। और वे तीन प्रकारके दोष क्या है?

किसीके मुहब्बतमें फँस जाना, राग होना या किसीसे द्वेष, दुश्मनी—नफरत हो जाना और कहीं मोहके चक्करमें फँस जाना। दुनियामें जितने भी दु:ख हैं, आपके दु:खका रूप चाहे जो कुछ भी हो, धनका गमन हो, जनका मरण हो, भवनका दहन हो, शरीरमें रोग हो—कुछ भी दु:खका रूप क्यों न हो, परन्तु दु:ख केवल तीन ही बातोंसे होता है। जिससे मुहब्बत थी वह छूट गया तो दु:ख हुआ। जिससे नफरत थी वह मिल गया तो दु:ख हुआ और जिसको हम पकड़कर बैठे, छोड़ नहीं पाते हैं उससे दु:ख होता है।

दुःखके केवल तीन ही कारण है। दोष तीन हैं और दुःख उन्नीस है, ऐसी गिनती गौतमने न्यायशास्त्रमें की है।

मान और मोहका परित्याग करके परमेश्वरकी ओर चलिये। और संगका दोष बहुत आता है। नास्तिकोंका संग करो, नास्तिक हो जाओगे। आस्तिकोंका संग करो, आस्तिक हो जाओगे। हमने ऐसे लोगोंको देखा है जो बड़े पवित्र आचरणसे रहते थे, जब उनका संग बिगड़ा तो उनका खान-पान बिगड़ गया। जो माला फेरते थे वे जुआ खेलने लग गये। जो परस्त्री-परपुरुषकी ओर देखते नहीं थे वे व्यभिचारी, अनाचारी हो गये।

संगका बहतु प्रभाव अपने जीवनमें पड़ता है, यह ध्यान रखने योग्य है कि हम संगति किसकी करते हैं? कलकत्तेके एक सज्जन थे, जब उनके पास दस लाख रुपया था तब चौकेमें रसोई बनती थी, ब्राह्मण बनाता था, हाथ-पाँव धोके, कपड़ा उतारके क्यारीमें बैठकर खाते थे। जब पचास लाख हुआ तब क्लबमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने खाना शुरू किया, नाचना शुरू किया। फिर वे विदेशमें गये तो वहाँके आचारका जो संस्कार था वह बिलकुल बदल गया।

हमारी अच्छाई-बुराईसे हमारा मतलब नहीं है। मतलब तो यह है कि संगतिका असर बहुत ज्यादा पड़ता है। आप अपने बच्चोंके सम्बन्धमें भी सावधान रहें। वह आपके बहुत प्यारे हैं यह ठीक है, उनके बारेमें आपको बहुत आशा है यह भी है। परन्तु उनके जीवनका निर्माण वैसा ही होगा, जैसोंकी वे संगति करते हैं। संग माने होता है संयम—किसीके साथ मिल जाना, किसीके साथ एक हो जाना। वे कहेंगे—अरे भाई चलो, इसमें क्या रक्खा है कर लो! जिनको रुपये रखनेकी आवश्यकता नहीं है—जिनके पास बहुत है, वे भी जब जूआ खेलनेवाले, लाटरीवाले, सटोरियोंके साथ पड़ते हैं तो उनकी वही गति हो जाती है। सदाचारी भी दुराचारीके साथ पड़कर दुराचारी हो जाता है।

तीसरी बात—इसके सम्बन्धमें यह है कि हमें अपने बारेमें विचार करना चाहिए। हम दूसरोंके बारेमें तो बहुत विचार करते हैं; लेकिन अपने बारेमें कम सोचते हैं—यह हमारे जीवनका एक दुर्गुण है, एक दोष है।

मनु और याज्ञवल्क्य तो कहते हैं कि जब प्रातःकाल नींद टूटे— ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय'—ब्राह्ममुहूर्तमें उठें, उस समय शान्ति रहती है—कोई हल्ला-गुल्ला नहीं रहता है, मनको खींचनेवाले कोई आकर्षण नहीं होते हैं, तो उस समय बैठकर यह निश्चय करना चाहिए कि आज हम कौन-सा लोकहितका काम करेंगे। आप 24 घण्टेके लिए प्रातःकाल योजना बना लो, आज इतने प्यासोंको पानी पिलायेंगे, इतने भूखोंको अन्न देंगे, इतने रोगियोंको औषधि देंगे, इतना विद्यादान करेंगे, इतने लोगोंको सुख पहुँचायेंगे, ऐसा मीठा बोलेंगे—प्रातःकाल ही योजना बना लो कि आज 24 घण्टेमें हम किसीको दुःख नहीं पहुँचायेंगे और जहाँतक हो सकेगा दूसरेको सुख पहुँचायेंगे।

मनु और याज्ञवल्क्य दोनोंका कहना है कि प्रातःकाल उठकर परमात्माका चिन्तन भले न हो लेकिन अपने पूरे दिनके लिए यह योजना हो जानी चाहिए कि आज हमारे पास क्या-क्या आयेगा और उसका हम

कहाँ-कहाँ सदुपयोग करेंगे। केवल कमानेकी ही योजना नहीं बनानी चाहिए, उसको खर्चनेकी भी योजना बनानी चाहिए।

आज जीवनमें धर्माचरण, धर्मानुष्ठान, परोपकार कितना होगा—यह सोच लें और आज घरमें धनागमन कितना होगा यह सोच लें और यदि देने-लेनेका चिन्तन न करके, भगवान्‌का ध्यान करें तो इससे बढ़कर और होगा ही क्या? और भगवान् पूर्ण होता है वह मँगता नहीं होता है।

आप उसको कितना प्रेम दे रहे हैं, इसपर विचार कीजिये। आपलोग शायद अच्छा न समझें पर हम एकके बारेमें जानते हैं—अच्छे घरानेके अच्छे लोग थे। कोई चन्दा माँगने आये तो पाँच रुपया देकर उसको विदा कर देते थे। लेकिन अपने मनमें जब संकल्प उठता था कि हम यह करेंगे तो वे बहुत बड़े-बड़े काम कर लेते थे।

भगवान् कभी, कहीं किसीसे कुछ माँगता नहीं है तो भक्तलोग सर्वस्व उसको अर्पित कर देते हैं। और जब भगवान् माँगनेको जाता है तो भगवान्‌को भी कष्ट उठाना पड़ता है।

आपने यह कथा सुनी होगी कि भगवान् विष्णु बलिके दरवाजेपर माँगनेके लिए चले गये तो पहले तो उनको छोटा बनना पड़ा—छल करना पड़ा, दम्भ करना पड़ा, मँगते बने—बलिने अपना सर्वस्व दे दिया। बलि तो पूर्ण हो गये। जिसने दिया वह पूर्ण हो गया जिसने लिया वह बौना हो गया। वामन हो गया। लक्ष्मीजी नाराज हुईं कि तुम मेरे पति होकर माँगनेको गये? तुम भिखारी हो गये—अब मैं तुम्हारे साथ नहीं रहूँगी। नारायणको छोड़ दिया, अलग चली गयीं।

यह कथा पुराणोंमें है। जब लक्ष्मीजी चली गयीं, तो नारायणके पास कुछ नहीं, अब तीर्थयात्रा करें, भीख माँगें और खायँ, लेकिन ऋषि-महर्षि लोगोंने उनका साथ नहीं छोड़ा। सब बड़े-बड़े महात्मा भगवान्‌के साथ हो गये। मण्डली चलने लगी। भिक्षा आने लगी। खाने लगे। लक्ष्मीने तो त्याग कर दिया। यात्रा करते-करते एक वृक्ष मिला। वह बिलकुल सूखा हुआ था, एक पत्ता नहीं, हरियाली नहीं—फल नहीं, फूल नहीं—सूखा-सूखा और आस-पास कहीं पानी नहीं, कहीं हरियाली नहीं, योजनों तक सब सूखा-सूखा। तीर्थयात्रा करते हुए लोग वहाँ पहुँचे-किसीको खानेके लिए कुछ नहीं-भिक्षा भी कहाँसे मिले? देखा उस पेड़के खोड़रमें एक तोता, एक शुक रह रहा था। वह भी विचारा दुबला-पतला सूख गया था। ऋषियोंने पूछा कि शुकजी आप इसमें क्यों रहते हैं? शुकने बताया कि क्या बताऊँ महाराज; एक दिन ऐसा था कि यह वृक्ष वृक्ष नहीं-कल्पवृक्ष था। हरा, भरा, फल-फूलोंसे लदा हुआ। जो कुछ भी चाहे उसको देनेवाला था। लेकिन समयके फेरसे दुर्भाग्य हुआ, इसके पास कुछ नहीं रहा।

उन दिनों मैं इसपर रहता था, इसका फल खाता था; इसके फूलोंकी सुगन्ध और उनकी सुन्दरता देख-देख करके आनन्दित होता था-जहाँ जो चाहिए था अन्न, जो चाहिए था जल वह सब यहाँ सुलभ था, इसका मैंने बर्षोंतक आनन्द लिया। अब इसका जब दुर्भाग्य आ गया तो मैं इसको छोड़कर कैसे जाऊँ? जिसका मैंने सहारा लिया उसका परित्याग कर देना, बड़ा भारी पाप है। इसलिए मैं मरूँगा तो इस पेड़के साथ

और जीऊँगा तो इस पेड़के साथ। इसीलिए यहाँ रहकर तपस्या कर रहा हूँ। अपने आश्रयका परित्याग नहीं करना चाहिए। तुरन्त यह बात दुनियामें फैल गयी कि एक ऐसा तोता है जिसने अपने सूखे पेड़का भी परित्याग नहीं किया। लक्ष्मीजीको मालूम हुआ, ओहो! मैं तो हमेशा भगवान्के वक्ष:स्थलके आश्रयपर रही, आज वे भिखारी हो गये तो मुझे उनको नहीं छोड़ना चाहिए।

वे नारायणके पास आगयीं। और फिर भगवान् लक्ष्मी-सम्पन्न हो गये। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है। हमें अपने बारेमें यह विचार करना चाहिए कि जिसके प्रकाश से हमें बुद्धि मिलती है, जिसकी सत्तासे हमको जीवन मिलता है, जिसके आनन्दसे हमको आनन्द मिलता है, वह जो हमारे आत्माके रूपमें परमात्मा है, वह हमारे शरीरमें कैसे रहता है ? और किस ढंगसे अपना कार्यसम्पादन करता है-निरन्तर सत्ता, स्फूर्ति और आनन्द देनेवाला परमात्मा हमारे हृदयमें है, उसके बारेमें थोड़ा-सा विचार जरूर करना चाहिए। जैसे हमें आमदनी कहाँसे होती है, यह बात सोचते हैं; जैसे हमें सदाचार कहाँसे मिलता है, यह बात सोचते हैं, जैसे हमें सुख कहाँसे मिलता है यह बात सोचते हैं, वैसे ही हमारे भीतर वह कौन-सा झरना है, वह कौन-सा स्रोत है है, वह कौन-सा उद्गम है, जहाँसे यह बुद्धि निकल-निकल करके आती है, वह कौन-सा स्रोत है जहाँसे आँखसे देखनेकी रोशनी आती है। इसका नाम है अध्यात्मनित्या। आँखमें देखनेवाली ज्योति कहाँसे आती है? कानमें सुननेवाली शक्ति कहाँसे आती है? त्वचामें स्पर्शका सम्वेदन कैसे होता है? नाक गन्ध कैसे ग्रहण करती है? जिह्वामें स्वाद कैसे आता है? पाँव कैसे चलते हैं? हाथ कैसे काम करते हैं? जीभ कैसे बोलती है?

हमारे अन्त:करणमें स्मृतियाँ कैसे रहती हैं? इस मशीनको भी आप अपने कारखानेकी मशीन समझते हैं! आप अपनी मोटरकी मशीनको समझते हैं ठीक है-लेकिन यह मशीन, जिसपर आप बैठे हुए हैं, जिसके द्वारा सारे काम हुए हैं, उसको नहीं समझ पाते हैं। अध्यात्मनित्याका अर्थ है-'आत्मनि एव इति अध्यात्मं'-इस शरीरमें जो मशीनें चल रही हैं, उन मशीनोंको ठीक-ठीक समझना। और उसपर जब विचार करेंगे तो देखेंगे-इस बैटरीको चालू रखनेवाला, इस बिजलीको चालू रखनेवाला एक पॉवर हाउस है और उस पॉवर हाउसमें भी जहाँसे शक्ति आती है। कहाँसे शक्ति पैदा होती है? अनन्त आकाशमें एक महाशक्ति भरी हुए है उसको हम पावर हाउसमें प्रकट करते हैं और वहाँसे लाइन जोड़-जोड़ करके सब जगह पहुँचाते हैं।

इसीप्रकार एक अनन्त महाशक्ति है और उसका एक अङ्ग, एक अंश हमारे हृदयमें है और वहाँसे जीवनी शक्तिका प्रवाह होता है। अब दूसरी बात यह है कि जब इतनी बड़ी वस्तु हमारे हृदयमें बैठी है तो हमको उसका आनन्द लेना चाहिए। हमको यह चाहिए, यह चाहिए-अपनी दरिद्रताका इजहार करना-ठीक नहीं। कहते हैं अपने पितासे भी कुछ माँगना नहीं चाहिए। 'माँगन गया सो मर गया'-जो माँगनेके लिए गया वह मर गया माने अपनेको अत्यन्त हीन करके तब वह दूसरेके पास माँगनेके लिए जाता है। अपनेमें हीनबुद्धि नहीं होनी चाहिए। 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'। गीताका कहना है कि-

आपूर्यमाणं अचलं प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

चारों ओरसे नदियाँ आ-आकरके गिर रही हैं; लेकिन समुद्र अपनी मर्यादामें बैठा हुआ है।

चारों ओरसे धन आ रहा है समझ लो, लेकिन धन आनेसे हम ऐसी उमंग में आये, ऐसी उमंगमें आ गये कि दूसरे गाँवको डूबा दिया। दूसरेको गरीब बना दिया। नहीं; समुद्रमें कितनी भी नदी गिरे वह अपनी मर्यादाको तोड़ता नहीं है; अपनी मर्यादामें 'अचलं प्रतिष्ठम्' उसकी प्रतिष्ठा अचल है और नदियाँ आ-आकर उसमें प्रवेश कर जाती हैं-इसीप्रकार जो अपने स्वरूपमें बैठा हुआ है, उसको शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो हमको यह चाहिए इसके लिए उछल रहा है, छलक रहा है, उसको शान्तिकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

जो संसारकी वस्तुओंको चाह-चाह करके, उनके पीछे दौड़ रहा है, उनको जगह-जगह भटकना पड़ता है।

काम क्या है? यह मौतने एक फन्दा फँसा रखा है। जिसके कारण मनुष्य अपने हृदयदेशमें विराजमान जो कल्पवृक्ष है उसको छोड़ करके बाहर दौड़ता है। 'द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख-दुःखसंथैः।' दुनियामें कभी सुख आता है, कभी दुःख आता है। द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वं। द्वन्द्व शब्द कैसे बनता है? दो-दो मिलकर रहते हैं। पाप और पुण्य, राग और द्वेष, सुख और दुःख, जीवन और मरण-ये जीवनमें साथ-साथ लगे हुए होते हैं। ये तो आते-जाते रहते हैं-जैसे आपकी मोटर-गाड़ी चलती है, पहिया नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है, फिर नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है। फिर नीचे जाता है, फिर ऊपर आता है। इसीप्रकार जीवनमें ये सुख और दुःखकी जो दशाएँ हैं वे आती-जाती रहती हैं। 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'-कालिदास कहते हैं-जैसे रथका पहिया नीचे-ऊपर घूमता है ऐसे ही जीवनकी दशाएँ भी घूमती रहती हैं।

इनको घूमने दीजिये। जैसे रात और दिनका चक्र चलता है। जैसे घड़ीकी सूई घूमकर एकसे बारहतक, बारहसे एकतक चलती रहती है, इसी प्रकार यह हमारे जीवनका चक्र चलता रहता है। यह ज्यादा ध्यान देनेका नहीं है कि क्या आया और क्या गया ऐसे जो संसारकी वस्तुओंमें अटकते नहीं हैं, भटकते नहीं हैं उन्हें अव्यय पदकी प्राप्ति होती है। अव्यय पदका अर्थ है जिसकी कभी हानि नहीं होती, जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसकी कभी ग्लानि नहीं होती-ग्लानि, ग्लानिसे विनिर्मुक्त जो पद है, उसको अव्यय कहते हैं।

व्येति विपरीतं एति व्ययनं व्ययः न व्येति इति अव्ययः।

अव्यय किसको कहते हैं? जिसमें कभी ह्रास नहीं होता। जिसमें कभी क्षय नहीं है, व्यय नहीं है, विक्रिया नहीं है-जिसमें समाप्ति नहीं है, जिसको-जितना खरचोगे, उतना ही वह बढ़ेगा, उतना ही वह और-और जाहिर होगा, ऐसा-वह अव्यय पद है। वह अव्यय पद कैसा है? कहाँ है? किधर है? नाम तो बहुत सुननेमें आता है। परन्तु है कहाँ? आओ चलकर उसको आँखोंसे देखें। कैसा है? बोले आँखसे नहीं दिखता है तो मनसे सोचकर देखें कि कैसा है? अच्छा मनसे सोचनेमें भी नहीं आता तो वाणीसे बोलकर देखें कि कैसा है?

यह उन्होंने प्रमाणका क्रम रखा है। किसी वस्तुको देखना हो तो पहले उसको आँखसे देखते हैं, नाकसे सूँघते हैं, जीभसे चखते हैं, त्वचासे छूते हैं, कानसे सुनते हैं तब उस बातका पता चलता है। ये कहते हैं कि नहीं, 'न तद्भासयते सूर्यः'-सूर्यकी रोशनीमें हमारी आँख देखती है, तो हमारी आँख जिस ओर देखती है और जो देखती है वह , वह नहीं है-सूर्यकी अनुग्रहसे हमारी आँख संसारके रूपको देखती है। माने संसारके रूपसे विलक्षण है, आँखसे भी विलक्षण है और सूर्यसे भी विलक्षण है। इधरसे जरा बन्द करो, इन्द्रियोंकी गति जिधर है, उसको उधरसे थोड़ा रोको।

अच्छा मनसे सोचें-वह क्या है? देखो हम एकबार कुहासेमें फँस गये, कुछ दिखता नहीं था, अन्धकारमय कुहासा था। सामने मालूम पड़ा कि कोई आ रहा है। आँखसे देखनेकी कोशिश की कि कौन आ रहा है- नहीं दिखा। फिर मनसे सोचा कि यह कौन हो सकता है तो मालूम पड़ गया कि अमुक हो सकता है। लेकिन जब मनने भी काम करना बन्द कर दिया- भाई, अन्दाज नहीं लगता कि इस समय कौन आ रहा होगा तो बोलकर पूछा- कौन है भाई? तो उसने वहाँसे बोल दिया, मैं हूँ। तो मैंने बोलकर पूछा और उसने बोलकर बताया और पता चल गया। अब यह परमात्माके बारेमें हमारी इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं; तो आओ मनसे सोचें तो मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। माने चन्द्रमाकी रोशनीसे हमलोग जो अन्न खाते हैं, पानी पीते हैं-इसमें चन्द्रमाकी ज्योति आती है। पन्द्रह दिन न खायें तो हमारी इन्द्रियोंमें कितनी शिथिलता आ जाती है। उपनिषदोंमें इसका उपाख्यान है। अन्न तो इन्द्रियोंको चाहिए। हमारा मन इन्द्रियोंसे बनता है। अन्नमें जो शक्ति है, वह चाँदनीसे आकर औषधि, वनस्पतियोंमें, गेहूँमें, जौमें, मटरमें, चनेमें-चन्द्रमाकी जो रोशनी पड़ती है, उससे उसमें अमृत आता है।

मन भी नहीं सोच सकता है, क्योंकि अन्नकी बनी हुई तो वह चीज है नहीं। अब बोले कि वाणीसे बोलेंगे-तो जो हम खाते-पीते हैं, उससे जो गरमी, ऊष्मा पैदा होती है, उससे शरीरमें आग बनती है, और उससे शरीरमें बोलनेकी शक्ति आती है। सूर्यके द्वारा भास्य जितने भी ऐन्द्रियक पदार्थ हैं-इन्द्रियोंसे मालूम पड़नेवाले-चन्द्रमासे भास्य जितने भी पदार्थ हैं-मनसे मालूम पड़नेवाले, और अग्निसे, ऊष्मासे भास्य जितने भी पदार्थ हैं, जिनको बोलकर बताया जा सकता है, इसके घेरेमें नहीं है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

सूर्य उसको प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रमा प्रकाशित नहीं करता-पावक प्रकाशित नहीं करता-तब वह तो कौन है? आप इसको बुझव्वल, इसको पहेली न समझें-यह बिल्कुल साक्षात् वस्तु है। वह कौन-सी वस्तु है, जो आँखसे देखी नहीं जाती, मनसे सोची नहीं जाती और वाणीसे बोली नहीं जा सकती। वह इन्द्रियोंके सामने नहीं है। पीछे है। वह मनके सामने नहीं है, पीछे है, और वह वाणीके सामने नहीं है, पीछे है। कौन है वह जो आँखोंके पीछे बैठ करके, आँखोंके द्वारा झाँक रहा है। आप अपनेको ही तो देखिये न! आप ही तो हैं वह जो आँखसे संसारको देखते हैं। आप ही तो हैं न वह जो कानसे संसारसे संसारको सुनते हैं। आप ही तो हैं न वह जो त्वचा के स्पर्शसे स्पर्श करते हैं। आप ही तो हैं न हो जो जीभसे स्वाद लेते हैं

और बोलते हैं-आप ही तो है न हो जो पाँवसे चलते हैं और हाथसे काम करते हैं। तो अव्यय पुरुषका दर्शन करनेके लिए हमको देखे जानेवालेकी ओर नहीं जाना है। देखनेवालीकी ओर लौटना है; थोड़ा-सा पीछे हट जाना है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुःषि पश्यति।

'वाचा यं न वदति'-वह चीज जो हमारे भीतर है-गोलोकमें जाकर ईश्वरको पाना नहीं है। आपके भीतर, इस जीभके पीछे बैठकर बोलनेकी-ताकत दे रहा है। आँखके पीछे बैठकर आँखको देखनेकी ताकत दे रहा है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

दूसरेके पास जायेंगे तो आपको वहाँसे लौटकर अपने पास आना पड़ेगा। यहाँ भाष्यकारोंने यह प्रश्न उठाया है कि जब हम किसीके पास जायेंगे-तो जानेका रास्ता होगा तो लौटनेका भी रास्ता जरूर होगा। इसलिए जहाँ जाकरके लौटना नहीं होता है, वह मेरा परम धाम है। यह बात कैसे कही गयी ? यह मेरा परम धाम है यह कहनेका अर्थ है कि मैं ही परम धाम हूँ। संस्कृत भाषाकी यह अद्भुत प्रणाली है बोलते हैं 'राहोः शिरः' राहुका सिर-अच्छा राहु अलग होगा और उसका सिर अलग होगा। नहीं सिरका ही नाम राहु है और राहुका नाम सिर है-दो नहीं होते हैं। वहाँ मेरा कहनेपर भी वह 'मेरा', मुझसे अलग नहीं है। ऐसा बोला जाता है। 'ममैवांशो जीवलोके'। वहाँ भी ऐसा ही है 'तद्धाम परमं मम'। धाम शब्दका संस्कृत भाषामें दो अर्थ होता है। एक तो धाम माने रहनेकी जगह। अष्ठिधान। और एक धाम माने ज्योतिः।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं।

भगवान्का धाम माने जिसमें यह सारी दुनिया रह रही है और जिसकी रोशनीमें दिख रही है। और गत्वाका अर्थ है ज्ञात्वा-उसके सम्बन्धमें जो अज्ञान है वही केवल दूर होना है-उसके पास जाना नहीं है। बल्कि वह तो हमेशा मिला हुआ अपना आत्मा ही है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

गम्धातुका अर्थ ज्ञान भी होता है। गत्वाका अर्थ है अधिगत्य अधिगम प्राप्त करके अवगत्य-अवगम्य प्राप्त करके जिसके जाननेमात्रसे-आपको रसोई बनानी हो तो पकानी हो तो पकानी पड़ेगी। अन्न पैदा करना हो तो खेती करनी पड़ेगी। दूसरेके घरसे कोई चीज लेनी हो तो उधार लेना पड़ेगा। कच्ची चीज होगी तो उसे पकानी पड़ेगी। लेकिन यह परमात्मा ऐसा है कि न तो इसको कहींसे उधार लेना है, न पैदा करना है, न पकाना है, न इसको सँवारना- यह तो आपका अपना आत्मा ही है। इसलिए इसको जब जान लेते हैं कि यह मैं ही हूँ।

यदि आप दूसरेको जानोगे तो उससे प्रेम करना पड़ेगा या नफरत करनी पड़ेगी। उसको पाना

पड़ेगा, उसके लिए कुछ करना पड़ेगा। लेकिन अपने आपको यदि जानोगे तो क्या उसके पास जाना पड़ेगा? क्या उसको पकड़कर रखना पड़ेगा? क्या उसको कहींसे लेना पड़ेगा। यह परमात्मा ऐसा धाम है कि इसको कोई जान ले-उपनिषदोंमें केवल आत्मा शब्दसे ही इसका वर्णन आता है। आत्मा माने अपना आपा। परमात्मा शब्दका सीधा प्रयोग दस उपनिषदोंमें कहीं भी नहीं है। आत्मा ही परमात्मा है, आत्मा ही ब्रह्म है।

यह बात पहलेके महात्मा लोग जानते थे। यही भगवान्‌का परम धाम माने परम स्वरूप है। भगवान् रहते कहाँ हैं? आपमें-आपके रूपमें भगवान् रोशनी कहाँसे देते हैं? आपके रूपसे, आपसे सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करते हैं।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

अब ये परम धाम क्यों है? इसके लिए आगेका प्रसंग बताते हैं। देखो इस धामको जान लोगे-मेरे स्वरूपके रूपको तो आना-जाना छूट जायेगा और नहीं जानोगे तो इस संसारका बोझा लेकर विषयोंके साथ फँसकर भटकना पड़ेगा और दुःखी होना पड़ेगा, इसलिए भगवान् अगले प्रसंगमें अपने स्वरूपका निरूपण करते हैं।

●

प्रवचन : 5

9-11-86

जिसको देखनेके लिए दूसरी रोशनीकी, दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता होती है, वह परमेश्वर नहीं है। परमेश्वर वह है जिसको देखनेके लिए, दूसरे प्रकाशकी, दूसरे रोशनीकी आवश्यकता नहीं होती है। दुनियामें जितनी चीजें दिखती हैं, उनको देखनेके लिए आँखकी जरूरत होती है और मनकी जरूरत होती है और आँख और मनसे दीखनेवाली वस्तु न हो तो उसको देखनेके लिए वाणीकी आवश्यकता होती है। बोलकर उसको समझाया जाता है। माने किसी भी प्रमाणके द्वारा, परमात्मा-घड़े, कपड़े, मेज, कुर्सीकी तरह नहीं देखा जाता। बल्कि उसीकी रोशनीमें, उसीके प्रकाशमें सबकुछ दिखायी पड़ता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमाविद्युतो भांति कुतोयमग्निः।
तमेव भांते अनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

वेद भगवान् कहते हैं कि वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता है, न चन्द्रमा, न तारे। वहाँ बिजली भी नहीं चमकती है, इस अग्निकी तो पहुँच वहाँ होगी ही कैसे? उसी प्रकाशमें सब प्रकाशित होता है। 'तस्य भासा सर्वमिंद विभाति।' जो कुछ दीख रहा है, उसीकी रोशनीसे रोशन हो रहा है।

हम चाहते हैं कि सूर्यकी रोशनीमें या चन्द्रमाकी रोशनीमें या अग्निकी रोशनीमें परमेश्वरको देखें। यहाँ बताना यह चाहते हैं कि परमात्मा सर्वान्तर है। जो वस्तु आँखसे देखी जाती है और जो वस्तु मनसे देखी जाती है, वह चन्द्रमाकी रोशनीमें देखी जाती है।

मनका देवता चन्द्रमा है और अन्न रसमय है। वही मनमें, विचार करनेकी, अनुमान करनेकी, देखनेकी शक्ति देता है। आँखसे देखा जाता है। मनसे ध्यान किया जाता है और जहाँ आँख और मन दोनोंकी गति नहीं होती उसको बोलकर समझाया जाता है। वाणी प्रमाण वहाँ होती है-जो वस्तु नित्य परोक्ष हो, जैसे हम स्वर्गका वर्णन सुनते हैं, बैकुण्ठका वर्णन सुनते हैं। गोलोक, साकेतलोक, शिवलोक आदिका वर्णन सुनते हैं, उनको कोई चाहे कि हम आँखसे देख लें तो नहीं देख सकता। वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान इन प्रमाणोंके विषय नहीं है। तब उनको हम कैसे जान सकते हैं? उनको जाननेके लिए शास्त्र प्रमाणकी आवश्यकता होती है।

यहाँ बता दिया कि शास्त्रसे भी बोल-बोलकर जो समझावेंगे उसकी भी वहाँ तक गति नहीं है तब वह है कौन? यह है 'चक्षुषः चक्षुः।' वह है आँखोंकी आँख। वह है 'मनसो मनः।' मन-का-मन और वह है 'वाचो वाचं।' वाणी-की-वाणी। माने उसको देखनेके लिए यदि बाहर जाना हो तो आप आँखसे देख सकते। या देखी हुई चीजोंके सहारे मनसे सोच सकते। या जीभसे बोलकर बता सकते, यह मेज है, यह कुर्सी है कि इस तरह

ईश्वरको भी जान सकें। लेकिन वह तो इनके पीछे है। वह कहाँ है? आँखसे पीछे बैठकर झाँक रहा है, मनसे पीछे बैठकर मनको विचार करनेकी शक्ति दे रहा है। वहीं जीभके पीछे बैठकर जीवको बोलनेकी शक्ति दे रहा है। कान अलग-अलग हैं, त्वचा अलग-अलग हैं, आँखें अलग-अलग हैं, जीभ अलग-अलग हैं, नासिका अलग-अलग हैं अपने-अपने विषयको देखते हैं ये बाहर; परन्तु इनमें जो रोशनी देनेवाला भीतर है, वह परमात्मा है।

यदि उससे एकबार साक्षात्कार हो जाय तो वह फिर भूल नहीं सकता। यह नहीं कि फिर हम अपनेको शरीर मान लेंगे।

एकबार एक महात्माने मेरे ऊपर कृपा की। उनको श्रीमद्भागवत अच्छा नहीं लगता था। उनके लिए बहुत अप्रिय ग्रन्थ था। थे बहुत अच्छे महात्मा। मैंने प्रार्थना की कि आप एकबार थोड़ा-थोड़ा मुझसे सुन लीजिये। उन्होंने घण्टे भरका समय दिया।

मैं बीस वर्षका था। मैंने पहले उनको ग्यारहवाँ स्कन्ध सुनाया। फिर सातवाँ स्कन्द सुनाया, उसके बाद रासपञ्चाध्यायी सुनायी। बड़े प्रसन्न हुए। था तो उनके पास कुछ नहीं, एक खण्डहरमें रहते थे। उन्होंने बुलाया कि आओ, मैं तुम्हें दक्षिणा दूँगा। जब एकान्तमें मैं उनके पास गया- देखने लगा कि क्या देंगे हमको! बोले बैठ जाओ। मैं बैठ गया। बोले कि नारायण, तुम जीव नहीं हो, आँखसे, मनसे, वाणीसे जो बात जगायी जाती है, जिसका ज्ञान दिया जाता है, वह जड़ होती है। और मनको, वाणीको और इन्द्रियोंको लेकर जो बैठा हुआ है, जीव है।

जब जीव इनको छोड़ देता है, माने मन-ही-मन इनका अपवाद कर देता है, अपने स्वरूपमें इनको नहीं देखता है, वह जो मन, वाणी और चक्षुसे मुक्त-माने ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरणसे विनिर्मुक्त जो आत्मा है वही परमात्मा है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

यदि उसका ज्ञान हो जाय, वहाँतक पहुँच जायँ। हम पहुँचते वहीं तक हैं जहाँ तक इन्द्रियाँ जाती हैं या मन जाता है या हम कानसे लोगोंकी आवाज सुनते हैं। वहाँ पहुँच जाओ, जो अपना सच्चा स्वरूप है। उसके अज्ञानके कारण ही हम संसारमें फँसे हुए हैं।

भगवान् कहीं हमसे दूर नहीं है। जहाँ हम हैं वहीं भगवान् हैं। और सच पूछो तो जो हम हैं वही भगवान् हैं, जो भगवान् हैं वही हम हैं।

श्रीरामानुजाचार्यजीसे किसीने पूछा, भगवान् कैसे हैं? तो बोले कि जैसे जाहिर होते हैं। कैसे जाहिर होते हैं? बोले-जैसे हैं। उनमें और उनकी अभिव्यक्तिमें किसी भी प्रकारका अन्तर नहीं है। सबसे निकट अगर हमारे कोई है तो वह भगवान् है। दुनिया दूर-दूर है, आती है, जाती है, दिखती है। एकबार परमेश्वरको देख लो, वह तुम्हारे सुहृद हैं-

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

वह तुम्हारा कल्याण कर रहे हैं। तुम्हारा मंगल कर रहे हैं। एकबार अपने मनको तौलकर देखो, कि आप भगवान्‌को अपने अनुकूल बनाना चाहते हो कि स्वयं भगवान्‌के अनुकूल बनना चाहते हो।

जो तुम कहो सोई भगवान् करे, जो तुम चाहो सोई भगवान् करे। तुम भगवान्‌को अपना सेवक बनाना चाहते हो कि भगवान् जो करता है उसमें अपनी हाँ मिलाना चाहते हो? ऐसा कैसे है कि यह जीव ऐसी जगहपर पहुँच जाता है जहाँसे लौटना नहीं होता। 'अबकी गौना बहुरि नहि औना।' आओ चलें उसी देशमें, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता। वह देश कहाँ है? अगर दूसरा होगा तो वहाँसे लौटना जरूर होगा। इसलिए भगवान्‌का स्वरूप बताने लग गये।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ 15.7-11

भगवान् बताते हैं कि जीव मेरा अंश है। 'मम एव अंशः' यह मिट्टीका अंश नहीं है, पानीका अंश नहीं है, अग्नि, वायु, आकाशका अंश नहीं है। ऐसे कहो कि यह अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश नहीं है। रेशमका जो कीड़ा है वह अपने चारों ओर कोश बनाकर उसमें अपनेको कैद कर लेता है। इसी प्रकार यह जो हड्डी है, मांस है, चाम है, यह तो जैसे मोटरका शरीर होता है वैसे शरीर और इसपर जीवात्मा बैठा हुआ है। वह जीवात्मा है क्या! किसका अंश है? किसका भागीदार है? 'एष ते रुद्रभागाः'। वेद भगवान् कहते हैं कि हे परमात्मा यह तुम्हारा भाग है। पर हिस्सेके बारेमें भी विचार करना पड़ता है। यदि एक किलोकी कोई वस्तु हो तो उसके सौ विभाग हो जाते हैं-सौ हिस्से होते हैं-सौ अंश होते हैं। और यदि सौ गजकी कोई वस्तु हो तो एक गज उसका हिस्सा होता है। यदि सौ मिनिटकी कोई चीज हो तो एक मिनिट उसका हिस्सा होता है। माने मिनिट जब गिनतीका होगा तब उसका हिस्सा होगा। फुट जब गिनतीका होगा तब उसका हिस्सा होगा, मिट्टी एक मन होगी तब एक छटाँक उसका हिस्सा हो सकता है।

परन्तु परमात्माका तो कोई तौल-माप नहीं है। वह एक मन या इस मन सरीखा अरबों मन भी उसको नहीं कहा जा सकता-अरबों घण्टे भी नहीं कहा जा सकता। अरबों फुट भी नहीं कहा जा सकता। तब उसका एक अंश क्या होगा? उसका हिस्सा क्या होगा? आकाशका कौन-सा हिस्सा घड़ेमें है? सूर्यका कौन-सा हिस्सा

शीशेमें प्रतिबिम्बित होता है? सूर्यका कोई हिस्सा शीशेमें प्रतिबिम्बित नहीं होता है। शीशेकी उपाधिसे वह चमकता है। 'जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः' ब्रह्मसूत्रमें बताया कि सूर्यके प्रतिबिम्बके समान उसकी उपमा दी जाती है। 'आभास एव च।' वह केवल आभास है। जैसे घड़ेके कारण आकाशमें अंशकी प्रतीति होती है। असलमें यदि घड़ेका अपवाद कर दिया जाय तो आकाश आकाश ही है। आकाशको न कहीं आना पड़ेगा, न कहीं जाना पड़ेगा। केवल घड़ेका ख्याल हटा दीजिये। आकाश घड़ेके भीतर गोल-गोल मालूम पड़ता है। घड़ेकी दीवारमें ढका हुआ मालूम पड़ता है। घड़ेसे बाहर बड़ा मालूम पड़ता है।

परन्तु वह न तो ढका है दीवारमें और न घड़ेके बाहर है, न भीतर है, वह तो परिपूर्ण अपने स्वरूपमें स्थित है। इसीप्रकार 'मम एव इव अंशः। ममैवांशी। इवार्थे अत्र एव शब्दः।' अंश वह होता है जो पूर्ण वस्तुमें छेद, भेद उपस्थित करे।

अं परमात्मानं श्यति तनुकरोति इति अंशः।

जो परमात्माको भी छोटा बनाकर दिखा दे, उसका नाम है अंश। यह जीव परिपूर्ण परमात्मा होते हुए भी, एक देहमें अपनेको कैद करके जीवके रूपमें दिखा रहा है। यह असलमें वही है। आप साधारण बालक नहीं हो। आप एक सम्राटके उत्तराधिकारी हो-सम्राट् हो। आप ब्रह्माके पुत्र नहीं हो, ब्रह्माके आत्मा हो। आप विष्णुके द्वारा पालित नहीं हो, विष्णुके आत्मा हो।

आप ईश्वरके द्वारा नियममें नहीं हो, ईश्वरकी आत्मा हो। ईश्वरने अपने प्यारेको अपने बाहर बैठाकर नहीं रखा है। अपने भीतर, अपने आत्मा के रूपमें रक्खा हुआ है। इसलिए यह सनातन है। मनुष्यलोकमें-

ममैवांशो अंश इव अंशः जीवलोके सनातनो जीवभूताः।

अनादि कालसे अपनेको जीवके रूपमें अनुभव कर रहा है।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिः स्थानि कर्षति।

करता क्या है कि जो शरीरमें, मन और इन्द्रिय हैं। कोई-कोई मनको इन्द्रिय मानते हैं। कोई-कोई मनको इन्द्रिय नहीं मानते हैं। पाँच इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय हैं। पाँच इन्द्रिय कर्मेन्द्रिय हैं। उनमें पाँच विषय हैं। उनकी पाँच तन्मात्राएँ हैं। ये पाँच-पाँचकी गिनती इनकी चलती है। आजकल वैज्ञानिक लोग कोई चार तत्त्व मानते हैं। चार्वाक भी पहले चार तत्त्व ही माना करता था। पर हमारा जो सनातन यन्त्र है, उससे पाँच ही दिखायी पड़ते हैं। जीभसे स्वाद आता है, उसको जाननेके लिए एक मशीन आपके पास है कि नहीं। आप आँखसे बता दो कि यह खट्टा है कि मीठा! छूकर बता दो कि खट्टा है कि मीठा, सुनकर बता दो कि खट्टा है मीठा, सूँघकर बता दो कि खट्टा है कि मीठा? जब स्वाद नामकी एक वस्तुका सृष्टिमें हमें अनुभव होता है तो उसको जाननेके लिए एक इन्द्रिय भी है, उसको रसना कहते हैं, जो रसको ग्रहण करती है। गन्धको ग्रहण करे सो नासिका। जिससे स्वाद आवे-सो रसना और जो स्वाद ले सो रसना।

इसी प्रकार जो देखे-सो आँख और रूप जिससे देखा जाय उसका नाम आँख। रूप-ग्राहक इन्द्रियका नाम आँख और चक्षु इन्द्रियके द्वारा गृहीत जो स्वरूप-इसीप्रकार त्वचासे गृहीत स्पर्श और स्पर्शकी ग्राहिका

त्वचा। शब्दका ग्राहक श्रोत्र और श्रोतके द्वारा गृहीत शब्द। ये पाँच विषय हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इनके पाँच नौकर हैं। आँखसे देखते हैं। और पाँवसे चलते हैं। अन्धपंगु संयोग न्यायसे यह जीवन चलता है, पाँव बिचारे अन्धे है, उनको सूझता नहीं है और आँखें देखती तो हैं परन्तु स्वयं चल नहीं सकती है।

यह अन्धा पाँव आँखोंको अपने कन्धेपर बैठाकर और आँखसे देखता है और चलता है और आँखें देखती हैं और पाँवसे चलती हैं। इसी प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियोंको अपने सेवकके रूपमें लेकर, छूनको मन होता है-हाथ ले जाता है-सुननेका मन होता है, जीभ बोल देती है-देखनेका मन है, पाँव वहाँ ले जाता है।

इसी प्रकार खाये हुए को शरीरसे अलग करनेवाले और पीये हुए को शरीरसे अलग करनेवालो ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। पाँच-पाँचका विभाग है। ये शरीरमें हैं।

प्रकृतिस्थानि कर्षति।

इन्हींको कर्षति माने-जीवात्माने अपनी ओर खींच लिया है। ये मेरी आँख, ये मेरा कान, ये मेरी जीभ, ये मेरी नाक, ये मेरा हाथ, ये मेरा पाँव-इसप्रकार कर्षति-इनके साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। 'कृष् सत्तायाम्।' इनके साथ जुड़ जाता है। कहता है मैं देखता हूँ, मैं सुनता है, मैं सूँघता हूँ। ये तादात्म्य हो जाना है। इसको अलग करनेके लिए विचार करना पड़ता है कि मैं कान नहीं हूँ। कान तो हमारी एक चीज है। मैं आँख नहीं हूँ, मैं नाक नहीं हूँ, मैं त्वचा नहीं हूँ। मैं जीभ हूँ, मैं हाथ नहीं हूँ, मैं पाँव नहीं हूँ, मैं इनसे एक निराला हूँ। इसलिए इनके साथ जो सुख-दु:ख जुड़ा हुआ है सो नहीं है।

अब पकड़ लेनेसे इसमें इतना सामर्थ्य है, क्योंकि यह ईश्वरका अंश है, इतनी शक्ति इसके अन्दर आ जाती है। इनको लेकरके चलता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

हवा बहती है-हवा गन्धवाह संस्कृतमें वाह शब्द हैं-उसको उलट दिया तो हवा हो गया। 'गन्ध बहति'-हवा बह रही है-बोलते हैं न! वाह है उसको उलट देनेपर हवा हो गया। हवा चलती है और वह गुलाबके पुष्पमें-से गुलाबकी गन्ध लेती है। चमेलीके पुष्पमें-से चमेलीकी गन्ध लेती है। बेलाके पुष्पमें-से बेलाकी गन्ध लेती है। और जहाँ दुर्गन्ध है, वहाँसे दुर्गन्ध लेती है और वायु उस गन्धको अपने अन्दर लेकरके चली जाती है।

इसीप्रकार यह जीव शरीरमें बैठकर, ईश्वर हो गया है। ईश्वर हो गया है माने मालिक हो गया है। जैसे एक मण्डली लेकर साधु चलता है तो वह मण्डलीश्वर हो जाता है। मण्डलीका ईश्वर है। ईश्वर माने मालिक। जैसे आजकल तहसीलदारको खण्डमण्डलाधीश बोलते हैं, जैसे सामने चौकी रखकर उसपर खड़ाऊँ रख देते हैं न! उसकी पूजा करवाते हैं, उसका नाम हो गया पीठ और वे हो गये, उस पीठके मालिक-पीठेश्वर-पीढ़ाके मालिक, वह जो पीढ़ा रक्खा हुआ है सामने-उसका मालिक, उसका नाम हो गया

पीठेश्वर-इसी प्रकार ईश्वर शब्दका वहाँ अर्थ है-भागवतमें ईश्वरके लिए जीव शब्दका प्रयोग और जीवके लिए ईश्वर शब्दका प्रयोग है।

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।

वहाँ जीव माने 'जीवयति सर्वान् इति जीवः ईश्वरः।' जो सबको जीवनदान करे उसका नाम है जीव। जीव माने ईश्वर। और यहाँ ईश्वर शब्दका प्रयोग है। ईश्वर माने समर्थ।

एक व्याकरणाचार्य थे, वे गीता प्रेसमें काम करना चाहते थे। आये तो सेठोंने हमसे कह दिया कि इनसे बात कर लो। मैंने उनसे पूछ लिया-इस-इस श्लोकका अर्थ करो।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

थे तो व्याकरणाचार्य-बड़े योग्य थे, परन्तु ईश्वर शब्दका अर्थ यहाँ समर्थ है-सामर्थ्यवान है, यहाँ इसका अर्थ परमेश्वर नहीं है। यह बात उनके ध्यानमें नहीं आवे। मैं तो पढ़ा-लिखा नहीं-घण्टोंतक उनको परेशान करता रहा। मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ-यह तो ईश्वरकी कृपा ही है कि वह अपनी बुद्धि, हमारी बुद्धिसे मिला देता है। वहीं बोलता है-वक्ता मैं नहीं हूँ, श्रोता मैं नहीं हूँ। वही वक्ता है, वही श्रोता है।

अदृष्टं दष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्त्री, अविज्ञातं विज्ञातृ।

ईश्वरता इसमें क्या आयी, कि जहाँ यह जाता है वहाँ पाँच इन्द्रिय और मन इनको लेकर जाता है। जहाँसे उठता है, इनको लेकर उठता है। शरीरसे उठता है तो इनको लेकर उठता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
यद् शरीरं उत्क्रामति यत् शरीरं च अवाप्नोति।

जिस शरीरको छोड़ करके निकल जाता है और जिस शरीरमें जाकरके प्राप्त होता है, यहाँ द्वितीय पादका अर्थ पहले करना चाहिए और प्रथमपादका अर्थ बादमें करना चाहिए।

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।

ये अपने साथ अपना मन और इन्द्रियोंको लेकर जाता है। समझ लो कि एक आदमी है, उसके मनमें खीर खानेकी वासना है और शरीर छूटा। तो उस वासनाके अनुसार ऐसी जगह वह पहुँचेगा जहाँ खीर खानेको मिले। पुण्य भी होना चाहिए। वैसा कर्म भी होना चाहिए। कर्म भी होना चाहिंए, वासना भी होनी चाहिए और उस वस्तुका ज्ञान भी होना चाहिए। सब वहाँ उसको ले जाकर पहुँचा देगा। वासना बतावेगी मार्ग और प्राण उसका करेगा वाहन-प्राण ले जायेगा।

प्राणमें गति है और वासनामें मार्गदर्शन है और आकृतिकी प्राप्ति होगी उसके ज्ञानके अनुसार। स्वर्गका यदि ज्ञान होगा और यहाँ पुण्यकर्म होगा और वहाँ अप्सरा-भोगकी वासना होगी तो वह स्वर्गमें जायेगा, देवता बनेगा, अप्सरा भोगेगा। और यदि उसके पुण्यकर्म नहीं होगे, दुष्कर्म ही होंगे-मान लो उसके मनमें मांस खानेकी वासना आयी तो वह गीध योनिमें चला जायेगा। क्योंकि वहाँ मांस खानेको बहुत मिलेगा। कर्म हम लोगोंको बहुत सोच-समझकर करना चाहिए और वासना भी बहुत सोच-समझकर करनी चाहिए। ऐसा समझो

कि आप कल्पवृक्षके नीचे बैठे हुए हैं। आपके हृदयमें कल्पवृक्ष है। आप जीवनमें जो-जो इच्छा करते हैं-वह आपके साथ जुड़ती जाती है। आज नहीं तो कल वह जरूर पूरी होगी। यदि आप बुरी-बुरी इच्छा करेंगे तो आपको उन बुरी-बुरी इच्छाओंका फल भोगना पड़ेगा। और यदि आप अच्छी-अच्छी इच्छा करेंगे तो उन इच्छाओंका फल आपको कभी-न-कभी मिलेगा।

जैसी इच्छा होगी उसको पूरी करनेके अनुसार और इच्छा होती है ज्ञानके अनुसार। आप देखो, कोई काम करनेके लिए क्यों जाते हो? हमारे मनमें यह पानेकी इच्छा है, वह इच्छा यह काम करनेसे पूरी होगी। कर्म करनेसे पहले इच्छा होती है। और किस वस्तुकी होती है? जिस वस्तुको हम अच्छा समझते हैं, उसको हम पाना चाहते हैं और जिसको बुरा समझते हैं, उसको छोड़ना चाहते हैं। समझ हुई मूलमें, समझसे हुई इच्छा और इच्छासे हुआ कर्म। और यह समझवाला यह इच्छावाला, यह करनेवाला बन गया है जीव। यह कर्मवान् है, कर्मी है, यह इच्छावान् है, इच्छुक है और यह समझदार है, बुद्धिमान है। बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको अपने साथ जोड़ करके यह जीव कर्ता, भोक्ता बना हुआ है। ये सब-का-सब जैसे-वायु अलग चीज है, गन्ध अलग चीज है लेकिन वायु गन्धको लेकर चलता है। इसी प्रकार यह आत्मा अलग चीज है और ये सब जो इन्द्रियाँ हैं, मन है, यह अलग चीज है। लेकिन यह अपने स्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण, इनके साथ तादात्म्य करके इनको पकड़कर, इनको लेकर चलता है। 'श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च' स्पष्ट कर दिया मूलमें ही-

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते।

यह इन पाँचों इन्द्रियोंको पकड़ लेता है-श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण इनको पकड़ लेता है। 'श्रोत्रः चक्षुः स्पर्शनं च'-कानको पकड़ता है, आँखको पकड़ता है और त्वचा को पकड़ता है। जो हम छूते हैं, इसीका नाम त्वचा नहीं है। इसमें जो छूनेकी शक्ति है, जो संवेदन है, उसका नाम स्पर्श होता है-त्वचा होता है। हम जो कान पकड़ लेते हैं इसका नाम संस्कृतमें श्रोत्र नहीं है। इसमें जो ज्ञान है, शब्दका जो ज्ञान है, शब्दका जो ज्ञान होता है, उसका नाम श्रोत्र है। स्पर्शके ज्ञानका नाम त्वचा है। रूपके ज्ञानका नाम नेत्र है। स्वादके ज्ञानका नाम जिह्वा है और गन्धके ज्ञानका नाम नासिका है। इनको ले करके और इन सबमें साधारण करणके रूपमें रहनेवाला जो मन है, असाधारण करण हैं ये इन्द्रियाँ और साधारण करण है मन।

उनको ले करके यह विषयोंका सेवन करता है। विषयोंका सेवन तो 'इन्द्रियस्येन्द्रियास्र्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।' आँख रूप ही देखेगी और कान शब्द ही सुनेगा, त्वचा स्पर्श ही करेगी। यह तो ठीक है कि उनके अपने विषय व्यवस्थित हैं। परन्तु उनमें जो हम फँस जाते हैं वह सबसे बड़ा दोष है और सबसे बड़ा दुःख है। हमको ये संगीत सुने बिना तो नींद ही नहीं आती है। ऐसी मीठी-मीठी बात सुने बिना हमको नींद नहीं आती है। हमको तो ऐसी एक महारानी मिलीं कि उन्होंने बताया कि रातको यदि हमें हाथ रखनेके लिए हमारे पतिदेव साथ न हों तो हमको नींद नहीं आती है।

बहुत प्रेम है, उनके प्रेमकी तो प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। पर मैंने ढिठाई कर पूछ दिया, कि जब वे

कहीं बाहर जाते हैं, तब तुम क्या करती हो? तो हमारे पास—3-4 हिजड़े नौकर रखे हुए हैं। उनको रातको हम अपने पलंगपर सुलाकर और उनके ऊपर हाथ रखकर सोते हैं। इस प्रकारका जो बन्धन है—यह बात कहने लायक तो नहीं है—मैं समझता हूँ कि गन्दी बात है—लेकिन जब हम किसी विषयके चक्करमें फँस जाते हैं तब कितने पराधीन हो जाते हैं, इसका यह नमूना है। यह खाये बिना नहीं रह सकते, यह पीये बिना नहीं रह सकते, यह पहने बिना नहीं रह सकते। जो वृन्दावन कोई आते हैं तो चिट्ठी लिखते हैं, वहाँ एयर कण्डीशन है कि नहीं? वहाँ अंग्रेजी ढङ्गके शौचालय हैं कि नहीं है?

एक वजीरका बालक था उसे पूनासे हरिद्वार जाने-आनेमें पाँच दिन लगा और पाँच दिनतक वह बाथरूममें नहीं गया। क्योंकि उसको अंग्रेजी ढंगका शौचालय नहीं मिल सका। तो इस तरहसे अपनी आदत जो बिगाड़ लेते हैं न, उसीका नाम विषय सेवन। विषय माने बन्धन। अपनेको किसी चीजके साथ बाँध लिया। अब जो लोग इसमें विमूढ हो जाते हैं, उनको इसका पता नहीं चलता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

यह कब सुखी होता है और कब दुःखी—'गुणान्वितम्'। कब यह इस शरीरको छोड़ देता है और कब इसमें स्थित रहता है और कब इसमें भोग करता है? कब सुखी-दुःखी होता है। इस बातका पता हम लोगोंको नहीं लगता। हम तो अपनेको शरीर मानकर ही इसमें डूबे हुए हैं। कभी इस ओर ध्यान ही नहीं जाता कि आखिर मैं क्या हूँ। जब देखो तब यह क्या है? यह क्या है? बहुत विचार करेंगे तो वह क्या है—वह क्या है? गये थे कश्मीर—देखा वहाँ एक कब्र है। तो वह कब्र कितनी पुरानी होगी, इसका उन्होंने पता लगाना शुरू किया। यह किसकी कब्र हो सकती है, अन्दाजा लगाना शुरू किया। वहाँकी मिट्टी खोदी गयी, वहाँसे हड्डी निकाली गयी।

अरे यह तो लगता है कि कई हजार वर्ष पुरानी है। कई हजार वर्ष पुरानी है तो किसकी होगी? सोचो। इसका तो पता लगा रहे हैं—उसको बोलते हैं गड़े मुर्दे उखाड़ना। सृष्टिके आरम्भमें क्या था और अन्तमें क्या रहेगा? भूतमें क्या था? भविष्यमें क्या होगा? अरे वर्तमानको तो ठीक करो भाई! तो क्या निकल गया, क्या रहा है? क्या भोग कर रहा है? इस समय कैसे सुख-दुःख मिल रहा है? इस बातका जो लोग विशेष करके मूढ़ हो गये हैं, उनको इस बातका पता नहीं चलता है।

पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

जिनको ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त हो गयी है, वही इसको देखते हैं। दूरबीनसे हम देख लेते हैं कि बन्द कमरेमें भी क्या कर रहे थे और एकान्तमें दूसरोंके लिए लगी हुई है, अपने घरमें क्या हो रहा है, अपने दिलमें क्या हो रहा है, इसका पता नहीं चलता। जिनके ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं-यह चामकी बनी हुई आँख

नहीं है, यह मांसकी बनी हुई आँख नहीं है। यह ज्ञानकी आँख है, उस आँखसे यह बात दिखायी पड़ती है कि यह निकलनेवाला कोई और ही है। यह आने-जानेवाला कोई और ही है। यह सुख-दु:ख भोगनेवाला कोई और ही है।

यह तो सब गुणोंका खेल है, यह मैं नहीं हूँ, जिनकी ज्ञानदृष्टि खुल जाती है और यह बोध हो जाता है। आपको देखिये संसारमें सुख भी मिले तो उसको छोड़नेका मन नहीं होता है और दु:खके चक्करमें ऐसे फँस जाते हैं कि छोड़नेका मन होनेपर भी उससे छूट नहीं पाते हैं। दु:खी, दु:खी, दु:खी और पता चलता नहीं कि हम इसमें फँस गये। एक डाक्टरने किसी महिलाको औषधि दी। और कहा कि देखो इसको रोज-रोज मत खाना। तो महिलाने कहा कि, 'यह दवाई जो तुम बता रहे हो इसको बीस वर्षसे रोज खाती हूँ। अबतक तो मुझे आदत पड़ी नहीं। अब क्या पड़ेगी? ये सौ-सौ धक्के खायें और तमाशा घुसकर देखें-

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।

जो असलमें ज्ञानदृष्टिसे अपने आपको देखता है, वही दूसरेको ठीक-ठीक देखता है। जो अपनेको ही ठीक-ठीक नहीं देख पाता वह दूसरेको कहाँसे ठीक-ठीक देख पावेगा। अपनी आँखमें बड़ा-सा फोड़ा हो गया हो तब भी नहीं दिखता है और दूसरेकी आँखमें जरा-सा कोई तिल हो गया है तो वह दिखायी पड़ जाता है। हमारी आदत जो दूसरोंको देखनेकी पड़ गयी है, वह हमारे जीवनमें सबसे बुरी आदत है। हमें अपनेको देखकर अपने कर्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए और अपने प्राप्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने त्यक्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने भोक्तव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपने ज्ञातव्यका भी निश्चय करना चाहिए। अपनी ओर देखना बहुत जरूरी है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

जो योगी, जो साधक, जो जिज्ञासु इसके लिए यत्न करता है, प्रयत्न करता है, वे देखते हैं कि सारा-का-सारा मालमत्ता तो अपने घरमें रखा है।

आत्मनि हृदये एव स्थितम्।

तुम्हारी पूँजी कहाँ है? दिखती नहीं है, है तो यहीं परन्तु दीखती नहीं है। एक सज्जनने अपने बालकको कन्धेपर बिठा लिया और बच्चा उनके सिरका सहारा लेकर सो गया। अब उनको ख्याल रहा तो ढूँढ़ने लगे, हमारा बालक कहाँ गया? चारों ओर ढूँढें-चारों ओर ढूँढे, मिले नहीं। जब बहुत व्याकुल हुए, चिल्लाये, उनकी पत्नीने कहा, ये तुम्हारे कन्धेपर क्या है? अरे हाँ, यह तो हमारे कन्धेपर ही है। एकके गलेमें हार था-ख्याल छूट गया, हमारा हार क्या हुआ? घरमें ढूँढ लिया। पुलिसमें रिपोर्ट लिखा दी। पुलिसवालेने पूछा, तुम्हारे पास कितने हार हैं? बोले, हार तो एक ही है। बोले तुम्हारे गलेमें क्या है? अरे हाँ हमारे गलेमें ही है।

इसीप्रकार जिस चीजको हम खोया हुआ मानकर, इधर-उधर ढूँढते हैं, है वह तो हमारे हृदयमें ही, हमारे शरीरमें ही मौजूद है। जब योगी पुरुष दूसरी ओरसे दृष्टि हटा करके अपने आपमें ही देखनेका प्रयास

करता है तब वह देख लेता है। लेकिन कौन देखता है? जिसने सद्गुरुकी कृपासे, शास्त्रोंके प्रसादसे, अपने अन्त:कारणकी पवित्रताके और सत्सम्प्रदायके अनुसार, यह नहीं कि चाहे जिसको गुरु बना लिया। आजकल बहुत-से दुराचारी सदाचारीके नामसे घूमते हैं। आजकल बहुत-से दुष्ट, शिष्टके नामसे घूमते हैं, आज बहुत-से दुरात्मा, महात्माके नामसे घूमते हैं। यह नहीं कि जिसका कोई सत्सम्प्रदाय नहीं है, जिसको शास्त्रकी अनुकूलता प्राप्त नहीं है, जिसके सद्गुरु नहीं है, जिसका अन्त:करण पवित्र नहीं है, वह चाहे कि हम इसको ढूँढ लें तो वह इसको नहीं ढूँढ सकता। यह तो अभिमानी लोगोंकी बात है कि हमको सत्सम्प्रदायकी, सद्गुरुकी, सत्-शास्त्रकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए सदाचारी हो, और कृतप्रज्ञ हो।

सद्गुरु, सत्शास्त्रसे अपनी बुद्धिका जिसने निर्माण किया हो उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है।

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

केवल बहुत-सी किताब पढ़ लेनेसे परमात्माका, सत्यका, यथार्थका, परमार्थका दर्शन नहीं होता है। यह केवल पढ़ाई-लिखाईकी वस्तु नही है। जो दुश्चरित्रसे अपनेको अलग कर लेता है, दुश्चरित्र छोड़ देता है-जारी, चोरी, हिंसा इनसे अपनेको मुक्त कर लेता है:

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।

हम अधम बनेंगे तो भगवान् हमारा उद्धार करेंगे। अरे भगवान् उद्धार करेंगे, उनकी कृपालुताको तो देखते नहीं है, बल्कि और अधम बनने जा रहे हैं। अधम बनकर अपना उद्धार नहीं करवाया जाता है। भगवान्की पसंदगीमें आकर अपना उद्धार करवाया जाता है। केवल पढ़े-लिखे होनेसे काम नहीं चलता। दुश्चरित्रता छोड़ देनी चाहिए। काम, क्रोध मनमें रखकर परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है। उसको निकालना पड़ता है। 'नासमाहिताः' चित्तको विक्षिप्त रखकर परमात्माकी प्राप्ति नहीं की जाती है। चित्तको शान्त रखना पड़ता है, समाहित रखना पड़ता है। और जो सिद्धियोंके जालमें फँस जाता है-यह भस्म गिर रहा है, यह शहद गिर रहा है। अँगूठी बरस रही है, यह घड़ी निकल रही है। आसमानमें उड़ रहे हैं। विक्षेप ही है।

चाहे जो खाओ, जो पीओ, जो मौज करो और परमात्मा हमको प्राप्त हो जायेगा। ऐसा नहीं हैं-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो..............

जिन्होंने सद्गुरु, सत्सम्प्रदाय, सत्शास्त्रसे अपने जीवनको पवित्र नहीं किया है, उन अकृतात्माओंको इस परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो सद्गुरु, सत्सम्प्रदाय, सदाचार, सद्भावनाके प्रकर्षसे-उत्कर्षसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है।

●

प्रवचन : 6

10-11-86

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।

प्रयत्न तो करते हैं, परन्तु साधन-सम्पत्तिके द्वारा अपने हृदयका निर्माण नहीं किया है। अकृतात्मा-माने अपने अन्तकरणकी शुद्धि के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया और 'अचेतसः'। गुरुसम्प्रदायसे रहित हैं। वे कितना भी प्रयत्न करें, उन्हें इस आत्माका दर्शन नहीं होता। बाहरकी वस्तुओंका जो अनुभव होता है, उसकमें शम, दम आदि साधनकी आवश्यकता नहीं रहती है। घड़ा देखते हैं, कपड़ा देखते हैं, स्त्री देखते हैं, पुरुष देखते हैं, मेज देखते हैं। लेकिन यह जो वस्तु है, यह सर्वान्तर है। सबके भीतर है। बाहरकी चीजको देखनेके लिए जिन साधनोंकी आवशयकता होती है। इसमें चाहिए कृतात्मा। अकृतात्माको इसका दर्शन नहीं होता।

जिसने विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षा आदिके द्वारा अपने आत्माका सम्पादन कर लिया है, वह पात्र है। इसमें जो अलगकी चीजें जुड़ गयी हैं, उनसे अपने को अलग कर चुका है। लोक में तो देखो कैसा व्यवहार होता है। एक किसान के घर गये, उसके बैल देखने लगे। उसने कहा-महाराज, और बैल तो सब बैल हैं पर यह बैल तो मेरा प्राण है। और सब तो हमारे प्यारे हैं ही, पर यह पुत्र तो मेरा आत्मा ही है। यहाँ जो प्राणका विवेक है, आत्माका विवेक है, वह कौन-सा प्राण है। जिसको तुम बैल बता रहे हो। वह कौन-सा आत्मा है जिसको तुम पुत्र-शिष्य बता रहे हो। विवेक करके जो बैलको प्राण समझनेवाला है, उसको अलग समझो। इतना विवेक तो हम कर पाते हैं, लेकिन वह अलग किया हुआ क्या है- यह बात केवल अलग कर देनेसे ही मालूम नहीं पड़ती। क्योंकि वह तो अलग किया जाता है और फिर मिलता है-फिर अलग किया जाता है।

मैं एक स्त्री-पुरुषको जानता हूँ- जब उनमें लड़ाई होती है तो तलाक हो जाता है। फिर थोड़े दिनोंके बाद मेल हो जाताहै तो फिर ब्याह कर लेते हैं। यह जो दुनियाकी चीजें हैं इनसे तो मिनिटके लिए मिलते हैं मिनिटके लिए अलग होते हैं। दिनभरमें कितनी बार मिलते हैं और कितनी बार अलग होते हैं। यह केवल थोड़ी देर के लिए विचार मनमें हो जाय कि यह मेरा नहीं है और यह मैं नहीं हूँ। 'न एते मम' और 'नाहं एते स्याम'। ये मेरे नहीं हैं और आँख बन्द करके बैठ भी गये। थोड़ा स्तम्भवत्-खम्भेकी तरह शरीर बन भी गया, पीठकी रीढ सीधी हो गयी या दोनों आँखें स्थिर हो गयीं-सिर सीधा हो गया बैठ गये। परन्तु इससे आत्माका दर्शन नहीं होता है। दर्शन होनेके लिए चाहिए-चेतस्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।

यह चेतस् क्या है? जबतक अचेता रहोगे तवतक यह अनुभव नहीं होगा। चेतस्का अर्थ है कि अन्तरङ्ग साधनसे रहित है और अकृतात्माका अर्थ है जो बहिरङ्ग साधनसे रहित हैं। विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षा—ये सात हैं बहिरङ्ग साधन, चार बोलते हैं इनको क्योंकि साधन-चतुष्टयको एकमें कर देते हैं। और इसके बाद है गुरुकी शरणागति। और गुरुकी शरणागति होनेके बाद जो

चेतस् है, ज्ञान है, वह गुरुसे प्राप्त होता है। बताना पड़ता है कि जिसको तुमने देहसे, इन्द्रियसे, मनसे अलग किया है, वह अलग किया हुआ कोई शरीरके कोनेमें बैठी हुई चीज नहीं है। वह हृदयके कटोरेमें बैठा हुआ मक्खन जैसा चेतन नहीं है। जिस वस्तुको तुमने अलग किया है वह जो लम्बाई-चौड़ाई, देशकी कल्पना है वह तो है अन्त:करणमें। जो कालकी कल्पना है, आदि अन्त, अनादि-अनन्त इसकी, यह अन्त:करणमें है क्योंकि न तो किसीने अनादि देखा है, न तो आदि देखा है। आदि-अनादि दोनों अनदेखे हुए हैं। देशके भी और कालके भी—वे अज्ञात हैं। वस्तुकी भी आदि और अन्त देखे हुए नहीं हैं क्योंकि यह जो बुद्धि शरीरमें पैदा होती है यह अपने आदिको, अन्तको, उपादानको भी नहीं देख सकती और अपनी लम्बाई-चौड़ाई जिसमें मालूम पड़ रही है, उस लम्बाई-चौड़ाईके अधिकरणको भी नहीं देख सकती। और जो इसमें उम्र मालूम पड़ती है उस उम्रकी शुरू कहाँ है और अन्त कहाँ है, उसको भी नहीं देख सकती।

ये जो देश, काल, द्रव्य, इनकी कल्पना करके और हम अपनेको इनसे अलग मान लेते हैं—पर अलग मान लेनेपर भी बाबू—अलगाव ऐसा ही रहता है, जैसे एक थालीमें दाल-चावल मिल गये हों। उसको अलग-अलग करके रख दिया। हृदयमें ही एक अनात्माका अलगाव करके रख देते हैं और एक ओर आत्माका अलगाव करके रख देते हैं। दोनों दिलके कोनेमें ही समाये रहते हैं। मूल वस्तु इसमें यह है कि परिच्छिन्नमें जो मैं है, हड्डी, मांस, चाममें जो मैं है, विष्ठा, मूत्र, पीवमें जो मैं है—सारा जान-बूझ करके आपने अपने मैंको कहाँ बैठाया—देहमें—मैं बड़ाभारी ज्ञानी हूँ, मैं बड़ाभारी विचारक हूँ, मैं बड़ाभारी वैज्ञानिक हूँ। सब कुछ ढूँढ-ढाँढ करके अन्तमें किया क्या? अपनेको वही नरकके नरकमें डाल दिया। यह शरीर प्रत्यक्ष नरक है। ऊपरसे चाहे जितना चिकना-चुपड़ा बना हो, वह कौन-सी वस्तु है जो इस शरीरमें नहीं है। मूत्र है, बिष्ठा है, पीव है, रक्त है, हड्डी है, मांस है, चाम है, थूँक है, कीचड़ है, पसीना है, बलगम है, नाखून है, बाल है, यह कौन-सी वस्तु है कि शरीरमें—बड़े भारी विचारक बने, गड़े मुर्दोंको उखाड़नेमें बड़े समर्थ। यहाँतक कि विश्वका संहार कर सकें ऐसी युक्ति निकालनेमें समर्थ, लेकिन खुद कहाँ बैठे हैं? खुद बैठे हैं देहमें, शरीरमें। चील बहुत ऊँचेतक उड़ती है, परन्तु गिरती है माँसके टुकड़ेपर।

इसी प्रकार जो वैराग्यहीन विचारक हैं, ये उड़ते तो हैं सातवें आसमानमें लेकिन गिरते हैं—आकर बैठ जाते हैं शरीरमें। मान लो एकबार भी विवेक, वैराग्य, समाधि-साधन हो जाय और गुरुकी शरणागति हो, और वह श्रवण करावे, मनन करावे, निदिध्यासन करावे कि देखो तुम जो हो वह इन सब बाहरी पदार्थोंका जो अधिकरण है, हृदय-देशकी लम्बाई-चौड़ाईकी कल्पना, कालके अनन्त होनेकी कल्पना-उपादान—जो मैटर है उसीमें-से सब नाम-रूप पैदा होते हैं। इसकी कल्पना, तुम्हारे अन्त:करणमें और तुम इस अन्त:करणसे अलग होनेके कारण—तुम इस अन्त:करणके द्रष्टा हो, साक्षी हो। दृश्यसे निराला होता है द्रष्टा, इसलिए तुम अपनेको इस देहमें 'मैं' करके मत बैठाओ।

तुम तो देशकी कल्पनासे अछूते हो, कालकी कल्पनासे अछूते हो, वस्तुकी कल्पनासे अछूते हो। स्वयं अद्वितीय ब्रह्म हो। जब यह ज्ञान गुरुके द्वारा प्राप्त होता है—बिना महावाक्य ज्ञानके। गोस्वामीजीने जान-

बूझकर महावाक्य शब्दका प्रयोग छोड़ दिया है। 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भवपार न पावें कोई।' वहाँ वाक्य माने 'तत्-पद-वाच्यार्थ' एवं 'त्वं पदवाच्यार्थ' का ज्ञान हो जानेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती। जबतक महावाक्यार्थका, लक्ष्यार्थका बोध नहीं होगा तबतक तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। यह सद्गुरुका जो महावाक्य है, वह है कि पहलेसे तुम अलग जो ब्रह्मको जानते थे, वह ब्रह्म तुमसे अलग नहीं है। तुम अपनेको ब्रह्मसे अलग जानते थे सो भी गलत और ब्रह्मको अपनेसे अलग जानते थे भी गलत! न तुम ब्रह्मसे अलग हो, न ब्रह्म तुमसे अलग है। यह जो एकता है, यह चेतसका, तत्त्वज्ञानका दान है, जो गुरुजी करते हैं। और गुरुजी जिस समय शिष्यको यह ज्ञान करा देते हैं, उस समय अपनेको मिटा देते हैं।

अपनेको मिटाकर, शिष्यके शिष्यत्वको भी मिटा देते हैं और गुरुके गुरुत्वको भी मिटा देते हैं। ऐसा ज्ञान दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। न किसी विज्ञानमें है—जो गुरु-शिष्य दोनों अपने अहंको मारकर एकत्वमें स्थित हो जायँ। यह जो हमलोग सारा वेदान्त विचार करके, अन्तमें देहमें ही 'मैं' करके बैठते हैं वही सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। ये परमात्मा असलमें है क्या? उसीके प्रकाशमें सब प्रकाश हो रहा है। देखो यहाँ नाम ले करके बताते हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15.12-15
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

ये भगवान्‌की शक्ति दिखती हैं। धारणी शक्ति पृथिवीमें है। यह सबको अपने ऊपर धारण करती है और बीजरूपमें भी धारण करती है। जैसे ये पेड़-पौधे हैं, इनका बीज कहाँ होता है? मिट्टीका एक टुकड़ा अमुक संस्कारसे संस्कृत है-वह इमलीके पेड़में-से निकला है इसलिए उस मिट्टीके टुकड़ेमें इमलीके संस्कार आ गये हैं। अब वह इमलीका बीज बन गया। आमका एक बीज है, वह आमके पेड़में-से आया है इसलिए आमकी विशेषताको लेकर आया है। है तो वह मिट्टी ही। आमको कौन धारण करता है? इमलीको, अमरूदको, नीबूको कौन धारण करता है? और ये हमलोगोंके जो शरीर हैं, इनका बोझा कौन उठता है? और अन्नके द्वारा इस शरीरको परिपुष्ट कौन करता है? धारिणी शक्ति पृथिवीमें रहती है। 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।' आपने देखा होगा कभी किसीको भूत-प्रेतका आवेश होता है। भूत-प्रेतका आवेश न भी हो तो, तो काम-क्रोधका आवेश तो होता ही है। देखनेमें आता है-क्रोध सिरपर चढ़कर बैठता है-तुरन्त बोलने लगते हैं-

ज्यौं खल दण्ड करउँ नहिं तोरा। होहि भ्रष्ट श्रुति मारग मोरा॥

क्रोधका आवेश होता है, कामका आवेश होता है। मैंने अपने कानसे सुना, एक सेठने कहा कि इस लड़कीसे मेरा ब्याह नहीं होगा तो मैं मर जाऊँगा। यह चीज हमको नहीं मिलेगी तो हम जीकर क्या करेंगे! एक चीज जब दूसरी चीजमें प्रवेश करके अपने आपको भुला देती है, तब उसका नाम आवेश होता है। यह भगवान्‌का आवेश ऐसा होता है, जिसमें वे अपनेको भूलते नहीं है। 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।' मैं इस पृथिवीमें प्रवेश करके, आविष्ट होकरके, माने स्वयं पृथिवीरूप होकरके। 'अहं पृथिवी' ऐसा अनुभव करके, 'भूतानि धारयामि।' संसारके सम्पूर्ण शरीरधारी प्राणियोंको धारण करता हूँ-ओजस्‌से, अपनी शक्तिसे। आपको धारण करनेवाला कौन है?

बोले हम तो धरतीपर रहते हैं। अरे भाई, तुम तो धरतीपर रहते हो-धरतीमें कौन रहता है? वही परमेश्वर जो है, वह धरतीमें रहकर, धरती बनकर, जो पृथिवीकी आत्मा है, यह 'पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम् यमयति।' जो पृथिवीमें रहकर पृथिवीको नियमित करती है वह शक्ति। 'पृथिवी यस्य शरीरं'-पृथिवी जिसका शरीर है, 'यं पृथिवी न वेद'-जिसको पृथिवी नहीं जानती है। पृथिवीमें घुस करके पृथिवीके द्वारा सारा काम वह सम्पादन कर रहा है। किसीको अन्न बनकर भोजन दे रहा है। कहीं पेड़-पौधे बन करके चारों ओर हरियाली बिखेर रहा है। कहीं फूल बन करके खिल रहा है, कहीं फल बन करके स्वाद बन रहा है, कहीं मनुष्य, पशु, पक्षी, यह परमात्मा चींटी बनकर रेंगे रहा है। वीर वधूटी बनकर धरतीकी शोभा बढ़ा रहा है। यह परमात्मा ही चिड़िया बन करके चहक रहा है। यहीं लता-वृक्ष बन करके फल-फूल रहा है, यही स्त्री, पुरुष बन करके नाना प्रकारकी प्रीति, रीति कर रहा है। 'यह है सब उस एकतत्त्वका-एक परमात्माका खेल!

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

मैंने एक महात्मासे बचपनमें कहा कि हमको भगवान्‌का दर्शन करा दीजिये। बोले गीता पढ़ी है? मैंने कहा, हाँ, महाराज पढ़ी तो है। बोले कि भगवान् कहते हैं कि 'रसोहमम्प्सु कौन्तेय,' जलमें मैं रस हूँ और 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः' और सूर्य-चन्द्रमामें प्रभा हूँ। वे कहते हैं-'पुण्यो गंधः पृथिव्यां च।' पृथिवीमें मैं गन्ध हूँ। वे कहते हैं 'पवनः पवतामास्मि'। पवित्र करनेवालोंमें मैं वायु हूँ। वे कहते हैं 'तेजश्चामि विभावसौ।' अग्निमें मैं तेज हूँ। वे कहते हैं-'शब्दः खे।' आकाशमें मैं शब्द हूँ। वे कहते हैं प्रत्येक मनुष्यमें मैं पौरुष हूँ। 'पौरुषं नृषु'। इतने भगवान् तुम्हारे सामने खड़े हैं। पेड़ोंमें पीपल बनकर खड़े हैं। घोड़ोमें उच्चैश्रवा बनके खड़े हैं। हाथियोंमें ऐरावत बनकर खड़े हैं।

इतने रूप धारण करके, तुम्हारी इन्द्रियोंमें मन बन करके बैठे हुए हैं। इतने भगवान् तो तुम्हारे सामने खड़े हैं, इनको तुमने क्या निहाल कर दिया, इनकी क्यों सेवा की? इनकी क्या भक्ति की? इनकी क्या पूजा की? कि और भगवान् जो छिपे हैं वे तुम्हारे सामने प्रकट हो जायँ! भगवान् तुम्हारे घरमें तुम्हारी सेवा लेनेके लिए, तुम्हारा कल्याण करनेके लिए भिखारी बनकर आते हैं, जैसे बलिके घरमें गये थे कि हमको खानेके लिए

एक रोटी दे दो। क्या सेवा करते हो उनकी? वे नंगे होकर तुमसे कपड़ा लेनेके लिए आते हैं। क्या सेवा करते हो? रोगी होकर तुमसे दवा लेनेके लिए आते हैं। क्या सेवा करते हो? वह विद्यार्थी बनकर विद्या लेनेके लिए आते हैं, उनकी क्या सेवा करते हो? अनेक रूपमें, सर्वरूपमें, सब रूपमें भगवान्।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक।' ये जितनी औषधि हैं, हमलोग जो खाते-पीते हैं, वे सब औषधि ही हैं। एक चनेकी गोली बनी है, एक मटरकी गोली बनी है, एक अरहरकी, एक मूँगकी, और सबके रंग भी निराले-निराले हैं। जो लोग मैंचिग करनेके लिए रंग मिलाते हैं न! मूँगका रंग अलग, चनाका रंग अलग, मटरका रंग अलग, गेहूँका, जौका रंग अगल, एक दिन इनको एक थालीमें, फैलाकर अलग-अलग जमाकर देखो, क्या बढ़िया चित्र बनता है इससे! ये औषधि हैं, हमको तो जबसे ज्यादा गोली खानेको मिली, तबसे हमने यही निश्चय कर लिया कि जैसे हम चने खाते हैं, चार चने मुँहमें डाल देते हैं, वैसे ही ये चार चने और डाल देते हैं।

चलो भाई यही सही! इनको चना ही मान लो। चना है, जौ है, गेहूँ है, मुँहमें डालकर-डालकर तो खाते ही हैं। सम्पूर्ण औषधियोंमें 'ओषति दोषान्-धत्ते गुणान्' जो हमारे शरीरमें रहनेवाले दोषको तो मिटा दे, जला दे और गुणका आधान कर दे। दोषका अपनयन करे और गुणका आधान करे, उसको कहते हैं औषधि। वह पुष्ट कहाँसे होता है? बोले-**सोमो भूत्वा रसात्मकः।**

यह जो रसात्मक सोम है, चन्द्रमाकी जो किरणें गिरती हैं, वस्तुओंपर उनसे उनमें अमृतका सञ्चार होता है, ऐसी वैदिक और पौराणिक कथाएँ हैं कि चन्द्रमाकी किरणोंमें-से अमृत झरता है और वही जितनी वनस्पति, औषधियाँ-वनस्पति उनको कहते हैं, जिनमें फूल तो हो और फल न हो और जो एकबार फल देकर नष्ट हो जायँ उनको औषधि कहते हैं, और जो काटे बिना बने रहें, और बर्षोंतक बारम्बार फल देते रहें, उनको वृक्ष कहते हैं। औषधि, वनस्पति, वृक्ष इनमें रसका सञ्चार कहाँसे होता है?

देखो, अपनी ओर तो यह प्रथा है कि शरद्-पूर्णिमाके दिन खीर पकाकर चाँदनीमें फैला देते हैं। रातभर चन्द्रमामें-से उसपर रसका सञ्चार होता है और उसको लोग पीते हैं। दमाका रोग दूर होता है। ऐसी लोगोंकी मान्यता है। मैंने खीर तो बहुत बार खायी है पर मुझे दमा नहीं था, इसलिए वह रोग ठीक होता है कि नहीं, इसका मुझे मालूम नहीं पड़ा। जिनको होगा उनको मालूम भी पड़ा होगा। 'सोमो भूत्वा रसात्मक:।' रसात्मक होकरके, क्योंकि जलका तत्त्व है रस। 'रसोहमप्सु कौन्तेय।' हम लोग पहचानते नहीं है। जल केवल रसात्मक हैं। रसतन्मात्रासे जलकी उत्पत्ति होती है। और जलमें रसमात्रा व्याप्त होती है। और रसके बिना जल होता ही नहीं है।

इसलिए रसके अतिरिक्त जलकी कोई सत्ता नहीं है। असलमें रस ही है। जल तो उसका नाम है। उसमें स्वयं सोम बन करके, जिस सोमको यज्ञमें रई और सोम कहकरके वर्णन करते हैं, अग्नि और सोम, रई और सोम-प्राणशक्ति और रसशक्ति इन दोनोंको मिल करके यह जीवन बनता है। वह आप्यायिनी शक्ति, जलके रूपमें कौन है? भगवान्ने कहा-'मैं हूँ'-**सोमो भूत्वा रसात्मकः।**

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

मैं वैश्वानर हूँ, वैश्वानरका अर्थ होता है-अग्नि, विश्व, वैश्वानर ये तेजस्-तत्त्वसे ही सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि प्रकट हुई है।

बृहदारण्यक उपनिषदमें आया-'सदेव सोम्य इदमग्रआसीत्।' सबसे पहले तो सत्ता थी, तुरीय। सद्वस्तु। सद्वस्तु वह होती है जो असद्की अपेक्षासे नहीं होती है। और सारी वस्तुएँ सापेक्ष होती हैं। पर यह असद् वस्तुके प्रतियोगीका नाम सब नहीं है। सत् और असत् इन दोनोंसे विलक्षण जो वस्तु है, उसका नाम यहाँ सत् है। वह सत् वस्तुसे क्या हुआ? उस सत् वस्तुसे तेजका ईक्षण किया-तेजने जलका ईक्षण किया और जलने अन्नका ईक्षण किया। ईक्षण करना माने होश-हवासमें, जान-बूझकर किसी वस्तुको पूर्णरूपसे जाँच-पड़ताल करके तब देखना। जब हम संसारमें देखते हैं कि अन्नसे शरीर बनता है और अन्नमें ही शरीरका लय होता है।

एक महात्मा थे वे कहते थे 'गुरु, ये माटीसे पानी और पानीसे माटी-घाससे मांस और मांससे घास बनता है। ये मनुष्य मरते हैं, धरतीमें लीन हो जाते हैं, माटी हो जाते हैं फिर इसमें-से घास होकर निकलते हैं। घास फिर माटी हो जाती है। घाससे मांस, मनुष्यके शरीरसे-घास पैदा होती है और इसी घाससे मनुष्यका शरीर पैदा होता है। ये घास और मांसका बना हुआ शरीर है। ये दोनों गंगाजीकी गोदमें, चेतनाकी अनन्त लहरमें ये उठते और पटकते रहते हैं, उल्लसित और संकुचित होते रहते हैं। रसमय एक अनन्त समुद्र है, वह लहरा रहा है। उसमें ज्वार उठ रहे हैं। उसमें भाटा उठ रहे हैं। अनन्त ज्ञानका, अनन्त रसका एक समुद्र है। उसमें वैश्वानर अग्निके रूपमें, तेजके रूपमें, तेजसे जल और जलसे अन्नकी उत्पत्ति होती है और इन तीनोंके मूलमें सद्वस्तु है। सद्वस्तु तो तुरीय है और तेजस् ईश्वर है और अप् हिरण्यगर्भ है और अन्न पृथिवी है। इनके द्वारा यह सृष्टि चलती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

सबके शरीरमें वैश्वानर, तेजस तत्त्व होकर अग्नि तत्त्वके रूपमें भगवान् प्रविष्ट हैं। और यहाँ रहकर क्या करते हैं? बड़ा मजेदार काम करते हैं। आश्चर्य हो जाय। 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' जो चार प्रकारका अन्न भोजन करते हैं हम, उनको भगवान् प्राणापानसे युक्त हो करके-अब देखो गाम तो हो गयी पृथिवी और रस हो गया जल और वैश्वानर हो गया अग्नि और प्राण अपान हो गये वायु और इसमें आकाशके समान रह करके भगवान् इन सबका पाचन करते हैं। 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' माने ये जो पञ्चभूत हैं, ये सब परमात्माके स्वरूपमें है। परमात्मामें उत्पन्न हैं, परमात्मामें स्थित हैं, परमात्मामें इनका प्रलय होता है और परमात्माके अतिरिक्त ये कुछ नहीं हैं। धारणीशक्ति पृथिवीमें आप्यायनीशक्ति जलमें, प्रकाशिनी और तापिनीशक्ति अग्निमें और प्राणिनीशक्ति वायुमें और व्यापिनीशक्ति आकाशमें होती है। और ये कहाँसे आती है? ये सब-की-सब अपने स्वरूपमें-से ही आती हैं। अपना स्वरूप ही इनको सत्ता देता है, इनको स्फूर्ति देता है।

ये सारी सृष्टि केवल परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित हो रही है। परमात्माकी रोशनीसे रोशन हो रही है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

इसीसे पहले ही कह दिया कि जो कुछ सूर्यमें, अग्निमें, चन्द्रमामें जितना भी तेज है वह सब परमात्माका तेज है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

हमारे मनमें सोचनेकी शक्ति कहाँसे आयी? हमारी आँखमें देखनेकी शक्ति कहाँसे आयी? हमारी वाणीमें बोलनेकी शक्ति कहाँसे आयी? ये संसारके छोटे-मोटे विज्ञान हैं, ये तो यान्त्रिक हैं। दो ही चीज इनके भीतर हैं, एक तो मशीन है-यन्त्र और एक गणित है। गणित और यन्त्रके द्वारा जो कुछ जाना जा सकता है, उसको ये जाननेका प्रयास कर रहे हैं। पूरी तरहसे अभी जान भी नहीं पाये हैं। सृष्टिका रहस्य इनके लिए अत्यन्त अज्ञात है। परन्तु ये जो अपने आत्मदेव हैं, ये न किसी मशीनकी नोंकपर चढ़ते हैं और न तो किसी कम्प्यूटरकी गणनामें आते हैं। ये न हों तो कम्प्यूटर किसको बतायेगा? और ये न हों तो मशीनका संचालन कौन करेगा?

ये आत्मदेव ही हैं। जिसने इस शरीरके संचालनको नहीं समझा, वह सम्पूर्ण जगत्के संचालनको तो क्या समझेगा? साढ़े तीन हाथका शरीर तो समझमें आया नहीं, सम्पूर्ण विश्वको क्या समझेगा? अब यह बात है कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये सब-के-सब परमात्माकी शक्तिके विलास है, उनकी लीलाके विलास हैं। पर जो कुछ हो रहा है, उस परमात्माकी शक्तिसे हो रहा है। एकबार श्रीमन्नारायणजी माने जमनालालजीके जँवाई थे- उस समय वे गुजरातमें राज्यपाल थे- बताया कि मैं आईन्स्टीनसे मिलनेके लिए गया था। मैंने उनसे प्रश्न किया कि आपको विज्ञानकी इतनी बड़ी प्रेरणा और इतनी बड़ी सूझ कहाँसे प्राप्त होती है? शिष्टाचारके पश्चात् बैठे, बात-चीत करते रहे-चलते-चलाते वे हमको एक कमरेमें ले गये। उस कमरेमें कोई दूसरी चीज नहीं थी। न कुछ बिछाया हुआ था, न कोई फर्नीचर था, न कोई रोशनी थी। स्वच्छ, निर्मल कमरा था और उसमें मरियमकी गोदमें ईसाकी मूर्ति थी।

बालक ईसा, अपनी माता मरियमकी गोदमें। जाकर आईंस्टीन ने उनको नमस्कार किया और मुझको बताया कि मुझे सारी प्रेरणा इन्हींसे मिलती है। यशोदा मैयाकी गोदमें कृष्ण और कौशल्या माताकी गोदमें राम, मरियमकी गोदमें ईसा-ये हमें विज्ञानकी प्रेरणा देते हैं। वहींसे हमको वह बुद्धि, वह शक्ति, वह युक्ति प्राप्त होती है, जो हमारे जीवनमें आती है। हमारे हृदयमें वे ही बैठे हुए हैं।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

उन्हींकी ज्योति सूर्यमें है, उन्हींकी ज्योति चन्द्रमामें है, उन्हींकी ज्योति अग्निमें है। उसी परमात्माकी

शक्तिसे हम देखते हैं, उसी परमात्माकी शक्तिसे हम सोचते हैं, उसी परमात्माकी शक्तिसे हम बोलते हैं। परमात्मा कहीं गया हुआ नहीं है। परमात्मा तो यहीं है। केवल हम उसको पपहचानते नहीं। परमात्मा यहीं है, अभी है, यही है परन्तु उसको पहचान नहीं पाते। यदि पहचान लें तो हाजरा-हुजूर है- न टिकट है, न दूर है। सर्वत्र भरपूर है। वह तो यहीं है। इसलिए आगे भगवान् अपना स्वरूप बतलाते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।

आदमीके बनाये हुए ज्ञानसे अगर परमात्मा मिल जाय तो उस आदमीको किसने बनाया? उस आदमीको ज्ञान किसने दिया? एक प्रश्न है। आदमीको ज्ञान है। उस आदमीको बनानेवाला कोई कर्ता होना चाहिए, कोई कारण होना चाहिए, कोई उसको ज्ञान देनेवाला होना चाहिए। वही कौन है? हमलोग आदमीको देखते हैं, उसके ज्ञानको देखते हैं, उसके निर्माणको देखते हैं। परन्तु उसके भीतर ज्ञानका सञ्चार करनेवाला, उसको रचनाकी प्रेरणा देनेवाला, उसको क्रियाशक्ति देनेवाला, उसके भीतर कौन बैठा है, जो उस मनुष्यके नामरूपके व्याकरणके पूर्व विद्यमान है, वह कौन है? एक बात सोचो नाम तो तुम्हारा मोहन, सोहन या रिंगू, पिंगू-पैदा होनेके बाद रक्खा गया न! पैदा होनेके पहले तुम्हारा क्या नाम था? भ्रूण था भ्रूण। अच्छा भ्रूण होनेसे पहले क्या? एक रज-कण था। एक बीजकण था।

अरे भाई, वह कण बननेके पहले भी क्या था? पञ्चभूतका मिश्रित कोई झोल था। वह झोल भी क्या था? ढूँढ़ो, 'मूलेन सुंगेन अन्वेषमाणाः।' इस जड़को पकड़करके ढूँढ़ते हुए जड़में चलो। वहा कहाँ मिलेगी? भगवान्‌ने बताया-हमारा अतापता लेलो-हमारा एड्रेस तो मालूम रहना चाहिए। बोले कि हमको चिट्ठी भेजना हो, तार भेजना हो, टेलीफोन करना हो तो हमारा नम्बर तो ले लो। वह क्या है? कितनी देरमें जुड़ता है? कितनी दूरसे बात करनी पड़ती है? बोले, हमसे बात करनेके लिए दूर फोन नहीं जोड़ना पड़ता, देरसे तार नहीं पहुँचता, टेलीफोन करनेके लिए नम्बर नहीं घुमाने पड़ते। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' हमारे साईंसे किसीने पूछा साईं, हम भगवान्‌से टेलीफोन करना चाहते हैं, तो उनका नम्बर बता दो!

वे बोले, तुम्हारे हृदयमें वह टेलीफोन है और उसका नंबर है 'शून्य'। दुनियाकी सब बातोंसे खाली करके जब बिलकुल खालीशून्य नम्बर होता है- वहाँ देखो, वहाँ परमात्मा पहलेसे मौजूद है। तुम्हारे निष्प्रपंच हृदयमें, तुम्हारे निर्वासन हृदयमें पहलेसे ही परमात्मा बैठा हुआ है। गाना-बजाना दूसरी चीज है, नाचना-गाना दूसरी चीज है, हिलना, डुलना दूसरी चीज है, कसरत करना दूसरी चीज है, नाटक करना दूसरी चीज है। यह परमात्मा तो हमारे हृदयमें साक्षात् अपरोक्ष हमारी आत्माके रूपमें बैठा हुआ है। भगवान्‌ने अपना पता बताया। क्या बताया? 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'। अरे भाई-मैं तो तुम्हारे नगरमें ही हूँ। नगरमें हैं महाराज? नहीं-नहीं तुम्हारे मुहल्लेमें हूँ। मुहल्लेमें हैं? नहीं तुम्हारे घरमें हूँ। घरमें हो महाराज? मैं घरमें नहीं तुम्हारे कमरेमें हूँ। कमरेमें कहाँ हो? तुम्हारे शरीरमें हूँ। शरीरमें कहाँ हो? तुम्हारे दिलमें हूँ। एकके ही दिलमें हैं महाराज कि सबके? बोले 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' आपका ध्यान नहीं जाता होगा!

भगवान् मच्छरके हृदयमें बैठ करके, या मक्खीके हृदयमें बैठ करके क्या खाते-पीते होंगे? 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' चर्व्य, जैसे पूरी है; मालपुवा है-ये दाँतसे काटकर खाते हैं। उसको चर्व्य कहते हैं। जैसे खीरको बिना चुगले, बिना दाँतसे काटे निगल जाते हैं, उसका नाम भोज्य है। और जब कोई चीज चूसकर फेंक देते हैं तब उसका नाम हो जाता है चोष्य। और चटनीको चाट लेते हैं, उसका नाम है लेह्य। चार प्रकारके जो अन्न है। चर्व्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य-इन चारों प्रकारोंको भगवान् खाते हैं-और संसारके जितने जीव हैं-खाने-पीने वाले शरीरधारी ब्रह्मासे लेकरके कीट पर्यन्त, सबके भीतर बैठ करके खाता कौन है? वही। तो सबका भोजन भी तो वही करता होगा न! महाराष्ट्रमें तो एक कथा है-

भगवान्ने चोखा चमारका खा लिया (विट्ठलनाथने)-सो वहाँके ब्राह्मणोंने उनका वहिष्कार कर दिया। क्यों भगवान्का बहिष्कार कर दिया? विट्ठलनाथ, तुमने चमारके हाथका भोग लगा लिया। अब हम तुम्हारा भोग नहीं पावेंगे। सो सबके शरीरमें बैठकर रहनेवाले, सबको छूनेवाले, सबका खानेवाले, सबका पीनेवाले, सबको अपने हृदयसे लगानेवाले, सबके अपने आप ये प्रभु हैं। सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' सबके हृदयमें सम निविष्ट हैं। सम्यक् निविष्ट हैं माने कभी छोड़कर कहीं जाते नहीं। एक क्षणके लिए भी किसीका परित्याग नहीं कर सकते। संसार उसको कहते हैं जो कभी पकड़ा न जाय। जिसको कभी, किसीने पकड़कर, रोककर, अपने पास नहीं रक्खा-न जरासंधने, न पृथुने, न रावणने, न हिरण्यकशिपुने-किसीके भी रोके यह किसीके पास नहीं रुका। न ब्रह्माके पास रुका, न शिवके पास रुका, न विष्णुके पास रुका। उसका नाम संसार है।

वह सरकता है। और जिसको कभी कोई छोड़ नहीं सकता, उसका नाम है आत्मा, उसका नाम है परमात्मा। कोई अपनेको छोड़ करके कहाँ जा सकता है? वह परमात्मा कहाँ बैठा है? सबके हृदयमें अलग-अलग-एक तृणसे लेकरके प्रकृतिपर्यन्त और एक कीटसे लेकरके हिरण्यगर्भ-पर्यन्त, जितने भी जीव हैं, सबमें वही परमेश्वर व्याप्त हो रहा है। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' करना क्या है? बड़ा मजा लेता है। कल आपको ईश्वरका स्वरूप सुनायेंगे। बहुत मजेदार है। हँसता है, खेलता है, बोलता है, नाचता है, गाता है, मिलता-जुलता है। ब्याह करता है, बच्चे पैदा करता है। और दिन-रात हमसे मिला रहता है। बदकिस्मती यह है कि हम उसको पहचानते नहीं हैं।

●

प्रवचन : 7

11-11-86

एक महात्मा पुष्करमें थे-उन्होंने एक भजन बनाया था-

कृष्णने कैसी होरी मचाई एक ते होरी मचै नाहिं कबहूँ।
याते करौ बहुताई यही मनमें ठहराई॥

भगवान् अकेले थे, उनके मनमें आयी कि होली खेलूँ तो एकसे तो होली हो नहीं सकती। इसलिए उन्होंने अपनेको बहुत रूपोंमें कर लिया। जैसे कौसल्याजीके महलमें दो रूपमें प्रकट हो गये। और फिर विराट्-रूपमें प्रकट हो गये। जैसे खरदूषणसे युद्ध करते समय भगवान् रामचन्द्र-जितने खरदूषण, उतने ही रामचन्द्र। सबको लगे कि हमारे सामने हमको बाण मार रहे हैं। ये बहुभवन-सामर्थ्य भगवान्में है। यही उनकी लीला है। कितना सुगम कर दिया ईश्वरने अपनेको कि धरतीमें प्रवेश करके मैं तुमको अपनी गोदमें लिये रहता हूँ। अब आप इस बातका अनुभव करें कि मैं तो भगवान्की गोदमें हूँ। आनन्दसे भर जायँ। जितना हम जल लेते हैं -चाहे वह गंगाजल हो, कूपजल हो, सरोवरका जल हो, वर्षाका जल हो-और औषधियोंमें-से-पत्तेको निचोड़कर चाहे जल निकालें, चाहे फलमें-से रस निकालें, उसमें रस बनकर वही बैठे हैं। वही भगवान् जब हमारी जीभ पर रस बनकर आते हैं, तब हमको स्वाद आता है। थोड़ा सावधान होकर ध्यान दीजिये।

बाहरकी अग्निके रूपमें है, प्रज्वलित हवन किया जाता है, सूर्य, चन्द्रमाके रूपमें प्रकट हो प्रकाश देते हैं और हमारे हृदयमें, शरीरमें बैठ करके पाचन क्रिया करते हैं। वही साँसके रूपमें आते हैं, वहीं साँसके रूपमें जाते हैं। प्राण और अपानकी सन्धिमें बैठकर दोनोंको अलग-अलग करते हैं। माने ईश्वर कहीं हमसे दूर नहीं है। केवल ख्यालकी ही कमी है। ईश्वर हमसे दूर नहीं है। एक छोटा बालक था। उन दिनों उसकी उम्र मुझसे बहुत छोटी थी-मैं बड़ा था। मैं जब उसके घर गया तो खूब प्रेम हो गया। बैठकर हमलोग घण्टों बात-चीत करें। समयका फेर। वह पढ़ने लगा और मैं कभी उसके घर गया नहीं। चिट्ठी-पत्री होती रही। जब वह बी.ए. या एम.ए में पढ़ रहा था-प्रयागराजमें, तब मैं एकाएक उसके होस्टलके कमरेमें पहुँच गया-उसने हमको पहचाना नहीं और मैंने उसके घरकी कुशल-मंगल पूछी-उसकी माँकी, भाभीकी, बहनकी-उसको यह तो मालूम पड़ गया-हमारे कोई अन्तरंग व्यक्ति हैं।

मैंने कहा-हम यहाँ स्नान करेंगे। हमारे भोजनका प्रबन्ध करो। उसने सब कर दिया-फिर उसने पूछा कि आप बताइये आप कौन हैं? 2-3 घण्टे मैं उसके साथ रहा और नहीं बताया कि कौन हूँ। जब चलते-चलाते उसको बताया कि मैं अमुक हूँ-तब तो वह मेरे साथ लिपट गया। बड़े छलिया हो तुम! यह ईश्वर भी बड़ा छलिया है। इसीको माया कहते हैं। मायाको अपनेसे इतना ढके हुए रहता है कि-

आरामं अस्य पश्यन्ति-न तं पश्यन्ति कश्चन्।

लोग उसके बगीचेको देखते हैं, पर बगीचा बन करके वही लहरा रहा है, वही फूलोंमें सँवरा-सजा हुआ

है। उसीमें इतने स्वादु फल लग रहे हैं। वही छाया दे रहा है। यह बात ध्यानमें नहीं आती कि यह उसीका है। कुछ तो हमलोगोंकी मान्यताएँ और कुछ लोगोंने हमको ईश्वरसे बहुत दूर कर दिया। वह गया स्वर्गमें ईश्वर-और बैकुण्ठमें और गोलोकमें और साकेतमें। यहाँ ईश्वर नहीं है तो और कहाँ है? केवल पहचानने भरकी देर है।

एकबार मैं झूसीमें रहा-इलाहाबादके पास। कोई 7-8 महीना रहा। सन् 36 के लगभगकी बात है-तो मुँहमें जब ग्रास डालूँ तो ऐसा लगे कि भीतर नन्हा-सा कन्हैया बैठा हुआ है और मैं मुँहमें ग्रास डालता हूँ तो छीन लेता है, झपट लेता है और खा लेता है। और हमको अँगूठा दिखाता है। थोड़ा-सा ही ध्यान देने पर आप देखेंगे कि खटमलके शरीरमें भी, जूएँके शरीरमें भी और जिनको हम बहुत गन्दा समझते हैं, उनके शरीरमें भी 'शुनि चैवश्वपाके च'-कुत्ता और चाण्डालके शरीरमें भी वही बैठा हुआ है। और सब लोग जो अपना-अपना भोग लगाते हैं, उनके शरीरमें बैठ-बैठ करके पचानेका काम करता है।

खाते हैं हमलोग और पचाता है वह। 'भोक्तारं यज्ञतपसा'। यज्ञका अर्थ होता है जो हम दूसरोंको खिलाते हैं, सो वो यज्ञ है और जो स्वयं अपने भोगमें संकोच करते हैं-थोड़ा खाते हैं, उसका नाम तप है। माने दूसरोंको खूब खिलावे तो भगवान्को खिलाते हैं, और स्वयं अपने भोजनमें जो तपस् करते हैं, धर्म शास्त्रका नियम है-'पूरयेदशनेनार्धम्।' आधा पेट भोजन करना चाहिए। तिहाई तक पानी पिना चाहिए और चौथाई पेट हवा आने-जानेके लिए छोड़ देना चाहिए।

वायोः संचरणार्थं तु तुरीयं अवशेषयेत्।

हवाके लिए जगह पेटमें जरूर छोड़नी चाहिए। ठसाठस नहीं भरना चाहिए। क्योंकि असलमें भगवान् अकेले नहीं पचाते हैं। यह हमलोगोंके लिए उपदेश है। भगवान् भी जब भोजन करते हैं तो एक ओर प्राण और एक ओर अपान। प्राण पाँच और अपान पाँच-इन दस वायुओंको अपने साथ बैठाकर तब भोजन करते हैं। उपनिषद्में तो ऐसे कहा है—

केवलाघो भवति यः केवलादी।

जो अकेला भोजन करता है। वह केवल पापका भोजन करता है। खिलाकर खाना चाहिए। बल्कि दूसरेको खिलाकर भूखे भी रह जायँ तो इसमें और तपस्या बढ़ जाती है। लेकिन भगवान् केवल यज्ञ और तपस्या ही नहीं खाते हैं, जो हम आहुति देते हैं और व्रत करते हैं—वही नहीं खाते हैं, वे तो भोक्ता हैं।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

इस देहमें परमपुरुष परमात्मा रहते हैं। और वे देखते हैं, वे अनुमति देते हैं। वे शरण-पोषण करते हैं और वे भोग भी करते हैं। वो महा ऐश्वर्यशाली हैं—ऐसे परमात्मा हमारे हृदयमें निवास करते हैं। आप ध्यान देंगे तो ईश्वरको ढूँढनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी। अब और निकट बताते हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

****

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

अजी, क्या पूछते हो कि मैं पृथिवी होकर धारण करता हूँ, या पानी होकर सबको तर करता हूँ या अग्नि होकर ऊष्मा देता हूँ या प्राणापानके साथ पचाता हूँ—यह तो बाहरी बात है, भीतरी बात देखो ना! मैं सबके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। बदकिस्मती है यह कि हम अपने दिलको ही नहीं जानते हैं कि वह कहाँ है? क्या है?' तेरी गलीमें आके खोये गये हैं दोनों—दिल तुमको ढूँढ़ता है, मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ।' कहाँ ढूँढ़ने जाते हो—अपने हृदयको छोड़कर। जिस स्थानमें परमात्मा नहीं है, ऐसा कोई स्थान ही नहीं है। जिस क्षणमें परमात्मा नहीं है, ऐसा कोई क्षण ही नहीं है। जिस कणमें परमात्मा नहीं है ऐसा कोई कण ही नहीं है। सबके हृदयमें है। एक बारकी बात है—बहुत पहलेकी, संन्यासी होनेके पहलेकी! मैं तहसीलके किसी कामसे गया था। हमारे मित्र थे नायब तहसीलदार—मैं तो उनके घरमें बैठ गया। हमारा काम उनको करना था—वे चले गये कचहरी। वे दस बजे गये। चार बजे लौटे।

छः घण्टे मैं उनके घरमें अकेले बैठा रहा। बाहरसे वे किवाड़ी बन्द कर गये थे। छः घण्टेमें मैं जो सोचने लगा—मिट्टीके एक-एक कण, इनके हृदय होता है कि नहीं, दूबके एक-एक टुकड़े—इनका हृदय होता है कि नहीं। दूबमें जड़ लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती है। यह गाँठ लगानेसे ही पैदा हो जाती है। गन्नेकी गाँठमें-से ही अङ्कुर निकलते हैं। काटकर कई टुकड़े करके गन्नेको खेतमें बो देते हैं। उनमें चेतना, प्राण है कि नहीं है। पानीके एक-एक बूँदमें जीवाणु हैं कि नहीं हैं। सोचने लगा—अपने मन ही मन। मैंने अपने अँगूठेका एक हिस्सा कर अपने सामने रख लिया। अब उसमें कितने कीटाणु हैं यह तो मैंने पहले देखा हुआ था। जितने कीटाणु, उतने ही उनके दिल, और उनके दिलमें परमात्मा। अब तो दिल ही दिल, दिल ही दिल, यह दुनिया क्या बनी है, दिलोंकी समष्टि है, हृदयोंका समूह है और सबके हृदयमें हृदि—हृदय कहाँ है? जहाँ हमारी यादें रहती हैं।

हरति आहरति संस्कारान् इति हृत् तस्मिन् हृदि।

कलकी देखी हुई बात याद कहाँ रहती है? सो जानेपर तो उसको मिट जाना चाहिए। कल हम शामको आपसे मिले थे। रातको सो गये तो आपको भूल गये थे। और अब आज उठे तो आपकी याद आयी। यह याद कहाँ थी? जिस हृदयमें यह याद सो गयी थी, पहले हुई थी, फिर सोयी थी, अब जगी है। बस; वही तो परमात्माका वक्षःस्थल है, जिसपर हमारी स्मृति जगी थी, सोयी थी, फिर जगी है। और जिसपर सहस्र स्मृतियाँ सोई हुई हैं। सबके दिलमें भगवान् सम्यक् और नि और विष्ट हैं। सम भी उपसर्ग हैं, नि भी उपसर्ग

****

है। विष्ट जो है वह धातुकी क्रिया है। सम्यक् माने भली-भाँति—नि माने पूर्णरूपसे, निवेश किये हुए हैं, विराजमान हैं। भगवान्की शेषशय्या कहाँ है? आपके हृदयमें। भगवान्का क्षीर-सागर कहाँ है? आपके हृदयमें। भगवान्का बैकुण्ठ कहाँ है? आपके हृदयमें। आपके हृदयमें ही सीता-राम चन्द्रका साकेत है। आपके हृदयमें ही राधा-कृष्णका गोलोक है। आपके हृदयमें ही गौरीशंकरका शिवलोक है, कैलास है। 'हमको क्या तू ढूँढे बन्दे, हम तो तेरे पासमें।' सबके हृदयमें परमेश्वर बैठा हुआ है।

हम उसकी ओर पीठ करके, देखते हैं दुनियाकी ओर—सामने भी है वह! लेकिन हम पहचान नहीं पाते, उसको भूल गये। भूले तो इतने हैं—हम कह दें कि देखो, एक व्यक्ति आ रहा है तो लड़की होगी तो कहेगी हमारा बाप है। पुरुष होगा कोई तो बोलेगा, हमारा भाई है। कोई बोलेगा यह हमारा पिता है, हमारा पुत्र है—हम कहेंगे मनुष्य आ रहा है तो वह तुरन्त हमारी बात काटकर अपनी बातको जोड़ देगा कि मनुष्य नहीं है, यह तो हमारे दादा हैं, मामा हैं, फूफा हैं, बेटा है। मनुष्यको भूल गया मनुष्य—अपने रिश्तेके चक्करमें। ऐसे हम अपने रिश्तोंके चक्करमें, नाम-रूपके चक्करमें, ऐसे भटक गये कि ईश्वरको ही भूल गये। हम इसको ताड़के रूपमें पहचानते हैं, पेड़के रूपमें पहचानते हैं—पञ्चभूतके रूपमें नहीं। पञ्चभूतके रूपमें पहचानते हैं, प्रकृतिके रूपमें नहीं, प्रकृतिके रूपमें पहचानते हैं, ईश्वरके रूपमें नहीं और ईश्वरके रूपमें भी पहचानते हैं तो आत्माके रूपमें नहीं।

यह सब अपना आत्म-स्वरूप ही है। भगवान् कहाँ रहते हैं? सबके हृदयमें भली-भाँति! माने बिना कोई बुराई, भलाई किये और कभी न हटनेवाले ऐसे रूपमें भगवान् संनिविष्ट हैं। बोले, ऐसे भगवान् हृदयमें बैठकर क्या करते हैं? बहुत मजा लेते हैं; वे तो तमाशा ही देखते रहते हैं, लीला करते रहते हैं। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'—जैसे कोई लोकमें मनुष्य कभी लोगोंमें रहकर खेलना पसन्द करता है, बच्चोंके साथ और कभी एकान्तमें रहकर चिन्तन करना पसन्द करता है। यह मनुष्यकी प्रकृति जैसी देखनेमें आती है। यहाँ मैं देखता हूँ, रतनसी भाई बड़े गम्भीर बैठे रहते हैं, बहुत कम बोलते हैं। लेकिन मैंने इनको देखा है, जब पाँच-चार बच्चे इनको घेरकर बैठते हैं तो उनको खूब चुटकुले सुनाते हैं, कहानियाँ सुनाते हैं, उनको खूब हँसाते हैं। महाबलेश्वरमें ये जो टिंगू-पिंगू थे सब टिंगू-पिंगू हो गये—और हमलोगोंके सामने मालूम पड़ता है जैसे ये महाशय कभी बोलते ही नहीं हैं। यह ईश्वरकी प्रकृति है। उसका जब मन होता है तब एकान्तमें अकेला बैठ जाता है,'एकमेवाऽहं'—मैं ही एक हूँ, मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं और कभी 'अहमेव सर्व'—मैं ही सब हूँ। हँसता और खेलता है।

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' करता क्या है? 'मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।' हमारे हृदयमें बैठ करके स्मृति, ज्ञान और अपोहन—इसको बहुत सीधी रीतिसे यदि सुनावें तो स्मृति माने होता है—जो अनुभव मैंने कल, पीछे सैकड़ों वर्ष पहले भी किया था, उसको न भूलना। यह योगदर्शनमें स्मृति इसको कहते हैं। 'अनुभूतविषया सम्प्रमोशः स्मृतिः।' न्याय दर्शनमें कहते हैं, 'संस्कारजन्यं ज्ञानं'—जो पहलेका संस्कार है, उससे जो वृत्ति उत्पन्न होती है। इस समय देख तो नहीं रहे हैं, लेकिन पहले देखे हुएकी जो याद आयी वह

स्मृति है। मीमांसक लोग कहते हैं कि यह स्मृति जो है यह प्रमाण नहीं है। कोई कहे कि हमको यह याद आ रही है, याद आनेकी बात नहीं। याद तो झूठकी भी आ सकती है, सचकी भी आ सकती है। हमने एक पुस्तकमें पढ़ा—लेखकने बिलकुल झूठी कहानी गढ़ करके लिखी थी।

अब मैंने वही बात कहीं किसीको सुनायी और कह दिया कि मैंने पढ़ी है। वह कहता है कि झूठी है—झूठी कैसे है? मैंने पढ़ी है। एक पेड़ था, मैंने पूछा इस पेड़का क्या नाम है? बतानेवालेने कह दिया छुहारा है—अब मैं छुहारेको पहचानता नहीं था, उसका पत्ता देख लिया, तना देख लिया, याद कर लिया। कहीं दूसरी जगह वैसा पेड़ देखा तो याद आयी और हमने दूसरेको बता दिया छुहारा है। स्मृतिको तो झूठ और सचका ज्ञान नहीं होता है। इसलिए प्रमाण कोटिमें उसको नहीं मानते हैं।

अदालतमें भी आँखों देखी बात जो होती है, चश्मदीद गवाह जो कहता है, वह प्रमाण मानी जाती है, और जो कहींसे सुनकर आया है और बोलता है, सुनी-सुनायी बातको प्रमाण नहीं माना जाता। स्मृति जो है वह न्याय और वैशेषिक, सांख्य, योग पूर्वमीमांसा, उत्तर मीमांसा—किसी भी दर्शनमें इसको प्रमाण नहीं मानते हैं। पर भगवान् स्मृति देते हैं। यह इतना विलक्षण है, इसके बारेमें लोगोंका ध्यान नहीं जाता क्योंकि रुपया-पैसा कमानेमें लोग ज्यादा लगे हैं, रिश्ते, नातेमें ज्यादा लगे रहते हैं।

एक बार एक आदमी आया, पहले पहचानमें नहीं आया कि वह गेरुआ कपड़ा पहने कौन बैठा है? गौरसे रोशनीमें देखा तो पहचान लिया कि ये प्रबुद्धानन्द बैठे हैं। अब इसके बाद यह बार-बार आता है ये प्रबुद्धानन्द हैं, ये प्रबुद्धानन्द हैं। पहली बार जो हुआ वह तो प्रबुद्धानन्दके अज्ञानको दूर करनेवाली प्रमाण वृत्तिका उदय हुआ और उसके पश्चात् बारम्बार धारावाहिक ज्ञान-स्थलमें उसका अनुवाद होता जा रहा है, ऐसा एक मत है। एक मत है कि नहीं—हर प्रबुद्धानन्दको देखनेमें—जो बीचमें अन्धेरा आता है, अज्ञान आता है उसको दूर करनेके लिए प्रत्येक दर्शनमें प्रमाण-वृत्तिका उदय होता है। एक तीसरा मत है कि एक प्रमाणवृत्ति जबतक प्रबुद्धानन्दको देखते रहोगे तबतक एक ही रहेगी। प्रमाणवृत्ति एक होती है कि प्रमाणवृत्ति अनेक होती है—कि प्रमाणवृत्ति एक हो करके मिट जाती है, फिर केवल उसका धारावाहिक अनुवाद ही रहता है, वृत्ति नहीं रहती है।

ये सब बड़े दार्शनिक, सूक्ष्म विषय हैं—ये मशीनकी नोंकपर समझनेके नहीं हैं और न तो कम्प्यूटरके गणितसे ये समझमें आते हैं। यह साइंसका विषय नहीं है, यह दर्शनशास्त्रका, फिलासॉफीका विषय है। इसको बच्चे-कच्चे लोग नहीं जानते हैं। भगवान् स्मृति देते हैं। अब सीधा-सादा अर्थ आपको सुनाते हैं। यह जो आपको सपना आता है न। स्मृति भी एक प्रकारका स्वप्न है। पिछली बात जो इस समय नहीं है, वह हमारी मनोभूमिमें दीख रही है। न उस चीजकी हमारे मनमें लम्बाई-चौड़ाई है और न तो कोई वजन है, और न तो कोई उम्र है और हमारे दिलपर ऐसे ही घूम गयी। बिना वजनके बिना लम्बाई-चौड़ाईके और बिना उम्रके एक चीज आयी और हमारे मनमें घूम गयी। यह तो सपना हुआ। हमको सपना कौन देता है? हमको सपना भगवान् देते हैं। वही भेजते हैं-स्वप्न कहो क्यों भेजते हैं ? यों भेजते हैं कि जरा आप अपनी शक्ति समझिये।

जैसे ईश्वरमें नवीन-नवीन सृष्टि बनानेकी शक्ति है, वैसी ही शक्ति आपके अन्दर नवीन-नवीन सृष्टि रचना करनेकी है। उतनी ही शक्ति है, लेकिन आप अपनी उस शक्तिको भूल गये हैं। पावर हाउसके साथ सम्बन्ध टूट गया है।

यह मनुष्यकी शक्ति है, कि जैसे वह स्वप्नमें नयी सृष्टिका निर्माण कर लेता है, वैसे जाग्रत्‌में भी यदि वह अपना पौरुष, उत्साह प्रकट करे, तो नयी सृष्टि बना सकता है। सपने बड़े विलक्षण, विलक्षण आते हैं। मैंने एकबार सपना देखा कि मैं बनारसमें हूँ और किसी अस्पतालमें नर्स हूँ। अस्पतालकी भी हमको याद है-कौन-सा था। और उसमें यह प्रबुद्धानन्द और हमारे पास रहता था वह दादा और प्रज्ञानानन्द-सब बीमार पड़े हैं और मैं दौड़कर किसीका मुँह धुलाता हूँ, किसीको कुल्ला कराता हूँ। उसी नर्सकी पोशाकमें। थोड़ी देरके बाद टूट गया।

एक बार देखा कि हवाई जहाजपर चढ़कर इटलीके युद्धमें गया हूँ और वहाँ हमारे साथी हमको युद्धभूमिमें उतारकर हवाई जहाजसे भाग गये। अब मैं हाथ उटाकर चिल्लाऊँ कि हमको भी लेते चलो। जागनेपर मैंने कहा-'तुम लोगोंने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया। वे आश्चर्यचकित हो गये, बोले क्या अन्याय किया? तुम लोग हमको इटली ले जाकर छोड़ गये। बोले बाबा, एक ही तो रात है। हम अपने कमरेमें सोये, तुम अपने कमरेमें सोये। इटली कहाँसे गये? एकबार देखा-स्वामी गंगेश्वरानन्दजी महाराज-उनके आँख नहीं है-मोटर चला रहे हैं और मैं उस मोटरमें बैठा हूँ। कितनी पहाड़ियाँ तय कीं और एक जगह हरी-हरी घासमें बिठाया और वहाँ स्वामी असंगानन्दजी मिल गये। और झट उन्होंने हमारी जाँघपर हाथ फेरा और प्रश्न पूछना शुरू कर दिया। वह ऐसे ही हमार आदर करते थे।

हमसे बहुत बड़े थे, वृद्ध थे, बहुत योग्य थे, पर हमारा आदर वे ऐसे करते थे कि जब मिलते, तो हमसे कुछ-न-कुछ पूछते। यह विद्वानोंका बड़ा भारी आदर है कि उनसे प्रश्न किया जाय। अपनी विद्या-बुद्धिसे, उनकी विद्या, बुद्धि, अनुभव अधिक मान करके उनसे पूछा जाता है। यह मुँह फुलाकर बैठे रहना, यह तो कोई बात नहीं हुई। हमको याद है उन्होंने स्वप्नमें चार पद बोले थे। एकाध तो हमें याद है। 'आत्मा दृश्यैर्न योज्यते।' और दृश्यसे आत्माका वियोग नहीं होता। क्योंकि आत्माके बिना दृश्य रहेगा नहीं। ऐसे तो बहुत-से स्वप्न हैं। ये स्वप्न कौन देता है?

ये स्वप्न प्रभु ही दिखाता है कि देखो तुमने मनमें जैसी नयी सृष्टि बना ली वैसे चाहो तो विश्वामित्रके समान शक्तिशाली होकरके तुम नयी सृष्टि बना सकते हो। तुम्हारे अन्दर इतना पौरुष हैं। इतनी बुद्धि है, इतनी शक्ति है, इतने उत्साहसे काम करो। स्मृति देनेवाला भगवान् 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानं '—ज्ञान माने जाग्रत-अवस्था। जाग्रत-अवस्था भी वही देता है और हमारे कितने सम्बन्ध जोड़ करके क्या-क्या बना देता है। महाराज! जाग्रतपर विचार करें। अद्‌भुत है। आप आँख लेकर आये हैं—आपने अपनी आँख बनायी है? कान, नाक बनाये हैं—जीभ, हाथ, पाँव बनाया है? परमात्माने आपको ऐसा शरीर दिया—जो संसारके पशु, पक्षी किसीको नहीं है। और वह योग्यता दी जो देवताके भीतर भी नहीं होती है।

देवता वैराग्य नहीं कर सकते। देवता पुण्य नहीं कर सकते। देवताका ज्ञान नहीं हो सकता। कोई-कोई देवता होते हैं, उनको भी विरक्त होकर एक-सी एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करना पड़े तो इन्द्रको ज्ञान हो सकता है। वह ज्ञान भगवान्‌ने हमको दिया, जिससे हम समझ सकते हैं कि ये नाम-रूप तो बादमें रखे गये हैं। कोई चीज जब शकलवाली होती है, तब उसका नाम रखा जाता है और उसी नामसे उसका परिचय कराया जाता है। लेकिन जब शकल-सूरत नहीं थी, नाम नहीं था तब वह क्या था? एक घड़ा बना—जब घड़ा बन गया, उसका नाम घड़ा हो गया। ठीक है। पर जब घड़ा नहीं बना था और उसका नाम नहीं रक्खा हुआ था, तब वह क्या था? मिट्टी था और इसी प्रकार यह जो संसारकी शकल-सूरत नहीं बनी थी—'नामरूपे व्याकरवाणि' नहीं हुआ था, नाम रूपका व्याकरण नहीं हुआ था, उस समय यह क्या था? उस समय नामरूपके आकारसे विनिर्मुक्त जो स्वरूप था इसका वह तत्त्व है।

उस ज्ञानका साक्षात्कार करनेकी योग्यता भगवान्‌ने दी है। और 'अपोहनं च'—अपोहन माने निद्रा-सुषुप्ति—जिस समय न स्मृति होती है। न ज्ञान होता है। दोनोंका अपोहन हो जाता है। कोई-कोई दोनोंको समझनेकी शक्ति भी बोलते हैं, और कोई-कोई दोनोंका अपोहन माने तिरस्कार—उपेक्षा। स्वप्न और जागृत दोनोंकी उपेक्षा करके मनुष्य सो जाता है। परमात्मा कहाँ रहता है? परमात्मा हमारे सपनेमें स्वप्न दिखाता रहता है, हमारे जागृतमें जागृत दिखाता रहता है, हमारी सुषुप्तिमें, हमको अपनी गोदमें लेकर सुला देता है और इन तीनोंमें वह नहीं सोता है। सब सुलाता, जगाता रहता है लेकिन स्वयं 'तुरीय त्रिषु संततं'—जागृत-स्थान, स्वप्न-स्थान, सुषुप्ति-स्थान—तीनोंमें एक सरीखा जगमग-जगमग, हमारी आत्माके रूपमें, यदि सुषुप्तिमें परमात्मा-सो जाय तो कौन जाने कि सुषुप्ति नामकी कौन चीज होती है।

वह सुषुप्तिको देखकर ही सुषुप्तिको याद करता है जागृतमें। 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः।' 'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।' अब बोले, आखिर आप ऐसे हैं—सबको तो दिखा देते हैं और खुद नहीं दिखते हैं—ऐसे परदा-नशीन हैं कि परदेकी ओटमें-से झाँककर सबको तो देखते रहते हैं और स्वयं किसीको नहीं दिखते हैं। आपको कैसे देखा जाय, यह बताइये। आपसे मिलना कैसे हो? 'वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—मैं केवल वेदोंके द्वारा ही जाना जाता हूँ। जो लोग शास्त्रका रहस्य समझना चाहते हैं, उनको यह मालूम होना चाहिए कि एक नहीं हजार शास्त्र कहें कि तुम्हारे सामने घड़ी नहीं रखी है, किताब नहीं है, फूल नहीं है—हजार-हजार शास्त्र इस बातको कहें, हम नहीं मान सकते। क्यों नहीं मान सकते?

यह तो नेत्रका विषय है। जब हमारा नेत्र कहेगा कि नहीं है जब हमारा हाथ कहेगा कि नहीं है, जब हमारी त्वचा कहेगी कि नहीं है, तब हम मानेंगे कि, हाँ पोथी नहीं है। वेदमें लिखा हुआ होनेसे यह नहीं मान लेंगे कि यहाँ पोथी नहीं है। सब प्रमाणोंका इन्द्रियोंका अपना-अपना विषय होता है।

नैव श्रुतिशतैरपि घटः पटयितुं शक्यते।

शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि सौ-सौ श्रुति यदि घड़ेको कपड़ा कहे तो वह मान्य नहीं होगा। क्योंकि श्रुति प्रमाणका विषय दूसरा है-आँखको यह हक नहीं है कि वह सुगन्ध बतावे और नाकको यह हक

नहीं है कि वह शब्द बतावे और जीभको यह हक नहीं है कि वह रूप बतावे। अपनी-अपनी इन्द्रियोंका प्रमाणोंका विषय होता है कि प्रत्यक्षके द्वारा क्या जाना जाता है, अनुमानके द्वारा क्या जाना जाता है। ये जो शास्त्र हैं, उनका विषय अलग है। जो प्रत्यक्षसे, अनुमानसे, उपमानसे और किसी प्रमाणसे बात नहीं जानी जा सकती, उसको बतानेके लिए वेद हैं।

प्रत्यक्षानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्मात्वेदश्च वेदता।।

जो वेदका विषय है, यदि वेद कहता है कि परमात्मा निराकार है और आँख उसको बताने लगती है ठिगना तो आँख नहीं मानी जायगी, वेद माना जायगा। लेकिन वेद जिसको बताता है घड़ा-और आदमी उसको देख रहा है कपड़ा तो वहाँ वेदकी बात नहीं मानी जावेगी। प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय अलग, अनुमानका अलग, उपमानका अलग, अर्थापत्तिका अलग, अनुपलब्धिका अलग। विषयमें प्रमाण क्या है? बोले 'वेद' कैसे प्रमाण हो गया? वेद ऐसे प्रमाण हो गया कि जो वस्तु नित्य परोक्ष होती है। माने कभी, किसीकी आँखोंके सामने नहीं आती, आँखोंसे ओझल है, स्वर्ग है, उसमें एक इन्द्र रहते हैं। ब्रह्मलोक है, उसमें ब्रह्म रहते हैं। बैकुण्ठमें नारायण रहते हैं।

अब ये हमलोगोंकी आँखसे तो दिखता नहीं और अनुमान करनेके लिए कोई युक्ति नहीं। उपमान इसका दुनियामें कोई है नहीं-तब कैसे मानते हैं? यह शब्द-प्रणामसे, शास्त्र-प्रमाणसे मानते हैं। शास्त्र क्या करता है? हमारे हृदयमें कहता है, देखो एक होता है इन्द्र देवता-अच्छा कैसा? तो शकल-सूरत तो पन्द्रह-सोलह वर्षकी-सी होती है और वह तो सम्राट् है, मुकुट धारण करता है और बड़े सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करता है। हाथमें उसके वज्र होता है। शास्त्रसे श्रवण करते हैं तब हमारी मनोवृत्ति तदाकार हो जाती है, इन्द्राकार हो जाती है। और हमारा जो आत्मचैतन्य है, अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य वह इन्द्रावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो जाता है। तब हमारा मन ही दो भागमें बँट-बँट करके एक इन्द्र बनके दिखता है और एक देखनेवाला बन करके देखता है।

इसी तरहसे बैकुण्ठ भी है, गोलोक भी है। वहाँ सिवाय वेदके और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। अब एक दूसरी बात देखो-कोई चीज है तो सही। परन्तु नित्य अज्ञात है। एक नित्य अज्ञात है, स्वर्ग आदि। उसको हम वेद, शास्त्रसे जान सकते हैं और दूसरे नित्य ज्ञात है अपना आत्मा। क्योंकि मैं नहीं हूँ, यह बोध कभी किसीको नहीं हो सकता। ऐसा माईका लाल दुनियामें कोई नहीं हुआ, न है, होगा जो यह अनुभव करे कि मैं नहीं हूँ। इसीसे परमात्माकी जान भी तभी बचेगी जब वह 'मैं' होगा। यदि मैं नहीं होगा तो परमात्मा होके कभी रहेगा, कभी नहीं रहेगा।

ऐसी स्थितिमें जो नित्य अपरोक्ष है अपना आत्मा वह कैसे मालूम पड़ेगा? वेद उसको बतायेगा-साक्षात् तुम ही ब्रह्म हो, क्योंकि आत्मा नित्य अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात है। उसको अज्ञातता मिटानेके लिए वेदकी जरूरत पड़ती है।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

एक बात तो हुई कि वेदसे परमात्मा जाना जाता है। दूसरी बात हुई कि सारे वेदोंसे जाना जाता है-चाहे वेदमें इन्द्राय स्वाहा हो, वरुणाय स्वाहा हो-चाहे होम हो, चाहे यज्ञ करो। यह यज्ञ करो ऐसी विधि हो-चाहे देवताके स्वरूपका वर्णन हो, चाहे तपके विधि-विधानका वर्णन हो, चाहे भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन हो, चाहे कैसा भी वर्णन हो, सारे-के-सारे वेद घूम-फिर करके कर्मका वर्णन करनेवाले, उपासनाका वर्णन करनेवाले, योगका वर्णन करनेवाले सब वेद अन्ततोगत्त्वा परमात्माका ही वर्णन करते हैं। वेदोंसे जाने जाते हैं, सारे वेदोंसे जाने जाते हैं और जानना चाहिए।

इस जीवनकी सफलता इसमें है कि इसमें परम सत्य परमात्माको जान लें।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

तुमने दुनियाकी सब चीज जान ली, लेकिन अपनी आत्माको नहीं जाना, अपनेको नहीं जाना।

हमारे एक मित्र थे, वे एक श्लोक बोला करते थे-आजका जो इतिहासका छात्र है वह बता सकता है कि क्लाईवके कितने कुत्ते थे। कर्जनके कितने कुत्ते घरमें रहते थे। इतिहाससे उसको यह बात मालूम है।

ऐमे-पर्यन्त उत्तीर्णाः इतिहासे प्रतिष्ठितः।
छात्रो वस्तुं न शक्नोति भीष्मः कस्य सुतोऽभवत्॥

लेकिन उसको यह मालूम नहीं है कि भीष्म पितामहका क्या नाम है? आजकलके लड़कोंसे तीन पीढ़ी पहलेका नाम पूछ देते हैं, वे तो कहते हैं, हम नहीं जानते हैं। यह स्थिति तो है अपनी। जाननेवाली सबसे बढ़िया वस्तु क्या है? सर्वोत्तम-अपनेको जान लो सबको जान लिया। 'अहमेव वेद्यो-वेदान्तकृद्'-बोले, वेद ही जानते रहें-नहीं, वेदका जो अन्त है, उसको मैं जानता हूँ-कर देता हूँ। यदि तुमने मुझे जान लिया, आत्माके रूपमें परमात्माको जान लिया तो वेदका अन्त हो गया, वेदके सिद्धान्तका साक्षात्कार हो गया, वेदका पर्यवसान हो गया।

उसके बाद वेद नहीं है। अरे बाबा, यह कैसे तुम कहते हो? इसलिए कहता हूँ कि 'वेदविदेव चाहम्' मैं ही वेद-वित् हूँ। वेदका असली स्वरूप मैं ही जानता हूँ। देखो, शुरूमें ही यह उपक्रम किया। ग्रन्थ कहाँसे आरम्भ हुआ?

यस्तं वेद स वेदवित्।

जो मूल सहित इस ऊर्ध्व अश्वत्थको जानता है, वह वेदवित् है। ठीक है, अब भगवान् कहते हैं कि मैं वेदवित् हूँ। असली वेदको जाननेवाला मैं हूँ।

एक दिन उद्धवजीने कृष्णसे पूछा-महाराज, वेदका सार क्या है? कृष्ण तो बड़े धड़ल्लेसे बोलते हैं-कोई उनको संकोच तो है नहीं-बोले वेदका सार मैं हूँ। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' सब वेदोंका सार-सार मैं ही हूँ। परमात्मा ही सब वेदोंका सार है। भागवतमें प्रश्न उठाया-

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्याहृदयं लोके नान्योमद्वेद कश्चन॥

कृष्णने कहा कि श्रुति किसका नाम लेती है? किसके लिए विधान करती है? किसका संकल्प करती है? किसका अनुवाद करती है? किसमें विकल्प करती है? कृष्णने छाती ठोंककर उद्धवसे कह दिया- मेरे सिवाय और कोई दूसरा इसको जानता ही नहीं है। अरे महाराज, तो तुम्हीं बताओ न क्या है?

भगवान्ने कहा-संसारमें, सृष्टिमें जितने नाम हैं, सब मेरे नाम हैं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब नाम परमात्माके। भक्तोंका पक्ष करते हैं इसलिए भगवान्का नाम पक्षी है। 'पश्यति इति पशु'-देखते हैं-इसलिए भगवान्का नाम पशु है।

एक-एक शब्द परमात्माके वाचक हैं यह मैं जानता हूँ। जब परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं तो दूसरेका नाम कहाँसे होगा? सब नाम परमात्माके हैं। क्योंकि सर्वरूपमें परमात्मा है। जब सब गेहूँकी राशि है तो सबका नाम गेहूँ है। यदि सब जौ की राशि है तो सबका नाम जौ है। जब सब परमात्मा है तो सब नाम परमात्माके हैं।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहं एतावान् सर्ववेदार्थः।

सारे वेदोंका तात्पर्य इतना ही है कि परमात्मा-ही-परमात्मा है। परमात्माके सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। इसलिए परमात्माके सिवाय जो कुछ मालूम पड़ता है वह माया-जादूका खेल है, वह अविद्या है, वह अज्ञानका विलास है।

यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः।

इसलिए मैं वेदवित् हूँ-श्रीकृष्णने कहा। बोले-यहाँ वेद तो कहते हैं, एकको जाने लेनेसे सर्वका ज्ञान हो जाता है।

यह वेदकी एक विशेष प्रतिभा है। यह और मजहबोंमें नहीं है। एक ऐसी चीज है दुनियाँमें कि जिसको अगर हम जान लें तो कुछ बाकी नहीं रह जाता है। 'यस्मिन् दृष्टे, श्रुते, मते, विज्ञाते सर्वं दृष्टं, श्रुतं, मतं, विज्ञातं भवति। यह चीज ऐसी है कि उसको सुन लो तो सब सुन लिया, उसको समझ लो तो सब समझ लिया, उसका अनुभव हो गया तो सबका अनुभव हो गया। ऐसी एक चीज है इस सृष्टिमें। तो वह कौन-सी चीज है। आप देखना इसी पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें भगवान् बोलते हैं।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। एक ऐसी वस्तु है जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है और वह वस्तु है-दूसरी नहीं वह वस्तु है अपना आत्मा, आत्मानं विजिज्ञासस्वं'। यदि जानना है तो अपने आपको जानो, जिसके जान लेनेपर फिर जानना बाकी नहीं रह जाता। कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता। वह कौन है? वह परमात्मा है। उस परमात्माका स्वरूप क्या है? कैसे समझना चाहिए? यहाँ ३-४ श्लोकोंमें उसी परमात्माको समझनेकी प्रक्रिया बताते हैं।

****

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

मैं हूँ पुरुषोत्तम। स्वयं मैं वेदवित् हूँ। स्वयं मैं सर्ववित् हूँ और जो मुझे जान लेता है वह सर्वभावसे मेरा भजन करता है। माने परमात्मा जब सर्व हो गया तो सर्वभावसे चींटीको आटा देते हैं, वह भी परमात्माका भजन है। प्यारकी आँखसे जब पौधेको देखते है, वह भी भगवान्‌का भजन है। जब आकाशमें फैले हुए ग्रह नक्षत्रोंपर चाँदनी रातमें दृष्टि डालते हैं तो वह भी परमात्माका भजन है। पृथिवीपर सम्हालकर पाँव रखते हैं वह भी भजन है। पानीको गन्दा नहीं करते, वह भी भगवान्‌का भजन है, अग्निमें सुगन्ध डालते हैं, वह भी भगवान्‌का भजन है, वायुमें सुगन्ध लाते हैं, उसका नाम भी भगवान्‌का भजन है। और बढ़िया-बढ़िया शब्द बोलकर आकाशको अपनी मीठी-मीठी आवाजसे, सद्भाव भरी आवाजसे जब हम आकाशको भर देते हैं, तो उसका नाम भजन है। सिर्फ मूर्तिपर दूरसे अक्षत फेंक दिया और चंदन छिड़क दिया और पानी डाल दिया, उसीका नाम ईश्वर-भजन नहीं है। 'सर्वभावेन भारत।' जितना भी अपने हृदयमें भाव है-सबके द्वारा, और जितनी भी वस्तुएँ हैं, पदार्थ हैं, उनके द्वारा, सबके द्वारा ही भगवान्‌का भजन होता है। ऐसा यह भगवान्‌का भजन होता है। अब कल इसको 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके'से सुनाऊँगा।

●

****

प्रवचन : 8

12-11-86

पंचभूतोंको हमलोग देखते हैं-पृथिवी है, अग्नि है, जल है, वायु है, आकाश है। इनकी तन्मात्राओंसे बनी इन्द्रियोंके द्वारा इनका दर्शन होता है। असाधारण करण इन्द्रिय है और साधारण करण मन है। साधारण कारणका अर्थ है कि कोई भी देखो, सुनो सबमें मन तो रहता ही है। अब भगवान्ने इनमें अपनी शक्ति बतायी। पृथिवीमें धारणी शक्ति है। वह सबको धारण करती है-

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

यह धारणी शक्ति पृथिवीकी नहीं है, भगवान्की है। यदि भगवान् पृथिवीमें प्रविष्ट न हों तो पृथिवी किसीको धारण नहीं कर सकती। यहाँ तक कि स्वयं भी धृत नहीं रह सकती। वेद में मन्त्र है, 'ये न द्यौरुग्रा: पृथिवी च दृढ़ा: । ये न द्यौस्तविते येन नाका। जिसके कारण पृथिवी दृढ़ है। वही रसात्मक सोम होकर जलमें 'रसोहमप्सु कौन्तेय'-माने जलमें जो तर करनेकी, तृप्त करनेकी आप्ययनी, तर्पणी शक्ति है वह भगवान् है। पृथिवीमें भगवान्, जलमें भगवान्। वैश्वानर-ये जितने भी विश्वमें जीव हैं वे सब वैश्वानर हैं। विश्वनर वैश्वानर। उनमें जो तापिनी और प्रकाशिनी शक्ति है, उसमें सबमें ऊष्मा भी होती है और प्रकाशकी भी शक्ति होती है। 'तेजस् तत्त्व' ठीक है, उसमें तापिनी होनेके कारण भगवान् ही पाचिनी शक्तिके रूपमें भी है और प्रकाशिनी शक्तिके रूपमें भी हैं।

वही भगवान् वायुमें प्राणिनी शक्तिके रूपमें हैं। सबको श्वास देते हैं, प्राण देते हैं। बिल किसीके पास नहीं भेजते हैं। म्युनिसपैलिटी रहनेका हाउस बिल भी लेती है, पानीका नल बिल भी लेती है, रोशनीका बिजली बिल भी लेती है, पंखेका बिल भी लेती है। कोई लाउडस्पीकर लगावें, बोलें तब भी बिल होता है। परमश्वेर सारी शक्ति, सारी सृष्टिको देता है और सबमें व्याप्त होकरके रह रहा है, आकाशमें व्यापिनी शक्ति है। धारिणी, आप्यायिनी, प्रकाशिनी, प्राणिनी और व्यापिनी, इन पाँच शक्तियोंको लेकरके भगवान् पाँचों भूतोंमें प्रवेश करते रहते हैं और हमें उन शक्तियोंके द्वारा उपकृत करते रहते हैं, तृप्त करते रहते हैं, तर करते रहते हैं। दिन-रात चौबीसों घण्टे।

आपकी बुद्धिके भीतर बैठकर आपकी ठीक-ठीक नमकका अन्दाजा बतानेवाला कौन है? 'धियो यो न: प्रचोदयात्।' आपने गायत्री सुनी ही होगी। 'धियो यो न: प्रचोदयात्'-जो हमारी बुद्धिको प्रेरित करता है। प्रचोदयात् लोट् लकारका रूप नहीं है। प्रेरित करता है। प्रेरित करे ऐसी प्रार्थना नहीं है। प्रेरित करता है ऐसा सिद्ध ज्ञान देता है। कौन बताता है कि चावलमें कितना नमक डालो! भगवान्का पता क्या है? कौनसे पतेपर चिट्ठी लिखें, तार दें, फोन करें, वह पता क्या है? वैसे तो जो बहुत प्रसिद्ध होता है, उसका पता बतानेकी जरूरत नहीं पड़ती। विदेशसे एक बार चिट्ठी आयी थी, उसपर लिखा था, महात्मा गाँधी; भारत-वर्ष—बस। उसमें साबरमती और अहमदाबाद और गुजरात—लिखनेकी कोई जरूरत नहीं थी। चिट्ठी गाँधीजीको मिल गयी। ईश्वर कहाँ रहता है?

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
अहं सर्वस्य हृदि संनिविष्टः।

न केवलं गवि, न केवलं अप्सु, न केवलं तेजसि किन्तु सर्वस्य हृदि।

मैं केवल धरतीमें हूँ, केवल जलमें हूँ, केवल अग्निमें हूँ, केवल आकाशमें हूँ ऐसा नहीं। मैं सबके हृदयमें बैठा हुआ हूँ। 'सर्वस्य चाहं'—यह च पद जो है वह समुच्चय कर लेता है, खींच लेता है। पृथिवी, जल, अग्निमें तो मैं हूँ ही। सबके माने तुम्हारे, तुम्हारे, तुम्हारे सबके हृदयमें विराजमान हूँ। अब ईश्वरका पता मिल गया। कहाँ? सबका हृदय। हम कहाँ सबका हृदय ढूँढ़ने जायँ? सबका हृदय मत ढूँढो। पहले अपना हृदय तो ढूँढो। देखो, तुम्हारे हृदयमें परमात्मा बैठे हैं। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।' हृदि शब्दका अर्थ आप ऐसा समझें— कि जैसे शरीरमें रक्त है। और रक्तमें वीर्य है और वीर्यके भीतर एक संवेदनात्मक धातु है। वह संवेदनात्मक धातु संस्कारोंको ग्रहण करती है। कल देखा था, हमारे पास एक व्यक्ति आये थे। आज उनकी याद आ रही है। कल उनसे देखकर, उनसे बात करके, उनसे हँसके-खेलके तो हमने अपने हृदयमें संस्कार एकत्रित किया वह संस्कार कहाँ है? उसी संस्कारको पकड़नेवाली धातुको हृत् बोलते हैं। 'आरहति संस्कारान् इति हृत्।'

कलकी याद रखनेवाली जो चीज हमारे हृदयमें है, उसका नाम है हृदय और उसमें रहते हैं भगवान्! अब आप दूसरी बात ध्यानमें लें। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।' सर्वस्य—सबके हृदयमें भगवान् हैं। किस रूपमें हैं? अहंके रूपमें हैं। अहं शब्दको वैयाकरणोंने अस्मत् शब्दका प्रथमामें एक वचन बनाया है। अस् धातुसे अस्ति बनता है, प्रथम पुरुषमें और उत्तम पुरुषमें बनता है अस्मि। अस्मिसे होता है अस्मत् और अस्मत्के प्रथमा विभक्तिके एक वचनमें इन लोगोंने अहं बना दिया। असलमें अहं एक पृथक्, स्वतन्त्र अव्यय है। वह क्या है? 'न हन्ति इति अहं।' जो किसीको मारता नहीं है; सबको प्रकाशता है, उसका नाम अहं। 'न हन्यते इति अहं।' यह गीतामें व्युत्पत्ति है। कौमुदी मत खोलो—

नायं हन्ति न हन्यते।
अयं न हन्ति इति अहं, अयं न हन्यते इति अहम्।

न किसीको मारता है, न किसीसे मारा जाता है। 'जिह त्यागे न जिहिते।' कभी छोड़ करके जाता नहीं है, सबके हृदयमें अहं अहं अहं। एक महात्मासे किसीने पूछा महाराज परमात्माको कैसे पहचानें? बोले तुम्हारे घरमें कभी दाल पकायी जाती है? बोले—हाँ? जब पानी आगपर चढ़ा देते हैं, और पानी खुदर-बुदर, खुदर-बुदर होने लगता है, आवाज आने लगती है तो उसमें पानी तो है परमात्मा और खुदर-बुदर उठता है वह है अहं अहं अहं—तत्त्व तो है परमात्मा और उसमें जो अहं, अहं अहंका उल्लास हो रहा है, विमर्श हो रहा है, अहं अहंकी वृत्ति उठ रही है यह है परमात्माकी अभिव्यक्ति। सब अलग-अलग हैं ठीक है। सबका अन्तःकरण अलग-अलग, ठीक है। सबके हृदयमें जो वासना शून्य, कर्तव्यशून्य, भोक्तृत्वशून्य, संस्कारोपलेखपशून्य अहं,

अहं, अहंकी स्फूर्ति हो रही है वह सत्, चित्, आनन्दघन स्वरूप ही है—परमात्मासे पृथक् किंचित् भी नहीं है। और यदि उसके स्वरूपका बोध हो जाय, तो भी परमात्मा और न हो तो भी परमात्मा। हर हालमें परमात्मा ही परमात्मा।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो।

यह परमात्मा सबके हृदयमें बैठकर करता क्या है? एक फकीरसे राजाने पूछा—महाराज, यह परमात्मा क्या काम करता रहता है? निकम्मा है क्या? बोले—हमको बड़ा मानकर पूछ रहे हो या छोटा मानकर? महाराज—आप गुरु हैं, आपको बड़ा मानकर पूछ रहे हैं। अच्छा तो पहले तुम सिंहासनपरसे उतर जाओ। उसपर हमको बैठाओ। महात्मा सिंहासनपर बैठ गये। राजा नीचे बैठ गये। बोले—अच्छा देखो अब मैं राजा हूँ और तुम प्रजा हो। ठीक है। यही काम ईश्वर करता है। राजाको रंक बना दे, रंकको राजा बना दे, यही काम ईश्वरका है। यह सच्ची घटना है। ब्रजमें हमारे ग्वारिया बाबा थे, हमारे जीवन कालमें थे। दतिया राजाके राजगुरु थे। एक बार वहाँ गये, राजाने बड़ा आग्रह किया, महाराज कुछ सेवा बताओ। वे तो फक्कड़ थे, उनको सेवाकी क्या जरूरत? ऐसे तगड़े थे, एक मनकी रजाई लेकर चल रहे थे, स्टेशन मास्टरने कहा—इनके वजनका किराया चुकाओ 20 सेरसे ज्यादा नहीं ले जा सकते!

उन्होंने रजाई खोली और ओढ़ ली। बोले अब ओढ़ी हुई रजाईका किराया कैसे लोगे? बड़े मस्त थे। राजाने कहा—महाराज, कुछ सेवा बताओ। बोले क्या सेवा करेगा? अपना राज्य दे दे हमको! बोले महाराज ब्रिटिश सरकार है, बिना उसके इजाजतके हम राज्य देनेके अधिकारी नहीं है। नहीं दे सकते। अन्तमें उन्होंने कहा कि तीन दिनके लिए हमें राजा बना दे और राजासे कह दिया कि अब तुम राज्यसे बाहर चले जाओ। राजकुमारको सामने बुलाकर दण्ड दिया। रानीसे कहा कि दासीका काम कर। दासीसे कहा कि अब तीन दिनके लिए तू रानी हो जा। यह है ईश्वरका काम। राजा साहब तीन दिनके बाद आये। महाराज, यह सब आपने क्या किया? राजकुमार, लोगोंको कोड़े लगवाया करता था, उसको पता नहीं कि कोड़ा लगनेपर क्या पीड़ा होती है। जरा अनुभव तो करो।

दीवान नौकरोंको छुट्टी नहीं देता था। नौकर हुआ तो उसको मालूम तो पड़े कि छुट्टी कैसे ली जाती है। दीवान छुट्टी क्यों नहीं देता। नौकर दीवान हुआ तो पता तो चले। तो ईश्वर करता क्या है? बैठा बनिया क्या करे? इस कोठेका धान उस कोठेमें करे। सो ऐसे उलट-पलट करता रहता है। यह भी न रहेगा। बदल जायगा। बचपन नहीं रहेगा, जवानी आवेगी, जवानी नहीं, बुढ़ापा आवेगा। जीवनमें सभी प्रकारकी परिस्थितियाँ आवेंगी। जिनको आज धर्म मानते हैं, उनको कल अधर्म मानना पड़ेगा। जिनको आज अधर्म मानते हैं, उनको धर्म मानना पड़ेगा। जिनको आज अछूत मानते हैं, उनको कल ब्राह्मण मानना पड़ेगा। और जिनको आज ब्राह्मण मानते हैं, उनको कल अछूत मानना पड़ेगा। यह उलट-फेर है, यह सृष्टिका स्वभाव है और यह बात योगवासिष्ठ तो भृशुण्डोपाख्यानमें-उन्होंने बताया है कि मैंने-जिनको आजकल ब्राह्मण कहा जाता है, उनका नाम पहले शूद्र था और जिनको पहले शुद्र कहा जाता था, उनका नाम ब्राह्मण है। ब्रह्मा पहले कीड़ेके रूपमें था,

और कीड़ा ब्रह्माके रूपमें था। यह सृष्टिमें जो परिवर्तन चक्र चल रहा है, इसके मूलमें वही महाशक्ति, विशिष्ट परमेश्वर मौजूद है। और यदि तत्त्वकी दृष्टिसे न देखें तो शक्तिकी कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है। असंग-अद्वितीय, परिपूर्ण-प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न अपना स्वरूप ही है परमात्मा। क्या करता है परमात्मा-तो 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'-ये जो हमें स्मृति होती है-'अनुभूतविषयाः सम्प्रमोशाः।'

जो कल देखा था वह आज भूला नहीं है। कोई संस्कार पड़ गया है कि यह चीज भी है, बुरी है, उसकी स्मृति होती है, संस्कारजन्य ज्ञान। गृहीतग्रहिका वृत्तिः। जो पहले प्रमाणके द्वारा जाना हुआ है, यथार्थ या अयथार्थ उसकी वृत्ति उठनेका नाम स्मृति है। ज्ञान होता है। सो जाग्रत, स्वप्न स्मृति प्रधान है और जाग्रत् ज्ञानप्रधान है और सुषुप्ति अपोहन प्रधान है। जिसमें स्मृति विस्मृति हो जाती है, ज्ञान अज्ञान हो जाता है, जिसमें माता अमाता हो जाती है, पिता अपिता हो जाता है, देवता अदेवता हो जाते हैं। वेद अवेद हो जाते हैं। वह सुषुप्ति है।

तत्र माता अमाता भवति।
पिता अपिता भवति।
देवा अदेवा भवन्ति।
वेदा अवेदा भवन्ति।

सब छूट जाते हैं वह सुषुप्ति है। और स्वप्न वह है।

तत्र न रथा न रथयोगा न पन्थानः।
अथ रथाय रथयोगा पथः सृजते॥

वहाँ न रथ है, न पथ है न घोड़े हैं, न कोई रथ हाँकनेवाला लेकिन यह देखो स्वप्न-मोटर हरहराती हुई चली जा रही है। ड्राइवर चला रहा है। मालिक बैठा हुआ है। सड़क कहीं जाती नहीं है। पर कहते हैं, यह सड़क कहाँ जाती है? यह स्वप्न कौन देखता है? हमारे लिए ये जो तीन अवस्थाएँ हैं, ये ईश्वरके वरदान हैं। पाप-पुण्य करके, अपने जीवनको विकसित या अविकसित-गिरानेके लिए, उठानेके लिए जाग्रत-अवस्था है और नयी सृष्टिकी रचनाका हमारे अन्दर सामर्थ्य है, यह स्वप्नावस्था है और सबके उपसंहारका भी हमारे अन्दर सामर्थ्य है, हम सब बना सकते हैं, यह स्वप्न है। हम सब बिगाड़ सकते हैं, यह सुषुप्ति है और हम नया-नया आविष्कार कर सकते हैं यह जाग्रत है।

ये तीनों भगवान् हमारे हृदयमें बैठ करके दिया करते हैं। अच्छा, उन भगवान्को जाननेका उपाय क्या?

वैदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।

उपनिषदोंकी व्याख्या, उपनिषदोंका सार भगवान् कैसे बताते हैं-अद्‌भुत है। पहली बात कहते हैं, कि 'अहं वेद्य एव।' ये तो मनुष्यका शरीर मिला है तुम्हें-यह सिर्फ बच्चा-कच्चा पैदा करनेके लिए नहीं मिला है।

सिर्फ धन-दौलत बटोरनेके लिए नहीं मिला है। सिर्फ अखबारोंमें नाम छपवाकर यशस्वी बननेके लिए नहीं मिला है। हिंसा, चोरी, जारी करनेके लिए यह जीवन नहीं मिला है। यह जीवन हमको मिला है-जाननेके लिए-'अहं वेद्य एव।' इस जीवनमें ईश्वरको पहचानो। यह आँखमिचौनीका खेल हो रहा है। हम लोग प्रलयके समय सोये थे तो ईश्वरने हम सबको पकड़-पकड़कर जगा लिया। उठा दिया।

अब ईश्वर लिहाफ ओढकर छिप गया है। इस खेलमें हम लोगोंका कर्त्तव्य है कि हम ईश्वरको पहचान लें। हमने बचपनमें आँखमिचौनीका खेल घरमें खेला है, खलिहानमें खेला है। आँखमिचौनीमें हम छिपे तो हमारे साथीने ढूँढ लिया-साथी छिपा तो हमने ढूँढ लिया। इस समय हमारे जीवनका जो साथी है, हमारे हृदयका सर्वस्व, हमारे प्राणोंका प्राण, हमारे हृदयका हृदय इस समय छिपा हुआ है। और उसके ढूंढे बिना हम इधर-उधर भटक रहे हैं। चले थे ढूँढने ईश्वरको, मनुष्य होकर आये थे-कहीं तान दुपट्टा सो गये, कहीं खाने-पीनेमें लग गये, कहीं रोने-हँसनेमें लग गये। जिस कामके लिए मनुष्य शरीरमें आये थे, उसको बिलकुल भूल गये-'न चेदिहावेदि महती विनष्टिः।' यदि इसी जीवनमें तुमने परमेश्वरको नहीं जान लिया, तो बड़ाभारी विनाश, सत्यानाश, संहार हो गया।

यह जीवन मिलनेका जो फल था, उससे वंचित रह गये।

नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥

मनुष्य शरीर पाकर जो केवल विषय-भोगमें लग जाते हैं, वे अमृतको उलटकर गिरा देते हैं और उसकी जगहपर जहर लेते हैं। पहली बात तो यह है कि इस जीवनमें 'अहं वेद्य एव।' मुझे जानो-ही-जानो। दूसरी बात है 'अहमेव वेद्य'-केवल मुझे ही जानो। मेरे सिवाय और कुछ जाननेका काम नहीं है। माया फैली हुई है, सब जगह छल है, सब जगह कपट है। हम सबकी बात कैसे करें? आप लोग स्वयं ही अपने दिलपर हाथ रखकर अपने आपका परीक्षण कर लें, निरीक्षण कर लें, समीक्षण कर लें। आप सब भले मनुष्य हैं, ईश्वरके रूप हैं-सही हैं पर आपके हृदयमें किसी-न-किसीसे, कोई-न-कोई कपट अवश्य है। माँकी बात पत्नीको नहीं, पत्नीकी बात माँको नहीं। भाईकी बात भाईको नहीं। अपनी बात माँ-बापको नहीं। माँ-बापकी बात परायेको नहीं। ऐसा कोई भी आपके सामने दुनियामें नहीं है जिसके सामने आप अपना पूरा हृदय खोल करके रख देते हैं। आप किस मायाजालमें व्यवहार कर रहे हैं। एक परमात्मा ऐसा है जो अपना आत्मा है, अपना हृदय है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः।

इसी शरीरमें रहता है, परम पुरुष है। परमात्मा है उसका नाम। यहीं रहता है। अहमेव वेद्य-वही जानने योग्य वस्तु है। आत्मानं विजिज्ञासस्व-तद् विजिज्ञासस्व-तद् ब्रह्म-उसको जाननेके लिए विचार करो; क्योंकि वह अनन्त है, अद्वितीय है। उसमें कालकी दाल नहीं गलती है। कभी मरनेवाला नहीं है। वह परदेशमें नहीं जाता। कभी बिछुड़ने वाला नहीं है। वह कभी पराया नहीं होता। परमेश्वरकी यह विशेषता है कि वह कभी

मरता नहीं है। और कभी पराया नहीं हो जाता। हमेशा अपना रहता है, हमारे पास रहता है। हमेशा रहता है। ऐसे प्यारेसे, ऐसे प्रियतमसे यदि आप प्रीति नहीं करेंगे तो आपका जीवन-जीवन क्या है? उसको जानें कैसे? वेद भगवान् बोलते हैं—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति,
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।

ॐइत्येतत्। सब वेद उसीका वर्णन करते हैं। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति।' सर्वे वेदा कहनेका अर्थ है।

वेदेनैव अहमेव वेद्य एव।

वेदोंके द्वारा ही, मुझे ही, जानो ही।

बिना वेदके परमात्माकी प्राप्ति, परमात्माका ज्ञान नहीं होता है। मैं उस उपनिषद् पुरुषके सम्बन्धमें प्रश्न करता हूँ जो उपनिषद् प्रतिपाद्य है। क्योंकि आँखसे देखनेका नहीं है, मनसे कल्पना करनेका नहीं है, बुद्धिसे विचार करनेका नहीं है, वह इन्द्रियोंके भी पीछे, मनके भी पीछे द्रष्टा है, दृङ्मात्र है। हाँ सो तो है, पर वह द्रष्टा देश, काल, द्रव्यकी परिच्छेद-भेद-कल्पनासे सर्वथा विनिर्मुक्त-दिक्कालादिके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित, अद्वितीय स्वरूप है। यह बात बिना वेदके मालूम नहीं पड़ सकती। यह प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, चेष्टा-किसी भी प्रमाणके द्वारा इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिए उपनिषद् है, जो बताती है, अरे, तू किसको ढूंढ रहा है? तूँ ही तो है-'अन्वेष्टव्यमात्मविज्ञानात्'। जिसको ढूँढ रहे हो उसको पहचानते नहीं हो, तबतक तुम ढूँढनेवाले बने हो। जहाँ वह मिला, जिसको तुम ढूँढ रहे हो-तुम देखते हो कि ढूँढनेवाले तुम ही हो।

हेरनहार हेरान-रहिमन आपुहि आपमें।
विंदुमें सिंधु समान-यह सुनि अचरज मति करै॥

अच्छा तो वेदमें कोई छोटा-सा हिस्सा होगा, जिससे परमात्माका ज्ञान होगा। बोले नहीं 'सर्वैरेव वेदैरहमेव वेद्यः'। सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जाना जाता हूँ। तब वेद ही वेद रहा-नहीं, वेदान्तकृत्। वेदका जो अन्तिम सिद्धान्त है उसको बनानेवाला मैं हूँ। वेदान्तके सिद्धान्तसे भी विलक्षण।

वेदान्तं करोति इति वेदान्तकृत्।
वेदस्य अन्तकृत्-वेदान्तकृत्।

वेदका जहाँ अन्त हो जाता है, वहाँ मैं हूँ। वेदान्तके सिद्धान्तका निश्चय करने वाला मैं हूँ। और मैं ही वेदवित् हूँ। प्रश्न है-एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान-सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य है। एक ऐसी वस्तु है, जिसके जान लेने पर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। सब कुछ जान लिया जाता है। श्वेतकेतुको अपने पढ़नेका बड़ा भारी

अभिमान हो गया था। मैं पढ़-लिखकर आया हूँ। बापने देखा कि भाई, पढ़ने-लिखनेसे तो जीवनमें विनय आता है, नम्रता आती है। यह हमारा बेटा सब कुछ पढ़-लिखकर आया, सर्वज्ञ होकर आया और इतना उद्धत! सिर नहीं झुकाता है, प्रणाम नहीं करता है। सर्वज्ञ बना बैठा है। बोले बेटा, तुम सब कुछ पढ़-लिखकर तो आये, क्या वह वस्तु तुम जानकर आये, जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।

श्वेतकेतुने कहा, 'पिताजी यह तो मैंने नहीं पढ़ा। हमारे गुरुको यदि मालूम होता, ऐसा कुछ है, तो हमको जरूर बताते।' नहीं बेटा-एक ऐसी वस्तु है, जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। ऐसा कैसे हो सकता है? जैसे लोहेके ज्ञानसे सब औजार, जैसे सोनेके ज्ञानसे सब आभूषण, जैसे मिट्टीके ज्ञानसे सब मिट्टीके पात्र, तत्त्वत: ज्ञात हो जाते हैं-नाम-रूपका जो व्याकरण है, उसको अलग करके देखो। सब एक है। तत्त्व एक है। इसी प्रकार इस विश्वसृष्टिका तत्त्व एक है। वह कौन है? सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। एक सन्मात्र है और तत्त्वमसि-वही तुम हो।

वेदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्।

इसलिए जो ऊर्ध्वमूल सहित समग्र अश्वत्थको जान लेता है-हो गया इसमें मूल सहित अश्वत्थका ज्ञान। माने एकके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान। इसलिए 'यस्तं वेद स वेदवित्' और यहाँ 'वेदविदेवचाहं' मैं ही वेदवेत्ता हूँ। और 'स सर्वविद् भजति मां, सर्वभावेन भारत'-यह सर्ववित् हो जाता है। और सर्वरूपमें वह परमात्माको देखता है। ये देखो श्याम! ये देखो श्याम। श्याम-ही-श्याम! श्यामके सिवाय और कुछ है ही नहीं।

यहीं कहूँ श्याम काहू कुञ्जमें फिरत ह्वै हैं
भुज भरि भैंटिबेको हिय उमहत है।

यहीं है किसी-न-किसी रूपमें श्याम। सर्वरूपमें श्याम। उसको अपने हृदयसे लगानेके लिए हमारा हृदय व्याकुल हो रहा है। हिय उमहत है।

यहीं कहूँ श्याम काहू वेशमें फिरत होइ हैं
भुजभरि भेंटिबेको हिय उमहत है।

●

प्रवचन : 9

13-11-86

क्या बोलनेकी शैली है? 'द्वाविमौ'-दो हैं और ये हैं। माने एक नहीं दो हैं और दोनों परस्पर विलक्षण हैं और ये हैं माने दोनों दृश्य हैं। और दोनोंको जो देखनेवाला है सो? वह दोनोंसे निराला है। 'द्वाविमौ'-ये दोनों कौन हैं? हैं तो दोनों पुरुष-और नाम है इनका क्षर-अक्षर। संस्कृत भाषामें-स्त्री-पुरुषका विभाग जैसा व्यवहारमें होता है, ऐसा नहीं है। पुरुष माने जीवात्मा। वह चाहे स्त्रीके शरीरमें हो चाहे पुरुषके शरीरमें हो। उसको पुरुष ही कहते हैं। धर्मशास्त्रियोंकी बात दूसरी है, दर्शनशास्त्रियोंकी बात दूसरी है।

दर्शन शास्त्रमें खांडकी कठपुतली बनायी, स्त्री बनायी कि पुरुष बनाया, दोनों खांड है। दर्शन शास्त्रमें स्त्री, पुरुषका शरीर बना-चाहे स्त्रीका हो चाहे पुरुषका-दोनों प्रकृतिका कार्य है। ईश्वरने बनाया, दोनोंको बनाया। प्रकृतिसे बने, दोनों बने। यह तो बहुत बाहरी स्तरपर स्त्री-पुरुषकी लड़ाई और उनकी श्रेष्ठता, कनिष्ठता-अधिकार-अनधिकारकी बात होती है। ऐसा लगता है कि नरकमें रहकर आये हैं, उसकी चर्चा कर रहे हैं। जरा कड़वी बात है। क्या करना है? पुरुषका अर्थ हुआ-'पुरुषतादात्म्यापन्नौ' जब आत्मा इनसे एक हो जाती है तब इनका अनुभव करती है। चरसे तादात्म्यापन्न हुई तो पशु, पक्षी, वृक्षके रूपमें चल फिर रही है और पत्थरसे तादात्म्यापन्न हुई तो टिकी हुई एक जगह पड़ी है।

दोनों पुरुषसे ही दिखते हैं, पुरुषमें ही है, पुरुषसे ही उनकी सत्ता है। पुरुष माने आत्मा। थोड़ी टेढ़ी बात है। एक है क्षर और एक है अक्षर। ऐसे समझ लो कि घड़ा क्षर है, 'क्षरति'-टूट जाता है और अक्षर मिट्टी है-'न क्षरति'। घड़ेके फूट जानेपर भी मिट्टी ज्यों-की-त्यों रहती है। यों समझो कि पानीका बुलबुला क्षर है और पानी अक्षर है। यों समझो कि आगकी जो लपटें उठती हैं, चिनगारियाँ हैं और लपटें हैं, वे क्षर है और जो सबमें व्यापक गरमी है, ऊष्मा है सो अक्षर है। सांसके रूपमें जो वायु चलती है, पंखेसे जो निकलती है, वह क्षर है। और जो वायुतत्त्व है, वह अक्षर है। जो घटाकाश, मठाकाशके रूपमें दिखता है, वह क्षर है और जो महाकाशके रूपमें दिखता है, वह अक्षर है। अब उधर छोड़ दो।

आँखसे जो घड़ा दिखता है वह क्षर है। और उसको देखनेवाली आँख अक्षर है। देखनेवाली आँख क्षर है और मन अक्षर है! और मन क्षर है और बुद्धि अक्षर है। बुद्धि क्षर है और अपना आत्मा जो है वह अक्षर है। दो हैं। दुनियामें दो चीजें दिखायी पड़ती हैं। एकका नाम है अपरा प्रकृति-पृथिवी, जल, वायु, आकाश आदि और एकका नाम है परा प्रकृति। जीवभूत-एक हो गया-दो पुरुष हो गये। यहाँ दो प्रकृति हो गयी। एक हुआ क्षेत्र, एक हुआ क्षेत्रज्ञ। एक हो गया नपुंसक। एक हो गया पुरुष।

क्षेत्र क्षर है और क्षेत्रज्ञ अक्षर है। अपरा प्रकृति क्षर है और परा प्रकृति अक्षर है। अव्याकृतसे विशिष्ट जो चेतन है वह अक्षर है और व्याकृतसे विशिष्ट जो चेतन है वह क्षर है। व्याकृत माने जिसका नाम रूप जिसमें जाहिर हो गया वह व्याकरण लग गया तो रामः, रामौ, रामाः हो गया। ऐसे विशिष्ट आकृति प्रदान करना। 'रामैः, रामेभ्यः रामाणां, रामेषु'-यह व्याकरण लग गया। एक जो वस्तु थी उसमें नाना प्रकारकी शकल-सूरत हो जाना, इसका नाम क्षर पुरुष है। और बिना शकल-सूरतके जो एक सरीखा रहता है उसका नाम अक्षर हो जाता है। अब आओ आपको फिरसे लौटा लेते हैं। एक कागजपर अक्षर लिखते हैं न! या ताम्रपत्रपर लिखते हैं, तो वह होती है लिपि-जैसे आपको लिखना हो तो उर्दू लिपिमें अलिफ लिखते हैं, दूसरे ढंगसे लिखा जाता है, वह दाहिनेसे बायें चलता है।

अंग्रेजीमें 'ए' लिखते हैं। तमिलमें, तेलगूमें, चाइनामें, रशियनमें 'अ' लिखते हैं। इसमें क्षर कौन है? अक्षर कौन है? लिपि है-चाइना अलग, लॅटीन अलग, रशियन अलग, भारतीय लिपियोंमें भी दक्षिणकी अलग, उत्तरकी अलग है, पर 'अ' सब बोलेंगे। चाहे किसी भी लिपिमें लिखा गया हो। लिपि हो गयी 'चर' और 'अ' हो गया 'अक्षर'। लिपियाँ देश-देशमें, जाति-जातिमें बदलती रहती हैं। और 'अ' कहीं बदलता नहीं है, ज्यों-का-त्यों रहता है। अब देखो, क्षर माने नाशवान-बदलनेवाला। और अक्षर माने अविनाशी-न बदलनेवाला। चर और अचर। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। परा प्रकृति और अपरा प्रकृति।

ये दोनों हमसे तादात्म्यापन्न हो करके-माने हम जब इनसे मिल जाते हैं, सब ये अलग-अलग दीखने लगते हैं। जिससे हम नहीं मिलेंगे, उसकी तो सत्ता ही नहीं होगी। हम इस देहमें आ गये तो इसका नाम पुरुष हो गया, मनुष्य हो गया, आदमी हो गया। अगर हम इस शरीरमें न हों तो इसका नाम पुरुष नहीं होगा। हम घड़ेको देखते हैं तो घड़ेका नाम घड़ा है। हम नहीं देखते हैं, देखनेवाला न हो तो घड़ेका नाम घड़ा है ही नहीं। कौन देखेगा घड़ेको? मूल तत्त्व कहाँ निकलेगा? देखनेवालेमें निकलेगा।

एकने कहा-भाई, भगवान् श्रीकृष्ण लोगोंके सामने प्रकट होते हैं। मोर मुकुटवाले, बाँसुरी बजाते हुए, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए, प्रेम भरी चितवनसे देखते हुए, ठुमुक-ठुमुककर नृत्य करते हुए, श्रीकृष्ण आते हैं-हाँ आते तो हैं-आते होंगे पर कोई देखनेवाला न हो तो! बिना देखनेवालेके प्रकाशके श्रीकृष्णका दर्शन किसको होगा? अच्छा भाई, ईश्वरकी अनुभूति होती है। अनुभूति होती है न! किसको होती है। तुमको ईश्वरकी अनुभूति होगी न! तुम अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझोगे न! 'तुम' की सत्ता मिटानेवाला दुनियामें और कोई नहीं है। यदि हम मर भी जायें तो मैं मर गया यह कौन जानेगा? और नहीं जानेगा तो मरना हुआ क्या! सर्वोपरि है अपनी सत्ता-गुरुको गुरु बनानेवाली, ईश्वरको ईश्वर बनानेवाली, संसारको संसार बनानेवाली-आत्मसत्ता जो है, अपना अस्तित्व वह सर्वोपरि है। मैं मर गया यह अनुभव कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जिसको अनुभव हो रहा है, वही तो तुम हो।

अब देखो सृष्टिका क्या रहस्य है? अपनी रोशनीमें सबको प्रकाशित करते हुए, रोशन करते हुए, अपने अधिष्ठानरूप आत्मामें सारी कल्पनाओंको धारण करते हुए यह अपना स्वरूप है। क्षर-अक्षर दोनों भगवान् हैं।

आप लोग विष्णु-सहस्त्र नामका पाठ करते हैं? जरूर करते होंगे। न करते हों तो कर लेना चाहिए। 'क्षरं चाक्षरमेव च' यहाँ है न! वहाँ है 'क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च'। विष्णु सहस्त्र नामके अन्त में है। गीतामें है-

चरं चाचरमेव च।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।
क्षेत्रज्ञं चापि अपिना
क्षेत्रमपि गृह्यते-
क्षेत्रज्ञं मां विद्धि।
क्षेत्रं चापि मां विद्धि।

सब परमात्मा। आप लोग बड़े बाबू लोग हैं। बड़े-बड़े सांइसके पढ़े हुए लोग आते हैं वे अपनी विद्या-बुद्धिको तो ऐसा उछालते हैं महाराज कि देखकर आश्चर्य होता है। बड़ी विद्या, बड़ी बुद्धि, बड़ा अभिमान-वह जो दुनियामें बतावें कि ऐसा कौन-सा सिद्धान्त है जिसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जाननेवाला और जाना जानेवाला-दोनों एक ही है। कहो तो नाम लेकर गिना दें-इसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी, बौद्ध, जैन, सिक्खोंका तो सनातन धर्मके विरुद्ध कुछ नहीं है, केवल गुरु ही उनके अलग हैं। सिद्धान्त सारा-का-सारा सनातन धर्मका है। आचार उन्होंने परिस्थितिके अनुसार बना लिया है।

आपन खेल आप करि देखें,
खेल संकोचै तब नानक ऐके।
कीता न होय थापा न जाय।
आप ही आप निरंजन सोय।

वह करनेसे नहीं होता है। उसकी स्थापना नहीं करनी पड़ती है। आप-ही-आप निरंजन सोय। एक ॐकार सत्गुरुप्रसाद। नारायण, ऐसा कौन-सा मजहब है दुनियामें, कौन-सा सिद्धान्त है, जो बनानेवालेको, बननेवालेको, देखनेवालेको, दीखनेवालेको, सबको एक अद्वैतके रूपमें जानता हो-ऐसा दुनियामें कौन सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तके अनुभवके बिना राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। चीजोंमें राग-द्वेष होगा, भोगोंमें रागद्वेष होगा, भावोंमें रागद्वेष होगा, स्थितियोंमें रागद्वेष होगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रागद्वेष होगा। जीव, ईश्वरमें रागद्वेष होगा। जबतक अपनी आत्माकी अद्वितीयताका बोध नहीं होगा तबतक रागेद्वषकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होगी। यह पाषाणकी रेखा है। यह बिलकुल सच्ची बात है।

और अद्वितीय वस्तु यह होगी कि मैं होगा? अगर अद्वितीय वस्तु यह होगी तो उसको जानेगा कौन? इसलिए केवल आत्मा ही अद्वितीय वस्तु होती है-यह समग्र शास्त्रोंका स्पष्ट रूपसे सिद्धान्त है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।

यह समझदारीकी एक प्रक्रिया है। जैसे कोई गणित करना होता है तो उस गणितकी एक शैली होती है, वैसे अद्वितीय तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए यह शैली है। एक चीज बदलती हुई दिख रही है। महाराष्ट्रमें

सखा महाराज थे, वह आनन्दीलाल पोद्दारके घरपर आये थे-मैं उस समय संन्यासी नहीं था। लोग मुझे ले गये। उन्होंने कहा कि भाई, तुम नदीके किनारे बैठ जाया करो और देखो यह पानी झर-झर-झर-झर बहता जा रहा है। और एक भँवर पड़ रही है। वहीं तो मालूम पड़ता है यहाँ पानी स्थिर है। तो बहते हुए पानीको भी तुम ही देख रहे हो और भँवरके कारण स्थिर जो पानी मालूम पड़ता है, उसको भी तुम ही देख रहे हो। तुम कौन हो? तुम तटस्थ हो। किनारेपर बैठे हो। ऐसे दुनियामें कोई चीज टिकाऊ मालूम पड़ती है, गुजरातीमें खटाऊ बोलते हैं, जो बहुत दिनतक खटे, काम दे।

एक बल्लभदासजी खटाऊ थे तो मैंने पूछा कि रतनसी खटाऊ और तुम लोग सब एक ही हो तो बोले कि नहीं-असलमें खटाऊ तो हम हैं-ये लोग नहीं हैं। खटाऊ माने टिकाऊ माल हमलोग बनाते हैं। खटाऊ माल बनाते हैं हम टिकाऊ हैं। जहाँ भँवर पड़ता है वहाँ होता है टिकाऊ और जो बहता रहता है वह बहता रहता है। दुनियामें दो चीज देखनेमें आती है। एक बदलती हुई और एक न बदलती हुई। घड़ा बदलता है, कपड़ा बदलता है, मकान बदलता है, आँख नहीं बदलती है। और आँख मन्द हो जाती है, तेज हो जाती है, अन्धी हो जाती है, लेकिन मन नहीं बदलता है। मन बदलता है, जाग्रतमें और, स्वप्नमें और, सुषुप्तिमें और। ये सब क्षर हैं। अक्षर कौन है? जीवात्मा है। वह ज्यों-का-त्यों वहीं देख रहा है। परन्तु वह जो अक्षर है, टिकाऊ है; वह परमात्मा-उससे एक है, यह बात बतायी है। क्रमसे समझाते हैं।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते।

खुदाने 'कुन' बोल दिया और दुनिया बन गयी। वह कुराण है। और खुद-खुद ही बन गया, खुद ही आ गया, वही है। नारायण, यह भक्ति-सिद्धान्त है। खुदाने बनाया यह कर्म-सिद्धान्त और खुद बन गया इस संसारके रूपमें, वही है, वही है यह भक्ति-सिद्धान्त है। और न बनाया, न तो बना; ज्यों-का-त्यों है।

ना कछु हुआ, न है कछु, ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है, अपना रूप अपार॥
पाया कहै सो बावरा, खोया कहै सो कूर।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर॥

आओ-क्षर माने बदलनेवाली चीज-एक पहले दुनियामें दिखती है-अक्षर-जो उस बदलनेवाली चीजको देखती है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अब तीसरी वस्तुका वर्णन करते हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और इन तीनोंमें रहनेवाली एक वस्तु। शङ्कराचार्य भगवान् कहते हैं कि यदि वेदके मन्त्र चिल्लाने लगें कि यह घड़ा नहीं है, कपड़ा है-तो हजार बार बोलें-ये घड़ा नहीं यह घड़ा नहीं है, यह उनका विषय नहीं है। आँख बतावेगी कि घड़ा है कि कपड़ा है-वेद नहीं बतावेगा। यह कठोर है कि मुलायम है यह चाम बतावेगा। यह बेला है कि यह चमेली है, सुगन्ध है कि

दुर्गन्ध है यह नाक बतावेगी। वेद चमेलीको गुलाब बतावे, गुलाबको चमेली बतावे-नहीं-जीभ बतावेगी कि खट्टा क्या है, मीठा क्या है? वेद नहीं बतावेगा। यदि दूसरे प्रमाणके द्वारा बतायी हुई चीजको वेद बताता है तो वेद प्रमाण नहीं है। वह तो पिष्ट-पेषण करता है, चर्वण करता है। चबाये हुएको चबाता है। अनुवाद करता है। वेद ऐसी चीज बताता है जो इन इन्द्रियोंके द्वारा नहीं मालूम पड़ती। जो केवल वेदसे ही मालूम पड़ती है और अनुभव हो जाती है।

'अनुभवपर्यवसान'-वेद श्रद्धा है। एक बात और है। आज करेंगे, कल मिलेगा सो नहीं है। यहाँ करेंगे, वहाँ मिलेगा सो भी नहीं है। व्यापारमें रुपया आज लगाते हैं, वर्ष, दो वर्ष, पाँच वर्ष बाद उसका फायदा होता है। अदृष्ट है। हो भी कि नहीं भी हो। स्वर्गके लिए यज्ञ-यागादि करते हैं। अदृष्ट है। कभी मिले भी कभी नहीं भी मिले। देवताकी पूजा करते हैं, कभी कृपा करे, कभी नहीं भी करे। हाथ ही जोड़नेमें रह जावेंगे। लेकिन यह जो वेदान्तका सिद्धान्त है यह कल मिलनेवाला नहीं है, यह पचास वर्ष बाद मिलनेवाला नहीं है। यह स्वर्गमें मिलनेवाला नहीं है। यह दृष्ट सिद्धान्त है। हमें अभी कैवल्य मोक्षका अनुभव होगा-यदि इसका तत्त्वज्ञान हो जाय तो! अदृष्ट सिद्धान्त वेदान्तका सिद्धान्त है ही नहीं। नगद माल है, उधार सौदा बिलकुल नहीं है। एक हाथ दो, एक हाथ लो, ऐसा भी नहीं है। न इसमें देना है, न लेना है और यह अपना आपा है। न निकट, न दूर, हाजरा हुजूर। सर्वत्र भरपूर।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

ये क्षर अक्षरको छोड़कर जरा अपनेमें लौट आवो। उत्तम पुरुष-क्षर पुरुष 'सः' होता है अक्षर पुरुष 'त्वं' होता है और उत्तम पुरुष तो आप जानते ही हैं, जिसने थोड़ा भी पढ़ा-लिखा होगा, उसने अन्य पुरुष, मध्यम पुरुष प्रथम पुरुष तो पढ़ा ही होगा। उत्तम पुरुषः। छान्दोग्य उपनिषद्में 'उत्तम पुरुषः' इस पदका प्रयोग है। परमात्मा कौन है? उत्तम पुरुष है। उत्तम पुरुष है माने जिसके बिना मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष ये दिखायी नहीं पड़ते हैं। मालूम ही नहीं पड़ते हैं। जिसके बिना 'तुम' मालूम न पड़े और जिसके बिना वह मालूम न पड़े, उसका नाम हुआ 'उत्तम।' पहले, निरुत्तर-जिसके पीछे और कोई नहीं, जिसके ऊपर और कोई नहीं निरतिशय-जिससे बड़ा और कोई नहीं निरुत्तर-जिसके बाद और कोई नहीं वह है 'उत्तम'। यह प्रपंच उत् है। और सूक्ष्म जगत उत्तर है और अपना आत्मा उत्तम है। उत्, उत्तर, उत्तम।

तमसो निष्क्रांताः उत्तमः।

जो तमस्के, अज्ञानके बिलकुल परे है। उसका नाम है 'उत्तमसम्' उत्तमस। वह क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है। भिन्न नहीं है। विलक्षण है। घड़ा माटीसे भिन्न नहीं है-परन्तु माटीसे विलक्षण है। क्योंकि उसमें नाम है, उसमें रूप है। स्त्री पुरुष प्रकृतिसे भिन्न नहीं है। परन्तु विलक्षण है। स्त्री शरीरका लक्षण अलग है, पुरुष शरीरका लक्षण अलग है। लक्षणमें भेद है। तत्त्वमें भेद नहीं है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

इसीका नाम है परमात्मा। ले आये गन्ना, गन्नेमें-से निकला रस, गन्नेका परम रूप हो गया। गन्ना अपर

रूप हुआ और उसका रस परम रूप हुआ। उसको पका दिया तो वह रसका भी परम रूप हो गया-गुड़ हो गया, राब हो गयी। उसको भी साफ कर दिया तो शक्कर हो गयी। शक्करको और साफ किया तो मिश्री हो गयी। मिश्रीको और साफ किया तो ओला हो गया। बनारसमें ओला खानेको मिलता है। पानीमें डाल दो पानी ठंडा हो जाता है। ओलेको और साफ किया तो उसका बना कंद अब कंद है; ओला है, मिश्री है, शक्कर है, राब है, गुड़ है, रस है। अब रसका परम रूप कौन-सा हुआ? 'कंद'-मिठासका ही एक नाम रस है, गुड़ है, चीनी है ओला है, कन्द है। लेकिन साफ करते गये, साफ करते गये, साफ करते गये। कन्दका बड़ा भारी व्यापार रामघाटमें था, जहाँ श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज रहते थे। और इन सबका वर्णन गौडीय सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलता है-रसका निरूपण करनेके लिए। साफ, साफ, साफ। जहाँ प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थोंको साफ करते गये-जहाँ वासनाको साफ करते गये, जहाँ संस्कारको साफ करते गये-जहाँ स्थितियोंको साफ करते गये, वहीं परमात्मा, परममधुर। मधुरका जैसे एक रूप हुआ परममधुर वैसे जीवात्माके स्वच्छ, सुन्दर, स्वरूपका नाम 'आत्मा' है और उसमें भी जब कोई पद, कोई उपाधि, कोई विशेषण नहीं रहता है तब उसका नाम हो जाता है 'परमात्मा'। आत्माके शुद्ध स्वरूपका नाम परमात्मा है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः।

अस्मिन् देहे। इसी देहमें अभिनयेन दर्शयति। ये कृष्णको नाटक करनेकी आदत थी। बहुत नाटक करते थे न! देहेस्मिन् ऐसे बोल दिया। जब अर्जुनसे बात कर रहे थे तो देहेस्मिन् कह दिया। नहीं तो अर्जुनकी छाती पर हाथ रख दिया। देहेस्मिन् पुरुषः परः। इसीमें है-यह परमपुरुष और कहीं नहीं है। ईश्वर यही है, अभी है, यहीं है। ईश्वरके मिलनेमें देर नहीं है। ईश्वरमें दूरी नहीं है। ईश्वरके दूसरापन नहीं है। क्या वह कोई देशका बच्चा है? वह कोई कालका टुकड़ा है? क्या है ईश्वर?

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

पहली बात तो यह है कि तीनों लोकमें वह प्रविष्ट है। लोक माने लोकके तीन भेद-'लोक्यन्ते त्रिलोकाः'। आलोकमें जो लोक है वही लोक है। आलोक मर्यादित है और लोक अमर्यादित है। द्रष्टा, दर्शन, ध्यान, तीनों लोक है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों लोक हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों लोक हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति तीनों लोक हैं। भूभुर्वः स्वः तीनों लोक हैं। अकार, उकार, मकार तीनों लोक है। लोकत्रयमाविश्य-सबमें आविष्ट है। इसीसे ईशावास्यमिदंमें जहाँ लोकको हटाओ, वहाँ ईश्वर ही ईश्वर है। यो लोकत्रयमाविश्य-एक काम है कि सर्वत्र प्रविष्ट है। पहली सीढ़ी दूसरी सीढ़ी है 'बिभर्ति-विभ्रिञ् धारणपोपणयोः'-सबका धारण-पोपण करता है। सबमें है, सबका धारण-पोपण करता है और 'ईश्वरः बिभर्त्यव्य ईश्वरः।' जिसमें प्रविष्ट है, वह नाशवान है, जिसका भरण-पोपण करता है वह नाशवान है और वह स्वयं अव्यय है। अव्यय माने कभी खरचता नहीं है। उसका व्यय नहीं होता है। 'विपरीतं न एति-न विपर्येति। न व्येति इति अव्ययः।' सब बदलता है, वह एक सरीखा रहता है। और ईश्वरः माने अन्तर्यामी है। 'उत्तमःपुरुपः स्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।' वही है आत्माका शुद्ध स्वरूप।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्य ईश्वरः।

स्थूल दृष्टिसे प्रवेश है। उससे सूक्ष्म दृष्टिसे धारण-भरण है। उससे भी सूक्ष्म दृष्टिसे अव्यय है और अव्यय रहकर सबका नियन्त्रण करता है, यह ईश्वर है और-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

अब क्रम बताते हैं। क्षरमें-से ख्याल हटाओ। कई लोग छोड़ो शब्द सुनकर घबड़ाते हैं। अरे, हम धन, दौलत, घर, बार छोड़ दें, स्त्री-पुरुष छोड़ दें-यह छोड़ना-छोड़ना क्या होता है? ऐसे कुछ नहीं छूटता है। हड्डी, मांस, चामका ढेर ले करके, जब अपने ऊपर इसका बोझा ले करके चल रहे हैं तो छोड़नेका सवाल क्या है? छोड़ना माने ख्याल छोड़ देना। अपने ख्यालमें-से निकाल दो। 'बड़ी मार कबीरकी, चित्तसे दिया उतार।' होता क्या है? मान लो एक संन्यासी हो गये-छोड़ दिया-क्या छोड़ा? घरमें नहीं रहते हैं? उनके पास स्त्रियाँ नहीं आती हैं? उनको खानेके लिए रोटी नहीं चाहिए? खानेके लिए रोटी भी चाहिए, सत्संग करनेके लिए स्त्री-पुरुषोंका आना भी चाहिए। रहनेके लिए कुटिया भी चाहिए। क्या छूटा?

यस्मात्क्षरमतीतोहं

जो क्षर है, जिसका वर्णन किया, जो अक्षर है, उसका वर्णन किया। अब अक्षरमें-से अपने ख्यालको हटा लो, जो नाशवान् है उसमेंसे भी अपने ख्यालको हटाओं और जो नाशवान्में अविनाशी मालूम पड़ता है, उसमें-से भी अपना ख्याल हटाओ। अब रह गया कौन? जिसने ख्याल हटाया, वह रह गया। जिसने ख्याल छोड़ा, वह रह गया अब देखो, अब दो पुरुषको तो छोड़ दिया, एक पुरुष रह गया। क्षर पुरुष छूट गया, अक्षर पुरुष छूट गया। जाग्रत पुरुष छूट गया। जाग्रत और स्वप्न-ये दोनों क्षर पुरुष हैं। और सुष्वशान जो पुरुष है वह अक्षर पुरुष है। यह अद्‌भुत है। यह स्वप्न और जाग्रत दोनोंके पुरुष जो हैं ये अन्यथा ग्रहण रूप है और सुषुप्तिका जो पुरुष है वह आग्रहरूप है। अक्षर रूप है। जो जाग्रत अवस्थामें अपनेको मैं मानते हैं-ये अन्यथा ग्रहण है। माने जो हम नहीं हैं, उसको हम मानते हैं। स्वप्नमें अन्यथा ग्रहण होता है। और सुषुप्ति अवस्थामें अग्रहण हो जाता है। और ये ग्रहण और अग्रहण दोनोंका जो साक्षी है जो दोनोंमें रहता है, दोनोंको जानता है, दोनोंसे निराला है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

यस्मात् माने क्योंकि-हिन्दीवाले चूँकि बोलना पसन्द नहीं करेंगे। ये भाषाई लोग, वस्तुको समझनेकी कोशिश नहीं करते हैं। खोलको पकड़कर कोशिश करते हैं। एक आदमी नदीमें नहा रहा था तो मगरने उसका पाँव पकड़ लिया। वह बड़े जोरसे चिल्लाया कि अरे, मगरने पेड़की जड़ पकड़ ली। यह सुनकर सचमुच मगरको भ्रम हो गया कि मैंने कहीं पेड़की जड़ ही तो नहीं पकड़ी है। तो उसका पाँव छोड़ दिया और वह बच निकला। ये लोग वस्तुको नहीं पकड़ते हैं-भाषावादी लोग अपनी भाषाको पकड़ते हैं। किसी भाषामें उत्तम

ज्ञानकी प्राप्ति होती हो, तो उस भाषासे उसको प्राप्त करना चाहिए। यह नहीं कि यह कोई दूसरी भाषा है। आज किसीको विज्ञान सीखना हो, तो अभी यदि ये लोग भारतीय भाषाओंको वैज्ञानिक भाषा बनावेंगे भी तो भी एक पीढ़ी दो पीढ़ीका समय लगेगा!

तबतक क्या हम हम विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त न करें? शुरू कर दो, भाषा सीखो, इन्जिनियरिंग है, मेडिकल है। यह चन्द्रलोक आदिमें जानेकी विद्या है, रॉकेट छोड़नेकी विद्या है। बोले नहीं-नहीं-हम दूसरी भाषामें नहीं सीखेंगे। जब हमारी भाषामें यह विद्या आजावेगी तब सीखेंगे। तबतक रहो 'ठनठनपाल'। अरे-मद्रासकी भाषा हम सीखें? असमकी भाषा हम सीखें? यह भाषाका आग्रह करनेवाले बिलकुल दुराग्रही है। प्रान्तीयता फैलानेवाले, जातीयता फैलानेवाले, मजहब-सीताराम! इन्सानको नहीं देखें! एक दिन कोई सज्जन यहाँ आये थे। उन्होंने कहा मैं मुस्लिम हूँ। अरे, भाई मुस्लिम काहेको, इन्सान हो। हाथ मिलाओ। बम्बईका विशप हमारे पास फूल लेकर आया-उससे हाथ मिलाया। वह ईसाई नहीं है-मनुष्य है, इन्सान है। मेरे हृदयमें जैसा ईश्वर है, वैसा ही उसके हृदयमें है। जब हम अपने दिलको कड़वा रखेंगे तो सब कड़वा।

एक दिन किसीने दिल्लीमें सवाल पूछा था कि हमारे पाँच-सात पीढ़ी पहले सब हिन्दू थे, क्षत्रिय थे, ब्राह्मण थे। प्रसंगवश मुसलमान हो गये। हमारी हिन्दूधर्ममें श्रद्धा है। क्या हिन्दूधर्ममें हमारे लिए स्थान है? भरी सभामें प्रश्न आया। मैंने कहा देखो तुम्हारी कोई व्यक्तिगत या पारिवारिक समस्या है तो तुम आ जाओ हमारे पास-हम तुमको हृदयसे लगाते हैं। जैसे हमारा परिवार है, वैसे तुम हो। और यदि तुम्हारी व्यक्तिगत, पारिवारिक समस्या नहीं है, सिद्धान्तका प्रश्न है तो हाँ; तुम्हारे लिए सिद्धान्तकी दृष्टिसे हिन्दूधर्मका दरवाजा खुला है।

सर्वान् बलवृतान् अर्थान् अकृतान् मनुरब्रवीत्।

जब प्रलोभन देकर बलपूर्वक तुमको मुसलमान बनाया गया है तो तुम हिन्दू हो सकते हो। यह हमारे धर्मशास्त्रका निर्णय है। पट्टाभिराम शास्त्री वहाँ बैठे थे, मनुदेवजी बैठे थे। मैंने कई बात सुनायी। भाषा, प्रान्त, मजहब राजनीतिक पार्टी-क्या राष्ट्रका विध्वंस करनेके लिए होती है? कि राष्ट्रका निर्माण करनेके लिए होती है? राष्ट्रीयता विश्व-मानवताकी रक्षाके लिए होती है। छोटे परसे अपनी नजर उठाओ और राजनीतिक नेताओंके जमूरा मत बनो। एक आदमी नचाता है, दूसरे लोग समझते हैं, हम बड़ा भारी काम कर रहे हैं। क्षरको छोड़ो-अक्षरमें आओ। क्षर-अक्षर दोनोंको छोड़ो-माने उनसे ख्याल हटाओ। पुरुषोत्तमको देखो।

यस्मात्क्षरमतीतोहं अक्षरादपि चोत्तमः।

'अतोऽस्मि लोके वेदे च'-मेरा पुरुषोत्तम इसीलिए नाम है कि मैं किसी पुरुषके रूपमें परिच्छिन्न नहीं हो गया। यदि मैं हिन्दू हो जाता, यदि मैं मुसलमान हो जाता, यदि मैं भारतीय या पाकिस्तानी हो जाता, यदि मैं एशियाई या योरोपीय हो जाता तो मैं मनुष्य कहाँ रहता? पुरुषोत्तम वह ही है जो पुरुषके अवर भावको छोड़कर, परिच्छिन्नताको छोड़कर, छोटे भावको छोड़कर, पूर्णताके भावमें स्थित है। ख्याल ही बदल जाता है। संन्यासी होनेका मतलब ख्याल ही बदला जाता है। त्यागका मतलब ख्याल बदलना ही होता है और व्यावहारिक रूपमें

उसका दूसरा-और सब उसकी सुगमताके लिए है कि भाई, इन्होंने ख्याल छोड़ दिया है तो इनको रोटी खिलाना चाहिए। इनसे हमको कोई डर नहीं है। 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्वा।' सर्वभूतोंको, इन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान किया है। संन्यासमें संकल्प होता है-मैंने तीन लोकको वस्तु छोड़ दी।

देवता-दानी सब छोड़ दिये। उनसे मिलनेवाली जो चीज है वह सब छोड़ दिये। उनका हमको कुछ ख्याल नहीं है। हमने कीर्ति, कामिनी, कनक छोड़ दिये। उधरसे हमारा ख्याल हट गया। अब देखो, आप क्या हो! पुरुषोत्तम हो आप।

राजानः यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः।
साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः॥

वह सेठ, साहुकार, राजाओंका भी आत्मा है। हृदय है। वह विद्वानोंका भी हृदय है। वह सम्पूर्ण प्राणियोंका हृदय है। सारा विश्व उसका प्यारा है। सारे विश्व का वह प्यारा है। अपने आपको सर्व रूपमें अनुभव करता है। अब शेष जो बचा है, वह कल आपको सुनावेंगे, 'कृतकृत्यश्च भारत।'

●

14-11-86

श्रीरमणलालजी बिन्नानीका समापन भाषण

अनन्तश्री सम्पन्न मंगलमूर्ति, तीर्थस्वरूप श्रीस्वामीजी महाराज, संत्सग-प्रेमी देवियों एवं महानुभावों! आज इस स्थानपर इस वर्षका यह 15वें अध्यायका सत्र समापनकी ओर है। पन्द्रहवाँ अध्यायके 20वें श्लोकमें-महाराजश्री अभी कुछ विवेचन भी करेंगे-जो अवशेष रह गया है। और उसका उपसंहार भी 20वें श्लोकमें स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

मैं इसको जरा-सा बदल करके कह दूँ कि-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं त्वयानघ।

जो यह सम्वाद कृष्णका अपने मित्र अर्जुनके साथ है, वह सम्वाद अर्जुनने खूब समझा होगा। हम गीताका पाठ भी रोज करते है, सुनते हैं, उसकी टीका भी पढ़ते हैं। लेकिन आपकी वाणीसे हमें जो सुननेका आनन्द मिला, वह अपने आपमें अलौकिक है, अद्‌भुत है, अनिर्वचनीय है। कितना प्रगाढ़ आपका अध्ययन है, कितनी आपकी उँचाइयाँ है, कितनी आपकी गहराइयाँ है-कितना अथाह है आपके अन्दरमें ज्ञानका सागर, जो आलोडित होता ही रहता है, और जो इस मुखारविन्दसे जब प्रवाहित होता है-हमारे यहाँ गंगाका जो उद्‌गम स्थान है वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, उतना ही पुण्यस्थल है। आपके मुखारविन्दसे जो ऐसी यहाँ ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उसके लिए हम (महाराजश्रीके) बहुत-बहुत उपकृत हैं, बहुत कृतकृत्य हैं। महाराजजीके अस्वास्थ्यका जब सबको पता चला-तो मैं अपनी बात तो कह दूँ-मैं तो बिलकुल हिल गया था। और ईश्वरसे बराबर हम सब प्रार्थना कर रहे हैं कि हमारे देशके महान् सन्तको, महान् विभूतिको चिरायु रखे, खूब स्वस्थ रखे और वे जन-जनका मंगल करते रहें।

इस प्रकार महाराजजी स्वस्थ हुए। मुझे श्रीमती सरलाजी बिरलाने कहा था कि महाराजजी आवेंगे जरूर। हमलोग सब विचलित थे। लेकिन उनका ऐसा दृढ निश्चय था, उनका आत्मबल बोलता था और उन्होंने कहा था कि महाराजजी आवेंगे और हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि महाराजजी यहाँ पधारे और हमें इस प्रकार उपकृत किया। महाराजश्रीने उस दिन अपना रहस्योद्‌घाटन किया कि मैं कोई पत्र लिखता नहीं, मैं कुछ बोलता नहीं, मैं कुछ जानता भी नहीं-बोलनेवाला कोई और ही है। यह ठीक ही है। महाराजजीके भीतरमें जो ब्रह्म-स्वरूप साक्षात् स्थित हैं-वही बोलते हैं।

वही गीता इस प्रकार सहज रूपमें, सुगम रूपमें हमारे लिए कर देते हैं। गीता पाठ हम रोज करते हैं लेकिन इस प्रकार समझ पाना-जैसे महाराजजीने सरल, सुगम, बोधगम्य रीतिसे जो हमें उपकृत किया, वह अपने आपमें चिरस्मरणीय रहेगा। प्रारम्भके दिन-जैसा कि सौ० सरलाजीने कहा कि-

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

बहुत सही बात है। परमात्माकी कृपा इसी प्रकार बनी रहे। हम यह प्रार्थना करते हैं और हमें स्वामीजी महाराजके सान्निध्य और प्रवचनोंका लाभ मिलता रहे। और भी मैं कह दूँ-

आवत ही सर अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आय न जाई॥

हम, आप सब यहाँपर आये लाभ लिया-यह भी भगवान्‌की विशेष कृपा है, तभी हम आ सकते हैं। कुल मिलाकर ईश्वरकी बड़ी कृपा है-आज आनन्दसे सम्पन्न हो रहा है। मैं आयोजकोंके लिए अपनी ओरसे और आपकी ओरसे कह सकता हूँ कि उनकी ऐसी प्रेरणा, उनका ऐसा नियोजन, उनका ऐसा भाव बराबर बना रहे और हमें प्रतिवर्ष ऐसा सौभाग्य प्रदान करते रहें। इस कामनाके साथ सबोंके प्रति मंगल कामना करते हुए आगामी वर्षके लिए सबको निमन्त्रण है। महाराजजीको बहुत-बहुत प्रणाम!

●

प्रवचन : 10

जब गायसे दूध दूहते हैं तो बछड़ेको तो निमित्त बनाया जाता है, चाहे गायके आगे खड़ा कर दे, चाहे गायके पाँवमें बाँध दे और दूध जो गायका दुहा जाता है, वह बछड़ेके काम तो कम आता है। दूसरे लोग ही उसको खाते-पीते हैं। उपनिषद् हैं गाय और उनके शरीरमें ज्ञानामृत, ज्ञानका दूध भरा हुआ है। पर उस दूधको दुहकर निकालने वाला कोई गोपालनन्दन चाहिए। वह भी बुढ्ढा नहीं है, जवान है। 'दोग्धा गोपालनन्दनः'। निमित्त है अर्जुन और कोई भी सुधी उसका पान कर सकता है। यह दूध उदार है। 'दुग्धं गीतामृतं महत्' महत्का अर्थ है कि यह सब प्राणियोंके लिए है। बल्कि माहात्म्यमें तो यहाँतक कहाँ जाता है कि जिन पेड़-पौधोंने भी गीताका श्रवण कर लिया उनका पेड़-पौधोंकी योनिसे उद्धार हो गया। जिन पशु-पक्षियोंने भी गीताका श्रवण किया,उनका उद्धार हो गया। आप अठारहों अध्यायका माहात्म्य अगर अलग-अलग पढ़ें तो देखेंगे कि किस अध्यायके पाठका क्या माहात्म्य है! ऐसी यह गीता भगवद् वाणी है।

भगवद् वाणीका अर्थ होता है कि जैसे पिता जो कुछ कहता है, अपने सब पुत्रोंकी भलाई ध्यानमें रखकर बोलता है। माताके हृदयमें, पिताके हृदयमें, पक्षपात नहीं होता है। वह अपने सभी सन्तानोंका कल्याण चाहते हैं। इसी प्रकार यह गीता 'दुग्धं गीतामृतं महत्'। महत्का अर्थ है, परम उदार है। सर्वका कल्याण करनेवाली है। भूमिको दिव्य बनानेवाली है। पेड़-पौधोंको कल्याण देनेवाली है और इसका रसास्वादन तो सुधी लोग करते हैं। सुधी माने जिसकी बुद्धि बहुत सुन्दर है, सुष्ठु है। भगवान्ने यह कहा कि वेदका असली रहस्य मैं जानता हूँ। 'वेदविदेव चाहं। अहमेव च वेदवित्'—मैं ही वेदवित्—वेदका रहस्य जाननेवाला हूँ।

एक बातपर आप ध्यान दें। दुनियामें ऐसा कोई मजहब नहीं है जो अपनी बात कहनेके बाद कह दे कि अब हमारी जरूरत नहीं है। अब तुम हमारे कानूनके दायरेसे बाहर हो गये हो। गीताका कहना है कि यदि तुम इसको समझ लो तो वेदके जो विधि-निषेध हैं—वेदका जो घेरा है, उससे बाहर निकल जाते हो।

त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

वेद तो त्रिगुण अधिकारीके लिए हैं। सात्त्विक, राजस, तामस अधिकारीके लिए वेद हैं। अर्जुन, तुम तीनों गुणोंसे ऊपर उठ जाओ।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।

जब सब जगह पानी पीनेके लिए मिल रहा हो तो प्याऊपर जानेकी क्या जरूरत है? जब गीताने सब जगह अमृत-ही-अमृत दिखा दिया, दर्शन करा दिया तो अब अमृतकुण्डके पास जानेके लिए वेदकी क्या आवश्यकता है? कोई प्रयोजन नहीं है। अपने घेरेसे बाहर कर देना, यह भारतीय वैदिक संस्कृतिकी विशेषता रही है। वह बन्धन मुक्त कर देता है। अब यहाँ बात आयी पुरुषोत्तमकी। सचमुच हम जिस क्षेत्रमें रहते हों उसमें हमें पुरुषोत्तम ही होकर रहना चाहिए।

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा।

आप दो घड़ी जीते रहिये। केवल दो घड़ीकी आपकी आयु हो परन्तु चमककर जीते रहिये। कोयलेकी तरह मत जीइये। हीरेकी तरह चमककर जीयें। भले वह जीवन दो घड़ीका हो।

चमाचम—जगमग जीवन व्यतीत हो—दो घण्टेका हो। बड़ी उम्र होनेसे बड़ी आयु होनेसे कोई विशेषता नहीं होती। सुनते हैं कौएकी आयु हजारों वर्षकी होती है, लेकिन इससे क्या? आयु बड़ी होनेसे कोई मंगल नहीं है। मनुष्यके जीवनमें जो पवित्र आचरण है (एक) इन्द्रियोंमें संयम है (दो) मनमें सद्भावना है (तीन) बुद्धिमें विचार है, विवेक है (चार) और अपनी स्थितिमें दृढ़ता है, नि:संकल्पता है (पाँच)। आपके जीवनमें अशान्ति क्यों रहती है? आप जो चाहते हैं वह नहीं हो रहा है। अशान्ति माने बस इतना ही है कि आप जो चाह रहे हैं, जैसा चाह रहे हैं, वैसा नहीं हो रहा है। अच्छा वैसाकर देना या ऐसा हुआ देना—आपके हाथमें नहीं है। लेकिन उस चाहको छोड़ देना आपके हाथमें है। फिर तो आपके जीवनमें अशान्ति नहीं रहेगी। शान्ति ही शान्ति रहेगी।

चाह चमारी चूहरी सब नीचन कौ नीच।

सारी अशान्तिका, दु:खका मूल यही है कि हम जैसा चाहते हैं जो चाहते हैं वह नहीं हो रहा है। नहीं मिल रहा है। आप व्यक्तिगत विचारसे थोड़ा-सा ऊपर उठिये। आप मिट्टीके पुतलेका विचार मत कीजिये। मिट्टीका विचार कीजिये। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि।' मिट्टी, पानी, आग, वायु, आकाश—पाँच विषय, पाँच भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच अन्त:करणके विभाग। ये जो पंच पंच मिल करके दुनिया फैली हुई है।

ये सब क्षर हैं। और इनमें जो कूटस्थ है, एक-रस रहता है। लिपियोंमें अलगाव होनेपर भी अ क च ट त प य शकी तरह, अक्षरकी तरह इसमें कूटस्थ—जैसे कितना भी पानी बरसे चित्रकूट सिर उठाये खड़ा है। कूटस्थ। वैसे हो जाइये। जैसे कितने भी जेवर तोड़े जायँ, निहाय जो सुनारके घरमें हैं, वह ज्यों-की-त्यों रहती है। वैसे आप कूटस्थ रहें। कितने भी झूठ आते-जाते रहे, लेकिन उस कूटके घेरेमें भी आप सत्य रहें। ये अक्षर

पुरुष हुआ। इसको ऐसे भी बोल सकते हैं। कि जैसे आकाशका विचार करते हैं तो दो आकाश होते हैं अध्यारोपित। एक सज्जनने पूछा है इसलिए सुना देते हैं।

घटाकाश होता है एक घेरेमें होता नहीं, पर मालूम पड़ता है। हमको दस वर्षकी उम्रमें ठाकुर प्रसिद्धनारायण सिंहने पूछा कि बाबाजी, जब हाथ हम हटाते हैं—दाहिने बायें तो आसमान हटकर जगह करता जाता है कि जहाँ-का-तहाँ रहता है मैंने कहा—आकाश हटता जाता है, हाथ बढ़ता जाता है। बोले कि नहीं—ऐसी बात नहीं है, आकाश अपनी जगहपर रहता है। हाथ उसमें तैरता रहता है। आकाश चलता फिरता है लेकिन जिस आकाशमें घड़ा है वह ज्योंका त्यों रहता है। घटकी उपाधि है। हमारी आँखसे घड़ा दिखता है, उसके घेरेमें जैसा गोल-मटोल घड़ा है—बड़ा पेट, छोटी गरदन—पृथूदराकार। जैसा आकाश मालूम पड़ता है, वैसा आकाश है नहीं। घटकी उपाधिसे आकाश वैसा मालूम पड़ता है।

अब दूसरा आकाश है—घड़ेमें पानी रख दिया और पानीमें बादल सहित आकाश प्रतिबिम्बित हो रहा है। एक हुआ जलाकाश, एक हुए घटकी उपाधिसे ज्यों-का-त्यों आकाश और एक हुआ जलमें प्रतिबिम्बि होनेवाला आकाश। जलाकाश। तीसरा आकाश है जो मेघ दिख रहा है, बादल, उस बादलमें पानीकी बूँद। बूँद, बूँद है। जैसे घड़ेके आकाशमें प्रतिबिम्बित होता है आकाश, घड़ेके जलमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे बादलके जलमें भी प्रतिबिम्बित होता है। उसको कहते हैं मेघाकाश। अब यह घड़ा, जल और मेघ इन तीनोंको जब हटा दिया जाता है तब रह जाता है महाकाश, निरुपाधिक। अब जलाकाश जो है वह मेघाकाशकी उपासना करता है। यह तो है उपासना-उपास्यका विभाग—जलाकाश, मेघाकाशकी उपासना करता है क्योंकि मेघाकाशमें अनुमानसे ही आकाश होता है और जलाकाशमें प्रतिबिम्ब आकाश है। परन्तु वस्तु तत्त्वसे तत्त्वकी दृष्टिसे, वस्तुत: बोलते हैं न! वस्तुत: माने वह जो चीज है, उस चीजकी नजरसे, जब हम देखते हैं तब घटाकाश और महाकाशमें कोई फर्क नहीं है।

जलाकाश प्रतिबिम्ब आकाश है और मेघाकाश भी प्रतिबिम्ब आकाश है। परन्तु घटाकाश और महाकाश ये दोनों एक हैं। इसी प्रकार जीवतत्त्वको समझते हैं। अन्त:करणमें जो शुद्ध चेतन है, अन्त:करणकी उपाधिसे अलग मालूम पड़ता है। उसको कूटस्थ—जीव कहते हैं। और जो अन्त:करणमें प्रतिबिम्बत है वह प्रतिबिम्ब आभास है। ब्रह्मसूत्रमें—'आभास एव च।' ऐसे सूत्र हैं। और बृहदारण्यक उपनिषद्में 'आभासेन जीवेशो करोति।' माया जो है वह आभाससे जीव और ईशका भेद बनाती है।

माया च अविद्या च भवति।

असलमें परब्रह्म परमात्मामें माया और अविद्या कल्पित है। व्यष्टि अन्त:करणमें प्रतिबिम्बित आकाश जीव है। चिदाकाश और समष्टि अन्तकरणमें प्रतिबिम्बित चिदाकाश ईश्वर है। और शुद्ध जो चेतन है-इस अन्त:करणकी उपाधिसे और बिना उपाधिके उस अवच्छिन्न और अनवच्छिन्नमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। उस औपाधिक और निरुपाधिक चैतन्यमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है। अब इस बातको इस प्रसंगमें जोड़ लें।

अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि।

जिसको हम जानते है, उससे भी वह विलक्षण है। हम जानते हैं क्षर पुरुषको, सर्वभूतको जानते हैं, उससे विलक्षण है। और अविदित है कारणात्मा-अक्षर पुरुष, अव्याकृत-अव्याकृतो-पाधिक चैतन्य-अव्याकृतविशिष्ट चेतन, वह अविदित है।

अन्यदेव तद्विदितात् अथो अविदितात् अधि।

क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है। कौन है? अब यहाँ देखो ब्रह्म और अनुभवमें फर्क पड़ जाता है। श्रद्धा कहेगी कि यह क्षर पुरुष है, इसके आगे कोई अज्ञात अक्षर पुरुष है और उससे भी परे कोई पुरुषोत्तम परमात्मा है। यह श्रद्धागम्य होगा और जब कहेंगे कि क्षर सर्वभूत क्षर हैं और कारणात्मा अव्याकृतात्मा अक्षर है और उससे परे मैं स्वयं हूँ। पुरुषोत्तम पुरुष। उधर देखोगे तो वह श्रद्धगम्य होगा, और इधर देखोगे तो अनुभवस्वरूप होगा। चीज एक ही है। यदि बीचमें क्षर अक्षरको डालकर उस पार देखोगे तो वह अज्ञात, भावित ईश्वर होगा। और यदि अपनी पर देखोगे तो एक नदी बह रही है क्षरकी, विदितकी, एक नदी बह रही है अविदितकी, अक्षरकी और आप दोनोंके द्रष्टा साक्षी, स्वयं प्रकाश हैं।

अब इस स्वयं-प्रकाशताकी दिक्, काल, वस्तुमें अपरिच्छिन्नता है। वह हमारे अनुभवमें अभी नहीं आ रही है। वेदने केवल अविद्याकी निवृत्तिके लिए कह दिया-

अन्यत्र धर्मात्, अन्यत्राधर्मात्,
अन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।

इस मति और मतिका जो विषय है, इसका जो प्रकाशक है, अधिष्ठान है वही आत्मा है! और जो मतिको लेकरके पकड़े हुए हैं-ये जितने पन्थ बने हैं, ये सब मतिसे बने हैं। जितने प्रान्त् बने हैं सब मतिसे बने हैं। जितने राष्ट्र बने हैं, सब मतिसे बने हैं। जितने ब्रह्माण्ड हैं सब मतिसे बने हैं। ये जो प्रकृति प्राकृत बना है वे मतिसे बने हैं। यह जो दृश्य, द्रष्टाका विभाग बना है, यह मतिसे बना है। जो परम तत्त्व है वह तो, यदि इनमें जो संमूढता है, उससे छूटोगे तब उसका ज्ञान होगा।

यो मामेवमसंसूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ 15.19
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ 15.20

तो असंमूढ हो जाओ। असंमूढ माने-गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्। जो मूढ हो जाता है उसको अव्यय पदकी प्राप्ति नहीं होती। जो मूढता पर अटकता नहीं है। किसीने कुछ बता दिया, किसीने कुछ बता दिया और बस यही सर्वस्व है, यही वस्तु है, यही तत्त्व है मान करके वहाँ बैठ गये। बाबा, आपको कहीं वेद, शास्त्र,

पुराण, बाइबल नहीं मिलेगी जो आपको कहे कि 'त्यज धर्मं अधर्मं च।' धर्म, अधर्म दोनोंका परित्याग करो। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य।'

त्यज धर्मं अधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

झूठ और सच दोनों छोड़ दो। उसे छोड़कर जिस बुद्धिसे सत्य और अनृतका परित्याग करते हो, उस बुद्धिको भी छोड़ दो। 'त्यज धर्म असंकल्पात्-अधर्म चास्य लिप्सया। उभे सत्यानृते बुद्ध्या-बुद्धिं परम निश्चयात्।' असंकल्पके त्यागसे धर्मका त्याग हो जाता है। लिप्सा, लोभके त्यागसे अधर्मका त्याग हो जाता है और विचार करनेपर सत्य झूठका जो विवाद है, उसका त्याग हो जाता है, और अपने स्वरूपका निश्चय होनेपर, बुद्धिका त्याग हो जाता है और अपने स्वरूपमें बुद्धि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। हम संमूढ कहाँ है? देखो, अधर्ममें संमूढ हैं, धर्ममें संमूढ हैं, सत्यमें संमूढ हैं, अनृतमें संमूढ है। और दोनोंमें संमूढ हैं। बुद्धिमें संमूढ है। निश्चयमें संमूढ है। सोते समय निश्चयका पता नहीं चलता है तो क्या हम कुछ और हो जाते हैं? स्वरूप ही रहता है। जो इस प्रकार असंमूढ रह करके क्षर, अक्षर-क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ-अपरा प्रकृति, परा प्रकृति कहीं भी संमूढ न हो करके मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तमको जानता है, उत्तम पुरुषके रूपमें, अन्य पुरुषके रूपमें नहीं। वह नहीं, तुम नहीं, उत्तम पुरुष-अहंके रूपमें। देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छन्न-सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदसे रहित अपनी आत्माके रूपमें जानता है। इसका फल क्या हुआ? 'स सर्वविद् भवति।'

एकस्मिन् विज्ञाते, सर्वं विज्ञातं भवति।

जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। ऐसी एक वस्तु है। मिट्टीके ज्ञानसे, उससे बनी सब चीजें-पानीके ज्ञानसे, उससे बनी सब चीजें, नींबूका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। इमलीका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। अंगूरका बीज पानीका स्वाद अलग दिखा देता है। यह बीज संस्कार है और पानी इमलीमें, नीबूमें, आममें, चावलमें, गेहूँमें कहीं सफेद होता है, कहीं पोला होता है। संतरेका पानी निकला-पीला-पीला निकला, और जौका पानी निकला तो दूध सरीखा सफेद निकलता है। रंग अलग-अलग हो, स्वाद अलग-अलग हो, गुण अलग-अलग हो, लेकिन पानी एक ही है। और वह पानी आप हैं।

घड़े अलग-अलग हों, हीरे अलग-अलग हों, मोती अलग-अलग हों, उनकी शकल सूरत अलग-अलग हो। कोई एक मोती लाखों रुपयेका होता है। हमारे पास एक जौहरी दिखाने लाये थे। लाख-लाख रुपयेके एक-एक मोती हैं। सो भी बीस वर्ष पहले। अब तो उनकी कीमत बहुत बढ़ गयी होगी। हमारे लिए माटीके डलेमें और उसमें कोई फर्क नहीं था। क्योंकि हम मोती पहनते नहीं, हमारे काम आता नहीं, बेचते नहीं तो हमारे लिए जो मिट्टीका डला वैसे ही मोती। चाहे हीरा अलग हो, मोती अलग हो, सोना अलग हो, चाँदी अलग हो, वासना नहीं है तो सब मिट्टी है।

इसी प्रकार जब मनुष्य निर्वासन होकर तत्त्वका विचार करता है, तो आत्मदेवके रूपमें, पुरुषोत्तमके

रूपमें, उत्तम पुरुषके रूपमें परमात्माको जानता है और वह एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हुआ। 'स सर्वविद्'-वह सर्ववित् हो गया। हुआ था एकविद् और हो गया सर्ववित्। हुआ था वेदवित्-

यस्तं वेद स वेदवित्-वेदविदेव चाहम्।

लेकिन हो गया वेदान्तकृत्। वेदका अन्त देख लिया। बस वेदकी मर्यादा यहीं तक है। इसके आगे अपने स्वरूपमें नहीं है। सर्वविद् तो अब उसकी रहनी बताते हैं।

भजति मां सर्वभावेन भारत।

उसका पुरुषोत्तम कहाँ है? कब है? क्या है? उसका भजन क्या है? बोले सर्वभावेन। यह सर्वभावेन शब्द गीतामें दो बार आया है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

और यहाँ है—

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।

सब भगवान् है इस भावनासे—वृन्दावनमें हमारे साईं थे, जब वृन्दावनमें सूअर दिख जाते—तुरन्त हाथ जोड़ते। जय वराह भगवान्की! वानर दिख गया। हनुमान भगवान्की जय। पेड़ दिख गया, अरे इसीकी डालीपर बैठकर तो श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाया करते थे! यह तो बड़ा भारी सन्त है। लो बालू आ गयी, झट उठाया, सिरपर रखा। इस बालूमें भगवान् श्रीकृष्ण लोट-पोट हुआ करते थे। वही बालू है, वही जमुना है, वही पावन पुलिन है; वही लता है जिससे श्रीकृष्ण फूल चुना करते थे, राधारानीका शृंगार करनेके लिए। वही वृक्ष है जिसपर दोनों पाँव लटकाकर, पीताम्बर फ़हराकर बैठ जाते और घटोंतक बाँसुरी बजाते रहते थे। वहीं तो वृक्ष है, उस जुमनाके किनारे जानेपर मन वही हो जाता है। वही गौएँ, जिनको वह चराया करते हैं, वही बछड़े हैं, जिनके साथ गायके थनमें मुँह लगाकर श्रीकृष्ण दूध पिया करते थे।

'सर्वभावेन भारत।' यह तो उपलक्षण है, यह तो मैं एक करानेकी बात आपको बोल रहा हूँ। वह है सर्ववित् जिसको सर्वरूपमें परमात्माका दर्शन होता है। और जब सर्वरूपमें परमात्मा होता है—

ईशावस्यामिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

श्रुति कहती है 'स वेद सर्वम्'। वही यह सब है।

ब्रह्मैवेदं सर्वम्। आत्मैवेदं सर्वम्।
अहमेवेदं सर्वम्। सद्हीदं सर्वम्।
चिद्हीदं सर्वम्।। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।
अपूर्वं, अनपरं, अनन्तरं अबाह्यं तद् एदद् ब्रह्म।।
अयं आत्मा ब्रह्म। एतद् इदं अनुशासनं।
एषो उपदेशः। एषां उपनिषद्।।

परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं। अब वह स्वयं परमात्मा और जहाँ हँसता है, खेलता है,

महात्माका चलना, हँसना, खेलना, बोलना, रोना, हायहाय करना सब परमात्माका स्वरूप है। जीना, मरना, जड़ होना और विद्वान् होना—सब परमात्मा हैं। दु:खी होना, सुखी होना सब परमात्मा है। द्वैत होना, अद्वैत होना, सब परमात्मा है। 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत।' अर्जुन, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो। 'भा'में निरत हो—भा माने प्रतिभा। भरतवंशके आनुवंशिक योग्यतासे सम्पन्न परम प्रतिभाशाली हो तुम। तुम इस बातको समझते हो।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

अर्जुन, मेरी तुम्हारी जोड़ी अच्छी मिली है। वक्ता मैं और तुम अनघ। अनघ माने निष्पाप। अघ माने पाप।

न हन्यते भोगं बिना इति अघः।

भोगके बिना जिसका क्षय न हो उसका नाम होता है अघ। अर्जुन कैसे हैं? इनमें कोई अघ है ही नहीं। पहले भी नहीं था। अब भी नहीं है। पीछे भी नहीं रहेगा। जब अर्जुनने कहा-

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।

इन आततायियोको मारनेपर भी हमको पाप लगेगा। कृष्णने कहा-निष्पाप अर्जुन, न तेरे अन्दर कभी पाप था, न है और न तो होगा। क्योंकि मैं और तू दोनों एक हैं।

कृष्णो धनञ्जयस्य आत्मा, कृष्णस्य आत्मा धनञ्जयः।

महाभारतमें कहा कि कृष्णकी आत्माका नाम अर्जुन है। और अर्जुनकी आत्माका नाम कृष्ण है। इसीसे श्रीकृष्णने धृतराष्ट्रके पास खबर भेजी थी-

यस्त्वां द्वेष्टि, स मां द्वेष्टि, यस्त्वां अनु, स मां अनु।

जो अर्जुनसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो अर्जुनके पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। इसलिए अर्जुन और श्रीकृष्ण तो एक है। वहाँ पापका तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। बोले—अनघ, तू है निष्पाप अर्जुन! विद्या और अविद्याके कार्यसे मुक्त। और यह मेरी कहीं हुई बात है, क्योंकि वेदान्तकृत-वेदवित् मैं हूँ। और मैंने यह सार-सार बात कही है।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।

बस, बुद्धिकी यह पराकाष्ठा है। जहाँतक बुद्धिमें एकत्व नहीं आवे, एक रहेगा तो आत्मा ही रहेगा। यह बात आप चाहे डायरीमें नोट कर लीजिये, चाहे अपने हृदयमें, चाहे अपने दिमागमें, यदि एक है, और एक है-यह बात पक्की है, तो वह दूसरा नहीं होगा। आत्मा होगा। यदि दूसरा होगा तो एक वह होगा और एक मैं होऊँगा, दो हो जायेंगे। एक होगा ही नहीं। एक हो ही तब सकता है, जब अपना आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म हो।

यदि ईश्वर अद्वितीय होगा, तो एक ईश्वर और एक मैं दोनों रहेगे और एक जगत् रहेगा। यदि एकत्व है—

****

सदेव सोम्य इदमग्रआसीत एकमेवाद्वितीयम्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
एकं वै सद् बिभूव सर्वम्।
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
बहुधा देवानां नामधा एक एव।

यदि ये स्मृति-श्रुतिके वचन जो हैं, ये सच्चे हैं और सच्चे हैं, तो अपने आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यही 'एषां बुद्धिमतां बुद्धिः मनीषा च मनीषीणां यत् सत्यं अनृतेनेह—मर्त्येनाप्रोति मामृतम्।' यह नकली सिक्का मिला है। यह चल जाय, इसके बदलेमें सच्चा सिक्का मिल जाय। यह शरीर नकली है। 'मर्त्येनाप्रोति मामृतम्।' यही बुद्धिमानोंकी बुद्धि है। यही मनीषियोंकी मनीषा है कि इस थोड़े दिन रहनेवाले शरीरको प्राप्त करके हम अनन्त अद्वितीय वस्तुको प्राप्त कर लें और अपनी आत्माके रूपमें प्राप्त कर लें।

इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

'बुद्धवा एतत् कृत्वा बुद्धिमान्स्यात्' नहीं है। यह करके बुद्धिमान होगा ऐसा नहीं है। 'एतत् लब्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्।' यह भी नहीं है। इसके साथ एक बढ़िया युक्ति जुड़ी हुई है। जो चीज करनेसे मिलती है, वह पैदा होती है और मिट जाती है। जो चीज कभी मिलती है, वह छूट जाती है, बिछुड़ जाती है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ता समुच्चयाः।
संयोगात् विप्रयोगान्ता मरणान्तं वो जीवितम्॥

बाल्मीकि रामायणमें, महाभारतमें यह श्लोक कई बार आता है। 'सर्वे क्षयान्ता निचया।' जो जोड़ेंगे वह क्षीण हो जायगा। और जो ऊपर उठेगा वह नीचे गिरेगा। जो जुड़ेगा वह छूटेगा। 'संयोग विप्रयोगान्ता, मरणान्तं वो जीवितम्। जिसका जन्म होगा वह मरेगा। 'सर्वे क्षयान्ता निचया, पतनान्ता समुच्चयः। संयोगात् विप्रयोगान्ता। मरणान्तं वो जीवितम्।' तब? ज्ञात्वा—अवगत्य, अनुभूय इसको जानने मात्रसे ही मनुष्य सब बुद्धियोंकी बुद्धि—पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाता है। अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है। अरे मैं तो अमृत हूँ।

बहुत जन्मोंके बाद तब कहीं मनुष्य ज्ञानवान होता है और ज्ञान होते ही जान जाता है, 'वासुदेवः सर्वम्।' परमात्मा सब है, परन्तु महात्मा दुर्लभ है। 'स महात्मा सुदुर्लभः।' श्रद्धालुओंके लिए सुलभ है और अश्रद्धालुओंके लिए दुर्लभ है। 'सुलभो दुर्लभश्च।' अब इसके बाद बताया कि अब तुम्हारे ऊपर कोई बोझ नहीं है। सर्वथा निर्भार हो गये। 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्।' चार बात होनी चाहिए। कृतकृत्य, एक तो कहीं मरते समय यह ख्याल न आवे कि हमारा यह कर्तव्य बाकी रह गया। मैंने यह नहीं किया। पछताते हुए मत मरो—हाय-हाय जिन्दगीमें मैंने यह नहीं किया। जो करना हो सो कर। यह पछताते हुए मत मरो कि मैंने यह नहीं छोड़ा। यह नहीं किया, यह नहीं छोड़ा, यह नहीं पाया, यह नहीं जाना।

****

यदि मरते समय यही सोचते हुए मरे कि जिन्दगीमें यह नहीं किया और यह नहीं छोड़ा और यह नहीं पाया और यह नहीं जाना तो पछताते हुए मरोगे। फिरसे लौटकर आना पड़ेगा। करनेके लिए, छोड़नेके लिए, पानेके लिए, जाननेके लिए फिर आना पड़ेगा। और यदि तुमने परम तत्त्वको जान लिया, 'कृतकृत्यश्च भारत' तो अर्जुन! तुम कृतकृत्य हो गये। कृतकृत्य होना—कर्मकी परिसमाप्ति। तब त्यागकी परिसमाप्ति, प्राप्तिकी परिसमाप्ति। सब ज्ञानकी परिसमाप्ति। एक बात यह भी है कि परिसमाप्ति अर्थ संस्कृतमें पूर्णरूपसे प्राप्ति होता है। आप्ति माने प्राप्ति। सम माने अच्छी तरहसे। और परिसमाप्ति, परिपूर्ण, परिसमाप्ति चारों ओरसे, चतुर्मुखी दृष्टिसे, समग्र दृष्टिसे, जो कुछ पाना था सो भली-भाँति प्राप्त कर लिया। इसका नाम संस्कृत भाषामें होता है समाप्ति। वह मरनेके अर्थमें नहीं है, खोनेके अर्थमें नही है। पानेके अर्थमें है, मंगलमय है।

दस दिनका संकल्प था, वह भली-भाँति परिपूर्ण हो गया। इसका नाम होता है—समाप्ति। समापन बोलो, समाप्ति बोलो, पूर्णता बोलो, पूर्णाहुति बोलो—बात कुल-की-कुल यही है, और सबसे बढ़िया यही बात है कि यदि आप परमात्माके इस तत्त्वको जानना चाहते हैं, इसी जीवनमें अनुभव करना चाहते हैं; इसी जीवनमें खुली आँख देखना चाहते हैं—'तूँ कहता कागजकी लेखी, मैं कहता आँखोंकी देखी।' यदि इसी जीवनमें प्राप्त करना है तो अपनेको किसी-न-किसी रूपमें परमात्माके साथ जोड़ो। स्मरण करो, ध्यान करो—स्मरण, ध्यान न हो, तो पूजा करो, पूजा न हो तो भगवान्का नाम लो। किसी-न-किसी रूपमें परमात्माके साथ अपनेको जोड़ो। और जब परमात्माके साथ जरा भी जोड़ोगे तो वह ऐसा नटखट है कि उँगली पकड़कर; पहुँचा पकड़ ले; यदि उसको मालूम पड़ जाय कि यह मुझे चाहता है। इतना प्रतीत हो जाय कि यह मुझे चाहता है तो वह जबरदस्ती पकड़कर रुक्मिणीको भीष्मकके घरमें-से जा करके, मन्दिरमें-से, युद्धभूमिमें-से, जाकर हरण कर ले आवे।

मालूम हो जावे कि हाँ—है कोई चाहनेवाला। बस, उसको चाहो, और वह पहुँचा। वह राक्षस-विवाह करके भी तुमको अपनावेगा, इसमें कोई शंका नहीं है। सीताजीसे ब्याह करनेके लिए रामचन्द्र पैदल गये अयोध्यासे—बिना बरात लिये ही। ऋषि-मुनियोंके साथ पैदल चलकर गये। ताड़काको मारा, अहल्याका उद्धार किया, मारीचको आगेके लिए फेंक दिया और सुबाहुको मार दिया-गंगापार की और जा करके धनुप तोड़ा सीताजी को प्राप्त करनेके लिए। एक वार सच्चे हृदयसे जीव कह दे कि हम परमात्माको पाना चाहते हैं, तो परमात्मा जबरदस्ती भी अपनेको मिला लेता है। लेकिन बोलना चाहिए सच्चे हृदयसे।

तवास्मि अभयं।

यह गीता है महाराज—यह कहती है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

अविद्या, वेवकूफी और वेवकूफीसे माने हुए, किये पाप उनसे छूटनेकी जिम्मेदारी—बोले तुम्हारी नहीं, हमारी। पर तुम तो स्वयं हाथ-पाँव पीटकर छूटना चाहते हो, आजाओ मेरी शरणमें, मैं छुड़ानेके लिए तैयार हूँ।

※※※

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।

सर्वत्र है। आयोजनको 15 वर्ष हो गया—आता ही हूँ यहाँ। हमको उपदेश करनेकी वासना नहीं है। प्रचार हमारा मिशन नहीं है। कोई सभा नहीं है। हमलोग तो उस परम्परामें है कि जहाँ किसीको कुछ पूछना हो, जानना हो—आवे और पूछे। पूछनेपर भी हमारा मन हो तो बतावें—न मन हो तो कह दें कि छः महीने अभी गोबर पाथो। फिर बतावेंगे। ऐसी हमारी परम्परा है। लेकिन कुछ कमजोरियाँ भी हैं। वे कमजोरियाँ क्या है? यदि कोई प्रेम करे, सद्भाव करे, श्रद्धा करे, अपना समझे तो हम उसके पाँव भी दबा सकते हैं, उसकी मालिश भी कर सकते हैं। उसके चरणामृत भी ले सकते हैं। क्योंकि हमारे अच्छा-बुरा, बड़ा, छोटा ऐसा कुछ अपने मनमें नहीं है। सब एक ही है। और यह बात संन्यासी होनेपर आयी हो सो बात नहीं है। संन्यासी होनेसे दस वर्ष पहले हमको महात्माओंने यह अनुभव दे दिया था। ग्रन्थ तो मैंने पीछे देखे। दिमाग लायब्रेरी हो गया लेकिन पीछे हुआ। जब प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजीने मेरा नाम ही लायब्रेरी रखा था। जैसे लोगोंका दूसरा नाम रखा जाता है।

अबकी उनको सुनाया तो हँसे और हँसकर बोले—मैंने ही तो 'पण्डित प्रवर' भी कहा था। पढ़ना-लिखना तो हुआ बादमें। यह सब भगवान्‌की कृपा है, भगवान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की बुद्धि है। और देखो गीतामें 'कृतकृत्यश्च भारत'—यहाँ कहकर जैसे उपदेशकी समाप्ति कर दी गयी। तब सोलहवें अध्यायमें क्या है? उसमें अर्जुनकी प्रशंसा है। दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करके।

मा शुचः सम्पदं दैवी अभिजातोऽसि पाण्डव।

साधारण लोगोंके लिए आसुरी सम्पत्तिकी निन्दा, दैवी सम्पत्तिकी प्रशंसा और अर्जुनके लिए यह कहना कि तुम देवी सम्पत्ति-सम्पन्न हो, और सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनका एक बड़ा विलक्षण प्रश्न है—वह क्या है, कि सोलहवें अध्यायमें कृष्णने कहा कि शास्त्रविधिका परित्याग करके जब कोई काम करता है तो उसको सुख-शांतिकी प्राप्ति नहीं होती। वहाँ अर्जुनने एक प्रश्न कर दिया कि यदि कोई शास्त्रविधिको छोड़ दे और केवल श्रद्धासे काम करे तो उसको सफलता मिलेगी कि नहीं?

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

अद्‌भुत है यह-ये जो बड़े-बड़े पीठाधीश्वर लोग हैं, वह इस बातपर ध्यान नहीं देते हैं। कोई शास्त्र नहीं जानता है। शास्त्रकी विधि नहीं जानता है। शास्त्रकी विधि छोड़ देता है। लेकिन उसके हृदयमें श्रद्धा है और वह अच्छा काम कर रहा है तो उसकी क्या स्थिति होगी? तब उन्होंने सत्त्व, रज, तम श्रद्धाका विभाग करके—सात्त्विक श्रद्धासे उसका कल्याण ही होगा—भले उसने शास्त्रविधि छोड़ दी हो। और अठारहवें अध्यायमें सारी गीताका जो सार-सार है—संग्रह, प्रथम अध्यायसे ले करके और पन्द्रहवें अध्यायतक जितनी भी बात कही गयी है और सोलहवें, सत्रहवेंमें भी जो बात कही गयी है, उसको भगवान्‌ने इकट्ठा करके उपसंहार अठारहवें अध्यायमें रख दिया।

※※※

सो यह गीता तो भगवान्‌का हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ' और उन्होंने बड़ा अनुग्रह करके, बड़ी कृपा करके, अपनेको नहीं, अपने दिलको हमलोगोंके प्रति समर्पित किया है और भगवान्‌के इस हृदयका, इस सद्भावका हम अपने जीवनमें लाभ उठावें, उन्नति करें, हमारा जीवन मङ्गलमय हो, भगवन्मय हो, आनन्दमय हो, अमृतमय हो, रसमय हो, मधुमय हो, लास्यमय हो। थिरकते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। इसी प्रार्थनाके साथ हम इस प्रसंगको समाप्त करते हैं। धन्यवाद देनेकी तो आवश्यकता है नहीं-किसको कौन दे? अपनी बेटीको, अपने बेटेको कोई धन्यवाद थोड़े ही देते हैं?

●

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन'के रूपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
चेतगंज, वाराणसी • फोन : 2392337